राजस्थान केसरी, अध्यात्म योगी

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

अभिनन्दन ग्रन्थ



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान केसरी
अध्यात्मयोगी, उपाध्याय

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक -
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
डा० ए० डी० बतरा एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० वाय० पी०

प्रकाशक -
राजस्थान केसरी अध्यात्म योगी श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
बम्बई ० उदयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परामर्शक मण्डल

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज
उपाध्याय श्री कस्तूरचन्द जी महाराज
मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज
मालवकेसरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज
उपाध्याय श्री मधुकर मुनि जी महाराज
उपाध्याय श्री फूलचन्द जी महाराज
प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज

निदेशक मण्डल

प्रो० दलसुख भाई मालवणिया
निदेशक, एल.डी. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद

डा० एस० एस० बारलिंगे
अध्यक्ष, दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना

सम्पादक मण्डल

श्री अगरचन्द जी नाहटा (बीकानेर)
डा० टी० जी० कलघटगी (मैसूर)
डा० कमलचन्द सोगानी (उदयपुर)
डा० नरेन्द्र भानावत (जयपुर)
डा० नेमीचन्द जैन (इन्दौर)
डा० प्रेमसुमन जैन (उदयपुर)
डा० भागचन्द 'भास्कर' (नागपुर)
डा० मोहनलाल मेहता (पूना)
श्री यशपाल जैन (देहली)
श्री राजेन्द्रमुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न
डा० संगमलाल पांडेय (इलाहाबाद)
डा० सागरमल जैन (भोपाल)
श्री सौभाग्यमल जैन (शुजालपुर)

सम्प्रेरक

श्री हीरामुनि जी 'हिमकर'
श्री गणेशमुनि शास्त्री
श्री दिनेशमुनि जी
महासती शीलकुँवर जी
महासती कुसुमवती जी
महासती पुष्पवती जी
महासती उमरावकुँवर जी
महासती कौशल्या जी
महासती विमलवती जी

प्रधान सम्पादक

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
डा० ए० डी० बत्तरा

प्रबन्ध सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक और प्राप्ति-स्थल

राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, बम्बई
C/o दानमल पुनमिया
राजू ज्वेलर्स, अब्दुल्ला बिल्डिंग, परेल, बम्बई-१२

राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
C/o श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान) पिन-३१३००१

वीर निर्वाण संवत् २५०५ : शकाब्द १९०१ ज्येष्ठ
विक्रमाब्द २०३६ ज्येष्ठ : ई० सन् १९७९ जून

मूल्य—एक सौ पच्चीस रुपये मात्र

कुल पृष्ठ : ११७४

मुद्रक : दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४
जैन सन्स प्रिंटर्स, आगरा-३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Rajasthankesari, Adhyatmayogi, Upadhyaya

Sri Pushkar Muni

Abhinandan Grantha



Chief Editors

Sri Devendra Muni Shastri

Dr. A. D. Batra, M. A., Ph. D., D. Y. P.



Publishers

Rajasthankesari, Adhyatmayogi Sri Pushkar Muni
Abhinandan Grantha Prakashan Samiti
Bombay : Udaipur

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Advisory Board

Acharya Sri Anand Rishi Ji Maharaj
Upadhyaya Sri Kastur Chand Ji Maharaj
Marudharkesari Sri Mishri Mal Ji Maharaj
Malawakesari Sri Saubhagya Mal Ji Maharaj
Upadhyaya Sri Madhukar Muni Ji Maharaj
Upadhyaya Sri Phool Chand Ji Maharaj
Pravartak Sri Amba Lal Ji Maharaj

Board of Directors

Prof. Dalsukh Bhai Malvaniya
Dr L. D. Bharatiya Sanskrit Vidyamandir, Ahamedabad

Dr. S. S. Barlingay
Head of the Department of Philosophy, University of Poona, Poona

Board of Editors

Sri Agar Chand Ji Nahata (Bikaner)
Dr. Kamal Chand Sogani (Udaipur)
Dr. T. G Kalghatagi (Mysore)
Dr. Narendra Bhanavat (Jaipur)
Dr. Nemi Chand Jain (Indore)
Dr. Premsukh Jain (Udaipur)
Dr. Bhag Chand Bhaskar (Nagpur)
Dr. Mohan Lal Mehta (Poona)
Sri Yashpal Jain (Delhi)
Sri Rajendra Muni Shastri, Kavyatirtha Sahityaratna
Dr. Sangam Lal Pandeya (Allahabad)
Dr. Sagar Mal Jain (Bhopal)
Dr. Saubhagyamal Jai (Shujalpur)

Promotors

Sri Hiramuni Ji 'Himkar'
Sri Ganesh Mal Ji Shastri
Sri Dinesh Muni Ji
Mahasati Sheelkunwar Ji
Mahasati Kusumvati Ji
Mahasati Pushpavati Ji
Mahasati Umrao Kunwar Ji
Mahasati Kaushalya Ji
Mahasati Vimalvati Ji

Chief Editors

Sri Devendra Muni Shastri **Dr. A. D. Batra**

Managing Editor

Srichand Surana 'Saras'

Publishers

Rajasthankesari Adhyatmayogi
Sri Pushkar Muni Ji Abhinandan Grantha
Prakashan Samiti, Bombay.
C/o Danmal Punamiya
Raju Jewellers, Abdulla Bldg. Parel, Bombay-12

Rajasthankesari Adhyatmayogi
Sri Pushkar Kuni Ji Abhinandan Grantha
Prakashan Samiti, Udaipur
C/o Sri Tarak Guru Jain Granthalaya
Shastri Circle, Udaipur (Raj) Pin-313001

Vir Nirvana Samvat 2505
Vikram Samvat 2036

Sak Samvat 1901 Jyestha
June 1979

Price : **Rs. One Hundred Twentyfive only. Rs. 125/-** *Pages* : **1174**
Printer : **Sri Purushottamdas Bhargava, Durga Printing Works, Agra-4**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण



ज्ञान और दर्शन के
ध्यान और योग के
इतिहास और साहित्य के
संस्कृति और सभ्यता के
अध्यात्म और चिन्तन के
आगम और न्याय के
जो गंभीर ज्ञाता हैं
जिनके जीवन का कण-कण
मन का अणु-अणु
प्रतिपल-प्रतिक्षण
आत्मोत्थान के साथ ही
समाजोत्थान के लिए समर्पित है,
जिन्होंने
भारत के विविध अंचलों में
पैदल-परिभ्रमण कर
धार्मिक, सांस्कृतिक
आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की,
हजारों लाखों व्यक्तियों को
विकार और व्यसनों से मुक्त कर
साधना के पवित्र पथपर बढ़ने को
उत्प्रेरित किया
उन्हीं परम श्रद्धेय राजस्थानकेसरी
अध्यात्मयोगी, उपाध्याय
सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी
के पवित्र कर-कमलों में
सादर
सभक्ति समर्पित

—देवेन्द्रमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

महाबली काल का अनन्त प्रवाह गंगा की विराट् धारा की तरह सतत बहता रहता है। इस महाप्रवाह में कौन स्थिर रह पाया है। अनन्तकालीन अपार अस्थिरता के बीच जो स्थिर रहता है, अपना अस्तित्व बनाये रहता है वह सद्धर्म है। **'अत्थि एगं धुवं ठाणं'**—एक ध्रुव स्थान है। एक शाश्वत तत्त्व है, प्रवहमान जगत में अप्रवाहशील एक शक्ति है और वह है धर्म! एतदर्थ ही यह जीवमात्र का आश्रय है, शरण है, आधार है। **"धर्मः धारयते प्रजा"** धर्म प्राणी मात्र को धारण करने में समर्थ है।

धर्म का रूप क्या है? उसका आकार क्या है? धर्म अरूप है, निराकार है, फिर उसे कैसे समझे? कैसे पहचाने? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप धर्म ने सन्त का रूप धारण किया है? 'सन्त' धर्म का मूर्तिमान रूप है—**सन्तो हि मूर्तिमान् धर्मः"**। सन्त धर्म के व्याख्याकार ही नहीं, स्वयं एक व्याख्या है। सन्त का जीवन, धर्म का जीता-जागता स्वरूप है। इसीलिए धर्म-प्राण भारतीय संस्कृति का 'शीर्ष पुरुष' सन्त है,। सन्त के चरणों का प्रवाह जिधर मुड़ जाता है, वहाँ का जन-जीवन धर्म से सरस बन जाता है। मानवता की हरियाली लहलहाने लगती है। साधना पुलक-पुलक उठती है।

सन्त एक व्यक्ति नहीं, धर्म का, सदाचार का, सत्य-अहिंसा, विश्व-प्रेम और विश्व-मानवता का एक पावन प्रतिष्ठान है। अति-निगूढ़ मानवीय शक्तियों का उद्घाटक सन्त है। इसलिए हमारा आदर्श है सन्त! आराध्य है सन्त! वन्दनीय एवं अभिनन्दनीय है सन्त!

सूर्य का धर्म है प्रकाश देना। कण-कण को जीवनी-ऊष्मा प्रदान करना। जल का धर्म है—जीव मात्र को शीतलता से अनुप्रीणित करना। धरती का धर्म है धारण करना और आकाश का धर्म है—आश्रय देना। इसी प्रकार सन्त का धर्म है, जीव मात्र को उसके स्वरूप का बोध कराना, अनन्त सुप्त शक्तियों के जागरण का रहस्य समझाना। आत्मा को परमात्मा, जीव को शिव के स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का मार्ग दिखाना।

जिस प्रकार सूर्य प्रकाश के बदले में प्रशंसा नहीं चाहता, धरती अनन्त जीवों को आश्रय प्रदान करके भी आभार-वचनों की कांक्षा नहीं रखती, चन्द्र,गगन, जल, पादप आदि प्राकृतिक विभूतियां उपकार के बदले में आभार जताने की अपेक्षा नहीं करते, पर कृतज्ञ मानव प्राचीन काल से ही सूर्य को बन्दन करते आया है, धरती, जल, आकाश आदि की स्तुतियां रचता रहा है, उपकारी के प्रति वन्दना, अभिनन्दना करके अन्तःकरण के असीम प्रमोद और उल्लास को अभिव्यक्ति देता रहा है। इसी प्रकार सन्त के असीम, अनन्त उपकारों के प्रति भी मानव की विनम्रता और कृतज्ञता सदा सजग और सचेतन रही है।

सन्त भले ही **'समो णिंदा-पसंसासु समो माणावमाणओ'** निन्दा-प्रशंसा, मान और अपमान में समभाव रखे **'णिरवेक्खे** निर्पेक्ष और **णिकांखे'**—कांक्षा मुक्त रहे। पर,हमारी कृतज्ञता को, हमारी विनम्रता को, अन्तःकरण की सद्वृत्तियों को यह कहाँ स्वीकार है कि अपने उपकारी के प्रति वाणी और विचार मूक बने रहें? अन्तःकरण में प्रमोद भावना का, वात्सल्य और स्नेह का उमड़ता स्रोत हलचल न मचाये यह कैसे संभव है? मनुष्य के अन्तर का अनुराग, अन्तर की विनम्रता, कृतज्ञता, वत्सलता, और सद्भावनाएँ जब जगती हैं तो विचारों के हजार-हजार पंख निकल आते हैं, वाणी के हजार-हजार स्रोत फूट पड़ते हैं। सहस्र धारा वाचा बन जाती है।

इस भूमिका के साथ अब मैं यह कहना चाहूँगा कि प्रस्तुत अभिनन्दन उपक्रम, समाज और राष्ट्र के विनम्र एवं कृतज्ञतापूर्ण विचार तथा वाणी की एक सहज व्यंजना है। भावना कली का सहज प्रस्फुटन है। इसलिए इसमें कृत्रिमता नहीं, सहजता है, प्रदर्शन नहीं अन्तःस्फूर्त भावना है। इसमें भार-मुक्ति की नहीं, आभार अभिव्यक्ति की साधना है।

अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी उपाध्याय श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का व्यक्तित्व फूलों के गुलदस्ते की भाँति विभिन्न गुणों की सौरभ से सुरभित है। वे एक ओर उच्चकोटि के विद्वान है तो दूसरी ओर पहुँचे हुए साधक भी हैं। ज्ञान की गरिमा और साधना की महिमा से व्यक्तित्व के दोनों छोर कसे हुए-से हैं। उनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अद्भुत प्रभावशाली वक्तृत्व-कला हजारों-हजार श्रोताओं का हृदय क्षण मात्र में आन्दोलित परिवर्तित कर सकती है तो उनकी ध्यान-मौन साधना युक्त एक विरल संकेत अपार श्रद्धालु वर्ग को सर्वस्व न्यौच्छावर करने को आतुर भी कर सकता है। उनमें एक साथ अनेक विरोधी गुण देखकर आश्चर्य भी होता है। विनम्रता के साथ सिद्धान्तनिष्ठा और आचारदृढता, मधुरता के साथ अनुशासन की कठोरता, सरलता और कोमलता के साथ उत्कट तपःसाधना, जपयोग एवं ध्यानयोग की अन्तःस्रावित अमृतसाधना, वास्तव में ही बड़ी विचित्र, आश्चर्यजनक तथा मन को सहसा प्रभावित करती है।

योगी अन्तरज्ञानी तो होते हैं किन्तु शास्त्रज्ञानी होना एक विरलता है। साधक कठोर आत्म-निग्रही तो होते हैं, पर कुशल प्रशासक होना एक दुर्लभ विशेषता है। तपस्वी तथा ध्यानी वचन-सिद्ध तो होते हैं, पर कलम-सिद्ध होना एक अद्भुतता है। उपाध्यायश्री जी महाराज एक ओर जहां जगत प्रपंच से विरत निस्पृह श्रमण हैं तो दूसरी ओर ललित काव्य-कला के सर्जक कवि व लेखक भी हैं। इस प्रकार की विलक्षणताएँ इस इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व को जहाँ आकर्षण केन्द्र बनाती है, वहाँ श्रद्धा-भाजन भी। इसी श्रद्धा, भक्ति व अन्तर के आकर्षण ने हमें विवश कर दिया, अन्तःस्फूर्त श्रद्धा की व्यंजना करने। अभिनन्दन का आयोजन उसी श्रद्धाभिव्यंजना की फलश्रुति है।

गुरुदेव श्री का श्रद्धालु वर्ग भारत के सभी प्रान्तों में, सभी वर्गों में और कहना चाहिए सभी धर्मों के अनुयायियों में परिव्याप्त है। केवल जैन, मारवाड़ी या गुजराती ही उनके भक्त हों वैसी बात नहीं है, हजारों अजैन सैंकड़ों मराठी, तामिल, तेलगु, कन्नड भाषी, पंजाबी और बंगाली भी उनके प्रति अत्यन्त भक्ति-विभोर हैं। न केवल व्यापारी वर्ग, किन्तु अनेक उच्च राज्याधिकारी बौद्धिक वर्ग, प्राध्यापक, लेखक, प्राचार्य, प्रवक्ता भी उनके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं। उनकी साधना की उपलब्धियों से चमत्कृत हैं, विनत हैं। उन सब की श्रद्धा का समवेत आग्रह था कि इस योगनिष्ठ सन्त श्रमण का सार्वजनिक अभिनन्दन होना चाहिए। उनके अभिनन्दन से हमारी श्रद्धा कृतकृत्य होगी, साहित्य-समृद्ध होगा और मानवता धन्य होगी। बस इसी भक्ति पूर्ण आग्रह ने अभिनन्दन समारोह मनाने का निर्णय लिया और अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन की योजना मूर्त बनी।

अभिनन्दन ग्रन्थ की परिकल्पना करते समय अनेक प्रबुद्धचिन्तकों के साथ दीर्घ विचार चर्चाएं चली। प्रज्ञाचक्षु पण्डित प्रवर सुखलालजी संघवी, पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयजी, पण्डित बेचरदास जी दोशी, प्रो. श्री दलसुख भाई मालवणिया, डा. एस. बारलिंगे डा. ए. डी. बत्तरा प्रतिभामूर्ति अगरचन्द जी नाहटा, डा. कमलचन्द सोगाणी, डा. प्रेमसुमन, डा. नेमीचन्द जैन, डा. गोकुलचन्द जैन, डा. टी. जी. कलघटगी आदि के साथ विचार-विनिमय हुआ। निष्कर्ष रूप में अभिनन्दन ग्रन्थ को केवल एक अभिनन्दन ग्रन्थ न बना कर तत्त्वज्ञान एवं योग विद्या का एक सन्दर्भ ग्रन्थ बनाने का निर्णय लिया गया।

ई. सन् १९७६ के जून-जुलाई में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति का गठन हुआ। भारतीय विद्या के अनेक मनीषी लेखकों, विचारकों द्वारा सम्पादक मण्डल के रूप में अपना सहयोग-सहकार देने का आश्वासन मिला। योग विद्या के विशेष शिक्षण प्राप्त डा. ए. डी. बत्तराजी ने सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ सहयोग किया। देश के मूर्धन्य लेखकों, विदेशी विचारकों व साधकों से सम्पर्क बढ़ा और लगभग बीस मास के प्रयत्नों के फलस्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थ की विशाल सामग्री एकत्र हुई।

इस संकलित-एकत्रित सामग्री का चयन, सम्पादन आवश्यकतानुसार नवलेखन आदि सभी कार्यों में लगभग सात आठ महीने लग गये, इस तरह सवा दो वर्ष का समय ग्रन्थ की सामग्री की पूर्णता में लगा।

चक्रवर्ती सम्राट् की नौ निधियाँ होती हैं चारित्र चक्रवर्ती श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का प्रस्तुत ग्रन्थ भी नौ खण्डों में विभक्त है। नौ निधियों की तरह अक्षय विचार सामग्री लिये हुए हो, यह मेरे अन्तर्मानस में विचार उद्भूत हुआ। उसी दृष्टि से ग्रन्थ के खण्डों का विभाजन किया गया। प्रथम खण्ड में श्रद्धार्चन के साथ ही आशीर्वचन, वन्दना-अभिनन्दना और समर्पण है। द्वितीय खण्ड में जीवन की सहस्र धारा को शब्दों में बाँधने का लघु प्रयास किया गया है। तृतीय खण्ड में सद्गुरुदेव के बहुआयामी साहित्य पर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके विराट् साहित्य का संक्षेप में परिचय भी दिया है। इस प्रकार ग्रन्थ के तीन खण्ड गुरुदेव श्री के तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बन्धित है। चतुर्थ खण्ड में जैन दर्शन के निगूढ रहस्यों का उद्घाटन करने वाले अनेक चिन्तनपूर्ण निबन्धों का संकलन है। दर्शन जैसे गम्भीर विषय को सरल व सरस शब्दों की फ्रेम में मँढकर रखा गया है। पांचवें खण्ड में जैन साधना और मनोविज्ञान पर विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली मौलिक सामग्री है। छठे खण्ड में जैन साहित्य, जो अत्यधिक विराट् व विशाल रहा है, प्रान्तवाद, भाषावाद और सम्प्रदायवाद से मुक्त रहा है, उसके विविध स्रोतों का संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक परिचय प्रदान किया गया है। सातवें खण्ड में जैनसंस्कृति पर गंभीर चिन्तन प्रस्तुत किया है। आठवें खण्ड में जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा के उज्ज्वल इतिहास के सुनहरे पृष्ठ खुलते-से नजर आयेंगे। भगवान ऋषभदेव से लेकर वर्तमान युग तक का संक्षिप्त चित्रण है और नौवें खण्ड में योग से सम्बन्धित विराट् सामग्री प्रदान की गई है। ग्रन्थ की सामग्री के सम्बन्ध में मैं यहां पर विशेष कुछ भी नहीं कहूँगा, विषय सूची स्वयं ही अपनी विराट्ता तथा विविधता प्रदर्शित कर रही है। तथापि इतना अवश्य कहूँगा कि अब तक जितने भी अभिनन्दनग्रन्थ-स्मृतिग्रन्थ मेरे ध्यान में आये हैं, उनसे अधिक उच्च कोटि की पाठ्य सामग्री, विचार सामग्री और नवीन विषयों की प्रायोगिक ज्ञान-सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होगी। योग विद्या जैसे गंभीर और प्रायोगिक विषय पर ही लगभग ३०० पृष्ठ की सामग्री इस ग्रन्थ में है, जिसमें अनेक उच्चकोटि के अनुभवी साधकों के स्वयं अनुभूत प्रयोग व विचार है। ये विचार कीमती हीरों से भी अधिक मूल्यवान व उपयोगी है। इस प्रकार यह अभिनन्दन ग्रन्थ जितना विशालकाय बना है उससे भी अधिक ज्ञानवर्धक, उपयोगी, जीवन मूल्यों का उद्घाटक और पठनीय बना है। इसकी विशाल काया देखकर प्रबुद्ध पाठक इसे मात्र पुस्तकालय की शोभा बढ़ाने लायक न समझें, पर एक बार अध्ययन करें। विषय सूची को पढ़ने पर ही उन्हें स्वतः पढ़ने की रुचि जागृत होगी और वे उत्साहित होंगे। मैं आत्म-विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि यह ग्रन्थ रत्नाकर है। इसमें बहुमूल्य विचारों की मणि-मुक्ताएँ है, पाठक इसमें गहराई से गोता लगाए और उन मुक्ताओं को पाकर अपने आपको धन्य बनाये।

इस विशालकाय ग्रन्थ के सम्पादन में श्रद्धेय गुरुदेव श्री की असीम कृपा, उनकी अध्यात्मशक्ति हमारा सम्बल रही है जिसके कारण मैं इस महान् कार्य को सम्पन्न कर सका हूँ। डा० ए० डी० बत्तरा का पूर्ण हार्दिक सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। उन्होंने ग्रन्थ को उत्कृष्ट बनाने के लिए अपूर्व श्रम किया है। उनके स्नेह-स्निग्ध श्रम को व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है और साथ ही विद्वान सम्पादक मण्डल ने भी अपने मौलिक लेख भिजवा कर मेरे उत्साह में अभिवृद्धि की है। स्नेहमूर्ति प्रो० दलसुख भाई मालवणिया और डा० एस० एम० बारलिंगे का पथ-प्रदर्शन मेरे लिए बहुत मूल्यवान सिद्ध हुआ है। मैं उन सभी विज्ञों का किन शब्दों में आभार व्यक्त करूं? उनका हार्दिक स्नेह सतत स्मृति पटल पर चमकता रहेगा। ग्रन्थ को आधुनिक साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत करने का श्रेय विज्ञवर श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' को है। वे सम्पादन एवं मुद्रणकला-मर्मज्ञ हैं। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा के साथ ग्रन्थ की सामग्री को व्यवस्थित किया है और मुद्रण कला की दृष्टि से सजाया है, संवारा है।

परामर्शक मण्डल के सभी परमादरणीय आचार्य प्रवर, उपाध्याय मण्डल, प्रवर्तक श्री जी आदि का मुझे आशीर्वचन प्राप्त हुआ। संप्रेरक सन्त सतियों की सतत प्रेरणा भी मुझे प्राप्त होती रही, जिसके कारण मेरे मन में उत्साह बना रहा। श्री रमेश मुनि जी श्री राजेन्द्र मुनि जी, श्री दिनेश मुनि जी की सतत सेवा के कारण ग्रन्थ का सम्पादन कार्य सुगम रीति से हो सका है।

परम गुरुभक्त दानमल जी पुनमिया, श्री जसराज जी बोरा, श्री पारसमल जी मुथा, मांगीलाल जी सोलंकी, चुन्नीलाल जी धर्मावत प्रभृति का सहयोग भी सदा स्मरणीय रहेगा।

मैं आत्म-विश्वासपूर्वक पाठकों को आह्वान करने के पूर्व गुरुदेव श्री के प्रति अपनी श्रद्धा-स्निग्ध विनम्र विज्ञप्ति करता हूँ कि वे हर पाठक को आशीर्वाद दें कि उनके लिए ग्रन्थ का हर खण्ड और प्रत्येक खण्ड का हर पृष्ठ ज्ञान की नव ज्योति प्रज्ज्वलित करने वाला सिद्ध हो। उनका जीवन, साधना की निर्मल ज्योति से जगमगा उठे। साथ ही मुझे भी आशीर्वाद प्रदान करें कि मैं ज्ञान-साधना में, ध्यान-साधना में, साहित्य-साधना में निरन्तर बढता रहूँ। कृत-कार्य बनूं। इसी आशा व विश्वास के साथ—

जैन स्थानक, हैदराबाद
अक्षय तृतीया

—देवेन्द्र मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय प्रज्ञापना

भगवान श्री महावीर ने साधक के लिए कहा है

वंदणं नावकंखेज्ज

वंदना, अर्चना की अभिलाषा न रखे।

यह आदर्श साधक का है। वह सदा निस्पृह, निरकांक्ष रहकर आत्म-साधना के पवित्र पथपर बढ़ता है। साधक के कर्तव्य के बाद जब शिष्य का कर्तव्य बताया गया तो वहाँ कहा गया—

जहाहियग्गी जलणं नमंसे नाणा हुई मंत पयाभिसित्तं
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा अणंतनाणोवगओ वि संतो

—जैसे अग्निदेवता की ज्योति सदा प्रज्ज्वलित रखने वाला ब्राह्मण विविध आहुतियाँ एवं मंत्रों द्वारा अग्नि का अभिषेक करता है, उसकी पूजा करता है इसी प्रकार शिष्य (भले ही वह अनन्तज्ञान से सम्पन्न क्यों न हो) आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करे। विविध प्रकार से उनकी स्तुति, वन्दना-अभिनन्दना करें।

जीवन में समर्पण, कृतज्ञता और विनम्रता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, शिष्य का गुरु के प्रति, भक्त का भगवान के प्रति, श्रावक का श्रमण के प्रति जितना उच्च और निष्ठापूर्ण समर्पण होगा, जीवन में उतनी ही अधिक शक्ति, शान्ति और तन्मयता की अनुभूति जगेगी। यही तन्मयता, एकतानता, आत्मा-परमात्मा का मिलन सूत्र है।

अध्यात्मयोगी गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी महाराज का हम श्रावक समाज पर असीम उपकार है। उन्होंने न सिर्फ हमें साधना के सरल माध्यम से आत्म-बोध का मार्ग दिखाया है, अपितु उस 'वाचा अगोचर' परमानंद स्वरूप आत्म-देवता का साक्षात्कार कराने का अथक प्रयत्न भी किया है। वे स्वयं आत्म-द्रष्टा हैं, और निकट में आने वाले हर जिज्ञासु को वे आत्म-दर्शन की विधि व साधना समझाते हैं। आत्म-साक्षात्कार कराने वाला गुरु ही परम गुरु है, परमोपकारी है।

आज के भौतिक चकाचौंध के युग में अध्यात्म और योग द्वारा परम शान्ति का मार्ग प्राप्त करना—मनुष्य का सबसे बड़ा सौभाग्य है, सबसे महान् उपलब्धि है। इस उपलब्धि के श्रेयोभागी गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के निकट इसी कारण आज हजारों-हजार आत्म-जिज्ञासुओं की भीड़ रहती है कि उनके सान्निध्य में आध्यात्मिक शान्ति, मानसिक शक्ति प्राप्त होती है, जीवन का खोया हुआ विश्वास और टूटा हुआ मनोबल पुनः प्राप्त होता है, ऐसा अनेक जिज्ञासु व श्रद्धालुओं का अनुभव है।

गुरुदेव श्री के प्रति समर्पण व श्रद्धा भाव रखने वाले भक्तों की बहुत समय से भावना थी कि किसी प्रसंग पर गुरुदेव श्री का अभिनन्दन कर हम अपनी श्रद्धा भावना की कुछ परितृप्ति करें। वि० सं० २०३२ सन् १९७५ के चातुर्मास में जब हम गुरुदेव श्री की जन्म जयन्ती मना रहे थे, तब स्व० श्री रिषभदास जी रांका ने गुरुदेव श्री की स्वर्ण जयंती के प्रसंग पर एक महत्त्वपूर्ण अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार करने की प्रेरणा दी थी। डा. एस. बारलिंगे, डा. बतरा एवं श्री रांकाजी आदि की भावना थी कि गुरुदेव श्री के अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से अध्यात्म व योग विद्या की दुष्प्राप्य साहित्य सामग्री का विशेष प्रकाशन-सम्पादन किया जाय। गुरुदेव श्री के विद्वान अन्तेवासी साहित्यशिल्पी श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री की भी यही भावना थी कि अभिनन्दन ग्रन्थ हो तो उच्चस्तर का हो, ऐसी सामग्री उसमें संग्रहीत की जाय कि पाठक युग-युग तक उसमें टटोलता रहे, खोजता रहे और पढ़ता रहे।

एक वर्ष तक अभिनन्दन समारोह की रूपरेखा व योजना पर चिन्तन चलता रहा। सन् १९७६ के रायचूर चातुर्मास में यह चिन्तन निर्णय रूप में बदला, संपादक मण्डल, संयोजक समिति आदि का गठन हुआ। संयोजन का दायित्व रायचूर के लोकप्रिय नेता जसराजजी बोरा, उत्साही श्रावक श्रीमान पारसमलजी मुथा, ऋषभचन्द जी सुकाणी व मुझ पर रखा गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ के अन्तरंग निर्माण का दायित्व तो हमारे विद्वान प्रधान सम्पादक साहित्य महारथी श्री देवेन्द्र मुनि जी पर था, वे ही सबके प्रेरणा स्रोत थे। अथक जन-सम्पर्क व स्वयं लेखन करके उन्होंने इस भगीरथ कार्य को जिस तन्मयता और श्रेष्ठता के साथ सम्पादित किया है वह वर्णनातीत है। उनकी एक निष्ठ गुरुभक्ति और आठ-दस घंटा की सतत लेखन-साधना का ही यह चमत्कार है कि यह विशालकाय अभिनन्दन ग्रन्थ इतनी उच्चकोटि की सामग्री के साथ प्रस्तुत हो रहा है। डा० ए० डी० बतरा और श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना ने भी बड़ी निष्ठा के साथ इस दायित्व को निभाया है। डा० बतरा जी व श्री सुराना जी ने भी संपादन में अपना सहयोग दिया। साथ ही सुराना जी ने ग्रन्थ को सुन्दर व श्रेष्ठतम मुद्रण कराकर नयनाभिराम रूप प्रदान किया है।

ग्रन्थ के मुद्रण में, आगरा के सुप्रसिद्ध प्रेस 'दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स' के मालिक श्री पुरुषोत्तमदास भार्गव, मुद्रण कला के विशेषज्ञ श्री महेन्द्र जैन (जैन सन्स प्रिंटर्स) तथा मौडर्न आर्ट प्रिंटर्स का हार्दिक सहयोग प्राप्त हुआ है। प्रूफ संशोधन में अनुभवी प्रूफ संशोधक श्रीयुत बृजमोहन जैन का आत्मीय सहयोग भी सदा स्मरणीय रहेगा।

अर्थ संयोजन का दायित्व हम लोगों के नाजुक कंधों पर था। मुझ में गुरुभक्ति तो है, पर अपनी अल्पज्ञता और व्यस्तता के कारण इस गुरुतर दायित्व को निभाने में बड़ा संकोच हो रहा था। फिर भी हमारे अनेक साहसी उदारचेता श्रावकों का प्रोत्साहन, विश्वास और सहयोग मिला तो मेरा साहस बढ़ता गया और ग्रन्थ-निर्माण की प्रगति में हमारा सहयोग जुटता गया।

जिन-जिन उत्साही दानवीरों ने ग्रन्थ की सदस्यता स्वीकार कर हमें सहयोग दिया है, उनके प्रति मैं समिति की ओर से मात्र औपचारिक रीत्या आभार प्रकट कर रहा हूँ, वास्तव में तो यह उनकी गुरु-श्रद्धा का स्वतः देय है, इसमें किसी प्रकार का आग्रह या अनुग्रह जैसा कुछ है ही नहीं। सभी सदस्यों, सहयोगियों ने उत्साह तथा स्वतःस्फूर्त भक्ति के साथ हमारा सहयोग किया है।

मैं विश्वास करता हूँ कि अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में हमारी गुरु भक्ति का यह एक जीवित श्रद्धा-सुमन आने वाली शताब्दियों में आदर्श माना जायेगा और हजारों पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

—दानमल पुनमिया
महामन्त्री
अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभकामना

राष्ट्रपति सचिवालय
राष्ट्रपति भवन
ई दिल्ली—११०००४
भारत

पत्रावली सं० ८-एम १७७ नवम्बर ७, १९७७

प्रिय महोदय,

आपका दिनांक १ नवम्बर १९७७ का पत्र प्राप्त हुआ। श्री पुष्कर मुनि जी के अभिनन्दन समारोह की सफलता के लिये राष्ट्रपति जी अपनी शुभकामनाएँ भेजते हैं।

भवदीय
(ह०) रे. वे. राघवराय
हिन्दी अधिकारी



उप राष्ट्रपति
भारत
नई देहली
नवम्बर ५, १९७७

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक १, नवम्बर १९७७ का प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री पुष्कर मुनि महाराज की साधना के ५४ वर्ष पूर्ण होने के तत्वावधान में उनको एक अभिनंदनग्रन्थ समर्पित करने का निश्चय किया गया है। इसकी सफलता के लिये मैं अपनी शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

आपका
(ह०) ब. दा. जत्ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदेश

गृह मन्त्री, भारत
Home Minister
India
नई दिल्ली--११०००१
दिसम्बर १५, १९७७

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भारत के विभिन्न अंचलों में रहने वाले श्रद्धालु जनों ने श्री पुष्कर मुनि महाराज की ५४वीं दीक्षा वर्षगांठ के शुभ अवसर पर उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने के लिए एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का निर्णय किया है।

मैं महाराज जी की दीर्घायु की कामना करता हूँ।

(ह०) चरण सिंह

☆

Minister of Railways
India
रेल भवन, नई दिल्ली

एम. आर. 2134/77

दिनांक ८ दिसम्बर १९७७

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का, उनकी साधना के ५४ वर्ष पूरे होने पर सार्वजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है और उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाएगा।

भारतीय जन मानस सदैव अध्यात्म साधना के द्वारा ज्ञानार्जन करके लोक कल्याण में लगने वाले महापुरुष का समादर करता आया है। श्री पुष्कर मुनि जी भी उसी परंपरा के एक सन्त हैं जिनकी प्रेरणा से अनेक शिक्षण संस्थान, चिकित्सा संस्थान, गौशालाएं, पुस्तकालय एवं सर्वजनहितकारी स्वयंसेवी संस्थाएँ काम कर रही हैं। यह उनकी लोक-सेवापरायण जीवन दृष्टि की परिचायक है। इसीलिए जनता उनका अभिनन्दन करने जा रही है।

इस अवसर पर प्रकाशित अभिनन्दन-ग्रन्थ की रूप रेखा बड़ी भव्य है। यदि इस प्रकार की सामग्री संयुक्त अभिनन्दन ग्रंथ निकाल सके तो यह भारतीय दार्शनिक चिन्तन का एक उत्तम ग्रंथ बन जाएगा।

श्री पुष्कर मुनि को इस अवसर पर मेरा प्रणाम निवेदन है और ईश्वर से प्रार्थना है कि वे दीर्घजीवी हों ताकि समाज को उनका तपोपूत मार्ग-दर्शन मिलता रह सके।

(ह०) मधु दंडवते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभकामना

Government of Tamilnadu

Raj Bhavan
Madras-600022
7-11-1977

I am glad to know that to mark the completion of 54 years of Sadhana by Shri Pushkar Muni Maharaj his disciples propose to present a Grantha to him. I wish the function every success and I offer my Pranams to Maharaj.

(Sd/-) Prabhudas B. Patwari
Governor of Tamilnadu



The Deputy Secretary to the Governor of Gujarat
Raj Bhavan
Ahmedabad
1st. Dec. 1977

Sir,

I am desired by the Governor to acknowledge receipt of your letter dated 19-11-77 on the subject mentioned above and to convey his good wishes on the occasion of the handing over a Abhinandan Grantha to Shri Pushkar Muni Maharaj on the eve of his completion of fifty four years of glorious and valuable Sadhana.

Yours faithfully
(Sd) (P. G. Vaidya)
Deputy Secretary to Governor

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदेश

Governor
Uttar Pradesh

Raj Bhavan
Lucknow
नवम्बर २३, १९७७

आध्यात्मिकता भारतीय राष्ट्र की प्राण-शक्ति है, और यदि हम बाहरी सभ्यता की चकाचौंध से प्रभावित होकर नया चरित्र निर्माण का प्रयास न करेंगे तो वह हमारे लिये घातक होगा।

मुझे यह जानकर हर्ष है कि आध्यात्मिकता के उपासक कतिपय सज्जनों ने अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि महाराज जी की साधना के ५४ वर्ष सम्पन्न होने के उपरान्त उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का निश्चय किया है।

मैं उत्सव की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

(ह०) म. दे. तपासे



उप-राज्यपाल

राज निवास
दिल्ली
दिनांक २३-११-७७

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री पुष्कर मुनि महाराज जी की यशस्वी साधना के ५४ वर्ष सम्पन्न होने पर उनके सम्मान में एक सार्वजनिक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ में अध्यात्म, ध्यान एवं योग जैसे गूढ़ विषयों पर विद्वानों द्वारा लिखित प्रचुर सामग्री होगी, जिससे इन विषयों में रुचि रखने वाले सज्जनों को पर्याप्त लाभ होगा।

मैं अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति को इस शुभ प्रयास के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ समर्पित करता हूँ।

(ह०) दलीप राय कोहली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभकामना

मुख्य मन्त्री
हिमाचल प्रदेश
शिमला—१७१००२

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि अभिनन्दन ग्रन्थ समिति की ओर से राजस्थानकेसरी श्री पुष्कर मुनि महाराज जी की साधना के ५४ वर्ष सम्पन्न होने पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

औद्योगीकरण की स्थिति जहाँ एक ओर राष्ट्रों की भौतिक समृद्धि की प्रतीक बनी हुई है, वहाँ दूसरी ओर जीवन के हर क्षेत्र में भाग-दौड़, अतिव्यस्तता ने मनुष्य के मन को अशान्त कर दिया है। वह अध्यात्मिकता की ओर से विमुख होता जा रहा है। ऐसे में यह आवश्यक है कि इस रेल-पेल में उसे मानसिक शान्ति प्राप्त हो ताकि वह नये सिरे से तरोताजा होकर रचनात्मक कार्यों में अपना हाथ बँटा सके।

मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन लोगों का मार्गदर्शन करेगा तथा उन्हें अध्यात्म, ध्यान तथा योग की ओर आकर्षित करने में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा।

मैं प्रकाशन की सफलता एवं लोकप्रियता की कामना करता हूँ।

(ह०) **शान्ता कुमार**
मुख्यमन्त्री, हिमाचल प्रदेश



मुख्य मन्त्री, राजस्थान
जयपुर
14491/cmo/77 Chief Minister of Rajasthan
Jaipur
१४ नवम्बर १९७७

प्रिय श्री पुनमिया,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी के दीक्षा के ५४ वर्ष सम्पन्न होने के अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। हमारे देश में अध्यात्मयोगियों के प्रति सम्मान करने की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है किन्तु पिछले कुछ वर्षों में ऐसे तत्व उभरकर आ आ गये थे जिनके कारण सच्चे योगी और तपस्वी महात्मा एवं विद्वान् पुरुषों का लाभ समाज को नहीं मिल सका। अब पुनः ऐसे महापुरुषों के बारे में समाज की जागरूकता बढ़ती जा रही है, यह प्रसन्नता की बात है।

मैं आशा करता हूँ कि श्री पुष्कर मुनि जी को समर्पित किया जाने वाला अभिनन्दन ग्रन्थ उनके जीवन-दर्शन और साधना के बारे में प्रेरणास्पद जानकारी प्रदान करेगा।

मैं उनको अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए इस ग्रन्थ की सफलता के लिये हार्दिक शुभकामनाएँ प्रकट करता हूँ।

आपका
(ह०) **भैरोंसिंह शेखावत**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदेश

वीरेन्द्र कुमार सखलेचा
मुख्य मंत्री (म० प्र०)

भोपाल
दिनांक मार्च ७८

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि महाराज की तेजस्वी साधना के ५४ वर्ष पूरे होने पर उनका अभिनन्दन किया जा रहा है। इस अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन भी किया जा रहा है।

इस अभिनन्दन ग्रन्थ में अध्यात्म, ध्यान तथा योग जैसे विषयों पर आधिकारिक विद्वानों के लेख भी प्रकाशित किये जा रहे हैं जिनसे भारतीय आध्यत्मिक साधना में रुचि रखने वाले सभी क्षेत्र के लोगों को उपयोगी सामग्री प्राप्त होगी। मैं इस अभिनन्दन ग्रन्थ के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

(ह०) **वीरेन्द्र कुमार सखलेचा**



राज्य मंत्री
सूचना और प्रसारण
भारत
नई दिल्ली
फरवरी ४, १९७८

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि श्री पुष्कर मुनि महाराज की सफल साधना के फलस्वरूप उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने का आयोजन किया जा रहा है। आध्यात्मिक ज्ञान तथा योग साधना हमारी संस्कृति की पौराणिक एवं अनुपम देन है। यह हर्ष का विषय है कि श्री मुनि महाराज जी ने इस दिशा में बड़ा सराहनीय योगदान दिया है।

(ह०) **जगबीर सिंह**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभकामना

राज्य मन्त्री
गृह मन्त्रालय
नई दिल्ली
दिनांक २७ जनवरी १९७७

प्रिय श्री बारलिंगे,

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि राजस्थानकेसरी अध्यात्म योगी श्री पुष्कर मुनि जी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति श्री पुष्कर मुनि महाराज जी की साधना के ५४ वर्ष सम्पन्न होने के पावन पर्व पर एक महत्त्वपूर्ण अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने जा रही है। इस पावन पर्व पर समिति के इस सराहनीय कार्य के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

आपका
(ह०) सोनुसिंह पाटिल

डा० रणबीर सिंह
कुलपति

उदयपुर विश्वविद्यालय
उदयपुर
(Camp : Jaipur)
No. PA/UC/77/2
३ दिसम्बर, १९७७

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि महाराज जी की यशस्वी व तेजस्वी साधना के ५४ वर्ष सम्पन्न होने पर उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने का निर्णय लिया गया है। यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि इस अवसर पर हम उनके सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ उन्हें समर्पित करने जा रहे हैं।

भारत में जैन श्रमणों ने कई दिशाओं में हमें मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने के लिए प्रेरित किया है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैदल जाकर इन विभूतियों ने जन-जन से सम्पर्क स्थापित कर जीने का अहिंसात्मक मार्ग क्या हो इस ओर हम सभी का ध्यान आकर्षित किया है। जैन श्रमण अहिंसा की मूर्ति होते हैं और आज के इस तनावपूर्ण वातावरण में उनकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मैं श्री पुष्कर मुनि महाराज जी के सार्वजनिक अभिनन्दन के अवसर पर अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

(ह०) रणबीर सिंह
कुलपति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदेश

वि० स० पागे
सभापति
महाराष्ट्र विधानपरिषद

मुंबई—४०००३९
क्रमांक मविप/८२/९१४/७७
दिनांक—१५-११-१९७७

प्रिय श्री बारलिंग जी

सप्रेम वन्दे ।

आपका दिनांक ११ नवम्बर १९७७ का पत्र प्राप्त हुआ । धन्यवाद ।

राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी की सुदीर्घ साधना के लिए उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने के हेतु उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का आयोजन किया गया है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई ।

आपके उपरोक्त उपक्रम की यशस्विता के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ ।

भवदीय
(ह०) वि० स० पागे



Professor R.C. Mehrotra
D. Phi (Alld), Ph. D., D. Sc (Lond.)
F.N.A.Sc., F. A. Sc , F.N.A.
कुलपति

सं० ११२५/कुलपति
दिल्ली—११०००७
नवम्बर २९, १९७८

प्रिय मालवणिया जी,

आपके दिनांक १५-११-१९७७ के पत्र के लिए धन्यवाद । यह बड़े ही हर्ष का विषय है कि आप लोग परम आदरणीय श्री पुष्कर मुनि जी के साधनामय जीवन के ५४ वर्ष सम्पन्न होने के पुनीत अवसर पर उनका अभिनन्दन कर रहे हैं और एक अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित करने का निर्णय किया है ।

मुनि जी की बहुमुखी प्रतिभा और उनके द्वारा प्रेरित भक्ति, ज्ञान एवं कर्मयोग से देश परिचित है । आपने अपनी उच्चतम साधना एवं योग के द्वारा देश और विदेश के सहस्रों मानव प्राणियों का कल्याण किया है । मुनि जी केवल योगी ही नहीं, अपितु आप महान् साहित्यकार कवि, लेखक और भारतीय भाषाओं में पारंगत है । भारतीय साहित्य को आपकी अनूठी देन है । जैसे आप योगी और विद्वान है वैसे ही समाज-सेवी भी है । अनेक शिक्षण संस्थाओं, पुस्तकालयों, गौशालाओं एवं अन्य स्वयंसेवी संस्थाओं के उत्थान में आपका अनूठा योगदान है, जो आज देश की सर्वतोमुखी उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध हो रहा है ।

मुनि जी के चरणों में अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए मैं उनके दीर्घजीवन की कामना करता हूँ और आशा करता हूं कि देश उनके मार्गदर्शन से उन्नति की ओर अग्रसर होता रहेगा ।

सादर

भवदीय
(ह०) रा० च० मेहरोत्रा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभकामना

डा० दे० य० गौहोकर
M.A, LL.B, B.S.F.S., D. Lit
कुलगुरु

नागपुर विद्यापीठ
नागपुर
दिनांक २९-११-७७

प्रिय श्री बारलिंगे,

सप्रेम वन्दे ।

आप राजस्थान केसरी, अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि महाराज की साधना के ५४ वर्ष यशस्वितया सम्पन्न होने के पावन प्रसंग पर उनका अभिनन्दन कर रहे हैं यह स्तुत्य बात है । इस अवसर पर आप एक अभिनन्दन ग्रंथ भी समर्पित कर रहे हैं। महाराज ने अपनाया हुआ कार्य पूर्ण करने के लिये परमेश्वर उन्हें दीर्घायुरारोग्य प्राप्त कराएँ, यही शुभकामना ।

भवदीय
(ह०) दे० य० गोहोकर

राज्य मन्त्री
श्रम तथा संसदीय कार्य
भारत
नई दिल्ली
जनवरी २४, १९७८

प्रिय श्री मालवणिया,

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि श्री पुष्कर मुनि महाराज जी की यशस्वी व तेजस्वी साधना के ५४ वर्ष सम्पन्न होने के पावन उपलक्ष्य में उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने के लिए अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का निर्णय किया गया है ।

अभिनन्दन समारोह की सफलता की हार्दिक कामना करता हूं ।

आपका स्नेहाकांक्षी
ह० रामकृपाल सिंह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदेश

डा० प्रताप चन्द्र चन्द्र

शिक्षामन्त्री, भारत
EDUCATION MINISTER
INDIA
नई दिल्ली
17 मार्च 1978

भारत योग तथा दर्शन की तपोभूमि अति प्राचीनकाल से रहा है। विश्व के महानतम् योगियों तथा दार्शनिकों में भारत का नाम प्रमुख है। आज के वैज्ञानिक युग में भी योगीराज अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती भारत में हुए हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में भारत की गौरवशाली परम्परा को बनाए रखा है।

न केवल राजस्थान अपितु पूरे देश के महान योगी श्री पुष्करमुनि के ५४वें जन्म दिवस पर मैं भी उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ तथा इस अवसर पर होने वाले आयोजन की सफलता की कामना करता हूँ।

प्रताप चन्द्र चन्द्र

नैनान अब्रहाम
कुलपति (कानपुर विश्वविद्यालय)

कल्यानपुर, कानपुर
२ दिसम्बर, १९७७

प्रिय मालवणिया जी,

आपका दिनांक १९-११-७७ का पत्र प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

यह जानकर हर्ष हुआ कि "अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति" के माध्यम से राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि महाराज की यशस्वी साधना के ५४ वर्ष सम्पन्न होने के पावन प्रसंग पर उनका सादर अभिनन्दन होने जा रहा है।

ऐसे महान कर्मयोगी के लिए मैं अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि हमारे राष्ट्र को आप द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ से एक नई दिशा प्राप्त होगी।

समस्त मंगल कामनाओं के साथ

भवन्निष्ठ
(ह०) नैनान अब्रहाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभकामना

शिक्षा मण्डल, वर्धा

अध्यक्ष : डा. श्रीमन्नारायण

वर्धा
(महाराष्ट्र)
२५ नवम्बर १९७७

प्रिय डा. बारलिंगे,

आपका १६ नवम्बर का पत्र मिला। धन्यवाद। यह जानकर खुशी हुई कि श्री पुष्कर मुनि महाराज के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

मैं आशा करता हूँ कि इस ग्रन्थ से हम सभी को आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी।

विनम्र
(ह०) **श्री मन्नारायण**



केदारनाथ साहनी

६(५)/७७/मु. का. १४१/१५१२०
मुख्य कार्यकारी पार्षद
दिल्ली प्रशासन
दिल्ली, दिनांक २६, नवम्बर १९७७

प्रिय श्री मालवणिया जी,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप अध्यात्मयोगी, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि महाराज जी की यशस्वी व तेजस्वी साधना के ५४ वर्ष सम्पन्न होने के पावन प्रसंग पर उन्हें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ समर्पित कर रहे हैं।

हमारा देश यद्यपि भौतिक रूप से पिछड़ा है, तथापि अध्यात्म, संस्कृति और कला की दृष्टि से आज भी संसार में सबसे ऊँचा मस्तिष्क करके खड़ा है। वास्तव में भारत ने आध्यात्मिक सम्पदा को सबसे अधिक महत्त्व दिया है और इस देश में आज भी महापुरुष हैं, जो संसार में आध्यात्मिकता के बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँचे हुए हैं। दूसरे देशों में आज भारत की इस आध्यात्मिक निधि का मान। सम्मान होने लगा है और वे इसे पहचानने लगे हैं परन्तु यह बड़े खेद की बात है कि अपने देश में हम पाश्चात्यसभ्यता की चका-चौंध में अपने जीवन-मूल्यों को भूल रहे हैं। ऐसे अवसर पर हमें यह संकल्प लेना चाहिए कि हम अपने प्राचीन संस्कृति के रंग में रंगेंगे। तभी हम दूसरे देशों को भी नई राह दिखा सकते हैं। वास्तव में मुनि महाराज जी का सही अभिनन्दन तभी कर पायेंगे।

मैं आपके प्रयास की सफलता चाहता हूँ।

आपका
(ह०) **केदारनाथ साहनी**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदेश

Shadi Lal Jain
S. E. M.
Former Sheriff of Bombay

Bombay
दि. ६-१२-७७

प्रिय महोदय,

आपका दिनांक २१-११-७७ का पत्र मिला। उसके लिए धन्यवाद। राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी की साधना के ५४ वर्ष पूर्ण होने के हैं। इस पावन-प्रसंग पर उनका सार्वजनिक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का जो निर्णय किया है, वह प्रशंसनीय है।

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज जैन शासन के उज्ज्वल नक्षत्र हैं। उनका व्यक्तित्व, साधना, संयम और शौर्य से ओत-प्रोत है। मुनि श्री ने अपने साधना काल में लाखों नर-नारियों को धार्मिक प्रेरणा दी है। अनेक बार उनके दर्शन करने और प्रवचन सुनने का मौका मिला है। व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली है, आपकी वाणी उतनी ही ओजस्वी एवं भावना-पूर्ण है।

ऐसे सिंह-पुरुष का अभिनन्दन केवल शब्दों से नहीं किया जा सकता। उनका अभिनन्दन तो उनकी वाणी को जीवन में उतार कर ही किया जा सकता है।

मैं इस अभिनन्दन समारोह तथा अभिनन्दन ग्रंथ के आयोजन के लिए आयोजकों को बधाई देता हुआ अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

भवदीय
(ह०) **शादीलाल जैन**

✡

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान
नई दिल्ली—११०००२
दिनांक २-१२-७७

संख्या—३७६८

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि यशस्वी, तेजस्वी, अध्यात्मज्ञान के धनी, ध्यान और योग के रहस्य को जानने वाले राजस्थानकेसरी अध्यात्म योगी श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का उनके श्रद्धालु भक्तों द्वारा मुनि जी के दीक्षा के ५५वें वर्ष में प्रवेश करने के उपलक्ष्य में एक सार्वजनिक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया गया है।

मुझे आशा है इस अभिनन्दन ग्रन्थ में ऐसी सामग्री प्रचुर मात्रा में होगी जो पाठकों को प्रेरणा देगी और पूज्य पुष्कर मुनि जी के कार्यों में और अधिक प्रेरणादायक रहेगी।

मैं इस अभिनन्दन समारोह एवं अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता की कामना करता हूँ।

शुभकामनाओं के साथ,

आपका
(ह०) **रामगोपाल शालवाले**
प्रधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभकामना

प्रोफेसर चन्द्रदेव सिंह, पी एच० डी० (कॉरनेल)

कुलपति

मगध विश्वविद्यालय
बोध गया (बिहार)
पत्रांक ६/५
दिनांक २-१२-१९७७

महोदय,

यह हार्दिक प्रसन्नता की बात है कि अध्यात्म जगत के अधिकारी तथा उन्नत योगीराज श्री श्रीपुष्कर मुनि जी महाराज की सघन साधना के चौवनवें वर्ष की समाप्ति के परम पावन उपलक्ष्य पर, एक उच्च कोटि का प्रामाणिक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का आपने निर्णय किया है। हजारों वर्षों से हमारी संस्कृति की अजस्र धारा जो इन महानुभावों के माध्यम से निरन्तर प्रवाहित होकर जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का परिष्कार कर सदा सद्गति की ओर अभिमुख करती रही है, उसके लिए यह देश चिरकाल से उनका ऋणी रहता आया है। अतः ऐसे ही महापुरुष श्री-श्री पुष्कर मुनि महाराज जी के प्रति अपनी भावनाओं को अर्पित करने का आपका यह प्रयास श्लाघनीय है।

अपनी शुभकामनाओं के साथ

भवदीय
(ह०) डा० सी. डी. सिंह



दे. अ. दाभोलकर
कुलगुरु

पुणें विद्यापीठ
गणेशखिंड, पुणें-७
व्हीसी—६८५
दिनांक ५-११-१९७७

प्रिय महोदय,

आपका पत्र प्राप्त हुआ। यह प्रसन्नता का विषय है कि आप जैसे श्रद्धालु सज्जन राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि महाराज को श्रद्धा सुमन के रूप में अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित कर रहे हैं।

अध्यात्म एवं अध्यात्म के मूल में निहित किसी शाश्वत ज्ञान का उपासक भारत यदि अध्यात्मयोग में लीन मुनियों का अभिनन्दन सोत्साह करता है तो यह निश्चित ही एक स्तुत्य कार्य है।

मैं यह जानकर बहुत ही प्रसन्न हूँ कि श्री पुष्कर मुनि महाराज अध्यात्मयोग की तेजस्वी एवम् यशस्वी साधना में ५४ वर्षों से निरन्तर निरत है। वे अनन्त काल तक अपनी प्रशस्त साधना से समस्त विश्व का श्रेयसम्पादन करें यह मेरी उत्कट अभिलाषा है।

आप श्रद्धालु महानुभावों के इस पावन कार्य की सांगोपांग पूर्ण सम्पन्नता के लिये मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ व्यक्त करता हूँ।

भवदीय
(ह०) दे. अ. दाभोलकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदेश

१२, बिल्डिंग क्रेसेन्ट
नई दिल्ली
३० नवम्बर १९७७

प्रिय श्री मालवणिया,

आपका पत्र मिला।

श्री पुष्कर मुनि महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए मेरी हार्दिक शुभ-कामनाएँ।

(ह०) इन्दिरा गांधी

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ
प्रधान कार्यालय नागपुर

सर संघ चालक : म. द. देवरस

भाद्रपद शुक्ल १०, संवत् २०३४
(२२-९-७७)

सादर वन्दे,

अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी की यशस्वी साधना के ५४ वर्ष पूर्ण होने के शुभ अवसर पर "अभिनन्दन ग्रन्थ" प्रकाशित कर उनका सम्मान करने का निश्चय अतीव स्वागतार्ह है।

श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनि जी अपने मधुर व्यक्तित्व, प्रखर साधना एवं समाज सेवा के कारण केवल स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन समाज में ही नहीं अपितु सब पंथोपपंथों में आदर के पात्र बने हैं। उनमें ज्ञान, भक्ति तथा कर्मशीलता का अनोखा समन्वय है, जिसके फलस्वरूप अनेक साधक, अनुयायी तथा सामान्य जन इन सबको अपने कर्तव्य पथ पर अक्षुण्ण गति से आगे बढ़ने की प्रेरणा नित्य मिलती है। उनकी प्रेरणा तथा मार्ग दर्शन से अनेक सेवाभावी संस्थाओं को एवं समाज सेवा के विभिन्न कार्यों को बल मिलता है यह सब जानते हैं।

इस शुभ अवसर पर, आदरणीय मुनिश्री को सुदीर्घ निरामय जीवन प्राप्त हो यही कामना करता हूँ, और आशा करता हूँ कि "अभिनन्दन ग्रन्थ" के द्वारा शाश्वत जीवन मूल्यों का ज्ञान तथा अंतःकरण में विशुद्ध भक्ति का उदय होकर मूल्याधिष्ठित जीवनयापन करने के लिए कर्म करने की प्रेरणा मिलेगी।

इति शम्

भवदीय
(ह०) म. द. देवरस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड : श्रद्धार्चन (गद्य भाग)

आशीर्वचन	(उत्तराध्ययन-कल्पसूत्र)	१
आशीर्वचन	आचार्य श्री आनन्द ऋषि	२
शरद् के चांद की तरह चमकते रहें	आचार्य प्रवर रूपचन्द जी महाराज [लिमड़ी संप्रदाय]	३
प्रतिभा के पुंज	मा० के० सौभाग्यमलजी महाराज	४
विशेषताओं के धनी	उपाध्याय श्री कस्तूरचन्दजी महाराज	५
स्नेह-सौजन्यकी साक्षात् मूर्ति	स्वामीजी श्री बृजलाल जी महाराज	५
सन्त परम्परा का एक तेजस्वी नक्षत्र	उपाध्याय श्री मधुकर मुनि	६
अध्यात्म, शिक्षा और संस्कृति के पुरोधा	पं० मुनि श्री यशोविजयजी	७
समय ने सुयशरी रति दनोदन बढ़ती रहै	प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज	८
उपाध्याय श्री पुष्कार प्रति : एक शब्द कथा	अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्रीकन्हैयालाल जी 'कमल'	९
ओजस्वी जीवन और तेजस्वी कृतित्व	आचार्य श्री कांतिऋषि जी महाराज (खंभात सम्प्रदाय)	१३
जीवन के उजले क्षण	सुरेश मुनि शास्त्री	१४
श्रद्धा-स्निग्ध पुष्प	पं० मुनि श्री सन्तबाल जी	१६
एक आकर्षक व्यक्तित्व	मुनि श्री नेमिचन्दजी	१७
गुलाब के फूल की तरह मुस्कराता हुआ भव्य व्यक्तित्व	सौभाग्य मुनि 'कुमुद'	२०
प्रेरणा स्रोत-गुरुदेव	हीरामुनि हिमकर	२२
साधुता के अमर प्रतीक	जैन भूषण ज्ञान मुनि जी	२४
अनुभव के दर्पण में	जिनेन्द्र मुनि काव्यतीर्थ	२७
श्रमण संघ के मूर्धन्य सन्त	श्रीकुन्दन ऋषि जी	२९
विराट् व्यक्तित्व के धनी	श्रीकमलेश मुनि	३०
मेरे श्रद्धास्पद	मुनि श्री सुमेरचन्द्र जी	३१
मधुर जीवन	श्री इन्द्रमुनिजी (मेवाड़ी)	३१
पारस-पुरुष	पंडित श्री रतन मुनि जी	३३
यशस्वी व तेजस्वी सन्त	श्री राजेन्द्र मुनि शास्त्री	३४
जीव के निर्माता	श्री प्रवीण मुनि जी	३५
जाज्वल्यमान नक्षत्र	श्री दिनेश मुनि (जैन सिद्धान्त-विशारद)	३६
पारदर्शी और तेजोमय व्यक्तित्व	महासती सौभाग्यकुँवर जी	३७
कुशल माली, अध्यात्म उपवन के	महासती श्री शीलकुँवर जी	३८
आकर्षण का केन्द्र	महासती चतरकुँवर जी	३९
पूना चातुर्मास : एक पुण्य संस्मरण	साध्वी श्री केशरदेवी पंजाबी	४०
चतुर्मुखी प्रतिभा के धनी	साध्वी प्रमोदसुधा जी 'साहित्य रत्न'	४१
समाज और संस्कृति के सजग-प्रहरी	महासती श्री कौशल्यादेवी जी (पंजाबी)	४२
अणोरणीयान् महतो महीयान्	महासती श्री कुसुमवती जी	४३
जीवन के कलाकार	महासती उमरावकुँवर जी 'अर्चना'	४४
वात्सल्यमूर्ति	महासती विनोदीबाई (लिंबड़ी सम्प्रदाय)	४४
शासन की जगमगाती ज्योति	महासती हीराबाई स्वामी	४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावकारी और चमत्कारी व्यक्तित्व	महासती प्राणकुँवरबाई (गोण्डल सम्प्रदाय)	४५
विलक्षण व्यक्तित्व	महासती पुष्पावती जी 'साहित्य रत्न'	४७
दिव्य व भव्य व्यक्तित्व	महासती दमयन्ती बाई (लिंबड़ी सम्प्रदाय)	४८
युग-युग जीओ हे युगावतार !	साध्वी श्री इन्द्रकुमारी 'शास्त्र विशारदा'	५०
तत्वदर्शी युग-पुरुष	महासती श्री चन्दनबाला जी	५१
श्रमणसंघ के भूषण	महासती धर्मशीला, एम. ए., पी. एच. डी.	५२
अद्भुत विशेषताओं के धनी	साध्वी मुक्तिप्रभा, एम. ए. साहित्यरत्न	५३
स्मृतियों के वातायन से	साध्वी दिव्यप्रभा, एम. ए. साहित्यरत्न	५४
भाव-कलियाँ	साध्वी प्रीतिसुधा, साहित्यरत्न	५४
श्रद्धा के फूल	साध्वी मंजुश्री (साहित्यरत्न जैन सिद्धान्ताचार्य)	५५
श्रमण संस्कृति के सजग प्रहरी : पूज्य गुरुदेव	साध्वी विजयश्री (पंजाबी) जैन सिद्धान्ताचार्य	५६
ते गुरु मेरे उर बसो !	महासती कौशल्या कुमारी	५८
एक महामहिम व्यक्तित्व	साध्वी किरणप्रभा	५९
मां का वात्सल्य और पिता का अनुशासन	महासती विमलावती जी 'साहित्य-विशारद'	६१
श्रमण संस्कृति के सतेज साधक	साध्वी सरोज, शास्त्री 'साहित्यरत्न'	६२
मानवता का मसीहा	साध्वी चरित्रप्रभा शास्त्री	६३
प्रेरणा के स्रोत	साध्वी विमलाश्री 'जैन सिद्धान्ताचार्य'	६४
मधुर जीवन	साध्वी विमला कुमारी जैन-सिद्धान्त शास्त्री	६५
अभिवन्दन ! अभिनन्दन !!	साध्वी दिव्यप्रभा दर्शनशास्त्री	६५
My Pranams	Justice T. K. Tukal M.A., LL.B.	६८
उच्च जीवन	साध्वी श्री प्रकाशवती जी	६७
सुनहरे संस्मरण	डा० एस० एस० बारलिंगे (दर्शन विभाग पूना विश्वविद्यालय)	६९
एक आलोक पुञ्ज: उपाध्यायश्री	श्री चिम्मनलाल सी० शाह, सोलिसिटर, (अध्यक्ष स्थानकवासी जैन श्री संघ, बम्बई)	७०
ज्ञान की जगमगाती ज्योति	दुर्लभजी केशवजी खेतानी, बम्बई	७१
अध्यात्मरसिक पुष्करमुनिजी	प्रो० दलसुख मालवणिया	७३
साधना की मंगल मुस्कराहट	डा० संगमलाल पाण्डेय, इलाहाबाद	७४
इतिहास की पुनरावृत्ति	पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल	७६
सद्गुणों के संगम-स्थल	डा० ए० डी० बतरा, एम० ए०, पी-एच० डी०	७७
बहुश्रुत साधक	डा० सागरमल जैन, भोपाल	७८
विद्यानुरागी एवं कथाशिल्पी	डा० प्रेमसुमन जैन	७८
अनोखा व्यक्तित्व	डा० भागचन्द जैन 'भास्कर'	७९
अभिनन्दन : एक रचनाधर्मी सांस्कृतिक चेतना का	डा० नरेन्द्र भानावत	८०
राजस्थान केशरी श्री पुष्करमुनि जी	श्री रिषभदास रांका	८१
सांस्कृतिक एकता के सेतु श्री पुष्करमुनि	श्री चन्दनमल 'चाँद'	८२
धर्म के मर्मज्ञ	श्री राधाकृष्ण रस्तोगी, एडवोकेट	८३
महामानव राजस्थान केशरी पुष्करमुनिजी महाराज	श्री जीतमल लूणिया	८४
श्रमणसंघ की विभूति	रिखबराज कर्णावट, एडवोकेट	८५
जागरूक सन्तरत्न	भंवरलाल फूलफगर	८६
ज्ञान का देवता	कन्हैयालाल लोढ़ा, एम०ए०	८७
अद्भुत-प्रभाव	मेघराज छाजेड़, अध्यक्ष, श्री पुष्कर गुरु गोशाला, सिंधनूर	८७
अक्षय आनन्द के स्रोत	श्री खूबीलाल मांगीलाल सोलंकी (पूना)	८८
जीवन नौका के नाविक	श्री पारसमल मूथा (रायचूर)	८८
अनासक्त योगी गुरुदेव	श्री चुन्नीलाल धर्मावत	८९
प्रेरणा के अक्षय पुञ्ज	श्री देवीलालजी धोका	९०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्गुणों का खिला हुआ बगीचा	श्री डालचन्द परमार	९०
बहुमुखी प्रतिभा के धनी	श्री चम्पालाल जी कोठारी, बम्बई	९१
श्रद्धा के केन्द्र : गुरुदेव	श्री घीसूलाल जी रांका, बंगलौर	९२
सच्चे सन्त	श्री पारसमल जी मिश्रीलाल जी जीनाणी	९३
अद्भुत प्रभाव	श्री जोहरीमलजी मूथा (रायचूर)	९४
तीर्थराज पुष्कर	श्रीमती सुशीला उगमराज मेहता, बेंगलौर	९५
सद्गुणों के पुञ्ज	एल० बी० शाह, बेंगलौर	९६
प्रकाश स्तम्भ	श्री खुमाणसिंह कागरेचा	९७
हार्दिक श्रद्धार्चना	अर्जुनलाल मगनलाल मेहता, गोगुन्दा	९७
बीसवीं सदी के महापुरुष	शांतिलाल जैन	९७
आचारनिष्ठ सन्त	मुलतानमल रांका,	९८
अविस्मरणीय वर्षावास	श्री एस० चम्पालाल मुत्था	९८
गुणज्ञ सन्त	पं० गोविन्दराम व्यास	९९
निस्पृहयोगी को प्रणाम	श्री दानमल पुनमिया, (महामन्त्री-राजस्थान केसरी अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन स०)	९९

(पद्य भाग)

पथ-प्रदर्शक श्रमण सन्त	एस० श्री कण्ठमूर्ति, बेंगलौर	१००
आशीर्वचन	श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधर केशरी मिश्रीमल जी महाराज	१०२
अभिनन्दन इक्कीसी	चन्दन मुनि 'पंजाबी'	१०३
वन्दन—अभिनन्दन	दिनेश मुनि	१०५
सदा रहो जयवंत	मुनिश्री विनयकुमार 'भीम'	१०५
पुष्कर आप सुतीर्थ	श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'	१०५
श्रद्धा के पुष्प	श्री हीरामुनि जी महाराज 'हिमकर'	१०६
दो चरण....!	श्री गणेशमुनि, शास्त्री	१०७
पढ़ो सभी पुष्कर प्रभा	तपस्वी श्री रूपमुनि 'रजत' (मुक्ता शिष्य)	१०८
हमारे गुरुदेव	श्री गणेशमुनि शास्त्री	१०९
उपाध्याय पुष्कर मुनिवर का अभिनन्दन हो	मुनि श्री महेन्द्रकुमार 'कमल'	११०
महागुणी पुष्कर मुनि	भूपेन्द्र मुनि (रजत शिष्य)	१११
शतशः अभिनन्दन	मुनि सतीशचन्द्र 'सत्य'	११२
वन्दना	विद्याविनोदी श्री शुकनमुनि जी	११२
अभिनन्दन	आर्या चन्द्रावती, जैन-सिद्धान्ताचार्य	११३
वन्दना	जिनेन्द्रमुनि काव्यतीर्थ	११४
सुवासित पुष्प	साध्वी भारती जी, जैन सिद्धान्तविशारद	११५
मनोकामना	साध्वी श्री राजेमती जी	११५
पेखो मुनि पुष्कर-प्रभा	पं० बालाराम कवि-किंकर (जोधपुर राज०)	११६
शुभ-कामना	साध्वी श्री रोशनकुँवर जी प्रभाकर	११६
भाव-वन्दना	महासती कौशल्याकुँवर जी	११६
युग-पुरुष तुम्हें शत-शत वंदन	श्रीचन्द सुराना 'सरस'	१२०
श्रद्धामय गुरु	श्रीनेमीचन्द जी पुगलिया	१२०
ओ जंगम पुष्कर तीर्थराज, पुष्कर ! तेरा अभिनन्दन है !	गजसिंह राठोड, जैन न्यायतीर्थ	१२१
श्री पुष्कर गुरु-गुण गीतिका	भंवरलाल दोशी, कमोल (उदयपुर)	१२२
वंदियव्वो महागुरु	प्राचार्य द० ग० जोशी (अहमदनगर)	१२२
श्रद्धाकुसुम समर्पणम्	महासती कुसुमवती	१२३
गौरवं गुण-पञ्चकम्	श्री रमेशमुनि, काव्यतीर्थ शास्त्री	१२४
श्रद्धापुष्पाभिनन्दनम्	महासती पुष्पावती	१२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्य प्रशस्ति:	श्री रमाशंकर शास्त्री	१२६
अभिनन्दन पत्र	स्थानकवासी जैन श्री संघ, सादड़ी सदन, पूना	१३६

द्वितीय खण्ड : जीवन दर्शन

साक्षात्कार : एक युग पुरुष का	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	१३७
छवि : अभ्यन्तर व्यक्तित्व की	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	१४७
कुछ विशिष्ट सम्पर्क एवं विचार-चर्चाएँ	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	१५६
कदम-कदम पर पदम खिले	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	१७४
(गुरुदेवश्री के विहार चर्या और वर्षावास : एक विवरण)		
संस्मरण : कुछ मीठे—कुछ कड़वे	देवेन्द्र मुनि	१७७
राजस्थान केशरी श्री पुष्करमुनिजी का सन्त व सती परिवार	राजेन्द्र मुनि शास्त्री	१८४
श्रीमद् पुष्कर-गुर्वष्टकम्	राजेन्द्र मुनि शास्त्री	१९२

तृतीय खण्ड : गुरुदेव की साहित्य धारा

गुरुदेव की साहित्य धारा : एक अवगाहन	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	१९३
श्रीमदाचार्यामरसिंह महाकाव्यम् : एक समीक्षात्मक अध्ययन	पं० रमाशंकर शास्त्री	२१०
श्री पुष्करमुनि जी का कथा साहित्य : एक आलोचनात्मक दृष्टि	प्रो० श्रीचन्द जैन, M. A., LL. B.	२१४
विचार और वाणी के धनी—प्रवचनकुशल श्री पुष्कर मुनि	श्रीचन्द सुराना 'सरस'	२२८
अनुभव के बोल (श्री गुरुदेव के साहित्य से संकलित)		२३२

चतुर्थ खण्ड : जैनदर्शन-चिन्तन के विविध आयाम

जैनदर्शन का आदिकाल	श्री दलसुखभाई मालवणिया	२३७
Some Concepts underlying Jain Logic & Philosophy	Dr. S. S. Barlingay	२४३
जैनन्याय का पुनर्वीक्षण	डा० संगमलाल पांडेय	२४७
जैनतर्कशास्त्र में अनुमानविमर्श	डा० दरबारीलाल कोठिया	२५३
The Philosophy of Mahavira	Dr. Satya Ranjan	२५६
जैनदर्शन की निक्षेप पद्धति	उपाध्याय श्री मधुकर मुनि	२६२
जैनदर्शन में आगम (श्रुत) प्रमाण	सुश्री डा० हेमलता बोलिया	२६६
The Relativity of Naya in Jain Logic	Dr. Brij Kishore Prasad	२७८
भारतीय दार्शनिक परम्परा और स्याद्वाद	डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री	२८३
जैनदर्शन में जीवतत्त्व : एक विवेचन	श्री विजय मुनि शास्त्री	२९०
Pramana and Naya in Jaina Logic	V. K. Bharadwaja	३०३
भारतीय दर्शन में आत्ममीमांसा	श्री अरुणविजयमुनि	३०८
जैनदर्शन में मुक्ति : स्वरूप और प्रक्रिया	श्री ज्ञानमुनि जी महाराज (जैनभूषण)	३१४
ईश्वरवाद तथा अवतारवाद	श्री सौभाग्यमल जैन एडवोकेट	३२३
ईश्वर और मानव	डा० कृष्ण दिवाकर	३२६
जैनदर्शन में तत्त्वचिन्तन	डा० साध्वी धर्मशीला	३३३
Apah : Divine and Purifying Substance	Dr. J. R. Joshi	३४२
जैनदर्शन में अनेकान्त	महासती श्री कुसुमवती 'सिद्धान्ताचार्या'	३५३
भारतीय दर्शनों में आत्मतत्त्व	महासती श्री प्रमोदसुधा 'साहित्यरत्न'	३५६
दर्शन और विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में पुद्गल : एक विश्लेषणात्मक विवेचन	राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी	३६१
जैन दर्शन के सन्दर्भ में : पुद्गल	रमेश मुनि साहित्यरत्न	३७५
पुनर्जन्म सिद्धान्त : प्रमाणसिद्ध सत्यता	श्री भगवती मुनि 'निर्मल'	३७८
विश्व को जैनदर्शन की देन	डा० द० ग० जोशी	३९५
A Survey of the Plant and Animal Kingdom as Revealed in Jaina Biology	Dr. J. C. Sikdar	३९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम खण्ड : जैन साधना एवं मनोविज्ञान

जैन साधना का रहस्य	श्री जमनालाल जैन	४१७
जैन और बौद्ध साधना पद्धति	डा० भागचन्द्र 'भास्कर'	४२३
मन : शक्ति, स्वरूप और साधना : एक विश्लेषण	डा० सागरमल जैन	४३६
Jaina Mysticism	Dr. Kamal Chand Sogani	४५४
लेश्या : एक विश्लेषण	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	४६१
आत्मज्ञान : कितना सच्चा, कितना झूठा ?	मुनि श्री नेमिचन्द्र जी	४७४
जैनधर्म की वैज्ञानिकता और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सन्दर्भ	आचार्य डा० राजकुमार जैन	४७७
स्वप्नशास्त्र : एक मीमांसा	मरुधरकेसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमलजी म०	४८३
Characteristics of Jaina Mysticism	Dr. (Miss) Shanti Jain	५००
आध्यात्मिक साधना का विकासक्रम : गुणस्थान	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	५०५
श्रमण धर्म : एक विश्लेषण	श्री हीरा मुनि हिमकर	५३३
Ahimsa : A Psychological Study	Dr. T. G. Kalghatgi	५३६
आगमों के आलोक में—श्रावकाचार : एक परिशीलन	आर्या श्री चन्द्रावतीजी म०	५४०
जैन साधना पद्धति में ध्यान	साध्वी दर्शनप्रभा	५५४

षष्ठ खण्ड : जैन साहित्य : बहुरंगी परिवेश

भारतीय साहित्य को जैन साहित्य की विशिष्ट देन	श्री अगरचन्द नाहटा	५५७
जैन आगमों का व्याख्या साहित्य	श्री महेन्द्र मुनि 'कमल'	५६३
Impersonal Universal Vision	Swami Nirmalananda	५६६
पाश्चात्य विद्वानों का जैनविद्या को योगदान	डा० प्रेमसुमन जैन	५७३
जैनविद्या के मनीषी प्रोफेसर आल्सफोर्ड	डा० जगदीशचन्द्र जैन	५८२
प्राकृत एवं अपभ्रंश का आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं पर प्रभाव	डा० महावीरसरन जैन	५८७
The Logavijaya Niksepa and Lokavicaya	Dr. Bhatt	५९६
श्री नेमिचन्द्रजी महाराज	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	६०५
हिन्दी जैन कवियों की छन्द योजना	डा० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया	६१०
Jain Sahitya in Kannada Literature	B. S. Sannaiah	६१६
प्राचीन जैनाचार्य और रस-सिद्धान्त	डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित	६१८
जैन ज्योतिष साहित्य : एक चिन्तन	श्री कस्तूरचन्दजी म०	६२३
जैन भूगोल पर एक दृष्टिपात	नेमीचन्द्र सिंघई	६२९
Jain Literature in Kannada	Dr. B. K. Khadabadi	६३७
हिन्दी जैन काव्य में योगसाधना और रहस्यवाद	डा० श्रीमती पुष्पलता जैन	६४३
Some Amphibious Expressions in Umaswati	Dr. M. P. Marathe	६५९
जैन रामकथा की पौराणिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि	डा० गजानन नरसिंह साठे	६६६
मराठी जैन साहित्य	डा० विद्याधर जोहरापुरकर	६७८
Akalanka–As a Logician	Dr. T. G. Kalghatgi	६८३

सप्तम खण्ड : जैन संस्कृति

श्रमण संस्कृति का उदात्त दृष्टिकोण	प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव	१
जैनदर्शन में समतावादी समाज रचना के आर्थिक तत्त्व	डा० नरेन्द्र भानावत	५
अहिंसा : वर्तमान युग में	माणकचन्द कटारिया	१०
भारतीय साधना पद्धति में गुरुतत्त्व का महत्व	डा० न० चि० जोगलकर	१४
भगवान महावीर और विश्वशांति	श्री गणेश मुनि शास्त्री	१९
जैन राजनीति	डा० गोकुलचन्द्र जैन	२४
उत्तराध्ययन, गीता और धम्मपद : एक तुलना	पं० श्री उदयचन्द्र	३३
जैन-संस्कृति में ब्रह्मचर्य एवं आहार-शुद्धि	महासती श्री प्रियदर्शना	३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन शिक्षा पद्धति	श्रीमती सुनीता जैन	४७
स्थानकवासी जैन समाज की अनुपम संस्था : स्थानकवासी श्रमण	श्रीजवाहरलाल मूणोत	५६
Jainism : The Most Humanistic Religion	Justice T. K Tukol	५८

अष्टम खण्ड : जैन परम्परा और इतिहास : एक बहती धारा

जैन-धर्म-परम्परा एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण [भगवान ऋषभदेव से लोंकाशाह]	देवेन्द्र मुनि शास्त्री	६६
श्रमण-परम्परा में क्रियोद्धार	,,	८३
युगप्रवर्तक क्रान्तिकारी आचार्य श्री अमरसिंहजी म०—व्यक्तित्व और कृतित्व	,,	८६
हमारे ज्योतिर्धर आचार्य		१०७
[आचार्य श्री तुलसीदासजी महाराज १०७, श्री सुजानमलजी म० १०८, जीतमलजी म० १०६]		
महामहिम आचार्य	,,	११८
[पूज्य श्री ज्ञानमलजी महाराज ११८, आचार्य श्री पूनमचन्दजी म० ११६]		
अध्यात्मयोगी सन्त श्रेष्ठ ज्येष्ठमलजी महाराज	,,	१२३
[महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज १२८, दिव्य तपोधन श्री जसराजजी म० १३६]		
शासन प्रभाविका अमर साधिकाएँ	देवेन्द्रमुनि शास्त्री	१३८
अतीत की कुछ स्थानकवासी आर्याएँ	श्री भँवरलालजी नाहटा	१५४

नवम खण्ड : योग एवं साधना—स्वरूप तथा प्रक्रिया

योग : स्वरूप और साधना—एक सर्वांगीण विवेचन	डा० ए० डी० बतरा, एम. ए., पी-एच. डी.	१
[योग में विभिन्न परम्पराएँ ५, ध्यान-सम्प्रदाय, योग और जैन साधना ६, ध्यान-एक अनुचिन्तन १३, आसन-प्रयोग-विधि : एक चिन्तन १८]		
Yoga and the Society	Dr. R. V. Ranade	२४
Yoga and Meditation	B. K. S. Iyengar	३०
Paths to the Divine	Yogi Amrit Desai	३२
योग और मन	सुरेश मुनि शास्त्री	३६
योग और ब्रह्मचर्य	योगाचार्य स्वामी कृपालवानन्द (कायावरोहण)	४४
Can Yoga pave the way for World Unity	Smt. Sitadevi Yogendra	४६
Yoga : Personality, Mind and Vairagya	Dr. K. S. Joshi	५२
आध्यात्मिक योग और प्राणशक्ति	मुनि नथमल	५८
योग और परामनोविज्ञान	डा० रामनाथ शर्मा	६७
अरविन्द की योग साधना	कन्हैयालाल राजपुरोहित	७३
प्राणायाम : एक चिन्तन	महासती पुष्पावती	८१
पतंजलि योगशास्त्र : एक चिन्तन	डा० बसन्त गजानन्द राहुरकर	८४
Yoga in Physical Education	Dr. M. L. Gharote	८८
Yoga & West	Swami Vishnu Devananda	९६
Why is the West interested in Yoga	B. K. S. Iyengar	९७
तान्त्रिक साधनाएँ : एक पर्यवेक्षण	डा० रुद्रदेव त्रिपाठी	१००
विपश्यना : कर्मक्षय का मार्ग	कन्हैयालाल लोढ़ा	१०८
योग : एक जीवन-पद्धति	का० ब० सहस्रबुद्धे	११२
अकुलागम का परिचय	रा० पा० गोस्वामी	११३
Integral Yoga : Its Nature & Significance	Dr. G. N. Joshi	१२१
मन्त्र शक्ति : एक चिन्तन	प्रो० जी० आर० जैन	१३७
सूफी सिद्धान्त और साधना	डा० केरव प्रथमवीर	१४०
भावातीत ध्यान	कृष्णकुमार	१४६
योगसाधना : एक पर्यवेक्षण	उपाध्याय प्रवर्तक श्री फूलचन्द जी म० श्रमण	१४८
कुंडलिनी योग—जैन दृष्टि में	अम्बालाल प्रेमचन्द शाह	१५२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखना, मात्र देखना ही हो	सत्यनारायण गोयनका	१५५
This is Reality....A Fresh Look at Meditation	Dr. Motilal	१५८
साधना में आहार का स्थान	ऋषभदास रांका	१६०
जप साधना और मनोविज्ञान	डा० ए० डी० बतरा	१६५
जप साधना	मुनिप्रवर कुन्दकुन्दविजयजी	१६८
कुण्डलिनी योग : एक विश्लेषण	योगाचार्य स्वामी कृपाल्वानन्द	१७१
Modern Psycho-therapy V/s. Ancient Indian Psycho-therapy	Dr. S. N. Bhavasar	१९१
योग और नारी	पं० गोविन्दराम व्यास	१९८
Shodhana Kriyas : An Analysis	Dr. M. L. Gharote	२०१
प्राणायाम : एक चिन्तन	साध्वी दिव्यप्रभा	२०७
Philosophy of Tantrik Yoga Sadhana	Dr. Vashishtha Narain Tripathi	२१०
Yoga and My Experience of Teaching in the West Europe	Smt Atma Devi	२१९
Yoga for Me	Susan Shaw	२२१
Yoga and America	Yogi Shantananda	२२२
The Extinct Yogi	Jayadeva Yogendra	२२३
Yoga Sadhna	Bhag Singh Lamba	२२५
Self Realization Through Vedant and Yoga	Kiyoshi Kuromiya	२२८
Yoga Flourishes in Brazil	Ignez Novaes Romell	२३२
Research in Yoga by the Methods of Modern Natural Sciences	Dr. P. V. Karambelkar	२३५
Concept of Pathogenesis with special reference to Yoga & Ayurveda	Dr. S. N. Bhavasar	२४७
Introvert and Agamas	Dr. Prabhakar Apte, M. A., Ph. D.	२५५



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड १

राजस्थानकेसरी

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ





- आशीर्वाद
- वन्दना
- समर्पण



श्रद्धार्चन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आशीर्वचन

नाणेणं दंसणेणं च,
चरित्तेण तहेव य।
खंतीय मुत्तीए,
वड्ढमाणो भवाहि य॥

तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र क्षान्ति—क्षमा और मुक्ति—निर्लोभता के द्वारा आगे बढ़ो।"

—उत्तराध्ययन सूत्र २२।२३

जय जय नंदा! जय जय भद्दा! भद्दं ते!
अभग्गेहिं नाण - दंसणचरित्तेहिं
अजियाइं जिणाहि इंदियाइं
जियं च पालेहि समणधम्मं॥

हे नन्द! आपकी जय हो! विजय हो! हे भद्र! आपकी जय हो! जय हो! आपका भद्र (कल्याण) हो! निरतिचार ज्ञान-दर्शन और चारित्र से तुम नहीं जीती हुई इन्द्रियों को जीतो, जीते हुए श्रमण धर्म का पालन करो।

—कल्पसूत्र ११२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन



☐ राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी महाराज

☐

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी श्रमणसंघ के एक वरिष्ठ सन्त-रत्न हैं। उनका उर्जस्वल व्यक्तित्व और कृतित्व अद्‌भुत है, अनूठा है। श्रमण संघ के निर्माण में वे नींव की ईंट के रूप में रहे हैं। श्रमण संघ की यशोगाथा दिग्‌दिगन्त में गूंजती रहे उसके लिए वे सतत प्रयत्न करते रहे हैं। श्रमण संघ को वे आचार और विचार दोनों ही दृष्टियों से सदा उन्नत देखना चाहते हैं। श्रमण संघ के संत व सतीवृन्द ज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक प्रगति करें। विश्व के भूले-भटके जीवनराहियों के लिए वे पथ-प्रदर्शक बनें और साथ ही आचार की उत्कृष्टता से उनका जीवन जगमगाता रहे यह उन्हें इष्ट है, अतः समय-समय पर मुझे नम्र निवेदन भी करते रहे और श्रमण संघ के हितार्थ किये गये उनके अमूल्य सुझावों पर मैं स्नेह से चिन्तन भी करता रहा हूँ।

मुझे सात्विक गौरव है, श्रमण संघ में ऐसे तेजस्वी सन्त हैं, जिनके मधुर सहयोग से श्रमण संघ प्रगति के पथ पर हैं। पुष्कर मुनिजी के साहित्य, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान की प्रगति को संलक्ष्य में रखकर ही मैंने उन्हें उपाध्याय पद से अलंकृत किया। वे पहले साहित्य-शिक्षण मंत्री और प्रान्त मंत्री भी रह चुके हैं। सदा अनुशासन में रहकर दूसरों को अनुशासन में रहने का उन्होंने पाठ पढ़ाया है।

पुष्कर मुनिजी के साथ मेरा चालीस वर्षों से परिचय रहा है। अजमेर वृहद् साधु सम्मेलन के पूर्व वे मुझे अपने सद्‌गुरुवर्य महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज के साथ ब्यावर में मिले थे। उसके पश्चात् वे पदराडा, उदयपुर, सादड़ी, सोजत, गुलाबपुरा, अजमेर, साण्डेराव, मंचर और घोडनदी आदि में मिले। मिले ही नहीं, अनेक दिनों तक साथ में रहे और ऐसे रहे जैसे गुरु-शिष्य रहे हों। ज्ञान होने पर भी उनमें अहंकार और ममकार नहीं है यही उनके जीवन की प्रगति का मूलमंत्र रहा है। मैंने उनके जीवन को बहुत ही निकटता से देखा है, उनकी सरलता-सहजता और सदा आल्हादित रहने वाली मुख-मुद्रा ने मुझे प्रभावित किया है। वे सुलेखक हैं, कवि हैं, प्रखर वक्ता हैं और साथ ही वे एक सफल जप व ध्यान योगी सन्त हैं। मैंने देखा है, नियमित समय पर जप-साधना करना उन्हें प्रिय है। भोजन छोड़ सकते हैं पर भजन नहीं छोड़ सकते —यह उनके जीवन की महान विशेषता है।

जैन समाज उनके दीक्षा स्वर्ण-जयन्ती के सुनहरे अवसर पर उन्हें एक विराट् काय अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित कर रहा है यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है। यह उनका व्यक्तिगत गौरव ही नहीं, श्रमण संघ का भी गौरव है। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि उपाध्याय पुष्कर मुनि जी पूर्ण स्वस्थ रहकर देश के विविध अंचलों में परिभ्रमण करते हुए जैन धर्म की प्रबल-प्रभावना करते रहें। ज्ञान-दर्शन-चारित्र और अध्यात्म में सदा आगे बढ़ते रहें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



शरद् के चाँद की तरह चमकते रहें

☐ आचार्यप्रवर श्री रूपचन्द जी महाराज
(लिमडी सम्प्रदाय)

☐

श्रमण भगवान महावीर ने मानव जीवन का गम्भीर विश्लेषण करते हुए मानव के चार प्रकार बताये हैं—(१) श्रुतसम्पन्न (२) शीलसम्पन्न (३) श्रुत व शील सम्पन्न (४) श्रुत व शील रहित। वस्तुतः वही महान् है जो श्रुत और शील सम्पन्न होता है। केवल श्रुत सम्पन्न व्यक्ति उस पंगु के समान है, जिसके नेत्र हैं किन्तु पैर नहीं और शीलसम्पन्न उस अन्धे के समान है जो चल सकता है, पर देख नहीं सकता। श्रुत और शील रहित व्यक्ति अन्धा भी है पंगु भी है। श्रेष्ठतम व्यक्ति वही है जिसमें श्रुत भी है शील भी है। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी श्रुत सम्पन्न भी हैं और शील सम्पन्न भी हैं। इसी कारण उनके जीवन की महत्ता है।

पुष्कर मुनिजी ने जहाँ साहित्य का गहरा अध्ययन किया है वहाँ उनके जीवन के कण-कण में आगम की वे बातें जो श्रमण के जीवन के लिए आवश्यक हैं स्पष्ट रूप से निहारी जा सकती हैं। उनका जीवन, ज्ञान और विचार का सुन्दर संगम है। जैसे केले के पात में से पात निकलते हैं वैसे ही उनकी बात में से बात निकलती जायगी। उनके विचारों में जहाँ गहराई है वहाँ नरमाई भी है। आपको ऐसा प्रतीत होगा कि हम साक्षात् सरस्वती पुत्र से ही बात कर रहे हैं। ज्ञान के वे महान् भण्डार हैं, किन्तु उतने ही ज्ञान के पिपासु भी हैं। मैं सन् १९४९ में और १९७१ में उनसे क्रमशः लिमडी, (सौराष्ट्र) में और अहमदाबाद में मिला। मैंने अनुभव किया कि वे अपने सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त थे और दूसरी बात वे श्रमण संघ के वरिष्ठ सन्त थे, तथापि उनमें नम्रता, सरलता तथा स्नेह-सौहार्द और जिज्ञासु वृत्ति को देखकर मेरा हृदय गद्-गद हो गया। जिज्ञासा वृत्ति ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारती है। मुझे स्मरण है कि आचार्य प्रवर पूज्य श्री गुलाबचन्द जी महाराज से उन्होंने अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं, अनेक आगमिक विषयों पर उनसे चर्चाएँ हुईं। उन सभी चर्चाओं में मैंने उनका विनीत रूप देखा। सन् १९४९ में जब सौराष्ट्र में तेरापन्थी समुदाय के सन्तों ने दया-दान के विरुद्ध प्रचार किया और भगवान महावीर ने भूल की आदि आगमीय मान्यताओं के विरुद्ध प्रचार को रोकने के लिए और शुद्ध जैन दृष्टि का परिज्ञान कराने हेतु पूज्य श्री की प्रेरणा से सौराष्ट्र का शिष्ट मण्डल आपकी सेवा में पहुँचा और आपने सौराष्ट्र में आकर जो अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया वह अद्भुत था, अनूठा था, जिससे उनका जोर समाप्त हो गया।

मुझे यह जानकर हार्दिक आल्हाद हुआ कि आपका अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। आपका अभिनन्दन एक प्रचलित परम्परा का पालन मात्र नहीं है किन्तु चिर-स्मरणीय निर्माण की गरिमा से आप अभिनन्दनीय हैं। जनमानस जिस व्यक्ति के गौरवपूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होता है, उसी का अभिनन्दन किया जाता है।

श्री पुष्कर मुनिजी दिनानुदिन गुलाब के फूल की तरह महकते रहें और शरद् ऋतु के चाँद की तरह चमकते रहें, यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिभा के पुंज



□ प्रसिद्धवक्ता मालवकेशरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज

□

उपाध्याय राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी महाराज स्थानकवासी जैन संघ के एक ज्योतिर्मान नक्षत्र हैं। उनके ओजस्वी व्यक्तित्व और तेजस्वी कृतित्व से समाज भलीभाँति परिचित है। आप विलक्षण प्रतिभा के धनी सन्त रत्न हैं। आप कुशल कवि, सफल लेखक, ओजस्वी वक्ता, उत्कृष्ट साधक और संगठन के जीते जागते सजग पुजारी हैं। श्रमण संघ के निर्माण में और उसके विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यों उनका सम्पूर्ण जीवन सद्गुणों की सौरभ से महक रहा है। उनमें विनय है, सरलता है और सहज स्नेह है। वे विद्वान् हैं पर विद्वत्ता का किंचित्मात्र भी अभिमान नहीं है। वे महान् ध्यानयोगी साधक हैं, पर साधना का जरा भी घमण्ड नहीं है। वे सफल प्रवक्ता हैं, पर किंचित्मात्र भी अहं नहीं है। उनके इस सद्गुण ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया और मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि श्री पुष्कर मुनि जी श्रमण संघ के गौरव हैं।

श्री पुष्कर मुनि को मैंने बहुत ही सन्निकटता से देखा है, अनेकों बार लम्बे समय तक साथ में रहने का अवसर मिला है। बहुत वर्ष पूर्व सर्वप्रथम अजमेर में वृहद् साधु सम्मेलन के सुनहरे अवसर पर मैंने उनको देखा है, उसके पश्चात् सन् १९४६ में वे मुझे इन्दौर में मिले थे और सन् १९४७ में नासिक और इगतपुरी में मिलना हुआ। उसके पश्चात् सादड़ी, सोजत, ब्यावर, अजमेर, बम्बई, सिन्नर, नासिक आदि में साथ में रहने का अवसर मिला। साथ में रहने का आनन्द तभी आता है जब मन मिलता है। बिना मन के मिले तन का मिलना कोई महत्त्व नहीं रखता है। हम तन से ही नहीं किन्तु मन से मिले, दिल खोलकर मिले। उन्हें देखकर मेरा मन आनन्द से झूम उठता और मुझे देखकर उनका मन-मयूर नाच उठता।

इस मिलन और सम्मिलन के अवसर पर अनेकों बार उनसे आगम, दर्शन, साहित्य, इतिहास, ध्यान और परम्परा पर गम्भीर चर्चाएँ हुईं। उन चर्चाओं में मैंने अनुभव किया कि पुष्कर मुनिजी जैन आगम साहित्य के गम्भीर ज्ञाता हैं, दर्शन साहित्य और इतिहास के तलस्पर्शी विद्वान् हैं। जप और ध्यान के क्षेत्र में जो उन्होंने प्रगति की है वह अपूर्व है; सभी साधकों के लिए प्रेरणादायी है। आज आवश्यकता है श्रमण और श्रमणियों को इस दिशा में अत्यधिक प्रगति करने की।

मुझे परम आल्हाद है कि दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर एक शानदार अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है, करना ही चाहिए, क्योंकि जिसका जीवन गौरवमण्डित रहा है उसका अभिनन्दन करना समाज का कर्तव्य है। गुणी महापुरुषों का अभिनन्दन करने से सद्गुणों को प्रोत्साहन मिलता है। मेरी हार्दिक मंगल कामना और भावना है कि उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी पूर्ण स्वस्थ व प्रसन्न रहकर जैन धर्म की प्रबल प्रभावना करते रहें।

□

विशेषताओं के धनी

□ ज्योतिषाचार्य उपाध्याय श्री कस्तूरचन्दजी महाराज

उपाध्याय पुष्कर मुनिजी के ओजस्वी व्यक्तित्व और कुशल कार्य विधि से मैं केवल परिचित ही नहीं हूँ अपितु बहुत ही सन्निकटता से मैंने उन्हें देखा है। कई बार उनसे मिलने का अवसर मिला है और साथ में रहने का भी, मैंने अनुभव किया है कि वे स्वभाव से सरल हैं, मिलनसार हैं वे स्वयं संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित हैं उन्होंने न्याय और दर्शनशास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन किया है आगम और उसके व्याख्या-साहित्य को भी पढ़ा है तथापि उनमें गहरी जिज्ञासा है, जब भी वे मुझे मिले तब बहुत ही नम्रता से उन्होंने मेरे समक्ष ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि ज्योतिष चक्र के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं, मैंने अपने अनुभव के आधार पर उन्हें बताया तो वे बहुत ही प्रसन्न हुए। मुझे ऐसा लगा कि विनय और तीव्र जिज्ञासा वृत्ति के कारण ही उन्होंने इतनी प्रगति की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जब तक जिज्ञासा नहीं होती तब तक विकास नहीं हो सकता। जब जिज्ञासा का बीज अंकुरित होता है तब विकास से द्वार खुल जाते हैं।

पुष्कर मुनि जी में यों अनेकों विशेषताएँ हैं पर मेरी दृष्टि से उनमें तीन मुख्य विशेषताएँ हैं। सर्व-प्रथम विशेषता है कि वे बहुत ही परिश्रमी हैं। उन्होंने अपने ही परिश्रम से अपना विकास किया है। स्वयं ने भी अध्ययन की दृष्टि से प्रगति की है और अपने सुयोग्य शिष्य-शिष्याओं को पढ़ाकर जैन समाज के गौरव में चार चाँद लगाये हैं। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने और उनके शिष्यों ने जो कीर्तिमान स्थापित किया है वह अन्य श्रमण-श्रमणियों के लिए भी प्रेरणादायी है। एक व्यक्ति परिश्रम से कितना आगे बढ़ सकता है यह उनके जीवन से सीखा जा सकता है।

उनके जीवन की दूसरी बड़ी विशेषता है कि वे बहुत बड़े साहसी हैं। वे किसी भी विषय पर गम्भीर चिन्तन के पश्चात् निर्णय लेते हैं और वे वीर सैनिकों की भाँति फिर आगे बढ़ते रहते हैं। भय से कायर सैनिक की तरह पीछे हटना उन्होंने सीखा नहीं है। कई बार उनके जीवन में ऐसे विकट प्रसंग आये हैं पर कभी भी उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। वे जिसे ठीक समझते हैं उसे करने में कभी भी संकोच नहीं करते।

तीसरी उनके जीवन की विशेषता है कि वे जिम्मेदार व्यक्ति हैं। जिम्मेदारी को प्राणप्रण से निभाना वे जानते हैं।

पुष्कर मुनिजी की और हमारी परम्परा के आद्य नायक आचार्य प्रवर जीवराजजी महाराज थे जिन्होंने सर्व-प्रथम (वि० सं० १६६६ में पीपाड़) राजस्थान में क्रियोद्धार किया था, अतः उनके साथ आज से ही नहीं, अपितु परम्परा की दृष्टि से भी हमारा बहुत ही पुराना सम्बन्ध रहा है और आज भी है।

उनके ओजस्वी व्यक्तित्व और तेजस्वी कृतित्व से प्रभावित होकर श्रद्धालुगण उनकी दीक्षा-जयन्ती के सुनहरे अवसर पर एक विराट्काय अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं यह परम आल्हाद की बात है गुणीजनों का अभिनन्दन करना हमारी उज्ज्वल परम्परा रही है, उसी परम्परा को दुहराया जा रहा है। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि उपाध्याय पुष्कर मुनिजी पूर्ण स्वस्थ रहकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की अभिवृद्धि करते हुए जैनधर्म की विजय वैजयन्ती फहराते रहें।

स्नेह व सौजन्य की साक्षात्मूर्ति

☐ उपप्रवर्तक स्वामी जी श्री ब्रजलाल जी महाराज

☐

उपाध्याय पुष्कर मुनिजी स्थानकवासी परम्परा के जाने और पहचाने हुए सन्त श्रेष्ठ हैं। उनका जीवन निर्मल, विचार उदार और प्रकृति सरल व सरस है। मैं उन्हें तब से जानता हूँ जब वे मरुधरा के तेजस्वी सन्त श्रद्धेय ताराचन्दजी महाराज के सन्निकट भाव दीक्षित थे। उस समय उनकी उम्र तेरह-चौदह वर्ष की थी। ताराचन्द जी महाराज के साथ हमारा वर्षावास भी उस वर्ष पाली में था। वे मेरे पास वन्दना हेतु आते थे और मैं यदा-कदा उनसे स्तोक साहित्य के सम्बन्ध में प्रश्न करता था और वे उसका सचोट उत्तर देते थे। उनके ऊर्वर मस्तिष्क को देखकर मुझे उस समय में ही यह अनुभव हो गया था कि यह बालक भविष्य में एक तेजस्वी सन्त बनेगा।

महास्थविर ताराचन्दजी महाराज का और हमारा विहार क्षेत्र प्रायः राजस्थान रहा और परम्परा से भी हमारा अत्यन्त निकट का मधुर सम्बन्ध रहा, जिसके कारण अनेकों बार साथ में रहने का अवसर मिला और साथ में वर्षावास करने का भी सौभाग्य मिला। इस लम्बे परिचय में मैंने पुष्कर मुनिजी को बहुत ही सन्निकटता से देखा है, परखा है, "जहा अन्तो तहा बाहिं" के अनुसार जैसे वे अन्दर हैं वैसे बाहर हैं। उनके जीवन में बहुरूपियापन नहीं है। वे स्नेह-सौजन्य की साक्षात् मूर्ति हैं। उनके जैसे प्रतिभा-सम्पन्न सन्तों से श्रमण संघ का गौरव है। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि पुष्कर मुनिजी चिरंजीव बनें और श्रमण संघ की गरिमा को निरन्तर बढ़ाते रहें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्त-परम्परा का एक तेजस्वी नक्षत्र

☐ उपाध्याय बहुश्रुत श्री मधुकरमुनि जी महाराज

☐

राजस्थान की वीर-प्रसवा पुण्यभूमि में समय-समय पर सन्त रत्न उत्पन्न होते रहे हैं। जिन्होंने अपने पवित्र चरित्र और तपःपूत वाणी के द्वारा जन-जन के मन में अभिनव चेतना का संचार किया और भूले बिसरे जीवन राहियों को प्रशस्त पथ पर बढ़ने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की, उन्हीं सन्त परम्परा की लड़ी की कड़ी में उपाध्याय राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी भी हैं।

पुष्कर मुनिजी से मेरा सर्वप्रथम परिचय विक्रम सं० १९८० में हुआ था। उस वर्ष मैंने श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री जोरावरमल जी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की थी। मेरे गुरुदेव का वर्षावास उस वर्ष मरुधरा की पावन नगरी पाली में था और मरुधरा के तेजस्वी नक्षत्र श्रद्धेय ताराचन्द जी महाराज का भी वर्षावास वहाँ था जो पुष्कर मुनिजी महाराज के सद्गुरुदेव थे। उस समय पुष्कर मुनिजी ने आर्हती दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। वे वैराग्यावस्था में अपने गुरुदेव के पास धार्मिक अध्ययन करते थे। उनका नाम अम्बालालजी था। वैरागी अम्बालालजी समय-समय पर जहाँ हमारी अवस्थिति थी वहाँ दर्शनार्थ उपस्थित होते थे। मेरे गुरुदेव हस्तरेखा व शारीरिक लक्षणों के ज्ञाता थे। उन्होंने जब आपके शुभ लक्षण देखे तो श्रद्धेय ताराचन्दजी महाराज से निवेदन किया कि वैरागी अम्बालाल महान् भाग्यशाली व्यक्ति है, इसके हाथ में ध्वजा, पद्म, कमल, मत्स्य आदि अनेक ऐसी रेखाएँ हैं, जो इसके उज्ज्वल भविष्य को बताती हैं। यह विद्वत्ता के साथ प्रभावशाली वक्ता, अध्यात्मप्रेमी और समाज का कुशल नेतृत्व करने वाला सन्त बनेगा। मुझे यह लिखते हुए आनन्द हो रहा है कि जैसे मेरे पूज्य गुरुदेव ने भविष्यवाणी की थी आज वे सारी विशेषताएँ पुष्कर मुनि जी में मूर्त रूप में दिखायी दे रही हैं।

पुष्कर मुनिजी ने दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् संस्कृत, प्राकृत, भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया। उन्होंने न्याय और काव्यतीर्थ की परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कीं। साथ ही आगम साहित्य का और उसके व्याख्या-साहित्य का गहराई से परिशीलन किया, दर्शन साहित्य का अनुशीलन किया। साहित्य और संस्कृति का पर्यवेक्षण कर अध्ययन में प्रौढ़ता प्राप्त की। उनका अध्ययन विशाल भी है और तलस्पर्शी भी है।

आप श्री की प्रवचन शैली बहुत ही प्रभावपूर्ण है। आप वाणी के देवता हैं। जब आप गम्भीर गर्जना करते हैं तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। आपके प्रवचनों में भाषा की सरलता, भावों की गम्भीरता तथा अध्ययन की विशालता का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। प्रवचनों के बीच आप ऐसी चुटकी लेते हैं कि श्रोताओं में हँसी के फौव्वारे छूट जाते हैं। भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमण करने के कारण आपकी अनुभव सम्पदा अत्यधिक बढ़ चुकी है।

पुष्कर मुनिजी केवल प्रवचनकार ही नहीं, किन्तु लेखनी के भी धनी हैं। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में श्रेष्ठतम ग्रन्थों की रचना की है। उनकी लौह-लेखनी पर समाज को गर्व है।

मैं पुष्कर मुनिजी का सबसे बड़ा सौभाग्य मानता हूँ कि उन्हें सुयोग्य शिष्य मिले। "स्वर्णे सौरभम्" "कांचने मणिसंयोगः" प्रभृति लोकोक्तियाँ पुष्कर मुनि के जीवन में पूर्ण रूप से चरितार्थ हुई हैं। आधुनिक जैन जगत् के भव्य-भव्य लेखकों में देवेन्द्र मुनि का शीर्षस्थ स्थान है। उनकी अगाध श्रद्धा व सूझबूझ के कारण अभिनन्दन ग्रन्थ अन्य अभिनन्दन ग्रन्थों से विशिष्ट बनेगा ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

पुष्कर मुनिजी को मैंने बहुत ही सन्निकटता से देखा है। अनेकों बार लम्बे समय तक साथ रहे हैं। उनके स्नेह सौजन्यपूर्ण सद्व्यवहार ने मुझे सदा प्रभावित किया है। मेरी हार्दिक शत-शत मंगल कामना है कि उनकी कीर्ति-कौमुदी सदा बढ़ती रहे। उनके विमल विचारों का आलोक जन-जन को मिलता रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अध्यात्म, शिक्षा और संस्कृति के पुरोधा

☐ पंडित मुनि श्री यशोविजय जी
(इतिहास व कला मर्मज्ञ)

☐

मैंने पुष्कर मुनिजी का नाम कई बार सुना था। किन्तु मिलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। सन् १९७० में मैं सायन (बम्बई) में था। प्रातःकाल मैं शौच से लौट रहा था और मुनिश्री जी अपने शिष्यों के साथ शौच के लिए जा रहे थे। रास्ते में मिले। तब मुझे ज्ञात हुआ कि ये ही पुष्कर मुनि जी हैं। वह प्रथम मुलाकात औपचारिक रूप से ही रही। किन्तु उसके पश्चात् आगमप्रभाकर पुण्य विजय जी महाराज, जो बालकेश्वर (बम्बई) में विराज रहे थे, मैं उनकी सेवा में पहुँचा। उधर मुनिश्री जी भी वहाँ पर पधारे। जब उन्होंने पुण्यविजयजी महाराज से आगम-रहस्यों पर चर्चाएँ कीं जिसे मैं सुनकर आनन्द-विभोर हो उठा। मुझे ऐसा लगा कि सीधे-सादे वेष में होने पर भी मुनिश्री जी गम्भीर विद्वान् हैं। उनकी विद्वत्ता और स्नेह ने मुझे आकर्षित किया। मुनिश्री के सुयोग्य शिष्य देवेन्द्र मुनि द्वारा विद्वत्तापूर्ण संपादित 'कल्पसूत्र' जब गुजराती में प्रकाशित हुआ तब बम्बई महानगरी में एक तहलका-सा मच गया। स्थानकवासी मुनिराज के द्वारा कल्पसूत्र का प्रकाशन और वह भी शोधदृष्टि से, इसे देखकर मेरा मन-मयूर नाच उठा। मैंने उस पर अभिप्राय भी दिया। कुछ ही समय में उस ग्रन्थ की दो आवृत्तियाँ प्रकाशित हुईं जो उसकी लोकप्रियता को प्रमाणित करती है। मेरे द्वारा सम्पादित "महावीर चित्र संपुट" ग्रन्थ को भी जो उस समय अप्रकाशित था, उसके विवेचन आदि को मैंने मुनिश्री को दिखाया। उन्होंने योग्य सूचन भी किया। तथा समय-समय पर देवेन्द्र मुनिजी के शोधप्रधान ग्रन्थ मुझे मिलते रहे जिन्हें पढ़कर मेरे अन्तर्मानस में भी यह विचार-लहरियाँ उद्‌बुद्ध होती रहीं कि मैं भी इस प्रकार लिखूँ तो कितना अच्छा हो! किन्तु मुझे अन्यान्य प्रवृत्तियों के कारण समय ही नहीं मिल पाता।

सन् १९७४ में भयंकर ऐक्सिडेंट होने के कारण मुझे नानावटी अस्पताल में भर्ती होना पड़ा। मुनिश्री जी अहमदाबाद का वर्षावास पूर्ण कर बम्बई पधारे। ज्योंही उन्होंने सुना कि मैं हास्पिटल में हूँ त्योंही वे मुझसे मिलने के लिए हास्पिटल में आये। और लम्बे समय तक वहाँ बैठकर अनेक विषयों पर वार्तालाप किया। मैं आपके स्नेह सौजन्ययुक्त व्यवहार को देखकर गद्‌गद हो गया। सन्त जीवन की यही सबसे महान् विशेषता है कि उसका हृदय विराट् हो, मन विशाल हो; नम्रता, सरलता, स्नेह सौजन्यता का साम्राज्य हो।

मैं ज्यों-ज्यों मुनिश्री जी के निकट सम्पर्क में आया त्यों-त्यों उनकी सरलता ने, स्नेह सद्‌भावना ने मुझे प्रभावित किया और उनके शिष्यों के साहित्य से भी मेरे मन में आपके प्रति सहज आकर्षण हुआ कि वस्तुतः आप महान कलाकार हैं।

उपाध्याय पुष्कर मुनिजी स्थानकवासी समाज के एक वरिष्ठ सन्त हैं। अध्यात्म, शिक्षा, साहित्य और संस्कृति के पुरोधा हैं। समाज उनके श्री चरणों में अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित कर रहा है यह प्रमोद का विषय है। वे पूर्ण स्वस्थ रहकर जैन धर्म की अत्यधिक प्रभावना करें यही मेरी मंगल कामना है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम ने सुयश री रति दनोंदन बढ़ती रे

☐ मेवाड़संघ शिरोमणि प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज

मने अणी बात री घणी खुशी है के पं० प्रवर उपाध्याय राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी महाराज रो सार्वजनिक अभिनन्दण करवा रे वास्ते जैन समाज प्रयत्नशील है। यूं तो मुनि जीवन सदा ई अभिनन्दणीय व्यां करे, पण आखा समाज का चार तीर्थां रा प्रमुख एक रूप व्हे, जणी महापुरुष रो स्वागत करे, वा पछे मामूली बात नी रे, समाज तहदिल सूं या बात मंजूर करे के अणारा आपाणां ऊपरे, अनेक उपकार है, ने वणां उपकारां रे बदले सौ सौ अभिनन्दण भी करां तो उरिण नी वां जदो, समाज ठेठ हिया सूं स्वागत कर वणां महापुरुषां रे प्रति आपाणी श्रद्धा अर्पित करे।

पं० प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज साहब रे वास्ते जदी मूं सोचूं तो म्हारा मन में वणीं वगत या बात आवे के आपां वणां रो एक अभिनन्दन कई, सौ अभिनन्दण भी करां तो कम है।

ओपता शरीर रा धणी, हँसमुख ने मिठ बोल्या श्री पुष्कर मुनिजी महाराज समाज में एक सुहावणां सन्त रत्न है।

म्हारे नरीदाण साथे रेवा रो काम पड़्यो, कदी अणां ने में चढ़्ये मूंडे नी देख्या, गुलाब रां फूल ज्यूं हर वखत खुश मिजाज रेणों अणां रो स्वभाव है।

बातचीत में खूब खुल्या, साफ सटक केणों पण मिठास सूं या अणां री विशेषता है। ज्या बात, बातचीत री है वाई बात व्याख्यान री, कठेई कड़वाई नी, पूरो व्याख्यान मीठो गट सुणताई जाओ, थाके पुष्कर मुनिजी पण सुणवावाला नी ऊबे।

मैं देख्यो, ज्या सभा शास्त्र री गेरी-गेरी बातां सुणतां-सुणतां सुस्ताई री ही के पुष्कर मुनिजी के आतां ई ने थोड़ा क बोलताइं सारी सभा में खिलखिलाट फैलगी, सुस्ती उड़गी, इं रो मतलब यो नी के वे वखाण में हँसी मजाक की बातां ई ज करे, वणां रा व्याख्यान में तत्वज्ञान री विवेचना भी वै पण, अणां को व्याख्या करवा रो तरीको अस्यो सरस है के, श्रोता देखताई रेइजा।

श्री पुष्कर मुनिजी महाराज में सब सूं म्होटो गुण गुरुभक्ति रो है। अणां रा गुरु महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज म्हाणे मेवाड़ में ई ज्यादा विचर्‌या इं सूं म्हूं जाणूं के अणां वणां री कतरी सेवा भक्ति की दी।

श्री ताराचन्द जी महाराज का अबका दनां में, केवल श्री पुष्कर मुनिजी काम आया, कई भी कठिनाई ही पण, छायां ज्यूं गुरुजी साथे र्‌या ने अन्त तक वणां ने छेह नी दी दो, धन्य है अस्या सुपात्र चेला ने, आज श्री पुष्कर मुनिजी के गुरुजी रो वोई आशीर्वाद फल र्‌यो है।

आज योग्य चेला री संख्या भी बढ़ी, नाम पण कमायो, यो सब अणां री गुरुभक्ति को फल है।

भक्ति रे साथ ज्ञान-ध्यान रो अभ्यास भी कीदो, ने पीछे आपणां चेला ने भी योग्य बणाया, आज श्री पुष्कर मुनिजी महाराज ने अणां रो सिंघाडो अच्छो चमक र्‌यो है, या बड़ी खुशी है।

संयम ने सुयश री रति दनोंदन बढ़ती रे, याही म्हारी शुभ कामना है।

मन-वच मीठा, मुख पर चमके ब्रह्मचर्य का तेज।
गंगाजल सम पावन जीवन नयनों बरसै हेज।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय श्री पुष्करमुनि : एक शब्द-कथा

अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

अपवर्ग मार्ग के प्रमुख पथिक एवं पथ-प्रदर्शक पतित-पावन पण्डित श्री पुष्कर मुनि श्री वर्धमान श्रमण संघ के एक वरिष्ठ श्रमण हैं। आप संयमी जीवन के ५३ वर्ष पूर्ण करके ५४वें वर्ष में प्रवेश कर चुके हैं।

इस मंगलमय अवसर पर "आपकी अणगार धर्म आराधना एवं रत्नत्रय-साधना यावज्जीवन निर्विघ्न सम्पन्न हो"—ऐसी भव्य भावना रखते हुए "**यथा नाम तथा गुण**"—इस सूक्ति के संदर्भ में युक्तियुक्त आगम वाक्यों से **पुष्कर नाम की सार्थकता** सिद्ध करने का प्रयास कर रहा हूँ।

श्री पुष्कर मुनि का व्यक्तित्व आकर्षक है :—कद लम्बा, शरीर सुगठित, वर्ण गौर, मुख मुस्कान सिक्त, वाणी ओज युक्त, आचरण चरण संपृक्त, व्यवहार वात्सल्य पूर्ण है। तथा आपकी शिष्य संपदा पुष्य है, एवं नियति निरापदा है।

नानार्थसूचक पुष्कर नाम

श्री हेमचन्द्राचार्य कृत "हेमिनाममाला" में "पुष्कर" नाम के विभिन्न अर्थ—

पुष्करं द्वीप-तीर्थाहि-खग-रागौषधान्तरे।
तूर्यास्ये ऽसिफले काण्डे, शुण्डाग्रे खे जलेऽम्बुजे॥

विश्वकोष के अनुसार "पुष्कर" नाम के नानार्थ—

पुष्करं पंकजे व्योम्नि, पयः करिकराग्रयोः।
ओषधि-द्वीप-विहग, तीर्थराजोरगान्तरे॥
पुष्करं तूर्यवक्त्रे च, काण्डे खड्गफलेऽपि च।

अमरकोश के अनुसार "पुष्कर" नाम के विभिन्न अर्थ—

पुष्करं करिहस्ताग्रे, वाद्यभाण्डमुखे जले।
व्योम्नि खड्गफले पद्मे, तीर्थौषधी विशेषयोः॥

—अम० का०, ३ वर्ग ३, श्लो० १८६।

व्योम-पुष्करमम्बरम्।

—अम० का० १, वर्ग २, श्लो० १।

पुष्करं सर्वतोमुखम्।

—अम० का० १, वर्ग २, श्लो० ४।

पुष्कराम्भोरुहाणि च।

—अम० का० १, वर्ग १०, श्लो० ४१

मूले पुष्कर काश्मीर, पद्मपत्राणि पौष्करे।

—अम० का० २, वर्ग ४, श्लो० १८६।

इन विभिन्न शब्द कोशों के अनुसार "**पुष्कर**" नाम के जितने अर्थ हैं उनका संकलन इस प्रकार है—

१ पंकज, २ व्योम, ३ पय (पानी), ४ करिकराग्र (हाथी की शुण्ड) ५ औषधी (पुष्कर मूल नाम की कुष्ट रोग की औषधी), ६ द्वीप (पुष्कर वर द्वीप), ७ विहग (पक्षी), ८ तीर्थ (पुष्कर तीर्थराज), ९ उरग (सर्प), १० तूर्य मुख, ११ भाण्ड मुख, १२ काण्ड (स्कन्ध आदि), १३ खड्गफल (असिधारा)।

उपाध्यायश्री के जीवन में ये विभिन्न अर्थ किस प्रकार चरितार्थ हैं—उद्धृत आगम वाक्यों से यहाँ उन सबकी अर्थ संगति करना चाहता हूँ—

१. पुष्कर—पंकज (कमल)

पुक्खरपत्तं व निरुवलेवे····।

—प्रश्न० सं० ५।

—श्रमण कमल-पत्र के समान अलिप्त रहता है।

जहापोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥

—उत्त० अ० २५, गा० २७।

—जिस प्रकार पानी में उत्पन्न पद्म पानी से अलिप्त रहता है—इसी प्रकार कामभोग रूप पंक में उत्पन्न होकर भी जो उससे अलिप्त रहता है हम उसे माहण (ब्राह्मण) कहते हैं।

न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।

—उत्त० अ० ३१, गा० ३४।

—जिस प्रकार पुष्करणी में पलास पानी से अलिप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है इसी प्रकार भवस्थ श्रमण भी भोगमय जीवन से अलिप्त रहता है।

श्री पुष्कर मुनि भी जिस परिवार और जिस समाज में उत्पन्न हुए हैं उस परिवार व समाज के मोह से अलिप्त रहकर दीक्षित हुए हैं। तथा जिन प्रान्तों में पठन-पाठन करते हुए आप प्रकाण्ड पण्डित बने हैं और जिन क्षेत्रों में आपका उपासक संघ है, उन सब प्रान्तों के मोह से अलिप्त रहकर अनेकानेक जनपदों की पदयात्रा करते हुए वीतराग वाणी का व्यापक प्रचार-प्रसार कर रहे हैं।

विधि का वरदहस्त है कि इस दुषम काल में भी आप गणधर परम्परा के प्रत्यक्ष प्रतीक हैं क्योंकि आप द्विज हैं और आगमोक्त लक्षणों के अनुसार लाक्षणिक अर्थात् भावद्विज भी हैं।

विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए।

—उत्त० अ० २५, गा० ४३।

—जिस प्रकार मिट्टी का शुष्क गोला भित्ति पर चिपकता नहीं है इसी प्रकार विरक्त श्रमण का मन भी किसी व्यक्ति, वस्तु या वसति में व्यामोहित होता नहीं है।

श्री पुष्कर मुनि भी किसी व्यक्ति या जाति से अनुबंधित नहीं है क्योंकि उनके प्रवचन सार्वजनिक एवं सर्वजनोपयोगी "**सर्बजन हिताय सर्बजन सुखाय**" होते हैं। आपका वाणी विलास व्यापक वात्सल्य पूरित हैं अतएव आपकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर प्रगति की पराकाष्ठा पर है। अतएव आप सबके हैं और सब आपके हैं फिर भी आश्चर्यजनक अनुभूति है कि आपका विरक्त संयमी जीवन भी सर्वथा आगमानुरक्त है।

गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिंचि कुज्जा।

—दश० चू० २, गा० ८।

—श्रमण किसी ग्राम, कुल, नगर या देश में अर्थात् कहीं भी ममत्वभाव न करे अपितु सर्वत्र समत्व भाव से विचरण करे।

वीतराग भगवान का यह संदेश श्री पुष्कर मुनि के संयमी जीवन में ओतप्रोत है अतएव आदर्श श्रमण जीवन का प्रतीक है।

२. पुष्कर व्योम (आकाश)

आगासे चेव णिरालंबे

—प्रश्न सं० ५।

—श्रमण आकाश के समान आलम्बन रहित संयम साधना करता है।

श्री पुष्कर मुनि निरालंब साधक हैं अर्थात् निर्गुण उपासक हैं। निरंजन निराकार शुद्ध चैतन्य स्वरूप अमूर्त आत्मतत्त्व की उपासना निरालंब उपासना या निर्गुण उपासना है। प्रस्तुत संदर्भ में उपासना का संक्षिप्त परिचय कर लेना आवश्यक है—

उपासना दो प्रकार की है—सगुण उपासना और निर्गुण उपासना। सगुण उपासना साकार (किसी आकृति की मूर्ति) की उपासना। निर्गुण उपासना-निराकार की उपासना।

स्थानकवासी परम्परा में निरालंब (निर्गुण) उपासना सदा मान्य रही है।

श्रमण किसी व्यक्ति या जाति का अथवा ग्राम या नगर का सहारा लेकर संयम साधना नहीं करता है। श्रमण साधना का उद्घोष है—

"**आप बले बलवंत कहावे, पर बल नित्य अधूरा**"।

श्री पुष्कर मुनि आत्मबल से ही इतनी प्रगति करते हुए समाज में गौरव पूर्ण पद प्राप्त कर पाये हैं। यद्यपि आप की प्रगति से कइयों को ईर्ष्या है किन्तु आप निर्द्वन्द्व भाव से उत्तरोत्तर प्रगति करते ही चले जा रहे हैं।

णिरालंबणस्स य आययट्ठिया योगा भवंति।

—उत्त० अ० २९, सूत्र २४।

निरालम्ब होने से अणगार के सारे प्रयत्न आयतार्थ अर्थात् मोक्ष के लिए होते हैं।

श्री पुष्कर मुनि भी संयम साधना में सर्वथा स्वावलम्बी हैं। उनके समस्त प्रयत्न शिव-मोक्ष की प्राप्ति के लिए होते हैं।

३. पुष्कर—पय (जल)

सारय सलिलं व सुद्धहियए।

—प्रश्न० संव० सू० ५

श्रमण शरद् ऋतु के निर्मल जल के समान शुद्ध हृदय होता है।

श्री पुष्कर मुनि का हृदय भी शिशु के समान सरल एवं निर्मल है। उनके हृदय में मताग्रह का विकार भाव नहीं है। वे इतर सम्प्रदाय के मनीषियों से भी वात्सल्य भाव से व्यवहार करते हैं। कभी किसी से वाद-विवाद या तर्क वितर्क नहीं करते हैं।

४. पुष्कर—करि कराग्र (हाथी की शुण्ड)

सोंडीरो कुञ्जरोव्व।

—प्रश्न० सं० ५

जिस प्रकार हाथी जीवन सहायक सभी क्रियायें शुण्ड से करता है। शुण्ड से खाना-पीना, प्रहार करना, वृक्षों को उखाड़ फेंकना आदि वह सशक्त शुण्ड के प्रहारों से प्रबल सैन्य दल में भी विजयश्री प्राप्त करता है। इसी प्रकार श्रमण भी प्रत्येक साधना में तथा परीषह सैन्य के सामने श्रद्धा के संबल से ही अविचल रहता है।

श्री पुष्कर मुनि भी वीतराग-वाणी पर अविचल श्रद्धा रखते हुए कर्मदल का दलन कर रहे हैं।

नागोव्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए।

—उत्त० अ० १४, गा० ४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—जिस प्रकार गजराज अपने पराक्रम से बंधनों का छेदन कर अपनी वसति (विंध्याटवी) में चला जाता है—इसी प्रकार श्रमण भी प्रबल आत्मबल से कर्म बन्धनों को तोड़कर परमात्मधाम-शिवधाम को चला जाता है।

श्री पुष्कर मुनि भी अणगार धर्म की आराधना करते हुए कर्म बन्धनों को तोड़कर **यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम**—की प्राप्ति के प्रयत्नों में लगे हुए हैं।

५ पुष्कर—औषधी

(पुष्करमूल—कुष्ट रोग की परमौषधी)

दुहट्टियाणं च ओसहिबले।

—प्रश्न० सं० ५।

—जिस प्रकार रोगग्रस्त व्यक्तियों को औषधी का सहारा होता है—इसी प्रकार कर्म रोगग्रस्त आत्माओं को वीतराग वचनामृत रूप परमौषध का सहारा होता है।

····आमोसहिपत्तेहि, खेलोसहिपत्तेहि, जल्लोसहि पत्तेहि, विप्पोसहि पत्तेहि, सव्वोसहि पत्तेहि····

—प्रश्न० सं० ५

—अहिंसा के परमोपासक श्रमण को आमर्शौषधि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

श्री पुष्कर मुनि इनमें से कौन-सी लब्धि सम्पन्न है—यह तो विशेषज्ञ ही बता सकते हैं पर उन्हें किसी एक प्रकार की लब्धि अवश्य प्राप्त है।

मैंने स्वयं देखा है—अपरान्ह में उपस्थित उपासक वृन्द को जब वे मंगल पाठ सुनाते हैं तो श्रद्धालु श्रोताओं के कायिक, वाचिक एवं मानसिक सन्ताप प्रायः समाप्त हो जाते हैं।

६ पुष्कर—द्वीप (पुष्करवरद्वीप)

दीवो ताणं सरणगई पइट्ठा।

—जिस प्रकार द्वीप समुद्र में आश्रय स्थान होता है इसी प्रकार अहिंसा महा मोहसागर में आश्रय स्थान है।

जरा-मरण वेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं॥

—उत्त० अ० २३, गा० ६८।

—जिस प्रकार प्रबल प्रवाह में बहते हुए प्राणियों को द्वीप का ही आधार (सहायक) होता है इसीप्रकार जरा एवं मरण के प्रवाह में पड़े हुए प्राणियों के लिए एक धर्म ही उत्तम आधार उत्तम शरण एवं उत्तम गति हो सकती है।

श्री पुष्कर मुनि भी अहिंसा धर्म के आराधक हैं इसलिए भवसागर में भवभ्रमण करने वाले भव्य जीवों के लिए द्वीप के समान आधार हैं।

इस भूतल पर पुष्कर द्वीप सबसे महान् है और श्रमणसंघ में श्री पुष्कर मुनि भी विशाल व्यक्तित्व वाले श्रमण हैं।

७. पुष्कर विहग (पक्षी)

विहग इव सव्वओ विप्पमुक्के।

—प्रश्न० सं० ५

—श्रमण पक्षी के समान परिग्रह से सर्वथा मुक्त होता है। किन्तु पक्षी तो केवल द्रव्य परिग्रह से मुक्त होता है और श्रमण द्रव्य एवं भाव परिग्रह से अर्थात् बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से सर्वथा मुक्त होता है।

श्री पुष्कर मुनि भी बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से सर्वथा मुक्त होने की साधना में संलग्न हैं।

भारंड पक्खीव चरे ऽप्पमत्तो।

—उत्त० अ० ४, गा० ६।

—श्रमण भारंड पक्षी के समान अप्रमत्त होकर विचरे।

श्री पुष्कर मुनि भी उक्त सर्वज्ञ सन्देशानुसार अप्रमत्त दशा की आराधना में अनुरक्त हैं।

भोगे भोच्चा वमित्ता य, लहुभूय विहारिणो।
आमोयमाणा गच्छन्ति, दिया कामकमा इव॥

—उत्त० अ० १४, गा० ४४

—भोगों को भोगकर या त्यागकर जो लघुभूत विहारी प्रसन्नतापूर्वक प्रव्रजित होते हैं और वे पक्षी या पवन के समान अप्रतिबद्ध विहार करते हैं।

श्री पुष्कर मुनि भी चार प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त होकर अप्रतिबन्ध विहार के लिए सदैव प्रयत्नशील हैं।

८. पुष्कर—तीर्थ (तीर्थराज पुष्कर)

वैदिक मान्यतानुसार भारत में पुष्कर तीर्थराज हैं।

इस तीर्थराज की यात्रा करने पर अन्य तीर्थयात्राएँ सफल होती हैं—यह पुष्कर तीर्थराज की महिमा है, फिर भी यह स्थावर तीर्थ है अर्थात् एक स्थान पर स्थिर रहने वाला तीर्थ है किन्तु श्री पुष्कर मुनि जैनागमों के अनुसार जंगमतीर्थ हैं। वर्तमान में वे वर्धमान श्रमण संघ में उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित हैं—इसलिए तीर्थराज अर्थात् जंगम तीर्थराज की श्रेणी में समाविष्ट हैं।

आपके प्रवचन-पयोधि में जो अनवरत अवगाहन करते हैं वे कर्ममल से मुक्त हो सकते हैं।

९. पुष्कर—उरग (सर्प)

कय पर-निलए जहा चेव उरए·····।

—प्रश्न० सं० ५

—श्रमण सर्प के समान पर-कृत निलय में ही ठहरते हैं।

श्री पुष्कर मुनि भी श्रमणचर्या के अनुसार परकृत उपाश्रयादि में ही विश्रान्ति लेते हैं।

अही चेव एगदिट्ठी·····। —प्रश्न० सं० ५
अहीवेगंत दिट्ठीए·····।

—उत्त० अ० २९, गा० ३९।

—श्रमण सर्प के समान एक दृष्टि—एकाग्रदृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर चलता है अर्थात् एकलक्ष्य-कर्ममुक्ति के लक्ष्य वाला होता है अथवा सर्प एकदृष्टि—अर्थात् विषदृष्टि होता है इसीप्रकार श्रमण भी एक सम्यग्दृष्टि होता है। सर्प दृष्टि-विष होता है और सन्त कृपादृष्टि होता है।

श्री पुष्कर मुनि भी उसी श्रमण श्रेणी में हैं अतः आपकी साधना का लक्ष्य भी केवल कर्म-मुक्ति है। और सब पर कृपादृष्टि रखने वाले हैं।

ममत्तं छिन्दइ ताहे, महानागो व्व कंचुयं।

—उत्त० अ० १६, गा० ८६

—जिस प्रकार शरीर पर आवृत कंचुक का महानाग परित्याग कर देता है—इसीप्रकार महाश्रमण भी ममत्व कंचुक का परित्याग करके उन्मुक्त होकर विचरता है।

१०. पुष्कर—तूर्यमुख (वाद्य-मुख)

बुद्धे परिणिव्वुडेचरे, गामगह नगरे व संजह।
संतीमग्गं च बूहए, समयं गोयम मा पमायए॥

—उत्त० अ० १० गा० ३६

—बुद्ध एवं निवृत्त संयत ग्राम नगर में जाकर शान्ति-मार्ग का कथन करे। हे गौतम! इस कार्य में समय मात्र का भी प्रमाद न करे।

जिस प्रकार वाद्य के मुख से मधुर ध्वनि निकलती है इसी प्रकार बुद्ध एवं निवृत्त श्रमण के श्रीमुख से प्रत्येक ग्राम नगर में शान्ति का सन्देश प्रसारित होता है।

श्री पुष्कर मुनि भी प्रत्येक ग्राम नगर में अमित शान्ति का सन्देश सुनाते हुए एवं अप्रमत्त भाव की आराधना करते हुए विहार करते रहते हैं।

११. पुष्कर—भाण्डमुख (कुम्भकलशमुख)

जिस प्रकार कुम्भकलश के मुख से कामित रस की प्राप्ति होती है इसी प्रकार श्री पुष्कर मुनि के श्री मुख से कामित वचनामृत श्रवणकर भावुक भक्त इष्ट सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

१२. पुष्कर—काण्ड (स्कन्ध आदि)

१. सुयधर विवियत्थ कयबुद्धिणो·····।

—श्रमण श्रुतधर होता है अतएव उसकी बुद्धि से अनेकार्थ उद्भूत होते हैं।

२. धीरमइ बुद्धिणो·····।

—श्रमण औत्पातिकी आदि बुद्धियों को धारण करने वाला होता है।

३. णिच्चं सज्झाय झाणा·····।

—श्रमण नित्य स्वाध्याय-ध्यान करने वाला होता है।

४. ससमय-परसमयकुसला·····।

—श्रमण स्वसमय (स्वसिद्धान्त) और परसमय (पर-सिद्धान्त) में कुशल होते हैं।

श्री पुष्कर मुनि भी स्व-पर सिद्धान्तों के केवल पण्डित ही नहीं अपितु प्रकाण्ड पण्डित हैं। आपकी अनेक कृतियाँ अनेकानेक पाठकों की ज्ञान वृद्धि के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान कर रही हैं। सतत स्वाध्याय एवं ध्यान से तथा व्युत्पन्नमति श्रुतधर होने से आप प्रवचन कुशल हैं।

१३. पुष्कर—खड्गफल (तलवार की धार)

असिधारा गमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो।

—उत्त० अ० १६, गा० ३७

—जिस प्रकार तलवार की धार पर गमन करना सरल नहीं है इसी प्रकार तप का आचरण करना सरल नहीं है।

जहा खुरो चेव एगधारे·····।

—प्रश्न० सं० ५

—जिस प्रकार क्षुर-उस्तरा के एक ही धार होती है इसी प्रकार उत्कृष्ट श्रमण उत्सर्ग मार्ग से ही शिवपुर के लिए प्रयाण करता है।

धार तरवार की सोहली दोहली
चउदमा जिनतणी चरणसेवा।

—आनन्दघन चौविसी

—श्री पुष्कर मुनि भी उसी भक्तिमार्ग के पथिक हैं और उत्सर्ग मार्ग आराधना की भावना रखते हैं।

पुष्कर नाम नानार्थक है और ये नानार्थ उपाध्याय श्री के जीवन में किस प्रकार चरितार्थ हैं यह ज्ञानवृद्धि के लिए यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं।

श्रमण संघ की प्रभावकारी परम्परा में अतीत में अनेकानेक प्रवचन-प्रभावक हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी होने की सम्भावना है ही, किन्तु पुष्कर नाम जैसी नानार्थता विरल नामों में ही प्राप्त है। जैनागमों की भाषा में "**अलिप्त जीवन**" तथा गीता की भाषा में "**अनासक्तयोग**" पुष्कर नाम में ही सार्थक हैं।

परम पुण्योदय से यह पुष्कर नाम उपाध्याय श्री को प्राप्त है जो आत्मा के निज स्वभाव का पोषक है। और कषायात्मा का शोषक है।

ज्ञानात्मा का, दर्शनात्मा एवं चारित्रात्मा का बोधक है। उपयोगात्मा और भावात्मा का शोधक है। वास्तव में यह आध्यात्मिक नाम उपाध्याय श्री को प्राप्त है।

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



ओजस्वी जीवन और तेजस्वी कृतित्व

□ आचार्य श्री कांतिऋषि जी महाराज
(खम्भात सम्प्रदाय)

□

उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज के दर्शन मैंने सर्व-प्रथम खम्भात में किये थे। उस समय आप अपने श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री ताराचन्द जी महाराज के साथ पधारे थे। आपका अध्ययन प्रारम्भ था। आपने खम्भात से सोलह मील दूर पेटलाद में संस्कृत भाषा की उच्च परीक्षाएँ प्रदान की थीं। मैंने उस समय देखा आप में अपने सद्गुरुदेव के प्रति गहरी निष्ठा थी, विनय था। आपके उस विनय गुण को देखकर मुझे "**विद्या ददाति विनयम्**" की उक्ति सहज ही स्मरण हो आयी। मैंने संघपति होने के नाते सेवा कर अपना कर्तव्य अदा किया। आपके आचार व विचार की उत्कृष्टता की छाप मेरे अन्तर्मानस पर बहुत ही गहरी गिरी। उसके पश्चात् पुनः सन् १९४९ में आप श्री का पदार्पण खम्भात में हुआ। उस समय आप श्री दस सन्तों के साथ पधारे थे। आपके साथ लिमडी सम्प्रदाय के पूनमचन्द जी महाराज भी थे। पूर्वापेक्षया आप में प्रतिभा की तेजस्विता अत्यधिक बढ़ गयी थी। आपने आगम साहित्य के साथ दार्शनिक साहित्य का गहराई से अध्ययन किया था जिसके फलस्वरूप आपके प्रवचन मौलिक तथा हृदयस्पर्शी होते थे। खम्भात में आपके प्रवचनों को सुनने के लिए बरसाती नदी की तरह जनता उमड़ पड़ती थी। उसके पश्चात् आप श्री सौराष्ट्र होकर राजस्थान पधार गये और मैंने भी अपने स्नेही साथियों के साथ आर्हती प्रव्रज्या ग्रहण की।

सन् १९७५ में भगवान महावीर निर्वाण शताब्दी का भव्य आयोजन था। उस समय आप श्री अहमदाबाद का अपना शानदार वर्षावास पूर्ण कर बम्बई पधारे। मेरे मन में कई वर्षों से आपके दर्शनों की उत्कृष्ट अभिलाषा थी। किन्तु वह अभिलाषा पूर्ण न हो सकी। इस वर्ष बम्बई बालकेश्वर में आपके दर्शनों का तथा सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। और आपश्री के तेजस्वी प्रवचनों को भी सुनने का अवसर मिला। महावीर जयन्ती पर बम्बई चौपाटी पर एक विराट् सभा का आयोजन था। उस सभा में श्वेताम्बर स्थानकवासी, मूर्तिपूजक, तेरापंथी तथा दिगम्बर सभी समुदाय के प्रमुख सन्त व सतीवृन्द उपस्थित हुए। आपश्री का भगवान महावीर के जीवन-दर्शन पर सार-गर्भित प्रवचन हुआ जिसे सुनकर मेरे आल्हाद का पार न रहा। आपके प्रवचनों में गम्भीर अध्ययन के साथ ही रूपक तथा चुटकुले और अत्यन्त मधुर भजन चलते हैं जो विषय को सरल व सरस बना देते हैं। इससे श्रोता मस्तिष्क की टेढ़ी-मेढ़ी तंग पगडंडियों में न उलझकर सीधा हृदय की अतल गहराई में पहुँच जाता है।

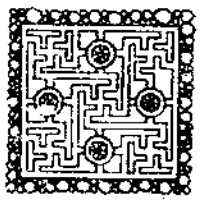
पुनः वर्षावास के पश्चात् आपश्री के दर्शनों का सौभाग्य मुझे पूना और घोड़ नदी (महाराष्ट्र) में मिला। मैंने बहुत ही सन्निकटता से आपके जीवन को देखा, आपके विचारों को सुना। अतः साधिकार कह सकता हूँ, कि आपका अध्ययन गम्भीर है और चिन्तन बहुत ही स्पष्ट है और हृदय बहुत ही उदार है। मैं गुजरात का सन्त और आप राजस्थान के सन्त, किन्तु मैंने कभी भी आपमें भेद-भाव की संकीर्ण दृष्टि नहीं देखी। मैं आपश्री के ओजस्वी जीवन से और तेजस्वी कृतित्व से बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ। आप जैन धर्म की ज्योति को जगमगाते रहें और खूब जैन शासन की प्रभावना करें यही मेरे हृदय की मंगल कामना है।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मृतियों के झरोखे से—

जीवन के वे उजले क्षण जो कभी धुंधले नहीं पड़ सकते



□ श्री सुरेशमुनि शास्त्री

□

मुद्दतें गुजरीं, कभी याद भी आयी न तेरी।
और तुझे भूल गए हों, ऐसा भी नहीं॥

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी आज मरुधर-प्रांत में स्थानकवासी जैन समाज के एक जाने माने तथा ख्याति प्राप्त संत हैं; राजस्थान के इस छोर तक ही नहीं—सुदूर कर्नाटक-प्रांत तक उनकी प्रतिष्ठा एवं ख्याति है! समाज और संघ के प्रति स्वयं को उत्सर्ग एवं समर्पित करने वाले, शीर्षस्थ संतों में आज उनकी गणना है!

व्यक्ति क्या है—यह व्यक्ति को अत्यन्त निकट से देखने-परखने पर ही जाना-पहचाना जा सकता है, मेरे मन का चिर-विश्वास रहा है! और भी स्पष्ट शब्दों में कह दूं तो, किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का आभास पाने का एक ही उपाय है और वह है, उस व्यक्ति के निकटतम सम्पर्क में आने का सुअवसर!

बात सन् १९५५ की है! राजस्थान प्रांत के महान् संत महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज का अपने शिष्य-प्रशिष्य मण्डल के साथ आगरा नगर में पदार्पण हुआ था तभी मुझे उनके परम शिष्य श्री पुष्कर मुनिजी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके साथ उस प्रथम मिलन से मेरे मन में जो आल्हाद उभरा था, उसकी मधुर-स्निग्ध स्मृति से आज भी मन पुलकित हो उठता है और हृदय आदर से भर जाता है!

उस प्रथम साक्षात्कार में मैंने पाया कि पुष्कर मुनिजी सरलचित्त, प्रसन्नवदन और मिलनसार स्वभाव के एक मनस्वी-यशस्वी तथा तेजस्वी संत हैं! उनके सरल-निश्छल और आत्मीयतापूर्ण व्यवहार से मेरा मन विभोर हो जाता था! उस प्रथम परिचय में ही वे मुझसे ऐसे मिले, जैसे कोई चिर-परिचित संगी-साथी हों। उनके सरल-विनम्र, वार्ता-व्यवहार के फलस्वरूप उनके और मेरे बीच अपरिचय की कोई रेखा न रह गयी थी। मुझे लगा कि वे सहृदयता, शालीनता तथा सौम्यता के एक जीवन्त प्रतीक हैं। उनसे बात करने में मुझे गौरव एवं आनन्द की अनुभूति होती थी। मुझे देखते ही वे प्रफुल्ल हो उठते थे। उनकी तबियत और आँखों में एक अजीब-सी मस्ती झलकती-छलकती रहती थी। जब भी उनसे बात होती अथवा मिल-बैठने का प्रसंग आता तो मैं देखता, उनका चेहरा फूल-सा खिला रहता था। मुझे लगता, उनकी हँसती-मुस्कराती सूरत-मूरत और प्रसन्न प्रकृति हजार-हजार मुख से यह बोल रही है—

हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा!
जब आलम मस्त फकीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा!!

जीवन का यह ज्वलंत तथ्य है कि अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के माध्यम से ही किसी व्यक्तित्व में जीवन्तता तथा सजीवता आती है और लोक-जीवन को भी उससे जीवन के नये आयाम का बोध-परिबोध होता है। इसी दृष्टि से समाज और संघ में उपदेष्टा संत का बहुत ऊँचा स्थान है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि एक विद्वान् एवं अध्यात्म-योगी संत होने के साथ, श्री पुष्कर मुनिजी भाषण-मंच के एक प्रखर प्रवक्ता भी हैं। उनके विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों तथा ओजस्वी भाषणों ने आगरा नगर के जन-मानस को पर्याप्त आन्दोलित एवं प्रभावित किया था। जन-हित की दृष्टि से उनके प्रवचनों के लिए 'अचल भवन' आदि अनेक स्थानों पर सार्वजनिक आयोजन भी किए गये थे। अपने प्रवचनों में वे अपना धार्मिक दृष्टिकोण तथा आध्यात्मिक पक्ष पूरी शक्ति और प्रबल निष्ठा के साथ ऐसी सरल शैली में प्रस्तुत करते थे कि लोक-मानस झूम जाता था। सचमुच, भाषण-मंच पर उनके भीतर का प्रचारक जाग उठता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दिन, प्रातः अरुणोदय वेला में ही सहसा मैं उनके पास जा निकला तो देखा, वे एकान्त-शांत वातावरण में योगासनों का अभ्यास कर रहे हैं। मैंने कहा—अच्छा, योगासनों का अभ्यास चल रहा है? हँसते-मुस्कराते स्वर में वे बोले; हाँ, जीवन में यह भी चलता है! शरीर की स्वस्थता तथा मन-मस्तिष्क की संतुलित अवस्था के लिए योगासनों का अभ्यास भी जीवन में अनिवार्य एवं अपरिहार्य है—ऐसा मेरा स्वयं का अनुभव है। उनकी दिनचर्या तथा अध्यात्म-चर्चा से यह तथ्य भली-भाँति उजागर होता था कि उन्हें अध्यात्म-योग की भी लटक है।

उनके परम शिष्य श्री देवेन्द्र मुनिजी और गणेश मुनिजी उन दिनों अध्ययन-रत थे। अपने शिष्य-युगल के शैक्षणिक विकास तथा उज्ज्वल-समुज्ज्वल भविष्य के प्रति उनकी चेतना एवं शक्ति पूर्णतः जाग्रत थी। आगरा से उनका प्रस्थान हुआ तो प्रथम पड़ाव पर भी मुझे उनकी सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रतिक्रमण के बाद, रात के एकांत-शांत वातावरण में मिल-बैठने का प्रसंग आया तो अपने शिष्य-युगल की उपस्थिति में श्री पुष्कर मुनिजी बोले—"सुरेश मुनि जी, इनके अध्ययन एवं विकास की भावी रूपरेखा के सम्बन्ध में भी आप अपने विचार दीजिए, कुछ मार्ग-दर्शन कीजिए। आप तो इस मंजिल को तय कर चुके हैं। आपके दूरगामी अनुभव से लाभान्वित होकर ये सुचारु रूप से गति-प्रगति कर सकें, अपनी मंजिल पर आगे बढ़ सकें—यह मेरी हार्दिक इच्छा है।"

विनम्र स्वर में मैंने निवेदन किया—"पुष्कर मुनिजी, आप बड़े भाग्यशाली हैं, जो ऐसे अध्ययनशील एवं सुयोग्य शिष्य आपको मिले हैं। आज के सामाजिक परिवेश में अध्ययन के अभाव में गति कहाँ? अपनी मति एवं गति से ये दोनों ठीक चल रहे हैं, निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं। मैं सेवा में प्रस्तुत हूँ। जो कुछ भी मुझे आता है, उसे बतलाने में मुझे जरा भी संकोच नहीं है।"

और इसके पश्चात् काफी देर तक—संभवतः आधी रात तक अनौपचारिक विचार-विमर्श चलता रहा। हम खुलकर अन्तरतम की बातें करते रहे। जीवन के वे उजले क्षण कभी धुंधले नहीं पड़ सकते। प्रस्तुत सन्दर्भ में यथा-मति एवं यथागति अध्ययन के सम्बन्ध में मैंने कुछ रचनात्मक सुझाव भी प्रस्तुत किए, जो उनको अत्यन्त आकर्षक तथा रुचिकर प्रतीत हुए और अन्त में श्री पुष्कर मुनिजी प्रसन्न स्वर में बोले—"सुरेश मुनिजी, इन दोनों के भावी अध्ययन के सम्बन्ध में आपने जो मौलिक मार्ग-दर्शन किया, इससे मैं भाव-विभोर हो गया हूँ। ऐसा स्पष्ट और सहज विचारों का आदान-प्रदान करने का अवसर हमें कहाँ मिलता है? आप का यह स्नेह-मिलन, सेवा-सद्भाव और मार्ग-दर्शन हमें इस स्नेह-यात्रा की याद दिलाता रहेगा।"

अपनी तरंगित मनःस्थिति में मैंने कहा—"भई, अपनी तो प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि जब भी किसी से मिलते हैं तो दिल-खोलकर मिलते हैं। मन में कोई गाँठ रखकर बन्द तबियत से मिलने में कुछ मजा भी तो नहीं आता?

जब मिले, जिससे मिले, दिल खोलकर मिले!
इससे बढ़कर और कोई खूबी इन्सां में नहीं॥
मिलता नहीं मिल बैठनेवालों को कुछ मजा!
जब तक कि तबीअत से तबीअत नहीं मिलती॥

मेरे परम स्नेही साथी श्री देवेन्द्र मुनि जी ने जब मुझे यह सूचना दी कि, इधर हम अपने गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी के चरणों में एक विशाल एवं विशिष्ट अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने जा रहे हैं तो अतीत की वे सब स्मृतियाँ एकबारगी स्मृति-पटल पर उभर आयीं! सचमुच, इस संसूचना ने अतीत को बींधकर वर्षों पुरानी स्मृति की परतों को उधेड़ दिया और अट्ठाईस वर्ष पूर्व की वे स्नेह-स्मृतियाँ चित्रपट की तरह मेरे मानस-नेत्रों के आगे घूम गयीं। और, तरंगित मन गुनगुनाने लगा—

मुद्दतें गुजरीं, कभी याद भी आयी न तेरी।
और हम भूल गये हों, ऐसा भी नहीं॥

ऐसे गरिमा-मंडित संत का अभिनन्दन करना संत के प्रति समाज की ओर से सामूहिक श्रद्धा तथा हार्दिक निष्ठा का ही प्रतीक है और उनकी समाज-सेवा, परोपकारशीलता एवं आचारनिष्ठता का विनम्र समादर है—ऐसा मैं मानता-समझता हूँ।

इस शुभ अवसर पर, संघ के इस प्रतिष्ठित संत का शतायु होने की मंगल कामना के साथ शत-शत अभिनन्दन!!!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रद्धा-स्निग्ध पुष्प

☐ पं० मुनि श्री सन्तबाल जी

☐

अजरामरपुरी अजमेर में सन् १९३३ में स्थानकवासी जैन श्रमणों का एक विराट् सन्त सम्मेलन का आयोजन था। उस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए महागुजरात के सन्त-सतीजन भी पधारे। उस समय राजस्थान के पूज्य मुनिवर उन सन्तों को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो अतः आबु माउण्ट तक लेने आये और साथ में रहकर उत्कृष्ट सेवा व सद्भावना का परिचय दिया। उस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए मैं अपने पूज्य गुरुदेव कविवर्य नानचन्द्र जी महाराज के साथ राजस्थान पहुँचा। उस समय मरुधरा के तेजस्वी सन्त महास्थविर श्री ताराचन्द्र जी महाराज के सुशिष्य पूज्य श्री पुष्कर मुनि जी के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उस समय पुष्कर मुनि जी संस्कृत साहित्य का अध्ययन कर रहे थे। उनकी जिज्ञासा वृत्ति ने मुझे प्रभावित किया। सम्मेलनों की भीड़ भड़के में उतना गहरा परिचय न हो सका, किन्तु मैंने उस समय यह अनुभव किया कि पुष्कर मुनि जी एक तेजस्वी युवक सन्त हैं, इनमें प्रतिभा की तेजस्विता है, सरलता और नम्रता है।

अजमेर में जिस स्नेह के बीज का वपन हुआ उसको सिंचन मिला बम्बई, सूरत और चींचणी, महावीर नगर, अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र में। और वह स्नेह दिन-प्रतिदिन वर्धमान रहा। मैं पुष्कर मुनिजी के अत्यधिक निकट सम्पर्क में आया मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि पुष्कर मुनिजी स्थानकवासी जैन समाज के एक ज्योतिर्धर जगमगाते नक्षत्र हैं। वे गम्भीर विद्वान् हैं, योग, जप और ध्यान के प्रति उनकी स्वाभाविक अभिरुचि है। साथ ही वे प्रसिद्धवक्ता है, उनके प्रवचन सरल, सरस और गम्भीरता को लिए हुए होते हैं। वे आगम और दर्शन की गम्भीर गुत्थियाँ इस प्रकार सुलझाते हैं कि श्रोता मन्त्र मुग्ध हो जाते हैं। विद्वत्ता के साथ इनमें सरलता और स्नेह का मणि-कांचन संयोग हुआ है। मेरा यह स्पष्ट अभिमत है कि जो व्यक्ति योग्य शिष्य होता है वही योग्य गुरु भी बन सकता है। पुष्कर मुनि जी ताराचन्द जी महाराज साहब के योग्य शिष्य थे तो आज वे योग्य गुरु के पद को अलंकृत कर रहे हैं। मैंने जब उनके योग्य शिष्यों को देखा तो मेरा हृदय बांसों उछल पड़ा। उनके सुयोग्य विद्वान् और तेजस्वी शिष्य देवेन्द्र मुनि को मैंने देखा तो मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उनके गम्भीर अध्ययन प्रधान ग्रन्थों को देखकर मुझे लगा कि स्थानकवासी समाज में नया युग आ रहा है। देवेन्द्र मुनिजी ने सद्गुरुदेव कवि नानचन्द्र जी महाराज जन्म शताब्दी स्मृतिग्रन्थ में बत्तीस जैन आगमों का सार लिखकर जो दिया, वह उनके स्नेह का साक्षात् प्रतीक है। यह सार विद्वानों को और जिज्ञासु पाठकों को अत्यधिक प्रिय हुआ है।

पूज्य पुष्करमुनि जी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है। मैं उनके श्री चरणों में श्रद्धा स्निग्ध पुष्प समर्पित करता हूँ। मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि पुष्कर मुनिजी और उनके शिष्यों के द्वारा जैन धर्म की अधिक से अधिक प्रभावना होगी। ☐

तुम्हारी साधना निर्मल, तुम्हारी भावना निर्मल।
हृदय को कर रही पुलकित, सत्य औ शील की परिमल॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



राजस्थानकेसरी उपाध्याय पुष्करमुनिजी महाराज

एक आकर्षक व्यक्तित्व

☐ मुनि श्री नेमिचन्द्र

☐

प्राचीन ऋषि मुनियों के तपःपूत शरीर-सी गौरवर्ण उन्नत देह, भरावदार चेहरा, उन्नत प्रशस्त भाल, विशाल वक्षस्थल, वृषभ-से स्कन्ध, साखू के पेड़-सा लम्बा सुडौल कद, उपनेत्र में चमकते हुए दो तेजस्वी चमकीले नेत्र, जो देखने-से अधिक, बोलते से प्रतीत होते हैं, मुस्कराती हुई मुखमुद्रा और आजानुलम्बी भुजाएँ—यह है राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी महाराज के आकर्षक व्यक्तित्व का बाह्यरूप।

'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इस कहावत के अनुसार जितना उनका बाह्य व्यक्तित्व आकर्षक है, अन्तरंग व्यक्तित्व भी उससे कम आकर्षक नहीं है।

सोजत में सन् १९५३ में जब साधु-सम्मेलन होने जा रहा था, उससे पूर्व मेरा उनसे प्रथम साक्षात्कार हुआ था। प्रथम साक्षात्कार में ही उनके व्यक्तित्व ने मुझे प्रभावित किया। यद्यपि बिना किसी प्रसंग में उन्हें बोलना कम पसन्द है। यह उनका सहज स्वाभाविक गुण है। फिर भी उनका मृदु व्यवहार, शान्तिपूर्ण क्रान्ति के विचारों की ओर झुका हुआ उनका मानस, नपी-तुली शब्दावली में समाधान करने की उनकी रुचि, शास्त्रीय अध्ययन-अध्यापन की ओर उनका रुझान, बुलन्द आवाज में सरस-सरल युक्तिसंगत प्रवचन, ये सब उनके अन्तरंग व्यक्तित्व की उत्कर्षता की प्रतीति करा देते हैं।

उसी दौरान हम सोजतरोड़ में जैनस्थानक में ठहरे हुए थे। बातचीत के सिलसिले में मैंने एक प्रश्न प्रस्तुत किया, जहाँ तक मुझे स्मरण है, वह प्रश्न यह था—वर्तमान साधु समाज यदि युग के साथ कदम मिलाए बिना तथा समाज की विकृतियों को परिमार्जित किये बिना आगे बढ़ता जाएगा अथवा समाज की ओर से आँखें मूँदकर दौड़ लगाता जाएगा, तो वह स्वयं भी लड़खड़ा कर औंधे मुँह गिर नहीं पड़ेगा? और अपनी आँखों के सामने समाज को रसातल में जाते देखकर क्या वह सक्रिय नहीं होगा? मुझे याद है, बड़े ध्यान से स्थितप्रज्ञ की तरह सुस्थिर होकर बिना किसी भाव को मुखमण्डल पर व्यक्त किए वे मेरी बात को सुनते रहे, फिर सधी हुई आर्षवाणी में उन्होंने कहा—"मेरी दृष्टि में वर्तमान साधु समाज को न तो समाज की दुःस्थिति को देखकर आँखें मूँदे हुए आगे भागना चाहिए और न उसे अपनी मौलिक साधुमर्यादाओं, साधुता के विशिष्ट गुणों और आत्मसाधना को ही दृष्टि से ओझल करना चाहिए। उसे न तो लोक-प्रवाह में बहकर, सुधारवाद के चक्कर में पड़कर अपनी साधना को तिलांजलि देनी है और न ही उसे एकान्त अपने ही स्वार्थ या तथाकथित आत्मार्थ में फँसकर समाज में आई हुई विकृतियों को परिष्कृत करने में उपेक्षा करनी चाहिए। समाज अशुद्ध और विकृत होगा तो, उसका स्वयं का विकास भी रुक जाएगा।"

मुझे उनके विचार सुनकर आत्म-सन्तोष हुआ। उसके बाद हमारा मिलन हुआ—मरुधरा की राजधानी जोधपुर में। मैं और मेरे ज्येष्ठ गुरुभ्राता उन दिनों बालनिकेतन में ठहरे हुए थे। राजस्थानकेसरी जी महाराज अपनी शिष्य-मंडली के साथ घोड़ों का चौक में विराजमान थे। मैं यदा-कदा बालनिकेतन से शहर में जाता तो आपके दर्शनों के लिए भी जाता था। उस समय आपश्री के साथ आपके तेजस्वी शिष्ययुगल-समर्थ साहित्यकार पं० रत्न श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज एवं व्याख्यानवाचस्पति श्री गणेश मुनि जी महाराज भी थे। उस समय भी आपश्री का मुझ अकिंचन के साथ मधुर व्यवहार रहा। आपके तेजस्वी। शिष्य-युगल का भी मृदु-मधुर स्नेहसिक्त व्यवहार रहा। क्यों नहीं होता? आप ही का उदारता, मधुर व्यवहार और आत्मीयता का गुण अपने शिष्यों में प्रतिबिम्बित हुआ है। शिष्य गुरु की छाया हुआ करता है। आपकी उदारता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का ही परिणाम है कि आपने अपने शिष्यों को धुरन्धर विद्वान्, लेखक एवं वक्ता बनाया है। उनके जीवन का सुन्दर निर्माण किया है।

जोधपुर वैसे अनेक सम्प्रदायों का दुर्ग होने से कट्टरता में अग्रणी रहा है। यहाँ साम्प्रदायिकता से मुक्त मानस के लोग जैनधर्मावलम्बियों में इने-गिने ही मिल सकते हैं। एक बार बातचीत के सिलसिले में कुछ कट्टर लोगों ने हमारी तीखी आलोचना आपश्री के समक्ष की, जो आपको वास्तविकता से शून्य, तथ्यहीन लगी। आप एवं आपके शिष्ययुगल, जो हमारी प्रकृति से परिचित थे, हमारे व्यवहार को भली-भाँति देख-परख चुके थे, हमारे साधु-जीवन का साधुता की तुला पर कुछ प्रसंगों में तौल चुके थे, अतः आपने साम्प्रदायिकता का रंगीन चश्मा लगाए हुए कटु आलोचकों से कहा—"आप जैसा कहते और समझते हैं, वैसे ये मुनि नहीं हैं। यद्यपि साम्प्रदायिकता की लीक पर ये नहीं चलते हैं, परन्तु साधुता की सीमारेखा का उल्लंघन या साधुत्व के गुणों का अतिक्रमण ये नहीं करते हैं।" आपश्री के समझाने पर उक्त आलोचकों के दिमाग में बात जँच गई। मुझे जब पता लगा तो मैंने कहा—"ऐसे कटु आलोचकों को आपने जब करारा उत्तर दिया तो आपको भी उन्होंने वैसा ही समझ लिया होगा या आपसे नाराज होकर वन्दना-व्यवहार आदि बन्द कर दिया होगा?" उन्होंने सस्मित स्वर में कहा—"मुनिजी! इन बातों की हम इतनी परवाह नहीं करते। यदि सत्य बात कहते भी कोई नाराज होता हो तो हो! किन्तु मुझे विश्वास था कि युक्तिपूर्वक शान्ति से समझाने पर कट्टर लोग भी समझ जाएँगे।" वैसा ही हुआ।

सोजत-सम्मेलन के दौरान आपश्री एवं आपके तेजस्वी शिष्ययुगल मेरी लेखनशक्ति से परिचित हो गया था, क्यों कि मैं और मुनि समदर्शीजी दोनों उस समय प्रातः और मध्याह्न में होने वाली मीटिंगों में जो भी कार्यवाही या चर्चा होती थी, उसका विवरण लिखते थे और दूसरे दिन तत्कालीन शान्तिरक्षक व्याख्यानवाचस्पति श्री मदनलाल जी महाराज को सुवाच्य अक्षरों में व्यवस्थित लिखकर बता देते थे। उसी लेखनकार्य से श्री राजस्थानकेसरी जी महाराज प्रभावित थे। अतः एक दिन जोधपुर में बातचीत के दौरान आपके विद्वान् शिष्यरत्न पं० श्री देवेन्द्र मुनिजी ने मुझ से कहा—"मुनिजी! आपको अगर समय हो तो गुरुदेव के कुछ व्याख्यानों का सम्पादन करना है। यहाँ के कुछ श्रद्धालु भक्त उसे प्रकाशित करना चाहते हैं।" मैंने आत्मीयभाव से कहा—"अवश्य, महाराज श्री! मेरे पास इस समय अवकाश है। मेरी लेखन साधना भी होगी, और प्रवचनों का सम्पादन करने से ज्ञानसाधना भी होगी। 'एक पंथ, दो काज' होंगे। आप अवश्य ही मुझे यह कार्य सौंप दीजिए।" पं० श्री देवेन्द्र मुनी जी ने आपश्री से पूछा तो "आप कुछ सकुचा रहे थे इतना परिश्रमपूर्ण कार्य मुझे देने में।" किन्तु मैंने आपका संकोचभंग करते हुए कहा—"महाराजश्री! आप बिलकुल संकोच न कीजिए। मुझे यह अच्छा सेवा का लाभ प्राप्त होगा। मैं अवश्य ही इस कार्य को कर दूँगा और सेवा तो मैं आपकी कर ही नहीं पा रहा हूँ। वैसे मेरे रुग्ण गुरुभ्राता की सेवा में मुझे थोड़ा समय देना पड़ता है, फिर भी मेरे पास काफी समय बचता है। आप मुझे दे दीजिए।" आपने फिर भी सकुचाते हुए कहा—"यद्यपि देवेन्द्र इन प्रवचनों का सम्पादन कर देता, परन्तु इस समय यह स्वयं फिश्चुला रोग से पीड़ित है। इसलिए अत्यधिक परिश्रम करना इसके बस का नहीं रहा। आप इन प्रवचनों को ले जाइए और जितने सम्पादन कर सकें कर दीजिए।" अस्तु, मैं उन प्रवचनों को अपने स्थान पर ले आया और उनका सम्पादन करना शुरू किया। कुछ ही प्रवचनों का सम्पादन मैं कर पाया होऊँगा कि अकस्मात् मेरे गुरुभ्राता श्री डूंगरसिंह जी महाराज का स्वास्थ्य एकदम गड़बड़ा गया। इस कारण लेखन-कार्य ठप्प हो गया। उनके शरीर की डॉक्टरी जाँच के लिए डॉ० मेहता के परामर्श पर उन्हें बालनिकेतन से गाँधी हॉस्पिटल में ले आया गया।

संयोगवश उन दिनों आपश्री पं० श्री देवेन्द्र मुनिजी के इलाज के कारण एक स्पेशल वार्ड में रुके हुए थे। इस कारण आपके दर्शनों का बार-बार लाभ मिलता रहता था। मेरे गुरुभ्राता को भी स्वास्थ्यलाभ के लिए डा० मेहता ने जनरल वार्ड में एक पृथक् स्थान दे दिया, जहाँ मैं भी एक ओर अपना आसन जमाकर बैठ गया। उस दिन मेरे गुरुभ्राताजी की भी तबियत कुछ ज्यादा ही खराब थी। अचानक ही रात्रि के लगभग ८ बजे गुरुभ्राता जी का हार्टफेल हो गया। रात्रिकालीन ड्यूटी वाले डॉक्टर आए, उन्होंने जांच की, पर गुरुभ्राताजी दिवंगत हो चुके थे। उनकी आत्मा दिव्यलोक को प्रस्थान कर चुकी थी।

मेरे सामने एक बार तो अन्धेरा-सा छा गया। मैं अकेला रह गया। सोचने लगा—अब क्या होगा, क्या नहीं? गुरुभ्राताजी के पार्थिव शरीर की अन्त्येष्टि कौन करेगा? यहाँ हॉस्पिटल में तो कोई परिचित जैनश्रावक भी नहीं! मैं एक बार तो घबरा उठा। फिर मुझे स्मरण हो आया कि यहाँ स्पेशलवार्ड में श्रीपुष्करमुनिजी महाराज विराजमान हैं, उनको बुलाकर वे जैसा कहें, वैसा करूँ! उधर हॉस्पिटल के कर्मचारी भी कहने लगे—"अगर आप अपने आदमी के शव को नहीं ले जाते हैं तो यहाँ के नियमानुसार इसे हम कुछ ही देर बाद शवालय में ले जाकर रख देंगे।" अतः मैंने डॉक्टर आदि से कहा—"पूज्य पुष्करमुनिजी महाराज नीचे स्पेशलवार्ड में हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें सूचित कर दो, ताकि मैं उनसे परामर्श करके यथोचित कर सकूं।" ज्यों ही मेरा सन्देश आपके पास पहुंचा, त्यों ही आपश्री शीघ्र ही ऊपर जनरलवार्ड में जहाँ हम ठहरे हुए थे, आए। आपने आते ही पहले तो गुरुभ्राता मुनिश्री के पार्थिव शरीर के पास पहुंचे, उन्हें देखकर आपने अफसोस व्यक्त किया—"कितना सुन्दर सरल सरस जीवन था मुनिजी का! वैसे कोई भी लक्षण मृत्यु के प्रतीत नहीं हो रहे थे, परन्तु आयुष्यबल समाप्त हो जाने से ये हमें छोड़कर चल बसे! अब तो यही हो सकता है कि फोन कराकर श्रीकानमलजी नाहटा (संघ के अग्रगण्य) को बुलाया जाय और वे जैसा कहें, वैसा किया जाय! तब तक हम इन्हें नये कपड़े पहना कर इनके शरीर को वोसिरा दें।" तुरन्त श्रीकानमलजी नाहटा को फोन किया गया, परन्तु उस दिन चतुर्दशी होने से वे पौषधशाला में पौषध में थे। अतः उनके सुपुत्र ने कहा—"अभी तो कुछ नहीं हो सकता है। सुबह सबको सूचित करके हम लोग मुनिश्री के शरीर का अन्तिम संस्कार कर देंगे।" अतः मैंने महाराजश्री से पूछा—"अब मुझे क्या करना चाहिए? मैं यह रात यहीं काटूं, या और कहीं?" आपश्री ने कहा—"मुनिजी! आप घबराइए नहीं। हम आपके हैं, आप हमारे हैं। आप मेरे साथ अपना सब सामान लेकर नीचे, जहाँ हम ठहरे हैं, वहाँ चलिए। और वहीं शयन कीजिए।"

हमने गुरुभ्राताजी के शरीर को वोसिरा दिया और मैं सामान लेकर पूज्य पुष्करमुनिजी महाराज के साथ चल पड़ा।

मेरे लिए वह रात्रि अत्यन्त भयावह थी। लेकिन आपश्री के आत्मीयता भरे आश्वासन ने मुझे आश्वस्त-विश्वस्त किया। यद्यपि नींद तो उस रात को पूरी तरह से नहीं आई। फिर भी आप और आपके शिष्यवृन्द ने मेरे साथ जो आत्मीयता-भरा व्यवहार किया, उसे मैं भूल नहीं सकता।

यह आत्मीयतापूर्ण उदार व्यवहार आपके उदार व्यक्तित्व की अमिट छाप मेरे मन पर अंकित कर गया। मेरे जीवन में यह मधुर संस्मरण चिरन्तन रहेगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल जोधपुर श्रावकसंघ के अग्रगण्य आए। उनके सामने आपने सारी वस्तुस्थिति प्रगट कर दी और उन्हें अपनी कर्तव्य दिशा का बोध करा दिया। कहना होगा कि आपकी प्रेरणा से जोधपुर के श्रावक वर्ग ने उदारतापूर्वक मेरे स्वर्गीय गुरुभ्राता का अन्तिम संस्कार खूब धूमधाम से किया और मंगलपाठ सुनकर विदा हुए।

उसके पश्चात् कुछ दिनों तक मुझे आपने अपने पास ही रखा मेरे अस्वस्थ एवं किंकर्तव्यमूढ़ मन को आपने स्वस्थ एवं शान्त किया। फिर मैं पुनः लेखनकार्य में प्रवृत्त हुआ और उसके प्रतिफल के रूप में 'जिन्दगी की मुस्कान' और 'जिन्दगी की लहरें' ये दो प्रवचन-पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सम्पादन के विषय में भी आपने अपनी सन्तुष्टि और प्रसन्नता अभिव्यक्त की और अपने आशीर्वादात्मक उद्गार भी निकाले।

उसके बाद फिर मैं कुछ दिन जोधपुर रह कर खीचन-फलौदी की ओर चला गया। और फिर वहाँ से पूज्य मुनिश्री संतबालजी महाराज के द्वारा भविष्य में आगामी वर्ष में होने साधुसाध्वी शिविर के लिए गुजरात का आह्वान होने पर मैं गुजरात चला गया, उसके बाद बम्बई और फिर मद्रास आदि क्षेत्रों में....।

इतने दूर-सुदूर क्षेत्रों में भ्रमण होने के बावजूद भी आपश्री की ओर से पंडित श्रीदेवेन्द्रमुनिजी महाराज का यदा-कदा पत्र आता रहता था। मेरठ में जब मैं था, तब भी मुझे आपने स्मरण करके कृतार्थ किया और दिल्ली में था तब भी और आगरा आने के बाद तो पंडित श्रीदेवेन्द्र मुनिजी द्वारा लिखित साहित्य मुझे बार-बार मिलता रहा।

आप में एक गुण विशेष रूप से परिपक्व है कि आप किसी भी गुणवान, चरित्रवान, साधुता के मूल गुणों से सम्पन्न साधु-सन्तों, विद्वानों एवं विचारकों को आदर देते हैं। उनकी शक्तियों से पर्याप्त लाभ उठाते हैं।

दो वर्ष पहले जब आप चिंचणी (जिला थाणा) में पूज्य मुनिश्री संतबालजी महाराज की प्रेरणा से स्थापित महावीर नगर, अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र पधारे और स्थानकवासी जैन समाज द्वारा उपेक्षित किन्तु साधुता और वत्सलता के गुणों से ओत-प्रोत, तेजस्वी, सद्गुणों से सम्पन्न चारित्रवान मुनिवर श्री संतबालजी महाराज से दिल खोल कर समाजनिर्माण एवं आत्मकल्याण की साधना की प्रगति के बारे में बातचीत की। उनकी प्रेरणा से प्रचलित समाजसेवा की प्रवृत्तियों, समाज-निर्माण के कार्यकलापों के विषय में अपने उद्गार भी प्रगट किये।

आपके प्रखर उदार व्यक्तित्व से प्रभावित होकर महामहिम आचार्य सम्राट् श्री आनन्दऋषिजी महाराज ने आपको वर्धमान स्थानकवासी श्रमणसंघ के उपाध्याय-पद से विभूषित किया है।

इन कतिपय संस्मरणों के दर्पण में आपके उदार, अद्भुत एवं आकर्षक महनीय व्यक्तित्व की स्पष्ट झाँकी देखी जा सकती है। इसलिए अधिक न कहकर, संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि आप प्रखरयशस्वी एवं चिरायु होकर अपने उदात्त गुणों युक्त आकर्षक व्यक्तित्व के द्वारा आत्मकल्याण के साथ-साथ समाज का चरित्र-निर्माण करते हुए संघ की चिरकाल तक सेवा करें। जैन-शासन और श्रमणसंघ को उदार, उज्ज्वल एवं विजयी बनाएँ। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुलाब के फूल की तरह मुस्कराता हुआ भव्य व्यक्तित्त्व



□ श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

□

परम पूज्यनीय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज साहब के विषय में कुछ लिखने को बैठा हूँ तो एक साथ अनेक दृश्य मेरे स्मृति-पट पर झिलमिलाने लगे हैं।

खिले हुए गुलाब के फूल की तरह मुस्कराता हुआ वह भरपूर व्यक्तित्व स्मृति के साथ ही उभर-उभर कर मस्तिष्क में ऐसा छा रहा है, मानो अभी-अभी उनसे तात्त्विक वार्तालाप हुआ हो।

प्रत्येक व्यक्तित्त्व केवल उतना ही नहीं होता जितना प्रत्यक्ष है, किन्तु वह अपने में कुछ ऐसी आन्तरिक विशेषताएँ भी रखता है जो केवल मनोविज्ञान का विषय हो सकती है। विशेषताएँ तुच्छ भी हो सकती है और उच्च भी।

यही कारण है कि एक व्यक्ति विशेष की स्मृति-मात्र भय, आतंक और घृणा के लिए पर्याप्त होती है, तो एक व्यक्तित्व का स्मरण जीवन को ऊर्ध्वमुखी प्रेरणाओं से भर देता है।

पूज्यप्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज साहब के उदात्त व्यक्तित्व में एक उच्चतामूलक विशेषता मैंने देखी है जिसका स्मरण-मात्र एक विशिष्ट स्फूर्ति प्रदान कर देता है। पूज्यप्रवर के संप्रेरणात्मक व्यक्तित्व से हजारों लाभान्वित हुए हैं, यह निःसन्देह है, किन्तु उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क तथा संस्मरणात्मक स्फुरणाओं से जितना मैं प्रभावित व लाभान्वित हुआ हूँ, यह अपने आप में मेरे लिए बड़ा मूल्यवान पहलू है।

व्यक्तित्व की आन्तरिकता किसी भी अति-गुप्त खजाने की तरह रहस्यात्मिका होती है, उसे चन्द मिनटों या घण्टों के औपचारिक वार्तालाप से नहीं पाया जा सकता। उस स्थिति में तो यह और भी कठिन हो जाता है, जब महान् व्यक्तित्व भी एक सामान्य सहज परिवेश में उपस्थित होता हो।

पूज्य प्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज अत्यन्त सहज सरल शैली में जीने वाले एक अद्भुत सन्त रत्न हैं, उनकी आन्तरिकता को, हार्द को पाना एक कठिन कार्य अवश्य है किन्तु असाध्य नहीं।

यह मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ कि कई बार, कई दिन, सप्ताह ही नहीं महिनों तक मुझे इनके पवित्र सानिध्य में रहने का अवसर मिला।

मैं अपनी सम्पूर्ण हार्दिकता के साथ स्वीकार करता हूँ कि पूज्य प्रवर श्री के नैकट्य का जो अमृतोपम लाभ मुझे मिला, वह मुझे अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में संप्रेरित करता रहा।

पूज्य प्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज साहब की जिन विशेषताओं ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया, उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है उनका ठेठ हृदय से सर्वदा प्रसन्न रहना।

मैंने यह खूब गहराई तक जांच कर निर्णय पाया कि यदि पूज्य प्रवर श्री को अर्धरात्रि में भी अचानक जगाया जाए तो जगते ही सर्वप्रथम, वे उपस्थित व्यक्ति का मुस्कराकर स्वागत करते हैं। कभी भी अचानक आप उनसे मिलिये बड़े ही खुशनुमा तरीके से ये कहेंगे—

कहिये ! क्या बात है जी ! और यह वाक्य सुनते ही आपको यह लगेगा कि आप सचमुच उनके ठेठ हृदय के निकट पहुँच गये हैं।

वैयक्तिक वार्तालाप और स्नेह-सम्पर्क के मध्य उनका बड़प्पन कहीं भी, कभी भी बाधक नहीं बनता।

पूज्य प्रवर श्री एक सम्प्रदाय के अग्रगण्य तथा श्रमण संघ के वरिष्ठ मुनिराजों में से एक है। मैं एक सामान्य विद्यार्थी मुनि ठहरा, हमारा उनसे कहाँ साम्य ? किन्तु उनका आनन्द पूरित व्यक्तित्व और मनमोहक वार्तालाप हमें बरबस उनकी तरफ खींच लेता और मैं घण्टों उनसे, आमोदपूर्वक तत्व-चर्चा करता रहता।

यह जरूरी नहीं होता कि प्रत्येक विषय में हम सदा एक मत ही रहते, कहीं-कहीं विचार भिन्नता होती ही,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और वही चर्चा आगे बढ़ती; मैंने देखा, पूज्य प्रवर श्री सम्पूर्ण परिचर्चा के मध्य बराबर सौम्य और मधुर बने रहते। कठिन से कठिन तर्क और कभी-कभी कुतर्क भी उपस्थित हो जाती तो, वे तनिक भी विचलित नहीं होते, इतना ही नहीं, मैंने देखा कि विषय-वस्तु की विवेचना के साथ उनका लक्ष्य बना रहता कि, हमारा युक्तियुक्त समाधान हो।

मैंने खूब जम कर उनके प्रवचन सुने हैं, पूज्य प्रवर श्री के प्रवचनों में गम्भीर अध्यात्मिक विषयों पर विस्तृत व्याख्याएँ चलती हैं, तात्विक उपदेशों का प्रवचनों में प्राधान्य होता है, किन्तु श्रोताओं को मैंने कभी भी "बोर" होते हुए नहीं देखा।

अन्य कई धार्मिक वक्ताओं के प्रवचनों का भी मुझे परिचय है, जिनमें अक्सर श्रोता निन्द्रा के झोंकों में झूमते रहते हैं, किन्तु पूज्य प्रवर श्री के प्रवचनों की छटा ही निराली है।

मैंने पाया कि पूज्य प्रवर श्री गूढ़तम तात्विक विवेचन को भी इतने मंजुल-मोहक ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि श्रोता विषय की मार्मिकता तक पहुँचते-पहुँचते खिल-खिला उठते हैं।

वदन, वचन और विवेचन—सर्वत्र प्रसाद गुणमयी मन्दाकिनी का मधुर प्रवाह चलता रहता है।

"सया पसण्णमणो सुही" प्रस्तुत लोकोक्ति के जीवन्त मूर्त्त स्वरूप पूज्य प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज शोक-संताप से लाखों मील दूर आनन्दमूर्ति के रूप में मुझे सदा ही प्रेरित करते रहे हैं।

पूज्य प्रवर श्री बड़े विनोदी प्रकृति के हैं, मैंने लम्बे सम्पर्क में उन्हें कभी भारी मन लिये नहीं पाया। इतना ही नहीं, यदि किसी में कहीं उन्हें अन्यमनस्कता दिख भी जाए तो ये दो क्षण में ही उसे गुदगुदा देंगे। सत्य यह है कि उनके वातायन-परिवेश में शोक-संताप जी ही नहीं सकता।

आनन्दातिरेक में छलछलाते इनके जीवन घट को हमने कभी खाली होते नहीं देखा, कठिन से कठिन श्रम के बाद भी नहीं।

मुझे याद है कि किसी लम्बे विहार क्रम में थक कर कहीं हम विश्राम कर रहे होते, दो मिनट के लिये ही सही महाराज श्री शिष्ट मनोरंजन की कोई ऐसी फुलझड़ी छोड़ देते कि हम सभी खिलखिला उठते और सारी थकावट को भूल कर सभी एक नयी ताजगी का अनुभव करने लगते।

पूज्य पुष्कर मुनि जी महाराज ज्ञान-सिन्धु के एक सफल गोताखोर हैं। उन्होंने वीतराग तत्व-ज्ञान में खूब गोते लगाये और भारी खजाना इकट्ठा किया। वे प्रबल जिज्ञासु और ज्ञान संग्राहक हैं।

यह बात मैंने तब पाई, जब बदनोर में वे मेरी छोटी, बड़ी डायरियाँ बड़ी ही उत्सुकता के साथ देखने लगे। मैंने कहा आपके विस्तृत और विविध ज्ञान खजाने के सामने यह मेरा थोड़ा-सा संग्रह रत्नों के ढेर के समक्ष एक अंगूठी जैसा है। जिसमें कुछेक नगीने जड़े हैं।

पूज्यप्रवर श्री ने कहा—जौहरी के लिए, जड़ाव की छोटी सी अंगूठी का भी कम महत्व नहीं है। उसे तो उससे भी कुछ मिलेगा ही, हानि ही क्या है?

मैंने मन ही मन स्वीकार किया सचमुच पूज्य प्रवर जौहरी ही हैं।

शिल्पि पत्थर को मूर्ति को आकार देता है, मैंने पूज्य पुष्कर मुनि जी महाराज को जन-जीवन को नवीन आकार देते देखा। कितने अनघड़ पत्थर स्वरूप जीवन को पूज्य प्रवर ने मानव ही नहीं, अध्यात्मिक मानव के रूप में गढ़ दिया।

समर्थ साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज, साहित्य सर्जक श्री गणेश मुनिजी महाराज आज जिनशासन के साहित्य-गगन में नक्षत्र की तरह चमक रहे हैं, ये आपकी देन है। ज्ञानाराधक मुनि रमेशजी, अभिनव लेखक मुनि राजेन्द्रजी, साहित्य और साधना की सफलता के एक-एक सोपान चढ़ते जा रहे हैं, इन सब के पीछे पूज्य प्रवर श्री का कृतित्व दमक रहा है।

मुनि समाज ही नहीं, आपका कृतित्व साध्वी समाज के लिये भी बड़ा उपयोगी रहा।

परमविदुषी शीलकुँवर जी महाराज, परमविदुषी श्री पुष्पवती जी महाराज, परमविदुषी श्री कुसुमवती जी महाराज, परमविदुषी श्री कौशल्या जी महाराज, परम विदुषी श्री चन्द्रावती जी महाराज, परमविदुषी चन्दनबाला जी महाराज आदि ज्ञानी-ध्यानी और व्याख्याता महासती जी आपके सफल कृतित्व की प्रतीक हैं।

पूज्य प्रवर श्री स्वयं साहित्यकार हैं, आपने पचास से भी अधिक ग्रन्थ लिखे हैं साथ ही साहित्य प्रणेता तैयार कर आपने समाज पर जो उपकार किया है, वह कम नहीं है।

पूज्य प्रवर श्री ऐक्य के सुदृढ़ समर्थक हैं, श्रमणसंघ की रचना में पूज्य श्री ने सदा ही मौलिक भूमिका अदा की। संघ ने भी पूज्य प्रवर को समय-समय पर समुचित पद प्रदान कर आपकी सेवाओं को सम्मानित किया है।

सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर आपको मंत्री पद प्रदान किया। अजमेर सम्मेलन में नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत आपको प्रवर्तक पद से सम्मानित किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभी गत वर्ष आपकी श्रेष्ठ सेवाओं से प्रभावित हो पूज्य आचार्यश्री ने आपको "उपाध्याय" पद से अलंकृत किया, जो सर्वथा आपके योग्य है।

पूज्यप्रवरश्री बड़े ही उग्र-विहार प्रेमी और घुमक्कड़ मनोवृत्ति वाले हैं।

अक्सर हम देखते हैं, सम्प्रदायों के अपने क्षेत्रीय दायरे हैं और अनेक मुनि उन्हीं दायरों तक अपने को सीमित रखते हुए, जीवन की संध्या तक पहुँच जाते हैं, किन्तु पूज्य प्रवर श्री उनमें से नहीं हैं। अपने साम्प्रदायिक पक्ष की हानि को गौण कर भी श्री पुष्कर मुनि जी ने भारत के दूरवर्ती प्रदेशों में विहार किया है।

आज भी आप दक्षिणभारत में जहाँ बहुत ही कम मुनि पहुँच पाते हैं, विहार-रत है।

वार्धक्य-सूचक इस उम्र में भी इतना दूरवर्ति उग्र विहार करना जिनशासन की महान सेवा के दुर्निवार संकल्प का द्योतक है।

वैष्णव संस्कृति का प्रसिद्ध तीर्थ है "पुष्कर" जो अपने निश्चित स्थान पर स्थित समागत जन-जीवन के उद्धार का प्रतीक माना जाता है, किन्तु जैन संस्कृति के जंगम तीर्थ-राज "श्री पुष्कर" को देखिये, जो, जन-जीवन के घर-घर यहाँ तक कि घट-घट में पहुँच कर उनके समुद्धार का कार्य कर रहा है।

परम पवित्र तीर्थराज स्वरूप पूज्य प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज साहब के सार्वजनिक अभिनन्दन समायोजन के शुभ अवसर पर चरणार्पित होने वाली पुष्पांजलियों में, मेरा एक कुसुम जो अन्तःकरण की सम्पूर्ण श्रद्धा-सद्कामना द्वारा प्रसूत है, समर्पित कर रहा हूँ। विश्वास करता हूँ कि यह श्रद्धेय के लिए सामान्य किन्तु सम्पर्क के लिए असामान्य श्रद्धा-कुसुम किसी तरह श्रद्धेय की चरण-रज अवश्य पायेगा।

प्रेरणास्रोत : गुरुदेव

□ पं० श्री हीरामुनि जी 'हिमकर'

कितनों के अवलम्ब बने हो,
कितनों को भर अंक लगाया ?
स्वयं गरल पीकर कितना,
औरों को पीयूष पिलाया ?
बनकर निर्देशक कितनों को,
तुमने भूली राह बताई ?
कितनों के तमसावृत्त मन में,
तुमने जीवन ज्योति जगाई ?

परमश्रद्धेय महामहिम उपाध्याय प्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज प्रखर पण्डित, कठोर साधक व निर्मल मन के उज्ज्वल प्रतीक हैं। वे जन-जन के त्राता हैं, वे भूले-भटके पथिकों के लिए पथ-प्रदर्शक और निर्देशक हैं। उनकी सेवावृत्ति, सरलता, प्रशान्तमुद्रा और कठोर साधना सर्वथा अपूर्व है। भारतीय संस्कृति में तप व संयममय जीवन ही श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है। तप-जप व स्वाध्याय तथा ध्यान से ही जीवन पावन और पवित्र बनता है। जीवन शोधन के लिए तप-जप और स्वाध्याय से बढ़कर कोई साधन नहीं है। जो साधक मनसा, वाचा और कायेन यह साधना करता है, वह अध्यात्म पुरुष है, अध्यात्म-योगी है। अध्यात्म-योगी समाज और राष्ट्र के लिए एक महान् आदर्श और प्रेरणा स्रोत होते हैं।

मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि ज्ञान, दर्शन, संयम और तप की साकार प्रतिमा पूज्यगुरुदेव श्री के सम्बन्ध में दो शब्द लिखने का मुझे अवसर मिला है, पर मेरे मन में यह प्रश्न तरंगित हो रहा है कि इस महान् विभूति के सम्बन्ध में क्या लिखूं ? मेरे पास ऐसे शब्द नहीं हैं जो हृदय के विराट् भावों को व्यक्त कर सके। क्या कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न और कामधेनु की महत्ता को शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। एक कवि ने सत्य ही कहा है—

आकाश करूँ कागज, वनराई करूँ लेखन।
समुद्र करूँ स्याही तो भी, गुरु-गुण लिखे न जायें ॥

सद्गुरुदेव सद्गुणों के आगार हैं, बुद्धि के सागर हैं, जिनशासन के शृंगार है। अखण्ड बाल ब्रह्मचारी हैं, शास्त्र रसिक हैं, आगम के ज्ञाता हैं, संघ के नायक हैं, मेरे अनपढ़ जीवन को घड़ने वाले कुशल कलाकार हैं। उन्हीं की परम कृपा से मैं जिनशासन की सेवा करने के लिए कुछ योग्य हो सका हूँ, कवि के शब्दों में कहूँ तो—

नतमस्तक हो मैं कहूँ, गुरु का यह उपकार।
उरिण हम नहीं हो सकें, बोले बारम्बार ॥

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के दर्शन का सर्वप्रथम सौभाग्य विक्रम सम्वत् १९९४ में मिला। उस समय पूज्य गुरुदेव बम्बई, दक्षिण, खानदेश गुजरात और मध्यभारत की लम्बी यात्रा कर मेवाड़ पधारे थे। मुझे जैनधर्म के अभि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख करने वाली परमविदुषी सद्गुरुणीजी श्रीशील कँवर जी महाराज आदि सतीवृन्द भी सद्गुरुदेव के दर्शन के लिए चिरकाल से पिपासु थे, उनके साथ विहार करता हुआ एकलिंग जी पहुँचा और इधर गुरुदेव श्री भी वहाँ पर पधारे। उस समय आपश्री तथा आपश्री के गुरुदेव महास्थविर मन्त्री श्री ताराचन्दजी महाराज दो ठाणा ही थे। आप दोनों को देखकर मुझे भगवान महावीर और गौतम की सहज स्मृति हो आई। आप दोनों गुरु-शिष्य थे, परन्तु आप दोनों का प्रेम गजब का था। आप दोनों की आकृति, प्रकृति में इतनी अधिक समानता थी कि अपरिचित व्यक्ति आपको पिता-पुत्र ही मानते थे। किन्तु ताराचन्दजी महाराज ओसवाल थे तो आप जाति से ब्राह्मण थे। पर आप दोनों के हार्दिक स्नेह सम्बन्ध को देखकर ऐसा ज्ञात होता था कि आप दोनों का सम्बन्ध इस जन्म का ही नहीं, पर-भव का भी रहा होगा। गुरुदेव श्री ताराचन्दजी महाराज जहाँ ओसवाल भोपाल थे, दरिया दिल थे, वहाँ आप सच्चे ब्राह्मण थे, ब्रह्म में लीन रहने वाले। एक कवि ने सच्चे ब्राह्मण का लक्षण बतलाते हुए कहा भी है—

"ब्राह्मण सो तो ब्रह्म पहचाने,
बाहर जाता भीतर आने।
पांचों वश करी झूठ न भाखे,
दया जनेऊ हृदय में राखे॥
आतम विद्या पढ़े पढ़ावे,
परमातम का ध्यान लगावे।
काम क्रोध मन लोभ न होई,
चरणदास कहें ब्राह्मण सोहि॥"

मैं सद्गुरुदेव श्री की सेवा में रहकर धार्मिक अध्ययन करने लगा। मेरा जन्म क्षत्रियकुल में हुआ था किन्तु ऐसे गाँव में हुआ जहाँ पर अध्ययन के लिए किसी प्रकार का अवकाश ही नहीं था। मेरी उम्र सत्रह-अठारह वर्ष की होगयी थी तथापि मुझे वर्णमाला का भी परिज्ञान नहीं था। पूज्य गुरुदेव श्री ने अत्यन्त श्रम कर सर्वप्रथम मुझे लिपि का परिज्ञान कराया और धार्मिक अभ्यास भी। मेरी दीक्षा वि० सं० १९९५ में हुई, उस समय किसी विरोधी व्यक्ति ने पुलिस में रिपोर्ट कर दी जिससे पुलिस और थानेदार आदि मेरी दीक्षा को रुकवाने के लिए पहुँचे। पुलिस और थानेदार को देखकर कार्यकर्ता भयभीत हो गये किन्तु आप श्री के प्रबल प्रभाव से पुलिस और थानेदार जो आये थे दीक्षा रोकने के लिए किन्तु आपके भक्त बनकर चल दिये। मैंने अपने जीवन में अनेकों बार यह अनुभव किया कि विरोधियों को अन्त में आपके सामने नतमस्तक होना पड़ता है। वस्तुतः आपकी रेखाएँ ऐसी हैं कि विरोधियों की शक्ति कपूर की तरह उड़ जाती है।

मैंने यह अनुभव किया कि आपश्री सदा ही गुरुसेवा में तल्लीन रहे, हजारों अन्य कार्य छोड़कर सर्वप्रथम गुरु-सेवा को स्थान दिया। भीनासर में वृहत्-साधु-सम्मेलन का आयोजन था। उस सम्मेलन में श्रमण संघ के मन्त्री होने के नाते आपकी उपस्थिति अनिवार्य थी। अनेक बार शिष्ट मण्डल भी उपस्थित हुए। उपाध्याय कवि अमर मुनिजी का भी अत्यधिक आग्रह था, तथापि गुरु-भक्ति के कारण आप सम्मेलन में उपस्थित नहीं हुए और जयपुर में ही सद्गुरुदेव की सेवा में तत्पर रहे जो आपश्री की गुरुभक्ति का ज्वलंत उदाहरण है।

महास्थविर गुरुदेव श्री ताराचन्द जी महाराज सिद्ध जपयोगी सन्त थे। वे रात-दिन में दस-दस बारह-बारह घण्टे तक नवकार महामन्त्र की जप की साधना करते थे और वह जप की साधना की विधि उन्हें अपने ज्येष्ठ व श्रेष्ठ गुरु-भ्राता ज्येष्ठमल जी महाराज से प्राप्त हुई थी। वही जप की विधि पूज्य गुरुदेव श्री को भी गुरु-कृपा से प्राप्त हुई। आपश्री भी लगन के साथ जप और ध्यान की साधना करते हैं। आपश्री की साधना ने सिद्धि का संस्पर्श कर लिया है। यही कारण है कि हजारों व्यक्ति व्याधि-और उपाधियों से ग्रसित रोते और बिलखते हुए आते हैं और आपकी मांगलिक सुनकर प्रसन्न-मुद्रा में प्रस्थान करते हैं। हजारों व्यक्तियों को इस प्रकार स्वस्थ होते देखा है आपश्री के मांगलिक श्रवण से।

आपश्री के प्रधान अन्तेवासी सुयोग्य शिष्य देवेन्द्र मुनि के सद्प्रयास से विराट्काय अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह अत्यन्त आल्हाद का विषय है। आपश्री का अभिनन्दन ग्रन्थ समारोह सुदूर दक्षिण भारत में होगा और हम राजस्थान में हैं, किन्तु हमारे हृदय की कोटि-कोटि मंगल कामना और भावना आपके साथ है। आप हमारे भूतपूर्व सम्प्रदाय के अधिनायक हैं, श्रमण संघ के उपाध्याय हैं। आपश्री ने सम्प्रदाय की गौरव-गाथा की श्रीवृद्धि की है। आपश्री जहाँ भी पधारे हैं वहाँ अपने यश की सौरभ छोड़कर पधारे हैं। आपश्री पूर्ण स्वस्थ रहकर जैनधर्म की विजय वैजयन्ती फहराते रहे यही शासनेश से करबद्ध प्रार्थना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुता के अमर प्रतीक



☐ जैनभूषण पण्डितरत्न श्री ज्ञानमुनि जी

☐

साधु-शब्द की अर्थविचारणा—

अहिंसा के अमर-देवता श्रमण भगवान महावीर के चतुर्विध संघ में साधु को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन शब्दों में साधु-शब्द को सबसे पहले ग्रहण किया गया है। कारण स्पष्ट है, अध्यात्म-जगत में साधुपद का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधु-शब्द की व्याख्या से जैन तथा जैनेतर साहित्य भरा पड़ा है। जानकारी के लिए कुछ एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

"सम्यग्-दर्शनादि-योगैरपवर्गं साधयतीति साधुः"

—दशवैकालिक १।५ टीका

अर्थात्—सम्यग्दर्शन आदि योगों द्वारा जो मोक्ष की साधना करता है, उसे साधु कहते हैं।

"साध्नोति स्वपरकार्याणीति साधुः"

अर्थात्—जो अपने और दूसरों के आध्यात्मिक कार्यों को सिद्ध करता है, वह साधु कहलाता है।

"धर्मवित्ता हि साधवः"

—श्राद्धविधि

अर्थात्—साधु धर्मरूपी धन से युक्त होते हैं।

"साधवो दीनवत्सलाः"

अर्थात्—साधु दीनजनों के प्रति वत्सल—दयालु होते हैं।

"विविह-कुलुप्पन्ना साहवो कप्परुक्खा"

—नन्दीसूत्रचूर्णि २।१६

अर्थात्—विविध कुल एवं जातियों में उत्पन्न हुए साधु पुरुष पृथ्वी के कल्पवृक्ष हैं। कल्पवृक्षों की भाँति सन्तजन जनजीवन की प्रत्येक कामना को पूर्ण करते हैं।

"श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां, साधवो दुस्त्यजासुभिः"

—श्रीमद्भागवत ८।२०।७

अर्थात्—साधुजन अपने दुस्त्यज प्राणों को देकर भी प्राणियों का कल्याण करते हैं।

यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रिया।
चित्ते वाचि क्रियायां च, साधुनामेकरूपता॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागार

अर्थात्—जैसा मन—भाव होता है, वैसा ही वचन बोलते हैं और वचन के अनुसार ही क्रिया करते हैं, क्योंकि साधुओं के मन, वचन और क्रिया में एकता होती है, अनेकता नहीं होती।

युगान्ते प्रचलेद् मेरुः, कल्पान्ते सप्तसागराः।
साधवः प्रतिपन्नार्थाद्, न चलन्ति कदाचन॥

—चाणक्य० १३।१६

अर्थात्—युग के अन्त में मेरुपर्वत और कल्प के अन्त में सातों समुद्र चल जाते हैं, किन्तु सन्तपुरुष स्वीकृत सिद्धान्त से कभी विचलित नहीं होते।

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता २।६९

अर्थात्—आत्मविषयक बुद्धि रहित संसारी जीवों के लिए रात जो है, उसमें संयमी-साधु जागता है, आत्मा का साक्षात्कार करता है। इसके विपरीत, शब्दादि विषयों में लगी हुई जिस बुद्धि में संसारी जीव जागते हैं, सावधान रहते हैं, वह बुद्धि आत्मार्थी मुनि सन्त के लिए रात्रि है।

"वीतराग-भय-क्रोधः, स्थित-धीर्मुनिरुच्यते"

—गीता २।५५

अर्थात्—जिस व्यक्ति ने राग, भय और क्रोध को जीत लिया एवं जो व्यक्ति निश्चल बुद्धिवाला है उसे मुनि कहा जाता है।

राजा और गरीब को समझे एक समान।
तिनको साधु कहत हैं, गुरुनानक निरवान॥

गाँठ दाम बाँधे नहीं, नहिं नारी से नेह।
कहे कबीर वा साधु के, हम चरनन की खेह॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं।
जो धन का भूखा बने, वो फिर साधु नाहिं॥

साधुता के अमर प्रतीक—

साधु-शब्द का क्या वाच्य है ? तथा साधु शब्द किन-किन आत्मिक गुणों, सम्पत्तियों तथा विभूतियों का परिचायक है ? यह सब संक्षेप में ऊपर की पंक्तियों में उपन्यस्त कर दिया गया है। साधु शब्द की इस गुण-सम्पदा के धनी महापुरुष अतीत काल में अनेकानेक हो चुके हैं। वर्तमानकाल में भी ऐसे महनीय सन्तजनों का अस्तित्व सुचारुरूपेण उपलब्ध हो रहा है। यह सत्य है—

शैले-शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

—चाणक्यनीति २।६

अर्थात्—जैसे हर एक पर्वत पर माणिक नहीं होते, हर एक हाथी के सिर में मोती नहीं होते और हर एक वन में चन्दन नहीं होते। वैसे सभी जगह सच्चे साधु भी नहीं होते।

हमारे परम आदरणीय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज भी आज के युग के एक लब्ध प्रतिष्ठित मुनिराज हैं। भारतीय सन्त परम्परा के जाने-माने एक आदर्श प्रतीक हैं। इनका अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों ही संयम-साधना की पावन ज्योति से ज्योतिर्मान हो रहे हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की निर्मल आराधना एवं उपासना द्वारा मोक्ष की साधना में ये सन्नद्ध हैं, तत्पर हैं। जहाँ ये आत्मकल्याण की ओर अग्रसर दिखाई देते हैं, वहाँ ये जन-जीवन के कल्याण-अभ्युत्थान एवं नव-निर्माण के लिए भी पूर्णतया सतर्क रहते हैं, अहिंसा, संयम और तप की परिपालना ही इनका जीवन व्रत है, ये अहिंसा, संयम और तप-स्वरूप त्रिवेणी में स्वयं गोते लगाते हैं, जो भी व्यक्ति इनकी चरण-शरण में आ जाता है, उसे भी इस पावन त्रिवेणी में गोते लगाने की वांछनीय प्रेरणा प्रदान करते हैं, "**तिण्णाणं तारयाणं**" के पावन लक्ष्य की पूर्ति के लिए सदा जागरूक रहते हैं, दयालुता की साकार प्रतिमा हैं, दीन दुःखीजनों के प्रति इनके मानस में करुणा-गङ्गा सदा प्रवाहित रहती है, किसी व्यक्ति को जब अन्तर्वेदना से परिव्याकुल देखते हैं, तो उसके वेदना-जनित परिताप से इनका कोमल हृदय नवनीत की भाँति पिघल उठता है।

वन्दनीय, पूज्यपाद उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज आज के युग के चलते-फिरते कल्पवृक्ष हैं। कल्पवृक्ष की छाया में जाने वाले लोग जैसे उनसे अपनी समस्त कामनाएँ पूर्ण कर लेते हैं, वैसे ही इस महापुरुष के चरण-सान्निध्य में आनेवाले जनजीवन भी आधि-व्याधि-जन्य परिताप से उन्मुक्त होकर अकथनीय आत्मिक शान्ति उपलब्ध कर लेते हैं।

परहित-साधना में यदि इन्हें कहीं कष्ट का सामना करना पड़े, तो उससे कभी ये जी नहीं चुराते। "**परोपकाराय सतां विभूतयः**" के समुज्ज्वल आदर्श को साकार बनाकर छोड़ते हैं। इनके मन, वचन और कर्म में पूर्णतया एकता के दर्शन होते हैं। सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ यह इन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं है, बक-वृत्ति की दुष्प्रवृत्ति से ये सदा दूर रहते हैं।

समाज-सेवा के महायज्ञ में भी उपाध्याय श्री समय-समय पर अपनी आहुतियाँ डालते रहते हैं। अनेकों शिक्षण संस्थाएँ सेवा-संस्थान, गोशाला, पुस्तकालय इस प्रकार अन्य भी अनेकों सर्वजन हितकारी और उपकारी संस्थाओं को जन्म देकर आप श्री अध्यात्मजगत की महान सेवा कर रहे हैं।

ज्ञान-सम्पदा भी उपाध्यायप्रवर की बड़ी विलक्षण है। वर्षों से आप ज्ञानाराधना करते चले आ रहे हैं। आप द्वारा विनिर्मित १—धर्म का कल्पवृक्ष जीवन के आङ्गन में, २—ओङ्कार : एक चिन्तन, ३—जिन्दगी की मुस्कान, ४—सफल जीवन, ५—साधना का राजमार्ग, ६—ज्योतिर्धर जैनाचार्य, जैन कथाएँ तीस भाग आदि पचासों पुस्तकें तथा ग्रन्थ आप श्री की ज्ञानाराधना के ही समुज्ज्वल प्रतीक हैं। आपकी यह ज्ञान-साधना तथा साहित्य-साधना अज्ञानान्धकार में भटक रहे जनजीवन को सदा ज्ञान एवं विज्ञान का महाप्रकाश प्रदान करती रहती है।

जैनधर्मदिवाकर, साहित्यरत्न, जैनागमरत्नाकर आचार्य सम्राट् परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज की ज्ञानाराधना तथा साहित्यसाधना मैंने (इन पंक्तियों के लेखक ने) स्वयं देखी है। वन्दनीय पूज्य आचार्यप्रवर जैनागमों के परम श्रद्धालु महापुरुष थे। अधिक क्या, पूज्य गुरुदेव जैनागमों की प्रत्येक पंक्ति के प्रत्येक अक्षर को मंत्रतुल्य माना करते थे, इनके जीवन का अधिकाधिक समय शास्त्रों के स्वाध्याय में तथा साधु-साध्वियों के अध्यापन में ही व्यतीत होता था। मैं जब पूज्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज की ज्ञानाराधना और साहित्य-साधना की ओर दृष्टिपात करता हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि ज्ञानाराधना तथा साहित्य-साधना में जैसी आस्था पूज्य गुरुदेव में मौजूद थी, वैसी ही आस्था हमारे वन्दनीय पूज्य उपाध्याय श्री जी महाराज में भी दृष्टिगोचर हो रही है। हमारे महामहिम आचार्य सम्राट पूज्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज ने अध्यात्मयोगी श्रद्धेय पुष्कर मुनि जी महाराज को जो उपाध्याय पद प्रदान किया है, यह बहुत दूरदर्शितापूर्ण कार्य किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या यूं कहूँ कि आचार्यदेव ने श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज की ज्ञानाराधना और साहित्यसाधना को सम्मानित करने का एक श्रेष्ठ प्रयास किया है। आचार्य सम्राट श्री की इस सूझ-बूझ का मैं हृदय से अभिवन्दन एवं अभिनन्दन करता हूँ।

आकर्षक शरीर-सम्पदा—

स्वनामधन्य श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज श्रीवर्धमान स्थानकवासी जैन जगत के एक मनोनीत वरिष्ठ एवं मूर्धन्य सन्त हैं। इनका तपस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी जीवन सभी के लिए आदरास्पद बना हुआ है। क्या जैन, क्या अजैन सभी हृदयों में इस महापुरुष के लिए पर्याप्त श्रद्धा है। वैदिकजगत में पुष्कर जैसे एक तीर्थ माना जाता है, वैसे जैनजगत में भी श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज तीर्थस्वरूप हैं। यही कारण है कि हजारों मानस आज अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से इनके पावन चरण-सरोजों में अपने-अपने श्रद्धासुमन समर्पित करने जा रहे हैं। श्रद्धा-परिपूर्ण लाखों जन जीवन प्रायः प्रातःकाल तथा सायंकाल "नमो उवज्झायाणं" के महास्वर का उद्घोष करते हुए अपनी विनयभक्ति की अभिव्यक्ति करते रहते हैं।

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का सुगठित शरीर, ऊँचा कद, तेजस्वी गौर-वर्ण, उन्नत मस्तक, सबल मांसल भुजाएँ, चित्ताकर्षक मुखमण्डल, दया से सराबोर नयन-युगल तथा कोमल-सा मीठा वाणी-विलास, बरबस जन-जीवन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। अध्यात्म-साहित्य में शरीर-सम्पदा की सुचारुता का जो विश्लेषण मिलता है उसका मूर्त्त रूप सम्माननीय उपाध्याय जी महाराज के जीवन में स्पष्ट रूप से देखा जा रहा है। यही कारण है कि जो व्यक्ति एक बार इनकी भव्य मूर्ति के दर्शन कर लेता है, वह मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता।

प्रगति की पगडण्डियाँ—

परमपूज्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज वि० सं० १९६७ आश्विन शुक्ला चतुर्दशी के शुभ दिन, राजस्थान के उदयपुर जिले के अन्तर्गत नान्देशमा नामक गाँव में पैदा हुए थे। बचपन में आपका नाम अम्बालाल था। कौन जानता था कि यही अम्बालाल आगे चलकर एक दिन श्रमण-भूषण, संयम-शील, चारित्रनिष्ठ मुनिवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के रूप में त्याग-वैराग्य का पथिक बनकर अपनी जन्मभूमि को, जाति को, अपने कुल को तथा अपने माता-पिता के नाम को सूर्य के प्रकाश की भाँति यत्र, तत्र, सर्वत्र फैलायेगा? किसको पता था कि यह नन्हा-मुन्ना बालक अहिंसा, संयम और तप का विमल प्रकाश घर-घर बाँटकर मानव जगत को उस पावन प्रकाश से प्रकाशमान बनाने का सौभाग्य अधिगत करेगा? कौन सोच सकता था कि यह नवजात बालक संयम, साधना तथा वैराग्यभावना के बहुमूल्य, चमचमाते आभूषणों से आभूषित होकर एक दिन अपनी आध्यात्मिक छटा से बड़े-बड़े धर्म-नेताओं तथा राजनेताओं को चकाचौंध कर डालेगा?

१४ वर्षों की छोटी-सी आयु में वि० सम्वत् १९८१ में नान्देशमा गाँव में जन्म लेकर उसे अमर बनाने वाले बालक अम्बालाल ने राजस्थान के विख्यात सन्त, महामहिम परमश्रद्धेय श्री स्वामी ताराचन्द जी महाराज के चरणों में जैन-दीक्षा अङ्गीकार की। दीक्षित हो जाने के अनन्तर श्री अम्बालालजी श्री पुष्करमुनिजी महाराज के नाम से पुकारे जाने लगे। श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज आरम्भ से ही उत्साही, परिश्रमी, विनयी, सक्षम और स्वाध्याय-रसिक महापुरुष रहे हैं। अतः प्रगति एवं विकास की पगडण्डियाँ पार करना इन्होंने उसी समय अपना लक्ष्य बना लिया था, गुरुमहाराज की कृपादृष्टि ने उसमें सोने में सुहागे का काम किया। गुरुदेव के पूज्य चरणों का ही प्रताप समझिए कि इन्होंने अध्ययनक्षेत्र में खूब प्रगति की। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं का गम्भीर परिज्ञान प्राप्त कर लिया। लेखनकला, गायन-कला तथा वक्तृत्वकला में तो धीरे-धीरे पूर्ण निष्णात हो गये। आज इनके कण-कण से इन कलाओं का यौवन प्रस्फुटित हो रहा है। सन्त जीवन में आचार-विचार की समुज्ज्वलता हो, समयज्ञता, विवेक-कुशलता तथा समाज-सेवागत पटुता हो तो उस सन्त-जीवन का लोकप्रिय हो जाना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि राजस्थान-केसरी, अध्यात्मयोगी, परमसन्त उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज के व्यक्तित्व-सूर्य की चमचमाती किरणें राजस्थान के सीमित आकाश में ही अवस्थित नहीं रहीं, प्रत्युत उन्होंने गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, पंजाब और कर्णाटक आदि प्रान्तों के आकाश को भी अपनी पावन ज्योति से ज्योतिर्मान बना डाला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अनुभव के दर्पण में : पूज्य गुरुदेव

☐ जिनेन्द्र मुनि, काव्यतीर्थ

☐

"पर्वत में ऊँचाई है, गहराई नहीं है और समुद्र में गहराई है, ऊँचाई नहीं है किन्तु अलंघनीय होने के कारण ये दोनों ही लक्षण मनस्वी पुरुष में विद्यमान रहते हैं, वह पर्वत के समान ऊँचा और समुद्र के समान गहरा होता।"

आज जब मैं अपने अनुभव के दर्पण में पूज्य गुरुदेव श्री के बिम्ब का साक्षात्कार कर रहा हूँ तो मुझे इस सुभाषित की सार्थकता का बोध होता है। मेरे अनुभव के दर्पण में पूज्य गुरुदेव के तप, त्याग, साधना और संयम की भूमिका बहुत ही विशाल, प्रखर और रचनात्मक है। जैसे सागर की उत्ताल तरंगों की गणना असंभव है, वारिद की प्रत्येक बून्द का लेखा-जोखा सम्भव नहीं है, उसी प्रकार पूज्य गुरुदेव के आध्यात्मिक जीवन की प्रत्येक धारा का अवगाहन मेरे जैसे अल्पमति जिज्ञासु के लिए अत्यन्त दुष्कर हैं। मैं अपने अनुभव के दर्पण में जितने सन्दर्भों में उन्हें देखता हूँ वे उतने ही निराले, महान् और सबल साधक प्रतीत होते हैं।

भारतवर्ष तप, साधना, संस्कृति एवं दर्शन का आदि-काल से प्रमुख केन्द्र रहा है। दर्शन, चिन्तन एवं मनन की अन्तःसलिलाओं ने भारतीय मानस को सदैव उर्वर और प्रकाश पूर्ण बनाया है। विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों एवं मान्यताओं के गंभीर आलोड़न से भारतीय चेतना को एक समन्वयात्मक दृष्टि प्राप्त हुई है। प्रतिभा-सम्पन्न ऋषियों एवं महान् आत्माओं ने इस देश में ऐसे चिरन्तन एवं सनातन सत्यों का उद्घाटन किया है कि जिनकी भूरि-भूरि प्रशंसा पाश्चात्य विचारकों ने भी की है। अंग्रेज विद्वान विक्टर कोसिन ने लिखा है—"जब हम पूर्व की ओर और उसमें भी शिरोमणि स्वरूप भारत की साहित्यिक एवं दार्शनिक कृतियों का अवलोकन करते हैं, तब हमें ऐसे अनेक गंभीर सत्यों का पता चलता है, जिनकी उन निष्कर्षों से तुलना करने पर, जहाँ पहुँच कर यूरोपीय प्रतिभा कभी कभी रुक गई है, हमें पूर्व के तत्त्वज्ञान के आगे घुटना टेक देना पड़ता है।"

चिन्तन की विराट क्रीड़ा स्थली एवं धर्म की पावन वसुन्धरा पर पूज्य गुरुदेव श्री का जन्म पवित्र ब्राह्मण वंश में हुआ। आप श्री ने व्यक्तित्व को नई गरिमा प्रदान की, जिसके कारण विद्वत् सन्त समाज में ख्याति एवं प्रतिष्ठा की उपलब्धि हुई। कहा है कि, "प्रतिभा अपना मार्ग स्वयं निर्धारित कर लेती है और अपना दीपक स्वयं ले चलती है"—"Genius finds its our road and Carries its own lamp." आप की प्रतिभा का प्रथम स्फुरण 'श्री अमरसूरि काव्यम्' के रूप में हुआ जो अपनी अन्त-र्दृष्टि एवं शैली के लालित्य के कारण अत्यन्त सरस और उत्तम रचना मानी गई है। साहित्य के क्षेत्र में अपनी लेखनी का चमत्कार सिद्ध कर देने के साथ-साथ पूज्य गुरुदेव ने अपनी प्रतिभा का दूसरा आयाम वक्तृत्व-कला के रूप में प्रमाणित किया है और आपके सुमधुर तथा पाण्डित्य पूर्ण प्रवचनों की चुम्बकीय क्षमता से जन-मानस भली-भाँति परिचित हो चुका है। दक्षिण के सुप्रसिद्ध सन्त तिरुवल्लुवर ने एक स्थल पर लिखा है—"ऐ शब्दों का मूल्य जानने वाले पवित्र पुरुषो! पहले अपने श्रोताओं की मानसिक स्थिति को समझ लो; फिर उपस्थित जन-समूह की अवस्था के अनुसार अपना व्याख्यान देना आरम्भ करो।" पूज्य गुरुदेव की प्रवचन-शैली की यही विशेषता श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध तथा उत्प्रेरित करती रही है।

प्रतिभा एवं पुरुषार्थ के मणि-कांचन संयोग से पूज्य गुरुदेव के निर्मल व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। साहित्य तथा प्रवचनों के माध्यम से जन-समाज की सुषुप्त चेतना को उद्बुद्ध करते हुए गुरुदेव ने योग-साधना की मन्दाकिनी को भी प्रवाहित किया है। जप-तप के प्रति प्रारम्भ से ही अनुराग होने के कारण आपकी साधना को निरन्तर नई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिशाएँ प्राप्त होती रही हैं और जिस दिशा में आपके कदम अग्रसर होते हैं वहीं सिद्धि आपका मन-मोहक स्वागत करती है। आज आपकी साधना अनुपम सिद्धि के महाशिखर पर आरूढ़ हो चुकी है। आपके श्री चरणों के सम्पर्क में जो भी जिज्ञासु पहुँच जाता है उसकी शंकाओं का सम्यक् समाधान तत्काल हो जाता है, और अपने समस्त कष्टों से वह मुक्ति पा लेता है। आज आपकी आध्यात्मिक-साधना का सूर्य दिग्दिगन्त तक अपनी प्रखर रश्मियाँ विकीर्ण कर रहा है।

कृतं मे दक्षिण हस्ते जयो मे सव्य आहितः

अर्थात् दाहिने हाथ में मैं अपना पुरुषार्थ लिये हूँ, बायें में सफलता, पूज्य गुरुदेव श्री के जीवन के अणु-अणु में पुरुषार्थ की आभा प्रभासित है। यही कारण है कि वृद्धावस्था में भी आप में नवयुवकों-सा उत्साह उमंग एवं जोश लहराता रहता है। जन-जन को आप अप्रमत्तता का सन्देश देते हैं।

आपश्री का जीवन सादगी, सरलता एवं विनम्रता का पावन संगम है। सहिष्णुता और करुणा के स्वर आपकी भाव-वीणा से निरन्तर ध्वनित होते रहते हैं। साधना की अद्भुत उपलब्धि ने भी आपके मानस को कहीं से भी अहंकार की कल्मष नहीं लगने दिया है। आपका समस्त जीवन गुणों का गुलदस्ता है, जिसकी सुगन्ध सुदूर प्रान्तों तक सुवासित है। आज आपके दिव्य गुणों की कीर्ति-गाथा गाने के लिये लक्ष-लक्ष कण्ठ उत्कण्ठित हो रहे हैं। आत्म-श्लाघा एवं आत्म-स्तुति से सर्वथा मुक्त रहकर आप निरन्तर साधना के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित करते जा रहे हैं। आपने कवि रहीम के इन शब्दों को जीवन में चरितार्थ कर लिया है—

बड़े बड़ाई ना करें, बड़े न बोलें बोल।
रहिमन हीरा कब कहै, लाख टका मेरो मोल॥

जीवन एक प्रयोगशाला की भाँति होता है जिसमें सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद सागर के ज्वार-भाटे की तरह आते-जाते रहते हैं। पूज्य-गुरुदेव ने अपने जीवन में अनेकों बार अमृत के स्थान पर गरल का पान किया है, एवं फूलों के स्थान पर शूलों का वरण किया है। कष्ट एवं विपत्ति के क्षणों में भी आपके मुख-मण्डल पर म्लान-छाया का यत्किञ्चित आभास नहीं होता और घोर मुसीबत के अवसरों पर भी आप प्रमुदित गुलाब की भाँति मुस्कराते रहते हैं। संकट की घड़ियों में भी आप धैर्य नहीं खोते और अपने साहस से दूसरों को भी प्रेरणा प्रदान करते हैं। भगवान महावीर की इस उक्ति को आपने जीवन में उतार लिया है—

अप्पणामेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए

—आत्मा को आत्मा के द्वारा जीत कर ही मनुष्य सच्चा सुख एवं शान्ति प्राप्त कर सकता है।

अध्यात्म, योग तथा साधना के क्षेत्र में आप श्री ने जो सिद्धि अर्जित की है वह नमस्कार महामन्त्र के प्रति आपकी अटूट श्रद्धा का सुपरिणाम है। वस्तुतः श्रद्धा के आलोक में जो सत्य उपलब्ध होता है वह बुद्धि तथा तर्क-वितर्क के धरातल पर उपलब्ध शुष्क ज्ञान से कहीं महत्तर होता है।

आज जब मैं पूज्य गुरुदेव से अपने प्रथम-साक्षात्कार का स्मरण करता हूँ तो मेरी चेतना उस क्षण के आन्तरिक उल्लास को व्यक्त करने में स्वयं को असमर्थ पाती है। किसी महती प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने वि० सं० २०१९ के वर्षावास के उत्तरार्द्ध में जोधपुर में आप श्री के प्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था। मैं समझता हूँ कि वह मेरे जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षण था जिसमें मैंने एक वैराग्यमूर्ति और तपःपूत व्यक्तित्व का सम्पर्क पाया था। मैं एक अकिंचन तथा माया-मोह जनित निविड़ अन्धकार से ग्रस्त और संकुचित था और आप उस प्रकाश पुंज की भाँति थे जो अमावस्या के घोर तम को भी चुनौती देकर आकाश मण्डल को अपनी ज्योति से प्रकाशित कर देता है। वैराग्य की दिव्य आलोक-किरण से मेरे मन का घनीभूत अन्धकार अचानक पिघल उठा और मेरे मानस-पटल पर चाणक्य का कथन रेखांकित हो उठा—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

अर्थात् "प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नहीं होता और प्रत्येक हाथी में मुक्ता नहीं मिलती, सर्वत्र साधु नहीं मिलते और सब वनों में चन्दन नहीं होता।" सचमुच सच्चे साधु के दर्शन अलभ्य हैं और सज्जनों की संगति का सौभाग्य भी सब को कहाँ प्राप्त होता है? उस दिन पूज्य गुरुदेव के महिमा-मण्डित व्यक्तित्व में मुझे दिव्य आकर्षण की अनुभूति हुई और मेरे मन ने निश्चय कर लिया कि मुझे भी सांसारिक आसक्ति से विरक्त होकर साधना-पथ पर अग्रसर होना और जीवन का लक्ष्य बदलना है।

मैंने अपना सर्वस्व गुरुचरणों में समर्पित कर दिया। समर्पण में अनुपम शक्ति होती है, हार्दिक उल्लास होता है, मन के किसी कोने में यह सन्तोष होता है कि मैंने विराट सत्ता को अंगीकार कर लिया है। जिस प्रकार जल का एक बिन्दु समर्पण सीखकर सागर की महानता का अनुभव कर लेता है, विद्युत् को समर्पित तार प्रकाश का स्रोत बन जाता है और मिट्टी को समर्पित होकर बीज ही फूल बन कर पराग को चतुर्दिक बिखेर देता है, उसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार समर्पित जीवन ही जीवन की महानता का बोध कर सकता है।

विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने लिखा है—"स्वयं अपने को लेकर मैं तो प्रतिदिन यही अनुभव करता हूँ कि मेरे भीतर और बाहरी जीवन के निर्माण में कितने अगणित व्यक्तियों के श्रम और कृपा का हाथ रहा है और इस अनुभूति से उद्दीप्त मेरा अन्तःकरण कितना छट-पटाता है कि मैं कम से कम इतना तो इस दुनिया को दे सकूं जितना कि मैंने उससे अभी तक लिया है।" मुझे तो कभी-कभी बड़ा आश्चर्य लगता है कि मुझे जैसे निरक्षर तथा अबोध बालक को ज्ञान की ज्योति-धारा में अवगाहन कराने के लिए पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री ने तथा उनके सुशिष्य श्री गणेशमुनि जी महाराज साहब को कितना श्रम और कष्ट उठाना पड़ा होगा। पूज्य गुरुदेव की सतत-सेवा तथा अध्ययन-मनन की महती प्रेरणा से ही मेरे जीवन तन्तुओं का निर्माण हुआ है। एक अनघड़ पत्थर को कुशल शिल्पियों ने तराश कर रत्न जैसा बना दिया है।

महान जीवन के स्रष्टा एवं कलाकार, गुरुदेव श्री का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। पूज्य गुरुदेव श्री के स्वस्थ एवं दीर्घायु-की मंगल कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि उस तपःपूत मनस्वी की साधना का प्रकाश हमें निरन्तर प्रगति-पथ पर चलने की प्रेरणा देगा।

—●●—

श्रमणसंघ के मूर्धन्य सन्त

□ श्री कुन्दन ऋषिजी महाराज

अतीत के स्मृति अत्यन्त मधुर होती है और फिर यदि वह महापुरुषों की स्मृति हो तो कहना ही क्या? बात ई० सन् १९६४ की है आचार्य सम्राट परमश्रद्धेय श्री आनन्द ऋषिजी महाराज साहब के नेतृत्व में शिखर सम्मेलन का आयोजन अजरामरपुरी अजमेर में होने जा रहा था, उस समय आचार्य श्री आचार्य नहीं, अपितु उपाध्याय थे और श्रमणसंघ के प्रमुख कार्य संचालक थे। सम्मेलन में सम्मिलित होने हेतु पूज्य गुरुदेवश्री बम्बई से विहार कर राजस्थान पधारें। पूज्य गुरुदेव श्री के दर्शनार्थ और उनसे श्रमणसंघ के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने हेतु अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी पुष्करमुनिजी महाराज गुलाब पुरा पधारें। पूज्य गुरुदेव श्री भी भीलवाड़ा से विहार कर गुलाबपुरा पधारें। राजस्थानकेसरी जी महाराज अपने शिष्य समुदाय के साथ गुरुदेव श्री के स्वागतार्थ सामने पधारें। आपके प्रवाहपूर्ण ओजस्वी व्यक्तित्व को देखकर मैंने दूर से ही अनुमान लगाया कि आप ही राजस्थान केसरी जी महाराज होने चाहिए। वन्दन व्यवहार होने के पश्चात् पूज्य गुरुदेवश्री से एकान्त-शान्त स्थान पर बैठ कर आपश्री ने वार्तालाप किया, मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि जो समस्यायें उलझी हुई थीं, जिन समस्याओं के समाधान हेतु पूज्य गुरुदेवश्री लम्बे समय से चिन्तन कर रहे थे, उन समस्याओं को आपश्री ने कुछ ही क्षणों में सुलझा दी, और एक उल्लासमय वातावरण का निर्माण कर दिया। सभी लोग आपश्री की प्रकृष्ट प्रतिभा को देखकर विस्मित थे।

श्रमणसंघ की उस समय अनेक समस्याएँ उलझी हुई थीं, उन समस्याओं को सुलझाने के लिए पूज्य गुरुदेव श्री को आपके मधुर सहयोग की आवश्यकता थी अतः आपश्री पूज्य गुरुदेव के साथ ही वहाँ से विजयनगर, ब्यावर और अजमेर एक साथ रहे। जो समस्याओं के पहाड़ दुर्लंघनीय प्रतीत हो रहे थे, वे सहज रूप से सुलझा दिये गये, और अजमेर में सम्मेलन में भी स्नेहपूर्ण सरस वातावरण निर्माण करने में आपने जो भूमिका अदा की, उसे मैं विस्मृत नहीं हो सकता। और आपके विशेष प्रयास से आचार्य पद प्रदान करने का समारोह उल्लासपूर्ण क्षणों में सम्पन्न हुआ।

मुझे यह देखकर अत्यन्त आल्हाद हुआ कि आप जैसे विलक्षण प्रतिभा के धनी महापुरुष भी बालकों के साथ स्नेहपूर्ण ढंग से पेश आते हैं। उस समय मुझे दीक्षा लिए हुए सिर्फ दो ही वर्ष हुए थे। आपने मुझे अध्ययन की प्रबल प्रेरणा प्रदान की, आचार्य प्रवर तथा अन्य गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना जीवन विकास के लिए आवश्यक है, इस बात पर भी प्रकाश डाला।

उसके पश्चात् सन् १९७१ में राजस्थानी मुनियों का प्रान्तीय सम्मेलन सांडेराव में आयोजित हुआ। उस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए राजस्थानकेसरीजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराज बम्बई से उग्र विहार कर पधारे, इधर आचार्य प्रवर भी कुशालपुरा चातुर्मास सम्पन्न कर वहाँ पधारे। पुनः आप श्री के दर्शनों का सौभाग्य मुझे मिला। मैंने इस समय भी आपको बहुत ही सन्निकटता से देखा आप श्री की ध्यान-साधना एवं ज्ञान की उत्कट भावना ने मुझे प्रभावित किया, आप श्री ने अत्यन्त स्नेह के साथ मेरी प्रगति के सम्बन्ध में मुझ से पूछा—उसके पश्चात् पुनः आपश्री के दर्शनों का सौभाग्य मुझे सन् १९७५ में मिला। पूज्य गुरुदेव श्री महाराष्ट्र के गाँवों में विचरण कर रहे थे, आप श्री अहमदाबाद का यशस्वी चातुर्मास पूर्ण कर आचार्य श्री के दर्शन हेतु खेड़ मंचर पधारे, इस समय आपश्री के प्रवचनों को सुनने का विशेष अवसर मिला, आप श्री की ओजपूर्ण वक्तृत्व कला को देखकर मैं मन्त्रमुग्ध हो गया। नीरस से नीरस विषय को भी अप श्री अपनी कला से इस प्रकार सरस बनाकर प्रस्तुत करते हैं कि श्रोतागण झूम उठते हैं। आचार्य प्रवर का सन् १९७५ का वर्षावास घोड़नदी में सम्पन्न हुआ, उस समय आचार्यप्रवर का स्वास्थ्य काफी अस्वस्थ हो जाने से आप श्री पूना का तेजस्वी चातुर्मास सम्पन्न कर आचार्य श्री के दर्शनार्थ घोड़नदी पधारे, श्रमण संघ के उत्कर्ष के सम्बन्ध में आचार्य श्री से आप की गम्भीर विचार चर्चाएँ हुईं। आचार्य प्रवर के प्रति आपश्री के अन्तर्मानस में गहरी निष्ठा, सरलता आदि सद्गुणों को देखकर मेरा हृदय नत हो गया। और आपश्री श्रमण संघ के एक मूर्धन्य सन्त हैं, उपाध्याय हैं, श्रमण संघ की अखंडता के लिए आपश्री का प्रयास चल रहा है। आपश्री ने मेरे जीवन विकास हेतु अनेक सद्शिक्षाएँ प्रदान कीं। आप का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है यह आल्हाद का विषय है, मैं अपनी अन्तर्श्रद्धा आपश्री के चरणों में समर्पित करता हूँ कि आपश्री सदा श्रमण संघ को आगे बढ़ाते रहें आप जैसे मूर्धन्य सन्तों से ही श्रमण संघ की गौरव गाथा दिग्दिगन्त में गूंज रही है। आपका यशस्वी जीवन हमारे लिए सदा पथ-प्रदर्शक बना रहे यही वन्दना के साथ अभ्यर्थना है।

★

विराट् व्यक्तित्व के धनी

□ मधुरवक्ता श्री कमलेश मुनि
(खम्भात सम्प्रदाय)

जब आषाढ़ मास में अनन्त आकाश में उमड़-घुमड़कर घनघोर घटाएँ छा रही हों, बिजलियाँ कौंध रही हों, उस समय मोर चुप नहीं रह सकता। वसन्त का सुहावना मौसम हो, आम्रवृक्ष पर मंजरियाँ चटक रही हों और उनकी मधुर गमक चारों ओर फैल रही हो उस समय कोयल की मधुर वाणी झंकृत हुए बिना नहीं रह सकती वैसे ही पूज्य गुरुदेव उपाध्याय राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के गुणों का उत्कीर्तन का प्रसंग उपस्थित हो उस समय मैं चुप कैसे रह सकता हूँ।

मैंने प्रथम बार आपश्री के दर्शन अहमदाबाद के मणि नगर में किये थे। प्रथम दर्शन में ही मैं आपसे इतना अत्यधिक प्रभावित हुआ कि मत पूछो। आपश्री की स्नेह सुधा स्निग्ध वाणी की वह मधुर झंकार आज भी कर्ण-कुहरों में गूंज रही है। आपश्री में ध्यान-योग की प्रबल आध्यात्मिक मस्ती है महान पुरुषार्थ है, अखण्ड बाल ब्रह्मचारी, उग्रविहारी ज्ञानी महापुरुष का सहवास मुझे अहमदाबाद से महेसाणा तक मिला; उस समय मैंने आपकी सिंहगर्जना और प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव किया। आपश्री राजस्थानकेसरी ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण जैन समाज के केसरी हैं यह कहदूँ तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि आप एक विराट व्यक्तित्व के धनी हैं।

मेरे अन्तः हृदय के कोटि-कोटि वन्दन के साथ आपका हार्दिक अभिनन्दन है। आपश्री अपने तेजस्वी ज्ञान की किरणों से मुझे भी प्रकाशित करो यही मंगल-मनीषा है।

—☆—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



कुछ संस्मरण—

मेरे श्रद्धास्पद : उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज

☐ मुनि श्री सुमेरचन्द्र

☐

बात बहुत पुरानी है। आज से लगभग २५ साल पहले की, जब अखिल भारतीय स्थानकवासी साधु-सम्मेलन सादड़ी के भव्य प्रांगण में होने जा रहा था। हम सब मुनियों के कदम सादड़ी की ओर सरपट दौड़े जा रहे थे। मन में उत्साह था, प्रसन्नता थी, वर्षों पुरानी साम्प्रदायिकता को एक वृहत् संघ में विलीन होते देखने की। सादड़ी एक भव्यतीर्थ बनने जा रहा था। अनेक विद्वान् सन्त अपनी-अपनी शिष्यमंडली के साथ सादड़ी के प्रांगण में होने वाले इस संघ-ऐक्य-महायज्ञ में अपनी-अपनी आहुतियाँ देने जा रहे थे। श्रद्धेय उपाध्याय प्रवर श्रीपुष्कर मुनीजी महाराज भी अपनी शिष्य-मंडली के साथ सादड़ी-तीर्थ में विराज रहे थे क्योंकि उन्होंने ही वहाँ पर सम्मेलन का भव्य आयोजन किया था। स्व० पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज के साथ हम सब भी सादड़ी पहुँचे। वहीं पर हमारा प्रथम साक्षात्कार हुआ था। गौर, सौम्य एवं भव्य-मूर्ति, सरलनिश्छल व्यक्तित्व, धीर-गम्भीर प्रकृति, अकृत्रिम व्यवहार-बरताव और अपने ढंग का खरा-निखरा सन्त-जीवन यह दिव्य-भव्य चित्र आज भी मेरी आँखों में तैर रहा है। मैंने प्रथम साक्षात्कार में ही पाया कि आप इतने विद्वान तपेतपाये प्रखर सन्त होते हुए भी कितने निरभिमान हैं। साम्प्रदायिकता की घेराबन्दी बड़े-बड़े विद्वान् मनीषियों को संकुचित और वक्रहृदय बना देती है, परन्तु उपाध्यायजी महाराज तब भी साम्प्रदायिकता के घेरे से बाहर थे। इसलिए प्रथम मिलन में ही आपके व्यक्तित्व ने मुझे अत्यन्त प्रभावित कर दिया।

जिन्दगी की इस मंजिल में मिलते तो कितने ही हैं, परन्तु वह मिलन अपने आप में बहुत ही महत्त्व रखता है। हमसे आप मिले और दिल खोलकर मिले। ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे गुरु अपने वर्षों से बिछुड़े हुये प्रिय शिष्य से मिल रहा हो। यही तो जिन्दगी की एक खूबी है—

जब मिले, जिससे मिले, दिलखोल कर मिले।
इससे बढ़कर और खूबी, कोई इन्सां में नहीं।

वाणी से ही नहीं, मनुष्य के व्यवहार से उसका व्यक्तित्व देखा-परखा जाता है। व्यवहार ही जीवन का दर्पण है। उसी में ही तो जीवन का तथ्य, सत्य, कथ्य सब कुछ प्रतिबिम्बित होता है। जीवन की सच्ची कसौटी यही है। श्रद्धेय उपाध्यायश्री जी महाराज का मृदु-मधुर व्यवहार उनके व्यक्तित्व को अभिव्यक्त कर रहा था। जितने दिन सादड़ी में रहे, प्रायः प्रतिदिन आपके दर्शन होते थे, यदा-कदा किसी बात पर विचार-विमर्श भी होता था, आपकी तत्वचिन्तनस्पर्शी वाणी में हमारे प्रति नितरता हुआ अपार स्नेह झलकता था। साथ में आपके प्रिय विद्वान शिष्य पं० श्रीदेवेन्द्रमुनि जी एवं श्री गणेशमुनिजी भी उस मधुर चिन्तन-गंगा में हमारे साथ-साथ गोते लगाते थे और ऐसा प्रतीत होता था युगानुकूल चिन्तन का कलकल निनाद करता हुआ निर्झर प्रवाहित हो रहा हो। हम सबने उपाध्यायश्री जी के मधुर सान्निध्य में रहकर पर्याप्त स्नेह पाया, युगस्पर्शी चिन्तन प्राप्त किया।

उसके पश्चात् हम आपसे सोजत सम्मेलन में मिलें। उस समय तो हमें आपके प्रवचन श्रवण का भी लाभ मिला, प्रवचन इतने ओजस्वी तथा बुलन्द स्वर में संघ-ऐक्य पर होते थे, कि सुनने वाला सहसा वहाँ से उठ नहीं सकता। बीच-बीच में विषय के अनुरूप रोचक दृष्टान्तों द्वारा आपका प्रवचन इतना सजीव हो उठता था कि किसी भी विरोधी विचार की प्रतिध्वनि मुखरित नहीं हो सकती थी। मैं सुनकर दंग रह गया कि संघ-ऐक्य के सम्बन्ध में आपके विचार कितने सुलझे हुए एवं उन्नत हैं। आपके विचारों में युग की छाया स्पष्ट थी, किन्तु साथ ही तदनुकूल शास्त्रीय पुट भी था, जो प्राचीन और अर्वाचीन सभी विचारों को समन्वित कर देता था। यही कारण है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवीन और प्राचीन दोनों विचारों के प्रतिनिधि अत्यन्त रुचिपूर्वक आपके प्रवचनामृत का पान करते थे।

आप इस श्रमणसंघ के एक वरिष्ठ नेता के रूप में थे, फिर भी आप श्रमणसंघ के प्रत्येक छोटे से छोटे सदस्य की समस्याओं को ध्यानपूर्वक सुनते और सुलझाने का प्रयत्न करते थे। मैंने देखा कि आप में बहुत बड़ी लगन और तड़फन थी, श्रमणसंघ के लिए कुछ करने की। वही तड़फन और लगन आज भी मैं आप में देख रहा हूँ, श्रमण संघीय उपाध्याय पद पर आसीन होने पर भी।

उसके बाद तो नाथद्वारा, उदयपुर आदि क्षेत्रों में कई प्रसंगों पर आपसे मिलने और विचार-विमर्श करने का सिलसिला जारी रहा। जब भी, जहाँ भी आप मिले, आपने मुझ पर अपना वरदहस्त रख कर अपना अमूल्य आशीर्वाद प्रदान किया। जीवन में प्रगति के द्वार खोलने और अपना संयमनिष्ठ व्यक्तित्व बनाने की प्रेरणा दी।

यही कारण है कि आपको श्रमणसंघ के वरिष्ठ नायक महामहिम आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषिजी महाराज ने योग्य समझ कर गतवर्ष उपाध्याय पद से विभूषित किया। उपाध्याय पद आपकी योग्यता का परिचायक है "**रत्नं समागच्छतु कांचनेन**" इस न्याय से यह पद आपके लिए स्वर्णमणि संयोग है।

आपके आध्यात्मिक पक्ष की झाँकी भी काफी समुन्नत और सुरुचिपूर्ण है। पिछले वर्षों में आपकी आध्यात्मयोग की साधना इतनी तीव्र हो गयी है कि आपका प्रशस्त ध्यान, जप-तप, साधना, मौन आदि केवल स्वकल्याण के लिए ही नहीं, जन-जन के कल्याण के साधक बन चुके हैं। आपकी वाणी में जैसा चमत्कार है, वैसा ही आपकी दृष्टि, आपके वरदहस्त के स्पर्श और आपके मनःसंकल्प में चमत्कार है।

मैं परम कृपालु वीतरागदेव से करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आप चिरकाल तक दीर्घायु एवं स्वस्थ रहकर अपने यशस्वी जीवन की सौरभ जनता में प्रसारित करें और आपका तेजस्वी जीवन संघीय उन्नति के साथ-साथ जनता की आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में संलग्न रहे।

—☆—

मधुर जीवन

☐ पं० श्री इन्द्रमुनि जी महाराज 'मेवाड़ी'

उपाध्याय राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी महाराज मधुरता के साकार स्वरूप हैं। आपका शान्त-दान्त-प्रशान्त स्वभाव है। आपका व्यक्तित्व और कृतित्व इतना मधुर है कि उस मधुरता के समक्ष मधु की मधुरता भी फीकी पड़ जाती है और शक्कर की मिठास भी हतप्रभ हो जाती है। यदि अमृत भी आपके माधुर्य की समकक्षता करना चाहे तो उसे भी पराजय ही स्वीकार करनी होगी। गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवि ने सत्य ही कहा है कर्मयोगी श्री कृष्ण से सम्बन्ध में—

अधरं मधुरं, वदनं मधुरं, नयनं मधुरं, हसितं मधुरं।
हृदयं मधुरं, गमनं मधुरं, मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
वचनं मधुरं, चरितं मधुरं, वसनं मधुरं, वलितं मधुरं।
चलितं मधुरं, भ्रमितं मधुरं, मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥

जैसे कृष्ण का प्रत्येक कार्य मधुर था। वह आल्हाद उत्पन्न करने वाला था वैसा ही श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का जीवन भी मधुरता से ओत-प्रोत है।

मैंने सर्वप्रथम आप श्री के दर्शन वि० सं० १९९५ में किये थे। सद्गुरुणी जी श्री सज्जनकुँवर जी महाराज तथा श्रेष्ठी प्रवर नाथुलालजी परमार का मैं आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा से ही मैं सद्गुरुदेव की सेवा में वैराग्यावस्था में रहा। उस समय आप श्री की सेवा में श्री हीरा मुनि जी व देवेन्द्र मुनि जी दोनों वैराग्यावस्था में थे। बाल-सुलभ चंचलता के कारण गुरुदेव ने मुझे दीक्षा प्रदान नहीं की और मैंने मेवाड़भूषण पूज्य प्रवर मोतीलाल जी महाराज की सेवा में दीक्षा ग्रहण की, पर मुझे सदा यह आल्हाद होता रहा कि जब भी आप के दर्शनों का सौभाग्य मुझे मिला तब भी आपने अपने प्रिय शिष्य की तरह मुझे प्यार दिया। कभी भी आपके मन में यह विचार नहीं आया कि मैंने वहाँ क्यों दीक्षा ली। कभी मैंने मजाक के रूप में नम्रनिवेदन भी किया तो आपने यही फरमाया कि पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज भी हमारे ही हैं, वहाँ रहो, चाहे यहाँ रहो, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम्हें मुनि श्री के चरणों में रहकर अपना विकास करना है। दाँत मुँह में रह करके ही शोभा पाते हैं, मुँह से निकलने के बाद नहीं। यह है आप श्री के विराट् हृदय की मधुरता का पुनीत प्रतीक।

आपकी असीम कृपा मेरे पर सदा रही है और सदा रहेगी, इसमें किंचितमात्र भी शंका नहीं है। आप श्री अपनी असीम विशेषताओं के कारण ही जन-जन के मन में बसे हुए हैं। श्रद्धेय सद्गुरुदेव के श्री चरणों में मेरा कोटि-कोटि वन्दन और अभिनन्दन है। आपकी पवित्र छत्रछाया सदा मेरे लिए वरदान रूप रहे। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



पारस-पुरुष

□ पंडित श्री रतनमुनि जी

□

कुछ विभूतियाँ ऐसी होती हैं, जो स्वयं का ही उद्धार कर पाने का बल रखती है, और कुछ अपने साथ, प्रेरणा दे, असंख्य जीवों को विकास मार्ग में अग्रसर करती रहती है, ऐसी चारित्रात्माओं का प्रत्येक क्षण जागरूक आत्मरति के साथ व्यतीत होता है, और शायद इसी हेतु प्रकृति भी इनके सृजन में योगदान देती रहती है, ऐसा ही एक विरल व्यक्तित्व है····उपाध्याय श्रीपुष्कर मुनि जी महाराज।

स्वच्छ गेहुँआ वर्ण, सुडौल शरीरयष्टि, नेत्र निश्छल पर, स्नेह से लबलीन, गरिमायुक्त मुखमण्डल, दामिनी-सी चपल पर नियन्त्रित बुद्धिमत्ता, और इन सब का मणि-कांचन योग है उपाध्याय श्री का।

जीवन यात्रा में यात्री का अन्यान्य यात्रियों से मिलन होता है, पडाव डलता है। उनमें से कुछ क्षणों के साथी होते हैं और निमिषमात्र में ओझल हो जाते हैं। उनमें मिलन में कुछ भी स्थायिता नहीं होती। पर कुछ ऐसे उजागर होते हैं जो इतनी सी झलक में ही मन मोह लेते हैं। अन्तर में उतर मानस-पटल पर अपनी गहरी छाप, तेजोमय स्मृति छोड़ जाते हैं जो मिटाये नहीं मिटती, भुलाये विस्मृत नहीं होती। लाओत्से ने शायद ऐसे ही मिलन के संदर्भ में कहा है—एक ही कदम से हजारों मील की यात्रा पूरी हो जाती है, ज्यादा की जरूरत भी क्या है, इसी एक डग में वह सब कुछ मिल जाता है, जिसे पकड़ना लम्बी यात्रा होने के बराबर है।

जोधपुर में स्थविरपदभूषण श्री ताराचंद जी महाराज के साथ आपका पदार्पण हुआ था। पूज्य गुरुदेव श्री मंगल चंद जी महाराज तथा, नवदीक्षित मैं, वहीं थे, आपसे वहीं प्रथम परिचय था। पुनः करमावास सांडेराव प्रांतीय सम्मेलन एवं सादडी गुरुकुल में साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आगमिक, सामाजिक अनेकानेक विषयों पर चर्चा भी हुई। वह रसपूर्ण वाग्धारा आज भी कर्णपटलों में गूँज रही है। वस्तुतः आप पारस-पुरुष हैं। आपके सम्पर्क में आने से लोह पुरुष भी स्वर्ण-पुरुष बन जाता है।

संत दृष्टि से आप निश्चय ही प्रथम कोटि की गणना में हैं। आपका जीवन आचार-विचार का अनूठा संगम है। आज के युग में प्रतिभासंपन्न विद्वानों की कमी नहीं है। विचारकों और ग्रन्थकारों की भी न्यूनता नहीं है। पर सच्चे संत आकाश कुसुम की तरह दुर्लभ हैं। परन्तु उपाध्याय श्री सच्चे माने में संत हैं और इसीलिए राजस्थानकेसरी के रूप में जन-जन आपको हृदयहार मानता है।

सहृदयता, परिश्रमशीलता, परदुःखकातरता और नियमबद्धता आप में कूट-कूट कर भरी है, आप कम किन्तु मधुर बोली में विश्वास रखते हैं, और शायद इसी-लिए राजस्थानी रांगडी भाषा का साहित्य भी आपकी बोली और लेखनी से उतरकर सुपाच्य, सुग्राह्य और मधुर हो गया है।

इस अभिनन्दन अवसर पर मैं पवित्र श्रद्धा के साथ दीर्घायु की सद्कामना करता हूँ। □

पारस का संस्पर्श लौह को, करता है केवल कांचन।
पारस-परस तुम्हारा पुष्कर ! करता नर को नारायण ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



यशस्वी और तेजस्वी सन्त

☐ श्री राजेन्द्र मुनि, शास्त्री

☐

परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज अज्ञानान्धकार की सघन रात्रि में जगमगाता प्रकाश लेकर अवतीर्ण हुए हैं। जब जन-जन का अन्तर्मानस जड़ता की गहरी नींद में सोया हुआ था। आपने उस गहन अंधकार की गोद में सोये हुए व्यक्तियों को सहलाया। जागृत व्यक्तियों को पथ का परिज्ञान कराया, जो पथिक थे उन्हें अभिनव आलोक दिखाया और जो आलोक से आलोकित पथ की ओर बढ़ रहे थे उन्हें ऐसा आभास होने लगा कि हम अपने लक्ष्य के सन्निकट पहुँच गये हैं अतः श्रद्धालु जन-मानस आपको अज्ञानान्धकार में सम्यक् ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाला महापुरुष मानता है। आध्यात्मिक उत्कृष्ट साधना से सर्वप्रथम आपने अपने आपको निखारा उसके पश्चात् अपने अनुभव के अमृत को सर्व जीवों की रक्षा रूप दया के लिए जन-जन को बाँटा, आप श्री के इस अक्षय कोष को पाकर जनमानस आल्हादित है।

आपने अपने शिष्य और शिष्याओं में अध्ययन की प्रगति के लिए प्रबल पुरुषार्थ किया। आगम, दर्शन, साहित्य का गंभीर अध्ययन कराया और साहित्य की विविध-विधाओं में लिखने के लिए उत्प्रेरित किया जिसके फलस्वरूप श्रेष्ठ साहित्य का सृजन हुआ।

साधना से कतराने वालों को जप व ध्यान की साधना बताकर उनमें साहस का संचार किया। नवकार महामंत्र के जाप में कितनी अद्भुत और अनूठी शक्ति है जिसके जाप से पाप ताप और संताप मिटकर आत्म-शान्ति मिलती है, आधुनिक युग में जो तार्किक हैं, जिनमें धार्मिक क्रियाकाण्डों के प्रति किञ्चित् भी श्रद्धा नहीं है उनके अन्तर्मानस में नवकार महामंत्र के प्रति श्रद्धा जागृत की।

भारत के विविध प्रान्तों में हजारों मील की पदयात्रा कर उन्होंने बताया कि गति ही जीवन है, इसलिए चले चलो, बढ़े चलो, जो चलता है उसका भाग्य चलता है। अनन्त गगन में चमकते हुए चांद सितारे अपनी गति से बढ़ रहे हैं, ठुमक-ठुमक कर पवन भी चल रहा है, विभिन्न रूपों में बहती हुई जल धाराएँ विश्व के लिए वरदान के रूप में है तो हमें क्यों एक स्थान पर स्थिर होना चाहिए। पूज्य गुरुदेव श्री जहाँ बहिर-यात्रा करते हैं वहाँ उनकी अन्तर्यात्रा भी निरन्तर चलती रहती है। जहाँ बहिर् यात्रा से उन्होंने जागतिक अनुबंधों का विस्तार किया है वहां अन्तर्यात्रा से अन्तश्चेतना का विकास किया है।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के जीवन में 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्' का सुन्दर संगम हुआ है। वे जितने तत्त्वद्रष्टा हैं, उससे भी अधिक वे साधक हैं और कलाकार हैं, कुछ चिन्तक साधना और कला को पूर्व और पश्चिम की तरह परस्पर विरोधी मानते हैं किन्तु गुरुदेव कला को साधना में बाधक नहीं, अपितु साधक मानते हैं उनके मस्तिष्क में जहाँ चिन्तन की निर्मल गंगा प्रवाहित हैं, वहाँ हृदय में साधना की सरस्वती बह रही तथा हाथ और पैरों में कला की कालिन्दिनी अठखेलियां कर रही हैं।

श्रद्धेय सद्गुरुदेव स्थानकवासी परम्परा के यशस्वी और तेजस्वी सन्त हैं। हमें आपश्री के कुशल नेतृत्व में पूर्ण विश्वास है। आपश्री के मार्गदर्शन में वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ अधिक से अधिक पल्लवित और पुष्पित होगा और हमारा भी अत्यधिक विकास होगा।

मैं सर्वप्रथम सद्गुरुदेव श्री की सेवा में मेरी मातुश्री प्रकाशवती जी की प्रेरणा से प्रेरित हो अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री रमेश मुनि जी के साथ अजमेर शिखर सम्मेलन के समय उपस्थित हुआ। सद्गुरुवर्य उपाध्याय पूज्य पुष्कर मुनि जी के दर्शन कर मेरे मानस में कबीर की वे पंक्तियाँ स्वर्णाक्षर की भाँति चमकने लगीं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु कहावन कठिन है, लम्बा पेड़ खजूर।
चढ़े तो चाखे प्रेम रस, गिरे तो चकनाचूर॥

वस्तुतः साधु बनना बहुत ही कठिन है और फिर साधना के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ते रहना और भी कठिन है। उपाध्यायश्री साधना के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ते रहे हैं, इसलिए ये हमारे वन्दनीय हैं, अर्चनीय हैं।

सन्त का जीवन परमार्थ का जीवन है। स्वयं कष्ट सहन कर दूसरों के जीवन का निर्माण करना उनके जीवन का संलक्ष्य होता है। वे अपने कष्ट को नहीं, किन्तु संसार के प्राणियों को कष्ट से आकुल-व्याकुल देखकर सिहर उठते हैं। उनके कष्टों को मिटाने के लिए वे सतत पुरुषार्थ करते हैं। कबीर ने ठीक ही कहा है—

"परमारथ के कारणे साधुन धरा शरीर"

श्रमणों का जीवन खाण्डे की प्रखर धार के समान है, वे आत्मार्थी हैं, आत्मानुसन्धानी हैं और साथ ही समाज के हित के लिए जागरूक हैं। उनकी मधुर मुसकान में समाधान है, वाणी में समन्वय का अनाहत नाद है। उनका प्रत्येक कदम मानवता की मंगल मुस्कराहट है और प्रत्येक शब्द जीवन को अभिनव दृष्टि प्रदान करने वाला है। वे भुजंगों के बीच में रहे हुए केतकी और केवड़े के फूल के समान हैं, जो अपनी अनन्त सुवास से जन-मन को मुग्ध करते हैं।

सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री अड़सठ वर्ष के हो चुके हैं, किन्तु उनका तेजोमय व्यक्तित्व अग्नि-शिखा के समान रात-दिन दहकती ज्ञान देह को देखकर कोई भी व्यक्ति विस्मय विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। एक सहज मुस्कराहट, निर्द्वन्द्व मुखमण्डल, विशाल भव्य भाल, ज्ञान की खिड़कियों में से सत्य की अन्वेषणा करते हुए नेत्र, जब मुनि श्री प्रवचन मुद्रा में विशाल जन-मेदिनी के समक्ष उपस्थित होते हैं उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व दिशा से सूर्य उदय हो रहा है और अपने दिव्य प्रकाश से सभी को भर रहा है और उनके अज्ञान-अन्धकार को नष्ट कर रहा है।

पूज्य उपाध्याय श्री यद्यपि स्थानकवासी परम्परा के एक सन्त रत्न हैं, किन्तु वे परम्परा से बन्धे हुए नहीं हैं। उनका चिन्तन वीतराग वाणी का चिन्तन है, उनके सन्निकट बैठने वाले को ऐसा ज्ञात होता है कि वह आध्यात्मिक कल्पवृक्ष की छाया में बैठा है। वे आडम्बर और पाखण्ड से कोसों दूर हैं। सम्यक् साधना ही उनकी साधना का संलक्ष्य है।

गुरुदेव श्री आगम के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने आगम-सिन्धु का महा मंथन किया है। उस महामंथन से जो अमृत निकला वे प्रवचनों के द्वारा श्रोताओं को प्रदान करते हैं। बात-बात में वे आगम के गहन तत्त्व प्रतिपादन करते हैं, साथ ही मनोविनोद भी। वे शिशु से सरल हैं और शिशु के समान जिज्ञासु भी हैं। शैशव का अद्भुत सारल्य उनके व्यक्तित्व का अंग है। वृद्धों में वह रस कहाँ जो बच्चों में है? वे बच्चों से बातचीत करते हैं। बच्चों की ताजगी लेते हैं। अँग्रेजी की वह कहावत "Child is the father of man" के मर्म को उन्होंने हृदयंगम कर लिया है।

गुरुदेव उपाध्याय श्री के दीक्षा स्वर्ण जयन्ती पर मेरी मनोकामना है कि वे विश्व को ज्ञान रूपी अंजन सदा आंजते रहे और मानव को सदा पथ-प्रदर्शन करते रहें।

—●—

जीवन के निर्माता

□ श्री प्रवीणमुनि जी

पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का मुझ पर महान् उपकार है। उनके मंगलमय प्रवचन को श्रवणकर मेरे मन में संयम साधना के प्रति रुचि जागृत हुई। और पूज्य गुरुदेव श्री के आदेश को स्वीकार कर मुझे दीक्षा की अनुमति प्रदान की। दीक्षा के पश्चात् गुरुदेव के दर्शनों का सौभाग्य मुझे उदयपुर में मिला, उसके बाद गुरुदेव श्री का चातुर्मास जोधपुर, अजमेर, अहमदाबाद, पूना, रायचूर और बेंगलोर होने से मुझे दर्शनों का लाभ नहीं मिल सका, क्योंकि मैं आपश्री की आज्ञा से राजस्थान में ही रह गया। मुझे यह जानकर बहुत ही प्रसन्नता हुई कि मेरे महान् उपकारी, जीवन के निर्माता पूज्य गुरुदेव श्री का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेव श्री का जीवन त्याग और वैराग्य का जीवन है। संयम, साधना, तप, आराधना का जीवन है। ऐसे महापुरुष का अभिनन्दन करना हमारा कर्तव्य है। मेरी यही अभिलाषा है पूज्य गुरुदेव श्री पूर्ण स्वस्थ रहकर हमें सदा सर्वदा अपना मंगलमय आशीर्वाद प्रदान करते रहें जिससे हमारा जीवन निरन्तर साधना की ओर बढ़ता रहे।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाज्वल्यमान नक्षत्र

☐ श्री विनेशमुनि
(जैनसिद्धान्त विशारद)

☐

सामान्य व्यक्ति कब, कहाँ पर जन्म लेता है, कहाँ पर उसका पालन होता है और वह किस प्रकार जीवन व्यतीत करता है, इसकी जिज्ञासा किसी को नहीं होती, किन्तु जब व्यक्ति व्यष्टि की सीमा को उल्लंघन कर समष्टि बनता है उसका कार्यक्षेत्र सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय होता है, तो उसके जीवन का एक-एक क्षण कोहिनूर हीरे की तरह मूल्यवान् बन जाता है और जन-जन की दृष्टि में वह श्रद्धा केन्द्र बन जाता है। जनमानस उसके सम्बन्ध में जानना चाहता है, उसकी सारी चेष्टाएँ, मानसिक व्यापार और बौद्धिक चिन्तन हजारों व्यक्तियों के जीवन में प्राण फूंकते हैं उनकी सुषुप्त भावनाओं को जागृत करते हैं। उनका जीवन एक आदर्श जीवन होता है।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य पुष्कर मुनि जी महाराज का जीवन एक आदर्श जीवन है। आपश्री के जीवन में औपचारिकता का आत्यन्तिक अभाव है, आप बनना नहीं जानते आपके पास अपने नैसर्गिक चेहरे के अतिरिक्त अन्य कोई मुखौटा नहीं है, आपके चारित्र्य का मूल है सचाई, ईमानदारी, बाहर-भीतर एक सदृश। भगवान महावीर ने सच्चे साधक के जीवन का विश्लेषण करते हुए कहा—सच्चे साधक का जीवन जैसा भीतर में होता है वैसा ही बाहर में होता है और जैसा बाहर में होता है वैसा ही भीतर में होता है।

जहा अन्तो, तहा बाहिं
जहा बाहिं, तहा अन्तो।

उनका जीवन एक अखण्ड जीवन है, जीवन में बनावट और सजावट नहीं, किन्तु वास्तविकता है। अपने आपको बनाना उन्हें नहीं आता। वे अभिनेता नहीं किन्तु सच्चे नेता हैं। इसलिए उन्हें दिखावट पसन्द नहीं। उनका जीवन स्फटिकवत् पारदर्शी द्रव्य से बना हुआ है जिसमें छल, प्रपञ्च, दुराव या छिपाव नहीं है। न दोहरा जीवन है, न दोहरा व्यक्तित्व है। वे तात्त्विक के साथ सात्विक भी हैं। उनकी तात्त्विकता और सात्विकता दर्शक के दिल को लुभा लेती है।

आपश्री धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति, कला और ज्ञान के सजग प्रतीक हैं। आपका व्यक्तित्व विभिन्न रंगों से निर्मित उस रंगीन चित्र की तरह आकर्षक है, आप उपदेष्टा हैं, धर्मसंघ के शासक हैं, और नीति के प्रतिष्ठापक हैं। आपका तेजस्वी जीवन सामाजिक क्षितिज पर एक जाज्वल्यमान नक्षत्र की तरह चमक रहा है। आपका चिन्तन सहस्राक्ष बनकर जीवन और जगत् की गम्भीर समस्याओं को सहज रूप से सुलझा देता है। पर आपकी कमनीय कल्पना गरुड़ की तरह अनन्त गगन में विहरण की प्रेरणा देती है। मैंने आपश्री के दर्शन बहुत ही लघुवय में किये और आपके पावन उपदेश को श्रवण कर आपके श्री चरणों में आर्हती-दीक्षा ग्रहण की, आपश्री के सन्निकट रहकर मुझे अपार आनन्द की अनुभूति हुई। उस आनन्द की अभिव्यक्ति शब्दों के द्वारा नहीं की जा सकती। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का जीवन प्रेरणा का महान् स्रोत है। **'समयं गोयम मा पमायए'** का सिद्धान्त आपके जीवन में साकार रूप से उतरा है। आपकी छत्रछाया में मैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अभिवृद्धि करता रहूँ। आपका पथ-प्रदर्शन मेरे लिए सदा प्रेरणादायी बना रहे और मैं अपने जीवन को अधिकाधिक चमका सकूँ यह हार्दिक मंगल-कामना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धा की रेखायें

□ श्री जगदीश मुनि (लिंबड़ी सम्प्रदाय)

□

परम श्रद्धेय अध्यात्मयोगी उपाध्याय प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के मैं किंचित् सम्पर्क में आया हूँ और उस स्वल्प सम्पर्क ने मेरे अन्तर्मानस पर गहरी श्रद्धा की रेखाएँ अंकित की हैं। वे ज्ञानसम्पन्न हैं, वीतराग वाणी के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु हैं, उनके मन के कण-कण में करुणा और वात्सल्य अगड़ाइयाँ ले रहा है। वे स्वभाव से बहुत ही उदार हैं, व्यवहार में कुशल है, परोपकारयुक्त वृत्ति आदि हजारों सद्गुण हैं जो सहज ही दर्शक के दिल को लुभा लेते हैं।

उनकी प्रवचन शैली बहुत ही आकर्षक है। जैसे मुरली की मधुर झंकार पर और संगीत की सुमधुर स्वर लहरियों पर मृग और सांप मुग्ध हो जाते हैं, वैसे ही आप श्री के प्रवचन को श्रवण कर श्रोतागण आनन्द विभोर हो उठते हैं।

आप पूर्ण स्वस्थ रहकर युग-युग तक जैन शासन की सेवा करते रहें, यही मेरी हार्दिक मंगलकामना है।

□

पारदर्शी और तेजोमय व्यक्तित्व

□ महास्थविरा महासती सौभाग्य कुंवर जी

मुझे सौभाग्य से अपने जीवन में अनेकों महापुरुषों के दर्शनों का सुअवसर मिला है जिनकी प्रसिद्धि एक महान् विशिष्ट व्यक्ति के रूप में थी, पर बहुत कम महापुरुषों के मुखारविन्द पर सत्य और पवित्रता की वह उज्ज्वल ज्योति पूरे तेज के साथ चमकते और दमकते देखी, जैसे कि एक शुद्ध आबदार हीरे में चमकती दिखायी देती है। मैं पारदर्शी और तेजोमय महापुरुषों की अगली पंक्ति में श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज को स्थान प्रदान करती हूँ।

मैंने पूज्य गुरुदेव श्री के दर्शन बहुत ही छोटी उम्र में आज से पचास वर्ष के पूर्व किये हैं। संवत् आदि का पूर्ण स्मरण नहीं हैं, किन्तु ऐसा मुझे ध्यान है कि आपश्री महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज के साथ उदयपुर पधारे थे। उस समय आपश्री को टाइफाइड हो चुका था। और आपश्री उदयपुर में कुछ दिन स्वास्थ्य की अस्वस्थता के कारण विराज रहे थे। उसके बाद मैंने अनेकों बार आपके दर्शन किये। मेरी सद्गुरुणी जी श्री सोहनकुंवर जी म० स्थविरा महासती की सेवा के कारण उदयपुर स्थानापन्न विराजी थीं, उस समय अनेकों बार आपश्री दर्शन देने हेतु उदयपुर पधारे। सन् १९७४ में आपश्री का उदयपुर पदार्पण हुआ था। उस समय वृद्धावस्था के कारण लम्बे विहार न होने से उदयपुर में ही ठहरी हुई थी। मेरा स्वास्थ्य कुछ अस्वस्थ था। मेरी एक शिष्या मोहनकुंवर जी को उस समय लकवे का दौरा हो चुका था, किन्तु आपश्री के मांगलिक ने अद्भुत जादू बताया। आपके मांगलिक में गजब की शक्ति है। और एक अनूठे आनन्द की अनुभूति होती है।

आप हमारे भूतपूर्व सम्प्रदाय के नायक हैं। हमारा श्रमणी-वृन्द आपश्री के नेतृत्व में ज्ञान-दर्शन में आगे बढ़ा है। और निरन्तर आगे बढ़ता रहेगा? आपश्री का मंगलमय आशीर्वाद सदा हमें मिलता रहे। और आपश्री भूले भटके जीवन राहियों को सदा मार्गदर्शन देते रहे, यही हार्दिक सभक्ति सविनय प्रार्थना है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



कुशल माली, अध्यात्म उपवन के

□ महासती श्री शीलकुंवर जी

□

किसी भी महापुरुष के सम्बन्ध में लिखना अत्यधिक कठिन कार्य है, उनका व्यक्तित्व और कृतित्व इतना दिव्य और भव्य होता है कि उसका अंकन करना कठिन ही नहीं, कठिनतर है। जैनदृष्टि से एक अणु में अनन्त धर्म है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी अपने अलौकिक विशिष्ट ज्ञान से उन अनन्त धर्मों को देखते हैं पर वे भी वाणी के द्वारा उन अनन्त धर्मों का कथन नहीं कर सकते फिर मैं तो एक लघु साधिका ठहरी, मैं उन विराट् गुणों का वर्णन कैसे कर सकती हूँ यही एक समस्या है तथापि जब महापुरुषों के सद्गुणों के उत्कीर्तन का प्रसंग हो उस समय चुप रहना वाणी की चोरी है और न लिखना कलम का अपराध है उससे मुक्त होने के लिए ही यह मेरा नम्र प्रयास है।

उपाध्याय राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्रद्धेय पुष्कर मुनिजी महाराज हमारे आराध्यदेव हैं। आराध्यदेव सदा अर्चना के लिए होते हैं, चर्चा के लिए नहीं। उनके श्री चरणों में सदा श्रद्धा के सुमन ही समर्पित किये जाते हैं, तर्क के नुकीले कांटे नहीं।

मेरा परम सौभाग्य रहा कि सद्गुरुदेव को प्रथम बोध प्रदान करने वाली सद्गुरुणीजी श्री धूलकुंवरजी महाराज थीं और उन्हीं से मुझे भी प्रथम बोध प्राप्त हुआ था। मैंने अपनी मातेश्वरी स्नेहमूर्ति शम्भूकुंवरजी के साथ सद्गुरुणीजी के श्री चरणों में आर्हती दीक्षा ग्रहण की तो आप श्री ने मेरे से एक वर्ष पूर्व सद्गुरुदेव महास्थविर ताराचन्द जी महाराज के पास दीक्षा ली थी। महासती श्री धूलकुंवर जी महाराज गुरुदेव श्री ताराचन्द जी महाराज की मातेश्वरी ज्ञानकुंवर जी महाराज के गुरु-बहिनों के परिवार में से थीं, इस तरह आसश्री के साथ मेरा शिष्या-परिवार में भी बहुत ही निकट का सम्बन्ध रहा।

जैसे एक कुशल माली नन्हे-नन्हे पौधों को जल प्रदान कर और रात-दिन उनका संरक्षण कर विशाल वृक्षों के रूप में परिवर्तित कर देता है वैसे ही सद्गुरुवर्य रूपी माली ने हमारा सिंचन कर आध्यात्मिक विकास किया है।

इस संसार में कुछ व्यक्ति जन्म से ही विशिष्ट पुरुष होते हैं, कुछ व्यक्तियों पर विशिष्टता थोपी जाती है और कुछ व्यक्ति जन्म से नहीं अपितु अपने प्रबल पुरुषार्थ से विशिष्ट व्यक्ति बनते हैं। सद्गुरुदेव जन्म से नहीं किन्तु अपने पुरुषार्थ से विशिष्ट महापुरुष बने हैं। उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया, जप और ध्यान की उत्कृष्ट साधना की। कठिन परीषहों को सहकर भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमण किया है। वे एक मनीषी सन्त हैं। उनकी मनीषा ने अनेक मनीषियों का निर्माण किया है अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से जिन तत्त्वों को सरजा है वे प्रत्येक चिन्तक को सृजन का अभिनव संकेत दे रहे हैं।

संस्कृत साहित्य के महान् आचार्य ने "प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" लिखा है कि वही रमणीय है, जो नित-नया है प्राणवान है। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने अपने जीवन के उनसित्तर वसन्त पार किये हैं तथापि उनके अन्तर्मानस में आज भी ऋतुराज वसन्त की सुन्दरता, सरसता के संदर्शन होते हैं। उनमें प्रतिपल-प्रतिक्षण अभिनव चेतना और कमनीय कल्पना के सुगन्धित सुमन खिलते रहते हैं। अतीत के प्रति जहाँ गहरी आस्था होने पर भी भविष्य के सुनहरे स्वप्न भी संजोते रहते हैं। निराशा की काली-कजराली निशा उनके पास कभी भी फटकती ही नहीं है।

सद्गुरुदेव सरोवर नहीं अपितु गंगा की प्रवहमान निर्मल धारा है, जो निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती है। विघ्न और बाधाओं की चट्टानों को चीरते हुए आगे बढ़ना उनके जीवन का संलक्ष्य है। जड़ता और स्थिति-पालकता उन्हें पसन्द नहीं है। विकट से विकट परिस्थितियाँ भी उनके लिए अभिशाप नहीं अपितु वरदान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध हुई हैं। पवन के झोंके से दीपक की टिमटिमाती लौ बुझती है किन्तु दावानल और अधिक प्रज्वलित होता है।

पूज्य गुरुदेव श्री श्रमण संघ के एक वरिष्ठ सन्त हैं, उपाध्याय पद से समलंकृत हैं तथापि उनका हृदय मोम की तरह मुलायम है। साम्प्रदायिक पक्षपात और पूर्वाग्रह से मुक्त है। जो सत्य है वही मेरा है, जो मेरा है वही सत्य है इस बात को वे नहीं मानते। सत्य सदा सत्य ही रहता है उसके साथ कभी समझौता नहीं हो सकता। यूनान की एक प्रसिद्ध कहावत है 'प्लेटो मुझे प्रिय है, सुकरात मुझे प्रिय है किन्तु सत्य मुझे सर्वाधिक प्रिय है। 'सत्य ही भगवान है'' सत्य भगवान की उपासना करना ही साधक की साधना का उद्देश्य है। दर्शन सत्य का सौन्दर्य है और सत्य दर्शन का जीवन है। दर्शन का इतिहास सत्य का इतिहास है। भारतीय दार्शनिकों ने सत्य को जीवन का माधुर्य माना है। मैंने अनुभव किया है कि गुरुदेव में सत्य की आस्था जितनी प्रबल है तो कार्य की निष्ठा उतनी ही स्फूर्त एवं तेजोमय है। उनकी समर्थ बहुमुखी प्रतिभा ने नये चिन्तन के द्वार उद्घाटित किये हैं, संस्कृति और साहित्य की विविध विधाओं की सर्जना की है।

पूज्य गुरुदेव श्री ६९ वर्ष के हो गये हैं किन्तु जब मैं उनके कठोर श्रम को देखती हूँ, उनकी लगन को देखती हूँ तो मेरा सिर श्रद्धा से नत हो जाता है। आज भी उनमें युवकों-सी स्फूर्ति है, जोश है, कार्य करने की तीव्र लगन है। इस समय आप दक्षिण भारत में विचरण कर जैनधर्म की प्रभावना कर रहे हैं। भयभीत, निरीह, अवश और कातर मानवता ने आपकी सन्निधि में प्राण पाया है। आपके प्रभामण्डल ने जन-जन को अपनत्व की अनुभूति दी है। दाक्षिणात्य जनता आपके अलौकिक प्रभामण्डल से आकृष्ट हुई है और अभिनव आत्म-विश्वास के साथ वह साधना के मार्ग में आगे बढ़ रही है, यह प्रसन्नता की बात है।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर मेरी यही हार्दिक अभिलाषा है कि सद्गुरुदेव आपके कुशल नेतृत्व में आपश्री के शुभाशीर्वाद से हमारा सदा विकास होता रहे और आपश्री—

चिरयुग करते रहो धरा पर,
जिनवाणी का विमलोद्योत।
और बहावो इस धरती पर
आध्यात्मिकता का नव स्रोत॥

● ☆ ●

आकर्षण का केन्द्र

☐ महासती चतरकुँवर जी

संसार में सद्गुरु का अत्यधिक महत्व है। सद्गुरु हमारी जीवन-नौका के नाविक हैं जो संसार-समुद्र के काम, क्रोध, मोह आदि भयंकर आवर्तों में से सकुशल पार करा सकते हैं। सद्गुरु हमारे आध्यात्मिक जीवन के प्रकाशमान दीपक हैं। वैय्याकरणों ने गुरु शब्द की व्युत्पत्ति की है— जो अज्ञान अन्धकार को नाश करे वह गुरु है। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज सच्चे अर्थों में सद्गुरु है। वे हमारे जीवन के मार्गदर्शक हैं।

मैंने सद्गुरुणी जी श्री सोहनकुंवर जी महाराज के पास चारित्रधर्म ग्रहण किया। सद्गुरुणी जी ने मुझे जीवन सूत्र देते हुए कहा कि यदि तुम बड़ी उम्र होने के कारण से अध्ययन नहीं कर सकती हो तो कोई बात नहीं, किन्तु सेवा-भावना को अपनाये तो भी तेरा कल्याण हो सकेगा। मुझे सद्गुरुणी जी की बात बहुत ही प्रिय लगी और सेवा में मुझे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होने लगी। मैंने अपना जीवन व्रत ही सेवा को बनाया। और मेरी भावना को प्रोत्साहन दिया सद्गुरुदेव ने। सद्गुरुदेव की अपार कृपादृष्टि से सभी साध्वियों की मेरे पर असीम कृपा है। मैं अपना परम सौभाग्य समझती हूँ कि सद्गुरुदेव ने और सद्गुरुणी जी ने मुझे ऐसा अनूठा जीवन का राज बताया जिससे मेरे जीवन में बहुत ही शान्ति है।

सद्गुरुदेव का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। मैं क्या लिखूं? क्योंकि मैं विशेष पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। किन्तु शबरी के जूठे बेर और विदुर रानी का शाक और चन्दना के उड़द के बाकुले राम, कृष्ण और महावीर को प्रिय हुए वैसे ही मेरी भावना जिसमें शब्दों का लालित्य नहीं है, किन्तु भावों का गाम्भीर्य है, हृदय की पवित्रता है, उसे अवश्य ही पूज्य श्री स्वीकार करेंगे। पूज्य गुरुदेव श्री के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ? उनका गहन गम्भीर व्यक्तित्व और उनका तेजस्वी कृतित्व हमारे लिए सदा आकर्षण का केन्द्र रहा है। और युग-युग तक वह आकर्षण केन्द्र सदा बना रहे यही मेरी अन्तर्हृदय की पुकार है। ☐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



पूना चातुर्मास : एक पुण्य संस्मरण

☐ साध्वी श्री केशरदेवी जी (पंजाबी)

☐

अपने जीवन काल में मैंने विविध क्षेत्रों में अनेकों चातुर्मास किये हैं, लेकिन पूना का पुनीत चातुर्मास मेरे स्मृति पट पर स्वर्ण की रेख के सदृश अंकित एक अद्वितीय संस्मरण है, जिसे भुलाये नहीं भूल सकती।

इधर श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का सादड़ी सदन स्थानक में सन् १९७५ का चातुर्मास निश्चित होना और उधर मेरा भी कारणवश साधना सदन में चातुर्मास होना एक अनसोचा, आकस्मिक संयोग, जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। अनेकों भावतरंगें उस समय मेरे मस्तिष्क में लहर की तरह उठतीं और विलीन हो जाती थीं·····।

पूना का यह चातुर्मास मेरे लिए मानो एक दैवी वरदान था, प्रबल पुण्य के द्वारा संचित अपूर्व उपलब्धि थी, जिसकी स्मृति अब भी मन को गुदगुदा देती है। श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के सान्निध्य में मैंने उनसे अनेकों प्रेरणाएँ ली हैं और अति निकटता से उनके जीवन का लाभ लिया है।

गुरुदेव श्रमण संस्कृति के देदिप्यमान नक्षत्र हैं। उनके उज्ज्वल अन्तःकरण में भविष्य की सुनहली आशाएँ हैं, वर्तमान में गतिशील कदम हैं और भूत की भव्य अनुभूतियाँ। वे कर्मनिष्ठ साधक हैं, निष्काम कर्मयोग के उपासक, संघ के सच्चे सेवक और वीतराग वाणी के रक्षक हैं।

ज्ञान की पिपासा गुरुदेव की अद्भुत है, स्वाध्याय, तत्वचिन्तन, ध्यान आदि में आपश्री को विशेष आनन्दानुभूति होती है। अवकाश के क्षणों में भक्तिरस, वैराग्य रस, वीर रस आदि की भव्य संरचनाएँ करना आप श्री के बाँए हाथ का खेल है।

इसके अतिरिक्त आप श्री का मधुर, आत्मिक स्नेह, पुत्रवत् वत्सलता, अपनत्व का व्यवहार और अनुपम सूझ-बूझ मेरे लिए श्रद्धा का विषय बन गया।

ऐसे महान् व्यक्तित्व के धारक पूज्य गुरुदेव का अभिनन्दन होना ही चाहिए। मैं भी आप श्री के पदाम्बुजों में अपने स्नेह सिंचित श्रद्धापुष्प अर्पित कर स्वयं को कृतकृत्य समझती हूँ। आपश्री का वरद हस्त युगों-युगों तक हम पर बना रहे, इसी शुभ भावना के साथ····· ●

शत-शत अभिनन्दन !

☐ महासती जयकुंवर जी

सन्त राष्ट्र की विमल विभूति है, उसका तपःपूत व्यक्तित्व और सर्जनात्मक कर्तृत्व जन-जन के लिए आदर्श है, यही कारण है कि अतीत काल से ही जनमानस सन्त के चरणों में नतमस्तक होता रहा है उसी आदर्श सन्त-परम्परा में राजस्थान केसरी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज हैं। उनका समग्र जीवन त्याग, वैराग्य से ओत-प्रोत है, उसमें आचार की मधुर सौरभ और विचारों का दिव्य आलोक जगमगा रहा है, वे "सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय" परिभ्रमण करते हैं, और भूले-भटके जीवन राहियों को मार्ग-दर्शन प्रदान करते हैं।

मैंने पूज्य उपाध्याय श्री के दर्शन अनेकों बार किये हैं, और जब भी दर्शन किये तब उनके विराट् सद्गुणों से मैं प्रभावित हुई। उनके चेहरे पर दिव्यता, भव्यता, सरलता, सरसता है। तो वाणी में मेघ गम्भीर गर्जना है, जिसे श्रवण कर जन-जन के मन-मयूर नाच उठते हैं। और साथ ही आपका हृदय सद्-भावनाओं से छलाछल भरा हुआ है। यही कारण है कि आप श्रमण संघ के एक वरिष्ठ सन्त हैं, उपाध्याय है, और युग-प्रधान मनस्वी सन्त श्रेष्ठ हैं।

आप श्री का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है, इस सुन्दर अवसर पर शुद्ध श्रद्धा के प्रसूनों की यह तुच्छ भेंट आप श्री के शुभ चरणों में समर्पित करती हुई अपने को गौरवान्वित अनुभव करती हूँ। कवि के शब्दों में—

समता-शुचिता, सत्य समन्वित, पावन जीवन दर्शन
क्रान्तविचारक निस्पृह साधक, लो शत शत अभिनन्दन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



चतुर्मुखी प्रतिभा के धनी

□ साध्वी प्रमोदसुधा 'साहित्यरत्न'
(परम विदुषी प्रतिभामूर्ति स्व० श्री उज्ज्वल कुमारीजी महाराज की सुशिष्या)

परम श्रद्धेय वात्सल्यवारिधि, पूज्य उपाध्याय प्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के मधुर संस्मरण लिखने की उत्कट इच्छा हो रही है पर लिखते-लिखते मुझे विचार आ रहा हैं कि क्या लिखूं, क्योंकि पूज्य गुरुदेव श्री का अल्प परिचय है, अल्प बुद्धि है, अल्प सामर्थ्य है, अल्प साधन है और परम श्रद्धेय का जीवन हिमालय की तरह विराट है और सागर की तरह विशाल है। असीम को ससीम शब्दों में बांधने का काम टेढ़ी खीर है तथापि लिखने के अपार उत्साह को रोक नहीं सकती। मुझे आप श्री के दर्शनों का प्रथम सौभाग्य बम्बई महानगरी में मिला था। प्रथम दर्शन से आपके अगाध ज्ञान का, आपके मधुर स्वभाव का आपके उदार और विराट् हृदय का जो प्रभाव अन्तर्मानस पर पड़ा उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करना कठिन है, असंभव हैं। सूर्य के प्रथम दर्शन से ही उसकी जगमगाती हुई सहस्र रश्मियों के प्रकाश का सहज परिचय हो जाता है वैसे ही आपके प्रथम दर्शन का प्रभाव मन पर पड़ा।

आपकी वाणी अत्यन्त मधुर है। एक बार भी आप श्री की मधुर वाणी कोई सुनले तो वह सदा-सदा के लिए आप पर न्योछावर हो जाता है। जब मैंने प्रथम बार आपके दर्शन किये तो सर्वप्रथम आपके मुखारविन्द से वह सुधास्निग्ध मधुर वाणी झंकृत हुई 'पधारो सतियां जी' पधारो "यह आदरसूचक शब्द है, हम लघु-साध्वियों को पधारो कहना यह आपके बड़प्पन की निशानी है। मैंने चिन्तन किया कि महापुरुष बनने का गुर यही है। आप श्री की जीवनवाटिका में एक नहीं, किन्तु हजारों सद्गुणों के पुष्प खिल रहे हैं, महक रहे हैं यही कारण है कि आप श्री के जहाँ भी चरण-कमल टिकते हैं वहां साधना की सुमधुर सौरभ को पाने के लिए भक्तगण भंवरे की तरह मंडराते रहते हैं; वे आप श्री की ज्ञान गंगा में गोते लगाकर भव-भव के पाप-ताप और संतापों की आग से मुक्त होना चाहते हैं। आप श्री ने बम्बई, पूना और घोड़नदी में वर्षावास किये किन्तु हम उन वर्षावासों का लाभ नहीं ले सकी किन्तु भावुक-भक्त गणों के मुख से मैंने सुना कि "बाबजी की वाणी में गजब का ओज है, माधुर्य है और प्रवचन करने की ऐसी सुन्दर कला है कि सारी जनता भाव-विभोर हो जाती है।" आप श्री के मुखारविन्द से वीर वाणी का सुन्दर निर्झर प्रवाहित होता है तब ध्यान ही नहीं रहता कि कितना समय हो गया है। प्रवचन सुनने के लिए हजार काम छोड़कर लोग पहुँच जाते हैं, वस्तुतः अद्भुत कला है। क्या राजस्थान, क्या उत्तर प्रदेश, क्या मध्यभारत क्या महाराष्ट्र, क्या गुजरात और क्या दक्षिण भारत, जहाँ भी आप श्री के मंगल चरण टिके वहां आप श्री की मधुर वाणी ने और दिव्य साधना ने वह चमत्कार दिखाया कि नास्तिक भी आस्तिक हो गये। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि महाराष्ट्र की जनता आपके लिए नई थी, उतनी परिचित नहीं थी किन्तु आपके दिव्य प्रभाव से आज महाराष्ट्र की जनता आपको अपना सरताज मानती है। उनके अन्तर्मानस में आपके प्रति अपारनिष्ठा है। क्या बालक और क्या युवक, क्या स्त्री और क्या पुरुष सभी के हृदय पर आपका एकछत्र साम्राज्य है।

हमने उपाध्याय श्री जी महाराज में चतुर्मुखी प्रतिभा के दर्शन किये हैं। उनमें ब्राह्मणत्व के ज्ञान की किरणें आलोकित है वे ज्ञान-पुञ्ज हैं। साथ ही क्षात्रत्व का दिव्य तेज भी उनमें झलकता हैं। जब प्रवचन के पट्ट पर आसीन होते हैं और प्रवचन करते हैं तब वह वीरत्व सहस्रमुखी कमल की तरह खिल उठता है। कार्य की कुशलता और वार्तालाप की चातुरी को देखकर आप में वैश्यत्व के दर्शन होते हैं और आप श्री की सेवाभावना को निहार कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ वर्ण के कर्तव्य का भी स्मरण हो आता है। इस प्रकार चारों वर्णों के मुख्य गुण आपके जीवन में पूर्णरूप से साकार हुए हैं। जैसे मधुमक्खी विभिन्न पुष्पों में से सार लेकर शहद का निर्माण करती है वैसे ही आप श्री ने अपने जीवन का निर्माण किया है। वस्तुतः आप जीवन के अद्भुत कलाकार हैं।

मुझे लिखते हुए यह गौरव होता है कि आपश्री ने देवेन्द्र मुनि जी जैसे महान मनीषी साहित्यकार तैयार किये हैं। जिनका साहित्य आज सम्पूर्ण जैन समाज के लिए एक आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है, समाज की दृष्टि उस महान सन्त पर केन्द्रित हो रही है जिसका आपने अपनी कमनीय कल्पना से निर्माण किया है।

आप श्री के जीवन के अनेक मधुर प्रसंग लिखने के लिए लेखनी छटपटा रही है, कभी अवकाश के क्षणों में विस्तार से लिखकर अपनी लेखनी की सार्थकता सिद्ध करूंगी। इस समय यही हार्दिक मंगलकामना है कि हे पूज्य प्रवर! आपका व्यक्तित्व सूर्य की तरह सदा चमकता रहे और चांद की तरह सदा दमकता रहे। आपकी पवित्र छत्रछाया हमें सदा मिलती रहे। कवि के शब्दों में

आप जीवो वर्ष हजार
हर वर्ष के दिन हो पचास हजार।

—★—

समाज और संस्कृति के सजग-प्रहरी

☐ **महासती श्री कौशल्यादेवी जी** (पंजाबी)

उपाध्याय राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का व्यक्तित्व उस सरस स्निग्ध व स्वच्छ चांदनी के समान है जिसने अपनी शीतल किरणों से जैन समाज को आप्यायित किया है। जिनमें मानस की पवित्रता, ज्ञानरश्मियों की प्रखरता, और हिम-सीकरों-सी तरलता एवं दीप्ति है जो अपने लिए कुछ नहीं पर दूसरों के लिए सब कुछ हैं। जिन्होंने अनेकों बाधाओं को सहकर के भी स्वयं का निर्माण किया और समाज की सेवा के लिए अपने आपको सर्वात्मना समर्पित किया जो समाज और संस्कृति के सजग प्रहरी हैं। जिनमें आत्म-निष्ठा, तत्परता सत्य-शोधकता और अन्वेषक वृत्ति है, ऐसे सद्गुरुदेव का जीवन चित्र मेरे अन्तर्मन में उभर कर आ रहा है।

पूज्य गुरुदेव युग पुरुष हैं। आपका विचार समन्वित आचार और आचार समन्वित विचार आज के युग के जन मानस का श्रद्धा का केन्द्र बन गया है। चारों ओर आपश्री की विद्वत्ता और प्रवचन कला की धाक है। आपके उज्ज्वल चारित्र का आदर है। आप में अहंता और ममता का अभाव है। आपने मिथ्या विश्वास, मिथ्या विचार और मिथ्या आचार का खण्डन कर जन-जीवन को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त बनाया है।

पूज्य गुरुदेव में अद्भुत आकर्षण शक्ति है, जो भी एक बार आपश्री के सानिध्य में आया वह सदा-सदा के लिए आपके प्रति श्रद्धालु बन गया। आपश्री की इतनी उदार दृष्टि है कि अपना-अपना ही नहीं, पराया भी अपना ही है। वसुधा उनके लिए एक विशाल कुटुम्ब के समान है। मैंने सन् १९७५ के पूना वर्षावास में स्वयं अनुभव किया कि हम पंजाब प्रान्त की साध्वियाँ होने पर भी आपकी इतनी असीम कृपा रही कि हमें अनुभव ही नहीं हुआ कि आप राजस्थान प्रान्त के सन्त हैं। हमें आपका सच्चे और अच्छे सद्गुरुवर्य की तरह वात्सल्य मिला। कृपा मिली।

श्रद्धालु समाज ने अपने सद्गुरुवर्य के ऋण से उऋण होने के लिए 'अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन' का निश्चय किया है। मेरी दृष्टि से यह बहुत ही शुभ निश्चय है, यद्यपि प्रस्तुत कार्य से सद्गुरुवर्य के ऋण से मुक्त नहीं बना जा सकता तथापि श्रद्धावादियों का बोझिल मन कुछ हलकेपन का अनुभव करेगा ही। प्रस्तुत ग्रन्थ से जैनधर्म की प्रभावना होगी। उस जैनधर्म की प्रभावना, जिसके कारण अनन्त संसार का सम्यक्त्वोपलब्धि के माध्यम से आत्मा ने छेदन किया है।

जब भी मुझे श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का पुनीत स्मरण होता है तब मेरा मस्तक अनन्त श्रद्धा से नत हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणोरणीयान् महतोमहीयान्

☐ महासती श्री कुसुमवती जी

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज विश्व की उन विमलविभूतियों में से हैं जो अपने प्रबल पुरुषार्थ, संयम, त्याग, तप की साधना, ज्ञान और प्रताप-पूर्ण प्रतिभा के बल पर महान् बने। उनके समान तेजस्वी व्यक्तित्व और सफल साधक किसी भी समाज या राष्ट्र में युगों के पश्चात् होते हैं जो प्रसुप्त समाज, राष्ट्र और जन-चेतना को अपने जाज्वल्यमान ओजपूर्ण व्यक्तित्व और मेघ गम्भीर गर्जना से झकझोर कर सावधान करते हैं।

जैन संस्कृति संयम की संस्कृति है, यम-नियम, तप, त्याग और वैराग्य की संस्कृति है। यहाँ उसी जीवन का मूल्य आँका गया है, जिसमें संयम-साधना की सुमधुर सौरभ महक रही हो, वैराग्य का पयोधी उछालें मार रहा हो। त्याग-तप की ज्योति प्रदीप्त हो वही जीवन अणोरणीयान् और महतोमहीयान् है। परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य तप-त्याग-और वैराग्य के बल पर साधना के मार्ग पर आगे बढ़े और निरन्तर बढ़ते ही रहे, इसलिए सही अर्थों में वे युग पुरुष हैं।

भारत के एक अध्यात्मवादी चिन्तक ने लिखा है कि "बशर ने दुनिया को खोजा, तो कुछ न पाया; किन्तु खुद को खोजा तो बहुत कुछ क्या सभी कुछ पा गया।' एक उर्दू शायर ने भी कहा है—

"पहचान ले अपने को तो इन्सान खुदा है
गो जाहिर में है खाक मगर खाक नहीं है!"

देखने में भले ही इन्सान खाक का पुतला दृष्टिगोचर होता हो किन्तु अन्दर की आँख से देखते हैं, परखते हैं तो इस कंकर में भी शंकर छुपा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

सूर्य स्वयं प्रकाशित है अतः वह दूसरों को प्रकाश देता है, फूल में स्वयं में सुगन्ध है इसलिए वह दूसरों को सौरभ प्रदान करता है। गुरुदेव ने उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना, संयम की साधना की, अतः वे दूसरों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं।

पूज्य गुरुदेव वाणी के देवता हैं वे जहाँ भी पधारे उनकी तपःपूत अमृतवाणी ने जन-मानस को परितृप्त किया। गुरु वही है, जो जन-जन के मन-मन में ज्ञान की ज्योति जगाये। गुरु वह है, जो स्वयं भी तिरे और दूसरों को भी तारे।

आपश्री ने ही मेरे जीवन का निर्माण किया। मैंने अपनी मातेश्वरी कैलाशकुंवर जी के साथ सद्गुरुणी जी श्री सोहनकुंवर जी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की और आपश्री की पवित्र प्रेरणा से संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी साहित्य का उच्च अध्ययन किया और परीक्षाएं भी समुत्तीर्ण कीं। आज मैं जो कुछ भी हूँ, वह आपश्री की तथा सद्गुरुणी जी महाराज का ही कृपा-फल है। यदि सद्गुरुवर्य का उस समय पथ-प्रदर्शन प्राप्त नहीं होता तो मैं अध्ययन की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाती। अतः सद्गुरु-वर्य का जितना भी उपकार माना जाय उतना ही कम है। सद्गुरुवर्य के श्रीचरणों में इस सुनहरे अवसर पर अपार भक्ति, श्रद्धा समर्पित कर अपने आपको धन्य अनुभव कर रही हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जीवन के कलाकार

☐ महासती उमरावकुंवर जी 'अर्चना'

☐

मैं अपना परम सौभाग्य मानती हूँ कि उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज के सम्बन्ध में लिखने का मुझे सुनहरा अवसर प्राप्त हो रहा है। मैंने उनके दर्शन अनेकों बार किये हैं और जब भी किये हैं तब मुझे अपार प्रसन्नता हुई। मैं खाली गयी और भरी हुई लौटी। उनके सन्निकट बैठकर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि वह ज्ञान की प्याऊ है जो प्यासों को सदा ज्ञान का अमृत पान कराती रहती है। वार्तालाप में नित-नया चिन्तन-अनुभव सुनने को मिलता है। वे आगम साहित्य के तलस्पर्शी विद्वान् हैं। मैंने अपनी अनेकों जिज्ञासाएँ उनके सामने प्रस्तुत कीं और उन्होंने उन सभी का समाधान कर मुझे सन्तुष्ट किया।

जैन समाज में सन्तों की कमी नहीं है, पर आपके जैसे प्रकृष्ट प्रतिभा के धनी अध्यात्मयोगी सन्त बहुत ही कम हैं। आपने साध्वी समाज में गम्भीर अध्ययन करवा कर एक क्रान्ति पैदा की। मुझे स्मरण है कि सांडेराव सन्त सम्मेलन में आपने सतीवर्ग का पक्ष लेकर सम्मेलन में विचार चर्चा के लिए उन्हें भी अवकाश दिलाया। आपका यह स्पष्ट अभिमत है कि श्रमणों की तरह श्रमणियों का भी बौद्धिक विकास होना चाहिए और जब तक श्रमणियों का विकास न होगा वहाँ तक श्राविकाओं में विकास नहीं हो सकता और बिना श्राविकाओं के विकास के समाज आगे नहीं बढ़ सकता।

मैंने देखा है कि आप सदा प्रसन्न रहते हैं और जो भी आपके सम्पर्क में आते हैं उन्हें भी प्रसन्नता का प्रसाद समर्पित करते हैं। मुहूर्रमी सूरत आपको पसन्द नहीं है। आपका यह मन्तव्य है कि 'जब फूल खिलता है, तभी उसमें से सौरभ विकीर्ण होती है और उसे सभी प्यार करते हैं। किन्तु मुरझाये हुए फूल को कोई पसन्द नहीं करता। हमारा जीवन भी खिले हुए फूल की तरह रहना चाहिए। वार्तालाप के प्रसंग में आपने मुझे बताया कि फोटोग्राफर जब किसी का फोटो लेता है तो वह व्यक्ति को कहता है कि जरा मुस्कुराओ। रोती सूरत का फोटो भी कोई पसन्द नहीं करता, फिर रोते जीवन को कौन पसन्द करेगा। जब तुम हँसोगी तो संसार तुम्हारे साथ हँसेगा। किन्तु जब तुम रोओगी तो कोई भी न रोयेगा।' उदाहरण के माध्यम से जीवन का गम्भीर रहस्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी व्यक्त करते हैं जिसकी हृदय पर गहरी छाप पड़ती है।

स्वर्ण की परीक्षा अग्नि में होती है किन्तु सन्त की परीक्षा निन्दा और प्रशंसा के क्षणों में होती है। जो निन्दा और प्रशंसा के क्षणों का समान भाव से स्वागत करता है वही पूज्य श्रमण कहलाता है और उसे ही हजारों व्यक्तियों की श्रद्धा प्राप्त होती है। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी वैसे ही परम सन्त हैं। जीवन के उस महान् कलाकार का मैं हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ। ●

वात्सल्यमूर्ति

☐ महासती विनोदीनीबाई (लिंबड़ी सम्प्रदाय)

पूज्य राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी के पवित्र दर्शन का लाभ सन् १९७१ में बम्बई में मिला था। यद्यपि दीर्घकाल तक उनके सत्संग का लाभ हमें नहीं प्राप्त हुआ, किन्तु सज्जन और महापुरुषों का क्षणमात्र का सत्संग भी जीवन को आमूल-चूल परिवर्तन करने वाला होता है। उन्होंने असीम कृपा कर विमलाकुमारी और झंखनाकुमारी को दीक्षा प्रदान की थी। उस स्वल्प परिचय में ही मुझे महाराज श्री की अनुभवशीलता उदारता, सरलता, समय-सूचकता और वात्सल्य प्रभृति सद्गुणों ने आपके प्रति एक अनूठा आकर्षण पैदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया। साथ ही अपने सुशिष्यों को अध्ययन की दिशा में प्रगति करने और सदा सर्वदा संयम साधना में सुदृढ़ रहने की उनकी जागृति को देखकर मेरा मस्तिष्क नत हो गया और मेरे हृदय तंत्री के तार झनझना उठें। आपका स्वयं का जीवन पवित्र हैं और आपका अनुशासन अनुकरणीय है।

आपश्री के प्रवचन अत्यन्त प्रभावक होते हैं। उसमें आगमों के गम्भीर रहस्य, दार्शनिक चिन्तन, सामाजिक विकट समस्याओं के समाधान सभी कुछ होते हैं। अतः उनका श्रोताओं के हृदय पर गहरा असर होता है।

आपश्री के दीक्षा स्वर्ण-जयन्ति के पावन प्रसंग पर अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, यह अभिनन्दन ग्रन्थ ज्ञान की वृद्धि करने वाला, तप-त्याग और साधना की प्रेरणा देने वाला बनेगा, क्योंकि इसके संपादक देवेन्द्र मुनिजी हैं। अतः मैं हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त करती हूँ और शासनदेव से यह प्रार्थना करती हूँ कि आपश्री पूर्ण स्वस्थ रहें और जैन-शासन की अत्यधिक प्रभावना करें।

—●—

शासन की जगमगाती ज्योति

□ महासती हीराबाई स्वामी

परम आल्हाद का विषय है कि उपाध्याय पंडित प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे प्रसंग पर एक विराट्काय अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। उस ग्रन्थ में मैं भी श्रद्धा के सुमन समर्पित करूँ, यह अन्तर्हृदय की आवाज है! मेरा पूज्य गुरुदेव के साथ लम्बा परिचय नहीं रहा, किन्तु स्वल्प परिचय ने भी मेरे हृदय पर एक गहरी छाप अंकित की है।

जिनके जीवन में सद्गुणों के सुमनों की महक गमक रही हो और जिनका जीवन अध्यात्म के रस से छलक रहा हो, जो स्वयं सदा अध्यात्म की मस्ती में झूमता हो और अपने सन्निकट आने वालों को भी ऐसी मस्ती प्रदान करता हो, उस विराट आत्मा को कौन भूल सकता है? मैंने अनुभव किया कि पूज्य गुरुदेव के जीवन-पुष्कर में से प्रतिपल-प्रतिक्षण सहृदयता, सौम्यता, उदारता, सात्विकता सरलता का निर्झर कलकल-छलछल का मधुर निनाद करता हुआ प्रवाहित होता है और वह भक्तों के पाप-ताप एवं सन्ताप को मिटाकर आध्यात्मिक सरसब्जता प्रदान करता है। उनके सन्निकट बैठने पर सागर की गम्भीरता, चन्द्रमा की शीतलता, और आकाश की विशालता के संदर्शन होते हैं।

सन्त जीवन में यदि सद्गुणों का वसन्त न खिले तो अन्य किस जीवन में खिलेगा? जिनेश्वर की आज्ञा के अनुसार अपने जीवन को चलाना आपकी मुख्य विशेषता है; वीतराग वाणी के प्रति आपकी गहरी निष्ठा है। आपके प्रवचनों में इस बात पर अधिक बल दिया जाता है। आपका शारीरिक सौन्दर्य गणधर गौतम की तरह चित्ताकर्षक है; मन मोहक है और उससे भी अधिक सुन्दर है आपका अन्तर्मानस। आप जीवन का प्रत्येक क्षण आत्म-साधना, तपः आराधना एवं सर्वजनहिताय, सर्वजन सुखाय समर्पित करते हैं। मेरी हार्दिक मंगलकामना है कि आप पूर्ण स्वस्थ रहकर जैन शासन की प्रगति में प्रेरणा रूप बनकर अनेक भूले-भटके जीवों को पथ-प्रदर्शन करें। आप शासन की जगमगाती ज्योति हैं, आपके अनुभव के दिव्य आलोक में भावुक भक्तगण साधना के पथ पर आगे बढ़ें, चिरकाल तक स्नेह की सरस वर्षा करते रहें, यही अभ्यर्थना है!

卐

प्रभावकारी और चमत्कारी व्यक्तित्व

□ महासती प्राणकुंवरबाई (गोण्डल सम्प्रदाय)

इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर उन्हीं महापुरुषों के नाम अंकित है जिनका जीवन यशस्वी, वर्चस्वी और तेजस्वी है। यों प्रतिपल-प्रतिक्षण सैकड़ों व्यक्ति जन्म लेते हैं, किन्तु उन्हें कोई स्मरण नहीं करता। वे कब जन्मे और कब मरे इसकी भी किसी को स्मृति नहीं होती।

पूज्य उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज जिनका जीवन संयम के दिव्य व भव्य अलंकारों से अलंकृत हैं, ज्ञान की अलौकिक आभा से जिनका जीवन दीप्त है और दिव्य व भव्य प्रेम के परिमल से जो विश्व को सुगन्धित बना रहे हैं, उनके सम्बन्ध में लिखते हुए हृदय आनन्द से झूम रहा है।

इस युगस्रष्टा सन्त सम्राट का समागम सर्वप्रथम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घाटकोपर, बम्बई में हुआ। वे राजस्थान के और हम गुजरात की। उनकी पृथक् सम्प्रदाय और हमारी पृथक् सम्प्रदाय; किन्तु आपश्री इतने स्नेह व सद्भावना से मिले कि हमें यह भान ही नहीं हुआ कि आप अन्य सम्प्रदाय के सन्त हैं। प्रथम दर्शन में ही आपश्री के अलौकिक व्यक्तित्व की गहरी छाप मानस-पटल पर गिरी। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि किसी भी व्यक्तित्व का अन्तरंग दर्शन करने से पूर्व दर्शक पर उसके बाह्य व्यक्तित्व (Personality) का प्रभाव पड़ता है। प्रथम दर्शन से ही यदि व्यक्ति प्रभावित हो जाता है तो उसके भावी सम्पर्क भी उस व्यक्तित्व से अवश्य ही प्रभावित रहते हैं। गुजराती में कहावत है—"जेना जोया नथी मरता तेना मार्या शुं मरे।" परिचय एवं प्रभाव की दृष्टि से प्रथम सम्पर्क ही महत्त्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति के चेहरे पर ओज हो, प्रभाव चमक रहा हो, सौन्दर्य छलक रहा हो, नेत्रों में तेज, मुख पर मन्दस्मिति, शारीरिक गठन की सुभव्यता और सुन्दरता हो; किन्तु उस व्यक्तित्व की गहराई में यदि कुछ न भी हो तो भी उस व्यक्ति का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। यदि बाह्य सौन्दर्य के साथ आन्तरिक सौन्दर्य हो तो वह "सोने में सुगन्ध" की उक्ति को चरितार्थ करता है। मैंने अनुभव किया उपाध्याय पुष्करमुनिजी का बाह्य सौन्दर्य आकर्षक है, उससे भी अधिक चित्ताकर्षक है उनका आन्तरिक जीवन; जहाँ स्नेह है, सद्भावना है और सत्य और शील का सौन्दर्य दमक रहा है।

जैसे वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम लेने वाले पथिक को अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है वैसे ही पूज्य श्री के सान्निध्य में आत्मशान्ति सम्प्राप्त होती है। सूर्य सहस्रों मील दूर है, किन्तु उसकी प्रभा से सूर्य-विकासी कमल खिल उठता है। वैसे ही आपश्री का उपदेश दूर रहा, किन्तु आपकी शान्त, मौन जीवनचर्या भी हजारों व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान करती है। आपश्री की स्नेह-सरिता कल-कल छल-छल करती हुई सदा प्रवाहित रहती है और वह पाप-पंक को नष्ट कर देती है। आप में प्रतापपूर्ण प्रतिभा है, तीक्ष्ण बुद्धि है, और सदा खिलता हुआ मुख-कमल है। जो भी एक बार आपके सम्पर्क में आता है वह आपके प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

आप सफल प्रवचनकार हैं, आपश्री ने प्रसिद्धवक्ता के रूप में निर्मल ख्याति प्राप्त की है। आपने अपने ओजस्वी प्रवचनों के माध्यम से अपनी यशःपताका लहरायी है। बालक से लेकर वृद्ध तक, और अज्ञ से लेकर विज्ञ तक श्रोता आपके प्रवचनों से प्रभावित हुए हैं। आपकी शैली की लाक्षणिकता श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर देती है। आपकी वाणी में अतिशय माधुर्य है। आपके कण्ठ में पंचम स्वर झंकृत होता है। जब आप प्रवचन करते हैं उस समय ऐसा ज्ञात होता है कि हिमालय के उत्तुंग शिखर से गंगा का निर्मल प्रवाह प्रवाहित हो रहा है।

मानव-सेवा और संघ-सेवा यह आपश्री के जीवन के मुख्य अंग हैं। आपका स्वभाव सरल है, आपमें क्षमा, मृदुता, समता, सादगी प्रभृति श्रमण जीवन के सद्गुण विशेष रूप से झलकते हैं। विनय आपके जीवन का मूल-मन्त्र है। आपके दिल में दयालुता है, मन में ममता है, आपकी प्रकृति में प्रेम का प्राधान्य है। विचार विशाल और स्वभाव सौन्दर्य से परिपूर्ण है। आपश्री पापियों के लिए पुण्य तीर्थ स्वरूप हैं और पुण्यवान् आत्माओं के लिए पैगम्बर हैं। आबालवृद्ध सभी के लिए विश्रामस्थल के सदृश हैं। पापी हो चाहे पुण्यशाली, वे आपकी छत्रछाया में समान रूप से स्नेह का अमृत प्राप्त करते हैं। आप तत्त्वचिन्तक ही नहीं, चैतन्य चिन्तक भी हैं। और अज्ञेय आत्मा को अनुभव से ज्ञेय बनाने का प्रयास कर रहे हैं। आपका जीवन गुलाब की तरह सुवासित है, नवनीत के समान मृदु है और मिश्री के समान मीठा है, सूर्य के समान तेजस्वी है, चन्द्र के समान शीतल है, सिंह के समान निर्भीक है और कमल की तरह निर्लेप है। साथ ही आपके जीवन में आचार की पवित्र गंगा और विचारों की श्रेष्ठ यमुना का सुन्दर संगम हुआ है।

एक पाश्चात्य विचारक ने भी महान् व्यक्ति की जीवन विशेषता के बारे में लिखा है—

"A really great man is known by three things—generosity in the design, humanity in the execution, moderation in success."

श्रेष्ठ व्यक्ति की तीन पहचानें हैं—आयोजन में उदारता, कार्य में मानवीयता तथा सफलता में सन्तुलन।"

ये तीनों विशेषताएँ उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी के जीवन में साकार हैं, अतः वे श्रेष्ठतम सन्त हैं। उनके सन्निकट जो भी जाता है उसका जीवन चारित्र्य की सौरभ से गमक उठता है; क्रोधी क्षमाशील हो जाता है, और रोगी निरोगी बन जाता है, ऐसा चमत्कारयुक्त है आपका जीवन।

यदि उपाध्याय पुष्कर मुनि जी के सद्गुणों के सम्बन्ध में लिखा जाय तो एक विराटकाय ग्रन्थ सहज रूप से तय्यार हो सकता है, किन्तु यहाँ इतना अवकाश नहीं है। जब से मैं आपके सम्पर्क में आयी, अपके सद्गुणों ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। जब भी आपके सद्गुणों की स्मृति होती है एक आदर्श प्रेरणा प्राप्त होती है। आप शतायु बनें, हम सभी के लिए आपका जीवन सदा पथ-प्रदर्शक रहे यही मेरी श्रद्धार्चना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



विलक्षण व्यक्तित्व

☐ महासती पुष्पावती जी 'साहित्यरत्न'

☐

राजस्थानकेसरी अध्यात्म-योगी प्रसिद्धवक्ता परम श्रद्धेय उपाध्याय पण्डित-प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी श्रमण संघ के एक विशिष्ट सन्त हैं। उनके जीवन में विविध-विधाओं का सुन्दर संगम हुआ है जहाँ उनमें श्रद्धा का प्राधान्य है वहाँ उनमें तर्क की प्रबलता भी है। जहाँ उनमें हृदय की अत्यन्त सुकुमारता है, वहाँ अनुशासन में कठोरता भी है। जहाँ उनमें दार्शनिक गम्भीरता है वहाँ उनमें कला की कमनीयता भी है। जहाँ उनमें जप और ध्यान के प्रति अनुराग है वहाँ संसार के भौतिक पदार्थों के प्रति विराग भी है। जहाँ संयम साधना, तपःआराधना और मनोमंथन की अपेक्षा है वहाँ यशःकामना के प्रति उपेक्षा भी है, ऐसा विलक्षण व्यक्तित्व है सद्गुरुदेव श्री का।

इतिहास का हम पर्यवेक्षण करें तो सूर्य के उजाले की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होगा कि आज तक कोई भी व्यक्ति बिना तपे ज्योति नहीं बना है और बिना खपे कोई भी व्यक्ति मोती भी नहीं बना है। व्यक्तित्व को निखारने के लिए तपना होता है, खपना होता है। सद्गुरुवर्य ने कठोर श्रम किया है, उग्र साधना की है। जन-हित सम्पादन करना उनकी साधना का संलक्ष्य नहीं है। वे स्वयं के लिए ही साधना करते हैं। आत्मोपकार के बिना जो परोपकार किया जाता है वह स्वयं को गंवा कर दूसरों को बनाने का प्रयास करना है। सत्य-तथ्य यह है। कि वह अन्य को बना नहीं पाता और स्वयं की साधना को भी गंवा देता है। वही साधक दूसरों का निर्माण कर सकता है जो सर्वप्रथम स्वयं का निर्माण करता है। सद्गुरुदेव का जितना रस अन्य साधक साधिकाओं के निर्माण में है उससे भी अधिक रस स्वयं के निर्माण में है।

मैंने बालब्रह्मचारिणी तपोमूर्ति सद्गुरुणी श्री सोहन कुँवर जी महाराज के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को श्रवण कर सं० १९९४ में मेवाड़ की राजधानी उदयपुर में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। उस समय गुरुदेव महाराष्ट्र में नासिक मनमाड की ओर विचार रहे थे, जब आपश्री वि० सं० १९९५ में उदयपुर पधारे तब सर्वप्रथम मुझे दर्शनों का सौभाग्य मिला। गुरुदेव ने मेरे अध्ययन की परीक्षा ली और वे बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने सद्गुरुणीजी को आदेश दिया कि इन्हें संस्कृत-प्राकृत का गम्भीर अध्ययन कराना चाहिए। संस्कृत-प्राकृत के अध्ययन के बिना आगमों के गुरु-गम्भीर रहस्यों का परिज्ञान नहीं हो सकता। जैनदर्शन का मर्म समझा नहीं जा सकता।

गुरुदेव ने मुझे अध्ययन का महत्त्व बताते हुए कहा—अध्ययन से जीवन निखरता है, बुद्धि मंजती है विचार निर्मल होते हैं और विवेक उद्बुद्ध होता है। **'पढमंनाणं तओ दया**, यह शास्त्र का वचन है। गीताकार ने भी ज्ञान को सबसे अधिक पवित्र माना है **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते।'** हमारे यहाँ पर दो शब्द प्रचलित हैं 'ज्ञान और ध्यान' पहले ज्ञान है फिर ध्यान है। उत्तराध्ययन सूत्र में जो श्रमण-सामाचारी का वर्णन है, उसमें दिन रात के आठ प्रहरों में चार प्रहर स्वाध्याय के लिए है, दो प्रहर ध्यान के लिए, एक प्रहर भिक्षा आदि के लिए और एक प्रहर नींद आदि विश्राम के लिए है। इस प्रकार सबसे अधिक समय साधक को ज्ञान में लगाना चाहिए। "पहला ही कर्म ज्ञानावरणीय है उसे तोड़ने का दृढ़ संकल्प करलो" सद्गुरुदेव की प्रबल प्रेरणा से और सद्गुरुणीजी महाराज के अनुग्रह से मैं अध्ययन में लगी। मेरे अध्ययन का सम्पूर्णश्रेय सद्गुरुवर्य को है। यदि सद्गुरुवर्य उस समय प्रबल-प्रेरणा प्रदान नहीं करते तो मैं अध्ययन की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाती। अध्ययन-चिन्तन-मनन ने मेरे जीवन का नक्शा ही बदल दिया।

विक्रम सं० १९९७ में मेरे लघुभ्राता धन्नालाल ने पूज्य गुरुदेव के पास जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की, दीक्षा के पश्चात् जिनका नाम देवेन्द्र मुनि रखा गया, उसके पश्चात् मातेश्वरी ने भी दीक्षा ली। जिनका नाम प्रभावतीजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। भाई महाराज की अस्वस्थता आदि के कारण सद्गुरुवर्य के साथ नान्देशमा, जयपुर, पीपाड़, अजमेर आदि स्थलों पर वर्षावास करने का अवसर मिला। इन वर्षावासों में मैंने गुरुदेव श्री से अनेक आगमों का अध्ययन भी किया है। आगमों के गुरु-गम्भीर रहस्यों को जिस सरल व सरस शैली में सद्गुरुदेव बताते हैं वह उनके गहन आगमों के अध्ययन-चिन्तन का प्रतीक है।

गुरुदेव श्री की प्रवचन-शैली बहुत ही सरस और प्रभावोत्पादक है। वे कुशल वक्तृत्व के धनी हैं। वे जब गम्भीर गर्जना करते हैं तो श्रोताओं के मन-मयूर नाच उठते हैं। उनकी आवाज बुलन्द है साथ ही मधुर भी है। वे बोलने के पूर्व सभा को देखते हैं कि सभा साक्षर है या निरक्षर है! यदि साक्षर है तो दर्शन व आगम साहित्य की गम्भीर विवेचना करते हैं। आत्मवाद, ज्ञानवाद, लोकवाद, कर्मवाद, आदि का गहन विश्लेषण करते हैं और यदि श्रोता सामान्य है तो बोध कथाएँ व युक्ति प्रयुक्तियों के द्वारा गहन से गहन विषय को भी इस प्रकार सरस रूप से प्रस्तुत करते हैं कि श्रोताओं को वह विषय हृदयंगम हो जाता है। प्रवचन के बीच इस प्रकार चुटकियाँ लेते हैं कि श्रोता हँस-हँस कर लोट-पोट हो जाते हैं।

गुरुदेव श्री ने गद्य और पद्य इन दोनों साहित्यिक विधाओं में लिखा है। भाषा की दृष्टि से गुरुदेव श्री का साहित्य संस्कृत, हिन्दी गुजराती और राजस्थानी में हैं और विषय-विवेचना की दृष्टि से उसमें अनुभवों का अमृत है, चिन्तन की गहनता है, धर्म-दर्शन अध्यात्म और साधना का तलस्पर्शी विवेचन है। ऐतिहासिक, पौराणिक बोध कथाओं का प्राचुर्य है। पूज्य गुरुदेव श्री के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसमें अनुभूति की अभिव्यक्ति बहुत ही स्पष्ट हुई है। वह जीवन निर्माण की प्रबल प्रेरणा प्रदान करता है।

जप और ध्यान साधना पूज्य-गुरुदेव श्री को अत्यधिक प्रिय है। वे अपना अधिकांश समय उसमें लगाते हैं। उनका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि स्वाध्याय के पश्चात साधक को जप की साधना करनी चाहिए। जप की साधना से वाणी की शुद्धि होती है और ध्यान की साधना से मन की शुद्धि होती है। ध्यान आत्मा की एक महान शक्ति है। ध्यान चेतना की वह विशिष्ट अवस्था है, जहाँ पर सम्पूर्ण अनुभूतियाँ एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती हैं, विचारों में अपूर्व सामंजस्य आ जाता है। भेद-भाव की शृंखलाएँ टूट जाती हैं। इस अखण्ड अनुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता अपितु आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। पूज्य गुरुदेव श्री हमें यह सतत प्रेरणा प्रदान करते रहे हैं कि हमें ज्ञान के पश्चात् ध्यान में अधिक समय लगाना चाहिए। ध्यान वह चाबी है, जिससे अखण्ड आनन्द का द्वार खुलता है। ध्यान से मन शान्त होता है। बिखरा हुआ मन ध्यान से केन्द्रित हो जाता है। जिससे मनोबल की भी अभिवृद्धि होती है और आत्मा में अद्भुत शक्ति का संचार होता है।

हमारा परम सौभाग्य है कि अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से हमें सद्गुरुवर्य के श्री चरणों में श्रद्धा के सुमन समर्पित करने का सुअवसर मिल रहा है। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का विराट् व्यक्तित्व और कृतित्व का अङ्कन करना मुझ जैसी लघु शिष्या की शक्ति से परे है। मैं कवि के शब्दों में यही नम्र निवेदन करूँगी।

भारत के हे सन्त! तुम्हारा, जीवन है जग में आदर्श।
पापी पावन हुए तुम्हारे, चरण-मणि का पाकर-स्पर्श।

□□

दिव्य व भव्य व्यक्तित्व

□ **महासती दमयन्तीबाई स्वामी** (लिंबड़ी सम्प्रदाय)

सरलता, मृदुता एवं सौम्यता के धनी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का जीवन निर्मल, गंगा के विशाल प्रवाह की तरह है जिसके दोनों किनारे लहलहाते हुए उपवन से प्रतीत होते हैं। वे श्रमण संघ के गौरव हैं। उनका शान्त निश्चल एवं परम पवित्र जीवन श्रमण संस्कृति का पुनीत प्रतीक है। भौतिक चकाचौंध के युग में प्रभुता प्रदर्शन से दूर रह कर आप शान्त स्वभावी आध्यात्मिक साधक के रूप में आत्म-कल्याण एवं लोक-कल्याण के कार्यों में सतत संलग्न हैं। आप श्री का मेरे पर महान् उपकार है। आप श्री के सुयोग्य शिष्य श्री देवेन्द्र मुनि जी ने सर्वप्रथम सद्गुरुवर्य कवीश्री नानचन्द्रजी महाराज के जन्मशताब्दि स्मृति ग्रन्थ के लिए सुझाव दिया। मेरा साहित्य जगत् से सीधा सम्बन्ध नहीं था। हृदय में ये भावनाएँ अठखेलियाँ कर रही थीं कि कविवर्य के जन्मशताब्दी पर कुछ कार्य करना है, पर क्या करना है? यह सूझ नहीं रहा था। उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज अपना अहमदाबाद का यशस्वी वर्षावास पूर्ण कर १९७५ में बम्बई पधारे। बोरीवली में मैं आप श्री के दर्शनार्थ उपस्थित हुई। देवेन्द्र मुनिजी से मैंने अपने हृदय की बात रखी और उन्होंने स्मृतिग्रन्थ की योजना प्रस्तुत की। केवल योजना ही नहीं, उन्होंने ग्रन्थ की संक्षिप्त रूपरेखा भी बना दी। योजना को सुनकर मेरा मन-मयूर नाच उठा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैंने देवेन्द्र मुनिजी से यह नम्र निवेदन किया कि योजना को मूर्तरूप देने के लिए आपका हार्दिक सहयोग अपेक्षित है। आप श्री ने गुरुदेव श्री के आदेश से सहर्ष स्वीकृति दी। देवेन्द्रमुनि जी चाहते थे कि स्मृतिग्रन्थ कवि श्री के अनुरूप एक विशिष्ट अभिनन्दन ग्रन्थ बने। मैंने स्मृति ग्रन्थ की रूपरेखा जैन समाज के मूर्धन्य मनीषी चिम्मनलाल चकुभाई शाह के सामने प्रस्तुत की। उन्होंने योजना को देखकर हार्दिक आल्हाद व्यक्त किया और साथ ही उन्होंने यह सुझाव रखा कि प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ में स्थानकवासी परंपरा मान्य बत्तीस आगमों का सार संक्षेप में दिया जाय तो प्रस्तुत ग्रन्थ की एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। बत्तीस आगमों का संक्षेप में सार लिखना कोई हँसी मजाक का कार्य नहीं था। उसके लिए विराट् अध्ययन और आगम साहित्य के दोहन की अपेक्षा थी। चिमनभाई आदि ने उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज और देवेन्द्र मुनि जी से उसके लेखन हेतु नम्र निवेदन किया। मुझे लिखते हुए परम आल्हाद है कि मुनिश्री ने हमारी प्रार्थना को सम्मान देकर एक महीने के स्वल्प समय में ही आगम साहित्य पर गंभीर शोधप्रधान तुलनात्मक दृष्टि से सार लिखकर एक महान् कार्य संपन्न किया। जिन विद्वानों ने उसे पढ़ा, वे मन्त्रमुग्ध हो गये। इस प्रकार मुनिश्रीजी के प्रबल पुरुषार्थ से ही १८६ पृष्ठ का मैटर ग्रन्थ में जा सका। मुनिश्री जी दूर थे और सुदूर दक्षिण भारत की यात्रा करना चाहते थे तथापि उन्होंने ग्रन्थ को सुन्दरतम बनाने के लिए जो प्रयास किया उनके असीम उपकार को मैं विस्मृत नहीं कर सकती। मुनिश्री जी अपनी कमनीय कल्पना से ग्रन्थ को और भी अधिक सुन्दर बनाना चाहते थे। वे विश्व के मूर्धन्य मनीषियों के उत्कृष्ट लेख भी देना चाहते थे. किन्तु समयाभाव के कारण हम मुनिश्री जी की भावना को जैसा चाहिए वैसा मूर्तरूप नहीं दे सकीं। मुनिश्री ने ग्रन्थ को अधिकाधिक श्रेष्ठ बनाने के लिए जो पुरुषार्थ किया उसे हम कभी विस्मृत नहीं हो सकते। ऐसे सुयोग्य शिष्य के गुरुदेव उपाध्याय पुष्कर मुनि जी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो और उसमें मैं अपनी श्रद्धा के सुमन समर्पित न करूं यह कैसे संभव हो सकता है? जब मुझे यह समाचार प्राप्त हुआ तब मेरा हृदय आनन्द-विभोर हो उठा।

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी स्थानकवासी समाज के एक ज्योतिर्धर नक्षत्र हैं। उनकी जन्मस्थली राजस्थान का एक प्रान्त मेवाड़ रहा है, जो त्याग, बलिदान, साहित्य और संगीत तथा कला का प्रमुख केन्द्र है, शक्ति और भक्ति का अद्भुत समन्वयस्थल है, जहाँ पर अनेकानेक सन्तों, शूरवीरों, देशभक्तों, और सती-साध्वियों ने जन्म लेकर अपनी साधना तपोयुक्त उदात्त जीवन से वहाँ के कण-कण को आलोकित और गौरवान्वित किया। उसी गौरवमय परंपरा के जाज्वल्यमान तेजस्वी रत्न हैं उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी। मैंने उनके सर्वप्रथम दर्शन किये सन् १९७१ में। उस समय आपश्री घाटकोपर, बंबई में विराज रहे थे। आपके प्रथम दर्शन ने ही मेरे हृदय पर एक निराला प्रभाव छोड़ा। आपका भव्य व्यक्तित्व अत्यन्त उदार और विशाल हृदय और असाम्प्रदायिक भावनाओं ने मेरे मन में आप श्री के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की। जब मैंने आप श्री का प्रवचन सुना तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ केसरीसिंह की गंभीर गर्जना ही हो रही है। आपश्री के प्रवचनों में आगम के गुरुगंभीर रहस्य इसप्रकार उद्घाटित होते हैं कि मुमुक्षु साधक विस्मित हो जाता है। साथ ही आपकी प्रवचन-कला की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि श्रोता कभी बोर नहीं होते। नदी के प्रवाह की तरह आपका प्रवचन विषय का प्रतिपादन करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। आपके जैसे सफल तेजस्वी प्रवचनकार जैनसमाज में अंगुलियों पर गिनने जितने ही हैं। प्रवचनकार के साथ ही आपकी ध्यान-साधना भी गजब की है। ध्यान-साधना अन्य सन्त व सतीजन भी करते हैं किन्तु उनमें समय की जो नियमितता चाहिए वह नहीं होती। मैंने देखा है, आपश्री नियमित समय पर ध्यान करते हैं। घाटकोपर में आपश्री के नेतृत्व में तीन दीक्षाओं का आयोजन था। आपश्री की आज्ञा से तपस्वी डुंगरसी मुनि दीक्षा की विधि कर रहे थे। विधि चल रही थी किन्तु आपका ध्यान का समय हो गया। आप उस समय हजारों की जनमेदिनी की उपेक्षा कर ध्यान के लिए ध्यान-कक्ष में पधार गये। यह है ध्यान के समय की नियमितता। ध्यान का समय होने पर आप बिना रुके ध्यान करने को पधार जाते हैं। आपश्री का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि बिना ध्यान की साधना के आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। आपके दिव्य और भव्य चेहरे को देखकर लगता हैं आपने ध्यान साधना से बहुत कुछ पाया है। आपश्री जैन समाज में और विशेष कर श्रमण और श्रमणी समुदाय में ध्यान की प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं। ध्यान के समय आपके शरीर में से ऐसे शुभ-पुद्गल निकलते हैं जिससे आधि-व्याधि और उपाधि से संतप्त व्यक्ति भी स्वस्थ हो जाता है और उसे अजब-गजब का आनन्द अनुभव होता है। वस्तुतः आप सच्चे अध्यात्मयोगी सन्त है। आप श्रेष्ठ साहित्यकार भी हैं। आपकी अनेक मौलिक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं जिन कृतियों ने जनमानस में आदर का स्थान प्राप्त किया है।

मैं महान उपकारी उपाध्याय श्री का हार्दिक अभिनन्दन करती हूं। मेरी हार्दिक मनोकामना है आपके जैसी तेजस्वी विभूतियों से ही जैन शासन गौरवान्वित है। आप पूर्ण स्वस्थ रहकर हमारे पर सदा कृपा दृष्टि बना रखें—यही नम्र अभ्यर्थना है। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युग-युग जीओ हे युगावतार !



□ साध्वी श्री इन्द्रकुमारी [शास्त्र-विशारदा]

□

साधारण मानव समय और वातावरण से बनता है। उनके विचार और आचार पर समय की मुद्रा अंकित होती है। किन्तु कुछ महामहिम मानवों का निर्माण समय नहीं करता वे स्वयं समय का निर्माण करते हैं। वे भगीरथ की तरह समय की गंगा को नया मोड़ देते हैं। उपाध्याय पुष्कर मुनि जी ऐसे ही असाधारण व्यक्ति हैं। वे युग के निर्माता हैं। उन्होंने युग का निर्माण किया है। जैसे पारस पत्थर के सम्पर्क में आकर काला-कलूटा लोहा भी सोना बन जाता है और वह अपनी चमक-दमक से जन-जन के मन को मुग्ध करता है।

सूर्य की चमचमाती किरणों की तरह जो भी उनके सम्पर्क में आया वह चमक उठा। और दीन-हीन व्यक्ति भी उनके सम्पर्क में आकर अपने में महानता का अनुभव करने लगा। उपाध्याय श्री का व्यक्तित्व भी ऐसा है कि हताश और निराश व्यक्तियों में भी अभिनव चेतना का संचार हो जाता है। आत्मा को नया विश्वास और नया बल मिलता है। अन्तर में उजाला-सा भरने लगता है, कठिन से कठिनतम कार्य भी सरल हो जाते हैं और समस्याओं के समाधान की नूतन दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

मैंने तो पण्डित प्रवर स्वर्गीय श्रेयस्कर मुनि जी से बहुत कुछ सुना था उपाध्याय श्री के सम्बन्ध में। पर मैं सोच रही थी कि वे प्राचीन परम्परा के सन्त हैं। उनमें क्रान्तिपूर्ण विचारों की कल्पना भी नहीं कर सकती थी क्योंकि वे राजस्थान के उस प्रान्त में जन्मे और बड़े हुए जहाँ पर परम्परा और रूढ़िवाद का प्राधान्य है। किन्तु मुझे आश्चर्य हुआ उपाध्याय श्री जी के विमल विचारों को सुनकर, वे शान्ति के साथ क्रान्ति चाहते हैं। उनका मन्तव्य है कि आन्धी की तरह जो क्रान्ति आती है उसका जीवन क्षणिक है। मैंने अनेकों बार उनके मौलिक प्रवचन सुने और मैं प्रवचनों से अत्यधिक प्रभावित हुई। मेरी हृदय की यह निर्मल भावना है कि—

युग युग जीओ हे युगावतार हे युगाधार।
तुमको पाकर मानवता का खिल उठा शृंगार॥

□

—☆—

सच्चे महापुरुष

□ महासती प्रभावती जी महाराज

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज जैन जगत के ही नहीं, अपितु भारत के एक मनस्वी और मनीषी सन्त हैं। वे उन विमल-विभूतियों में से हैं, जिन्होंने मानवता के त्राण के लिए जैन शासन की ज्योति को प्रज्वलित करने के लिए अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर दिया। स्वयं शिव-शंकर की तरह जहर की घूंट को पीकर संसार को अमृत बाँटा, स्वयं शूलों पर चलकर दूसरों के मार्ग में सुगन्धित फूल बिछाये, स्वयं सर्च-लाइट की तरह जलकर दूसरों का पथ-प्रदर्शन किया। स्वयं चन्दन के वृक्ष की भाँति जहरीले भुजंगों से लिपटकर भी अपने सद्गुणों की अनन्त सौरभ से विश्व को सुगन्धित बनाया।

उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना आकर्षक और लुभावना है उससे भी अधिक तेजस्वी है उनका आन्तरिक व्यक्तित्व, जिसमें हृदय की उदारता, चिन्तन की निर्मलता और प्रवृत्ति की शालीनता है। प्रथम दर्शन में ही मैं आपके सद्गुणों के प्रति आकर्षित हुई। सद्गुरुणी जी श्री सोहन कुँवर जी महाराज से आपश्री के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था और जैसा सुना वैसा ही मैंने आपको पाया। यही कारण है कि मैंने अपने इकलौते पुत्र कलेजे की कोर धन्नालाल को आपश्री के चरणों में समर्पित किया और आपश्री ने उसकी उत्कट वैराग्य भावना देखकर नौ वर्ष की लघुवय में उसे दीक्षा प्रदान की और उसका श्रमण जीवन का नाम देवेन्द्र मुनि रखा। आपश्री ने उसे पढ़ाया-लिखाया और हर तरह से उनके विकास के लिए प्रयास किया, उन्होंने जो उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है उसका सम्पूर्ण श्रेय सद्गुरुवर्य को ही है। सद्गुरुवर्य ने उनके असाता वेदनीय कर्म के अत्यधिक उदय के कारण समय-समय पर जो सेवा की है, उसे देखकर मैं विस्मित हो गई। एक गुरु अपने शिष्य की इतनी सेवा करे यह एक आदर्श है। पाश्चात्य विचारक कारलाइल ने एक स्थान पर लिखा है कि "किसी भी महापुरुष की महानता का पता लगाना है, तो यह देखना चाहिए कि वह अपने छोटों के साथ किस प्रकार का बर्ताव करता है। महापुरुष वही होता है जो छोटों से प्रेम करे, स्नेह से उन्हें सद्मार्ग पर चलने के लिए उत्प्रेरित करे। उनके अनघड जीवन को निखारे और अपने समान उसके जीवन को बनादे।" सद्गुरुदेव इस दृष्टि से सच्चे महापुरुष हैं। जहाँ वे छोटों से प्यार करते हैं, वहाँ वे बड़ों का आदर भी करते हैं।

सद्गुरुदेव ने अपने शिष्यों को ही नहीं, अपितु अपनी शिष्याओं को भी ज्ञान और ध्यान की दृष्टि से आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। उनकी प्रबल प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर ही मेरी सुपुत्री महासती पुष्पावती जी ने भी अत्यधिक प्रगति की। और अन्य सतियों ने भी ज्ञान-ध्यान में एक आदर्श उपस्थित किया।

सद्गुरुवर्य हमारी भूतपूर्व पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय के अधिनायक हैं और श्रमण संघ के उपाध्याय हैं। इस सुनहरी मंगल वेला पर जब समाज आप श्री का अभिनन्दन कर रहा है मेरी यही शुभ भावना है कि हम सभी आपश्री की छत्रछाया में सदा फलते-फूलते रहें और अत्यधिक आध्यात्मिक विकास करते रहें। ☆

□ महासती श्री चन्दनबाला जी

तत्त्वदर्शी युग-पुरुष

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज आधुनिक युग के एक महान् तत्वदर्शी युग-पुरुष हैं। उनके विचार उदार और विमल हैं, उनका आचार पावन एवं पवित्र है। उनकी वाणी में माधुर्य और ओज है। उन्होंने स्वयं ज्ञान की उत्कृष्ट साधना की और दूसरों को खुलकर ज्ञान प्रदान किया। उनकी दृष्टि इतनी उदात्त और व्यापक है, उसके लिए कोई पर नहीं है। सभी को समान दृष्टि से देखना उनका सहज स्वभाव है। धर्म, दर्शन, व्याकरण, न्याय और आगम के आप प्रकाण्ड पण्डित हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं के आप ज्ञाता हैं। शास्त्र-चर्चा में आप प्रवीण हैं। आपकी भाषण-कला जन-जन के मन को मुग्ध करने वाली है। जप-तप और ज्ञान-साधना के साथ ही साथ जन-जन का कल्याण करना आपके उदात्त एवं आदर्श जीवन का मुख्य लक्ष्य है। अन्धविश्वास अन्धपरम्परा, रूढ़िवाद, जातिवाद, स्वार्थान्धता, पारस्परिक विषमता आदि दुर्गुणों का युक्तिपूर्वक खण्डन कर आपने सद्भाव, सदाचार, स्नेह, सहयोग, सहिष्णुता और शुद्धात्म-वाद का प्रचार किया। धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी और संस्कृत भाषा में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन किया।

संकल्प और विकल्प ये दोनों मानव मन के कार्य हैं किन्तु दोनों में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। संकल्प से मानव का उत्थान होता है और विकल्प से मानव का पतन होता है। नाना विकल्पों के जाल में फँस कर मानव आधि-व्याधि और उपाधियों को निमन्त्रण देता है और उससे वह अत्यधिक परेशान होता है। किन्तु संकल्प से मानव समाधि की ओर बढ़ता है। वह भोग से योग की ओर, राग से त्याग की ओर अपने मुस्तैदी कदम बढ़ाता है और अन्त में विशुद्ध संयम की, तप की व योग की साधना कर संकल्प और समाधि में स्थिर होकर योगी ही नहीं परम योगी बन जाता है।

परम श्रद्धेय चारित्र-चूड़ामणि पूज्य गुरुदेव एक सुप्रसिद्ध विख्यातनामा आध्यात्मिक साधक हैं। अध्यात्म-साधना गगन के वे एक ऐसे जाज्वल्यमान सूर्य हैं, जो तप-त्याग के दिव्य आलोक से जैन-जगत में अवतीर्ण हुए हैं और अपने प्रखर प्रकाश से जैन समाज को चमत्कृत और आलोकित कर रहे हैं। एक नवचेतना, नवस्फूर्ति का पांचजन्य जन-जन के हृदयों में फूंक रहे हैं। उनके तप-त्याग की मधुर सुगन्ध से पूरा जैन समाज सुवासित है।

मैं अपना परम सौभाग्य समझती हूँ कि मेरी दीक्षा आपश्री के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुई। और आपश्री के कुशल निर्देशन से मैंने सद्गुरुणीजी परमविदुषी महासती शीलकुँवर जी महाराज की असीम अनुकम्पा से ज्ञान और ध्यान में कुछ प्रगति की है। सद्गुरुणीजी महाराज के साथ वागपुरा और जोधपुर इन दोनों स्थानों पर आपश्री की छत्रछाया में वर्षावास करने का भी अवसर मिला और भी अनेक बार सेवा करने का अवसर मिला मैंने अनुभव किया कि आपश्री जैनशासन की शान हैं।

आपश्री के वरदहस्त के नीचे हम सदा उन्नति करते रहें यही मेरा अभिनन्दन और अभिनन्दन है। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणसंघ के भूषण

☐ डा० महासती धर्मशीला एम० ए०, पी-एच० डी०

अहमदनगर में आत्मज्ञान के दिव्य ज्योतिर्धर, आत्मार्थी परमपूज्य श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री मोहनऋषिजी महाराज विराजमान हैं, और जन-जन के उत्कर्ष की मंगल कामना करने वाले पूज्य प्रवर्तक श्री विनयऋषि जी महाराज और सभी पर स्नेह की सरस वृष्टि करने वाली, सतीशिरोमणी परम पूजनीया गुरुभैया श्री उज्ज्वल कुमारी जी विराजमान थीं तब आपश्री अपने सुयोग्य शिष्यों सहित यहाँ पर अनेक बार पधारे, उस समय आपश्री के दर्शनों का सौभाग्य मुझे सम्प्राप्त हुआ। आपश्री के दर्शन कर मन-मयूर नाच उठा, हृदय कमल खिल उठा और हृत्तंत्री के तार झनझना उठे कि 'सन्त हों तो ऐसे हों' आपश्री की निःस्वार्थ भावना, प्रेम का प्राधान्य और अपनत्व को देखकर मैं तो क्या मेरे गुरुजन भी अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि यह मरुधर धरा की ही नहीं अपितु जैन जगत की एक महान् विभूति हैं।

पूज्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज का जीवन सद्गुणों का आगार है, मैं किन गुणों का अंकन करूँ और किन गुणों का अंकन न करूँ यह एक गम्भीर समस्या मेरे समक्ष उपस्थित हुई तथापि 'अकरणात् मंद-करणं श्रेयः" प्रस्तुत उक्ति के अनुसार नहीं करने से कुछ करना श्रेयष्कर है अतः यह प्रयास कर रही हूँ।

राजस्थान की पुण्यभूमि को भले ही 'सस्य श्यामला और सुजलाम् सुफलाम्" होने का गौरव न प्राप्त हुआ हो किन्तु सन्तों की जन्मभूमि और वीरों की कर्मभूमि होने का गौरव अवश्य ही प्राप्त हुआ है। सचमुच राजस्थान ऋषि, महर्षि, सन्त, तपस्वी, चिन्तकों की भूमि है। वहाँ के मिट्टी के कण-कण में अणु-अणु में महापुरुषों के तपःपूत व्यक्तित्व के शुभ परमाणुओं की सुगन्ध आ रही है, ऐसी राजस्थान की पवित्र धारा में अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी महाराज का जन्म हुआ।

आपश्री स्थानकवासी जैनसमाज के एक विद्वान् क्रान्तिकारी, सुमधुर, मिलनसार और प्रखर व्याख्याता सन्त हैं। आपश्री जैनधर्म और दर्शन के निगूढ़तम रहस्यों को जन-साधारण और गम्भीर विचारकों के समक्ष इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि श्रोताओं को वह विषय हृदयंगम हो जाता है। आपश्री की प्रवचन शैली अत्यन्त ओजपूर्ण, प्रभावोत्पादक और श्रोताओं के अन्तस्थल को स्पर्श करने वाली होती है। आपकी सिंह के समान गम्भीर गर्जना को श्रवण कर ऐसा कोई शायद ही व्यक्ति होगा, जो उसे सुनकर प्रभावित न हो। आप साधारण से साधारण बात को भी इस प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं। मैंने देखा ही नहीं, अपितु अनुभव किया है कि आपश्री के अमृतोपम उपदेश को श्रवण कर सहज ही श्रोता उसे धारण कर अपने आपको धन्य अनुभव करते हैं।

आपश्री अपने जीवन का अमूल्य क्षण प्रमाद, आलस्य और निरर्थक वार्तालाप में इधर-उधर की विकथा में व्यतीत नहीं करते। 'समय ही धन है' इस उक्ति के अनुसार अधिक से अधिक समय ज्ञान और ध्यान में व्यतीत करते हैं। आपश्री ने ध्यान-साधना में एक विशिष्ट संसिद्धि प्राप्त की है जिससे हजारों मानवों को कष्टों से मुक्ति मिली है। वे आर्त और रौद्र ध्यान से हटकर धर्म-ध्यान में प्रवृत्त हुए हैं। इतना होने पर भी आपश्री में किञ्चित् भी साधना का अहंकार नहीं है।

आपश्री दृढ़निश्चयी हैं, जो भी कार्य आपश्री के मन में जँच गया उसे पूर्ण करके ही विश्राम लेते हैं। बीच में चाहे कितनी भी बाधाएँ क्यों न आ जायें आप उन सभी बाधाओं की चट्टानों को चीरते हुए अपने संलक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते जाते हैं।

आपश्री की शारीरिक सुषमा तप के तेज से और ध्यान के प्रभाव से सतत दीप्त रहती है। आपश्री सम्पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनसमाज में इने-गिने महर्षियों में से एक हैं। आपका जीवन अहिंसा, सत्य, संयम, क्षमा आदि दिव्य एवं अलौकिक जगमगाते कोहीनूर हीरे के समान है जो अपनी अलौकिक आभा से जन-जन के मन को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। आपश्री जैन सिद्धान्तों के गंभीर रहस्यों के ज्ञाता हैं और साथ ही व्याकरण, न्याय, काव्य आदि के मर्मज्ञ-विद्वान् हैं। ब्राह्मणकुल में जन्म लेने से आपको जन्म से ही बुद्धि वैभव मिला है। आपकी प्रतिभा, प्रज्ञा, मेधा और स्मरण-शक्ति तीक्ष्ण है।

आपश्री ने जैन समाज के उत्थान के लिए विद्वान् शिष्य तैयार किये हैं, उनकी प्रगति के लिए प्रबल पुरुषार्थ किया है। वस्तुतः आपका पाण्डित्य अपने शिष्यों में प्रखर होकर निखरा है। पूज्य देवेन्द्रमुनि जी जैसे विद्वान् शिष्य को तैयार कर आपने समाज पर अत्यन्त उपकार किया है। ये आपके सुयोग्य शिष्य हैं। मैंने अनुभव किया है कि वे गुरु आज्ञा के प्रति सर्वात्मना समर्पित है। विनय उनके जीवन का मूलमंत्र है। संयम उनकी साधना का आधार है। जिज्ञासा और श्रम ही उनके विकास का मूल-कारण है। उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि गुरु को योग्य शिष्य मिला, शिष्य को ज्ञानी गुरु मिले और सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ हो गई।

गुरु और शिष्य दोनों की साहित्यिक सेवाएँ प्रशंसनीय हैं आप दोनों के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। आपके ग्रन्थों में मौलिकता, नवीनता रहती है। जिससे उनके प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक है। देवेन्द्र मुनि जी के मौलिक ग्रन्थों को पढ़कर मेरी सद्गुरुणी श्री उज्ज्वल कुमारी जी ने कहा था कि इन ग्रन्थों पर उन्हें विश्वविद्यालय की ओर से 'डी० लिट्' की उपाधि मिलनी चाहिए। किन्तु हमारी समाज ने इधर कुछ भी प्रयास नहीं किया, यदि प्रयास किया होता तो उनके साहित्य की अधिक कद्र होती और वे कभी के इस पद से अलंकृत हो जाते।

उपाध्याय श्री स्थानकवासी जैन-परम्परा के सन्त हैं पर आप में साम्प्रदायिकता नहीं है। स्थानकवासी समाज के सिद्धान्तों को सर्वश्रेष्ठ मानकर के भी दूसरे सम्प्रदायों के प्रति हीनभावना नहीं है। आपश्री श्रमणसंघ के भूषण हैं।

उज्ज्वल-शिष्याओं पर आपकी और आपके सुयोग्य शिष्य देवेन्द्र मुनि जी की विशेष कृपा रही है। अनेक कार्यों में व्यस्त होने पर भी आपने समय-समय पर अनेक उपकार किये हैं, जिन उपकारों को हम कभी भी विस्मृत नहीं हो सकते। और हमें पूर्ण आपका विश्वास है कि आपश्री की असीम कृपा सदा बनी रहेगी।

मैं शासनदेव से नम्र प्रार्थना करती हूँ कि उपाध्याय अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी पूज्य गुरुदेव श्री को अपने आत्मोत्थान के साथ राष्ट्र और समाज की सेवा करने के लिए उन्हें बाहुबली की तरह बल प्रदान करे। आपके सत्य, संयम और वैराग्यपूर्ण जीवन की सुमधुर सौरभ विश्व के प्राणियों को सौम्यता और शान्ति प्रदान करे। आप जैसे महान सन्त का पथ-प्रदर्शन सुदीर्घ-काल तक जनता-जनार्दन को मिलता रहे। आप बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय कार्य करते रहें और आपकी छत्रछाया में हम सदा प्रगति करती रहें अन्त में इतना ही—

'जो भटकते अज्ञान अंधकार में,
उन्हें प्रकाश जो देते हैं।
प्रकाशदाता ऐसे उपाध्याय को,
हम शत-शत वन्दन करते हैं।

अद्भुत विशेषताओं के धनी

☐ **साध्वी मुक्तिप्रभा,** एम० ए० साहित्यरत्न

सन्त पुरुष के जीवन का क्षण-क्षण और पल-पल मूल्यवान् होता है। वे समय का सही मूल्यांकन करते हैं और जीवन का निर्माण करते हैं। पूज्य उपाध्याय श्री हमारे समाज के जाने-माने और पहचाने हुए एक महापुरुष हैं। उन्होंने समाज में एक नयी ज्योति जलायी, नयी आभा प्रस्तुत की। जिस दिव्य ज्योति की रोशनी में हमारा समाज विपरीत मार्ग का परित्याग कर सही मार्ग पर आया। ईमानदारी और नैतिकता के पथ पर बढ़ने की प्रबल प्रेरणा दी। आपकी अप्रतिम प्रतिभा और सुदृढ़ लेखनी ने जैन साहित्य की श्रीवृद्धि में अपूर्व योगदान दिया है। आपके दर्शनों का सौभाग्य मुझे बम्बई, अहमदनगर और अहमदाबाद में मिला। मैं खाली गयी और भरी हुई लौटी। आपके पास पहुँचने पर अपूर्व आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति हुई। आपकी जप व ध्यान साधना ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। आप केवल साधक ही नहीं साधकों के निर्माता भी हैं। आप केवल लेखक ही नहीं, लेखकों के निर्माता भी हैं। आप केवल कवि ही नहीं, कवियों के सृजनहार भी हैं। आपका जीवन अद्भुत विशेषताओं से भरा हुआ है। मैं आपश्री की दीक्षा स्वर्णजयन्ती अवसर पर अपने हृदय की निर्मल भावनाएं श्रीचरणों में समर्पित कर अपने आपको भाग्यवान मानती हूँ। मेरी यही शत-शत मंगल कामना है कि आपश्री पूर्ण स्वस्थ रहकर जैनधर्म की सदा प्रभावना करते रहें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मृतियों के वातायन से



साध्वी दिव्यप्रभा एम० ए० साहित्यरत्न

दिन आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु वे अपनी मधुर स्मृतियां मानस-पटल पर सदा के लिए उट्टंकित कर जाते हैं। जो घटना मर्म को स्पर्श करती है वह भुलाने पर भी भुलायी नहीं जा सकती। वह प्रतिपल-प्रतिक्षण आँखों के सामने नाचती रहती है। मुझे स्मरण है कि सर्वप्रथम राजस्थानकेसरी पुष्कर मुनि जी के दर्शनों का सौभाग्य सन् १९६७ में बम्बई में मिला था। उस समय आप राजस्थान से विहार कर बम्बई बालकेश्वर वर्षावास के लिए आ रहे थे। हम कान्दीवली में स्थित थीं। प्रथम दर्शन में ही मैंने अनुभव किया कि आपका व्यक्तित्व हिमालय की हिमधवल गगनस्पर्शी चोटियों की तरह उन्नत और श्रद्धास्पद है। हिमालय की करुणा जैसे अगणित निर्झर और नदियों के रूप में विगलित होती है, उसीप्रकार आपकी करुणा की धाराएँ भी हजारों रूपों में व्यक्त हो रही हैं। उस समय एक दिन का सम्पर्क रहा। उसके पश्चात् कान्दावाड़ी उपाश्रय में पुनः आपके दर्शनों का सौभाग्य मिला और आपके ओजस्वी प्रवचनों को सुनने का भी अवसर प्राप्त हुआ। आपके प्रवचनों में विषय की गम्भीरता के साथ ही सरसता का जो मणिकांचन-संयोग है उसने मेरे मन को मुग्ध कर दिया।

सन् १९६९ में पुनः आपके दर्शनों का सौभाग्य हमें अहमदनगर में मिला। यहाँ पर आत्मार्थी मोहन ऋषिजी महाराज तथा सद्गुरुणी जी श्री उज्ज्वलकुमारी जी विराज रही थीं। इस समय मैंने विविध विषयों पर आपश्री के समक्ष जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं और आपने उन जिज्ञासाओं का सही समाधान कर, अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। आपश्री में समाज, संस्कृति, साहित्य और धर्मोत्थान की भावनाएँ अंगड़ाइयाँ ले रही हैं। उसके पश्चात् सन् १९७३ में हम आपश्री के दर्शनार्थ अहमदाबाद पहुँची। मेरा विचार पी० एच० डी० करने का था और उसके लिए विचार-विमर्श भी करना था। शोधकार्य का अनुभव न होने से कार्य किसरूप में प्रारम्भ करना चाहिए इस सम्बन्ध में तीन-चार दिन तक आपश्री से वार्तालाप और चर्चाएँ होती रहीं। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि आप सरस्वती पुत्र हैं। आपका पुनीत सानिध्य मेरे लिए वरदान रूप रहा है। आपका चिन्तन शरत्कालीन चांदनी के समान निर्मल है। आपका लेखन मौलिकता को लिए हुए है। आप जैन समाज के मूर्धन्य मनीषी मुनिवरों में से हैं। अभिनन्दन ग्रन्थ में मैं अपने श्रद्धा के सुमन समर्पित करती हुई अपने को भाग्यशाली समझ रही हूँ। मेरी हार्दिक मंगल कामनाएँ हैं कि

प्रज्ञा-श्रुत सेवा की मूर्ति,
मुनिवर तुमको वन्दन।
मंगल स्वर्ण जयन्ती अवसर,
हम सब का अभिनन्दन॥

भाव-कलियाँ

—साध्वी प्रीतिसुधा साहित्यरत्न

उपाध्याय जी श्रमण संघ के
आज आपका है अभिनन्दन॥
जंगम "पुष्कर" तीरथ को हम।
करें "प्रीतियुत" शतशत वंदन॥

जैन जगत के दैदिप्यमान भास्कर, उपाध्याय पूज्य श्री पुष्कर मुनि जी महाराज की अप्रतिम आत्म विश्वास युक्त की जाने वाली संयम साधना तथा तपाराधना को कौन नहीं जानता।

जिनवाणी की गगनभेदी सिंह गर्जना करते हुए जिस महान् सन्त ने मारवाड़, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश आदि क्षेत्रों को अपने पावन पदपद्मों से पवित्र किया हो, तथा हजारों श्रद्धालुओं में अध्यात्म दीप जलाने का महत् कार्य किया हो उन्हें कौन नहीं मानता !!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमें भी अवसर मिला था ऐसे महापुरुष के सत्संग में रहकर आध्यात्मिक आस्वाद को ग्रहण करने हेतु धार्मिक तत्वचर्चा करने का। अनुभव-सिन्धु से स्वानुभव के बिन्दु को घट में उतारने का, तथा संयम-साधना से निखरे हुए साधक के जीवन रूपी आइने में अपने आपको निहारने का।

बात सन् १९७५ की महिना बैसाख का। हम दिल्ली से ६०० मील की पदयात्रा करते हुए, परमाराध्य आत्मार्थी जी पूज्य गुरुदेव महाराज सौजन्यमुनि, महाराष्ट्र प्रवर्तक पूज्य श्री मंत्री जी महाराज तथा महान् विदुषी पूज्य सद्गुरुणी श्री उज्ज्वलकुमारी जी महाराज आदि गुरुभगवंतों की पुनीत सेवा में अहमदनगर पहुँचे थे और उसी स्वर्णमय अवसर में सोने में सुहागे की तरह मरुधर भूषण अध्यात्म-योगी पूज्य उपाध्याय जी महाराज जिनशासन के चमकते सितारे पूज्य भाई (देवेन्द्र मुनि जी) महाराज आदि संत-वृन्द का मंगलमय पदार्पण हुआ था। ठाठ लग रहा था व्याख्यान वाणियों का, जमघट जग गया था महान् ज्ञानियों का, भीड़ उमड़ घुमड़कर आ रही थी बरसाती बादलों की तरह किन्तु उदार हृदयी इन सन्तों ने हमें अपना अधिकांश समय हमारी जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए दिया, जीवन के लिए अति उपयुक्त मार्गदर्शनपरक बात समझाई, अपनी ध्यान-साधना का मर्म बताया, निजी शिष्या की तरह लेखन कार्य में प्रगति करने का प्रोत्साहन दिया और मुझ जैसी अल्पज्ञ छोटी साध्वी का उत्साह बढ़ाने के लिए भरे व्याख्यान में महाराष्ट्र सिंहनी कहकर पुकारा! आज भले ही आप हमसे कोसों दूर हैं किन्तु आपकी वे अपनत्व भरी बातें अब भी हमारे कानों में गूँज रही हैं।

इतने बड़े सागर सम गम्भीर, हिमालय सम उर्ध्व जीवन की महिमा लिखने के लिए विशिष्ट लेखन कला में सिद्धहस्त पूज्य श्री उपाध्याय जी महाराज के शिष्य रत्न श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज की लेखनी भी जहाँ अधूरी पड़ सकती है वहाँ मुझ जैसी अत्यन्त लघुसाध्वी की लेखनी कैसे समर्थ सिद्ध हो?

फिर भी अभिनन्दन के इस अभिनन्दनीय प्रसंग पर प्रस्तुत करने के लिए ये भाव कलियाँ समारम्भ की सौरभ में सुरभि का छोटा-सा कार्य वहन करेगी।

अन्त में—पूज्य उपाध्याय जी महाराज के स्वास्थ्य युक्त दीर्घायु की कामना पूज्य माताजी महाराज आदि सभी की ओर से व्यक्त कर रही हूँ। □

श्रद्धा के दो फूल

□ **साध्वी मंजुश्री** (साहित्यरत्न जैनसिद्धान्तचार्य)

जो विद्वत्ता के अगाध सागर हैं, सिद्धियाँ जिनके चरण चूमती हैं, वैराग्य जिनका अंगरक्षक है, संयम जिनका जीवन-साथी है, जो 'अध्यात्मयोगी' के नाम से प्रख्याति प्राप्त महान् सन्त हैं, जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी 'अजयमेरु' हैं, श्रमण-संघ-प्रदत्त उत्तरदायित्वों का विवेक और धैर्य से निर्वहन करते हैं, जिनकी वाणी में कुछ निराला ही ओज है, उलझी समस्याओं का समाधान करने में सिद्ध-हस्त हैं, भक्तों के सहारे हैं, श्रमण-संस्कृति के प्रचार और प्रसार में जिनका महत्वपूर्ण योगदान है, जैनत्व के सर्व-मंगलकारी रूप के विकास के लिए जो कटिबद्ध हैं; जिनके चरणकमल जहाँ भी पड़ते हैं, संयम-सदाचार और समता के सौरभ से जन-जन का हृदय प्रमुदित हो जाता है; सत्साहित्य का अमृत पिलाकर जो भौतिकता से मूर्च्छित विश्व समाज को नव-जीवन प्रदान करते हैं, जिनका औदार्य अत्यन्त विशाल है, जिन्होंने साम्प्रदायिक संकीर्णताओं की दीवारों को तोड़कर संघीय एकता के महामन्त्रोच्चार में अपना भी स्वर मिलाकर श्रमण-संगठन की आवाज को बुलन्द किया, उन महामना स्वनामधन्य राजस्थान-केसरी उपाध्याय पूज्यपाद श्री पुष्कर गुरुदेव के चरणारविन्दों में बारम्बार वन्दन करके मैं धन्यता का अनुभव करती हूँ।

सन् १९७५ में पूना में गुरुदेव के प्रथम दर्शन ने ही मन पर उनके असाधारण और विराट् तथा आकर्षक व्यक्तित्व की छाप छोड़ दी थी। पूना-चातुर्मास गुरुदेव की छत्रछाया में अत्यन्त आनन्द के साथ व्यतीत हुआ। जब भी कभी कोई कठिनाई खड़ी हुई, आपके वरदहस्त के प्रभाव से ऐसे विलीन हुई, जैसे वर्षा होते ही आँधी नष्ट हो जाती है और जैसे सूर्य के प्रभाव से ओसकण नष्ट हो जाते हैं।

गुरुदेव के व्यक्तित्व का तो कहना ही क्या? उनकी मांगलिक में ही इतनी शक्ति है कि आधिदैविक बाधाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तप करने में कमजोर व्यक्ति मास-खमण जैसे तप भी हँसते-हँसते सहज ही में कर जाते हैं।

जंगल में भी मंगल कर देने वाले आपके चरणों ने अब तक हजारों मील की पद-यात्रा करके भारत के विभिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रान्तों में भगवान महावीर के शासन का प्रसार और प्रचार करके उसकी श्रीवृद्धि की है।

ज्ञान और क्रिया के समन्वय की इस जीवन्त प्रतिमा ने 'समयं गोयम मा पमायए' को अपने जीवन में पूर्णतः अवतरित किया हुआ है। वे अपना एक भी क्षण व्यर्थ नहीं जाने देते, कुछ-न-कुछ लिखने में, पढ़ने में, ध्यान-स्वाध्याय में और चर्चा-वार्ता में ही उनके अहोरात्र व्यतीत होते हैं।

विद्वेष की आग भड़कती हो ऐसे अवसर पर भी वे शान्ति से काम लेते हैं।

अपने से बड़ों के प्रति वे कितने विनयशील रहे होंगे, इस बात का अनुमान मैं उनके छोटों के प्रति वात्सल्य और प्रेम को देखकर लगाती हूँ। पूना-चातुर्मास में मैंने देखा कि अपनी शिष्यमण्डली का वे कितने प्रेम से संरक्षण करते हैं। इससे भी आगे कहूँ तो उतना ही स्नेह उन्होंने हमें भी प्रदान किया।

आपकी वाणी का उद्देश्य वक्तृत्व-कौशल और विद्वत्ता का प्रदर्शन नहीं, प्रत्युत श्रोताओं के जीवन को धार्मिक और नैतिक दृष्टि से ऊँचा उठाना है। यही कारण है कि आप उन बातों पर बारम्बार प्रकाश डालते हैं, जो जीवन-विकास के लिए आवश्यक और मूलाधार हैं। इनकी संतुष्टि-हेतु बीच-बीच में उदाहरण, दृष्टान्त, संगीत और कथाओं का समावेश करके अपने प्रवचन को और भी अधिक प्रभाकर बना देते हैं।

पूज्य गुरुदेव के जीवन-सागर की लहरों को शब्दों में बाँधना असम्भव कार्य है। यह तो मात्र दो-चार लहरों का लघु चित्रण किया है।

उनके दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के मंगलमय प्रसंग पर शासनेश से प्रार्थना है कि 'गुरुदेव चिरायु हों, स्वस्थ रहें, जिन-शासन का गौरव बढ़ाएँ।'

●●

श्रमण संस्कृति के सजग प्रहरी : पूज्य गुरुदेव

☐ साध्वी विजय श्री (पंजाबी) जैन सिद्धान्ताचार्य

राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी श्रमणसंघीय उपाध्याय गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज सन्त समाज की एक अनुपम विभूति हैं, वे श्रमणसंस्कृति के सजग प्रहरी और सतेज नेता हैं। तप, त्याग एवं वैराग्य की जीवन्त प्रतिमा हैं, आत्मबल, आत्मविश्वास और आत्म-दृढ़ता के मूर्तिमन्त रूप हैं। एक बार जो उनके दर्शन कर लेता है, वह सदा-सदा के लिए उनका परम भक्त बन जाता है; ऐसी आत्मिक शक्ति है, उनके पास।

मुझे गुरुदेव के दर्शनों का सर्वप्रथम सौभाग्य महाराष्ट्र राज्य की पुण्य नगरी पूना में प्राप्त हुआ, तदुपरान्त शनैः शनैः मेरा मन गुरुदेव के शालीन व्यवहार, गम्भीर पांडित्य-मधुर वाणी और सहज-स्नेह के आगे दिन-प्रतिदिन झुकता चला गया। आज भी जब कभी गुरुदेव के बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व पर चिन्तन की चारु चन्द्रिका में बैठकर सोचती हूँ, तभी श्रद्धा से सिर झुक जाता है।

अनुपम व्यक्तित्व के धनी : गुरुदेव—

गुरुदेव का व्यक्तित्व गगन के समान विशाल है। उनका जीवन हिमाद्रि से भी उच्च और सागर से भी गम्भीरतर है। वे सूर्य के समान तेजस्वी हैं, तो शशी के समान निर्मल, स्वच्छ और शीतल भी हैं। प्रकाण्ड विद्वत्ता के धनी होने पर भी वे स्वभावतः अत्यन्त विनम्र हैं। ज्ञानी, ध्यानी, वर्चस्वी और संयमी जीवन में अग्रगण्य होने पर भी मान उनसे कोसों दूर है। व्याख्यान और ध्यान के अतिरिक्त मैंने उनको कभी पाट पर बैठे नहीं देखा। गुरुदेव प्रभुता और प्रसिद्धि से दूर रहना चाहते हैं, लेकिन वे छाया की तरह उनके पीछे ही नहीं, वरन् वायु के समान आगे ही आगे दौड़ती हैं। जीवन की अनगिन व्यस्तताओं में उलझे होने पर भी गुरुदेव सभी के लिए सहज हैं, महात्माओं के दर्शन दुर्लभप्रायः होते हैं, लेकिन गुरुदेव इसके अपवाद हैं। वे अपने आवश्यक कृत्यों के अतिरिक्त समय जनहित, संघहित और देशहित के कार्यों में व्यतीत करने में विशेष आनन्द की अनुभूति करते हैं। यही कारण है कि गुरुदेव के पास से साधारण व्यक्ति भी जीवन की महत्तम उपलब्धि लेकर प्रस्थित होता है, और अपने को उनका निकटतम भक्त समझता है।

गुरुदेव के जीवन की अनेकानेक विशेषताएँ हैं। तथापि उनका बाह्य जीवन सीधा-सादा और सहज है 'सादा जीवन और उच्च विचार' गुरुदेव के जीवन की बहुत बड़ी विशेषता है—

"Simple living and high thinking."

उनका जीवन मन्त्र है।

खद्दर का परिधान, घुटनों से नीचे तक का चोलपट्ट चमकता हुआ उन्नत ललाट, तेजस्वी मुखमण्डल और उपनेत्र में से सम्मुखस्थ व्यक्ति को परखने में परम पटु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेजोमय नेत्र उनके विशुद्ध आन्तरिक व्यक्तित्व का परिचय देने के लिए काफी है, क्योंकि व्यक्ति का चेहरा उसके अन्तरंग जीवन का प्रतिबिम्ब होता है—

"Sound mind in sound body."

सफल वर्चस्वी : गुरुदेव

एक सफल वर्चस्वी के रूप में गुरुदेव सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त है। आपकी वाणी सिंह की गर्जना के समान अदम्य उत्साह से परिपूरित साथ ही वीणा के तार के समान मधुर झंकार से युक्त होकर जब भाषा के रूप में बाहर निकलती है, तो श्रोताओं का मन मयूर झूम उठता है, वे एकाग्रमन होकर शान्त एवं प्रफुल्लित चित्त से श्रवण में ऐसे तन्मय हो जाते हैं, जैसे फूलों का रस पान करने में भ्रमर अथवा कई दिनों का भूखा व्यक्ति क्षीर पान में मस्त हो जाता है। इसका श्रेय मैं गुरुदेव की मधुर मधु युक्त वाणी को उतना नहीं देती, जितना तदनुरूप ढले हुए उनके अबाध साधनामय जीवन को, उनकी त्यागमयी मनोवृत्ति को और उनकी सरल मुमुक्षु आत्मा को। गुरुदेव के जीवन में आचार, विचार व उच्चार की त्रिवेणी सदा एक रूप, एक रस होकर बहती है। गुरुदेव का आचार, विचार से उच्च है और विचार उच्चार से उच्च। यही कारण है, कि गुरुदेव के सच्चे और अकृत्रिम स्वच्छ हृदय से निकला हुआ प्रतिशब्द प्रतिभव्य मुमुक्षु आत्मा द्वारा आदरणीय और आचरणीय होता है। उनके वचन में ऐसी अद्वितीय शक्ति है, जिसे सुनकर वृद्ध मन भी पूर्ण उत्साह और लगन के साथ कार्य में संलग्न हो जाता है।

सजग कर्मयोगी : गुरुदेव

गुरुदेव के कर्मठ जीवन का ध्यान करते-करते मुझे बरबस एक महान आचार्य द्वारा कही गई संस्कृत की पंक्ति याद आ रही है—

'कुरु-कुरु पुरुषार्थं, निर्वृत्तानन्द हेतोः'

गुरुदेव के जीवन मे उक्त पंक्ति की चरितार्थता दिखाई देती हैं। मैं जब-जब भी गुरुदेव के पास गई उन्हें किसी न किसी सत्कार्य में संलग्न ही देखा। काम करते समय की उनकी लगन, उनकी तत्परता उनके जीवन का अकृत्रिम गुण है। वृद्धावस्था होते हुए भी गुरुदेव मन से पूर्णतः स्वस्थ, उत्साही, कर्मयोगी एवं दृढ़ मनोबली हैं। चिन्ता, निराशा, उदासीनता आदि की झलक रंचमात्र भी कभी उनके मुखमण्डल पर नहीं दिखाई दी, जब भी उन्हें देखा सदा प्रसन्न एवं जागरूक देखा। "Work is worship" जैसे उनका जीवन मन्त्र हो।

गुरुदेव का सतत पुरुषार्थ उनके कृतित्व में भी पूर्णतः उद्भावित हुआ है। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं को गुरुदेव की कृति में स्थान प्राप्त है। विविध कथा, कहानी आदि को पद्यमय बनाकर सुनाना उन्हें अभीष्ट है। कविताएँ ओज, माधुर्य तथा गाम्भीर्य से परिपूर्ण अति भावप्रवण सरल तथा सुगम होती हैं। मानो सौन्दर्य मद में झूमती हुई कवि की दृष्टि स्वर्ग से भूलोक और भूलोक से स्वर्ग तक विचरती रहती है।"

"Doth glavce from heaven to earth and earth to heaven."

जिस किसी भी विषय को गुरुदेव लेखनी या वाणी रूप देते हैं, उसी में प्राण उंडेल देते हैं। गुरुदेव का कृतित्व सरसता, सरलता और भावप्रवणता का संगमस्थल है। अनजाने तथा अनबूझे विषयों को भी रुचिकर बनाकर हृदयंगम कराने में गुरुदेव की कवित्व शक्ति को विशिष्ट प्रकार का प्रभुत्व प्राप्त है।

इस प्रकार गुरुदेव कर्मठ चित्त किसी न किसी जनोपयोगी, समाज संगठन आदि कार्यों में सदैव संलग्न रहता है। ऐसे कर्मठ योगी सन्त ही संसार की मरुस्थली को नन्दन-कानन बना देते हैं।

बहुगुण संपूज्य : गुरुदेव

गुरुदेव अनेक गुण-रत्नों से संपूजित हैं। उनकी गुण-ग्राहकता, मिलनसारिता, धैर्य, विवेक और परिस्थितियों को समझकर कार्य करने की कुशलता बड़ी अद्भुत है। वे उदारमनस्वी और संकीर्णता से कोसों दूर हैं। संघ को शक्तिशाली बनाने में गुरुदेव ने हर संभव प्रयत्न किया है। सादड़ी, सोजत, अजमेर आदि सम्मेलनों में संघ को एकसूत्र में पिरोने में गुरुदेव श्री का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है।

कि बहुना, गुरुदेव के मानस में स्वाभिमान, व्यवहार में अपनापन और आचार में दृढ़ता है। समन्वयात्मक दृष्टि में गुरुदेव पुरातन तथा नवीन युग की सन्धि कड़ी हैं। आयु में वृद्ध और विचारों में युवकों से भी आगे हैं। कर्म-साधना उनका जीवन लक्ष्य है, दृढ़निष्ठा उनका प्रगति पथ है, विवेक और विचार उनके मार्गदर्शक हैं, यश, प्रतिष्ठा और भौतिक ऋद्धियाँ उनकी अनुगामिनी हैं। उनमें बालक की-सी सरलता, युवा की-सी संकल्प शक्ति और साहस तथा वृद्ध का-सा अनुभव है। वे एक होकर भी अनेक हैं और अनेक होकर भी एक हैं।

अनन्तः ऐसे अनूठे व्यक्तित्व के धनी पूज्य गुरुदेव श्री के चरणों में श्रद्धा सुमन अर्पण करती हुई मैं यह कामना करती हूँ, कि युगों-युगों तक आपश्री का यशस्वी संयम जीवन पथभ्रष्ट यात्रियों को सत्पथ पर गतिशील करता रहे।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



ते गुरु मेरे उर बसो

□ महासती श्री कौशल्याकुमारी

□

भारतीय संस्कृति का तलस्पर्शी अनुशीलन करने पर सहज ही परिज्ञात होता है कि विश्व के मंच पर मानव-जीवन सबसे अधिक श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता और ज्येष्ठता का आधार संयम-साधना, त्याग-तप की आराधना है। जीवन में जितनी अधिक वैराग्य की भावना प्रबल होगी, त्याग की अधिकता होगी, साधना की निर्मलता होगी, उतना ही जीवन सच्चा और अच्छा माना जायेगा।

अविवेकी मिथ्यादृष्टि जीव का लक्ष्य होता है लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा किन्तु सम्यग्दृष्टि विवेकी साधक के जीवन का लक्ष्य होता है आत्म-गवेषणा, सदगुणों की अन्वेषणा और उसी के लिए वह अहर्निश प्रयास करता है। परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य संयम, साधना, तप और त्याग की आराधना के महापथ पर एक सफल साधक की तरह निरन्तर बढ़ते रहे हैं। लघुवय में संयम-साधना के कठिन अग्निपथ को अपनाकर निरन्तर उस पर अपने मुस्तैदी कदम बढ़ाना उनकी महानता का पुनीत प्रतीक है। संयम के प्रशस्त-पथ पर बढ़कर वे वहीं पर अवस्थित नहीं हुए अपितु जीवन को निखारने के लिए, वैराग्य भाव में अधिकाधिक वृद्धि करने के लिए उन्होंने ज्ञान का गहरा अभ्यास किया, त्याग और तप के रंग में अपने जीवन को रंगा, साधना के दिव्य सम्बल लेकर इठलाती हुई तरुणाई में भी निरन्तर आगे बढ़ते रहे, पीछे मुड़कर नहीं देखा। जीवन की प्रगति का यही मूल मन्त्र है—

न पीछे हटाया कदम को बढ़ाकर,
अगर दम लिया तो मंजिल पे जाकर।

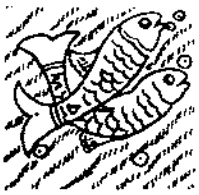
श्रद्धेय सदगुरुवर्य समाज सेवा के कर्म क्षेत्र में, आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के बीज बोने में और समूची मानव जाति के आध्यात्मिक जागरण में उनका अनूठा योगदान रहा है। मेरे अनघड़ जीवन निर्माण का श्रेय भी श्रद्धेय सद्गुरुदेव को है। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के उपदेश से ही मैंने सद्गुरुणीजी श्री सज्जनकुँवर जी महाराज के पास दीक्षा ली, आपश्री के निर्देशन से ही मैंने अध्ययन की दिशा में कदम बढ़ाया। जब भी मेरे जीवन में उफान और तूफान आया, तब मैंने सदगुरुवर्य के पुनीत नाम का स्मरण किया मुझे आश्चर्य है कि उनके नाम के दाक्षिणात्य पवन ने उफान और तूफान को शान्त कर दिया। वस्तुतः आपश्री के नाम में ही जादू है। जब भी मैं आपश्री के नाम का पुनीत स्मरण करती हूँ तब मुझे अपार शान्ति मिलती है। आपश्री ने समय-समय पर मुझे शायर के शब्दों में यह प्रेरणा दी है कि जिन्दगी हर मोड़ पर यह आवाज दे रही है कि अय मानवो ! भविष्य की चिन्ता त्याग कर भविष्य के निर्माण में संलग्न हो जाओ यही तुम्हारी मौजूदगी का संसार में एक निशान रहेगा।

जिन्दगी हर मोड पर मुझको यह देती है सदा।
फिक्रे-फर्दा छोड़िये तामीरे-फर्दा कीजिए॥

श्रद्धेय सदगुरुवर्य के श्री चरणों में मैं अनन्त श्रद्धा के सुरभित सुमन समर्पित करती हूँ जिसने अपने ज्ञान के प्रकाश से जीवन और जगत् को ज्योतिर्मय बनाया है। उनके आचार में पवित्रता और विचारों में उच्चता है ऐसे सदगुरुदेव सदा मेरे उर में बसें।

—☆—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



एक महामहिम व्यक्तित्व

☐ साध्वी श्री किरणप्रभा

☐

'संताच्या विभूति जगाच्या कल्याणी' महाराष्ट्र संत रामदास के मुखारविन्द से निसृत शब्द कितने यथार्थ हैं, संतों का जीवन विश्व-कल्याण के लिए समर्पित होता है। उनके श्वास-श्वास में विश्वकल्याण की भावना समाहित होती है। भारतीय संस्कृति में सन्तों का सर्वोपरि स्थान है। विश्वोत्थान के लिए सन्तों का योगदान अविस्मरणीय है। हिमालय से कन्याकुमारी और कच्छ से बंगाल की खाड़ी तक सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का जो अनाहत संगीत युगों से मुखरित हो रहा है, उसमें सन्तों की आत्मा ध्वनित हो रही है, यदि हम इतिहास को अविच्छिन्न संत-परम्परा की समुज्वल गाथा कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

मैं अपने जीवन को धन्य एवं सफल समझ रही हूँ कि रत्नत्रय की साधना से सुशोभित श्रद्धेय परमपूज्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज के जीवन के सम्बन्ध में मुझे दो शब्द लिखने का अवसर मिला है, लेकिन मेरे मन में एक प्रश्न तरंगित होता है कि इन महान् विभूति के लिए मैं क्या लिखूं ? सन्त पुरुषों के विषय में लिखना सचमुच दुष्कर कार्य है क्योंकि उनका विशिष्ट व्यक्तित्व हिमालय जैसा महान होता है और कुशलकर्तृत्व अनन्त सागर की तरह विराट होता है। उनके विराट व्यक्तित्व एवं कृतित्व को शब्दों की सीमा में आबद्ध करना मेरे लेखनी के वश की बात नहीं। महापुरुषों के अनन्त सद्गुण सुमनों को अल्प शब्द सूत्र में गुंफन करना पूर्णतः असंभव है।

विश्व के प्रांगण में खिले हुए उपवन का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह मनोहारी उपवन अपने सुकोमल सुमनों की सौरभ से भ्रमरगणों को अपनी ओर आकर्षित करता है, एवं क्षुब्ध मानव मन को क्षण के लिए प्रफुल्लित बना देता है, रसपूर्ण मीठे मधुर फलों से मानव की क्षुधा शमन करता है, एवं सुशीतल छाया में प्रचण्ड आतप को दूर करने में सक्षम होता है। प्रस्तुत उपवन मात्र देह के लिए ही सुखदायक होता है, शरीर पोषक होता है, लेकिन आध्यात्मिक जगत में सन्तरूपी उपवन आत्मपोषक होते हैं, अद्भुत आनन्द को प्रदान करने वाले होते हैं। अपनी सद्गुण सौरभ से भक्त भ्रमरों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं एवं अन्तर-बाह्य पीड़ा से आकुल-व्याकुल संतप्त जनमानस को शांत करने में समर्थ होते हैं। अपने ज्ञान के रसपूर्ण सुमधुर फलों से आध्यात्मिक क्षुधा शमन करते हैं। अपनी सद्कृपा की सुशीतल छाया से संतप्त मानव मन के मनस्ताप को हरण करने में समर्थ होते हैं। ऐसे अनेक संतरूपी उपवनों में एक विराट व्यक्तित्व लिए हुए जिनका स्थानकवासी सन्त समाज में विशिष्ट उच्च एवं परमादरणीय स्थान है। जो उपाध्याय के महत्त्वपूर्ण पद को शानदार ढंग से सुशोभित करते हैं ऐसे महकते हुए सन्त उपवन हैं, जिनका शुभ नाम है श्री पुष्कर मुनिजी महाराज।

आपके मंगलमय पुनीत पावन प्रथम दर्शन का लाभ अहमदनगर की पावन धरा में हुआ सन् १९६९ में। प्रथम दर्शन में ही आपके सरलता एवं उदारतापूर्ण सुमधुर व्यवहार से अन्तःकरण आनन्द से आप्लावित हो गया। आत्मीयता की अमृतमय अनुभूति से मन का कण-कण आनन्द सागर में डुबकियां लेने लगा। कोई संकोच नहीं, कोई परत्व नहीं, कोई सजावट नहीं, कोई बनावट नहीं ऐसा प्रतीत हुआ मानों हम वर्षों से आपके कृपापात्र है। आपकी प्रकृति एवं आपका स्वभाव मधुर है, सरस है, परम सरल है और प्रभावोत्पादक है यही कारण है कि आपने अपने शिष्य-शिष्याओं के अतिरिक्त अन्य सन्तसतियों के हृदय में भी अपना स्थान स्थित कर लिया है।

जैन जगत के सजग प्रहरी, महावीर वाणी के सन्देश वाहक, सत्य धर्म के प्रभावक, राजस्थानकेसरी, उपाध्याय जी महाराज एक महान् एवं विश्रुत सन्त हैं। आपका व्यक्तित्व बहुत व्यापक है। आपके विचार बहुत उदार हैं और चिंतन गहन गम्भीर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपश्री धीर, वीर, संयमी महापुरुष हैं। धर्मरथ के एक सिद्धहस्त सारथी है। धर्मभ्रष्ट जन-मन को धर्म का अमृत पिलाकर उसे सत्पथ का पथिक बना डालते हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों की आँधियाँ भी चले किन्तु आपका मानस कभी डांवाडोल नहीं होता। धर्म भावना एवं संयम निष्ठा आपके रोम-रोम से टपक रही है। आप धर्म की मीनार एवं शासन के शृंगार हैं। वनकेशरी की तरह आप निडर हैं, पक्षी गज की तरह उन्मुक्त है। और सच्चे सैनिक के समान आप श्री के अणु-अणु में धर्मस्फूर्ति जाग्रत रहती है।

आप वाणी के जादूगर है। आपके प्रवचन से जन मानस मुग्ध बन जाता है। श्रोताओं के मन-मस्तिष्क मधुर भावधारा के साथ बहने लगते हैं। वक्तृत्वकला आपका सहज स्वभाव है। भावों की लड़ी, भाषा की झड़ी और तर्कों की कड़ी कुछ इस प्रकार जुड़ जाती है कि सुनने वाला श्रोता अपने में खो जाता है। ओजस्वी वाणी के प्रवाह में हास्य रस की अभिव्यक्ति से श्रोताओं के नीरस, शुष्क और निष्ठुर हृदय सरसब्ज हो जाते हैं। आपकी आवाज बड़ी बुलन्द है। आप श्री की सिंह गर्जना सुनकर जनता वाह-वाह कर उठती है। आपश्री सचमुच एक सफल एवं निर्भीक वक्ता हैं। आपकी वाणी में तेजस्विता, ओजस्विता एवं निर्भयता का सुमेल है।

आपका जीवन कलश स्नेहसुधा से ओतप्रोत है, आपके निकट आने वाला-स्नेह सुधा का पान करके अपने आपको धन्य मानने लगता है। वैसे ही आपके जीवन में प्रेम पयोधि छलक रहा है। एक अंग्रेज लेखक ने कहा है Love is light of the life प्रेम यह जीवन का प्रकाश है। आपके जीवन में प्रेम प्रकाश के दर्शन होते हैं। एक अंग्रेज तत्वज्ञ के शब्दों में The greatest pleasure of life is love जीवन का सबसे बड़ा सुख प्रेम ही है। कितनी मार्मिक बात कह दी है। क्योंकि प्रेमद्वारा ही हम दूसरों को अपना बना सकते हैं। जब दूसरे अपने बन जाते हैं तो सर्वत्र सुख का साम्राज्य छा जाता है। जीवन के महान कलाकार कबीर जी की पंक्तियां भी स्मृति-पटल पर उभर रही हैं—

"पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय॥"

तो यह प्रेमतत्व आपके अणु-अणु में समाया हुआ है।

आपने जैन शासन की महती सेवा की है। इतना ही नहीं तो जैन शासन की सेवा में एक अद्भुत अद्वितीय, अजोड़ सन्तरत्न समर्पित किया है। जिनका स्मरण होते ही आंतरिक एवं बाह्य सौन्दर्य से सुशोभित महान व्यक्तित्व आँखों के सामने छलकने लगता है। हृदय में श्रद्धा का स्रोत बहने लगता है।

शिल्पकार असाधारण, अप्रतिम सुन्दर प्रतिमा निर्माण करता है जिसे देख जन मानस चकित रह जाता है और आनन्द अतिरेक में अन्तःकरण से उद्गार निकल पड़ते हैं कि शिल्पकार की अद्भुत कला को धन्य है, धन्य है।

जिनशासन की अनमोल निधी, साहित्य-साधना में संलग्न पुरुषार्थ की ज्वलन्त प्रतिमा जिनके जीवन में निर्मलता, विचारों में उच्चता, आचार में शुद्धता, वाणी में मधुरता, व्यवहार में कुशलता, हृदय के तार-तार में प्रवाहमान स्नेह-सरिता ऐसे देवेन्द्र मुनिजी महाराज साहब के जीवन के शिल्पकार आप ही तो हैं। ऐसे ही मधुर स्वभावी राजेन्द्र मुनिजी महाराज साहब, गम्भीरमूर्ति रमेश मुनिजी महाराज साहब एवं अध्ययन प्रेमी दिनेश मुनिजी महाराज साहब को भी आपने शासन सेवा के लिए तैयार किया हैं और कर रहे हैं। उनके जीवन वृक्ष को ज्ञान प्रकाश, प्रेम-पवन एवं स्नेह-सिंचन से विकसित किया, पल्लवित किया, पुष्पित किया, इससे आपकी महामहिम महानता द्योतित होती है। आपके महामहिम व्यक्तित्व की स्मृति होते ही निम्न पंक्तियाँ नजरों के सामने तैरने लगती है—

सौरभ यश फैला आपका,
करता जगत गुणगान है।
भानु के सम तप तेज भी,
यह चमक रहा अति महान है।
हृदय बड़ा ही सरल आपका,
संयम रसमें रहते लीन।
गुरुवर पुष्कर है उदार दिल,
ज्ञान-ध्यान में सतत प्रवीण।
सत्य-शील शुचिमार्दव संयुत,
मुदित उदार विचार समन्वित।
दिव्य गुणों के पावन संगम,
मुनि पुष्कर है जन-जन वंदित।

आकृति को कागज पर उतारने में जितनी कठिनाइयाँ होती हैं उनसे कहीं अधिक व्यक्तित्व को श्वेत कागज पर लेखनी द्वारा उतारने में होती है क्योंकि आकृति साकार होती है, व्यक्तित्व अनाकार।

आपश्री की धीरता, वीरता, वाक्पटुता, व्यवहार-कुशलता, संयम-साधना एवं ज्ञानाराधना इत्यादि गुण रत्नों की ज्योत्स्ना अवनीतल पर जगमगा रही है।

ऐसे नानाविध गुणालंकृत श्रमण संघ के चमकते-दमकते महान सन्त को शासनदेव दीर्घायुष्य तथा पूर्ण आरोग्य प्रदान करें। आप चिरकाल तक जिन शासन की सेवा करें, समाज संघ के प्रांगण में जयवन्त रहें, द्वितीया के शशि की तरह आपश्री का शुभ्र सुयश प्रतिपल वृद्धि पाता रहे, इसी मंगलमय शुभ कामना के साथ—

"ओ! शासन के शृंगार, जीओ तुम बरस हजार।
चरणों में वन्दन सौ-सौ बार, हार्दिक श्रद्धा सुमन स्वीकार!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



मां का वात्सल्य और पिता का अनुशासन

☐ महासती विमलवती जी साहित्य-विशारद

☐

इस विराट् विश्व में कितने ही व्यक्तियों को आंखें प्राप्त नहीं हैं, अतः वे देख नहीं सकते। कितने ही व्यक्तियों को आंखें प्राप्त हैं पर सूर्य की चमचमाती किरणों के दिव्य प्रकाश से घबराते हैं, और अन्धकार में रहना ही पसन्द करते हैं। कुछ व्यक्तियों के नेत्र होते हैं और वे प्रकाश में रहना ही पसन्द करते हैं। श्रद्धेय उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज तृतीय प्रकार के व्यक्ति हैं जिन्हें विवेक का नेत्र प्राप्त है और ज्ञान-ध्यान के निर्मल प्रकाश में रहना उन्हें पसन्द है। आचारांग में भगवान महावीर ने कहा, 'परम ज्योतिवाले मानव ! तू पराक्रम कर। जीवन जीने का अर्थ है सफलतापूर्वक जिया जाय केवल सांस लेना ही जीवन नहीं है। उस प्रकार का जीवन तो कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी भी जीते हैं।

श्रद्धेय पुष्कर मुनिजी महाराज एक सफल साधक, कलाकार, जीवननिर्माण करने वाले महान् सन्त हैं। उन्होंने कलाकार की भांति हजारों व्यक्तियों का जीवन निर्माण किया है। अनघड़ पत्थर को मूर्ति बनाना सरल है, किन्तु मानव को सच्चा मानव बनाना कठिन है। उसके लिए जीवन को मांजना होता है और निखारना होता है। जीवन में विकारों की काट-छांट करनी पड़ती है। मेरे जीवन के निर्माण में आपश्री का अपूर्व योगदान रहा है। यों तो मैंने नन्हीं उम्र में सद्गुरुणी जी श्री हरकू जी महाराज के पावन उपदेश को सुनकर अपनी मातेश्वरी प्रेमवती जी के साथ दीक्षा ग्रहण की। ये प्रकृति से सरल, स्वभाव से मृदु और आचरण से पवित्र थीं। किन्तु अध्ययन अध्यापन की दिशा सद्गुरुदेव से प्राप्त हुई। अनेकों बार सद्गुरुदेव के हितकारी उपदेश ने मेरे जीवन को नया मोड़ दिया। मेरे जीवन में अभिनव कांति और शांति लाने का श्रेय सद्गुरुवर्य को है। यदि समय-समय पर उनका मार्ग-दर्शन न मिलता तो मेरे जीवन का निर्माण इस रूप में नहीं हो सकता था। कई बार सद्गुरुदेव ने मां का वात्सल्य दिया है तो कई बार जीवन-निर्माण के लिए कठोर अनुशासक बनकर पिता के कर्तव्य को निभाया है। इस प्रकार गुरुदेव में जहाँ पिता का अनुशासन है वहाँ माँ का वात्सल्य भी है। केवल वात्सल्य ही रहे तो जीवन का निर्माण नहीं हो सकता और केवल अनुशासन ही रहे तो जीवन में स्नेह का संचार नहीं हो सकता। दोनों का मिला-जुला रूप ही गुरुदेव के जीवन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पूज्य गुरुदेव श्री मेरे विद्यागुरु भी हैं, अनुशासक भी हैं, सम्प्रदाय के अधिनायक भी हैं। उन्होंने मेरे मन में ज्ञान का बीज वपन किया और विकास किया। उनकी प्रबल प्रेरणा ने मुझे सतत विकासोन्मुख किया है। उनका पथ-प्रदर्शन, अनुग्रह और आशीर्वाद मुझे सदा प्राप्त होता रहे इसी में मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ।

श्रद्धा-सुमन

☐ महासती प्रियदर्शना

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है। इस पावन प्रसंग पर हृदय के निर्मल भावों की एक लघु भेंट उनके श्री चरणों में समर्पित करती हुई मैं अपने आपको धन्य अनुभव कर रही हूँ।

गुरुदेव श्री के सम्बन्ध में मैं क्या लिखूँ। जैसे सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता, समुद्र का गाम्भीर्य, कस्तूरी की सुगन्ध, प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार आपके व्यक्तित्व को निखारने की आवश्यकता नहीं। वह तो स्वयं निखरित है।

संसार में तीन प्रकार के महापुरुष होते हैं। एक जन्म से ही महापुरुष होते हैं, उनमें अन्य व्यक्तियों से विलक्षण व्यक्तित्व होता है। दूसरे महापुरुष वे होते हैं जिनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्गुणों का अभाव होता है, किन्तु उन पर महानता की मुद्रा लगा दी जाती है। किन्तु सही रूप में वे महापुरुष नहीं होते। तीसरे महापुरुष भी होते हैं जो अपने पुरुषार्थ से, श्रम से, अध्ययन चिन्तन-मनन व साधना से महापुरुष बनते हैं। पूज्य गुरुदेव श्री तीर्थंकर की तरह जन्मजात महापुरुष नहीं हैं, और न उन पर महानता थोपी गयी है, किन्तु अपने प्रयत्न व साधना के बल पर वे महापुरुष बने हैं।

सन् १९५७ का वर्षावास श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का उदयपुर में हुआ। मेरी मौसी के लड़के देवेन्द्र मुनि, जो मेरे सांसारिक भाई लगते हैं उनका भी चातुर्मास गुरुदेव श्री के साथ ही था। अतः मैं समय-समय पर दर्शनार्थ जाती तब गुरुदेव श्री मुझे दीक्षा की प्रेरणा प्रदान करते। गुरुदेव श्री की प्रबल प्रेरणा ने ही मेरे मन में वैराग्य भावना जागृत की और मैंने अपनी मौसी महाराज प्रतिभामूर्ति प्रभावती जी महाराज तथा बहन महाराज श्री पुष्पवती जी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। पूज्य गुरुदेव श्री का समय-समय पर मुझे मार्गदर्शन मिला। उन्होंने मुझे ज्ञान, दर्शन चारित्र्य में निरन्तर आगे बढ़ने के लिए प्रेरणाएँ दीं।

मैंने गुरुदेव श्री के अनेक बार दर्शन किये, सेवा में चातुर्मास भी हुए। गुरुदेव श्री को बहुत ही सन्निकटता से देखने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। मैंने अनुभव किया पूज्य गुरुदेव श्री बड़े ही दयालु हैं, उनका मानस मक्खन से भी अधिक मुलायम है। उनकी ध्यान-साधना गजब की है। मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि ध्यान के समय कोई आधि-व्याधि-उपाधि से ग्रसित व्यक्ति आपश्री के सन्निकट बैठता है तो वह उससे मुक्त हो जाता है और परम आल्हाद का अनुभव करता है। और वह व्याधि से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

पूज्य गुरुदेव श्री की निर्मल छत्र-छाया हमारे पर सदा बनी रहे जिससे हम ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सदा आगे बढ़ती रहें. यही श्रद्धा सुमन समर्पित करती हूँ।

□□

श्रमण-संस्कृति के सतेज साधक

□ **साध्वी सरोज,** शास्त्री, साहित्यरत्न

विश्व की संस्कृतियों में श्रमण संस्कृति का एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। यह अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है, यम, नियम और संयम की संस्कृति है। प्रस्तुत संस्कृति का यह वज्र आघोष रहा है कि मानव-जीवन का लक्ष्य भोग नहीं योग है, संग्रह नहीं त्याग है, राग नहीं विराग है, अन्धकार नहीं प्रकाश है, मृत्यु नहीं अमरता है, असत्य नहीं सत्य है।

परम श्रद्धेय महामहिम उपाध्याय अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी महाराज इसी संस्कृति के एक सजग और सतेज साधक हैं। वे विद्वान्, विचारक और तत्ववेत्ता हैं। उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य और विद्वत्ता की मधुर सौरभ चारों ओर प्रसारित हो चुकी है और वह जन-जन के मानस को अनुप्रेरित और अनुप्राणित कर रही है। उनकी प्रखर प्रतिभा और अपार बुद्धि बल उनकी कृतियों में निहारा जा सकता है। उनकी प्रखर प्रतिभा की दार्शनिक देन अजब-गजब की है। इनका ज्ञान निर्मल है, सिद्धान्त अटल हैं और वे जीवन कला के सच्चे और अच्छे पारखी हैं।

मैंने आपके दर्शन सर्वप्रथम पुण्यभूमि पूना में किये थे और छह महीने तक आपश्री के सन्निकट वर्षावास में सेवा करने का सौभाग्य संप्राप्त हुआ। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि उपाध्याय पुष्कर मुनि जी श्रमण संस्कृति के एक जीते जागते प्रतीक हैं। इनके विचार उदात्त हैं और आचार निर्मल हैं। जीवन के कण-कण में और मन के अणु-अणु में स्नेह-सद्भावना, त्याग-वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा है। उनके सन्निकट बैठने पर अपार आनन्द की अनुभूति होती है, मानों भीष्म-ग्रीष्म ऋतु में सागर के सन्निकट बैठे हों और चिलचलाती धूप में सघन घटादार उपवन की शीतल छाया में बैठे हों।

मैंने श्रद्धा की आँख से ही नहीं, किन्तु तीक्ष्ण बुद्धि की पैनी दृष्टि से जीवन को निरखा और परखा, मुझे लगा कि वैदूर्य मणि की तरह श्रद्धेय गुरुदेव के जीवन का प्रत्येक पहलू चमकदार है, प्रकाशित है और जो उनके सन्निकट जाता है वह भी उस अलौकिक प्रकाश से जगमगा उठता है। मुझे यह लिखते हुए सात्त्विक गौरव होता है कि मुझे जो आनन्दानुभूति उनके सन्निकट बैठकर हुई वह अद्भुत अनुभूति अपने जीवन में कहीं नहीं हुई। जब मैं उनके ध्यान में बैठी तो मुझे आध्यात्मिक और अलौकिक शक्ति के विद्युत-तरंग ने मन को आनन्द से पूरित कर दिया। वस्तुतः वे अध्यात्मयोगी हैं, उनके श्री चरणों में कोटि-कोटि श्रद्धा सुमन समर्पित कर मैं अपने आपको भाग्यशाली अनुभव कर रही हूँ। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



मानवता का मसीहा

□ साध्वी चारित्रप्रभा शास्त्री

□

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का जीवन उस चमकते हुए कोहिनूर हीरे की तरह है जो प्रतिक्षण अपनी दिव्यता और भव्यता से जन-जन को आकर्षित करता है। उनका सम्पूर्ण जीवन सद्गुणों का आगार है। उनमें सरलता है, सरसता है, स्नेह और सद्भावना है, सरल मति है, सरल गति है, सरल आत्मा है, सरल व्यवहार है। उसमें किसी भी प्रकार का दुराव और छिपाव नहीं।

अजमेर वर्षावास में मुझे भी आपश्री की सेवा का अवसर मिला। मैंने देखा मूर्धन्य सन्त होते हुए भी किंचित् मात्र भी आपश्री में अभिमान नहीं। आगमों के महान् ज्ञाता होते हुए भी घमण्ड नहीं। वस्तुतः विद्या; विनय से ही शोभा देती है।

मैं जब भी सेवा में गयी, कभी भी मैंने गुरुदेव श्री के चेहरे पर म्लानता नहीं देखी। सदा मधुर मुसकान अँगड़ाइयाँ लेती हुई दिखाई देती थीं। छोटों से भूल भी हो जाती है, किन्तु उस भूल के परिष्कार हेतु आपने कभी क्रोध नहीं किया, किन्तु स्नेह से समझाया और भविष्य में भूल न हो उसके लिए सावधान किया। स्नेह और सद्भावना के साथ कही गयी बात का जो असर हृदय पर होता है वह असर क्रोध में कही हुई बात का नहीं होता। मैंने यह भी देखा कि कोई आपके प्रतिकूल विचारधारा का व्यक्ति है, उसे भी आप दुत्कारते नहीं, किन्तु पुचकारते हैं। और सहानुभूति के साथ उसकी बात को अच्छी तरह से सुनते हैं। उसके पश्चात् उसके तर्कों का इस प्रकार खण्डन करते हैं कि उस व्यक्ति को अपनी भूल सहज ही परिज्ञात हो जाय। और वह चरणों में गिर पड़ता है।

गुरुदेव श्री श्रमणचर्या के लिए सदा जागरूक हैं। वे स्वयं दृढ़ता के साथ संयम-साधना करते हैं। और दूसरों को भी यही प्रेरणा देते हैं कि संयम-साधना में शिथिलता लाना भयावह है। तुम लोगों ने गृहस्थाश्रम का परित्याग किया है। सांसारिक सुख-सुविधाओं को छोड़ा है तो ईमानदारी के साथ संयम की आराधना करनी चाहिए। बाँध में जरा-सी दरार भी और स्टीमर में नन्हा-सा छिद्र भी खतरनाक है। यदि उसकी उपेक्षा की जाय तो महान् खतरा पैदा हो जायगा। वैसे साधक जीवन में दोषों के प्रति जागरूक न रहा गया तो वह दोष भयावह हो जायगा। अतः एक क्षण का भी प्रमाद न कर, सावधान रहो। जो सदा सावधान रहता है वह दोषों से बचा रहता है। जैसे कारीगर भव्य प्रासाद का निर्माण करते समय कितना जागरूक रहता है कि कहीं भी स्खलना न हो वैसे ही हमें भी जागरूक रहने की आवश्यकता है।

गुरुदेव श्री कभी किसी की निन्दा-विकथा नहीं करते। यदि कोई उनके सामने किसी की निन्दा करता है तो आप उसे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि निन्दा यदि करनी है तो अपनी करो, दूसरों की नहीं। दूसरों की निन्दा करना पृष्ठ-माँस खाने के समान है। तुम जिसकी निन्दा कर रहे हो उसमें कितनी अच्छाइयाँ हैं, कभी तुमने उस ओर भी ध्यान दिया है? तुम दुर्गुणों के नहीं, सद्गुणों के ग्राहक बनो। श्रीकृष्ण ने मरे हुए उस कुत्ते के, जिसके शरीर में कीड़े कुलबुला रहे थे, भयंकर दुर्गन्ध थी, वातावरण विषाक्त बना हुआ था, उस समय उन्होंने कुत्ते के चमकते-दमकते दाँत देखे थे और उसी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। तुम्हें भी जिन व्यक्तियों में सद्गुण हैं, उन्हीं को देखने की आदत डालनी चाहिए। गुरुदेव श्री की यह शिक्षा वस्तुतः कितनी महान है। यदि मानव इस शिक्षा को धारण कर ले तो जो समाज की विषम स्थिति चल रही है उसमें अत्यधिक सुधार हो जाय।

सद्गुरुदेव श्री प्रखर व्याख्याता हैं। जब किसी भी विषय पर आपश्री बोलते हैं तो उस विषय की अतल गहराई में जाते हैं। आत्मा, कर्म, पुद्गल, ज्ञान, अनेकान्त, जैसे गम्भीर विषयों पर भी आप इस सरसता से प्रकाश डालते हैं कि श्रोता आनन्द से झूमने लगता है। आपश्री की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन कला की दूसरी महान् विशेषता मैंने देखी कि आप त्याग का महत्त्व बताते हैं, तप का विश्लेषण करते हैं, दान की महत्ता पर प्रकाश डालते है, किन्तु किसी को भी बलपूर्वक उस कार्य को करने के लिए नहीं कहते। न कहने पर भी आपके वर्षावास में लोग इतना तप करते हैं, जप करते हैं, दान देते हैं उसे देखकर आश्चर्य होता है। वस्तुतः किसी भी कार्य के लिए हृदय-परिवर्तन ही मुख्य है। जो कार्य बलपूर्वक कराया जाता है, उस कार्य में वह चेतना नहीं होती, जो चेतना हृदय की प्रेरणा से किये जाने वाले कार्य में होती है।

गुरुदेव श्री के पावन प्रवचनों को सुनकर हजारों व्यक्तियों के जीवन में परिवर्तन हुआ है। मैंने स्वयं देखा है कि जो युवक साधना से कतराते थे, जिनके जीवन में दुर्गुणों का साम्राज्य था, व्यसनों से जिनका जीवन ओतप्रोत था, वे भी आपके निकट सम्पर्क में आकर व्यसनों से मुक्त हो गये, और प्रतिदिन साधना में लग गये। मैंने ऐसा अनुभव किया कि आपके प्रवचन जबान से ही नहीं हृदय से निकलते हैं। हृदय से निकली हुई वाणी ही हृदय को छूती है।

गुरुदेव श्री जहाँ प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं वहाँ मूर्धन्य साहित्यकार भी हैं। आप प्रवचन के बीच कई बार आशु-कविता भी करते हैं। यों आपने अनेक काव्य ग्रन्थ लिखे हैं। कहानी साहित्य के क्षेत्र में जैन कथाएँ आपकी अपूर्व देन हैं। जैन कथाओं को पढ़ करके भी हजारों व्यक्तियों के जीवन में परिवर्तन हो गया। कथालेखन की शैली इतनी चित्ताकर्षक है कि पाठक एक बार पुस्तक हाथ में ले ले तो उसे छोड़ नहीं सकता। गुरुदेव श्री के अन्य साहित्य की भी यही विशेषता है कि वह चुम्बक की तरह पाठक को पकड़ता है।

गुरुदेव श्री का हृदय अत्यन्त दयालु है। किसी भी व्यक्ति को दुःख से छटपटाते हुए देख नहीं सकते। दुःखी को देखते ही आपका हृदय नवनीत की तरह पिघल जाता है। और उसके दुःख को दूर करने के लिए आपश्री तत्पर हो जाते हैं। फिर भले ही उसके लिए आपश्री को स्वयं कष्ट उठाना पड़े उसकी किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं करते। सन्त जीवन की यह महान् विशेषता आपके जीवन में प्रत्यक्ष रूप से देखी जा सकती है।

सद्गुरुदेव श्री के जीवन में हजारों विशेषताएँ हैं। मैं उन सभी विशेषताओं का यहां अंकन नहीं कर सकती मुझे सद्गुरुदेव के चरणों में बैठने पर अपार आध्यात्मिक आनन्द उपलब्ध हुआ है। उन्हीं की परम कृपा से मैं श्रमणी बनी। और उन्हीं की कृपा से मैं विकास के पथ पर आगे बढ़ रही हूँ। गुरुदेव श्री मानवता के मसीहा हैं, श्रमण परम्परा के ज्योतिपुंज हैं। उनकी छत्र-छाया में हमारा सदा विकास होता रहे मेरी यही हार्दिक भावना है।

"हे आत्मदेव ! हे दिव्य पुरुष !
हे वरद शक्तियों के अवतार।
हे करुणामय, ज्ञानपुञ्ज हे !
शील-सत्य-सत्कृति भण्डार।
हे त्याग तपस्या के आराधक !
जन जीवन के दृढ़ आधार।
अभिनन्दन स्वीकार करे
'चारित्रप्रभा' का हे उदार ! ॥"

प्रेरणा के स्रोत

☐ साध्वी विमला श्री 'जैन सिद्धान्ताचार्य'

परम श्रद्धेय उपाध्याय पुष्कर मुनि जी एक प्रभावशाली युग पुरुष हैं। महापुरुष वही होता है जो अपने युग को नया सन्देश देता है, नयी दिशा और नया मोड़ देता है। वह अगरबत्ती की तरह स्वयं जलकर दूसरों को सुवास देता है और मोमबत्ती की तरह स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देता है। इसीलिए श्रद्धालु-गण उनके चरणों में श्रद्धा समर्पित करते हैं और भावुक भक्तगण अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं। जिसका जीवन परोपकार-परायण होता है वही जीवन दूसरों के लिए प्रेरक होता है। उपाध्याय पुष्कर मुनि श्री महाराज का जीवन एक श्रेष्ठ सन्त का जीवन है। वे स्वोपकार के साथ निरन्तर परोपकार भी करते हैं। इसी कारण जनता श्रद्धापूर्वक उनका अभिनन्दन करती है। कवि के शब्दों में गुरुदेव का संक्षेप में परिचय है :

सरल हृदय है, सरल वाणी है
सरल कर्म है गुरुवर का।
सादा सरल मधुर जीवन है
श्री पुष्कर मुनीश्वर का॥

मैं अपनी हृदय की असीम श्रद्धा समर्पित करती हुई यह मंगल कामना करती हूँ कि हे युग के महान् चिन्तक ! विचारक, पूज्य गुरुदेव आपका यशस्वी और तेजस्वी जीवन हमारे लिए सदा सर्वदा पथप्रदर्शक बना रहे। हम आपके निर्मल जीवन से सतत प्रेरणा-पीयूष का पान करती रहें। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मधुर जीवन

☐ साध्वी विमलाकुमारी जैन-सिद्धान्त-शास्त्री

मुझे अपने जीवन में अनेकों महापुरुषों के दर्शनों का सौभाग्य सम्प्राप्त हुआ। उनमें से कितने ही महापुरुषों का हृदय अत्यन्त सरल और बालक की तरह निष्कपट दिखलायी दिया। किन्तु उनके हृदय का माधुर्य उनके कार्य में और वाणी में झलकता हुआ दिखाई नहीं दिया। कितने ही महापुरुषों की वाणी अमृत के समान मधुर और सरस लगी; किन्तु उनके हृदय में राग और द्वेष का हलाहल अठखेलियां कर रहा था; पर उपाध्याय पुष्कर मुनिजी को मैंने इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों से पृथक् देखा। जहाँ उनकी वाणी मिश्री-सी मधुर है वहाँ उनका हृदय सरल है सरस है, वहाँ कहीं भी विकारों की गन्दगी नहीं है, किन्तु पवित्रता की पावन महक है। जहाँ हृदय अकलुष है, निष्पाप है वहां वाणी अत्यन्त मधुर है, मीठी है। भगवान महावीर के शब्दों में कहूँ तो "**महुकु भे महुविहाणे**" है।

उपाध्याय श्री जी की वाणी एवं व्यवहार ही ऐसा है कि जो एक बार उनके सम्पर्क में आता है वह सदा के लिए उनका बन जाता है। बुजुर्ग होते हुए भी इनका चिन्तन प्रगतिशील है। उनमें परंपरा के प्रति अन्धाग्रह नहीं है। यही कारण है कि जहाँ प्राचीन श्रद्धावाले वर्ग आपके प्रति नत है, वहाँ युवक वर्ग में भी आपकी प्रतिष्ठा और श्रद्धा कम नहीं है। आप जहाँ भी गये वहाँ जनता का सम्मान, श्रद्धा और ख्याति प्राप्त हुई। मेरी हार्दिक मंगल कामना है कि आपके उपकारी जीवन की सरस सौरभ सर्वत्र महकती रहे।

—★—

अभिवन्दन ! अभिनन्दन !!

☐ साध्वी दिव्यप्रभा दर्शनशास्त्री

सांडेराव में सन्त सम्मेलन का भव्य आयोजन था। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य बम्बई से विहार कर वहाँ पर पधारे। मैं भी उस सम्मेलन में गुरुदेव श्री के दर्शन हेतु पहुँची। सद्गुरुणीजी से गुरुदेव की महत्ता के सम्बन्ध में पहले बहुत कुछ सुन रखा था। किन्तु दर्शन कर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि जितना सुना है उससे कई गुना अधिक व्यक्तित्व है गुरुदेव श्री का।

मेरा सद्भाग्य है कि सन् १९७३ का वर्षावास सद्गुरुदेव श्री का अजरामरपुरी अजमेर में हुआ और सद्गुरुणी जी का भी वहीं चातुर्मास हुआ। मैं भावदीक्षिता थी। मुझे सौभाग्य से आपकी सेवा का पुनीत अवसर मिला। मैंने देखा, गुरुदेव श्री अद्भुत प्रतिभा के धनी हैं, करुणा के अवतार हैं। आपका व्यवहार इतना मधुर कि बालक भी आप से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। आप बड़ों से ही नहीं, किन्तु बालकों से भी उसी प्रकार का प्यार करते हैं जैसे भगवान भक्त से करता है। मैं यह देखकर आश्चर्य-चकित हो गयी कि गुरुदेव श्री की मेरे पर अपार कृपा दृष्टि है। वे मेरे जीवन को समुन्नत बनाने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहे। अध्ययन के लिए सतत प्रेरणा देते रहे। मैं आपश्री से तत्त्वार्थ सूत्र पढ़ती थी। कभी कठिन विषय होने पर मेरी समझ में नहीं आता, तब आप पुनः पुनः विविध प्रकार से उस विषय को समझाते, जिससे वह हृदयंगम हो जाय। विषय को समझाते समय कभी भी आप ऊबते नहीं। मैंने एक ही बात को कई बार आपश्री से पूछा। किन्तु कभी भी आपके चेहरे पर क्रोध की रेखा दिखायी नहीं दी। मुझे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भय लगता था कि कहीं आप नाराज हो जाएँगे। और कहेंगे कि बुद्धू ! तुझे इतना भी समझ में नहीं आता। पर आपश्री सदा मुझे प्रेरणा ही देते रहे। और कहते रहे कि श्रम करो, आज नहीं कल समझ में आ जायगा। मुझे ऐसा लगा कि कमजोर से कमजोर विद्यार्थी को भी यदि गुरुजन स्नेह-सद्भावना के साथ प्रेरणा दें तो वह भी आगे बढ़ सकता है। गुरुदेव श्री की पढ़ाने की कला भी गजब की है। वे दुरूह से दुरूह विषय को भी इतना सरल बनाकर प्रस्तुत करते हैं कि विद्यार्थी के मस्तिष्क में वह विषय अच्छी तरह से पैठ जाता है।

गुरुदेवश्री की वाणी में भी अमृत जैसा माधुर्य है; उस माधुर्य का पान करने के लिए श्रोताओं के कर्ण सदा पिपासु रहते हैं। मैंने आपश्री के वर्षावास में अनेक प्रवचन सुने। प्रवचनों में जहां विषय की गंभीरता है, वहाँ प्रस्तुत करने का तरीका इतना आकर्षक कि श्रोता कभी बोर नहीं होते। प्रवचनों के बीच शान्तरस के साथ हास्य-रस का इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि हँसी की फुलझड़ियाँ छूटने लगती हैं। सारा वातावरण आल्हाद से तरंगित हो जाता है। प्रवचन तो सभी करते हैं, किन्तु प्रवचन की कला बहुत ही कम लोगों में होती है। आपश्री के प्रवचनों में आध्यात्मिक, सांस्कृतिक विषयों के साथ ही सामाजिक विषयों का भी गहराई से विश्लेषण होता है। आपश्री संगठन के प्रबल पक्षधर हैं। संकीर्णता आपके मानस में नहीं है। यही कारण है कि आपश्री संपूर्ण जैन समाज में एकता देखना चाहते हैं। सम्प्रदायवाद के कारण जो पारस्परिक मनोमालिन्य चल रहा है, उसे आप ठीक नहीं समझते। आपश्री का मन्तव्य है कि एकता ही जीवन है। कलियुग में संगठन की शक्ति ही महान् है—"संघे शक्तिः कलौ युगे।" जान डिकिन्सन के शब्दों में—By uniting we stand, by dividing we fall—"संघटन में हमारा अस्तित्व कायम रहता है, विभाजन में हमारा पतन होता है।" उतः संघटन के लिए आपश्री सतत प्रेरणा देते रहते हैं। आपश्री की वह प्रबल प्रेरणा की उक्ति मुझे स्मरण आ रही है—

"वीर प्रभु के शासन में हम एक हैं जो एक हैं।
संगठन की वीणा बजाएँ नेक हैं जो नेक हैं॥"

गुरुदेव श्री बहुभाषाविद हैं। संस्कृत, प्राकृत का तो आपने गम्भीर अध्ययन किया किन्तु हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी भाषा के भी आप मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आप जिस क्षेत्र में पधारते हैं वहाँ की जन बोली में प्रवचन करने में आपको विशेष आनन्द आता है। यद्यपि आपश्री के प्रवचन में भाषा का पाण्डित्य नहीं, किन्तु विचारों का पाण्डित्य मुख्य होता है। आपश्री का मानना है कि प्रवचन की भाषा सीधी, सरल और सरस होनी चाहिए, जो श्रोताओं की समझ में आ सके। जो प्रवचन भाषा की जटिलता व दुरूहता के कारण श्रोताओं को समझ में न आये उस प्रवचन से विशेष लाभ नहीं होता। अतः आपश्री प्रवचनों में सरल भाषा का प्रयोग करते हैं, जिसे श्रोताओं को समझने में किसी प्रकार की दिक्कत नहीं होती। आपके प्रवचनों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, उर्दू और फारसी और अंग्रेजी के सुभाषित भी समय-समय पर प्रयुक्त होते हैं; साथ ही स्वरचित गीतिकाओं का भी आप प्रयोग करते हैं। जिससे वातावरण में एक समा बंध जाता है।

श्रद्धेय गुरुदेव श्री स्थानकवासी समाज के एक ज्योतिर्धर नक्षत्र हैं। जपसिद्ध योगी हैं। आपकी जप-साधना में यह महान् विशेषता है कि जो भी आधि-व्याधि और उपाधि से ग्रसित व्यक्ति आपके जप के समय निष्ठापूर्वक बैठता है वह उन व्याधि और उपाधियों से मुक्त हो जाता है। हजारों व्यक्ति जो व्याधियों से छटपटाते आते हैं वे गुरुदेव श्री के मांगलिक को श्रवण कर प्रसन्नता से झूमते हुए बिदा होते हैं। आपकी जप-साधना को देखकर जो व्यक्ति जप नहीं करते हैं उनके अन्तर्मानस में भी जप के प्रति गहरी निष्ठा पैदा हो जाती है और वे भी जप हेतु प्रवृत्त हो जाते हैं। गुरुदेव श्री की प्रेरणा से मेरा मानस भी जप की ओर आकर्षित हुआ और मुझे भी जप करने में अपार आनंद का अनुभव होने लगा।

मैं अपना परम सौभाग्य समझती हूँ कि श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के मुखारविन्द से मेरी आर्हती दीक्षा हुई। आप मेरे दीक्षा गुरु, शिक्षा गुरु और जीवन-निर्माता हैं। आपश्री की प्रबल प्रेरणा से मेरे जीवन का विकास हुआ है। और आपश्री के मंगल आशीर्वाद से सदा विकास होता रहेगा। हमारी यही मंगल कामना और भावना है कि आपश्री की छत्र-छाया में संयम-साधना, ज्ञान-आराधना के पवित्र पथ पर निरन्तर बढ़ती रहें। यही मेरा हार्दिक अभिनन्दन, अभिनन्दन है।

स्नेह-सौजन्य की सरिता तुम्हारे हृदय में बहती।
परहित निरत जीवन में मधुरता की महक रहती॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्च जीवन

☐ साध्वीश्री प्रकाशवतीजी

भारत के ऋषि-महर्षियों ने जीवन का तीन रूपों में वर्गीकरण किया है—

१ आसुरी जीवन
२ दैवी जीवन
३ आध्यात्मिक जीवन

आसुरी जीवन में मानव भोग-विलास, रागद्वेष, सत्ता महत्ता के दल-दल में ग्रस्त तथाकथित सांसारिक सुखोपभोग की प्रधानता रहती है। प्रकट रूप में आसुरी जीवन भोगवाद का घोष है Eat drink and be marry इस कोटि के जीवनधारियों का यह नारा ही नहीं, अपितु प्रेरक सूत्र भी है।

हमारे यहाँ पूर्वकाल में भी इस विशेष दृष्टि से जीवन की महत्ता को देखा गया है। चार्वाक दर्शन इसी का प्रतिनिधित्व करता है। जिसका सन्देश है—

"यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" यह उस घोर भोगवाद का मन्तव्य है कि देह ही सर्वस्व है, आत्मा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, देहावसान सर्वावसान है, सर्वनाश है।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः—अतः देह रहते हुए इस माध्यम से समुचित लाभ उठा लेना चाहिए। इस कोटि के चिन्तकों का मत रहा है कि जब तक जीओ आनन्द व उल्लास के साथ जीओ। आमोद-प्रमोद के लिए यदि सामर्थ्य अनुमति न दे, तो भले ही ऋण कर लो—इस साधन के लिए कोई भी साधन वर्जित, निषिद्ध और अनैतिक नहीं है।

इस प्रकार के आसुरीजीवन की बुनियाद है अनन्त कामनाएँ, वासनाएँ, सांसारिकताएँ, भौतिक सुखाभिलाषाएँ, आदि-आदि जो वस्तुतः मृग मरीचिकाएँ हैं और मनुष्य को भटकाती रहती हैं।

आसुरी जीवन के विपरीत जीवन की श्रेष्ठ कोटी है—दैवी जीवन। जीवन में जब सत्य का सहारा हो, अहिंसा का आलोक हो, प्रेम का प्रदीप हो, करुणा का कमनीय कुञ्ज हो, संयम का शस्त्र हो, आत्मानुशासन का आधार हो, सज्ञानता का सम्बल हो, तो जीवन श्लाघ्य हो जाता है। यही तो जीवन का दैवी रूप है।

मानवोचित समस्त सहज धर्मों और गुणों का समुच्चय है इस प्रकार का जीवन। स्वकेन्द्रियता से मुक्त होकर मनुष्य भटके पथिकों को उचित मार्ग पर अग्रसर करने की क्षमता का प्रयोग करना ही अपने लिए सही रास्ता मानने लगे, तो उसकी मंजिल दैविक जीवन बन जाती है, आत्मा का दीपक उसके मार्ग को आलोकित करता है। शीतल पवन का आंचल उसके श्रमजन्य स्वेदकण पोंछता है, आँधियाँ भी आती हैं, तो उसके मार्ग के काँटों को उड़ा ले जाती हैं। अन्धकार कभी आता भी है, तो उसका ध्यान शेष जगत से हटाकर उसे आत्मलीन करने के उद्देश्य से ही।

दैवी जीवन के सद्लक्षण मानव-देहधारी प्राणी को यथार्थ मानव का गौरव प्रदान करते हैं। न केवल तन से ही, वह मन से भी मानव होकर एक विशिष्ट दिव्यता का अधिकारी पात्र बन जाता है। विश्वबन्धुत्व की महत् धारणाओं का वह न केवल चिन्तक रह जाता है, अपितु अभ्यास में स्वयं उन्हें उतार कर एक ऐसा अनूठा आदर्श अपने जीवन का प्रस्तुत करता है कि मुग्ध सामान्य जन उससे प्रभावित व प्रेरित हुए बिना नहीं रहते हैं। यही जीवन की सार्थकता है, सफलता है।

आध्यात्मिक जीवन :

अपरिमित ज्ञानालोक से जगमगाता जीवन आध्यात्मिक स्तरीय जीवन है, जिसमें सम्यक्ज्ञान की लौ प्रचण्ड

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाश को विकीर्ण कर स्वानुकूल आचरण हेतु न केवल प्रेरणा देती है वरन् इस मार्ग के सभी व्यवधान तिमिरों को निर्मूल कर देती है। वह जीवन धन्य ही है। यही आध्यात्मिक जीवन की आधारभूत विशेषता है। आध्यात्मिक जीवन एक मंजूषा है जो रत्नत्रय की झलमलाहट से सदा ज्योतिर्मय रहती है। सम्यक्ज्ञान सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र की यह त्रिवेणी गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम के समान आध्यात्मिक जीवन को तीर्थराज प्रयाग की ही भाँति न केवल गरिमा व पवित्रता देती है वह तो उद्धारक रूप का निर्माण भी करती है।

ऐसे अति उच्च, श्लाघ्य एवं गरिमामय जीवन के धनी ही तो हैं पूज्य गुरुदेव राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी श्रमणसंघीय उपाध्याय पण्डितरत्न महामहिम अनन्त-अनन्त श्रद्धा के केन्द्र श्री पुष्कर मुनिजी।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य्य के सम्बन्ध में यदि मैं लिखने लगूँ तो हजारों-हजार पृष्ठ भी कम ही होंगे, मैंने गुरुदेव श्री को अति निकटता से देखा है, परखा है, समझा है, मेरे जीवन निर्माण में गुरुदेव श्री का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मुझे स्मरण आ रही हैं वे स्मृतियाँ, जब मैं अपने दोनों बालकों को लेकर (जो आज रमेश मुनिजी राजेन्द्र मुनिजी के नाम से विद्यमान हैं) राजकीय सेवा-सुश्रुषा का कार्य कर रही थी। उस समय मुझे गुरुदेव श्री का वह अमूल्य संसर्ग प्राप्त हुआ जिससे मेरे मन में आध्यात्मिक-भाव जागृत हो उठे। मैंने अपनी भावना गुरुदेव श्री को बतलाई तो गुरुदेव अत्यधिक प्रसन्न ही नहीं हुए, अपितु मुझे दिशा निर्देश भी दिया। परिणामस्वरूप आज मैं जैन साध्वी बनी हूँ तथा मेरे दोनों बालक रमेशकुमार, राजेन्द्रकुमार गुरुदेव की सेवा में जैन साधु बने, इस प्रकार मेरे जीवन को नया मोड़ प्रदान करने वाले श्रद्धेय गुरुदेव श्री ही हैं, जिनका अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में अभिनन्दन किया जा रहा है ऐसे अति भव्य आनन्द उल्लास के अवसर पर मैं अपनी ओर से तथा पूज्यनीया गुरुणी जी श्री नानकुंवरजी मा० एवं महासती हेमवती जी की ओर से गुरुदेव श्री को शतशत वन्दन करती हुई गुरुदेव से यह आशीर्वाद पाना चाहती हूँ कि मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र में निरन्तर प्रगति करती रहूँ।"

MY PRANĀMS

JUSTICE T. K. TUKOL,
M.A., LL.B.
Judge, High Court of Karnataka (Retired)
Former Vice-Chancellor, Bangalore University.

His Holiness Shri Pushkara Muniji has just completed 54 years of his meaningful life of spiritual advancement and of religious propagation. He spent his *Chāturmāsa* of 1977 in Bangalore. During his period of stay, I had the good fortune of having his *darśana* on many occasions and a rare privilege of participating in some functions addressed by him. His Holiness has an eminent disciple in Shri Devendra Muniji Shastri, who is very widely read and possesses vast learning on numerous aspects of Jaina philosophy and history, with numerous weighty publications to his credit.

Shri Pushkara Muniji has an imposing personality with piercing eyes and brilliant face exuding his spiritual power within. He is an orator of a high order and commands respect by his convincing expositions and discourses on many subjects of Jaina philosophy. His breadth of vision and cosmopolitan outlook are worthy of emulation. He stands above all sectarian views and sincerely appeals for unity amongst all sections of the Jaina community.

He has been propagating *Jina-vāni* or the Teachings of the Tirthankaras for many years past with rare ability; the publication of a Volume of Felicitation containing numerous articles on various subjects is but an expression of humble devotion and profound respect, by noted scholars.

I sincerely join the numerous members of the Community in their humble tributes to the Muniji whose practices and precepts have enlightened many souls.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुनहरे संस्मरण

□ डा० एस० एस० बारलिंगे
(अध्यक्ष—दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय)

□

भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने जीवन के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन किया। उनका यह अभिमत रहा है कि जीवन भोग-विलास की गन्दी नालियों में कुलबुलाने के लिए नहीं है, न कूकर और शूकर की तरह ईर्ष्या-द्वेष की गन्दगी चाटने के लिए ही है। जीवन का अर्थ है विकारों से जूझना, वासनाओं पर विजय प्राप्त करना, नम्रता, सरलता, स्नेह, सौजन्य और उदारता, आदि सद्गुणों का विकास करना है। अतः भारत के चिन्तकों ने उन्हीं व्यक्तियों के जीवन को आदर प्रदान किया है जिनका जीवन सूर्य की तरह प्रकाशित है, चन्द्र की तरह सौम्य है, शेर की तरह निर्भीक है, गजराज की तरह मस्त है, फूलों की तरह सुगन्धित है। फलों की तरह रसदार है और सरिता की तरह प्रगतिशील है, सागर की तरह गम्भीर है और हिमालय की तरह उन्नत है। वही जीवन वन्दनीय, वर्णनीय और अर्चनीय है। कवियों की कमनीय कल्पनाएँ उन्हीं के गौरवपूर्ण जीवन की गाथाओं का उत्कीर्तन करती रही हैं। लेखकों की लोह लेखनियाँ उन्हीं के तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व का उट्टंकन करती रही हैं, उन्हीं के चरण-चिन्हों पर इतिहास के नव्य-भव्य भवन का निर्माण हुआ है। कलाकार की श्रेष्ठ तूलिकाएँ और छेनियाँ उन्हीं के जीवनों की विविध छवियाँ चित्रित एवं निर्मित करती रही हैं। जब कभी भी ऐसे विशिष्ट सन्तों से मिलने का अवसर सम्प्राप्त होता है, तो जीवन में अभिनव आलोक का अनुभव होता है।

मेरा जन्म एक हिन्दू परिवार में हुआ जो परिवार धार्मिक संस्कारों से संस्कृत था और विश्वविद्यालय के वातावरण में मेरा अध्ययन, चिन्तन चलता रहा। प्रारम्भ से ही मेरे अन्तर्मानस में जिज्ञासा थी जिसके कारण मैंने विविध दर्शनों का और तर्कशास्त्र का अध्ययन किया। जैनदर्शन के अनेकान्तवाद तथा सप्तभंगी के सिद्धान्त ने मुझे प्रभावित किया। किन्तु समयाभाव के कारण जैन-श्रमणों से मिलना और उनसे विचार-चर्चा करना संभव न हो सका। पूना विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष के रूप में मेरा कार्य प्रारम्भ था। दिनांक १-९-१९७५ को मुझे एक आमन्त्रण-पत्र मिला जिसमें लिखा था कि देवेन्द्र मुनि जी लिखित "जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण" ग्रन्थ का विमोचन समारोह हम करना चाहते हैं और उस समारोह के अध्यक्ष पद के लिए मुझे प्रेम भरा आग्रह किया गया था। ग्रन्थ के कुछ पृष्ठ मैंने उठाकर पढ़े। मुझे ग्रन्थ की लेखन शैली आकर्षक लगी और ऐसा अनुभव हुआ कि जैनदर्शन सम्बन्धी सभी पहलुओं पर साधिकार लिखा गया है। ऐसे विद्वान् मुनिजी के और उनके निर्माता गुरुवर्य से मिलने का सुनहरा अवसर मैं अपने हाथ से जाने देना नहीं चाहता था। अतः मैंने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की।

दिनांक ७-९-१९७५ रविवार का दिन था। सादड़ी सदन, जहाँ पर मुनिश्री जी अवस्थित थे, मैं अपने स्नेही साथी डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, एम. ए., पी-एच० डी० अध्यक्ष, हिन्दी विभाग पूना विश्वविद्यालय, डा० ए० डी० बतरा एम० ए०, पी-एच० डी० के साथ पहुँचा। सादड़ी सदन में हजारों की संख्या में भावुक भक्त लोग बैठे हुए थे। एक उच्च काष्ठासन पर एक तेजस्वी सन्त बैठे हुए थे और उन्हीं के सन्निकट देवेन्द्र मुनि जी और अन्य मुनिगण बैठे थे। एक ओर, मंच पर साध्वियाँ आसीन थीं। डाक्टर ए० डी० बतरा ने मुनिजी को मेरा परिचय दिया। ग्रन्थ का विमोचन सम्माननीय नेता श्री व्ही. एस. पागे, अध्यक्ष; महाराष्ट्र राज्य विधान सभा के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न होने वाला था। समारोह उल्लास के क्षणों में प्रारम्भ हुआ। डा० दीक्षित के पश्चात मेरा भाषण था। किन्तु अकस्मात् बिजली चली गयी जिस कारण ध्वनि विस्तारक यन्त्र बन्द हो गया। मैं ज्यों ही भाषण देने के लिए प्रस्तुत हुआ मेरे सामने एक विकट समस्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थी। क्योंकि महिला और बालकों का एक विचित्र संसार होता है। दर्शन (फिलोसफी) के गुरु गम्भीर रहस्य उनकी समझ से परे हैं। फिर आवाज न पहुँचने के कारण एक अजीब-सा कोलाहलपूर्ण वातावरण हो गया। उस कोलाहलपूर्ण वातावरण पर बिना ध्वनिविस्तारक यन्त्र के विजय पाना संभव नहीं था। पट्ट पर विराजित मुनिश्री ने इस स्थिति पर विजय प्राप्त करने हेतु गम्भीर गर्जना के साथ संगीत प्रारम्भ कर दिया। मुनिश्री की गम्भीर गर्जना सुनकर मैं विस्मित था। मुनिश्री ने जनता को सम्बोधित करते हुए कहा—प्रतिभा के धनी विज्ञगण यहाँ आये हैं। इनका गम्भीर चिन्तन सभी के लिए प्रेरणादायी है। मुनि श्री ने सभी श्रोताओं को मौन रहने का संकेत किया। सभा में एक अपूर्व शांति छा गयी और मुनिश्री ने मुझे आज्ञा प्रदान की कि मैं अपना भाषण प्रारम्भ करूँ। मैंने अपने भाषण में "जैनदर्शन, स्वरूप और विश्लेषण" ग्रन्थ की महत्ता पर प्रकाश डाला। श्रोताओं ने मेरे विचार बहुत ही शांति से सुने। मुनिश्री का अद्भुत प्रभाव देखकर मैं प्रथम दर्शन में ही अत्यधिक प्रभावित हुआ। वे सिंह की तरह दहाड़ते हैं। उनके लिए ध्वनिविस्तारक यन्त्र की कोई आवश्यकता नहीं है।

मेरी चिरकाल से यह उत्कट अभिलाषा थी पूना विश्वविद्यालय में जैनदर्शन के गम्भीर अध्ययन के लिए जैन-चेयर की स्थापना हो। जैनदर्शन जो भारत का एक मुख्य दर्शन है जिसके सिद्धान्त अत्यधिक उदात्त और मौलिक हैं, जब तक उनका प्रचार विश्वविद्यालय के स्तर पर नहीं किया जायगा तब तक वे सिद्धान्त विश्व के विविध अंचलों में प्रसारित नहीं हो सकते। मैंने उसके लिए प्रयत्न भी किया, किन्तु मेरी आवाज किसी ने न सुनी। मैं निराश व हताश होने लगा। मैं इस विषय को लेकर दूसरी बार आदरणीय पुष्कर मुनिजी व देवेन्द्र मुनि जी से मिला। उन्होंने मेरी बात को बहुत ही ध्यान से सुना। उसकी उपयोगिता, रूपरेखा आदि पर विस्तार से चर्चा की। मुनि श्री जी ने मुझे प्रबल प्रेरणा देते हुए कहा—इस सम्बन्ध में आपको हताश व निराश होने की आवश्यकता नहीं है। यह कार्य हमारा है और हम इस कार्य को पूर्ण करवा देंगे। मुनिश्री जी की प्रेरणा से मेरे मन में पुनः नैतिक बल का संचार हुआ। मुनिश्री जी ने श्रीमान् नवलभाई फिरोदिया, सेठ लालचन्द हीराचन्द, रिषभदास जी रांका आदि को बुलाकर उस पर चर्चाएं की और उनकी शंकाओं का निरसन कर जैन-चेयर की महत्ता पर प्रकाश डाला। इस प्रकार मुनि श्री जी की प्रेरणा से पूना विश्वविद्यालय में जैन-चेयर की संस्थापना हो सकी। यदि मुनिश्री जी का अपूर्व सहयोग मुझे नहीं मिलता तो जैन-चेयर की संस्थापना कदाचित् संभव नहीं थी। इसका सम्पूर्ण श्रेय मुनि श्री जी को है।

मैंने पूना विश्वविद्यालय में जैनदर्शन पर विचार-संगोष्ठी का आयोजन किया। उस संगोष्ठी में पंडित प्रवर श्रीदलसुख मालवणिया, पं० कैलाशचन्दजी, पं० दरबारी लाल कोठिया, डा० कमलचन्द सोगानी, डा० टी० जी० कलघटगी आदि अनेक विद्वान् उपस्थित थे। मैंने पूज्य पुष्कर मुनि जी को प्रार्थना की कि वे इस संगोष्ठी में अवश्य ही पधारें। मुनिश्री जी ने अपने अन्य कार्यक्रम स्थगित कर तीन दिन तक विद्वानों को सुना। इस संगोष्ठी में देवेन्द्र मुनिजी ने मोक्ष और मोक्ष मार्ग पर अपना शोध-पत्र पढ़ा जिसे विद्वानों ने बहुत ही पसन्द किया।

इसके पश्चात् मैं अनेकों बार उपाध्याय पुष्कर मुनि जी से व देवेन्द्र मुनि जी से मिला। उनके प्रति मेरे अन्तर्मानस में गहरी निष्ठा है और अनेक मधुर संस्मरण भी हैं जिसे कंजूस की भाँति स्मृति कोश में सुरक्षित रखने में ही आनन्द की अनुभूति करता हूँ।

मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि पुष्कर मुनि जी व देवेन्द्र मुनिजी का मधुर सम्पर्क मुझे मिला जिससे मैं एक महान् कार्य भी कर सका। मुनिश्री का यह विराट कार्य अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। यह हमारे लिए गौरव की बात है। मैं अपनी श्रद्धा उनके श्री चरणों में समर्पित करता हूँ और वे अधिक से अधिक भूले-भटके जीवन राहियों को मार्ग-दर्शन देते रहें यही कामना करता हूँ।

एक आलोकपुंज : उपाध्याय श्री

☐ **श्री चीमनलाल सो० शाह,** सोलिसिटर, अध्यक्ष—स्थानकवासी जैन श्री संघ, बम्बई

उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज स्थानकवासी समाज के एक प्रसिद्ध सन्त हैं। श्रमणसंघ के उपाध्याय हैं। उनका बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व असाधारण है। लम्बा कद, गोधूमी वर्ण, दीप्तिमान भालस्थल, उन्नत नासिका और गहराई में झांकती हुई करुणा की झील-से दिव्य-नेत्र उनके बाह्य व्यक्तित्व की असाधारणता का प्रतीक है। सहस्रों व्यक्तियों की भीड़ में भी उनके व्यक्तित्व की गरिमा उन्हें पृथक्ता प्रदान करती है। उनके प्रशान्त चित्ताकर्षक मुख-मण्डल पर दर्शक की आँखें स्थिर हो जाती हैं। बाह्य व्यक्तित्व से भी उनका आन्तरिक व्यक्तित्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक महनीय है। सत्य के प्रति हार्दिक समर्पण भावना और न्याय के प्रति अविचल आस्था ये दो उनके आन्तरिक व्यक्तित्व के महान् तत्त्व है। विषमता में भी समता, प्रतिकूलता में भी अनुकूलता, अखण्ड आत्मविश्वास, अपराजेय, धैर्य, जन-जन के प्रति स्नेह-सद्भावना ने उनके आंतरिक व्यक्तित्व को अधिक गरिमामय बनाया है।

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी के बम्बई महानगरी में चार वर्षावास हुए। मैं इन वर्षावासों में उनके सम्पर्क में आया। अनेक संस्थाओं के कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण जितना उनकी सत्संगति का लाभ मुझे लेना चाहिए था उतना न ले सका। पर समय-समय पर मैंने उनके दर्शन किये और जो परिचय हुआ उससे उनकी गम्भीर विद्वत्ता और आध्यात्मिक वृत्ति की मेरे अन्तर्मानस पर गहरी छाप पड़ी। ध्यान और योग में वे सदा लीन रहते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र ने सद्गुरु के लक्षण बताते हुए लिखा है—

आत्मज्ञान समदर्शता विचरे उदय प्रयोग।
अपूर्ववाणी परमश्रुत सद्गुरु लक्षण योग॥

पूज्य पुष्कर मुनि जी में ऐसे सद्गुरु के दर्शन मुझे हुए और विशेष आनन्द मुझे यह हुआ कि देवेन्द्र मुनि जैसे शिष्यरत्न को प्रेरणा प्रदान कर उनसे विपुल और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करवाया, जिस मौलिक और श्रेष्ठ साहित्य पर समाज गौरव का अनुभव करती है।

पूज्य पुष्करमुनि जी को समर्पित करने हेतु एक अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार हो रहा है, यह जानकर मुझे अपार आनन्द हुआ। देवेन्द्र मुनि जी प्रस्तुत ग्रन्थ को तैयार कर रहे हैं, उसमें सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक सामग्री होगी यह मुझे आत्मविश्वास है।

इस सुनहरे अवसर पर मैं पूज्य पुष्कर मुनिजी को नम्रता के साथ प्रणाम करता हूँ। और वे सदा समाज को सर्चलाइट की तरह प्रकाश देते रहें—यही मंगल कामना है।

ज्ञान की जगमगाती ज्योति

☐ श्री दुर्लभजी केशवजी खेतानी, बम्बई

उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज स्थानकवासी समाज के एक महान् सन्त हैं। मैंने उनके अनेक बार दर्शन किये गहराई से कई विषयों पर उनसे वार्तालाप भी किया। उनकी सर्वप्रथम विशेषता है कि वे महान् जिज्ञासु हैं। कोई भी नयी बात जानने के लिए वे सदा तैयार रहते हैं। मैंने देश-विदेश की अनेक यात्राएँ कीं। जब भी मैंने अपने अनुभव सुनाये, तब मैंने देखा कि वे एकाग्रचित्त से उन बातों को ध्यान-पूर्वक सुनते रहे। और जो बातें उपयोगी लगीं उन बातों को आपश्री ने नोट भी कीं। यह वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होती। उसमें यह अहंकार होता है कि मैं सब कुछ जानता हूँ, पर वह कुछ भी नहीं जानता। जहाँ मन में अहंकार आया वहाँ पर ज्ञान का द्वार बन्द हो जाता है।

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी का हमारी समाज पर महान् उपकार है। उन्होंने साधु-साध्वियों में तथा श्रावक-समाज में जो ज्ञान के संस्कार प्रदान किये हैं, उन्होंने स्वयं ने विराट साहित्य का सृजन किया और विद्वान् शिष्यों के द्वारा प्रेरणा देकर विराट् साहित्य का निर्माण करवाया। वह साहित्य बड़ा ही अद्भुत है, प्रेरणादायी है। मैंने मुनि श्री जी के कुछ साहित्य को पढ़ा है और दो-तीन पुस्तकों के मैंने गुजराती में अनुवाद भी किये हैं। मैं मुनि श्री जी के साहित्य से बहुत प्रभावित हुआ हूँ।

मुझे हार्दिक आल्हाद है कि ऐसे महान् उपकारी, ज्ञान की जीती-जागती ज्योति उपाध्याय श्री जी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। यह हमारे लिए गौरव की बात है। मैं मुनिश्री जी का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। वे चिरायु बनें और हम सभी का सदा पथ-प्रदर्शन करते रहें। ☆

श्रीपुष्कर मुनिजी : कुछ संस्मरण

☐ श्री अगरचन्द जी नाहटा, बीकानेर

मैं इसे पूर्व जन्म का संस्कार मानता हूँ कि राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ, जो सरस्वती के उपासक हैं। किन्तु जैन श्रमणों के संसर्ग से वे जैनधर्म में प्रव्रजित हुए और जैन धर्म के संस्कार उनमें इतने अधिक रम गये कि वे जाति और कुल की सामान्य विशेषताओं से बहुत ऊपर उठकर जैन साधना में प्रतिपल-प्रतिक्षण सरिता की सरस धारा की भांति बढ़ते ही गये। ब्राह्मणकुल में जन्म लेने के कारण ज्ञान के प्रति उनकी स्वाभाविक अभिरुचि रही। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, आगम, दर्शन, साहित्य और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति का तलस्पर्शी अनुशीलन किया और अपने शिष्य और शिष्याओं को भी ज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की।

जैनश्रमण घुमक्कड़ हैं। वह हिमालय से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक पैदल परिभ्रमण कर जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म की ज्योति प्रज्वलित करता है। उपाध्याय पुष्कर मुनि जी ने भी भारत के विविध अंचलों में श्रमण मर्यादानुसार परिभ्रमण किया है और जैनधर्म की प्रबल प्रभावना की है। परिभ्रमण के साथ ही प्रवचन, विचार चर्चा, जप-साधना और साहित्य साधना भी आपकी निरंतर चलती रही। साहित्य की विविध विधाओं में उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। भाषा की दृष्टि से हम उस साहित्य को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं; संस्कृत, हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी। शैली की दृष्टि से वह गद्य और पद्य दोनों में है। ज्योतिर्धर जैनाचार्य, विमलविभूतियाँ, आदि अनेक कृतियाँ पद्य में हैं और अनेक कृतियाँ अभी अप्रकाशित भी हैं। धर्म का कल्पवृक्ष जीवन के आंगन में, श्रावक धर्म-दर्शन, जैन धर्म में दान स्वरूप और विश्लेषण, आपकी गद्य साहित्य की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। "जैन कथाएँ" तीस भाग भी आपने लिखे हैं। राजस्थानी में 'मिनख पणा रो मोल' रामराज, संस्कृति रा सुर, आदि श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। गुजराती में जिन्दगी नो आनन्द, जीवन नो झंकार, सफल जीवन, ओंकार : एक अनुचिन्तन, प्रभृति अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। साहित्य के साथ जप और ध्यान के प्रति आपकी विशेष रुचि है। जप और ध्यान से कुछ अनहोने चमत्कार स्वयं हो जाते हैं। जैनधर्म में आठ प्रकार के प्रभावक माने गये हैं जो समय-समय पर अपने प्रभाव से शासन की रक्षा करते हैं और उसका विस्तार भी करते हैं। मेरा यह मानना है कि आप उसी तरह के एक प्रभावक सन्त हैं। आप योग के द्वारा भौतिक वाद के युग में पले पोसे हुए अध्यात्म-साधना को भूले-बिसरे हुए युवकों में अधिकाधिक जैन शासन की प्रभावना करें। मैंने स्वयं देखा है कि आपके प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर एक विराट् भक्त मंडली तैयार हो गयी है।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, आपके दर्शनों का प्रथम सौभाग्य सन् १९५५ में राजस्थान की राजधानी जयपुर में मिला था। उस समय उपाध्याय अमर मुनि जी, मधुकर मुनि जी तथा आप अपनी शिष्य मंडली सहित विराज रहे थे। आपके सौम्य और तेजस्वी व्यक्तित्व ने और आत्मीय-भाव ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। इसके पश्चात् सन् १९६० में जोधपुर में मिला। उस समय आप न्यायमूर्ति इन्द्रनाथ मोदी जी के मकान में ठहरे हुए थे। धर्म-दर्शन और इतिहास पर लम्बे समय तक चर्चा करने का अवसर मिला और आपके सुशिष्य देवेन्द्र मुनि जी से मिलकर मुझे अत्यधिक आल्हाद हुआ। उनकी जिज्ञासा-वृत्ति और स्थायी कार्य करने की तीव्र लगन ने मुझे आकर्षित किया और आपकी शिष्य मंडली से मेरा सम्पर्क निरंतर बढ़ता रहा। आपश्री की सरलता निरभिमानता, परदुःखकातरता, सेवा-परायणता, गुणग्राहकता एवं स्नेह सौजन्यता अनुकरणीय है।

उपाध्याय पुष्कर मुनिजी में एक महान् विशेषता है कि उन्होंने अपने शिष्यों को साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़ाने का भगीरथ प्रयत्न किया है। स्नेह-सौजन्ययुक्त उनकी प्रबल प्रेरणा से उनके शिष्यों की प्रतिभा अधिकाधिक विकसित हुई है। देवेन्द्रमुनिजी ने साहित्य की विविध विधाओं में जो विराटकाय मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं उसे देखकर मेरा हृदय आनन्दविभोर हो उठा। और उनके अन्य शिष्य गणेशमुनि, रमेशमुनि, राजेन्द्रमुनिजी की रचनाएँ भी पढ़ने को प्राप्त हुईं, जिससे मेरे मन में यह दृढ़ धारणा बन गयी कि इन मुनि-प्रवरों के द्वारा जैन साहित्य की महान् सेवा होगी। मैं वर्षों से ऐसे व्यक्तियों की अन्वेषणा करता रहा हूँ जिनमें प्रतिभा हो, लगन हो, साथ ही कार्य करने की क्षमता हो और जब यह वस्तु देखता हूँ तो सहज ही आकर्षित हो जाता हूँ। मैं चाहता हूँ कि जैसे उपाध्याय पुष्कर मुनिजी ने अपने सुयोग्य शिष्यों को तैयार कर शोध-प्रधान, चिन्तन-प्रधान साहित्य का सृजन किया, वैसे ही अन्य श्रमण और श्रमणियाँ प्रयास करें तो जैन शासन की महान् प्रभावना होगी।

इस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के पावन प्रसंग पर मैं बीकानेर से हैदराबाद पहुँचा। मुझे वहाँ ज्ञात हुआ कि पुष्कर मुनिजी का वर्षावास बेंगलोर में है, सत्संग, साहित्य व आध्यात्मिक चर्चा हेतु मैं बेंगलोर पहुँचा। और पाँच दिन तक मुनिश्री के निकट सम्पर्क में रहा। इस सपर्क ने मेरी श्रद्धा को अधिक बलवती बनाया। मैंने अनुभव किया कि पुष्कर मुनिजी एक सच्चे अध्यात्मयोगी सन्त हैं, वृद्धावस्था होने पर भी उनमें युवकों से भी अधिक उत्साह है, लगन है। स्वयं सदा प्रसन्न रहते हैं और जो उनके सम्पर्क में आता है उन्हें भी वे प्रसन्नता का सन्देश देते हैं। वार्तालाप के प्रसंग में मुझे यह ज्ञात हुआ कि आपकी हार्दिक इच्छा है कि सामाजिक प्रवृत्तियों से अलग-थलग रहकर अधिकाधिक आत्म-साधना की जाय। मेरा भी यह स्पष्ट मन्तव्य है कि श्रमण और श्रमणियों को लोकसम्पर्क कम कर अधिक समय उन्हें स्वाध्याय और ध्यान में लगाना चाहिये जिससे ध्यान और योग की जो परंपरा हमारे यहाँ लुप्त हो चुकी है, वह पुनः पुनरुज्जीवित हो सके। अतः मैं जैन संघ के मूर्धन्य मनीषियों से यह नम्र निवेदन करूंगा कि वे इस कार्य में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनिश्री को अधिकाधिक सहयोग दें। साथ ही यह भी मेरी भावना है कि साहित्य का अत्यधिक प्रचार हो, जैनेतरों में जैन धर्म का प्रचार किया जाय और यह महत्त्वपूर्ण कार्य केवल श्रमण या श्रमणियाँ नहीं कर सकतीं, इसके लिये श्रावकों के सहयोग की भी अपेक्षा है। आचारनिष्ठ विद्वान् मुनियों के संपर्क में यदि जैनेतर विद्वान् आयेंगे तो जो जैनधर्म के प्रति उनके अन्तर्मानस में भ्रांतियाँ हैं, उनका निरसन होगा और उनके संपर्क से श्रमणों की ज्ञान-संपदा में भी अभिवृद्धि होगी और उनकी दृष्टि विशाल बनेगी।

श्री पुष्करमुनि जी की यह बड़ी विशेषता है कि उन्होंने अपने शिष्यों को ही नहीं, अपितु अपनी शिष्याओं को भी ज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ाया है। मेरी यह इच्छा है कि साध्वियों के द्वारा श्राविका समुदाय में ज्ञान की जागृति की जाय। और जब श्राविका समाज प्रबुद्ध होगा, भावी पीढ़ी में धार्मिक संस्कार अधिक विकसित होंगे और जैन संघ सर्वतोमुखी उन्नति कर सकेगा।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहरे अवसर पर मेरी हार्दिक मंगल कामना है कि हे युगपुरुष, हे युगावतार, तुम युग-युग जीओ, और जैन धर्म की महान् प्रभावना करो।

卐

अध्यात्मरसिक—पुष्कर मुनिजी

☐ **श्री दलसुख मालवणिया** (निदेशक, ला० द० भा० सं० विद्यामन्दिर, अहमदाबाद)

पूज्य पुष्कर मुनिजी से अहमदाबाद में चातुर्मास में और पूना में जैनसंगोष्ठी के अवसर पर और बेंगलोर वर्षावास में मिलना हुआ, बहुत वर्षों का परिचय नहीं, किन्तु थोड़े ही परिचय में उनके व्यक्तित्व का जो प्रभाव मन पर पड़ा है, वह अमिट है। प्रखरवक्ता और जैन समाज में प्रभावशाली होने पर भी उनमें जो नम्रता मैंने देखी, वह दुर्लभ है। विद्वान् तो वे हैं ही। साथ ही उनकी शिष्य मण्डली में विद्वत्ता बढ़े यह उनकी सतत चिन्ता है। वे स्वयं बड़े हैं। किन्तु अपने शिष्यों में भी बड़प्पन बढ़े उसका निदर्शन उनसे मिलने पर हो जाता है। वे अपना प्रभाव नहीं, किन्तु अपने शिष्यों का प्रभाव बढ़े ऐसा सोचते हैं। उनसे जब भी मिला तब उन्होंने मुझे पूज्य देवेन्द्र मुनिजी आदि के पास भेजा। यह उनका ही बड़प्पन था जो अपने शिष्यों के गौरव में अपना गौरव देखते हैं।

उनमें योग के प्रति आस्था है। और वे स्वयं योग के विषय में केवल जानकारी ही नहीं रखते, किन्तु उसमें क्रियाशील भी हैं। अध्यात्मरस उनका निजी रस है। अध्यात्म की कोई भी बात चले तो उनसे कुछ नया ही जानने को मिलता है। पूर्वाश्रम में वे ब्राह्मण थे अतएव विद्यारस होना स्वाभाविक ही है। यह रस जैन साधुओं में विरल है। ऐसी स्थिति में उनके प्रति विद्वज्जनों और सामान्यजनों का आदर बढ़े यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्रतिष्ठित साधु होने पर भी अभिमान उनमें देखा नहीं जाता। सज्जनता उनकी अपनी ही है। जो भी एक बार मिले वह उनका हो जाय—यह आकर्षण-शक्ति उनमें देखी जाती है। आप समाज की व्याख्यान और साहित्य निर्माण के द्वारा जो सेवा करते हैं—वह प्रशंसनीय है।

जैन समाज में प्रभावशाली ऐसे कई श्रमण हैं किन्तु अपने प्रभाव का उपयोग लोक-कल्याण में करने वाले विरल हैं—ऐसी स्थिति में पूज्य पुष्कर मुनिजी लोक-कल्याण की भावना लेकर जो चले हैं वह उनके और सामान्य लोक के हित में है।

मैंने देखा है कि समाज-सुधार और श्रमणों के सुधार के विषय में जो भी कहा जाये उसे वे शान्ति से सुनते हैं। प्रतिकार नहीं करते। मौन ही उनका उत्तर होता है। आशा रखी जाय कि वे श्रमण संघ के रूढ़िगत नियमों में आधुनिक-काल के अनुरूप संशोधन कराने के पक्ष में कुछ करेंगे। ऐसा होने से उनके व्यक्तित्व का और भी प्रभाव होगा और सामान्य-जन और श्रमण संघ को उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व से लाभ होगा। यदि समयानुकूल परिवर्तन कराने में उनमें वृत्ति बढ़ी तो एक दिन वह आयेगा जब वे सच्चे हीरे की तरह समाज में चमकेंगे। विद्वत्ता है, व्यक्तित्व है, प्रभाव है, सौजन्य है, योग है, और अध्यात्म है, तो फिर क्या कमी रह गई जो समाज को नई दिशा देने में वे अपना असामर्थ्य देखें। मेरी तो यह आशा ही नहीं, पक्का विश्वास है कि वे समाज में आवश्यक संशोधन कराने में अग्रसर होकर अपना नाम अमर करेंगे। वे दीर्घायु हों और इस कार्य को अपना लें यही भावना करता हूँ।

☐☐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



साधना की मंगल मुस्कराहट

☐ डा० संगमलाल पाण्डेय, इलाहाबाद

☐

नवम्बर १९७५ में पूना विश्वविद्यालय में जैनदर्शन पर एक संगोष्ठी हुई थी। उस संगोष्ठी में मुझे भी एक निबन्ध पढ़ने का सौभाग्य संप्राप्त हुआ। उस संगोष्ठी में जैनविद्या के मूर्धन्य-मनीषी पं० दलसुख मालवणिया, कैलाशचन्द्र शास्त्री, दरबारीलाल कोठिया, ईश्वरचन्द्र प्रभृति अनेक विद्वान् उपस्थित हुए थे। उनसे मेरा सम्पर्क हुआ। साथ ही इस संगोष्ठी में श्वेताम्बर जैन श्रमण व श्रमणियों के भी दर्शनों का सौभाग्य मिला। उन सभी के प्रमुख थे उपाध्याय राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी। उन्होंने भी इस संगोष्ठी में भाग लिया था। उनमें अध्यात्म-साधना तथा वैदुष्य का मणि-काँचन-संयोग देखकर मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ।

सन्ध्या का समय था। मेरे परम स्नेही मित्र डाक्टर कमलचन्द सोगानी जो प्रस्तुत संगोष्ठी में आये थे, उन्होंने मुझसे कहा कि आज हम पुष्कर मुनि जी का सत्संग करने चलें। मैंने उनके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। हम दोनों उस स्थान पर गये जहाँ पुष्कर मुनि जी अपने शिष्यों सहित अवस्थित थे। ज्योंही हम वहाँ पहुँचे त्योंही हमने देखा पण्डित दलसुख मालवणिया, डा० सागरमल जैन, डा० ब्रजनारायण शर्मा, प्रभृति स्नेही साथी गण वहां बैठे हैं। वातावरण प्रशान्त था। सर्वप्रथम मुनिश्री जी ने हमारा परिचय पूछा। मैंने संक्षेप में अपना परिचय दिया। परिचय देते ही मुझे प्रतीत हुआ कि मुनिश्री जी की अपार कृपा मुझे प्राप्त हो गयी है। मेरा उनका परिचय तो उसी क्षण हुआ था, पर मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था कि हमारा परिचय पुराना ही नहीं, अपितु बहुत ही पुराना है। मैंने करबद्ध होकर विनम्र मुद्रा में मुनि श्री जी का परिचय पूछा। मुनिश्री ने कहा मेरा जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। मेरे पिता जागीरदार थे, मेरी दो माताएँ थीं। मैं अपनी माँ के पास रहता था। और उसके निधन होने के पश्चात् सद्गुरुदेव का सत्संग मिला। उनके पावन उपदेश ने सोयी हुई आत्मा को जगा दी और मैं साधु बन गया।

मैंने निवेदन किया—मुनिश्री जी आप ब्राह्मण थे, तब जैन क्यों हो गये? ब्राह्मण धर्म के साधु-संन्यासियों के सम्पर्क में आप क्यों नहीं आये? आपने ब्राह्मणधर्म का परित्याग क्यों कर दिया?

मुनिश्री ने मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा कि जैन परिवारों से मेरा सम्पर्क था, जैन समाज की साधु-निष्ठा और जैन मुनियों के पावन जीवन ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। अतः मैंने जैन श्रमण के व्रत ग्रहण किये और तभी से मैं साधना में संलग्न हूँ। मेरे लिए जातिवाद, पंथवाद का प्रश्न नगण्य है। मैं अध्यात्म का अन्वेषक हूँ। ब्राह्मणों ने हजारों की संख्या में जैनधर्म ग्रहण किया है। भगवान महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा, आदि भी जाति से ब्राह्मण ही थे। ब्राह्मणों ने जैनधर्म में प्रव्रज्या ग्रहण कर अद्भुत क्रान्ति की है। आचार्य हरिभद्र, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। पन्थ भले ही पृथक् हो, किन्तु सत्य एक है, चाहे जिस परम्परा में रहे। यदि साधना की जाय तो जीवन का अपूर्व आनन्द उपलब्ध हो सकता है।

मैंने कुछ आगे बढ़कर मुनिश्री से पूछा—आप कौनसी साधना करते हैं? यदि वह गोप्य न हो तो बताने का अनुग्रह करें।

मुनिश्री ने अपनी सहज मस्ती में कहा कि यहाँ छिपाने योग्य कुछ भी नहीं है। जो है वह स्पष्ट है। मैं नवकार महामंत्र का जप करता हूँ। यह महामंत्र अत्यन्त प्रभावशाली है। इसमें व्यक्ति की उपासना नहीं। किन्तु सद्गुणों की उपासना की गयी है। यह महामन्त्र सम्पूर्ण जैन समाज में मान्य है।

मैंने कहा मुनिश्री जी! मैं भी गायत्री मन्त्र का जप करता हूँ। बताइये वह उचित है या नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनिश्री ने स्वयं गायत्री मन्त्र सुनाते हुए कहा यह भी अद्भुत मन्त्र है। आप निष्ठा के साथ इसका जप कीजिए।

मैंने अपनी रुद्राक्ष की माला मुनिश्री के हाथ में देते हुए कहा यह माला शुद्ध है या नहीं।

मुनिश्री ने माला को अच्छी तरह से देखकर कहा कि यह शुद्ध है, और उन्होंने माला किस तरह से फेरनी चाहिए जप की विधि पर गहराई से विश्लेषण किया।

मेरे स्नेही साथी यह संवाद दत्तचित्त होकर सुन रहे थे और मुनिश्री जी के मन्त्रशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान पर वे मुग्ध थे और उन्होंने मुझसे कहा और भी प्रश्न कीजिए। पण्डित दलसुख भाई मालवणिया ने कहा—महाराजश्री को मैं बहुत दिनों से जानता हूँ। किन्तु आज जो महाराज श्री से परिचय मुझे मिला वह कभी नहीं मिला।

स्नेही साथियों के अत्याग्रह पर मैंने मुनिश्री से पूछा आपके साधना के अनुभव क्या हैं?

मुनिश्री ने कहा—साधना के अनुभव से क्या तात्पर्य है? जरा स्पष्ट करें।

मैंने निवेदन किया—जैसे कबीर को नाद सुनायी पड़ता था, अमृत रस पीने को मिलता था, मीरा को श्रीकृष्ण की मुरली की स्वरलहरियाँ सुनायी पड़ती थीं, उन्हें श्रीकृष्ण के दर्शन होते थे, संक्षेप में अन्य सन्तों ने भी अपनी बानियों में कुछ दिव्य अनुभव व्यक्त किये हैं वैसे क्या साधना के अनुभव आपको हुए हैं?

मुनिश्री मधुर मुस्कान बिखेरते हुए बोले—हाँ, मेरे भी कुछ अनुभव हैं।

मैंने पुनः निवेदन किया, यदि यह गोप्य न हो तो अवश्य ही बताइये जिससे हमारी श्रद्धा भी साधना पर हो सके।

मुनिश्री ने कहा, आप सभी अधिकारी व्यक्ति हैं, प्रतापपूर्ण प्रतिभा के धनी हैं, अतः मुझे बताने में संकोच नहीं है। जैनश्रमण बनने पर भी प्रारम्भ में मुझे जप-साधना के प्रति कोई आकर्षण नहीं था, यद्यपि मेरे गुरुदेव रात-दिन में आठ-आठ दस-दस घण्टे जप साधना करते थे। मैं उसे निरर्थक समझता था और स्वाध्याय में ही लगा रहा था। एक दिन गुरुदेव के आदेश से मैं जप करने के लिए बैठा, मन में अनेक विचार उत्पन्न हो रहे थे, इतने में मुझे एक दिव्य और अलौकिक प्रकाश के दर्शन हुए और कानों में ये शब्द सुनायी दिये कि साधना करता हुआ चला जा, तेरे मन की सारी परेशानियाँ समाप्त हो जायेंगीं। और तुझे वास्तविक आनन्द की उपलब्धि होगी। तब से मुझे जप-साधना के प्रति रुचि जागृत हुई और मुझे अत्यधिक आनन्द अनुभव होता है। मैं भोजन छोड़ सकता हूँ किन्तु जप-साधना नहीं छोड़ सकता। आज मेरी यह स्थिति है कि नियमित समय पर जप-साधना के लिए न बैठूँ तो मानसिक उद्विग्नता का अनुभव होता है।

मैंने कहा, क्या साधना के चमत्कार भी कभी हुए हैं?

मुनिश्री ने कहा, साधक चमत्कार के लिए साधना नहीं करता, और न मुझे चमत्कार दिखाने में ही रुचि है। मैं आत्म-शान्ति के लिए साधना करता हूँ।

मेरे अत्यधिक निवेदन पर उन्होंने कहा, अनेक मानसिक व्यथा से व्यथित व्यक्ति जब मेरे सामने ध्यान में बैठते हैं तो वे उन व्याधियों से पूर्ण मुक्त हो गये हैं, कितने ही व्यक्तियों को शारीरिक आदि दृष्टि से भी लाभ हुआ है। मुनिश्री जी ने कुछ व्यक्तियों के नाम भी बताये।

मालवणिया जी ने कहा, मैं आज तक महाराज श्री के इस अद्भुत गुण से अनभिज्ञ ही था किन्तु पाण्डेय जी के कारण सहसा इस गुण का प्रकाशन हो गया। यह आध्यात्मिक चिकित्सा-पद्धति बहुत ही लोकोपकारी है।

मुनिश्री ने कहा, मेरी प्रस्तुत चिकित्सा पद्धति आधुनिक साइकियाट्री या मानसिक चिकित्सा पद्धति से पृथक् है, यह आध्यात्मिक है। मैं स्वयं के लिए साधना करता हूँ और ध्यान व जप के शुभ परमाणुओं से दूसरों को सहज रूप से लाभ हो जाता है। आप स्वयं भी अनुभव कर देख सकते हैं। मैं इस पर अपने मुँह से अधिक बताना उचित नहीं समझता। मुझे यह जो कुछ पद्धति मिली है उसका मूल ध्यान धारणा ही है।

उसके पश्चात् विचार-चर्चा का विषय परिवर्तित हुआ कि विद्वान् व सन्तों का समाज एवं राष्ट्र के लिए क्या कर्तव्य है? विचार-चर्चा के दौरान में मैंने कहा, मुनिश्री जी, आप जैसे सन्त लोकहित का कार्य कर रहे हैं, यह श्रेष्ठ बात है। किन्तु भारत में अत्यधिक गरीबी है, दरिद्रता का साम्राज्य है। भारतवासियों को कब सुख और समृद्धि प्राप्त होगी? संकटकालीन स्थिति ने तो सभी का मुँह बन्द कर दिया है और कलम पर प्रतिबन्ध लगा दिया है।

मुनिश्री ने एकक्षण चिन्तन के पश्चात् कहा कि यह आपत्कालीन स्थिति दीर्घकाल तक नहीं रहेगी। भारत में एक नवीन क्रान्ति आयेगी और शासन परिवर्तित हो जायगा। भारत का भविष्य उज्ज्वल है, अभी कुछ समय अवश्य ही संकट काल का है।

मैंने वार्तालाप में यह अनुभव किया पुष्कर मुनि जी एक सच्चे महात्मा हैं जो बहुत ही सरल और सीधे हैं। उनका बाह्य और भीतर का जीवन एक है। जो गुण एक उत्कृष्ट जैन श्रमण में होने चाहिए वे सभी गुण उनमें हैं। जो उनके निकट सम्पर्क में आता है उसे असीम आनन्द का अनुभव होता है, वे स्वयं विद्यानुरागी हैं। उन्होंने शिष्यों को भी विद्वान् बनाया है। उनके शिष्य देवेन्द्र मुनि जी उत्कृष्ट विद्वान् हैं। उन्होंने संगोष्ठी में मोक्ष और मोक्षमार्ग पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो पत्र पढ़ा, वह उनके गम्भीर अध्ययन को व्यक्त करता था। उनके महत्त्वपूर्ण शोधप्रधान ग्रन्थ देखकर और पढ़कर मैं मुग्ध हो गया। उनके अन्य शिष्यगण भी यथाशक्ति ज्ञान प्राप्ति में संलग्न हैं। स्वयं महाराज श्री विद्वानों का आदर करते हैं, उन्हें प्रगति करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हैं। उनका जो भी वैदुष्य है, उसका उद्भव पुस्तकीय विद्या की अपेक्षा प्रातिभ ज्ञान से अधिक हुआ है। उनकी वाणी में सन्त अनुभव की अभिव्यक्ति है, उनके चारित्र्य में सद्गुणों का प्रकाशन है, उनके सम्पर्क में जो भी आया उसका उत्कर्ष अवश्य ही हुआ है।

सत्संग करते हुए रात के बारह बज गये। सभी साथियों को ऐसा आनन्द आ रहा था कि कोई भी उठना नहीं चाहता था। तथापि मुनिश्री की साधना में बाधा न हो अतः हम सभी मुनिश्री का आशीर्वाद लेकर वहाँ से चल दिये। रास्ते में सभी मुनिश्री की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर रहे थे। सत्य ही है—

कबिरा संगत साध की ज्यों गन्धी की बास।
जो कछु गन्धी दे नहीं तो भी बास सुबास॥

—●—

इतिहास की पुनरावृत्ति

□ पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल

किसी व्यक्ति विशेष का सम्मान अथवा अभिनन्दन उस व्यक्ति का ही नहीं किन्तु वह व्यक्ति जिस वर्ग, समाज या परम्परा से जुड़ा है, उस वर्ग, समाज या परम्परा का भी सम्मान अथवा अभिनन्दन है। व्यक्ति अपने आप में भिन्न होने पर भी आखिर किसी न किसी समूह का ही अंग होता है। साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि वह व्यक्ति ही है जो किसी वर्ग या समूह को गौरव प्रदान करता है, अपनी विशिष्टताओं से उसे मंडित करता है और अपने असाधारण विकास द्वारा उसका स्तर ऊँचा उठाता है। भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध ने श्रमण परम्परा की महिमा और गरिमा को जो उत्कर्ष प्रदान किया वह कौन साक्षर नहीं जानता? वस्तुतः समय-समय पर ऐसे व्यक्ति इस धराधाम पर अवतीर्ण होते रहते हैं जो समग्र मानव-जाति को अथवा उसके एक समूह को धन्य बना जाते हैं। व्यक्ति और समाज का ऐसा पारस्परिक प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

उपाध्याय पद विभूषित अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी महाराज का व्यक्तित्व इतना उच्च और भव्य है कि वे स्वयं ही अभिनन्दनीय नहीं, वरन् समग्र श्रमणवर्ग को भी उन्होंने अभिनन्दनीय बना दिया है।

राजस्थान के एक छोटे-से पहाड़ी ग्राम में, ब्राह्मण परिवार में जन्मे श्री पुष्कर मुनि आज श्रमण-परम्परा के उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित हैं। यह यह एक ऐसी घटना है जो बलात् हमें अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व के अतीत की ओर देखने को प्रेरित करती है। भगवान महावीर के साधुओं को आगम-वाचना देने का दायित्व ब्राह्मणकुलीन महा-मुनियों (गणधरों) को सौंपा गया था। धर्म के पावन क्षेत्र में वर्ण-जाति की कृत्रिम दीवारें ढा दी गई थीं। उसके पश्चात् भी ब्राह्मणकुल में प्रसूत अनेकानेक जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने अपनी असाधारण विद्वत्ता से जैनशासन की महान् सेवाएं कीं। अपने प्रखर ज्ञानालोक से शासन-गगन को प्रभासित किया। जैसे इसी इतिहास को जीवित रखने अथवा इसकी पुनरावृत्ति करने के लिए ही राजस्थान केसरी पुष्कर मुनिजी का अवतरण हुआ है।

मुनिजी निस्सन्देह ज्ञान और क्रिया के धनी हैं। वाग्मिता ने उन्हें वरण किया है। जिन्होंने उनके प्रवचन सुने हैं वे जानते हैं कि उनकी वाणी में कितना ओज है, कितना प्रभाव है! मुर्दा मन में प्राण का संचार कर देने का कितना चमत्कार है? उनकी वाणी का यह वैभव उनकी अन्तःशक्ति से उत्पन्न हुआ है। अध्यात्मयोग की दीर्घ साधना से सम्पन्न मुनिश्री का व्यक्तित्व अपूर्व है।

मुनिश्री श्रमणसंघ के उपाध्याय हैं— वास्तविक अर्थ में उपाध्याय हैं। श्रमणसंघ की आशा के केन्द्र हैं। उनकी शिष्यमंडली में श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री जैसे विपुल साहित्य की रचना करने वाले मनीषी हैं। श्रीगणेश मुनि और श्री राजेन्द्र मुनि जैसे विद्वान् सन्त हैं जिनकी साहित्यिक रचनाएँ जैन समाज में प्रख्यात हैं। कम से कम राजस्थान में ऐसा कोई नहीं है जिसकी शिष्यमंडली इतनी समर्थ और विद्वत्तासम्पन्न हो।

श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के अभिनन्दन का विचार जिनके मन में आया, मेरे विचार से वे भी अभिनन्दनीय हैं। एक विशिष्ट व्यक्तित्व को प्रकाश में लाना सर्वथा उचित है। आन्तरिक भावना और कामना है कि यह अध्यात्मयोगी चिरंजीवी हों और अपनी साधना से जैन-जैनेतर समाज को दीर्घकाल तक लाभान्वित करते रहें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्गुणों के संगम-स्थल

□ डा० ए० डी० बतरा, एम० ए०, पी-एच०डी० डी० वाय० पी०
(पूना विश्वविद्यालय)

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के विषय में मेरे जैसे व्यक्ति का लिखना सूर्य की व्याख्या करने के समान है। सूर्य को बताने के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं प्रकाशित है। मैं सोचता हूँ उनके विराट व्यक्तित्व के सम्बन्ध में मैं क्या लिखूं? क्योंकि अनन्त श्रद्धा व असीम भाव, ससीम शब्दों में कैसे व्यक्त किये जा सकते हैं? किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखते समय यही एक समस्या रहती है क्योंकि जितना लिखा जाता है उससे कई गुना अधिक उनका व्यक्तित्व बढ़ा-चढ़ा होता है। उन विराट भावों को कितना भी कुशल शब्दशास्त्री क्यों न हो, व्यक्त नहीं कर सकता।

सन् १९७५ में आपश्री का अपने शिष्यों सहित पूना में वर्षावास था। विदुषी महासती उज्ज्वलकुमारी जी ने मुझे अहमदनगर में बताया कि इस वर्ष महान् विचारक सन्त गण पूना में हैं। मैं देवेन्द्र मुनिजी से मिला। विभिन्न विषयों पर उनसे वार्तालाप हुआ। उन्हीं के माध्यम से मैं उपाध्याय श्री के निकट सम्पर्क में आया। वे आध्यात्मिक साधना करते हैं यह जानकर मेरा हृदय अत्यन्त आल्हादित हुआ। मैं ऐसे व्यक्ति की खोज कर रहा था जिनके नेतृत्व में रहकर मैं अपने आध्यात्मिक जीवन को और अधिक विकसित करने की भावना रखता था और उसी भावना के कारण घोड़नदी, रायचूर, कोप्पल, हुबली, भद्रावती और बंगलोर इत्यादि स्थानों पर मैं उनके सन्निकट रहा। मैंने यह अनुभव किया कि गुरुजी सरल स्वभावी हैं, उनके जीवन में माया और दंभ नहीं है। उनका जीवन सरोवर सरलता के सुमधुर सलिल से भरा हुआ है और वह हजारों हजारों प्यासे कण्ठों का संगम-स्थल है।

दूसरी विशेषता वे मितभाषी हैं। अधिक बोलना उन्हें पसन्द नहीं है। उनका मानना है "कम बोलो, अधिक काम करो।" जो व्यक्ति अधिक बोलता है उसके जीवन में जो तेजस्विता आनी चाहिए वह नहीं आ पाती। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने भी कहा—"बहुयं माय आलवे" बहुत मत बोलो।

तीसरी विशेषता है कि वे अध्ययनशील हैं। उन्होंने जैन, बौद्ध और वैदिक वाङ्मय को पढ़ा है। ब्राह्मणकुल में जन्म लेने के कारण वैदिक वाङ्मय के प्रति आपकी सहज अभिरुचि रही। वेद, उपनिषद, गीता, और महाभारत आदि का आपने पारायण किया है। योग के ग्रन्थों को भी पढ़ा है। और जैन श्रमण होने के नाते जैन साहित्य के पठन-पाठन के प्रति आपकी अपनी जिम्मेदारी रही है और उस जिम्मेदारी को आप सहज रूप से निभाते रहे हैं। आपके साहित्य में आपका गम्भीर अध्ययन स्पष्ट रूप से झलक रहा है।

अध्ययन के साथ ही आपका चिन्तन भी ऊर्वर है। प्रत्येक वस्तु पर गहराई से अनुचिन्तन करना आपको प्रिय रहा है। आप चिन्ता से मुक्त होने के लिए चिन्तन को आवश्यक मानते हैं। वार्तालाप व प्रवचन के प्रसंग में आपके निर्मल चिन्तन के सहज दर्शन होते हैं।

आप प्रयोगप्रिय भी हैं। साधना के अनेक प्रयोग भी आपने किये हैं। इस प्रकार एक ही व्यक्ति में एक नहीं, अपितु अनेक गुणों का प्रगटीकरण हुआ है। एक व्यक्ति में अनेक गुण होना आश्चर्य है, पर यह उतना ही सत्य है जितना सर्चलाइट का प्रकाश।

मैंने यह भी देखा कि पनघट के कुँए की तरह लोग उन्हें सदा घेरे रहते हैं। वे जंगल में पहुँचते हैं, वहाँ पर भी भक्तों की भीड़ मधुमक्खियों के छत्ते की तरह जमा हो जाती है। भीड़ में रहने पर भी वे भीड़ से अलग-थलग रहकर आध्यात्मिक साधना करना चाहते हैं। उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि वे शान्त और स्थिरचित्त हैं। अशांति उनके जीवन में नहीं है। उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हँसता हुआ मुखड़ा किसके दिल को आकर्षित नहीं करता।

मैं उनसे प्रभावित हुआ हूँ। मैंने अपने हृदय की विराट् भक्ति को प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। देवेन्द्र मुनिजी के स्नेहभरे आग्रह को मैं टाल भी कैसे सकता था? मेरी जो कुछ भी सेवा इस कार्य के लिए हो सकी उसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से साहित्य का वह उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत किया गया है जिसे मूर्धन्य मनीषीगण पसन्द करेंगे। भारतीय साहित्य की सभी विधाओं का प्रस्तुत ग्रन्थ में समावेश हुआ है। कितने ही लेख तो बहुत ही उत्कृष्ट हैं। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ को समर्पित करते हुए मुझे सात्त्विक गौरव का अनुभव हो रहा है। गुरुदेव श्री के सम्बन्ध में अनेक संस्मरण हैं। आज इतना ही। कभी अवकाश के क्षणों में विस्तार से लिखने का विचार है। उस महापुरुष के चरणों में मेरी अपनी अनन्त श्रद्धा समर्पित है। □

बहुश्रुत साधक

□ डा० सागरमल जैन, भोपाल

राजस्थानकेसरी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज साहब के बहुश्रुत साधक व्यक्तित्व से मेरा प्रथम परिचय सन् १९६९ में उनकी पुस्तक 'साधना का राजमार्ग' के माध्यम से हुआ था। यद्यपि यह परिचय परोक्ष ही था, किन्तु पुस्तक को पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि इसका लेखक प्रतिभासम्पन्न एवं शोधपूर्णदृष्टि से युक्त है। इस पुस्तक ने ही मेरे मन में उनके प्रत्यक्ष दर्शन की जिज्ञासा को जाग्रत कर दिया। अजमेर के द्वितीय साधु-सम्मेलन के अवसर पर मुझे आपश्री के प्रत्यक्ष दर्शन हुए, किन्तु यहाँ के कुछ प्रारम्भिक परिचय से अधिक का अवसर ही नहीं था क्योंकि आपश्री व्यस्त थे, श्रमण संघीय एकता की सुदृढ़ पीठिका के निर्माण में। अन्तरंग परिचय के अभाव में यह प्रत्यक्ष दर्शन भी हृदय को पूर्ण परितोष नहीं दे पाया। यह अवसर मिला पूना विश्व विद्यालय द्वारा आयोजित जैनदर्शन सम्बन्धी सेमीनार के समय। सम्भवतः यह प्रथम अवसर था जब किसी स्थानकवासी जैन मुनि ने इस प्रकार की शोधपरक विचारणा को स्वयं की उपस्थिति एवं वैचारिकता से प्रभावित किया हो। यद्यपि गोष्ठि में आपकी भूमिका एक तटस्थ द्रष्टा एवं गम्भीर अध्येता की थी, लेकिन जब आपने चर्चित विषयों के सम्बन्ध में जो टिप्पणी की वह सटीक और प्रमाणिक थी। इसी अवसर पर आपका एक योगी स्वरूप भी देखने को मिला। संगोष्ठी के समय भी जब आपके ध्यान का समय होता, आप विश्वविद्यालय के उद्यान में शिलापट्ट पर अवस्थित हो ध्यान साधना में लीन हो जाते। आपके बहुआयामी अन्तरंग व्यक्तित्व का परिचय मिला, उस दिन रात्रि को, जब डा० संगमलाल पाण्डेय, डा० सोगानी, मैं और अन्य साथी आप की सेवा में उपस्थित हुए। ध्यान-साधना और सिद्धि के विविध आयामों पर चर्चा प्रारम्भ हुई। फिर तो आप अपनी अनुभूतियों को सहजभाव से बिखेरते चले गये। आपके जीवन के संस्मरण को सुनकर तो हम सब स्तब्ध थे। इस पूर्ण परिचय से हमें लगा कि राजस्थान केसरी जी के सरल हृदय एवं सौम्य-मना व्यक्तित्व ने हमें बरबस ही श्रद्धान्वित कर लिया है। वे बौद्धिक प्रतिभा एवं आध्यात्मिक साधना से युक्त एक ऐसे साधु-पुरुष हैं, जिन्हे पाकर जैन समाज ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानवता गौरवान्वित है। उपाध्यायजी शतायु होकर ज्ञान-भण्डार को समृद्ध कर जिनशासन की सेवा करते रहे, यही मंगल कामना है।

●

विद्यानुरागी एवं कथाशिल्पी

□ डा० प्रेमसुमन जैन, उदयपुर विश्वविद्यालय

योगी श्री पुष्करमुनि जी से मेरा प्रथम : में हुआ। उन्हें ज्ञात था कि मैं उदयपुर में प्राकृतभाषा व साहित्य के अध्यापन- क हूँ, इसीलिए उन्होंने मुझे किसी श्रावक रवाया था। प्रथम भेंट में ही मुनि जी के ा के प्रचार-प्रसार के लिए जो भावना ृत प्रेरणा मिली। मुनिजी ने विस्तार से पूछा कि तुम्हें कोई कठिनाई तो नहीं है? छात्र प्राकृत पढ़ने में रुचि रखते हैं कि नहीं? इत्यादि। हमारे योग्य कोई कार्य हो तो निःसंकोच होकर कहें।

मुनि जी का विद्या के प्रति इस अनुराग और अपने प्रति सहज आत्मीयता को पाकर मुझे बहुत संतोष हुआ। मैंने प्राकृत अध्ययन की गतिविधि से उन्हें परिचित कराते हुए कहा कि पाठ्यक्रम में आगम ग्रन्थों से कुछ अंश निर्धा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रित हैं। यदि हिन्दी अनुवाद के साथ वह सब पाठ्यक्रम एक पुस्तक में संग्रहीत हो जाय तो छात्र बहुत लाभान्वित हो सकते हैं। मुनि जी ने तुरन्त अपने मेधावी और विश्रुत शिष्य श्री देवेन्द्र मुनि जी की तरफ देखा और मुझे कहा कि तुम ऐसी पुस्तक तैयार करो, हम प्रकाशित करा देंगे। उनके इस विद्यानुराग का ही परिणाम है—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर से प्रकाशित **प्राकृत-काव्य सौरभ**। इस पाठ्यपुस्तक में आचारांग, उत्तराध्ययन, प्रवचनसार, मूलाचार, पउमचरियं आदि के पाठ्यांश संग्रहीत हैं।

इसी प्रसंग में मुझे श्री देवेन्द्र मुनि जी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्रद्धेय पुष्कर मुनि जी के विद्यानुराग का जीता-जागता प्रमाण है श्री देवेन्द्र मुनि जी का व्यक्तित्व और वैदुष्य। मुनि जी के अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों से देश-विदेश के विद्वान परिचित हैं। देवेन्द्र मुनि जी के अतिरिक्त अन्य मुनिगणों ने भी जैनविद्या का गहन अध्ययन किया है तथा साहित्य-सृजन में संलग्न हुए हैं। इस प्रकार का बहुश्रुत शिष्य परिवार का तैयार होना श्रद्धेय पुष्करमुनि जी की सतत प्रेरणा व विद्यानुराग के बिना संभव नहीं था। राजस्थान, गुजरात व दक्षिण भारत के भ्रमण में आज भी मुनि जी जैनविद्या व प्राकृत के पठन-पाठन व प्रचार-प्रसार के लिए प्रेरणाएँ देते रहते हैं। उनके इस विद्या प्रेम के कारण ही आज श्रावक समुदाय भी जैन साहित्य के महत्त्व को न केवल समझने लगा है, अपितु उसकी सुरक्षा और प्रकाशन में अपना योगदान दे रहा है।

मुनि जी के विद्यानुराग का तीसरा प्रसंग मेरे सामने तारक गुरु ग्रन्थालय की योजना है। इस संस्था द्वारा अनेक दुर्लभ ग्रन्थों का संग्रह व सुरक्षा का प्रयत्न किया गया है। कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का नयनाभिराम प्रकाशन भी इसके द्वारा हुआ है। उदयपुर में स्थित इसके कार्यालय में विद्यानुरागियों को कई सन्दर्भ ग्रन्थ देखने की सुविधा है। यह सब मुनिजी की दूरदृष्टि का ही परिणाम है। उनके द्वारा आरोपित इस वृक्ष का पोषण करना समाज का दायित्व है। यदि इसे उचित दिशा-सहयोग प्राप्त हुआ तो एक दिन जैन विद्या का यह महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठान साबित होगा। मुनि जी के दीक्षा स्वर्णजयन्ती के अवसर पर इस संस्थान में कई प्रवृत्तियां साकार रूप ग्रहण कर सकती हैं।

पूज्य गुरुदेव का विद्यानुराग एक साहित्यकार के रूप में भी प्रकट हुआ है। अपने प्रवचनों व उद्‌बोधनों में मुनि जी अनेक मनोहारी दृष्टान्तों व कथाओं का प्रयोग करते रहे हैं। इधर उन्होंने जैन साहित्य के विशाल भण्डार से कुछ कथा-मुक्तकों को चुनकर उन्हें नयी शैली में प्रस्तुत किया है। **'जैन कथाएँ'** के नाम से ३० भाग प्रकाशित हो चुके हैं। १०० भागों में गुरुदेव ने इन कथाओं को लिखने का संकल्प किया है। कथा साहित्य के इतिहास में पूज्य गुरुदेव का यह नये ढंग का योगदान होगा।

मुझे इन कथाओं को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, किन्तु ग्रन्थ प्राप्त होने के एक माह बाद में। क्योंकि तब तक मेरे बच्चों व पत्नी ने इन कथाओं को छोड़ा ही नहीं। कथाओं की इस रोचकता से स्पष्ट है कि मुनि जी एक अच्छे कथाशिल्पी हैं। उन्होंने प्राचीन चरित्रों को इस तरह निर्मित किया है कि उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रेरणादायक बन गया है। कथाओं की भाषा बड़ी सरल व प्रभावोत्पादक है। काव्य-सी सरसता और उपन्यास जैसी रोचकता से युक्त ये कथाएँ मुनि जी के कथाकार के व्यक्तित्व को उजागर करती हैं। इस प्रकार के जनोपयोगी साहित्य के निर्माण में संलग्न और जैन विद्या के अध्ययन-अनुसंधान को निरन्तर प्रेरणा प्रदान करने वाले पूज्य गुरुदेव के उस विराट् व्यक्तित्व को मेरे अनन्त प्रणाम! जिससे उनका शिष्य समुदाय और समाज आलोकित हो रहा है।

—★—

अनोखा व्यक्तित्व

□ डा० भागचन्द जैन 'भास्कर', नागपुर विश्वविद्यालय

फरवरी १९७६ का प्रथम सप्ताह। घोड़नदी (पुणे) का सुन्दर स्थानक। प्रातःकालीन दर्शनों के लिए उमड़ती हुई अपार भीड़। बाल-बच्चे, युवक-बूढ़े, सभी वर्गों में अमित उत्साह की अनन्त लहरों का उछाल। जयकार के निनादों से प्रतिध्वनित सभागृह का विचित्र वातावरण। आचार्य सम्राट आनन्द ऋषि जी के पास बैठा यह सब कुछ मैं देख-सुन रहा था और मन ही मन बड़ा प्रसन्न हो रहा था।

एकाएक सूचना मिलती है कि उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी अपने अनन्यविद्वान् शिष्य साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनि जी के साथ दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर वापिस आ रहे हैं। प्रशान्त मुख, सौम्य आकृति, मन्द चाल और स्मित वदनवाला व्यक्तित्व चला आ रहा था अपने श्रद्धालु परिकर के साथ। विद्वत्ता और गम्भीरता को अपने चादर में छिपाये वे क्षणभर में ही मेरे सामने आकर खड़े हो गये जैसे वे मुझे पहले से ही जानते हों। मैं कुछ अभिभूत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा उठ पड़ा। प्रथम साक्षात्कार था, पर परिचय की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। वैसे मैं उनकी अपेक्षा देवेन्द्र मुनि जी को नामतः परिचित के रूप में अधिक स्मरण कर रहा था।

सुबह का समय और फिर मुनिवर्ग की कुछ अपनी विशेष दिनचर्या। इसलिए उस समय तो मेरा उनसे विशेष वार्तालाप नहीं हो सका, पर पूरा रविवार मेरे पास था। उसका मैंने भरपूर उपयोग करना चाहा। किया भी। सुबह का समय तो पूज्य देवेन्द्र मुनि जी के साथ बैठकर "भगवान महावीर और उनका चिन्तन" लिखी मेरी पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ने में गया। दोपहर का जो समय मिला उसमें पुष्कर मुनि जी से भेंट की। बड़ी स्नेहिल भेंट थी वह। मुमुक्षु आते गये, चले जाते गये, पर चर्चा का क्रम प्रायः टूट नहीं पाया। ऐसा लगा जैसे बहुत दिनों बाद वे इतने खुल सके हों।

चर्चा के अनेक विषय थे—साहित्यिक, धार्मिक और सामाजिक। इन तीनों की अभ्युन्नति के प्रति उनका लगाव, सूक्ष्म चिन्तन और तलस्पर्शिता अभिनन्दनीय थी। साम्प्रदायिकता के व्यामोह से हटकर भी वे कुछ कहते रहे और नयी पीढ़ी को नयी दिशा देने के तन्तु बिखेरते रहे। चर्चा के दौरान उनका मधुर व्यक्तित्व उनकी संगठनशीलता, अनुशासनबद्धता तथा चारित्रिक दृढ़ता की सुरभित पृष्ठ-भूमि से बेहिसाब जुड़ा हुआ था। एक अध्यात्मयोगी के साथ इन सब विशेषताओं का अनोखा संयोग अविस्मरणीय है।

समूची चर्चा में मैंने उन्हें पाया एक प्रतिभा सम्पन्न तेजस्वी कलाकार, जो समाज के नये निर्माण में अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए उतावला है। स्थानक से मेरा सूटकेस गुमने की रामकहानी जब उनके कानों तक पहुँची तो उनका अन्तर्मन विचलित हो उठा। वे आश्चर्य-चकित हो गये। समाज को सन्मार्ग पर लाने की चिन्ता उनके मन में और भी अधिक जाग्रत हो गई। उनका कवि हृदय उद्वेलित हो गया।

दूसरे दिन घोड़नदी से वापिस लौटा। कुछ ले-देकर मेरे मन का हर कोना पुष्कर मुनि जी के प्रभाकर व्यक्तित्व से खिंच गया था। कुछ अल्प समय का ही परिचय स्थायित्व ले चुका था। उनके सरस और अनोखे व्यक्तित्व के लिए मेरा शतशः अभिनन्दन-अभिवन्दन।

□

अभिनन्दन : एक रचनाधर्मी सांस्कृतिक चेतना का

□ डा० नरेन्द्र भानावत, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भारतीय सन्त-परम्परा का आध्यात्मिक जागरण और सामाजिक क्रान्ति के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सन्तों के क्रान्तद्रष्टा व्यक्तित्व ने अन्धरूढ़ मान्यताओं के खिलाफ स्वर बुलन्द कर अहिंसक नव समाज रचना की भूमिका तैयार की और उसमें मानवीय सद्गुणों के बीज वपन कर उन्हें पल्लवित, पुष्पित और फलित करने में अपना सतत पुरुषार्थ-पराक्रम दिखाया। सन्तों की इसी समृद्ध परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र हैं, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि।

मुनिश्री का व्यक्तित्व बहुरंगी और बहुआयामी है। सन्तों, सूरमाओं और भक्तों की पुण्यभूमि मेवाड़ की अरावली उपत्यका में आज से ६७ वर्ष पूर्व जागीरदार पालीवाल ब्राह्मण परिवार में आपका जन्म हुआ। धार्मिक संस्कार आपको बचपन से ही मिले। पर्वतीय प्रदेश की विराट् प्रकृति ने आपको अन्तर्मुखी बनाकर अन्तर में छुपे विराट् ब्रह्म से साक्षात्कार करने की प्रेरणा दी। फलस्वरूप १४ वर्ष की अवस्था में आपने महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज से जैन दीक्षा अंगीकृत की, और आप बालक अम्बालाल से मुनि पुष्कर बन गये। आपमें आम्र का मीठापन तो था ही, अब पुष्कर (कमल) की कोमलता और प्रफुल्लता भी उसमें समाहित हो गई। दीक्षित होने के बाद आपका चित्त ज्ञानाभ्यास और योग-साधना में प्रवृत्त हो गया और शनैः-शनैः आपका जीवन पुष्कर की निर्लेपता और उसके पराग की पवित्रता से सिक्त हो उठा।

मुनिश्री के साहित्यिक व्यक्तित्व से तो मैं वर्षों से परिचित था, पर आपके दर्शनों का अवसर मुझे सन् १९७२ के जोधपुर चातुर्मास में मिला। मैं तब वहाँ माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान और NCERT द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित एक कार्यगोष्ठी में गया हुआ था। उस समय मुनिश्री अपने विद्वान् शिष्य श्री देवेन्द्र मुनि के साथ सरदारपुरा स्थानक में विराजमान थे। वहाँ पहुँच कर मैंने देखा कि श्री पुष्कर मुनि अपने ज्ञान-ध्यान में मग्न हैं, और पास ही के कमरे में बैठे हैं। उनके विद्वान् शिष्य श्री देवेन्द्र मुनि जिनके इर्द-गिर्द कई सन्दर्भ ग्रन्थ बिखरे पड़े हैं। उस समय मुनिश्री का 'भगवान महावीर : एक अनुशीलन' ग्रन्थ का लेखन-कार्य चल रहा था। [अब तो यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है और विद्वानों ने इसकी भूरि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूरि प्रशंसा की है।] उस समय उपाध्याय श्री और श्री देवेन्द्र मुनि के साथ साहित्यिक और सामाजिक समस्याओं पर बातचीत हुई। इस बातचीत में मैंने पाया कि उपाध्याय श्री जहाँ गूढ़ शास्त्रवेत्ता हैं, वहीं सरस-कवि, ओजस्वी व्याख्याता और प्रवचन-पटु भी हैं। आपका शास्त्रीय ज्ञान गहन और लोकानुभव विस्तृत है।

समाज को शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में आगे बढ़ते रहने की आप निरन्तर प्रेरणा देते रहे हैं। आपकी प्रेरणा से श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर की स्थापना हुई जिसके माध्यम से जीवनोपयोगी और ज्ञानवर्धक कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मेवाड़, मारवाड़, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, दिल्ली आदि अनेक क्षेत्रों में आपने चातुर्मास किये हैं और जगह-जगह शिक्षणसंस्थान, गोशाला, चिकित्सालय, पुस्तकालय आदि खोलने की प्रेरणा दी है।

श्री पुष्करमुनि का साहित्यिक और सांस्कृतिक व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली है। उसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी प्रवाहित है। संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओं पर आपका समान अधिकार है। सरलता, सुबोधता और सरसता आपकी साहित्यिक कृतियों की विशेषतायें हैं। आप कहीं भी जटिल और बोझिल नहीं बनते। पीयूषवर्षी मेघ की भाँति आप श्रोताओं के हृदय को रसविभोर कर देते हैं। क्या प्रवचन, क्या कथा और क्या कविता; सब में आपके व्यक्तित्व का तेज, भावों का सारल्य और भाषा का लालित्य एक साथ प्रकट होता है।

साहित्य और साधना का यह ऋषि निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जा रहा है। अपने पथ में यह अकेला नहीं है। इसने अपने कई विद्वान् श्रमणों और विदुषी श्रमणियों को भी इस साधना-पथ पर बढ़ने के लिए सक्षम और सामर्थ्यवान बना दिया है। सब बढ़ रहे हैं युगपत्। ऐसे मनीषी सन्त और रचनाधर्मी सांस्कृतिक चेतना के धनी तेजस्वी व्यक्तित्व का उसकी संयमसाधना के ५४ वर्ष सम्पन्न होने के पुनीत प्रसंग पर हार्दिक अभिनन्दन और विनम्र वन्दनार्चन।

—●—

राजस्थानकेशरी श्री पुष्करमुनि जी

□ श्री रिषभदास रांका

जैनधर्म के प्रसार में ब्राह्मणों का योगदान कम नहीं है। भगवान महावीर के प्रथम और प्रमुख शिष्य ब्राह्मण ही थे। ब्राह्मणों में विद्या या सरस्वती की उपासना प्राचीन काल से चली आ रही है। भगवान महावीर एवं तथागत बुद्ध ने ब्राह्मण के जो लक्षण बताये वे लगभग समान हैं। वे कहते हैं—ब्राह्मण, तपस्वी, अकिंचन, इन्द्रिय-निग्रही, कृश काय, व्रतस्थ, शांत, दान्त, अलोलुप, अनासक्त, जल-कमल की तरह निर्लिप्त,, ब्रह्मचारी, सत्यवक्ता, अहिंसक, ज्ञानी, दृढनिश्चयी, राग-द्वेष व भयरहित होता है। वैदिक धर्म ने भी इसी तरह के गुणयुक्त व्यक्ति को ब्राह्मण कहा है। गीता ने ब्राह्मण के नौ गुण बताये हैं—शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य। ये गुण जिसमें हों वह ब्राह्मण। स्वाभाविक ही परम्परा से ये गुण जिसे प्राप्त हैं वे ब्राह्मण उत्तम धर्म प्रसारक हो सकते हैं और यही कारण है कि भगवान महावीर के धर्म का व्यापक प्रसार करने वाले ब्राह्मण थे। उनके प्रमुख शिष्य तो थे ही पर उसके बाद में भी बड़े-बड़े आचार्य ब्राह्मण हुए। इतना ही नहीं पर प्रतापी राजाओं का राज्य चलाने वाले भी अमात्य ब्राह्मण ही थे। शकडाल, चाणक्य आदि अनेकों कुशल मन्त्री रहे जिन्होंने राज्य-शासन किस प्रकार चलाया जाय इसकी शिक्षा दी। हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर जैसे आचार्य महापंडित और साहित्यिक ब्राह्मण ही थे। उत्तर में ही नहीं दक्षिण में भी अनेक आचार्य तथा साहित्यिक ब्राह्मण थे। यही कारण है कि उन्हें सरस्वती पुत्र या सरस्वती के उपासक माना है। क्षत्रिय को शक्ति का और वैश्यों को लक्ष्मी का उपासक माना है। प्राचीन काल में ही नहीं, आज भी अनेक ब्राह्मण जैन साहित्य और विद्या की सेवा करते हैं और उन्हींमें राजस्थानकेसरी श्री पुष्कर मुनिजी एक हैं। उन्होंने साहित्य की सेवा तो की है किन्तु उनकी विशेषता यह भी है कि उन्होंने साहित्य की उत्तम सेवा करने वाले शिष्यों का भी निर्माण किया है।

उनका जन्म मेवाड़ की वीरभूमि में हुआ। अतः ब्राह्मण होते हुए भी उन पर वीरता का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। वे जितने ब्राह्मण हैं उतने क्षत्रिय भी है। वीरता उन्हें मेवाड़ के शौर्य भरे वातावरण से प्राप्त हुई है और वे ब्राह्मण की तरह क्षत्रिय भी हैं। शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, दान और युद्ध से न भागना यह गुण भी सहज में प्राप्त होने से उनको राजस्थानकेसरी की उपाधि दी गई वह योग्य ही है।

मेरा उनका प्रथम परिचय जो हुआ वह भ्रांति से ही प्रारम्भ हुआ। बम्बई में जब उनका चातुर्मास बालकेश्वर में हुआ तो मेरे मन पर प्रतिकूलता का वातावरण था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि उस चातुर्मास में दो-चार बार आना-जाना हुआ उनकी अकाट्यतर्कों से मैं प्रभावित हुआ। उनकी सहनशीलता ने मुझे आकर्षित किया। उनके विद्वान् शिष्य देवेन्द्र मुनि जी का आकर्षण तभी से था। लेकिन पूना चातुर्मास में श्री पुष्करमुनि जी का विशेष सम्पर्क हुआ और देखा कि उनमें ज्ञान-साधना के साथ-साथ आत्म-साधना की वृत्ति भी है। हमने देखा ठीक ध्यान का समय होते ही वे व्याख्यान से चल देते हैं और जाकर एकान्त में ध्यान करने लगते हैं। इस बात का मन पर परिणाम इसलिए हुआ कि वे श्रावक चरण स्पर्श कर सकें इसलिए ठहरते नहीं। गृहत्याग कर साधु बने अनेक सन्तों को इस मोह से पीड़ित पाया। पैर पर मस्तक घिसने की व्यवस्थित पंक्ति बनाई जाती है और उपासक पैर को छूकर अपने आपको धन्य समझते हैं। अपने भाग्य का विधाता अपने आपको मानने वाले जैन धर्म में व्यक्तिपूजा और चमत्कार पर श्रद्धा रखने वालों पर दया आती है। कैसी विडंबना है यह ? बड़ों के प्रति आदर रख सद्गुणों की उपासना की जा सकती है पर गुरु हमें कुछ दे देगा ऐसी कामनिक भक्ति का जैन-शास्त्र में विधान न होते हुए भी हम ऐसे पुरुषार्थहीन बन गये हैं कि सन्त तथा महापुरुषों का उपदेश जीवन में न उतार कर केवल उनकी भक्ति से कल्याण होगा यह मान्यता प्रचलित देखकर दुःख हुए बिना नहीं रहता। जिस परावलंबन को मिटाने के लिए ईश्वर की कामनिक भक्ति का विरोध करने वाले जैन धर्म में वह प्रचलित हो यह सचमुच धर्म नहीं, धर्म की विडंबना है।

पूना चातुर्मास में सम्पर्क बढ़ा। हमने देखा कि मुनिजी हृदय को आकर्षित करने वाले उत्तम वक्ता ही नहीं है, पर गुणों का आदर करने वाले लोक संग्रह करने वाले नेता भी हैं। उन्होंने पूना चातुर्मास में अनेक जैन विद्वानों का गौरव कर जैन समाज को विद्वानों का आदर करना भी सिखाया। अपने आपको बड़ा समझना या बड़ा होने से दूसरों को बड़ा बनाना यह गुण श्री पुष्कर मुनिजी में है। स्थानकवासी समाज में जन-कल्याण के काम कम नहीं होते। साहित्य प्रकाशन में हर साल लाखों का खर्च होता है, बढ़िया साहित्य भी निकलता है पर वह प्रायः साधु समुदाय के उपासकों के बाहर नहीं जाता, सेठों की अलमारियों की शोभा बढ़ाता है। यही कारण है कि स्थानकवासी समाज के कार्य का योग्य मूल्यांकन नहीं हो पाता। साहित्य में व्यापकता और उसका व्यापक प्रचार का महत्व पुष्कर मुनिजी और उनके शिष्यों ने कुछ समझा है और उस दिशा में कुछ प्रयत्न भी उनकी ओर से हो रहा है। श्रावकों से लाखों रुपये दान में लेकर छपा हुआ साहित्य गोदामों में सड़ता है या चूहों का खाद्य बनता है। उन विद्वानों तक भी नहीं पहुँचता जिनके पास पहुँचने पर उसका सद् उपयोग होने की संभावना रहती है।

हमें पूना चातुर्मास में पुष्कर मुनिजी एवं देवेन्द्रमुनिजी के सम्पर्क से कुछ आशा बंधी कि स्थानकवासी समाज के कार्यों से अन्य जैन सम्प्रदाय ही नहीं, पर अजैन विद्वान भी परिचित होगा। और कामों को व्यापक और अधिक उपयोगी बनाया जावेगा।

हम मुनिजी और उनके शिष्य परिवार की शुभ प्रवृत्तियों की सराहना करते हुए उनको श्रद्धांजली अर्पण कर कामना करते हैं कि उन्हें दीर्घायु और स्वास्थ्य मिले, ताकि स्थानकवासी समाज ही नहीं पर पूरे जैन समाज की ऐसी सेवा करें जिससे राष्ट्र और मानव जाति की सेवा में जैन समाज आगे बढ़ सके।

—☆—

सांस्कृतिक एकता के सेतु—श्री पुष्करमुनि

□ श्री चन्दनमल 'चाँद' [सम्पादक—जैन जगत]

भारतीय संस्कृति अनेकता में एकता की एक सामासिक संस्कृति है। विश्व की अनेक जातियाँ एवं धर्म इस संस्कृति के सागर में घुल-मिलकर एकाकार हो गये हैं। अनेक दर्शन, वाद एवं मतमंतारों के अतिरिक्त विश्व की अनेक जातियाँ, अनेक भाषाएं, पहनावे और सभ्यताएँ भारत में पहुँचीं। भारतीय संस्कृति ने उदारता से उन सबको रचा-पचाकर आत्मसात कर लिया, फलतः आज भारत संस्कृति का एक ऐसा गुलदस्ता है, जिसमें रंग-बिरंगे फूलों की तरह अनेक पहनावे, भाषाएँ, धर्म आदि शोभित हो रहे हैं।

भारतीय संस्कृति के इस विशाल सागर में भी गंगा, यमुना एवं सरस्वती की तरह तीन धाराएँ स्पष्ट दीखती हुई संगम बनी हुई हैं। ये तीन धाराएं हैं—वैदिक, जैन एवं बौद्ध। जैन एवं बौद्ध धाराओं को श्रमणसंस्कृति के एक प्रवाह में भी व्यक्त या उल्लिखित किया जा सकता है।

राजस्थानकेसरी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी वैदिक एवं श्रमण संस्कृति की दो धाराओं के बीच अनूठे सेतु हैं। ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर वैदिक संस्कार प्राप्त किये किन्तु जैन धर्म एवं जैनदीक्षा स्वीकार कर साधना के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग पर बढ़े। वेदों की ऋचाएं, गीता एवं उपनिषद् के घोषों के बीच आगम की गाथाओं एवं णमोकारमन्त्र का निनाद उनके सांस्कृतिक व्यक्तित्व को एक विशिष्टता प्रदान करता है। जैनदर्शन का अनेकान्त उनके जीवन में फलित हुआ है, उनके कार्य एवं व्यवहार में उभरा है।

श्री पुष्करमुनिजी से मेरा सम्पर्क वर्षों पुराना है। उनकी निकटता, स्नेह और वात्सल्य मिला है। उन्हें निकट से जानने, देखने और सुनने के अनेक अवसर मिले हैं। श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री जैसे योग्य विद्वान् शिष्यों को निर्मित करने, स्वयं की आध्यात्मिक साधना में लीन रहने और सार्वजनिक उपदेशों में कहीं भी व्यक्तिक्रम नहीं होने देते। नियत समय, नियमितचर्या और संयमित जीवन मुनिश्री की विशेषता है।

हिमालय जैसी सुदृढ़ प्रलम्ब काया, गम्भीर घोषयुक्त वाणी और बालकों जैसी निर्दोष मुस्कुराहट उनके व्यक्तित्व का प्रमुख आकर्षण हैं। व्याख्यान में बोलते हैं तो लगता है घोष कर रहे हैं और निर्धारित समय के बाद जब मौन कर लेते हैं तो लगता है मानो श्वेत शिलाखंड स्थिर हो गया हो। शरीर जितना सुदृढ़ एवं वज्र जैसा लगता है हृदय उतना ही कोमल एवं दयार्द्र! दया एवं करुणा का प्रवाह हृदय को सिंचित करता रहता है।

स्वयं की साधना को प्रमुख स्थान देकर लोक-कल्याण में प्रवृत्त होते हैं। दूसरों को उपदेश देने या तारने की चिन्ता में अपनी साधना नहीं भूलते। ध्यान, मौन, तपस्या एवं स्वाध्याय सतत करते रहते हैं। अनेक बार तो भरी सभाओं में कार्यक्रम के बीच से ही इसलिए उठ जाते हैं कि आपके मौन व ध्यान का समय हो गया। जहाँ आप पधारते हैं वहाँ तपस्याओं की झड़ी लग जाती है। जैन ही नहीं, बल्कि अजैन भी तपस्याएं सहज-भाव से करते हैं। जैन धर्म के तत्वों एवं जीवन-दर्शन को स्वयं के आचार-व्यवहार से लोगों को बताने वाले पूज्य पुष्कर मुनिजी का अभिनन्दन उनके लिए महत्व की बात नहीं, क्योंकि वे समता के साधक हैं। गुणानुवाद कर हम अपनी कर्म-निर्जरा करें, इस दृष्टि से अभिनन्दन का यह अनुष्ठान प्रशंसनीय है।

पूज्य पुष्कर मुनिजी के थोड़े बहुत सम्पर्क में मैंने उनमें एक सच्चे साधक का स्वरूप पाया, गुण दृष्टि देखी और फक्कड़पन भरी वह मस्ती देखी जो कम ही सन्तों में पाई जाती है। राजा हो या रंक, निर्धन हो चाहे अमीर, पुष्करमुनि की नजरों में कोई बड़ा छोटा नहीं। व्याख्यान में भी किसी की ठकुरसुहाती या मुँहदेखी नहीं कहते। जहाँ कभी, दोष या अवगुण नजर आया स्पष्ट शब्दों में कहने की निर्भयता रखते हैं।

मैं अभिनन्दन के स्वरों में अपना स्वर मिलता हुआ उनके प्रति विनम्र श्रद्धा व्यक्त करता हूँ।

धर्म के मर्मज्ञ

☐ **श्री राधाकृष्ण रस्तोगी,** एडवोकेट

परमादरणीय श्री पुष्कर मुनि जी के साथ मेरा सम्पर्क पन्द्रह वर्षों से है। दो बार मैं उनकी विहार यात्रा में साथ ही रहा। एक बार सात दिन और दूसरी बार चार दिन। इस यात्रा में मैंने आपश्री को बहुत ही सन्निकटता से देखा। जैनमुनियों से प्रथम परिचय आपसे ही हुआ था। जैन श्रमणों की आचार-संहिता ने मुझे प्रभावित किया। मैं विहार यात्रा में आपसे तत्वार्थसूत्र भी पढ़ता रहा। और साथ ही जब भी समय मिलता तब आपसे जैन दर्शन, वैदिक दर्शन आदि के सम्बन्ध में चर्चा करता। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि आप महान् साधक के साथ गम्भीर विचारक भी हैं। आपके प्रवचनों को सुनने का भी मुझे अनेक बार अवसर मिला। आपके प्रवचन हृदयस्पर्शी होते हैं। गम्भीर से गम्भीर विषयों को भी आप इस तरह से प्रस्तुत करते हैं कि सुनने वाला श्रोता मन्त्र मुग्ध हो जाता है।

वार्तालाप के प्रसंग में आपश्री ने मुझे स्वाध्याय की प्रेरणा दी। 'स्वाध्यायान् मा प्रमदः' का पाठ पढ़ाया। किन्तु स्वाध्याय तोता रटन की तरह नहीं होनी चाहिए। जो भी स्वाध्याय की जाय उसके मर्म को समझा जाय और उस मर्म को समझकर उसे जीवन में उतारा जाय; तभी स्वाध्याय का सही लाभ हो सकता है। मुझे आपश्री की प्रस्तुत प्रेरणा से अत्यधिक लाभ हुआ।

गुरुदेव श्री का जालोर वर्षावास था। मैं अभी दर्शनार्थ पहुँचा था। धर्म के सम्बन्ध में चर्चा चलने पर आपश्री ने बताया कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। आत्मधर्म अलग चीज है और राष्ट्रधर्म अलग चीज है। स्थानाङ्ग सूत्र में भगवान महावीर ने राष्ट्रधर्म का उल्लेख किया है। जो व्यक्ति जिस राष्ट्र में रहता है उसके प्रति उसका कर्तव्य है। यदि वह अपने कर्तव्य से च्युत होता है तो वह अपने राष्ट्रधर्म से च्युत होता है। यदि राष्ट्रधर्म से युक्त होगा तो व्यक्ति भी धर्म का उपासक होगा। पहले राष्ट्रधर्म है'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर निजधर्म है। निजधर्म की साधना तभी सम्यक् प्रकार से हो सकती है जबकि राष्ट्रधर्म की साधना सम्यक् होगी। राष्ट्रधर्म और निजधर्म दोनों का मधुर समन्वय सुनकर मेरा हृदय आनन्द से झूम उठा। वस्तुतः ऐसे बहुत कम सन्त हैं जिनका चिन्तन इस प्रकार स्पष्ट हो।

महाराज श्री से अनेकों बार अनेकों विषयों पर विचार-चर्चाएँ हुईं। मैं उन विचार चर्चाओं से बहुत लाभान्वित हुआ हूँ। मुझे अपार आल्हाद है कि ऐसे महान् सन्त का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। होना ही चाहिए। क्योंकि गुणियों का अभिनन्दन करना भारतीय संस्कृति की प्राचीन परम्परा रही है। मैं अपनी हार्दिक श्रद्धार्चना मुनि श्री के चरणों में समर्पित करता हूँ कि वे पूर्ण स्वस्थ रहकर भूले-भटके जीवन-राहियों को सही मार्गदर्शन देते रहें।

महामानव राजस्थानकेशरी पुष्करमुनि जी महाराज

☐ श्री जीतमल लूणिया [अजसेर]

अन्तर के तेज से दीप्तिमान मुखमण्डल, उन्नत और प्रशस्तभाल, अन्तर-भेदिनीदृष्टि मुक्त उज्ज्वल नेत्र, गम्भीर मुद्रा, हृदय परिवर्तन कारिणी सुधोपम वाणी, प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व·····। परम पूज्य गुरुदेव श्री राजस्थान केसरी पुष्कर मुनिजी महाराज के अद्‌भुत गरिमामय व्यक्तित्व की झांकी प्रस्तुत करने में यह शब्द—संयोजना कदाचित् अक्षम सिद्ध होती जा रही हैं, उस विराट व्यक्तित्व के विषय में श्रद्धालुजन प्रभावित और चमत्कृत होकर जिस प्रकार का अपना मानस बनाते हैं—उसकी सम्पूर्णतः अभिव्यक्ति कठिन है। उनका अनुभव 'गूंगे के गुड़' जैसा रह जाता है और 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' वाली असमर्थता को स्वीकार कर मन विवश हो जाता है। निश्चित ही महाराज श्री असाधारण गरिमा युक्त व्यक्तित्व के स्वामी हैं। आपश्री के सशक्त तन में अतीव मृदुल मन का निवास है·····मन, जो करुणा, स्नेह, सहानुभूति, क्षमा, सेवा, सहायता और औदार्य का समन्वित रूप हैं। परम श्रद्धेय पुष्कर मुनिजी महाराज वस्तुतः जन-जन के लिए पूज्य हैं, वंद्य हैं। श्रद्धेय तो वह होता है, जिसकी श्रेष्ठता और महानता को जनमानस सानन्द स्वीकृति दे। इस कसौटी पर आपश्री सर्वथा खरे उतरते हैं और इसका आधार महाराज श्री का व्यापक जनहिताय कृतित्व हैं।

महापुरुष कौन·····? इस विषय में स्वयं महाराज श्री के विचार उल्लेखनीय हैं—"अन्य में जैसा परिवर्तन अपेक्षित समझें, वैसा परिवर्तन जो पहले स्वयं में ले आए और इस परिवर्तित रूप में प्रभावित होकर अन्य जन स्वतः ही सुधारने लगें—वह महापुरुष है। वह नहीं·····अपितु उसका स्वरूप ही सुधारक होता है। उसका कण्ठ मौन और आचरण ही मुखर होता है।" महाराज श्री ने चिन्तन की अतल गहराई से जिस तत्व-मणि की प्राप्ति की है, उस मौलिक तात्विक सिद्धान्त को आपश्री ने अपने आचरण में ऐसा ढाला है कि स्वयं ही महानता की साकार परिभाषा हो गये हैं, महापुरुषों के लक्षणों के मूर्त उद्धरण हो गये हैं। इसके अतिरिक्त महापुरुषों के लिए महाराज श्री की यह धारणा भी है कि जो जितना महान होगा वह उतना ही शान्त और गम्भीर भी होगा। उथला जल अधिक अस्थिर होता है। देशकाल-वातावरण के अनुरूप जो व्यवहार नहीं करता हो, वह तो मानव ही नहीं होता और जो इसके अनुरूप अपना व्यवहार ढालने में सफल रहे वह साधारण मानव होता है। किन्तु जो अपने आदर्शों और सद्‌विचारों के अनुकूल देश-काल-वातावरण को ढालने में सफल रहे, वह महापुरुष होता है। महाराज श्री की इस धारणा की यदि परीक्षा की जाय तो स्वयं महापुरुषता की गरिमा से विभूषित असाधारण व्यक्तित्व सिद्ध होते हैं। आपश्री दुष्कर्मियों के विनाश में महानता के लक्षणों का अनुभव नहीं करते। महानता तो दुर्जनों को सज्जन बना देने में निहित हैं। महापुरुषों की यह विशेषता महाराज श्री के व्यक्तित्व को अनूठी आभा प्रदान करती हैं कि आपश्री दुर्जनता के विरोधी हैं, दुर्जनों के नहीं। इस तथ्य के प्रतिपादन में उद्धरणों की खोज करना रंचमात्र भी अपेक्षित नहीं है। सूर्य के प्रकाश की भाँति यह स्वयं स्पष्ट तथ्य है और आपश्री द्वारा लाखों-करोड़ों को सन्मार्ग और आत्म-कल्याण के पद पर गतिशील कर देने की जो महती भूमिका पूरी की जाती रही है उसकी महत्ता सर्व स्वीकार्य है। वस्तुतः गुरुदेव श्री की यही भूमिका स्वयं आपश्री की महानता की तीव्र उद्‌घोषणा कर रही है और इसी से आपश्री वर्तमान शती में करोड़ों व्यक्तियों के लिए परम श्रद्धेय बन गये हैं। साधुत्व की साकार प्रतिमा परम पूज्य पुष्कर मुनिजी महाराज मुनि जीवन के आदर्श हो गये हैं। आपश्री सतत साधना और घोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-कल्याण के पथ पर तो उत्तरोत्तर अग्रसर होते ही जा रहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, साथ ही अपने गूढ़ ज्ञान और अपार अनुभवों के आधार पर सदा ही परहित में भी सक्रिय रहते हैं। भारत जैसे विशाल देश के चप्पे-चप्पे को आपश्री ने अपनी पदयात्राओं द्वारा पावन किया है और असंख्य-असंख्य जनों के कल्याण के प्रति अपने जीवन को समर्पित कर रखा है। यह पर-हितैषिता ही परन्तप, पूज्यपाद पुष्कर मुनिजी महाराज को महापुरुषों की श्रेणी में स्थान दिलाने के लिए अकेली ही पर्याप्त सिद्ध होती है।

यह स्वीकार करते हुए अत्यन्त गौरव की अनुभूति होती है कि पूज्य महाराज श्री की गणना देश के महान सन्तों में आदर सहित होती है। इस उपलब्धि का आधार है आपश्री के चिन्तन और व्यवहार की समरूपता। साधु का स्वरूप कैसा हो ? इस विषय में आपश्री का मानस सर्वथा सुस्पष्ट है। आपश्री के मतानुसार "साधु ज्योति पुरुष होता है। दीपक वाणी द्वारा मार्ग का संकेत नहीं करता, अपितु वह तो मात्र प्रकाश व्याप्त कर मार्ग को आलोकित कर देता है। साधु चरित्र भी तद्वत् ही होता है। उपदेश द्वारा नहीं, अपितु अपने आचरण का आदर्श प्रस्तुत करके जो अन्यजनों का कल्याण कर सकें, वही यथार्थ साधु है।"

महाराज श्री द्वारा चिन्तित साधुत्व के इस स्वरूप का समग्रतः निर्वाह हमें स्वयं आपश्री में भी स्पष्ट दिखाई देता है। आप निसन्देह उच्चकोटि के सन्त होने का उचित यश रखते हैं। साधु वह, जो पतितों के उत्थान में तत्पर रहे, साधु वह, जो स्वयं कष्ट भोग कर भी अन्य को सुखी और सन्मार्गी बनाने में व्यस्त रहे।" आपश्री द्वारा साधुत्व के लिए निर्धारित ये सभी लक्षण स्वयं आपश्री में साकार दृष्टिगत होते हैं।

महाराज श्री का यह कथन भी आपश्री के व्यक्तित्व में स्थान प्राप्त कर सका है कि 'साधुत्व बाह्य तत्व नहीं, अपितु आभ्यन्तरिक लक्षण है। बाहर से दृष्टि समेट कर भीतर झाँकने की क्रिया ही साधक के साधु बनने की पहली सीढ़ी है।' और यथार्थ तो यह है कि चिन्तनशीलता के क्षेत्र में महाराज श्री का स्थान इस युग के सन्तों में अद्वितीय है। परम विशेषता तो यह है कि गहन चिन्तन द्वारा आपश्री ने जिन तत्वों और आदर्शों की उपलब्धि की है, उनका मात्र वाचिक प्रचार ही नहीं किया, अपितु स्वयं अपने जीवन और व्यवहार में उनको अपनाया भी है और इस प्रकार अपने जीवन के उदाहरण द्वारा उनका औचित्य, उपादेयता और उनकी व्यावहारिकता एवं सम्भाव्यता को सिद्ध भी किया है। चिन्तन और व्यवहार का यह अनूठा साम्य कतिपय सन्तों में ही दिखाई देता है और इस विशेषता ने आपश्री के व्यक्तित्व में विलक्षणता और महानता की स्थापना कर दी है।

ऐसे तत्वज्ञानी, सच्चे सन्त, महामानव, सर्वजन हितैषी, प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी, धर्म के सफल प्रचारक, विभ्रान्तजनों के उद्धारक, कथनी-करनी के समता स्थापक, श्रमण संघ के कुशल संगठक, राजस्थानकेसरी परम पूज्य पुष्कर मुनिजी महाराज के चरणों में मस्तक ही नहीं, हृदय भी श्रद्धा में नमित हो जाता है। आपश्री की चरण-वन्दना से ही मन में एक अद्भुत शान्ति और शीतलता का संचार होता है। आपश्री की महामानवता और समर्पित व्यक्तित्व के प्रति कोटिशः वन्दन।

—oo—

श्रमण-संघ की विभूति

☐ **श्री रिखबराज कर्णावट,** एडवोकेट, जोधपुर

पूज्य उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज के सम्पर्क में मैं लगभग पच्चीस वर्ष से हूँ। पहली बार मैंने जब पूज्य पुष्कर मुनिजी के व उनके सुशिष्यों के दर्शन किये तो सभी के मुख से "पुण्यवान दया पालो" शब्द सुनकर एक विशेष प्रकार का प्रमोद हुआ। भगवान महावीर स्वामी के समय में भी दर्शनार्थियों एवं उपासकों को "देवाणुप्पिय" कहकर सम्बोधन किया जाता था। सम्बोधन के सौम्य एवं प्रेरणा प्रदायक वचनों से आगन्तुकों पर जो स्नेह भरी गहरी छाप पड़ती है वह स्थायी रूप से सम्बन्ध जोड़ने में बड़ी सहायक होती है। महाराज श्री के शुभ सम्बोधन की छाप मेरे पर भी पड़ी। तभी से महाराज श्री से मेरा सम्पर्क बढ़ता रहा।

महाराज श्री के व्याख्यान व वार्तालाप की शैली सीधी व सरल है। बिना किसी ऊहापोह के वे अपने हृदय के उद्गारों को प्रकट करते हैं, जो श्रोताओं के हृदय में गहरे पैठते हैं। महाराज श्री प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी अपने प्रवचनों में सरल व बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग करते हैं। अपने व्याख्यानों में शिक्षाप्रद लघुकथाओं, चुट-कलों, लोकोक्तियों, कविताओं एवं भजनों का समावेश करके वे श्रोताओं को आनन्द विभोर कर देते हैं। महाराज श्री की आवाज बुलन्द है जिससे बिना ध्वनि-विस्तारक यन्त्र का सहारा लिये वे विशाल जनमेदिनी में भी अपने व्याख्यानों का लाभ देने में सफल रहते हैं।

महाराज श्री समय का मूल्य जानते हैं। भगवान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर के 'समयं गोयम: मा पमायए' के सिद्धान्त को सदा ध्यान में रखते हैं। क्षणभर भी व्यर्थ नहीं गँवाते। पठन, पाठन, चिन्तन, मनन व ध्यान में ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करते हैं। उपाध्याय पद से विभूषित होने के पहले से ही वे उपाध्याय का कर्तव्य-पालन करते रहे हैं। उन्होंने अपने सभी शिष्यों व साध्वी वृन्द को जिस भाँति स्वाध्याय व ज्ञानार्जन करने की प्रेरणा दी व उन्हें ज्ञान-ध्यान में पारंगत बनाया वह स्पृहणीय है। उन्हीं की सूझबूझ व कृपा का फल है कि देवेन्द्र मुनि जी जैसे साहित्य मनीषी व गणेश मुनिजी जैसे व्याख्यानवाचस्पति तैयार हुए हैं। रमेश मुनि, राजेन्द्र मुनि आदि अन्य सन्त भी उसी श्रेणी में जा रहे हैं। पूज्य उपाध्याय जी महाराज ने श्रावक व श्राविकाओं को बाह्य तप-साधना के साथ-साथ स्वाध्याय की प्रेरणा देना प्रारम्भ किया है। वस्तुतः उपाध्याय श्री उपाध्याय पद के दायित्व व गरिमा को पूर्णरूपेण निभा रहे हैं।

उपाध्याय जी महाराज निवृत्तिमूलक धर्म में ओत-प्रोत रहते हुए भी सद्प्रवृत्तियों के प्रोत्साहन से विलग नहीं रहते तथापि उनमें आसक्तभाव व मोह नहीं रखते। उपाध्याय श्री की यह भी एक विशेषता है कि वे दर्शनार्थ सेवा में आने वाले व्यक्तियों को भी समय देते हैं और उनकी शंकाओं व समस्याओं का समाधान देने की कृपा करते हैं तथा उन्हें सन्मार्ग में लगाने का प्रयास करते हैं। उपाध्याय जी महाराज गुणों के सागर हैं। क्वचित् गुणों का उल्लेख कर मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ। उपाध्याय जी महाराज की सेवा में शतशत वन्दन।

जागरूक सन्त-रत्न

□ भँवरलाल फूलफगर (घोड़नदी)

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त तुकाराम ने कहा है—"मानव का जीवन स्वर्ण कलश के समान है, उसमें विलास की सुरा न भरकर सेवा की सुधा भरो।" जो व्यक्ति जीवन में सद्गुणों की सुधा भरता है उसका जीवन अमर हो जाता है। सन्त का जीवन इसीलिए महान है, उनके जीवन में त्याग है, वैराग्य है, नियम है, मर्यादा है। यही कारण है कि सम्राटों व धन-कुबेरों के सिर भी सन्तों के चरणों में नत होते रहे हैं।

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज ऐसे ही त्यागनिष्ठ सन्तरत्न हैं। मैंने आप श्री के दर्शन सर्वप्रथम सन् १९६७ में बंबई—कान्दावाड़ी में किये थे। प्रथम दर्शन में ही मैं आपसे अत्यधिक प्रभावित हुआ। मैंने घोड़नदी संघ की ओर से वर्षावास की प्रार्थना की। गुरुदेव श्री ने पूना पधारने पर हमारी प्रार्थना को सन्मान दिया। बंबई-घाटकोपर संघ का अत्यधिक आग्रह था। वहाँ के कोट्याधीश कई बार गुरुदेव श्री की सेवा में उपस्थित हुए। हमें भी शंका हुई कि कहीं गुरुदेव श्री कोट्याधीश श्रेष्ठियों के चक्कर में पड़कर बंबई न पधार जायें। किन्तु गुरुदेव श्री ने कोट्याधीश श्रेष्ठियों की भी परवाह न कर हमारे यहाँ सन् १९६८ में वर्षावास किया। घोड़नदी वर्षावास में दिन में तीन बार, चार बार, पाँच बार जब भी समय मिलता मैं गुरुदेव श्री की सेवा में पहुँच जाता। मैंने गुरुदेव श्री से बृहद्-द्रव्य-संग्रह का भी अध्ययन किया। और रात्रि में प्रतिदिन विविध आगमिक विषयों पर चर्चाएँ भी की। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि गुरुदेव श्री जैन आगम साहित्य और दर्शन साहित्य के गम्भीर विद्वान हैं। उनका अध्ययन बहुत ही गहरा है। जब वे विषय को समझाते हैं तो उसकी अन्तरात्मा विद्यार्थी के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं जिससे गंभीर विषय भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

प्रस्तुत वर्षावास में और उसके पश्चात् प्रतिवर्ष मैं गुरुदेव श्री के दर्शन करता रहा हूँ। गुरुदेव श्री के जीवन की अद्भुत विशेषताओं के कारण मेरा आकर्षण सदा बढ़ता रहा है। मैंने यह अनुभव किया है कि गुरुदेव श्री की आगम साहित्य के प्रति अपार निष्ठा है। उनका मन्तव्य है कि आगमों के गम्भीर रहस्यों को जहाँ तक हो सके समझने का प्रयास करो। यदि समझ में न आये तो भी उस पर अपार श्रद्धा रखो। क्योंकि आगमों के वचन आप्तवचन हैं। उस पर श्रद्धा न रखना अज्ञानता है। सभी वस्तु को तर्क के तराजू पर तोलना उचित नहीं है। मुझे गुरुदेव श्री की यह बात बहुत पसन्द आयी। साथ ही गुरुदेव श्री संयम-साधना के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं। उन्हें संयम-साधना में शिथिलता पसन्द नहीं है। प्रचार के नाम पर जो साधक संयम को ताक में रखते हैं उन्हें आप अच्छा नहीं समझते। आपका मानना है आचार के अभाव में प्रचार में संचार नहीं हो सकता। जितना आचार तेजस्वी होगा जीवन बोलता हुआ होगा, उतना प्रचार अपने आप हो जायगा। प्रदर्शन नहीं स्वदर्शन होना चाहिए।

मेरी गुरुदेव श्री पर अपार आस्था है। मैं उन्हें श्रमण संघ का एक तेजस्वी और वर्चस्वी सन्त मानता हूँ। उन्होंने अपना जीवन समाज उत्थान के लिए समर्पित किया है। और हमें प्रेरणा प्रदान की है। मैं अनन्त श्रद्धा के साथ गुरुदेव श्री के दीर्घायु की और स्वस्थता की मंगलमय कामना करता हूँ। उनकी निर्मल छत्र-छाया में हमारा समाज विकास के पथ पर बढ़ता रहे यही मेरी मंगल कामना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



ज्ञान का देवता

☐ **कन्हैयालाल लोढ़ा**, एम० ए० (जयपुर)

☐

उपाध्याय पुष्करमुनि जी स्थानकवासी समाज के एक मूर्धन्य सन्त हैं। वे श्रमण संघ के उपाध्याय हैं। उपाध्याय का अर्थ है ज्ञान का देवता जो स्वयं गहन अध्ययन करता है और दूसरों को गंभीर अध्ययन करने के लिए प्रेरणा देता है। उपाध्याय श्री आगम साहित्य के ही नहीं, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के भी गहन अध्येता हैं। वे जिस विषय पर बोलते या लिखते हैं उसके अन्तस्थल तक प्रवेश करते हैं। यही कारण है कि आपका साहित्य विद्वत् भोग्य भी है और जन-भोग्य भी। आपने अपने शिष्यों को भी इस दृष्टि से तैयार किये हैं जिन्होंने साहित्य के क्षेत्र में एक आदर्श उपस्थित किया है। वस्तुतः आप सच्चे उपाध्याय हैं।

आपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र का लाभ जन-जन को देने के लिए विराट पद यात्राएँ की हैं। वृद्धावस्था में भी आप दक्षिणभारत की यात्रा कर रहे हैं। यह सभी के लिए गौरव की बात है। मैं ऐसे प्रभावकारी सन्त के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन समर्पित करता हूँ।

☐☐

अद्भुत-प्रभाव

☐ **मेघराज छाजेड**, अध्यक्ष, श्री पुष्कर गुरु गोशाला, सिंधनूर (कर्नाटक)

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के दर्शन सर्वप्रथम मैंने गंगावती में किये। गुरुदेव श्री गंगावती से सिन्धनूर पधारे। मेरी हार्दिक इच्छा हुई कि गुरुदेव श्री के आगमन पर ऐसा स्थायी कार्य करना चाहिए जो सदाकाल स्मरण रहे। उसी भव्य भावना से उत्प्रेरित होकर मैंने गुरुदेव से निवेदन किया कि यह स्थान गोशाला के लिए अति उपयुक्त है। क्योंकि यहाँ घास-पानी आदि की प्रचुरता है। अतः गोपालन के लिए कोई दिक्कत नहीं आ सकती। आप जरा सी प्रेरणा करें तो एक श्रेष्ठ कार्य हो सकता है। गुरुदेव श्री की वाणी में अद्भुत प्रभाव है। गुरुदेव श्री ने अपने प्रवचन में गो-पालन के महत्त्व पर बल दिया। ग्रामनिवासियों के अन्तर्मानस में प्रवचन को सुनते ही एक लहर व्याप्त हो गयी कि यहाँ गोशाला स्थापित होनी चाहिए। सर्वानुमति से यह निर्णय लिया गया कि गुरुदेव श्री के पधारने के उपलक्ष्य में 'श्री पुष्कर गुरु गोशाला' बनायी जाय। उसके लिए स्थानीय संघ की ओर से अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ। गुरुदेव श्री रायचूर वर्षावास पूर्णकर पुनः सिन्धनूर पधारे। तब तक हमने गोशाला के लिए विशाल जमीन भी खरीद ली और गोशाला की स्थापना विराट् समारोह के साथ की गयी।

गुरुदेव श्री का कर्नाटक में पधारना हमारे लिए वरदान रूप में रहा। गुरुदेव श्री की पवित्र प्रेरणा से हमारे अन्तर्मानस में धार्मिक चेतना का संचार हुआ। उनकी प्रेरणा से स्थान-स्थान पर संघ के उत्कर्ष के कार्य हुए। गुरुदेव श्री के अद्भुत प्रभाव से जो कार्य अ-संभव प्रतीत होते हैं वे भी सहज संभव हो जाते हैं। गुरुदेव श्री के प्रभाव से हम सभी चमत्कृत हैं। गुरुदेव श्री का अभिनन्दन समारोह मनाया जा रहा है। इस पुण्य-प्रसंग पर श्री पुष्कर गुरु, गोशाला समिति की ओर से श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और यह मंगलमय कामना करता हूँ कि गुरुदेव श्री का शुभाशीर्वाद हमें सदा प्राप्त होता रहे जिससे हम समाज-सेवा के क्षेत्र में निरंतर आगे बढ़ते रहें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अक्षय आनन्द के स्त्रोत

☐ श्री खूबीलाल मांगीलाल सोलंकी (पूना)

☐

भारत सन्तों का देश है। यहाँ पर एक से एक बढ़-कर सन्त पैदा हुए हैं जिनके पुनीत प्रसाद से इस देश में सामाजिक, नैतिक व धार्मिक जागृति हुई है। अन्यान्य देशों की अपेक्षा आज भी भारत में धार्मिकता है, नैतिकता है। यह सत्य है कि विश्व के दूषित वातावरण से हम भी बच नहीं सके हैं। हमारे जीवन में भी अनैतिकता व अधार्मिक विचार पनप रहे हैं। किन्तु समय-समय पर सन्त गण हमें उस अनैतिकता से बचाने का उद्‌बोधन देते रहे हैं। और आध्यात्मिक जागृति की प्रेरणा देते रहें। उसी सन्त परम्परा में श्रद्धेय सद्‌गुरुवर्य का नाम मूर्धन्य है। श्रद्धेय सदगुरुवर्य के पूना में दो वर्षावास हुए। दोनों वर्षावास में मुझे सेवा का सौभाग्य मिला। गुरुदेव श्री के निकट सम्पर्क में आने का भी अवसर मिला। मैंने अनुभव किया गुरुदेव श्री एक विशिष्ट सन्त हैं जिनके मानस में क्षणिक मात्र भी सम्प्रदायवाद व पन्थवाद नहीं है। जो भी उनके सम्पर्क में आता है वह अपने आपको धन्य अनुभव करने लगता है। गुरुदेव श्री की सबसे बड़ी विशेषता है कि वे कभी उदास और खिन्न नहीं रहते और जो भी उनके निकट सम्पर्क में आता है उसकी खिन्नता भी सदा के लिए मिट जाती है। गुरुदेव श्री के मांगलिक में वह अद्‌भुत शक्ति है कि उससे सभी चिन्ताएं नष्ट हो जाती हैं। मैंने अनेक बार अनुभव कर देखा कि जब मेरे मन में कोई चिन्ता पैदा हुई तब गुरुदेव का मांगलिक सुना, चिन्ताएं धुएं की तरह उड़ गयी। जब गुरुदेव नहीं होते हैं तब उनके पुनीत नाम स्मरण से ही मानस में अपूर्व शांति प्राप्त होती है। गुरुदेव के सन्निकट हम जब भी पहुँचते हैं तब उनके मुखारविन्द से यही शब्द निकलते हैं—आनन्द ही आनन्द है। वस्तुत; उनकी वाणी ही नहीं किन्तु जीवन भी आनन्द का खजाना है। इस आनन्द का जितना भी गुण-कीर्तन किया जाय उतना ही कम है। मैं सद्‌गुरुदेव के चरणों में अपनी अनन्त श्रद्धा समर्पित करता हूँ। उनका मंगलमय आशीर्वाद हमें सदा मिलता रहे यही मंगल भावना है।

☐ ☐

जीवन-नौका के नाविक

☐ श्री पारसमल जी मूथा (रायचूर)

सद्‌गुरुवर्य का महत्त्व भारतवर्ष में आज से नहीं सुदूर अतीत काल से रहा है। हजारों चिन्तकों ने सद्‌गुरुदेव के महत्त्व पर हजारों पृष्ठ लिखे हैं। बिना सद्‌गुरुदेव के ज्ञान प्राप्त नहीं होता। सद्‌गुरु हमारी जीवन नौका के नाविक हैं। वे संसार-समुद्र के काम, क्रोध, मोह आदि के भयंकर आवर्त्तों में से हमें सकुशल पार पहुँचाते हैं। सदगरु हमारे आध्यात्मिक जीवन मन्दिर के जगमगाते दीपक है। उनकी कृपा दृष्टि से ही हमें वह प्रकाश प्राप्त होता है जिसको लेकर जीवन की विकट घाटियों को हम सकुशल पार कर सकते हैं।

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज सच्चे सद्‌गुरुदेव हैं। उनका जीवन एक सच्चे सद्‌गुरु का जीवन है जो शिष्य के जीवन का निर्माण करता है। सद्‌गुरुदेव के दर्शनार्थ प्राय: कई वर्षों से मैं जाता रहा हूँ। जब से मैंने आपश्री के दर्शन किये तभी से मेरे मन में यह विचार उद्‌बुद्ध हुआ कि गुरुदेव श्री यदि कर्नाटक पधारे तो कर्नाटक की भावुक जनता गुरुदेव श्री के तेजस्वी व्यक्तित्व से अत्यधिक धर्म के सन्मुख हो सकती है। जब गुरुदेव श्री सन् १९६७ में महाराष्ट्र में पधारे तभी से हमारा संघ प्रतिवर्ष गुरुदेव श्री से प्रार्थना करता रहा कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप एकबार अवश्य कर्नाटक पधारें। सन् १९७२ में साण्डेराव सम्मेलन होने के कारण गुरुदेवश्री महाराष्ट्र से पुनः राजस्थान में पधार गये। हमें लगा कि हमारी भावना मूर्तरूप नहीं ले सकेगी। हमारे हृदय की उत्कट भावना थी जिसके कारण गुरुदेव श्री राजस्थान से पुनः अहमदाबाद सन् १९७४ के वर्षावास हेतु पधारे। हमारा संघ गुरुदेवश्री की सेवा में पहुँचा। भाव-भीनी प्रार्थना की। हमारी भक्ति के कारण गुरुदेवश्री ने कर्नाटक की ओर विहार का फरमाया। किन्तु सन् १९७५ का वर्षावास गुरुदेवश्री का पूना में हुआ। वहाँ भी हमारा संघ पहुंचा। हमारी भावना को मूर्तरूप मिला। १९७६ में रायचूर का वर्षावास अत्यन्त यशस्वी रहा। गुरुदेव श्री के कर्नाटक में पधारने से तप, जप तथा भावना की अभिवृद्धि देखकर गुरुदेवश्री के हृत्तन्त्री के तार भी झनझना उठे कि वस्तुतः कर्नाटक प्रान्त अद्भुत है। यहाँ की धार्मिक भावना अनूठी है। रायचूर वर्षावास में ही मेरे मन में यह भव्य भावना जागृत हुई कि ऐसा महान् तपस्वी अध्यात्मयोगी पूज्य उपाध्यायश्री का सार्वजनिक अभिनन्दन होना चाहिए। मैंने अपने हृदय की बात स्नेही-साथियों से कही। उन्होंने मेरी बात का हार्दिक समर्थन किया। मुझे लिखते हुए यह गौरव है कि गुरुदेव जैसे तेजस्वी सन्तों को पाकर कर्नाटक अपने आप को धन्य अनुभव करने लगा। गुरुदेवश्री कर्नाटक के जिस किसी भी क्षेत्र में पधारे, वहाँ उनका जो भव्य प्रभाव पड़ा उसको शब्दों में अभिव्यक्त करना कठिन है। मुझे सात्विक गौरव है कि गुरुदेव श्री के अभिनन्दन ग्रन्थ हेतु मैं एक निमित्त बना, जिसके कारण यह भव्य आयोजन हो सका। मैं रायचूर संघ की ओर से गुरुदेवश्री चरणों में भावांजली प्रस्तुत करता हूँ और यह मंगल कामना करता हूँ कि आप श्री पूर्ण स्वस्थ रहकर हम सभी को सदा मार्गदर्शन देते रहें। भूले-भटके जीवनराहियों को पथ-प्रदर्शन करते रहें। आपके मंगलमय आशीर्वाद से हम धर्म के क्षेत्र में सदा आगे बढ़ते रहें।

अनासक्तयोगी गुरुदेव

□ श्री चुन्नीलाल जी धर्मावत
[कोषाध्यक्ष, श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर]

परम श्रद्धेय सदगुरुवर्य के सम्बन्ध में क्या लिखूं, कुछ समझ में नहीं आ रहा है। क्योंकि भाव असीम है और भाषा ससीम है। असीम भावों को ससीम शब्दों में बांधना उसी तरह कठिन है जिस तरह विराट् सागर को नन्हें से गागर में भरना। गुरुदेवश्री हमारे आराध्यदेव हैं। उनका निर्मल व्यक्तित्व और बहु आयामी कृतित्व हमारे लिए सदा ही आदर्श रहा है। हम उनके द्वारा बताये गये मार्ग पर सदा चलते रहे हैं। और भविष्य में भी सदा चलते रहने का दृढ़ संकल्प है।

गुरुदेवश्री के पावन उपदेश से पदराडा में श्री तारक गरु जैन ग्रन्थालय की स्थापना हुई। ग्रन्थालय ने कुछ ही समय में जन-जन के मन में आकर्षण पैदा किया। मेरे अन्तर्मानस में ये विचार लहराने लगे कि ग्रन्थालय का प्रधान कार्यालय उदयपुर हो तो समाज की अधिक सेवा हो सकती है, किन्तु उदयपुर में ग्रन्थों के रखने हेतु मकान का अभाव था। मैंने अपने हृदय की बात अपने स्नेही साथियों से कही, उन्हें मेरी बात पसन्द आयी। और गुरुदेव श्री का भी मंगल आशीर्वाद हमें प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप ग्रन्थालय का भव्य भवन हम ले सके। और उत्कृष्ट मौलिक तथा सर्वजनोपयोगी साहित्य का प्रकाशन कर ग्रन्थालय ने प्रसिद्ध साहित्य संस्थान के रूप में कीर्ति प्राप्त की है। मेरा परम सौभाग्य रहा कि प्रस्तुत संस्थान की अभिवृद्धि में मेरा कुछ योगदान रहा। यों गुरुदेव श्री का सम्बन्ध हमारे परिवार के साथ अतीतकाल से है। हम सात पीढ़ी से आपकी ही परम्परा के अनुयायी रहे हैं। किन्तु ग्रन्थालय के कार्य के कारण इन वर्षों में गुरुदेव श्री के अत्यन्त निकट रहने का सौभाग्य मुझे बार-बार मिला है। मैंने गुरुदेव श्री के जीवन को बहुत ही निकटता से देखा है। मुझे यह लिखते हुए अपार हर्ष है कि गुरुदेव श्री का जीवन बहुत ही ऊपर उठा हुआ है। ग्रन्थालय के विकास में गुरुदेव का आशीर्वाद अवश्य रहा है, किन्तु गुरुदेवश्री सदा अनासक्त रहे हैं। उनके अन्तर्मानस में किंचित् मात्र भी लगाव नहीं है। सदा उन्होंने यही कहा है कि सन्त का कार्य सन्त करे और गृहस्थ का कार्य गृहस्थ करें। सन्तों को गृहस्थ के कार्य में दखल करना योग्य नहीं है। वस्तुतः अद्भुत है गुरुदेव श्री की त्याग की निर्मल भावना।

मुझे यह लिखते हुए सात्विक गौरव होता है कि गुरुदेव श्री हमारे समाज के एक देदीप्यमान तेजस्वी सितारे हैं। उनके जैसी विमल विभूतियाँ बहुत ही कम हैं। गुरुदेव श्री की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर ग्रन्थालय ने अनेक ग्रन्थ प्रकाशित कर अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त की है। और राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति की ओर से ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है यह भी प्रसन्नता की बात है। प्रत्येक श्रद्धालु का कर्तव्य है कि सद्गुरुदेव के चरणों में अपनी श्रद्धा समर्पित करे।

मैं इस मंगलमय प्रसंग पर श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय परिवार की ओर से अपनी भाव-भीनी श्रद्धा गुरु चरणों में समर्पित करता हूँ कि आपश्री युग-युग तक हमें मार्गदर्शन देते रहे जिससे हम सदा निर्माण पथ पर आगे बढ़ते रहें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरणा के अक्षय पुंज

☐ श्री देवीलाल जी धोका

☐

उपाध्याय श्रद्धेय सद्गुरुवर्य पुष्कर मुनि जी महाराज हमारे देश के एक महापुरुष हैं। उन्होंने देश में एक नई ज्योति जलायी है। नई आभा से जन-जन के मानस को आलोकित किया है। यदि हम उनके द्वारा बताये हुए रास्ते पर चलें तो अपने जीवन का निर्माण कर सकते हैं। किन्तु उस पर चलने के लिए महान् उत्साह और दृढता की आवश्यकता है। हम वह शक्ति प्राप्त करें जिससे दृढ़ता के साथ उधर बढ़ सकें।

पूज्य गुरुदेवश्री को मैं तभी से जानता हूँ जब वे गृहस्थाश्रम में थे। मैंने अनेकों बार गुरुदेवश्री के दर्शन किये, उनकी सेवा की। हमारे प्रान्त पर आपश्री का महान् उपकार है। आपने तथा आपके पूर्वजों के प्रबल प्रयास से ही हम धर्म के अभिमुख हो सके। गुरुदेव श्री ने अपार कष्ट सहन करके भी हम लोगों को प्रेरणा देने हेतु इधर पधारते रहे हैं और इस प्रान्त में समय-समय पर वर्षावास भी किये हैं। वस्तुतः आप प्रेरणा के अजस्र स्रोत हैं।

मैं लेखक नहीं, किन्तु गुरुदेव श्री का अपने आपको परम भक्त मानता हूँ। और मैं समझता हूँ कि भक्ति में जो शक्ति है वह भगवान के हृदय को भी पिघला सकती है। पूज्य गुरुदेव महान् हैं। उनके गुणों के सम्बन्ध में जितना भी उत्कीर्तन किया जाय उतना ही कम है। क्या रत्नाकर के रत्नों का पार आ सकता है? नहीं, वैसे ही सद्गुरुदेव के गुणों का पार नहीं है। मैं उनके श्री चरणों में भावपूर्ण वन्दन कर अपनी असीम श्रद्धा के सुमन समर्पित करता हूँ।

☆

सद्गुणों का खिला हुआ बगीचा

☐ श्री डालचन्द परमार

अध्यक्ष, श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य को मैं तभी से जानता हूँ जब मैं छोटा बालक था। मेरे पूज्य पिताश्री नाथूलाल जी गुरुदेव श्री के परम भक्तों में से थे। एक श्रावक में जिन सद्गुणों की आवश्यकता हैं वे सारे गुण पिता जी में थे। पिता श्री मेवाड प्रान्त के पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज के सम्प्रदाय के प्रमुख श्रावकों में से थे। वे बहुत ही विवेकशील तथा धर्मनिष्ठ थे। उन्होंने सैकड़ों व्यक्तियों में गुरु भक्ति तथा धर्मप्रेम जागृत किया था। पिताश्री के साथ मैं भी गुरुदेवश्री की सेवा में जाता रहा। श्रद्धेय गुरुदेव का सन् १९६६ में पदराडा वर्षावास हुआ जबकि उस वर्ष बड़े-बड़े संघ वर्षावास के लिए लालायित थे, किन्तु गुरुदेव ने पिता श्री की हार्दिक भावना देखकर उसी नन्हें से गाँव में चातुर्मास किया। और उसी चातुर्मास में बड़े गुरुदेव महास्थविर ताराचन्दजी महाराज की पुण्य-स्मृति में पदराड़ा में श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय की संस्थापना हुई। पिताश्री के पुण्य प्रताप से मुझे ग्रंथालय का अध्यक्ष पद दिया गया। तब से आज तक मैं सेवा कर रहा हूँ। मुझे यह लिखते हुए आल्हाद है कि स्वल्प समय में ही पूज्य गुरुदेव श्री की अपार कृपा से श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय ने अत्यधिक विकास किया है। उसके दिव्य भव्य और मौलिक प्रकाशनों ने जनता-जनार्दन का हार्दिक आदर प्राप्त किया है।

श्रद्धेय गुरुदेव के निकट सम्पर्क में मैं रहा हूँ। मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि गरुदेव की पवित्र छत्र-छाया में आधि-व्याधि और उपाधि से सन्त्रस्त कोई भी व्यक्ति पहुँचता है उसे अपार आनन्द की अनुभूति होती है। वे इतने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महान् हैं शब्दों के बाट उनको तोलने में सदा असमर्थ रहे हैं। उनका जीवन सद्गुणों का खिला हुआ बगीचा है जिसकी मधुर सौरभ भक्त-भँवरों को आनंदित करती रही है।

हमारे लिए यह गौरव की बात है कि हम गुरुदेव श्री का विराटकाय अभिनन्दनग्रंथ निकाल कर उनका सार्वजनिक अभिनन्दन कर रहे हैं। गुरुदेव का यह उनके सद्गुणों का अभिनन्दन है। गुरुदेव श्री अपने कर्तृत्व से महान बने हैं। उन्होंने विकास की हर दिशा में यश प्राप्त किया है। इसलिए समाज उनका अभिनन्दन कर रही है। मैं गुरुदेव श्री के श्री चरणों में अत्यन्त विनय के साथ अपने हृदय की असीम श्रद्धा समर्पित करता हूँ। उनकी कृपादृष्टि सदा बनी रहे जिससे हम विकास के पथ पर निरन्तर बढ़ते रहें।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

☐ श्री चम्पालाल जी कोठारी, बम्बई

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। उनका व्यवहार बहुत ही शालीन है। अपरिचित से अपरिचित व्यक्ति को भी अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट करने वाला है, जैनेतर कुल में जन्म ग्रहण करके भी जैनधर्म को स्वीकार करके उसकी आराधना और प्रभावना में जिनका जीवन लगा हुआ है उनके गुणों की गणना करना संभव नहीं है। वे क्या हैं—इस प्रश्न के स्थान पर वे क्या नहीं हैं—यह अधिक उपयुक्त है। ये दया के सागर हैं, गुणों के आगर हैं, सद्गुणों के उपासक हैं, महान् क्रांतिकारी हैं, समाज-सुधारक हैं, संगठन प्रेमी हैं, शिक्षा और स्वाध्याय की ज्योति प्रदीप्त करने वाले हैं, श्रमणसंघ के उपाध्याय हैं, विराट हृदय के धनी हैं, जप व ध्यान योगी हैं, प्रसिद्ध वक्ता हैं, राजस्थान के शेर हैं, महान लेखक हैं, प्रसिद्ध कथाकार हैं, तेजस्वी कवि हैं, ओजस्वी वक्ता हैं, प्रबल प्रचारक हैं, महान घुमक्कड़ हैं, जिनके हृदय में जोश है, वाणी में ओज है, कदमों में दृढ़ता है। वे जिधर भी पधारे अपनी चारित्रिक सौरभ से जन-मन को आकर्षित किया।

गुरुदेव श्री की हमारे परिवार पर सदा कृपा रही है। मेरे पूज्य पिता श्री हरकचन्द जी पूज्य गुरुदेव श्री के परम भक्तों में से थे। और मेरी मातेश्वरी गुरुदेव श्री की मुख्य श्राविकाओं में से थीं। हमें विरासत में ही गुरुदेव की सेवा का अवसर मिला है। कोठारी परिवार की गुरुदेव श्री के प्रति गहरी निष्ठा रही है। मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि गुरुदेव श्री की सेवा का मुझे अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ। मेरी विनम्र प्रार्थना को सन्मान देकर गुरुदेव श्री ने हमारी जन्मस्थली पीपाड़ में और हमारे व्यवसाय केन्द्र बालकेश्वर-बंबई में वर्षावास किये। यों जोधपुर, अहमदाबाद और पूना वर्षावास में भी सेवा का अवसर प्राप्त होता रहा। मैंने देखा गुरुदेव श्री एक विशिष्ट निर्भीक सन्त हैं। सत्यपथ पर निरन्तर बढ़ने वाले हैं। भय और प्रलोभनों से कभी भी विचलित नहीं होने वाले हैं। बालकेश्वर-बंबई के वर्षावास में स्वार्थी तत्त्वों ने गुरुदेव श्री का विरोध भी किया। मैं विरोध का प्रतिवाद करना चाहता था। किन्तु गुरुदेव ने कहा—विरोध ज्योति के पूर्व होने वाला धुंआ है, जो एकक्षण अपना प्रभाव दिखाता है। पर वह चिरस्थायी नहीं होता। जरा-सी हवा आयी नहीं तो वह नष्ट हो जाता है। मैंने देखा, गुरुदेव श्री के आत्म-विश्वास ने अपना चमत्कार दिखाया। विरोध करने वाले ही उनके श्री चरणों में गिर गये, गिरे ही नहीं, किन्तु गुरुदेव श्री के परम भक्तों में से हो गये। यह है गुरुदेव श्री की अपार निष्ठा और बहुमुखी प्रतिभा।

गुरुदेव श्री की महान विशेषता है कि वे अपने प्रवचनों में सैद्धान्तिक और तात्त्विक बातों का विश्लेषण करते हैं। वे आग बुझाने वाले हैं, आग को लगाने वाले नहीं। यही कारण है कि गुरुदेव श्री के प्रवचनों को सुनकर लोग वैमनस्य को भूल जाते हैं और स्नेह की सरस-सरिता प्रवाहित हो जाती है। यही कारण है जहाँ भी गुरुदेव श्री पधारे, वर्षावास किये वहाँ पर जनमानस में स्नेह की अभिवृद्धि हुई, राग-द्वेष की कमी हुई।

मैं ज्योतिपुंज सद्गुरुदेव श्री का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। वे सदा स्वस्थ रहें, और दीर्घायु होकर जैन शासन की अत्यधिक प्रभावना करें और हमारे जैसे भक्तों को आशीर्वाद प्रदान करते रहें जिससे हम धर्म को अपनाते हुए अपने जीवन को ज्योतिर्मय बनावें।

—☆—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रद्धा के केन्द्र : गुरुदेव

☐ श्री घीसूलाल रांका, बेंगलोर (गढ़सिवाना)

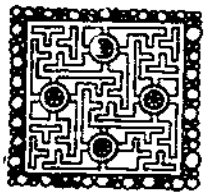
☐

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य स्थानकवासी जैन परम्परा के एक जाने-माने और पहचाने हुए सन्त प्रवर हैं। बाल्यकाल से ही संयम-साधना के महापथ पर चले और निरन्तर चल रहे हैं। बिना रुके, बिना विश्राम लिये, निरन्तर आगे बढ़ना ही जिनके जीवन का संलक्ष्य रहा है उनके सम्बन्ध में लिखना बहुत ही कठिन है। तथापि भक्ति-भावना से विभोर होकर हृदय के निर्मल भाव उनके श्रीचरणों में समर्पित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता।

महाकवि भवभूति ने महापुरुष की परिभाषा करते हुए लिखा है कि महापुरुष वह है जो कभी वज्र से भी कठोर होता है और कभी कुसुम से भी कोमल। कठोरता और कोमलता ये जीवन के दो दृष्टिकोण हैं। व्यक्ति को कब कठोर होना चाहिए और कब कोमल होना चाहिए यह उसके प्रबुद्ध विवेक पर निर्भर है। भारतीय चिन्तन ने कहा है, धर्मशास्ता को अपने कर्तव्य के प्रति अत्यन्त कठोर होना चाहिए और अन्य शिष्यों के प्रति उसे कोमल भी होना चाहिए। जहाँ तक अनुशासन-पालन का प्रश्न है, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, वहाँ उन्हें कठोर होना चाहिए जिससे परम्परा में शैथिल्य न आ सके। आचार-निष्ठ और विनयशील शिष्यों के प्रति मृदुता का व्यवहार भी करना चाहिए, जिससे अनुशासन में अव्यवस्था उत्पन्न न हो। मैंने देखा है गुरुदेव श्री बहुत ही सजग हैं। कहीं भूल न हो जाय इस सम्बन्ध में वे जागरूक हैं। और परिस्थिति के कारण कभी अपवाद मार्ग का सेवन होने पर उसके परिष्कार के लिए भी तैयार हैं। बेंगलोर में श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के प्रोस्टेट ग्रन्थि का आपरेशन हुआ। आपरेशन में अपवाद रूप में जो भी दोष लगे उस सम्बन्ध में लिखित रूप से आलोचना आचार्य सम्राट के पास प्रेषित की और उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को उन्होंने प्रवचन सभा में हजारों लोगों के बीच ग्रहण किया, जो उनकी महानता का ज्वलन्त प्रतीक है। व्यक्ति अपनी कमजोरी को दबाना चाहता है। वह उसे स्वीकार भी नहीं करता। किन्तु महापुरुष वे हैं जो अपनी कमजोरी को जनता के सामने रखते हैं। वे अपने प्रति जितने कठोर हैं उतने ही दूसरों के प्रति भी स्नेहिल हैं।

मैंने गुरुदेव श्री के दर्शन बाल्यकाल में किये थे। मेरी जन्मस्थली गढ़ सिवाना पर गुरुदेव श्री की तथा उनके पूर्वजों की अपार कृपा-दृष्टि रही है जिसके फलस्वरूप हम लोग स्थानकवासी बने रहे हैं। कर्नाटक प्रान्त में व्यवसाय होने के कारण उसके पश्चात् लम्बे समय तक व्यवसाय में उलझे रहने के कारण दर्शनों का सौभाग्य न मिल सका। बम्बई, पूना, रायचूर, बल्लारी आदि स्थानों पर दर्शनों का व सेवा का लाभ मिला। हमारे सद्भाग्य से गुरुदेवश्री का सन् १९७७ का वर्षावास बेंगलोर हुआ। इस वर्षावास में हमारे को अत्यधिक सन्निकटता से गुरुदेव श्री के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने देखा, गुरुदेव श्री का हृदय बहुत ही सरल है, कापट्य जीवन उन्हें पसन्द नहीं है। वे जागरूक हैं। एक क्षण का प्रमाद करना भी उन्हें इष्ट नहीं है। वे स्वयं ज्ञानसाधना, ध्यानसाधना और जपसाधना करते हैं। इस उम्र में भी वे लिखते रहते हैं और नियमित समय पर ध्यान व जप की साधना भी करते रहते हैं। गुरुदेव श्री का प्रवचन भी इतना सरस और प्रभावपूर्ण होता है कि श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं। यही कारण है, बेंगलोर वर्षावास में जो धर्म की प्रभावना हुई वह अद्भुत और अनूठी है। मैं ज्यों-ज्यों गुरुदेव श्री के निकट सम्पर्क में आता गया त्यों-त्यों मेरी श्रद्धा गुरुदेव श्री के प्रति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती रही है। उनके जैसे महान् सन्त बहुत ही कम हैं। हमें अपने गुरुदेव पर, उनके चारित्रिक निर्मलता पर, विचारों की पवित्रता पर, हार्दिक गौरव है। गुरुदेव श्री पूर्ण स्वस्थ रहकर हमें सदा आशीर्वाद प्रदान करते रहें जिससे हम धर्म के क्षेत्र में खूब प्रगति करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



सच्चे सन्त

□ श्री पारसमल जी मिश्रीमल जी जीनाणी

□

जैनधर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है। समय-समय पर तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और ज्योतिर्धर सन्त पैदा होकर इस धर्म की ज्योति को प्रदीप्त करते रहे हैं। अपने प्रबल प्रभाव से जन-जन के अन्तर्मानस में निर्मल विचार और पवित्र आचार का संचार करते रहे हैं। जैन दृष्टि से पंचम काल में तीर्थंकर नहीं होते, केवलज्ञानी नहीं होते, किन्तु सन्त भगवन्त ही तीर्थंकरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। साक्षात् भगवान तो नहीं, किन्तु भगवान के सदृश होते हैं। जिन तो नहीं, जिन के समान होते हैं। एतदर्थ ही कवि ने कहा—"सन्त ही मानवों के लिए देवता हैं। वे ही उनके परम बान्धव हैं, उनकी आत्मा हैं और भगवत्स्वरूप हैं।"

सन्त का जीवन त्याग का ज्वलन्त प्रतीक है। उसके जीवन के कण-कण में, मन के अणु-अणु में, त्याग, वैराग्य का पयोधि उछालें मारता है। इसीलिए भारतीय जन-मानस उनके चरणों में नत होता रहा है, अपनी अपार श्रद्धा उनके चरणों में समर्पित करता रहा है। मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि इस भौतिक-भक्ति के युग में जहाँ चारों ओर भौतिकवाद की आँधी चल रही है मानव उस घुड़दौड़ में आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्धा लगा रहा है ऐसी विकट बेला में मुझे सद्गुरुदेव श्री का सम्पर्क मिला जिनके सम्पर्क के कारण मेरी धर्म के प्रति रुचि जागृत हुई। यों गुरुदेव श्री का हमारे परिवार के साथ परम्परा से सम्बन्ध है। मेरे पूज्य पिता श्री मिश्रीमल जी भूताजी गुरुदेव श्री के परम भक्तों में से थे। उनकी गुरुदेव श्री पर अपार निष्ठा थी। जीवन की सान्ध्यवेला में उन्होंने गुरुदेव के समक्ष निःशल्य भाव से आलोचना कर संथारा भी किया था। मैंने भी गुरुदेव श्री को बाल्यकाल में ही गुरु बनाये थे। किन्तु बाद में व्यवसाय के कारण बेंगलोर आदि में विशेष रहने से और गुरुदेव श्री का राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों में विचरण रहने से गुरुदेव श्री का जितना निकट सम्पर्क होना चाहिए उतना नहीं हो सका। हमारे परम सौभाग्य से गुरुदेव श्री का पुण्यभूमि कर्नाटक में पदार्पण हुआ जिसके कारण मुझे रायचूर, बल्लारी हुबली-धारवाड़, श्रवण बेलगोल, मैसूर और बेंगलोर में दर्शन व सेवा का सौभाग्य मिला। गुरुदेव श्री की प्रेरणा से प्रसुप्त संस्कार पुनः जागृत हुए। बेंगलोर वर्षावास में गुरुदेव श्री के बहुत ही सन्निकट रहने का अवसर मिला। मुझे ऐसा अनुभव हुआ गुरुदेव श्री जैन परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाले सच्चे सन्त हैं। उनका जीवन बहुत ही निर्मल है। उनका हृदय बालक की तरह सरल है, सरस है। सांसारिक प्रपंचों से दूर रहकर निरन्तर साधना करना ही उन्हें प्रिय है। वार्तालाप के प्रसंग में कई बार उन्होंने फरमाया कि सामाजिक प्रपंचों से भी दूर रहकर एकान्त शान्त स्थान पर दीर्घकाल तक साधना करने की इच्छा होती है। मैंने यह भी देखा, गुरुदेव श्री को जन-सम्पर्क की रुचि नहीं है। वे साधना को अधिक पसन्द करते हैं और वे चाहते हैं कि साधुओं का जन-सम्पर्क कम हो और वे ज्ञान और ध्यान में प्रगति करें। ज्ञान-ध्यान की प्रगति ही सच्ची प्रगति है। गुरुदेव श्री के ऊर्जस्वल व्यक्तित्व के कारण बेंगलोर में जो तपःसाधना हुई वह महान रही। गुरुदेव श्री के कारण ही संघ में स्नेह की सरस-सरिता प्रवाहित होने लगी। युवकों में धार्मिक साधना के प्रति रुचि जागृत हुई। वस्तुतः गुरुदेव श्री का बेंगलोर वर्षावास ऐतिहासिक रहा।

गुरुदेव श्री के सम्बन्ध में मैं क्या लिखूँ? उनके गुणों का वर्णन करना हमारी शक्ति के परे है। वे हमारी श्रद्धा के केन्द्र हैं। हमारी यही मंगलकामना है कि गुरुदेव श्री पूर्ण स्वस्थ रहें और खूब ही जैन धर्म का प्रचार करें, हम उनके मंगलमय आशीर्वाद से धर्म को अधिकाधिक जीवन में अपना कर अपना कल्याण करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अद्भुत प्रभाव

□ श्री जोहरीमलजी मुथा (रायचूर)

□

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के दर्शन मैंने अनेकों बार किये। हमारा संघ गुरुदेव श्री के वर्षावास हेतु दीर्घकाल तक प्रयत्न करता रहा। कई बार हमारे अन्तर्मानस में निराशा भी हुई। किन्तु सच्चे हृदय से की गयी हमारी प्रार्थना से गुरुदेव श्री ने अन्त में रायचूर वर्षावास की स्वीकृति प्रदान की। कर्नाटक में श्रावकों के घर दूर-दूर आते हैं, लम्बे विहार करने पड़ते हैं। सन्तों को विहार में अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है। तथापि भक्तों की भक्ति से प्रभावित होकर गुरुदेव श्री कर्नाटक में पधारे। गुरुदेव श्री कर्नाटक में जहाँ पधारे छोटे से छोटे गाँव में वहाँ पर भी अपूर्व दृश्य दिखायी दिया। गुरुदेव श्री के सम्पर्क में आकर सैकड़ों युवकों का जीवन ही बदल गया। ऐसे युवक, जो कभी भी सन्तों के सम्पर्क में नहीं आते हैं वे भी गुरुदेव श्री की विहारयात्रा में सौ-सौ मील तक अपना सामान स्वयं उठाकर चलते रहे। अद्भुत है गुरुदेवश्री का प्रभाव। जो व्यक्ति एक भी उपवास नहीं करते उन व्यक्तियों ने भी दीर्घ तपस्याएँ कीं। गुरुदेव श्री का रायचूर वर्षावास बड़ा ही प्रभावशाली, तेजस्वी रहा, जहाँ पर सिर्फ एक सौ दस घर होते हुए भी ग्यारह मासखमण हुए, पैंतालीस व इकसठ तथा अन्य इतनी तपस्या हुई जिसे देखकर हम स्वयं चकित थे।

गुरुदेव श्री का व्यक्तित्व इतना महान् है कि उनके कदम-कदम पर नवनिधान हैं। हमारे परिवार पर गुरुदेव श्री की असीम कृपा रही है। हमारे घर के प्रत्येक सदस्य के अन्तर्मानस में गुरुदेव श्री के प्रति गहरी श्रद्धा है। हम ज्यों-ज्यों उनके निकट सम्पर्क में आते गये त्यों-त्यों श्रद्धा की फुलवारी विकसित होती गयी। जब हम लम्बे समय तक गुरुदेव श्री के दर्शन नहीं करते हैं तो मन में अजीब तरह की छटपटाहट पैदा होती है। गुरुदेव श्री के दर्शन करते ही मन में एक निराला आनन्द पैदा होता है। मन चाहता है कि गुरुदेव श्री के चरणों में ही बैठे रहें। वस्तुतः गुरुचरणों का सान्निध्य उन्हीं महान् आत्माओं को मिलता है जो महान् पुण्यधारी हैं।

गुरुदेव श्री के सम्बन्ध में हृदय चाहता है कि बहुत कुछ लिखूं। पर सोचता हूँ कि गुरुओं के गुणों का वर्णन तो साक्षात् सरस्वती भी पूर्णरूप से नहीं कर सकती तो मेरी क्या हस्ती है। मेरी सद्गुरुदेव के चरणों में अत्यन्त निष्ठा है। मैं मानता हूँ कि वे महान् तेजस्वी सन्त हैं। उनके समान सन्त बहुत ही कम हैं। मैं अपनी ओर से तथा अपने परिवार की ओर से गुरुदेव श्री का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ कि वे पूर्ण स्वस्थ रहकर हमारा सदा मार्गदर्शन करते रहें जिससे हम धर्म के क्षेत्र में अपना विकास करें।

—☆—

विश्वचेतना के देवदूत

□ श्री खेमराज जी कोठारी (बम्बई)

सन्त विश्व चेतना को विकसित करने वाले देवदूत हैं, अज्ञान अन्धकार के गहन अन्धकार में भटकते हुए व्यक्तियों के लिए प्रकाशस्तम्भ है, अशांति, साम्प्रदायिक भाव, वैमनस्यता के बादलों को नष्ट करने वाले दाक्षिणात्य पवन हैं। उन्हीं सन्त-परम्परा के देदीप्यमान सितारे हैं उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज।

मैंने सद्गुरुदेव श्री के दर्शन बहुत छोटी उम्र में किये थे। मेरे पूज्य पिताश्री और मातेश्वरी आदि भी गुरुदेव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री के परम भक्तों में से थे। गुरुदेव श्री की प्रारम्भ से ही हमारे परिवार पर असीम कृपा रही है। गुरु-कृपा से ही हमारा प्रत्येक दृष्टि से विकास हुआ। गुरुदेव श्री ने हमारी जन्मभूमि पीपाड़ में तीन वर्षावास किये। और हमारे व्यवसाय केन्द्र बम्बई में भी चार चातुर्मास किये। इन चातुर्मासों में हमें गुरुदेव श्री की सेवा का सौभाग्य मिलता रहा। गुरुदेव श्री अध्यात्मयोगी हैं। उनकी आध्यात्मिक ज्ञान और ध्यान की साधना उत्कृष्ट है। वस्तुतः सन्त जीवन की यही सबसे बड़ी उपलब्धि है। संसार की विविध व्याधियों से सन्त्रस्त व्यक्ति जब इन सन्त प्रवरों की सेवा में पहुँचते हैं, तो उन्हें वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा भयंकर गर्मी में झुलसते हुए व्यक्तियों को बम्बई में सन्ध्या के समय चौपाटी पर मिलता है। जहाँ अनन्त सागर हिलोरें लेता हुआ दिखायी देता है और शीतल पवन थिरकता हुआ आता है। मैं जब भी गुरु-चरणों में बैठा तब मुझे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति हुई। दिल करता है कि सदा उनके चरणों में बैठे, पर संसार के मोह-मायाजाल में फँसे हुए व्यक्तियों का इतना भाग्य कहाँ? जो गुरु-चरणों की निरन्तर सेवा का लाभ ले सके। गुरुदेव श्री जैन समाज की एक विशिष्ट विभूति है। उनके जीवन का प्रत्येक कोना हीरे की तरह चमकदार है। मैं गुरुदेव श्री के चरणों में अपनी अनन्त श्रद्धा के सुमन समर्पित करता हूँ। और आशा करता हूँ कि गुरुदेव श्री चिरकाल तक पूर्ण स्वस्थ रहकर हमारा नेतृत्व करते रहें। उनकी पवित्र छत्र-छाया में हमारा धार्मिक व आध्यात्मिक विकास होता रहे।

—☆—

तीर्थराज पुष्कर

☐ श्रीमती सुशीला उगमराज मेहता, बेंगलोर

उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज का स्थानकवासी समाज के मुनिप्रवरों में एक अनूठा स्थान है। आपके तप, त्याग व आध्यात्मिक तेज की महिमा और गरिमा अनूठी है। आप जहाँ पधारते हैं वहाँ पर एक मेला-सा लग जाता है। क्योंकि आपश्री पुष्कर तीर्थराज जो ठहरे। आपश्री के सन्निकट पहुँचते ही भव-भव के पाप व सन्ताप मिट जाते हैं। और अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है।

आज, बीसवीं सदी में भौतिकवाद की आँधी आ रही है। उस आँधी में आज का मानव खिंचा चला जा रहा है उसे धार्मिक साधना से नफरत है, आध्यात्मिक साधना के प्रति कोई लगाव नहीं। पाश्चात्य सभ्यता में पला-पुसा होने के कारण वह धर्म को अफीम की गोली समझता है। पर, मुझे आश्चर्य हुआ कि ऐसे युवक जिन्होंने उपाश्रय का मुँह नहीं देखा, जो कभी सन्तों के सम्पर्क में नहीं आये, वे भी पूज्य गुरुदेव श्री के बेंगलोर वर्षावास में गुरुदेव श्री के आध्यात्मिक तेज से प्रभावित होकर व्यसनों से मुक्त हुए। उनके जीवन में धार्मिक भावनाएँ अंगड़ाइयाँ लेने लगीं। वे साधना के अभिमुख हुए। मैं इसे प्रस्तुत वर्षावास की बहुत बड़ी उपलब्धि समझती हूँ।

इस वर्षावास में गुरुदेव श्री की बिना प्रेरणा के भी तपस्या की बाढ़ आ गयी। जिन व्यक्तियों ने कभी भी एक उपवास नहीं किया, उन व्यक्तियों ने भी हँसते और मुस्कराते हुए मासखमण किये। और उससे भी अधिक तप की साधना की। इस साधना में वृद्धों की अपेक्षा युवक और युवतियाँ ही अधिक थीं। और उनमें एक तरह से प्रतिस्पर्धा लग रही थी कि हम आगे बढ़ें साधना में।

गुरुदेव श्री के मांगलिक में अपूर्व चमत्कार दिखायी दिया। बेंगलोर जैसी नगरी में जहाँ लोगों को तनिक मात्र भी समय नहीं मिलता, वहाँ हजारों की संख्या में लोग मध्याह्न में बारह बजे और रात्रि को नौ बजे मांगलिक सुनने के लिए पहुंचते थे। गुरुदेव श्री की एक महान् विशेषता मैंने यह देखी कि वे बड़े व्यक्तियों से ही नहीं, छोटे व्यक्तियों से भी प्रेम से वार्तालाप करते हैं। उनके दरबार में छोटे और बड़े का कोई भेद नहीं। यही कारण है कि सभी आपश्री को चाहते हैं। सभी के अन्तर्मानस में आपके प्रति अपूर्व निष्ठा है।

भगवान महावीर ने कहा—एक क्षण का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। मैंने देखा भगवान का यह सन्देश पूज्य गुरुदेव श्री के जीवन में साकार रूप से उतरा हुआ है। वे वृद्ध अवस्था में भी नियमित समय पर जप करते हैं, नियमित समय पर प्रवचन करते हैं, लोगों से स्नेह से वार्तालाप भी करते हैं और लेखन, पठन आदि में भी लगे रहते हैं। ज्ञान और ध्यान ये दोनों उन्हें प्रिय हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री के दर्शन से मेरे तथा मेरे पति के जीवन में धर्म के प्रति एक लगन पैदा हुई। हमारे जीवन में एक नया मोड़ आया। ऐसे दिव्यपुरुष के चरणों में मैं अपनी अनन्त श्रद्धा समर्पित करती हूँ।

☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्गुणों के पुञ्ज

☐ एल० बी० शाह, बेंगलोर

☐

श्रेष्ठ समुन्नत ग्रीवा, उन्नत देदीप्यमान ललाट, तेजस्वी नयन युगल, विशाल वक्ष, आजानुबाहें जिनमें अपूर्व सामर्थ्य है ऐसा प्रभावशाली सौम्य व्यक्तित्व जिसे उपाध्याय पुष्कर मुनिजी के नाम से लोग जानते हैं। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के कारण सामान्य जन उनके सम्मुख जाने का साहस नहीं करते, किन्तु महान् आश्चर्य है उनके सन्निकट जाने पर मातृतुल्य वात्सल्य पाकर उठने का दिल भी न होता। बेंगलोर वर्षावास में मैंने ऐसा ही अनुभव किया है।

जिस दिन कर्नाटक की राजधानी बेंगलोर में गुरुदेव ने प्रवेश किया उसी दिन मैं उनकी सेवा में पहुंचा। यों तो मेरा और उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य का बहुत ही पुराना है। यदि यह कह दूं कि उनका तथा उनकी परम्परा का सम्बन्ध सात पीढ़ी से है तो यह सत्य के अधिक सन्निकट हैं; किन्तु कर्नाटक में व्यापार होने के कारण राजस्थान में कम रहने से उनकी सेवा का जो लाभ मिलना चाहिए था वह नहीं मिल पाया। यों गुरुदेव श्री के मैंने अनेकों बार दर्शन किये, किन्तु बेंगलोर पधारने पर मैंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि जब तक गुरुदेव श्री बेंगलोर में रहेंगे तब तक मैं देह की छाया की तरह उनकी सेवा में रहूँगा। मुझे हर्ष है मेरा दृढ़ संकल्प पूर्ण हुआ। अनेकों बार ऐसी परिस्थितियाँ भी आयीं जिससे मुझे सेवा से वंचित होना पड़ता, पर गुरुदेव श्री की असीम कृपा से मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

छह महीने तक निरन्तर सेवा में रहकर मुझे अपार आनन्द हुआ। जो आनन्द मुझे जीवन भर न मिला वह आनन्द गुरुदेव श्री के चरणों में मिला। मैंने अनुभव किया कि गुरुदेव श्री बहुत ही पवित्र आत्मा है। मुझे जोश बहुत ही जल्दी आता है और बोलने की आदत भी विशेष है। तथापि गुरुदेव श्री ने मेरे पर कभी रोष नहीं किया। समय-समय पर वे मुझे हित शिक्षा देते रहे हैं। वे स्वयं बहुत कम बोलते हैं, मितभाषी हैं, मैंने कभी उन्हें उग्र होते नहीं देखा। गहन से गहन समस्याओं का भी वे सहज समाधान कर देते हैं, जिसे देखकर अनुभवी और विचारक दंग रह जाते हैं। आप महान् साधक हैं। आपकी साधना का दिव्य दीप निरन्तर जलता रहता है। गुरुदेव श्री के प्रोस्टेट ग्रन्थि का आपरेशन सेंट मार्था अस्पताल में डाक्टर लाजी जोसेफ के द्वारा सम्पन्न हुआ। मैं वहाँ गुरुदेव श्री की निरन्तर सेवा में था। मैंने देखा कि आपरेशन की भयंकर वेदना में भी साधना की भव्य मुस्कराहट उनके चेहरे पर अठखेलियाँ कर रही थी। अस्पताल में भी रात्रि के शान्त वातावरण में वे ध्यान में तल्लीन होते थे मैंने निवेदन किया—गुरुदेव ! आराम करो। किन्तु गरुदेव को साधना में ऐसा आनन्द आता कि वे वेदना को भी भूल जाते। मैंने यह भी देखा कि वे जब साधना में विराज जाते हैं तब बाह्य व्याधियाँ उन्हें कोई भी परेशान नहीं करती। वे अपने अन्य बाह्य कार्यों को छोड़ सकते हैं किन्तु साधना को छोड़ना उन्हें इष्ट नहीं है। आपरेशन के समय परिस्थितिवश वे बाह्य रूप से ध्यान में नहीं बैठ सकते थे, किन्तु आन्तरिक रूप से उनकी साधना सतत चलती रहती थी।

छह माह तक बहुत ही सन्निकट रहकर मैंने अनुभव किया कि गुरुदेव श्री के सम्बन्ध में जैसा मैंने पहले सुना था उससे कई गुने वे महान् हैं, वे गुणों के भण्डार हैं। श्रमणसंघ की ज्योति हैं। उनका आचार निर्मल है, विचार पवित्र है और हृदय बहुत ही विशुद्ध है। मेरी एक जबान तो क्या शेष नाग की हजार जबान भी उनके गुणों का वर्णन नहीं कर सकती। मैं अपार श्रद्धा के साथ गुरुदेव श्री की पूर्ण स्वस्थता की और दीर्घायु की मंगल कामना करता हूँ। आपकी वरद छत्र-छाया में मेरा व मेरे परिवार का धार्मिक दृष्टि से सदा विकास होता रहे यही मंगल कामना है।

☐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाश-स्तम्भ

☐ श्री खुमाणसिंह कागरेचा

☐

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज अपने आप में एक संस्था हैं। अतीत काल के श्रमण मुनियों के द्वारा प्रदत्त हमारी संस्कृति और सभ्यता के सर्वोत्तम चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं। आध्यात्मिक श्रेष्ठता की अगम्य गहराइयों में पैठकर चिन्तन व अनुभव के मोती निकालते हैं। जो काम वे कर रहे हैं वह सामान्य मानव की शक्ति से परे है। आज का विश्व निराशा की काली-कजराली निशा में भटक रहा है, घृणा, अविश्वास और छल के नुकीले काँटों से बिंध रहा है। श्रद्धेय गुरुदेव उनके लिए प्रकाशस्तम्भ के समान हैं। वे सद्भावना, स्नेह, दया आदि सद्गुणों का विकास कर मानवों का मार्गदर्शन कर रहे हैं। श्रद्धेय गुरुदेव का हमारे प्रान्त पर महान् उपकार है। हम लोगों को धर्म के सम्मुख करने वाले हैं। उनका जीवन हम सभी के लिए प्रेरणा सूत्र है। उनका अभिनन्दन किया जा रहा है। यह गौरव की बात है। मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा उनके चरणों में समर्पित करता हूँ।

—★—

हार्दिक श्रद्धार्चना

☐ अर्जुनलाल मगनलाल मेहता, गोगुन्दा

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य निस्संदेह एक महापुरुष हैं। महापुरुष कभी वंश-परम्परा से, स्थान से या जन्म से नहीं बनता किन्तु पवित्र चरित्र के विकास से महापुरुष होता है। उसकी प्रत्येक क्रिया एक अविच्छिन्न सत्य से ओतप्रोत होती है जिसमें सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय की मंगल भावनाएँ अठखेलियाँ करती रहती हैं।

मुझे आज भी वे दिन याद हैं जिन दिनों आप वैराग्यावस्था में थे। आपके सलोने रूप को देखकर मैं हर्षविभोर हो उठा था। मैंने गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज से कहा था कि यह बालक बड़ा ही तेजस्वी है और आपश्री के नाम को चार चाँद लगायेगा। समय-समय पर मैंने गुरुदेव श्री को बाल्यकाल में साधना के महापथ पर निरन्तर बढ़ने की प्रबल प्रेरणा भी दी। मैं चाहता था कि मेरे गुरुदेव का जितना अधिक विकास हो उतना ही हमारे लिए गौरव की बात होगी। आज गुरुदेव श्री को देखकर मेरा हृदय बाँसों उछलता है। गुरुदेव श्री ने दीक्षा लेकर अपना ही विकास नहीं किया, किन्तु लाखों-करोड़ों जीवों का भी उद्धार किया है। आपका जीवन प्रत्येक दृष्टि से उज्ज्वल रहा है, पवित्र रहा है। आज गुरुदेव श्री का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है—यह हमारे लिए परम आल्हाद की बात है। हे पूज्य भगवन्, आप बढ़ो, आपका खूब विकास हो। आपकी कीर्ति-कौमुदी दिग्-दिगन्त प्रकाशित हो यही मेरी हार्दिक मंगलकामना है। आपकी वरद छत्र-छाया में हमारा प्रान्त धर्म के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता रहे यही मेरी हार्दिक श्रद्धार्चना है।

बीसवीं सदी के महापुरुष

☐ शांतिलाल जैन मंत्री, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, पदराडा

भौतिकवाद के इस युग में मानव का जीवन नैतिक पतन की ओर जा रहा है। उस पतन से रोकने के लिए जैन सन्त अहर्निश प्रयास कर रहे हैं कि मानव का जीवन चरित्र की सौरभ से महके, उसके जीवन में पवित्र चरित्र चमत्कृत हो। उन सन्तों की परम्परा में श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का स्थान शीर्षस्थ है।

सबसे पहले मैंने गुरुदेव के दर्शन कब किये यह पूर्ण ध्यान नहीं है। किन्तु आपश्री का सन् १९६६ में जब पदराडा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्राम में चातुर्मास हुआ उस समय मुझे सद्गुरुदेव के निकट सम्पर्क में रहने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने देखा गुरुदेव श्री का तेजोमय पारदर्शी व्यक्तित्व जिसमें हजारों सद्गुण झलक रहे थे। गुरुदेव जैसे महान् व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जहाँ बड़े व्यक्तियों से वार्तालाप करते हैं, उससे भी अधिक स्नेह से गरीब व्यक्तियों से तथा छोटे व्यक्तियों से वार्तालाप करते हैं। वे कभी भी किसी का तिरस्कार नहीं करते, किन्तु सदा सत्कार ही करते हैं। सद्गुरुदेव की इस विशेषता ने मुझे आकर्षित किया। मुझे गुरुदेव श्री ने प्रतिक्रमण, भक्तामर आदि का अध्ययन करवाया और सामाजिक सेवा के कार्य में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। गुरुदेव श्री के पुण्य प्रताप से ही मैं विकास के पथ पर आगे बढ़ा। मुझे यह लिखते हुए अपार हर्ष होता है कि गुरुदेव जैसा महान् व्यक्ति मैंने अपने जीवन में नहीं देखा। यों सैकड़ों साधु-सन्तों के दर्शन का लाभ मुझे मिला है किन्तु गुरुदेव श्री की जो विशेषता है वह विशेषता मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिली।

गुरुदेव श्री जहाँ साहित्य के महारथी हैं वहाँ अध्यात्म साधना के अगुआ हैं; जहाँ समाज के मूर्धन्य सन्त हैं, वहाँ परम दयालु भी हैं। जहाँ उनमें चारित्र की उत्कृष्टता है वहाँ उनमें चातुर्य का मणिकांचन-संयोग भी है। ऐसे विविधताओं के संगम बीसवीं सदी के महापुरुष सद्गुरुदेव के चरणों में अपनी श्रद्धा के अनन्त सुमन समर्पित करता हुआ अपने को धन्य मानता हूँ।

आचारनिष्ठ सन्त

☐ **मुलतानमल रांका**, मंत्री, श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान, गढ सिवाना

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज स्थानकवासी समाज के एक ज्योतिर्धर सन्त रत्न हैं। उनका चमकता व्यक्तित्व और दमकता कृतित्व जन-जन के आकर्षण का केन्द्र है। मैंने सर्वप्रथम उनके बाल्यकाल में दर्शन किये थे। और हमारे गढ़सिवाना पर आज से ही नहीं, आचार्य सम्राट् पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज की कृपा रही और उनकी परम्परा के संत भगवंत सदा उस क्षेत्र में विचरण करते रहे जिसके फलस्वरूप हम लोग स्थानकवासी परम्परा में स्थिर बने रहे। गढ़ सिवाना से तपस्वी श्री हिन्दूमल जी महाराज जैसे महान् सन्त भी निकले। गुरुदेव श्री ने भी वहाँ पर चार वर्षावास किये। गुरुदेव श्री को मैंने बहुत ही नजदीक से देखा है। वे महान् विचारक, सफल लेखक, ओजस्वी वक्ता और तेजस्वी आचारनिष्ठायुक्त सन्त हैं। आपश्री ने भारत के विविध अंचलों में विचरण कर जैन धर्म की महान् प्रभावना की। आपश्री जहाँ भी पधारे वहाँ जन-जीवन में अपूर्व जागृति का संचार किया। गुरुदेव जैसे मूर्धन्य सन्त से समाज को अत्यधिक गौरव है। मैं गढ़ सिवाना संघ तथा श्री अमर जैन साहित्य संस्थान की ओर से श्रद्धार्चना समर्पित करता हुआ अपने आपको धन्य अनुभव करता हूँ।

अविस्मरणीय वर्षावास

☐ **श्री एस० चम्पालाल मुत्था**

उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य मुझे अनेकों बार मिला। मैंने कई वर्षावासों में उनके दर्शन किये किन्तु जितना सन्निकटता से देखने-परखने का अवसर मिलना चाहिए था वह नहीं मिला था। हमारा बेंगलोर संघ गुरुदेवश्री के वर्षावास हेतु लम्बे समय से प्रयास कर रहा था। जिसके कारण गुरुदेवश्री का सन् १९७७ का वर्षावास बेंगलोर में हुआ। गुरुदेव श्री का प्रस्तुत वर्षावास बेंगलोर संघ के लिए वरदान रूप में रहा। इस वर्षावास में धर्म की जो अपूर्व जागृति हुई उसे बेंगलोर के श्रद्धालुजन कभी भी विस्मृत नहीं हो सकते। इस वर्षावास में क्या युवक, क्या युवतियाँ, क्या वृद्ध, क्या बालक, क्या साक्षर और क्या निरक्षर सभी ने समान रूप से भाग लिया। बेंगलोर में परस्पर जो संघर्ष की स्थिति थी, वह भी गुरुदेव के पुण्य प्रताप से मिट गयी। तप की दृष्टि से बेंगलोर का यह वर्षावास ऐतिहासिक रहा। भाई-बहनों में पैंतालीस से अधिक मासखमण हुए और तपोमूर्ति श्रीमती धापूबाई जसराज जी गोलेछा ने १५१ की तपस्या कर एक कीर्तिमान स्थापित किया। उनका तप-महोत्सव गुरुदेव श्री के सान्निध्य में लालबाग के ग्लास-हाउस में मनाया गया जिसमें शताधिक संघों की उपस्थिति थी दृश्य दर्शनीय था। मैं साधिकार कह सकता हूँ कि गुरुदेव श्री का पुण्य प्रभाव इतना गजब का है कि अशान्त वातावरण भी अपूर्व-शान्ति में परिवर्तित हो जाता है। गुरुदेव श्री का यह वर्षावास सदा स्मरणीय रहेगा। मैं अपनी अनन्त श्रद्धा श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के चरणों में समर्पित करता हूँ कि उनके मंगलमय आशीर्वाद से हम सदा धर्म के क्षेत्र में निरन्तर बढ़ते रहें।

☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणज्ञ संत

□ पं० गोविन्दराम व्यास

□

स्मृतियों का इतिहास सचमुच सुहावना है, अद्भुत है, अनूठा है। जब भी मानस-पटल पर स्मृतियाँ उद्बुद्ध होती हैं तो एक अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है।

मैं राजस्थान के ऐतिहासिक नगर जालोर में पुरातत्व-वेत्ता मुनिश्री कल्याणविजयजीगणि की सेवा में था। वृद्धावस्था के कारण उनकी नेत्रज्योति मन्द हो चुकी थी। अतः मैं उनके ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ तैयार कर रहा था। उस समय राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी पुष्करमुनि जी वहाँ पर पधारे। जब मैंने यह वृत्त सुना तो मैं उनके दर्शनार्थ उनके निवास-स्थान पर पहुँचा। वार्तालाप के प्रसंग में मुनिश्री जी की विद्वत्ता स्पष्ट रूप से झलक रही थी। मैंने अपने जीवन में कई बार देखा कि एक विद्वान् दूसरे विद्वान् की प्रशंसा करने में कतराता है, पर मुझे देखकर वह आश्चर्य हुआ कि पुष्करमुनि जी, मुनिश्री कल्याण विजय जी के इतिहास ज्ञान की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर रहे थे। उन्होंने कहा "जैन कालगणना" "श्रमण भगवान महावीर" मुनिश्री जी की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं, इन रचनाओं में कल्याणविजयजी महाराज की अद्भुत प्रतिभा का सहज ही परिचय होता है। पुष्कर मुनि जी की प्रस्तुत गुणग्राहक वृत्ति ने मेरे मानस को बहुत ही प्रभावित किया और वे स्वयं अपने शिष्यों सहित उनके निवास स्थान पर भी उनसे मिलने के लिए पधारे और मुक्त हृदय से वार्तालाप हुआ।

श्री पुष्कर मुनि जी की जन्मस्थली राजस्थान ही है और मेरा जन्म भी राजस्थान में ही हुआ है, अतः राजस्थानी होने के नाते समत्वयोगी सन्त का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ। □

निस्पृहयोगी को प्रणाम

श्री दानमल पुनमिया, [महामंत्री—राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति]

इतिहास की कहानी और पुरखों की जबानी में आज भी हमें पढ़ने-सुनने को मिलता है कि अमुक आचार्य ने अमुक राजा को, श्रेष्ठी को, किंवा अन्य पीड़ित संकटग्रस्त व्यक्ति को मंगलपाठ सुनाया और वह स्वस्थ हो गया। व्याधि, उपाधि भाग गई, समाधि प्राप्त हुई। भूत-प्रेत की छाया माया की तरह लुप्त हो गई।

कोई कहता है, यह सब अतिरंजना है, कल्पना है, या अतिशयोक्ति है। कुछ लोग श्रद्धालु होते हैं, कुछ तर्कशील। श्रद्धालु श्रद्धा या शास्त्र से मान लेता है, तर्कशील को प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए। मैं बचपन से ही तर्कबुद्धि वाला रहा हूँ। भले ही हमारा परिवार अडिग श्रद्धालु श्रावकों की गणना में आता रहा है, मगर व्यक्तिगत रूप में मैं साधु-सन्तों की सेवा में कम ही रहा हूँ। तर्क-वितर्क की आदत रही है।

अध्यात्मयोगी गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज साहब का यशोगान तो काफी दिनों से सुन रहा था। उनकी साधना व ध्यान की चमत्कारपूर्ण बातें भी सुनी थीं, मगर उन पर विशेष ध्यान नहीं दिया। जब उनका चातुर्मास बम्बई (दादर) सन् १९७० में था तब मैंने कुछ समय उनके सान्निध्य में बिताया। उनके निकट सम्पर्क से, दो-चार समय मांगलिक श्रवण से मुझे जो अनुभूति हुई, वह शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। एक अद्भुत आनन्द, शान्ति और निर्द्वन्द्वता की हिलोरें मन में उठीं और ऐसा लगा कि यह चमत्कारी परिवर्तन सहसा मेरे अन्दर कैसे हुआ।

ध्यान-मुद्रा में बैठकर जाप करते हुए गुरुदेव ने जब एक लक्ष्यवेधी दृष्टि से मेरी तरफ देखा तो सहसा एक कम्पन, एक हलकी-सी सिहरन मेरे भीतर पैदा हुई, ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव हुआ कि बिजली का कोई तेज झटका लगा है। धीरे-धीरे कम्पन कम हुआ, सुखद अनुभूति होने लगी। मन की आकुलता, अपने आप शान्त होने लगी। स्वयं को बहुत ही हलका, निर्भय, शान्त महसूस करने लगा। यह एक अद्भुत परिवर्तन था, जो मैंने जीवन में पहली बार अनुभव किया। तर्क हार गई, श्रद्धा जीत गई।

मैं यह मानता हूँ कि आत्मा अक्षयशक्ति का पुंज है, प्रत्येक आत्मा अपनी साधना-उपासना के बल पर यह अद्भुत शक्ति प्राप्त कर सकता है। सोया हुआ दिव्य बल जागृत कर सकता है, पर बातों के बल से नहीं, साधना के बल पर, उपासना के बल पर, निस्पृहता और निर्द्वन्द्वता के बल पर। गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज साहब में मैंने जिस विशिष्ट अध्यात्म-चेतना का दर्शन किया है, वह उन्होंने दीर्घकालीन-साधना के बल पर ही प्राप्त की है। वे इस शक्ति का, ऊर्ध्व-चेतना का प्रयोग नहीं करते, किन्तु ऐसे योगियों का सान्निध्य स्वयं ही संतप्त हृदय को शान्ति प्रदान करने में सक्षम होता है, जैसे—

तीव्रातपोपहत-पान्थ-जनान् निदाघे।
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥

—धूप के समय प्रचण्ड ताप से व्याकुल प्राणी को पद्मसरोवर की शीतल हवा शान्ति और तृप्ति प्रदान करती है।

गुरुदेव श्री के प्रति जन-समाज की जो अगाध भक्ति, आस्था और श्रद्धा उमड़ रही है उसका यही कारण है कि वे एक निस्पृह योगी, शान्त तपस्वी, करुणाशील सन्त और परमार्थ-सेवी महात्मा है। उनकी दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन-प्रसंग पर हम अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनका अभिनन्दन-वन्दन करते हुए उनकी निरामय दीर्घ जीवन की कामना करते हैं।

पथ-प्रदर्शक श्रमण सन्त

☐ एस० श्रीकण्ठमूर्ति, (बेंगलूर)

भारत धर्म-प्रधान देश है। यहाँ पर अनादिकाल से वैदिक, जैन, बौद्ध आदि विविध धर्मों का प्रचार एवं प्रसार अबाधगति से चलता आ रहा है। इत महान देश के विभिन्न भागों के जन-समुदाय की, धर्म, भाषा, आचार-विचार, आहार-वस्त्र रीति-नीति की विविधता एवं विभिन्नता के बीच में धर्म के एकान्त-सूत्र की अन्तर्वाहिनी ने, अटक से कटक तक तथा काश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुए इस विशाल भूभाग को एक बना रखा है। विश्व में कई महान् साम्राज्य हुए जो कालान्तर में काल-कवलित हो गये, परन्तु अतीत काल से आधुनिक काल तक भारत देश ने अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बना रखा है। इसीलिए तो कवि इकबाल ने गाया है—

यूनानो मिस्रो रूमाँ, सब मिट गये जहाँ से।
अब भी मगर है बाकी, नामो-निशां हमारा॥
सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा॥

और देश के इस अक्षुण्ण अस्तित्व का आधार है यहाँ के जन-मानस में निहित धर्मभावना और धर्मानुराग।

जन-सामान्य में इस धार्मिक चेतना को बनाये रखकर उसकी वृद्धि करते रहने का श्रेय देश के विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदायों के गुरु, आचार्य, मुनि, साधु-सन्तों को रहा है। भारत मात्र के ही नहीं, अपितु विश्वभर के किसी भी धर्म के इतिहास का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट होता है कि उसमें आचार्य या गुरु का स्थान ऊँचा और महत्त्वपूर्ण है। '**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव,** के पश्चात् **आचार्यदेवो भव**' की उक्ति इसका समर्थन करती है। अज्ञान अन्धकार में पथ-भ्रष्ट हो भटकनेवाले निर्बल एवं दुर्बल जन को सही पथ-प्रदर्शन तथा प्रकाश का दर्शन करानेवाले ये ही आचार्य, भिक्षु, श्रमण, साधु-सन्त हैं। इसी बात का स्पष्टीकरण और मण्डन करते हुए कबीर ने कहा है—"गुरु बिन कौन बतावे बाट ?" सांसारिक माया-मोह में फँसे हुए लोगों की आँखें खोलकर संसार की झंझट से हमेशा के लिए मुक्त हो जाने का मार्ग बतलानेवाले इन सन्तों के कारण ही भारत देश धर्मानुरागी और धर्मप्रेमी रहा है। स्थानकवासी श्रमणसंघीय उपाध्याय गुरुवर्य राजस्थानकेसरी अध्यात्म-योगी प्रसिद्ध वक्ता श्री पुष्करमुनि जी इसी परम्परा के एक सन्त रत्न हैं।

जहाँ तक मुझे स्मरण है दिनांक १७ - ६ - १९७७ को प्रतिदिन की तरह मांगीलाल गोटावत हिन्दी कॉलेज में, जहाँ का मैं एक प्राध्यापक रहा, पहुँचा तो भारी चहल-पहल देखी। कम्पाउण्ड वाहनों से भरा हुआ था। सारा हॉल स्त्री-पुरुषों से खचाखच भरा हुआ था। रंगमंच पर चार-पांच श्वेतवस्त्रधारी मुखवस्त्रिकायुक्त मुनियों के बीच जरा उन्नत आसन पर बैठे हुए एक भव्य सन्त का प्रवचन चल रहा था। उनके आकर्षक एवं तेजपूर्ण व्यक्तित्व तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओजपूर्ण गम्भीर वाणी में श्रोता प्रभावित हो रहे थे। मेरी जिज्ञासा पर स्नेहियों ने बतलाया कि आप राजस्थानकेसरी स्थानकवासी सन्त प्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज हैं।

कुछ दिनों के पश्चात् इन सद्गुरुवर्य के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। गुरुवर्य के प्रधान शिष्य प्रसिद्ध साहित्यमनीषी श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री को, जो श्री पुष्कर मुनि-अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादन कार्य में संलग्न थे तत्सम्बन्धी कार्य के लिए एक लिपिक की आवश्यकता हुई तो उस कार्य के लिए मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। मैं प्रतिदिन अभिनन्दनग्रन्थ के लेखन कार्य हेतु उनके पास पहुँच जाता; मुनिश्री जी लिखवाते। लिखते समय मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि वस्तुतः गुरुदेव श्री का व्यक्तित्व और कृतित्व अद्भुत है। प्रतिदिन उनके दर्शन एवं निकट सम्पर्क में भी आने का सुअवसर प्राप्त होता रहता जिससे मैं उनकी आध्यात्मिक साधना के अलौकिक चमत्कार से प्रभावित होता रहता। और उनके ऊर्जस्वल व्यक्तित्व एवं वर्चस्वी कृतित्व से परिचित हुआ, जिस व्यक्तित्व में सुन्दर सुनील समुद्र का गांभीर्य है, देदीप्यमान दिवाकर का तेज है, राका निशाकर की सौम्यता है; उत्तुंग हिमाद्रि की अचलता है, पवन का वेग है, धरित्री की क्षमाशीलता है, तथा ध्रुव नक्षत्र का स्थैर्य है। जन-मन-कल्याण के लिए सतत प्रयत्न शील इस सन्तवर्य के मन की निर्मलता व मोहकता, हृदय की सरसता एवं विशालता, बुद्धि की विचक्षणता तथा व्यवहार की स्नेह-सौजन्यता से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ।

महापुरुष का वर्णन करते हुए अँग्रेजी भाषा के सुविख्यात लेखक कारलाइल ने यह कहा है कि अगर आप महापुरुष की महानता को आंकना चाहते हैं तो यह जान लीजिए कि वह अपने से छोटे व्यक्तियों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करता है। इस कसौटी पर कसके देखें तो सद्गुरुवर्य के हृदयरूपी हिमालय से अपने शिष्यों एवं भक्तों के लिए वात्सल्य की गंगा और करुणा की यमुना सदा बहती रहती है। उनकी बाह्य आकृति जितनी सुन्दर, नयनाभिराम और आकर्षक है उतना ही उनका मन गंगा की तरह निर्मल, स्फटिक की तरह स्वच्छ, संगीत की तरह मधुर एवं ऊषा की तरह मोहक है।

आधि-व्याधि-उपाधि से सन्त्रस्त लोगों को सुख-शांति-समाधान प्रदान करनेवाली उनकी, ध्यान एवं जपसाधना से प्राप्त विशेष शक्ति का, एकाध बार स्वयं अनुभव करने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही और मेरी श्रद्धा की अभिवृद्धि हुई। मैंने देखा तपःशक्ति से आकृष्ट होकर श्रद्धालु जनता प्रवचन-भवन की दिशा में मधुमक्खियों की तरह दौड़ पड़ती हैं।

श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री द्वारा लिखित गुरुदेवश्री की जीवनी को पढ़ने पर मुझे ज्ञात हुआ कि आपश्री विचारक हैं, चिन्तक हैं, लेखक हैं, कवि हैं, कथा-शिल्पी हैं, प्रसिद्ध वक्ता हैं, सफल संगठक हैं, सद्गुरु हैं, तप-जप-निरत सन्त हैं तथा बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। क्षण-भर के उनके सम्पर्क में आनेवालों को इस बात का स्पष्ट पता लग जाता है कि आपश्री सहृदयता, नियमबद्धता, परदुःख-कातरता, सरलता, सरसता, स्नेह-सौजन्यता, मातृवत् वात्सल्य आदि सद्गुणों के आगार हैं।

ऐसे आदर्श सद्गुरुवर्य का अभिनन्दन करके जैन समाज उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है। गुरुवर्य के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धार्चना समर्पित करते हुए, सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी महाराज स्वस्थ रहकर हम सब का पथ-प्रदर्शन करने हेतु "जीवेत शरदः शतम्"—यही मेरी हार्दिक मंगल कामना है।

जैन जगत के हे श्रमण सन्त,
चरणों में अर्पित श्रद्धा सुमन।
वक्ता, लेखक, पुष्कर मुनि को,
शत सहस्र वन्दन-अभिनन्दन॥

卐

जीवन्त और प्राणवन्त व्यक्तित्व के धनी

□ रतनलाल मोदी

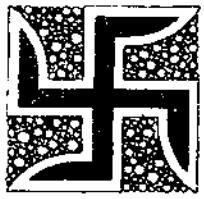
उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी एक जीवन्त और प्राणवन्त व्यक्ति हैं और वे श्रमण संघ के उपाध्याय हैं, इस पद की गरिमा और महिमा कम नहीं है। बाह्य वेष-भूषा से वे एक जैन सन्त हैं, किन्तु हृदय की निर्मलता, मन की विराट्ता, स्नेह की सरसता और संवेदन-क्षमता के कारण वे सभी सम्प्रदाय, पंथ के मानने वालों के आदरणीय हैं, उपास्य हैं। मैंने जब भी उन्हें देखा है, तब जागृत और प्रसन्न देखा है। शैथिल्य के कहीं भी दर्शन नहीं हुए। प्रमाद और अवसाद उनमें और उनके सन्निकट नहीं है। वे परिस्थिति के दास नहीं किन्तु परिस्थिति उनकी दास है। दृढ़ आस्था के बल पर वे परिस्थिति को चुनौती देते हैं। वे परम्परा से उच्छिन्न नहीं है किन्तु समुचित नवीनता को ग्रहण करने में भी उन्हें बाधा नहीं है। वे समाज का नेतृत्व करने में सक्षम है इसीलिए वे अभिनन्दनीय हैं, अभिवन्दनीय हैं। उनके अपूर्व आत्मतेज से मुझे सदा लाभ हुआ है, इसलिए मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा समर्पित करता हुआ गौरव अनुभव करता हूँ।

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आशीर्वचन



□ श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेशरी मिश्रीमल जी महाराज

घटा छटा चपला चमक, पेखत सब पुलकंत।
अभिनन्दन पुष्करतणो, स्रोण सुणत विकसंत ॥१॥

नेक-नेक देख-देख, युक्तियाँ अनेक अहा ! संग्रह करत नित साहित्य सजान को।
वाद को विसार, स्याद्वाद पै श्रद्धान ठान, देत ज्ञान-दान सुना तत्व के विज्ञान को॥
तन से प्रमाद टार, नमोकार जाप सार, भावना प्रबल धार करण कल्याण को।
प्रेम को प्रवाह जहाँ, जनता अपरिमित, दौड़-दौड़ आवे पेख पुष्कर नहान को ॥२॥

वह पुष्कर अजमेर ढिग, यह पुष्कर मुनि-संघ।
वह भौतिकता से भरा, यह आध्यात्मिक रंग ॥३॥

तन प्रक्षालन तीर्थ हैं, मन प्रक्षालन एह।
देह नेह बिन छेह युत, इतत्तो जान विदेह ॥४॥

अमरगच्छ अरविंद अह ! महकत परम पराग।
जो पावत उन जीव का, भल हल मानहु भाग ॥५॥

नम्रभाव अति शांतता, राजत मुख मुस्कान।
भव्य भौर मन मुदित व्है, सुनत एक व्याख्यान ॥६॥

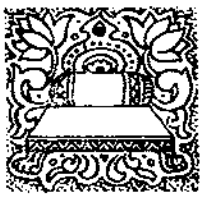
मधुर-कंठ कोमल कृति, सहनशीलता वंत।
गुरु-भक्ति जानी भली, कली-कली विकसंत ॥७॥

बढ़ जो शुभ शिष्यों सहित, चढ़ जो उन्नति शैल।
"मिश्री" यश सौभाग्य से, दीर्घायु रंग रैल ॥८॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिनन्दन इक्कीसी



□ कविरत्न चन्दन मुनि (पंजाबी)

: १ :

जैन जगत के, श्रमणसंघ के
जो हैं तेज सितारे।
अघहर, धृतिधर मुनिवर "पुष्कर"
कहते जिनको सारे॥

: २ :

जीवन में है त्याग, तपस्या,
मुख में अमृतवाणी।
सन्त आप-सा विरला होगा,
गहरा ज्ञानी - ध्यानी॥

: ३ :

यह "नांदेशमां" जो सुन्दर
है ग्राम "उदयपुर" में।
जन्म, वंश ब्राह्मण में लेकर
बसे आप उर-उर में॥

: ४ :

"उगनी सौ सड़सठ" का संवत
"आश्विन शुक्ला चौदस"।
सारा ग्राम बधाई द्वारा
गूंज उठा था वरबस॥

: ५ :

"उगनी सौ इक्यासी" का भी
सम्वत था सुखदायी।
ताराचन्द मुनीश्वर जी से
दीक्षा थी जब अपनाई॥

: ६ :

क्या बतलायें बुद्धि तीव्र थी,
कैसी अद्भुत पाई।
गिनती के वर्षों में कर ली,
ऊँची परम पढ़ाई॥

: ७ :

कभी पढ़े गुरुमुख से आगम,
अब हैं आप पढ़ाते।
श्रमणसंघ के एक प्रतिष्ठित,
"उपाध्याय" कहलाते॥

: ८ :

राजस्थानी जनता की जब,
बिगड़ी दशा सुधारी।
"राजस्थानकेसरी" पाई
पदवी न्यारी प्यारी॥

: ९ :

तपः त्याग वैराग्य हृदय में
जिनके हैं लहराते।
चुस्त आप-सा संयम कोई
विरले श्रमण निभाते॥

: १० :

कैसे कोई थाह आपके,
गहन गुणों की पाले।
मधुर मृदुल मन ऐसा जैसे,
बालक भोले-भाले॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

: ११ :

पाँच महाव्रत, पाँच सुमति का,
तीन गुप्ति का पालन।
कैसे करना कोई सीखे,
बैठ आपके चरणन ॥

: १२ :

सदा दूर विकथा से रहते,
कहते आगम गाथा।
हर इक का मन मुग्ध बनाता,
खिला कुसुम-सा माथा ॥

: १३ :

उन्नत और समुन्नत जीवन
जनता का हो कैसे ?
अणुव्रत पाँच बताकर कहते,
ऐसे भाई ! ऐसे ॥

: १४ :

परम रसीली रसना से है,
जब भी भाषण करते।
लगता है श्रीमुख से मानो,
माणक-मुक्ता झरते ॥

: १५ :

हो न गया हो भाषण चालू
इक से इक यों आगे।
लोग नदी बरसाती ज्यों हैं,
आते दौड़े भागे ॥

: १६ :

निकट दूर से जो भी प्रेमी,
दर्शनार्थ चल आते।
शील, साधना, सदाचार, शम,
सेवाव्रत बतलाते ॥

: १७ :

नहीं चलाते चौधर अपनी
संग संघ के रहते।
महावीर अनुयायी सच्चे,
सभी आपको कहते ॥

: १८ :

संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी—
में हैं करते कविता।
नहीं समझते यदि अत्युक्ति
कह दें कविता-सविता ॥

: १९ :

शिष्य प्रशिष्य आपके पण्डित,
कविवर लेखक, वक्ता।
सपने में भी जिनकी समता,
क्या कोई कर सकता ॥

: २० :

जैसा सुन्दर नाम आपका
वैसे सुन्दर काम।
निशिदिन दुनिया चरण-कमल में,
करती पुण्य प्रणाम ॥

: २१ :

फूलें-फलें आपश्री जिससे,
दया धर्म हो रोशन।
बड़ी विनय से करता है यह,
"चन्दनमुनि" अभिनन्दन ॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दन-अभिनन्दन

□ श्री दिनेश मुनि

पुष्कर गुरुवर है सन्त प्रवर।
वक्ता लेखक सद्गुरु कविवर॥
पुष्कर मुनि का प्यारा नाम।
जन-जन पावे सुख आराम॥
श्रमणसंघ के उजियारे हो।
जन-जन के तुम प्यारे हो॥
मेवाड़ देश में जन्म लिया।
वाली-सूरज को मुग्ध किया॥
चौदह वर्ष की लघुवय में।
श्री तारक गुरु के शिष्य बने॥
तारक गुरु के शिष्य दुलारे।
हो अमर गच्छ के उजियारे॥
पढ़-लिख कर तुम विद्वान बनें।
जन-मोहन गुरु महान बने॥
जन जन के तुम उपकारी हो।
मुक्ति मार्ग के सहकारी हो॥
चरित्र में है क्षीर उज्ज्वलता।
जीवन में शशी की शीतलता॥
तेज तुम्हारा सूर्य समान।
भाषण का गर्जन सिंह समान॥
ध्यानयोगी जैन समाज सुधार।
हे आधि व्याधि उपाधि निवार॥
करता दिनेश शत वन्दन है।
गुरु के गुरु तव अभिनन्दन है॥

—☆—

सदा रहो जयवंत

□ मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'

सद्गुण - गण - शोभित सतत श्रमण संघ के सन्त।
'पुष्कर' मुनिवर जगत में सदा रहो जयवन्त॥
शत-शत वन्दन "विनय" के, आप करो स्वीकार।
"अभिनन्दन" यह तव बने जगतीतल शृंगार॥

—☆—

पुष्कर आप सुतीर्थ

□ श्री महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

तीर्थ-शिरोमणि तीर्थ है, जैसे पुष्कर तीर्थ।
वैसे हो मुनि - संघ में, "पुष्कर" आप सुतीर्थ॥
"महेन्द्र" मेरा नाम है, गुरुजन को सुखकार।
करता तव पद-वन्दना, बनकर विनत अपार॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धा के पुष्प



□ श्री हीरामुनि जी 'हिमकर'

●●

भजन में नित ही रत हो रहे,
लगन से प्रभु के गुण गा रहे।
सुभग पुष्कर वन्दन आपको,
विनति हीरक की गुरु तारजो।

सु करनाटक में मन आपका,
गुरु कहो किस कारण जा लगा।
धरम की लगनी उत तेज है,
भगत भी उसमें अनपार है।

भगति में नित दौलत वापरे,
सुगुरुदेव कहे उतना करे।
मगर है करनाटक प्रान्त का,
प्रबल भाग सदा गुरु आपका।

जगत में अपनापन चाहिए,
इसलिए अरजी सुन लीजिये।
मरुधरा अपनी सुखदायिनी,
सरस भारत की वसुधा यही।

अब करो गुरु आप कृपा यही,
दरस दो हमको गुरु आय ही।

तुम गये हमको इत छोड़ के,
अरज है मन की कर जोड़ के।

मिलन की दिल में लगनी लगी,
गुरु करो करुणा जुगती करी।
सुखद थे गुरु तारक आपके,
तिर गया प्रभु मैं गुरु पाय के।

तिरण-तारण-तारक हो गये,
अपन को पथ तारक दे गये।
अमर नाम करो गुरुदेव थे,
चरण-सेवक देवज देव हैं।

मधुर वैन वदे नित देवजी,
सुगुनि शिष्य खरे प्रिय देवजी।
अपर शिष्य सभी सखरे बने,
विनयवन्त गुणी गुण-खान हैं।

सकल संघ सदा गरिमा करे,
हिमकरो नित ही विनती करे।
भगत को गुरु तारण आइये,
सुगुरु तारक के गुण गाइये।

दोहा

तारक-गुरु-प्रसाद से पुष्कर पनपे आज।
पग-पग सुख प्रगटा रहे, सफल होय सब काज॥
ज्ञान ध्यान गौरव बढ़े, बढ़े शिष्य परिवार।
दूर दूर से देखलो वन्दत सहु नर नार॥
हीरा मुनि वन्दे सदा, पुष्कर-चरणे चित्त।
भाव भरी करूँ वीनती, वेगि पधारहु मित्त॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो चरण...!

□ श्री गणेशमुनि शास्त्री

दो चरण चल रहे सतत यहाँ, वसुधा का कल्मष हरने को।
जगती के वैभव से विलग हो, खुशियों से झोली भरने को॥

अध्यात्मयोगी व उपाध्याय,
राजस्थानकेशरी यहाँ पर।
गुरुदेव मुनि पुष्कर जैसा,
है नहीं कोई इस वसुधा पर॥

जग में अंधेरा रहे नहीं, दीपक बनकर के जलने को।
दो चरण चल रहे सतत यहाँ, वसुधा का कल्मष हरने को॥

उन्नत भाल, सीना विशाल,
देख जिसे दर्शक मोहित है।
महावीर के अनुयायियों में,
मुनि पुष्कर कैसे शोभित है॥

शंकर बनकर के वसुधा का, अब तरल-गरल सब पीने को।
दो चरण चल रहे सतत यहाँ, वसुधा का कल्मष हरने को॥

पैदल ही चलते हैं निश दिन,
लेकिन नहीं विनोबा गांधी।
प्रेम दया और अहिंसा की,
कौन लिए जाता यह आँधी॥

हर कुंठित चेहरे पर यहाँ, अब नव आशाएं धरने को।
दो चरण चल रहे सतत यहाँ, वसुधा का कल्मष हरने को॥

यहाँ बहा रहे अहिंसा की,
वचनों से ये पावन गंगा।
पढ़ा रहे हैं पाठ प्रेम का,
मानव मन हो जिससे चंगा॥

महावीर ने दिया विश्व को, वह वचन आज पूरा करने को।
दो चरण चल रहे सतत यहाँ, वसुधा का कल्मष हरने को॥

मानव-सेवा में महापुरुष,
तेरा यह जीवन अर्पित है।
नित तेरे पावन चरणों में,
भावों के सुमन समर्पित हैं॥

सतत बहाते रहना गुरुवर, वाणी के पावन झरने को।
दो चरण चल रहे सतत यहां, वसुधा का कल्मष हरने को॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पढ़ो सभी पुष्कर प्रभा



□ तपस्वी श्री रूपमुनि 'रजत'
(मुक्ता-शिष्य)

□

जिनवर जैन सुजलधि बिच "पुष्कर" मंजु मनोज।
अमर सूर्य-तारा-शशिन, विकसत नित्य सरोज॥

देखी मैंने अबलविधि की हस्तरेखा विशेषा।
क्या था जो बचपन बड़ा क्रीडितानन्दवेशा॥
छोड़े सारे निजजन सभी जाव से दूर-देशा।
मैत्री नांही अस मुनिन की दर्शनानन्द शेषा॥

क्या थे ब्रह्मकुलोद्भवो जगगुरु साधु सहायी बने।
नित्यं जैनउजागरा मतिखरा भावप्रधानानने॥
लोगों में महिमा भरी हटवरी नीति प्रतीति बड़ी।
जो भी हो निज ज्ञान आश्रय बढ़े दृष्टि अनोखी कड़ी॥

शास्त्रों में बहु स्नेह गेह विरती सम्मेलने शोधनम्।
निर्द्वन्द्वो निज कार्य कर्म कुशलो सत्ये सुधा बोधनम्॥
जो आये सबसे मिले मन खुले बातें करे प्रेम से।
ऐसे सन्त सुजान "पुष्कर मुनि" आत्मा धुनी नेम से॥

जाते हो वचनार्थ दान करने व्याख्यानदानी महा।
होते हैं चितराम देख करके बोले सभी ओ अहा॥
ध्यानी ध्यान श्रद्धालु "रूप" मृदुलो माया अपारा सही।
मैं तो केवल शब्द दो ही लिखके विश्राम लेऊँ यहीं॥

पुष्कर गुरु सब तीर्थगुरु "देवेन्द्र" कर सहयोग।
श्री गणेश रमेश सुखद अमित अथाह प्रयोग॥
जैन सम्प्रदाय जावसी-वैष्णव जैन न ध्यान।
क्या अलौकिक संघ का शंकित होत विज्ञान॥

जो भी किया है आपने सभी अनोखा काम।
प्रतिदिन उन्नति आपकी जय जिनेन्द्र जय राम॥
अमर अगम आशीष है रहे अमिट तव ध्यान।
भाव-नाव चलती रहै बिन जल तेल विज्ञान॥

अमर गच्छ अवतार, तारक-रवि-रश्मि-रजत।
जाहिर जग अणगार, पाठक पटु-पुष्कर मुनि॥

साहुत सह श्री संघ अभिनन्दन करते मुनि पथ नेम से।
शुभ कामना के सुमन यह हम भी चढ़ाते प्रेम से॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे गुरुदेव

श्री गणेशमुनि शास्त्री

—मेदपाट की सुरम्य धरा पर जन्म लेकर, ब्रह्मवंश को उजागर करने वाले, संयम के कंटकाकीर्ण वन-पथ पर फौलादी कदम बढ़ाते हुए, हमारा पथ-प्रदर्शक कौन है ? हमारे गुरुदेव !

—योग-साधना में निष्ठा रखने वाले, ध्यान जिनका सम्बल है, सत्य और अहिंसा के अटल पुजारी बन विचरने वाले कौन हैं ? हमारे गुरुदेव !

—मोह की रेशमी-जाल तोड़कर, भोग भावना का अन्त कर, निरपेक्ष भाव से जीवन बिताने वाले, जनता के मानस में त्याग के बीज अंकुरित करने वाले कौन हैं ? हमारे गुरुदेव !

—ज्ञानरूपी मधु को ढूंढ़ते फिरने वाले, मानव-मधुप को सर्वदा मधु से संतृप्त करने वाले, श्रमण संस्कृति के पदचिह्नों पर चलने वाले, जन-मन को अपनी ओर चुम्बक की भाँति आकर्षित करने वाले कौन हैं ? हमारे गुरुदेव !

—संगठन प्रेमियों को बल देने वाले, शासनसेवियों को सेवा का माधुर्य अर्पण करने वाले, क्षेम-सुधा चाहने वालों को क्षेम-सुधा सदैव वितरण करनेवाले कामधेनु से सौम्य कौन हैं ? हमारे गुरुदेव !

—समाज के लिए कठिन परिस्थितियों की कारावास सहनेवाले, अबोध शिशु की भाँति सतत मुस्करानेवाले तथा क्षमाशील सन्तोष के फूल खिलानेवाले ऋतुराज-वसन्त से कौन हैं ? हमारे गुरुदेव !

—साधना के दुर्गम पथ पर निर्भयता से बढ़ने वाले, आँधी और तूफानों से टक्कर लेकर वीरता का परिचय देने वाले वीर साहसी धरा-पुत्र कौन है ? हमारे गुरुदेव !

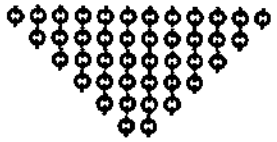


—जिसके जीवन में अनेक पतझड़ आये फिर भी हुए नहीं कभी भी आकुल-संत्रस्त और न कभी हुए वे लालायित ही सुनने को वसन्त नटी के पायल की मादक झंकार, ऐसे अध्यात्मयोगी कौन हैं ? हमारे गुरुदेव !

—कान्ति में सूर्य के समान, शान्ति में चन्द्र के समान, क्रान्ति में राष्ट्रपिता गांधी के समान तेज दिखानेवाले कौन हैं ? हमारे गुरुदेव !

—भक्तों के दुलारे, दीनों के सहारे, श्रमण संघ के प्यारे, आँखों के तारे, वे वरिष्ठ नेता-सन्त कौन हैं ? हमारे गुरुदेव !

—चर्चा-चर्चित है—भारत के विभिन्न भूखण्डों पर वन्दन-अभिनन्दन की, कर रहा है भेंट आज जैन संघ मिलकर जिसको अभिनन्दन-ग्रन्थ श्रद्धा-भक्ति भाव से, वे राजस्थानकेसरी परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज साहब कौन है ? हमारे गुरुदेव !



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



उपाध्याय पुष्कर मुनिवर का

ज्योतिर्धर, अध्यात्मयोग के आराधक जो,
भारतीय सन्तों में मुनिवर प्रमुख सन्त हैं।
सरल हृदय, गुरुभक्त, विनय के सागर हैं जो,
जिन संस्कृति-आगम ग्रन्थों के ज्ञानवन्त हैं।
भक्ति, ज्ञान औ कर्मयोग का हुआ समन्वय,
जिसमें वह साधना आपकी अहो। धन्य है।
इसीलिए तो मिली सिद्धियाँ इस जीवन में,
मुनिवर के सम प्रखर तपस्वी कौन अन्य है।
अंगारों में सोने को गलना पड़ता है,
तब जाकर कुन्दन का सचमुच रूप दमकता।
अन्धकार के कण-कण को विदलित करके ही,
तरुण सूर्य प्रातः अम्बर में सदा चमकता।
जप-तप से ही सच्ची सिद्धि मिला करती है,
संचित कर्मों का तप से ही होता है क्षय।
उपकारक ही रही आपकी योग-साधना,
मर्त्यलोक में प्राप्त कर लिया है यश-अक्षय।
जिनवाणी-कल्याणी का सन्देश सुनाया,
भक्तों के अन्तर्तम का तम हरण किया है।
अशरणशरण ! अहो ! पुष्कर-मुनिवर चरणों में—
सन्त "कमल" का अपरिहार्य शत शत वन्दन हो।
उपाध्याय पुष्कर-मुनिवर का अभिनन्दन हो॥
मत्त-मधुप सी मधुर और ओजस्वी वाणी सत्य,
अचेतन में भी चेतनता लाती है।
सदियों से सोये समाज में मुनि-सिंहों की,
हुँकारें ही युग को जागृत कर जाती है।
सच्चरित्र ला देते हैं युग में परिवर्तन,
श्रमणसंघ में सचमुच अनुशासन का बल है।
महानाश की ज्वाला को जो शान्त कर सके,
मुनिवर के मानस में उस करुणा का जल है।
एकसूत्र में बांध दिया है जन-मानस को,
धन्य हुई साहित्य-साधना मिल मुनिवर से।
वरदहस्त मिल गया जिसे वह धन्य हो गया,
कितनों को निर्मुक्त कर दिया अपने कर से।
खुली हुई हैं संस्थाएं लोकोपकारिणी,
प्रगति पन्थ के राही क्या रुकते राहों में।
कितनी निर्मलता है मुनिवर के भावों में,
सागर-सा गर्जन होता उनकी आहों में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभि-नन्दन हो

मुनिश्री
महेन्द्रकुमार 'कमल'



तिल-तिल जलकर इस जग को आलोक दिया है,
श्रमण शक्ति के पुत्र ! अमर हैं आप लोक में।
लोक सुधारक - जनसुखकारक - भवभयहारक—
उपाध्याय - चरणों में यह अक्षत चन्दन हो।
उपाध्याय पुष्कर - मुनिवर का अभिनन्दन हो॥

हिन्दी - राजस्थानी - संस्कृत भाषा के कवि,
उच्च कोटि के लेखक, उच्चकोटि के साधक।
सम्प्रति मुनिवर श्रमणसंघ के उपाध्याय हैं,
भारतीय विद्याओं के मर्मज्ञ - उपासक।
महामान्य ! है धन्य आज मेवाड़ आपसे,
हे प्रतिभा के धनी ! धन्य है आज लोक यह।
सूझबूझ के धनी ! आपका निर्देशन पा,
स्थानकवासी जिन समाज अब है अशोक यह।
नीर-क्षीर का किया विवेचन धवल हंस हे !
मानसवासी ! सदा सत्य के ही अन्वेषक।
विश्ववन्द्य - निर्ग्रन्थ-पन्थ के पथिक ! स्थविरवर,
सदा विजय हो, दया-धर्म के हैं उपदेशक !
ज्ञानी हैं पर लेशमात्र भी मान नहीं है,
कहाँ आपका कहो - आज सम्मान नहीं है ?
जिनशासन के समुत्थान में हे विषपायी !
किये आपने हैं कितने विषपान नहीं हैं ?
महावीर के भक्त भुला पायेंगे क्या ये,
त्याग आपका अणु-अणु को प्रतिबोधन देगा।
इसी तरह मुनिवर ! हमको आशीष दीजिए,
सन्तकृपा से अति पावनतम यह तन-मन हो।
उपाध्याय पुष्कर-मुनिवर का अभिनन्दन हो॥

महागुणी पुष्कर मुनि

□ भूपेन्द्र मुनि
(रजत शिष्य)

त्रिदश दिल को देव एक रदन को राज तूँ।
रमा ईश अहमेव गज ईश को रमन तू।
योग की अगम गम समन दमन धम, जिन मग अहर्निश सगन मगन है।
पदन परन जह तारन तरन तह, करण-हरण एक, चरता लगन है॥
हटन हम नमन, छुटन देवत छिन—खेरू न करत खिन, जगत जगन है।
ऐसे महामुनि गुनि दुनियो भनत सब, 'भूपन' भिरन यह 'पुष्कर' पगन है॥
नैनन निरिख्या आपने, बैनन वरस्या मेह।
गुरु मुख पुनि जग जनन से, श्रवण सुन्या गुण जेह॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शतशः अभिनन्दन



☐ विद्याविनोदी श्री शुकन मुनि जी

☐

मेदपाट में जन्म ले, मरुधर बना महान।
चमक्यो जाय विदेश में, ले तारक वरदान॥
ले तारक वरदान, भक्तगण हार हियारो।
श्री पुष्कर मुनिराज, देव देवेन्द्र पियारो॥
मधुर वाक्य सिद्धी वरी, विषय वासना छेद।
ये अभिनन्दन "शुकन" शुभ, अहो मुनि गुणिमेद॥

पाप ताप संताप हर, जाप जपे मन रंग।
जा कौ सीखन चहत चित, जा पुष्कर मुनि संग॥
जा पुष्कर मुनि संग, लोह फिर कंचन हो जासी।
ये योगी अनमोल, विचक्षण हैं मृदुभाषी॥
शान्त सरल है पुनि सजग, निर्मल गंगा आप।
जा के पद पंकज छुअत टर जावत हैं पाप॥

माला हंदो मोह, लगन ललित लागी रहै।
मोहन बंसी टोह, त्यों पुष्कर मुनिराज रै॥
जहाँ-तहाँ जमघट्ट, ठट्ट देख दिलड़ो ठरै।
गाँवों में गहघट्ट, शंकर विजिया के सरिस॥
विस्तर जो कथनीय, चारों दिशि में चाँद ज्यों।
बनो संघ रमणीय, उपाध्याय पुष्कर मुनिन॥

वन्दना

☐ मुनि सतीशचन्द्र 'सत्य'

गुरु तारक ने चन्दा बन कर,
ज्ञान रश्मि फैलाई जग में।
चमक उठा पुखराज तभी से,
स्पर्श हुआ तन जब पदयुग में॥

तेज पुञ्ज के बने सूर्य सम,
अज्ञान तिमिर को दूर किया।
तीर्थ-धाम यह बना धर्म का,
पुष्कर तब से नाम लिया॥

कलि के विषम भाल के मल को,
धोने मानव जब आते हैं।
समता के रस में जब धोते,
जीवन अमर बनाते हैं॥

शत-शत वन्दन ही अभिनन्दन,
'पुष्कर' तुझ पर जग बलि देता।
मुनि सतीश श्रद्धा से नत हो,
पुष्कर से आशीः भर लेता॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अभिनन्दन

☐ **आर्या चन्द्रावती**, जैन-सिद्धान्ताचार्या
[बा० ब्र० महासती श्री पुष्पावती जी साहित्यरत्न की सुशिष्या]

☐

भारत भूतल पर चमका है, अभिनव एक सितारा।
पावन पुष्कर योगीश्वर का, है अभिनन्दन प्यारा॥
पूर्व जन्म के पुण्य-पुञ्ज का सुफल सामने आया।
ज्योतिर्मय उन योगिराज के दर्शन उनने पाया॥
यत्र तत्र सर्वत्र जगत में जिनका यश विस्तारा।
पावन पुष्कर योगीश्वर का, है अभिनन्दन प्यारा॥

उज्ज्वल हैं क्या इनसे बढ़कर, सूर्य, चन्द्र या तारे?
पाकर धन्य हुई वाली माँ, या जगवासी सारे॥
ध्येय मिला "तारक" गुरुवर से ध्यान धर्म का धारे।
याम है पावन, धाम है पावन, काम हैं पावन प्यारे॥
यष्टा है अध्यात्म-यज्ञ के, ब्राह्मण वंश दुलारा।
पावन पुष्कर योगीश्वर का, है अभिनन्दन प्यारा॥

राज्य रंग नश्वर तज पल में, अलख अरग जगाया।
जरा मृत्यु से ग्रस्त तनु से, अजर अमर को पाया॥
स्थान सिद्धि का शासन शाश्वत, पाने सौख्य निराला।
नन्दन सूरजमल जी का है, सूर्य रश्मि उजियाला॥
केवल कमला की वरमाला, पाते पौरुषवाले।
सज्जन जन के हृदय कमल को विकसित करनेवाले॥
रीति निराली, प्रीति निराली, गीति-मधुर इकतारा।
पावन पुष्कर योगीश्वर का, है अभिनन्दन प्यारा॥

श्वेश सुने पर देखो ये हैं, रत्न-त्रय के धारक।
पुण्य-धाम हैं, मुक्तकाम हैं, तीरथ पाप-निवारक॥
षट् काया के हैं प्रतिपालक, पञ्च महाव्रत धारक।
कर्म रेख के एक सुधारक धर्म-मर्म के पारक॥
रञ्जन करते जन-जन मन, ज्ञानाञ्जन नयन लगाये।
मुखिया हैं जो मुनि जन मन के, सञ्चालक कहलाये॥
नित्य धैर्य के महागुणी हैं, सुमति-सुगति को लाये।
जीवन उनका युग-युग के प्रति दर्पण-सा है सारा।
पावन पुष्कर योगीश्वर का, है अभिनन्दन प्यारा॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महायोग की सुरसरिता में मज्जन करने आते।
हामी बनते सत्य-पंथ के, है मुख-मुख से यश गाते॥
राकापति-सी शीत चाँदनी मुखमण्डल पर फैली।
जरा ध्यान से देखा उनको, जनता उनकी हो ली॥
कामकली से, कनकछली से, पाया है निस्तारा।
पावन पुष्कर योगीश्वर का, हो अभिनन्दन प्यारा॥

अमर देव की अमर धार को, जिनने अमर बनाया।
भिन्न समझकर आतम-देह को, देह-मोह बिसराया॥
नन्ही सी उस वय किशोर में, जगमग जग ठुकराया।
वमन किया है तन को, मन को, पावन जीवन पाया॥
नमन चरण में, सदा शरण में, 'चन्द्रवती' सम धारा।
पावन पुष्कर योगीश्वर का, हो अभिनन्दन प्यारा॥



वंदना

□ जिनेन्द्र मुनि
काव्यतीर्थ



गुणी गुणों से विश्व को, वितरें नव आलोक।
उनकी आशीः से स्वतः, मिट जाते सब शोक॥
ज्ञान राशि के स्रोत-सा, सुन्दर संयम-रत्न।
गुरु श्री के कारुण्य का, करूँ स्वयं मैं यत्न॥
साधक दिव्य-प्रकाश का वीतराग अनगार।
ज्योतिर्धर सी रावरी, शोभा अपरम्पार॥
संयम - सेवा - सिद्धि से, ज्ञानयोगि सुषमेश।
समता - रस में लीन, महामुनीश्वर शेष॥
क्षमा-शील सारल्य के, जीवितरूप अपार।
वन्दनीय मेरे प्रभो, नमता हूँ शतवार॥
शान्त, दान्त, ज्ञानी, गुणी, श्रमणसंघ शार्दूल।
आपहि शोभे आप से, गुण वर्गन निर्मूल॥
संयम के सौन्दर्य की, वर्द्धमान - गुण गान।
विहरे धर्म-प्रचार को, शोभित शासन मान॥
जिज्ञासु के ज्ञान मँहि, करते ज्ञानालोक।
ज्ञान लभहिं वे जीव, विहरें सदा अशोक॥
प्रज्ञा के आलोक महिं, अवलोकित संसार।
कभी न भूलूं रावरे, गुरुवर के उपकार॥
अहो पूज्य गुरुदेव श्री, गुणोदधि गुरुराज।
नमता भजता नित्य ही, नहिं मैं अपितु समाज॥
अद्भुत निर्मल ज्ञान से, करते जग उद्धार।
मुनि जिनेन्द्र प्रणमत सदा, स्वीकृत हो निरधार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



सुवासित पुष्प

☐ साध्वी भारती जी, जैनसिद्धान्त-विशारद

सागर सम गम्भीर आप हैं,
चन्दा जैसा निर्मल मन।
सत्य ज्ञान समुज्ज्वलता से,
ज्योतित होता अन्तस्तल।

चञ्चल मन की सुस्थिरता से,
ध्यान भाव में रत रहते।
ज्ञान-राशि के रत्न महोज्ज्वल,
आत्म-भाव में नित बहते।

आत्मयोग के शुक्ल यशोधर,
सहनशक्ति के हो दाता।
करुणासागर निज प्रभु के,
चरणों में झुकता नित माथा॥

उपाध्याय पदवी पर शोभित,
दीप्तिमन्त हो रहे आप।
ध्यान आपका करे जो निशिदिन,
मिट जाये उसका सन्ताप।

तत्त्वबुद्धि को देख आपकी,
मन हर्षित हो जाता है।
प्रतिभाधारी ज्ञानी गुरु के,
यशोगान यह गाता है।

वाणी भाषा ओजस्वी है,
तेजस्वी मुख-दर्पण है।
छल-प्रपंच से दूर बहुत यह,
सरल आपका जीवन है।

जन्म-ग्रहण करते पुरुषोत्तम,
जग का दुःख मिटाने को।
मौर्ख्य निशाचर दूर भगाते,
ज्ञान ज्योति प्रकटाने को।

अपनी अमृतमय वाणी से,
सब का दुःख मिटाया है।
भूले-भटके प्राणिजनों को,
आपने स्वर्ग दिखाया है॥

गुरुवर! तव चरण कमल में, अर्पित करती हूँ शत वन्दन।
श्रद्धा सुमन सुवासित जैसे, मलयानिल करते हो नन्दन॥

मनोकामना

☐ साध्वी श्री राजेमती जी

हो जग में अति उत्तम आतम, भामन जामणसी सब जाने।
कंचन कंकर एक गिने अरु, नन्दन वन्दन एक समाने॥
तीरथराज महा मुनिराज, करे शुभ काज जु ज्हाज जिसाने।
श्रौण सुणे पर पेख लिये नहीं, मो दृग होवत दर्श दिवाने॥१॥

पाठक परम प्रवीन, श्री पुष्कर पावन मुनि।
सहज भाव में लीन, जिनशासण में दीपता॥२॥
वारक मिथ्यावाद, कारक कल्पतरू जिसा।
टारक पंच प्रमाद, तारक शिव तरणी गगन॥३॥
अवसर वो अनमोल, कब आवे दर्शन करूँ।
आगम ज्ञान झकोल, सद्शिक्षा कानों परे॥४॥
श्रमणसंघ सह आप, सुजस राशि पाओ प्रबल।
सदा रहो जय जाप, पग-पग आज्ञा सफल हो॥५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



पेखो मुनि पुष्कर प्रभा

□ पं० बालाराम कवि-किंकर (जोधपुर, राज०)

ज्ञानसिन्धु गुरुराय, भवियण तारक भव्य थे।
पावन जारा पाय, सेवे मुनि पुष्कर सदा ॥

अघहारी अरिहन्त अन्त न ज्यारी युक्ति रो।
पुष्कर मुनि प्रणमन्त, विनय सहित व्हांने सदा ॥

सिद्ध हुए जो सूर, नूर उणारो निरखवा।
पुलके प्रेम प्रचूर पुष्कर मुनि रो पेखलो ॥

उपकारी आचार्य, शिरोधार्य है सर्वदा।
आस्ता यह अनिवार्य, मुनि पुष्कर रे मन बसे ॥

पाठकरे परताप, तुरत मिटे भव-ताप-त्रय।
जपे जिणांरो जाप, प्रतिपल पुष्कर मुनि अहा ! ॥

गौतम गणधर और, भे जेते अणगार भुवि।
माने निज शिरमौर, व्हांने पुष्कर मुनि विमल ॥

पावन प्रेम प्रसार, पूज्य पंच परमेष्ठि पद।
मन में मोद अपार, मुनि पुष्कर माने सदा ॥

षट् दरशण रो साद, जग में है जिण मांय सूं।
शुचि दरशण स्याद्वाद, मुनि पुष्कर रे मन बस्यो ॥

मन अपनो मजबूत, उलझायो अरिहन्त पद।
ऐसे ओ अवधूत, पुष्कर मुनि है पेखलो ॥

लखि राजुल री भक्ति, मुक्ति मुरझगी मन ही मन।
सुन्दर वाहिज शक्ति, मुनि पुष्कर रे मन बसे ॥

सेवा-धर्म समान, धर्म आन ना धरणि पर।
गुरु तारक मुख ज्ञान, ओ पुष्कर मुनि आदर्यो ॥

भक्ति, भक्त, भगवन्त, तारक गुरु इण त्रिपुटिरो।
आप्यो ज्ञान अनन्त, मुनि पुष्कर ने मोद सूं ॥

जूंजे जबरा जेह, संयम रे समरांगणे।
निर्मल व्हांरो नेह, मुनि पुष्कर रे मन-बसे ॥

जबर पुण्य गो जाग, रूठ जगतरा राग सूं।
वसगो उर वैराग, पुष्कर मुनि रे पेखलो ॥



जनम मरण रो जाल, हाल हरामी ना हट्यो।
शाले उर ओ शाल, पुष्कर मुनि रे पेख लो ॥

दीन दुखी री दाह, देखि दया से द्रवित हो।
यथायोग्य उर आह, उणरी मुनि पुष्कर हरे ॥

जानत सकल जहान, जयणा जिनशासन तणी।
उण जयणां री आन, मुनि पुष्कर राखे महा ॥

निगमागमरो नाण, भाणहाररो भव्यपन।
करण आत्म-कल्याण, गुरुमुख पुष्कर मुनि ग्रह्यो ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सज्जन ने सन्मान, आपे जिणसूं अे अहा !
प्राज्ञन के प्रिय-प्रान, बनिगे पुष्कर मुनि विमल ॥

मार तणो मदमार, शील तणो शृंगार सज ।
ओ पुष्कर अणगार, महि में विचरे मोद सूं ॥

मद पाँचारो मार, पाँच आदरे प्रेम सूं ।
इणविध आत्मोद्धार, पेखो, मुनि पुष्कर करे ॥

सुन्दर शुचि साहित्य, कर्मठ कृत्याकृत्य रो ।
निर्मल विरचे नित्य, पुष्कर मुनि अे प्रेम सूं ।

निर्मल मन नवकार, मन्त्र जपे नित मोद सूँ ।
उणरे ही आधार, पुष्कर मुनि गुनि भे प्रबल ॥

सदा मुक्ति री सेज, सोवूं मैं आनन्द सूं ।
हुँलसि हिये ओ हेज, पुष्कर मुनि रे पेख लो ॥

दिल री दुविधा दूर, लूटन को तारक गुरु ।
निरखण ज्यां रो नूर पुष्कर मुनि प्रेमाकुली ॥

गुरु तारक रो ज्ञान, शिर निवाय ने संग्रह्यो ।
जिणसूं ओ जग-मान, पायो पुष्कर मुनि प्रबल ॥

प्रेमी आते पास, जाते वे वापिस जदा ।
रख जाते रुचि खास, गुरु पुष्कर की गोद में ॥

सूत्र तणो शुचि सार, ग्रहण कियो गुरु से गहन ।
उणसूँ आत्मोद्धार, भव्य भिक्षु पुष्कर करे ॥

स्वारथ हित संगीन, परमारथ में लीन है ।
पुष्कर मुनी प्रवीन, मानहु जल में मीन-जिमि ॥

संकट मोचन शांति नाथ निरन्जन रो सदा ।
भेदन हित भव-भ्रांति, जाप मुनी पुष्कर जपे ॥

करते कपट विसार, जाप अहा ! जिनराज रो ।
अे पुष्कर अणगार, निर्मल नयनां निरख लो ॥

प्रज्ञा प्रबल प्रसार, पाप-पुण्य री पारखा ।
अे पुष्कर अणगार, करते हैं कमनीय अति ॥

दान, शील, दरकार, तपरु भाव की तथ्यता ।
अे पुष्कर अणगार, समजावे है स्नेह सूँ ॥

काम-क्रोध री कार, सार विनारी समजकर ।
अे पुष्कर अणगार, उल्लंघी आमोद सूं ॥

लोभ तणो ललकार, तारे अरु मारे तटकु ।
अे पुष्कर अणगार, इक छारे इक आदरे ॥

सामायिक रो सार, सुन्दर सूत्राधार सूं ।
अे पुष्कर अणगार, समजावे सद्बोध दे ॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



शान्ति ग्रही श्रीकार, शान्तिनाथ री शरण में।
अे पुष्कर अणगार, पेखो पुण्य प्रताप सूं॥

पंच महाव्रत धार, स्वात्माने शोधे सरस।
अे पुष्कर अणगार, देखो तारक गुरु-दया॥

सद्गुरु ताराचन्द, दीक्षा दे भव-द्वन्द्व हर।
अमित कियो आनन्द, पुष्कर मुनि रे पेखलो॥

काम-क्रोध-मद-लोभ, व्यवहारी विषमय विपुल।
क्षण-क्षण में दे क्षोभ, ताते मुनि पुष्कर तज्या॥

झूठ तणो झणकार, विष सम है व्यवहार में।
अस उपदेश उदार, पुष्कर मुनि प्रतिपल करे॥

पातो दुख अनपार, भव-सागर में भटकतो।
हिय में खा आहार, गुरुपद पुष्कर मुनि ग्रह्या॥

वन्दे वीरं वेन, जबर एन श्री जैन री।
सद्गुरु तारक सेन, आ पुष्कर मुनि आदरी॥

विज्ञ र, वसुधाधीश, सुनि मुनि पुष्कर रा सबद।
विनयी विश्वावीस, बनि दे साधूवाद वित॥

तृषितन की ततकार, प्यास बुझाना प्रेम सूं।
सरवर सूं आसार, सीख ग्रही पुष्कर श्रमण॥

निज को कर नुकशान, प्राण पराया पोखवा।
गुंज अहा! ओ ज्ञान, गुरु पुष्कर तरु सूं ग्रह्यो॥

नास्तिक भी निर्मान, होकर हर्षित हृदय से।
प्रवचन करते प्रान, पुष्कर मुनि रा प्रेम सूं॥

चटले चितने चोर, सुन्दरतर स्याद्वाद री।
प्रतिपल उणरी पोर, धुनि मुनि पुष्कर री धुके॥

चाहत चन्द्र चकोर, षट्पद जिमि सलिलज चहे।
तज्ञ तत्व तिहिं तोर, पुष्कर मुनि भी पार्श्व-प्रभु॥

राग रखे दिन रेण, वीतरागरा वेण सूं।
तदपि कहे सब सेण, मुनि पुष्कर वे-राग-मति॥

जैन-धर्म री ज्हाज, तारे भवनिधि से तुरत।
गुरुमुख सुण आ गाज, मनधारी पुष्कर मुनी॥

अन्तस में जो आंट, अन्त समै वा आखरे।
गुरुमुख उणरे गांठ, दी पुष्कर मुनि देख लो॥

जिण दरशरणरी दौर, षट् दरशण दौरे सदा।
गुरु-मुख उणरो गोर, पुष्कर मुनि प्रतिपल करे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयम्बिल उपवास, ओली तपरी आसता।
तनरी मेटे त्रास, सत्य कहे पुष्कर श्रमण॥
नर-तन मिलियो नीठ, इणने मत अेलो गमा।
ध्यान राख रे धीठ, मुनि पुष्कर मन ने कहे॥
काम, वाम रो कोप, टणकाईरो टोप है।
लखो दिवो है लोप, उणने पुष्कर मुनि अहा॥
अमरगच्छरी आन, प्रान समान पिछान ने।
मुनि पुष्कर मतिमान, पाले पूरण प्रेम सूं॥
मन ऊपर मजबूत, आत्मारो अंकुश लगा।
अे पुष्कर अवधूत, महि में विचरे मोद सूं॥

●

शुभ-कामना

□ साध्वी श्री रोशनकंवर जी प्रभाकर

तृषातुर तोय क्षुधातुर भोजन, थाक चढ़े जब शीतल छाया।
दीन अनाथ को सहाय मिले, जिम दानिन के कर में धन माया॥
ज्यों अलि अरविंद चन्द चकोरिय, आतम साधक को गुरु राया।
त्यों जग में मुनि पुष्करराज का ये अभिनन्दन मो-मन भाया॥१॥
थे मोती मेवाड़ का, तारक तार पिरोय।
जैन संघ गल में सुभग, जग मग करत जिरोय॥२॥
हो दीर्घायु निरुजतन, बढ़े शिष्य समुदाय।
मरुधर रा माझी बनो, सफल मनासा प्रायः॥३॥

भाव-वन्दना

□ महासती कौशल्याकुंवर जी

ज्ञाने संयम आदरे निरखिने निस्सार आ विश्वने,
मोहादी रिपु मारवा चित धरे उत्कृष्ट वैराग्यने।
शान्तीना अवतार धारण करे साची करे देशना,
पद्मश्री मुनि पुष्कर प्रवरने भावे करूं वन्दना॥
सेवी सद्गुरुदेव मुख्य विनये रत्नत्रयी ने गमे,
व्याख्याने जनमन्त्रमुग्ध बनता अध्यात्मतेजोनिधि।
साधे संयम साधना प्रतिदिने योगी मनस्वी महान्,
ऐसे पुष्करदेव नी शरण मां भावे करूं वन्दना॥
छोड्या जाणि विभाव-भाव परना शुद्धात्मने पामवां,
धैर्य्योदात्त विनम्रता दिलधरी संशुद्ध चारित्र की।
देशोदेश फरी सदा हितमना तारे भवी आत्मने,
कौशल्या गुरुदेव पुष्कर तणी भावे करूं वन्दना॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युग-पुरुष तुम्हें शत-शत वंदन

□ श्रीचन्द सुराना 'सरस'

□

युग-पुरुष ! तुम्हें शत-शत वन्दन।

तेरे अन्तर में दीप्त हुआ
वह दिव्य साधना का तेजस्
तव-भालपट्ट पर दमक रहा
यह विमल ब्रह्म-रस का ओजस्

: १ :

आँखों से करुणा का अमृत
बहता है प्रतिपल ज्यों निर्झर
पीड़ित-व्याकुल मानव का मन
हो जाता शान्त जिसे पीकर

ओ महाप्रणव के आराधक !
तुमने साधा है अन्तर मन।
युग-पुरुष तुम्हें शत-शत वन्दन।

तुम सरस्वती के वरदपुत्र !
भरते शब्दों में प्राण-प्रखर
तेरे हर स्वर में गूँज रहा
श्री जिनवाणी का पंचमस्वर

: २ :

पाकर वाणी का अमिय-परस
कितनों ने पाया नवजीवन
कितनों का अन्तर कालुष हर
है बना दिया तुमने कुन्दन।

अपनी सिद्धि के अमृत से
दी जन-जीवन को संजीवन।
युग-पुरुष ! तुम्हें शत-शत वन्दन।

—●—

श्रद्धामय गुरु

□ श्री मोहब्बत जी पगलिया

श्रद्धामय बन गये स्वयं गुरु, जन-जन की श्रद्धाएँ पाकर
श्रद्धाएँ-श्रद्धाएँ लो, श्रुतिगत होता यही एक स्वर
श्रद्धा से बढ़कर क्या है जो, गुरु-चरणों में अर्पण करदे
पितरों की स्मृति में सन्तानें, श्राद्ध सहित कुछ तर्पण करदे
श्रद्धा सबकी लेते, देते-सबको शुभ आशीर्षे गुरुवर
दुष्कर कार्य यही करते हैं, सर्वशुभंकर गुरुवर पुष्कर
अलग एषणाओं से रहते, कहते कुछ भी नहीं किसी से
हैं अध्यात्म महायोगीश्वर, सिद्ध हो रहा स्वतः इसी से
गुरु की महिमाओं से परिचित, जगत कभी भी क्या हो पाया
श्रद्धा से ही नत होता है, जो भी गुरु-दर्शन को आया
विकसित होते विकसित रहते, श्रद्धामय ये सुमनस प्यारे
बहुत उल्लसित विकसित मन से, सर्व समय जाते स्वीकारे
मैं भी श्रद्धा-सुमन चढ़ा दूँ, और बढ़ा दूँ चरणों में कर
भले नहीं कोई पहचाने मिल ही जायेगा स्वर में स्वर
केवल श्रद्धा मिले सभी से, मेरी श्रद्धा यह कहती है
गुरुवर पुष्कर के प्रति श्रद्धा-भाव सहित बढ़ती रहती है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओ जंगम पुष्कर तीर्थराज, पुष्कर ! तेरा अभिनन्दन है !

☐ गजसिंह राठौड़ जैन न्यायतीर्थ

☐

(१)

अध्यात्म क्षितिज के दिव्य अरुण, ओ जैन जगत के ज्योतिपुञ्ज !
ओ तपोपूत पुष्कर गुरुवर ! ओ आर्यधरा के महासन्त !
साष्टांग प्रणति पुनि भक्ति सहित, उत्कृष्ट विनय से ओतप्रोत,
तव कोटि-कोटि अभिवन्दन युत, अभिनन्दन है, अभिनन्दन है ॥

(२)

लाखों नदियों के वेग तुल्य, अमृत तुल्य, अमृत स्रोतों से आप्लावित,
उच्छल उल्लोल तरंगों से, उद्वेलित अमृत-सागर सम।
गुरु पुष्कर तेरे अन्तर में, अमृत पुष्कर है ओत-प्रोत,
ओ जंगम-तीर्थराज तेरा, गुरुवर पुष्कर अभिनन्दन है ॥

(३)

तेरे अगाध अन्तस्तल के, उस अमृत-पुष्कर से उद्गत,
गंगा-यमुना दृग-युग पथ से, मुख से बहती सरस्वती।
धारा सङ्गम-सी यह बहती, जन-जन के कलि-मल को धोती,
चलते-फिरते ओ तीर्थराज ! पुष्कर ! तेरा अभिनन्दन है ॥

(४)

साहित्य-सृजक, ओ उपाध्याय ! उद्भट साहित्यिक-निर्माता,
सचमुच तू नव-युगस्रष्टा है, तेरा यश दश-दिशि में मुखरित।
हाँ त्रिविध ताप की शान्ति हेतु, तू शीतल चन्दा चन्दन है,
ओ महाप्राण ! ओ सद्गुरुवर ! पुष्कर तेरा अभिनन्दन है ॥

(५)

दिग्गज देवेन्द्र हीरा गणेश, कविवर रमेश राजेन्द्र आदि,
ओ शिल्पी तेरे सुघड़ शिष्य, साहित्यसृजन में निशिदिन रत।
तव धवल कीर्ति को अजर-अमर, कर रहे मुक्तिपथ को प्रशस्त,
कंकर से शंकर निर्मायक ! पुष्कर ! तेरा अभिनन्दन है ॥

(६)

हिमगिरि-सा तेरा भव्य दिव्य व्यक्तित्व सौम्य जग सम्मोहक,
गुरुतर विराट तेरा स्वरूप, अतिशय प्रताप अनुपम प्रभाव।
जल-थल-आकाश-धरातल का, कण-कण समस्त यह प्राणि-संघ,
गुंजार रहा है पुलकित हो—"गुरु पुष्कर ! तेरा अभिनन्दन है ॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री पुष्कर गुरु-गुण गीतिका

□ भंवरलाल दोशी कमोल (उदयपुर)

□

राग-द्वेष को त्याग कर, पाया आतम पन्थ।
जय जय हो गुरुदेव की, धन्य धन्य गुणवन्त ॥
स्फूर्ति से ये करते हैं, योग साधना रोज।
थानकवासी सन्त हैं, पर न पन्थ का बोझ ॥
नमते जिनके चरण में, मानव दानव देव।
केसरी सम नित गूंजते, करते हैं सब सेव ॥
सत्यं शिवमिति सुन्दरम्, यह मन में अपनाय।
रीति शास्त्र की प्रीति से, जन मन को समझाय ॥
उत्तम ब्राह्मण वंश है, गोत्र है पालीवाल।
पाया परमानन्द पुनि, जनमें अम्बालाल ॥
ध्येय सदा रहता यही, पाऊँ आत्म-स्वरूप।
यातना सहते हुए भी, आप शान्त अनूप ॥
यह हर्ष की ही बात है, हुए श्रमण शृंगार।
श्री गुरु तारा शरण में, श्रेष्ठ बने अणगार ॥
पुष्कल पुण्य प्रभाव से, किया प्रभावित लोक।
करते धर्म प्रचार नित, हरते जन जन शोक ॥
रमण करे निज भाव में, चमके आतम चन्द।
मुख पर चमके तेज है, सुखानन्द के कन्द ॥
नित पाते आनन्द जो, हर्षित दर्शन पाय।
जीवन उज्ज्वल जब बने, कर्मवृन्द भग जाय ॥
अज्ञान हमारा दूर हो, पायें जीवन सार।
महावीर उपदेश का, पहनें पावन हार ॥
रहे अमर जिन धर्म नित, करते शुद्ध प्रचार।
हे जग तारक आपका अभिनन्दन शत बार ॥

—●—

वंदियव्वो महागुरु

□ आचार्य द० ग० जोशी (अहमदनगर)

महाजसो महाणाणी महादक्खो महासुई।
महव्वयपरो निच्चं वंदियव्वो महागुरु ॥१॥
वन्दिओ सव्वलोएहिं सव्वभूयदयापरो।
आस्सओ सव्वबिज्जानां वंदियव्वो महागुरु ॥२॥
केसरीरायठाणस्स गुणविदस्स आलओ।
विस्सामो सव्वजीवाणं वंदियव्वो महागुरु ॥३॥
सक्कआ-पाईया - भासा-देसी-भासा-विसारओ।
सारदिदुपहाधारी वंदियव्वो महागुरु ॥४॥
जस्स दंसणमेत्तेण पावबंधो विणस्सइ।
पाणिगणसुखाकंखी वंदियव्वो महागुरु ॥५॥
सुद्धज्झाणो सुद्धणणो सुद्धचारित्तभूसिओ।
जिणसासणरओ निच्चं वंदियव्वो महागुरु ॥६॥
विन्नायसव्वसत्थत्थो सत्तभावजुओ सया।
सच्चासच्चपरामंसी वंदियव्वो महागुरु ॥७॥
मंगलं य जहा धम्मो अरिहासरणं जहा।
नमोक्कारा जहा पञ्च अस्स नामं पि मंगलं ॥८॥
माला अट्ठसिलोगानां परमायरगंठिआ।
गुरुणा पुक्खरानां उ पायमूले समप्पिआ ॥९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धाकुसुमसमर्पणम्



☐ महासतो कुसुमवती

☐

अकारणदयापरः समितिगुप्तिरक्षाकरः,
सुशिष्यगणसम्भरो भ्रमति देशदेशान्तरम्।
असौ मुनिजनेश्वरः कुसुमशेखरः पुष्करः,
सदास्तु नमनं शुभं चरणयोस्तु तस्य प्रभोः।

कदापि विमलेन मे सुगम पुष्करस्य प्रभोः,
मुनेस्तु करुणानिधेः सहजभक्तिभावान्विताः।
पिबन्ति वचनामृतं यदि सकृद् स्वभावेन ये,
तरन्ति जगदर्णवं विषयधूलिमुत्सृज्य ते।

कथापि ननु पावनी भवति जैनधर्मात्मनः
बताहमपि चेतसा चयमहो गुणानां गुरोः।
विचेतुमपि नाशकं सततयत्नवृत्तिः सती,
ततः परमियं स्वयं जपति नामवन्द्यं गुरुम्।

अहो किमिति कारणं जगति दुःखदावानलैः,
ज्वलन्ति बहवोजना इतरतोऽपि ते प्राणिनः।
न कोऽपिपरदुःखतो द्रवति नामधन्या इमे,
वदन्ति मुनयः समे प्रसभतो दयाया गुणम्।

अनेन मुनिना स्वयं विशद शास्त्रसारोद्धृतः,
प्रमथ्य तमितस्ततो रसविशेष एवार्जितः।
अशेषमपि तं रसं समधिगत्य सिद्धो भवन्,
महानयमहो गुरु र्लसति दिव्यसत्वैः समम्।

अयं तु गुरु पुष्करः सृजति कार्यमत्यद्भुतम्,
यतो हि निरुपद्रवं सरलभाववृत्तं नरम्।
करोति सहसा मुनिं धरति निम्नतत्वं विधिम्,
विहाय दिवमञ्जसा विधिरिमं मुनि वीक्षते।

न कोऽपि लभते जनः, पदविशेषमापातिकम्,
विना हि दयया गुरोर्विततयत्नकर्त्तापसौ।
जनस्तु मुनिमाश्रितो विजयते स्वयं यत्पदम्,
लभेत स तु तत्पदं भजति यो मुनिं पुष्करम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथास्य विहितात्मनो भवति भव्यसत्यात्मनः,
गुरोस्तु मम सत्कृतिर्विशदलेखमालात्मनः।
प्रबन्धत इवेति भो रचितनन्द्यपद्यैरलम्,
यशोरसमयी कथा जगति सापि सङ्गच्छताम्।

मम ननु रचनेयं वाथवा शब्दपङ्क्तिः,
भवति किमपि योग्या संस्तुतिर्वा कथेयम्।
तदपि चरणयोस्ते पद्मयोरेव शोभा,
विकसतु जगतीयं भावना कामना मे।

न हि पदरचनेयं शोभनीया रमेत,
विदुषि सति कथासौ जायते पङ्कजश्रीः।
भवति यदि सुलोहः स्वर्ण एवेति सत्यम्,
स्पृशति मणिरयं तस्य माहात्म्यमेव।

कथयतु कथनीयं वृत्तजातं यदेतत्,
न हि रसरमणीयं कोऽपि किञ्चिद्वदेत्तत्।
स्खलितवचनमाला शोभते बालकानाम्,
हृदयललितयोर्मे हृद्यपित्रोस्तथेदम्।

—☆—

गौरवं गुण-पञ्चकम्

☐ श्री रमेश मुनि काव्यतीर्थ शास्त्री

गुरुं श्रीमन्तं तं प्रथितयशसं देवसदृशम्,
नमाम्येवं भक्त्या सरल हृदयस्तनुमतिः।
गुरोरङ्घ्र्योर्भक्तो मृदुकमलयोरवितरम्,
गुरुं श्रेष्ठं सन्तं जगति न नमेत् कः पुनरिमम्॥

मुनेस्ताराचन्द्रस्थविरवर पूज्यस्य सुगुणम्,
प्रियं शिष्यं सन्तं मतिवरमिमं पुष्करमुनिम्।
प्रभुध्यानस्येन्द्रं गुरुगुणमहेन्द्रं गुरु-गुरुम्,
गुरुं श्रेष्ठं सन्तं जगति न नमेत् कः पुनरिमम्॥

सतां सन्तं श्रेष्ठं सकल मुनिहृद्यं मुनिधरम्,
प्रसन्नं कष्टेषु प्रखरकटुयोगेषु सततम्।
वरिष्ठं चारित्र्ये मुनिविनय सङ्घे विनयिनम्,
गुरुं श्रेष्ठं सन्तं जगति न नमेत् कः पुनरिमम्॥

विशिष्टं शिष्टेषु प्रगतिमुनि सङ्घेषु सुहृगम्,
प्रकृष्टं शिक्षासु प्रकटमतियुक्तेषु सुगमम्।
प्रहृष्टं सत्स्वेवं न पुनरिममन्यो व्यतिगतः,
गुरुं श्रेष्ठं सन्तं जगति न नमेत् कः पुनरिमम्॥

शुभेवीरः स्थाने गुणितयशसो वीरनृपतेः,
प्रतापस्य ग्रामे नदिशमवदे सूदयपुरे।
मुनीनां शार्दूलं हृदयविरतिं मङ्गलमुखम्,
गुरुं श्रेष्ठं सन्तं जगति न नमेत् कः पुनरिमम्॥

प्रणीतं श्रद्धया भक्त्या, पुष्करस्य गुरोरिदम्।
रमेशेन विनीतेन, गौरवं गुण-पञ्चकम्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रद्धापुष्पाभिनन्दनम्

महासती पुष्पवती



शोभाधाम्नां मुनीनां समितिरतिजुषां वन्दनीयो मुनिर्यः,
लोकातीतां प्रसिद्धिं भजति सुविदुषां शोभनानामशेषाम्।
देवं वन्दे गणेशं गुरुवरशशिनं पुष्करं कीर्त्तिमन्तम्,
श्रद्धानन्दा सुभावा परमविनयिनी पुष्पनाम्नी सती तम्॥
श्रीमद्देवेन्द्रबन्धुं मुनिवरमतुलं यो व्यधात् गुप्तियुक्तम्,
शोभाधामानमन्यं गणधरयशसं शीलसामन्तभद्रम्।
वन्दे साहित्यदीपं समिति-सृति-रतिं पुष्करं वन्द्यहृद्यम्,
श्रद्धानन्दा सुभावा परमविनयिनी पुष्पनाम्नी सती तम्॥
अन्ये ये केऽपि सन्तः प्रगुणगुणमयोद्भूतितत्त्वैकनिष्ठाः,
त्वां सेवन्ते प्रवृत्या विनयमुपगताः शिष्यरत्नप्रतिष्ठाः।
श्रेष्ठप्रष्ठा रमेशमुखमुनिजनाः पुष्करं तं भवन्तम्,
वन्दे नित्यं सुभावा विनततितियुता पुष्पवत्याह्वशिष्या॥
माता देवेन्द्रवन्द्या मुनिपदविभवा दीक्षिता येन लोके,
भावोत्कृष्टा विशिष्टा जयति विनयिनी तस्य तत्त्वं त्वमेव।
तस्मात्सन्तं भवन्तं तदुपकृतिकरं पुष्करं तं गुरुं मे,
वन्दे नित्यं सुभावा विनततितियुता पुष्पवत्याह्वशिष्या॥
विद्वान् विद्वत्सु योऽयं मुनिरपि मुनिषु श्रेष्ठ एव प्रसिद्धः,
सिद्धः सिद्धेषु योगी सुकमलविमलो योगिराजेषु शुक्लः।
नानोल्लेखोऽस्ति यस्य त्रिनयनयशसं पुष्करं तं मुनीशम्,
वन्दे सत्यस्वरूपं गुरुवरमनिशं पुष्पवत्येकभक्तिः॥
कीर्तिर्यस्य प्रशस्ता प्रसरति भुवने शुक्लिमानं च धत्ते,
तस्मादिन्द्रः स्वकीयं गजवरमनिशं शारदा हंसमेवम्।
विष्णुर्भ्रान्तिः पयोधिं मृगयति पयसः पुष्करं तं गुरुं मे,
साक्षात्कर्त्तुं सदेयं भ्रमति गतिमती पुष्पवत्येकभक्तिः॥
यस्य प्रीतौ निमग्ना भ्रमरमुनिजनाः सज्जना भक्तिमन्तः
वाप्येवं ते प्रशस्तं निजभजनरसं पुष्करं द्रष्टुकामाः।
आयान्ती मे विनीता प्रतिदिशमभितस्तस्य सङ्गं विधातुम्,
सोत्साहं मे गुरुं तं प्रणमति सततं पुष्पवत्येकभक्तिः॥
श्रोतारो ये प्रहृष्टाः प्रतिदिनमभितश्चक्षते हर्षमूलम्,
तद्वक्तव्यं नितान्तं किमिति किमिति ते सन्ततं श्रोतुकामाः।
आयान्त्येते तदोयं भवति सुसरसं पूज्यपादस्य तस्य,
व्याख्यानं तं मुनीशं प्रणमति सहसा पुष्पवत्येकभक्तिः॥

यशोधनानां गणनाम् गुणानाम्,
कथं विधातुं सफला गुरूणाम्।
भवेयमित्थं मनसा विचार्य,
विराममेवाहमतो दधामि॥

अथाभिनन्द्याः सकला मुनीशाः,
तथापि मन्ये गुरुदेवमन्यम्।
वन्द्यं ततोऽप्यस्त्यभिनन्दनं मे,
गुरोरयं हर्षविमर्शहेतुः॥

अतोऽहमेवं शुभशब्दपुष्पैः, स्रजं विरच्यैव समर्पयामि।
अहो सुशोभेत गुरुर्ममीयः, यशोविभास्रन्धर एव भूमौ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमतामुपाध्यायानां पुष्करमुनिमहाराजानाम्
यशस्समवसरणेऽस्मिन्नभिनन्दन-प्रकरणे
सुगन्धिगुणानाम्

काव्य प्रशस्तिः

☐ श्री रमाशंकर शास्त्री

देवकान्ति समप्रभाविभवातिभूषितमस्तकम्,
वन्दनीय गुणव्रजाञ्चितवागसीमितपुष्पकम्।
घोरवीरमुनिव्रताहृतशुक्लवस्त्रशुभांशुकम्,
पुष्करं मुनिराज राजिभिरर्चितं तमहं भजे ॥१॥

शुभ्रकान्तिललाट-शोभितलोचनार्चितविग्रहम्,
श्रीधरैर्विबुधैः प्रियैरपि वन्दितं मुनिषूत्तमम्।
सन्ततं सुजनैर्वृतं मृदुपादपद्मलसद्गतिम्
साधुवृन्दसरस्सु निर्मलमूर्त्तिमेमि नु पुष्करम् ॥२॥

यस्य विग्रहकान्तिरेव पुनाति भक्तजनानिमान्,
ये भजन्ति निरन्तरं ननु तर्कयेयुरमून् स्वयम्।
कल्पवृक्षसमो विभाति विकर्मधर्मधरे नरे,
पुष्करो मुनिराज एव विराजते मम मानसे ॥३॥

यः कृपालुरुपैति पापकृशानुपीडितकं नरम्,
पुण्यमेघपृषद्भिरेव सुशीतलैः परितर्पयन्।
क्षेमसम्भवमार्गबोधकमागमं गमयन्नयम्,
पुष्करो मुनिपुङ्गवो रमते रसे परमात्मनः ॥४॥

अद्य यस्य महात्मनो महिमा मुनीनपि चेतते,
वीरधर्मविभूषितान् सितवाससो जगतीतले।
तस्य भूविबुधात्मजस्य यशोधरस्य महामुनेः,
पुष्करस्य गुरोरहो ननु नाम धाम न वेदसे ॥५॥

यो महास्थविरस्य तारकचन्द्रजैनमहामुनेः,
श्रावयामि सुहृत्तदेति तु शिष्य एष हि पुष्करः।
योऽस्ति सिद्धशिरोमणिर्मुनितत्त्वसागरपारगः,
आत्मयोगिजनेषु सम्प्रति साधकोत्तम एव सः ॥६॥

आत्मनोऽध्ययनं गुरोरनुवेलमेव समाप्य यः,
सन्निधौ स्थविरस्य तस्य विशिष्टपण्डिततल्लजात्।
सिद्धिसाधकबोधकस्य विशुद्धतत्त्वनिधेरयम्,
स्वागमस्य विचक्षणोऽभवदग्रगीर्गुणिनां गणे ॥७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानदीपकदीप्तिमत्प्रतिभाति यस्य मनोगतम्,
लक्ष्यमद्भुतमेव तन्मनुते जनः सुजनोऽपि सन् ।
अस्य हेतुरयं भवेन्न हि विद्यते यदपेक्षितम्,
ज्ञानमन्यदिवास्ति सन्ततमेव यस्य न निश्चयः ॥८॥

एवमेव हि विद्यते सकलं सदा जनमण्डलम्,
तत्त्वमस्ति न निश्चितं पुनरेति धर्मपथश्च्युतः ।
पुष्करो मुनिराज एष तु मार्गमेव जिनस्य शम्,
बोधयन्नतिदूरमेति न शोचति भ्रमणान्तरम् ॥९॥

स्पर्शरत्नसमो विभाति सुचेतसां विदुषां मते,
पुष्करो मुनिराज एष तु शोभते पृथिवीतले ।
यं जनं स्पृशति स्वयं मुनिरूपधृत् पुरुषोत्तमः,
जायते न हि संशयोऽस्ति परीक्षितां यदि संशयः ॥१०॥

यः स्वयं वचनैः सुधोपमशीतलैः शमयत्यसौ,
जैनसंसृतिसंस्कृतं जनमण्डलं गतिसङ्गतम् ।
तत्समं परपक्षसंस्कृतिभूषितं नरसङ्गमम्,
व्युद्धरन्मुनिराजपुष्कर एव सम्प्रति पुष्करः ॥११॥

मन्मते जगतीतले मुनयोऽपि सन्ति सदुत्तमाः,
किन्तु तेन हि सङ्गता अनुयान्ति साधुसमन्वयम् ।
श्रेष्ठसंस्कृतिशुद्धकृत्यमुपासितं समुपाचरन्,
पुष्करो मुनिराज एव तु सङ्गतः प्रतिभात्ययम् ॥१२॥

कारणानि पुरश्शतानि भवन्ति सम्प्रति सङ्गमे,
श्वेतवस्त्रधृतस्य तस्य मुनेः सतां जिनसंस्कृतेः ।
पुष्करस्य यशोधरस्य विचार एष तु सङ्गतः,
सङ्गमेव सतामुपैमि सदेति मङ्गलकारणम् ॥१३॥

सद्गुणैरखिलैरमीभिरयं महोज्ज्वलरत्नवत्,
पुष्करो मुनिराजराजिषु शोभते शशिना समः ।
केऽपि तं मुनिनायकं कथयन्ति नूतनगौतमम्,
अन्य एव जनाः समे प्रथयन्ति तं वचसांपतिम् ॥१४॥

यः पुरा पुनरेकदा विजनाद् वनाद् विहरन्नसौ,
मार्गदैर्घ्यमवेक्ष्य तस्य वनस्य शिष्यसमन्वितः ।
अन्तिके च कृताश्रयो मुनिराज एव जपन् प्रभुम्,
वर्त्तते स्म तदागमद् धरिरिच्छयैव ततोऽगमत् ॥१५॥

निर्भयोऽपि दयालुरस्ति दृढव्रतोऽपि च कोमलः,
स्वेच्छया सरलोऽपि सन्नयमस्ति भूधरवद् वृढः ।
दूढच एव सुखे वसन्नपि शान्तिमानपि दुर्धरः,
पुष्करो मुनिराज एष कलौ युगेऽपि च निष्कलिः ॥१६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यः परोपकृतौ रतोऽपकृतौ सदा विरतोऽपि सन्,
ज्ञानिमनिमतोऽपि सन्नयमस्ति पापिजनप्रियः।
विक्रियेषु जनेषु सत्क्रिय एव सत्सु समुत्क्रियः,
पुष्करो मुनिषूत्तमो मुनिरेक एव विराजते ॥१७॥

यस्य शिष्यगणः प्रियोऽस्ति सुभक्तिभावभृतां सताम्,
मानुषाः प्रणमन्ति तं गुणरत्नराशिविलासिनम्।
हेतुरस्ति महामुनिः स्वयमेव तस्य विधायकः,
पुष्करोऽयमहो महोदय ! शोभते सरसीजले ॥१८॥

सन्तिदेवसमा जना भुवि सत्त्वतत्त्वसुमूर्त्तयः,
किन्तु ते न हि तत्समा भुवनेऽखिलेऽपि गवेषणे।
अस्य हेतुरपि स्फुटं प्रतिभाति रत्नपरीक्षणे,
सन्ति ते मुनयः परन्तु ययापि किञ्चिदिहान्तरम् ॥१९॥

हास्यभावरसेन यो मुनिराज आत्मविचारणाम्,
शुष्करूपधरामसावपि तत्त्ववृत्तकथानकैः।
वर्णयन्नभितः परं रसरञ्जनैर्मनुजानमून्,
येऽनभिज्ञजना समे समबोधयत्पुनरेव तान् ॥२०॥

साम्प्रतं मनुजेषु कृत्रिमवृत्तिषु प्रतिभाव्यते,
जैनतत्त्वविभूतिरेव सदाशया न महाशयैः।
मानुषैरत एव तां श्रुतयुक्तिभिः प्रथितामयम्,
पुष्करो मुनिराज एव विबोधयन्नधिशोभते ॥२१॥

जैनतीर्थशिरोमणेः श्रमणस्य वीरवरस्य यः,
ज्ञानसूर्यविभायुतं मुनिमण्डलं स्वयत्यसौ।
तस्य सत्प्रभया विभासितमेव जैनजगद् भवेत्,
ईदृशो मुनिपुष्करो ननु शोभते भुवि पुष्करः ॥२२॥

यस्य दृष्टिसमन्वयेन नवीनवृत्तिपरानराः,
राष्ट्रियाः समुपेत्य तं मुनिराजमेव गदन्ति ते।
साम्प्रतं भवता समं मुनयो न दृष्टिपथं गताः,
येऽपि सन्ति च ते समे खलु रुढिरीतिपरायणाः ॥२३॥

सर्व एव जना मुनिं सममादरन्ति समासतः,
पुष्करं भगवन्तमेव हि मन्वते मुनिसेवकाः।
केवलं कथनीयमन्तरमस्ति जैनजनेषु यत्,
ते गृणन्ति गुणान् जनस्य परे तु हार्दिकभावनाम् ॥२४॥

सर्व एव मुनीश्वरा जिनधर्ममेवमुपासते,
किन्तु पुष्करदैवतस्य मुनीश्वरस्य मतान्तरम्।
अस्ति यन्ननु धार्मिका अपि जैनधर्ममताश्रिताः,
राष्ट्रियं जनशासनं निरुपद्रवं जनयन्ति ते ॥२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारणादत एव तेन महाशयेन कदर्थितम्,
राष्ट्रियं जनशासनं मुनिनामुना सदसां पुरः।
इन्दिराप्रमुखस्य तस्य गतस्य शासनकस्य ते,
राष्ट्रियो मुनिरेव पुष्कर आत्मयोनिरभूदितः ॥२६॥

ये जयन्ति मुनीश्वरा जिनधर्मकारकधोरणाः,
तेष्वयं परमो मुनिः प्रविभाति पुष्करतल्लजः।
अस्य हेतुरयं प्रसिद्ध्यति जैनधर्मविशेषताम्,
तत्सहैव तनोति शुभ्रयशःपयोदकदम्बकम् ॥२७॥

तस्य सद्व्यवहार एव तु सादयत्यखिलान् जनान्,
चेतसश्च महाप्रसत्तिगुणेन यः पुनः परिकर्षयन्।
भक्तिभावविभूषितानपि धर्मकर्मणि नोदयन्,
सोऽस्ति साधुषु सत्तमो मुनिपुष्पपङ्क्तिषु पुष्करः ॥२८॥

यस्य माङ्गलिकं वचः पुनरेति धर्मसमर्पितम्,
मार्गमव्ययशान्तिमद्भुतं भुवि जन्मिनः।
कर्मबन्धपरानहं महिमानमस्य मुनेः कथम्,
वर्णयेयमहो शमेऽपि तु पुष्करस्य सुखाय मे ॥२९॥

वृतिवर्णनभावतोऽपि न कस्य निन्द्यकथां मुनेः,
श्रोतुमिच्छति यः स्वयं स तु दुष्कथां कथयेत्कथम्।
किन्तु नो विरमत्यसौ पुनरेव सद्गुणवर्णनात्,
स्वल्पतोऽपि च यस्य कस्य मुनेर्मुनिर्मम पुष्करः ॥३०॥

यस्य कोऽपि न विद्यते विषमस्थले जगतीतले,
तस्य बन्धुरयं महामुनिरेव सम्प्रति दृश्यते।
यः स्वयं शरणागतस्य तु रक्षकोऽस्ति न केवलम्,
किन्तु यस्य विरोधिनोऽप्यनुराधकोऽस्ति स पुष्करः ॥३१॥

यः स्वयं भवदुःखिनामनुभूय दुःखकदम्बकम्,
प्राणिनां हितसाधनाय निरन्तरं रमते मुनिः।
ध्यानमग्न इवात्मभूरयमेव देवनिरञ्जनः,
पुष्करो मुनिराजराजिषु शोभते भवभञ्जनः ॥३२॥

यः स्वभावजनि खनेरपि कर्कशं समलोपलम्,
प्रस्तरं विदधाति रत्नशिरोमणिं जनरञ्जकम्।
सोऽस्ति शिल्पकलाधरो जन एवमेव महामुनिः,
पुष्करोऽपि गुणाकरं विदधाति शुद्धनरोत्तमम् ॥३३॥

योऽस्ति रत्नगुणत्रयस्य विशिष्टमूर्तिविभूषितः,
पुष्करो मुनिराजराजिषु शोभते मुनिभृङ्गभृत्।
जैनधर्मधरा धुरीणनरा दिदृक्षव उत्सुकाः,
तं मुनिं प्रतियन्ति नित्यमहो नु दृश्यमथाद्भुतम् ॥३४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोऽपि तृप्यति दर्शनादत एव तस्य मुनेर्न मे,
दिव्यरूपधरस्य पुष्करदेवतस्य दिवानिशम् ।
ये पिबन्ति सुधारसं न हि ते रसन्ति जलामृतम्,
मानसस्य सरोवरस्य महौजसोऽपि दिवौकसः ॥३५॥

तस्य जैनमहामुनेरनुरागवृत्तिमभीप्सिताम्,
ध्यानवैभवसंग्रहस्य निरीक्ष्य विस्मयमागताः ।
पुष्करस्य तपस्विनोऽनुदिनं श्रयन्ति तदाश्रयम्,
किन्तु तेऽनुभवन्ति तं पुरुषोत्तमं हि विरागिणम् ॥३६॥

ये महान्तममुं मुनिं परिवीक्ष्य भक्तिविभूषिताः,
ते नमन्ति सुनिर्भरं परिहाय मानसकल्मषम् ।
तानयं परिपृच्छयैव वदत्यहो मनसोगतम्,
भावमेत्य हसन्ति तेऽपि तु पुष्करस्य मुनेः पुरः ॥३७॥

केऽपि दुःखिन एत्य भक्तिपुरस्सरा भविनः परे,
दुःखराशिनिवृत्तये पुनराशिषं भवतो मुनेः ।
पुष्करस्य सतां वरस्य शुभां ग्रहीतुमुपासते,
नाममङ्गलमेवमुत्तरमस्ति तस्य महामुनेः ॥३८॥

सिद्धिमन्त्रमुपेत्य यो मुनिरात्मनो हितसाधकम्,
नित्यमेवमुपासितुं प्रभवत्यसौ यतते स्वयम् ।
किन्तु कष्टशतं विनाशयितुं जनस्य सदा रतः,
मन्त्रसिद्ध इवापरो मुनिराज एव हि पुष्करः ॥३९॥

चक्षुषो विषयीकृताः परदुष्प्रभावनिपीडिताः,
ये जनाः समुपस्थिता अपि ते भवन्ति हि नीरुजः ।
पुष्करस्य महामुनेः कृपयैव लब्धसुखा अमी,
यान्ति ते धृतमङ्गला जयघोषपूरितदिङ्मुखाः ॥४०॥

किन्त्वयं मुनिराज एव सदातनीं सहजां गतिम्,
पुष्करो विशिनष्टि नित्यमहो कियान् गुणनिर्भरः ।
शान्त एव विराजते मुनिवृत्तिनिश्चलनिर्मलः,
दृश्यते सरलो महानिति सस्मयं तु विवेकिभिः ॥४१॥

केऽपि तं कथयन्ति सन्तममुं सरोवरपुष्करम्,
पुष्करं मुनिराजमेव वदन्ति केचन सत्तमम् ।
अन्य एव गदन्ति तं परमोत्तमं पुरुषोत्तमम्,
अस्ति चैवमहो अहन्तु तमद्भुतं मुनिमानये ॥४२॥

निश्चयेन तु कोऽपि सत्यमिदं प्रवक्ति न तद्वचः,
तर्हि जातमितो निरर्थकमेव यत्कथितं जनैः ।
किन्त्वहं व्यवहारतः प्रतिपादयामि मुनीश्वरम्,
पुष्करं पुरुषोत्तमं ननु जातसिद्धिमिमं प्रभुम् ॥४३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातसिद्धिरयं यतः प्रतिभाति सिद्ध इवापरः,
मन्त्रमुग्धसमाः समे प्रभवन्ति तस्य पुरोजनाः।
एकवारमभीक्ष्य तं यदि पुष्करं मुनिषूत्तमम्,
यो भवेन्न हि तस्य भक्त इवेति चित्रमसम्भवम् ॥४४॥

अद्य ये मुनयो वदन्ति महामुनिं सितवाससम्,
पुष्करं मुनिपुष्करं कथयन्तु तस्य सदुत्तरम्।
उत्तरं यदि वर्त्तते ननु तर्हि वर्त्तत एव तत्,
नास्ति तत्सम एव सम्प्रति योगिराज इवात्मभूः ॥४५॥

दोषदर्शनलालसैर्मुनिभिर्महोत्तमसंयमैः,
पुष्करस्य मुनेरमीभिरिहैव मौनमिवाश्रितम्।
तस्य हेतुरियं कृपेति न वक्तुमेव तदुच्यते,
किन्तु सत्यमुनीश्वरोत्तम एव पुष्कर ईश्वरः ॥४६॥

ज्ञानसंयमसाधनाभिरयं समिद्धमुनीश्वरः,
पुष्करो मुनिरेव सम्प्रति राष्ट्रियो मुनिरुच्यते।
यो बिभर्त्ति यदृच्छयैव तु शुक्लतान्तववस्त्रकम्,
देशजं पुनरेव कल्प्यमथापि तन्निचितंमितम् ॥४७॥

यः सदा विहरन्नयं मुनिराज एव विबोधयन्,
स्वीयया प्रथया समं खलु धार्मिकानपि सज्जनान्।
लोकतन्त्रमुपासितव्यमतीव हर्षविधायकम्,
सज्जनैः स्वयमेव युक्तिभिः शोभते भुवि पुष्करः ॥४८॥

अस्य नाम मुनेः स्वयं प्रविनक्ति नामयथार्थताम्,
तस्य हेतुरयं विभर्ति स राजते जनमण्डले।
किन्तु तस्य विकार एव न संस्पृशन् विधुनोति तम्,
पुष्करं कमलं यथा विकरोति नाम न शम्बरम् ॥४९॥

प्राक्तनोऽपि जनः स्वयं ननु दीक्षयास्ति परिष्कृतः,
जायते विभया समन्वितशोभयेव दिवाकरः।
एवमेव तु वर्त्तते स्म कदाचिदेष नु बालकः,
पुष्करो मुनिरस्ति साम्प्रतिको विकस्वरभास्करः ॥५०॥

यः क्षितेरथ सूर्यमल्लमहोदयस्य महाधृतेः,
मेदपाटनरेशरक्षितभूधरस्य सुतः स्वयम्।
मातृबालिजनिर्जिनेश्वरधर्म - दीपशिखाधरः,
सोऽयमस्ति मुनीश्वरो ननु पुष्करस्त्रिदिवेश्वरः ॥५१॥

यः क्रियाधरपण्डितादिमुनीश्वरेष्वपि शोभनः,
दीपनोऽभवदग्रणीरयमेव वा शिखिलेषु वः।
तेषु सत्सु सुधीषु सत्कृत एव चन्द्रयशोधरः,
पुष्करो मुनिराजवारिधिशम्बरोद्भवमौक्तिकः ॥५२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये मुनीनभितः स्तुवन्ति सुरत्नराशिसमुज्ज्वलान्,
ते स्तुवन्तु निरन्तरं न हि किञ्चिदन्तरमस्ति नः।
किन्तु ये गुणिनां गुणस्य परीक्षका अथ निस्स्पृहाः,
ते स्तुवन्ति यदा मुनिं ननु पुष्करं करवाम किम् ॥५३॥

सुन्दराणि बहूनि रूपविशेषतः कुसुमानि ते,
रोचकानि भवेयुरेव तु तानि सन्ति न मेऽन्तिके।
तत्कथं कथनीयमेव तवाधिकं कथनं भवेत्,
इच्छयैवमिवान्तरं नहि पुष्करे रमते मुनौ ॥५४॥

सारतश्चिनुमो वयं कुसुमानि तानि न रूपतः,
रूपतोऽपि यदीदृशानि गुणान्वितानि भवन्ति मे।
केवलं जनताग्रहेण नमन्ति नापि विपश्चितः,
पुष्करं तु मुनिं नमन्त्यत एव तत्त्वगवेषिणः ॥५५॥

कोऽपि किं कथयेद् यदा यदि नास्ति बुद्धिविपर्ययः,
विभ्रमस्तु मतौ भवेन्नहि तत्र निर्णयसम्भवः।
एतदेव विचिन्त्य तत्त्वसमुद्भवं रसमालयम्,
पुष्करं मुनिराजमेव जना नमन्ति जयोन्मुखाः ॥५६॥

यो मुनीनपि सत्यबुद्धिबलेन नर्त्तितभावनान्,
प्रेरयत्ययमेव तान् प्रभवन्तु तेऽपि नरानमून्।
ये विसङ्गतिसङ्गता अथ पापसृष्टिमुपागताः,
एष सोऽस्ति महामुनिर्मुनिषूत्तमो भुवि पुष्करः ॥५७॥

यत्य सत्कृपया जनाः प्रभवन्ति कर्त्तुमथोद्यमम्,
आत्मनस्तपसोऽनुकूलमहो दिनानुदिनं यथा।
प्राणसंशय एव नास्ति च किन्तु तत्र महोत्सवः,
दृश्यते सकलैर्नरैरपि चित्रमेव ततः परैः ॥५८॥

अस्य किन्तु महोत्सवस्य न चास्ति कोऽपि निदेशकः,
यस्तपश्चरिता स्वतोऽपि तपांसि कर्त्तुमिहोद्यतः।
किन्तु माङ्गलिकेन तेन महात्मनोऽस्ति समर्थता,
सन्नशक्तजनः पिपर्त्ति स दुष्करं तपसां चयम् ॥५९॥

रूपराशिगुणान्वितस्य शुभस्य तस्य मुनेरयम्,
देवदुर्लभसत्प्रभाव इवास्ति रोगविनाशकः।
साधकोऽपि पदस्य बाधक एव भोगभृतः सृतेः,
नायकश्च गतेर्विधायक आत्मनोऽपि गुणस्य सः ॥६०॥

यस्य शक्तिरियं प्रभाविषु सत्सु देवसमेषु ते,
शोभते विषयस्य तस्य महाकठोरतरस्य नः।
पुष्करस्य महामुनेर्विशदार्थतत्त्वविवेचने,
तेन तस्य विशेषतां प्रविभावयन्ति विपश्चितः ॥६१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को न यति वशंवदोऽस्य विकासिनस्तु समन्ततः,
तत्त्वराशिभृतो गुणस्य नु पुष्करस्य महामुनेः।
वाग्मिता विशिनष्टि तं व्यतिकृत्य नाम बृहस्पतिम्,
केवलं त्रिदिवौकसोऽपि वशंवदाः पुनरस्तिकिम् ॥६२॥

अद्य ये मुनयो भ्रमन्ति विहाय सङ्घमिमं मुनेः,
स्वीयसाधुगणं समेत्य विवेचयन्ति गुणं स्वकम्।
किन्तु सङ्घबहिर्गता अपि सङ्घभावमुपासते,
श्रावकेषु विषं वपन्त्यत एव सिद्ध्यति पुष्करः ॥६३॥

आत्मसाधुगणे वसन्नपि साधुसङ्घमुपैति यः,
श्रेष्ठसाधुगणे स्थितोऽपि च सङ्घदेवमुपाश्रितः।
सङ्घदेवशुभाज्ञयैव दधाति कार्यकलापकम्,
सोऽस्ति मध्यममार्गगामिषु सङ्घसाधुषु पुष्करः ॥६४॥

श्रावका बहवो भवन्ति विचारका अपि धार्मिकाः,
धर्मदेवसमान् गुरूनपि तान्मुनीननुयान्ति ते।
किन्तु ते मनसि स्मरन्त इवापि सङ्घविशेषताम्,
आश्रिताः स्वगुरून् मुनीननुयान्ति पुष्करमीश्वरम् ॥६५॥

अस्ति कापि विशेषता तत एव ते प्रणमन्ति तम्,
श्रावका मुनिराजराजिषु शोभिनं मुनिपुष्करम्।
पुष्करं मुनिमेव ते प्रथयन्ति सिद्धिमुपागतम्,
ते पुनश्च समर्थयन्त्यपि साधुभेदनिरर्थकम् ॥६६॥

विस्मयं मनुजाः सदानुभवन्ति धार्मिकवृत्तयः,
तस्य कारणमस्ति यन्मुनयो मुनीनपि भेदतः।
चिन्तयन्ति तदन्यथेति तु किन्तु पुष्करको मुनिः,
सर्वदा च प्रशंसते गुणिनो मुनीनपरानयम् ॥६७॥

भक्तभावनया स्वयं सततं जयन्ति जयाय तम्,
पुष्करं मुनिपुष्करं हि जनाः सदानतमस्तकाः।
किन्त्वयं मुनिरेव ताननुमोदयंस्तु जयाय नः,
ते भवन्तु मुनीश्वरा जयिनो जिनेश्वरधर्मिणः ॥६८॥

अस्य तत्त्वमत किमस्त्विति चेतसि च्युतचेतसः,
चिन्तयन्ति निरन्तरं मुनयो विदन्ति न तेऽपरे।
कारणं यशसः किमस्ति तु पुष्करस्य महामुनेः,
अन्ततः कथयन्ति ते यश एव दोष इवास्ति नः ॥६९॥

हर्षपूर्णपरेण यो मुनिरेव तेन जनानिमान्,
भावभूतिभरेण कारणकेन साकमिहाचरन्।
क्रीतदासविभाववृत्तिरिवायमेति तदा स्वयम्,
पुष्करस्य मुनेर्न कोऽपि तु वर्णयेदनुवर्णनम् ॥७०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्य देवसमस्य सन्ततमस्ति दृष्टिविशेषता,
हेतुनेति जनाः कलाः परिहाय सत्यविवेकतः।
यन्ति तस्य मुनेः समीपमशेषपुण्यभृतश्च ये,
पुष्करस्य गुणाः शतं गणयन्तु नाम दिवानिशम् ॥७१॥

एवमेव समीक्ष्य चेतसि नित्यचञ्चलवृत्तयः,
दूरतो विहरन्त्यतोऽपि तु गौरवं परमेधते।
पुष्करस्य मुनेः स्वयं महिमानमेव विदन्ति ते,
ये जनाः कृतबुद्धयोऽविरतं जपन्ति जिनेश्वरम् ॥७२॥

केऽपि नाम वदन्तु किञ्चिदपीह किन्तु विशेषताम्,
पुष्करस्य मुनेः सदा सुविदन्ति तत्त्वविपश्चितः।
मादृशा ममताहृशोऽपि भवेयुरेव विचेतसः,
किन्तु दुःखमिदं यदा परितः क्षिपन्ति सुमेधसः ॥७३॥

तं नमामि जगत्पतिं करुणागुणार्णवसेतुकम्,
यो बिभर्त्ति जिहर्त्ति विश्वमशेषमेव निजेच्छया।
कार्यकारणशक्तिमान् भगवानसौ त्रिगुणात्मकः,
आत्मनामतदात्मेकश्च पिपर्त्ति सर्वमहेतुकम् ॥७४॥

वर्णनेन समर्थयामि मुनेरहं यशसोऽद्भुतम्,
रूपमेव कथात्मकं ननु पुष्करस्य महात्मनः।
केवलं गुणवर्णनं कथया पुनाति कविं परम्,
पुष्करस्य मुनेर्निशम्य कथां गुणस्य तरन्ति ते ॥७५॥

पुण्यभावनयानया परिनुन्न एव यशोमुनेः,
वर्णयेयमहो स्वतोऽपि भवेदिदं त्वभिनन्दनम्।
एतदेव विचार्य चेतसि चिन्तनात्मकवर्णनम्,
काव्यमस्तु सतां गणेऽपि च तन्मुनेरभिवन्दनम् ॥७६॥

कवित्वशक्तेस्तु परा कथा व्यथा, यथायथं वर्णनमेव तत्कथम्।
अनाथतां रोदिति रे पदव्यथा, कथेयमस्त्यप्यकथस्य मे तथा ॥७७॥
अतोऽनुभावोऽयमहो महामुनेः, यतोऽहमेवं गुणवर्णनेऽभवम्।
प्रभुः प्रभोः पुष्करदैवतस्य ते, पदं परं प्रैति यत्थात्मनो जनः ॥७८॥
अहो मया भव्यपदेन्द्रवन्दितः, प्रभुर्गुणानां गुणिभिर्विनन्दितः।
स्तुतो मुनिः पुष्करनामधेयितः उपाध्युपाध्यायविभूषितोऽप्यसौ ॥७९॥
मया रमाशङ्करशास्त्रिणा स्वतः, गुणैरुपेतोऽप्यगुणेन पूजितः।
सदाभिनन्द्यो मुनिपुष्करोऽप्यसौ, सुपुष्पशब्दैरपि पुष्करो मुनिः ॥८०॥
कथापि भूमौ विबुधप्रियेत्यतः, यथार्थनाम्नो मुनिपुष्करस्य नः।
ततोऽहमन्वर्थ-परेण तां कथाम्, वृणोमि नाम्ना मधुरेण छन्दसा ॥८१॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय धर्म एवं दर्शन के महान् मनीषी, जैनजगत के ज्योतिपुँज, अध्यात्मयोगी
श्रमणश्रेष्ठ राजस्थानकेसरी प्रसिद्धवक्ता, सद्गुरुवर्य

श्री पुष्करमुनि जी महाराज

की सेवा में सादर

अभिनन्दन पत्र

मनीषी प्रवर !

शैशव के सुषमामय समय में ही पूर्व-संस्कारों से प्रतिबुद्ध होकर आपने १४ वर्ष की अवस्था में परम प्रतापी पूज्य अमरसिंह जी महाराज की सम्प्रदाय के प्रभावक प्रवर्तक गुरुवर्य महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज के सान्निध्य में वैराग्य एवं भक्ति के जिस कठोर साधना पथ का अवलम्बन किया, वह भारत की त्याग-वैराग्यमय उज्ज्वल परम्परा की एक गरिमापूर्ण कड़ी है।

आपने गुरु-चरणों में रहकर अत्यन्त विनय, श्रद्धा एवं भक्ति के साथ जिनागमों का गहन अभ्यास किया है, जैन तत्त्वविद्या, दर्शन, व्याकरण एवं न्याय आदि का तलस्पर्शी अध्ययन-अनुशीलन किया। ज्ञान की तेजस्विता के साथ ही आपके जीवन में विचारों की अद्भुत स्फुरणशीलता, तर्क-पटुता एवं प्रवचन-कुशलता का अपूर्व संगम हुआ है। आपका जीवन सम्यग्श्रद्धा, निर्मल प्रज्ञा, अपूर्व गुरुभक्ति तथा उज्ज्वल चरित्रनिष्ठा का चतुर्मुखी ब्रह्मस्वरूप प्रतीत होता है।

अध्यात्मयोगिन् !

तत्त्वज्ञान के साथ-साथ आपके जीवन में अध्यात्म-साधना का अपूर्व संगम हुआ है। आपके विशिष्ट ध्यानयोग की उपलब्धियाँ तो बड़ी ही चमत्कारी हैं, जिनके आध्यात्मिक प्रभाव का अनेक बार स्पष्ट अनुभव सैकड़ों व्यक्तियों ने किया है।

जिनवाणी के अमर उद्गाता !

आपकी वचन-गरिमा अद्भुत है। आपकी वाणी में जादू एवं भावों में हृदय को आलोकित करने की अकथनीय क्षमता है। आपके मधुर व ओजस्वी स्वर में जब जिनवाणी का नाद गूँजता है तो श्रोताओं का मन-मयूर सघन घन की गम्भीर गर्जना मानकर नाचने लग जाता है। आपके विचारों में प्राचीनता व नवीनता का सरल सामञ्जस्य जब वाणी द्वारा श्रोताओं को सुनने मिलता है, तो लगता है आपका श्रुत-ज्ञान असीम है, पठन, मनन और वाचन व्यापक हैं। आधुनिक चिन्तन और प्राचीन तत्त्वान्वेषण का मनोहारी संगम है आपकी वाणी में। आपके लिए व्याख्यान-वाचस्पति, प्रसिद्धवक्ता व प्रवचन-प्रभावक जैसे विशेषण स्वयं में सार्थक हैं।

चारित्रनिष्ठ श्रमणश्रेष्ठ !

आपश्री प्रारम्भ से ही उज्ज्वल चारित्रनिष्ठा के पक्षधर रहे हैं, किन्तु एकान्त आग्रही कभी नहीं बने। आपके विचारों में भगवान महावीर का अनेकान्तवाद सजीव हुआ है, और यही कारण है कि चारि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिक उत्कृष्टता रखते हुए आपने संघीय एकता का झण्डा सदा ऊँचा रखा है। श्रमण-संघ के संगठन, जैन एकता और मानवीय सद्भाव के प्रचार हेतु आपश्री ने न जाने कितनी कुर्बानियाँ की हैं, पद-प्रतिष्ठा और शारीरिक-सुविधाओं का बलिदान कर आपने सदा ही संगठन की नींव को सुदृढ़ किया है। श्रमण-संघ एवं स्थानकवासी श्रावक समाज आपके इन सद् प्रयत्नों का सदा आभारी रहेगा।

जिनशासन-प्रभावक !

आपश्री ने अपना सम्पूर्ण जीवन जिन-शासन की सेवा में समर्पित कर दिया है। मारवाड़, मेवाड़ मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, देहली और उत्तरप्रदेश के सुदूर अंचलों में पाद-विहार के अकथनीय कष्ट सहन करते हुए आपश्री ने जैनधर्म के लोक-कल्याणकारी सिद्धान्तों का सतत प्रचार किया है। अपने प्रवचन, लेखन, उपदेश तथा अन्य बहु आयामी सक्षम व्यक्तित्व के द्वारा जिन-शासन की प्रभावना में चार चाँद लगाये हैं, वह इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ कहलायेगा।

श्रेष्ठ जीवन-निर्माता !

आपने तप, त्याग, वैराग्य एवं ज्ञान की श्रेष्ठ साधना द्वारा न केवल स्वयं के जीवन का ही निर्माण किया है, किन्तु हजारों-हजार श्रद्धालुओं के जीवन में भी धर्म का नव-प्राण संचरित किया है। आप एक कुशल कलाकार हैं, आप के हाथों से अनेक चमत्कारी व्यक्तियों का निर्माण हुआ है, जिनकी ज्ञान-गरिमा से जैन जगत गौरवान्वित है। श्रुत-देवता की समुपासना में आपका व आपश्री के प्रबुद्ध शिष्य परिवार का योगदान चिरस्मरणीय है। इसलिए हम आपको न केवल एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व बल्कि श्रेष्ठ व्यक्तित्व निर्माता भी मानते हैं। आप जीवन के कलाकार ही नहीं, किन्तु कलाकारों के निर्माता भी हैं।

ज्योतिपुंज !

आपके जीवन की इस पवित्र रेशमी चादर का ताना-बाना बड़ा रमणीय है। इसमें क्षमा, उदारता, सरलता, विनम्रता, मधुरता और सेवा भावना का ताना जुड़ा है तो विचारशीलता, बहुश्रुतता, तर्क-पटुता एवं जिन-प्रवचन निष्ठा का स्वर्णिम बाना भी अनुस्यूत हुआ है। गुणों की बहुरंगता व तेजस्विता ने जीवन-चादर को विलक्षण आभा प्रदान की है, जो दर्शक के हृदय को सहसा आकृष्ट ही नहीं किन्तु चरणों में विनत भी कर लेती है।

आपके उदात्त चरित्र का वर्णन करना मानव-जिह्वा के लिए सम्भव नहीं; हम सिर्फ अपनी आत्मतुष्टि एवं गुरु-भक्ति के लिए ही विनम्र हृदय से आज आपके श्रीचरणों में उपस्थित होकर पूना श्री-संघ की ओर से आपश्री के ६६वें पावन जन्म दिवस पर भाव-भीनी वन्दना करते हुए शतायु होने की मंगल कामना करते हैं। आपश्री समस्त श्रीसंघ की ओर से इस अभिनन्दन-पत्र के रूप में हमारी अनन्त-अनन्त हार्दिक श्रद्धा को स्वीकार कर अनुग्रहीत करेंगे।

आश्विन शुक्ला चतुर्दशी
दिनांक १६-१०-७५
सादड़ी सदन, पूना

हम हैं आपश्री के कृपाकांक्षी विनयावनत
स्थानकवासी जैन श्रीसंघ
सादड़ी सदन, पूना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड २

राजस्थानकेसरी

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ



जीवन-दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी के सर्वांग व्यक्तित्व का सरल और तटस्थ रूप-दर्शन, उन्हीं के विनयशील अन्तेवासी प्रसिद्ध विद्वान श्री देवेन्द्र मुनिजी द्वारा प्रस्तुत है।]



साक्षात्कार एक युगपुरुष का

— देवेन्द्र मुनि शास्त्री

प्रत्येक युग में कुछ ऐसे विशिष्ट शिष्ट व्यक्तियों का जन्म होता रहा है, जिन्होंने अपनी महानता, दिव्यता और भव्यता से जन-जन के अन्तर्मानस को अभिनव आलोक से आलोकित किया है। जो समाज की विकृति को नष्ट कर उसे संस्कृति की ओर बढ़ने के लिए उत्प्रेरित करते रहे हैं। अपने युग के गले-सड़े जीर्ण-शीर्ण विचार व आचार में अभिनव क्रान्ति का प्राण-संचार करते रहे हैं। उनका अध्यवसाय अत्यन्त तीव्र होता है जिससे दुर्गम पथ सुगम बन जाता है। पथ के शूल भी फूल बन जाते हैं। विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है और तूफान भी उनके अपूर्व साहस को देखकर लौट जाते हैं। मार्ग की प्रत्येक बाधाएँ उन्हें दृढ़ उत्साह प्रदान करती हैं और उलझन उनके लिए सुलझन बन जाती है। समस्या भी वरदान रूप होती है। उसमें एकसाथ राम के समान संकल्पशक्ति, हनुमान के समान उत्साह, अंगद के समान दृढ़ता, महावीर के समान धैर्य, बाहुबली के समान वीरता और अभयकुमार के समान दक्षता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वह निन्दा और प्रशंसा की किञ्चित् मात्र भी चिन्ता न कर गजराज की तरह झूमता हुआ और शेर की तरह दहाड़ता हुआ अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते ही रहता है।

वह मनस्वी युग-पुरुष अपने युग का प्रतिनिधि होता है। वह समाज का मुख भी है और मस्तिष्क भी। वह समाज के विकास व कल्याण के लिए स्वयं अपने युग के अंधविश्वासों, अन्ध परम्पराओं और मूढ़तापूर्ण रूढ़िवाद से संघर्ष करता है, जूझता है। जब तक उसके तन में प्राण-शक्ति है, मन में तेज है, विचारों में उत्साह है और वाणी में ओज है, तब तक वह विकट संकटों में गुलाब के फूल की तरह मुस्कराता है। स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण करता है। उसका सोचना, उसका बोलना, और उसका कार्य करना सभी में जन-कल्याण की भावना अंगड़ाइयाँ लेती रहती है। शिव-शंकर की तरह स्वयं जहर के प्याले को पीकर समाज को सदा अमृत प्रदान करता है। राम की तरह स्वयं वनवास भोगकर भाई को राज्य देता है। रामधारीसिंह दिनकर ने सत्य ही कहा है—

सब की पीड़ा के साथ व्यथा अपने मन की जो जोड़ सके।
मुड़ सके जहाँ तक समय, उसे निर्दिष्ट दिशा में मोड़ सके॥
युगपुरुष वही सारे समाज का विहित धर्मगुरु होता है।
सब के मन का जो अन्धकार अपने प्रकाश से धोता है॥

स्थानकवासी जैनसमाज में समय-समय पर अनेक युगपुरुष पैदा हुए हैं जिन्होंने समाज को नया कार्य, नयी वाणी और नया विचार दिया है। जिन्होंने अपने प्राणों की बाती जलाकर समाज को नूतन आलोक से भर दिया। उनका स्वभाव निस्तरंग समुद्र की भाँति था जो हलचल और कोलाहल से दूर रहकर भी विकास की तरंगों से सदा तरंगित होता रहा है। वे सृजनात्मक शक्ति में विश्वास करते हैं और उनकी सम्पूर्ण शक्ति सदा उदात्त सृजनात्मक कार्यों में ही नियोजित रही। ऐसे महापुरुष विरोध को विनोद मान कर कार्य करते रहते हैं, यदि कोई उनकी निन्दा भी करता है, तो वे स्वयं दूसरों की निन्दा नहीं करते। उनकी पाचन-शक्ति कबूतर की तरह इतनी प्रचण्ड होती है कि वह मान-अपमान के कंकर पत्थर भी हजम कर उससे शक्ति प्राप्त करते रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुद्र की यात्रा करने वाले को सदा तूफान का भय बना रहता है। समुद्र की यात्रा करे और तूफान का सामना न करना पड़े यह संभव नहीं है। कुशल नाविक तूफानी वातावरण में भी नौका को अच्छी तरह से खेता है और उसे पार पहुँचाता है। युगपुरुष भी उफान और तूफान से घबराता नहीं है, किन्तु सतत जागरूक रहकर स्वयं को व समाज को अपने लक्ष्य पर पहुँचाता है।

युगपुरुष बनाये नहीं जाते किन्तु स्वयं अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से बनते हैं। किन्तु सभी युगपुरुष एक समान नहीं होते। कितने ही युगपुरुष तेल-चित्र की भाँति होते हैं जो दूर से तो बहुत ही सुहावने लगते हैं किन्तु सन्निकट जाने पर उनमें अनेक विकृतियों के कुछ धब्बे भी दिखाई पड़ते हैं।

कितने ही युगपुरुष जल-चित्र की तरह होते हैं जो दूर से सुहावने व चित्ताकर्षक नहीं लगते किन्तु सन्निकट से देखने पर सुन्दर ही नहीं अति सुन्दर लगते हैं।

कितने ही युगपुरुष घास-फूस की आग की तरह क्षणिक प्रकाश देकर सदा के लिए बुझ जाते हैं। कितने ही युग-पुरुष अंगारे की तरह जलते रहते हैं, उनमें गरमी होती है किन्तु प्रकाश नहीं होता। किन्तु महानतम युगपुरुष वह है जो कोहिनूर हीरे की तरह सदा चमकता रहता है। चाहे दूर हो, चाहे सन्निकट, चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे अकेला हो चाहे परिषद के बीच, चाहे सुप्त हो चाहे जागृत, जिसके जीवन में सदा एकरूपता होती है बहुरुपियापन नहीं होता। सूर्य की चमचमाती किरणों के सम्पर्क में जो भी आता है वह चमक उठता है वैसे ही युग-पुरुष के सम्पर्क से अधम से अधम व्यक्ति का जीवन भी महान बन जाता है। पतित भी पावन बन जाता है।

स्थानकवासी जैन समाज के युग-पुरुषों की परम्परा की लड़ियों की कड़ी में श्रद्धेय सद्गुरुवर्य अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी, प्रसिद्धवक्ता उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज भी हैं। आपश्री ने समाज को नूतन विचार, नूतन चिन्तन और नूतन वाणी प्रदान की। समाज के उत्कर्ष के लिए, समाज के संगठन के लिए आपने प्रबल प्रयास किया, हजारों मीलों की पद-यात्राएँ कीं, अगणित कष्ट सहन किये किन्तु कभी कृतित्व का अहंकार नहीं किया। अनासक्तयोगी की तरह कार्य करके कभी उसके फल की आकांक्षा नहीं की। समाज के गौरव को सदा अक्षुण्ण रखने के लिए आपने सदा अपने आपको समर्पित किया। और जीवन का भोग देकर उसकी गरिमा में चार चाँद लगाते रहे हैं।

आपश्री समाज के कर्मठ नेता हैं। आपने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज की सेवा के लिए समर्पित किया। अतः समाज आपको हृदय से चाहता है। समाज को आपके नेतृत्व में विश्वास है।

विरल व्यक्तित्व :

आपका बाह्य व्यक्तित्व जितना नयनाभिराम है उससे भी अधिक अन्दर का जीवन मनोभिराम है। सद्गुरुदेव की बाह्य आकृति को देखकर दर्शक को अजंता और एलोरा की भव्यमूर्तियाँ सहज ही स्मरण हो आती हैं। दूर से आते हुए दर्शक को प्रथम दर्शन में ऐसा लगता है जैसे स्वामी दयानन्द ही सामने बैठे हैं। विशाल देह, लम्बा कद, दीप्तिमान निर्मल गौर वर्ण, प्रशस्तभाल, उन्नत शीर्ष, केशरहित दीप्त कपाल, नुकीली ऊँची नाक, उन्नत वक्ष, सशक्त मांसल भुजाएँ, तेज पूर्ण शान्त मुख मण्डल, प्रेम-पीयूष वर्षाते हुए उनके दिव्य नेत्र को देखकर दर्शक मुग्ध हुए बिना नहीं रहता। उसमें सागर का विस्तार है, पौरुष का समुद्र ठाठें मार रहा है एवं दूसरी ओर करुणा का मेघ वर्षन भी हो रहा है। पुरुषत्व और मसृणता के ऐसे पुंजीभूत व्यक्तित्व की दूसरी आकृति देखने को मिलनी भी दुर्लभ होगी। वाणी में वीरों जैसी सुदृढ़ता, पैरों में अंगद जैसी शक्ति, खादी के धवल वस्त्रों में वेष्टित तपःपूत व्यक्तित्व जैसे मूर्तरूप धारण कर रहा हो। मुख पर मुख-वस्त्रिका और स्कन्ध पर रजोहरण जैसे स्थानकवासी संस्कृति के आचार पक्ष और विचार पक्ष की सुन्दर अभिव्यक्ति हों।

आप कभी भी मंजुल मुखाकृति पर निखरती हुई चिन्तन की दिव्य आभा, प्रभा देख सकते हैं। उदार आँखों के भीतर से छलकती हुई सहज स्नेह-सुधा का पान कर सकते हैं। वार्तालाप में सरस शालीनता, संयमी जीवन की विवेक बिम्बित क्रियाशीलता, जागृत मानस की उच्छल संवेदनशीलता, उदात्त उदारता को परख सकते हैं। प्रेम की पुनीत प्रतिमा, सरसता-सरलता की सुन्दर निधि, दृढ़ संकल्प और अद्भुत कार्यक्षमता से युक्त गुरुदेव श्री का बाह्य और आभ्यन्तर व्यक्तित्व बड़ा ही दिलचस्प और विलक्षण है।

जन्मभूमि

आपश्री का जन्म मेवाड़ (राजस्थान) में हुआ जो देश की स्वतन्त्रता और गौरव की रक्षा के लिए सैकड़ों वर्षों तक निरन्तर बलिदान करता रहा है। जहाँ के वीर योद्धाओं ने अपने कवोष्ण रक्त से मातृभूमि को सींचा, अपने प्राणों से भी अधिक मातृभूमि को प्यार किया और उसकी रक्षा के लिए राजस्थान के पुरुष ही नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु वीर रमणियों ने और बालकों ने भी प्राणों की आहुतियाँ दीं। जन्मभूमि के लिए ही नहीं, किन्तु धर्म के लिए भी जिन्होंने हँसते-हँसते बलिदान दिया है।

भारत का नक्शा उठाकर देखें तो उसके पश्चिमी अंचल पर विशाल प्रदेश राजस्थान है, अस्ताचल को जाता हुआ सूर्य प्रतिदिन इस पावन भूमि को अंतिम नमस्कार करके पुनः उदय होने का वरदान मांगता है। राजस्थान का नक्शा उठाकर देखें तो उसके पश्चिमी छोर को स्पर्श कर पूर्व और उत्तर की ओर बढता हुआ एक विशाल भूखण्ड है, मेवाड़; जो वीरता, साहस, और धार्मिक-संस्कारों में सदा अग्रणी रहा है। उसी मेवाड के सुप्रसिद्ध ग्राम गोगुन्दा के सन्निकट सिमटार ग्राम में श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म हुआ।

आपश्री के पूज्य पिताश्री का नाम सूरजमल जी था और माता का नाम वालीबाई था। आप वर्ण की दृष्टि से ब्राह्मण थे। आपके पूर्वज पाली में रहते थे। पाली का ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। प्राचीन शिलालेखों में पाली का नाम पल्लिका अथवा पल्ली मिलता है। अनुश्रुति है कि यहाँ पर एक लाख ब्राह्मणों के घर थे। और वे सभी लक्षाधिपति थे। बाहर से जो भी गरीब ब्राह्मण आता उसे वे एक ईंट और एक रुपया प्रति घर से देते। ईंटों से वह मकान बना लेता और एक-एक रुपया प्राप्त होने से वह भी लखपति बन जाता। उन्हें यदि कोई पूछता तो पाली में रहने से वे अपने आपको पालीवाल कहते और सभी को अपनी पावन-भूमि का गर्व था। किन्तु सम्वत् १३९३ में यवनों का आक्रमण पाली में हुआ। पालीवालों के साथ भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध में यवन जीत नहीं पा रहे थे, अतः पहले युद्ध क्षेत्र में गायों को आगे कर लड़ने लगे। गायों पर प्रहार न करने के कारण पालीवाल परास्त हो गये। और मुसलमानों ने उन्हें परेशान करने के लिए वहाँ के तालाबों में गायों को कत्ल करके डाल दिया जिससे वे पानी भी न पी सके। अतः उन्हें १३९३ में पाली छोड़नी पड़ी। और भारत के विविध अँचलों में वे चले गये। वहाँ जो ब्राह्मण थे वे पालीवाल ब्राह्मण कहलाये और जो वैश्य थे वे पालीवाल कहलाये। इस तथ्य को एक प्राचीन कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

तेरह सौ तिरानबे घणो मच्यो घमसाण।
पाली छोड़ पधारिया ये पालीवाल पहचान॥

जैनियों के चौरासी गच्छों में एक पल्लीवाल गच्छ भी है जिसकी उत्पत्ति पाली से मानी जाती है। हाँ तो, पाली से ही आपश्री के पूर्वज मेवाड़ में आये। मेवाड़ के महाराणा ने आपके पूर्वजों को जागीरी दी। सिमटार में सभी ब्राह्मण जागीरदार हैं।

श्री सूरजमलजी का स्वभाव बहुत ही मधुर था और व्यवहार बड़ा विनम्र था। और श्रीमती वालीबाई के शील-स्वभाव-विनय-मधुर भाषण-कार्यदक्षता प्रभृति सद्गुणों को देखकर आसपास के पड़ौसी उसे इस परिवार की लक्ष्मी समझते थे। एक दिन वालीबाई सो रही थी। प्रातःकाल का शीतल मन्द समीर ठुमक-ठुमक कर चल रहा था। वालीबाई ने स्वप्न में देखा, एक आम का हरा-भरा वृक्ष जो फलों से लदा हुआ था, जिसकी मीठी और मधुर सौरभ से आसपास का वातावरण महक रहा था, वह आकाश से उतरा और मुँह में प्रवेश कर गया। इस विचित्र स्वप्न को देखकर वह उठ बैठी। उसने अपने पति सूरजमलजी से प्रस्तुत स्वप्न के सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने स्वप्न शास्त्र की दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा—यह स्वप्न बहुत ही शुभ है। आम फलों का राजा है। अतः तुम्हारा जो पुत्र होगा वह राजा-महाराजाओं की तरह तेजस्वी होगा और अपनी विद्वत्ता की मधुर सौरभ से दिग्-दिगन्त को सुगन्धित बनायेगा।

स्वप्न के फल को सुनकर माता फूली न समायी। उसके पैर धरती पर नहीं टिक रहे थे। वह आज बहुत ही प्रसन्न थी। भावी की कमनीय कल्पना कर आनन्द विभोर थी।

उस युग में बहुविवाह की प्रथा थी। सूरजमल जी जागीरदार थे। अतः उनके दो पत्नियाँ थीं। जब लघु-पत्नी को यह ज्ञात हुआ कि इस प्रकार बड़ी बहन को शानदार स्वप्न आया है तो वह मन-ही-मन घबराने लगी। सवा नौ माह पूर्ण होने पर वि० सं० १९६७ के आश्विन शुक्ला चतुर्दशी के दिन बालक का जन्म हुआ। स्वप्न में फला-फूला आम्रवृक्ष देखा था, अतः बालक का नाम अम्बालाल रखा गया। बालक अम्बालाल दूज के चान्द की तरह बढ़ रहा था। माता वालीबाई ने देखा कि मेरे कारण से मेरी लघु बहन का अन्तर्मानस व्यथित है, अतः मुझे यहाँ नहीं रहना चाहिए।—ऐसा विचार कर वह अपने प्यारे पुत्र को लेकर अपने पिता के घर नान्देशमा पहुँच गयी। बाद में सूरजमल जी की लघुपत्नी के भी एक पुत्र और एक पुत्री हुई जिनका नाम भैरूलाल और तुलसी बाई रखा गया। नान्देशमा में ही लालन-पालन व बड़े होने से आपकी जन्मभूमि नान्देशमा के नाम से ही प्रसिद्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नान्देशमा ग्राम में जैनियों की मुख्य आबादी थी। जैन बालकों के साथ ही बालक अम्बालाल बड़ा हो रहा था। उनके ही साथ खेलता-कूदता। तथा बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से माँ के मन को आल्हादित करता। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण आप में प्रतिभा की सहज तेजस्विता थी। आपकी बुद्धि बहुत ही विचक्षण थी। नान्देशमा में जैन श्रमण व श्रमणियों का आगमन प्रायः होता रहता था। आपकी माता जी जैन श्रमणों के तप और त्याग से प्रभावित थी। उनकी उपदेशप्रद वाणी सुनने का बड़ा शौक था। उसके निर्मल हृदय में सन्तों के प्रति सहज भक्तिभावना की धारा प्रवहमान थी। माँ के साथ पुत्र में भी धर्म का रंग लग रहा था। रूप और बुद्धि की विशेषता के कारण अन्य ग्राम निवासी भी बालक की प्रशंसा करते। वह जहाँ भी जाता उसे आदर मिलता। बालक अम्बालाल एक संस्कारी बालक था, उसमें विनय, विवेक और व्यवहार कुशलता आदि सद्गुण विकसित हुए थे।

बालक अम्बालाल जब नौ वर्ष का हुआ तब एकाएक माता बीमार हुई और धीरे-धीरे बीमारी बढ़ती चली गयी और एक दिन उसने सदा के लिए आख मूँद ली। माँ की मृत्यु को देखकर बालक अम्बालाल चिन्तन करने लगा कि मां को यह क्या हो गया? उसने अभी अब जीवन की सुषुमा ही देखी थी, किन्तु आज उसने विकराल मृत्यु को भी देखा था। वह सोचने लगा—जीवन सुन्दर है, किन्तु मृत्यु क्या है? यह तो बहुत ही क्रूर है भयंकर है। जिस तरह मृत्यु ने मेरी माँ को मुझसे छीन लिया क्या उसी तरह मुझे भी एक दिन मरना होगा? इसी चिन्तन से उनका मन अन्दर ही अन्दर वैराग्य सागर से तरंगायित होता रहा।

वैराग्य और दीक्षा

पिता स्नेहवश पुत्र को सिमटार ले गये। किन्तु माँ के अभाव में उनका मन वहाँ नहीं लगा और वे पुनः अपने ननिहाल नान्देशमा आ गये। उस समय परावली गाँव के निवासी सेठ अम्बालाल जी ओरडिया जिनका ससुराल नान्देशमा था, वे वहाँ आये हुए थे। उन्होंने बालक अम्बालाल को देखा तो बड़े आल्हादित हुए और उसे प्रेम से समझाकर अपने साथ परावली ले गये। सेठ अम्बालाल जी को विवाह किये हुए दस-बारह वर्ष हो चुके थे, किन्तु उनकी कोई सन्तान नहीं थी। सेठ और सेठानी सन्तान के लिए तरस रहे थे। बालक अम्बालाल को पाकर वे पुत्रवत् उसका लालन-पालन करने लगे। पुण्यवान् बालक अम्बालाल के कारण उनके घर में संपत्ति की अभिवृद्धि होने लगी। और साथ ही चिरकाल की अभिलाषा भी सन्तान होने से पूर्ण हो गयी। सन्तान-प्राप्ति से उनका मन बहुत ही आल्हादित हो गया। बालक अम्बालाल आनन्द से वहाँ रहने लगा। किन्तु सन्तान होने के पश्चात् सेठ के मन में जो आकर्षण पहले बालक अम्बालाल के प्रति था, वह कम हो गया। वह प्रतिदिन सेठ के पशुओं को लेकर जंगल में चराने के लिए जाता। और उस शान्त जंगल में क्रीड़ा करता। कभी बंसी बजाता, और कभी पशुओं के पीछे दौड़ता। पढ़ना-लिखना तो कुछ था नहीं। सारे दिन खेलना-कूदना। एक दिन जंगल में खेलते हुए पैर में पत्थर की चोट लग गयी। खून बह चला। दर्द के मारे आँखों से आँसू बहने लगे। किन्तु उस भयंकर जंगल में उसकी करुण पुकार को कौन सुनता? सन्ध्या होने पर लड़खडाते कदमों से वह पशुओं को लेकर घर पर पहुँचा। सेठ ने विलंब से आने के कारण उसे डाँटा। और उपालंभ देते हुए कहा—कि देखकर नहीं चला जाता?

संसार बड़ा विचित्र है। सर्वत्र स्वार्थ की प्रधानता होती है। अम्बालाल ने देखा कि मेरे प्रति जो मधुर स्नेह था, अब वह नहीं है। सन्तान होने के कारण सेठ की दिन-प्रतिदिन मेरे प्रति उपेक्षा हो रही है। जख्म गहरा था। सेठ ने उसकी मरहम पट्टी भी नहीं की। प्रातःकाल होते ही सेठ ने कहा—पशुओं को लेकर जंगल में चराने के लिए जाओ। तीव्र ज्वर था, वेदना से चला भी नहीं जा रहा था। तथापि वह जंगल में पहुँचा। आज उसे अपनी प्यारी माँ की स्मृति हो आयी। वह रोया। दिल खोलकर रोया। उसे सेठ के इस व्यवहार से मन में ग्लानि हुई। सन्ध्या के समय जब वह लौटकर घर पहुँचा तो खूब तेज ज्वर था। किन्तु किसी ने भी सान्त्वना नहीं दी। बालक के मन में उसकी प्रतिक्रिया हो रही थी। उसने एक दिन देखा कि जैन साध्वियाँ वहाँ पर आयी हुई हैं उसने साध्वीप्रमुखा महासती धूलकुँवर जी से पूछा—कि यहाँ पर चार साल पहले सेठ के गुरु श्री ताराचन्द जी महाराज आये थे। उन्होंने मुझे बहुत ही प्यार से अपने पास बिठाया था। बातें की थीं। सुन्दर चित्र बताये थे। और कुछ कथाएँ भी सुनायी थीं। वे इस समय कहाँ हैं? क्योंकि मैं उनका शिष्य बनना चाहता हूँ।

साध्वीजी ने बालक के शुभ लक्षण देखकर कहा—वे इस समय मारवाड़ में हैं। यदि तेरी इच्छा हो तो हम तुझे उनके पास पहुँचवा देंगी। बालक ने दृढ़ता के साथ कहा—मैं उनके पास मारवाड़ नहीं जाऊँगा, किन्तु वे यहाँ आएंगे तो उनका अवश्य शिष्य बन जाऊँगा। आप समाचार देकर यहाँ बुला लें मैं आपको वचन देता हूँ कि वे यहाँ आयेंगे तो उनका शिष्य बन जाऊँगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासती जी ने बालक के विचार, उसकी दीक्षा ग्रहण करने की भावना और उसके शुभ लक्षणों की सूचनाएँ मारवाड़ में गुरुदेव श्री ताराचन्द जी महाराज के पास भिजवायीं। सूचना पाकर श्री ताराचन्द जी महाराज मेवाड़ में पधारे। और उदयपुर आदि क्षेत्रों को अपने उपदेशों से पावन करते हुए परावली पधारे। श्रोतागण प्रवचन सुनने के लिए उत्सुक थे। बालक अम्बालाल जब जंगल से लौटकर आया तब उसने देखा कि चार वर्ष पूर्व जिन महाराज के मैंने दर्शन किये थे वे पट्टे पर बैठे हुए प्रवचन कर रहे हैं। प्रसंग चल रहा था भृगु पुरोहित का, जिनके दोनों पुत्र संयम-साधना के महामार्ग पर बढ़ना चाहते हैं, और माता-पिता उन्हें रोकना चाहते हैं। किन्तु उनका वैराग्य इतना प्रबल था कि माता-पिता और राजा-रानी भी साधना के पथ पर बढ़ जाते हैं।

प्रवचन के पश्चात् जब गुरुदेव एकान्त में बैठे तो बालक ने अपने हृदय के विचार महाराज श्री के समक्ष व्यक्त किये कि मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ।

श्रद्धेय गुरुदेव की पैनी दृष्टि ने बालक के जीवन में छिपा हुआ महान व्यक्तित्व और कृतित्व देखा। उन्होंने देखा, यह बालक एक दिन विशिष्ट व्यक्ति बनेगा। वस्तुतः पन्ने की चट्टान या खण्ड को एक जौहरी ही परख सकता है। साधारण व्यक्ति के लिए तो वह पत्थर की चट्टान है। किन्तु उसकी बनावट एवं मिट्टी के मटमैले रंग से आवृत्त उसकी चमक और दमक को देखकर जौहरी समझ लेता है कि यह पत्थर नहीं, पन्ना है। इसे काटा-छाँटा जाय तो मूल्यवान नगीना बन सकता है।

उस समय भी बालक के पैर में पीड़ा थी। भाग्यवशात् एक वैद्य उदयपुर से वहां आये हुए थे। महाराज श्री के संकेत से वैद्य ने उपचार किया और बालक कुछ ही दिनों में पूर्ण स्वस्थ हो गया। और बालक श्री ताराचन्द जी महाराज के साथ ही चल दिया। यद्यपि पिता सूरजमल जी ने बालक को रोकने का बहुत ही प्रयास किया, किन्तु नान्देशमा के श्रावकों के समझाने से उन्होंने सहर्ष दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी। बालक अम्बालाल ने गुरुदेव के नेतृत्व में अध्ययन प्रारंभ किया। बुद्धि की तीक्ष्णता से कुछ ही समय में अक्षरों का परिज्ञान हो गया और पुस्तकें पढ़ने लगा। तथा धार्मिक साहित्य का अभ्यास भी करने लगा। उस वर्ष गुरुदेव का वर्षावास पाली में हुआ। आप वैरागी के रूप में थे। उस समय महान् चमत्कारी वक्तावरमल जी महाराज भी वहाँ थे। उन्होंने बालक अम्बालाल के हाथ में पद्म, कमल, ध्वजा, मत्स्य, डमरू, आदि अनेक शुभ रेखाएं देखकर श्री ताराचन्दजी महाराज से कहा—"आपका यह शिष्य जैन धर्म की प्रभावना करने वाला बहुत ही भाग्यशाली होगा।"

अनेक संघों का आग्रह था कि आपकी दीक्षा हमारे यहाँ पर हो। किन्तु गुरुदेव ताराचन्द जी महाराज चाहते थे कि आपका अध्ययन खूब अच्छी तरह से हो जाय। अतः गुरुदेव कुछ लम्बे समय तक वैरागी के रूप में रखना चाहते थे। सिवाना और जालौर संघ वालों का आग्रह था—गुरुदेव वैरागी को अध्ययन करते हुए बारह महीने से अधिक समय हो गया है। अतः दीक्षा का सुनहला लाभ हमें मिलना चाहिए। उनकी निर्मल निश्छल भक्ति ने गुरुदेव का दिल पिघला दिया। भक्त श्रावक सन्तों को प्यारे होते हैं। कुरुक्षेत्र के मैदान में श्री कृष्ण ने भी अर्जुन से कहा—जो भक्तिमान है वह मुझे प्रिय है।

"भक्तिमान् यः स मे प्रियः।"

तथा—"भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः"

तो गुरुदेव भक्त श्रावकों की बात कैसे टाल सकते थे? अन्त में गुरुदेव ने जालौर संघ को स्वीकृति प्रदान की। संघ में आनन्द की गंगा बह चली। वि० सं० १९८१ की ज्येष्ठ शुक्ला दशमी का दिन था। प्रभात का सूर्य आज नयी आशाएँ व नयी उमंगें लेकर उदित हुआ था। ठुमक-ठुमक कर पवन चल रहा था। और आकाश में पक्षिगण कलरव के बहाने साधना-पथ के इस महान् पथिक की बलैयाँ ले रहे थे। एक विशाल जुलूस के साथ बालक रामलाल और बालक अम्बालाल दोनों घोड़े पर बैठ कर गुरुदेव श्री के चरणों में पहुँचे। उनकी आँखों में आज अद्भुत चमक थी। चेहरे पर विलक्षण तेज दमक रहा था। वे उत्साह और उमंग से भरे हुए दिखलायी दे रहे थे। गुरुदेव ताराचन्द जी महाराज और पं० नारायणचन्द्र जी महाराज अन्य सन्तों के साथ एक विशाल वट वृक्ष के नीचे विराजमान थे।

भारतीय संस्कृति में वटवृक्ष का विशिष्ट स्थान रहा है। वह विस्तार और समृद्धि का प्रतीक है। उसकी शीतल छाया में सात्विकता और साधना की मधुर सौरभ होती है। वटवृक्ष के नीचे ही भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई थी और हजारों व्यक्तियों को सर्वप्रथम उन्होंने दीक्षा प्रदान की थी। तथागत बुद्ध को भी वटवृक्ष के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीचे ही बोधि की उपलब्धि हुई थी। मर्यादा पुरुषोत्तम राम पंचवटी में वटवृक्ष के नीचे ही रहे थे। अतीतकाल से ही वट वृक्ष आदर की दृष्टि से देखा जा रहा है। दोनों बालकों ने उस वृक्ष के नीचे अवस्थित गुरुदेव के श्री चरणों में विनम्र वन्दना की। और शरीर पर जो सुन्दर रंग-बिरंगे तथा बहुमूल्य आभूषण पहने हुए थे उनका त्याग करने के लिए वे एकान्त स्थान की ओर गये। क्योंकि बाह्य वेष का मन के साथ गहरा सम्बन्ध है। केसरी और लाल रंग के वस्त्र वीरता और युद्ध के प्रतीक माने गये हैं, काला वस्त्र भय, आक्रोश, क्रोध व चिन्ता का प्रतीक माना गया है। और श्वेत वस्त्र मन की धवलता व शांति का प्रतीक है। युद्ध विराम के लिए सफेद झण्डी बतायी जाती हैं और शांति के लिए श्वेत वस्त्र धारण किये जाते हैं। वैरागी द्वय संसार के अशान्त राग-द्वेषमय कलुषित वातावरण से मुक्त होकर शांति, समता, निर्लोभता और वीतरागता के पथ पर अपने मुस्तैद कदम बढ़ा रहे थे। अतः रंगीन वस्त्र तथा आभूषणों का परित्याग कर श्वेत वस्त्रों को धारण कर गुरुदेव के चरणों में पुनः उपस्थित हुए। उस समय ऐसा परिज्ञात हो रहा था कि राजहंस मानस सरोवर की यात्रा के लिए सन्नद्ध होकर पंख फड़फड़ा रहे हैं। सैकड़ों व्यक्तियों की उत्सुक आँखें उन बालकों के दर्शन के लिए उत्सुक थीं। चारों ओर से जय-जयकार की गगनभेदी ध्वनियों से आकाशमंडल गूंज रहा था। बड़ा अद्भुत दृश्य था। चौदह वर्ष के दो बालक जीवन-भर के लिए सत्य, अहिंसा आदि महाव्रतों की अखण्ड साधना का दृढ-संकल्प ग्रहण कर आग्नेय पथ पर बढ़ रहे थे। बड़ा ही रोमांचकारक और भावप्रवण सुन्दर दृश्य था। दर्शकों के नेत्रों से आनन्द और आश्चर्य के आँसू प्रवाहित थे। और हृदय के सुकुमार तार झनझना रहे थे कि धन्य हो ऐसे बाल-मुनियों को।

दोनों बालक सद्गुरुदेव के समक्ष श्वेत-परिधान को धारण किये हुए भागवती दीक्षा ग्रहण करने के लिए उपस्थित थे। गुरुदेव श्री ने शास्त्रीय दीक्षा विधि सम्पन्न की। अब वे दोनों मुनि बन गये थे। अतः रामलाल जी का नाम मुनि प्रतापमल जी रखा गया और वे पं० नारायणचन्द्रजी महाराज के शिष्य घोषित किये गये और अम्बालाल जी का नाम पुष्कर मुनि जी रखा गया और वे श्रद्धेय ताराचन्द जी महाराज के शिष्य जाहिर किये गये।

श्रमण बनकर श्री पुष्कर मुनि महाराज ने अपने जीवन के तीन लक्ष्य बनाये—**संयम-साधना, ज्ञानसाधना और गुरुसेवा**।

शिष्य का जीवन तभी निखर सकता है जब योग्य गुरु का संगम हो। बिना गुरु के न अनुभव का अमृत मिलता है और न ज्ञान का मार्ग ही। प्राचीन ग्रन्थों में गुरु को भगवान के समान माना है। कहा है **"तित्थयर समो सूरी"** याने आचार्य तीर्थंकर के समान है। उपनिषदों में भी कहा है—**"आचार्यवान्, पुरुषो वेद"**—जिसने गुरु किया वही ज्ञानी बन सकता है।

आपश्री दीक्षा ग्रहण के पश्चात् विद्यार्जन में लग गये। बाल्यावस्था, तीक्ष्ण बुद्धि और विद्याध्ययन के प्रति प्रेम इन तीनों का संगम होने से आपश्री अपने भावी जीवन के महल का बड़ी तीव्रता के साथ निर्माण करने लगे। आपने आगम साहित्य का व स्तोक-साहित्य का पहले अध्ययन किया, 'ज्ञानकण्ठा और दाम अण्टा' प्रस्तुत राजस्थानी कहावत के हार्द को आप सम्यक्प्रकार से जानते थे। अतः कण्ठस्थ करने में आपका विशेष लक्ष्य था। आपने जब संस्कृत व्याकरण का अध्ययन प्रारम्भ किया तब गुरुदेव ने उसकी दुरूहता का दिग्दर्शन कराते कहा कि—

खान पान चिन्ता तजै, निश्चय माँडै मरण।
घो-ची-पू-ली करतो रहै, तब आवै व्याकरण।

अर्थात् जब कोई खान-पान प्रवृत्ति चिन्ताओं को त्याग कर केवल व्याकरण के पीछे अपना जीवन झोंक देता है उतने समय के लिए स्मरण करने, पुनरावर्तन करने, पूछताछ करने और लिखने को अपना मुख्य विषय बनता है तब जाकर संस्कृत व्याकरण को हृदयंगम करने की सफलताएँ प्राप्त होती हैं। आपश्री ने व्याकरण को ही नहीं, पर जिस विषय को भी हाथ में लिया उसमें अपने आपको समर्पित किया। और अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर सैकड़ों ग्रन्थ कण्ठस्थ किये। आपश्री जानते थे बाल्यकाल में जितना स्मरण किया जाय उतना ही अच्छा है। उसके पश्चात् बुद्धि में कुछ परिपक्वता आती है, पढ़े हुए अर्थ को समझने की जिज्ञासा उद्बुद्ध होती है और दूसरों को बताने की भी। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषण और लेखन आवश्यक है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक बेकन ने लिखा है—"रीडिंग मेक्स ए फुल मैन, स्पीकिंग ए परफेक्ट मैन, राइटिंग ए एग्जेक्ट मैन।"—अध्ययन मनुष्य को पूर्ण बनाता है, भाषण उसे परिपूर्णता देता है और लेखन उसे प्रामाणिक बनाता है।

आपश्री के अध्ययन के लिए गुरुदेव ने अनेक उच्च कोटि के विद्वानों को नियुक्त किये। पण्डित रामानन्दजी जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैथिल के थे, उनका अत्यधिक सहयोग मिला। आपने ब्यावर, पेटलाद (गुजरात) और पूना के फर्ग्युसन कालेज में न्याय व साहित्य तीर्थ की परिक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। साथ ही आपश्री ने वैदिक, बौद्ध और जैन दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन भी किया। आपने वेदों का, उपनिषदों का, गीता और महाभारत का अध्ययन किया और बौद्ध-परम्परा के विनय-पिटक दीघनिकाय, मज्जिमनिकाय आदि पिटक साहित्य का और न्यायबिन्दु, प्रमाणवार्तिक, धर्मकोश आदि अनेक बौद्ध ग्रन्थों का और आगम साहित्य के अतिरिक्त उसकी व्याख्या साहित्य का विशेषावश्यक भाष्य, तत्त्वार्थभाष्य, सन्मति तर्क, प्रमाण-मीमांसा, न्यायावतार, स्याद्वादमंजरी, रत्नाकरावतारिका, सर्वार्थसिद्धि, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्ति-काय, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योग शतक आदि का भी अध्ययन किया। आपश्री का संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, और उर्दू भाषा पर पर खासा अच्छा अधिकार है। आपने अंग्रेजी भाषा का अध्ययन भी प्रारम्भ किया था किन्तु परि-स्थितिवश उसमें विकास नहीं हो सका। आज भी आप कभी निष्क्रिय होकर नहीं बैठते। किन्तु अध्ययन, लेखन में लगे रहते हैं। आपश्री में अध्ययन के साथ प्रतिभा, मेधा और कल्पनाशक्ति की भी प्रधानता है। आज भी आपको बहुत से ग्रन्थ कण्ठस्थ हैं। जब कभी भी किसी विषय पर चर्चा करते हैं तो आप उसके तल-छट तक पहुँचते हैं।

अध्ययन से भी अध्यापन का कार्य अत्यधिक कठिन है। अध्ययन करने में स्वयं को खपाना पड़ता है जबकि अध्यापन में पर के लिए स्वयं को खपाना होता है। किसी भी ग्रन्थ के निगूढ़तम भावों को प्रथम स्वयं समझना, फिर दूसरों के दिमागों में उन भावों को बिठाना अत्यधिक कठिन कार्य है। अध्यापन कार्य में वही व्यक्ति सफल होता है जिसमें प्रतिभा की तेजस्विता होती है, स्मृति की प्रबलता होती है और अनुभवों का अम्बार होता है। आपश्री में प्रतिभा, स्मृति और अनुभूति तीनों हैं, साथ ही सुन्दर शैली भी है जिससे कठिन से कठिन विषय को भी आप सरल बनाकर प्रस्तुत करने में दक्ष हैं। रबड़ की तरह विद्यार्थी की योग्यता के अनुसार संक्षेप और विस्तार करने में आप कुशल हैं।

आपश्री ने अपने शिष्य हीरामुनिजी, देवेन्द्रमुनि, गणेशमुनिजी, जिनेन्द्र मुनि, रमेशमुनि, राजेन्द्रमुनि, दिनेश-मुनि आदि को धर्म, दर्शन, आगम साहित्य आदि का अध्ययन करवाया।

आपश्री ने महासती शीलकुंवर जी, महासती कुसुमवती जी, महासती पुष्पवती जी, महासती कौशल्या जी महासती चन्दनबाला जी, महासती विमलवती जी आदि को आगमों की टीकाओं का अध्ययन करवाया। श्रमणी विद्या-पीठ, बम्बई में भी आपने कुछ समय तक टीका ग्रन्थों का अध्ययन करवाया। अनेक सन्तों को तथा न्यायमूर्ति इन्द्रनाथ जी मोदी, वकील रस्तोगी जी, वकील हगामीलाल जी, वकील आनन्दस्वरूप जी, आदि शताधिक गृहस्थ व्यक्तियों को आपश्री ने तत्त्वार्थसूत्र, आदि का अध्ययन करवाया।

आपश्री की विद्वत्ता बहुत ही गहरी है, उसमें सूक्ष्म प्रतिभा, तर्कपटुता और वाक्चातुर्य का मधुर संगम है। जब किसी विषय को समझाते हैं तो ऐसा लगता है कि एक-एक कली खोलकर रख रहे हैं; गम्भीर से गम्भीर बात भी सहज ही हृदयंगम हो जाती है।

आपश्री का मानना है कि जीवन में शिक्षा का वही महत्त्व है जो शरीर में प्राण का है। शिक्षा के अभाव में जीवन में चमक-दमक पैदा नहीं हो सकती; गति और प्रगति नहीं हो सकती। यूनान के महान् दार्शनिक प्लेटो ने शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा—'शरीर और आत्मा में अधिक से अधिक जितने सौन्दर्य और जितनी सम्पूर्णता का विकास हो सकता है उसे सम्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।' अरस्तू ने कहा—'जिन्होंने मानव पर शासन करने की कला का अध्ययन किया है उन्हें यह विश्वास हो गया है कि युवकों की शिक्षा पर ही राज्य का भाग्य आधारित है।' एडिसन ने कहा—शिक्षा मानव-जीवन के लिए वैसे ही है जैसे संगमरमर के पत्थर के लिए शिल्प-कला।' आपश्री भी यही मानते हैं कि विश्व में जितनी भी उपलब्धियाँ हैं उनमें शिक्षा सबसे बढ़कर है। शिक्षा से जीवन में सदाचार की उपलब्धि होती है, सद्गुणों के सरस सुमन खिलते हैं। दीक्षा के साथ शिक्षा भी आवश्यक है। यही कारण है कि आपने अपने शिष्यों एवं शिष्याओं को शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। उनकी शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था की। जिस युग में सन्त सती वृन्द परीक्षा देने से कतराता था, उस युग में आपने उच्च परीक्षाएँ दी और अपने अन्तेवासियों को भी उच्च परीक्षाएँ दिलवायीं।

आपश्री की प्रबल प्रेरणा से भंवाल चातुर्मास में वीर लोकाशाह जैन विद्यालय की संस्थापना हुई अनेक स्थानों पर धार्मिक पाठशालाएँ खुलीं। श्रमणी विद्यापीठ, घाटकोपर (बम्बई) के निर्माण में भी आपका प्रबल पुरुषार्थ रहा है।

सन् १९७५ में आपश्री का वर्षावास पूना में था। उस अवधि में विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग अध्यक्ष डा० बारलिंगे जी से आपश्री का परिचय हुआ और विश्वविद्यालय में जैन दर्शन और धर्म सम्बन्धी अध्ययन व अध्यापन की व्यवस्था के लिए एक जैन चेयर की संस्थापना करने की योजना बनी। इसमें सेठ लालचन्द हीराचन्द जी दोशी ने ढाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाख रुपये, श्री रतिभाई नाणावटी ने एक लाख रुपये, श्री नवलभाई फिरोदिया ने एक लाख पच्चीस हजार रुपये और अन्य जैन बन्धुओं की ओर से सवा दो लाख रुपये इस प्रकार कुल सात लाख रुपये एकत्र किये गये।

जैन चेयर का कार्य आरम्भ हो गया। विश्वविद्यालय के कुलपति श्री दाभोलकर जी ने विशेष रूप से एक पत्र लिखकर आपश्री के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है।[1]

इसी प्रकार पूना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० आनन्द प्रकाश जी दीक्षित श्रद्धेय सद्-गुरुवर्य के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। उस समय उन्होंने विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अन्तर्गत एक स्वर्णपदक की स्थापना करने के लिए प्रार्थना की। विश्वविद्यालय में तत्सम्बन्धी व्यवस्था इसी वर्ष से कर दी गई है।[2]

---

[1] **D. A. DABHOLKAR**
Vice-Chancellor

University of Poona
Ref. No. Phil/24/1007
Date 10.8.1976

Dear Shri Muniji,

I am writing this letter to you to express on, behalf of the University of Poona, our profound thankfulness and gratitude for your valuable help, advice and encouragement towards the endowment of a Chair in Jaina Logic, Philosophy and Culture in our University. I am aware of your great interest and devotion to Jaina studies and this act of concern and sympathy expresses your love and devotion to this cause in a most fitting manner. We hope to promote research studies in Jaina Philosophy in a manner worthy of the noble cause and also in keeping with the needs and requirements of our society, and I am sure we shall continue to have the benefit of your suggestions and the support of your patronage in our efforts.

Thanking you and with regards,

Yours Sincerely

To
Shri Pushkar Muniji

Sd/- D. A. Dabholkar

[2] *Ref. No.* Ex/Medal/20712

University of Poona
12th October, 1977

Smt. Joshi Sunita Govinda
Candidate No. 1945 at the M.A. Examination
held in April, 1977

865, Sadashiv Peth
Poona-30.

Subject—Award of ''The Upadhyaya Shri Pushkar Muni Maharaj Padak''

Madam,

I am directed to inform you that ''The Upadhyaya Shri Pushkar Muni Maharaj Padak'' (Silver Medal with Gold Plating) has been awarded to you on the result of M. A. Examinations, held in April, 1977.

Yours faithfully

Sd/-
Deputy Registrar
(Examinations)

Copy for.cs to the Donor
Dr. A. D. Batra
Secretary
The Rajasthan Kesari Adhyatmayogi
Pushkar Muniji Abhinandan Granth
Prakashan Samiti
6/4, Pitra Chhaya
Yeoravada, Poona-411006

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी प्रकार पूना के ही एक आर्ट्स एण्ड कॉमर्स कालेज में बी० ए० और बी० कॉम० परीक्षा में प्रथम आने वाले छात्र को प्रति वर्ष सौ-सौ रुपये के दो पुरस्कारों की व्यवस्था भी आपश्री की प्रेरणा से की गयी है।

श्रमण-श्रमणियों और भावदीक्षितों के अध्ययन के लिए आपश्री की प्रेरणा से उदयपुर में श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय के अन्तर्गत पुष्कर विद्यापीठ की संस्थापना हुई है जिसमें सम्प्रति सती-वृन्द एवं भावदीक्षिताएँ पढ़ रही हैं।

सन् १९६६ में आपश्री का चातुर्मास पदराडा था। उस समय महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज की पुण्य स्मृति में आपश्री की प्रेरणा से 'श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय' की संस्थापना हुई। पहले यह संस्था पदराडा में चलती रही। पर उसके पश्चात् संस्था का मुख्य कार्यालय उदयपुर में आ गया। इस संस्था के द्वारा साहित्य की विविध विधाओं में बड़े ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। आज दिन तक सौ ग्रन्थों से अधिक ग्रन्थ निकल चुके हैं। यह संस्था साहित्यिक दृष्टि से एक गौरव-गरिमा से युक्त संस्था है। इस संस्था का उद्देश्य है शोधप्रधान व जीवनोपयोगी उत्कृष्ट साहित्य का प्रकाशन करना।

आपश्री के पावन-प्रवचनों से प्रभावित होकर भारत के विविधस्थलों में गृहस्थों के धार्मिक साधना हेतु स्थानक बने तथा अनेक स्थलों पर बालक और बालिकाओं के धार्मिक अध्ययन हेतु पाठशालाएँ भी निर्मित हुई और स्वाध्याय के लिए वाचनालय और लाइब्रेरियाँ भी बनीं, उन सभी का विस्तार से परिचय देना यहाँ पर संभव नहीं है संक्षेप में उनकी सूची इस प्रकार है—

(१) श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय	उदयपुर
(२) ,, ,,	पदराडा
(३) श्री अमर जैन ज्ञान भण्डार	खाण्डप
(४) श्री अमर जैन जागृति मण्डल	नान्देशमा
(५) श्री पुष्कर गुरु विद्यापीठ	उदयपुर
(६) श्री अमर जैन आगम शोध-संस्थान	गढ़ सिवाना
(७) श्री पुष्कर गुरु जैन लाइब्रेरी	गुलेजगढ़
(८) श्री ज्येष्ठ गुरु सेवा समिति	उदयपुर
(९) श्री पुष्कर गुरु सहायता फंड	पूना
(१०) श्री पुष्कर गुरु गोशाला	सिन्धनूर (कर्णाटक)
(११) श्री महावीर जैन सहायता फंड	मैसूर ,,
(१२) श्री तारक गुरु जैन पुस्तकालय	डबोक
(१३) श्री अमर जैन पुस्तकालय	गोगुन्दा
(१४) श्री तारक गुरु जैन पुस्तकालय	ढोल
(१५) श्री तारक गुरु जैन लाइब्रेरी	सायरा
(१६) श्री पुष्कर गुरु जैन धार्मिक पाठशाला	ढोल
(१७) श्री पुष्कर गुरु राजस्थानी युवकमण्डल	सूरत
(१८) श्री राजस्थानी स्थानकवासी जैन संघ	बम्बई
(१९) श्री पुष्कर गुरु धार्मिक पाठशाला	डबोक
(२०) ,, ,, ,,	गोगुन्दा
(२१) ,, ,, ,,	बीरार (महाराष्ट्र)
(२२) ,, ,, ,,	शिवाजी नगर, बेंगलोर
(२३) श्री पुष्कर जैन भवन	,, ,,
(२४) श्री अमर जैन धर्म स्थानक	गोगुन्दा (राजस्थान)
(२५) ,, ,, ,,	नान्देशमा
(२६) ,, ,, ,,	तिरपाल
(२७) ,, ,, ,,	यशवन्तगढ़
(२८) ,, ,, ,,	ढोल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२९)	श्री अमर जैन धर्म स्थानक	सायरा
(३०)	,, ,, ,,	डबोक
(३१)	,, ,, ,,	वास
(३२)	,, ,, ,,	मादडा
(३३)	,, ,, ,,	कोल्यारी
(३४)	,, ,, ,,	वागपुरा
(३५)	,, ,, ,,	झाडोल
(३६)	श्री जैन धर्म स्थानक	बेलवण्डी (महा०)
(३७)	,, ,,	पालघर (महा०)
(३८)	,, ,,	भीम (राज०)
(३९)	,, ,,	वीरर
(४०)	,, ,,	केलवारोड
(४१)	,, ,,	सफाला
(४२)	,, ,,	वाणगाँव
(४३)	,, ,,	भक्षट
(४४)	,, ,,	खाण्डप
(४५)	,, ,,	भारण्डा
(४६)	,, ,,	गदक

श्री पुष्कर-वाणी

संसार में कुछ मनुष्य कौवे के समान होते हैं और कुछ हंस के समान। चाहे जितने अच्छे पदार्थ सामने रखे हों, किन्तु कौवा उनमें से निकृष्ट पदार्थ पर ही चोंच मारेगा। यद्यपि कौवा पक्षियों में चतुर या अति सयाना कहलाता है, फिर भी उसका स्वभाव ही ऐसा होता है कि भली वस्तु को छोड़कर बुरी वस्तु लेता है।

बहुत से चतुर और सयाने कहलाने वाले मनुष्य भी स्वभावदोष अथवा आदत की लाचारी के कारण बुराई को ही ग्रहण करते हैं, भलाई पर ध्यान नहीं देते।

कभी-कभी हमारा मन भी अधिक चतुर बनकर हमें धोखा दे जाता है। बुराई व निकृष्टता की ओर भागने लगता है और श्रेष्ठता से मुँह मोड़कर चलता है।

हंस के सामने पानी और दूध मिलाकर रखा तो भी वह अपनी चोंच डालकर पानी को अलग कर देता है और दूध पी लेता है। पानी में से भी वह घोंघे नहीं, बल्कि मोती चुगता है। कुछ मनुष्यों का स्वभाव भी ऐसा होता है, बुराई को छोड़कर भलाई का ही ग्रहण करेंगे। उनका अन्तर-विवेक अध्यात्म विद्यारूप मोती ही चुगेगा। भौतिक-वासना रूप घोंघे पर चोंच नहीं मारेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छवि; आभ्यन्तर व्यक्तित्व की

□ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

□

सन्त जीवन में जिन सद्गुणों की अनिवार्य आवश्यकता है उनमें विनय एक प्रमुख गुण है। विनय को धर्म का मूल कहा है और अहंकार को पाप का मूल बताया है। जिस साधक को अहंकार का काला नाग डस लेता है, वह साधना की सुधा का पान नहीं कर सकता। अहंकार और साधना में "तेजस्तिमिरयोरिव।" प्रकाश और अन्धकार के समान वैर है, विरोध है।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का जीवन विनम्र ही नहीं, अति विनम्र है। आप श्रमणसंघ के उपाध्याय हैं, अनेक विशिष्ट उपाधियों से अलंकृत है तथा अपने भूतपूर्व सम्प्रदाय के मूर्धन्य वरिष्ठ सन्त हैं तथापि गुरुजनों का उसी प्रकार आदर करते हैं जैसे एक लघु सन्त करता है। आप प्रत्येक सम्प्रदाय के व्यक्तियों के साथ खुलकर विचार-चर्चा करते हैं, उसमें किसी भी प्रकार का कार्पण्य या संकोच नहीं करते। जहाँ अन्य सन्त अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक स्थानों में जाने में अपना अपमान समझते हैं वहाँ आपश्री बड़े ही प्रेम के साथ जाते हैं। आपश्री यह मानते हैं कि दूर रहकर दूरी को मिटाया नहीं जा सकता। स्नेह-सौजन्ययुक्त सम्पर्क से वह दूरी भी मिट जाती है जिसे कभी न मिटने वाला समझा जाता है। स्थानकवासी परम्परा में होने के कारण आपको मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं है, तथापि आप आबू के देलवाड़ा मन्दिर में, राणकपुर जी, केसरियाजी, आदि अनेक श्वेताम्बर मन्दिरों में और श्रवणबेलगोला, गजपन्था आदि अनेक दिगम्बर जैन मन्दिरों में आप पधारे हैं और आपने वहाँ की कलाकृतियों को गहराई से देखा है।

आपश्री नासिक से सूरत पधार रहे थे। गजपन्था तीर्थ में उस समय चारित्र-चक्र-चूड़ामणि दिगम्बराचार्य शांतिसागर जी विराज रहे थे। दिगम्बर श्रावकों का भी आग्रह था आप वहाँ पधारे, और एक ही धर्मशाला में विराजे। और अनेक विषयों पर उनसे विचार चर्चाएँ भी हुईं। आपश्री के उदारतापूर्ण विचारों से शान्तिसागर जी महाराज अत्यधिक प्रभावित हुए।

बम्बई में आगम प्रभावक पुण्यविजयजी महाराज विराज रहे थे। वे वयस्थविर, ज्ञानस्थविर और दीक्षा-स्थविर थे। आपश्री उनसे मिलने के लिए बालकेश्वर के जैन मन्दिर के उपाश्रय में पधारे। लम्बे समय तक आगमिक और दार्शनिक विषयों पर आपश्री ने उनसे विचार चर्चाएँ कीं। आपश्री की जिज्ञासा और विनयशीलता को निहार कर पुण्यविजयजी महाराज गद्गद् हो गए। और आपश्री का उनके साथ ऐसा स्नेहपूर्ण सम्बन्ध जीवन भर बना रहा।

बम्बई के नानावटी अस्पताल में पं० मुनि यशोविजय जी के एक्सिडेंट होने के कारण वे भर्ती थे। आप वहाँ पधारे और उनके सुख-शान्ति के समाचार पूछे। आपकी स्नेह सद्भावना के कारण एक उल्लासमय वातावरण का निर्माण हुआ।

परम श्रद्धेय उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज के साथ श्रमणसंघ के वैधानिक प्रश्नों को लेकर आपश्री का उनके साथ अत्यधिक मतभेद हो गया। अन्त में उपाचार्य श्री को श्रमण संघ के उपाचार्य पद से त्यागपत्र देना पड़ा। किन्तु जब आपश्री उदयपुर पधारे तब श्रद्धेय गणेशीलाल जी महाराज अस्वस्थ थे। उनका आपरेशन भी हुआ था। आपश्री अपनी शिष्य-मंडली सहित वहाँ पर पधारे और सविधि वन्दन किया। गुरुदेव श्री की विनम्रता को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखकर श्री गणेशीलाल जी महाराज का हृदय प्रेम से नाच उठा। और उन्होंने गुरुदेव श्री को उठाकर अपनी छाती से लगा लिया।

अजमेर में महास्थविर श्री हगामीलाल जी महाराज, जिनका श्रमण संघीय सन्तों के साथ कभी भी सम्बन्ध नहीं रहा किन्तु आपश्री के विनम्रता पूर्ण सु-व्यवहार के कारण उनका हृदय परिवर्तित हो गया। और वे सदा-सदा के लिए आपश्री के बन गये।

राजस्थान प्रान्तीय सन्त सम्मेलन में सर्वानुमति से यह निर्णय लिया गया कि श्रद्धेय हस्तीमल जी महाराज से पुनः श्रमण संघ में मिलने हेतु आपश्री उनसे वार्तालाप करें। जब आपश्री जोधपुर विराज रहे थे और वहाँ की स्थिति काफी तनावपूर्ण थी। तथापि आपश्री ने प्रवचन बन्द रखा और उनके स्वागत हेतु बहुत दूर तक पधारे। आपश्री की विनम्रता से उस समय जोधपुर संघ में सद्व्यवहार का संचार हो गया। और आपश्री का हस्तीमलजी महाराज के साथ प्रवचन भी हुआ। उनकी हार्दिक इच्छा श्रमण संघ में न मिलने की होने से वार्ता आगे न बढ़ सकी। किन्तु आपके सद्व्यवहार से वे भी सोचने के लिए विवश हो गये। वस्तुतः विनम्रता और स्नेह ऐसा श्रेष्ठ कवच है जिसे आज दिन तक कभी कोई छेद नहीं सका।

सरलता की प्रतिमूर्ति—

श्रमण भगवान महावीर ने कहा है—सरलता साधना का महाप्राण है। चाहे गृहस्थ साधक हो चाहे संयमी साधक हो, दोनों के लिए सरलता निष्कपटता, अदम्भता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। घृतसिक्त पावक के समान सहज सरल साधना ही निर्धूम होती है निर्मल होती है—

सोही उज्जुय भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तेव पावए॥

सद्गुरुदेव नख से शिख तक सरल है, निर्दम्भ हैं। जैसे अन्दर हैं वैसे ही बाहर हैं। उनकी वाणी सरल है, विचार सरल हैं। और जीवन का प्रत्येक व्यवहार भी सरल है। कहीं पर भी छुपाव नहीं, दुराव नहीं, टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर चलना वे साधक के लिए घातक मानते हैं। आपका स्पष्ट विचार है सरल बने बिना सिद्ध गति कदाचित नहीं हो सकती। आज आवश्यकता चरित्र की है चातुर्य की नहीं, सम्यक् आचार की है समलंकृत वाणी की नहीं; कार्य की है, विवरण की नहीं; आज साधक के जीवन में बहुरूपियापन आ गया है। उसका व्यक्तिगत जीवन अलग है, सामाजिक जीवन अलग है। उसके जीवन में दम्भ का प्राधान्य है। यही कारण है उसके जीवन का प्रभाव नहीं पड़ता। आपश्री बालक की तरह सरल हैं, मैंने देखा कि कई बार स्खलना होने पर आपश्री महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज के पास बिना किसी संकोच के स्पष्ट रूप से कह देते थे। आप जीवन की सीधी राह चलने के आदी हैं, अगल-बगल की चाल आपको पसन्द नहीं है।

आज आप इतने महान पद पर हैं, तथापि आप में वही सरलता है, वही सौम्यता है। वस्तुतः सरलता से आपके जीवन में निखार आया है।

दया के देवता—

दया साधना का नवनीत है, मन का माधुर्य है। दया की सरस रसधारा से साधक का हृदय उर्वर बनता है और सद्गुणों के कल्पवृक्ष फलते हैं, फूलते हैं। सन्त दया का देवता कहा जाता है। वह स्व और पर के भेद-भाव को भुलाकर वात्सल्य और दया का अमृत प्रदान करता है। सन्त का हृदय नवनीत से भी विलक्षण है। नवनीत स्व-ताप से द्रवित होता है पर-ताप से नहीं, किन्तु सन्त हृदय पर-ताप से ही द्रवित होते हैं, स्व-ताप से नहीं। कोमलता और कठोरता का, मोम और पत्थर का विचित्र संगम होता है। महापुरुष, वह है स्वयं के कष्टों में स्वयं के जीवन में आने वाली विपत्तियों में वज्र बनकर मुस्कराता है "**सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए**" चारों ओर दुःखों से घिरा रहने पर भी वह घबराता नहीं और न विचलित ही होता है। पर दूसरों के दुःख को देखकर द्रवित हो जाता है। आगमों में साधक का एक नाम ही 'दविए' आया है। दूसरों के दुःख से द्रवित होने वाला। उसके हृदय की यही भावना होती है—

"दर्द जिस दिल में हो उस दिल की दवा बन जाऊँ।
दुःख में हिलते हुए लब की दुआ बन जाऊँ॥"

इसी ध्येय की पूर्ति के लिए वह अपना जीवन न्यौछावर कर देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप श्री रायपुर (राजस्थान) वर्षावास को पूर्ण कर बिलाड़ा की ओर पधार रहे थे। मार्ग में एक सरस वन था और वाण गंगा का निर्मल पानी बह रहा था। तृषा दूर करने को पशु और पक्षीगण वहाँ आते थे और आसपास में छिपे हुए शिकारीगण निर्दयता से उन्हें समाप्त कर देते थे। प्राकृतिक सौन्दर्य स्थली में श्रद्धेय सद्गुरुवर्य विश्राम कर रहे थे। उसी समय झाड़ियों में छिपे हुए शिकारीगण उधर निकल आये। आपश्री ने मधुर वचनों से उन्हें समझाया कि निरीह प्राणियों का मारना श्रेयस्कर नहीं है, उन्हें सताना महान पाप है।

"गरीब को मत सताओ, गरीब रो देगा।
गरीब का मालिक सुनेगा तो जड़ से खो देगा॥"

शिकारियों पर आपकी वाणी का अद्भुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने सदा के लिए शिकार का परित्याग कर दिया।

बम्बई और पूना के बीच में लोनावला है, उसके सन्निकट ही कार्ला की गुफाएँ हैं। वे गुफाएँ कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बनी हुई है। बौद्ध युग की स्मृति को ताजा करती है। एक दिन वहाँ पर सैकड़ों बौद्ध साधक आध्यात्मिक साधना किया करते थे। वहाँ पर एक देवी का मन्दिर है और आसपास के आदिवासी उसे अपनी आराध्य देवी मानते हैं। गुरुदेव श्री उस ऐतिहासिक स्थल को देखने के लिए वहाँ पर पधारे और एक दिन वहीं पर विश्राम किया। मध्याह्न में कुछ आदिवासी लोग बकरे का बलिदान देने हेतु वहाँ उपस्थित हुए। आपश्री ने आगे बढ़कर उन्हें समझाया कि बलिदान देना कितना बुरा है, तथापि जब वे न समझें तब आपने कहा कि मेरा बलिदान दे सकते हो, किन्तु बकरे का नहीं। अन्त में आदिवासियों का हृदय परिवर्तित हो गया और उस बकरे को अभयदान देकर कहा— बाबा, हम भविष्य में कभी भी बलिदान नहीं करेंगे।

भारत में फैले हुए सभी धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायियों में चींटियों, चिड़ियों, पशु-पक्षियों के प्रति अनुकम्पा की भावना है। पर जहाँ मानव के प्रति अनुकम्पा का प्रश्न आता है वहाँ वे बहुत पीछे हटते हैं। हाँ, मानवों पर आपत्तियों के काले-कजराले बादल मंडरा रहे हों, वे भूख-प्यास से छटपटा रहे हों, ठण्ड से ठिठुर रहे हों और भयंकर गरमी में झुलस रहे हों, बिना व्यापार के परिवार सहित दीन-हीन बनकर धर्म से विमुख हो रहे हों, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प आदि के कारण परिवार क्रूर काल के ग्रास हो रहे हों, माताएँ अपने मातृत्व को विस्मृत होकर अपने प्यारे लालों को बेचने के लिए तैयार हो रही हों, सत्य और शील से च्युत हो रही हों, वहाँ पर धर्म-चेतना मन्द हो जाती है, वहाँ पर चिन्तन का ढंग ही निराला हो जाता है और अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर वे कहते हैं कि ये सभी अपने कर्म का फल भोग रहे हैं। कौन किसके कर्म को परिवर्तन कर सकता है ? जिसके जैसा कर्म। किन्तु जब उनके जीवन पर विपत्तियाँ मंडराती हैं तब उनकी भाषा बदल जाती है। मानवता की पुकार है कि सर्वप्रथम मनुष्यों के प्रति दया भावना हो। कोई मानव कष्ट से छटपटाता हो, उस समय साधन सम्पन्न व्यक्ति टुकुर-टुकुर निहारता रहे यह मानवता का उपहास है। सद्गुरुदेव ने जब भी सुना कि मानव कष्ट से घिरा हुआ है तो आपने अपने प्रवचनों में मानवों को सहयोग करने के लिए सन्देश दिया और आपके पावन प्रवचनों से दान की निर्मल स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई जिससे अनेक मानवों को आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ और उनके लड़खड़ाते जीवन में पुनः अभिनव चेतना का संचार हुआ।

सन् १९७५ का वर्षावास गुरुदेव श्री का पूना में था। उस समय पूना में बहुत तेज वर्षा हुई। झोंपड-पट्टी में रहनेवाले लोग बे-घरबार हो गये। पूज्य गुरुदेव श्री ने शौच के लिए जंगल में जाते हुए उनकी दयनीय स्थिति देखी। उनका दयालु हृदय द्रवित हो गया। लौटकर अपने प्रवचन में उन व्यक्तियों की कारुणिक स्थिति का चित्रण प्रस्तुत किया। उसी समय वहाँ पर श्री पुष्कर गुरु सहायता संस्था की संस्थापना हुई और उस संस्था के द्वारा हजारों व्यक्तियों को सहायता प्रदान की गयी और संप्रति भी उस संस्था के द्वारा सहयोग दिया जा रहा है।

सन् १९४८ में आपका वर्षावास घाटकोपर (बंबई) में था। उस समय भयंकर तूफान आया। उस तूफान से हजारों व्यक्ति बे-घरबार हो गये। आपकी प्रेरणा से लाखों का दान दिया गया। इसी तरह बिहार, आन्ध्रप्रदेश के अनेक दुष्कालों में बाढ़-पीडितों को आपके उपदेश से अन्न और वस्त्र आदि का सहयोग प्रदान किया गया है। वस्तुतः आपश्री का हृदय अत्यधिक कोमल है। किसी भी हीन-दीन व्यक्ति को देखकर वह बर्फ की तरह द्रवित हो जाता है। आपके अद्भुत दयालु हृदय के कारण आपकी साधुता प्रतिपल प्रतिक्षण ज्योतिर्मय होती चली गयी है। पर-दुःख दर्शन से ही नहीं, पर-दुःख के वर्णन मात्र से ही आपका कोमल हृदय चन्द्रकान्तमणि के समान विगलित हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहिष्णुता की साक्षात् मूर्ति—

सन्त कष्ट से घबराता नहीं है। सोने को ज्यों-ज्यों आग में तपाया जाता है त्यों-त्यों वह अधिक चमकता है। चन्दन को ज्यों-ज्यों घिसा जाता है त्यों-त्यों उसमें से अधिक सुगन्ध आती है। जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब सामान्य मानव विचलित हो जाता है, किन्तु सन्त पुरुष उन क्षणों में भी अपूर्व साहस, धैर्य और सहिष्णुता का परिचय देते हैं। सन् १९४२ में आपश्री कुचेरा से विहार कर नागौर पधार रहे थे। मार्ग में मूंडवा नामक एक कसबा है। उस समय वहाँ पर एक भी जैन का घर नहीं था। माहेश्वरियों के सैकड़ों घर थे। आपश्री ने भिक्षा हेतु एक माहेश्वरी के भव्य भवन में प्रवेश किया। माहेश्वरी जैन श्रमणों से परिचित नहीं था। उसका व्यवसाय उड़ीसा में था। ज्यों ही उसने आपको अपने भवन में प्रवेश करते हुए देखा त्यों ही क्रोध से आँखें लाल करके कहा—शरम नहीं आती? बिना पूछे किसी के घर में चले आये हो? निकल जाओ यहाँ से।

आपश्री ने मुस्कराते हुए कहा—सेठ जी, हम जैन साधु हैं। और मधुकरी करते हैं। मधुकरी के लिए ही तुम्हारे यहाँ पर आये हैं। हम लोग गरम पानी का उपयोग करते हैं। यदि आपके यहाँ पर स्नान आदि के लिए गरम पानी हो तो हमें दे दीजिए। सेठ जी ने गुर्राते हुए कहा—क्या, तेरे बाप ने यहाँ गरम पानी कर रखा है? आपश्री ने सहज मुद्रा में ही कहा—इसीलिए तो हम आये हैं। भारतीय दर्शन-शास्त्र में पुनर्जन्म माना गया है। आप इस जन्म के नहीं, किन्तु किसी जन्म में बाप रहे होंगे। आपकी क्षमा से सेठ का क्रोध नष्ट हो गया। उसने कहा आप यहीं खड़े रहिए। मैं अन्दर जरा पूछता हूँ कि गरम पानी है या नहीं। सेठ ने सेठानी से पूछा, जैन साधु आये हैं। क्या गरम पानी है? सेठानी भी तो सेठ की तरह ही तेज-तर्रार थी। उसने कहा—क्या उसकी माँ ने गरम पानी कर रखा है? सेठ ने बाहर आकर कहा—पानी तो नहीं है। गुरुदेव ने सेठानी के शब्द सुन लिये थे। आपने मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा, सेठ जी, आज का दिन तो बड़ा ही अच्छा है। क्योंकि माँ भी मिल गयी, पिता भी मिल गये हैं। इसलिए रोटी भी मिल जायगी। पानी न सही यदि रोटी बनी हो तो वह भी दे दीजिए। सेठ अन्दर गया और कहा—आइये, आप भी अन्दर अपनी माँ से भी मिल लीजिए और उसने भक्ति-भावना से विभोर होकर भिक्षा प्रदान की और चरणों में गिर पड़ा कि मैंने अपने जीवन में हजारों साधु देखे हैं, जगन्नाथपुरी में मेरा व्यवसाय है। वहाँ पर हजारों साधु-संन्यासी आते हैं। जरा-सा मन के प्रतिकूल होने पर वे चिमटा लेकर ही दौड़ते हैं। पर आपको मैंने इतने कर्कश व कठोर शब्द कहे किन्तु आपकी मुखमुद्रा पर कुछ भी परिवर्तन नहीं आया। वस्तुतः आज मुझे एक सच्चे सन्त के दर्शन हुए। और उस सेठ के मन में जैन श्रमणों के प्रति अगाध श्रद्धा पैदा हो गयी। यह है सहिष्णुता का स्थायी प्रभाव।

सन् १९५४ में आप देहली का वर्षावास पूर्ण कर जयपुर आ रहे थे। महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज के पैर की नस में एकाएक दर्द हो जाने से आपको एक गांव में रुकना पड़ा। वहाँ पर जैन श्रमण पहली बार गये थे। आपश्री ने एक मकान में प्रवेश किया। मकान के आँगन में पन्द्रह-सोलह वर्ष की बालिकाएँ खेल रही थीं। ज्यों ही उन्होंने मुँह बाँधे हुए व्यक्ति को आँगन में आया हुआ देखा त्यों ही वे भय से कांप उठीं और जोर से चिल्लाती हुई दनादन सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँच गयीं। लड़कियों के चीत्कार को सुनकर घर मालकिन बाहर आयी और लगी गालियों की बौछार करने। जब उसके गालियों का स्टॉक समाप्त हो गया, आपने कुछ भी उत्तर न दिया। तो वह शान्त हो गयी। उसने पूछा—अरे तू कौन है? आपने धीर-गंभीर शब्दों में कहा—मैं जैन साधु हूँ। उसने कहा—तू कैसा जैन साधु है? साधु वह होता है जब किसी गृहस्थ के द्वार पर जाते ही "हरे कृष्ण हरे राम" की जोर से आवाज लगाता है। तू साधु नहीं। पाखण्डी है। आपने मुस्कराते हुए कहा—माताजी, जैन साधु का आचार आवाज लगाने का नहीं है। वह शांति के साथ ही गृहस्थ के घर में प्रवेश करता है और जो भी अपने नियमानुसार भिक्षा मिलती है वह उसे ले लेता है। यदि आपके यहाँ भी कुछ रोटी आदि बनी हुई हो तो हमें दे दीजिए।

घर मालकिन ने पहली बार ही ऐसा साधु देखा था जो दुनियाँ भर की गालियाँ देने पर भी क्रोधित नहीं हुआ था। और मुस्कराते हुए भिक्षा मांग रहा था। उसका श्रद्धा से सिर झुक गया। उसने प्रेम से भिक्षा दी और बोली—बाबा, मेरा अपराध क्षमा करना। मुझे क्या पता कि तुम इतने अच्छे साधु हो।

आपश्री अपने गुरुदेव के साथ ही जयपुर की ओर कदम बढ़ा रहे थे। उन दिनों गुरुदेव के पैर में अत्यधिक दर्द था। अतः विशेष लंबे विहार की स्थिति नहीं थी। राहगीरों से पता चला कि सड़क से चार फर्लांग दूर एक नया गाँव बसा हुआ है। वहाँ के किसान बहुत ही समृद्ध हैं। अतः तुम्हें वहाँ भिक्षा मिल जायगी। आपश्री गुरुदेव के साथ उस गाँव में पधारे। और गाँव के बीच में नीम का एक वृक्ष था और उसके चारों ओर बैठने के लिए चबूतरा बना हुआ था। वहाँ जाकर आपश्री ने विश्राम लिया। किन्तु कुछ ही क्षणों में गाँव के मकानों के द्वार बन्द हो गये। और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच-दस मिनट में पन्द्रह-बीस नौजवान हाथ में लाठियाँ लेकर अपने मकानों के पिछले द्वारों से निकलकर उपस्थित हुए और कहा—यहाँ पर क्यों बैठे हो ? शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ। आपश्री ने शांति से कहा—भाइयो, तुम्हारे गाँव की प्रशंसा सुनी कि यहाँ के लोग देवता हैं इसलिए हम यहाँ पर आये। ये हमारे गुरु जी हैं। इनके पैर में बहुत दर्द है। हम जैन साधु वाहन का उपयोग नहीं करते। इसलिए आज हम यहाँ रहना चाहते हैं। प्रातः हम आगे प्रस्थान कर जायेंगे। किन्तु युवकों ने दाँत पीसते हुए कहा—तुम एक क्षण भी यहां ठहर नहीं सकते। यदि सीधी तरह से चले जाओगे तो अच्छा है वरना लाठियों से हम तुम्हारी पूजा करेंगे। और उन सभी ने लाठियाँ उठा लीं। वे एक भी बात सुनने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें यह भ्रम हो गया था कि ये साधु नहीं, मुँह बाँधे हुए डाकू हैं जो हमारी सारी संपत्ति को लेकर नौ दो ग्यारह हो जायेंगे। क्योंकि उस समय राजस्थान में डाकुओं का अत्यधिक आतंक फैला हुआ था। अन्त में आपको वहाँ से प्रस्थान करना पड़ा और वे लोग लाठियाँ लेकर तब तक पीछे चलते रहे जब तक आप सड़क पर न पहुँचे। गुरुदेव श्री के पैर में असह्य दर्द था, किन्तु सड़क पर कोई भी गाँव नहीं था। जो भी गाँव थे वे सडक से एक या दो मील दूर बसे हुए थे। कंकरीले और पथरीले ऊबड़-खाबड़ पथ से उन गाँवों में जाना गुरुदेव के लिए कठिन था। अतः भूखे और प्यासे बिना लक्ष्य के सड़क पर चलते रहे। और सामने आने वाले राहगीरों से पूछते रहे कि सड़क के किनारे कोई गाँव या मकान है क्या ? राहगीरों ने बताया कि चौदह मील दूर एक सड़क के किनारे मंदिर है। दिन भर चलने के पश्चात् सायंकाल पांच बजे आप उस मंदिर में पधारे। मंदिर की पुजारिन ने ज्यों ही आपको देखा त्यों ही भक्ति-भावना से विभोर होकर नाच उठी। आज मेरे सद्भाग्य हैं कि गुरुदेवों के दर्शन हुए। पुजारिन ने बताया कि गुरुदेव मेरी माता जयपुर की जौहरियों के वहाँ पर रहती थीं। और मैं भी वहीं पर बड़ी हुई। वर्षों से मेरी इच्छा थी कि सद्गुरुओं के दर्शन हो। किन्तु इस जंगल में कहाँ दर्शन हो ? यहाँ हमारी खेती है। मैं अपने परिवार के साथ यहाँ रहती हूँ। आज मेरा महान् सद्भाग्य है कि हमारे सभी के एकासन व्रत है। मैंने अभी अभी भोजन बनाकर रखा है और स्नान के लिए गरम पानी भी। आप कृपा करो। आहार भी तैयार है और पानी भी। उसने बहुत प्रेम से भिक्षा प्रदान की। आपश्री ने श्रद्धेय गुरुदेव से कहा आज का आनन्द भी अपूर्व रहा। प्रातःकाल तर्जना थी तो सायंकाल अर्चना। तर्जना और अर्चना में समभाव में रहना ही श्रमण जीवन का सही आनन्द है श्री गुरुदेव !

उसी विहार यात्रा का एक और प्रसंग है—एक गाँव में आप अपने गुरुदेव श्री के साथ पधारे। और शंकरजी के मन्दिर में आप रुके। भिक्षा के समय में कुछ विलम्ब था। उस गाँव में शाकाहारियों के बीस-पच्चीस घर थे। उस दिन अमावस्या भी थी और सोमवार भी था। एक व्यक्ति मन्दिर में दर्शनार्थ आया। उसने कहा—बाबा, आज तुम्हारा भोजन मेरे यहाँ होगा। आपने उसे समझाने का प्रयास किया कि जैन श्रमण किसी एक गृहस्थ के यहाँ से पूरा भोजन नहीं लेते। वे मधुकरी करते हैं। किन्तु वह व्यक्ति कहाँ समझने वाला था। वह तो अपनी बात पर अड़ा हुआ था। गुरुदेव श्री ने उससे विवाद करना उचित नहीं समझा। जब वह चला गया और भिक्षा का समय होते ही आप पात्र लेकर भिक्षा के लिए चल पड़े। किन्तु वह व्यक्ति पहले ही घर में आपको मिला और उसने आपको फटकारते हुए कहा कि मैंने तुम्हें कहा था कि भिक्षा आज मेरे यहाँ से लेने का है। फिर अन्य स्थान पर भिक्षा के लिए क्यों आये ? लगता है तुम लोग बड़े मक्कार हो। सीधे रूप से मानने वाले नहीं। अतः मैं स्वयं ही सभी घरों में मनाई कर दूँ जिससे तुम्हें कोई भिक्षा न दें। आप तो अपरिचित थे और उसने एक ही सांस में सारे गाँव में चक्कर लगा दिया। जब आप उन घरों में भिक्षा के लिए पहुँचे तो सभी ने उपालंभ के स्वर में कहा—तुम कैसे बाबा हो, तुम्हें जरा भी सन्तोष नहीं है। तुम्हारा भोजन उनके वहाँ है, फिर यों क्यों भटक रहे हो ? आपश्री ने उन्हें समझाने का प्रयास किया, किन्तु वे समझने वाले कहाँ थे ? पहले घर में ही आधी रोटी मिली थी और शेष घरों में गालियाँ और उपालंभ। किन्तु आपके चेहरे पर किंचित् मात्र भी खेद नहीं था। प्रसन्नता अंगडाइयाँ ले रही थी ! पहले दिन भी आहार पूरा नहीं हुआ था और आज सभी घरों में इनकारी हो चुकी थी। आपने उस सज्जन से पूछा—बताओ, तुम्हारे यहाँ भोजन कब बनता है ? उसने कहा—साधु बने हो, जरा सन्तोष रखो जब बनेगा तब तुम्हें दे देगा। आप शांतभाव से बैठे रहे। शाम के पाँच बज गये तब तक मुँह में पानी भी न डाला था। पाँच बजने के पश्चात् उसने कहा अच्छा चलो, तुम रात्रि में भोजन नहीं करते हो तो अभी हमारे घर चलकर भोजन कर लो। आपने बहुत ही मधुरता के साथ उसे समझाया—जैन साधु, गृहस्थ के घर पर भोजन नहीं करता। वह तो अपने स्थान पर लाकर ही भोजन करता है। अन्त में वह इस बात के लिए तैयार हो गया कि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम यहाँ भोजन लाकर कर सकते हो। गुरुदेव उसके घर पधारे। और निर्दोष आहार देखकर चार-पाँच लघु पूड़ियां और एक पात्र में कढ़ी लेकर पधारे। किन्तु ज्यों ही देखा कि पूड़ियों में मिट्टी के तेल की तीव्र गन्ध आ रही थी और कढ़ी को चखी तो वह कसैली थी। जबान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर रखते ही जबान उसकी तीक्ष्ण स्पर्श से फटने लगती थी। महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज ने कहा—ये पूड़ियाँ इतनी कड़क हैं कि मेरे से चबाई नहीं जायेंगी। अतः सुबह तुम जो आधी रोटी ज्वार की लाये थे, वह मैं खा लेता हूँ। और तुम लोग पूड़ियाँ और कढ़ी का उपयोग कर लो। आपश्री ने कहा—गुरुदेव जैसा आपको अनुकूल हो वैसा कीजिए। हम लोगों के दाँत मजबूत है। हम ये कड़क पूड़ियाँ चबा लेंगे। ज्यों ही महास्थविर जी महाराज ज्वार की रोटी का एक टुकड़ा लेकर मुंह में रखने लगे त्यों ही मन्दिर का खुला द्वार था, त्यों ही वह व्यक्ति आया और क्रोध से आँखें लाल करता हुआ बोला—तुम साधु हो या बदमाश हो? इस बूढ़े साधु को तो रूखी सूखी-रोटी खाने को दी है। और तुम सभी नौजवान माल खा रहे हो। उसने फुर्ती से वह आधी रोटी का टुकड़ा लिया और सामने खड़े कुत्ते को डाल दिया। उसने कहा—अब मैं नहीं जाऊंगा। और यहीं बैठा रहूँगा। गुरुदेव पूड़ी और कढ़ी को धर्म-रुचि अनगार की तरह खा रहे थे। गन्ध की तीव्रता से वमन की तैयारी हो रही थी। खाया नहीं जा रहा था। वह सामने उच्च आसन पर बैठा हुआ था। उसे समझाने से कुछ लाभ भी नहीं था। पाँच सन्तों ने वे दो पूड़ी मुश्किल से खायी थीं। तीन पूड़ियाँ और कढ़ी एक पात्र में रखी हुई थीं। जब उसने देखा आप नहीं खा रहे हैं तो झट से वह अपने मकान में गया और अपना बरतन ले आया और अपने हाथ से कढ़ी और बची हुई तीन पूड़ियाँ लेकर चल दिया। सायंकाल जब प्रतिक्रमण के बाद सत्संग के लिए बैठे तो वह लोगों को कह रहा था कि आज मैंने बाबाओं को ऐसा बढ़िया भोजन कराया कि शायद इन्होंने जिन्दगानी में कभी न किया होगा। और मैंने ऐसा पाठ सिखा दिया कि बूढ़े के साथ कभी यह शरारत नहीं करेंगे। गुरुदेव मन-ही-मन उसके भोलेपन पर मुस्करा रहे थे और सोच रहे थे आज का यह प्रसंग जीवन का अविस्मरणीय प्रसंग है। यही जीवन की कसौटी है। आज जीवन में साधना को कसने का सुन्दर अवसर मिला।

इस प्रकार अनेकों बार लम्बे-लम्बे विहारों में कहीं पर मकान न मिलने पर, कहीं पर आहार न मिलने पर, और कहीं पर जैन श्रमण से परिचित न होने पर और कहीं पर, भाषा की विकट समस्या उपस्थित होने पर, ताड़ना-तर्जना के प्रसंग भी उपस्थित हुए। उस समय आपके अन्तर्मानस में किंचित् मात्र भी क्षुब्धता पैदा न हुई। किन्तु सदा यही सोचकर मन में आल्हादित होते रहे कि यह तो कुछ भी कष्ट नहीं है। भगवान महावीर को अनार्य देशों में कितने कष्ट दिये गये थे? तथापि भगवान उन कष्टों का मुस्कराते हुए स्वागत करते रहे। वैसे ही उस पथ पर हमें भी बढ़ना है। कष्ट से घबराना कायरता है। आपके जीवन के अन्य अनेक प्रसंग कष्ट-सहिष्णुता की दृष्टि से जीवन में घटित हुए हैं, किन्तु विस्तार भय से यहाँ नहीं दे रहा हूँ।

आलोचक से प्यार

जिस व्यक्ति के विमल विचारों में गहनता व मौलिकता होती है उन व्यक्तियों के विचारों की आलोचना भी सहज रूप से होती है। पर महान् व्यक्ति उनकी ओर ध्यान न देकर अपने सही लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते रहते हैं। गुरुदेव श्री का दृढ़ मन्तव्य है कि व्यक्ति निन्दा से नहीं, निर्माण से निखरता है। जो उनकी आलोचना करते हैं या प्रशंसा करते हैं वे दोनों से समान प्रेम करते हैं। उनके निर्मल मानस पर आलोचना और स्तुति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रशंसा करने वाले को वे कहते हैं—तुम्हारा स्नेह है इसीलिए ऐसा कहते हो और निन्दा और आलोचना करने वालों से कहते हैं—तुमने मुझे ठीक तरह नहीं समझा है। तुम्हारा विरोध मेरे लिए विनोद है। अनुकूल परिस्थिति में मुस्कराने वाले इस विश्व में बहुत मिलेंगे। पर प्रतिकूल परिस्थिति में भी जो गुलाब के फूल की तरह मुस्करा सके वही महान् कलाकार हैं। गुरुदेव श्री अपनी मस्ती में झूमते हुए कभी-कभी उर्दू का यह शेर गुनगुनाया करते हैं—

"मंजिलें-हस्ती में दुश्मन को भी अपना दोस्त कर।
रात हो जाए तो दिखलावे, तुझे दुश्मन चिराग।"

कितना सुन्दर, कितना मधुर और कितना सन्तुलित है आपका विचार।

सन् १९६७ का वर्षावास बम्बई—बालकेश्वर में था। उस समय बालकेश्वर संघ की संस्थापना को लेकर काँदावाड़ी-बम्बई संघ के अधिकारियों के मन में यह विचार चल रहा था कि इस संघ की संस्थापना हो जाने से कान्दावाड़ी संघ को प्रतिवर्ष सार्वजनिक कार्यों के लिए लाखों रुपयों की आमदनी होती है वह बन्द हो जायगी। वे उन व्यक्तियों का तो विरोध करने की स्थिति में नहीं थे। तथापि विरोध करना था। इसलिए उन्होंने बाल-दीक्षा के प्रसंग को लेकर विरोध किया। उनका विरोध अ-वैधानिक था, क्योंकि जो बाल-दीक्षा दी गयी थी, वह बम्बई से साठ मील दूर दी गयी थी, जो बम्बई महासंघ के अन्तर्गत नहीं था। और श्रमणसंघ का ऐसा कोई नियम नहीं था जिसमें बाल-दीक्षा का निषेध हो। श्रमणसंघ बनने के पश्चात् अनेकों बाल-दीक्षाएँ हो चुकी थी। आचार्य और प्रधानमन्त्री मुनिवर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी बाल-दीक्षा दे चुके थे। विरोध की आँधी इतनी तेजरूप से आयी कि यदि दूसरा व्यक्ति आपके स्थान पर होता तो वह टिक भी नहीं सकता था, पर आप विचलित नहीं हुए। समाचार-पत्रों के पृष्ठ रंगे हुए आते रहे। उत्तेजनापूर्ण शब्दों में विरोधी व्यक्ति लिखते रहे। किन्तु आप जानते थे कि आंधी की उम्र लम्बी नहीं होती। उसके बाद वर्षा आती है और आकाश निर्मल हो जाता है। वही स्थिति अन्त में हुई। विरोध करने वालों के मन में अपने अकृत्य के प्रति पश्चात्ताप हुआ। और जो विरोध कर रहे थे वे आपके चरणों में झुक गये। आपने कभी भी विरोध करने वाले का विरोध नहीं किया। आपकी साधुता को देखकर बम्बई महासंघ के मूर्धन्य मनीषी अध्यक्ष श्रीचिमनभाई ने हजारों की जनता के बीच कहा—"पुष्कर मुनि जी जेवा साचा साधु गोत्या पण न मले।" यह है आपकी अगाध सहिष्णुता जिससे आलोचक भी आपके चरणों में नत होते रहे हैं।

आपके जीवन में अनेकों बार ऐसे प्रसंग आये हैं, किन्तु आप सदा यही कहते रहे प्रभात के पूर्व अन्धकार जरा गहरा होता है। अन्धकार को देखकर घबराओ नहीं। उसके पीछे सहस्ररश्मि सूर्य का चमचमाता प्रकाश रहा हुआ है। यदि तुम सत्यपथ पर हो, न्याय के मार्ग पर चल रहे हो, तो तुम्हें भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। आलोचना वह धुआँ है जो सत्य का पवन चलते ही नष्ट हो जाता है।

आध्यात्मिक साधना : उपलब्धियाँ व चमत्कार

भारतीय-साधना पद्धति में जप का अधिक महत्त्व रहा है। यह आभ्यन्तर तप है, स्वाध्याय का एक प्रकार है। जप आधि-व्याधि और उपाधि को नष्टकर समाधि प्रदान करता है। जप में अद्भुत शक्ति है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन, यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ—"**यज्ञानां जपयज्ञोस्मि**।"

जप में दो अक्षर हैं। "ज" जन्म का विच्छेद करने वाला है और "प" पाप का नाश करने वाला है। अतः जप से संसार का उच्छेद होता है। ध्यान से मन की शुद्धि होती है, जप से वचन की शुद्धि होती है और आसन से काया की शुद्धि होती है। सिद्धि के लिए जप की अनिवार्य आवश्यकता है। एतदर्थ ही भारत के एक तत्त्व चिन्तक ने लिखा है—

"**जपात्सिद्धिः जपात्सिद्धि र्जपात्सिद्धिर्न संशयः**" जप में महान् शक्ति है। जो कार्य अन्य शक्ति से संभव नहीं वह असंभव कार्य भी जप से संभव है। नियमित रूप से नियमित समय पर सद्गुरुदेव से सविधि महामन्त्र नवकार को लेकर यदि जाप किया जाय तो अवश्य ही सिद्धि मिलती है, ऐसा सद्गुरुदेव का दृढ़ विश्वास है। वे स्वयं प्रतिदिन नियमित रूप से जाप करते हैं। वे भोजन की अपेक्षा भजन को अधिक महत्त्व देते हैं। पूज्य गुरुदेव श्री के जीवन में जप की साधना साकार हो उठी। वे खूब रसपूर्वक जप करते हैं। और जो भी उनके सम्पर्क में आता है उसे भी वे जप की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे अपने प्रवचनों में अनेक बार फरमाते हैं—अन्य मन्त्र-तन्त्रों के पीछे पागल होकर क्यों घूम रहे हो? महामन्त्र नवकार जैसा प्रभावशाली अन्य कोई मन्त्र नहीं है। एकनिष्ठा, एकतानता के साथ उसका जाप करो तो तुम्हें अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होगी।

श्रद्धेय गुरुदेव श्री को जप और ध्यान की साधना गुरु-परम्परा से प्राप्त है। जप की सिद्धि के लिए गुरुजनों की कृपा अत्यन्त आवश्यक है। यदि उनके द्वारा प्राप्त विधि से जप किया जाय तो अद्भुत शक्ति पैदा होती है। गुरुदेव प्रातः, मध्याह्न और रात्रि में जप-साधना नियमित रूप से घण्टों तक करते हैं। आपकी साधना में किसी भी प्रकार की लौकिक कामना व भावना नहीं है। किन्तु जप का अलौकिक प्रभाव मैंने स्वयं अपनी आँखों से अनेकों बार देखा है। प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि जो लोग रोते और बिलखते हुए आते हैं वे गुरुदेव श्री का मांगलिक सुनकर हँसते और मुस्कराते हुए विदा होते हैं। हजारों व्यक्ति ऐसी उपाधियों से ग्रसित थे जिनका डाक्टर और वैद्य उपचार नहीं कर सके थे, उन्हें भी गुरुदेव की वाणी से स्वस्थ होते हुए देखा है। मैं कुछ प्रसंग पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ दे रहा हूँ।

सन् १९६९ में श्रद्धेय गुरुदेव नासिक में विराज रहे थे। एक बहिन रोती हुई आयी—महाराज श्री, गजब हो गया। एक नौ वर्ष के नन्हें से बच्चे की आँखों की रोशनी चली गयी। नेत्र विशेषज्ञों ने भी हाथ झटक दिये। अब उसका क्या होगा? कहती हुई बहिन का गला भर आया। उसकी आँखों से मोतियों के समान आंसू टपक पड़े। गुरुदेव श्री का दयालु हृदय द्रवित हो उठा। वे उसके घर पर पधारे। मांगलिक सुनाने के पश्चात् पूछा—मुन्ना, तुझे कुछ दिखायी देता है? मुन्ने ने कहा—गुरुदेव, कुछ धुन्धला-धुन्धला दिखायी देता है। तीन दिन तक मांगलिक सुना और उसकी नेत्र-ज्योति पुनः आ गयी। बहिन नेत्र विशेषज्ञों के पास गयी। नेत्र विशेषज्ञ हैरान थे। वे गुरुदेव के समीप आये और कहा—'आपके चमत्कार से चमत्कृत होकर हमें भी आस्तिक होना पड़ा।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह सन् १९७७ में गुरुदेव मैसूर से बेंगलोर पधार रहे थे। बेंगलोर से ३५ मील की दूरी पर अवस्थित रामनगर गाँव में ध्यान से निवृत्त होकर बैठे ही थे कि बेंगलोर से एक कार आयी। उसमें बीस-पच्चीस वर्ष की एक बहिन थी। बेंगलोर के सभी डाक्टर उसका उपचार कर थक गये थे। पाँच दिन से उस बहिन ने न तो आँख खोली और न मुँह ही। खाना, पीना और बोलना भी बन्द था और देखना भी। अभिभावकों ने गुरुदेव से प्रार्थना की कि गुरुदेव, कोई आशा नहीं है। बेंगलोर के ही एक सन्माननीय श्रावक ने कहा कि महाराज के पास जाओ। उनका मांगलिक सुनो तो ठीक हो सकती हो। अतः गुरुदेव हम बहुत ही आशा से आये हैं। 'गुरुदेव ने कहा—मैं कोई डाक्टर नहीं हूँ। मैं तो साधक हूँ। साधना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। गुरुदेव ने नवकार महामन्त्र ज्यों ही दो क्षण उस बहन को सुनाया और सामने पुस्तक को बताते हुए कहा—जरा इसे पढ़ो। बहिन दनादन पढ़ने लगी। सभी लोग गुरुदेव श्री के आध्यात्मिक तेज को देखकर चमत्कृत हो गये। उस बहिन ने पाँच दिन से मुँह में अन्न का एक कण भी न डाला था और पानी की एक बूंद भी न ली थी। उसने अच्छी तरह से भोजन किया।

गुरुदेव श्री का १९७४ वर्षावास अजमेर में था। पारसमल जी ढाबरिया की धर्मपत्नी ने मासखपण का तप किया। पारणे की पहली रात्रि में ही उस बहिन की तबीअत यकायक अस्वस्थ हो गयी। अजमेर के सुप्रसिद्ध डाक्टर सूर्यनारायण जी आदि ने कहा—बहिन की स्थिति गम्भीर है। बाहर के बहुत से सज्जन जो उनके सम्बन्धी थे वे लोग भी आये हुए थे। बहिन की गम्भीर स्थिति के कारण सारा वातावरण प्रसन्नता के स्थान पर गम्भीर हो गया था। प्रातः भाई आये, उनके चेहरे मुरझाये हुए थे। गुरुदेव ने पूछा आज तो प्रसन्नता का दिन है, पर चेहरे पर उदासी कैसे? उन्होंने बताया कि बहिन की स्थिति नाजुक है। यदि तपस्या में ही उसका स्वर्गवास हो गया तो जैनधर्म की निन्दा होगी कि जैनी लोग तप करवाकर लोगों को मार देते हैं। यही चिन्ता मन को सता रही है। रात को बारह बजे से बहिन बेहोश पड़ी हुई है। गुरुदेव ने धैर्य बँधाते हुए कहा—धर्म के प्रसाद से सब अच्छा हो जायगा। गुरुदेव श्री उनके वहाँ पर पधारे। दो मिनिट तक गुरुदेव श्री ने कुछ सुनाया। बहिन उठ बैठी। पूर्ण स्वस्थ होकर उसने आहार-दान दिया। सर्वत्र प्रसन्नता की लहर व्याप्त हो गयी।

आपश्री अपने पूज्य गुरुदेव के साथ सन् १९३६ में बड़ौदा से सूरत पधार रहे थे। रास्ते में मीलों तक हिन्दुओं की बस्ती नहीं है। सभी मुसलमानों के गाँव हैं। जवीपुरा के कपास की ओण में एक ब्राह्मण भोजन बनाने वाला था। आपश्री को उसके वहाँ से भोजन मिल गया। किन्तु ठहरने के लिए स्थान नहीं मिला। और भडौंच वहाँ से बारह मील था। अतः वहाँ पहुँचना भी सम्भव नहीं था। आपने इधर-उधर देखा। एक मुसलमान ने पूछा, क्या देखते हो बाबा? आपश्री ने बताया हमें रात्रि विश्राम के लिए जगह चाहिए। उसने कहा देखिए, यह सामने भव्य भवन है, वह मेरा ही है। आप आराम से वहाँ पर रात्रि भर ठहर सकते हैं। महाराज श्री ने देखा मियाँ साहब बहुत ही सज्जन हैं। उन्होंने ठहरने के लिए बहुत सुन्दर स्थान बताया है। बंगला बहुत ही बढ़िया बना हुआ था। आप वहाँ पर जाकर ठहरे। उस समय आप और आपके गुरुजी श्री ताराचन्द जी महाराज ये दो ही सन्त थे। तीसरे पण्डित रामानन्द जी शास्त्री थे। अन्धेरी रात्रि थी। बंगला कुछ जंगल में था। अतः पण्डित जी एक दूकान से लालटेन किराये पर लाये। उन्होंने महाराज श्री से कहा—मैं अन्धेरे में नहीं रह सकता हूँ। आप एक तरफ सोयेंगे, मैं दूसरी तरफ सो जाऊँगा। गुरुदेव ने कहा—जहा सुहं देवाणुप्पिया! रात्रि को नौ बजे तक आपश्री पण्डित जी से ज्ञान-चर्चा करते रहे। गुरुदेव ने पण्डित जी से कहा—ध्यान रखना, यह बंगला इतना सुन्दर है फिर भी लोग यहाँ पर नहीं रहते हैं। लगता है इस बंगले में कुछ उपद्रव हो। महाराज श्री तो ध्यान व जपादि कर सो गये। महाराज श्री को ज्योंही नींद आयी त्योंही एक भयंकर चीत्कार सुनायी दी। महाराज श्री ने बैठकर देखा पण्डित जी का दीपक टिमटिमा रहा था और पण्डित जी बुरी तरह से चिल्ला रहे थे। महाराज श्री ने सन्निकट जाकर पण्डित जी को पुकारा—पण्डितजी! क्या बात है? पण्डितजी का शरीर पसीने से तरबतर हो रहा था। हृदय धड़क रहा था। महाराज, एक बहुत ही डरावनी सूरत मेरी छाती पर आकर के बैठ गयी और मुझे मारने लगी। महाराज श्री ने उन्हें आश्वस्त किया और कहा—पण्डित जी, सम्भव है आपका हाथ छाती पर रह गया है जिसके कारण आपके मन में भय पैदा हो गया है। घबराइये नहीं।

पण्डित जी ने कहा—नहीं महाराज, साक्षात् यम ही मेरी छाती पर बैठा था। मैं अब इस स्थान पर न सोऊँगा। पण्डित जी गुरुदेव के सन्निकट आकर सो गये। उन्होंने दीपक भी अपने पास ही रख लिया। गुरुदेव को ज्योंही नींद आयी त्योंही दुबारा पुनः पण्डित जी चीख उठे। गुरुदेव ने देखा, दीपक का प्रकाश जो बिलकुल ही मन्द हो चुका था, वह धीरे-धीरे पुनः तेज हो रहा था। और पण्डित जी थरथर काँप रहे थे। इस बार पहले की अपेक्षा अधिक घबराये हुए थे। घड़ी में देखा तो बारह बजे थे। गुरुदेव ने कहा—पण्डित जी, यह इसी मकान का चमत्कार है, पर अब घबराने की आवश्यकता नहीं है। आपका कुछ भी बाल-बाँका नहीं होगा। गुरुदेव ने कुछ क्षणों तक ध्यान किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और रजोहरण से रेखा खींचकर पण्डित जी से कहा—अब आपको कुछ भी कष्ट नहीं होगा। चाहे कैसा भी दानव क्यों न हो वह आपको कष्ट नहीं देगा।

पण्डित जी ने कहा—गुरुदेव, मैं अब एक तरफ नहीं सो सकता। अब दोनों सन्तों के बीच मुझे सुला दीजिए। गुरुदेव ने परिस्थिति पर विचार कर पण्डित जी को बीच में सुला दिया। गुरुदेव तो प्रतिदिन नियमानुसार दो बजे उठकर ध्यान में विराज गये। और पण्डित जी आराम से सोते रहे। सुबह विहार कर भडौंच जाना था। मकान की आज्ञा पुनः लौटाने के लिए ज्योंही उस मुसलमान भाई के वहाँ गये त्योंही वह आपको देखकर हैरान हो गया और बोला, क्या तुम लोग रात को जिन्दा रह गये? गुरुदेव ने मुसलमान भाई को समझाया कि इस तरह से दुष्टतापूर्ण व्यवहार करना उचित नहीं है। "अल्लाह अल्लाह खैरसल्लाह" हम तो बच गये। दूसरों के साथ कभी भी ऐसी मजाक मत करना। वह मुसलमान आपकी आध्यात्मिक शक्ति को देखकर चरणों में गिर पड़ा। उसने कहा—महाराज जी, उस मकान में जिन्द रहता है जो रात्रि में किसी को भी नहीं रहने देता। यदि कोई भूल से वहाँ रह जाय तो उसे वह खतम कर देता है। मैंने यही सोचा कि हिन्दू काफिर होते हैं और आपको मरवाने की भावना से ही मैंने आपको वह मकान बताया था। अब आश्चर्य है कि उस अद्भुत दानवी शक्ति से आप कैसे बच निकले। अब मुझे अपनी दुष्टता पर पश्चात्ताप हो रहा है कि मैंने एक सच्चे फकीर को कष्ट दिया। आप मेरे दुष्टतापूर्ण व्यवहार को क्षमा करें। भविष्य में कभी भी मैं ऐसा व्यवहार अन्य किसी भी व्यक्ति के साथ नहीं करूँगा।

सन् १९४८ की घटना है। पूज्य गुरुदेव घाटकोपर-बम्बई का वर्षावास पूर्ण कर नासिक संघ के अत्याग्रह को मान देकर आप नासिक पधारे। और वहाँ से सूरत की ओर प्रस्थान किया। सतपुड़ा की विकट पहाड़ियों के कण्टकाकीर्ण पथ को पार कर आप वासदा पधारे। वहाँ पर जैन मुनि २२ वर्षों के पश्चात् गये थे। अतः संघ में अपार उत्साहपूर्ण वातावरण था। आप वहाँ पर दो दिन विराजे। और वहाँ से नवसारी की ओर प्रस्थान किया। अपराह्न का समय था। पगडण्डियों के मार्ग से विहार यात्रा चल रही थी। सड़क नहीं थी। सामने से आनेवाले व्यक्ति से लक्ष्यस्थल के सम्बन्ध में पूछा, तो उसने कहा वह स्थान यहाँ से लगभग दो गाऊँ हैं। दो गाऊँ से तात्पर्य था चार मील का। गुरुदेव ने सोचा, चार मील तो अभी-अभी पहुँच जायेंगे। किन्तु चार मील जाने पर पुनः अन्य व्यक्ति से जिज्ञासा प्रस्तुत की तो उसने बताया चार मील है। कदम तेजी से बढ़ाये गये लक्ष्यस्थल तक पहुँचने के लिए। किन्तु चार मील चलने के बाद भी वही पुराना उत्तर मिला कि चार मील दूर है। द्रौपदी की चीर की तरह मार्ग लम्बा होता जाता था। बारह मील चलने पर भी रुकने का स्थान नहीं आया। तब आपश्री ने मुझे कहा—देवेन्द्र! सूर्य अस्ताचल की ओर अपने कदम तेजी से बढ़ा रहा है। चारों ओर पहाड़ियाँ हैं। जिससे गाँव दिखायी नहीं दे रहे हैं। अब हम आगे नहीं बढ़ सकते। किसी वृक्ष के नीचे ही आज रात्रि को विश्राम लेना होगा। चारों ओर हराभरा वन था। पहाड़ियाँ थीं। और सन्निकट ही तापी नदी बह रही थी। जिससे कलकल-छलछल मधुर ध्वनि आ रही थी।

गुरुदेव श्री ने एक आम के वृक्ष के नीचे साथ में जो भाई था उसकी आज्ञा ग्रहण कर वहाँ आसन जमा दिया। सन्ध्या की सुहावनी लालिमा धीरे-धीरे अन्धकार में बदल रही थी। तभी दनादन पत्थर आने लगे। हमने देखा पत्थर टेकरी पर जो झोंपड़ियाँ थीं, उधर से ही पत्थर आ रहे थे। किन्तु कोई भी पत्थर आपको न लगा। ज्यों-ज्यों अन्धकार बढ़ने लगा त्यों-त्यों पत्थर आने बन्द हो गये। गुरुदेव ने कहा—आज का यह एकान्त शान्त स्थान जप-साधना के लिए बहुत ही श्रेष्ठ है। प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर गुरुदेव जप-साधना में बैठ गये। रात्रि के करीबन नौ बजे होंगे। दस पन्द्रह पुलिस को लेकर थानेदार वहाँ पर आया जहाँ पर गुरुदेव श्री ध्यान में विराजित थे। आते ही उसने गरजते हुए कहा—यहाँ क्यों बैठे हो? पास के गाँव में पुलिस का थाना है वहाँ चलो। गुरुदेव श्री ने ध्यान से निवृत्त होकर कहा—हम जैन श्रमण हैं। और रात्रि को परिभ्रमण नहीं करते हैं। किन्तु वह तो अधिकार के नशे में मत्त बना हुआ था। उसने अधिकार की भाषा में कहा—तुम्हें अभी उठकर हमारे साथ चलना होगा। गुरुदेव ने कहा—चाहे आप कितनी ही धमकी दें उस धमकी का हमारे पर कोई असर नहीं होगा। हमारी मर्यादा है। हम रात्रि में नहीं चलते। उसने गुरुदेव श्री की निर्भीकता को देखकर पूछा—बताइये, आपका क्या परिचय है? गुरुदेव ने कहा—हम जैन साधु हैं। साधुओं का क्या परिचय। वे तो घुमक्कड़ होते हैं। हिमालय से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक वे पैदल घूमते हैं। और धर्म-प्रचार करते हैं। उसने कहा—बताइये आप यहाँ किसको जानते हैं? गुरुदेव ने कहा—बम्बई की जो विधानसभा है उसके स्पीकर भाउ साहब फिरोदिया हमारे शिष्य हैं। उसने कहा—इतनी दूर का नहीं, सन्निकट का कोई परिचित हो तो बतायें। तब गुरुदेव ने कहा—वासदा के नगरसेठ इन्द्रमल जी हमारे शिष्य हैं। हम लोग उनके गुरु हैं। नगरसेठ का नाम सुनते ही थानेदार ने चरण-स्पर्श करते हुए कहा—मुझे क्या पता आप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके गुरुदेव हैं। आज प्रातः ही नगरसेठ का फोन था कि हमारे गुरु आ रहे हैं। आप उनका ध्यान रखना। उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट न हो। हमने आपके लिए ठहरने की स्पेशल व्यवस्था करवायी। गरम पानी भी तैयार था। किन्तु आप इस भयंकर जंगल में विराज गये। सन्निकट की टेकड़ियों के निवासी आदिवासियों ने आपको भगाने के लिए पत्थर फेंके। उन्होंने आपको डाकू समझा था और भयभीत होकर हमारे पास आये। और कहा दो मुंह बन्धे आये हैं, जो रात को हमारी बच्चियों व पत्नियों को लेकर भाग जायेंगे। इसीलिए हम आपको पकड़ने के लिए आये थे। किन्तु आपके पावन दर्शन कर हमारी सभी शंकाएँ निर्मूल हो गयीं। पर यह स्थान बहुत ही भयावह है। रात्रि को पानी पीने हेतु तापी नदी पर शेर आदि जानवर आया करते हैं। अतः पास ही में एक मील पर ही गाँव है। वहाँ पधार जायें।

गुरुदेव ने अपना दृढ़ निश्चय बताते हुए कहा—कोई भी जानवर क्यों न आये। पर हम रात्रि में यहाँ से अन्यत्र नहीं जायेंगे। गुरुदेव श्री के दृढ़ निश्चय को देखकर थानेदार ने कहा हम यहाँ पर सो नहीं सकते, किन्तु कुछ आदिवासियों को यहाँ पर रखकर जाता हूँ। गुरुदेव श्री ने कहा, किसी को रहने की आवश्यकता नहीं है। वे नमस्कार कर चले गये।

रात्रि का एक बजा होगा। एक नर-हत्या केसरीसिंह दहाड़ता हुआ गुरुदेव श्री के पास होकर निकला। एक क्षण रुककर उसने गुरुदेव श्री को देखा और पानी पीने के लिए चल दिया। पानी पीकर पुनः आया और दहाड़ता हुआ आगे बढ़ गया। किन्तु आप श्री को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचा। उस रात्रि में अनेक जानवर भी उधर से निकले। किन्तु किसी का भी उपद्रव नहीं हुआ। गुरुदेव श्री उस रात्रि को रात भर जप की साधना करते रहे। वस्तुतः "**अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।**"

इस प्रकार अन्य कई स्थानों पर विहार में आपको रात्रि-विश्राम के लिए भयंकर जंगलों में समय बिताना पड़ा, जहाँ पर भयंकर पशुओं का उपद्रव था। नान्देशमा ग्राम में आपका सन् १९५० में चातुर्मास था। वह पंचायती मकान जहाँ पर अत्यधिक हरियाली थी, वहाँ पर आपका वर्षावास था। उस मकान में आठ-दस सर्प रहते थे। कई बार आप श्री के पैरों के बीच में भी आ गये, किन्तु उन्होंने कभी कोई कष्ट नहीं दिया।

जहाँ हृदय में प्रेम का पयोधि उछालें मार रहा हो वहाँ पर हिंसक पशुओं का व जीव-जन्तुओं का कोई कष्ट नहीं होता। वे भी आध्यात्मिक शक्ति के सामने वैर भावना को भूल जाते हैं।

संगठन के दृढ़ चरण

श्रद्धेय गुरुवर्य स्थानकवासी समाज के एक मूर्धन्य मनीषी और कर्मठ सन्त हैं। स्थानकवासी समाज की उन्नति किस प्रकार हो इस सम्बन्ध में आपका प्रारंभ से ही चिन्तन चलता रहा। और गहराई से इस सम्बन्ध में आप सोचते रहे। और समय-समय पर समाज की एकता के लिए आपश्री प्रयास करते रहे।

श्रमण भगवान महावीर के परिनिर्वाण के १७० वर्ष के पश्चात् पाटलिपुत्र में सर्वप्रथम सन्त-सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल के कारण श्रमणसंघ जो छिन्न-भिन्न हो गया था, अनेक बहुश्रुत श्रमण काल कर गये थे, दुष्काल के कारण यथावस्थित सूत्र-परावर्तन नहीं हो सका था। अतः दुष्काल समाप्त होने पर सभी विशिष्ट सन्त पाटलिपुत्र में एकत्रित हुए। उन्होंने ग्यारह अंगों का संकलन किया। बारहवें दृष्टिवाद के ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी उस समय नेपाल मे महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। उन्होंने संघ की प्रार्थना को सन्मान देकर मुनि स्थूलिभद्र को बाहरवें अंग की वाचना देने की स्वीकृति दी। स्थूलिभद्र मुनि ने बहिनों को चमत्कार दिखाया जिससे अन्तिम चार पूर्वों की वाचना शाब्दिक दृष्टि से उन्हें दी गयी।

द्वितीय सम्मेलन ई० पू० द्वितीय शताब्दि के मध्य में हुआ था। सम्राट खारवेल जैन धर्म के उपासक थे, हाथी गुफा के अभिलेख से यह प्रमाणित हो चुका है कि उन्होंने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन मुनियों का एक संघ बुलाया था।

तृतीय सम्मेलन मथुरा में हुआ। यह सम्मेलन वीर निर्वाण संवत् ८२७ से ८४० के मध्य में आचार्य स्कंदिलाचार्य के नेतृत्व में हुआ। उसी समय दक्षिण और पश्चिमी में जो संघ विचरण कर रहे थे उनका सम्मेलन वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में हुआ। यह चौथा सम्मेलन था।

पाँचवां सम्मेलन वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दि ई० स० ४५४-४६६ के मध्य में वल्लभी में हुआ था। इस सम्मेलन के अध्यक्ष देवर्धीगण क्षमाश्रमण थे।

इन पाँचों सम्मेलनों में आगमों के सम्बन्ध में ही चिन्तन और मनन किया गया, क्योंकि स्मृति की दुर्बलता, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति प्रभृति अनेक कारणों से श्रुत साहित्य का अधि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कांश भाग नष्ट हो गया था। उन्हें पुनः व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया। उसके पश्चात् आगमों की वाचना को लेकर कोई सम्मेलन नहीं हुए।

आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज के समय पंचेवर ग्राम में एक सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन का उद्देश्य श्रुत के सम्बन्ध में चिन्तन नहीं किन्तु पारस्परिक क्रियाओं को लेकर पूज्य श्री कान जी ऋषि जी महाराज के सम्प्रदाय के अनुयायी पूज्य श्री ताराचन्द जी महाराज, जोगराज जी महाराज, मीवा जी महाराज, श्री त्रिलोकचन्द जी महाराज, आर्या जी श्री राधाजी, पूज्य श्री हरिदास जी महाराज के अनुयायी, मलुकचन्द जी महाराज, आर्या फूला जी महाराज तथा पूज्य श्री परशुराम जी महाराज के अनुयायी, श्री खेतसी व खीवसी जी महाराज और आर्या श्री केशर जी महाराज आदि सभी सन्त सतीगण गंभीर विचार-चर्चा के पश्चात् आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज के साथ एक सूत्र में बँध गये।

उसके पश्चात् राजस्थान प्रान्तीय मुनियों का सम्मेलन पाली में सन् १९३२ में हुआ। संगठन की एक लहर पैदा हुई। और सन् १९३३ में अजरामपुरी अजमेर में एक विराट सन्त-सम्मेलन का आयोजन हुआ। उस सम्मेलन में स्थानकवासी समाज के मूर्धन्य सन्त गण पधारे। उस सम्मेलन में पूज्य गुरुदेव श्री नींव की ईंट के रूप में रहकर कार्य करते रहे। समाज के बिखरे हुए तारों को मिलाने में आप श्री ने अपनी शक्ति का उपयोग किया। यह सम्मेलन यद्यपि पूर्ण सफल न हो सका, तथापि संगठन का एक सुन्दर वातावरण का निर्माण हुआ। और ऐसे अनेक प्रस्ताव पारित हुए जिससे स्थानकवासी समाज का भविष्य अत्युज्ज्वल दिखायी देने लगा। आपश्री का सदा चिन्तन चलता रहा कि ऐसा प्रयास किया जाय जिससे श्रमणों का एक संगठन बन जाय। क्योंकि संगठन ही जीवन है और विघटन ही मृत्यु है। बिना संगठन के समाज सही प्रगति नहीं कर सकता। आपश्री के प्रबल पुरुषार्थ से ही सन् १९५२ में सादड़ी सन्त सम्मेलन हुआ। क्योंकि सम्मेलन के पूर्व आपश्री का सादड़ी में वर्षावास था। स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस के अधिकृत अधिकारीगण हताश व निराश हो चुके थे। क्योंकि जितने भी अन्य स्थानों से सम्मेलन के लिए प्रार्थनाएँ आयी थीं। वे सभी प्रार्थनाएँ स-शर्त थीं। अतः विचारकों के सामने प्रश्न था कि सम्मेलन कहाँ कराया जाय यदि उनकी शर्तें पूरी न हो तो सम्मेलन होना संभव नहीं दीखता। किन्तु आपश्री ने कहा—सादड़ी सम्मेलन के लिए उपयुक्त स्थल है। यह पावन भूमि है। यहाँ पर आप सम्मेलन करें। आपने अपने ओजस्वी और तेजस्वी प्रवचनों से स्थानीय संघ में सम्मेलन की भव्य भूमिका तैयार की और इतना शानदार सम्मेलन हुआ कि सभी देखकर विस्मित हो गये। और उस सम्मेलन में आपने अत्यधिक पुरुषार्थ किया जिसके फलस्वरूप श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ का निर्माण हुआ। इस सम्मेलन में लगभग पचास हजार नर-नारी बाहर से उपस्थित हुए थे। आपश्री के सद्गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचंद जी महाराज सभी सन्तों में उस समय सबसे बड़े थे। विभिन्न सम्प्रदायों की सरिताएँ श्रमणसंघ के महासागर में विलीन हो गयीं। संगठन के लिए सभी पदवीधारी मुनिराजों ने अपनी पदवियों का परित्याग किया। और सर्वानुमति से परम श्रद्धेय जैनागम वारिधि श्री १००८ आत्माराम जी महाराज को आचार्य पद प्रदान किया गया। और आगम मर्मज्ञ श्री गणेशीलाल जी महाराज को उपाचार्य पद दिया गया। और पंडित प्रवर आनन्द ऋषि जी महाराज को प्रधानमंत्री पद प्रदान किया गया। और सोलह विद्वान मुनिराजों का एक मंत्रि-मंडल बनाया गया जिसमें श्रद्धेय गुरुदेव को साहित्य शिक्षणमंत्री पद दिया गया। आपश्री ने विलक्षण प्रतिभा, सूझबूझ, संगठन-शक्ति, और विचार गांभीर्य से सम्मेलन की सफलता हेतु अथक परिश्रम किया, जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

उसके पश्चात् सोजत मंत्री-मंडल की बैठक भीनासर सम्मेलन (१९५५), अजमेर शिखर सम्मेलन (१९६४) और सांडेराव राजस्थान प्रान्तीय सम्मेलन (१९७१) में आपश्री ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। श्रमण संघ अखण्ड बना रहे इस हेतु आपका अथक प्रयास रहा। और उसके लिए आपश्री ने लंबे-लंबे विहार भी किये और जी-जान से प्रयास भी किये। आपश्री चाहते हैं कि श्रमणसंघ आचार-विचार दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट हो, श्रमणों की शोभा शास्त्रीय मर्यादाओं का पालन करने में है। मर्यादाओं का अतिक्रमण उचित नहीं है।

स्थानकवासी समाज में ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण जैन समाज में आपश्री एकता देखना चाहते हैं। बेंगलोर के सन् १९७७ भारत जैन महामंडल के लघु अधिवेशन में प्रवचन करते हुए आपने कहा कि, फूट ने हमारा कितना पतन किया है। सम्प्रदाय रहे किन्तु सम्प्रदायवाद न रहे। एक परिवार के रहने के लिए मकान में पृथक्-पृथक् कमरे होते हैं जहाँ वह स्वतन्त्र रूप से रह सकता है। किन्तु मकान में ऐसा एक हॉल होता है जहाँ सभी घर के सदस्य बैठकर वार्तालाप व चिन्तन कर सकते हैं। स्थानकवासी, मंदिरमार्गी, तेरापन्थी व दिगम्बर परम्पराएँ भले ही रहें किन्तु एक ऐसा मंच होना चाहिए जहाँ बैठकर अपने हृदय की बात कह सकें और जैन धर्म के विकास के लिए प्रयत्न कर सकें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्प्रदाय उतनी बुरी नहीं जितना सम्प्रदायवाद बुरा है। सम्प्रदायवाद के काले चश्मे ने हमारे को सत्य-तथ्य को पहचानने नहीं दिया। इसलिए सम्प्रदायवाद समाप्त कर शुद्ध जैनत्व को हम अपनायें।

आपश्री एक ओर समीचीन नवीन विचारों को ग्रहण करने के पक्षपाती हैं, दूसरी ओर आपको पुराने विचारों से प्यार है। नवीनता और प्राचीनता ये दोनों प्रगति के पैर हैं। एक उठा हुआ है और दूसरा टिका हुआ है। आप दोनों पैर आकाश में उठाकर उड़ना भी नहीं चाहते और न दोनों पैर पृथ्वी पर टिकाकर स्थिर रहना चाहते। वे निरन्तर और निर्बाध प्रगति करना चाहते हैं। उसका क्रम यही है कुछ गतिशील हो, कुछ स्थिर हो। गति पर स्थिति का और स्थिति पर गति का प्रभाव गिरता रहे। कुछ लोग नयी बात से कतराते हैं और पुरानी बात से चिपटे रहते हैं। उनके अन्तर्मानस में पुराने के प्रति विश्वास और नये के प्रति अविश्वास होता है। किन्तु आप प्राचीनता की भूमि पर अवस्थित होकर नवीनता का स्वागत करने में संकोच नहीं करते। वस्तुतः आप नवीनता और प्राचीनता के बीच में पुल हैं, जो दोनों तटों को मिलाता है। आपश्री में हठवादिता नहीं है किन्तु गहन-चिन्तनशीलता और दूसरे व्यक्तियों और सम्प्रदायों के प्रति सहनशीलता है। आपका जीवन मूर्च्छित और परास्त नहीं किन्तु उसमें आस्था का अमर आलोक है और सामर्थ्य का मधुर संगीत है।

श्री पुष्कर-वाणी

तोता जैसा सुन्दर और मानव-वाणी बोलने में समर्थ पक्षी भी भ्रम और दाने के लालच के वशबंधन में फँस जाता है।

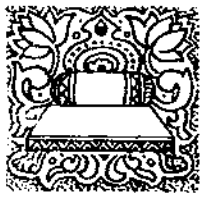
कहते हैं कि पारधी जब तोते को पकड़ना चाहता है तो खुले स्थान पर दाने बिखेर देता है, एक डंडे पर नाली चढ़ा देता है और नीचे पानी की थाली भर कर रख देता है। तोता दाने के लालच में उस नाली पर बैठता है, और बैठते ही देह भार के कारण नाली उसको उल्टा कर देती है। तोता जब नीचे देखता है तो उसे गहरा पानी दिखाई देता है, वह उल्टा लटका उड़ नहीं सकता और समझता है कि हाथ छोड़ूंगा तो पानी में डूब मरूँगा। इसी भ्रांति में संभ्रमित होता है, कि तब तक छुपा पारधी (शिकारी) उसे पकड़ लेता है। संसार में ऐसे शिकारी पद-पद पर प्रलोभन का दाना बिखेरे छुपे खड़े हैं मानव को भ्रमित कर वे अपने जाल में फँसा लेते हैं।

× × × ×

कहा जाता है कि बत्तख सदा पानी में रहता है, किन्तु कभी पानी में डूबता नहीं। पानी का प्रवाह चाहे जितना तेज हो जाये, वह स्वभावतः सदा उसके ऊपर-ऊपर ही तैरता रहता है।

जीवन में ऐसी निस्पृहता सीखनी है। धन, वैभव, सत्ता और विषयों के जल में रहने वाले मानव! कभी उनमें डूबो मत, सत्ता आदि सुखों के साधन चाहे जितने बढ़ें, तुम बत्तख की भाँति सदा उन पर तैरते ही रहो, डूबो मत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



कुछ विशिष्ट सम्पर्क एवं विचार चर्चाएँ

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का सम्पर्क जितना जन-साधारण से है, उतना ही विशिष्ट व्यक्तियों से भी है। सन्त होने के नाते धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दलबन्दी से आप दूर हैं, किन्तु आपका परिचय प्रायः उन सभी व्यक्तियों से है, जो देश के प्रमुख चिन्तक हैं, विचारक हैं, साहित्य-संस्कृति और धर्म के प्रति आस्थावान् हैं। आप चिन्तन के आदान-प्रदान में विश्वास करते हैं। और अनुकूल या प्रतिकूल दोनों ही बातों को सुनने के अभ्यस्त हैं। यदि किसी के कथन में कुछ सार-तत्त्व रहा हुआ है तो उसे ग्रहण करने में आप संकोच नहीं करते।

यह सत्य है, आपश्री की स्थानकवासी संस्कृति के प्रति प्रबल आस्था है, उसे आप महान क्रान्तिकारी विशुद्ध आध्यात्मिक विचारधारा और आचार का प्रतीक मानते हैं, तथापि भ्रान्त धारणाओं और रूढ़िवाद से आप सर्वथा दूर हैं। आपका मानस उदार है। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय कार्य करने वाले जिज्ञासुगण विचारक कार्यकर्ता आपश्री के निकट सम्पर्क में आये हैं। आपश्री भी उनसे आत्मीयता के साथ मिले हैं और आपश्री के स्नेह सौजन्यतापूर्ण सद्व्यवहार से वे प्रभावित हुए हैं। यहाँ पर कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों के सम्पर्क के कुछ संस्मरण प्रस्तुत हैं—

गुरुदेव श्री और राष्ट्रपति :

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन के प्रति उनमें अपूर्व निष्ठा थी। उनमें गंभीर विद्वत्ता थी और सर्वोच्च पद पर आसीन होने पर भी उनमें नम्रता दर्शनीय थी। आपश्री से वे देहली में सम्पर्क में आये और अनेक विषयों पर वार्तालाप हुआ। आपश्री ने बताया—भारतीय जनता के अपूर्व धैर्य, लगन और कर्तव्यपरायणता के कारण देश सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हुआ है और उस स्वतन्त्रता का संपूर्ण श्रेय कांग्रेस को है। देश को स्वराज्य मिल गया है। उसे सुराज्य बनाना है। और उसके लिए आवश्यकता है पवित्र चरित्र की। एक दिन भारत अपनी चारित्रिक गरिमा के कारण विश्वगुरु जैसे गौरवमय पद पर अलंकृत था, किन्तु आज हमारी स्थिति अत्यधिक दयनीय है। जब तक नैतिक स्तर न उठेगा वहाँ तक देश की सही प्रगति नहीं हो सकती। नैतिकता के अभाव में कहीं जनतन्त्र जमतन्त्र न बन जाये यही चिन्ता है अतः नैतिक दृष्टि से देश को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। साथ ही प्राचीन साहित्य और संस्कृति की ओर भी आपश्री ने उनका ध्यान आकर्षित किया और जैनाचार्यों की विविध भाषाओं में की गयी साहित्य सेवा का परिचय दिया। जैनसाहित्य किसी सम्प्रदाय विशेष की नहीं, मानव मात्र की परम उपलब्धि है। उस साहित्य का अधिक से अधिक प्रचार हो यह अपेक्षित है। गुरुदेव श्री के मूल्यवान सन्देश से राजेन्द्र बाबू बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—मेरा भी जन्म उसी पावन-भूमि में हुआ है जहाँ पर भगवान महावीर का हुआ था और आशीर्वाद प्राप्त कर प्रस्थान किया।

गुरुदेव श्री और प्रधानमंत्री श्री नेहरू :

४ दिसम्बर, सन् १९५४ को श्रद्धेय गुरुदेव श्री का भारत के प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू से दिल्ली में विचार-विमर्श हुआ। वार्तालाप का प्रारंभ करते हुए सद्गुरुदेव ने कहा—भगवान महावीर विश्व की महान विभूति थी। उनका आचार उत्कृष्ट था, विचार निर्मल था; उन्होंने साधना कर अपने जीवन को निखारा था। भगवान महावीर ने आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त जैसे दिव्य सिद्धान्त प्रदान किये। किन्तु आज हम उनका जन्म या स्मृति दिवस भी मनाने के लिए तैयार नहीं है। शासन को चाहिए ऐसे महापुरुष की स्मृति में एक दिन अवकाश रखा जाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेहरूजी—आपका सुझाव उपयुक्त है। मैं इस सम्बन्ध में चिन्तन करूँगा। मैं स्वयं भगवान महावीर को महापुरुष मानता हूँ। और यह भी मानता हूँ कि उनकी अहिंसा का प्रभाव राष्ट्रपिता पर भी था।

उसके पश्चात् श्रमण संस्कृति की विभिन्न धाराओं के सम्बन्ध में और जैन संस्कृति और कला पर चर्चा चली तब गुरुदेव श्री ने ज्योतिर्धर आचार्य जीतमल जी महाराज के द्वारा बनायी गयी कलाकृतियाँ बतायीं। एक चने की दाल जितने स्थान पर चित्रित एक सौ आठ हाथी, सूर्यपल्ली, और दोनों ओर कटिंग किये हुए अक्षरों को देखकर नेहरूजी बहुत ही प्रभावित हुए। पचपन मिनिट तक बहुत ही उल्लास के क्षणों में वार्तालाप होता रहा।

उस समय श्रीमती इन्दिरा गाँधी, उनके दोनों पुत्र राजीव और संजय गुरुदेव श्री के सम्पर्क में आये। वे भी कलाकृतियों को देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

गुरुदेव श्री और मोरारजी भाई देसाई

दिनांक १५-९-१९७४ को भारत के वर्तमान प्रधान मंत्री श्री मोरारजी भाई देसाई से आपश्री की विचार-चर्चाएँ हुईं। उस दिन मोरारजी भाई मेरे द्वारा लिखित "भगवान महावीर : एक अनुशीलन" ग्रन्थ का अहमदाबाद में विमोचन करने के लिए उपस्थित हुए थे। गुरुदेव श्री ने अपने प्रवचन में कहा—आज चारों ओर अशांति का वातावरण है। आज का मानव भौतिकवादी है। अध्यात्मवाद को विस्मृत होकर वह भौतिकवाद की ओर द्रुतगति से दौड़ रहा है। वह त्याग से भोग की ओर, अहिंसा से हिंसा की ओर, अपरिग्रह से परिग्रह की ओर द्रुतगति से कदम बढ़ा रहा है। वस्तुतः मानव का प्रस्तुत अभियान आरोहण की ओर नहीं, अवरोहण की ओर है। उत्थान और विकास की ओर नहीं, किन्तु पतन और विनाश की ओर है। भौतिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नति करने पर भी मानव का हृदय व्यथित है। भगवान महावीर ने अन्तर्दर्शन की प्रेरणा दी। आज मानव अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के सिद्धान्त को विस्मृत हो चुका है। भारत के तीन पर्यटक अमेरिका पहुँचे। और न्यूयार्क के एक होटल में ठहरे। उन्हें रहने के लिए होटल की बावनवें मंजिल पर कमरा मिला। वे दिन भर शहर के दर्शनीय स्थानों को देखते रहे। रात्रि को सिनेमा के दृश्य देखने के पश्चात् एक बजे वे होटल में पहुँचे। द्वारपाल ने कहा—इस समय बिजली चली गयी है जिस कारण लिफ्ट बन्द पड़ी है। पता नहीं, बिजली प्रातःकाल तक आये या ना आये। उन्होंने सोचा रात भर कहाँ बैठे रहेंगे। इससे तो अच्छा है सीढ़ियों से ही ऊपर पहुँच जायें। सीढ़ियाँ चढ़ने में गरमी हो जायगी। बड़े मोटे ओवर कोट पहने हुए हैं। उन्हें द्वारपाल को सम्हला देवें। और यों ही सीढ़ियाँ चढ़ें। ओवर कोट देकर वे सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। उनमें से एक सज्जन ने कहा बावन मंजिल चढ़ना कोई हंसी-मजाक का खेल नहीं है। अतः एक व्यक्ति कहानी कहता चला जाय जिससे चढ़ने में थकान का अनुभव न होगा। प्रथम व्यक्ति ने कहानी प्रारंभ की। उसकी कहानी बहुत ही बढ़िया और लम्बी थी जिससे इकतीस मंजिल पार हो गये। दूसरे व्यक्ति ने कहानी प्रारंभ की, जिससे बीस मंजील पार हो गये। अब कहानी कहने की बारी तीसरे व्यक्ति की थी। उसके साथियों ने कहा—भाई अब तो कहानी प्रारंभ कर। उसने कहा—मेरी कहानी बहुत छोटी है। सिर्फ एक मिनिट की भी नही है। एक सीढ़ी अवशेष रहने पर उसने बताया—कि कमरे की चाबी ओवर कोट में ही नीचे रह गयी है। बावन मंजिल चढ़ने पर भी चाबी नीचे रह जाने से उनकी सारी मेहनत निरर्थक हो गयी। और हताश और निराश होकर उन्हें पुनः नीचे लौटना पड़ा। आज का मानव भी इसी तरह प्रगति कर रहा है। किन्तु शांति की चाबी नीचे रह गयी है जिससे सही प्रगति नहीं हो पा रही है। भगवान महावीर ने उसी चाबी का रहस्य बताया है।' उसके पश्चात् मोरारजी भाई से अन्य विषयों पर भी चर्चाएँ हुईं। उन्होंने ग्रन्थ की महत्ता पर और भगवान महावीर की जीवनी और सिद्धान्त पर लगभग पौन घण्टे तक भाषण दिया और गुरुदेव श्री से वार्तालाप कर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए।

गुरुदेव और गृहमन्त्री पन्त जी

सोजत सन्त सम्मेलन के सुनहले अवसर पर तत्कालीन केन्द्रीय गृहमंत्री पं० गोविन्द वल्लभ पन्त के साथ गुरुदेवश्री की विचार-चर्चाएँ हुईं। आपने कहा—जैन संस्कृति का मूल आधार है अहिंसा और अनेकान्तवाद। जैसे वेदान्त सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु अद्वैतवाद और मायावाद है, सांख्य दर्शन का मूल आधार प्रकृति और पुरुष का विवेकवाद है, बौद्धदर्शन का केन्द्र विज्ञानवाद और शून्यवाद है वैसे जैन संस्कृति और दर्शन का मूल आधार अहिंसावाद और अनेकान्तवाद हैं। अन्य धर्मों ने भी अहिंसा के सम्बन्ध में चिन्तन किया किन्तु वे जैनदर्शन जितना सूक्ष्म विवेचन और गहन विश्लेषण नहीं कर सके। जैनदर्शन के अनुसार केवल धार्मिक क्रियाओं में ही अहिंसा का विधान नहीं है अपितु जीवन के दैनिक व्यवहारों में भी अहिंसा का सुन्दर विधान है। राष्ट्रपिता गान्धीजी ने राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग करके विश्व को नयी दिशा दी। आज इस अणुयुग में अणुशक्ति की भयंकरता से सन्त्रस्त समग्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव परिवार ही नहीं किन्तु समग्र विश्व की सुरक्षा के लिए अहिंसा की जितनी आवश्यकता है उतनी पहले कभी नहीं रही। अहिंसा मानव जीवन के लिए मंगलमय वरदान है। अहिंसा वाद-विवाद का नहीं, आचरण का सिद्धान्त है, तर्क का नहीं, अपितु व्यवहार का सिद्धान्त है। विचारात्मक या बौद्धिक अहिंसा ही अनेकान्त है। और अनेकान्त दृष्टि को जिस भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाता है वह स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद एक दृष्टि है और स्याद्वाद उस दृष्टि को अभिव्यक्त करने की एक पद्धति है। यों कहा जा सकता है विचारों का अनाग्रह ही अनेकान्तवाद है। जब अनेकान्त वाणी का रूप ग्रहण करता है तब स्याद्वाद बनता है और जब आचार का रूप लेता है तो अहिंसा बनती है। अहिंसा और अनेकान्त एक दूसरे के पूरक हैं। अहिंसा और अनेकान्त के सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने अत्यन्त विस्तार के साथ लिखा है। किन्तु आज आवश्यकता है, उसे जीवन में अपनाने की। अहिंसा और अनेकान्तवाद के केवल गीत गाने से लाभ नहीं। किन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका उपयोग करने में ही लाभ है। अहिंसा और अनेकान्त में वह अपूर्व शक्ति है जो हमारे जीवन के कालुष्य और मालिन्य को दूर कर जीवन को चमका सकती है।

इस प्रकार गुरुदेव श्री के मौलिक विचारों को सुनकर पन्त जी प्रभावित हुए और कहा—जैनदर्शन की अहिंसा और अनेकान्त भारतीय दर्शन की अपूर्व देन है।

गुरुदेव और राजर्षी टण्डन जी

श्रद्धेय गुरुवर्य सन् १९५४ में देहली में वर्षावास हेतु विराज रहे थे। उस समय राजर्षी टण्डन गुरुदेव श्री के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् धर्म और दर्शन पर विचार-चर्चा प्रारम्भ हुई। गुरुदेव श्री ने बताया—धर्म का मानव जीवन में व्यापक और महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म का सम्बन्ध आचार से है और दर्शन का सम्बन्ध विचार से। भारतीय संस्कृति में आचार और विचार को एक माना है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। आचार-रहित विचार विकार है और विचार रहित आचार अनाचार है। पाश्चात्य विचारकों के अभिमतानुसार रिलिजन और फिलासफी ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु भारतीय चिन्तन की दृष्टि से धर्म और दर्शन दोनों अन्योन्याश्रित हैं। ये दो तट हैं जिनके मध्य मानव जीवन की सरिता प्रवाहित होती रहती है। किन्तु दोनों के आधार भिन्न-भिन्न हैं। धर्म श्रद्धा पर आधारित है तो दर्शन तर्क पर। किन्तु तर्क धर्म के मार्ग में और श्रद्धा दर्शन के मार्ग में कभी भी व्यवधान पैदा नही करती।

गुरुदेव श्री ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—वेदान्त में जो पूर्वमीमांसा है, वह धर्म है और उत्तरमीमांसा दर्शन है। योग आचार है तो सांख्य विचार है। बौद्ध-परम्परा में हीनयान दर्शन है तो महायान धर्म है। उसी तरह जैन धर्म में भी अहिंसा धर्म है और अनेकान्त दर्शन है। विचार में आचार और आचार में विचार भारतीय दर्शन का यही मौलिक चिन्तन है।

आपश्री ने वार्तालाप के प्रसंग में ही उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण हमारे यहाँ भी धर्म और दर्शन को प्रतिद्वन्द्वी के रूप में माना जा रहा है। यह चिन्तन भारतीय दर्शनों के अनुकूल नहीं है। उससे लाभ नहीं अपितु हानि ही अधिक है। अतः इस दृष्टि से विचारों के परिष्कार करने की आवश्यकता है।

गुरुदेव और श्री सुखाड़िया जी

सद्गुरुदेव से श्री मोहनलाल जी सुखाड़िया जो राजस्थान के तत्कालीन मुख्य मन्त्री थे, वे अनेकों बार मिले। सर्वप्रथम वे सन् १९६४ में अजमेर शिखर सम्मेलन के अवसर पर मिले, दूसरी बार सन् १९६६ में उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव में मिले। और लम्बे समय तक आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों पर चर्चा की। उसके पश्चात् दिनांक ७-१०-१९७६ को रायचूर (कर्नाटक) में गुरुदेव की ६७वीं जन्मजयन्ती के अवसर पर उपस्थित हुए थे। उस समय वे तमिलनाडु के राज्यपाल थे। प्रारम्भिक वार्तालाप के पश्चात् गुरुदेव श्री ने भारतीय संस्कृति पर चिन्तन करते हुए कहा—भारतीय संस्कृति वह है जिसमें आचार की पवित्रता, विचार की गम्भीरता और कला की सुन्दरता है। संस्कृति में धर्म भी है, दर्शन भी है और कला भी है। संस्कृति बहती हुई धारा है जो निरन्तर विकास की ओर बढ़ती है। संस्कृति विचार, आदर्श भावना एवं संस्कार प्रवाह का वह सुगठित सुस्थिर संस्थान है जो मानव को अपने पूर्वजों से सहज अधिगत होता है। संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण चित्रण है, जीवन जीने की कला और पद्धति है। संस्कृति अनन्त आकाश में नहीं, किन्तु धरती पर रहती है। वह कमनीय कल्पना में नहीं, जीवन का वास्तविक सत्य है, प्राणभूत तत्व है। मानवीय जीवों के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। विविध प्रकार की धर्मसाधना, कलात्मक प्रयत्न, योगमूलक अनुभूति और तर्कमूलक कल्पना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति से उस विराट सत्य को ग्रहण करना संस्कृति है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है विश्वास, विचार और आचार का समन्वय, अथवा स्नेह, सहानुभूति, सहयोग, सहकार और सहअस्तित्व की जीती जागती महिमा, जिसमें राम की निर्मल मर्यादा, कृष्ण का ओजस्वी कर्मयोग, महावीर की सर्वभूत क्षेमंकरी अहिंसा, बुद्ध की मधुर करुणा और महात्मा गान्धी की धर्म से अनुप्राणित राजनीति एवं सत्य का प्रयोग। इसलिए भारतीय संस्कृति के मूल सूत्रधार हैं राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गाँधी। अतः इस संस्कृति का लक्ष्य है सान्त से अनन्त की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना भेद से अभेद की ओर जाना, कीचड़ से कमल की ओर जाना और विरोध से विवेक की ओर जाना।

आज हम संस्कृति के नाम पर विकृति की ओर बढ़ रहे हैं। भाषावाद, प्रान्तवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद से देश की स्थिति दिन-प्रतिदिन विषम होती चली जा रही है। आवश्यकता है विषमता के स्थान पर समता की संस्थापना की जाय। जैन श्रमण भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर इसी का सन्देश देता है। प्रभृति अनेक विषयों पर गम्भीर विचार-चर्चाएँ लगभग डेढ़ घण्टे तक होती रहीं। वे गुरुदेव श्री के चिन्तनपूर्ण विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुए।

गुरुदेव और चन्दनमल बैद—

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का सन् १९७३ में अजमेर में वर्षावास था। वहाँ पर १३ सितम्बर को विश्व मैत्री दिवस का भव्य आयोजन था। उसमें राजस्थान के तत्कालीन शिक्षा एवं वित्त मंत्री चन्दनमलजी बैद विशेष रूप से उपस्थित हुए थे। विश्वमैत्री की पृष्ठभूमि पर चिन्तन करते हुए सद्गुरुदेव ने कहा—दर्शन सत्य ध्रुव है, त्रैकालिक है। मानव समाज की कुछ समस्यायें बनती हैं और मिटती हैं। किन्तु कुछ समस्याएँ मौलिक होती हैं। जो मौलिक समस्याएँ हैं उन्हीं से अन्य समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। दर्शन उन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। विश्व की सबसे बड़ी समस्या विषमता है। उसका मूल कारण है समत्व की दृष्टि का अविकास। भगवान महावीर ने आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व जो साम्य का स्वर मुखरित किया था वह वर्तमान में अत्यन्त मननीय है। सूत्रकृतांग में भगवान ने कहा कि प्रत्येक दार्शनिकों से मैं यह प्रश्न करता हूँ—कि तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय है। यदि तुम यह कहते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारे ही समान सभी भूतों को, सभी प्राणियों को, सभी जीवों को, दुःख अप्रिय है। जैसे तुम्हें कोई ताड़ना-तर्जना देता है तो तुम भयभीत होते हो, तुम्हें दुःख होता है। वैसे ही अन्य प्राणियों को भी संक्लेश होता है। अतः तुम्हें उन्हें परिताप देना नहीं चाहिए।

प्रस्तुत साम्य दर्शन के पीछे विराट् और उदात्त भावना रही हुई है जिससे समाज अधिक समृद्ध बनता है। अहिंसा का मानसिक, वाचिक और कायिक तथा सामाजिक साम्य साधना का व्यवस्थित रूप दिया है, वह बड़ा ही अद्भुत है, अनूठा है। बाह्य दृष्टि से भेद होने के बावजूद भी सभी जीवों का आन्तरिक जगत् एक सदृश है। जिसने एक आत्म-तत्त्व को जान लिया है उसने विश्व के सभी तत्त्वों को जान लिया है। "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ" "एकस्मिन् विज्ञाते सति सर्वं विज्ञातं भवति" का यही हार्द है। आज आवश्यकता है समत्व भाव के विकसित करने की। जैन धर्म ने अहिंसा और अनेकान्त दृष्टि से उसी भाव को विकसित करने का प्रयास किया है। यदि विश्व के चिन्तक इन महनीय सिद्धान्तों को अपना लें तो विश्व मैत्री होने में किंचित् मात्र भी विलम्ब नहीं हो सकता।

इसके पश्चात् गुरुदेव श्री ने उनसे धार्मिक शिक्षा, और राजस्थान में बढ़ते हुए मत्स्योद्योग, शराब आदि जो भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है उन पर नियन्त्रण आवश्यक है, इस बात पर बल दिया। जहाँ तक दुर्गुणों से न बचा जायगा वहाँ तक राष्ट्र समृद्धि के पथ पर नहीं बढ़ सकेगा। अन्त में उन्होंने गुरुदेव श्री के मौलिक विचारों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए प्रसन्नता के साथ विदा ली।

गुरुदेव श्री और डी. पी. यादव—

गुरुदेव श्री का सन् १९७१ में बम्बई कान्दावाड़ी में वर्षावास था। केन्द्रीय मन्त्री श्री डी. पी. यादव उपस्थित हुए। उस समय बिहार राज्य विषम दुर्भिक्ष से ग्रस्त था। पीड़ित बिहारी बन्धुओं के सहायतार्थ वे आये हुए थे। प्रवचन चल रहा था। गुरुदेव श्री ने भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा का विश्लेषण करते हुए कहा—भारतीय संस्कृति का मूल आधार है—दया, दान और दमन। प्राणियों के प्रति दया करो, मुक्त भाव से दान करो और अपने मन के विकल्पों का दमन करो। जब मानव को क्रूरता से शांति नहीं मिली, तब दया की स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई। जब मानव को संग्रह से शान्ति नहीं मिली तब दान की निर्मल भावना प्रस्फुटित हुई। जब भोग से मानव को चैन नहीं मिला तब इन्द्रिय-दमन आया। विकृत जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए दया, दान और दमन की आवश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरुदेव श्री के प्रभावपूर्ण प्रवचन से प्रभावित होकर साठ हजार से अधिक सम्पत्ति विपत्ति-ग्रस्तों को विपत्ति से मुक्त कराने के लिए प्रवचन में एकत्रित हो गयी।

प्रवचन के पश्चात् भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर गुरुदेव श्री से उनकी विचर चर्चा हुई।

गुरुदेव और सरदार गुरुमुख निहालसिंह

जुलाई १९७४ में पूज्य गुरुदेव श्री दिल्ली के चाँदनी चौक जैनस्थानक में विराज रहे थे। उस समय राजस्थान के भूतपूर्व राज्यपाल सरदार गुरुमुख निहालसिंह दर्शनार्थ प्रवचन सभा में उपस्थित रहे। गुरुदेव श्री ने अपने प्रवचन में अहिंसा का विश्लेषण करते हुए कहा—अहिंसा एक तीन वर्ण का छोटा-सा शब्द है। किन्तु यह विष्णु के तीन चरण से भी अधिक विराट व व्यापक है। मानव जाति ही नहीं किन्तु विश्व के सभी चराचर प्राणी इन तीन चरणों में समाये हुए हैं। जहाँ अहिंसा है वहाँ जीवन है, जहाँ अहिंसा का अभाव है वहाँ जीवन का अभाव है। अहिंसा का प्रादुर्भाव कब हुआ यह कहना कठिन है। जैनदर्शन की दृष्टि से प्राणी का अवतरण अनादि है। अतः अहिंसा को भी अनादि मानना चाहिए। अहिंसा एक विराट शक्ति है। मानव आदिकाल से जीवन के विविध पक्षों में उसके विविध प्रयोग करता रहा है। जिन परिस्थितियों में जिस तरह समाधान की आवश्यकता हुई वह समाधान अहिंसा ने दिया है।

यह सत्य है, विश्व के जितने भी धर्म-दर्शन और सम्प्रदाय हैं उन सभी में अहिंसा के आदर्श को एक स्वर से स्वीकार किया है। सभी धर्म के प्रवर्तकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से अहिंसा तत्त्व की विवेचना की। तथापि जैसा अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण और गहन विवेचन जैन साहित्य में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र नहीं। जैन संस्कृति की प्रत्येक क्रिया अहिंसामूलक है। विचार में, उच्चार में; और आचार में सर्वत्र अहिंसा की सुमधुर झंकार है। महावीर ने कहा—जैसे जीवन का आधार स्थल पृथ्वी है वैसे ही भूत और भविष्य के ज्ञानियों के जीवन दर्शन का आधार अहिंसा है। महात्मा गान्धी ने "तलवार का असूल" शीर्षक निबन्ध में लिखा था—अहिंसा धर्म केवल ऋषि और महात्माओं के लिए ही नहीं, वह तो आम मानव के लिए है। अहिंसा हम मानवों की प्रकृति का कानून है। जिन ऋषियों ने अहिंसा का नियम निकाला वे न्यूटन से ज्यादा प्रभावशाली थे और वेलिंगटन से बड़े योद्धा थे।

अहिंसा जीवन का मधुर संगीत है। जब यह संगीत जीवन में झंकृत होता है तो मानव का मन आनन्द-विभोर हो उठता है। अहिंसा दया का अक्षयकोश है। दया के अभाव में मानव, मानव न रहकर दानव बन जाता है। एक विचारक ने कहा है—दया के अभाव में मानव का जीवन प्रेत-सदृश है। सुप्रसिद्ध चिन्तक इंगरसोल ने लिखा है—जब दया का देवदूत दिल से दुतकार दिया जाता है और आँसुओं का फोवारा सूख जाता है तब मानव रेगिस्तान की रेत में रेंगते हुए साँप के समान बन जाता है। वस्तुतः अहिंसा एक महासरिता के समान है। जब वह साधक के जीवन में इठलाती और बल खाती हुई चलती है तब साधक का जीवन अत्यन्त रमणीय बन जाता है।

अहिंसा केवल निषेधात्मक नहीं, किन्तु विधेयात्मक है। नहीं मारना, यह अहिंसा का नकारात्मक पहलू है और मैत्री, करुणा, सेवा, दया, आदि उसका विधेयात्मक पहलू है।

प्रवचन में सद्गुरुदेव ने विविध धर्मों में अहिंसा के सम्बन्ध में जो चिन्तन किया गया है, उस पर भी प्रकाश डाला जिसे श्रवणकर सरदार गुरुमुख निहालसिंह जी अत्यन्त प्रभावित हुए। प्रवचन के पश्चात् अहिंसा विषय पर ही विचार-चर्चाएँ हुईं।

गुरुदेव और भाऊ साहब वर्तक

बम्बई के सन्निकट विरार (महाराष्ट्र) में पूज्य गुरुदेव श्री विराज रहे थे। उस समय महाराष्ट्र के कृषि मन्त्री भाऊ साहब वर्तक पूज्य गुरुदेव श्री के निकट सम्पर्क में आये। गुरुदेव श्री ने अपरिग्रह व समाजवाद के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा—परिग्रह आत्मा के लिए सबसे बड़ा बन्धन है। परिग्रह के जाल में आबद्ध आत्मा विविध हिंसामय प्रवृत्तियाँ करता है। परिग्रह का अर्थ मूर्च्छाभाव है। पदार्थ के प्रति हृदय की आसक्ति व ममत्व की भावना ही परिग्रह है। परिग्रह को सभी धर्मों ने आत्म-पतन का मूल कारण माना है। परिग्रह की कड़ी आलोचना करते हुए बाइबल ने कहा—सूई की नोंक से ऊँट भले ही निकल जाय पर धनवान कभी स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता। क्योंकि परिग्रह आसक्ति का मूल कारण है। भगवान महावीर ने रूपक की भाषा में बताया, परिग्रह रूपी वृक्ष के स्कन्ध, तने हैं लोभ, क्लेश और कषाय। चिन्तारूपी सैकड़ों सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ हैं। जैनदर्शन की दृष्टि से भी महा आरम्भी और महापरिग्रही व्यक्ति नरक गति का अधिकारी है। महर्षी व्यास ने कहा—उदर पालन के लिए जो आवश्यक है वह व्यक्ति का अपना है, इससे अधिक जो व्यक्ति संग्रह करके रखता है वह चोर है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दण्ड का पात्र है। आज व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में जो अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है उसके मूल में संग्रह वृत्ति है। संग्रह वृत्ति अनर्थों की विषबेल है, जो निरन्तर बढ़ती रहती है। और उसके दिखायी देने में बहुत ही सुन्दर और रमणीय फल भी लगते हैं, किन्तु उनका परिणाम मारणांतिक है। रशिया के महान् क्रांतिकारी लेनिन ने संग्रहवृत्ति को मानव समाज की पीठ का जहरीला फोड़ा कहा है। उसका आपरेशन होने पर ही काला बाजार और अप्रामाणिकता का खून और विस्तृत होने वाली शोषण वृत्ति की दुर्गन्ध नष्ट हो सकती है। आज धनिक और गरीब के बीच आर्थिक वैषम्य के कारण एक गहरी खाई परिलक्षित हो रही है। वर्तमान में फैली हुई विषमता का मार्मिक चित्रण करते हुए कविवर दिनकर ने कहा है—

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र,
भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर,
जाड़े की रात बिताते हैं॥
युवती की लज्जा वसन बेच,
जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक तब तेल फुलेलों पर,
पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।

अतः आज आवश्यकता है 'सादा जीवन और ऊँचे विचार' की। सम्राट चन्द्रगुप्त का महामन्त्री चाणक्य का जीवन कितना सीधा-सादा और अल्पपरिग्रही था। जब वे आश्रम में थे तब भी उनके पास कुछ नहीं था और जब महामन्त्री पद पर आसीन हुए तब भी वही सादगी थी। वृक्ष के नीचे बैठकर ही भारत के शासन-सूत्र का संचालन करते थे। वियतनाम के राष्ट्रपति हो-चि-मिन जब राष्ट्रपति चुने गये तब उन्होंने कहा—मुझे राष्ट्रपति इसीलिए चुना गया है कि मेरे पास ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसे मैं अपनी कह सकूँ। न मेरा अपना मकान है, न परिवार है, न भविष्य की चिन्ता है। राष्ट्रपति हो-चि-मिन के रहने का मकान भी कच्चा और बाँस का बना हुआ था। और अन्य आवश्यक साधन भी अत्यन्त सीमित थे। आज हमारे देश के अधिकृत अधिकारी व्यक्तियों को चाहिए कि उनसे प्रेरणा प्राप्त कर आवश्यकताएँ कम कर एक आदर्श उपस्थित करें।

गुरुदेव और वी० एस० पागे

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य सन् १९७५ में पूना वर्षावास में विराज रहे थे। उस समय 'जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण' ग्रन्थ का विमोचन करने हेतु महाराष्ट्र विधान सभा के अध्यक्ष वी. एस. पागे उपस्थित हुए। श्रद्धेय गुरुदेव ने भारतीय दर्शन पर चिन्तन करते हुए कहा—भारतवर्ष दर्शनों की जन्मस्थली है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत के सभी दर्शनों का मुख्य ध्येय आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन है। चेतन और परमचेतन के स्वरूप को जितनी तल्लीनता के साथ भारतीय दर्शन ने समझने का प्रयास किया है उतना विश्व के अन्य किसी दर्शन ने नहीं। यह सत्य है कि यूनान के दार्शनिकों ने भी आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, किन्तु उनकी प्रतिपादन शैली अत्यधिक सुन्दर होने पर भी उनमें चेतन और परम चेतन के स्वरूप का विश्लेषण जितना गम्भीर और मौलिक होना चाहिए था उतना नहीं हो पाया। यूरोप का दर्शन आत्मा का दर्शन न होकर प्रकृति का दर्शन है। भारतीय दर्शन में प्रकृति के स्वरूप पर भी चिन्तन किया गया है किन्तु वह चिन्तन चैतन्य के स्वरूप के प्रतिपादन हेतु है। भारतीय दर्शन का अधिक आकर्षण आत्मा की ओर होने पर भी उसने जीवन और जगत् की उपेक्षा नहीं की। भारतीय दर्शन, जीवन और अनुभव की एक सुन्दर समीक्षा है। विचार और तर्क के आधार पर दर्शन, सत्ता और परम सत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयास करता है। और उसके पश्चात् उसकी यथार्थता पर निष्ठा रखने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस तरह भारतीय दर्शन में तर्क और श्रद्धा का मधुर समन्वय है। पश्चिमीय दर्शन स्वतन्त्र चिन्तन पर आधृत है और वह आप्त-प्रमाण की पूर्ण उपेक्षा करता है, किन्तु भारतीय दर्शन में आध्यात्मिक-चिन्तन की प्रेरणा है। भारतीय दर्शन में आध्यात्मिक अन्वेषणा है। किन्तु बौद्धिक विलास नहीं। दर्शन का अर्थ है सत्य का साक्षात्कार करना। फिर भले ही वह सत्ता चेतन की हो या अचेतन की हो। भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैन दर्शन अन्य दर्शनों की भाँति तर्कप्रधान है, तथापि उसमें श्रद्धा और मेधा दोनों का समानरूप से विकास हुआ है। जैन-परम्परा जहाँ एक ओर धर्म है, दूसरी ओर दर्शन है। हम यह अच्छी तरह से जानते हैं कि दर्शन तर्क और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेतुवाद पर आधारित है, तो धर्म का मुख्य आधार श्रद्धा है। श्रद्धा जिस बात को सर्वथा सत्य मानती है, तर्क उस बात को अस्वीकार करता है। जैन दर्शन में जितना महत्त्व विश्वास को मिला है उतना ही तर्क को भी मिला है। विश्वास की दृष्टि से देखने पर जैन-परम्परा धर्म है, और तर्क की अपेक्षा देखने पर दर्शन है। इस तरह जैनदर्शन के दो विभाग हैं---व्यवहारपक्ष और विचारपक्ष। व्यवहार पक्ष का आधार अहिंसा है और विचार पक्ष का आधार अनेकान्त है। अहिंसा के आधार पर ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का विकास हुआ है। और अनेकान्तवाद के आधार पर नयवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी का विकास हुआ है। जैन-परम्परा का अनेकान्तवाद विभिन्न दर्शनों में व विभिन्न नामों से मिलता है। बुद्ध ने उसे 'विभज्यवाद' की संज्ञा प्रदान की है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र में अथवा वेदान्त में इसे "समन्वय" कहा है। मीमांसा, सांख्य, वैशेषिक और न्यायदर्शन में भी भावना रूप से उसकी उपलब्धि होती है। किन्तु अनेकान्तवाद का जितना विकास जैन-परम्परा में हुआ है उतना विकास अन्य दूसरी परम्परा में नहीं हुआ।

जैन दर्शन में अहिंसा और अनेकान्तवाद के समान ही कर्मवाद पर भी विस्तार से चिन्तन किया गया है। कर्म, कर्म का फल और करने वाला इन तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैनदृष्टि से जो कर्म का कर्ता है वही कर्म फल का भोक्ता भी है। जो जीव जिस प्रकार कर्म करता है उसके अनुसार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के फल वह प्राप्त करता है। जिस प्रकार कर्म का निरूपण किया गया है उसी प्रकार कर्म और कर्म बन्धन से मुक्त होने को मोक्ष कहा गया है। जैन दर्शन में मोक्ष, मुक्ति और निर्वाण इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुक्ति आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था है। मोक्ष अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर रहता है, उसमें अन्य किसी प्रकार का विजातीय तत्त्व नहीं होता।

इस प्रकार श्रद्धेय गुरुदेव श्री के गंभीर विवेचन को सुनकर पागे जी बहुत ही आकर्षित हुए और उन्होंने कहा कि जैनदर्शन वस्तुतः बहुत ही अनूठा दर्शन है। विश्व का अन्य दर्शन इसकी समकक्षता नहीं कर सकता।

गुरुदेव और श्रममंत्री सी. एन. पाटील

दिनांक ७-१०-१९७६ को रायचूर में श्री कर्नाटक के श्रममंत्री सी. एन. पाटील उपस्थित हुए। और औपचारिक वार्तालाप करते हुए गुरुदेव श्री ने कहा कि कर्नाटक जैन संस्कृति का अतीत काल से ही प्रमुख केन्द्र रहा है। इतिहास की दृष्टि से श्रुतकेवली, भद्रबाहु स्वामी उत्तर भारत से इधर आये थे, ऐसा माना जाता है। जैन श्रमण भाषा की दृष्टि से बहुत ही उदार रहे। उन्होंने जिस तरह से अन्य भाषाओं में साहित्य का सृजन किया उसी तरह से कन्नड़ भाषा में भी साहित्य का निर्माण कर उसे समृद्ध बनाया। यहाँ तक की कन्नड़ साहित्य में से जैन साहित्य को निकाल दिया जाय तो प्राचीन कन्नड़ साहित्य प्राण रहित हो जायेगा। नृपतुंग, आदि पंप, पोन्न, रन्न, चामुण्डराय, नागचंद्र, कुमुदेंदु, रत्नाकरवर्णी आदि शताधिक जैन लेखक हुए हैं जिन्होंने साहित्य की प्रत्येक विधा में जमकर लिखा है। अभी बहुत-सा साहित्य अप्रकाशित पड़ा है। शासन का कर्तव्य है कि ऐसे साहित्य को प्रकाश में लाकर जैन धर्म और संस्कृति के सुनहरे इतिहास को जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया जाय।

श्री सी० एन० पाटील ने कहा—आपश्री ने मेरा ध्यान इस ओर आकर्षित किया, तदर्थ मैं आभारी हूँ और ऐसा प्रयास करूँगा जिससे जैन कन्नड़ साहित्य का अधिक से अधिक प्रचार और प्रसार हो।

गुरुदेव और डा० श्रीमाली जी

भारत के भूतपूर्व केन्द्रीय शिक्षामन्त्री कालूराम श्रीमाली मैसूर में सद्गुरुवर्य के साथ विचार-चर्चा करने के लिए दो-तीन बार उपस्थित हुए। गुरुदेव श्री तथा उनके शिष्यों द्वारा विरचित साहित्य को देखकर वे अत्यन्त प्रमुदित हुए। उन्होंने कहा—मुझे परम प्रसन्नता है कि शोध प्रधान तुलनात्मक दृष्टि से जो साहित्य निर्माण हो रहा है उसकी आज अत्यधिक आवश्यकता है। "जैन कथाएँ" देखकर उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया कि जैन साहित्य में कथा साहित्य का इतना भण्डार है। इसे हिन्दी साहित्य में लाने का आपने जो प्रयास किया है, वह प्रशंसनीय है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने कथाओं के माध्यम से जीवन के अद्भुत तत्त्व जिस सरल और सुगमता से प्रस्तुत किये हैं उसे जन-मानस सहज रूप से ग्रहण कर लेता है।

ध्यान और योग तथा जप-साधना की चर्चा चलने पर गुरुदेव ने कहा—ध्यानशतक में आचार्य जिनभद्र ने स्थिर चेतना को ध्यान कहा है और चल-चेतना को चित्त कहा है।

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं —ध्यानशतक २।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य अकलंक ने ध्यान की परिभाषा करते हुए लिखा है—जैसे बिना हवा वाले प्रदेश में प्रज्वलित प्रदीप-शिखा प्रकम्पित नहीं होती, वैसे ही निराकुल प्रदेश में अपने विशिष्ट वीर्य से निरुद्ध अन्तःकरण की वृत्ति एक आलम्बन पर अवस्थित हो जाती है। उनके अभिमतानुसार व्यग्र चेतना ज्ञान है और वही स्थिर होने पर ध्यान है।

आचार्य रामसेन ने कहा—एक आलम्बन पर अन्तःकरण की वृत्ति का निरोध ध्यान है। इसी तरह चिन्तन रहित स्व-संवेदन ही ध्यान है।

जैनाचार्यों ने ध्यान को अभावात्मक नहीं माना है। उसके लिए किसी न किसी एक पर्याय का आलम्बन आवश्यक है। स्व-संवेदन ध्यान, निरालम्बन ध्यान है। उसमें किसी श्रुत के पर्याय का आलम्बन नहीं होता इस ध्यान में ध्याता और ध्येय भिन्न नहीं होते। इसमें शुद्ध चेतना का उपयोग होता है, अन्य किसी ध्येय का ध्यान नहीं होता। दूसरा ध्यान सालम्बन ध्यान है। प्रारम्भ में साधक को सालम्बन ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। उसके द्वारा एकाग्रता पुष्ट होती है। राग-द्वेष के भाव मन्द होते हैं। उसके पश्चात् निरालम्बन ध्यान अधिक उपयुक्त है।

ध्यान चित्त की निर्विकल्प दशा है। वहाँ पर किसी भी विषय में मन का लगाव नहीं रहता। एतदर्थ ही आचार्यों ने कहा—"**ध्यानं निर्विषयं मनः।**" निर्विषय मन ही ध्यान है। प्रस्तुत ध्यानावस्था अन्तर की गहन जागृति की झंकार जो प्रतिपल-प्रतिक्षण ध्याता को सुनायी देती है। ध्यान से चित्त में जो अनन्त-अनन्त ऊर्जाएँ प्रसुप्त हैं वे जागृत होकर बहिर्मुखी प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है। अतः जैन साधना-पद्धति में ज्ञान और ध्यान पर अत्यधिक बल दिया गया है।

ध्यान-शब्दों का विषय नहीं है। वह शब्दातीत अनुभूति है। इस अरूप अनुभूति को साधकों ने विभिन्न प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया है। जैसे, ध्यान एक अलौकिक मस्ती का नाम है, जिसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् पर का बोध नहीं रहता। दूसरे शब्दों में स्वयं में खो जाने का नाम ध्यान है।

ध्यान-साधना के लिए आहार पर नियन्त्रण, शरीर पर नियन्त्रण, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, श्वासोच्छ्वास पर नियन्त्रण, भाषा पर नियन्त्रण और मन पर नियन्त्रण आवश्यक है। सालम्बन ध्यान के पिण्डस्थ अर्थात् शरीर के किसी एक अवयव पर एकाग्र होना उसकी पाँच धारणाएँ हैं—(१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी, (३) वायवी, (४) वारुणी और (५) तत्त्वरूपवती। धारणा का अर्थ बाँधना है। ध्येय में चित्त को स्थिर करना धारणा है। इन धारणाओं के सम्बन्ध में गुरुदेव श्री ने विस्तार से विवेचन किया।

सालम्बन ध्यान का दूसरा प्रकार पदस्थध्यान है—किन्हीं पवित्र पदों का आलम्बन लेकर उनके आधार पर चित्त को स्थिर करना पदस्थ ध्यान है। नवकार महामन्त्र, गायत्री मन्त्र, भगवद् नाम, आदि का जप इसी ध्यान के अन्तर्गत आता है।

तीसरे ध्यान का प्रकार रूपस्थ ध्यान है। यह है किसी पदार्थ विशेष के रूप और आकार पर ध्यान करना।

चतुर्थ प्रकार का ध्यान रूपातीत है। इस ध्यान में निराकार, निरंजन, सिद्ध परमात्मा का ध्यान करते हुए आत्मा स्वयं को मल-मुक्त, सिद्ध स्वरूप में ही अनुभव करता है।

इस प्रकार ध्यान के सम्बन्ध में गहराई से उनसे विचार चर्चाएँ हुईं जिसे श्रवणकर वे अत्यन्त आल्हादित हुए।

श्रद्धेय गुरुदेव और बाबू जगजीवनराम

दिनांक ९-२-१९७८ को केन्द्रीय रक्षामंत्री श्री जगजीवनराम जी कर्नाटक चुनाव प्रचार हेतु के० जी० एफ० (राबर्टसनपेट) में उपस्थित हुए। वे श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का आशीर्वचन प्राप्त करने हेतु जैन स्थानक में दर्शनार्थ उपस्थित हुए। अभिवादन के पश्चात् श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने बताया, भगवान ऋषभदेव विश्व संस्कृति के आद्य पुरुष हैं, जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में ही नहीं किन्तु विश्वसंस्कृति में उनका अप्रतिम स्थान है, वे संस्कृतियों के संगम स्थल हैं, उनके सम्बन्ध में विशद जानकारी देने हेतु "ऋषभदेव : एक परिशीलन" ग्रंथ उन्हें प्रदान करते हुए कहा कि—ये राजनीति के आद्यपुरुष हैं। इनसे प्रेरणा प्राप्त कर जनता-जनार्दन के कल्याण हेतु धर्म के पथ पर शासन अग्रसर हो—यही मेरी मंगल मनीषा है।

श्री जगजीवनराम को श्री राजेन्द्र मुनि रचित ग्रंथ भी भेंट में दिये गये।

श्रद्धेय गुरुदेव और श्री पी० रामचन्द्रन

दिनांक १६-२-१९६८ को केन्द्रीय विद्युत् एवं ऊर्जा मंत्री श्री पी० रामचन्द्रन गुरुदेव श्री के दर्शनार्थ एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार चर्चा हेतु के० जी० एफ० जैन स्थानक में उपस्थित हुए। वार्तालाप के प्रसंग में श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने धर्म और सम्प्रदाय का विश्लेषण करते हुए कहा—धर्म जीवन का संगीत है। आध्यात्मिक उत्क्रांति का मूलमंत्र है। धर्म है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अनासक्ति। ये सद्गुण प्रत्येक मानव के जीवन को विकसित करते हैं। धर्म को जहाँ सम्प्रदाय का रूप दे दिया जाता है वहाँ संघर्ष, कलह आदि समुत्पन्न होते हैं। सम्प्रदाय में धर्म निश्चित रूप से रहा हुआ हो यह नहीं कहा जा सकता। सम्प्रदाय जन्म लेती है और मरती है, किन्तु धर्म सदा अखण्ड रहता है। सम्प्रदाय पाल के समान है और धर्म पानी के समान है। तालाब का पाल हो किन्तु पानी न हो तो वह तालाब किस काम का ?

हमारे संविधान में भारत को "धर्म-निरपेक्ष" राज्य कहा गया है। मेरी दृष्टि से यह ठीक नहीं है। इसके बदले "सम्प्रदाय-निरपेक्ष" राज्य कहा जाता तो अधिक उचित होता।

श्री रामचन्द्रन जी ने स्वयं अनुभव किया कि उपाध्याय श्री का कथन यथार्थ है।

स्थानीय जैन युवक मण्डल ने श्री रामचन्द्रन को "नमस्कार महामंत्र" का कलात्मक चित्र समर्पित किया। श्रद्धेय गुरुदेव श्री ने नमस्कार महामंत्र का महत्त्व बताते हुए कहा—यह जैनधर्म का महामंत्र है। इसमें व्यक्ति की पूजा नहीं, किन्तु गुणों की उपासना की गयी है। जैनधर्म व्यक्ति-पूजा को नहीं गुण-पूजा को महत्त्व देता है। चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो या शिव हो या जिन हो वह सभी को जिनका राग-द्वेष नष्ट हो गया हो उनको नमस्कार करता है।

जैनधर्म की इस उदार-वृत्ति को देखकर केन्द्रीयमंत्री का हृदय गद्गद हो गया। गुरुदेव श्री ने कहा—मैं आपकी जन्मस्थली तमिलनाडु में आ रहा हूँ। यह जानकर श्री रामचन्द्रन को हार्दिक आल्हाद हुआ और उन्होंने गुरुदेव श्री से साग्रह प्रार्थना की कि आप उस पुण्यभूमि में अवश्य पधारें, समय निकालकर मैं फिर कभी आपके दर्शन का लाभ लूंगा।

अन्त में श्री रामचन्द्रन जी को "ऋषभदेव : एक परिशीलन" तथा श्री राजेन्द्र मुनि द्वारा लिखित ग्रन्थ समर्पित किये गये।

गुरुदेव और श्री गोलवलकर

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंघ संचालक स्व० श्री माधवराव सदाशिव राव गोलवलकर (गुरु जी) का गुरुदेव श्री सन् १९७२ में जब सिंहपोल-जोधपुर में चातुर्मास में विराज रहे थे, तब उनके दर्शनार्थ आगमन हुआ। भारतीय धर्म, दर्शन, और संस्कृति के सम्बन्ध में गम्भीर विचार चर्चा करते हुए गुरुदेव श्री ने कहा—ये तीनों मानव जीवन के विकास के लिए आवश्यक हैं। इन तीनों को विभक्त नहीं किया जा सकता। तीनों का समन्वित रूप ही मानव जीवन के लिए वरदानस्वरूप है। जब संस्कृति आचारोन्मुख होती है तब वह धर्म है और जब वह विचारोन्मुख होती है तब वह दर्शन है। संस्कृति का बाह्य रूप क्रियाकांड है, वह धर्म है और संस्कृति का आन्तरिक रूप चिन्तन है वह दर्शन है। संस्कृति का अर्थ संस्कार है। संस्कार चेतन का हो सकता है छड़ का नहीं।

संस्कृति अपने आप में एक अखण्ड और अविभाज्य तत्व है। उसका खण्ड या विभाजन नहीं किया जा सकता। भेद या खण्ड चित्त के संकीर्ण के प्रतीक हैं। संस्कृति के पूर्व जब किसी प्रकार का कोई विशेषण लगा दिया जाता है तो वह विभाजित हो जाती है। अखण्ड होकर के भी वह विशेषणों के कारण विभक्त हो जाती है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति भी श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति इन दो विभागों में विभक्त हो गयी है। श्रमण और ब्राह्मण ये दोनों भारतीय धर्म-परम्पराओं में गुरु के गौरवपूर्ण पद को अलंकृत करते रहे हैं। एक ही राष्ट्र में रहते हुए एक ही राष्ट्र का अन्न-जल का उपभोग करते हुए दोनों की चिन्तन पद्धति पृथक्-पृथक् रही है। श्रमणों ने त्याग, वैराग्य और विरक्ति को प्रधानता दी तो ब्राह्मणों ने भोग-सुख और सुविधा को। श्रमणों ने भौतिक सुखों से विरक्त होकर आध्यात्मिक कल्याण को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाया तो ब्राह्मणों ने संसार में रहकर अधिक से अधिक सुख का उपभोग करने का। ब्राह्मण संस्कृति का अंतिम लक्ष्य स्वर्ग है जहाँ सुखों का सागर ठाठें मार रहा है। जब कि श्रमण संस्कृति का लक्ष्य मोक्ष है जहाँ भौतिक सुख का पूर्ण अभाव है। वस्तुतः ब्राह्मण संस्कृति समाज और राष्ट्रोन्नति को प्रधानता देती है, वहाँ श्रमण संस्कृति व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास, चेतना, अन्तर शोधन एवं चेतना के ऊर्ध्वमुखी विकास को महत्व देती है।

ब्राह्मण संस्कृति को विकसित करने में मीमांसादर्शन, वेदान्तदर्शन, वैशेषिकदर्शन और न्यायदर्शन का अपूर्व योग दान रहा है तो श्रमण संस्कृति को विकसित करने में जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, सांख्यदर्शन, योगदर्शन और आजीवकदर्शन का हाथ रहा है। ब्राह्मण संस्कृति का मूल लक्ष्य कर्मयोग है तो श्रमण संस्कृति का ज्ञानयोग और सन्यास योग है। श्रमण संस्कृति में श्रमण-जीवन को मुख्य माना है, गृहस्थ जीवन की अपेक्षा श्रमण जीवन की श्रेष्ठता और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्येष्ठता का प्रतिपादन किया। कपिल ने और पतंजलि ने क्रमशः सांख्य सूत्र और योगसूत्र में संन्यास को जीवन का मुख्य धर्म स्वीकार किया है। यद्यपि उच्चतम साधकों के लिए श्रमण शब्द का व्यवहार न किया गया हो तथापि यह सत्य है कि संन्यासी, परिव्राजक और योगी शब्द—का भी वही अर्थ है जो श्रमण शब्द का है। सांख्यदर्शन का संन्यासी, योग-दर्शन का योगी और श्रमण संस्कृति का श्रमण तीनों का मूल उद्देश्य एक ही है अध्यात्म-जीवन का विकास कर अनन्त आनन्द को प्राप्त करना। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन और योगदर्शन भी श्रमण दर्शन से अभिन्न हैं। आजीवक पन्थ भी श्रमण परम्परा का ही अंग था, भले ही उसकी परम्पराएँ आज लुप्त हो गयी हों। श्रमण संस्कृति की सीमा अत्यन्त विस्तृत और व्यापक रही है।

गोलवलकर जी ने कहा—जैन धर्मावलंबी हिन्दू समाज के ही अंग हैं। फिर वे अपने आप को जैन क्यों लिखते हैं?

गुरुदेव श्री ने समाधान करते हुए कहा—भारत में रहने वाले सभी हिन्दू हैं इस परिभाषा की दृष्टि से जैन भी हिन्दू हैं और जिसका हिंसा से दिल दुःखता है वह हिन्दू है इस परिभाषा से भी जैन हिन्दू हैं। किन्तु जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन त्रिदेवों को मानता हो, चारों वेदों को प्रमाणभूत मानता हो, ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानता हो वही हिन्दू है, इस परिभाषा की दृष्टि से जैन हिन्दू नहीं हैं। क्योंकि वह ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता और न वेद आदि को ही अपने आधारभूत धर्म ग्रन्थ ही मानता है। और न त्रिदेवों में उसका विश्वास है। इसीलिए हिन्दू धर्म अलग है, जैन धर्म अलग है। यह सत्य है कि जैन संस्कृति हिन्दू संस्कृति से पृथक् होते हुए भी वह भारतीय संस्कृति का ही एक अंग है, भारतीय संस्कृति से वह पृथक् नहीं है।

गुरुजी ने गुरुदेव श्री के द्वारा किये गये विश्लेषण को सुनकर प्रसन्न मुद्रा में कहा—आप जैसे समन्वयवादी और सुलझे हुए विचारक सन्तों की अत्यधिक आवश्यकता है।

गुरुदेव और जगद्गुरु शंकराचार्य

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य और कांची कामकाटि पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य की भेंट का मधुर प्रसंग बड़ा दिल-चस्प है। सन् १९३६ में गुरुदेव का चातुर्मास नासिक में था। सन्ध्या के समय आपश्री गोदावरी नदी की ओर बहि-र्भूमि के लिए जा रहे थे, सामने से कार में जगद्गुरु आ रहे थे। उन्होंने आपको देखते ही कार रोक दी और संस्कृत भाषा में आपसे पूछा—आप कौन हैं?

गुरुदेव श्री ने कहा—मैं वर्ण की दृष्टि से ब्राह्मण हूँ और धर्म की दृष्टि से जैन श्रमण हूँ।

जगद्गुरु इस उत्तर को सुनकर आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने कहा—ब्राह्मण और जैनों में तो आदि-काल से ही वैर रहा है, साँप और नकुल की तरह। फिर आपने ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर श्रमण धर्म कैसे स्वीकार किया?

आपश्री ने कहा—जैन और ब्राह्मणों में परस्पर कटुतापूर्ण व्यवहार भी रहा है, यह सत्य है। और यह भी सत्य है कि हजारों ब्राह्मण जैनधर्म में प्रव्रजित हुए। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य जो गणधर कहलाते हैं वे ग्यारह ही वर्ण से ब्राह्मण थे और उनके चार हजार चार सौ शिष्य भी ब्राह्मण थे। उन सभी ने भगवान महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया था। भगवान महावीर के शिष्य परिवार में ब्राह्मणों की संख्या काफी थी और उन सभी ने जैनधर्म के गौरव को बढ़ाने में अपूर्व योगदान किया। भगवान महावीर के पश्चात् भी सैकड़ों ब्राह्मण मूर्धन्य मनी-षियों ने जैनधर्म में दीक्षा ग्रहण की और विराट साहित्य का सृजन कर जैन धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरायी है। आचार्य हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, आदि शताधिक विद्वान् हुए हैं जो वर्ण से ब्राह्मण थे।

जैनधर्म को आपने क्यों स्वीकार किया इस प्रश्न के उत्तर में आपश्री ने कहा—जैन धर्म में त्याग, संयम और वैराग्य की प्रधानता है। जैनश्रमण अपने पास एक पैसा भी नहीं रख सकता है, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, भारत के विविध अंचलों में वह पैदल व नंगे पाँव परिभ्रमण करता है। वह अपना सामान स्वयं उठाता है। मधु-करी कर अपने जीवन का निर्वाह करता है और अपने सिर तथा दाढ़ी के बालों को भी वह हाथों से नोंचकर निका-लता है जिसे जैन परिभाषा में लुंचन कहते हैं। जैन श्रमणों की इस त्याग निष्ठा ने ही मुझे जैन धर्म में प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए उत्प्रेरित किया।

उसके पश्चात् जैन दर्शन की विशेषताओं पर और भारतीय दर्शन में जैन दर्शन का क्या स्थान है इस संबंध में आपने विस्तार के साथ विवेचन किया। आपश्री के विवेचन को सुनकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—आज प्रथम बार ही मुझे जैन मुनि से मिलने का अवसर मिला है। जैन दर्शन के सम्बन्ध में मैंने बहुत कुछ पढ़ रखा है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु आपसे मिलकर अनेक भ्रान्त धारणाओं का निरसन हो गया। आपश्री का यह वार्तालाप दो संस्कृतियों के समन्वय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। वस्तुतः मिलन और सम्मिलन से पूर्वाग्रह से उत्पन्न भ्रान्त धारणाओं का निरसन हो जाता है और एक दूसरे को समझने का प्रयास किया जाता है।

गुरुदेव और जैनेन्द्रकुमार

सन् १९६७ का गुरुदेव श्री का वर्षावास बालकेश्वर, बम्बई में था। उस समय मूर्धन्य साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी गुरुदेव श्री के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। वार्तालाप के प्रसंग में जैन मनोविज्ञान पर चिन्तन करते हुए सद्-गुरुदेव ने कहा—जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नो-कर्म की त्रिपुटी पर आधारित है। जैनदृष्टि से मन एक स्वतन्त्र पदार्थ या गुण नहीं, अपितु आत्मा का ही एक विशेष गुण है। मन की प्रवृत्ति सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नहीं, अपितु कर्म और नो-कर्म की स्थिति की अपेक्षा से है। जब तक हम इनका स्वरूप नहीं समझेंगे वहाँ तक मन का स्वरूप समझा नहीं जा सकता।

आत्मा चैतन्य, लक्षणवाला है। वह संख्या की दृष्टि से अनन्त है। उन सभी आत्माओं की सत्ता स्वतन्त्र है। संसार में जितनी भी आत्माएँ हैं वे अन्य आत्मा या परमात्मा का अंश नहीं। इस विराट विश्व में जितनी ही आत्माएँ हैं उनमें चेतना अनन्त हैं। वे अनन्त प्रमेयों को जानने में समर्थ हैं। चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं, पर चेतना का विकास सभी आत्मा में समान नहीं होता। उस चैतन्य विकास का जो तारतम्य है उसका मूल निमित्त कर्म है।

कर्म पुद्गल है, जो आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट होकर उसके साथ एकमेक हो जाते हैं। कर्म आत्मा के निमित्त से होने वाला एक प्रकार का पुद्गल परिणाम है। जैसे आहार, औषध, जहर, मदिरा प्रभृति पौद्गलिक पदार्थ परिपाक दशा में प्राणियों को अपने प्रभाव से प्रभावित करते हैं उसी तरह कर्म भी परिपाक दशा में प्राणियों को प्रभावित करता है। आहार आदि का परमाणु-प्रचय स्थूल होने से उसमें सामर्थ्य कम होता है किन्तु कर्म का परमाणु-प्रचय सूक्ष्म होने से उसमें सामर्थ्य की अधिकता होती है। आहारादि ग्रहण करने की प्रवृत्ति स्थूल है, अतः उसका स्पष्ट परिज्ञान होता है, किन्तु कर्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति सूक्ष्म होने से उसका स्पष्ट परिज्ञान नहीं होता। जैसे आहारादि के परिणामों को जानने के लिए शरीर शास्त्र है, वैसे ही कर्म के परिणामों को जानने के लिए कर्मशास्त्र है। जैसे आहारादि का प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर होता है और परोक्ष प्रभाव आत्मा पर, उसी तरह कर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव आत्मा पर और परोक्ष प्रभाव शरीर पर होता है। पथ्य-आहारादि से शरीर का उपचय होता है अपथ्य आहारादि से अपचय होता है और दोनों प्रकार का आहार न मिलने पर मृत्यु होती है वैसे ही पुण्य से आत्मा को सुख, पाप से दुःख और पुण्य-पाप दोनों के नष्ट होने पर मुक्ति मिलती है।

कर्मविपाक की जो सहायक सामग्री है वह नो-कर्म है। यदि हम कर्म को आन्तरिक परिस्थिति कहें तो नो-कर्म को बाह्य परिस्थिति कह सकते हैं। कर्म प्राणियों को फल देने में समर्थ है, पर उसकी समर्थता के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, भवजन्म, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम प्रभृति बाह्य परिस्थितियों की भी अपेक्षा है।

आत्मा सूर्य के समान प्रकाशित है। किन्तु उसके दो रूप हैं, एक आवृत्त है दूसरा अनावृत्त है। आवृत्त चेतना के अनेक भेद-अभेद हैं। किन्तु अनावृत्त चेतना का एक ही प्रकार है।

शरीर और चेतना दोनों पृथक् हैं, किन्तु इनका अनादिकाल से सम्बन्ध है। चेतन से शरीर का निर्माण हुआ है। शरीर उसका अधिष्ठान है। अतः एक दूसरे पर पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। शरीर का निर्माण चेतन-विकास के आधार पर आधृत है। इन्द्रियां और मन जिस जीव के जितने विकसित होते हैं उतने ही ज्ञान-तन्तु बनते हैं। वे ज्ञान-तन्तु ही इन्द्रियों और मानस-ज्ञान के साधन हैं। जहाँ तक वे ज्ञान-तन्तु स्वस्थ रहते हैं तब तक इन्द्रियाँ स्वस्थ रहती हैं। यदि ज्ञानतन्तुओं को शरीर से पृथक् कर दिया जाय तो इन्द्रियों में जानने की शक्ति नहीं रह सकती।

जैन दृष्टि से मन दो तरह का है—एक चेतन और दूसरा पौद्गलिक। पौद्गलिक मन चेतन मन का सहयोगी है। उसके बिना चेतन मन कार्य करने में अक्षम है। चेतन मन को ही ज्ञानात्मक मन भी कहा गया है। चेतन मन पौद्गलिक परमाणुओं से नहीं बनता और न उसका रस ही है। चेतना आत्मा का गुण है। आत्मा-शून्य शरीर में चेतना नहीं होती और शरीरशून्य आत्मा की चेतना हम देख नहीं सकते। हमें शरीरयुक्त आत्मा की चेतना का ही परिज्ञान होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह एक सत्य-तथ्य है कि वस्तु का अपना गुण किसी भी समय वस्तु से अलग नहीं होता। दो वस्तुओं के संयोग होने पर तीसरी नूतन वस्तु का निर्माण होता है। किन्तु उसमें जो गुण हैं वह दोनों के सम्मिश्रण से ही बना है, वह कहीं बाहर से नहीं आया। यदि उनका विघटन हो जाये तो दोनों वस्तुओं के निज गुण स्वतन्त्र हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में जैसे गन्धक के तेजाब में हाइड्रोजन, गन्धक और ऑक्सीजन का सम्मिश्रण रहता है। उनके अपने विशेष गुण होते हैं। उनको निर्माण करने वाली मूल धातुएँ यदि अलग-अलग कर दी जायं तब वे अपने मूल गुणों के साथ ही पायी जाती हैं।

आत्मा में चैतन्य गुण है और जड़ में अचैतन्य। इन दोनों के संयोग से जो तीसरा गुण पैदा होता है वह वैभाविक गुण है। उस वैभाविक गुण के आहार, श्वासोच्छ्वास, भाषा और पौद्गलिक मन; ये चार रूप हैं। ये चारों गुण आत्मा और शरीर के सम्मिश्रण से समुत्पन्न होते हैं; आत्मा और शरीर का विघटन होने पर नष्ट हो जाते हैं।

आत्मा अरूपी है। उसे हम देख नहीं सकते। किन्तु शरीर की क्रियाओं से उस आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। आत्मा विद्युत् के समान है तो शरीर बल्ब के समान है। ज्ञान-शक्ति आत्मा का गुण है और उसके साधन शरीर के अवयव हैं। जैसे बोलने का प्रयास आत्मा करता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का साधन शरीर है। आत्मा के अभाव में चिन्तन, बोलना, बुद्धिपूर्वक गमन-आगमन करना नहीं होता, किन्तु शरीर के अभाव में उसकी अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती। जब हमारा मन चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है तो उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करना पड़ता है। यदि वह ग्रहण न करें तो प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

जब हम चिन्तन करते हैं उस समय इष्ट और अनिष्ट भाव आते हैं। उन इष्ट और अनिष्ट पुद्गलों को द्रव्य मन ग्रहण करता है। अनिष्ट पुद्गल जो मन के रूप में परिणत हुए हैं उससे शरीर को हानि होती है, और इष्ट पुद्गल जो मन के रूप में परिणत हुए हैं, उससे शरीर को लाभ होता है। इस तरह मन का असर शरीर पर होता है। इसे ही हम 'शरीर पर मानसिक असर' कहते हैं। देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है। आँख के बिना मानव देख नहीं सकता। यदि आँख में मोतिया आगया है तो देखने की क्रिया नष्ट हो जाती है। चिकित्सा के द्वारा वह मोतिया को निकालकर पुनः देखने लगता है। यही स्थिति मस्तिष्क और मन के सम्बन्ध में भी है।

वार्तालाप के प्रसंग में ही इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध में तथा मन क्या है? विभिन्न दर्शनों में मन की स्थिति क्या रही है? मन की व्यापकता, मानसिक योग्यता के तत्त्व, लेश्या, ध्यान आदि के सम्बन्ध में विस्तार से वार्तालाप हुआ। गुरुदेव श्री के गंभीर विचारों को सुनकर जैनेन्द्रकुमार जी अत्यन्त आल्हादित हुए और उन्होंने कहा—मैं जैन-मनोविज्ञान के सम्बन्ध में अध्ययन करूँगा। आज जैन-मनोविज्ञान को नूतन परिवेश में प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। आधुनिक युवक जैन-मनोविज्ञान के सम्बन्ध में सर्वथा अपरिचित है। इस पर कार्य किया जाय तो बहुत लाभ हो सकता है।

गुरुदेव और पं० सुखलाल जी संघवी

पं० सुखलाल जी भारतीय दर्शन के एक महान् चिन्तक और मर्मज्ञ विद्वान् हैं। पण्डितजी ने जैनदर्शन पर शोध दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। वे गुरुदेव श्री से सन् १९५६ में जयपुर में तथा सन् १९७२ और १९७४ में अहमदाबाद के अनेकान्त विहार में मिले। गुरुदेव श्री ने पण्डितजी से दर्शन सम्बन्धी अपनी अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं। पण्डित जी ने अत्यन्त सरल व सहज रूप से उन जिज्ञासाओं का समाधान किया। पण्डित जी गुरुदेव श्री की जिज्ञासा वृत्ति को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—'जिज्ञासा ही दर्शन की जननी है। जब तक जिज्ञासा नहीं होती, तब तक सत्य के द्वार उद्घाटित नहीं होते।' जैन मुनियों में प्रथम बार ही आप में इतनी जिज्ञासा देखी है और यही आपके विकास का मूल कारण है। जैन श्रमण पण्डितों से बात करने में अपना अपमान समझते हैं, पर आपमें मैंने विलक्षणता देखी, जो आप विचार-चर्चा के लिए यहाँ पर पधारे हैं और मेरी कई कड़वी बातें भी आपने ध्यान से सुनी है। पर मेरे अन्तर्मानस में हित की ही भावना है कि जैनश्रमण ज्ञान की दृष्टि से आगे बढ़ें। ज्ञान चर्चा की दृष्टि से पण्डित जी की यह भेंट पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रही।

गुरुदेव और पं० बेचरदास जी दोशी

पं० बेचरदास जी दोशी प्राकृत भाषा के मूर्धन्य मनीषी हैं। उनका अध्ययन विशाल और दृष्टि व्यापक है। वे पूज्य गुरुदेव श्री से अनेकों बार मिले। जब भी मिले तब प्राकृत भाषा और आगम-साहित्य के रहस्य को लेकर विचार-चर्चाएँ करते रहे हैं। उन विचार-चर्चाओं में वे गुरुदेव श्री से आगम के गहन रहस्यों को जानकर कई बार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्यन्त आल्हादित हुए। और उनके हृतन्त्री के तार झनझना उठे कि गुरु गम से जो ज्ञान प्राप्त होता है वही सही ज्ञान है। कई बार पढ़ने से उन्हें रहस्यों का परिज्ञान नहीं होता।

गुरुदेव और पं० दलसुख भाई मालवणिया :

पं० दलसुख भाई जैनदर्शन के मूर्धन्य चिन्तकों में से हैं। वे बहुत ही सुलझे हुए विचारक हैं। गुरुदेव श्री के जयपुर, अहमदाबाद, बम्बई, पूना और बेंगलोर में दर्शन किये और अनेकों बार गुरुदेव श्री से धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति के विभिन्न विषयों पर विचार-चर्चाएँ हुईं। और गुरुदेव श्री के स्नेह सौजन्ययुक्त स्वभाव से वे बहुत ही प्रभावित हुए। विस्तार भय से हम उन चर्चाओं का अंकन यहाँ नहीं कर रहे हैं।

गुरुदेव और आगम प्रभावक मुनिश्री पुण्यविजय जी म० :

सादड़ी सन्त सम्मेलन के सुनहरे अवसर पर आगम प्रभावक मुनिश्री पुण्यविजय जी से गुरुदेवश्री की भेंट हुई। सम्मेलन के अति व्यस्त कार्यक्रम के कारण उस समय विशेष विचार-चर्चा नहीं हो सकी। किन्तु सन् १९७० में बम्बई बालकेश्वर में अनेकों बार आपश्री से आगम, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीकाएँ आदि के रहस्यों को लेकर विचार-चर्चाएँ हुईं और वे चर्चाएँ अत्यन्त ज्ञानवर्धक थीं। गुरुदेव श्री ने अनेक बातें जो स्थानकवासी परम्परा में धारणा-व्यवहार के रूप में चल रही थीं वे आपश्री को बतायीं। उसे सुनकर आपश्री ने कहा—जो बातें धारणाओं से चल रही हैं वे बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, कई आगम के रहस्य जो आगम और व्याख्या साहित्य से भी स्पष्ट नहीं होते वे इनसे स्पष्ट हो जाते हैं। आगमप्रभावक जी ने यह भी बताया कि स्थानकवासी परम्परा की धारणाओं का एक संकलन हो जाय तो आगमों के रहस्य को समझने में उनका भी अत्यधिक उपयोग हो सकता है।

गुरुदेव और आचार्य श्री तुलसी :

गुरुदेव श्री का आचार्य तुलसी जी से दो बार मिलन हुआ। प्रथम बार सन् १९६१ में सरदारगढ़ (राजस्थान) में और द्वितीय बार सन् १९६५ में जोधपुर में। प्रथम बार मिलने के समय आचार्य श्री तुलसी जी ने तेरहपन्थी समुदाय के द्वारा प्रकाशित अपना सम्पूर्ण साहित्य गुरुदेव श्री को भेंट किया। दूसरे दिन प्रातःकाल शौच से निवृत्त होकर लौटते समय आचार्य श्री के साथ आपकी भेंट हुई। आचार्य तुलसी जी ने गुरुदेव श्री से पूछा—कल हमने साहित्य प्रेषित किया था। वह आपने देखा होगा बताइये वह आपको कैसा लगा ?

गुरुदेव श्री ने कहा—साहित्य के क्षेत्र में आपकी प्रगति देखकर मन में आल्हाद होता है। आप संगठन के व जैन एकता के प्रबल पक्षधर हैं, तो आपके द्वारा साहित्य भी वैसा ही प्रकाशित होना चाहिए जो एकता की दृष्टि से सहायक हो। जिस साहित्य से विघटन पैदा होता हो, राग-द्वेष की अभिवृद्धि होती हो उसका प्रकाशन करवाना आज के युग में कहाँ तक उपयुक्त है ?

आचार्य तुलसी—ऐसा कौनसा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जो आपकी दृष्टि से अनुचित है ?

गुरुदेव श्री ने कहा—भिक्षु दृष्टान्त जैसे ग्रन्थ का प्रकाशन मैं उचित नहीं मानता।

आचार्य तुलसी—भिक्षु दृष्टान्त में अनेक ऐतिहासिक सत्य-तथ्य रहे हुए हैं, अतः उसका प्रकाशन करवाना आवश्यक समझा गया।

गुरुदेव—भिक्षु दृष्टान्त की तरह उस युग के दृष्टान्तों का संकलन जो भिक्षु दृष्टान्त के खण्डन के रूप में हैं, वह संकलन मेरे पास है जिसे पढ़कर पाठक के दिल में राग द्वेष की आग भड़क उठे, क्या उनका भी हमें प्रकाशन करवाना चाहिए ?

गुरुदेव श्री ने जीतमलजी महाराज, कविवर नेमिचन्द जी म० के पद्य भी सुनाये जिनमें तेरापंथ के सम्बन्ध में कटु आलोचना थी जो उस युग की भावना का चित्र था जिन्हें सुनकर आचार्य तुलसी जी के चेहरे पर से ऐसा परिज्ञात हो रहा था कि भिक्षु दृष्टान्त का प्रकाशन करवाकर उचित नहीं किया, क्योंकि प्रतिक्रिया के रूप में ऐसा साहित्य प्रकाशित किया जायेगा तो उससे दरार बढ़ेगी, घटेगी नहीं।

दूसरी बार जोधपुर में जैन एकता को लेकर गुरुदेव श्री आदि से लगभग एक घण्टे तक वार्तालाप हुआ। प्रस्तुत वार्तालाप अत्यन्त स्नेह सौजन्यपूर्ण क्षणों में सम्पन्न हुआ। इस वार्तालाप में उपाध्याय हस्तीमल जी महाराज भी सम्मिलित थे। गुरुदेव श्री ने बताया कि जैन एकता की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि हम इस सम्बन्ध में जागरूक न हुए तो आने वाली पीढ़ी हमारे पर विचार करेगी। और वह एकता तभी संभव है कि मंच पर ही नहीं किन्तु प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार में ऐसा कार्य किया जाय जिससे एकता में बाधा उपस्थित न हो। दोनों ओर से यह प्रयास होना चाहिए। एक ओर का प्रयास सफल नहीं हो सकता। आचार्य तुलसी जी ने भी गुरुदेव श्री के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा—'आपका चिन्तन सुलझा हुआ है और उसी दृष्टि से हम प्रयास करेंगे तभी सफल हो सकेंगे।'

इस प्रकार राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षिक, आध्यात्मिक प्रभृति विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित शताधिक व्यक्ति, चिन्तक व मूर्धन्य मनीषीगण श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के सम्पर्क में आये हैं और आते रहते हैं। किन्तु विस्तार के भय से मैं उन सभी संस्मरणों को यहाँ नहीं दे रहा हूँ। आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, आचार्य श्री काशीराम जी महाराज, गणि उदयचंद जी म०, आचार्य श्री जवाहरलाल जी म०, उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० आचार्य नानालाल जी म०, आचार्य हस्तीमल जी म०, आचार्य खूबचंदजी म०, आचार्य सहस्रमल जी म०, दिवाकर चौथमल जी म०, उपाध्याय किस्तूरचंद जी म०, मालवकेसरी सौभाग्यमल जी म०, शतावधानी श्री रत्नचंद्र जी म०, आचार्य गुलाबचंद जी म०, आचार्य रूपचंद जी म०, कविवर नानचंदजी म०, मुनि सन्तबाल जी, आचार्य सम्राट श्री आनंद ऋषिजी म०, उपाध्याय अमर मुनि जी म०, प्रवर्तक पन्नालाल जी म०, कविवर्य चौथमल जी म०, मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी म०, उपाध्याय मधुकर मुनि जी, उपाध्याय फूलचंद जी म०, आचार्य श्री घासीलालजी म०, आचार्य पुरुषोत्तमलाल जी म०, आदि स्थानकवासी समुदाय के मूर्धन्य मनीषीगण तथा पुरातत्ववेत्ता पद्म श्री जिनविजय जी, गुरुदेव श्री से चन्देरिया चित्तौड़ तथा अहमदाबाद में अनेकों बार मिले। और इतिहास तत्वमहोदधि आचार्य विजयेन्द्रसूरि जी, इतिहासवेत्ता मुनि श्री कल्याणविजय जी, डा० मुनि कान्तिसागर जी, आचार्य रामचंद्रसूरि जी, आचार्य विजय धर्मसूरि जी, आचार्य समुद्रसूरि जी, पं० मुनि श्री यशोविजय जी, पं० मुनि श्री अभयसागर जी, डा० मुनि नगराज जी डी० लिट्०, प० मुनि श्रीनथमल जी, चारित्र-चक्र चूडामणि दिगंबर आचार्यशांतिसागर जी; आचार्य प्रवर देशभूषण जी, महन्त दर्शनराम जी, डा० एस० एस० बारलिंगे, डा० टी० जी० कलघटगी, डा० प्रेम सुमन जैन, डा० कमलचन्द सोगानी, डा० भागचन्द 'भास्कर', डा० संगमलाल पाण्डेय, इतिहास रत्न श्री अगरचंद जी नहाटा, जस्टिस श्री टी० के० तुकोल, जस्टिस इन्द्रनाथ मोदी, जस्टिस सोमनाथ मोदी, श्री ऋषभदास जी रांका, डा० जगदीश चन्द जी जैन, डा० ए० डी० बत्तरा, डा० आनन्द प्रसाद दीक्षित, डा० नथमल टाटिया, आचार्य निरंजननाथ, दिनेश नंदिनी डालमिया, डा० डी० एस० कोठारी, सेठ अचलसिंह जी, श्री सोलिसिटर जनरल चिमनभाई चक्कूभाई शाह, पद्मश्री सेठ मोहनलाल जी चोरडिया, सेठ विनयचंद दुर्लभ जी, खेलशंकर दुर्लभजी, सेठ हीराचंद बालचंद आदि व्यक्तियों से गुरुदेव श्री की विभिन्न विषयों पर विचार-चर्चाएँ हुईं। और सभी गुरुदेव श्री के स्नेह-सौजन्यपूर्ण सद्-व्यवहार से प्रभावित हुए। वस्तुतः स्नेह ऐसा सुनहरा धागा है जिसमें हर कोई बांधा जा सकता है।

उपसंहार

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य विश्व की जगमगाती एक महान् विभूति है, मनीषी और मनस्वी सन्त हैं। आपका जीवन सहस्रदल कमल के समान सुवासित व रमणीय है, जो प्रतिफल प्रतिक्षण अपने मधुर सौरभ के खजाने को लुटाता रहता है, तेजस्वी सूर्य के समान दिव्य आलोक प्रदान करता है और गंगा के निर्मल प्रवाह की तरह सरसता का संचार करता है, इसीलिए वह वन्दनीय, वर्णनीय और अर्चनीय है।

सद्गुरुवर्य का विराट जीवन ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की परम पावनी त्रिपथगा है। जो भी उनके निकट सम्पर्क में आता है वह अनिर्वचनीय आनन्द, अगाध तृप्ति और अन्तहीन विश्रांति का अनुभव करता है। वस्तुतः आपका जीवन रमणीयता का अक्षय-कोष है। दिनभर कर्मयोगी की तरह कार्य करते रहने पर भी शरीर पर थकान, मुख पर म्लानता और मानसिक विक्षोभ की एक रेखा भी आपके चेहरे पर नहीं दिखायी देगी। प्रत्येक क्षण वही तत्परता, वही लीनता, वही जीवन और जगत् के गम्भीर रहस्यों का अन्वेषण करती हुई भाव-मुद्रा, वही मधुर मुस्कराहट और वही निर्माण की छटपटाहट। वे स्वयं समय की पकड़ में नहीं आते, किन्तु समय तब तक उनकी पकड़ से छूट नहीं सकता जब तक वे उसके छलछलाते रस को अच्छी तरह निचोड़ नहीं लेते। कविकुलगुरु कालिदास ने रमणीयता की जो परिभाषा की है वह आपके जीवन में जीवित और जागृत दिखायी देती है—"**क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।**"

आपश्री ने अपने जीवन के बहुमूल्य उनहत्तर वासन्ती बहारों को पूर्णरूप से जन-जन के जीवनोत्कर्ष की मंगलमय भावना हेतु समर्पित किया और आज भी उसी मस्ती में अनन्त सौरभ, अनन्त आनन्द और अनन्त प्रकाश को कुबेर की तरह बाँट रहे हैं। उस विराट व्यक्तित्व को यह जड़ लेखनी कैसे अभिव्यक्ति दे सकती है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैंने जो गुरुदेव श्री का जीवन-वृत्त लिखा है वह भावुकता के प्रवाह में प्रवाहित होकर नहीं लिखा है, किन्तु गहराई से उनकी अगाधता को देखा है। मुझे ऐसा ज्ञात हुआ कि अगणित सूर्य अपनी हजारों किरणों के साथ चमक रहे हैं, विश्वमैत्री के अगणित कलश एक साथ छलक रहे हैं; और उनके अन्तर्हृदय से स्नेह सद्भावना व करुणा की न जाने कितनी ही गंगा-यमुना और सरस्वतियाँ बह रही हैं। अतः उसे किसी सीमा रेखा में बाँधना कठिन ही नहीं कठिनतर है, मेरा मानना है। आपश्री का निर्मल व्यक्तित्व "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की अपूर्व समन्विति है। आपके प्रत्येक चरण में मानवता की मंगल मुस्कराहट है और प्रत्येक शब्द में समन्वय का अनहद नाद है और प्रत्येक चिन्तन में दिव्य आलोक है और प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में अनन्त विश्वास है।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुमुखी है। उत्कृष्ट साधना से अपने अन्तरंग को विकसित किया है। वहाँ व्यवहार-कुशलता और स्नेह सद्भावना से जन-जन के अन्तर्मानस को जीता है। आपश्री का जीवन सरोवर नहीं, किन्तु भागीरथी की बहती धारा है। आपके प्रत्येक श्वास में प्रगति का स्वर प्रस्फुटित होता है, जड़ता और स्थितिपालकता आपको किंचित् भी पसन्द नहीं है। किन्तु आपके जीवन में ऋतुराज वसन्त की तरह सुन्दरता और सरसता है। सदा अभिनव कल्पना और नये उत्साह के सरस सुमन खिलते रहते हैं। अतीत के प्रति अपार आस्था होने पर भी आपके नेत्रों में भविष्य का विश्वास और उल्लास है। आप मानवता के मसीहा हैं, युगपुरुष हैं। आपका जीवन 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' है। आप असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न, अतुल आत्मबली, कुशल अनुशासक, अनुत्तर आचार-निधि और साहित्य जगत् के उज्ज्वल नक्षत्र हैं।

मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ मुझे सद्गुरुदेव श्री के जीवन को अत्यन्त निकटता से देखने का अवसर मिला। सन् १९४० में मैंने आपश्री के चरणों में आर्हती दीक्षा ग्रहण की तब से निरन्तर मैं आपश्री के साथ रहा हूँ। मैंने अच्छी तरह से आपश्री को देखा है, परखा है, जैसे सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता और जलधि का गांभीर्य प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं, वैसे आपके जीवन को निरखने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं निखरित है। आपके तपःपूत व्यक्तित्व और सर्जनात्मक कृतित्व की मेरे हृदय पर अमिट छाप है।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है, यह अत्यन्त आल्हाद का विषय है। इस सुनहरे अवसर पर अगाध श्रद्धा के सुवासित सुमनों की लघु भेंट उनके श्री चरणों में समर्पित करते हुए मैं अपने आपको धन्य अनुभव कर रहा हूँ। हमारे हृदय की यही मंगलमय भावना है आप दीर्घायु हों, शतायु हों और हम आपके कुशल नेतृत्व में ज्ञान, दर्शन और चारित्र में निरन्तर बढ़ते रहें।

बोलते क्षण

मैं उम्र में छोटा हूँ

गुरुदेव श्री एक गाँव में ठहरे हुए थे। एक वृद्ध किसान आया, गुरुदेव को नमस्कार कर बोला—जरा आप अपना पैर लम्बा कीजिए, ताकि मैं आपश्री के चरण दबा सकूं। गुरुदेव श्री ने कहा—हम इस प्रकार गृहस्थों से शारीरिक सेवा नहीं करवाते हैं। किसान ने अपनी आँखें आप पर गड़ाते हुए कहा—आप पैर दबवाने से क्यों घबरा रहे हैं? मैंने अनेक साधु-महात्माओं के पैर दबाये हैं। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा— यह हमारा नियम है और दूसरी बात यह है कि तुम अवस्था में मेरे से बड़े हो। मैं उम्र में छोटा हूँ, नौजवान हूँ। इसलिए भी वृद्धों से पैर दबवाना नीति के प्रतिकूल है।

बोलते क्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कदम-कदम पर पदम खिले

गुरुदेव श्री के विहार-चर्या और वर्षावास : एक विवरण

देवेन्द्र मुनि शास्त्री

श्रमण संस्कृति का श्रमण घुमक्कड़ है। हिमालय से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक यह पैदल परिभ्रमण कर जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म की ज्योति जगाता है। धर्म से विमुख बने हुए व्यक्तियों को धर्म का सही मर्म बतलाता है। सरिता की सरस धारा के समान चलते रहना ही उसको पसन्द है। भगवान महावीर ने ऋषि-मुनियों के लिए कहा है—"**विहारचरिया इसिणंपसत्था**" श्रमण ऋषियों के लिए विहार करना प्रशस्त है। जैन श्रमणों के लिए ही नहीं, वैदिक संन्यासियों के लिए और बौद्ध भिक्षुओं के लिए भी परिभ्रमण करना आवश्यक माना है। जीवन की गतिशीलता के साथ पैरों की गतिशीलता का कोई अदृष्ट सम्बन्ध रहना चाहिए। नीतिकारों ने देशाटन को चातुर्य का कारण माना है—"**देशाटनं पण्डितमित्रता च।**" उपनिषदकारों ने "**चरैवेति चरैवेति**" सूत्र के द्वारा केवल भावात्मक गतिशीलता को ही नहीं अपितु परिभ्रमण को विभिन्न उपलब्धियों का हेतु माना है। वृद्धश्रवा इन्द्र ने सत्य ही कहा है—"**चरतो चरतो भगः**" जो बैठा रहेगा उसका भाग्य भी बैठा रहेगा, जो चलता रहेगा उसका भाग्य भी गतिशील होगा। तथागत बुद्ध का मन्तव्य है जैसे गेंडा अकेला वन में निर्भय होकर घूमता है वैसे ही भिक्षुओं को निर्भय होकर घूमना चाहिए। एक समय उन्होंने अपने साठ शिष्यों को बुलाकर कहा—

"**चरथ भिक्खवे बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय,**
चरथ भिक्खवे चारिकां, चरथ भिक्खवे चारिकां।"

'हे भिक्षुओ, बहुत से लोगों के हित के लिए और अनेक लोगों के सुख के लिए विचरण करो। भिक्षुओ ! अपनी जीवनचर्या के लिए सतत चलते रहो, सतत भ्रमण करते रहो।" उन भिक्षुओं ने तथागत बुद्ध को पूछा—"भदन्त, अज्ञात प्रदेश में जाकर हम लोगों को क्या उपदेश दें ?" उत्तर में बुद्ध ने कहा—

"**पाणी न हंतव्वो**
अदिन्नं न दातव्वं
कामेसु मुच्छा न चरितव्वा,
मूसा न भासितव्वा,
मज्जं न पातव्वं।"

अर्थात् "प्राणियों की हिंसा मत करो, चोरी मत करो, कामासक्त मत बनो, मृषा मत बोलो और मद्य मत पिओ।" बौद्ध धर्म के विश्व के सुदूर अंचलों में फैलने का मुख्य कारण बौद्ध भिक्षुओं के सतत पैदल परिभ्रमण को ही है। बौद्ध भिक्षुओं ने घूम-घूम कर अपने आचरण व उपदेशों के द्वारा लंका, जावा, सुमात्रा, बर्मा, श्याम, चीन, जापान, तिब्बत, प्रभृति एशिया में धर्म, नीति, सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया।

महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन ने "घुमक्कड़ शास्त्र" नामक एक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने अतीत काल के घुमक्कड़ों का वर्णन करते हुए घुमक्कड़ी के अनेक लाभ बताये हैं। उन्होंने भगवान महावीर को 'घुमक्कड़ राज' पद प्रदान किया है। भगवान महावीर ने भी अपने श्रमणों और श्रमणियों को एक दिन कहा था—"**भारंडपक्खीव चरेऽप्पमत्ते**"—हे श्रमणों, भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त होकर विहार करो, भ्रमण करो, विचरण करो।" जैन और बौद्ध श्रमणों के विहार करने के कारण ही उस प्रदेश का नाम 'बिहार' हो गया। एक पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है—जो पद यात्रा करता है उसी की यात्रा सर्वोत्तम है : "He travels best, who travels on foot.

मानव जीवन की गहनता, जीवन की वास्तविक अनुभूति और सांस्कृतिक अध्ययन तथा नैतिक परम्पराओं का तलस्पर्शी अनुशीलन जो एक घुमक्कड़ कर सकता है उसकी कल्पना एक वाहन-विहारी नहीं कर सकता। यह सत्य है, पैदल घूमना फूलों का मार्ग नहीं कांटों का मार्ग है, सुख-सुविधाओं का मार्ग नहीं, दुःखों का मार्ग है, कष्ट-सहिष्णु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति ही इस पथ का पथिक हो सकता है। चलते समय कभी-कभी आपत्तियाँ भी आती हैं तो कभी-कभी आनन्द भी। कहीं पर स्नेह-सद्भावना और सत्कार का अमृत मिलता है तो कहीं द्वेष-दुर्भावना और दुतकार का हलाहल जहर भी मिलता है। कहीं पर भव्य भवन मिलते हैं तो कहीं पर रहने के लिए टूटी-फूटी झोंपडी भी नहीं मिलती। कभी घी घना तो कभी मुट्ठी चना भी नसीब नहीं होते। एतदर्थ ही एक कवि ने कहा—'परदेश कलेश नरेशहु को।"

अर्थात् "परदेश में नरेश को भी कष्ट मिलता है"तो साधारण व्यक्ति की बात ही क्या ? किन्तु सच्चा साधक विहार में आने वाली कठिनाइयों, विघ्नबाधाओं तथा तूफानों को देखकर न घबराता है, न झिझकता है, न ठिठकता है, न रुकता है। किन्तु उस समय अपनी अलमस्ती में चलता हुआ एक उर्दू शायर से वह प्रेरणा प्राप्त कर लेता है—

"काट लेना हर कठिन मंजिल का कुछ मुश्किल नहीं।
इक जरा इन्सान में चलने की आदत चाहिए।"

विहार में यात्रा में, वह नये-नये व्यक्तियों से, नये-नये गाँवों से, नये-नये मकान और नये-नये खान-पानों से साक्षात करता हुआ शेर की तरह वह अपने ध्येय की ओर आगे बढ़ता जाता है। विघ्न-बाधाएँ और तूफानों को देखकर उसके कदम न लड़खड़ाते हैं, न डगमगाते हैं, किन्तु हिमालय की चट्टान की तरह अडिग रहता है।

आज नित नये वाहनों के विकास ने क्षेत्र की दूरी को संकुचित कर दिया है। जल, स्थल और अनन्त आकाश की अगम्यता भी धीरे धीरे गम्यता में परिणत हो रही है। तथापि जैनश्रमण प्राचीन परम्परा के अनुसार पादचार से ग्रामानुग्राम विहरण करता है। विहारचर्या जन-सम्पर्क की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तेज वाहनों पर चलने से गाँवों और शहरों के व्यक्तियों से सम्पर्क नहीं हो सकता। जैनश्रमण प्रव्रज्या ग्रहण करते ही आजीवन के लिए वह पदयात्री बन जाता है। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने अपने जीवन में बहुत बडी-बडी पद-यात्राएँ की हैं। उन्होंने मेवाड़, पंचमहाल, मारवाड़, ढुंढार, भरतपुर, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, खानदेश, सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तामिलनाडु आदि प्रान्तों की अनेक बार यात्राएँ की हैं। मारवाड़ और मेवाड़ के छोटे-छोटे गाँवों में आप पधारे हैं। राजस्थान से बम्बई और पूना तक आपने चार बार यात्रा की। और प्रत्येक बार की यात्रा पहली की यात्रा से अधिक प्रभावशाली रही। प्रथम यात्रा में आपश्री बंबई में दो महीने रुके। दूसरी यात्रा में बंबई के विविध अंचलों में बारह महीने तक रुके। तृतीय यात्रा के प्रथम चरण में छः महीने तक और द्वितीय चरण में दो वर्ष तक रुके। इस समय मेरे द्वारा संपादित किया हुआ कल्पसूत्र का गुजराती अनुवाद, कान्दावाड़ी जैन संघ के द्वारा प्रकाशित हुआ और उसकी प्रथम आवृत्ति ३००० प्रतियाँ सिर्फ ५ दिन में समाप्त हो गयीं पुनः द्वितीय आवृत्ति ८ दिन में समाप्त हो गयीं। कुछ ईर्ष्यालु व्यक्तियों ने उसकी लोकप्रियता को देखकर उसकी आलोचना भी की। किन्तु उसकी लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली गयी। और चतुर्थ यात्रा में दक्षिण की ओर बढना था, तो सिर्फ चालीस दिन तक रहे। किन्तु इन चालीस दिनों में अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रम रहा। स्थान-स्थान पर आपश्री के जाहिर प्रवचन हुए। चौपाटी पर महावीर जयन्ती के पावन प्रसंग होने से लगभग ७०-८० हजार जनता थी। भात बाजार के जाहिर प्रवचन में १०-१५ हजार जनता थी। बंबई में सर्वप्रथम राजस्थानी मुनियों का स्वागत और विदाई समारोह मनाया गया जिसमें बंबई के गणमान्य नेतागण उपस्थित थे। इन चालीस दिन के प्रवास में सैकड़ों कार्यकर्तागण गुरुदेव श्री के निकट सम्पर्क में आये और गुरुदेव श्री के प्रबल प्रभाव से प्रभावित हुए।

अहमदाबाद भी गुरुदेव चार बार पधारे। प्रथम बार में प्रेमा बाई हॉल में जाहिर प्रवचन हुए। दूसरी व तीसरी बार के प्रवास में भी स्थान-स्थान पर आपके जाहिर प्रवचनों का आयोजन हुआ। दूसरी और तीसरी बार में आपश्री क्रमशः १ महीना तथा दस दिन विराजे। चतुर्थ यात्रा में आपने वहाँ पर वर्षावास किया। श्रावकों में साम्प्रदायिक मतभेद की स्थिति चल रही थी, जो आपके वहाँ पर वर्षावास करने से मिट गयी और जन-मानस में स्नेह का सरस वातावरण निर्माण हुआ। भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी का सुनहरा प्रसंग था। श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी जैन समाज में निर्वाण शताब्दी न मनायी जाय इस सम्बन्ध में तीव्र विरोध था। उस विरोध में आपश्री के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व के कारण अहमदाबाद में स्थित मन्दिरमार्गी समाज के मूर्धन्य आचार्य श्री नन्दनसूरि जी आदि ने इस आयोजन में भाग लिया। उग्रविरोध में भी निर्वाण महोत्सव का कार्य शानदार रूप से मनाया गया। हठीसिंह की वाड़ी में तथा नगर सेठ के वंडे में सामूहिक रूप से आयोजन हुए एवं राजस्थानी सोसाइटी के विशाल मैदान में मोरारजी भाई देसाई के द्वारा 'भगवान महावीर : एक अनुशीलन' ग्रन्थ का विमोचन किया गया और वह आपश्री को समर्पित किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूना में भी आपश्री के दो वर्षावास हुए। पहले वर्षावास की अपेक्षा द्वितीय वर्षावास अधिक प्रेरणादायी रहा। इस वर्षावास में अनेक मूर्धन्य मनीषियों से सम्पर्क बढ़ा। तथा जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण 'धर्म का कल्पवृक्ष : जीवन के आँगन में,' 'भगवान महावीर की प्रतिनिधि कथाएँ' आदि अनेक ग्रन्थों के विमोचन भी हुए। आपश्री की प्रेरणा से विश्वविद्यालय में जैन-चेयर की संस्थापना हुई। पुष्कर गुरु सहायता फंड की संस्थापना हुई। तपस्या का ठाठ भी ज्यादा रहा।

जयपुर में आपश्री के तीन वर्षावास हुए और जोधपुर में चार वर्षावास हुए। इन वर्षावासों में अध्ययन चिन्तन-मनन के साथ ही जैन-एकता के लिए आपश्री ने अथक परिश्रम किया। आपश्री के वर्षावासों में उत्कृष्ट तप की व जप की साधना होती है। आपश्री ने जहाँ भी वर्षावास किये, वहाँ पर स्नेह-सद्भावना का निर्माण किया। युवकों में धर्म के प्रति आस्थाएँ जागृत कीं। आपश्री की कर्नाटक प्रान्त की विहार यात्रा भी अत्यन्त यशस्वी रही है। कर्नाटक प्रान्त में आप जहाँ भी पधारे वहाँ पर अपूर्व उत्साह का संचार हुआ। जन-जन के अन्तर्मानस में जैनधर्म व दर्शन को समझने की निर्मल भावना अँगड़ाइयाँ लेने लगी। अनेक शिक्षण-संस्थाओं में आपके प्रवचन हुए। रायचूर, जहां एक सौ दस घर स्थानकवासियों के होने पर भी ग्यारह मासखमण तथा अन्य ६१ व अन्य तपस्याएँ अत्यधिक हुईं। बेंगलोर वर्षावास में लगभग ५० मासखमण और तप की जीति-जागती प्रतिमा अ० सौ० धापुबाई गोलेच्छा ने १५१ की उग्र तपस्या की तथा अन्य लघु तपस्याएँ इतनी हुईं कि सभी विस्मित हो गये। 'पुष्कर गुरु जैन युवक संघ' और 'पुष्कर गुरु जैन पाठशाला' की तथा 'पुष्कर गुरु जैन भवन' का भी निर्माण हुआ।

इन विहार-यात्राओं में कभी भयंकर गरमी का अनुभव हुआ, तेज लूओं ने भी आपकी परीक्षा ली। और कभी सनसनाती हुई सर्दी से ठिठुरते रहे। तो कभी वर्षा के कारण भीगते हुए रास्ता पार किया। बम्बई के विहार में नदी-नालों से बचने के लिए रेल की पटरी के मार्ग पर चलना होता है। यहाँ पर कंकड़ों के मारे पैर छलनी हो जाते हैं। वर्षा के दिनों में भीगी हुई चिकनी मिट्टी के चिमट जाने से चलना भी दूभर हो जाता है। इस प्रकार अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी आपकी विहार यात्रा का अजस्र स्रोत चालू है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में, आप उसी सहज भाव से जाते-आते हैं जैसे कोई व्यक्ति अपने ही भव्य भवन के विविध कमरों में जाता-आता है। आप चाहे किसी भी प्रान्त में जायें, वहाँ आपको कोई परायापन महसूस नहीं होता। वसुधैव कुटुम्बकम् की उदात्त भावना के कारण आपको सर्वत्र अपार आनन्द की अनुभूति होती है। संक्षेप में आपश्री के वर्षावासों की सूची इस प्रकार है।

संख्या	ई० सन्	वि० संवत्	क्षेत्र का नाम	प्रान्त का नाम
१.	१९२४	१९८१	समदडी	मारवाड़
२.	१९२५	१९८२	नान्देशमा	मेवाड़
३.	१९२६	१९८३	सादड़ी	मारवाड़
४.	१९२७	१९८४	सीवाना	मारवाड़
५.	१९२८	१९८५	जालौर	मारवाड़
६.	१९२९	१९८६	सीवाना (सकारण)	मारवाड़
७.	१९३०	१९८७	खाण्डप	मारवाड़
८.	१९३१	१९८८	गोगुन्दा	मेवाड़
९.	१९३२	१९८९	पीपाड़	मारवाड़
१०.	१९३३	१९९०	भंवाल	मारवाड़
११.	१९३४	१९९१	ब्यावर	मारवाड़
१२.	१९३५	१९९२	लीमड़ी	गुजरात
१३.	१९३६	१९९३	नासिक	महाराष्ट्र
१४.	१९३७	१९९४	मनमाड़	महाराष्ट्र
१५.	१९३८	१९९५	कम्बोल	मेवाड़
१६.	१९३९	१९९६	सीवाना	मारवाड़
१७.	१९४०	१९९७	खण्डप	मारवाड़
१८.	१९४१	१९९८	समदड़ी	मारवाड़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संख्या	ई० सन्	वि० संवत्	क्षेत्र का नाम	प्रान्त का नाम
१९.	१९४२	१९९९	रायपुर	मारवाड़
२०.	१९४३	२०००	पीपाड़	मारवाड़
२१.	१९४४	२००१	जोधपुर	मारवाड़
२२.	१९४५	२००२	नान्देशमा	मेवाड़
२३.	१९४६	२००३	धार	मध्यप्रदेश
२४.	१९४७	२००४	नासिक	महाराष्ट्र
२५.	१९४८	२००५	घाटकोपर, बम्बई	महाराष्ट्र
२६.	१९४९	२००६	चूड़ा	गुजरात-सौराष्ट्र
२७.	१९५०	२००७	नान्देशमा	मेवाड़
२८.	१९५१	२००८	सादड़ी	मारवाड़
२९.	१९५२	२००९	सिवाना	मारवाड़
३०.	१९५३	२०१०	जयपुर	मारवाड़
३१.	१९५४	२०११	दिल्ली	दिल्ली
३२.	१९५५	२०१२	जयपुर (सकारण)	मारवाड़
३३.	१९५६	२०१३	जयपुर (सकारण)	मारवाड़
३४.	१९५७	२०१४	उदयपुर	मेवाड़
३५.	१९५८	२०१५	बाघपुरा	मेवाड़
३६.	१९५९	२०१६	जोधपुर	मारवाड़
३७.	१९६०	२०१७	ब्यावर	मारवाड़
३८.	१९६१	२०१८	सादड़ी	मारवाड़
३९.	१९६२	२०१९	जोधपुर	मारवाड़
४०.	१९६३	२०२०	जालौर	मारवाड़
४१.	१९६४	२०२१	पीपाड़	मारवाड़
४२.	१९६५	२०२२	खाण्डप	मारवाड़
४३.	१९६६	२०२३	पदराड़ा	मेवाड़
४४.	१९६७	२०२४	बालकेश्वर, बम्बई	महाराष्ट्र
४५.	१९६८	२०२५	घोड़नदी	महाराष्ट्र
४६.	१९६९	२०२६	पूना	महाराष्ट्र
४७.	१९७०	२०२७	दादर, बम्बई	महाराष्ट्र
४८.	१९७१	२०२८	कान्दावाड़ी, बम्बई	महाराष्ट्र
४९.	१९७२	२०२९	जोधपुर	मारवाड़
५०.	१९७३	२०३०	अजमेर	राजस्थान
५१.	१९७४	२०३१	अहमदाबाद	गुजरात
५२.	१९७५	२०३२	पूना	महाराष्ट्र
५३.	१९७६	२०३३	रायचूर	कर्नाटक
५४.	१९७७	२०३४	बेंगलोर	कर्नाटक

☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्मरण : कुछ मीठे : कुछ कड़वे

दाने-दाने पर लिखा गया खाने वाले का नाम—

सन् १९२६ में आपका वर्षावास सादड़ी (मारवाड़) में था। उस समय आपके पूज्य गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज और दौलतराम जी महाराज वहाँ पर थे। एक दिन भिक्षा में एक लड्डू आया। वह लड्डू कौन खाये—यह प्रश्न था। गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज ने आपसे कहा—पुष्कर, तू सबसे छोटा है, अतः लड्डू का अधिकारी तू है। आपश्री ने गुरुदेव से निवेदन किया—गुरुदेव, आप बड़े हैं, इसलिए सरस आहार आपको लेना चाहिए। या इन वृद्ध महाराज को" अन्त में यह निर्णय हुआ कि प्रथम शेष आहार को कर लिया जाय, बाद में लड्डू का वितरण कर देंगे। यह विचार कर आहार के बीच में जो लघु पट्टा रखा हुआ था, उस पर लड्डू रख दिया। स्थानक में ही पीपल का पेड़ था। उस पर एक बन्दर छिप करके बैठा हुआ था। उसने लड्डू को देखा तो धीरे से नीचे उतरा और चट से लड्डू को लेकर चलता बना। आपश्री ने गुरुदेव को कहा—गुरुदेव, दाने-दाने पर लिख गया है खाने वाले का नाम'—इसी को कहते हैं।

उत्कट सेवा भावना

सन् १९३४ में आपका चातुर्मास ब्यावर था। चातुर्मास में जैन श्रमण विहार नहीं करते। वे एक स्थान पर स्थित रहते हैं, किन्तु स्थानांग सूत्र के पाँचवें ठाणे में चातुर्मास में भी जैन श्रमण विहार कर सकते हैं ऐसा उल्लेख है। वे कारण हैं—ज्ञान के लिए, दर्शन के लिए, चारित्र के लिए, आचार्य और उपाध्याय की मृत्यु के अवसर पर, वर्षा क्षेत्र से बाहर रहे हुए आचार्य या उपाध्याय की वैय्यावृत्य करने के लिए। इस विधान के अनुसार आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज की सम्प्रदाय के वयोवृद्ध प्रवर्तक श्री दयालचन्द जी महाराज जिनका वर्षावास उस समय समदड़ी में था, वे अत्यधिक अस्वस्थ हो गये। तब आपश्री वर्षावास में विहार कर ब्यावर से समदड़ी पधारे।

सत्याग्रह नहीं हठाग्रह

सन् १९३६ में आपका चातुर्मास नासिक था। उस समय आपश्री बम्बई होकर नासिक पधारे थे। उस समय बम्बई के सत्याग्रही मुनिश्री मिश्रीलाल जी ने आचार्य हुक्मीचन्द जी महाराज के पूज्य जवाहरलाल जी महाराज और पूज्य मुन्नालाल जी महाराज की एकता कराने हेतु सत्याग्रह कर रखा था। सत्याग्रह के साठ दिन पूरे हो चुके थे। बम्बई संघ के अत्याग्रह पर आपश्री ने उन्हें समझाने का प्रयास किया कि जैन श्रमणों को इस प्रकार फुट-पाथ पर रहकर अनशन नहीं करना चाहिए। यह सत्याग्रह नहीं हठाग्रह है इससे जिनशासन की प्रभावना के स्थान पर हीलना होती है। उन्हें गुरुदेव श्री के तर्क समझ में आ गये, किन्तु वे अपने हठ को छोड़ने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। किन्तु अन्त में उन्हें सफलता नहीं मिली और डाक्टर के कहने पर अनशन छोड़ना पड़ा। इस समय उन्हें ध्यान आया कि आपश्री के कहने पर छोड़ देता तो अच्छा था।

प्रकाण्ड पाण्डित्य

सन् १९३७ में मनमाड़ चातुर्मास के पूर्व राहोरी में विदुषी महासती राजकुँवर जी और जैनजगत् की उज्ज्वलतारिका उज्ज्वलकुमारी जी आपसे मिलीं। आपश्री के न्याय, दर्शन के प्रकाण्ड पाण्डित्य को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुईं। और उन्होंने आपश्री से पढ़ने की जिज्ञासा व्यक्त की। किन्तु आपश्री का वर्षावास मनमाड़ निश्चित हो चुका था, अतः महासती जी की भावना को मूर्तरूप नहीं दिया जा सका। क्योंकि महासती राजकुंवर जी रुग्ण थीं और वे उन्हें उस समय पृथक् रहने की स्थिति में नहीं थी।

वृद्धा का षड्यन्त्र

सन् १९४० में आपका चातुर्मास खण्डप में था। उस समय एक वृद्धा ब्राह्मणी आठ-दस व्यक्तियों को लेकर उपस्थित हुई। सन्तगण स्वाध्याय-ध्यान में लीन थे। आते ही उस वृद्धा ने कहा—मेरा पुत्र यहाँ पर है। मैं उसे लेने के लिए आयी हूँ। गुरुदेव श्री ने विनोद करते हुए कहा—हम यहाँ तीन साधु हैं, उसमें जो तुम्हें पसन्द हो उसे अपना पुत्र बना लो। वृद्धा ने तपाक से कहा—तू ही मेरा बेटा है। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा—माँ! इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म का तो नहीं, हाँ किसी जन्म में तुम्हारा बेटा रहा हूँगा। इसलिए मेरे को देखकर तुम्हारे में वात्सल्य-भाव उमड़ रहा है। आज का दिन बड़ा अच्छा है। माँ मिल गयी। वृद्धा ने आँखों से आँसू बरसाते हुए कहा—बेटा, मेरे से मजाक न कर। सीधा घर को चल। गुरुदेव ने जरा गम्भीर होकर कहा—माँ, तुम्हें भ्रम हो गया है। मैं तुम्हारा इस जन्म का पुत्र नहीं हूँ। तुम्हारे को किसने कहा कि मैं तुम्हारा बेटा हूँ। मेरा जन्म तो मेवाड़ में हुआ था और मेरी आँखों के सामने ही मेरी माँ मर गयी थी, फिर तुम नई माँ कहाँ से आ गयीं? उस वृद्धा ने आँखों से अंगारे बरसाते हुए कहा—झूठ है। बिल्कुल सफेद झूठ है। तेरी माँ मरी नहीं। मैं जिन्दा बैठी हूँ। आज से सोलह-सत्रह वर्ष पूर्व तू घर से भाग गया था। और इन साधुओं के चंगुल में फँसकर साधु बन गया और अब कहता है मेरी माँ मर गयी। उस समय उसने अपने साथ आये हुए आठ-दस व्यक्तियों को जिन्होंने रस्सियाँ छिपाकर रखी हुई थीं, उनकी ओर देखते हुए कहा—क्या देखते हो टुकुर-मुकुर। इसको रस्सियों से बाँधकर गाड़ी में डालकर ले चलो। वे ज्यों ही आगे बढ़े त्यों ही गुरुदेव ने सारे षड्यन्त्र को समझ लिया। अतः उन्हें ललकारते हुए कहा—कि तुमने यदि मेरे हाथ लगाया तो ठीक न होगा। अपनी खैर चाहते हो तो दूर ही खड़े रहना। ज्योंही उन्होंने आपके आध्यात्मिक तेज को देखा त्योंही वे स्तंभित हो गये। वृद्धा ने जब यह देखा उसका षड्यन्त्र सफल नहीं हो रहा है तो आँखों से आँसू बरसाते हुए कहा—लाल, हम तेरे साथ जबरदस्ती नहीं करेंगे। तू अपनी इच्छा से चल। गाँव के लोग इस कुतूहल-पूर्ण वातावरण को देखने के लिए काफी संख्या में उपस्थित हो गये। वहाँ एक समझदार व विवेकशील श्रावक थे रघुनाथमल जी लुंकड। वे आगे आये। उन्होंने सभी लोगों से कहा—तुम लोगों ने धर्म-स्थानक में क्या तमाशा बना रखा है कि हाथ में लाठियाँ और रस्सियाँ क्यों लेकर आये हो? तुम जिसे अपना पुत्र कह रही हो वह तुम्हारा पुत्र नहीं है। तुमने मिथ्या षड्यन्त्र रचा है। देखो, जहाँ के ये मुनि जी हैं उनकी जन्मस्थली के मुरब्बी लोग भी यहाँ दर्शनार्थ आये हुए हैं। उन्होंने गुरुदेव की दीक्षा पत्रिका आदि बतायी जिससे साथ में आने वाले व्यक्तियों की शंका मिट गयी। और उन्होंने कहा—वृद्धा के कहने से ही हम आये थे। हमें क्या पता कि यह किसका बेटा है? सत्य-तथ्य ज्ञात होने पर वे निराश होकर चल दिये। उनका षड्यन्त्र सफल न हो सका।

अठ्यानाश

सन् १९४२ का वर्षावास गुरुदेव श्री का रायपुर में था। इस वर्षावास के पूर्व जब आप नाथद्वारा में विराज रहे थे उस समय नन्दलाल जी रांका के पुत्र नजरसिंह ने गुरुदेव से दीक्षा के लिए प्रार्थना की, किन्तु पारिवारिक-जनों की अनुमति न होने से आपने उसे दीक्षा नहीं दी। किन्तु उन्होंने व्याख्यान में ही मुनिवेष धारण कर स्वतः 'करेमि भन्ते' का पाठ पढ़कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। रायपुर वर्षावास में उनकी माता वहाँ आयी। रुष्ट होकर आपश्री को गालियाँ देने लगी। आपश्री उनकी गालियों को शान्ति से सुनते रहे। जब आपने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया तब उसने हाथ की मुद्रा बनाते हुए कहा—तुम्हारा सत्यानाश जाना। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा—माता जी, सत्यानाश क्यों कहती हो? अठ्यानास कहो न? सत्यानाश में तो एक कर्म अवशेष रह जायगा जिससे मुक्ति नहीं होगी। अठ्यानास होने पर ही मुक्ति होगी। उसका क्रोध कपूर की तरह उड़ गया। वह चरणों में गिर पड़ी गुरुदेव! मोह बड़ा प्रबल है जिसके कारण उचित और अनुचित का कुछ भी ख्याल नहीं रहता।

डाकू साधु बना

प्रस्तुत वर्षावास में शांति मुनिजी ने मासखमण का तप किया और ठाकुर गोविन्दसिंह जी के अत्याग्रह पर राजमहल में प्रवचन हुए। ठाकुर गोविन्दसिंह जी ने मांस, मदिरा का परित्याग किया। इस वर्षावास के पूर्व उस समय के प्रख्यात डाकू लक्ष्मणसिंह जी करमावास में आपके प्रवचन में उपस्थित हुए। आपके प्रवचन को सुनकर उन्हें अपने कृत्यों पर ग्लानि हुई। और बाद में उन्होंने डाकूपने का परित्याग कर वैदिक परम्परा के साधु बने। सत्संग का कितना गहरा असर होता है?—यह इस घटना से सहज ही परिज्ञात होता है।

सूखी रोटी का स्वाद

सन् १९४३ में आपका वर्षावास पीपाड़ में था। वर्षावास के पूर्व आप जोधपुर पधारे थे। रास्ते में चौदह मील का विहार कर आप एक प्याऊ पर ठहरे। प्याऊ की देख-रेख एक बाबा करते थे। बाबा ने आपको देखकर कहा कि—जैन सेठ की बनायी हुई यह प्याऊ है। उनके आदेश से मैं सदा यहाँ अचित पानी रखता हूँ। आप पानी ले लीजिए मेरे पास दो सूखे और रूखे बाजरी के टिक्कर पड़े हुए हैं मेरे काम के नहीं हैं। आप चाहें तो उसे ले सकते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। गुरुदेव ने कहा—इस समय इतनी भयंकर गरमी हो चुकी है। गाँवों में से भिक्षा लाना सम्भव नहीं है, क्योंकि यहाँ से गाँव एक-एक मील दूर है। अतः आपश्री ने उससे एक टिक्कर ले लिया और आधा-आधा टिक्कर पानी से खाकर पानी पी लिया। चौदह मील चलकर आये थे। बड़ी तेज भूख लग रही थी। अतः टिक्कर खाने में दिक्कत नहीं हुई। दूसरे दिन आप जोधपुर पधारे जहाँ पर गोचरी में बादाम और पिस्ते की कतलियाँ आयीं। आपने कहा जो उस सूखे टिक्कर में स्वाद था वह इन कतलियों में कहाँ? वस्तुतः स्वाद भूख में है; पदार्थ में नहीं। आज का मानव अधिक से अधिक खाने के पीछे दीवाना बना हुआ है। वस्तुतः जो भूख में खाया जाता है वही मधुर है।

दृढ़ मनोबल

सन् १९४४ का वर्षावास पूर्ण कर आपश्री उदयपुर पधारे। ग्रीष्म का समय था। शाम को पाँच बजे आपश्री गोचरी के लिए पधारे। एक गृहस्थ के घर से भिक्षा लेकर लौट रहे थे कि आपश्री को चक्कर आ गया और सीढ़ियों से नीचे गिर पड़े। नीचे एक तीक्ष्ण पत्थर था। वह सिर में लग गया जिससे रक्त की धारा बह चली और आपश्री बेहोश हो गये। पौन घण्टे के पश्चात् जब आपको होश आया तब आपने देखा कि लोग डोली की तैयार कर रहे थे: आपको स्थानक पर ले जाने के लिए। आपने कहा—मैं डोली में नहीं बैठूंगा और पैदल चलकर ही स्थानक पहुँचूंगा। सूर्यास्त होने वाला था, इसलिए आपश्री ने न दवा ली और न टाँके ही लगवाये। किन्तु मुस्कराते हुए अपार वेदना को सहन करते रहे। यह था आप में दृढ मनोबल।

ध्यान की प्रेरणा

सन् १९४६ में आपका वर्षावास धार में था जिसे सुप्रसिद्ध साहित्य और काव्यप्रेमी महाराजा भोज की राजधानी होने का गौरव प्राप्त है। जहाँ पर कविकुल गुरु कालिदास के काव्यों को प्रणयन हुआ ऐसी किंवदन्ति है। और स्थानकवासी समाज के ज्योतिर्धर आचार्यश्री धर्मदासजी महाराज ने धर्म की प्रभावना हेतु अपने शिष्य के विचलित होने पर स्वयं ने संथारा कर समाधिमरण प्राप्त किया था। वह पट्टा जिस पर आचार्यश्री ने संथारा किया था, उस पर प्रायः सन्त व सती गण नहीं सोती हैं, किन्तु आपश्री उस पर चार महीने तक सोये। आपको स्वप्न में आचार्य प्रवर के दर्शन भी हुए और उन्होंने ध्यान-साधना आदि के सम्बन्ध में आपको प्रेरणा दी।

संगठन के सजग प्रहरी

सन् १९४८ का वर्षावास घाटकोपर-बंबई में सम्पन्न कर अन्य स्थलों पर विचरते रहे। आपके अन्तर्मानस में जैन समाज की एकता के लिए चिन्तन चल रहा था। और घाटकोपर में आपश्री की प्रबल प्रेरणा से उपाध्याय प्यारचन्द जी महाराज, आत्मार्थी श्री मोहन ऋषि जी महाराज, शतावधानी पूनमचन्द जी महाराज और परम विदुषी उज्ज्वल कुमारी जी आदि सन्त सती वृन्द वहाँ पर एकत्रित हुए। सन्त सम्मेलन की योजना बनायी और आपश्री ने एक पंचसूत्री योजना प्रस्तुत की—

(१) एक गाँव में एक चातुर्मास हो।
(२) एक गाँव में दो व्याख्यान न हों।
(३) एक दूसरे की आलोचना न की जाय।
(४) एक सम्प्रदाय के सन्त दूसरे सन्तों से मिलें तो उस समय स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार रखा जाय।
(५) यदि मकान की सुविधा हो तो एक साथ ठहरा जाय।

सन् १९५१ में आपका चातुर्मास सादड़ी था। उस समय आपश्री की प्रेरणा से सादडी में विराट् सन्त सम्मेलन हुआ। और वर्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ की संस्थापना हुई। संघ की संस्थापना में आपश्री की विलक्षण प्रतिभा, सूझबूझ, संगठनशक्ति, नींव की ईंट के रूप में कार्य करती रही। और सन् १९५२ में सिवाना वर्षावास में भी संघठन को अधिक से अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए आपश्री का चिन्तन चलता रहा जिसके फलस्वरूप सोजत में मंत्रीमंडल की बैठक हुई। उसमें सचिताचित के प्रश्न को लेकर गंभीर चर्चाएँ हुईं। और एक आचार संहिता का निर्माण हुआ। जब कभी सम्मेलनों में विचार चर्चा में मतभेद होने के कारण दरार पड़ने की स्थिति पैदा हुई उस समय आपश्री नूतन और पुरातन विचार वाले सन्तों को समझाकर समस्या का समाधान करते रहे। आपश्री का यह स्पष्ट मत रहा कि संघठन के केवल गीत गाने से काम नहीं चलेगा, उसके लिए अपने स्वार्थों का बलिदान भी देना होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल मंच पर लंबा-चौड़ा भाषण देना पर्याप्त नहीं है, किन्तु सच्चे हृदय से कार्य करने की आवश्यकता है। वस्तुतः आप संगठन के सजग प्रहरी हैं।

महास्थविर श्री जी का स्वर्गवास

सन् १९५५ और १९५६ में आपश्री का वर्षावास राजस्थान की राजधानी जयपुर में हुआ। प्रथम वर्षावास में कविवर्य अमरचन्द जी महाराज, स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज, स्वामी फतेहचन्द जी महाराज, पण्डित मधुकर मुनि जी महाराज और पं० कन्हैयालाल जी 'कमल' आदि चौदह सन्त आपश्री के साथ थे। और द्वितीय वर्षावास में व्याख्यान वाचस्पति श्रमणसंघ के प्रधानमंत्री श्री मदनलाल जी महाराज आपश्री के साथ थे। इस वर्षावास के उपसंहार में कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी को आपश्री के सद्गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्द जी महाराज का सन्थारे से स्वर्गवास हुआ।

अनुशासन

सन् १९५७ में आपका चातुर्मास उदयपुर में था। उस समय आपश्री के कुशल नेतृत्व से प्रभावित होकर उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज ने मुनिश्री हस्तीमल जी और तपस्वी राजमल जी को अनुशासन-बद्धता सिखाने के लिए उदयपुर वर्षावास हेतु प्रेषित किया। आपश्री ने स्नेह-सद्भावना के साथ उन्हें रखा जिसे देखकर सभी व्यक्ति चकित हो गये।

अखण्ड रहे यह संघ हमारा

सन् १९६० में आपश्री का वर्षावास ब्यावर में हुआ। पारस्परिक विचारभेद के कारण श्रमणसंघ की स्थिति विषम हो रही थी। उस स्थिति को सुलझाने हेतु वर्षावास के पश्चात् आपश्री विजयनगर पधारे जहाँ मंत्री मुनिश्री पन्नालाल जी महाराज वृद्धावस्था के कारण विराजित थे। और आपके सन्देश को सम्मान देकर उपाध्याय हस्तीमल जी महाराज भी वहाँ पधार गये थे। आप तीनों ने मिलकर श्रमण संघ के सम्बन्ध में गम्भीर रूप से विचार विनिमय किया और 'अखण्ड रहे यह संघ हमारा' इस विषय पर ऐतिहासिक वक्तव्य भी दिया जिसका सारांश इस प्रकार है—

> युगों से समाज के हितैषियों के अन्तर्मानस में यह आकांक्षा थी कि हमारा श्रद्धेय मुनिगण ज्ञान और चारित्र में आचार और विचार में उन्नत होने पर भी विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त है जिसके कारण जिनशासन की जो उन्नति होनी चाहिए वह नहीं हो पा रही है। विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने वाली सरिता अपने लक्ष्य-स्थल पर नहीं पहुँच सकती। लक्ष्य-स्थल पर पहुँचने के लिए अनेकता नहीं, एकता आवश्यक है। यदि हमारे ये सन्त-भगवन्त एक बन जाएँ, सुसंगठित और व्यवस्थित बन जायं तो जिनशासन की महती प्रभावना हो सकती है, जैन-धर्म की विजय-वैजयन्ती हिमालय से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक ही नहीं अपितु विराट विश्व में फहरा सकती है।
>
> अजरामपुरी अजमेर के पवित्र प्रांगण में सन्त-सम्मेलन का सफल आयोजन इसी भव्य भावना को लेकर किया गया था जिसमें सन्तगण ने सोत्साह भाग लिया। संगठन के महत्त्व पर गंभीरता से विचार-विमर्श किया। यह अत्यधिक प्रसन्नता है कि हमारे प्रतिभासम्पन्न वयोवृद्ध व अनुभवी सन्तों ने उस प्रशस्त भूमि का निर्माण किया कि जिससे पारस्परिक कटुता कम हुई तथा एक सम्प्रदाय दूसरी सम्प्रदाय के अत्यधिक सन्निकट में आई और स्नेह-सद्भावना दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई।
>
> सादड़ी का सन्त सम्मेलन उसी सद्भावना का पुण्य-प्रतीक है, जिसमें श्रद्धेय सन्त गण ने शासन-हित की प्रदीप्त भावना को लेकर जो महान् त्याग किया वह आज ही नहीं पर इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों की भाँति सदा चमकता रहेगा जिसकी पुण्यगाथाएँ अन्य सम्प्रदायों ने तथा राष्ट्रीय समाचार-पत्रों ने मुक्त कण्ठों से गाई।
>
> आज उन पुण्य पलों का स्मरण करते ही हृदय गद्गद हो जाता है, मन-मयूर नाच उठता है, मुख-कमल खिल उठता है। क्या भावना थी हमारे श्रद्धेय मुनि-मंडल की, वहाँ पर संघोन्नति की भावना से उत्प्रेरित होकर ही उन्होंने "श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ" की स्थापना की और उसमें अपनी पूरी-पूरी सम्प्रदायों का विलीनीकरण किया। श्रमणसंघ को एक ही सूत्र में पिरोने के लिए एक सामाचारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निर्माण किया। पर वहाँ अवकाश के क्षणों का अभाव होने से सामाचारी निर्माण का पूर्ण कार्य सम्पन्न नहीं हो सका। सोजत और भीनासर सम्मेलन में उस अपूर्ण सामाचारी तथा तत्कालीन समस्याओं पर विचार-विमर्श किया गया। पर अत्यन्त परिताप की बात है कि हमारा कदम जो दिन-प्रतिदिन प्रगति के पथ पर मुस्तैद रूप से बढ़ना चाहिए था, वह रुक गया; रुका ही नहीं पर कुछ पीछे भी खिसका। जो मानस की उदार भावना संघोन्नति की ओर थी, वह अपने वैयक्तिक या साम्प्रदायिकता को पल्लवित पुष्पित करने की ओर लग गई। अधिकार-लिप्सा शैतान की आँत की भाँति बढ़ने लगी। साधारण सी समस्या को लेकर आचार्य श्री एवं उपाचार्य श्री में मतभेद हो गया और इन दोनों महापुरुषों के पारस्परिक विरुद्ध-निर्णय हमारे समक्ष आए। इधर दोनों के बीच की प्रधान-मन्त्री-पद की कड़ी की लड़ी पूर्व ही टूट चुकी थी। अतः दोनों महापुरुषों में मेल किस प्रकार बिठाया जाय यह एक महान् समस्या बन गई। दोनों महापुरुषों के विरोधी निर्णयों को पाकर सन्त-समुदाय में भी सनसनी होने लगी, जिससे अधिकारी मुनियों का अनुशासन जिस रूप में रहना चाहिए था उस रूप में न रह सका, आज स्थिति इतनी विषम बन गई है कि कहीं पर भी किसी भी प्रकार की व्यवस्था भंग हो, श्रमण या श्रमणी साधना के कठोर मार्ग से च्युत हो जाएँ तो भी कौन कहे? किसका क्या अधिकार है? यह निर्णय करना भी विज्ञों के लिए एक महान् प्रश्न बन गया है। आज न भूतपूर्व साम्प्रदायिक व्यवस्था ही रही है और न वर्तमान अधिकारियों का योग्य अनुशासन ही। हमारी दृष्टि से यह आचार-शैथिल्य का प्रमुखतम कारण है। आचार्य और उपाचार्य श्री के चरणारविन्दों में मतभेद निवारणार्थ अनेक बार विनम्र प्रार्थनाएँ की गयीं और योजना भी प्रस्तुत की गईं, पर खेद है कि उनमें से अभी तक एक भी सफल न हो सकी। और मतभेद ने इतना उग्र रूप धारण किया कि पारस्परिक सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति भी हमारे सामने आ गई है।

हमारी यह हार्दिक भावना है कि संघ में संगठन अक्षुण्ण बना रहे। व्यक्ति अपने हित और अपमान को महत्त्व न देकर संघ के हित को और सम्मान को महत्त्व दें। संघ महान् है इस बात को समझकर संयम-शुद्धि के साथ संघ के कल्याणार्थ सर्वस्व न्योछावर करके श्रमणसंघ के अधिनायकों के एकछत्र शासन में त्यागीवर्ग संयम-साधना, तप-आराधना, और मनो-मन्थन कर ज्ञान, दर्शन, चारित्र की त्रिवेणी में अवगाहन करें, किन्तु यह तभी सम्भव है कि संघ के सर्वोच्च अधिनायक आचार्य श्री और उपाचार्य श्री में मतभेद दूर होकर समरसता-सरसता उत्पन्न हो।

एतदर्थ ही विजयनगर के प्रांगण में श्रमणसंघ की स्थिति पर विचार-विनिमय करने के लिए हम तीनों सन्त एकत्रित हुए और समस्त स्थानकवासी समाज के अन्तर्मानस की भव्य भावनाओं को लक्ष्य में रखकर श्रद्धेय आचार्य श्री और उपाचार्य श्री के चरणारविन्दों में निवेदनार्थ एक प्रस्ताव भी निर्णय किया, पर ता० ३०-११-६० को उदयपुर में उपाचार्य श्री ने उपाचार्य पद का त्याग करके अपने को श्रमणसंघ से अलग घोषित किया जिसे हम संघ-हितकर नहीं मानते हैं। हमारी यह हार्दिक भावना है कि वे पुनः संघ-हित व जिन-शासनोन्नति को लक्ष्य में रखकर इस पर गम्भीरता से विचार करें और उलझी हुई समस्याओं को परस्पर विचार-विमर्श द्वारा या किसी माध्यम से हल करके संघ के श्रेय के भागी बनें।

हमारा यह दृढ़ मन्तव्य है कि वर्तमान में हमारी आचार-व्यवस्था किन्हीं कारणों से शिथिल हो गई है, अतः उस पर बड़ा नियन्त्रण आवश्यक है क्योंकि आचार-निष्ठा में ही श्रमणसंघ की प्रतिष्ठा है। हम चाहते हैं कि प्रमुख मुनिवरों के परामर्श से शिथिलाचार को आमूल-चूल नष्ट करने के लिए दृढ़ कदम उठाया जाय। हम शिथिलाचार को हर प्रकार से दूर करने के लिए तैयार हैं। जब तक संघ में पारस्परिक मतभेद दूर होकर इसके लिए सुव्यवस्था न हो जाय तब तक अधिकारी मुनिवर अपने आश्रित श्रमणवर्ग की आचार-शुद्धि पर पूर्ण ध्यान रखें। यदि कदाचित् किसी भी सन्त व सतीजन की मूलाचार में कोई स्खलना सुनाई दे तो तत्काल उसकी जाँचकर शुद्धि कर दी जाय।

अन्त में हमारी ही नहीं, अपितु संघ के सभी सदस्यों की भावना है कि श्रमण संघ अक्षुण्ण व अखण्ड बना रहे। आचार और विचार की दृष्टि से दिन-प्रतिदिन प्रगति के पथ पर दृढ़ता से बढ़ता रहे और जन-जन के हृदय से यही नारा निकले कि "अखण्ड रहे यह संघ हमारा।"

प्रस्तुत वक्तव्य से समाज में अभिनव जागृति का संचार हुआ और उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज को लगा कि मेरी अवैधानिक कार्यवाही को श्रमणसंघ के मूर्धन्य मुनिगण अनादर की दृष्टि से देख रहे हैं, अतः उन्होंने श्रमण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघ से व उपाचार्य पद से त्यागपत्र की घोषणा कर दी। आपश्री ने त्यागपत्र की सूचना मिलते ही विजयनगर से उपाचार्य श्री की सेवा में एक शिष्टमण्डल प्रेषित करवाया। उस शिष्टमण्डल ने उपाचार्य श्री से यह निवेदन किया कि आप त्यागपत्र न देवें। जो आपश्री से अवैधानिक कार्यवाही हो चुकी है उसका परिष्कार कर दिया जाय। पर उपाचार्य श्री भक्तों को प्रसन्न रखना चाहते थे अतः ऐसा न कर सके। आपश्री ने अपनी ओर से यही प्रयास किया कि श्रमण संघ अखण्ड बना रहे, एतदर्थ आपश्री उदयपुर भी पधारे और हर दृष्टि से उपाचार्य श्री को समझाने का प्रयास किया किन्तु किन्हीं कारणों से सफलता प्राप्त न हो सकी।

सन् १९६४ में अजमेर में शिखर सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन की सफलता के लिए आपश्री ने अथक प्रयास किया। और गुलाबपुरा से लेकर अजमेर तक गुरुदेव श्री ने आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के साथ रहकर अनेक गम्भीर समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया।

सन् १९६७ में बालकेश्वर बम्बई में चातुर्मास था। बम्बई में राजस्थान प्रान्तीय व्यक्तियों का कोई संगठन नहीं था। आपश्री की प्रेरणा से राजस्थान प्रान्तीय संघ की संस्थापना हुई। तथा अन्य अनेक साहित्यकार इस वर्षावास में आपश्री के परिचय में आये।

सन् १९६९ में पूना वर्षावास के पूर्व आपश्री नासिक पधारे। उस समय मालव केसरी सौभाग्यमल जी महाराज आपश्री के साथ थे। नासिक में महाराष्ट्र के श्रावकों का एक विराट सम्मेलन का आयोजन किया गया। श्रमण संघ की उन्नति किस प्रकार हो इस पर गम्भीर रूप से विचार चर्चाएँ की गईं।

सन् १९७१ में आपश्री का चातुर्मास कांदावाड़ी-बम्बई में था। उस समय राजस्थान प्रान्तीय सन्त सम्मेलन का आयोजन सांडेराव—मारवाड़ में किया गाया। वहाँ संघ-उत्कर्ष की भावना से आपश्री लम्बे-लम्बे विहार कर दो महीने में सम्मेलन में पधारे और संगठन का सुन्दर वातावरण निर्माण किया।

इस प्रकार आपश्री के जहाँ भी वर्षावास हुए वहाँ पर धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य-क्रम होते रहे। आपश्री के वर्षावास में उत्कृष्ट तप की आराधना होती रही है। और संघ में स्नेह-सद्भावना की अभिवृद्धि भी होती रही। जहाँ भी आपश्री पधारे वहाँ पर संघ में अभिनव जागृति का संचार होता रहा है। स्थान-स्थान पर जो सामाजिक कलह थे, जिसे राजस्थानी भाषा में 'धड़ा' कहते हैं, वे आपश्री के उपदेशों से मिटे हैं। रायपुर—मेवाड़ में कई वर्षों के धड़े थे। वे आपश्री के एक ही उपदेश से मिट गये।

नियमित दिनचर्या

आपश्री के जीवन का सिद्धान्त है—कम बोलना और कार्य अधिक करना। आपश्री का मन्तव्य है मानव जीवन का भव्य प्रासाद आचार-विचार के विशाल स्तम्भों पर निर्मित होता है, आपश्री को स्वाध्याय, ध्यान, जप, चिन्तन-मनन अध्यापन, व्याख्यान, आगन्तुकों से वार्तालाप, उनकी शंकाओं का निरसन करना पसन्द है। साथ ही प्रतिदिन आपश्री योगासन भी करते हैं। हलासन, सर्वांगासन, पद्मासन, बद्ध पद्मासन और शीर्षासन ये आपके प्रिय आसन हैं। अधिक औषध सेवन को आप उचित नहीं मानते। यथासंभव आप औषधी नहीं लेते और भोजन में कम खाना और कम पदार्थ लेना आपको पसन्द है। आपका मानना है कि भोजन की मात्रा जितनी कम होगी उतनी ही साधना करने में स्फूर्ति रहेगी। अधिक खाने से आलस्य और प्रमाद की अधिकता होगी। साधारणतया आप रात्रि को दो बजे उठते हैं। सबसे पहला कार्य है ध्यान और जप की साधना करना। उसके पश्चात् योगासन करना। और उसके बाद आपश्री आत्मालोचन करते हैं। जिसे जैन परिभाषा में "प्रतिक्रमण" कहते हैं। सूर्योदय होने के पश्चात् आप गाँव से बाहर शौच के लिए जाते हैं जिसमें श्रम, टहलना व घूमना सहज रूप से हो जाता है। उसके बाद स्वाध्याय करते हैं, फिर एक घण्टे तक प्रवचन करते हैं। प्रवचन के बाद एक घण्टे तक जप व ध्यान करते हैं। और फिर आहार ग्रहण करते हैं। आहार में दो बातों का विशेष लक्ष्य रखते हैं—संख्या और मात्रा में कम वस्तुएँ लेने का। आहार के पश्चात् कुछ समय तक हलका सा विश्राम करते हैं। उस समय ऐसे साहित्य का अवलोकन करते हैं जो विश्राम में भार स्वरूप न हो। उसके बाद साहित्य का लेखन तथा अध्यापन और आगन्तुकों से विचार-चर्चा। सायंकाल सूर्यास्त के पश्चात् पुनः आत्मालोचन और आठ से नौ तक जप व ध्यान और फिर कुछ समय तक विचार-चर्चा के बाद प्रायः २ बजे तक शयन करते हैं।

इस प्रकार **युक्ताहार-विहारस्य योगो भवति दुःखहा**" के अनुसार आपकी जीवनचर्या सहज नियमित और बहुत ही सरल है। इसीलिए आप प्रायः स्वस्थ रहते हैं और कभी बीमारी आती है तो उसे भी ध्यान-आसन-प्राणायाम द्वारा शीघ्र ही दूर कर देते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नील गगन में चन्दा सोहे तारागण से परिवृत।
मधुकर-गुंजित शत दल-दल से सरवर सदा अलंकृत॥
विद्या-विनय-विवेक युक्त शुभ शिष्यों से त्यों गुरुवर।
जन समाज में शोभित होते, संयम भाव समन्वित॥

—तो लीजिए, यहाँ प्रस्तुत है, गुरुदेव श्री के सुयोग्य संयमनिष्ठ विद्या एवं चारित्र से शोभित शिष्य परिवार का संक्षिप्त परिचय।

राजस्थानकेशरी श्री पुष्करमुनि जी का

सन्त व सती परिवार

□ राजेन्द्रमुनि शास्त्री

श्री हीरा मुनि जी 'जैन सिद्धान्त प्रभाकर'

राजस्थानकेसरी पूज्य गुरुदेव के लघु गुरुभ्राता हीरा मुनि जी हैं। आपकी जन्मस्थली मेवाड़ प्रान्त के अन्तर्गत अरावली पहाड़ की गोद में बसा हुआ 'बास' गाँव है। आपका जन्म १९२० को हुआ। आप जाति से क्षत्रिय हैं। आपके पिता का नाम पर्वत सिंह है और माता का नाम चूनी बाई है। परम विदुषी महासती शीलकुँवर जी के उपदेश से आपको वैराग्य भावना जागृत हुई। और ई० सन् १९३८ पौष बदी पंचमी को आपकी दीक्षा महास्थविर ताराचन्द जी महाराज के पास 'बास' ग्राम में हुई। आपका स्वभाव सरल व मधुर है और सेवा-भावी है। आपने गुरु-चरणों में रहकर अध्ययन किया। आपकी जीवन-पराग, मेघचर्या, जैन-जीवन, सुबाहुकुमार, और विचार ज्योति, भगवान महावीर आदि मुख्य कृतियाँ हैं।

श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री

आपश्री की जन्मभूमि उदयपुर है। विक्रम संवत् १९८८ (सन् १९३१) कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी धनतेरस के दिन आपका जन्म हुआ। आपश्री के पिता का नाम जीवनसिंह जी बरडिया और माता का नाम तीजबाई और आपका नाम धन्नालाल था। नौ वर्ष की उम्र में सद्गुरुणी जी महासती सोहनकुँवर जी के उपदेश से प्रभावित होकर विक्रम संवत् १९९७ (सन् १९४१) के फाल्गुन शुक्ला तीज को खण्डप-मारवाड़ में आपश्री ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की और सद्गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के प्रथम शिष्य बने। और गुरुदेव के चरणों में रहकर अध्ययन किया। ऋषभदेव : एक परिशीलन, भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन, भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन, भगवान महावीर : एक अनुशीलन, जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, जैन आगम साहित्य, मनन और मीमांसा, धर्म और दर्शन, साहित्य और संस्कृति, चिन्तन की चान्दनी, अनुभूति के आलोक में, विचार रश्मियाँ, विचार और अनुभूतियाँ, विचार वैभव, महावीर युग की प्रतिनिधि कथाएँ, फूल और पराग, बुद्धि के चमत्कार, खिलती कलियाँ मुस्कराते फूल, प्रतिध्वनि, अमिट रेखाएँ, महकते फूल, बिन्दु में सिन्धु, बोलते चित्र, सोना और सुगंध, शूली और सिंहासन, श्रावक धर्म, संस्कृति के अंचल में, कल्प-सूत्र आदि ग्रंथों के लेखक हैं। तथा सद्गुरुदेव श्री की और अन्य मुनिवृन्दों की कृतियों का संपादन भी आपश्री ने किया। आपकी बड़ी बहन ने भी दीक्षा ग्रहण की और मातेश्वरी ने भी जिनका नाम क्रमशः महासती श्री पुष्पवती जी और प्रभावती जी है।

श्री गणेश मुनिजी शास्त्री

आप गुरुदेव श्री के द्वितीय शिष्य हैं। आपका जन्म उदयपुर के सन्निकट करणपुर ग्राम में सन् १९३१ में हुआ। आपके पिता का नाम लालचन्द जी पोरवाल और माता का नाम तीज कुंवर बाई था। और आपके गृहस्थाश्रम का नाम शंकरलाल था। आपने सन् १९४६ की आसोज शुक्ला दशमी को मध्यप्रदेश में धार नामक स्थान पर गुरुदेव श्री का शिष्यत्व स्वीकार किया। आप लेखक, कवि, वक्ता, गायक व कुशल साधक हैं। आपने साहित्यरत्न और शास्त्री आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण की हैं। आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, अहिंसा की बोलती मीनारें, इन्द्रभूति गौतमः एक अनुशीलन, भगवान महावीर के हजार उपदेश, विचार रेखा, जीवन के अमृतकण, प्रेरणा के बिन्दु, सुबह के भूले, वाणी-वीणा, महक उठा कवि सम्मेलन, गीतों का मधुवन, विश्वज्योति महावीर, विचार दर्शन, अनगूँजे स्वर, सरल भावना बोध, चरित्र के चमत्कार आदि आपकी महत्त्वपूर्ण लिखित व सम्पादित रचनाएँ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री जिनेन्द्र मुनि जी शास्त्री

आपका जन्म मेवाड़ प्रान्त के पडावली ग्राम में हुआ। आप जाति से प्रजापति हैं। आपने विक्रम संवत् २०२० (सन् १९६३) में गढ़ जालोर में दीक्षा ग्रहण की। और काव्यतीर्थ, धर्मशास्त्री, आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं। आपका स्वभाव सरल और सरस है; मधुर वक्ता व कवि हैं। 'पाँच कवि' 'मंगल प्रार्थना' आपके द्वारा संपादित पुस्तकें हैं।

श्री रमेश मुनिजी शास्त्री

आपका जन्म राजस्थान के मेड़ता के सन्निकट बडु ग्राम में सन् १९५१ जनवरी २४ को हुआ। आपके पिता श्री का नाम पूनमचन्द जी और मातेश्वरी का नाम प्रकाशवती जी है। आप जाति से ओसवाल और डोसी हैं। आपने परम विदुषी महासती प्रभावतीजी महाराज के उपदेश से प्रभावित होकर ई० सन् १९६५ फाल्गुन सुदी तेरस को श्रद्धेय गुरुदेव पुष्कर मुनि जी महाराज के पास जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की। आपने काव्यतीर्थ, शास्त्री आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं। आप कवि और लेखक हैं। आपके अनेक लेख विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं। आपका स्वभाव भद्र है और त्यागी वैरागी हैं।

राजेन्द्र मुनि शास्त्री

मेरा जन्म राजस्थान के बड़ ग्राम में वि० सं० २०१० (सन् १९५३) के पौष बदी दशमी के दिन हुआ। मेरे पिताश्री का नाम पूनमचन्द जी और मातेश्वरी का नाम प्रकाशवती है। परम विदुषी महासती पुष्पवती महाराज के उपदेश से प्रभावित होकर सन् १९६५ फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी को गढ़ सिवाना में श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के पास दीक्षा ग्रहण की। मैंने गुरुचरणों में रहकर काव्यतीर्थ, शास्त्री, साहित्यरत्न और आचार्य आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं।

'राजस्थान केसरी पुष्कर मुनि जी महाराज : जीवन और विचार, 'चौबीस तीर्थंकर एक पर्यवेक्षण', 'सत्य शील की अमर साधिकाएँ,' 'मेघकुमार ; एक परिचय,' 'मुक्ति का अमर राही जम्बू कुमार,' 'भगवान महावीर—जीवन और दर्शन', भगवान महावीर की सूक्तियाँ' आदि मेरी रचनाएँ हैं। मेरे ज्येष्ठ भ्राता रमेश मुनि ने और मातेश्वरी प्रकाशवती जी ने भी दीक्षा ग्रहण की है। जो सेवाभावी और प्रतिभा सम्पन्न हैं।

तपस्वी श्री प्रवीण मुनि जी

आपका जन्म उदयपुर जिले के कम्बोल ग्राम में हुआ। आपके पिताश्री का नाम सूरजमल जी दोसी और माता जी का नाम चल्लू बाई है। सन् १९७२ में साण्डेराव राजस्थान प्रान्तीय श्रमण संघीय सम्मेलन के सुनहरे अवसर पर आपकी दीक्षा सम्पन्न हुई। आप सेवाभावी, विद्याप्रेमी और तपस्वी हैं। आपने मासक्षमण किया है तथा अन्य लघु तपस्याएँ करते रहते हैं।

श्री दिनेश मुनि, जैन सि. वि.

आपका जन्म वि० सं० २०१७ (दिनांक २२-५-१९६०) ज्येष्ठ बदी बारस रविवार को उदयपुर जिले के देवास ग्राम में हुआ। आपके पिताश्री का नाम रतनलाल जी मोदी और माता का नाम प्यारी बाई है। आपका गृहस्थाश्रम का नाम चतुरलाल था। परम विदुषी महासती पुष्पवती जी के सदुपदेश से प्रभावित होकर वि. सं. २०३० (दिनांक ८-११-१९७३) को कार्तिक सुदि तेरस को गुरुदेवश्री के सन्निकट अजमेर में दीक्षा ग्रहण की। आप सेवाभावी अध्ययन प्रेमी सन्त हैं।

राजस्थान केसरी श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का
सती-समुदाय

विदुषी स्थविरा महासती श्री सौभाग्य कुंवर जी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर है और आप जाति से पोरवाल हैं। आपका जन्म वि. सं. १९४० (सन् १८९१) में हुआ। आपने परम विदुषी महासती सोहन कुँवर जी महाराज के उपदेश से प्रभावित होकर विक्रम संवत् १९७४ (सन् १९१७) चैत्र बदी पंचमी, में उदयपुर में दीक्षा और महासती हुलासकुँवर जी का शिष्यत्व ग्रहण किया। आप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत शान्त स्वभावी, सरल आत्मा सती हैं। आपकी वाणी में अत्यन्त मिठास है। आपके व्याख्यान मधुर और मनोहर होते हैं।

बाल ब्रह्मचारिणी विदुषी महासती श्री शीलकुँवर जी

आप बहुत प्रतिभा सम्पन्न साध्वी हैं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के खाखट ग्राम है। आपका जन्म संवत् १९६९ भाद्रपद अष्टमी को (सन् १९१२) हुआ। आपश्री के पिता का नाम धनराज जी पोरवाड़ और माता का नाम शंभु कुँवर बाई था। आपकी सगाई उदयपुर निवासी किसनलाल जी के सुपुत्र मोहनलाल जी के साथ हुई थी। आपका नाम रोडी बाई था। आपने शान्तस्वभाविनी महासती श्री धूलकुँवर जी के सदुपदेश से प्रभावित होकर अपनी मातेश्वरी शंभु कुँवर जी के साथ वि. सं. १९८२ (सन् १९२५) फाल्गुण शुक्ला द्वितीया को खाखट में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आपने आगम साहित्य, स्तोक साहित्य, तथा संस्कृत—प्राकृत उर्दू भाषा का अच्छा अध्ययन किया। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर, रोचक और वैराग्योत्पादक है। आगम के गुरु गंभीर रहस्यों को आप सुगमता से सुलझाती हैं, जिसे सुनकर श्रोता झूम उठते हैं। भगवान महावीर निर्वाण शताब्दी के अवसर पर आपश्री ने उपदेश प्रदान कर पच्चीस-सौ जीवों को अभयदान दिलवाया। स्वाध्याय-सुधा, जैन तत्त्वबोध, आदि पुस्तकें आपके द्वारा संपादित व प्रकाशित हैं।

सेवामूर्ति महासती श्री चतुरकुँवर जी

आपका जन्म मेवाड़ राज्य के थांवला ग्राम में हुआ। आपके पिताश्री का नाम चंपालाल जी सियाल और माता जी का नाम लवलीबाई था। आपने वि० सं० १९७२ (सन् १९२७) में परम विदुषी महासती सोहन कुँवर जी महाराज के उपदेश से सादड़ी मारवाड़ में प्रव्रज्या ग्रहण की। आप बहुत ही शांत-दांत और गंभीर प्रकृति की हैं। वैय्यावच्च आपके जीवन का विशिष्ट गुण है। नन्हीं से नन्हीं साध्वी की भी सेवा करने में आपको अपार आल्हाद होता है। अतः सभी साध्वियाँ 'माँ' के सम्बोधन से आपको पुकारती हैं।

सेवामूर्ति महासती सुन्दरकुँवर जी

आपका जन्म वि० सं० १९६९ में उदयपुर जिले के गोगुन्दा (मेवाड़) ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम केसूलाल जी हरकावत था। आपका विवाह गोगुन्दा निवासी चिमनलाल जी मेहता के साथ हुआ था। आपने महासती श्री शंभु कुँवर जी के उपदेश को श्रवण कर पति का त्याग कर वि० सं० १९८९ माह सुदी पंचमी (सन् १९३२) को नाथद्वारा में दीक्षा ग्रहण की। आपको स्वाध्याय, तप तथा सेवा-कार्य अत्यधिक प्रिय है।

बाल ब्रह्मचारिणी विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी

आपका जन्म उदयपुर जिले के देलवाड़ा ग्राम में सं. १९८२ (दि० ७-९-१९२५) आश्विन कृष्णा पंचम को हुआ। आपके पिताश्री का नाम गणेशलालजी कोठारी और मातेश्वरी का नाम कैलास कुँवर जी था। आपका नाम नजर बाई था। आपने विदुषी महासती सोहनकुँवर जी के उपदेश से वि० सं० १९९३ (सन् १९३६) के फाल्गुन शुक्ला दशमी के दिन अपनी मातेश्वरी के साथ देलवाड़े में दीक्षा ग्रहण की। आपने संस्कृत, प्राकृत, न्याय, व्याकरण का अच्छा अभ्यास किया और क्वीन्स कालेज, बनारस की व्याकरण, मध्यमा और पाथर्डी की जैन सिद्धान्ताचार्या परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं। आपका कण्ठ बहुत ही मधुर और प्रवचन शैली चित्ताकर्षक है।

बाल ब्रह्मचारिणी विदुषी महासती पुष्पवती जी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर है। आपके पिताश्री का नाम जीवनसिंह जी बरडिया और मातेश्वरी प्रेमकुँवर बाई थीं। आपका जन्म वि० सं० १९८१ (सन् १९२४) मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी को हुआ। आपने परम विदुषी महासती श्री सोहनकुँवरजी महाराज के उपदेश से प्रभावित होकर वि० सं० १९९४ (सन् १९३७) में माघशुक्ला तेरस को उदयपुर में दीक्षा ग्रहण की। आपने संस्कृत, प्राकृत, न्याय, काव्य, हिन्दी का उच्च अध्ययन किया। क्वीन्स कालेज, बनारस की व्याकरण मध्यमा, काव्यमध्यमा, साहित्यरत्न आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण कीं। जैन आगम साहित्य का गहराई से अध्ययन किया। आपका प्रवचन सरल, सरस और मधुर होता है। और प्रत्येक विषय के अन्तस्थल तक पहुँचने का प्रयास करती है। आपके अनेक लेख प्रकाशित होते रहे हैं। आपकी मातेश्वरी भी दीक्षिता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिभामूर्ति महासती श्रीप्रभावती जी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के गोगुन्दा ग्राम में हुआ। आपके पिता श्री का नाम सेठ हीरालाल जी और मातेश्वरी का नाम श्रीमती प्यारीबाई था। वि० सं० १९७० (सन् १९१३) श्रावणकृष्णा पंचमी को आपका जन्म हुआ। आपका पाणिग्रहण उदयपुर के जीवनसिंह जी वरडिया के साथ (सन् १९२८ में) सम्पन्न हुआ। परम विदुषी महासती श्री सोहनकुँवर जी के पावन प्रवचन को श्रवण कर आपके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना जागृत हुई। और वि० सं० १९९७ (सन् १९४१) आषाढ़ सुदी तीज को आपने दीक्षा ग्रहण की। आपके पुत्र देवेन्द्र मुनिजी और पुत्री पुष्पवती जी दीक्षिता हैं। आपको अनेक जैनआगम कण्ठस्थ हैं और तीन सौ थोकडे भी याद हैं। आप विलक्षण प्रतिभा की धनी हैं। आपका प्रवचन बहुत ही मधुर व प्रभावोत्पादक होता है।

महासती उमरावकुँवर जी

आपका जन्म बाड़मेड़ जिले के गढ़सिवाना में सं० १९६६ श्रावण वदी एकम (१९०९) में हुआ। आपके पिता का नाम दौलतराम जी कानूगा और माता का नाम छोगीबाई था। आपका गृहस्थाश्रम का नाम गौरीबाई था। आपका विवाह वि० सं० १९९० आषाढ़ कृष्णा नवम की सागरचन्द जी बागरेचा के सुपुत्र गणेशमल जी बागरेचा के साथ सम्पन्न हुआ। महासती हरकू जी के उपदेश को सुनकर वि० सं० १९९३ (१९३६) के महाबदी पंचमी को आपने दीक्षा ग्रहण की। आपकी प्रकृति सरल व भद्र है। आपके चौपाई और व्याख्यान देने की शैली सुन्दर है।

महासती सीता जी

आपका जन्म बाड़मेड़ जिले के कोरणा ग्राम में हुआ। आपकी दीक्षा वि० सं० १९९४ (सन् १९३७) में मार्गशीर्ष पंचमी को महासती दीपाजी के पास सम्पन्न हुई। आपका स्वभाव सरल व मिलनसार है।

महासती मोहनकुँवर जी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के गोगुन्दा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम जोधराजजी छाजेड़ और माता का नाम रतनबाई था। आपका विवाह गोगुन्दा निवासी मोतीलाल जी हरकावत के साथ हुआ। आपने महासती शंभु कुँवर जी के उपदेश को सुनकर वि० सं० १९९५ (सन् १९३८) वैशाख बदी १ को दीक्षा ग्रहण की। आपके चौपाई आदि वाचन करने की शैली सुन्दर है।

महासती श्री वल्लभ कुँवर जी

आपकी जन्मभूमि उदयपुर जिले का जसवन्तगढ़ है। आपका जन्म वि० सं० १९६८ में हुआ। आपकी माता का नाम प्यारीबाई और पिता का नाम धनराज जी था। आपने महासती श्री लहर कुँवर जी के उपदेश को सुनकर वि० सं० १९९५ (सन् १९३८) आषाढ़ सुदी तेरस को जशवन्तगढ़ में दीक्षा ग्रहण की। आप बहुत ही सरल स्वभाव वाली और सेवाभाविनी सती हैं।

महासती श्री शकुना जी

आपका जन्म बाड़मेड़ जिला के गढ़सिवाना ग्राम में हुआ। आपकी दीक्षा पादरू ग्राम में महासती श्रीदीपाजी के पास सम्पन्न हुई। आप सेवाभावी महासती हैं।

महासती शकुन कुँवर जी

आपका जन्म बाड़मेड़ जिला के पादरू ग्राम में वि० सं० १९७४ (सन् १९१७) श्रावण बदी पांचम को हुआ। आपके पिता श्री का नाम ओजराज जी संकलेचा और मातेश्वरी का नाम मंगनीबाई है। आपका नाम कंकू बाई रखा गया। आपका विवाह १९८७ पौष सुदी सप्तम को पादरू निवासी बुद्धमल जी श्री श्रीमाल के सुपुत्र गोवीराम जी के साथ हुआ था। आपके एक पुत्र भी हुआ जिसका नाम धेवरचन्दजी है। आपने महासती हरकू जी के उपदेश सुनकर वि० सं० १९९४ (सन् ४९३७) में वैशाख शुक्ला सप्तमी को पादरू ग्राम में दीक्षा ली। आप सेवाभावी हैं। आप शास्त्र और चौपाई पर मधुर प्रवचन करती हैं।

महासती पाना जी

आपका जन्म गढ़ जालौर में हुआ। और महासती हरखु जी समदा जी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने गढ़सिवाना में वि० सं० २००४ (सन् १९४७) में दीक्षा ली। आप सरल प्रकृति की सती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विदुषी महासती श्रीमती जी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर जिले के गोगुन्दा ग्राम में है। वि० सं० १९८१ (सन् १९२४) भाद्रपद शुक्ला पंचमी को आपका जन्म हुआ। आपके पिताश्री का नाम देवीलाल जी सेठ और माता का नाम मोहनबाई था। आपका गृहस्थाश्रम का नाम कोयलबाई था। आपने वि० सं० १९१९ ज्येष्ठ कृष्णा ग्यारस को (सन् १९४२) में नाथद्वारा में अपने पति नजरसिंह जी के साथ महासती प्रभावती जी के पास दीक्षा ग्रहण की। आपका प्रवचन मधुर ओजस्वी होता है। तप के प्रति आपका विशेष आकर्षण है।

महासती प्रेम कुँवर जी

आपका जन्म १९६१ वि० सं० में उदयपुर जिले के वागपुरा ग्राम में हुआ। और आपका पाणिग्रहण करणपुर के लालचन्द जी पोरवाल के साथ संपन्न हुआ। महासती श्री प्रभावती जी महाराज के उपदेश को सुनकर वि० सं० २००३ आषाढ़ सुदी दशमी को (सन् १९४६) में दीक्षा ग्रहण की। आप सरल स्वभावी और सेवाभावी हैं। आप श्री के पुत्र ने भी दीक्षा ग्रहण की जिनका नाम गणेश मुनि जी है।

स्थविरा महासती चन्द्र कुँवर जी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के कानोड़ ग्राम में वि० सं० १९५४ में हुआ और आपश्री का पाणिग्रहण पन्ना लाल जी मेहता के साथ सम्पन्न हुआ। आपका गृहस्थाश्रम का नाम लहरी बाई था। महासती श्री प्रभावती के सदुपदेश से प्रभावित होकर अपनी पुत्री चन्द्रवतीजी के साथ वि० सं० २००४ (सन् १९४७) महा सुदी तीज को कपासन में दीक्षाग्रहण की। आप शान्त-दान्त व सेवा भावी महसती हैं।

बाल-ब्रह्मचारणी विदुषी महासती चन्द्रवती जी

आपका जन्म विक्रम सम्वत् १९९३ में उदयपुर-राजस्थान में हुआ। आपके पिताश्री का नाम पन्नालालजी मेहता और माता का नाम लहरीबाई था। आपने परम विदुषी महासती पुष्पवतीजी के सदुपदेश से सम्वत् २००४ माघ सुदी तीज में (सन् १९४७) कपासन ग्राम में दीक्षा ग्रहण की। आपने संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी भाषा का अच्छा अभ्यास किया। जैन सिद्धान्ताचार्या परीक्षा भी उत्तीर्ण की। मगध का राजकुमार मेघ, आपका खण्डकाव्य है। और 'दिव्यपुरुष' भगवान महावीर से सम्बन्धित उपन्यास है। आपके कई लेख प्रकाशित हुए हैं। आपका व्याख्यान तात्त्विक और मधुर होता है।

महासती श्री सायर कुँवर जी

आपका जन्म उदयपुर के सन्निकट देलवाड़ा में विक्रम सम्वत् १९७० (सन् १९१३) में हुआ। आपके पिता श्री का नाम मेरीलालजी खेत-पालिया और माता का नाम नाथीबाई था। आपका विवाह गोगुन्दा निवासी रतनलालजी छाजेड़ के सुपुत्र फकीरचन्दजी के साथ हुआ था। आपने विदुषी महासती शीलकुँवर जी के उपदेश से विक्रम सम्वत् २००५ (सन् १९४८) माघ सुदी पंचम को गोगुन्दा ग्राम में दीक्षा ग्रहण की। आपको आगमों तथा थोकड़ों का अच्छा ज्ञान है। आपका स्वभाव मधुर है और सेवाभाविनी हैं।

महासती रतन कुँवर जी

आपका जन्म वि० सं० १९८२ में उदयपुर के सन्निकट बम्बोरा में हुआ। आप ओसवाल वंश की है। आपने महासती श्री कैलाश कुँवरजी के सदुपदेश से सम्वत् २००५ (सन् १९४८) माघ सुदी तेरस को उदयपुर में दीक्षा ग्रहण की। आप चौपाई आदि का वांचन बहुत ही सुन्दर करती हैं।

बाल-ब्रह्मचारिणी विदुषी श्री कौशल्या जी

आपका जन्मस्थल नान्देशमा—मेवाड़ है। आपके पिताश्री का नाम लाडूजी पालीवाल तथा माता का नाम वरदीबाई है। आपका जन्म विक्रम सम्वत् १९९६ (सन् १९३९) में हुआ। आपने सम्वत् २००५ (सन् १९४८) पौष शुक्ला पंचमी को महासती श्री सज्जन कुँवरजी के सदुपदेश से देवास (मेवाड़) में दीक्षा ग्रहण की। आपके भाई भी दीक्षित हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का अच्छा अध्ययन किया है और जैन सिद्धान्तचार्या परीक्षा भी उत्तीर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की है। आपका स्वर मधुर है। प्रवचन करने की कला चित्ताकर्षक है। अभी भी श्रमणी विद्यापीठ घाटकोपर बम्बई में अध्ययन कर रही है।

महासती प्रेम कुँवर जी (बक्सू जी)

आपका जन्म बाड़मेड़ जिला के सिवाना ग्राम में हुआ। आपके पिताश्री का नाम मूलचन्द जी गोलेच्छा और माता का नाम सुवटीबाई था। विक्रम सम्वत् १९७६ (सन् १९१९) को आपका जन्म हुआ। महासती हरकूजी के उपदेश सुनकर विक्रम सम्वत् २००६ (सन् १९४७) मार्गशीर्ष कृष्णा ६ को आपने दीक्षा ली। आप चौपाई और रास आदि का वाँचन सुन्दर करती हैं। आपका कण्ठ मधुर है और सेवाभाविनी हैं।

बाल ब्रह्मचारिणी विदुषी श्री विमलवती जी

आपका जन्म बाड़मेड़ जिले के कोरना ग्राम में सम्वत् १९९६ (सन् १९३९) भाद्रपद अष्टमी गुरुवार को हुआ। आपके पिता का नाम गेबीरामजी तथा माता का नाम बक्सूबाई था। महासती हरकूजी के उपदेश से प्रभावित होकर अपनी माता के साथ सम्वत् २००६ (सन् १९४९) मार्गशीर्ष कृष्णा ६ को पादरू ग्राम में दीक्षा ग्रहण की। आपने संस्कृत, प्राकृत व हिन्दी का अच्छा अभ्यास किया है। आपकी प्रवचनशैली तथा गायनशैली सुन्दर व प्रभावोत्पादक है।

महासती श्री एजाजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के शिशोदे गाँव वि० सं० १९६० में हुआ। आपके पिता का नाम घेरूलालजी था और माता का नाम उमरावबाई था। आप महासती नजर कुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर वाटि ग्राम में सम्वत् २००६ माघ सुदी तेरस को दीक्षा ग्रहण की। आपकी प्रकृतिभद्र है और साथ ही सेवाभावी भी हैं।

महासती श्री बयाकुंवर जी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के रावलिया ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम नाथूलाल जी और माता का नाम नाथीबाई था। आपका विवाह मादड़ा निवासी मोतीलाल जी चौधरी के साथ हुआ। आपने विदुषी महासती धूल कुँवर जी के उपदेश से प्रभावित होकर सम्वत् २००६ में पालि-मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की। आप सेवाभाविनी एवं तपस्विनी साध्वी हैं। आपने कई बार मासखमण आदि की तपस्या की है।

बाल ब्रह्मचारिणी विदुषी श्री चन्दनबाला जी

आपका जन्म उदयपुर में सम्वत् १९९४ मिगसर सुदी १० को हुआ। आपके पिताश्री का नाम सोहनलालजी खाबिया और मातेश्वरी का नाम सोहनबाई है। विदुषी महासती शील कुँवर जी के सदुपदेश से सम्वत् २००९ चैत्र वदी ५ को (सन् १९५२) चैत्र बदी पंचमी को उदयपुर में आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी भाषाओं का आगम व थोकड़ साहित्य का अच्छा परिज्ञान है। आपने जैनसिद्धान्ताचार्या परीक्षा समुत्तीर्ण की। आपकी प्रवचन शैली सुन्दर व मधुर है। चन्दन की सौरभ, गुणस्थान द्वार, संगीत-सौरभ, जैन तत्त्व ज्ञान आदि आपके द्वारा संपादित रचनाएँ हैं।

महासती श्री खम्माणकुँवर जी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के कराई ग्राम में विक्रम सम्वत् १९९२ में हुआ। आपके पिता का नाम जसराजजी और माता का नाम धापूबाई था। आपका विवाह वाटी गाँव निवासी धनरूपजी बम्बोरी के सुपुत्र देवीलाल जी के साथ हुआ। महासती लहर कुँवर जी के उपदेश से आकर्षित होकर आपने सम्वत् २००९ (सन् १९५२) को वाटिग्राम में दीक्षा ग्रहण की। आपका स्वभाव शान्त है, तथा सेवाभाविनी साध्वी हैं।

बाल-ब्रह्मचारिणी श्री प्रियदर्शना जी

आपका जन्म उदयपुर में विक्रम सम्वत् २००२ वैशाख सुदी दूज (सन् १९४८) में हुआ। आपके पिता का नाम कन्हैयालाल जी लोढ़ा और माता का नाम राजीबाई है। आपका गृहस्थाश्रम का नाम टेबा बहन था। महासती श्री पुष्पवती जी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने सम्वत् २०१८ फाल्गुण कृष्णा (तेरस तारीख ४—३—१९६२) को दीक्षा ग्रहण की। हिन्दी, संस्कृत भाषा का अच्छा अभ्यास है। अध्ययनशीला के साथ आप सेवाभाविनी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासती श्री विनयवती जी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के पदराड़ा ग्राम में विक्रम संम्वत् २००३ में हुआ। आपके पिताश्री का नाम खेमराज जी दौलावत और माता का नाम मोहन बाई है। सांसारिक नाम आगाम बाई था। पदराडा निवासी कुमानिंग जी माण्डोत के सुपुत्र मोतीलाल जी माण्डोत के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। किन्तु एक महीने के पश्चात् मोतीलाल जी का अकस्मात् देहान्त हुआ। आपने महासती श्री कौशल्या जी के उपदेश से आकर्षित होकर सं० २०१६ (सन् १६५२) माघ सुदी ११ को पदराड़ा में ही संयम ग्रहण किया। पढ़ने की जिज्ञासा अच्छी है। अभ्यास चल रहा है। साथ ही सेवाभाविनी हैं।

महासती चेलना जी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के सायरा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम चंपालाल जी कोठारी और माता का नाम प्यारी बाई है। आपका विवाह तिरपाल निवासी बाबूलाल जी भोगर के साथ हुआ। आपने परमविदुषी महासती श्रीशील कुँवर जी के उपदेश से प्रभावित होकर सं० २०२० (सन् १६६३) कार्तिक पूर्णिमा को भोपालगंज भीलवाडा (राज.) में दीक्षा ग्रहण की। आप विद्याभिलाषिणी तथा सेवाभाविनी है। आपका अध्ययन चल रहा है।

महासती जी मदन कुँवर जी

आपका जन्म खण्डप मारवाड़ में सं० १६६२ (सन् १६३५) में हुआ। आपके पिता का नाम सेठ सिरेमल जी धोका तथा माता का नाम टीपू बाई था। आपने महासती श्री विमलवती जी के उपदेश से प्रभावित होकर सं० २०२० (सन् १६६३) वैशाख बदी दशम को अजीत (मारवाड) में दीक्षा ग्रहण की। आप अध्ययनशीला तथा सेवाभाविनी है।

महासती श्री हेमवती जी

आपका जन्म नान्देशमां मेवाड़ में वि० सं० १६६७ में हुआ। महासती श्री कौशल्या जी के उपदेश से आकर्षित होकर आपने सं० २०२४ (सन् १६६७) ज्येष्ठ सुदी दसम को डबोक गाँव में संयम ग्रहण किया। आप सेवा-भावी और अध्ययनशीला हैं।

बाल-ब्रह्मचारिणी श्री चारित्रप्रभाजी

आपका जन्म बगडुन्दा (मेवाड़) ग्राम में वि० सं० २००६ (सन् १६५०) श्रावण बदी अमावस्या को हुआ। आपके पिता का नाम कन्हैयालाल जी छाजेड़ था और माता का नाम हंजाबाई था। आपका नाम हीरा कुमारी था। विदुषी महासती श्री कुसुमवती जी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने वि० सं० २०२६ (दि० २१-२-१६६६) को नाथद्वारा में दीक्षा ग्रहण की। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का आपका अच्छा अभ्यास है। आप अध्ययनशीला हैं। बी० ए० साहित्यरत्न में परीक्षाएं समुत्तीर्ण हैं। पाथडी बोर्ड की शास्त्री परीक्षा आपने उत्तीर्ण की है। आपका कण्ठ मधुर है तथा व्याख्यान ओजस्वी एवं चित्ताकर्षक हैं।

महासती श्री सत्यप्रभा जी

आपका जन्म खण्डप में संवत् २००३ (सन् १६४७) श्रावण कृष्णा द्वितीया को हुआ। आपके पिता का नाम मिश्रीमल जी सुराना और माता का नाम सोनीबाई है। आपका गृहस्थाश्रम का नाम था सुन्दर देवी। आपका विवाह वि० सं० २०१८ माघ शुक्ला पंचमी को करमावास निवासी बंसराज जी भंसाली के सुपुत्र चंपालालजी के साथ हुआ। आपने महासती श्री शकुन कुंवर जी के उपदेश से सं० २०२७ (सन् १६७०) वैशाख बदी पंचमी को करमावास ग्राम में संयम ग्रहण किया। संस्कृत तथा आगम का अच्छा अभ्यास है। आप सेवाभावी हैं।

महासती श्री साधना जी

आपका जन्म मारवाड़ भारंडा ग्राम में वि० सं० १६८७ में हुआ। आपके पिता का नाम सरदारमलजी सालेचा और माता का नाम सकूबाई था। आपका विवाह समदडी निवासी हस्तीमल जी भंडारी के सुपुत्र जसराज जी के साथ वि० सं० २००२ में हुआ था। महासती श्री शीलकुंवर जी के उपदेश से आकर्षित होकर आपने सं० २०२७ (सन् १६७०) में समदडी में दीक्षा ग्रहण कर ली। आपकी थोकडे सीखने की अच्छी रुचि है। आप सेवाभाविनी हैं।

बालब्रह्मचारिणी ज्ञानप्रभा जी

आपका जन्म महाराष्ट्र के बड़गाँव में सं० २०१६ (सन् १६५६) में हुआ। आपके पिता का नाम पंडित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धराम जी तथा माता का नाम कस्तूरी देवी है। विदुषी श्री विमलवती जी के सदुपदेश से प्रभावित होकर आपने सं० २०२८ (सन् १९७१) मार्गशीर्ष शुक्ला ६ को केलवा रोड महाराष्ट्र में संयम ग्रहण किया। आप विद्याभ्यासिनी हैं। हिन्दी-संस्कृत का अध्ययन कर रही हैं।

बालब्रह्मचारिणी विज्यप्रभा जी

आपका जन्म उदयपुर में सं० २०१४ (दि० ३०-११-१९५७) में हुआ। आपके पिता का नाम सेठ कन्हैयालाल जी सियाल और माता का नाम चोथीबाई है। आपका नाम स्नेहलता था। विदुषी श्री कुसुमवती जी के सदुपदेश से आपने सं० २०३० (११-१९७६) कार्तिक सुदी १३ को अजमेर में दीक्षा ग्रहण की। आपका संस्कृत, न्याय, हिन्दी, अंग्रेजी आदि का अध्ययन चल रहा है। आपने राजस्थान शिक्षा बोर्ड की उपाध्याय तथा प्रयाग की साहित्यरत्न, आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण की हैं।

बालब्रह्मचारिणी दर्शनप्रभाजी

आपका जन्म आसोज सुदी तेरस (२३-१०-१९५५) को दिल्ली में हुआ। आपके पिता श्री का नाम रतनलाल जी लोढ़ा और माता का नाम कमला देवी है। आपका नाम सरोजकुमारी था। आपकी दीक्षा ब्यावर में वि. सं. २०३२ (२०-२-१९७६) महासती कुसुमवती जी तथा चारित्रप्रभाजी के सदुपदेश से संपन्न हुई। आप एम. ए. भूषण, प्रभाकर शास्त्री, उपाध्याय आदि परीक्षाएँ समुत्तीर्ण हैं। प्रवचन करने की कला में दक्ष है।

बालब्रह्मचारिणी हर्षप्रभा जी

आपका जन्म वि० सं० २०१० में किसनगढ़ में हुआ। आपकी मातेश्वरी का नाम कंचन बाई और पिता का नाम पूनमचंद जी क्षामड हैं। महासती प्रभावतीजी के सदुपदेश से आपने वि० सं० २०३२ माघ सुदी तेरस को उदयपुर में दीक्षा ग्रहण की। संस्कृत, प्राकृत भाषाओं का सामान्य अध्ययन है।

बालब्रह्मचारिणी किरण प्रभाजी

आपका जन्म वि० सं० २०१५ मदनगंज (राजस्थान) में हुआ। आपकी माता का नाम सीता बाई और पिता का नाम खालीलाल जी वरडिया है। सं० २०३३ माघ सुदी तेरस को महासती पुष्पवती जी के सदुपदेश से उदयपुर में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपको संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का सामान्य अध्ययन है।

महासती दर्शनप्रभाजी (द्वितीय)

आपका जन्म महाराष्ट्र में जलगाँव जिले के कासमपुरा गाँव में सन् १९३० में हुआ। आपकी माता का नामतानीबाई और पिता का नाम सूपडलाल जी सुराणा था। आपका नाम चंपाबाई था। सन् १९४६ में मोतीलाल जी लोढ़ा के सुपुत्र वकील पूनमचंद जी लोढा, न्याय डोंगरी, जिला नासिक में आपका विवाह संपन्न हुआ। आपने अपने भरे-पूरे परिवार को छोड़कर अपनी पुत्री सरला कुमारी के साथ वि० सं० २०३४ दिनांक २८-४-१९७७ को विदुषी महासती कौसल्या जी के उपदेश से नन्दुरबार (खानदेश) में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। और आपका नाम दर्शनप्रभा रखा गया।

बालब्रह्मचारिणी सुदर्शना प्रभाजी

आपका जन्म महाराष्ट्र के धुलिया गाँव में दिनांक १८-६-१९५६ को हुआ। आपकी मातेश्वरी का नाम चंपाबाई और पिता का नाम पूनमचन्द जी लोढा है। आपका जन्म नाम सरलाकुमारी था। आपने बी० कॉम० तक अध्ययन किया और २ वर्ष तक श्रमणी विद्यापीठ में रहकर धार्मिक अध्ययन भी किया। विदुषी महासती कौसल्या जी के उपदेश से २८-४-१९७७ को नन्दुरबार में अपनी माता के साथ दीक्षा ग्रहण की। आप प्रतिभासम्पन्न साध्वी हैं। आपका अध्ययन चल रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रीमद् पुष्कर-गुर्वष्टकम्

राजेन्द्र मुनि शास्त्री,
[काव्यतीर्थ साहित्यरत्न]



अहो सौम्यं रूपं कियदति विशिष्टं गुणमणेः,
प्रसत्तेः साम्राज्यं लसति वदने पुष्करमुनेः।
प्रसीदन्त्यन्ये ते मुनिवरममुं वीक्ष्य ऋषयः,
उपाध्यायं वन्दे विनतशिरसा मे गुरुवरम् ॥१॥

सदा सत्यं वाक्यं स्फुरति रसनायां रसधरम,
प्रदीनं सव्यग्रं झटिति जनमेनं नमयति।
दयादृष्ट्या स्पृष्ट्वा गुणिनमिव गण्यं रचयति,
उपाध्यायं वन्दे विनतशिरसा मे गुरुवरम् ॥२॥

मुनीनां स्रष्टारं समितमतिनाथं मुनिगुरुम्,
सुगुप्तेर्धर्त्तारं वरदकरपद्मं विलसितम्।
विरक्तेर्गातारं परमपदहेतोर्भवगतेः,
उपाध्यायं वन्दे विनतशिरसा मे गुरुवरम् ॥३॥

विमुक्तेः पन्थानं दिशति शुभवाग्भिः प्रतिसभम्,
विशिष्टैर्व्याख्यानैर्गणिसमुपदिष्टैरनुगुणम्।
प्रशस्तोऽप्येषोऽसौ सरलविरलं लोकशरणम्,
उपाध्यायं वन्दे विनतशिरसा मे गुरुवरम् ॥४॥

समुत्कृष्टं ध्याने कृतिवरविशिष्टं मुनिगणे।
प्रकृष्टं संस्थाने विशदमतिशिष्टं गुणिगणे।
सुकृष्टं संज्ञाने सकलगुणशिष्टं मणिगणे,
उपाध्यायं वन्दे विनतशिरसा मे गुरुवरम् ॥५॥

कमप्यन्यं लोके मुनिमहमहो मे मुनिसमम्,
न लोके केप्यन्येऽभिदधतु गुरुं केवलममुम्।
परं जाने सत्यं यदिह पुनरित्थं चलति किम्,
उपाध्यायं वन्दे विनतशिरसा मे गुरुवरम् ॥६॥

अहं तीर्थं मन्ये ममगुरुमिमं पुष्करमुनिम्,
स्वयं साक्षादेनं नहि पुनरतो मे रुचिकरम्।
गुरुं मन्येऽप्यन्यं निगदतु च नाम्ना तदधिकम्,
उपाध्यायं वन्दे विनतशिरसा मे गुरुवरम् ॥७॥

अमुं पट्टाधीशं गुरुममरसिंहस्य सुगुरोः,
प्रणम्यं प्राचार्यं नमति मुनिवृन्दं प्रतिपलम्।
उपाध्यायोद्घोषं श्रमणशरणं तं गुरुवरम्,
उपाध्यायं वन्दे विनतशिरसा मे गुरुवरम् ॥८॥

राजेन्द्रस्यास्य शिष्यस्य,
गुरोरष्टकमङ्गलम्।
प्रीत्यैर्भूयाद् गुरोरङ्घ्रोः
पद्मयोस्तस्यरञ्जनम् ॥९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड ३

राजस्थानकेसरी

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ



गुरुदेव श्री की साहित्य-साधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



गुरुदेव की साहित्यधारा एक अवगाहन

☐ देवेन्द्र मुनि शास्त्री

☐

साहित्य और कला मानव जीवन के लिए वरदान है। साहित्य और कला का सम्बन्ध आज से नहीं, आदिकाल से रहा है। जो साहित्यकार होगा, वह अवश्य कलाकार होगा। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भारत के महान् कवि भर्तृहरि ने "साहित्य-संगीत-कला से विहीन व्यक्ति को साक्षात् पशु" कहा है।

यूनान के महान् दार्शनिक प्लेटो ने "आदर्श राज्य" नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की, उसमें कवि का बहिष्कार किया गया था। क्योंकि कवि समाज को उच्च आदर्शों की प्रेरणा प्रदान न कर भावनाओं के साथ खिलवाड़ करता है और वह असंयम एवं अनैतिकता का मिथ्या प्रचार करता है। पर उसके शिष्य अरस्तू ने प्लेटो की भ्रान्त धारणा का खण्डन करते हुए कवि का प्रभाव और काव्य से होने वाली मानसिक प्रसन्नता आदि पर चिन्तन किया है। गीर्वाण-गिरा के यशस्वी कवियों ने काव्य से प्राप्त होने वाले रस या आनन्द को "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा है। आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजनों पर चिन्तन करते हुए उससे प्राप्त होने वाले यश, कीर्ति, व्यावहारिक ज्ञान, अमंगल का विनाश, आनन्द और उपदेश पर विस्तार से प्रकाश डाला है। यदि हम काव्य की श्रेष्ठता और ज्येष्ठता का प्रतिमान इन्हीं तत्त्वों को मान लें तो सद्गुरुदेव श्री की काव्यरचनाओं में इन तत्त्वों की सहज संस्थिति है। सद्गुरुदेव श्री की कविताओं का लक्ष्य किसी अमूर्त सौन्दर्य-लोक की संस्थापना करना नहीं है और न उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों से कविताकामिनी को सजाना ही है। अपितु उनका लक्ष्य है जन-जन के अन्तर्मानस में त्याग और वैराग्य की मंगलमय भावना उत्पन्न करना। सन्तकाव्य की यही विशेषता रही है। वह मानव को शब्दों के जाल में उलझाता नहीं, किन्तु सीधे हृदय को प्रभावित करता है। उनमें लोक मंगल के विधायकतत्व होते हैं। छद्म आधुनिकता का कृत्रिम प्रयास नहीं, अपितु शाश्वत सत्यों का आख्यान है, मानवीय संवेदना की गहरी पहचान है।

कहा जाता है—"कवि बनते नहीं, जनमते हैं।" इसी कारण आपश्री के काव्य में सहजता, मार्मिकता, हृदय की गहराई एवं भावों की श्रेष्ठता मिलती है, निश्छल उपदेश प्रवणता के भी दर्शन यत्र-तत्र होते हैं।

सद्गुरुदेव श्री के साहित्य में कविता की गंगा, कथा की जमुना और निबन्ध की सरस्वती का सुन्दर संगम हुआ है। उनकी कृतियों में वाल्मीकि का सौन्दर्य है, कालिदास की प्रेषणीयता है, भवभूति की करुणा है, तुलसीदास का प्रवाह है, सूरदास की मधुरता है, दिनकर की वीरता है और है गुप्त जी की सरलता व सुबोधता।

काव्य और गीति साहित्य

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य एक मनस्वी और यशस्वी साहित्यकार हैं। लिखना-पढ़ना, कविताएँ करना, प्रवचन करना, धर्म और संस्कृति पर चर्चाएँ करना आपको प्रिय है। प्रारम्भ से ही आप साहित्य का सृजन करते रहे हैं। आपश्री का साहित्य के क्षेत्र में कविता के द्वारा प्रवेश हुआ है। सर्वप्रथम आपने गीत, कविता और काव्य लिखे। आपश्री सफल साधक, गम्भीर विचारक और मानवता के सन्देशवाहक हैं। आपश्री अपने युग की सम्पूर्ण प्रवृत्ति और सत्ता के द्रष्टा और स्रष्टा हैं। आपका साहित्य मानवता की भावना से ओतप्रोत है। अपने विचारों को स्पष्ट रूप से जन-चेतना के समक्ष रखने में आपश्री सक्षम हैं। आपके साहित्य में केवल जड़ शब्दों का समूह नहीं है, किन्तु उसमें बोलता हुआ जीवन है। आपके गीत धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक भावों से परिपूर्ण हैं। उनमें आध्यात्मिकता व सामाजिकता का आलाप, है, अपलाप नहीं। आपश्री के गीतों का संकलन **'पुष्करप्रभा' 'संगीत-सुधा' 'भजन-चौबीसी' 'भक्ति के स्वर' 'सायर के मोती' 'अमर पुष्पांजलि'** आदि नामों से प्रकाशित हुए हैं। इन वर्षों में भी आपश्री ने शताधिक भजनों का निर्माण समय-समय पर किया है, पर वे सभी अप्रकाशित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव हृदय की वीणा को झंकृत करने में संगीत का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। एतदर्थ ही मध्य-कालीन सन्तों ने अपनी धार्मिक वाणी को विविध राग-रागिणियों से संपृक्तकर मानवीय संवेदना को जागृत करने का एक सफल प्रयास किया है। कबीर, नानक, सूरदास, तुलसीदास, मीरा, आनन्दघन, यशोविजय, समयसुन्दर, द्यातन प्रभृति सन्तों ने अपनी भक्ति-भावनाओं की श्रद्धांजलि संगीत के माध्यम से प्रस्तुत की है। भाषा की सरलता, शैली की सहजता व लोक-प्रिय धुनों पर लिखे गये गीत प्रभावशाली हैं। कवि का ध्यान केवल वैयक्तिक साधना तक ही सीमित नहीं है, किन्तु विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति भी वह जागरूक है। आपश्री के गीतों में फिल्मी गीतों की तरह बिजली की तड़प, सर्चलाइट की चकाचौंध और सर्कस की कलाबाजी तो नहीं है, किन्तु जो कुछ भी है वह सरल है, सहज है और सौम्य है। इन गीतों का लक्ष्य जन-जन के मन को स्वस्थ बनाना और भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर मोड़ना है। और जीवनोत्थान की मंगलमय प्रेरणा प्रदान करना है।

आपके गीत स्तुतिपरक, उपदेशपरक और प्रकीर्णक हैं। स्तुतिपरक रचनाओं में कवि ने प्रसिद्ध आराध्यदेव तीर्थंकर, विहरमान, गणधर और सतियों की स्तुति की है। स्तुतिपरक रचनाओं में कवि की शैली एक ही रही है—कवि को ऐश्वर्य, धन एवं वृद्धि की चाह नहीं है, वह केवल भवसागर से पार होना चाहता है। सन्त होने के कारण से कविता साध्य नहीं, किन्तु साधन है। उपदेशपरक रचनाओं में कवि ने हेय बातों को छोड़ने और उपादेय बातों को ग्रहण करने को उत्प्रेरित किया है। और प्रकीर्णक रचनाएँ वे हैं जो उक्त दोनों वर्गों में नहीं आती हैं। समय-समय पर श्रोताओं का उद्‌बोधन देने के लिए वे रचनाएँ लिखी गयी हैं।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन-चरित्र को आधार बनाकर काव्य लिखने की प्रवृत्ति अतीत काल से रही है। जैन साहित्य में चरित्र काव्यों की लम्बी परम्परा है। चरित्र के माध्यम से जीवन-निर्माण की पवित्र प्रेरणा दी जाती रही है। गुरुदेव श्री ने आर्य सभ्यंभव, बालर्षि मणक, मानतुंग, सम्राट् सम्प्रति, आर्य जम्बूस्वामी, आचार्य भद्रबाहु, आचार्य हरिभद्र, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य स्थूलिभद्र, आचार्य वज्रस्वामी, रत्नाकरसूरि, आर्य रक्षित, नागार्जुन, देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण, दानवीर जगडूशाह, महाराजा कुमारपाल, आचार्य अमरसिंह जी महाराज, तुलसीदास जी महाराज, सुजानमल जी महाराज, जीतमल जी महाराज, ज्ञानमल जी महाराज, पूनमचन्द जी महाराज, ज्येष्ठमल जी महाराज, ताराचन्द जी महाराज आदि अनेक ऐतिहासिक महापुरुषों पर आपश्री ने अनेक खण्डकाव्य लिखे हैं। **'ज्योतिर्धर जैनाचार्य', 'विमल विभूतियाँ', 'सुर सुन्दरी चरित्र', 'रत्नदत्त चरित्र', 'मानतुंग-मानवती', 'गुणकर गुणावली', 'पुण्यसार चरित्र', सुखराज चरित्र', 'अमरसेन-वीरसेन चरित्र'** आदि शताधिक चरित्र आपश्री ने लिखे हैं। उनमें से कुछ चरित्र प्रकाशित हुए हैं और बहुत से अप्रकाशित हैं।

सम्राट् उदायी और द्रौपदी के चरित्र में क्षमा की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। क्षमा, कायरों का नहीं अपितु वीरों का भूषण है। क्षमा वही व्यक्ति कर सकता है जिसके जीवन में तेज है, ओज है। कवि ने कहा है—

क्षमा धर्म की साधना—करते व्यक्ति समर्थ।
शक्तिहीन रखते क्षमा, उसका क्या है अर्थ?
मार सके मारे नहीं, उसका नाम मरद्द।
जिसकी हो असमर्थता, उसकी कृतियाँ रद्द।

जिज्ञासा ही दर्शन की जननी है। बिना जिज्ञासा के व्यक्ति सत्य-तथ्य को प्राप्त नहीं कर सकता। धर्म का सही मर्म वही व्यक्ति समझ सकता है जिसके अन्तर्मानस में प्रबल जिज्ञासा है। कवि ने सत्य ही कहा है—

धर्म धर्म कहते सभी, धर्म धर्म में फर्क।
मर्म धर्म का समझ लो, करके तर्क-वितर्क।

जीवन में कभी उन्नति होती है और कभी अवनति होती है। वह एक झूले की तरह है जो कभी ऊपर, कभी नीचे आता रहता है। महामात्य शकडाल और वररुचि के जीवन प्रसंग को चित्रित करते हुए कवि ने लिखा है—

क्या से क्या होता घटित, अघटित सारा कार्य।
इसीलिए अध्यात्म पर, बल देते जन आर्य॥
बादल प्रतिपल में यथा, बदला करते रंग।
रंग बदलता देखिए, अंगी का निज अंग॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक है, बिना आहार के न ज्ञान हो सकता है, न ध्यान हो सकता है और न प्रचार ही हो सकता है। कवि ने इसी तथ्य को अपनी भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया है—

श्रम स्वाध्याय नहीं हो पाते, मिलता जब आहार नहीं।
जब आहार नहीं मिलता तब, होता पाद-विहार नहीं।
होता पाद विहार नहीं जब, होता धर्म प्रचार नहीं।
होता धर्म प्रचार नहीं तब, रहता एक विचार नहीं॥
रहता एक विचार नहीं तब, आस्थाएँ मर जाती हैं।
शक्ति बिखर जाती संघों की, प्रभावना गिर जाती है॥

प्रभावक व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए कवि ने जो शब्द चित्र प्रस्तुत किया है वह बड़ा अद्भुत है। देखिए—

उन्नत मस्तक, दीर्घ भुजाएँ भव्य ललाट हृदय बलवान।
क्षात्र तेज के साथ रूप ने, बना रखा था अपना स्थान॥
चौड़ी छाती स्कंध सुदृढ़ थे, नेत्र विशाल सुरंग विशेष।
रंग गेहुँआ होता ही है, आकर्षण का केन्द्र हमेश॥

भारतीय संस्कृति में अतिथि को देव-स्वरूप माना है। "अतिथि देवो भव" यहाँ का मूल स्वर है। जब अतिथि घर पर आये तब गृह-मालिक का कर्तव्य है कि वह उसका स्वागत करे। देखिये कवि ने इसी बात को इस रूप में प्रस्तुत किया है—

रोटी और दाल से बढ़कर, भोजन क्या हो सकता है?
आया हुआ अतिथि अपने घर, क्या भूखा सो सकता है?
आश्रय दो, दो भोजन पानी, अपनापन दो, दो सत्कार।
आते अतिथि न अर्थ माँगने, नहीं व्यर्थ का ढोवो भार॥

सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान की संक्षेप में कवि ने बहुत सुन्दर परिभाषा प्रस्तुत की है। कवि लिखता है—

द्रव्य त्याग से है बड़ा, देह राग का त्याग।
होता ही है जीव का, देहाश्रित अनुराग॥
यह मैं, मैं यह इस तरह, लेता है मन - मान।
यही बड़ा मिथ्यात्व है, यही बड़ा अज्ञान॥
देह भिन्न मैं भिन्न हूं, जब लेता मन मान।
सम्यक्दर्शन है यही, है यह सम्यक्ज्ञान॥"

साधक को उद्बोधन देते हुए कवि ने कहा कि जिनशासन के लिए तुम्हें न्योछावर हो जाना चाहिए। जब तक तुम जिनशासन के प्रति सर्वात्मना समर्पित नहीं होगे तब तक जिनशासन की सच्ची समुन्नति नहीं हो सकती। देखिए—

जिनशासन के लिए आप भी, जीवन-दान करो अपना।
अगर कभी देखा हो जो कुछ, वह तो सही करो सपना॥
सुत दो, कन्याएं दो, धन दो और समय दो, सेवा दो।
श्री जिनशासन अपना शासन, समझ प्रेम का मेवा लो॥"

दान धर्म का प्रवेश द्वार है। दान की महत्ता पर चिन्तन करते हुए कवि ने लिखा है कि दुर्भिक्ष के समय उदारता के साथ दान दो। उस समय पात्रापात्र का विचार न करो, क्योंकि जो व्यथित है उसे देना ही तुम्हारा संलक्ष्य होना चाहिए। देखिए—

पात्रापात्र विचार को, यहाँ नहीं अवकाश।
देता है आदित्य भी, सब को स्वीय प्रकाश॥
जो प्राणों का पात्र है, वह दानों का पात्र।
जो पढ़ने में तेज है, वही श्रेष्ठतम छात्र॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना की दृष्टि से साधक को निरन्तर साधना करनी चाहिए। उसे किसी प्रकार के चमत्कार की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए और न चमत्कार प्रदर्शन ही करना चाहिए। कवि चमत्कार प्रदर्शन का निषेध करता हुआ कहता है—

चमत्कार है ब्रह्मचर्य तप, चमत्कार है व्रत-संयम।
चमत्कार दिखलाने वाला, चमत्कार को करता कम॥
चमत्कार दिख जाया करता, दिखलाने का करो न मन।
विद्युत चमत्कार दिखलाकर, शीघ्र छुपाती अपना तन॥

दुष्ट व्यक्ति चाहे कैसा भी संयोग मिले, पर वह अपनी वृत्ति को नहीं छोड़ता। वह शिष्ट के साथ भी दुष्ट प्रवृत्ति करने में नहीं चूकता। कवि ने दुष्ट मानव की प्रकृति का चित्रण करते हुए लिखा है—

नहीं छोड़ता दुष्ट दुष्टता, उसका ऐसा बना स्वभाव।
गिरि-शिखरों पर सड़कों में ज्यों, पाये जाते बड़े घुमाव॥
मोर मधुर बोला करता है, अहि को किन्तु निगल जाता।
भले नली में डालो पर क्या, श्वान-पुच्छ का बल जाता?
तलो तैल में भले महल में, गन्ध प्याज की कब जाती?
मार्जारी के मन में मूषक-गण पर दया नहीं आती।

काव्यों के भाषा-सौष्ठव तथा उक्ति वैचित्र्य का एक उदाहरण देखिए—दिल्ली का वर्णन करते हुए आपश्री ने लिखा है—

कालिन्दी के काले जल ने, जिसको किया नहीं काला।
क्यों न निराला होगा, उसका सुष्ठु स्वरूप बड़ा आला।
केवल यमुना का जल काला, कालापन पुर में न कहीं।
अथवा कालापन केशों में, कालापन उर में न कहीं॥[1]

आर्य वज्रस्वामी के पवित्र चरित्र में दीक्षा का वर्णन करते हुए जो अनुप्रास सहजरूप से उपयुक्त हुए हैं वे प्रेक्षणीय हैं—

दीक्षा शिक्षा गुरु से पाई, भिक्षा पाई लोगों से।
पूर्ण तितिक्षा पाई मुनि ने, निज अनुभूत प्रयोगों से॥[2]

युवक अमरसिंह ने संसार की स्थिति का चित्रण करते हुए अपनी मातेश्वरी से कहा कि संसार में प्रत्येक जीव के साथ अनन्त बार सम्बन्ध हो चुका है, फिर बिछुड़ने और मिलने पर शोक और आनन्द किस बात का। कवि ने इसीको अपने शब्दों में व्यक्त किया है—

ऐसा जीव नहीं है जग में, जिससे जुड़ा न हो सम्बन्ध।
मिलने और बिछुड़ने पर फिर, कैसा शोक तथा आनन्द॥

जैन सन्त की परिभाषा आपश्री ने इस प्रकार की है—

महाव्रतों की कठिन साधना, नव निधि से जीवन पर्यन्त।
करने वाले महापुरुष को, माना जाता जैनी सन्त॥
× × ×
समता सहित रहित ममता से, विहरण करना भूतल पर।
नहीं किसी के बल पर जीना, जीना है अपने बल पर॥

आचार्य अमरसिंह जी का वर्णन करते हुए अनुप्रासों की उत्पन्न छटा दर्शनीय है—

उत्तम आकृति उत्तम व्याकृति, उत्तम व्यवहृति मति उत्तम।
उत्तम उपकृति धृति अति उत्तम, उत्तम व्याहृति गति उत्तम॥

---

१ ज्योतिर्धर जैनाचार्य पृष्ठ ४
२ विमल विभूतियां पृष्ठ ११६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का विश्लेषण करते हुए कवि ने बहुत सुन्दर भाव शब्दों की लड़ियों की कड़ियों में पिरोये हैं—

तत्त्व अहिंसा में सात्विकता, सात्विकता में सत्त्व निवास।
सत्त्व सहित जीवन का होता, बहुत महत्त्व, विशेष विकास॥
स्वतन्त्रता सम्पत्ति सत्त्व में, अतः अहिंसा धर्म प्रधान।
धर्म अहिंसा से सहमत हैं, आगम वेद पुरान कुरान॥
सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य व्रत, एक अहिंसा के हैं अंग।
बिना अहिंसा फीका लगता, धर्म-रु उपदेशों का रंग॥

जैन श्रमणों की वेशभूषा में मुख-वस्त्रिका का प्रमुख स्थान है। जैन-श्रमण मुख-वस्त्रिका क्यों धारण करते हैं, कवि ने सरल एवं सरस शब्दों में बताया है—

मुख्य चिन्ह मुखवस्त्रिका, जैन सन्त का जान।
बचा रही है प्रेम से, वायुकाय के प्रान॥
वह गिरने देती नहीं, सम्मुख स्थित पर थूक।
कहती अपने वचन से, कभी न जाना चूक॥
× × ×
"खुले मुंह बोले नहीं" यह संयम का मूल।
बाँधे जो मुखवस्त्रिका, सम्भव क्यों हो भूल॥

बाल्य जीवन का वर्णन करते हुए कवि ने उत्तम माता की सन्तान उत्तम होती है—यह प्रतिपादन किया है। उनके कुछ पद्य देखिए—

उत्तम शिशुओं की माता भी, होती उत्तम गुणवाली।
उत्तम फूल उगाने वाली, उत्तम होती है डाली॥
उत्तम रंग अंग भी उत्तम, उत्तम संग मिला सारा।
उत्तमता को जाना जाता, उत्तम लक्षण के द्वारा॥

ग्राम्य संस्कृति का चित्रण करते हुए आपश्री ने लिखा है—

गाँवों में है धर्म लाज शुभ, गाँवों में है नैतिकता।
बसी वास्तविकता गाँवों में, शहरों में है कृत्रिमता॥

धर्म के मर्म पर प्रकाश डालते हुए कवि ने कहा है—

दूध दूध होते नहीं, सारे एक समान।
अर्क दुग्ध के पान से, पुष्ट न बनते प्रान॥
धर्म धर्म कहते सभी, धर्म धर्म में फर्क।
मर्म धर्म का समझ लो, करके तर्क वितर्क॥

आधुनिक मानव समाज नैराश्य, कुण्ठा, सन्त्रास, विघटन आदि भयंकर व्याधियों से पीड़ित हैं। आपश्री की दृष्टि से उन व्याधियों से मुक्त होने के लिए तप, त्याग, वैराग्य ये संजीवनी बूटी के समान हैं। यदि मानव इन सद्गुणों की उपासना करे तो उसका जीवन आशा-उल्लास से भर सकता है। आपश्री ने अपने काव्य में सर्वत्र यही प्रेरणा दी है।

आपश्री की काव्यशैली की भाषा प्रभावपूर्ण व प्रभावशाली है। शब्दों का सुन्दर संयोजन, विचारों का सुगठित स्वरूप और अभिव्यक्ति की स्पष्टता आपकी सजग शिल्प चेतना का स्पष्ट उदाहरण है। आपके काव्य में सहजता, तन्मयता और प्रगल्भता का सुन्दर संयोजन हुआ है।

भाषा की दृष्टि से आपश्री का काव्य-साहित्य हिन्दी, राजस्थानी और संस्कृत में रहा है। समय-समय पर आपश्री ने राजस्थानी भाषा में भी प्रकीर्णक कविताएँ लिखी हैं। जैन साधना में तप का अत्यधिक महत्त्व रहा है। जब बहिनें तप करती हैं तब उन्हें भाई की सहज स्मृति हो आती है। आपश्री ने बहिन की भावना का चित्रण राजस्थानी भाषा में इस प्रकार किया है—

बीरा आई जो, बीरा आई जो थे तपस्या रे माय हो।
बीरा यां बिना सूनो लागसी जी॥
बीरा जग में बीरा जग में सगलो साथ हो।
बीरा मिल्यो ने मिल जावसी जी॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाई बहिन को उत्तर देता है—

बेनड़ आयो बेनड़ आयो मैं मरुधर सुं चाल हो।
बेनड़ तपस्या रो भाव देखने जी॥
बेनड़ थारो बेनड़ थारो मैं धर्म रो वीर हो।
बेनड़ लायो मैं तपस्या री चुंदड़ी जी॥

आपने मोहग्रस्त व्यक्तियों को फटकारते हुए कहा—

आयो केवाँ ने, वाह वाह आयो केवाँ ने।
थे अमर नहीं हो रे वाने के आयो केवा ने॥
× × ×
कूड़ कपट कर माल कमाई, तिजोरी में राख्यो हो।
कालो धन नहीं रेला था रे, इन्दिरा भाख्यो हो॥

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य सफल कवि हैं। उनकी कविताओं में भाषा की दुरूहता नहीं, किन्तु भावों की गम्भीरता है। उनका अधिकांश कविता-साहित्य अप्रकाशित है। आपश्री ने जैन इतिहास के उन ज्योतिर्धर नक्षत्रों के जीवनों को चित्रित किया है जिनका जीवन प्रेरणाप्रद रहा है। कवि के काव्य का आधार सदाचार, सत्य, अहिंसा आदि मानवीय सद्गुणों का प्रकाशन है। आपश्री का काव्य साहित्य भाषा, अलंकार, कला आदि दृष्टियों से सुन्दर ही नहीं अति सुन्दर है।

संस्कृत साहित्य

संस्कृत भाषा भारत की एक अमर थाती है सम्प्रदायवाद, पन्थवाद, प्रान्तवाद, जातिवाद के कृत्रिम भेदों को विस्मृत होकर यहाँ के मूर्धन्य मनीषियों ने गम्भीर व गहन विषयों के प्रतिपादन हेतु इस भाषा को अपनाया। वैदिक मनीषियों ने जहाँ इस भाषा के भण्डार को भरने का प्रयास किया वहाँ पर जैन और बौद्ध विज्ञगण भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी हजारों ग्रन्थ इस भाषा में लिखे। आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य मलयगिरि, आचार्य अभयदेव, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, उपाध्याय यशोविजय जी आचार्य अकलंक, आचार्य समन्तभद्र, विद्यानन्द, प्रभृति-शताधिक जैन विज्ञों ने संस्कृत भाषा में दर्शन, साहित्य, व्याकरण, काव्य आदि पर जिन मौलिक ग्रन्थों का सृजन किया, वह भारत की अमर सम्पत्ति है। इसी प्रकार बौद्ध विद्वान अश्वघोष, वसुबन्धु, दिग्नाग, नागार्जुन, धर्मकीर्ति आदि महान् विद्वानों ने संस्कृत भाषा में, न्याय, दर्शन साहित्य पर विपुल साहित्य का सृजन किया है।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य की ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण संस्कृत भाषा के प्रति प्रारम्भ से ही रुचि रही है। विद्यार्थी जीवन में ही वे संस्कृत भाषा में लिखते रहे। संस्कृत भाषा में उनकी अनेक रचनाएँ हैं। वे सभी रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं। अमरसिंह महाकाव्य का प्रथम संस्करण विक्रम संवत् १९९३ में प्रकाशित हुआ था, किन्तु बाद में आपश्री को लगा कि रचना अपूर्ण है अतः पुनः उस पर नवीन रूप से लिखा और वह तेरह सर्गों में स्रग्धरा, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका प्रभृति विविध छन्दों में लिखा गया है। इसमें रूपक, वक्रोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि विविध अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है। यह आपश्री का उत्कृष्ट काव्य है।

प्रस्तुत काव्य में आपश्री ने ब्रह्मचर्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

ब्रह्माश्चर्यं जगति तनुते ब्रह्मचर्यं प्रशस्तम्
यस्योत्कर्षं भुवनविदितं कोऽपि वक्तुं न शक्तः।
रम्यं रूपं स्पृशति तृणकं लज्जमानं परन्तु
स्वस्यास्तित्वं कथमपि धरन् नृत्यतीदं तदग्रे॥

अर्थात् संसार में प्रशस्त ब्रह्मचर्य ने महान् आश्चर्य फैला रखा है, जिस ब्रह्मचर्य के विश्व विख्यात वैशिष्ठ्य को कोई भी कहने के लिए समर्थ नहीं हो सका है। यहाँ तक कि यह रमणीय रूप भी लज्जित होकर तिनके तोड़ने लगता है। किन्तु यह अपने अस्तित्व को इसी प्रकार रखकर उस ब्रह्मचर्य के सामने नृत्य करता रहता है। अर्थात् यह ब्रह्मचर्य ही जगदुत्तम है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य सम्राट् अमरसिंह जी महाराज के चरित्र के सम्बन्ध में कवि अपनी विनययुक्त भावना अभिव्यक्त करता है—

सत्सुश्रेष्ठं श्रुतिमतियुतं ज्ञानिगुण्येषु वन्द्यम्
लक्ष्मीवंतं प्रथितसमितिं सिद्धगुप्ति प्रसिद्धम् ।
नत्वाचार्यं श्रमणममरं सिंहमेवाभिधानम्
तस्यैवैतच्चरितमतुलं तायते वित्तवृत्तम् ॥

—अर्थात् श्रुति और मति से युक्त, ज्ञानियों एवं गुणियों में वन्दनीय, समितियों के पालक, गुप्तियों के साधक प्रसिद्ध सन्त वर आचार्य अमरसिंह जी महाराज को नमस्कार कर मुझ पुष्कर मुनि के द्वारा उन आचार्य महाराज का यह जाना हुआ अनुपम पवित्र चरित्र विस्तृत किया जा रहा है ।

ज्येष्ठमल जी महाराज की स्तुति करते हुए आपश्री ने लिखा है—

ज्येष्ठमल्लगुरुदेवं श्रयते भक्तजनो विजनोऽपि विजयते ।
महिमानं लभते रमणीयम् श्रियाः शरण्यं गुणभजनोयम् ॥

अर्थात्, जो ज्येष्ठमल जी गुरुदेव का आश्रय लेता है, वह भक्तपुरुष एकाकी रहकर भी विजय प्राप्त करता है । और इतना ही नहीं अपितु वह लक्ष्मी का शरण्य गुणों से प्राप्त चित्ताकर्षक माहात्म्य का अधिकारी होता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में महाकाव्य के सभी गुण विद्यमान हैं । आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में, व्यास ने अग्निपुराण में, विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रयशोभूषा में, आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में. अरिष्टोटल ने 'दि आर्ट आफ पोइट्री' में, हेगेल ने 'फिलासफी आफ फाइन आर्ट्स'' में, महाकाव्य के लक्षणों पर विस्तार से विवेचन किया है । उन सभी के आधार पर महाकाव्य के मुख्य तत्त्व चार हैं—महान् कथानक, महान् चरित्र, महान् सन्देश और महान् शैली । महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्य रूप है जिसमें कथा प्रवाह, अलंकृत वर्णन और मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित सांगोपांग और जीवन्त कथानक होता जो रसात्मकता या प्रभान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण सक्षम है । महान् प्रेरणा और महान् उपदेश भी प्रस्तुत काव्य में प्रतीकात्मक या अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है । यद्यपि प्रस्तुत काव्य में काव्य सम्बन्धी रूढ़ियों की जकड नहीं है उसमें कवि ने अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का प्रयोग किया है । फलतः इसमें स्वाभाविकता और कलात्मकता दोनों एक साथ परिलक्षित होती हैं । उसमें भाषा की जटिलता नहीं, किन्तु सरसता है । और अर्थ की गंभीरता है जो पाठकों के मन को मोह लेती है ।

काव्य-मर्मज्ञों ने काव्य के अनेक गुण बताये हैं । आचार्य भामह ने काव्यालंकार में माधुर्य, प्रसाद और ओज ये तीन मुख्य गुण बताये हैं । माधुर्य और प्रसाद गुणवाली रचना में समासान्त पदों का प्रायः प्रयोग नहीं होता तो ओज गुणवाली रचना में समास बहुल पद प्रयुक्त होते हैं । आपश्री के प्रस्तुत काव्य में प्रसाद और माधुर्य इन दो गुणों की प्रधानता है, कहीं-कहीं पर ओज गुण भी परिलक्षित होता है ।

आपश्री ने तीर्थंकरों की स्तुति के रूप में अष्टक, एकादशक, दशक आदि विविध रूप में अनेक स्फुट रचनाएँ भी की हैं । जिनमें आपश्री के हृदय की विराट् भक्ति छलक रही है । इन स्तोत्र साहित्य को पढ़ते हुए सहज ही सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य हेमचन्द्र और मातुंग के स्तोत्र साहित्य का सहज ही स्मरण हो आता है ।

भगवान श्री ऋषभदेव जैन संस्कृति के ही नहीं अपितु विश्व संस्कृति के आद्य पुरुष हैं । संस्कृति और सभ्यता के पुरस्कर्ता हैं । भाव-विभोर होकर उनकी स्तुति करता हुआ कवि कहता है—

असीद् यदा जगति विप्लव एव बुद्धेः
जातौ जनस्य कृषिकर्मणि वान्यकार्ये ।
त्राताऽयमेव विषमे विषये तदाऽभूत्
तीर्थंकरं तमृषभं सततं नमेयम् ॥

भगवान शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर हैं । विश्व में शान्ति संस्थापक हैं । उनके नाम में ही अद्भुत शक्ति है जिससे सर्वत्र शान्ति की सुरलहरी झनझनाने लगती है । कवि कह रहा है :—

सुशान्तिनाथस्य पदारविन्दयोः
नमस्त्रिकृत्वोऽपि पुनर्मुहुर्मुहुः ।
नमामि जन्मान्तकर्मशान्तये,
शिवाय भिक्षुस्तव पुष्करो मुनिः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान पार्श्व तेवीसवें तीर्थंकर हैं आधुनिक इतिहासकार भी जिनके अस्तित्व को मानते हैं। कवि भगवान पार्श्वनाथ की महान् विशेषता का चित्रण करते हुए कहता है :—

धृतोत्सर्गोद्रेकः प्रभुरपि विभावं न मनसा
स्पृशत्येवं किञ्चित् किमिति कथनीयं पुनरिदम्।
भवेन्नाम्ना ऽ प्येतज् जगति यशसः स्यात्फलमदः
प्रभुं पार्श्वं वन्दे प्रयमिमतिभूत्यै प्रतिदिनम्॥

विश्वज्योति श्रमण भगवान महावीर का उग्रतप सभी तीर्थंकरों से बढ़कर था। उन्होंने उग्रतप की साधना से कर्मों को नष्ट कर दिया और शिवत्व को प्राप्त किया, ऐसे महान् वीर प्रभु को कवि उसकी स्तुति कर अपने आपको धन्य अनुभव करता है। देखिए :—

महातपोभि : परितप्य विग्रहम
प्रहाय कर्माणि शिवं शुभं पदम्
प्रसिद्ध - संस्तार - यथा प्रयात्यसौ,
पथः प्रणेतारमहं प्रभुं भजे।

इस प्रकार कवि का संस्कृत स्तोत्र साहित्य साधक के अन्तर्मानस में भक्ति की भागीरथी प्रवाहित करता है।

गद्य-साहित्य

आपश्री ने पद्य में ही नहीं, गद्य की विविध विधाओं में भी बहुत लिखा है। आपश्री ने विविध विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। एक विचारक ने लिखा है कि निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्णशक्ति का विकास निबन्ध में ही सबसे अधिक संभव है। अतः भाषा की दृष्टि से निबन्ध गद्य साहित्य का सबसे अधिक तथा विकसित रूप है। सामान्य लेख और निबन्ध में अन्तर है। सामान्य लेख में लेखक का व्यक्तित्व निखरता नहीं है। वह प्रच्छन्न रूप से रहता है, जबकि निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व पूर्णरूप से निखरता है। संक्षेप में कहा जाय तो निबन्ध गद्य, काव्य की वह विधा है जिसमें लेखक एक सीमित आकार में इस विविध रूप जगत् के प्रति अपनी भावात्मक एवं विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करता हैं।

मुख्य रूप से निबन्ध के दो भेद हैं—भावात्मक और विचारात्मक। आपश्री ने दोनों ही प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। निबन्धों में अनुभूति की प्रधानता है। विचारात्मक निबन्ध में आपने विवेचनात्मक एवं गवेषणात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। आपके निबन्धों में कल्पना, अनुभूति और तर्कपूर्ण मधुर व्यंग्य भी है। आपके निबन्धों की शैली सरल, सरस और हृदय के विराट् भावों को अभिव्यक्त करने में पूर्ण सक्षम है। समय-समय पर आपश्री के निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में और विभिन्न ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। और कितने ही निबन्धों की पुस्तकें अभी अप्रकाशित हैं। आपश्री के निबन्धों के कुछ उद्धरण मैं यहाँ दे रहा हूँ—

पुद्गल द्रव्य पर चिन्तन करते हुए आपश्री ने लिखा है—

"न्याय-वैशेषिक जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, विज्ञान जिसे मेटर कहता है, उसे ही जैनदर्शन ने पुद्गल कहा है। बौद्ध साहित्य में "पुद्गल" शब्द "आलयविज्ञान" "चेतनासंतति" के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवती में अभेदोपचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को पुद्गल कहा है। पर मुख्य रूप से जैन साहित्य में पुद्गल का अर्थ "मूर्तिक द्रव्य" है जो अजीव है। अजीव द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य विलक्षण है। वह रूपी है, मूर्त है उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाये जाते हैं। पुद्गल के सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु से लेकर बड़े से बड़े पृथ्वी स्कंध तक में मूर्त गुण पाये जाते हैं। इन चारों गुणों में से किसी में एक, किसी में दो और किसी में तीन गुण हों ऐसा नहीं हो सकता। चारों ही गुण एक साथ रहते हैं। यह सत्य है कि किसी में एक ही गुण की प्रमुखता होती है जिससे वह इन्द्रियगोचर हो जाता है और दूसरे गुण गौण होते हैं जो इन्द्रियगोचर नहीं हो पाते हैं। इन्द्रिय अगोचर होने से हम किसी गुण का अभाव नहीं मान सकते। आज का वैज्ञानिक हाइड्रोजन और नायट्रोजन को वर्ण, गन्ध और रसहीन मानते हैं, यह कथन गौणता को लेकर है। दूसरी दृष्टि से इन गुणों को सिद्ध कर सकते हैं। जैसे 'अमोनिया' में एकांश हाइड्रोजन और तीन अंश नाइट्रोजन रहता है। अमोनिया में गंध और रस ये दो गुण हैं। इन दोनों गुणों की नवीन उत्पत्ति नहीं मानते चूंकि यह सिद्ध है कि असत् की कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत् का कभी नाश नहीं हो सकता, इसलिए जो गुण अणु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में होता है वही स्कंध में आता है। हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के अंश से अमोनिया निर्मित हुआ है, इसलिए रस और गन्ध जो अमोनिया के गुण हैं, वे गुण उस अंश में अवश्य ही होने चाहिए। जो प्रच्छन्न गुण थे वे उसमें प्रकट हुए हैं। पुद्गल में चारों गुण रहते हैं चाहे वे प्रकट हों या अप्रकट हों। पुद्गल तीनों कालों में रहता है, इसलिए सत् है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है। जो अपने सत् स्वभाव का परित्याग नहीं करता, उत्पाद, व्ययः ध्रौव्य से युक्त है और गुण-पर्याय सहित है, वह द्रव्य है। व्यय के बिना उत्पाद नहीं होता, उत्पाद के बिना व्यय नहीं होता। उत्पाद और व्यय के बिना ध्रौव्य हो नहीं सकता। द्रव्य का एक पर्याय उत्पन्न होता है, दूसरा नष्ट होता है पर द्रव्य न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है किन्तु सदा ध्रौव्य रहता है..... ।"

अहिंसा और अनेकान्त का विश्लेषण करते हुए आपश्री ने बहुत ही स्पष्टता से लिखा है—

"अहिंसा और अनेकान्त जैनदर्शन के प्राणभूत तत्व हैं। हमारे शरीर में जो स्थान मन और मस्तिष्क का है वही स्थान जैनदर्शन में अहिंसा और अनेकान्त का है। अहिंसा आचारप्रधान है और अनेकान्त विचारप्रधान है। अहिंसा व्यावहारिक है, उसमें प्राणिमात्र के प्रति दया, करुणा, मैत्री व आत्मौपम्य की निर्मल भावना अंगड़ाइयाँ लेती हैं तो अनेकान्त बौद्धिक अहिंसा है, उसमें विचारों की विषमता, मनोमालिन्य, दार्शनिक विचार भेद और उससे उत्पन्न होने वाला संघर्ष नष्ट होता है। सहअस्तित्व, सद्व्यवहार के विमल विचारों के फूल महकने लगते हैं।"

विश्व में अशांति का मूल कारण क्या है—इस पर आपश्री ने अपने 'स्याद्वाद और सापेक्षवाद : एक अनुचिन्तन' निबन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है—

"आज का जन-जीवन संघर्ष से आक्रान्त है, चारों ओर द्वेष और द्वन्द्व का दावानल सुलग रहा है। मानव अपने ही विचारों के कटघरे में आबद्ध है, आलोचना और प्रत्यालोचना का दुश्चक्र तेजी से चल रहा है। मानव एकान्त पक्ष का आग्रही होकर अन्धविश्वासों के चंगुल में फँस रहा है। क्षुद्र व संकुचित मनोवृत्ति का शिकार होकर एक-दूसरे पर छींटाकसी कर रहा है। वह अपने विचारों को सत्य और दूसरे के विचारों को मिथ्या सिद्ध करने में लगा हुआ है। 'सच्चा सो मेरा' इस सिद्धान्त को विस्मृत होकर 'मेरा सो सच्चा' इस सिद्धान्त की उद्घोषणा कर रहा है, परिणामतः इस संकीर्णवृत्ति से मानव समाज में अशांति की लहर लहराने लगी है। उतना ही नहीं, जब मानव में संकीर्ण वृत्ति से उत्पन्न हुआ अहंकार, आग्रह तथा असहिष्णुता का चरमोत्कर्ष होता है तो धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में भी रक्त की नदियाँ बहने लगती हैं। उस परिस्थिति के निराकरण के लिए ही जैनदर्शन ने विश्व को अनेकान्तवाद की दिव्य दृष्टि प्रदान की।"

दान जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर गुरुदेव श्री ने एक विराट् काय ग्रन्थ का निर्माण किया है। दान की व्याख्या करते हुए आपने लिखा है—'दान' दो अक्षरों से बना हुआ एक अत्यन्त चमत्कारी शब्द है। आप दान शब्द सुनकर चौंकिए नहीं। दान से यह मत समझिए कि अपनी कोई वस्तु छीन ली जायेगी या आपको कोई वस्तु जबरन देनी होगी। दान एक धर्म है और धर्म कभी किसी से जबरन नहीं करवाया जाता। हाँ, उसके पालन करने से लाभ और न पालन करने से हानि के विविध पहलू अवश्य ही समझाये जाते हैं। इसी प्रकार दान कोई सरकारी टैक्स नहीं है, कोई आयकर, विक्रयकर या सम्पत्तिकर नहीं है, जो जबरन किसी से लिया जाए अथवा दण्डशक्ति के जोर से उसका पालन कराया जाए। चूँकि दान धर्म है अथवा पुण्य कार्य है इसलिए वह स्वेच्छा से ही किया जाता है।

पुण्य पर चिन्तन करते हुए गुरुदेव श्री ने लिखा है—"भारतीय संस्कृति के सभी चिन्तकों ने पुण्य-पाप के सम्बन्ध में विस्तार से चिन्तन किया है। मीमांसक दर्शन ने पुण्य-साधन पर अत्यधिक बल दिया है। उनका अभिमत है कि पुण्य से स्वर्ग के अनुपम सुख प्राप्त होते हैं। उन स्वर्गीय सुखों का उपभोग करना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है पर जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है—पुण्य-पाप रूपी समस्त कर्मों से मुक्ति पाना। यह देहातीत या संसारातीत अवस्था है। जब तक प्राणि संसार में रहता है, देह धारण किये हुए हैं, जब तक उसे संसार में रहना पड़ता है और उसके लिए पुण्य-कर्म का सहारा लेना पड़ता है। पाप-कर्म से प्राणि दुःखी होता है, पुण्य-कर्म से सुखी। प्रत्येक प्राणि सुख चाहता है। स्वस्थ शरीर, दीर्घ आयुष्य, धन-वैभव, परिवार, यश प्रतिष्ठा आदि की कामना प्राणि मात्र की है। सुख की कामना करने मात्र से सुख नहीं मिलता, किन्तु सुख प्राप्ति के सत्कर्म करने से सुख मिलता है। उस सत्कर्म को शुभयोग कहते हैं। आचार्य उमास्वाती ने कहा है—

"योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः" ।—शुभयोग पुण्य का आस्रव करता है और अशुभयोग पाप का।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभयोग, शुभभाव अथवा शुभ परिणाम और सत्कर्म प्रायः एक ही अर्थ रखते हैं। केवल शब्द व्यवहार का अन्तर है।

श्रावक धर्म पर भी आपश्री ने एक विराट् काय चिन्तन प्रधान ग्रन्थ का सृजन किया है उसमें आपश्री ने व्रत के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है—

"व्रत एक पाल है, एक तट बंध है, आप जिस गाँव में रहते हैं वहाँ यदि बिना पाल का तालाब हो तो क्या आप वहाँ रहना पसन्द करेंगे ? आप कहेंगे ऐसी जगह वर्षा के दिनों में एक दिन भी रहना खतरे से खाली नहीं है। न मालूम कब तालाब में पानी बढ़ जाय और वह बाहर निकल कर गाँव को डुबो दे, मकानों को ढहा दे। व्रत भी एक पाल है, एक तटबन्ध है जो स्वच्छन्द बहते हुए जीवन-प्रवाह को मर्यादित बना देता है। नियन्त्रित कर देता है।

व्रत जीवन को स्वयं नियन्त्रित करने वाली स्वेच्छा से स्वीकृत मर्यादा है, जिसमें रहकर मानव अपने आपको पशुता, दानवता, उच्छृंखलता, पतन आत्म-विश्वास में अवरोध, उत्पन्न करने वाले असंयम आदि को रोकता है।

व्रत एक अटल निश्चय है। मानव जब तक व्रत नहीं लेता तब तक उसका मन डांवाडोल रहता है। उसकी बुद्धि निश्चल और स्थिर नहीं हो पाती। व्रत ग्रहण करने पर मानव का निश्चय अटल हो जाता है।

संस्मरण-साहित्य

संस्मरण साहित्य की एक सशक्त विधा है। अन्यान्य विधाओं से वह अधिक रुचिकर और प्रिय होती है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में नित्य नयी घटनाएँ घटित होती है। कुछ घटनाएँ चल-चित्र की तरह आती हैं और चली जाती हैं। किन्तु कुछ घटनाओं की छाप अमिट होती है। वे भुलाने पर भी भुलाई नहीं जा सकती है। स्मृत्याकाश में वे समय-समय पर बिजली की तरह कौंधती है। संस्मरण मधुर भी होते हैं, कड़ुवे भी होते हैं क्योंकि जीवन में मधुरता और कटुता दोनों का योग होता है। कभी ऐसा नहीं होता कि जीवन में मिठास ही हो, कड़ुवाहट न हो। केवल मिठास से जीवन रूढ़ बन जाता है और केवल कड़ुवाहट से नीरस। यह सत्य है, कि संस्मरण में प्रायः जीवन के मधुर क्षणों का ही चित्रण होता है। संस्मरण लिखने की अपनी शैली है। वर्णन के अनुसार भाषा में गम्भीरता और सरलता होती है। आपश्री के संस्मरण—लेखन की शैली बड़ी अद्भुत और प्रभावक है। भावों का अङ्कन बहुत ही चित्ताकर्षक हुआ है। आपके संस्मरणों के कुछ उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

'गौर वर्ण की देह में देदीप्यमान कनक की-सी आभा, मँझला कद, भव्य-भाल, सुन्दर व स्वस्थ शरीर, आकर्षक व्यक्तित्व, तन से वृद्ध, मन से जवान, सीधा-साधा रहन-सहन, आडम्बर रहित जीवन यह है आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज साहब का बाहरी छविचित्र।"

एक विचारक की वाणी में "सुख की चाँदनी में सभी हँस सकते हैं, पर दुःख की दोपहरी में हँसना सरल नहीं," परन्तु श्रद्धेय आचार्यप्रवर ने सुख की शुभ्र चाँदनी में ही नहीं, किन्तु कष्टों की कठिन दोपहरी में भी हँसना सीखा है। कभी भी, किसी भी अवस्था में आपश्री सदा मुस्कराते ही पायेंगे। मुश्किलें उन्हें हतोत्साहित नहीं करतीं पर प्रोत्साहित ही करती हैं। सदा प्रसन्न रहना ही जिनका सहज गुण है।

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के सम्बन्ध में आपने लिखा है—

"आचार्य प्रवर महामहिम आनन्दऋषि जी महाराज श्रमण संघ की एक महान् जगमगाती ज्योति हैं। जिनका जीवन सूर्य के समान तेजस्वी और चाँद के समान सौम्य है। उनका जीवन सद्गुणों का समुद्र है। उस समुद्र का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाय, यह गम्भीर चिन्तन के पश्चात् भी समझ में नहीं आ रहा है। उनके विराट् व्यक्तित्व रूपी सिन्धु को शब्दों के बिन्दुओं में बाँधना बड़ा ही कठिन है।

अजरामरपुरी अजमेर में वृहद् साधु-सम्मेलन का भव्य आयोजन। जन-जन के मन में अपार उत्साह, बरसाती नदी की तरह उमड़ रहा था। एक से एक बढ़कर प्रतिभासम्पन्न सन्त पधार रहे थे। उस समय सभी सन्तों की व्यवस्था की जिम्मेदारी हम राजस्थानी सन्तों पर थी। जिससे सभी सन्तों के साथ हमारा मधुर सम्बन्ध होना स्वाभाविक था। उस समय आनन्द ऋषि जी महाराज के हृदय की शुद्धता, मन की सरलता और अपने सिद्धान्तों पर पहाड़ की तरह अटल रहते हुए देखकर मेरे मन में उनके प्रति सहज श्रद्धा जागृत हुई।"

मन्त्री श्री हजारीमल जी महाराज के सम्बन्ध में आपने लिखा है—

"वे उच्चकोटि के सहृदय सन्त थे। उनका जीवन आचार और विचार का पावन संगम था। आज के युग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रतिभासम्पन्न विद्वानों की कमी नहीं है, यह फसल बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है। विचारकों का बाजार भी बड़ा गर्म है। ग्रन्थकारों का तो कहना ही क्या ? वे भी अल्पसंख्यक नहीं रहे, पर सच्चे सन्त बड़े महँगे हो गए हैं। किन्तु स्वामी जी महाराज सच्चे सुसंस्कारी सन्त थे। इसी कारण जन-जन के वे हृदय के हार और जन-मन के सम्राट थे।"

पण्डित श्रीमल जी महाराज के सम्बन्ध में आपश्री ने लिखा है—

"उस समय मैं 'सिद्धान्त कौमुदी' पढ़ रहा था, काव्य और न्याय के ग्रन्थों का भी अध्ययन चल रहा था। सुना, नया बाजार के स्थानक में स्थित मुनि श्री श्रीमलजी पण्डित अम्बिकादत्त जी से सिद्धान्त कौमुदी पढ़ रहे हैं। उनसे मिलने की जिज्ञासा तीव्र हुई पर शहर में मिलना सम्भव नहीं था। प्रातः वे जिधर शौच के लिए जाते थे, उधर हम भी गए। जंगल का वह एकान्त शान्त स्थान। सम्प्रदायवाद से उन्मुक्त वातावरण। दिल खोलकर संस्कृत भाषा में वार्तालाप हुआ। अनेक प्रश्नों पर विचार चर्चा हुई। भय का भूत भगा और हम एक—दूसरे के पक्के मित्र हो गये।"

कथा-साहित्य

विश्व साहित्य में कहानी या कथा साहित्य का अत्यधिक महत्त्व रहा है। कथा विश्व का सबसे प्राचीन साहित्य है। विश्व के मूर्धन्य मनीषियों ने काव्य का आदिकाल निश्चित किया, उन्होंने महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि माना। क्रौंच पक्षी के जोड़े पर शिकारी ने बाण का प्रहार किया जिससे नर क्रौंच छटपटाने लगा। उसकी दारुण वेदना और वियोग में मादा क्रौंच करुण क्रन्दन करने लगी जिसे देखकर वाल्मीकि के हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे और काव्य का सृजन हो गया जिसे आदि काव्य माना गया। किन्तु कथा या कहानी का इतिहास कितना पुराना है यह अभी तक अज्ञात है।

पाश्चात्य या पौर्वात्य विज्ञों का अभिमत है कि भारतीय साहित्य में ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। ऋग्वेद, साहित्य का आदि ग्रन्थ है। किन्तु कथा साहित्य ऋग्वेद से भी प्राचीन है। इतिहास विज्ञों का मानना है कि ऋग्वेद की रचना भारत में आर्यों के आगमन के पश्चात् ही हुई, किन्तु आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में विकसित रूप से धार्मिक और दार्शनिक परम्पराएँ थीं। और उनका साहित्य भी था। भले ही वह लिखित रूप में न होकर मुखाग्र रहा हो। वेद भी जब रचे गये तब लिखे नहीं गये थे। उन्हें एक-दूसरे से सुनकर स्मृति में रखा जाता था। अतः वेदों को श्रुति भी कहा जाता है। इसी तरह जैन साहित्य भी सुनकर स्मरण रखने के कारण श्रुत कहलाता रहा है। कथा या कहानी श्रुति और श्रुत से भी प्राचीन है। कथा के प्रति मानव का सहज और स्वाभाविक आकर्षण है। सत्य तो यह है कि मानव का जीवन भी एक कहानी ही है, जन्म से जिसका प्रारम्भ होता है और मृत्यु के साथ अवसान होता है। कहानी कहने और सुनने की लालसा मानव में आदि काल से ही है।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने कथा साहित्य में उपन्यास और कहानी दोनों लिखे हैं। उपन्यास में जीवन के सर्वांगीण और बहुमुखी चित्र विस्तार से लिखे जाते हैं। यही कारण है कि उपन्यास की लोकप्रियता विद्युत गति से बढ़ रही है। आज साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास की बाढ़ आ रही है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—उपन्यास ने तो मनोरंजन के लिए लिखी जाने वाली कविताओं एवं नाटकों का रस-रंग भी फीका कर दिया है। क्योंकि पाँच मील दौड़कर रंग-शाला में जाने की अपेक्षा पाँच सौ मील से पुस्तकें मँगा लेना ऐसा आसान हो गया है जो रंग-मंच को अपने पत्रों में लपेटे हुए है।" उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ।" मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। इस परिभाषा के प्रकाश में सद्गुरुदेव के कथा साहित्य को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) उपन्यास और (२) कहानी साहित्य।

जैन श्रमण होने के नाते आपके उपन्यास भले ही आधुनिक उपन्यासों की कसौटी पर पूर्ण रूप से खरे न उतरें, तथापि उन उपन्यासों में धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक विषयों की गम्भीर गुत्थियाँ सुलझायी गयी हैं। आपश्री ने 'जैन-कथाएँ' नामक कथामाला के अन्तर्गत पचास भाग लिखे हैं जिनमें से चालीस भाग प्रायः प्रकाशित हो चुके हैं। शेष भाग प्रकाशित हो रहे हैं। प्रकाशित भागों में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठम, नवम, दशम, चतुर्दश, पंचविंशति और पैंतीसवाँ भाग उपन्यास के रूप में है। शेष भागों में कथाएँ हैं। उपन्यास व कथाओं का मूल उद्देश्य नैतिक भावनाएँ जागृत करना है। आपश्री के उपन्यास व कथाओं की शैली अत्यधिक रोचक है। पढ़ते-पढ़ते पाठक झूमने लगता है। आपश्री के कथा-उपन्यासों का मूल स्रोत प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा जैन रास साहित्य रहा है। आपने उन प्राचीन कथाओं को आधुनिक रूप में प्रस्तुत किया है।

गुरुदेव श्री की प्रत्येक कथा सरस व रोचक है। मानव स्वभाव व जीवन की यथार्थता के रंग बिरंगे चित्र प्रस्तुत करती है। वे प्रबुद्ध पाठक के मानस को झकझोरती है कि तू कौन है ? तेरा जीवन विषयवासना के दलदल में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फँसने के लिए नहीं है। यदि तू कर्मबन्धन करेगा तो उसके कटुफल तुझे ही भोगने पड़ेंगे। यदि तूने श्रेष्ठ कर्म किये तो उसका फल श्रेष्ठ प्राप्त होगा। यदि कनिष्ठ कर्म किये तो उसका फल अशुभ प्राप्त होगा। कर्मों का फल निश्चित रूप से सभी को भोगना पड़ता है। भोक्ता के हाथ में कोई शक्ति नहीं कि उन्हें भोगे बिना रह सके। गुरुदेव श्री ने कथाओं में पूर्वजन्म का भी चित्रण किया है जिसके कारण व्यक्ति को इस जन्म में सुख और दुःख प्राप्त होते हैं। कथाओं में इस बात पर भी बल दिया गया है कि अशुभ कृत्यों से बचो। जो व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही व्यवहार दूसरे के लिए भी करो। इन कथाओं में जीवनोत्कर्ष की पवित्र प्रेरणाएँ दी गयी हैं। व्यसनों से बचने के लिए और सद्गुणों को धारण करने के लिए सतत प्रयास किया गया है।

इन कथाओं के सभी पात्र जैनकथा के साहित्य के निर्धारित प्रयोजन के अनुरूप ढाले गये हैं। इसमें कोई राजा है, रानी है, मन्त्री है, राजपुत्र है, कोई सेठ व सेठानी है। कोई चोर, कोई दुकानदार तो कोई सैनिक है—इस तरह सभी पात्र अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वकृत कर्म का फल भोगते हैं। कर्म के अनुसार उनका जीवन-यापन होता है। और अन्त में किसी न किसी का उपदेश श्रवण कर या किसी निमित्त से वे संसार से विरक्त हो जाते हैं। श्रमण जीवन या श्रावक जीवन को स्वीकार कर मुक्ति की ओर कदम बढ़ाते हैं। इन कथाओं में जीवनोत्कर्ष चारित्र द्वारा होता है। कषायों की मन्दता, आचार की निर्मलता के स्वर सर्वत्र झंकृत हुये हैं। सीधे, सरल व नपे तुले शब्दों में वे पात्र की विशेषताएँ बतलाते हैं। इन कथाओं के वर्णनों में उतार-चढ़ाव नहीं है। जो सज्जन हैं वे जीवन की सान्ध्यवेला तक सज्जन ही बने रहे किन्तु दुर्जन व्यक्तियों का मानस भी उन सज्जनों के सम्पर्क से बदल जाता है। वह अपने दुष्कृत्यों का परित्याग कर सु-कृत्यों को अपनाते हैं। कथाएँ कुछ बड़ी हैं कुछ छोटी। कथालेखन शैली कथा कहने के समान ही है। सभी कथाएँ वर्णनात्मक और उपदेश प्रधान हैं। यत्र-तत्र सूत्र रूप में उपदेश दिया गया है। ये कथाएँ आधुनिक कहानी व उपन्यास के शिल्प की दृष्टि से भले ही कम खरी उतरें, क्योंकि लेखक का उद्देश्य पाठक को शब्द जाल में व शैली के भंवर जाल में उलझाना नहीं है, वह तो पाठकों के जीवन का चारित्रिक दृष्टि से निर्माण करना चाहता है। इसलिए यत्र-तत्र उपदेश, नीति-कथन व उद्धरणों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से हुआ है। भाषा में चुम्बकीय आकर्षण है जो पाठकों को सदा आकर्षित करता रहता है। कथोपकथन यथास्थान कथासूत्र को आगे बढ़ाने में उपयोगी है। ये सभी कथाएँ जैन कथासाहित्य की सुन्दर व अनमोल मणियाँ हैं जो सदा चमकती रहेंगी।

'जैन कथाएँ' के अतिरिक्त आपश्री के प्रवचन साहित्य में सैकड़ों रूपक और लघु व बोधकथाएँ प्रयुक्त हुई हैं। सभी कथाएँ दिलचस्प, शिक्षाप्रधान हैं। किसी कहानी में वैराग्य की रसधारा है तो किसी में बाल-क्रीड़ा एवं मातृ-स्नेह का वात्सल्य रस प्रवाहित है तो किसी में पवित्र चरित्र की शुभ्र तरंगें तरंगित हो रही हैं तो किसी में नीति कुशलता की ऊर्मियाँ उठ रही हैं तो कहीं पर बुद्धि के चातुर्य की क्रीड़ाओं की लहरें अठखेलियाँ कर रही हैं तो कहीं पर दया, अहिंसा, मानवता के सिद्धान्तों की सरस धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं, कहीं पर वीर रस, कहीं पर शान्त रस की उछलती हुई कल्लोलें कल्लोल कर रही हैं। आपश्री की कथाओं की भाषा मुहावरेदार और कहावतों से परिपूर्ण है। भाषा बहुत ही सरल, सुन्दर और सरस है। जैसे तेलयुक्त धुरी से लगा हुआ चक्र बिना किसी रुकावट के नाचता है वैसे ही पाठक इन कहानियों के रस में प्रवाहित हो जाता है। आपश्री ने सभी प्राचीन कथाओं को प्राणवती भाषा में नवजीवन दिया है। आपके कथा साहित्य में पिष्टपेषण नहीं है। आप कथाओं के माध्यम से नया चिन्तन, मौलिक विचार देना चाहते हैं।

प्रवचन-साहित्य

चीनी भाषा के सुप्रसिद्ध धर्मग्रन्थ ताओउपनिषद में एक स्थान पर कहा है "हृदय से निकले हुए शब्द लच्छेदार नहीं होते और लच्छेदार शब्द कभी विश्वास लायक नहीं होते।"

हृदय की गहराई से जो वाणी प्रस्फुटित होती है उसमें सहज स्वाभाविकता होती है, जिस प्रकार कुएँ की गहराई से निकलने वाले जल में शीतलता भी सहज होती है, उष्मा भी सहज होती है और निर्मलता भी। जो वाणी सहज रूप से व्यक्त होती है वह प्रभावशाली होती है। जो उपदेश आत्मा से निकलता है वह आत्मा को स्पर्श करता है, जो केवल जीभ से ही निकलता है वह अधिक प्रभावशाली नहीं होता, हृदय को छू नहीं सकता चूंकि उसमें चिन्तन, मनन और आचार का बल नहीं होता।

साधारण व्यक्ति की वाणी वचन है तो विशिष्ट विचारकों की वाणी प्रवचन है। क्योंकि उनकी वाणी में चिन्तन, भावना, विचार और जीवन का दर्शन होता है। वे निरर्थक बकवास नहीं करते, किन्तु जो भी बोलते हैं उसमें गहरा अर्थ होता है, तीर के समान वेधकता होती है। एतदर्थ ही संघदासगणी ने बृहत्कल्प भाष्य में कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणसुट्ठियस्स वयणं घयपरिसित्तुव्व पावओ भवइ।
गुणहीणस्स न सोहइ नेहविहूणो जह पईवो॥

—गुणवान व्यक्ति का वचन घृत-सिंचित अग्नि के समान तेजस्वी और पथप्रदर्शक होता है जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित दीपक की भाँति निस्तेज और अंधकार से परिपूर्ण।

श्रद्धेय सद्गुरुदेव जब बोलना प्रारम्भ करते हैं सब समस्त सभा मंत्र-मुग्ध हो जाती है। श्रोता का मन और मस्तिष्क उनकी प्रवचनधारा में प्रवाहित होने लगता है। आपकी वाणी में हास्यरस, करुणरस, वीररस और शान्त रस सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज रूप से होती है। आपको किंचित् मात्र भी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। वक्तृत्वकला आपका सहज स्वभाव है। आपकी वाणी में मधुरता, सहज सुन्दरता है, भावों की लड़ी, भाषा की झड़ी और तर्कों की कड़ी का ऐसा सुमेल होता है कि श्रोता झूम उठते हैं। आत्मा, परमात्मा, सम्यक् दर्शन, स्याद्वाद जैसे दार्शनिक विषयों को भी सहज रूप से प्रस्तुत करते हैं। श्रोता ऊबता नहीं, थकता नहीं। आपका प्रवचन सुलझा हुआ, अध्ययनपूर्ण और सरस होता है। इसीलिए लोग आपको वाणी का जादूगर कहते हैं। किस समय क्या बोलना, कैसे बोलना और कितना बोलना यह आपको ध्यान है। आपके प्रवचनों में नदी की धारा की भाँति गति है और अग्नि ज्वाला की तरह उसमें आचार-विचार का तेज व प्रकाश है। आपकी मधुर व जादू भरी वाणी से सामान्य जनता ही नहीं, किन्तु साक्षर व्यक्ति भी पूर्ण रूप से प्रभावित होते हैं। आप जहाँ भी जाते हैं वहाँ की जनबोली में प्रवचन करते हैं। आपका प्रवचन साहित्य हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी इन तीन भाषाओं में प्रकाशित हुआ है। भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। आपमें विचारों को अभिव्यक्त करने की कला गजब की है। आपकी वाणी में ओज है, तेज है और शान्ति है। वस्तुतः आप वाणी के कलाकार हैं।

वाणी मानव की अनमोल सम्पत्ति है, अनुपम निधि है। यदि मानव के पास वाणी की अमूल्य सम्पत्ति न होती तो वह पशु और पक्षियों की तरह अपने विमल विचारों को मूर्त रूप नहीं दे सकता था। साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन, कला और विज्ञान का निर्माण नहीं कर सकता था। वैदिक ऋषियों ने इसी कारण वाणी को सरस्वती कहा है। **'वाचा सरस्वती'' ''जिह्वाग्रे सरस्वती''** कहकर वाणी के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

हिटलर का कहना था कि सभी युगान्तरकारी क्रान्तियों का जन्म लिखित शब्दों से नहीं, बल्कि ध्वनित शब्दों से हुआ है। वाक्य बल से जो कार्य हो सकता है वह तलवार के बल से नहीं हो सकता। इतिहास साक्षी है भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, अरस्तू, मार्टिन लूथर, अब्राहम लिंकन, क्रामवेल, जार्ज वाशिंगटन, नेपोलियन, चर्चिल, हिटलर, लेनिन स्टालिन, शंकराचार्य, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, रामतीर्थ, महात्मा गाँधी, सुभाष बोस आदि ने अपने ओजस्वी भाषणों द्वारा जो धर्म, समाज और राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति का शंख फूँका वह किससे छिपा हुआ है।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के प्रवचनों में व्यर्थ के काल्पनिक आदर्शों की गगनविहारी उड़ान नहीं है। और न बौद्धिक विलास है, और न धर्म-सम्प्रदाय-राष्ट्र के प्रति व्यक्तिगत या समूहगत आक्षेप है। किन्तु आपके प्रवचन जीवनस्पर्शी होते हैं। जीवन को उन्नत बनाने वाले होते हैं। जीवन की सही मुसकान को खिलाने वाले होते हैं। दिल और दिमाग को तरोताजा बनाने वाले होते हैं, समाज की विषमता और अभद्रता को मिटाने वाले, प्राचीनता में नवीनता का रंग भरने वाले, संघ और राष्ट्र की अन्धस्थिति को ज्योतिर्मय बनाने वाले होते हैं। आपके प्रवचनों में त्याग और वैराग्य का अखण्ड तेज, अनुभव का अभिनव आलोक, आत्मसाधना का गम्भीर स्वर और मानवीय सद्गुणों के प्रतिष्ठान की मोहक सौरभ महकती है। आपका उपदेश उपरिदेश से नहीं अन्तर्देश से उद्भूत होता है।

सद्गुरुदेव के प्रवचन साहित्य की अनेकानेक विशेषताएँ हैं, उन सभी विशेषताओं को अंकित करना सम्भव नहीं। क्या कभी विराट समुद्र को नन्हीं-सी अंजलि में भरा जा सकता है? श्रद्धेय सद्गुरुवर्य की प्रवचन शैली के कुछ उद्धरण मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ जिससे प्रबुद्ध पाठकों को परिज्ञात हो सके कि सद्गुरुदेव के प्रवचन कितने मार्मिक और हृदयस्पर्शी होते हैं। भारतवर्ष का महत्त्व भौतिक वैभव के कारण नहीं किन्तु धर्म के कारण है। इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए आपश्री ने कहा—

"भारतवर्ष अतीत काल से ही जन-जन के मन का आकर्षण केन्द्र रहा है। किन्तु उस आकर्षण का कारण क्या अनन्त आकाश को नापने वाली हिमाच्छादित हिमालय की उच्च चोटियाँ हैं? अथवा उत्ताल तरंगें और मेघगम्भीर ध्वनि से मानव मन को आल्हादित करने वाला समुद्र का गर्जन और तर्जन है? या हँसती और मुस्कुराती हुई प्रकृति-नटी की सौन्दर्य-सुषमा है? या रेगिस्तान की चाँदी के समान चमकती हुई रेती है? या कल-कल, छल-छल बहती हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरिता की सरस धाराएँ हैं ? या सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात की खानें हैं ? अथवा पेट्रोल या तेल के स्रोत हैं ? यह एक ज्वलन्त प्रश्न है जिसका उत्तर आपको देना है। यदि आपने इस बाह्य वैभव से ही भारतवर्ष का मूल्यांकन किया तो मुझे कहना चाहिए कि आपने भारतवर्ष की आत्मा को नहीं पहचाना, आपने केवल शरीर का या भौतिक पदार्थों का ही अवलोकन किया है, उसे ही महत्त्व दिया है।"

जीवन में आचार और विचार की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए आपने अपने प्रवचन में कहा है—

बिजली के दो तार होते हैं, एक नेगेटिव और दूसरा पोजिटिव। जब तक ये दोनों तार पृथक्-पृथक् रहते हैं तब तक आपका कमरा मधुर प्रकाश से प्रकाशित नहीं हो सकता, पंखा आपको हवा नहीं दे सकता, रेडियो पर राग-रागिनी थिरक नहीं सकती, हीटर पानी गरम नहीं कर सकता; चाहे आप कितनी ही बार बटन दबाएँ किन्तु यदि ये दोनों तार मिले हुए होते हैं तो बटन दबाते ही प्रकाश हँसने लगेगा, हीटर पानी को उबाल देगा। इसी प्रकार साधक-जीवन की स्थिति है। यदि उसके जीवन में विचार और आचार के दोनों तार नहीं हैं तो आध्यात्मिक प्रकाश फैल नहीं सकता, उत्क्रान्ति की हवा मिल नहीं सकती, विश्व के आध्यात्मिक संगीत की स्वर-लहरी सुनाई नहीं दे सकती, साधना की गर्मी आ नहीं सकती।"

विनय की महत्ता बताते हुए आपने कहा—

"विनय वह लोह चुम्बक है जो सभी सद्गुणों को अपनी ओर आकर्षित करता है। आप जानते हैं सोना भी धातु है और लोहा भी धातु है, मगर हीरे, पन्ने, माणक-मोती को जड़ना हो तो आप सोने में ही क्यों जड़ते हैं, लोहे में क्यों नहीं ? कारण स्पष्ट है कि सोने में नम्रता है, लचक है। सोने को जितना ज्यादा पीटा जाता है उतनी ही ज्यादा उसमें नम्रता आती है। नम्र और निर्मल होने पर सोना कुन्दन कहलाता है, वैसे ही नम्र और निर्मल होने पर मनुष्य पवित्र कहलाता है। सोना नम्रता के कारण जब हीरों से जड़ दिया जाता है, तब उसकी कीमत लाखों की हो जाती है। यदि सोना भी लोहे की तरह कठोर होता, वह अपने आप में हीरे को जगह नहीं देता तो उसकी कीमत लाखों की नहीं हो सकती थी। जीवन को विनम्र बनाने का अर्थ है—सोना बनाना। और जीवन सोना बन जाता है तो उसमें क्षमा, दया, सत्य, प्रेम आदि के जगमगाते हीरे जड़ जाते हैं। वह जीवन बहुमूल्य बन जाता है। और बहुमूल्य जीवन जहाँ भी जाता है, वहाँ सुख और शान्ति की बंशी बजने लगती है।"

मानव और मानवता का विश्लेषण करते हुए आपश्री ने कहा—

मानव और मानवता में उतना ही अन्तर है जितना दूध और दूध की बोतल में। यदि आपको दूध पीना है तो किसी न किसी बोतल या पात्र में होगा तभी पी पायेंगे। दूध की खाली बोतल के रूप में मानव शरीर है, अगर मानवता रूपी दूध उसमें नहीं है, तो बेकार है। आपने एक बहुत अच्छी दूकान मौके पर किराये से ली है। उसमें अलमारियाँ, शो-केस, टेबल, कुर्सियाँ आदि सजा दी है, ज्वेलरी हाउस का साइनबोर्ड भी आपने लगा दिया है, परन्तु यदि उस दुकान में माल कुछ भी नहीं है, ग्राहक आता है तो खाली लौटकर जाता है तो वह दुकान एक धोखे की टट्टी है। उससे कोई लाभ नहीं है दुकानदार को, न ग्राहक को। इसी प्रकार यदि आपने मानव-शरीर पा लिया है, उसे खूब मोटा-ताजा भी बना लिया है, विविध अलंकारों से उसे विभूषित भी कर दिया है, परन्तु कोई भी मानव आपके सम्पर्क में आता है, उसे आप घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उसका तिरस्कार करते हैं, अपनी सेठाई के अभिमान में आकर उसको दुत्कार देते हैं, पास में शक्ति होते हुए भी किसी को दुःखित, पीड़ित, और कराहते हुए देखकर भी आगे टरका जाते हैं, आपके हृदय में मानव को देखकर प्रसन्नता की लहरें नहीं उठती है, आपका हृदय मनुष्य के बाह्य जाति-पाँति या सम्प्रदायों के लेबलों को देखकर वहीं ठिठक जाता है, तो कहना चाहिए कि आपके यहाँ भी "ऊँची दुकान फीका पकवान" वाली उक्ति चरितार्थ हो रही है। आप मानव तो हैं, परन्तु आप में मानवता नहीं है। मानव-शरीर-रूपी दुकान तो आपने विविध फर्नीचरों से सजा ली है, किन्तु मानवता-रूपी माल आपकी दुकान में नहीं है।"

साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए गुरुदेव ने कहा—

"साहित्य महापुरुषों के विचारों का अक्षय कोश है। संसार रूपी रोग को नष्ट करने के लिए अद्भुत औषध है। सत्य और सौन्दर्य से भरा हुआ मानो स्टीमर है। वह युवावस्था में मार्ग-दर्शक है और वृद्धावस्था में आनन्द-दायक है। वह एक अद्भुत शिक्षक है। शिक्षक-चाबुक मारता है, वह कठोर शब्दों में फटकारता है और पैसे भी लेता है पर यह न चाबुक मारता है न कठोर शब्दों में फटकारता है और न पैसे ही लेता है। किन्तु शिक्षक की तरह उपदेश देता है। यह युवावस्था में भी वृद्ध जैसा अनुभवी बना देता है। एतदर्थ ही आस्टिन फिलिप्स ने कहा था—"कपड़े भले ही पुराने पहनो पर पुस्तकें नवीन-नवीन खरीदो।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपश्री की राजस्थानी भाषा में प्रवचनों की तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं (१) **मिनख पणा रो मोल** (२) **रामराज** (३) **संस्कृति रा सुर**। आपकी राजस्थानी भाषा मुहावरेदार और हृदयस्पर्शी है। आपने रामराज्य के सम्बन्ध में लिखा है—

"उण दिन देस में सोना रो सूरज उगो हो, कारण के एक हजार बरसाँ री गुलामी भुगतनै देस सुतंतर सरबतंतर हुओ हो। इण सुतंतरता रै वास्ते भारत रा सपूतां सामी छाती गोलियाँ झेली। मांतावां आपरा व्हाला डीकरां नै फांसी पर झूलता देख्यां। जलियाँ वाला बाग में जो अत्याचार हुओ, उणनै देखनै मिनखपणो कुरलाय ऊठ्यो। ओ दानवता रो नागो नाच हो। पण गांधीजी री विचार रूपी आँधी परदेसी राजा नै खतम कर दियो अर इतिहास-प्रसिद्ध लाल किला पर यूनियन जेक री जगै समता अर सांति रो प्रतीक तिरंगो असोक चक्र लहरायो। भारतवासियां रै हिवडा में आणंद री छोलां उछलण लागी। मन रा मोर नाचण लाग्या, हिवडा रूपी कमल खिलग्या। जीवण रा कण-कण में नवी-चेतणा आई अर जै जै कार री आवाज सूं आभो गूँजण लागो। बालक-बूढां सगलां रै चे रा पर खुसी नाचण लागी।"

संयम की महत्ता का विश्लेषण करते हुए आपने प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्ण उदाहरण देते हुए कहा—

"आप संकर रा मन्दिर में जावती वखत बारला कांनी काछबा री मूरत देखी व्हैला। इण मूरत रो अर्थ ओ है के जो थे संकर रा परतख दरसण करणा चावो तो पैला काछबा रै ज्यूं पोता री इंद्रियां पर काबू राखो। जठा तांई काछब धर्म धारण नी करोला, संकर (सुख) रा दरसण नी व्हैला।"

प्रामणिकता के बिना साधना का महत्त्व नहीं है : जीवन में प्रामाणिकता का क्या महत्त्व है इसे गुरुदेव श्री ने इस रूप में व्यक्त किया है—

"आंपणो भारत आध्यात्मिक मुल्क गिणी जै। अठै हजारां-लाखां मिनखां आध्यात्मिकता री धूणी धूकाई है, आध्यात्मिकता रा उपदेस दिया है अर आध्यात्मिकता रा गीत गाया है दरसण शास्त्र धर्म शास्त्र अर न्याय सास्त्र ए सगलाई सास्त्र इण वास्ते इज लिख्योडा है के वे मिनख जै पोतरा धैं कांनी ले जावै। संगला सास्त्रा में मांनखा रो चरित्र उण रे जीवण रो पायो गिणी जै। जो मिनख रे जीवण में चरित्र रूपी पायो इज नीं व्है तो पछै धार्मिक क्रियावां लांबा-लांबा पूजा पाठ, धार्मिक ग्रन्थां रो अध्ययन, लच्छादार भासण अर प्रवचन सब बेकार है। बिनां रांग रा मकांन जिसा है।"

आपश्री के प्रवचनों की तीन पुस्तकें गुजराती भाषा में प्रकाशित हुई हैं—**जिन्दगीनो आनंद, जीवन नो झंकार** और **'सफल जीवन'**। जीवन कला पर चिन्तन करते हुए आपने कहा—

कला नो उद्देश्य मानव जीवन नै विकृत बनावानो न थी के प्रकृतज राखवानो न थी। परन्तु तेने संस्कृत बनाववानो छे। भोग अने विलासना साधनो अने प्रसाधनों ना अर्थ मां कला शब्द नो प्रयोग करवो ते कला नी मश्करी करवा जेवुं छे। आ कलानी विकृति छे, कला नो आभास छे। साची कला न थी। आजकाल सिनेमा नी जाहेर खबरों ना चित्रकारों विलास भवनों माँ नग्नमूर्तिओ घरनारा मूर्तिकारो श्रीमन्तों ने रीझववा माटे नृत्य करनारी वेश्याओं रेडियो अने सिनिमा स्टुडियो माँ पैसा-पैसा माटे गावानी अभिनय करता संगीतज्ञों अने केटलाक गंदी राजरमतनी राणी ना दलालां करता कवियों कला ना व्यभिचारिओ छे। आवा अधिकारी ना हाथमा जवाना लीधे ज कलानी आटली बधी बदनामी थई छे। चांदी ना थोड़ा सिक्कानों बदला मां कलानुं बेचाण न थइ शके। साचो कला पारखु कलाकार पोतानी कला थी समाज ने सत्य नी सिद्धान्त नी अने कल्याण नी अनुभूति करावे छे।"

सत्य के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आपने कहा—

"सत्य एक पारसमणि छे। तेनो स्पर्श थतांज मानव-जीवन रूपी लोढुं सोनुं बनी ने चमकवा लागे छे। जेणे सत्यनों स्वीकार कर्यो ते पूजनीय सन्माननीय अने सन्त शिरोमणि बनी गया।"

इस प्रकार श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के प्रवचन जीवन को प्रेरणा देनवाले अभिनव ज्योति को जागृत करने वाले हैं।

चिन्तन-साहित्य

जितनी अनुभूति तीव्र होगी उतनी ही अभिव्यक्ति स्पष्ट होगी। और उसकी आभा देश व काल की संकुचित सीमा को पार करके सर्वदा एक समान रहने वाली है। यही कारण है कि सूक्ति साहित्य मोती के समान लघु होने पर भी मूल्यवान है। संक्षिप्तता ही सच्ची सिद्धता है। गुरुदेवश्री की अभिव्यंजना बड़ी मार्मिक और प्रभावशाली है। उनका शब्द-चयन और वाक्य-निर्माण इतना आकर्षक है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते झूमने लगता है। सद्गुरुदेवश्री का सूक्तियों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकलन पृथक् रूप से प्रकाशित नहीं हुआ है। किन्तु आपका लिखा हुआ सूक्ति-साहित्य काफी मात्रा में है जिसकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो सकती हैं। संक्षेप में उदाहरण रूप में आपकी सूक्तियाँ और उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

अज्ञ और विज्ञ—जो सब कुछ जानकर के भी अपने आपको नहीं जानता, वह अज्ञ है; और जो अन्य को जानने से पूर्व अपने आपको सम्यक् प्रकार से जानता है वह विज्ञ है।

धर्म और सम्प्रदाय—धर्म एक प्रवाह है तो सम्प्रदाय उस धर्म रूपी प्रवाह का बान्ध है। बान्ध के मधुर नीर से सिंचाई होती है और खेती लहलहाने लगती है। और उस पानी से विद्युत तैयार होती है और विश्व उसके आलोक से जगमगाने लगता है। वैसे सम्प्रदाय रूपी बान्ध से भी धर्म की सिंचाई होती है, ज्ञान का प्रकाश फैलता है। यदि सम्प्रदाय में संकीर्णता, स्वार्थता, कट्टरता का जहर मिल जाय तो वह लाभ के स्थान पर हानि करेगा।

सहस्राक्ष—मानव दूसरे की भूल को देखने में सहस्राक्ष है किन्तु अपनी भूल को देखने में एकाक्ष भी नहीं है। उस एकाक्ष को भी वह मूंद लेता है—यही सबसे बड़ी विडम्बना है।

जिसकी चाह नहीं उस राह पर मानव चल रहा है। किन्तु जिसकी चाह है उस राह की ओर कदम नहीं बढ़ रहा है। चाह सुख की है किन्तु कार्य दुःख के कर रहा है।

सुख का कारण अभाव नहीं, अतिभाव भी नहीं, किन्तु स्वभाव है।

महान् कलाकार—वह महान, कलाकार है जो नीरस जीवन में भी सरसता के सुमधुर सुमन खिलाता है और दुःख की काली कजरारी निशा में भी सुख की शुभ्र चान्दनी के दर्शन करता है।

श्रद्धा और तर्क—श्रद्धा और तर्क जीवन के दो पहलू हैं। परिपूर्ण जीवन के लिए दोनों की अपेक्षा है। श्रद्धारहित जीवन अभिशाप है। तो तर्करहित श्रद्धा भी बेकार है। वह सम्यक् श्रद्धा नहीं, अंध श्रद्धा है, शिव नहीं शव है।

श्रद्धा में अर्पण है तो तर्क में प्रश्न चिह्न का अंकन है। और है कसौटी का प्रस्तुतीकरण। श्रद्धा पलकें मूंदने की बात कहती है तो तर्क यथार्थता की कसौटी पर कसने की बात कहती है। न कसौटी को भूलना उचित है और न अर्पण को बिसारना ही। दोनों का मूल्य है। घिसते-घिसते चन्दन में भी ऊष्मा पैदा होती है। केवल अर्पण ही अर्पण हो तो समर्पण का आनन्द पीछे रह जायगा।

विचार और आचार—यदि विचार स्फटिक के समान निर्मल है तो आचार भी निर्मल होगा। बिना विमल विचार के आचार निर्मल नहीं हो सकता। विचारक्रान्ति की नींव पर ही आचार-क्रान्ति का भव्य प्रासाद खड़ा होता है।

अभिव्यक्ति—वह शक्ति किस काम की, जिसकी अभिव्यक्ति न हो। सूर्य की चमचमाती किरणों से झुलसते हुए व्यक्ति को वही बीज शांति प्रदान कर सकता है। जो वृक्ष के रूप में अभिव्यक्त हो चुका है।

रमणीय—जो रमणीय है वह शिव भी अवश्य होगा। जो रमणीय है किन्तु कल्याणकारी नहीं है वस्तुतः वह रमणीय नहीं है। वह तो किंपाक फल के सदृश है।

विरोध—विरोध तो ज्योति से पूर्व होने वाला धुआँ है। वह कुछ क्षणों के लिए लोगों के नेत्रों को धूमिल बना दे, किन्तु अन्त में ज्योति ही रहती है। जिन्हें ज्योति की आशा है वे धुएँ को देखकर निराश नहीं होते।

पाप की कल्पना—अफीम के फूल की तरह पाप की कल्पना प्रारम्भ में सुन्दर और चित्ताकर्षक है किन्तु अन्त में वही कल्पना सर्प के आलिंगन की तरह नष्ट कर देती है।

उपदेश—उपदेश बर्फ के समान है। वह जितना धीरे-धीरे दिया जायगा उतना ही स्थायी, गहरा और मन में प्रवेश करने वाला होगा।

मौन—मौन वीर अर्जुन के अचूक बाण की तरह है जिसका वार कभी भी खाली नहीं जाता; जो कार्य बोलने से सम्पन्न नहीं हो सकता वह कार्य मौन से हो जाता है। मौन में शब्दों की अपेक्षा अधिक शक्ति है और वह सर्वोत्तम भाषण है।

अभिमान और विनय—अभिमान का प्रकाश बिजली की चमक की तरह है जो एक क्षण चमकती है और विनय का प्रकाश चमचमाते हुए सूर्य की तरह है जो दीर्घकाल तक चमकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परीक्षा—नन्हीं-नन्हीं बातों से ही हमारे हृदय की विराटता और संकुचितता की परीक्षा होती है।

आचरण—आचरण के बिना बौद्धिक ज्ञान निर्जीव शरीर की भाँति है; म्यूजियम में मसाला भर कर सुरक्षित रखे हुए शरीर भले ही देखने में सुन्दर दिखाई दें किन्तु उनमें प्रेरणा देने की शक्ति नहीं है।

बुद्धि की वृद्धि—केवल बुद्धि की वृद्धि से कभी-कभी मानव का हृदय शून्य हो जाता है। उसमें से दया, प्रेम आदि सात्त्विक गुण उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे प्रखर ताप से हरियाली।

वाचाल—जिस वृक्ष में पत्ते बहुत अधिक होते है उसमें फल बहुत ही कम आते हैं, जो अधिक वाचाल है वह कार्य कम करता है।

धन—चन्द्रमा में कलंक है; किन्तु किरणों की तेजस्विता से कलंक छिप जाता है, वैसे ही धनवान के दोष भी धन की चमक-दमक से दिखाई नहीं देते।

आलस्य—किसी भी वस्तु का उपयोग किया जाय वह उतनी खराब नहीं होती जितनी खराब जंग लगने से। मानव भी कार्य करने से नहीं, किन्तु आलस्य के जंग से खराब होता है।

मन—मन सफेद वस्त्र की तरह है, उसे जिस रंग में रंगना चाहो वह उसी रंग में रंगा जायेगा। यदि तुम्हारा चरित्र दर्पण के समान निर्मल है तो दूसरे भी उसमें अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।

प्रतिज्ञा—जिसने प्रतिज्ञा ग्रहण नहीं की है वह बिना पतवार के नौका के सदृश है, जो इधर से उधर टकराता है और अन्त में विनष्ट हो जाता है। प्रतिज्ञा-ग्रहण करना कमजोरी का नहीं बल का प्रतीक है।

सत्य—सत्य एक विराट वृक्ष के समान है, उसकी हम जितनी अधिक सेवा करेंगे उससे उतने ही मधुर फल प्राप्त होंगे।

आँख—आँख वह दर्पण है जिससे अन्तर्हृदय की निर्मलता और पवित्रता को देखा जा सकता है। यदि हृदय में वासना की आँधी आ रही है तो वह आँख में प्रकट हो जायगी।

परिश्रम—परिश्रम चतुर्मुख ब्रह्मा की तरह विश्व का निर्माण करने वाला है और चतुर्भुज विष्णु की तरह सभी का पालन करने वाला भी है। और त्रिनेत्रधारी शिवशंकर की तरह आलस्य रूपी कामदेव को नष्ट करने वाला है।

मानव-जीवन—मानव का जीवन मोजाइक फर्श की तरह है। उसे जितना अधिक घिसा जायगा उतना ही अधिक वह चमकेगा।

महानता—यदि कोई ऊँचे आसन पर बैठने से महान् बन सकता हो तो मन्दिर की ध्वजा पर बैठने वाला कौआ और चील भी महान् बन जायेंगे। महानता सद्गुणों से आती है, ऊँचे बैठने से नहीं।

आपश्री की साहित्य रचना के दो प्रयोजन स्पष्ट परिज्ञात होते हैं—स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय। आपश्री के सम्पूर्ण साहित्य की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। दर्शन और आध्यात्मिक विचारों का सुन्दर संगम है। आपके साहित्य में सूक्तियाँ और उक्तियों की प्रचुरता है जो अत्यन्त रोचक और भावप्रवण है, जिसमें अर्थ गाम्भीर्य कूट-कूटकर भरा हुआ है। "**धर्म का कल्पवृक्ष : जीवन के आंगन में**" "**दान : एक समीक्षात्मक अध्ययन**" "**श्रावक धर्म दर्शन**" "**ओंकार: एक अनुचिन्तन**" "**ज्योतिर्धर जैनाचार्य**" "**विमल विभूतियाँ**" "**चिन्तन : एक नई दिशा में**" आदि ग्रन्थों में संग्रहीत आपके विचार इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं। आपका साहित्य आशा, विश्वास, जागरण और प्रेरणा की अदम्य शक्ति का संचार करने वाला है। आपके साहित्य के अध्ययन से निराशा और कुण्ठा तिरोहित हो जाती है और जीवन-निर्माण की महान् शक्ति प्राप्त होती है। आपश्री ने भारतीय संस्कृति की विभिन्न भाव-धाराओं पर गहन चिन्तन कर उनमें से नवनीत निकाला है। आपका चिन्तन आकाश-कुसुम की तरह नहीं, मानवता प्राप्त करने का दिव्य साधन है। आपने गद्य और पद्य दोनों में विपुल साहित्य का निर्माण किया है, जिसमें कबीर और आनन्दघन का फक्कड़पन है। सूर और तुलसी की सरसता है और रवीन्द्र और अरविन्द की दार्शनिक गम्भीरता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमदाचार्यामरसिंहमहाकाव्य
एक समीक्षात्मक अध्ययन



☐ पं० रमाशंकर शास्त्री

☐

यह बात तो सम्प्रति सर्व विदित है कि संस्कृत की साहित्य प्रवृत्ति, सर्वथा तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु अवरुद्धप्रायः तो है ही। जहाँ संस्कृत-भाषा के अध्ययन और अध्यापन का महत्त्व नहीं आँका जाता, वहाँ पर संस्कृत के काव्य की रचना, मेरे विचार से एक महत्त्व की बात है। संस्कृतज्ञों के लिए तो यह कार्य प्रोत्साहक समझना चाहिये।

यद्यपि भारतवर्ष में आज भी संस्कृत-साहित्य के पूर्ण अधिकारी विद्वान विद्यमान हैं, तथापि किसी संस्कृत-साहित्य सम्मेलन के समय संस्कृत-समस्या-पूर्ति के अतिरिक्त किसी नूतन रचित काव्य की चर्चा प्राय नहीं होती। क्योंकि आज के संस्कृत भाषा साहित्य के विद्वान् की प्रवृत्ति काव्य-कला की ओर नहीं है। इसके अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है और वह मेरी दृष्टि में तो प्रमुख ही समझ लीजिए, कि श्रोता ही नहीं है। श्रोता जब संस्कृत नहीं जानते तब वे सुनने क्यों आयेंगे? और कैसे काव्य के अध्ययन का आनन्द उठायेंगे? कवि भी काव्य के पाठ पर आनन्दानुभूति की अभिश्रुति चाहते हैं, प्रोत्साहनात्मक अभिव्यक्ति की उत्सुकता रखते हैं। यह एक मानवीय मनोविज्ञान है। इतने पर भी संस्कृत काव्य की सृष्टि वास्तव में कवि के प्रति संस्कृत के उत्कट अनुराग की सूचक है। सम्भवतः इसी विचार पर भारवि ने कहा था कि 'उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा, कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि संस्कृत-काव्य-रचना नहीं हो सकती अथवा नहीं होनी चाहिये, किन्तु इस उक्त कारण से भी संस्कृत-काव्य-रचना की प्रवृत्ति में अवरोध आता है। पर संस्कृत के कवियों के लिए यह एक अवसर आया है, जिसमें उनको संस्कृत के प्रसार-प्रचार में संस्कृत की कविता का उपयोग लेना चाहिये और नवीन प्रवृत्तियों के प्रयोग संस्कृत भाषा में प्रारम्भ कर देने चाहिये।

इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज का काव्य एक दिशासूचक काव्य है। जिस युग में संस्कृत के काव्यों का प्रणयन महाकवियों के द्वारा हुआ होगा, उस समय अवश्य ही समस्यायें होंगी। किन्तु वे समस्याओं की चिन्ता न करते हुए, अनुपम काव्यों की रचना कर सके और संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि कर सके। अतः संस्कृत के कवियों को संस्कृत के प्रसार-प्रचार के लिए संस्कृत कविता का प्रारम्भ कर देना ही उचित प्रतीत होता है।

वह भी कैसा सौभाग्यवान् समय था जब संस्कृत के काव्यों की रचना होती थी। विद्वत्परिषदों में काव्यों का पाठ होता था और वे कवियों की प्रशंसा करते थे। साथ ही वे काव्यों के आवश्यक गुणों की समीक्षा करते थे और दोषों के निवारण के लिये उचित मार्गदर्शन प्रदान करते थे। लगता है कि संस्कृत-साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों की उत्पत्ति के मूल में विद्वत्सभाओं की मान्यताओं की ही प्रतिष्ठा है।

किन्तु आज पण्डितराज जगन्नाथ के समान टकशाली और परिमार्जित संस्कृत के प्रयोक्ता कहाँ हैं? हैं भी तो परिज्ञात नहीं हैं। अतः वे भी नहीं के तुल्य ही हैं। इसलिए निर्भीक होकर सरल और सर संस्कृत के काव्यों की रचना कीजिए, जैसा कि मुनिश्री जी ने उपक्रम किया है।

मुनिश्रीजी गुजराती, महाराष्ट्री, डिंगलभाषा अर्थात् राजस्थानी भाषा के मंजे हुए ज्ञाता, प्रयोक्ता और कवि हैं। हिन्दी भाषा के तो आपश्री साहित्यकार ही हैं। मुनिश्री जी के अनेक ग्रन्थ प्रकाश के परिवेश में वेष्टित हैं, किन्तु आपप्राकृत (अर्द्धमागधी) और अमरभारती संस्कृत के विशिष्ट वेत्ता और कवि भी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त काव्य को इस रूप में प्रतिष्ठित करने की मुनिश्री जी की आन्तरिक इच्छा अधिक समय पूर्व से ही घर कर चुकी थी। किन्तु विहार और मुनिधर्म की पालना के साथ, यह कार्य मूर्त रूप धारण नहीं कर पा रहा था, रायचूर (कर्णाटक) के वर्षावास के समय यह काव्य मूर्त रूप धारण कर सका।

काव्य कथावस्तु श्वेताम्बर स्थानकवासी करुणामूर्ति जैनमुनियों के इतिहास से सम्बद्ध है। क्योंकि आचार्यश्री अमरसिंह जी महाराज द्वाविंशसम्प्रदाय के आचार्यों में से एक आचार्य थे और ये मुनिश्रीजी के आद्य आचार्य हैं। अतः मुनिश्रीजी ने काव्य के नायक के रूप में धीर-वीर और उदात्तगुणविशिष्ट होने के कारण आद्य आचार्यश्री का चयन कर काव्य के निर्धारित नियम का भी अक्षरशः पालन कर दिखाया है। उनके उदात्त गुण और धैर्य का सजीव वर्णन कर मुनिश्रीजी ने सोने में सुगन्ध महका दी है।

वस्तुतः यह घटना-प्रधान काव्य है और सुखान्त की श्रेणी में भी परिगण्य हो सकता है, यद्यपि सुखान्त और दुःखान्त नाटक के प्रकरण की बात है। काव्य सर्गों में उपनिबद्ध होना आवश्यक है। अतः इसको त्रयोदश सर्गों में विभक्त किया है। इन सब से ऐसा लगता है कि मुनिश्रीजी ने साहित्याचार्यों के निश्चय का यथासम्भव पालन कर इस काव्य के स्वरूप को उचित दिशा में प्रतिष्ठित करने में कोई कोरकसर नहीं छोड़ी है। यह बात दूसरी है कि सर्गों के आकार-प्रकार कुछ मर्यादा से टकराते हैं। किन्तु विषयसामग्री को देखते हुए यह ढंग भी निर्वाह्य प्रतीत होता है एवं कवि-कर्त्तव्य को निभाने का एक सुन्दर प्रयास-सा लगता है।

इस काव्य को महाकाव्य की कोटि में परिगणित किया जा सकता है कि नहीं, इस विषय में भले ही विवाद हो सकता है, किन्तु काव्य की प्रतिष्ठा को मुनिश्रीजी ने जिस युक्ति से निर्वाहित किया है, यह कुछ कम प्रशंसा की बात नहीं है। देखा जाए तो आज के समय में एक संस्कृत के काव्य की रचना स्वयं में कुछ कम स्तुत्य नहीं हैं।

इस काव्य में प्रयुक्त वृत्तों का जहाँ तक प्रश्न है, उत्तर में कहा जा सकता है कि मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, वंशस्थ और उपेन्द्रवज्रा आदि ही प्रमुख रूप में प्रयुक्त हुए हैं। होने के लिये और भी वृत्त प्रयुक्त हैं, किन्तु नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। अतः जानबूझ कर हम उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। किन्तु वृत्तों के नियम-पालन में मुनिश्रीजी को निरपवाद ही कहा जायेगा। क्योंकि काव्य के आदि से अन्त तक देखने पर भी यतिभङ्ग जैसा दोष नहीं मिलता। इस सब के देखने से यह बात तो सहज में समझी जा सकती है कि वृत्त-वर्णन का काठिन्य मुनिश्रीजी के लिये कोई अस्तित्व नहीं रखता। कहने का अभिप्राय यही है कि मुनिश्रीजी के लिये सभी वृत्त एक-से हैं।

सर्वाधिक महत्त्व की बात यह है कि मुनिश्रीजी को पादपूर्त्ति के कष्ट ने कभी कोई शातना नहीं दी। अपितु और अर्थ के 'च' शब्द तक का अध्याहार करना पड़ता है। इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि काव्य में 'च' शब्द का उपयोग ही नहीं लिया। वास्तव में वाक्य-योजना में जहाँ परमावश्यक है, उस स्थान पर उसका उपयोग अवश्य किया है, अन्यथा नहीं।

मुनिश्रीजी की भाषा सीमित एवं सरल है, किन्तु व्याकरणसम्मत है। अर्थ के लिये शब्द के उपयोग करने की प्रवृत्ति का जैसा सुन्दर ढंग आपश्री के काव्य में दिखता है, वैसा अन्यत्र सहसा सुलभ नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि घुमा-फिरा कर कहने की आपकी शैली नहीं है। इससे अर्थप्रतीति शीघ्रता से होती है। अतः दुरूहार्थता नाममात्र के लिये उपलब्ध नहीं होती। यह भी एक उपादेय गुण है। किन्तु दूरान्वयिता अवश्य है, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। किन्तु सहृदय कविजन 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।' के न्याय से इसे सह सकेंगे।

पुनरपि संस्कृत-व्याकरण के नियम बड़े जटिल हैं। उन नियमों से यशस्वी महाकवि भी अछूते नहीं बच सके। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिये कि उन्होंने जानते हुए व्याकरण के नियमों की कोई उपेक्षा की है, स्वाभाविकरूप में उपेक्षा बन पड़ी है। उसके साथ ही यह मानना पड़ता है कि जटिल होने पर भी व्याकरण के नियम बड़े उपकारक भी हैं। क्योंकि यह व्याकरण उन उपेक्षाओं की प्रकारान्तर से समाहिति भी प्रस्तुत कर देता है, अर्थात् वे भी व्याकरण-सम्मत हो जाते हैं।

इतने पर भी कवि के प्राशस्त्य में व्याकरण के नियमों का निर्वाह भी संगृहीत है। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो यह काव्य, एक स्तरगत काव्य हो, ऐसा जान पड़ता है। किन्तु-किन्तु की कुटिलता से कौन बचा है और बच सकता है। अतःएव गणव्यतिरेक और पद की प्रतिष्ठा नहीं बच सकी है। तथापि प्रजातन्त्र की पद्धति के समान कवितन्त्र में भी बहुमत का आदर होता है। इसलिये जो निर्वाचित हो गया, हो गया। तदनुसार गण और पद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निर्वाचन हो गया, सो हो गया। किन्तु वे मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित न किए जाने पर भी, गण और पद के निर्वाचन में वे सदस्य जिस प्रकार उपादेय होते हैं, ठीक उसीप्रकार ये गणव्यतिरेक और पद के परिवर्तन भी काव्य की सृष्टि में उपादेय प्रतीत होते हैं।

भाव अधिक स्पष्ट है। अतएव अध्ययन में रुचि होती है और उत्तरोत्तर जिज्ञासा भी विवृद्ध होती रहती है। इसका अर्थ यह है कि किसी प्रकार के बौद्धिक व्यायाम की आवश्यकता प्रतीत नही होती। क्योंकि सरल-सरस और प्रयुक्त शब्दों के वाक्यों की रचना सब से अधिक है। किन्तु वर्णन में व्यङ्ग्य अर्थ स्वतः प्रस्फुटित होने लगता है, यह बात इस काव्य में विशेषरूप से परिज्ञात होती है। क्योंकि व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य उत्तमकाव्य समझा जाता है।

इस काव्य में प्रसाद गुण का आधिक्य है। शान्त रस का यह काव्य है, किन्तु प्रसङ्गात् अन्य रस भी सहायक हैं। इस विषय पर मैं—उद्धरण प्रस्तुत करना, इसलिये उपयुक्त नहीं मानता, कि मुझे आपकी योग्यता पर, अपनी योग्यता से अधिक विश्वास है। साथ ही विषय भी सरल नहीं है। यहाँ पर मैं पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल के 'चिन्तामणि' ग्रन्थ का नाम इसलिये ले रहा हूँ कि उससे यह तथ्य प्रकट हो।

अलङ्कार अर्थ के चमत्कार को प्रकट करता है। किन्तु वह स्वाभाविक रूप से अर्थ के साथ घुलमिल कर जब प्रकट होता है, तब वास्तव में अर्थ में एक चमत्कार प्रतीत होता है। साथ ही यह भी बात निश्चित है कि प्रत्येक भाषा के प्रयोग में अलङ्कार अवश्य होते हैं। यह बात दूसरी है कि हम उनसे परिचित नहीं हैं। अतः इस काव्य में स्वाभाविक रूप में अनेक अलङ्कार प्रयुक्त हुए हैं अथवा स्वतः समाविष्ट हो गये हैं। जैसे कि उत्प्रेक्षा के लिए मुनिश्रीजी ने वर्णन करते हुए कितनी सुन्दर कल्पना की है—

कि संसार में जगत् को आश्चर्य में डालने वाला ब्रह्मचर्य भी कुछ कम नहीं है। क्योंकि ब्रह्मचर्य को देखकर सुन्दर रूप स्वयं लज्जित होकर तिनके तोड़ने लगता है। किन्तु अपने अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ऐसा लगता है कि मानो वह इस ब्रह्मचर्य के सामने नाचता हो।

ब्रह्माश्चर्यं जगति तनुते ब्रह्मचर्यं प्रशस्तम्,
यस्योत्कर्षं भुवनविदितं कोऽपि वक्तुं न शक्तः।
रम्यं रूपं स्पृशति तृणकं लज्जमानं परन्तु,
स्वस्यास्तित्वं कथमपि धरन्नृत्यतीवं तदग्रे॥

यहाँ कैसी स्वाभाविक मनोवृत्ति का चित्रण है। क्योंकि जो जिसकी विशेषता से आकृष्ट होता है, वह व्यक्ति उसकी विशेषता का वर्णन किये बिना नहीं रहता। ठीक इसी मनोभावना को एक ऐसे आकर्षक ढंग से वर्णन कर मुनिश्रीजी ने कल्पना को एक सजीव चित्र के रूप में चित्रित कर रूप की स्थिति की उत्प्रेक्षा में जीवन पैदा कर दिया है। इस वर्णन से एक लोकोक्ति को व्यङ्ग्यार्थ से किस प्रकार चित्रित किया है यह देखते ही बनता है, झेंपकर व्यक्ति किंकर्त्तव्यविमूढ होकर तिनके तोड़ने लगता है। वर्णन के वैशिष्ट्य की चमत्कृति के एक नहीं अनेक उदाहरण हैं। केवल परिचय के हेतु यहाँ संकेतमात्र ही प्रस्तुत है।

किसी विचारक का विचारमात्र हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु यह व्यावहारिक सत्य है कि मनुष्य जितना दैवी विपदाओं से अथवा प्राकृतिक प्रकोपों से संसार में दुःखी नहीं है, उतना की वह इच्छाओं के वातचक्र से दुःखी हो उठता है। यह बात मुनिश्रीजी ने कितने स्पष्ट रूप में व्यक्त की है, देखिए—

इच्छाबद्धः विकृतहृदयश्चिन्तया पीडितोऽयम्,
श्रेष्ठं वस्तु प्रभवति सदा स्वात्मने निग्रहीतुम्।
सर्वस्वं मे भवतु निखिलं सर्वथैवं विचिन्वन्,
स्वार्थी जीवो ग्रहणनिरतः जायते दुःखदग्धः॥

यहाँ पर स्वार्थी अथवा लोभी की वृत्ति का परिकरवृत्ति से वर्णन कर मुनिश्रीजी ने निदर्शन किया है कि स्वार्थी स्वतः ही दुःखी रहता है। क्योंकि संसार में सब इच्छाएँ पूर्ण हों, यह कभी सम्भव नहीं है। इसलिए परिग्रह स्वयं ही दुःख का कारण है। अतः इससे दूर रहना चाहिए। फिर जो जानबूझकर परिग्रह की धारा में बह रहे हैं, उनके दुःखों का तो कोई ओर है, न छोर है। अतः परिग्रह से दूर रहिए, यदि जगत में रहकर आनन्द का अनुभव करना चाहते हो तो। व्यंग्यार्थ से स्पष्ट कर रहे हैं कि इसीलिए मुनिजन जीवन को निश्चिन्त बनाने के लिए परिग्रह नहीं रखते। अतएव वे निश्चिन्त रहते हैं, और स्वयं में सन्तुष्ट रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपक का उदाहरण देखिए कि यह संसार मदान्ध और फिर अन्धा हाथी है। इसमें सम्पत्तिशाली एक ओर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और अपने कर्मों के वशीभूत हो अनेक प्रकार के अनर्थकर मौज का अनुभव करते हैं, किन्तु सत्य यह है कि वे उतने ही दुःख के बीज बो रहे हैं। दूसरी ओर इसी जगत् में त्यागी तपश्चर्यावान् सच्चे सन्त भी हैं जो जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूटने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु यह झूमता हुआ अन्धा हाथी संसार चला ही जा रहा है। मुनिश्री जी के ही शब्दों में देखिए—

प्रीणन्त्यन्ये चयितविभवा भुक्तभोगप्रपञ्चाः,
धन्यंमन्या स्वकृतिविवशाः पापकृत्यानि कर्तुम्।
सन्त्येकेऽमी विरतहृदया मृत्युजन्मैक चिन्ताः,
संसारोऽयं विविधविषयव्याप्तचित्तोऽन्धहस्ती॥

क्या बढ़िया स्वभावोक्ति है— देखिए—

भावापन्नं प्रभवति ततः प्रेमसम्पृक्तचित्तम्,
लोकं दृष्ट्वा मधुरवचनैश्चापि संक्षिप्तवृत्तैः।
शान्तं कर्तुं प्रतिदिनमयं धर्मबालोष्णरश्मिः,
पुण्यश्लोकः सरसवचसा तर्पयत्येव जन्तून्॥

संसार के प्रेमबन्धन में जकड़े हुए भावुक भक्त को मीठे सान्त्वनापूर्ण वचनों से इधर-उधर की बात पूछकर शान्त करते हैं। क्योंकि साधु कभी सावद्य भाषा का प्रयोग नहीं करते। अतः वे शान्त रहने के लिए प्राणियों को उद्-बोधन देते हैं।

इस प्रकार काव्य में अनेक अलङ्कार भिन्न-भिन्न रूप में प्रयुक्त हैं। शब्दालङ्कार का तो यह सजीव उदाहरण कहा जा सकता है।

निश्चय ही मैं समीक्षक के रूप में कह सकता हूँ कि काव्य की कथावस्तु को देखते हुए, जहाँ तक जैनधर्म के सिद्धान्त से गृहीत शब्दावली के सार्थक उपयोग से यह काव्य अल्पकाय होने पर भी महाकाव्य कहे जाने का अधिकारी है।

मुझको पूर्णविश्वास है कि संस्कृत-साहित्य की श्री वृद्धि में यह काव्य अवश्य सहायक होगा और संस्कृत के नवीन कवियों के लिए प्रेरक होगा।

विज्ञेषु विद्वत्सु किमधिकम्—

श्री पुष्कर-वाणी

ताला खोलन के लिए चाभी की आवश्यकता होती है। किसी भी काम को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के लिए युक्ति की जरूरत होती है। इसी प्रकार आत्म-उत्थान करने के लिए शास्त्र या गुरु रूप चाभी की नितांत आवश्यकता है।

गुरु एक प्रकार से ट्रांसफार्मर का काम करते हैं। ट्रांसफार्मर हाई-वोल्टेज करेंट को लो (Low) वोल्टेज में परिणत कर उसे आम जनता के लिए उपयोगी बना देता है। गुरु-शास्त्रों की गंभीर और दुर्बोध युक्तियों को सरल और सुबोध बनाकर शिष्यों के समक्ष रखते हैं, जिनके उपयोग से अल्पज्ञ भी अपना कल्याण कर सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनिजी ने जैन कथा साहित्य में एक युग प्रवर्तन किया है। जैन साहित्य का कथा भण्डार विश्व के समस्त साहित्य में अद्भुत और अपारंगम है। जैनाचार्यों ने हजारों-हजार पौराणिक, अर्ध-ऐतिहासिक तथा लोक-कथाओं को अपने साहित्य में सँजोकर सुरक्षित रखा है। गुरुदेवश्री ने उस समस्त कथा-साहित्य को जो, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओं में गद्य-पद्य रूप में प्राप्त है, राष्ट्र भाषा हिन्दी में जन-जन के लिए सुलभ करने का संकल्प किया है। 'जैन कथाएँ' नाम से अब तक लगभग चालीस भाग छप गये हैं, और एक सौ आठ भागों में यह माला पूर्ण करने का दृढ़ संकल्प है।

जैन कथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान तथा प्रसिद्ध समीक्षा लेखक प्रा. श्रीचन्द्र जैन ने यहाँ पर गुरुदेव श्री के २५ कथा भागों पर तटस्थ आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। —संपादक

जैन कथा वाङ्मय का कायाकल्प

श्री पुष्करमुनि जी का जैन कथा-साहित्य

एक आलोचनात्मक दृष्टि

☐ प्रो० श्रीचन्द्र जैन M.A.,LL.B. (उज्जैन)

☐

श्री पुष्कर मुनि जी द्वारा लिखित जैन कथा-साहित्य आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद का एक अविकल चित्र है। इसमें मानव-जीवन की उदात्तानुदात्त प्रवृत्तियों का लेखा है तथा कषाय-जनित कल्मष के परिमार्जन की विविध-विधियाँ वर्णित हैं। राजा-रानी, लोक, सामान्य परिजन तथा आर्य-अनार्यों के द्वारा उपलब्ध सत्ता-महत्ता की भी युगान्तकारी करवटें इन कथाओं में जीवन्तता की तूलिका से चित्रित हुई हैं। इस जैन-कथा-साहित्य के तीस भाग कई शताब्दियों की उज्वलता तथा श्यामता के सहज रूप हैं जिनमें यातना के साथ चीत्कार के भी वीभत्स स्वर ध्वनित हैं। गन्तव्य यहाँ निश्चित है फिर भी उसकी उपलब्धि के लिए अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी ने जो साधन बताये हैं वे कठोर अवश्य हैं, लेकिन कथा-माध्यम से वे बड़े रोचक और मृदुल बन गये हैं। यक्षों की लीलाओं में सामाजिक, धार्मिक ऐतिहासिक तथ्यों का सान्निध्य है और न्यायव्यवस्था की दृढ़ता के सामने अमीर-गरीब का भेद नहीं है। समुद्र यात्रा के साहसिक कार्य, शुभाशुभ कर्मों की चर्चा, स्वप्न-दर्शन, विक्रमादित्य की परम्परा, सौन्दर्य-बोध के मापदण्ड अभिप्रायों की छटा, नागपूजा का आरम्भ, ज्योतिष विद्या के साथ विविध कलाओं की परिगणना, नर-नारी का उत्तरदायित्व, उज्जयनी की समृद्धि आदि के साथ ये कहानियाँ धार्मिकता से निरन्तर सम्बद्ध हैं। भाषा-सौष्ठव की प्रांजलता व्यापक एवं उदार चिन्तन को अपरिमित आलोक देती है। यथावसर करुणा भी विक्षिप्त होने लगती है, फिर भी मानवता अपने पैरों को सन्मार्ग से पीछे नहीं हटने देती। सत्ता-महत्ता के घटाटोप में जीने वाला इन्सान जब प्रतिशोध की भावना से दुर्दान्त दानव के रूप में अट्टहास करने लगता है तब मुनिश्री की ये कथाएँ उसे इतना शान्त कर देती हैं कि उसे पश्चात्ताप की आग में जलना पड़ता है और उसका मन शांत हो जाता है। उपदेश का धार्मिक आवरण जैन कथा-साहित्य को सर्वदा सर्वत्र आवृत्त किये हुए है। यहाँ यह उल्लेख है कि आसुरी कुटिलता, सदुपदेशों से पावनता में परिवर्तित हुई है। असुर सुर बनते हैं और दानव मानवता के औदार्य से सुशोभित हो उठते हैं। अमीर-गरीब की खाई को पाटने का यहाँ सफल प्रयास चित्रित है और लोक-जीवन की वरेण्य महत्ता पग-पग पर ताजगी से चाही गई है। सुभाषितों की सौरभ से प्रत्येक कथा सुरभित है।

श्री रामसिंह तोमर एम. ए. अपने निबन्ध—"जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य का देन" में लिखते हैं, 'जैन साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसे धार्मिक आवरण से छुटकारा कभी नहीं मिल सका। जैन कवियों या लेखकों का कार्य बहुत ही कठिन था। धार्मिक दृष्टिकोण भुलाना उनके लिए मुश्किल था। यह प्रतिबन्ध होते हुए भी उचित अवसर आते ही जैन कवि अपना काव्य-कौशल प्रकट किये बिना नहीं रहते और ऐसे स्थलों पर हमें एक अत्यन्त उच्चकोटि के सरल और सरस काव्य के दर्शन होते हैं, जिसकी समता हम अच्छे-से-अच्छे कवि की रचना से कर सकते हैं। काव्य के सामान्य तत्त्वों के अतिरिक्त इन कवियों के काव्य की विशेषता यह है कि लोकरुचि के अनुकूल बनाने के लिए इन कवियों ने अपने काव्य को सामाजिक जीवन के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया है। सरलता और सरसता को एक साथ प्रस्तुत करने का जैसा सफल प्रयास इन कवियों ने किया, वैसा अन्यत्र कम प्राप्त होगा।"..... जनता की भाषा में रचना करके लोक-भाषा को काव्य का माध्यम बनाने का श्रेय प्रधानतः इन्हीं जैन कवियों को है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में हम पहिली बार देखते हैं कि काव्य का नायक साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी हो सकता है। कोई भी धन-सम्पन्न श्रेष्ठि (वैश्य) काव्य का नायक हो सकता है। इन लेखकों ने अपनी सुविधाओं के अनुकूल इन नायकों के चरित्रों में परिवर्तन अवश्य किये हैं। किसी न किसी प्रकार उनको धार्मिक घेरे में बन्द करने का प्रयत्न तो किया ही है किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक ढंग पर किया है। जिस समाज से इन कथानायकों का सम्बन्ध है, वह सबके अनुभव करने योग्य साधारण है। इसके साथ इन कवियों ने घरेलू जीवन से चुनकर प्रचलित और चिर-परिचित सुभाषितों, सरल ध्वन्यात्मक देशी शब्दों, घरेलू वर्णनों एवं इसी बीच से उपमानों का प्रयोग करके काव्य को बहुत सामान्य रूप प्रदान किया है।.....इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन साहित्य से इस प्रकार अनेक काव्यमय आख्यायिकाओं के रूप हमारे प्रारम्भिक हिन्दी कवियों को मिले और प्रेम-मार्गी कवियों ने उन पर काव्य लिखकर अच्छा मार्ग प्रस्तुत किया। दूसरी प्रधान धारा जन साहित्य में उपदेश की है। यह अधिक प्राचीन है। यह उपदेशात्मकता हमें भारतीय साहित्य में सर्वत्र मिल सकती है लेकिन जैन-साहित्य की उपदेशात्मकता गृहस्थ-जीवन के अधिक निकट आ गई है। भाषा और उसकी सरलता इसके प्रधान कारण हैं। वर्तमान 'साधु वर्ग' पर जैन साधुओं और सन्यासियों का अधिक प्रभाव प्रतीत होता है।'[1]

जैन कथाओं में कर्म सिद्धान्त :—

जैन-दर्शन में कर्म सिद्धान्त की बड़ी विशद व्याख्या की गई है ऐसी अन्यत्र दुर्लभ है। जैन की यह धारणा अटल है कि प्रत्येक प्राणी कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र है और फल भोगने में भी वह उतना ही आजाद है। शुभाशुभ कर्म करके जीव पाप-पुण्य के घेरे में आबद्ध होता है और तदनुसार उसकी परिणति होती है। कर्मों के करने में किसी महती शक्ति की प्रेरणा जैन धर्म में किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं है। कर्म सिद्धान्त के व्यापक अनुशीलन में विधि-विधान, भवितव्यता एवं भाग्यवाद भी सन्निहित है। जीव अपने भाग्य का विधाता स्वयं है तथा दुर्भाग्य का जनक भी वही है।

"सभी प्राणी कर्मों के उत्तराधिकारी हैं। कर्म के अनुसार योनियों में जाते हैं। अपना कर्म ही बन्धु है, आश्रय है, और जीव का उच्च और नीच रूप में विभाग करता है। .....हिन्दू जगत् के दृष्टिकोण को तुलसीदासजी ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

.....जो संसारी जीव है, वह राग, द्वेष आदि भावों को उत्पन्न करता है, जिनसे कर्म आते हैं और कर्मों से मनुष्य, पशु आदि गतियों की उत्पत्ति होती है। गतियों में जाने पर शरीर की प्राप्ति होती है। शरीर से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण होता है जिससे राग और द्वेष होते हैं। इस प्रकार का भाव संसार-चक्र में भ्रमण करते हुए जीव के सन्तति की अपेक्षा अनादि-अनन्त और पर्याय की दृष्टि से सान्त भी होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।....."

इस कर्म सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट होती है कि वास्तव में इस जीव का शुभ-अशुभ कर्म के सिवाय कोई अन्य न तो हित करता है और न अहित। मिथ्यात्व कर्म के अधीन होकर धर्म मार्ग का त्याग करने वाला देवता भी मर कर एकेन्द्रिय वृक्ष होता है। धर्माचरणरहित चक्रवर्ती भी सम्पत्ति न पाकर नरक में गिरता है। इसलिए अपने उत्तरदायित्व को सोचते हुए कि इस जीवन का भाग्य स्व-उपार्जित कर्मों के अधीन है, धर्माचरण करना चाहिए।"[2] अध्यात्म योगी श्री पुष्कर मुनि ने अपनी विभिन्न जैन कथाओं में इसी कर्म-सिद्धान्त की, अनेक रूपों में पात्रों तथा साधु विशेष के माध्यम से विवेचना की है।

पूर्व जन्म की कहानी, मुनि की जबानी, शीर्षक कथा में केवल ज्ञानी मुनि कहते हैं—'राजन्! हर प्राणी पूर्व कृत कर्मों का ही फल भोगता है। कर्मबंध से ही उस पर संकट आते हैं और कर्मबंध से ही वह संकटों से रक्षा पाकर दुख प्राप्त करता है।" (दृष्टव्य—जैन कथाएँ भाग ६ पृष्ठ १६०।)

धर्म सभा में राजा मानमर्दन को, देशना देते हुए मुनि ने समझाया :—

"शुभ आत्माओ! भाग्य को उपालम्भ देना जंगल में रोने के समान है। दैव संभव को असंभव और असंभव को संभव कर दिखाता है। भावी अथवा दैवी-विधान हर मनुष्य के साथ छाया की तरह लगा

---

१ प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ४६४ एवं ४६७.

२ श्रीसुमेरुचंद्र दिवाकर शास्त्री—जैन शासन पृष्ठ २१० एवं २४१ (कर्म सिद्धान्त)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है। यह जीव अशरण है। प्राणियों पर बार-बार जन्म-मरण की मार पड़ती है। इससे बचने का एक मात्र सहारा शुभकर्म है। हर प्राणी कर्मों के कारण ही सुख-दुःख भोगता है। इसलिए शुभकर्मों का संचय करो।

(द्रष्टव्य—जैन कथाएँ भाग १२, पृ. १६२)

केवली भगवान् ने अनंत पुण्यों के उदय से प्राप्त होने वाले मानव शरीर की महत्ता को बताते हुए कहा—'यदि जीव अपने पूर्वभव को जान लेता है तो वर्त्तमान जन्म के सुख-दुखों को देखकर पूर्वभव के शुभ-अशुभ कर्मों से अवगत हो जाता है और फिर उसका प्रयत्न शुभ कर्मों की ओर उन्मुख होता है और तभी वह धर्म की महत्ता को समझता है। कर्म का यह शाश्वत नियम है—

यादृशं क्रियते कर्म तादृशं भुज्यते फलम्।
यादृशमुप्यते बीजं प्राप्यते तादृशं फलम्॥

अर्थात् जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही उसका फल मिलता है; जैसा बीज बोया जाता है वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। (द्रष्टव्य-आदर्श दम्पति, जैन कथाएँ भाग १० पृष्ठ १७५-७६)

जैन कथाओं में नारी :—

नारी की जीवन-गाथा बड़ी विचित्र है। कभी इसने अपनी वीरता से संसार को नतमस्तक बनाया, कभी अपने पुरुषार्थ से असंभव को सम्भव किया, कभी नर से आगे बढ़कर इसी नारी से शास्त्रार्थ आदि के माध्यम से अपने अगाध पाण्डित्य को मुखरित किया तो कभी वह विषय-वासना की पुतली बनी एवं सर्वत्र ठुकराई गई। युगों के परिवर्तनों के साथ नारी की कई समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। कभी धार्मिक युग में पूजित होकर भी वह कामिनी के रूप में त्याग-साधना का विकार बनीं। नरक के द्वार-रूप में तिरस्कृत हुई तो कभी माता के रूप में वह पूजी गई। सन्त काव्य में नारी की निन्दा जी खोलकर हुई। रीतिकाल में वह रति के समान काम्या बनी, और भोग्या के रूप में कामातुरों के लिए प्रेयसी कहलाई। कभी वह बाजारों में बिकी तो कभी उसकी रमणीयता उसी के लिए अभिशाप बन गई। यद्यपि तीर्थंकरों की माताएँ प्रणम्य हैं, आराध्या हैं आदर्शवाद की प्रतीक है फिर भी सामान्य नारी के लिए कथाकारों ने कई ऐसे प्रसंग उपस्थित किये, जो उसकी गरिमा के लिए उपयुक्त नहीं कहे जा सकते हैं। यह सब कुछ होते हुए भी नारी ने जिस धैर्य से अपने शील को सुरक्षित रखा है, वह चिरस्मरणीय है, चिरवन्दनीय है तथा युग-युगों तक काल जयी होने के कारण अमर रहेगा।

भगवती ब्राह्मी, वैराग्यमूर्ति सुन्दरी, धैर्य की देवी दमयंती, महासती सीता, महासती राजीमती, महासती प्रभावती, मृगावती, चन्दनबाला, महासती सुभद्रा, अंजना, मदनरेखा, चेलणा, शीलवती, महासती शिवा आदि क्या कभी भुलाई जा सकेंगी ? कभी नहीं। श्रमण-संस्कृति के साथ ही वे अजर और अमर हैं। किसी ने इस नारी को विश्वासघात का नाम दिया है[1] तो किसी ने उसके मन को शीतकाल की वायु के समान अस्थिर बताया है।[2] किसी पीड़ित ने यदि नारी को वाचालता में देखा है[3] तो कभी नीतिकार ने कामिनी की कसौटी कनक माना है[4] जैन साहित्य में नारी-विषयक विविध धारणाएँ हैं। कबीर ने झुंझलाकर एक बार कहा था कि :—

सांप बीछि को मंत्र है माहुर झारे जात।
विकट नारि पाले पड़ी काढ़ि करेजा खात॥

लेकिन क्या संत कबीर को अपनी जननी की कभी याद आई थी कि नहीं ?

गोस्वामी तुलसीदास ने स्त्री जाति की निंदा यों की है :—

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारी॥

---

१ Frailty ! the name is Woman.
२ A woman's mind and Winter wind charge oft.
३ A woman's strength his in her tongue.
४ The proof of woman is gold of man a woman.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी गोस्वामी जी ने अपने काव्य में नारी की भूरि-भूरि प्रशस्ति गाई है।

पतिव्रता सदा प्रणम्य है। वह तो भारतीय संस्कृति की अविनश्वर निधि है। आधुनिक युग में कवियों की यह प्रबुद्ध वाणी हरेक मानस को नारी-श्रद्धा से पुलकित करती रहेगी :—

मुक्त करो नारी को मानव चिरबन्दिनि नारी को।
युग-युग की बर्बर कारा से, जननि सखि, प्यारी को। —कविवर पंत

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष-स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में। —प्रसाद

नर की जीवनसहचरी नारी को सदा ही विषाक्त रूप में देखना कहाँ तक उचित है ?

सन्तों ने इस रमणीयता को मोहिनी रूप में देखा है, माया के रूप में ही झाँका है, अतः विरक्ति की गहरी लीक कभी धूमिल न हो जाय, बस इसीलिए नारी, श्रमणों की दृष्टि में त्याज्य है, लेकिन सतियों की प्रशंसा में इन सन्तों ने कई महाकाव्य तक लिखे हैं। नारी की सहज प्रवृत्तियों के चित्रण में अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी की ये कतिपय कथा-पंक्तियाँ निश्चयतः मननीय हैं—लेकिन त्याग-साधना के संदर्भ में—

"हे सखी ! स्त्री को कभी भी निराधार नहीं रहना चाहिए। एकाकी स्त्री का जीवन सुरक्षित नहीं रहता। बचपन में पिता, जवानी में पति और बुढ़ापे में पुत्र का आश्रय लेकर रहना ही स्त्री को उचित है। (जैन कथाएं भाग १६—विद्या-विलास कथा पृष्ठ १५६)

राजा भर्तृहरि : योगी भर्तृहरि [जैन कथाएँ भाग २१] की सम्पूर्ण कथा छलना-प्रतीक महारानी की चरित्र-हीनता की चिरपरिचित गाथा है। रानी की इस चारित्रिक शिथिलता ने ही राजा को विरक्ति के पथ का सुदृढ़ पथिक बनाया था।

"नारी तेरे रूप अनेक हैं। सौभाग्यसुन्दरी और रुक्मिणी भी तू ही है और सुरूपा भी तू ही है। नीतिकारों ने ठीक ही कहा है कि घोड़ों की चाल, वैशाख की मेघगर्जना, स्त्रियों का चरित्र, भाग्य की कर्म-रेखा, अनावृष्टि, और अतिवृष्टि,—इनका भेद देवता भी नहीं जानते, मनुष्य की तो गणना ही क्या है ? अथाह और अपार समुद्र को पार किया जा सकता है, किन्तु स्वभाव से ही कुटिल स्वभाव वाली स्त्रियों को पार पाना महाकठिन है।

(द्रष्टव्य, नारी तेरे रूप अनेक—जैन कथाएँ भाग २३, पृष्ठ १६८)

लेकिन समुद्र की थाह पानेवाले भी क्या स्त्री के पेट की थाह पा सकते हैं ? स्त्री के मोहताश में बँधा मनुष्य जहर को अमृत समझकर पीता है। स्त्रियों की रचना करके विधाता भी उसके चरित्र को नहीं जान पाया, फिर भला मैं किस गिनती में हूँ। स्त्रियाँ मनुष्यों के हृदय में प्रविष्ट होकर मोह, मद, अहंकार उत्पन्न करती हैं। (अमरफल, जैनकथाएँ भाग २१, पृष्ठ १६)

त्रिया चरित्र की गहराई को त्रिया अच्छी तरह जानती है। पुरुष समुद्र की थाह पा सकता है, पर स्त्री के पेट की थाह नहीं पा सकता। कितनी ही स्त्रियां पातिव्रत्य की चादर ओढ़कर आज भी अपने पतियों को धोखा दे रही हैं।

—बात में बात कहानी में कहानी, पृष्ठ १०६ जैन कथाएँ भाग ४

नारी के विविध नामों की सार्थकता के साथ इसे देखने के कई नजरिए यहाँ उपलब्ध हैं। धार्मिकता, सामाजिकता एवं राष्ट्रीयता का समन्वय है।

संसार के चित्र

संसार के अर्थ हैं—(१) जगत, दुनिया। (२) इहलोक, मर्त्यलोक। (३) घर (४) मार्ग, रास्ता। (५) सांसारिक जीवनचक्र, धर्मनिरपेक्ष जीवन, लौकिक जिन्दगी। (६) आवागमन, जन्मान्तर, जन्म परम्परा। (७) सांसारिक भ्रम आदि (संस्कृत-हिन्दी कोश श्री वामन शिवराम आप्टे पृष्ठ १०५०) वस्तुतः जीवन की संग्राम-स्थली को संसार कहा जाय तो उचित ही है।

यह कर्म-भूमि है और पुण्यपाप-भूमि भी है। मानव इसी संसार में रहकर अध्यात्मवाद के सहारे आत्मोन्नति करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है तथा यहीं रहकर वह विषय-वासना में लीन होकर नरकादि के दुःखों को सहता है।

माया संसार है, कपट संसार हैं, द्रोह-मात्सर्य आदि संसार है, आशा तृष्णादि संसार है। यह बालू की भीत के समान अस्थिर व विद्युत-ज्योति की भाँति लुभावना होकर भी क्षणिक है। सांसारिक ममता से विमुक्त होकर ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी सच्चे दुख का अनुभव करता है। संसार के प्रांगण में कौटुम्बिक जीवन जीकर कौन सुखी रह सकता है? तात्त्विक दृष्टि से परिवार के समस्त सदस्य स्वार्थी हैं। सांसों की गति के साथ ही ये सहयोगी हैं तथा मरण के साथ इनका साहचर्य असम्भव है। इस तथ्य का निरूपण विश्व के समस्त धर्मों ने बड़ी गम्भीरता से किया है लेकिन जैन-दर्शन इस संदर्भ में सर्वोपरि है। निम्नस्थ कहावतें संसार के (दुनियाँ के) वास्तविक रूप को उजागर करती हैं—

(१) दुनियाँ चंद रोजा है। (दुनियाँ कुछ दिनों की है।)
(२) दुनियाँ जाए उम्मेद है। (दुनियाँ नष्ट हो जाए पर आशा फिर रहती है।)
(३) दुनियां जाहिर परस्त है। (दुनियाँ दिखावट को पसन्द करती है।
(४) दुनियाँ दुरंगी मकाए सराय। कहीं खैर-खूबी, कहीं हाय-हाय। (कपट की सराय यह दुनियाँ दुरंगी है। यहाँ कहीं आनन्द-मंगल है तो वही परेशानियों पर परेशानियाँ हैं।)
(५) दुनियाँ धुन्ध का पसारा है। (दुनियाँ एक माया है।)
(६) दुनियाँ धोखे की टट्टी है। (दुनियाँ मिथ्या है।)
(७) दुनियाँ बउम्मेद कायम है। (संसार आशा पर टिका है।)
(८) दुनियाँ बेसबात है। (दुनियाँ नश्वर हैं।)
(९) दुनियाँ मुर्दा पसन्द है। (दुनियाँ मरे हुओं की ही प्रशंसा करती है, जीवित को कोई नही पूछता।
(१०) दुनियाँ में चार पैसे बड़ी चीज है। (दुनियाँ में धन की ही पूछ है।)
(११) दुनियाँ मतलब की गरजी। (दुनियाँ स्वार्थ की है।)
(१२) दुनियाँ है और खुशामद। (दुनियाँ में आप खुशामद करके ही अपना काम बना सकते हैं।)
(१३) दुनियाँ है और मतलब। (मतलब के सिवा दुनियाँ में कुछ भी है।)
(१४) दुनियाँ ठगिए मक्कर से। रोटी खाये शक्कर से। (दुनियां में चालाकी से ही लाभ उठाया जा सकता है। सीधे की यहाँ गुजर नहीं हैं।)

(हिन्दी कहावत-कोश, पृष्ठ २०६-२०७)

जैन कवि भूधरदास ने संसार का कितना मर्मस्पर्शी चित्र इन पंक्तियों में चित्रित किया है—

काहू घर पुत्र आयो काहू के वियोग आयो,
काहू घर राग रंग रोया रोटी परी है।
जहाँ भान ऊगत उछाह गीत गान देखे,
सांझ समय ताही थान हाय हाय परी है।
ऐसी जगरीत देख क्यों न भयभीत होत.
हा !. हा !, नरमूढ़ तेरी मति कौन हरी है।
मानुस जनम पाय सोवत विहाय पाय,
खोवत करोरन की एक-एक घरी हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने विनयपत्रिका (जैन शतक) में संसार को बड़ा ही भयानक और सघन वन कहा है। यहाँ कर्म रूपी वृक्ष बड़े ही सघन हैं। वासनाओं की लताएँ लिपट रही हैं और व्याकुलता के अनेक पैने काँटे बिछ रहे हैं। (द्रष्टव्य पद ५९)। इसी प्रकार गोस्वामीजी ने इस दुनिया को केले के पेड़ के समान निस्सार एवं कपट का घर बताया है।

—(द्रष्टव्य विनय पत्रिका पद १८८)

संत कबीर ने संसार को कागज की पुड़िया बताकर इसे बूँद पड़े पर गल जाना कहा है (यह संसार कागज की पुड़िया बूँद पड़े गल जाना है।)

कविवर बनारसीदास का यह कथन इस संसार के सम्बन्ध में बड़ा ही स्पष्ट है, तात्त्विक है और वास्तविक है—

यह संसार असार रूप सब, ज्यों पट पेखन खेला।
सुख-सम्पति शरीर जल बुदबुद विनशत नाहीं वेला॥

(अध्यात्म पदावली, पृष्ठ ३०५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अख्तर शीरानी की दृष्टि में दुनिया में न खुशी है न गम; यह तो एक ख्वाब है—

दुनिया का तमाशा देख लिया, गमगीन सी है बेताबसी है।
दुनिया में खुशी को याद न कर, दुनिया में खुशी नायाबसी है।

इन सब तथ्यों का समीकरण अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर जी मुनि ने अपनी कथाओं में इस प्रकार किया है—

"हाय, संसार की गति बड़ी विचित्र है। उसमें कुछ भी स्थायी नहीं है, सभी कुछ नाशवान है, अस्थिर है। मनुष्य का यह रूप, यह यौवन, यह वैभव—सभी कुछ नश्वर है, व्यर्थ है। सबेरे तक फला-फूला यह आम्रवृक्ष जिस प्रकार सांझ तक नोंच लिया गया, उसी प्रकार प्राणी के जीवन-वृक्ष को भी कराल काल एक दिन नोंच लेगा।

(साँझ-सबेरे, जैन कथाएँ भाग ८, पृष्ठ १२३)

'हे शुभ आत्माओं ! यह संसार एक कारागार के समान है। कारागार में कितने ही सुख हों, पर हर बंदी कारागार से मुक्त होना चाहता है, पर पहरेदारों के रहते जेलखाने से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है। इस संसार रूपी कारागार के चार कषाय पहरेदार हैं—(१) क्रोध (२) मान (३) माया और लोभ।....

(दया धर्म का मूल है, जैन कथाएँ भाग १२, पृष्ठ ११०)

यह संसार बड़ा विचित्र है और मायामय है। यहाँ न कोई किसी का पिता है, न भ्राता, न कोई किसी की पत्नी है, न माता। सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोगने के लिए नाते-रिश्तों में बँधते हैं, मोह जाल में फँसते हैं। कभी कोई किसी की माता बनती है, और कभी वही उसकी पत्नी बनती है। यहाँ शत्रु भी पुत्र बन जाता है। प्रेम प्रीति, घृणा-द्वेष इस द्वन्द्वात्मक जगत की छलनाएँ हैं। इनसे ऊपर उठने वाला जीव ही आत्मा का कल्याण कर सकता है।

—(पुण्य की लीला, (४) जैन कथाएँ भाग १४, पृष्ठ ६३)

संसार की रीति कैसी विचित्र है। यह दुनिया कैसी दुरंगी है।....स्त्री चंचला, लक्ष्मी, रोग-भोग तथा शरीर और धर से युक्त यह संसार सेंबल के फूल की तरह निस्सार और नीरस है। यहाँ रहकर पग-पग पर भय की आशंका है। यहाँ अखण्डित कुछ भी नहीं है—हर प्राप्य किसी न किसी आशंका वय से खंडित है, जैसे भोग में रोग का भय अथवा आशंका है, सुख में क्षय का भय है, धन संग्रह में चोरी, राजा तथा अग्नि का भय है, नौकरी में स्वामी का भय है। इसी तरह गुण में दुर्जन का, वंश में व्यभिचारिणी स्त्री का और सम्मान में दोष का भय है। इस सबके बावजूद एक वैराग्य ही निर्भय है, उसमें किसी का भय नहीं है। ऐसे मनुष्य बार-बार धन्य हैं, जो खंडित सुख वाले तथा आशंका पूर्ण संसार को त्याग कर आत्म-साधना में लीन रहते हैं।"

(अमरफल, जैन कथाएँ भाग २१, पृष्ठ १६)

यह संसारी नाता तो स्वप्न की तरह मिथ्या है। पिता-पुत्र, माँ, पत्नी आदि नाते-रिश्ते झूठे हैं। ये नाते तो कर्मों का भोग और कर्म बंधों का क्षय करने के लिए होते हैं। बार-बार संसार में जन्म लेकर कभी कोई पिता बनता है, कभी भाई या पुत्र बनता है। मोह ही सब दुःखों का मूल है। मोह के कारण ही हम मुक्ति-लाभ नहीं कर पाते और बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमते हैं। आप जो शोक कर रहे हैं, वह मिथ्या है। शरीर तो शोक करने की वस्तु नहीं है। शरीर का नाश तो बार-बार होता है। आत्मा अजर अमर है, उसका कभी नाश नहीं होता। तुम्हें शरीर नाश का शोक नहीं करना चाहिये।

(सफलताओं का धनी—राजकुमार महाबल, जैन कथाएँ : भाग ६, पृष्ठ १७०)

जैन कथाओं में यक्ष

सिद्धान्ततः यक्ष 'व्यन्तर' देवों के अन्तर्गत माने गये हैं—"**व्यंतरा किन्नर किंपुरुष, महोरग, गंधर्व यक्ष, राक्षस भूत पिशाचाः।**"

(मोक्षशास्त्र, चतुर्थ अध्याय सूत्र ११)

इसका (यक्ष) का अर्थ है (१) कुबेर की निधियों के रक्षक-एक प्रकार के देवता। (२) कुबेर।

(द्रष्टव्य—प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृष्ठ ६३५)। संस्कृत-हिन्दी कोश (श्री वामन शिवराम आप्टे) में यक्ष के निम्नस्थ अर्थ मान्य हैं—(१) एक देवयोनि विशेष, जो धन सम्पत्ति के देवता कुबेर के सेवक हैं तथा उसके कोष और उद्यानों की रक्षा करते हैं। (२) एक प्रकार का भूत-प्रेत (३) इन्द्र का महल (४) कुबेर। (पृष्ठ ८२२)।

सांसारिक वैभव की प्राप्ति तथा अभिवृद्धि आदि के लिए यत्र-तत्र जैन कथाओं में यक्षों की वंदना, पूजा आदि का उल्लेख अवश्य मिलता है। यह एक लोक-विश्वास है कि यक्ष की प्रसन्नता सुख-सम्पत्ति की वृद्धि करती है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इसका क्रोध विनाश का कारण बन जाता है। कभी-कभी यक्ष की पूजा से आई हुई विपत्ति नष्ट हो जाती है और आने वाला संकट उसी प्रकार दूर हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य की किरणों से मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। अनेक कथाएँ ऐसी प्राप्त हैं जिनमें यक्षों के द्वारा किये गये उत्पात्तों की चर्चा भी है। 'प्रतिज्ञा' नामक कथा में बताया गया है कि यक्ष के मन्दिर में सैकड़ों लोग बैठे हुए थे। वे यक्ष को प्रसन्न करने के लिए हवन, पूजा, अर्चना कर रहे थे।....कुछ समय के पश्चात् मूर्ति फटी और यक्ष प्रकट हुआ। यक्ष ने अपने विकराल रूप से केशव को डराते हुए कहा—केशव ! मेरे सभी भक्त भूखे हैं। उठ जल्दी से भोजन करले। यदि भोजन के लिए किञ्चित् भी आनाकानी की तो मैं मुद्गर के एक प्रहार में ही तुझे परलोक पहुँचा दूँगा। आदि। (जैन कथाएँ भाग १२, पृष्ठ १२)

यक्षों के सम्बन्ध में रूप-परिवर्तन की शक्ति मानी गई है। 'दया धर्म का मूल है'—शीर्षक कथा में कहा गया है कि मुनि श्री देवचन्द्र की धर्म-सभा में चिंघाड़ता हुआ एक हाथी सबके देखते-देखते यक्ष के रूप में परिवर्तित हो गया और मुनि को वंदना कर एक ओर बैठ गया। (द्रष्टव्य जैन कथाएँ भाग १२, पृष्ठ ११२)

"आग और पानी" शीर्षक कथा में वीरान जंगल में बने हुए एक यक्ष-मन्दिर को पथिकों को रात्रि व्यतीत करने का शरण स्थल बताया गया है। —(द्रष्टव्य जैन कथाएँ भाग ६, पृष्ठ १०४)

सम्पत्ति आदि देने के साथ-साथ कभी-कभी यक्ष आकाशगामिनी विद्या आदि को भी दे दिया करते थे। ऐसी मान्यता है। रूपादि परिवर्तन की तो यक्षों में सामर्थ्य मानी ही गई है। किन्तु यह भी निरूपित किया गया है कि समय-समय पर संसारी जीवों में अनुरक्त ये यक्ष लोक-देवता के रूप में प्रणम्य रहे हैं। व्यंतरजाति के होने से यक्षों में इस प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ स्वयं संभाव्य हैं—पूर्वभवों की स्मृतियाँ भी यदा-कदा इनमें जीवित हो उठती थीं।

'साँझ-सबेरे' नामक कथा में कहा गया है कि उसी समय एक यक्ष आया और उसने कहा—राजन् ! यह (कनकमाला) मेरी पुत्री है, इससे मुझे बड़ा मोह है। इसे यहीं रहने दीजिये। मैं आपको आकाशगामिनी विद्या देता हूँ। इसके बल से आप जब भी चाहें क्षण मात्र में यहाँ आ सकेंगे।"

—(जैन कथाएँ भाग ८, पृष्ठ १२२)

कहीं-कहीं पर यक्ष को व्यंतर देवों का नायक भी बताया गया है। इस रूप में वह विपत्तियों में फँसे हुए अपने भक्तों की सहायता करता है और पशु-बलि भी स्वीकार करता है। देखिए "बात में बात, कहानी में कहानी—

(—जैन कथाएँ भाग ४, पृष्ठ ५५)

व्यन्तर देवी की भाँति यक्षिणी भी जैन कथाओं में वर्णित हैं।

नवकार मंत्र की जाप से व्यथित सुर-सुन्दरी की एक यक्ष ने दयार्द्र होकर रक्षा की थी। और उसे अपने संरक्षण में रखा था। (देखिए 'नारी नर से आगे, शीर्षक कथा जैन कथाएँ भाग २, पृष्ठ १४-१५)

यक्ष मन्दिरों के साथ यक्ष द्वीप का भी उल्लेख जैन कथाओं में उपलब्ध है।

(—द्रष्टव्य जैन कथाएँ भाग २, पृष्ठ १५)

यक्षों की इस संक्षिप्त चर्चा के उपरान्त यह लिखना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि इनके (यक्षों के) सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ विद्यमान हैं जिनकी चर्चा डॉ० कर्ण राजशेषगिरि राव ने अपने निबन्ध "यक्षः एक विवेचन' में की है—

'यक्ष शब्द ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में आया है। यक्ष का अर्थ है कुछ भयानक या अद्भुत या जादूगर या अदृश्य दैविक बर्बर शत्रु।....इसकी पूजा का प्रचलन 'बरम' तथा 'बरमदेव' नाम से आज तक प्रचलित है।....प्राचीन साहित्य में यक्षों के सम्बन्ध में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। रामायण और महाभारत से स्पष्ट होता है यक्ष देवों से नीचे और भूतों से ऊँचे हैं।....इससे स्पष्ट है कि यक्ष और राक्षस एक ही स्रोत से निकले थे। महाभारत के अनुशीलन से स्पष्ट होता है भीष्मपर्व के अन्तर्गत कहा गया है कि नील के दक्षिण और निषध के उत्तर में हिरण्य-मंथ खंड है। वहाँ हिरण्वती नदी है। वहाँ गरुड़ रहते हैं। वहाँ यक्षों की उपासना होती है।....उत्तर भारत में यक्ष पूजा का कितना अधिक प्रचार हो गया था, इसका विशेष पता हमें बौद्ध और जैन साहित्य में मिलता है। इस साहित्य में उंबरदत्त, सुरंबर, मणिभद्र, भंडीर, शूलपाणि, सुरप्रिय, नटी, भट्टी, रेवती, तमसुरी, लोका, मेखला, आलिका, बेंदा, मधा, तिमिसिका आदि अनेक यक्षों तथा यक्षिणियों के नाम भी प्राप्त होते हैं, जिनसे लोग बहुत भय खाते थे। अन्तिम चारों यक्षिणियाँ मथुरा की थीं।

वीर, जखैया आदि की पूजा भी प्राचीन यक्ष-पूजा के आधुनिक रूप हैं।....साधारणतः यक्ष-पूजा वीर के नाम से होती है। ब्रजलोक वार्त्ता में यक्ष-पूजा आज भी जखैया के रूप में होती है। जखैये पर बेंटे (शूकर के बच्चे) बलि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिये जाते हैं।....अतः भारत में बानर, राक्षस, गंधर्व, नाग, यक्ष आदि जातियाँ रहती थीं। ये जातियाँ परस्पर मिलकर रहती थीं। इनकी अपनी सामाजिक व्यवस्थाएँ भी विद्यमान थीं। इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि सिंहल के आदिवासी याक्ख हैं। 'जक्खू' जाति के लोग तेलेगु के आदिवासी हैं। कुरव जाति के लोग शेयोन या मुसगन की पूजा करने वाले तमिल के आदिवासी हैं। नेपाल में 'याखा' जाति के लोग रहते हैं। ब्रज-प्रांत में 'जखिया' शब्द यक्ष-पूजा के लिए अधिक प्रचलित शब्द है। यों जक्कू-जखिया-याखा-याक्ख—आदि रूप यक्ष शब्द में अन्तर्भुक्त हैं।[1]

जैन कथाओं में सूक्तियाँ

"सूक्ति में प्रबुद्ध जीवन का चिरानुभूत अनुभव रहता है। निरन्तर जिस सत्य को समीचीन माना जाता है वही सूक्ति बनकर लोक-प्रिय बनता है तथा उसे जनता अपनी मार्गदर्शिका मानने लगती है। चिरन्तन तथ्यों पर आधारित सूक्तियाँ जनमानस को प्रभावित करती हैं और विषम परिस्थितियों में एक समाधान को प्रस्तुत करके अपनी उपयोगिता को प्रमाणित कर देती है। जिसप्रकार प्रगाढ़ अन्धकार मे अनन्त आकाश की एक तारिका पथविमुख पथिक को रास्ता बताती है, उसीप्रकार संसार की विभीषिकाओं से त्रस्त मानव को एक सूक्ति अमिट सहारा देकर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करती है। भयावह तूफान में भ्रमित पोत को जिस प्रकार प्रकाश-स्तम्भ गन्तव्य का संकेत देता है उसी प्रकार एक सूक्ति विषम वातावरण से विक्षुब्ध मानव को सुस्थिर कर जीवन के व्यवस्थित लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए आश्वासन प्रदान करती है।"[2]

जिस प्रकार एक अनगढ़ पाषाण-खण्ड सर-सरिताओं की उत्ताल तरंगों के कठोर आघातों को सहते-सहते कुछ समय के पश्चात् शिवलिंग में रूपायित होता है उसीप्रकार एक साधारण कथन जब कई बार सत्य की कसौटी पर परीक्षित होकर व्यापक सत्य को अंगीकार करता है, तभी वह सूक्ति के रूप में समादृत होता है।

जैन-कथाओं में सूक्तियाँ विविध रूपों में प्राप्त होती हैं जिनमें धार्मिकता, राजनैतिक सौष्ठव, राष्ट्रीयता एवं नैतिकता मुखरित हुई है। जैन कथाकारों का प्रमुख लक्ष्य मानव को भौतिक-वातावरण से विमुक्त कर धर्म की ओर प्रेरित करता है। अतः इन कथाओं में यथावसर ऐसी सूक्तियाँ प्रस्तुत कर दी गई हैं जो पूर्णरूपेण कथा के अन्तर्भाव को मुखरित करती हुई एक ऐसा उल्लास प्रस्तुत कर देती हैं जो प्रमुख पात्र की मानसिक अनुभूति को प्रज्वलित करने में समर्थ होता है। जीवन की सचाई ही इन सूक्तियों का प्रमुख आधार है। यहाँ पूज्य श्री पुष्कर मुनि जी द्वारा लिखित जैन कथाओं के विभिन्न भागों से संकलित कुछ सूक्तियाँ दी जाती हैं जो अध्यात्मयोगी के अगाध अनुभव के बहुमुखी आयामों को उजागर करती हैं—

१. देवाधिष्ठित पदार्थ पापात्माओं के पास कभी नहीं ठहरते। —जैन कथाएँ भाग १, पृ० ७७
२. किसी राजा से वैर मत रखो, शक्ति के मद में आकर किसी पर चढ़ाई मत करो, और किसी के साथ धर्म ठगाई मत करो। —जैनकथाएँ भाग १, पृ० १३०
३. विपत्ति सबसे बड़ा शिक्षक है। यदि विपत्ति के समय मनुष्य धैर्य से काम ले तो नये-नये अनुभव और संकटों से बचने के अद्भुत मार्ग अपने आप सूझ जाते हैं। —जैन कथाएँ भाग २, पृ० ३३
४. निर्धन होने पर अपने भी पराये हो जाते हैं, यह तो संसार की रीति है, फिर भी आशा की बेल सदा हरी-भरी रहती है, इसे नहीं त्यागना चाहिए। —जैन कथाएँ भाग २, पृ० ६२
५. जो दूसरों का बुरा चाहता है उसका बुरा पहले होता है। —जैन कथाएँ भाग ३, पृ० ९
६. यह सांसारिक जीवन द्वन्द्वात्मक है। पूरा मानव-जीवन द्वन्द्वों से भरा है। —जैन कथाएँ भाग ३, पृ० ५७
७. होनहार बड़ी प्रबल होती है। जो होना है वह टलता नहीं —जैन कथाएँ भाग ४, पृ० २५
८. पूरा जगत धन-लिप्सा की दौड़ में लोभ के अश्व पर सवार होकर दौड़ रहा है। —जैन कथाएँ भाग ४, पृ० ४७
९. कौए में पवित्रता, जुआरी में सत्य, सर्प में शांति, स्त्री में कामोपशमन, निर्बल में धैर्य, शराबी में तत्त्व चिंतन और राजा को मित्र किसने देखा या सुना है। —जैन कथाएँ भाग ५, पृ० ७६
१०. दुष्ट और षड्यंत्र कारी कभी-कभी सात्त्विक वृत्ति वालों पर इसी प्रकार छा जाते हैं, जिस तरह मंथरा ने कैकेयी को अपने कपट जाल में फाँसा था। —जैन कथाएँ भाग ६, पृ० ११६

---

१ सम्मेलन पत्रिका भाग ६० : संख्या ४, पृष्ठ ८६-९२ (साभार)

२ सूक्ति सागर (भूमिका)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. अंत समय में मरने वाले की जैसी मति होती है, वैसी ही उसकी गति होती है। —जैन कथाएँ भाग ७, पृ० ८२
१२. पाप कर्म चाहे जितनी गुप्त रीति से किये जायें, किन्तु वे कभी छिपते नहीं। —जैन कथाएँ भाग ८, पृ० १२८
१३. साधना की पहली सीढ़ी तो गुरु सेवा ही है। —जैन कथाएँ भाग ९, पृ० ७
१४. सात गाँव जलाने से जितना पाप लगता है, उतना पाप बिना छना पानी पीने से लगता है।
१५. सूर्यास्त होने पर जल रुधिर के समान है, अन्न माँस के समान अर्थात् अपेय और अभक्ष्य हो जाता है।
—जैन कथाएँ भाग १०, पृ० ४६
१६. वृद्ध पुरुष की युवा पत्नी कामांध होती है तो युवा स्त्री का वृद्ध पति विवेकान्ध।
—जैन कथाएँ भाग ११, पृ० १७
१७. (१) कभी भी बिना जाना फल न खाना चाहिए (२) यदि प्रहार करना हो तो सात-आठ कदम पीछे हटे बिना किसी पर प्रहार नहीं करना। (३) राज की अग्रमहिषी को सदा माता के समान मानना और (४) भूलकर के भी कभी कौए का माँस न खाना चाहिए— —जैन कथाएँ भाग १३, पृ० ४६
१८. भाग्य में जो कुछ लिखा है वह अमिट है। होनहार को कौन टाल पाया है। जैन कथाएँ भाग १३, पृ० ६
१९. राजमद जब चढ़ता है तो अन्धा बना देता है। राज-मद से मतवाला बना शासक विवेक और धर्म को ताक पर रख देता है। —जैन कथाएँ भाग १४, पृ० १६१
२०. वीर पुरुष अपना भविष्य स्वयं बनाते हैं। —जैन कथाएँ भाग १५, पृ० ३०
२१. सूखे ईंधन के साथ गीला भी जल जाता है। —जैन कथाएं भाग १६, पृ० १३५
२२. ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे से अनिष्ट चिन्तन में ही डूबा रहता है, पर वह दूसरे का तो कुछ बिगाड़ नहीं पाता, स्वयं अपना जीवन ही विषमय कर लेता है। —जैन कथाएँ भाग १७, पृ० १९
२३. प्रकाश के बाद अंधकार और दिन के पश्चात रात्रि—यह संसार का नियम है।
—जैन कथाएँ भाग १८, पृ० २४
२४. अज्ञानी जीव ही स्त्री-पुत्र में आसक्त रहते हैं। संसार में कोई किसी का नहीं होता।
—जैन कथाएँ भाग १९, पृ० ११३
२५. कर्मों का फल भोगने के लिए ही जीव संसार के चक्र में घूमता है। यह जगत् कर्म प्रधान है।
—जैन कथाएँ भाग २०, पृ० १२८
२६. जरा और मृत्यु किसी के मित्र नहीं होते।
मरे के साथ कौन मरता है? ···जैसे सुख और हर्ष स्थायी नहीं रहता, वैसे ही दुःख और शोक भी हमेशा नहीं रहते। —जैन कथाएँ भाग २१, पृ० ४
२७. अहंकार मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु होता है। शक्ति मनुष्य को विनम्र बनाती है, और जो बल पाकर अकड़ता है वह टूट जाता है। —जैन कथाएं भाग २२, पृ० १६४
२८. राजन्! शास्त्र-वचनों में अविश्वास करना घोर पाप है। क्योंकि जिन ऋषियों ने शास्त्र-रचना की है, वे द्रष्टा रहे हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह देखकर व अनुभव करके लिखा है।
—जैन कथाएँ भाग २२, पृ० १७४
२९. दानी के घर लक्ष्मी टिकती है। दानियों का धन हजार गुना होकर दूसरे जन्म में मिलता है और कृपण का धन अनायास ही दूसरों का हो जाता है। कृपणों का धन नरक में ले जाता है और दानियों का धन स्वर्ग प्रदान करता है। — जैन कथाएं भाग २३, पृ० ११२
३०. मनुष्य अपनी एक योजना बनाकर चलता है और मन में अनेक मन्सूबे बाँधता है। लेकिन देव क्या करना चाहता है, यह वह नहीं जान पाता। मनुष्य कुछ सोचता है और दैव कुछ और ही कर दिखाता है।
—जैन कथाएँ भाग २३, पृ० १६४
३१. वेश्या के लिए चोर-साहूकार, रोगी, कोढ़ी और स्वस्थ सभी कामदेव के समान अच्छे लगते हैं, क्योंकि उसका प्राप्य तो केवल धन ही होता है, व्यक्ति नहीं। —जैन कथाएँ भाग २४, पृ० १५
३२. इस ससार रूपी मंच पर न तो कोई चोर है न कोई साहूकार। अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित-प्रभावित सब कर्म-लीलाएँ करते हैं। —जैन कथाएँ भाग २४, पृ० ५३
३३. भविष्य की चिन्ता भूत और वर्त्तमान को भुला देती हैं। —जैन कथाएँ भाग २५, पृ० २३
३४. विनाश-काल में बुद्धि विपरीत हो जाती है। —जैन कथाएँ भाग २५, पृ० ९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. व्यापारी पर कितना ही धन हो, पर उसकी वणिक् वृत्ति नहीं जाती। व्यापारी हर काम में लाभ-हानि का विचार करता है। —जैन कथाएँ भाग २५, पृ० ६०

३६. जब जल बहकर चला जाए तो पुल बाँधने से क्या लाभ ? इसी तरह मनुष्य के मरने पर औषधि देना और सिर मुँडाने के बाद मुहूर्त पूछना व्यर्थ है। जो वस्तु हाथ से निकल गई, उसके लिए शोक करना व्यर्थ है। —जैन कथाएँ भाग २४, पृ० ६४

जैन कथाओं के कुछ अभिप्राय

अभिप्रायों के सम्बन्ध में आवश्यक विचार पूर्व में किया जा चुका है यहाँ केवल इनका उल्लेख किया गया है:

स्वप्न-दर्शन, (पृष्ठ ३), ७२ कलाओं का अध्ययन (पृष्ठ ६), भाग्य परीक्षा (पृष्ठ १०), सियार का मानव-बोली में बोलना (पृ० ४४), चिन्तामणि रत्न की प्रशस्ति (पृ० ८२), एक लकड़ी के हाथी में सैनिकों को छिपाना (पृ० १२६), अग्नि प्रकोप (पृ० १२७), आदि। —जैनकथाएं भाग १

सन्तान-अभाव दुःख (पृ० १) नवकार मंत्र का प्रभाव (पृ० ५), राज्य की खरीद (पृ० ४), प्रश्नों के उत्तर (पृ० ६), जहाज का सागर के बीच तूफान में फँसना एवं सहसा यक्ष का प्रकट होकर सहायता करना(पृ० १५), यक्षद्वीप का उल्लेख (पृ. १५), सती का अपमान एवं सतीत्व की रक्षार्थ सागर में कूदना (पृ० १७), बाजार में नारी की बिक्री (पृ० १६), आकाशवाणी (पृ० २४), किंजल्प पक्षी की चर्चा (पृ० ४७), आठों सिद्धियों की प्राप्ति (पृ० ३६) सिंहलद्वीप (पृ० ४४), समुद्र यात्रा में पति वियोग से पीड़ित सती का विलाप (पृ० १४६) मुनि का उपदेश (पृ० १५८) आदि। —जैन कथाएं भाग २

अद्भुत फल का चमत्कार (पृ० ७१), विपत्ति में फंसी हुई सती की कुम्भकार द्वारा सहायता (पृ. ७६), रत्नद्वीप (पृ० ८०), ताम्रपत्र में लिखी हुई रहस्यात्मक भाषा के पढ़ने पर आधे राज्य को देने की घोषणा (पृ० ८१), मुनि द्वारा आगामी भव का उल्लेख (पृ० १६)। —जैन कथाएं भाग ३

परकायप्रवेश (पृ० २०), मनुष्य जाति की कृतघ्नता (पृ० १३१), परोपकारवृत्ति वाली बंदरी (पृ० संख्या १३१), शाप (पृ० १६२) आदि। —जैन कथाएं भाग ४

स्वाध्याय का चमत्कार (पृ० ३१), महामारी रोग का फैलना (पृ० १२२) आदि। —जैन कथाएं भाग ५

एक अद्भुत तुम्बी का चमत्कार—पर्याप्त धन की प्राप्ति (पृ० ६), चक्रेश्वरी शासनदेवी का वरदान—वन्ध्या को पुत्र-प्राप्ति (पृ० २८), स्वयंम्बर (पृ० ४६) भारंड पक्षी (पृ० १३१) मानव रक्त से कपड़े रंगने का व्यापार करना (पृ० १३१), पूर्वभवों के वृत्तान्त को सुनकर विरक्ति होना (पृ० १६७), नागपाश में बंधना (पृ. १६६) आदि। —जैन कथाएं भाग ६

पशु-पक्षियों की भाषा समझने की शक्ति प्राप्त होना (पृ० ८), कौवा और हंस का साथ-साथ उड़ना, कौवे का राजा पर बीट करना एवं क्रुद्ध राजा का तीर छोड़ना तथा लक्ष्य भ्रष्ट होना, जिससे हंस की मृत्यु तीर लगने से होना (पृ० ६२), आकाशगामिनी विद्या-प्राप्ति (पृ० १२२)। —जैन कथाएं भाग ८

यक्षिणी का राजा के रूप-यौवन पर मुग्ध होना (पृ० १७४)। —जैन कथाएं भाग १२

कर्णपिशाचिनी का चमत्कार (पृ० ११८)। —जैन कथाएं भाग १४

राजकुमारी को जहरीले सांप का काटना, एवं नवकार मंत्र के उपांशु जाप से सर्प-विष के प्रभाव का शमन, गारुड़ी मंत्र का प्रयोग, कथित राजा की, राजकुमारी को जीवन-दान देने वाले को अपने समस्त राज्य का अर्पण करना (पृ० ५७)। —जैन कथाएं भाग १५

गुप्तचरों का जाल बिछाना, विषहर जड़ी के प्रभाव से सर्प-दंश से स्वस्थ होना, मंत्रों से अधिष्ठित धागे के पहनने से मनुष्य का तोता बनना, आदि (पृ. १७७ एवं १७६)। —जैन कथाएं भाग १६

समस्या के समाधान न करने पर सात गाँव के जलाने का पाप लगना—शर्त (पृ. १२५), लकड़ी के बकरे का मानव बोली में बोलना (पृ० ११८), पति की (संग्राम में) मृत्यु होने पर पत्नी का काष्ठ-भक्षण करना (पृ० १४), सहसा आई हुई हंसी का कारण बताना (पृ० १५२), ऐन्द्रिजालिक का कौतुक दिखाना, आदि (पृ० १५३)। —जैन कथाएं भाग २१

कथाओं की रचना-प्रक्रिया, भाषा सौष्ठव एवं शैली की प्रांजलता

जैन-कहानियों का रचना विधान बड़ा ही सरस, सरल एवं आकर्षक है। इसमें न शाब्दिक काठिन्य है और न भावों की दुर्बोधता। ये कथाएँ साधारण जनता के लिए लिखी गई हैं अतः इन्हें इतना सुबोध बनाया गया है कि अशिक्षित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन-समुदाय भी इसे समझ सकता है और मनोरंजन के साथ-साथ जीवन की विषमता से ही वह भावगत हो सकता है। ये समस्त कहानियाँ एक विशेष लक्ष्य को लेकर लिखी गई है। और आचार-व्यवहार प्रथा-परम्परा को जीवित रखने वाली ये कथाएँ समय-समय पर स्वरूप परिवर्तित करके भी अपनी त्यागमयी भावना को तिलांजलि नहीं दे सके हैं। कथाकार ने इन कथाओं में भोगे हुए यथार्थ को अंकित किया है, मानव की कुण्ठाओं का भी परिचय दिया है, और सामाजिक समस्याओं को भी रूपायित करने का सफल प्रयास किया है। यहाँ सहज विद्वत्ता है, भाव-प्रवणता है और कल्पनाशीलता के कोमल दृश्य भी हैं। विषयप्रतिपादन में सक्षम कथाकार ने अनेक शास्त्रों के उद्धरण देकर अपने कथ्य को समर्पित किया है।[1] कहावतों एवं मुहावरों के सहज प्रयोग से भाषा बलवती बनी है और भाव-प्रदर्शन में एक अनोखा ओज आ गया है। यहाँ सन्त हैं, साधु हैं, जादूगर हैं, मंत्रवेत्ता है, और साथ ही साथ सांसारिक वैभव की छाया में मनोविनोद करने वाले लक्ष्मीपुत्र हैं और साथ ही साथ राजा-महाराजाओं के अलौकिक आमोद-प्रमोद हैं। यह सब होते हुए भी वनवासी भीलों की[2] भी यहाँ दीनतापूर्ण अर्थव्यवस्था है। वनजारों[3] की वाणिज्य-व्यवस्था के भी यहाँ अनेक संकेत उपलब्ध हैं।

कहीं-कहीं अन्तर्विरोध परिलक्षित अवश्य होता है, लेकिन यह विरोधाभास-सा है। दर्द को जीवित रखने के लिए कथाओं के समस्त पात्र मानवीय संवेदनाओं से ओतप्रोत हैं। शिल्प और भाषा-वैशिष्ट्य इतना प्रभावशाली एवं मनोहर है कि कथाओं में सन्निहित भावनाएँ स्वयं वाचाल हो जाती हैं।

श्री मुनिजी की शैली में कहावतों का प्रचुर प्रयोग—

तपःपूत श्री पुष्कर मुनिजी ने बड़ी कुशलता से विभिन्न भाषाओं की कहावतों का यथावसर प्रयोग करके भाषा की व्यंजना-शक्ति में एक ओर पर्याप्त अभिवृद्धि की है तो दूसरी ओर भावनाभिव्यक्ति को जीवन्तता प्रदान की है। यहाँ यह उल्लेख है कि पूज्य मुनिजी ने कहावतों को अपनाने में किसी भी रूप में संकीर्णता को अभिव्यक्त नहीं किया है वरन् व्यापक दृष्टि को प्रस्तुत करने में वे सर्वत्र सजग रहे हैं। लोक-ग्राहिणी प्रतिभा का समुचित विकास इन कहावतों के उपयोग से ही संभव है। इसीलिए साधु-सन्तों ने अपनी कृतियों में लोकप्रियता को विशेषतः अभिव्यंजित करने के लिए जहाँ लोक-प्रचलित शब्दों को व्यवहृत किया है वहाँ लौकिक उपाख्यानों, उक्तियों, किंवदन्तियों आदि को बड़ी कुशलता से विवेच्य विषय को पूर्ण आस्था-निष्ठा से आलोकित किया है। लोक की मानवीय प्रतिष्ठा सत्तावान् इसी प्रकार निर्मित होती है।

'कहावत—जिसे संस्कृत में लोकोक्ति और उर्दू में मसल या मसला भी कहते हैं—अपनी शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक बहु-विचारणीय शब्द रहा है। इस सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। पं० रामदहिन मिश्र 'कहावत' का मूलरूप कथावत् मानते हैं। उनके अनुसार जिसप्रकार कथाएँ लोक में प्रचलित और प्रसिद्ध होती हैं उसी प्रकार कहावतें भी। स्वर्गीय श्री केशवप्रसाद मिश्र 'कह्' धातु के आगे अरबी का 'आवत' प्रत्यय लगाने से कहावत शब्द की व्युत्पत्ति मानते हैं। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार 'कहावत' की व्युत्पत्ति हिन्दी 'कहना' से हुई है और इसके आगे दो प्रत्यय 'आप' तथा 'अत' जुड़ गये हैं। टर्नर ने अपने नेपाली शब्द-कोश में कहावत का अनुमानित मूलरूप 'कथा-वार्त्ता' बतलाया है। हिन्दी के कई विद्वान्-राहुलजी, डॉ० बाबूराम सक्सेना, और मुनि जिनविजय जी—इसी विचार के समर्थक हैं। डॉ० कन्हैयालाल सहल के शब्दों में 'कथावार्त्ता' का प्राकृत रूप 'कहावत्ता' तो ध्वनि और अर्थ दोनों की दृष्टि से कहावत शब्द से अत्यधिक मिलता-जुलता है।'[4] "कहावत' किसी विशिष्ट समुदाय में प्रचलित कोई ऐसा वाक्य है, जिसे लोकानुभव पर आश्रित जीवन की सारभूत समीक्षा कहा जा सकता है।'''कुल मिलाकर कहावत लोक में प्रचलित वह वाक्य कथन या लघु वार्ता ही ठहरती है जिसे लोकमानस के अंतराल से प्रस्फुरित ज्ञान की कोई किरन माना जा सकता है।[5]

'भाषा की संजीवनी' यह लोकोक्ति विविध रूपों में जैन कथाओं के विभिन्न भागों के धरातल को इस प्रकार आकर्षक तथा वजनदार बनाती है—

(१) लातों के देव बातों से नहीं मानते। —जै. क. भा. ३, पृष्ठ ४८

---

१ कहावतों एवं मुहावरों के अध्ययनार्थ द्रष्टव्य है भारतीय कहावतें—लेखक प्रो० श्रीचन्द जैन, प्रकाशक, माणिक बुक डिपो, उज्जैन।

२ द्रष्टव्य वनवासी भील और उनकी संस्कृति। लेखक प्रो० श्रीचन्द जैन, प्रकाशक, रोशनलाल जैन जयपुर।

३ वन-वन घूमा बंजारा, लेखक प्रो० श्रीचन्द जैन—प्रकाशक, कला-प्रकाशन, दिल्ली।

४ डॉ० कन्हैयालाल सहल : कहावत की व्युत्पत्ति, 'दृष्टिकोण' पटना, जुलाई १९५५

५ डॉ० रवीन्द्र भ्रमर : हिन्दी भक्ति-साहित्य में लोक-तत्व, पृ० १९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) घी कभी सीधी उँगलियों से नहीं निकलता।
(३) सिंह का पुत्र सिंह ही होता है। —जै. क. भा. ८, पृ० १३३
(४) कोढ़ में खाज होना। —जै. क. भा. ११, पृ० ७
(५) दाँतों तले उँगली दबाना। —जै. क. भा. १३, पृ० २८
(६) द्विविधा में दोनों गए—माया मिली न राम। —जै. क. भा. १३, पृ० १७८
(७) चूहे का बेटा बिल ही खोदता है। —जै. क. भा. १६, पृ० १३१
(८) मरे के साथ कौन मरता है। —जै. क. भा. २१, पृ० ४
(९) भाग्य के बिना धन नहीं मिलता। —जै. क. भा. २१, पृ० १०
(१०) नंगा क्या तो नहाये और क्या निचोड़े। —जै. क. भा. २२, पृ० ३७
(११) एक सहस्र चूहे खाकर बिल्ली तप करने बैठी है। —जै. क. भा. २२, पृ० ४४
(१२) जैसी नीयत वैसी बरक्कत। —जै. क. भा. २२, पृ० ९३
(१३) मानव के मन कछु और है कर्त्ता के कछु और। —जै. क. भा. २२, पृ० १०२
(१४) चोर-चोर मौसेरे भाई। —जै. क. भा. २२, पृ० १५२
(१५) धन पाकर प्रायः मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। —जै. क. भा. २२, पृ० २०२
(१६) ज्ञान का अजीर्ण अभिमान और तप का अजीर्ण क्रोध है। —जै. क. भा. ९, पृ० ३४
(१७) वक्त पड़ने पर गधे को बाप बनाना। —जै. क. भा. ९, पृ० ४९
(१८) शुभस्य शीघ्रम्। अच्छे कार्य को शीघ्र करना चाहिए। —जै. क. भा. ९, पृ० १७०
(१९) भविष्य को सुधारना चाहते हो तो वर्तमान को सुधारो। —जै क. भा. १०, पृ० १२
(२०) सत्संगति का प्रभाव तुरन्त पड़ता है। —जै. क. भा० १०, पृ० ४७
(२१) शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से आदमी को बनते बिगड़ते देर नहीं लगती।
—जै. क. भा. १०, पृ० १०६
(२२) पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय।
(वृद्ध की नवयौवना पत्नी चंचल क्यों न होगी?) —जै. क. भा. ११, पृ० १२
(२३) कामान्धो नैव पश्यति।
—काम-पीड़ित कुछ नहीं देखता है। —जै. क. भा. ११, पृ० १२
(२४) करेले की बेल नीम पर चढ़ गई। —जै. क. भा. १२, पृ० २०
(२५) दारिद्र्य के समान पराभव नहीं, क्षुधा के समान वेदना नहीं और मरण के समान भय नहीं।
—जै. क. भा. १२, पृ० १५४
(२६) मृत्यु की गति सर्वत्र है। वह कहीं भी पीछा नहीं छोड़ती। —जै. क. भा. १२, पृ० १५४
(२७) तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न जावै ताहि पर, ताहि तहाँ लै जाय॥ —जै. क. भा. १२, पृ० १५९
(२८) दैव की गति बड़ी विचित्र है। दैव किसी को क्षमा नहीं करता। —जै. क. भा. १२, पृ० १७०
(२९) दुष्ट के मरने पर सभी प्रसन्न होते हैं। —जै. क. भा. २३, पृ० ५४
(३०) स्त्रियाँ वंचकता, छल-कपट, कठोरता, चपलता आदि दुर्गुणों की खान होती हैं।
जै. क. भा. २३, पृ० १२७
(३१) आवेश में किया गया निर्णय न्याय-पूर्ण नहीं होता। —जै. क. भा. २४, पृ० ९०
(३२) विवाह तो एक समझौता है। —जै. क. भा. २४, पृ० ९०
(३३) नीच प्रकृति के मनुष्यों के मन, वाणी और क्रिया में कभी समानता नहीं होती। —जै. क. भा. २४, पृ० १३४
(३४) लाल गुदड़ी में भी नहीं छिपते। —जै. क. भा. २४, पृ० १४२
(३५) थोड़ा सा धन पाकर क्षुद्र बौरा जाते हैं। —जै. क. भा. २४, पृ० १५२
(३६) सज्जन और शर (बाण) का स्वभाव एकसा ही होता है। —जै. क. भा. २४, पृ० १५३
(३७) जब तक पूरा नहीं भर जाता, तब तक पाप का घड़ा नहीं फूटता। —जै. क. भा. २५, पृ० १०८
(३८) छोटा मुँह बड़ी बात कहना। —जै. क. भा. २५, पृ० १२९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३९) यथा राजा तथा प्रजा। राजा के आचरण का अनुसरण प्रजा करती है। —जै. क. भा. २५, पृ० १६८

(४०) कर्म करते समय बहुत ही सजग-सावधान रहना चाहिए। —जै. क. भा. २५, पृ० १७१

(४१) हिंसा करने वाला कभी भी सद्गति को नहीं पा सकता। —जै. क. भा. २५, पृ० १७२

इन कथा-भागों का यह वैशिष्ट्य है कि परम पूज्य श्री पुष्कर मुनि जी ने प्रत्येक कथा का संक्षिप्त कथानक लेखकीय के अन्तर्गत प्रसूत कर दिया है एवं कहानी के मूल स्रोत की भी चर्चा कर दी है। किस कथा के कितने रूप-किन-किन विद्वानों द्वारा रचित हैं—इस तथ्य की ओर भी यहाँ संकेत उपलब्ध हैं। कथा-रचना-शैलियों के विकास-क्रम की विविधता में परिचयात्मक प्रस्तुतीकरण में जो रोचक संयोजना पगडंडी के रूप में रखी गई है वही आगे चलकर राजमार्ग के स्वरूप में परिवर्तित हो गई है। पूज्य मुनिवर की यह रचना-प्रक्रिया अनुकरणीय है।

अपने कथन को समर्पित करने में जो उद्धरण कथाओं में दिये गए हैं वे बड़े मार्मिक और अप्रमत्त चिन्तन के प्रमाण हैं। इनका अध्ययन तो कथाओं के पढ़ने से ही संभव है। केवल एक प्रसंग यहाँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है—

विक्रम चरित्र के वचन सुनकर राजा कनकसेन ने कहा—

हे वीर! मैं तुम्हें कैसे रोक सकता हूँ, क्योंकि मेहमानों से किसी का घर नहीं बसता! तुम जैसे पुत्र को पाकर कौन माता अपने को धन्य नहीं कहेगी? तुम अपने कुल के भूषण हो। सुखों में भी जो अपने माता-पिता को न भूले, वही पुत्र कहलाने का अधिकारी है। पुत्र के विषय में विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि अपने कुल को पवित्र करने वाला तथा शोक से रक्षा करने वाला ही सच्चा पुत्र है यथा—

पुनाति त्रायते चैव कुलं स्वं योऽत्र शोकतः।
एतत्पुत्रस्य पुत्रत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः। —जै. क. भाग २४, पृ० १५५

पूज्य मुनिजी की यह विविध शास्त्र-पारंगत विलक्षणता आधुनिक युग के कथाकारों के लिए एक प्रकाश स्तम्भ की भाँति मार्गदर्शिका कही जायेगी।

—☆—

जैन कथाएं : भाग १ से ३५ तक की तालिका

भाग	पृष्ठ	कथा नाम	कथा संख्या
१	१७२	धर्मवीर धन्ना	१
२	१९६	सती-सुन्दरी, रत्नवती-रत्नपाल, महासती अंजना	३
३	१८०	दामनक, हरिबल मच्छी, कामघट कथा, सहस्रमल्ल चोर, रत्नशिखर	५
४	२०४	मणिपति चरित्र	१
५	१६०	इलापुत्र, चिलाती पुत्र, युवराजऋषि, क्षुल्लक मुनि, ललितांग कुमार सुकुमालिका, पुण्डरीक-कुण्डरीक, आचार्य आषाढ़भूति, थावच्चा पुत्र	९
६	१८८	महाबल-मलयासुन्दरी चरित्र	१
७	१८४	महासती मदनरेखा, सती मृगासुन्दरी	२
८	१९०	सती शीलवती, हंसराज-वच्छराज, राजकुमारी सुनन्दा, प्रत्येकबुद्ध करकण्डु, प्र० द्विमुख, प्र० नग्गति, ब्रह्मदत्त चक्री, चक्रवर्ती सगर धनदकुमार	९
९	२०२	समरादित्य केवलीचरित्र	१
१०	२१०	जिनदास-सुगुणी चरित्र	१
११	१८०	वीरभाण-उदयभाण, सुरपाल-शीलवती	२
१२	२००	केसरिया-मोदक, हंस-केशव, केशरी, रत्नसार, बंकचूल, मंगल कलश, भीमकुमार, वसुराजा, अरुणदेव, कुलपुत्र महाबल, सुन्दर राजा	११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३	१९६	चम्पकसेठ, अमरसेन-वयरसेन, चन्द्रसेन - चन्द्रावती, नुपुर-पण्डिता	४
१४	२२८	प्रद्युम्न चरित्र	१
१५	१८०	उत्तमकुमार, सुलसचरित्र	२
१६	२१२	विद्यासिद्ध वीर अम्बड, विद्याविलास	२
१७	२१२	भविष्यदत्त चरित्र, जय-विजय चरित्र	२
१८	२०८	सम्यक्त्व से सम्बन्धित १५ कथाएँ	१५
१९	१९२	यशोधर नृप चरित्र, मणिशेखर	२
२०	१८८	सती जसमा ओडण, ऋषिदत्ता, लीलावत-क्षणकारा	३
२१	२१८	विक्रमादित्य की १७ साहस-कथाएँ	१७
२२	२२६	विक्रमादित्य की २६ नीति एवं धर्म कथाएँ	२६
२३	२२६	विक्रमादित्य की १८ कौतुक कथाएँ	१८
२४	१८२	विक्रमादित्य पुत्र-विक्रमचरित्र की ५ कथाएँ	५
२५	१९६	श्रीपाल-मैनासुन्दरी चरित्र	१
२६	१९४	महेश्वरदत्त चरित्र, अमरकुमार चरित्र	२
२७	२१५	अजापुत्र चरित्र, जिनसेन-रामसेन	२
२८	२३२	वसन्तर कुमार, भीमसेन हरिसेन, जयसुन्दरी, चन्द्रसेन-लीलावती आदि ५ कथाएं	५
२९	२०४	लीलावती चरित्र, पुण्यपाल-गुणसुन्दरी विद्युल्लता, कनकसुन्दरी, सती अनन्तमती, सती पद्मिनी,	६
३०	१७०	सम्यक्त्व कौमुदी की ११ कथाएं	११
३१	२१६	सहदेव, अंधे परीक्षक, भाविनी कर्मरक्षित, प्रियंकर राजा, देवयश चरित्र	५
३२	२१५	तिलोक सुन्दरी, रूपली, मंजुलासती, नटखट और बुद्धिविजय चरित्र	५
३३	१७६	कुसुमसेन-कुसुमवती, अरणिकमुनि, अंतुकारी भट्टार रत्नचूड श्रेष्ठी, विजय सेठ-विजया सेठानी, नवलशा हीटजी आदि १२ कथाएं	१२
३४	२०४	पुण्यसार, मर्मभेद, सागरसेठ, कान्हड़ कठियारा, झांझरिया मुनि, जुट्ठिल श्रावक, श्रीपतिसेठ इत्यादि	८
३५	१८४	मानतुंग मानवती चरित्र	१
	६९२०	कुल पृष्ठ	कथाएं २०१

श्री पुष्कर-वाणी

प्रश्न है— घोड़ा सवार को ले जाता है या सवार घोड़े को ? चिन्तन का उत्तर है—यदि सवार के हाथ में घोड़े की लगाम है तब तो सवार घोड़े को ले जाता है और मनचाहा भ्रमण कराता है, अगर सवार के हाथ में घोड़े की लगाम नहीं है तो फिर घोड़ा ही सवार को ले जा रहा है, और कहीं भी गड्ढे आदि में गिराकर हड्डी-पसली ढीली कर सकता है। जो मन और मस्तिष्क पर अपना नियन्त्रण रख सकते हैं, वे घोड़े पर सवार के समान हैं, जिनका अपने मन आदि पर नियन्त्रण नहीं है, मानना चाहिए उनकी दशा सवार को घोड़ा ले जाने जैसी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार और वाणी के धनी

प्रवचन-कुशल श्री पुष्करमुनि

[प्रवचन साहित्य : एक चिन्तन]

☐ श्रीचन्द सुराना 'सरस'

☐

प्राणिजगत में मनुष्य सब से श्रेष्ठ प्राणी माना गया है। उसकी अनेक उत्तम उपलब्धियों में 'वाणी' सर्वोत्तम उपलब्धि है। भाव तो पशु में भी उत्पन्न होते हैं, किंतु उनको प्रकट करने की क्षमता, अभिव्यक्ति की पूर्ण सामर्थ्य मात्र मनुष्य में ही है।

भाव या विचार रूप आत्मा को भाषारूप देह ही आकार देती है। भाषा के सोपान से ही भावों के सौध पर चढ़ा जाता है। इसलिए संसार के समस्त व्यवहार का माध्यम भाषा है, वाणी है। विचारों की विद्युत को दूर-दूर तक पहुँचाने का काम वाणी-रूप तारों से ही संपन्न होता है। विचार शून्य भाषा (वाणी) निरर्थक है तो भाषा (वाणी) हीन विचार भी अनुपयोगी है। भाषा विचारों की संवाहिका है। वाणी विचारों की सौरभ को फैलाने वाली पवन है।

भाषा या वाणी की इस महिमा को व्यक्त करने के लिए ही वाणी को **वाग्-देवता** के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है। **वाचा सरस्वती भिषग्**[1]—कहकर वाणी को ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती के रूप में भी मान्यता भी दी है और समाज के विकृत आचार-विचाररूप रोग का निवारण करने में समर्थ होने के कारण उसे **भिषग्-वैद्य** के रूप में भी स्वीकार किया गया है। अन्तर्हृदय की असीम ऊँचाई से प्रस्फुटित होकर शब्दों की धारा में बहने के कारण वाणी को **पवित्र नदी**[2] माना है और इसी सरिता के जल सिंचन से संस्कृति-साहित्य का उद्यान या खेत हरा-भरा होता है।

वाणी मोह-प्रमाद एवं अज्ञान की नींद में सोये प्राणी को जगाने में प्रचंड शंखनाद है, तो कर्तव्यहीन और आलसी को सचेतन करने में संजीवनी बूटी है। वाणी की एक किरण संसार का अंधकार मिटा सकती है। वाणी की एक लहर में संसार को आल्हादित करने की अद्भुत क्षमता भरी है। वाणी ज्योति है, आग है, लहर है, तूफान है और अमृत को विष व विष को अमृत बनाने वाला अद्भुत जादू है। जीवित को मुर्दा बनाना और मुर्दों में जान फूंकना वाणी का खेल है। सचमुच वाणी अक्षय शक्ति का भण्डार-विद्युत से कम नहीं है। भर्तृहरि ने इसीलिए तो कहा है—

वाण्येका समलंकरोति पुरुषं ·····वाग् भूषणं भूषणम्

अगर पुरुष को अलंकृत करने वाला कोई सच्चा आभूषण या अलंकरण है तो वह वाणी ही है।

वक्तृता

वाणी की महिमा व शक्ति का बोध हो जाने पर हम यह समझ लेंगे कि इस वाणी का उपयोग किस रूप में होता है, हुआ है, जैसा कि पहले कहा है—वाणी-हीन विचार का कोई महत्त्व नहीं है तो विचार-शून्य वाणी भी बिल्कुल निरर्थक है, निरुपयोगी है, मात्र पागल का प्रलाप है। वाणी के पीछे विचारों का तेज, भाषा के पीछे भावों की शक्ति होना नितान्त जरूरी है। वही वाणी मुर्दों में प्राण फूंक सकती है, अंधों के नेत्र खोल सकती है जिसमें विचार की प्रचंड शक्ति होगी। इसलिए कहा है—

अर्थभारवती वाणी भजते कामपि श्रियम्

अर्थ-गौरव से युक्त वाणी की शोभा और शक्ति कुछ निराली ही होती है। विचारों से परिष्कृत वाणी के सम्बन्ध में ऋग्वेद में एक बहुत अच्छा सूक्त है—

---

१ यजुर्वेद १६।१२

२ सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाः—यजुर्वेद १७।६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखाय सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहताधि वापि ।[1]

जैसे सत्तू को शूप से परिष्कृत (शुद्ध) करते हैं वैसे ही मेधावी-जन अपने बुद्धिबल से परिष्कृत की गई भाषा को प्रस्तुत करते हैं। विद्वान् लोग वाणी से होने वाले अभ्युदय को प्राप्त करते हैं, इनकी वाणी में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

जल को छानकर पिया जाता है, फल को धोकर खाया जाता है, आटे या सत्तू को भी छानकर काम में लिया जाता है वैसे ही वाणी को विचार या बुद्धि से परिष्कृत कर बोला जाता है। विचार या बुद्धि से परिष्कृत वाणी को हम वक्तृता कह सकते हैं।

वैसे तो बोलने वाले को वक्ता कहा जाता है, किंतु यह वक्ता का सिर्फ शब्दार्थ है, भावार्थ नहीं। वास्तव में जो विचारपूर्वक उपयुक्त वाणी बोलता है—वही वक्ता होने का अधिकारी हो सकता है। इसके साथ-साथ वक्ता में अनेक अन्य विशेषताएँ भी होनी चाहिए जिनमें सबसे पहली विशेषता है—चरित्र-संपन्नता। वक्ता अगर चरित्र से हीन है, खोखला है तो कितनी भी अच्छी बात चाहे जितनी सुन्दर भाषा में कहता है, श्रोता उसकी समस्त वक्तृता को एक फूंक में उड़ा देंगे—"भीतर से खोखला है।" वाणी को प्रभावशाली और वक्तृता को तेजोदीप्त बनाने के लिए वक्ता को चरित्र-संपन्न या गुणवान् होना भी निहायत जरूरी है। महान अनुभवी आचार्य संघदासगणी ने कहा है—

गुण सुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तुव्व पावओ भाई ।
गुणहीणस्स न सोहइ नेह विहूणो जह पईवो ।

गुणवान-चरित्रवान वक्ता का वचन घी से प्रज्ज्वलित अग्नि की भाँति अधिक तेजस्वी होता है, जबकि चरित्रहीन वक्ता का वचन बिना तेल बाती के दीपक की तरह मिट्टी का पिंडमात्र है।

रोशोका नामक एक पश्चिमी चिन्तक ने कहा है—'वक्तृत्व कला केवल शब्दों के चुनाव में ही नहीं है, वरन् शब्दों के उच्चारण में, आँखों में, चेष्टाओं में और जीवन-व्यवहार में भी होती है।"

जिसकी वाणी नहीं, हृदय बोलता है, वह श्रोताओं के हृदय को पकड़ता है और जो चाहता है, वह स्वेच्छया सब कुछ करा लेता है, बल्कि श्रोता वह सब कुछ करने को स्वयं बाध्य हो जाता है।

सन् १८९३ सितम्बर ११ को अमेरिका के चिकागो नगर में विश्वधर्म परिषद् में एक भारतीय संन्यासी ने कुछ मिनट का समय माँगकर भाषण प्रारंभ किया। वहाँ की परम्परा के अनुसार सभी वक्ता 'लेडीज एण्ड जेन्टलमेन' सम्बोधन करते थे। पर भारतीय संन्यासी जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का मंत्र जप रहा था, खड़ा हुआ तो सहसा उसके मुख से निकल पड़ा—'सिस्टर्स एंड ब्रादर्स आफ अमेरिका "अमेरिकन बहनों और भाइयों!' बस, इसी सम्बोधन ने ही वह जादू कर दिया कि सभा तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठी और श्रोता घंटों तक उस भारतीय संन्यासी स्वामी विवेकानंद का भाषण सुनते रहे—मंत्र-मुग्ध से बने।

विवेकानंद के शब्दों में जो शक्ति थी वह शब्दों की नहीं, किंतु उसकी आत्मा की, विश्व-बंधुत्व भावना की शक्ति थी। अन्तःकरण की शक्ति ही वक्ता के भाषण को ओजस्वी और जादुई बना सकती है।

श्री स्थानकवासी जैन-परम्परा के एक ओजस्वी वक्ता उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी एक ऐसे ही कुशल प्रवक्ता हैं जिनकी वाणी में विचार और विचार में आचार की विद्युत तरंगें लहराती रहती हैं। उनके भाषण मैंने सुने भी हैं, पढ़े भी हैं, और पढने-सुनने के बाद ही मैं उनके भाषणों को 'प्रवचन' संज्ञा देना चाहता हूँ। उन्हें वाग्मी (वाणी के स्वामी) और प्रवक्ता कहने के बजाय कुछ और आगे बढ़कर जैन परिभाषा के 'प्रवचन-कुशल' शब्द से सम्बोधित करना चाहता हूँ। क्यों? इसका संक्षेप में उत्तर इस प्रकार है—

---

१ ऋग्वेद १०।७१।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ उनकी वाणी में शब्दों का उपयुक्त चुनाव है।
२ उनकी वाणी में ओज और प्रवाह है।
३ उनकी वाणी के पीछे निःशंकित परिपुष्ट ज्ञान है—व्याकरण, इतिहास, धर्मशास्त्र और लोक-व्यवहार का।
४ उनके वचन मधुर और हितकारी होते हैं।
५ उनकी वाणी में चरित्र का बल है।
६ उनके वचन विचार युक्त होते हैं।
७ उनकी वाणी समयोपयोगी होती है।

इन्हीं मुख्य कारणों से उनके व्याख्यानों, भाषणों और वार्तालापों को भी हम 'प्रवचन' कह सकते हैं। जैन परिभाषा उक्त गुणों से युक्त वाणी को ही 'प्रवचन' कहती है, और ऐसे 'प्रवचन कुशल' मनीषी को धर्म का प्रवक्ता, व्याख्याता और प्रभावक माना गया है।

बहुत से वक्ता बड़ी लच्छेदार और प्रभावशाली भाषा में बोलते हैं, श्रोता सुनते-सुनते सिर हिलाने लगते हैं, किन्तु कुछ समय बाद अगर उसमें से कुछ सार निकालना चाहें तो 'शून्य' हाथ आता है। और बहुत से विचारक अपने गम्भीर और प्रेरणादायी विचारों को भाषा का उपयुक्त तथा सशक्त आधार नहीं दे पाते इस कारण विचार लंगड़ाते ही रह जाते हैं।

श्री पुष्कर मुनिजी के भाषण या प्रवचन विचारपूर्ण होते हैं। उनका अध्ययन व्यापक है, अनुभव गहरा है और अभिव्यंजना शक्ति भी विकसित है, इस कारण उनके वचन में विचार का तेज होता है तो विचार में वचन का सौन्दर्य खिलता है। उपाध्याय श्री जी पहले अधिकतर राजस्थानी भाषा (मेवाड़ी मिश्रित बोली) में बोलते थे, अब जबकि राजस्थान की सीमा से बाहर विचरण कर रहे हैं वे हिन्दी मिश्रित राजस्थानी में बोलते हैं। उनकी भाषा में चुटीलापन गजब का होता है, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, लोक व्यंग्य तथा जीवन के निकटतम में चलने वाले ऐसे मार्मिक शब्द वे बोलते हैं कि श्रोता समुदाय कभी खिलखिलाकर हँस पड़ता है तो कभी विचारों से अभिभूत होकर आत्म-निरीक्षण में डूब जाता है। अगर वे दान, त्याग, तप या सेवा की कोई प्रेरणा देते होते हैं तो बस उत्साह उमंग की गंगा-जमुना बह पड़ती है। दान की झड़ी लग जाती है। त्याग व तप की होड़ मचने लगती है। सेवा के सुप्त संस्कार जन समुदाय में जाग पड़ते हैं। यह उनकी वाणी की सफलता है। वाणी में चरित्र एवं विचार-बल का साक्षात् प्रमाण है।

प्रवचन साहित्य

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी के हजारों प्रवचनों का संकलन कर संपादन कर देना टेढ़ी खीर है। पर, साहस के धनी और कठोर श्रम एवं निष्ठाशील विद्वान् श्री देवेन्द्र मुनिजी ने इस कार्य को भी साध लिया है। अब तक लगभग १०-१२ प्रवचन पुस्तकें तैयार होकर छप चुकी हैं। जिनमें प्रमुख हैं—

- ☐ संस्कृति के स्वर (हिन्दी एवं राजस्थानी)
- ☐ मिनखपणा रो मोल (राजस्थानी)
- ☐ रामराज,
- ☐ जिन्दगी की मुस्कान
- ☐ जिन्दगी की लहरें
- ☐ साधना का राजमार्ग
- ☐ जिन्दगी नो आनन्द
- ☐ सफल जीवन।

उक्त प्रवचन-साहित्य की माँग काफी अच्छी रही। पुराने संस्करण शीघ्र समाप्त हो गये। अतः पुराने साहित्य को नई दृष्टि व शैली से पुनः संपादित कर उसमें से काट-छाँटकर एक प्रतिनिधि प्रवचन पुस्तक श्री देवेन्द्र मुनि जी ने पुनः तैयार की है—

—"धर्म का कल्पवृक्ष : जीवन के आँगन में"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय श्री जी की यह प्रवचन पुस्तक काफी महत्त्वपूर्ण है। उनके विचारों का समग्र प्रतिबिम्ब इस पुस्तक में परिलक्षित हो रहा है। इसमें दो खण्ड हैं—

१. धर्म और जीवन
२. अध्यात्म और दर्शन

प्रथम खण्ड में धर्म के विविध अंग, जीवन की मूलभूत समस्याएँ और उनका समाधान, धर्मसाधना, मानवता, संयम, विवेक, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, कर्तव्य-पालन, दान, प्रेम, ईमानदारी आदि इन विषयों पर बड़े ही रोचक तथा हृदयस्पर्शी प्रवचन हैं। इन प्रवचनों को पढ़ने से लगता है—प्रवक्ता हमारे सामने ही बैठे हैं। वचन धारा बह रही है और श्रोता उसमें निमज्जित हो रहा है।

दूसरे खण्ड में अध्यात्म जैसे गहन विषय को, दर्शन जैसे नीरस विषय को इतनी सरलता और सरसता के साथ व्यक्त किया गया है कि कहीं भी ऊब नहीं, थकान नहीं। साधना, ज्ञानोपासना, ध्यान, सम्यक्दर्शन आदि विषयों पर भी बड़े ही अनुभूति-परक और श्रुतज्ञान से समृद्ध प्रवचन हैं। उपाध्याय श्री जी के अब तक के प्रवचन साहित्य का यह एक दोहन कहा जा सकता है।

जैनधर्म में दान : समीक्षात्मक अध्ययन

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी के विशिष्ट प्रवचनों की यह महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। वास्तव में तो यह प्रवचन पुस्तक होकर भी एक तुलनात्मक शोध पुस्तक बन गई है। दान जैसे विषय पर इतना विस्तृत और सर्वांगीण विवेचन सम्भवतः पहली बार पुस्तकारूढ़ हुआ है।

इसमें दान की परिभाषा, प्रेरणा, लाभ आदि विषयों से प्रारम्भ कर दान की विविध प्रक्रियाएँ, दान के गुण-दोष, पात्रापात्र विचार आदि गम्भीरतम विषयों को बड़ी ही सरल तथा सटीक भाषा-शैली में स्पष्ट किया है। इस पुस्तक के तीन खण्ड हैं और उनमें चवालीस प्रवचन हैं। सम्पादन की विशिष्ट शैली के कारण प्रवचन कहीं-कहीं निबन्ध जैसे और ग्रन्थों के सन्दर्भों के कारण भारी अवश्य बन गये हैं।

उपाध्याय श्री के प्रवचन का तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'श्रावक धर्म दर्शन'। श्रावक धर्म पर विस्तार के साथ चिन्तन प्रस्तुत किया है। मानव-जीवन का लक्ष्य, व्रत की महत्ता और श्रावक के बारह व्रतों पर इतनी गहराई से चिन्तन किया है कि पाठक पढ़कर झूमने लगता है, व्रतों के सम्बन्ध में जो भ्रांत धारणाएं हैं उनका भी यत्र-तत्र निरसन किया गया है। वस्तुतः श्रावक के जीवन की आचार-संहिता को समझने के लिए यह अद्भुत ग्रन्थ है।

देवेन्द्र मुनिजी से मुझे ज्ञात हुआ कि उपाध्याय श्री के उन प्रवचनों का संकलन जो उनके पास है उसे विषय वार सम्पादित कर पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया जाय तो पच्चीस पुस्तकें सहज रूप से प्रकाशित हो सकती हैं।

उक्त तीनों ग्रन्थ उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी के विचार और वाणी का अद्भुत चमत्कारी रूप प्रस्तुत करते हैं जिनके स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि और सत्कर्म की प्रेरणा प्रवाहित होती है। विशिष्ट प्रवचनकार उपाध्याय श्री जी की वाणी साक्षात् श्रवण में तो अद्भुत आनन्ददायिनी है ही, किन्तु प्रवचनों के स्वाध्याय से भी श्रोता का हृदय आनन्द निमग्न अवश्य होगा।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अनुभव के बोल

[गुरुदेव श्री के प्रवचन-साहित्य से संकलित]



१. माता-पिता ने यदि अपराध भी किया हो, तब भी उनका अपमान नहीं करना चाहिए।
२. हिंसक और क्रूर आचरण से किसी को अपना शत्रु मत बनाओ।
३. जिसका मन पवित्र होता है, उसकी कामनाएं सफल होती हैं।
४. संत जन कष्ट पाकर भी दूसरों को सुख देते हैं।
५. दयालु और मिष्टभाषी का कोई शत्रु नहीं होता।
६. अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए छोटे-से-छोटा बनना भी चतुरता है।
७. धर्म कार्य करने में विलम्ब मत करो, काल का कोई भरोसा नहीं है।
८. जो हित करने वाला है, वह चाहे कोई भी हो, उसे मित्र समझना चाहिए।
९. ऊंचा पद पाकर मन भी ऊँचा रखो।
१०. सत्ता को अहंकार से और अधिकार को अन्याय से खतरा है।
११. सन्मान पाना चाहने वाले को पहले सन्मान देना पड़ता है।
१२. प्रतिदिन अपने आचरण पर ईमानदारी से चिन्तन करो कि क्या अच्छा किया और क्या बुरा किया।
१३. समय को व्यर्थ खोना सबसे बड़ी बर्बादी है।
१४. वह धन भी क्या काम का, जिससे जान पर जोखिम आती हो।
१५. किसी को अपनी बात मनवाने के लिए विवाद मत करो।
१६. शिष्ट व्यवहार और मिष्ट वचन लोकप्रियता का मूल मन्त्र है।
१७. समर्थ की क्षमा, दरिद्र का दान, तरुण का ब्रह्मचर्य और रोगी की अनाकुलता—वस्तुतः सराहनीय है।
१८. स्त्री गृहलक्ष्मी है, स्त्री दुःखी तो घर दुःखी, स्त्री सन्तुष्ट तो घर सुखी।
१९. सम्पत्ति, सरस्वती सदाचार, सत्य और सन्तान—ये पांच सकार जिस घर में हो वह घर स्वर्ग से भी बढ़कर है।
२०. आलस्य विद्या का और व्यसन लक्ष्मी का नाश करता है।
२१. अगर सभी के साथ अच्छा सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हो तो एक नियम याद रखो—कभी किसी की निन्दा मत करो।
२२. निन्दा, ईर्ष्या, चुगली तीन बातों से मनुष्य की क्षुद्रता प्रकट होती है।
२३. नीति के अनुसार चार सबसे खतरनाक शत्रु हैं—

कर्जदार पिता,	दुराचारिणी माता
उच्छृंखल पत्नी	मूर्ख पुत्र

२४. दूसरे के आश्रय पर जीने वाले का भाग्य दीवार पर लटकती तस्वीर की तरह सदा ही अधर में लटकता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५. कार्यकर्ता सन्मान नहीं, सफलता की आशा से काम करें। अपमान और असफलता का सामना करने की तैयारी रखें।

२६. नया वस्त्र, नया घर और नया वाहन—तीन नये अच्छे लगते हैं किन्तु चिकित्सक, गुरु और सेवक (मुनीम या नौकर) पुराने ही अच्छे माने जाते हैं।

२७. मित्रता में धन का लेन-देन दूध में खटाई का काम करता है।

२८. जो मित्र एक बार शत्रु बन गया हो, दुबारा कभी भी उस पर विश्वास करना खतरनाक हो सकता है।

२९. घाव खुजलाने से अधिक फैलता है, मानसिक पीड़ा का अधिक विचार करने से वह और अधिक गहरी बनती है।

३०. पर-निन्दा करने से दूसरे का बुरा हो या न हो, किन्तु अपने तीन अहित तो हो ही जाते हैं—मन में संक्लेश, विचारों में मलिनता और वाणी में दुष्टता।

३१. वही धर्म उत्तम है, जो जीवन को उन्नत बनाये।

३२. ज्ञान जब तक अनुभूति (दर्शन या श्रद्धा) नहीं बनता, तब तक वह हृदय को प्रकाशित कैसे करेगा ?

३३. ज्ञान-क्रीड़ा करते-करते जब सब तर्क समाप्त हो जाते हैं, तब अनुभूति-स्फुरित होती है। ज्ञानात्मक अनुभूति ही सम्यक् श्रद्धा है।

३४. शास्त्र तो सिर्फ मानचित्र है, मानचित्र से दिशाबोध तो हो सकता है, किन्तु जब तक उस मार्ग पर कदम नहीं बढ़ाये जाय, तब तक मार्ग का सही अनुभव नहीं हो सकता।

३५. इस क्षणभंगुर जीवन में अमरता की साधना कर लेने वाला ही चतुर और विवेकी है।

३६. जहाँ मौन से काम होता हो, वहाँ बोलने से क्या लाभ !

३७. दूसरों को लूटने व उजाड़ने में आनन्द मनाना क्रूरता है, साधु पुरुष वह है, जो स्वयं को लुटाकर भी दूसरों को आबाद करे।

३८. घर की खिड़कियाँ बन्द करके बैठने वाला न प्रकाश पा सकता है, न ताजा हवा और न धूप। अगर बाहर की धूप और हवा चाहिए तो खिड़कियाँ खोल दो। अगर ज्ञान का प्रकाश और अनुभव की ताजी हवा चाहिए तो जिज्ञासा की खिड़कियाँ खुली रखो।

३९. दर्शन की बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ने वाला अगर आत्मा का दर्शन न कर पाया, तो वे पुस्तकें और वह अध्ययन क्या काम का ?

४०. 'मैं' क्षुद्र गली है, गन्दी नाली है, 'हम' राजमार्ग है, नदी की धारा है।
'मैं' में अभिमान है, 'हम' में स्वाभिमान
'मैं' में एकाकीपन है, 'हम' में संगठन, प्रेम
'मैं' संकुचित है, 'हम' विराट।
सामाजिक एवं राष्ट्रीय अभिवृद्धि के लिए 'मैं' की दृष्टि से नहीं 'हम' की दृष्टि से सोचिए।

४१. चोर अपने घर से जैसा प्रेम करता है, अगर दूसरे घर से भी वैसा ही प्रेम करने लगे तो संसार में चोरी का नामोनिशान न रहे।

४२. दुःख वह मेहमान है, जिसका जितना स्वागत होगा वह उतना ही जल्दी वापस जायेगा।

४३. अगले जीवन में स्वर्ग पाने की चिंता करना उधार खाता है इसी जीवन में आचरण द्वारा स्वर्ग का वातावरण बनाना नगद खाता है।

४४. व्यक्ति को नहीं, सत्य को पूजो।
शक्ति को नहीं, शान्ति को पूजो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४५. प्रेम और मोह में बड़ा अन्तर है—

प्रेम हृदय से होता है,	मोह शरीर से।
प्रेम, चैतन्य सम्बन्ध है,	मोह, जड़-सम्बन्ध
प्रेम, ऊर्ध्वमुखी है,	मोह, अधोमुखी
प्रेम, उपासना है,	मोह, वासना।

४६. पैर की सुरक्षा के लिए समूची धरती पर चमड़ा बिछाने की जरूरत नहीं है, सिर्फ अपने पैर को जूता आदि से रक्षित करने की आवश्यकता है।
सुख पाने के लिए संसार का वातावरण अनुकूल बने या नहीं, किन्तु अपने को वातावरण के अनुकूल बनाकर सुख का अनुभव किया जा सकता है।

४७. विनम्रता सफलता की निशानी है।
फलवान वृक्ष झुकता है, जल भरा बादल झुकता है और ज्ञानवान मनुष्य झुकता है।

४८. सिद्धि के बिना प्रसिद्धि नहीं मिल सकती।
भावना के बिना प्रभावना नहीं हो सकती।
साधना के बिना सफलता नहीं मिल सकती।

४९. डाक्टर का छुरी से काटना भी हित के लिए है।
वैश्या का कोमल स्पर्श भी दुख और पीड़ादायी है।

५०. प्रेम की तीन श्रेणियां हैं—

गुरु का प्रेम	सर्वोत्तम
माता का प्रेम	उत्तम
पत्नी का प्रेम	सामान्य

५१. नदियों का मीठा जल समुद्र में गिरकर खारा क्यों हो जाता है? क्योंकि वह संग्रहकर्ता है। जमाखोरी में मधुरता भी कड़वाहट में बदल जाती है।
समुद्र का खारा पानी बादलों में पहुँचकर मीठा क्यों हो जाता है?
क्योंकि वे दानदाता हैं। दानी की कटुता भी मधुरता में परिणित हो जाती है।

५२. सूर्य पर जैसे बादलों के आवरण आते है, हट जाते हैं। फिर आते हैं, फिर हट जाते हैं। जीवन में सुख-दुःख और सफलता-असफलता को भी इससे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए।

५३. पत्थर की कठोर चट्टानों के भीतर से जल के स्वच्छ-शीतल झरने निकल सकते हैं तो क्या कठोर क्रूर और दुष्ट मनुष्य के अन्तर से दया का निर्झर नहीं फूट सकता?

५४. मनुष्य स्वभावतः क्रूर एवं पतित नहीं, उसकी दयालुता और पवित्रता में विश्वास रखो, किसी भी एक छोटी सी प्रेरणा से उसका सोया देवत्व जाग सकता है।

५५. एक छोटी सी चिनगारी लाखों मन रुई के ढेर को भस्म कर सकती है तो क्या छोटी-सी प्रार्थना या छोटा-सा सदाचार ढेर सारे पापों का नाश नहीं कर सकता?

५६. देवता की आकृति में अंकित किसी पत्थर या चित्र का भी जब अपमान नहीं किया जाता, तो मानव आकृति में सजीव मनुष्य का अपमान क्यों?

५७. अपमान और निन्दा—ऐसे आग के गोले हैं जो फेंकने वाले को ही पहले जलाते हैं।

५८. आग जहाँ पैदा होती है वहीं पर जलाना शुरू कर देती है। क्रोध जिस दिल में पैदा होता है पहले उसी दिल को जलाता है।

५९. थोड़ा-सा नमक भी खाद्यवस्तु का स्वाद बदल सकता है, तो क्या थोड़े से सज्जन संसार का स्वरूप नहीं बदल सकते?

६०. याद रखो, तुम पत्थर के ढेले नहीं जो जहाँ गिरे वहीं बिखर कर शांत हो गये, तुम गेंद हो, जो बार-बार गिरने और चोट खाने पर भी उछल कर अपने को सक्रिय रखती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६१. अपना स्वार्थ जब राष्ट्र या समाज के साथ जुड़ जाता है तो वह व्यापक रूप लेकर पदार्थ या परमार्थ बन जाता है।

६२. तुम भोग-विलास के कीचड़ में कीड़े बन कर रेंगो मत, किन्तु गरुड़ बनकर संयम और स्वतन्त्रता के आसमान में उड़ान भरो !

६३. संघर्ष और अव्यवस्था का मूल कारण है—अपनी जिम्मेदारी दूसरे के सिर पर डाल देना।

६४. प्रसन्नता अव्यवस्था का सबसे पहला उपचार है।

६५. खिले हुए फूल को सब चाहते हैं, मुरझाये हुए फूल को कोई नहीं चाहता। उदास व्यक्ति के पास कोई बैठना नहीं चाहता, हंस मुख के पास हर कोई जाना चाहता है।

६६. मनुष्य के मुख व मस्तक पर चढ़ी हुई त्योरियां देखकर ऐसा लगता है जैसे किसी फूल पर कांटे उभरे हुए हैं।

६७. प्राकृतिक सौन्दर्य और शान्ति, एकान्त समाधि, ध्यान एवं आत्मानन्द में सहायक होता है।

६८. भोजन और भजन के लिए हमेशा स्वच्छ, सुन्दर और एकान्त स्थान की अपेक्षा रहती है।

६९. कहते हैं चकोर चन्द्रमा का इतना अनन्य प्रेमी है कि वह उसके प्रेम में लीन होकर अंगारे भी खा जाता है, और तब भी उसे पता नहीं चलता।
साध्य के प्रति सच्ची लगन चकोर के जैसी ही होनी चाहिए जिसमें विघ्न-बाधाएँ आये तो साधक उनको पार तो करता ही जाये, पर उनका अनुभव मन को स्पर्श भी न कर सके। विघ्नों का पता भी उसे न चले।

७०. भक्ति का अर्थ दासता या गुलामी नहीं है। किन्तु आराध्य के साथ अभेद तथा एकता की अनुभूति है।
भक्ति—अर्थात् भगवान में तन्मयता

७१. बिना एकाग्रता के आज तक किसी को सफलता नहीं मिली।

७२. अधिकार में अहंकार है, कर्तव्य में विनम्रता।

७३. सादगी भी अगर प्रदर्शन की चीज बन गई तो फिर वह सादगी कहाँ रही ?

७४. शरीर की शक्ति बढ़ाने के लिए विटामिनस् का प्रयोग किया जाता है और मन की शक्ति बढ़ाने के लिए एकाग्रता और ध्यान का प्रयोग।

७५. योग से न केवल शारीरिक रोग दूर होते हैं। किन्तु मानसिक रोग भी जड़ मूल से नष्ट हो जाते हैं।

७६. गुरुजनों, वृद्धों, स्त्रियों और नौकरों के साथ कभी भी मजाक नहीं करना चाहिए।

७७. रोगी और विपत्ति में फंसे व्यक्ति को कभी भी हंसो मत, हो सके तो उनकी सहायता करो, अन्यथा मौन ही रहो !

७८. आलोचना से डरना कायरता है, किन्तु आलोचना का अवसर ही न देना—जागरूकता और प्रबुद्धता है।

७९. मैं अगर अपने आपको बदल लूंगा, तो समाज और देश भी बदल जायेगा, वातावरण और परिस्थितियाँ भी बदल जायेगी। हजारों घटक मिलकर ही तो समष्टि बनती है।

८०. त्याग की भावना आये बिना 'नैतिकता' पनप नहीं सकती।

८१. जिसको जितना परिग्रह, उसको उतनी ही चिन्ता और अशान्ति !

८२. नारी का भूषण—सौन्दर्य नहीं, शील है।
पुरुष का भूषण—धन नहीं, दान है।
साधु का भूषण—विद्वत्ता नहीं, त्याग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८३. पंडित का भूषण है—विनम्रता और मूर्ख का भूषण है—मौन।

८४. पहले सोचकर पीछे काम करने वाला—चतुर है।
काम करके पीछे सोच कर पछताने वाला—मूर्ख है।
और जो पछताने का काम करके भी कभी नहीं सोचे—वह महामूर्ख है।

८५. पराजय से निराश हो जाना—कायरता है।
पराजय के कारणों पर विचार करना—समझदारी है।
पराजय के कारणों पर विचार कर उन्हे छोड़ना और पुनः विजय के लिए सन्नद्ध होना—साहसिकता है।
पराजय के बाद विजय पाकर उन्मत्त बनना—विवेकशीलता है।

८६. जिस भाषा में लेखन व उच्चारण की समरूपता और अभिव्यक्ति की सहजता नहीं, वह चाहे जितनी प्रचलित क्यों न हो, श्रेष्ठ भाषा नहीं कहला सकती।

८७. सत्य के लिए संघर्ष करना एक बात है, किन्तु सत्य के लिए समर्पित हो जाना कुछ और ही बात है।

८८. इतिहास पढ़ने का एक सबसे बड़ा लाभ यह है कि बिना संकट और कष्ट उठाये ही हमें हजारों प्रकार के कड़वे-मीठे अनुभव मिल जाते हैं।

८९. लाखों वर्ष के जीवन में जितने अनुभव नहीं हो पाते उतने अनुभव इतिहास और पुराने चरित्र ग्रन्थ पढ़ने से मिल जाते हैं।

९०. अतीत के अनुभव लेकर वर्तमान में जीओ और भविष्य की सुनहली कल्पना से मन को दुलराओ!

९१. अतीत की चिंता भले ही मत करो, पर अतीत पर चिंतन अवश्य करो।

९२. जैन संस्कृति मनुष्य को दण्डित करने में नहीं, सुसंस्कृत करने में विश्वास करती है। इसीलिए दण्ड की जगह प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण का विधान है।

९३. अपराध के प्रति सच्ची घृणा होना ही प्रायश्चित्त है।

९४. श्रमण संस्कृति का उद्घोष है—सुख देने मे है, लेने में नहीं। आनन्द त्याग में है, भोग में नहीं।

९५. उलटा घड़ा वर्षों तक जलधारा में पड़े रहने पर भी नहीं भरेगा। उलटे घड़े के तुल्य श्रोता भी जीवन भर उपदेश सुनकर कोरे के कोरे ही रह जाते हैं।

९६. काजल काला होकर भी अपने गुण के कारण आंख में स्थान पाता है। मनुष्य भी अगर गुणी है तो कैसा भी रूप क्यों न हो वह समाज में उच्चस्थान प्राप्त कर ही लेता है।

९७. कार के लम्बे सफर में पेट्रोल टायर आदि का संग्रह सुरक्षित रखा जाता है वैसे ही जीवन के लम्बे सफर में शक्ति का संग्रह करो। ब्रह्मचर्य आदि साधना द्वारा शक्ति का संरक्षण करो।

९८. मायक्रोस्कोप (Microscope) अत्यन्त लघुकणों को भी बड़ा करके दिखाता है और कैमरा बड़ी बड़ी छवियों को भी लघु आकार में अंकित कर लेता है। इसी प्रकार सज्जन-दूसरों के लघु गुणों को भी विराट रूप दे देते हैं और अपने विराट गुणों को भी लघुतम रूप में प्रकट करते हैं।

९९. हारना उतना बुरा नहीं है, जितना हार कर पुनः नहीं उठने की वृत्ति। हार को विजय का प्रथम द्वार समझ कर चलो, विजय निश्चित मिलेगी।

१००. जीवन के हारमोनियम से शान्ति की सुरीली आवाज वही निकाल सकता है, जो इसे बजाने की कला जानता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड ४

राजस्थानकेसरी

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ



जैन दर्शन : चिंतन के विविध आयाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैनदर्शन का आदिकाल

श्री दलसुखभाई मालवणिया
[निदेशक—ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद]

जैन आगमों में सर्वाधिक प्राचीन आगम यदि कोई है तो वह आचारांग है और उसका भी प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीनतम है। विद्वानों ने उसका समय ई० पू० तीसरी-चौथी शती माना है; अतएव जैनदर्शन का प्राचीनतम रूप देखना हो तो इसका अध्ययन जरूरी है। उसमें नवतत्त्व या सात तत्त्व स्थिर नहीं हुए किन्तु उसकी भूमिका तो बन रही है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। पञ्चास्तिकाय या षट्द्रव्य का सिद्धान्त तो इसमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है अतः यह मानना पड़ता है कि प्रथम स्थान जैनदर्शन में नव या सात तत्त्वों की विचारणा से मिला है और उसके बाद पञ्चास्तिकाय और षट्द्रव्य की विचारणा हुई है। प्राचीनतम ऐसे जैनागम आचारांग में दार्शनिक भूमिका कैसी है यह देख लेना उचित इसलिए होगा कि जैन दार्शनिक चर्चा की आगमिक भूमिका जो व्यवस्थित हुई उसका प्रारूप क्या था यह जाना जा सकता है।

आचारांग जैसा कि उसके नाम से ही सूचित होता है कि भिक्षु के आचार का निरूपण करने वाला ग्रन्थ है अतएव उसमें दार्शनिक चर्चा को अवकाश नहीं, फिर भी जो प्रासंगिक चर्चा है वह जैनों का दर्शन के क्षेत्र में स्थान निश्चित करने में सहायक अवश्य है।

ईसा पूर्व छठी शती में अनेक वाद प्रचलित थे उनका सामान्य रूप से निर्देश पालि पिटकों में मिलता है, उन विविध वादों में से भगवान महावीर को किस वाद का समर्थक माना जाय इसका स्पष्टीकरण आचारांग के प्रारम्भिक अंश से हो जाता है। भगवान महावीर अपने को आत्मवादी, कर्मवादी, लोकवादी और क्रियावादी के पक्ष में सूचित करते हैं और उन वादों का तात्पर्य जो उन्हें अभिप्रेत है उसका भी वहीं स्पष्टीकरण है कि जो आत्मा का जन्म-जन्मान्तर मानते हैं वही आत्मवादी आदि हो सकते हैं और आत्मा के जन्म-जन्मान्तर का आधार कर्म की मान्यता है, अतएव जो आत्मवादी है वही कर्मवादी या जो कर्मवादी है वही आत्मवादी है ऐसा समीकरण आचारांग के प्रारम्भिक अंश से फलित होता है।

भगवान महावीर आत्मवादी और कर्मवादी थे तो आचारांग में उन्होंने जो आचार का उपदेश दिया उसके साथ उस आत्मवाद और कर्मवाद का क्या सम्बन्ध है? यह सर्वप्रथम देखना आवश्यक है।

आत्मा अपने विद्यमान जन्म के पूर्व और पश्चात् जन्म का अस्तित्व और अवस्था जाने और माने तब ही वह आयावाई—आत्मवादी, लोयावाई—लोकवादी, कम्मावाई—कर्मवादी (और प्राचीन परिभाषा में 'किरिया' शब्द का प्रयोग 'कम्म' के अर्थ में होता था, देखो—प्रज्ञापना की प्रस्तावना पद २२ की विवेचना) किरियावाई—क्रियावादी हो सकता है। इस बात को आचारांग के प्रथम वाक्य में ही इस प्रकार कहा गया है—

> तेणं भगवया एवमक्खायं इह मेगेसिं णो सण्णा भवई तं जहा—पुरात्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि ..... अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि एवमेगेसिं णो णायं भवई अत्थि मे आया उववाइए नत्थि मे आया उववाइये के अहं आसी के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि? से जं पुण जाणेज्जा सहसंमइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा तं जहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं जं णायं भवति अत्थि मे आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं से आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई। —आचारांग—१-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब तक कर्म है, आरम्भ है, हिंसा है तब तक संसार में परिभ्रमण है, दुःख है— आचारांग —१०

यह तब रुक सकता है जब कर्म समारम्भ का परित्याग किया जाय, संसार के दुःख का प्रतिघात करने के लिए तथा जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति के लिए भगवान ने कर्म समारम्भ के परित्याग का उपदेश दिया है मुनि वही है जिसने कर्म समारम्भ का त्याग किया है। —आचा० ६, १३

अपने को अणगार संन्यासी कहनेवालों को भी जीव हिंसा कैसे होती है इसका भान नहीं होता क्योंकि उनको जीव कहाँ है और कहाँ नहीं है इसका ही पता नहीं। अतएव आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में क्रमशः पृथ्वी, उदक (जल), अग्नि, वनस्पति, त्रसकाय और वायु ये स्वयं भगवान महावीर ने अपने साधना काल में ही जाना था कि ये छहों काय "चित्तमंत" सजीव हैं अतएव उनकी हिंसा से वे बचकर चले थे।

—आचा० ६। १—१२, १३

छः जीवनिकाय हैं और उनकी विविध प्रकार से हिंसा मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किस प्रकार करता है यह विस्तार से दिखाया गया है और कहा है कि—

सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खंति—

—आचा० ५०

अर्थात् हिंसा के कारण सभी जीवों को जो दुःख है यही असाता है अपरिनिर्वाण है और महाभय है। इस महाभयरूप दुःख से मुक्ति पाने का एक ही उपाय है—कर्म समारम्भ—हिंसा का परित्याग अतएव सभी अर्हन्तों का तीर्थंकरों का उपदेश है—

जे अईया जेय पडुपन्ना आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णविंति एवं परूवन्ति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघित्तव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे निइए समिच्च लोयं खेयण्णे पवेइए····· —आचा० १२६।

अर्थात् किसी भी जीव की किसी भी प्रकार से हिंसा न करनी चाहिए, किसी भी प्रकार से उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। आचारांग में अहिंसा धर्म के लिए तो कहा गया है कि वह नित्य है (१।२६) किन्तु पदार्थों के स्वरूप के विषय में खास कर भोग के साधन बनने वाले शरीर के लिए तो कहा है कि—

पुव्विपेयं पच्छापेयं भेउरधम्मं विद्धंसण धम्ममधुवं अणिइयं असासयं चयावइचयं विप्परिणाम-धम्मं पासह एवं रूवसंधि —आचारांग १४७

सूत्रकृतांग १, १, २, १० में भी कहा है—**विद्धंसण धम्ममेव तं इयविज्जं कोऽगारमावसे**

यह वैसा ही निरूपण है जैसा कि बौद्ध साहित्य में भी देखा जा सकता है—

सो एवं पजानतिअयं खो मे कायो रूपी चातुमहाभूतिको मातापेत्तिक संभवो ओदन कुम्मासुपचयो अनिच्चुच्छादन परिमदनभेदन विद्धंसन धम्मो। दीघ०····२०८५।

हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिए उसके लिए ये दलील दी गई है—

(१) सव्वेपाणा पियाऊया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउं कामा सव्वेसिं जीवियं पियं। —आचा० ८०

सभी जीवों को जीना पसन्द है, सभी जीव सुखास्वादी है, दुःख से द्वेष करते हैं, अपना वध उन्हें अप्रिय है, जीवन से प्रेम करते हैं, जीने की इच्छा करते हैं अतएव उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए।

(२) तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ·····तम्हा न हंतव्वं न वि घायए, अणुसंवेयण मप्पाणेण जं हन्तव्वं नाभिपत्थए —आचा० १६४।

यह सारांश टीका के अनुसार है।

जिसकी हिंसा करनी है वह तुम ही हो अतएव हिंसा न करनी चाहिए क्योंकि आत्मौपम्यकी [इसके लिए **समया** (समता) शब्द आचारांग में हैं (१०६, ११६) उसी के आधार पर सामाइय की कल्पना हुई है जिसका स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग (१, २, २, २०) में दिखाकर कहा गया है कि यह "ज्ञातृ" का अपूर्व उपदेश है (१, २, २, ३१)] दृष्टि से देखने पर दुःख जैसा मुझे अप्रिय है, सभी जीवों की अप्रिय है, हिंसा का परित्याग ही श्रेयस्कर होता है, यही नहीं किन्तु अभी जो दूसरे को दुःख दिया वैसा ही दुःख उस कर्म के कारण अपने को भी मिलेगा ऐसा समझ कर भी हिंसा का त्याग करना जरूरी है।

इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जब भी जीव हिंसा का संकल्प करता है तो अन्य जीव मरे या न मरे किन्तु अपनी आत्मा तो कषाय युक्त हुई अतएव अपनी आत्मा की तो हिंसा हो ही गयी।

(३) आवंती केयावंती लोयंसी समणा य महाणा य पुढो विवायं वयंति-से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वाओ सुपडिलेहियं च णे सव्वे पाणा सव्वे जीवा ··· हन्तव्वा इत्थ विजाण नत्थित्थ दोसो अणायरियवयणमेयं तत्थ जे आरिया ते एवं वयासी ··· वयं पुण एवं-माइक्खमो एवं भासामो ··· सव्वे पाणा न हन्तव्वा पुव्वं निकायं समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हं भो पवाइया ! किं भे सायं दुक्खं असायं ? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खंति —आचारांग १३३।

सार यह है कि कुछ श्रमण-ब्राह्मण यह कहते हैं कि सब जीव की हिंसा करनी चाहिए इसमें कोई दोष नहीं किन्तु उनका यह कथन अनार्यवचन है। आर्य तो यही कहते हैं कि किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए, हिंसा के समर्थकों से पूछा जाय कि क्या तुम्हें दुःख प्रिय लगता है या अप्रिय ? तो परिणाम यही निकलता है कि दुःख तो सभी के लिए महाभयरूप होता है अप्रिय होता है। अतएव हिंसा नहीं करना यही आर्य सिद्धान्त है।

आत्मवादी का किया हुआ जीवों का पृथ्वी, उदक, अग्नि, वनस्पति, त्रस और वायु इन छह काय में विभाजन तो है ही इस क्रम से आचारांग के प्रथम अध्ययन में इन छः कायों की हिंसा न करने का उपदेश है। अन्य प्रकार से भी जीवों का विभाजन आचारांग में देखा जाता है।

पुढवि च आउकायं च तेऊ कायं च वाऊकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं तसकायं च सव्वेसिं नच्चा ॥
एयाइं सन्ति पडिलेहे चित्तमंताइ·····। —आचारांग ९, १, १२, १३ (गाथा)

इसमें पृथ्वी आदि चार वनस्पति के तीन भेद और त्रसकाय इस प्रकार आठ प्रकार के जीव भेदों का वर्णन है। अन्यत्र त्रस के अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, संमुर्च्छिम, उद्भिज और उपपातज ऐसे भेद निर्दिष्ट हैं। —आचारांग ४८।

इन जीवों में वनस्पतिकाय सजीव है, इसके लिए दलील दी गयी है कि—

से बेमि इमंपि जाईधम्मयं एवंपि जाई धम्मयं इमं पि बुड्ढी धम्मयं एयं पि बुड्ढी धम्मयं इमंपि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं इमंपि छिण्णं मिलाई एयंपि छिण्णं मिलाइ इमंपि आहारगं एयं पि आहारगं इमंपि अणिच्चयं एयं पि अणिच्चयं इमंपि असासयं एयंपि असासयं इमंपि चओवचइयं एयंपि चओवचइयं इमं विप्परिणामधम्मयं एयंपि विप्परिणामधम्मयं। —आचारांग ४६

जिस तरह यह (शरीर) जन्म लेता है वृद्धि को प्राप्त होत है, सचित्त है छिन्न होने पर भी रूक्ष जाता है, आहार की आवश्यकता वाला है अनित्य है, अशाश्वत है चयोपचय वाला है, विपरिणामधर्मी है। उसी प्रकार वनस्पति भी जन्म आदि लेती है अतएव हमारे शरीर की तरह वह भी सजीव, सचित्त है।

प्रस्तुत में जीव (चेतन) अर्थ में चित्त शब्द का प्रयोग हुआ है। सूत्रकृतांग (१, १, १, २) में भी सजीव निर्जीव अर्थ में 'चित्तमन्तमचित्त' देखा जाता है।

अतएव जहाँ चित्त है वह सजीव होना चाहिए यह फलित होता है, चित्त का अर्थ चैतन्य अभिप्रेत है। जन्मस्मरण का संसार का जिसने निराकरण कर दिया है अतएव जो मुक्त होता है उसके विषय में कहा है—

सव्वे सरा नियट्टंति तक्का जत्थ न विज्जई, मइ तत्थ न गहिया ओए अप्पईठाणस्स खेयन्ने से न दीहे न हस्से व वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमण्डले न किन्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किले न सुरभिगन्धे, न दुरभिगन्धे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खड़े न मउए न गरूए न लहुए न उण्हे न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रूहे न संगे न इत्थि न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उपमा न विज्जए अरुवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि —आचारांग १७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश यह है कि किसी भी भौतिक वर्णन का विषय मुक्त आत्मा नहीं, तर्क से वह परे है और सामान्य-जन की मति से भी वह परे है, उपनिषदों में ब्रह्म को जिस प्रकार नेति-नेति कहकर बताया वैसा ही यह स्वरूप है (विशेष विवरण के लिए आगम युग का जैनदर्शन (६५) देखना चाहिए।) हाँ, एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह कि आत्मा को ह्रस्व या दीर्घ नहीं बताया गया, किन्तु आगे चलकर शरीरपरिणामी आत्मा का सिद्धान्त स्थिर हुआ तब वह वैसा माना गया। आत्मा के लिए आत्म शब्द के उपरान्त प्राण भूत जीव चित्त चेतन और चित्तमन्त 'अचित्त' और 'अचेयण' ऐसे प्रयोगों के आधार से और सत्त्व, जन्तु इन शब्दों का प्रयोग देखा जाता है।

—आचा० १, ४६, ५०, १७८, १६४, ८८, १५

आत्मा के स्वरूप के विषय में आचारांग का यह वाक्य भी ध्यान देने योग्य है—

जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया। जेण विजाणई से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए— —आचा० १६५

इसमें आत्मा की विज्ञाता रूप से पहचान कराई गयी है। इतना ही नहीं किन्तु ज्ञान और आत्मा एक ही है—यह भी कहा गया है। चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ और उनके विषय रूपादि का निर्देश आचारांग में कई बार आता है तथा तज्जन्यज्ञान-परिज्ञान का भी उल्लेख है—(आचारांग—१६, ४१, ६३, ७१, १०६)। इतना ही नहीं, चक्षु आदि इन्द्रियों की विकृति के कारण जो अन्धत्वादि होते हैं उनका भी निर्देश देखा जाता है—(आचारांग ७८) किन्तु ये सभी निर्देश उनकी व्यवस्था के प्रसंग में न होकर संसार की दोषमयता दिखाने के प्रसंग में हैं।

आचारांग में ज्ञानचर्चा स्वतन्त्र रूप से नहीं किन्तु प्रासंगिक प्रयोग आते हैं वे ये हैं—

जाणइ पासई (आचा० ७५, १६६) नाणभट्टा, दंसणलूसिणो (आचा० १६०) अभिन्नायदंसणे।
—आचा० ६, १, ११ (गाथा)

अणेलिसन्नाणि —आचा० ६, १, १६
नाणी····जोगं च सव्वसो णच्चा —आचा० ६, १, १६
कुसलस्स दंसणं —आचा० १६६
वीरासम्मत्तदंसिणो —आचा० १५५
सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं —आचा० १५५
आघई नाणी —आचा० १३१
एगेवयंति अदुवावि नाणी नाणी वयंति अदुवावि एगे —आचा० १३२
से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे —आचा० १३३
दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं —आचा० १२८
वीरे आगमेण सया परक्कमे —आचा० १६८, १६३
पासगस्सदंसणं —आचा० १२१, १२५
किमत्थि उवाहि पासगस्स —आचा० १२५
जे कोहदंसी से माणदंसी जे मारदंसी से नरयदंसी —आचा० १२५
जे एगं जाणई से सव्वं जाणई —आचा० १२२
दुक्खं लोगस्स जाणित्ता —आचा० १२३
उट्ठेसो पासगस्स नत्थि —आचा० ८१
से भिक्खू कालन्ने बालन्ने ससमय-परसमयन्ने —आचा० ८८
आयय चक्खू लोग विप्पस्सी लोगस्स अहोभागं जाणई उड्ढं भागं जाणई —आचा० ६३
जाणेज्जा सहसम्मुइयाए परवागरणेणं अन्तेसिं वा अन्तिए सोच्चा
—आचा० ४, १६७, २०३
सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अन्तिए इहमेसिं नायं भवई एस खलु गन्थे
—आचा० १६, इत्यादि

इन प्रयोगों के आधार से एक बात तो स्पष्ट होती है कि आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध में जिसप्रकार की पाँच ज्ञान की प्रक्रिया नन्दीसूत्र में व्यवस्थित रूप से और परिभाषाबद्ध रूप में दिखाई देती है वह इन प्रयोगों में देखी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं जाती। मनःपर्याय या अवधिज्ञान की कोई सूचना इसमें नहीं है। मति और श्रुतज्ञानों की सूचना है। श्रुत के लिए आगम भी प्रयुक्त है। केवलज्ञान या केवली शब्द का प्रयोग भी नहीं मिलता। "**आकेवलिएहिं**" ऐसा कामों का विशेषण है। टीकाकार ने उसका अर्थ "**सद्वन्द्वाः स प्रतिपक्षा इति यावत्**" किया है—पृष्ठ २४१। उसकी सूचना **अणेलिसन्नाणी, नाणीजोगं च सव्वसो णच्चा, सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं**—जैसे शब्दों द्वारा मिलती है। किन्तु पारिभाषिक शब्द का निर्माण अभी नहीं हुआ है, यह स्पष्ट है। सामान्य लोक में जो तीन प्रकार के जानने के उपाय ज्ञात थे उन्हीं तीन प्रकारों का निर्देश—दृष्ट, मत, श्रुत के रूप में **दिट्ठंमयंसुयं** जैसे शब्दों द्वारा है। ये वही ज्ञान है जो आगे चलकर दार्शनिकों में तीन प्रमाण का रूप ले लेते हैं। **दिट्ठं**—प्रत्यक्ष, **मतं**—अनुमान और **सुयं**—आगम। "**आगम**" शब्द भी प्रयुक्त है। "**जाणई पासई**" यह प्राचीनतम रूप है जिसमें दर्शन और ज्ञान इन दो प्रकार के उपायों का निर्देश है। चक्षु से देखा गया दर्शन प्रत्यक्ष है और चक्षु से अतिरिक्त उपाय से जो जाना जाय वह 'ज्ञान'। आगे स्पष्ट हुआ कि यह ज्ञान अपनी बुद्धि से सोचकर कार्यकारण भाव को जानकर (अनुमान) या अन्य किसी से सुनकर (श्रुत-आगम) होता है। अतएव मति और श्रुत (आगम) माने गये। मति ही अनुमान का रूप ले लेती है और श्रुत आगम का। इस प्रकार लोक में **दिट्ठंमयंसुयं** ये तीन उपाय तीन प्रमाण बन गये—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। किन्तु बाद में जैन आगमों की ज्ञान प्रक्रिया में प्रमाण के स्थान में पाँच ज्ञानों की ही चर्चा होने लगी और परिभाषा उन्हीं की स्थिर हुई और प्रमाणों का उल्लेख तो प्रासंगिक रूप से हुआ। जैन परिभाषा जब स्थिर हुई तब भी दर्शनों में चक्षुदर्शन को तो स्थान मिला ही किन्तु बाकी की इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की सूचना अचक्षुदर्शन शब्द द्वारा दी गयी। अवधिदर्शन मानने का कारण यह जान पड़ता है कि वह रूपी पदार्थ का होता है और रूप ज्ञान के साथ दर्शन शब्द की योजना मूल में थी। मनःपर्याय में दर्शन इसलिए नहीं है कि मूलतः वह ज्ञान मनोगत भावों को जानने के लिए कल्पित किया गया था। किन्तु बाद में मन का स्वरूप जब पौद्गलिक स्थिर हुआ तो उसे भी रूपी का ज्ञान माना जाने लगा किन्तु एक बार उसमें दर्शन का निषेध हो जाने के बाद मनःपर्याय दर्शन माना नहीं जा सकता था।

यह स्पष्ट है कि आचारांग में ज्ञानचर्चा की भूमिका परिभाषाबद्ध नहीं है। किन्तु सर्वसाधारण के व्यवहारों के अनुकूल है, इसी से आचारांग की प्राचीनता सिद्ध है। ज्ञानचर्चा क्रमिक रूप से परिभाषाबद्ध होती गयी जो प्रारम्भ में नहीं थी। यह भी सूचना इसी से हो जाती है।

आचारांग में परिनिर्वाण, निर्वाण, निःश्रेयस, प्रमोक्ष, मोक्ष या मुक्ति की चर्चा तो है किन्तु मुक्ति का स्वरूप क्या है, वह कहाँ किस स्थान में होती है इसकी परिभाषाबद्ध कोई सूचना उसमें नहीं मिलती। यही कारण है कि अनेक शब्दों के द्वारा एक ही बात को कहना पड़ा है। इतना तो निश्चित है कि मुक्ति किसी बन्धन से छुटकारा पाना है, और संसार में गृहस्थाश्रम से बढ़कर कोई बन्धन नहीं। क्रोधादि दोषों से भी मुक्ति पाने की चर्चा है, कर्म रूप उपाधि से भी मुक्ति पाने का उपदेश है।

जब तक जीव मुक्त नहीं होता तब तक कर्मजन्य उपाधि से सहित होता है।

कम्मुणा उवाही जायई—(आचा० १०६) यह तो कहा किन्तु जीव के कितने प्रकार के शरीर होते हैं यह नहीं कहा गया। हाँ मुक्ति के लिए—**धुणेकम्म सरीरगं** (आचा० ६६, १५५)। टीका और चूर्णिगत पाठ सू० १५५, में "**धूणे सरीरगं**" ऐसा है, किन्तु डा० शुब्रींग की आवृत्ति में यह पाठ है ५, ३, ५ जो छन्द की दृष्टि से उपयुक्त जँचता है। और सूत्रगत पाठ से (६६) समर्थन भी होता है। इससे उस कर्मजन्य उपाधि को कर्म शरीर ऐसा नाम अभिप्रेत हो यह सम्भव है। सभी प्रकार के शरीरों के लिए यह सामान्य नाम दिया गया हो यह भी सम्भव है। क्योंकि स्वयं कर्म और कर्मजन्य को 'कर्म' शब्द का प्रतिपाद्य मानने में कोई बाधा नहीं।

लोक की कल्पना अवश्य थी। आचारांग के द्वितीय अध्ययन का नाम ही '**लोगविजय**' है तथा पाँचवें अध्ययन का नाम '**लोगसार**' है। और उसके बीच अर्थात् तिर्यग् लोग में मनुष्य रहता है यह भी स्थिर मान्यता हो गयी थी। अतः लोक के '**अहोभाग**' और '**उड्ढभाग**' (आचा० ६३) के जानने की बात कही गई है। तथा '**आयायचक्खू**' **लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणई उड्ढभागं जाणई तिरियं भागं जाणई** (आचा० ६३) **उड्ढं अहेयं तिरियं च लोए आयई समाहिय पडिन्ने** (आचा० ६, ४, १४ शूब्रींग)।

लोक के तीनों भागों को जानने का निर्देश है, लोक के अलावा अलोक की कल्पना भी देखी जाती है। किन्तु लोक के अग्रभाग में लोक-अलोक के सन्धिस्थल में सिद्धि स्थान था—ऐसा कोई विचार आचारांग में दिखता नहीं, इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपरीत—**पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओमुच्चई** (आचारांग १२०) अर्थात् देखो कि यह योग्य पुरुष लोक और अलोक के प्रपंच से मुक्त हो जाता है। ऐसा आचारांग में निर्देश है। इससे स्पष्ट है कि आगे चलकर जो लोक और अलोक की परिभाषा स्थिर हुई वह आचारांग में दिखती नहीं। टीकाकार को इसकी व्याख्या करने में कठिनाई भी हुई है—(आचा० टीका, पृ० १७०)

मुक्तिमार्ग की चर्चा अवश्य है किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र में जिस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुक्ति का मार्ग कहा गया और जो इस परिभाषा को आगे के सभी जैनदार्शनिकों ने मान्य रखा उसका अव्यवस्थित पूर्व रूप आचारांग में है।

कहीं एकत्व इन तीनों को मुक्तिमार्ग नहीं कहा गया। **एसमग्गो अरिएहिं पवेइए उट्ठिए नो पमायए**—(आचा० १४६) में अप्रमाद को मार्ग बताया गया है तो अन्यत्र **अरइं आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के**—(आचा० ७२) कहकर अरति के निवारण को=**विमुत्ता हु ते जणा पारगामिणो लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे नाभिगहई** (आचा० ७४) में अलोभ को दण्डसमारम्भ से विरति अर्थात् अहिंसा को "**एस मग्गे अरिएहिं पवेइए** (आचा० ७६) कहा है। "**एसमग्गे आरिएहिं पवेइए** (आचा० ६१) में अपरिग्रह को। इसी अपरिग्रह का महत्त्व दिखाते हुए यह भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्य भी अपरिग्रही में ही हो सकता है। और ब्रह्मचर्य में ही बन्धन से मुक्ति दिलाने का सामर्थ्य है। —(आचा० १५०)

अविज्जाए पलिमोक्खं—(आचा० १४५)—में अविद्या से मोक्ष मानने वालों का निराकरण किया गया है, अतएव विद्या भी एक मोक्ष का उपाय सिद्ध होता है। अच्छे कुल में जन्म लेकर यदि 'रूप' में आसक्त हो जाते हैं तो मोक्ष नहीं मिलता यह भी निर्दिष्ट है (आचा० १७२) तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष के तीन उपायों की चर्चा है। उसमें सर्वप्रथम "दर्शन" को उपाय रूप से बताया है और दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धा किया गया है। आचारांग में श्रद्धा (आचा० १६) का निर्देश मिलता है। किन्तु उस श्रद्धा का आधार जिनों की आज्ञा है। उन्होंने जो कुछ कहा है वही सत्य और निःशङ्क है। ऐसी श्रद्धा पर भार दिया है।

सड्ढीआणाए मेहावी —आचा० १२४
लोगं च आणाए अभिसमेच्चा —आचा० २१, १२४
तमेवसच्चं निःसंकं जं जिणेहिं पवेइयं — आचा० १६२

संसार की वृद्धि करने वाले दोषों की गणना या सूची आचारांग में दी गयी है वह भी ध्यान देने योग्य है। इन दोषों से मुक्ति पा लेना ही मोक्ष या निर्वाण या सिद्धि है। —आचा० १२१, १२५, १४५

कोह, माण, माया, लोभ, पेज्ज, दोस, मोह, अन्नाण, पमाय इत्यादि दोषों की गणना में कोह से लेकर लोभ तक की तथा मोह तक की सूचियाँ मिलती हैं। यही आगे चलकर कर्मशास्त्र में व्यवस्थित रूप ले लेती हैं।

जो शब्द जैनों के लिए आगे चलकर पारिभाषिक बन गए हैं, वैसे कुछ शब्दों का संकलन यहाँ करना जरूरी है। यह ध्यान में रखनी चाहिए कि इन शब्दों की व्याख्या आचारांग में नहीं है। किन्तु उनका प्रयोग हुआ है। ये ही शब्द थे जिनको लेकर जैन-दर्शन की प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था तथा संसार और मोक्ष की चर्चा की गई है। जिनके विषय में इतः पूर्व चर्चा हो चुकी है उनको इस सूची में स्थान नहीं दिया है। **अज्जव, अरहन्त, आसव, उवसम, ओववाइय, कसाय, काल, खय, गइ, गब्भ, गुत्ति, चवण, जिण, जोग।**

कायं च जोगं च इरियं च —(आचा० २२६)

यह प्रयोग ऐसा है जो यह बताता है कि अभी जोग की परिभाषा स्थिर नहीं हुई थी।

जोणी, झाण, दंड, तक्क, तच्च, तहागय, दविय, निज्जरा, पज्जव, परिसह, पुण्ण, बंध, बोहि, मरण, मोह, लेस्सा, विपरिणाम, विपरियास, सम्मत।

इनके प्रयोग स्थान के लिए डॉ० शूब्रिंग सम्पादित आचारांग की शब्द सूची देखें।

इत्यादि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको लेकर आगे चल कर काफी चर्चा हुई है और परिभाषा की गई है।

इस प्रकार आचारांग में दर्शनशास्त्रीय एवं भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के मूलभूत अनेक तत्त्व विद्यमान हैं, जिनके आधार पर जैन-दर्शन के आदिकाल की रूपरेखा स्पष्ट समझी जा सकती है। आवश्यकता है, गम्भीरतापूर्वक अध्यवसाय के साथ अनुशीलन करने की। □□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Some Concepts Underlying Jain Logic and Philosophy

Dr. S. S. Barlingay, *M. A., Ph. D.*

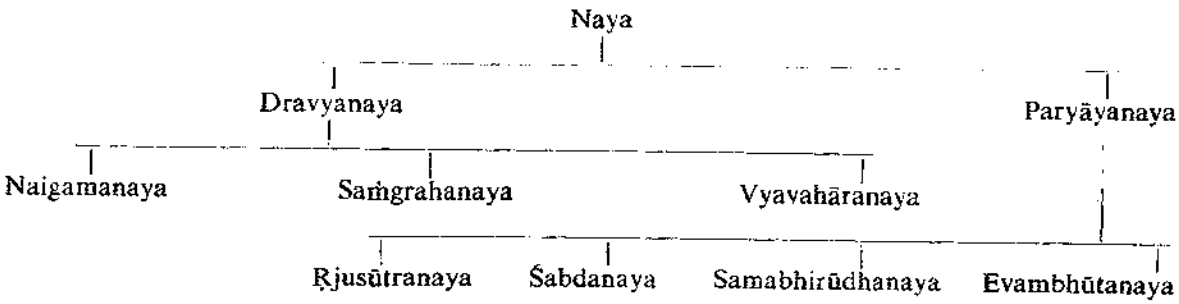
It has been sometimes claimed that Jain Logicians were the pioneers in the field of *Many-Valued Logic*. To evaluate this claim it will be necessary to understand the basic concepts underlying Jain Logic and Philosophy. It appears to me that these basic concepts are expressed through four different words by Jain Philosophers in their Logic and Philosophy. These words are : Anekānta, Naya, Syāt, and Bhanga. In this paper I propose to analyse, though in a very cursary manner, and explicate the concepts underlying Jain Logic. I feel that although the concepts expressed by these words are correlated, they are different. But Jain Philosophers seem to have ignored that these concepts are different. In fact, in many Jain books these concepts are treated as almost identical and the words representing these concepts are used as Synonymous.

Like all other Indian Logics Jain Logic seems to be based on certain Metaphysical presuppositions. Just as Advaita takes it for granted that the Reality is one and the ultimate nature of things which appear to be so very unlike one another is not different from the Real so the Jains think that every thing, or the object of knowledge has multifarious nature and it is expressed by a large variety of predicates which can be predicated of it and which are compatible with one another. Since a thing is known along with some predicate any number of judgments are possible in respect of the thing. This of course means that the nature of the thing is known by the predicates and when an assertion is made it is always with regard to the predicate of the proposition. This Theory is named as Relative Pluralism by Dasgupta and it is the basic pre-supposition of all Jain thinking whether it is Jain Logic or Jain Epistemology. In the traditional thought of the Jains this is what is known as Anekāntavāda or Pluralism of Predication. The Jain Metaphysics is centred round this concept *viz* a thing looks different if looked at from different point of view.

Traditionally the *Nayavād* (नयवाद) of the Jains and Jain epistemology are identified. However the *Nayavāda* is a wider doctrine than what the term epistemology denotes. *Navavāda* is complementary to the fundamental concept *i.e., Anekantavāda. Naya* literally means a certain point of vision. Only secondarily, it has come to mean the intention of the knower. On account of the many-naturedness of a thing or the object of knowledge and on account of a particular angle of knowing of the knower the knowledge that is produced is always partial. This is the Nayavada of the Jains. Jains believe that all the systems of Philosophy have emerged out of such partial points of view. As I shall see later, in a formal structure, these points of view would be seven only, and the Jain Philosophers also talk of seven points of view mainly. However, the description of the points of view given in different Jain books does not seem to tally (See History

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of Indian Logic by Vidya Bhushan). A kind of division or classification of Naya given by Dasgupta is as follows:—



When we preceive something and when we make an assertion with regard to that thing, as for example, it is a pot, we are really having two kinds of knowledge—the knowledge of *this* and the knowledge of *potness*. This is how we are able to express our knowledge in the form—this is a pot. But both these knowledges are fragmentary and we can separate them in 'this' and 'pot' as in the sentence 'this is a pot'. These two knowledges are the knowledges of the Dharmi or substantive and the Dharma or the attribute. When we ignore the attributive character of knowledge and only emphasise on the substantive character, we are following that Jains call *Dravyanaya*. On the other hand if we take into consideration the attributive character of knowledge then it becomes an instance of *Paryāyunaya*. The *Anātmavāda* of the Buddhists and the *Brahmavāda* of the *Advaita*, are according to Jain Philosophers, instances of *Paryāyanaya* and *Dravyanaya* respectively. When we are really concerned with some particular thing if we describe it in terms of something which has generality it becomes an instance of *Naigamanaya*. For example, when I say, 'I am reading a book' I am only reading a line of the book ; I am not reading the whole of the book at once. Nevertheless I say I am reading a book. This is an instance of *Naigamanaya*. If we consider only the general nature of a thing, it will be *Saṁgrahanaya* and if we emphasize on the particular character of a thing, it will become *Vyavahāranaya*. *Ṛjusūtra* means a straight thread. Thus to accept that which we see in the immediate perception would be an instance of *Ṛjusūtranaya* ; for example, we can never perceive the soul or *Ātman* as a whole at one moment but we experience particular mental states only. Therefore if we say that the mental states are real, then it would be an instance of the *Ṛjusūtranaya*. *Ṛjusūtranaya* therefore does not keep in view all knowledge about the past or future. The Buddhist *Kshaṇikvāda* is given as an instance of *Ṛjusūtranaya*.

Knowledge is different from language ; but we express our knowledge in language. What is expressed in language is, thus, symbolic. On account of the symbolic nature of the language and on account of the fact that it is expressed in symbols, the knowledge expressed in language becomes fragmentary. This is what is called *Śabdanaya*. According to the Jain Philosopher Umaswati, Naya is only of five kinds and *Śabdanaya* is further sub-classed into (1) Samprata (2) Samabhirūdha and (3) Evambhūta (Page 32 re-quoted from History of Indian Logic by Vidya Bhushan).

Once we accept that a thing can be understood in infinitely different ways and classify the knowledge of things according to *Nayavāda* , we are already on the way to *Syādavāda*. Syād (स्याद्) means possibly[1]. It is however, necessary to state that in our language we use the word 'possibly' in two different ways. In one sense of the term *possible* is opposed to *actual*. It may mean something which is not existing but which may have the potentiality to exist. In this sense that *something is possible* does not mean that it is existing either partially or wholly. But there is

[1] In this article word 'possible' is thoroughly used for Syāt (स्यात्) but really in Jain philosophical term 'Syāt' means a certain point of view. —Editor

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

another sense of 'possible' in which what is actual strictly implies possible. Our partial knowledge always has some truth in it. So the partial knowledge is to be valued not in terms of truth value, true or false—but in terms of possibility. This possibility is not with regard to the nature of things but with regard to our knowledge of the things, and this can be expressed either affirmatively or negatively. When we say of a thing that it possibly is, we are using a model predicate and it refers to our knowledge of the thing and not to the thing. Thus 'possibility' will now become the criterion by which we would measure our knowledge. This kind of possibility, presupposes that some thing can be predicated of some thing ; but this means that there would be some thing of which it would not be possible to predicate. This is indescribable or unspeakable. Supposing that the predication of a thing is possible it could be in respect of its existence or its non-existence. (We would get possibly *p* and possibly not-*p*). Thus it appears to me that the Jain philosophers first distinguish between impossible to predicate (which however does not mean impossible) and possible to predicate. That of which it is possible to predicate, that is possible to predicate 'Is' (affirmation) 'Is not' (negation). Thus the Jain philosophers first distinguish proposition at two different levels, although the proposition at these different levels is quite compatible with one another.

When we are saying about possible alone, it can very well be seen that there is no contradiction between the propositions possibly *p* and possibly *not-p*, that is possibly *p* and possibly not *p* can go together. When we are talking of possibly *p* and not possibly *p* we are talking of contradictions. Both of them cannot be true together, but impossibility of *p* and the possibility of *not-p* are not contradictories and they may co-exist. The possibility of *p* can be contrasted (1) with Impossibility of *p* or (2) with the possibility of not *p*. Jain Logic does not take into consideration the modality *viz* : necessarily since 'possibly' alone governs the predicate of a proposition. That is Jain Logic takes for granted the notion of possibility as primitive and works out its logic. But once you accept possibility as a primitive notion it is not difficult to define 'necessity' and also 'impossibility' in terms of 'possibility'. In the two propositions X is possible and X is not possible, both the concepts possible and impossible are at work. But if I say X is possibly *p* and X is possibly *not-p*, the scope of possibility is not limited, the scope of *p* alone is limited. Thus whereas X is possible and is not possible cannot go together, X is possibly *p*, and X is possibly *not-p* can go together. Jain Logic of *Syādvāda* is based on this second alternative.

However, once you accept this position the only other position which emerges is epistemological whether you can make any assertion about this possibility. That is, the assertion of possibility itself is now further subjected to the modality 'possible'. That is we are now concerned with whether the assertion itself is possible or not. If such an assertion is not possible even if something *p* is possible it will not be possible to assert it. Thus Jain Logic first discusses the dichotomy about the possibility and impossibility of assertion and then subjects the possibility of assertation to a further dichotomy of '*is*' and '*is not*'. The possibility (and its opposite), and assertibility (and its opposite) are the values/modalities with which Jain Logic is concerned. Impossibility as a value/modality is operative in Jain Logic at a level where they are considering whether it is possible to assert or describe. But once it is accepted that something is possible to describe the modality, 'impossibility' is no more applied. All the alternatives are finally judged by possibility and are declared possible. Assertibility or describability is compatible with both (1) the possibility of *p* and (2) possibility of *not-p*. Thus the propositions possibly *p*, and possibly *not-p* can go together. Similarly, describability and possibility of *p* or possibility of *not-p* also can go together. Thus all the alternatives in the Jain Logic of possibility are governed by the logical operator '*V*'. Since any predication is possible with regard to an object of knowledge and since all such predications are compatible it is possible that our predication or assertion is true and it is equally possible that our predication or assertion is false. Supposing that we are making this 'possibility assertion' with regard to 'existence or non-existence' of a thing then we shall be able to make a statement of the form, possibly the thing 'exists' or 'possibly' the thing 'does not exist'. It should be noted that possibly something does not exist (*i.e.*, it is possible that

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

something does not exist) is different from not possibly something exists (*i.e.*, it is not possible that something exists). Both possibly something exists and possibly something does not exist are affirmative statements. On the other hand, in the set, possibly something exists, and not possibly something exists, only one is affirmative and the other is negative. (Here not possible is really equivalent of impossible). These two therefore are non-compatible and cannot be asserted together. How it is possible that something 'is' and it is also possible that something 'is not' and still it is possible to doubt whether we can assert any position about it. Thus it is possible to say that possibly a thing 'is' and it is possible to make an assertion about it and also a thing 'is not' and it is possible to make such an assertion. It is also possible that a thing 'is' and it is not possible to make an assertion and a thing 'is not' and it is not possible to make that assertion. Thus in all you will get the seven compatible alternatives : (1) *possibly p*, (2) *possibly not p*, (3) *possibly p, possibly not p*, (4) *not possible to describe*, (5) *possibly p, but not possible to describe*, (6) *possibly not-p, but not possible to describe*, (7) *possibly p, possibly not-p but not possible to describe.*

Thus possibility has a scope over both describability, (the very word describable means *possible to describe*) is, and is not. This means that all the alternatives which the Jain Logic takes for granted are mutually compatible and can be explained in terms of 'or'. This is what is stated by the Jain Logicians in a formula *Syāt asti, Syāt nāsti, Syāt Asti-nāsti, Syāt avaktavya, Syāt Asti avaktavya, Syāt nāsti avaktavya, Syāt astināsti avaktavya.*

In all these cases the scope of the proposition is determined by the modality 'possibility'. Modality impossibility—impossibility to assert—is finally governed by the modality possibility alone. Jain Logic seems to take into consideration first the predicates 'Asti' and 'Nāsti' and determine the scope of these two predicates by *possible*. As soon as *Syāt* is added to 'Asti' and 'Nāsti' the incompatibility between them is completely got rid of and both of them become possible. Then this new proposition is contrasted with describability or assertibility and its opposite. Describability and its opposite emerge as two values. But these two values are merely the combination of 'possible—impossible' and assertion—negation. Very soon it can be seen that which is impossible to describe is quite compatible both with what 'is' and what 'is not'. This compatibility tells us that it is the modal predicate 'possible' which is governing all these modal propositions in Jain Logic. Finally, the scope of all varieties of possible is determined by possible only. It cannot, therefore, be said that *Syādvāda* as such is an attempt towards the formulation of Many-valued Logic. As a matter of fact the opposite appears to be the case—even to deny the dichotomy between an assertion and negation or describability and non-describability and bring them all under one modality—'possible'.

In Jain Logic we also come across a word called *Bhanga*. *Bhanga* literally means breaking. But it is a symbol of incompatibility. If *Saptabhangi* is taken literally, it really means sevenfold incompatibilities and in such a case *Saptabhangi* would give a Logic of seven or many-values. But what we get in *Syādvada* is the doctrine of seven fold compatibilities. Perhaps at some stage Jains had something like sevenfold incompatibilities in their mind. We know that one thing is different from another thing. This is due to *Bhanga*. This 'is' and 'is not' will be the two *Bhangas* and if there is not a certainty about a thing whether it 'is' or 'is not', there will be some indecision and this will be the third alternative or *Bhanga*. But Jain philosophers do not seem to talk about assertions and negations except as a summation of *all possibles*. They thus finally seem to be governed by only one predicate (or value) 'the possible'. When the Jains talk of *Avaktavya* it is true that the concept of indecision must be at least vaguely in their mind. In that case there would be really three values, truth, false, and indecisive. Had the Jains not talked of *Syād*, then *Asti*, *Nāsti* and *Anirvachana* or *Avaktavyatā* would have given us three values and we would have been able to base Logic on these three values. Prof. Dhruva in his 'Introduction to Syādvādamanjari says that in the *Bhagavatisūtra* only three *Bhangas* or values (and not seven) are mentioned and perhaps in the beginning this was the case. Instead of saying 'possibly is' 'possibly is not' and 'possibly indescribable' if we say, 'this is possible', 'this is impossible' and 'this is indescribable' we would get the three *Bhangas* ; but then they will not be compatible, as they will not be governed by the truth function 'V'. Syādvāda, as it appears today, does not seem to be the Theory of Many-valued Logic, although perhaps Jain logicians did vaguely consider a set of two values—possible to describe and not possible to describe at one level and another set of values—*is* and *is not* at another level. □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैन-न्याय का पुनर्वीक्षण

☐ डा० संगमलाल पाण्डेय
M.A., Ph.D.
[रीडर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय]

☐

बीसवीं शती के नैयायिकों ने सिद्ध कर दिया है कि न्यायशास्त्र या लाजिक का सीधा सम्बन्ध किसी विशेष तत्त्वमीमांसा या मेटाफिजिक्स से नहीं है। न्यायशास्त्र तत्त्वमीमांसा से स्वतन्त्र है और वह एक आकार शास्त्र (फार्मल साइन्स) है। जब भारतीय विद्वानों ने कहा था कि '**काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्**' अर्थात् न्यायशास्त्र (कणाद-तर्कशास्त्र) और व्याकरण (पाणिनी-व्याकरण) सभी शास्त्रों के उपकारक हैं, तब उनका भी यही अभिप्राय था। जैसे व्याकरणशास्त्र सभी प्रकार के दर्शनों का उपकारक है वैसे ही तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र भी उन सबका उपकारक है। संक्षेप में सभी दर्शनों का एक ही न्यायशास्त्र है, जैसे उन सभी का एक ही व्याकरण है। अतः दर्शनों की विविधता से न्यायशास्त्र की विविधता नहीं सिद्ध होती है।

परन्तु मध्ययुग में साम्प्रदायिकता का बोलबाला होने के कारण भारत के प्रसिद्ध दर्शनों ने अपना-अपना तर्क-शास्त्र भी बनाने का प्रयास किया। मोक्षाकर गुप्त (११०० ई०) ने बौद्धदर्शन के दृष्टिकोण से तर्कभाषा लिखी। केशव मिश्र (१२७५ ई०) ने न्याय-वैशिषिक दर्शन के अनुसार तर्कभाषा लिखी और यशोविजयजी (१६८८ ई०) ने जैनदर्शन के अनुसार तर्कभाषा लिखी। सम्प्रदायानुसार तर्कशास्त्र तथा न्यायशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने की परम्परा आज भी बौद्धों, जैनियों और हिन्दुओं में देखी जा रही है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्रयास तार्किक नहीं है, इससे तर्क-शास्त्र का विकास नहीं हो रहा है। अतः भारतीय दार्शनिकों को न्यायशास्त्र का पुनर्वीक्षण करना है। एक ही तर्कशास्त्र है; उसका विवेचन यदि किसी विशेष सम्प्रदाय का अनुयायी अपने सम्प्रदाय के ढंग से करता है तो तर्कशास्त्र का अहित करता है।

तर्कशास्त्र एक है—इसका अर्थ यह नहीं है कि बौद्धों, जैनों या अन्य भारतीय दर्शन के अनुयायियों ने तर्क-शास्त्र में अपना विशिष्ट योगदान नहीं किया है। परन्तु अपना विशिष्ट योगदान करने पर भी कोई बौद्ध या जैन या वैदिक दर्शन का अनुयायी तर्कशास्त्र को अपने सम्प्रदाय का ही अंग बनाने में सफल नहीं हुआ है। तर्कशास्त्र की गति सभी सम्प्रदायों से गुजरती हुई भी वस्तुतः उनसे निरपेक्ष है।

इस दृष्टि से जैन न्याय के पुनर्वीक्षण की विशेष आवश्यकता है, क्योंकि जैन नैयायिकों ने मूल रूप में बौद्धों तथा न्याय-वैशेषिकों के न्याय ग्रन्थों का अनुशीलन करके उनकी समीक्षा की और एक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र तर्कशास्त्र की स्थापना का प्रयास किया। उन्होंने कहीं बौद्ध-न्याय का कोई सिद्धान्त माना तो कहीं न्याय-वैशेषिक का और कहीं अपना निजी सिद्धान्त सुझाया। इस दृष्टि से उन्होंने भारतीय न्यायशास्त्र का विकास किया जिसके परिप्रेक्ष्य में जैन न्याय का अनुशीलन करना विशेष रूप से वांछनीय है।

परन्तु अभी तक जैन-न्याय के जितने अनुशीलन हुए हैं उनमें यह भारतीय अथवा शुद्ध तार्किक दृष्टिकोण नहीं उभरा है। उन पर महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण के ग्रन्थ "ए हिस्टरी आफ इण्डियन लाजिक[1]" (भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास) का बड़ा प्रभाव रहा है। यह ग्रन्थ १९२० ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था और अब यह परवर्ती शोध-निबन्धों के द्वारा कालातीत तथा अप्रामाणिक सिद्ध हो गया है। किन्तु फिर भी इसका प्रभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समकालीन जैन नैयायिकों पर पड़ रहा है। अतः इस ग्रन्थ की भयंकर कमियों को दिखाना जैन न्याय के पुनर्वीक्षण की भूमिका तैयार करना है।

विद्याभूषणजी ने हिन्दू, जैन, बौद्ध तर्कशास्त्रों का इतिहास लिखा है। उनकी मान्यता है कि जैन तर्कशास्त्र तथा बौद्ध तर्कशास्त्र मध्ययुगीन भारतीय तर्कशास्त्र हैं और गौतमीय न्याय परम्परा प्राचीन भारतीय तर्कशास्त्र है तथा गंगेश न्याय परम्परा आधुनिक भारतीय तर्कशास्त्र है। वे कहते हैं—"प्राचीन तर्कशास्त्र प्रमाण, प्रमेय आदि १६ पदार्थों का विवेचन करता है।.....और मध्ययुगीन तर्कशास्त्र केवल एक पदार्थ अर्थात् प्रमाण का विवेचन करता है।"[२] फिर आधुनिक तर्कशास्त्र का आरम्भ उन्होंने गंगेश लिखित "तत्त्व-चिन्तामणि" से माना है और उसे तर्कशास्त्र का युग कहा है जबकि प्राचीन काल को न्यायशास्त्र का युग और मध्ययुगीन काल को प्रमाणशास्त्र का युग कहा है। आधुनिक तर्कशास्त्र में भी प्रमाण का ही विवेचन किया गया है। परन्तु मध्ययुगीन प्रमाणशास्त्र से यह इस बात में भिन्न है कि इसमें शुद्ध परिभाषा पर बहुत अधिक बल है और इस कारण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द—इन चारों प्रमाणों और उनके अंगों के विवेचन में अनेक तार्किक मतों की अवतारणा हुई है।

वास्तव में विद्याभूषण का कार्य न्यायशास्त्र के क्षेत्र में एक युग-प्रवर्तक का कार्य रहा है। उन्होंने सर्वप्रथम प्राचीन हिन्दू, जैन, बौद्ध तथा नवीन हिन्दू तर्कशास्त्रों को एकत्र किया और एक ऐतिहासिक तथा विकासात्मक दृष्टिकोण की भूमिका तैयार की। किन्तु उनका कार्य न्यायशास्त्र की एक वैसे ही डाइरेक्टरी बनाने तक सीमित रह गया जैसे दूरभाषण विभाग द्वारा टेलीफोन डाइरेक्टरी बनायी जाती है। उनके ग्रन्थ में उनके समय तक सम्यक् सात तर्कशास्त्रियों के नाम, देश, काल, ग्रन्थ, सिद्धान्त, जाति और धर्म का पता चल जाता है तथा इसके अतिरिक्त उसमें कुछ और नहीं है। आज के सन्दर्भ में उनका इतिहास या कहिए डाइरेक्टरी निस्सन्देह कालातीत और भ्रामक है। क्योंकि आज अनेक अन्य तत्त्वों का उद्घाटन हो गया है जो पहले अज्ञात थे। उदाहरण के लिए जैन तर्कशास्त्र के सम्बन्ध में उनके इतिहास की निम्नलिखित सूचनाएँ आज गलत सिद्ध हो रही हैं—

(१) वे (अभयदेवसूरि) **वादमहार्णव** नामक तार्किक ग्रन्थ तथा सन्मतितर्कसूत्र की टीका तत्त्वार्थबोध-विधायिनी के लेखक और प्रसिद्ध तर्कशास्त्री थे।[३]

आज अभयदेवसूरि की टीका प्रकाशित है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि वादमहार्णव वास्तव में सन्मति तर्कसूत्र की उनकी टीका तत्त्वार्थ-बोधविधायिनी का ही दूसरा नाम है। उसमें अनेक वादों का वर्णन किया गया है। इसलिए उसका नाम वादमहार्णव है। इस प्रकार वादमहार्णव और तत्त्वार्थबोधविधायनी दो ग्रन्थ नहीं हैं, किन्तु एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं। विद्याभूषण ने उन्हें दो ग्रन्थ समझ लिया था।

(२) बौद्धवादिविजेता मल्लवादी धर्मोत्तर टिप्पणकार मल्लवादी से अभिन्न है, ऐसा मत विद्याभूषणजी ने व्यक्त किया है।[४] किन्तु यह मत गलत है। बौद्धवादिविजेता मल्लवादी द्वादशारनयचक्र के प्रणेता हैं और उनका एक ग्रन्थ सन्मतितर्क पर भाष्य के रूप में भी था जो उपलब्ध नहीं है। किन्तु द्वादशारनयचक्र प्रकाशित है और इसके प्रणेता मल्लवादी ही जैन तर्कशास्त्र में श्रेष्ठ तार्किक के रूप में विख्यात हैं। धर्मोत्तर टिप्पण के रचयिता इन मल्लवादी से भिन्न हैं।[५] आश्चर्य है कि विद्याभूषणजी को द्वादशारनयचक्र तथा मल्लवादी कृत सन्मतितर्कप्रकरण टीका की सूचना तक नहीं है। वास्तव में उनको सन्मतितर्कप्रकरण की भी सूचना नहीं थी और न उन्होंने इस ग्रन्थ को देखा ही था। सिद्धसेन दिवाकर का यह ग्रन्थ जैन तर्कशास्त्र का एक प्रभावक ग्रन्थ माना जाता है। इन सिद्धसेन दिवाकर तथा न्यायावतार के प्रणेता सिद्धसेन दिवाकर में अभिन्नता नहीं है।[६] किन्तु विद्याभूषणजी ने दोनों को अभिन्न कर दिया है।

(३) विद्याभूषणजी ने प्रमाणनयतत्त्वालोक और प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार को एक ही ग्रन्थ मान लिया है। परन्तु वास्तव में प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार प्रमाणनयतत्त्वालोक की टीका है। दोनों ही ग्रन्थ देवसूरि के हैं। उन्होंने अपने मूल ग्रन्थ पर स्वयं टीका लिखी है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार का ही दूसरा नाम स्याद्वादरत्नाकर है।

इस प्रकार जैन तर्कविदों के नाम, ग्रन्थ तथा काल के बारे में विद्याभूषण के इतिहास में काफी त्रुटियाँ हैं जिनको दूर करके ही उनके ग्रन्थ से लाभ उठाया जा सकता है। परन्तु तर्कशास्त्र के इतिहास को मात्र तर्कशास्त्रियों और उनके ग्रन्थों की नामावली नहीं होना चाहिए। उसको तर्कशास्त्र के स्वरूप का उद्घाटन करना चाहिए और जिस प्रक्रिया से तर्कशास्त्र का विकास होता है उसका परिचय देना चाहिए। विद्याभूषण का ग्रन्थ इन दोनों कार्यों को पूरा नहीं करता है। जैन तर्कशास्त्र का ही उदाहरण लेकर हम जान सकते हैं कि इस ग्रन्थ से जैन तर्कशास्त्र के स्वरूप और उसके विकास का ज्ञान नहीं होता है अथवा यदि उससे कुछ ज्ञान होता है तो वह बिल्कुल भ्रामक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन तर्कशास्त्र के स्वरूप के बारे में तो विद्याभूषण अत्यन्त अस्पष्ट तथा भ्रामक कथन करते हैं। वे कहते हैं—

"जैनियों के द्वारा मध्ययुगीन तर्कशास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थ जैन तर्कशास्त्र हैं।"[७] परन्तु जैनियों ने बौद्ध तर्कशास्त्र तथा हिन्दू तर्कशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। क्या ये ग्रन्थ जैन तर्कशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं? स्पष्ट है कि विद्याभूषण ने जैन तर्कशास्त्र की जो परिभाषा दी है उसके अन्दर ये ग्रन्थ भी जैन तर्कशास्त्र के अन्तर्गत हैं। किन्तु सामान्यतः इन्हें जैन तर्कशास्त्र के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता है।

स्पष्ट जानकारी के लिए यहाँ यह निर्देश करना आवश्यक है कि मल्लवादी ने धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु पर टीका लिखने वाले धर्मोत्तर की टीका पर एक टिप्पण लिखा है, कल्याणचन्द ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर एक टीका लिखी है, और हरिभद्र सूरि ने दिग्नाग के शिष्य शंकर स्वामी के न्याय-प्रवेश पर एक टीका लिखी है तथा श्रीचन्द ने उस पर एक टिप्पण लिखा है। इस प्रकार कुछ जैनियों ने बौद्धों के तर्कशास्त्र के ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं। इसी प्रकार कुछ जैनियों ने हिन्दू तर्कशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। उदाहरण के लिए, राजशेखर सूरि ने श्रीधर की न्यायकन्दली पर पंजिका नामक एक टीका लिखी है। यही नहीं, हेमचन्द्र सूरि की प्रमाण मीमांसा से पता चलता है कि वे आचार्य वात्स्यायन के अनुसार न्याय का विषय—क्षेत्र, उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा मानते हैं।[८] फिर डा० दरबारीलाल जैन कोठिया ने दिखलाया है कि दिगम्बर परम्परा के तार्किकों ने अपने तर्क-ग्रन्थों में न्याय और वैशेषिक परम्परा के पंचावयवों पर ही चिन्तन किया है, क्योंकि वे ही सबसे अधिक लोक प्रसिद्ध, चर्चित और सामान्य थे।[९] फिर जिनेश्वर सूरि ने प्रमालक्ष्यकारिका और उस पर स्वोपज्ञवृत्ति लिखकर सिद्ध किया है कि पहले श्वेताम्बर परम्परा में प्रमाणशास्त्र नहीं था और उन्होंने अपना ग्रन्थ लिखकर इस परम्परा में प्रमाणशास्त्र का शुभारम्भ किया है।[१०] इन सब तथ्यों से सिद्ध है कि जैन न्याय प्राचीन हिन्दू तथा मध्ययुगीन बौद्ध न्याय से स्वतन्त्र नहीं है। फिर हिन्दू तथा बौद्ध न्यायों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि जैनाचार्यों ने प्रायः बौद्ध न्याय का खण्डन किया है और हिन्दू न्याय का समर्थन किया है। अतएव यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि सामान्यतः जैन न्याय प्राचीन हिन्दू न्याय के ही अन्तर्गत है और प्राचीन हिन्दू न्याय की भूमिका में ही जैनियों ने कुछ अपने तार्किक सिद्धान्तों को विकसित किया है। परन्तु उनका मौलिक योगदान इतना नहीं है कि हम उनके आधार पर जैन-न्याय की कल्पना प्राचीन हिन्दू-न्याय से स्वतन्त्र या पृथक् करके कर सकें।

एक बात और है। जिस प्रकार गौतम का न्यायसूत्र प्राचीन हिन्दू न्याय का मूल ग्रन्थ है, गंगेश का तत्त्वचिन्तामणि आधुनिक हिन्दू न्याय का मूल ग्रन्थ है और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु तथा प्रमाणवार्तिक बौद्ध न्याय के मूल ग्रन्थ हैं उस प्रकार जैन न्याय का कोई मूल ग्रन्थ नहीं है। कुछ जैनाचार्यों के लिये सन्मतितर्क और कुछ के लिये न्यायावतार मूल ग्रन्थ हैं, तो कुछ के लिये माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख और कुछ के लिये अकलंक के आप्तमीमांसा और न्याय-विनिश्चय। स्वयं अकलंक समन्तभद्र की परम्परा में आते हैं। अतएव समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, वसुनन्दि, अनन्तवीर्य तथा वादिराज एक परम्परा में हैं जिन्हें हम समन्तभद्र-परम्परा कह सकते हैं, क्योंकि इन सभी लोगों ने समन्तभद्र की परम्परा में आने वाले अकलंक के ग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं। इसी प्रकार माणिक्यनन्दि की परम्परा में प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, चारुकीर्ति, अजितसेन तथा शान्तिषेण आते हैं। फिर सन्मतिकार सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा है जिसमें सुमति, मल्लवादी और अभयदेवसूरि आते हैं, तथा न्यायावतारकार सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा है जिसमें सिद्धर्षि, शान्तिसूरि और देवभद्र आते हैं। देवसूरि ने अपनी पृथक् परम्परा बनाने का प्रयास किया है जिसमें रत्नप्रभसूरि, राजशेखर और ज्ञानचन्द्र आते हैं। इन परम्पराओं से हटकर कालिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्र तथा यशोविजय जैसे स्वतन्त्र विचारक हैं। इन सभी परम्पराओं की समालोचना से स्पष्ट हो जाता है कि कई जैनियों ने न्यायशास्त्र में एक मूल ग्रन्थ लिखने का प्रयास किया। किन्तु कोई ऐसा मूल ग्रन्थ स्थिर नहीं हुआ जिसको लेकर सभी जैन तर्कविद् अपने-अपने चिन्तन का विकास करते। अतः स्पष्ट है कि जैनियों ने तर्कशास्त्र की कुछ समस्याओं पर ही अधिक चिन्तन किया है और सम्पूर्ण तर्कशास्त्र के निकाय पर उनका कोई अपना अभिमत नहीं है। सामान्यतः तर्कशास्त्र के क्षेत्र में वे गौतमीय न्याय के ही अनुयायी हैं। अतः विद्याभूषण ने जैन न्याय को गौतमीय न्याय से जो पृथक् किया है वह तर्कतः सही नहीं है और उससे जैन न्याय के स्वरूप को समझा नहीं जा सकता है।

जैन-दर्शन में मुख्यतः सन्मतिकार सिद्धसेन दिवाकर, न्यायावतारकार सिद्धसेन, अकलंक, माणिक्यनन्दि, देवसूरि तथा हेमचन्द्र तर्कशास्त्र के मूल ग्रन्थ लिखने वाले हैं। सन्मतिकार सिद्धसेन दिवाकर को अभयदेवसूरि, अकलंक को विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि को प्रभाचन्द्र, देवसूरि को रत्नप्रभसूरि तथा हेमचन्द्र को मल्लिषेण जैसे सुयोग्य और विद्वान् भाष्यकार मिल गये जिसके कारण इनके ग्रन्थों का आदर जैन-दर्शन में विशेष हो गया। इस प्रकार यद्यपि इन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन को एक मूल न्याय-ग्रन्थ देने का प्रयास किया तथापि वे सफल नहीं हुए क्योंकि प्रथमतः इनके रचित तर्कशास्त्र मूलतः गौतमीय न्याय की परम्परा में थे और द्वितीयतः इन मूलग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी पृथक् परिभाषाएँ देने का प्रयास किया जिसके कारण किसी पद की परिभाषा की एकता सम्पादित न हो सकी। उदाहरण के लिये, प्रमाण की परिभाषा जैन-दर्शन में एक नहीं है। समन्तभद्र 'स्व और पर के अवभासक' को प्रमाण कहते हैं। न्यायावतारकार इसमें 'बाध-विवर्जित' विशेषण जोड़ देते हैं। अकलंक कहते हैं "अनधिगतार्थक अविसंवादी ज्ञान" प्रमाण है। विद्यानन्द 'सम्यक् ज्ञान' को प्रमाण बताते हैं और सम्यक्ज्ञान का अर्थ "स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान" करते हैं। आचार्य माणिक्यनन्दि इसमें 'अपूर्व' जोड़कर कहते हैं कि 'स्व-अपूर्व-अर्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान' प्रमाण है। अन्ततः हेमचन्द्र 'सम्यक् अर्थनिर्णय' को प्रमाण कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक तार्किक पद की परिभाषा जैन आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। परिभाषा में एकरूपता न होने के कारण उनके यहाँ कोई सर्वमान्य प्रमाणशास्त्र न हो सका। परन्तु उन्होंने प्रमाण के नियामक तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन किया है जो गौतमीय न्याय के क्षेत्र में उनका एक विशिष्ट योगदान है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन तर्कविदों ने गौतमीय न्याय की समस्याओं पर अच्छा विचार किया है।

ऊपर के विवेचन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि जैन न्याय मध्ययुगीन भारतीय तर्कशास्त्र नहीं है। वह वास्तव में प्राचीन न्याय है। महावीर स्वामी (५६६-५२७ ई० पू०), प्रथम वृद्ध भद्रबाहु (ई० पू० तृतीय शती), उमास्वाति (प्रथम शती ई०), भद्रबाहु (ई० ३७५), सिद्धसेन दिवाकर (४८० ई०), समन्तभद्र (६०० ई०), अकलंक (७०० ई०), माणिक्यनन्दि (८०० ई०), मल्लवादी (८२७ ई०), हेमचन्द्र (११०० ई०), मल्लिसेन (१२९२ ई०), यशोविजय (१७वीं शती), तथा पं० सुखलाल संघवी (२०वीं शती) आदि जैन विद्वानों ने तर्कशास्त्र का चिन्तन किया है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक जैन तर्कशास्त्र का अनुशीलन हो रहा है। अतः वह मध्ययुगीन तर्कशास्त्र नहीं है। उसे आधुनिक तर्कशास्त्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नव्य न्याय का खण्डन यशोविजयजी ने किया है और प्राचीन न्याय के समर्थन में कई ग्रन्थ लिखे हैं। फिर किसी जैन आचार्य ने नव्य-न्याय के समर्थन में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है।

विद्याभूषण ने जिन जैन ग्रन्थों के आधार पर जैन तर्कशास्त्र का निरूपण किया है, वे हैं सिद्धसेन दिवाकर का 'न्यायावतार', उमास्वाति का 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र', समन्तभद्र की 'आप्तमीमांसा', माणिक्यनन्दि का 'परीक्षामुख' और देवसूरि का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार'। इन चार ग्रन्थों के अतिरिक्त शेष अन्य ग्रन्थों का केवल नामोल्लेख उन्होंने किया है। इन ग्रन्थों के विषयों का निरूपण करने में भी पुनरुक्ति-दोष है और विकासात्मक दृष्टिकोण का अभाव है। जैन तर्कशास्त्र के मनीषी जानते हैं कि जैन न्याय के श्रेष्ठ और प्रामाणिक ग्रन्थों में विद्यानन्द के अष्टसहस्री तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र आते हैं। इन ग्रन्थों की विषय-सामग्री का प्रतिपादन किये बिना जैन न्याय के मौलिक सिद्धान्तों का समझना कठिन है। विद्याभूषण के इतिहास-ग्रन्थ में इन ग्रन्थों की विषय सामग्री का लेशमात्र भी उल्लेख नहीं है। फिर अकलंक और मल्लवादी जैसे तार्किक चूड़ामणियों के विचारों का भी वहाँ उल्लेख तक नहीं है। अतः जैन तर्कशास्त्र के महत्त्वपूर्ण योगदानों की जानकारी विद्याभूषण के ग्रन्थ से नहीं हो सकती है। आचार्य सुखलाल संघवी, दलसुख मालवणिया, कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि के ग्रन्थों से यह जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

वास्तव में विद्याभूषणजी ने जो नहीं किया उसका विवरण बहुत अधिक है और उसके आधार पर उनके ग्रन्थ का मूल्यांकन करना ठीक नहीं कहा जा सकता। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसके आधार पर उसका मूल्यांकन होना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर उनके ग्रन्थ में चिन्तन और सृजन के जो कुछ बीज मिलते हैं उनमें भी उनकी अस्पष्टता तथा भूल की छाप है। स्याद्वाद और नयवाद जैन तर्कशास्त्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं। स्याद्वाद का अनुवाद उन्होंने 'May be assertion' (संभाव्य कथन)[११] किया है जो ठीक नहीं है क्योंकि स्याद्वाद प्रमाणनय है, न कि संभाव्य नय। फिर सप्तभंगी नय का अनुवाद उन्होंने Seven fold paralogism (सप्तविध परमर्थाभास)[१२] किया है जो अत्यन्त गलत है। नयवाद की व्याख्या उन्होंने कई ढंग से करने का प्रयास किया है। उमास्वाति के प्रसंग में वे नय को mood of statement (कथन का भंग या शैली) कहते हैं[१३] तथा सिद्धसेन दिवाकर के प्रसंग में वे उसे method of description या comprehension (वर्णन की शैली या ग्रहण की रीति)[१४] कहते हैं। फिर देवसूरि के प्रसंग में वे इसको केवल ग्रहण शैली कहते हैं।[१५] इन व्याख्याओं से स्पष्ट है कि नय के बारे में उनकी धारणा संपुष्ट नहीं थी। उन्होंने नयवाद और स्याद्वाद तथा नय और प्रमाण के सम्बन्धों की व्याख्या करने का भी प्रयत्न नहीं किया है। वास्तव में यदि वे नय को कथन का भंग मानकर चले होते और इस दृष्टि से नयवाद की सुसंगत व्याख्या की होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो उनका नयवाद-विवेचन अत्यन्त समीचीन होता और उसका महत्त्व जैन तर्कशास्त्र के आगामी विकास में अधिक आंका जाता। किन्तु अपनी इस नूतन दृष्टि को छोड़कर उन्होंने स्वयं एक भ्रामक और अस्पष्ट दृष्टिकोण अपनाया जिससे नयवाद का विवेचन तर्कतः ठीक नहीं हुआ है।

पुनश्च शुद्ध तर्कशास्त्र के विषयों पर भी जैन आचार्यों की जो मौलिक देने हैं उनका भी विवेचन विद्याभूषण नहीं कर पाये। उदाहरण के लिए, त्रिलक्षणक-दर्शन अर्थात् दिग्नाग के भैरूप्यवाद का खण्डन तथा हेतु को सदैव अन्यथानुपपन्नत्व-रूप मानना जैन-तर्कशास्त्रियों का एक मौलिक सिद्धान्त है जिसका विवेचन जैन तर्कशास्त्र में होना आवश्यक है। परन्तु विद्याभूषण के ग्रन्थ में इसका कहीं उल्लेख तक नहीं है।

वास्तव में प्राचीन भारतीय न्यायशास्त्र तत्त्वमीमांसात्मक तर्कशास्त्र (Metaphysical logic) है और इसका मूलाधार एक वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा है। जैनदर्शन वैसे ही वस्तुवादी है जैसे न्यायदर्शन यद्यपि दोनों के वस्तुवाद में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। किन्तु तर्क के दृष्टिकोण से दोनों में तत्त्वमीमांसा और तर्कशास्त्र का एक ही सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को बौद्ध न्याय ने उलटने-पलटने का प्रयास किया और एक ऐसा तर्कशास्त्र दिया जो सिद्धान्ततः तत्त्वमीमांसा से स्वतन्त्र या मुक्त था। हिन्दू और जैन दोनों तर्कशास्त्रियों ने इस स्वतन्त्र तर्कशास्त्र का खण्डन किया। इस प्रकार मध्ययुग में बौद्ध तर्कशास्त्र के खण्डन के रूप में दोनों में पर्याप्त एकता हो गयी।

किन्तु विद्याभूषण के इतिहास में इस खण्डन तथा खण्डन-साम्य का वर्णन तक नहीं है। उन्होंने यह भ्रान्त धारणा मान ली है कि तत्त्वमीमांसा-भेद से तर्कशास्त्र-भेद हो जाता है और प्राचीन हिन्दू तर्कशास्त्र, जैन तर्कशास्त्र तथा बौद्ध तर्कशास्त्र एक-दूसरे से पृथक् हैं। भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास लिखने वाले वे प्रथम व्यक्ति हैं। अतः उनकी दृष्टि में भारतीय तर्कशास्त्र के संप्रत्यय का न आना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि आदि से अन्त तक साम्प्रदायिक बनी रह गई है और वे सम्प्रदाय निरपेक्ष भारतीय तर्कशास्त्र की अखण्डता और प्रगतिशीलता का प्रतिपादन न कर सके।

जैन आचार्य तर्कशास्त्र का प्रयोग अनेकान्तवाद को सिद्ध करने के लिए करते थे। वे तर्कशास्त्र को तर्कशास्त्र के लिए नहीं पढ़ते-पढ़ाते थे। उनके लिए तर्कशास्त्र तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत है। यही दृष्टि प्राचीन गौतमीय न्याय की भी है। अतएव जैन न्याय या जैन तर्कशास्त्र जैसा कोई विषय या शास्त्र नहीं है। वह गौतमीय न्यायशास्त्र का ही जैनियों द्वारा किया गया अनुशीलन है। उनका कोई अपना साम्प्रदायिक तर्कशास्त्र नहीं है, किन्तु यह उनका दोष न होकर गुण है; क्योंकि उन्होंने सम्प्रदाय-निरपेक्ष होकर तर्कशास्त्र को विकसित करने का प्रयास किया।

वास्तव में जैन तर्कशास्त्रियों ने ही सर्वप्रथम सम्प्रदाय-निरपेक्ष भारतीय तर्कशास्त्र को जन्म देने का प्रयास किया। यही कारण है कि कुछ जैनियों ने गौतमीय न्याय की परम्परा के ग्रन्थों पर भाष्य लिखे तो कुछ ने बौद्ध न्याय की परम्परा के ग्रन्थों पर और कुछ ने तर्कशास्त्र के अपने-अपने मूल ग्रन्थ लिखे। सभी जैन आचार्यों के लिए कोई एक तर्क-परम्परा मान्य नहीं रही है। इस प्रकार तर्क-शास्त्र के क्षेत्र में वे साम्प्रदायिकता से मुक्त थे।

वर्तमान युग में "बौद्ध न्याय" शब्दावली का अनुकरण करके कुछ लोग "जैन न्याय" शब्दावली का प्रयोग करने लगे हैं। किन्तु यह सुष्ठु प्रयोग नहीं है क्योंकि जैन न्याय नामक कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है। वह प्राचीन भारतीय तर्कशास्त्र के अन्तर्गत है। अतएव उसको साम्प्रदायिकता का जामा पहनाना तर्कशास्त्र को उसके क्षेत्र से खींचकर विवादों के दल-दल में ले जाना है। आधुनिक युग में तत्त्वमीमांसा-निरपेक्ष जिस तर्कशास्त्र के स्वरूप का उद्घाटन हो गया है उसके अनुसार ही तथाकथित जैन न्याय का विवेचन करना उपयुक्त है।

अतः 'भारतीय न्यायशास्त्र का इतिहास' के लेखक विद्याभूषण ने तर्कशास्त्र की साम्प्रदायिकता का जो बीज बो दिया है उसको नष्ट कर देना है और आगे नहीं बढ़ने देना है। जैन-न्याय, जैनतर्कशास्त्र, जैनप्रमाणशास्त्र आदि पदावलियाँ भ्रामक हैं। जैसे जैन रामायण और बौद्ध रामायण का अर्थ रामायण से भिन्न नहीं है वरन् जैनियों तथा बौद्धों द्वारा लिखा गया रामायण है, वैसे ही न्याय और बौद्ध न्याय तथा जैन न्याय पदावलियाँ भी हैं। इनका कुछ ऐसा अर्थ करना कि जैन न्याय और बौद्ध न्याय उस न्याय से पूर्णतः वैसे ही भिन्न है जैसे जैन तत्त्वमीमांसा और बौद्ध तत्त्वमीमांसा वेदान्त की तत्त्वमीमांसा से भिन्न है, बिलकुल गलत है। निष्कर्ष यह है कि जैन न्याय, जैन तर्कशास्त्र, तथा जैन प्रमाणशास्त्र केवल संवेगात्मक परिभाषाएँ हैं और इनका वास्तविक अर्थ केवल जैन आचार्यों द्वारा किया गया तर्कशास्त्र का विवेचन है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि तर्कशास्त्र के किसी सिद्धान्त पर जैन मत की तत्त्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मीमांसा का इतना प्रभाव पड़ा है कि वह तर्कशास्त्र जैन तर्कशास्त्र हो गया है। जैन तर्कविदों ने जिन तार्किक सिद्धान्तों को विकसित किया है उनको जैनेतर तर्कविद भी विकसित कर सकते थे, विकसित किये हैं, क्योंकि इन सिद्धान्तों में जैनत्व नहीं है। उदाहरण के लिए त्रिलक्षणक दर्शन में और हेतु को एक मात्र अन्यथानुपन्नत्व-रूप मानने में जैनदर्शन का कोई सिद्धान्त निहित नहीं है। वे शुद्ध तार्किक सिद्धान्त हैं जिन्हें जैनेतर भी मानते है, मान सकते हैं।

★

बोलते क्षण

सच्चा ऑटोग्राफ

ब्यावर के कालेज में आप भाषण देकर ज्यों ही बाहर आये त्यों ही अनेक विद्यार्थियों ने आपको घेर लिया जो ऑटोग्राफ लेने के उत्सुक थे। अपनी लेखनी और डायरी आपश्री की ओर बढ़ाते हुए कहा—इसमें हमारे लिए कुछ लिख दीजिए। आपश्री ने मुस्कराते हुए कहा—मैंने जो प्रवचन में बातें कहीं हैं उन्हें ही जीवन में उतारने का प्रयास करो। यही मेरा सच्चा आटोग्राफ है।

बोलते क्षण

---

१ ए हिस्ट्री आव इण्डियन लाजिक, म० म० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, मोतीलाल बनारसीदास १९७१, पृ० १५८।

२ He was an eminent logician and author of Vadamaharnava, a treatise on logic called the Ocean of Discussions, and of a Commentary on the Sanmati-Tarka-Sutra called Tattvartha bodha Vidhyayini, पृष्ठ १९६-१९७।

३ देखिए सन्मति प्रकरण, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद १९६३ में पं० सुखलाल संघवी की प्रस्तावना, पृ० ७८।

४ ए हिस्ट्री आव इण्डियन लाजिक, पृ० १९४-१९५।

५ सन्मति प्रकरण, अनुवादक सुखलाल संघवी, प्रस्तावना पृ० ४९।

६ जैन न्याय, कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६६, पृ० १९ तथा जैनतर्कशास्त्र में अनुमान विचार, दरबारी लाल जैन कोठिया, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, एटा १९६९, परिशिष्ट ४ पृ० २८७-२८८ (दोनों सिद्धसेनों के पृथकत्व, काल-निर्णय तथा ग्रन्थ)

७ विद्याभूषण का इतिहास पृ० १५८।

८ प्रमाण मीमांसा, हेमचन्द्र, डा० सत्कारि मुकर्जी द्वारा संपादित तथा अनूदित (अँग्रेजी में)

९ जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, डा० दरबारी लाल जैन कोठिया, पृ० १८७।

१० न्यायावतारवार्तिकवृत्ति पं० दलसुख मालवणिया, टिप्पणी।

११ ए हिस्ट्री आव इण्डियन लाजिक, पृ० १६७

१२ वही, पृ० १६७

१३ वही, पृ० १७०

१४ वही, पृ० १८१

१५ वही, पृ० २०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विमर्श

□ डा० दरबारीलाल कोठिया
[पूर्व रीडर का० हि० वि० वि० वाराणसी]

□

भारतीय तर्कशास्त्र में अनुमान पर पर्याप्त विमर्श किया गया है और संख्याबद्ध ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है।

जैन दार्शनिकों द्वारा किया गया अनुमान विमर्श भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जैन तार्किकों ने अनुमान में उल्लेखनीय अभिवृद्धि और संशोधन दोनों किये हैं। यहाँ हम उसी पर एक समीक्षात्मक एवं ऐतिहासिक विमर्श कर रहे हैं।

अध्ययन से अवगत होता है कि उपनिषद्काल में अनुमान की आवश्यकता एवं प्रयोजन पर बल दिया जाने लगा था। उपनिषदों में **'आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'**[1] आदि वाक्यों द्वारा आत्मा के श्रवण के साथ मनन पर भी बल दिया गया है, जो उपपत्तियों (युक्तियों) के द्वारा किया जाता था।[2] इससे स्पष्ट है कि उस काल में अनुमान को भी श्रुति की तरह ज्ञान का साधन माना जाता था—उसके बिना दर्शन अपूर्ण रहता था। यह सच है कि अनुमान का 'अनुमान' शब्द से व्यवहार होने की अपेक्षा 'वाकोवाक्यम्', 'आन्वीक्षिकी', 'तर्कविद्या', 'हेतुविद्या' जैसे शब्दों द्वारा अधिक होता था।

प्राचीन जैन वाङ्मय में ज्ञानमीमांसा (ज्ञानमार्गणा) के अन्तर्गत अनुमान का 'हेतुवाद' शब्द से निर्देश किया गया है और उसे श्रुत का एक पर्याय (नामान्तर) बतलाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसका 'अभिनिबोध' नाम से उल्लेख किया है। तात्पर्य यह कि जैनदर्शन में भी अनुमान अभिमत है तथा प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञानों) की तरह उसे भी प्रमाण एवं अर्थनिश्चायक माना गया है। अन्तर केवल उनमें वैशद्य और अवैशद्य का है। प्रत्यक्ष विशद है और अनुमान अविशद (परोक्ष)।

अनुमान के लिये किन घटकों की आवश्यकता है, इसका आरम्भिक प्रतिपादन कणाद ने किया प्रतीत होता है। उन्होंने अनुमान का "अनुमान' शब्द से निर्देश न कर 'लैङ्गिक' शब्द से किया है, जिससे ज्ञात होता है कि अनुमान का मुख्य घटक लिङ्ग है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने मात्र लिङ्गों, लिङ्गरूपों और लिङ्गाभासों का निरूपण किया है। उसके और भी कोई घटक हैं, इसका कणाद ने कोई उल्लेख नहीं किया। उनके भाष्यकार प्रशस्तपाद ने अवश्य प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों को उसका घटक प्रतिपादित किया है।

तर्कशास्त्र का निबद्धरूप में स्पष्ट विकास अक्षपाद के न्यायसूत्र में उपलब्ध होता है। अक्षपाद ने अनुमान को 'अनुमान' शब्द से ही उल्लिखित किया तथा उसकी कारणसामग्री, भेदों, अवयवों और हेत्वाभासों का स्पष्ट विवेचन किया है। साथ ही अनुमान परीक्षा, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे अनुमान-सहायक तत्त्वों का प्रतिपादन करके अनुमान को शास्त्रार्थोपयोगी और एक स्तर तक पहुँचा दिया है। वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन और गङ्गेश ने उसे विशेष परिष्कृत किया तथा व्याप्ति, पक्षधर्मता, परामर्श जैसे तदुपयोगी अभिनव तत्त्वों को विविक्त करके उनका विस्तृत एवं सूक्ष्म निरूपण किया है। वस्तुतः अक्षपाद और उनके अनुवर्ती तार्किकों ने अनुमान को इतना परिष्कृत किया कि उनका दर्शन 'न्याय (तर्क—अनुमान) दर्शन' के नाम से ही विश्रुत हो गया।

असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध तार्किकों ने न्यायदर्शन की समालोचनापूर्वक अपनी विशिष्ट और नयी मान्यताओं के आधार पर अनुमान का सूक्ष्म और प्रचुर चिन्तन प्रस्तुत किया है। इनके चिन्तन का अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि उत्तरकालीन समग्र भारतीय तर्कशास्त्र उससे प्रभावित हुआ और अनुमान की विचारधारा पर्याप्त आगे बढ़ने के साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं जटिल होती गयी। वास्तव में बौद्ध तार्किकों के चिन्तन ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तर्क में आयी कुण्ठा को हटाकर और सभी प्रकार के परिवेशों को दूर कर उन्मुक्त भाव से तत्त्व चिन्तन की क्षमता प्रदान की। फलतः सभी दर्शनों में स्वीकृत अनुमान पर अधिक विचार हुआ और उसे महत्त्व मिला।

ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकाकार, माठर, विज्ञानभिक्षु आदि सांख्यविद्वानों तथा प्रभाकर, कुमारिल, पार्थसारथि प्रभृति मीमांसक चिन्तकों ने भी अपने-अपने ढंग से अनुमान का चिन्तन किया है। हमारा विचार है कि इन चिन्तकों का चिन्तन-विषय प्रकृति-पुरुष और क्रिया-काण्ड होते हुए भी वे अनुमान-चिन्तन से अछूते नहीं रहे। श्रुति के अलावा अनुमान को भी इन्हें स्वीकार करना पड़ा और उसका कम-बढ़ विवेचन किया है।

जैन विचारक तो प्रारम्भ से ही अनुमान को मानते आये हैं। भले ही उसे 'अनुमान' नाम न देकर 'हेतुवाद' या 'अभिनिबोध' संज्ञा से उन्होंने उसका व्यवहार किया हो। तत्त्वज्ञान, स्वतत्त्वसिद्धि, परपक्षदूषणोद्भावन के लिए उसे स्वीकार करके उन्होंने उसका पर्याप्त विवेचन किया है। उनके चिन्तन में जो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है :—

अनुमान का परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव

अनुमान-प्रमाणवादी सभी भारतीय तार्किकों ने अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। पर जैन तार्किकों ने उसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना। प्रमाण के उन्होंने मूलतः दो भेद माने हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।

अनुमान परोक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत है, क्योंकि वह अविशद ज्ञान है और उसके द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। परोक्ष-प्रमाण का क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अर्थापत्ति सम्भव, अभाव और शब्द जैसे अप्रत्यक्ष अर्थ के परिच्छेदक अविशद ज्ञानों का इसी में समावेश है तथा वैशद्य एवं अवैशद्य के आधार पर स्वीकृत प्रत्यक्ष और परोक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाण मान्य नहीं है।

अर्थापत्ति अनुमान से पृथक् नहीं

प्रभाकर और भाट्ट मीमांसक अनुमान से पृथक् अर्थापत्ति नाम का स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि जहाँ अमुक अर्थ अमुक अर्थ के बिना न होता हुआ उसका परिकल्पक होता है वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण माना जाता है। जैसे—"**पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते**" इस वाक्य में उक्त 'पीनत्व' अर्थ' भोजन' के बिना न होता हुआ 'रात्रिभोजन' की कल्पना करता है, क्योंकि दिवाभोजन का निषेध वाक्य में स्वयं घोषित है। इस प्रकार के अर्थ का बोध अनुमान से न होकर अर्थापत्ति से होता है। किन्तु जैन विचारक उसे अनुमान से भिन्न स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि अनुमान अन्यथानुपपन्न (अविनाभावी) हेतु से उत्पन्न होता है और अर्थापत्ति अन्यथानुपपद्यमान अर्थ से। अन्यथानुपपन्न हेतु और अन्यथानुपपद्यमान अर्थ दोनों एक हैं—उनमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् दोनों ही व्याप्ति विशिष्ट होने से अभिन्न हैं। डा० देवराज भी यही बात प्रकट करते हुए कहते हैं कि "एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तु का आक्षेप तभी हो सकता है जब दोनों में व्याप्यव्यापकभाव या व्याप्ति सम्बन्ध हो।[3] देवदत्त मोटा है और दिन में खाता नहीं है। यहाँ अर्थापत्ति द्वारा रात्रि-भोजन की कल्पना की जाती है, पर वास्तव में मोटापन भोजन का अविनाभावी होने तथा दिन में भोजन का निषेध होने से वह देवदत्त के रात्रिभोजन का अनुमापक है। वह अनुमान इस प्रकार है—'**देवदत्तः रात्रौ भुंक्ते, दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वान्यथानुपपत्तेः।**' यहाँ अन्यथानुपपत्ति से अन्तर्व्याप्ति विवक्षित है, बहिर्व्याप्ति या सकलव्याप्ति नहीं, क्योंकि ये दोनों व्याप्तियाँ अव्यभिचरित नहीं हैं। अतः अर्थापत्ति और अनुमान दोनों व्याप्तिपूर्वक होने से एक ही हैं—पृथक्-पृथक् प्रमाण नहीं।

अनुमान का विशिष्ट स्वरूप

न्यायसूत्रकार अक्षपाद की '**तत्पूर्वकमनुमानम्**', प्रशस्तपाद की '**लिङ्गदर्शनात्संजायमानं लैङ्गिकम्**' और उद्योतकर की '**लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्**' परिभाषाओं में केवल कारण का निर्देश है, अनुमान के स्वरूप का नहीं। उद्योतकर की एक अन्य परिभाषा '**लैङ्गिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्**' में भी लिङ्गरूप कारण का उल्लेख है, स्वरूप का नहीं। दिङ्नागशिष्य शङ्करस्वामी की '**अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्**' परिभाषा में यद्यपि कारण और स्वरूप दोनों की अभिव्यक्ति है, पर उसमें कारण के रूप में लिङ्ग को सूचित किया है, लिङ्ग के ज्ञान को नहीं। तथ्य यह है कि अज्ञायमान धूमादि लिङ्ग अग्नि आदि के अनुमापक नहीं हैं। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है, मूर्च्छित है, अगृहीत-व्याप्तिक है उसे भी पर्वत में धूम के सद्भाव मात्र से अग्नि का अनुमान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शंकरस्वामी के उक्त अनुमानलक्षण में '**लिंगात्**' के स्थान पर '**लिङ्गदर्शनात्**' पद होने पर ही वह पूर्ण अनुमान लक्षण हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन तार्किक अकलंकदेव ने जो अनुमान का स्वरूप प्रस्तुत किया है वह उक्त न्यूनताओं से मुक्त है। उनका लक्षण है—

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥

इसमें अनुमान के साक्षात्कारण—लिङ्गज्ञान का भी प्रतिपादन है और उसका स्वरूप भी **'लिङ्गिधीः'** शब्द के द्वारा निर्दिष्ट है। अकलंक ने स्वरूप-निर्देश में केवल **'धीः'** या **'प्रतिपत्ति'** नहीं कहा, किन्तु **'लिङ्गिधीः'** कहा है, जिसका अर्थ है साध्य का ज्ञान, और साध्य का ज्ञान होना ही अनुमान है। न्यायप्रवेशकार शंकरस्वामी ने साध्य का स्थानापन्न 'अर्थ' का अवश्य निर्देश किया है। पर उन्होंने कारण का निर्देश अपूर्ण किया है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अकलंक के इस लक्षण की एक विशेषता और भी है। वह यह कि उन्होंने **'तत्फलं हानादिबुद्धयः'** शब्दों द्वारा अनुमान का फल भी निर्दिष्ट किया है। सम्भवतः इन्हीं सब बातों से उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकों ने अकलंकदेव की इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान परिभाषा को ही अपनाया। इस अनुमान लक्षण से स्पष्ट है कि वही साधन अथवा लिङ्ग-लिङ्गि (साध्य—अनुमेय) का गमक हो सकता है जिसके अविनाभाव का निश्चय है। यदि उसमें अविनाभाव का निश्चय नहीं है तो वह साधन नहीं है, भले ही उसमें तीन या पाँच रूप विद्यमान हों। जैसे 'वज्र लोहलेख्य है, क्योंकि पार्थिव है, काष्ठ की तरह' इत्यादि हेतु तीन रूपों और पाँच रूपों से सम्पन्न होने पर भी अविनाभाव के अभाव से सद्धेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास हैं और इसी से वे अपने साध्यों के अनुमापक नहीं माने जाते। इसी प्रकार 'एक मुहूर्त बाद शकट का उदय होगा, क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है,' 'समुद्र में वृद्धि होनी चाहिए अथवा कुमुदों का विकास होना चाहिए, क्योंकि चन्द्र का उदय है' आदि हेतुओं में पक्ष-धर्मत्व न होने से न त्रिरूपता है और न पंचरूपता। फिर भी अविनाभाव के होने से कृत्तिका का उदय शकटोदय का और चन्द्र का उदय समुद्रवृद्धि एवं कुमुद विकास का गमक है।

हेतु का एकलक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) स्वरूप

हेतु के स्वरूप का प्रतिपादन अक्षपाद से आरम्भ होता है, ऐसा अनुसन्धान से प्रतीत होता है। उनका वह लक्षण साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों दृष्टान्तों पर आधारित है। अतएव नैयायिक चिन्तकों ने उसे द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण और पंचलक्षण प्रतिपादित किया तथा उसकी व्याख्याएँ की हैं। वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य आदि विचारकों ने उसे मात्र त्रिलक्षण बतलाया है। कुछ तार्किकों ने षड्लक्षण और सप्तलक्षण भी उसे कहा है, जैसा कि हमने अन्यत्र विचार किया है।[४] पर जैन लेखकों ने अविनाभाव को ही हेतु का प्रधान और एकलक्षण स्वीकार किया है, तथा त्रैरूप्य, पाँचरूप्य आदि को अव्याप्त और अतिव्याप्त बतलाया है, जैसा कि ऊपर अनुमान के स्वरूप में प्रदर्शित उदाहरणों से स्पष्ट है। इस अविनाभाव को ही अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अन्यथानुपपत्ति या अन्तर्व्याप्ति कहा है। स्मरण रहे कि यह अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व जैन लेखकों की ही उपलब्धि है जिसके उद्भावक आचार्य समन्तभद्र हैं, यह हमने विस्तार के साथ अन्यत्र विवेचन किया है।

अनुमान का अङ्ग : एकमात्र व्याप्ति

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध सभी ने पक्षधर्मता और व्याप्ति को अनुमान का अंग माना है। परन्तु जैन तार्किकों ने केवल व्याप्ति को उसका अंग बतलाया है। उनका मत है कि अनुमान में पक्षधर्मता अनावश्यक है। **'उपरि वृष्टिरभूत् अधोपूरान्यथानुपपत्तेः'** आदि अनुमानों में हेतु पक्षधर्म नहीं है, फिर भी व्याप्ति के बल से वह वह गमक है। **"स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्"** इत्यादि असद् अनुमानों में हेतु पक्षधर्म हैं किन्तु अविनाभाव न होने से वे अनुमापक नहीं हैं। अतः जैन चिन्तक अनुमान का अङ्ग एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव) को ही स्वीकार करते हैं, पक्षधर्मता को नहीं।

पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुओं की परिकल्पना

अकलंकदेव ने कुछ ऐसे हेतुओं की परिकल्पना की है जो उनसे पूर्व नहीं माने गये थे। उनमें मुख्यतया पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये तीन हेतु हैं। इन्हें किसी अन्य तार्किक ने स्वीकार किया हो, यह ज्ञात नहीं। किन्तु अकलंक ने इनकी आवश्यकता एवं अतिरिक्तता का स्पष्ट निर्देश करते हुए स्वरूप प्रतिपादन किया है। अतः यह उनकी देन कही जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपाद्यों की अपेक्षा अनुमान-प्रयोग

अनुमान प्रयोग के सम्बन्ध में जहाँ अन्य भारतीय दर्शनों में व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्यों की विवक्षा किये बिना अवयवों का सामान्य कथन मिलता है वहाँ जैन विचारकों ने उक्त प्रतिपाद्यों की अपेक्षा उनका विशेष प्रतिपादन भी किया है। व्युत्पन्नों के लिए उन्होंने पक्ष और हेतु ये दो अवयव आवश्यक बतलाये हैं। उन्हें दृष्टान्त आवश्यक नहीं है। **'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'** जैसे स्थलों में बौद्धों ने, **'सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्'** जैसे केवलान्वयिहेतुक अनुमानों में नैयायिकों ने भी दृष्टान्त को स्वीकार नहीं किया। अव्युत्पन्नों के लिए उक्त दोनों अवयवों के साथ दृष्टान्त, उपनय और निगमन इन तीन अवयवों की भी जैन चिन्तकों ने यथायोग्य आवश्यकता प्रतिपादित की है। इसे और स्पष्ट यों समझिए—

गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद और सिद्धसेन के प्रतिपादनों से अवगत होता है कि आरम्भ में प्रतिपाद्य-सामान्य की अपेक्षा से पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों से अभिप्रेतार्थ (साध्य) की सिद्धि की जाती थी। पर उत्तरकाल में अकलंक का संकेत पाकर कुमारनन्दि और विद्यानन्द ने प्रतिपाद्यों को व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो वर्गों में विभक्त करके उनकी अपेक्षा से पृथक्-पृथक् अवयवों का कथन किया। उनके बाद माणिक्यनन्दि, देवसूरि आदि परवर्ती जैन-ग्रन्थकारों ने उनका समर्थन किया और स्पष्टतया व्युत्पन्नों के लिए पक्ष और हेतु ये दो तथा अव्युत्पन्नों के बोधार्थ उक्त दो के अतिरिक्त दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये तीन सब मिलाकर पाँच अवयव निरूपित किये। भद्रबाहु ने प्रतिज्ञाशुद्धि आदि दश अवयवों का भी उपदेश दिया, जिसका अनुसरण देवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजय ने किया।

व्याप्ति का ग्राहक एकमात्र तर्क

अन्य भारतीय दर्शनों में भूयोदर्शन, सहचारदर्शन और व्यभिचाराग्रह को व्याप्तिग्राहक माना गया है। न्यायदर्शन में वाचस्पति और सांख्यदर्शन में विज्ञानभिक्षु इन दो तार्किकों ने व्याप्तिग्रह की उपर्युक्त सामग्री में तर्क को भी सम्मिलित कर लिया। उनके बाद उदयन, गंगेश, वर्द्धमान प्रभृति तार्किकों ने भी उसे व्याप्तिग्राहक मान लिया। पर स्मरण रहे, जैन परम्परा में आरम्भ से तर्क को, जिसे चिन्ता, ऊहा आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है, अनुमान की एकमात्र सामग्री के रूप में प्रतिपादित किया है। अकलंक ऐसे जैन तार्किक हैं, जिन्होंने वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु से पूर्व सर्वप्रथम तर्क को व्याप्तिग्राहक समर्थित एवं सम्मुष्ट किया तथा सबलता से उसका प्रामाण्य स्थापित किया। उनके पश्चात् सभी ने उसे व्याप्तिग्राहक स्वीकार कर लिया।

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति

यद्यपि बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति के भेद से व्याप्ति के तीन भेदों, समव्याप्ति और विषम-व्याप्ति के भेद से उसके दो प्रकारों तथा अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति इन भेदों का वर्णन तर्कग्रन्थों में उपलब्ध होता है, किन्तु तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति इन दो व्याप्ति प्रकारों (व्याप्ति प्रयोगों) का कथन केवल जैन तर्कग्रन्थों में पाया जाता है। इन पर ध्यान देने पर जो विशेषता ज्ञात होती है वह यह है कि अनुमान एक ज्ञान है, उसका उपादान कारण ज्ञान ही होना चाहिए। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति ये दोनों ज्ञानात्मक हैं जबकि उपर्युक्त व्याप्तियाँ ज्ञेयात्मक हैं। दूसरी बात यह है कि उक्त व्याप्तियों में मात्र अन्तर्व्याप्ति ही एक ऐसी व्याप्ति है, जो हेतु की गमकता में प्रयोजक है, अन्य व्याप्तियाँ अन्तर्व्याप्ति के बिना अव्याप्त और अतिव्याप्त हैं। अतएव वे साधक नहीं हैं तथा यह अन्तर्व्याप्ति ही तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति है अथवा उनका विषय है। इन दोनों में से किसी एक का ही प्रयोग पर्याप्त है। इनका विशेष विवेचन अन्यत्र द्रष्टव्य है।[५]

साध्याभास

अकलंक ने अनुमानाभासों के विवेचन में पक्षाभास या प्रतिज्ञाभास के स्थान में साध्याभास शब्द का प्रयोग किया है। अकलंक के इस परिवर्तन के कारण पर सूक्ष्म ध्यान देने पर अवगत होता है कि चूँकि साधन का विषय (गम्य) साध्य होता है और साधन का अविनाभाव (व्याप्ति सम्बन्ध) साध्य के ही साथ होता है, पक्ष या प्रतिज्ञा के साथ नहीं, अतः साधनाभास (हेत्वाभास) का विषय साध्याभास होने से उसे ही साधनाभासों की तरह स्वीकार कर विवेचित करना युक्त है। विद्यानन्द ने अकलंक की इस सूक्ष्म दृष्टि को परखा और उनका सयुक्तिक समर्थन किया। यथार्थ में अनुमान के मुख्य प्रयोजक तत्त्व साधन और साध्य होने से तथा साधन का सीधा सम्बन्ध साध्य के साथ ही होने से साधनाभास की भाँति साध्याभास ही विवेचनीय है। अकलंक ने शक्य, अभिप्रेत और असिद्ध को साध्य तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशक्य, अनभिप्रेत और सिद्ध को साध्याभास प्रतिपादित किया है—(**साध्यं शक्यमभिप्रेत प्रसिद्धं ततोऽपरम् । साध्याभास विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ।**)

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास

हेत्वाभासों के विवेचन-सन्दर्भ में सिद्धसेन ने कणाद और न्यायप्रवेशकार की तरह तीन हेत्वाभासों का कथन किया है, अक्षपाद की भाँति उन्होंने पाँच हेत्वाभास स्वीकार नहीं किये। प्रश्न हो सकता है कि जैन तार्किक हेतु का एक (अविनाभाव-अन्यथानुपपन्नत्व) रूप मानते हैं, अतः उसके अभाव में उनका हेत्वाभास एक ही होना चाहिए। वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य हेतु को त्रिरूप तथा नैयायिक पंचरूप स्वीकार करते हैं, अतः उनके अभाव में उनके अनुसार तीन और पाँच हेत्वाभास तो युक्त हैं। पर सिद्धसेन का हेत्वाभास-त्रैविध्य प्रतिपादन कैसे युक्तियुक्त है ? इसका समाधान सिद्धसेन स्वयं करते हुए कहते हैं कि चूँकि अन्यथानुपपन्नत्व का अभाव तीन तरह से होता है—कहीं उसकी प्रतीति न होने, कहीं उसमें सन्देह होने और कहीं उसका विपर्यास होने से; प्रतीति न होने पर असिद्ध, सन्देह होने पर अनैकान्तिक और विपर्यास होने पर विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास होते हैं।

अकलंक कहते हैं कि यथार्थ में हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर, जो अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव में होता है। वास्तव में अनुमान का उत्थापक अविनाभावी हेतु ही है, अतः अविनाभाव (अन्यथानुपपन्नत्व) के अभाव में हेत्वाभास की सृष्टि होती है। यतः हेतु एक अन्यथानुपपन्नरूप ही है अतः उसके अभाव में मूलतः एक ही हेत्वाभास मान्य है और वह है अन्यथाउपपन्नत्व अर्थात् अकिंचित्कर। असिद्धादि उसी का विस्तार है। इस प्रकार अकलंक के द्वारा 'अकिंचित्कर' नाम के नये हेत्वाभास की परिकल्पना उनकी अन्यतम उपलब्धि है।

बालप्रयोगाभास

माणिक्यनन्दि ने आभासों का विचार करते हुए अनुमानाभास सन्दर्भ में एक 'बालप्रयोगाभास' नाम के नये अनुमानाभास की चर्चा प्रस्तुत की है। इस प्रयोगाभास का तात्पर्य यह है कि जिस मन्दप्रज्ञ को समझाने के लिए तीन अवयवों की आवश्यकता है उसके लिए दो ही अवयवों का प्रयोग करना, जिसे चार की आवश्यकता है उसे तीन और जिसे पाँच की जरूरत है उसे चार का ही प्रयोग करना अथवा विपरीत क्रम से अवयवों का कथन करना बालप्रयोगाभास है और इस तरह वे चार (द्वि-अवयव प्रयोगाभास, त्रि-अवयव प्रयोगाभास, चतुरवयवप्रयोगाभास और विपरीतावयवप्रयोगाभास), सम्भव हैं। माणिक्यनन्दि से पूर्व इनका कथन दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः इनके पुरस्कर्ता माणिक्यनन्दि प्रतीत होते हैं।

अनुमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों रूप हैं

जैन वाङ्मय में अनुमान को अभिनिबोधमतिज्ञान और श्रुत दोनों निरूपित किया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसे अभिनिबोध कहा है जो मतिज्ञान के पर्यायों में पठित है। षट्खण्डागमकार भूतबलि-पुष्पदन्त ने उसे 'हेतुवाद' नाम से व्यवहृत किया है और श्रुत के पर्यायनामों में गिनाया है। यद्यपि इन दोनों कथनों में कुछ विरोध-सा प्रतीत होगा। पर विद्यानन्द ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने स्वार्थानुमान को अभिनिबोध कहा है, जो वचनात्मक नहीं है और षट्खण्डागमकार तथा उनके व्याख्याकार वीरसेन ने परार्थानुमान को श्रुतरूप प्रतिपादित किया है, जो वचनात्मक होता है। विद्यानन्द का यह समन्वयात्मक सूक्ष्म चिन्तन जैन तर्कशास्त्र में एक नया विचार है जो विशेष उल्लेख्य है। इस उपलब्धि का सम्बन्ध विशेषतया जैन ज्ञानमीमांसा के साथ है।

इस तरह जैन चिन्तकों की अनुमान विषय में अनेक उपलब्धियाँ हैं। उनका अनुमान-सम्बन्धी चिन्तन भारतीय तर्कशास्त्र के लिए कई नये तत्त्व प्रदान करता है।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१ बृहदारण्य० २।४।५

२ श्रोतव्यो श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ।।

३ पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ७१।

४ जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृ० २५६, वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी १९६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५ जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी

सन्दर्भ ग्रन्थ

१ बृहदारण्यक उपनिषद्
२ षट्खण्डागम—भूतबलि पुष्पदन्त
३ भगवतीसूत्र
४ नियमसार तथा प्रवचनसार—कुन्दकुन्द
५ देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा—समन्तभद्र, वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट, १९६७
६ लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय—अकलंक
७ प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—विद्यानन्द
८ परीक्षामुख—माणिक्यनन्दि
९ प्रमेयकमल मार्तण्ड—प्रभाचन्द्र
१० प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार— देवसूरि
११ प्रमीणमीमांसा—हेमचन्द्र
१२ न्यायावतार—सिद्धसेन
१३ ज्ञानबिन्दु—यशोविजय
१४ न्यायदीपिका—अभिनव धर्मभूषण
१५ तत्त्वार्थसूत्र—गृद्धपिच्छ (उमास्वामि)
१६ जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, डॉ० दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट, १९६९

पुष्कर-वाणी

तुम्बा स्वयं में हलका है तो वह सदा पानी पर तैरता है, गेंद हलकी है इसलिए आनन्द से उछलती है। मिट्टी का लेप लगने से तुम्बा पानी में नीचे पैठता है और मिट्टी कीचड़ आदि से भारी होने पर गेंद भी नहीं उछल पाती।

आत्मा भी स्वयं में हलका, भार-रहित है इसलिए सदा ऊर्ध्वगति वाला और सदा प्रसन्नस्थिति वाला है किन्तु विकार-कषायों के भार से दबकर वह निम्नगति वाला हो जाता है।

× × ×

प्रत्येक मनुष्य जिस प्रकार बाह्य आकृति से भिन्न है, उसी प्रकार अन्तर् प्रकृति से भी। जब सब के बाहरी आकार को एक नहीं बनाया जा सकता, तो भीतरी विचार एक कैसे हो सकते हैं।

पुष्कर-वाणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



The Philosophy Of Mahavira

Dr. SATYA RANJAN,
M.A., D. Phil., Ph D. (Edinburgh) F.R.A S. (London)
Calcutta University.

"Some are born great, some achieve greatness and some have greatness thrust upon them". Seers and saints, philosophers and poets, theologicians and thinkers, playwrits and writers, greatmen and reformers are born in this world only to mould the destiny of men from generation to generation. They leave their riveted thoughts and trenchant ideas only to influence the opinions of the whole humanity with the instructiveness and values of their lives which lay in the means which they had shown to prove themselves what they were. The history of human civilization would not have been like this to-day, had not these great men left their contributions for the betterment of human beings. In fact, "No Great Man", as Carlyle says, "Lives in vain. The history of the world is but the Biography of great men".

Such was the life and activities of Lord *Vardhamāna Mahāvīra,* who came to the arena of intellectual battle-field over 2500 years ago, when the majority of the world were in the infernal gloom and cimmerian darkness of colossal ignorance. He dedicated his life for the cause of mankind consecreted the most extraordinary energies ever confined upon a mortal, beaconed the path of human knowledge and created a new and sublime horizon in the domain of religion and philosophy. He is great and divine, not because he dedicated his life for the right cause of humanity, not because he had a high sense of honour for all sorts of living objects, not because he respected the rights of conscience ; but because he found the eternal truth of peace and happiness for mankind, but because all his utterances, full of wisdom have the trumpet of a prophecy, but because he nobly advocated the equality of man. That is why, it is quite in the fittness of things that even to-day after 2500 years of ever-new expansion of human ideas we feel to remember him, to analyse his ideas and principles, to vivisect his doctrines and resuscitate his thoughts from the pages of forgotten history.

Lord Vardhmāna Mahāvīra, a contemporary to Buddha and a new interpreter of human life, was born in 599 B.C. at the site of the modern village of Basarh about 27 miles north of Patna. His father *Siddhārtha* was a ruling Kshatriya (a warrior class) in the republic of *Baiśali* in Bihar. He was born at the time when Magadha, an area in eastern India, was, perhaps, both politically and spiritually in the heights of its power. Vardhamāna seems to have lived with his parents till they died. At the age of 30, Vardhamāna, with the consent of his brother Nandivardhana, entered the spiritual career. For twelve years he led a very austere life and visited many places in Magadha, a country ajdacent to his birth place. Vardhamana (lit. : 'the prosperous one') attained *Kevalship* (lit. 'one who recognised as omniscient') at the end of the twelfth year. Then he virtually, got the titles *Mahāvīra* (the great victorious), *Jin* ('the conqueror'), *Tīrthankara* ('the one who himself has and lead the path to others to cross the ocean of the world). After attaining this omniscient knowledge, he started preaching and teaching his doctrines for the last 30 years of his life. During this time he organised his order of ascetics and gave it a proper shape. At the age of 72 in 527 B.C. he attained *Nirvāṇa* (Salvation).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

His time *i.e.* to say the sixth century B C. is extraordinarily important in the intellectual history of mankind. In India, we have *Mahāvīra* and *Buddha*, in Persia *Zoroaster*, in China *Confucius* and *Laotse* and in Greece *Pythogoras*—all were promulgating their new philosophies in their respective countries, and as a result great human religions emerged out of their doctrines. All these great men revolutionised some of the then existing fundamental ideas of human beings. *Mahāvīra's* contributions towards the religious development of mankind is a great landmark and unparalled in many ways in the annals of human history. He was the prince of men, and he could be a king attaining graces as justice, vivicity, temperance, stableness, bounty, perseverance, mercy, loveliness, devotion, patience, courage and fortitude", yet he renounced everything in his life for the sake of searching the truth in order to get rid of the miseries and sufferances of this mundane existence.

Mahavīra became a divine a saint not by performing miracles, but he worked miracles and thereby attained a sainthood. He emphasized man's being fearless, being valiant to perform miracles. His life tell us his victory over fear which determines his divine quality. In one word—

"His life was gentle ; and the elements
So mixed in him that the nature might stand up
And say to all the world, 'this was the man'."

Mahāvīra was an outstanding exponent of social equality and justice. He stood both for the rich and the poor, the strong and the weak, and for ruler and the ruled. He did not allow anybody to be exploited and oppressed, but through his principles of non-violence he maintained peace and tranquillity in the society with his splendid and imperishable excellence of sincerity and strength.

One of the greatest contributions for which *Mahāvīra* remains great is his idea of preaching the religious sermons in a spoken language, a practice which was never followed by anybody before him. Before him, in India, Sanskrit, the literary language of India, was probably used for all sorts of communications, be it a general conversation, or an ecclecelestial one. *Mahāvīra* broke through the tradition and realised the value of the spoken language as a vehicle of religious discources. The language in which he preached his religious doctrines is *Ardha-māgadhī*, one of the dialects of *Prākrit* languages, a name given to one of the middle Indian languages whose uninterrupted literary documents had come down to us from the time of *Mahāvīra* to the 13th century A.D. Later on, his doctrines were codified by his disciples and followers in *Ardha-māgadhī* language, (the language in which *Mahāvīra* gave his sermons) and this is what is known as Jaina Canonical Literature to-day. *Mahāvīra* won the admiration of the common people for speaking in their language.

From the above we must not get this idea that *Mahāvīra* has asked the people to renounce this world. It will be a great mistake if we think so. In all his teachings he wants to emphasize that we must not be goaded or swayed by the passions and impulses of this mundane existence. But, to all intents and purposes, we must control them to allow us to grow stronger mentally, so that our life can become serene, pure and holy. This does not mean that we should not enjoy life to its fullest extent, but that enjoyment should not be of a beastly type, it should be of a divine nature. It must not transgress the purity and serenity of life and of *Dharma* (Religion).

It seems somewhat paradoxical to think of any religion in this advanced age of science and technology. It may seem outlandish too to think of a religion at the present day, which speaks of non-violence, when the spectacular contributions of science erode the foundations on which our beliefs and values of life have rested for centuries. But inspite of all these achievements one thing is still true : Are men really happy ? Has science been able to bring mental peace and tranquillity ? Is it not true that one violence has brought back another violence ? Has

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

one war stopped another war ? Material world does not and cannot bring happiness. It did not happen in the past and it will not happen in future. People have realised now that spiritual and ethical teachings and practices may restore happiness in our life. And in this respect *Mahāvīra's* doctrines have profound significance in the present society as it was in the past. To be precise, if Jaina Philosophy is properly understood, one is inclined to believe that it will contribute much to the development of human personality and will make life worth living. A proper understanding of *Mahāvīra's* teachings will lessen the misery and dishonesty, corruption and fear, malice and hatred under whose pressure the present world is so helplessly growning.

It should be noted here that the basic idea of non-violence is not to control the outward events of one's life, but to control the inward temper in which he faces these events. So the practice of non-violence will teach us not how to control events in the world around us, but how to preserve a purely inward integrity and balance of mind ; in other words, how to conquer a world from a world both hostile and intractable.

Mahāvīra's intellectual empire as reflected through his principies of non-violence is imperishable, and the heart of a great number of people, burst up into boundless admiration, has been greatly moulded from deep thousands of years over the whole terrain of Indian life. A section of people still believes that *Mahāvīra's* doctrines should be preached and practised in this world of to-day—a world which is full of toil and turmoil, a world which is full of violence and conflicts, a world where the values of human lives are jeoparadised at the altar of human power, a world where beastly propensities of human beings are increasing rapidly, where the human finer qualities are sacrificed for the cause of material expansion and prosperity, and where lives of all sorts are butchered as food for gun-powders. It is also believed that if *Mahāvīra's* basic tenets are imparted to the present generation as a part of their education, a new world may usher up in course of time, where there will be no violence, but a permanent bliss will pervade all over the world. To conclude, his teachings will deepen our ideas and thoughts, broaden our vision, highten our mental horizon, strengthen our mind with a new vigour and enlighten our future generation for the betterment of life[1].

[1] This is a summary of the lecture delivered by me at Y.M.C.A. Mahatma Gandhi Hall, London, on 26th April, 1975.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन की निक्षेप-पद्धति



✡ उपाध्याय श्री मधुकर मुनि

सांसारिक संरचना के मौलिक आधार दो हैं—अजीव और जीव। इनमें से अजीव ज्ञेय है। वह ज्ञाता के ज्ञान के द्वारा जाना, देखा जाता है और प्रयोग—व्यवहार में आता है। यह सामर्थ्य उसमें नहीं है कि कभी भी जानने देखने आदि की योग्यता, क्षमता प्राप्त कर सके। जबकि जीव ज्ञाता है, विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता, दृष्टा और उनको अपने व्यवहार में उपयोग करने का अधिकारी है।

अवस्था की दृष्टि से जीव के भी दो भेद हैं, संसारी और मुक्त। मुक्त जीव तो त्रिकालवर्ती पदार्थों के स्वतन्त्र-ज्ञाता-दृष्टा हैं। लेकिन संसारी जीवों को तो अपने प्रत्येक व्यवहार में पदार्थों का आश्रय लेना पड़ता है। वे बिना उनके अपना व्यवहार नहीं चला सकते हैं। पदार्थ के बिना लेन-देन नहीं होता है, जानना देखना नहीं होता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि समूचा व्यवहार पदार्थ-आश्रित है। लेकिन पदार्थ अनेक हैं। उनका एक साथ व्यवहार नहीं होता है। वे अपनी-अपनी पर्यायों से पृथक्-पृथक् हैं अतः उनकी पहिचान भी अलग-अलग होनी चाहिए।

संसारी जीवों में मानव श्रेष्ठतम है। उसे अनुभूति और अभिव्यक्ति करने की विशेष क्षमता प्राप्त है। पशु अनुभूति तो करते हैं, लेकिन भाषा की स्पष्टता न होने से वे उसे यथार्थरूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाते हैं। जबकि मानव अपनी अनुभूति—विचारों को भाषा के माध्यम से सम्यक् प्रकारेण व्यक्त कर सकता है। विश्व का कोई भी व्यवहार बिना भाषा के नहीं चल सकता। पारस्परिक व्यवहार को अच्छी तरह से चलाने के लिये भाषा का अवलम्बन एवं शब्द प्रयोग का माध्यम अनिवार्य है। विश्व में हजारों भाषायें हैं और उन-उनके अपने लाखों शब्द हैं। अतः भाषा के ज्ञान के लिये शब्दज्ञान और शब्दज्ञान के लिये भाषा का परिज्ञान होना जरूरी है। किसी भी भाषा का सही बोध तभी हो सकता है जब हम उनके शब्दों का समुचित प्रयोग करना सीखें कि यह शब्द किस आशय को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त हुआ है।

शब्दप्रयोग पदार्थ के लिये किया जाता है। स्वरूप की दृष्टि से पदार्थ और शब्द में कोई तादात्म्य नहीं है। दोनों अपनी-अपनी स्थिति में स्वतन्त्र हैं। लेकिन किस शब्द से कौन-सा पदार्थ समझना, इस समस्या को सुलझाने के लिये संकेत पद्धति का विकास हुआ, पदार्थों का नामकरण हुआ। कहने के लिये पदार्थ में शब्द की और शब्द में पदार्थ की स्थापना हुई। जिससे शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष बन गये। समस्याओं के समाधानार्थ दोनों परस्पर कड़ी से कड़ी जैसे एक-दूसरे से जुड़कर शृंखलाबद्ध हो गये। दोनों का आपस में वाच्य-वाचक सम्बन्ध बन गया कि अमुक शब्द इस पदार्थ का वाचक और यह पदार्थ इस शब्द का वाच्य है।

शब्द और अर्थ का यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध भिन्नाभिन्न है। भिन्न इसलिये है कि अग्नि पदार्थ और अग्नि शब्द एक नहीं है। क्योंकि अग्नि शब्द का उच्चारण होने पर जीभ में दाह नहीं होता। अभिन्न इसलिये है कि अग्नि शब्द से अग्नि पदार्थ का ही बोध होता है, अन्य पदार्थ का नहीं। भेद स्वभाव-कृत है और अभेद संकेत-जन्य। लेकिन संकेत शब्द और पदार्थ को एकसूत्र में जोड़ देता है। अतः वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द का नियत अर्थ क्या है? किस पदार्थ के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है? इसको ठीक रूप में समझने का कार्य निक्षेप पद्धति है।

निक्षेप की परिभाषा :

'निक्षेप' यह जैनदर्शन का एक लाक्षणिक शब्द है। पदार्थबोध के कारणों में से निक्षेप भी एक कारण है। अतः जैनदार्शनिकों ने विविध प्रकार से निक्षेप की लक्षणात्मक व्याख्यायें की हैं। जैसे कि 'युक्ति मार्ग से प्रयोजन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वशात् जो वस्तु को नाम आदि चार भेदों में क्षेपण कर स्थापित करे उसे निक्षेप कहते हैं।[1] अथवा वस्तु का नाम आदिक में क्षेप करने या धरोहर रखने को भी निक्षेप कहते हैं।[2] अथवा संयम, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकाल कर जो निश्चय में क्षेपण करता है, उसे भी निक्षेप कहते हैं।[3] अर्थात् जो अनिर्णीत वस्तु का नामादिक द्वारा निर्णय कराये, वह निक्षेप है। अथवा अप्रकृत का निराकरण करके प्रकृत का निरूपण करना निक्षेप कहलाता है। अथवा शब्द का अर्थ में और अर्थ का शब्द में आरोप करना यानी जो शब्द और अर्थ को किसी एक निश्चय या निर्णय में स्थापित करता है, उसे निक्षेप कहते हैं।[4]

उक्त सभी लक्षणों का सारांश यह है कि जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान में क्षेपण किया जाये या उपचार से वस्तु में जिन प्रकारों से आक्षेप किया जाये, उसे निक्षेप कहते हैं। क्षेपण क्रिया के दो रूप हैं—प्रस्तुत अर्थ का बोध देने वाली शब्द रचना या अर्थ का शब्द में आरोप करना। यह कार्य वक्ता के अभिप्राय विशेष पर आधारित है।

निक्षेप का पर्यायवाची शब्द 'न्यास'[5] है। जिसका प्रयोग तत्त्वार्थसूत्र में हुआ है और तत्त्वार्थ राजवार्तिक में **'न्यासो निक्षेपः'**[6] इन शब्दों द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया गया है। न्यास (निक्षेप) का लक्षण इस प्रकार है—

उपायो न्यास उच्यते।[7] नामादिक के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं।

निक्षेप का आधार

निक्षेप का आधार पदार्थ है। चाहे फिर वह पदार्थ प्रधान, अप्रधान, कल्पित या अकल्पित कैसा भी क्यों न हो। भाव अकल्पित दृष्टि है। अतः वह प्रधान होता है, जबकि शेष तीन निक्षेप कल्पित होने से अप्रधान हैं। क्योंकि नाम में वस्तु की पहिचान होती है। स्थापना में आकार की भावना होती है, गुण की वृत्ति नहीं होती है। द्रव्य में मूल वस्तु नहीं, किन्तु इसकी पूर्व या उत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य कोई वस्तु होती है। इसमें भी मौलिकता नहीं है अतः ये तीनों अमौलिक हैं, मौलिक नहीं।

निक्षेप निर्देश का कारण और प्रयोजन :

जगत में मौलिक अस्तित्व यद्यपि द्रव्य का है और परमार्थ अर्थ संज्ञा भी इसी गुण-पर्याय वाले द्रव्य को दी जाती है लेकिन व्यवहार केवल परमार्थ मात्र से नहीं चल सकता। अतः व्यवहार के लिये पदार्थों का शब्द, ज्ञान और अर्थ इन तीन प्रकारों से निक्षेप किया जाता है। शब्दात्मक अर्थ का आधार है पदार्थ का नामकरण मात्र और तदाकार सद्भावरूप या अतदाकार-असद्भाव रूप में पदार्थ की स्थापना करना। ज्ञानात्मक अर्थ, स्थापना-निक्षेप में और शब्दात्मक अर्थ नामनिक्षेप में अन्तर्भूत होता है। लेकिन परमार्थ अर्थ द्रव्य और भाव हैं। जो पदार्थ की त्रैकालिक पर्याय में होने वाले व्यवहार के आधार बनते हैं तथा शाब्दिक व्यवहार शब्द से। इस प्रकार समस्त व्यवहार कहीं शब्द, कहीं अर्थ और कहीं स्थापना अर्थात् ज्ञान से चलते हैं। इसीलिये निक्षेप पदार्थ और शब्द प्रयोग की संगति का सूत्राधार है। इसे समझे बिना भाषा के वास्तविक अर्थ को समझा नहीं जा सकता। जिससे उस स्थिति में अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त प्रतीत होता है। किस शब्द का क्या अर्थ है, यह निक्षेपविधि द्वारा विस्तार से बतलाया जाता है।

दूसरी बात यह है कि श्रोता तीन प्रकार के होते हैं—अव्युत्पन्न श्रोता, सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थ को जानने वाला श्रोता और एक देश विवक्षित पदार्थ को जानने वाला श्रोता।

उक्त तीनों प्रकार के श्रोताओं में से अव्युत्पन्न श्रोता यदि पर्याय (विशेष) को जानने का इच्छुक है तो उसे प्रकृत विषय की व्युत्पत्ति के द्वारा अप्रकृत विषय के निराकरण के लिये अथवा वह द्रव्य (सामान्य) को जानने का इच्छुक है तो प्रकृत विषय के प्ररूपण हेतु तथा दूसरे व तीसरे प्रकार के श्रोताओं को यदि पदार्थ के बारे में संदेह या विपर्याय हो तो संदेह दूर करने व निर्णय के लिये निक्षेपों का कथन किया जाता है।

निक्षेप भाषा और भाव, वाच्य और वाचक की संगति है। इसे जाने बिना भाषा के यथार्थ आशय को अधिगत नहीं कर सकते। अर्थ सूचक शब्द के पीछे पदार्थ की स्थिति को स्पष्ट करने वाला जो विशेषण लगता है यही निक्षेप पद्धति की विशेषता है। निक्षेप के द्वारा पदार्थ की स्थिति के अनुरूप शब्द रचना या शब्द प्रयोग की जो शिक्षा मिलती है, वही वाणी—सत्य का महान तत्व है। इसीलिये दूसरे शब्दों में इसे सविशेषण भाषा प्रयोग भी कह सकते हैं। भले ही अधिक अभ्यास दशा में विशेषण का प्रयोग न भी किया जाये। किन्तु वह विशेषण गर्भित अवश्य रहता है। यदि इस अपेक्ष्य दृष्टि की ओर ध्यान न दें तो कदम-कदम पर असत्य भाषण का प्रसंग आ सकता है। जैसे कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कभी राज्य करता था वह आज भी राजा है—यह प्रयोग असत्य माना जायेगा और भ्रामक भी। अतएव निक्षेप दृष्टि की अपेक्षाओं को विस्मृत नहीं किया जा सकता। यह विधि अपने में जितनी गम्भीरता लिये हुए है, उतनी ही व्यावहारिक भी है। जैसे कि—

नाम—एक निर्धन व्यक्ति को लक्ष्मीनारायण कहते हैं।

स्थापना—एक पाषाण प्रतिमा को भी लोग देव कहते हैं।

द्रव्य—जिसमें कभी घी रखा जाता था, उसे आज भी घी का घड़ा कहते हैं, अथवा भविष्य में कभी घी रखा जाएगा या घी रखने का घड़ा बनने वाला है, वह भी घी का घड़ा कहलाता है। एक व्यक्ति वैद्य है, चिकित्सा करने में निपुण है किन्तु वर्तमान में व्यापार करता है, तो भी लोग उसे वैद्य कहते हैं।

भाव—भौतिक ऐश्वर्य का अधिपति संसार में इन्द्र नाम से और आत्म ऐश्वर्य का अधिकारी लोकोत्तर जगत में इन्द्र कहलाता है। इस तरह के सम्पूर्ण व्यवहार का कारण निक्षेप पद्धति है।

प्रमाण, नय व निक्षेप में अन्तर :

पदार्थ के सम्यग् ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं। प्रमाण के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु जानी जाती है और नय वस्तु के एक देश को जानता है। किन्तु इन दोनों द्वारा निर्णीत, ज्ञात पदार्थ निक्षेप का विषय है। निक्षेप नामादिक के द्वारा वस्तु के भेद करने का उपाय है। प्रमाण, नय और निक्षेप में विषय-विषयीभाव और वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। यानी प्रमाण, नय विषयी हैं और निक्षेप उनका विषयवाच्य है। प्रमाण व नयों के द्वारा पदार्थों में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से जो एक प्रकार का आरोप किया जाता है, वह निक्षेप है। शब्द और अर्थ में जो वाच्य-वाचकता का सम्बन्ध है, उसमें पदार्थ को स्थापित करने की क्रिया का नाम निक्षेप है कि अमुक शब्द के द्वारा यही पदार्थ वाच्य है, ग्रहण करने योग्य है आदि की वृत्ति निक्षेप द्वारा ही होती है। प्रमाण, नय ज्ञानात्मक हैं और निक्षेप ज्ञेयात्मक। प्रमाण, नय के द्वारा जो जाना जाता है, उस पदार्थ के अस्तित्व की अभिव्यक्ति निक्षेप द्वारा होती है कि नामादि प्रकारों में से वह किसी-न-किसी रूप में अवश्य है।

निक्षेप का फल :

अप्रस्तुत अर्थ को दूर कर प्रस्तुत अर्थ को प्रकट करना, उसका बोध कराना निक्षेप का फल होता है।[८] इसी-लिए अनुयोगद्वार की टीका में कहा गया है—निक्षेप पूर्वक अर्थ का निरूपण करने से उसमें स्पष्टता आती है, अतः अर्थ की स्पष्टता उसका प्रकट फल है।[९] अप्रस्तुत का निराकरण करके प्रस्तुत का बोध कराने से संशय आदि दोषों का निरा-करण और तत्त्वार्थ का अवधारण होता है—यथार्थ निश्चय होता है।[१०] उपाध्याय श्रीयशोविजयजी ने निक्षेप के आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शब्द की अप्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदक अर्थ रचना को निक्षेप कहते हैं।[११] यानी निक्षेप का फल अप्रतिपत्तिसंशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अज्ञान आदि का व्यवच्छेद-निराकरण होता है। दूसरे शब्दों में कहें कि निक्षेप का आश्रय लेने से संशय का नाश, अज्ञान का क्षय होता है और विपर्यय अनध्यवसाय तो रहता ही नहीं है।

प्रमाण के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु और नय के द्वारा वस्तु-अंश जाना जाता है, तत्त्वार्थ का निश्चय होता है, लेकिन निक्षेप की आवश्यकता इसलिये है कि वह शब्द के नियत अर्थ को समझने-समझाने की एक पद्धति है। शब्द का उच्चा-रण होने पर उसके अप्रकृत (अनभिप्रेत, अनिच्छित, अवांच्छनीय) अर्थ के निराकरण और प्रकृत अर्थ के निरूपण में निक्षेप की उपयोगिता है। प्रमाण और नय के द्वारा यदि अप्रकृत अर्थ को जान भी लिया जाये तो भी वह व्यवहार में उपयोगी नहीं हो सकता है। क्योंकि मुख्य अर्थ और गौण अर्थ का विभाग होने पर भी व्यवहार की सिद्धि होती है। और मुख्य तथा गौण का भेद समझना नाम आदि निक्षेपों के बिना सम्भव नहीं है। इसलिये निक्षेप के बिना तत्त्वार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।[१२]

भट्ट अकलंक ने निक्षेप विधि की उपयोगिता और उसके फल के बारे में विचार करते हुए 'सिद्धि विनिश्चय' ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है—"किसी धर्मी में नय के द्वारा जाने हुए धर्मों की योजना करने को निक्षेप कहते हैं।" निक्षेप के अनन्त भेद हैं, क्योंकि पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है, किन्तु संक्षेप में कहा जाये तो उसके चार भेद हैं। अप्रस्तुत का निराकरण करके प्रस्तुत का निरूपण करना उसका उद्देश्य है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के द्वारा जीव-अजीव आदि तत्त्वों को जानने का कारण निक्षेप है। निक्षेप के द्वारा सिर्फ तत्त्वार्थ का ज्ञान ही नहीं होता, अपितु संशय-विपर्यय आदि भी नष्ट हो जाते हैं। निक्षेपों को तत्त्वार्थ के ज्ञान का हेतु इसलिए कहा जाता है कि वह शब्दों में, यथाशक्ति उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाच्यों में भेद की रचना करता है। इसीलिए ज्ञाता के श्रुत विषयक विकल्पों की उपलब्धि के उपयोग में आने वाले निक्षेप प्रयोजनवान, फलप्रद हैं।[13]

निक्षेप के भेद :

पदार्थ की अनन्त अवस्थाएँ होने से यदि विस्तार में जायें तो कहना होगा कि वस्तु-विन्यास के जितने भी क्रम हैं उतने ही निक्षेप हैं, लेकिन संक्षेप में कम-से-कम चार भेद हैं—

१. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य, ४. भाव।[14]

इन चारों में उन अनन्त निक्षेपों का अन्तर्भाव हो जाता है।[15] अर्थात् संक्षेप में निक्षेप के पूर्वोक्त नाम आदि चार भेद हैं और विस्तार से अनन्त। षट्खण्डागम के वर्गणा निक्षेप प्रकरण में नाम-वर्गणा, स्थापना-वर्गणा द्रव्यवर्गणा, क्षेत्रवर्गणा, कालवर्गणा, भाववर्गणा के भेद से निक्षेप के छह भेद बतलाये हैं।[16] लेकिन ये विशेष विवेचन के विस्तार की अपेक्षा से भेद किये गये हैं। सामान्यतया तो नाम, स्थापना द्रव्य, भाव ये चार भेद ही माने जाते हैं।

पहले यह बताया जा चुका है कि नय और निक्षेप का विषय-विषयी भाव सम्बन्ध है। नय ज्ञानात्मक है और निक्षेप ज्ञेयात्मक। अतः नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। क्योंकि भाव निक्षेप पर्याय (विशेष) रूप है, जिससे उसे पर्यायार्थिक नय का विषय माना जाता है, जबकि शेष तीन द्रव्य (सामान्य) रूप होने से द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं।

नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीन द्रव्यार्थिक नयों में चारों निक्षेप तथा ऋजुसूत्र नय में स्थापना के अतिरिक्त तीन निक्षेप सम्भव हैं। जबकि तीनों शब्द नयों (शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत) में नाम और भाव ये दो ही निक्षेप होते हैं।

यद्यपि भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है, लेकिन कथंचित् वह द्रव्यार्थिक नय का भी विषय माना जा सकता है। यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयों में तो भावनिक्षेप नहीं बन सकता है, क्योंकि भाव निक्षेप में वर्तमान काल को छोड़कर अन्य काल प्राप्त नहीं है, परन्तु जब व्यंजन पर्यायों की अपेक्षा भाव में द्रव्य का सद्भाव स्वीकार कर लिया जाता है तब अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयों में भाव निक्षेप बन जाता है। इसीलिए उपचार से भावनिक्षेप को द्रव्यार्थिक नय का विषय भी कह सकते हैं परन्तु मुख्य रूप से वह भी पर्यायार्थिक नय का विषय है।

इस प्रकार से निक्षेप पद्धति के सम्बन्ध में विचार करने के बाद अब उसके नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, इन चारों भेदों के लक्षणों व उनके उत्तर भेदों को बतलाते हैं।

नाम निक्षेप :

संज्ञा के अनुसार जिसमें गुण नहीं है ऐसी वस्तु में व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गई संज्ञा को नाम-निक्षेप कहते हैं।[17] अर्थात् व्यवहार की सुविधा के लिए वस्तु का जो इच्छानुसार नामकरण किया जाता है, वह नाम निक्षेप है। नाम सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार का हो सकता है। जैसे कि सार्थक नाम इन्द्र है और निरर्थक नाम दित्थ है। नाम मूल अर्थ से सापेक्ष भी व निरपेक्ष भी, दोनों प्रकार का हो सकता है, किन्तु जो नामकरण संकेत मात्र के लिए होता है, जिसमें जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया आदि की अपेक्षा नहीं होती, वह नाम निक्षेप है। जैसे कि 'एक निरक्षर व्यक्ति का नाम विद्यासागर रख दिया। एक निर्धन व्यक्ति का नामकरण लक्ष्मीपति कर दिया। लेकिन विद्यासागर और लक्ष्मीपति का जो अर्थ होना चाहिए वह उनमें नहीं मिलता है। उन दोनों व्यक्तियों में इन दोनों शब्दों का आरोप किया गया है। विद्यासागर का अर्थ है—विद्या का समुद्र और लक्ष्मीपति का अर्थ है धन-सम्पत्ति का स्वामी। विद्या का सागर होने से किसी को विद्यासागर कहा जाये और जो लक्ष्मी ऐश्वर्य आदि का पति है उसे लक्ष्मीपति कहा जाये तो यह नाम निक्षेप नहीं है। किन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका नामकरण करना नामनिक्षेप है। यदि नाम के साथ इसी प्रकार के गुण भी विद्यमान हों तो हम उनको 'भाव विद्यासागर' और 'भाव लक्ष्मीपति' कहेंगे। 'नाम विद्यासागर' और 'नाम लक्ष्मीपति' ऐसी शब्द रचना हमें बताती है कि ये व्यक्ति नाम से विद्यासागर और लक्ष्मीपति हैं। यदि नाम निक्षेप नहीं होता तो हम विद्यासागर, लक्ष्मीपति आदि नाम सुनकर अगाध विद्वत्तासम्पन्न एवं धनधान्य, ऐश्वर्य युक्त व्यक्ति को ही समझ लेने को बाध्य होते, परन्तु ऐसा होता नहीं है। क्योंकि संज्ञामूलक शब्द के पीछे नाम विशेषण लगते ही सही स्थिति सामने आ जाती है कि इन शब्दों का वाच्य जब गुण की विवक्षापूर्वक अर्थानुकूल नहीं होता, तब नाम निक्षेप ही विवक्षित समझना चाहिए।

नाम निक्षेप के बारे में यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति का जो नामकरण किया जाता है, उसी से उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बोधित करते हैं, किन्तु उसके पर्यायवाची अन्य शब्दों से उसका कथन नहीं होता। जैसे किसी व्यक्ति का नाम यदि 'इन्द्र' रखा गया तो उसे सुरेन्द्र, देवेन्द्र आदि पर्यायवाची नामों से सम्बोधित नहीं करेंगे और न वह व्यक्ति भी इन शब्दों को सुनकर अपने को सम्बोधित किया गया समझ सकेगा।

स्थापना निक्षेप :

जो अर्थ तद्रूप नहीं है, उसे तद्रूप मान लेना स्थापना निक्षेप है। अर्थात् यह वही है इस प्रकार अन्य वस्तु में बुद्धि के द्वारा अन्य का आरोपण करना स्थापना निक्षेप है।[१८]

स्थापना दो प्रकार की होती है—तदाकार और अतदाकार। अतः स्थापना निक्षेप के भी दो भेद हैं—तदाकार स्थापना निक्षेप, अतदाकार स्थापना निक्षेप। इन्हें सद्भाव-साकार स्थापना और असद्भाव-अनाकार स्थापना भी कहते हैं।[१९] वास्तविक पर्याय से परिणत वस्तु के समान बनी हुई अन्य वस्तु में उसकी स्थापना करना तदाकार स्थापना है। जैसे कि एक व्यक्ति अपने गुरु के चित्र को गुरु मानता है, देवदत्त के चित्र को देवदत्त मानता है तो यह तदाकार स्थापना है। असली आकार से शून्य वस्तु में 'यह वही है' ऐसी स्थापना कर लेने को अतदाकार स्थापना कहते हैं जैसे कि शतरंज के मोहरों में हाथी, घोड़ा आदि की कल्पना करना अतदाकार स्थापना है।

नाम और स्थापना निक्षेप दोनों यद्यपि वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं, लेकिन दोनों में यह अन्तर है कि स्थापना में नाम अवश्य होगा क्योंकि बिना नामकरण के स्थापना नहीं हो सकती, परन्तु जिसका नाम रखा है, उसकी स्थापना हो भी और न भी हो। नाम और स्थापना दोनों निक्षेपों में संज्ञा देखी जाती है, बिना नाम रखे स्थापना हो ही नहीं सकती है तो भी स्थापना में स्थापित वस्तु के प्रति जो आदर, सम्मान, अनुग्रह आदि की प्रवृत्ति होती है, उस प्रकार की प्रवृत्ति केवल नाम में नहीं होती।

द्रव्य निक्षेप

अतीत, अनागत और अनुपयोग अवस्था, ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होती हैं इसलिए इनको द्रव्य निक्षेप कहते हैं। लोक व्यवहार में वाचनिक प्रयोग विचित्र और विविध प्रकार का होता है। अतः वर्तमान पर्याय की शून्यता के उपरान्त भी जो वर्तमान पर्याय से पहचाना जाता है यही इसमें द्रव्यता का आरोप है, जिससे किसी समय भूतकालीन स्थिति का वर्तमान में प्रयोग किया जाता है तो किसी समय भविष्यकालीन स्थिति का वर्तमान में प्रयोग होता है। जैसे कि भविष्य में राजा बनने वाले बालक को राजा कहना अथवा जो राजा दीक्षित होकर श्रमण अवस्था में विद्यमान है, उसे भी राजा कहना, यह द्रव्य निक्षेप का प्रयोग है। इस प्रकार के वचन प्रयोग हम दैनिक जीवन में देखते हैं। वे प्रयोग असत्य नहीं माने जाते। उनकी सत्यता का नियामक द्रव्य निक्षेप है।

द्रव्य निक्षेप का क्षेत्र अत्यन्त विशाल, विस्तृत है। अतः इसके मूल भेद, उनके अवान्तर भेद और उनके भी उत्तर भेदों की अपेक्षा से अनेक भेद हैं, लेकिन सामान्य रूप में द्रव्य निक्षेप के आगम द्रव्य निक्षेप और नोआगम द्रव्य निक्षेप—यह दो मूल भेद हैं। जो जीवविषयक या मनुष्य जीव विषयक शास्त्र या अन्य किसी शास्त्र का ज्ञाता है, किन्तु वर्तमान में उस उपयोग से रहित है उसे आगम द्रव्य निक्षेप कहते हैं, तथा पूर्वोक्त आगम द्रव्य की आत्मा का उसके शरीर में आरोप करके उस जीव के शरीर को ही जो आगम द्रव्य कह दिया जाता है, यह नोआगम द्रव्य निक्षेप है। अर्थात् आगम द्रव्य निक्षेप में उपयोग रूप आगम ज्ञान नहीं होता है, किन्तु लब्धिरूप (शक्तिरूप) होता है और नोआगम द्रव्य निक्षेप में दोनों प्रकार का आगम ज्ञान-उपयोग और लब्धि रूप—नहीं होता है सिर्फ आगम ज्ञान का कारणभूत शरीर होता है। आगम द्रव्य में जीव द्रव्य का ग्रहण होता है और नोआगम में उसके आधारभूत शरीर का। क्योंकि जीव में आगम संस्कार होना सम्भव है किन्तु शरीर में वह सम्भव नहीं है। यही आगम और नोआगम द्रव्य निक्षेप में अन्तर है।

नोआगम द्रव्य निक्षेप के तीन भेद हैं—१ ज्ञशरीर (ज्ञायक शरीर) २ भव्य शरीर ३ तद् व्यतिरिक्त।

नोआगम द्रव्य निक्षेप के भेद-प्रभेदों का कथन इस प्रकार किया है—मूल में तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी, तद्व्यतिरिक्त। ज्ञायक शरीर के तीन भेद—भूत, वर्तमान, भावी। भूत ज्ञायक शरीर के तीन भेद—च्युत, च्यावित व त्यक्त। त्यक्त ज्ञायक शरीर तीन प्रकार का है—भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी, पादपोपगमन।

आगम द्रव्य निक्षेप के नौ भेद—स्थित, जित, परिचित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम, घोषसम।

जिस शरीर में रहकर आत्मा जानता—देखता, ज्ञान करता था वह 'ज्ञ शरीर' या ज्ञापक शरीर है। जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी विद्वान ज्ञानी पंडित के मृत शरीर को देखकर उसे ज्ञानी कहा तो वह 'ज्ञ शरीर' नोआगम द्रव्य निक्षेप का प्रयोग है।

जिस शरीर में रहकर आत्मा भविष्य में जानने वाली है, वह भव्य शरीर या भावी शरीर है। जैसे किसी बालक के विलक्षण शारीरिक लक्षणों को देखकर उसे ज्ञानी या त्यागी कहना 'भव्य शरीर' नोआगम द्रव्य निक्षेप है।

तद्व्यक्तिरिक्त में शरीर नहीं किन्तु शारीरिक क्रिया को ग्रहण किया जाता है, जबकि प्रथम दो भेदों में शरीर का ग्रहण किया गया है। अतः शारीरिक क्रिया को तद् व्यतिरिक्त कहते हैं। इसमें वस्तु की उपकारक सामग्री में भी वस्तु वाची शब्द का व्यवहार किया जाता है। जैसे कि किसी मुनिराज का धर्मोपदेश के समय होने वाली हस्त आदि की चेष्टायें। नोआगम तद्व्यतिरिक्त को क्रिया की अपेक्षा द्रव्य कहते हैं। यह तीन प्रकार का है—

लौकिक, कुप्रावचनिक, लोकोत्तर।[२०]

१ लौकिक मान्यतानुसार 'श्रीफल' (नारियल) मंगल है।

२ कुप्रावचनिक मान्यतानुसार विनायक मंगल है।

३ लोकोत्तर मान्यतानुसार ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप धर्म मंगल है।

इस प्रकार भाव शून्यता, वर्तमान पर्याय की शून्यता होने पर भी वर्तमान पर्याय से पहिचानने के लिए जो द्रव्यता का आरोप किया जाता है, यही द्रव्य निक्षेप का हार्द है।

भाव निक्षेप

वर्तमान पर्याय से युक्त वस्तु को भाव कहते है[२१] और शब्द के द्वारा उस पर्याय या क्रिया में प्रवृत्त वस्तु का ग्रहण होना भाव निक्षेप है। इस निक्षेप में पूर्वापर पर्याय को छोड़कर वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य का ही ग्रहण किया जाता है।

भाव निक्षेप के भी द्रव्य निक्षेप के समान मूल में दो भेद हैं—१. आगम भाव, २. नोआगम भाव।

जो आत्मा जीव विषयक शास्त्र को जानता है और उसके उपयोग से युक्त है, वह आगम भाव निक्षेप है। अर्थात् अध्यापक, अध्यापक शब्द के अर्थ में उपयुक्त हो, कार्यशील हो तब वह आगम भाव निक्षेप से अध्यापक कहलाता है।

क्रिया-प्रवृत्त ज्ञाता की क्रियाएं नोआगम से भाव निक्षेप हैं। जैसे कि अध्यापक अपने अध्यापन कार्य में लगा हुआ हैं तो उस समय उसके द्वारा होने वाली हस्त आदि की चेष्टाएं—क्रियाएं नोआगम से भाव निक्षेप हैं।

आगम भाव निक्षेप और नोआगम भाव निक्षेप में यह अन्तर है कि जीवादि विषयों के उपयोग से सहित आत्मा तो उस जीवादि आगम भाव रूप कहा जाता है और उससे भिन्न नोआगम भावरूप है जो कि जीव आदि पर्यायों से आविष्ट सहकारी पदार्थ आदि स्वरूप से व्यवस्थित हो रहा है।

नोआगम भाव निक्षेप में 'नो' शब्द देशवाची है। क्योंकि यहाँ अध्यापक की क्रिया रूप अंश नोआगम है। इसके भी तीन रूप है—लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तर।

नोआगम तद् व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप के लौकिक आदि तीन भेद बताये हैं और नोआगम भाव निक्षेप के भी उक्त लौकिक आदि तीन रूप कहे हैं। परन्तु इन दोनों में यह अन्तर है कि द्रव्य निक्षेप मे 'नो' शब्द सर्वथा आगम का निषेध प्रदर्शित करता है जबकि भाव निक्षेप में 'नो' शब्द का एक देश से निषेध का संकेत है।[२२] द्रव्य तद्व्यतिरिक्त का क्षेत्र तो केवल क्रिया है। और भावतद्व्यतिरिक्त का क्षेत्र ज्ञान और क्रिया दोनों हैं। अध्यापक हाथ का संकेत करता है, पुस्तक का पृष्ठ पलटता है आदि, यह क्रियात्मक अंश ज्ञान नहीं है। इसलिए भाव में 'नो' शब्द से देश-निषेधवाची है। भाव निक्षेप का सम्बन्ध केवल वर्तमान पर्याय से ही है—अतः इसके द्रव्य निक्षेप के समान ज्ञायक शरीर आदि भेद नहीं होते हैं।

द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप में यह अन्तर है कि दोनों के संज्ञा लक्षण आदि पृथक्-पृथक् हैं।[२३] दूसरी बात यह है कि द्रव्य तो भाव रूप परिणत होगा क्योंकि उस योग्यता का विकास जरूर होगा परन्तु भाव, द्रव्य हो भी और न भी हो, क्योंकि उस पर्याय में आगे अमुक योग्यता रहे भी और न भी रहे। भाव निक्षेप वर्तमान की विशेष पर्याय रूप ही है जिससे वह निर्बाध रूप से भेद ज्ञान को विषय कर रहा है जबकि अन्वय ज्ञान का विषय द्रव्य निक्षेप है। उसमें भूत-भविष्यत् पर्यायों का संकलन होता है और भाव निक्षेप में केवल वर्तमान पर्याय का ही आकलन। यही द्रव्य और भाव निक्षेप में अन्तर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्व में विद्यमान सभी पदार्थ कम-से-कम नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव से चतुष्पर्यायात्मक होते हैं। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो केवल नाममय हो या केवल स्थापनामय हो, अथवा द्रव्यतारहित हो अथवा भावात्मक हो। अतएव ये चारों एक ही वस्तु के अंश माने जाते हैं। यद्यपि वस्तु विन्यास के जितने क्रम हैं, उतने ही निक्षेप हैं और ये निक्षेप प्रत्येक वस्तु पर घटित किये जा सकते हैं। ऐसा नहीं कि किसी पर घटित हों और किसी पर नहीं। यह बात जुदी है कि इनकी संख्या कहीं अधिक और कहीं न्यून हो सकती है, तो भी नाम आदि चार निक्षेप सर्वत्र घटित होते हैं। क्योंकि किसी वस्तु की संज्ञा नाम निक्षेप है। उसकी आकृति स्थापना निक्षेप, उस वस्तु का मूल द्रव्य या भूत-भविष्यात् पर्याय द्रव्य निक्षेप और उसकी वर्तमान पर्याय भाव निक्षेप है।

निक्षेप विवेचन के कथन का सारांश यह है कि हमारा समस्त व्यवहार पर्यायाश्रित है और पदार्थ की अभिव्यक्ति का साधन भाषा है। अतः भाषा को नियतार्थक और पदार्थ को नियत शाब्दिक बनाने के लिए निक्षेप पद्धति का सहारा लिया जाता है। पदार्थ और शब्द को सापेक्ष बनाने के लिए ही निक्षेप पद्धति का विकास हुआ है। निक्षेप पद्धति का सर्वांगीण विश्लेषण सम्भव हुआ तो यथासमय करने का प्रयास किया जायेगा।

सन्दर्भ-स्थल :

१ जुत्ती सुजुत्तमग्गे जं चउभेयेण होइ खलु ठवणं।
वज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समये ॥—**वृहद् नयचक्र** २६६

२ वस्तु नामादिषु क्षिपतीति निक्षेपः।—**नयचक्र** ४८

३ संशयविपर्यये अनध्यवसाये वा स्थित स्तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।—**धवला** ४।१,३,१।२।६

४ णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेओ।—**धवला पु० १, पृ० १०**

५ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः।—**तत्त्वार्थ सूत्र** १।५

६ तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।५ की व्याख्या

७ धवला १।१,१,१।गा० ११।१७

८ अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान्।—**लघीयस्त्रय स्वो० वृ० ७२**

९ आवश्यकादिशद्वानामर्थो निरूपणीयः स च निक्षेपपूर्वक एव स्पष्टतया निरूपितोभवति।—**अनुयोगद्वार वृत्ति**

१० अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणा णिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥—**धवला टीका (सत्प्ररूपणाः)**

११ प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्यादि व्यवच्छेदकः, यथास्थान विनियोगात् शब्दार्थरचनाविशेषः निक्षेपः।
—**जैन तर्क भाषा, तृतीय परिच्छेद**

१२ लघीयस्त्रय, पृ० ६६

१३ निक्षेपोऽनंतकल्पश्च चतुर्विधः प्रस्तुत-व्याक्रियार्थः।—**सिद्धिविनिश्चय निक्षेपपद्धति**

१४ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः।—**तत्त्वार्थसूत्र** १।५

१५ नत्वनन्ता पदार्थानां निक्षेपो वाच्यः इत्यसत्। नामादिष्वेव तस्यान्तर्भावात्संक्षेपरूपः।
—**श्लोकवार्तिक** २।१।५ श्लो० ७१।२८२

१६ वग्गणणिक्खेवेत्ति छव्विहे वग्गण-णिक्खेवे-णामवग्गणा।
ठवणवग्गणा, दव्ववग्गणा, खेत्तवग्गणा कालवग्गणा, भाववग्गणा ॥ —**खं० १४।५, ६। सूत्र ७१।५१**

१७ संज्ञाकर्म नाम। —**सर्वार्थसिद्धि** १।५।१७।४

१८ सोऽयमित्यभिसम्बन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रे स्थापना। —**राजवार्तिक १।५ सूत्र की व्याख्या**

१९ (क) सद्भावेतरभदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः। —**श्लोकवार्तिक** २।१।५ **श्लोक** ५४।२६३
(ख) सायार इयर ठवणा।—**बृ० नयचक्र** २६३

२० षट्खंडागम आदि दिगम्बर ग्रन्थों में तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य निक्षेप के इस प्रकार भेद-प्रभेद बतलाये हैं—तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य निक्षेप के दो भेद—कर्म, नौकर्म। नो कर्म तद्व्यतिरिक्त के दो भेद—लौकिक लोकोत्तर।

२१ वर्तमान तत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। —**सर्वार्थसिद्धि** १।५

२२ आगम सव्व निसेहे नो सद्दो अहव देस-पडिसेहे।
—'नो' शब्द के दो अर्थ होते हैं—सर्वनिषेध और देशनिषेध।

२३ कथंचित् संज्ञा स्वालक्षण्यादि भेदात् तद् भेद सिद्धेः।—**राजवार्तिक १।५।टीका**

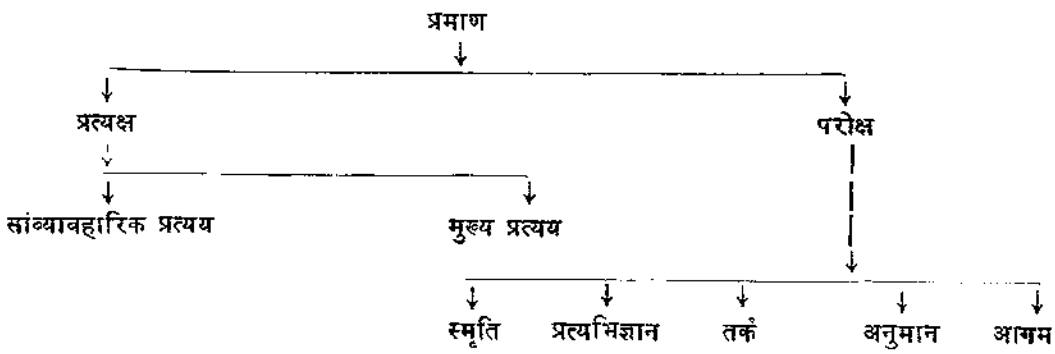
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में आगम (श्रुत) प्रमाण

✡ सुश्री डॉ० हेमलता बोलिया एम. ए. पी-एच. डी

जैनदर्शन में प्रमाण चर्चा सर्वप्रथम उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में देखने को मिलती है। जैन आगमिक परम्परा में ज्ञान के पाँच भेद—(मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान) उपलब्ध हैं।[1] वहाँ इन पाँच ज्ञानों को पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है। यथा—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है—(१) केवल-ज्ञान और (२) नोकेवलज्ञान। नोकेवलज्ञान के पुनः दो भेद किये गये हैं—(१) अवधि और (२) मनःपर्यय। तथा परोक्षज्ञान भी दो प्रकार से वर्णित है—(१) आभिनिबोधिक (मति) और (२) श्रुतज्ञान।[2]

इन्हीं पाँच ज्ञानों को उमास्वाति ने प्रमाण कहा है। अर्थात् इनकी दृष्टि में ज्ञान ही प्रमाण है।[3] इन्होंने मति ज्ञान के ही पर्याय स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध बतलाये हैं।[4] इस प्रकार उमास्वाति ने अपने समय में प्रचलित स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में करके जैन क्षेत्र में प्रमाणपद्धति को आगे बढ़ाया किन्तु प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा भट्ट अकलंकदेव के समय से ही प्रारम्भ होती है। यद्यपि जिनभद्रगणि[5] ने मन और इन्द्रिय की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि से निकालकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित किया। जिससे जैनेतर दार्शनिकों से इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष न मानने का जो विवाद था वह समाप्त हो गया। फिर भी प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा स्थापित करने का श्रेय भट्ट अकलंकदेव को ही प्राप्त है। इन्होंने भी तत्त्वार्थसूत्र के **तत्प्रमाणे** सूत्र को आदर्श मानकर अपने लघीयस्त्रय[6] नामक ग्रन्थ में प्रमाण विभाग इस प्रकार किया है—



यद्यपि अकलंक के ग्रन्थों के प्रमुख टीकाकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्दी को स्मृति आदि को अतीन्द्रियप्रत्यक्ष मानना अभीष्ट नहीं हुआ फिर भी समस्त उत्तरकालीन जैन दार्शनिकों ने अकलंक द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण-पद्धति को एक स्वर से स्वीकार किया है।

आगम या श्रुत प्रमाण

अन्य दर्शनों में मान्य शब्द प्रमाण ही जैनदर्शन में आगम या श्रुत प्रमाण के नाम से जाना जाता है किन्तु जैनाचार्यों में सिद्धर्षि ही ऐसे हैं जिन्होंने सर्वप्रथम आगम प्रमाण के स्थान पर शब्द प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुतज्ञान (प्रमाण) शब्द जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। यह जिस रूप में जैनदर्शन में पाया जाता है, उस रूप में अन्य दर्शनों में नहीं पाया जाता है। फिर भी श्रुतज्ञान एवं शब्दप्रमाण शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों में ही शब्द की प्रधानता है, यह आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा।

जैनाचार्यों के अनुसार आप्तवचन से आविर्भूत होने वाला अर्थ-संवेदन आगमप्रमाण है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि अन्य दार्शनिक यह आशंका करें कि जब अर्थ का संवेदन आगम है तो वह आप्तवचनात्मक ही कैसे हो सकता है ? तो प्रत्युत्तर में इनका कहना है कि उपचार से वचन भी आगम है।[७]

माणिक्यनन्दी आप्त के वचन एवं संकेत आदि के निमित्त से होने वाले ज्ञान को आगम कहते हैं।[८]

उक्त दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल माणिक्यनन्दी ने लक्षण में आदि पद से संकेत आदि ग्रहण विशेषरूप से किया है।

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार वक्ता के इष्ट और इष्ट के अविरोधी वाक्य से तथा तत्त्वग्राहिता से उत्पन्न वाक्य शब्द-प्रमाण हैं।[९]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि आप्त के वचन से उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान 'आगमप्रमाण' है और उपचार से आप्त के वचन को भी आगमप्रमाण कहते हैं। इस बात में तो सभी जैनाचार्य एकमत हैं, किन्तु आप्त के स्वरूप के विषय में उनके परस्पर भिन्न-भिन्न मत हैं।

आप्त का स्वरूप

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने नियमसार नामक ग्रन्थ में आप्त के स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है कि—'जिसके समस्त दोष दूर हुए हैं ऐसा जो सकलगुणमय पुरुष है वह आप्त है।[१०] इसके विपरीत जिसके समस्त दोष दूर नहीं हुए हैं ऐसा जो सकलगुणहीन पुरुष है वह अनाप्त है।

नियमसार की टीका करते हुए पद्मप्रभमलधारि ने भी लिखा है कि 'जो शंका रहित है वह आप्त है। इसके विपरीत जो शंका से युक्त है वह अनाप्त है।[११]

समन्तभद्र का कहना है कि जो दोषों को नष्ट कर चुका है, सर्वज्ञ और आगमेशी अर्थात्—हेयोपादेयरूप अनेकान्त तत्व के विवेकपूर्वक आत्महित में प्रवृत्ति करने वाले अबाधित सिद्धान्तशास्त्र का स्वामी अर्थात् आगम का स्वामी है वह नियम से आप्त होता है, दूसरे प्रकार से आप्तता नहीं हो सकती है।[१२] साथ ही इनका यह भी कहना है कि जिसमें क्षुधा, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और च शब्द द्वारा सूचित चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विवाद, खेद, और स्वेद—ये अठारह दोष नहीं वह आप्त है और उसे निर्दोष कहते हैं।[१३]

समन्तभद्र का यह भी कहना है कि जिसमें निर्दोषिता, सर्वज्ञता और आगमेशिता इसमें से यदि एक गुण भी नहीं है तो वह आप्त भी नहीं है। इनके अनुसार तो आप्त में तीनों गुणों का होना आवश्यक है। इस प्रकार सर्वज्ञ, अर्हन्त और तीर्थंकर आदि ही आप्त हो सकते है। क्योंकि ये तीनों गुण तो उन्हीं में पाये जाते हैं। वैसे भी स्वयं समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमांसा में अर्हन्त के विषय में कहा है कि 'अर्हन्त ही आगम का स्वामी है, जिसकी सर्वज्ञता के कारण उसके वचनों में युक्ति और शास्त्र में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है। वही राग-द्वेषादि दोनों से सर्वथा रहित अर्थात् निर्दोष है और उसके द्वारा ही माने गये तत्व प्रमाणों से बाधित नहीं होते हैं।[१४]

समन्तभद्र के समान अकलंकदेव ने भी अर्हन्त को ही सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं, इनके अतिरिक्त दूसरे न्याय और आगम के विरुद्ध कथन करते हैं ?[१५]

हेमचन्द्राचार्य ने भी अर्हन्त को ही अपने आत्मनिश्चयालंकार में सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार जो सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानता है, रागादि दोषों को जीत चुका हो, जो तीन लोकों में पूजित हो, वस्तुएँ जैसी हैं उन्हें वैसी ही कहता हो, वही परमेश्वर अर्हत् देव है।[१६]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जो सर्वज्ञ होता है वही सभी दोषों से रहित और आगम का स्वामी होता है। क्योंकि निर्दोषिता के बिना सर्वज्ञता सम्भव नहीं और सर्वज्ञता के बिना आगमेशिता नहीं हो सकती है। इसलिए तीर्थंकर आदि ही आप्त, सिद्ध होते हैं, क्योंकि ये तीनों गुण इनमें विद्यमान हैं। तीर्थंकर, अर्हन्त आदि को आप्त मानने के विषय में सभी जैनाचार्य परस्पर सहमत हैं। साथ ही इनका यह भी कहना है कि उक्त तीन गुणों से युक्त जो आप्त हैं, उनका बहुविध नामों से कीर्तन या स्मरण किया जाता है। जिनमें से कुछ नाम तो समन्तभद्र ने अपने रत्नकरण्ड उपासकाध्ययन में इस प्रकार गिनाये हैं। इनका कहना है कि ऊपर वर्णित स्वरूप को लिए हुए जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप्त हैं वह परमेष्ठी अर्थात् परम पद में स्थित, परमज्योति, विराग (रागादिभावकर्म रहित), विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादिमध्यान्त (आदि, मध्य और अन्त से शून्य) सार्व अर्थात् सर्वमय और शास्ता अर्थात् यथार्थ तत्वोपदेशक इन नामों से उपलक्षित होता है।[१७] समन्तभद्र के अनुसार ये आठों नाम आप्त के बोधक हैं।

किन्तु अकलंकदेव को आप्त का इतना ही लक्षण अभीष्ट नहीं है। इन्होंने अपनी अष्टशती में आप्त का व्यापक अर्थ में एक-दूसरा लक्षण भी किया है। जिसके अनुसार जो जहाँ अर्थात् जिस विषय में अविसंवादक है वह वहाँ या जिस विषय में आप्त है, अन्यत्र अनाप्त है। आप्तता के लिए तद्विषयक ज्ञान और अविसंवादकता आवश्यक है।[१८]

वादिदेवसूरि[१९] और हरिभद्र[२०] के अनुसार जो व्यक्ति जिस वस्तु का कथन करता है उसे यथार्थरूप से जानता हो तथा जिस प्रकार उसे जाना है ठीक उसी रूप में उसका कथन करता है तो वह आप्त कहा जाता है जैसे माता-पिता और तीर्थंकर आदि, क्योंकि इनका ही वचन अविसंवादी होता है। जैसे यहाँ धन गड़ा है, मेरू पर्वत है इत्यादि वाक्यों के अर्थ को पिता और तीर्थंकर अच्छी प्रकार से जानते हैं। अतः वे उक्त वाक्यों के आप्त हैं।

रत्नप्रभाचार्य के अनुसार जिससे कहा हुआ अर्थ ग्रहण किया जाता है वह आप्त है या जिसमें राग-द्वेषादि दोषों का क्षय हो चुका है वह आप्त है और इनका यह भी कहना है कि अशादि गण से बने आप्त शब्द का भी यही अर्थ है। रत्नप्रभाचार्य का यही कहना है कि जो पुरुष रागादि दोषों से युक्त है वह आप्त से भिन्न अर्थात् अनाप्त है क्योंकि वह पदार्थों को जानता हुआ भी इन पदार्थों का अन्यथा रूप से कथन करता है, जैसे कि पदार्थ-ज्ञान से रहित व्यक्ति करता है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि कोई अक्षर लेखन के द्वारा, संख्या के निर्देश से, अपने कर पल्लव आदि की चेष्टा विशेष से अथवा शब्द स्मरण करने से परोक्षार्थ विषयक ज्ञान को दूसरे को करा सकता है तो वह भी आप्त कहा जाता है।[२१]

लघुअनन्तवीर्य ने भी अकलंक के समान ही आप्त का व्यापक अर्थ किया है किन्तु इन्होंने अविसंवादी के स्थान पर अवंचक शब्द का प्रयोग किया है। इनके अनुसार जो जहाँ अवंचक है, वह वहाँ आप्त है।[२२] यहाँ अवंचक से अभिप्राय यह है कि जो छल-कपट से रहित है अर्थात् निष्कपटी है और निष्कपटी वही हो सकता है जिसमें रागादि दोष नहीं है। अतः जो रागादि दोषों से रहित है वह अवंचक है और यह अवंचक पद यहाँ उपलक्षण है।

भावसेनत्रैविद्य ने भी आप्त का लक्षण लघुअनन्तवीर्य के समान ही किया है। किन्तु इन्होंने यों यत्राभिज्ञत्व यह विशेषण अधिक जोड़ दिया है। इनके अनुसार जो जिस विषय को जानता है और सत्य अवंचक है, वह वहाँ आप्त है।[२३]

यशोविजय के अनुसार वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में जो जानता है और हितोपदेश-प्रवण है, वह आप्त है।[२४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आप्त दो प्रकार के है—(१) लौकिक और (२) लोकोत्तर।[२५] लौकिक आप्त जनक आदि और लोकोत्तर आप्त तीर्थंकर आदि हैं।[२६]

आगम प्रमाण के भेद

आप्त के दो प्रकार होने से आगमप्रमाण भी दो प्रकार का है—(१) लौकिक और (२) लोकोत्तर। सिद्धर्षि ने लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज्ञ शब्द प्रमाण माना है किन्तु लोकोत्तर और शास्त्रज्ञ में कोई विशेष अन्तर नहीं है। (भेद की दृष्टि से जैनदर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों से साम्य ही है, क्योंकि अन्य भारतीय दर्शनों में भी शब्द प्रमाण के दो ही भेद किये गये हैं।)

(१) लौकिक

अपने विषय में अविसंवादी और अवंचक आप्त के वचनों से जो अर्थबोध होता है वह लौकिक आगम प्रमाण है।

(२) लोकोत्तर

यह लोकोत्तर आगम प्रमाण अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यरूप से दो प्रकार का है। साक्षात् तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी पवित्र वाणी से प्रकट करते हैं और गणधर जिसका सूत्र रूप में ग्रथन करते हैं उसे अंगप्रविष्ट कहते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरौपपातिक-दशा, प्रश्नव्याकरण विपाकसूत्र और दृष्टिवाद आदि के भेद से बारह प्रकार का है तथा जो गणधर परम्परा के आचार्यों के द्वारा शिष्य के हितार्थ जो रचा जाता है, वह अंगबाह्य है। वह दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्पाकल्प,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अंगबाह्य अंगप्रविष्ट के समान ही प्रमाण रूप है, क्योंकि गणधर परम्परा के आचार्यों ने अंगप्रविष्ट ग्रन्थों को आधार बनाकर ही कालदोष से कम आयु, बल और बुद्धि वाले शिष्यों के हितार्थ दशवैकालिक आदि ग्रन्थों की रचना की। इसलिए इन ग्रन्थों की उतनी ही प्रामाणिकता है, जितनी गणधरों और श्रुतकेवलियों के द्वारा रचित सूत्रों की है, क्योंकि ये अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जैसे क्षीरसागर से घड़े में भरा हुआ जल क्षीरसागर के जल से भिन्न नहीं होता है वैसे ही अंगबाह्य अंगप्रविष्ट से भिन्न नहीं है। इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम ग्रन्थों की उपलब्धि के विषय में जैन परम्पराओं में परस्पर मतभेद है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार द्वादशांग में से दृष्टिवाद को छोड़कर अन्य ४५ आगम आज भी प्राप्य है। तथा श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के अनुसार आज वर्तमान समय में ३२ आगम प्रमाणभूत हैं। यद्यपि दोनों में आगमों की संख्या के विषय में परस्पर मतभेद है, किन्तु दोनों ही उनकी उपलब्धि के विषय में तो एक मत है। परन्तु इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा का तो कहना है कि ये द्वादशांग आदि प्राचीन आगम आज वर्तमान समय में अप्राप्य हैं। इन आगमों के आधार से लिखे गये षट्खण्डागम, कषायपाहुड और कहाबन्ध तथा इन पर लिखी गई धवला और जयधवला आदि टीकाओं को आगम की ही भाँति वे प्रमाण भूत मानते हैं।

सिद्धर्षि ने जो लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज्ञ को प्रमाण माना है, उस शास्त्रज्ञ प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार है—जो आप्तोपज्ञ अर्थात् आप्त के द्वारा प्रथमतः ज्ञात होकर उपदिष्ट हुआ है, उल्लंघनीय नहीं है, दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और इष्ट अर्थात् अनुमानादि का अविरोधी है, वस्तु के अर्थात् स्वरूप का प्रतिपादक है, सबके लिए हितकारक है और कुमार्ग का निराकरण करने वाला है, उसे शास्त्र कहते हैं। और इस प्रकार के शास्त्र से उत्पन्न जो ज्ञान है उसे शास्त्र प्रमाण कहते हैं।[२७] इस शास्त्रज्ञ प्रमाण के स्वरूप से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकोत्तर और शास्त्रज्ञ में कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल शब्द के प्रयोग का अन्तर है। जैनदर्शन के अनुसार ये आगम या शास्त्र पौरुषेय हैं और इनका स्वतः प्रामाण्य है।

यह आगम प्रमाण जैन आगमिक परम्परा का श्रुतज्ञान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि श्रुतज्ञान इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम ग्रन्थों तक ही सीमित रह जाता है किन्तु आगम प्रमाण तो इन आगमग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रहता अपितु वह तो व्यवहार में भी अपने विषय में अविसम्वादी या अवंचक आप्त के वचनों से जो अर्थबोध होता है उसको भी आगम की मर्यादा में लेता है। श्रुतज्ञान ही आगम प्रमाण है इसलिए श्रुतज्ञान का स्वरूप भी जानना आवश्यक है। अतः अब जैन आगमिक परम्परा में श्रुतज्ञान का क्या स्वरूप रहा है? इसका निर्वचन किया जायेगा। जिससे श्रुतज्ञान ही आगम प्रमाण है यह जो कहा गया है, स्वतः स्पष्ट हो जायेगा।

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान पर विचार करने से पूर्व श्रुत शब्द को जान लेना आवश्यक है। क्योंकि श्रुत को समझे बिना श्रुतज्ञान को नहीं जान सकते हैं। सामान्यतः श्रुत का अर्थ श्रवणं-श्रुतम् से सुनना है। यह संस्कृत के 'श्रु' धातु से निष्पन्न है। पूज्यपाद ने भी श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनना या सुनना मात्र है वह श्रुत है।[२८]

किन्तु श्रुत शब्द का व्युत्पत्यर्थ सुना हुआ होने पर भी जैनदर्शन में यह श्रुत शब्द ज्ञान विशेष में रूढ़ है। पूज्यपाद ने तो अपनी सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थ का मुख्यता से प्रतिपादक होने पर भी रूढ़ि के कारण ज्ञान विशेष में ही रूढ़ है।[२९] तथा **'मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्'**[३०] इस सूत्र से भी ज्ञान शब्द की अनुवृत्ति चली आने के कारण भावरूप श्रवण द्वारा निर्वचन किया गया श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है। केवल मात्र कानों से सुना गया शब्द ही श्रुत नहीं है।[३१] श्रुत का अर्थ ज्ञान विशेष करने पर जैनदर्शन में जो शब्दमय द्वादशांग श्रुत प्रसिद्ध है उसमें विरोध उपस्थित होता है क्योंकि श्रुत शब्द से ज्ञान को ग्रहण करने पर शब्द छूट जाते हैं। और शब्द को ग्रहण करने पर ज्ञान छूट जाता है, क्योंकि दोनों का एक साथ ग्रहण होना असम्भव है। इस पर जैन दार्शनिकों का कहना है कि उपचार से शब्दात्मक श्रुत भी श्रुत शब्द करके ग्रहण करने योग्य है। इसलिए सूत्रकार ने शब्द के भेद-प्रभेदों को बताया है कि यदि इनको श्रुत शब्द से ज्ञान ही इष्ट होता तो ये शब्द के होने वाले भेद-प्रभेदों को नहीं बताते।[३२] अतः जैनदार्शनिकों को मुख्यतः तो श्रुत से ज्ञान अर्थ ही इष्ट है किन्तु उपचार से श्रुत का शब्दात्मक होना भी उनको ग्राह्य है।

श्रुत के बाद अब हम श्रुतज्ञान पर आते हैं। उमास्वाति के पूर्व, शब्द को सुनकर जो ज्ञान होता था उसे श्रुतज्ञान कहा जाता था और उसमें मुख्य कारण होने से शब्द को भी उपचार से श्रुतज्ञान कहा जाता था।[३३] किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वाति को श्रुतज्ञान का इतना ही लक्षण इष्ट नहीं हुआ। इसलिए इन्होंने अपने तत्त्वार्थसूत्र में श्रुतज्ञान का एक दूसरा लक्षण किया है जिसके अनुसार श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है।[34] उमास्वाति के पश्चात्वर्ती जैन दार्शनिकों में नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक को छोड़कर प्रायः सभी यह मानते हैं कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। किन्तु इनका कहना है कि इतना कह देने से ही श्रुतज्ञान का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता है। इसलिए इन्होंने कुछ विशेषण और जोड़कर श्रुतज्ञान का लक्षण स्पष्ट किया है। जिनमें जिनभद्रगणि ने 'शब्दानुसारी' और 'अपने में प्रतिभासमान अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ,' ये दो विशेषण और जोड़कर श्रुतज्ञान का लक्षण अपने विशेषावश्यकभाष्य में इस प्रकार किया है "इन्द्रिय और मन की सहायता से शब्दानुसारी जो ज्ञान होता है तथा जो अपने में प्रतिभासमान अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[35]

जिनभद्रगणि के इस लक्षण से यद्यपि अकलंक सहमत हैं किन्तु इन्होंने शब्द पर जिनभद्रगणि से अधिक बल दिया है। अकलंक का तो कहना है कि शब्दयोजना से पूर्व जो मति, स्मृति, चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान होते हैं वे मतिज्ञान हैं और शब्दयोजना होने पर वे ही श्रुतज्ञान हैं।[36] अकलंक ने श्रुतज्ञान का यह लक्षण करके अन्य दर्शनों में माने गये उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य और प्रतिभा प्रमाणों का अन्तर्भाव श्रुत नाम में किया है और इनका यह भी कहना है कि शब्दप्रमाण तो श्रुतज्ञान ही है। इनके इस मत का विद्यानन्दी ने भी समर्थन किया है। परन्तु बाद के जैन दार्शनिकों को इनका शब्द पर इतना अधिक बल देना ठीक प्रतीत नहीं हुआ। यद्यपि वे भी इस बात को तो मानते हैं कि श्रुतज्ञान में शब्द की प्रमुखता होती है। इसीलिए अमृतचन्द्रसूरि ने श्रुतज्ञान का लक्षण करते हुए इतना ही कहा कि 'मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिए हुए जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है।"[37]

माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड़कर श्रुतज्ञान का लक्षण इस प्रकार किया है कि 'ज्ञान के आवरण के क्षय या उपशम हो जाने पर मतिज्ञान से उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान श्रुतज्ञान है।[38] इनका अमृतचन्द्रसूरि से भेद यह है कि जहाँ अमृतचन्द्रसूरि ने मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिए हुए ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है वहां माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड़कर मतिज्ञान से उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। इस प्रकार शब्दों के हेर-फेर के कारण दोनों में भेद होने पर भी सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करने पर इन दोनों में कोई मूलतः भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है।

किन्तु नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक ने तो श्रुतज्ञान का लक्षण इन सबसे एकदम भिन्न किया है। ये तो इस बात को ही नहीं मानते हैं कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। इनके इसको न मानने का कारण शायद यह रहा होगा कि श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो दो भेद हैं, उनमें अनक्षरात्मक श्रुत दिगम्बर परम्परा के अनुसार शब्दात्मक नहीं है और ऊपर श्रुतज्ञान की यह परिभाषा दी गयी है कि शब्द-योजना से पूर्व जो मति, स्मृति, चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान हैं वे मतिज्ञान है और शब्दयोजना होने पर वे श्रुतज्ञान हैं। इस परिभाषा को मानने पर मतिज्ञान और अनक्षरात्मकश्रुत में कोई भेद नहीं रह जाता है। इसीलिये इन्होंने श्रुतज्ञान का लक्षण इन सबसे भिन्न किया है। इनके अनुसार 'मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।[39]

किन्तु श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है—इस कथन में कोई असंगति नहीं है, क्योंकि यह इस दृष्टि से कहा गया है कि श्रुतज्ञान होने के लिये शब्द-श्रवण आवश्यक है और शब्द-श्रवण मति के अन्तर्गत है, क्योंकि यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। जब शब्द सुनाई देता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द श्रवण रूप जो व्यापार है वह मतिज्ञान है, और उसके बाद उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रुतज्ञान में मतिज्ञान मुख्य कारण है, क्योंकि मतिज्ञान के होने पर भी जब तक श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो तब तक श्रुतज्ञान नहीं हो सकता है। मतिज्ञान तो इसका बाह्य कारण है।

अतः संक्षेप में श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम होने पर मन और इन्द्रिय की सहायता से अपने में प्रतिभासमान अर्थ को प्रतिपादित करने में समर्थ स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं इस विषय में जैनाचार्यों में परस्पर मत भेद है। सभी ने अपने-अपने मत के अनुसार श्रुतज्ञान के भेदों को गिनाया है। श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यरूप से जो भेद हैं, ये दो भेद सभी जैनाचार्यों को मान्य हैं। इसलिए अब इन दो भेदों के अतिरिक्त जो भेद-प्रभेद जैनाचार्यों ने अपने अपने मतानुसार बताये हैं उन पर विचार किया जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने संयोग हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं और इन सारे भेदों को गिनाना सम्भव नहीं है। इसलिए मुख्यरूप से श्रुतज्ञान के चौदह भेद हैं—

(१) अक्षर, (२) संज्ञी, (३) सम्यक्, (४) सादिक, (५) सपर्यवसित, (६) गमिक, (७) अंगप्रविष्ट, (८) अनक्षर, (९) असंज्ञी, (१०) असम्यक्, (११) अनादिक, (१२) अपर्यवसित (१३) अगमिक और (१४) अंगबाह्य[४०]। नन्दीसूत्र में इन चौदह भेदों का विस्तृत स्वरूप बतलाया गया है।[४१]

अकलंकदेव[४२] ने अपने प्रमाणसंग्रह नामक ग्रन्थ में श्रुतज्ञान के तीन भेद किये हैं—(१) प्रत्यक्षनिमित्तक, (२) अनुमाननिमित्तक, और (३) आगमनिमित्तक। किन्तु जैनतर्कवार्तिककार[४३] अकलंक द्वारा बताये श्रुत के तीन भेदों में से अनुमाननिमित्तक और आगमनिमित्तक ये दो ही भेद मानते हैं।

अमृतचन्द्रसूरि[४४] और नरेन्द्रसेनाचार्य[४५] ने विस्तार की अपेक्षा पर्याय आदि के भेद से श्रुतज्ञान के बीस भेद किये हैं। और नेमिचन्द्रसिद्धान्तिक चक्रवर्ती ने भी अपने गोम्मटसार के जीवकाण्ड में श्रुतज्ञान के बीस भेदों का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) पर्याय, (२) पर्यायसमास, (३) अक्षर, (४) अक्षरसमास, (५) पद, (६) पदसमास, (७) संघात, (८) संघातसमास, (९) प्रतिपत्तिक, (१०) प्रतिपत्तिकसमास, (११) अनुयोग, (१२) अनुयोगसमास, (१३) प्राभृतप्राभृत, (१४) प्राभृत प्राभृत-समास, (१५) प्राभृत, (१६) प्राभृतसमास, (१७) वस्तु, (१८) वस्तुसमास, (१९) पूर्व और (२०) पूर्वसमास।[४६] इनका स्वरूप जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढंग से बतलाया है किन्तु इनके स्वरूप के विषय में परस्पर कोई मौलिक अन्तर नहीं। ये श्रुतज्ञान के बीस भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं को मान्य है, क्योंकि इन बीस भेदों का उल्लेख दोनों परम्पराओं के कर्म-साहित्य में मिलता है।

श्रुतज्ञान पांचों इन्द्रिय और मन से ज्ञात विषय का ही आलम्बन लेकर व्यापार करता है। इसलिये श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से भी दो भेद गोम्मटसार में किये गये हैं।

गोम्मटसार के अनुसार अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान को अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। और इस श्रुतज्ञान का दूसरा नाम लिंगश्रुतज्ञान भी है।

(२) श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं तथा इसको शब्दज श्रुतज्ञान भी कहते हैं। अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान की यही परिभाषा सर्वाधिक प्रचलित है।

अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो श्रुतज्ञान के दो भेद किये गये हैं इनका सबसे प्राचीन उल्लेख अकलंक के तत्त्वार्थवार्तिक में मिलता है। अकलंकदेव का कहना है कि स्मृति, तर्क, अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा जब ज्ञाता स्वयं जानता है उस समय वे अनक्षरश्रुत हैं जब वह इनके द्वारा दूसरों को ज्ञान कराता है तो वे अक्षरश्रुत हैं।

ऊपर जो अक्षर और अनक्षरश्रुत की परिभाषा दी गयी है उसकी अकलंकदेव के उक्त कथन के साथ संगति नहीं बैठती है। क्योंकि इनके अनुसार तो एक ही श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक भी होता है और अक्षरात्मक भी होता है। जब तक वह ज्ञान रूप रहता है तब तक अनक्षरात्मक है और जब वह वचनरूप होकर दूसरे को ज्ञान कराने में कारण होता है तब वही अक्षरात्मक कहा जाता है।

यदि हम दोनों परिभाषाओं की तुलना करें तो दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रचलित परिभाषा के अनुसार तो अक्षर के निमित्त से होने वाला श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है और अकलंकदेव के अनुसार अक्षरोच्चारण में निमित्तज्ञान अक्षरात्मक है। परन्तु विचार करने पर दोनों ही श्रुतज्ञानों को अक्षरात्मक मानना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि वास्तव में ज्ञान अक्षरात्मक नहीं होता है वह तो भाव रूप ही होता है और अक्षर द्रव्यरूप होता है। किन्तु ज्ञान अक्षर के निमित्त से उत्पन्न होता है इसलिये इसको (ज्ञान को) अक्षरात्मक कहते हैं। वैसे अक्षर के निमित्त के बिना जो जो श्रुतज्ञान होता है वह अनक्षरश्रुत है।

श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक रूप से जो दो भेद किये गये हैं वे श्वेताम्बर परम्परा को भी मान्य हैं किन्तु इनके स्वरूप के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में आंशिक मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अक्षर और अनक्षरश्रुत ये दोनों ही शब्दज हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अक्षरात्मक श्रुतज्ञान अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न होता है और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न होता है। किन्तु दिगम्बर परम्परा में शब्दज श्रुतज्ञान को अक्षरात्मक और लिंगज को अनक्षरात्मकश्रुत माना गया है। यद्यपि यह बात तो दिगम्बर परम्परा भी मानती है कि श्रुतज्ञान में शब्द की प्रधानता होती है। और गोम्मटसार के जीवकाण्ड में तो स्पष्टतया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखा है कि—श्रुतज्ञान के शब्दज और लिंगज ये दो भेद हैं किन्तु इनमें शब्दज की ही प्रमुखता है।[१७] परन्तु दोनों ही श्रुत शब्दज होते हैं यह बात दिगम्बर परम्परा को मान्य नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढंग से श्रुतज्ञान के भेद किये हैं। उन सब में श्रुतज्ञान के अक्षर और अनक्षर रूप से जो दो भेद किये गये हैं, अधिक प्राचीन और सर्वाधिक प्रचलित प्रतीत होते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान के इन दो भेदों का उल्लेख किसी न किसी रूप में सभी जैनाचार्यों ने किया है। आवश्यकनिर्युक्ति[१८] और नन्दीसूत्र[१९] में भी जो **अक्खसन्नी सम्मं**····आदि चौदह श्रुत के भेद सर्वप्रथम देखने को मिलते हैं, वे सभी किसी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलते हैं। यहाँ तक कि प्रथम प्रयत्न के फलस्वरूप माना जाने वाला अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्यश्रुत भी दूसरे प्रयत्न के फलस्वरूप मुख्य अक्षर और अनक्षरश्रुत में समा जाता है। यद्यपि अक्षरश्रुत आदि चौदह प्रकार के श्रुत का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति और नन्दीसूत्र के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं देखा जाता है, फिर भी उन चौदह भेदों के आधारभूत अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक-श्रुत की कल्पना तो प्राचीन ही प्रतीत होती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के कर्म-साहित्य में समान रूप से वर्णित श्रुत के बीस प्रकारों में भी अक्षरश्रुत का निर्देश है।

अतः श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं इस विषय में जैनाचार्यों में परस्पर मतभेद होते हुए भी कोई मौलिक भेद नहीं है।

श्रुतज्ञान का प्रामाण्य

जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि दार्शनिकों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने में संवादी होने के कारण भी प्रमाण रूप माना जाता है। उसी प्रकार स्व और अर्थ के जानने में सम्वादी होने के कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाण रूप है। तथा जैन दार्शनिकों का यह भी कहना है कि चार्वाकों और बौद्धों के अपने शास्त्र हैं और उनको पढ़कर उनको जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान से भिन्न ज्ञान नहीं है। उनका यह भी कहना है कि इस शब्दजन्य श्रुतज्ञान के अभाव में गूंगे और वाग्मी में कोई विशेषता नहीं रहेगी क्योंकि मूर्ख को पण्डित बताने में या बालक को उत्तरोत्तर ज्ञानशाली बताने में शब्द ही प्रधान कारण है। जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं कहीं विसम्वाद हो जाने के कारण यदि सभी श्रुतज्ञानों को अप्रमाण ठहराया जायेगा तो सीप में चांदी का ज्ञान होना, एक चन्द्रमा को दो जान लेना आदि प्रत्यक्षों के अप्रमाण हो जाने से सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायेंगे, यह ठीक है कि प्रत्यक्षाभास के समान श्रुताभास भी मान लिया जाय, किन्तु उनका श्रुतज्ञान को एकदम अप्रमाण ठहराना कदापि उचित नहीं है।

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अन्य प्रमाणों के समान श्रुतज्ञान भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। और यदि इसको प्रमाण न माना जायेगा तो लोक व्यवहार चलना भी मुश्किल हो जायगा। क्योंकि व्यवहार में भी एक दूसरे के वचनों पर विश्वास करके ही कार्य किया जाता है।[१]

श्रुतज्ञान का महत्व

श्रुतज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो ज्ञानरूप भी है और शब्दरूप भी है। इसे ज्ञाता स्वयं भी जानता है और दूसरों को भी ज्ञान कराता है। वैसे शब्द प्रमाण तो श्रुतज्ञान ही है, किन्तु अन्य दर्शनों में माने गये उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य, सम्भव और प्रतिभा प्रमाणों का भी शब्द योजना होने पर श्रुतज्ञान में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[२] श्रुतज्ञान के द्वारा ही पूर्वज, तीर्थंकरों, गणधरों और इनके उत्तरोत्तर आचार्यों, शिष्य प्रशिष्यों का ज्ञान प्रवाहित होता है। इसको कोई श्रुत, कोई श्रुति और कोई आगम कहते हैं।

संदर्भ स्थल :

१ (क) पंचविहे णाणे पण्णत्ते तं जहा—आभिणिबोहियणाणे, सुयणाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे केवलणाणे।
—**स्थानांगसूत्र, स्थान ५, उद्देशक ३, सूत्र ४६३**

(ख) अनुयोगद्वार सूत्र १

(ग) नन्दीसूत्र १

(घ) भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक २, सूत्र ३१८

२ दुविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव। पच्चक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—केवलणाणे चेव नोकेवलणाणे चेव। ·····णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—ओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव, परोक्खेणाणे दुविहेपण्णत्ते, तं जहा-आभिणिबोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव। —**स्थानांग स्थान २, उद्देशक १, सूत्र १७**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३ (क) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानिज्ञानम् । —तत्वार्थ सूत्र १. ९.
(ख) आद्ये परोक्षम् ।—वही, १. ११.
(ग) प्रत्यक्षमन्यत् ।—वही, १. १२.

४ मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यर्थान्तरम् ।—वही, १. १३.

५ एंगतेण परोक्खं लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं ।
इंदियमणो भवं जं तं संववहारपच्चक्खं ॥ —विशे. आ. भा. गा. ९५, भा. १ पृ० २४

६ कारिका ३. १०.

७ (क) आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः । उपचारादाप्तवचनं च ।
—प्रमाणनय तत्त्वालोक ४. १-२, पृष्ठ ३५, जैनतर्क भाषा पृष्ठ ९
(ख) आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः, उपचारादाप्तवचनं च ।
—षड्दर्शन समुच्चय (जैनदर्शन) का. ५५. ३२० पृष्ठ ३२७
(ग) आप्तवचनादिजनितपदार्थज्ञानम् आगमः । तद् वचनमपि ज्ञानहेतुत्वादागमः । —प्रमाण प्रमेय १, १२३

८ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।—परीक्षामुख०, ३, ९९

९ दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाभिधायिनः । तत्त्वाग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ।—न्यायावतार कारिका ८

१० वपगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ।—नियमसार गाथा ५, पृ० ११

११ आप्तः शंकारहितः । शंकाहि सकलमोहरागद्वेषादयः ।—वही, टीका

१२ आप्तेनोत्सन्न-दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नाऽन्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥—रत्नकरण्डउपासकाध्ययनकारिका ५, पृ० ३७

१३ क्षुत्पिपासा-जरातंक-जन्मान्तक-भय-स्मयाः ।
न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्यते (प्रदोषमुक्) ॥—वही, ६, पृ० ३९

१४ द्रष्टव्य-आप्तमीमांसा, कारिका ६, पृ० १०

१५ सोऽत्र भवान्नर्हन्नेव, अन्येषां न्यायागमविरुद्धः ।

१६ सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥

१७ परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥—रत्नक० उपा०, का. ७, पृ० ४०

१८ यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः । तत्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात् ।
—अष्टशती अष्टसह पृ० २३६

१९ अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्त. तस्य हि वचनमविसंवादि भवति ।
—प्र० न० त० लो० अ० ४. ४-५, पृ१ ३७

२० अभिधेयं····, स आप्तो जनकतीर्थंकरादिः ।—षड्० समु० (जै०) का. ५५. ३२०

२१ आप्यते प्रोक्तोऽर्थोऽस्मादित्याप्तः । यद्वा आप्तोरागादिदोषक्षयः सा विद्यते यस्येत्यर्शआदित्वादिति आप्तः । जानन्नपिहि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थानकथयेत तद्यवरच्छित्तये यथाज्ञानमिति । तेनाक्षरविलेखनद्वारेण, अंकोपदर्शनमुखेन, करपल्लवव्यादिचेष्टाविशेषवशेन वा शब्दस्मरणाः परोक्षार्थविषयंविज्ञानं परस्योत्पादयति, सोऽप्याप्त इत्युक्त भवति ।—प्र० न० त० लो० अ० ४. ४-५, पृ० ३७

२२ यो यत्रावंचकः स तत्राप्तः ।—प्रमेयरत्न माला ३. ९५. पृ० २०४

२३ द्र०—प्र०प्रमे. १. १२३, पृ० ११७

२४ द्र०—जैनतर्कभाषा, पृ० ९.

२५ स च द्वेधा लौकिको, लोकोत्तरश्च ।—प्र० न० त० लो० अ० ४. ६.

२६ लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थंकरादिः ।—वही, ४. ७.

२७ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ —न्यायावतार. का०. ९, पृ० ५८

२८ (क) तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम् ।
—सर्वार्थसिद्धि १. ९. पृ० ६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) श्रुतशब्दः कर्मसाधनश्च ।२। किं च पूर्वोक्तविषयसाधनश्चेति वर्तते । श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरंगबहिरंग हेतु सन्निधाने सति श्रूयते स्मेति श्रुतम् । कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोतीति श्रुतम् । भेदविवक्षायां श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा । —तत्त्वार्थवार्तिक १. ६. २, पृ० ४४.

(ग) श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम् । —तत्त्वार्थ श्लो. वा. ३. ६. ४

२९ श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढ़िवशात् कस्मिंश्चज्ज्ञानविशेषे वर्तते ।
—सर्वा० सि० १. २० पृ० ८३.

३० द्रष्टव्यः —तत्त्वार्थसूत्र १।२०

३१ ·····ज्ञानमित्यनुवर्तनात् । श्रमणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम् ।
—त०. श्लोक. अ. ३. २०. २०, पृ० ५६८.

३२ तच्चोपचारतो ग्राह्यं श्रुतशब्दप्रयोगतः ।
शब्दभेदप्रभेदोक्तः स्वयं तत्कारणस्वतः ॥ वही—३. २०. ३, पृ० ५६०.

३३ श्रवणं श्रुतम्, आभिलापप्लावितार्थग्रहणस्वरूप उपलब्धिविशेषः श्रुतं च तद्ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् अथवा श्रूयते इति श्रुतं शब्दः, स च असौ कारणे कार्योपचाराद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानं शब्दो हि श्रोतुं साभिलापज्ञानस्य कारणं भवतीति सोऽपि श्रुतज्ञानमुच्यते । —अनुयोगद्वार सूत्र १.

३४ श्रुतं मतिपूर्वकं·····। —तत्त्वार्थ सू० १. २०.

३५ इंदियमणोणिमित्तं जं विण्णाणं सुताणुसारेणं ।
णिअयत्थु त्ति समत्थं तं भावसुतं मति सेसं ॥ —विशेषावश्यक भाष्य, भाग १, गा. ९९.

३६ ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितं स्पष्टंज्ञानं श्रुतम् । —सर्वदर्शन सं० (आर्हं०), पृ० १३८

३७ ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् ।
प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ —लघीय स्त्रय, का० १०

३८ मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमाविस्पष्टार्थं तर्कणम् । —तत्त्वार्थ सार, का० २४

३९ अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं । —गोम्मट सार (जीव काण्ड) गाथा ३९, पृ० १७४

४० द्रष्टव्य—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १७-१९

४१ नन्दीसूत्र ३८

४२ श्रुतमविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् । —प्रमाण संग्रह, पृ० १

४३ जैन तर्कभाषा, पृ० ७४

४४ तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विंशतिधा भवेत् । —त० सा० का० २४, पृ० ९

४५ परं विंशतिभेद यत्पर्यायाद्याभिधानतः ।
श्रुतं तदपि वक्ष्येऽहं यथाशक्ति····· । —सिद्धान्तसार संग्रह का० १५

४६ द्र०—(जी० का०)
(क) गौ० सा० (जीव काण्ड) गा० ३१७-६७
(ख) सिद्धान्त सार संग्रह १५१-६४, पृ० ३६-३९

४७ णियमेणिह सद्दजं पमुहं । —गो० सा० (जीवकाण्ड) गा० १३५

४८ द्र० गाथा १९

४९ द्र०—सूत्र ३७

५० द्रष्टव्य—
(क) देवेन्द्र मुनि, जैनदर्शन-स्वरूप और विश्लेषण
(ख) नथमल मुनि, जैनदर्शन—मनन और मीमांसा आदि

५१ (क) आगमत्वं पुनः सिद्धमुपमानं श्रुतं यथा ।
सिंहासने स्थितो राजेत्यादिशब्दोत्थवेदनम् । —त० श्लो० वा० अ०, ३ २० १२४

(ख) उत्तरप्रतिपत्याख्या प्रतिभा च श्रुतं मता ।
नाभ्यासजासुसंवित्तिः कूटद्रुमादिगोचरा । —वही, पृष्ठ ६६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The Relativity of Naya in Jaina Logic

Dr. Brij Kishore Prasad
[Reader, Department of Philosophy, Magadh University, Bodh Gaya]

I

If things are cognised to have their extramental existence and are not unknowable like the Kantian things-in-themselves, what we know of them is not appearance, but reality. And it is this reality which, according to Jaina thinkers, we are directly in contact with and of which the world as a whole is constituted. For how can any one disbelieve what the experience testifies? Thus it would be an utter disregard of one's own living experience as well as the real world if the physical objects are considered as mere 'passing collocations of qualities' and hence 'mere fiction of ignorance' as the Buddhists believe or as mere illusions and the objects of name (*nāmarūpa*) as the *Advaita Vedāntins* hold. Like some of the western contemporary realists and empiricists, the Jaina thinkers not only believe in the reality of substance (*dravya*) or objects of sense, but in the fact that objects of sense-perception are the congruies of the 'most contrary qualities of infinite variety'. In view of this, the Jainas consider the nature of 'being' (*sat*) as a system which "involves a permanent (*dhruva*) accession of some new qualities† (*utpāda*) and loss of some old qualities (*vyaya*)"[1].

On this view, therefore, every object is conceived to be constituted of infinite attributes (*dharmas*), which are not conceptual in Plantonic or Hegelian sense of the western thought, rather they really exist in things and objects of the world. Thus when we speak of a specific property being possessed by an object, it can always be with respect to a 'specific point of view'. For how can a particular characteristic quality be alone true of a thing in view of the manifold changes due to light and shade when it is seen from different angles by the same observer or by different observers from the same angle? And this necessitates the Jainas to adopt the principle of '*naya*'—"the different standpoints from which things (though possessed of infinite determinations) can be spoken of as possessing this or that quality or as appearing in relation to this or that."[2]

II

Naya is a form of *Pramāṇa* for achieving the knowledge of reality. As *Pramāṇa* is valid knowledge of the many-faced (*anekānta*) things and objects of cognition, so '*naya*' is a mode of valid knowledge from some specific point of view directed to apprehend a part or aspect of an object[3]. Since it apprehends a part or an aspect of some real thing to the exclusion of all other aspects, it is a partial knowledge. This may mean that to the extent it is not a complete knowledge comprising the whole nature of reality, it gives a truncated view of things. This is why when *nayas* are considered as representing the absolute view of reality, they verge on *nayābhāsa* or the false view of reality.

Since Jaina metaphysics gives due weight to each of the qualities or attributes which form the life-force of substances (*dravyas*) and by which alone their existence is realised. No substance

† Here the word quality does not mean attribute (*guṇa*) but the modes (*paryāya*). [Editor]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

or object can be thought to have only one quality which may die out in course of time or having no quality at all. It is, therefore, essential that objects must be constituted of such elements or attributes some of which may be permanent and some may be changing. Things and beings, therefore, are to be considered as a synthesis of opposites, such as existence and non-existence, permanent and change, oneness and manyness, or identity and change, so that from the standpoint of substance (*dravya*), an object may be thought to be permanent and from the viewpoint of modes (*paryāyas*) it may be taken as changing. This is why all assertions with respect to the nature of things can be true only relatively, *i.e.*, from some specific point of view. And this is what '*naya*' aims to fulfil annulling all absolute and *ekāntic* view of things which, according to Jainas may be interpreted as smacking of violence (*himsa*) and vitiated with falsehood. Considering the fact that we human beings, subjected to many shortcomings, can have only limited vision of things, we cannot grasp the entire nature of reality all at once. Consequently, the *naya* view of things is the only alternative left. It is a point of view with which the knowing mind works in achieving any knowledge and in this the mind is guided by certain intent or purpose (*samkalpa*). And because an entity has infinite attributes, 'the Methods[4] are infinite.' "A Method-character belongs to the speaker's intents, which are satisfied with one of the attributes. And to this effect.....as many as are the ways of statement, just so many are the Method-statements."[5] Here a brief account of the important Method-statements may be fruitful and which will acquaint us with the Jainas penetrating vision of the reality too.

III

Considering the various ways of perceiving an object, the '*nayas*', broadly speaking, are found to be of two types—one concerning substance and the other concerning modes. "That which cognises only substance primilarily, is that of substance, and that which cognises only the mode primarily, is that of modes."[6] The first one is called *Dravyanaya*. In cognising an object, it lays emphasis on its substantial part irrespective of the qualitative or modal aspects. The other form of *naya*, called *Paryāyanaya*, lays stress upon the qualitative or modal aspects of things ignoring its substantial part.

In this respect, it may be mentioned here that it is the demand of Jainas' ethics of 'abstenance from falsehood' (*satyam*) not to conceal one's own shortcomings *i.e.*, even when not being able to cognise the entire aspects of a thing all at once, one should boast of cognising its entire substantial and modal aspects, Hence, the truth demands to embrace the principle of '*naya*', which comes to suggest that a thing from a particular point of view, may be considered as substance (*dravya*) and from that of another, it may be considered as a system of attributes and modes. Besides, this method of apprehending reality also reminds us of Jainas' critical acumen in the field of logic and epistemology.

But the Jaina logician would not rest content only with these two broad distinctions concerning the ways of cognising reality rather they further make a thorough critical analysis of the various viewpoints. And since the phenomenal reality is many-faced (*anantadharma*), so the ways of cognising its nature cannot be one, but many. Hence in accordance with the various aspects of things and beings, various *nayas* have been conceived.

Thus, of the substantial (*dravya*) *naya*, we can mention three forms—the non-distinguisehd (*naigmanaya*) the generic (*samgrahanaya*) and the empirical (*vyavahāranaya*). In general, all of them may be classed under *arthanaya*, as they refer to objects or meanings (*artha*). Similarly, the modal aspect (*paryāyanaya*) may be classified under four important types—the straight-expressed (*rjusūtra*), the verbal (*śabda*), the subtle (*samabhirūdha*) and the such like (*evambhūta*). In general these three may be called *śabdanayas* considering their specific reference to words (*śabda*). Thus, broadly speaking, we have seven forms of *naya*—three coming under the class '*dravyanaya*' and four under that of '*paryāyanaya*'. A brief discussion of these may be useful to our purpose, for these also reveal the farsightedness of the Jainas' understanding in the field of epistemology and logic.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. Naigamanaya proceeds on the assumption that since a thing possesses the most general as well as the most special attributes, we may lay stress on either of them at any time and ignore the other. Thus, when I have a 'pen' in my hand and when asked as to whether my hand is empty, I may reply in one of the ways that 'I have something in my hand' or 'I have a pen in my hand'. Here in the first case my answer considers the pen in the "widest and most general point of view as a 'thing' or substance" and the alternative answer takes the 'pen' in 'its special existence' as a pen. Thus, it is, according to the Jaina thinkers, the common-sense point of view which considers things as possessed of both generic (*sāmānya*) and specific (*viśeṣa*) qualities which are not distinguished from one another with the result that, while cognising the nature of things, one may lay stress on either of the qualities.

It may be noted that '*naigamanaya*' goes against the view held by the *Advaita Vedantins* and the Buddhists, for the former deny the specific qualities (*viśeṣa*) found in a thing, while the latter disbelieve in the existence of any generic quality (*sāmānya*). But for the Jainas, true to their unifying attitude and the view of *ahiṁsa*, there cannot be any absolute separation between the generic and the specific or the universal and particular and for that matter even between high and low or rich and poor.

2. The generic (*saṁgrahanaya*) is the class point of view which looks at things from their 'most general and fundamental aspect'. For instance, we may state that things of the world are mere 'being' thus laying emphasis merely on their most general character as 'being' or 'existence' devoid of all specific properties (*viśeṣa*).

Saṁgrahanaya may again be of two types—ultimate (*parāsaṁgraha*) and non-ultimate (*aparāsaṁgraha*) accordingly as the emphasis, in making any statement, is put either on the highest class essence as on 'being' or 'existence' irrespective of the specific features, or the emphasis is laid merely on the inferior class character as when *dharam*, *adharma*, *Ākāśa* (*space*), *Kāla* (*time*) etc., considered substantially, are thought to be identical. If things are regarded as belonging merely to either of the classes and the individual characters are ignored, we are liable to commit *parasaṁgrahnayābhāsa* or *aparāsaṁgraha-nayābhāsa*.

3. The empirical standpoint (*vyavahāranaya*) comes to regard the real nature of things from "the point of view of actual practical experience of the thing, which unifies within it some general as well as some special traits."[7] Thus this 'pen' I am writing with has some 'general traits' shared by all pens, but it has some special traits as well. And all these, from the practical point of view, go to make up the essence of this 'pen', and none of these properties can be set apart forming concept of the 'pen'. On this view, therefore, the *naya* becomes empirical, for it remains indifferent to the generic (*sāmānya*) and specific (*viśeṣa*) features of things.

4. Of the *parāyāyanaya* which considers a thing as a coglomeration of qualities and modes, the straight-expressed (*ṛjusūtranaya*) concentrates upon merely that mode of things which is of the present moment irrespective of the past or future characters, *e.g.*, there is the mode of happiness at present. Here emphasis is laid only upon the temporary mode of happiness. The *ṛjusūtra* is the Buddhist way of looking at things which does not believe in the existence of a thing in the past or future, but believes that at each moment there are new qualities in things which form their true essence.

5. The next modal standpoint is the verbal (*śabdanaya*) which takes account of words and their meanings. Each word may refer to a particular object or quality and different words may mean the same object. The relation between words and their meanings cannot be absolute, but relative, as the relation is bound to vary in accordance with their use. Thus in the statements 'the mason constructs a house' and 'a house is constructed by the mason', the word 'house' is used in the objective sense in the first instance and in the nominative sense in that of the second one. Thus, the *śabdanaya* is meant to take account of the varying relations between words and their meanings. Contrary to this, if a word is considered to have its fixed meaning irrespective of its varying use, we commit *śabdanayābhāsa*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. As against the above standpoint which accepts identity in objects even though there is difference in their modes, the *samabhirūdhanaya* takes account of the difference in objects when the modes vary ; that is, it emphasises the literal meaning of words ignoring their identical derivated meanings. For example, the words *Indra*, *Śakra* and *Purandara* have the same derivative meanings, *i.e.* king of gods in heaven. But *samabhirūdhanaya* overlooks the identity of meaning of the synonyms and it accepts difference in objects when the modes are different, and in this way it distinguishes one synonym from the other applying each word for its specific object in accordance with the etimological meaning of the word.

7. Lastly, the such-like or *evambhūtanaya* is a special application of *samabhirūdhanaya* and it restricts a word to one particular meaning, which emphasises one particular aspect of an object. For instance, the word '*gau*' literally means a moving animal and so a moving cow should be designated by '*gau*'. But if it is not moving, the animal should not be designated as '*gau*', but by a different word. This standpoint takes a word in its strict etimological sense, which is applicable to an object "having practical efficiency at the present moment". If this principle is ignored, as the grammarian does, we fall into error called *evambhūtanayābhāsa*.

Having discussed the important features of some of the *nayas*, we find that in each case the preceding *naya* has a greater extent and applicability than the succeeding ones. Thus for instance, the *naigamanaya* has the greatest extent, as it is concerned with both real (*bhāva*) and unreal (*abhāva*) things. Contrary to this *saṁgrahanaya* refers only to things that are real (*bhāva*) and so it has lesser extent, although it has greater extent and applicability than *vyavahāranaya* which deals with only a part of the real, *e.g.*, individual things existing in the past, the present and the future. Again, the latter has greater extent than *rjusūtranaya* which is concerned only with the present modes of individual things. In this way each preceding *naya* has greater extent than the succeeding ones.

The above classification and explanation of the nayas go to show that there are many ways of looking at things and consequently there are infinite number of *nayas* or points of view. They are, of course, the partial views regarding things and are relative to the different aspects of them. All affirmations whether affirmative or negative are conditioned to time, place and the various circumstances, "Infinite number of affirmations may be made of things from infinite points of view."[8] It is, therefore, suggested by the Jaina logicians that each affirmation should be preceded by the phrase '*syāt*' by certain point, which will ensure their correctness and relativity of truth.

IV

Having gone through the chief ways of affirmations called *nayas*, which at one time emphasise the substantial character of things in which qualities and modes remain merged and at the next moment the modal aspect where qualities and modes alone remain predominant, we find that they have a great practical value. And this centres round the truth that since we human beings cannot transcend our limitations regarding the knowledge of things we, of necessity, must approach reality with a specific point of view or intent, which "works, of course, by way of thing or by way of word, because there is no other course."[9] And this intent, which indirectly also exposes our inability to cognise things in their entirety, may be termed as pragmatic. It is pragmatic firstly because it enables men to cognise the nature of things, at least from a particular point of view, which may be useful to their purpose. Again, it is pragmatic because this intent to cognise things from a specific point of view has a unique compromising or unifying effect upon the different opposite and contrary view-points, and this may be considered as most useful and commendable for the well-being of men in general.

In this connection, it may further be mentioned that the Jainas' principle of '*naya*', even to-day in some form or the other, is being practised by some eminent contemporary western thinkers too. For the meaning or importance in our thoughts of objects and things, according to some of them, rests mainly upon the "effects of a practical kind the object may involve—what

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

sensations we are to expect from it and what reactions we must prepare."[10] And it is further asserted that "all realities influence our practice and the influence is their meaning."[11] We start from the objects 'already empirically given or presented', and the meaning is the effects these objects produce. This means that if our approach to things be proper and just, as the principle of *raya* aims at, it is bound to prove beneficial and fruitful for us. Truth is relative to human purpose or the intent with which man works.

Further, it would seem quite true that the Jaina logicians were alive to the fact that impressions or sense-data caused by objects experimentally given cannot remain the same for all percipient beings, rather they are bound to differ from individual to individual producing a varigated knowledge of things. As the western pragmatist Dewey remarks: "One does not expect two lumps of wax at different distances from a hot body to be affected exactly alike ; the upsetting thing would be if they were. Neither does one expect cast-iron to react exactly as does steel."[12]

It is not surprising that one who holds a view which is partial, as the method of *naya* envisages, and acts accordingly to the effect that he refuses to entertain any absolute view regarding things, may be accused of being a subjectivist or dogmatist. But when seen from a wider perspective and scientifically judged, the Jainas' logic of approach to things and their points of view (*nayas*) adopted in comprehending the nature of reality can never be condemned as an inconsistent or incoherent method. For no truth and for that matter no view regarding the nature of things and beings can have any value in life unless it gives due importance to each and every aspect of being. And these are what *nayas* aim at. "If truth thus stands in the service of life, can we refuse to recognise the importance....For are not Science, Morality, Religion, Art, so many different ways of seeking an 'harmonious' and 'satisfactory' life."[13]

Notes and References

1. Das Gupta, History of Indian Philosophy, Vol. I, (Cambridge, 1963), p. 175.
2. *Ibid.*, p. 176.
3. *Cf.* "the Jainas restricted the *pramāṇa* to ultimate proof or truth in accordance with their main doctrine of many-sided (*anekānta*) existents. From this they distinguish the *nayas*, 'loads', 'lines of approach'," Mallison, Syādvādamanjari, Trans., F.W. Thomas, (Varanasi, 1968,) p. 152 (foot-note).
4. *Cf.* '*nayas*, 'leads', 'lines of approach' (here rendered 'methods'), *Ibid.*, (foot-note).
5. *Ibid.*, p. 154.
6. Yaśovijaya Gaṇi. Jainatarkabhāṣa, Trans. Dr. Dayanand Bhargaya, Motilal, Delhi (India), 1973, p. 71.
7. Das Gupta, History of Indian Philosophy, Vol. I, Cambridge, 1963, p. 178.
8. *Ibid.*
9. Mallison : Syādvādamanjari, Trans., F. W. Thomas, Motilal, Delhi (India), 1968, p. 154.
10. William Games, Pragmatism, A New Name for some old ways of Thinking (Popular Lectures on Philosophy), Longmans, New York, 1907, pp. 46-47.
11. *Ibid.*, p. 48.
12. His essay, 'Logic of Judgments of Practice' in Essays in Experimental Logic, Dover, New York, 1916, p. 411.
13. R.F. Alfred Hoernle, 'Pragmatism Vs. Absolutism' in Mind, Vol. 14, 1905, pp. 299-300.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



भारतीय दार्शनिक परम्परा और स्याद्वाद

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री
एम० ए० पी-एच० डी० साहित्यरत्न

भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से दार्शनिकों का देश रहा है। विभिन्न ऋषि-महर्षि, सन्त-महन्त, यति-साधु, योगी-महात्मा एवं सत्यद्रष्टाओं के अनुभव तथा चिन्तन से समय-समय पर दार्शनिक क्षेत्र में कई प्रकार के विचारों में परिवर्तन हुआ, और परिणामस्वरूप कई प्रकार के मतों तथा वादों का जन्म हुआ। व्यक्ति और जाति की भिन्नता की भाँति विचारों की भिन्नता भी निरन्तर वृद्धिगत होती रही। यद्यपि इन विभिन्न विचारों का मूल एक है, किन्तु बहुविध शाखा-प्रशाखाओं के रूप में विकसित हो जाने के कारण आज स्वतन्त्र रूप में तथा भिन्न नामों से अभिहित होने लगे हैं। मुख्य रूप से इनकी संख्या दस है—चार्वाक, वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा, ब्रह्म-मीमांसा या वेदान्त, बौद्ध और जैन। इनके मुख्य रूप से दो विभाग किए जा सकते हैं—भौतिकवादी और आध्यात्मिक। चार्वाक भौतिकवादी और शेष आध्यात्मिक रहे हैं। पाश्चात्य जगत् में भौतिकवाद का प्रारम्भ यूनानी विचारक थेलिस —(ई० पू० ६१४-५५०) से माना जाता है और इसका चरम विकास कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में परिलक्षित होता है। भूतवादी और आत्मवादी शत-सहस्राब्दियों से इस देश में रहे हैं। भूतवादी केवल पंचभूतों से या भौतिक तत्त्वों से मानव तथा सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व तथा पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते। किन्तु आत्मवादी जड़ सृष्टि से आत्मा को भिन्न, अजर-अमर तथा बन्धन-मोक्ष, क्रिया काल एवं गतिशील मानते हैं। भारतीय चिन्तन के अनुसार आत्मतत्व सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। आत्मवादी उसे अनादिनिधन एवं सर्वोपरि मानते हैं।

भारतीय आध्यात्मिक दर्शनों की भाँति जैनदर्शन भी आत्मवादी है, जो आत्मा को सर्वतन्त्र, स्वतंत्र एवं सनातन मानता है। आत्मा ही समस्त ज्ञान-विज्ञानों का आधार है। जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है। जिससे जाना जाता है वह आत्मा है। जानने की सामर्थ्य से ही आत्मा की प्रतीति होती है।[1] आत्मा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाली तथा इन्द्रियों के विषयों को जानने वाली है। आत्मा अनादि अनन्त है। अनादिकाल से हमारी आत्मा कर्मों से आबद्ध है, किन्तु कर्मों से मुक्त हो सकती है। कर्मों से मुक्त हो जाना ही मुक्ति है। आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। दोनों के परस्पर अवगाढ़ सम्बन्ध का नाम संसार है। दोनों ही अनन्त शक्ति के आधार हैं। केवल आत्मा और पुद्गल को ही नहीं धर्म, अधर्म, आकाश और काल को भी द्रव्य माना गया है। पुद्गल के चार भेद हैं[2]—स्कन्ध, स्कन्धप्रदेश, स्कन्धदेश और परमाणु। बादर और सूक्ष्म रूप से परिणत छह स्कन्धों से इस संसार की रचना हुई है।

द्रव्य सत् है। और जो सत् है वह परिवर्तनशील है। किन्तु उसका सम्पूर्ण क्षय कभी नहीं होता। उसकी विभिन्न पर्यायें समय-समय पर बदलती रहती हैं। परन्तु मूल रूप में कभी हानि नहीं होती। अपने मूल रूप को द्रव्य कभी नहीं खोता। जैनदर्शन के अनुसार यह परिणाम प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। गीता का भी यही सिद्धान्त है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** अर्थात् असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का सर्वथा अभाव नहीं होता। सत्वाद का यह सिद्धान्त भारतीय आत्मवादियों का मूल सिद्धान्त रहा है, जो आज तक स्थिर है। जैनदर्शन के अनुसार सत् और असत् दोनों का समावेश भाव में होता है। भाव न केवल सत् है और न असत्। संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब सत्-असत् रूप हैं। कभी सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं होता।[3] इसी प्रकार अविभाज्य सत् को परमाणु कहा गया है। परमाणु सूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला होता है तथा कई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टियों से एक रूप होते हुए भी कई गुणों की अपेक्षा भिन्न भी होते हैं। इस सत् सिद्धान्त में ही स्याद्वाद का मूल निहित है। भगवतीसूत्र के वचन हैं—"काल की अपेक्षा जीव कभी नहीं था या न रहेगा, यह बात नहीं है। वह नित्य है, शाश्वत है और उसका कभी अन्त नहीं होता।"[४]

स्याद्वाद जैनों का दार्शनिक सिद्धान्त है। इसमें विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थ की यथार्थता का कथन किया जाता है। वस्तुतः जड़ और चेतन सभी में अनेक धर्म तथा गुण विद्यमान हैं। उन सबका कथन एक साथ कोई कर नहीं सकता। क्रमशः ही उसके विभिन्न गुणों के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है। अतः विवक्षा के अनुसार एक समय में किसी एक की मुख्यता को ध्यान में रखकर कथन किया जाता है। इसे ही दार्शनिक शब्दावली में **"कथंचित् अपेक्षा"** से कहा जाता है, जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है।

स्याद्वाद : नया सिद्धान्त नहीं

दार्शनिक इतिहास के गम्भीर अध्ययन से पता लगता है कि जैनधर्म के प्रसिद्ध तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा महावीर के लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नहीं था। वैदिक काल में यह भलीभाँति प्रचलित था। सांख्यों के मूल सिद्धान्त सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अम्भिवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और संशयवाद इन दस सिद्धान्तों पर आधारित था।[५] ऋग्वेद के अनुशीलन से पता चलता है कि सदसद्वाद का सिद्धान्त बहुत व्यापक रहा है। दार्शनिक जगत् में किसी ने 'सत्' को स्वीकार किया और किसी ने असत् को। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि का मूल कारण न सत् था न असत् था।[६] तब केवल एक ही पक्ष रह जाता है कि 'सदसत्' रूप परम तत्त्व या ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। वस्तुतः ऋग्वेदकालीन मनीषियों ने अपने हृदय में असत् की प्रतीति न करते हुए सत् को प्राप्त किया था।[७] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी परम आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के हेतु कहा है—जिस व्यक्ति के परमाणु मात्र भी राग-द्वेष आदि हैं, वह आत्मा को नहीं जानता, चाहे आगमधारी ही क्यों न हो ?[८] और फिर ऋग्वेद के ऋषि एक ही सत् का बहुविध निर्वचन करते हुए लक्षित होते हैं। कहा भी है—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**।

स्याद्वाद का इतिहास

निश्चित रूप से स्याद्वाद का इतिहास बताना अत्यन्त कठिन है। किन्तु यह सुनिश्चित है कि स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का प्रचलन तथा प्रतिफलन जैन और बौद्धों के जीवन में विशेष रूप से हुआ। यद्यपि वैदिक युग में साध्यों (जो कि पहले देव जाति के थे) के विचारों पर इसकी स्पष्ट छाप लक्षित होती है तथा उपनिषद् **'नेति नेति'** कहकर जिस अनिर्वचनीय तत्त्व का निर्वचन करते हैं उसमें भी इसकी झलक मिलती है, किन्तु ईसा की कई शताब्दियों के पूर्व ही यह सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में मान्य हो चुका था, इस बात के प्रमाण मिलते हैं। अनेकान्त या स्याद्वाद का सिद्धान्त नयवाद पर आधारित है। जैन-परम्परा के अनुसार नय और निक्षेपों की व्यवस्था तीर्थंकर महावीर और पार्श्वनाथ के पूर्व से ही अनन्तानन्त काल से चली आ रही है। भगवान् महावीर ने उनके आधार पर ही स्याद्वाद का व्याख्यान किया था। भगवान् बुद्ध ने जिस शून्यवाद का निर्वचन किया था उसके अनुसार व्यवहार-व्यवस्था बन ही नहीं सकती थी, इसलिए नय के प्रमुख दो भेदों की भाँति उन्हें 'संवृति-सत्य' और 'परमार्थ सत्य' ये दो विकल्प मानने पड़े। सम्भवतः इसीलिए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने शून्यता-दर्शन को सापेक्षतावाद के रूप में समझाया है। 'माध्यमिकवृत्ति' में तो स्पष्ट ही कहा गया है— सभी 'नास्ति' अस्तित्वपूर्वक होते हैं और सभी 'अस्ति' नास्तिपूर्वक। इसलिए नास्ति की ओर गमन करो और अस्तित्व की कल्पना न करो।[९] आचार्य नागार्जुन ने वस्तुतः शून्यवाद का विवेचन कर वस्तु को सापेक्ष सिद्ध किया। उनका कथन है कि वस्तु न भाव रूप है, न अभावरूप और न उभय या अनुभयरूप। वस्तु के साथ कोई विशेषण जोड़कर हम उसका रूप नहीं बता सकते। शून्यवादियों ने कहा था कि तत्त्व न सत् है, न असत्, न उभयरूप है और न अनुभयरूप। इसके विरुद्ध सांख्यों ने तथा प्राचीन उपनिषद्कारों ने सबको सत् रूप ही स्थिर किया। नैयायिक एवं वैशेषिकों ने कुछ को सत् और कुछ को असत् सिद्ध किया। विज्ञानवादी बौद्धों ने तत्त्व को विज्ञानात्मक ही कहा और बाह्यार्थ का अपलाप किया।[१०] नागार्जुन ने वस्तु को अवाच्य माना। परन्तु विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में प्रसिद्ध जैन दार्शनिक सिद्धसेनदिवाकर ने तत्कालीन नाना वादों को नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया। अद्वैतवादियों की दृष्टि को उन्होंने जैन सम्मत संग्रह नय कहा। क्षणिकवादी बौद्धों का समावेश ऋजुसूत्रनय में किया। सांख्यदृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया तथा कणाद के दर्शन का समावेश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में कर दिया। उनका कथन है कि संसार में जितने दर्शनभेद हो सकते हैं, जितने भी वचनभेद हो सकते हैं उतने ही नयवाद हैं और उन सभी के समागम से अनेकान्तवाद फलित होता है।[११] व्यवहार में भी उसकी उपयोगिता का प्रतिपादन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर यथार्थ में सिद्धसेन ने अनेकान्तवाद व स्याद्वाद को विशद रूप में प्रकट किया। उनके समकालीन विद्वान् मल्लवादी हुए। मल्लवादी ने आचार्य सिद्धसेन की 'सन्मतितर्क' की टीका के अतिरिक्त 'नयचक्र' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की भी रचना की। 'नयचक्र' में विविध वादों को चक्रों के रूप में समुपस्थित कर उनकी सत्यता की कसौटी के रूप में अनेकान्तवाद का विवेचन किया। लगभग सातवीं शताब्दी में सिंह क्षमाश्रमण ने 'नयचक्र' की अठारह हजार श्लोकप्रमाण बृहत्काय टीका लिखी। किन्तु इनके कुछ समय पूर्व ही आचार्य समन्तभद्र अपनी रचनाओं में स्याद्वाद का भलीभाँति तार्किक एवं शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत कर चुके थे। वस्तुतः स्याद्वाद-न्याय को कसौटी बनाकर परीक्षा करने का श्रेय समन्तभद्र को है। उनकी समस्त कृतियाँ तथा जीवन ही अनेकान्तमय रहा है। वे अपने युग के प्रसिद्ध कवि, मर्मज्ञ विद्वान्, वादी और विश्रुत वक्ता थे।[12] इसी परम्परा में लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्रसूरि और अकलंक हुए। इन दोनों ही तर्कमनीषियों ने समस्त दर्शनों का मन्थन कर न्यायशास्त्र की परम शिला पर अमोघ वज्र की भाँति अनेकान्तवाद की उपस्थापना की। इसी युग में प्रमाणपरीक्षाविषयक 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' के रचयिता आचार्य विद्यानन्दि हुए। यह परम्परा यहीं समाप्त नहीं हो गई। टीकाओं के रूप में तथा संग्रह के रूप में कुछ न कुछ उक्त विषय पर लिखा जाता रहा। संग्रहकार के रूप में बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रसूरि हुए, जिनका 'स्याद्वादमंजरी' ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। किन्तु अनेकान्तवाद का नव्य न्याय की शैली में परिष्कार करने में सफल यशोविजय जी सतरहवीं शताब्दी में हुए। उनका अनेकान्तव्यवस्था नाम का स्वतन्त्र ग्रन्थ सचमुच इस परम्परा की अन्तिम कड़ी कहा जा सकता है। इसी प्रकार अनेकान्त के उत्कृष्ट ग्रन्थ 'अष्टसहस्री' का विवरण तथा आचार्य हरिभद्रसूरि के 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' की स्याद्वाद-कल्पलता टीका लिखकर भलीभाँति परिष्कार किया। विमलदास ने भी 'सप्तभंगीतरंगिणी' की रचना नव्यन्याय की शैली में प्रस्तुत कर जिस सरणि का विकास किया वह आज तक 'सप्तभंगी स्याद्वाद' के नाम से प्रसिद्ध है।

स्याद्वाद का अर्थ तथा व्याप्ति

'स्याद्वाद' शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'स्यात्' का प्रयोग निपात रूप में किया गया है इसलिए यहाँ उसका अर्थ शायद या सम्भव न होकर निश्चित अपेक्षा का द्योतन है।[13] मूल में सिद्धान्त अनेकान्त है, जिसे भाषा के माध्यम से शैलीगत अभिव्यक्ति के कारण स्याद्वाद कहा जाता है। 'स्यात्' शब्द कथंचित् शब्द का पर्यायवाची है और 'वाद' का अर्थ कथन या प्रतिपादन शैली है। इसीलिए स्याद्वाद को सापेक्षवाद, अनेकान्त-वाद[14] या सप्तभंगी भी कहते हैं। स्याद्वाद की कथनशैली में 'स्यात्' शब्द प्रधान है इसलिए **'स्याद् अस्ति घटः'**, **'स्याद् नास्ति घटः'** जैसे वाक्यों का प्रयोग होता है। जगत् परिवर्तनशील है। इसमें प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक अवयव में जाने-अनजाने कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। कहीं यह परिवर्तन विशेष होता है और कहीं सामान्य। कहीं यह परिवर्तन भलीभाँति दृष्टिगोचर होता है और कहीं अलक्ष्य रहता है। किसी वस्तु में हम उस परिवर्तन को पहिचान पाते हैं और किसी में ढूंढ़ने से भी प्रतीत नहीं होता। किन्तु दृश्य-अदृश्यमान सभी वस्तुओं के परिवर्तन के मूल में उनका अस्तित्व विद्यमान रहता है जो ध्रुव एवं शाश्वत होता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु तथा पदार्थ के मूलतः दो भिन्न रूप होते हैं जिन्हें हम अन्तरंग और बहिरंग के नाम से जानते हैं। दार्शनिक शब्दावली में इन्हें हम परमार्थ और व्यवहार कहते हैं। परमार्थ ही निश्चित तथा शाश्वत माना गया है। इन दोनों अपेक्षाओं के कारण इसे सापेक्षवाद कहते हैं। और इसलिए 'स्यात्' शब्द के साथ 'एव' का भी प्रयोग किया जाता है, जैसे कि—**स्यादस्त्येव घटः**। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के सत्, असत् रूप को—उसके वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के लिए अनेकान्तदर्शन की कुंजी स्याद्वाद है। स्याद्वाद विभिन्न निश्चित अपेक्षाओं से पद-पदार्थ का प्रतिपादन करता है।[15] अतएव यह एक ऐसी भाषा-पद्धति है जो अनेकान्त की दृष्टि से किसी एक समय में वस्तु के किसी एक धर्म का निश्चित अपेक्षा से कथन करती है। यथार्थ में शब्द सीमित हैं और अर्थ अनन्त। इसलिए भाषा के साँचे में ढलने वाले शब्दों में ऐसी प्रतिबोधक शक्ति होनी चाहिए जो वस्तु के वास्तविक अर्थ को प्रकट कर सकें। किन्तु शब्द अर्थ के प्रत्यायक तो होते हैं पर शब्द के निर्माता अर्थ ही होते हैं। इसलिए किसी भी समय में किसी भी प्रकार के शब्द से यह सम्भव नहीं है कि वह किसी भी पदार्थ के पूर्ण तथा अखण्ड रूप को एक साथ अभिव्यक्त कर सके। सम्भवतः दार्शनिक जगत् की इस समस्या का समाधान करने के लिए स्याद्वाद का जन्म हुआ।

स्याद्वाद की आवश्यकता

संसार में पदार्थ अनन्त हैं, उनका कोई छोर नहीं है। पदार्थ की भाँति उनमें रहने वाले गुण-धर्म भी अनन्त हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है और उसका अस्तित्व एक-दूसरे से भिन्न हैं। अपने अस्तित्व के अतिरिक्त परमाणु मात्र भी वह दूसरे का नहीं है। उसका जो अस्तित्व है वही वह है। उससे भिन्न वह नहीं है। अतएव एक ही पदार्थ में सापेक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रीति से विभिन्न विरोधी धर्म रहते हैं। उन विरोधी धर्मों को ध्यान में रखकर विभिन्न दृष्टिकोणों से उसके अस्तित्व का प्रतिपादन करना स्याद्वाद है।[१८]

प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण-धर्म मान लेने पर उनके प्रतिपादक शब्दों की, किसी एक ऐसी भाषा-पद्धति या शैली की आवश्यकता थी जो अनेक धर्मात्मक वस्तु का भलीभाँति प्रतिपादन कर सकती। वस्तु के पूर्ण स्वरूप को सामने रखकर विभिन्न प्रकारों, उसके विभिन्न पक्षों एवं रूपों का आकलन कर उनका पृथक्-पृथक् निर्वचन करने के लिए विश्व के दार्शनिक इतिहास में स्याद्वाद अमोघ उपाय है। क्योंकि स्याद्वाद का सिक्का सम्पूर्ण संसार में चलता है। छोटे से दीपक से लेकर व्यापक व्योम तक सभी वस्तुएँ अनेकान्त मुद्रा से अंकित हैं।[१९] इसलिए कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की सीमा के बाहर नहीं है। जिस प्रकार से यह कहा जाता है कि भलीभाँति जाना हुआ एक शब्द मनोवांछित फल को देने वाला होता है उसी प्रकार से विविध अपेक्षाओं से स्याद्वादी नय के द्वारा विज्ञात पदार्थ वास्तविक रूप को प्रकट करने वाला होता है। वस्तु के प्रत्येक रूप को तथा विविध अवयवों को जाने बिना हम उसके अखण्ड रूप को नहीं जान सकते। केवल उसकी सतह मात्र को या किसी एक अंग को जान लेने पर सम्पूर्ण रूप कैसे ज्ञात हो सकता है? यदि हम व्यावहारिक जीवन के किसी पहलू का भलीभाँति विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि सच्चे ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानाभास ही अधिक झलकता है। इसलिए हमारा व्यावहारिक ज्ञान आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रत्येक आत्मिक-क्रियाओं को तथा उनकी गति को यथार्थ रूप में समझने में असफल ही रहता है। भीतरी और बाहरी जीवन में जो अन्तर है, वह एक बार भले ही समझ में आ सकता है, किन्तु अन्तर दर्शाने वाली प्रत्येक क्रिया को सूक्ष्मता से समझने के लिए स्याद्वाद व अनेकान्त का सहारा लेना ही पड़ता है। क्योंकि संसारी जीव अल्पज्ञ है। उसके जीवन में वह अनेकान्तिक दृष्टि नहीं है, जिससे वह सत्, असत्, उभय और अनुभय इन चार कोटियों को भलीभाँति ध्यान में रखकर चिन्तन एवं आचरण करता हो। परन्तु अहिंसा की परिपूर्णता के लिए अनेकान्तिक दृष्टि, विचार एवं आचरण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। जो अनेकान्ती है वह सचमुच मानसी अहिंसक है। उसके मन में कोई द्वैत नहीं रह जाता। वह तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर यथार्थ तथा अयथार्थ का निर्णय करने में समर्थ होता है और विविध आध्यात्मिक अनुभूतियों की तारतम्यता को स्याद्वादी भाषा में भलीभाँति अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तुतः अनेकान्त का सिद्धान्त उनके लिए चुनौती है जो संसार की क्षणिकता में तो विश्वास रखते हैं पर विभिन्न अपेक्षाओं से आत्मा, जगत् और जीवन का विचार नहीं करते। इससे यह भी चिन्तन प्रकट होता है कि धर्म 'केवल इतना ही या ऐसा ही' नहीं है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं और समय तथा निमित्त पाकर वे कभी न कभी किसी न किसी रूप में प्रकट होते हैं। जैन आगम ग्रन्थों में इसे कई उदाहरणों से समझाया गया है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक क्षण दृश्यमान जगत् में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। समय, अवस्था, ऋतु और सम्वत् आदि इस परिवर्तन के ही स्पष्ट प्रमाण है। यह परिवर्तन प्रत्येक वस्तु में दो रूपों में निरन्तर होता रहता है। परिवर्तन का प्रथम स्वरूप क्षणिक एवं अस्थाई लक्षित होता है। जैसे कि सामने स्थित विभिन्न पुष्पों को प्रतिदिन जन्म लेते, विकसित होते और जीर्ण-शीर्ण होकर धूलि में मिलते देखते हैं। किन्तु बड़े-बड़े पेड़ों की डालियों से लगने वाले पत्रों को पतझड़ में झरते, वसन्त में कोमल-कोपल उगते, आतप में कुम्हलाते और वर्षा में लहलहाते तथा शिशिर में ठिठुरते हुए देखते हैं। किन्तु यह परिवर्तन दृश्यमान है। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं में और विशेषकर जड़ वस्तुओं में होने वाला परिवर्तन सामान्य रूप से लक्षित नहीं होता। दीर्घकाल की अवधि में ही जाकर कुछ पता चलता है कि हमारे सामने की कुर्सी-मेज और चारपाई में भी कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, किन्तु हमें सहसा भान नहीं होता। परन्तु परिवर्तन के बीच हमें इसका भी स्पष्ट अनुभव होता है कि प्रत्येक पदार्थ में होने वाला परिवर्तन कथंचित् कम और बाहरी है। और उसका अस्तित्व स्थाई तथा नित्य है। अर्थात् परिवर्तन उसके कुछ अंशों में ही परिलक्षित होता है। उससे वस्तु इसीलिए बिलकुल नहीं बदलती। यदि वह बिलकुल बदल जाय तो हम दूसरे दिन उसे पहचान बिना यह समझ में नहीं आ सकता कि इन जड़ वस्तुओं में भी क्या कोई परिवर्तन होता है। फिर, इनके समझने और कथन की शैली में अत्यन्त भिन्नता है। उदाहरण के लिए वेदान्त दर्शन के अनुसार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं अर्थात् नहीं हैं। केवल सत् आत्मा है और वस्त्र-पात्र आदि पदार्थ आत्मा के वृत्तिरूप हैं। कहने का अर्थ यह है कि वस्तुतः वे वस्तुएँ नहीं हैं, केवल उनका भान होता है। यह कथन किसी दृष्टि से और किसी सीमा तक सत्य हो सकता है। और इसीलिए दर्शन का भली-भाँति अनुशीलन करने वाले साहित्यकारों ने 'रस को आत्मचैतन्य स्वरूप' माना है। किन्तु रस नित्य नहीं है। क्योंकि सदा उसकी अनुभूति नहीं होती। और व्यवहार में रस उत्पन्न तथा विनष्ट होता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य-जगत् में भी आत्मतत्व स्वरूप रस का विचार करने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभिन्न अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर उसके नित्यत्व, अनित्यत्व का चिन्तन किया गया है। इसी प्रकार जीवन और जगत्, प्रकृति तथा विकृति, सत् और असत्, एवं जड़ और चेतन आदि का विचार अनेकान्तिक तुला पर ही भलीभांति किया जाता रहा है। शब्दों को ठीक-ठीक तौल कर यथाक्रम में प्रयुक्ति या अभिव्यक्तीकरण किसी अपेक्षा को ध्यान में रख कर ही किया जाता है। बिना अनेकान्त के व्यवहार ठीक से बनता नहीं। अनेकान्त की इसलिए भी संसार को आवश्यकता है कि स्थान-स्थान पर विषमता और अज्ञान है उसे ठीक से समझे बिना समानता और सुख की स्थापना नहीं हो सकती। अनेकान्त नये-शृंखला से सम्बद्ध वह न्याय-तुला है जिस पर जीवन के विभिन्न पक्षों को यथार्थ रूप में देखा-परखा जा सकता है।

अनेकान्त बनाम समन्वयवाद

यदि हम दर्शन के मूल इतिहास का गम्भीरता के साथ अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि वैदिक युग के ऋषि-महर्षि ही नहीं, उनके पूर्वज भी 'सदसत्' के सिद्धान्त को मानते थे। उनके अनुसार कौन ठीक से जानता है और कौन कह सकता है कि 'यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई। जगत् का आदिकारण सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। किन्तु कवियों ने अपने हृदय में सत् के बन्धन को असत् में देखा था।'[१८]

इसी प्रकार चिर सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर गौतम बुद्ध ने जिन 'अस्ति' और 'नास्ति' की विभिन्न कोटियों को निकृष्ट तथा मूल वस्तु से भटकना बतलाया था उन्हीं को लेकर उनके दार्शनिक अनुयायियों के सर्वास्तिवादी, विज्ञानवादी, शून्यवादी आदि विभिन्न सम्प्रदाय हो गए।[१९] और परिणामस्वरूप मध्यममार्ग का जन्म हुआ। वस्तुतः एक ही वस्तु में नित्य, अनित्य, गुण-अवगुण, सुन्दर-असुन्दर आदि अनन्त धर्म रहते हैं। और इसलिए अनेकान्त उन सभी दृष्टियों का संश्लेषणात्मक 'सकलादेश' प्रस्तुत करता है जो सविकल्प है, खण्ड-खण्ड है। संसार में दृश्यमान पदार्थ खण्ड-खण्ड रूप में ही लक्षित होते हैं। उनके देखने और समझने में मानव की अल्पज्ञता भलीभांति अभिव्यक्त होती है। अतएव किसी भी वस्तु की सत्ता या असत्ता के सम्बन्ध में हम केवल यही कह सकते हैं कि वह किसी अपेक्षा से ऐसा है और किसी अपेक्षा से ऐसा नहीं है तथा किसी अपेक्षा से वैसा है और नहीं भी है। इन तीन कोटियों के आधार पर सप्तभंग होते हैं, जिन्हें सप्तभंगी नय कहते हैं।[२०] ये सप्तभंग अखण्ड सत्य को समझने के लिए विभिन्न दृष्टियों का एकीकरण है जो वस्तु-निर्वचन में सम्यक्दृष्टि की उपपत्ति करता है। और इसीलिए स्याद्वाद को समन्वयवाद भी कहा जाता है। इसमें सभी दृष्टियों का सम्यक् अन्वय रहता है। उपनिषद् जिस आत्मतत्व का निर्वचन 'नेति नेति' कहकर करते हैं वस्तुतः वह भी स्याद्वाद की एक शैली है। भाषा में उस अनिर्वचनीय अनुभूति को कैसे अभिव्यक्त किया जा सकता है? स्याद्वाद के मूल बिन्दु पर व्यवहार और निश्चय का समन्वय हुआ है। सामान्य रूप से व्यवहार अभूतार्थ तथा असत्यार्थ कहा गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वस्तु के अंश या पर्याय सर्वथा असत्य है। एक आत्मवादी की दृष्टि में भौतिक शरीर और यह संसार असत्य, मिथ्या तथा अनित्य हो सकता है, लेकिन उसके ऐसे मानने से वह असत्य नहीं हो जाता। यह तो केवल भेदकल्पना है। अतएव द्रव्यदृष्टि को सापेक्ष कहा गया है। और विविध अपेक्षाओं को केन्द्र में रखकर कथन किया जाता है। परन्तु आचार्य शंकर का कथन है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी स्वभाव नहीं रह सकते, इसलिए यह आर्हतमत असंगत है।[२१] किन्तु हमें अनुभव होता है कि हम में अविद्या और विद्या, अज्ञान और ज्ञान, गुण-अवगुण आदि अनेक विरोधी-धर्म एक साथ रहते हैं। यदि हममें चेतनत्व हैं तो जड़ के भी अंश हैं और कभी-कभी जड़ता प्रकट हो जाती है। सत्-असत् को स्वरूपचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) और पररूपचतुष्टय की दृष्टि से मानने में कोई दोष उपस्थित नहीं होता।[२२] इसलिए केवल व्यवहारपक्ष को ही ध्यान में रखकर आचार्य शंकर तथा परवर्ती विद्वानों का दोष देना या स्याद्वाद को संदेहवाद कहना उचित नहीं है। जो परमार्थसत्य और व्यवहारसत्य को मिला देते हैं वे ऐसा ही समझते हैं। आचार्य समन्तभद्र का स्पष्ट कथन है कि तत्व न तो सन्मात्र है और न असन्मात्र है। क्योंकि परस्पर निरपेक्ष सत् तत्व और असत् तत्व दिखलाई नहीं पड़ता। इसी प्रकार सब धर्मों के निषेध का विषयभूत कोई एक तत्व भी नहीं देखा जाता। हां, सत्वासत्व से विभिन्न तथा परस्परापेक्षरूप तत्व अवश्य देखा जाता है, जो उपाधि के (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के) भेद से है।[२३]

व्यवहार में अनेकान्त

दैनिक जीवन में कई प्रकार के विरोधी, उलझनों में डालने वाले तथा आँखों और बुद्धि को चक्कर में डालने वाले कार्यों को देखना-समझना और कभी-कभी परिस्थितिवश करना भी पड़ता है। हमारी प्रत्येक क्रिया निश्चित और उद्दिष्ट होने पर कभी-कभी भिन्न होती है। यदि हम सावधानी से अपने काम में लगे हों और कोई अचानक हमारे कार्य के संबंध में प्रश्न कर बैठे तो हम अचकचाकर ही उत्तर देते हैं। और कभी कोई बात न बतानी हो तो क्षणभर के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोचना पड़ता है कि क्या कहें, जिससे बात छिप भी सके और ठीक भी बता दी जाय। ऐसे अवसरों के अतिरिक्त सामान्य रूप से भी जब कोई मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछता है तो मेरा उत्तर होता है—हाँ, ठीक तो हूँ। किन्तु पूछने वाले को इससे असन्तोष नहीं होता। 'तो' शब्द उसे खटकता है। इसलिए बात स्पष्ट करने के लिए फिर पूछता है—क्या पहले से ठीक है ? उत्तर मिलता है—कुछ तो ठीक है। किन्तु इससे पूरी जानकारी नहीं मिल पाती। अतएव फिर प्रश्न होता है कि औषध से बराबर लाभ मिल रहा है या नहीं ? मैं कहता हूँ—लाभ तो दिखलाई नहीं पड़ता पर बिलकुल लाभ न हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। कुल समझ में अर्थ यही निकलता है कि कुछ लाभ है, कुछ नहीं। बस यही 'अस्ति' और 'नास्ति' है। विद्वान् की शंका है कि 'अस्ति' से काम चल सकता है तो नास्ति मानने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु बात ऐसी नहीं है। बिना अन्धकार के प्रकाश कैसा और बिना असत् के सत् कैसा ? अन्धकार के अभाव में प्रकाश और सत् के अभाव में असत् दिखलाई पड़ता है। दोनों अविनाभावी हैं। जिस प्रकार व्यवहार और परमार्थ (सत्य) को ध्यान में रखकर विचार किया जाता है, उसी प्रकार सत् और असत् दोनों को एक साथ ध्यान में रखा जाता है। और इसलिए सम्पूर्ण सत्य की प्राप्ति का अर्थ है असत् का सर्वथा अभाव। दर्शन में तथा व्यवहार के क्षेत्र में यह अर्थ बराबर समझा जाता रहा है और समझा जाता है। अनेकान्त के बिना किसी प्रकार का व्यवहार चल नहीं सकता है। सोने-चांदी का व्यापारी जब किसी हार को खरीदता है, तब पचास ग्राम के तौल वाले उस वजन के हार का सोने के उस दिन के भाव के पूरे दाम नहीं देता है। यद्यपि वह जानता है कि यह पूरा हार सोने का बना हुआ है, किन्तु वह यह भी जानता है कि इसमें चार ग्राम मिलावट है। इसलिये वह मिलावटी वस्तु के दाम कैसे दे सकता है ? जो उस अनेकान्त की दृष्टि से मूल वस्तु को या वस्तु-स्वभाव को नहीं समझे, तो आध्यात्मिक जगत् में कहाँ वह भरमा सकता है, इसका उसे भी पता नहीं चलेगा। अतएव अनेकान्त व्यवहार की कसौटी है। नय और प्रमाण की भी सम्यक्व्यवस्था अनेकान्त पर आधारित है। हमें तत्-तत् वस्तुओं को उनके गुण-धर्मों के अनुसार विश्लेषित कर समझनी चाहिए। हमारे व्यावहारिक जीवन में जिन विशेषणों का, क्रियाओं का तथा साधन-धर्मियों का प्रयोग किया जाता है, वह सब अनेकान्तपरक होता है। क्योंकि अपने आप में कोई छोटा-बड़ा, भला-खराब तथा सुन्दर-असुन्दर नहीं होता। हमारी समझने की और मानने की अलग-अलग दृष्टियों के कारण वह वस्तु हमें वैसी लक्षित होती है। वास्तव में वस्तु तो जैसी है, वैसी ही है।

यह प्रतिदिन के व्यवहार में देखने में आता है कि भौतिक जगत् में स्थान, समय तथा भावों की विलक्षणता के कारण एक ही वस्तु, व्यक्ति तथा स्थान की प्रतीति भिन्न-भिन्न समयों में अपने अलग-अलग रूपों में होती है। सामान्यतः दूध का रूपान्तरण होने पर वह स्वयं दही में दिखलाई पड़ने लगता है। दूध से दही बनने का बहिरंग कारण बेक्टेरिया या सूक्ष्म जीवाणु हैं, किन्तु अन्तरंग कारण स्वयं दूध का परिणमन है। बाहर से प्रतीत होने वाली इन विभिन्न अवस्थाओं में भी मूल द्रव्य ज्यों का त्यों बना रहता है, यह व्यावहारिक तथा यथार्थ दृष्टि भी हमें अनेकान्त सिद्धान्त से मिलती है। इसलिए कहा गया है—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिवडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥—सन्मतिसूत्र, ३. ६९

अर्थात्—जिसके बिना लोक के सभी व्यवहार निष्पन्न नहीं हो पाते, अखिल भुवन के उस एक अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

संक्षेप में, अनेकान्तवाद का सिद्धान्त व्यवहार और परमार्थ दोनों का विलक्षण आश्रयस्थान है इसका आश्रय लिए बिना व्यवहार और परमार्थ दोनों भलीभांति निष्पन्न नहीं हो पाते। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहते हैं। उन अनन्त धर्मों का कथन अनेकान्त की दृष्टि से ही स्याद्वाद की भाषा में किया जा सकता है। वास्तव में परमार्थ में वस्तु का सत्य ही ग्राह्य होता है। इसलिए 'सत्' को लेकर ही अनेकान्त का व्यवहार होता है। कोई यह कहना चाहे कि किसी अपेक्षा से गधे के सींग होते हैं और किसी अपेक्षा से नहीं होते, तो यह न तो व्यवहार में और न अनेकान्त में घट सकता है। अनेकान्त का प्रयोग वहीं किया जा सकता है जहाँ वस्तु है। जहाँ वस्तु ही नहीं है, वहां उसके धर्मों को अनेकान्त कैसे प्रकाशित कर सकता है ? यह व्यवहार भी कैसे बन सकता है कि किसी अपेक्षा से यह माता है और किसी अपेक्षा से वन्ध्या है। यद्यपि अनेकान्त विरोधी धर्मों को प्रकाशित करता है; जैसे कि—जीव अमूर्तिक है, कथंचित् मूर्तिक भी है, किन्तु यहां जीव द्रव्य का सद्भाव होने से अनेकान्त चरितार्थ हो सकता है। परन्तु जहाँ वस्तु ही वैसी न हो, वहाँ अनेकान्त नहीं बन सकता है। इसी प्रकार व्यवहार में अधिकतर व्यक्तियों की अनुभूत वस्तु में भिन्नता भी लक्षित होती है, किन्तु पूर्ण रूप से एक अखण्ड वस्तु के सत्य में भिन्नता नहीं होती। इस व्यवहार और परमार्थ से द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायों को अनेकान्त भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भलीभांति समझाने वाला है। अखण्ड वस्तु-तत्त्व का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्णय करने के लिए तो यह नितान्त आवश्यक है। इतना ही नही, अनेकान्तवाद स्व-परिणाम के रूप में नयवाद का मौलिक विधान करता है, जिसके अनुसार हम अपने को तथा संसार की अन्य वस्तुओं, उनके धर्म तथा दर्शनों को उन सब की अपनी-अपनी दृष्टि से समझने का प्रयत्न करें, तो स्वतः ही सब विरोध समाप्त हो जाते हैं। जब कोई विरोध ही नहीं रह जाएगा, तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव भी अपने आप दूर हो जायेंगे। इस प्रकार यह अनेकान्तवाद का सिद्धान्त व्यक्तिगत तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्तियों में उदात्त बौद्धिक वृत्ति को जागृत कर व्यवहार की यथार्थ भूमिका प्रस्तुत करता है।

संदर्भ स्थल :

१ जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण वियाणइ से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए॥ —आचारांगसूत्र ५, ६०

२ खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा॥ —पंचास्तिकाय, गा० ७४

३ भावस्स णत्थि नासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो। —पंचास्तिकाय, १, १५

४ कालओ णं जीवे ण कयावि ण आसि, णिच्चे णत्थि पुण से अन्ते। —भगवती सूत्र, २, २, उ० १

५ देवदत्त शास्त्री : चिन्तन के नये चरण, पृ० ६८

६ नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ —ऋग्वेद, १०, १२९

७ वही, १०, १२९, ४

८ परमाणु मित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जये जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि॥ —समयसार, १५६

९ अस्तित्वपूर्वकं नास्ति अस्ति नास्तित्वपूर्वकम्।
अतो नास्ति न गन्तव्यं अस्तित्वं न च कल्पयेत्॥

१० श्री दलसुखभाई मालवणिया के 'जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन' से उद्धृत, पृ० ११

११ दलसुखभाई मालवणिया के 'जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा' से —उद्धृत, पृ० ५

१२ कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्निचूडामणीयते॥ —आदिपुराण

१३ (क) सर्वथात्वनिषेधको नेकान्तताद्योतकः कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः। —पंचास्तिकाय टीका
(ख) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषकः।
स्यान्निपातार्थयोगित्वात् केवलिनामपि॥ —आप्तमीमांसा, १०३

१४ 'स्यादित्यव्ययमनेकान्ताद्योतकं ततः स्याद्वाद 'अनेकान्तवाद' इति यावत्। —स्याद्वादमंजरी

१५ अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः। —लघीयस्त्रय टीका, ६२

१६ एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्ध नानाधर्म स्वीकारो हि स्याद्वादः। स्याद्वादो नैकान्तवादः।
—स्याद्वादमंजरी, टीका, ५

१७ आदीपमाव्योम समस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥ —अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, ५

१८ दृष्टव्य है—ऋग्देव, दशम मण्डल (१०,१२९,१-७)

१९ भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग प्रथम, पृ० २४५।

२० स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति च वक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः।

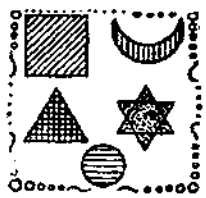
२१ दृष्टव्य है—असंगतमिदमार्हतमतम्, —ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, २,२, ३३-३४

२२ सदेव सर्व को नेच्छेत्स्वरूपादि—चतुष्टयात्।
असदैव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ —देवागम, १,१५

२३ न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वं निषेध गम्यम्।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदात् स्वप्नेषि नेतत्त्वदृषेः परेषाम्॥—युक्त्यनुशासन, ३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-दर्शन में जीव-तत्त्व
एक विवेचन



✡ श्री विजयमुनि शास्त्री

□

जीव तत्त्व

दर्शनकार जीव का लक्षण इस प्रकार करते हैं—"जो द्रव्य और भाव प्राणों से जीता है, वह जीव है। जीव उपयोग मय है, कर्ता और भोक्ता है, अमूर्त है और स्वदेह-परिमाण है। वह संसारस्थ है और सिद्ध भी है। जीव स्वभावतः एव ऊर्ध्वगमन करने वाला है।" इस लक्षण में संसारी और मुक्त सभी प्रकार के जीवों का स्वरूप कह दिया गया है।

चार्वाक (नास्तिक) मत में जीव की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता। उसका खण्डन करने के लिए लक्षण में 'जीव' शब्द जोड़ा गया है। नैयायिक मत में ज्ञान और दर्शन को आत्मा का स्वरूप नहीं माना गया है, उसका खण्डन करने के लिए जीव को उपयोगमय कहा है। चार्वाक जीव को देह से भिन्न नहीं मानता, देह मूर्त है, किन्तु जीव मूर्त नहीं हो सकता। यह बतलाने के लिए लक्षण में 'अमूर्त पद' दिया गया है। सांख्य मत में जीव को कर्मों का कर्ता नहीं माना है, उसका परिहार करने के लिए कर्ता पद लगाया गया है। नैयायिक, मीमांसक और सांख्य-दर्शन वाले आत्मा को विभु एवं सर्व व्यापक मानते हैं, उनके मतों का खण्डन करने के लिए 'स्वदेह परिमाण' पद दिया है। बौद्धदर्शन में जीव को भोक्ता नहीं माना गया है, उसके निराकरण करने के लिए भोक्ता पद रखा है। सदाशिव सम्प्रदाय वाले जीव को सदा मुक्त मानते हैं, बुद्ध नहीं मानते, उनका निराश करने के लिए संसारस्थ पद जोड़ा गया है। भाट्ट और चार्वाक मत का खण्डन करने के लिए सिद्ध पद रखा है। क्योंकि वे जीव की सिद्ध दशा नहीं मानते हैं। कुछ लोग जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव स्वीकार नहीं करते, उनके मत का खण्डन करने के लिए जीव के लक्षण में एक ऊर्ध्वगमन पद भी जोड़ दिया गया है। बौद्धदर्शन सभी पदार्थों को एकान्त क्षणिक मानते है, और वेदान्त एवं सांख्य एकान्त नित्य। जीव के विषय में भी तीनों का यही मत है, परन्तु जैनदर्शन जीव को परिणामीनित्य मानता है। द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से परिवर्तनशील।

उपयोग

जीव के असाधारण परिणाम को उपयोग कहते हैं। वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए जीव की जो शक्ति-प्रवृत्त होती है, उसे उपयोग कहा गया है। उपयोग के दो भेद हैं—ज्ञान उपयोग और दर्शन उपयोग। जैनदर्शन के अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। प्रत्येक पदार्थ में सामान्य और विशेष—ये दो धर्म पाए जाते हैं। पदार्थ के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला दर्शनोपयोग और पदार्थ के विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञानोपयोग होता है। दर्शन उपयोग को निराकार इसलिए कहते है, कि इसमें पदार्थ की सत्ता मात्र का ग्रहण होता है। उसमें वस्तु का आकार और प्रकार प्रतिभासित नहीं होता। इसी आधार पर इसे निर्विकल्पक भी कहते हैं, क्योंकि यह वचन-व्यवहार से शून्य रहता है। ज्ञानोपयोग साकार होता है, क्योंकि ज्ञान से जो पदार्थ जाना जाता है, उसके आकार और प्रकार का स्पष्ट परिबोध हो जाता है, तथा वह वचन-व्यवहार के योग्य भी होता है। इसे सविकल्पक ज्ञान भी कहते हैं। उपयोग जीव का असाधारण धर्म एवं परिणाम है।

जीव का कर्तृत्व

प्रश्न उठता है कि जीव किसका कर्ता है ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है, कि व्यवहार नय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव कर्मरूप पुद्गल का कर्ता है, अशुद्ध निश्चय नय से जीव राग-द्वेष आदि विभाव भावों का कर्ता है और शुद्ध निश्चय नय से जीव शुद्ध ज्ञान एवं शुद्ध दर्शन आदि शुद्ध स्वभावों का कर्ता भी है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को द्रव्य कर्म क्यों कहते हैं ? इसलिए कि ये आठों कर्म पुद्गल रूप कार्मण-वर्गणा से निष्पन्न होते हैं। राग-द्वेष आदि को भाव कर्म क्यों कहते हैं ? इसलिए कि राग और द्वेष जीव के विकारी भाव हैं। परन्तु ये जीव में ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए भाव कर्म कहे जाते हैं। द्रव्यकर्म और भावकर्म तो समझ में आगया। किन्तु नोकर्म क्या होता है ? औदारिक आदि शरीरों के योग्य और आहार आदि पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को नोकर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में कर्म को फल देने में सहायता करता है, उसे नोकर्म कहते हैं। जीव में द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का कर्तृत्व है। अतः जीव कर्ता है।

शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय का स्वरूप क्या है ? जो नय कर्मजन्य बन्ध, उदय एवं सत्ता आदि-उपाधि की अपेक्षा न रखकर केवल द्रव्य के मूल स्वरूप को ग्रहण करता है, वह शुद्ध निश्चयनय कहलाता है। जो नय कर्मजन्य बन्ध एवं उदय आदि उपाधि की अपेक्षा रखकर द्रव्य के स्वरूप को ग्रहण करता है, वह अशुद्ध निश्चय नय होता है। अशुद्ध निश्चय नय और व्यवहार नय में क्या भेद है ? पर-निमित्तजन्य अवस्था से संयुक्त द्रव्य को ग्रहण करने वाला, अशुद्ध निश्चय नय होता है। परन्तु व्यवहार नय तो अन्य द्रव्य के गुणों को दूसरे द्रव्य में आरोप करने से होता है। व्यवहार नय का आधार लोक-व्यवहार होता है। पर लोक-व्यवहार कभी पदार्थभूत नहीं होता। अतः लोक-व्यवहार को विषय करने वाला व्यवहार नय असद्भूत होता है।

जीव का भोक्तृत्व

व्यवहार नय से जीव सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है और निश्चयनय से जीव अपने चैतन्य भाव को ही भोगता है। जीव का भोक्तृत्व यहाँ पर तीन प्रकार से बताया गया है—व्यवहार नय से जीव कर्म उदय जन्य सुख और दुःख का भोक्ता है, अनुकूलवेदन को सुख कहते हैं और प्रतिकूल वेदन को दुःख। अशुद्ध निश्चय नय से जीव अपने राग-द्वेष रूप विभाव भावों का भोक्ता है। इसी प्रकार हर्ष और विषाद आदि भावों का भी भोक्ता है। शुद्ध निश्चय नय से जीव अपने विशुद्ध भावों का भोक्ता है। वे विशुद्ध भाव कौन से हैं। श्रद्धान, ज्ञान और आचरण। अतः कर्तृत्व के समान भोक्तृत्व भी जीव का निज स्वरूप ही है।

जीव का अमूर्तत्व

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श को मूर्ति कहते हैं। जिसमे मूर्ति हो, वह मूर्त और जिसमें न हो, वह अमूर्त है। जीव में ये नहीं होते, अतः जीव अमूर्त है। निश्चय नय से जीव में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं होते हैं। परन्तु संसारी अवस्था में कर्मबद्ध होने के कारण व्यवहार नय से जीव मूर्त भी है। जिस समय जीव अपनी साधना के द्वारा अपने आप को कर्म के बन्धनों से सर्वथा विमुक्त कर लेता है, उस समय वह अमूर्त हो जाता है। मूर्त अवस्था विकारी अवस्था है और अमूर्त दशा, शुद्ध दशा है।

स्वदेह-परिमाण

समुद्घात अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में, जीव व्यवहार-नय से स्वदेह-परिमाण वाला होता है। क्योंकि संकोच और विकास जीव का स्वभाव है। परन्तु निश्चय नय से जीव असंख्यात प्रदेशी है, लोकव्यापी है। उसका संकोच और विकास कर्मों पर आधारित होता है। पुद्गल के अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं। आकाश के जितने स्थान को एक परमाणु घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं। लोकाकाश असंख्यात प्रदेश वाला है, और एक जीव के भी असंख्यात ही प्रदेश होते हैं। अतः जीव में लोक-पूरण की शक्ति होती है। किन्तु जीव के प्रदेशों में संकोच और विकास कर्मोदय से प्राप्त होता है। इसी आधार पर जीव को स्वदेह-परिमाण कहा जाता है। जीव में संकोच एवं विकास दीपक के प्रकाश के समान होता हैं। समुद्घात क्या होता है ? अपने मूल शरीर में रहते हुए जीव के आत्म-प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। यह क्यों होता है ? वेदना, मरण एवं कषाय आदि के कारण। किन्तु केवलि-समुद्घात में आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं। यह तब होता है, जबकि भोगावली कर्म अधिक हों, और आयुष्य कर्म के दलिक अल्प होते हैं।

ऊर्ध्वगमन स्वभाव

जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। जिस प्रकार अग्नि की शिखा स्वभावतः ही ऊपर की ओर जाती है, उसी प्रकार जीव भी कर्म-रहित होकर स्वभावतः ऊपर की ओर ही गमन करता है। संसारी अवस्था में जीव ऊर्ध्वगमन क्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करता है ? इसका समाधान यह है कि जीव अमूर्त होने के कारण स्वभावतः ऊर्ध्वगमन स्वभावी होता हुआ भी संसारी अवस्था में कर्मों के भार से संयुक्त है। अतः कर्मभार से अवनत होने के कारण आयुष्य कर्मरूप रस्सी से जिधर भी खींचा जाता है, उधर को ही चला जाता है। जीव का शुद्ध स्वभाव तूंबी के समान है। तूंबी अपने स्वभाव से तो जल की सतह पर ही रहती है, परन्तु मिट्टी का लेप लगने पर वह नीचे की ओर चली जाती है। इसी प्रकार जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील है, किन्तु कर्मों के लेप के कारण वह नीचे की ओर जाता है।

सिद्ध का स्वरूप :

सकल-कर्म-विकल जीव को सिद्ध कहते हैं। अष्टविध कर्म क्षय करके सिद्ध होने के कारण वह आठ गुणों वाला होता है। सिद्ध लोक के अग्र भाग पर स्थित हैं। अतः लोक के अग्रभाग को सिद्धक्षेत्र और सिद्ध-शिला कहते हैं। मध्य लोक के जिस भाग से जीव सिद्ध होते हैं, उसका व्यास पैंतालीस लाख योजन का है। अतः सिद्ध-शिला भी उतनी ही विस्तृत है। क्योंकि सिध्यमान जीव धनुष से छूटे तीर के समान सीधे ऊपर की ओर जाते हैं, इधर-उधर की विदिशा में उनका गमन नहीं होता है।

यदि सिध्यमान आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन ही है, तो फिर वह लोक के अग्रभाग पर ही क्यों ठहर जाता है, अलोक में क्यों नहीं जाता ? इसका उत्तर यह है कि अलोक में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय न होने के कारण आत्मा अलोक में गमन नहीं कर सकता। ये दोनों लोक के अग्रभाग तक ही हैं। अतः सिद्ध आत्मा लोक के अग्रभाग पर स्थित रहते हैं। सिद्धों के भेद और उनके स्वरूप का विशेष प्रतिपादन मोक्ष तत्त्व में किया जाएगा। यहाँ केवल स्वरूप का संक्षेप में कथन किया है।

संसारस्थ जीव :

अष्ट विध कर्मों से बद्ध जीव को संसारस्थ कहते हैं। जो जीव अभी भव-बन्धनों में बद्ध है, वह संसारी है। संसार का कारण है—कषाय भाव। जब तक जीव कषाय-युक्त है, वह मुक्त नहीं हो सकता है। और जब तक वह मुक्त नहीं होता, वह संसारस्थ कहलाता है। कर्मबद्ध आत्मा संसारी है। प्रश्न होता है कि आत्मा तो अमूर्त है, फिर मूर्त कर्म के साथ उसका बन्ध क्यों और कैसे होता है ? इस प्रश्न का समाधान यह कहकर दिया गया है, कि आत्मा अपने मूल स्वरूप से तो अमूर्त है, परन्तु मूर्त कर्म के साथ उसका सम्बन्ध होने से व्यवहार नय से आत्मा भी मूर्त कहा जाता है। यह संसारस्थ जीव का स्वरूप है।

जीव के लक्षण और स्वरूप का प्रतिपादन यहाँ पर विभिन्न दृष्टियों से किया गया है। कर्म और अकर्म के आधार पर ही जीव को संसारी और सिद्ध कहा जाता है। वस्तुतः जीव तो जीव है, वह न तो संसारी है, और न सिद्ध। संसारी और सिद्ध ये जीव की पर्याय विशेष हैं। कर्म सहित आत्मा संसारी और कर्म रहित आत्मा सिद्ध। कर्म एक उपाधि है, जिसके सद्भाव और असद्भाव से आत्मा संसारी एवं सिद्ध पर्याय वाला होता है। आत्मा की सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। भले ही उसके स्वरूप में विवाद हो। स्व संवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा स्वयं सिद्ध है। "मैं हूँ" अथवा "मैं विचार करता हूँ।" इस सत्य एवं तथ्य से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। आत्मा और जीव की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद हैं—जैनदर्शन आत्माओं को अनन्त मानता है। अनन्त आत्माओं का वर्णन कैसे किया जाए ? इसके लिए अनेक पद्धतियों का आश्रय लेकर, आत्माओं के स्वरूप का कथन इस प्रकार से किया गया है।

जीव के भेद :

जीव अनन्त हैं। सिद्ध जीव भी अनन्त हैं, क्योंकि अनन्त काल से जीव सिद्ध होते रहे हैं। संसारस्थ जीव भी अनन्त हैं। संसार के अनन्त जीवों का कथन किसप्रकार किया जाए ? इसके लिए आचार्यों ने संसारी जीवों के स्वरूप को समझाने के लिए अनेक प्रकार से जीवों के भेद एवं वर्गीकरण किया है। जीवों के भेदों का कथन तीन प्रकार से किया गया है—संक्षेप से, विस्तार से और मध्यम रूप से। संक्षेप की अपेक्षा जीव का भेद एक है, विस्तार की अपेक्षा जीव के भेद पाँच-सौ त्रेसठ हैं, और मध्यम रूप से जीव के भेद चौदह भी हैं।

एक विध जीव :

चेतना गुण की अपेक्षा से जीव का भेद एक है। चेतना गुण जीव का असाधारण धर्म है। चेतना सर्वजीवों में उपलब्ध होती है। जीव मात्र का यह लक्षण है। परम संग्रह नय की दृष्टि में जिसमें चेतना है, वह जीव है। फिर भले ही वह सिद्ध हो, या संसारस्थ हो। चेतना सिद्ध में भी है, और संसारी में भी है। चेतना की दृष्टि से सिद्ध में और संसारी जीव में किसी प्रकार का भेद नहीं है। अतः चेतना गुण की अपेक्षा से अथवा परम संग्रह नय की दृष्टि से जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का एक भेद है। संसार के समस्त जीव एक हैं, सब में चेतना गुण होने से, जिसमें चेतना गुण नहीं, वह जीव भी नहीं, जैसे पुद्गल। अतः जहाँ-जहाँ जीवत्व है, वहाँ-वहाँ चेतना गुण भी अवश्य ही है।

चेतना के स्वरूप का प्रतिपादन दो प्रकार से किया गया है—आगमिक दृष्टि से और दार्शनिक दृष्टि से। आगमिक दृष्टि से चेतना क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है, कि जीव के बोध रूप व्यापार को चेतना कहते हैं। जीव का यह बोध रूप व्यापार दो प्रकार का है—सामान्य और विशेष। जीव की चेतना जब वस्तु के विशेष धर्मों को गौण करके वस्तु के सामान्य धर्मों को मुख्य रूप से ग्रहण करती है, तब उसे दर्शन चेतना कहते हैं। यह दर्शन चेतना ही जीव का सामान्य रूप बोध व्यापार कहा जाता है। जीव की चेतना जब वस्तु के सामान्य धर्मों को गौण करके वस्तु के विशेष धर्मों को मुख्य रूप से ग्रहण करती है, तब उसे ज्ञान चेतना कहते हैं। यह ज्ञान चेतना ही जीव का विशेष रूप बोध व्यापार कहा जाता है। एक ही चेतना कभी सामान्य रूप और कभी विशेष रूप क्यों होती है? क्योंकि प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। सामान्य को ग्रहण करने वाली दर्शन चेतना और विशेष को ग्रहण करने वाली ज्ञान चेतना। ज्ञान और दर्शन दोनों जीव के सहज, स्वाभाविक और अनुगत गुण हैं।

दार्शनिक दृष्टि से चेतना के तीन प्रकार हैं—ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। किसी भी वस्तु को जानने के लिए चेतना का जो ज्ञानरूप परिणाम, वह ज्ञान चेतना है। कषाय के उदय से चेतना का जो क्रोध रूप परिणाम, वह कर्म चेतना है। शुभ एवं अशुभ कर्म के उदय से चेतना का जो सुख-दुःख रूप परिणाम, वह कर्मफल चेतना है। चेतना के उक्त तीन रूपों को अन्य प्रकार से भी कहा जाता है; जैसे—जिस जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और वीर्यान्तराय रूप घातीकर्मों का उदय-भाव है, इस कर्मोदय के कारण ही जिसकी चेतना शक्ति अविकसित है, अतः जो इष्ट एवं अनिष्ट रूप कार्य करने में समर्थ नहीं है, और जो प्रधान रूप से कर्म के फल का वेदन करता है, उस एकेन्द्रिय आदि जीव की चेतना, कर्मफल चेतना है। जिस जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीयकर्म का विशेष उदय-भाव होता है, कर्मोदय के कारण जिसकी चेतना मलिन है, किन्तु वीर्यान्तराय कर्म के किंचित् क्षयोपशम से जो इष्ट एवं अनिष्ट कार्य करने में समर्थ है, उस द्वीन्द्रिय आदि जीव की चेतना, प्रधानरूप से कर्म चेतना है। जिस जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और वीर्यान्तराय कर्मों का अशेष क्षय हो चुका है, जो कर्म और उसके फल को भोगने में विकल्प-रहित है, उस जीव की चेतना, प्रधान रूप से ज्ञान चेतना है। किन्तु चेतना जीवमात्र का लक्षण होने से सभी जीवों में होती है। एक अन्य प्रकार से भी चेतना के तीन भेद हो सकते हैं—परम शुद्ध चेतना, शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना। परम शुद्ध चेतना केवल सिद्धों में रहती है। संसारस्थ जीवों में सम्यग्दृष्टि में और व्रती साधक में शुद्ध चेतना होती है, और मिथ्यादृष्टि में अशुद्ध चेतना होती है। परन्तु चेतना की सत्ता सभी जीवों में है।

द्विविध जीव :

जीव के दो भेद भी हैं—त्रस और स्थावर। ये दोनों भेद संसारी जीव की अपेक्षा से किये गये हैं। जिस जीव को त्रस नामकर्म का उदय हो, वह त्रस जीव और जिसको स्थावर नामकर्म का उदय हो, वह स्थावर जीव। त्रस के दो भेद हैं—गति त्रस और लब्धि त्रस। स्वतन्त्र रूप से गमन करने की शक्ति जिसमें हो, वह गति त्रस और सुख-दुःख की इच्छा से गमन करने वाला लब्धि त्रस होता है। गति त्रस के दो भेद हैं—तेजस्काय और वायुकाय। लब्धि त्रस के चार भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। स्थावर के तीन भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय।

त्रस और स्थावर शब्दों का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है—क्रिया की अपेक्षा से और कर्म के उदय की अपेक्षा से। क्रिया की अपेक्षा से स्थावर वह होता है, जो स्थान शील हों, जो चलते-फिरते न हों, एक स्थान पर स्थिर हों, इस अपेक्षा से स्थावर के तीन ही भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय। कर्म के उदय की अपेक्षा से स्थावर वह होता है, जिसको स्थावर नामकर्म का उदय हो। कर्म के उदय की अपेक्षा से तेजस्काय और वायुकाय भी स्थावर ही हैं। इस दृष्टि से स्थावर के पाँच भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। काय शब्द की व्याख्या आगे दी जाएगी। त्रस के चार भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। त्रस और स्थावर के भेदों में संसारी जीवों का समग्रभाव से समावेश हो जाता है। संसारी जीव इन दोनों भेदों से बाहर नहीं रहते। मुक्त एवं सिद्ध का स्वरूप आगे बताया जाएगा।

त्रिविध जीव :

वेद की अपेक्षा से जीव के तीन भेद हैं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। संसारी जीवों में इन तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदों में से एक न एक वेद अवश्य ही होता है। वेद-रहित तो केवल सिद्ध ही होते हैं। संसारी जीव वेद-रहित कभी नहीं होते हैं। वेद क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है, कि काम-भोग की अभिलाषा को वेद कहते हैं। यह किस कर्म के उदय से होता है ? नोकषाय मोहनीय कर्म के उदय से। मोहनीयकर्म के दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं—कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। नोकषाय मोहनीय के नव भेदों में तीन वेद भी हैं। जिसके उदय से स्त्री के साथ सम्भोग करने की अभिलाषा हो, वह पुरुषवेद, जिसके उदय से पुरुष के साथ सम्भोग करने की अभिलाषा हो, वह स्त्रीवेद और जिसके उदय से स्त्री-पुरुष दोनों के साथ सम्भोग करने की अभिलाषा हो, वह नपुंसक वेद। वेद को लिंग भी कहते हैं। लिंग की अपेक्षा भी तीन भेद हैं—पुरुषलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। पुरुषवेद तृण की अग्नि के समान, स्त्रीवेद काष्ठ की अग्नि के समान और नपुंसकवेद करीष (उपला) की अग्नि के समान होता है। किसमें कितने वेद मिलते हैं ? नारक जीवों में केवल एक नपुंसकवेद होता है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में केवल एक नपुंसकवेद होता है। गर्भज तिर्यञ्चों में और गर्भज मनुष्यों में तीनों वेद होते हैं। देवों में केवल दो वेद मिलते हैं—पुरुषवेद और स्त्रीवेद। सभी प्रकार के सम्मूर्च्छिम जीवों मे केवल एक नपुंसकवेद होता है। यह कथन केवल संसारी जीवों की अपेक्षा से है। क्योंकि सिद्ध तो वेद-रहित अवेदी होते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि संसारी जीव में एक न एक वेद अवश्य ही होता है। वेद मोहनीय प्रकृति की उपशमदशा में, उसकी सत्ता रहती है, उदय नहीं। वेद का सर्वथा क्षय होने पर ही अवेदक दशा आती है।

चतुर्विध जीव :

गति के चार भेद हैं—नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देव गति। गति की अपेक्षा से जीव के चार भेद हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। गति क्या है ? नामकर्म की एक प्रकृति। जिसके उदय से जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव में उत्पन्न होता है, उसे गति कहते हैं। नरक और तिर्यञ्च पाप-प्रधान गति हैं और मनुष्य एवं देव पुण्य प्रधान गति हैं।

नरक गति के परिणाम और लेश्या अशुभतर अथवा अशुभतम होते हैं। अपने पाप का दुःखमय भोग भोगने के लिए ही जीव नरक में जाकर उत्पन्न होते हैं। नरक में भयंकर शीत वेदना, भयंकर ताप वेदना, अत्यन्त क्षुधा और अत्यन्त तृषा की वेदना होती है। नरक में दुःख ही दुःख है। नरक भूमियों में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि के परिणाम अशुभ होते हैं। नारक जीवों के शरीर भी अशुभ वर्ण, अशुभ गन्ध, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श और अशुभ संस्थान वाले होते हैं। उनके शरीर अशुचि और बीभत्स होते हैं। नारक जीवों का शरीर वैक्रिय होता है, किन्तु उसमें अशुभता एवं अशुचिता ही रहती है। तिर्यञ्च और मनुष्य ही मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं। देव मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते और नारक भी मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते हैं। असंज्ञी प्राणी पहली नरक से आगे नहीं जाता। भुज परिसर्प जीव दूसरी नरक तक जा सकता है। पक्षी तीसरी नरक तक जाता है। सिंह चौथी तक और उरःपरिसर्प पाँचवी तक जा सकता है। स्त्री मरकर छठी तक जा सकती है। मत्स्य और मनुष्य सातवीं नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं। पहली से लेकर तीसरी नरक तक के जीव मनुष्य जन्म लेकर तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकते हैं। चौथी नरक तक के जीव मनुष्य जन्म पाकर निर्वाण भी प्राप्त कर सकते हैं। पाँचवीं नरक तक के जीव मनुष्य जन्म लेकर सर्वविरति रूप चारित्र की साधना कर सकते हैं। छठी नरक तक के जीव देशविरति रूप चारित्र की साधना कर सकते हैं। सातवीं नरक तक के जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं। नरकों की स्थिति जघन्य दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागर की है, दोनों के मध्य की स्थिति, मध्यम स्थिति है। नरक भूमि सात हैं—धमा, वंशा, शैला, अञ्जना, रिष्टा, मघवती और माघवती। सात नरकों के सात गोत्र इस प्रकार हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा। इन नरक भूमियों में रहने वाले जीव नारक कहलाते हैं।

तिर्यञ्च किसे कहते हैं ? नारक मनुष्य और देव को छोड़कर, संसार के शेष समस्त जीव तिर्यञ्च होते हैं। क्षुद्र जन्तु, पशु और पक्षी सब तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च में एकेन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव होते हैं। जबकि नारक, मनुष्य और देव—सब पञ्चेन्द्रिय ही होते हैं। तिर्यञ्चों में पाँच स्थावर के जीव एकेन्द्रिय ही होते हैं। विकलेन्द्रिय जीव भी तिर्यञ्च ही होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की विकलेन्द्रिय संज्ञा है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के मुख्य रूप से तीन भेद हैं—जलचर, स्थलचर और खेचर। जलचर के दो भेद हैं—संमूर्च्छिम और गर्भज। फिर प्रत्येक के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। स्थलचर के दो भेद हैं—चतुष्पद और परिसर्प। परिसर्प के दो हैं—उरक और भुजग। इनमें से फिर प्रत्येक के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। खेचर के दो भेद हैं—संमूर्च्छिम और गर्भज। अथवा खेचर के चार भेद हैं—चर्म पक्षी, लोम पक्षी, समुद्ग पक्षी और वितत पक्षी। जलचर का अर्थ है—जल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में चलने वाले अथवा जल में रहने वाले जीव। जैसे मत्स्य, कच्छप, ग्राह और मकर आदि। स्थलचर का अर्थ है—भूमि पर चलने वाले अथवा भूमि पर रहने वाले जीव। जैसे गज, अश्व, गाय, भैंस एवं बकरी आदि। खेचर का अर्थ है—आकाश में चलने वाले एवं आकाश में उड़ने वाले जीव। जैसे कपोत, शुक, चातक और मयूर आदि। परिसर्प का अर्थ है—सरक कर चलने वाले जीव। उस के दो भेद हैं—उर से चलने वाले जीव, जैसे सर्प, अजगर एवं अलसिया आदि और भुजाओं से चलने वाले जीव, जैसे नकुल, मूषक, गिलेहरी आदि। तिर्यञ्च जीवों का विस्तार बहुत है। परन्तु यहां पर संक्षेप में ही उनका वर्णन किया गया है। तिर्यञ्च जीव संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त हैं। तिर्यञ्च गति में रहने वाले तिर्यञ्च होते हैं।

मनुष्य गति नामकर्म के उदय से मनुष्य को मनुष्य जीवन मिलता है। नरक और तिर्यञ्च की अपेक्षा तो मनुष्य गति श्रेष्ठ है ही, किन्तु देवगति की अपेक्षा भी मनुष्यगति को श्रेष्ठ मानने का कारण यह है कि इसमें अध्यात्म-विकास पूर्णता को पहुँच जाता है। अतः अन्य गतियों में मनुष्य गति श्रेष्ठ है। मोक्ष की साधना, मनुष्य जीवन से ही की जा सकती है। स्वर्ग के देव भी मनुष्य जीवन की अभिलाषा करते हैं। धर्म की साधना हेतु मनुष्य जीवन से बढ़ कर अन्य कोई जीवन नहीं है।

मनुष्य को दो भागों में विभाजित किया गया है—आर्य और अनार्य (म्लेच्छ)। आर्य कौन है? जो हिंसा आदि दोषों से दूर रहता है, वह आर्य है, इस के विपरीत जो हो वह अनार्य है। आर्य के दो भेद हैं—ऋद्धि प्राप्त और अऋद्धि प्राप्त। ऋद्धि प्राप्त के यह भेद हैं—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, विद्याधर और चारण। अऋद्धि प्राप्त आर्य के नव भेद हैं—क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कुल आर्य, कर्म आर्य, शिल्प आर्य, भाषा आर्य, ज्ञान आर्य, दर्शन और चारित्र आर्य। गुण और कर्म के आधार पर ही ये सब भेद किए गए। मनुष्य कहां रहते हैं? कर्मभूमि, भोगभूमि और अन्तर द्वीपों में। कर्मभूमि किसे कहते हैं? जहाँ पर असि, मसी और कृषि का व्यवहार चलता है, वह कर्मभूमि है। अथवा जहाँ पर मोक्ष और उसका मार्ग बताने वाले तीर्थंकर अवतार लेते हैं, वह कर्म भूमि है। इसके विपरीत जहाँ पर तीर्थंकर नहीं होते, तीन प्रकार का व्यवहार नहीं होता, वह भोगभूमि है। भोगभूमि के मनुष्यों को युगल कहते हैं। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्ध द्वीप—इन अढ़ाई द्वीपों में जो पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह हैं, इन पन्दरह को कर्मभूमि कहते हैं। पांच उत्तर कुरु, पांच देव कुरु, पांच हैमवत, पाँच हरि, पाँच रम्यक और पाँच हैरण्यवत्—ये तीस भोगभूमि हैं। जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिण और उत्तर में, हिमवान् एवं शिखरी पर्वत हैं, उनके पूर्व और पश्चिम में गजदन्ताकार नोक निकले हुए हैं, एक-एक नोक पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं। इनकी संख्या छप्पन है, इनमें युगल मनुष्य रहते है अतः ये भी भोगभूमि हैं।

भौतिक सुख और भौतिक समृद्धि की अपेक्षा देव गति, मनुष्य गति से श्रेष्ठ है। पुण्य के प्रकर्ष से देवगति प्राप्त होती है। देवगति नामकर्म के उदय से देवगति मिलती है। देवगति में परिणाम शुभ और लेश्या शुभ होती है। समृद्धि और ऋद्धि की अपेक्षा से ही मनुष्य जीवन से देव जीवन को श्रेष्ठ माना गया है। देवों का वैक्रिय शरीर होता है, जिससे वह चाहे जैसा रूप बना लेता है। देवों के चार भेद हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

भवनों में रहने वालों को भवनपति कहते हैं। भवनपति के दश भेद हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत-कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, मेघकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार। विविध प्रकार के प्रदेशों में एवं शून्य वन प्रान्तों में रहने वालों को व्यन्तर कहते हैं। व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं—भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, किंनर, किंपुरुष महोरग और गान्धर्व। ज्योतिष्क देव प्रकाशमय होते हैं। ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद हैं—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा। अढ़ाई द्वीप में ये पाँचों चर होते हैं, और अढ़ाई द्वीप से बाहर अचर (स्थिर) होते हैं। विमानों में रहने वाले देवों को वैमानिक कहते हैं। वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपन्न और कल्पातीत। कल्पोपन्न में स्वामी और सेवक भाव रहता है। किन्तु कल्पातीत में इस प्रकार का व्यवहार नहीं रहता है। कल्पोपन्न के बारह भेद हैं—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। कल्पातीत के दो भेद हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान। ग्रैवेयक देवों के नव भेद हैं—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट। अनुत्तर के पांच भेद हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। ये सब देवों के भेदों का वर्णन किया गया है। एक अन्य प्रकार से भी देवों का भेद किया गया है। देव के पाँच भेद हैं—द्रव्य देव, नर देव, धर्म देव, देवाधिदेव और भाव देव। देवरूप में उत्पन्न होने वाला जीव, द्रव्य देव है। चक्रवर्ती को नरदेव कहते हैं। साधु को धर्म देव कहते हैं। तीर्थंकर को देवाधिदेव कहते हैं। देवों के चार निकाय भाव देव हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्च विध जीव :

करण की अपेक्षा से जीव के पाँच भेद हैं, करण का अर्थ क्या है ? करण का अर्थ है—इन्द्रिय। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान बिना इन्द्रियों के नहीं हो सकता है। इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर ही किसी वस्तु का परिज्ञान हो सकता है। अतः ज्ञान में इन्द्रिय का होना आवश्यक है। किसी भी प्रकार का लौकिक प्रत्यक्ष बिना इन्द्रिय के नहीं होता है। परन्तु प्रश्न यह है, कि इन्द्रिय का अर्थ क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि इन्द्र का अर्थ है—आत्मा एवं जीव। इन्द्र का, आत्मा का तथा जीव का परिबोध जिससे हो, वह इन्द्रिय है। जीव की चेतना-शक्ति को इन्द्रिय प्रकट करती है। इन्द्रिय के पाँच भेद हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। ये ज्ञानेन्द्रिय के पाँच भेद हैं। कुछ विचारक कर्मेन्द्रिय के पाँच भेद और मानते हैं। जैसे वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। किन्तु ये सब शरीर से भिन्न नहीं हैं।

एक अन्य प्रकार से भी इन्द्रियों का वर्गीकरण इस प्रकार से किया गया है। इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गल के द्वारा इन्द्रियों का जो आकार विशेष बनता है, वह द्रव्येन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय, निर्माण नामकर्म और अंगोपांग नामकर्म के उदय का फल है। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाला जो आत्मिक परिणाम विशेष, वह भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद है—निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति के दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। उपकरण के भी दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। निर्वृत्ति क्या है ? पुद्गल की रचना विशेष और उपकरण क्या है ? उस रचना का उपघात नहीं होने देना। निर्वृत्ति का उपकारक होने से इसको उपकरण कहते हैं। भावेन्द्रिय के दो भेद हैं—लब्धि और उपभोग। लब्धि का अर्थ है—प्राप्ति। इन्द्रियों की अपने-अपने विषय के ग्रहण की शक्ति को ही वस्तुतः लब्धि कहते हैं, और उपभोग है, उस शक्ति का अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होना। लब्धि शक्ति है, और उपभोग है, उसकी प्रवृत्ति। लब्धि और उपभोग दोनों मति ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम रूप हैं। इसी आधार पर दोनों को भावेन्द्रिय कहते हैं।

पाँच इन्द्रियों के नाम इस प्रकार हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन्द्रियों के विषय भी पाँच हैं—स्पर्शन का विषय स्पर्श, रसन का विषय रस, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय वर्ण (रूप) और श्रोत्र का विषय शब्द। पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय होते हैं, क्योंकि स्पर्श के आठ भेद, रस के पाँच भेद, गन्ध के दो भेद, वर्ण के पाँच भेद और शब्द के तीन भेद होते हैं, सब मिलाकर तेईस भेद हुए। न्याय-शास्त्र में एक अन्य प्रकार से इन्द्रियों के दो भेद किए गए हैं—प्राप्यकारि और अप्राप्यकारि। जो इन्द्रियाँ अपने विषय के साथ सम्बद्ध होकर, अपने विषय का ज्ञान करती है, एवं अपने विषय को ग्रहण करती हैं, वे प्राप्यकारि हैं। जैसे—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र। जो अपने विषय से सम्बद्ध न होकर भी अपने विषय को ग्रहण कर लेती है, वह अप्राप्यकारि है। जैसे चक्षु अर्थात् नेत्र। संक्षेप में यह इन्द्रियों के स्वरूप का वर्णन है।

किस जीव के कितनी इन्द्रियाँ हैं ? इसका उत्तर इस प्रकार से है—पाँच स्थावर जीवों के एक-एक इन्द्रिय है। कृमि आदि के दो—स्पर्शन और रसन। पिपीलिका आदि के तीन स्पर्शन, रसन और घ्राण। भ्रमर आदि के चार—स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु। मनुष्य एवं पशु आदि के पाँच—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण)। पाँच स्थावरों के केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, शेष इन्द्रियाँ त्रस जीवों के ही होती हैं। इन्द्रियों के आधार पर संसारी जीवों के पाँच भेद होते हैं। जैसे कि एकेन्द्रिय जाति—जिसके केवल एक स्पर्शन हो। द्वीन्द्रिय जाति—जिनके केवल दो स्पर्शन और रसन हो। त्रीन्द्रिय जाति—जिनके केवल तीन स्पर्शन, रसन और घ्राण हो। चतुरिन्द्रिय जाति—जिनके केवल चार, स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु (नेत्र) हो। पञ्चेन्द्रिय जाति—जिनके केवल पाँच, स्पर्शन—रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण) हो। यहाँ पर जाति शब्द समूह वाचक है, जिसका अर्थ है, कि समस्त संसारी जीव पाँच विभागों में विभक्त हैं। इन पाँच भेदों से बाहर संसार का कोई भी जीव एवं प्राणी बचा नहीं रहता है।

षड्विध जीव :

काय की अपेक्षा से संसारी जीव के छह भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय। 'काय' का अर्थ है—समूह एवं समुदाय। संसार के समस्त जीव छह कायों में विभक्त होने से छह काय हैं। अथवा काय का अर्थ शरीर भी होता है। इसके अनुसार पृथ्वी है, काय जिनकी वे पृथ्वीकाय जीव हैं। अप् (जल) है, शरीर जिनका वे अप्काय जीव हैं। तेजस् (अग्नि) है, शरीर जिनका वे तेजस्काय जीव हैं। वायु है, शरीर जिनका, वे वायुकाय जीव हैं। वनस्पति (सब्जी) है, शरीर जिनका, वे वनस्पतिकाय जीव हैं। जिनके शरीर में यात एवं आयात आदि क्रिया होती है, वे त्रसकाय जीव हैं। अथवा जिन जीवों को स्थावर नामकर्म का उदय हो, वे स्थावर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। जैसे पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। जिन जीवों को त्रस नामकर्म का उदय हो, वे त्रस हैं। जैसे द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीव तक।

पृथ्वीकाय जीव कौन-से हैं। मिट्टी, खान में रहे हुए स्फटिक, मणि, रत्न, हिंगुल, हरताल, अभ्रक, सुवर्ण, रजत और पत्थर आदि। खान से निकलने पर, अग्नि एवं अन्य विजातीय पदार्थ का संयोग होने पर ये निर्जीव हो जाते हैं। अप्काय जीव कौन-से हैं? कूप, सरोवर, नदी, हिम, वर्षा और ओस आदि का जल। तेजस्काय जीव कौन-से हैं। अग्नि, अंगार, ज्वाला, उल्कापात और आकाशीय विद्युत आदि। वायुकाय जीव कौन-से हैं। उद्भ्रामक, उत्कलिका, चक्रवात एवं वायु आदि। वनस्पतिकाय जीव कौन-से हैं। वृक्ष, लता, फल, फूल और बीज आदि। वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येक। जिस वनस्पतिकाय के एक शरीर में अनन्त जीव हों, वह साधारण। जैसे कन्द, मूल, शैवाल, गाजर, मूली एवं आलू-आदि। अनन्त जीवों का एक शरीर होने से इसे अनन्तकाय भी कहते हैं। जिस वनस्पति के एक शरीर में एक जीव हो, वह प्रत्येक कहलाती है। जैसे फल, फूल, लता, वृक्ष, छाल एवं पत्ता आदि। त्रस काय के चार भेद हैं—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, और देव।

चतुर्दश विध जीव :

किसी अपेक्षा से जीव के चौदह भेद होते हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीव के चार भेद, पञ्चेन्द्रिय जीव के चार भेद और विकलेन्द्रिय जीव के छह भेद। एकेन्द्रिय के चार भेद कौन-से हैं? सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म का पर्याप्त और अपर्याप्त। बादर का पर्याप्त और अपर्याप्त। पञ्चेन्द्रिय के चार भेद कौन-से हैं? संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी का पर्याप्त और अपर्याप्त। असंज्ञी का पर्याप्त और अपर्याप्त। विकलेन्द्रिय के छह भेद कौन-से हैं? द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। इन तीन का पर्याप्त और अपर्याप्त इस प्रकार जीव के चौदह भेद होते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव का स्वरूप क्या है? सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर चर्मचक्षु से देखा नहीं जा सकता है, वह सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव है। ये सूक्ष्म जीव चतुर्दश रज्जु-प्रमाण सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र परिव्याप्त हैं। इस लोक में एक भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ सूक्ष्म जीव न हों। वे इतने सूक्ष्म हैं, कि पर्वत की कठोर चट्टान में से भी आर-पार हो जाते हैं। किसी के मारने पर भी वे मरते नहीं हैं। विश्व की कोई भी वस्तु उनका घात-प्रतिघात नहीं कर सकती। प्रत्येक वनस्पति को छोड़कर साधारण वनस्पति एवं पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के ये सूक्ष्म जीव हैं। साधारण वनस्पतिकाय के सूक्ष्म जीवों को सूक्ष्म निगोद भी कहते हैं। निगोद का अर्थ है—साधारण वनस्पतिकाय का शरीर। इस विश्व में असंख्य गोलक हैं। एक-एक गोलक में असंख्यात निगोद है। एक-एक निगोद में अनन्त जीव हैं। अथवा व्यवहार में न आने के कारण इनको अव्यवहार-राशि के जीव भी कहा जाता है। इनका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त होता है।

बादर नाम कर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर अनेकों के मिलने से चर्म चक्षु से देखा जा सके, वे बादर एकेन्द्रिय जीव हैं। पाँच स्थावरकाय के भेद से इसके पाँच भेद हैं। ये विश्व के एवं लोक के नियत देश में ही मिलते हैं; सर्वत्र नहीं। बादर वनस्पतिकाय के प्रत्येक और साधारण दो भेद हैं। बादर साधारण वनस्पतिकाय को बादर निगोद भी कहते हैं। इसमें भी अनन्त जीव होते हैं। इन सबके एक स्पर्शन इन्द्रिय है। अतः इन जीवों को एकेन्द्रिय जीव कहते हैं।

विकलेन्द्रिय के तीन भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। द्वीन्द्रिय का अर्थ है—दो इन्द्रिय वाले जीव दो इन्द्रिय कौन-सी हैं? स्पर्शन और रसन। त्रीन्द्रिय का अर्थ है—तीन इन्द्रिय वाले जीव। तीन इन्द्रिय कौन-सी हैं? स्पर्शन, रसन और घ्राण। चतुरिन्द्रिय का अर्थ है—चार इन्द्रिय वाले जीव। चार इन्द्रिय कौन-सी हैं? स्पर्शन, रसन, घ्राण एवं चक्षु। इनमें से प्रत्येक का पर्याप्त और अपर्याप्त मिलाकर के विकलेन्द्रिय जीव के छह भेद होते हैं। विकलेन्द्रिय का अर्थ है, जिसके सम्पूर्ण इन्द्रिय न हों। दूसरे शब्दों में दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं। द्वीन्द्रिय जीव जैसे—शंख। त्रीन्द्रिय जीव जैसे—कीड़ा-मकोड़ा। चतुरिन्द्रिय जीव जैसे—भ्रमर-बिच्छू आदि।

संज्ञी के भेद

पञ्चेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं—संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी को समनस्क और असंज्ञी को अमनस्क भी कहते हैं। संज्ञा और मन-दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। क्या संज्ञा और मन एक ही हैं? अथवा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इस विषय पर आगे विचार किया जाएगा। पहले इस बात को समझने का प्रयत्न होना चाहिए, कि संज्ञी और असंज्ञी शब्द का अर्थ क्या है? जिस जीव में संज्ञा हो, वह संज्ञी होता है। जिस जीव में संज्ञा न हो, वह असंज्ञी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। संज्ञी के दो भेद हैं—गर्भज और औपपातिक। गर्भज के दो भेद हैं—मनुष्य और तिर्यञ्च। गर्भ से उत्पन्न होने वाले को गर्भज कहते हैं। मनुष्य पशु और पक्षी गर्भज होते हैं। उपपात से अर्थात् बिना गर्भ के उत्पन्न होने वाले को औपपातिक कहते हैं। उपपात उस स्थान विशेष को भी कहते हैं, जहाँ देव और नारक जन्म लेते हैं। देव, शय्या पर जन्म लेते हैं और नारक, कुम्भी में जन्म लेते हैं। अतः देव और नारक को औपपातिक कहते हैं। देव और नारक सदा संज्ञा ही होते हैं, कभी असंज्ञी नहीं होते। संमूर्च्छिम मनुष्य और अगर्भज तिर्यञ्च असंज्ञी होते हैं। संमूर्च्छिम अगर्भज ही होता है। संमूर्च्छिम मनुष्य कहाँ होते हैं? मल-मूत्र आदि चौदह प्रकार के अशुचि स्थानों में। जैसे उच्चार (मल) में, प्रस्रवण (मूत्र) में, खेल (कफ) में, संघाण (नाक के मल) में, वान्त (वमन) में, पित्त में, पूत (राध) में, शोणित (रक्त) में, शुक्र (वीर्य एवं रज) में, रज एवं वीर्य के पुनः आर्द्र होने में, मृतक जीव के कलेवर में, स्त्री और पुरुष के संभोग में, गंदी नाली एवं मोरी में और सर्व प्रकार के अशुचि स्थानों में उत्पन्न होने वाले जीव संमूर्च्छिम कहलाते हैं। संमूर्च्छिम मनुष्य भी होते हैं, और तिर्यञ्च भी होते हैं। ये इतने (बारीक) होते हैं, कि चर्मचक्षुओं से दिखलाई नहीं पड़ते। इनका आयुष्य केवल अन्तर्मुहूर्त्त का होता है। एकेन्द्रिय जीव के दो भेद—सूक्ष्म और बादर, पञ्चेन्द्रिय जीव के दो भेद संज्ञी और असंज्ञी तथा विकलेन्द्रिय के तीन भेद मिलकर जीव के सात भेद हैं। इन सातों का पर्याप्त और अपर्याप्त मिलाकर, जीव के चौदह भेद किए गए हैं। स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा करने वाला जीव पर्याप्त कहलाता है, और स्व-योग्य पर्याप्तियों को पूरा न करने वाला अपर्याप्त।

संज्ञी की परिभाषा

संज्ञी और समनस्क दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय वाचक हैं। जो संज्ञी है, वह समनस्क अवश्य होता है, और जो समनस्क होता है, वह संज्ञी अवश्य होगा। आगमों में संज्ञी शब्द अधिक रूढ एवं प्रचलित है। दार्शनिक ग्रन्थों में उसके स्थान पर समनस्क शब्द अधिक प्रचलित हो गया दोनों की भावना और अर्थ एक होने पर भी प्रश्न यह होता है, कि संज्ञी के लिए समनस्क शब्द का चुनाव क्यों किया गया? सम्भवतः इसका मुख्य कारण यही है, कि संज्ञा की अपेक्षा मन का बोध शीघ्र होता है। संज्ञा शब्द एक उलझन भरा शब्द है। संज्ञा अनेक प्रकार की है। संज्ञी में किस संज्ञा को आधार माना जाए? संज्ञा शब्द को स्पष्ट समझे बिना संज्ञी के स्वरूप को भी नहीं समझा जा सकता है। अतः संज्ञा क्या है? यह प्रश्न मुख्य है। संज्ञा शब्द का सामान्य रूप में अर्थ होता है—चेतना एवं ज्ञान। चेतना और ज्ञान तो एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीवों में भी होता है। तो क्या वे भी संज्ञी हो सकते हैं?

संज्ञा शब्द के उक्त अर्थ के आधार पर संज्ञा के दो भेद हैं—ज्ञान रूप संज्ञा और अनुभव रूप संज्ञा। ज्ञान रूप संज्ञा के पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवलज्ञान। केवलज्ञान क्षायिकी संज्ञा है। क्योंकि वह ज्ञानावरण कर्म के क्षय से प्राप्त होती है। और यह संज्ञा तेरहवें गुणस्थान से पूर्व प्राप्त हो सकती। शेष चार ज्ञान क्षयोपशामिकी संज्ञा है। क्योंकि ये चारों ही ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। मनःपर्यायज्ञान विशिष्ट श्रुतधर एवं विशिष्ट संयत को ही हो सकता है। अवधिज्ञान गर्भज मनुष्य एवं तिर्यञ्च तथा देव और नारक को भी हो सकता है। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों सहचर है। अतः संसार के जीव मात्र में इनकी सत्ता रहती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव में ज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो अवश्य ही अनावृत रहता है। कभी भी जीव ज्ञान शून्य होता नहीं। यदि संज्ञी से ज्ञान-संज्ञा वाले को ग्रहण करे, तब तो संसार के समग्र जीव संज्ञी ही होंगे, असंज्ञी कोई भी नहीं होगा। अतः संज्ञी में ज्ञान संज्ञा का ग्रहण नहीं किया गया।

अनुभवरूप संज्ञा के चार भेद हैं—आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। आहार संज्ञा क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय का फल है। और शेष तीन संज्ञाएँ—भय, मैथुन और परिग्रह, मोहनीय कर्म के उदय का फल है। वेदनीय एवं मोहनीय कर्म के उदय के फलस्वरूप सकषाय अवस्था में संसार के समस्त जीवों में ये चारों संज्ञाएँ उपलब्ध होती हैं। आहार की अभिलाषा आहार संज्ञा, भय से होने वाली भय संज्ञा, संभोग की इच्छा से होने वाली मैथुन संज्ञा और लोभ से होने वाली परिग्रह संज्ञा। नारक जीवों में आहार संज्ञा अधिक, तिर्यञ्चों में भयसंज्ञा अधिक, मनुष्यों में मैथुन संज्ञा अधिक और देवों में परिग्रह संज्ञा अधिक होती है। इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है, कि अनुभव रूप संज्ञा समग्र जीवों में होने से इसके आधार पर भी संज्ञी की परिभाषा नहीं की जा सकती है।

एक अन्य प्रकार से भी संज्ञा के दश भेद किए गए हैं। जैसे—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा, लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा। ये दश संज्ञाएँ एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों में होती हैं। अतः इन संज्ञाओं के आधार पर भी संज्ञी की परिभाषा नहीं बन सकती। ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशों संज्ञाएँ भी अनुभव रूप संज्ञाएँ हैं। ज्ञान रूप और अनुभव रूप संज्ञा के आधार पर संज्ञी के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं हो सकता। तब, प्रश्न होता है कि संज्ञी किस संज्ञा के आधार पर होता है।

जिस संज्ञा के आधार पर संज्ञी के स्वरूप और लक्षण का निर्वचन किया जाता है, उस संज्ञा के तीन भेद हैं—दीर्घकालिकी, हेतुवादिकी और दृष्टिवादिकी। इनमें से हेतुवादिकी और दृष्टिवादिकी की संज्ञाओं के आधार पर भी संज्ञी का व्यवहार नहीं होता। क्योंकि दृष्टिवादिकी संज्ञा केवल उसी व्यक्ति को प्राप्त होती है, जो दृष्टिवाद का ज्ञाता हो। सर्व सामान्य को यह संज्ञा प्राप्त नहीं होती। किसी विशिष्ट लब्धिधर संयत को ही दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त होता है। यह श्रुतज्ञान रूप होने से छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि को ही होती है। अतः इस संज्ञा के कारण संज्ञी का स्वरूप सिद्ध नहीं होता। क्योंकि संज्ञी जीव तो मिथ्यादृष्टि भी हो सकता है। जबकि दृष्टिवादिकी संज्ञा केवल सम्यक्दृष्टि को ही होती है। हेतुवादिकी संज्ञा का अर्थ है—जिस संज्ञा से जीव इष्ट और अनिष्ट का विचार कर सके, हित और अहित को जान सके। इतना ही नहीं, बल्कि इष्ट में प्रवृत्त हो सके, और अनिष्ट से निवृत्त हो सके। हित को स्वीकार कर सके और अहित का परिहार कर सके, उस संज्ञा को हेतुवादिकी संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा विकलेन्द्रिय जीव—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय तथा संमूर्च्छिम जीवों में होती है। इसका फलित अर्थ यह है, कि मन वाले पञ्चेन्द्रिय जीवों में हेतुवादिकी संज्ञा नहीं होती है। अतः इस संज्ञा के आधार पर भी संज्ञी का स्वरूप स्थिर नहीं होता है।

परिशेष न्याय से दीर्घकालिकी संज्ञा ही संज्ञी के व्यवहार का कारण है। इसी संज्ञा के आधार पर जीव संज्ञी होता है। प्रश्न होता है, कि दीर्घकालिकी संज्ञा में क्या विशेषता है, जिसके कारण जीव सज्ञी हो जाता है, और जिसके अभाव में जीव असंज्ञी रहता है। दीर्घकालिकी संज्ञा जिसमें हो, वह संज्ञी है। क्योंकि इसमें भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में घटने वाली घटनाओं का चिन्तन स्पष्ट रहता है। मैंने क्या किया ? मैं क्या करूँगा ? मैं क्या कर रहा हूँ ? इस प्रकार का चिन्तन ही वस्तुतः संज्ञी होने का आधार बन सकता है। इसको संप्रधारण संज्ञा भी कहते हैं। दीर्घकालिकी संज्ञा और संप्रधारण संज्ञा दोनों का अभिप्राय एवं फलित अर्थ एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं। जिसके संप्रधारण संज्ञा हो, वह संज्ञी। संप्रधारण संज्ञा किसे कहते हैं ? जिसमें ईहा और अपोह हो। अथवा जिसमें गुण और दोष की विचारणा हो। यह दीर्घकालिकी संज्ञा अथवा यह संप्रधारण संज्ञा किस-किस को होती है ? नारक और देव को तथा गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च को। अतः नारक, देव, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च ही संज्ञी होते हैं, शेष सभी असंज्ञी होते हैं। संज्ञी को समनस्क भी कहते हैं, जिसका अर्थ है—मन सहित, मन वाला।

मन का लक्षण

मन क्या है ? और मन का स्वरूप क्या है ? जैनदर्शन के सिद्धान्त ग्रन्थों में और विशेषतः आगमों में मन के लिए दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है—अनिन्द्रिय और नोइन्द्रिय। इसका अभिप्राय है, कि मन इन्द्रिय तो नहीं है, किन्तु इन्द्रिय जैसा है। क्योंकि इन्द्रियों के समान वह भी विषयों को ग्रहण करता है। मन के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य मन पुद्गल रूप होने से जड़ है, और भाव मन इन्द्रिय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम रूप होने से चेतन है। भाव मन तो सभी जीवों के होता है। किन्तु द्रव्य मन सभी को नहीं होता। किसी के होता है, और किसी के नहीं होता। जिन जीवों के द्रव्य मन होता है, वस्तुतः वे जीव ही संज्ञी कहलाते हैं। द्रव्य मन स्पष्ट चिन्तन का, ईहा का और अपोह का आधार बनता है। अतः द्रव्य मन के कारण ही संज्ञी का व्यवहार होता है। मन का स्वरूप क्या है ? संकल्प और विकल्प करना। जैसे कि मैं एक मनुष्य हूँ। मैं मनुष्य क्यों हूँ ? क्योंकि मुझमें मनुष्य के धर्म हैं। इस प्रकार के चिन्तन को ही संकल्प एवं विकल्प कहा गया है। संकल्प और विकल्प मन के धर्म हैं।

प्रश्न होता है, कि मन रहता कहाँ है। शरीर के किस स्थान विशेष में वह रहता है। इस विषय में दो मत हैं—एक श्वेताम्बर परम्परा का और दूसरा दिगम्बर परम्परा का। दिगम्बर परम्परा के विचार के अनुसार मन हृदय में रहता है, जो हृदय आठ पंखुड़ी वाले कमल के समान होता है। श्वेताम्बर परम्परा के विचार के अनुसार तो मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। **यत्र पवनस्तत्र मनः** शरीर में जहाँ-जहाँ पवन है, वहाँ सर्वत्र मन है। पवन के साथ मन की व्याप्ति का अर्थ इतना ही है, कि जैसे पवन सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करके रहता है, वैसे मन भी समग्र शरीर को व्याप्त करके रहता है। मन को किसी एक नियत प्रदेश में मानना ठीक नहीं है। क्योंकि मन आत्मा के सर्व प्रदेशों को व्याप्त करके रहता है। अन्यथा उपयोग की प्रवृत्ति आत्मा के समग्र प्रदेशों में कैसे हो सकेगी ? यह तो प्रत्यक्ष ही है, कि शरीर में सर्वत्र ही सुख और दुःख की अनुभूति होती है। अतः मन को नियत देश में स्थित मानना उचित नहीं है। मन का विषय क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि श्रुत ही मन का विषय है। वैसे तो मतिज्ञान भी मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विषय है, फिर भी मुख्य रूप से मन का विषय श्रुतज्ञान ही है। क्योंकि मन किसी भी विषय का ग्रहण इन्द्रियों के माध्यम से ही करता है। मन को अप्राप्यकारि कहा है। संक्षेप में मन का इतना ही स्वरूप है।

पर्याप्ति का स्वरूप

जीव के चौदह भेदों में कहा गया था, कि पर्याप्त और अपर्याप्त। यहाँ प्रश्न होता है, कि पर्याप्त किसको कहते हैं ? और अपर्याप्त किसको कहते हैं ? सामान्य रूप से इस प्रश्न का उत्तर है, कि जो पर्याप्ति सहित हो, वह पर्याप्त तथा जो पर्याप्ति सहित न हो, वह अपर्याप्त।

पर्याप्ति आत्मा की एक शक्ति है, और वह शक्ति पुद्गलों के उपचय से प्राप्त होती है। जिस शक्ति के द्वारा जीव पुद्गलों का आहरण करके उन्हें शरीर रूप में, इन्द्रिय रूप में, श्वास एवं उच्छ्वास रूप में, भाषा रूप में और मन रूप में परिणत करता है, उसे पर्याप्ति कहते हैं। जीव अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँच कर प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, और उसके बाद भी जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उन सबको शरीर, इन्द्रिय आदि रूपों में परिणत करता रहता है। पुद्गल परिणमन की इस शक्ति को ही पर्याप्ति कहा जाता है।

पर्याप्ति के भेद

पर्याप्ति के छह भेद इस प्रकार हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। जिस शक्ति से जीव आहार ग्रहण करके उसे खल और रस रूप में परिणत करता है, उसे आहार पर्याप्ति कहते हैं। खल का अर्थ है—शरीर की रचना में अनुपयोगी एवं असार भाग। रस का अर्थ है—शरीर पोषण करने वाला द्रवित पदार्थ। जीव अपने भवान्तर की उत्पत्ति के प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उसी समय उन पुद्गलों में ग्रहण किए आहार को खल और रस रूप में परिणत करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, इसी को आहार पर्याप्ति कहते हैं। यहाँ पर आहार पर्याप्ति का सामान्य कारण प्रथम समय में ग्रहण किए पुद्गल हैं और परिणमन शक्ति की उत्पत्ति कार्य है। कारण और कार्य दोनों यहाँ पर एक समय में होते हैं। शरीर पर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से रस रूप में परिणत आहार को जीव रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य रूप सप्त धातुओं में परिणत करता है, वह शरीरपर्याप्ति है। इन्द्रियपर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से शरीर में से इन्द्रिय योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके इन्द्रिय रूप में परिणत किया जाय, वह इन्द्रियपर्याप्ति है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से श्वासोच्छ्वास वर्गणा में से पुद्गलों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत किया जाए, वह श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। भाषा पर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप में परिणत किया जाए, वह भाषापर्याप्ति है। मनःपर्याप्ति क्या है ? जिस शक्ति से मनोवर्गणा में से पुद्गलों को ग्रहण करके मनोरूप में परिणत किया जाए, वह मनः पर्याप्ति है। ये छह पर्याप्ति हैं।

पर्याप्तियों के प्रारम्भ और समाप्ति का क्या विषय है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है, कि प्रारम्भ तो सबका एक साथ ही होता है, किन्तु समाप्ति सबकी अलग-अलग होती है। पहले आहार पर्याप्ति पूर्ण होती है, फिर क्रमशः शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति पूर्ण होती है। पूर्व की अपेक्षा उत्तर पर्याप्ति सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होती जाती है। कल्पना कीजिए छह व्यक्ति एक साथ सूत कातने के लिए बैठें, तो जो बारीक कातता है, उसे उसकी अपेक्षा अधिक समय लगेगा, जो मोटा कातता है। आहार पर्याप्ति सबसे स्थूल है, और मनःपर्याप्ति सबसे सूक्ष्म है।

पर्याप्ति पूर्ण होने में कितना काल लगता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि औदारिक शरीर की अपेक्षा से आहार पर्याप्ति एक समय में पूर्ण हो जाती है। उसके बाद शरीर आदि पर्याप्ति अनुक्रमशः एक-एक अन्तर्मुहूर्त के बाद पूर्ण हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि आहार पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। फिर इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति में भी एक-एक अन्तर्मुहूर्त लगता है। यही क्रम वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर का भी रहता है। अन्तर केवल इतना ही है, कि वैक्रिय और आहारक शरीर में आहार पर्याप्ति के अन्तर्मुहूर्त बाद में शरीरपर्याप्ति पूर्ण होती है, और फिर इन्द्रिय आदि शेष पर्याप्ति एक-एक समय में पूर्ण होती जाती है। यह पर्याप्तियों का काल क्रम है।

किस जीव के कितनी पर्याप्तियाँ होती हैं ? इसके उत्तर में कहा जाता है, कि एकेन्द्रिय जीवों के चार पर्याप्तियाँ होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास। विकलेन्द्रिय जीवों के और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के पाँच पर्याप्तियाँ होती है—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के छह पर्याप्तियाँ होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। पहली तीन पर्याप्तियाँ—आहार, शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इन्द्रिय को प्रत्येक जीव पूर्ण करता ही है। क्योंकि उक्त तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही जीव अगले भव का आयुष्य बाँध सकता है। इन तीन की अपेक्षा से तो प्रत्येक जीव पर्याप्त होता है।

फिर पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या क्या है? स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करे, वह पर्याप्त। स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे, वह अपर्याप्त। जैसे एकेन्द्रिय जीव के स्वयोग्य पर्याप्ति चार हैं। इन चार को पूर्ण करने वाला पर्याप्त और पूर्ण न करने वाला अपर्याप्त होता है। पर्याप्त के दो भेद हैं—लब्धिपर्याप्त और करणपर्याप्त। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को अभी पूर्ण नहीं किया, किन्तु पूरा अवश्य करेगा, वह लब्धि (शक्ति) की अपेक्षा से लब्धि-पर्याप्त कहा जाता है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर लिया, वह करण (क्रिया) की अपेक्षा से करण-पर्याप्त कहा जाता है। करण का अर्थ इन्द्रिय भी होता है। जिस जीव ने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण करली, उसे करण पर्याप्त कहते है। इस प्रकार लब्धि पर्याप्त, अवश्य ही करण-पर्याप्त होकर ही मरता है। परन्तु करण-पर्याप्त का वास्तविक अर्थ यही है, कि जिसने स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण की हैं, वह करण-पर्याप्त है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा नहीं किया, और करेगा भी नहीं, वह लब्धि (शक्ति) से अपर्याप्त है—लब्धि अपर्याप्त है। जिसने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा नहीं किया, किन्तु अवश्य करेगा, वह करण (क्रिया) से अपर्याप्त है—करण अपर्याप्त है। यहाँ पर इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि देव और नारक कभी लब्धि अपर्याप्त नहीं होते, पर करण अपर्याप्त होते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्च लब्धि अपर्याप्त और करण अपर्याप्त दोनों प्रकार के होते हैं। यह पर्याप्ति का स्वरूप है।

प्राण का स्वरूप

प्राण जिसमें हों, वह प्राणी है। प्राणी का अर्थ है—जीव एवं आत्मा। प्राण एक शक्ति है, जिसके संयोग से प्राणी जीवित रहता है, और जिसके वियोग से प्राणी मर जाता है। प्राण शक्ति से जीवन रहता है, और प्राणों का घात होने से मरण होता है। प्राण-शक्ति प्रत्येक जीव में रहती है। जीव तो सिद्ध भी हैं। क्या उनमें भी प्राण होते हैं? प्राण तो सिद्ध में भी होते हैं, किन्तु उनमें द्रव्य-प्राण नहीं, भाव प्राण होते हैं।

प्राण के भेद

प्राण-शक्ति के दो भेद हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। जिसका अतिपात (विघात) हो सके, वह द्रव्य प्राण है, और जिसका अतिपात न हो सके, वह भाव प्राण होता है। भाव प्राण के चार भेद हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य (आत्म-शक्ति)। सिद्धों में क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक चारित्र और अनन्त वीर्य होता है। अतः सिद्धों में भी प्राण-शक्ति अवश्य ही रहती है। द्रव्य प्राण के दश भेद हैं—पाँच इन्द्रिय, तीन बल (योग), श्वासोच्छ्वास और आयुष्य। इन्द्रिय, योग एवं श्वासोच्छ्वास का स्वरूप बताया जा चुका है। श्वासोच्छ्वास को आन-पान (आण-प्राण) भी कहते हैं। जिसका अर्थ है—साँस अन्दर लेना और साँस बाहर छोड़ना। इस प्रकार पाँच इन्द्रिय—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र, तीन बल—मनोबल, वचनबल एवं काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—इन सबको मिलाकर दश प्राण होते हैं। ये दश प्राण संसारी जीवों में होते हैं। इसी आधार पर उन्हें प्राणी कहा जाता है, इन दश प्राणों को द्रव्य प्राण कहने का अभिप्राय यह है, कि ये सब पौद्गलिक हैं, पुद्गल से बने हुए हैं।

आयुष्य-प्राण :

दश प्रकार के द्रव्य प्राणों में सबसे मुख्य प्राण आयुष्य प्राण है। आयुष्य प्राण के रहते हुए ही अन्य प्राण अपना कार्य करते हैं। आयुष्य प्राण के क्षय होते ही, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास सब चेष्टा-रहित हो जाते हैं। अतः द्रव्य प्राणों में आयुष्य प्राण ही सबसे मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण है। आयुष्य प्राण को ही जीवन-शक्ति कहा जाता है। आयुष्य प्राण क्या है? जिसके अस्तित्व से प्राणी जीता है, और जिसके क्षय होने से प्राणी मर जाता है, वह आयुष्य प्राण है।

आयुष्य के भेद :

आयुष्य प्राण के चार भेद हैं—नारक आयुष्य, तिर्यञ्च आयुष्य, मनुष्य आयुष्य और देव आयुष्य। एक अन्य प्रकार से भी आयुष्य के दो भेद होते हैं—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। अपवर्तनीय का क्या अर्थ है विष, शस्त्र आदि बाह्य निमित्त से और रोग आदि अन्तरंग निमित्त से जिस आयुष्य की स्थिति घट जाती है, उसको अपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। अनपवर्तनीय का क्या अर्थ है? उक्त बाह्य और अन्तरंग निमित्तों से जो न घटे, उसको अनपवर्तनीय आयुष्य कहते हैं। अनपवर्तनीय आयुष्य के दो भेद हैं—सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम का क्या अर्थ है? आयुष्य के घटने के निमित्त को उपक्रम कहते हैं। उपक्रम सहित जो हो, वह सोपक्रम। उपक्रम रहित जो हो, वह निरुपक्रम। आयुष्य के घटने के निमित्त मिलने पर भी जो आयुष्य कभी न घटे, वह सोपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य होता है। जिसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुष्य के घटने के निमित्त मिलते ही नहीं, वह निरुपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य कहा जाता है। अपवर्तनीय आयुष्य तो अवश्य सोपक्रम ही होता है। क्योंकि जब अपवर्तनीय आयुष्य होता है, तब उसे विष एवं शस्त्र आदि का बाह्य निमित्त अवश्य मिलता ही है।

यदि आयुष्य का अपवर्तन माना जाएगा, तो उसमें तीन दोष आयेंगे—कृतनाश, अकृताभ्यागम और आयुष्य कर्म की निष्फलता। आयुष्य का अपवर्तन (घटना) मानने का अर्थ होगा, कि आयुष्य अपना फल दिए बिना ही नष्ट हो गया। अतः कृत-नाश दोष आता है। आयुष्य कर्म शेष रहते हुए भी यदि मृत्यु हो जाती है, तो अकृताभ्यागम दोष आता है। अकृत (अनिर्मित) मरण का अभ्यागम (प्राप्ति) यदि आयुष्य रहते हुए मरण होता है, तो आयुष्य कर्म की निष्फलता सिद्ध होती है। अतः आयुष्य का अपवर्तन मानना उचित नहीं है।

इसके समाधान में कहा गया है कि उक्त दोषों में से एक भी दोष नहीं आता। क्योंकि जब विष एवं शस्त्र आदि उपक्रम होता है तब सम्पूर्ण आयुष्य कर्म एक साथ उदय में आता है, और शीघ्र भोग लिया जाता है। अतः बद्ध आयुष्य को भोगे बिना नाश नहीं होता है। सम्पूर्ण आयुष्य कर्म का क्षय होने पर ही मृत्यु होती है। अतः अकृत मरण का अभ्यागम नहीं हुआ। शीघ्रता से आयुष्य उपभोग होने से एवं सम्पूर्ण आयुष्य भोगने के बाद ही मरण होने से आयुष्य कर्म की निष्फलता भी नहीं है। अतः कृतनाश, अकृताभ्यागम और निष्फलता में से एक भी दोष यहाँ पर उपस्थित नहीं होता है।

अनपवर्तनीय आयुष्य किसकी होती है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि औपपातिक जन्म वालों (देव और नारक) असंख्यात वर्ष जीवी (मनुष्य और तिर्यञ्च) चरम शरीर वालों (उसी शरीर से मोक्ष प्राप्त करने वाले) और उत्तम पुरुषों (तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती आदि) का आयुष्य ही अनपवर्तनीय होता है, शेष जीवों के अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय-दोनों प्रकार का आयुष्य होता है।

कौन जीव कब पर भव का आयुष्य बाँधता है। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि देव, नारक और असंख्यात वर्षी मनुष्य एवं तिर्यञ्च अपने आयुष्य के छह मास शेष रहने पर, पर-भव का आयुष्य बांधते हैं। निरुपक्रम आयुष्य वाले मनुष्य एवं तिर्यञ्च अपने आयुष्य का तृतीय भाग शेष रहने पर, परभव का आयुष्य बाँधते हैं। सोपक्रम आयुष्य वाले अपने आयुष्य के तीसरे, नवमें तथा सत्ताईसवें भाग में इस प्रकार त्रिगुण करते-करते अन्त में अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर तो अवश्य ही परभव का आयुष्य बाँध लेते हैं।

जीव के पाँच-सौ त्रेसठ भेद :

जैनदर्शन का जीव-विज्ञान बहुत विस्तृत गहन और गम्भीर है। अन्य दर्शनों में जीवतत्त्व का इतना गम्भीर विवेचन उपलब्ध नहीं होता। जीव एवं आत्मा के स्वरूप का जितना विस्तार तथा भेद एवं प्रभेद जैनदर्शन में है, उतना अन्य किसी भी दर्शन में नहीं किया गया है। जीव के जघन्य एक भेद का और मध्यम चौदह भेद का वर्णन किया जा चुका है। अब यहाँ पर संक्षेप में जीव के उत्कृष्ट पांच-सौ त्रेसठ भेद का कथन इस प्रकार से समझना चाहिए—

नरक भूमि सात है और उनके गोत्र भी सात हैं, जिनका वर्णन पीछे दिया जा चुका है। नरक में रहने वाले जीव नारक कहे जाते हैं। सात नरकों में रहने वाले सात नारक जीवों के पर्याप्त तथा अपर्याप्त रूप से चौदह भेद होते हैं।

नारक, मनुष्य और देव को छोड़कर संसार के समस्त जीव तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च जीवों के अड़तालीस भेद इस प्रकार हैं—एकेन्द्रिय के बाईस भेद, विकलेन्द्रिय के छह भेद और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के बीस भेद—कुल मिला कर तिर्यञ्च जीवों के अड़तालीस भेद होते हैं।

मनुष्य के तीन-सौ तीन भेद इस इस प्रकार हैं—कर्मभूमि के मनुष्य पन्द्रह, भोगभूमि के मनुष्य तीन और अन्तर द्वीपों के मनुष्य छप्पन। सब मिला कर गर्भज मनुष्य के एक-सौ एक भेद हुए। एक-सौ एक के पर्याप्त एवं अपर्याप्त रूप से दो-सौ दो भेद हुए। इनमें संमूर्च्छिम मनुष्य के एक-सौ एक भेद मिला कर, मनुष्य तीन-सौ तीन भेद होते हैं।

देव के एक-सौ अठानवें भेद इस प्रकार हैं—भवनपति के दश भेद, (परमाधार्मिक) के पन्द्रह भेद, व्यन्तर एवं वानव्यन्तर के सौलह भेद, तिर्यग् जृम्भक के दश भेद, ज्योतिष्क के दश भेद, वैमानिक के बारह भेद, किल्विषिक के तीन भेद, लोकान्तिक के नव भेद, ग्रैवेयक के नव भेद, अनुत्तर के पाँच भेद-सब मिला कर भेद हुए निन्यानवें। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से एक-सौ अठानवें भेद होते हैं। अतः नारक के १४, तिर्यञ्च के ४८, मनुष्य के ३०३ और देव के १९८ भेद मिलाकर जीव के ५६३ भेद होते हैं। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Pramana and Naya in Jaina Logic

V. K. Bharadhwaja
Indian Institute of Advanced Study, Simla.

☆

(1) *Pramāṇa* and *Naya* are two cardinal concepts in the Jaina theory of knowledge of what there is or what the Jainas say there is. It is almost impossible to say as to what the Jaina thinker is doing in the vast literature on the methodology of knowledge without our having a reasonably clear idea of his usage of the terms *Pramāṇa* and *Naya*. But when one wants to seek clarity on the issue of distinguishing *Pramāṇa* from *Naya* and the two from their related concept *syāt* one feels simply baffled. At least, this is how I felt when I found myself confronted with the following statements of the Jaina position on the question whether *Naya* is or is not a *Pramāṇa* and what after all is the connection, if any, between the two :

(T_1) The class of *Pramāṇa* sentences includes the whole class of *Naya* sentences. Only when the word *syāt* or *kathaṃcit* is prefixed to a *Naya* sentence that it acquires the logical status of a *Pramāṇa*.[1]

(T_2) The *Naya* consists in the particular intention of the knower who, suspending his judgment about the other parts, takes notice of one particular aspect of an object which is known through the *Pramāṇa* of the scriptures.[2]

(T_3) The *Naya* sentences are used to communicate knowledge, but they cannot be said to be either *Pramāṇa* or *Apramāṇa*.[3]

The above three theses T_1, T_2, and T_3, it seems to me, are quite different from one another. The thesis T_1 suggests that, unless a *Naya* sentence is prefixed by the word *syāt* or *kathaṃcit*, the *naya* sentence will not qualify to be a *pramāṇa-vakya*. The thesis T_2 treats a *naya* sentence as a claim to knowledge, that is, a *pramāṇa*, and when it is conjoined to the thesis T_4.

(T_4) As *Pramāṇa* adds to knowledge by removing ignorance, so does *Naya* adds to knowledge by removing ignorance.[4]

The obvious thing that strikes one's mind is that a *naya* sentence communicating as it does knowledge of only one aspect of any thing must itself be a *pramāṇa*. It is plain then that if you accept the thesis T_1 you just cannot subscribe to the thesis T_2 conjoined to the thesis T_4. And conversely also. Faced with the dilemma of choosing one or the other alternative you are offered the thesis T_3, *namely*, that a *naya* sentence cannot be said to be either *pramāṇa* or *apramāṇa*. Apparently, the Jaina thinker has a way out of this discomforting situation. He may point out that we have misunderstood his position altogether. Prefix the word *syāt* or *kathaṃcit* to the *naya* sentence.

(A) A *naya* sentence is a *pramāṇa*
and to

(B) A *naya* sentence is not a *pramāṇa*
and you obtain three perfectly consistent sentences

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(C) *Syāt*, a *naya* sentence is a *pramāṇa*
and

(D) *Syāt*, a *naya* sentence is not a *pramāṇa*
or

(E) *Syāt*, a *naya* sentence is *pramāṇa* as well as *apramāṇa*.[5]

I do not think that this way of going about one's business in a discussion on the methodology of knowledge or the logic of evidence with which the Jaina thinker obviously is concerned will solve or help to solve the problem. My own feeling is that one feels cheated when a solution of this kind is presented to one who is seriously engaged in understanding what the Jaina thinker is really doing when he makes the two notions of *naya* and *pramāṇa* as the core concepts of his theory of knowledge. I propose therefore to follow a different tack to explicate the distinction exploiting of course whatever the relevant texts there are that are available to me.

(2) Consider a few examples that the Jaina thinker[6] has given in order to illustrate his conception of the notion of *naya, pramāṇa* and *syāt*. To say that "*Sadeva*" or that "This object has existence as its only property" is to exemplify a *durnaya* sentence. Again, to say that "Sat" or "This object has existence" is to exemplify a *naya* sentence. Finally, to assert "Syāt Sat" or that "This object has existence as one of its infinite properties" is to make a statement which properly belongs to the class of *pramāṇa* sentences. These examples do throw some light on what the Jaina thinker had in mind when he used the words *naya* and *pramāṇa*. But, at the same time, these raise the question, *namely* ; If prefixing *syāt* or *kathaṃcit* to any sentence make it a *pramāṇa* sentence, then how are we going to reconcile this with the other position, *namely*, that while in a *naya* sentence one only aspect or property or relation of something is asserted to be known, while in a *pramāṇa-vākya*, the whole of something is asserted to be known ?[7] This question arises because the logical form and function of a *naya* sentence does in no way suggest that the sentence is used to communicate information about the object of knowledge as a whole, that is, about whatever aspects, properties, or relations that object may have either in itself or as it is related to the other objects. And, this is one condition which a *pramāṇa vākya* is supposed to satisfy. It is possible that the way I have stated the condition which distinguishes a *pramāṇa vākya* from a *naya vākya* makes it a very stringent requirement to be satisfied by a *pramāṇa vākya*. And, hopefully, it is very likely that the Jaina thinkers never meant it is exactly the way as I have put it. However, in the rich philosophical literature which deals with the question of differentiating a *naya vākya* from a *pramāṇa vākya*, they have tried to exploit the notion of *ādeśa* in outlining the features which are distinctive of a *naya vākya* but not of a *pramāṇa vākya*, and also those which are distinctive of a *pramāṇa vākya* but not of a *naya vākya*.

(3) The relevant Dictionary meaning of the word *ādeśa* is 'advice, instruction, precept, or rule'. But by an *ādeśa*, the Jaina thinker means a 'point of view'. We can look upon some particular thing from different points of view. Observing an object from one and only one point of view to the exclusion of every other, according to the Jaina thinker, does not enable us to describe an object as adequately as one may wish it to be described. It is a different thing altogether that we may be interested in knowing and describing only one aspect or property of the object. But, knowing and describing only one property of the object does not mean knowing and describing its other properties also. This idea of differentiating a *specific description* of only one property from a *general description* of an object of knowledge is of the fundamental importance to the Jaina thinker. He employs this idea to divide[8] all *ādeśa* sentences into two sub-types : First *sakalādeśa* sentences and secondly, *vikalādeśa* sentences. A *vikalādeśa*[9] sentence is used to describe one and only one *dharma* or property of *sat* or what is real, while a *sakalādeśa*[10] sentence is used to give a general description of *sat* or what is real. To put it differently, a *sakalādeśa* sentence describes what is real *synthetically*; it communicates information about the entire, undivided reality, while a *vikalādeśa* sentence describes the various *dharmas* or properties of *sat analytically* it communicates information about an *aṁśa*, an aspect or

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

a part of what is real. This is how the Jaina thinker differentiates a *sakalādeśa vākya* from a *vikalādeśa vākya*. This distinction, however, is expressed in the traditionalistic jargon ; but it may be stated in the ordinary language as the distinction between a *specific description* and a *general description* of what is real. A *sakalādeśa* sentence is used to give a general description; while a sentence is employed to give a specific description of what is real. Both the types of sentences, however, are used to describe what the Jaina thinker calls *sat*[11] or reality. And, it seems to me that differentiating these two types of description sentences is a perfectly legitimate thing to do for purposes of describing reality. But unfortunately the distinction cannot be exploited to explicate the logical difference between a *Pramāṇa vākya* and a *naya vākya*. Logically, both a *sakalādeśa* sentence and also a *vikalādeśa* sentences are bearer of true (of course, contingently true) information. Whether the information communicated by means of them in true or false is something which depends entirely upon what *pramāṇa* is adduced in support of them. If the sentences are well-supported by one or more *pramāṇa* they are said to be true, and if they are ill-supported they are said to be false. The Jaina assertion[12] that a *sakalādeśa vākya* is a *pramāṇa vākya* while a *vikalādeśa vakya* is a *naya vākya* is simply untenable. Differentiating a *pramāṇa vākya* from a *naya vākya* on the basis merely of the extent or quantum of information they are used to communicate, will not do. We need a different criterion for distinguishing a *pramāṇa vākya* from a *naya vākya* from the criterion on the basis of which we differentiate a *sakalādeśa vākya* from a *vikalādeśa vākya*. The Jaina thinker, it seems to me, has failed to see that the distinction between the first type of sentences necessarily requires the notion of truth or confirmation, while the distinction between the second type of sentences really does not. And if he uses the same criterion of division in both the cases, the Jaina logician could then be accused of having committed what in the traditional logic is known as the fallacy of cross division.

(4) Now, consider an example of a *vikalādeśa* sentence :

(F) This object has existence.

Consider also an example of a *naya vākya* :

(G) This object has existence.

If you look at (F) and (G), both are identical sentences ; and logically also they have the same status. The Jaina thinker, however, classifies them differently. Why he does this, is not at all clear. It is not clear at least to me. He may have very good reasons for doing this ; but no where, so far as I know, does he state or even suggest what reasons he has to characterise them differently. At the same time, he would not identify them as the same sentences. If he did this he will have to say that, as a *naya vākya* when prefixed by the word *syāt* or *kathaṃcit* becomes a *pramāṇa vākya*[13] so in the same manner a *vikaladeśa vākya* when prefixed by the word *syāt* or *kathaṃcit* would acquire the status of a *sakalādeśa* sentence. But, I do not think that this consequence is acceptable to the Jaina thinker. This can be shown as follows. Consider an example of a *sakalādeśa vākya* :

(H) This object has infinite properties.

This sentence satifies the condition of a *sakalādeśa* sentence.

Prefix now the word *syāt* or *kathaṃcit* to the *vikalādeśa* sentence an example of which is the sentence (F) above, and the resulting sentence would be

(I) This object has the property of existence as one of its infinite properties.

The two sentences (H) and (I) are in no way logically equivalent ; nor are they semantically equivalent. Besides, the sentence (I) gives more information than the information given by the sentence (H). It follows that even if the prefixing of the word *syāt* or *kathaṃcit* to a *naya* sentence turns it into a *pramāṇa vākya*, the same device does not turn a *vikalādeśa* sentences into a *sakalādeśa vākya*. The point of the argument is that the criterion of distinguisbing a *pramāṇa vākya* from a *naya vākya* must be different from the criterion of differentiating a *sakalādeśa vākya* from a *vikalādeśa vākya*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) On my analysis, the distinction between a *sakalādeśa* sentence and a *vikalādeśa* sentence is a distinction with respect to the quantum or the extent of information communicated by means of these sentences. A *vikalādeśa* sentence is a specific description of some specific aspect of what is real, while, *sakalādeśa* sentence is a general description of what is real. No question whatever of their truth values is involved in so far as we are concerned with a criterion of distinguishing them from each other. The distinction between a *pramāṇa vākya* and a *naya vākya*, on the other hand, involves a criterion which has to do with the truth values of these sentences. And here also my feeling is that the innocent device of prefixing the word *syāt* or *kathaṃcit* to a *naya* sentence will not turn it into a *pramāṇa* sentence. Or, for that matter, removing the prefix *syāt* or *kathaṃcit* from a *pramāṇa* sentence will not turn it into a *naya* sentence. This can be shown as follows :—

The notion of *naya* is tethered to the ways in which *Sat* may be described [14] If we make a distinction between *dravya* and *paryāya* a distinction frequently made by the Jaina thinker, then *Sat* may be described either according to the *dravyārthika naya* or according to the *paryāyarthika naya*,[15] in other words, either by emphasising on the *paryāyas* or properties which an object has, or by emphasising on the *dravya* or substance of which the predicates are asserted to be true or false.[16] The result, however, will be a description of what is real or *Sat*. Giving a description of *Sat* is not saying that the given description is true or false. To show its truth or falsity you have to offer one or more relevant *pramāṇas* or evidences in confirmation of your description of *sat*. It is in this way that the notion of *pramāṇa* is related to the notion of *naya*. Unless *pramāṇa vākyas* are adduced in support of a *naya vākya*, the *naya vākyas* remain what they are, neither confirmed nor disconfirmed descriptions. Merely prefixing the word *syāt* or *kathaṃcit* does not transform them into *pramāṇa vākyas*. Particularly, under the circumstance that a Jaina statement is a privileged statement in that the word *syāt* or *kathaṃcit* is always prefixed to it either explicitly or contextually or it is just tacitly understood to have been prefixed.[17] Consider, for instance, the sentence.

(J) *Sat* is *anekāntika*.[18]

This sentence (J) is a *pramāṇa vākya*. The word *syat* or *kathaṃcit* is apparently not prefixed to it. Unless the word is tacitly assumed to have been prefixed to it, the sentence (J) does not qualify to be a *pramāṇa vākya*. Then, how is it that it occurs as such without the prefix *syāt* or *kathaṃcit* as a *pramāṇa vākya* in the Jaina literature ? Our answer is : Not that the word *syāt* or *kathaṃcit* when prefixed to it transforms in into a true statement ; but it is really the *pramāṇa* or the evidence or the argument[19] that is adduced in favour of it that it makes it a true or an acceptable statement. The point of the argument is that it is the *pramāṇa* alone which transforms a sentence like (J) above into a *pramāṇa vākya* ; the prefixing of the word *syāt* or *kathaṃcit* does not do this ; the sentence remains where it is, a mere description only or a *naya vākya*.

(6) What I have done in this short paper is briefly this : I have argued for the thesis that a *vikalādeśa* sentence and a *sakalādeśa* sentence logically stand on a different footing from a *pramāṇa* sentence and a *naya* sentence, and that the criterion of differentiating the first pair of sentences is different from the criterion of distinguishing the second pair of sentences. I have held the thesis that the question of How to describe that is real is conceptually different from the question of How to decide the truth values of sentences which are used to describe what is real. I have maintained the view that a *naya* sentence whether the word *syāt* or *kathaṃcit*[20] is prefixed to it or not, is a sentence which belongs to the set of those sentences that are offered in answer to the first question, namely, How to describe what is real : while *pramāṇa vākyas* with or without the prefix *syāt* or *kathaṃcit* are evaluated true or confirmed descriptions of what is said to be real.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Notes and References

1 Mallisena's *Syādvādamanjari* with Hemacandra's *Anyayoga-Vyavaccheda-Dvātriṃśika* (Bombay Sanskrit and Prakrit Series No. LXXXIII ; 1933) p. 167.
2 Vadideva Suri's *Pramāṇa-Naya-Tattvālokalaṃkāra* (Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay; 1967). p. 508.
3 Yasovijaya Gaṇi's Jainatarkabhāṣā (Delhi, 1973). p. 21 : Cf. *Tattvārtha-slokavārttika*, 1.6.21.5.
4 *Pramaṇa-Naya-Tattvalokalaṃkāra* ; p. 538.
5 *Jain-Tark-Bhāṣā* ; p. 21.
6 *Syādvādamanjari* ; pp. 159-169.
7 *Pramāṇa-Naya-Tattvālokalaṃkāra* ; p. 508.
8 *Anyayoga-Vyavaccheda-Dvātrimśika* ; St. 23 ; p. 139 of *Syādvādamanjari*, op. cit.
9 Syādvādamanjari, p. 145. Cf. *Ratnākarāvatārika*, Chapter 4.
10 *Ibid*, p. 146.
11 *Anyayoga-Vyavaccheda-Dvātrimsika* ; St. 21 ; p. 133-34 of *Syādvādamanjari*. Cf. *Tattvārtha-slokavārttika* ; V. 29.
12 *Syādvādamanjari*, pp. 145-46.
13 *Syādvādamanjari*, p. 167.
14 *Ibid*, p. 161.
15 *Ibid*, pp. 138-48. Also, *Jain-Tark-Bhāṣā*, p. 21.
16 *Ibid*, pp. 138-48.
17 *Ibid*, p. 245.
18 *Ibid*, p. 136.
19 *Ibid*, p. 137.
20 In this paper, I have not discussed the logic of *Syāt vākyas*. That forms the subject of another paper.

बोवोगे वैसा काटोगे, इसमें कुछ मतभेद नहीं ।
चाहे कलियुग हो पर होता, धर्म-कर्म विच्छेद नहीं ।।
जिसको सुनकर क्षमा अहिंसा, तप के भाव जगें मन में ।
वही धर्म है उसे दीजिये, स्थान स्वयं के जीवन में ।।
तत्त्व अहिंसा में सात्त्विकता, सात्त्विकता में सत्य निवास ।
सत्त्व सहित जीवन होता, बहुत महत्त्व, विशेष विकास ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन में आत्म-मीमांसा

✡ श्री अरुणविजयो मुनि

जगतीतले बहवो धर्मा-दर्शनानि च सन्ति। विश्वदर्शनेषु भारतीयदर्शनान्यग्रिमस्थानारूढानि सन्ति। दर्शनक्षेत्रे दृष्टादृष्ट-सर्वेषां पदार्थानां तलस्पर्शिज्ञानमुपालम्भते। सर्वदर्शने जैनदर्शनमपि स्वतंत्रं प्राचीनं च परिगण्यते। अस्य प्ररूपका उपदेष्टार तीर्थंकरा आर्हंताः। अतोऽमुमार्हतदर्शनमप्युच्यते। आर्हतार तीर्थंकरा आदिनाथमहावीरस्वामि भगवत् सदृशाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिन एव भवन्ति।

जैनदर्शनेष्यात्म-परमात्म, लोकालोकात्परलोककर्म-धर्मादिदृष्टादृष्टप्रभृतीनां सर्वेषां पदार्थानां विचारविषये सिद्धान्ताश्च दृश्यन्ते।

आस्तिकदर्शनानामुहापोहयोः केन्द्रस्थानं प्रायेण "आत्मा" अस्ति। प्रत्यक्षाभावादात्मविषये भिन्न-भिन्न दर्शनेषु भिन्ना-भिन्ना विचारधाराः प्रचलन्ति। दर्शनेतरैः साकं जैनदर्शनस्यात्मविषयकसिद्धान्तानां प्रस्तुते प्रबन्धे विमर्शः क्रियते।

आत्मज्ञानेनैवात्मप्रतीतिर्भविष्यति। आत्मज्ञानमेव मोक्षं प्रति कारणमस्ति। तच्चानुमानादि प्रमाणेनैव भविष्यति। सर्वज्ञोक्तागमादि शास्त्राणामालम्बनमेव प्रधानाधारो वर्तते। अत अर्हत सर्वज्ञोक्तागमाधारमवलम्ब्य तेषां वचनानुसारेण सिद्धान्तस्तुतिपूर्वकं शब्दकुसुमाञ्जलिर्भिजिनार्चनं प्रस्तुते प्रबन्धे क्रियते।

भगवताहंता नवतत्त्वानि प्रतिपादितानि। तद्यथा—(१) जीवः (२) अजीवः (३) पुण्यम् (४) पापम् (५) आश्रवः (६) संवरः (७) निर्जरा (८) बंधः (९) मोक्षश्च[1]। एतेषु पदार्थेषु जीवाजीवौ पदार्थौ द्वावेव मूलतत्त्वे। अन्यानि तत्त्वानि अनयोरेव संयोग-वियोगजन्यावस्थाविशेष वाचान्येव। अर्हतेमतेऽनन्तधर्मात्मकं द्रव्यम्। तत् च गुणपर्यायात्मकम्[2], उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकस्वभावम्। **"उप्पन्नेई वा विगमेई वा धुवेई वा"** इतित्रिपदी भगवतोपदिष्टा।

ऐन्द्रियप्रत्यक्षदृष्ट वस्त्वस्तित्ववादिश्चार्वाका अदृष्टं नाङ्गीकुर्वन्ति, प्रत्यक्षगोचराभावात्। चैतन्यरहिता अजीवाः ते च प्रत्यक्षगोचराः। प्रत्यक्ष प्रियश्चार्वाकाश्चेतनायुक्तमात्मानं न स्वीकुर्वन्ति, अदृष्टत्वात्। ये ये दृष्टास्तेषां सत्तात्मकत्वं तैरङ्गीक्रियते, यथा घटपटादिकम्। चेतना-शक्तिर्भूतेष्वेव दृश्यते। अतःदेहाद् भिन्न आत्मनामको कश्चन पदार्थ एव नास्तीति भूतचैतन्यवादिनां-देहात्मवादिनामेव मतम्। ते च वदन्ति पृथ्वी-जलाग्नि-वाय्वादिभूतचतुष्टयेभ्यो विशिष्टरासायनिक संमिश्रणेभ्यश्चेतनाशक्तिरुद्भवति। शरीरवत् स एवात्मा, नान्यः।

यथा मद्यादि पदार्थानां बहुयातयामत्वेन मदिरा भवति, तस्याञ्च मदशक्तिरागच्छति। तथैव भूतचतुष्टयानां विशिष्टसंयोगेन चैतन्यशक्तिरप्युद्भवति। अतश्चैतन्यं देहधर्म एव न चात्मनः। अत एव जीवनप्रवाहो गर्भकालादारभ्य मृत्युपर्यन्तमेवास्ति। अन्ते समये शरीरयन्त्रे विकृत्यागमने चैतन्यशक्तिर्नाशो भवति स एव मृत्युः।

ऐतिहासिक्याहृष्या भूतचैतन्यवादः प्राचीनतमोऽस्ति। उपनिषदि, जैनागमे, बौद्धपिटकेषु चास्योल्लेखः पूर्वपक्ष रूपेण निर्दिष्टः। जयन्तसदृशैः समर्थं नैयायिकैरप्यस्य चार्वाकिरूपेण निर्देशो कृतः। एतत् सदृशं 'तज्जीवतत्शरीरवादस्योल्लेखः सूत्रकृताङ्गे, विशेषावश्यक भाष्ये तथैव च मज्झिमनिकायेप्युपलभ्यते।

भूतानां जडत्वन्तु चार्वाकैरप्यङ्गीक्रियते। जडेष्वेव चैतन्योत्पत्तिरिति तेषां मतम्। परमेतत् तर्कप्रमाणेन परीक्षिते न सिद्धान्तगामि भविष्यति। यतो हि भूत चैतन्ययोः कार्यकारणभाव इति पक्षमवलम्ब्य विचार्यते **कारणगत धर्मवैचित्र्यकार्ये** कथमागमिष्यति ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्येतादृक् कार्यकारणभावेङ्गीक्रियते चेद् घट सामग्र्या पटस्योत्पत्तिर्भविष्यति। परं तथा प्रतीतिस्तु न दृश्यते। अतो जडात् चैतन्योत्पत्तिरिति व्यवहारस्त्वलीक एव।

तथा च चैतन्यं जडस्वरूपमित्यपि वक्तुं न शक्यते। व्यर्थपदार्थान्तरकल्पना गौरवाच्च। अतो भूतचैतन्यवादस्तु न तर्कसंगतः।

तथा च चैतन्यं न दृष्टम्। तत् त्वतीन्द्रियग्राह्यम्। अतएव तस्य स्वीकारो न कर्तव्य इति तेषां मतम्।

अदृष्टपदार्थस्यादृष्टताप्रतिपादकं किमपि प्रमाणं नास्ति। अतएव प्रमाणाभावात् प्रमेयस्यापि सिद्धिर्न भविष्यति।

परमत्र विचारणीयो विषयस्तु स एव यतो हि कुत्रापि अदृष्टः पदार्थो नास्ति। शशशृङ्गवदलीककल्पना गम्यमिति ये वदन्ति तेषां कथनं तु निरर्गलमेव। प्रत्यक्षादि-प्रमाणविचारावसरे प्रमाणगतपदार्थनां याथार्थ्याङ्गीकरणीयमेव। प्रत्यक्ष आत्ममनःसंयुक्तेन्द्रियस्यैव कारणता, तत्रेन्द्रियत्वं किमिति प्रश्ने-अलौकिक एव पदार्थ परिकल्पनीयो भवति। मृतदेहेष्विन्द्रियस्याधिष्ठानभूतस्य स्थाने सत्त्वेपीन्द्रिय द्वारा संपादिते व्यवहारेऽक्षमता दृश्यते। अतस्तत् तदिन्द्रियाश्रयीभूतं किंचिदृष्ट वस्त्वङ्गीकरणीयमेव। अतोऽदृष्टपदार्थानङ्गीकारे सर्वत्र प्रमाणाभावस्य संचारो भविष्यति। तेन च प्रमेयसिद्धिः कदापि न भविष्यति। किञ्च मेधाधीना मानसिद्धिरिति नैयायिकानां सिद्धान्तः। अतोऽदृष्यमिन्द्रियं प्रत्यक्षादि व्यवहारमूलकमिति तु सिद्धं भवति।

एतादृशेन विचारेण चार्वाकस्तु सर्वथा परास्तो भविष्यति। अतश्चार्वाकमतं तत्त्वज्ञान परिकल्पित तात्पर्य निर्यायार्थकिञ्चित्यकरमेव।

जैनदर्शने आत्म लक्षणम्

"चैतन्यस्वरूपः परिणामी, कर्ता, साक्षाद् भोक्ता, देहपरिमाणः।
प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चायम्॥"

परमश्रद्धेयैर्भगवत् पादैः श्रीमद्भिर्वादिदेवसूरिमहाराजैरात्मनो लक्षणमेतादृशं कृतम्। अस्मिल्लक्षणे प्रदत्तविशेषणे दर्शनेतराणां निरासपूर्वकमार्हतसिद्धान्तस्योपबृहणं कृतम्। जिनानुयायिन आत्मनश्चैतन्यस्वरूपमुद्घोषयन्ति।

चेतना नाम 'आत्मशक्तिविशेषा'। चैतन्यमेवात्मनोऽसाधारणलक्षणम्। तदेव जीवाजीवयोर्विभेदकम्। अत उक्तं 'चेतना लक्षणो जीवः' इति। चैतन्यं साकार निराकारोपयोगात्मकम्। तच्च ज्ञानदर्शनात्मकम् अनेन विशेषणेन चार्वाकान्यायवैशेषिकाश्च परास्ताः।

नैयायिकानां मते आत्मा जड रूपः (ज्ञान-शून्यः) तथा चात्मज्ञानयोः सर्वथा भेदः परं समवायसंसर्गेनात्मज्ञानयोः संबन्धो भवति। यत आत्मतानयोरभिन्नः सम्बन्धः स्वीक्रियते चेत् ज्ञाननाशादात्मनाशोप्यङ्गीकरणीयमेव। परम-आत्मा तु नित्य द्रव्यत्वेन तैरेवाङ्गीकृत अतस्तयोरभेद रूपतात्वङ्गीकर्तुं न शक्यते नैयायिकैरपि।

तथा च रागद्वेषौ, मोह दोष प्रवृत्तिः जन्म दुःखं चैतेषां क्रमशोनाशे बुद्ध्यात्मगुणानां ध्वंसः, अन्ते चात्मनोऽपि नाश संभावना भवेत्।

तथा चात्मा कर्ता ज्ञानं च करणमित्यस्य व्यवहार लोपभयाद् कामतया तैरात्मज्ञानयोरभिन्नत्वं न स्वीक्रियते।

अत्रार्हताः "ज्ञानमया एवाऽयमात्मा" इति पक्षवादिनः। तथा च नैयायकाः "ज्ञानाधिकरणमात्मा" इति पक्षवादिनः।

आत्मज्ञानयोः सर्वथा भिन्नत्वं न युक्तम्। यतश्चैत्रमैत्रयोर्ज्ञानस्य पृथक्त्वात् मैत्रज्ञानेन चैत्रः पदार्थं नानुभवेत्। तथैव चैत्रस्य ज्ञानमपि चैत्रादभिन्नत्वात् चैत्रस्यज्ञानेनापि चैत्रस्यात्मनो ज्ञानं न भवेत्। अर्थात् यथा अन्यस्यज्ञानेनाऽस्माभिर्न ज्ञायते, तथैवाऽस्माकं ज्ञानेनापि वयं ज्ञातुं न शक्नुमः, भिन्नत्वात्।

यदि समवायेन ज्ञानमात्मनि तिष्ठति चेद्, तदेवज्ञानं तस्मिन्नेवात्मनि वस्तुबोधं कारयितु समर्थम्। अतश्चैत्रस्य ज्ञानं चैत्रादभिन्ने सत्त्वेऽपि समवाय सम्बन्धेन संयुक्तमस्ति अतो दोषनिरासः।

परमेतन्यायविरुद्धं मतम् यतो न्यायमत आत्मा सर्वव्यापकः कूटस्थोनित्यश्च। तथा च समवायोऽपि नित्यः सर्वव्यापकः। अतः एकस्य ज्ञानेन सर्वेषां ज्ञानं भवतु। परमेतद् व्यवहारे न दृश्यते, यथा घटे घटरूपे च समवाय सम्बन्धः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्वात्, घटरूप नाशे तदाधारस्यापि नाशो भविष्यति। तथैवात्मना साकं समवायेन सम्बन्धेन सम्बन्धिज्ञानस्य नाशे आत्मनोऽस्तित्वेऽप्यापत्तिरापतिष्यति। नित्यतायास्तु प्रश्न एव नोद्भवति।

यद्यात्मज्ञानयोः समवाये समवायेतरस्य कल्पना क्रियते चेदनवस्थादोषापत्तिः।

स्व-परप्रकाशकप्रदीप दृष्टान्तदानेन समवायः स्वस्वभावेनैवात्मज्ञानयोः स्वेन साकं सम्बध्यते, एतदपि युक्त्यसंगतम्। यतो न्यायमते धर्म-धर्मिणौ सर्वथा भिन्नौ स्तः। येन तेजो यस्य द्रव्यं, प्रकाशश्च यस्य धर्मः तेन प्रदीपदृष्टान्तेन युक्तिर्न संभवति। कारणम्, एकान्तेन भेदः स्वीकारे प्रदीप एवं कथं भवति? यदि न्यायमते प्रदीपस्य स्वपर-प्रकाशकत्वमेव न सिद्ध्यति, ततोऽस्याधारे समवायस्य सिद्धिः कथं संभवेत्। तथा च यावत् समवायो न सिद्ध्यति तावदन्या ऊहापोहौ वायुतरङ्गवत् निराधारौ।

समवायस्य स्वपर-प्रकाशकः स्वभाव एव, समवायेन भिन्नो वाऽभिन्नो वा? आद्यपक्ष स्वीकार उभयमपि समवायस्य स्वभाव-स्वरूपमिति कथं भवेत्? अस्याधारेऽन्यतर समवाय कल्पनापि कर्तुं न शक्यते! अनवस्थादोषागमात्।

द्वितीयेऽभिन्ने पक्षे स्वभावास्तित्वं विना समवायमात्रमेवावशिष्टं भवति।

समवायिषु यदि समवायस्य ज्ञानं समवायान्तरेण विना स्वत उद्भवति चेद् "आत्मविज्ञानं" इति प्रतीतौ समवायस्य काऽवश्यकता? अतो ज्ञानम् आत्मनः सर्वथा भिन्नं नास्ति। आत्मनि चैतन्यं भिन्नाभिन्नत्वेनाङ्गीकरणीयम्। सर्वेषां वस्तूनामनैकांतिकत्वात्। न तु सर्वथा भिन्नं न च सर्वथाऽभिन्नम्। एकान्त भिन्नपक्षे "अहं सुखी, अहं दुःखी, अहं जानामि" प्रभृत्याभेद प्रतिभासः कथं भवेत्? तथैव सर्वथाऽभिन्नपक्षे, आत्मा स्वरूपी चैतन्यं च तस्य स्वरूपमस्ति, एतादृक् भेदाभाव आगमिष्यति।

आत्मनोऽस्तित्वस्य सिद्ध्यर्थं चैतन्यकारकं ज्ञानमेव स्थायी गुणः। अस्याभावे सिद्धेरभावः।

परिणाम्यात्मा—

परिणमनं प्रतिसमयमपरापरपर्यायेषु गमनं परिणामः स नित्यमस्यास्तीति परिणामी।

परिणामोऽवस्थान्तर गमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः॥

पातञ्जल टीकाकारोप्याह—"अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्म-निवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः इति।"

अनेन परिणामी विशेषणेन नैयायिकानां कूटस्थनित्यतामतं तिरस्कृतम्। कूटस्थनित्यवादिनो नैयायिका नित्य-आत्मनि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं, जन्म-जरा-मृत्वादिकमपि संभवतीत्यामनन्ति। यथा ज्ञानमिच्छादीनां सम्बन्धेन कर्तृत्वं सुख-दुःखादीनां सम्बन्धेन वियोगेन च जन्म-मृत्यू भवतः।

परमेतन्नयुक्तिसंगतम्—पूर्वावस्थाऽभावे उत्तरावस्थायाः प्राप्तिः सम्बन्धमित्युच्यते। तथा च कूटस्थ नित्यपक्षे संबन्धस्य संभावनैव कथं भवेत्। सम्बन्धेन बिना सम्बन्धिषु कर्तृत्वस्य भोक्तृत्वस्य च प्रलापो व्यर्थ एव। पूर्वावस्थाया परित्यागेन बिना ज्ञानादीनां समवायस्योत्पत्तिः स्वीकारे वन्ध्य पुत्र जन्मोत्सववत् भविष्यति।

तथा च ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि पूर्वावस्थावदेवात्मा परिकल्प्यते, पूर्वावस्थायां परिच्छेदकाभाववानासीत्, अनन्तरं च ज्ञानोत्पत्तिसमये पदार्थपरिच्छेदकत्वं कथं संभवति?

कारणं प्रतिनियतस्वरूपाप्रच्युतिरूपत्वं कौटस्थ्यम्। आत्मनि पदार्थपरिच्छेदकत्वं मन्यमाने, प्रथमं योऽप्रमाताऽसीत् सैवाधुना प्रमातृत्वेन परिणतः। अनेन तु कूटस्थनित्यता कथं संभवेत्? अपरापरपर्यायेषु गमनेनाऽत्मनोऽवस्था परिवर्तते। गुणोऽयं जडे नोपलभ्यते, अतः परिणाम्यात्मा।

कर्ता, साक्षाद् भोक्ता—

कर्ता, साक्षाद भोक्तेति विशेषणयुगलेन कापिलमतं भिद्यतेः। तथाहि कापिलाः कर्तृत्वं प्रकृते प्रतिजानीते न पुरुषस्य। पुरुषस्तु—

अमूर्तश्चेतना भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म, आत्मा कापिलदर्शने॥

अन्धपङ्गुवत् प्रकृति पुरुषयोः संयोगः। चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या। यत इन्द्रियद्वारेण सुख-दुःखादयो विषयाः बुद्धौ प्रतिसंक्रामन्ति बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा। ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते। ततः सुख्यहं दुख्यहं मित्युपचारः। आत्मा बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आह च पतञ्जलिः—"शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति । तमनुपश्यन् न तदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते" इति । चिच्छक्तिसन्निधानाच्चाचेतनापि बुद्धिश्चेतनावतीवावभासते । वादमहार्णवोप्याह—"बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थं प्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति । तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापतिरिति पूर्व पक्षः ।"

अथ—पुरुषोऽगुणोऽपरिणामी चेद् कथमस्य मोक्षोभविष्यति ? 'मुच्' धातोर्बन्धन विश्लेषार्थत्वात् बन्धस्यैव मोक्षो-भविष्यति । अपरिणाम्यात्मनि वासनाक्लेशकर्मणा संबंधेन बन्धस्योत्पत्तिरेव न संभवति अत एवाऽत्मनो निष्क्रियत्वे परलोकः संसारादिकमपि न भविष्यति ।

सत्त्वेऽपि चैतन्य शक्तिः सा विषय परिच्छेदशून्येति परस्परं विरुद्धं वचः । 'चिति संज्ञाने' इति ज्ञानार्थे 'चित्' धातु प्रयुक्तः । **चित्यते अनयेति चैतन्यमस्ति** । यदीयं शक्तिः स्वपरप्रकाशिका नास्ति चेद् कथं सा चेतनाशक्तिरुच्यते, यथा घटः । चेतनाशक्तेः प्रतिबिम्बं बुद्धवागन्तु नार्हति, मूर्तधर्मत्वात् । मूर्तपदार्था एव प्रतिबिम्बन्ते ।

आत्मगतसुखदुःखानामनुभवो निराधार एव, आत्मनासाकं तेषां सम्बन्धाभावात् । यदि सुखदुःखयो ज्ञानं बुद्धिजन्यमुच्यते चेद् तदप्ययुक्तम् । सांख्यमते बुद्धेर्जडत्वात् । सुखदुःखादीनामनुभाविका सत्वेपि बुद्धेर्जडत्वकल्पने विरोधाभासो भविष्यति । बुद्धेर्जडत्वकल्पने ज्ञेयपदार्थानां ज्ञानाभावो भविष्यति ।

यद्यात्माऽकर्तास्ति चेद् भोक्ता-अनुभवितापि कथं भवेत् ? दृष्ट व्यवहारेऽपि कर्ताएव सफल भोक्ता भवति । अन्यस्य क्रियथाऽन्यस्य तृप्तिः कथं भवेत् ? यथा चैत्रस्य भोजनेन मैत्रस्य तृप्तिः, एतादृशो व्यवहारो नावलोक्यते । भोक्तृत्व कर्तृत्वे कार्यकारणभाव सम्बन्धो दृश्यते । भोक्तृत्वं कार्यान्तरगतं, कर्तृत्वं च कारणान्तर्गतम् । यथा घटकार्यमत्वे मृत्तिकादिकारणमस्त्येव, तथैव भोक्तृत्वानुगतं कर्तृत्वम् । भोक्तृत्वाङ्गीकृते कर्तृत्वमवश्यमङ्गीकरणीयमेव ।

'अचेतनापि बुद्धिश्चिच्छक्ति सानिध्याच्चेतनावतीवावभासते इत्यप्ययुक्तं प्रतिभाति । यथा यस्मिन्दर्पणे प्रतिबिम्बयते तस्मिन्दर्पणेऽपि चेतनापत्तिरापतिष्यति । तथा च चैतन्याचैतन्ययोरपरावर्तिस्वभावत्वेन पुरन्दरेणाप्यन्यथा कर्तृमशक्यत्वात् । किञ्चाऽचेतनापि चेतनावतीव प्रतिभासत इति 'इव' शब्देनारोपो ध्वन्यते । न चारोपोऽर्थक्रियासमर्थः । यथाऽतिकोपनत्वादिना समारोपिताग्नित्वो माणवकः कदाचिदपि मुख्याग्नि साध्यां दाहपाकाद्यर्थक्रियां कर्तुं न समर्थ इति चिच्छक्तेरेव विषयाध्वसायो घटते न जडरूपाया बुद्धेरिति ।

अत एव धर्माद्यष्टरूपताप्ति तस्य वाङ् मात्रमेव । धर्मादीनामात्मधर्मत्वात् । अत एव चाहङ्कारोपि न बुद्धि जन्यो युज्यते, तस्याभिमानात्मकत्वेनात्मधर्मस्याचेनादुत्पादायोगात् ।

इत्यादि विचारानुसारेण कर्तृत्वं साक्षाद् भोक्तृत्वं च युक्तिसङ्गतं दृश्यते ।

स्वदेह परिमाणः

स्वदेह परिमाण—इत्यनेनापि नैयायिक वैशेषिक सांख्यादि-परिकल्पितमात्मनः सर्वगतत्वं निषिध्यते ।

नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य प्रभृतिभिर्दर्शनैरात्मनो विभुत्वं सर्वगतत्वमङ्गीक्रियते । अद्वैतवादिनोऽप्यात्मान एकत्वं विभुत्वं चाङ्गीकुर्वन्ति । देहाद् बहिरप्यात्मा सर्वत्र वर्तते सर्वव्यापकत्वादिति तेषां मतम् ।

परं यद्यात्मनः सर्वव्यापकत्वमङ्गीक्रियते चेदात्मेतर पदार्थानां सत्तैव कथं संभवति । तथा च एकात्मनि-अहं सुखी, अहं दुःखी, अहं ज्ञानी इत्याकारके प्रत्यये जाते सर्वात्मनि समानरूपेण सुख-दुःखादि ज्ञानं भविष्यति, सर्वव्यापकत्वात् । एकेन भोजनेकृतेप्यन्येषां सर्वेषां क्षुत्तृप्तिरपेक्ष्यते । परं लोक-व्यवहारेऽपि तथा नावलोक्यते । तथा च सुख-दुःखादीनां संवेदनापि सदृशाः समकालीना च भवतु, आत्मनः सर्वव्यापकत्वात् । यद्यात्मा सर्वव्यस्ति चेद्—एक समयावच्छेद एव नृदेवतिर्यङ् नारकगतीनां भावाभावानां सुख-दुःखादि संवेदनानां ज्ञाता भविष्यति ।

परं सर्वासु गतिषु सुख-दुःखादीनां वैषम्यमनुभूयते । एकस्य बन्ध-मोक्ष प्रसंगे सर्वेषां तथैव भवतु । न च तथा दृश्यते । सर्वे जीवाः स्वस्वकर्मविपाकानुसारेण बन्ध मोक्षं प्राप्नुवन्ति ।

इत्थं देहाद्बहिः सर्वव्याप्यात्मवादे महत्यापत्तिरापतिष्यति । तथा च देहबाह्यात्मवाद आत्माकाशयोः को भेदो भविष्यति ? व्योमवदात्मविभुवाद आत्मनि क्रियापि कथं सम्भविष्यन्ति ? अनेन च संसारास्तित्वमेव गच्छति । तथा चात्मविभुवाद ईश्वर मतवादिन आत्मनि जगत्कर्तृत्वं कथं न स्वीकुर्वन्ति ? उभयव्यापकत्वात् । यद्यात्मैवेश्वर ईश्वरैवात्मेत्युच्यते चेदात्मनि कर्तृत्वापत्तिरापतिष्यति । कर्तृत्वं तु समान स्वरूपं भविष्यति, अतः पापनरकादिवद भद्ररूपमीश्वरात्मनो भवेत् ।

भावार्थस्त्वयमात्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेः । यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणः स सर्वगतो न भवति, यथा घटः तथाचाऽयम्, तस्मात् तथा व्यतिरेके व्योमादि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा च न्याय कन्दल्यां श्रीधर भट्टेनोक्तं—

"सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देह प्रदेशे ज्ञातृत्वम्, नान्यत्र।
शरीरस्योपभोगायतनत्वात् अन्यथा तस्य वैधर्म्यादिति ॥"

तथा चात्मनो बुद्ध्यादयोगुणाः शरीरमेवोपलभ्यन्ते। अतो गुणिनापि (आत्मना) तत्र भाष्यम्।
यथा अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिकायामुक्तं हेमचन्द्राचार्येण यत्—

"यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतद्।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहता पठन्ति॥"

यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते, तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते, नान्यत्र। एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्या द्योदेहे एव दृश्यन्ते न बहिः।

अतस्तनुपरिमाण एवाङ्गीकर्तव्यो न व्यापकः। चेतनत्वात्, यत्तुव्यापकं, न तत् चेतनम्-यथा व्योम चेतनश्चात्मा तस्मात् न व्यापकः। अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन कायप्रमाणता सिद्धा भवति।

आर्हतमते समुद्घातास्या क्रिया वर्तते। सा चाल्पाधिककर्म पुद्गल परमाणूनां तुल्यीकरणार्थं क्रियते। अतोऽष्टसमयसाध्य केवलि समुद्घातदशायां चतुर्दश रज्वात्मक [त्रिखंडलोक ब्रह्मांडात्मक], व्यापित्वेनात्मनः कथंचित् सर्वव्यापकत्वमार्हतै स्वीक्रियते। सा च क्रिया कादाचित्कीति न तेन व्यभिचारः।

प्रतिक्षेत्रं विभिन्न—मित्यनेन विशेषणेनात्मनः शरीरवाच्छिन्नत्वस्य विचारः कृतः। अधुना दृश्यमानानां शरीराणां संख्या बाहुल्यादात्मनोऽपि संख्या बाहुल्यमङ्गीकरणीयम् यत्र-यत्र सक्रियं शरीरं, तत्र-तत्र आत्मा यथा नृपश्वादीनाम्।

अनन्तात्मवादिनो जिनानुयायिनः प्रतिक्षेत्रं प्रतिशरीरं विभिन्न-विभिन्नात्मनोऽस्तित्वमङ्गीकुर्वन्ति।

"एग सरीरे एगो जीवो, जेसिं तु ते य पत्तेया"

प्रत्येक जीवानां शरीरे एक एवात्मा तिष्ठति। प्रतिशरीरमात्मनो भिन्नत्वात्, अनन्तात्मार्हतदर्शने दृश्यते। ते च प्रत्यक्ष सिद्धाः। शरीरमाश्रित्य "इन्द्रिय व्यवहारानुसारेण जीवानां बहवो भेदोपभेदा जैन जीवविज्ञाने दर्शिता।" श्रीमद् मध्वाचार्येण सर्वदर्शनसंग्रहे सप्ततितमे पृष्ठे समीचीनमुल्लेखितम्। जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यम्।

सक्रिये देहे चेतनाया अनुमानानुभूतित्वात्। सर्वेषु देहेषु आत्मनः स्वतन्त्रास्तित्वमङ्गीकरणीयम्। अत एकेतरदेहभिन्नसिद्धेरनेकात्मनोऽपि सिद्ध्यति। तथा चैक आत्मा जलेन्दुबिम्बवदुपाधिभेदात् नानारूपे प्रतिभासते, इत्यद्वैतमतेऽप्यापत्तिरागमिष्यति। सर्वेषु प्रतिबिम्बेषु सुख-दुःखादीनां समानरूपता।

तथा चाऽगमेतर प्रमाणानामप्यभावत्वेन प्रत्यक्षप्रमाणेन व्यवहारसिद्धा बहवः पदार्था सन्ति। ते च स्वीकारार्हाः। अनेन चाद्वैतस्य सत्ताऽपि स्थातुं नार्हति।

पौद्गलिकादृष्ट्वानिति—विशेषणं नास्तिकादिमतं निरसितुं दत्तम्। नास्तिकमतवादनश्चार्वाका अदृष्टं नाङ्गीकुर्वन्ति, अदृष्टस्य प्रत्यक्षाभावादित्युच्यते। चेद् स्वपितामहः प्रपितामहादिष्वभावस्वीकर्तव्या, दीर्घकाले जातानां चक्षुगोचराभावात्। तेषाममावे भवतोऽप्यभावो भविष्यति, पितुरभावे पुत्राभावः।

तथा च **'अदृष्ट सिद्ध्यर्थं'** अदृष्टेतरकारणत्वेनाङ्गीक्रियते चेद्, अनवस्थादोषागमो भविष्यति।

"पौद्गलिका दृष्टवान्" इत्यतः पुद्गलघटित कर्म परतन्त्रोऽर्थोऽस्ति। नैयायिकानां मते, अदृष्टेन ये धर्माधर्माः स्वीक्रियन्ते तेषामप्यत्र पौद्गलिकत्वेन विशिष्टा विचारा भविष्यन्ति। पुद्गलाः—इति=पूरण-गलन स्वभावयुक्ताः परमाणवो ये पौद्गलिकास्तेषां पुण्यपापानां (धर्माधर्माणां) यः कर्ता स एवात्मा।

यथा शास्त्रवार्तासमुच्चये हरिभद्रसूरिचरणैर्लिखितं यत्—

"यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्ता परिनिर्वाता, सह्यात्मा नान्यलक्षणः॥"

पुद्गलघटितकर्माणां यः कर्ता, कर्मणो, भेदोपभेदानां यो बन्धकस्तथा च तेषां पुण्यपापात्मक शुभाशुभकर्मणां विपाकानां यो भोक्ता—अनुभविता स एवात्मा। पौद्गलिकं चेदमः—आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात् निगडादिवत्। क्रोधे राग-द्वेषाद्यात्म परिणामरूपाणां पारतन्त्र्यस्वभावत्वात्, तन्निमित्तभूतस्य तु कार्मणः पौद्गलिकत्वात्।

पूर्वकर्म विपाकवशगो हि प्राणी रागद्वेषादिना प्राणव्यपरोपणादि हिंसाकार्याणि कुर्वाणः कर्मणा बध्यते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"कायवाङ्मन कर्मयोगः" सकषायत्वाज्जीवः कर्मणोयोग्यान् पुद्गलनादत्ते "शुभः पुण्यस्य" "अशुभः पापस्य" इत्यादीनि प्रमाणानि प्रसिद्धान्येव।

तथा च वृद्धशरीरं प्रति तरुणशरीरं कारणम्। तारुण्यं प्रति च बाल्यशरीरं बाल्यशरीरं, प्रति गर्भात्मकं शरीरं कारणं भविष्यति। तदनन्तरं तद् गर्भरूपं शरीरं प्रति किं कारण रूपं भवितुमर्हति ?

गर्भरूपं शरीरं प्रति पूर्व जन्मनः कार्मणशरीरमेव कारणं भवति, नेतरत्। इदमेव कार्मणशरीरं, पौद्गलिकं, सूक्ष्मरूपं च तदेवादृष्टनिर्मितम्, जैनमतेऽदृष्टस्वीकारे परलोक पुनर्जन्मादीनामपि स्वीकारो भविष्यत्येव।

पौद्गलिकमदृष्टं मूर्तम् जडत्वात्। मूर्तकर्मणा अमूर्तात्मा कथं बध्यते ? अनुग्रहोपघातादिकं च कथं सम्भवति ? यथा अमूर्ते आकाशे मूर्तचन्दनादीनां विलेपनेनानुग्रहस्तथा च खड्गादिप्रहारेणोपघातादिकमपि न सम्भवति।

तत्र भवता मयं पक्षोऽपि स्वमतं साधयितुं न समर्थः। यतो मूर्तं ब्राह्मीमदिरा मदादीनां सेवनेनाऽमूर्तं ज्ञानस्यानुग्रहोपघातादिकं प्रत्यक्ष अनुभूयते।

स्याद्वादमते—आत्मा एकान्तामूर्तोऽपि नास्ति यतोऽनादि कर्म सन्तत्या स परिणामान्तरं गतः। यथोऽग्निनासाकमयपिण्डस्य संयोगः क्षीरनीरवदात्मकर्मणो संयोगेन वात्मापि तद्वत् प्रतिभासते; यथा दुग्धे जलं दुग्धवदेव भासते। अतो मूर्तं कर्मणासाकं कथंचिदभिन्नत्वात् (संसारावस्थायाम्) आत्मापि कथंचित् मूर्तत्वेन प्रतिभासते। अन्यथाऽकाश आपत्तिरागमिष्यति। अतः सर्वथाऽमूर्तत्वादाकाशस्योपरि मूर्ता नामनुग्रहश्चोपग्रहो नास्ति। कथंचित् मूर्तामूर्तत्वादेवाऽत्मनि मूर्तकर्मणोऽनुग्रहश्चोपग्रहः सम्भवतीत्यार्हते पौद्गलिका दृष्टत्वमङ्गीकृतम्।

यथा चागम प्रमाणम्—

जीवो अणाइ अणिधणो अविणासी धुओ निच्चं —इति भगवत्यागमे।

जीवात्मानः कालापेक्षयाऽनाद्यनन्ताः, अर्थात् यस्योत्पत्तिर्नाशश्च नास्ति,[1] स एव जीवः। अनुत्पन्नाः पदार्था अनादिसिद्धाः। अनिधनः—निधनं मृत्युः, यस्य मृत्युः (अयः) नास्ति सोऽनिधनः। मृत्यु धर्मो देहस्य न त्वात्मनः। देहात्मनो वियोग एव मृत्युरित्युच्यते। यस्योत्पत्तिः तस्यैव नाशः गीतायामपि "जातस्य ध्रुवो मृत्यु" रित्युक्तम्। जन्म ग्रहणे देहोत्पत्तिर्भवति, अतोऽस्यैव क्षयः मृत्युर्भविष्यति।

अविनाशी—आत्मा अविनाशी वर्तते। केनाप्याघात प्रत्याघातेनास्य नाशो नैव भविष्यति।

अग्निना न दह्यते, न च वज्रेण हन्यते, न च पर्वतेभ्यो भिद्यते, छुरिकया न च छिद्यते। अतोऽछेद्या-काट्या-दाह्याभेद्यादि स्वभाववानात्मा जिनमते।

अक्षयः—सर्वदा सर्वस्मिन् कदापि यस्य क्षयोनास्ति स एवात्मा।

"ध्रुवो नित्यम्" जड पौद्गलिकाः पदार्थाः क्षणिका नाश स्वभावाश्च सन्ति। एक आत्मैव नित्यः। तथा चोत्पादव्ययध्रौव्य स्वभावाद्रव्याः। द्रव्यरूपेणात्मा 'ध्रुवो नित्यः।' गुणापेक्षयोत्पन्न स्वभावी तथा च पर्यायदृष्ट्या व्ययः—विनाशस्वभावी आत्मा, आर्हत दर्शने। नरदेवतिर्यञ्चनारकादिषु आत्मा जन्म धारयति सा स्थितिः पर्यायरूपोच्यते।

आत्मतत्त्व स्वीकारे पुनर्जन्म सिद्धिरपि भविष्यति। 'पुनर्जन्मे' ति शब्दे पुनः जन्म च इति द्वौ शब्दौ। जन्मनि मृत्योरनन्तरमग्निसंस्कारे देहस्य विलयो जात। अतः यद्यात्मा नाङ्गीक्रियते चेत् पुनः चेतनागमनं नावलोक्यते। अत आत्मन एव पुनर्जन्माङ्गीकरणीयम्।

आधुनिक विज्ञानस्य प्रयोगशालायामपि 'क्रायोबायोलोजि' इत्याख्यायां नवीनायां पद्धत्यां मृत शरीरे चेतनापूर्ते प्रयत्नानि प्रचलन्ति, परमेतन्न-भूतं न भविष्यति।

तथा चार्हतैरात्मनः संकोचविकासशीलत्वं गुणत्वेन स्वीक्रियते। यथा विस्तृते कक्षे प्रदीपस्य प्रदेशा-विस्तारेण तिष्ठन्ति सङ्कुचिते लघुकक्षे तस्यैव दीपस्य प्रदेशास्तस्मिन् लघुक्षेत्रे तिष्ठन्ति, तथैवात्मनि संकुचितत्वं विस्तृतत्वं चास्ति। अतः कुञ्जरसदृशे दीर्घकाये य आत्मा तिष्ठति स एवात्मा जन्मान्तरे कीटिकामक्षिकादीनां शरीरेऽपि स्थातुं शक्नोति।

इत्यात्म-मीमांसा भारतीये दर्शने

सन्दर्भ स्थल—

१ जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संते ए तहिया नव॥—उत्तराध्ययन २८।१४

२ गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-दर्शन में मुक्ति
स्वरूप और प्रक्रिया



✍ श्री ज्ञानमुनि जी महाराज (जैनभूषण)

□

मुक्ति शब्द का अर्थ—

व्याकरणशास्त्र के मतानुसार मुक्ति शब्द मुचलृ [मुच्] धातु से बनता है—**मोचनं मुक्तिः**। अर्थात् जीव का कर्मों के आवरण से सर्वथा उन्मुक्त हो जाना, जन्म-मरण की अनादि कालीन परम्परा से बिल्कुल छुटकारा प्राप्त कर लेना, सांसारिक दुःखों और आवागमन से पूर्णतया छूटकर अपने वास्तविक स्वरूप में रमण करना, मुक्ति है। वेदान्त की भाषा में आत्मा का ब्रह्म में लीन हो जाना मुक्ति है। कोषकारों के मत में मुक्ति शब्द के "मोक्ष, जन्ममरण से छुटकारा मिलना, आजादी, स्वतन्त्रता" आदि अनेकों अर्थ उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त जिस स्थान पर मुक्त आत्माएं निवास करती हैं, उस स्थान को भी मुक्ति कहा जाता है।

जैन तथा जैनेतर अध्यात्म साहित्य में मुक्ति शब्द को लेकर अनेकों अर्थ—धारणाएं उपलब्ध होती हैं। कुछ एक उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ—

१ **विवेगो मोक्खो** —आचाराङ्ग चूर्णि २७२

—वस्तुतः विवेक ही मोक्ष है।

२ **सव्वारम्भ परिग्गह-णिक्खेवा, सव्वभूत समया य।**
एक्कग्ग-मण-समाहणया, अहएतिओ मोक्खो ॥१॥ —बृहत्कल्पभाष्य ४५८५

—सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग, सब प्राणियों के प्रति समता और चित्त की एकाग्रता रूप समाधि, बस इतना ही मोक्ष है।

३ **कृत्स्नकर्म क्षयो मोक्षः।** —तत्त्वार्थ सूत्र १०।२

—सम्पूर्ण कर्मों का नाश ही मोक्ष है।

४ **अज्ञान हृदय-ग्रन्थि-नाशो मोक्ष इति स्मृतः।** —शिव गीता

—हृदय में रही हुई अज्ञान की गाँठ का नष्ट हो जाना ही मोक्ष कहा जाता है।

५ **"आत्मन्येव लयो मुक्तिः वेदान्तिक मते मता।"**

—वेदान्तिक मतानुसार पर ब्रह्म स्वरूप इश्वरीय मुक्ति में लीन हो जाना मुक्ति है।

६ **भोगेच्छामात्रको बन्धः तत्त्यागो मोक्ष उच्यते।** —योग वाशिष्ठ ४।३५।३

—भोग की इच्छामात्र बन्ध है और उसका त्याग करना मोक्ष है।

७ **प्रकृति वियोगो मोक्षः** —षड्दर्शन समुच्चय ४३

—सांख्यदर्शन के मतानुसार आत्म रूप पुरुष तत्त्व से प्रकृति रूप भौतिक तत्त्व का वियुक्त हो जाना ही मोक्ष है।

८ **चित्तमेव हि संसारो, रागादि-क्लेश वासितम्।**
तदेव तैर्विनिर्मुक्तः, भवान्त इति कथ्यते ॥१॥ —बौद्धदर्शन

—रागादि क्लेश से युक्त चित्त ही संसार है। वही यदि रागादि क्लेशों से मुक्त हो जाए तो उसे भवान्त मोक्ष कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९ नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
पक्ष सेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥१॥ —हरिभद्र सूरि

—मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में, न तत्त्ववाद में तथा न ही किसी एक पक्ष का सेवन करने में है; वास्तव में कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है।

१० कामानां हृदये वासः, संसार इति कीर्तितः।
तेषां सर्वात्मना नाशो, मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥१॥

—हृदय में काम-कामना का होना ही संसार है, इनका समूल नाश मोक्ष होता है। ऐसा मनीषियों ने कहा है।

मुक्ति के पर्यायवाचक शब्द

अध्यात्म साहित्य में मुक्ति के अनेकों पर्याय-वाचक शब्द उपलब्ध होते हैं। जैनागम श्री औपपातिक सूत्र के सिद्धाधिकार में मुक्ति के १२ नाम लिखे हैं। जैसे १ ईषत्, २ ईषत प्राग्भारा, ३ तनू, ४ तनू तनू, ५ सिद्धि, ६ सिद्धालय, ७ मुक्ति, ८ मुक्तालय, ९ लोकाग्र, १० लोकाग्रस्तूपिका ११ लोकाग्र प्रतिबोधना और १२ सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्व-सुखवाहा।

मोक्ष प्राप्ति का क्रम

जैनधर्म की मान्यतानुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की निर्मल, निर्दोष आराधना द्वारा क्रमिक विकास करता हुआ जब यह जीव तेरहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो उस समय उसके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चारों घातीकर्म क्षीण हो जाते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण का विनाश करता है, दर्शनावरणीय कर्म दर्शन सामान्य का, मोहनीयकर्म विवेक का और अन्तराय कर्म दानादि लब्धियों का विघात करता है, इसलिए ज्ञानावरणीय आदि चारों घातीकर्म कहलाते हैं। जब जीव तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है तो सर्वप्रथम मोहनीय कर्म क्षीण होता है। मोहनीय कर्म के क्षीण होते ही ज्ञानावरणीय आदि तीनों घातीकर्म तत्काल समाप्त हो जाते हैं। इन घातीकर्मों का आत्यन्तिकक्षय हो जाने पर आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्तवीर्य की महाज्योति जगमगा उठती है, तेरहवे गुणास्थान में तो मन, वचन और काया रूप योगों की प्रवृत्ति चलती रहती है, परन्तु जब जीव तेरहवें गुणस्थान को छोड़कर चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होता है तो उसकी यह यौगिक प्रवृत्ति भी रुक जाती है। मन का सोचना, वचन का बोलना और काया का हिलना-चलना सब व्यापार समाप्त हो जाता है। चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होते ही जीव के अवशिष्ट वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य ये चार अघातिककर्म भी समाप्त हो जाते हैं, उस समय आत्मा सर्वथा निष्कर्म हो जाता है। तदनन्तर निष्कर्म आत्मप्रदेश शरीर को छोड़ जाते हैं। जैन दृष्टि से ज्ञानावरणीय आदि कर्म के कारण आत्म-प्रदेश शरीर में आबद्ध रहते हैं, परन्तु जब कर्मों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है, तब ये तत्काल शरीर को छोड़ देते हैं।

मुक्त जीव के आत्मप्रदेशों के शरीर से निकलने की भी अपनी एक स्वतन्त्र पद्धति होती है। श्री स्थानाङ्ग सूत्र की मान्यतानुसार जिस आत्मा के आत्मप्रदेश दोनों पाँवों से निकलते हैं, वह नरकगामी होता है, ऐसा जीव नरक गति में जन्म लेता है। दोनों जानुओं से जिसके आत्मप्रदेश निकलते हैं—वह जीव तिर्यञ्च गति में जाता है। वह पशु बनता है, छाती से जब आत्मप्रदेश निकलते हैं तब जीव को मनुष्य गति की प्राप्ति होती है। मस्तक से जिस जीव के आत्मप्रदेश निकलते हैं, उस जीव की उत्पत्ति देव लोक में होती है और जब जीव के आत्म प्रदेश समूचे अंगों से निकलते है, तब वह जीव सिद्धगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

भारतीय दर्शनों में मुक्ति और मुक्ति के साधन

दर्शन शब्द के ज्ञान, चिन्तन, विश्वास आदि अनेकों अर्थ उपलब्ध होते हैं; परन्तु दर्शन शब्द का जब शास्त्र के साथ प्रयोग होता है तब इसका—"वास्तविक तत्त्व ज्ञान या तत्त्व सम्बन्धी मान्यता" यह अर्थ होता है। दोनों का सम्मिलित अर्थ होता है—जिससे तत्व सम्बन्धी गूढ रहस्यों का ज्ञान प्राप्त हो, उस शास्त्र को दर्शन-शास्त्र कहते हैं। दर्शन-शास्त्रों के निर्माताओं की विभिन्नता होने से दर्शन-शास्त्र भी अनेकों उपलब्ध होते हैं। दर्शन-शास्त्र की अनेकता के कारण ही मुक्ति-तत्व की मान्यता को लेकर अनेकों विचार उपलब्ध होते हैं। जैसे—जैनदर्शन में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, अन्तराय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन आठ कर्मों के सर्वथा क्षीण हो जाने का नाम मुक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और जैनदर्शन ने १. सम्यग्दर्शन [वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर किया गया श्रद्धान, सम्यक् विश्वास] २. सम्यग् ज्ञान [जीव और अजीव आदि नवविध तत्त्वों का यथार्थ बोध, सच्ची जानकारी] और ३. सम्यक् चारित्र [कर्मबन्ध के वास्तविक कारणों को अगवत कर लेने के अनन्तर नवीन कर्मों को रोकना और पूर्वसञ्चित कर्मों का तप के द्वारा क्षय करना] इस रत्न-त्रय को मुक्ति का साधन स्वीकार किया है।

बौद्धमत में सनातन-परम्परा का विच्छेद होना मोक्ष है और संसार को दुःखमय, क्षणिक एवं शून्यमय समझना मोक्ष का साधन है। बौद्धदर्शन के अनुसार तपस्या की कठोरता तथा विषय-भोगों की अधिकता इन दोनों से अलग रह कर मध्यम मार्ग अपनाने से शान्ति मिलती है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और योग इन चारों के मत में दुःख का ध्वंस—नाश हो जाना मोक्ष है, किन्तु इसके साधनों में वहाँ भिन्नता मिलती है। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन के मत में प्रमाण और प्रेमय आदि १६ तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त करना ही मोक्ष का साधन है, जबकि सांख्य और योग दर्शन के मत में प्रकृति-पुरुष का विवेक, भेदविज्ञान मोक्ष का साधन माना गया है। मीमांसा-दर्शन के मत में वास्तविक मोक्ष माना ही नहीं है, वहाँ पर केवल यज्ञादि के द्वारा प्राप्त होने वाला स्वर्ग ही मोक्ष है तथा वेद विहित कर्म का अनुगमन और निषिद्ध कर्मों का त्याग ही उसका साधन है। वेदान्त के मत में जीवात्मा और परमात्मा की एकता का साक्षात्कार हो जाना मोक्ष है एवं अविद्या और उसके कार्य से निवृत्त होना उसका साधन है। नास्तिक दर्शन के मत में मोक्ष का विधान ही नहीं है, जब साध्य ही नहीं है, तब उसके साधन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है।

मुक्ति शाश्वत है

बन्ध तथा बन्ध के कारणों का सर्वथा अभाव एवं बँधे हुए कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होने का नाम मुक्ति है। जब आत्मा संवर के द्वारा नूतन कर्मों का आगमन रोक देती है—और पूर्वसञ्चित कर्मों को तपस्या के द्वारा सर्वथा क्षीण कर डालती है तब वह कर्मजन्य सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के शरीरों से रहित होकर अग्नि से निकले धुएँ की भाँति उर्ध्वगमन करती है और लोक के अग्र भाग में जाकर सदा के लिए विराजमान हो जाती है। अलोक में जीव की गति में सहायता प्रदान करने वाले धर्मास्तिकाय नामक तत्त्व का अभाव होने से मुक्त आत्मा अलोक में नहीं जा सकती। परिणाम स्वरूप निष्कर्म आत्मा अलोकाकाश न जाकर लोक के अग्रभाग में ही अवस्थित रहती है। कुछ विचारकों का कहना है कि कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से मुक्ति की उत्पत्ति होती है, अतः मुक्ति उत्पत्तिशील माननी चाहिए। मुक्ति को उत्पत्तिशील मान लेने पर उसका विनाश अवश्यंभावी है। क्योंकि जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका विनष्ट होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में मुक्ति को शाश्वत अर्थात् सदा कायम रहने वाली नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में जैनदर्शन का अपना स्वतन्त्र चिन्तन रहा है। जैनदर्शन कहता है कि उत्पत्तिशील वस्तु की विनाश-शीलता से किसी को कोई इन्कार नहीं है किन्तु मुक्ति का अपना स्वरूप मूल रूप से उत्पत्तिशील नहीं है। वस्तुतः आत्मा का नैसर्गिक और वास्तविक जो स्वरूप है, वह कभी पैदा नहीं होता, वह तो सार्वकालिक है, अतीत में था, वर्तमान में है और अनागत काल में सर्वदा अवस्थित रहेगा। केवल कर्मों के आवरण ने उसे आवृत कर रखा है, जब उस पर आए आवरण को अहिंसा, संयम और तप की परम पवित्र साधना द्वारा हटा दिया जाता है, तब वह केवल अनावृत हो जाता है। जैसे साबुन, वस्त्र को श्वेतिमा प्रदान नहीं करता। प्रत्युत उसके ऊपर आए मैल का केवल परिहार करता है। वैसे ही अहिंसा, संयम और तप की आध्यात्मिक साधना भी आत्मा को कोई नया रूप प्रदान नहीं करती, उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त आनन्द की उत्पत्ति नहीं करती, किन्तु आत्मा के स्वरूप पर आए आवरण को हटा कर उसे अनावृत कर देती है। आत्मा के स्वरूप का अनावृत्त हो जाना, जन्म-जन्मान्तर के लगे कर्ममल का आमूलचूल विनष्ट हो जाना ही आत्मा का मुक्ति को उपलब्ध करना है। अतः आत्मा के वास्तविक ज्ञान स्वरूप को उत्पत्तिशील नहीं कहा जा सकता, वह तो शाश्वत है, त्रैकालिक है, सदा अवस्थित रहने वाला है। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि आत्मा का वास्तविक ज्ञानस्वरूप या मुक्तिस्वरूप सांसारिक दशा में भी आत्मा में विद्यमान रहता है, किन्तु कर्मों के आवरण के कारण वह प्रच्छन्नरूप से रहता है, इस आवरण की समाप्ति के साथ ही वह प्रत्यक्ष में आ जाता है।

जैन दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि-कालीन है। जो सम्बन्ध अनादिकालीन होता है—वह सार्वकालिक सदा रहने वाला माना जाता है, ऐसी स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि आत्मा अनादिकालीन कर्म-बन्धन को तोड़कर मुक्त कैसे हो सकती है? उत्तर में निवेदन है कि जैन दर्शन ने आत्मा और कर्म का अनादिकालीन जो सम्बन्ध माना है वह केवल कर्मप्रवाह की दृष्टि से ही स्वीकार किया है। जैनदर्शन किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक कर्म की अपेक्षा से कर्म को अनादिकालीन स्वीकार नहीं करता। जैनदर्शन के विश्वासानुसार समय-समय पर कर्मों का बन्ध होता रहता है। आबद्ध कर्म अपने समय पर उदयोन्मुख होकर अपना फल देते हैं, तत्पश्चात् वे आत्म-प्रदेशों से पृथक् हो जाते हैं, तथा कुछ कर्म तपस्या की आराधना से क्षीण हो जाते हैं। परन्तु कर्म का प्रवाह सदा चलता रहता है। जो कर्म क्षीण होते हैं उनके स्थान पर दूसरे नूतन कर्मपुद्गल आ जाते हैं। इस प्रकार कर्मों का प्रवाह चलता ही रहता है। इस कर्म-प्रवाह की दृष्टि से ही जैनदर्शन आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि मानता है। इसके साथ-साथ जैनदर्शन की यह भी मान्यता है कि जब आत्मा संवर के द्वारा नूतन कर्मों के आस्रव—आगमन को रोक देता है तथा तपस्या की आराधना से पुरातन कर्मों को विनष्ट कर डालता है तब वह धीरे-धीरे कर्मों से उन्मुक्त होकर एक दिन सर्वथा निष्कर्म बन जाती है। इस पद्धति से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन होने पर भी अध्यात्म साधना द्वारा समाप्त हो जाता है। इस सत्य को खान से निकले हुए स्वर्ण के उदाहरण द्वारा सुविधा-पूर्वक समझा जाता है। अभी विचारक जानते हैं कि स्वर्ण खान से मलयुक्त ही निकला करता है, वहाँ ऐसा नहीं होता कि स्वर्ण और माटी को मिश्रित करके किसी ने खान में रख दिया हो। माटी और स्वर्ण की यह मिश्रित दशा स्वाभाविक है, किन्तु अग्नि का सान्निध्य पाकर माटी स्वर्ण से पृथक् हो जाती है। ऐसी ही स्थिति आत्मा और कर्म की समझनी चाहिए। कर्मों का सम्बन्ध भले ही अनादिकालीन है, परन्तु तपःसाधना धीरे-धीरे इसे समाप्त कर देती है।

मुक्ति का क्षेत्र

मुक्ति आत्मा की उस विशुद्ध स्थिती का नाम है, जहाँ आत्मा कर्मों के मल से उन्मुक्त होकर सर्वथा अमल एवं धवल हो जाता है परन्तु उपचार में जिस स्थान पर मुक्त आत्माएँ निवास करती हैं उस स्थान को भी मुक्ति या मोक्ष कहा जाता है। जैनेतर जगत में यही मुक्ति वैकुण्ठधाम, विष्णुलोक या गोलोक के नाम से पुकारी जाती है। प्रश्न हो सकता है कि यह मुक्ति या वैकुण्ठधाम विश्व के कौन से भाग में अवस्थित है? उसकी क्षेत्रपरिधि क्या है? इस सम्बन्ध में जैनेतर दर्शन तो प्रायः मौन ही हैं, कोई सन्तोषजनक समाधान प्राप्त नहीं होता। जो दर्शन आत्मा को विभु-सर्वव्यापक मानता है, उसके मत में तो समूचा जगत ही मुक्तात्मा का क्षेत्र कहा जा सकता है। परन्तु जैनदर्शन का इस सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण रहा है। जैनदर्शन की आस्था है—

अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
नत्थि जत्थ जरा-मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा॥ —उत्तराध्ययनसूत्र २३/८१

अर्थात् लोक के अग्र भाग पर एक ऐसा दुरारोह, ध्रुव स्थान है, जहाँ पर जरा, मरण, व्याधि और वेदना नहीं है।

निव्वाणं ति अबाहं ति सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो॥ —उत्तराध्ययनसूत्र २३/८३

अर्थात्—वह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्रक्षेत्र, शिव और अनाबाध नाम से विख्यात है। इसे महर्षि लोग प्राप्त करते हैं।

जैनदर्शन ने समूचे जगत को दो भागों में विभक्त किया है १. लोकाकाश और २. अलोकाकाश। आकाश के जिस भाग में जीव और अजीव आदि तत्त्व पाए जाते हैं, वह लोकाकाश तथा जहाँ पर जीवादि द्रव्य नहीं है वह अलोकाकाश कहलाता है। लोकाकाश के अधोलोक को पाताललोक भी कहते हैं। इस लोक में मुख्य रूप से नारकी-जीव तथा भवनपति देव रहते हैं। अधोलोक से ऊपर मध्यलोक है, यह[1] मध्यलोक मेरु पर्वत के समतल से नौ सौ योजन नीचे है और नौ सौ योजन ऊपर इस तरह कुल अठरह सौ योजनों में अवस्थित है, ठहरा हुआ है। इसमें सर्वोच्च शनैश्चर देव का विमान है, इसके विमान की ध्वजा के ऊपर ऊर्ध्व लोक का आरम्भ होता है। इस ऊर्ध्वलोक में २६ देवलोक हैं। सबसे ऊपर सर्वार्थसिद्ध नामक देवलोक है। इस देवलोक की स्तूपिका के अग्रभाग से १२ योजन की दूरी पर ईषत्-प्राग्भारा पृथिवी है। इसे सिद्धशिला कहते हैं।[2] यह सिद्धशिला ४५ लाख योजन की लम्बी और इतनी ही चौड़ी है। इसकी परिधि-घेरा एक करोड़ ८२ लाख ३० हजार दो सौ योजन से कुछ अधिक है। सिद्धशिला के सम प्रदेश (मध्य प्रदेश) में आठ योजन का क्षेत्र आठ योजन की मोटाई वाला है। इससे आगे यह हीन होती हुई अन्त में मक्षिका के पंख से भी अधिक तनुतर-सूक्ष्मतर तथा अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी मोटाई वाली रह जाती है। यह सिद्धशिला पृथ्वी बिलकुल सफेद है। शंखतल के समान विमल-निर्मल है। सौल्लिय (पुष्पविशेष) मृणाल—कमल-नाल, दकरज (पानी की इनाम), तुषार—ओस बिन्दु, गोक्षीर—गोदुग्ध, और मोतियों के हार के समान श्वेतवर्ण वाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। छत्र (छाता) को उलटा करके रखने पर जो उसका आकार बनता है वही आकार सिद्धशिला पृथ्वी का होता है। सिद्धशिला श्वेत स्वर्णमयी है, स्वच्छ है, श्लक्ष्ण-चिकनी है, मसृण है, इस्तीरी किए हुए कपड़े के समान कोमल है, घृष्ट—घिसे हुए पाषाण के समान स्पर्श वाली है, मृष्ट—चिकनी है, चमकदार है, नीरज—धूल रहित है, निष्पङ्क है।

सिद्धशिला के एक योजन ऊपर लोकान्त है। इस योजन के ऊपर के छठे भाग में सिद्ध भगवान अर्थात् मुक्त आत्माएँ विराजमान है। सुई की नोंक पर अवस्थित अर्क की एक बिन्दु में हजारों औषधियों जैसे आपस में घुलमिलकर, बिना किसी रुकावट के रहती हैं, वैसे ही अनगिनत मुक्त आत्माएँ एक ही प्रदेश में बिना किसी व्यवधान के अवस्थित रहती है। इसलिए कहा जाता है इस तरह मुक्त आत्माएँ एक में अनेक और समान और समान स्वरूप की दृष्टि से अनेक में एक रूप से जिस स्थान पर विराजमान रहती हैं, जैन दृष्टि से वही स्थान मुक्तात्माओं का निवास स्थान माना जाता है।

सिद्धगति का स्वरूप

आवश्यकसूत्र के प्रणिपात सूत्र (नमोत्थुणं) के "**सिवमयलमरुअमणन्तमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति-सिद्धि-गई-नामधेयं ठाणं**" ये शब्द सिद्धगति मुक्तिपुरी के स्वरूप का बड़ी सुन्दरता से परिचय करा रहे हैं। १. शिव २. अचल ३. अरुज ४. अनन्त ५. अक्षय ६. अव्याबाध और ७. अपुनरावृत्ति। ये सात शब्द सिद्ध गति के विशेषण हैं। इन पदों की अर्थ विचारणा इस प्रकार है—

१. **शिव**—शिव कल्याण या सुख का नाम है। अथवा जो बाधा, पीड़ा और दुःख से रहित हो उसे शिव कहते हैं। सिद्धगति में केवल सुख ही सुख है वहाँ पर किसी भी प्रकार की पीड़ा या बाधा नहीं होती है। सिद्धगति में आनन्द का दिवाकर आनन्द का प्रकाश सदा बिखरता रहता है, दुःख-तम का तो वहाँ पर चिन्ह भी नहीं है, इसलिए सर्वथा सुख स्वरूप उस सिद्ध गति को शिव कहा जाता है।

२. **अचल**—चल अस्थिर को और अचल स्थिर को कहते हैं। चलन दो प्रकार का होता है। एक स्वाभाविक दूसरा प्रायोगिक। बिना किसी प्रेरणा से जो स्वभाव से ही चलन होता है वह स्वाभाविक और वायु आदि बाह्य निमित्तों से जो चाञ्चल्य उत्पन्न होता है वह प्रायोगिक चलन माना गया है। सिद्धगति में न तो स्वाभाविक चलन होता है और ना ही प्रायोगिक, इसीलिए उसे अचल माना जाता है।

३. **अरुज**—रोग रहित होने को अरुज कहते हैं। सिद्धगति में रहने वाले जीव शरीर रहित होने के कारण वात, पित्त और कफ जन्य शारीरिक रोगों से सर्वथा उन्मुक्त होते हैं। कर्मरहित होने से उनमें भावरोगरूप, राग-द्वेष, काम और क्रोधादि विकार भी नहीं होते। इसीलिए सिद्धगति अरुज कहलाती है।

४. **अनन्त**—अन्तरहित का नाम अनन्त है। सिद्धगति को प्राप्त करने की आदि तो है, परन्तु उसका अन्त नहीं होता अर्थात् सिद्धगति सदा विद्यमान रहती है, उसका कभी विनाश नहीं होता। इसलिए इसे अनन्त कहा गया है। अथवा सिद्धगति में रहने वाले जीवों का ज्ञान और दर्शन अनन्त होता है और मुक्त जीवों का ज्ञान अनन्त पदार्थों को जानता है, इसलिए भी सिद्धगति अनन्त मानी जाती है।

५. **अक्षय**—क्षयरहित का नाम अक्षय है। सिद्धगति अपने स्वरूप में सदा अवस्थित रहती है, उसका स्वरूप कभी क्षीण नहीं होता। अथवा सिद्धगति में विराजमान जीवों की ज्ञानादि आत्मविभूति में किसी भी प्रकार का ह्रास या क्षय नहीं आने पाता इसलिए सिद्धगति को अक्षय माना जाता है।

६. **अव्याबाध**—पीड़ारहित का नाम अव्याबाध है। सिद्धगति में मुक्तात्माओं को किसी भी प्रकार का कष्ट या शोक नहीं होता, और न ही वे जीव किसी को पीड़ा पहुँचाते हैं, अतएव सिद्धगति अव्याबाध कही जाती है।

७. **अपुनरावृत्ति**—पुनरावृत्ति—पुनरागमन से रहित को अपुनरावृत्ति कहते हैं। सिद्धगति में जो जीव जाते हैं, वे सदा वहीं रहते हैं, कभी वापिस नहीं आते, वहीं पर अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि आत्म-गुणों में रमण करते रहते है, इसीलिए सिद्धगति अपुनरावृत्ति मानी जाती है। जैनेतर साहित्य में भी मुक्ति को अपुनरावृत्ति स्वीकार किया गया है। यहाँ पर कुछ एक उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ—

स मोक्षोऽपुनर्भव —भागवत

अर्थात्—जहाँ जाने के बाद फिर कभी जन्म नहीं होता, वह मोक्ष है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्ता, तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम॥ —श्रीमद्भगवद्गीता ८/८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—जो अवस्था अव्यक्त एवं अक्षर है, उसे परमगति कहते हैं। जिस सनातन, अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य वापिस संसार में नहीं आते वह मेरा परमधाम है।

न तद् भासते सूर्यो, न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम॥ —भगवद्गीता १५/६

अर्थात्—स्वयं प्रकाशमान जिस पद को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा एवं न ही अग्नि प्रकाशित कर सकती है, तथा जिस पद को पाकर मनुष्य पुनः संसार में नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।

सिद्ध के पर्यायवाचक शब्द

श्री औपपातिक सूत्र के सिद्धाधिकार में सिद्धगति में विराजमान जीवों के अनेकों पर्यायवाचक शब्द उपलब्ध होते हैं। जैसे (१) सिद्ध, (२) बुद्ध, (३) पारगत, (४) परम्परागत, (५) उन्मुक्त कर्मकवच, (६) अजर, (७) अमर, और (८) असंग। सिद्ध कृतकत्य का नाम है या जिस जीव ने अपनी आत्म-साधना पूर्णरूपेण सिद्ध अर्थात् सम्पन्न करली है, वह सिद्ध है। केवलज्ञान के द्वारा विश्व को जानने वाला बुद्ध, संसार रूपी समुद्र से पार होने वाले पारगत, सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, पुनः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति तदनन्तर सम्यक्चारित्र की प्राप्ति इस परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करने वाले परम्परागत, सर्व प्रकार से कर्मरूप कवच से रहित उन्मुक्त कर्म कवच, जरा वृद्धावस्था आदि अवस्थाओं से रहित अजर, कभी समाप्त न होने वाले अमर, और सब प्रकार के क्लेशों से निर्लिप्त असंग कहलाते हैं।

सिद्धों का सुख-वैभव

सिद्धगति में विराजमान सिद्ध जीवों को जो आनन्दानुभूति होती है, औपपातिक सूत्र के उसका बड़ा सुन्दर विवरण मिलता है। वहाँ पर लिखा है कि मुक्तात्माओं को जो सुख प्राप्त है वह सुख न तो मनुष्य जगत के पास है और न ही उसकी उपलब्धि देवताओं को हो सकती है। देवताओं के त्रैकालिक सुख को एकत्रित करके यदि अनन्त गुणा किया जाए तो वह सुख मुक्तात्माओं के सुख के अनन्तवें भाग की भी समता-बराबरी नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त एक सिद्ध के त्रैकालिक सुख को एकत्रित करके यदि अनन्त विभागों में विभक्त कर दिया जाए तो उसका एक भाग भी समूचे आकाश में नहीं समा सकता।

मोक्ष मन्दिर की पगडण्डियां

मोक्ष का स्वरूप क्या है? यह ऊपर बताया जा चुका है। मोक्ष के महामन्दिर तक पहुँचने के लिए कुछ एक अङ्ग साधन बताए गए हैं जिनको हमने पगडण्डियों के रूप में स्वीकार किया है। वे पगडण्डियाँ १५ होती हैं। इनको प्राप्त करना तथा इन पर गतिशील होना बहुत मुश्किल होता है। इनकी संक्षिप्त अर्थ विचारणा इस प्रकार है—

१. **जङ्गमत्व**—जङ्गम दशा का नाम जङ्गमत्व है। जैन दृष्टि से जीव अनादिकाल से निगोद आदि अवस्थाओं में परिभ्रमण करता चला आ रहा है। अनन्त जीव ऐसे हैं जिन्होंने अभी तक स्थावर दशा छोड़ कर त्रस अवस्था भी प्राप्त नहीं की है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर न जा सकने वाले वनस्पतिकायिक आदि जीव स्थावर तथा इधर-उधर आने-जाने की क्षमता रखने वाले द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं। जीव की इस त्रस दशा का ही दूसरा नाम जङ्गम दशा है। इस तरह निगोद तथा पृथिवीकाय आदि अवस्थाओं को छोड़कर द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय आदि जीव जङ्गम कहे जाते हैं। जीव का जङ्गम दशा को प्राप्त करना साधारण बात नहीं है। अपेक्षाकृत बहुत थोड़े ऐसे जीव होते हैं जो स्थावरत्व से निकलकर त्रस दशा को प्राप्त करते हैं। मोक्ष के महामन्दिर की यह पहली पगडण्डी है। इसको पार किए बिना जीव मोक्षपुरी को अधिगत नहीं कर सकता।

२. **पञ्चेन्द्रियत्व**—१ स्पर्शन, २ रसन, ३ घ्राण, ४ चक्षु और ५ श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों से युक्त जीव की दशा का नाम पञ्चेन्द्रियत्व है। जङ्गमदशा प्राप्त करके भी बहुत से जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय होकर ही रह जाते हैं। इन्हें निर्दोष पांचों इन्द्रियों का प्राप्त करना कठिन होता है। जीव की पञ्चेन्द्रिय दशा मोक्षपुरी की दूसरी पगडण्डी है। मोक्षपुरी में पहुँचने के लिए जीव को यह दूसरी पगडण्डी पार करनी ही पड़ती है।

३. **मनुष्यत्व**—मनुष्य की अवस्था का नाम मनुष्यत्व है। पञ्चेन्द्रिय अवस्था प्राप्त कर लेने के अनन्तर भी बहुत से जीव नरक और तिर्यञ्च गति में परिभ्रमण करते रहते हैं, इन्हें मनुष्य का जीवन बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है। मनुष्य जीवन मोक्ष के मन्दिर की तीसरी पगडण्डी है। जब तक जीव मनुष्य जीवन को प्राप्त न कर ले तब तक वह मुक्ति में नहीं जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **आर्यत्व**—आर्य देश का नाम आर्यत्व है। जिस देश में अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म की प्राप्ति हो उसे आर्यदेश कहते हैं। इसके विपरीत जहाँ धर्म की उपलब्धि न हो वह अनार्य देश कहलाता है। मनुष्य जीवन प्राप्त कर लेने पर भी जीव को आर्य देश की प्राप्ति बड़ी मुश्किल से होती है। यह मोक्ष मन्दिर की चौथी पगडण्डी है। मोक्ष गति को प्राप्त करने वाले जीव को आर्य देश में उत्पन्न होना पड़ता है। आर्य देश में उत्पन्न हुए बिना वह मोक्ष मन्दिर को सम्प्राप्त नहीं कर सकता।

५. **उत्तम कुल**—पिता के वंश को कुल कहते हैं। पितृपक्ष का उत्तम अर्थात् धार्मिक होना कुल की उत्तमता मानी जाती है, पैतृक परम्परा से धार्मिक संस्कारों का प्राप्त न होना कुल की हीनता होती है। आर्य देश में उत्पन्न होकर भी बहुत से जीव नीच एवं हीन कुल में उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ पर उन्हें धर्माराधन के समुचित अवसर तथा सामग्री प्राप्त नहीं होने पाती। अतः मोक्षाराधना को सफल बनाने के लिए जहाँ पर आर्य देश में जन्म लेना आवश्यक है, वहाँ पर उत्तम कुल में उत्पन्न होना भी बहुत जरूरी है। इसीलिए उत्तम कुल को मोक्ष के मन्दिर की पांचवीं पगडण्डी माना गया है।

६. **उत्तम जाति**—जननी के वंश को जाति कहा जाता है। मातृपक्ष का निष्कलंक एवं आध्यात्मिक होना जाति की उत्तमता तथा उसका अप्रमाणिक, भ्रष्टाचारी, हिंसक, अधार्मिक एवं निन्दित होना जाति की हीनता समझी गई है। उत्तम कुल की प्राप्ति कर लेने पर भी बहुत से जाति की उपेक्षा से हीन होते। परिणामस्वरूप मातृ जीवन के बुरे संस्कारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अतः जाति की हीनता मोक्षाराधना में विघातक होती है। मोक्ष की उपलब्धि के लिए जाति का उत्तम होना भी अत्यावश्यक है। इसीलिए उत्तम जाति को मोक्ष मन्दिर की छठी पगडण्डी स्वीकार किया गया है।

७. **रूप-समृद्धि**—आंख और कान आदि पांचों इन्द्रियों की निर्दोषता एवं परिपूर्णता का नाम रूप-समृद्धि है। पहली पगडण्डियों को पार कर लेने पर भी मोक्षसाधना को सम्पन्न करने के लिए श्रोत्रादि इन्द्रियों का निर्दोष एवं परिपूर्ण होना अत्यावश्यक है। इन्द्रियों की सदोषता एवं अपूर्णता रहने पर मोक्ष की आराधना भली-भाँति सम्पन्न नहीं होती। उदाहरणार्थ, श्रोत्रेन्द्रिय के हीन होने पर अध्यात्म-शास्त्रों के श्रवण का लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय की सदोषता होने से जीव दिखाई नहीं देते। जीवों के अदृष्ट रहने पर उनका संरक्षण नहीं हो पाता, हाथ और पाँव आदि अवयवों की अपूर्णता एवं शरीर की अस्वस्थता के कारण धर्माराधन से वञ्चित रहना पड़ता है। इसलिए पाँचों इन्द्रियों का परिपूर्ण एवं निर्दोष मिलना बहुत जरूरी है। तभी मोक्ष साधना सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकती है। मोक्ष मन्दिर की सातवीं पगडण्डी की यही उपयोगिता है।

८. **बल**—शक्ति का नाम है। मोक्ष साधना में शक्ति का भी अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। उपरोक्त समस्त साधन सामग्री के सम्प्राप्त हो जाने पर यदि साधक के शरीर में या श्रोत्र आदि इन्द्रियों में बल न हो, शक्ति का अभाव हो तो वह अहिंसा आदि धर्म साधन की आराधना नहीं कर सकता। सभी जानते हैं कि टाँगों में चलने की क्षमता न हो तो व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता। जैसे सांसारिक प्रवृत्तियों को सम्पन्न करने के लिए बल की आवश्यकता रहती है वैसे मोक्ष साधना में भी इसकी अत्यधिक उपयोगिता है। इसके अभाव में मोक्ष प्राप्ति का संकल्प कभी साकार रूप ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए बल को मोक्ष मन्दिर की आठवीं पगडण्डी स्वीकार किया गया है।

९. **जीवित**—आयु की दीर्घता का नाम दीर्घायु है। व्यवहार जगत में देखा जाता है, जो व्यक्ति जन्म लेने के साथ ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है, वह धर्मसाधना क्या कर सकता है? वस्तुतः जीवन के अस्तित्व के साथ ही सब कार्य किए जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। अतः मोक्ष साधना की आराधना के लिए भी दीर्घायु का होना अत्यावश्यक है। इसीलिए 'जीवित' को मोक्ष मन्दिर की नौवीं पगडण्डी माना गया है।

१०. **विज्ञान**—जीव और अजीव आदि पदार्थों का गम्भीर एवं विशिष्ट ज्ञान—विज्ञान कहलाता है। मोक्ष-साधना में विज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्ञानविहीन जीवन नयनों का अस्तित्व रखने पर भी अन्धा होता है। भगवान महावीर के "**पढमं नाणं तओ दया**" ये शब्द ज्ञान की महत्ता अभिव्यक्त कर रहे हैं। भगवद्गीता में—"**नहि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमिह विद्यते**" यह कहकर वासुदेव कृष्ण ने पाण्डुपुत्र अर्जुन को ज्ञान की महिमा एवं गरिमा ही समझाई थी। इसीलिए जैनधर्म ने विज्ञान को मोक्ष मन्दिर की दसवीं पगडण्डी स्वीकार किया है। दीर्घ आयु प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके भी जिस व्यक्ति को सत्, असत्, हित, अहित, ज्ञेय और उपादेय का विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान नहीं है, वह व्यक्ति मोक्ष साधना क्या कर सकता है ? अतः मोक्ष साधना के लिए जीवादि तत्त्वों का विशिष्ट, विलक्षण एवं गम्भीर ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है।

११. **सम्यक्त्व**—अनादि कालीन संसार प्रवाह में तरह-तरह के दुःखों का अनुभव करते-करते किसी योग्य आत्मा में ऐसी परिणाम शुद्धि हो जाती है जो इसके लिए अपूर्व ही होती है। इस परिणाम शुद्धि को अपूर्व-करण कहते हैं। इस अपूर्वकरण से राग-द्वेष की वह तीव्रता मिट जाती है जो तात्त्विक पक्षपात के लिए बाधक होती है। रागद्वेष की ऐसी तीव्रता मिटते ही आत्मा सत्य के लिए जागरूक हो जाता है। यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यक्त्व होता है। अथवा सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित जीव और अजीव आदि पदार्थों पर सच्चा श्रद्धान करना, यथार्थ विश्वास रखना सम्यक्त्व कहलाता है। मोक्ष की साधना में सम्यक्त्व सर्वप्रथम स्थान रखता है। सम्यक्त्व मोक्ष साधना की आधारशिला है, इसके अभाव में मोक्ष साधना का रम्य एवं भव्य प्रासाद कभी खड़ा नहीं किया जा सकता। वृक्ष के जीवन में जो स्थान उसके मूल का होता है, वही स्थान मोक्ष साधना के महावृक्ष में सम्यक्त्व का समझना चाहिए। चेतना के अभाव में शरीर को जीवित रखने का संकल्प जैसे निर्मूल होता है, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना मोक्ष साधना का सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। इसीलिए सम्यक्त्व को मोक्ष के महामन्दिर की ग्यारहवीं पगडण्डी कहा गया है।

१२. **शील सम्प्राप्ति**—शील चारित्र का नाम है, इसे सम्प्राप्त करना शील सम्प्राप्ति होती है। सामायिक आदि भेदों से चारित्र पञ्चविध होता है। मोक्षाराधना के लिए चारित्राराधना अत्यधिक आवश्यक है। बहुत से जीव सम्यक्त्व अधिगत कर लेने के अनन्तर भी चारित्र की आराधना से वञ्चित रहते हैं, अपने सच्चे विश्वास को साकार रूप नहीं दे पाते, परिणामस्वरूप वे मोक्ष के मन्दिर को उपलब्ध करने में असफल रहते हैं। इसीलिए शील सम्प्राप्ति को मोक्ष मन्दिर की बारहवीं पगडण्डी माना गया है।

१. विज्ञान, २. सम्यक्त्व और ३. शील सम्प्राप्ति ये तीनों मोक्ष के प्रधान अङ्ग-साधन माने जाते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य श्री उमास्वाति ने 'सम्यग्-दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः' यह कहकर उक्त तीनों अङ्गों का मोक्ष का मार्ग-साधन स्वीकार किया है।

१३. **क्षायिकभाव**—आत्मा की वह अवस्था जो कभी क्षीण न हो उसे क्षायिक भाव कहते हैं। क्षायिकभाव नौ प्रकार के होते हैं—

१. केवलज्ञान, २. केवलदर्शन, ३. दानलब्धि, ४. लाभलब्धि ५. भोग लब्धि ६. उपयोगलब्धि ७. वीर्यलब्धि, ८. सम्यक्त्वलब्धि, ९. चारित्रलब्धि।[1] ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय। इन चार घातीकर्मों के क्षीण होने पर ये नौ क्षायिक भाव प्राप्त होते हैं। ये सादि अनन्त हैं। मोक्ष सामना में क्षायिक भावों का अपना महत्त्व-पूर्ण स्थान है। क्षायिक भावों को अधिगत करने के अनन्तर ही साधक मोक्ष के महामन्दिर में पहुँच सकता है अन्यथा नहीं। इसीलिए क्षायिक भाव को मोक्ष मन्दिर की तेरहवीं पगडण्डी माना गया है।

१४ **केवलज्ञान**—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय इन घातीकर्मों का आत्यन्तिक विनाश हो जाने पर जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान विश्व के चराचर सभी प्राणियों तथा पदार्थों को हाथ पर रक्खे आँवले की भाँति जानने एवं समझने की क्षमता रखता है। इस ज्ञान को प्राप्त करके के अनन्तर जीव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाता है। मोक्ष-साधना सम्पन्न करने के लिए इस ज्ञान का उपलब्ध करना आवश्यक है, इस ज्ञान की प्राप्ति किए बिना मुक्तिपुरी की उपलब्धि नहीं हो पाती। इसीलिए इसे मोक्ष मन्दिर की चौदहवीं पगडण्डी स्वीकार किया गया है। वैसे तो क्षायिक भावों में केवलज्ञान का संकलन होता ही है, परन्तु यहाँ पर स्वतन्त्र रूप से जो इसका उल्लेख किया है, यह केवल इसकी प्रमुखता व्यक्त करने के लिए ही समझना चाहिए।

१५ **मोक्ष**—सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष है। जो जीव मोक्ष धाम प्राप्त करता है उसे ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों की आमूलचूल समाप्ति करनी पड़ती है। इसीलिए मोक्ष अर्थात् कर्मों के आत्यन्तिक विनाश को मोक्ष मन्दिर की पन्द्रहवीं पगडण्डी स्वीकार किया गया है।

मुक्ति की सादिता तथा अनादिता

मुक्ति सादि है या अनादि ? यह समझ लेना भी आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जैनदर्शन अनेकान्तवाद की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषा का आश्रय करता हुआ कहता है कि मुक्ति सादि भी है और अनादि भी। मुक्ति को प्राप्त करने वाले किसी एक जीव की अपेक्षा से वह सादि है और अनादि काल से जीव मुक्त होते चले आ रहे हैं। अतीतकाल में ऐसा कोई भी क्षण नहीं था जब कि मोक्ष-दशा का या मुक्त जीवों का अभाव हो। मुक्त जीवों का अस्तित्व सार्वकालिक है अतः इस अपेक्षा से मुक्ति अनादि मानी जाती है।

उपसंहार—

जैनदर्शन ने विभिन्न दृष्टियों को आगे रखकर मुक्ति के स्वरूप का चिन्तन प्रस्तुत किया है। यदि प्रस्तुत में सभी का संकलन करने लगे तो इस निबन्ध में अधिक विस्तार होने का भय है। अतः अधिक न लिख कर संक्षेप में इतना ही निवेदन करना पर्याप्त होगा कि जैनदर्शन में मुक्तिधाम का अपना एक चिन्तन है। यह सादि भी है और अनादि भी। इसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, किसी विशेष जाति, देश या वर्ण का इस पर कोई अधिकार नहीं है, केवल साधक में अहिंसा, संयम और तप की पावन ज्योति का ज्योतिर्मान होना आवश्यक है। जैनदर्शन के मुक्तिधाम में जो जीव एक बार चला जाता है, फिर वह वहाँ से वापिस नहीं आता। अपने अनन्त आनन्दस्वरूप में ही सदा निमग्न रहता है! इसके अतिरिक्त मुक्तिधाम में विराजमान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, मुक्त जीव का इस जगत के निर्माण में, भाग्य विधान में तथा इसके संहार या सम्वर्धन में कोई हस्तक्षेप नहीं है।



सन्दर्भ स्थल—

१ मेरु पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन की है जिसमें एक हजार जितना भाग भूमि में है और ९९ हजार योजन प्रमाण भाग भूमि के ऊपर है।
२ औपपातिक सूत्रीय सिद्धाधिकार।
३ विशेष अर्थ विचारणा के लिए देखो 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' का नौवाँ बोल।

उपदेश गंगा

मानव का भव अति महँगा है, इसे न आलस में खोओ।
सोओ नहीं मोहनिद्रा में, धर्म करो जागृत होओ॥

पल का नहीं भरोसा, कल पर—बैठे क्यों विश्वास किये।
जितने सांस लिए जाते वे, साँस गये या सांस लिये?॥

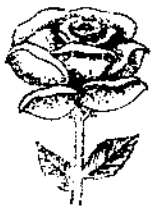
भोगों से ही नष्ट हो रही भोग शक्तियाँ इस तन की।
सिवा भोग से क्या कुछ कीमत, रही नहीं इस जीवन की॥

भोग रोग है, रोग भोग है, भोग सभी संयोग-वियोग।
भोगों की इस परिभाषा को, समझा करते धार्मिक लोग॥

शुद्धि विचारों की कर लो बस, तर लो इस भवसागर से।
पता बादलों का क्या होता, गरजे कहाँ कहाँ बरसे॥

श्री पुष्कर मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



ईश्वरवाद तथा अवतारवाद

✡ श्री सौभाग्यमल जैन, एडवोकेट
(शुजालपुर)

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में ईश्वर के अस्तित्व या अनस्तित्व का प्रश्न बहुचर्चित रहा है। मनुष्य में जब से वैचारिक क्षमता हुई तब ही से यह प्रश्न उसके मस्तिष्क में घूमा। ईश्वर संबंधी प्रश्नों पर विचार करने के पूर्व ईश्वर से क्या तात्पर्य है इस पर ऊहापोह आवश्यक है। ईश्वर, भगवान, परमात्मा, परमेश्वर, प्रभु, स्वामी आदि पर्यायवाची शब्द रहे है। ईश्वर शब्द में ऐश्वर्य का भाव निहित है। ऐश्वर्य सम्पन्न को भगवान कहा गया है। विष्णु पुराण में एक स्थान पर भगवान शब्द की व्याख्या की गई है:—

ऐश्वर्यस्य, समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव, षण्णां भग ईतीरिणा॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य इस प्रकार छह जीवन व्यापी तत्वों का समावेश जिसमें हो उसे भगवान कहा जाता है। जिस प्रकार भौतिक सम्पदा सम्पन्न व्यक्ति को साहबे जायदाद कहा जाता है उसी प्रकार आध्यात्मिक सम्पदा के स्वामी को ईश्वर (साहबे औसाफ) कहा जाता है। धार्मिक मान्यताओं में ईश्वर संबंधी विवेचन में परस्पर भिन्नता इतनी है कि जिसके कारण ईश्वर का प्रश्न दुरूह हो गया। किसी के मतानुसार ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता, हर्त्ता, नियामक, किसी के मतानुसार वह प्राणियों का भले-बुरे कर्मों का फल प्रदाता (पुरस्कर्त्ता या दण्ड प्रदाता) माना गया; किसी के निकट वह केवल द्रष्टा रहा; विष्णु सहस्रनाम में कहा गया है—

उत्पत्ति प्रलयं चैव, भूतानां अगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्या, अविद्या च, सवाच्यो भगवान् (वि० स० ६।५।७८)

उपरोक्त श्लोक में भगवान को सृष्टि के उत्पत्ति, नाश का जानने वाला, सब प्राणियों की गति, अगति को जानने वाला, विद्या-अविद्या को जानने वाला बतलाया है। इस्लाम ने तो अल्ला को सृष्टि निर्माता तथा सब प्राणियों को उनके नेक तथा बद कार्यों के लिए पुरस्कर्ता तथा दण्डदाता के रूप में मान्यता दी। कहा जाता है कि योमे हिसाब (डे आफ जजमेन्ट) के दिन अल्लाह उनके कर्मानुसार बहिश्त तथा दोजख में भेजेगा। तात्पर्य यह है कि दार्शनिक क्षेत्र में ईश्वर का प्रश्न बहुरूपिता का रहा है। एक उर्दू के शायर ने इसी कारण लिखा था कि—

फलसफा की बहस से भी तो, खुदा मिलता नहीं।
दौरे तो सुलझा रहा हूँ, पर सिरा मिलता नहीं॥

लेखक के यथासंभव अध्ययन के अनुसार जैनदर्शन में ईश्वर शब्द बहु प्रचलित नहीं रहा। भगवान, परमात्मा आदि व्यवहृत रहे हैं। लेखक के मतानुसार, परमात्मा शब्द अधिक अर्थपूर्ण है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणधारी में परमात्मत्व प्राप्त करने की क्षमता Potentiality वर्तमान है। जिस क्षण प्राणी अपने समस्त कार्मण वर्गणाओं को नाश कर देता है, उसका परमात्मत्व प्रगट हो जाता है जैनदर्शन में प्रत्येक प्राणी उतना ही शुद्ध, बुद्ध, पवित्र है कि जितना परमात्मा। जैनदर्शन के अनुसार संसार दशा में जीव (आत्मा) पर कर्मों का आवरण है। यह आवरण दूर होते ही वह परमात्मा हो जाता है। यह परमात्मत्व कहीं बाहर से आकर उसे प्राप्त नहीं होता, अपितु स्वयं की सुप्त ज्योति से ही वह प्रगट होता है। जैनदर्शन में प्राणी के विकास (गुण विकास) evolution की मान्यता को गुणस्थान कहा गया है। १३वें गुणस्थान पर वह ४ कर्म (घातियाकर्मों) के आवरण से मुक्त होकर केवल ज्ञान प्रगट करता है तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४वें गुणस्थान में वह जीवन मुक्त हो जाता है। वही परमात्मा है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन में उपरोक्त रीति से वर्णित ईश्वर (सृष्टि कर्त्ता, हर्त्ता या प्रतिपालक के रूप में या मजिस्ट्रेट या साक्षी के रूप में) मान्य नहीं रहा। ईश्वर का प्रश्न एक दार्शनिक प्रश्न है। धर्म से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करने वाला व्यक्ति भी धार्मिक हो सकता है। यदि उसमें मानवोचित सत्य, अहिंसा आदि गुण विद्यमान हैं। और एक ईश्वर अस्तित्व का हामी भी अधार्मिक हो सकता है यदि उसमें मानवोचित गुण न हो, किन्तु ईश्वर सम्बन्धी मान्यता का प्रश्न धर्म से अत्यन्त संलग्न हो गया है। एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है कि—

It is one of the identical fact of psychology that the average man can little exist of religious element of some kind as fish our of the water.

(In. Bravataky's Isis, vol. 21-25)

श्रमण-परम्परा की एक अन्य शाखा बौद्धधर्म के सम्बन्ध में भी कुछ विद्वानों का मत है कि तथागत बुद्ध ने ईश्वर सम्बन्धी मान्यता का निरपेक्ष इन्कार नहीं किया अपितु ईश्वर के नाम पर प्रचलित भाग्यवाद का प्रतिषेध किया था। उन्होंने मानवस्वभाव को ध्यान में रखकर एक स्थान पर कहा था कि "भिक्षुओ ! यदि प्राणी ईश्वर निर्माण के कारण सुख-दुःख भोगते हैं तो अवश्य तथागत अच्छे ईश्वर द्वारा निर्मित हैं।"[१]

वास्तव में देखा जावे तो ईश्वर सम्बन्धी विचार मानव की वैचारिक शक्ति के कारण ही है। जिस प्रकार मनुष्य में किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में क्यों ? कैसे ? कहाँ ? कब ?.....आदि उप-प्रश्न उठते हैं उसी प्रकार जब मनुष्य ने सृष्टि में सूर्य, चन्द्र, आकाश, आदि देखे, दैवी विपत्ति देखी, उस समय मानव के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। कहा जाता है कि दर्शन-शास्त्र के मूल में जिज्ञासा ही होती है। वास्तविकता यह है कि उस समय वैज्ञानिक आविष्कार नहीं थे। प्रकृति के रहस्यों से वह परिचित नहीं था इस कारण उसने उन अज्ञात प्राकृतिक शक्तियों (उपकारक, सहायतादाता या भयानक) में देवत्व की कल्पना की। प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व का आरोपण मानव के सहज विश्वास का कारण रहा। प्रसिद्ध विद्वान डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम. ए. पी. एच-डी. ने अपने एक लेख "भारतीय संस्कृति प्राग्वैदिक तथा वैदिक" में यह मत व्यक्त किया है कि ऋग्वेद संहिता में धर्म का जो रूप मिलता है उसे "प्रकृति पूजा" कहा जा सकता है। यहीं से दैवतावाद का प्रारम्भ हुआ। इस विश्वास की दो प्रतिक्रिया हुई (१) उनके प्रकोप को शान्त करने या उनको अपना सहायक बनाने के लिए अनुष्ठान प्रारम्भ हुए जो बाद में यज्ञ के रूप में परिवर्तित हुए। दूसरी ओर उन देवताओं के स्वरूप शक्ति के सम्बन्ध में विचार प्रारम्भ हुआ। ऋग्वेद के प्राचीन भाग में देवताओं का पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व मिलता है। मगर १०वें मण्डल में एक ही सार्वभौम सत्ता के रूप में मान्य किया गया[२] वैदिक देवता में अग्नि, सोम। पृथ्वी आदि को पृथिवी स्थानीय, इन्द्र, रुद्र, वायु को अन्तरिक्ष स्थानीय तथा वरुण, मित्र, उनस, सूर्य आदि को द्यु स्थानीय माने गये[३] जैसे-जैसे मानव की वैचारिक क्षमता बढ़ी उसने एक ब्रह्म की कल्पना की, उपनिषद काल में जाकर हम देखते हैं कि जगत के मूलाधार एक ब्रह्म को ही मान्यता मिली। समस्त प्राणि जगत उसी का प्रतिरूप है। केवल ब्रह्म को ही सत्य माना गया। उपनिषदों में सारे विश्व को तद्रूप मान लिया गया। इस प्रकार बहुदेवतावाद भी आगे जाकर एकईश्वरवाद हो गया। प्रो० मेक्समूलर ने इस प्रकार के विकास को चार अवस्थाओं में विभाजित किया है।[४] वेदान्त में अनेक सम्प्रदाय द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि, हैं किन्तु वेदान्त का सबसे प्रसिद्ध सम्प्रदाय अद्वैतवाद (आचार्य शंकर) है। बादरायण के वेदान्त सूत्र का प्रारम्भ ही "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" से होता है। इस्लाम ने बहुत बलपूर्वक 'ऐकेश्वरवाद' का प्ररूपण किया है। इस्लाम का कलमा "ला इलाहा इल्लिलाह मुहम्मद रसूलुल्लाह" (एक ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं है तथा हजरत मुहम्मद उसके रसूल, पैगम्बर हैं)। इस्लाम का आविर्भाव १५वीं शती में हुआ। किन्तु सूफी विचारधारा वेदान्त के अद्वैतवाद से अधिक प्रभावित रही है। उसमें भी ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य का सद्भाव नहीं माना जाता। कहा गया है—

महबूब मेरा मुझ में है मुझ को खबर नहीं।
ऐसा छुपा है पर्दे में कि, आता नजर नहीं॥

सूफी सन्त ईश्वरीय प्रकाश मानव के अन्तरतम में ही मानकर कहते हैं—

दिल के आइने में है, तसवीरे यार
जब जरा गर्दन झुकाई, देखली।

ईश्वर को सर्वव्यापी भी बताया—**जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।**

तात्पर्य कि यह सूफी सन्तों के निकट उपनिषदकालीन ब्रह्म के जैसी अद्वैतवादी विचारधारा रही। स्वामी प्रेमानन्द ने उसी ईश्वर के विचारों में तल्लीन होकर कहा था:—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी का राम काशी में, किसी का है मदीने में
किसी का जन, जमीं जर में किसी का खाने पीने में
कोई कहता 'गया' में है, किसी का योरेशलम में है।
प्रेमानन्द राम अपना या तो हरजां है, या सीने में है।

—मस्त सन्त प्रेमानन्द ने विभिन्न धार्मिक मान्यताओं में विहित पवित्र स्थानों को गिनाते हुए यह मत व्यक्त किया है कि मेरा राम (दशरथ पुत्र नहीं अपितु परम ब्रह्म) या तो सर्वव्यापी है या मेरे हृदय में है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में षट्दर्शन माने जाते हैं हालांकि उनकी गणना में विचारकों में मतभेद रहा है। किसी ने ऐसी दार्शनिक परम्परा को षट्दर्शन में मान्यता दी जो कि वेद प्रमाण मानकर चलती है। उन विचारकों ने वेद-प्रमाण न मानने वाले जैन, बौद्ध, चार्वाक दर्शन को षट्दर्शन के अन्तर्गत नहीं माना। बहरहाल न्यायदर्शन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने ईश्वर का उल्लेख किया है। यह भी कहा जाता है कि न्यायदर्शन का सम्बन्ध शैवमत के साथ है, जो जगत का नियामक ईश्वर माना जाता है। वैशेषिकदर्शन में ईश्वर को जगत का निमित्त कारण बताया जाता है। पूर्वमीमांसादर्शन का सम्बन्ध तो केवल वेद विहित यज्ञों के कर्मकाण्ड से है। इस कारण वैदिक देवताओं को प्रसन्न करने या उनको सहायक बनाने के लिये यज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वेदान्तदर्शन के सम्बन्ध में पहले विस्तार से उल्लेख किया गया है। वहाँ पर तो निम्न महावाक्य पथ-प्रदर्शन करते हैं जो भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में मानव को प्रकाश स्तम्भ का कार्य देते हैं।

१. **एकमेवाद्वितीयम्**

२. **तत्त्वमसि**—इस वाक्य में गुरु शिष्य को कहता है कि तू ही वह है।

यह एक विशेष बात है कि सांख्यदर्शन (जिसे पहली विचारधारा के अनुसार भी षट्दर्शन में गणना की जाती रही है) में ईश्वर के संबंध में निश्चित धारणा नहीं है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन में सृष्टि के नियामक के रूप में किसी ईश्वर की कल्पना नहीं है। कार्य-कारण के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति, नियमन होता है। दो तत्व (१) पुरुष और (२) प्रकृति माने गये। सांख्यप्रवचन में तो "**ईश्वरासिद्धेः**" कहा गया है यानी किसी प्रमाण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन वेद-प्रमाण नहीं मानता; अपितु उसकी मान्यता जैनदर्शन के अधिक निकट है। योगदर्शन में भी मानसिक एकाग्रता के लिये ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, सृष्टि के कर्त्ता के रूप में नहीं। इसी आधार पर योगदर्शन को '**सेश्वरसांख्य**' भी कहा जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में चार्वाकदर्शन को छोड़कर लगभग सब दर्शन ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यह बिल्कुल सत्य है कि ईश्वर के स्वरूप, आदि बातों में परस्पर भिन्नता इतनी विशाल है कि जिसके कारण कभी-कभी विचारक जैन, बौद्ध, सांख्यदर्शन को निरीश्वरवादी मान लिया जाता है। यदि गहराई से विचार करे तो शुद्ध रूप से केवल चार्वाक दर्शन ही निरीश्वरवादी दर्शन है शेष किसी न किसी रूप में ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं। यह एक तथ्य है कि अधिकतर धर्माचार्य एशिया में ही उत्पन्न हुए; कुछ के निकट ईश्वर निराकार, कुछ के निकट ईश्वर साकार था। गांधीवादी सुप्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर ने अपने एक लेख 'दस अवतारों की कल्पना तथा विकासवाद' में यह मत प्रतिपादित किया है कि हिन्दूधर्म के दो विभाग स्पष्ट हैं—एक वेदान्ती हिन्दूधर्म तथा दूसरा पौराणिक हिन्दूधर्म। हालांकि मान्यताभेद के बाद भी एक-दूसरे को दोनों सहन करते हैं।[४] एक ब्रह्म के बाद विश्व की तीन शक्ति का उल्लेख किया जाता है—(१) ब्रह्मा, (२) विष्णु, (३) महेश। जहाँ तक लेखक की अल्प माहिती है ब्रह्मा उत्पत्ति का, विष्णु प्रतिपालक का, महेश नाश का प्रतीक है। यही तीन शक्तियाँ विश्व का संचालन करती हैं। जैनदर्शन में त्रिपदी का महत्व है। उत्पत्ति, ध्रौव्य, विनाश। मान्यता यह है कि तीर्थंकर अपने प्रमुख शिष्य (जिन्हें गणधर कहा जाता है) को इसी त्रिपदी का ज्ञान प्रदान करते हैं तथा यह द्वादशांगी (१२ प्रमुख शास्त्र) का निर्माण करते हैं। केवल यही नहीं क्रिश्चयानिटी में भी त्रिनटी के सिद्धान्त की चर्चा प्राप्त है।[५]

"अवतार" शब्द के संबंध में डा० कपिलदेव पाण्डे ने अपने शोध-प्रबन्ध ("मध्य कालीन साहित्य में अवतारवाद" की पीठिका) में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इतनी विस्तृत चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। साधारणतया भारतीय धार्मिक जगत में "अवतार" शब्द के साथ "उत्तार" शब्द भी व्यवहृत है। वैदिक तथा पौराणिक जगत में अवतार तथा श्रमण परम्परा में उत्तार शब्द का प्रयोग होता है। "अवतार" शब्द सामान्य उत्पत्ति या जन्म के अर्थ में नहीं लिया जाता अतः विष्णु या अजन्मा ईश्वर के जन्म या उत्पत्ति को ही अवतार कहा जाता है।[६] प्रारम्भिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवतारवाद का संबंध मुख्य रूप से विष्णु से ही लिया जाता रहा, किन्तु विष्णु के प्रयोजन सहित जन्म का वृत्तान्त वैदिक साहित्य में विरल है। फिर भी जिन उपादानों से महाकाव्य एवं पौराणिक विष्णु तथा उनके अवतार का विकास हुआ है अधिकांश में इन्द्र तथा प्रजापति से अधिक सम्बन्धित रहा है। कालान्तर में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ मानकर सब उन पर आरोपित हो गया। अवतारवाद के मुख्य प्रयोजन में रक्षा मुख्य था। असुरों से युद्ध के लिये बल पराक्रम की आवश्यकता थी। वह वैदिक विष्णु में थी। उन्हें इन्द्र का सखा भी बताया गया तथा विभिन्न वैदिक ऋचाओं में उनकी स्तुति की गई।[८] भारतीय मध्यकालीन साहित्य में अवतार की जो चर्चा मिलती है उसका प्रारम्भिक परिचय महाभारत एवं पुराणों में मिलता है। महाभारत के "नारायणीयोपाख्यान" में न्यून अन्तर के साथ ४, ६, १० के क्रम में अवतारों की तीन सूची प्राप्त हैं। श्री भाण्डारकर ने इस उपाख्यान के विश्लेषण में उपलब्ध वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामदशरथी तथा कृष्ण इनके अवतारों को प्रथम सूची में शामिल किया है, फिर से, कूर्म, मत्स्य तथा कल्कि को मिला कर दूसरी सूची १० की बनाई है[९]। विष्णु पुराण में दशावतार का कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु अग्नि, वराह आदि परवर्ती पुराणों में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, बल्कि यह क्रम मिलता है।[१०] निर्गुण तथा निराकार ईश्वर के उपासक सन्त भक्तों के पदों में कहीं-कहीं दशावतार का प्रासंगिक जिक्र मिलता है। हालांकि इस वर्ग के सभी सन्त अवतारवाद के साथ ही दशावतार के आलोचक रहे हैं। कुछ सन्त ऐसे हुए हैं कि जिन्होंने सगुणोपासक सन्तों की भाँति दशावतार का विस्तृत वर्णन किया है। क्षेत्र की दृष्टि से महाराष्ट्र तथा बंगाल के सन्तों ने दशावतार की चर्चा की है। निर्गुण सन्त कबीर ने अपने "कबीर बीजक" में संग्रहीत एक पद में कहा है कि "जो अवतरित होकर लुप्त हो जाते हैं, वे ईश्वर के अवतार नहीं हैं, अपितु यह सब माया का कार्य है।" कबीर वचनावली में कहा गया है कि ये दशावतार निरंजन कहे जाने पर भी अपने नहीं हो सकते क्योंकि इन्होंने भी साधारण मनुष्यों की तरह अपनी-अपनी करनी का फल भोगा है। अन्य निर्गुण सन्तों ने भी दशावतार की आलोचना की है। सन्त मलूकदास ने तो दशावतार के मूल उद्गम के सम्बन्ध में ही सन्देह व्यक्त किया है। बड़े आश्चर्य से पूछते हैं ये दशावतार कहाँ से आए? किसने इनका निर्माण किया? सन्त रज्जब अवतार की १० तथा २४ संख्या देखकर ही भड़कते हैं। तथा ऐसे धनी का स्मरण करते हैं जो सब कर्ता सर-मौर है[११] बौद्ध तथा जैन साहित्य में चौबीस तीर्थंकर तथा २४ बुद्धों का जिक्र मिलता है। इसी पर से भागवत धर्म में भी अवतार की संख्या २४ मानली गई। फिर भी जैनदर्शन में २४ तीर्थंकर की वार्ता जितनी रूढ़ है उतनी बौद्ध या भागवत धर्म में नहीं मिलती। बौद्ध तथा वैष्णव मत में बुद्ध की विविध रूपों तथा विष्णु के अवतारों की संख्या सदैव एकसी नहीं रही है।[१२] दशावतार में प्रथम मत्स्यावतार (जल में रहने वाला), कूर्मावतार (जो पानी तथा भूमि पर चले, कछुए के पैर होते ही हैं)। इसके बाद पूर्ण पशु वराह का अवतार हुआ। उसके पश्चात् नृसिंहावतार (जो आधा पशु तथा आधा मानव), वामन तथा उसके बाद बाण से स्वयं तथा पर की रक्षा करने वाले राम (जिन्होंने रावण के विरुद्ध अन्याय का प्रतिकार करने के लिए बाण चलाये तथा मर्यादा पूर्वक राज्य चलाया), आठवाँ कृष्णावतार (जिन्होंने स्वयं राज्य नहीं किया। किन्तु पाण्डवों की सहायता की)। काका कालेलकर ने अपने उपरोक्त लेख में यह मत व्यक्त किया है कि इसके बाद हिन्दू धर्म का विकासक्रम रुक गया। लेखक के नम्र मत में हमारी भारतीय दार्शनिक सहिष्णुता तथा हमारे वैचारिक वैभव का यह परिणाम रहा कि तथागत बुद्ध को नवें अवतार के रूप में अपना लिया। जिन्होंने थोड़ी अहिंसा चलाई। काका साहब ने यह मत भी व्यक्त किया है कि इसके बाद पूर्ण अहिंसक समाज की रचना के लिहाज से भगवान महावीर होने चाहिए थे किन्तु हिन्दू धर्म ने कल्कि अवतार को १०वाँ स्थान दे दिया। तात्पर्य यह है कि अवतारवाद में जो विकास क्रम था वह टूट गया। फिर भी मानव की विकास कथा अवतारवाद के द्वारा रूपक तथा अलंकार के शब्दों में प्रस्तुत हुई, इसमें शंका नहीं है। साथ ही किसी समय खोजा सम्प्रदाय के प्रधान पीर सदर अलदीन ने दशावतार नाम की एक पुस्तक लिखी है जिसमें १०वें अवतार 'अली' को बताया है। नौ अवतार तक को उपरोक्त रीति से मानकर १०वाँ अवतार 'अली' घोषित करके विचित्र समन्वय का प्रयास किया गया है। 'पीरजाद' सम्प्रदाय में विष्णु के दशावतार की परम्परा है उसमें दसवाँ 'निष्कलंक' को परम देव (भावी अवतार) मानते हैं। तात्पर्य यह हैं कि हिन्दूधर्म के अलावा सूफी खोजा आदि में भी दशावतार की मान्यता का प्रचलन था।[१३]

इधर भागवत धर्म में जैन तीर्थंकर ऋषभदेव को पवें अवतार के रूप में अपनाया गया तथा उनकी परम योगी आदि विशेषणों से प्रशंसा की गई है। यह कितना प्रशंसनीय समन्वयात्मक आदान-प्रदान रहा कि जैनधर्म ने राम तथा कृष्ण को अपने यहाँ त्रिषष्टिशलाका पुरुषों में स्थान देकर उन्हें बलभद्रवासुदेव घोषित किया। ६३ शलाका पुरुषों का जैनधर्म में अत्यन्त आदर के साथ नाम लिया जाता है। भागवत पुराण में अवतारों की संख्या २४ मान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ली गई है जैसा कि उल्लेख किया गया है इस संख्या वृद्धि में जैन-बौद्ध परम्परा का प्रभाव ज्ञात होता है। बौद्ध परम्परा में २४ अतीत बुद्ध तथा जैन परम्परा में २४ तीर्थंकर मान्य किये गये हैं। बौद्ध जातकों में भगवान राम का पुनरवतार भगवान बुद्ध को मान लिया गया तथा कल्कि के स्थान पर भावी अवतार "मैत्रेयबुद्ध" होने की घोषणा की गई है।[१४] जैन परम्परा के "अवतार" शब्द के स्थान पर गुणों के आधार पर मानव के विकास के साथ ही कैवल्य प्रकट होने तथा सिद्ध-बुद्ध होने की बात मान्य की गई है इसे ही "उत्तारवाद" माना गया है। मोटे तौर पर मौलिक दृष्टि से देखा जावे तो जैन परम्परा के अनुसार इस्लाम में भी अवतार की कल्पना नहीं की जा सकती। ईसाई धर्म में तो ईसा को ईश्वरपुत्र माना गया है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक धार्मिक परम्परा में अवतार की कल्पना रही है चाहे उनके स्वरूप में मत भिन्नता हो, उस प्रश्न के approach में भिन्नता हो। यह सत्य है कि कुछ आचार्यों ने अवतार में अंश, कला, विभूति का परिणाम भी निश्चित किया जैसे कृष्ण को पूर्णावतार माना जाता है। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है।

अवतार स्वयं ब्रह्म की प्रतीकात्मक स्थिति है। मनोवैज्ञानिक लोगों का यह विश्वास रहा है कि मनुष्य समुदाय प्राचीन काल के किसी अति उच्च या सर्वोच्च मानव की प्रभुता में विश्वास रखता था इसे (superman) या पुरुषोत्तम कहा जा सकता है। फ्रायड (जो प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हुआ है) ने अपनी एक पुस्तक में यह मत रखा है कि अनेक अभाव से पीड़ित मानव ने सदैव एक नेता या अतिमानव की कल्पना की है। प्रारम्भ में अवतार दो या दो से अधिक भूगर्भीय युगों के संधिकाल के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं। थियासाफिकल सोसायटी की स्थापिका डा० ऐनीबीसेन्ट ने अपनी एक पुस्तक में--

१ मत्स्ययुग--सिलरियन एज
२ कूर्म युग--एम्फीवियन एज
३ वराह युग--मेमेलियन एज
४ नृसिंह युग--लेमूरियन एज

को बताकर वामन आदि अवतारों को भी मानव सभ्यता के विकास युगों का प्रतिनिधि बताया है। एक अन्य विद्वान तो वामन अवतार को भी इसी प्रकार बताते हुए परशुराम को प्रारम्भिक मनुष्य या शिकारी युग का, राम को धनुषधारी माक्डमेन, तथा कृष्ण, बुद्ध को परिष्कृत मानव के सूचक बताता है।[१५] वेदान्तदर्शन ने एकमात्र सत्य ब्रह्म को मानते हुए भी प्रतीतमान विश्व व निम्न छः तत्त्व को अनादि माना है--(१) ब्रह्म, (२) ईश्वर, (३) जीव, (४) जीव तथा ईश्वर का परस्पर भेद, (५) अविद्या, (६) अविद्या तथा चैतन्य का सम्बन्ध।

कुछ विचारकों ने ईश्वर तथा परमेश्वर में भी अन्तर निरूपण किया है। परमेश्वर यानी सर्व तथा ईश्वर को आत्मा की एक क्रिया के रूप में बताया है। इस अर्थ में परमेश्वर को ब्रह्म कहा जा सकता है। मुझे स्मरण है कि १-२ वर्ष पूर्व Illustrated weekly में Modern Bhagwan of India शीर्षक कुछ सामग्री प्रकाशित हुई थी। वैसे जैनदर्शन के निश्चय नय के आधार पर प्रत्येक प्राणी में ईश्वरत्व वर्तमान है, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वह कर्ममल से लिप्त होने के कारण अपने को भगवान् होने का दावा नहीं कर सकता। यह आश्चर्य का विषय है कि इन तथाकथित भगवानों ने किस प्रकार भोली जनता का विश्वास अर्जित कर ठगने का जाल रचा रखा है। मुझे उर्दू का एक फिकरा स्मरण आता है—

जरदार के पल्ले में शुहरत, मुफलिसका जहाँ में नाम नहीं।
कसरत है खुदाओं की इतनी, बन्दे का यहाँ कुछ काम नहीं॥

वर्तमान युग में अर्थ प्राधान्य इतना हो गया है कि उसके मुकाबले में सब शक्तियाँ नगण्य हो गई हैं। इस कारण उक्त फिकरे में कवि कहता है कि प्रसिद्धि भी केवल धनिक की हो रही है। अभावग्रस्त का इस संसार में कोई ठिकाना नहीं है। इसी प्रकार तथाकथित भगवानों की भी इतनी अधिकता हो गई है कि यहाँ अब बन्दे का काम नहीं रहा है।

यह एक प्रसन्नता की बात है भारतीय विचारधारा में परस्पर भिन्नता होने पर भी समन्वय का सूत्र दार्शनिकों की दृष्टि से ओझल नहीं हो पाया। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है भारतीय दार्शनिक विचारधारा में वैदिक तथा अवैदिक परम्पराओं ने परस्पर कितना आदान-प्रदान किया है। इसी कारण इस पुण्य भूमि में वैचारिक वैभव की प्रचुरता रही। इस वैभव के कारण ही दार्शनिक विद्वानों को तत्त्वों की गहराई तक जाने तथा विचार करने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुअवसर मिला है। जिस प्रकार अभारतीय धर्मों में जो rigidity रही, वैचारिक क्षमता पर अंकुश लगे या भिन्न विचार को जिस प्रकार दबाया गया उस कारण से वहाँ दार्शनिक क्षेत्र में वैचारिक संकुचितता ही रही। एक जैन आध्यात्मिक योगी सन्त आनन्दघन ने क्या सुन्दर कहा था—

राम कहो, रहमान कहे, कोई कान्ह कहे, महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयंदेव री।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड स्वरूप री।
निज-पद रमे सो राम कहिए, रहम करे रहमान री।
करे करम कान्ह सो कहिए, महादेव निर्माण री।
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इस विधि साधो, आप आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्ष री।



सन्दर्भ स्थल :—

१ देवदहसुतन्त मज्झिम निकाय ३-१-१
२ हमारी परम्परा—श्री वियोगी हरि, पृष्ठ २०
३ वही, पृष्ठ १२८
४ वही, पृष्ठ २०
५ "मंगल प्रभात" साप्ताहिक दिनांक १५।३।७६ अंक
६ पूर्व और पश्चिम कुछ विचार—डा० राधाकृष्णन, पृष्ठ ९३
७ मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद—पीठिका, पृष्ठ ११—डा० कपिल देव पांडे
८ वही, पृष्ठ ११-१२
९ वही, पृष्ठ १४१
१० वही, पृष्ठ १४१
११ वही, पृष्ठ १४८
१२ वही, पृष्ठ २४
१३ वही, पृष्ठ २७९
१४ वही, पृष्ठ ४७०
१५ वही, पृष्ठ ६६२

पुष्कर वाणी

मनुष्य जैसा सोचता रहता है, वैसा ही बनता है। अगर आप दूसरों के दोषों और बुराइयों का चिन्तन करते रहेंगे तो वे दोष आदि आपके भीतर प्रविष्ट हो जायेंगे। बुराई सोचने वाला स्वयं बुरा बन जायेगा।

अगर आप किसी के गुणों का चिन्तन करेंगे तो निःसंदेह वे गुण आपके भीतर निवास करने लगेंगे।

इसीलिए तो कहा है—दोष को त्यागकर गुणों का चिन्तन करो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वर और मानव

✍ डॉ० कृष्ण दिवाकर, एम० ए०, पी-एच० डी०
[प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना-७]

प्रातःकाल का समय था। एक महान योगी के आगमन से सम्पूर्ण गाँव उल्लसित था। गाँव के बाहर शिवजी के मन्दिर के प्रांगण के अधिकांश स्त्री, पुरुष बड़ी संख्या में उपस्थित थे। थोड़ी ही देर में स्वामीजी वहाँ पधारे। स्वामीजी का वह तेजःपुंज मुख, काषाय वस्त्रों से विभूषित गठा हुआ शरीर, उनके नेत्रों में झलकने वाली दिव्य ज्योति, हास्यवदन से विकीर्ण सन्तोष आदि से समस्त जनता मन्त्रमुग्ध हो गई। सभी ने स्वामीजी को सश्रद्धा प्रणाम किया और उत्तर में स्वामीजी ने भी अपना दाहिना हाथ उठाकर कृपाछत्र का संकेत दिया। ईश्वर को अभिवादन कर स्वामीजी ने अपनी अमृतवाणी का प्रकाशन प्रारम्भ किया। सभी श्रोतागण अत्यन्त विमुग्ध एवं शान्त थे। स्वामीजी ने कहा—"मनुष्य जन्म कई प्रकार के पुण्यों के फलस्वरूप हमें प्राप्त हुआ है। हमें चाहिए कि सांसारिक मोहजाल में फँसकर अपने इस मूल्यवान जीवन का नाश न करें। प्रत्येक दिन अधिक से अधिक समय ईश्वर के चिन्तन तथा पूजापाठ में व्यतीत करना चाहिए। यदि आप अपना सम्पूर्ण जीवन ही उसी के भजन-पूजन में लगा सकें तो आपको इस भव-सागर से तैर कर पार लगने में कोई कठिनाई नहीं होगी। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर अधिकार कर सकता है, जो व्यक्ति संसार की समस्त वस्तुओं से निर्लिप्त रहता है, जो व्यक्ति नित्यप्रति ईश्वर चिन्तन करता रहता है, उसी को अन्त में उस महिमामय दिव्य भगवान के दर्शन प्राप्त हो सकते हैं। अतः अपने जीवन को सफल बनाने के लिए ईश्वरोन्मुख होना आवश्यक है। आदि आदि·····

स्वामीजी की मधुर वाणी सुनकर बूढ़े तथा भक्त लोग अतीव प्रसन्न हुए। कुछ युवकों में कानाफूसी होने लगी। अन्त में उनमें से एक नौजवान लड़के ने जोर से पुकार कर कहा—"स्वामीजी! यदि संसार के सभी लोग अपना काम-धन्धा छोड़कर ईश्वर भजन में ही लगेंगे तो उन्हें बैठे-बैठे अपनी जगह पर क्या आपका वह भगवान खिला देगा? और यदि सांसारिक वस्तुओं का उपभोग न ले तो क्या उसी ईश्वर के द्वारा निर्मित इन्द्रियों पर अन्याय नहीं होगा? और अन्त में उसने बड़ी धृष्टता के साथ पूछा कि हे स्वामीजी! उस महिमामय भगवान के दर्शन आपको भी कभी हुए हैं?" उस नौजवान लड़के की धृष्टता देखकर स्वामीजी कुछ कहने ही जा रहे थे कि लोगों ने उस लड़के की बहुत भर्त्सना की और उसे दण्डों से दण्डित कर वहाँ से निकाल दिया। इसी भाग-दौड़ में सभा के रंग का बेरंग हुआ और लोग बिखर गये। स्वामीजी भी अत्यन्त दुःखी मन से अपनी कुटिया में लौटे।

उपर्युक्त प्रसंग साधारण होते हुए भी गम्भीरता से सोचने पर अत्यन्त महत्वपूर्ण भी है। आज भी हमारे समाज में ऐसे कई व्यक्ति हैं कि जो उस नौजवान व्यक्ति की भाँति शंकालु हैं। शंकालु होना कोई बुरी चीज नहीं है। व्यक्ति शंकालु बनता है उसका प्रमुख कारण उसके मन की जिज्ञासा का असमाधान ही होता है। यदि उसका समाधान हो जायगा तो वह निश्चय ही निःशंक होगा। समय के साथ-साथ वातावरण तथा विचारों की दिशाओं में भी अन्तर होता जाता है। आज के इतिहास से ज्ञात होता है कि सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर आदि में भी ऐसे व्यक्ति रहे हैं जिन्हें तथाकथित ईश्वरोपासक भक्तों तथा धर्म-घुटियों के वचन और कर्म में सामंजस्य नहीं दिखायी देता था। फलस्वरूप वे उन धर्मध्वजों को चुनौती देते हुए दृष्टिगत होते हैं।

आज का युग विज्ञान का युग है। इस युग में रहने वाले बुद्धिजीवी लोग किसी भी बात पर तब तक विश्वास रखने के लिए तैयार नहीं होते जब तक वह बात उनकी बुद्धि अथवा मन की कसौटी पर खरी न उतर आवे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सत्य है कि विज्ञान की सहायता से मानव ने आश्चर्यकारक एवं अद्वितीय कार्य किये हैं कि जिसकी कल्पना तक उसके पूर्व सम्भव न थी। संसार के अनेक रहस्यों का उद्घाटन करने में मनुष्य सफल रहा है। जो बातें एक समय अत्यन्त अगम्य एवं अलौकिक प्रतीत होती थीं, वे आज सुगम एवं साधारण लगने लगी है। मनुष्य के शरीर का महत्वपूर्ण अंश—हृदय भी स्थानान्तरित अथवा परिवर्तित कराने में मनुष्य सफल रहा है। और बातों का तो कहना ही क्या? मनुष्य का भाग्य निर्धारित करने वाले चन्द्र, मंगल, गुरु आदि आकाशस्थ ग्रह-नक्षत्रों पर भी मानव अपनी अद्भुत बुद्धि-शक्ति से केवल पहुँच ही नहीं रहा है अपितु उन पर अधिकार भी कर रहा है। ऐसी स्थिति में यदि मानव में आत्मबल उत्पन्न हो और परम्परागत अन्धश्रद्धा से प्रचलित बातों के प्रति उसके मन में अनास्था या प्रश्न चिन्ह हो तो उसमें आश्चर्य नहीं है।

मनुष्य ने सर्वप्रथम जब ईश्वर की कल्पना की होगी तब उसके सम्मुख निश्चय रूप से मानव को महामानव की ओर ले जाने की कल्पना रही होगी। वेदों में, उपनिषदों में पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा आकाश इन पंच महाभूतों की पूजा कही गयी है। इन्हीं तत्वों को—जो जीवन का सार है—उन्होंने ईश्वररूप प्रदान किया था। आगे चलकर मनुष्यों ने ही अपने स्वार्थ के लिए अनेक देवी-देवताओं का निर्माण किया। पुराणों में उनके चमत्कारों से युक्त असंख्य कथाओं का प्रचलन रहा। भारत का अधिकांश समाज अशिक्षित था। कुछ ही चुने हुए व्यक्तियों के हाथों में यह ज्ञान सीमित था। अतः स्वाभाविक रूप में इन गिने-चुने लोगों में से कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए ईश्वर का उपयोग करना शुरू किया। संसार की विविध व्याधियों से पीड़ित जनता अपने दुःख से मुक्ति चाहती थी और अन्धश्रद्धा से तथाकथित ईश्वर के पास पहुँचने के लिए पंडों तथा महन्तों की सहायता लेती थी। कई बार ईश्वर के कोप के काल्पनिक भय से कर्म-काण्ड का आडम्बर करने के लिए बाध्य हो जाती थी। परन्तु आज यह स्थिति नहीं रही है। देश में शिक्षा का प्रसार द्रुतगति से हो रहा है। मनुष्य बौद्धिक धरातल पर अपनी परम्परा को परखना चाहता है। युग के नये आलोक में यदि कोई व्यक्ति अपनी परम्परा को पुनः परखना चाहता हो तो उसे नास्तिक, श्रद्धाहीन, अनधिकारी आदि सम्बोधनों से पुकारकर आप सत्य को छिपा नहीं सकते। आपको उसकी बातें शान्तिपूर्वक सुननी चाहिए। यदि आप उसकी शंकाओं का समाधान करने में असमर्थ होंगे तो आपको इसे रोकने का भी कोई अधिकार नहीं है। आज का बुद्धिवादी मानव केवल नास्तिक ही नहीं है। वह उस अलौकिक दिव्य शक्ति के सम्मुख आज भी नतमस्तक है जो समस्त संसार का परिचालन करती है। इसी प्रकार वह पुराणों तथा परम्परा से पूजित देवी-देवताओं के प्रति उतना सश्रद्ध भी नहीं है। छः हाथ वाले और तीन मुख वाले श्री गुरुदेव दत्त, सिंह के मुख वाले नृसिंह, हाथी की सूँड वाले गजानन, बन्दर के रूप में हनुमान आदि के रूप की सत्यता वह स्वीकार ही नहीं करता। उसके विचार से ईश्वर के ऐसे रूप सम्भव ही नहीं हैं। ये सारी चीजें अप्राकृतिक एवं चमत्कारपूर्ण हैं जिन्हें मनुष्य ने अपनी कल्पना के सहारे उत्पन्न किया है। राम, कृष्ण आदि के सम्बन्ध में भी वह निश्चित रूप से मानता है कि वे मूलतः मानव ही थे। उन्हें अपने अलौकिक कार्यों से देवतातुल्य स्थान प्राप्त हुआ है।

वैसे हम लोग यह देख ही चुके हैं कि हमारे ही समाज के अनेक संतों एवं महापुरुषों को लोगों ने उनके लोकोत्तर कार्य से प्रभावित होकर ईश्वर के अवतार के रूप में स्वीकार किया है। उनके मन्दिर भी बनावाये गये हैं और उनकी ईश्वर समान पूजा भी होती है। आज का मनुष्य इस बात को स्वीकार नहीं करता कि देवता अनेक प्रकार के हो सकते हैं और उनके सिद्धांतों में विरोध हो सकता है। विभिन्न देवताओं तथा उनके सिद्धांतों का प्रणयन मनुष्यों ने अपने स्वार्थ के लिए ही किया है। इतिहास से भी यह ज्ञात होता है कि मध्य युग से लेकर आज तक ईश्वर के नाम पर गरीब, भोली-भाली, अनपढ़ जनता को भय दिखाकर अथवा अन्य मार्ग से लूटने का प्रयत्न धर्म के ठेकेदारों ने किया। ईश्वर के उस पवित्र नाम को बदनाम करने में इन्हीं आडंबर-युक्त कर्मकांडी व्यक्तियों का हाथ रहा है। आज का सजग व्यक्ति सोचता है कि जो इन पंडों तथा महंतों की कृपा का भाजन होकर मन्दिरों में बन्द ताले में चुपचाप पड़ा रहता है वह ईश्वर ही कैसा? वास्तव में ईश्वर विषयक उच्च एवं श्रेष्ठ भावना को नष्ट करने में मानव ही उत्तरदायी रहा है।

आज हम देखते हैं कि जीवन के विविध क्षेत्रों में नेत्रदीपक प्रगति करने पर भी कई क्षेत्र अभी तक ऐसे रहे हैं कि जिनका रहस्य मनुष्य नहीं जान सका है और उन्हें जान लेने की संभावना भी नहीं दिखायी देती। जीवन में कभी-कभी ऐसे प्रसंग आते हैं कि समस्त प्रयत्नों के बावजूद संपूर्ण अनुकूलता होते हुए भी प्रत्यक्ष फल-प्राप्ति के समय वांछित फल की प्राप्ति में सफलता नहीं मिलती। समस्त वैभवों के बीच रहकर भी मनः शांति का अभाव क्यों प्रतीत होता है? पास में जल होते हुए भी यह प्यास क्यों नहीं बुझती? इन प्रश्नों के उत्तर बुद्धि नहीं दे सकती। ऐसी अवस्था में बुद्धिवादी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति भी यह स्वीकार करता है कि संसार में अवश्य ही ऐसी शक्ति है कि जो मानव के परे है। उस अगम्य एवं अलौकिक शक्ति को वह 'दिव्य तत्त्व' मानकर अपना सिर झुकाता है। इसी दिव्य तत्त्व को परम्परा ईश्वर मानती आयी है। इस दिव्यतत्त्व का अस्तित्व उस प्राणतत्त्व वायु के समान है जिसकी अनुभूति सभी को होती है परन्तु इच्छा होने पर तथा लाख प्रयत्न करने पर भी उसके प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव नहीं होते। यह 'दिव्यत्व' अनेक महापुरुषों में न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। 'नर करनी करे तो नर का नारायण बन जाय' इस सिद्धान्त वाक्य का जन्म भी इसी भूमिका पर हुआ होगा।

मानव-समाज में संतुलन रखने के लिए जिस प्रकार स्वर्ग और नरक की कल्पना की गयी है उसी प्रकार अपने-अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार देवता-दानव के रूप भी वस्तुतः मनुष्य के ही विभिन्न रूप हैं। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में सत् और असत् का अस्तित्व रहता है जब तक इन दोनों तत्वों का साधारण सन्तुलन किसी व्यक्ति में रहता है वह मानव की कोटि में रखा जाता है। जिन व्यक्ति विशेष में "असत्" का ही प्रभाव अधिक हो और परिणामस्वरूप वे ऐसे ही कार्य कर रहे हों कि जो असत् प्रवृत्ति का पोषण कर रहे हैं, वे 'दानव' की कोटि में रखे जाते हैं। इसी प्रकार जिन व्यक्ति विशेष में 'सत्' की मात्रा अधिक होती है और उनके सारे कार्य इसी प्रवृत्ति का पोषण कर उन्हें मनुष्य की साधारण धरातल पर से बहुत ऊपर उठा लेते हैं, उन्हें देवता की कोटि में रखा जाता है। इतिहास के पृष्ठ उलटने पर यह तथ्य सप्रमाण सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही देवतातुल्य व्यक्ति अपने कार्यों से "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' इस सिद्धान्त का अनुगमन करते हैं और परिणामस्वरूप इनमें से ही कुछ व्यक्तियों में उस दिव्यत्व का साक्षात्कार हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के सम्मुख दो मार्ग हैं। एक मार्ग उसे भौतिक प्रलोभनों में आकर्षित कर स्वार्थ व निंद्य कर्म की ओर ले जाता है। इस मार्ग को वाममार्ग भी कहा जा सकता है। इस मार्ग का अनुसरण करने पर मनुष्य को तात्कालिक सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है। मनुष्य अप्रामाणिकता, असत्य, अन्याय, अनाचार, अत्याचार, अविवेक आदि दुर्गुणों के बल पर धीरे-धीरे नृशंसता की ओर बढ़ने लगता है। वह पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, योग्य-अयोग्य का विचार तक नहीं कर सकता। उस पर कभी सत्ता का तो कभी सम्पत्ति का, कभी अधिकार का तो कभी अहंकार का अन्धत्व सवार रहता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी विवेकक्षमता नष्ट-सी हो जाती है। ऐसे व्यक्ति अपनी शक्ति का अपने निजी स्वार्थ के लिए दुरुपयोग कर लेते हैं। यह मार्ग दानवता की ओर ले जाता है। इस मार्ग से जाने वाले व्यक्ति प्रारम्भ में उत्साही, आनन्दी एवं सुखी प्रतीत होते हैं परन्तु अन्त में अपने कुकर्मों के फलस्वरूप दुःखी ही रहते हैं। उन्हें वह चैन नसीब नहीं होता जो वे चाहते हैं।

दूसरा मार्ग दक्षिण मार्ग है, जो मनुष्य को देवता की ओर ले जाता है। इस मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों को प्रारम्भ में अनेक कठिनाइयों तथा परीक्षाओं का सामना करना पड़ता है। एक विशिष्ट स्तर पर जाने के पश्चात् ही इस मार्ग को अद्वितीय एवं अलौकिक रूप ध्यान में आ सकता है। इस मार्ग से जाने वाले व्यक्ति प्रामाणिकता, सत्य, न्याय, सदाचार, विवेक आदि सद्गुणों के बल पर जनता में अपनी प्रतिष्ठा अर्जित करते हैं। प्रत्येक कार्य में वे सदसद्-विवेक बुद्धि का उपयोग कर अत्यन्त निर्भीकता के साथ उसके लिए फिर चाहे अपना बलिदान भी देना क्यों बन पड़े, स्थिर रहते हैं। 'सर्वे सुखिनः सन्तु' का दृष्टिकोण वे स्वीकार करते हैं। स्वार्थवश तात्कालिक प्रलोभनों से अपने जीवन को सुखी करने का विचार उनके मन में नहीं आता। दूसरों की भलाई के लिए चाहे जितना त्याग करने की उनमें क्षमता होती है। ऐसे व्यक्ति भौतिक दृष्टि से भले ही सम्पन्न न दिखाई देते हो परन्तु उनमें आन्तरिक सामर्थ्य, तेजस्विता एवं आत्मविश्वास की कमी नहीं रहती। इन्हीं के बल पर वे स्वयं झुकते हैं और दुनिया को भी झुकाते रहते हैं। यह सत्य है कि इस मार्ग पर चलने वाले बहुत ही थोड़े व्यक्ति उस दिव्य अमृतकलश तक पहुँच सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे मनुष्य की श्रेणी से उठकर देवत्व की श्रेणी में परिगणित होने लगते हैं। इस मार्ग को स्वीकार करने वाले शेष अनेक लोग अपनी-अपनी कार्यक्षमता के अनुकूल फल पाते रहते हैं। यही मार्ग मानव को ईश्वर अर्थात् महामानव अथवा पूर्णमानव की ओर ले जाता है।

यह मनुष्य पर निर्भर है कि वह दानव की ओर जाना चाहता है अथवा देवता की ओर! कहा जाता है कि देवता अमर रहते हैं। इसी प्रकार देवता की श्रेणी में जाने वाले मनुष्य भी अपने दिव्य कार्यों से अमर हो जाते हैं। पीछे से आने वालों के लिए वे आदर्शरूप सिद्ध होते हैं। हमारे आदरणीय एवं श्रद्धेय युगपुरुषों ने अपने अनुभवों को अमरवाणी के रूप में सदैव इसी दक्षिण मार्ग का समर्थन किया है। यदि कोई बुद्धिवादी व्यक्ति हर प्राचीन परम्परा को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्धश्रद्धा का परिणाम मानकर त्याज्य मानने लगेगा तो वह उसकी भयंकर भूल होगी। किसी भी चीज को अच्छी या बुरी कहने के लिए प्रथम तो उसे देखने वाले व्यक्ति की विवेकक्षमता तथा उसके पश्चात् उस द्रष्टा की दृष्टि विशेष का भी विचार करना चाहिए। श्रीकृष्ण गोकुल से जब मथुरा में आये तब उन्हें देखने के लिए मथुरानिवासियों की भीड़-सी लगी। वृद्धों को वह दीनबन्धु लगा तो युवतियों को वह लक्ष्मीपति। बच्चों को वह गोपाल लगा तो कंस आदि को वही श्रीकृष्ण "काल" सदृश जान पड़ा। जिस प्रकार श्रीकृष्ण के एक ही व्यक्तित्व को विभिन्न लोगों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से देखा उसी प्रकार हमारी भारतीय संस्कृति के समर्थक महापुरुषों तथा सन्तों द्वारा प्रतिपादित वाणी को भी विभिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है।

यदि आप तटस्थ भावना से देखना चाहें तो स्पष्ट होगा कि किसी भी श्रेष्ठ महापुरुष ने आडम्बर, ढोंग-ढकोसला बाह्याचार, अन्धविश्वास, स्वार्थलोलुपता, पाप-पुण्य का क्रय-विक्रय, भगवान् के दाम्भिक भगत, आदि का समर्थन नहीं किया है। अपितु आज की बुद्धिवादी जनता के विचार ही प्रकारान्तर से उनके द्वारा प्रकट हुए हैं। यदि हम उन सन्तों के द्वारा प्रतिपादित तथ्यों को बुद्धिवादी दृष्टि से भी विचार करना चाहें तो दिखायी देता है कि उनकी दृष्टि में भी ईश्वर का रूप एक दिव्य तत्त्व ही था। ईश्वर मनुष्यों के हृदय में ही निवास करता है। मनुष्य को चाहिए कि वह इस तथ्य को पहचाने। जो मनुष्य अपने हृदय को पहचान सकता है। उसे ईश्वर की ओर जाने की सत्प्रेरणा स्वयं प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने "परहित सरिस धर्म नहिं भाई" तथा "सियाराम मय सब जग जानि" इन सिद्धान्तों के द्वारा बताया है कि लोककल्याण ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और सम्पूर्ण जगत में "सियाराम" अर्थात् उस दिव्य तत्व का समावेश रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह इस दिव्यतत्व का साक्षात्कार करे।

अधिकांश सन्तों एवं महापुरुषों ने मनुष्य के उत्थान की ओर संकेत दिया है। शक्ति का सदुपयोग तथा दुरुपयोग करना उसी के हाथ में है। मनुष्य को चाहिए कि वह सदैव ज्ञान की ज्योति के प्रकाश में अपने हृदय में स्थित सद्गुणों को देखकर उसके विकसन की ओर प्रयत्नशील रहे। ज्ञान की ज्योति के प्रकाश में अज्ञान का अन्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है। मनुष्य अन्तर्मुख होकर स्वयं को पहचान ले। सत्य, विवेक, न्याय, परोपकार, स्वार्थत्याग, आत्म-सन्तोष, दया, उदारता, आत्मविश्वास, सत्संग, विनयशीलता, ध्येयनिष्ठा, प्रेम आदि सद्गुणों का संबल लेकर यदि मनुष्य जीवन के पथ पर निर्भीकता के साथ निरन्तर चलता रहेगा तो निश्चय ही उसके जीवन का 'कंचन' होगा। अर्थात् वह अपनी अतुल कार्यक्षमता एवं असाधारण दिव्यशक्ति के द्वारा इस समाज में अमरता प्राप्त कर सकेगा। और अमरता का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जिनमें 'दिव्यत्व' का साक्षात्कार हो। यही 'दिव्यत्व' साधारण मानव को देवता बना सकता है।

देवता मनुष्य की एक आदर्श कल्पना है। परन्तु यह कल्पना निराधार अथवा यथार्थ से परे नहीं है। प्रयत्न करने पर मनुष्य उस कल्पना को साकार भी बना सकता है। कबीरदास जी ने एक स्थान पर लिखा है—

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढे बन माहिं।
ऐसे घटि घटि पीव है, दुनिया देखे नाहिं॥

जिस प्रकार कस्तूरी का अधिकारी मृग उसकी दिव्य सुगन्धि से प्रभावित होकर अज्ञानवश उसी की खोज में सम्पूर्ण वन-प्रदेश में मारा-मारा घूमता है उसी प्रकार हम मनुष्यों की स्थिति है, जो अपने ही भीतर निवास करने वाले ईश्वर अर्थात् दिव्यत्व को अज्ञानवश न जानने से उसकी प्राप्ति के लिए सारे संसार भर में भटकता रहता है। अतः मानव को चाहिए कि वह अपने भीतर छिपे हुए उस दिव्य तत्व को पहचान ले और "साधना" द्वारा अपनी निष्ठा एवं सद्गुणों के बल पर ऐसा अमर एवं लोकोत्तर कार्य करे जिससे वह स्वयं जनता में देवता का स्थान प्राप्त कर सके। इस प्रकार 'नर' करनी करे तो नर का 'नारायण' सहज रूप में बन सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में तत्त्व-चिंतन

✡ डॉ० साध्वी धर्मशीला एम० ए०, पी-एच० डी०
[परमविदुषी स्व० महासतीजी श्री उज्ज्वलकुमारी जी की सुशिष्या]

भारतीय दर्शन में तत्त्व के सम्बन्ध में गहराई से विचार किया गया है। तत् शब्द से भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय लगकर तत्त्व शब्द बना है। जिसका अर्थ है, उसका भाव—"**तस्य भावः तत्त्वम्**"। वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहा गया है।

किं तत्त्वम् ? तत्त्व क्या है ? जिज्ञासा का यही मूल है। दर्शन के क्षेत्र में चिंतन-मनन का आरंभ तत्त्व से ही होता है। चाहे आस्तिक दर्शन हो, चाहे नास्तिक दर्शन हो—सभी दार्शनिक चिन्तकों ने तत्त्व शब्द पर विचार किया है।

लौकिक दृष्टि से तत्त्व शब्द के अर्थ हैं—वास्तविक स्थिति, यथार्थता, सारवस्तु, सारांश। दार्शनिक चिंतकों ने तत्त्व शब्द के उक्त अर्थ को मानते हुए परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर-अपर, शुद्ध परम के लिए भी तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है।[१]

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में भी तत्त्व शब्द को महत्वपूर्ण माना गया है। दार्शनिक और वैज्ञानिक चिंतन का मूल केन्द्र तत्त्व शब्द द्वारा अभिधेय कोई न कोई वस्तु है।

तत्त्व एक शब्द है और प्रत्येक शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन नहीं होता है। उसका कुछ न कुछ अर्थ होता है। यह अर्थ वस्तु में विद्यमान किसी गुणधर्म या किसी न किसी क्रिया का ज्ञान कराता है। इसलिए शब्दशास्त्र की दृष्टि से तत्त्व शब्द का अर्थ है '**तद्भावस्तत्त्वम्**', '**तस्य भावः तत्त्वम्**'। अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप में विद्यमान है, उसका उस रूप में होना, यही तत्त्व शब्द का अर्थ है।

शब्दशास्त्र के अनुसार प्रत्येक सद्भूत वस्तु को तत्त्व शब्द से संबोधित किया जाता है। जैनाचार्यों ने तत्त्व शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि तत्त्व का लक्षण सत् है अथवा सत् ही तत्त्व है। इसलिये वह स्वभाव से सिद्ध है।[२]

वैदिकदर्शन ने परमात्मा तथा ब्रह्म के लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है। सांख्यदर्शन ने जगत् के मूल कारण के रूप में तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है। बौद्धदर्शन में स्कंध, आयतन, धातु इन तीनों को तत्त्व माना है। न्यायदर्शन ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, आदि सोलह तत्त्वों को ज्ञानमुक्ति का कारण माना है। चार्वाकदर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच भूतों को तत्त्व कहा है। वैशेषिकदर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह को तत्त्व माना है। सांख्यदर्शन में पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार आदि पच्चीस तत्त्व माने हैं। मीमांसादर्शन ने दो तत्त्व माने हैं।

सभी दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से तत्त्व का विवेचन किया है। सभी का मन्तव्य है कि जीवन में तत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन और तत्त्व ये एक-दूसरे से संबंधित हैं। तत्त्व से जीवन को कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता।

समस्त भारतीय दर्शन तत्त्व के आधार पर ही खड़े हैं। हमें यहाँ पर सिर्फ 'जैनदर्शन में तत्त्व-चिंतन' इस पर ही विचार करना है। जैनदर्शन में लोक-व्यवस्था का मूल आधार 'तत्त्व' माना है। जैन दार्शनिकों ने तत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उपरोक्त अर्थ ही स्वीकार किया है और कहा है कि 'तत्त्व का लक्षण सत् है। यह सत् स्वयंसिद्ध है। सत् की न आदि है, न अन्त है। वह तीनों कालों में स्थित रहता है।'

जैनदर्शन में विभिन्न स्थलों पर सत्, सत्त्व, तत्त्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य इन शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। जो सत् है, वही द्रव्य है, और जो द्रव्य है, वही सत् है।[3]

स्वरूप की प्राप्ति ही जीव मात्र का एकमात्र लक्ष्य है, एकमात्र साध्य है, इसलिए स्वरूप साधना की दृष्टि से सर्वप्रथम चैतन्य और जड़ का भेदविज्ञान आवश्यक है। इसके साथ ही चैतन्य और जड़ के संयोग-वियोग का परिज्ञान होना जरूरी है। अतः साधक को आत्मा की शुद्ध एवं अशुद्ध अवस्था के कारणों का परिज्ञान होना आवश्यक है। वे कारण, जो कि साधना के हेतु हैं, तत्त्व कहे जाते हैं। यही दृष्टि जैन तत्त्वज्ञान की आधारशिला है।

जीव अन्य है और पुद्गल अन्य है। यही वास्तव में तत्त्वसंग्रह है। **जीवोन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः** इस प्रकार का भेदविज्ञान होना आवश्यक है।

तत्त्व का लक्षण ज्ञात होने पर यह प्रश्न होता है कि जैनदर्शन में तत्त्व किसे कहा है? उनकी संख्या कितनी है? इस प्रश्न का उत्तर आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टि से विभिन्न ग्रंथों में विभिन्न शैली से दिया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा ही मुख्य तत्त्व है। आत्मा के दो भेद हैं—(१) संसारी और (२) मुक्त। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त अन्य सब जड़ पदार्थ हैं। संक्षेप और विस्तार की दृष्टि से तत्त्व के प्रतिपादन की मुख्यतः तीन शैलियाँ हैं—

प्रथम शैली के अनुसार तत्त्व दो हैं—
(१) जीव, (२) अजीव।
द्वितीय शैली के अनुसार तत्त्व सात हैं—
(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष।
तृतीय शैली के अनुसार तत्त्व नौ हैं—
(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) निर्जरा, (८) बंध, (९) मोक्ष।

दार्शनिक ग्रन्थों में प्रथम और द्वितीय शैली मिलती है। तृतीय शैली प्राचीन आगम ग्रंथों के अनुसार है। जीव से लेकर मोक्ष तक नौ तत्त्व कहने की शैली आगम ग्रन्थों में इस प्रकार है।

भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र आदि में तत्त्वों की गिनती नौ है। पुण्य और पाप तत्त्वों को आस्रव या बंध तत्त्व में सामावेश कर लेने पर सात तत्त्व कहलाते हैं और पुण्य-पाप को आस्रव और बंध से अलग करके कहने से नौ पदार्थ कहलाते हैं। इसलिए आगम तथा तत्संबंधी ग्रन्थों में 'नवतत्त्व' या नव पदार्थ के नाम से तत्त्व की संख्या बतलायी है और उनका विवेचन किया गया है।

उक्त जीवादि सात अथवा नौ तत्त्वों में से जीव और अजीव ये दो तत्त्व तो धर्मी हैं अर्थात् आस्रवादि अन्य तत्त्वों के आधार हैं और शेष आस्रवादि उनके धर्म हैं। दूसरे रूप में इनका वर्गीकरण करें तो जीव और अजीव ज्ञेय (जानने योग्य) हैं, संवर, निर्जरा, मोक्ष उपादेय (ग्रहण करने के योग्य) और शेष आस्रव, बंध, पुण्य, पाप हेय (त्याग करने योग्य) हैं। उक्त तत्त्वों का संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है—

जीवः—नव तत्त्वों में सबसे पहला तत्त्व जीव है। 'उपयोग' यह जीव का लक्षण है।[4] आगम में उपयोग के दो भेद हैं—(१) साकार उपयोग (ज्ञान) और (२) निराकार उपयोग (दर्शन)। जिसमें ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग पाया जाता है, वह 'जीव' है। ज्ञान अर्थात् जानना और दर्शन अर्थात् देखना। शुद्ध चैतन्य यह जीव का स्वभाव है। जीव अनन्त हैं। सांख्य के पुरुष, वैष्णव और वेदान्तियों की आत्मा और लाइबनीत्स के चिदाणुओं के समान जीवों की अनन्तता केवल संख्यात्मक ही है, गुणात्मक नहीं। गुणात्मक दृष्टि से सब जीव समान हैं। जीव स्वयं ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। जीव किसी पारलौकिक शक्ति के नियंत्रण में नहीं है। अपनी नियति का निर्माता वह स्वयं है। स्वयं की क्रियाओं के कारण वह बंधन में पड़ता है और स्वयं के प्रयत्नों से ही मुक्त होता है।

जीव का शरीर के साथ तादात्म्य है, क्योंकि, वह शरीर के दुःखों से दुःखी होता है, परन्तु वह शरीर से भिन्न नहीं है, क्योंकि, शरीर के नाश के साथ उसका नाश नहीं होता है। जीव न कूटस्थ नित्य है और न एकान्त क्षणिक ही है। किन्तु अन्य द्रव्य की भाँति परिणामीनित्य है। कर्मोपाधि से मुक्त हो जाने के कारण मुक्त जीवों के कोई भेद-प्रभेद नहीं हैं, किन्तु कर्म सहित होने से संसारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं—(१) त्रस और (२) स्थावर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रस जीवों को उनकी इन्द्रियों के आधार पर चार भागों में बाँटा गया है—(१) बेइन्द्रिय (२) तेइन्द्रिय (४) चउरिन्द्रिय (४) पंचेन्द्रिय। मनुष्य, देव तथा नारक त्रस माने जाते हैं। इस प्रकार संसारी जीवों के ४ भेद हैं—(१) नारक (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य, (४) देव। इन संसारी जीवों में सामान्यतः देव सौधर्म विमान से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यंत ऊर्ध्वलोक में, मनुष्य और तिर्यंच मध्यलोक में और नारक रत्नप्रभादि अधोलोक में निवास करते हैं। देवों और नारकों के उनके निवास-स्थान की अपेक्षा से और भी अनेक भेद हैं, जिनका विस्तृत विवेचन अन्य दूसरे ग्रन्थों में किया गया है।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में से द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव अपने हित के लिए हलन-चलन कर सकते हैं, अतः उन्हें 'त्रस' कहा जाता है। एकेन्द्रिय जीव अपने हिताहित के लिए हलन-चलन नहीं कर सकते, इसलिए उन्हें 'स्थावर' कहते हैं।

एकेन्द्रिय जीव में भी सजीवता बताने के लिए भगवान महावीर ने मानव शरीर के साथ वनस्पति की तुलना की है और बताया है कि, मनुष्य की तरह वनस्पति भी बाल, युवा और वृद्धावस्थाओं का उपभोग करती है। वृक्ष भी मनुष्य की तरह सुख-दुःख के अनुभव करते हैं। मनुष्य की तरह उन्हें भी भूख प्यास लगती है। वे भी मनुष्य की तरह बढ़ते हैं और सूखते हैं। आयुष्य पूर्ण हो जाने पर वृक्ष भी मनुष्य की तरह मरते हैं, इसलिए वे सजीव हैं। वनस्पति की तरह पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में भी वही समझना चाहिए।

भगवान महावीर ने हजारों वर्षों पूर्व वनस्पति में जीव है, इस तथ्य का निरूपण कर दिया था। आज के विज्ञान युग में वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० जगदीशचन्द्र बसु ने इसे सिद्ध कर दिया है।

जीव ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि उत्तमोत्तम गुणों का धाम होने से नव तत्त्वों में सर्वोत्तम, सर्वप्रधान माना गया है। वह कर्म का कर्ता एवं भोक्ता है, इसलिए उसे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

अजीव—जीव तत्त्व का प्रतिपक्षी अजीव तत्त्व है।[५] अर्थात् जीव के विपरीत अजीव है। जिसमें चेतना नहीं है, जो सुख-दुःख की अनुभूति भी नहीं कर सकता है, वह अजीव है। अजीव को जड़, अचेतन भी कहते हैं। जगत के समस्त जड़-पदार्थ ईंट, चूना, चाँदी, सोना आदि भौतिक-मूर्त तथा आकाश, काल आदि जो अमूर्त-जड़ पदार्थ हैं, वे सब अजीव हैं।

अजीव तत्त्व के भेद—अजीव के पाँच भेद हैं—(१) पुद्गल, (२) धर्म, (३) अधर्म, (४) आकाश और (५) काल।

उक्त पाँच भेदों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल[७] अमूर्त हैं और पुद्गल मूर्त है। अमूर्त के लिए आगमों में 'अरूपी' तथा मूर्त के लिए 'रूपी' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श न हों, जो आँखों से दिखाई न दे, उसे 'अरूपी' कहते हैं। जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श है तथा जिसके अनेक आकार-प्रकार बन सकें उसे 'रूपी' कहते हैं।

धर्म—यह गति सहायक तत्त्व है। जिस प्रकार मछली को गमन करने में पानी सहकारी निमित्त है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य को धर्म द्रव्य गमन करने में सहकारी कारण माना गया है।[८]

अधर्म—यह स्थिति सहायक तत्त्व है। जीव और पुद्गलों को ठहराने में उसी प्रकार सहायक है जैसे वृक्ष की शीतल छाया पथिक को ठहराने में सहायक है।

यह धर्म और अधर्म द्रव्य जीव पुद्गल द्रव्यों को न तो जबरदस्ती चलाते हैं और न ठहराते हैं। किन्तु विभिन्न रूप से उनके लिए सहायक बन जाते हैं।[९]

आकाश—जो सब द्रव्य को अवकाश देता है, वह आकाश है। अर्थात् जीवादि सब द्रव्य आकाश में ठहरे हुए हैं। आकाश के दो भेद हैं—(१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश। जितने क्षेत्र में जीवादि द्रव्य रहते हैं, वह लोकाकाश है। शेष सब अलोकाकाश है।

काल—जो द्रव्यों की नवीन, पुरातन आदि अवस्था को बदलने में निमित्त रूप से सहायता करता है, वह काल द्रव्य है। घड़ी, घंटा, मिनट, समय आदि सब काल की पर्यायें हैं।

पुद्गल—विज्ञान ने जिसे (Matter) मेटर, न्याय-वैशेषिकदर्शन ने जिसे भौतिक तत्त्व, बौद्धदर्शन ने जिसे आलयविज्ञान-चेतना-संतति, सांख्यदर्शन ने जिसे प्रकृति कहा है, उसे ही जैनदर्शन ने पुद्गल कहा है। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हों, उसे 'पुद्गल' कहते हैं।[१०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पुद्गल' यह 'पुद्' और 'गल' इन दो शब्दों से बना है। पुद् का अर्थ है, पूरा होना या मिलना और गल का अर्थ है, गलना या मिटना। जो द्रव्य प्रतिक्षण बनता तथा बिगड़ता है, उसे 'पुद्गल' कहते हैं।[११]

'पुद्गल' के उस सूक्ष्म अंश को 'परमाणु' (परम+अणु) कहते हैं, जिसका दूसरा विभाग न हो सकता हो।[१२] स्कन्ध, परमाणु, अन्धकार, छाया, प्रकाश, शब्द आदि सभी पुद्गल की अवस्थाएँ (पर्यायें) हैं। अर्थात् ये सब पुद्गल के रूप हैं। जैन आगम साहित्य में भी अभेदोपचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को पुद्गल कहा है।[१३]

जैन आगम साहित्य में परमाणुओं के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है। आगम साहित्य का बहुभाग परमाणु की चर्चा से सम्बन्धित है। विज्ञान ने भी परमाणु के विषय में बहुत खोज की है। संसारी दशा में पुद्गल और जीव का सम्बन्ध अविच्छेद्य है।

पुण्य और पाप तत्त्व—जो आत्मा को पवित्र करता है वह पुण्य है और जो आत्मा को अपवित्र करता है वह पाप है याने शुभकर्म पुण्य है और अशुभ कर्म पाप है।[१४]

धर्म की प्राप्ति, सम्यक् श्रद्धा, सामर्थ्य, संयम और मनुष्यता का विकास भी पुण्य से ही होता है। तीर्थंकर नामकर्म पुण्य का ही फल है। पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिये अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्रतम पार कर देती है। आरोग्य, सम्पत्ति आदि सुखद पदार्थों की प्राप्ति पुण्य कर्म के प्रभाव से ही होती है।

आत्मा की वृत्तियाँ अगणित हैं, इसलिए पुण्य-पाप के कारण भी अगणित हैं। प्रत्येक प्रवृत्ति यदि शुभ रूप है तो पुण्य का, अशुभ रूप है तो पाप का कारण बनती है। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से उनमें से कुछ एक कारणों का संकेत यहाँ किया जा रहा है।

पुण्य और पाप तत्त्व के भेद—शुभ कर्मों को तथा उदय में आये हुए शुभ पुद्गलों को पुण्य कहते हैं। पुण्य के कारण अनेक हैं। संक्षेप में दीन-दुखी पर करुणा करना, उनकी सेवा करना, गुणीजनों पर प्रमोद भाव रखना, दान देना, परोपकार करना इत्यादि अनेक भेद किये जा सकते हैं। पुण्योपार्जन के नौ कारण आगमों में बताये हैं। अतः शास्त्रीय दृष्टि से पुण्य के नौ भेद इस प्रकार हैं—

(१) अन्न पुण्य, (२) पान पुण्य, (३) लयन (स्थान) पुण्य, (४) शयन (शय्या) पुण्य, (५) वस्त्र पुण्य, (६) मन पुण्य, (७) वचन पुण्य, (८) काय पुण्य (९) नमस्कार पुण्य। अर्थात् अन्न, जल, औषधि आदि का दान करना, ठहरने के लिए स्थान आदि देना तथा मन से शुभ भावना रखना, वचन से निर्दोष शब्द बोलना, शरीर से शुभकार्य करना एवं देव, गुरु, धर्म को नमस्कार करना। ये सब पुण्य के कारण हैं।[१५]

अशुभ कर्म और उदय में आये हुए अशुभ कर्म पुद्गल को पाप कहते हैं। पाप के कारण भी असंख्य हैं, फिर भी संक्षेप में पाप उपार्जन के निम्नलिखित अठारह कारण माने जाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) हिंसा, (२), झूठ, (३) चोरी, (४) अब्रह्मचर्य, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान (झूठा आरोप लगाना, दोषारोपण करना), (१४) पैशुण्य (चुगली), १५) परनिन्दा, (१६) रति-अरति (पाप में रुचि और धर्म में अरुचि),[१६] (१७) माया-मृषावाद (कपट सहित झूठ बोलना) और (१८) मिथ्यादर्शन।

अध्यात्म की दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों बन्धन रूप हैं। अतः मोक्ष-साधना के लिये दोनों हेय माने गये हैं। पुण्य को सोने की बेड़ी कहा गया है और पाप को लोहे की बेड़ी माना गया है। मोक्ष के लिए दोनों ही त्याज्य माने गये हैं। परन्तु पहले पाप छोड़ना चाहिए, बाद में पुण्य। पूर्ण मुक्त होने के लिए और शुद्ध वीतराग भाव प्राप्त करने के लिए पुण्य और पाप से मुक्त होना होगा।

आस्रव—पुण्य-पाप, रूप कर्मों के आने के द्वार 'आस्रव' कहते हैं। आस्रव द्वारा ही आत्मा कर्मों को ग्रहण करती है। मन, वचन, काया के क्रियारूप योग आस्रव है।[१७] जैसे एक तालाब है, उसमें नाली से आकर जल भरता है। उसी प्रकार आत्मारूपी तालाब में हिंसा, झूठ आदि पाप कार्यरूप नाली द्वारा कर्मरूप जल भरता रहता है यानि कि आत्मा में कर्म के आने का मार्ग आस्रव है।

आत्मा में कर्म के आने के द्वार रूप आस्रव के पाँच भेद हैं—

(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय, (५) योग।

मिथ्यात्व—विपरीत श्रद्धा। अधर्म में धर्मबुद्धि, अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि आदि मिथ्यात्व है।

अविरति—त्याग के प्रति अनुत्साह और भोग में उत्साह अविरति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाद—आत्मकल्याण तथा सत्कर्म में उत्साह न होना, आलस्य करना प्रमाद है।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की वृत्ति।

योग—मन, वचन, काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति।

अध्यात्म-साधना के लिए यह आवश्यक है कि आत्म-विकास में बाधक तत्त्व के स्वरूप का परिज्ञान करके उससे मुक्त होने का प्रयत्न करे। आस्रव जीव का विभाव में रमण करने का कारण होता है। इसलिए विभाव और स्वभाव को समझकर स्वभाव में स्थित होना ही आस्रव एवं संसार से मुक्त होना है।

संवर—कर्म आने के द्वार को रोकना संवर है। संवर आस्रव का विरोधी तत्त्व है। आस्रव कर्मरूप जल के आने की नाली के समान हैं और उसी नाली को रोककर कर्मरूप जल के आने का रास्ता बन्द कर देना संवर का कार्य है।

संवर आस्रवनिरोध की क्रिया है।[१४] उससे नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता। संवर के द्रव्यसंवर और भावसंवर ये दो भेद हैं।[१५] इनमें कर्म पुद्गल के ग्रहण का छेदन या निरोध करना द्रव्यसंवर है और संसार वृद्धि में कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना, आत्मा का शुद्धोपयोग अर्थात् समिति, गुप्ति आदि भावसंवर है।

संवर तत्त्व के भेद—संवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म-अनुप्रेक्षा, परिषह जय और चारित्र से होती है। संवर के मुख्य पाँच भेद हैं।

सम्यक्त्व—जीवादि तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान करना और विपरीत मान्यता से मुक्त होना।

व्रत—१८ प्रकार के पापों का सर्वथा त्याग करना।

अप्रमाद—धर्म के प्रति उत्साह होना।

अकषाय—क्रोधादि कषायों का क्षय या उपशम हो जाना।

योग—मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का निरोध करना।

ये पाँच आस्रव के विरोधी भेद हैं। मुख्यतया संवर के सम्यक्त्व आदि पाँच भेद तथा विस्तार से बीस भेद और सत्तावन भेद माने गये हैं।

निर्जरा—संवर नवीन आने वाले कर्मों का निरोध है, परन्तु अकेला संवर मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं। नौका में छिद्रों द्वारा पानी का आना 'आस्रव' है। छिद्र बन्द करके पानी रोक देना 'संवर' समझिए। परन्तु जो पानी आ चुका है, उसका क्या हो ? उसे तो धीरे-धीरे उलीचना ही पड़ेगा। बस, यही 'निर्जरा' है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड़ देना, पूर्वबद्ध कर्मों को झाड़ देना, पृथक् कर देना 'निर्जरा' तत्त्व है।

निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के मार्ग में सीढ़ियों के समान है। सीढ़ियों पर क्रम-क्रम से कदम रखने पर मंजिल पर पहुँचा जाता है। वैसे ही निर्जरा भी कर्मक्षय के लिए सहायक बनती है।

निर्जरा तत्त्व के भेद—आत्मा के ऊपर जो कर्म का आवरण है, उसे तप आदि के द्वारा क्षय किया जाता है। कर्मक्षय का हेतु होने से तप को भी निर्जरा कहते हैं। तप के बारह भेद होने से निर्जरा के बारह भेद निम्न प्रकार से होते हैं।

(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचरी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रतिसंलीनता, (७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान, (१२) व्युत्सर्ग। इसमें पहले छह तप बाह्य तप हैं और शेष छह तप आभ्यंतर तप हैं। बाह्यतप व्यवहार में प्रत्यक्ष दिखालाई देता है। और आभ्यंतर तप भले ही प्रत्यक्ष दिखाई न दें, किन्तु इन बाह्य व आभ्यंतर तपों का कर्मक्षय और आत्मशुद्धि की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है।[२०]

बंध—आत्मा के साथ, दूध-पानी की भाँति कर्मों का मिल जाना बन्ध कहलाता है। बन्ध एक वस्तु का नहीं होता, दो वस्तुओं का सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं।

कषायिक परिणामों से कर्म के योग्य पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बंध कहलाता है। जीव अपने कषायिक परिणामों से अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गलों का बंध करता रहता है। आत्मा और कर्मों का यह बन्ध दूध और पानी, अग्नि और लोहपिंड जैसा है। जैसे दूध और पानी, अग्नि और लोहपिंड अलग-अलग हैं, फिर भी एक दूसरे के संयोग से एकमेक दिखते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधतत्त्व के चार भेद—

(१) प्रकृतिबन्ध—कर्म के स्वभाव का निश्चित होना।
(२) स्थिति—कर्मबन्ध का काल निश्चित होना।
(३) अनुभाग—कर्म के फल देने की तीव्रता या मंदता निश्चित होना।
(४) प्रदेश—कर्म पुद्गल शक्ति का स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिणाम में बँट जाना प्रदेश बन्ध है।[२१]

बन्ध के शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार भी हैं। शुभबन्ध को पुण्य और अशुभबन्ध को पाप कहते हैं। प्रकृति बन्ध के आठ भेद हैं—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय।[२२]

इनमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आवृत करने से घाति कहलाते हैं और शेष वेदनीय, आयुः, नाम, गोत्र आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आवृत न करके उसको संसार में टिकाये रखने के कारण अघाति कहलाते हैं। कर्मों के फल देने से पूर्व की स्थिति का नाम बन्ध है। कर्म का अनुदय काल बन्ध है। उदयकाल पुण्य-पाप है।

मोक्ष—नवतत्त्व में अन्तिम तत्त्व मोक्षतत्त्व है। मोक्ष ही जीवमात्र का चरम और परम लक्ष्य है। मोक्ष का सीधा अर्थ है, समस्त कर्मों से मुक्ति और 'राग द्वेष का संपूर्ण क्षय'।[२३]

बन्ध के कारण और संचित कर्मों का पूर्णरूप से क्षय हो जाना मोक्ष है। कर्म बन्धन से मुक्ति मिली कि जन्म-मरण रूप महान् दुःखों के चक्र की गति रुक गई। सदासर्वदा के लिए सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप की प्राप्ति हो गई।

तात्त्विक दृष्टि से कहा जाये तो आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में सदा के लिए स्थिर हो जाना ही मोक्ष या मुक्ति है। जब साधक राग-द्वेष एवं पर-पदार्थों की आसक्ति को क्षय करके वीतराग भाव की शुद्ध-विशुद्ध पर्याय को प्रकट कर लेता है, तब वह बन्ध से मुक्त हो जाता है। यथार्थ में राग-द्वेष से मुक्त होना ही मुक्ति है।

मुक्तात्मा अनन्त गुणों से परिपूर्ण हो जाता है। मोक्ष या मुक्ति कोई स्थान विशेष नहीं है, किन्तु आत्मा को शुद्ध, चिन्मय स्वरूप की प्राप्ति ही मुक्ति है। मोक्ष का सुख अनिर्वचनीय है, अनुपमेय है। आत्मा का आवरणरहित निर्लेप हो जाना मोक्ष है।

मोक्षावस्था में आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। और सचमुच देखा जाय तो आत्मा ही परमात्मा है—**"अप्पा सो परमप्पा"** इस अवस्था में आत्मा अपने मूल स्वभाव में आ जाता है, इसलिए उसका नाश नहीं होता और नाश नहीं होता इसलिए आत्मा का पुनः संसार में आना भी नहीं होता।

मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप। ज्ञान से तत्त्वों की जानकारी और दर्शन से तत्वों पर श्रद्धा होती है। चारित्र्य से आते हुए कर्मों को रोका जाता है और तप द्वारा आत्मा से बँधे हुए कर्मों का क्षय होता है। इन चार उपायों से कोई भी जीव मोक्ष पा सकता है। इसकी साधना के लिए जाति, कुल, वेश आदि कोई भी कारण नहीं है, किन्तु जिसने भी कर्मबन्धन को तोड़कर आत्मगुणों को प्रकट कर लिया, वही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी है। जैनदर्शन में गुणों का महत्त्व है, व्यक्ति, जाति, लिंग, कुल, संप्रदाय आदि का नहीं।

मोक्ष के मार्ग—मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अनिवार्य आवश्यकता है। संसार के विविध तापों से मुक्त होने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय की अत्यन्त आवश्यकता है। ये मोक्ष मार्ग हैं।

तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि यही सम्यग्दर्शन है।[२४] नय और प्रमाण से होने वाला जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव अर्थात् राग, द्वेष और योग की निवृत्ति होकर जो स्वरूप-रमण होता है वही सम्यक्चारित्र है। आत्मा में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट होने पर सम्यग्दर्शन का अस्तित्व सिद्ध होता है। रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल सम्यक्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन बीज है। सम्यग्दर्शन के होने पर ही साधना रूपी वृक्ष पर ज्ञान का फूल सुगन्धित और चारित्र्य का फल मधुर बन सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन यह साधना रूपी भव्य महल की नींव है। नींव मजबूत होगी तो ही ज्ञान और चारित्र रूपी साधना महल टिक सकेगा। उमास्वाति के शब्दों में कहे तो तत्त्वरूप पदार्थ की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।

आत्म-तत्त्व की पहचान करना याने (Right Knowledge) सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान याने आत्मज्ञान। आत्मज्ञान प्राप्त करना यही सच्चा मोक्ष मार्ग है। ज्ञान यह आत्मा का निजगुण है। जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है।[२५]

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन दोष से रहित, नय और प्रमाण से होने वाले जीवादि पदार्थ का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं।[२६]

आत्म-स्वरूप में रमण करना, जिनेश्वर देव के वचन पर पूर्ण श्रद्धा रखना और वैसा ही आचरण करना (Right Conduct) सम्यक्चारित्र है। आत्मा को शुद्ध रखना और पाप से दूर रहना यही सम्यक्चारित्र है। चारित्र के दो भेद हैं—(१) सराग चारित्र (२) वीतराग चारित्र।

हिन्दू शास्त्र में आत्मा को सत्-चित्-आनन्दमय कहा है तो जैनधर्म में आत्मा को दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय कहा है। बात एक ही है, सिर्फ शब्दान्तर है।

सम्यक् चारित्र का आचरण करने वाला जीव शुद्ध और ज्ञानी बनकर निर्वाण पंथ की ओर जाता है और वह धीर-वीर पुरुष अक्षय, अनन्त, अव्यय मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों साधन जब परिपूर्ण रूप में प्राप्त होते हैं, तभी सम्पूर्ण मोक्ष सम्भव है अन्यथा नहीं। एक भी साधन जब तक अपूर्ण रहेगा तब तक परिपूर्ण मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

चार्वाकदर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों का मोक्ष के विषय में एक मत है। चार्वाक का मन्तव्य है कि शरीर का अन्त होना ही मोक्ष है। न्यायवैशेषिकदर्शन ने दुःखों की अत्यधिक निवृत्ति को मोक्ष कहा है। न्याय-वार्तिककार ने सभी दुःखों के आत्यन्तिक अभाव को मोक्ष माना है। वे मानते हैं कि मोक्ष में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, संकल्प, पुण्य-पाप, तथा पूर्वानुभव के संस्कार इन नौ गुणों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है।[२७]

बौद्धदर्शन ने मोक्ष को निर्वाण कहा है। बुद्ध के मतानुसार जीवन का चरम-लक्ष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अथवा निर्वाण है। निर्वाण बौद्ध-दर्शन का महत्वपूर्ण शब्द है।

सामान्य रूप से भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय, कर्म, ज्ञान, भक्ति और पातंजलि योग को कम-अधिक परिमाण में मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। मीमांसकदर्शन केवल कर्म (यज्ञ-भजनादि) से ही मोक्ष प्राप्ति हो सकती है, ऐसा मानते हैं। वैष्णव, वेदान्ती के अनुसार ईश्वर की भक्ति ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन है। सांख्य योग के मन्तव्यानुसार कैवल्य प्राप्ति के लिए योगाभ्यास ही अनिवार्य है।

जैनदर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। जैनदर्शन की मान्यता है कि मुक्त जीव अशरीरी होते हैं। गति, शरीरसापेक्ष हैं, इसलिए वे गतिशील नहीं होते। मुक्त दशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता। मुक्त जीवों की विकास की स्थिति में भेद नहीं होता किन्तु उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्वातन्त्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है। अविकास या स्वरूपावरण उपाधिजन्य होता है। इसलिए कर्म उपाधि मिटते ही वह मिट जाता है। सब मुक्त आत्माओं का विकास और स्वरूप समकोटिक हो जाता है। आत्मा की जो पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है, वह उपाधिकृत नहीं हैं, वह सहज है, इसलिए किसी भी स्थिति में उनकी स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आती। आत्मा अपने आप में पूर्ण अवयवी है, इसलिए उसे दूसरों पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

मुक्त दशा में आत्मा समस्त वैभाविक आधेयों, औपाधिक विशेषताओं से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता। उस (पुनरावर्तन) का हेतु कर्म-चक्र है। उसके रहते हुए मुक्ति नहीं होती। कर्म का निर्मूल नाश होने पर फिर उसका बन्ध नहीं होता। कर्म का लेप सकर्म के होता है। अकर्म कर्म से लिप्त नहीं होता।

जैनदर्शन की नव तत्त्व की तात्त्विक व्यवस्था मोक्षमार्ग-परक है याने जीव को कर्मबन्धन से मुक्त होने का पुरुषार्थ करने और मोक्ष पाप्त करने के लिए प्रेरित करती है। इस दृष्टि से इन जीवादि नौ तत्त्वों में से प्रथम जीव अजीव ये दो तत्त्व मूल द्रव्य के वाचक हैं। आस्रव, पुण्य, पाप और बंध ये चार तत्त्व संसार और उसके कारण राग-द्वेषादि का निर्देश कर मुमुक्षु को जागृत करने के लिए है तथा संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व संसार-मुक्ति की साधना का विवेचन करते हैं। अन्तिम मोक्ष तत्त्व साधना के फल-परिणाम का संकेत करता है कि जीव स्वयं अपने स्वभाव को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकट कर और उसी में रमण करते हुए आत्मा से परमात्मा बन जाता है। उस परमात्मा पद की साधना और उसका स्वरूप समझने के लिए ही जैन विचारकों ने तत्त्वज्ञान का यह विस्तार किया है। आत्मा का आत्मा में अवस्थित हो जाने के बाद अन्य कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। संक्षेप में तत्त्वज्ञान का उद्देश्य है—**'बन्धप्पमोक्खो'** कर्मबन्धन से मुक्त होना। इस स्वरूप को समझकर उस ओर प्रवृत्त होना इसी में तत्त्वज्ञान की सार्थकता है। यही जैनदर्शनों में तत्त्व चिंतन है।[२८]

सन्दर्भ-स्थल :—

१ (क) बृहद्नयचक्र—४

तत्तं तह परमट्ठं दव्व सहावं तहेव परमपरं।
ध्येयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा॥

—तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध, परम ये सभी शब्द एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची हैं।

(ख) देखिए—जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण—लेखक देवेन्द्र मुनि शास्त्री।

२ पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध श्लोक—८

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।

३ 'सत् दव्वं वा'—भगवती ८।९

४ **नवसब्भाव पयत्था पण्णत्ते, तं जहा—जीवा अजीवा, पुण्णं, पावो, आसवो, संवरो, णिज्जरा, बंधो, मोक्खो।**

—स्थानांग ९।६६५

५ (क) स्थानांग ५-३-५३—**गुणओ उवओगगुणे।**

(ख) भगवती १३-४-४८०—**उवओग लक्खणेगा जीवे।**

(ग) उत्तराध्ययन २८-१०—**जीवो उवओगलक्खणो।**

(घ) तत्त्वार्थ० २-८—**उपयोगो लक्षणम्।**

६ स्थानांग २/१/५७

७ उत्त० २८/७—**धम्मो अधम्मो आगासो कालो पुग्गल जंतवो।**
एस लोगोत्ति पन्नतो जिणेहि वरदंसिहि॥

८ उत्त० २८/९—**गइ लक्खणे उ धम्मो अधम्मो ठाण लक्खणे।**

९ (क) तत्त्वार्थ सूत्र ५/९८—**आकाशस्यावगाहः**

(ख) उत्त० २८/९—**भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं।**

१० **तत्त्वार्थसूत्र** ५/२३—

(क) **स्पर्श रसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः**

(ख) हरिवंश पुराण ७/३६—**वर्णगन्धरसस्पर्शैः—पूरणं गलनं च यत्।**
कुर्वन्ति स्कन्धवत् तस्मात् पुद्गलाः परमाणवः॥

११ (क) न्यायकोष, पृ० ५०२—**पूरणाद् गलनाद् इति पुद्गलाः।**

(ख) तत्त्वार्थवृत्ति ५/१—**पूरणाद् गलनाच्च पुद्गलाः।**

(ग) शब्दकल्पद्रुमकोष—**पूरणात् पुद् गलयतीति गलः।**

(घ) तत्त्वार्थराजवार्तिक—५/१/२४—**पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः।**

१२ सर्वार्थसिद्धि टीका—सूत्र—५/२५

अन्तादि अन्तमज्झं अन्ततेणेव इन्दिएगेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणु विजानाहि॥

१३ भगवती ८/१०/३६१—

जीवेणं! पोग्गली पोग्गले? जीवे पोग्गलीवि, पोग्गलेवि।

१४ **'शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य।'**—तत्त्वार्थ—६/३४

१५ ठाणांगसूत्र—ठा० ९, उ०—३

णवविहे पुण्णे पं० तं० अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे वत्थपुण्णे, लेणपुण्णे, सयनपुण्णे, मनपुण्णे, वयपुण्णे, कायपुण्णे नम्मोक्कारपुण्णे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६ ठाणांग—१/४८

१७ (क) योग प्रणालिकयात्मनः कर्म आस्रवतीतियोग आस्रवः। —सर्वार्थसिद्धि ६/२

(ख) आस्रवति प्रविशति कर्म येन स प्राणातिपातादिरूपः आस्रवः कर्मोपादानकारणम्।
—सूत्रकृतांग शीला० वृत्ति—२।५-१७, पृ० १२८

(ग) आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति मल० हेम० हि० पृ० ८४

(घ) अध्यात्मसार—१८।१३१

१८ (क) तत्त्वार्थसूत्र—९।१—आस्रवनिरोधः संवरः।

(ख) योगशास्त्र—७६, पृ० ४ —सर्वेषामास्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः।

१९ (क) योगशास्त्र—७९-८०

"स पुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्य भावविभेदतः।
यः कर्म पुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः।
भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भावसंवरः।"

(ख) स्थानांग १।१४ की टीका

(ग) सप्ततत्त्वप्रकरण —हेमचन्द्र सूरि ११२

(घ) तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि ९।१

(ङ) द्रव्यसंग्रह २।३४

(च) पंचास्तिकाय—२।१४२ अमृतचन्द्र वृत्ति

(छ) पंचास्तिकाय—२।१४२ जयसेन वृत्ति

(ज) देवेन्द्र मुनि शास्त्री—जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ० २०३

२० (क) तत्त्वार्थ सूत्र—९/१९-२०
अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्य तपः।
प्रायश्चित्तविनियवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।

(ख) उत्तराध्ययन—२८/३४, उत्तराध्ययन—३०/७

२१ (क)—तत्वार्थ०—८।४—**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः।**

(ख)—षड्दर्शनसमुच्चय—पृ०२७७
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्च चतुर्धा।

२२ यशोविजय टीका—कर्म प्रकृति—पृ०२, गा० १
ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायरूपम्।

२३ तत्वार्थ० १०।३—**कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।**

२४ उमास्वाति—तत्वार्थसूत्र १।२—**तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।**

२५ आचारांग—५।५।१६६—**जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।**

२६ तत्त्वार्थ सूत्र—१/९

२७ (क) न्याय सूत्र १/१/२ पर भाष्य

(ख) वैशेषिक सूत्र ५/२/१८

(ग) तद्भावे संयोगाभावोऽ प्रादुर्भावश्च मोक्षः।

(घ) न्यायवार्तिक—**आत्यन्तिको दुःखाभावः मोक्षः।**

(ङ) सभाष्य न्यायसूत्र—७/७/२२—**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।**

२८ विशेष परिचय के लिए देखें—जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण—देवेन्द्र मुनिजी का ग्रन्थ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ĀPAH : Divine and Purifying Substance

Dr. J. R. Joshi, M. A., Ph. D.
Deccan College, Poona.

Four entire hymns of the *ṚV* (Ṛgveda) and many stray *ṛks* celebrate the divine character of *Āpaḥ*,[1] but we can hardly speak of their possessing any mythological personality as such. The element, water, is nearly always plainly recognizable behind them. The waters are deified also in the *Avesta* and are invoked as *Apo*. In the *Avesta*, one also comes across the singular *āfs*, which word means 'water' as well as 'a river'[2]. In the *ṚV*, the personification of *Āpaḥ* is very slight, perhaps being in no way greater than that of *Pṛthivī* (earth).

In the *Naighaṇṭuka*,[3] the water is reckoned as terrestrial only. But, according to **Keith**,[4] in some of the cases, at any rate, it is clear that the celestial waters are meant. There is also the view[5] that the celestial waters were probably looked upon as an ether-like medium on which the luminaries made their fixed journeys along the Zodiac (*ṛta*), and that the blocking of them by Vṛtra was supposed to prevent the rise and movements of these luminaries, thus causing long darkness. It is further suggested[6] that water is a subtle and complex concept, the basis and source of various facts of thoughts, ideas and notions of the Vedic culture and is closely associated with every problem in the Vedas. According to **Barnett**,[7] water to the ancient Hindu represented life, animal and vegetable, fertility, health, generative power.

In several cosmogonic accounts, *Āpaḥ*, the waters, hold a prominent place as the female principle. It has been pointed out by **Teape**[8] that the primeval waters, which are here represented are regarded by these ancient philosophers as the waters we now behold still with us and still connected, and thus yet one flood, although in the great masses of the clouds and the ocean and in the lesser volumes of lakes and in the runlets of the streams they are sub-divided, albeit momentarily ; for these allocates were observed to be perpetually passing into and out of each other. For these philosophers, **Teape** further adds, with this unity of the waters ever in their mind, the waters came to be regarded as the standard image of the One. They were regarded as the primordial substance or substratum and in almost all later cosmogonic versions the 'starting point is either *Prajāpati* desiring offspring and creating, or else the Primordial waters, on which floated *Hiraṇyagarbha*, the cosmic golden egg, whence is produced the spirit that desires and created the universe'. *ṚV* X.82.5-6 clearly shows that the waters were believed to have existed even before *Viśvakarmam*. The *TS*[9] also supports this view. The *Vājasaneyi Saṁhitā*,[10] on the other hand, says that *Soma* was produced from the waters by *Prajāpati* at the beginning of creation. Speaking about the cosmogonic speculations in the *ṚV* and referring to the verses mentioned above, the author of *Vedic India*[11] observes : "The waters, it is said there, received the first germ containing all the gods.....who does not see how easily this germ could become the World-Egg... floating for ages un-numbered.....on the primeval waters of Chaos, until the *Brahma*...sprang out as *Brahmā*...?" In this connection, it is also remarked[12] : "The disturbances of the atoms of the etherial matter are responsible for transmitting heat and light which are indispensable for the existence of the worlds. *ṚV* X.72.6-7 says that the worlds and the Sun (who is source of heat, light and energy) that had remained unmanifest in the primeval ocean were produced when

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the atoms of *Salila* were disturbed." The same writer further says : "It is noteworthy that according to *RV* X.190 the creation of the universe started from the kindled heat." Bhagavaddatta[13] says that *Pāvakas* and *Śucayas* are the two kinds of atoms of the waters.

According to the *ŚBr*[14], creation is brought about by the union of *Prajāpati* with waters, earth etc. In another *Brāhmaṇa*-text the term Āpaḥ is etymologised from the root *ap*, to obtain : *abravīt (brahma) ābhirvā ahamidam sarvamāpsyami yadidam kiñceti tasmādāpo'bhavaṁstadapāmaptvam.* Brahman said, 'with these I will obtain all this'. Thence originated the waters and so are they called.[15] It is also said that from heated water the worldly things one by one were produced.[16] The cosmogonic accounts in the *TS*[17] presuppose the priority of *Prajāpati* to the Waters in the same manner. In one of the *Sūtra* texts,[18] in the context of an optional animal sacrifice called *Svargaḥ*, it is enjoined that one who desires heaven should offer the subsidiary oblations of water with the *Nāsadīya-sūkta.* Here, presumably, the same cosmogonic significance of the waters is implied. The *TBr*[19] seems to refer, in one passage, to the quantity of primordial water. *Asita*, the son of *Devala*, once said : *etāvatīrvā amuṣmiṁloke āpa āsan yāvatīḥ prokṣaṇīriti* 'As are these *prokṣaṇīs*, so much was the water in the world'. The idea of the so-called two waters—terrestrial and celestial—also seems to be referred to in a *Brāhmaṇa*-passage[20] where it is said, *yā rocane parastāt sūryasya yāścāvastādupatiṣṭhata āpaḥ* 'At both sides of the sun the water exists ; above and below'.

This brings us to the consideration of terrestrial waters. For man—ancient or modern—importance of water is beyond doubt. May be that the speculation about the primordial waters actually evolved out of his daily experience. The useful qualities of water are referred to many times in the Vedic literature. Keith[21] notes : "The connection (of waters) with honey is of interest : it confirms the view that the essential conception is that the waters in their refreshing drink are the honey as they also are in *Soma* : thus the myth of descent of *Soma* is no more than the tale of the descent to earth of refreshing rain when the storm breaks forth." Water is man's most basic need. It is said[22] that even after being used so often the water does not cease to be ! (*āpaḥ etāvati bhoge bhujyamāne na kṣīyante*). Water exists even in the breath ![23] It is water that fills the body with liquid ![24] (*āpo hyetamaṅgebhyo rasam sambharanti*). Water is the base of all.[25] One can speak only when the breath is full of water[26] ! Everything is produced from water.[27] These worlds are verily situated in water.[28] The water is inside, and the flesh outside : (*antarā hyāpo bāhyāni māṁsāni*)[29]. Particularly it is stated that all the food is (produced by) water ; with water, things are eaten.[30] Especially the strength is regarded as the outcome of waters ![31] Once the waters said to *Prajāpati*, 'All the wishes live in us. Make the offering to me and then all the wishes will cling to you ! You will then know what the heaven is !'[32] It is said in the *JBr*[33] that *Agni* divided water into so many types so that some people make their livelihood on the water dug up, some on the still one, some on the moving one. Thus *Agni* brought the food in this world. So it must have been on account of the food to which they are instrumental in producing that the waters were glorified the first stage. Their cleansing and purifying character must have been the second factor on account of which the waters are glorified. In the *Sūtra* texts, where the cleaning operation occurs frequently, this fact is indicated very clearly. For example, in the recitation that accompanies the act of cleansing of sacrificial post this quality is referred to.[34] At another place, in the context of touching the water (by wife of the sacrificer), waters are referred to as *śuddhāyuvaḥ*.[35] Thus the waters are referred to as the source of life as well as of cleanliness. It is, presumably, on account of this that the *ŚBr*[36] characterises Āpaḥ as *pavitram.*

Regarding the healing power of waters, Griswold[37] says : "The waters are nourishing, strengthening, life-giving. It is only an extension of the same idea, when the waters are called medicinal, and are conceived as the source of healing and immortality. It is the extension by analogy from physical cleansing to moral cleansing." The *Āpaḥ* are said to be the essence of plants.[38] They are also the very tranquillity (*śāntiḥ āpaḥ*).[39] As if to confirm the statement that waters are the very essence of plants, it is said that that is why only when both—waters and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

plants—are eaten together, one is satisfied ; then only they are *sa-rasa*.[40] The ritual act of taking up of oily portion of flesh for *Vasāhoma* is followed by the recitation of the *mantra* : *apām tvau'ṣadhīnām rasam gṛhṇāmi* (I take the essence of the water that is of the plants).[41] The waters are further said to possess a special quality, namely, *madhu* (sweetness).[42] It is pointed out that one may get such water having honey, in all the worlds.[43] Can this honey be regarded as denoting just the medicinal power or healing power of waters ? With perhaps the same significance, waters are called ambrocia.[44] In some *Brāhmaṇa*-texts, the waters are said to represent consciousness in connection with the animals.[45] In the marriage ceremony, waters are sprinkled on the head of the bride with the formula, "May the waters that are auspicious, the most auspicious, and the most calm, prove to be medicinal for you."[46] Thus we find that the medicinal quality of the waters which must have been a thing of common experience, was expressed in mythological, and more particularly ritual, terms.

The position of *Āpaḥ* was thus generally regarded as quite honourable in Vedic mythology and ritual. Ethical significance also is seen to be attached to them. It is, for instance, averred : *āpo hi vai satyam/tasmādyenāpo yanti tat satyasya rūpamityāhuḥ* "The waters are the very truth. Hence they say, 'whereby the waters flow, that is a form of the truth'."[47] It is also claimed that the waters are established in *Om*, and the earth is based on the waters.[48] In another *Brāhmaṇa*-passage, [49] it is said that the waters are based by the Truth. In ritual also, this ethical aspect of the character of *Āpaḥ* is referred to. In the *Āp.Ś S.*,[50] in the context of the offering of animal's organs, it is enjoined : "They should sprinkle themselves with water with, 'May the waters make us free from the sins—from speaking untruth or from committing adultery.' ".

It was but natural that with these characteristic features the *Āpaḥ* were regarded as possessing divinity. They are often referred to as *devīḥ*.[51] In the *TĀ*,[52] they are glorified thus : *āpo vā idam sarvam viśvā bhūtānyāpaḥ prāṇā vā āpaḥ paśavaḥ ... annam ... amṛtam ... samrāṭ ... virāṭ ... svarāṭ ... chandāṁsi ... jyotīṁṣi ... yajūṁṣi ... satyam ... sarvaḥ dévataḥ bhūrbhuvaḥ śvar... om*/The Āpaḥ are this all—all the creatures, breaths, animals, food, ambrocia, *Samrāṭ*, *Virāṭ*, *Svarāṭ*, metres, luminaries, yajuses, truth, all divinities, earth, mid-air, heaven, *Om*—all is the waters only ! Incidentally, we find a reference to them even in the recremation-rite. After the description of the rite it is said that one, whose bones are re-cremated in this manner, as also one who, indeed, knows this (ritual of re-cremation),...him the water touches ; he is not cut away from the proximity...with water.[53] In this reference from the *Bau-Pitṛ* the waters are brought in connection with other divinities, and their divinity is thereby confirmed.

The procreating power of the *Āpaḥ*, like those of the other female divinities, is often stressed in Vedic literature and ritual. The waters were regarded as the root-cause of the universe, and then as the original female principle. This is what seems to be indicated in the following *TBr*.[54] passage : The waters said to *Prajāpati* : "*O Prajāpati*, all the wishes (*Kāmas*) are clinged to the waters ; and we are the waters. So indeed sacrifice unto us. Then all the wishes will cling to thee and after that you will know what is the world of heaven !" We are further told : *adbhyaḥ sthāvarajaṅgamo bhūtagrāmaḥ sambhavati* All the things, movable and immovable, are born of the waters.[55] As a matter of fact, this procreation aspect of the waters is suggested in many ways. While explaining the importance of the *vasu vāma*, which is a *sāman* known after Vamadeva, it is said that, through the sexual intercourse between the waters and Vayu, *vasu vāma* was born ![56] In the same way, in another passage, it is said that after having practised penance the waters came to have an embryo, and from that embryo this sun was born in the sixth month ![57] Sometimes instead of the sun, the golden egg is mentioned in this connection,[58] but the character of the female principle does not change. Another *Brāhmaṇa*[59] passage reads : *āpo vai devānām patnaya āsan/ta mithunam aicchanta/ta mitrāvaruṇau upaitam/ta garbham adadhata/tato revatayaḥ paśavo'sṛjyanta*/waters were the wives of the gods. They wished to have sexual intercourse. They had it with *Mitra* and *Varuṇa*. They bore an embryo from which animals were born. The mother-aspect of the *Āpaḥ* is further expressed through the statement : Sun is the son of waters. Therefore it is for the rising sun that they flow to the east and it is for the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

setting sun that they flow to the west. So if one asks 'for whom do the waters flow ?' one may answer that they flow restlessly with the sun in mind.[60] A reference to the mother-aspect of *Āpaḥ* made in the *Śāṭyāyana Br.*[61] reads : *indraya śatasahasrāṇyāpo'nnam prajāpatiḥ prayacchat, ta ambaya iti|* In the ritual also, the progeny-bestowing aspect of the character of the waters is often emphasised. There is, for instance, the following rite that occurs in connection with the *patnīsaṁyāja* offerings : The *Hotṛ* should place the yoke-halter in the cavity of the hands of the sacrificer's wife supported with his palm and, with the right hand, pour out the water from the vessel over the yoke-halter with the formula, 'May I not scatter away the progeny-bestowing waters that are still (?). I pour you in the ocean. Go by your own way.'[62] Here the pouring of semen may be said to be represented by that of the waters. It is perhaps from this very point of view that, in a rite, which occurs in the context of the animal-sacrifice, water is sprinkled on the bodies of the performers with,...*yad vā śepe abhiruṇam|...mā tasmād enasaḥ...muñcantu aṁhasaḥ|* 'May I be relieved from the sin that is committed with my (male) organ'.[63] In cosmological contexts also this relation of waters with the semen—and so indirectly with progeny—is clearly seen. It is said that the waters are produced from the semen of the Primordial Man.[64] It is also stated that the waters turned into semen and entered into the male organ : *āpo reto bhūtvā śiśnam prāviśat|*[65] And so, while enumerating the various divinities placed in a man, it is mentioned that the waters are stationed in the semen.[66] For obtaining male-progeny the *Āpaḥ* are praised like other female divinities. In the *Pārvana śrāddha*, while giving *arghyas* to the Brāhmaṇas, one recites after the dripping water the verse relating to the waters, that dripping water is collected and applied to the mouth of one who wishes male-progeny.[67] It is said that the waters that spring forth from the male-organ[68] are *aghnyā*.[69] While pouring out the accepted *arghya*, the wish is expressed : 'May I be bestowed with progeny'.[70] In the rite of *Medhājanana*, a jar full of water is kept on the head of the mother with the formula, *āpaḥ ... yathā deveṣu ... èvamasyai suputrāyai jāgrata* "O waters, be vigilant with regards to this woman that has a good son, in the same way as with regards to the gods."[71]

As pointed out elsewhere, in the *Sūtras* the divinity of *Āpaḥ* is often referred to. In the *Ṛtvigvaraṇa* rite the *hotrāśaṁsins* say, 'Goddesses *Āpaḥ* are divine *hotrāśaṁsins* ; permitted by them, we shall officiate assistants of the *hotṛ* for you.'[72] In ritual *Āpaḥ* are often called as the 'Goddesses'.[73] In the *gṛhya* rites, the *Āpaḥ* are clearly anthropomorphised. They are referred to as the presiding divinity of Soma, and are called forth thus : I call forth the waters who have female forms, have white complexion, are seated on crocodile, have a cord and a jar with them and have ornaments of pearls on their bodies.[74] We find that the jar, mentioned in the foregoing description, becomes a symbol of the divinity, namely, *Āpaḥ*. Thus, in the *svastivācana* or *upayamana* rite (in marriage ceremony), a jar full of water is worshipped formally.[75] This is, of course, symbolical.

As pointed out elsewhere, in the *Sūtras* the purification-aspect of *Āpaḥ* also is often referred to. In the context of the *Agnihotra*-offerings, for instance, we have the following passage : The sacrificer about to offer the *agnihotra* should touch water with the formula, 'You are the lightning, I am approaching the Truth from *Ṛta*, remove my sins. The faith (may be) in me !' After the offering has been made, he should touch water with the formula, 'You are the showers. Cut away sins from me. I have approached the Truth from *Ṛta*. May faith be in waters !' It is, indeed, enjoined that in this manner, the sacrificer should touch water before and after the offering in all sacrifices.[76] This purificatory aspect of waters seems to be specially emphasised in the case of the *Jāmadagnyas*. It is said in the context of *Agnihotra*-offerings, that for the sacrificers belonging to the *Jamadagnigotra* the officiating priest should take out fifth spoonful with 'I draw up from the waters and plants'.[77] In the *Varuṇapraghāsaparvan* sacrifice, flushing of water on the navel of altar is to be made with, 'O waters, flow away the vile.'[78] It is also said that the flowing of water from all the directions should be treated as a main criterion for the selection of cremation-ground.[79]

Incidentally, something may be added here about the different kinds of waters used in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Vedic ritual in different contexts. *Vasatīvarī* are the waters which are fetched from a stream flowing on mountain,[80] (originally) made up of different currents. One fetches the *Vasatīvarī* waters before sun-set (on the day preceding *Sutyā*).[81] One mixes these waters with the *Ekadhānā* ones *(vyanayana)*.[82] They are called *nigrabhya*, they serve in the preparation of Soma, *Somopasargārthaḥ*.[83] The *Pannejanī* water, on the other hand, is to be filled up in an earthen jar by the wife of the sacrificer during the morning pressing.[84] She is enjoined to pour that water upon her thighs during the third pressing while the *yajñāyajñīya stotra* is being chanted.[85] The *Prokṣaṇī* waters are used to sprinkle over the sacrificial utensils.[86] The *Praṇītā* waters, on the other hand, are to be sprinkled at four directions with the sacrificial grass.[87]

Incidentally, some information may be given here also about *prokṣaṇa*, *avokṣaṇa*, etc. The *prokṣaṇa* (or the sprinkling of water) is one of the most common rites in a ritual even to this day. Wherever this rite is mentioned, it is stated in clear terms that the purpose of *prokṣaṇa* is to render the entity which is sprinkled, sacrificially pure.[88] The *avokṣaṇa* means to sprinkle water with the hand turned crosswards ; whereas the *abhyukṣaṇa* is to be performed with the hand turned downwards.[89] The *paryukṣaṇa* means sprinkling water around a thing. It is meant to serve as a protective factor. Thus waters are specially calculated to consecrate and purify things when sprinkled over with it.[90]

It is also found that the waters tend one's mind so that he possesses faith for sacred actions.[91] With this sacredness of water in view, that the *Āpaḥ* are equated with the *Adhvaryu* priest in the *saḍhotṛ*-formula, namely, *vāghotā/...āpo'dhvaryuḥ/...vāto'bhigaraḥ/ prāṇo haviḥ/*.[92] This equation would seem to suggest high sacredness of this divinity in ritual. This sacred character of the waters is not lost sight of even in the minor matters. It has, for instance, been prescribed that one should never run through the rains.[93] Because the waters are ambrosia, and one should never interrupt the (shower of) ambrosia. This is an injunction for a *brahmacārin*. The passage further prescribes : 'He should not urinate or pass excrement into the waters. He should not spit into the waters'. The waters were thus invariably regarded as a sacred entity. Their sacredness is further illustrated in the formula about *dravya*, etc., whereby it is said that waters (*Āpaḥ*) are the *dravya* for the ocean.[94] Even the place, where the water existing in a particular position are noticed, was treated as possessing certain special qualities. In connection with the selection of a place for a house, it is said that, where the waters flow at the middle from all directions and then after going round the sleeping-hall flow towards the east without noise, that entire spot should be regarded as *samṛddha*.[95] It is further said that the place where the water flows from all the directions should be known as being conducive to prosperity and deterrent to gambling.[96]

Besides bestowing sacredness on a thing, the *Āpaḥ* also have the capacity of destroying one's enemies. In the context of the *Agnihotra*-prayers, sprinkling the ground with water three times is said to be accompanied by the formula, 'O lord of the waters, this is your portion that belongs to the waters, the enemies are scatterred away, scatterred away, scatterred away'.[97] In another context from the *Agnihotra*-prayers, it is enjoined that the sacrificer should wash his hands with *...idamaham duradmanyam niṣplavayāmi bhrātṛvyānām sapatnānām aham bhūyāsam uttamaḥ/ apām maitrād ivodakam/* 'I, here, by this, wash away the evil-thinkers. I will be foremost with the highest powers among all the enemies, just as the *Udaka* with the help of (friendship with) the waters.'[98] In connection with the evening milking it is enjoyed that, with the formula, 'O waters, be vigilant' the performer should cover the pitcher with a wooden or iron vessel full of water.[99] So also during the offering of omentum in an animal-sacrifice, the officiating priest collects water in the cavity of hands, with 'may the waters be friendly unto us', and sprinkles the performers and himself with water by 'May they be inimical to that who hates us and to him whom we hate.'[100] Here also the water's capacity of removal off of the inimical forces is suggested. Thus waters are specially calculated to keep things safe from the *rāksases* and the fiends.[101]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The vigour-bestowing capacity of *Āpaḥ* is particularly noticeable in the *Rājyābhiṣeka* in which the sprinkling of waters constitutes the main rite. In the *Agnihotra*, the sprinkling of water on the head of the sacrificer is followed by the recitation thus : '...With which (water) the gods sprinkled Indra for kingship, with that I sprinkle myself vigour'.[104] In the context of the *Vaiśvadevaparvan* sacrifice, applying the water to the sacrificer's hair is said to be accompanied by : 'The divine waters may wet the body of yours for long life and vigour'.[103]

For the satisfaction of the manes also the water is prescribed to be served.[106] The *Āpaḥ* officiate as it were as the agent between the manes and the offerers. After being taken out from the pitcher, water is poured out upon each ball with 'The water-goddesses may go unto the manes carrying strength...'[105] In the context of the *Pitṛmedha*, the kinsmen are said to offer the water upon the earth with "This *udaka* for you, of the waters (*āpaḥ*)".[106] In the *Māsika-śrāddha*, one pours the vessel full of water with, 'These waters full of honey, satisfy the sons and grandsons. At the same time, they—the divine waters—yield the ambrosia to the manes.'[107]

In the *Antyeṣṭi* rite, we find that, like other divinities, an oblation is made to the water-goddesses with 'To the waters, *svāhā* !'[108] Thus we find that the various capacities such as bestowing a man with vigilance, faith, long life, vigour etc.; removal away of enemies, sins ; satisfying the manes and so on are attributed to this water-divinity.

It would seem that some kind of difference between *Āpaḥ* and *Udaka* was thought of by the authors of the ritual texts. In the *Sūtras*, the divine *Āpaḥ* are invoked to flow with unending *udaka*.[109] So it seems that the term *udaka* denotes the element of water. On the other hand, in some *Gṛhya*-texts, the word *udaka* denotes a god. For instance, on the day before the marriage, an offering of *sthālīpāka* is made for the bride to *Udaka*.[110] But it may be noted that, in this context, the *Āpaḥ* also occur in the form of *Udakāni* as the female counterpart of *Udaka* as it were. It is enjoined that the bride, after approaching Udaka, should be bathed and an offering of *sthālīpāka* should be made with the *mantra*, 'To Udakānī, svāhā !"[111] Here the both terms—*udaka* (male) and *Udakānī* (female)—denote the Water-divinity.[112]

Attention may now be drawn to certain peculiar features of this divinity. In the *Mān. Ś.*,[113] it is suggested that the north-east direction is related to the *Āpaḥ* in a special way. In another *Sūtra* text,[114] however, the *Āpaḥ* are said to be related to the east or north. Another feature is that the constellation *āṣāḍhās* is specifically related to the *Āpaḥ*.[115] Further, *Āpaḥ* are also believed to possess some unfavourable aspects,[116] as is indicated by the *mantra* occurring in the *TĀ*,[117] namely, 'The aspect of the waters which is cruel, impure or violent, may that go away !'

It is also interesting to note the significance of the various sources of the waters. As Keith[118] has pointed out, with the growth of the ritual a distinction came to be made and developed between the various sources of waters. Firstly, a clear distinction is made between the ordinary water and the water of the ocean. It is, for instance, said in the *GBr*[119] : (Prajāpati) saw into the waters his own image. While doing so he dropped the semen into them. Then the waters divided themselves into two : the semen that was highly saltish, unfit for drinking, tasteless and violent made up the sea ; and the semen that had exactly opposite qualities remained where it was. On this background it is significant that another *Brāhmaṇa*-passage[120] reads that the putrid body of *Vṛtra* killed by Indra extended everywhere ; and the sea also is extended everywhere. In the *Rājasūya* sacrifice the waters of the ripples which are produced when the victim is thrown into them are offerred. These waters are said to be capable of granting kingdom to the sacrificer.[121] Apart from this broad division, there is also some further classification. In the consecration-ceremony seventeen kinds of water are collected.[122] They are enumerated thus : water from the river *Sarasvatī* ; from the two waves which flow away in the different directions after an animal or a man has stept or plunged into it ; from the wave which rises in front of the man ; from the wave which rises up behind him ; the flowing water ; the water that flows off the main current ; the sea-water ; water from a whirlpool ; what standing pool of flowing water there is in a sunny

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

spot that water, such water as it rains while the sun shines, water from a pond, water from a well, dewdrops, honey, embryonic waters of a calving cow, milk, clarified butter, (moist) sun-motes—these are seventeen kinds of water. It may be noted that the sea-water is included in this list not under the name *samudra*, but *nadīpati*. It may also be noted that the water of the river *Sarasvatī* is mentioned first in the list. *Sarasvatī* herself is regarded as a separate divinity in the Vedic literature and ritual. Another noteworthy mention is that of the dew-drops. The *Brāhmaṇa*-passage[123] adds : 'With that (water) he sprinkles : it is with food he thereby consecrates him.... For even as this fire burns up (the wood) so does that sun yonder, even in rising, burn up the plants, the food. But those waters coming down, quench that (heat), for if those waters were not to come down, there would be no food left remaining here'. The *Brāhmaṇa* reference[124] to the sun motes is also interesting. Those sun-motes, it is said, are indeed self-ruling waters, since they are flowing, as it were, and, not yielding to one another's superiority, keep being now higher now lower. Elsewhere, in the same *Brāhmaṇa*, interesting statements are made about the flowing water : Every thing, even this (wind) that blows, takes rest ; but these flowing waters do not take rest ![125] Further, in another passage it is said that the non-stop flow of these waters is caused by killing of *Vṛtra* by them.[126] In the *Taittirīya Āraṇyaka*,[127] incidentally, some kinds of water, with their special qualities, are mentioned. It is said there that such water as it rains while the sun shines possesses *brahman*-splendour ; that from the well has brightness ; the still one is characterised by stability ; the flowing water is said to be vigorous. A comparison is made between the waters that flow in a channel and those that do not flow in a channel. Those of the waters which flow in a hollow (channel) are the chieftains, and these stray waters are the clansmen.[128] Here one is reminded of the statement quoted above that the flowing waters are vigorous and the still ones have stability.

There are a few other interesting references to the sources of water. It is, for instance, said : "From the rock water springs forth ; from the arm-pit water springs forth."[129] In the context of the expression *aśmannūrjam*, it is further remarked that the water is, indeed, contained in the rock, in the mountains.[130] In the same *Brāhmaṇa*,[131] one comes across the following statement : "These are three kinds of water, to wit, the frog, the lotus-flower and the bamboo-shoot." Elsewhere, in the context of the description that from *Prajāpati*, worn out and heated, the waters were created, it is said that the waters are generated from a heated man ![132] In the context of the *Apasyāḥ* bricks, we have the following passage from the *ŚBr* :[133] 'In the abode of waters I settle thee !' the abode of the waters is the eye, for there water always abides : in the eye he settles this one.[134]

The Vedic texts often speak of a water-cycle in the universe. It is said in the *Taittirīya Āraṇyaka*[135] that the waters have four forms : the cloud, the lightning, the thunder, and the rain : *catvāri vā apām rūpāṇi/megho vidyut/stanāyitnurvṛṣṭiḥ/*. It is further said in that text that the waters make up a cloud.[136] On the other hand, the *Ait. Ār*[137] says that the waters are produced from the smoke generated from Fire : *āpaḥ...yā agnerdhūmājjayante...* The *Tāitt. Ār.*[138] refers to the flame which originates from the middle of the waters. The commentator explains this flame as the *aurva-vidyut*. While describing the five *mahāsaṁhitās*, the *Taitt. Ār.*[139] says of one : 'Fire is the lower form, sun is the upper form, waters are the union and the lightning is the uniting factor'. It is said : 'The seat of the waters is the sky, for in the sky the waters are seated... the home of the waters is the air : the womb of the waters is the sea'.[140] With this very water-cycle in mind, the foam is said to be the ashes of waters.[141] Naturally the wind also comes into the picture. Wind is said to be the essence of the waters : *eṣa vā apām raso yo'yampavate.*[142] In another passage it is said that the way of the waters is the wind ; for when the wind blows hither and thither then the waters flow ![143] Again, it is from the point of view of this universal water-cycle, that the waters are said to be incomplete because they are consumed : *kṣiyanta āpaḥ/...tena tānyasarvāṇi/*[144]. While enkindling the sacred Fire, a formula relating to the waters is recited. In it the womb of waters is referred to.[145] It is said that the waters that are produced from the smoke (*dhumāt*) generated from Fire should not be injured (*aghnyā*).[146] The following legend is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

narrated in the *Jaiminīya Brāhmāṇa*[147] : '*Ūkṣṇa-Randhra*, son of Kavi, wished to journey through waters (against the direction of waters) to the heaven. He was sure that he would be able to find out the way concealed in the waters. He chanted a particular *sāman* and he was able to do so.' In ritual the relation of heaven with the waters is expressed in a different way. As pointed out above, an oblation of water with the *Nāsadīya*-hymn is offered in a sacrifice for one who desires heaven. So also for one who desires to attain the heaven, the second oblation in the fifth *iṣṭi* is made to the waters.[148] In a daily *Gṛhya*-rite, *bali* is offered on a jar with 'O *Parjanya* to you, O waters to you'.[149] Incidentally, it may also be mentioned that in the *ŚBr*,[150] waters are enumerated among the various optional doors to *Brahman*.

Various gods are related to the waters. *Varuṇa* is called the ruler of them.[151] It is said that the waters together with him originated from the mind.[152] The moon is described as the flower of waters.[153] The waters are even equated with all the gods ![154] Elsewhere it is said that waters are the abode of all the gods ![155] With the waters are connected not only the gods like *Agni*, but also various plants and animals. They are equated with plants.[156] *Darbhas* are said to have originated from the sacred and true part of the waters that were mixed with the dead body of *Vṛtra*.[157] In ritual waters are found to be connected with *Savitṛ*.[158]

Notes and References :—

1 With Āpaḥ 'waters' (plural) may be compared *Uṣāsaḥ*, the successive Dawns.
2 It is suggested that various meanings of *apas*, namely, work, food, active, etc., are envolved from the word *āpaḥ* itself. (Cf. **F. Singh**, *Vedic Etymologies*, 82-83).
3 II. 1. also I. 81.
4 *Religion and Philosophy of the Veda and the Upaniṣads*, 141. Cf. **Gangal : *Āpaḥ in the ṚV***, typescript, University of Bombay, 1962.
5 Cf. **Apte : *History and Culture of Indian People***, I, 373.
6 **Anantacharya,** *Vedasamīkṣā*, P. 9.
7 *BSOS*, IV, 706.
8 *Secret Lore of India*, 161.
9 IV. b.23.
10 IX. 23.
11 P. 423.
12 **Sharma**, "Āpaḥ in Vedic Cosmogony", *Gode Comm. Vol.* P. 352.
13 *Vedavidyānidarśana*, 61.
14 VI.1.1-2.
15 *GBr* I.1.2.
16 *ŚBr* VI.1.3.2-5 : *apām taptānām pheno jāyate/...sa mṛdamasṛjata...sa sikatā'sṛjata*...Foam is produced in heated water... It produced clay... It produced sand... .
17 V 5.5. VI. 2-4.
18 *ĀŚ* XIX.16.17-25 : a cow whose calf is not living to *Āpaḥ*, and subsidiary oblations of water with the hymn beginning with *nāsad āsīt*... Cf. *Śrautakośa* (Eng.), 893.
19 III. 2.10.15.
20 *Kauṣ-Br.* XXIV. 4. This theory of the cosmic circulation of the waters is not peculiar only to Indo-Iranian mythology, but is found in Greek and Egyptian mythologies also.
Kramer *(Expedition)* VI, 44-52) is inclined to identify Dilmun with the Indus region. He further points to the significance of the facts that the great Sumerian water-god *Enki* was most intimately connected with Dilmun, and that the Indus civilization was characterized by the cult of a water-deity and sea-faring ships.
21 *Op. cit.*, 141-42.
22 *ŚBr* III.7.4.27.
23 *Ibid* III. 4.4.19.
24 *Ibid* III. 6.4.20.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

25 *Ibid* IV. 4 3.14.
26 *Ibid* V. 3.2.16.
27 *Ibid* VI. 1.3.11.
28 *Ibid* VI. 5.1.17.
29 *Ibid* VII. 5.2.42. Cf. *BhG* II. 20, *HG* I. 10.4.
30 *ŚBr* XIV. 1.1.14.
31 *Ibid* IX. 3.3.10.
32 *TBr* III. 12.2.6 : *apsu vai sarve kāmāḥ śritaḥ/asmānnu yajasva/atha tvayi sarve kāmāḥ śrayiṣyante/anu svargam lokam vetsyasiti/*
33 I. 237-38 : *agnīḥ imā āpo vyudauhat .../tāḥ etaḥ paryudha anutkhayaika upajīvanti tiṣṭhantīḥ eke sravantīḥ eke/sa evam eta āpo vyūhya vinudyasmin līke'nnam adat/*
34 *Bau. Ś.* XX. 26.27.
35 *Ibid* VIII. 12.18, *Śrautakośa* 821.
36 I. 1.1.i.
37 *Religion of the Ṛgveda*, 292.
38 *ŚBr* I. 1.6.2.
39 *Ibid* I. 1.6.11.
40 *Ibid* III. 4.5.7, *Tāṇ-Br* XIII. 9.16.
41 *Āp.* Ś. VII. 26.7, *Var. Ś.* I. 6.7.20.
42 *ŚK* 488, 265.
43 *Bau. Pitṛ.* III. 1-4.
44 *JBr* I. 351, *ABr* VIII. 434, *TĀ* I. 26.7.
45 *TĀ* I. 46.4 : *saṁjñānam vā etatpaśūnām yadāpaḥ/ TBr* III. 2.5.4, *Kauṣ-Br.* VI. 1.
46 *PG* I. 8.6, *TBr* III. 2.8.1, *Kauṣ-Br.* III. 6.
47 *ŚBr* VII. 3.1.6.
48 *JUBr* I. 2.3.2.
49 *GBr* II. 3.2.
50 VII. 21.6, ŚK 840.
51 Cf. *ŚBr* I. 1.3.7.
52 X. 22
53 *Bau. Pitṛ.* III. 10, *ŚK* 1089.
54 Cf. fn. 32.
55 *GBr* I. 1.29.
56 *Tān. Br* VII. 8.1. In this context, the concluding conversation may be quoted *kathamiva vāmadevyam geyamityāhuḥ/...yathā vāto'psu śanairvāti/* (9.11). also cf. *GBr* I. 1.3.
57 *Kauṣ. Br.* XXV. 1.
58 *ŚBr* XI. 1.6.1.
59 *JBr* I. 140.
60 *Ibid* III. 114.
61 Cf. **Ghosh** : *Lost Brāhmaṇas*, 99.
62 *Āś. Ś* I. 10 (*ŚK* 427) : *mā'ham prajām parisicam ya naḥ sayavari sthana/samudre vo ninayāni svam patho apītha/*
63 *Āp Ś.* VII. 21.6, *Śāt. Ś.* XXI. 1.2.
64 *AĀ* II. 4.1 (21).
65 *Ibid* II. 4.2. (22).
66 *Śāṅ. Ā* X. 1.
67 *ĀG* IV. 8.13.
68 The relation of the waters with the male organ or semen explains the relation between the waters and *Viṣṇu*, who, originally, was the divinity presiding over the male organ. In the *Smṛti* passage quoted in *Śrībhāṣya* on *Vedāntasūtra* II. 1.9, waters are referred to as the body of *Viṣṇu*.

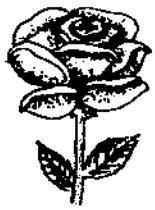
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

69 *AĀ* I. 3.5 (13).
70 *Bhār. G.* II. 24.
71 *Āgn. G.* II. 1.4.
72 *Bau. Ś.* XX. 16, *ŚK* 11.
73 *Bhār. Ś.* II. 4-7, IV. 6-7, VII. 12.8, *Śāt. Ś.* II. 7, *ŚK* 296.
74 *ĀGP* II. 6.
75 *Ibid* I. 11.20.
76 *Bhār. Ś.* VI, 1-6, *ŚK.* 106.
77 *ŚK* 112.
78 *Mān. Ś.* III. 7.3-4, *ŚK.* 696.
79 *ĀG* IV. 1.14.
80 *Āp.Ś.* XI. 20.5.
81 for the procedure of fetching the *Vasatīvarī* waters, Cf. **Caland** : *L'Agniṣṭoma*, 119.
82 *Ibid*, 143.
83 *Āp. Ś* XI. 20.5, *Kāt. Ś.* VIII. 9.7 ; Cf. **Hillebrandt** : *VM*, I. 455.
84 *Āp. Ś.* XII. 5.12, *Bau. Ś.* VII. 3.
85 For the entire rite, cf. **Caland** : *op. cit.* 371.
86 Cf. **Venkatacharya-Gajendragadkar** : *Saṁskāra-kaustubha*, 1914.
87 Cf **Joshi** : *Śrautapadārthanirvacanam*, 40.
88 Cf. **Devasthali** : *Religion and Mythology of the Brāhmaṇas*, 86.
89 Cf. **Bhide** : In *Bhāratīya Saṁskṛti Kośa*, I, 193.
90 Cf. **Devasthali** : *op. cit.*, 95.
91 *AĀ* II. 1.7.
92 *Mān. Ś.* I. 8.1.1-20, cf. *TĀ* III. 6.
93 *TĀ* I. 26.7 : *varṣati na dhāvet|*
94 *Ibid* III. 10.3.
95 *ĀG* II. 7.6.
96 *Ibid* II. 7.11.
97 *ŚK* 117.
98 *Loc. cit.*
99 *ŚK.* 251.
100 *Āś. Ś* III. 7.1,13; *Bau. Ś.* XXIV. 36; *ŚK*, 820, 831.
101 Cf. **Devasthali**, *loc. cit.*
102 *ŚK*, 114-15.
103 *Ibid*, 665.
104 *Śāṭ.Ś.* II. 7, *ŚK*, 488.
105 *ŚK*, 488.
106 *Kauś. G.* V. 4.
107 *Agn. G.* III. 1.3.
108 *VG* V. 1-6, *ŚK*, 1058.
109 *Śāṭ. Ś.* II. 7, *Āp. Ś.* VI. 1-29, *Bh. G.* I. 25.
110 *Kāṭh. G.* XXI. 1.
111 *Ibid* XX. 2.
112 In the mythology of Persia, there is a male genius of waters, who creates and shapes man, and defends and protects the royal glory, and a female genius, who is no other than Anaitis, or Venus, who assists women in labour giving men courageous companions (Cf. *Asiatic Mythology*, 42).
113 III. 3-4.
114 *Śāṅ. Ś.* IV. 7, 9-11; Cf. *GBr* I. 3.1 : 'The waters flow towards the south'.
115 *Śāṅ. G.* I. 26.18, *TBr* III. 1.5.5. It may be noted that there is usually rainfall in the month of *Āṣāḍha*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

116 This very aspect is seen with relation to the goddess Sarasvatī
117 X. 1.
118 *Op. cit*, 142.
119 I. 1.3.
120 *ŚBr* I. 1.3.5.
121 *VS* X. 2.
122 *ŚBr* V. 3.4.3-21.
123 Cf. **Eggeling,** *Śatapatha Brāhmaṇa,* III, 78.
124 last *kaṇḍikā* in the passage.
125 III. 7.3 5.
126 III. 7.5.14.
127 I. 24.1-2.
128 *ŚBr* IX. 3.5.9.
129 *Ibid,* IX. 1.2.4: *agnītpariṣiñcati|...ahimsāya aśmano'dhyaśmano hyāpaḥ prabhavanti nikakṣān-ṇikakṣādhyapaḥ prabhavanti...*
130 Fifth *kaṇḍika.*
131 *Kaṇḍikās* 20.22 : *athainam vikarṣati|maṇḍūkenāvakayā vetasaśākhayā...tā haitāstraya āpo yanmaṇḍūko'vakā vetasaśākhā...*
132 *ŚBr* VI. 1.3.1.
133 VII. 5.2.54, Cf. **Eggeling,** *op. cit.*, 416.
134 Cf. **Teape,** *op. cit.*, 208 : According to later scientific view all liquid existence is included under the term *āpaḥ.* That is the meaning of the term in the teaching *Uddālaka* gives to his son (Cf. *Ch. U.* VI).
135 I. 24.1.
136 25.2.
137 I. 3.5. (13)
138 IV. 11 (V. 10.7), *ŚBr* VII. 4.2.49, *JBr* I. 292.
139 VII. 3.2.
140 *ŚBr* VII. 5.2.56-58.
141 *Ibid,* 48.
142 *Ibid* V. 1.2.7.
143 *Ibid* VII. 5.2.46. Cf. *Āgn. G.* I. 5.2 : *vāto gandharvastasyāpo'psarasaḥ.*
144 *JUBr* III. i. 1.11, ii. 5.7.
145 *Kauś. G.* 82.21.
146 *AĀ* I. 3.5 (13).
147 III 150.
148 *Kāṭh. Ś. Jr. of Vedic Studies,* II, 105.12.
149 *Śāṅ. G.* II. 14.13.
150 XI. 3.2.1.
151 *Pār. G.* I. 5.10.
152 *AĀ* II. 1.7.
153 *TĀ,* I. 22.1.
154 *VG* II. 17.
155 *ŚBr* XIV. 2.3-13.
156 *Bau. Pitṛ.* I. 11-13, *Bhār. Pitṛ.* I. 9.12.
157 *TBr* III. 2.5.1.
158 *Bhār. Ś.* II. 4-7, *Bau. Ś.* V. 5-9, Cf. H. **Stietencron** : *Indische Sonnenpriester,* University of Heidelberg.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैनदर्शन में अनेकान्त

✍ महासती श्री कुसुमवती 'सिद्धान्ताचार्या'
[राजस्थान केसरी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज की नेश्राय में चन्दनबाला श्रमणीसंघ की प्रवर्तिनी स्वर्गीया श्री सोहनकुंवर जी महाराज की सुशिष्या]

जैनदर्शन के भव्य प्रासाद के चार मुख्य स्तम्भ हैं, उन्हीं के आधार पर यह महल टिका हुआ है। १. आचार में अहिंसा २. विचारों में अनेकान्त ३. वाणी में स्याद्वाद ४. समाज में अपरिग्रह। यदि इन चारों में से एक की भी कमी हो जाती है तो जैनदर्शन का प्रासाद डगमगाने लगता है। हमें इन चारों की रक्षा करनी चाहिये। आज के युग में जैनदर्शन के अनुयायियों में इसकी कमी देखी जाती है, और यह कमी ही जैनधर्म के ह्रास का कारण है। बुद्धिजीवी जैनदार्शनिकों, अणुव्रतो, महाव्रतियों तथा धर्म श्रद्धालु श्रावकों का ध्यान इस ओर जाना चाहिये कि हम अनेकान्ती हैं, वस्तु स्वरूप के ज्ञाता हैं फिर क्यों परस्पर वैमनस्य भाव रख कर झगड़ते हैं ?

भगवान महावीर ने वस्तु को अनेकधर्मात्मक बतलाया है, उस अनेकधर्मात्मकवस्तु को जानने के लिये 'अनेकान्त दृष्टि' या 'नय दृष्टि' का प्रयोग बतलाया है। क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु का परिज्ञान अनेक दृष्टियों अर्थात् विभिन्न पहलुओं से ही हो सकता है, एक से नहीं। 'अन्त' शब्द का अर्थ धर्म होता है। जिसमें अनेक धर्म पाये जाय, वह अनेकान्त है। इस अनेकान्त विचारधारा को स्याद्वाद भाषा की निर्दोष शैली से अभिव्यक्त किया जाता है। जब यह अनेकान्तवाद स्याद्वाद की गंगा में बहता है तब किनारे के मिथ्यावादों का स्वतः निरसन हो जाता है। यह वाद अपनी अलौकिक नाना नयों की तरंगों से तरंगित होता हुआ अनन्तधर्मात्मक वस्तु का सुस्पष्ट प्रतिपादन करता है जिससे समग्र विरोध उपशान्त हो जाते हैं। इस विरोधमंथन करने वाले अनेकान्त को आचार्य अमृतचन्द्र ने नमस्कार किया है—

परमागमस्य बीजं, निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुर विधानम्।
सकल नय विलसितानां विरोध-मथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

अर्थात्—जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान का निषेधक, समस्त नयों से विलसित वस्तु स्वभाव के विरोध का शामक उत्तम जैन शासक का बीज अनेकान्त सिद्धान्त को मैं (आचार्य अमृतचन्द्र) नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार सम्मति तर्क के कर्ता न्यायावतार के लेखक आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने भी अनेकान्त को नमस्कार किया है—

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वथा न णिव्वइए।
तस्स भुवणेकगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स।—सम्मति तर्क ३/६८

अर्थात्—जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा नहीं चल सकता उस तीन भुवन के एक गुरु अनेकान्तवाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

इससे सिद्ध होता है कि यह अनेकान्तवाद समस्त विरोधों को शान्त करने वाला, लोक-व्यवहार को सुचारु रूप से चलाने वाला और वस्तु स्वरूप का सच्चा परिचायक है। इसके जाने बिना पग-पग, पर विसंवाद खड़े होते हैं, न केवल अन्य वादियों के विरुद्ध ही, अपितु अपने स्वयं के वादों में भी विवाद उपस्थित हो जाते हैं। इसमें कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देह नहीं कि भगवान महावीर के अनुयायियों में भी जो फिरकापरस्ती, लड़ाई-झगड़े खींचतान देखने को मिलती है, वह इस अनेकान्तवाद को न समझने के कारण ही है।

यह अनेकान्त 'अपेक्षावाद' के नाम से भी प्रख्यात है। मुख्य और गौण, विवक्षा या अपेक्षा ही इसका आधार है। वस्तु के एक-अनेक, अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, तत्, अतत्, सत्, असत् आदि धर्म अपेक्षा से ही कहे जा सकते हैं। वक्ता की इच्छा के अनुसार कहे जाते है। ज्ञानी को उसके अभिप्राय को जान कर ही वस्तु को समझने में उपयोग लगाना चाहिये। बिना अपेक्षा के वस्तु का सही स्वरूप नहीं कहा जा सकता और न समझा जा सकता है। आचार्य श्री उमास्वाति ने **अर्पितानर्पितसिद्धेः**" अर्थात्—वक्ता जब एक धर्म का प्रतिपादन करता है तो दूसरा धर्म गौण कर देता है। और जब दूसरे धर्म को कहता है तब अन्य धर्म को गौण कर देता है। यही वस्तु के कथन का क्रम है, और यही समझने का। पंचाध्यायीकर्ता ने लिखा है—

स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च।
तदतच्चेतिचतुष्टय युग्मैरिव गुम्फितं वस्तु॥

अर्थात्—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् तत्, स्यात् अतत्, इस प्रकार चार युगलों की भाँति वस्तु अनेक धर्मात्मक है।

इस प्रकार अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद, कथंचिद् वाद और स्याद्वाद ये सब एकार्थवाची है। **स्यात् का अर्थ कथंचित् अथवा किसी अपेक्षा से है।** स्यात् शब्द व्याकरण के अनुसार अव्यय है, जिसका अर्थ भी अनेकान्त का द्योतक अथवा एकान्त दृष्टि का निषेधक है। इसी की पुष्टि में आचार्य विद्यानन्दी ने कहा है—

"**स्यादिति शब्दोनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो**" अर्थात्—स्यात् शब्द को अनेकान्त का द्योतक समझना चाहिये। स्वामी अकलंकदेव ने भी स्याद्वाद का पर्याय अनेकान्त को ही बताया है। और बतलाया है कि यह अनेकान्त सत्, असत् नित्यानित्यादि सर्वथा एकान्त का प्रतिक्षेप लक्षण है। "**सदसन्नित्यादि सर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः**" अर्थात्—सर्वथा एकान्त का विरोध करने वाला अनेकान्त कथंचित् अर्थ में स्यात् शब्द निपात है—

"**सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तता द्योतकः कथंचिदर्थेस्याच्छब्दो निपातः**"

आचार्य समन्तभद्र ने भी स्याद्वाद का लक्षण अपने (पंचास्तिकाय) देवागम स्तोत्र में कितना सुन्दर किया है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्त त्यागात् किं वृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो, हेयादेयविशेषकः॥

कहने का तात्पर्य यह है कि सभी जैनाचार्यों ने अनेकान्त एवं स्याद्वाद को सर्वथा वाद का खण्डन करने वाला, विधि-निषेध को बताने वाला, हेयोपादेय को समझाने वाला कहा है। जब तक हम इस अनेकान्त को व्यावहारिक नहीं करेंगे और मात्र शास्त्रों की वस्तु ही रखेंगे तब तक कल्याण नहीं हो सकता। जैसे आम की अपेक्षा आंवला छोटा होता है, किन्तु बेर की अपेक्षा बड़ा होता है, उसी प्रकार मनुष्यत्व की अपेक्षा राजा और रंक समान होते हैं, पण्डित और मूर्ख समान होते हैं, किन्तु फिर भी उनमें परस्पर कितना अन्तर होता है, इसे कोई इन्कार नहीं कर सकता। पिता-पुत्रादि के नाते भी अपेक्षाकृत कहे जाते हैं। इस प्रकार यह अनेकान्त अथवा अपेक्षावाद शास्त्रों में ही नहीं, व्यवहारपरक भी सिद्ध होता है। द्रव्य दृष्टि वस्तु के ध्रौव्यरूप का द्योतन कराती है तो पर्याय दृष्टि उसकी उत्पत्ति व विनाश का ज्ञान कराती है। कोई भी वस्तु मूल रूप से सर्वथा नष्ट नहीं होती, उसकी पर्याय ही नष्ट होती है। जैसे कोई स्वर्ण-भूषण है, चाहे उसे कितनी ही बार गला कर बदल लें, बदल जायगा, आज वह कुण्डल है, तो कालान्तर में उसका कटक बनाया जा सकेगा, फिर कभी अन्य आभूषण बन जायेगा परन्तु वह अपने स्वर्णपन से च्युत नहीं होगा। इसी भाँति वस्तु में परिवर्तन पर्यायापेक्षा से होता है। द्रव्यापेक्षा नहीं। आज जो गेहूँ है, वही आटा बन जाता है, फिर वही रोटी, भोजन, मल, खाद आदि नाना पर्यायों को धारण करता है। इतना होने पर भी कोई विरोध नहीं आता। उसी प्रकार अनेकान्त के सहारे वस्तु को समझने में कोई विरोध नहीं आता। आज कोई धनादि के होने से धनाढ्य है, तो कल वही उसके अभाव में रंक गिना जाता है। आज कोई रोग से रोगी है, तो कल वह निरोगी कहलाता है। जीवन और मरण का क्रम भी इसी प्रकार हानोपादान के माध्यम से चलता रहता है। स्याद्वादी अनेकान्तवादी कभी भी दुःखी या मायूस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता, वह वस्तु का परिणमनशीलपना भली-भाँति जानता है। परिणमन के अभाव में वस्तुत्व धर्म समाप्त हो जाता है। जो व्यक्ति इसको नहीं जानता वह दुःखी होता है। संयोग और वियोग का सही स्वरूप जिसे ज्ञात नहीं है, वह अज्ञानी इष्ट वस्तु के संयोग में हर्ष और वियोग में दुःखी होता है। ज्ञाता इससे विपरीत माध्यस्थ भाव धारण करता है, इसी विषय पर स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है—

घट मौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक प्रमोद माध्यस्थ्यं जनोयाति सहेतुकम्॥

अर्थात्—जैसे सोने के कलश को गलाकर मुकुट बनाया गया तो कलशार्थी को दुःख होगा, मुकुट के इच्छुक को प्रसन्नता होगी, किन्तु जो मात्र स्वर्ण ही चाहता है, उसे न हर्ष होगा, न विषाद, वह मध्यस्थ रहेगा।

इसी प्रकार लोक में विभिन्न वाद अपनी-अपनी मान्यता को लेकर उपस्थित होते हैं, कोई शून्यवादी है, तो कोई सदेश्वरवादी है, कोई द्वैतवादी है, तो कोई अद्वैत को मानते हैं। कोई नित्यवादी हैं तो कोई सर्वथा अनित्यवादी हैं, क्षणिकवादी हैं। अनेकान्त का ज्ञाता कभी इनसे विवाद नहीं करता, वह अपने अनेकान्त से वस्तु के असली स्वरूप को समझकर नयी विवक्षा लगाता है, और सभी को स्वीकार करता है कि वस्तु कथंचित नित्य भी है, अनित्य भी है, एक भी है, अनेक भी है, द्वैत भी है, अद्वैत भी है, वह सब दशाओं में 'भी' से काम लेता है, 'ही' से नहीं। वह कभी नहीं कहेगा कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य ही है। एक ही है, अनेक ही है। अतः स्पष्ट है कि अनेकान्तदर्शन समस्त वादों को मिलाकर वस्तु तत्त्व को निखारता है। अनेकान्ती जानता है कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है, न केवल सामान्य है, तो न केवल विशेष, न सर्वथा भाव स्वरूप है, तो न सर्वथा अभाव रूप, स्वामी समन्तभद्र ने इसी तथ्य को अपने युक्त्यनुशासन में कहा है—

व्यतीत-सामान्य-विशेषोवा-द्विश्वाऽखिलापाऽर्थ-विकल्पशून्यम्।
ख पुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वम् प्रबुद्ध-तत्वाद्भवतः परेषाम्॥

अर्थात्—एकान्तवादियों का तत्त्व सामान्य और विशेष भावों से परस्पर निरपेक्ष होने के कारण ख पुष्पवत् असत् है। क्योंकि वह भेद व्यवस्था से शून्य है। तत्त्व न सर्वथा सत् स्वरूप ही प्रतीत होता है, और न असत् स्वरूप ही, परस्पर निरपेक्ष सत्, असत् प्रतीति कोटि में नहीं आता, किन्तु विवक्षावशात् अनेक धर्मों से मिश्रित हुआ तत्त्व ही प्रतीति-योग्य होता है।

कुछ कहते हैं कि जो वस्तु अस्ति रूप है, वह नास्ति रूप कैसे हो सकती है? इसी के साथ उभय रूप, अनुभयरूप, वक्तव्य, अवक्तव्य कैसे हो सकती है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि—उक्त सातों भंग विधि, प्रतिषेध रूप प्रश्न होने पर सही स्थिति में सिद्ध होते हैं। कहा भी है—

"प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी।"

१. स्यादस्ति २. स्यान्नास्ति ३. स्यादस्ति नास्ति ४. स्याद् वक्तव्य, ५. स्यादस्ति अवक्तव्य ६. स्यान्नास्ति अवक्तव्य ७. स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य—ये सातों भंग विधि-प्रतिषेध कल्पना के द्वारा विरोध रहित वस्तु में एकत्र रहते हैं। और प्रश्न करने पर जाने जाते हैं। वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा अस्ति रूप है, तो पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर काल, पर-भाव की अपेक्षा नास्ति रूप है। उक्त सात भंगों में स्यात् शब्द जागरूक प्रहरी बना हुआ है, जो एक धर्म से दूसरे धर्म को मिलने नहीं देता, वह विवक्षित सभी धर्मों के अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा करता है। इस स्यात् का अर्थ शायद या संभावना नहीं है। वक्ता के अभिप्राय के अनुसार एक धर्म प्रमुख होता है, तब दूसरा गौण हो जाता है, इसमें संशय और मिथ्या ज्ञानों की कल्पना भी नहीं है। अन्यमतावलम्बियों ने भी अनेकान्त को स्वीकार किया है, अध्यात्म उपनिषद में भी कहा है—

भिन्नापेक्षायथैकत्र, पितृपुत्रादि कल्पना।
नित्यानित्याद्यनेकान्त स्तथैव न विरोत्स्यते॥

वैशेषिक दर्शन में कहा है—**सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत्।**

इस प्रकार अन्य दर्शनों में भी अनेकान्त की सिद्धि मिलती है। हमको अनेकान्त दृष्टि द्वारा ही वस्तु ग्रहण करना चाहिए। एकान्त दृष्टि वस्तु तत्त्व का ज्ञान कराने में असमर्थ है। अनेकान्त कल्याणकारी है, और यही सर्वधर्म समभाव में कारणरूप सिद्ध हो सकता है॥इति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शनों में आत्मतत्त्व



महासती श्री प्रमोदसुधा 'साहित्यरत्न'
[प्रसिद्ध विदुषी स्वर्गीय महासती उज्ज्वलकुमारीजी महाराज की सुशिष्या]

संसार में नाना प्रकार की वस्तुओं और अगणित अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। वैचित्र्यपूर्ण दृश्यमान समग्र पदार्थों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—चेतन और अचेतन। संसार भर के समस्त दार्शनिक इन्हीं दो तत्त्वों की खोज में आगे बढ़े हैं। यद्यपि दर्शन का मुख्य प्रयोजन आत्मविद्या और आत्मदर्शन माना गया है। आत्मा की परिभाषा के रूप में कहा गया है कि इन्द्रियों से अगोचर वह तत्त्व जिसे 'आत्मा' इस संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। इसी आत्म तत्त्व की मान्यता भारतीय तत्त्वज्ञान की अत्यन्त प्राचीन और मौलिक खोज है, जो प्रायः समस्त वैदिक-अवैदिक दर्शनों में स्वीकार की गई है। यह मान्यता समस्त भारतीय संस्कृति में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सुप्रतिष्ठित पाई जाती है। विश्व के विश्रुत दार्शनिकों ने यह एक मत से स्वीकार किया है कि आत्मदर्शन ही श्रेष्ठ धर्म है। सम्पूर्ण शास्त्र और समस्त विद्याएँ उस परम धर्म के पश्चात् स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं।

हमारे समग्र जीवन चक्र का केन्द्र आत्मा है। यही सृष्टि का सम्राट और शासक है। भारत के समस्त दर्शनों का मुख्य ध्येय-बिन्दु है आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन। आत्म-तत्त्व का स्वरूप जितनी समग्रता के साथ और व्यग्रता के साथ भारतीय दर्शन ने समझाने का महान् प्रयत्न किया है, उतना विश्व के किसी अन्य दर्शन ने नहीं किया। यद्यपि इस सत्य को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि यूनान के दार्शनिकों ने (Philosophers) ने भी आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। तथापि वह उतना स्पष्ट और विशद प्रतिपादन नहीं है जितना भारतीय दर्शनों का। यूरोप का दर्शन आत्मा का दर्शन न होकर केवल प्रकृति का दर्शन है। फिर भी जहाँ तक आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न है, सभी तत्त्वचिन्तकों ने इसे एक मत से स्वीकार किया है, किन्तु उसके स्वरूप, नित्यत्व आदि के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ रही हैं, कोई उसे परमाणु रूप मानता है, कोई विश्वव्यापी स्वरूप। कोई संकोच विस्तार मय प्रदेशों वाला मानता है, तो कोई ईश्वरीय रूप मानता है। कोई नित्य कहता है तो कोई अनित्य बतलाता है। इन विविध दार्शनिक विवेचनाओं में, भाषा भेद, कल्पना भेद आदि होते हुए भी आत्मा के अस्तित्व के प्रति किसी को अस्वीकृति नहीं। इससे प्रमाणित होता है : प्रायः सभी दार्शनिक आत्मतत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

आत्म-अस्तित्व-प्रमाण

आत्मा के अस्तित्व को पाश्चिमात्य दार्शनिक (Western Philosophers) भी स्वीकार करते हैं। विश्व-विख्यात तत्त्ववेत्ता प्लेटो तथा अरस्तु (Aristotle) ने कल्पना की है कि आत्मा एक आध्यात्मिक तत्त्व है। प्लेटो आत्मा की पूर्वसत्ता (Pre-existence) तथा उसकी अमरता को भी मानता है। आत्मा अमर है क्योंकि वह तनिक रूप से बौद्धिक है। बुद्धि उसका ईश्वरीय तथा अमर अंश है। अरस्तु (Aristotle) ने कहा—आत्मा, शरीर का, जो पुद्गल है, उसका आभ्यन्तरिक तत्त्व व रूप है। वह प्लेटो के साथ एक मत है कि आत्मा अशारीरिक, अभौतिक तत्त्व है, जो स्वयं स्थित है।

प्लोटिनस (Plotinus) के मत में आत्मा ईश्वर की पुत्री है। विज्ञान स्वरूप होने से आत्मा नित्य है अतीन्द्रिय है, सुगम और क्रियाशील है। वह विचार कर सकता है, उसको स्व-स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेण्ट थोमस एक्विनस (Saint Thomas Aquinas) के अनुसार आत्मा अमर है। इनका मत है कि सृष्टि का, मानव-आत्मा का, और फरिश्तों का निर्माण परमात्मा ने किया है। मानव-आत्मा अपार्थिव है। देह के विलय होने पर आत्मा कार्यशील रहती है।

आधुनिक विचारक डेकार्ट (Descartes), लॉक (Locke), बर्कले (Berkeley) ने प्लेटो तथा अरस्तु के आत्मतत्त्व के सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया है। डेकार्ट ने आत्मा को एक आध्यात्मिक तत्त्व माना है, जिसका स्वाभाविक गुण, चिन्तन अथवा चेतन है। डेकार्ट का, आत्म-अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला एक प्रसिद्ध सूत्र है—"Cogito ergo sum." I think, therefore I am. मैं सोचता हूँ इसी कारण मेरा अस्तित्व है। लॉक का भी कथन है कि आत्मा एक तत्त्व है, जो अनुभव करता है। वह आत्मा को एक चिन्तनशील तथा पुद्गल को अचिन्तनशील तत्त्व मानता है। बर्कले आत्मा को आध्यात्मिक तत्त्व मानता है, जो विचारों का प्रत्यक्ष करता है, तथा उन पर क्रिया करता है। बर्कले का यह वक्तृत्व इस रहस्य को सूचित करता है कि "आत्मा शब्द से हमारा तात्पर्य उसी तत्त्व से है जो विचार करता है इच्छा तथा प्रत्यक्ष करता है।"

इस आत्मतत्त्व परम्परा (The soul substance theory) की डेविड ह्यूम (David Hume) ने कड़ी आलोचना की। उसका तर्क रहा है कि आत्मतत्त्व के अस्तित्व के लिए कोई सबूत नहीं है। हमें इसका कोई ज्ञान भी नहीं है। हम उसे कभी प्रत्यक्ष भी नहीं कर सकते। यह तथाकथित आध्यात्मिक तत्त्व हमारी पकड़ में नहीं आता। फिर भी आत्मतत्त्व की कल्पना ह्यूम ने मानसिक अवस्थाओं के क्रम रूप में की है। उसका आत्मविषयक प्रत्यय, आत्मा का अनुभवाधारित प्रत्यय (Empirical conception) है जो बौद्धदर्शन की भाषा में आत्म-विज्ञान सन्तान है।

काण्ट ने आत्मविषयक प्राचीन सिद्धान्त की आलोचना की। इनका आत्मविषयक प्रत्यय (The theory of Nominal self) कहलाया है। आध्यात्मिक मत वालों (The Idealistic view) का यह कथन है कि आत्मा एक मूर्त आध्यात्मिक एकता है, जो मानसिक अवस्थाओं में अभिव्यक्त होती है। इसी तरह भौतिकवादी सिद्धान्त वालों (The Materialistic theories) में यूनानी भौतिकवादी डिमोक्राइटस ने कल्पना की कि आत्मा सूक्ष्मतर, स्निग्धतर तथा गोल परमाणुओं से बना हुआ है। प्रो० मेक्समूलर भी आत्मा के अस्तित्व में समर्थन करते हुए कहते हैं कि I am therefore I think. मेरा अस्तित्व है इसीलिए मैं सोचता हूँ। मैकडानल, शॉपन हावर, लौसिंग हर्डर आदि पाश्चिमात्य चिन्तकों ने आत्मा की मौलिकता एवं अविनाशिता को स्वीकार किया है। अमूर्तिक आत्मा विचार का विषय है, वह भौतिक विज्ञान के बाहर की वस्तु है। पाश्चात्य दर्शनों में आत्मा का जो सविस्तार से वर्णन आया है वह मुख्यतः जड़ प्रकृति को समझने के लिये हैं, फिर भी इससे यह स्पष्ट होता है कि उनका आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रहा है।

भारतीय दर्शनों में आत्मा का अस्तित्व—चार्वाक्दर्शन के अतिरिक्त शेष सभी भारतीय दर्शन आत्मा के अस्तित्व के विषय में एक मत है। सभी भारतीय दर्शनों में आत्मतत्व को चेतनामय, ज्ञानमय और अनुभूति मय शक्ति-सम्पन्न स्वीकार किया है। इससे सिद्ध होता है कि भारतीय दर्शन का चिन्तन मूल में एक जैसा ही है। इसका मूल ध्येय भी सत् चित् आनंद की उपलब्धि है।

भारतीय चिन्तकों ने 'आत्मा' को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। चैतन्य आत्मा का ही गुण या स्वरूप माना जाता है। हमारी क्रियायें या चेष्टाएँ सभी आत्मा के अधीन मानी जाती है। ऐसी स्थिति में आत्मतत्व के स्वरूप का क्रमिक विकास हमारे दर्शनों में समन्वय रूप में एकसूत्र में परस्पर सम्बद्ध हमें मिलता है। भारतीयदर्शन क्षेत्र में समुच्चय रूप से यह एक पूर्ण सत्य स्थापित किया गया है कि आत्मा अवश्यमेव है तथा अपरिमित शक्ति-सम्पन्न एवं अचिन्त्य स्वरूप वाले ईश्वर तत्व से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

न्याय और वैशेषिकदर्शन आत्मा तथा ईश्वर को दोनों को पृथक्-पृथक् मानते हैं जबकि वेदान्त सांख्य आदि प्रमुख सम्प्रदाय आत्म तत्व में काल्पनिक भिन्नता बताते हुए दोनों को एक ही तत्व बताते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा की अमरता में विश्वास रखते हैं किन्तु आत्मा को वे कूटस्थ-नित्य और विभू मानते हैं। आत्मा ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता हैं। आत्मा अनंत तथा सर्व विद्यमान है। आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है।

सांख्यदर्शन भी चेतन की सत्ता को स्वीकार करते हैं, उसे नित्य और विभू मानते हैं। इनकी दृष्टि में आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है, यह केवल ज्ञाता ही हैं, भोक्ता तथा क्रियाशील कर्ता नहीं।

मीमांसादर्शन भी आत्मा की अमरता को स्वीकार करता है। वेदान्तदर्शन में आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो अद्वैत की चरम सीमा पर पहुँच गया है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा के विषय में लिखा गया है कि 'आत्मा एक नित्य एवं स्वयं प्रकाश है। वह न ज्ञाता है, न ज्ञेय और न अहं ही है। विशिष्टा द्वैत, वेदान्त, आत्मा केवल चैतन्य ही नहीं, ज्ञाता भी है—

"ज्ञाता अहमर्थं एवात्मा।"

अद्वैत वेदान्त के प्रबल समर्थक शंकराचार्य का मत है—"आत्मा एक अनश्वर सर्वव्यापी सत्-चित् आनंद है। चित् तथा आनंद उसका स्वरूप है। आत्मा ही चरम है तथा ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से परे है। यह दिक्-काल तथा कार्य-कारणत्व के भेद से परे है। यह बौद्धिक ज्ञान से परे शुद्ध चैतन्य है। पंचाध्यायी में भी लिखा है:—

"अहं प्रत्ययवेद्यत्वात् जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।"

प्रत्येक आत्मा में जो अहं प्रत्यय—"मैं" पने का बोध है, वह जीव के पृथक् अस्तित्व को सूचित करता है।

क्षणिकवादी बौद्धदर्शन भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। यद्यपि पश्चात्वर्ती सुप्रसिद्ध दार्शनिक नागार्जुन तथा दिङ्नागादि आत्म-तत्व के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक 'शून्यता' जैसी कल्पना करते हुए पाये जाते हैं। फिर भी प्रच्छन्न रूप से आत्मतत्व की स्वीकारोक्ति उनमें भी परिलक्षित होती है। डेविड ह्यूम (David Hume) की भाँति बौद्ध भी स्थायी आत्मा को नहीं मानते। इस सिद्धान्त का यह अर्थ है कि स्थायी आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। वे आत्मा को मानसिक प्रक्रियाओं का क्रम मात्र अथवा विज्ञान सन्तान मानते हैं।

जैनदर्शन में आत्मतत्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। आत्मतत्व की पूर्ण विकसित अवस्था को ईश्वरत्व माना गया है। इस दर्शन के अनुसार प्रभात्मा, जीवात्मा ज्ञाता है, भोक्ता भी है और कर्ता भी—अर्थात्—वह जानने वाला, सुखानुभव करने वाला और कर्म करने वाला है। प्रत्येक जीव शरीर और आत्मा की संग्रथित रचना है, जिसमें आत्मा क्रियाशील साझीदार एवं शरीर निष्क्रिय भागीदार है। आत्मा के आयाम है। उसके अगुरूलघु गुण को लेकर संकोच और विस्तार रूप भी है। आत्मा जो संख्या में अनंत है, लोकाकाश में अथवा इस पार्थिव जगत में भी देश के असंख्यस्थलों को घेरती है।

आत्मा इन्द्रियों एवं शरीर से सर्वथा भिन्न एक चेतन स्वरूप सत्ता है। आत्मा की स्थिति अपने शरीर की स्थिति के ऊपर निर्भर रहती है। जिस प्रकार एक दीपक चाहे छोटे से छोटे पात्र में रखा जाये, चाहे एक बड़े कमरे में वह सारे स्थान को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार जीव भी भिन्न-भिन्न शरीरों के आकारों के अनुकूल रूप से सिकुड़ता और फैलता है। मुक्त आत्माएँ इन सबसे ऊपर रहती है। वह शुद्ध-बुद्ध बन कर चिरन्तन स्थिति को पा लेती है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा एक अजर अमर अविनाशी तत्व है। आत्मा इनकी दृष्टि में एक स्वतंत्र अस्तित्व वाला द्रव्य है। वह नित्य है, शाश्वत है। आगम साहित्य में आत्म-अस्तित्व के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं—

"अहं अव्वए वि, अहं अवट्ठिए वि

—ज्ञाता सूत्र १।५

मैं (आत्मा) अव्यय=अविनाशी हूँ, अवस्थित=एक रस हूँ। आत्मा ज्ञानमय है। "उवओग एव अहमिक्को" (समयसार ३७) मैं एकमात्र उपयोगमय=ज्ञानमय हूँ। वैसे ही—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणनाणमइयो सदा रूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥

—समयसार ३८

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्म-अस्तित्व के स्वरूप को दिखाते हुए कहा है—आत्मा में चिन्तन की यह शक्ति निहित है, वही द्रष्टा बनकर यह सोचती है—मैं तो शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वरूप सदा काल अमूर्त, एक शुद्ध शाश्वत तत्व हूँ। परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है। इस प्रकार आत्म-अस्तित्व को सूचित करने वाले प्रमाणभूत तत्त्व, यत्र-तत्र-सर्वत्र आगम साहित्य एवं प्रकीर्णक साहित्य में पाये जाते हैं। यह आत्मतत्व की मौलिक विचारधारा जो कि अपने आपमें एक विलक्षण स्वरूपवाली होती हुई परिपूर्ण रूप से सत्यमय एवं श्रद्धेय रूप है। विश्व को यह जैनदर्शन की अपनी, विलक्षण देन सिद्ध होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मस्वरूप-मीमांसा :

आत्मतत्व के निरूपण के पश्चात् आत्मा का स्वरूप क्या है ? इस पर भी भारतीय दार्शनिकों ने कुछ प्रकाश डाला है। पाश्चात्य तत्व चिंतकों ने भी विविध रूप में इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। नवीन बाह्य विषयवादी के अनुसार, आत्मा बाह्य विषय नहीं है, जिस पर स्नायु मंडल प्रतिक्रिया करता है। यह शरीर का स्नायुमंडल और दैहिक प्रयोजन भी नहीं है, यह ज्ञान का विषय है, ज्ञाता नहीं हो सकता। आत्मा प्राण शक्ति जैव क्रियाओं को उत्पन्न करती है। चेतन आत्मा इन क्रियाओं का कारण नहीं है। नव्य विषयवादी (New Realist) के अनुसार आत्मा कर्ता है, जिसके ज्ञान का साधन इन्द्रियाँ तथा स्नायुमंडल है। कारण कर्ता हो नहीं सकता। आत्मा चेतन ज्ञाता है। चेतना और ज्ञान इसका स्वरूप है। ज्ञान शून्य अचेतन आत्मा प्रकृत आत्मा नहीं है। ज्ञान इसका आगन्तुक गुण नहीं है परन्तु इसका स्वरूप है। आत्मा को द्रव्य (Substance) कहना उचित नहीं है। अचेतन पदार्थ (Matter) ही द्रव्य है। आत्मा ज्ञाता (Subject) है। Self consciousness इसका स्वरूप है। एक आत्मा दूसरी आत्मा में विलीन नहीं हो सकती। आत्माएँ पृथक-पृथक् स्वयं स्थित तत्व है। आत्मा में किसी ने अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम, अनन्त शक्ति का होना बताया तो किसी का ध्यान उसकी सीमाहीनता की ओर गया। आत्मा सीमाहीन अनन्त है! आत्मा केवल विज्ञान, सन्तान अथवा क्षणिक मानसिक क्रियाओं का क्रम नहीं है। यह केवल चेतना प्रवाह भी नहीं है। आत्मा में व्यक्तित्व (Personality) तथा आत्म-नियन्त्रण (Self determination) व संकल्प स्वातंत्र्य समाविष्ट है। इस प्रकार पाश्चात्य विचारकों में आत्म-स्वरूप के विषय में काफी चर्चास्पद विवेचन पाया गया है।

भारतवर्ष का एक शाश्वत विचार चला आया है कि आत्मा शुद्ध, बुद्ध निर्मल और निर्विकार स्वरूप है। भगवान् महावीर ने भी कहा है कि प्रत्येक प्राणी में आत्मा की अनन्त शक्तियां, अमित उज्ज्वलता छिपी है। इसी दृष्टि से मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने यह उद्घोष किया 'आत्मानं विद्धि" अपनी आत्मा को पहचानो। इस एक सिद्धान्त में समस्त धार्मिक उपदेश और युग पुरुषों की शिक्षाएँ समाविष्ट हैं। मनुष्य के अपने अन्दर वह आत्मा है जो प्रत्येक वस्तु का केन्द्र है। आत्मा का प्रत्येक कार्य सृजनात्मक कार्य है, जबकि अनात्मा के सभी कार्य वस्तुतः निष्क्रिय होते हैं। संसार में कोई भी आत्मा एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। सभी आत्माएँ समान रूप से अनन्त गुणों की भंडार है। एक आत्मा में जितने गुण हैं, उतने ही और वैसे ही गुण शेष सभी आत्माओं में विद्यमान हैं। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अमरता, सात्विकता आदि सभी गुण प्रत्येक आत्मा के मूल धर्म है। इन गुणों को बाह्य पदार्थों से प्रेरित अथवा जनित नहीं समझना चाहिये। ये वैभाविक नहीं, स्वाभाविक गुण हैं।

भारतीयदर्शन में आत्म-स्वरूप के प्रतिपादन में सबसे अधिक विवादास्पद प्रश्न यह है कि ज्ञान आत्मा का निजगुण है अथवा आगन्तुक गुण ? आत्मा ज्ञान स्वरूप है, ज्ञानमय है इसको भारत का प्रत्येक अध्यात्मवादी दर्शन स्वीकार करता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा का असाधारण गुण स्वीकार करते हैं, परन्तु उनके यहाँ वह आत्मा का स्वाभाविक गुण न होकर आगन्तुक गुण है। उक्त दर्शनों के अनुसार जब तक आत्मा की संसार अवस्था है तब तक ज्ञान आत्मा में रहता है परन्तु मुक्त अवस्था में ज्ञान नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत सांख्य और वेदान्त दर्शन ज्ञान को आत्मा का निजगुण स्वीकार करते हैं। वेदान्तदर्शन में एक दृष्टि से ज्ञान को आत्मा कहा गया है। वेदांत में कहा गया है—"**विज्ञानं ब्रह्म**" विज्ञान ही ब्रह्म है, परमात्मा है। और उसके आगे कहा है "**तत्वमसि**"—तू वह है, अर्थात् तू ही ज्ञान है और तू ही परमात्मा है।

जैनदर्शन में आत्मा के लक्षण और स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म, गम्भीर और व्यापक विचार किया गया है। आत्मा जैनदर्शन का मूल केन्द्र बिन्दु रहा है, जैनदर्शन और जैन संस्कृति का प्रधान सिद्धान्त रहा है—आत्म-स्वरूप का प्रतिपादन और आत्मस्वरूप का विवेचन। जैनदर्शन की भाषा में ज्ञान ही आत्मा है। भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि—

"जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।"

अर्थात्—जो ज्ञाता है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञाता है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। जहां आत्मा का अस्तित्व नहीं, वहाँ ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं। सूर्य और उसके प्रकाश को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता वैसे आत्मा से ज्ञान को पृथक् नहीं किया जा सकता। जहां अग्नि है, वहीं उष्णता है। जहाँ मिश्री है वहाँ मिठास है। जहाँ आत्मा है वहां ज्ञान है। आत्मा और ज्ञान का सम्बन्ध एकपक्षीय नहीं उभय पक्षी है। जहाँ-ज्ञान है वहाँ आत्मा है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और जहां-आत्मा है वहाँ ज्ञान है। ज्ञान कभी आत्मा से अलग नहीं होता। जैनदर्शन के महान् दार्शनिक आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है :—

"आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत्, करोति किम् ?"

—आत्मा साक्षात् ज्ञान है और ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है। ज्ञान और आत्मा दो नहीं, एक ही है। आत्मा की व्याख्या करते हुए जैन मनीषियों ने बताया :—

केवल णाण सहावो केवल दंसण-सहाव सुहमइओ।
केवल सत्तिसहावो सोहं इदि चिन्तए णाणी।'

अर्थात्—आत्मा एकमात्र केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूप है, संसार के सर्व पदार्थ को जानने-देखने वाला है। वह स्वभावतः अनन्त शक्ति का धारक और अनन्त सुखमय है। आचार्य कुन्द-कुन्द के अध्यात्म ग्रन्थ तो प्रधानतया आत्म स्वरूप का ही प्रतिपादन करते है। तर्क युग के आचार्य भी तर्कों के विकट वन में रहते हुए भी आत्मा को भूले नहीं। इस प्रकार जैनदर्शन ने अपनी संपूर्ण शक्ति आत्मस्वरूप के प्रतिपादन में लगादी है।

आत्मा को देखने का प्रयत्न करते हुए ऋषियों ने, चिन्तकों ने, दार्शनिकों ने, तत्ववेत्ताओं ने अपने-अपने, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न समय में, उपासना के द्वारा चिन्तन-मनन के द्वारा, अपने-अपने अनुभवों को शब्द शृंखलाओं में आबद्ध किया। आत्मा तथा उसके गुणों के क्रमिक विकास के अनुसार क्रमबद्ध एक शृंखला में गोपुच्छाकार, सूत्रबद्ध जपमाला के समान उन विकसित रूपों को गूंथकर दार्शनिक ग्रन्थों के रूप में रखने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार सभी दर्शनों में जड़ और चेतन या ब्रह्म और माया को स्वीकार किया गया है। अनेक कथनों में उसके स्वरूप की भिन्नता भले ही हो, परन्तु आत्मा के अस्तित्व पर सन्देह नहीं किया जा सकता। अन्ततः निष्कर्ष स्वरूप में कहा जा सकता है कि आत्मा ज्ञानमय है भगवद्गीता की भाषा में अविनाशी, स्वभावतः ऊर्ध्वगामी और जड़ तत्व से भिन्न है। जड़ तत्व से भिन्नता के रूप में किसी न किसी रूप में वैज्ञानिकों ने भी विचार किया है। वस्तुतः वह चेतना अन्य कुछ भी नहीं, बल्कि आत्मा ही है। क्योंकि 'मैं' हूँ इस अस्तित्व का बोध अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

✡

पुष्कर वाणी

शिशु का हँसना शिशु का रोना, हँसने का माध्यम बनता।
शिशु के साथ खेलने का कुछ, रंग अनोखा ही छनता॥
अधिक न सोता, अधिक न रोता, होता अधिक उदास नहीं।
अधिक मोह करने का मानो, शिशु को पूर्वाभ्यास नहीं॥
शैशव का सौन्दर्य साहजिक, आवश्यक शृंगार नहीं।
शिशु के मन पर तन पर अंकित कोई पाप विकार नहीं॥
शिशुमय प्रभु हैं, प्रभुमय शिशु है, कृतियाँ भिन्न भावना एक।
शिशु को देख, देख या प्रभु को, इन दोनों के रूप अनेक॥
कुछ सुनकर कुछ देखभालकर, शिशु मन करता ग्रहण तुरंत।
आगे जाकर उसी ज्ञान का, हो जाता विस्तार अनन्त॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन और विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में पुद्गल : एक विश्लेषणात्मक विवेचन

✡ राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी

'पुद्गल' शब्द दार्शनिक चिन्तन के लिये अनजाना नहीं है। न्याय-वैशेषिक दर्शन जिसे भौतिक तत्व और सांख्य प्रकृति नाम से कहते हैं, उसे जैनदर्शन में पुद्गल संज्ञा दी है। बौद्धदर्शन में पुद्गलशब्द का प्रयोग आलय-विज्ञान, चेतना-संतति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैनागमों में भी उपचार से पुद्गल युक्त (शरीरयुक्त) आत्मा को पुद्गल कहा गया है। परन्तु सामान्यतया प्रमुखता से पुद्गल शब्द का प्रयोग अजीव मूर्तिक द्रव्य के लिये हुआ है। विज्ञान के क्षेत्र में भी पुद्गल मैटर (Matter) और इनर्जी (Energy) शब्दों द्वारा जाना समझा जाता है। विज्ञान के समग्र विकास, संशोधन आदि का आधार पुद्गल ही है। परमाणु के रूप में जो पुद्गल का ही भेद है, तो पुद्गल ने आज समस्त विश्व मानस पर अपना अधिकार जमा लिया है। परमाणु की प्रगति ने तो विश्व को उसकी शक्ति, सामर्थ्य आदि से परिचित होने के लिये जिज्ञासाशील बना दिया।

दर्शन के क्षेत्र में पुद्गल के विषय में क्या, कैसा, चिन्तनमनन और निर्णय किया गया एवं विज्ञान के क्षेत्र में पुद्गल परमाणु के रूप में कब आया, उसका आविष्कर्ता कौन था और अब तक विकास के कितने सोपानों को पार कर किस मंजिल तक पहुँच सका है ? आदि इन दोनों पक्षों को एक साथ यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

दर्शन पक्ष

पाश्चात्य जगत की यह धारणा रही है कि पुद्गल परमाणु सम्बन्धी पहली बात डेमोक्रेट्स (ई० पू० ४६०-३७०) नामक वैज्ञानिक ने कही थी। लेकिन पौर्वात्य दर्शनों और उनमें भी भारतीय दर्शनों का अवलोकन करें तो भारतवर्ष में परमाणु का इतिहास इससे भी सैकड़ों वर्ष पूर्व का मिलता है। चिन्तन और मनन की दृष्टि से काल गणना का निर्णय किया जाये तो उसे सुदूर प्रागैतिहासिक काल में भी आगे तक मानना पड़ेगा। वैशेषिक दर्शन में परमाणु का उल्लेख अवश्य है, लेकिन वह नहीं जैसा है, उसमें क्रमबद्ध विचार प्रणाली का अभाव है, लेकिन जैनदर्शन में पुद्गल और परमाणु के विषय में सुव्यवस्थित विवेचन किया गया है।

जैनधर्म और दर्शन की प्रागैतिहासिक प्राचीनता स्वयं सिद्ध है और अब ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह सर्वानुमोदित हो चुका है कि जैनधर्म वैदिक और बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है। इस प्रकार परमाणु का अस्तित्व जैनदर्शन के साथ बहुत प्राचीन सिद्ध हो जाता है। फिर भी हम वर्तमान जैनदर्शन का सम्बन्ध तीर्थंकर महावीर से मानें तो उनका काल ई० पू० ५९८ से लेकर ५२६ तक का है जो डेमोक्रेटस् से कुछ अधिक सौ वर्ष पूर्वकालिक है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि पाश्चात्य जगत में डेमोक्रेट्स ने परमाणु शब्द का प्रयोग किया है लेकिन वह उसका आविष्कर्ता नहीं था।

पुद्गल का अर्थ

'पुद्गल' जैन पारिभाषिक शब्द है। बौद्धदर्शन में अवश्य पुद्गल शब्द का प्रयोग हुआ है लेकिन उसका नितान्त भिन्न अर्थ में प्रयोग होने से विज्ञान सम्मत पदार्थ (Matter) के आशय से मेल नहीं खाता है। जबकि जैन-दर्शन का पुद्गल शब्द विज्ञान के पदार्थ का पर्यायवाची है। तथा पारिभाषित होते हुए रूढ़ नहीं किन्तु व्युत्पत्तिक है—**पूरणात् पुत् गलयतीति गलपूरण—गलनान्वर्थ संज्ञत्वात् पुद्गलाः**—अर्थात् पूर्ण स्वभाव से पुत् और गलन स्वभाव से गल इन दो अवयवों के मेल से पुद्गल शब्द बना है, यानी पूरण और गलन को प्राप्त होने से पुद्गल अन्वर्थ संज्ञक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो वस्तु दूसरी वस्तु (द्रव्य या पर्याय) से मिलती रहे, मिले और गले, पृथक् हो इस प्रकार के गलन-मिलन स्वभाव वाली वस्तु को पुद्गल कहते हैं।

गलन और मिलन स्वभाव को इस प्रकार समझा जा सकता है कि बड़े स्कन्धों में से कितने ही परमाणु दूर होते हैं और कितने ही नवीन परमाणु जुड़ते हैं, मिलते हैं, जबकि परमाणु में से कितनी ही वर्णादि पर्यायें विलग हो जाती हैं, हट जाती हैं और कितनी ही आकर मिल जाती हैं। इसीलिए सभी स्कन्धों और परमाणुओं को पुद्गल कहते हैं और उनके लिये पुद्गल कहना सार्थक, अन्वर्थक है।

जैनागमों में पुद्गल की स्वरूपात्मक व्याख्या करते हुए बताया है कि भाव की अपेक्षा पुद्गल वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श वाला है। वह पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श वाला होता है। द्रव्य की अपेक्षा पुद्गल अनन्त है, क्षेत्र की अपेक्षा लोक प्रमाण है। काल की अपेक्षा कभी नहीं था, नहीं है, नहीं रहेगा, ऐसा नहीं है, किन्तु सदैव उसका अस्तित्व है। अतीत अनन्तकाल में था, वर्तमान काल में है और अनागत अनन्तकाल में रहेगा। वह ध्रुव, नियत, शाश्वत अक्षय, अव्यय, अवस्थित तथा नित्य है। गुण की अपेक्षा ग्रहण गुण वाला है। जीव द्वारा पुद्गल का ग्रहण होता भी है, वर्णादि वाला होने से स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों का विषय ज्ञेय है।

पुद्गल के भेद

पुद्गल द्रव्य के अपेक्षानुसार भेद किये गये हैं। जैसे, पुद्गल के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। स्वभाव पुद्गल और विभाव पुद्गल, यह दो भेद भी पुद्गल द्रव्य के किये गये है तथा चार भेद भी हैं—(१) स्कन्ध, (२) स्कन्ध देश, (३) स्कन्ध प्रदेश, (४) परमाणु।

स्कन्ध— दो से लेकर यावत् अनन्त परमाणुओं का एक पिंड रूप होना स्कन्ध है। कम से कम दो परमाणुओं का स्कन्ध होता है जो द्विप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है और कभी-कभी अनन्त परमाणुओं के स्वाभाविक मिलन से एक लोकव्यापी महास्कन्ध भी बन जाता है। इस महास्कन्ध की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य सर्वगत है और शेष पुद्गलों की अपेक्षा असर्वगत है।

स्कन्ध देश—स्कन्ध एक इकाई है। उस इकाई का बुद्धिकल्पित एक भाग स्कन्ध देश है। अथवा स्कन्ध के आधे भाग को स्कन्ध देश कहते हैं।

स्कन्ध प्रदेश—जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक स्कन्ध की मूल भित्ति परमाणु है। जब तक यह परमाणु स्कन्धगत है, तब तक वह स्कन्धप्रदेश कहलाता है। अथवा पूर्वोक्त आधे भाग के भी आधे भाग को स्कन्धप्रदेश कह सकते हैं।

परमाणु—स्कन्ध का वह भाग, जो विभाजित हो ही नहीं सकता है, उसे परमाणु कहते हैं। जब तक वह स्कन्धगत है, तब तक वह स्कन्धप्रदेश कहलाता है और अपनी पृथक् अवस्था में परमाणु।

परमाणु के स्वरूप को शास्त्रकारों ने विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है। जैसे कि परमाणु पुद्गल अविभाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य व अग्राह्य है। किसी भी उपाय, उपचार या उपाधि से उसका भाग नहीं हो सकता है। परमाणु पुद्गल अनर्ध है, अमध्य है, अप्रदेशी है, सार्ध नहीं है, समध्य नहीं है। परमाणु की न लम्बाई है, न चौड़ाई है, न गहराई है, यदि वह है तो स्वयं एक इकाई रूप है। सूक्ष्मता के कारण वह स्वयं ही आदि मध्य और अन्त है।

प्रथम अणु और स्कन्ध यह जो दो भेद बताये गये हैं उनमें और स्कन्ध आदि इन चार भेदों में संक्षेप और विस्तार की अपेक्षा अन्तर अवश्य है, लेकिन मूल लाक्षणिक भेद नहीं है। स्कन्ध के अतिरिक्त स्कन्ध देश और स्कन्ध प्रदेश यह स्कन्ध के दो अवान्तर भेद कर लेने से पुद्गल द्रव्य के चार भेद होते हैं।

सूक्ष्मता और स्थूलता को लेकर दूसरे प्रकार से पुद्गल द्रव्य के निम्नलिखित छह भेद भी हैं—

(१) स्थूलस्थूल (२) स्थूल, (३) स्थूलसूक्ष्म, (४) सूक्ष्मस्थूल, (५) सूक्ष्म, (६) सूक्ष्मसूक्ष्म।

स्थूल स्थूल—जिस पुद्गल स्कन्ध का छेदन, भेदन तथा अन्यत्र वहन सामान्य रूप से हो सके। जैसे—भूमि, पत्थर, पर्वत आदि।

स्थूल—जिस पुद्गल स्कन्ध का छेदन भेदन, न हो सके किन्तु अन्यत्र वहन हो सके। जैसे—घी, तेल, पानी आदि।

स्थूल सूक्ष्म—जिस पुद्गल स्कन्ध का छेदन, भेदन, अन्यत्र वहन कुछ भी न हो सके। जैसे—छाया, आतप आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्म स्थूल—वे इन्द्रिय को छोड़कर शेष स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गल स्कंध। जैसे वायु तथा अन्य प्रकार की गैसें।

सूक्ष्म—वे सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध जो अतीन्द्रिय हैं। जैसे मनोवर्गणा, भाषावर्गणा, कायवर्गणा आदि।

सूक्ष्म सूक्ष्म—ऐसे पुद्गल स्कन्ध जो भाषावर्गणा, मनोवर्गणा के स्कन्धों से भी सूक्ष्म है जैसे द्वि प्रदेशी स्कन्ध आदि।

यह छह भेद भी स्कन्ध पुद्गल की अपेक्षा से होते हैं। परमाणु पुद्गल के भेद नहीं होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण पूर्व में परमाणु के लक्षण में किया जा चुका है।

जीव और पुद्गल की पारस्परिक परिणति और स्वयं पुद्गल के स्वभाव की अपेक्षा उसके तीन भेद भी हैं—

प्रयोग परिणत—ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा ग्रहण किये गये हों। जैसे इन्द्रिय, शरीर आदि।

मिश्रपरिणत—जो पुद्गल जीव द्वारा परिणत होकर पुनः मुक्त हो चुके हों। जैसे कटे हुए नख, केश, मल, मूत्र आदि।

विस्रसा परिणत—ऐसे पुद्गल जो जीव की सहायता के बिना स्वयं स्वभावतः परिणत है। जैसे बादल, इन्द्रधनुष आदि।

जैनदर्शन में पुद्गल के पूर्वोक्त भेद प्रभेदों के अतिरिक्त कुछ और भी भेद-प्रभेद (पर्याय) माने गये हैं जैसे—शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत आदि। इनमें से कुछ ऐसे पर्याय हैं जिन्हें प्राचीन काल के अन्य दार्शनिक पुद्गल रूप में स्वीकार नहीं करते थे, किन्तु अब उनमें से बहुतों को आधुनिक विज्ञान ने पुद्गल रूप में स्वीकार कर लिया है। वे हैं—शब्द, अन्धकार, छाया, आतप उद्योत आदि।

शब्द—अन्य दार्शनिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है। लेकिन जैनदर्शन की मान्यतानुसार लोक व्यापी समस्त पुद्गल द्रव्य की तेईस प्रकार की वर्गणाओं (समान जातीय वर्गों) में से एक भाषा वर्गणा है। उसके भिद्यमान अणुओं के ध्वनि रूप परिणाम को शब्द कहते हैं। यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने से मूर्त और पौद्गलिक है। इसके दो भेद हैं—भाषा रूप और अभाषा रूप। अभाषात्मक दो प्रकार के हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक शब्द तत, वितत, घन, सुषिर के भेद से चार प्रकार का है। तत, वितत, घन, सुषिर, घोष और भाषा के भेद से शब्द छह प्रकार का है। भाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं—साक्षर और अनक्षर। अथवा आमन्त्रिणी, आज्ञापनी आदि के भेद से भाषात्मक शब्द के अनेक भेद किये जा सकते हैं। इन सब भेदों में सामान्य से समझने के लिये शब्द के दो मुख्य भेद हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रयोग पूर्वक उत्पद्यमान ध्वनि प्रायोगिक और मेघादि जन्य स्वाभाविक ध्वनि वैस्रसिक शब्द कहलाते हैं। प्रायोगिक शब्द भाषात्मक और अभाषात्मक हैं। अर्थ प्रतिपादक ध्वनि भाषात्मक और जिस ध्वनि से अर्थ प्रतिपादक भाषा की अभिव्यक्ति न हो वह अभाषात्मक शब्द है। तत (नगाड़े आदि की ध्वनि) वितत (वीणा आदि जन्य ध्वनि) घन (घण्टा आदि की ध्वनि) और सुषिर (बाँसुरी, शंख जन्य ध्वनि) के भेद से वह चार प्रकार का है।

अन्धकार-प्रकाश आदि—कृष्ण वर्ण बहुल पुद्गलों का परिणाम अन्धकार है। सूर्य, दीपक आदि के उष्ण प्रकाश को आतप कहते हैं। प्रतिबिम्ब रूप पुद्गल परिणाम छाया है और चन्द्र मणि आदि का अनुष्ण प्रकाश उद्योत कहलाता है।

पुद्गलों के सामान्य और विशेष गुण

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, मूर्तत्व और अचेतनत्व ये छह पुद्गल द्रव्य के विशेष गुण हैं। यद्यपि अचेतन रूप गुण अन्य धर्म अधर्म आदि अजीव द्रव्यों में भी पाया जाता है लेकिन यहाँ जीव (सचेतन) से पृथक् अस्तित्व बताने के लिए अचेतन तत्व को पुद्गल द्रव्य के विशेष गुणों में ग्रहण किया गया है। इनके अतिरिक्त अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व आदि अनेक सामान्य गुण हैं। इन सामान्य गुणों की संख्या इक्कीस है।

पुद्गलों के संस्थान

आकृति को संस्थान कहते हैं। संस्थान दो प्रकार का होता है—इत्थंस्थ और अनित्थंस्थ। नियत आकार वाले को इत्थंस्थ और अनियत आकार वाले को अनित्थंस्थ संस्थान कहते हैं। त्रिकोण, चतुष्कोण, आयतन, परिमंडल आदि नियत आकार इत्थंस्थ संस्थान हैं और बादल आदि की अनियताकार आकृतियाँ अनित्थंस्थ संस्थान हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल के गुण

पुद्गल के गुणों का सामान्यतः पूर्व में संकेत किया है और उसके लाक्षणिक पारिभाषिक स्वरूप की भी रूपरेखा बतायी जा चुकी है। इन्हीं दोनों बातों का और अधिक स्पष्टतापूर्वक विवेचन करते हुए भगवतीसूत्र में बताया है कि पुद्गल पाँच वर्ण (कृष्ण, नील, पीत, लोहित और शुक्ल), दो गंध (सुगंध और दुर्गंध) पांच रस (तिक्त, कटु अम्ल, कषाय और मधुर) और आठ स्पर्श (मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और सूक्ष्म) से युक्त होता है। ये पाँच वर्ण आदि किसी भी स्थूल स्कंध में मिलेंगे किन्तु परमाणु में तो एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। स्पर्शों की अपेक्षा स्कंधों के दो भेद हो जाते हैं—चतुर्स्पर्शी स्कंध और अष्टस्पर्शी स्कंध। सूक्ष्म से सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध चतुर्स्पर्शी स्कन्ध वाला है। चतुर्स्पर्शी स्कन्ध में आठ स्पर्शों में से शीत, उष्ण, स्निग्ध सूक्ष्म ये चार स्पर्श मिलेंगे और परमाणु में उक्त चारों में से कोई दो स्पर्श होंगे। कोई परमाणु शीत या उष्ण होगा, स्निग्ध या सूक्ष्म होगा। मृदु कठिन, गुरु, लघु इन चार स्पर्शों में से कोई भी स्पर्श अकेले परमाणु में प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि ये चार स्पर्श मौलिक न होकर संयोगज हैं। जैन दार्शनिकों ने गुरुत्व और लघुत्व (भारीपन और हल्कापन) को मौलिक स्वभाव नहीं माना है किन्तु वे तो विभिन्न परमाणुओं के संयोगज-वियोगज परिणाम है। यदि स्कन्ध स्थूलत्व से सूक्ष्मत्व की ओर अवरोहण करते हैं तब उनमें लघुत्व और सूक्ष्मत्व से स्थूलत्व की ओर आरोहण करने पर गुरुत्व योग्यता उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए पुद्गल को गुरु-लघु और अगुरु-लघु कहा गया है। कोई पुद्गल गुरुलघु है और कोई अगुरुलघु।

पुद्गल पुद्गलत्व की अपेक्षा अनादि पारिणामिक भाव है, सादि पारिणामिक भाव नहीं है। द्रव्य की अपेक्षा सप्रदेशी पुद्गल भी होते हैं और अप्रदेशी पुद्गल भी। परमाणु पुद्गल अप्रदेशी पुद्गल है और द्विप्रदेशी स्कंध से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कंध पुद्गल सप्रदेशी है। इसी दृष्टि से जैनदर्शन में पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश कहे गये हैं।

द्रव्य की तरह क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सप्रदेशी भी होता है और अप्रदेशी भी। क्षेत्र की अपेक्षा सप्रदेशित्व अप्रदेशित्व इस प्रकार समझना चाहिए कि एक आकाश प्रदेश को अवगाहन करने वाला होने से अप्रदेशी एवं अनेक आकाश प्रदेशों को अवगाहन करने वाला होने से सप्रदेशी है। काल की अपेक्षा एक समय की स्थिति वाला होने से अप्रदेशी और अनेक समय की स्थिति वाला होने से सप्रदेशी है। यह स्थिति परमाणुत्व तथा स्कन्धत्व की अपेक्षा भी, अवगाहन तथा क्षेत्रान्तर की अपेक्षा भी और भाव गुणों की अपेक्षा भी हो सकती है। भाव की अपेक्षा एक गुण वाला होने से अप्रदेशी और अनेक अंश गुण वाला भी होने से सप्रदेशी है। जैसे कि कोई पुद्गल एक अंश काला वर्णगुण वाला भी होता है और अनेक अंश कालावर्ण गुण वाला भी होता है।

पुद्गल विभाजन के प्रकार

पुद्गल द्रव्य का विभाजन पाँच प्रकार का होता है—उत्कट, चूर्ण, खंड अतर और अनुतटिका।

उत्कट—मूंग की फली का टूटना।
चूर्ण—गेहूँ आदि का आटा।
खंड—पत्थर के टुकड़े।
अतर—अभ्रक के दल।
अनुतटिका—तालाब की दरारें।

पुद्गल के बंध के भेद

विभिन्न परमाणुओं के संश्लिष्ट होने, मिलने, चिपकने, जुड़ने को बंध कहते हैं। इस बंध के प्रमुख दो भेद हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक बंध जीवप्रयत्न प्रयोग जन्य होता है और वह सादि है तथा वैस्रसिक बंध में व्यक्ति के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती है, वह सहज स्वभावजन्य है। इसके दो प्रकार हैं—सादि वैस्रसिक और अनादि वैस्रसिक। सादि वैस्रसिक बंध वह है जो बनता है बिगड़ता है और उसके बनने बिगड़ने में किसी व्यक्ति के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती है। जैसे बादलों में चमकने वाली बिजली, उल्का, मेघ, इन्द्रधनुष आदि। अनादि वैस्रसिक बंध तद्गत स्वभावजन्य है।

स्कंध निर्माण की प्रक्रिया

जब प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र इकाई है तब वे परस्पर मिलकर महाकाय स्कन्धों के रूप में कैसे परिणत हो जाते हैं? यह एक विचारणीय स्थिति है। परमाणु रूप स्वतन्त्र इकाई अपना अस्तित्व कैसे विलीन कर देती है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलीन करने का कारण क्या है ? परमाणु के निर्माण में कोई रुकावट नहीं है, क्योंकि स्कन्ध के छिन्न-भिन्न होने से उसके खंड-खंड होते जाने से परमाणु का निर्माण होता है। यह बात आज के वैज्ञानिक प्रयोगों से स्पष्ट हो चुकी है। लेकिन स्कंध निर्माण की प्रक्रिया में अन्तर है। प्रायोगिक बंधजन्य स्कन्ध निर्माण की प्रक्रिया के लिए यह एक सामान्य बात है कि मकान आदि बनाते समय ईंटों को परस्पर जोड़ने के लिए चूना, सीमेण्ट आदि संयोजक द्रव्य का उपयोग होता है। परन्तु गलन-मिलन रूप वैस्रसिक प्रक्रिया के कारण अनन्त ब्रह्माण्ड में स्कंधों का संघटन और विघटन प्रतिक्षण स्वतः भी होता रहता है। जैसे निरभ्र आकाश थोड़े से समय में बादलों से भर जाता है, वहाँ बादल रूप स्कन्धों का जमघट लग जाता है और कुछ ही क्षणों में वह बादल बिखरता भी देखा जाता है। इस प्रकार के स्वाभाविक स्कंधों के निर्माण का क्या हेतु है ? हमारे हाथों में जो पौद्गलिक वस्तु आती है और जो दृश्यमान महल, मकान आदि हैं वे सब तो परमाणुओं के समवायी परिणाम हैं। उनमे संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणु हैं।

जैनदर्शन में स्कंध निर्माण की एक समुचित रासायनिक प्रक्रिया बतलाई है। जो प्रायोगिक बंध की प्रक्रिया से भिन्न नहीं है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—

पूर्व में यह संकेत किया गया है कि प्रत्येक परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस तथा स्निग्ध-रूक्ष में से एक तथा शीत-उष्ण में से एक इस प्रकार कुल दो स्पर्श होते हैं। एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ जो स्कंधजनक संयोग करता है, उसमें परमाणुगत वर्ण, गंध रस तथा शीत या उष्ण स्पर्श का उपयोग नहीं होता है, किन्तु जो स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श हैं उन्हीं का उपयोग होता है। जैसे कि निरभ्र आकाश में एकाएक बादलों के स्कंधों के छा जाने में नितान्त शान्त वातावरण में आंधी तूफान के रूप में वायु के स्कंधों के भर जाने में और थोड़ी ही देर में उन सबके बिखर जाने में कोई मनुष्य, देव या ईश्वर कारण नहीं है और न यह उन सबके द्वारा कृत है। किन्तु पौद्गलिक परमाणुगत स्निग्ध-रूक्ष स्पर्शों का स्वाभाविक संयोग और वियोग कारण है। इसीलिये इस स्कंध निर्माण की प्रक्रिया में स्निग्ध-रूक्ष स्पर्शों को मुख्य माना गया है। वर्ण आदि के जैसे गुणात्मक तारतम्य के अनन्त प्रकार (Degree) होते हैं, वैसे ही ये स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श भी एक गुण से लेकर अनन्त गुण प्रकार के हो सकते हैं।

स्कन्धों की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—संघात, भेद और भेद-संघात। कोई स्कंध संघात, एकत्व परिणति, मिलने से उत्पन्न होता है। कोई भेद से और कोई एक साथ भेद-संघात दोनों के निमित्त से होता है। जब पृथक्-पृथक् स्थित दो परमाणुओं के मिलने पर द्वि-प्रदेशी स्कंध होता है तब वह संघातजन्य कहलाता है। इसी प्रकार तीन, चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त यावत् अनन्तानन्त परमाणुओं के मिलने से जो द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि अनन्तानन्त प्रदेशी स्कंध बनते हैं वे सब संघातजन्य हैं। किसी बड़े स्कंध के टूटने से जो छोटे-छोटे स्कंध बनते हैं, वे भेदजन्य हैं। ये भी द्विप्रदेशी से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी तक हो सकते हैं। जब किसी एक स्कन्ध के टूटने पर उसके अवयव के साथ उसी समय दूसरे किसी द्रव्य के मिलने से जो नया स्कंध बनता है तब वह नवीन स्कंध भेदसंघातजन्य है। ऐसे स्कंध भी द्वि-प्रदेशी से लेकर अनन्तानन्त प्रदेश वाले हो सकते हैं। इन सबके निर्माण में स्निग्धत्व और रूक्षत्व कारण है।

स्कन्ध निर्माण की उक्त सामान्य प्रक्रिया है। किन्तु अचाक्षुष स्कन्ध के चाक्षुष होने में भेद और संघात ये दो ही हेतु हैं। अर्थात् सभी अतीन्द्रियक स्कन्धों के ऐन्द्रियक (इन्द्रिय ग्राह्य) बनने में भेद और संघात ये दो ही हेतु अपेक्षित हैं। क्योंकि जब किसी स्कन्ध में सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्ति होकर स्थूलत्व परिणाम पैदा होता है तब कुछ नये परमाणु उसमें अवश्य मिलते हैं और इसी मिलने के साथ कुछ परमाणु उस स्कन्ध में से अलग भी हो जाते हैं। सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्तिपूर्वक स्थूलत्व परिणाम की उत्पत्ति न केवल संघात परमाणुओं से होती है और न भेद परमाणुओं के पृथक् होने मात्र से होती है और स्थूलत्व रूप परिणाम के अलावा कोई स्कन्ध चाक्षुष नहीं हो सकता है। इसीलिए चाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति भेद और संघात दोनों से बताई है।

स्कन्ध निर्माण में कौनसा परमाणु किस परमाणु के साथ संयोग कर सकता है ? इसके लिए जैनदर्शन में कुछ नियम निर्धारित हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं के श्लेष (मिलन) से स्कन्ध बनते हैं। यह श्लेष दो प्रकार का हो सकता है—सदृश और विसदृश। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ श्लेष होना सदृश श्लेष है और स्निग्ध का रूक्ष से श्लेष विसदृश श्लेष है। इसमें स्निग्ध परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ मेल होने पर स्कन्ध का निर्माण अवश्य हो सकता है, लेकिन उसके लिए शर्त यह है कि उन दोनों परमाणुओं की स्निग्धता में कम से कम दो अंशों से अधिक अन्तर हो। इसी तरह रूक्षता के लिए भी समझना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. रूक्ष परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ मेल होने से स्कन्ध का निर्माण होता है, बशर्ते कि उन दोनों परमाणुओं की स्निग्धता-रूक्षता में कम से कम दो अंशों से अधिक अन्तर हो।

३. स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं के मिलन से स्कन्ध निर्माण होता ही है, चाहे फिर वे विषम अंश वाले हों या सम अंश वाले अर्थात् एक परमाणु में स्निग्धता है और दूसरे में रूक्षता, तो ऐसे दो परमाणुओं का संयोग अवश्य होता है। चाहे फिर उन दोनों के समान गुण हों या विषम गुण हों। दो गुण स्निग्धता और दो गुण रूक्षता वाले परमाणुओं का भी स्कन्ध बनता है और एक गुण स्निग्धता तथा दो-तीन या उससे अधिक गुण रूक्षता वाले परमाणुओं का भी स्कन्ध बनता है।

उक्त नियमों में अपवाद केवल इतना ही है कि एक गुण स्निग्धता और एक गुण रूक्षता नहीं होना चाहिए। अर्थात् जघन्य गुण वाले परमाणु का कभी बंध नहीं होता है।

किसी भी स्कन्ध निर्माण की प्रक्रिया में उक्त नियम लागू पड़ते हों, तो वहाँ उन परमाणुओं के स्कन्ध बनते ही हैं। इस प्रकार दो, तीन, चार यावत असंख्य, अनन्त परमाणुओं का भी एक स्कन्ध बन सकता है। लेकिन ऐसा कोई नियम नहीं है कि परमाणुओं से बने स्कन्ध में विद्यमान रूक्षता और स्निग्धता के अंशों में परिवर्तन न हो तब तक उस स्कन्ध में संयोजित परमाणु उस स्कन्ध से अलग नहीं हो। क्योंकि स्कन्ध से परमाणु के पृथक् होने का यही एकमात्र कारण नहीं है। अन्य दूसरे भी कारण हैं। उनमें से कोई भी कारण उपस्थित हो जाये तो परमाणु उस स्कन्ध से अलग हो सकता है। वे कारण इस प्रकार हैं—

१. कोई भी स्कन्ध अधिक से अधिक असंख्य काल तक रह सकता है। अर्थात् उतने काल के पूर्ण होने पर परमाणु स्कन्ध से अलग हो सकता है।

२. अन्य द्रव्य का विघटन होने पर भी स्कन्ध का विघटन होता है।

३. बंध योग्य स्निग्धता और रूक्षता के गुणों में परिवर्तन आने से भी स्कन्ध का विघटन होता है।

४. स्कन्ध में स्वाभाविक रीति से उत्पन्न होने वाली गति से भी स्कन्ध का विघटन होता है।

स्कन्ध निर्माण व विघटन की उक्त प्रक्रिया का संक्षेप में निष्कर्ष यह है कि विघटन होना भी पुद्गल का स्वभाव है। अतः स्कन्धगत परमाणु पृथक् भी होते रहते हैं लेकिन संश्लिष्ट होने के बारे में नियम हैं कि जघन्य गुणांशों वाले परमाणुओं का न तो सदृश और न विसदृश संश्लेष होता है। किन्तु जघन्य—एकाधिक जघन्येतर—समजघन्येतर, जघन्येतर—एकाधिकजघन्येतर गुणांशों वाले परमाणुओं का सदृश बंध तो नहीं होता है, विसदृश बंध हो सकता है। जघन्य—द्व्याधिक, जघन्य—त्र्यादिअधिक, जघन्येतर—द्व्याधिकजघन्येतर, जघन्येतर—त्र्यादिअधिक जघन्येतर परमाणुओं का सदृश व विसदृश बंध होता है।

स्कन्ध के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य

स्कन्ध के लक्षण, निर्माण प्रक्रिया आदि के बारे में ऊपर सामान्य जानकारी दी गई है। उसके अतिरिक्त कुछ विशेष ज्ञातव्य इस प्रकार है कि पुद्गल द्रव्य होते हुए अजीव, रूपी तथा बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय द्रव्य है। स्कन्ध की निष्पत्ति परमाणुओं के परस्पर मिलने से होती है। स्कन्ध सूक्ष्म परिणाम वाले भी होते हैं और बादर परिणाम वाले भी होते हैं। दोनों अनन्त प्रदेशी भी हो सकते हैं। स्कन्ध पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा सप्रदेशी है, अप्रदेशी नहीं है। क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेशी भी होता है और सप्रदेशी भी। अर्थात् एक आकाश प्रदेश में अवगाहन करने वाला भी होता है और अनेक आकाश प्रदेशों में भी रह सकता है। काल की अपेक्षा सप्रदेशी भी होता है और अप्रदेशी भी। अर्थात् एक समय की स्थिति वाला भी होता है और अनेक समय की स्थिति वाला भी। भाव की अपेक्षा भी सप्रदेशी और अप्रदेशी है। यानी एक अंश गुण वाला भी होता है और अनेक अंश गुण वाला भी। समपरमाणु वाले स्कन्ध सार्ध, अमध्य और सप्रदेशी हैं तथा विषम परमाणु वाले स्कन्ध अनर्ध, समध्य और सप्रदेशी हैं। द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर असंख्यात व कतिपय अनन्त प्रदेशी स्कन्ध इतने सूक्ष्म हैं कि छद्मस्थ तथा अवधिज्ञानी तो नहीं देखते हैं, किन्तु केवलज्ञानी तथा परम अवधिज्ञानी देख सकते हैं। स्कन्धों की गति आकाश प्रदेशों की पंक्ति के अनुरूप होती है। इनमें सादि पारिणामिक भाव है, अनादि पारिणामिक भाव नहीं है तथा संतति प्रवाह की अपेक्षा अनादि अनन्त और स्थिति की अपेक्षा सादि सान्त हैं।

परमाणु विषयक वक्तव्य

सामान्य रूप से पुद्गल और उसके भेद स्कन्ध व परमाणु के बारे में विचार करने के अनन्तर अब परमाणु विषयक विशेष स्पष्टीकरण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणु का लाक्षणिक स्वरूप ऊपर बताया गया है। उसका संक्षिप्त आशय यह है कि सब द्रव्यों में जिसकी अपेक्षा अन्य कोई अनुत्तर न हो, परम अत्यन्त अणुत्व हो उसे परमाणु कहते हैं।

परमाणु दो प्रकार का है—कार्य परमाणु और कारण परमाणु। स्कन्ध के विघटन से उत्पन्न होने वाला कार्य परमाणु है और जिन परमाणुओं के मिलने से कोई स्कन्ध का निर्माण हो, बने उन्हें कारण परमाणु कहते हैं। अथवा परमाणु के चार प्रकार हैं—द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु, भाव परमाणु। जिन्हें आधुनिक विज्ञान की भाषा में क्रमशः पदार्थ, स्थान, काल (समय) और शक्ति या गुणवत्ता की इकाई के नाम से कहा जा सकता है।

भाव परमाणु के चार भेद हैं—वर्ण गुण, गन्ध गुण, रस गुण, स्पर्श गुण। इनके उपभेद सोलह हैं। जो इस प्रकार है (१-५) एक गुण वर्ण क्रमशः कृष्ण, नील, लाल, पीत, श्वेत (६-७) एक गुण दुर्गन्ध एक गुण सुगन्ध, (८-१२) एक गुण रस क्रमशः तिक्त, मधुर, कटुक, कषाय और अम्ल, (१३-१६) एक गुण उष्ण, एक गुण शीत, एक गुण रूक्ष, एक गुण स्निग्ध। तात्पर्य यह है कि परमाणु वर्ण गन्ध रस स्पर्शवान है और ऐसा होना पुद्गल का स्वभाव है।

परमाणु में वर्ण, गन्ध आदि होने की व्यवस्था इस प्रकार है—पूर्वोक्त पाँच प्रकार के वर्णों में से कोई एक वर्ण दो गंधों में से कोई एक गंध, पाँच रसों में से कोई एक रस और चार स्पर्शों में दो स्पर्श होते है—स्निग्ध-रूक्ष में से एक और शीत या उष्ण में से एक।

परमाणु की परिभाषा टीकाकारों ने इस प्रकार की है—

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एक रस-गंध-वर्णो-द्वि-स्पर्शः कार्यलिंगश्च॥

अर्थात् परमाणु स्कन्ध पुद्गलों के निर्माण का अन्त्य कारण है। यानी वह स्कन्ध मात्र में उपादान है। वह सूक्ष्मतम है। अतः भूत, वर्तमान और अनागत काल में था, है और रहेगा वह एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श युक्त है और कार्यलिंग है। कार्यलिंग का तात्पर्य यह है कि वह परमाणु नेत्रों या अन्य किसी वैज्ञानिक उपकरणों साधनों-सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र आदि से दीखता नहीं है किन्तु सामूहिक क्रिया-कलाप एवं तज्जन्य कार्य से उसका अस्तित्व माना जाता है। उसके स्वरूप को केवलज्ञानी या परम अवधिज्ञानी ही जानते और देखते हैं।

परमाणु-परमाणु के बीच ऐसी कोई भेद-रेखा नहीं है कि एक परमाणु दूसरे परमाणु रूप न हो सके। कोई भी परमाणु कालान्तर में किसी भी परमाणु के सदृश-विसदृश हो सकता है। आधुनिक विज्ञान की भी यही मान्यता हो गई है। वर्ण, गन्ध आदि गुणों से सब परमाणु सदृश नहीं रहते हैं। उनके गुणों में परिवर्तन होते रहने अथवा गुणों की तरतमता से परमाणु के अनन्त भेद हो जाते हैं। जैसे कि विश्व में जितने कृष्ण वर्ण परमाणु हैं, वे सब समान अंशों में काले नहीं हैं। एक परमाणु एक गुणांश वाला है तो दूसरा दो गुणांश वाला। गन्ध, रस, स्पर्श आदि को लेकर भी इसी प्रकार एक से अनन्त गुणांश पर्यन्त अन्तर रहता है और यह गुणांशान्तर शाश्वत नहीं है, उसमें परिवर्तन होता रहता है। यहाँ तक कि एक गुण रूक्ष परमाणु कालान्तर में अनन्त गुण रूक्ष हो सकता है तथा अनन्त गुण रूक्ष परमाणु एक गुण वाला। परमाणु की इस परिणमनशीलता के लिए शास्त्रों में षड्गुणी-हानिवृद्धि शब्द का उपयोग किया है और यह हानि-वृद्धि स्वाभाविक होती है।

परमाणु जड़, अचेतन होता हुआ भी गतिधर्म वाला है। उसकी गति अन्य पुद्गल प्रेरित भी होती है और अप्रेरित भी। वह सर्वदा गतिमान रहता हो, गति करता रहता हो, ऐसी भी बात नहीं है, किन्तु कभी करता है और कभी नहीं करता है। यह अगतिमान निष्क्रिय परमाणु कब गति करेगा, यह अनिश्चित है, इसी प्रकार सक्रिय परमाणु कब गति और क्रिया बन्द कर देगा, यह भी अनियत है। वह एक समय से लेकर आवली के असंख्यातवें भाग समय में किसी समय भी गति व क्रिया बन्द कर सकता है किन्तु आवली के असंख्यात भाग उपरान्त वह निश्चित ही गति व क्रिया प्रारम्भ करेगा।

परमाणु की स्वाभाविक गति सरल रेखा में होती है। गति में वक्रता तभी आती है, जब अन्य पुद्गल का सहकार होता है। परमाणु अपनी तीव्रतम उत्कृष्ट गति से एक समय में चौदह राजू प्रमाण ऊँचे लोक के पूर्व चरमान्त से पश्चिम चरमान्त, उत्तर चरमान्त से दक्षिण चरमान्त तथा अधोचरमान्त से ऊर्ध्व-चरमान्त तक पहुँच सकता है। इसी प्रकार परमाणु की तीव्रतम गति के समान अल्पतम गति के लिए शास्त्रों में बताया है कि वह कम से कम गति करता हुआ एक समय में आकाश के एक प्रदेश से अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेश में जा सकता है। यह प्रदेश भी उतना ही छोटा है, जितना कि एक परमाणु। अर्थात् प्रदेश उसे कहते हैं जितने स्थान को एक परमाणु अपने अवस्थान द्वारा रोकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त कथन में समय और राजू का अर्थ ज्ञातव्य है। यह दोनों जैन पारिभाषिक शब्द हैं। उनमें से समय काल का चरम अंश है। स्थूल रूप से हम उसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि हमारी आँखों के पलक को एक बार उठने और गिरने मात्र में असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं। उन असंख्य समयों में से एक अंश में परमाणु लोक के अधोचरमान्त से ऊर्ध्वचरमान्त तक चला जाता है। राजू के बारे में बताया गया है कि कोई देव हजार मन के लोहे के गोले को हाथ में उठाकर अनन्त आकाश में छोड़ दे और वह गोला छह महीने तक अधःपतित होता जाये तो उस अवधि में जितने आकाश देश का अवगाहन करता है, वह एक राजू है। ऐसे चौदह राजुओं की ऊँचाई वाला यह लोक है। अतः एक समय में लोक के इस छोर से उस छोर तक पहुँचने वाले परमाणु की तीव्रतम गति का इससे अनुमान लगाया जा सकता है।

परमाणु में जीव निमित्तक कोई क्रिया, गति नहीं हो सकती है। इसका कारण यह है कि परमाणु जीव द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है तथा पुद्गल को ग्रहण किये बिना पुद्गल में परिणमन कराने की जीव में शक्ति नहीं है।

परमाणु अप्रतिघाती है। अर्थात् वह अपने अवस्थान से न तो किसी को रोकता है और न स्वयं रुकता है। उसकी अव्याहत, प्रतिघात रहित गति होती है। पर्वत, वज्र आदि कोई भी उसकी गति में रुकावट नहीं डाल सकते हैं। परमाणु में सूक्ष्मपरिणामावगाहन की विलक्षण शक्ति है। अतएव जिस आकाश प्रदेश में एक परमाणु स्थित है, उसी आकाश प्रदेश में दूसरा परमाणु भी स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकता है और उसी आकाश प्रदेश में अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी ठहर जाता है। यह सब सूक्ष्मपरिणामावगाहन शक्ति के कारण सम्भव होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा परमाणु की सप्रदेशिता और अप्रदेशिता का विचार किया जाये तो परमाणु द्रव्य की अपेक्षा अप्रदेशी है और क्षेत्र की अपेक्षा तो नियमतः अप्रदेशी है अर्थात् एक आकाश प्रदेश का ही अवगाहन करता है, काल की अपेक्षा कदाचित् अप्रदेशी और कदाचित् सप्रदेशी है। यानी एक समय की स्थिति वाला होने से अप्रदेशी और अनेक समय की स्थिति वाला भी होने से सप्रदेशी है। भाव की अपेक्षा कदाचित् अप्रदेशी और कदाचित् सप्रदेशी है, यानी एक अंश गुण वाला भी होता है और अनेक अंश गुण वाला भी। परमाणु की सूक्ष्मता, अभेदता आदि को इस प्रकार समझा जा सकता है कि परमाणु तलवार आदि की धार पर रह सकता है और वहाँ अवस्थित उस परमाणु का छेदन-भेदन नहीं होता है, अग्नि के मध्य में प्रविष्ट होकर भी जलता नहीं है। पुष्कर संवर्तक नामक महामेघ के मध्य भी प्रविष्ट होकर गीला नहीं होता है तथा गंगा नदी के प्रतिस्रोत प्रवाह में प्रविष्ट होकर भी प्रतिस्खलित नहीं होता है और उदगावर्त या उदक् (पानी) बिन्दु में प्रविष्ट होकर भी नष्ट नहीं होता है।

विज्ञान पक्ष और पुद्गल

पुद्गल के सम्बन्ध में जैन दार्शनिक पक्ष की संक्षेप में मीमांसा करने के पश्चात् अब वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

अनादिकाल से विश्व को पहचानने के प्रयत्न हो रहे हैं। मानव मस्तिष्क में जिज्ञासा हुई कि यह जगत किन तत्त्वों से निर्मित होता है? इन तत्त्वों का प्रारम्भ और प्रलय कैसे होता है? इसी जिज्ञासा के आधार से अनेक दर्शनों का जन्म हुआ। विज्ञान की धारा भी इसी ओर गतिशील है। दर्शनों ने अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए जड़ और चेतन इन दो पदार्थों को केन्द्रबिन्दु बनाया लेकिन विज्ञान के विकास का आधार भौतिक पदार्थ हैं। पहले जिज्ञासा हुई कि इस दृश्यमान जगत में असंख्य प्रकार के पार्थिव पदार्थ भरे पड़े हैं, उन पदार्थों का उपादान कारण क्या है? और इसके समाधान के लिए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच भूतों की कल्पना उठी और अपने-अपने दृष्टिकोण से वैज्ञानिकों ने उनमें से प्रत्येक को अलग कारण बताया। लेकिन अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मूल तत्त्व तो इन पंच भूतों से अतिरिक्त और कोई दूसरा पदार्थ है। ये भूत तो उसके संमिश्रण का परिणाम हैं।

इसी चिन्तन के फलस्वरूप विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु का प्रवेश हुआ और यह माना जाता है कि परमाणुवाद यूनान की देन है। डेमोक्रेट्स पहला व्यक्ति था, जिसने कहा था—यह संसार शून्य आकाश और अदृश्य, अविभाज्य अनन्त परमाणुओं की एक इकाई है। दृश्य और अदृश्य सभी संगठन परमाणुओं के संयोग और वियोग के ही परिणाम हैं। परमाणु सम्बन्धी उसकी धारणा इस प्रकार है—

(१) पदार्थ (Matter) संसार में एकाकार नहीं किन्तु विभक्त व्याप्त है।

(२) संसारव्यापी समस्त पदार्थपिंड ठोस परमाणुओं से निर्मित हैं। वे परमाणु विस्तृत आकाशान्तर से पृथक् हैं। प्रत्येक परमाणु एक स्वतन्त्र इकाई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य और अविनाशी हैं। वे पूर्ण और सदैव शुद्ध, नवीन और निर्मल हैं जैसे कि संसार की शुरुआत में थे।

(४) प्रत्येक परमाणु में आकार, लम्बाई, चौड़ाई और वजन को लेकर पृथक्ता होती है।

(५) परमाणुओं के प्रकार संख्यात हैं, किन्तु उनमें से प्रत्येक प्रकार के परमाणु अनन्त हैं।

(६) पदार्थों के गुण परमाणुओं के स्वभाव, संविधान अर्थात् कौन से परमाणु किस प्रकार से संयुक्त हुए हैं, पर निर्भर हैं।

(७) परमाणु निरन्तर गतिशील हैं।

डेमोक्रेट्स के समय से लेकर वर्तमान समय तक परमाणु के बारे में अन्वेषण का क्रम चालू है और इससे नये तथ्य भी सामने आये हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है, लेकिन वैज्ञानिकों की दृष्टि में अब तक वह परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य और न्यूनतम ही बना रहा है। उसके चरम अंश की प्राप्ति नहीं की जा सकी है जैसा जैनदर्शन में बताया गया है।

जैनदर्शन में तो परमाणु को सूक्ष्मतम बताया है और विज्ञान भी उसे सूक्ष्म मानता है और उसके परमाणु की सूक्ष्मता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि पचास शंख परमाणुओं का वजन केवल ढाई तोले के लगभग होता है और व्यास एक इंच का दस करोड़वाँ हिस्सा है। सिगरेट लपेटने के पतले कागज अथवा पतंगी कागज की मोटाई में एक से एक सटाकर परमाणुओं को रखा जाये तो एक लाख परमाणु आ जायेंगे। सोडा वाटर को गिलास में डालने पर जो छोटी-छोटी बूंदें निकलती हैं, उनमें से एक के परमाणुओं को गिनने के लिए संसार के तीन अरब व्यक्तियों को लगाया जाये और वे निरन्तर बिना खाये, पीये, सोये लगातार प्रति मिनट तीन सौ की चाल से गिनते जायें तो उस लघुतम बूंद के परमाणुओं की समस्त संख्या को गिनने में चार माह लग जायेंगे।

परमाणु : वैज्ञानिक शोध-धारा

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि वैज्ञानिकों ने पहले तो पृथ्वी आदि पंच भूतों को सृष्टि का मूल कारण माना और उसके बाद वे उक्त निर्णय में भी परिवर्तन करने के लिए विवश हुए। इसका कारण यह था कि जब रसायन के क्षेत्र में लोहे या ताँबे को सोना बनाने की होड़ लगी तो निश्चय हुआ कि पंचभूत मूल तत्त्व ही नहीं हैं। मूल तत्त्व तो इनसे अतिरिक्त और पदार्थ हैं। फिर भी मूल तत्त्व की शोध के आधार पंचभूत ही रहे।

पंचभूतों में वायु भी एक तत्त्व था, लेकिन उसमें भार नहीं माना जाता था। बोयल ने अपने अनुसन्धान से पहले पहल बताया कि उसमें भार है। उस समय तक विभिन्न स्वभाववाली गैसों का आविष्कार हो चुका था, किन्तु वे वायु का ही प्रकार मानी जाती थीं। कार्बनडाई आक्साइड का पता पहले पहल इंगलैंड निवासी ब्लैक ने सन् १७५५ में लगाया और इसका नाम स्थिरवायु रखा। अनन्तर आक्सीजन (प्राण वायु) की खोज प्रीस्टली ने की और कहा कि आग को जलाने एवं प्राणधारियों को श्वास लेने के लिये इसकी आवश्यकता होती है। हेन्डीक वेडिन्स ने पानी पर अन्वेषण करके उसे आक्सीजन और हाइड्रोजन के मिश्रण का परिणाम सिद्ध किया कि पानी का स्कन्ध (सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण) हाइड्रोजन के दो परमाणु और आक्सीजन के एक परमाणु से मिलकर बना है। इससे पानी को मूल द्रव्य मानने की धारणा का अंत हुआ।

इन अन्वेषणों में हाइड्रोजन के परमाणु को सबसे छोटा देखकर पहले समझा गया कि यह सब तत्त्वों का मूल है। लेकिन हाइड्रोजन के परमाणु को भी जब बारीकी से तौल गया तो स्पष्ट हो गया कि वह भी सभी पदार्थों का मूल तत्त्व नहीं हो सकता है। वह भी मिश्रित है और मौलिक द्रव्य की परिभाषा यह मानी गई थी कि वह किसी भी संमिश्रण का परिणाम न हो। इस प्रकार पाँच भूतों से प्रारम्भ हुई मौलिक तत्त्वों की संख्या पहले उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ३० हो गई और आज तो बढ़ते-बढ़ते १०३ तक पहुँच गई है।

सन् १८११ तक अणु ही सबसे सूक्ष्म तत्त्व समझा जाता रहा। इसके बाद वैज्ञानिक अवोगद्रा ने खोजकर अणु से परमाणु को अलग किया और वह सूक्ष्म अवयव माना जाता रहा। इसके बाद सन् १८९७ में सर जे. जे. टामसन ने परमाणु के अन्वेषण के समय एक और टुकड़ा पाया जो छोटे से हाइड्रोजन परमाणु से भी अत्यन्त छोटा था जिसे इलेक्ट्रोन कहा जाता है। उसने अणु के बारे में अभी तक की सभी मान्यताओं को बदल दिया तथा सोना, चाँदी आदि मूलभूत तत्त्व एक नये रूप में ही पहचाने जाने लगे।

टामसन के शिष्य सदरफोर्ड ने परमाणु के भीतरी ढाँचे के बारे में बहुत-सी महत्वपूर्ण शोधें कीं। जिनसे ज्ञात हुआ कि परमाणु के नाम से ज्ञात छोटे से छोटे अणु के अन्दर सौर परिवार का एक नया संसार ही बसा हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक परमाणु के अनेक कण हैं। उनमें से कुछ केन्द्र में स्थित हैं और कुछ उस केन्द्र की नाना कक्षाओं में निरन्तर अत्यन्त तीव्र गति से परिभ्रमण करते रहते हैं जैसे कि सूर्य के चारों ओर मंगल आदि ग्रह। केन्द्रस्थ कणों में धन विद्युत है और परिभ्रमणशील कणों में ऋण विद्युत और उन समस्त परमाणुओं को १०३ मौलिक भेदों में इसलिये बाँटा गया कि उनकी संघटना में ऋणाणुओं और धनाणुओं का क्रमिक अन्तर रहता है।

ऊपर के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक मान्य मौलिक तत्त्वों में पहला तत्त्व हाइड्रोजन है। इसमें एक धनाणु (Proton प्रोटोन) और एक ऋणाणु (Electron इलेक्ट्रोन) होता है। धन बिजली का कार्य किसी पदार्थ को अपनी ओर खींचना है और ऋण बिजली पदार्थ को दूर फैंकती है। इन दोनों विरोधी कणों का परिणाम हाइड्रोजन अणु है। किन्तु दोनों प्रकार की विद्युत समान होने पर हाइड्रोजन का परमाणु न ऋणात्मक है और न धनात्मक है अपितु तटस्थ स्वभाव वाला है।

हाइड्रोजन के बाद दूसरे नम्बर के तत्त्व का नाम हेलियम है। उसके केन्द्र में दो प्रोटोन और दो इलेक्ट्रोन होते हैं। जो निरन्तर अपने नाभिकण की परिक्रमा करते हैं। इसी प्रकार तीसरे-चौथे, लिकियम, बेरिलियम आदि में क्रमशः एक-एक बढ़ते हुए अणु केन्द्र और कक्षागत हैं। सबसे अन्तिम तत्त्व यूरेनियम में ९२ प्रोटोन नाभिकण में और उतने ही इलेक्ट्रोन विभिन्न कक्षाओं में अपने केन्द्र की परिक्रमायें करते हैं। लेकिन हाइड्रोजन परमाणु में एक ही इलेक्ट्रोन है, जिससे कक्षा भी एक है। अन्य परमाणुओं में सभी प्रोट्रोन एकीभूत होकर नाभिकण का रूप ले लेते हैं और इलेक्ट्रोन अनेक टोलियों में सुनिश्चित कक्षायें बनाकर घूमते रहते हैं।

प्रोटोन (धनाणु) भी स्वयं अपने आप में स्वतन्त्र कण न होकर न्यूट्रोन और पोजीट्रोन का सांयोगिक परिणाम है, न्यूट्रोन यानी जिसमें न तो इलेक्ट्रोन की ऋणात्मक बिजली है और न प्रोट्रोन की धनात्मक। अर्थात् यह तटस्थ है। पोजीट्रोन में बिजली की मात्रा तो प्रोटोन के समान ही रहती है, भूतमात्रा इलेक्ट्रोन के बराबर।

इस प्रकार आधुनिक पदार्थ विज्ञान ब्रह्माण्ड के उपादान की खोज में अणु अणुगुच्छकों, परमाणु में भटका और अब उसकी यात्रा इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, पोजीट्रोन की ओर हो रही है। लेकिन इस अन्वेषण का परिणाम अब यह आया कि वैज्ञानिक यह कहने का साहस नहीं कर पा रहे हैं कि हम सूक्ष्मतम उपादान तक पहुँच गये हैं। उनका विश्वास बार-बार बदल रहा है कि कहीं इलेक्ट्रोन आदि सूक्ष्म कणों के अन्दर कोई दूसरा सौर परिवार न निकल आये।

विज्ञान मान्य परमाणु की गति

जैन दर्शन मान्य परमाणु की अधिकतम और न्यूनतम गति का पूर्व उल्लेख किया गया है कि वह एक समय में कम से कम आकाश के एक प्रदेश से प्रदेशान्तर में गमन, अवगाहन कर सकता है और अधिक से अधिक चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोक में। इस न्यूनतम और अधिकतम दो गतियों का उल्लेख कर देने से मध्य की सारी गतियाँ वह यथाप्रसंग करता रहता है। आधुनिक विज्ञान ने भी अणु परमाणु की ऐसी गतियों को पकड़ लिया है जो साधारण मनुष्य की कल्पना से परे हैं। विज्ञान कहता है कि प्रत्येक इलेक्ट्रोन अपनी कक्षा पर प्रति सेकिण्ड १३०० मील की रफ्तार से गति करता है। गैस और उसी प्रकार के पदार्थों को अणुओं का कंपन इतना शीघ्र होता है कि प्रति सेकिण्ड छह अरब बार टकरा जाता है, जबकि दो अणुओं के बीच का स्थान एक इंच का तीस लाखवाँ हिस्सा है। प्रकाश की गति प्रति सेकिण्ड १,८६,००० मील है। हीरे आदि ठोस पदार्थों में अणुओं की गति ९६० मील है।

इस प्रकार जैनदर्शन और विज्ञान, अणु-परमाणु को गतिशील मानने तक तो एक मत है कि परमाणु गति करता है। लेकिन गति के बारे में दोनों में जहाँ साधर्म्य है वहाँ वैधर्म्य भी है। विज्ञान के अनुसार इलेक्ट्रोन सबसे छोटा कण है और उसकी गति गोलाकार में है और जैनदर्शन के अनुसार परमाणु की स्वाभाविक गति आकाश प्रदेशों के अनुसार सरल रेखा में है और वैभाविक गति वक्र रेखा में।

परमाणु का समासीकरण

जैनदर्शन में बताया है कि परमाणु में सूक्ष्म परिणामावगाहन शक्ति है। जिससे थोड़े से परमाणु एक विस्तृत आकाश खण्ड को घेर लेते हैं और कभी-कभी वे परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे आकाश देश में समा जाते हैं और वे अनन्तानन्त परमाणु निर्विरोध रूप से उस एक आकाश प्रदेश में रह सकते हैं। पदार्थ की इस सूक्ष्मपरिणति के संबंध में यद्यपि वैज्ञानिकों की पहुँच अभी इस पराकाष्ठा तक नहीं हो सकी है, फिर भी परमाणु की सूक्ष्मपरिणति के बारे में होने वाले वैज्ञानिक प्रयोग जैनदर्शन के विचारों की पुष्टि कर रहे हैं। साधारणतया सोना, पारा, शीशा, प्लेटिनम आदि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि भारी वजनदार पदार्थ माने जाते हैं। एक इंच के काष्ठ टुकड़े में और उतने ही बड़े लोहे के टुकड़े के भार में कितना अन्तर है ? यह स्पष्ट है। जिसका कारण परमाणुओं की सघनता, निविडता है। जितने आकाश खंड को उस काष्ठ के छोटे से परमाणुओं ने घेरा, उतने ही आकाश खंड में अधिकाधिक परमाणु एकत्रित होकर खनिज पदार्थों, सोना, चाँदी आदि के रूप में रह सकते हैं। इसी तरह अन्य सघन ठोस पदार्थों के बारे में जाना जा सकता है जो अपनी सघनता से एक छोटे से आकाश खंड में रहते हैं और उनके भार को उठाने के लिये बड़े-बड़े क्रेन भी असफल, अक्षम हो जायें तथा एक छोटा-सा ढेला ऊपर से गिरकर बड़े-बड़े भवनों को भी तोड़ सकता है।

जैनदर्शन के अनुसार एक छोटा-सा बालुकण अनन्त परमाणुओं का पिंड है, जिसे स्कन्ध कहते हैं, छोटे से छोटा स्कन्ध दो परमाणुओं का होता है। आँखों से दिखने वाले पदार्थ तो अनन्त प्रदेशात्मक हैं और स्कन्ध के तोड़ने से भी स्कन्ध बनते जाते हैं। लेकिन परमाणु के बारे में यह नियम स्थिति लागू नहीं होती है। क्योंकि परमाणु पदार्थ का वह अनुत्तर परम अणु है जिसे अलग नहीं किया जा सकता है यानी परमाणु को कभी भी परमाणु से पृथक् नहीं किया जा सकता है। वह स्वयं अपना आदि, मध्य और अन्त है। यही धारणा अब विज्ञान की भी बनती जा रही है। विज्ञान के क्षेत्र में भी अब यही चर्चा होने लगी है। प्रो. अन्ड्रेड ने कहा है कि एक औंस पानी में इतने स्कन्ध हैं जिनको गिनने के लिये संसार के सभी मनुष्य लग जायें और प्रति सेकिन्ड पांच की गति से दिन-रात गिनते जायें तो उनका यह गिनती का कार्य चालीस लाख वर्षों में पूरा हो सकेगा। यही अनुमान हवा के बारे में लगाया गया है कि एक इंच लम्बी, एक इंच चौड़ी और एक इंच ऊँची डिबिया में समा जाने वाली हवा में ४४२४ के ऊपर १७ शून्य रखे जायें तो उस संख्या के बराबर स्कन्ध उसमें हैं। जब इनमें (पानी और हवा में) इतने स्कन्ध हैं तो परमाणुओं की संख्या का तो अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता है। इस प्रकार पुद्गल व पदार्थ की सूक्ष्मता और सघनता के दोनों पक्षों (दर्शन व विज्ञान) में और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। परमाणु की जैनदर्शन मान्य सूक्ष्मता और सघनता का तो पूर्व में स्पष्ट उल्लेख किया जा चुका है।

जैन शास्त्रों में परमाणु के दो भेद बतलाये हैं—परमाणु और व्यवहार परमाणु। अविभाज्य सूक्ष्मतम अणु परमाणु है और सूक्ष्म स्कन्ध जो इन्द्रिय व्यवहार में सूक्ष्मतम लगते हैं, वे व्यवहार परमाणु हैं जिनको ऊर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, रथ-रेणु आदि शब्दों से कहा गया है। विज्ञान के क्षेत्र में भी अब ऐसे व्यवहार प्रचलित हो गये हैं कि जिसे परमाणु माना गया है, वह तो परम अणु नहीं है किन्तु व्यवहार से उस अणु की पहिचान परमाणु शब्द से होती है। जैनदर्शन की दृष्टि में इलेक्ट्रोन आदि अन्य कण भी व्यवहार परमाणु हैं, यथार्थ परमाणु नहीं हैं।

जैनदर्शन में पुद्गल के स्थूल-स्थूल (अति स्थूल) आदि छह भेद बताये हैं। जिसकी व्याख्या का पूर्व में संकेत किया गया है। विज्ञान ने भी पदार्थ को ठोस, तरल और वाष्प इन तीन भेदों में बाँटा है। ये तीनों भेद जैनदर्शन के छह भेदों में से क्रमशः प्रथम अतिस्थूल, द्वितीय स्थूल और चतुर्थ सूक्ष्म-स्थूल भेद में समाविष्ट हो जाते हैं। दार्शनिकों की दृष्टि में ठोस (अति स्थूल) आदि तीन भेदों के अतिरिक्त और भी पदार्थ थे, इसीलिये उन्होंने पदार्थ के छह भेद किये। अणु विखण्डन के पश्चात् जो विभिन्न प्रकार के पदार्थ कण सामने आये तो वैज्ञानिकों के तीन भेद भी अब केवल कहने मात्र के लिये रह गये हैं। वैज्ञानिक इस बात को स्वीकार करते हैं और उनको किस नाम से कहा जाये ? विचारणीय है।

डेमोक्रेट्स की परमाणु सम्बन्धी मान्यताओं में बताया गया है कि प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र इकाई है। जबकि जैनदर्शन का मत है कि प्रत्येक परमाणु अपने गुण, पर्यायों को रूपान्तरित कर सकता है। अब यही बात वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार करली है। सन् १९४१ में वैज्ञानिक बैंजामिन ने पारे को सोने के रूप में परिवर्तित किया। पारे के अणु का भार दो सौ अंश होता है। उसे एक अंश भार वाले विद्युत प्रोटोन से विस्फोटित किया गया जिससे प्रोटोन पारे में घुलमिल गया तब उसका भार २०१ अंश हो जाना चाहिये था। लेकिन उस मिले हुए अणु की मूल धूलि में से एक अल्फा बिंदु जिसका भार चार अंश था, स्वतः निकल भागा। परिणामतः पारे का भार २०१ अंश से घटकर १९७ अंश का हो गया। इस १९७ अंश भार का ही तो सोना होता है। इसी तरह सन् १९५३ में प्लेटिनम को सोने में परिवर्तित करने में सफलता मिली। इन प्रयोगों से यह सिद्ध हो जाता है कि विज्ञान मान्य मूल द्रव्यों में परिवर्तन न होने की बात अब कल्पना की उड़ान रह गई है। विज्ञान जैनदर्शन के मत की ओर अग्रसर हो रहा है कि परमाणु अपने गुण-पर्यायों को रूपान्तरित कर सकता है, उसके गुण-पर्यायों में परिवर्तन होता है।

ऊपर दर्शन और विज्ञान के परमाणु की संक्षिप्त जानकारी दी है। जिसकी समीक्षा का सारांश नीचे लिखे अनुसार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन में परमाणु की व्याख्या करते हुए अनेक बातों विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए कहा है कि परमाणु पुद्गल अविभाज्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य है। उसकी गति अप्रतिहत है। वह अनर्घ, अमध्य, अप्रदेशी है आदि और डेमोक्रेट्स ने भी परमाणु की जो परिभाषा बताई है उसमें कहा गया है—परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य और अविनाशी है। वे पूर्ण हैं और ताजे (नये) हैं, जैसे कि संसार की आदि में थे।

उक्त दोनों व्याख्याओं में कुछ समानता है और भावाभिव्यक्ति के लिये शाब्दिक प्रयोग भी समान हैं लेकिन डेमोक्रेट्स का माना गया अच्छेद्य, अभेद्य परमाणु आज खंडित हो चुका है। उसमें पहले इलेक्ट्रोन और प्रोटोन का पता चला और विकास विश्लेषण के साथ अब प्रोटोन भी एक शाश्वत इकाई नहीं रहा। उसमें से न्यूट्रोन और पोजीट्रोन जैसे कण एक इकाई के रूप में निकल पड़े हैं। इसी तरह की प्रक्रिया आगे भी चालू है, जिससे यह दावा नहीं किया जा सकता है कि वास्तव में परमाणु किसे कहा जाये ? चरम परम कौन है ?

विज्ञान मान्य परमाणु के अन्दर जितने भी कण हैं, वे जैनदर्शन की परिभाषा के अनुसार परमाणु कहलाने की क्षमता वाले नहीं है, उन्हें परमाणु नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उसके अनुसार तो वे आज तक खोजे गये सूक्ष्म कण असंख्य और अनन्त प्रदेशात्मक हैं। जिससे उन्हें परमाणु की बजाय स्कन्ध कहना चाहिये। यह केवल एक कल्पना की बात है कि अब इलेक्ट्रोन आदि कणों के विखंडित होने की संभावना नहीं है। यही बात पहले अणु को लेकर भी कही जाती थी, लेकिन उसे भी स्वयं वैज्ञानिकों ने खंडित करके अपने निर्णय को बदल दिया। इस प्रक्रिया का परिणाम, यह अवश्य हुआ कि प्रकृति ने अपने रहस्य को मनुष्य के समक्ष आंशिक रूप में उद्घाटित किया है, लेकिन भविष्य में क्या रूप बनेगा ? प्रकृति अपने अन्तर में न जाने कैसे-कैसे रहस्य छिपाये हुए है ? यह अभी नहीं कहा जा सकता है। अतीन्द्रिय प्रेक्षकों ने जिस परमाणु का दर्शन कराया है, वहाँ तक मनुष्य अपनी क्षमता से पहुँच सकेगा, यह संभव नहीं है।

विज्ञान मान्य स्कन्ध की परिभाषा

जैनदर्शन मान्य स्कन्ध की परिभाषा को पूर्व में बताया गया है कि दो से लेकर यावत् अनन्त परमाणुओं का एकीभाव स्कन्ध है। यह स्कन्ध विभिन्न परमाणुओं के एक, संघातित होने से बनता है, वैसे ही विविध स्कन्धों का एक होना व एक स्कन्ध का एक से अधिक खंडों में परमाणु रूप इकाई न आने तक टूटने का परिणाम भी एक स्वतन्त्र स्कन्ध है।

दर्शन की तरह विज्ञान में भी स्कंध की चर्चा है। वहाँ बताया गया है कि पदार्थ स्कन्धों से निर्मित है। वे स्कन्ध गैस आदि पदार्थों में बहुत तीव्रता से सभी दिशाओं में गति करते हैं। सिद्धान्ततः स्कन्ध वह है कि एक चाक का टुकड़ा जिसके दो टुकड़े किये जायें और फिर दो के चार, इसी क्रम से असंख्य तक करते जायें जब तक कि वह चाक चाक के रूप में रहे तो उसका वह सूक्ष्मतम विभाग स्कन्ध कहलायेगा। इसका कारण यह है कि किसी भी पदार्थ के हम टुकड़े करते जायेंगे तो एक रेखा ऐसी आ जायेगी, जहाँ से वह पदार्थ अपनी मौलिकता खोये बिना नहीं टूट सकेगा अतः उस पदार्थ का मूल रूप स्थिर रखते हुए उसका जो अन्तिम टुकड़ा है, वह एक स्कन्ध है।

जैनदर्शन और विज्ञान कृत स्कन्ध की व्याख्या में कुछ समानता है तो कुछ असमानता भी है। जैनदर्शन ने पदार्थ की एक इकाई को एक स्कन्ध माना है। जैसे घड़ा, मेज, कुर्सी आदि। घड़े के दो टुकड़े हो गये तो दो स्कन्ध, इसी तरह दस, बीस आदि हजार टुकड़े हो जायें तो वे सब स्कन्ध ही हैं। यदि उसको पीसकर चूर्ण कर लिया तो एक एक कण एक-एक स्कन्ध है। जबकि विज्ञान में पदार्थ का मूल रूप स्थिर रखते हुए उसका अन्तिम टुकड़ा यानी एक अणु ही स्कन्ध है, जिसे यदि फिर तोड़ा जाये तो वह अपने रूप को खोकर अन्य पदार्थ जाति में परिणत हो जायेगा। जैनदर्शन की दृष्टि से वह अन्तिम अणु स्कन्ध तो है ही किन्तु पदार्थ स्वरूप के बदलने की अपेक्षा न रखते हुए वह जब तक तोड़ा जा सकता है अर्थात् जब तक परमाणु के रूप में परिणत नहीं हो जाता तब तक वह स्कन्ध है और उसके सह धर्मी जितने भी टुकड़े हैं, वे भी स्कन्ध हैं। परमाणु रूप अवस्था को प्राप्त होने के पूर्व तक पदार्थ के सभी अंश स्कन्ध कहलायेंगे।

विज्ञान की स्कन्ध निर्माण प्रक्रिया

जैनदर्शन में स्कन्ध निर्माण की प्रक्रिया का एक ही सिद्धांत कि अनेक परमाणु परस्पर मिलकर जो एक इकाई बनते हैं, उसका हेतु उन परमाणुओं का स्निग्धत्व व रूक्षत्व स्वभाव है। जघन्य गुण यानी एक अंश वाले स्निग्ध व रूक्ष परमाणु तो अवश्य ही संश्लिष्ट होकर स्कन्ध नहीं बनते हैं, लेकिन इसके अतिरिक्त दो आदि यावत् अनन्त गुणांशों वाले समान या असमान परमाणु संश्लिष्ट होने से स्कन्ध रूप हो जाते हैं। इस प्रकार जैसे जैनदर्शन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्निग्धत्व और रूक्षत्व को बन्धन का कारण माना है, वैसे ही वैज्ञानिकों ने पदार्थ के धन विद्युत और ऋण विद्युत इन दो स्वभावों को बन्धन का कारण कहा है। जैनदर्शन के अनुसार स्निग्धत्व और रूक्षत्व परमाणु मात्र में मिलता है और विज्ञान के अनुसार धन व ऋण विद्युत पदार्थ मात्र में पाई जाती है। इससे प्रतीत होता है कि जैनदर्शन और विज्ञान में शाब्दिक भेद से एक ही बात कही गई है। जैनदर्शन ने रूक्षत्व और स्निग्धत्व के नाम से तथा वैज्ञानिकों ने धन विद्युत और ऋण विद्युत के नाम से पदार्थों में दो धर्मों को कहा है। सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र ३४ में विद्युत के विषय में बताया है कि '**स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युतः**' अर्थात् आकाश में चमकने वाली विद्युत परमाणुओं के स्निग्ध और रूक्ष गुणों का परिणाम है, तन्निमित्तक है। इसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि स्निग्धत्व और रूक्षत्व इन दो गुणों से धन और ऋण विद्युत उत्पन्न होती है। यानी स्निग्धत्व और रूक्षत्व आणविक बन्धनों के कारण हैं या धन और ऋण दो प्रकार के विद्युत स्वभाव के।

इसी प्रकार जब हम विज्ञान के बन्धनों के प्रकारों का अध्ययन करते हैं तब वहाँ भी जैनदर्शन के विचारों से समानता मिलती है। विज्ञान ने भी भारी ऋणाणु की भविष्य वाणी की है जो साधारण ऋणाणुओं से पचास गुना भारी होता है और वह ऋणाणुओं के समुदाय का परिणाम ही होता है। इसलिये उसे नेगेट्रोन कहते हैं। क्योंकि उसमें केवल निषेध विद्युत ही पाई जाती है। इस प्रकार के परमाणु जब पूर्णरूपेण प्रगट हो जायेंगे तो आशा है कि वे रूक्ष के साथ रूक्ष के बन्ध को भी चरितार्थ कर देंगे जैसा कि जैनदर्शन में माना गया है। इस नियम से प्रोटोन स्निग्ध के साथ स्निग्ध के, तथा न्यूट्रोन रूक्ष और रूक्ष के बन्ध के उदाहरण बन सकते हैं। आधुनिक परमाणु का बीजाणु भी जो ऋणाणुओं तथा धनाणुओं का समुदाय मात्र है, स्निग्ध और रूक्ष बन्ध का उदाहरण बनता है। डा० बी. एल. शील ने अपनी पुस्तक 'पोजिटिव साइन्स आफ एन्सिएन्ट हिन्दूज' में स्पष्ट लिखा है कि जैनदर्शनकार इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि पोजिटिव और निगेटिव विद्युत कणों के मेल से विद्युत की उत्पत्ति होती है।

जैनदर्शन में जैसे शब्द, अंधकार, छाया, प्रकाश, आतप, उद्योत आदि की पौद्गलिकता सिद्ध की गई है, वैसे ही विज्ञान भी इनके बारे में अधिकांशतया समान मत रखता है। यदि उनमें कहीं अंतर है तो उसका कारण वैज्ञानिक प्रयोगों की सीमा है। पदार्थ की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के बारे में विज्ञान का मत बनता जा रहा है कि शक्ति अविनाशी एवं शाश्वत है, वह नष्ट न होकर दूसरा रूप ले लेती है, किन्तु उस परिवर्तन में शक्ति मात्रा ज्यों की त्यों स्थिर रहती है। विज्ञान की इसी बात को दर्शन के क्षेत्र में शक्ति (ध्रौव्य) परिवर्तन (उत्पत्ति, विनाश) इन तीन शब्दों में व्यक्त किया गया है।

जैनदर्शन और विज्ञान के पदार्थ विषयक विचार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनदर्शन का परमाणु-विज्ञान और पदार्थदर्शन निश्चल और समग्र निरूपण है। आध्यात्मिक विषयों की तरह पदार्थ विज्ञान के बारे में भी इतने अनुपम अकाट्य विचार दिये हैं जिनका अनुसरण करके आधुनिक विज्ञान अपने क्रमिक आरोहण की स्थिति में एक के बाद दूसरे सोपान पर बढ़ रहा है। आज वैज्ञानिक मानने लगे हैं कि दार्शनिकों की परमाणु सम्बन्धी धारणा के समक्ष विज्ञान की धारणा नगण्य है। जो सन् १९५६ में लंदन से प्रकाशित 'परमाणु और विश्व' नामक पुस्तक के लेखक पदार्थ विज्ञान के अधिकारी विद्वान वैज्ञानिक जी. ओ. जोन्स, जे. रोटबेल्ट और जे. जे. विटरो के विचारों से स्पष्ट हो जाता है। वे पुस्तक के पृष्ठ ४९ पर परमाणु के अंतर्गत मौलिक तत्वों की चर्चा करते हुए लिखते हैं—

"बहुत दिनों तक तीन ही तत्त्व—इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन और प्रोटोन—विश्व संघटना के मूलभूत आधार माने जाते थे। किन्तु वर्तमान में उनकी संख्या कम से कम १६ तक पहुँच गई है एवं तथाप्रकार के अन्य दूसरे तत्त्वों का अस्तित्व और भी सम्मिलित हो गया है।..... मौलिक तत्त्वों का यह अप्रत्याशित बढ़ावा बहुत ही असंतोष का कारण है और सहज ही यह प्रश्न उठता है कि मौलिक तत्त्वों का हम सही अर्थ क्या लें? पहले अग्नि, पृथ्वी, हवा और पानी इन चार पदार्थों को मौलिक तत्त्वों की संज्ञा दी, इसके बाद सोचा गया कि प्रत्येक रासायनिक पदार्थ का मूलभूत अणु ही परमाणु है, उसके अनन्तर प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन इन तीन मूलभूत अणुओं की संख्या बीस तक पहुँच गई है। यह संख्या और भी आगे बढ़ सकती है। क्या वास्तव में ही पदार्थ के इतने टुकड़ों की आवश्यकता है या मूलभूत अणुओं का यह बढ़ावा पदार्थ मूल सम्बन्धी हमारे अज्ञान का ही सूचक है?....सही बात तो यह है कि मौलिक अणु क्या है? यह पहेली अभी तक सुलझ नहीं पाई है।"

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो गया है कि आज के यांत्रिक युग में परमाणु एक पहेली बना हुआ है। दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और विज्ञान जगत के मूल उपादानों के अन्वेषण की ओर उन्मुख रहे हैं। प्रयोगशालाओं के बिना भी दार्शनिकों ने जो चिन्तन किया और उसके निष्कर्ष रूप में जो सिद्धान्त स्थापित किये, वे आज के उन विद्वान माने जाने वाले व्यक्तियों को चुनौती दे रहे हैं जो यह मानते थे कि अणुविज्ञान आधुनिक विज्ञान की देन है। दार्शनिक जगत के अणु का कल्पनाओं से प्रादुर्भाव हुआ था।

जैनदर्शन में आध्यात्मिक चिन्तन जिस सीमा तक पहुँचा हुआ है, उसी तरह पदार्थ चिन्तन भी। जिसका पूर्ण विश्लेषण समय और श्रम साध्य है। पृष्ठ मर्यादा के कारण प्रस्तुत निबन्ध में पुद्गल, स्कन्ध, परमाणु का सूचना रूप में ऊपरी तौर पर विहंगावलोकन किया है। प्रतिपाद्य विषय के बहुत से आयामों का स्पर्श भी नहीं किया गया है। लेकिन इसे महासागर में से एक बूंद को ग्रहण करने के लिए किये गये चंचुपात की तरह मानकर विशेष जानकारी की ओर जिज्ञासुजन अग्रसर होंगे, यही आकांक्षा है।

पुष्कर वाणी

स्थितप्रज्ञता एवं इन्द्रिय-संयम के लिए शास्त्रों में कछुआ का उदाहरण बार-बार दिया जाता है। कछुआ जब भी बाहर खतरा देखता है, अपने अंगों—हाथ-पैर का संकोच कर सिमट कर गेंदनुमा बन जाता है और बाहरी खतरे से अपनी रक्षा कर लेता है। उसमें वृत्ति-संकोच एवं स्थिरता गजब की है।

मनुष्य को उससे शिक्षा लेनी है, जब भी इन्द्रियाँ, बहिर्मुख बनें और मन पर बुरे विचारों का आक्रमण हो तो तुरन्त अपनी वृत्तियों को भीतर की ओर खींच लें, अन्तर्मुख बन जाय और आत्मचिंतन में स्थिर हो जाय।

× × ×

ऊँचा पद पाना अलग बात है और उच्च विचार होना अलग बात है। कहते हैं गीध की दृष्टि बड़ी तेज होती है, और उड़ान भी बहुत ऊँची लगाता है, किन्तु उसकी दृष्टि सदा मांस के टुकड़े ही खोजती रहती है और गन्दे स्थानों पर शीघ्र जाने के लिए ही वह ऊँची उड़ानें भरता है।

जो मनुष्य ऊँचा पद, शक्ति, सत्ता और वैभव पाकर भी यदि सदा दुष्ट विचार रखता है, दूसरों की वस्तुओं पर ललचाता है और उसे हड़पने के प्रयत्न में रहता है तो उसमें और गीध में क्या अन्तर है ?

पुष्कर वाणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैनदर्शन के संदर्भ में : पुद्गल

✡ रमेशमुनि, साहित्यरत्न

□

'पुद्गल' यह जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जिस अर्थ में पुद्गल शब्द जैनदर्शन में व्यवहृत हुआ है उस अर्थ में वह अन्य दर्शनों में प्रयुक्त नहीं हुआ। तथागत बुद्ध ने पुद्गल शब्द का प्रयोग किया है। वह आलय विज्ञान चेतना संतति के अर्थ में है। अन्य दर्शनकारों ने जिसे भूत और आधुनिक विज्ञान जिसे मैटर कहता है उसे ही जैन-दर्शन ने पुद्गल कहा है। षट् द्रव्यों में पाँच द्रव्य अमूर्त हैं, केवल एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्त है। यही कारण है कि दृश्य जगत् को भौतिक जगत् और इस से सम्बन्धित विज्ञान को भौतिक विज्ञान या Material Science कहते हैं।

पुद्गल शब्द का विशेष अर्थ है, जो पुद्+गल इन दो शब्दों के मिलने से बनता है। पुद् का अर्थ है पूर्ण होना या मिलना और गल का अर्थ है गलना या बिछुड़ना। क्योंकि विश्व में जितने भी दृश्य पदार्थ हैं वे मिल-मिल के बिछुड़ते हैं और बिछुड़-बिछुड़ कर फिर मिलते हैं, जुड़-जुड़ कर टूटते हैं और टूट-टूट कर फिर जुड़ते हैं। इसीलिए उन्हें पुद्गल कहा है।

पुद्गल यह एक विचित्र पदार्थ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, कीड़े-मकोड़े आदि जितने भी दृश्य पदार्थ हैं, वे सभी पुद्गल हैं। पुद्गल इतने प्रकार के हैं कि उनकी परिगणना करना भी सम्भव नहीं है। तथापि जैन साहित्य में सभी पदार्थों को षट्काय में विभक्त किया है, पाँच स्थावर और एक त्रस। ये भेद जीव के हैं पर वस्तुतः ये सभी भेद जीव के नहीं, अपितु उनके काय व शरीर के हैं। ये षट्काय जाति के शरीर तब तक जीव के शरीर या जीव कहलाते हैं जब तक जीवित हैं, और मर जाने के पश्चात् ये अजीव पुद्गल कहलाते हैं। वास्तव में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो पहले जीव का शरीर न रहा हो। ईंट, पत्थर, हीरे-पन्ने आदि सभी पदार्थ पृथ्वीकाय थे क्योंकि ये सभी खनिज पदार्थ हैं। ये दिखलायी देने वाले भव्य भवन, चमचमाते हुए बर्तन सभी पृथ्वीकाय से उत्पन्न हुए हैं। उमड़-घुमड़ कर बरसने वाली वर्षा, ओस, वाष्प, बर्फ आदि जलकाय के जीवित या मृत शरीर हैं। गैस आदि वायुकाय के जीव हैं अथवा उनके मृत शरीर हैं। लकड़ी के बने हुए सुन्दर फर्नीचर, बढ़िया वस्त्र सभी वनस्पतिकाय के जीवित या मृत शरीर हैं। फर्नीचर, वनस्पति का ही एक रूपान्तर है तो वस्त्र रूई का। इसी प्रकार अन्य सभी वस्तुएं भी जैसे दूध, घृत, दही, रेशम, चमड़ा, हाथी-दांत के खिलौने आदि त्रसकाय के मृत शरीर हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच भूत कहलाते हैं। इनका मेल होने पर जिस पदार्थ में जिसका अंश अधिक रहता है वह उसके अनुरूप ठोस या तरल दिखलायी देता है। पाँचों के संघात में पृथ्वी का भाग अधिक होने पर वह मिश्र पदार्थ ठोस बनेगा। यदि जल की अधिकता होगी तो तरल बनेगा। अग्नि का भाग अधिक होने पर तेजवान् या उष्ण बनेगा, वायु का भाग अधिक होने पर हलका या गतिवान बनेगा। यदि आकाश का भाग अधिक होगा तो खाली दिखायी देगा। उदाहरण के रूप में, जब तेज वर्षा होती है उस समय वायु में जल की प्रधानता होती है और ग्रीष्म ग्रीष्म ऋतु की वायु में अग्नितत्त्व होता है तथापि वह जल और अग्नि न होकर वायु ही कहलाती है क्योंकि उसी का अंश प्रमुख है। इस पौद्गलिक या भौतिक जगत् में जो विविधता दृष्टिगोचर होती है वह सभी वास्तव में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के ही चमत्कार हैं। निश्चयनय की दृष्टि से जीव और पुद्गल हैं। जीव अरूपी है तो पुद्गल रूपी है। किन्तु अनन्तकाल से जीव और पुद्गल नीर-क्षीर की तरह एकमेक हो गये हैं। तथापि कोई भी द्रव्य अपने मूल द्रव्यत्व का उल्लंघन नहीं करता। पुद्गल कभी जीव नहीं बनता, जीव कभी जड़ नहीं बनता। शब्द,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, धूप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श ये सभी पुद्गलों की विविध परिणतियाँ हैं। ये कभी मिलते हैं और कभी भिन्न होते हैं। पुद्गल के सप्रदेशी होने से अस्तिकाय में उसकी परिगणना की गयी है। कितने ही पुद्गल एक प्रदेशी, दो प्रदेशी, संख्यात-असंख्यात अनन्त प्रदेशी भी होते हैं।

जैन साहित्य में पुद्गल के अष्टस्पर्शी और चतुःस्पर्शी—ये दो भेद किये गये हैं। जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, संस्थान के साथ अष्ट स्पर्श होते हैं वे अष्टस्पर्शी पुद्गल कहलाते हैं और जिनमें शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये चार स्पर्श पाये जाते हैं वे चतुःस्पर्शी कहलाते हैं।

पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु—ये चार भेद हैं। अणुओं का समुदाय स्कन्ध है। स्कन्ध के बुद्धि-कल्पित भाग को देश कहते हैं। स्कन्ध या देश में मिले हुए अति सूक्ष्म विभाग जिसका पुनः विभाग न हो सके वह प्रदेश है। पुद्गल का सबसे सूक्ष्म अविभाज्य अंश परमाणु है। जब तक वह स्कन्धगत है तब तक वह प्रदेश है और स्कन्ध से अलग होने पर वह परमाणु कहलाता है। वह भी एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस, और दो स्पर्श वाला होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से भी पुद्गल के चार भेद होते हैं। द्रव्य से वह अनन्त द्रव्य रूप है, क्षेत्र से वह लोकाकाश पर्यन्त व्याप्त है, काल से वह आदि-अन्त रहित है और भाव से वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सहित है।

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की दृष्टि से पुद्गल पर शास्त्रकारों ने गहराई से चिन्तन किया है और उसके ५३० भेद बताये हैं।

पुद्गल सारे लोकाकाश में भरे पड़े हैं। वे सूक्ष्म भी हैं और बादर भी। परमाणु से लेकर चतुस्पर्शी स्कन्ध तक सभी पुद्गल सूक्ष्म हैं। कार्मण वर्गणा, मनोवर्गणा के पुद्गल इसी कोटि में आते हैं। पुद्गल रूपी है, यह हम पूर्व ही बता चुके हैं। इसलिए सूक्ष्म पुद्गलों को विशिष्ट ज्ञानी ही देख सकते हैं। जब परमाणु से स्कन्ध बनता है तब वे सूक्ष्म पुद्गल इन्द्रियगोचर हो जाते हैं। पुद्गलों में जीव के पारस्परिक परिणति की दृष्टि से तीन प्रकार की परिणतियाँ होती हैं—

(१) प्रयोग परिणत—जीव की प्रेरणा से मन, वचन, काया से की जाने वाली समस्त चेष्टाओं से नाना द्रव्यों के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।

(२) मिश्र परिणत पुद्गल—जीव के द्वारा केश, नाखून, मल-मूत्र तथा मृत-शरीर आदि के रूप में परित्यक्त पुद्गल।

(३) विस्रसा परिणत—जिन पुगद्लों में जीव का सहाय नहीं है और स्वयं परिणत है वैसे पुद्गल जैसे बादल, इन्द्रधनुष।

जीव और पुद्गल दोनों का सम्बन्ध अनादिकाल से है। पूर्व पुद्गल निर्जरित होने पर नये पुद्गलों को वह ग्रहण करता है। जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध ही संसार है। जीव का संसार में परिभ्रमण का मूल कारण ही पुद्गल रहा हुआ है। जीव के साथ पुद्गल से सम्बन्धित आठ श्रेणियाँ इस प्रकार हैं—

(१) औदारिक वर्गणा—स्थूल शरीर के निर्माण में काम आने वाले योग्य पुद्गल।
(२) वैक्रिय वर्गणा—विविध रूप बनाने में काम आने वाले पुद्गल।
(३) आहारक वर्गणा—आहारक शरीर के निर्माण में काम आने वाले पुद्गल।
(४) तेजस वर्गणा—विद्युत् परमाणु समूह।
(५) कार्मण वर्गणा—कर्म रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।
(६) भाषा वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्गल।
(७) मनोवर्गणा—मन रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।
(८) श्वासोच्छ्वास वर्गणा—जीवों के श्वास और उच्छ्वास में परिणत होने वाले पुद्गल।

पुद्गल वर्गणा को बिना ग्रहण किये देहधारी का कार्य नहीं चलता। वह प्रतिपल प्रतिक्षण पुद्गल ग्रहण करता है और परित्याग करता है। सांसारिक आत्मा पुद्गलों से प्रभावित है। जैनदर्शन में पुद्गल परावर्तन काल का वर्णन है जिसका तात्पर्य है—संसार अवस्था में जीव औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस, कार्मण, श्वासोच्छ्वास, मन, वचन, के परमाणुओं को अनेकों बार ग्रहण कर चुका है और उनका परित्याग भी किया है। ऐसे अनेकों पुद्गल परावर्तन इस जीव ने किये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल के सम्बन्ध में जैन साहित्य में अत्यधिक विस्तार से चिन्तन किया गया है। आधुनिक विज्ञान भी पुद्गल के सम्बन्ध में शोधकार्य कर रहा है। आजकल विज्ञान जिसे परमाणु कहता है वह स्थूल है। जैन दृष्टि की अपेक्षा वह परमाणु नहीं, किन्तु स्कन्ध ही है। क्योंकि जैन दृष्टि से जो परमाणु है वह अच्छेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी है। किन्तु विज्ञानसम्मत परमाणु अनेक परमाणुओं का पिण्ड है अतः वह जोड़ा व तोड़ा जा सकता है, यन्त्र विशेष की सहायता से देखा-जाना जा सकता है किन्तु जैनदर्शन का परमाणु किसी भी यन्त्र की सहायता से जाना या देखा नहीं जा सकता। वैज्ञानिकों के परमाणु में तो अनेकों इलेक्ट्रोन हैं जो बराबर एक प्रोटान के चारों ओर घूम रहे हैं।

सारांश यह है कि पुद्गल पर इतना गम्भीर चिन्तन जैनदर्शन में किया गया है कि यदि उस पर विस्तार से लिखा जाय तो एक विराटकाय ग्रन्थ बन सकता है। मैंने बहुत ही संक्षेप में पुद्गल के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं। मैं समझता हूँ कि मेरे ये विचार जिज्ञासुओं को गम्भीर अध्ययन करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करेंगे। श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री ने 'जैनदर्शनः स्वरूप और विश्लेषण' ग्रन्थ में पुद्गल पर विस्तार से विवेचन किया है, विज्ञगण विशेष जानकारी के लिए उसे पढ़ें यह मेरा नम्र सूचन है।

पुष्कर वाणी

मानव जीवन एक रत्न है, विषय वासना कर्दम सम।
दुर्दम है कायर को लेकिन, शूरवीर के लिए सुगम॥

अस्थिर तन-धन-यौवन है फिर, स्थिर कैसे इनका अभिमान।
'जाना है' यह जाना पर क्या, जाना है जाने का स्थान॥

पल का नहीं भरोसा, कल की चिन्ता करने वाले मूढ़।
सरलतया कब जाना जाता, जीने का उद्देश्य निगूढ़॥

स्त्री के प्रति नर, नर के प्रति स्त्री, करती है मिथ्या अनुराग।
कोई नहीं किसी का साथी, बाती जलती नहीं चिराग॥

सत्संगति से शास्त्र-श्रवण से, दृढ़ हो जाता है वैराग्य।
होता है वैराग्य उसी को, जिसका हो ऊँचा सौभाग्य॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनर्जन्म सिद्धांत : प्रमाणसिद्ध सत्यता



✲ श्री भगवतीमुनि 'निर्मल'

सनातन प्रश्न

प्रायः सभी सज्ञान सचेतन प्राणधारियों, मनुष्यों के जीवन में किसी न किसी समय यह प्रश्न आये बिना नहीं रहता है कि **'कोऽहं कुतः आयातः'**—मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा ? प्रश्न बहुत स्पष्ट है, लेकिन अनभिज्ञ एवं अल्पज्ञ व्यक्ति तो इस प्रश्न को किसी न किसी प्रकार टालने का प्रयास करते हैं और प्रयास करने पर भी जब सफल नहीं होते हैं, स्वयं समाधान के किसी निश्चित केन्द्र बिन्दु पर नहीं आ पाते और दूसरों की जिज्ञासाओं का समाधान नहीं कर पाते तो कह बैठते हैं—

यावज्जीवेद् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्यः पुनरागमनं कुतः ॥

जब तक रहो सुख, भोग-विलास में जीवन को बिताओ, सुख के साधन स्वयं के पास न हों तो दूसरों से उधार ले लो और उधार भी न मिलते हों तो येन-केन-प्रकारेण उन पर अधिकार कर लो किन्तु सुखपूर्वक रहो। क्योंकि इस शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः यह शरीर मिले या न मिले कुछ निश्चित नहीं है, अतः वर्तमान की उपेक्षा करके भावी के वात्याचक्र में भटकते रहना कौनसी बुद्धिमानी है ? लेकिन विवेकशील विद्वानों का यह दृष्टिकोण नहीं रहता है। अधिकांश विद्वान् विचार करके थक जाते हैं और उत्तर शायद ही पाते हैं, परन्तु उपेक्षणीय नहीं मानते हैं। क्योंकि ये प्रश्न सनातन हैं और समाधान के प्रयास भी पुरातन हैं। अतीत काल से ही यह खोज सभी देशों, सभी मतों और सभी दर्शनों में की जा रही है। दर्शनों के आविर्भाव, उत्पत्ति का यही प्रश्न मूल आधार है। दार्शनिकों ने विभिन्न रीति से उत्तर दिये हैं और अपने-अपने विचार प्रदर्शित किये हैं। इस प्रश्न पर विचार-परामर्श किये बिना उन-उन दर्शनों के आध्यात्मिक सिद्धान्त को स्थापित करना असंभव एवं कठिन है।

प्रश्न की जटिलता का कारण

प्रश्न की जटिलता के रहस्य का अन्वेषण करने पर हमें दो स्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—पहली, हमारे अन्तर में व्याप्त तत्व जिसे आत्मा कहते हैं उसे सभी आस्तिकवादी दार्शनिकों ने अच्छेद्य, अदाह्य, नित्य, सनातन माना है। दूसरी बात उसका जन्म और मरण के बीच अवस्थान है—**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च**। वेद, उपनिषद्, आगम, त्रिपिटक, अवेस्ता, बाईबिल आदि से लेकर अधुनातन वाङ्मय में इन्हीं दो बातों का विचार किया गया है। सभी का बीज प्रश्न यही है।

आत्मा की सनातनता स्वानुभाव प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी भले ही कोई उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध नहीं है', यह कहकर उपेक्षा कर दे। पर जन्म और मरण हमारे दैनंदिन अनुभव के विषय हैं, वे प्रत्यक्ष हैं। प्रतिदिन किसी न किसी के जन्म और मरण के दृश्य हम देखते रहते हैं, तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी इनके वास्तविक रहस्य से परिचित हैं। अपरिचित रहने का कारण यह है कि इन्हीं के कार्यरूप पूर्वजन्म-पुनर्जन्म और परलोक तथा इन सबका अन्तिम पर्यवसान जिसमें होता है वह अमृतत्व रूप मोक्ष इत्यादि चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रमाण गोचर नहीं हैं। इसीलिये ये विषय अनादि काल से विवादास्पद रहे हैं और जिज्ञासा के निकष पर पुनः-पुनः परीक्षणीय रहे हैं। जिसका संकेत मिलता है मुमुक्षु बालक नचिकेता द्वारा यमराज से पूछे गये प्रश्न से कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।

अर्थात् मृत मनुष्यों के विषय में यह संदेह है कि कोई तो कहते हैं, वह रहता है और कोई कहता है नहीं रहता है, इसमें सचाई क्या है ?

प्रस्तुत विषय का महत्व

विवादास्पद विषय विचारणीय होते हैं और विवाद सत्य के प्रकाशन एवं असत्य के परिमार्जन के लिये होता है, यह एक सामान्य नियम है। अतएव पुनर्जन्म, परलोक आदि ये विषय विवादास्पद हैं और विवादास्पद इसलिये हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध नहीं है। लेकिन इस विषय का विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्यक्ष प्रमाण ही विवाद के समाधान में एक मात्र प्रमाण नहीं है। प्रमाण विचार में अनुमान, शब्द इत्यादि अन्य प्रमाण और उनके पोषक अनुभव आदि भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके द्वारा आत्मा की सनातनता, अमरता तथा उसके व्याप्य पूर्व-जन्म, पुनर्जन्म तथा परलोक आदि की सिद्धि स्वतः स्वयमेव हो जाती है और उससे निकलने वाले निष्कर्ष व्यष्टि-समष्टि पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाले बिना नहीं रहते । इन्हीं के आधार पर हमारे नैतिक, धार्मिक तथा तात्त्विक या एक शब्द में कहें तो हमारे समग्र आध्यात्मिक जीवन और संस्कृति की सिद्धि होती है। इसीलिये अध्यात्मचिन्तकों और पौर्वात्य-पाश्चात्य दार्शनिकों ने इनका महत्व स्वीकार किया है तथा जीवनव्यापी स्वरूप दिया है।

हमारे संस्कार पूर्वजन्म और मरणोत्तर जीवन को मानते हैं। हमें ऐसा कभी अनुभव नहीं होता है कि हम पूर्व में नहीं थे और उत्तरकाल में नहीं रहेंगे। हमारा धर्म तथा दर्शन इहलोक तक ही सीमित नहीं है किन्तु पग-पग पर जन्मान्तर तथा परलोक को भी दृष्टि पथ में रखे हुए है। इसी प्रकार हमारा जीवन व्यापी साधनरूप धर्म मनुष्य को साक्षात् या परम्परा या आत्म-साक्षात्कार रूप परम निश्रेयस् यानी मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ की ओर ही प्रवृत्त करता है।

पुनर्जन्म और परलोक की मान्यता को भौतिकवादी पाश्चात्य दार्शनिकों ने कितना महत्व दिया है ? इसका संकेत तो यथाप्रसंग प्रस्तुत किया जायेगा, लेकिन हम भारतीयों के लिये मरणोत्तर जीवन का कितना महत्व है, यह पढ़िये भारतीयदर्शन के अनन्य प्रेमी जर्मन् विद्वान पाल डायसन के 'उपनिषद् दर्शन' नामक ग्रन्थ के निम्नलिखित अवतरण में—

'मरणोत्तर मनुष्य की क्या गति होती है ? यह प्रश्न हमें जीवात्मा के पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर ले जाता है जोकि भारतीय दर्शन का अत्यन्त मौलिक और प्रभावकारी सिद्धान्त है और जो उपनिषद काल से लेकर आज तक भारतीय चिन्तन में प्रमुख स्थान रखता है।'

पाश्चात्य विचारकों का समर्थन

पौर्वात्य और विशेषतया भारतीय दार्शनिकों ने सर्वानुमति से पूर्वजन्म और मरणोत्तर जीवन—परलोक का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि में तो आत्मा की उन्नति तथा जगत् में धार्मिक भाव, सुख-शांति के विस्तार तथा पापों से बचने के लिये परलोक और पुनर्जन्म को मानना आवश्यक है। वे अपने शोधकार्य से यह खोज निकालने में सफल हुए हैं कि मनुष्य का शरीर अस्थि-मज्जा का ढाँचा मात्र नहीं है और न रक्त-मांस के संयोग से ही बना है, किन्तु यह अनन्त अक्षय आत्मा का व्यक्तिकरण है। इस दृश्यमान भौतिक शरीर की अनेक बार मृत्यु हो सकती है और पुनरपि प्राप्ति भी। लेकिन सूक्ष्म शरीर अपनी सहज दिव्यता की प्राप्ति तक बना रहता है। यह आत्मा सुख-दुख विजय-पराजय, लाभ-अलाभ आदि के द्वन्द्वों से अनेक अनुभवों को संचित करती है, प्रतिक्षण अच्छी-बुरी शिक्षायें ग्रहण करती है और जब तक कामनाओं का संयोग बना रहता है तथा अपने सुरक्षित स्थान पर नहीं पहुँच जाती तब तक जन्म-मरण के चक्र में भटकती रहती है—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।

पाश्चात्य विचारों ने भी पुनर्जन्म के बारे में इसी तरह के विचार व्यक्त किये हैं। जिनका सारांश इस प्रकार है—

सुप्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने जो दर्शन की व्याख्या की है, उसका केन्द्रबिन्दु पुनर्जन्म माना है।

प्लेटो के सुयोग्य शिष्य अरस्तू तो पुनर्जन्म को मानने के लिये इतने आग्रहशील थे कि उन्होंने अपने सम-कालीन दार्शनिकों को संबोधित करते हुए कहा—'हमें इस मत का कदापि आदर नहीं करना चाहिये कि चूँकि हम मानव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, तथा मर्त्य हैं इसलिये हम अपने विचार मानव तथा मृत्युलोक तक ही सीमित रखें। चाहिये तो यह कि हम अपने जीवन के दैवी अंश को जाग्रत करके अमरत्व का अनुभव करने में कोई कसर न उठा रखें।'

लूथर के अनुसार भावी जीवन के निषेध का अर्थ होता है—स्वयं के ईश्वरत्व का तथा उच्चतर नैतिक जीवन का निषेध एवं स्वैराचार का स्वीकार।

फ्रांसीसी धर्म-प्रचारक मेसिलॉ तथा ईसाई संतपाल के अनुसार—देह के साथ ही आत्मा का नाश मानने का अर्थ होता है, विवेकपूर्ण जीवन का अन्त और विकारमय जीवन के लिये द्वार मुक्त करना।

फ्रेंच विचारक रेनन ने कहा है कि भावी जीवन तथा आत्मा के अमरत्व में अविश्वास का पर्यवसान मानव के भयंकर नैतिक तथा आध्यात्मिक पतन में होना अनिवार्य है।

मैकटेगार्ट के मतानुसार आत्मा के अमरत्व की साधक युक्तियों के द्वारा ही हमारे भावी जीवन के साथ ही पूर्वजन्म की भी सिद्धि हो जाती है। एक के बिना दूसरे में विश्वास तर्कसंगत और युक्तियुक्त नहीं है।

मानव वंश शास्त्री तो अपने अन्वेषणों से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मरणोत्तर जीवन में विश्वास सभ्यता के शैशवकाल से ही व्यापक रूप से प्रचलित रहा है जो कल्पना मात्र न होकर एक निश्चयात्मक तथ्य है।

आत्मा की अमरता और उसमें व्याप्य पुनर्जन्म को न मानने के कारण होने वाली हानियों की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हुए अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। जिसमें से कुछ इस प्रकार हैं—

सर हेनरी जोन्स लिखते हैं—"अमरत्व के निषेध का अर्थ होता है पूर्ण नास्तिकता। अमरत्व को स्वीकार करके ही हम पूर्णातिपूर्ण विश्वपति में तथा उसकी सुसंबद्ध एवं अर्थपूर्ण रचना में विश्वास रख सकते हैं अन्यथा यह विश्व यादृच्छिक और अविचारमूलक ही सिद्ध होगा।"

श्री प्रिंगल पैटिसन ने अपने 'अमरत्व विचार' ग्रन्थ में लिखा है—यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि मृत्यु विषयक चिन्तन ने ही मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाया है। उसके दर्शन, उसके धर्म तथा उसके सर्वश्रेष्ठ काव्य के मूल में मृत्यु तथा उसे अन्तिम तथ्य न मानने की प्रेरणा ही रही हैं।"

श्री ई० एम० मेलीन के विचारों में तो आत्मा के अमरत्व का भारतीय-चिन्तन ही गूंज रहा है। 'मानव की आत्मा' नामक ग्रन्थ में प्रगट किये गये उनके निम्नलिखित विचार मननीय हैं—

'यदि किसी कारणवश मनुष्य जाति के मन से आत्मा के अमरत्व का सिद्धान्त अपहृत हो जाये तो क्या हो ? जिस प्रकार ताश के बड़े सारे बँगले में से नीचे के एक ताश के निकाल लेने पर जैसे सारा बँगला फहराकर गिर पड़ता है, ठीक वैसे ही मनुष्य के सारे धर्म-सिद्धान्त, उसकी धार्मिक श्रद्धायें, उसकी सारी दार्शनिक प्रक्रियायें इत्यादि की बड़ी-बड़ी इमारतें क्षणार्ध में विनाश के बड़े सारे ढेर में मिल जायें। मानव जाति के मन में इस मर्त्य शरीर में रहने वाली अमर आत्मा में विश्व व्यापक रूप में पाया जाने वाला विश्वास इतना बद्धमूल है कि मानो उसे विधाता ने ही वहाँ निहित किया है।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व के सामान्य जन से लेकर सम्मान्य विद्वान विचारकों ने आत्मा की अमरता तथा पूर्वजन्म व मरणोत्तर जीवन में विश्वास व्यक्त किया है। स्वानुभव से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है। इसीलिए विश्व के सभी आस्तिक दर्शनों ने आत्मा के अतीत, वर्तमान और अनागत में धारावाहिक अस्तित्व एवं अमरता का बोध कराने के लिये पुनर्जन्म सिद्धान्त का एक स्वर से समर्थन किया है। उन्होंने कहा है कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। क्योंकि आत्मा अमर है और यह अमर आत्मा मृत्यु के द्वारा पूर्व शरीर का परित्याग कर नवीन शरीर वैसे ही धारण कर लेती है जैसे कि हम आप जीर्ण-शीर्ण वस्त्र का त्याग कर यथासमय नवीन वस्त्र धारण करते हैं।

पुनर्जन्म का कारण क्या है ?

आत्मा स्वभावतः अजर, अमर, अविनाशी है और उसकी अमरता का बोध करने के साथ-साथ पुनर्जन्म के आधार जन्म-मरण का निषेध करने के लिये कहा गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

इसके साथ ही दूसरी जगह यह संकेत भी देखने में आता है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मती है और न मरती ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाली है। क्योंकि यह अजन्मा है, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारी जाती है।

वह स्वर्गलोक के सुखों को भोगने के अनन्तर पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आती है।

इस प्रकार आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी मानकर भी जन्म-मरणधर्मा मानना एक दूसरे के विपरीत कथन है और उस स्थिति में पुनर्जन्म का आधार क्या है ? इस जिज्ञासा का समाधान करने एवं अजर आत्मा के पुनर्जन्म के आधार को स्पष्ट करने के लिए उत्तर होगा कि पुनर्जन्म का कारण कर्म है। उसका फल भोगने के लिए ही पुनर्जन्म लेना पड़ता है। वैसे तो कर्म शब्द का सामान्य अर्थ क्रिया, कर्म, व्यापार आदि है लेकिन इतने मात्र से ही कर्म का वास्तविक आशय स्पष्ट नहीं होता है। अतः कर्म शब्द में गर्भित अन्तर्रहस्य को समझने के लिए हमें इस दृश्यमान जागतिक व्यवस्था पर दृष्टिपात करना होगा।

हमारा यह दृश्यमान जगत परस्पर विरुद्ध गुणधर्म वाले दो प्रकार के पदार्थों की संरचना का परिणाम है। एक प्रकार के पदार्थ वे हैं—जिनमें ज्ञान है, इच्छाएँ हैं और सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता है और दूसरे प्रकार के पदार्थ वे हैं जिनमें प्रथम प्रकार के बताये गये पदार्थों का कोई गुण धर्म नहीं है। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में से प्रथम को सचेतन (जीव) और द्वितीय को अचेतन (अजीव) कहते हैं। जीव की प्रवृत्ति में जीव स्वयं भावात्मक और क्रियात्मक पुरुषार्थ करता है और अजीव की प्रवृत्ति साहजिक रूप से बिना किसी प्रयत्न पुरुषार्थ के होती रहती है। दोनों का शुद्ध रूप तो हमें दिखाई नहीं देता है किन्तु विविध स्कन्धों से मिश्रित अजीव अथवा अजीव संश्लिष्ट जीव को ही देखते हैं। उनके यह दृश्यमान रूप विकारजन्य हैं। विभिन्न चिन्तकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसका विचार किया है।

सचेतन और अचेतन दोनों प्रकार के पदार्थ सक्रिय हैं। उनमें अपनी-अपनी क्रिया होती है। उनके अपने अपने स्वभाव हैं। स्वभाव को वे दोनों अतिक्रमण नहीं करते हैं। अतः स्वभाव से मेल खाने वाली क्रिया और समान गुण धर्म वाला पदार्थ सजातीय कहलाता है और उससे भिन्न विजातीय। जब समान गुण-धर्म वाले पदार्थ का संयोग होता है तो उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है किन्तु विरुद्ध गुण-धर्म वाले पदार्थ के मिलते ही विकार पैदा हो जाता है और उस स्थिति में वे विकारी कहलाने लगते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि अचेतन और सचेतन दोनों प्रकार के पदार्थ सक्रिय हैं, क्रियाशील हैं अतः क्रिया के फलस्वरूप अचेतन में विजातीय द्रव्य के मिलने से विकार तो उत्पन्न होता है किन्तु वह अपनी ओर से प्रतिक्रिया नहीं करता है। जबकि सचेतन की यह अपनी विशेषता है कि विजातीय द्रव्य के साथ संयोग होने पर प्रतिक्रिया करता है। यह प्रतिक्रिया दो प्रकार की होती है—ग्रहण और त्याग रूप। ग्रहणात्मक क्रिया से विकृत और त्याग रूप क्रिया से अविकृत—शुद्ध बनता है। त्याग क्रिया से स्वभावस्थ और ग्रहण क्रिया से विकारग्रस्त होता है।

इस कथन का फलितार्थ यह हुआ कि सचेतन के लिए अचेतन विजातीय पदार्थ है और जब सचेतन के साथ अचेतन का संयोग होता है तब उसमें विकार उत्पन्न हो जाता है। इस संयोग और तज्जन्य विकार रूप कार्य को दार्शनिक भाषा में कर्म या अन्य समानार्थक शब्दों से कह सकते हैं।

कर्म शब्द के सामान्य अर्थ कार्य आदि का ऊपर संकेत किया जा चुका है। लेकिन इतने मात्र से ही कर्म का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं हो जाता है। इसीलिए दार्शनिकों ने कर्म शब्द का विलक्षण ही अर्थ किया है जिसमें क्रिया की प्रधानता तो है ही, लेकिन वह क्रिया किसकी और उससे क्या उपलब्धि होती है, इसको स्पष्ट करने के लिए बताया है कि राग-द्वेष से संयुक्त संसारी आत्मा के अन्दर प्रति समय परिस्पन्दनात्मक क्रिया होती है और उसके निमित्त से आत्मा के साथ एक प्रकार का अचेतन द्रव्य आकर्षित होता है और वह रागद्वेष का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बँध जाता है। वह संबद्ध द्रव्य समय पाकर अपना विपाकदर्शन कराता है, सुख-दुःख रूप फल देने लगता है, उसे कर्म कहते हैं। कर्म शब्द का आशय अभिव्यक्त करने के लिए दार्शनिक जगत में विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैसे माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, भाग्य आदि। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है जो कर्म में अन्तर्निहित भाव है।

आत्मा स्वभावतः यद्यपि शुद्ध-बुद्ध है और यह स्थिति संसारातीत आत्मा को होती है, लेकिन जब तक संसार में है, शरीर इन्द्रियों आदि का संयोग बना हुआ है तब तक उसमें राग-द्वेष रूप परिणति करने का भी स्वभाव है। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रागद्वेषात्मक स्वभाव के कारण वह कर्मबद्ध हो जाती है और उसके फलस्वरूप कितनी ही आत्मायें शरीर धारण करने के लिए देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों को प्राप्त होती हैं और कितनी ही स्थावर (वृक्षादि) योनियों को प्राप्त होती हैं। संसारी आत्माओं को शरीर आदि की प्राप्ति की एक क्रमबद्ध परम्परा है जिसको निम्न प्रकार से स्पष्ट समझा जा सकता है—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सुगदि॥
गदिमधगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायन्ते।
तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि॥

परलोक और पुनर्जन्म का प्रश्न संसारी आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। वह गति से गत्यन्तर कैसे होता है, वहाँ वह क्या प्राप्त करता है ? आदि का संक्षेप में ऊपर संकेत किया गया है कि जो जीव संसार में स्थित है उसके राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं इन परिणामों के होने में निमित्त बनता है उनके मन, वचन, काया का परिस्पन्दन। इन परिस्पन्दन से कर्मों का आस्रव होता है और कर्मास्रव होने से परभव सम्बन्धी गति आदि का बंध हो जाता है। जब वर्तमान भव को समाप्त करने के बाद यानी मृत्यु के उपरांत उस गति को प्राप्त करता है तो तदनुकूल शरीर की प्राप्ति होती है, उस शरीर में अंगोपांग इन्द्रियों का सुयोग बनता है। इन्द्रियों से अपने योग्य विषयों का ग्रहण होता है। यदि मनोज्ञ विषयों का ग्रहण हो गया तो राग और अमनोज्ञ विषयों का ग्रहण हुआ तो द्वेष, इस प्रकार रागद्वेष का क्रम चलता रहता है और इन राग-द्वेष रूप भावों से **पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्** इस प्रकार जन्म-मरण रूप संसार का चक्र अपनी अबाधगति से चलता है।

इसी बात को विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने शब्दों में स्पष्ट किया है। जैसे कि सांख्य दार्शनिकों ने कहा है कि **आत्मनो भोगायतनं शरीरम्**—इस जीव को सुख-दुःख के भोगों के लिए बार-बार एक शरीर से दूसरे शरीर में भटकना पड़ता है। यदि जन्म-जन्मान्तर नहीं होते तो जीव की अनेक अवस्थाएँ देखने में क्यों आतीं ? जन्मादि की व्यवस्था से ही यह सिद्ध होता है कि पुरुष (जीव, आत्मा) बहुत हैं। जन्मना कर्म और कर्मणा जन्म शृंखलाएँ चलती रहती हैं। ये सिलसिले मोक्ष तक बने रहते हैं। यह अनेकत्व बद्ध-पुरुषों की अपेक्षा होता है मुक्त-पुरुषों की अपेक्षा नहीं।

महर्षि पतंजलि ने भी कर्म को पुनर्जन्म का कारण मानते हुए कहा है कि **'सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** अर्थात् अविद्या आदि क्लेशों की जड़ रहने तक उस कर्माशय का परिणाम जन्म, आयु और भोग होता है। निश्चित काल तक किसी जीवात्मा का एक शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहना आयु कहलाती है और इन्द्रियों के विषय रूप, रस, गंध शब्द और स्पर्श ये भोग हैं। क्लेश जड़ हैं और उन जड़ों से कर्माशय वृक्ष वृद्धिगत होता है। उस वृक्ष में जन्म, आयु और भोग यह तीन प्रकार के फल लगते हैं। यह वृक्ष तभी तक फल देता रहता है जब तक अविद्या आदि जड़ें विद्यमान रहती हैं। उनसे संस्कार उत्पन्न होते हैं। इन संस्कारों के फलस्वरूप जन्म, आयु, भोगरूप फल भोगने के लिए विभिन्न योनियों में जाना पड़ता है।

अन्य दार्शनिकों ने भी इसी प्रकार पुनर्जन्म के लिए कारण रूप में कर्म को मान्यता दी है और जन-साधारण की धारणा को सन्त तुलसीदास के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—

करम प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा।

पूर्वोक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि आत्मा का यथार्थ स्वभाव चिन्मय है, न किसी का कार्य है और न कारण, न विकार है और न विकारी। लेकिन अनादिकालीन राग द्वेष-रूप परिणति के कारण जन्म-मरण के निमित्त-भूत कर्मों को करती हुई जन्म-मरण के चक्र में पड़ी रहती है। इसके फलस्वरूप कभी सुख भोगती है तो कभी दुःख, कभी राजा तो कभी रंक की स्थिति में पहुँचती है, कभी देव योनि तो कभी कीट पतंग आदि क्षुद्र पशु योनियों, कभी ब्राह्मण तो कभी शूद्र, कभी बलवान तो कभी निर्बल, कभी सुरूप तो कभी कुरूप आदि न जाने कितनी-कितनी विविध उच्च-नीच योनियों और स्थितियों को प्राप्त करती रहती है। इन स्थितियों के अनुभव से पुनर्जन्म के कारणभूत शुभाशुभ कर्मों की स्थिति स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

पुनर्जन्म मानने का कारण

मान लिया कि कर्म फलभोग के लिए इन शरीर-इन्द्रियों आदि की प्राप्ति होती है। लेकिन प्रश्न होता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि पुनर्जन्म क्यों मानना चाहिए ? क्योंकि कर्म किया और उसका उसी समय फल मिल गया तो यह कैसे माना जा सकता है कि कर्मफल-भोग के लिए जन्मान्तर होना भी आवश्यक है ? और यदि जन्मान्तर, पुनर्जन्म मान भी लिया तो उससे क्या लाभ ?

अनात्मवादियों, प्रकृतिवादियों या विकासवादियों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। यदि हम पूर्वजन्म और उत्तरजन्म से निरपेक्ष वर्तमान जीवन को ही जीवन का प्रथम प्रवेश मान लें तो हमारी चेतना परिमित हो जाती है। परन्तु यह सभी स्वीकार करते हैं कि आध्यात्मिक तथा बुद्धिजीवी प्राणी होने के कारण मनुष्य को अपनी सीमितताओं का अतिक्रमण करना चाहिए। वह ससीम में कभी सन्तुष्ट नहीं हुआ है और अतिक्रमण ही उसके जीवन की सच्ची महत्ता है। हमारे अन्तर में व्याप्त चेतना अनावृत्त चेतना का अंश नहीं है। किन्तु उतनी ही परिपूर्ण और क्षमता वाली है। वह भी उसी के समकक्ष है। विश्वव्यापकता की धारणा एक नया उन्मेष, उत्साह अभिव्यक्त करती है और उस अदम्य आकांक्षा के साथ आगे बढ़ती है कि व्यक्ति के रूप में हमारे इस वर्तमान भौतिक प्राकट्य से पूर्व भी हमारा अस्तित्व था एवं इसके उत्तरवर्ती काल में भी रहेगा।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म न मानने का अर्थ होता है कि हमारा वर्तमान जीवन आकस्मिक है, वह यदृच्छा से, बिना किसी कारण के और बिना किसी उद्देश्य के होता है और वैसे ही उसका अन्त हो जाता है। इसका आशय यह हुआ कि यहाँ कार्यकारण भाव संबंध ने विराम ले लिया। किन्तु यह विश्व यदृच्छा-परिणाम नहीं है, बल्कि सुसम्बद्ध, सुव्यवस्थित अतएव कार्यकारणभाव से बद्ध है। यदि यह जन्म है तो इसका कोई कारण होना चाहिए और वह इस जन्म से पूर्व ही होना चाहिए। क्योंकि कारण का स्वरूप ही यह है कि वह कार्य के नियत क्षण से पूर्ववर्ती हो। इसी प्रकार यदि यह जन्म है तो भावी जन्म भी अवश्य होना चाहिए क्योंकि वर्तमान जन्म में भावी जन्म के बीज बोये जाते हैं और यह अज्ञानमूलक भवचक्र तब तक चलता रहता है, जब तक यथार्थ ज्ञान के द्वारा उसका आत्यन्तिक उच्छेद नहीं हो जाता है।

हमारा वर्तमान जन्म ही हमारे पूर्व जीवन और मरणोत्तर अस्तित्व को सिद्ध करता है और उसके लिए यह अबाधित सिद्धान्त पर्याप्त प्रमाण है—**'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः'** असत् का कभी भाव (उत्पाद) नहीं होता है और सत् का कभी अभाव (विनाश) नहीं हो सकता है। पाश्चात्य विचारकों ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है तथा भौतिक विज्ञान के अनुसार जगत् में किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता है किन्तु रूपान्तर मात्र होता है। विज्ञान शक्ति के संरक्षण सिद्धान्त में और पदार्थ की अनश्वरता के सिद्धान्त में विश्वास करता है। जब जगत के जड़ पदार्थों की यह स्थिति है तब आत्मा के भी पदार्थ होने से उसकी धारावाहिक अनश्वरता स्वयमेव सिद्ध होनी चाहिए। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म तो उसके रूपान्तर मात्र हैं।

प्राणिमात्र में जिजीविषा की उत्कट आकांक्षा के दर्शन होते हैं। लेकिन इसके साथ मरणभय का भी उनसे सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। संसार के समस्त भयों में यदि कोई सबसे बड़ा भय है तो वह मरण का भय हो सकता है। कोई भी प्राणी नहीं चाहता कि मेरा मरण हो। लेकिन इसके अस्तित्व को नकारा नहीं जाता है। फिर भी आज जो हम विकास, कला, संस्कृति, स्थापत्य आदि के प्रांजल रूप का दर्शन करते हैं तो उसके पीछे यह विश्वास है कि मरण शरीर का होता है। मरण शरीर को नष्ट कर सकता है और मैं तो सदैव रहने वाला हूँ—**सम्भवामि युगे युगे**। यह विश्वास बना कैसे ? यदि इसके कारण की मीमांसा करने जायें तो स्पष्ट हो जायेगा कि पुनर्जन्म के अवलम्बन से जीवितेच्छा की पूर्ति होती रहती है। समय पड़ने पर शरीरोत्सर्ग करने में भी हिचकिचाहट नहीं होती है।

विश्व के सभी धर्मों और धर्माचार्यों, चिन्तकों ने हमें यही आस्था रखने का उपदेश दिया है कि पृथ्वी का यह हमारा वार्तमानिक जीवन अतीत के अनेक जीवनों के पश्चात् हमें इसके बाद के अनन्त और उच्च जीवन के लिए तैयार करने वाला एक पड़ाव है। हमने यदि इस उपदेश पर ध्यान दिया तो हमें जन्मों और अवसानों की निरन्तरता पर विश्वास करना ही पड़ेगा। क्या इस शरीर में हमारे अस्तित्व के केवल एक सीमित दायरे के कुछ एक अनुभवों पर हमारे अनन्त जीवन को निर्भर किया जा सकता है ? और ऐसा करना क्या युक्तिसंगत भी होगा ? अमरता का कोई भी सिद्धान्त प्राक्अस्तित्व को अनिवार्य मानकर ही आगे बढ़ सकता है। वैयक्तिक अमरता पर आस्था रखने वाले यदि पुनर्जन्म को स्वीकार कर लें तो उनके विश्वास का युक्तिसंगत आधार अधिक पुष्ट हो सकता है। उस स्थिति में शरीर से भिन्न दीर्घकालव्यापी आत्मा का अस्तित्व मानना ही होगा जो एक ऐसी विकासमान प्रक्रिया में संलग्न है जिसे अनेक जन्मगत शरीरों की आवश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे जन्म को एक आकस्मिक घटना मात्र मानने वाली धारणा से अपने आपको उन्मुक्त करना एक बौद्धिक आवश्यकता है। इसी कारण अनेक अस्तित्वों की आधारभूत धारणा का यह सिद्धान्त कि आत्मा का अस्तित्व सदैव रहेगा, हमारी विचार-शक्ति को बहुत उच्च एवं उत्साहप्रद प्रतीत होता है। यदि हमारे पूर्वजन्मों के हमारे अपने किये हुए कर्मों से ही हमारे वर्तमान जीवन की स्थितियों का निर्धारण होता है तो यह हमारे दुर्भाग्य-जनित दुखों से त्राण करने के साथ भावी को सुखद बनाने के पुरुषार्थ को करने की प्रेरणा देता है और यह चिन्तन करने को अवसर देता है कि यह अवसर प्रच्छन्न सौभाग्य को अनावृत करने वाला हो।

यदि हमारे भाग्य निर्माण में हमारा अपना कोई हाथ नहीं है, किन्तु सब कुछ नियति पर निर्भर है तो भलाई, बुराई, नैतिकता, अनैतिकता आदि की सभी संहितायें व्यर्थ हैं और तब आशा का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि सम्पूर्ण सुख का मूल आशा ही है। आशा के सहारे ही मनुष्य वर्तमान की विकट से विकट परिस्थिति में भी अपने प्रयत्नों से विराम नहीं लेता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने न केवल हमारे बीच पाई जाने वाली व्यापक विषमताओं की एक न्याययुक्त व्याख्या हमारे सामने प्रस्तुत की है किन्तु हमारे लिए भावी विकास एवं उन्नति का मार्ग भी खुला रखा है कि यद्यपि आज की स्थिति हमारे पूर्वजन्मों का परिणाम है किन्तु भावी परिस्थितियों का निर्माण हमारे अपने कर्मों पर निर्भर है। भले ही अतीत में हम प्रमादवश अपने जीवन को संवार न पाये हों, लेकिन वर्तमान हमारा है। इसको हम जैसा बनायेंगे, उससे वर्तमान सुखद होने के साथ अनागत भी स्वर्णिम होगा। इसलिए ज्योंही इस पुनर्जन्म को स्वीकार कर लेते हैं त्योंही हमारे सम्पूर्ण सुख-दुःख का कारण हमारी समझ में आ जाता है और हम अपने भविष्य के बारे में आश्वस्त हो सकते हैं।

यह सत्य है कि शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप अच्छी-बुरी योनियों में जन्म होता है। यदि शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप अच्छी-बुरी योनियों में जन्म होना न माना जाये तो इस जैविक सृष्टि में विविधतायें ही नहीं होतीं और उसी स्थिति में या तो सभी प्राणियों को मनुष्य ही होना चाहिये था या अन्य कोई शरीरधारी। लेकिन विविधतायें दृष्टिगोचर हो रही हैं और यह प्राणी कभी क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण या कभी चाण्डाल कुल में जन्म लेता है। कभी देव, नारक, वर्णसंकर आदि कहलाता है। इतना ही क्यों? कभी कीट, पतंगा, कुंथुआ या चींटी तक होता है और इस प्रकार कृत-कर्मों के अनुसार योनि, शरीर आदि प्राप्त करके कर्मविपाक को भोगता रहता है। इस मान्यता से व्यक्ति और समाज दोनों को लाभ होता है और वह लाभ है व्यक्ति की बुरे कार्यों की ओर प्रवृत्ति न होना और अच्छे कार्यों में प्रवृत्त होना—**असुहादोविणवित्ति सुहे पवित्ती**। यह स्थिति तभी बनेगी जब पुनर्जन्म माना जायेगा।

पुनर्जन्म में आस्था रखने वाला तो प्रत्येक स्थिति में यही अनुभूति करता है—मेरी जैसी ही आत्मा सबकी है और उनकी जैसी ही मेरी आत्मा है। उनकी और मेरी आत्मा के गुणों, शक्ति आदि में समानता है, किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। वे भी अपने अध्यवसाय द्वारा नर से नारायण बन सकते हैं। मेरी आत्मा की वर्तमान स्थिति कैसी भी हो लेकिन भूतकाल में अन्य जीवों जैसी हुई है और भविष्य में भी हो सकती है। जीव मात्र किसी न किसी समय परस्पर निकट सम्बन्धी रहे हैं और भविष्य में भी बन सकते हैं। लेकिन ये संसार के नाते-रिश्ते ठीक उसी प्रकार के हैं, जिस प्रकार समुद्र में तरंगों से टकराकर आये हुए दो काष्ठ कभी एक-दूसरे से मिल जाते हैं। इसलिये किससे द्वेष करूँ और किससे राग करूँ? मेरे लिये तो सभी प्राणी आत्मीय हैं और उनके साथ प्रेम सौहार्द है। इस प्रकार जो मनुष्य सब प्राणियों में अपने को और स्वयं में सब प्राणियों को देखता है—**आत्मवत् सर्वभूतेषु**, वह कभी भी किसी से घृणा, द्वेष, बुरा, बर्ताव नहीं करता है। क्योंकि आत्मतुल्य मानने वाले व्यक्ति के लिये सभी प्राणी अपने आत्मस्वरूप ही हो जाते हैं। यह मान्यता और विश्वास तभी बनता है जब आत्मा की अजरता, अमरता में आस्था होने के साथ पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की शृङ्खलाबद्ध धारा में निष्ठा हो।

परलोक तथा पुनर्जन्म के प्रति आस्था रखने के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि उसका सुख-दुःख, श्रेष्ठत्व, कनिष्ठत्व, सद्गुणों का सद्भाव-असद्भाव आदि सब उसी के पूर्वजन्मों में किये गये कर्मों के परिणाम हैं और इस जन्म में यदि वह अपने कर्मों में और अधिक सुधार करले तो इह व पर जन्म में और अधिक श्रेष्ठ एवं सुखी बन सकता है। इसके साथ उसे यह भी विश्वास हो सकता है कि जीवन का चरम लक्ष्य—मोक्ष इस जन्म में प्राप्त नहीं हो रहा है, लेकिन ऐसा नहीं है कि उसे मैं प्राप्त न कर सकूँ। उचित प्रयत्न में रत रहने से वह आने वाले जन्मों में अवश्य प्राप्त होगा।

पुनर्जन्म को मानने के लाभों का यदि संक्षेप में संकेत करें तो यह होगा कि किसी भी एक वर्तमान जन्म में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी कर्म करता हुआ जब थक जाता है तो वह कर्मों के भार से थकित होकर हीनता का अनुभव करने लगता है और उस अवस्था में उसके सामने घोर निराशा छा जाती है। लेकिन पुनर्जन्म होने से जीव इस आशा में रहता है कि हमें वर्तमान शुभ कर्मानुसार पुनः सुखोपभोग का अवसर मिलेगा और आत्मबल का संचार होते रहने से वह निरंतर कर्मयोगी की भांति कर्म करता रहता है। वह अपने बारे में विश्वास रखता है कि तू तो अमृत का पुत्र है—**अमृतस्य पुत्राः** और उसका लक्ष्य रहता है—**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**—तू उठ ! अपनी अनादि अविद्याजन्य मोहनिद्रा को छोड़ और अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान; आत्मज्ञान प्राप्त कर।

मरणभय का कारण

जब यह निश्चित है कि नित्य स्वयं प्रकाश ज्ञान ही आत्मा का स्वभाव है, परमानन्द उसका स्वभाव है। मैं सदैव बना रहने वाला हूं। तब यह प्रश्न होता है कि यदि स्वरूपतः अमर हैं तो हमें मरने से भय क्यों लगता है और सदैव बने रहने की इच्छा क्यों होती है ? प्रियजन के जन्म पर खुशियां और मरण होने पर विलाप क्यों किया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि अज्ञान, अविद्या, मोह, माया के प्रभाव से हम अपने अजर, अमर, सच्चिदानन्द स्वरूप को स्वप्नवत् समझ कर भूल जाते हैं और दृश्यमान जगत् में सत्यबुद्धि रख कर देहादि अनात्म-पदार्थों के साथ मिथ्या तादात्म्य स्थापित कर बैठे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम अपने अमरत्व को अनात्म-पदार्थों पर आरोपित करके उनको शाश्वत और उनके विनश्वर स्वरूप को स्वयं पर आरोपित करके अपने आपको मरणशील समझने लगते हैं। अज्ञान का तो यह स्वभाव ही होता है। लेकिन स्वानुभव और शास्त्र इस आत्मस्वरूप विषयक अज्ञान को दूर करके सदैव यह आह्वान करते हैं कि हे मानव ! तू न तो मर्त्य है और न जड़ है एवं न नियति-परतन्त्र है। आत्मस्वरूप सत् यानी त्रिकालाबाधित है। इसीलिये ज्ञानीजनों ने मृत्यु को महोत्सव की संज्ञा दी है और वे मृत्युंजयी होकर शाश्वत अमरता को प्राप्त करते हैं।

अब प्रश्न होता है कि मृत्यु पर विजय-प्राप्ति के साधन क्या हैं ? इसके साधन के रूप में विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। लेकिन उन सभी के कथन का सारांश यह है कि अनात्मा में आत्मबुद्धि का परित्याग और निराकरण सत्ता की उपलब्धि होने पर मृत्यु पर विजय प्राप्त हो जाती है। उस स्थिति में न तो जन्म है और न प्रलय है।

पुनर्जन्म के साधक प्रमाण

उपर्युक्त कथन से अभी तक हम यह समझ चुके हैं कि आत्मा सनातन है, लेकिन जन्म और मरण रूप उसकी स्थिति कर्मकृत है। जब तक निःशेष रूप से कर्मक्षय नहीं हो जाता है तब तक जन्म और मरण का चक्र चलता रहेगा। अब यहाँ कुछ ऐसे प्रमाण व प्रश्न प्रस्तुत किये जाते हैं जिनका समाधान पुनर्जन्म माने बिना नहीं हो सकता है।

१. हम देखते हैं कि माता-पिता के आचार, विचार, व्यवहार, पारिवारिक वातावरण आदि से भी कभी-कभी बालक के आचार-विचार विलक्षण ही होते हैं। माता-पिता सरल, धर्मात्मा, न्याय-नीति से जीवन-व्यवहार चलाते हैं, लेकिन उनकी संतान क्रूरता, हिंसा, बेईमानी में आनन्द मानने वाली होती है। माता-पिता बिलकुल अपढ़ होते हैं, लेकिन बालक इतना कुशाग्र बुद्धि कि बड़े-बड़े विद्वानों में उसकी गणना की जाती है। किन्हीं-किन्हीं माता-पिताओं की रुचि जिस बात पर बिलकुल नहीं होती है, किन्तु बालक उसमें सिद्धहस्त बन जाता है। यह सब कैसे होता है और इस प्रकार की विभिन्नता का कारण क्या है ? इसके लिये आस-पास की परिस्थिति ही कारण नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि समान परिस्थिति और देखभाल बराबर होते रहने पर भी अनेक विद्यार्थियों में विचार और व्यवहार की भिन्नता देखी जाती है। यह भी देखने में आता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और चाहते हैं कि वैसी ही योग्यता सन्तान में भी आये, लेकिन उनके लाख प्रयत्न करने पर भी पुत्र-पुत्री आदि संतान निरी गंवार रह जाती हैं।

२. यह तो प्रत्यक्ष है कि एक साथ युगल रूप से जन्मे हुए दो बालक भी समान नहीं होते हैं। दोनों की समान रूप से बराबर देखभाल होने, शिक्षा-दीक्षा के संस्कार सिंचन करने पर भी एक साधारण रहता है और दूसरे की विद्वत्ता एवं प्रतिभा को संसार सम्मानित करता है। एक को देखकर खुशी होती है और दूसरे को देखना भी लोग पसंद नहीं करते हैं, घृणा करते हैं। एक दीर्घजीवी होता है और दूसरा प्रयत्न करने पर भी यम का अतिथि बनने से नहीं बचाया जाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक स्वस्थ और बलिष्ठ होता है तो दूसरे का रोग से पीछा नहीं छूटता है। जो शक्ति-प्रतिभा और विलक्षणता महावीर, बुद्ध आदि में थी वह उनके माता-पिता में नहीं थी। इसी प्रकार के और दूसरे भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिन पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सब विलक्षणतायें न तो वर्तमान जीवन की कृति का परिणाम हैं और न वातावरण, परिस्थिति आदि का और न माता-पिता के संस्कारों का। यह सब तो गर्भ के समय से भी पूर्व मानने की ओर संकेत करती हैं। वही वर्तमान की अपेक्षा पूर्वजन्म है। पूर्वजन्म में इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार अर्जित किये हैं, उन्हीं के आधार पर इन सब प्रश्नों और विलक्षणताओं का सही समाधान प्राप्त किया जा सकता है। जिस युक्ति से एक पूर्वजन्म सिद्ध हो जाता है तो उसी से अनेक पूर्वजन्मों की परंपरा भी सिद्ध हो जाती है।

३. यह नियम तो सभी जानते हैं और अनुभूत स्थिति है कि क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्यतः होती है। हमें यह प्रत्यक्ष रूप से अनुभव होता है कि जो जैसा करेगा, वैसा फल उसे भोगना पड़ेगा—'**कर्मायत्तं फलं पुंसाम्**' प्रत्येक कर्म का तदनुरूप फल भोगना ही पड़ता है। हमारे जीवन व्यवहार में अनेक प्रकार के कर्म होते रहते हैं, मन, वाणी, शरीर द्वारा निरंतर कर्म प्रवृत्ति होती रहती है। जिनमें से कुछ तत्काल फल देने वाली और कुछ विलंब से और कुछ प्रवृत्तियां ऐसी होती हैं जिनका फलभोग इसी जन्म में नहीं किया जाता है किन्तु जन्मान्तरों में किया जा सकता है। जिसके लिये प्रमाण है तथागत बुद्ध का यह कथन—

इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तस्य कर्म विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः॥

—अब से इक्यानवे कल्प पहले मेरी शक्ति (शस्त्र) द्वारा एक पुरुष मारा गया था। उसके कर्म-विपाक से हे भिक्षुओ! मेरा पैर काँटे से बींधा गया है।

४. यह बात तो अनुभव विरुद्ध है कि इह जीवन समाप्त हो जाने के साथ समस्त कर्म भी समाप्त हो जाते हैं, किंतु उसके बदले यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि कर्म कभी निष्फल नहीं होता है और न किए हुए कर्मों का फलभोग किये बिना मुक्ति होती है। इस स्थिति में अभुक्त कर्मों का फलभोग जीव कब करेगा या कर सकता है? तो उत्तर होगा कि जन्मान्तर में उनका फलभोग करेगा। चाहे फिर वह जन्मान्तर निकट भविष्य का हो या उसके बाद का या सुदूर अनागत का और फलभोग के लिये जो भी जन्मान्तर होगा, उसी का दूसरा नाम पुनर्जन्म है।

५. कोई भी संतान माता-पिता के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती है, ऐसा कार्यकारण, जन्य-जनक भाव प्रत्यक्ष सिद्ध है। यदि किसी के माता-पिता जन्मते ही काल-कवलित हो गये हों तो उनके प्रत्यक्ष न होने के कारण क्या उनका अस्तित्व न माना जायेगा? यदि इसका उत्तर हाँ में दिया जाये तो संतान आयी कहाँ से? उसका जन्म हो कैसे गया? यही तर्क पितामह प्रपितामह आदि के संबंध में भी दिया जा सकता है। केवल प्रत्यक्ष से समस्त विश्व के वर्तमान पदार्थ सिद्ध नहीं होते हैं, उनकी सिद्धि के लिये भी जब अनुमान आदि प्रमाण माने जाते हैं तो अतीत अनागत तत्त्वों को सिद्ध करने के लिये अनुमान आदि को मानना ही पड़ेगा।

६. शरीर की तरह, आत्मा का परिवर्तन नहीं होता है। शरीर में अवस्थानुसार परिवर्तन देखा जाता है। बाल्यावस्था में हमारे सभी शरीरावयव कोमल और छोटे होते हैं, कद भी छोटा होता है, स्वर भी मीठा होता है, वजन भी कम होता है। लेकिन जब युवावस्था आती है तथा हमारे अंग पहले से कठोर और बड़े हो जाते हैं, आवाज भारी हो जाती है, कद लंबा हो जाता है, वजन बढ़ जाता है, दाढ़ी मूंछ आ जाती है। इसी प्रकार बुढ़ापे में हमारे अंग शिथिल हो जाते हैं, शरीर की सुन्दरता नष्ट हो जाती है। बाल काले से सफेद हो जाते हैं, दाँत गिर जाते हैं शारीरिक और ऐन्द्रियक शक्ति क्षीण हो जाती है। परन्तु शरीर में होने वाले इन परिवर्तनों के बाद भी आत्मा नहीं बदलती है। जो आत्मा पूर्व में थी वही इस समय भी रहती है, उसमें परिवर्तन नहीं होता है और इसका प्रमाण है कि आज से दस बीस वर्ष पहले हमारे जीवन में घटी घटनाओं का भी हमें स्मरण रहता है। यदि आत्मा में भी परिवर्तन हो जाता है तो उनका स्मरण नहीं रहना चाहिये था। इससे मालूम पड़ता है कि स्मरण करने वाले दो अलग-अलग व्यक्ति नहीं हैं, बल्कि एक ही व्यक्ति है। अतः जिस प्रकार वर्तमान शरीर में परिवर्तन होने पर भी आत्मा नहीं बदली, उसी प्रकार मरने के बाद दूसरा शरीर मिलने पर भी आत्मा नहीं बदली है। इससे भी परलोक और पुनर्जन्म होने की क्रमबद्धता सिद्ध होती है।

७. बालक जन्मते ही रोने लगता है और जन्मने के बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है और कभी भयभीत होते देखा जाता है। जब माता उसे मुख में स्तन देती है तो उससे दूध खींचने लगता है। बालक के ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब क्रियाकलाप पूर्वजन्म की सूचना देते हैं। क्योंकि इस जन्म में तो तत्काल उसने ये सब बातें सीखी नहीं। पूर्व-जन्म के अभ्यास से ही ये सब बातें उसमें स्वाभाविक ही होने लगती हैं। पूर्वजन्म में अनुभूत सुख-दुःखों का स्मरण करके ही वह हँसता और रोता व भयभीत होता है। पूर्व में अनुभव किये हुए मृत्यु भय के कारण ही वह काँपने लगता है तथा पूर्वजन्म में किये हुए स्तन्यपान के अभ्यास से ही माता के स्तन का दूध खींचने लगता है। इन सब प्रवृत्तियों से पूर्वजन्म की ही सिद्धि होती है।

पूर्वोक्त प्रमाणों से पुनर्जन्म की सिद्धि हो जाती है तथा आये दिन सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में पुनर्जन्म सम्बन्धी समाचार पढ़ने में आते हैं। जो पुनर्जन्म के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। फिर भी वर्तमान शरीर तक ही आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जाये तो अनेक नये-नये प्रश्न पैदा हो जाते हैं, जिनका समाधान पुनर्जन्म न मानने पर व्यक्ति का उद्देश्य इतना संकुचित और कार्यक्षेत्र इतना सीमित हो जायेगा कि जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। चेतना की मर्यादा वर्तमान शरीर के अन्तिम क्षण तक मान लेने से व्यक्ति को महत्वाकांक्षा तो एक तरह से छोड़ देनी पड़ती है। क्योंकि मैं सदा कायम रहूँगा, इस जन्म में न सही, लेकिन अगले जन्म में अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करूँगा—यह भावना मनुष्य के हृदय में जितना बल व उत्साह प्रगट करती है, उतना बल व उत्साह अन्य कोई भावना प्रकट नहीं कर सकती है। इस भावना को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है और न यह मिथ्या है। उसका आविर्भाव स्वाभाविक एवं सर्वविदित है।

पुनर्जन्म : विभिन्न दर्शनों का दृष्टिकोण

पुनर्जन्म है, पुनर्जन्म होने का क्या कारण है और पुनर्जन्म मानने से क्या लाभ है आदि की संक्षेप में जानकारी कराने के बाद अब विभिन्न दर्शनों व धर्मों का पुनर्जन्म संबंधी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। सभी आत्मवादी दर्शनों ने पुनर्जन्म को निर्विवाद सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया है अतः उनके विचारों को संक्षेप में और एक जन्मवादी होकर भी पुनर्जन्म मानने के लिये प्रेरित हुए दर्शनों के दृष्टिकोण का कुछ विशेष रूप में उल्लेख किया जा रहा है।

पौर्वात्य दर्शनों और धर्मों में वैदिक, बौद्ध और जैन ये तीन प्रमुख हैं। सांख्य-योग-वैशेषिक आदि वैदिक दर्शन के उपभेद हैं। इनके मूल आधार वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थ हैं। उपनिषदों में जो कुछ भी वर्णन किया गया है, उसका लक्ष्य आत्मा और उसकी विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान करना है। उनमें आगत चिन्तन और कथानक आत्म विचार के चित्र हैं, जिनसे पुनर्जन्म सिद्धांत की ही पुष्टि होती है। लेकिन वेदों में भी ऐसी ऋचायें हैं, जिनसे पुनर्जन्म सिद्धांत की पुष्टि हो जाती है। जैसे कि ऋग्वेद १०।५९।६७ में बताया गया है कि परमात्मा प्राण रूप जीव को भोग के लिये एक देह से दूसरी देह तक ले जाता है। अतः प्रार्थना है कि वह हमें अगले जन्मों में सुख दे, ऐसी कृपा करे कि सूर्य-चन्द्र आदि हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध हों। अथर्ववेद तो ऐसे मन्त्रों से भरा पड़ा है कि जिनसे पुनर्जन्म सिद्धांत पर किसी न किसी रूप में प्रकाश पड़ता है। उनमें कहीं तो आगामी जन्म में विशिष्ट वस्तुएँ पाने की प्रार्थना की गई है तो कहीं यह कहा गया है कि पूर्वजन्म के श्रेष्ठ कनिष्ठ कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा नवीन योनियों को धारण करती है। इसके लिये देखिये अथर्ववेद ७।६७।१, ५।१।२। यजुर्वेद ४।१५, १९।४७ आदि मन्त्रों में जीवात्मा के आगमन की बात कही गई है। वहाँ कहा गया है कि जीवात्मा न केवल मानव या पशु योनियों में जन्म लेती है, किंतु जल, वनस्पति, औषधि आदि नाना स्थानों में भ्रमण और निवास करती हुई बार-बार जन्म धारण करती है।

सांख्यदर्शन में बताया है कि जो रसादि की अनुभूति करता है, पूर्वकृत को भोगता है और जो अतीत में था एवं वर्तमान में भी है, वही आत्मा है। उसके किए हुए कर्म नष्ट नहीं होते हैं और वे बाद में भी फल देते रहते हैं। सभी कर्मों का फल तत्काल नहीं मिल जाता है, इस जगत में जो कर्म किये हैं उनका भोग यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। इसीलिये शेष कर्म फलभोग के लिये दूसरा जन्म होता है और लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर) ही एक दृश्य देह को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। न्यायदर्शन भी यही कहता है कि आत्मा के नित्य होने से जन्मान्तर की सिद्धि हो जाती है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि जन्मान्तर होने से आत्मा की नित्यता सिद्ध है—**आत्मनित्यत्वं प्रेत्य भाव सिद्धि** (न्यायसूत्र ४।१।१०) और जन्मान्तर का कारण है पूर्वकृत कर्मों के भोग के लिये जन्मान्तर, पुनर्जन्म मानना ही पड़ेगा—**पूर्वकृत फलानुबंधनात्-तदुत्पत्तिः** (३।२।६४)। जब मनुष्य शरीर का त्याग करता है, तब इस जन्म की विद्या, कर्म, पूर्व प्रज्ञा या वासना आत्मा के साथ जाती है और इसी ज्ञान एवं कर्म के अनुसार नवीन जन्म होता है। योग दर्शन की पुनर्जन्म विषयक दृष्टि का पूर्व में संकेत किया जा चुका है तथा यह आत्मा, इन्द्रियों और अहंकार तीनों को व्यापक मानता है और अहंकारादि से युक्त वासनाओं के कारण ही फलोपभोग के लिये पुनर्जन्म होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मीमांसादर्शन में पुनर्जन्म का समर्थन करते हुए जीवात्मा के स्थान पर अतिवाहिक अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाने वाले देहाभिमानी-देवता का संकेत किया है। वैशेषिक दर्शन आत्मा को सर्वव्यापी मानता है लेकिन पुनर्जन्म के संबंध में उसकी मान्यता है कि मन के द्वारा जो अणु रूप है, एक शरीर से शरीरान्तर की प्राप्ति होती है।

गीता में अनेक प्रसंगों पर परलोक और पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि श्रीकृष्ण अर्जुन को संबोधित करते हुए कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिः धीरस्तत्र न मुह्यति॥"

—न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था या तू नहीं या अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे भविष्य में हम सब नहीं रहेंगे। जैसे जीवात्मा की इस देह में बाल्य, युवा और वृद्धावस्थायें होती हैं, वैसे ही अन्य शरीर की भी प्राप्ति होती है। अतएव इस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होते हैं।

वेदान्तदर्शन के प्रमुख आचार्य निम्बार्क ने पुनर्जन्म और उसके कारण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीवात्मा अजर, अमर और अविनाशी है। किन्तु उसे अपने अनादि कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं। उनके द्वारा वह शुभाशुभ कर्मों के फल भोगती है और पूर्व कर्मों के अनुसार कर्म करती है। समय पाकर उनका वियोग हो जाता है। इस प्रकार जब तक जीवों के कर्म एवं उनके संस्कार बने रहते हैं तब तक जन्म-मरण रूपी संसृति चक्र चलता रहता है। पराभक्ति द्वारा कर्मों की निवृत्ति और मुक्ति हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता है।

पुनर्जन्म के समय जीवात्मा अपने पूर्व शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर को इस प्रकार धारण करता है जिस प्रकार कोई जीवित व्यक्ति फटे-पुराने वस्त्रों को त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है। इस नवीन शरीर को धारण करने के दो मार्ग हैं—१. धूमयान (कृष्ण गति) २. देवयान (शुक्ल गति अर्चि मार्ग)ज्ञानी जन तो अर्चि मार्ग से देहान्तर प्राप्ति के लिये जाकर मुक्त हो जाते हैं। उनके कर्मबन्धन समाप्त हो जाते हैं, जिससे उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। इष्ट-पूतादि सकाम कर्मों में निरत रहने वाले जीव धूमयान (कृष्णगति) से जाते हैं और पुण्य-पाप का फल भोग कर पुनः लौट आते हैं। इन दोनों मार्गों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग और है—**जायस्व म्रियस्व**-अर्थात् प्रतिदिन जन्मना और मरना। यह मार्ग क्षुद्र जन्तुओं का होता है। उनका उत्क्रमण न देवयान से होता है और न पितृयान से। जीवात्मा जब अपने पूर्व स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करती है, तब सूक्ष्म शरीर के साथ जाती है और उसके सहयोग से प्राप्त शरीर आदि के योग्य सामग्री का संचयन करने की ओर अग्रसर हो जाती है।

वैष्णवाचार्यों का मन्तव्य है कि अजर, अमर, अविनाशी आत्मा को अनादि अविद्या के कारण होने वाले पुण्य-पाप कर्म प्रवाह के फलों को भोगने के लिये देव, मानव, तिर्यक् और स्थावर इन चार प्रकार के शरीरों में प्रवेश करना पड़ता है। उन-उन देहों में प्रविष्ट होते ही जीवात्मा को देहाभिमानी अविद्या और पर-वस्तुओं में स्वकीयत्वाभिमानी अविद्या-अज्ञान मिथ्याभास होने लगता है। उससे कर्म, कर्म से देहप्रवेश और देहप्रवेश से अविद्या इस प्रकार का चक्र अनादि काल से चला आ रहा है। इस चक्र के कारण जीवात्मा को सांसारिकता, दुख आदि भोगने पड़ते हैं।

इन्हीं वैदिक दर्शनों और धर्मों पर आधारित वार्तमानिक विभिन्न पंथों मतों में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। जैसे कि रामस्नेही मत में बताया गया है कि जीवात्मा के पुनर्जन्म लेने के साधारणतया निम्नलिखित कारण हैं—१ भगवान की आज्ञा से २ पुण्य क्षय हो जाने पर, ३—४ पुण्य-पाप का फल भोगने के लिये ५—६ बदला लेने और चुकाने के लिये ७, अकाल मृत्यु हो जाने पर, ८ अपूर्ण साधना को पूर्ण करने के लिये।

सिख गुरु गोविन्दसिंह ने अपने दसवें ग्रन्थ में पुनर्जन्म के बारे में बताया है—जीवात्मा अपने कर्मों का फल भोगने के लिए बार-बार जन्म लेती है। पुनर्जन्म का मूल कारण यही है कि जो जैसे कर्म करते हैं वे वैसी योनि प्राप्त करते हैं। मानव योनि प्राप्त कर उत्तम कार्यों के द्वारा आवागमन के बन्धनों से मुक्त होना ही जीव का मुख्य धर्म है। जीव के आवागमन से छूटने का एक ही उपाय है—सांसारिक विषय-वासनाओं से मुक्त होकर शुभ कार्यों को निष्काम भाव से सम्पन्न करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धदर्शन यद्यपि अनात्मवादी दर्शन माना जाता है और वह अनात्मवादी इस अर्थ में है कि उसने आत्मा को एक स्वतन्त्र मौलिक तत्त्व न मानकर संतति प्रवाह के रूप में उसका अस्तित्व स्वीकार किया है। फिर भी उसमें पुनर्जन्म सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। इसीलिए त्रिपिटकों में यथाप्रसंग यत्र-तत्र स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, सद्गति-दुर्गति आदि शब्दों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जातक कथाओं से तो यह पूर्णरूपेण प्रमाणित हो जाता है कि पुनर्जन्म होता है और कर्म फलभोग भी निश्चित है। कर्मों के संस्कार से अधिवासित होकर रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार इन पंच स्कन्ध समूह रूप जीव संसृति में घूमता हुआ सुख-दुख भोगता है तथा स्वर्ग-नरकादि के सुख-दुख को भोगने के लिए उन-उन लोकों में आ जाता है।

जैनदर्शन तो कर्म सिद्धान्तवादी है अतः उसके शास्त्रों में कर्म फलभोग के लिए पुनर्जन्म होने का स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन कराया है। जैसे कि—

अत्थि मे आया उववाइए····से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी। —आचारांग १।१।१

—यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है····आत्मा के पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ही वस्तुतः आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है।

यह जीवात्मा अनेकवार उच्च गोत्र में और अनेकवार नीच गोत्र में जन्म ले चुकी है—**से असइं उच्चागोए, असइं नीआगोए** (आचारांग १।२।३) मायावी और प्रमादी बार-बार गर्भ में अवतरित होता है और जन्म-मरण करता है—**माई पमाई पुण एइ गब्भं**—आचारांग १।३।१७।

इस प्रकार सभी पौर्वात्य दर्शनों और धर्मों ने आत्मा के अमरत्व, अस्तित्व और पुनर्जन्म के बारे में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार आस्था व्यक्त करते हुए समर्थन किया है। लेकिन इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शनों में एक जन्मवाद को स्वीकार करके भी किसी न किसी रूप में पुनर्जन्म की मान्यता को भी स्थान दिया है।

इस्लाम, ईसाई और यहूदी मत एक जन्म-वादी हैं। इनका सामूहिक नाम सेमिटिक है। उनकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

यहूदी पुराण या शास्त्र में परलोक का कोई उल्लेख नहीं है। इस जन्म के कृतकर्मों का फलभोग इसी जन्म में होता है। यहूदी मत के अनुसार भविष्य में ईश्वर प्रेरित दूत मसीहा पृथ्वी पर आयेंगे। ईसाइयों के मतानुसार वह मसीहा ईसा हैं, वे ईश्वर के पुत्र है, और पृथ्वी पर अवतीर्ण हो गये हैं। इस्लाम के मत से मुहम्मद ईश्वर के दूत हैं।

ईसाई और इस्लाम के मत से आत्मा और देह का सम्बन्ध प्रायः अविच्छेद्य है। इसीलिए मिस्र देशवासी 'ममी' का अनुसरण करके मृत देह का दाह न करके शव देह को उपयुक्त आकार की शव पेटिका में सुरक्षित कर उसे भूमि में दफना देते हैं। ये देह सुदूर भविष्यत् काल में अन्तिम विचार के दिन ईश्वर के सिंहासन के दोनों ओर उठकर खड़े हो जायेंगे। उनमें से दाहिनी ओर रहेंगे धर्मात्मा और बायीं ओर रहेंगे पापात्मा।

मनुष्य जाति के पुरुषों के अलावा अन्य किसी जीव की यहाँ तक कि नारी की भी आत्मा नहीं होती है। मनुष्य का इस लोक में केवल एक बार जन्म होता है। सर्वव्यापी ब्रह्म की कोई कल्पना भी नहीं है। यहूदी के 'यहोवा' ईसाई के 'गॉड' और इस्लाम के 'अल्लाह' ईश्वर हैं। वे पुरुष हैं और स्वर्ग में रहते हैं। उनका अवतार नहीं होता है। स्वर्ग में और कोई देवता नहीं है और न देवी है।

सेमिटिक धर्म-ग्रन्थों के अनुसार अनुमानतः ४००४ ई० पूर्व अर्थात् केवल छह हजार वर्ष पहले जगत की सृष्टि हुई थी।

इन सेमिटिक मतों की इस प्रकार की मान्यताएँ हैं। अतएव इनमें पुनर्जन्म के विचारों को नहीं होना चाहिए था। लेकिन कुरान, बाईबिल आदि में कुछ ऐसे वर्णन हैं जो पुनर्जन्म को स्वीकार किये बिना युक्तिसंगत नहीं माने जा सकते हैं। उनमें आगत कथनों का सारांश इस प्रकार है—

ईसाई मत—बाइबिल में राजाओं की दूसरी पुस्तक पर्व २, आयत ८, १५ में वर्णन है कि एलियाह नवी की आत्मा मरने के बाद एलोशा में आ गई। इसी प्रकार मलकी पर्व ४ आयत ४, ५, ६ में परमेश्वर द्वारा इसी एलियाह नवी को भेजने की बात कही गई है। मती पर्व ११ आयत १०-१३ में यूहन्ना बपतिस्मा देने वालों को ही पूर्वजन्म का एलियाह नवी बताया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रारम्भिक काल में ईसाइयों के कुछ गुप्त सिद्धान्त थे, जिनमें पुनर्जन्म भी सम्मिलित था। पाल और ईसाई धर्मगुरुओं के लेखों में इसका संकेत है। ओरिजन में इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। ईसाई धर्म का एक सम्प्रदाय 'नास्टीसिज्म' इस सिद्धान्त को प्रकट रूप में मानता था। जिससे अन्य ईसाई सम्प्रदाय इसके अनुयायियों को कष्ट पहुँचाते थे। इसी प्रकार साइमेनिस्ट, वैसीलियन, वैलेन्टीनय, माशीनिस्ट तथा मैनीचियन आदि अन्य ईसाई सम्प्रदाय भी पुनर्जन्म को मानते थे। ईसा की छठी शताब्दी में चर्च की समिति ने कुछ सिद्धान्तों को मानना पाप घोषित कर दिया था, जिसमें पुनर्जन्म भी एक था और सम्राट जस्टीनियन ने राजाज्ञा द्वारा इनके मानने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। प्रतिबन्धित सम्प्रदायों की मान्यता थी कि शरीर पतन के पश्चात् जीवात्मा का न्याय-निर्णय भगवान ईश्वर गॉड—के समक्ष होता है तब वह स्वर्ग या नरक में भेजा जाता है। सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला शरीर यद्यपि यहाँ पेटी में पड़ा रहता है, फिर भी जीव को इस शरीर के निमित्त से किये गये कर्मों के कारण सुख या दुख—स्वर्ग या नरक भोगना पड़ता है।

इस्लाम मत—जैसा कि ऊपर संकेत है कि इसे पुनर्जन्म का सिद्धान्त मान्य नहीं है। लेकिन कुरान शरीफ में ऐसी बहुत सी आयतें हैं, जिससे पुनर्जन्म की धारणा सिद्ध होती है। जैसे कुरान में उल्लेख है—

"अय इन्सान ! तुझे फिर अपने रब की तरफ जाना है। वही तेरा अल्लाह है। तुझे मेहनत और तकलीफ के साथ दरजे व दरजे चढ़कर उस तक पहुँचना है। हमने तुम्हें जमीन में से पैदा किया है और हम तुम्हें फिर उसी जमीन में भेज देंगे और उसी में से पैदा करेंगे फिर आखिर तक कर्मों पर पकड़ करने के लिए आखिरत (पुनर्जन्म) की जरूरत है और कर्मों पर पकड़ इन्साफ का तकाजा है। जिस प्रकार उसने तुम्हें अब पैदा किया है, वैसे ही तुम फिर पैदा किये जाओगे।

पुनर्जन्म के बारे में इसी प्रकार की और भी आयतें कुरान में हैं। पुनर्जन्म मानने वालों के लिए कुरान में कहा गया है—**'आखिरत न मानने से तमाम कार्य व्यर्थ हो जायेंगे** (७।१४७) अन्तिम स्थान जहन्नम होगा (१०।७) मनुष्य हैवान बन जाता है (१०।११)।

इस्लाम मत का एक सम्प्रदाय सूफी मत कहलाता है। सूफी लोग आमतौर पर तना सुख (पुनर्जन्म) को मानते हैं। वे पुनर्जन्म को इतरका या रिजन भी कहते हैं। उन्होंने पुनर्जन्म के बारे में काफी सूक्ष्मता से विचार किया है। वे आत्मा को मनुष्य शरीर में पुनः उत्पन्न होने को नस्ख (मनुष्य गति), पशु शरीर में फिर पैदा होने को मस्ख (तिर्यंच गति), वनस्पति में पुनः पैदा होने को फस्ख (वनस्पतिकाय) और मिट्टी, पत्थर आदि में पुनः पैदा होने के रस्टन (पृथ्वीकाय) कहते हैं।

जिन सूफी विद्वानों सन्तों ने पुनर्जन्म को माना है, उनमें अहमद बिन साबित, अहमद बिन यबूस, अक मुस्लिम खुराशानी और शैखुल इशशख के नाम मुख्य हैं। इन सभी ने कुरान की आयतों और उनमें भी सुरतुल बरक आयत ६२ से ६२ और सुरतुल भागदा आयत ५५ पर अपनी युक्तियों को केन्द्रित किया है।

इसका फलितार्थ यह है कि इस्लाम धर्म में भी तनासुख (पुनर्जन्म) के सम्बन्ध में काफी विचार किया गया है।

इस्लाम के प्रचार के पूर्व अरब निवासी पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। वीकर लिखते हैं कि अरब दार्शनिकों को यह सिद्धान्त बहुत प्रिय था और कई मुस्लिम विद्वानों की लिखी पुस्तकों में अब भी इसके उल्लेख देखने में आते हैं।

यहूदी मत—कब्बाला में लिखा है कि पत्थर पौधा हो जाता है, पौधा जानवर हो जाता है, जानवर आदमी बन जाता है। आदमी रूह (आत्मा) और रूह खुदा हो जाती है। एक और यहूदी ग्रन्थ 'जुहर' में कहा है—उसे बार-बार जन्म लेने की अजमाइशों और नये-नये जन्मों में से निकालना है। सभी रूहों को उसी अल्लाह में लौटकर मिल जाना है जिससे वे निकली हैं। लेकिन इस कार्य को करने के लिए सभी रूहों को अपने अन्दर कमाल पैदा करने होंगे। जिनके बीज उनके अन्दर छिपे हुए हैं। अगर यह बात एक जिन्दगी में पूरी नहीं होती है तो उन्हें फिर दूसरी जिन्दगी शुरु करनी होगी और फिर तीसरी, इसी प्रकार से आगे-आगे सिलसिला चलता रहेगा, जब तक कि वह इस काबिल न हो जाये कि फिर से अल्लाह में मिल सके।

पारसी धर्म ग्रन्थ 'गाथा' में उल्लेख है कि जो आदमी नेक कार्य करके अल्लाह को खुश करता है, उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अल्लाह प्रत्येक नये जन्म में अधिकाधिक मारफत (आत्मज्ञान) और अपने ऊपर अधिकाधिक काबू देता है और जो आदमी नेकी के स्थान पर बदी करता है, उसे अल्लाह हर एक नये जन्म में अधिक बुरी परिस्थिति में पैदा करता है जब तक कि वह पुनः लौटकर नेकी की तरफ न मुड़े।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व के सभी दर्शनों, धर्मों और प्रचलित मत-मतान्तरों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

पुनर्जन्म और आदिम युग का मानव

भारतीय महाद्वीप में तो पुनर्जन्म का सिद्धान्त वर्तमान के सभ्यता युग से भी प्रागैतिहासिक है। आर्यों के आगमन से पूर्व भी भारत के मूल निवासियों का यह विश्वास था कि मनुष्य मरकर वनस्पति आदि अन्य योनियों में जन्म लेता है और अन्य योनिस्थ जीव मनुष्य शरीर प्राप्त करते हैं। इन्हीं का अनुसरण करके नवागत आर्यों ने अपने धर्म-ग्रन्थों में पुनर्जन्म के व उसके कारण कर्म सिद्धान्त को स्थान दिया और उससे उनकी तार्किक एवं नैतिक चेतना को सन्तोष मिला जो उपनिषदों के चिन्तन से स्पष्ट हो जाता है।

चीनी साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों को देखने से ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि बौद्ध धर्म के प्रचार से पूर्व वहाँ के निवासी परलोक और पुनर्जन्म सिद्धांत पर विश्वास करते थे। अफ्रीका और अमेरिका के आदि निवासियों को भी पुनर्जन्म का सिद्धांत मान्य था। यूरोप के जिन यात्रियों ने पहले अफ्रीका की यात्रा की उन्होंने लिखा है कि कई स्थानों के लोग पुनर्जन्म को मानते थे। इसी प्रकार प्रारम्भ में जो लोग अमेरिका गये उन्हें ज्ञात हुआ कि वहाँ के मूल निवासी इस सिद्धांत पर पूर्ण विश्वास रखते थे और अभी भी उनमें यह विश्वास पाया जाता है। मौल्डी नामक एक पुरातत्व-वेत्ता ने इन जन-जातियों द्वारा लकड़ी और पत्थरों पर बनाये चित्रों के आधार से लिखा है कि इन लोगों का यह विश्वास सार्वजनिक था कि आत्मा मृत्यु होने पर शरीर से पृथक् हो जाती है। कुछ जातियों का विश्वास था कि आत्मा मरकर पुनः उसी शरीर में आ जाती है, इसीलिए वे शव में मसाला लगाकर देर तक सुरक्षित रखते थे। किन्तु कई जातियाँ ऐसी भी थीं जो मृत्यूपरांत आत्मा का नये नये शरीर में जन्म लेना मानती थीं।

पुनर्जन्म और पाश्चात्य मनीषी

पूर्व की तरह पश्चिम जगत में भी पुनर्जन्म सिद्धांत के बारे में विचार होता रहा है। प्रत्येक देश के मूल निवासियों में पुनर्जन्म सिद्धांत सर्वमान्य था। लेकिन बहुत से अर्वाचीन पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि पुनर्जन्म का सिद्धांत वास्तविक नहीं है। परन्तु उन लोगों का यह मत सर्वथा भ्रान्त है। क्योंकि स्वयं पाश्चात्य विश्व के दार्शनिकों, लेखकों व वैज्ञानिकों ने अपने अनुसन्धानों द्वारा पुनर्जन्म के सिद्धांत का समर्थन किया है।

प्राचीन यूनान के महान दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पाइथागोरस का विचार था कि 'साधुता की पालना करने पर आत्मा का जन्म उच्चतर लोकों में होता है और दुष्कृत आत्मायें निम्न पशु आदि योनियों में जाती हैं। यदि मनुष्य अनियन्त्रित इन्द्रियों की दासता से छुटकारा पा सके तो वह बुद्धिमान बन जाता है और जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा जाता है।

सुकरात का मन्तव्य था कि मृत्यु स्वप्नविहीन निद्रा है और पुनर्जन्म जाग्रत लोक के दर्शन करने का द्वार।

प्लेटो भी यही मानते थे और उनका विचार था कि कामना ही पुनर्जन्म का कारण है। मनुष्य अपने पूर्व-जन्मों का स्मरण कर सकता है तथा उसे यदि जीवन के बन्धन को काटना है तो उसे सब प्रकार के भोग-विलासों को तिलांजलि देनी होगी।

ओरिजेन ने कहा है—दैवी भगवद् विधान हरएक के बारे में उसकी प्रवृत्ति, मन तथा स्वभाव के अनुसार ही निर्णय करता है। मानवीय मानस कभी तो अच्छाई से और कभी बुराई से प्रभावित हो जाता है। इस कारण परम्परा भौतिक शरीर के जन्म से भी अधिक पुरानी है।

दार्शनिक महात्मा आर्फ्यूस के मतानुसार पापमय जीवन बिताने पर आत्मा घोर नरक में जाती है और पुनर्जन्म के बाद उसे मनुष्य कीट, पशु, पक्षी आदि के शरीर में रहना पड़ता है। पवित्र जीवन बिताने पर आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति पा जाती है और स्वर्ग में जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रिस्टन बुल्फे के कथनानुसार आत्मा सूक्ष्म होती है और हमारे गुप्त कर्म ही हमारे वर्तमान जीवन के कारण हैं।

लेसिंग के विचारों में प्रत्येक आत्मा पूर्णता के लिए सचेष्ट है और उद्देश्य पूर्ति के लिए इस धरती पर उसे अनेक जन्म लेने पड़ते हैं।

पिकटे और नोवालिस की दृष्टि में मृत्यु आत्माओं के जीवन प्रवाह में एक विश्राम स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीवन है कामना और कर्म उसके परिणाम हैं। जीवन और मृत्यु एक ही वस्तु हैं और इनमें से पार होती हुई आत्मा अमरता को प्राप्त करती है।

हेगल ने कहा है कि सभी आत्माएँ पूर्णता की ओर बढ़ रही हैं तथा जीवन व मृत्यु उनकी अवस्थाएँ हैं।

महान् दार्शनिक वैज्ञानिक लीपनिज ने लिखा है—प्रत्येक जीवित वस्तु अविनाशी है—उसके ह्रास तथा अन्तरावर्तन का नाम मृत्यु है और उसकी बुद्धि तथा विकास का नाम जीवन। मरने वाला प्राणी अपने शरीर यन्त्र का केवल एक अंश मात्र लेता है और विकास की उस तनु अवस्था अथवा उद्भव स्थिति में लौट जाता है, जिसमें जन्म के पूर्व था। पशुओं और मनुष्यों का उनके वर्तमान जीवन से पहले कोई अस्तित्व था और इस जीवन के बाद भी कोई अस्तित्व होगा, इस बात को स्वीकार करना ही होगा।

पाश्चात्य दार्शनिकों की तरह आधुनिक काल के कवियों, लेखकों, आदि ने भी आत्माओं के देहान्तरवाद तथा पुनर्जन्म की धारणा को अभिव्यक्त किया है। पाश्चात्य दार्शनिक कवियों में एमर्सन, ड्राइटन, वर्डस, मेथ्यू अरनोल्ड, शैली ब्राउनिंग आदि के नाम प्रमुख हैं। ड्राइटन ने लिखा है कि इस अमर आत्मा का वध करने की सामर्थ्य मृत्यु में नहीं है। जब मृत्यु आत्मा के वर्तमान शरीर का वध करने चलती है तो आत्मा अपनी अक्षुण्ण शक्ति से नया आवास खोज निकालती है और जो दूसरे शरीर को जीवन व प्रकाश से भर देती है।

एमर्सन ने लिखा है कि यदि मृत्यु यह सोचे कि वह आत्मा का विनाश कर रही है और आत्मा यह सोचे कि उसे नष्ट किया जा रहा है तो दोनों ही उस सूक्ष्म तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ है, जिसके अनुसार आत्मा स्थित रहती है और आवागमन के चक्र में घूमती है।

प्राध्यापक हक्सले का कथन है—केवल बिना ठीक से सोचे-समझे निर्णय लेने वाले विचारक ही पुनर्जन्म के सिद्धांत को मूर्खता की बात समझकर उसका विरोध करेंगे। विकासवाद के सिद्धांत की तरह देहान्तरवाद का सिद्धांत भी वास्तविक है।

कवि टेनीसन ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'टू वॉइस' में अपनी भावना व्यक्त की है कि यदि मेरे पिछले जन्म निम्न स्तर के रहे हैं और मेरे मस्तिष्क में इन जन्मों के अनुभव एकत्रित हो गये हैं तो भी मैं अपने दुर्भाग्य को विस्मृत कर सकता हूँ। इसका कारण यह है कि हम अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों को भूल जाया करते हैं। पुरानी स्मृतियाँ हमारे कानों में नहीं गूँजती हैं।

कट्टर नास्तिक जर्मन विद्वान नीट्शे ने भी अपने उत्तरार्ध जीवन में यह स्वीकार किया था कि जब तक मनुष्य कर्मबन्धन में पड़ा है तब तक एक नाम रूपात्मक देह का नाश होने पर कर्म के परिणामस्वरूप उसे इस सृष्टि में भिन्न-भिन्न नाम-रूपों का मिलना कभी नहीं छूटता है।

दार्शनिक ल्यूमिंग का कहना है कि जब तक हर बार नया ज्ञान, नया अनुभव अर्जित करने की क्षमता मुझ में है, तब तक मैं पुनः-पुनः क्यों न लौटूं? क्या मैं एक बार इतना कुछ लेकर आता हूँ कि मुझे पुनः लौटने का कष्ट उठाने की कोई आवश्यकता ही न रहे।

मरणोत्तर जीवन के सम्बन्ध में पाश्चात्य जगत के चिंतन का ऊपर संकेत किया गया है और वैज्ञानिकों ने अपने दृष्टिकोण से शोध करके जो परिणाम निकाले, उनसे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भोगासक्त आत्मायें मरने के बाद बहुत कष्ट भोगती हैं। वे यहाँ तक अनुभव करने में अक्षम होती हैं कि वे मृत हो चुकी हैं, पूर्व शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं रहा है। साधारणतया मरणोपरान्त वे निद्राच्छन्न अवस्था को प्राप्त होती हैं, परन्तु वे उसमें शांति से सो भी नहीं सकती हैं। भौतिक आसक्तियों के उनके पूर्व-संस्कार उन्हें संसार में अपने चाहने वालों से मिलने के लिए आने को बाध्य करते हैं, परन्तु जब कोई उन्हें निमंत्रित करने वाला नहीं दिखता तो वे बहुत दुखी हो जाती हैं। अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैज्ञानिकों ने छायाचित्र खींचने के विशेष कैमरों से मृत आत्माओं के चित्र खींचने की चेष्टा की और उसमें वे सफल भी हुए हैं। स्वामी अभेदानन्द ने अपनी पुस्तक 'लाईफ बियोन्ड डेथ' में मृत आत्माओं के बहुत से चित्र भी दिये हैं। पाश्चात्य देशों में मरणोत्तर जीवन के बारे में शोधकार्य चल रहे हैं और उनके इन कार्यों के परिणामस्वरूप नये नये तथ्य प्रगट हो रहे हैं।

पुनर्जन्म और मनोविज्ञान की दृष्टि

मनोविज्ञान मानव जीवन के अन्तर्ग्राह्य समस्त व्यापारों का विचार करता है। इन व्यापारों की चरम परिणति क्या है? यह विषय आधुनिक मनोविज्ञान का विषय नहीं है, वह इसके विचार क्षेत्र से बाहर है। मानसिक व्यापार मानव स्वभाव का निर्देश करते हैं। जैसा स्वभाव वैसा जीवन—यह स्वभाववादी मनोविज्ञान का सिद्धांत है। इसकी दृष्टि में चेतना, मन, आत्मा आदि तत्वों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। सब कुछ स्वभाव से होता है। अर्थात् स्वभाववादी मनोविज्ञान ने पहले आत्मा को उड़ा दिया, उसके बाद मन को और उसके बाद चेतना को उड़ा दिया। अब उसका क्षेत्र सिर्फ स्वभाव या व्यवहारयुक्त शरीर तक रह गया है।

भौतिकवादी मनोविज्ञान के अनुसार तो यह माना जाता है कि मृत्यु व्यक्ति और व्यक्तित्व दोनों का नाश कर देती है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व तक यूरोप का मनोविज्ञान जाग्रत अवस्था तक ही सीमित था। फ्रायड ने अपने अनुसंधान से स्वप्न की अनुभूतियों के आधार पर उपचेतन और अचेतन मन का पता लगाया था और सुषुप्ति की प्रेरणा तथा स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश डाला। ब्रिटेन के मनोवैज्ञानिक डा० जोड ने प्रार्थना, प्राणायाम, उपवास, और ध्यान, धारणा के द्वारा चित्तवृत्ति को संस्कृत बनाने का संकेत दिया। थियोसोफिस्ट लोगों ने भारतीय अध्यात्म को स्पर्श करने का प्रयत्न किया। मनोविज्ञान की भारतीय परम्परा में पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्णतया कर्मवाद पर आधारित है।

अध्यात्म प्रधान मनोविज्ञान की यह नवीन शाखा परामनोविज्ञान के नाम से जानी जाती है। उसके अनुसंधान के मुख्य निष्कर्ष यह हैं—

मनुष्य भौतिक शरीर के अतिरिक्त और इसके द्वारा कार्य करने वाला एक आध्यात्मिक प्राणी है। जिसमें अनेक अद्भुत मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियां—जैसे दिव्य दृष्टि, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, मनःप्रत्यय ज्ञान, दूरक्रिया, प्रच्छन्न संवेदन, पूर्वबोध आदि हैं। मृत्यु केवल स्थूल शरीर को समाप्त कर पाती है। मरने के बाद भी मृत व्यक्ति की आत्मा इस संसार के व्यक्तियों पर प्रभाव डालती रहती है। उसका अस्तित्व किसी अन्य सूक्ष्म लोक में सूक्ष्म रूप से रहता है जहाँ रहते हुए वह इस लोक में रहने वाले प्राणियों के सम्पर्क में आ सकती है। स्थूल शरीर को ही व्यक्तित्व मानना तथा यह कहना कि स्थूल शरीर के नष्ट होने पर व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार से यह कथन कि बिजली के बल्ब के फूट जाने पर या फ्यूज हो जाने पर बिजली ही नहीं रह जाती तथा उस बल्ब के स्थल पर कोई बल्ब ही नहीं जल सकता। व्यक्तित्व के बारे में इस प्रकार की धारणा मूर्खतापूर्ण धारणा है। साराश यह है कि व्यक्तित्व में भौतिक तत्वों से परे की शक्ति विद्यमान है जो मृत्यु द्वारा समाप्त नहीं होती किन्तु वह उस रूप में या रूपान्तरित होकर अपना प्रदर्शन कर सकती है।

मनोवैज्ञानिक डा० क्रूकाल ने हजारों घटनाओं का निरीक्षण करके इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि प्रत्येक प्राणी के अन्दर सूक्ष्म शरीर होता है जो कुछ अवसरों पर विशेषतः मृत्यु के अवसर पर इस भौतिक शरीर को छोड़कर बाहर निकलता है। परलोक में प्राणी इस सूक्ष्म शरीर के द्वारा ही वहाँ के जीवन और भोगों को भोगता है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सुप्रीम एडवेन्चर्स' में जो मृत्यु, परलोक और पुनर्जन्म का वर्णन किया है, वह भारतीय दर्शनों के ग्रन्थों में किये गये मृत्यु व परलोक के वर्णन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

इस प्रकार पाश्चात्य आध्यात्मिक अनुसंधान (परा-मनोविज्ञान) के अध्ययन से यह निश्चित होता जा रहा है कि परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धांत वैज्ञानिक एवं सर्वथा सत्य पर आधारित हैं।

पुनर्जन्म : जन्म-मरण का सेतु

पुनर्जन्म शब्द का आशय है जीवन का तिरोभाव होने के अनन्तर होने वाला आविर्भाव। तिरोभाव का नाम है मरण और आविर्भाव का नाम है जन्म। दोनों प्रत्यक्ष हैं और दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं। लेकिन इनके सही अर्थ को सम्भवतः कुछ व्यक्ति ही समझते होंगे। अतः इनका आशय यहाँ स्पष्ट करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन और मृत्यु दोनों ही संस्कृत भाषा के शब्द हैं। 'जीव प्राणधारणे' धातु से जीवन और मृङ् प्राण त्यागने से मृत्यु शब्द की निष्पत्ति होती है। प्राण धारण व प्राण त्याग बिल्कुल विपरीतार्थक हैं और इनका सीधा-सा अभिप्राय यह है कि जब तक प्राणवायु का संचार होता रहता है तब तक जीवन और जब प्राणवायु का गतागत समाप्त हो जाता है तब मृत्यु शब्द का व्यपदेश होने लगता है। इस प्रकार प्राणवायु के धारण और प्राणवायु के परित्याग द्वारा जो जीवन और मरण ये दो अवस्थायें बनती हैं वे शरीर की हैं या शरीर के अन्तर में निवास करने वाले जीव की अथवा केवल वायु की ?

इन सबका विचार किया जाये तो जीवन और मृत्यु का व्यपदेश शरीर से सम्बन्ध रखता है अर्थात् जब तक शरीर में प्राणवायु का संचार रहता है तब तक शरीर की कैसी भी अवस्था बन जाये, जीवित ही कहा जाता है और उसका सम्बन्ध हट जाने पर मृत माना जाता है, लेकिन इसके आगे का विचार करते हैं तो मानना पड़ेगा कि हमारे जीवन व मृत्यु के साथ न केवल प्राण का संसर्ग जुड़ा हुआ है किन्तु उसके अतिरिक्त कोई इस प्रकार का तत्त्व अवश्य है जो प्राण का सहकारी है। प्राण की सत्ता उसके आधार पर ही टिकी हुई है। वह तत्त्व जैसे इस शरीर को धारण किये हुए है ठीक उसी प्रकार से शरीरान्तर धारण करने की भी क्षमता रखता है। वह शरीर से भिन्न, प्राण से भिन्न तथा इन्द्रियों से भिन्न एक तत्व है जो शरीरान्तरों मे गतागत करता है और जीवन तथा मृत्यु उसकी ये दो गतियाँ हैं। यह दोनों गतियाँ उस समय तक चलती रहती हैं जब तक कर्म फलभोग का क्रम चालू है।

उपसंहार

यहाँ संक्षिप्त रूप में पुनर्जन्म और उसके कारण आदि का परिचय दिया गया है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे अनेक वृत्तान्त पढ़ने को मिलते हैं। जिनसे परलोक और पुनर्जन्म सिद्धांत की सिद्धि होती है। सभी आस्तिक दर्शनों का यह एक प्रमुख विषय है तथा आत्मा के अनादि-अनन्तत्व को सिद्ध करने वाला होने से यह सिद्धांत स्वाभाविक है। किसी भी तार्किक में इस सिद्धांत को झुठलाने की क्षमता नहीं है, चाहे वह कैसी भी आलोचना करता रहे। क्योंकि जन्म है तो मृत्यु भी है और मृत्यु है तब तो पुनर्जन्म भी है।

पुष्कर वाणी

मुख्य चिन्ह मुखवस्त्रिका, जैन सन्त का जान।
बचा रही है प्रेम से, वायुकाय के प्राण॥

यह गिरने देती नहीं, सम्मुखस्थित पर थूक।
कहती अपने वचन से, कभी न जाना चूक॥

देखो दूषित वायु का, मुख में हो न प्रवेश।
देती है मुखवस्त्रिका, हमें नव्य सन्देश॥

जिस नर का हो मुख बँधा, वह रहता है स्वस्थ।
पैणा पी सकता नहीं, नियम नेक अत्रस्त॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



विश्व को जैनदर्शन की देन

—डा० दे० ग० जोशी, एम० ए०, पी-एच० डी०

विश्व के सभी दर्शनों का संलक्ष्य सामान्य रूप से मानव को उत्तम शिक्षा प्रदान कर उसके अंतिम कल्याण की ओर अग्रसर करना है। विज्ञों ने इस अंतिम कल्याण को पृथक्-पृथक् संज्ञा प्रदान की है। कितने ही उसे स्वर्ग, कितने ही उसे मोक्ष, कितने ही शाश्वत सुख-प्राप्ति का स्थान, प्रभृति विविध नामों से अभिहित करते हैं। नाम पृथक्-पृथक् होने पर भी सभी दर्शनों का संलक्ष्य मानव को जन्म-मरण, सुख-दुःख, रोग-व्याधि आदि के भय व चिन्ता से मुक्ति दिलाना है और नित्य आनन्दमय पद की उपलब्धि कराना है।

प्रस्तुत पद को प्राप्त करने हेतु विभिन्न दर्शनों ने पृथक्-पृथक् मार्ग सूचित किये हैं। किसी ने ज्ञानयोग पर बल दिया है, तो किसी ने कर्मयोग पर और किसी ने भक्तियोग पर बल दिया है। न्याय, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक, योग, बौद्ध-दर्शन की तरह भारतीय परम्परा में जैनदर्शन का भी विशिष्ट स्थान है। आज के आधुनिक वैज्ञानिक युग में मानव को सभी प्रकार के शारीरिक सुख सहज रूप से प्राप्त हैं। वैज्ञानिक साधनों की प्रचुरता से मानव ने पाँच भूतों पर अधिकार-सा स्थापित कर लिया है। प्रत्येक भौतिक सुख उसे सहज ही उपलब्ध होने लगा है। तथापि जीवन में जो शांति अपेक्षित है वह उपलब्ध नहीं हो पा रही है। जैनदर्शन के अभिमतानुसार शांति का अक्षय कोष मानव के अन्तर में ही रहा हुआ है। उच्च विचार, सादा जीवन और जन-जन के कल्याण की पुनीत भावनाओं से ही मानव को शांति प्राप्त हो सकती है। यही कारण है पाश्चात्य मनीषीगण भी जैनदर्शन की ओर सहज रूप से आकर्षित हो रहे हैं।

जैन-दर्शन में अहिंसा सम्बन्धी जितना गहराई से विशद चिन्तन किया है और जो उसकी सूक्ष्म चर्चाएँ की हैं वे विश्व के अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं हैं। वेद और उपनिषद, भारतीय साहित्य की अनमोल उपलब्धि हैं तथापि वेद और उपनिषदों में जो अहिंसा का वर्णन है, वह जैन साहित्य की तरह गहराई से नहीं हो सका है। वेद और उपनिषदों में यज्ञ में होने वाली हिंसा तथा अन्यान्य भौतिक सुखों के लिए की गयी हिंसा त्याज्य नहीं मानी है। परन्तु जैन-दर्शन में सभी प्रकार की हिंसा को त्याज्य माना है। यहाँ तक कि हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना भी पाप माना है।

जैनदर्शन में हिंसा को तीन रूपों में विभक्त किया है। केवल काय के द्वारा ही हिंसा नहीं होती, किन्तु मन और वचन से भी हिंसा होती है। वचन के द्वारा किसी के मानस को व्यथित करना, मन के द्वारा किसी के सम्बन्ध में अशुभ विचार करना भी हिंसा है। जैनधर्म का यह मूल सिद्धान्त है—इस विराट् विश्व में जितने भी प्राणी हैं चाहे वे चर हैं, चाहे अचर हैं, चाहे सूक्ष्म हैं, चाहे स्थावर हैं, सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं। कोई भी प्राणी मरना पसन्द नहीं करता। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। शरीर से ही नहीं, वाणी और मन से भी उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। साधक के अन्तर्मानस में प्रेम भावना इतनी विकसित होनी चाहिए कि सभी के प्रति उसके मानस में प्रेम का पयोधि उछालें मारता रहे। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त स्वामी रामदास ने कहा—कि वही महान् व्यक्ति है जो पहले करता है और फिर कहता है। जहाँ कहने और करने में एकरूपता नहीं होती वहाँ व्यक्ति महापुरुष की कोटि में नहीं आ सकता। प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार कहने की नहीं, अपितु जीवन के व्यवहार में लाने की वस्तु है।

श्रमण भगवान महावीर एक अत्युच्च कोटि के महापुरुष थे। उनके बताये हुए सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। पच्चीससौ वर्ष का सुदीर्घकाल व्यतीत हो जाने पर भी आज भी उसमें वही चमक और दमक है। भगवान महावीर ने कहा—हिंसा से हिंसा बढ़ती है और अहिंसा से प्रेम की वृद्धि होती है। उन्होंने कहा ही नहीं किन्तु अपने जीवन में आचरण कर यह सिद्ध कर दिया कि वस्तुतः अहिंसा का कितना गौरवपूर्ण स्थान है। अहिंसा की निर्मल भावना विकसित होने पर जीवन में सहिष्णुता बढ़ती है जिससे साधक परीषहों को हँसते और मुस्कराते हुए सहन कर सकता है। परीषहों को सहन करने से सहिष्णुता के साथ वह जितेन्द्रिय भी बन जाता है।

पाश्चात्य मूर्धन्य मनीषियों का ध्यान जैन-दर्शन के प्रति आकर्षित हुआ है। मेरी दृष्टि से उसका मुख्य कारण अन्य कारणों के साथ जैनधर्म की सहिष्णुता है। सहिष्णुता से मन शान्त रहता है, कष्टों को सहन करने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसमें अपार शक्ति पैदा होती है। पाश्चात्य देशों का सामाजिक जीवन अशान्त है। वहाँ पर मानसिक अशान्ति के काले-कजरारे बादल मंडरा रहे हैं। क्षणिक शान्ति के लिए वे औषधियों का उपयोग करते हैं, नशीली वस्तुओं का सेवन करते हैं और कामवासना के पीछे पागल कुत्तों की तरह घूमते हैं। तथापि शान्ति उपलब्ध नहीं होती, अपितु द्रौपदी के दुकूल की तरह अशान्ति बढ़ती चली जाती है। यदि वे जैनधर्म प्रतिपादित सहिष्णुता को अपना लें तो उनके जीवन में शान्ति का साम्राज्य हो सकता है, सुख की वंशी की सुरीली स्वर-लहरियाँ झनझना सकती हैं। सहिष्णुता के कारण ही भारत में विभिन्न मतावलम्बी स्नेह और सद्भावना के साथ परस्पर मिलते हैं और आनन्द के साथ विचार-चर्चाएँ करते हैं। सहिष्णुता जैन-दर्शन की एक महान् उपलब्धि है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

जैनदर्शन की द्वितीय महत्त्वपूर्ण विशेषता अपरिग्रह है। श्रमण भगवान महावीर पूर्ण अपरिग्रही थे। उन्होंने मानव को अधिकाधिक सुखी बनाने हेतु अपरिग्रह का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रदान किया। अपरिग्रह का अर्थ है—पदार्थ के प्रति आसक्ति का न होना। आसक्ति के कारण ही मानव अधिकाधिक संग्रह करता है। किन्तु मानव की इच्छाएँ आकाश के समान असीम हैं और पदार्थ ससीम है। इस कारण उसकी इच्छा की तृप्ति कभी नहीं होती और पूर्ति न होने पर वह अपने आपको दुःखी अनुभव करता है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार भी संपत्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिवर्तित होती रहनी चाहिए। यदि संपत्ति का विनिमय होता रहा तो विषमता पनप नहीं सकती। सर्वत्र समता ही की अभिवृद्धि होगी। भगवान महावीर मानवीय व्यवहार को सम्यक्प्रकार से जानते थे। उन्होंने अपरिग्रह सिद्धान्त की संस्थापना कर जन-जीवन को अधिकाधिक सुखी बनाने का प्रयास किया। श्रमणों के लिए केवल धर्मोपकरण के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न रखने का आदेश दिया और जो धर्मोपकरण रखे जायें उस पर भी आसक्ति न रखी जाय। आसक्ति न रखने के कारण ही धर्मोपकरण परिग्रह रूप नहीं है और जैन श्रावकों के लिए जो गृहस्थाश्रम में है गृहस्थ जीवन चलाने के लिए उन्हें परिग्रह की आवश्यकता होती है, पर परिग्रह की मर्यादा करने का विधान संस्थापित किया। परिग्रह रखे, पर मर्यादा से अधिक न रखे। यह मर्यादा सामाजिक जीवन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जैनदर्शन की तृतीय महत्त्वपूर्ण विशेषता अनेकान्तवाद है। अहिंसा और अपरिग्रह की चर्चा अन्य धर्मों के साहित्य में भी है। उन्होंने भी अहिंसा और अपरिग्रह के सम्बन्ध में जैनदर्शन जितना तो नहीं किन्तु सामान्य रूप से उस पर चिन्तन किया है। पर अनेकान्तवाद जैनदर्शन की अपनी एक अनूठी विशेषता है। अनेकान्तवाद का अर्थ है—सत्य को विविध दृष्टियों से समझना। सत्य अनन्त है। वह अनन्त सत्य विविध दृष्टि से ही समझा जा सकता है। जानने का कार्य ज्ञान का है और बोलने का कार्य वाणी का है। ज्ञान की शक्ति अपरिमित है, पर वाणी की परिमित है। ज्ञेय और ज्ञान अनन्त है पर वाणी अनन्त नहीं है। एक क्षण में आत्मा अनन्त ज्ञेयों को जान सकता है पर वाणी के द्वारा उसे व्यक्त नहीं कर सकता। एक शब्द एक क्षण में एक सत्य को बता सकता है, पूर्ण सत्य को नहीं। एतदर्थ ही जैन-दर्शन ने स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का प्रयोग किया। स्याद्वाद के द्वारा सत्य को विविध रूप से समझा जा सकता है। स्याद्वाद में दो शब्द संयुक्त हैं—स्याद् और वाद। स्याद् का अर्थ अपेक्षा है और वाद का अर्थ कथन है। अपेक्षा विशेष से जो प्रतिपादन किया जाता है वह स्याद्वाद है। स्याद्वाद का उद्गम अनेकान्त वस्तु है। स्याद्वाद उस अनेकान्त वस्तु को व्यक्त करने की एक पद्धति है। वह अपेक्षाभेद से विरोधी धर्म-युगलों का विरोध नष्ट करता है। जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, पर जिस रूप में सत् है उस रूप से वह असत् नहीं है। वह स्व-रूप की दृष्टि से सत् है किन्तु पर-रूप की दृष्टि से असत् है। दो निश्चित दृष्टि-बिन्दुओं के आधार पर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करने वाला वाक्य कभी भी संशय रूप नहीं हो सकता। स्याद्वाद को अपेक्षावाद या कथंचित्वाद भी कहा जा सकता है। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने कहा—प्रत्येक धर्म को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष है। एक सत्यांश के साथ लगे हुए या छिपे हुए अनेक सत्यांशों को ठुकराकर यदि कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी असत्यांश बन जायगा। भगवान महावीर ने अनेकान्त को दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित न रखा। उसे उन्होंने जीवन व्यवहार में भी उतारा। अनेकान्त के द्वारा विश्व की प्रत्येक समस्या का सही समाधान हो सकता है। सामाजिक मतभेद समाप्त होकर स्नेह, सद्भावना और सहिष्णुता की अभिवृद्धि हो सकती है।

सारांश यह है कि जैन-दर्शन ने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद के सिद्धान्तों की संस्थापना कर मानव-जीवन में पनपती हुई विषमताएँ असहिष्णुता तथा परिग्रहवृत्ति की बढ़ती हुई भावनाओं पर नियन्त्रण किया। ये तीनों शाश्वत सिद्धान्त हैं। इन तीनों पर भगवान महावीर के पश्चात् होने वाले तत्त्वदर्शी आचार्यों ने संस्कृत व प्राकृत भाषा में विराट साहित्य का सृजन कर हमें प्रेरणा दी कि तुम इन सिद्धान्तों को अपनाओ। यदि आधुनिक विज्ञान की चकाचौंध में पनपने वाला मानव इस सिद्धान्तों को अपना ले तो विश्व का कायाकल्प कुछ ही समय में हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



A Survey of the Plant and Animal Kingdoms as Revealed in Jaina Biology

Dr. J. C. Sikdar, M. D.
Institute of Indology, Ahmedabad-1.

The study of the plant and animal kingdoms as found in the Jaina Āgamas and post āgamic works reveals that Jaina Biology is the science of living thing (Jīvadravya) which is different from non-living thing (Ajīvadravya).[1] The thought on the world of life : plants and animals, began with the Jainācāryas on the basis of the concept of animism and non-violence (ahiṁsā) in the ancient past, along with the idea of the requirement of food to sustain life with a sense of spiritual value of life of all beings. They have studied the plant and animal kingdoms with some carefully controlled observation and made a discovery in the world of life : Plants and animals, by their critical observation and methods in some details so that their follower also can repeat them in their field. They have recorded the results of their observations, made discussion on the conclusion to be drawn from them, perhaps formulated a theory to explain them and indicated the place of these biological facts in the present body of scientific knowledge contained in the Jaina Āgamas[2] and post-āgamic works, of course, without scientific verification of modern Biology.

The facts of Jaina Biology as embodied in the Jaina Āgamas are gained by the application of the scientific method, yet it is difficult to reduce this to a simple set of modern Biology that can be applied to the Jaina Biological science, for the confirmation of the statement by the independent observation of another in any scientific investigation is demanded by the sceptical scientists of the present age.

A method has been followed by the Jainācāryas to see through a mass of biological data. The idea that living systems are distinguished from non-living ones by some mysterious vital force (paryāpti ?), has been accepted in Jaina Biology. There appear to be no exceptions to the generalization that all life comes only from living things.

Jaina Biology provides the connecting proof that micro-organisms (nigodas), bacteria (earth quadrates, etc.) are not capable of originating from non-living material by spontaneous generation. It seems that micro-organism (nigodas) require the presence of pre-existing micro-organisms (nigodas).

Nigodas do not arise *de novo* from non-nigodas, just as viruses do not arise from non-viral material.[3] Elements of the idea that all of the many types of plants and animals existing at present time were not created *de novo* and were externally existing and have descended from previously existing organisms are clearly expressed in the Jaina Āgamas, but they have their gradations.

The studies of the development of many kinds of plants and animals from embryo or fertilized egg to adult as found in Jaina Biology lead to the generalization that organisms tend to repeat in the course of their embryonic development, some of the corresponding stages of their evolutionary ancestors, *i.e.* embryos recapitulate some of the embryonic forms of their ancestors.[4]

A careful study of communities of plants and animals in a given habitat as described in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the Jaina Āgamas reveals that all living beings in a given region are closely inter-related with one another and with the environment.[5]

It conceives the idea that particular kind of plants and animals are not found at random over the earth but occur in interdependent communities of producer, consumer and decomposer organisms together with certain non-living components. These communities can be recognised and characterized by certain dominant members of the group, usually plants, which provide both food and shelter for many other forms of life. This ecosystem is one of the major unifying generalisations of Biology.[6]

Jaina Biology explains that the fabric of life of all plants and animals is *paryāpti* (vital force) or *prāṇa* (life force) in another way, *i.e. paryāptl* like protoplasm appears to be the actual living material of all plants and animals. Jaina's *paryāpti*[7] and *prāṇa*[8] the two unique forces, not explainable in terms of Physics and Chemistry, are associated with and control life. The concept of these forces may be called vitalism which contains the view that living and non-living system are basically different and obey different laws. It is reasonable to suppose that *paryāpti*, a mysterious aspect of life, although not identifiable with protoplasm, comes nearer to the latter because of its unique functions.[9]

All living substances (*Jīvadravyas*) have, to a greater or lesser extent, the properties of specific size[10] and shape,[11] metabolism,[12] movement,[13] irritability,[14] growth,[15], reproduction,[16] and adaptation.[17]

Many of the phenomena of life that appear to be so mysterious, as explained by the Jainācāryas, such as, respiration, instinct, speech, passion, senses, condition of soul (leśyā), feeling (vedanā), etc., of living things, have proved to be understandable by invoking a unique life force, while other aspects of life can be explained by physical and chemical principles in the light of future research in the field of Biology.

The study of the organizations of plants and animals, from the finest plants (*sūkṣma vanaspatīs*) to higher plants (*bādara vanaspatīs*) and from the finest earth quadrates (pṛthivīkāya-jīvas, etc.), to man (*manuṣya*) as described in the Jaina Āgamas and post-āgamic works reveals that the bodies of all plants and animals are composed of cells[18] and tissues.[19] But the Jainā-cāryas do not make any clear analytical study of cells and tissues of plants and animals there, as they are treated in modern Biology. New cells can come into being only by division of previously existing cells.[20]

There takes place the cellular metabolism of animal organisms, *e.g.*, men, from the moment of their birth up to their death in the following manner that the food-stuff, when taken in, is transformed into molecules of nutrient and chyle which in turn get transformed by vital force into different elements of organism, such as, blood, flesh, fat, bone, marrow, semen, etc. in successive order.[21]

The metabolic activities of animals, plants, and bacteria cells are remarkably similar,[22] despite the difference in the appearances. One of the metabolic difference between plants and animals is the ability of green plants[23] to carry on photosynthesis, to trap the energy of sunlight and to use it to synthesize compounds.

In addition to the general metabolic activities Jaina Biology throws some light upon special metabolic activities of certain animals and plants. Green plants[24] can photosynthesize : certain bacteria[25] and animals[26] can produce light. Certain plants produce wide variety of substances—flower, pigments,[27] perfumes,[28] many types of drugs,[29] and bacteria,[30] and molds, certain animals can make deadly poisons[31] and also antibiotics[32] like the best chemists.

The world of Life : Plants.

Biologic Inter-relationship.

At first glance the world of living substances *(Jīvadravyas)* as revealed in the Jaina works

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

appears to be made up of a bewildering variety of plants and animals,[38] all quite different and each going its separate way at its own pace.

A close study of the world of living things as described in the Jaina Āgamas reveals that all organisms, whether plant or animal, have the same basic needs for survival, the same problems of getting food[34] for energy, getting space to live,[35] producing a new generation[36] and so on.

In solving their problems, plants and animals have evolved into a tremendous number of different forms, each adapted to live in some particular sort of environment. Each has become adapted not only to the physical environment, but also to the biotic environment, all plants and animals living in the same general region. Living organisms are inter-related in two main ways, evolutionary descent[37] and ecologically,[38] one organism may provide food or shelter for another[39] or produce some substance harmful to the second.[40]

The Jainācāryas have tried to set up systems of classifications of plants and animals based on natural relationships,[41] putting into a single group those organisms which are closely related in their evolutionary origins.[42] Since many of the structural similarities[43] depend on evolutionary relations,[44] classifications of organisms is similar in many respects to the one of the principles based on logical structural similarities.[45] Many plants and animals fall into easily recognizable, natural groups ; their classification presents no difficulty.

It is indicated in Jaina Biology that some organisms can synthesize their food,[46] hence they may be called autotrophic (self-nourishing), *e.g.*, green plants[47] and purple bacteria[48] (*i.e.*, sulphur bacteria Saugaṁdhie) ; some organisms cannot synthesize their own food from inorganic materials therefore, they live either at expense of autotrophs[49] or upon decaying matter.[50] They may be called heterotrophs. All animals, fungi *(paṇaga)* and most bacteria are heterotrophs.

The study of the mode of nutrition of all organisms including plants, aquatic, terrestrial and aerial beings, and man, etc., as mentioned in the Jaina Āgamas show that plants and animals are not independent of other living things but are interacting and interdependent parts of larger units for survival. So their interaction and interdependence bring to light that ecosystem which is a natural unit of living and non-living parts that interact to produce a stable system in which the exchange of materials between living and non-living parts follows a circular path, *e. g.*, aquatic organisms—fish, green plants, like sevāla, etc. and snai l(*śambūka*)[51] form a very small ecosystem in their habitat-water in a pond or lake.

The outline of ecosystem of Jaina Biology brings to light two basic concepts—the habitat[52] and the ecologic niche[53] useful in describing the ecologic relations of organisms.

There take place the different types of interactions between species of plants and animals in several different ways due to their search for food, space or some other needs, *e. g.*, the relationship of competition[54] or predatorism, commensalism[55], and mutualism[56], parasitism[57] between them.

The brief survey of the classifications of living things— plants and animals, their distinc tions, mode of nutrition, ecosystem, habitat and ecologic niche, and types of interactions between species as found in Jaina Biology gives a picture of the world of plants and animals, all related closely or distantly by evolutionary descent, bound and together in a variety of inter-specific interactions.

As regards the properties of green plants Jaina Biology reveals that the green plants are the primary producers of the living world. The properties of the pigment that gives them their green colour, *i. e.*, cholorophyll, enable them to utilize the radiant energy of sunlight to synthesize energy-rich compounds, such as, liquid substance (siṇeha)[58] from water and air[59].

Land plants[60] absorb water required for the photosynthestic process through their roots ; aquatic plants receive it by diffusion from the surrounding medium.

The reference to the taking of air[62] by plants suggests that the cellular respiration[63] of plants utilizes ucchvasavāyu[64] (oxygen ?) and releases niḥśvāsavāyu[65] (carbon dioxide ?)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

from the liquid substances to the forms of biologically useful energy. These occur in green plants as they do in every living cell of organism.

The land plants have the cellular thick wall (*tvac*)[66] as in the woody stems of trees and shrubs. They serve directly for the support of the plant body and they have also rather thin wall[67] which provides support indirectly by way of pressure. Besides, trees and shrubs have *gūḍhasira* (xylem) and *ahirūyaṁ*[68] (phloem) to help support their trunk.

The nutrients of plants are either made within the cells or are absorbed through the cell membranes. The nutrients synthesized are either used at once[69] or transported to another part, such as, the stem, or root,[70] etc. The inscectivorous plants,[71] although without an organized digestive system, do secrete digestive enzymes[72] similar to those secreted by animals.

Plants accumulate the reserves of organic materials for use during those times when photosynthesis is impossible, at night or over the winter[73] when leaves fall.

An embryo plant cannot make its own food until the seed has sprouted and the embryo has developed a functional root[74], leaf[75] and stem[76] system.

The simpler plants consisting of single cell or small group of cells[77] have no circulatory system. It is suggestive in Jaina Biology that simple diffusion, augmented in certain instance by the process of active transport by air[78] suffices to bring in the substance,[79] required by the plant. *Guḍhaśiras*[80] (Xylem) tubes probably transport water and minerals from the roots up the stem to the leaves, while *ahirūyaṁ*[81] (phloem) tubes may probably transport nutrients up as well down the stems for storage and use them in the stems and roots, etc.

The circulatory systems of higher plants are simple than those of higher animals and constructed on an entirely different plan in Jaina Biology. Plants have no heart and blood vessels. Transportation of their nutrients from the soil is accompanied by the combined forces of transpiration[82] pull and root pressure.[83]

Plant sap (*siṇeha* or *rasa*)[84] as mentioned in Jaina Biology is somewhat analogous to the blood plasma of man and higher animals, which is complex solution of both organic and inorganic[85] substances which are transported from one part of the plant to another by the combined action of suction force which is connected with transpiration pull and root pressure.[86]

A striking difference between plants and animals as found in Jaina Biology is that plants excrete little or no waste. Since plants are *lomāhārins*[87] (absorbers of nutrients through the epidermal cells) nor carry on muscular activity like *kabalāhārin*[88] man and higher animals This is true as Modern Biologists also ascertains, writes Mr. C. A. Villee in his Biology "the total amount of nitrogeneous waste is small and may be eliminated by diffusion as waste through the pores of the leaves or by diffusion as nitrogen containing salt from the root into the soil.[89]

The activities[90] of the various parts of a plant are much more autonomous than are those of the parts of an animal. The co-ordination between parts that does exist is achieved largely by direct chemical and physical means[91], since plants have evolved or developed no specialized sense-organs except that of touch *(sparśanendriya)* and no nervous system as found in man and higher animals. They have sensitiveness generated by stimulus.[92]

Actively growing plants can respond to a stimulus[93] coming from a given direction by growing more rapidly or bend away from the stimulus.[94] If an organism (*e g*, creeper) is motile, it may respond to a stimulus by moving toward it for support.[95]

The root of a plant is positively geotropic and negatively heliotropic and the shoot is negatively geotropic but positively heliotropic.[96]

In a few plants the responses to stimuli take place rapidly enough to be readily observed, *e.g.*, the response of the sensitive plant "Mimosa-pudica" *(Lajjāvatīlatā)*[97]

Some plants as described in Jaina Biology change the position of their leaves or flower in the late afternoon or evening *(Saṁdhyā)*[98] and their parts return to their original position in the morning. Several kinds of flowers close at night and open in the morning[99] with the sun-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

rise and some soon open at night with the rise of the moon[100] and close in the day, *e.g.*, lotuses and water lilies respectively. These changes in position have been termed as sleep movements in Botany, although they are in no way related to the sleep of animals.

In the more primitive plants the basic functions[101] common to most green plants' cells may all take place in a single cell, but in the higher plants cellular specialization has occurred. The Jainācāryas have differentiated the several parts of a plant, such as, root, stem, leaf, etc.[102] and have dealt with some of the details of seed plant structure and certain functions localized in particular parts of the plant. The most obvious function of the root is to anchor.[103] the plant and hold it in an upright position. To do this, it branches and rebranches extensively through the soil.[104] Its second and biologically, more important function is the absorption of water and minerals[105] from the soil and the conduction of these substances to the stem.[106]

The stem[107] consisting of trunk, branches and twigs[108] is the connecting link between the roots, where water and minerals enter the plant, and the leaves[109], which manufacture food. The vascular tissues of the stem are continuous[110] with those of root and leaf and provide a pathway for the exchanges of materials. The stem and its branches support the leaves so that each leaf is exposed to as much sunlight as possible. Besides, stems also support flower fruits and[111] in proper position for reproduction to occur. The stem[112] is the source of all leaves and flowers produced by a plant, for its growing points produce primorida of leaves (*kisalayas*) and flowers (*puṣpa*). It should be noted that root and stems are sometimes confused because many kind of stems grow underground[113] and some roots[114] grow in the air.

The leaf may be filled with *kṣīra* (a waxy cutin ?) or may not be so *(niḥkṣīram)* and may have fine veins *(gūḍhaśirām)* and their invisible joints *(parvas)* in between two half parts of it[115], *i.e.*, the upper and lower layers of the leaf epidermis filled with thin walled cells, called mesophyll which are full of chloroplast. Each leaf is a specialized nutritive organ whose function is to carry on photosynthesis.[116]

The suction force[117] connected with transpiration pull contributes to the economy of the plant by assisting the upward movement of water through the stem by concentrating in the leaves the dilute solutions of minerals absorbed by the roots[118] and need for the synthesis of new vital force by cooling the leaves.

In the synoptic survey of the plants and animals given here, plants and animals may be arranged under the phyla within the kingdoms and the classes within the phyla in the order of increasing complexity as far as possible in the light of modern Biology. The numbers given are estimates of known species in the phylum.

Organism classified as plants usually have stiff cell walls and chlorophyll.

Sub-kingdom : *Thallophyta* : Plants not forming embryos without true roots, stems or leaves; the body is either a single cell or an aggregation of cells with little differentiation into tissues.

Phylum Cyanophyta : The blue green algae *(sevāla)* with no distinct nuclei chloroplasts, probably the most primitive of existing plants.

Phylum Chlorophyta : The green algae[119] *(sevāla)*, with definite nuclei and chloroplast.

Phylum Schizomycophyta : The bacteria[120] (Plant bacteria)

Phylum Eumycephyta : The true fungi *(Paṇaga)*[121]

Class Basidiomycetes : Mushroom *(Kuhana)*[122], toadstools (*e.g* , Sarpachatra).

Sub-kingdom Embryophyta : Plants forming embryo.

Phylum Bryophyta : Embryophyte-plants without conducting tissues. Multicellular plants, usually terrestrial.

Phylum Tracheophyta : Vascular plants.

Sub-Phylum pteropsida : Class Gymnospermae : *e.g.*, green trees (*vṛkṣas*)[123], Shruby Plants *(Gucchas)*[124], shrubs *(gulmas)*[125]. No true flowers or ovules are present, the seeds are born naked on the surface of the confscales.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Sub-class Coniferophytae : *Order Gnetales* : Climbing shrubs *(latā)*, or *(Vallī)*,[126] small trees in common with the angiosperms.

Class Angiospermae : Flowering plants with seeds eclosed in an ovary *(Osashi)*[127] *e.g.*, rice, wheat, pulses, etc.

Sub-class Dicotyledoneae : Most flowering plants.[128] Embryos with twi-cotyledons or seed leaves.

Sub-class Monocotyledoneae : The grasses *(tṛṇas)*[129], Water lilies *(Nalina)*[130] and orohids etc. Leaves with parallel veins, stems in which the vascular, bundles are scattered, and flower parts in three or six. The embryo has only one seed-leaf.

It is suggestive from the study of the Jaina Āgamas that in plants, much more clearly than in animals, an evolutionary sequence is evident ranging from forms, such as, the blue greens *(algae) (sevāla)*[131] and plant bacteria,[132] *(Vanaspatikāyika Jīvas)* which reproduce by a sexual means *(saṁmarchima)*, to ones with complicated life cycles and highly evolved adaptations until it is capable of leading an independent life. Some of the lower forms, such as fungi *(paṇaga)*[133] which has no reproductive specializations, produce billions of spores so that by chance a few will fall in an environment favourable for generation and survival. The higher plants may produce no more than a few score seeds[134] per plant *(e.g., aggabīya)* but each seed has a fairly good chance of growing into a mature plant.

In the Jaina Āgamas four kinds of seeds of plants are mentioned for reproduction, *viz.*, (1) seeds generated at the top of the plant *(aggabīya)*, (2) at its root *(mūlabīya)*, (3) at its knots *(porabīya)* and at its stem *(Khandhabīya)*.[135]

Jaina Biology throws some light upon the germination of the seed and its embryonic development. When the seeds are ripe, they are shed from the parent plant, but a few of them do germinate shortly after being shed, most of them remain dormant during the cold or dry season and germinate only with the advent of the next favourable growing season.[136]

When glanced back over the many types of plant life cycles that are found from algae to angiosperms, a number of evolutionary trends appear to be evident in plant kingdom of Jaina Biology. One of these is a change from a population that is mostly heploid individuals to one that is almost entirely diploid—an evolutionary trend toward a greater size and importance of the sporophyte[137] and a reduction in the size of the gametophyte generation.

The Animal Kingdom

A classification system of animals has been used by the Jainācāryas on the basis of observation of their structural similarities[138] sense-organs[139] mode of origin[140] and development.[141] In the study of taxonomy they have differentiated superficial and accidental similarities from the significant fundamental ones. Homologous structures[142] of various animals have been distinguished from analogous structures.[143] Structure of animals may be both homologous and analogous, *e.g.* the wings (pakṣas) of birds and bats[144] (valgulīs) have a similar structural plan and development as well as the same function.[145] Because all animals have essentially the same problems to solve for survival, there is the basic unity of life among them.

Organisms classified an animal are usually lack stiff cell walls and no chlorophyll; mode of their nutrition is either holozoic or parasitic.

Phylum protozoa : Microscopic, unicellular animals, which sometimes aggregate in animals (e.g. Kukṣikṛmi,[146] etc.), which sometimes aggregate in colonies (e.g. sādhāraṇaśarīras).Some are free-living and others are parasitic (anusyūta).

Phylum Platyhelminthes : The flat worm, with flat, and either oval or elongated, bilaterally symmetrical bodies (a type of kṛmi).[147]

Class Castoda : The tape worms (a kind of kṛmi).[148] ; parasitic flat worms with no digestive tract, the body consists of a head and a cham of "segments" of individuals which bud from the head.

Phylum Nematoda : The round worms (a kind of kṛmi).[149] An extremely large phylum

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

characterized by elongated, cylindrical, bilaterally symmetrical bodies they live as parasites in plants and animals, or are free living in the soil or water.

Phylum Annelida : The segmented worms (Nūpuraka)[150]. There is a distinct head, digestive tract coleom, and in some non-jointed appendages. The digestive system is divided into specialized regions.

Class Hirudinea : The leeches (Jaluka)[151] flattened annelids lacking bristles and parapodia, but with suckers at anterior and posterior ends.

Phylum Arthropoda : Segmental animals with jointed appendages and a hard, chitinous skin, with a body divided into head, thorax and abdomen, *e. g.*, gaṇḍupada[152] (knotty legged, Arthropoda, including crustacea, Myriapoda, etc.)

Class Crustacea : Lobsters, crabs, etc. (a class of gaṇḍupada)[153]. Animals that are usually aquatic have two pairs of antennae, and respire by means of gills.

Class Chilopoda : The Centipeds (Ṣatapadika).[154] Each body segment except the head and tail has a pair of legs.

Class Arachnoidea : Spiders (Nandyāvarta)[155], scorpions (Vṛścikas).[156] Adults have no antennae : the first pair of appendages ends in pincers, the second pair is used as jaws and the last four pairs are used for walking.

Class Insecta (kīṭa) : The largest group of animals, mostly terrestrial. The body is divided into a distinct head, with four pairs of appendages; the thorax has three pairs of legs and usually two pairs of wings; the abdomen has no appendages. Respiration by means of tracheae. There are different orders of insects[157] of which the following are common in Jaina Biology.

Order Orthoptera : Grass hoppers (Pataṅga)[158] etc.
Order Isoptera : Termites (Kāṣṭhāhārakas),[159] etc.
Order Anoplura : Lice (Kārpāsāsthika)[160], (Aptera, Ametabola)
Order Coleoptera : Cucumber-Weevils (Trapusamiṁjīyā), etc.
Order Lepidoptera : Butterflies and moths (Kīṭa).[161]
Order Diptera : Flies (Makṣikā), mosquitos (maśaka) and gnats (Puttika).[162]
Order Hymenoptera : Ants (pipīlikā)[163] wasps (Varaṭas), [164] bees (bhramaras)[165] and gall flies (Daṁśas).[166]

Phylum Mollusca : Unsegmented, soft-bodied animals, usually covered by a shell, and with a ventral muscular foot. Respiration is by means of gills, protected by a fold of the body wall, *e. g.* Śaṅkha (conchifera, Lamelli branchiata), Śuktika (pear—mussels) Lamelli Branchiata)[167]

Class Gastropoda : Snails (Śaṁbuka),[168] etc.

Phylum Echinoderamata[169] : Marine animals which are radially symmetrical as adults, bilaterally symmetrical as larvae.

Phylum Chordata : Bilaterally symmetrical animals with a notochord, gill clefts in pharynx, and a dorsal, hollow neural tube.

Subphylum Vertebrata[171] : (Five-sensed Animals)—Animals having a definite head, a backbone of vertebrae, a well-developed brain and usually, two pairs of limbs. They have ventrally located heart, and a pair of well developed eyes.

Class Chonodrichthyes [172] : Sharks, etc , *e. g.* Fishes with a cartilaginous skeleton and scales of dentin and enamal imbedded in the skin.

Class Osteichthyes[173] : The bony fishes, *e. g.* Rohitaka (Selly fish), etc.

Class Amphibia [174] : Frog (Maṇḍuka), toads, (a kind of maṇḍukas), Salamanders, (lizard like animal) etc.

As larvae these forms breathe by gills, as adults they breathe by lungs. There are two pairs of five toed limbs; the skin is usually scaleless.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Class Reptilia : (Parisarpas)[175] : Lizards (gṛhagolikā), snake (ahi), turtles (kūrma), crocodiles (makara) etc. The body is covered with scales derived from the epidermis of the skin. The animals breathe by means of lungs and have a three-chambered heart.

Class Aves[176] : The birds (Pakṣin) : Warm-blooded animals whose skin is covered with feathers (lomas of pakṣa).

Class Mammalia[177] : Warm-blooded animals whose skin is covered with hair. The females have mammary glands, which secrete milk for the nourishment of the young, *e. g.* cow (go), buffalo (Mahiṣa), goat (ajā), sheep (avika), horse (aśva), ass (Khara) camel (ustra), deer (mṛga), etc, up to man (manuṣya).

Sub-Class Eutheria : The placental mammals (Jarāyujas). The young develop within the uterus of the mother, obtaining nourishment via the placenta, e. g. Man, cow, Buffalo, goat, sheep, etc.[177] Potajas also, *e. g.* elephant.

Order Insectivora : Primitive Insect-eating mammals; moles and shrews, *e. g.* Śavita and Lāpaka[178] (Hedgehogs and other creatures that lap up, Insectivora.[179]

Order Chiroptera : Bats (Valgulī).[180]

Order Carnivora : Dogs (Śunaga or Śva), Cats (biḍālia), bears (Ṛkṣa) etc.[181]

Order Rodentia : Rats (mūṣikas), squirrels. (śayika), beavers and procupines (śallaka), etc.[182]

Order Lagomorpha : Rabbits[183] (Śaśaka) and hares. (Śaśa).

Order Primates : Monkeys, apes[184] and man (manuṣya)[185]

Order Artiodatyla : Even-toed ungulates (Dukhurā), *e. g.* cattle, dear, camels, etc[186]

Order Perissodactyla : Odd-toed ungulates (egakhurā) horses, rhinoceroses, etc.[187]

Order Proboscidea : (Gaṇḍīpada) : Elephants (Hasti).[188]

Order Cetaces : Whales (Timi).[189]

It is suggestive from the survey of the classification of the plant and animal kingdoms that the Jainācāryas recognized in principle the grades of likeness or similarity in animal classifications, *viz.* (1) the complete identity of type which exists within a single species, (2) the likeness between species of the same great genus (such species have the same bodily parts), differing only in degree in number, size, etc. and (3) the likeness by analogy between greatest genera themselves on the basis of sense-organs, for they grasped firmly the homology between arm, foreleg, wings, fin, between bone and fish spine, between feather and scale.[190]

They never applied any cut-and-dried classifications of animals. They were well aware of the difficulties of the existence of isolated species which fall under no recognized greatest genera and species intermediate between two such genera. But their classification is clear enough in its main lines. It was in great advance of anything that preceded it in the Vedic period and no further advance on it was made in the field of Ancient Indian Biology.[191]

The widest divisions are Dvīndriya (two-sensed), Trīndriya (three-sensed), caturindriya, (four-sensed), and Pancendriya (five-sensed) animals, answering to the modern Invertebrates (two-sensed, three-sensed and four-sensed animals) and Vertebrates (five-sensed animals) on the basis of the number of sense-organ[192] possessed by each of them and also on that of habitat—Jalacara (aquatic), Sthalacara (terrestrial) and Nabhacara (aerial).[193] Of the pancendriyas (five-sensed animals) the main genera are viviparous quadrupeds—cetacea (Jarāyuja) and oviparous (aṇḍaja), birds (pakṣin), apoda-oviparous reptiles (parisarpas) and amphibia (frog-maṇḍuka) and oviparous fishes (matsyas),

Besides these, there are the isolated species—man and certain intermediate species—monkey (golāṅgula) etc. Dvīndriya, Trīndriya, and Caturindriya prāṇīs (lower and higher invertebrates) and divided on the basis of the consistency of their inner and outer parts and sense-organs.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Each of these genera has many differentiate and they can accordingly be grouped in many ways, but the most illuminating of those as indicated by Jaina Biology is that which depends on the mode of generation—Saṁmūrcchima[194] (asexual reproduction or spontaneous generation) and garbhavyutakrāntika[195] (sexual reproduction)-Aṇḍaja (oviparous). Jarāyujas and Potaja (viviparous) (placental). The highest types of animals are Jarāyujas and Potajas (vivipara),[196] *i.e.* those which have vital force to reproduce sexually offspring qualitatively like the parents. The next type is that in which an egg is produced.

Lower still come the types of animals which produce asexually (Saṁmūrcchima) a slimy fluid from which they develop, while in others the young simply bud off from the parents.

And finally in all lower types and occasionally even high as the fishes there occurs spontaneous generation (saṁmūrcchima) from lifeless matter such as, sveda (dirt or sweat).[197]

It is found in Jaina Biology that the organization of the body [198] of developed animals includes the transport system of the body, *i. e.* blood and blood vessels[199] that supply all cells with nutrients (rasa)[200] and the waste products[201] (mutta, etc. of metabolism and the circulatory systems),[202] the digestive system, together with metabolism and nutrition, the excretory system, the integumetary and skeletal systems which protect and support the body, the muscular system which moves the various parts of the body one on another, the nervous sytsem, the sense-organs by which animals obtain and process information regarding the external environment, and the endocrine system in brief.[203]

Enumerating the contents of the human body the Jainācāryas state that usually this body is a collection of blood (Śoṇita)[204] and blood vessels—seven hundred śiras (veins ?), twenty four dhamanīs (arteries ?) carrying nutrients, eight srotas (currents),[205] lungs (phopha-saphephasa)[206] including eparterial bronchioles of trachea, gastro-intestinal tract starting from the mouth cavity, Oesophagus up to the column of the large intestine (Thulamta),[207] the excretory organs—kidney (Tanuyamta ?)[208] and nine orifices (navasoyā)[209] skin (camma)[210] a skeleton[211] of three hundred pieces of bones,[212] articulated by one hundred sixty joints[213] (sandhis), with six types of joints bound together by nine hundred sinews of ligaments (ṇhārus)[214], plastered over with five hundred pieces of muscles (peśīs)[215], enclosed with outer cuticle,[216] (camma or ajiṇa), with orifices[217] (soya) here and there, constantly dribbling and trickling like cracked or perforated pot,[218] infested by helminths[219] and always cozing from nine orifices[220] (wax from the ears, rheum from the eyes, snot from the nostrils, undigested food, bile, phlegm and blood from the mouth, and faeces from the anus and urine from the urethra through the penis[221] and sweating through ninety nine lakh of hair follicles[222] five sense-organs[223] (eye, etc.) one hundred seventy sensitive parts of the body (marmas)[224] and some endocrine glands etc.[225]

Like Buddhaghoṣa[226] Jainācāryas give the description of the human body to create a repulsion in the minds of their monk-followers towards it[227] and suggest to them to review the different aspects of it.[228] They do not define like Caraka[229] and Buddhaghoṣa[230] that it is constructed out of five or four primary elements of matter. Nevertheless, they admit that the body is constituted of matter (Pudgala).[231]

The main aspects of the body as described by Jaina Biology are as follows : blood (śoṇita[232] or Rudhira)[233] had or congealed fat (meda),[234] semi-liquid fat (vasā)[235] synovia[236] (rasiyā ?) spittle (Khela)[237] snot (siṅghānaka),[238] bile (pitta),[239] phlegm (siṁbha)[240] liver (yakṛt)[241], spleen (pilihā)[242] pus (puya or puvva)[243] heart (hiyaya)[244] blood vassels, (śirā-dhamanīs)[245] lymph vessels (Śleṣmāśirā)[246] lymph (Kaph or simbha)[247] tisue fluid (rasa),[248] āṇapāṇa or ucchvāsa-niḥsvāsa (Oxygen and carbon—dioxide ?)[249] lungs, (Phopphasa—phephasa)[250] including eparterial bronchioles of trachea)[251] mouth cavity (mukh)[252], stomach (undara or āmoru)[253] duodenum (pakkāśaya), small intestine (Taṇuyamta), large intestine (thulamta)[254] tongue (Jihā or jihvā)[255] teeth (danta)[256] anus or rectum (pāyu)[257] genital (upastha),[258] Kidney,[259] nine orifices (navasoyā)[260] urine (mutta)[261], faeces (purīṣa),[262] skin (camma)[263] outgrowth of skin-hair (Kesā),[264] body-hairs (romas)[265] and nails (nakha, etc,)[266] sweat (seyā)[267] skeleton (aṭṭhiya)[268], bones (aṭṭhi)[269] various

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

parts of the skeleton[270], the number of bones[271] bone marrow (aṭṭhimiṁja)[272] brain matter (matthuṁga)[273] joints (sandhi),[274] firmness of joints (saṁghayaṇa)[275] pieces of muscles (māṁsapeśīs)[276], nerves (ṇhāru)[277], ligaments (kaṇḍarā)[278], tendons (māṁsarajju)[279]. sense-organs (indiya)[280] and a few endocrine glands—seminal ducts (Sukkadhāriṇi sira), testes,[281] (Vasaṇa), ovaris[282] (Kukṣis or garbhāśaya of the female), fallopian tubes (Sirādugaṁ),[283], uterus (yoni)[284] etc.

It is observed in Jaina Biology that the actual process of reproduction varies tremendously from one kind of animal to another[285], but two basic types of reproduction, asexual or spontaneous generation acquivoca (Saṁmūrcchima) and sexual (garbhaja) or (garbha-vyutkrāntika)[286] can be distinguished. Even the highest animals reproduce asexually as evidenced by the fact that "the production of identical twins from splitting of a single fertilized, egg, is a kind of asexual reproduction".[287]

Asexual reproduction (Saṁmūrchima)[288] involves biologically only of single parent (i. e. it does not required parents), which splits, buds or fragments to give rise to two or more offsprings which have heredity traits identical to those of the parents.[289] Sexual reproduction involves, two parents[290] each of which contributes a specialized ovum or gamete (eggs and sperm)[291] which fuse to form the zygote or fertilized egg.

Human reproduction,[292] in common with the of most animals, is accomplished sexually by the union of specialized gametes—ova or eggs (ojaṁ) produced by the female and sperm (sukkaṁ) produced by the male.[293]

A man and a woman combine in cohabitation in a cummus (Yoni) and there they deposit their humours. Therein are born the souls of different men.[294]

Then there take place the division, growth and differentiation of a fertilized egg into the remarkable complex and interdependent system of organs which is the adult animal.[295] The organs are complicated and reproduced in each new individual with extreme fidelity of pattern, but many of the organs begin to function, while still developing.[296] The pattern of cleavage, while still blastula formation (hollow ball of cell formation of first element formation), and gastrulation is seen, with various modifications,[297] in all men and in the multicellular animals, according to modern Biology.[298]

Jaina Biology reveals that heredity is the tendency of individuals to resemble their progenitors.[299] Each new generation of organisms from two-sensed to five-sensed closely resembles its parents as is evidenced by the fact of the classification of animals on the basis of the possession of the number of sense-organs and similar structures[300] and certain parental characteristics[301] which appear frequently in successive generations of a given family tree. Although the resemblances between the parents and offsprings are close, they are usually not exact.

The expression of inherited characters may be strongly influenced by the environment in which the individual develops as is found in the case of Jalacaras (aquatic), Sthalacaras (terrestrials) and Khecaras (aerial) prāṇīs (animals).[302]

As regards to the determination of sex Jaina Biology explains that the relative predominance of Śukra (Semen-sperm) in the fertilized ovum (gabbha) is a factor which influences the sexual character of the resulting offspring. That is, the excess of sperm cell produces, the male, while that of the germ cell (Oyaṁ=Śoṇita) produces the female. If the sperm-cell and germ cell (i.e. śukra and Oyaṁ-Śoṇita) are equal a neuter (napuṁsaka) is born.[303]

Besides, the determination of sex depends in part on a periodicity to which the life history of the ovum in the female parent is conceived to be subject to a law under which the fertilization of the ovum on the fourth day after the menstrual discharge, or on the alternate (even) days succedding, is favourable to the foetus developing the male sexual character, and on alternate following days to the foetus assuming the female sex.[304]

The view of Jaina Biology on the determination of sex is corroborated by the evidence

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of Indian Āyurvedic Science and supported indirectly by modern Biology genetically in the following manner : "In man and perhaps in other mammals maleness is determined in large part by the presence of chromosome. An individual who has the constitution is nearly a normal male in his external appearance, though with under-developed gonads. An individual with one X but no Y chromosome has the appearance of an immature female".

"Eggs contain one X chromosome, half the sperms have an X chromosome, the other half have a Y. Fertilization of an X-bearing egg by an Y-bearing sperm results in an XX, female, zygote. The fertilization of an X-bearing egg by a Y-bearing sperm results in an XY, male, zygote".[305]

Some of the phenomena in human inheritance have been observed by the Jainācāryas on the basis of some principles of inheritance of human traits as revealed in the Jaina works. It is suggested that the development of each organ of the body is regulated by a large number of genes[306] (units of inheritance). The age at which a particular gene expresses itself phenitypically may vary widely as is indicated by ten daśās (stages)[307] of human life.

Most characteristics[308] develop long before birth but some such as hair and eye, colour, etc, may not appear until shortly after birth.[309] Some, such as, amaurotic idiocy (bālatva or mandatva)[310] becomes evident in early childhood and still others, such as, cough, phlegm,bending of the body, feeble sense-organs etc.[311] develop only after the individual has attained maturity.

"The inheritance of mental ability or intelligence is one of the most important, yet one of the most difficult problems of human genetics".[312] The reference to the mental cpacities of people forming continuous series from idiot (manda or Jaḍa) to genius (maṇīṣī) [313] suggests that "intelligence is inherited by a system of polygenes"[314] brought about by Karma.[315] Other evidence substantiates this hypothesis.[316]

Modern Biology explains that "The inheritance of feeble-mindedness is due to a single recessive gene"[317]

It is now evident that the inheritance of mental defect is much more complex. Feeble-mindedness may be caused by diseases[318] or by other evironmental factor[319] but the majority of cases are due to inheritance[320].

It is suggestive from the study of Jaina Biology that the Jainācāryas have worked out a theory of a sort of gradual evolving life forms on the basis on the number of sense-organs[321] from the micro-organisms (nigodas)[322] one-sensed[323] up to five-sensed animals men[324] according to their metaphysical belief that Karma-Prakṛti strives to change from the simple and imperfect to the more complex and perfect as a result of modifications or purificaion of Karmas[325] accumulated in successive births in past life.

But it seems unlikely that men will ever know how life originated whether it happened only once or many times or whether it might happen again.

Like Ray and Kinnaeus[326] the Jainācāryas are firm believers in the unchanging nature of species as is evident in their classifications of organisms.[327]

From the points of view of the present day taxonomists an evolutionary relationship among the species of organisms—plants and animals may be discovered on the basis of their anatomy, physiology and biochemistry, their embryologic and genetic histories, etc.

A close study of the world of life of plants and animals as presented in Jaina Biology shows that there is a remarkable fitness of the organism for the place (ṭhāṇa)[328] in which it lives, *e. g.* water for aquatic animals (Jalacaras), land for terrestrial animals, (Sthalacaras) and air for aerial animals (Nabhacaras)[329]. It is suggestive from this fact of fitness of organisms for the habitats in which they live that this fitness of their structure, of function, even of behaviour pattern has arisen in course of evolution by natural selection as explained by modern Biology[330]. "The outcome of evolution is a population of organisms, a species, adapted to survive in certain type of environment".[331]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Although a clear cut idea of the outcome of evolution of plants and animals is not found in Jaina Biology, nevertheless, it has been noted, while studying the "characteristics of living substances" that each particular species of plants or animals has the ability to become adapted by seeking out an environment to which it is suited to make it better fitted to its present surrounding.[332]

It is suggestive that in course of time organisms have become adapted[333] and readapted many times as their environment changed or as they migrated to a new environment.[334]

The analysis of the topics "The knowledge of food of organisms",[335] the types of plants and classification of animals[336] and their habitats,[337] etc., as record in the Jaina Āgamas, reveals that there is a tendency for each group of organisms to spread out and occupy as many as different habitats as they can reach and which will support them[338] because of the struggle for food and living. [339]

The classification of animals by the Jainācāryas into Sthalacara (terrestrial), Jalacara (aquatic) and Khecara or Nabhacara (aerial) animals throws light upon their habitats and ecology[340] to which they could grow and adapt, and make themselves better fitted in their survival.

Conversely, it is observed in the Jaina Āgamas that many of the animals inhabiting the same type of habitat, *e.g.* water, have (developed)[341] similar structures which make them superficially alike. even though they may be but distantly related, *e.g.* the dolphin and porpoises (Śuśumāra)[342] which are mammals, both bony and cartilaginous fishes, "have all evolved streamlined shapes, dorsal fins, tail and firs and fliper like fore arm, hind limbs which make them look much alike".[343]

The evolution and adaptation of each species of organisms as suggested by biologic interrelation in Jaina Biology have not occurred in a biologic vacuum, independent of other forms, instead many species have had a marked influence on the adaptation of other species. As a result many types of cross dependency between species have arisen. Some of the clearest and best understood of these types involves insects (Kīṭa), *e.g.* Bhramara (bees), Kīṭapataṅga (butterflies and moths,[344], which help indirectly in the pollination of a great many plants,[345] *e.g.* gourd (tumbi),[346] etc., utpala (lotus)[347] etc.

A close study of the biologic inter-relationship of plants and animals, their mode of nutrition, ecosystem, habitat and niche, and types of interactions,[348] and principles of evolution, its living evidence, principles of ecology, and the outcome of evolution; adaptation as indicated in some form in Jaina Biology reveals that the communities of plants and animals are constantly undergoing-an analogous reshuffling and concept of the dynamic states of communities is a valid one. Plant and animal populations are constantly subject to changes in their physical and biologic environment and must adapt or die as suggested by Āhārapada Nikṣepa (The knowledge of food) of the Sūtrakṛtāṅga.[349]

Communities of organisms—plants and animals as described in the Jaina Āgamas exhibit growth[350] specialization and interdependence, characteristic form and even development from immaturity to maturity, old age and death[351], revealing the dynamic balance of Nature.

Notes and References

1 Bhagavatī Sūtra 25. 2. 720; Sthānāṅga 2. 95; Paṇṇavanā Sutta 1. 3, p. 4.; Jīvābhigama, p. 5.
2 Bhagavati, Sthānāṅga; Paṇṇavana; Jīvābhigama; Ācārāṅga; Sūtrakṛtāṅga, etc.,
3 Bhagavatī 25. 5. 749; 12. 2. 443 ; C. A. Villee : Biology, p. 9.
4 Bhagavatī. 1. 7. 61; Tandulaveyāliya, 6, p. 10.
5 Bhagavatī 6. 7. 246; 6. 5. 330; 7. 3. 277; 8. 3. 324; 8. 5. 300; 21. 2. 691; 22. 6. 692; 23.1. 693; etc.; Sūtrakṛtāṅga, II. 3.
6 Ibid
7 Navatattva Prakaraṇa, v. 6, p. 12. Dharmavijaya; Gommaṭasāra, Jīvakāṇḍa, vv. 118-119, Nemicandra; Lokaprakāśa, Vinayavijayajī, Pt. I, 3rd Sarga, vv. 15ff.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8 Jīvavicāra, vv. 42. 43; Gommaṭasāra (Jīva), v. 129.
9 See Biology, p. 16.
10 Bhagavatī 19. 3. 652-53; 25. 1. 717; Uttarādhyayana 35. 70; Paṇṇavanā (sūkṣma-bādara, etc); Gommaṭasara (Jīvakāṇḍa), v. 177, v. 183.
11 Paṇṇavanā Saṁthānāidāracchakaṁ, 983-89, p. 241, Brhatsaṁgrahaṇi, Candrasūri, vv. 243-5; Mūlācāra, Pt. III, 12, 49 Paryāptyadhikāra, Vaṭṭakera with tikā of Vasunandī, Siddhānta Cakravarttin, p. 207; Lokaprakāśa, Pt. I, 3rd Sarga, vv. 205-10, pp. 98-99.; Gommaṭasāra (Jīvakāṇḍa), v. 201.
12 Sūtrakṛtāṅga II. 3; Bhagavatī 7. 61-63, 7. 3. 275-6; Paṇṇavanā, Āhārapadaṁ, Pajjattidāram, 2nd uddesāka, p. 406. Tandulaveyāliya, pp. 3-10; Navatattva Prakaraṇa, v. 6, p. 12; Lokaprakāśa, Pt. 1, 3rd Sarga, vv. 15-21ff; Gommaṭasāra (Jīva), Ch. III, vv, 119-121; Mūlācāra II, 12-4; Tarkarahasyadīpikā on Saḍdarśana Samuccaya, Jainamataṁ, v. 49. Guṇaratna.
13 Ācārāṅga, Book I, 9.1.14; Sūtrakṛtāṅga II.2.18, 60; Sthānāṅga 2.4.100; Bhagavatī, 25.4.789; Uttarādhyayana, 36,68; Jīvābhigama, p.12; Mūlācāra. Pt. I, 30 (226), p. 295; Tattvārtha Sūtra, Umāsvāti, 2. 12-14; Tarkarahasyadīpikā, Guṇaratna, v. 49.
14 Bhagavatī 3. 9. 170, 2. 4. 99; Paṇṇavanā, Indriyapadaṁ 15, Putthadāram, etc; Jivābhigama, Jyotiska Uddesaka; Tarkarahasyadīpikā, v. 49.
15 Sūtrakṛtāṅga II. 3. Sūtra 55-62; Bhagavatī 1.7. 61-62; 7.3. 276; Tandulaveyāliya, 2, 3, 4, 5, 6; Tarkarahasyadīpikā, v. 49.
16 Sūtrakṛtāṅga II, 3; Bhagavatī 7.5.282, Sthānāṅga 3. 1. 129; 7. 3. 543; Uttarādhyayana 36. 170; Jīvābhigama 3. 1. 96, 1-33; Paṇṇavanā 1-58, 68; Mulācāra Pt. II, 12. 43, 44, 45; TS. 2. 32; TKD, v. 49.
17 Sūtrakṛtāṅga II. 3; Bhagavatī 7. 3. 275: 7. 5. 282; Paṇṇavanā, Sthānapadam, Jīvābhigama 1. 34, 35, 36; Tarkarahasyadīpikā, v. 49.
18 Abbuya (cells ?), Tandulaveyāliya, 2, p. 6, It is also suggestive from the reference to lakhs of follicles (pores) in the skin of the human body that there are cells in the body of man and other vertebrates, Ibid, 2. p. 6.
19 Peśī (muscle tissues), Ibid, p. 6.: Peśi (tissue) is made of abbuyas (*arbudas*=cells).
20 A single fertilized egg (*Kalala*) develops gradually into many-celled or five celled embryo *(pañcapiṇḍas)* by the process of cleavage, indicating that the egg cells splits or divides. Out of five *piṇḍas* 2 arms, 2 legs, and head come into being—Tandulaveyāliya 2, p. 6.
21 Lokaprakāśa, Pt. I, 3rd Sarga, vv. 18-21. Navatattva Prakaraṇa, v. 6, pp. 12, 13, 14, 15, 16.
22 Saḍdarśana Samuccaya with Guṇaratna's Commentary, Tarkarahasyadīpikā, pp. 158-9.
23 Bhagavatī 7. 3. 270.
24 Bhagavatī 7. 3. 275-6.
25 "Bādarasyodyotena Sahitasya" "One-sensed-bacteria--earth-bacteria, water-bacteria and plant-bacteria emit cold light, Karmagrantha, 6th, p. 186; Two-sensed worms—kṛmis-(protozoa) emit cold light, Uttarādhyayana 36. 128 ; See Tattvārthasūtra II, 24.
26 Karmagrantha I, p. 85, Nūpuraka (Annelida), TS. 24; Gaṇḍupada (Crustaceans), Ibid. Śatapadī (Centipeds), Ibid.; Śaṅkha (Molluscs), Ibid; Khadyota (Glow worm) Tarkarahasya-dīpikā, p. 156.
27 Mañjiṣṭhā (Indian Madder) Bhagavatī, 8.6.334.
28 Ketaki flower (Forula, Asafotida), Bhagavatī, 22,2.692.; Haritaga (Terminalia Chebula, Ibid, 22.2.692.
29 Bhallāya (Acajou; especially acid quicea for medicine), Ibid Asoga (the tree Jonesia Aśoka) Ibid Arjuna (the plant Calotropis Gigantea for optic nerve), Ibid. 2 3. 1. 693. Bhaṅgī (Cannabis Sativa), Ibid, 23. 5. 693; Tulsī (Roly basil). Ibid, 21. 8. 691.
30 Sūtrakṛtāṅga II.3.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

31 *Vṛścika* (Scorpion), *Maṇḍuka* (frog), *uraga* (snake) Bhagavatī, 8. 7. 376; *Ahi* (a class of snake), *Ajagara* (a class of snake), Ibid, 15. 1. 560.
32 Nakula (mongoose), Ibid, 8.3. 325; 15. 1. 1560.
33 Sūtrakṛtāṅga 11. 3. Bhs. 33.1. 844: 7. 5. 282, etc.; Uttarādhyayana 36. 68-202; Paṇṇavanā jīvapaṇṇavanā 1. 14-138 ; Gommaṭasāra (Jīvakāṇḍa), 1. 35, 70, 71, 72, etc.
34 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 40-62.
35 Ibid.
36 Ibid.
37 It is suggestive from the study of the world of life in Jaina Biology on the basis of the structures (Saṁsthāna) of living forms—plants and animals, on the physiological and biochemical similarities and differences between species, etc. and on the analyses of the genetic constitution of present plants and animals, *i. e.*, anatomy, physiology and biochemistry of plants and animals, their embryologic and generic histories as outlined in Jaina Biology and the manner in which they are distributed over the earth's surface.
38 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43-62; Bhagavatī 7, 5. 282.
39 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43-62
40 Bhagavatī 8. 2. 316,
41 Eekendriya, dvīndriya, trīndiya, caturindriya and Pañcendriya organisms are classified on the basis of natural relationships. Similarly, Jalacara and Khecara organisms are classified according to their natural relationships, as they are closely related in their evolutionary origin.
42 Sūtrakṛtāṅga II. 3; Jīvābhigama 3. 1. 96; Bhagavatī 7. 5. 282 (aṇḍaja, potaja and saṁmūrcchima). Uttarādhyayana Sūtra 36, 171 ff.; Jīvābhigama Sūtra 33. 1. 34, 35; Paṇṇavanā, Jīvapaṇṇavnā (Jalacara, Sthalacara and Khecara and Manuṣyaprajñapana) 29-34. Aquatic, terrestrial and aerial organisms have been classified into three single groups as the members of each of them are closely related in their evolutionary origin.
43 Bhagavatī 8.3.324, 7.3.277; 7.5.282; Jīvābhigama Sūtra, 3.1.91; 1.33, 1.34, 1.35; 1-36.; Uttarādhyayana, 36. 135, 144, 154, 169, 178, 179-186, 193, 202,; Paṇṇavanā, pp-30, 31: TS. 2.24, 34.
44 Ibid.
45 Ibid.
46 Sūtrakṛtāṅga II.3.
47 Bhagavatī 7. 3. 275.
48 Sulphur bacteria (Saūgaṁdhie) (Uttarādhyayana and Sūtrakṛāṅga II.3.61) may be identified with purple bacteria of Biology.
49 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 20, 21, 22-28. All animals live at the expense of autotrophs in one way or other except some carnivorous animals.
50 Ibid. II. 3. 16, Fungi and some bacteria feed on the decaying matters, as it is found that some beings born in earth, growing there in particles of earth that are the origin of various things, some issue forth as Āya, Kāya, Kuhana (mushworm), etc. from the decomposed things in the earth.
51 Tattvārthādhigama Sūtra II. 2.
52 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 1-12; 3 (trees), 16 (soil), 17 (water), 18 (trees), 21 (earth), 22 (water), 23 (earth surface), 26 (aerial), 27 (animate or inanimate bodies).
53 Ibid., II. 3.2. (liquid substance) of the particles of earth, the bodies of manifold movable and immovable being, 3-5 (Sap of the trees), 20 (sap of trees), 21 (mother's milk), boiled rice, etc.,) 22 (mother's humours and plants), 23 (both movable and immovable beings), 24 (wind), 27 (the immovable creatures).
54 Sūtrakṛtāṅga II. 3.2.
55 Ibid. II. 3.3.
56 Bhagavatī, 7.3, 275; Sūtrakṛtāṅga II 3.16 (Kuhana), 18 (Sevāla), etc.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

57 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 27.
58 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43.
59 Ibid.
60 Lokaprakāśa, I, Sarga 5, vv. 107-8; see Bhagavatī, 7. 3. 276.
61 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 54.
62 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43.
63 Ibid., Lokaprakāśa, 5. 75, p. 361.
64 Lokaprakāśa, 5. 32, 33, p. 353; Navatattvaprakaraṇaṁ, p. 14.
65 Lokaprakāśa 5. 15, p. 361., Navatattvaprakaraṇaṁ, p. 14.
66 Sūtrakṛtāṅga II, 3. 47; Lokaprakāśa, 1. 5. 79, p. 363.
67 Lokaprakāśa, 1. 5. 96, p. 365
68 Paṇṇavanā, Vanaspatikāyajīva paṇṇavanā, 54-84, Jivavicara, 12; Gommaṭāsara v. 187 (Jivakaṇḍa).
69 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43.
70 Ibid, II. 3. 46.
71 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43.
72 Ibid.
73 Bhagavatī, 7. 3. 274; Lokaprakāśa 1. 5. 109-10.
74 Vide Lokaprakāśa, 1, p. 361, 1. 5. 74.
75 Ibid.
76 Ibid.
77 Uttarādhyayana 36.92; Paṇṇavanā. Vanaspatikāyajīvapaṇṇavanā, 1.35, p. 16 (Sūkṣma Vanaspati).
78 Lokaprakāśa, 1. 5. 33.
79 Ibid , Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43.
80 Paṇṇavanā, Vanaspatikāyajīvapaṇṇavanā 1. 54-84. Jīvavicāra 12; Gommaṭasāra (Jīvakāṇḍa), v. 187.
81 Ibid.
82 Lokaprakāśa 1. 32, 34, p. 353.
83 Ibid. 1. 5. 107-8 pp. 367-8.
84 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43.; Lokaprakāśa I. v. 33.; Tarkarahasyadīpikā (comm. on v. 47), 159.
85 Sūtrakṛtānga II. 3. 43-44.
86 Lokaprakāśa 1, 5. 32, 33, p. 353, 5. 107-8, p. 367-8.
87 Bṛhatsaṅgrahaṇī, v. 200.
88 Ibid. vv. 181, 182.
89 Biology, p. 107, C.A. Villee.
90 Tarkarahasyadīpikā, p. 157.
91 Ibid., p. 159.
92 Ibid., p. 159.
93 Ibid., p. 159.
94 Ibid., pp. 158-59; Lokaprakāśa, 5. 38.
95 Tarkarahasyadīpikā, p. 159.
96 Lokaprakāśa 1.5. 74.; Tarkarahasyadīpikā, 157.
97 Tarkarahasyadīpikā, p. 157.
98 Ibid., p. 158.
99 Ibid , p. 158.
100 Ibid.
101 Sūtrakṛtāṅga II. 3; Lokaprakāśa 1, 5th Sarga; Tarkarahasyadīpikā, Tika on v. 49, pp. 157-159.
102 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 46.; Gommaṭasāra (Jīvakāṇḍa), vv. 186, 189; Paṇṇavanā, Vanaspatikāya-jīvapaṇṇavanā 1, 40, p. 17.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

103 Lokaprakāśa, 1. 5. 107.
104 Ibid.
105 Bhagavatī, 7. 3. 275.; Sūtrakṛtāṅga II, 3. 43.; Lokaprakāśa 1, 5, 107-108.
106 Ibid. (Lokaprakāśa 1. 5. 107-108)
107 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 46.; Lokaprakāśa 1. 5. 77.; Paṇṇavanā 1. 41, pp. 17-18 ; Gommaṭasāra (Jīva) v. 189.
108 Ibid.
109 Ibid.
110 Ibid., Bhagavatī. 7.3.275. Lokaprakāśa 1.5.107-108.
111 Ibid.
112 Sūtrakṛtāṅga II. 343.; Bhagavatī. 7. 3. 275. Paṇṇavanā. 1, 41, pp. 1.; Lokaparakāśa, 1. 5. 77; 5. 107-108.
113 Vide Lokaprakāśa 1. 5. 88-92; Uttarādhyayana 36. 97, 98, 99,
114 Jīvavicāra, v. 12.
115 Paṇṇavanā 1. 54. 7. 85; Lokaprakāśa 1.5, 84.
116 Biology, p. 126.
117 Lokaprakāśa 1,5. 33, 34, 5. 107-8.
118 Ibid.
119 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 55; Paṇṇavanā 1. 51, p.21. Jīvavicāra 8.
120 Bhagavatī 7. 3. 275, 276; 8. 3. 324. Uttarādhyayana 36-96, e. g. āluka, mūlaka, etc. contain bacteria.; Paṇṇavanā 1. 40 ff. Gommaṭasāra (Jīvakāṇḍa), v. 189, p. 117.
121 Jīvavicāra 8. Sutrakṛtāṅga II. 3. 55. Uttarādhyayana 36. 103-104 Paṇṇavanā 1. 51, p. 21.
122 Paṇṇavanā 1. 52, p. 21,; Jīvābhigama, p. 46. *e.g.* Sarpachatra, mushroom (toad-stool).
123 Bhagavatī 8. 3. 324.; Paṇṇavanā 1. 39.; Jīvābhigama, p. 44, etc.
124 Bhagavatī. 24. 4. 692.
125 Paṇṇavanā 1, 43, p. 18.
126 Ibid, 1. 45, p. 19.
127 Ibid, 1. 45, p. 19.
128 Ibid, 1. pp. 20-21.
129 Paṇṇavanā 1. 47. p. 20.
130 Bhagavatī 21. 6. 691.
131 Sevāla, Sūtrakṛtāṅga II. 3. 55. Paṇṇavanā 1. 51, p. 2. Jīvavicāra 8.
132 For plant bacteria see Bhagavatī 7. 3. 276.; 8. 3. 324; Uttarādhyayana 36. 96; Paṇṇavanā 1. 40 ff. Gommaṭasāra; (Jīvakāṇḍa). v. 189, p. 117.
for earth quadrates see Sūtrakṛtāṅga Book 1; Bhagavatī 33. 1. 884; Uttarādhyayana 36. 70, 84, 92, 108, 117; Paṇṇavanā 1. 19. 55. (Ekendriyajīvapaṇṇavanā), Gommaṭasāra, (Jīvakāṇḍa), v. 89, p. 68: Lokaprakāśa, 4th Sarga, v. 25; 5th Sarga, v. 123 ff.
133 Sūtrakṛtāṅga II, 3. 55 (paṇaga) Paṇṇavanā 1. 51, p. 21. Jīvavicāra. 8 Paṇaga (sevalabhūmiphodā yā")
134 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43; (aggabijā)
135 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43 Gommaṭasāra (Jīva), v. 186.
136 Bhagavatī, 15. 1. 544
It refers to the germination of sesamum seeds with the advent of favourable growing season after the uprooting of the sesamum plant by Gośāla Maṅkhaliputta.
137 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 43.
138 Uttarādhyayana Sūtra 36. 179-181; Paṇṇavanā 1.69 70; 1. 76; Tattvārthādhigama Sūtra II. 24.
139 Bhagavatī 1.5.48-49; 2. 1. 83-84; 9.32.375; 20.1.663; 24.17. 708-712 Uttarādhyayana Sūtra 36. 127, 136, 150-155, Paṇṇavanā 1. 56, 57, 58, 61-91, 92-138; TS. II. 24.
140 Bhagavatī 7. 5. 282; 9. 32. 375 Uttarādhyayana 36. 170; Jīvābhigama 1. 33, 57, 58, 68, 75 (Gabbhavukkamtiya), 84, 85, 91.
141 Ibid.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

142 Arms of man, wings of birds, fin of fish are homologous, Tattvārtha Sūtra II. 34.
143 Wings of bat and bird are analogous structures. Paṇṇavanā, 1. 62-63.
144 Wings of Cammapakkhī and Lomapakkhī, Paṇṇavanā 1.86.
145 Ibid. (wings of bats and birds have the same function).
146 Uttarādhyayana 35. 128: TS. II. 24; Paṇṇavanā 1. 50, 56.
147 Ibid. 148 Ibid. 149 Ibid.
150 Paṇṇavanā 1. 56, Tattvārthādhigama Sūtra II. 24.
151 It comes under the category of Annelids. See Paṇṇavanā 1. 56; TS., II. 24.
152 Ibid. 153 Ibid.
154 Paṇṇavanā 1.57. 2; Uttarādhyayana, 36. 137-138; TS., II. 24
155 Uttarādhyayana 36. 146. 149. Paṇṇavanā 1.58; Tattvārthādhigama Sūtra II. 34
156 Ibid.
157 Uttarādhyayana, 36. 146-149, Paṇṇavanā, 1.58. 1. Tattvārthādhigama Sūtra II. 34.
158 Ibid.
159 Paṇṇavanā. 1.57. 1. Uttarādhyayana Sūtra 36. 137-138. TS , II. 24.
160 Ibid.
161 Uttarādhyayana 36. 146-149. Paṇṇavanā 1. 58. 1. Tattvārthādhigama Sūtra II. 34.
162 Ibid.
163 Paṇṇavanā 1. 57. 1; Uttarādhyayana 56. 137-138; TS., II. 24.
164 Uttarādhyayana 36. 146-149; Paṇṇavanā 1. 58. 1.; Tattvārthādhigama Sūtra II. 34,
165 Ibid. 166 Ibid.
167 Paṇṇavanā 1. 56. Tattvārthādhigama Sūtra II. 24.
168 Ibid.
169 See Paṇṇavanā for four-sensed Jalacarajīvas.
170 The animals (man and higher animals) having five sense organs fall under the class of the phylum chordata which consists of the subphylum, vertebrate, animals, such as, fish (maccha), amphibia (frogs=maṇḍuka, Bhs. 12. 8. 446), reptiles (parisarpas), birds (pakṣins) and mammals including man (manuṣya), see Uttarādhyayana 36, 155, 170, 172, 180, 181, 187, 194, Paṇṇavanā 1.61, 62, 63, 70, 71, 72, 73, 74, 76, 92; Tattvārthādhigamasūtra II. 34.
171 The five-sensed animals of Jaina Biology can be classified into eight classes of the subphylum Vertebrata of Modern Biology, viz. (1) the Agnatha—the Jawless fishes, e. g. Saṇhamaccha, lamprey sels, etc. (2) the placodermi—the Jawed fishes, (3) the chondrichthyes, e. g. sharks (timi ?) with cartilaginous skeletons, (4) the osteichthyes—the bony fishes, e. g. Rohiyamaccha (Labeo-Rohita), (5) the Amphebia (frogs, Maṇḍuka) (6) the Reptilia (parisarpas)—lizards, snakes, the warm blooded fur bearing animals that suckle their youngs (Sthalacaracatuṣpada prāṇīs—Apes and Man.
172 Sharks (timi ?), etc. See Paṇṇavanā, 1.63.
173 Rohita fish found in big pond, river and sea. See Paṇṇavanā. 1.73.
174 Bhagavatī Vyākhyāparajñapti, 8. 2. 316, 12.8 460.
175 Uttarādhayayana Sūtra 36. 181, Paṇṇavayā Sutta 1.76., TS., II. 34.
176 Paṇṇavanā 1. 86, Uttarādhyayana 36. 187. Tattvārthādhigama Sutra II. 34.
177 TS., II. 34. 178 Ibid. 179 Ibid.
180 Ibid. 181 Ibid. 182 TS. II. 34.
183 TS. II. 34. 184 Bhs. 12. 8. 460.
185 TS. II. 34., Uttarādhyayana Sūtra, 36. 194., Paṇṇavanā 1.92.
186 Paṇṇavanā 1. 72. 187 Ibid. 1. 71. 188 Ibid. 1. 73
189 Paṇṇavanā 1. 63.
190 Bhagavatī Vyākhyāprajñapti, 1. 5.49, 2.1.83-84, 9-32-375, 20.1.663, 24. 17. 708-12, Uttarādhyayana Sūtra 36. 127, 136, 150-155.
191 Paṇṇavanā, Jīvapaṇṇavanā 1. 56, 57, 58, 61-91, 92-138.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

192 Bhagavatī Vyākhyāprajñapti 1.5.49, 2. 1. 83-84, 9.32,375, 20.1.663, 24.17.708-12, Uttarādhyayana Sūtra 36. 127, 136, 150-155, Paṇṇavanā Jīvapaṇṇāvana 1.56, 57, 58, 61-91, 92-138. Tattvārthādhigama Sūtra II. 24, 34.
193 Bhagavatī 7. 5. 282. Uttarādhyayana 36. 171. Paṇṇavanā 1, 61, p. 29.
194 Uttarādhyayana 36. 170, Bhagavatī 7. 5. 282., Jīvābhigama Sūtra 1. 33. Paṇṇavanā 1.56, etc.
195 Uttarādhyayana 36. 170, Bhagavatī 7. 5. 282. Jīvābhigama 1. 33. Paṇṇavanā 1. 68, etc.
196 Bhagavatī 7.5.282. Jīvābhigama 3.1.96., Tattvārthādhigama Sūtra II. 34.
197 There may be germs of life in dirt or sweat according to the Biological Science, 16, pp. 34-35.
198 Tandulaveyāliya, 16, pp. 34-35.
199 Ibid., Kalyāṇakāraka 3. 4.
200 Ibid., 16. p. 35. 201 Ibid. 202 Ibid.
203 Tandulaveyāliya, 16, pp. 34-35 ff., Kalyāṇakāraka, 3.5., pp. 31 ff.
204 Tandulaveyāliya, 3, p. 7, 6, p. 10, 16, p. 35, Kalyāṇakāraka 3, 7, p. 31 (rakta) Soṇiya (Angavijjā), p. 177.
205 Tandulaveyāliya. 16, p. 35., Kalyāṇakāraka, 3.2, 3.3., p. 30; 3, 4, p. 31.
206 Tandulaveyāliya, 17. p. 38.
207 Tandulaveyāliya, 16. p. 35. Kalyāṇakāraka, 3, 4, p. 31.
208 Taṇuyaṁta ? Its function suggests that it is kidney (Tandulaveyāliya 16, p. 35), although its literal meaning appears to be small intestine, where all eaten food is churned and digested.
209 Ibid, Kalyāṇakāraka, 3. 5, 10, 11, 12.
210 Tandulaveyāliya, p. 41. 211 Ibid.
212 Ibid. 16. p. 35. Kalyāṇakāraka 3. 2, p. 38
213 Tandulaveyāliya, 16, p. 35. 214 Ibid. 215 Ibid.
216 Tandulaveyāliya, p. 41. 217 Ibid., 16, p. 35, p. 41.
218 Kalyāṇakāraka 3.12. p. 32. 219 Ibid.
220 Tandulaveyāliya, 16, p. 35, 38. Kalyāṇakāraka, 3, 5, 10, 11, 12.
221 Ibid.
222 Tandulaveyāliya, 16, p. 35. 223 Paṇṇavanā, Indriyapada, 15.
224 Tandulaveyāliya, 16, p. 35. 225 Testes ovaries, Seminal glands, etc.
226 Visuddhimagga, VI. 89, VI. 46. 227 Tandulaveyāliya, p. 38.
228 Tandulaveyāliya, 16. p. 35, 17, p. 38, etc.
229 Caraksaṁhitā, IV. 6. 4. 230 Visuddhimagga VIII, 45.
231 Tattvārthādhigamasūtra, Umāsvāti V. 9.
232 Tandulaveyāliya, 3, p. 17. 233 Ibid, 16, p. 35
234 Ibid, p. 40. 235 Ibid. 236 Ibid.
237 Ibid. 238 Ibid. 239 Ibid. 13, p. 41.
240 Tandulaveyāliya, pp. 13, 41.
241 Tandulaveyāliya, p. 40. 242 Tandulaveyāliya, p. 40.
243 Tandulaveyāliya 17, 38. 244 Ibid.
245 Ibid., 16, p. 35, Kalyāṇakāraka 3.4, p.31.
246 Kalyāṇakāraka, 3.49, p. 40 247 Ibid 3, 7, p. 31.
248 Tandulaveyāliya, 16. p. 35.
249 Ibid, p. 8, Bhagavatī 1. 7. 61-2: Viśeṣāvaśyakabhāṣya, a. 2714.
250 Tandulaveyāliya, 17, p. 38. 251 Tandulaveyāliya, p. 38.
252 Tandulaveyāliya, 17, p. 38 (udara), Kalyāṇakāraka, 3. 4, p. 31 (āmoru).
253 Kalyāṇakāraka, 3. 4. 254 Tandulaveyāliya 16, p. 35.
255 Ibid., Kalyāṇakāraka. 256 Ibid, 3. p. 7; 16, p. 35.
257 Ibid, 16, p. 35. 258 Ibid, p. 38.
259 Ibid. 28. Ibid. 16, p. 35. 260 Ibid.
261 Ibid. 262 Ibid. 263 Ibid. p. 41.
264 Ibid. 3, p. 7 265 Ibid. 266 Ibid.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

267 Ibid. p. 40. 268 Ibid. p. 41.
269 Ibid. 6, p. 10, 16 p. 35. 270 Ibid, 16. p. 35.
271 Tandula Veyāliya, 16, p. 35., Kalyāṇakāraka, 3.2.
272 Tandulaveyāliya, 6. p. 10. Bhagavatī Sūtra, 1, 7, 61.2.
273 Ibid. 274 Tandulaveyāliya, 16, p. 35.
275 Lokaprakāśa, 3, 399, p. 132. Karmagrantha 1.38-39.
276 Tandulaveyāliya p. 6, 16, p, 35. Kalyāṇakāraka 3.2., p. 30.
277 Tandulaveyāliya 16, p. 3.5., Kalyāṇakāraka, 3.3, p. 30.
278 Kaṇḍarā means thick (or big) nerves. They may be ligaments, also see Kalyāṇakāraka 3.4. for Kaṇḍara.
279 Kalyāṇakāraka 3.4, p. 31.
280 Bhagavatī 2. 4.99, Paṇṇavanā Sutta. 15, Indriyapāṇa, Tandulaveyāliya, 3, p.7. Tattvārtha Sūtra II Pañcendriyāṇi.
281 Tandulaveyāliya, 16, p. 35, Even Taṇuyaṁta (small intestine) and Thūlaṁta (large intestine), are regarded as endocrine glands.
282 Garbhāśaya, Sthānāṅga, Tīkā 6: Kucchi (?), Tandulaveyāliya, 16, p. 35.
283 Tandulaveyāliya, p. 3.
284 Sūtrakṛtāṅga II. 3, Paṇṇavanā I, Jīvapaṇṇavanā; See births of Beindiya to pañcendiya Jīvas, Saṁmūrcchima and Vyutkrāntika, etc. etc., Tattvārthādhigama sūtra II, 24, 34.
285 Bhagvatī 7. 5. 282, Jīvābhigama 3.1.96, 1.33.36, Paṇṇavanā Jīvapaṇṇavanā (from two-sensed to five-sensed animals).
286 Biology, p. 148., See Uttarādhyayana Sūtra XXXVI. 170. All pañcendriyas are both Saṁmūrcchima and Garbhaja, i.e. they have asexual and sexua lreproductions.
287 Bhagavatī, 7.5. 282, Jīvābhigama Sūtra 3.1.96, 1.33, 36; Uttarādhyayana Sūtra XXXVI. 170, Paṇṇavanā, Jīvapaṇṇavanā, 1.57, p. 27.
288 e.g. worms (kṛmis), etc.
289 e.g. worms (Kṛmis), etc.
290 See Uttarādhyayana Sūtra XXXVI. 170. Paṇṇavanā, Jīvapaṇṇavanā, Tirikkhajīvapaṇṇavanā upto Manussajīvapaṇṇavaṅā
291 Sūtrakṛtāṅga II. 3.21., Tandulaveyāliya, p. 3.
292 Tandulaveyāliya, p. 3.
293 Ibid., Sthānāṅga Sūtra, Paṁcamasthāna, Sūtrakṛtāṇga II. 3. 56.
294 Sutrakṛtāṅga II. 3. 56.
295 Tandulaveyāliya, 2, p. 6.
296 e.g. Putrajīvarasaharaṇī (umbilical cord) functions to absorb food from the stream of mother's blood.
297 Tandulaveyāliya, 2. p. 6. Kalyāṇakāraka, 2nd chap; VV. 33, 54, p. 27.
298 Biology, p. 430.
299 Bhagavatī Vyākhyāprajñapti, 1. 7. 61, Tandulaveyāliya, 6, p. 10.
300 Paṇṇavanā 1, 56-91. Paṇṇavanā 1. 70.
301 Uttarādhyayana 36. 176, Paṇṇavanā 1.70.
302 Paṇṇavanā Sutta 1. 61-91.
303 Tandulaveyāliya, p. 13.
304 Ibid (comm.), p. 4.
305 Biology, p. 747.
306 Biology, p. 501. "Gene applies to any hereditary unit that can undergo mutation and be detected by the change, it produces in the phenotype of the organism" Ibid., p. 485.
307 Tandulaveyāliya, pp. 15-16.
308 Tandulaveyāliya, 1, 2, 3.
309 Ibid., p. 15 (prathamā daśā).
310 Ibid, p. 15 (prathamā and tṛtīyā daśā).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

311 Ibid, p. 16 (hāyanī 6th daśā), pavaṁca (7th daśā), Saṁkuiyavalīcammo (8th daśā), etc.
312 Biology, p. 504.
313 "Maṇīṣmanda", 1st Karmagrantha with Sopajñaṭīkā by Devendrasūri, p. 2.
314 "The term 'Polygenic inheritance or multiple factor inheritance is applied when two or more independent pairs of genes affect the same character in the same way and are an additive fashion", e.g. skin colour in man, Biology, p. 470.
315 "Maṇīṣījaḍayo.....Karmanibandhanaṁ 1", Karmagrantha I, with Sopajñaṭīkā by Devendra Sūri p. 2.
316 Ibid. (comm.).
317 Biology, p. 504. 318 Ibid.
319 Viśeṣāvaśyakabhāṣya 537.
320 Biology, p. 504.
321 Uttarādhyayana Sūtra 36. 68-197., Paṇṇavaṇā Sutta 1. 19-55 (Egindiyajīvapaṇṇavanā upto pañcendiya manussajīvapaṇṇavanā). 1-92-138.
322 Bhagavatī 25. 5. 749, Jīvābhigama Sūtra, p. 997, Paṇṇavanā, 1, 55. 102, Lokaprakāśa 1. 4th Sarga V. 32, Nigodaṣaṭtriṁśikā, Gommaṭasāra (jīva), V. 73.
323 Uttaradhyayana Sutra, 36, 68 ff, Paṇṇavanā 1.19-55.
324 Uttarādhyayana Sūtra 36. 194-7, Paṇṇavanā 1.92.138.
325 Sūtrakṛtāṅga II. 3. 62.
326 Biology, p. 543.
327 Uttarādhyayana Sūtra 36.
328 Paṇṇavanā Sutta 2, Ṭhāṇapayaṁ, Sūtra, 148-66, etc.
329 Uttarādhyayana Sūtra 36. 171.
330 Biology, p. 570, Paṇṇavanā 1. 61-91.
331 Biology p. 570.
332 It is indicated by the characteristics of living substances and their cell structures and functions.
333 Sūtrakṛtāṅga II. 3, Bhagavatī 7. 3. 275, Paṇṇavanā, Thāṇapayam., Jīvābhigama, 1.34-36, Tarkarahasyadīpikā, V. 49, Jainamataṁ, Tika by Guṇaratna.
334 Ibid.
335 Sūtrakṛtāṅga II. 3.
336 For types of plants and classification of animals see Paṇṇavanā, Jīvapaṇṇavanā, Uttarādhyayana Sūtra. 36, etc.
337 Paṇṇavanā Sūtra, Ṭhāṇapayaṁ; Sūtrakṛtāṅga II. 3.
338 Trasa Jīvas (motile animals) always move for food and shelter.
439 Sūtrakṛtāṅga II. 3. All motile animals do so for food and space.
340 Ibid.
341 Sūtrakṛtāṅga II. 3.
342 Sūtrakṛtānga II. 3. 57. Uttarādhyayana Sūtra 36. 172. Paṇṇavanā Sūtta. 1. 67.
343 Biology p. 583.
344 Uttarādhyayana Sūtra 36. 146: Paṇṇavanā Sutta 1.58; Tattvārthādhigama Sūtra II. 24.
345 Biology p. 586.
346 Paṇṇavanā 1. 45 (Tumbi)
347 Bhagavatī 9. 33. 385, 11. (1-8).
348 Sūtrakṛtāṅga II. 3, Āhāranikṣepa.
349 Sūtrakṛtāṅga II. 3.
350 Tarkarahasyadīpikā, Ṭīkā on v. 49 (Pratiniyatavṛddhi).
351 Tarkarahasyadīpikā, Ṭīkā on v. 49, Guṇaratna, p. 159.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड ५

राजस्थानकेसरी

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ

अर्हं जैन साधना एवं मनोविज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैन-साधना का रहस्य

✡ जमनालाल जैन,

साधना वह वैचारिक प्रक्रिया तथा सामाजिक आचरण अथवा धार्मिक अनुशासन है जिसके अभ्यास द्वारा हम अपने व्यक्तित्व को सार्थक करना चाहते हैं। व्यक्तित्व की सार्थकता का सर्वप्रथम एवं मूलभूत आधार हमारा शरीर है। हम शास्त्रों का, मत-मतांतरों का, परम्पराओं का, आध्यात्मिक जागृति का अभ्यास एवं प्रयास करें या न करें, हमें जो शरीर प्राप्त है उसको टिकाए रखने, उसे सक्षम बनाने एवं उससे काम लेने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि उसे साधा जाय। जाने-अनजाने हमारा शरीर जन्म के क्षण से ही सक्रिय रहता है। प्रवृत्ति इसमें सहायक होती है। माता-पिता का या परिवार का वातावरण इसमें सहायक होता है। शरीर-विकास के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मानसिक विकास होता है, बौद्धिक क्षमता बढ़ती है, त्यों-त्यों हमारी प्रक्रियाएँ एवं प्रवृत्तियाँ भी नए-नए रूप ग्रहण करती हैं। और यह क्रम एक-दो वर्ष तक या दस-बीस वर्ष तक ही नहीं चलता, बल्कि मृत्यु के क्षण तक चलता रहता है। यह एक प्रकार की साधना ही है।

जीवन निरन्तर गतिशील है और हमारी आवश्यकताएँ इस गतिशीलता के आधार पर घटती-बढ़ती रहती हैं। प्रारम्भ में यानी बाल्यकाल में हमें इस जीवन की गतिशीलता का ज्ञान नहीं रहता, इसलिए आवश्यकताएँ भी सीमित होती हैं। जैसे-जैसे मनुष्य अपनी गतिशीलता अथवा व्यक्तित्व को समझने लगता है वैसे-वैसे उसकी आवश्यकताएँ भी व्यापक एवं विराट रूप लेती जाती हैं। खाने-पीने, नहाने-धोने, उठने-बैठने, चलने-फिरने, सोने-जागने, पहनने-ओढ़ने जैसी सामान्य प्रतीत होने वाली बातों में भी मनुष्य आगे चलकर काफी सावधान एवं जागरूक होने लगता है और इन बातों की भी आचार-संहिता उसके मानस पर छा जाती है। परम्परा, संस्कार, सामाजिक व्यवहार, नागरिक शिष्टाचार एवं कानून के सन्दर्भ में विकासमान् मनुष्य अपने जीवन का, उसकी गतिशीलता का मूल्यांकन करता है एवं उसे सार्थक सिद्ध करने के लिए अपनी सहज क्रियाओं को वैधानिक जामा पहना देता है।

पशु-पक्षियों की इन्हीं सहज प्रवृत्तियों को हम साधना नहीं कहते, क्योंकि उनकी इन सहज प्रवृत्तियों या कार्य-कलापों में कभी कोई विकास नहीं हुआ। सरकस में काम करने वाले या विशिष्ट संस्थानों में प्रयोजनवश प्रशिक्षित पशुओं के व्यवहार-विशेष को साधना अवश्य कह सकते हैं। किन्तु इसकी भी एक मर्यादा है। मनुष्य की ऐसी कोई मर्यादा नहीं है, सीमा नहीं है।

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक कर्म एवं प्रत्येक भावना के साथ विकासशील रहा है और इसी प्रकार वह ज्ञान-विज्ञान का अतुल्य, अकूत कोष अपने में समाहित करता गया है।

संसार के अनेक धर्मों ने मानवीय क्षमता के विकास को ध्यान में रखकर, अपने-अपने समय में व्यक्तित्व की सार्थकता के कई आयाम उद्घाटित किये। खान-पान तथा चलने-फिरने से लेकर आत्मसिद्धि या परमात्म-प्राप्ति तक, समग्र जीवन को समेटने वाली हजारों-हजार क्रियाओं पर धर्म-प्रवर्तकों ने या अनुभवी महापुरुषों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। छोटी से छोटी क्रिया को भी उन्होंने साधना का स्वरूप दिया। प्रत्येक क्रिया को धर्ममय कहकर उन्होंने क्रिया की प्राण-प्रतिष्ठा की। इससे क्रियाओं की गरिमा बढ़ी, उनके प्रति सजगता बढ़ी और पारस्परिक व्यवहार में चेतनता का प्रवेश हुआ। जैसे कलाकार पाषाण के कण-कण में विराट सौन्दर्य की अनुभूति करते हुए मूर्ति का निर्माण करके अपनी सम्पूर्ण चेतना-ऊर्जा उसमें उड़ेल देता है और वह मूर्ति हमारे समक्ष जीवन्त हो उठती है, वैसे ही मनुष्य जीवन की सहज मानी जाने वाली क्रियाओं अथवा प्रवृत्तियों में सम्पूर्ण विश्व की आत्म-भावना का उन्मेष करने का महान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयास किया गया है। यह साधारण घटना नहीं है जबकि अर्जुन श्रीकृष्ण से या गणधर गौतम महावीर से साधारण-सी प्रतीत होने वाली उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने आदि क्रियाओं के विषयों में मार्गदर्शन चाहते हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो सम्पूर्ण मानव-जीवन ही साधनामय है। जीवन अपने में साधना ही है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अद्वितीय होता है, अमूल्य होता है, वैसे ही साधना भी अनन्तरूपिणी है। सामान्यतः समान प्रतीत होने वाली एक छोटी-सी दैनिक क्रिया भी प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न होती है और एक व्यक्ति की भी वह दैनिक क्रिया प्रतिदिन एक-सी नहीं रह पाती है। ऐसा न हो तो मनुष्य जड़ हो जायेगा, उसके ज्ञान का स्रोत सूख जायेगा, उसका आत्म-दीपक बुझ जायेगा।

फिर भी साधना को भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक इन तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इन्हें हम व्यक्तिपरक, समष्टिपरक एवं आत्मपरक भी कह सकते हैं। भौतिक साधना में वे सब चीजें ली जा सकती हैं जो शरीर संरचना से लेकर जीवन-संरक्षण तक आती हैं। इनमें किसी सीमा तक शरीर-शुद्धि को भी जोड़ा जा सकता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं उपभोग के लिए किया जाने वाला प्रयास इसमें आ जाता है। नैतिक साधना का क्षेत्र व्यक्ति से ऊपर उठकर समाज तक बढ़ जाता है। व्यक्ति को समाज में, सबके साथ रहना है, समाज के प्रति उसके अनेक कर्तव्य एवं दायित्व होते हैं, अपने सम्पर्क में आने वालों के प्रति उदारता, मृदुता, विनयशीलता का बर्ताव करना पड़ता है। इन सबके लिए उसे सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ता है। सामाजिक धरातल पर व्यक्ति जब अपने जीवन को तोलता है, तब उसका आचार नैतिक नियमों के अनुसार होता है। नैतिक नियमों के पालन में व्यक्ति को अपने परिवार, पास-पड़ोस, गाँव तथा राज्य-राष्ट्र के लिए त्याग भी करना पड़ता है, क्योंकि उसके जीवन का विकास भी समाज के अनेकमुखी त्याग पर निर्भर करता है। अहिंसा आदि पांच व्रत, मैत्री-प्रमोद आदि भावनाएँ, परस्पर उपग्रह आदि नैतिक साधना के साधन हैं।

तीसरी भूमिका आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक साधना में व्यक्ति शरीर एवं सामाजिक मर्यादाओं से ऊपर उठ कर ऐसी भूमिका में प्रवेश करता है जहाँ आसक्ति और आकुलता नाम की कोई चीज नहीं रह जाती। धीरे-धीरे वह शरीर-शुद्धि करते हुए आत्म-शुद्धि की स्थिति को उपलब्ध करना अपना लक्ष्य बना लेता है। मानसिक एवं शारीरिक विकारों को दूर करने के लिए वह आसन, ध्यान, प्राणायाम आदि के प्रयोग करता है और अपने अस्तित्व का चिंतन करता है। धार्मिक शब्दावली में ऐसे व्यक्ति साधु-संन्यासी या श्रमण कहे जाते हैं। इनकी आचार-संहिता बिलकुल अलग प्रकार की होती है। सम्पूर्ण जीवसृष्टि एवं प्रकृति के साथ आत्म-भाव स्थापित करने की दिशा में उनकी हर क्रिया इतनी सावधानीपूर्वक होती है कि कभी-कभी अबोध मन को ये सब बातें हास्यास्पद भी लगती हैं। अपने शरीर के प्रति अनासक्त या उदासीन होकर समस्त जीवों के शरीरों में अपने को और अपने में सृष्टि-विग्रह को समाहित करने की यह साधना इतनी सूक्ष्म एवं कठिन होती है कि निरन्तर अभ्यास के बावजूद भी फिसलने का डर रहता है।

आध्यात्मिक साधना को प्रायः सभी धर्मों ने महत्व दिया है। सबके अपने-अपने मार्ग हैं, विधियाँ हैं और आचारगत विशेषताएँ हैं। जब साध्य ओझल हो जाता है और साधन ही प्रमुख बन जाता है, तब आचार में जड़ता आ जाती है। इस जड़ता के निवारण के लिए भी प्रयास करना पड़ता है। भारतीय धर्मों में वैदिक, जैन और बौद्ध अपनी विशेषता एवं महत्ता रखते हैं। वैदिक धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्वतन्त्र चिंतकों के कारण उसमें युगानुकूल प्रवृत्तियों का समावेश होता गया और व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता रही कि चाहे जिस मार्ग को अपना कर कल्याण-साधना करे। जैनधर्म की साधना-पद्धति मूल में एक प्रकार की रही, उसके साधनों में यदाकदा कुछ हेरफेर होता रहा। जैन साधना का मौलिक आधार दार्शनिक विचार रहा जो वैदिक धर्म से सर्वथा भिन्न है।

वैदिक धर्म ने जहाँ कर्म, भक्ति और ज्ञान पर साधना का भवन निर्मित किया वहाँ जैनधर्म ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकता पर बल दिया। जैन-साधना का लक्ष्य रहा परमात्म-पद की प्राप्ति, जबकि वैदिक-साधना का लक्ष्य रहा है परमात्मा में लीनता। इसीलिए हम देखते हैं कि जैन मनीषियों ने वैदिक धर्म के क्रियाकाण्डों में आ रही जड़ता का पूरी शक्ति के साथ विरोध किया। जटा बढ़ाना, नदी में स्नान करना, श्राद्ध करना, तर्पण करना, सूर्यादि ग्रहण के समय व्रत-दान करना, यज्ञोपवीत धारण करना, आदि सैकड़ों क्रियाओं को साधना का अंग मानने से जैनों ने इनकार करके साधना के क्षेत्र में महान् क्रान्ति की थी, इसमें संदेह नहीं।

जैन-साधना की गति वीतरागता की ओर है। भौतिक सुख-सुविधाओं अथवा बाह्य समृद्धि का जीवन में कोई महत्व यहाँ स्वीकार नहीं किया गया। जो यह मानता है कि मैं सुखी-दुखी हूँ, राजा-रंक हूँ, सुन्दर-असुन्दर हूँ, सम्पन्न-विपन्न हूँ, वह जैनधर्म की दृष्टि में बहिरात्मा है। बहिरात्मा वह है, जो मोहासक्त है, मिथ्यात्व में जीता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसे अपने अस्तित्व की यथार्थता का पता नहीं है। ऐसे व्यक्ति को जैनधर्म बेहोश कहता है। वह मोह की महावारुणी पिये हुए है। वह जानकर भी नहीं जानता, देखकर भी नहीं देखता। तब गुरु-प्रसाद से बहिरात्मा को अपने अस्तित्व का, अपने जीवन के मूल्य का ज्ञान होता है और संसार की नश्वरता का दर्शन खुली आँखों से करता है, तो वह इन सबसे विरक्त होकर अंतर्मुख हो जाता है। तब उसे सारा बाह्य वैभव, माया और छलावा लगने लगता है। वह तब निर्ग्रन्थ हो जाता है। समस्त ग्रन्थियों को खोलकर उन्मुक्त हो जाता है। सारे बाह्य सौन्दर्य में उसे विरूपता दिखाई देने लगती है। एक जाज्वल्यमान आत्मा का स्मरण वह करता है। भेद-विज्ञान उसमें जाग जाता है और वह स्वयं अपना ही दीपक बन जाता है।

जैन-साधना की कुछ पद्धति तो है, पर पद्धति का उपयोग साधन के तौर पर ही किया जाता है। अन्ततः तो सब पद्धतियों से परे होने पर ही साध्य की उपलब्धि होती है। पद्धतियाँ तो फिसलन से, भटकाव से बचने के लिए संकेत मात्र हैं। पद्धतियाँ तो अनुभवियों के प्रयोग हैं जिनसे सबक लेकर साधक को अपना मार्ग तय करना है।

प्रश्न यह है कि क्या भौतिकता को अध्यात्म में परिणत किया जा सकता है? भौतिकता की निन्दा करना और उसे छोड़कर जंगल का रास्ता अपना लेना कठिन नहीं है, किन्तु इसमें साधना का सूत्र हाथ से छूट जाता है। पंचेन्द्रिय के विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्रों में अनेक उपायों का उल्लेख मिलता है और यह भी कि घर छोड़कर अनगार बन जाना चाहिए। अनेक साधक मुनिवेश धारण करके विचरण भी करते हैं। प्रारम्भिक अभ्यास की दृष्टि से इसका महत्व अवश्य है, किन्तु बाद में यह सब बातें गौण हो जाती हैं। सम्यक् साधना में व्यक्ति कहीं किसी से पलायन नहीं करता और न यह अभिव्यक्त होने देता है कि वह किसी प्रकार से असामान्य या विशिष्ट है। भौतिक सामग्री या वैभव को सच्चा साधक आत्मभाव से देखता है और उसका उपयोग आध्यात्मिक दृष्टि से करता है। यहाँ फिर वही बात दोहराने को जी करता है कि कलाकार के लिए पत्थर का छोटा-सा कण भी उसकी विशाल एवं व्यापक भगवत्-भावना का अंश है। अपने कर्म को व्यक्ति जब सर्वात्मभाव से सम्पन्न करता है और उसमें उसका स्वार्थ तिरोहित हो जाता है, तब वह केवल कर्म नहीं रह जाता—वह अकर्म ही हो जाता है। योगीन्द्रदेव ने लिखा है—

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहं सुद्धि ण जं जि॥—[परमात्मप्रकाश, २,७०]

—हे जीव जहां खुशी हो जाओ और जो मर्जी हो करो, किंतु जब तक चित्त शुद्ध नहीं हो तब तक मोक्ष नहीं मिलेगा।

जैन श्रमण-परम्परा की यह अनोखी विशेषता रही है कि गृहस्थवर्ग से निरंतर सम्पर्क रखते हुए भी, उनसे प्रतिदिन आहारादि प्राप्त करते हुए भी श्रमण आकांक्षाओं से परे रहते हैं, और भ्रामरीवृत्ति से विचरण करते हैं। फूल से अपनी आवश्यकता भर पराग ग्रहण करने वाले भ्रमर का जीवन जैन श्रमणों की चर्या के लिए उत्तम दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

जैनधर्म या दर्शन का अपना कर्म-सिद्धान्त है। उसका भाग्य या कर्त्तव्य से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। यह कर्म-सिद्धान्त दार्शनिक निष्पत्ति है जिसके अनुसार व्यक्ति सम्यग्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र के समन्वित मार्ग पर, सन्तुलनपूर्वक साधना करता हुआ अपने साध्य को प्राप्त करता है। वह त्यागने के लिए कुछ नहीं त्यागता, ग्रहण करने के लिए कुछ ग्रहण नहीं करता। उसका लक्ष्य होता है—अपनी चेतना में से सब प्रकार की जड़ता-अजीवता को समाप्त करना अथवा निर्जीवता मात्र को अपनी चेतना या स्फूर्ति द्वारा सजीव बनाकर उसके प्रति समभाव स्थापित करना।

जैनाचार्यों ने व्यर्थ साधनाओं को कोई महत्व नहीं दिया। भौतिकता में रचे-पचे लोगों के लिए ऐसी साधनाएँ हैं जो आकर्षण का कारण बन सकती हैं और जिनमें किसी अनोखी चमत्कृति का दर्शन होता है। वे जन-पूज्य भी बन जाते हैं। पानी पर चलना, दीवाल को चला देना, दिन में तारे उगा देना, मनचाही वस्तु को निमिष मात्र में उपस्थित कर देना, भविष्यवाणी करना, दूसरे के मन की बात जान लेना, आग में कूद पड़ना, शूली पर लेट जाना, या शस्त्र क्रिया द्वारा अंग-भंग करना, आदि सैकड़ों प्रकार की साधनाओं में लोग वर्षों तक लगे रहते हैं। लेकिन जैनधर्म ने इन प्रक्रियाओं को लोकैषणा कहा है, कषाय कहा है। साधना तो वही उपादेय है जो राग-द्वेष से विरत करे। पंडित दौलतराम जी ने स्पष्ट कहा है—

यह राग आग दहै सदा तातें समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय, अब तो त्याग निजपद बेइये॥ (छहढाला)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश यह कि समस्त चराचर जगत् के प्रति समताभाव रखने की साधना सर्वोपरि साधना है। सापेक्ष अथवा साकांक्ष साधना से योगैश्वर्य प्राप्त हो सकता है, स्वर्ग तक मिल सकता है, और तो और कल्पनातीत अनुत्तर विमान का सुख भी मिल सकता है। किन्तु निराकुल सुख की प्राप्ति तो साम्यावस्था में ही उपलब्ध हो सकती है। मोक्ष भी अन्ततः अपनी आकांक्षाओं से मुक्त होना ही है। छहढालाकार ने निष्कर्ष रूप में लाख टके की बात कही है—

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ।
छोड़ सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्याओ॥

अपनी आत्मा का ध्यान या चिंतन स्वार्थ नहीं है। क्योंकि आत्मा की शक्ति परिमित नहीं है और उसकी ज्योति ब्रह्माण्डव्यापी है। एक आत्मा में सर्वशक्ति का निवास है, इसलिए वह विश्व-कल्याण से विपरीत स्थिति नहीं है। भगवान महावीर ने सूत्र रूप में कहा है—जो एक को जानता है वह सबको जानता है। हम सर्वप्रथम अपने को पहचान लें, विश्व तो तब जाना हुआ ही समझो। लेकिन वास्तविकता यह है कि मनुष्य नाना वेश या रूप धारण करके भी अपने को नहीं जान पाता। उसकी आँखें निरन्तर अपने से बाहर, दूर विश्व के मंच पर परिवर्तनशील दृश्यों को देखने में लगी रहती हैं, जो कि अपने में एक माया है, ग्रन्थि है। माया के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए भी अपने को जानना नितांत आवश्यक है।

जैनआगम ग्रन्थों में जो कथाएँ मिलती हैं, उनका कलागत मूल्यांकन करना, साहित्य मनीषियों का कार्य भले हो, उन कथाओं के भीतर एक शाश्वत सत्य आलोकित है कि मुक्ति की साधना के पथ पर चलने में यात्री बार-बार फिसलता है, खाई-खंदक में गिरता है, जन्म-जन्मांतर के अपार दुःख-सागर में डूबता है, कभी-कभी सुख-स्वर्ग में भी भोगैश्वर्य-सम्पदा प्राप्त करता है। परन्तु यह सब तो पथ के अवरोध हैं, शूल-काँटे हैं। इससे उत्तीर्ण होने पर ही सिद्धि हाथ लगती है। जब व्यक्ति 'मैं' से मुक्त होकर 'सर्व' का हो जाता है, अपने को शून्य कर देता है—अपने में से कर्त्ताभाव को समाप्त कर देता है, तभी नश्वरता से अविनश्वता के भवन में चरण धरता है।

जैन-साधना व्यवहार और निश्चय के रूप में द्विविध है। यह द्विविध साधना भी श्रावकधर्म एवं श्रमण-धर्म के रूप में द्विविध है। श्रावक की साधना व्यवहार-प्रधान होते हुए भी उसकी दृष्टि निश्चयमूलक साध्य पर होती है। श्रावक की साधना निश्चय का पूरक होती है, तभी वह एक समय समस्त बाह्यताओं से निवृत्त होकर श्रमण-मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है—अन्तर्मुख होता है। श्रावक धीरे-धीरे एकादश सोपानों पर चढ़ता है। यह ठीक है कि उसकी यह व्यवहार-साधना खान-पान तथा स्थूल व्रतों तक सीमित होती है, उसका समूचा व्यवहार परस्पर-सापेक्ष होता है, एवं सांसारिक समस्याओं से आबद्ध भी होता है, किन्तु अनादिकालीन मोहनीय संस्कारों एवं मिथ्यात्वों से ग्रसित जीवन को एक नई दिशा देते समय ऐसा नैतिक चरित्र भी बड़ा क्रान्तिकारी होता है। श्रावकधर्म की जो आचार-संहिता जैन-धर्म में प्रतिपादित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। बाहर से वह नैतिक दिखती है जरूर, लेकिन उसके बीज बहुत गहरे गये होते है और उनमें विशाल वृक्ष बनने की क्षमता होती है। सामाजिक शिष्टाचार के लिए या राष्ट्रीय चरित्र की एकरूपता के लिए नैतिक उपदेशों से भरी हुई आचार-संहिता मनुष्य को ऊपर-ऊपर से आकर्षित करती है और उसे भी नैतिकता का मुखौटा लगाने की सुविधा मिल जाती है, किन्तु इतने से वह आत्म-विकास की ओर जाने में समर्थ नहीं हो जाता बल्कि आत्मवंचक ही अधिक होता है। जैन आचार-संहिता ने कभी शिष्टाचार का नैतिक उपदेश नहीं दिया। श्रावक के व्रतों की विशेषता यह है कि इन व्रतों को स्वीकार करने के उपरांत—इनमें से किसी एक व्रत को भी किसी भी अंश में स्वीकार करने के उपरांत—मनुष्य में बदलाव प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि यह व्रत-स्वीकृति आत्मशोधन एवं आत्मशुद्धि के लिए होती है।

जब श्रावक की साधना आत्मशोधन के एक बिन्दु पर पहुँच जाती है तो वहाँ उसकी समग्र चेतना प्रकृतिस्थ हो जाती है। वह परम (निर्ग्रन्थ, हो जाता है। निर्ग्रन्थ केवल रूढ़ नग्नता के अर्थ में नहीं, बल्कि सम्पूर्णमना वह दिशाओं के विराट् वस्त्र को ओढ़ लेता है। संसार में रहकर भी वह संसार का नहीं रह जाता। श्रमण के लिए जैन ग्रन्थों में सत्ताइस मूलगुणों के पालन का विधान है। वे निरन्तर बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हैं। दश धर्मों का पालन करते हैं। मन-वचन-काय का गोपन करते हैं और चलने, बोलने, खाने-पीने आदि के रूप में पाँच समितियों का सावधानीपूर्वक आचरण करते है। इस प्रकार की साधना का प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है।

इस साधना में एक ऐसा तत्त्व-दर्शन अन्तर्भूत है जो साधक को साध्य से विमुख नहीं होने देता। नौ व सात तत्त्व एव छः द्रव्यमूलक सृष्टि-व्यवस्था का निदर्शन जैन-दर्शन की अपनी मौलिक देन है। इस तत्त्वज्ञान की आधारशिला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर ही समग्र साधना की इमारत खड़ी है। कहने का तात्पर्य यह है कि केवल नैतिक उपदेशों या कर्मकाण्डों के आधार पर की गई साधना मनुष्य को तपस्वी तो बना सकती है, उसमें सहिष्णुता भी आ सकती है, किन्तु साध्य अस्पष्ट ही रहता है। जैनधर्म के अनुसार साधक के समक्ष साध्य का चित्र स्पष्ट रहता है और उसी के चतुर्दिक उसकी साधना का चंक्रमण होता है।

जैन साधक तप भी करता है। जैन साधक के लिए बारह प्रकार के तपों का विधान है। छः तप बाह्य हैं और छः आभ्यन्तर। बाह्य तपों के द्वारा साधक कभी अनशन करके, कभी भूख से कम खाकर, कभी सीमित पदार्थ ग्रहण करके, कभी किसी रस को तज करके, और कभी शरीर को नियन्त्रित करके वासनाओं पर अंकुश लगाता है, अभिलाषाओं को संकोचता है। आन्तरिक तप के द्वारा वह ज्ञान-ध्यान, पठन-पाठन-चिंतन में निरत रहता है। तप के ये प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़े मूल्यवान् है। इनमें बाहरी तपन नहीं है। लोगों को चमत्कृत करके प्रसिद्धि प्राप्त करने की अभीप्सा नहीं है और व्यर्थता भी नहीं है। शरीर को सताने की अपेक्षा उसे हल्का-फुल्का एवं विकार-विवर्जित बनाने में जो तपस्या सहायक हो, वही करने का इंगित इन तपों में है। ये तप बाहर से दीखते भी नहीं हैं, साधक इन्हें प्रदर्शित भी नहीं करता। सूर्य जैसे अपनी किरणों से संसार को प्रकाश के साथ-साथ जीवन देता है, वैसे ही इन द्वादश तपों से साधक अपने में तेज का अनुभव करता है और इस तेज से वातावरण को आलोक मिलता है। ये तप साधक के शरीर-दीप को प्रज्वलित रखते हैं। तपोमय शरीर का दीपक बुझता नहीं है, उसका उत्सर्ग होता है, जो समूचे वातावरण में एक प्रकाश-किरण छोड़ जाता है।

जैन-साधना में आयु की मर्यादा का कोई प्रावधान नहीं है। जिस मानव-चेतना में ज्ञान-किरण का उदय हो जाता है, वैराग्य की ऊर्मि तरंगायमान होने लगती है, वह साधना के पथ पर आरोहण कर जाता है। अनेक उदाहरणों में हम देखते ही हैं कि अल्पवय में ही अनेक पुरुष ज्ञानी एवं संत हो गये हैं। ज्ञान आत्मिक ऊर्जा है, वह पोथी-पुस्तकों की चीज नहीं है। कबीर तो कह ही गये हैं कि पोथी पढ़-पढ़ कर तो संसार मर ही गया, कोई पण्डित नहीं हुआ। एक तरुण भी श्रमण हो सकता है और एक वृद्ध भी माया-जाल में उलझा रह जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में अनाथी मुनि की एक ऐसी ही प्रतीक-कथा है। जैन आगमों में अनेक तरुण तपस्वियों की गाथाएँ अंकित हैं जो माता-पिता को घर में छोड़कर वन की ओर प्रस्थान कर गये। मूल बात यह है कि आश्रम-व्यवस्था निर्माण करके मनुष्य जीवन को चार खंडों में विभाजित करने की कल्पना ज्ञान अथवा साधना के मार्ग में सहायक नहीं होती। वह तो एक सामान्य एवं स्थूल विधान मात्र है जिसके पीछे मानवीय ज्ञान-शक्ति की अवहेलना है। प्रारम्भ के २५ वर्षों तक ब्रह्मचर्याश्रम के पालन का विधान मनुष्य को आगे भोग में ले जाता है। जबकि जैन-साधना के अन्तर्गत ब्रह्मचर्यव्रत का विधान एक बार स्वीकार करने बाद अत्याज्य है और इसी कारण वह मनुष्य को 'योग' की ओर ले जाता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने संकेत किया है कि 'जीवन एक अमर जवानी है, उसे उस आयु से नफरत है जो इसकी गति में बाधक हो, जो दीपक की छाया की तरह जीवन का पीछा करती है। हमारा जीवन नदी की धारा की लहरों की तरह अपने तट से छूता है, इसलिए नहीं कि वह अपनी सीमाओं का बन्धन अनुभव करे, बल्कि इसलिए कि वह प्रतिक्षण यह अनुभूति लेता रहे कि उसका अनन्त मार्ग समुद्र की ओर खुला है। जीवन ऐसी कविता है जो छन्दों के कठोर अनुशासन में चुप नहीं होती, बल्कि इससे अपनी आंतरिक स्वतन्त्रता और समता को और भी अधिक प्रकट करती है।'

—(साधना, पृष्ठ ६२-६३)

साधना का क्षेत्र-विस्तार असीम है, अनन्त आकाश की भाँति। किसी भी एक क्षेत्र या विषय में साधना की ओर बढ़ने पर प्रत्येक जागरूक व्यक्ति अपने को नितान्त अल्प या शून्य ही पाता है। जीवन भर डुबकियाँ लगाने पर भी अन्ततः लगता है कि अभी तो विराट के एक बिन्दु का भी स्पर्श नहीं हुआ है। बोलने को तो हम रात-दिन बोलते रहते हैं, लेकिन यथार्थतः बोलने की विशेषताओं या गरिमा से हम अन्त तक अपरिचित ही रह जाते हैं। सर्वाधिक प्राचीन जैनागम आचारांग सूत्र में साधु की आहारचर्या विषयक निर्देशों को देखने से ज्ञात होता है कि साधु के लिए आहार प्राप्त करना भी अहिंसा की दृष्टि से एक साधना ही है। पाँचों इन्द्रियों से तथा विभिन्न शारीरिक अवयवों से निरन्तर काम लेते हुए भी और यह जानते हुए भी कि इनका क्या उपयोग एवं लाभ है, हम इनके प्रति कितने अनजान रह जाते हैं? साँस के बिना जीवन पलभर भी नहीं चल सकता, किन्तु क्या हम श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं अथवा विधियों से परिचित रहते हैं? यह जानना ही तो साधना है।

साधना की दिशा में कदम रखने का अर्थ है संकल्प करना, एकाग्र होना, अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित करना ताकि उपलब्धि का बीज अंकुरित हो सके, वह कठोर अवरोध को भेदकर ऊपर उठ सके और विशाल वृक्ष बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सके। संकल्पपूर्वक सिद्धि ही साधना का फल है। यही बीज की स्वतन्त्रता है। हमारे शरीर में परिव्याप्त चेतना विश्व-व्यापिनी शक्ति समाहित किये हुए है; वह विश्व से तुच्छ या लघु नहीं है। उसमें सम्पूर्ण विश्व समाहित है। बूंद छोटी अवश्य है, पर सागर से भिन्न नहीं है।

किसी भी प्रकार की साधना का मूल आधार शरीर होता है। शरीर की सहायता से ही साधना फलवती होती है। साधना से शरीर सक्षम बनता है और शरीर की क्षमता से चेतना में तेजस्विता आती है। जब आत्मा तेजस्वी होती है तो यह तन परमात्मा का मंगलधाम बन जाता है। शरीर के प्रति आसक्ति न रखना आवश्यक है, लेकिन उसके प्रति शत्रुता भी अनुचित है। जो लोग शरीर को सताने में साधना देखते हैं, वे केवल बोझ ही ढोते हैं।

विशिष्ट अवस्था, विशेष आसन, विशिष्ट प्रकार का आहार-विहार, रहन-सहन, वेश, व्यायाम, प्राणायाम, जप-जाप, स्नान-ध्यान, अथवा प्रयास को प्रायः साधना कहा जाता है। अमुक परिस्थितियों में इस प्रकार की विशिष्टताएँ भले ही उपयोगी हों; किन्तु इस प्रकार मनुष्य सहजता से हटता जाता है और परिणामतः विश्व-प्रकृति से एकरूप नहीं हो पाता। संत कबीर ने 'सहज समाधि' की बात कहा है। लगता तो यह है कि जीवन में सहज होना ही अत्यन्त कठिन है। असामान्य या कठिन मार्ग अपनाना अपेक्षाकृत आसान प्रतीत होता है। कोरी स्लेट पर बिल्कुल सीधी रेखा खींचना ही कठिन है। जंगल में सीधे बिरवा बहुत कम होते हैं। हमारा जीवन भी अनेक वक्रताओं का घर है। वक्रताओं को मिटाने का नाम ही सहजता है। मंदिर में जाकर मूर्ति के आगे साष्टांग नमन करना हमारे लिए कठिन नहीं है। पर शयन की सहज क्रिया को ही प्रभु-नमन मानना बड़ा कठिन है। विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने या विश्व में अपने को लीन करने के लिए हमारी भूमिका नदी के प्रवाह की भाँति होनी चाहिए कि वह सागर की ओर सहज बही चली जाती है। अंकुर सहज वृक्ष बनता चला जाता है। साधना का भार ढोने पर तो हम श्रमिक ही रह जाते हैं, श्रमण नहीं बन पाते। शरीर के अंग अपना कार्य कितनी सहजता से करते हैं कि उनके लिए हमें सोचना भी नहीं पड़ता। हम बालक से तरुण और तरुण से प्रौढ़ वृद्ध होते जाते हैं; परन्तु पता नहीं चलता कि यह सब कैसे घटित हो जाता है। तो साधना हमें करनी है सहजता की, ऋजुता की, भार-विहीन होने की, और तभी हमारा यह तन आत्म-दीपक से ज्योतिर्मान होकर हमें वहाँ पहुँचा सकता है जहां आत्मा की अन्तिम परिणति है।

अन्त में मैं अपनी बात विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इन शब्दों के साथ समाप्त करूंगा कि "प्रश्न यह है कि हम जगत को, जो आनन्द का पूर्ण उपहार है, किस रीति से स्वीकार करते हैं। क्या हम इसे अपने उस हृदय-मन्दिर में स्थान देते हैं जहाँ हम अपने अमर देवताओं का प्रतिष्ठान करते हैं। साधारणतया हम विश्व की शक्तियों का प्रयोग करके अधिक-से-अधिक शक्ति संग्रह करने में व्यग्र रहते हैं। विश्व के अक्षय भंडार से हम यथाशक्ति अधिकाधिक पाने की प्रतियोगिता में लड़ते-झगड़ते जीवन बिता देते हैं। क्या यही हमारे जीवन का ध्येय है? हमारा मन केवल जगत् का उपभोग करने की चिन्ता में व्यस्त रहता है—इसी से हम इसका सच्चा मूल्य नहीं पहचान पाते, हम अपनी भोग-कामनाएँ और विलासी चेष्टाओं से इसे सस्ता बना देते हैं और अंत में हम इसे केवल अपनी पूर्ति का साधन मान बैठते हैं और उस नादान बालक की तरह जो पुस्तकों के पन्ने फाड़-फाड़ कर रखते हुए आनन्दित होता है, प्रकृति की उधेड़बुन में ही जीवन का आनन्द समझ बैठते हैं। उसका असली मूल्य हमारे लिए उसी तरह रहस्य बना रहता है, जिस तरह उसके पन्नों से खेलने वाले बच्चे के लिए पुस्तक का ज्ञान।"

पुष्कर वाणी

पतंग को जितनी डोर मिलती है उतनी ही वह अधिक ऊपर उड़ती है, मनुष्य की इच्छा और वासना भी इसी प्रकार की है। उन्हें जितनी ढील मिलेगी उतनी ही बढ़ेगी। जितनी वासनारूपी पतंग की डोर खींची जायेगी। वह उतनी ही काबू में रहेगी।

वासना-इच्छा भी अनुकूल वातावरण पाकर बढ़ती है, जैसे पतंग अनुकूल हवा में ही उड़ती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन और बौद्ध साधना-पद्धति

✯ डा० भागचन्द्र 'भास्कर', एम० ए०, पी-एच० डी०
[पालि एवं प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय]

साधना अध्यात्म-क्षेत्र की चरम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करने का एक महामन्त्र है। व्यक्ति उसका केन्द्र-बिन्दु है, समाज उसका बाह्य आधार है और संसार उसका यथार्थवादी दर्पण है। साधक आत्मनिष्ठ होकर अपनी धर्म-साधना करता है और रहस्य की हर अनुद्घाटित परतों को उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है। शैलेशी अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उसे विविध आयाम स्थापित करने पड़ते हैं जिन्हें उसकी वृत्ति की कसौटी कहा जा सकता है।

जैन और बौद्ध साधना पद्धति श्रामणिक साधना पद्धति के विशिष्ट अंग हैं। दोनों यद्यपि एक पथ के पथिक हैं, पर उत्तरकाल में उनकी पद्धतियों में कुछ अधिक अन्तर आ गया। बौद्ध-साधना में योगमार्ग का जितना अधिक विकास हुआ है उतना जैन-साधना में नहीं। वैदिक-साधना पद्धति से बौद्ध-साधना पद्धति अधिक प्रभावित दिखाई देती है।

साधनों की विशुद्धि पर दोनों साधनाओं ने प्रारम्भ में प्रायः समान बल दिया है, पर मध्यकाल में बौद्ध-साधना चारित्रिक शिथिलता की ओर बढ़ती दिखाई देती है। जैन-साधना इस प्रकार के प्रभाव से दूर रही। उसकी साधना के समूचे इतिहास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चारित्रिक दृढ़ता उसकी प्रबल भूमिका रही है। उसके अविच्छिन्न अस्तित्व का यही मूल कारण है।

दोनों साधना पद्धतियाँ अपने आप में गंभीर और विस्तृत हैं। उनका समायोजन एक निबन्ध में करना सरल नहीं। फिर भी हम यहाँ समासतः यह प्रयत्न करेंगे कि दोनों साधना पद्धतियों को स्पष्ट समझा जा सके और उनमें समानताओं तथा असमानताओं को दिग्दर्शित किया जा सके।

समस्त कर्मक्लेशों से मुक्ति प्राप्त करना ही साधना का मूल उद्देश्य है। अतः साधना और धर्म समानार्थक बन जाते हैं। योग और समाधि भी लगभग इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। तप, ध्यान, भावना और प्रधान भी इसी क्षेत्र के पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका उपयोग दोनों साधनाओं ने किया है।

जैन-साधना का भव्य प्रासाद सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आधार-स्तम्भों पर खड़ा हुआ है। बौद्ध साधना भी इसी प्रकार प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन अंगों को प्रधानतः संजोये हुए है। विवेचन की यही दिशा अधिक उपयुक्त होगी।

सम्यग्दर्शन और सम्मादिट्ठि

जैन-बौद्धधर्म प्रत्यात्मसंवेदी रहे हैं। स्वानुभव और तर्क की प्रतिष्ठा में उन्होंने अथक परिश्रम किया है। जैनधर्म में सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है—आत्मा के विविध स्वरूपों को पहिचानना। आत्मा के वहाँ तीन रूप माने गये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। प्रथम स्थिति में साधारणजन आत्मा और शरीर को एक द्रव्य मानकर पर-पदार्थों में मोहित बना रहता है। उसके भवग्रहण और भवसंचरण का यही मूल कारण है।[1] द्वितीय स्थिति में यह मोह-बुद्धि दूर हो जाती है। इसी अवस्था में साधक अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ने लगता है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह आत्मा के मूल स्वरूप को पहिचानने लगता है और मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ्य भावनाओं को भाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, लाभ-अलाभ में, लोष्ठ-कांचन में समदृष्टिवान् हो जाता है। तदनन्तर वह निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्त और अक्षय परमात्मपद प्राप्त कर लेता है।[२]

सम्यग्दर्शन के बिना साधक चतुर्गति-भ्रमण करता है और कोटि-कोटि वर्षों तक कठोर तपश्चरण करते हुए भी रत्नत्रय रूप बोधि को प्राप्त नहीं करता।[३] सम्यक्दर्शन प्राप्त होते ही निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण वात्सल्य और प्रभावना ये आठ गुण साधक में प्रगट हो जाते हैं। इनके साथ ही संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि जैसे गुण की सरलतापूर्वक आ जाते हैं। इन गुणों के कारण तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंकादि आठ दोष स्वतः समाप्त हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन के अनेक प्रकार से भेद किये गये हैं—निश्चय और व्यवहार; सराग और वीतराग; निसर्गज और अधिगमज; क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक; आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ; आदि। सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि के संदर्भ में जैन साहित्य ने बड़े विस्तार से विवेचन किया है जिसे यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

बौद्धधर्म में सम्यग्दर्शन के ही समानान्तर **'सम्मादिट्ठि'** को स्वीकार किया गया है। चतुरार्यसत्यों को समझना ही सम्मादिट्ठि है।[४] उसके बिना निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं। तथागत बुद्ध ने कहा था 'भिक्षुओ ! जिस समय आर्य श्रावक दुराचरण को पहिचान लेता है, दुराचरण के मूल कारण को जान लेता है, सदाचरण को पहचान लेता है तब उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है।[५] बौद्धदर्शन जैनदर्शन के समान आत्मवादी न होते हुए भी किसी आत्मवादी से कम नहीं। उसकी अव्याकृत से अनात्मवाद तक की एक लम्बी यात्रा हुई है।[६] कर्म, पुनर्जन्म और निर्वाण को वह मानता ही है। आत्मा के स्थान पर चित्त, संस्कार, सन्तति, विज्ञान आदि जैसे शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है। सम्मादिट्ठि, होने पर साधक संसारिक दुःखों की प्रकृति को जानते हुए सत्काय-दृष्टि आत्मवाद आदि सिद्धान्तों से विरत हो जाता है और इसी से वह समभावी बनता है। मार्गज्ञान और फल समापत्ति प्राप्त हो जाने पर पुद्गल या साधक को 'स्रोतापन्न' कहा जाता है। स्रोतापन्न हो जाने पर इस संसार में वह अधिक से अधिक सात बार जन्म-ग्रहण करता है। वह कभी भी तिर्यंच, नरक, प्रेत, या असुर योनि में उत्पन्न नहीं होता।

सम्यग्ज्ञान और पञ्ञा

ज्ञान भी आत्मा का अभिन्न गुण है जो मोहादि कर्मों के कारण अभिव्यक्त नहीं हो पाता। पर जैसे ही साधक जीव और अजीव के पार्थक्य को समझने लगता है, उसे सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इस विवेक का उदय विशुद्ध भावों पर आधारित है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक की गई एक लम्बी दीर्घ तपस्या-साधना का यह फल है। जिस प्रकार सुहागा और नमक के जल से संयुक्त होकर स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्ज्ञान रूपी निर्मल जल से यह जीव भी विशुद्ध हो जाता है।[७]

जैनधर्म में कर्म के क्षय-क्षयोपशमादि के निमित्त से ज्ञान के पाँच भेद किये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। योगी साधक ज्ञान की चरम साधना रूप केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञता को प्राप्त करने के लिए ही कठोर तपश्चर्या में जुटे रहते हैं।

बौद्धधर्म में सम्यग्ज्ञान को प्रज्ञा कहा गया है। धर्म के स्वभाव का विशिष्ट ज्ञान प्रज्ञा है—धम्मसभावपरिवेध-लक्खणा पञ्ञा। मोहान्धकार का नाश करना उसका कृत्य है।[८] उसकी तीन श्रेणियाँ हैं—सञ्ञा, विञ्ञाण, और पञ्ञा। बुद्धघोष ने कहा है कि—एक अबोध बालक, ग्रामीण व्यक्ति और हेरञ्जिक (सराफ) के बीच कार्षापण के मूल्यांकन में जो अन्तर हो सकता है वही अन्तर इन तीनों श्रेणियों में है। प्रज्ञा के ये तीनों सोपान क्रमशः विशुद्ध होते जाते हैं। सञ्ञा और विञ्ञाण से पञ्ञा में अधिक वैशिष्ट्य है।

प्रज्ञा के विभिन्न आधारों पर भेद किये गये हैं। धर्म के स्वभाव के प्रतिबोध स्वरूप से वह एक प्रकार की है। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से अथवा साश्रव-अनाश्रव, नाम-रूप, सौमनस्य-उपेक्षा, दर्शन-भावना के भेद से दो प्रकार की है। चिंता, श्रुत और भावना, अथवा आय, अपाय और उपायकौशल्य अथवा परित्र, महद्गत और अप्रमाण के भेद से प्रज्ञा तीन प्रकार की है। चार आर्यसत्यों के ज्ञान और चार प्रतिसंभिदा के ज्ञान के भेद से प्रज्ञा चार प्रकार की है।

स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की धर्म भूमि है। शीलविशुद्धि और चित्तविशुद्धि ये दो विशुद्धियाँ मूल हैं। दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गदर्शनविशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शन, विशुद्धि और ज्ञानदर्शनविशुद्धि ये पाँच विशुद्धियाँ शरीर हैं। इसलिए प्रज्ञावान् व्यक्ति को उन भूमिभूत धर्मों में उदग्रहण (अभ्यास) करते हुए पंच विशुद्धियों की प्राप्ति करनी चाहिए। इससे साधक सन्मार्ग और असन्मार्ग का भेद-विज्ञान पा लेता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेदविज्ञान के बाद साधक को विपस्सनायुक्त उदय-व्ययानुपश्यना, भङ्गानुपश्यना, भयतोपस्थान, अदीनवानुपश्यना, निर्वेदानुपश्यना, मुञ्चितुकम्यता, प्रतिसंख्यानुपश्यना और संस्कारोपेक्षा ये आठ ज्ञान होते हैं। साथ ही प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोमात्मक ज्ञान भी होता है। इसे प्रतिपदा ज्ञानदर्शनविशुद्धि कहते हैं। पश्चात् यह विशुद्धि उसे स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी और अर्हत् इन चार मार्गों की प्राप्ति की ओर अग्रसर करती है। इस बीच साधक चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक्प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पंचेन्द्रिय, पंचबल, सप्तबोध्यंग और आष्टाङ्गिक मार्ग इन सैंतीस बोधपाक्षिक धर्मों की प्राप्ति करता है। तदनन्तर उसके संयोजन, क्लेश, मिथ्यात्व, लोकधर्म, मात्सर्य, विपर्यास, ग्रन्थ, अगति, आश्रव, नीवरण, परामर्श, उपादान, अनुशय, मल, अकुशल पथ आदि का प्रहाण होता है जिससे उसे सर्व क्लेशों का विध्वंस करने एवं आर्यफल का रसानुभव करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। अनित्य, दुःख और अनात्म का ज्ञान होने पर विपस्सना का प्रादुर्भाव होता है। यही विपस्सना प्रज्ञा का मार्ग है। इसी को लोकोत्तर समाधि कहा गया है।

दिव्यचक्षु, दिव्यस्रोत, चेतोपर्यज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षयज्ञान इन छह ज्ञानों को बौद्धधर्म में 'षडभिज्ञा' कहा है। चेतोपर्यज्ञान जैन धर्म का मनःपर्ययज्ञान है, पूर्वानुस्मृति व च्युत्युत्पादज्ञान जैनधर्म का अवधिज्ञान है, एवं शेष ज्ञानों की तुलना केवलज्ञान से की जा सकती है। जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म में प्रज्ञा का वर्णन अधिक सरल और स्पष्ट-सा लगता है।

सम्यक्चारित्र और साधना

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए सम्यक्चारित्र का परिपालन अपेक्षित है। सम्यक्चारित्र के बिना साधक का दर्शन और ज्ञान निरर्थक है।[९] तीनों का समन्वित मार्ग ही मुक्ति का सही मार्ग है। समस्त पापक्रियाओं को छोड़कर, पर-पदार्थों में राग-द्वेष दूर कर उदासीन और माध्यस्थ्य भाव की अङ्गीकृति सम्यक्चारित्र है।[१०]

सम्यक्चारित्र दो प्रकार का है—एक सर्वदेशविरति अथवा महाव्रत जिसे मुनि-वर्ग पालन करता है और दूसरा एकदेशविरति अथवा अणुव्रत जो श्रावक-वर्ग ग्रहण करता है। अहिंसा आदि बारह व्रतों का पालन करता हुआ साधक आध्यात्मिक उत्कर्ष करता जाता है और तदर्थ वह दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिज्ञाओं का क्रमशः यथाशक्ति पालन करता है। इसी को 'प्रतिमा' कहा गया है।

इसके बाद की अवस्था मुनिव्रत है जिसमें वह सत्ताइस मूलगुणों, पंच समितियों, षडावश्यकों आदि का पालन करता हुआ आत्मा का क्रमिक विकास करता है। इसी विकासात्मक सोपान को गुणस्थान कहा गया है जिनकी संख्या १४ है—मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसम्परायसंयत, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इन गुणस्थानों को पार करने पर योगी साधु मुक्त अथवा सिद्ध हो जाता है।

बौद्ध योग-साधना

बौद्ध योग-साधना पद्धति में शमथ और विपश्यना के माध्यम से निर्वाण की प्राप्ति मानी गई है। शमथ में साधक कर्मोपशमन के लिए चित्त को एकाग्र करता है। चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करने के बाद उसे जब मार्ग-ज्ञान और फल-ज्ञान होता है तब उसे विपश्यना कहते हैं। साधना की पूर्णता विपश्यना में ही होती है। विपश्यना केवलज्ञान या सर्वज्ञता का प्रतीक है और शमथभावना को सम्यक्चारित्र कहा जा सकता है। इसके लिए जिस प्रकार से जैन साधना में सम्यग्दृष्टि होना आवश्यक है उसी प्रकार बौद्ध साधना में भी सम्मादिट्ठि का एक विशिष्ट स्थान है। यह स्थविरवादी साधना पद्धति है।

१. शमथ भावना

बौद्ध साधक प्रथमतः शमथ भावना का अभ्यास करता है और कल्याण मित्र की खोज करता है।[११] बाद में शीलविशुद्धि, इन्द्रिय संवरण, आजीव परिशुद्धि तथा प्रत्यय संनिश्रित शील का अभ्यास करते हुए लक्ष्य प्राप्ति के लिए दस प्रकार के विघ्न (पलिबोध) दूर करे—आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग, ज्ञाति, अबाध, ग्रन्थ और ऋद्धि।

स्वभावादि की दृष्टि से छह प्रकार के व्यक्तित्व हुआ करते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, शुद्धाचरित, बुद्धिचरित, और वितर्कचरित। अपने चरित के अनुसार साधक कर्मस्थानों (समाधि के आलम्बनों) का चुनाव करता है। ये कर्मस्थान दो प्रकार के होते हैं—अभिप्रेत और परिहरणीय। उनका विनिश्चय दस प्रकार से होता है—संख्या, उप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार अर्पणा, ध्यान (समाधि), ध्यान, समतिक्रमण, परिवर्धनपरिहीन, आलम्बन, भूमि ग्रहण, प्रत्यय एवं चर्या। इनमें संख्या को प्रमुख कहा जा सकता है। संख्या की दृष्टि से साधक कर्मस्थानों का चुनाव सात प्रकारों से करता है—

(१) **दस कसिण**—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात, आलोक और परिच्छिन्नाकाश।

(२) **दस अशुभ**—उद्धमातक, विनीलक, विपूयक, विच्छिद्रक विखदितक, विक्षिप्तक, हतविक्षिप्तक, लोहितक, पुलवक और अस्थिक।

(३) **दस अनुस्मृतियां**—बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता, मरण, कायगता, आनापान और उपशम।

(४) **चार ब्रह्मविहार**—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।

(५) **चार आरूप्य**—आकाश, विज्ञान, आकिंचन्य और नैव संज्ञानासंज्ञा।

(६) **एक संज्ञा**—आहार में प्रतिकूलता, एवं

(७) **एक व्यवस्थान**—चारों धातुओं का व्यवस्थापन।

इस प्रकार से शील का परिपालन करने वाले योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह अल्पेच्छा, सन्तोष, संलेख, प्रविवेक आदि गुणों से मण्डित हो। शील की परिशुद्धि के लिए उसे लोकामिष (लाभ-सत्कार आदि) का परित्याग, शरीर और जीवन के प्रति निर्ममत्व तथा विपश्यना की प्राप्ति भी अपेक्षित है। इसकी प्रपूर्ति के लिए बौद्धधर्म में तेरह धुताङ्गों का पालन करना उपयोगी बताया गया है—पांसुकूलिक, चीवरिक, पिण्डपातिक, सापदानचारिक, एकासनिक, पात्रपिण्डिक, खलुपच्छाभत्तिक, आरण्यक, वृक्षमूलिक। इन धुतांगों के परिपालन से क्लेशावरण दूर होता है और निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग स्पष्ट हो जाता है।

दिव्यज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से कुछ विशेष भावनाओं का अनुग्रहण भी अपेक्षित है। इन्हीं विशिष्ट भावनाओं को बोधिपाक्षिक भावना कहते हैं। इनकी संख्या ३७ है—

(१) **चार स्मृति प्रस्थान**—काय, वेदना, चित्त और धर्मों में अशुभ दुःख, अनित्य और अनात्म रूप तत्त्वों पर चिन्तन करना।

(२) **चार सम्यक् प्रधान**—उत्पन्न और अनुत्पन्न अकुशलों को दूर करना तथा उत्पन्न न होने देने के कृत्य और अनुत्पन्न एवं उत्पन्न करने और उनको बनाये रखने के कृत्य को सिद्ध करना।

(३) **चार ऋद्धिपाद**—छन्द, वीर्य, चित्त और मीमांसा।

(४) **पांच इन्द्रियां**—

(५) **पांच बल**—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा।

(६) **सात बोध्यंग**—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रलब्धि, समाधि और उपेक्षा।

(७) **आर्याष्टाङ्गिक मार्ग**—सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम (प्रयत्न), स्मृति और समाधि।

बौद्ध साधना के वे सभी अंग जैन साधना के महाव्रत, समिति, संयम, भूशयन, एक भक्त आदि व्रतों में गर्भित हो जाते हैं।

ध्यान का स्वरूप :

ध्यान और साधना परस्पर अनुस्यूत है। दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता। ध्यान का अर्थ है—चिन्तन करना। बुद्धघोष ने उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—"**झायत्ति उपनिज्झायतीति झानं** अथवा **इमिना योगिनो झायन्ती ति**" झानं अर्थात् किसी विषय पर चिन्तन करना। इसका दूसरा अर्थ भी किया गया है—"**पच्चनीक धम्मे झायेतीति झानं** अथवा **पच्चनीक धम्मे दहति, गोचरं वा चिन्तेती ति अत्थे।**" यहाँ ध्यान का अर्थ अकुशल कर्मों का दहन करना (क्षापन करना) भी किया गया है।[12]

समाधि (सम्+आ+धा) शब्द का प्रयोग चित्त की एकाग्रता के सन्दर्भ में किया गया है।[13] बुद्धघोष ने इस परिभाषा में कुशल शब्द और जोड़ दिया है—**कुसलचित्तेकग्गता समाधि**।[14] यहाँ "**सम्मा समाधी ति यथा समाधि, कुसल समाधि**" कहकर बुद्धघोष ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि समाधि का सम्बन्ध शुभ भावों को एकाग्र करने से है। समाधि दो प्रकार की होती है—उपचार समाधि और अर्पणा समाधि। उपचार समाधि में नीवरणों का प्रहरण हो जाता है और अर्पणा में ध्यान की प्राप्ति हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपावचर ध्यान

बौद्धधर्म में ध्यान के मूलतः दो भेद मिलते हैं—आरम्मण उपनिज्झान (आलंबन पर चिन्तन करने वाला) और लक्खण उपनिज्झान (लक्षणों पर चिन्तन करने वाला)। आरम्मण उपनिज्झान आठ प्रकार का है—चार रूपावचर और चार अरूपावचर। चित्त जब रूप का ध्यान करता है तब उसे रूपावचर कहते हैं। इस अवस्था में ध्यान के बाधक तत्त्वों (नीवरणों—कामच्छन्द, व्यापार, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, विचिकित्सा एवं अविद्या) का प्रहाण हो जाता है और वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और उपेक्षा ये ध्यान के पाँचों अंग चित्त को अपने आलंबन पर स्थिर बनाये रखते हैं। वितर्क के माध्यम से चित्त रूपालम्बन पर अपने को स्थिर किये रहता है। विचार से वह अनुसंचरण करता है। प्रीति से तृप्ति और सुख से हर्षातिरेक पैदा करता है। इन सभी के माध्यम से यह अपने को चंचलता से दूर रखता है। यह **प्रथम ध्यान** है। यहीं यह चित्त कायप्रलब्धि और चित्तप्रलब्धि को पूर्ण करता है तथा क्षणिकसमाधि, उपचार-समाधि और अर्पणासमाधि को प्राप्त करता है। साधक ध्यान की इस प्रथम अवस्था में पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास करता है—आवर्जन, सम, अधिष्ठान, व्युत्थान और प्रत्यवेक्षण। साधक इन पाँचों अंगों से चित्त को ध्यान के पूर्वोक्त पांचों अंगों में निरन्तर लगाये रखने की शक्ति एकत्रित कर लेता है।

द्वितीय ध्यान—प्रथम रूपावचर ध्यान की प्राप्ति के बाद साधक स्मृति और संप्रजन्य से युक्त होकर ध्यानांगों का प्रत्यवेक्षण करता है। उसे वितर्क-विचार स्थूल जान पड़ने लगते हैं और प्रीति, सुख व एकाग्रता शान्तिदायी प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में पृथ्वीकसिण पर अनुचिन्तन के द्वारा भवांग को काट कर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न हो जाता है। उसी पृथ्वी-कसिण में चार-पांच जवन उत्पन्न होते हैं। केवल अन्तिम जवन रूपावचर का है और शेष कामावचर के होते हैं। ध्यान की इस द्वितीय अवस्था में वितर्क और विचारों का उपशम हो जाता है। इसी को वितर्क और विचारों के उपशम होने से आंतरिक प्रसार, चित्त की एकाग्रता से उत्पन्न प्रीति सुख वाला द्वितीय ध्यान कहा जाता है। इसके प्रमुख तीन अंग हैं—प्रीति, सुख और एकाग्रता। इस ध्यान को सम्पसादन अर्थात् श्रद्धा और प्रसार युक्त तथा एकोदिभाव कहा गया है—**वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति।**[१५] वितर्क और विचार का अभाव हो जाने से उत्पन्न होने वाला सम्पसादन और एकोदिभाव इस ध्यान की विशेषता है।

तृतीय ध्यान—साधक की ध्यान अवस्था जब विशुद्धतर हो जाती है तो उसे द्वितीय ध्यान भी दोषग्रस्त प्रतीत होने लगता है। वितर्क, विचार प्रथम दो ध्यानों में शान्त हो जाते हैं और प्रीति चूंकि तृष्णा सहगत होती है अतः उसे भी छोड़ दिया जाता है। प्रीति यहाँ स्थूल होती है और सुख-एकाग्रता सूक्ष्म होती है। प्रीतिरूप स्थूल अंग के प्रहाण के लिए योगी पृथ्वीकसिण का पुनः-पुनः चिन्तन करता है और उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन दौड़ाते हैं जिनके अन्त में एक रूपावचर तृतीय ध्यान वाला और शेष कामावचर ध्यान होते हैं। इस ध्यान में प्रीति तो होती नहीं, मात्र सुख और एकाग्रता शेष रह जाती है। उपेक्षा, स्मृति और संप्रजन्य इसके परिष्कार हैं। साधक इस ध्यान की प्राप्ति के हो जाने पर उपेक्षा भाव धारण कर लेता है और समभावी हो जाता है। यह उपेक्षा दस प्रकार की है—षडंग, ब्रह्म-विहार, बोध्यंग, वीर्य, संस्कार, वेदना, विपश्यना, तत्र माध्यस्थ्य, ध्यान और परिशुद्धि।

क्षीणाश्रव भिक्षु अथवा साधक की वृत्ति उदासीन नहीं होती। वह स्मृति और संप्रज्य युक्त होकर उपेक्षक हो जाता है। सर्वप्रथम छः इन्द्रियों के प्रिय-अप्रिय आलंबनों के प्रति परिशुद्ध रूप से उपेक्षा भाव रखता है। यह षडंगोपेक्षा है। प्राणियों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना बोध्यंगोपेक्षा है। अत्यधिक और शिथिल भाव से विरहित उपेक्षा सदन वीर्य (प्रयत्न) उपेक्षा है। नीवरणों के प्रहाण हो जाने पर संस्कारों के ग्रहण करने में उपेक्षा संस्कारोपेक्षा है। यह संस्कारो-पेक्षा समाधि से उत्पन्न होने वाली आठ (चार ध्यान और चार आरूप्य) तथा विपश्यना से उत्पन्न होने वाली दस (चार मार्ग, चार फल, शून्यता विहार और अनिमित्तक विहार) प्रकार की है। दुःख और सुख की उपेक्षा वेदनोपेक्षा है। पंच स्कन्धों आदि के विषय में उपेक्षा विपश्यनोपेक्षा है। छन्द अधिमोक्ष आदि येवापनक धर्मों में उपेक्षावृत्ति तत्रमध्यस्थो-पेक्षा है। तृतीय ध्यान में अग्र सुख में उपेक्षा भाव ध्यानोपेक्षा है। नीवरण, वितर्क आदि विरुद्ध धर्मों के उपशम के प्रति भी उपेक्षा भाव परिशुद्ध्युपेक्षा है।

इन उपेक्षा के प्रकारों में षडंगोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, मध्यस्थोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्ध्यु-पेक्षा अर्थात् एक ही हैं, मात्र अवस्थाओं का भेद है। संस्कारोपेक्षा और विपश्यनोपेक्षा भी ऐसी ही है। यहाँ ध्यानोपेक्षा अधिक अभिप्रेत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ ध्यान—ध्याता की चतुर्थ अवस्था में तृतीय ध्यान भी सदोष दिखाई देने लगता है। इसमें भी पांच प्रकार से वशी का अभ्यास किया जाता है। उस समय साधक विचारता है कि तृतीय ध्यान का सुख स्थूल है, अन्य भाग दुर्बल है और चतुर्थ ध्यान शान्तिदायी है, उपेक्षा, वेदना तथा चित्त की एकाग्रता शान्तिकर है। यह विचार कर स्थूल अंगों का प्रहाण और शान्त अंगों की प्राप्ति के लिए पृथ्वीकसिण का अनुचिन्तन कर उसे आलम्बन बनाकर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में चार या पांच जवन दौड़ते हैं जिनके अन्त में एक रूपावचर चतुर्थ ध्यान का रहता है। चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति के पूर्व ही कायिक सुख-दुःख नष्ट हो जाता है, सौमनस्य-दौर्मनस्य समाप्त हो जाता है। सौमनस्य चतुर्थ ध्यान के उपचार के क्षण में प्रहाण होता है और दुःख-दौर्मनस्य, सुख प्रथम उपचार के क्षण में।

विविध आवर्जनों में प्रथम ध्यान के उपचार में शान्त हुई दुःखेन्द्रियों की उत्पत्ति डांस, मच्छर आदि के काटने से हो सकती है, पर अर्पणा से नहीं होती। द्वितीय ध्यान के उपचार क्षण में यद्यपि चैतसिक दुःख का प्रहाण होता है तथापि विचार और वितर्क के कारण चित्त का उपघात हो सकता है, पर अर्पणा में वितर्क और विचार के अभाव से उसकी कोई सम्भावना नहीं रहती। इसी प्रकार यद्यपि तृतीय ध्यान के उपचार क्षण में कायिक सुख का निरोध होता है, तथापि सुख के प्रत्यय रूप प्रीति के रहने से कायिक सुख की उत्पत्ति सम्भव है। पर अर्पणा में प्रीति के अत्यन्त निरुद्ध हो जाने से उसकी सम्भावना नहीं रह जाती। इसी तरह चतुर्थ ध्यान के उपचार क्षण में अर्पणा प्राप्त उपेक्षा के अभाव तथा भलीभांति चैतसिक सुख का अतिक्रम न होने से चैतसिक की उत्पत्ति सम्भव है, पर अर्पणा में उसकी सम्भावना नहीं रहती।"

यह चतुर्थ ध्यान अदुःख और असुख रूप है। उपेक्षा भी इसे कहा जा सकता है। इसी उपेक्षा से स्मृति में परिशुद्धि आती है। यद्यपि प्रथम तीनों ध्यानों में यह उपेक्षा रहती है, पर परिशुद्ध अवस्था में नहीं रहती।

इस प्रकार प्रथम ध्यान में सुत्त परम्परा की दृष्टि से वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पांचों अंग विद्यमान रहते हैं। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार समाप्त हो जाते हैं। तृतीय ध्यान में प्रीति नहीं रहती और चतुर्थ में सुख का अभाव होकर मात्र एकाग्रता शेष रह जाती है।

बौद्ध साहित्य में ध्यान के भेदों की एक अन्य परम्परा भी प्राप्त होती है। अभिधर्म के अनुसार ध्यान के पांच भेद होते हैं। उसका प्रथम भेद ध्यान के चतुष्क भेद की परम्परा से पृथक् नहीं है। चतुष्क ध्यान परम्परा का द्वितीय ध्यान पञ्चक ध्यान परम्परा में द्वितीय और तृतीय भेद में विभक्त हो जाता है। इसी तरह चतुष्क ध्यान का तृतीय और चतुर्थ ध्यान पञ्चक ध्यान का चतुर्थ और पञ्चम ध्यान है।

अरूपावचर ध्यान

रूपावचर ध्यान की चतुर्थ अथवा पञ्चम ध्यान की अवस्था के बाद यद्यपि निर्वाण का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है फिर भी साधक निर्वाण और निराकार आलम्बन पर ध्यान करता है। यही अरूपावचर ध्यान है। इसकी चार अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था में साधक अनन्त आकाश पर विचार करता है। द्वितीय अवस्था में अनन्त आकाश की स्थूल प्रतीति होने लगती है और विज्ञान सूक्ष्म लगने लगता है। इसे अरूप ध्यान की विज्ञानायतन नामक द्वितीय अवस्था कहते हैं। तृतीय अवस्था में आकिञ्चन्यायतन और चतुर्थ अवस्था में नेव सञ्जानासञ्ज्ञायतन पर ध्यान किया जाता है। साधक यहाँ क्रमशः पूर्वतर आलम्बन को स्थूल और पश्चात्तर आलम्बन को सूक्ष्म मानता चला जाता है।

लोकोत्तर ध्यान

उपर्युक्त रूप से रूपध्यान और अरूप ध्यान के माध्यम से साधक परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है। इसके निर्वाण रूप फल को लोकोत्तर ध्यान से उपलब्ध किया जाता है। इसी सन्दर्भ में लोकोत्तर भूमि अथवा अपरियापन्न का कथन किया गया है।

रूपावचर और अरूपावचर ध्यान में संयोजन के बीजों का सद्भाव संभावित रहता है जिनका लोकोत्तर ध्यान में प्रहाण कर दिया जाता है। सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, कामच्छन्द, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या ये दस संयोजन हैं। यद्यपि इनका प्रहाण नीवरण के रूप में हो जाता है फिर भी जो बीज शेष रह जाते हैं उनका विनाश लोकोत्तर ध्यान से हो जाता है। लोकोत्तर ध्यान में ही क्रमशः स्रोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त होती है। लोकोत्तर भूमि में चित्त की आठ अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था में साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास करता है। इस प्रकार लोकोत्तर चित्त के चालीस भेद हो जाते हैं। लोकोत्तर ध्यान ही परिशुद्ध ध्यान कहा जाता है।

विपस्सना भावना

बौद्ध साधना में समाधि भावना (चित्त की एकाग्रता) और विपस्सना भावना (अन्तर्ज्ञान) का विशेष महत्त्व है। विपश्यना का तात्पर्य है वह विशिष्ट ज्ञान और दर्शन जिनके द्वारा धर्मों की अनित्यता, दुःखता और अनात्मता प्रगट होती है। शमथयान और विपश्यनायान का सम्बन्ध दो प्रकार के व्यक्तियों से है—तण्हाचरित और दिट्ठिचरित। तण्हाचरित वाले साधक शमथपूर्वक विपश्यना के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते हैं और दिट्ठिचरित वाले साधक विपश्यना पूर्वक शमथ के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते हैं। यहां श्रद्धा और प्रज्ञा तत्व का महत्व है। श्रद्धा तत्व के माध्यम से समाधि की प्राप्ति होती है। ऐसा साधक कर्मस्थान का अभ्यास करते हुए, ऋद्धियों की प्राप्तिपूर्वक विपश्यना मार्ग की उपलब्धि करता है और प्रज्ञा प्राप्ति कर अर्हत् बनता है। तथा प्रज्ञाप्रधान साधक विपश्यना मार्ग का अभ्यास करता है और अन्त में प्रज्ञा प्राप्त कर अर्हदावस्था प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि विपश्यना का सीधा सम्बन्ध अर्हत्प्राप्ति एवं निर्वाण प्राप्ति से है। समाधि का उससे सीधा सम्बन्ध नहीं। शमथ का मार्ग लौकिक समाधि का मार्ग है और विपश्यना को लोकोत्तर समाधि कहते हैं।

विपश्यना परम विशुद्धि की प्रतीकात्मक अवस्था है। यह विशुद्धि सात प्रकार की है—शील, चित्त, दृष्टि, कांक्षावितरण, मार्गामार्गज्ञान, प्रतिपदाज्ञान और ज्ञानदर्शन। इन विशुद्धियों के पालने से काय, मन व विचारों की पवित्रता सहजतापूर्वक उपलब्ध हो जाती है। विपश्यना का परिपाक पूर्णज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति माना गया है। शरीर के रहने पर सोपधिशेष निर्वाण और शरीर के नष्ट हो जाने पर निरुपधिशेष निर्वाण कहा जाता है। अभिज्ञाओं की प्राप्ति भी विपश्यना से होती है।

महायानी साधना

उपर्युक्त स्थविरवादी साधना के कुछ तत्त्व विकसित होकर महायानी साधना के रूप में सामने आये। ई०पू० लगभग तृतीय शताब्दी तक बौद्ध साधना का यह रूप निश्चित हो पाया। महायानी साधना के प्रमुखतः तीन भेद हैं—बोधिचित्त के द्वारा पारमिताओं की प्राप्ति, दशभूमियाँ तथा त्रिकायवाद।

बोधिसत्त्व का प्रारम्भ बोधिचित्त से होता है। "मैं बुद्धत्व प्राप्त करूंगा और संसार का परित्राण करूंगा।" इस प्रकार का प्रणिधान बोधिचित्त है। यह प्रणिधान उसे अचित्तता (शून्यतामयी दृष्टि) अथवा पदार्थचित्तता (महाकरुणा और महाप्रज्ञा) की ओर ले जाता है। उपायकौशल, पुण्यसंभार और ज्ञान संसार से इस दृष्टि में अधिक विशुद्धि आती है। पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य की भावना पारमिताओं की साधना से प्राप्त होती है।

दस पारमिताओं की साधना के साथ दश भूमियों की व्यवस्था की गई है। ये दस भूमियाँ हैं—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिस्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दुरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा। इन भूमियों में क्रमशः दस प्रकार की पारमितायें पूर्ण होती है—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपायकौशल, प्रणिधान, बल और ज्ञान।

प्रमुदिता भूमि में साधक को परार्थ वृत्ति से प्रसन्नता होती है और वह दस प्रकार के प्रणिधान, निष्ठायें और निपुणतायें अर्जित करता है। विमला भूमि में साधक ऋजुता, मृदुता, कर्मण्यता, दम, शम, कल्याण, अनासक्ति, अनपेक्षता उदारता और आशय नामक दस चित्ताशयों को पाता है। प्रभाकरी भूमि विविध ऋद्धियों और अभिज्ञाओं की उत्पादिका है। इसमें चार ब्रह्मविहारों का क्षेत्र विस्तृत होता है। अर्चिस्मती में सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का परिपालन किया जाता है। सुदुर्जया भूमि चित्त की विशुद्ध स्थिति का नाम है। इसमें आर्य सत्यों का बोध एवं महाकरुणा तथा शून्यतामयी दृष्टि का विकास होता है। यहाँ सामन्त और मौल दोनों प्रकार के ध्यान पूर्ण हो जाते हैं।

अभिमुखी भूमि में साधक दस प्रकार की समतायें प्राप्त करता है—अनिमित्त, अलक्षण, अनुत्पाद, अजात, विविक्त,, आदिविशुद्धि, निस्प्रपंच, अनाव्यूहानिर्व्यूह, प्रतिबिम्बनिर्माण और भवाभावद्वय इन समताओं को करने से प्रतीत्यसमुत्पाद स्पष्ट हो जाता है और शून्यता विमोक्ष सुख नामक समाधि प्राप्त हो जाती है। दूरंगमा भूमि में साधक एक विशेष स्थिति तक पहुँच जाता है जहाँ उसके समस्त कर्म अपरिचित अर्थ सिद्धि के लिए उपायकौशल का उपभोग करते हैं। अचला भूमि में संसारी प्राणियों के दुःखों की परिसमाप्ति करने का पुनः प्रणिधान किया जाता है। इस भूमि की यह विशेषता है कि साधक अपनी भूमि से च्युत नहीं होता तथा दशबल और चार वैशारद्यों की प्राप्ति करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुमति भूमि में कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत धर्मों का साक्षात्कार, चार प्रतिसंविदों की प्राप्ति, धर्मों की स्वलक्षणता का ज्ञान एवं अप्रमेय बुद्धों की देशना को श्रवण करने का अवसर साधक को मिल जाता है। अन्तिम भूमि धर्ममेघा है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते साधक पुण्य और ज्ञान संसार की प्राप्ति, महाकरुणा की पूर्णता, सर्वज्ञता और समाधियों को अधिगत कर लेता है। इस स्थिति में प्रादुर्भूति 'महारत्नराज' नामक पद्म पर बोधिसत्व आसीन होता है। विविध दिशाओं और क्षेत्रों से समागत बोधिसत्व उसके परिमण्डल में बैठ जाते हैं। उसके कायों से अन्तिम महारश्मियों से साधक बोधिसत्व का अभिषेक होता है। तदनन्तर वह महाज्ञान से पूर्ण होकर धर्मचक्रवर्ती बन जाता है और संसारियों का उद्धार करना प्रारम्भ कर देता है। इन भूमियों को जैन परिभाषा में गुणस्थान कहा जा सकता है।

महायानी साधक का तृतीय रूप है त्रिकायवाद। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद बुद्ध अवेणिक आदि धर्मों से परिमण्डित हो जाते हैं और संसारियों के उद्धार का कार्य बुद्धकाय के माध्यम से प्रारम्भ कर देते हैं। बुद्धकाय अचिन्तता एवं शून्यता रूप धर्मों का एकाकार रूप है। कायभेद से उसके तीन भेद हैं—स्वभावकाय, संयोगकाय और निर्माणकाय। स्वभावकाय बुद्ध की विशुद्धकाय का पर्यायार्थक है। ज्ञान की सत्ता को स्वभावकाय से पृथक् मानकर काय के चतुर्थ भेद का भी उल्लेख मिलता है। इस भेद को ज्ञानधर्मकाय भी कहा गया है। इसका फल है—मार्गज्ञता, सर्वज्ञता और सर्वाकारज्ञता की प्राप्ति। स्वभावकाय और ज्ञानधर्मकाय के संयुक्त रूप को ही धर्मकाय की संज्ञा दी गई है। सम्भोगकाय के माध्यम से बुद्ध विभिन्न क्षेत्रों में देशना देते हैं। अतः उनकी संख्या अनन्तानन्त भी हो सकती है। निर्माणकाय के द्वारा इहलोक में जन्म लिया जाता है। बुद्ध इन त्रिकायों द्वारा परमार्थ कार्य करते हैं—

करोति येन चित्राणि हितानि जगतः समम्।
आभवान् सोऽनुपच्छिन्नः कायो नैर्माणिको मुनेः॥

बौद्ध तान्त्रिक साधना

तान्त्रिक साधना व्यक्ति की दुर्बलता का प्रतीक है। वह अपने को जब ईश्वर विशेष से हीन समझने लगता है तो विपत्तियों को दूर करने के लिए उसकी उपासना करने लगता है। तन्त्र का जन्म यहीं होता है। उसकी उपासना का सम्बन्ध कर्मों की निर्जरा से है। तन्त्र प्रक्रिया के मुख्य लक्षण हैं—ज्ञान और कर्म का समुच्चय, शक्ति की उपासना, प्रतीक प्राचुर्य, गोपनीयता, अलौकिक सिद्धि चमत्कार, गुरु का महत्त्व, मुद्रा-मण्डल-यन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग, सांसारिक भोगों का सम्मान एवं उनका आध्यात्मिक उपयोग।[15]

साधारणतः तान्त्रिक साधना के बीज त्रिपिटककालीन बौद्धधर्म में मिलने लगते हैं पर उसका व्यवस्थित रूप ईसा पूर्व लगभग द्वितीय शताब्दी से उपलब्ध होने लगता है। गुह्य-समाज तन्त्रों का अस्तित्व इसका प्रमाण है। सुचन्द्र, इन्द्रभूति, राहुलभद्र, मैत्रेयनाथ, नागार्जुन, आर्यदेव आदि आचार्यों की परम्परा बौद्ध तान्त्रिक साधना से जुड़ी हुई है। श्रीधान्यकूटपर्वत, श्रीपर्वत, श्रीमलयपर्वत आदि स्थान इसी साधना से सम्बद्ध हैं।

तन्त्र साधना का प्रमुख लक्ष्य है दैवी शक्तियों को वश में करके बुद्धत्व प्राप्ति करना। इसमें प्रायः किसी शक्ति विशेष की उपासना की जाती है और उसे अत्यन्त गोपनीय रखा जाता है। इससे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तान्त्रिक साधना के अनुसार दुष्कर और तीव्र तप की साधना करने वाला सिद्धि नहीं पाता। सिद्धि वही पाता है जो यथेष्टकामोपभोगों के साथ साधना भी करे। यही उसका योग है।[16] साधना की दृष्टि से तन्त्रों के चार भेद हैं—क्रिया, चर्चा, योग और अनुत्तर योग। क्रियातन्त्र कर्म प्रधान साधना है। इसमें धारिणी तन्त्रों का समावेश हो जाता है। यहाँ बाह्य शारीरिक क्रियाओं का विशेष महत्त्व है। चर्चा तन्त्र समाधि से सम्बन्धित है। योग-तन्त्र में महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा, और कर्ममुद्रा योग अधिक प्रचलित हैं। अनुत्तर तन्त्र वज्रसत्व समाधि का दूसरा नाम है। साधना की दृष्टि से इसके दो भेद हैं—मातृतन्त्र और पितृतन्त्र। इन तन्त्रों की विधियों में प्रधान हैं—विशुद्धयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग। इनको वज्रयोग भी कहा जाता है।

तिब्बत और चीन में प्रचलित बौद्ध साधना

बौद्ध तान्त्रिक साधना भारत के बाहर अधिक लोकप्रिय हुई। तिब्बत, चीन और जापान ऐसे देश हैं जिनमें महायानी साधना का विकास अधिक हुआ। तिब्बत में ईसा की सप्तम शताब्दी में सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो के राज्यकाल में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। स्रोङ्चन स्वयं प्रथम धर्मज्ञ और तन्त्रज्ञ थे। उन्हीं के काल में 'मणिकाबुम' नामक तिब्बत साधना का ग्रन्थ लिखा गया।

तिब्बती साधना की दो प्रणालियाँ हैं—पारमितानय और तान्त्रिकनय। पारमितानय करुणा और प्रज्ञा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधार होता है तथा तान्त्रिकनय में महाकरुणा का ही आधार होता है। इन साधनाओं से तिब्बती साधकों का मुख्य उद्देश्य वज्रपद प्राप्त करना बताया गया है। कुछ और भी साधनायें हैं—महामुद्रायोग, हठयोग, पञ्चाङ्गयोग, षष्ठयोग, सहजयोग, उत्पत्ति-क्रमयोग, प्रत्याहारयोग आदि। लोकेश्वर, अक्षोभ्य, कालचक्र, लामाई नलजोर आदि नाम की साधनायें भी प्रचलित हैं।

जापान में प्रचलित बौद्ध साधना

सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की सप्तम शती में ही बौद्धधर्म जापान में सम्भवतः कोरिया से पहुँचा। वहाँ सम्राट् शोतोकु ने उसे अशोक के समान संरक्षण प्रदान किया। कालान्तर में जापान में बौद्धधर्म का पर्याप्त विकास हुआ और फलतः ग्यारह सम्प्रदाय खड़े हो गये। कुश (अभिधार्मिक) और जोजित्सु (अभिधार्मिक) थेरवादाश्रयी हैं तथा सनरान (शून्यतावादी), होस्सो (आदर्शवादी), केगोन (प्रत्येक बुद्धानुसारी), तेण्डई (प्रत्येकबुद्धानुसारी) झेन (प्रत्येकबुद्धानुसारी), जोड़ो (सुखावतीव्यूहानुसारी), शिशु (सुखावती व्यूहानुसारी), और निचिदेन (सद्धर्मपुण्डरीकानुसारी) (इनमें शिंगोन, झेन और निचिदेन सम्प्रदाय साधना की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ये सभी साधनायें भारत में प्रचलित बौद्ध साधना के समानान्तर अथवा किञ्चित् विकसित रूपान्तर लिये हुए हैं।

जैन योग साधना

जैन योग साधना का प्राचीनतम रूप पालि त्रिपिटक में उपलब्ध है। वहाँ एकाधिक बार निगण्ठों की तपस्या का वर्णन किया गया है। वही रूप उत्तरकालीन साहित्य में व्यवस्थित हुआ है। जैनधर्म में योग की व्याख्या आस्रव और संवरतत्त्व के रूप में की गई है। यह समूचे साहित्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है। आश्रव तत्त्वात्मक योग संसरण की वृद्धि करने वाला है और संवरतत्त्वात्मक योग आध्यात्मिक चरम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करने वाला है। इसी को क्रमशः सावद्य और निरवद्य योग भी कहा गया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने इसी को क्रमशः अशुभ उपयोग और शुभ उपयोग कहा है।[१९] उमास्वामी ने इसी का समर्थन किया है।[२०] शुभचन्द्र ने ध्यान-साधना को योग साधना कहा है।[२१] हरिभद्र ने योग उसे कहा है जो साधक को मुक्ति की ओर प्रवृत्त करे।[२२] हेमचन्द्र ने योग को ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप माना है।[२३]

योग के सन्दर्भ में समाधि, ध्यान, साधना, व्रत, भावना आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। बौद्ध साधना के क्षेत्र में इन शब्दों के अतिरिक्त 'पधान' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इन सभी शब्दों की आधार भूमि है चित्त की एकाग्रता। इसी को जैन-बौद्ध साहित्य में समाधि से अभिहित किया गया है।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में तीन प्रकार के योगों का वर्णन किया है—

१. **इच्छा योग**—प्रमाद के कारण योग में असावधान हो जाना,
२. **शास्त्र योग**—योग-प्राप्ति में शास्त्र का अनुसरण करना, और
३. **सामर्थ्य योग**—शास्त्र योग की प्राप्ति के बाद आत्मा की विकसित शक्ति।

योगफल की प्राप्ति के पाँच सोपानों का भी उल्लेख हरिभद्र ने किया है—

१. व्रतादि के माध्यम से कर्मों पर विजय पाना,
२. भावना प्राप्ति
३. ध्यान प्राप्ति
४. समता प्राप्ति, और
५. सर्वज्ञत्व की प्राप्ति

योग का मुख्य लक्ष्य सम्यक्दृष्टि को प्राप्त करना है। इस दृष्टि का विकास योगदृष्टि समुच्चय में आठ प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। इन आठ दृष्टियों की तुलना योग-दर्शन के आठ अंगों से की जा सकती है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये दृष्टियाँ क्रमशः खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्युदय, संग एवं आसंग से रहित हैं और अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति व प्रवृत्ति सहगत हैं। ऋद्धि, सिद्धि आदि की प्राप्ति योग व समाधि के माध्यम से होती है। उपर्युक्त आठ दृष्टियों में से प्रथम चार दृष्टियाँ मिथ्यात्वी होने से अवेद्यसंवेद्य, अस्थिर व सदोष कही गई हैं और शेष चार दृष्टियाँ वेद्यसंवेद्य, स्थिर व निर्दोष मानी गई हैं। यह समाधि दो प्रकार की होती है—सालं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन और निरालंबन। निरालम्बन ही निर्विकल्पक समाधि है। यही शुक्लध्यान और मोक्ष है। बौद्धधर्म में निर्दिष्ट चार किंवा पाँच प्रकार के ध्यानों की तुलना यहाँ की जा सकती है।

ध्यान का तात्पर्य है—चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना। इसका शुभ और अशुभ दोनों कार्यों में उपयोग होता है। आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ और अप्रशस्त कार्यों की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान शुभ और प्रशस्त फल की प्राप्ति में कारण होते हैं। मन को बहिरात्मा से मोड़कर अन्तरात्मा और परमात्मा की ओर ले जाना धर्मध्यान और शुक्लध्यान का कार्य है। सोमदेव ने अप्रशस्त ध्यानों को लौकिक और प्रशस्त ध्यानों को लोकोत्तर कहा है।[२४]

१-२. आर्त और रौद्र ध्यान

अप्रिय वस्तु को दूर करने का ध्यान, प्रिय वस्तु के वियुक्त होने पर उसकी पुनः प्राप्ति का ध्यान, वेदना के कारण क्रन्दन आदि तथा विषय सुखों की आकांक्षा आर्तध्यान के मूल कारण हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि के संरक्षण के कारण रौद्र ध्यान होता है। ये दोनों ध्यान अप्रशस्त हैं और संसार के कारण हैं। भौतिक साधनों की प्राप्ति के लिए इन ध्यानों में कायोत्सर्ग किया जाता है। मिथ्यात्व, कषाय, दुराशय आदि विकारजन्य होने के कारण ये ध्यान असमीचीन हैं। आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन आदि अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र कार्य करने की क्षमता साधकों में होती है। परन्तु ऐहिक फल वाले ये ध्यान कुमार्ग और कुध्यान के अन्तर्गत आते हैं। ध्यान का माहात्म्य इनसे अवश्य प्रगट होता है।[२५]

३. धर्मध्यान

साधना में विशेषतः धर्मध्यान और शुक्लध्यान आते हैं। धर्मध्यान में उत्तम क्षमादि दश धर्मों का यथाविधि ध्यान किया जाता है। वह चार प्रकार का है—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय, और (४) संस्थानविचय। विचय का अर्थ है विवेक अथवा विचारणा।

१. **आज्ञाविचय**—आप्त के वचनों का श्रद्धान करके सूक्ष्म चिन्तनपूर्वक पदार्थों का निश्चय करना-कराना आज्ञाविचय है। इससे वीतरागता की प्राप्ति होती है।

२. **अपायविचय**—जिनोक्त सन्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना अथवा कुमार्ग में जाने वाले ये प्राणी सन्मार्ग कैसे प्राप्त करेंगे, इस पर विचार करना अपायविचय है। इससे राग-द्वेषादि की विनिवृत्ति होती है।

३. **विपाकविचय**—ज्ञानावरणादि कर्मों के फलानुभव का चिन्तन करना विपाक विचय है।

४. **संस्थानविचय**—लोक, नाड़ी आदि के स्वरूप पर विचार करना संस्थानविचय है।

यह धर्मध्यान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है और शुक्लध्यान के पूर्व होता है। आत्मकल्याण के क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व है। धर्मध्यान के चारों प्रकार ध्येय के विषय हैं जिन पर चित्त को एकाग्र किया जाता है।[२६]

४. शुक्लध्यान

जैसे मैल दूर हो जाने से वस्त्र निर्मल और सफेद हो जाता है उसी प्रकार शुक्लध्यान में आत्मपरिणति बिलकुल विशुद्ध और निर्मल हो जाती है। इसके चार भेद हैं—१. **पृथक्त्ववितर्क** २. **एकत्ववितर्क**, ३. **सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति**, और ४. **व्युपरतक्रियानिवृति**।

शुक्लध्यान को समझने के लिए कुछ पारिभाषिक शब्दों को समझना आवश्यक है। यहाँ 'वितर्क' का अर्थ है श्रुतज्ञान। द्रव्य अथवा पर्याय, शब्द तथा मन, वचन, काय के परिवर्तन को 'वीचार' कहते हैं। द्रव्य को छोड़कर पर्याय को और पर्याय को छोड़कर द्रव्य को ध्यान का विषय बनाना 'अर्थसंक्रान्ति' है। किसी एक श्रुतवचन का ध्यान करते-करते वचनान्तर में पहुँच जाना और उसे छोड़कर अन्य का ध्यान करना 'व्यञ्जनसंक्रान्ति' है। काय योग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग का अवलम्बन लेना तथा उन्हें छोड़कर काययोग का अवलम्बन लेना 'योगसंक्रान्ति' है।

निर्जन प्रदेश में चित्तवृत्ति को स्थिरकर, शरीर क्रियाओं का निग्रहकर, मोह प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने वाला ध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान कहलाता है। इसमें ध्याता क्षमाशील हो, बाह्य-आभ्यन्तर द्रव्य-पर्यायों का ध्यान करता हुआ वितर्क की सामर्थ्य से युक्त होकर अर्थ और व्यञ्जन तथा मन-वचन-काय की पृथक्-पृथक् संक्रांति करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीय प्रकृतियों को समूल नष्ट कर श्रुत ज्ञानोपयोग वाला वह साधक जब अर्थ, व्यञ्जन और योग संक्रान्ति को रोककर क्षीणकषायी हो वैडूर्य मणि की तरह निर्लिप्त होकर ध्यान धारण करता है-तब उसे एकत्व-वितर्क ध्यान कहते हैं।

एकत्ववितर्क शुक्लध्यान से घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। केवलज्ञानी उपदेश देते रहते हैं। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है और वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म की भी स्थिति उतनी ही रहती है, तब सभी वचनयोग और मनोयोग तथा बादर-काय योग को छोड़कर सूक्ष्मयोग का अवलम्बन ले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान आरम्भ करते हैं और वह श्वासोच्छ्वास आदि समस्त काय, वचन और मन सम्बन्धी व्यापारों का निरोधकर 'व्युपरतक्रियानिवृत्ति' ध्यान आरम्भ करता है तथा ध्याता अपनी ध्यानाग्नि से समस्त मल-कलंक रूप कर्मबन्धों को जलाकर निर्मल और किट्ट रहित सुवर्ण की तरह परिपूर्ण स्वरूप लाभ करके निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क श्रुतकेवली के होते हैं तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया-निवृत्ति ध्यान केवली के होते है। उसे 'शैलेशी अवस्था' कहा जाता है। इनमें योगों का पूर्णतः निरोध हो जाने पर आत्मप्रदेश स्थिर हो जाते हैं। सच्चा योगी कर्मों के आवरण को क्षणभर में धुन डालता है और निराकुलतामय, स्थिर और अविनाशी परम सुख को प्राप्त करता है।[२७]

ध्यान के सन्दर्भ में ध्याता, ध्येय और ध्यान फल पर भी विचार किया जाता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योगी को 'ध्याता' कहते हैं। यह 'ध्याता' प्रज्ञापारमिता, बुद्धिबलयुक्त, जितेन्द्रिय, सूत्रार्थावलम्बी, धीर, वीर, परीषहजयी, विरागी, संसार से भयभीत और रत्नत्रयधारी होता है।[२८] सप्ततत्त्व और नव पदार्थ उसके ध्येय रहते हैं। पंचपरमेष्ठियों का स्वरूप, विशुद्धात्मा का स्वरूप तथा रत्नत्रय व वैराग्य की भावनाएँ भी उसके ध्येय के विषय हैं। उन पर चिन्तन करता हुआ ध्याता ध्यान के आलम्बन से परमपद रूप ध्यान के फल को प्राप्त कर लेता है। अव्यथ, असंमोह, विवेक और व्युत्सर्ग ये चार शुक्लध्यान के लक्षण हैं। क्षान्ति, मुक्ति, मार्दव और आर्जव ये चार आलम्बन हैं।

ध्याता का ध्येय के साथ संयोग हो जाने को ही 'योग' कहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से साधक समाधिस्थ हो जाता है और तदाकारमय हो जाता है। जैन-बौद्ध योग परम्परा की पूर्ववर्तिनी किंवा समकालवर्तिनी वैदिक योग परम्परा का सूत्रपात ऋग्वेदकाल में हो चुका था। अग्नि, सोम और इन्द्र आदि देवताओं के विविध रहस्यात्मक, वर्णनों में उन्हें कवि, ऋषि, आदि शब्दों से अभिहित किया है। उपनिषत् परम्परा और गीता में तो योग को प्रमुख स्थान दिया गया है। पतञ्जलि ने इन्हीं आधारों पर अपना 'योग सूत्र' रचा है। उनके 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सभी परम्पराओं ने स्वीकार किया है। उनके अष्टांग योग की तुलना हम जैन योग साधना से निम्न प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१. **यम**—इसे जैनधर्म में महाव्रत कह सकते हैं।
२. **नियम**—मूलगुणों और उत्तर गुणों का पालन करना।
३. **आसन**—विभिन्न प्रकार के तप करना यह कायक्लेश में आता है।
४. **प्राणायाम**—जैनधर्म में मूलतः हठयोग को कोई स्थान नहीं, पर उत्तरकाल में उसका समावेश हो गया।
५. **प्रत्याहार**—प्रतिसंलीनता—अप्रशस्त से प्रशस्त।
६. **धारणा**—पदार्थ-चिन्तन।
७. **ध्यान**—उपर्युक्त चार प्रकार के ध्यान।
८. **समाधि**—धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

परवर्ती जैन साहित्य में ध्यान का एक अन्य वर्गीकरण भी मिलता है। वह चार प्रकार का है—**पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत** इसे हम तन्त्र साहित्य से प्रभावित कह सकते हैं। प्रथम ध्यानों में आत्मा से भिन्न पौद्गलिक द्रव्यों का अवलंबन लिया जाता है। इसलिए वह सालंबन ध्यान है। रूपातीत ध्यान का आलंबन अमूर्त आत्मा रहता है जिसमें ध्यान, ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। इसी को समरसता कहा जाता है। प्रथम तीनों ध्यान स्थूल और सविकल्पक है तथा चतुर्थ ध्यान सूक्ष्म और निर्विकल्पक है। स्थूल से सूक्ष्म और सविकल्पक से निर्विकल्पक की ओर जाना ध्यान का क्रमिक अभ्यास माना गया है।[२९]

जैन परम्परा में विद्यानुवाद पूर्व का उल्लेख मिलता है, जो अद्यावधि अनुपलब्ध है। पर प्रश्नव्याकरणांग में मंत्रविद्या और विद्यातिशयों का वर्णन उपलब्ध होता है। निरयावलिका नामक उपांग में श्री, ह्री, धृति, कीर्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सुरा, रस और गन्ध इन दस देवियों के नाम मिलते है। उमास्वाति आदि आचार्यों ने भी इनमें से कतिपय देवियों का नामोल्लेख किया है। उत्तरकाल में यक्ष, यक्षिणियों; शासन देवी-देवताओं तथा चैत्यवृक्षों की भी कल्पना समाहित हो गई। इतना ही नहीं, धारिणी, चामुण्डा, घटकर्णा, कर्ण पिशाचिनी, भैरव, पद्मावती आदि जैसी वैदिक-बौद्ध परम्पराओं में मान्य देवी-देवताओं की उपासना से भी जैन परम्परा बच नहीं सकी। आकाशगामिनी जैसी विद्याओं की भी सिद्धि की जाने लगी। प्रतिष्ठा, विधि-विधान आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त निर्वाणकलिका, रहस्यकल्पद्रुम, सूरिमन्त्रकल्प आदि शताधिक छोटे-मोटे ग्रन्थ भी रचे गये। स्तोत्रों की भी एक लम्बी परम्परा इसी यन्त्र-मन्त्र परम्परा से अनुस्यूत है।

समूची मान्त्रिक परम्परा के समीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भिक्षु को मूलतः मन्त्रादिक तत्वों से दूर रहने की व्यवस्था थी।[१०] पर उत्तरकाल में प्रभावना आदि की दृष्टि से जैनेतर परम्पराओं का अनुकरण किया गया। इस अनुकरण की एक विशेषता द्रष्टव्य है कि जैन मन्त्र परम्परा ने कभी अनर्गल आचरण को प्रश्रय नहीं दिया। लौकिकता को ध्यान में रखते हुए भी वह विशुद्ध आध्यात्मिकता से दूर नहीं हटी। इसलिए वह विलुप्त और पथभ्रष्ट भी नहीं हो सकी।

जहाँ तक योग का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि जैनयोग जहाँ समाप्त होता है वैदिक और बौद्ध योग वहाँ प्रारम्भ होता है। हठयोग की परम्परा से जैनयोग का कोई मेल नहीं खाता, फिर भी लौकिक आस्था को ध्यान में रखकर उत्तरकालीन आचार्यों ने उसके कुछ रूपों को आध्यात्मिकता के साथ सम्बद्ध कर दिया। जैनयोग के क्षेत्र में यह विकास आठवीं-नवमी शताब्दी से प्रारम्भ हो जाता है और बारहवीं शताब्दी तक यह परिवर्तन अधिक लक्षित होने लगता है। आचार्य सोमदेव, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि मनीषियों ने जैनयोग को वैदिक और बौद्धयोग की ओर खींच दिया। धर्मध्यान के अन्तर्गत आने वाले, आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान विचय के स्थान पर पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों की परिकल्पना कर दी गई। पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और मारुती धारणाओं ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और भावना का स्थान ग्रहण कर लिया। प्राणायाम, काल ज्ञान और परकाया प्रवेश जैसे तत्वों का शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने खुलकर अपना उल्लेख किया। सोमदेव इस प्रकार के ध्यान को पहले ही लौकिक ध्यान की संज्ञा दे चुके थे। इसलिए चमत्कार-प्रदर्शन की ओर कुछ मुनियों का झुकाव भी हो गया। यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र की साधना ने आध्यात्मिक साधना को पीछे कर दिया। प्रतिष्ठा और विधान के क्षेत्र में बीसों यन्त्रों की संरचना की गई। कोष्ठक आदि बनाकर उनमें विविध मन्त्रों को चित्रित किया जाने लगा। प्रसिद्ध यन्त्रों में ऋषिमण्डल, कर्मदहन, चौबीसी मण्डल, णमोकार, सर्वतोभद्र सिद्धचक्र, शान्तिचक्र आदि अड़तालीस यन्त्रों का नाम उल्लेखनीय है।

जैन-बौद्ध योग साधना की तुलना

बौद्धधर्म में वर्णित उपर्युक्त ध्यान के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में ध्यान को मात्र निर्वाण साधक माना है पर जैन धर्मोक्त ध्यान संसार और निर्वाण दोनों के साधक हैं। जैन धर्म के प्रथम दो ध्यान संसार के परिवर्धक हैं और अन्तिम दो ध्यान निर्वाण के साधक हैं। धर्मध्यान शुभध्यान है और शुक्लध्यान शुद्धध्यान है। शुक्लध्यान का पृथक्त्ववितर्क ध्यान मन, वचन, काय इन तीन योगों के धारी आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों के होता है। द्वितीय एकत्ववितर्क ध्यान तीनों में से किसी एक योग के धारी बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के होते हैं। तृतीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान मात्र काययोग के धारण करने वाले तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग में होता है और चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान योग रहित (अयोगी) जीवों के चौदहवें गुणस्थान में होता है।

तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने वितर्क को श्रुतज्ञान कहा है और अर्थव्यञ्जन तथा योग का बदलना विचार बताया है।[११] प्रथम पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान वितर्क-विचार युक्त होता है और द्वितीय एकत्ववितर्क विचार-रहित और वितर्कसहित मणि की तरह अचल है। प्रथम शुक्लध्यान प्रतिपाति और अप्रतिपाती, दोनों होता है। बौद्ध-धर्म में वितर्क की अपेक्षा विचार का विषय सूक्ष्म माना गया है। उसकी वृत्ति भी शान्त मानी गई है। प्रथम शुक्लध्यान में वितर्क और विचार, दोनों का ध्यान किया गया है। द्वितीय शुक्लध्यान में विचार नहीं है। बौद्धधर्म में सभी ध्यान प्रतिपाति कहे गये हैं जबकि जैनधर्म में प्रथम ध्यान ही प्रतिपाति और अप्रतिपाती, दोनों हैं।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान के संदर्भ में बौद्धधर्म में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं मिलता पर चित्त के प्रकारों में हम उसका रूप पा सकते हैं। सराग, सदोष सम्मोह आदि जो अकुशल मूलक चित्त हैं उनसे राग-द्वेषादि भावों की उत्पत्ति होती है। कामच्छंद, व्यापाद, स्त्यानगृद्धि, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा से पांच नीवरण भी उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही संयोजन, क्लेश, मिथ्यात्व आदि धर्मों को प्रहातव्य माना गया है। मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ ये चार भावनायें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मध्यान की सिद्धि में कारण होती हैं। इसी प्रकार बौद्धधर्म में निर्दिष्ट चार ब्रह्मविहारगत भावनायें (मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा) रूपध्यान की प्राप्ति के लिए होती हैं। बौद्धधर्म में ध्यान और समाधि में किञ्चित् भेद दिखाई देता है।

जैन साधना के अणुव्रत और महाव्रतों की तुलना बौद्ध साधना के दस शिक्षापदों से तथा बारह भावनाओं की तुलना अनित्यता आदि भावों से की जा सकती है। जैनधर्म का सम्यग्दृष्टि बौद्धधर्म के स्रोतापन्न से मिलता-जुलता है। इसी तरह सकदागामी, अनागामी और अर्हत् जैनधर्म के लौकान्तिकदेव, क्षपकश्रेणी तथा अर्हन्तावस्था से मेल खाते है। गुणस्थानों की तुलना दस प्रकार की भूमियों से की जा सकती है।

इस प्रकार जैन-बौद्धधर्म योग-साधना के क्षेत्र में लगभग समान रूप से चिन्तन करते हैं, पर उनके पारिभाषिक शब्दों में कुछ वैभिन्न्य है। इस वैभिन्न्य को अभी सूक्ष्मतापूर्वक परखा जाना शेष है। यह काम एक लेख का नहीं बल्कि एक महाप्रबन्ध का विषय है।

संदर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१ ज्ञानार्णव; ३२, ६;
२ तत्त्वार्थ सूत्र, ७, ११
३ षट्प्राभृत, १, ४, ५
४ मज्झिम निकाय, सम्मादिट्ठि सुत्तन्त, १, १, ६
५ थेरगाथा
६ देखिये, लेखक का ग्रन्थ बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ० ८८-९२
७ षट्प्राभृत, ६, ६,
८ विसुद्धिमग्ग, १४; पृ० ३०५
९ षट्प्राभृत, ६५
१० उत्तराध्ययन, २८.३०
११ पियो गुरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।
गंभीरञ्च कथंकत्ता नो चट्ठाने नियोजये॥ —मिलिन्दपञ्ह, ३-१२
१२ समन्तपासादिका, पृ० १४५-६
१३ धम्मसंगणि, पृ० १०
१४ विशुद्धिमग्गो
१५ विसुद्धिमग्ग, दीघनिकाय, १, पृ० ६५-६
१६ बौद्ध धर्म दर्शन, पृ०, ७४, विशुद्धि मग्ग (हिन्दी) भाग १, पृ० १४९
१८ बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ४५७.
१८ गुह्य समाज, पृ. २७
१९ प्रवचनसार, १.११-१२ ; २.६४; ३.४५ ; नियमसार, १३७-१३९.
२० **कायवाङ्मनः कर्मयोगः, स आश्रवः, शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य।** —तत्त्वार्थसूत्र, ६. १-४.
२१ ज्ञानार्णव
२२ जोगविहाणवीसिया, गाथा १,
२३ योगशास्त्र, प्रकाश १, श्लोक १५
२४ उपासकाध्ययन, ७०८
२५ ज्ञानार्णव, ४०-४
२६ उपासकाध्ययन, ६५१-६५८
२७ योगसार प्राभृत, ९. ९-११; १. ५९
२८ आदिपुराण, २१. ८६-८८
२९ ज्ञानार्णव; ३७; योगशास्त्र, १०-५
३० **मंतमूलं विविहं वेज्जचिंतं वमण-विरेयण धूमणेत्तसिसाणं।**
आउरे सरणं तिगच्छियं च तं परिन्नाय परिव्वए जे स भिक्खू॥ —उत्तरज्झयण १५.८
३१ **वितर्कः श्रुतम्, वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः** —तत्त्वार्थ सूत्र, ९.४३-४४,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



मन : शक्ति, स्वरूप और साधना; एक विश्लेषण

☆ डा० सागरमल जैन
[अध्यक्ष, दर्शन विभाग, हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल]

नैतिक-साधना में मन का स्थान

भारतीय-दर्शन जीवात्मा के बन्धन और मुक्ति की समस्या की एक विस्तृत व्याख्या है। भारतीय चिन्तकों ने केवल मुक्ति की उपलब्धि के हेतु आचार-मार्ग का उपदेश ही नहीं दिया वरन् उन्होंने यह बताने का भी प्रयास किया कि बन्धन और मुक्ति का मूल कारण क्या है? अपने चिन्तन और अनुभूति के प्रकाश में उन्होंने इस प्रश्न का जो उत्तर पाया वह है—"मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।" जैन, बौद्ध और हिन्दू दर्शनों में यह तथ्य सर्व-सम्मत रूप से ग्राह्य है। जैनदर्शन में बंधन और मुक्ति की दृष्टि से मन की अपार शक्ति मानी गई है। बंधन की दृष्टि से वह पौराणिक ब्रह्मास्त्र से भी बढ़कर भयंकर है। कर्मसिद्धान्त का एक विवेचन है कि आत्मा के साथ कर्म-बंध की क्या स्थिति है? मात्र काययोग से मोहनीय जैसे कर्म का बंध उत्कृष्ट रूप में एक सागर की स्थिति तक का हो सकता है। वचनयोग मिलते ही पच्चीस सागर की स्थिति का उत्कृष्ट बंध हो सकता है। घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका के मिलने पर पचास सागर का, चक्षु के मिलते ही सौ सागर का और श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कान के मिलते ही हजार सागर तक का बंध हो सकता है। किन्तु यदि मन मिल गया तो मोहनीयकर्म का बंध लाख और करोड़ सागर को भी पार करने लगा। सत्तर क्रोडाक्रोड़ी (करोड़ × करोड़) सागरोपम का सर्वोत्कृष्ट मोहनीयकर्म 'मन' मिलने पर ही बाँधा जा सकता है।

यह है मन की अपार शक्ति! इसलिए मन को खुला छोड़ने से पहले विचार करना होगा कि कहीं वह आत्मा को किसी गहन गर्त्त में तो नहीं धकेल रहा है? जैन विचारणा में मन मुक्ति के मार्ग का प्रथम प्रवेश द्वार भी है। वहाँ केवल समनस्क प्राणी ही इस मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। अमनस्क प्राणियों को तो इस राजमार्ग पर चलने का अधिकार ही प्राप्त नहीं है। सम्यक्दृष्टित्व केवल समनस्क प्राणियों को हो सकता है और वे ही अपनी साधना में मोक्ष-मार्ग की ओर बढ़ने के अधिकारी हो सकते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान महावीर कहते हैं कि "मन के संयमन से एकाग्रता आती है जिससे ज्ञान (विवेक) प्रगट होता है और उस विवेक से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है और अज्ञान (मिथ्यात्व) समाप्त हो जाता है।"[1] इस प्रकार अज्ञान का निवर्तन और सत्य दृष्टिकोण की उपलब्धि, जो मुक्ति (निर्वाण) की अनिवार्य शर्त है, बिना मनःशुद्धि के सम्भव ही नहीं है। अतः जैन विचारणा में मन मुक्ति का आवश्यक हेतु है। शुद्ध संयमित मन निर्वाण का हेतु बनता है जबकि अनियंत्रित मन ही अज्ञान अथवा मिथ्यात्व का कारण होकर प्राणियों के बंधन का हेतु है। इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं "मन का निरोध हो जाने पर कर्म (बंधन) भी पूरी तरह रुक जाते हैं क्योंकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है लेकिन जो पुरुष मन का निरोध नहीं करता है उसके कर्मों (बंधन) की अभिवृद्धि होती रहती है।"[2]

बौद्धदर्शन में चित्त, विज्ञप्ति आदि मन के पर्यायवाची शब्द हैं। तथागत बुद्ध का कथन है "सभी प्रवृत्तियों का आरम्भ मन से होता है, मन की उनमें प्रधानता है वे प्रवृत्तियाँ मनोमय हैं। जो सदोष मन से आचरण करता है, भाषण करता है उसका दुःख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे रथ का पहिया घोड़े के पैरों का अनुगमन करता है।[3] किन्तु जो स्वच्छ (शुद्ध) मन से भाषण एवं आचरण करता है उसका सुख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे साथ नहीं छोड़ने वाली छाया।"[4] कुमार्ग पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक अहितकारी और सन्मार्ग पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक हितकारी है,[5] जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका संयम करेंगे वे मार के बंधन से मुक्त हो जावेंगे।[८] लंकावतार सूत्र में कहा गया है "चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है।"[९]

वेदान्त परम्परा में भी सर्वत्र यही दृष्टिकोण मिलता है कि जीवात्मा के बंधन और मुक्ति का कारण मन ही है। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् में कहा गया है कि "मनुष्य के बंधन और मुक्ति का कारण मन ही है। उसके विषयासक्त होने पर बंधन है और उसका निर्विषय होना ही मुक्ति है।"[१०] गीता में कहा गया है—"इन्द्रियाँ मन और बुद्धि ही इस वासना के वास स्थान कहे गये हैं और यह वासना इनके द्वारा ही ज्ञान को आवृत कर जीवात्मा को मोहित करता है।[११] "जिसका मन प्रशांत है, पाप (वासना) से रहित है, जिसके मन की चंचलता समाप्त हो गई है ऐसे ब्रह्मभूत योगी को ही उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।"[१२]

आचार्य शंकर भी विवेक चूड़ामणि में लिखते हैं कि मन से ही बंधन की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की। मन ही देहादि विषयों में राग को बाँधता है और फिर विषवत् विषयों में विरसता उत्पन्न कर मुक्त कर देता है। इसीलिए इस जीव के बंधन और मुक्ति के विधान में मन ही कारण है। रजोगुण से मलिन हुआ मन बंधन का हेतु होता है तथा रज-तम से रहित शुद्ध सात्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।"[१३]

यद्यपि उपरोक्त प्रमाण तो यह बता देते हैं कि मन बंधन और मुक्ति का प्रबलतम एकमात्र कारण है। लेकिन फिर भी यह प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह जाता है कि मन ही को क्यों बंधन और मुक्ति का कारण माना गया है?

जैन साधना में मन ही बंधन और मुक्ति का कारण क्यों?

यदि हम इस प्रश्न का उत्तर जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से खोजने का प्रयास करें, तो हमें ज्ञात होता है कि जैन तत्त्वमीमांसा में जड़ और चेतन ये दो मूल तत्त्व हैं। शेष आस्रव, संवर, बंध, मोक्ष और निर्जरा तो इन दो मूल तत्त्वों के सम्बन्ध की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। शुद्ध आत्मा तो बंधन का कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं (योग) का अभाव है दूसरी ओर मनोभाव से पृथक् कायिक और वाचिक कर्म एवं जड़-कर्म परमाणु भी बंधन के कारण नहीं होते हैं। बंधन के कारण राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव आत्मिक अवश्य माने गये हैं, लेकिन इन्हें आत्मगत इसलिए कहा गया है कि बिना चेतन-सत्ता के ये उत्पन्न नहीं होते हैं। चेतन सत्ता रागादि के उत्पादन का निमित्त कारण अवश्य है लेकिन बिना मन के वह रागादि भाव उत्पन्न नहीं कर सकती। इसीलिए यह कहा गया कि मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। दूसरे, हिन्दू, बौद्ध और जैन आचार-दर्शन इस बात में एकमत हैं कि बन्धन का कारण अविद्या (मोह) है। अब प्रश्न यह है कि इस अविद्या का वास स्थान कहाँ है? आत्मा को इसका वास स्थान मानना भ्रान्ति होगी, क्योंकि जैन और वेदांत दोनों परम्पराओं में आत्मा का स्वभाव तो सम्यग्ज्ञान है; मिथ्यात्व, मोह किंवा अविद्या आत्माश्रित हो सकते हैं लेकिन वे आत्म-गुण नहीं हैं और इसलिए उन्हें आत्मगत मानना युक्तिसंगत नहीं है। अविद्या को जड़ प्रकृति का गुण मानना भी भ्रान्ति होगी क्योंकि वे ज्ञानाभाव ही नहीं वरन् विपरीत ज्ञान भी है। अतः अविद्या का वासस्थान मन को ही माना जा सकता है जो जड़ और चैतन्य के संयोग से निर्मित है। अतः उसी में अविद्या निवास करती है उसके निवर्तन पर शुद्ध आत्मदशा में अविद्या की सम्भावना किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती।

मन आत्मा के बंधन और मुक्ति में किस प्रकार अपना भाग अदा करता है, इसे निम्न रूपक से समझा जा सकता है। मान लीजिए, कर्मावरण से कुंठित शक्ति वाला आत्मा उस आँख के समान है जिसकी देखने की क्षमता क्षीण हो चुकी है। जगत एक श्वेत वस्तु है और मन ऐनक है। आत्मा को मुक्ति के लिए जगत के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करना है लेकिन अपनी स्वशक्ति के कुंठित होने पर वह स्वयं तो सीधे रूप में यथार्थ ज्ञान नहीं पा सकता। उसे मन रूपी चश्मे की सहायता आवश्यक होती है लेकिन यदि ऐनक रंगीन काँचों का हो तो वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान न देकर भ्रांत ज्ञान ही देता है। उसी प्रकार यदि मन रागद्वेषादि वृत्तियों से दूषित (रंगीन) है तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं देता और हमारे बंधन का कारण बनता है। लेकिन यदि मन रूपी ऐनक निर्मल है तो वह वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान देकर हमें मुक्त बना देता है। जिस प्रकार ऐनक में बिना किसी चेतन आँख के संयोग के देखने की कोई शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार जड़ मन-परमाणुओं में भी बिना किसी चेतन आत्मा के संयोग के बन्धन और मुक्ति की कोई शक्ति नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि जिस प्रकार ऐनक से देखने वाले नेत्र हैं लेकिन विकार या रंगीनता का कार्य ऐनक में है, उसी प्रकार बंधन के कारण रागद्वेषादि विकार न तो आत्मा के कार्य हैं और न जड़ तत्त्व के कार्य हैं वरन् मन के ही कार्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विचारणा के समान गीता में भी यह कहा गया है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस 'काम' के वास-स्थान हैं। इनके आश्रयभूत होकर ही यह काम ज्ञान को आच्छादित कर जीवात्मा को मोहित किया करता है[१२] ज्ञान आत्मा का कार्य है लेकिन ज्ञान में जो विकार आता है वह आत्मा का कार्य न होकर मन का कार्य है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए, जहाँ गीता में विकार या काम का वासस्थान मन को माना गया है वहाँ जैन विचारणा में विकार या कामादि का वासस्थान आत्मा को ही माना गया है। वे मन के कार्य अवश्य हैं लेकिन उनका वासस्थान आत्मा ही है। जैसे रंगीन देखना, चश्मे का कार्य है लेकिन रंगीनता का ज्ञान तो चेतना में ही होगा।

सम्भवतः यहाँ शंका होती है कि जैन विचारणा में तो अनेक क्षुद्र प्राणियों को अमनस्क माना गया है, फिर उनमें जो अविद्या या मिथ्यात्व है वह किसका कार्य है? इसका उत्तर यह है कि जैन विचारणा के अनुसार प्रथम तो सभी प्राणियों में भाव मन की सत्ता स्वीकार की गई है। दूसरे श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप यदि मन को सम्पूर्ण शरीर-गत माने[१३] तो वहाँ द्रव्य मन भी है, लेकिन वह केवल ओघसंज्ञा है। दूसरे शब्दों में, उन्हें केवल विवेकशक्ति-विहीन मन (irrational mind) प्राप्त है। जैन शास्त्रों में जो समनस्क और अमनस्क प्राणियों का भेद किया गया है वह दूसरी विवेकसंज्ञा (Faculty of reasoning) की अपेक्षा से है। जिन्हें शास्त्र में समनस्क प्राणी कहा गया है उनसे तात्पर्य विवेक शक्ति युक्त प्राणियों से है। जो अमनस्क प्राणी कहे गये हैं उनमें विवेकक्षमता नहीं होती है। वे न तो सुदीर्घ भूत की स्मृति रख सकते हैं और न भविष्य की और न शुभाशुभ का विचार कर सकते है। उनमें मात्र वर्तमानकालिक संज्ञा होती है और मात्र अंध वासनाओं (मूल प्रवृत्तियों) से उनका व्यवहार चालित होता है। अमनस्क प्राणियों में सत्तात्मक मन तो है, लेकिन उनमें शुभाशुभ का विवेक नहीं होता है, इसी विवेकाभाव की अपेक्षा से ही उन्हें अमनस्क कहा जाता है।

जैन विचारणा के अनुसार नैतिक विकास का प्रारम्भ विवेक क्षमतायुक्त मन की उपलब्धि से ही होता है जब तक विवेक क्षमतायुक्त मन प्राप्त नहीं होता है तब तक शुभाशुभ का विभेद नहीं किया जा सकता और जब तक शुभाशुभ का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक नैतिक विकास की सही दिशा का निर्धारण और नैतिक प्रगति नहीं हो पाती है। अतः विवेकक्षमता युक्त (Rational mind) नैतिक प्रगति की अनिवार्य शर्त है। ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारकों ने भी बौद्धिक क्षमता या शुभाशुभ विवेक को नैतिक प्रगति के लिए आवश्यक माना है। फिर भी जैन विचारणा का उनसे प्रमुख मतभेद यह है कि वे नैतिक उत्तरदायित्व (Moral responsibility) और नैतिक प्रगति (Moral progress) दोनों के लिए विवेकक्षमता को आवश्यक मानते हैं; जबकि जैन विचारक नैतिक प्रगति के लिए तो विवेक आवश्यक मानते हैं लेकिन नैतिक उत्तरदायित्व के लिए विवेक शक्ति को आवश्यक नहीं मानते हैं। यदि कोई प्राणी विवेकाभाव में भी अनैतिक कर्म करता है तो जैन दृष्टि से वह नैतिक रूप से उत्तरदायी होगा। क्योंकि (१) प्रथमतः, विवेकाभाव ही प्रमत्तता है और यही अनैतिकता का कारण है। अतः विवेकपूर्वक कार्य नहीं करने वाला नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं है। (२) दूसरे, विवेक शक्ति तो सभी चेतन आत्माओं में है। जिनमें वह प्रसुप्त है उस प्रसुप्ति के लिए भी वे स्वयं ही उत्तरदायी हैं। (३) तीसरे अनेक प्राणी तो ऐसे हैं जिनमें विवेक का प्रगटन हो चुका था, जो कभी समनस्क या विवेकवान प्राणी थे, लेकिन उन्होंने उस विवेकशक्ति का यथार्थ उपयोग न किया। फलस्वरूप उनमें वह विवेकशक्ति पुनः कुण्ठित हो गई। अतः ऐसे प्राणियों को नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं माना जा सकता।

सूत्रकृतांग में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख मिलता है—कई जीव ऐसे भी हैं जिनमें जरा-सी तर्कशक्ति, प्रज्ञा-शक्ति या मन या वाणी की शक्ति नहीं होती है। वे मूढ़ जीव भी सबके प्रति समान दोषी हैं। और उसका कारण यह है कि सब योनियों के जीव एक जन्म में संज्ञा (विवेक) वाले होकर अपने किये हुए कर्मों के कारण दूसरे जन्म में असंज्ञी (विवेक शून्य) बनकर जन्म लेते हैं·····अतएव विवेकवान् होना या न होना अपने ही किये हुए कर्मों का फल होता है इससे विवेकाभाव की दशा में जो कुछ पाप-कर्म होते हैं उनकी जवाबदारी भी उनकी ही है।

यद्यपि जैन तत्वज्ञान में जीवों के अव्यवहार-राशि की जो कल्पना की गई है, उस वर्ग के जीवों के नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या सूत्रकृतांग के इस आधार पर नहीं हो सकती। क्योंकि अव्यवहार-राशि के जीवों को तो विवेक कभी प्रगटित ही नहीं हुआ वे तो केवल इस आधार पर ही उत्तरदायी माने जा सकते हैं कि उनमें जो विवेक-क्षमता प्रसुप्त है वे उसका प्रगटन नहीं कर रहे हैं।

एक प्रश्न यह भी है कि यदि नैतिक प्रगति के लिए 'सविवेक मन' आवश्यक है तो फिर जैन विचारणा के अनुसार वे सभी प्राणी जिनमें ऐसे 'मन' का अभाव है, नैतिक प्रगति के पथ पर कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। जैन विचारणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि 'विवेक' के अभाव में भी कर्म का बन्ध और भोग तो चलता है; लेकिन फिर भी जब विचारक-मन का अभाव होता है तो कर्म वासना-संकल्प से युक्त होते हुए भी वैचारिक संकल्प से युक्त नहीं होते हैं और कर्मों के वैचारिक संकल्प से युक्त नहीं होने के कारण बन्धन में तीव्रता भी नहीं होती है। इस प्रकार नवीन कर्मों का बंध होते हुए भी तीव्र बन्ध नहीं होता है और पुराने कर्मों का भोग चलता रहता है। अतः नदी-पाषाण न्याय के अनुसार संयोग से कभी न कभी वह अवसर उपलब्ध हो जाता है, जब प्राणी विवेक को प्राप्त कर लेता है और नैतिक विकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

मन का स्वरूप

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन आचार दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन की परम्परायें मन को नैतिक जीवन के सन्दर्भ में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है। अतः यह स्वाभाविक है कि मन का स्वरूप क्या है और वह नैतिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करता है इस तथ्य पर भी विचार करें।

मन के स्वरूप के विश्लेषण की प्रमुख समस्या यह है कि क्या मन भौतिक तत्त्व है अथवा आध्यात्मिक तत्त्व है ? बौद्ध विचारणा मन को चेतन तत्त्व मानती है जबकि सांख्यदर्शन और योगवसिष्ठ में उसे जड़ माना गया है।[१४] गीता सांख्य विचारणा के अनुरूप मन को जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न और त्रिगुणात्मक मानती है।[१५]

जैन विचारणा में मन के भौतिक पक्ष को 'द्रव्यमन' और चेतन पक्ष को 'भावमन' कहा गया है।[१६] विशेषावश्यक भाष्य में बताया गया है कि द्रव्यमन मनोवर्गणा नामक परमाणुओं से बना हुआ है। यह मन का भौतिक पक्ष (Physical or structural aspect of mind) है। साधारण रूप से इसमें शरीरस्थ सभी ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक अंग आ जाते हैं। मनोवर्गणा के परमाणुओं से निर्मित उस भौतिक रचना तन्त्र में प्रवाहित होने वाली चैतन्य-धारा भावमन है। दूसरे शब्दों में इस रचना तन्त्र को आत्मा से मिली हुई चिन्तन-मननरूप चैतन्य शक्ति ही भाव मन (Psychical aspect of mind) है।

यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न यह भी उठता है कि द्रव्यमन और भावमन शरीर के किस भाग में स्थित है। दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ गोम्मटसार के जीवकाण्ड में द्रव्यमन का स्थान हृदय माना गया है जबकि श्वेताम्बर आगमों में ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है कि मन शरीर के किस विशेष भाग में स्थित है। पं० सुखलाल जी अपने गवेषणापूर्ण अध्ययन के आधार पर यह मानते हैं कि—'श्वेताम्बर परम्परा को समग्र स्थूल शरीर ही द्रव्यमन का स्थान इष्ट है।' जहाँ तक भावमन के स्थान का प्रश्न है उसका स्थान आत्मा ही है। क्योंकि आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है अतः भावमन का स्थान भी सम्पूर्ण शरीर ही सिद्ध होता है।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो बौद्ध-दर्शन में मन को हृदयप्रदेशवर्ती माना गया है। जो दिगम्बर सम्प्रदाय की द्रव्यमन सम्बन्धी मान्यता के निकट आता है। जबकि सांख्य परम्परा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निकट है। पं० सुखलाल जी लिखते हैं कि सांख्य आदि दर्शनों की परम्परा के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय नहीं माना जा सकता क्योंकि उस परम्परा के अनुसार मन सूक्ष्मलिंग शरीर में, तो अष्टादश तत्त्वों का विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है, और सूक्ष्म शरीर का स्थान समस्त स्थूल शरीर ही मानना उचित जान पड़ता है। अतएव उस परम्परा के अनुसार मन का स्थान समग्र स्थूल शरीर ही सिद्ध होता है।

जैन विचारणा मन के आध्यात्मिक और भौतिक दोनों स्वरूपों को स्वीकार करके ही संतोष नहीं मान लेती वरन् इन भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों के बीच गहन सम्बन्ध को भी स्वीकार कर लेती है। जैन नैतिक विचारणा में बन्धन के लिए अमूर्त चेतन आत्मतत्व और जड़ कर्मतत्त्व का जो सम्बन्ध स्वीकार किया गया है उसकी व्याख्या के लिए उसे मन के स्वरूप का यही सिद्धान्त अभिप्रेत हो सकता है। अन्यथा जैन विचारणा की बन्धन और मुक्ति की व्याख्या ही असम्भव होगी। वेदान्तिक अद्वैतवाद, बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के दर्शनों में बन्धन का कारण अन्य तत्व को नहीं माना जाता। अतः वहाँ सम्बन्ध की समस्या ही नहीं आती। सांख्यदर्शन में आत्मा को कूटस्थ मानने के कारण वहाँ भी पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की कोई समस्या नहीं रहती। इसलिए वे मन को एकांत जड़ अथवा चेतन मानकर अपना काम चला लेते हैं। लेकिन जड़ और चेतन के मध्य सम्बन्ध मानने के कारण जैन-दर्शन के लिए मन को उभयरूप मानना आवश्यक है। जैन विचारणा में मन अपने उभयात्मक स्वरूप के कारण ही जड़ कर्मवर्गणा के पुद्गल और चेतन आत्म-तत्त्व के मध्य योजक कड़ी बन गया है। मन की शक्ति चेतना में है और उसका कार्य-क्षेत्र भौतिक जगत है। जड़ पक्ष की ओर से वह भौतिक पदार्थों से प्रभावित होता है और अपने चेतन-पक्ष की ओर से आत्मा को प्रभावित करता है। इस प्रकार जैन दार्शनिक मन के द्वारा आत्मतत्त्व और जड़तत्त्व के मध्य अपरोक्ष सम्बन्ध बना देते हैं और इस सम्बन्ध के आधार पर ही अपनी बन्धन की धारणा को सिद्ध करते हैं। मन, जड़ जगत और चेतन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत के मध्य अवस्थित एक ऐसा माध्यम है जो दोनों स्वतन्त्र सत्ताओं में सम्बन्ध बनाये रखता है, जब तक यह माध्यम रहता है तभी तक जड़ एवं चेतन जगत में पारस्परिक प्रभावकता रहती है, जिसके कारण बन्धन का क्रम चलता रहता है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए पहले मन के इन उभय पक्षों को अलग-अलग करना होता है। इनके अलग-अलग होने पर मन की प्रभावक शक्ति क्षीण होने लगती है और अन्त में मन का ही विलय होकर निर्वाण की उपलब्धि हो जाती है और निर्वाण दशा में इस उभय स्वरूप मन का ही अभाव होने से बन्धन की सम्भावना नहीं रहती।

उभयात्मक मन के माध्यम से जड़ और चेतन में पारस्परिक प्रभावकता (Inter action) मान लेने मात्र से समस्या का पूर्ण समाधान नहीं होता। प्रश्न यह है कि बाह्य भौतिक घटनायें एवं क्रियायें आत्मतत्व को कैसे प्रभावित करती हैं जबकि दोनों स्वतन्त्र हैं, यदि उभयरूप मन को उनका योजक तत्व मान भी लिया जावे तो इससे समस्या का निराकरण नहीं होता। यह तो समस्या का खिसकाना मात्र है जो सम्बन्ध की समस्या भौतिक जगत और आत्मतत्व के मध्य उसे केवल द्रव्य मन और भाव मन से मनोजगत में स्थानांतरित मात्र कर दिया गया है। द्रव्य मन और भाव मन कैसे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं यह समस्या अभी बनी हुई है। चाहे यह सम्बन्ध की समस्या भौतिक और आध्यात्मिक स्तर पर हो, चाहे जड़ कर्म परमाणु और चेतन आत्मा के मध्य हो अथवा मन के भौतिक और अभौतिक स्तरों पर हो, समस्या अवश्य बनी रहती है। उसके निराकरण के दो ही मार्ग हैं। या तो भौतिक और आध्यात्मिक सत्ताओं में से किसी एक के अस्तित्व का निषेध कर दिया जाए अथवा उनमें एक प्रकार का समानान्तरवाद मान लिया जाए। जैन दार्शनिकों ने पहिले विकल्प में यह दोष पाया कि यदि केवल चेतन तत्व की सत्ता मानी जाए तो समस्त भौतिक जगत को मिथ्या कहकर अनुभूति के तथ्यों को ठुकरा देना होगा, जैसा कि विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकों तथा अद्वैतवादी आचार्य शंकर ने किया। यदि दूसरी ओर चेतन की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध कर मात्र जड़-तत्व की सत्ता को ही माना जाये तो भौतिकवाद में आना होगा, जिसमें नैतिक जीवन के लिए कोई स्थान शेष नहीं रहेगा। डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं "जैन दार्शनिकों ने मनः शरीर का द्वैत स्वीकार किया और इसलिए वे समानान्तरवाद को भी उसकी समस्त सीमाओं सहित स्वीकार कर लेते हैं। वे चैतसिक और अचैतसिक तथ्यों में एक पूर्व संस्थापित सामंजस्य (Pre-established hamony) स्वीकार करते हैं।"[13]

लेकिन जैन विचारणा में द्रव्यमन और भाव मन के मध्य केवल समानान्तरवाद या पूर्व संस्थापित सामंजस्य ही नहीं मानती है। व्यवहारिक दृष्टि से तो जैन विचारक उनमें वास्तविक सम्बन्ध भी मानते हैं। समानान्तरवाद या पूर्व संस्थापित सामंजस्य तो केवल पारमार्थिक या द्रव्यार्थिक दृष्टि से स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जैन दार्शनिक तत्वज्ञान के क्षेत्र में जड़ और चेतन में नितान्त भिन्नता मानते हुए भी अनुभव के स्तर पर या मनोवैज्ञानिक स्तर पर उनमें वास्तविक सम्बन्ध को स्वीकार कर लेते हैं। डा० कलघटगी लिखते हैं कि 'जैन चिन्तकों ने मानसिक भावों को जड़ कर्मों से प्रभावित होने के सन्दर्भ में एक परिष्कारित समानान्तरवाद प्रस्तुत किया है—उनका समानान्तरवाद व्यक्ति के मन और शरीर के सम्बन्ध में एक प्रकार का मनोभौतिक समानान्तरवाद है—यद्यपि वे मानसिक और शारीरिक तथ्यों के मध्य होने वाली पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया को उपेक्षित नहीं करते। उनका सिद्धान्त समानान्तरवाद से भी परे जाता है और शरीर और मन के मध्य अधिक घनिष्ट सम्बन्ध को स्वीकार करता है। उनका द्रव्य मन और भाव मन का सिद्धान्त इस क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है—जैन दृष्टिकोण जड़ और चैतन्य के मध्य रहे हुए तात्विक विरोध के समन्वय का एक प्रयास है जो वैयक्तिक मन एवं शरीर के मध्य पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा की संस्थापना करता है।"[14]

इस प्रकार हमने यह देखा कि जैन विचारणा में बाह्य भौतिक जगत से सम्बन्धित 'मन' का द्रव्यात्मक पक्ष किस प्रकार अपने भावात्मक पक्ष को प्रभावित करता है और 'जीवात्मा' को बन्धन में डालता है। लेकिन मन जिन साधनों के द्वारा बाह्य जगत से सम्बन्ध बनाता है वे तो इन्द्रियाँ हैं, मन की विषय-सामग्री तो इन्द्रियों के माध्यम से आती हैं। बाह्य जगत से मन का सीधा सम्बन्ध नहीं होता है वरन् वह इन्द्रियों के माध्यम से जागतिक विषयों से अपना सम्बन्ध बनाता है। मन जिस पर कार्य करता है वह सारी सामग्री तो इन्द्रिय-सम्वेदन से प्राप्त होती है। अतः मन के कार्य के सम्बन्ध में विचार करने से पहले हमें इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी थोड़ा विचार कर लेना होगा।

मन के साधन-इन्द्रियाँ—

इन्द्रिय शब्द के अर्थ की विशद विवेचना[15] न करते हुए यहाँ हम केवल यही कहें कि "जिन-जिन करणों की सहायता से जीवात्मा विषयों की ओर अभिमुख होता है अथवा विषयों के उपभोग में समर्थ होता है वे इन्द्रियाँ हैं। इस अर्थ को लेकर गीता या जैन आगमों में कहीं कोई विवाद नहीं पाया जाता। यद्यपि कुछ विचारकों की दृष्टि में इन्द्रियाँ 'मन' के साधन या 'करण' मानी जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों की संख्या

जैन दृष्टि में इन्द्रियाँ पाँच मानी जाती हैं :—

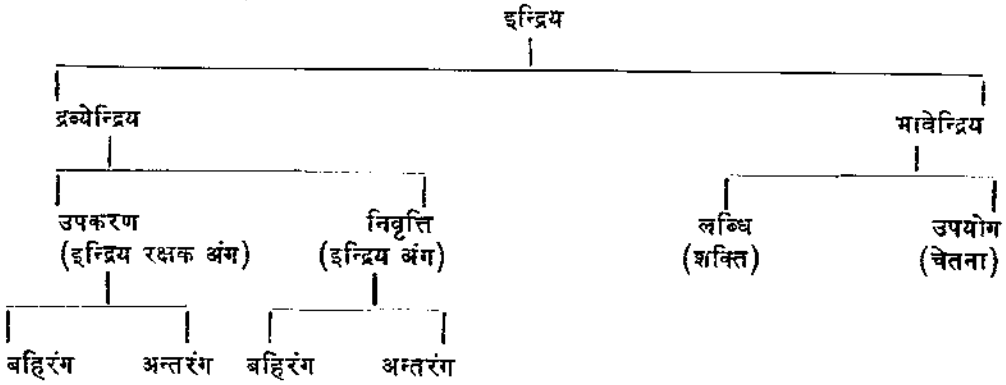
(१) श्रोत्र (२) चक्षु (३) घ्राण (४) रसना और (५) स्पर्शन।

सांख्य विचारणा में इन्द्रियों की संख्या ११ मानी गई है। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और १ मन। जैन विचारणा में ५ ज्ञानेन्द्रियाँ तो उसी रूप में मानी गई हैं किन्तु मन नोइन्द्रिय (Quasi sense organ) कहा गया है। पाँच कर्मेन्द्रियों की तुलना—उनकी १० बल की धारणा में वाक्‌बल, शरीरबल एवं श्वासोच्छ्वास बल से की जा सकती है। बौद्ध ग्रन्थ विशुद्धिमग्गो में इन्द्रियों की संख्या २२ मानी गई है। बौद्ध विचारणा उक्त पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त पुरुषत्व, स्त्रीत्व, सुख-दुःख तथा शुभ एवं अशुभ मनोभावों को भी इन्द्रियों के अन्तर्गत मान लेती है।[२०]

जैन-दर्शन में उक्त पाँचों इन्द्रियाँ दो-दो प्रकार की होती हैं :—

(१) द्रव्येन्द्रिय। (२) भावेन्द्रिय।

इन्द्रियों की आंगिक संरचना (Structural aspect) द्रव्येन्द्रिय कहलाती है और आन्तरिक क्रिया शक्ति (Functional aspect) भावेन्द्रिय कहलाती है। इनमें से प्रत्येक के पुनः उप विभाग किये गये हैं जिन्हें संक्षेप में निम्न सारिणी से समझा जा सकता है :



इन्द्रियों के व्यापार या विषय—(१) श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द तीन प्रकार का माना गया है। जीव का शब्द, अजीव का शब्द और मिश्र शब्द। कुछ विचारक ७ प्रकार के शब्द मानते हैं। (२) चक्षु इन्द्रिय का विषय रंग-रूप है। रंग काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत, पाँच प्रकार का है। शेष रंग इन्हीं के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। (३) घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है। गन्ध दो प्रकार की होती है—(१) सुगन्ध और (२) दुर्गन्ध। (४) रसना का विषय रसास्वादन है। रस ५ प्रकार के होते हैं—कटु, अम्ल, लवण, तिक्त और कषाय। (५) स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्शानुभूति है। स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं—उष्ण, शीत, रूक्ष, चिकना, हल्का, भारी, कर्कश और कोमल। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के ३, चक्षुरिन्द्रिय के ५ घ्राणेन्द्रिय के २, रसनेन्द्रिय के ५ और स्पर्शेन्द्रिय के ८ कुल मिलाकर पाँचों इन्द्रियों के २३ विषय होते हैं।

जैन विचारणा में सामान्य रूप से यह माना गया है कि पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जीव उपरोक्त विषयों का सेवन करता है। गीता में कहा गया है यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के आश्रय से ही विषयों का सेवन करता है।[२१]

ये विषय-भोग आत्मा को बाह्यमुखी बना देते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित होती है और इस प्रकार आत्मा का आन्तरिक समत्व भंग हो जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि 'साधक शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श इन पाँचों प्रकार के कामगुणों (इन्द्रिय विषयों) को सदा के लिये छोड़ दे[२२] क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं।

इन्द्रियाँ अपने विषयों से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करती हैं और आत्मा को उन विषयों से कैसे प्रभावित करती है इसकी विस्तृत व्याख्या प्रज्ञापनासूत्र और अन्य जैन ग्रन्थों में मिलती है। विस्तार भय से हम इस विवेचना में जाना नहीं चाहते हैं। हमारे लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि जिस प्रकार द्रव्यमन भावमन को प्रभावित करता है और भावमन से आत्मा प्रभावित होता है। उसी प्रकार द्रव्य-इन्द्रिय (Structural aspect of sense organ) का विषय से सम्पर्क होता है और वह भाव-इन्द्रिय (Functional and Psychic aspect of sense organ) को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावित करती है और भाव-इन्द्रिय आत्मा की शक्ति होने के कारण उससे आत्मा प्रभावित होता है। नैतिक चेतना की दृष्टि से मन और इन्द्रियों के महत्व तथा स्वरूप के सम्बन्ध में यथेष्ट रूप से विचार कर लेने के पश्चात् यह जान लेना उचित होगा कि मन और इन्द्रियों का ऐसा कौन सा महत्वपूर्ण कार्य है जिसके कारण उन्हें नैतिक चेतना में इतना स्थान दिया जाता है।

वासना प्राणीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व

मन और इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क से कामना उत्पन्न होती है। यही कामना या इच्छा नैतिकता की परिसीमा में आने वाले व्यवहार का आधारभूत प्रेरक तत्त्व है। सभी भारतीय आचार-दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि वासना, कामना या इच्छा से प्रसूत समस्त व्यवहार ही नैतिक विवेचना का विषय है। स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों में वासना, कामना, कामगुण, इच्छा, आशा, लोभ, तृष्णा, आसक्ति आदि शब्द लगभग समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जिनका सामान्य अर्थ मन और इन्द्रियों की अपने विषयों की 'चाह' से है। बन्धन का कारण इन्द्रियों का उनके विषयों से होने वाला सम्पर्क या सहज शारीरिक क्रियाएँ नहीं है, वरन् वासना है। नियम सार में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सामान्य व्यक्ति के उठना, बैठना, चलना, फिरना, देखना, जानना आदि क्रियाएँ वासना से युक्त होने के कारण बन्धन का कारण है जबकि केवली (सर्वज्ञ या जीवन्मुक्त) की ये सभी क्रियाएँ वासना या इच्छारहित होने के कारण बन्धन का कारण नहीं होतीं। इच्छा या संकल्प (परिणाम) पूर्वक किए हुए वचन आदि कार्य ही बन्धन के कारण होते हैं। इच्छारहित कार्य बन्धन के कारण नहीं होते।[२३]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जैन आचार-दर्शन में वासनात्मक तथा ऐच्छिक व्यवहार ही नैतिक निर्णयों का प्रमुख आधार है। जैन नैतिक विवेचना की दृष्टि से वासना (इच्छा) को ही समग्र जीवन के व्यवहार क्षेत्र का चालक तत्त्व कहा जा सकता है। पाश्चात्य आचार-दर्शन में जीववृत्ति (want), क्षुधा (Appetite), इच्छा (Desire) अभिलाषा (wish) और संकल्प (will) में अर्थ वैभिन्य एवं क्रम माना गया है। उनके अनुसार इस समग्र क्रम में चेतना की स्पष्टता के आधार पर विभेद किया जा सकता है। जीववृत्ति चेतना के निम्नतम स्तर वनस्पति जगत में पायी जाती है, पशुजगत में जीववृत्ति के साथ-साथ क्षुधा का भी योग होता है लेकिन चेतना के मानवीय स्तर पर आकर तो जीववृत्ति से संकल्प तक के सारे ही तत्त्व उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः जीववृत्ति से लेकर संकल्प तक के सारे स्तरों में वासना के मूल तत्त्व में मूलतः कोई अन्तर नहीं है, अन्तर है, केवल चेतना में उसके बोध का। दूसरे शब्दों में, इनमें मात्रात्मक अन्तर है, गुणात्मक अन्तर नहीं है। यही कारण है भारतीय दर्शन में इस क्रम के सम्बन्ध में कोई विवेचना उपलब्ध नहीं होती है। भारतीय साहित्य में वासना, कामना, इच्छा और तृष्णा आदि शब्द तो अवश्य मिलते हैं और वासना की तीव्रता की दृष्टि से इनमें अन्तर भी किया जा सकता है। फिर भी साधारण रूप से समानार्थक रूप में ही उनका प्रयोग हुआ है। भारतीय-दर्शन की दृष्टि से वासना को जीववृत्ति (want) तथा क्षुधा (Appetite), कामना को इच्छा (Desire), इच्छा को अभिलाषा (Deisre) और तृष्णा को संकल्प (will) कहा जा सकता है। पाश्चात्य विचारक जहां वासना के केवल उस रूप को, जिसे हम संकल्प (will) कहते हैं, नैतिक निर्माण का विषय बनाते हैं, वहाँ भारतीय चिन्तन में वासना के वे रूप भी जिनमें वासना की चेतना का स्पष्ट बोध नहीं है, नैतिकता की परिसीमा में आ जाते हैं।

चाहे वासना के रूप में अन्ध ऐन्द्रिक अभिवृत्ति हो या मन का विमर्शात्मक संकल्प हो, दोनों के ही मूल में वासना का तत्त्व निहित है और यही वासना प्राणीय व्यवहार की मूलभूत प्रेरक है। व्यवहार की दृष्टि से वासना (जीववृत्ति) और तृष्णा (संकल्प) में अन्तर यह है कि पहली स्पष्ट रूप से चेतना के स्तर पर नहीं होने के कारण मात्र अन्ध प्रवृत्ति होती है जबकि दूसरी चेतना के स्तर पर होने के कारण विमर्शात्मक होती है। चेतना में इच्छा के स्पष्ट बोध का अभाव इच्छा का अभाव नहीं है। इसीलिये जैन और बौद्ध विचारणा ने पशु आदि चेतना के निम्न स्तरों वाले प्राणियों के व्यवहार को भी नैतिकता की परिसीमा में माना है। वहाँ पाशविक स्तर पर पायी जाने वाली वासना की अन्ध प्रवृत्ति ही नैतिक निर्णयों का विषय बनती है।

वासना क्यों होती है ?

गणधरवाद में कहा गया है कि जिस प्रकार देवदत्त अपने महल की खिड़कियों से बाह्य जगत को देखता है उसी प्रकार प्राणी इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों से अपना सम्पर्क बनाता है।[२४] कठोपनिषद में भी कहा गया है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया गया है इसलिए जीव बाह्य विषयों की ओर ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं।[२५]

इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर कुछ विषय अनुकूल और कुछ विषय प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। अनुकूल विषयों की ओर पुनः-पुनः प्रवृत्त होना और प्रतिकूल विषयों से बचना यही वासना है। जो इन्द्रियों को अनुकूल होता है वही सुखद और जो प्रतिकूल होता है वही दुःखद है[२६] अतः सुखद की ओर प्रवृत्ति करना और दुःखद से निवृत्ति चाहना, यही वासना की चालना के दो केन्द्र है, जिनमें सुखद विषय धनात्मक तथा दुःखद विषय ऋणात्मक चालना केन्द्र है। इस प्रकार वासना, तृष्णा या कामगुण ही समस्त व्यवहार का प्रेरक तत्त्व है। भारतीय चिन्तन में व्यवहार के प्रेरक के रूप में जिस वासना को स्वीकारा गया है वही वासना पाश्चात्य फ्रायडीय मनोविज्ञान में 'काम' और मेकडूगल के प्रयोजनवादी मनोविज्ञान में हार्मी (harme) या अर्ज (urge) अथवा मूल प्रवृत्ति कही जाती है। पाश्चात्य और भारतीय परम्पराएँ इस सम्बन्ध में एकमत है कि प्राणीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व वासना, कामना या तृष्णा है। इनके दो रूप बनते हैं—राग और द्वेष। राग धनात्मक और द्वेष ऋणात्मक है। आधुनिक मनोविज्ञान में कर्ट लेविन ने इन्हें क्रमशः आकर्षण शक्ति (positive valence) और विकर्षण शक्ति (negative valence) कहा है।

व्यवहार की चालना के दो केन्द्र—सुख और दुःख

अनुकूल विषय की ओर आकर्षित होना और प्रतिकूल विषयों से विकर्षित होना यह इन्द्रिय स्वभाव है; लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इन्द्रियाँ क्यों अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति रखना चाहती हैं। यदि इसका उत्तर मनोविज्ञान के आधार पर देने का प्रयास किया जाए तो हमें मात्र यही कहना होगा कि अनुकूल-विषयों की ओर प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति यह एक नैसर्गिक तथ्य है जिसे हम सुख-दुःख का नियम भी कहते हैं। मनोविज्ञान प्राणी जगत की इस नैसर्गिक वृत्ति का विश्लेषण तो करता है लेकिन यह नहीं बता सकता है कि ऐसा क्यों है ?

यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक तत्त्व है। जैन दार्शनिक भी प्राणीय व्यवहार के चालक तत्त्व के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करते हैं। मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से इसी नियम के अनुसार प्राणीय व्यवहार का संचालन होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दुःख का रूप ले लेती है। जिससे वासना की पूर्ति हो वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना-पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो वह दुःख। इस प्रकार वासना से ही सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का निर्धारण करने लगते हैं।

अपने अनुकूल विषयों की ओर आकृष्ट होना और उन्हें ग्रहण करना यह इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मन के अभाव में यह इन्द्रियों की अन्ध प्रवृत्ति होती है लेकिन जब इन्द्रियों के साथ मन का योग हो जाता है तो इन्द्रियों में सुखद अनुभूतियों की पुनः-पुनः प्राप्ति की तथा दुःखद अनुभूति से बचने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है।

बस यहीं इच्छा, तृष्णा या संकल्प जन्म होता है। जैनाचार्यों ने इच्छा की परिभाषा करते हुए लिखा है—मन और इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की पुनः प्राप्ति की प्रवृत्ति ही इच्छा है।[२७] अथवा इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति की अभिलाषा का अतिरेक ही इच्छा है।[२८] यह इन्द्रियों की सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की लालसा या इच्छा ही तीव्र होकर आसक्ति या राग का रूप ले लेती है। दूसरी ओर दुखद अनुभूतियों से बचने की अभिवृत्ति घृणा एवं द्वेष का रूप ले लेती है। भगवान महावीर ने कहा है, "मनोज्ञ, प्रिय या अनुकूल विषय ही राग का कारण होते हैं और प्रतिकूल या अमनोज्ञ विषय द्वेष का कारण होते हैं।[२९]

सुखद अनुभूतियों से राग और दुःखद अनुभूतियों से द्वेष तथा इस राग-द्वेष से अन्यान्य कषाय और अशुभ वृत्तियाँ कैसे प्रतिफलित होती हैं, इसे उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन्द्रिय और मन से उनके विषयों को सेवन करने की लालसा जागृत होती है। सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की इच्छा और दुःख से बचने की इच्छा से ही राग या आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से प्राणी मोह या जड़ता के समुद्र में डूब जाता है। कामगुण (इन्द्रियों के विषयों) में आसक्त होकर जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, घृणा, द्वेष, हास्य, भय, शोक, तथा स्त्री, पुरुष और नपुंसक भाव की वासनाएँ आदि अनेक प्रकार के शुभाशुभ भावों को उत्पन्न करता है। और उन भावों की पूर्ति के प्रयास में अनेक रूपों (शरीरों) को धारण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार इन्द्रियों और मन के विषयों में आसक्त प्राणी जन्म-मरण के चक्र में फँसकर विषयासक्ति से अवश, दीन, लज्जित और करुणाजनक स्थिति को प्राप्त हो जाता है।[30]

गीता में भी यही दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि 'मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किए जाने पर उन विषयों से सम्पर्क की इच्छा उत्पन्न होती है और उस सम्पर्क इच्छा से कामना या आसक्ति का जन्म होता है। आसक्त विषयों की प्राप्ति में जब बाधा उत्पन्न होती है तो क्रोध (घृणा, द्वेष) उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में मूढ़ता या अविवेक, अविवेक से स्मृतिनाश और स्मृतिनाश से बुद्धि विनष्ट हो जाती है और बुद्धि के विनष्ट होने से व्यक्ति विनाश की ओर चला जाता है।[31]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब इन्द्रियों का अनुकूल या सुखद विषयों से सम्पर्क होता है तो उन विषयों में आसक्ति तथा राग के भाव जागृत होते हैं और जब इन्द्रियों का प्रतिकूल या दुःखद विषयों से संयोग होता है अथवा अनुकूल विषयों की प्राप्ति में कोई बाधा आती है तो घृणा या विद्वेष के भाव जागृत होते हैं। इस प्रकार सुख-दुःख का प्रेरक नियम एक दूसरे रूप में बदल जाता है। जहाँ सुख का स्थान राग या आसक्ति का भाव ले लेता है और दुःख का स्थान घृणा या द्वेष का भाव ले लेता है। ये राग-द्वेष की वृत्तियाँ ही व्यक्ति के नैतिक अधःपतन एवं जन्म-मरण की परम्परा का कारण होती हैं। सभी भारतीय दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। जैन विचारक कहते हैं "राग और द्वेष ये दोनों ही कर्म-परम्परा के बीज हैं और यही कर्म-परम्परा के कारण हैं।[32] सभी भारतीय आचार-दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। गीता में कहा गया है 'हे अर्जुन! इच्छा (राग) और द्वेष के द्वन्द्व में मोह से आवृत होकर प्राणी इस संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।"[33] तथागत बुद्ध कहते हैं जिसने राग-द्वेष और मोह को छोड़ दिया है वही फिर माता के गर्भ में नहीं पड़ता।"[34]

इस समग्र विवेचना को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं कि विविध इन्द्रियों एवं मन के द्वारा उनके विषयों के ग्रहण की चाह में वासना के प्रत्यय का निर्माण होता है। वासना का प्रत्यय पुनः अपने विधानात्मक एवं निषेधात्मक पक्षों के रूप में सुख और दुःख की भावनाओं को जन्म देता है। यही सुख और दुःख की भावनाएँ राग और द्वेष की वृत्तियों का कारण बन जाती है। यही राग-द्वेष की वृत्तियाँ क्रोध, मान, माया, लोभादि विविध प्रकार के अनैतिक व्यापार का कारण होती है। लेकिन इन सबके मूल में तो ऐन्द्रिक एवं मनोजन्य व्यापार ही है और इसलिये साधारण रूप से यह माना गया कि नैतिक आचरण एवं नैतिक विकास के लिए इन्द्रिय और मन की वृत्तियों का निरोध कर दिया जावे। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि इन्द्रियों पर काबू किये बिना रागद्वेष एवं कषायों पर विजय पाना सम्भव नहीं होता है।[35] अतः अब इस सम्बन्ध में विचार करना इष्ट होगा कि क्या इन्द्रिय और मन के व्यापारों का निरोध सम्भव है और यदि निरोध सम्भव है तो उसका वास्तविक रूप क्या है?

इन्द्रिय निरोध : सम्भावना और सत्य

इन्द्रियों के विषय अपनी पूर्ति के प्रयास में किस प्रकार नैतिक पतन की ओर ले जाते हैं इसका सजीव चित्रण उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि—

रूप को ग्रहण करने वाली चक्षु इन्द्रिय है, और रूप चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण होने योग्य है। प्रिय रूप, राग का और अप्रिय रूप द्वेष का कारण है।[36]

जिस प्रकार दृष्टि के राग में आतुर होकर पतंगा मृत्यु पाता है, उसी प्रकार रूप में अत्यन्त आसक्त होकर जीव अकाल में ही मृत्यु पाते हैं।[37] रूप की आशा में पड़ा हुआ गुरुकर्मी, अज्ञानी जीव, त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है। परिताप उत्पन्न करता है तथा पीड़ित करता है।[38] रूप में मूर्छित जीव उन पदार्थों के उत्पादन, रक्षण एवं व्यय में और वियोग की चिन्ता में लगा रहता है। उसे सुख कहाँ है? वह संयोग काल में भी अतृप्त रहता है।[39] रूप में आसक्त मनुष्य को थोड़ा भी सुख नहीं होता, जिस वस्तु की प्राप्ति में उसने दुःख उठाया, उसके उपयोग के समय भी वह दुःख पाता है।[40]

श्रोत्रेन्द्रिय शब्द की ग्राहक और शब्द श्रोत का ग्राह्य है। प्रिय शब्द राग का और अप्रिय शब्द द्वेष का कारण है।[41] जिस प्रकार राग में गृद्ध बना हुआ मृग मुग्ध होकर शब्द में सन्तोषित न होता हुआ मृत्यु पा लेता है। उसी प्रकार शब्दों के विषय में अत्यन्त मूर्छित होने वाला जीव अकाल में ही नष्ट हो जाता है।[42] शब्द की आसक्ति में पड़ा हुआ भारीकर्मी जीव, अज्ञानी होकर त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, परिताप उत्पन्न करता है और पीड़ा देता है।[43]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह मनोहर शब्द वाले पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण एवं व्यय में तथा वियोग की चिंता में लगा रहता है, उनके संभोग काल के समय में भी अतृप्त ही बना रहता है, फिर उसे सुख कहाँ है।[४४] तृष्णावश वह जीव चोरी, झूठ और कपट की वृद्धि करता हुआ अतृप्त ही रहता है, दुःख से नहीं छूट सकता।[४५]

नासिका गन्ध को ग्रहण करती है और गंध नासिका का ग्राह्य है। सुगन्ध राग का कारण है और दुर्गन्ध द्वेष का कारण है।[४६] जिस प्रकार सुगन्ध में मूर्च्छित हुआ सर्प बांबी से बाहर निकल कर मारा जाता है, उसी प्रकार गन्ध में अत्यन्त आसक्त जीव अकाल में ही मृत्यु पा लेता है।[४७] सुगन्ध के वशीभूत होकर बालजीव अनेक प्रकार से त्रस और स्थावर जीवों की घात करता है, उन्हें दुःख देता है।[४८] वह जीव सुगन्धित पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण, व्यय तथा वियोग की चिंता में ही लगा रहता है, वह अतः उनके संभोग काल में भी अतृप्त ही रहता है, फिर उसे सुख कहाँ है?[४९]

जिह्वा रस को ग्रहण करती है और रस जिह्वा का ग्राह्य है। मन-पसन्द रस राग का कारण और मन के प्रतिकूल रस द्वेष का कारण कहा गया है।[५०] जिस प्रकार मांस खाने के लालच में फँसा हुआ मच्छ काँटे में फँसकर मारा जाता है, उसी प्रकार रसों में अत्यन्त गृद्ध जीव अकाल में मृत्यु का ग्रास बन जाता है।[५१] उसे कुछ भी सुख नहीं होता, वह रसभोग के समय भी दुःख और क्लेश ही पाता है।[५२] इसी प्रकार अमनोज्ञ रसों में द्वेष करने वाला जीव भी दुःख परम्परा बढ़ाता है और कलुषित मन से कर्मों का उपार्जन करके उसके दुःखद फल को भोगता है।[५३]

शरीर स्पर्श को ग्रहण करता है और स्पर्श शरीर का ग्राह्य है। सुखद स्पर्श राग का तथा दुःखद स्पर्श द्वेष का कारण है।[५४] जो जीव सुखद स्पर्शों में अति आसक्त होता है वह जंगल के तालाब के ठण्डे पानी में पड़े हुए मकर द्वारा ग्रसित भैंसे की तरह अकाल में ही मृत्यु पाता है।[५५] स्पर्श की आशा में पड़ा हुआ वह गुरुकर्मी जीव चराचर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उन्हें दुःख देता है।[५६] सुखद स्पर्शों में मूर्च्छित हुआ प्राणी उन वस्तुओं की प्राप्ति, रक्षण, व्यय एवं वियोग की चिन्ता में ही घुला करता है। भोग के समय भी वह तृप्त नहीं होता फिर उसके लिए सुख कहाँ?[५७] स्पर्श में आसक्त जीवों को किंचित् भी सुख नहीं होता है। जिस वस्तु की प्राप्ति क्लेश एवं दुःख से हुई उसके भोग के समय भी कष्ट ही मिलता है।[५८]

आचार्य हेमचन्द्र भी योगशास्त्र में कहते हैं कि स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी, रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर मछली, घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर भ्रमर, चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत होकर पतंगा और श्रवणेन्द्रिय के वशीभूत होकर हरिण मृत्यु का ग्रास बनता है। जब एक-एक इन्द्रिय के विषयों में आसक्ति मृत्यु का कारण बनती है फिर भला पांचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन में आसक्त मनुष्य की क्या स्थिति होगी।[५९]

गीता में भी श्री कृष्ण ने इन्द्रिय-दमन के सम्बन्ध में कहा है कि[जिस प्रकार जल में वायु नाव को हर लेती है वैसे ही मन सहित विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से एक ही इन्द्रिय इस पुरुष की बुद्धि को हरण कर लेने में समर्थ होती है। साधना में प्रयत्नशील बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं और उसे साधना से च्युत कर देती हैं। अतः सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके तथा समाहित चित्त होकर-मन को मेरे में लगा। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ अपने अधिकार में हैं वही प्रज्ञावान है। अन्यत्र पुनः कहा गया है कि साधक सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान के विनाश करने वाले इस काम का परित्याग करें।[६०]

धम्मपद में तथागत बुद्ध भी कहते हैं कि "जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में असंयत रहता है उसे मार (काम) साधना से उसी प्रकार गिरा देता है जैसे दुर्बल वृक्ष को हवा गिरा देता है। लेकिन जो इन्द्रियों के विषयों में सुसंयत रहता है उसे मार (काम) उसी प्रकार साधना से विचलित नहीं कर सकता जैसे वायु पर्वत को विचलित नहीं कर सकता।"[६१]

जैन-दर्शन और गीता में इन्द्रिय-दमन का वास्तविक अर्थ

प्रश्न यह है कि यदि इन्द्रिय-व्यापार बन्धन के कारण हैं तो फिर क्या इनका निरोध सम्भव है? यदि हम इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह पायेंगे, कि जब तक जीव देह धारण किये हैं उसके द्वारा इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध सम्भव नहीं है। कारण यह है कि वह एक ऐसे वातावरण में रहता है जहाँ उसे इन्द्रियों के विषयों से साक्षात् सम्पर्क रखना ही पड़ता है। आँख के समक्ष दृश्य-विषय प्रस्तुत होने पर वह उसके रूप और रंग के दर्शन से वंचित नहीं रह सकता, भोजन करते समय उसके रस को अस्वीकार नहीं कर सकता। किसी शब्द के उपस्थित होने पर कर्ण यन्त्र उसकी आवाज को सुने बिना नहीं रह सकता और ठीक इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों के विषय उपस्थित होने पर वह उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकता अर्थात् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध एक असम्भव तथ्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। तथापि यह प्रश्न उठता है कि बन्धन से कैसे बचा जाये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जैनदर्शन कहता है कि बंधन का कारण इन्द्रिय-व्यापार नहीं वरन् उनके मूल में निहित राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही हैं। जैसा कि उत्तराध्ययन-सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि इन्द्रियों और मन के विषय, रागी पुरुषों के लिए ही दुःख (बन्धन) के कारण होते हैं, ये विषय वीतरागियों के लिए बन्धन या दुःख का कारण नहीं हों सकते।[६२] कामभोग किसी को भी सम्मोहित नहीं कर सकते, न किसी में विकार ही पैदा कर सकते हैं, किन्तु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है।[६३]

गीता में भी इसी प्रकार निर्देश दिया गया है कि साधक इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् सभी इन्द्रियों के भोगों में स्थित, जो राग और द्वेष हैं, उनके वश में नहीं होवे क्योंकि ये दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु हैं।[६४] जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठात् रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है, उस पुरुष के राग-द्वेष निवृत्त नहीं होने के कारण वह मिथ्याचारी या दम्भी कहा जाता है।[६५] इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु राग निवृत्त नहीं होता। जबकि निर्वाण लाभ के लिए राग का निवृत्त होना परमावश्यक है।[६६]

वास्तविकता यह है कि निरोध इन्द्रिय-व्यापारों का नहीं वरन् उनमें निहित राग-द्वेष का करना होता है क्योंकि बन्धन का वास्तविक कारण इन्द्रिय-व्यापार नहीं, वरन् राग--द्वेष की प्रवृत्तियाँ हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं इन्द्रियों के शब्दादि मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए ही राग-द्वेष का कारण बनते हैं वीतरागी (अनासक्त) के लिए वे राग-द्वेष का कारण नहीं होते।[६७] गीता कहती है कि राग-द्वेष से विमुक्त व्यक्ति इन्द्रिय-व्यापारों को करता हुआ भी पवित्रता को ही प्राप्त होता है।[६८] इस प्रकार जैनदर्शन और गीता इन्द्रिय-व्यापारों के निरोध की बात नहीं कहते, वरन् इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग-द्वेष की वृत्तियों के निरोध की धारणा को प्रस्थापित करते हैं।

इसी प्रकार मनोनिरोध के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएँ मान ली गई हैं, यहाँ हम उसका भी यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

इच्छानिरोध या मनोनिग्रह

भारतीय आचार-दर्शन में इच्छा-निरोध एवं वासनाओं के निग्रह का स्वर काफी मुखरित हुआ है। आचार-दर्शन के अधिकांश विधि-निषेध इच्छाओं के दमन से सम्बन्धित हैं; क्योंकि इच्छाएँ तृप्ति चाहती हैं, और तृप्ति बाह्य साधनों पर निर्भर रहती है। यदि बाह्य परिस्थिति प्रतिकूल हो तो अतृप्त इच्छा मन में क्षोभ उत्पन्न करती है और इस प्रकार चित्त शान्ति या आध्यात्मिक समत्व का भंग हो जाता है। अतः यह माना गया कि समत्व के नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए इच्छाओं का दमन कर दिया जाए। मन ही इच्छाओं एवं संकल्पों का उत्पादक है अतः इच्छानिरोध का अर्थ मनोनिग्रह ही मान लिया गया। पतंजलि ने तो यहाँ तक कह दिया कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। यह माना जाने लगा कि मन स्वयं ही समग्र क्लेशों का धाम है। उसमें जो भी वृत्तियाँ उठती हैं वे सभी बन्धन रूप हैं अतः उन मनोव्यापारों का सर्वथा अवरोध कर देना यही निर्विकल्प समाधि है, यही नैतिक जीवन का आदर्श है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में इच्छानिरोध और मनोनिग्रह के प्रत्यय को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है यह मन उस दुष्ट और भयंकर अश्व के समान है जो चारों दिशाओं में भागता है।[६९] अतः साधक संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होने वाले इस मन का निग्रह करे।[७०] गीता में भी कहा गया है—"यह मन अत्यन्त ही चंचल, विक्षोभ उत्पन्न करने वाला और बड़ा बलवान है, इसका निरोध करना वायु के रोकने के समान अत्यन्त ही दुष्कर है।"[७१] फिर भी कृष्ण कहते हैं कि "निस्संदेह यह मन कठिनता से निग्रह होता है फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इस मन (आसक्ति) का निग्रहण सम्भव है।"[७२] और इसलिए हे अर्जुन ! तू मन की वृत्तियों का निरोध कर इस मन को मेरे में लगा।[७३] बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में भी कहा गया है कि "यह चित्त अत्यन्त ही चंचल है, इस पर अधिकार कर कुमार्ग से इसकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है, इसकी वृत्तियों का कठिनता से ही निवारण किया जा सकता है अतः बुद्धिमान मनुष्य इसे ऐसे ही सीधा करे जैसे इषुकार (बाण बनाने वाला) बाण को सीधा करता है।" यह चित्त कठिनता से निग्रहित होता है, अत्यन्त शीघ्रगामी और यथेच्छ विचरण करने वाला है इसलिए इसका दमन करना ही श्रेयस्कर है, दमित किया हुआ चित्त ही सुखवर्धक होता है।[७४] मध्यकालीन जैन आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं 'आँधी की तरह चंचल मन मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक एवं तप करने वाले मनुष्य को भी कहीं का कहीं ले जाकर पटक देता है अतः जो मनुष्य मुक्ति चाहते हों उन्हें समग्र विश्व में भटकने वाले लम्पट मन का निरोध करना चाहिए।"[७५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोनिग्रह : एक अनुचित धारणा

मनोनिग्रहण के उपरोक्त सन्दर्भों के आधार पर भारतीय नैतिक चिन्तन पर यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि वह आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। आधुनिक मनोविज्ञान इच्छाओं के दमन एवं मनोनिग्रह को मानसिक समत्व का हेतु नहीं मानता, वरन् इसके ठीक विपरीत उसे चित्त विक्षोभ का कारण मानता है। दमन, निग्रह, निरोध आज की मनोवैज्ञानिक धारणा में मानसिक सन्तुलन के भंग करने वाले माने गये हैं। फ्रायड ने मनोविघटन एवं मनोविकृतियों का प्रमुख कारण दमन और प्रतिरोध को ही माना है। आधुनिक मनोविज्ञान की इस मान्यता को झुठलाया नहीं जा सकता कि इच्छा-निरोध और मनोनिग्रहण मानसिक स्वास्थ्य के लिये अहितकर है। यही नहीं इच्छाओं के दमन में जितनी अधिक तीव्रता होती है वे दमित इच्छाएँ उतने ही वेग से विकृत रूप से प्रकट होकर न केवल अपनी पूर्ति का प्रयास करती है वरन् व्यक्ति के व्यक्तित्व को भी विकृत बना देती है। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं तो फिर नैतिक जीवन से इस 'दमन' की धारणा को ही समाप्त कर देना होगा। प्रश्न होता है कि क्या भारतीय नीति निर्माताओं की दृष्टि से यह तथ्य ओझल था ? लेकिन बात ऐसी नहीं है जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन के निर्माताओं की दृष्टि में दमन के अनौचित्य की धारणा अत्यन्त स्पष्ट थी, जिसे सप्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि गहराई से देखे तो गीता स्पष्ट रूप से दमन या निग्रह के अनौचित्य को स्वीकार करती है। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही व्यवहार करते हैं वे निग्रह कैसे कर सकते हैं।"[७६] योगवसिष्ठ में इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि हे राजर्षि ! तीनों लोक में जितने भी प्राणी हैं स्वभाव से ही उनकी देह द्वयात्मक है, जब तक शरीर रहता है शरीरधर्म स्वभाव से ही अनिवार्य है अर्थात् प्राकृतिक वासना का दमन या निरोध नहीं होता।[७७]

गीता कहती है कि यद्यपि विषयों को ग्रहण नहीं करने वाले अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों के उपभोग करने से रोक देने वाले व्यक्तियों के द्वारा विषयों के भोग का तो निग्रह हो जाता है लेकिन उनका रस (आसक्ति) बना रहता है अर्थात् वे मूलतः नष्ट नहीं हो पाते और अनुकूल परिस्थितियों में पुनः व्युत्थित हो जाते हैं। **'रसवर्जं रसोऽप्यस्य'** का पद स्पष्ट रूप से यह संकेत करता है कि गीता में नैतिक विकास का वास्तविक मार्ग निग्रह का नहीं है। न केवल गीता के आचार-दर्शन में दमन को अनुचित माना गया है वरन् बौद्ध और जैन विचारणाओं में भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। बुद्ध के मध्यममार्ग के उपदेश का सार यही है कि आध्यात्मिक विकास के मार्ग में वासनाओं का दमन इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उनसे ऊपर उठ जाना वासनाओं के दमन का मार्ग और वासनाओं के भोग का मार्ग दोनों ही बुद्ध की दृष्टि में साधना के सच्चे मार्ग नहीं हैं। तथागत बुद्ध ने जिस मध्यममार्ग का उपदेश दिया उसका स्पष्ट आशय यही था कि साधना में दमन पर जो अत्यधिक बल दिया जा रहा था उसे कम किया जावे। बौद्ध साधना का आदर्श तो चित्त-शान्ति है जबकि दमन तो चित्त-क्षोभ या मानसिक द्वन्द्व को ही जन्म देता है। बौद्धाचार्य अनंगवज्र कहते हैं कि चित्त-क्षुब्ध होने से कभी भी मुक्ति नहीं होती अतः इस तरह वरतना चाहिए कि जिससे मानसिक क्षोभ उत्पन्न नहीं हो।[७८] दमन की प्रक्रिया चित्तक्षोभ की प्रक्रिया है, चित्तशान्ति की नहीं। बोधिचर्यावतार की भूमिका में लिखा है कि बुद्ध के धर्म में जहाँ दूसरे को पीड़ा पहुँचाना माना है वहाँ अपने को पीड़ा देना भी अनार्य कर्म कहा गया है। सौगत तन्त्र ने आत्म-पीड़ा के मार्ग को ठीक नहीं समझा। क्या दमन मात्र से चित्त विक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा ? दबायी हुई वृत्तियाँ जागृतावस्था में न सही स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होगी।[७९] जब तक चित्त में भोग-लिप्सा है तब तक चित्तक्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध विचारणा को दमन का प्रत्यय अभिप्रेत नहीं है। दमन के विरोध में उठ खड़ी बौद्ध विचारणा की चरम परिणति चाहे वामाचार के रूप में हुई हो, लेकिन फिर भी उसका दमन का विरोध तो अवास्तविक नहीं कहा जा सकता है। चित्तशान्ति के साधनामार्ग में दमन का महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता। जहाँ तक जैन विचारणा का प्रश्न है वह अपनी पारिभाषिक भाषा में स्पष्ट रूप से कहती है कि साधना का सच्चा मार्ग उपशमिक नहीं वरन क्षायिक है।

जैन दृष्टिकोण के अनुसार औपशमिक मार्ग वह मार्ग है जिसमें मन की वृत्तियों, वासनाओं को दबाकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ा जाता है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग ही औपशमिक मार्ग है। जिस प्रकार आग को राख से ढक दिया जाता है उसी प्रकार उपशम में कर्म-संस्कार या वासना-संस्कार को दबाते हुए नैतिकता के मार्ग पर आगे बढ़ा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो यह दमन (Repression) का मार्ग है। साधना के क्षेत्र में वासना-संस्कार को दबाकर आगे बढ़ने का मार्ग दमन का मार्ग है लेकिन यह मन:शुद्धि का वास्तविक मार्ग नहीं है, यह तो मानसिक गन्दगी को ढकना मात्र है, छिपाना मात्र है। जैन विचारकों ने गुणस्थान प्रकरण में बताया है कि यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासनाओं को दबाकर आगे बढ़ने की अवस्था नैतिक विकास में आगे तक नहीं चलती है। जैन विचारणा यह मानती है कि ऐसा साधक पदच्युत हो जाता है। जिस दमन को आधुनिक मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के विकास में बाधक माना गया है, वही विचारणा जैन-दर्शन में मौजूद थी। जैन दर्शनिकों ने भी दमन को विकास का सच्चा मार्ग नहीं माना। उन्होंने कहा, विकास का सच्चा मार्ग वासना-संस्कार को दबाना नहीं है अपितु उनका क्षय करना है। वास्तव में दमन का मार्ग स्वाभाविक नहीं है, वासनाओं या इच्छाओं के निरोध करने की अपेक्षा वे क्षीण हो जावें, यही अपेक्षित है। प्रश्न होता है कि वासनाओं के क्षय और निरोध में क्या अन्तर है।

निरोध में चित्त में वासना उठती है और फिर उसे दबाया जाता है जबकि क्षय में वासना का उठना ही शनैः-शनैः कम होकर समाप्त हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में दमन में वासना (Id) और नैतिकता (Super-ego) में संघर्ष चलता रहता है। लेकिन क्षय में यह संघर्ष नहीं होता है। वहाँ तो वासना उठती ही नहीं है। दमन या उपशम में हमें क्रोध का भाव आता है और हम उसे दबाते हैं या उसे अभिव्यक्त होने से रोकते हैं जबकि क्षायिक भाव में क्रोधादि विकार समाप्त हो जाते हैं। उपशमन (दमन) में मन में क्रोध का भाव होता है मात्र क्रोध भाव का प्रगटीकरण नहीं होता जिसे साधारण भाषा में गुस्सा पी जाना कहते हैं। उपशम भी गुस्से का पीजाना है। इसमें लोकमर्यादा आदि बाह्य तत्व ही उसके निरोध का कारण बनते हैं। इसलिये यह आत्मिक विकास नहीं है अपितु उसका ढोंग है, एक आरोपित आवरण है। क्षायिक भाव में क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता है। साधारण भाषा में हम कहते हैं ऐसे साधक को गुस्सा आता ही नहीं है अतः यही विकास का सच्चा मार्ग है। जैन विचारणा के अनुसार यदि कोई साधक नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता है तो वह पूर्णता के अपने लक्ष्य के अत्यधिक निकट पहुँच कर भी पुनः पतित हो जाता है। जैन विचारणा की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो उपशम मार्ग का साधक आध्यात्मिक पूर्णता के १४ गुणस्थान (सीढ़ियों) में से ११वें गुणस्थान तक पहुँच कर वहाँ से ऐसा गिर सकता है कि पुनः निम्नतम अवस्था प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है।[९] यह तथ्य जैन साधना में दमन की परम्परा का क्या अनौचित्य है इसे स्पष्ट कर देता है।

यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि आगम ग्रन्थों में मन के निरोध का उपदेश अनेक स्थानों पर दिया गया है, वहाँ निरोध का क्या अर्थ है? वहाँ पर निरोध का अर्थ दमन नहीं लगाना चहिये अन्यथा औपशमिक और क्षायिक दृष्टियों का कोई अर्थ ही नहीं रह जावेगा। अतः वहाँ निरोध का अर्थ क्षायिक दृष्टि से ही करना समुचित है।

प्रश्न होता है कि क्षायिक दृष्टि से मन का शुद्धीकरण कैसे किया जावे?

उत्तराध्ययन सूत्र में मन के निग्रह के सम्बन्ध में जो रूपक प्रस्तुत किया गया है उसमें श्रमणकेशी गौतम से पूछते हैं—आप एक दुष्ट भयानक अश्व पर सवार हैं जो बड़ी तीव्र गति से भागता है वह आपको उन्मार्ग की ओर न ले जाकर सन्मार्ग पर कैसे ले जाता है?

गौतम ने इस लाक्षणिक चर्चा को स्पष्ट करते हुए बताया है—"यह मन ही साहसिक दुष्ट एवं भयंकर अश्व है, जो चारों ओर भागता है। मैं उसका जातिवान अश्व की तरह श्रुतरूपी रस्सियों से बाँधकर समत्व एवं धर्म-शिक्षा से निग्रह करता हूँ।"

इस श्लोक के प्रसंग में दो शब्द महत्वपूर्ण हैं **सम्मे** तथा **धम्मसिक्खाये**। धर्म-शिक्षण द्वारा मन को निग्रह करने का अर्थ दमन नहीं हैं वरन् उनका उदात्तीकरण है। धर्म-शिक्षण का अर्थ है—मन को सद्प्रवृतियों में संलग्न कर देना ताकि वह अनर्थ मार्ग पर जावे ही नहीं। ऐसे ही श्रुत रूप रस्सी से, बाँधने का अर्थ है—विवेक एवं ज्ञान के द्वारा उसे ठीक ओर चलाना यह समत्व के अर्थ में है। समत्व के द्वारा निग्रहण का अर्थ भी दमन नहीं है वरन् मनोदशा को समभाव से युक्त बनाना है। मन का समत्व दमन में तो सम्भव ही नहीं होता, क्योंकि वह तो संघर्ष की अवस्था है। जब तक वासनाओं और नैतिक आदर्श का संघर्ष है तब तक समत्व हो ही नहीं सकता, जैन-साधना पद्धति तो समत्व (समभाव) की साधना है, वासनाओं के दमन का मार्ग तो चित्तक्षोभ उत्पन्न करता है अतः वह उसे स्वीकार नहीं है। जैन साधना का आदर्श क्षायिक साधना है जिसमें वासना-दमन नहीं, वरन् वासनाशून्यता ही साधना का लक्ष्य है। गीता में भी मन के निग्रह का जो उपाय बताया गया है वह है, वैराग्य और अभ्यास। वैराग्य मनोवृत्तियों अथवा वासनाओं का दमन नहीं है, अपितु भोगों के प्रति एक अनासक्त वृत्ति है। तटस्थ वृत्ति या उदासीन वृत्ति दमन से बिलकुल भिन्न है, वह तो भोगों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रति राग-भाव की अनुपस्थिति है। दूसरी ओर अभ्यास शब्द भी दमन का समर्थक नहीं है। यदि गीताकार को दमन ही इष्ट होता तो वह अभ्यास की बात ही नहीं कहता। दमन में अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि यदि दमन ही करना हो तो फिर अभ्यास किसलिये ? अभ्यास होता है विलयन, परिष्कार या उदात्तीकरण के लिए। वस्तुतः साधना का लक्ष्य वासना या चैतसिक आवेगों का विलयन (समाप्ति) होता है न कि उनका दमन। क्योंकि जब तक दमन है तब तक चित्त-विक्षोभ है किन्तु साधना का लक्ष्य तो समाधि है। समाधि वासनाओं के दमन से नहीं, अपितु उनके विलयन से फलित होती है। दमन में वासना रहती है अतः उसमें चित्त-विक्षोभ भी रहता है। जबकि विलयन में वासना ही समाप्त हो जाती है अतः वह चित्त की शान्त अवस्था है। यही चित्त की शान्त एवं निर्विकल्प अवस्था सम्पूर्ण साधना-पद्धतियों का लक्ष्य है। यही समाधि है, वीतरागता है।

वासनाक्षय या मनोजय का सम्यक् मार्ग

चित्तवृत्तियों या वासनाओं का विलयन (वासना-शून्यता) कैसे हो ? इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने योग-शास्त्र में एक समुचित मार्ग प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि मन जिन-जिन विषयों में प्रवृत्त होता है, उनसे उसे बलात् रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि बलात् रोकने से वह उस ओर अधिक दौड़ने लगता है और न रोकने से शान्त हो जाता है। जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोका जावे तो वह और अधिक प्रेरित होता है, अगर उसे नहीं रोका जावे तो वह इष्ट-विषय प्राप्त करके शान्त हो जाता है। यही स्थिति मन की है। साधक अपने विषयों को ग्रहण करती हुई इन्द्रिय को न तो रोके और न प्रवृत्त करें, अपितु इतना सजग (अप्रमत्त) रहे कि उनके कारण मन में राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न न हों, वह किञ्चित् भी संकल्प-विकल्प नहीं करे। क्योंकि चित्त संकल्पों से व्याकुल होता है, सभी चित्त-विक्षोभ संकल्पजन्य हैं। अतः संकल्पयुक्त चित्त में स्थिरता नहीं आ सकती है।[41] वस्तुतः यहाँ आचार्य का मन्तव्य यह है कि चित्त को शान्त करने के लिए उसे संकल्प-विकल्प से मुक्त करना होगा और इस हेतु ज्ञाता-द्रष्टा या साक्षी बनाना होगा। जब चित्त या मन द्रष्टा, साक्षी और अप्रमत्त होगा तो स्वाभाविक रूप से वह वासनाओं एवं विक्षोभों से मुक्त हो जावेगा। चित्त-विक्षोभ केवल प्रमत्तदशा में रह सकता है, अप्रमत्तदशा में नहीं। यह बात आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य है। जब मन स्वयं अपनी वृत्तियों का द्रष्टा बनेगा तो वह उनका कर्ता नहीं रह जावेगा, क्योंकि एक ही मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्ता दोनों नहीं हो सकता, जिस समय वह द्रष्टा-भाव में होगा उसी समय उसमें कर्ताभाव नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए जब हम क्रोध करते हैं, उस समय अपनी क्रोध की अवस्था को जानते नहीं हैं और जब अपनी क्रोध की अवस्था को जानने का प्रयास करते हैं तो क्रोध शांत होने लगता है। मनोविज्ञान का यह नियम है कि जब विवेक जागृत होगा तो वासना क्षीण होगी और जब वासना जागृत होगी तो विवेक क्षीण होगा। अतः साधना में आवश्यकता होती है विवेक को जागृत बनाये रखने की। वासना-क्षय का सम्यक् मार्ग वासनाओं का दमन नहीं, अपितु विवेक को जागृत करना है। साधक को अपनी शक्ति वासनाओं से संघर्ष करने में नहीं अपितु विवेक को जागृत करने में लगानी चाहिए। वस्तुतः मन में जब विवेक का प्रकाश होता है तो वासना उसमें प्रवेश नहीं कर पाती, जैसे जब घर का मालिक जागता है तो चोर घर में प्रवेश नहीं करता। जब मन अप्रमत्त या जागृत रहता है तो वासनाएँ स्वयं विलुप्त हो जाती हैं।

मन की विभिन्न अवस्थायें—वासना से विवेक की ओर, प्रमत्तता से अप्रमत्तता की ओर—मन की यह यात्रा अनेक सोपानों से होती है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा में इस सम्बन्ध में समानान्तर रूप से इन सोपानों का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में मन की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है—

१. **विक्षिप्त मन**—यह मन की विषयासक्त और संकल्प-विकल्पयुक्त विक्षुब्ध अवस्था है। इसे प्रमत्तता की अवस्था भी कह सकते हैं।

२. **यातायात मन**—मन इस अवस्था में कभी बहिर्मुखी हो विषय की ओर दौड़ता है तो कभी अन्तर्मुखी हो द्रष्टा या साक्षी बनने का प्रयास करता है। साधना की प्रारम्भिक स्थिति में मन की यह अवस्था रहती है। यह प्रमत्ताप्रमत्त अवस्था है।

३. **श्लिष्ट मन**—यह चित्त की अप्रमत्त अवस्था है। यहाँ चित्त निर्विषय तो नहीं होता किन्तु उसके विषय शुभ-भाव होते हैं। यह अशुभ मनोभावों की विलय की अवस्था है अतः इसे आनन्दमय अवस्था भी कहा गया है।

४. **सुलीन मन**—यहाँ चित्तवृत्तियों का पूर्ण विलयन हो जाता है और चित्त शुभ-अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है। यह उसकी शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा अवस्था है इसे परमानन्द या समाधि की अवस्था भी कहा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा के अनुरूप बौद्ध और हिन्दू परम्पराओं में भी मनोभूमियों का उल्लेख उपलब्ध । बौद्ध-दर्शन में जैन-दर्शन के समान ही चित्त की १. **कामावचर**, २. **रूपावचर**, ३. **अरूपावचर** और ४. **लोकोत्तर**—इन चार अवस्थाओं का उल्लेख है जो कि क्रमशः विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन मन की जैन धारणा के निकट है। विस्तार भय से हम इनकी पृथक् विवेचना में पड़ना नहीं चाहेंगे। हिन्दू परम्परा में योग-दर्शन में मन की निम्न पाँच अवस्थाओं का उल्लेख है—१. **क्षिप्त** २. **मूढ** ३. **विक्षिप्त** ४. **एकाग्र** और ५. **निरुद्ध**। इसमें भी यदि हम क्षिप्त और मूढ चित्त को एक ही वर्ग में रखें, तो तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ भी जैन-दर्शन से समानता ही परिलक्षित होती है। जिसे निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है—

जैन-दर्शन	बौद्ध-दर्शन	योग-दर्शन
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन-दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध-दर्शन का कामावचर चित्त और योग-दर्शन के क्षिप्त एवं मूढ चित्त समानार्थक है, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं की बहुलता तथा विकलता रहती है। इसी प्रकार यातायात मन, रूपावचर चित्त और विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक ही है क्योंकि सभी ने इसे चित्त की अल्प-कालिक, प्रयाससाध्य स्थिरता की अवस्था माना है। यहाँ वासनाओं का वेग तथा चित्त विक्षोभ तो बना रहता है किन्तु उसमें कुछ मन्दता अवश्य आ जाती है। तीसरे स्तर पर जैन-दर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध-दर्शन का अरूपावचर चित्त और योग-दर्शन का एकाग्रचित्त भी समकक्ष है क्योंकि इसे सभी ने मन की स्थिरता और अप्रमत्तता की अवस्था माना है। चित्त की अन्तिम अवस्था, जिसे जैन-दर्शन में सुलीन मन, बौद्ध-दर्शन में लोकोत्तर चित्त और योग-दर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है, स्वरूप की दृष्टि से समान ही है क्योंकि इसमें सभी ने वासना-संस्कार एवं संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव माना है।

वस्तुतः सभी साधना पद्धतियों का चरम लक्ष्य मन की उस वासना-शून्य, निर्विकार, निर्विचार एवं अप्रमत्त दशा को प्राप्त करना है, जिसे सभी ने समाधि के सामान्य नाम से अभिहित किया है। साधना है—वासना से विवेक की ओर, प्रमत्तता से अप्रमत्तता की ओर तथा चित्त-क्षोभ से चित्त-शान्ति की ओर प्रगति। मन का यह स्वरूप विश्लेषण हमें इस दिशा में निर्देशित कर सकता है किन्तु प्रयास तो स्वयं ही करने होंगे। साधना केवल स्व-प्रयासों से ही फलवती होती है।

सन्दर्भ एवं संन्दर्भ स्थल—

१ उत्तराध्ययन सूत्र २९।५६
२ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) ४।३८
३ धम्मपद यमक वर्ग १
४ धम्मपद यमक वर्ग २
५ धम्मपद चित्तवर्ग ४३
६ धम्मपद चित्तवर्ग ३७
७ चित्तं वर्तते चित्तं, चित्तमेव विमुच्यते ।
चित्तंहि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते ॥ —लंकावतार सूत्र १४५
८ ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्—२
९ गीता—३।४०
१० गीता—६।२७
११ विवेक चूड़ामणि
१२ गीता ३।४०
१३ देखिये—दर्शन और चिन्तन, भाग १, पृ० १४० तथा भाग २, पृ० ३११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४ **मनश्चैव जड़ं मन्य**—योगवसिष्ठ निर्वाण प्रकरण सर्ग ७८।२१

१५ **भूमिरापो अनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।**
अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥—गीता

१६ **मनः द्विविधः द्रव्यमनः भावमनः च ।**

१७ राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन भाग १—जैनदर्शन

18 The Jaina's have given a modified parallelism with reference to psychic activity as determined by the Karmic matter—They presented a sort of psycho-physical paralleiism concerning individual minds & bodies yet they were not unaware of interaction between the mental and bodily activity—Jaina's do not speak merely interms of pre-established harmony their theory transcends parallelism and postulates a more intimate connection between body and mind their motion of the structure of the mind and functional aspects of the mind shows that they were aware of the significance of interaction. Jain theory was an attempt at the integration of metaphysical dichotomy of Jiva and Ajiva and the establishment of the interaction of individual mind and body.

—Some Problems of Jain Psychology, Page 29.

१९ विशद तुलनात्मक विवेचना के लिये देखिये—दर्शन और चिन्तन, भाग १, पृ० १३४-१३५

२० विशद विवेचना के लिए देखिए—विसुद्धिमग्गो, भाग २, पृ० १०३-१२८ (हिन्दी अनुवाद)

२१ गीता १५।९

२२ सद्दे-रूवे य गन्धे य, रसे-फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥—उत्तराध्ययन १६।१०

२३ जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होई केवलिणो ।
केवलिणाणी तम्हा तेण दुसोऽबन्धगो भणिदो ॥
परिणाम पुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होई ।
परिणामरहिय वयणं तम्हा णाणीस्स णहि बंधो ॥
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होई ।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणीस्स ण हि बन्धो ॥
ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होई केवलिणो ।
तम्हा ण होई बंधो साकट्टं मोहणीयस्स ॥—**नियमसार** १७१, १७२, १७३, १७४
टिप्पणी—ईहा शब्द विमर्शात्मक संकल्प की अपेक्षा—विमर्शरहित 'वासना' के अधिक निकट है।

२४ गणधरवाद—वायुभूति से चर्चा

२५ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्—**कठ०** २।१।१

२६ सव्वे सुहसाया दुक्खपडिकूला—**आचारांग**

२७ **इन्द्रिय मनोनुकूलायाम्प्रवृत्तो**—**अभिधान राजेन्द्र, खण्ड** २, पृ० ५७५

२८ **लाभस्यार्थस्याभिलाषातिरेके**—वही, पृ० ५७५

२९ **रागस्सहेउ समणुन्नमाहु दोसस्सहेउं अमणुन्नमाहु**—**उत्तरा०** ३२।२३
तुलना कीजिये : राग की उत्पत्ति के दो हेतु हैं—१. शुभ (अनुकूल) करके देखना २. अनुचित विचार। द्वेष की उत्पत्ति के दो हेतु हैं—१. प्रतिकूल करके देखना तथा २. अनुचित विचार।

—अंगुत्तर निकाय, दूसरा निपात, ११।६-७

३० तओ से जायंति पओयणाइं निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि ।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ॥
कोहं च माणं च तहेव मायं लोहं दुगंछं अरइं रइं च ।
हासं भयं सोग पुमित्थिवेयं नपुंसवेयं विविहे य भावे ॥
आवज्जई एयमणेगरूवे एवंविहे कामगुणेसु सत्तो ।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे कारुण्णदीणे हिरिमं वइस्से ॥—**उत्तराध्ययन** ३२।१०५, १०२, १०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३१ ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ —गीता २।६२-६३

३२ रागो या दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं दुक्खं च जाई मरणं वयंति ॥—उत्तराध्ययन ३२।६

३३ इच्छा-द्वेष-समुत्थेन द्वन्दमोहेन भारत !
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ! ॥—गीता ७।२७

३४ संयुत्तनिकाय, नन्दन वर्ग, पृ० १२

३५ विनेन्द्रियजयं नैव कषायान् जेतुमीश्वरः ।—योगशास्त्र ४।२४

३६ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२३

३७ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२४

३८ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२७

३९ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२८

४० उत्तराध्ययन सूत्र ३२।३२

४१ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।३६

४२ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।३७

४३ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।४०

४४ वही, ३२।४१

४५ वही, ३२।४३

४६ वही, ३२।४९

४७ वही, ३२।५०

४८ वही, ३२।५३

४९ वही, ३२।५४

५० वही, ३२।६२

५१ वही, ३२।६३

५२ वही, ३२।७१

५३ वही, ३२।७२

५४ वही, ३२।७५

५५ वही, ३२।७६

५६ वही, ३२।७९

५७ वही, ३२।८०

५८ वही, ३२।८४

५९ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) प्रकाश ४

६० गीता २।६०—६७, ३।४१

६१ धम्मपद १।७-८

६२ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।१००

६३ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।१०१

६४ गीता ३।३४

६५ गीता ३।६

६६ गीता २।५९

६७ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।१०९

६८ गीता २।६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६९ मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई ।
—उत्तराध्ययन २३।५८

७० रम्म समारम्भे आरम्भे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु नियत्तिज्ज जयं जई ॥
—उत्तराध्ययन २४।११

७१ गीता, ६।३४

७२ गीता, ६-३५

७३ मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।—गीता ६-१४

७४ धम्मपद, चित्तवर्ग, ३३-३५

७५ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) ३६-३९

७६ प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।—गीता ३।३३

७७ सर्वास्था एवं राजर्षि ! भूतजातंजगत्त्रये ।
देवादेवरपि देहोऽयं द्वयात्मैव स्वभावतः ।
अज्ञमस्त्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकर्म ॥—योगवसिष्ठ १०५।१०९

७८ तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः ।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचनः ॥
—प्रज्ञोपाय विनिश्चय, ५।४० (उद्धृत बोधिचर्यावतार, भूमिका, पृ० २०

७९ बोधिचर्यावतार, भूमिका, पृ० २०

८० विशेष जानकारी के लिए देखिए—गुणस्थानारोहण ।

८१ योगशास्त्र १२।३३-३६

पुष्कर वाणी

किसी भी वस्तु का बाहरी रंग-रूप देखकर मत भरमाओ, उसका गुण और तत्त्व दोनों ही विचारणीय है । कस्तूरी काली होती है पर कितनी मूल्यवान है ।

भैंस भी काली होती है पर कितना उजला-चिकना दूध देती है ।

सज्जन बाहर से भले ही मलिन वस्त्र पहने दीखें, सीधे-सादे दुबले-पतले हों, किन्तु उनकी उज्ज्वल आत्मा कितनी महान है ! तुम बाहर को नहीं, भीतर को देखो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

JAINA MYSTICISM



Dr. Kamal Chand Sogani
Reader in Philosophy,
University of Udaipur, Udaipur

☆

In the cultural history of mankind, there have been persons who regard spiritual quest as constituing the essential meaning of life. Inspite of the marked environmental differences, their investigations have exhibited remarkable similarity of experience and expression. Such persons are styled mystics and the phenomenon is known as mysticism. Like the mystics of Hinduism, Buddhism, Christianity, Islam etc., Jaina mystics have made abundant contribution to the mystical literature as such. They have dealt with mysticism quite systematically and in great detail.

The equivalent expressions in Jainism for the word 'mysticism' are : *śuddhopayoga*, Arhat and *Siddha* state, *Paṇḍitāpaṇḍitamaraṇa*, *Paramātman*-hood, *Svasamaya*, *Parādṛṣṭi*, *Ahiṁsā*, *Samatva*, etc. All these expressions convey identical meaning of realising the transcendental self. The traditional definition of Jaina mysticism may be stated thus : 'Mysticism consists in the attainment of *Arhat*-hood or *Siddha*-hood through the medium of *Samyagdarśana* (right attitude or faith), *Samyagjñāna* (right knowledge) and *Samykcāritra* (right conduct) after dispelling *Mithyādarśana* (wrong attitude), *Mithyājñāna* (wrong knowledge) and *Mithyācāritra* (wrong conduct)[1].' Kundakunda (1st cent. A. D.) records departure from this terminology when he says : 'Mysticism consists in realising the *Paramātman* (transcendental self) through the *Antarātman* (internal self) after renouncing the *Bahirātman* (external self)[2].' Haribhadra (7th cent. A. D.) also employs a different terminology when he announces : 'Mysticism consists in arriving at the state of *Vṛttisaṁkṣaya* (cessation of mental states) through the stages of *Samyagdṛṣṭi* and *Cāritrī* after abandoning the stage of *Apunarbandhaka (Mithyādṛṣṭi* in transition)[3].' At another place he says : Mysticism consists in attaining to *Parādṛṣṭi* (transcendental insight) through *Sthirā* (Steady spiritual insight), *Kāntā* and *Prabhā Dṛṣṭis* (elementary and deep meditational insights) after passing through *Mitrā*, *Tārā*, *Balā*, and *Dīprā* **Dṛṣṭis*.[4]

All these definitions of mysticism are fundamentally the same. *Paramātman* refers to Arhat-hood and Siddha-hood, *Parādṛṣṭi* and the state of *Vṛttisaṁkṣya*; *Antarātman* points to *Samyagdarśana*, *Sthirādṛṣṭi* and *Samyagdṛṣṭi*; and consequently to *Samyagjñāna*, *Samyakcāritra*, the state of *Cāritrī* and the *Kāntā* and *Prabhā Dṛṣṭis*. *Bahirātman* refers to *Mithyādarśana* the state of *Apunarbandhaka* along with *Mitrā*, *Tārā*, *Balā* and *Dīprā Dṛṣṭis* and consequently to *Mithyājñāna*, and *Mithyācāritra*.

Thus we may say that the *Paramātman* is the true goal of the mystic quest. The journey

---

* The type of enlightenment accruing from eight Dṛṣṭis may respectively be compared to the type of light give out by the sparks of straw-fire, cowdung-fire, wood-fire, the light of a lamp, the lustre of a gem, the light of the star, the light of the sun, and the light of the moon. Thus it varies from the indistinct enlightenment to the most distinct one. The first four Dṛṣṭis (*Mitrā*, *Tārā*, *Balā*, *Dīprā*) occur in the stage of *apunarbandhaka* (Mithyādṛṣṭi in transition) hence they are unsteady; while the last four, in the stage of Samyagdṛṣṭi and Cāritrī, hence they are steady.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

from the *Antarātman* to the *Paramātman* is traversed through the medium of moral and intellectual preparations, which purge everything obstructing the emergence of potential divinity. Before this final accomplishment, a stage of vision and fall may intervene. Thus the whole mystic way be put as follows : (1) Awakening of the transcendental self, (2) Purgation, (3) Illumination, (4) Darknight of the soul and (5) Transcendental life. According to Underhill, "Taken all together they constitute the phases in a single process of growth, involving the movement of consciousness from lower to higher levels of reality, the steady remaking of character in accordance with the 'Independent spiritual world'[5]." But the Jaina tradition deals with the mystic way under the fourteen stages of spiritual evolution, technically known as *Guṇasthānas*. However, these stages may be sub-summed under the above heads in the following way :

1. Dark period of the self prior to its awakening .
   Mithyātva Guṇasthāna (first)
2. Awakening of the self—*Aviratasamyagdṛṣṭi Guṇasthāna* (fourth)
   Fall from awakening :
   (a) *Sāsādana Guṇasthāna* (second)
   (b) *Misra Guṇasthāna* (third)
3. Purgation :
   (a) *Viratāvirata Guṇāsthāna* (fifth)
   (b) *Pramattavirata Guṇasthāna* (sixth)
4. Illumination :
   (a) *Apramattavirata Guṇasthāna* (seventh)
   (b) *Apūrvakaraṇa Guṇasthāna* (eighth)
   (c) *Anivṛttikaraṇa Guṇasthāna* (ninth)
   (d) *Sūkṣmasāmparāya Guṇasthāna* (tenth)
   (e) *Upaśantakaṣāya Guṇasthāna* (eleventh)
   (f) *Kṣīṇakāṣāya Guṇasthāna* (twelfth)
5. Dark period post illumination—fall to the first or the fourth *Guṇasthāna*.
6. Transcendental life :
   (a) *Sayogakevalī Guṇāsthāna* (thirteenth)
   (b) *Ayogakevalī Guṇasthāna* (Fourteenth)

1. Dark period of the self prior to its awakening or Mithyātva Guṇasthāna :

In this *Guṇasthāna* the empirical souls remain in a perpetual state of spiritual ignorance owing to the beginningless functions of *Mohanīya* (deluding) *Karma*. This *Karma* on the psychical side engenders a complex state of '*Moha*' having perverted belief *(Mithyādarśana)* and perverted conduct *(Mithyācāritra)* as its ingredients. Here the effect of *Mithyādarśana* is so dominant that the self does not evince its inclination to the spiritual path. Just as the man invaded by bile-infected fever does not have liking for sweet juice[6]. This *Mithyādarśana* vitiates knowledge and conduct alike. In its presence, both knowledge and conduct, however extensive and suffused with morality they may be, are impotent to disintegrate the hostile elements of the soul and to lead us to those superb heights which are called mystical. Consequently, the darkest period in the history of the self is the one when the self is overwhelmed by *Mityhādarśana*. It obstructs all our mystical endeavours. Thus the plight of the self in *Mithyātva Guṇasthāna* resembles that of a totally eclipsed moon or a completely clouded sky. It is a state of spiritual slumber with the peculiarity that the self itself is not cognisant of its drowsy state. Led astray by the perverted attitude, the soul staying in this *Guṇasthāna* identifies itself with bodily colour, physical frame, sex, caste, creed, family, friends and wealth[7]. The consequence is that it is constantly obsessed with the fear of self-annihilation on the annihilation of the body and the like[8] and is tormented even by the thought of death[9]. Besides, it is the victim of the seven kinds of fear[10] and the eight kinds of pride[11]. Again under the influence of *Mithyādarśana* one accepts the *Adharma* (wrong religion) as the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Dharma right religion, the *Amārga* (wrong path) as the *Mārga* (right path), the *Ajīva* (non-soul) as the *Jīva* (soul), the *Asādhu* (non-saint) as the *sādhu* (saint), the *Amukta* (unemancipated) as the *Mukta* (emancipated) and vice versa[12]. Kundakunda[13] and following him Yogindu, Pūjyapāda, Subhacandra, Kārttikeya etc., recognise this *Mithyātva Guṇasthāna* as the state of *Bahirātman*. In this *Guṇasthāna* there are such souls as will never triumph over this darkest period and hence will never win salvation. They are technically called *Abhavyas*[14]. Haribhadra aptly calls them *Bhavābhinandis* (welcomers of transmigratory existence)[15]. In contrast to these souls, there are, according to Haribhadra, *Apunarbandhakas* who are also occupying this *Guṇasthāna*[16]. The difference is that the latter are moving in the direction of becoming *Samyagdṛṣṭis* and consequently do not commit sinful acts with much strong inclination, do not attach undue value to the worldly life and maintain properties in whatever they do[17], whereas the former are *Mithyādṛṣṭis* proper, and consequently they are mistaken as to the nature of things, evince no disgust for worldly existence and are like the man to whom unworthy acts appear worthy of performance[18]. The *Apunarbandhakas* may be further said to have developed first four Yogadṛṣṭis, namely, *Mitrā*, *Tārā*, *Balā* and *Dīprā*. It may be noted here that the spiritual darkness of the *Apunarbandhakas* is not so intense as that of the *Bhavābhinandis*.

2. Awakening of the self or Aviratasamyagdṛṣṭi Guṇasthāna :

Spiritual awakening or conversion is the result of *Granthibheda* (cutting the knot of ignorance)[19]. By virtue of cutting the knot, the *Bhinnagranthi* sees supreme verity and acquires unswerving conviction in the true self.[20] This occurance of *Samyagdarśana* (Spiritual conversion) is consequent upon the instruction of those who have realised the divine within themselves or are on the path of divine realisation.[21] Yogindu points out that insight is attained by the *Ātman*, when at an opportune time, delusion is destroyed.[22] It may be noted here that when there is *Ardhapudgalaparāvartana kāla* for the deliverence of the self, it prepares itself for three types of Karaṇas *(Bhāvas)* namely, *Adhaḥpravṛttakaraṇa*, *Apūrvakaraṇa*, and *Anivṛttikaraṇa*, which guarantees for its spiritual conversion. Each of these *Karaṇas* last for an *Antarmuhūrta* (less than forty-eight minutes).[24] Just after the process of *Anivṛttikaraṇa* the soul experiences the first dawn of enlightenment of spiritual conversion. It is by these *Karaṇas* that *Granthibheda* is effected. "Even as a person born blind can see the world as it is on the sudden acquisition of eyesight, so can a soul having experienced the vision, sees the truth as it is. Even as a person suffering from long-drawn disease experience extreme delight on the sudden disappearance of the disease, so does a soul eternally bound to the wheel of worldly existence feels spiritual joy and bliss on the sudden dawn of enlightenment."[25]

This is to be borne in mind that the spiritual conversion is to be sharply distinguished from the moral and the intellectual conversion. Even if the man in the first *Guṇasthāna* gets endowed with the capacity of intellectual and moral achievements, it cannot be said to have dispelled the spiritual darkness. The characters portrayed by Jaina Acāryas of *Dravya-lingī Muni* and some of the *Abhavyas* who have attained to the fair height of intellectual knowledge and moral upliftment illustrate this sort of life without spiritual conversion.[26] Thus the flower of mysticism does not blossom by the water of mere morality and intellectuality, but requires spiritual manure alongwith it.

It will not be idle to point out here that the soul in this *Guṇasthāna* is called *samyagdṛṣṭi*, *Antarātman*[27], *Bhinnagranthi*[28] and the occupant of *Sthirādṛṣṭi*.[29] Being spiritually converted, the *Samyagdṛṣṭi* considers his own self as his genuine abode, regarding the outward physical dwelling places as artificial.[30] He renounces all identification with the animate and inanimate objects of the world and properly weighs them in the blance of his discriminative knowledge.[31] His is the only self that has acquired the right of *Mokṣa*.[32] Besides, he practises universal compassion *(Anukampā)*,[33] does not hanker after worldly opulence and empyreal pleasures,[34] shows no feeling of disgust at the various bodily conditions caused by disease, hunger etc.,[35] and is free from all fears.[36] Again being overwhelmed by fear, inferiority and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

agreed for profit, he does not recognise *Himsā* as *Dharma.*[37] Apart from this, he has deep affection for spiritual matters and strengthens the conviction of those who are faltering in their loyalty to the path of righteousness[38] and disseminates spiritual religion through various means best suited to time and place.[39]

Fall from awakening or [a] Sāsādana Guṇasthāna and [b] Miśra Guṇasthāna :

If the spiritual conversion is due to the total annihilation of *Darśana Mohanīya* (faith-deluding) *Karma*, the self has thrown over all the chances of its fall to the lower stages.[40] This is called *Kṣāyika Samyaktva.*[41] It is *Sthirā dṛṣṭi* proper.[42] But if the spiritual conversion is consequent upon the suppression of *Darśana Mohanīya Karma*, the self after one *Antarmuhūrta* either falls to the lower stages or remains in the same stage with the emergence of certain defects ordinarily incognisable. This is known as *Upaśama Samyaktva.*[43] Here four *Anantānubandhi* passions and the faith-deluding karma which is divided into three qualitatively different fragments of *Mithyātva* (impure), *Samyaka-Prakrti* (pure), and *Samyaka-Mithyātva* (semi pure) are suppressed.[44] When the impure piece comes up, the self again descends to the first *Guṇasthāna* where again darkness overwhelms[45] him, if the semi-pure piece, the self falls to the third *Guṇasthāna*, namely, *Miśra Guṇasthāna* wherein total scepticism as regards matters spiritual prevails.[46] If there is the rise of the *Anantānubandhī* passion, the soul sinks to the second stage known as '*Sāsādana Guṇasthāna*[47]. This is the intermediatory stage of the self which has fallen from the peak of the mountain of *Samyagdarśana*, but has not arrived at the stage of the *Mithyātva Guṇasthāna.*[48] In this stage the peculiar taste of the fall from *Samyagdarśana* like the peculiar taste of sweet food after its vomiting is experienced.[49] Lastly, when the pure piece rises up, it continues to be in the fourth stage, but has lost the purity of *Upaśama Samyaktva*. This is called *Kṣāyopaśamika Samyaktva.*[50]

3. Purgation or [a] Viratāvirata Guṇasthāna and [b] Pramattavirata Guṇasthāna :

After dispelling the dense and intense darkness caused by the faith-deluding *(Darśana Mohanīya) Karma*, the passionate and ardent longing of the awakened self is to purge the conduct-deluding *(Cāritra Mohanīya) Karma* which now stands between it and the transcencental self. Only those who are in possession of sturdy will are capable of doing so, says Amṛtacandra.[51] In the fifth *Guṇasthāna*, the aspirant who is a house-holder is incapable of making himself free from all *Himsā* root and branch.[52] In consequence, he adopts the five partial vows *(Aṇuvratas)* along with the seven *Śīlavratas* in order to sustain the central virtues of *Ahimsā* as far as possible.[53] This state of the self's journey has been called *Viratāvirata* or *Deśavirata Guṇasthāna*, since here the aspirant avoids intentional *Himsā* of two to five-sensed *Jīvas*, but he has to commit the intentional *Himsā* of one-sensed *Jīvas* namely the vegetable-bodied, fire-bodied etc.[54] Besides the *Himsā* which is committed in being engaged in a certain profession, in performing domestic activities, and in adopting defensive measures cannot be avoided by him.[55] This shows that the householder's life is a mixture of virtue and vice,[56] which obstruct the purgative way pursued by the mystic. Hence, the aspirant, being motivated by certain incentives to spiritual life *(Anuprekṣā)* gradually renounces the householder's type of living, becomes a saint in order to negate *Himsā* to the last degree.[57] In consequence, the saint observes five *Mahāvratas*, five *Samitis*, three *Guptis* and practises internal and external austerities with special attention to meditation, devotion, and *Svādhyāya*. Besides, he gets food by begging, eats only a little, gets over sleep, endures troubles, practises universal friendship, adheres to spiritual upliftment, and turns away from acquisitions, associations and life injuring activities[58]. Thus from the life of Muni, vice totally vanishes and there remains virtue which will also be transcended as soon as the flight into the realm of spirit is made.[59] Since in this stage there is complete self-restraint *(Samyama)*, this stage is styled *Pramattavirata Guṇasthāna*[60] *i. e.*, here *Pramāda* exists with self-restraint[61]. Nevertheless this stage may be regarded as the terminus of purgative way. It may be noted here that the self in the fifth *Guṇasthāna* and onwards is called *Cāritrī*[62].

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4 Illumination or [a] Apramattavirata, [b] Apūrvakaraṇa. [c] Anivṛttikaraṇa, [d] Sukṣma-Samparaya, [e] Upaśanta Kaṣaya and [f] Kṣīṇakaṣaya Guṇasthānas :

These Guṇasthānas from the seventh to the twelfth are the meditational stages or the stages of illumination and ecstasy. In other words, these are the stages of *Kāntā* and *Prabhā Dṛṣtis*[63]. It is to be noted here that the self oscillates between the sixth and the seventh Guṇasthānas thousands of times and when it attains steadiness, it strenuously prepares itself either for suppressing or for annihilating the conduct-deluding Karmas[64]. This oscillation is the result of the struggle between *Pramāda* and *Apramāda*. By the time the aspirant reaches she seventh *Guṇasthāna*, he has developed a power of spiritual attention, of self merging and of gazing into the ground of the soul. It is through the aid of deep meditation that the mystic now pursues the higher path. In consequence, he arrives at the eighth and the ninth stages known as the *Apūrvakaraṇa* and the *Anivṛttikaraṇa Guṇasthāna*, where exists the state of profound purity[65]. In the tenth *Guṇasthāna* known as *Sukṣma-Sāmparāya* there is only subtle greed that can disturb the soul[66]. The soul suppresses even this subtle greed in the eleventh Guṇasthāna known as *Upaśānta Kaṣāya* and thus absolves itself from rise of all types of passions[67]. If the self follows the process of annihilation instead of suppression it rises directly from the tenth to the twelfth Guṇasthāna known as *Kṣīnakaṣāya Guṇasthāna*.[68] Here the conduct-deluding *Karma* is destroyed instead of being suppressed. Pūjyapāda rightly observes that meditation produces supreme ecstacy in a mystic who is firmly established in the self, such an ecstatic consciousness is potent enough to burn the Karmic fuel; and then the person remains unaffected by external troubles and never experiences discomposure[69].

5. Darknight of the soul post-illumination :

Owing to the suppressed passions gaining strength, the illuminated consciousness of the eleventh *Guṇasthāna* falls to the lowest stage of *Mithyātva* or to the fourth stage of *Aviratasamyagdṛṣti Guṇasthāna*. The consequence is that the ecstatic awareness of the transcendental self gets negated and an overwhelming sense of darkness envelops the mystic. It may be noted that not all mystics experience this dark night. Those of them who ascend the ladder of annihilation escape this tragic period, whereas those who ascend the ladder of suppression succumb to its dangers and pains. Mystics of the latter type no doubt will also reach the pinnacle of transcendental life, but only when they climb up the ladder of annihilation either in this life or in some other to come.

6. Transcendental life or [a] Sayogakevalī and Ayogakevalī Guṇasthānas :

The slumbering and the unawakened soul after passing through the stages of spiritual conversion, moral and intellectual preparation, now arrives at the sublime destination by dint of ascending the rungs of meditational ladder. In the thirteenth stage the soul possesses dispassionate activities *(Yoga)* and omniscience *(Kevalajñāna)*, hence it is known as *Sayogakevalī Guṇasthāna*[70]. It is a state of *Jīvanmukta*, a supermental state of existence and an example of divine life upon earth. The fourteenth stage is called *Ayogakevali Guṇasthāna*, as there the soul annuls all activities *(Yogas)*, but preserves omniscience and other characteristics.[71] In this stage the soul stays for the time required for pronouncing five syllables a, i, u, ṛ, ḷṛ[72]. After this, disembodied liberation *(Videha Mukti)* results. To be more clear, the self in the *Sayogakevali* and *Ayogakevali Guṇasthānas* bears the title of '*Arhat*' and after this, the title of '*Siddha*'[73]. This state of *Siddha* is beyond all Guṇasthānas[74].

It may be noted here that the self in these two Guṇasthānas is called *Paramātman*,[75] the doer of *Vṛttisaṁkṣaya*, and the possessor of *Parādṛṣti*[76]. This perfected mystic is established in truth in all directions[77]. He experiences bliss, which is supersensuous, unique, infinite and interminable[78]. Whatever issues from him is potent enough to abrogate the miseries of tormented humanity. His presence in supremely enlightening. He is the spiritual leader of society[79]. Just as a mother educates her child for its benefit and a kind physician cures diseased orphans, so also the perfected mystic instructs humanity for its upliftment and dispenses spiritual pills to suffering humanity[80]. He is always awake[81]. He has transcended the dualities of friends and foes, pleasure

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and pain, praise and censure, life and death, sand and gold, attachment and aversion[82]. Since he is the embodiment of spiritual virtues, he leads a life of supermoralism but not of a-moralism[83]. Thus we may conclude by saying that the cognitive, conative and affective tendencies of the perfected mystic reveal their original manifestation in supreme mystical experience, which is ineffable and transcends all the similes of the world[84].

Notes and References

1 Tattvārthasūtra of Umāsvāti 1. 1.
2 Mokṣapāhuḍa, 4, 7.
3 Yogabindu of Haribhadra, 31, 252, 366.
4 Yogadṛṣṭisamuccaya, 13, 19, 178
5 Mysticism by Underhill, p. 169
6 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa of Nemicandra, 17
7 Paramātmaprakāśa, 80 to 83
8 Jñānārṇava, 11, 18
9 Samādhiśataka of Pūjyapāda, 76
10 Mūlācāra of Vaṭṭakera, 53
11 Ratnakaraṇḍa Śrāvakācāra of Samantabhadra, 25
12 Sthānāṅgasūtra, x-1-734
13 Mokṣapāhuḍa 8
14 Samayasāra of Kundakunda, 273
15 Yogadṛṣṭisamuccaya, 75
16 Yogadṛṣṭisamuccaya, Introduction, pp. 5 to 11
17 Yogaśataka of Haribhadra, 13
18 Yogadṛṣṭisamuccaya, 78, 79, 80
19 Yogabindu, 252
20 Yogabindu, 205
21 Tattvārthasūtra, 1. 3
22 Paramātmaprakāśa, 1. 85
23 Labdhisāra of Nemicandra, 33.
24 Labdhisāra of Nemicandra, 34
25 Studies in Jaina Philosophy, p. 273
26 Samayasāra 273, 274
27 Kārttikeyānuprekṣā, 197
28 Yogabindu, 266
29 Yogadṛṣṭisamuccaya, 155
30 Samādhiśataka of Pūjyapāda 73
31 Mokṣapāhuda, 17
32 Yogabindu, 342
33 Rājavārttika of Akḷaṅka, 1
34 Puruṣārthasiddhyupāya of Amṛtacandra, 24
35 Puruṣārthasiddhyupāya of Amṛtacandra, 25
36 Samayasāra, 228
37 Kārttikeyānuprekṣā, 418
38 Purusārthasiddhyupāya 29; Kārttikeyānuprekṣā, 420
39 Kārttikeyānuprekṣā, 423
40 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 647
41 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa 646
42 Yogadṛṣṭisamuccaya, 154
43 Bhāvanāviveka 93, 100

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

44 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 650
45 Bhāvanāviveka, 98
46 Labdhisāra, 108
47 Labdhisāra, 107
48 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 19
49 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 20
50 Darśana Aur Cintana, p. 276
51 Labdhisāra, 105
52 Puruṣārthasiddhyupāya, 17
53 Puruṣārthasiddhyupāya, 75
54 Ratnakaraṇḍa Śrāvakācāra, 51; Puruṣarthasiddhyupāya, 136
55 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 30, 31
56 Jaina Darśana, p. 63
57 Ethical Doctrines in Jainism, p. 87
58 Ethical Doctrines in Jainism, p. 120
59 Mulācāra 895, 896
60 Ethical Doctrines in Jainism, p. 129
61 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 33
62 Yogabindu 352
63 Yogadṛṣṭisamuccaya, 162, 170
64 Labdhisāra commentary Candrika, 205, 217
65 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 50, 57
66 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 60
67 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 61
68 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 62
69 Iṣṭopadeśa of Pūjyapāda, 47, 48
70 Ṣaṭkhaṇḍāgama, Vol. 1, p. 191
71 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa 65
72 Jñānārṇava LX, 11, 59
73 Bhāvanāviveka, 234
74 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 10
75 Gommaṭsāra Jīvakāṇḍa, 63, 64
76 Yogadṛṣṭisamuccaya, 178, 179
77 Acārāṅgasūtra, 1, 4, 29
78 Pravacanasāra, 1. 13
79 Svayambhūstotra of Samantabhadra, 35
80 Svayambhūstotra, 35
81 Acārāṅgasūtra, 1. 3. 1
82 Pravacansāra, 341
83 Jñānārṇava, 33
84 Acārānga, 15, 73

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



लेश्या : एक विश्लेषण

✍ देवेन्द्र मुनि शास्त्री

लेश्या जैन-दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त को समझने में लेश्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विराट विश्व में प्रत्येक संसारी आत्मा में प्रतिपल प्रतिक्षण होने वाली प्रवृत्ति से सूक्ष्म कर्म पुद्गलों का आकर्षण होता है। जब वे पुद्गल स्निग्धता व रूक्षता के कारण आत्मा के साथ एकमेक हो जाते हैं तब उन्हें जैन-दर्शन में 'कर्म' कहा जाता है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक समूह हैं। उनमें से एक समूह का नाम लेश्या है। उत्तराध्ययन की बृहत् वृत्ति में लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया किया है।[1] मूलाराधना में शिवार्य ने लिखा है "लेश्या छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव परिणाम हैं।[2] प्राचीन साहित्य में शरीर के वर्ण, आणविक आभा और उनसे प्रभावित होने वाले विचार इन तीनों अर्थों में लेश्या पर विश्लेषण किया गया है। शरीर का वर्ण और आणविक आभा को द्रव्यलेश्या कहा जाता है[3] और विचार को भावलेश्या।[4] द्रव्यलेश्या पुद्गल है। पुद्गल होने से वैज्ञानिक साधनों के द्वारा भी उन्हें जाना जा सकता है और प्राणी में योगप्रवृत्ति से होने वाले भावों को भी समझ सकते हैं। द्रव्यलेश्या के पुद्गलों पर वर्ण का प्रभाव अधिक होता है। वे पुद्गल कर्म, द्रव्य-कषाय, द्रव्य-मन, द्रव्य-भाषा के पुद्गलों से स्थूल हैं। किन्तु औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, शब्द, रूप, रस, गन्ध, आदि से सूक्ष्म हैं। ये पुद्गल आत्मा के प्रयोग में आने वाले पुद्गल हैं अतः इन्हें प्रायोगिक पुद्गल कहते हैं। यह सत्य है कि ये पुद्गल आत्मा से नहीं बँधते हैं, किन्तु इनके अभाव में कर्म-बन्धन की प्रक्रिया भी नहीं होती।

आत्मा जिसके सहयोग से कर्म में लिप्त होती है, वह लेश्या है। लेश्या का व्यापक दृष्टि से अर्थ करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं कि पुद्गल द्रव्य के संयोग से होने वाले जीव के परिणाम और जीव की विचार-शक्ति को प्रभावित करने वाले पुद्गल द्रव्य और संस्थान के हेतुभूत वर्ण और कान्ति। भगवती सूत्र में जीव और अजीव दोनों को आत्म-परिणति के लिए लेश्या शब्द व्यवहृत हुआ है। जैसे चूना और गोबर से दीवार का लेपन किया जाता है वैसे ही आत्मा पुण्य-पाप या शुभ और अशुभ कर्मों से लीपी जाती है अर्थात् जिसके द्वारा कर्म आत्मा में लिप्त हो जाते हैं वह लेश्या है।[5] दिगम्बर आचार्य वीरसेन के शब्दों में, 'आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाली प्रवृत्ति लेश्या है।[6] मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग के द्वारा कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से होता है क्या वे ही लेश्या हैं? पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कषायों के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है।[7] तत्त्वार्थराजवार्तिक में अकलंक ने भी उसी का अनुसरण किया है।[8]

सार यह है कि केवल कषाय और योग लेश्या नहीं है, किन्तु कषाय और योग दोनों ही उसके कारण हैं। इसलिए लेश्या का अन्तर्भाव न तो योग में किया जा सकता है न कषाय में। क्योंकि इन दोनों के संयोग से एक तीसरी अवस्था समुत्पन्न होती है, जैसे शरबत। कितने ही आचार्य मानते हैं कि लेश्या में कषाय की प्रधानता नहीं अपितु योग की प्रधानता होती है। क्योंकि केवली में कषाय का अभाव होता है, किन्तु योग की सत्ता रहती है, इसलिए उसमें शुक्ल लेश्या है।

षट्खण्डागम की धवला टीका में लेश्या के सम्बन्ध में निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-बहुत्व प्रभृति अधिकारों के द्वारा लेश्या पर चिन्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है।[९] आगम साहित्य में अट्ठाइस लब्धियों का वर्णन है। उनमें एक तेजस्-लब्धि है। तेजो-लेश्या अजीव है। तेजो-लेश्या के पुद्गलों में जिस प्रकार लाल प्रभा और कान्ति होती है वैसी ही कान्ति तेजस्-लब्धि के प्रयोग करने वाले पुद्गलों में भी होती है। इसी दृष्टि से तेजस्-लब्धि के साथ लेश्या शब्द भी प्रयुक्त हुआ हो।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! बाण के जीवों को मार्ग में जाते समय कितनी क्रियाएँ लगती हैं? उसके हर एक अवयव की कितनी क्रियाएँ होती हैं? उत्तर में भगवान ने कहा—गौतम, चार-पाँच क्रियाएँ होती हैं। क्योंकि मार्ग में जाते समय मार्गवर्ती जीवों को वह सन्त्रस्त करता है। बाण के प्रहार से वे जीव अत्यन्त सिकुड़ जाते हैं। प्रस्तुत सन्तापकारक स्थिति में जीव को चार क्रियाएँ लगती हैं, यदि प्राणातिपात हो जाय तो पाँच क्रियाएँ लगती हैं।[१०] यही स्थिति तेजो-लेश्या की भी है। उसमें भी चार-पाँच क्रियाएँ लगती हैं। अष्टस्पर्शी पुद्गल-द्रव्य मार्गवर्ती जीवों को उद्वेग न करे, यह स्वाभाविक है। भगवती में स्कन्दक मुनि का 'अवहिलेश्य' यह विशेषण है जिसका अर्थ है उनकी लेश्या यानि मनोवृत्ति संयम से बाहर नहीं है।[११] आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में श्रद्धा का उत्कर्ष प्रतिपादित करते हुए मनोयोग के अर्थ में लेश्या का प्रयोग हुआ है। शिष्य गुरु की दृष्टि का अनुगमन करे। उनकी लेश्या में विचरे अर्थात् उनके विचारों का अनुगमन करे।[१२] प्रज्ञापना, जीवाभिगम, उत्तराध्ययन, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम साहित्य में लेश्या शब्द का प्रयोग वर्ण, प्रभा और रंग के अर्थ में भी हुआ है। प्रज्ञापना में देवों के दिव्य प्रभाव का वर्णन करते हुए द्युति, प्रभा, ज्योति, छाया, अर्चि और लेश्या शब्द का प्रयोग हुआ है।[१३] इसी प्रकार नारकीय जीवों के अशुभ कर्मविपाकों के सम्बन्ध में गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—क्या सभी नारकीय जीव एक सदृश लेश्या और एक सदृश वर्ण वाले होते हैं या असमान? समाधान करते हुए महावीर ने कहा—सभी जीव समान लेश्या और समान वर्ण वाले नहीं होते। जो जीव पहले नरक में उत्पन्न हुए हैं वे पश्चात् उत्पन्न होने वाले जीवों की अपेक्षा विशुद्ध वर्ण वाले और लेश्या वाले होते हैं। इसका कारण नारकीय जीवों के अप्रशस्त वर्ण नामकर्म की प्रकृति, तीव्र अनुभाग वाली होती है जिसका विपाक भव-सापेक्ष्य है। जो जीव पहले उत्पन्न हुए हैं उन्होंने बहुत सारे विपाक को पा लिया है, स्वल्प अवशेष है। जो बाद में उत्पन्न हुए हैं उन्हें अधिक भोगना है। एतदर्थ पूर्वोत्पन्न विशुद्ध हैं और पश्चादुत्पन्न अविशुद्ध हैं। इसी तरह जिन्होंने अप्रशस्त लेश्या-द्रव्यों को अधिक मात्रा में भोगा है वे विशुद्ध हैं और जिनके अधिक शेष हैं वे अविशुद्ध लेश्या वाले हैं।[१४]

हम पूर्व लिख चुके हैं कि लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेषात्मक है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन मान्यताएँ प्राप्त हैं—कर्मवर्गणानिष्पन्न, कर्मनिस्यन्द और योगपरिणाम।

उत्तराध्ययन सूत्र के टीकाकार शांतिसूरि का अभिमत है कि द्रव्य-लेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है। यह द्रव्य-लेश्या कर्मरूप है तथापि वह आठ कर्मों से पृथक् है, जैसे कि कार्मण शरीर। यदि लेश्या को कर्मवर्गणा निष्पन्न न माना जाय तो वह कर्म-स्थिति-विधायक नहीं बन सकती। कर्म-लेश्या का सम्बन्ध नामकर्म के साथ है। उसका सम्बन्ध शरीर-रचना सम्बन्धी पुद्गलों से है। उसकी एक प्रकृति शरीर नामकर्म है। शरीर नामकर्म के पुद्गलों का एक समूह कर्म-लेश्या है।[१५]

दूसरी मान्यता की दृष्टि से लेश्या-द्रव्य कर्मनिस्यन्द रूप है। यहाँ पर निस्यन्द रूप का तात्पर्य बहते हुए कर्म-प्रवाह से है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म की सत्ता है, प्रवाह है। किन्तु वहाँ पर लेश्या नहीं है। वहाँ पर नये कर्मों का आगमन नहीं होता।

कषाय और योग ये कर्म बन्धन के दो मुख्य कारण हैं। कषाय होने पर लेश्या में चारों प्रकार के बन्ध होते हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का सम्बन्ध योग से है और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का सम्बन्ध कषाय से है। जब कषायजन्य बन्ध होता है तब लेश्याएँ कर्मस्थिति वाली होती हैं। केवल योग में स्थिति और अनुभाग नहीं होता, जैसे तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्तों के ईर्यापथिक क्रिया होती है, किन्तु स्थिति, काल और अनुभाग नहीं होता। जो दो समय का काल बताया गया है वह काल वस्तुतः ग्रहण करने का और उत्सर्ग का काल है। वह स्थिति और अनुभाग का काल नहीं है।

तृतीय अभिमतानुसार लेश्या-द्रव्य योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य है। बिना योग के लेश्या नहीं होती। लेश्या और योग में परस्पर अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध है। लेश्या के योग निमित्त में दो विकल्प समुत्पन्न होते हैं। क्या लेश्या को योगान्तर्गत द्रव्यरूप मानना चाहिए? अथवा योगनिमित्त कर्मद्रव्य रूप? यदि वह लेश्या द्रव्यकर्म रूप है तो घातीकर्म द्रव्यरूप है या अघाती कर्म द्रव्यरूप है? लेश्या घातीकर्म द्रव्यरूप नहीं है। क्योंकि घातीकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नष्ट हो जाने पर भी लेश्या होती है। यदि लेश्या को अघातीकर्म द्रव्यस्वरूप माने तो अघाती कर्मोवालों में भी सर्वत्र लेश्या नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में अघातीकर्म है, किन्तु वहाँ लेश्या का अभाव है। इसलिए योग द्रव्य के अन्तर्गत ही द्रव्य स्वरूप लेश्या मानना चाहिए।

लेश्या से कषायों की वृद्धि होती है; क्योंकि योगद्रव्यों में कषाय बढ़ाने का सामर्थ्य है। प्रज्ञापना की टीका में आचार्य ने लिखा है—कर्मों के द्रव्य, विपाक होने वाले और उदय में आने वाले दोनों प्रयत्नों से प्रभावित होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपना कर्तृत्व दिखाते हैं। जिसे पित्त-विकार हो उसका क्रोध बढ़ जाता है। ब्राह्मी का सेवन ज्ञानावरण को कम करने में सहायक है। मदिरापान से ज्ञानावरण का उदय होता है। दही के सेवन से निद्रा की अभिवृद्धि होती है। निद्रा जो दर्शनावरण का औदयिक फल है। अतः स्पष्ट है कषायोदय में अनुरंजित योग प्रवृत्ति ही (लेश्या) स्थितिपाक में सहायक होती है।[१६]

गोम्मटसार में आचार्य नेमिचन्द्र ने योग-परिणामस्वरूप लेश्या का वर्णन किया है।[१७] आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में[१८] और गोम्मटसार के कर्मकाण्ड खण्ड में[१९] कषायोदय अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार दसवें गुणस्थान तक ही लेश्या हो सकती है। प्रस्तुत परिभाषा अपेक्षाकृत होने से पूर्व की परिभाषा से विरुद्ध नहीं है। अब हम संक्षेप में तीनों परिभाषाओं के सम्बन्ध में चिन्तन करेंगे।

प्रथम कर्मवर्गणानिष्पन्न लेश्या को मानने वाली एक परम्परा थी, किन्तु उस पर विस्तार के साथ लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध नहीं है।

द्वितीय कर्मनिस्यन्द लेश्या मानने वाले आचार्यों ने योग-परिणाम लेश्या को स्वीकार नहीं किया है। उनका मन्तव्य है कि लेश्या योग-परिणाम नहीं हो सकती। क्योंकि कर्मबन्ध के दो कारणों में से योग के द्वारा प्रकृति और प्रदेश का ही बन्ध हो सकता है, स्थिति और अनुभाग का बन्ध नहीं हो सकता। जबकि आगम साहित्य में स्थिति का लेश्याकाल प्रतिपादित किया गया है, वह इस परिभाषा को मानने से घट नहीं सकेगा। अतः कर्मनिस्यन्द लेश्या मानना ही तर्कसंगत है।[२०] जहाँ पर लेश्या के स्थितिकाल का बन्धन होता है वहाँ पर चारों का बन्ध होगा। जहाँ पर कषाय का अभाव है वहाँ पर योग के द्वारा दो का ही बन्धन होगा। उपशान्तमोह और क्षीणमोह आत्माओं में कर्म-प्रवाह प्रारम्भ है, वहाँ पर लेश्या भी है, तथापि स्थिति का बन्ध नहीं होता है। प्रश्न है—समुच्छिन्न शुक्लध्यान को ध्याते हुए चौदहवें गुणस्थान में चार कर्म विद्यमान हैं तथापि वहाँ पर लेश्या नहीं है। उत्तर है—जो आत्माएँ कर्म युक्त हैं उन सभी के कर्म-प्रवाह चालू ही रहें, ऐसा नियम नहीं है। यदि इस प्रकार माना जायेगा तो योग परिणाम लेश्या का अर्थ होगा योग ही लेश्या है; किन्तु इस प्रकार नहीं है। उदाहरण के रूप में सूर्य के बिना किरणें नहीं होतीं; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि किरणें ही सूर्य हैं। तात्पर्य यह है बहता हुआ जो कर्म-प्रवाह है वही लेश्या का उपादान कारण है।[२१]

तृतीय योग-परिणाम लेश्या कर्मनिस्यन्द स्वभाव युक्त नहीं है। यदि इस प्रकार माना जायगा तो ईर्यापथिक मार्ग स्थिति-बन्ध बिना कारण का होगा। आगम साहित्य में दो समय स्थिति वाले अन्तर्मुहूर्त काल को भी निर्धारित काल माना है। अतः स्थितिबन्ध का कारण कषाय नहीं अपितु लेश्या है। जहाँ पर कषाय रहता है वहाँ पर तीव्र बन्धन होता है। स्थितिबन्ध की परिपक्वता कषाय से होती है। अतः कर्म-प्रवाह को लेश्या मानना तर्कसंगत नहीं है।

कर्मों के कर्म-सार और कर्म-असार ये दो रूप हैं। प्रश्न है—कर्मों के असारभाव को निस्यन्द मानते हैं तो असार कर्म प्रकृति से लेश्या के उत्कृष्ट अनुभागबन्ध का कारण किस प्रकार होगा? और यदि कर्मों के सार-भाव को निस्यन्द कहेंगे तो आठ कर्मों में से किस कर्म के सार-भाव को कहें? यदि आठों ही कर्मों का माना जाय तो जहाँ पर कर्मों के विपाक का वर्णन है वहाँ पर किसी भी कर्म का लेश्या के रूप में विपाक का प्रतिपादन नहीं हुआ है। एतदर्थ योग-परिणाम को ही लेश्या मानना चाहिए।[२२] उपाध्याय विनयविजयजी ने लोक-प्रकाश में इस तथ्य को स्वीकार किया है।[२३]

भावलेश्या आत्मा का परिणामविशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट; तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम; मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि विविध भेद होने से भाव-लेश्या के अनेक प्रकार हैं, तथापि संक्षेप में उसे छह भागों में विभक्त किया है। अर्थात्, मन के परिणाम शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकार के होते हैं और उनके निमित्त भी शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं। निमित्त अपना प्रभाव दिखाता है जिससे मन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणाम उनसे प्रभावित होते हैं। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। निमित्त को द्रव्यलेश्या और मन के परिणाम को भावलेश्या कहा है। जो पुद्गल निमित्त बनते हैं उनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सभी होते हैं तथापि उनका नामकरण वर्ण के आधार पर किया गया है। संभव है गंध, रस और स्पर्श की अपेक्षा वर्ण मानव को अधिक प्रभावित करता हो। कृष्ण, नील और कापोत ये तीन रंग अशुद्ध हैं और इन रंगों से प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी अशुभ मानी गयी हैं और उन्हें अधर्म-लेश्याएँ कहा गया है।[२४] तेजस्, पद्म और शुक्ल ये तीन वर्ण शुभ हैं और उनसे प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी शुभ हैं। इसलिए तीन लेश्याओं को धर्म-लेश्या कहा हैं।[२५]

अशुद्धि और शुद्धि की दृष्टि से छह लेश्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

(१) कृष्णलेश्या	अशुद्धतम	क्लिष्टतम
(२) नीललेश्या	अशुद्धतर	क्लिष्टतर
(३) कापोतलेश्या	अशुद्ध	क्लिष्ट
(४) तेजस्लेश्या	शुद्ध	अक्लिष्ट
(५) पद्मलेश्या	शुद्धतर	अक्लिष्टतर
(६) शुक्ललेश्या	शुद्धतम	अक्लिष्टतम

प्रस्तुत अशुद्धि और शुद्धि का आधार केवल निमित्त ही नहीं अपितु निमित्त और उपादान दोनों हैं। अशुद्धि का उपादान कषाय की तीव्रता है और उसके निमित्त कृष्ण, नील, कापोत रंगवाले पुद्गल है और शुद्धि का उपादान कषाय की मन्दता है और उसके निमित्त रक्त, पीत और श्वेत रंगवाले पुद्गल है। उत्तराध्ययन में लेश्या का नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु इन ग्यारह प्रकार से लेश्या पर चिन्तन किया है।[२६]

आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक[२७] में लेश्या पर (१) निर्देश, (२) वर्ण, (३) परिणाम, (४) संक्रम, (५) कर्म, (६) लक्षण, (७) गति, (८) स्वामित्व, (९) साधना, (१०) संख्या, (११) क्षेत्र (१२), स्पर्शन (१३), काल, (१४) अन्तर, (१५) भाव, (१६) अल्प-बहुत्व इन सोलह प्रकारों से चिन्तन किया है।

जितने भी स्थूल परमाणु स्कन्ध हैं वे सभी प्रकार के रंगों और उपरंगों वाले होते हैं। मानव का शरीर स्थूल स्कन्ध वाला है। अतः उसमें सभी रंग हैं। रंग होने से वह बाह्य रंगों से प्रभावित होता है और उसका प्रभाव मानव के मानस पर भी पड़ता है। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने सभी प्राणियों के प्रभाव व शक्ति की दृष्टि से शरीर और विचारों को छह भागों में विभक्त किया है और वही लेश्या है।

डा० हर्मन जेकोबी ने लिखा है—जैनों के लेश्या के सिद्धान्त में तथा गोशालक के मानवों को छह विभागों में विभक्त करने वाले सिद्धान्त में समानता है। इस बात को सर्वप्रथम प्रोफेसर ल्यूमेन ने पकड़ा पर इस सम्बन्ध में मेरा विश्वास है जैनों ने यह सिद्धान्त आजीविकों से लिया और उसे परिवर्तित कर अपने सिद्धान्तों के साथ समन्वित कर दिया।[२८]

प्रो० ल्यूमेन तथा डा० हर्मन जेकोबी ने मानवों का छः प्रकार का विभाजन गोशालक द्वारा माना है, पर अंगुत्तरनिकाय से स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत विभाजन गोशालक द्वारा नहीं अपितु पूरणकश्यप के द्वारा किया गया था।[२९] दीघनिकाय में छह तीर्थंकरों का उल्लेख है, उनमें पूरणकश्यप भी एक है[३०] जिन्होंने रंगों के आधार पर छह अभिजातियाँ निश्चित की थीं। वे इस प्रकार हैं—

(१) कृष्णाभिजाति—क्रूर, कर्म करनेवाले सौकरिक, शाकुनिक प्रभृति जीवों का समूह।

(२) नीलाभिजाति—बौद्ध श्रमण और कुछ अन्य कर्मवादी, क्रियावादी भिक्षुओं का समूह।

(३) लोहिताभिजाति—एक शाटक निर्ग्रन्थों का समूह।

(४) हरिद्राभिजाति—श्वेत वस्त्रधारी या निर्वस्त्र।

(५) शुक्लाभिजाति—आजीवक श्रमण-श्रमणियों का समूह।

(६) परम शुक्लाभिजाति—आजीवक आचार्य, नन्द, वत्स, कृष, सांकृत्य, मस्करी गोशालक प्रभृति का समूह।[३१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द की जिज्ञासा पर तथागत बुद्ध ने कहा—ये छह अभिजातियाँ अव्यक्त व्यक्ति द्वारा किया हुआ प्रतिपादन है। प्रस्तुत वर्गीकरण का मूल आधार अचेलता है। वस्त्र कम करना और वस्त्रों का पूर्ण त्याग कर देना अभिजातियों की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का कारण है।

अपने प्रधान शिष्य आनन्द से तथागत बुद्ध ने कहा—मैं भी छः अभिजातियों का प्रतिपादन करता हूँ।
(१) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में पैदा हुआ) हो और कृष्ण धर्म (पापकृत्य) करता है।
(२) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और शुक्लधर्म करता है।
(३) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो अकृष्ण—अशुक्ल निर्वाण को समुत्पन्न करता है।
(४) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक (उच्च कुल में समुत्पन्न हुआ) हो तथा शुक्लधर्म (पुण्य) करता है।
(५) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और कृष्ण कर्म करता है।
(६) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो अशुक्ल-अकृष्ण निर्वाण को समुत्पन्न करता है।[32]

प्रस्तुत वर्गीकरण जन्म और कर्म के आधार पर किया गया है। इस वर्गीकरण में चाण्डाल, निषाद आदि जातियों को शुक्ल कहा है। कायिक, वाचिक और मानसिक जो दुश्चरण हैं वे कृष्णधर्म हैं और उनका जो श्रेष्ठ आचरण है वह शुक्लधर्म है। पर निर्वाण न कृष्ण है, न शुक्ल है। इस वर्गीकरण का उद्देश्य है नीच जाति में समुत्पन्न व्यक्ति भी शुक्लधर्म कर सकता है और उच्चकुल में उत्पन्न व्यक्ति भी कृष्णधर्म करता है। धर्म और निर्वाण का सम्बन्ध जाति से नहीं है।

प्रस्तुत विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि पूरणकश्यप और तथागत बुद्ध ने छः अभिजातियों का जो वर्गीकरण किया है उसका सम्बन्ध लेश्या के साथ नहीं है। लेश्याओं का जो सम्बन्ध है वह एक-एक व्यक्ति से है। विचारों को प्रभावित करने वाली लेश्याएँ एक व्यक्ति के जीवन में समय के अनुसार छह भी हो सकती हैं।

छह अभिजातियों की अपेक्षा लेश्या का जो वर्गीकरण है वह वर्गीकरण महाभारत से अधिक मिलता-जुलता है। एक बार सनत्कुमार ने दानवों के अधिपति वृत्रासुर से कहा—प्राणियों के छह प्रकार के वर्ण हैं—(१) कृष्ण, (२) धूम्र, (३) नील, (४) रक्त, (५) हारिद्र और (६) शुक्ल। कृष्ण, धूम्र और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है। रक्त वर्ण अधिक सहन करने योग्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर होता है और शुक्ल वर्ण उससे भी अधिक सुखकर होता है।[33]

महाभारत में कहा है—कृष्ण वर्ण वाले की गति नीच होती है। जिन निकृष्ट कर्मों से जीव नरक में जाता है वह उन कर्मों में सतत आसक्त रहता है। जो जीव नरक से निकलते हैं उनका वर्ण धूम्र होता है जो रंग पशु-पक्षी जाति का है। मानव जाति का रंग नीला है। देवों का रंग रक्त है—वे दूसरों पर अनुग्रह करते हैं। जो विशिष्ट देव होते हैं उनका रंग हारिद्र है। जो महान् साधक हैं उनका वर्ण शुक्ल है।[34] अन्यत्र महाभारत में यह भी लिखा है कि दुष्कर्म करने वाला मानव वर्ण से परिभ्रष्ट हो जाता है और पुण्य कर्म करने वाला मानव वर्ण के उत्कर्ष को प्राप्त करता है।[35]

तुलनात्मक दृष्टि से हम चिन्तन करें तो सहज ही परिज्ञात होता है कि जैन दृष्टि का लेश्या-निरूपण और महाभारत का वर्ण-विश्लेषण—ये दोनों बहुत कुछ समानता को लिये हुए हैं। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जैनदर्शन ने यह वर्णन महाभारत से लिया हो। क्योंकि अन्य दर्शनों ने भी रंग के प्रभाव की चर्चा की है। पर जैनाचार्यों ने इस सम्बन्ध में जितना गहरा चिन्तन किया है उतना अन्य दर्शनों ने नहीं किया। उन्होंने तो केवल इसका वर्णन प्रासंगिक रूप से ही किया है। अतः डा० हर्मन जेकोबी का यह मानना कि लेश्या का वर्णन जैनियों ने अन्य परम्पराओं से लिया है, तर्कसंगत नहीं है।

कुरुक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण ने गति के कृष्ण और शुक्ल ये दो विभाग किये। कृष्ण गतिवाला पुनः-पुनः जन्म-मरण ग्रहण करता है, शुक्ल गतिवाला जन्म और मरण से मुक्त हो जाता है।[36]

धम्मपद[37] में धर्म के दो विभाग किये हैं—कृष्ण और शुक्ल। पण्डित मानव को कृष्णधर्म का परित्याग कर शुक्लधर्म का पालन करना चाहिए।

महर्षि पतंजलि ने कर्म की दृष्टि से चार जातियाँ प्रतिपादित की हैं—(१) कृष्ण (२) शुक्ल-कृष्ण (३) शुक्ल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) अशुक्ल-अकृष्ण, जो क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर हैं। तीन कर्मजातियाँ सभी जीवों में होती हैं, किन्तु चौथी अशुक्ल-अकृष्ण जाति योगी में होती है।[३८] प्रस्तुत सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि उनका कर्म कृष्ण होता है जिनका चित्त दोष-कुलषित या क्रूर है। पीड़ा और अनुग्रह दोनों विधाओं से मिश्रित कर्म शुक्ल-कृष्ण कहलाता हैं। यह बाह्य साधनों से साध्य होते हैं। तप, स्वाध्याय और ध्यान में निरत व्यक्तियों के कर्म केवल मन के अधीन होते हैं उनमें बाह्य साधनों की किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं होती और न किसी को पीड़ा दी जाती है, एतदर्थ यह कर्म शुक्ल कहा जाता है। जो पुण्य के फल की भी आकांक्षा नहीं करते उन क्षीण-क्लेश चरमदेह योगियों के अशुक्ल-अकृष्ण कर्म होता है।

प्रकृति का विश्लेषण करते हुए उसे श्वेताश्वतर उपनिषद् में लोहित्, शुक्ल और कृष्ण रंग का बताया गया है।[३९] सांख्य कौमुदी में कहा गया है जब रजोगुण के द्वारा मन मोह से रंग जाता है तब वह लोहित है, सत्त्वगुण से मन का मैल मिट जाता है, अतः वह शुक्ल है।[४०] शिव स्वरोदय में लिखा है—विभिन्न प्रकार के तत्वों के विभिन्न वर्ण होते हैं जिन वर्णों से प्राणी प्रभावित होता है।[४१] वे मानते हैं कि मूल में प्राणतत्त्व एक है। अणुओं की कमी-बेशी, कंपन या वेग से उसके पांच विभाग किये गये हैं जैसे देखिए—

नाम	वेग	रंग	आकार	रस या स्वाद
(१) पृथ्वी	अल्पतर	पीला	चतुष्कोण	मधुर
(२) जल	अल्प	सफेद या बैंगनी	अर्द्धचन्द्राकार	कसैला
(३) तेजस्	तीव्र	लाल	त्रिकोण	चरपरा
(४) वायु	तीव्रतर	नीला या आसमानी	गोल	खट्टा
(५) आकाश	तीव्रतम	काला या नीलाभ (सर्ववर्णक मिश्रित रंग)	अनेक बिन्दु गोल या आकार शून्य	कड़वा

जैनाचार्यों ने लेश्या पर गहरा चिन्तन किया है। उन्होंने वर्ण के साथ आत्मा के भावों का भी समन्वय किया है। द्रव्यलेश्या पौद्गलिक है। अतः आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी लेश्या पर चिन्तन किया जा सकता है।

लेश्या : मनोविज्ञान और पदार्थविज्ञान

मानव का शरीर, इन्द्रियाँ और मन ये सभी पुद्गल से निर्मित हैं। पुद्गल में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होने से वह रूपी है। जैन साहित्य में वर्ण के पांच प्रकार बताये हैं— काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से सफेद रंग मौलिक नहीं है। वह सात रंगों के मिलने पर बनता है। उन्होंने रंगों के सात प्रकार बताये हैं। यह सत्य है कि रंगों का प्राणी जीवन के साथ बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। वैज्ञानिकों ने भी परीक्षण कर यह सिद्ध किया है कि रंगों का प्रकृति पर, शरीर पर और मन पर प्रभाव पड़ता है। जैसे लाल, नारंगी, गुलाबी, बादामी रंगों से मानव की प्रकृति में ऊष्मा बढ़ती है। पीले रंग से भी ऊष्मा बढ़ती है, किन्तु पूर्वापेक्षया कम। नीले, आसमानी रंग से प्रकृति में शीतलता का संचार होता है। हरे रंग से न अधिक ऊष्मा बढ़ती है और न अधिक शीतलता का ही संचार होता है, अपितु शीतोष्ण सम रहता है। सफेद रंग से प्रकृति सदा सम रहती है।

रंगों का शरीर पर भी अद्भुत प्रभाव पड़ता है। लाल रंग से स्नायु मंडल में स्फूर्ति का संचार होता है। नीले रंग से स्नायविक दुर्बलता नष्ट होती है, धातुक्षय सम्बन्धी रोग मिट जाते हैं तथा हृदय और मस्तिष्क में शक्ति की अभिवृद्धि होती है। पीले रंग से मस्तिष्क की दुर्बलता नष्ट होकर उसमें शक्ति-संचार होता है, कब्ज, यकृत, प्लीहा के रोग मिट जाते हैं। हरे रंग से ज्ञान-तन्तु व स्नायु मंडल सुदृढ़ होते हैं तथा धातु क्षय सम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं। गहरे नीले रंग से आमाशय सम्बन्धी रोग मिटते हैं। सफेद रंग से नींद गहरी आती है। नारंगी रंग से वायु सम्बन्धी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं और दमा की व्याधि भी शान्त हो जाती है। बैंगनी रंग से शरीर का तापमान कम हो जाता है।

प्रकृति और शरीर पर ही नहीं, किन्तु मन पर भी रंगों का प्रभाव पड़ता है। जैसे, काले रंग से मन में असंयम, हिंसा एवं क्रूरता के विचार लहराने लगेंगे। नीले रंग से मन में ईर्ष्या, असहिष्णुता, रस-लोलुपता एवं विषयों के प्रति आसक्ति व आकर्षण उत्पन्न होता है। कापोत रंग से मन में वक्रता, कुटिलता अंगड़ाइयाँ लेने लगती हैं। अरुण रंग से मन में ऋजुता, विनम्रता एवं धर्म-प्रेम की पवित्र भावनाएँ पैदा होती हैं। पीले रंग से मन में क्रोध-मान-माया-लोभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

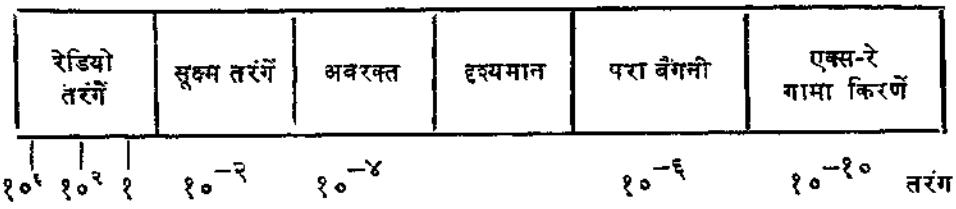
आदि कषाय नष्ट होते हैं और साधक के मन में इन्द्रिय विजय के भाव तरंगित होते हैं। सफेद रंग से मन में अपूर्व शान्ति तथा जितेन्द्रियता के निर्मल भावों का संचार होता है।

अन्य दृष्टि से भी रंगों का मानसिक विचारों पर जो प्रभाव होता है उसका वर्गीकरण चिन्तकों ने अन्य रूप से प्रस्तुत किया है, यद्यपि द्वितीय वर्गीकरण प्रथम वर्गीकरण से कुछ पृथक्ता लिए हुए है। जैसे, आसमानी रंग से भक्ति सम्बन्धी भावनाएँ जाग्रत होती हैं। लाल रंग से काम वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं। पीले रंग से तार्किक शक्ति की अभिवृद्धि होती है। गुलाबी रंग से प्रेम विषयक भावनाएँ जाग्रत होती हैं। हरे रंग से मन में स्वार्थ की भावनाएँ पनपती हैं। लाल व काले रंग का मिश्रण होने पर मन में क्रोध भड़कता है।

जब हम इन दोनों प्रकार के रंगों के वर्गीकरण पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक रंग प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार का है। कहीं पर लाल, पीले और सफेद रंग अच्छे विचारों को उत्पन्न नहीं करते इसलिए वे अप्रशस्त व अशुभ हैं, और कहीं पर वे अच्छे विचारों को उत्पन्न करते हैं, अतः वे प्रशस्त व शुभ हैं। क्रोध से अग्नि तत्त्व प्रदीप्त हो जाता है, उसका वर्ण लाल माना गया है। मोह से जलतत्त्व की अभिवृद्धि हो जाती है, उसका वर्ण सफेद या बैंगनी माना गया है। भय से पृथ्वी-तत्त्व प्रधान हो जाता है, इसका वर्ण पीला है। लेश्याओं के वर्णन में भी क्रोध, मोह और भय आदि अन्तर् में रहे हुए हैं और उनका मानस पर असर होता है। कहीं पर श्याम रंग को भी प्रशस्त माना है, जैसे—नमस्कार महामन्त्र के पदों के साथ जो रंगों की कल्पना की गयी है उसमें 'नमो लोए सव्वसाहूणं' का वर्ण कृष्ण बताया है। साधु के साथ जो कृष्ण वर्ण की योजना की गयी है वह कृष्णलेश्या जो निकृष्टतम चित्तवृत्ति को समुत्पन्न करने का हेतु अप्रशस्त कृष्ण वर्ण है उससे पृथक् है, कृष्णलेश्या का जो कृष्णवर्ण है उससे साधु का जो कृष्ण वर्ण है वह भिन्न है और प्रशस्त है।

पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक रंग के सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन कर रहे हैं। कलर थिरेपी रंग के आधार पर समुत्पन्न हुई है। रंग से मानव के चित्त व शरीर की भी चिकित्सा प्रारंभ हुई है जिसके परिणाम भी बहुत ही श्रेष्ठ आये हैं।[१७]

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विद्युत् चुम्बकीय तरंगें बहुत ही सूक्ष्म हैं। वे विराट् विश्व में गति कर रही हैं। वैज्ञानिकों ने विद्युत चुम्बकीय स्पेक्ट्रम का सामान्य रूप से विभाजन इस प्रकार से किया है:—



प्रस्तुत चार्ट से यह स्पष्ट होता है कि विश्व में जितनी भी विकिरणें हैं उन विकिरणों की तुलना में जो दिखाई देती हैं उन विकिरणों का स्थान नहीं-जैसा है। पर उन विकिरणों का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है जो विकिरणें दृष्टिगोचर होती हैं। त्रिपार्श्व के माध्यम से उनके सात वर्ण देख सकते हैं। जैसे बैंगनी, नील, आकाश-सदृश नील, हरा, पीला, नारंगी और लाल। इन विकिरणों में एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि क्रमशः इन रंगों में आवृत्ति (Frequency) कम होती है, और तरंग-दैर्घ्य (wave length) में अभिवृद्धि होती है। बैंगनी रंग के पीछे की विकिरणों को अपरा बैंगनी (ultra-violet) और लाल रंग के आगे की विकिरणें अवरक्त कही जाती हैं। प्रस्तुत वर्गीकरण में वर्ण की मुख्यता है। किन्तु जितनी भी विकिरणें हैं उनका लक्षण, आवृत्ति और तरंगदैर्घ्य है।

विज्ञान के आलोक में जब हम लेश्या पर चिन्तन करते हैं तो सूर्य के प्रकाश की भाँति यह स्पष्ट होता है कि छह लेश्याओं के वर्ण और दृष्टिगोचर होने वाले स्पेक्ट्रम (वर्ण-पट) के रंगों की तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

दिखायी दिया जाने वाला स्पेक्ट्रम	लेश्या
१ अपरा बैंगनी से बैंगनी तक	कृष्णलेश्या
२ नील	नीललेश्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३ आकाश सदृश नील	कापोतलेश्या
४ पीला	तेजोलेश्या
५ लाल	पद्मलेश्या
६ अवरक्त तथा आगे की विकिरणें	शुक्ललेश्या

डा० महावीरराज गेलडा ने "लेश्या: एक विवेचन' शीर्षक लेख में जो चार्ट दिया है उसमें उन्होंने सप्त वर्ण के स्थान पर पाँच ही वर्ण लिये हैं और हरा व नारंगी ये दो वर्ण छोड़ दिये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में तेजो-लेश्या का रंग हिंगुल की तरह रक्त लिखा है और पद्मलेश्या का रंग हरिताल की तरह पीत लिखा है। किन्तु डा० गेलडा ने तेजोलेश्या की पीले वर्ण वाली और पद्म लेश्या को लाल वर्ण वाली मानी है वह आगम की दृष्टि से उचित नहीं है। लाल के बाद आगमकार ने पीत का उल्लेख क्यों किया है इस सम्बन्ध में हम आगे की पंक्तियों में विचार करेंगे।

तीन जो प्रारम्भिक विकिरणें हैं, वे लघुतरंग वाली और पुनः-पुनः आवृत्ति वाली होती हैं। इसी तरह कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ तीव्र कर्म बन्धन में सहयोगी व प्राणी को भौतिक पदार्थों में लिप्त रखती हैं। ये लेश्याएँ आत्मा के प्रतिकूल हैं, अतः इन्हें आगम साहित्य में अशुभ व अधर्म लेश्याएँ कहा गया है और इनसे तीव्र कर्म बन्धन होता है।

उसके पश्चात् की विकिरणों की तरंगें अधिक लम्बी होती हैं और उनमें आवृत्ति कम होती है। इसी तरह तेजो, पद्म व शुक्ल लेश्याएँ तीव्र कर्म बन्धन नहीं करतीं। इनमें विचार, शुभ और शुभतर होते चले जाते हैं। इन तीन लेश्या वाले जीवों में क्रमशः अधिक निर्मलता आती है। इसलिए ये तीन लेश्याएँ शुभ हैं और इन्हें धर्म लेश्याएँ कहा है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने जो विकिरणों के साथ तुलना की है वह स्थूल रूप से ही है। तथापि इतना स्पष्ट है कि लेश्या के लक्षणों में वर्ण की प्रधानता है। विकिरणों में आवृत्ति और तरंग की लम्बाई होती है। विचारों में जितना अधिक संकल्प-विकल्प के द्वारा आवर्त होंगे वे उतने ही अधिक आत्मा के लिए अहितकर होंगे। एतदर्थ ध्यान और जपयोग व साधना के द्वारा विचारों को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है।

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि लेश्याओं का विभाजन रंग के आधार पर किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे के आसपास एक प्रभामण्डल विनिर्मित होता है जिसे 'ओरा' कहते हैं। वैज्ञानिकों ने इस प्रकार के कैमरे निर्माण किये हैं जिसमें प्रभामण्डल के चित्र भी लिये जा सकते हैं। प्रभामंडल के चित्र से उस व्यक्ति के अन्तर्मानस में चल रहे विचारों का सहज पता लग सकता है। यदि किसी व्यक्ति के आस-पास कृष्ण आभा है फिर भले ही वह व्यक्ति लच्छेदार भाषा में धार्मिक दार्शनिक चर्चा करे तथापि काले रंग की वह प्रभा उसके चित्त की कालिमा की स्पष्ट सूचना देती है। भगवान महावीर, तथागत बुद्ध, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी श्रीकृष्ण, प्रेम मूर्ति क्राइस्ट आदि विश्व के जितने भी विशिष्ट महापुरुष हैं उनके चेहरों के आस-पास चित्रों में प्रभामण्डल बनाये हुए दिखायी देते हैं जो उनकी शुभ्र आभा को प्रकट करते है। उनके हृदय की निर्मलता और अगाध स्नेह को प्रकट करते हैं। जिन व्यक्तियों के आस-पास काला प्रभामंडल है उनके अन्तर्मानस में भयंकर दुर्गुणों का साम्राज्य होता है। क्रोध की आंधी से उनका मानस सदा विक्षुब्ध रहता है, मान के सर्प फूत्कारें मारते रहते हैं, माया और लोभ के बवण्डर उठते रहते हैं।[१४] वह स्वयं कष्ट सहन करके भी दूसरे व्यक्तियों को दुःखी बनाना चाहता है। वैदिक साहित्य में मृत्यु के साक्षात् देवता यम का रंग काला है। क्योंकि यम सदा यही चिन्तन करता रहता है कब कोई मरे और मैं उसे ले जाऊँ। कृष्ण वर्ण पर अन्य किसी भी रंग का प्रभाव नहीं होता। वैसे ही कृष्णलेश्या वाले जीवों पर भी किसी भी महापुरुष के वचनों का प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य की चमचमाती किरणें जब काले वस्त्र पर गिरती हैं तो कोई भी किरण पुनः नहीं लौटती। काले वस्त्र में सभी किरणें डूब जाती हैं। जो व्यक्ति जितना अधिक दुर्गुणों का भण्डार होगा उसका प्रभामंडल उतना ही अधिक काला होगा। यह काला प्रभामंडल कृष्णलेश्या का स्पष्ट प्रतीक है।

द्वितीय लेश्या का नाम नीललेश्या है। वह कृष्णलेश्या से श्रेष्ठ है। उसमें कालापन कुछ हलका हो जाता है। नीललेश्या वाला व्यक्ति स्वार्थी होता है। उसमें ईर्ष्या, कदाग्रह, अविद्या, निर्लज्जता, प्रद्वेष, प्रमाद, रसलोलुपता, प्रकृति की क्षुद्रता और बिना विचारे कार्य करने की प्रवृत्ति होती है।[१५] आधुनिक भाषा में हम उसे सेल्फिश कह सकते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। यदि उसे किसी कार्य में लाभ होता हो तो वह अन्य व्यक्ति को हानि पहुँचाने में संकोच नहीं करता। किन्तु कृष्ण-लेश्या की अपेक्षा उसके विचार कुछ प्रशस्त होते हैं।

तीसरी लेश्या का नाम कापोत है जो अलसी पुष्प की तरह मटमैला अथवा कबूतर के कण्ठ के रंगवाला होता है। कापोतलेश्या में नीला रंग फीका हो जाता है। कापोतलेश्या वाले व्यक्ति की वाणी व आचरण में वक्रता होती है। वह अपने दुर्गुणों को छिपाकर सद्गुणों को प्रकट करता है।[५] नीललेश्या से उसके भाव कुछ अधिक विशुद्ध होते हैं। एतदर्थ ही अधर्मलेश्या होने पर भी वह धर्मलेश्या के सन्निकट है।

चतुर्थ लेश्या का रंग शास्त्रकारों ने लाल प्रतिपादित किया है। लाल रंग साम्यवादियों की दृष्टि से क्रांति का प्रतीक है। तीन अधर्मलेश्याओं से निकलकर जब वह धर्मलेश्या में प्रविष्ट होता है तब यह एक प्रकार से क्रांति ही है अतः इसे धर्मलेश्या में प्रथम स्थान दिया गया है।

वैदिक परम्परा में संन्यासियों को गैरिक अर्थात् लाल रंग के वस्त्र धारण करने का विधान है। हमारी दृष्टि से उन्होंने जो यह रंग चुना है वह जीवन में क्रांति करने की दृष्टि से ही चुना होगा। जब साधक के अन्तर्मानस में क्रांति की भावना उद्बुद्ध होती है तो उसके शरीर का प्रभामंडल लाल होता है। और वस्त्र भी लाल होने से वे आभा-मंडल के साथ यह मिल जाते हैं। जब जीवन में लाल रंग प्रगट होता है तब उसके स्वार्थ का रंग नष्ट हो जाता है। तेजोलेश्या वाले व्यक्ति का स्वभाव नम्र व अचपल होता है। वह जितेन्द्रिय, तपस्वी, पापभीरु और मुक्ति की अन्वेषणा करने वाला होता है।[६] संन्यासी का अर्थ भी यही है। उसमें महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। उसके जीवन का रंग उषाकाल के सूर्य की तरह होता है। उसके चेहरे पर साधना की लाली हो और सूर्य के उदय की तरह उसमें ताजगी हो।

पंचम लेश्या का नाम पद्म है। लाल के बाद पद्म अर्थात् पीले रंग का वर्णन है। प्रातःकाल का सूर्य ज्यों-ज्यों ऊपर उठता है उसमें लालिमा कम होती जाती है और सोने की तरह पीत रंग प्रस्फुटित होता है। लाल रंग में उत्तेजना हो सकती है पर पीले रंग में कोई उत्तेजना नहीं है। पद्मलेश्या वाले साधक के जीवन में क्रोध-मान-माया-मोह की अल्पता होती है। चित्त प्रशांत होता है। जितेन्द्रिय और अल्पभाषी होने से वह ध्यान-साधना सहज रूप से कर सकता है।[७] पीत रंग ध्यान की अवस्था का प्रतीक है। एतदर्थ ही बौद्ध संन्यासियों के वस्त्र का रंग पीला है। वैदिक परम्पराओं के संन्यासियों के वस्त्र का रंग लाल है जो क्रांति का प्रतीक है और बौद्ध भिक्षुओं के वस्त्र का रंग पीला है वह ध्यान का प्रतीक है।

षष्टम लेश्या का नाम शुक्ल है। शुभ्र या श्वेत रंग समाधि का रंग है। श्वेत रंग विचारों की पवित्रता का प्रतीक है। शुक्ललेश्या वाले व्यक्ति का चित्त प्रशान्त होता है। मन, वचन, काया पर पूर्ण नियन्त्रण करता है। वह जितेन्द्रिय है।[८] एतदर्थ ही जैन श्रमणों ने श्वेत रंग को पसन्द किया है। वे श्वेत रंग के वस्त्र धारण करते हैं। उनका मंतव्य है कि वर्तमान में हम में पूर्ण विशुद्धि नहीं है, तथापि हमारा लक्ष्य है शुक्लध्यान के द्वारा पूर्ण विशुद्धि को प्राप्त करना। एतदर्थ उन्होंने श्वेत वर्ण के वस्त्रों को चुना है।

लेश्याओं के स्वरूप को समझने के लिए जैन साहित्य में कई रूपक दिये हैं। उनमें से एक-दो रूपक हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। छः व्यक्तियों की एक मित्र मंडली थी। एक दिन उनके मानस में ये विचार उद्बुद्ध हुए कि इस समय जंगल में जामुन खूब पके हुए हैं। हम जायें और उन जामुनों को भरपेट खायें। वे छहों मित्र जंगल में पहुँचे। फलों से लदे हुए जामुन के पेड़ को देखकर एक मित्र ने कहा यह कितना सुन्दर जामुन का वृक्ष है। यह फलों से लबालब भरा हुआ है। और फल भी इतने बढ़िया हैं कि देखते ही मुँह में पानी आ रहा है। इस वृक्ष पर चढ़ने की अपेक्षा यही श्रेयस्कर है कि कुल्हाड़ी से वृक्ष को जड़ से ही काट दिया जाय जिससे हम आनन्द से बैठकर खूब फल खा सकें।

दूसरे मित्र ने प्रथम मित्र के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा संपूर्ण वृक्ष को काटने से क्या लाभ है? केवल शाखाओं को काटना ही पर्याप्त है।

तृतीय मित्र ने कहा—मित्र, तुम्हारा कहना भी उचित नहीं है। बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटने से भी कोई फायदा नहीं है। छोटी-छोटी शाखाओं को काट लेने से ही हमारा कार्य हो सकता है। फिर बड़ी शाखाओं को निरर्थक क्यों काटा जाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ मित्र ने कहा—मित्र, तुम्हारा कथन भी मुझे युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। छोटी-छोटी शाखाओं को तोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल फलों के गुच्छों को ही तोड़ना पर्याप्त है।

पाँचवें मित्र ने कहा—फलों के गुच्छों को तोड़ने से क्या लाभ है, उस गुच्छे में तो कच्चे और पक्के दोनों ही प्रकार के फल होते हैं। हमें पके फल ही तोड़ना चाहिए। निरर्थक कच्चे फलों को क्यों तोड़ा जाय ?

छठे मित्र ने कहा—मुझे तुम्हारी चर्चा ही निरर्थक प्रतीत हो रही है। इस वृक्ष के नीचे टूटे हुए हजारों फल पड़े हुए हैं। इन फलों को खाकर ही हम पूर्ण सन्तुष्ट हो सकते हैं। फिर वृक्ष, टहनियों और फलों को तोड़ने की आवश्यकता ही नहीं।

प्रस्तुत रूपक[५०] के द्वारा आचार्य ने लेश्याओं के स्वरूप को प्रकट किया है। छह मित्रों में पूर्व-पूर्व मित्रों के परिणामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर मित्रों के परिणाम शुभ-शुभतर और शुभतम हैं। क्रमशः उनके परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता है। इसलिए प्रथम मित्र के परिणाम कृष्णलेश्या वाले हैं, दूसरे के नीललेश्या वाले हैं तीसरे की कापोतलेश्या, चतुर्थ मित्र की तेजोलेश्या, पाँचवें की पद्मलेश्या और छठे मित्र की शुक्ललेश्या है।

एक जंगल में डाकुओं का समूह रहता था। वे लूटकर अपना जीवनयापन करते थे। एक दिन छह डाकुओं ने सोचा कि किसी शहर में जाकर हम डाका डालें। वे छह डाकू अपने स्थान से प्रस्थित हुए। छह डाकुओं में से प्रथम डाकू ने एक गाँव के पास से गुजरते हुए कहा—रात्रि का सुहावना समय है। गाँव के सभी लोग सोए हैं। हम इस गाँव में आग लगा दें ताकि सोये हुए सभी व्यक्ति और पशु-पक्षी आग में झुलस कर खतम हो जायेंगे। उनके करुण-क्रन्दन को सुनकर बड़ा आनन्द आयगा।

दूसरे डाकू ने कहा—बिना मतलब के पशु-पक्षियों को क्यों मारा जाये ? जो हमारा विरोध करते हैं उन मानवों को ही मारना चाहिए।

तीसरे डाकू ने कहा—मानवों में भी महिला वर्ग और बालक हमें कभी भी परेशान नहीं करते। इसलिए उन्हें मारने की आवश्यकता नहीं। अतः पुरुष वर्ग को ही मारना चाहिए।

चतुर्थ डाकू ने कहा—सभी पुरुषों को भी मारने की आवश्यकता नहीं है। जो पुरुष शस्त्रयुक्त हों केवल उन्हें मारना चाहिए।

पाँचवें डाकू ने कहा—जिन व्यक्तियों के पास शस्त्र हैं किन्तु वे हमारा किसी भी प्रकार का विरोध नहीं करते उन व्यक्तियों को मारने से भी क्या लाभ ?

छठे डाकू ने कहा—हमें अपने कार्य को करना है। पहले ही हम लोग दूसरों का धन चुराकर पाप कर रहे हैं, और फिर जिसका धन हम अपहरण करते हैं, उन धनिकों के प्राण को लूटना भी कहाँ की बुद्धिमानी है ? एक पाप के साथ दूसरा पाप करना अनुचित ही नहीं बिलकुल अनुचित है।

इन छह डाकुओं के भी क्रमशः विचार भी क्रमशः एक दूसरे से निर्मल होते हैं, जो उनकी निर्मल-भावना को व्यक्त करते हैं।[५१]

उत्तराध्ययन निर्युक्ति में[५२] लेश्या शब्द पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा है कि लेश्या के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप होते हैं। नो-कर्मलेश्या और नो-अकर्मलेश्या ये दो निक्षेप और भी होते हैं। नो-कर्म लेश्या के जीव नो-कर्म, और अजीव नो-कर्म ये दो प्रकार हैं। जीव नो-कर्म लेश्या भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक के भेद से वह भी दो प्रकार की है। इन दोनों के कृष्ण आदि सात-सात प्रकार हैं।

अजीव नो-कर्म द्रव्यलेश्या के चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारक, आभरण, छादन, आदर्श, मणि तथा कामिनी ये दस भेद हैं और द्रव्य कर्म लेश्या के छह भेद हैं।

आचार्य जयसिंह ने संयोगज, नाम की सातवीं लेश्या भी मानी है जो शरीर की छाया रूप है। कितने ही आचार्यों का मन्तव्य है कि औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहरकमिश्र, कार्मण काय का योग ये सात शरीर हैं तो उनकी छाया भी सप्तवर्णात्मिका होगी, अतः लेश्या के सात भेद मानने चाहिए।[५३]

लेश्या के सम्बन्ध में एक गम्भीर प्रश्न है कि किस लेश्या को द्रव्य-लेश्या कहें और किसे भाव-लेश्या कहें ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि आगम साहित्य में कहीं-कहीं पर द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव परिणति बतायी गयी है, तो कहीं पर द्रव्यलेश्या के विपरीत भाव-परिणति बतायी गई है। जन्म से मृत्यु तक एक ही रूप में जो हमारे साथ रहती है वह द्रव्यलेश्या है। नारकीय जीवों में तथा देवों में जो लेश्या का वर्णन किया गया है वह द्रव्यलेश्या की दृष्टि से किया गया है। यही कारण है कि तेरह सागरिया जो किल्विषिक देव हैं वे जहाँ एकान्त शुक्ललेश्यी हैं वहाँ वे एकान्त मिथ्यादृष्टि भी हैं। प्रज्ञापना में ताराओं का वर्णन करते हुए उन्हें पांच वर्ण वाले और स्थित लेश्या वाले बताया है।[५४] नारक और देवों को जो स्थित लेश्या कहा गया है संभव है पाप और पुण्य की प्रकर्षता के कारण उनमें परिवर्तन नहीं होता हो। अथवा यह भी हो सकता है कि देवों में पर्यावरण की अनुकूलता के कारण शुभ द्रव्य प्राप्त होते हों और नारकीय जीवों में पर्यावरण की प्रतिकूलता के कारण अशुभ द्रव्य प्राप्त होते हों। वातावरण से वृत्तियाँ प्रभावित होती हैं। मनुष्यगति और तिर्यञ्च गति में अस्थित लेश्याएँ हैं। पृथ्वीकाय में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अप्रशस्त लेश्याएँ बतायी हैं। ये द्रव्यलेश्या है या भावलेश्या ? क्योंकि स्फटिक मणि, हीरा, मोती, आदि रत्नों में धवल प्रभा होती है, इसलिए द्रव्य अप्रशस्त लेश्या कैसे संभव है ? यदि भाव लेश्या को माना जाय तो भी प्रश्न है कि पृथ्वीकाय से निकलकर कितने ही जीव केवल ज्ञान को प्राप्त करते हैं तो पृथ्वीकाय के उस जीव ने अप्रशस्त भाव-लेश्या में केवली के आयुष्य का बन्धन कैसे किया ? भवनपति और वाणव्यन्तर देवों में चार लेश्याएँ हैं—कृष्ण, नील, कापोत और तेजो। तो क्या कृष्णलेश्या में आयु पूर्ण करने वाला व्यक्ति असुरादि देव हो सकता है ? यह प्रश्न आगममर्मज्ञों के लिए चिन्तनीय है। कहाँ पर द्रव्य लेश्या का उल्लेख है और कहाँ पर भावलेश्या का उल्लेख—इसकी स्पष्ट भेद-रेखा आगमों में की नहीं गयी है जिससे विचारक असमंजस में पड़ जाता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में जैन दृष्टि से लेश्या का जो रूप रहा है उस पर और उसके साथ ही आजीवक मत में, बौद्ध मत में व वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में लेश्या से जो मिलता-जुलता वर्णन है उस पर हमने बहुत ही संक्षेप में चिन्तन किया है। उत्तराध्ययन, भगवती, प्रज्ञापना और उत्तरवर्ती साहित्य में लेश्या पर विस्तार से विश्लेषण है, किन्तु विस्तार भय से हमने जान करके भी उन सभी बातों पर प्रकाश नहीं डाला है। यह सत्य है कि परिभाषाओं की विभिन्नता के कारण और परिस्थितियों को देखते हुए स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि अमुक स्थान पर अमुक लेश्या ही होती है। क्योंकि कहीं पर द्रव्यलेश्या की दृष्टि से चिन्तन है, तो कहीं पर भावलेश्या की दृष्टि से और कहीं पर द्रव्य और भाव दोनों का मिला हुआ वर्णन है। तथापि गहराई से अनुचिन्तन करने पर वह विषय पूर्णतया स्पष्ट हो सकता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी जो रंगों की कल्पना की गयी है उनके साथ भी लेश्या का किस प्रकार समन्वय हो सकता है इस पर भी हमने विचार किया है। आगम के मर्मज्ञ मनीषियों को चाहिए कि इस विषय पर शोधकार्य कर नये तथ्य प्रकाश में लाये जायें।

सम्बर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१. **बृहद् वृत्ति, पत्र ६५०**

लेशयति-श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्त रूपा छाया।

२ **मूलाराधना ७/१९०७**

जह बाहिरलेस्साओ, किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स।
अब्भन्तरलेस्साओ, तह किण्हादीय पुरिसस्स॥

३ (क) **गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९४**

वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण॥

(ख) **उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५३९**

४ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४०

५ गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४८९, प० सं० (प्रा०) १।१४२-३।

६ धवला ७, २, १, सू० ३, पृ० ७

७ सर्वार्थसिद्धि २/६, तत्त्वार्थराजवार्तिक २/६/८

८ तत्त्वार्थराजवार्तिक २, ६, ८, पृ० १०९

९ धवला १, १, १, ४, पृ. १४९

१० ततेणं से उसु उड्ढं वेहासं उव्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं अभिहणई वत्तेति लेस्सेत्ति।

—भग० २/५। उ०-६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११ अविहिल्लेसे—भगवती २-२;उ०-१
१२ आचारांग, अ० ५
१३ प्रज्ञापना, पद २
१४ प्रज्ञा० पद, १७ टीका० पृ० ३३३
१५ कर्म द्रव्यलेश्या इति सामान्याऽभिधानेऽपि शरीर नामकर्म द्रव्याण्येव कर्म द्रव्यलेश्या। कार्मण शरीरवत् पृथगेव कर्माष्टकात् कर्म वर्गणा निष्पन्नानि कर्म लेश्या द्रव्यानीति तत्त्वं पुनः।—उत्तरा० अ० ३४ टी० पृ०, ६५०
१६ प्रज्ञापना० १७ टीका, पृ० ३३०
१७ अयदोत्ति छ लेस्साओ, सहतियलेस्सा दु देसविरद तिये।
तत्तो सुक्कालेस्सा, अजोगिठाणं अलेस्सं तु॥—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ५३१
१८ भावलेश्या कषायोदयरंजितायोग प्रवृत्तिरिति कृत्या औदयिकी व्युच्यते,—सर्वार्थसिद्धि अ० २, सू० २
१९ जोग पउत्ती लेश्या कसाय उदयाणु रंजिया होइ।
तत्तो दोण्णं कज्जं बन्ध चउव्वं समुद्दिठं॥—जीवकाण्ड, ४८६
२० (क) उत्तराध्ययन अ० ३४—टी० पृ०. ६५०
(ख) प्रज्ञापना १७, पृ०, ३३१
२१ उत्तराध्ययन, अ० ३४, पृ० ६५०
२२ न लेश्या स्थिति हेतवः किन्तु कषायाः लेश्यास्तु कषायोदयान्तर्गताः अनुभाग हेतव अतएव च स्थितिपाक विशेषस्तस्य भवति लेश्या विशेषेण।—उतरा० ३४, पृ० ६५०
(ख) प्रज्ञा० १७, पृ० ३३१
२३ लेसाणं निक्खेवो च उक्कओ दुविहो उ होइ नायब्बो—५३४
२४ उत्तराध्ययन, ३४।५६
२५ उत्तराध्ययन ३४।५७
२६ उत्तराध्ययन ३४।३
२७ तत्त्वार्थराजवार्तिक १६, पृ० २३८
२८ Sacred Books of the East, Vol. XLV Introduction, p. XXX
२९ अंगुत्तरनिकाय ६-६-३ भाग ३, पृ० ९३
३० दीघनिकाय १।२, पृ० १९, २०
३१ अंगुत्तरनिकाय ६।६।३, भाग ३, पृ० ३५—९३, ९४।
३२ (क) अंगुत्तरनिकाय ६।६।३, भाग ३, पृ० ९३-९४
(ख) दीघनिकाय, ३।१०, पृ० २२५
३३ षड् जीववर्णा परमं प्रमाणं, कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु, हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम्॥—महाभारत, शांतिपर्व, २८०।३३
३४ महाभारत, शांतिपर्व, २८०।३४-४७
३५ महाभारत, शांतिपर्व २९१।४-५
३६ शुक्ल कृष्णे गती ह्येते, जगतः शाश्वतो मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्तते पुनः॥—गीता ८।२६
३७ धम्मपद, पंडितवग्ग, श्लोक १९
३८ पातञ्जल योगसूत्र ४।७
३९ अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः।—श्वेताश्वतर उपनिषद, ४।५
४० सांख्य कौमुदी, पृ० २००
४१ आपः श्वेता क्षितिः पीता, रक्तवर्णो हुताशनः।
मारतो नीलजीमूतः, आकाशः सर्ववर्णकः।
—शिवस्वरोदय, भाषा टीका, श्लो०१५६, पृ० ४२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२ देखिए—"अणु और आभा" ले० प्रो० जे० सी० ट्रस्ट
४३ देखिए—पूज्य प्रवर्तक श्री अंबालाल जी म० अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २५२
४४ उत्तराध्ययन ३४।२१-२२ ।
४५ वही ३४।२२-२४
४६ उत्तराध्ययन सूत्र ३४।२५-२६
४७ वही ३४।२७-२८
४८ वही ३४।२९-३०।
४९ वही ३४।३१-३२
५० आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, पृ०, २४५
५१ लोक प्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ३६३-३८०
५२ जाणग भवियसरीरा तव्वइरित्ता य सापुणो दुविहा ।
कम्मा नो कम्मे या नो कम्मे हुन्ति दुविहा उ ॥३५॥
जीवाणमजीवाणय दुविहा जीवाण होइ नायव्वा ।
भवमभवसिद्धियाणं दुविहाणवि होइ सत्तविहा ॥३६॥
अजीव कम्मनो दव्वलेसा सा दसविहा उ नायव्वा ।
चंदाण य सूराण य गहगण णक्खत्तताराणं ॥३७॥
आभरण छायणा दंसगाण मणि कांगिणी ण जा लेसा ।
अजीव दव्वलेसा नायव्व दसविहा एसा ॥३८॥—उत्तराध्ययन ३४, पृ०, ६५०
५३ जयसिंह सूरि—षट् सप्तमी संयोगजा इयं च शरीरच्छायात्मका परिगृह्यते अन्येस्वौदारिकौदारिकमिश्रमित्यादि भेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपां नोकर्माणि सप्तविधां जीव द्रव्य लेश्यां मन्यते तथा ।
—उत्तरा० ३४, टीका० पृ०, ३५०
५४ ताराओ पञ्च वण्णओ ठिवले साचारिणो —प्रज्ञा० पद २

पुष्कर वाणी

दर्जी वस्त्र को काटता है, फिर भी वह दोषी नहीं है।

डाक्टर मनुष्य के हाथ-पैर आदि अंगों का छेदन करता है, फिर भी वह दंडनीय नहीं है।

राज या मिस्त्री मकान को तोड़ता है, फोड़ता है फिर भी वह अपराधी नहीं है।

इसी प्रकार गुरु या अधिकारी भलाई और सुधार के लिए किसी को ताड़ना, तर्जना तथा दंड आदि देते हैं तो वे आक्रोश के पात्र नहीं, अपितु हितकारी ही कहलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आत्मज्ञान : कितना सच्चा, कितना झूठा ?

✡ मुनि श्री नेमिचन्द्रजी

वर्तमान युग का मानव ज्ञान-विज्ञान में बहुत आगे बढ़ा हुआ है और बढ़ता जा रहा है। ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिए कोई इतिहास पढ़ता है, कोई भूगोल का अध्ययन करता है, कोई ज्योतिषशास्त्र एवं खगोल के अध्ययन से आकाश के ग्रह-नक्षत्र-तारों की गतिविधि का ज्ञान प्राप्त करता है, कोई मानव-विज्ञानशास्त्र को तो कोई मनोविज्ञान को पढ़ता है। इस प्रकार विद्या की विविध शाखाओं में निष्णात बनने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो मनुष्य लाखों बातों को जानता है और जानना चाहता है, वह अपने आपको नहीं जानता, अपने साथ अन्य देहधारियों का क्या लेन-देन है, क्या सम्बन्ध है, इस बात को नहीं जानता और न ही प्रायः जानना चाहता है। कोई अपने आपको मिट्टी का पुतला बताता है, कोई कहता है—शरीर ही सब कुछ है। कोई स्वयं को मन या मस्तिष्क ही मानता है, कोई आस्तिक पुरुष शास्त्रों में लिखित बातों को पढ़-सुनकर कह देता है—'आत्मा के साथ मिले हुए शरीर से युक्त मैं हूँ।' कोई कहता है—मैं मनुष्य हूँ। कोई अपने का हिन्दू, मुस्लिम, जैन, वैष्णव आदि बताता है, तो कोई हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, अमेरिकी, अँग्रेज, जर्मन आदि संज्ञाओं से अपने आपको अभिव्यक्त करता है। इसी अज्ञानता या मिथ्यामान्यता का परिणाम यह हुआ कि आज मनुष्य स्वयं को देह मानकर काले-गोरे के झगड़े में, अमेरिकन-रूसी-चीनी-जापानी आदि के संघर्ष में, भाषा और प्रान्त आदि के बखेड़े में या हिन्दू-मुस्लिम आदि के विवाद में पड़ गया है तथा केवल औपचारिक रूप से या परम्परागत रूढ़ि के तौर पर आत्मा की सत्ता मानकर, किन्तु वास्तविक रूप से तो अपने शरीर को ही सब कुछ मानकर इस दृश्यमान शरीर-चेष्टाओं को देख कर, तथा दुनिया के इतने कार्यकलाप एवं हरकतें इसी शरीर, मन आदि की देखकर वह कह बैठता है या व्यवहार करता है कि यह सब खेल शरीर और मन का है। इससे भिन्न कोई चीज समझ में नहीं आती। यही कारण है कि मानव अपने-आपको आस्तिक मानते हुए भी तथा आगमों एवं धर्मशास्त्रों आदि के पठन-श्रवण से अपने आपको आत्मा समझते हुए भी व्यवहार आत्मभाव का नहीं करता, आत्मभाव की कोई कल्पना नहीं करता, आत्मभाव की अभिव्यक्ति उसके किसी कार्यकलाप से प्रगट नहीं होती, उसके कार्यों, प्रवृत्तियों या व्यवहारों से प्रायः यही मालूम होता है कि वह अभी देहभाव में ही रमण करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, आदि में इतना बुरी तरह फँसा हुआ प्रतीत होता है, कि कोई यह नहीं कह सकता है कि यह व्यक्ति आत्मवादी है। बड़े-बड़े तथाकथित अध्यात्मज्ञानियों के व्यवहार को देखने से असलियत का पता लग जायगा कि उनका अध्यात्मवाद केवल घोटा हुआ है, पोथी का बैंगन है, परोपदेशे पाण्डित्यम् है, थोथे गाल बजाने का है, आत्मा को यों नहीं, यों मानो, इस प्रकार के निरर्थक विवाद का विषय है, अथवा आत्मा-आत्मा की रट लगा कर अपने आपको अध्यात्मज्ञानी कहलाने का महज एक रोग है। किन्तु वास्तव में, उनके जीवन-व्यवहार में उनके लेन-देन के मामलों में उनकी दैनिक चर्या में उनके प्रतिदिन के कार्यकलापों में, उनके व्यवसाय में या उनके अपने परिवार समाज या धर्मसंघ में कहीं आत्मभाव की, आत्मीयता की, आत्मिक व्यवहार की गन्ध तक देखने को नहीं मिलती। वे यही समझ लेते हैं—आत्मा तो केवल कहने-रटने या प्रदर्शन करने की वस्तु है, इसका व्यवहार में कोई उपयोग नहीं है। आत्मा तो निश्चय में ही सीमित रहता है, व्यवहार में आते ही वह छूमंतर हो जाता है। अथवा आत्मा या अध्यात्म तो उपदेश का विषय है, व्यवहार में उसे लाएँगे तो सारा स्वार्थ-भंग हो जाएगा, सारी रागद्वेषजनित मान्यताएँ खत्म हो जाएँगी, सारे भेद-विभेद चूर-चूर हो जायेंगे, मन के बाँधे हुए सारे ही हवाई किले ढह जायेंगे, कषायों का सारा खेल ही खत्म हो जाएगा ? क्या आत्मा को मानने, जानने और हृदयंगम करने वाला व्यक्ति दूसरों के साथ मान्यताभेद, कल्पित जातिभेद, रंगभेद, प्रान्तभेद, भाषाभेद, या राष्ट्रभेद को लेकर घृणा, विद्वेष, वैर-विरोध या उपद्रव कर सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ? क्या जरा-से विचारभेद के कारण वह दूसरे की मान्यताओं के आधार पर लिखे हुए शास्त्रों को जला सकता है, पानी में डुबा सकता है ? या दूसरी मान्यता या सम्प्रदाय के अनुयायी व्यक्तियों को देखकर मन में विद्वेष या वैरभाव ला सकता है ? अथवा क्या अध्यात्मज्ञानी अपने अनुयायियों को दूसरे सम्प्रदाय, मान्यता या धर्म के मानने वालों को मारने-पीटने के लिए उकसा सकता है ? अथवा क्या ऐसा आत्मवादी आत्मधर्म को भूलकर शरीर को ही पुष्ट करने में, उसे ही खान-पान से सन्तुष्ट करने में और शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों पर मोह, ममत्व या आसक्तिभाव रखने में संलग्न रह सकता है ? क्या आत्मा-आत्मा की रट लगाने वाला तथाकथित आत्मवादी न्याय, नीति या मानवता को भी तिलांजलि देकर, या अपने व्यवसायिक व्यवहार में धोखा-धड़ी झूठफरेब या अन्याय-अनीति चलाकर यह कह सकता है, कि आत्मा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं, यह तो शरीर का खेल है, यह तो इस देह की लीला है। परभावों की ओट लेकर क्या कोई यह कह सकता है कि यह चोरी तो मैंने नहीं की, या यह व्यभिचार तो मैंने नहीं किया, यह तो शरीर का काम था, आत्मा-आत्मा में बरत रही है, उसका इन कार्यों से क्या वास्ता ? सचमुच यदि इसी प्रकार का अध्यात्मवाद हो तो वह समाज, राष्ट्र और धर्मसंघ के लिए भयंकर हिंसा और अराजकता का कारण है ! इन्द्रियाँ-इन्द्रियों में बरत रही हैं, मैं अपनी आत्मा में स्थित हूँ, ऐसा कहकर कोई इन्द्रियों से बुरे काम करता है, हानिकारक हरकतें करता है, हाथों से चोरी करता है, किसी का धन छीनता है, किसी को धक्का देता है, पैरों से किसी को कुचलता है, ठोकर मारता है, जीभ से किसी को गाली देता है, निन्दा-बुराई करता है, अपशब्द कहता है, या झूठ-फरेब करता है, धोखा देता है, आँखों से क्रूरता बरसाता है या किसी को बुरी नजर से देखता है, कानों से अश्लील शब्द, गीत, या कामोत्तेजक ध्वनि सुनता है, किसी की निन्दा-बुराई सुनता है, अथवा मन-मस्तिष्क से किसी के प्रति बुरे विचार करता है, द्वेष, वैर-विरोध, घृणा या मोह-ममत्व के भावों में डूबता-उतराता रहता है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि ऐसा व्यक्ति सच्चे माने में अध्यात्मवादी है ?

इन और ऐसे ही प्रश्नों पर गहराई से विश्लेषण और मन्थन करके आप स्वयं निर्णय कीजिए कि आत्मज्ञानी, आध्यात्मिक या अध्यात्मवादी कैसा और कौन हो सकता है ?

आत्मा के विषय में उपर्युक्त प्रश्नावली बहुत ही लम्बी की जा सकती है, परन्तु मूल बात यह है कि आत्मा को जानने-मानने का प्रश्न इतना विकट नहीं है, जितना विकटतम आत्मा को छानने का प्रश्न है। क्योंकि आत्मा को शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं से जब व्यक्ति पृथक्करण करके सोचेगा तो उसे स्वयमेव पता चल जाएगा कि अमुक व्यवहार, प्रवृत्ति या कार्य आत्मा या आत्मा से सम्बन्धित है या आत्मेतर पदार्थ से सम्बन्धित है। जब आत्मवादी आत्मा से अतिरिक्त समस्त पदार्थों को परभाव—पराई चीज मानता है, तो अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार, मद, दम्भ, घृणा, वैर-विरोध, कलह, आसक्ति, ममता और तृष्णा आदि सबके सब पर-भाव ही ठहरते हैं। अपने माने जाने वाले शरीर, परिवार जाति, धर्म-सम्प्रदाय भी कहाँ अपने रहेंगे ? वे भी परभाव की कोटि में गिने जायेंगे। और शिष्य-शिष्या, अनुयायी, शास्त्र, आदि भी तब कहाँ अपने माने जाएँगे ? जब व्यक्ति का शरीर, मन, इन्द्रियाँ, मस्तिष्क आदि भी उसके अपने नहीं हैं, वह (आत्मा) इन सबसे भिन्न है। ये सब तो संयोगज हैं; तब सम्प्रदाय, शिष्य-शिष्या आदि कहाँ अपने रहे ? ये सब शरीर के रहते भूल से अपने माने जाते हैं, वास्तव में ये अपने हैं ही नहीं।

आप कहेंगे कि तब तो अध्यात्मज्ञानी गृहस्थ या साधु कोई भी अपना शारीरिक कार्य नहीं कर सकेगा या शरीर से कोई भी प्रवृत्ति नहीं करेगा, अथवा शरीर से सम्बन्धित सामाजिक व्यवहार से भी अपना हाथ खींच लेगा, आजीविका का कोई भी कार्य नहीं कर सकेगा ? संसार से एकदम उदासीन, तटस्थ निश्चेष्ट, और मूक बन कर बैठ जायगा ? नहीं, ऐसा नहीं है। शरीर आदि परभावों के प्रति उसके मन-मस्तिष्क में जो मैं और मेरेपन की, अहंत्व-ममत्व की वृत्ति जड़ जमाई हुई है, अपने-पराये का भेद गहरा घुसा हुआ है, स्व-पर का राग-द्वेषमूलक द्वैविध्य उसके दिमाग में बर्फ की तरह जमा हुआ है, उसे उखाड़ना है, उसे पृथक् करना है। जब वह पृथक् हो जायगा, तब आत्मा समत्व अमृतपथ पर चलने लगेगा और तब शरीर आदि को लेकर वह एक के प्रति मोह या राग व दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष या ईर्ष्या आदि नहीं करेगा। उसके जीवन में समत्व का व्यवहार अठखेलियाँ करेगा। इसीलिए आचार्य अमितगति ने आत्मा की इस गुत्थी को सुलझाने का सरलतम उपाय वीतराग प्रभु की कृपा से प्राप्त करने की प्रार्थना की है—

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्ति, विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—हे वीतराग प्रभो ! आपकी कृपा से मुझ में ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाय कि मैं समस्त दोषों से रहित विशुद्ध, निर्मल इस दोषमुक्त एवं अनन्तशक्तिसम्पन्न आत्मा को शरीर से उसी प्रकार अलग कर सकूं, जिस प्रकार तलवार को म्यान से अलग किया जाता है। यह है—अध्यात्मवादी का लक्षण ! यह है आत्मा के स्वरूपज्ञ का व्यवहार-दर्शन !

जीवन के प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक प्रवृत्ति और हर क्रिया में, जब इस प्रकार का आत्म-व्यवहार, आत्मज्ञान का स्पष्ट अभिव्यञ्जन हो जाएगा, तब समझ लो कि आत्मा का वास्तविक ज्ञान उक्त व्यक्ति में हो गया। ऐसा सच्चा आत्मज्ञान जिसको हो जाता है, वह चाहे गृहस्थ में रहे, चाहे साधुजीवन में—वह किसी पर द्वेष, मोह, घृणा, क्रोध, अहंकार, छल, झूठ आदि नहीं कर सकता, और न ही अपने माने जाने वाले शरीर या शरीर से सम्बन्धित सजीव (शिष्य-शिष्या, सम्प्रदाय, परिवार आदि) या निर्जीव (उपाश्रय, मठ, मन्दिर, घर, दूकान, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, भाषा आदि) पर उसकी ममता, मूर्च्छा, मोह या आसक्ति हो सकती है। इसका मतलब यह नहीं है कि आत्मवादी निश्चेष्ट, मूक, उदासीन या तटस्थ होकर चुपचाप बैठ जाएगा। वह अपनी मर्यादा में जो भी प्रवृत्तियाँ होंगी, उन्हें करेगा, किन्तु करेगा उसी दृष्टि से, जोकि आत्मगुणों में वृद्धि करने वाली होंगी, देहभाव घटाने वाली होंगी अथवा ममत्वभाव से दूर रखने वाली होंगी।

यही अध्यात्मभाव को अभिव्यक्त करने का माध्यम है, यही जीवन की अध्यात्मदृष्टि है, यही स्वभाव-रमणता की निशानी है, यही सुख-शान्ति का सरलतम पथ है; यही सच्चा अध्यात्मयोग है।

आत्मा को सच्चे माने में जानने, मानने और हृदयंगम करने की यह बात कोई कठिन नहीं है, केवल जीवन की दिशा को बदलने की जरूरत है; व्यक्ति को अपना मुख मोड़ने की जरूरत है। जो दिशा इस समय आत्मज्ञान के भ्रम के कारण भौतिक पदार्थों के प्रति ममत्व आदि की चल रही है, उसी दिशा को वहाँ से समत्व की ओर मोड़ना है। आसक्तिमुखी जीवन को अनासक्तिमुखी करना है, ज्ञान की भ्रान्ति से अभिभूत मन को स्वभावरमणता से ओत-प्रोत करना है।

☆

पुष्कर वाणी

जो बालक अभी चलना सीख रहा है, वह यदि दिन में कई बार गिरता है तो न तो उसे कोई विशेष पीड़ा होती है, और न कोई उस पर हँसता ही है। किन्तु बड़ा आदमी यदि चलता-चलता गिर पड़ता है तो उसे भी गम्भीर चोट लगती है और देखने वाले भी उस पर हँसते हैं।

अपढ़, कम समझ और नौसिखिया व्यक्ति यदि अपने जीवन-क्रम में बार-बार भूल करता है, पथ से चलित होता है तो यह उतना खतरनाक एवं हास्यास्पद नहीं होता, किन्तु जो पढ़ा-लिखा है, समझदार कहलाता है, और स्वयं को सुशिक्षित समझता है, वह यदि जीवन में बार-बार भटकता है, भूलें करता है तो स्वयं उसके लिए भी खतरनाक है, और समाज में भी वह हँसी का पात्र बनता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैनधर्म की वैज्ञानिकता और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सन्दर्भ

—आचार्य डा० राजकुमार जैन, एम० ए० एच० पी० ए०

चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से आज भारत में मुख्य रूप से एलोपैथी और आयुर्वेद ये दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। आयुर्वेद मूलतः भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की एक कड़ी है और आदिकाल से भारत में मनुष्यों के जीवन के साथ मिलकर चल रही है। इसके विपरीत एलोपथी पाश्चात्य जगत की देन है जो अंग्रेजों के समय में भारत में भारतवासियों पर थोपी गई थी। इसका उद्भवकाल १८वीं शताब्दी माना जाता है। इससे पूर्व इसके इतिहास की कोई झलक नहीं मिलती। इस प्रकार ये दोनों पद्धतियाँ आज भारत में जनता की सेवा करते हुए मानव समाज का उपकार कर रही हैं। चिकित्सा की दृष्टि से प्राचीन काल की अपेक्षा आज भारत में बिल्कुल ही विपरीत स्थिति हो गई है। विगत दिनों प्राप्त सरकारी आँकड़ों से विदित होता है कि आज भी देश की ८० प्रतिशत जनता देहाती क्षेत्र में और शेष २० प्रतिशत जनता शहरी क्षेत्र में रहती है। सामान्य चिकित्सा और चिकित्सा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण साधनों की उपलब्धि का जहाँ तक प्रश्न है उसके अनुसार सम्पूर्ण चिकित्सा सुविधा का ८० प्रतिशत शहरी क्षेत्र में और शेष २० प्रतिशत का ग्रामीण क्षेत्र में विकास है। इस प्रकार शहरों की केवल २० प्रतिशत जनता को ८० प्रतिशत चिकित्सा सुविधा उपलब्ध है और ग्रामीण क्षेत्र की जनता, जो देश का ८० प्रतिशत भाग है, को केवल २० प्रतिशत चिकित्सा सुविधा उपलब्ध है। इसके जो भी कारण हों उनकी गहराई में न जाकर मैं केवल जैन-दर्शन की दृष्टि से आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ तथ्यपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित अपने विचारों को अभिव्यक्त करना चाहता हूँ।

जैन-दर्शन और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में सैद्धान्तिक, प्रायोगिक या वैचारिक दृष्टि से यद्यपि कोई विशेष समानता प्रतीत नहीं होती और न ही दोनों के दार्शनिक पक्ष में कोई अनुपूरकता की स्थिति है, तथापि इस दृष्टि से यह विषय महत्त्वपूर्ण है कि मानव समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की वर्तमान उपलब्धियों से लाभान्वित हो रहा है। जिस शरीर के माध्यम से जैन-दर्शन आत्म-साधन और आत्मानुशीलन हेतु मनुष्य को प्रेरित करता है उस शरीर को रोगमुक्त बनाकर उसे स्वस्थ रखने में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का वर्तमान समय में अपूर्व योगदान रहा है। आत्मा के बिना शरीर का कोई महत्व नहीं है और शरीर के सहयोग के बिना आत्मा की मुक्ति मिलना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से दोनों एक-दूसरे के अनुपूरक हैं। जैन-दर्शन यदि आत्मा को विशुद्ध स्वरूप प्रदान करने का मार्ग प्रशस्त करता है तो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मानव शरीर को स्वास्थ्य रूपी विशुद्धता प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से जैन-दर्शन और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान दोनों को अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर सम्बन्धित माना जा सकता है, किन्तु दोनों का सम्बन्ध ३ और ६ की भाँति ३६ के समान परस्पर विपरीत भावात्मक होगा। क्योंकि जैन-दर्शन आध्यात्मिकता का पोषक है जबकि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भौतिकता का। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा वर्तमान युग में मानव समाज का उपकार किस रूप में किस प्रकार किया जा रहा है ? इस पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है। तत्पश्चात् उस पृष्ठभूमि के आधार पर जैनदर्शन के साथ उसका सम्बन्ध निरूपित किया जायगा।

वर्तमान वैज्ञानिक, भौतिकवादी एवं प्रगतिशील युग में मानव की समस्त प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी अधिक हैं। इसी प्रकार मानव की समस्त प्रवृत्तियों का आकर्षण केन्द्र वर्तमान में जितना अधिक भौतिकवाद है उतना आध्यात्मवाद नहीं है। यही कारण है कि आज का मानव भौतिक नश्वर सुखों में ही यथार्थ सुख की अनुभूति करता है, जिसका अन्तिम परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वर्तमानकालीन सतत चिन्तन, अनुभूति की गहराई, अनुशीलन की परम्परा और तीव्रगामी विचार-प्रवाह सब मिलकर भौतिकवाद के विशाल समुद्र में इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलीन हो गए हैं कि जिससे अन्तर्जगत की समस्त प्रवृत्तियाँ ही अवरुद्ध हो गई हैं। इसका एक यह परिणाम अवश्य हुआ है कि वर्तमान मानव समाज को अनेक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हुई हैं, जिससे सम्पूर्ण विश्व में एक अभूतपूर्व क्रान्ति का उद्भव हुआ है। यह क्रान्ति आज वैज्ञानिक क्रान्ति के नाम से कही जाती है और इससे होने वाली उपलब्धियाँ वैज्ञानिक उपलब्धियाँ कहलाती हैं। आधुनिक विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में ये वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हुई हैं और हो रही हैं। उन्हीं उपलब्धियों में से एक है आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की उपलब्धि। इसे एलोपैथी या आधुनिक चिकित्सा प्रणाली (Modern Medical Science) भी कहा जाता है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की समस्त उपलब्धियाँ भौतिकवाद की देन हैं और उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ भौतिकता की ओर ही उन्मुख हैं। इसी सिद्धान्त पर आधारित आधुनिक चिकित्सा प्रणाली भी भौतिकता से प्रेरित और भौतिकवाद की ओर अभिमुख है। मेरे उपर्युक्त कथन की पुष्टि निम्न कारणों पर आधारित है।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का मुख्य लक्ष्य केवल शरीर के रोगों की चिकित्सा कर उनका उपशम करना है, ताकि रोगों से मुक्त होकर शरीर भौतिक सुखों का उपभोग कर सके। रोग की चिकित्सा के द्वारा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान शारीरिक स्वस्थता तो प्रदान करता है किन्तु शारीरिक आभ्यन्तरिक शुद्धि तथा मानसिक स्वस्थता के लिए उसके पास कोई साधन नहीं है। इसका कारण संभवतः मुख्य रूप से यह हो सकता है कि मन का प्रत्यक्ष न होने से अथवा मन की स्थिति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का भिन्न दृष्टिकोण होने से उन्होंने इस विषय में दूसरे ढंग से विचार किया है। अभिप्राय यह है कि आधुनिक विज्ञान मूलतः प्रत्यक्षवादी होने के कारण उसने इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध किए जाने वाले विषयों के अनुसन्धान में ही अपने समस्त साधनों को केन्द्रित किया है। आधुनिक विज्ञान के समस्त साधन भौतिक होने के कारण वे केवल भौतिक वस्तुओं के अनुसन्धान में ही समर्थ हैं; अन्य विषयों के अनुसन्धान में नहीं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के समस्त साधन चाहे वे परीक्षण के लिए प्रयुक्त किए जाते हों अथवा चिकित्सा के लिए, पूर्णतः भौतिक हैं। वे साधन केवल वहीं तक सक्षम हैं जहाँ तक उन्हें विषय का प्रत्यक्ष है, उससे आगे या उसके अतिरिक्त उनकी गति नहीं है। इसी प्रकार वर्तमान बीसवीं शताब्दी में आधुनिक विज्ञान ने महत्त्वपूर्ण साधनों का आविष्कार कर उनके द्वारा रोग निदान के सम्बन्ध में गूढ़तम विषयों की जानकारी प्राप्त करने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। चिकित्सा विषयक अनेक उपकरणों द्वारा कष्टसाध्य व्याधियों को निर्मूल करने तथा रोग समूह पर विजय प्राप्त करने में अद्वितीय सफलता अर्जित की है। तथापि उसकी सम्पूर्ण सफलता और श्रेय एक ऐसी परिधि में सीमित है जो केवल इहलौकिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ है।

चिकित्सा का सामान्य अभिप्राय होता है रोगापनयन। चिकित्सा द्वारा रोग का निवारण होने पर शरीर स्वस्थ होता है और शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ मनुष्य समस्त भोगोपभोग योग्य विषयों का आनन्द प्राप्त करता है। चिकित्सा विधि सामान्यतः दो प्रकार की होती है—एक मुख द्वारा औषधि सेवन अर्थात् आभ्यन्तरिक प्रयोग और दूसरी बाह्य क्रिया विधि अर्थात् विविध उपकरणों या साधनों द्वारा शल्य क्रिया करके अवयव विशेषगत विकृति को दूर करना। ये दोनों ही विधियाँ रोग का शमन या व्याधि को निर्मूल करने में समर्थ हैं। किन्तु इनके द्वारा मानसिक शुद्धि या मानसिक विकारोपशमन किसी भी प्रकार संभव नहीं है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा यद्यपि मानसिक विकृति और उसकी चिकित्सा के सम्बन्ध में भी पृथक् से अनुशीलन चिन्तन और मनन हुआ है किन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण उसने जिस वस्तु को मन की संज्ञा दी है वह भारतीय दर्शनशास्त्र एवं जैन-दर्शन में प्रतिपादित मन से सर्वथा भिन्न वस्तु है। अतः आधुनिक चिकित्सा विज्ञान सम्मत मानसशास्त्र और जैन-दर्शन में प्रतिपादित मानसशास्त्र में मौलिक अन्तर होने से जैनदर्शन उसे मानसिक चिकित्सा विज्ञान स्वीकार नहीं कर सकता।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भौतिकवाद से प्रेरित होने के कारण उसका अपना कोई स्वतन्त्र मौलिक दर्शन नहीं है। यही कारण है कि दार्शनिक क्षेत्र में उसकी गतिविधि का कोई समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया। आधुनिक विद्वानों के अनुसार यह तर्क प्रस्तुत किया जाता रहा है कि पाश्चात्य-दर्शन की चिन्तनधारा का पर्याप्त प्रभाव आधुनिक चिकित्सा विज्ञान पर पड़ा है और उसने उसी परिप्रेक्ष्य में अपने सिद्धान्तों का निर्धारण कर एक नवीन दिशा की ओर अपने कदम बढ़ाए जो अब भी नित नवीन अन्वेषणों के साथ सतत रूप से आगे बढ़ते जा रहे हैं और अपनी नूतन उपलब्धियों के माध्यम से लोक-कल्याण में संलग्न हैं। वस्तुतः यह तथ्यपूर्ण है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का स्वतन्त्र मौलिक दर्शन न होते हुए भी वह पाश्चात्य दर्शन से न केवल प्रभावित है अपितु अनु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणित है। इसका कारण संभवतः यही है कि दोनों का उद्‌भव स्थल एक ही है और दोनों में विचार साम्य की स्थिति है। इस आधार पर अथवा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का अनुशीलन करने पर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वह मनुष्य को शारीरिक दृष्टि से अधिक महत्त्व देता है, मानसिक दृष्टि से कम और आत्मा या आध्यात्मिक दृष्टि से तो बिल्कुल नहीं। शारीरिक दृष्टि से मनुष्य का महत्त्व यद्यपि अस्थायी है और शरीर का विनाश हो जाने पर उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। किन्तु यावत् काल शरीर विद्यमान रहता है तब तक वही महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त शरीर के जीवन के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि शरीर में कुछ विशिष्ट द्रव्यों का संयोग ही शरीर को जीवित रखकर उसे जीवन प्रदान करता है और उन विशिष्ट द्रव्यों का विघटन शारीरिक जीवन के अन्त का कारण है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक इस प्रकार के अनुसन्धान में सफल नहीं हुए हैं कि शरीर को जीवन शक्ति प्रदान करने वाले वे विशिष्ट घटक या द्रव्य कौन-कौन से हैं। उनका दावा है कि एक न एक दिन वे उसे खोज निकालने में समर्थ होंगे और इस प्रकार वे मानव मृत्यु पर सदा सर्वदा के लिए विजय प्राप्त कर सकेंगे। विज्ञान द्वारा प्रतिपादित भौतिक अनुसन्धान संभवतः युग-युगों तक प्रयत्नशील रहेगा और असफलता की एक-एक सीढ़ी पार करता हुआ इस दिशा में आगे बढ़ता रहेगा। असफलता की चरम परिणति संभवतः उसके समूल विनाश में हो क्योंकि नश्वरता की गोद में पले हुए भौतिकवाद की चरम परिणति उसके विनाश में ही होती है, यह सृष्टि का अटल नियम है।

जैन-दर्शन का महत्व आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से है। चिकित्सा की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है और न ही जैन-दर्शन में चिकित्सा के कोई निर्देशक सिद्धान्त निरूपित हैं। किन्तु चिकित्सा का सम्बन्ध मानव स्वास्थ्य से है और स्वास्थ्य की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्त जैन-दर्शन द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं। स्वास्थ्योपयोगी जैन-दर्शन के वे सिद्धान्त भले ही स्वास्थ्य की दृष्टि से वर्णित न किए गए हों, किन्तु मानव मात्र के लिए मानव शरीर की दोषों से रक्षा के निमित्त आध्यात्मिक शुद्धि हेतु प्रतिपादित वे नियम निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं। आध्यात्मिक शुद्धि एवं आत्मकल्याण की भावना से अभिभूत मनुष्य के लिए भले ही उसके शरीर और उसके शारीरिक स्वास्थ्य का कोई महत्व न हो किन्तु एक गृहस्थ एवं श्रावक को तो शरीर की रक्षा का उपाय करना ही पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार अन्यान्य दोषों से आत्मा की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य है उसी प्रकार रोगों से शरीर की रक्षा करना भी उसका परम कर्तव्य है। शरीर की रक्षा के बिना अथवा स्वस्थ शरीर के बिना धर्म साधन सम्भव नहीं है। धर्म का अभिप्राय मानव जीवन की निष्क्रियता भी नहीं है कि धर्म के नाम पर मनुष्य स्वयं को समस्त लौकिक कर्मों से विरत कर ले। अपितु नैतिक आचरण की शुद्धता एवं संयम पूर्ण जीवन ही वास्तविक धर्म है। जीवन की उपयोगिता शरीर के बिना नहीं है, अतः व्यावहारिक जीवन में शरीर की रक्षा करना तथा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य रक्षण हेतु सदैव सजग रहना मानव मात्र का परम कर्तव्य है। चारों ही पुरुषार्थ की सिद्धि शरीर के ही माध्यम से होती है और शरीर का स्वास्थ्य ही इनका मूल आधार है। आचार्यों के शब्दों में—

"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।"

यह महत्वपूर्ण तथ्य जो आचार्यों की गहन दृष्टि का परिणाम है लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से उपयोगी एवं सार्थक है। अतः अपने शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा हेतु सतत प्रयत्नशील रहना हमारा नैतिक उत्तरदायित्व हो जाता है। शरीर के प्रति मोह नहीं रहना आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं है कि शरीर की पूर्ण उपेक्षा की जाय। जान-बूझकर शरीर की उपेक्षा करना एक प्रकार का आत्मघात है और आत्मघात को शास्त्रों में सबसे बड़ा दोष माना गया है। अतः धर्म साधन हेतु आहार आदि के द्वारा शरीर का साधन करना तथा अहितकारी विषयों से उसकी रक्षा कर विकार एवं रोगों से उसे बचाना आवश्यक है। एकान्ततः शरीर की उपेक्षा करने का उल्लेख किसी शास्त्र में नहीं है। जैनधर्म में भी आत्म-साधना के समक्ष शरीर को यद्यपि नगण्य माना गया है किन्तु पूर्णतः उसकी उपेक्षा का निर्देश नहीं दिया गया। अतः यावत् काल शरीर की आयु है तावत् काल उसे स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ पर यह ध्यान योग्य है कि शरीर को स्वस्थ रखना और उसे रोगों से बचाना एक भिन्न बात है और शरीर से मोह रखते हुए उसके माध्यम से भौतिक सुखों का उपभोग करना एक भिन्न बात है। जैनधर्म शरीर को भौतिक सुखों से विरत रखने का निर्देश तो देता है किन्तु स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी सात्विक उपायों के सेवन का निषेध नहीं करता।

मानव शरीर के स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से तथा अहित विषयों में शरीर की प्रवृत्ति को रोकने के लिए जैनधर्म ने मनुष्य के दैनिक आचरण तथा उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यवहार में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सिद्धान्तों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का प्रतिपादन किया है जो शारीरिक व मानसिक दृष्टि से तो उपयोगी हैं ही, आत्मशुद्धि, आध्यात्मिक विकास एवं सात्त्विक जीवन निर्वाह के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जैनधर्म में प्रतिपादित सिद्धान्त जहाँ मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग को प्रशस्त करते हैं वहाँ लौकिक किंवा व्यावहारिक जीवन के उत्थान में भी सहायक होते हैं। सात्त्विक जीवन निर्वाह हेतु मनुष्य को प्रेरित करना उनका मुख्य लक्ष्य है। अतः स्वास्थ्य रक्षा एवं आरोग्य की दृष्टि से जैनधर्म आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अत्यन्त निकट है। क्योंकि जीवन की कसौटी पर कसे हुए सिद्धान्त विज्ञान की तुला में जब समानता प्राप्त कर लेते हैं तो जीवनोपयोगी उन सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार प्राप्त हो जाता है। अतः मानव जीवन की सार्थकता का निर्वाह करने वाले, मन-वचन-काय में शुद्धता उत्पन्न करने वाले, सात्त्विक एवं मानवोचित विशुद्ध भावों का उद्भव करने वाले नियम और सिद्धान्त जब प्रकृति के साँचे में ढल जाते हैं तो स्वतः ही वैज्ञानिकता कि परिधि में आ जाते हैं। उनकी पूर्णता ही उनकी वैज्ञानिकता है।

प्रकृति और विकार के सन्दर्भ में कहा जाता है कि प्राणि-संसार में मृत्यु ही प्रकृति है और जीवन विकार है। इस कथन की सार्थकता वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक है। लौकिक दृष्टि से विकार (जीवन) की प्रकृति आरोग्य है और आरोग्य का आधार शरीर है। शरीर का विनाश अवश्यंभावी है। अतः उसका अन्तिम परिणाम मृत्यु है। निष्कर्षरूपेण दृष्टि की भिन्नता होते हुए भी लक्ष्य केवल एक ही रहता है। इसी प्रकार स्वास्थ्य साधन, शरीर रक्षा एवं आरोग्य लाभ के समन्वित लक्ष्य हेतु जैनधर्म एवं आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पारस्परिक दूरी होते हुए भी आंशिक रूपेण ही सही, बहुत कुछ निकटता एवं पारस्परिक एकता अवश्य है।

व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त किए जाने वाले सामान्य नियम कितने उपयोगी और स्वास्थ्य के लिए हितकारी होते हैं यह उनके आचरित करने के बाद भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। एक जैन गृहस्थ के यहाँ साधारणतः इसका तो ध्यान रखा ही जाता है कि वह जल का उपयोग छानकर करे, सूर्यास्त के पश्चात् भोजन न करे, यथासम्भव कन्दमूल वस्तुओं (लहसुन, प्लाण्डु, आलू, अरबी आदि) का प्रयोग न करे, मद्यपान, धूम्रपान आदि व्यसनों का सेवन न करे, जो वस्तुएँ दूषित या मलिन हों और जिनमें जन्तु आदि उत्पन्न हो गए हों उनका सेवन न करे इत्यादि। धार्मिक दृष्टि से विरोध की भावना से प्रेरित अथवा स्वयं को अत्यधिक आधुनिक प्रगतिशील कहने वाले व्यक्ति भले ही जैनधर्म के उपर्युक्त नियमों को रूढ़िवादी, धर्मान्धतापूर्ण, थोथे एवं निरुपयोगी कहें, किन्तु स्वास्थ्य के लिए उनकी उपयोगिता को वैज्ञानिक आधार पर अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। जो नियम जीवन को सात्त्विकता की ओर ले जाकर जीवन ऊँचा उठाने वाले हों, शरीर की रक्षा और स्वास्थ्य का सम्पादन करने वाले हों, वे नियम केवल इसी आधार पर अवहेलना किए जाने योग्य नहीं हैं कि धार्मिक या सात्त्विक दृष्टि से भी उनका महत्व है। स्वास्थ्य विज्ञान का ऐसा कौन-सा ग्रन्थ है अथवा संसार की प्रचलित चिकित्सा प्रणालियों में ऐसी कौनसी प्रणाली है जो शुद्ध जल के सेवन का निषेध करती है? मद्यपान या धूम्रपान के सेवन का उल्लेख किस चिकित्सा शास्त्र में किया गया है? अशुद्ध और अशुचि भोजन का निषेध कहाँ नहीं किया गया? इस प्रकार उपर्युक्त समस्त नियम एवं सिद्धान्त तथा इसी प्रकार के अन्य सिद्धान्त भी केवल सैद्धान्तिक या शास्त्रीय नहीं हैं, अपितु पूर्णतः व्यावहारिक एवं नित्योपयोगी हैं।

आधुनिक विज्ञान के प्रत्यक्ष परीक्षणों द्वारा यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि जल में असंख्य सूक्ष्म जीव एवं अनेक अशुद्धियाँ होती हैं। अतः जल को शुद्ध करने के पश्चात् ही उसका उपयोग करना चाहिए। जल की कुछ भौतिक अशुद्धियाँ तो वस्त्र से छानने के बाद दूर हो जाती हैं। कुछ जीव भी इस प्रक्रिया द्वारा जल से पृथक् किए जा सकते हैं अतः काफी अंशों में जल की अशुद्धि छानने मात्र से दूर हो जाती है और कुछ समय के लिए जल शुद्ध हो जाता है। किन्तु जल की शुद्धि वस्तुतः जल को उबालने से होती है। छने हुए जल को अग्नि पर उबालने से जलगत सभी प्रकार की अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं और जल पूर्ण शुद्ध होकर निर्मल बन जाता है। जैनधर्म मानव शरीर को जल सम्बन्धी समस्त दोषों से बचाने और शरीर को नीरोग रखने की दृष्टि से शुद्ध, ताजे, छने हुए और यथासम्भव उबाल कर ठण्डा किए हुए जल के सेवन का निर्देश देता है। क्या इस निर्देश और नियम की व्यावहारिकता अथवा उपयोगिता को अस्वीकार किया जा सकता है?

गृहस्थ के व्यावहारिक जीवन को उन्नत बनाने हेतु तथा शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शुद्ध ताजे और निर्दोष भोजन की उपयोगिता स्वास्थ्य विज्ञान द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकार की गई है। मानव-जीवन एवं मानव शरीर को स्वस्थ, सुन्दर व नीरोग रखने के लिए तथा आयु पर्यन्त शरीर की रक्षा के लिए निर्दोष, परिमित, सन्तुलित एवं सात्त्विक आहार ही सेवनीय होता है। आहार में कोई भी वस्तु ऐसी न हो जो स्वास्थ्य के लिए अहितकर अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोगोत्पादक हो। अतः सदैव शुद्ध और ताजा भोजन ही हितकर होता है। आहार सम्बन्धी विधि-विधान के अनुसार उचित समय पर भोजन करने का बड़ा महत्व है। जो लोग समय पर भोजन नहीं करते वे अक्सर आहार एवं उदर सम्बन्धी व्याधियों से पीड़ित रहते हैं। आहार (भोजन) के समय के विषय में जैनधर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह तो निर्देशित नहीं किया गया है कि मनुष्य को भोजन किस समय और कितने बजे तक कर लेना चाहिए? किन्तु उसकी मान्यता एवं दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य को सूर्यास्त के पश्चात् रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। इसका धार्मिक महत्व तो यह है ही कि रात्रि काल में भोजन करने से अनेक जीवों की हिंसा होती है, किन्तु इसका वैज्ञानिक महत्व एवं आधार यह है कि हमारे आसपास के वातावरण में अनेक ऐसे सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते हैं जो दिन में सूर्य की किरणों से नष्ट हो जाते हैं। रात्रि में सूर्य किरणों के अभाव में वे सूक्ष्म जीवाणु विद्यमान रहते हैं और वे हमारे भोजन को दूषित, मलिन व विषमय कर देते हैं। वे भोजन के माध्यम से हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर शरीर में विकृति उत्पन्न कर देते हैं। दूसरी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वास्थ्य विज्ञान एवं आहार पाचन-सम्बन्धी नियमानुसार हम जो आहार ग्रहण करते हैं वह मुख से गले के मार्ग द्वारा सर्वप्रथम आमाशय में पहुँचता है; जहाँ उसकी वास्तविक परिपाक क्रिया प्रारम्भ होती है। परिपाक हेतु वह आहार आमाशय में लगभग चार घंटे तक अवस्थित रहता है। उसके बाद ही वह आमाशय से नीचे क्षुद्रान्त्र में पहुँचता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब तक भोजन आमाशय में रहता है तब तक मनुष्य को जाग्रत एवं क्रियाशील रहना चाहिए। क्योंकि मनुष्य की जाग्रत एवं क्रियाशील अवस्था में ही आमाशय की क्रिया पूर्णतः संचालित रहती है। मनुष्य की सुषुप्त अवस्था में आमाशय की क्रिया मन्द हो जाती है जिससे भुक्त आहार के पाचन में बाधा एवं विलम्ब होता है। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य को अपने रात्रिकालीन शयन से लगभग ४-५ घण्टे पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए, ताकि उसके शयन करने के समय तक उसके भुक्त आहार का विधिवत् सम्यक् पाक हो जावे। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को सायंकाल ६ बजे या उससे कुछ पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए। क्योंकि मनुष्य के शयन का समय सामान्यतः रात्रि को १० बजे या उसके आसपास होता है। अतः जैन-दर्शन का यह दृष्टिकोण कितना महत्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक आधार लिए हुए है कि मनुष्य को सूर्यास्त के पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए।

इसी प्रकार जब वह सायंकाल ६ बजे या उसके आसपास भोजन करता है तो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार दो भोजन कालों का अन्तर सामान्यतः न्यूनातिन्यून आठ घण्टे का होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो व्यक्ति सायंकाल ६ बजे भोजन करना चाहता है तो उसे आवश्यक रूप से प्रातःकाल १० बजे या उसके आसपास भोजन कर लेना चाहिए। जो व्यक्ति प्रातः १० बजे भोजन करता है वह स्वाभाविक रूप से सायंकाल ६ बजे तक बुभुक्षित हो जायगा। अतः स्वास्थ्य के नियमों में ढला हुआ और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने वाला जैनधर्म के द्वारा प्रतिपादित आहार सम्बन्धी नियम न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का विकास करने वाला है, अपितु उसके स्वास्थ्य की रक्षा करता हुआ मानव शरीर को नीरोग बनाने वाला और उसे दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला है।

रात्रिकालीन भोजन के निषेध के सम्बन्ध में एक यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में कहीं भी यह उल्लेख नहीं मिलता है कि किसी भी रोगी को रात्रिकाल में उसके पथ्य की व्यवस्था की गई हो। दिन में ही रोगी को पथ्य देने की व्यवस्था की जाती है। प्रायः देखा गया है कि अस्पतालों में भी रोगियों को जो भोजन दिया जाता है वह प्रातःकाल और सायंकाल के हिसाब से दो समय ही दिया जाता है। अर्थात् रात्रि को भोजन नहीं दिया जाता। आहार सम्बन्धी नियम की यह समानता निश्चय ही जैनधर्म की आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को एक महत्वपूर्ण देन है। प्रकृति के नियमानुसार मनुष्य को उसके जीवन सम्बन्धी आचरण का निर्देश कर उसके परिपालन हेतु उसे प्रेरित करना जैनधर्म की मौलिक विशेषता है।

आहार सेवन के क्रम में शुद्ध एवं सात्विक आहार के सेवन को विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार का आहार शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा में तो सहायक है ही, इससे मानसिक विचारों (परिणामों) की विशुद्धता भी होती है। दूषित, मलिन एवं तामसिक आहार स्वास्थ्य के लिए अहितकारी और मानसिक विकार उत्पन्न करने वाला होता है। कई बार तो यहाँ तक देखा गया है कि आहार के कारण मनुष्य शारीरिक रूप से स्वस्थ होता हुआ भी मानसिक रूप से अस्वस्थ होता है और जब तक उसके आहार में समुचित परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक उसके मानसिक विकार का उपशमन भी नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धूम्रपान एवं मद्यपान को आधुनिक युवा सभ्यता का प्रमुख अंग माना जाता है। यद्यपि किसी ग्रन्थ में इसके सेवन का विधि-विधान या स्पष्ट निर्देश उल्लिखित नहीं है, तथापि तथाकथित सभ्य समाज का वर्ग-विशेष इसे भी जीवन का आवश्यक अंग मानता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान एवं अनुसन्धानकर्ता अनेक वैज्ञानिकों ने धूम्रपान व मद्यपान को एक स्वर से स्वास्थ्य के लिए हानिकर तथा जीवन व समाज को खोखला करने वाला बतलाया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान किसी भी व्यक्ति को इनके सेवन की प्रेरणा या सलाह नहीं देता है। क्योंकि शारीरिक व मानसिक दोनों दृष्टि से ये दोनों मानव स्वास्थ्य के शत्रु हैं। इसी भाँति जैनधर्म ने भी धूम्रपान का प्रबल निषेध किया है। इस सम्बन्ध में जैनधर्म का अत्यन्त विशाल दृष्टिकोण है। शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से तो इनका सेवन व्यर्थ है ही, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी ये दोनों नितान्त हेय हैं। उपर्युक्त दोनों व्यसन नैतिक दृष्टि से मनुष्य का कितना अधःपतन कर देते हैं इसके अनेक उदाहरण वर्तमान समाज में आए दिन देखने को मिलते हैं। व्यसनरत किसी भी व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक वह इनका पूर्णतः परित्याग नहीं कर देता। जैनधर्म की दृष्टि से धूम्रपान एवं मद्यपान का सेवन जघन्य पाप तो है ही, यह एक ऐसा दुर्व्यसन है जो मनुष्य की आत्मा को अधःपतन की ओर ले जाता है। अतः शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से इन व्यसनों का त्याग आवश्यक है। इस सन्दर्भ में आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों की यह खोज महत्वपूर्ण है कि धूम्रपान का सतत सेवन कैंसर व्याधि की उत्पत्ति का कारण है। इसी प्रकार मद्यपान भी अनेक शारीरिक एवं मानसिक विकारों के साथ अनेक व्याधियों को उत्पन्न करता है। मद्यपान तत्काल हृदय को प्रभावित कर तामस भाव उत्पन्न करता है।

जैनधर्म में मनुष्य के आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया गया है। जब तक मनुष्य अपने आचरण को शुद्ध नहीं बनाता तब तक उसका शारीरिक विकास महत्वहीन एवं अनुपयोगी है। मनुष्य के आचरण का पर्याप्त प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। विपरीत आचरण या अशुद्ध आचरण मानव स्वास्थ्य को उसी प्रकार प्रभावित करता है जिस प्रकार उसका आहार-विहार। आचरण से अभिप्राय यहाँ दोनों प्रकार के आचरण से है—शारीरिक और मानसिक शारीरिक आचरण शरीर को और मानसिक आचरण मन को प्रभावित करता ही है, साथ ही शारीरिक आचरण मन को और मानसिक आचरण शरीर को भी प्रभावित करता है। इन दोनों आचरणों से मनुष्य की आत्मशक्ति भी निश्चित रूप से प्रभावित होती है। क्योंकि आचरण की शुद्धता आत्मशक्ति को बढ़ाने वाली और आचरण की अशुद्धता आत्मशक्ति का ह्रास करने वाली होती है। इसका स्पष्ट प्रभाव मुनिजन, योगी, उत्तम साधु और संन्यासियों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे गृहस्थ श्रावकों में भी आत्मशक्ति की वृद्धि का प्रभाव दृष्टिगत हुआ है जिन्होंने अपने जीवन में आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया। ऐसे सन्त पुरुषों में महान् आध्यात्मिक सन्त पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी आदि तथा गृहस्थ जीवनयापन करने वालों में महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, गुरु गोपालदास जी वरैया, पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आत्मशक्ति या आध्यात्मिक प्रभाव के सम्बन्ध में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भौतिकवाद से प्रेरित होने के कारण यद्यपि स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है, किन्तु वह परोक्ष रूप से इसका समर्थन अवश्य करता है—यह एक तथ्य है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकता कि दीर्घकाल से रुग्ण और जर्जरित देह वाले व्यक्ति के शरीर में ऐसी कोई शक्ति विशेष अवश्य रहती है जो उसके जीवन को धारण करती है और उसे जीवित रहने के लिए सतत रूप से प्रेरित करती रहती है। मानव शरीर की अन्तर्निहित यह शक्ति-विशेष मनुष्य को वह दृढ़ आधार प्रदान करती है जिससे शारीरिक रूप से क्षीण व्यक्ति को भी बल मिलता है। कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति का मनोबल अत्यन्त ऊँचा है। इस मनोबल का आधार मनुष्य की अन्तर्निहित आत्म-शक्ति ही है। अतः चाहे इसे मनुष्य का नैतिक बल कहा जाय, चाहे इसे मनोबल कहा जाय, चाहे इसे आत्म-शक्ति या आध्यात्मिक शक्ति कहा जाय सब एक ही है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भले ही भौतिकवाद से प्रेरित हो, वह मनुष्य को विपरीत आचरण या कदाचरणकी प्रेरणा कदापि नहीं दे सकता। वह नहीं कहता कि मनुष्य असत्य का आचरण करे, वह नहीं कहता कि स्त्री प्रसंग आदि विषयों में अधिकतापूर्वक रमण करता हुआ मनुष्य उसके कुप्रभाव से अपने स्वास्थ्य का ह्रास करे या परस्त्रीगमन आदि कुआचरण करे। जिन वस्तुओं (गांजा, भांग, अफीम आदि) के सेवन से मानव स्वास्थ्य प्रभावित होता है, उनके सेवन का निर्देश आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में नहीं है। मनुष्य में पाशविक वृत्ति का उद्भव करने वाले आहार का निषेध आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने भी किया है। यही आचरण की शुद्धता है। जैनधर्म में इन बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातों पर भी विशेष जोर दिया गया है। इस प्रकार मौलिक रूप से भिन्न होते हुए भी आधुनिक चिकित्सा विज्ञान अनेक विषयों में जैनधर्म के निकट है। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



स्वप्नशास्त्र : एक मीमांसा

✡ मरुधरकेसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

वि० सं० १९८० जोधपुर का चातुर्मास ! लगभग तीन महीने बीत गये थे। एक दिन मैं अचानक आमाति-सार की व्याधि से ग्रस्त हो गया। वैद्य और हकीमों के अनेक उपचार करवाये, पर कोई लाभ नहीं हुआ। ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही गया। शरीर काफी दुर्बल व क्षीण हो गया, उपचारों से कुछ भी लाभ की आशा नहीं रही, कभी-कभी जीवन की आशा भी धुंधलाने लगी थी।

अस्वस्थता व दुर्बलता के कारण मैं प्रायः लेटा ही रहता था। एक रात लेटा-लेटा अपने स्वास्थ्य के बारे में सोच रहा था। नींद की झपकी आ गई। नींद में ही एक स्वप्न आया—कोई तेजस्वी व्यक्ति पुकार कर कह रहा था—'तुम अमुक औषध का सेवन क्यों नहीं करते ? अमुक औषध सेवन करो स्वस्थ हो जाओगे ?"

नींद उचट गई। प्रातःकाल परीक्षण के रूप में स्वप्न सूचित औषध लेकर आया, उसका प्रयोग किया। कुछ लाभ मालूम होने लगा। और आश्चर्य ! कुछ ही दिन के प्रयोग से इतनी लम्बी बीमारी से मुक्ति मिल गई।

बहुत-से व्यक्तियों को ऐसे स्वप्न आते हैं, जिनमें भविष्य का संकेत होता है, किसी उलझन का समाधान होता है। सुना है, कोई व्यक्ति गणित के किसी गूढ़ प्रश्न को हल करने में परेशान हो रहा था, काफी परिश्रम के बाद भी प्रश्न हल नहीं हुआ। पुस्तक सामने रखे-रखे ही उसे नींद आ गई। नींद में उसे स्वप्न आया। उस प्रश्न का हल कोई बता रहा था। नींद में ही उठकर उसने कापी में हल लिख दिया और फिर सो गया। सुबह उठा तो कापी में गूढ़ प्रश्न का हल लिखा देखकर स्वयं ही चकित रह गया। वह हल बिल्कुल सही था।

ऐसा होता है। भविष्य में होने वाली दुर्घटना की सूचना स्वप्न में मिल जाती है। अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को एक दिन स्वप्न आया कि किसी ने उनकी हत्या कर दी है। और कुछ दिन बाद ही उनकी हत्या की खबर संसार ने सुन ली।

अपनी या किसी स्वजन की मृत्यु, बीमारी, दुर्घटना, या लाभ-हानि आदि के संकेत अनेक बार अनेक लोगों को स्वप्न मे मिलते हैं और वे ठीक उसी रूप में सत्य सिद्ध होते हैं, तब हम चकित भी रह जाते हैं और बड़े गम्भीर होकर स्वप्न के विषय में सोचने लगते हैं। जिज्ञासाओं की हलचल से मन-मस्तिष्क चंचल हो उठते हैं। आखिर स्वप्न है क्या ? स्वप्न क्यों आते हैं ? सभी स्वप्न सत्य क्यों नहीं होते ? और सभी को अपनी विकट मानसिक व्यथाओं के समय स्वप्न में कोई न कोई मार्ग-दर्शन क्यों नहीं मिलता ? हमारा हजारों वर्ष का विकसित स्वप्नशास्त्र इस विषय में क्या कहता है ? इन्हीं प्रश्नों पर यहाँ कुछ विचार करना है।

शास्त्रों एवं ग्रन्थों में पढ़ते हैं—तीर्थंकर के जन्म से पूर्व उनकी माता ने १४ दिव्य स्वप्न देखे। इसी प्रकार चक्रवर्ती, बलदेव-वासुदेव आदि की माता ने भी कुछ दिव्य स्वप्न देखे, जागृत हुई। स्वप्न-पाठकों से फल पूछा तो उन्होंने उनके अर्थ बताये कि महान् तेजस्वी पुत्र होगा।

दिगम्बर परम्परा में भरत चक्रवर्ती के १६ स्वप्न बहुत प्रसिद्ध है, जिनमें भविष्य में होने वाले धार्मिक वातावरण की सूचना थी। भरतजी ने प्रभु आदिनाथ से उनका अर्थ पूछा तो प्रभु ने धर्म तीर्थ के लिए वे अमंगल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूचक बताये।[1] इसी प्रकार श्रेयांसकुमार ने भी भगवान ऋषभदेव को दान देने से पूर्व शुभ स्वप्न देखा जिसमें श्याम वर्ण मेरु पर्वत को अमृत से सींचा था। इसका सम्बन्ध भगवान आदिनाथ को दान देने से था।[2] इसी रात को श्रेयांस कुमार के पिता राजा सोमप्रभ एवं श्रेष्ठी सुबुद्धि ने भी स्वप्न देखा जिसका भाव था कि श्रेयांस को कुछ विशिष्ट लाभ प्राप्त होगा। ये स्वप्न प्रतीकात्मक थे और दूसरे ही दिन सत्य सिद्ध हो गये।

छद्मस्थ अवस्था में भगवान महावीर ने भी अस्थिग्राम में शूलपाणि यक्ष के उपद्रव के बाद एक मुहूर्त भर निद्रा ली जिसमें १० स्वप्न देखे थे, जिनका अर्थ उत्पल नैमित्तिक ने लोगों को बताया।[3]

भरत चक्रवर्ती की तरह ही मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त राजा के १६ स्वप्न भी दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में काफी प्रसिद्ध है। इन स्वप्नों का शुभाशुभ भावी फल श्रुतकेवली भद्रबाहु ने बताया था कि आने वाले समय में धर्म एवं समाज की कैसी हानि होगी।[4]

प्राचीन चरित्रग्रन्थों में भी राजा आदि तथा अन्य चरित्र पात्रों के स्वप्न आदि की घटनाएँ प्रायः सुना करते हैं। इन सब घटनाओं को एकसूत्र में जोड़ने पर फिर वही प्रश्न सामने आता है कि वास्तव में यह स्वप्न है क्या? क्यों आता है? और कैसे इनके माध्यम से भविष्य के शुभाशुभ की सूचना हमारे मस्तिष्क तक पहुँचती है? स्वप्न का दर्शन क्या है? विज्ञान क्या है? जो बातें जागते में हम नहीं जान पाते वे स्वप्न में कैसे हमारे मस्तिष्क में आ जाती हैं?

स्वप्न कब, क्यों आते हैं?

स्वप्न के विषय में यही जिज्ञासा ढाई हजार वर्ष पूर्व महान् ज्ञानी गणधर गौतम के हृदय में उठी और भगवान महावीर से उन्होंने समाधान पूछा—

भगवन्! स्वप्न कब आता है? क्या सोते हुए स्वप्न देखा जाता है, या जागते हुए? अथवा जागृत और सुप्त अवस्था में?[5]

भगवान ने उत्तर दिया—

गौतम! न तो जीव सुप्त अवस्था में स्वप्न देखता है, न जागृत अवस्था में। किन्तु कुछ सुप्त और कुछ जागृत अर्थात् अर्धनिद्रित अवस्था में स्वप्न देखता है।

जागते हुए आँखें खुली रहती हैं, चेतना चंचल रहती है इसलिए स्वप्न आ नहीं सकता। गहरी नींद में जब स्नायु तन्तु पूर्ण शिथिल हो जाते हैं, अन्तर्मन (अचेतन मन) भी पूर्ण विश्राम करने लगता है, वह गति-हीन-सा हो जाता है उस दशा में भी स्वप्न नहीं आते, किन्तु जब मन कुछ थक जाता है, आँखें बन्द हो जाती हैं, चेतना की बाह्य प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं और अन्तर्जगत भाव-लोक में उसकी गति होती रहती है, वह अवस्था-जिसे अर्धनिद्रित अवस्था कहा जाता है—उसी समय में स्वप्न आते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि स्वस्थ मनुष्य जो गहरी नींद सोता है, स्वप्न बहुत कम देखता है। अस्वस्थ मनुष्य चाहे शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ हो या मानसिक दृष्टि से वही अधिक और बार-बार स्वप्न देखता है और उसके स्वप्न प्रायः निरर्थक ही होते हैं।

प्राचीन आयुर्वेद के अनुसार जब इन्द्रियाँ अपने विषय से निवृत्त होकर शांत हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियों की गति बन्द हो जाती है, और मन उन विषयों में शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श में लगा रहता है, उस समय मनुष्य स्वप्न देखता है—

सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरतं यदा।
विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति॥[6]

शरीर व मन की इस दशा को ही आगमों की भाषा में यों बताया है—**सुत्तं जागरमाणे सुविणं पासई**—सुप्त-जागृत अवस्था में स्वप्न देखता है।

स्वप्न मनोविज्ञान :

स्वप्न क्यों आते हैं, इस प्रश्न पर विचार करने से अनेक कारण हमारे सामने आते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार स्वप्न का मूल कारण है—दर्शन मोहनीयकर्म का उदय। दर्शन मोह मन की राग एवं द्वेषात्मक वृत्तियों का सूचक है। मन में जब राग तथा द्वेष का स्पन्दन होता है। तो चित्त में चंचलता उत्पन्न होती है, शब्दादि विषयों से सम्बन्धित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्म एवं स्थूल विचार तरंगों से मन आलोड़ित होने लगता है और वे विचार तरंगें—संकल्प-विकल्प अथवा विषयोन्मुखी वृत्तियाँ इतनी तीव्र होती हैं कि नींद आने पर भी वे शांत नहीं होतीं। बाहर से इन्द्रियाँ सो जाती हैं पर भीतर में अन्तर् वृत्तियाँ भटकती रहती हैं, दृष्ट-अदृष्ट-अश्रुत पूर्व विषयों का भी स्पर्श करती रहती हैं। वृत्तियों का यह भटकाव स्वप्न कहा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान के जनक डा० सिगमंड फ्रायड ने स्वप्न का अर्थ किया है—'दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति।' डॉ० फ्रायड ने **'इंटरप्रिटेशन आव ड्रीम्स'** नामक अपने ग्रन्थ में स्वप्नों के संकेतों के अर्थ व प्रयोजन बताकर उनकी रचना को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इनके कथनानुसार "स्वप्न व्यक्ति की उन इच्छाओं को सामान्य रूप से व्यक्त करता है जिसकी तृप्ति जागृत अवस्था में नहीं होती। समाज के भय, वस्तु के अभाव या वस्तु की अनुपलब्धि तथा संकोच आदि कारणों से जिन इच्छाओं को व्यक्ति पूरी नहीं कर सकता, वे इच्छाएँ अनेक रूपान्तरों के साथ स्वप्न में व्यक्त होती है।" फ्रायड के अनुसार मन के तीन भाग हैं—

चेतन मन—जहाँ सभी इच्छाएँ आकर तृप्ति लेती है और मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेता है।

अचेतन मन—मन का वह भाग है जहाँ उसकी सभी प्रकार की अतृप्त भोगेच्छा दमित होकर रहती हैं।

अवचेतन मन—मन का तीसरा भाग है, जहाँ मनुष्य अपनी इच्छाओं पर विवेक की कैंची चलाता है। अनैतिक इच्छाओं की भर्त्सना भी करता है, और उत्तम इच्छाओं को प्रकट करता है।

डा० फ्रायड ने स्वप्न के ये मुख्य चार प्रकार बताये हैं—**संक्षेपण**, **विस्तारीकरण**, **भावांतरकरण** तथा **नाटकीकरण**। जब बहुत बड़ा प्रसंग, अनुभव या स्मृति संक्षेप में ही स्वप्न में आती है, वह स्वप्न संक्षेपण है इसके विपरीत विस्तारीकरण में छोटा-सा भाव भी विस्तार के साथ पूरी रील की तरह सामने आ जाता है। भावांतरकरण में घटना का रूपान्तर हो जाता है, पात्र बदल जाते हैं पर मूल संस्कार नहीं बदलता। जैसे कोई व्यक्ति अपने पिता, बड़े भाई या अध्यापक से डरता है और स्वप्न में वह किसी राक्षस या बदमाश से अपने को लड़ते हुए, भयभीत होते हुए पाता है तो वह भय की भावना का रूपान्तरण है। क्योंकि प्रकट में वह उनके प्रति ऐसा भाव प्रकाशित करने में भी आत्म-ग्लानि अनुभव करता है।

नाटकीकरण में इच्छा अनेकों प्रतीकों का सहारा लेकर पूरा एक नाटक ही रच डालती है और स्वप्न चेतना उन मार्मिक बातों को चित्र रूप में उपस्थित कर देती है जो मन के किसी गुप्त कोने में दबी पड़ी हैं।

किंतु चार्ल्स युंग नामक स्वप्न विश्लेषक फ्रायड की तरह जड़वाद का पूर्ण कायल नहीं है। वह स्वप्न को सिर्फ पुराने अनुभव की प्रतिक्रिया ही नहीं मानता, किन्तु स्वप्न का मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास तथा भावी जीवन के लिए भी बहुत अधिक महत्त्व मानता है। उसका कहना है—चेतना के सभी कार्य लक्ष्यपूर्ण होते हैं। स्वप्न भी इसी प्रकार का लक्ष्यपूर्ण कार्य है जिनके विश्लेषण से अपने भावी जीवन को सुखी, नीरोग व सुरक्षित रखा जा सकता है। फ्रायड और चार्ल्सयुंग के स्वप्न विश्लेषण में मुख्य अन्तर यह है कि—फ्रायड के अनुसार अधिकतर स्वप्न मनुष्य की काम-वासना से ही सम्बन्ध रखते हैं, जबकि युंग के अनुसार—स्वप्नों का कारण मनुष्य के केवल वैयक्तिक अनुभव अथवा उसकी स्वार्थमयी इच्छाओं का दमन मात्र ही नहीं होता, वरन् उसके गम्भीरतम मन की आध्यात्मिक अनुभूतियां भी होती हैं।"

वास्तव में जीवन के भूतकालीन अनुभव तथा संस्कारों पर टिके स्वप्नों का विश्लेषण तो स्वप्न-शास्त्र का एक अंग मात्र है, जीवन में भविष्य सूचक या आदेशात्मक जो स्वप्न आते हैं, उनके सम्बन्ध में मनोविज्ञान आज भी प्राथमिक स्थिति में है।

एक विकट प्रश्न यह है कि जो स्वप्न भविष्य-सूचक होते हैं, अथवा जो भगवान महावीर जैसे महापुरुषों ने देखे हैं जिनमें उनकी अपनी दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं, उन स्वप्नों का क्या कारण है? आधुनिक मनोविज्ञान अनेक खोजों के बावजूद इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाया है। इन स्वप्नों को संयोगमात्र कहकर भी टाला नहीं जा सकता, क्योंकि उनमें एक अभूतपूर्व सत्यता छिपी रहती है जिसके सैकड़ों उदाहरण प्रत्यक्ष जीवन में भी देखे जा सकते हैं अतः उन स्वप्नों का क्या कारण है? इसे खोजने के लिए क्या साधन है? आइए, जिस विषय पर मनोविज्ञान अभी मौन है, उसे प्राचीन जैन मनीषियों के चिन्तन के प्रकाश में देखें।

स्वप्न के भेद

प्रत्यक्ष जीवन में हम जो स्वप्न देखते हैं वे कई प्रकार के होते हैं : जैसे—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **अतृप्त इच्छाओं का दर्शन**—जागृत अवस्था में मन में कुछ भावनाएँ व इच्छाएँ उठती हैं, वे तृप्त नहीं हो पातीं और धीरे-धीरे प्रबल इच्छा या लालसा का रूप धारण कर लेती हैं, वे इच्छाएँ स्वप्न में पूर्ण होती दिखाई देती हैं—जैसे विवाह की तीव्र इच्छा वाले व्यक्ति का स्वप्न में विवाह होना। धन की तीव्र लालसा वाले व्यक्ति का स्वप्न में लाटरी निकलना या अन्य किसी माध्यम से यकायक धनवान हो जाना। इस प्रकार अनेक अतृप्त इच्छाएँ स्वप्न में पूर्ण होती दिखाई देती हैं। भिखारी का राजा बनने का स्वप्न भी इसी कोटि का है। इसप्रकार के मधुर स्वप्न बीच में भंग हो जाने या असत्य निकल जाने पर उन व्यक्तियों को दुःख भी होता है।

(२) **आदेशात्मक स्वप्न**—कभी-कभी मनुष्य विषम परिस्थिति में फँस जाता है, समस्या का समाधान नहीं मिलता और वह रात-दिन उसी चिन्तन में लगा रहता है। उस दशा में स्वप्न में उसे उस समस्या का समाधान मिल जाता है। रोगी को अमुक औषधि लेने का आदेश, अर्थार्थी को अमुक व्यापार करना या अमुक स्थान पर जाने का आदेश। इन आदेशात्मक स्वप्नों के अनुसार कार्य करने पर लाभ भी होता है। ऐसे स्वप्न-आदेश कई बार तो अदृश्य आवाज के रूप में ही आते हैं और कभी-कभी अपने पूर्वज, या इष्टदेव आदि भी स्वप्न में दृष्टिगोचर होते हैं।

(३) **भविष्यसूचक स्वप्न**—भविष्य में अपने जीवन में, परिवार में, समाज या राष्ट्र में घटित होने वाली घटनाओं के स्पष्ट या अस्पष्ट संकेत स्वप्न में मिल जाते हैं। जैसे स्वयं को या किसी अन्य को बीमार देखना, मृत देखना, दुर्घटना में फँसे देखना या प्रकृति, समाज या राज्य में नए परिवर्तन देखना।

इस प्रकार के स्वप्नों के सम्बन्ध में दिगम्बर आचार्य जिनसेन ने लिखा है—

स्वप्न दो प्रकार के हैं—

(१) **स्वस्थ अवस्था वाले** (२) **अस्वस्थ अवस्था वाले**

१. जो स्वप्न चित्त की शांति तथा धातुओं (शारीरिक रस आदि) की समानता रहते हुए दीखते हैं वे स्वस्थ अवस्था वाले स्वप्न होते हैं। ये स्वप्न बहुत कम दीखते हैं और प्रायः सत्य होते हैं।

२. मन की विक्षिप्तता तथा धातुओं की असमानता की अवस्था में दिखाई देने वाले स्वप्न प्रायः असत्य होते हैं। ये शारीरिक व मानसिक विकारजन्य ही होते हैं।[८]

इसी प्रकार **दोषसमुद्भव** तथा **दैवसमुद्भव**–स्वप्न के भी दो भेद बताये हैं—वात, पित्त, कफ आदि शारीरिक विकारों के कारण आने वाले स्वप्न **दोषज** होते हैं, जो प्रायः असत्य ही निकलते हैं।

किसी पूर्वज या इष्टदेव द्वारा अथवा मानसिक समाधि की अवस्था में जो स्वप्न दिखाई देते हैं वे दैवसमुद्भव की कोटि में गिने गये हैं और वे प्रायः सत्य सिद्ध होते हैं।[९]

स्थानांग सूत्र[१०] तथा भगवती सूत्र[११] में स्वप्न के पाँच भेद भी बताये हैं—

१. **यथातथ्य स्वप्न**—स्वप्न में जो वस्तु देखी है, जागने पर उसी का दृष्टिगोचर होना या उपलब्धि होना अथवा उसके अनुरूप शुभ-अशुभ फल की प्राप्ति होना।

यह यथातथ्य स्वप्न ध्यान एवं समाधि द्वारा प्रसन्नचित्त, त्यागी-विरागी संवृत (संयमी) व्यक्ति ही देखता है और उससे वह प्रतिबुद्ध होकर अपना आत्म-लाभ करता है।[१२]

२. **प्रतान स्वप्न**—विस्तार युक्त स्वप्न देखना। यह यथार्थ अथवा अयथार्थ दोनों ही हो सकता है। डा० सिगमंड फ्रायड ने स्वप्न के पाँच प्रकार बताये हैं। उसमें भी 'विस्तारीकरण' एक प्रकार है जिसमें किसी भी घटना का विस्तारपूर्वक दर्शन होता है।

३. **चिंता स्वप्न**—जागृत अवस्था में जिस वस्तु का चिन्तन रहा हो, मन पर जिसके संस्कारों की छवि पड़ती हो, उसी वस्तु को स्वप्न में देखना।

४. **तद्विपरीत स्वप्न**—स्वप्न में जो वस्तु देखी हो, जो दृश्य या घटना दिखाई दी हो, उससे विपरीत वस्तु की प्राप्ति होना।

५. **अव्यक्त स्वप्न**—स्वप्न में देखी हुई वस्तु का स्पष्ट रूप में ज्ञान न होना।

उक्त पाँच प्रकार के स्वप्नों में उन सभी स्वप्नों का समावेश हो जाता है जो कभी प्रतीक रूप में, कभी विपरीत रूप में और कभी नाटक रूप में, कभी आदेश रूप में तथा कभी भविष्य दर्शन के रूप में हमें स्वप्न लोक में ले जाते हैं और किसी तथ्य का संकेत कर जाते हैं।

स्वप्नशास्त्र के आचार्यों ने इनकी व्याख्या का विस्तार कर स्वप्नों के नौ कारण और भी बताये हैं।[१३]

१. **अनुभूत स्वप्न**—अनुभव की हुई वस्तु को स्वप्न में देखना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **श्रुत स्वप्न**—सुनी हुई घटना, कहानी आदि को स्वप्न में देखना।

३. **दृष्ट स्वप्न**—जागते में देखी हुई वस्तु को स्वप्न में देखना।

४. **प्रकृति विकार जन्य स्वप्न**—वात, पित्त आदि किसी धातु की न्यूनाधिकता के कारण शरीर में विकार उत्पन्न हो जाता है, तब उसके कारण स्वप्न दिखाई देते हैं। जैसे—वात प्रकृति वाले को पर्वत या वृक्ष आदि पर चढ़ना, आकाश में उड़ना आदि स्वप्न आते हैं। इसी प्रकार पित्त प्रकोप वाला व्यक्ति जल, फूल, अनाज, जवाहरात, लाल-पीले रंग की वस्तुएँ, बाग-बगीचे आदि स्वप्न में देखता है। कफ की बहुलता वाला व्यक्ति अश्व, नक्षत्र, चन्द्रमा, तालाब, समुद्र आदि का लांघना ये दृश्य स्वप्न में देखता है।

५. **स्वाभाविक स्वप्न**—सहज रूप में जो दिखाई दे।

६. **चिन्ता समुत्पन्न स्वप्न**—जिस वस्तु का बार-बार चिन्तन किया जाता हो वही स्वप्न में दिखाई देती है।

७. **देवता के प्रभाव से उत्पन्न होने वाला स्वप्न**—किसी देवता के अनुकूल या प्रतिकूल होने पर स्वप्न में वह सूचना देता है।

८. **धर्मक्रिया प्रभावोत्पन्न स्वप्न**—धर्मक्रिया करने से, चित्त की समाधि से भविष्य की शुभ सूचना देने वाला स्वप्न।

९. **पापोदय से आने वाला स्वप्न**—ये स्वप्न प्रायः भयानक त्रासदायी तथा भावी अनिष्ट व अमंगल सूचक होते हैं।

इनमें से प्रथम छह प्रकार के स्वप्न निरर्थक होते हैं, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, जीवन में उनकी कोई विशेष उपयोगिता या प्रभाव नहीं होता। किंतु देवता द्वारा दर्शित तथा धर्म एवं पाप-प्रभाव से आये हुए स्वप्न सत्य होते हैं, उनका शुभ या अशुभ जो भी फल हो, वह अवश्य मिलता है।

भाष्यकार आचार्य जिनभद्रगणि ने भी स्वप्न के इन्हीं नौ निमित्तों का वर्णन किया है।[१४]

स्वप्नों की सत्यता

उक्त वर्णन में स्वप्नों के जो निमित्त बताये हैं उनमें यह स्पष्ट सूचित किया है कि शरीर के वात-पित्त आदि दोषों के कारण जो स्वप्न आते हैं वे प्रायः अयथार्थ ही होते हैं, वे सपने, सपने ही रहते हैं। किन्तु पुण्योदय के प्रभाव से, मानसिक प्रसन्नता, समाधि आदि की अवस्था में जो भविष्य सूचक शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं वे प्रायः अवश्य ही सत्य सिद्ध होते हैं। सरलात्मा, भावितात्मा तथा विरक्त हृदय वाले व्यक्ति कभी-कभार ही स्वप्न देखते हैं और उन स्वप्नों में प्रायः भविष्य छुपा रहता है।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा था—भंते! जो स्वप्न दिखाई देते हैं, क्या वे सत्य होते हैं या व्यर्थ?

उत्तर में भगवान ने बताया—

गौतम! जो संवृत-आत्मा—त्यागी संयमी श्रमण स्वप्न देखते हैं वे स्वप्न सत्य होते हैं—**संवुडे सुविणं पासइ महातच्चं पासइ**। उनका फल अवश्य ही सत्य सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त अव्रती (असंवृत) या व्रताव्रती (श्रावक) आदि के स्वप्न सत्य भी हो जाते हैं और असत्य भी।[१५]

सामान्यतः साधारण मनुष्य भी कभी-कभी ऐसा स्वप्न देखता है जो सत्य होता है। प्राचीन तथा नवीन मनोविज्ञान की दृष्टि से इस पर विचार करें तो यही स्पष्ट होता है कि जब इन्द्रियाँ सोती हैं, तब भी अन्तर्मन जागता रहता है और उसके पर्दे पर भविष्य में होने वाली घटनाओं की छवि पहले से ही प्रतिबिम्बित हो जाती है। मन अज्ञात घटनाओं का साक्षात्कार करने में सक्षम है, अगर मन भविष्य का ज्ञान न कर पाता हो तो फिर भविष्यद्रष्टा, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी अघटित भावी घटनाओं को कैसे जान पायेंगे? वे भी तो भविष्यवाणियाँ करते हैं और वे सत्य होती हैं। इसका कारण यह स्पष्ट है कि मन में, शक्ति का स्रोत छुपा है, जिनका मन अधिक सक्षम, ज्ञान बल से समर्थ, तपश्चरण तथा ध्यान से निर्मल हो गया हो, वे जागृत अवस्था में ही भविष्य का साक्षात्कार कर सकते हैं, किन्तु साधारण मनुष्य का मन जो वास्तव में इतना निर्मल और स्थिर नहीं रहता, सुषुप्ति या अर्द्धनिद्रा दशा में जब वह कुछ स्थिर होता है तो भावी के कुछ अस्पष्ट संकेतों को ग्रहण कर लेता है और वे ही स्वप्न रूप में हमें दिखाई देते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वप्न-दर्शन में समय की महत्ता

स्वप्नशास्त्र के अनुभवियों ने इस विषय पर भी काफी गंभीरतापूर्वक विचार किया है कि किस समय में देखा हुआ स्वप्न उत्तम है, किस समय का मध्यम। स्वप्न-दर्शन का फल समझने में समय का बहुत महत्व है। इसलिए स्वप्नशास्त्र में बताया है—

- रात्रि के प्रथम प्रहर में देखे गये शुभाशुभ फलप्रद स्वप्न का फल बारह महीने से मिलता है।
- दूसरे प्रहर में देखे स्वप्न का छह महीनों से।
- तीसरे प्रहर में देखे स्वप्न का फल तीन महीनों से।
- चौथे प्रहर में जब एक मुहूर्त भर रात बाकी रहती है तब जो स्वप्न दिखाई दे उसका फल दस दिनों में और सूर्योदय के समय देखे स्वप्न का फल तुरन्त मिलता है—

दृष्टः सूर्योदये स्वप्नः सद्यः फलति निश्चितम्।

- माला स्वप्न, दिवा स्वप्न और रोग एवं मल-मूत्रादि की पीड़ा के कारण आने वाले स्वप्न निरर्थक होते हैं।[१६]

प्राचीन ग्रन्थों एवं आगमों में जहाँ भी वर्णन आता है कि अमुक माता ने स्वप्न देखे वहां प्रायः रात्रि के चतुर्थ प्रहर का ही उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टि शलाका० में महापुरुषों की माताओं के स्वप्न दर्शन का एक ही समय सर्वत्र सूचित किया है—**यामिन्याः पश्चिमे यामे**",[१७] अथवा "**यामिन्याः पश्चिमे क्षणे।**[१८] महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने भी—**निशायाः पश्चिमे यामे**"[१९]—रात्रि के अन्तिम प्रहर में ही शुभ स्वप्न दर्शन का उल्लेख किया है।

पश्चिम रात्रि में शुभ स्वप्न देखने का एक यह भी कारण हो सकता है कि थका हुआ मन प्रथम तीन प्रहर तक गाढ़ निद्रा लेकर शांत हो जाता है, उस कारण चंचलता भी कम हो जाती है, और कुछ ताजगी एवं प्रसन्नता की अनुभूति होती है अतः उस समय में शांति एवं स्थिरता की मनःस्थिति में जो स्वप्न आता है वह प्रायः शीघ्र ही सत्य होता दिखाई देता है।

भगवान महावीर ने भी रात्रि के अन्तिम प्रहर में ही १० स्वप्न देखे थे।[२०]

इस प्रकार पश्चिम रात्रि का या सूर्योदय के पूर्व का स्वप्न शीघ्र फलदायी माना गया है तथा रात्रि के प्रथम प्रहर में देखा गया स्वप्न दीर्घकाल से फल देने वाला होता है।

स्वप्न जागरिका

स्वप्नशास्त्र के अनुसार यह भी माना गया है कि शुभ स्वप्न देखकर फिर सोना नहीं चाहिए। अशुभ स्वप्न देखने के बाद भले ही नींद ले लें। क्योंकि स्वप्न-दर्शन के पश्चात् नींद लेने से उसका फल व्यर्थ हो जाता है। शास्त्रों में जहाँ भी वर्णन आता है, प्रायः यही बताया गया है कि '**सुमिण दंसणेण पडिबुद्धा-धम्म जागरियं करेमाणी**' स्वप्न देखकर जागृत हो गई और फिर धर्म जागरिका करती हुई अर्थात् शेष रात्रि प्रभुस्तवन, धर्म चिन्तन आदि करके व्यतीत की। इसे ही आगम की भाषा में **स्वप्न जागरिका** कहा गया है। **सुमिण जागरिया**[२१] का अर्थ करते हुए आचार्य शीलांक ने बताया है—**शुभस्वप्न** देखने के पश्चात् जागृत रहना, नींद नहीं लेना स्वप्नजागरिका है। अगर नींद आ गई अथवा फिर कोई अशुभ स्वप्न आ गया तो पूर्व दृष्ट स्वप्न का फल मंद या क्षीण हो जाता है।

शुभ स्वप्न

स्वप्न-शास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि रात्रि को सोते समय मनुष्य की जैसी वृत्तियाँ होती है, वैसे ही स्वप्न प्रायः आते हैं। भावना में उत्तेजना, भय, वासना या अन्य किसी प्रकार की मलिनता रहेगी तो रात्रि को प्रायः उसी प्रकार के भयप्रद अशुभ स्वप्न आयेंगे। सोते समय अगर मन प्रसन्न, चित्त शांत और भावनाएँ निर्मल रहीं तो प्रायः शुभस्वप्न दिखाई देते हैं। रात्रि को सोते समय प्रभुस्मरण, नवकार मन्त्र का ध्यान तथा आत्मचिन्तन करना इसलिए लाभदायक है कि उससे न केवल कर्म-निर्जरा ही होती है किन्तु अशुभ स्वप्नों का निवारण भी होता है और या तो अच्छी गहरी नींद आती है अथवा शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं।

सामान्यतः मनुष्य जानना चाहता है कि शुभ स्वप्न कौन से होते हैं और अशुभ स्वप्न कौन से? मूलतः स्वप्नों का यह वर्गीकरण किसी एक ग्रन्थ में नहीं मिलता। कहीं-कहीं किसी स्वप्न को शुभ माना जाता है तो दूसरी जगह उसे अशुभ भी मान लिया जाता है। स्वप्नशास्त्रियों के अपने अनुभव के आधार पर इसकी मान्यता में अन्तर भी आ जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन आचार्यों ने शुभ स्वप्नों की एक तालिका देते हुए बताया है—देवता, बांधव, पुत्र, उत्सव, गुरु, छत्र, कमल आदि देखना दुर्ग, हाथी, मेघ, वृक्ष, पर्वत, महल पर चढ़ना, समुद्र का तरना, सुरा, अमृत दूध व दही का पीना, चन्द्र व सूर्य का ग्रहण—ये स्वप्न देखना शुभ है।[२२]

भगवती सूत्र में बहत्तर प्रकार के स्वप्न की चर्चा है जिसमें ४२ स्वप्न जघन्य (साधारण या अशुभ) बताये है और ३० स्वप्न उत्तम (शुभ या उत्कृष्ट) बताये हैं।[२३]

बयालीस जघन्य स्वप्न इस प्रकार हैं—

१. गंधर्व	१५. बिल्ली	२९. कलह
२. राक्षस	१६. श्वान	३०. विविक्त दृष्टि
३. भूत	१७. दौस्थ्य (दुखी होना)	३१. जलशोष
४. पिशाच	१८. संगीत	३२. भूकम्प
५. बुक्कस	१९. अग्नि-परीक्षा (अग्निस्नान)	३३. गृहयुद्ध
६. महिष	२०. भस्म (राख)	३४. निर्वाण
७. सांप	२१. अस्थि	३५. भंग
८. वानर	२२. वमन	३६. भूमंजन
९. कंटक वृक्ष	२३. तम	३७. तारापतन
१०. नदी	२४. दुःस्त्री	३८. सूर्यचन्द्र स्फोट (धब्बे)
११. खजूर	२५. चर्म	३९. महावायु
१२. श्मशान	२६. रक्त	४०. महाताप
१३. ऊँट	२७. अश्म (पत्थर)	४१. विस्फोट
१४. गर्दभ	२८. वामन	४२. दुर्वाक्य

प्राचीन स्वप्न-शास्त्र के अनुसार उक्त प्रकार के या उनसे मिलते-जुलते इसी प्रकार के अशुभ दर्शन कराने वाले स्वप्न अशुभ के सूचक होते हैं। अगर स्त्री गर्भाधारण के समय ऐसे स्वप्न देखती है तो कुपुत्र या दुखदायी संतान को जन्म देती है। अगर पुरुष यात्रा आदि के समय इनमें से कोई स्वप्न देखता है तो यात्रा असफल तथा त्रासदायी होती है, मृत्यु भी संभव है। अशुभ स्वप्न देखने के बाद उसकी निवृत्ति हेतु तुरन्त उठकर इष्ट स्मरण करना चाहिए और वापस नींद ले लेना चाहिए ताकि अशुभ स्वप्न का कुफल मंद हो जाय।

भगवती सूत्र में ही गौतम स्वामी के उत्तर में भगवान ने तीस उत्तम स्वप्नों (महास्वप्नों) का वर्णन किया है। उत्तम स्वप्न इस प्रकार हैं—

१. अर्हत्	११. गौरी	२१. सरोवर
२. बुद्ध	१२. हाथी	२२. सिंह
३. हरि	१३. गौ	२३. रत्नराशि
४. कृष्ण	१४. वृषभ	२४. गिरि
५. शंभु	१५. चन्द्र	२५. ध्वज
६. नृप	१६. सूर्य	२६. जलपूर्ण कुंभ
७. ब्रह्मा	१७. विमान	२७. पुरीष (विष्ठा)
८. स्कंद	१८. भवन	२८. मांस
९. गणेश	१९. अग्नि	२९. मत्स्य
१०. लक्ष्मी	२०. समुद्र	३०. कल्पद्रुम

उक्त ३० स्वप्न या इसी प्रकार की शुभ वस्तु का अन्य कोई स्वप्न आये तो उसे शुभ सूचक माना गया है। स्वप्न-शास्त्र के अनुसार तीर्थंकर या चक्रवर्ती की माताएँ उक्त तीस स्वप्नों में से कोई चौदह स्वप्न देखती है। परम्परागत मान्यता के अनुसार तीर्थंकर की माता निम्न १४ स्वप्न देखती है। भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवा ने भी ये ही स्वप्न देखे और भगवान महावीर की माता त्रिशलादेवी ने भी इसी प्रकार के १४ स्वप्न देखे। यहाँ १४ स्वप्न और स्वप्नपाठकों द्वारा बताया गया उनका शुभफल प्रस्तुत है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **गज**—चार दांत वाले हाथी को देखने का अर्थ है—चार प्रकार के धर्म की प्ररूपणा करेंगे (श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी)

(२) **वृषभ**—वृषभ की भाँति धर्म की खेती (बोधि बीज का वपनकर) तथा धर्म-धुरा का वहन करेंगे।

(३) **सिंह**—सिंह की भाँति पराक्रमी, काम विकार रूप उन्मत्त हाथियों को विदीर्ण करेंगे। विकारों के वनचर सदा ही उनसे दूर रहेंगे।

(४) **लक्ष्मी**—त्रिभुवन की समस्त लक्ष्मी—धर्मलक्ष्मी, धनलक्ष्मी, यशलक्ष्मी उनका वरण करेंगी तथा वे महान् दानी होंगे। साथ ही विपुल ऐश्वर्य उनके चरणों में लोटेगा।

(५) **माला**—माला की भाँति सदा प्रसन्न, प्रफुल्ल व सभी को कंठ व मस्तक में धारण योग्य—पूज्यभाव युक्त होंगे।

(६) **चन्द्र**—चन्द्रमा की भांति संसार को शांतिदायक, अमृतवर्षी तथा भव्यात्मारूप कुमुदों को प्रफुल्लित करने वाले होंगे।

(७) **सूर्य**—सूर्य की भाँति तेजस्वी व अज्ञान अंधकार नष्ट करेंगे।

(८) **ध्वजा**—अपने कुल व धर्म-परम्परा की यश ध्वजा फहरायेगा।

(९) **कलश**—वंश या धर्मरूपी प्रासाद शिखर पर स्वर्ण कलश की भाँति शोभित होंगे। या कुम्भ की तरह धर्म जल को धारण करने में समर्थ होंगे।

(११) **पद्म-सरोवर**—फूलों से खिले सरोवर की भाँति उनका धर्म-परिवार सदा फला-फूल खिला हुआ रहेगा और स्वर्ण कमल पर उनका आसन रहेगा।

(११) **समुद्र**—समुद्र की तरह अनन्त ज्ञान-दर्शन रूप मणिरत्नों के आगार होंगे, तथा उनकी गंभीरता, शक्तिमत्ता का कोई पार नहीं पा सकेगा। आत्म-गुणों की अक्षमता होगी।

(१२) **विमान**—विमानवासी देवों के भी पूज्य होंगे।

(१३) **रत्नराशि**—संसार की समस्त धन-संपदा उनके चरणों में लोटेगी और वे उससे निस्पृह रहेंगे।

(१४) **निर्धूम अग्नि**—अग्नि की भाँति अन्तर् विकारों को भस्म करने में समर्थ होंगे, किन्तु फिर भी निर्धूम—निष्प्रकम्प व अक्षुब्ध रहेंगे। कठोर तपश्चरण व ध्यान साधना करते हुए भी बाहर में शांत, सौम्य व तेजयुक्त ही दीखेंगे।[२४]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार तीर्थंकर की माता १६ स्वप्न देखती है। उनमें १३ स्वप्न तो उक्त स्वप्नों के अनुसार ही हैं। आठवें स्वप्न, ध्वजा के स्थान पर **मीनयुगल** है और **सिंहासन** तथा **नागभवन** दो अधिक हैं। मीनयुगल देखने से सुखी होना—**सुखी मत्स्ययुगेक्षणात्** और सिंहासन देखने से भूमंडल की राज्यलक्ष्मी के अधिपति—**सिंहासनेन साम्राज्यम्**। तथा नागभवन देखने का तात्पर्य है जन्म से ही वह पुत्र अवधिज्ञान से युक्त होगा—

फणीन्द्र भवनालोकात् सोऽवधिज्ञानलोचनः।[२५]

इस प्रकार तीर्थंकरों की माताएँ ये शुभ स्वप्न देखती हैं जो होने वाली सन्तान के और उनकी माता के अनन्त सौभाग्य तथा कल्याण के सूचक होते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार चक्रवर्ति की माता भी इसी प्रकार के १४ शुभ स्वप्न देखती है, किंतु उनके अर्थ अधिकतर भौतिक समृद्धि सूचक ही माने जाते हैं। तीर्थंकर जहाँ धर्म चक्रवर्ती होने से उनकी समृद्धि-धर्म लक्ष्मी रूप में मानी जाती है वहां चक्रवर्ती की लक्ष्मी प्रायः भौतिक समृद्धियों की ही सूचक है।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने भरत चक्रवर्ती की माता का नाम महादेवी यशस्वती बताया है और वे १४ स्वप्न के स्थान पर सिर्फ ६ स्वप्न ही देखती है।[२६]

(१) सुमेरू पर्वत	(२) सूर्य
(३) चन्द्रमा	(४) ग्रसी हुई पृथ्वी
(५) हंस सहित सरोवर	(६) चंचल लहरों वाला समुद्र

वासुदेव की माता उक्त १४ स्वप्नों में से कोई भी सात स्वप्न देखती है। बलदेव की माता ४ स्वप्न। माण्डलिक राजा तथा भावितात्मा अणगार की माता कोई भी एक शुभ स्वप्न देखती है जो आने वाली संतान के सौभाग्य का सूचक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वप्नशास्त्रवेत्ताओं के अनुसार उक्त ३० शुभस्वप्नों में से कोई भी स्त्री या पुरुष अगर ये स्वप्न देखते हैं तो वे उनके लिए शुभ सूचक ही है।

कुछ विशिष्ट स्वप्न

स्वप्नशास्त्रवेत्ताओं ने अपने अनुभव, अध्ययन तथा परम्परागत श्रुतियों के आधार पर शुभाशुभ स्वप्नों की सूची दी है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बस, शुभ या अशुभ स्वप्नों के इतने ही प्रकार हैं। वास्तव में तो स्वप्नों की कोई ईयत्ता (सीमा) नहीं है। किसी भी समय किसी भी प्रकार का स्वप्न देखा जा सकता है और उसका अर्थ व संकेत समझने के लिए वातावरण, परिस्थिति, व्यक्ति की अवस्था, पद आदि अनेक वस्तुओं पर विचार किया जाता है। एक ही प्रकार का स्वप्न यदि दो व्यक्ति देखते हैं तो उसका फल एक ही हो यह जरूरी नहीं। उनकी स्थिति के अनुसार एक ही स्वप्न के दो भिन्न अर्थ व फल मिल जाते हैं। आचार्यों ने एक उदाहरण देकर बताया है—एक भिखारी ने स्वप्न में पूर्ण गोल चन्द्र को मुँह में प्रवेश करते देखा। और एक श्रेष्ठी पुत्र ने भी यही स्वप्न देखा। दोनों ने स्वप्न-शास्त्री से इसका अर्थ पूछा तो उसने भिखारी को बताया—तुम्हें आज एक गोल पूर्ण रोटी (पूरण पोली-मीठी रोटी)[२७] भिक्षा में प्राप्त होगी। और श्रेष्ठी पुत्र को बताया—तुम्हें राज्य की प्राप्ति होगी।[२८]

तो, स्वप्न-फल का निर्णय करने में पात्र एवं परिस्थितियाँ मुख्य कारण होती है। स्वप्नशास्त्र में स्वप्नों के जो अर्थ बताये हैं वे सामान्य अर्थ हैं। विशिष्ट अर्थ व्यक्ति अपनी बुद्धि से लगाता है। इस प्रकार के कुछ स्वप्नों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में आता है जो स्वप्न भी विचित्र थे और उनके अर्थ भी विचित्र ही लगाये गये, समय पर उनकी यथार्थता भी जाहिर हो गई।

भरत चक्रवर्ती के स्वप्न—महापुराण में भरत चक्रवर्ती के १६ स्वप्नों का वर्णन है। एक रात भरत जी ने एक साथ ये विचित्र स्वप्न देखे। इनके क्या संकेत हैं, वे कुछ समझ नहीं पाये। मन में ऊहापोह लिये ही वे भगवान आदिनाथ की सेवा में पहुँचे तो भगवान ने उनका विशिष्ट अर्थ बताया है।[२९]

(१) **भरत**—एक सघन वन में २३ सिंह स्वेच्छया भ्रमण करते हुए पर्वत शिखर पर चढ़कर उस पार पहुँच गये। उनकी गूँज सुनाई देती रही।

भगवान ऋषभदेव—तेबीस सिंह भावी तेबीस तीर्थंकरों के प्रतीक हैं। तेबीस तीर्थंकरों के समय जैन साधु अपने धर्म में दृढ़ रहेंगे। इन तीर्थंकरों के निर्वाण पद प्राप्त कर चुकने पर भी उनके उपदेशों की गूँज सुनाई देती रहेगी।

(२) **भरत**—एक सिंह के पीछे बहुत सारे हरिण चले जा रहे थे।

भगवान ऋषभदेव—सिंह चौबीसवें तीर्थंकर का द्योतक है। हरिण उनके धर्मानुयायी हैं, जिनमें उस सिंह जैसी न तो शक्ति है, और न धर्मपरायणता। वे लोग तीर्थंकर के पद-चिन्हों का अनुकरण करना तो चाहेंगे, किन्तु कर नहीं पायेंगे। ऐसा भी होगा कि भटक कर पथभ्रष्ट हो जायें और मिथ्या प्ररूपणाएँ करें।

(३) **भरत**—एक अश्व गज से भाराक्रान्त हो रहा था

भगवान ऋषभदेव—अश्व मुनि का प्रतीक है। पंचमकाल में मुनिजन अपने पर ऐसी सत्ताओं का आरोप कर बैठेंगे जो उन्हें दबा देंगी। उस युग में साधु लोग शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक हो जायेंगे और वही शक्ति (चमत्कार) उनको धर दबोचेगी।

(४) **भरत**—अजा समूह सूखी पत्तियाँ चर रहा था।

भगवान ऋषभदेव—इसके दो अर्थ हैं—पंचम काल में अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष होंगे। अन्न की अत्यन्त अल्पता हो जायेगी। जिससे जन-साधारण अभक्ष्य और अनुपसेव्य पदार्थों का भक्षण करेंगे। स्वास्थ्य के लिए हानिकारक पदार्थों के प्रयोग से भावी सन्तति अजा समूह की तरह निर्बल हो जायेगी।

(५) **भरत**—हाथी की पीठ पर वानर बैठा था।

भगवान ऋषभदेव—हाथी सत्ता का प्रतीक है। पंचम काल में सत्ता निम्नस्तरीय (पाशविक) व्यक्तियों के हाथ में चली जायेगी। राजसत्ता क्षत्रियों का साथ छोड़ देगी। धर्म-सत्ता मानवता से शून्य हो जायेगी। पाशविक वृत्तियाँ बढ़ेंगी और सत्ता की बन्दर-बाँट होगी। राजनीति, समाज और धर्म में छल, दम्भ, चोरी, सीनाजोरी, स्वार्थ और वैमनस्य आदि अतिशय बढ़ जायेंगे। सत्ताधारियों में चरित्रवान् व नीतिज्ञ व्यक्तियों की अल्पता हो जायेगी।

(६) **भरत**—एक हंस अनगिन कौवों द्वारा मारा जा रहा था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान ऋषभदेव—उस युग में ज्ञानी और विवेकी सज्जनों पर धूर्तजन आक्षेप करेंगे उन्हें पीटेंगे और नाना प्रकार से त्रास देंगे। जैन साधुओं को अन्य मतानुयायी अनेक प्रकार की यातनायें भी देंगे।

(७) **भरत**—प्रेत नृत्य कर रहा था।

भगवान ऋषभदेव—भविष्य में प्रेत आत्माओं की पूजा बढ़ेगी, जनता राक्षसी शक्ति की उपासक हो जायेगी।

(८) **भरत**—तालाब का मध्य भाग तो सूखा पड़ा था, किन्तु उसके आसपास पानी भरा था।

भगवान ऋषभदेव—तालाब संसार है। जिसका मध्य भाग संस्कृति और ज्ञान का केन्द्र आर्यावर्त है। एक समय ऐसा आयेगा जबकि यहाँ ज्ञान और संस्कृति क्षीण रहेगी। आस-पास के अन्य देश संस्कृति और ज्ञान से समृद्ध हो जायेंगे।

(९) **भरत**—रत्नों का ढेर मिट्टी से आवृत था।

भगवान ऋषभदेव—ज्ञान और भक्तिरूपी रत्न अज्ञान और अश्रद्धा की मिट्टी के नीचे दब जायेगा। साधुजन शुक्लध्यान को प्राप्त नहीं कर पायेंगे।

(१०) **भरत**—एक कुत्ता मौज से मिठाइयाँ उड़ा रहा था और लोग उसकी पूजा कर रहे थे।

भगवान ऋषभदेव—उस युग में निम्न व्यक्ति मजे में रहेंगे, पूज्य माने जायेंगे और वे ही दर्शनीय होंगे।

(११-१२) **भरत**—एक जवान बैल मेरे आगे चिल्लाता हुआ निकला। दो बैल कन्धे से कन्धा मिलाये चले जा रहे थे।

भगवान ऋषभदेव—पंचम काल में युवक जैन मुनि होंगे और अनभिज्ञता के कारण बदनाम होंगे। धर्म-प्रचार के लिए एकाकी भ्रमण का साहस नहीं कर सकेंगे।

(१३) **भरत**—चन्द्रमा पर धुन्ध-सी छाई हुई थी।

भगवान ऋषभदेव—चन्द्रमा संसारी आत्मा है। पंचमकाल में आत्मा अधिक कुलषित हो जायेगी। सद्भावनाएँ क्षीण हो जायेंगी और तत्त्वज्ञान लुप्तप्रायः हो जायेगा।

(१४) **भरत**—सूर्य मेघाच्छन्न दिखाई दिया।

भगवान ऋषभदेव—उस समय में किसी को सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होगी।

(१५) **भरत**—छायाहीन एक सूखा पेड़ देखा।

भगवान ऋषभदेव—धर्माचरण के अभाव में तृष्णा बढ़ेगी और उसके साथ ही अशान्ति भी बढ़ेगी।

(१६) **भरत**—सूखे पत्तों का एक ढेर देखा।

भगवान ऋषभदेव—पंचम काल में औषधियाँ और जड़ी-बूटियाँ अपनी शक्ति (रस) खो बैठेंगी और रोगों की वृद्धि होगी।

—(जिनसेन कृत महापुराण ४१।६३-७६)

यद्यपि ये स्वप्न चक्रवर्ती ने देखे थे, किन्तु इनका सम्बन्ध न तो उनके जीवन से जुड़ा है, और न प्रजा के जीवन से, किन्तु ये सभी स्वप्न आने वाले युग के सूचक माने गये हैं जिनका फल पंचम काल में होना बताया है।

कहा जाता है कि तथागत बुद्ध के समय में भी किसी एक राजा ने १६ स्वप्न देखे थे। वह स्वप्नों के विचित्र रूपों पर विचार करके चिन्तित हो उठा। प्रातः वह तथागत बुद्ध के पास गया और अपने स्वप्न सुनाये तो बुद्ध ने उनका इस प्रकार अर्थ किया—

स्वप्न—(१) चार भयंकर बैल चारों दिशाओं से लड़ने आये। सैकड़ों व्यक्ति दर्शक रूप में खड़े थे वे बिना लड़े ही वापिस लौट गये।

अर्थ—चारों ओर से उमड़ते-घुमड़ते बादल चढ़-चढ़कर आयेंगे। पिपासु लोग टकटकी लगाए निहारते रहेंगे। पर वे बिना बरसे ही लौट जायेंगे, क्योंकि लोगों में पापाचार फैला हुआ जो रहेगा।

(२) छोटे-छोटे वृक्षों पर इतने फल-फूल लगे थे कि वे उनका भार भी नहीं सह पा रहे थे।

अर्थ—आने वाले युग में छोटी-छोटी वय वाले व्यक्तियों की सन्तानों की बहुत वृद्धि होगी। उनका भार भी वहन करना उनके लिए दूभर होगा।

(३) तीसरे स्वप्न में लातें खा-खाकर भी गऊ अपनी बच्छिया का पय पान कर रही थी।

अर्थ—बूढ़ों को बच्चों का मुँहताज बनकर रहना पड़ेगा। उनका खट्टा-मीठा सब कुछ सहना होगा तभी वे उनका भरण-पोषण करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) चौथे स्वप्न में एक रथ के बड़े-बड़े बैलों को खोलकर छोटे-छोटे बछड़े जोत दिये गये, पर वे भार वहन में असमर्थ रहे।

अर्थ—सुयोग्य शासकों को हटाकर अयोग्यों को प्रशासन में जोड़ा जायेगा। पर वे उसका निर्वाह भली-भाँति नहीं कर सकेंगे।

(५) पाँचवें स्वप्न में देखा कि एक घोड़ा दोनों ओर से खा रहा है अर्थात् मुखद्वार से भी तथा मलद्वार से भी।

अर्थ—शासक गण दोनों ओर से खायेंगे—सामने से नौकरी के पैसे और पीछे से रिश्वत—उत्कोच !

(६) छठे स्वप्न में देखा—खाने का पात्र हाथ में लिए चतुर व्यक्ति बूढ़े सियाल को उसमें मूत्र करने की प्रार्थना कर रहे हैं।

अर्थ—धर्माचार्यों को कुछ स्वार्थी व्यक्ति अपने हाथों की कठपुतली बनायेंगे। वे भी धर्म की ओट में स्वार्थ साधने तत्पर रहेंगे।

(७) सातवें स्वप्न में देखा—एक व्यक्ति बहुत ही परिश्रम से रस्सी बँट रहा था। उसे पास बैठी सियारनी खा रही थी।

अर्थ—पति अथक श्रम कर जो पूँजी कमाकर लायेगा वह सारी तो उन गृह देवियों की सिंगार-सज्जा में ही पूरी हो जायगी।

(८) आठवें स्वप्न में देखा—भरे हुए घड़ों को सब भर रहे हैं। पास में एक खाली घड़ा पड़ा है उसको कोई नहीं देखता है।

अर्थ—धनिकों का धन राज-करों में तथा आराम में पूरा होगा। वे भी धन के बल से स्वर्ग जाना चाहेंगे किन्तु गरीबों पर ध्यान कोई नहीं देगा।

(९) नवें स्वप्न में देखा—तालाब का पानी किनारे-किनारे तो स्वच्छ है बीच में गन्दगी भरी हुई है। जबकि होता यह है कि किनारे पर जल गन्दा होता है और बीच में स्वच्छ होता है।

अर्थ—शासकों के पास में जी हजूरियों का जमघट लगा रहेगा, सज्जन दूर-दूर ही रहेंगे।

(१०) दशवाँ स्वप्न यह था कि एक ही बर्तन में तीन तरह के चावल थे—कुछ पके, कुछ अधपके, कुछ कच्चे।

अर्थ—अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा सुवृष्टि से फसलों का पाक भी तीन तरह का होगा।

(११) ग्यारहवें स्वप्न में देखा—बावना चन्दन तक के मूल्य में बिक रहा है।

अर्थ—बड़े-बड़े धर्मगुरु धर्माचार्य धर्म का उपदेश पैसों से देंगे। यानि धर्म भी बाजार में बिकने की चीज मान ली जायेगी।

(१२) बारहवें स्वप्न में देखा—सुन्दर-सुन्दर फल डूब रहे हैं।

अर्थ—अच्छे-अच्छे समझदार और कुशल व्यक्ति भी खुशामदी भक्तों की चिकनी-चुपड़ी बातों में डूब जायेंगे।

(१३) तेरहवें स्वप्न में देखा—बड़ी-बड़ी चट्टानें पैरों में झूल रही है। छोटे-छोटे कंकर स्थान पर जमे पड़े हैं।

अर्थ—सज्जन मनुष्य पैरों में भटकेंगे, जबकि दुर्जन अपनी पाँचों अंगुलियाँ घी में करेंगे।

(१४) चौदहवें स्वप्न में देखा—छोटी-छोटी मेंढ़कियाँ बड़े-बड़े काले नागों को चट कर गईं।

अर्थ—हर स्थान में क्षुद्रजनों व नारी जाति का बोलबाला होगा। बलशाली बुद्धिशाली व्यक्ति भी उनको खुश करने में प्रयत्नशील रहेंगे।

(१५) पन्द्रहवें स्वप्न में देखा—सोने के पंख वाली बतख कौवे के पीछे भटक रही है।

अर्थ—गुणवान व्यक्ति अभाव से पीड़ित होकर गुण-हीनों के पैरों के तलवे चाटते रहेंगे।

(१६) सोलहवें स्वप्न में देखा—बकरी से डर कर सिंह भाग रहा है।

अर्थ—शासक वर्ग शासित वर्ग से भयभीत रहेंगे और अपनी जान बचाते छुपेंगे।

तथागत के मुंह से ये स्वप्न फल सुनकर राजा काँप उठा। तब बुद्ध ने आश्वासन दिया—राजन् ! तुम्हारे राज्य में यह स्थितियाँ नहीं आयेंगी।[३०]

चन्द्रगुप्त राजा के १६ स्वप्न

पाटलिपुत्र नरेश मौर्य राजा चन्द्रगुप्त ने एक रात कुछ विचित्र स्वप्न देखे। आश्चर्य विमूढ होकर राजा उन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वप्नों पर विचार करता रहा। पर, कुछ भी समझ में नहीं आया। प्रातः पाटलिपुत्र में आचार्य भद्रबाहु पधारे। अवसर देखकर राजा ने उनसे अर्थ पूछना चाहा। आचार्यश्री ने जो अर्थ बताया उस आधार पर बने ग्रन्थ का नाम 'व्यवहारचूलिका' है। उसमें वर्णित स्वप्नार्थ इस प्रकार हैं—

(१) **प्रथम स्वप्न**—कल्पवृक्ष की शाखा टूटी हुई देखी।

अर्थ—अब राजा लोग संयम नहीं लेंगे।

(२) **दूसरा स्वप्न**—असमय में सूर्य को अस्त होते देखा।

अर्थ—अब के जन्मे हुओं को केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी।

(३) **तीसरा स्वप्न**—चन्द्रमा चालनी बन गया।

अर्थ—जैन शासन विभिन्न सम्प्रदायों तथा समाचारियों में विभाजित हो जायेगा।

(४) **चौथा स्वप्न**—अट्टहास करते भूत-भूतनी नाचते देखा।

अर्थ—स्वच्छन्दाचारी और ढोंगी साधुओं का सम्मान बढ़ेगा।

(५) **पाँचवाँ स्वप्न**—बारह फन वाला काला सर्प देखा।

अर्थ—बारह-बारह वर्ष का दुष्काल पड़ेगा। साधुओं को आहार मिलना कठिन हो जायेगा। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय के अभाव में ज्ञान विलुप्त हो जायेगा।

(६) **छठा स्वप्न**—देवताओं का विमान वापिस लौटते देखा।

अर्थ—विशिष्ट लब्धियाँ विलुप्त हो जायेंगी।

(७) **सातवाँ स्वप्न**—कचरे के ढेर पर (अकूरड़ी) कमल खिला हुआ देखा।

अर्थ—जैन शासन की बागडोर ऐसे व्यक्तियों के हाथ में आ जायेगी जो उसमें सौदाबाजी चलायेंगे।

(८) **आठवाँ स्वप्न**—पतंगियों को उद्योत करते देखा।

अर्थ—धर्म आडम्बरों में ही शेष रह जायेगा।

(९) **नवाँ स्वप्न**—तीन दिशाओं में समुद्र सूखा हुआ है। केवल दक्षिण दिशा में थोड़ा-सा जल है, वह भी मटमैला-सा।

अर्थ—जहाँ तीर्थंकरों का विहार हुआ है। वहाँ प्रायः धर्म का ह्रास होगा। दक्षिण दिशा में थोड़ा-सा धर्म का प्रचार रहेगा।

(१०) **दशवाँ स्वप्न**—सोने के थाल में कुत्ता खीर खा रहा था।

अर्थ—उत्तम पुरुष श्रीहीन होंगे। पापाचारी आनन्द करेंगे।

(११) **ग्यारहवाँ स्वप्न**—हाथी पर बन्दर बैठा देखा।

अर्थ—लौकिक और लोकोत्तर पक्षों में अधम व्यक्तियों—आचारहीन व्यक्तियों को सम्मान व उच्चपद मिलेगा।

(१२) **बारहवाँ स्वप्न**—समुद्र मर्यादा छोड़कर भागा जा रहा था।

अर्थ—उत्तम-उत्तम व्यक्ति भी पेट पालने के लिए मर्यादाहीन हो जायेंगे।

(१३) **तेरहवाँ स्वप्न**—एक विशाल रथ में छोटे-छोटे बछड़े जुते हुए थे।

अर्थ—छोटे-छोटे बालक संयम के रथ को खींचेंगे।

(१४) **चौदहवाँ स्वप्न**—महामूल्य रत्न को तेजहीन देखा।

अर्थ—साधुओं का परस्पर के कलह, अविनय आदि के कारण चारित्र का तेज घट जायेगा।

(१५) **पन्द्रहवाँ स्वप्न**—राजकुमार को बैल की पीठ पर चढ़ा देखा।

अर्थ—क्षत्रिय आदि वर्ग जिन धर्म छोड़कर मिथ्यात्व के पीछे लगेंगे। सज्जनों को छोड़कर दुर्जनों का विश्वास करेंगे।

(१६) **सोलहवाँ स्वप्न**—दो काले हाथियों को युद्ध करते देखा।

अर्थ—पिता-पुत्र और गुरु-शिष्य परस्पर विग्रह करेंगे। अतिवृष्टि और अनावृष्टि होगी।

ये स्वप्न प्रायः प्रतीकात्मक हैं और इनका सम्बन्ध भविष्यकाल से जोड़ा गया है। इन स्वप्नों का वर्णन व्यवहारचूलिका नामक ग्रन्थ में मिलता है।

भगवान महावीर के दस स्वप्न

भगवान महावीर के दस स्वप्न भी काफी प्रसिद्ध हैं और उनका सम्बन्ध प्रायः उन्हीं के भावी जीवन से जोड़ा गया है। वे स्वप्न इस प्रकार हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) एक विशालकाय पिशाच को मारना।
फल—मोहनीय कर्मरूपी पिशाच को नष्ट करेंगे।
(२) श्वेत पुंस्कोकिल सामने स्थित है।
फल—शुक्लध्यान की उच्च आराधना करेंगे।
(३) रंग-बिरंगा पुंस्कोकिल सामने है।
फल—विविध ज्ञान से भरे द्वादशांगी रूप श्रुतज्ञान की प्ररूपणा करेंगे।
(४) दो रत्न मालाएँ।
फल—सर्वविरति एवं देशविरति धर्म की प्ररूपणा करेंगे।
(५) श्वेत गायों का समूह।
फल—श्वेत वस्त्रधारी श्रमण-श्रमणी शिष्य परिवार होगा।
(६) विकसित फूलों वाला पद्म सरोवर।
फल—देवगण सदा सेवा में उपस्थित रहेंगे।
(७) महासमुद्र को हाथों से तैरना।
फल—संसार सागर को पार करेंगे।
(८) जाज्वल्यमान सूर्य का प्रकाश फैल रहा है।
फल—केवल ज्ञानालोक से स्वप्न को प्रकाशित करेंगे।
(९) मानुषोत्तर पर्वत को अपनी आँतों से आवेष्टित करना।
फल—समूचे लोक में कीर्ति व्याप्त हो जायेगी।
(१०) मेरु पर्वत पर आरोहण करना।
फल—छिन्न प्रायः धर्म-परम्परा की पुनः स्थापना करेंगे।

इन स्वप्नों के समय के सम्बन्ध में दो मान्यताएँ मिलती हैं। कुछ लोगों का मानना है कि ये स्वप्न शूलपाणि यक्ष के उपद्रव के बाद उसी अन्तिम रात्रि में आये, जबकि एक मान्यता है कि **अन्तिम राइयंसि** का अर्थ छद्मस्थकाल की अन्तिम रात्रि से होना चाहिए।[31]

अगर स्वप्न-शास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो इनका समय छद्मस्थकाल की अन्तिम रात्रि भी उपयुक्त लगती है, क्योंकि सभी स्वप्नों के संकेत भगवान की वीतराग दशा और तीर्थस्थापना से सम्बन्धित है। अतः काल-सामीप्य की दृष्टि से वह छद्मस्थकाल की अन्तिम रात्रि होती है। खैर इस विवाद में न पड़कर हमें तो स्वप्नों के सम्बन्ध में ही समझना है कि स्वप्नों के अर्थ किस प्रकार विचित्र-विचित्र होते हैं। उक्त स्वप्नों के अर्थ उत्पल निमित्तज्ञ ने लोकों को बताये, कहते हैं चौथे स्वप्न का अर्थ उसकी समझ में नहीं आया तो उसका अर्थ स्वयं भगवान महावीर ने स्पष्ट किया।[32]

बुद्ध के पाँच स्वप्न

स्वप्नों की चर्चा में हमारे समक्ष तथागत बुद्ध के पाँच स्वप्न भी आते हैं। बुद्ध भी अपने साधना काल की अन्तिम रात्रि में ये पाँच स्वप्न देखते हैं और उनका अर्थ शीघ्र बोधि लाभ की प्राप्ति होना कहते हैं।

स्वप्न १—बुद्ध ने देखा—मैं एक महापर्यंक पर सो रहा हूँ। हिमालय का तकिया (उपधान) कर रखा है। बायाँ हाथ पूर्व समुद्र को स्पर्श कर रहा है और दायां हाथ पश्चिमी समुद्र को। पैर दक्षिण समुद्र को छू रहे हैं।
अर्थ—तथागत पूर्ण बोधि (संपूर्ण ज्ञान) प्राप्त करेंगे।[33]
स्वप्न २—एक तिरिया नामक महावृक्ष हाथ में प्रादुर्भूत होकर आकाश को छूने लगा है।
अर्थ—अष्टांगिक मार्ग का निरूपण करेंगे।
स्वप्न ३—काले सिर वाले श्वेत कीट घुटनों पर रेंग रहे हैं।
अर्थ—श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ वर्ग चरणों में शरणागति लेंगे।
स्वप्न ४—रंग-बिरंगे चार पक्षी चार दिशाओं से आते हैं, चरणों में गिरते हैं, और सब एक समान श्वेत वर्ण हो जाते हैं।
अर्थ—चारों वर्ण के मनुष्य दीक्षित होंगे और निर्वाण प्राप्त करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वप्न ५—बुद्ध एक गोमय (गोबर) के पर्वत पर चल रहे हैं, किन्तु फिर भी गति अस्खलित है। न फिसल रहे हैं और न गिर रहे हैं।

अर्थ—भौतिक सुख सामग्री के बीच अनासक्त रहेंगे।[३४]

फलश्रुति

भगवान महावीर तथा महात्मा बुद्ध ने ये स्वप्न साधना काल की उस अवस्था में देखे जब उनका अन्तःकरण साधना से अत्यधिक परिष्कृत व निर्मल हो चुका था और सिद्धि लाभ (कैवल्य तथा बोधि) की प्राप्ति हेतु उत्कण्ठित हो रहा था। मानस विज्ञान की दृष्टि से उस अवस्था में उनके मन में भावी जीवन की अनेक परिकल्पनाएँ, अनेक संभावनाएँ आलोड़ित हो रही होंगी, मोहनाश, कैवल्य लाभ, संघ स्थापना और जन-कल्याण की तीव्र इच्छा अन्तःकरण को, चेतन व अचेतन मन को आवृत किये हुए होगी इसलिए उसी प्रकार की संभावनाएँ और दृश्य स्वप्न में परिलक्षित हों, यह सहज ही संभव है और स्वप्न शास्त्र उन्हीं इच्छाओं के आधार पर उनका भावी फल सूचित करता है।

मोक्षफल सूचक १४ स्वप्न

भगवती सूत्र में १४ प्रकार के ऐसे स्वप्नों की चर्चा है जिनका फल दर्शक की जीवन-मुक्ति (निर्वाण) से सम्बन्धित बताया गया है।[३५]

१. हाथी, घोड़ा, बैल, मनुष्य, किन्नर, गंधर्व आदि की पंक्ति को देखकर जागृत होना। इसका अर्थ है—उसी भव में दुःखों का अन्त कर मोक्ष-सुख की प्राप्ति होना।

२. समुद्र के पूर्व-पश्चिम छोर को छूने वाली लम्बी रस्सी को हाथों से समेटते देखना। इसका अर्थ है जन्म-मरण की रस्सी को समेटकर उसी भव में मुक्त होना।

३. लोकान्त पर्यन्त लम्बी रस्सी को काटना। इस स्वप्न का भी यही अर्थ है—जन्म-मरण से मुक्ति।

४. पाँच रंगों वाले उलझे हुए सूत के गुच्छों को सुलझाना। यह स्वप्न देखने वाला—अपनी भव-गुत्थियों को सुलझा कर उसी भव में मुक्त होता है।

५. लोह, ताम्बा, कथीर और शीशे की राशि (ढेर) को देखे और स्वयं उस पर चढ़ता जाय। इस स्वप्न का अर्थ ऊर्ध्वारोहण अर्थात् निर्वाण है।

६. स्वर्ण, रजत, रत्न और वज्र रत्न की राशि देखे, और उस पर आरोहण करे तो इसका भी फल है—ऊर्ध्वारोहण-मुक्ति-लाभ।

७. विशाल घास या कचरे के ढेर को देखे और उसे अपने हाथों से बिखेर दे तो इसका भी फलित है—उसी भव में मोक्ष-गमन।

८. स्वप्न में—शरस्तम्भ, वीरणस्तम्भ, वंशीमूल स्तम्भ और वल्लिमूल स्तम्भ को देखे और उसे स्वयं अपने हाथों से उखाड़कर फेंक देवे तो इस स्वप्न का फल भी उसी भव में संसार उच्छेद (मुक्ति) करना है।

९. स्वप्न में दूध, दही, घृत और मधु का घड़ा देखे और उसे उठा ले तो इसका फल भी उसी भव में निर्वाणसूचक है।

१०. मद्य घट, सौवीर घट, तेल घट और वसा (चर्बी) घट देखकर उसे फोड़ डाले तो इसका भी फल उसी भव में निर्वाण-गमन सूचित करता है।

११. चारों दिशाओं में कुसुमित पद्म सरोवर को देखकर उसमें प्रवेश करना—इस स्वप्न का भी फल है उसी भव में मोक्ष-गमन।

१२. तरंगाकुल महासागर को भुजाओं से तैरकर पार पहुँच जाना—इसका भी फल उसी जन्म में संसार सागर से पार होना है।

१३-१४ श्रेष्ठ रत्नमय भवन अथवा विमान को देखकर उसमें प्रवेश करता स्वप्न देखे तो इन दोनों का भी फल सूचित करता है कि वह—मुक्ति भवन या मुक्ति विमान में प्रविष्ट होगा—उसी जन्म में।

फल-विचार

इन स्वप्नों का एक निश्चित अर्थ आगमों में बताया है कि इन उत्तमस्वप्नों का दर्शन मनुष्य की देह-आसक्ति, भव-बंधन तथा राग-द्वेष की शृंखला से मुक्त होकर ऊर्ध्वगामी होना और मुक्तिरूप भवन में प्रवेश करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। क्योंकि ऐसे महान् स्वप्न सभी को नहीं आते। जब अन्तःकरण परम पवित्र, शांत और निरुद्वेग होता है, चित्त-वृत्तियाँ स्व-लीन होती हैं उसी दशा में ऐसे उत्तम स्वप्न दिखाई देते हैं।

कभी-कभी इनसे मिलते-जुलते एक-दो स्वप्न सामान्य शान्त मनःस्थिति वालों को भी दिखाई देते हैं और उनका फल भी प्रायः उस स्थिति के अनुकूल दुःखों की शृंखला से मुक्ति पाना, किसी विशिष्ट वस्तु या सम्मान की प्राप्ति होना, उच्चपद की प्राप्ति होना आदि लगाये जाते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार स्वप्न-शास्त्र के विविध स्वरूप व प्रकारों पर विचार करने से निम्न बातें निष्कर्ष रूप में हमारे सामने आती हैं :

१. विगत एवं वर्तमान जीवन से सम्बन्धित स्वप्न अधिकतर मनुष्य के अचेतन मन से सम्बन्धित होते हैं। सुप्त इच्छा, दमित वासना या लुप्तप्राय संस्कार उनके प्रेरक होते हैं।

२. देखी, सुनी, अनुभव की हुई बातें, दृश्य आदि कभी विपरीत रूप में, कभी नाटक शैली में और कभी संक्षिप्त रूप में स्वप्न में आती हैं।

३. स्वप्न मनुष्य की सुप्त इच्छा या दमित वासना तथा मानसिक तनाव को उद्घाटित कर एक प्रकार की राहत पहुँचाता है। मानस विज्ञान, स्वप्न के आधार पर रोगी की चिकित्सा करने में सफल हो सकता है।

४. जिन स्वप्नों का वर्तमान या विगत जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसे भविष्यसूचक स्वप्न बहुत ही कम आते हैं। अधिकतर भविष्यसूचक स्वप्नों का संस्कार वर्तमान जीवन में ही छुपा रहता है।

५. महापुरुषों की माताओं के स्वप्न उनके वर्तमान जीवन की उच्च आकांक्षा को व्यक्त करते हैं। किसी दिव्य तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति की कामना उनके अन्तःकरण में गुप्त रूप में छुपी रहती है, और गर्भधारण के समय उसी इच्छा के अनुरूप पुत्र जब गर्भ में अवतीर्ण होता है तो विशिष्ट स्वप्न उसकी इच्छा की पूर्ति की सूचना देते हैं।

६. भरत चक्रवर्ती, चन्द्रगुप्त राजा आदि के स्वप्न भविष्य के धर्म, समाज एवं राष्ट्र के सम्बन्ध में उनके मन में रही हुई आशंका, दुष्कल्पना और भय के सूचक भी हैं तथा उनकी चिन्तापरक चिन्तन धारा के भी।

७. भगवान महावीर के दस स्वप्न—उनके पवित्र एवं निर्मलतम अन्तःकरण में लहराती भावी की प्रतिच्छवि मात्र है। उनकी आन्तरिक चेतना इतनी विशुद्ध हो गई थी कि निकट भविष्य में होने वाला कैवल्य-लाभ तथा संघ स्थापना का महनीय कार्य स्वप्न-सागर में तैरने लग गया।

८. यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक स्वप्न सार्थक ही हो। अधिकतर स्वप्न, स्वप्नमात्र ही होते हैं अर्थात् निरर्थक! किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर उनके द्वारा मनुष्य की आन्तरिक वृत्तियों की अस्फुट झलक मिल सकती है और उसके आधार पर की गई मनोचिकित्सा भी सफल हो सकती है।

९. रात्रि के अन्तिम प्रहर में, स्वस्थ तथा प्रसन्नमनःस्थिति में देखे गये स्वप्न अपना एक अर्थ रखते हैं और वातावरण तथा परिस्थिति के अनुकूल उनका फल विचार करने पर लाभ प्राप्ति तथा हानि से बचाव भी हो सकता है।

१०. शुभ स्वप्न देखने के बाद पुनः नींद नहीं लेना चाहिए। किन्तु अन्तिमरात्रि का स्वप्न शुभचिन्तन एवं पवित्र ध्यान आदि में व्यतीत करना चाहिए।

११. अशुभ स्वप्न के निवारण हेतु सोते समय मन को शान्त व प्रसन्न रखना, इष्टदेव का स्मरण करना तथा अच्छे उत्तम विचारों से मन को भरकर शयन करना चाहिए।

१२. अशुभ या भयावह स्वप्न देखकर डरना नहीं चाहिए किन्तु इष्टस्मरण, धर्मध्यान, दान-तपस्या आदि के द्वारा उसके अशुभफल की निवृत्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

१३. स्वप्न आखिर स्वप्न है, उसे यथार्थ मानने की ऐसी भूल नहीं करना चाहिए कि जीवन में अव्यवस्था या संकट उत्पन्न हो जाये।

१४. स्वप्न पर अधिक विश्वास खतरनाक होता है।

१५. मनुष्य को स्वप्नद्रष्टा नहीं यथार्थद्रष्टा होकर आत्म-उत्थान के लिए सतत जागरूक रहना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१ महापुराण ४१।६३ से ७६
२ (क) त्रिषष्टिशलाका० १।३।२४४; तथा आवश्यक चूर्णि पृ०, १६२
(ख) महापुराण २०।३४ में सात स्वप्नों का वर्णन है।
३ आवश्यक मलयगिरिवृत्ति २७०।१
४ व्यवहारचूलिका
५ भगवतीसूत्र १६।६
६ अष्टांग हृदय निदान, स्थान० ६
७ हिन्दी विश्वकोष, खंड १२, पृ० २६४
८ ते च स्वप्ना द्विधा ज्ञाता स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः
समैस्तु धातुभिःस्व विषमैरितरैमता ।५६।
तथ्याः स्युः स्वस्थसंदृष्टा मिथ्यास्वप्ना विपर्ययात् ।
जगत्प्रतीतमेतद्धि विद्धि स्वप्नविमर्शनम् ।६०।—महापुराण ४१ ।
९ वही, सर्ग ४१।६१
१० स्थानांग ५ ।
११ भगवती सूत्र १६।६—पंचविहे सुमिण दंसणे पण्णत्ते—तं जहा अहातच्चे, पयाणे, चिंतासुविणे, तव्विवरीए, अव्वत्तदंसणे ।
१२ अहातच्चं तु सुमिणं खिप्पं पासेइ संवुडे ।—आयारदशा ५।३
१३ अनुभूतः श्रुतो दृष्टः प्रकृतेश्च विकारजः ।
स्वभावतः समुद्भूतः चिन्तासन्ततिसंभवः ।।
देवताद्युपदेशोत्थो धर्मकर्मप्रभावजः ।
पापोद्रेक समुत्थश्च स्वप्नःस्यान्नवधा नृणाम् ।।
प्रकारैरादिमैः षड्भि—रशुभश्चाशुभोपि वा ।
दृष्टो निरर्थकः स्वप्नः सत्यस्तु त्रिभिरुत्तरैः ।।—स्वप्न शास्त्र
१४ अणुहूय दिट्ठ चिंतिय, सुय पयइ विचार देवमाणुवा ।
सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं व णाभावो ।।—विशेषावश्यकभाष्य गाथा १७०३
१५ भगवती १६।६
१६ रात्रेश्चतुर्षु यामेषु दृष्टः स्वप्नः फलप्रदः ।
मासैर्द्वादशभिः षड्भिस्त्रिभिरेकेन च क्रमात् ।।
निशान्त्य घटिका युग्मे दशाहात् फलति ध्रुवम् ।
दृष्टः सूर्योदये स्वप्नः सद्यः फलति निश्चितम् ।।
१७ त्रिषष्टि० ४।१।२१७
१८ वही ४।१।१६८
१९ महापुराण पर्व १२।१०३
२० अन्तिमराइयंसि—कल्पसूत्र
२१ स्वप्न संरक्षणार्थंजागरिका निद्रानिरोधः—स्वप्नजागरिका —भगवती सूत्र वृत्ति ११।११
२२ (क) देवेष्वात्मजबान्धवोत्सव गुरुच्छत्राम्बुजप्रेक्षणं
प्राकारद्विरदाम्बुदद्रुमगिरि प्रासादसंरोहणम् ।
अम्भोधेस्तरणं सुरामृतपयोदध्नां च पानं तथा
चन्द्रार्कौ ग्रसनं स्थितं शिवपदे स्वापे प्रशस्तं नृणाम् । —प्रवचन० २५७ द्वार
(ख) अभिधान राजेन्द्र : भाग ७ । पृ०, ६६२
२३ भगवती सूत्र १६।६
२४ कल्पसूत्र ३२-४५ त्रिषष्टि शलाका० १०।२।३०-३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५ महापुराण १२।१५५ से १६१ तथा उत्तरपुराण ७४।२५८-२५९
२६ महापुराण १५।१२३-१२६
२७ चंद मंडल सरिसं पोलियं लहेसि
२८ राया भविस्सई—उत्तरा० ३ टीका—अभिधान राजेन्द्र ७, पृ० १००२
२९ महापुराण ४१।६३-७९
३० नवनीत (मार्च) १९५५,
३१ देखें—भगवती सूत्र श्री अमोलकऋषिजीकृत अनुवाद पृष्ठ २२-२४-२५ तथा जैन सिद्धान्त बोल संग्रह : भाग ३, पृष्ठ २२९-२३०
३२ आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पृ० २७०
३३ भगवती सूत्र १६।६ सूत्र ५८० में मोक्षगामी के चौदह स्वप्नों में इस स्वप्न का अर्थ बताया है—उसी भव में मोक्ष प्राप्ति होना।
३४ अंगुत्तरनिकाय (३-२४०) तथा महावस्तु (२-१३६) में देखें
३५ भगवतीसूत्र १६।६ सूत्र ५८०

पुष्कर वाणी

अज्ञानी मनुष्य बालक के समान नादान है।

बालक खिलौनों से खेलता है, वे ही उसे प्रिय लगते हैं। खिलौनों में रमकर वह अपनी पढ़ाई और माता-पिता तक को भूल जाता है। यही दशा अज्ञानी मनुष्य की है। वह संसार के नाशवान पदार्थों में इतना रम जाता है कि अपना स्वरूप भी भूल जाता है। प्रभु और गुरु को भी याद नहीं करता और सतत बालक की तरह इन्हीं भौतिक खिलौनों में मन लगाये रहता है।

खिलौना टूटने-फूटने पर बालक रोता है। छीना जाने पर दुःखी होता है, ऐसा ही अज्ञान-मोहग्रस्त मनुष्य करता है, धन आदि वस्तुयें छूटने पर रोना-कलपना और उन्हें ही सब कुछ मान बैठना बिल्कुल बालक जैसी वृत्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Characteristics of Jaina Mysticism



Dr. (Miss) Shanti Jain, Athens (Greece)

Mystical experience is *sui generis*. It is an integral experience which is a bonafide way of knowing the empirical and trans-empirical objects. It is the direct vision of the soul in its purest form. In Jaina mystical literature various expressions of mystical experience or mystical vision are invariably found. Words like *'Svasamaya'*, *'Śuddhopayoga'*, *Śuddhabhāvas'*, *'Svarūpsattā'*, *'Niścayanaya'*, *'Antarātman'*, *'Paramātman'*, *'Tattvānubhava,'* *'Ahiṁsā'*, and so on are indicative of mystical expression in Jainism. In view of this the question whether mysticism is possible in Jainism seems to be insignificant.

Let us now turn to the marked characteristics of Jaina mysticism. In point of fact, mystical consciousness entails certain expressions, by virtue of which its presence may easily be recognized. In other words, these characteristics may serve as the criteria of Jaina mysticism. Though to recognize mystical states, is not as easy as may be thought. Jaina mystics have endeavoured to present some such characteristics as may give an idea of the presence of this mystical phenomenon. In view of its abstruseness there is every likelihood of its being misunderstood. Only those who are mystically-minded and are prone to mystical way of life can ascertain the presence of mystical experience. Stace rightly says that 'the impossibility of communicating mystical experience to one who has not had such an experience is like the impossibility of communicating the nature of colour to a man born blind. This is the reason why the spiritually seeing man, the mystic cannot communicate what he has experienced to the non-mystic'.[1] It may be said that these mystical experiences do not possess objectivity of gross type, but it does not mean that they are purely subjective in the narrow sense of the word. In fact, they are subjective, yet they are very much objective. Hence, in Jaina spiritual literature certain characteristics are invariably found. These characteristics consist of spiritual knowledge, spiritual joy, spiritual steadfastness, intuition, ineffability, activistic attitude, moral elevation, freedom from fear, permanency and so on We may say that these are the articulate expressions of mystical life.

(i) Spiritual Knowledge

First, self-knowledge or spiritual knowledge is a characterizing feature of transcendental life. 'Know thyself' is an often quoted maxim. Knowledge of the Ātman is the supreme knowledge. The *Samayasāra* pronounces that the self with spiritual knowledge knows his true nature, and he lacking in the knowledge, blinded by his own nescience is unable to perceive his true nature.[2] In other words, the self with spiritual knowledge, by contemplating upon the pure self, becomes himself pure. But the self which contemplates upon the impure nature of the self becomes himself impure.[3] Moreover, knowledge is the self, there cannot be (any) knowledge apart from the self.[4] The self who knows the true nature of reality becomes *'Jitamoha'* or conqueror of delusion, who, by subjugating the delusion realises that the self is intrinsically of the nature of knowledge.[5] Therefore, the realization of the self as the knower by nature leads towards the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

eschewment of the sense of mineness.[6] Further, it is pointed out that the soul is co-extensive with knowledge, knowledge is said to be co-extensive with the objects of knowledge, the object of knowledge comprises the physical and non-physical universe, therefore knowledge is omnipresent.[7] The knower of the self becomes an omniscient, and the omniscient neither accepts, nor abandons, nor transforms the external objectivity, he sees all round, and knows everything completely.[8] Moreover, the knower of the self knows simultaneously the whole range of variegated objectivity possible in all places and present in three tenses.[9] Hence, in the omniscient the knowledge reaches the very verge of objectivity, and the vision extends over the physical and super-physical universe.[10] Thus, knowledge and spiritual life are not two different phenomena. Really they are inseparable.

(ii) Spiritual Joy

Secondy, spiritual knowledge is always accompanied with spiritual joy. The *Pravacanasāra* tells us that the self who has destroyed the knot of delusion *(Moha)*, who has overthrown attachment and aversion and is indifferent to pleasure and pain attains eternal happiness.[11] This eternal happiness born of the self is super-sensuous, incomparable, infinite and indestructible.[12] Spiritual knowledge and happiness are one and the same thing. Therefore, spiritual knowledge, which is perfect and pure, which spreads over infinite things is called real happiness.[13] It may be noted that happiness derived through sense-organs is dependent, amenable to disturbances, terminable, and is the cause of bondage.[14] In fact, spiritual joy is beyond the reach of senses or it is super-sensuous happiness, which a mystic enjoys in the hours of transcendental experience.[15] The *Jñānārṇava*, therefore beautifully expresses the same thing while pronouncing that in the state of spiritual joy the mystics have the eternal and everlasting bliss; and possessing an attitude of equanimity they really shed the Karmas.[16] Hence, the great mystic, Yogindu sums up the whole matter when he tells us that the self-realizing personalities, who are detached from the sense of attachment and aversion, who are busy with introspection of the pure self, possess the serenity of mind and are really the happiest beings in this world.[17]

(iii) Spiritual Steadfastness :

Thirdly, spiritual steadfastness is also a feature of transcendental life. The aspirant is firmly established in the knowledge of the self. He does not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing.[18] Though empirically it seems to be a paradoxical statement its implications are solely mystical. The mystic is a unique being and transcendentally he is free from volitional activity. And, therefore mystic's worldly activities are free from volitional attitude. His activity is only spiritual knowledge and in that knowledge of the self he is steadfast. Since he is beyond attachment and consequently is apprehending the nature of reality, all his doubts are resolved.[19] Hence, speaking in the language of the mystic we may say that with the emergence of the Ātmik experience i. e., self-experience and steadfastness in it, the conquest over the senses, mind and passions, automatically becomes. The mystic is steadfast in his true nature.

(iv) Intuitive Insight :

Fourthly, intuitive insight is a characterizing mark of mystical experience. The intuitive insight is the '*Pratyakṣa Jñāna*' or direct and immediate apprehension of reality. This *Pratyakṣa* knowledge perceives (all) the non-concrete things alongwith the concrete and those that are beyond the scope of senses, those that are hidden and all others that are related to substances and also that are not.[20] Moreover, the mystic who possesses self-knowledge, directly visualizes all objects and their modifications, he does never comprehend them through sense-perception.[21] To be more clear, we may say that nothing is indirect to him, who is himself omniscient and who is all-round rich in the qualities of all the organs of senses though himself beyond the senses.[22] Hence the intuitive insight of self-knowledge is able to penetrate into the innermost core of phenomenal and noumenal realities.

The intuitive insight is also termed as Yogic perception. Haribhadra pronounces that

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Yogic perception will take cognizance of even such things as are beyond the perception of non-*Yogi*.[23] Thus *Yogic* perception pierces through the veils of reality directly and immediately. Prof. Ranade rightly says that 'Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, intuitive apprehension of God'.[24] In a similar vein, Montague points out that 'the theory that truth can be attained by a super-rational and super-sensuous faculty of intuition is mysticism.'[25] Thus, mystical experience involves the full operation of the intuitive faculty which subsums under it the operations of intellect, will and feeling and is not contradictory to them.[26] All things are visualized simultaneously and therefore, the *Siddhas* and *Arhatas* are the masters of this intuitive insight.

(v) Ineffability :

Fifthly, the mystic experience or transcendental experience is ineffable, or it is inarticulate and unverifiable by empirical methodology. In other words, the spiritual things are beyond the categories of verificability through the senses. The mystic while reflecting upon the nature of the self and solely concentrating on it, enjoys the ineffable experience of transcendental life.[27] Similarly, Plotinus tells us that 'the vision is a unique experience, it is not to be told, not to be written'.[28] William James rightly points out that 'the subject of it (mystic experience) immediately says that it defies expression, that no adequate report of its contents can be given in words. It follows from this that its quality must be directly experienced it cannot be imparted or transferred to others'.[29] Hence, mystic experience is essentially an ineffable experience. It is the experience par-excellence, which transcends the limitations of linguistic formulations. This experience has nothing to do with the out-spoken language, because the mystic experience is indescribable and unutterable through words. The immediacy of the experience is confronted with this inadequacy of reporting the spiritual matters to the others who are spiritually blind. The nature of this experience is supra-dialectical, supra-logical, supra-rational and supra-conceptual. Mr. W. T. Stace is perfectly right when he says that 'one of the best-known facts about mystics is that they feel that language is inadequate or even wholly useless as a means of communicating their experiences or their insights to others. They say that what they experience is unutterable or ineffable.' According to Plotinus 'the vision baffles telling.'[30] Moreover, the same author again points out that 'mystical experience, during the experience, is wholly unconceptualizable and therefore wholly unspeakable. This must be so. You cannot have a concept of anything within the undifferentiated unity because there are no separate items to be conceptualized.'[31]

(vi) Activistic Attitude :

Sixthly, activity is also a marked characteristic of transcendental life. Passivity is no more a good and likable thing for a mystic. Or, spiritual life is fully an active life. The quiet and contemplating spirit is active in spiritual matters. Therefore it has always been true that mystics are the sleepless ones. The *Yogi* or a mystic sleeps where worldly business is concerned and he has been always awake in the business of transcendental experience; and similarly, he who is awake in worldly matters sleeps in the business of the self.[32] The pure self is endeavouring to remove the obstacles to mystical life. The joy unbounded, the knowledge infinite, the intuitive insight and the power everlasting are the results of most active life of a mystic. The lazy and lethargic person cannot attain such perfection in every aspect of life. Miss Underhill has rightly pointed out that 'true mysticism is active and practical, not passive and theoretical. It is an organic life process, a something which the whole self does; not something an opinion.'[33] We may say that spiritual perfection is an arduous task in the human life, how can it be pronounced as passive ? Assiduity in spiritual pursuits is wholly indispensable. The mystic have not turned their backs from the betterment of the worldly people. They are ever-ready for the spiritual mission to which they are whole-heartedly devoted. Therefore, the mystic's heart is set upon the transcendental self on the one hand and on the other he is endeavouring for the overall upliftment of the society. The *Tirthaṁkaras* set the examples of this activistic attitude towards mystical life. Mr. William

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

James seems to be partially right when he characterizes the mystical life with passivity. Outwardly the mystics appear to us as passive beings, but for their own welfare and for the welfare of the people they are fully active. To be more clear, we may say that seeming inactivity is not an essential feature of spirituality; they are the most active beings trying hard for the betterment of the society.

(vii) Moral Elevation :

Seventhly, moral elevation is another distinguishing features of Jaina mysticism. Mystics are the upholders of all that is good and perfect, and simultaneously they are the upholders of moral and spiritual values. They follow a full-fledged moral life or we may say that they are practitioners as well as the educators of morality. They teach an eternal ethical code which is beyond the spatio-temporal limitations. We find in them a perfection of moral virtues. Supreme Forbearance (*Uttama Kṣamā*), Modesty (*Mārdava*), Straight-forwardness (*Ārjava*), Truthfulness (*Satya*), Purity (*Śauca*), Self-restraint (*Samyāma*), Austerity (*Tapa*); Renunciation (*Tyāga*), non-attachment (*Ākiṁcanya*), and Celibacy (*Brahmacarya*) are constitutive of mystics' moral life.[34] It is inconceivable that the mystic who has attained supremacy on account of the realization of perfect Ahiṁsā may in the least pursue an ignoble life of Hiṁsā, a life of vice. He is no doubt, beyond the category of virtue and vice (*Puṇya* and *Pāpa*), good and evil (*Śubha* and *Aśubha*), psychical states; yet he may be pronounced to be the most virtuous soul in the world. Dr. Radhakrishnan sums up the whole matter while saying that the great sin is the sin of disbelief in the potential powers of the human soul. To know oneself and not to be untrue to it, is the essence of the good life.[35]

(viii) Freedom from fear :

Eighthly, the transcendental life is free from fear. Mystical state is a free state. It is free from every type of foreign things other than the spirit. The *Samayasāra* tells us that the souls with right belief free themselves from doubt and therefore they are free from fear. The seven types of fears are not found in the mystic. Thus, fear relating to this life, fear relating to future life, fear of being without protection, fear of the disclosure of what is kept in secret, fear of pain, fear of accident, and fear of death are not seen in a mystic.[36] Hence, the mystical life is a life of fearlessness.

(ix) Holiness :

Ninethly, spirituality with intuitive insight, ineffability and moral elevation is also associated with holiness. The mystics belong not to an ordinary world but to the world of holiness. They are the perfect incarnation of holiness and sacredness. The mystics are the holy beings and are rejoicing the breath of holiness. Or, the holy mystics transcend the categories of good and evil, right and wrong etc. The emergence of holiness is a concomitant phenomenon in the mystic's sacred life. They radiate the rays of holiness to the other worldly beings.

(x) Permanency :

Tenthly, the transcendental experience is not a temporary phase in mystic's life. Rather it is a permanent state of transcendental self. Though, it is worthy to note, in the stages of spiritual development *i. e.*, the *Guṇasthānas*, we come across the transient states of illumination, yet after the stages of *Sayogakevalin* and *Ayogakevalin* (to be dealt with later on) the self is in the state of permanent peace, joy and bliss. Thus this view 'that mystical states cannot be sustained for long,' has an half truth.[37] We may say that the self in the illuminative stage casually enjoys the spiritual bliss, but *Arhats* and the *Siddhas* are the inhabitants of the eternal and infinite spiritual world. Therefore, the essential characteristic of Jaina mysticism is permanency rather than transiency.

(xi) Social Characteristics :

Finally, the transcendental life is associated with some of the social characteristics.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Though it appears to be a paradox at a first glance, because mystic is a man of solitude, he adopts an introvertive and quietistic attitude to life. He observes silence and likes solitariness.[38] Then, how it may be possible to characterize him with social attributes ? The reply is : the *Tirthaṁkaras* set an example of doing an ample good to society. Mystic's heart is full of compassion and generosity for all the creatures of this universe. He is the most benevolent being of the world. It is said that the mystics evince a feeling of friendliness towards the living beings in general, that of joy (*i. e.*, of reverance) towards those who are superior to oneself in perfection, that of compassion towards those who are in a state of suffering and that of neutrality towards those who are incorrigible.[39] Śrī Śubhacandra proclaims that the mystical life is so much effective that even furious animals become modest and humble, the cruel tigers give up their cruelty and become free from the feeling of enmity. This change in feelings is as natural as the rain from the clouds which extinguishes the fire in the forest. In other words, the company of a mystic who possesses equanimity removes the ferocity from the hearts of the animals.[40] Moreover, the same idea is exquisitely expressed in the one verse by same author when he says that in the presence of a mystic the tigress loves the youngone of a dear, the cow caresses the youngone of a lion, the cat fondles the youngone of the swan and peahen plays with the youngone of the snake.[41] Here we see that all types of enmity is brushed aside. In a similar vein, Haribhadra fells us that on account of spiritual life one finds oneself in possession of firmness, patience, faith, friendliness (for all beings), popularity (in the eyes of the worldly ones), intuitive awareness of the nature of things, contentment, forbearance, gentlemenly conduct, honour received from others, and the supreme bliss of calmness [42]

Notes and References

1 Mysticism and Philosophy, p. 283.
2 Samayasāra, 185
3 Ibid. 186
4 Pravacanasāra, I. 27
5 Samayasāra, 32
6 Pravacanasāra, II, 108
7 Ibid, I. 23 8 Ibid, I. 32 9 Ibid, I. 15 10 Ibid, I. 61 11 Ibid, II, 103
12 Ibid, I. 13 13 Ibid, I. 59 14 Ibid, I. 76 15 Ibid, II. 106
16 Jñānārṇava, 24, 18
17 Paramātmaprakāśa. II, 43
18 Iṣṭopadeśa, 41
19 Pravacanasāra, I. 14, II. 105
20 Pravacanasāra, I. 54
21 Ibid, I. 21
22 Pravacanasāra, I. 22
23 Yogabindu, 50. p. 15
24 Pathway to God in Hindi Literature, Preface, p. 2
25 The Ways of Knowing, p. 54
26 Pathway to God in Hindi Literature, Preface, pp. 3-4
27 Tattvānuśāsana, 170, p. 156
28 Plotinus in the Light of Vedanta (Thesis) p. 313
29 Varieties of Religious Experience, p. 371
30 Mysticism and Philosophy, p. 277
31 Ibid p 297
32 Mokṣapāhuḍa, 31, Samādhiśataka, 78, p. 86; Paramātmaprakāśa II. 46
33 Mysticism, p. 81
34 Tattvārthasūtra, IX. 6
35 Idealist View of Life, p. 118
36 Samayasāra, 228
37 Varieties of Religious Experience, p. 572
38 Iṣṭopadeśa, 40
39 Yogaśataka, 79, p. 88
40 Jñānārṇava 24, 21-22
41 Ibid, 24, 26, p. 239
42 Yogabindu, 52-54, p. 16

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक साधना का विकासक्रम : गुणस्थान

✡ देवेन्द्र मुनि शास्त्री

जैन श्वेताम्बर आगम साहित्य में कहीं भी गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। समवायांग में गुणस्थान के स्थान पर जीवस्थान शब्द आता है।[1] सर्वप्रथम गुणस्थान शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार'[2] तथा 'प्राकृत पंचसंग्रह'[3] व 'कर्मग्रन्थ'[4] में मिलता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में[5] जीवों को गुण कहा है। उनके अभिमतानुसार चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि की भावाभावजनित अवस्थाओं से निष्पन्न होते है। परिणाम और परिणामी का अभेदोपचार करने से जीवस्थान को गुणस्थान कहा है। गोम्मटसार में गुणस्थान को जीव-समास भी कहा है।[6] षट्खण्डागम की धवलावृत्ति के अनुसार जीव गुणों में रहते हैं, एतदर्थ उन्हें जीव-समास कहा है। कर्म के उदय से जो गुण उत्पन्न होते है, वे औदयिक हैं। कर्म के उपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे औपशमिक हैं। कर्म के क्षयोपशम से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे क्षायोपशमिक हैं। कर्म के क्षय से जो गुण उत्पन्न होते हैं, वे क्षायिक हैं। कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना जो गुण स्वभावतः पाया जाता है वह पारिणामिक है। इन गुणों के कारण जीव को भी गुण कहा जाता है।[7] जीवस्थान को पश्चात्वर्ती साहित्य में इसी दृष्टि से गुणस्थान कहा गया है।

नेमिचन्द्र ने संक्षेप और ओघ ये दो गुणस्थान के पर्यायवाची माने हैं।[8]

कर्मग्रन्थ में जिन्हें चौदह जीवस्थान बताया है।[9] उन्हें ही समवायांग सूत्र में चौदह भूत-ग्राम की संज्ञा[10] प्रदान की गयी है। जिन्हें कर्मग्रन्थ में गुणस्थान कहा गया है उन्हें समवायांग में जीवस्थान कहा है। इस प्रकार कर्मग्रन्थ और समवायांग में संज्ञाभेद है।

समवायांग में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्म विशुद्धि बताया गया है।[11] टीकाकार आचार्य अभयदेव ने भी गुणस्थानों को ज्ञानावरण प्रभृति कर्मों की विशुद्धि से निष्पन्न बताया है।[12] दिगंबराचार्य नेमिचन्द्र का अभिमत है कि प्रथम चार गुणस्थान दर्शन-मोह के उदय आदि से होते हैं और आगे के गुणस्थान चारित्र-मोह के क्षयोपशम आदि से निष्पन्न होते हैं।[13]

जैनदर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा का सही स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय और परिपूर्ण सुखमय है। आत्मा अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य युक्त है। कर्मों ने उसके स्वरूप को विकृत या आवृत कर दिया है। जब कर्मावरण की घनघोर घटाएँ गहरी छा जाती हैं तब आत्म-ज्योति मन्द और मन्दतम हो जाती है, पर ज्यों-ज्यों कर्मों का आवरण छँटता है अथवा उसका बन्धन शिथिल होता है त्यों-त्यों उसकी शक्ति प्रकट होने लगती है। प्रथम गुणस्थान में आत्म-शक्ति का प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है। अगले गुणस्थानों में वह प्रकाश अभिवृद्धि को प्राप्त होता है और अन्त मे चौदहवें गुणस्थान में आत्मा विशुद्ध अवस्था में पहुँच जाता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये आत्म-शक्ति को आच्छादित करने वाले आवरण हैं। इन चार प्रकार के आवरणों में मोहनीय रूप आवरण मुख्य है। मोह की तीव्रता और मन्दता पर अन्य आवरणों की तीव्रता और मन्दता अवलम्बित है। एतदर्थ ही गुणस्थानों की व्यवस्थाओं में मोह की तीव्रता और मन्दता पर अधिक ध्यान दिया गया है।

मोहनीयकर्म के दो मुख्य भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के उदय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा यथार्थ श्रद्धान नहीं कर पाता। उसका विचार, चिन्तन और दृष्टि उसके कारण सम्यक् नहीं हो पाती चारित्र-मोहनीय के कारण विवेक युक्त आचरण में प्रवृत्ति नही होती। इस प्रकार मोहनीयकर्म के कारण न सम्यग्दर्शन होता है और न सम्यक्चारित्र ही। सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता।

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

दर्शनमोहनीय के आधार पर ही प्रथम गुणस्थान का नाम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान रखा गया है। यह आत्मा की अधस्तम अवस्था है। इसमें मोह की अत्यधिक प्रबलता होती है जिससे उस व्यक्ति की आध्यात्मिक-शक्ति पूर्णरूप से गिरी हुई होती है। विपरीत दृष्टि (श्रद्धा) के कारण वह राग-द्वेष के वशीभूत होकर अनन्त आध्यात्मिक सुख से वंचित रहता है।

प्रथम गुणस्थान में दर्शन-मोह और चारित्र-मोह इन दोनों की प्रबलता होती है, जिससे वह आत्मा आध्यात्मिक दृष्टि से दरिद्र है। प्रस्तुत भूमिका वाला व्यक्ति आधिभौतिक उत्कर्ष चाहे कितना भी कर ले, किन्तु उसकी सारी प्रवृत्तियाँ संसाराभिमुखी होती हैं, मोक्षाभिमुखी नहीं। जैसे दिग्भ्रमवाला मानव पूर्व को पश्चिम मानकर चलता है, किन्तु चलने पर भी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। मदिरा पिये हुए व्यक्ति को हिताहित का ध्यान नहीं रहता वैसे ही मोह की मदिरा से उन्मत्त बने हुए मिथ्यात्वी को हिताहित का भान नहीं होता।[१४]

मिथ्यात्व के अनेक भेद-प्रभेद बताये हैं। तत्त्वार्थभाष्य में अभिगृहीत और अनभिगृहीत ये दो मिथ्यात्व के भेद बताये हैं।[१५] आवश्यकचूर्णि[१६] और प्राकृत पंचसंग्रह में[१७] संशयित, आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक ये तीन मिथ्यात्व के भेद बताये हैं। गुणस्थान क्रमारोह की सोपज्ञवृत्ति में[१८] एवं कर्मग्रन्थ में आभिग्रहिक[१९] अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, संशय और अनाभोगिक ये पाँच मिथ्यात्व के भेद बताये हैं। धर्मसंग्रह,[२०] कर्मग्रन्थ[२१] व लोकप्रकाश[२२] में उनका परिचय दिया गया है। संक्षेप में सारांश इस प्रकार है।

आभिग्रहिक—

बिना तत्त्व की परीक्षा किये किसी एक बात को स्वीकार कर दूसरों का खण्डन करना यह आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। जो साधक स्वयं परीक्षा करने में असमर्थ है, किन्तु परीक्षक की आज्ञा में रहकर तत्त्व को स्वीकार करते हैं जिस प्रकार 'माषतुष मुनि' उनको आभिग्रहिक मिथ्यात्व नहीं लगता।

अनाभिग्रहिक—

बिना गुणदोष की परीक्षा किये ही सभी मन्तव्यों को एक ही समान समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व उन जीवों में होता है जो परीक्षा करने में असमर्थ तथा मन्दबुद्धि हैं, जिससे वे किसी भी मार्ग में स्थिर नहीं रह सकते।

आभिनिवेशिक—

अपने पक्ष को असत्य समझ करके भी उस असत्य को छोड़ना नहीं अपितु उस असत्य से चिपका रहना, आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। इसी का अपर नाम एकान्त-मिथ्यात्व भी है।

संशय—

देव, गुरु और धर्म तत्त्व के स्वरूप में संशय रखना संशय-मिथ्यात्व है। आगमों के गुरु-गम्भीर रहस्यों को समझने में कभी-कभी गीतार्थ श्रमण भी यह विचारने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि यह समीचीन है या वह समीचीन है ? किन्तु अन्त में निर्णायक स्थिति न हो तो जिनेश्वर देव ने जो कहा है वही पूर्ण सत्य है, यह विचार कर जिन प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं। केवल संशय या शंका हो जाना संशय-मिथ्यात्व नहीं है। किन्तु जो तत्त्व-अतत्त्व आदि के सम्बन्ध में डोलायमान चित्त रखते हैं उन्हें संशय-मिथ्यात्वी कहा है।

अनाभोगिक—

विचार और विशेष ज्ञान का अभाव, अर्थात् मोह की प्रबलतम अवस्था, यह अनाभोगिक मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि जीवों में होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन पाँच प्रकार के मिथ्यात्वों में एक अनाभोगिक मिथ्यात्व अव्यक्त है शेष चारों मिथ्यात्व व्यक्त है।[२३]

अपेक्षा दृष्टि से मिथ्यात्व के दस भेद भी बनते हैं। ये इस प्रकार हैं[२४]—

(१) अधर्म में धर्मसंज्ञा
(२) धर्म में अधर्मसंज्ञा
(३) अमार्ग में मार्गसंज्ञा
(४) मार्ग में अमार्गसंज्ञा
(५) अजीव में जीवसंज्ञा
(६) जीव में अजीवसंज्ञा
(७) असाधु में साधुसंज्ञा
(८) साधु में असाधुसंज्ञा
(९) अमुक्त में मुक्तसंज्ञा
(१०) मुक्त में अमुक्तसंज्ञा

यह दस प्रकार के मिथ्यात्व व्यक्त हैं। शब्दों के परिवर्तन के साथ बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय में भी मिथ्यात्व का निरूपण किया गया है जो अधर्म को धर्म, अविनय को विनय, अभाषित को भाषित, अनाचीर्ण को आचीर्ण, आचीर्ण को अनाचीर्ण, अप्रज्ञत्व को प्रज्ञत्व, और प्रज्ञत्व को अप्रज्ञत्व कहते हैं, जो बहुत व्यक्तियों के लिए अहितकर्ता, असुखकर्ता और अनर्थ को उत्पन्न करने वाले होते हैं। वे पापों का उपार्जन कर सद्धर्म का लोप करते हैं। वे अकुशलधर्म का संचय करते हैं और कुशलधर्म का नाश करते हैं।[२५]

दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र ने एकान्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान ये पाँच मिथ्यात्व के भेद बताये हैं।[२६] धवला में कहा है कि मिथ्यात्व के ये पाँच ही भेद हैं ऐसा नियम नहीं है, जो पाँच भेद कहे गये हैं वे केवल उपलक्षण मात्र हैं।[२७]

आगम साहित्य में बिखरे हुए सभी मिथ्यात्वों को एकत्रित करने पर पच्चीस मिथ्यात्व होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अभिगृहीत (२) अनभिगृहीत (३) आभिनिवेशिक (४) संशयित (५) अनाभोगिक (६) लौकिक (७) लोकोत्तर (८) कुप्रावचनिक (९) अविनय (१०) अक्रिया (११) अशातना (१२) आउया (आत्मा को पुण्य-पाप नहीं लगता) (१३) जिनवाणी की न्यून प्ररूपणा (१४) जिनवाणी की अधिक प्ररूपणा (१५) जिनवाणी से विपरीत प्ररूपणा (१६) धर्म को अधर्म (१७) अधर्म को धर्म (१८) साधु को असाधु (१९) असाधु को साधु (२) जीव को अजीव (२१) अजीव को जीव (२२) मोक्षमार्ग को संसारमार्ग (२३) संसार मार्ग को मोक्षमार्ग (२४) मुक्त को अमुक्त (२५) अमुक्त को मुक्त कहना। तथ्य यह है कि यों मिथ्यात्व के अनेक भेद हो सकते हैं जिनकी परिगणना करना भी सम्भव नहीं है।

जब तक अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय नहीं हो जाता तब तक कोई भी जीव प्रथमगुणस्थान छोड़ नहीं सकता। इन प्रकृतियों के उदयभाव में प्रथम गुणस्थान है, अर्थात् मिथ्यात्व-दर्शनमोहनीय का उदय जब तक जीव में बना रहता है तब तक वह मिथ्यात्वी बना रहता है।

काल की दृष्टि से प्रथम गुणस्थान के तीन रूप बनते हैं—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त।[२८] प्रथम रूप के अधिकारी अभव्य जीव अथवा जाति-भव्य (भव्य होने पर भी जो जीव कभी मुक्त नहीं होते), जीव होते हैं। द्वितीय रूप उन जीवों की अपेक्षा से है, जो अनादिकालीन मिथ्या-दर्शन की गाँठ को खोलकर सम्यक्दृष्टि बन सकते हैं। तृतीय रूप उनकी अपेक्षा से है, जिन्होंने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, किन्तु फिर से मिथ्यात्वी हो गए हैं। प्रथम गुणस्थान की आदि तभी होती है जब कोई जीव सम्यक्त्व से गिरकर पुनः प्रथम गुणस्थान में आ जाय। जिस जीव को एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी है वह निश्चय ही मोक्षगामी है। जिस जीव के मिथ्यात्व की आदि हो गयी उसका अन्त अवश्यम्भावी है।

आठों कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। उनमें से एक समय में बंधने योग्य १२० हैं। शेष २८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का बन्ध न होने के कारण यह है कि वर्णादि चतुष्क के उत्तरभेद जो बीस बताये गये हैं उनमें से एक जीव एक समय में वर्णपंचक में से किसी एक वर्ण का, रसपंचक में से किसी एक रस का, गन्धद्वय में से किसी एक गन्ध का, और स्पर्शाष्टक में से किसी एक स्पर्श का ही बन्ध करता है, अवशेषों का बन्ध नहीं करता। इसलिए सोलह प्रकृतियाँ वर्णचतुष्क की नहीं बंधती और पाँच बन्धन तथा पाँच संघात का अन्तर्भाव पाँच शरीरों में कर लिया जाता है। अतः इन दस का भी बन्ध नहीं होता। दर्शन मोहनीय की अनादि मिथ्यात्वी में एक मिथ्यात्वी की ही सत्ता रहती है। उनके तीन भेद तो सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् होते हैं। अतः मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन दोनों का भी बन्ध नहीं होता। इस प्रकार (१६+५+५+२=२८) ये अट्ठाईस प्रकृतियाँ बन्ध के योग्य न होने से इनको एक सौ अड़तालीस में से कम करने पर शेष एक सौ बीस प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गयी हैं। यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि सादि मिथ्यादृष्टि के दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों की सत्ता हो जाती है और उनमें से सम्यक् प्रकृति का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है, अतः इन दोनों प्रकृतियों को एक सौ बीस में मिला देने पर एक सौ बाईस प्रकृतियाँ उदय-योग्य कही गयी हैं। उनमें भी मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सौ सत्रह प्रकृतियों का बन्ध करता है। उक्त प्रकृतियों को छोड़ने का कारण यह है कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्वी जीव ही करता है और आहारक द्विक् का बन्ध अप्रमत्त साधु करता है।

आहारक अंगोपांग नामकरण आदि प्रकृतियों का बन्ध भी प्रथम गुणस्थान में नहीं होता।[२९]

उदय प्रायोग्य एक सौ बाईस कर्म प्रकृतियों मे से पाँच प्रकृतियों के अतिरिक्त सभी प्रकृतियाँ प्रथम गुणस्थान में उदय आती है। अनुदयशील पाँच प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) मिश्रमोहनीय, (२) सम्यक्त्व मोहनीय, (३) आहारक शरीर, (४) आहारक अंगोपांग और (५) तीर्थंकर नामकरण। इन पाँचों प्रकृतियों में से मिश्रमोहनीय का उदय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की विद्यमानता में चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक रहता है। आहारकद्विक का उदय छठे गुणस्थानवर्ती आहारकलब्धिवाले संयती में होता है, अन्य में नहीं। तीर्थंकर नामकरण का उदय तेरहवें गुणस्थान मे होता है जो अनादि मिथ्यादृष्टि है उनके सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रकृति के बिना एक सौ छियालीस कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है और सादि मिथ्यादृष्टि के उक्त दोनों का सद्भाव हो जाने के कारण उसमें एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है।

उक्त मिथ्यादृष्टि जीव के उदय में आने वाली कर्मप्रकृतियों में से जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का तीव्र उदय रहता है तब तक उस जीव का आकर्षण आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की ओर नहीं होता। जब उसका मन्दोदय होता है उसके साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि शेष कर्मों का भी मन्दोदय होता है और सभी कर्मों की उत्कृष्ट सप्त-स्थिति न्यून होकर एक कोटा-कोटि सागरोपम के अन्तर्गत होती है तथा इसी अन्तःकोटाकोटि सागरोपम प्रमाण वाले नवीन कर्म का बन्ध होता है तब वह जीव आत्म-स्वरूप को पाने के लिए उत्सुक होता है। उस समय में जीव के जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उन्हें शास्त्रीय भाषा में 'करण' कहा है।[३०] करण के तीन प्रकार हैं—(१) यथाप्रवृत्तिकरण (अधः प्रवृत्तिकरण) (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण।

यथाप्रवृत्तिकरण से जीव राग-द्वेष की ऐसी गाँठ जो कर्कश, दृढ़ और रेशम की गाँठ के समान है, जिसका भेदन सहज नहीं है, वहाँ तक आता है, किन्तु उस गांठ को भेद नहीं सकता। इसी को जैन-कर्मसाहित्य में ग्रन्थि-देश की प्राप्ति कहा है, अभव्य जीव भी यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कर सकता है। अर्थात् कर्मों की बहुत लम्बी स्थिति को न्यून कर अन्तः कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर सकता है। किन्तु वह राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि का भेदन कदापि नहीं कर सकता।[३१]

भव्य जीव के यह यथाप्रवृत्तिकरण एक अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और प्रतिसमय वह उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होता है। उसके पश्चात् वह अपूर्वकरण अर्थात् विशुद्धि के अनन्त गुणितक्रम से बढ़ने पर उन अपूर्व परिणामों को प्राप्त करता है जो इसके पूर्व संसारी अवस्था में कभी भी प्राप्त नहीं हुए हैं। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है। उस समय में जीव प्रतिसमय उत्तरोत्तर अल्पस्थितिवाले कर्मों का बन्ध करता है। और कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित क्रम से निर्जरा करता है। इस समय आत्मा के अन्दर और भी अनेक सूक्ष्मक्रियाएँ प्रारंभ होती हैं। उनके द्वारा जीव उत्तरोत्तर विशुद्ध एवं कर्म भार से हलका होता जाता है। इसके पश्चात् अनिवृत्तिकरण का प्रारंभ होता है। इस करण के समय भी जीव के विशुद्धि आदि अपूर्वकरण से भी अत्यधिक मात्रा में सम्पन्न होती हैं। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की स्थिति में से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं और एक भाग मात्र अवशेष रहता है उस समय अन्तरकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति का अन्तिम एक भाग जिसमें अन्तरकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्य प्रकार हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा उसके अन्तिम भाग का अन्तर्मुहूर्त जिसको अन्तर-करण-क्रिया-काल कहते हैं, लघु होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम भाग में अन्तर-करण की क्रिया होती है। इसका सारांश यह है कि अभी जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयमान है उसके उन दलिकों को जो कि अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त तक उदय में आने वाले हैं, उन्हें आगे-पीछे करना। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के जितने दलिक उदय में आने वाले हों उनमें से कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक उदय में आने वाले दलिकों को रखा जाता है और कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् उदय में आनेवाले दलिकों के साथ मिला देते हैं जिससे अनिवृत्तिकरण के पश्चात् का एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल ऐसा होता है कि जिसमें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का दलिक किंचित् मात्र भी नहीं रहता। अतः जिस नवीन बन्ध का अबाधाकाल पूर्ण हो चुका है ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह है जो अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक उदयमान रहता है। और दूसरा भाग वह है जो अनिवृत्तिकरण के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल व्यतीत होने पर उदय में आता है। इन दो भागों में से प्रथम भाग को मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति और द्वितीय भाग को द्वितीय स्थिति कह सकते हैं। जिस समय में अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ होती है अर्थात् उदय-योग्य दलिकों का निरन्तर व्यवधान किया जाता है उस समय से अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक पूर्व बताये हुए दो भागों में से प्रथम भाग का उदय रहता है। अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय पूर्ण हो जाने पर मिथ्यात्व का किसी भी प्रकार का उदय नहीं रहता चूंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की सम्भावना है वे सभी दलिक अन्तरकरण क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक मिथ्यात्व का उदय रहता है। इसीलिए उस समय तक जीव मिथ्यात्वी कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण का समय पूर्ण होने पर जीव को औपशमिक सम्यक्त्व उपलब्ध होता है। उस समय मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार का उदय नहीं होता जिससे जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है और वह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहता है। जिस प्रकार एक जन्मान्ध व्यक्ति को नेत्रज्योति प्राप्त होने पर उसे अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है वैसे ही जीव को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होने पर अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का काल उपशान्ताद्धा या अन्तरकरण काल कहलाता है। प्रथम स्थिति के अन्तिम समय में अर्थात् उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज करता है जो उपशान्ताद्धा के पूर्ण हो जाने के पश्चात् उदय में आनेवाला है। जैसे कोद्रव नामक धान्य विशेष प्रकार की औषधी से साफ करते हैं तब उसका एक भाग इतना निर्मल हो जाता है कि उसके खाने वाले को उसका नशा नहीं आता; दूसरा भाग कुछ साफ होता है कुछ साफ नहीं होता, वह अर्धशुद्ध कहलाता है; और कोद्रव का कुछ भाग बिलकुल ही अशुद्ध रह जाता है जिसको खाने से नशा आ जाता है। इसीतरह द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के तीन पुञ्जों में से एक पुञ्ज तो इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्वघातक रस का अभाव हो जाता है। द्वितीय पुञ्ज अर्धशुद्ध होता है। और तृतीय पुञ्ज अशुद्ध होता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण हो जाने के पश्चात् उपर्युक्त तीन पुञ्जों में से कोई एक पुञ्ज जीव के परिणाम के अनुसार उदय में आता है। यदि जीव विशुद्ध परिणामी ही रहे तो शुद्ध पुञ्ज उदय में आता है। शुद्ध पुञ्ज के उदय होने से सम्यक्त्व का घात तो नहीं होता किन्तु उस समय जो सम्यक्त्व उपलब्ध होता है वह क्षायोपशमिक कहलाता है। यदि जीव का परिणाम पूर्ण शुद्ध नहीं रहा और न अशुद्ध ही रहा उस मिश्रस्थिति में अर्धविशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है। उस समय जीव तृतीय गुणस्थानवर्ती कहलाता है। यदि परिणाम पूर्ण अशुद्ध ही रहा तो अशुद्ध पुञ्ज उदय में आयेगा। अशुद्ध पुञ्ज के उदय होने पर जीव पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा, जिसमें जीव निर्मल स्थिति में होता है उसका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिकाएँ जब शेष रह जाती हैं तब किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्वी जीव को विघ्न उपस्थित होता है। उसकी निर्मल अवस्था में बाधा उत्पन्न होती है; क्योंकि उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय होने पर जीव सम्यक्त्व परिणाम का परित्याग कर मिथ्यात्व की ओर बढ़ता है। जब तक वह मिथ्यात्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को नहीं पा लेता तब तक वह सासादनभाव का अनुभव करता है। इसलिए उस जीव को सास्वादन-सम्यक्दृष्टि कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के काल में जितना काल शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी किसी एक कषाय के उदय से वह उपशमसम्यक्त्व से गिरता है उतने ही (एक समय से लेकर छह आवलिका) समय तक वह सासादनसम्यक्दृष्टि नामक दूसरे गुणस्थान में रहता है। उक्त काल के पूर्ण होते ही मिथ्यात्व कर्म का उदय हो जाता है और वह प्रथम गुणस्थान को प्राप्त होकर मिथ्यादृष्टि बन जाता है।[३२]

२. सास्वादन सम्यक्दृष्टि

द्वितीय गुणस्थान का नाम सास्वादनसम्यग्दृष्टि है। प्राकृत भाषा में "सासायण" शब्द है। उसके संस्कृत दो रूप मिलते हैं—सास्वादन और सासादन। जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है किन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् मिथ्यात्वाभिमुख जीव के सम्यक्त्व का आंशिक आस्वादन शेष रहता है। उसकी अवस्था को सास्वादन गुणस्थान कहा है।[३३]

औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होता हुआ जीव सम्यक्त्व का आसादन (विराधन) करता है एतदर्थ उसे सासादन कहा गया है।[३४] यह प्रतिपाती सम्यक्त्व की अवस्था है। औपशमिक सम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क में से किसी एक कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व से नीचे गिरता है।[३५] किन्तु मिथ्यात्व मोहनीय का जब तक उदय न हो तब तक वह मिथ्यादृष्टि नहीं है, अर्थात् वह द्वितीय गुणस्थानवर्ती है। इसका उत्कृष्ट कालमान छह आवलिका मात्र है। जैसे किसी ने खीर का भोजन किया और तत्काल किसी कारणवश वमन हो गया, उसमें खीर निकल गयी। पर खीर का आस्वादन कुछ समय के लिए अवश्य रहता है। यह स्थिति प्रस्तुत गुणस्थान की है। सम्यक्त्व की खीर का तो वमन हो गया, किन्तु कुछ आस्वादन बने रहने से इसे सास्वादन कहते हैं और सम्यक्त्व की विराधना होने से यह सासादन सम्यक्त्वी भी कहलाता है।

यद्यपि द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव पतनोन्मुख है, तथापि मिथ्यात्वमोहनीय के निमित्त से बँधने वाली सोलह प्रकृतियों का उसके बन्धन नहीं होता, अर्थात् जहाँ मिथ्यात्वी एक सौ सत्रह कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता है वहाँ सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव निम्नलिखित कर्मप्रकृतियों के बिना एक सौ एक कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है—वे सोलह इस प्रकार हैं—(१) नरकगति (२) नरकायु (३) नरकानुपूर्वी (४) एकेन्द्रिय जाति (५) द्वीन्द्रिय जाति (६) त्रीन्द्रिय जाति (७) चतुरिन्द्रिय जाति (८) स्थावर नामकर्म (९) सूक्ष्म नामकर्म (१०) अपर्याप्त नामकर्म (११) साधारण नामकर्म (१२) आतप नामकर्म (१३) हुण्डक संस्थान नामकर्म (१४) सेवार्त संहनन नामकर्म (१५) मिथ्यात्व (१६) नपुंसक वेद।[३६]

३. सम्यक्मिथ्यादृष्टि

जिसकी दृष्टि मिथ्या और सम्यक् दोनों परिणामों से मिश्रित है वह सम्यक्मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि कहलाता है।[३७]

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि जीव ने उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के समय जो मिथ्यात्वमोहनीय के तीन खण्ड किये थे उनमें से भिन्न अर्थात् सम्यक्त्वमिश्र प्रकृति के उदय आने पर वह चतुर्थ गुणस्थान से गिरता है और तृतीय गुणस्थानवर्ती हो जाता है। इस जीव के परिणाम मिश्रप्रकृति के उदय होने से न केवल सम्यक्त्वरूप ही रहते हैं और न केवल मिथ्यात्वरूप ही; किन्तु दोनों के मिले हुए परिणाम रहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो इस जीव को न जिनोक्त वाणी पर श्रद्धा होती है और न अश्रद्धा ही। जैसे दही और मिश्री के मिश्रण से निर्मित हुए श्रीखण्ड का स्वाद न केवल दहीरूप होता है न मिश्रीरूप होता है। किन्तु दोनों के स्वाद से पृथक् तृतीय खट्टमिट्ठा स्वाद होता है।[३८] इसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव के सम्यक्त्वमिथ्यात्व के सम्मिश्रणरूप एक भिन्न ही प्रकार का परिणाम होता है, जो परिणाम प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानों के परिणामों से पृथक् है। अतएव उन गुणस्थानों की अपेक्षा इसे एक स्वतन्त्र गुणस्थान माना गया है। इस गुणस्थान का काल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही है।[३९] इसके पूर्ण होने पर यह जीव ऊपर चढ़कर सम्यक्दृष्टि भी बन सकता है या नीचे गिरकर मिथ्यात्वी भी हो सकता है।

इस गुणस्थान में एक विलक्षण अवस्था रहती है। अतः इस गुणस्थान में न आयुष्य का बन्ध होता है, न मरण ही होता है। अतः इस गुणस्थान को अमर गुणस्थान भी कहा गया है।[४०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र के अभिमतानुसार तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सकलसंयम या देश-संयम को ग्रहण नहीं करता और न इस गुणस्थान में आयुकर्म का बन्ध ही होता है। यदि इस गुणस्थानवाला जीव मरता है तो नियम से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप परिणामों को प्राप्त करके ही मरता है। किन्तु इस गुणस्थान में मरता नहीं है।[५१] अर्थात् तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव ने तृतीय गुणस्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप जिस जाति के परिणाम में आयुकर्म का बन्ध किया हो उन्हीं परिणामों के होने पर उसका मरण होता है। किन्तु मिश्र गुणस्थान में मरण नहीं होता और न इस गुणस्थान में मारणांतिक समुद्घात[५२] ही होता है।[५३]

दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा तीसरे गुणस्थान में एक विशेषता है कि दूसरे गुणस्थान में केवल अपक्रांति ही होती है किन्तु तृतीय गुणस्थान में अपक्रांति या उत्क्रांति दोनों होती हैं। कोई आत्मा मिथ्यादर्शन को छोड़कर सीधा इस अवस्था को प्राप्त होता है, अतः पूर्व की अपेक्षा यह उत्क्रान्ति स्थान कहलाता है। और जो आत्मा अधःपतनोन्मुख होता है तो चतुर्थ गुणास्थान से वह इस अवस्था को प्राप्त होता है, अतः वह अपक्रांति स्थान है। यहाँ यह रहस्य भी समझना आवश्यक है कि जो आत्मा सर्वप्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़ता है वह आत्मा चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श करता है और चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थबोध को प्राप्त कर पुनः पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करता है, उस समय अपक्रांति काल में तृतीय गुणस्थान को भी स्पर्श कर सकता है और जिस आत्मा ने एक बार चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श लिया है और पुनः मिथ्यात्वी बन गया वह आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श करने की स्थिति में तृतीय गुणस्थान को स्पर्श कर सकता है। क्योंकि संशय उसे हो सकता है, जिसने यथार्थता का कुछ अनुभव किया हो। यह एक अनिश्चय की अवस्था है जिसमें साधक यथार्थता के बोध के पश्चात् संशयावस्था को प्राप्त हो जाने से वह सत्य और असत्य के बीच झूलता रहता है। वह सत्य और असत्य में से किसी एक का चुनाव न कर अ-निर्णय की अवस्था में रहता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृतीय गुणस्थान की स्थिति का चित्रण हम इस प्रकार कर सकते हैं। प्रस्तुत अवस्था पाशविक एवं वासनात्मक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाली अबोधात्मा तथा आदर्श एवं मूल्यात्मक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाला नैतिक मन (आदर्शात्मा) के मध्य संघर्ष की अवस्था है, जिसमें बोधात्मा निर्णय न ले पाता और निर्णय को कुछ समय के लिए स्थगित कर देता है। यदि बोधात्मा (Ego) वासना का पक्ष लेता है तो व्यक्ति भोगमय जीवन को अपनाता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यदि चेतन मन आदर्श एवं नैतिक मूल्यों का पक्ष लेता है तो व्यक्ति आदर्श की ओर झुकता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह मिश्र गुणस्थान जीवन के संघर्ष की अवस्था का द्योतक है जिसमें मानव की पाशविक वृत्ति एवं आध्यात्मिक वृत्ति के बीच संघर्ष चलता है। यदि आध्यात्मिक वृत्ति की जीत हुई तो व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करके यथार्थ दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेता है। यदि पाशविक वृत्ति विजयी हुई तो व्यक्ति वासनाओं के प्रबल आवेगों के कारण यथार्थ दृष्टिकोण से वंचित होकर पतित होता है और प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है। नैतिक प्रगति की दृष्टि से देखा जाय तो यह तीसरा गुणस्थान भी अविकास की अवस्था ही है क्योंकि जब तक यथार्थबोध का सम्यक् विवेक जागृत न होता तो व्यक्ति नैतिक शुभाचरण नहीं कर पाता है। इस तीसरे गुणस्थान में शुभ-अशुभ के बारे में अनिश्चितता या संदेहशीलता की स्थिति होती है अतः इसमें नैतिक शुभाचरण की सम्भावना नहीं है। गीता में भी वीर अर्जुन के अन्तर्मानस में जब संशयात्मक स्थिति समुत्पन्न हुई तो श्रीकृष्ण ने उस स्थिति के निराकरण हेतु उसे उपदेश दिया कि यह संशयात्मक स्थिति उचित नहीं है।

प्रस्तुत गुणस्थान में ७४ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। (१) तीर्थंकर नामकर्म (२) आहारक शरीर (३) आहारक अंगोपांग (४) नरक त्रिक (५) तिर्यञ्च त्रिक (६) चार जाति (७) स्थावर (८) सूक्ष्म (९) अपर्याप्त (१०) साधारण (११) समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर पाँच संस्थान (१२) वज्रऋषभनाराच संहनन को छोड़कर शेष पाँच संहनन (१३) आतप (१४) उद्योत (१५) स्त्रीवेद (१६) नपुंसकवेद (१७) मिथ्यात्व-मोहनीय (१८) अनन्तानुबन्धी चतुष्क (१९) स्त्यानर्द्धि त्रिक (२०) दुर्भग त्रिक (२१) नीच गोत्र (२२) अशुभविहायोगति (२३) मनुष्य आयु (२४) देवायु इस प्रकार ४६ प्रकृतियों को छोड़कर एक सौ बीस प्रकृतियों में से ७४ प्रकृति को बाँधता है।[५४]

४. अविरति सम्यग्दृष्टि

सम्यक्दर्शन प्राप्त होने पर आत्मा में विवेक की ज्योति जागृत हो जाती है। वह आत्मा और अनात्मा के अन्तर को समझने लगता है। अभी तक पर-रूप में जो स्व-रूप की भ्रान्ति थी वह दूर हो जाती है। उसकी गति अतथ्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्वमुखी और आत्मलक्ष्यी हो जाता है।

सम्यग्दर्शन की उपलब्धि दर्शनमोह के परमाणुओं के विलय होने से होती है। दर्शनमोह के परमाणुओं का विलय ही इस दृष्टि की प्राप्ति का हेतु है। वह विलय निसर्गजन्य और आधिगमिक (ज्ञान-जन्य) दोनों प्रकार से होता है। नैसर्गिक सम्यग्दर्शन बाहरी किसी भी प्रकार के कारण के बिना अन्तरंग में दर्शनमोहनीय के उपशमादि से होने वाले सम्यक्त्व को कहते हैं। आधिगमिक सम्यग्दर्शन अन्तरंग में दर्शनमोह के उपशमादि होने पर बाहरी अध्ययन, पठन, श्रवण तथा उपदेश से जो सत्य के प्रति आकर्षण पैदा होता है, वह है। दोनों में दर्शनमोह का विलय मुख्य रूप से रहा हुआ है। यह भेद केवल बाहरी प्रक्रिया से है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के तीन कारण हैं—

१. दर्शन-मोह के परमाणुओं का पूर्ण रूप से उपशमन होना।
२. दर्शन-मोह के परमाणुओं का अपूर्ण विलय होना।
३. दर्शन-मोह के परमाणुओं का पूर्ण विलय होना।

इन तीनों कारणों में से प्रथम कारण से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन औपशमिक है। दूसरे कारण से उत्पन्न होने वाला क्षायोपशमिक है और तीसरे कारण से उत्पन्न होने वाला क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

औपशमिक सम्यग्दर्शन अन्तर्मुहूर्त की स्थिति वाला होता है। जिस प्रकार दबा हुआ रोग पुनः उभर आता है, इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त के लिए निरुद्धोदय किये हुए दर्शन-मोह के परमाणु काल मर्यादा समाप्त होते ही पुनः सक्रिय हो जाते हैं। किंचित् समय के लिए जो सम्यग्दर्शनी बना, वह पुनः मिथ्यादर्शनी बन जाता है। बीमारी के कीटाणुओं को निर्मूल नष्ट करने वाला सदा के लिए पूर्ण स्वस्थ बन जाता है। उन कीटाणुओं का शोधन करने वाला भी उनसे ग्रस्त नहीं होता किन्तु उन कीटाणुओं को दबाने वाला प्रतिक्षण खतरे में रहता है। औपशमिक सम्यग्दर्शनी भी तृतीय कोटि के समान है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था में साधक कभी सम्यक् मार्ग से पराङ्मुख भी हो सकता है। इसकी तुलना बौद्ध स्थविरवादी श्रोतापन्न अवस्था से की जा सकती है। श्रोतापन्न साधक भी औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की तरह मार्ग से च्युत और पराङ्मुख हो सकता है। महायानी बौद्ध वाङ्मय में इस अवस्था की तुलना बोधि-प्रणिधिचित्ति से कर सकते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि आत्मा यथार्थ को जानता है और उस पर चलने की भव्य भावना भी रखता है, किन्तु उस पर चल नहीं सकता, वैसे ही बोधिप्रणिधिचित्ति में भी यथार्थ मार्ग और लोक-परित्राण की भावना होने के बावजूद भी वह मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता। योगबिन्दु में आचार्य हरिभद्र ने सम्यग्दर्शन प्राप्त साधक की तुलना महायान के बोधिसत्व से भी की है।[४५] बोधिसत्व का सामान्य अर्थ है ज्ञान प्राप्ति का जिज्ञासु साधक।[४६] इस दृष्टि से उसकी तुलना सम्यग्दृष्टि के साथ हो सकती है। यदि बोधिसत्व का विशिष्ट अर्थ, लोक-कल्याण की मंगलमय भावना को दृष्टि में रखकर तुलना करें तो भी हो सकती हैं क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान वाला साधक तीर्थंकर नामकर्म का भी उपार्जन कर सकता है।[४७]

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव देव-गुरु-संघ की सद्भक्ति करता है, शासन की उन्नति करता है, अतः वह शासन प्रभावक श्रावक कहा जाता है।[४८]

चतुर्थ गुणस्थान में ७७ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है। तृतीय गुणस्थान में जो ४६ कर्म प्रकृतियाँ नहीं बाँधता है उनमें से मनुष्यआयु, देवायु और तीर्थंकर नामकर्म इन कर्मप्रकृतियों को कम कर देना चाहिए। अर्थात् ४३ प्रकृतियों का बन्ध नहीं करता है। शेष ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।[४९]

जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है पर जिसमें व्रत की योग्यता प्राप्त नहीं होती उसे अविरति सम्यग्दृष्टि कहा गया है। दिगम्बर आचार्य भूतबलि व नेमिचन्द्र ने अविरतसम्यग्दृष्टि के स्थान पर असंयतसम्यग्दृष्टि शब्द का प्रयोग किया है।[५०]

चतुर्थ गुणस्थान में रहे हुए जीव का दृष्टिकोण समीचीन होता है किन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण वह इन्द्रिय आदि विषयों से और हिंसा आदि पापों से विरत नहीं हो सकता।[५१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. देशविरति

देशविरतसम्यग्दृष्टि नामक पाँचवें गुणस्थान में व्यक्ति की आत्मशक्ति और विकसित होती है। वह पूर्ण-रूप से तो सम्यक्चारित्र की आराधना नहीं कर पाता किन्तु आंशिक रूप से उसका पालन अवश्य करता है। इस गुणस्थान में जो व्यक्ति हैं उन्हें जैन आचार शास्त्रों में उपासक और श्रावक कहा है।

जैनागम गृहस्थ के लिए बारह व्रतों का विधान करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और इच्छा परिमाण ये पाँच अणुव्रत हैं। अणुव्रत का अर्थ है आंशिक चारित्र की साधना।

दिग्विरति, भोगोपभोगविरति और अनर्थदण्डविरति—ये तीनों गुणव्रत हैं। ये तीनों व्रत अणुव्रतों के पोषक हैं, एतदर्थ इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये चारों व्रत अभ्यासात्मक या बार-बार करने योग्य है, एतदर्थ इन्हें शिक्षाव्रत कहा गया है। इन व्रतों का अधिकारी देशव्रती श्रावक कहलाता है।

देशविरति को आगमों में विरताविरत भी कहा गया है। षट्खण्डागम में इसे संयतासंयत लिखा है।[५२]

विरताविरत जीव त्रस जीवों की हिंसा से विरत हो जाता है किन्तु स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं हो पाता।[५३]

इस गुणस्थान में एकादश प्रतिमाओं का भी आराधन किया जाता है।[५४] प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तपविशेष अथवा अभिग्रहविशेष है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ न्यून करोड़ पूर्व वर्ष की है।

पाँचवें गुणस्थान में ६७ कर्मप्रकृतियाँ बँधती हैं। चतुर्थ गुणस्थान में जो ७७ कर्म प्रकृतियाँ बँधती हैं, उनमें से निम्न दस कर्म प्रकृतियाँ इस गुणस्थान में नहीं बंधती है। वे इस प्रकार हैं—

(१) वज्रऋषभनाराच संहनन (२) मनुष्य त्रिक (मनुष्यजाति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु) (३) अप्रत्याख्यानी कषायचतुष्क (४) औदारिक शरीर (५) और औदारिक अंगोपांग।[५५]

छठी भूमिका से लेकर अगली सारी भूमिकाएँ मुनि जीवन की हैं।

६. प्रमत्तसंयत

छठे गुणस्थान में साधक कुछ और आगे बढ़ता है। वह देशविरत से सर्वविरत हो जाता है। वह पूर्णरूप से सम्यक्चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर देता है। अतः उसका व्रत अणुव्रत नहीं किन्तु महाव्रत है। उसका हिंसा का त्याग अपूर्ण नहीं, पूर्ण होता है। अणु नहीं महान् होता है। इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस अवस्था में रहे हुए साधक का चारित्र पूर्ण विशुद्ध होता ही है। यहाँ पर प्रमाद की सत्ता रहती है। अतएव इस गुणस्थान का नाम प्रमत्तसंयत रखा गया है। गोम्मटसार में प्रमाद के पन्द्रह भेद बताये हैं।[५६]

(१) **चार विकथा**—स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा, राजकथा, (५) **चार कषाय**— क्रोध, मान, माया, लोभ, (९) **पाँच इन्द्रियाँ**—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, (१४) निद्रा और (१५) प्रणय—स्नेह।

साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस भूमिका से नीचे भी गिर सकता है और ऊपर भी चढ़ सकता है।

छठे गुणस्थान में तिरेसठ (६३) कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। पाँचवें गुणस्थान में सड़सठ (६७) कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें से प्रत्याख्यानी चतुष्क का इस गुणस्थान में बन्ध नहीं होता।[५७]

प्रमत्तसंयत गुणस्थान की स्थिति कर्मस्तव[५८], योगशास्त्र[५९], गुणस्थान क्रमारोह[६०] सर्वार्थसिद्धि[६१] आदि ग्रन्थों में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त लिखी है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् प्रमत्तसंयती एक बार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पहुँचता है और वहाँ भी अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहकर पुनः प्रमत्तसंयत गुणस्थान में आ जाता है। यह चढ़ाव और उतार देशोनकोटिपूर्व तक होता रहता है, अतएव छठे और सातवें दोनों गुणस्थान की स्थिति मिलकर देशोन करोड़ पूर्व की है।[६२]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवती सूत्र में मंडितपुत्र ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवन्, प्रमत्तसंयत में रहता हुआ सम्पूर्ण प्रमत्तकाल कितना होता है ? जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान ने कहा—एक जीव की अपेक्षा से जघन्य एक समय, उत्कृष्ट देशन्यून करोड़ पूर्व और सभी जीवों की अपेक्षा से सर्वकाल है।[13]

इसी प्रकार अप्रमत्तसंयत के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान ने कहा—एक जीव की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट देशन्यून करोड़ पूर्व है।[14]

यहाँ पर प्रश्न में "सव्वाविणं पमत्तद्धा" शब्द का प्रयोग हुआ है जो इस बात का सूचक है प्रमत्तसंयत काल सम्पूर्ण कितना है अतः प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन दोनों गुणस्थानों में एक जीव आते-जाते सम्पूर्ण काल मिलाकर कितना रहता है ? तो उत्तर में देशन्यून करोड़ पूर्व बताया है। आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में इस बात को स्पष्ट किया है।[15]

मोक्षमार्ग ग्रन्थ[16] में श्री रतनलाल दोषी ने तथा अन्य अनेक लेखकों ने एवं स्तोक संग्रहों में प्रमत्तसंयत गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति देशोनकरोड़ पूर्व की लिखी है, पर यह भ्रम है, चूँकि उपर्युक्त सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों के हमने जो प्रमाण दिये हैं उससे यही स्पष्ट है कि छठे और सातवें दोनों गुणस्थानों मे उतार-चढ़ाव को मिलाकर देशोन करोड़ पूर्व की स्थिति कही है, न कि यह केवल छठे गुणस्थान की ही स्थिति है।

७. अप्रमत्तसंयत

इस गुणस्थान में अवस्थित साधक प्रमाद से रहित होकर आत्म-साधना में लीन रहता है, इसलिए इसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा गया है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि छठे और सातवें गुणस्थान का परिवर्तन पुनः-पुनः होता रहता है। जब साधक में आत्म-तल्लीनता होती है तब वह सातवें गुणस्थान में चढ़ता है और प्रमाद का उदय आने पर छठे गुणस्थान में चला जाता है।

वर्तमान काल में कोई भी साधु सातवें गुणस्थान के ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ नहीं सकता। चूँकि ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ने के लिए जो उत्तम संहनन तथा पात्रता चाहिए उसका वर्तमान काल में अभाव है। सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक का काल परम समाधि का काल है। यह परम समाधि की दशा छद्मस्थ जीव को अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक नहीं रह सकती। अतः सातवें, आठवें आदि एक-एक गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सभी का सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त है।

सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं—(१) स्वस्थान अप्रमत्त, (२) सातिशय अप्रमत्त। सातवें गुणस्थान से छठे गुणस्थान में और छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में आना-जाना स्वस्थान अप्रमत्तसंयत में होता है किन्तु जो श्रमण मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षपण करने को उद्यत होते हैं वे सातिशय अप्रमत्त हैं। उस समय ध्यानावस्था में चारित्र-मोहनीय-कर्म के उपशमन या क्षपण के कारणभूत अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम वाले एक विशिष्ट जाति के परिणाम जीव में प्रकट होते हैं जिनके द्वारा वह जीव चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षय करने में समर्थ होता है। इनमें से अधःकरण रूप विशिष्ट परिणाम सातिशय अप्रमत्तसंयत में प्रकट होते हैं। इन परिणामों से वह संयत मोहकर्म के उपशमन या क्षपण के लिए उत्साहित होता है।

सातवें गुणस्थान में आहारक द्विक का बन्ध होने लगता है। अतः छठे गुणस्थान में बँधने वाली ५७ में इन दो के मिला देने पर ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। कुछ आचार्यों की यह मान्यता है कि जिस जीव ने छठे गुणस्थान में देवायु, का बन्ध प्रारम्भ कर दिया है उसकी अपेक्षा ही सातवें में देवायु का बन्ध होने पर ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। किन्तु जिसने छठे गुणस्थान में देवायु का बन्ध प्रारम्भ नहीं किया है उसके सातवें में चढ़ने पर देवायु का बन्ध नहीं होता। अतः ऐसे जीव की अपेक्षा ५८ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। उक्त दोनों विवक्षाओं से इस गुणस्थान में ५८ या ५९ कर्म प्रकृति का बन्ध होता है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

८. निवृत्ति बादर—(अपूर्वकरण)

इस गुणस्थान में जो निवृत्ति शब्द आया है उसका अर्थ 'भेद' है[17] निवृत्तिबादर गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। उसके असंख्यात समय है। इसमे भिन्न समयवर्ती जीवों की परिणामविशुद्धि तो एक सदृश नहीं होती,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु एक समयवर्ती जीवों के अध्यवसायों में भी असंख्यात गुणी न्यूनाधिक विशुद्धि होती है। एतदर्थ यह विसदृश परिणाम विशुद्धि का गुणस्थान है।[८८]

निवृत्ति बादर का दूसरा नाम अपूर्वकरण भी है।[८९] यहाँ यह ज्ञातव्य है हम जिन यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करण परिणामों का निरूपण सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय कर आये हैं वे ही तीनों करण चारित्र मोहनीय के उपशमन एवं क्षपण के समय भी होते हैं। उनमें से प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण सातिशय अप्रमत्तसंयत में होता है और दूसरा करण आठवें गुणस्थान में होता है। इसी कारण इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण भी है। तीसरा करण नौवें गुणस्थान में होता है। अतः इसकी अपेक्षा इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिकरण रखा है। आचार्य हरिभद्र ने इसे द्वितीय अपूर्वकरण कहा है।[९०] इस गुणस्थान में अपूर्व विशुद्धि, पूर्व गुणस्थानों में जो परिणाम अभी तक प्राप्त नहीं हुए, ऐसे विशुद्ध परिणाम होते हैं। एतदर्थ इसका नाम अपूर्वकरण है।[९१]

इस गुणस्थान में पहले कभी न आया हो वैसा विशुद्ध भाव आता है जिससे आत्मा गुणश्रेणी पर आरूढ़ होने की तैयारी करने लगता है। आरोह की दो श्रेणियाँ हैं—(१) उपशम और (२) क्षपक। मोह को उपशान्त कर आगे बढ़ने वाला जीव ११वें गुणस्थान तक मोह का सर्वथा उपशान्त कर वीतराग बन जाता है। उपशम अल्पकालीन होता है, इसलिए मोह के उभरने पर वह पुनः नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। क्षपकश्रेणी प्रतिपन्न जीव मोह को खपाकर दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में चला जाता है और वीतराग बन जाता है। क्षीणमोह का अवरोह नहीं होता।

आठवें गुणस्थान के सात भाग हैं। उनमें प्रथम भाग में सातवें गुणस्थान वाली ५९ प्रकृतियों में से देवायु को घटा देने पर शेष ५८ प्रकृतियाँ बँधती हैं। द्वितीय भाग से लेकर छठे भाग तक ५६ प्रकृतियाँ बँधती हैं क्योंकि वहाँ निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियाँ नहीं बँधती हैं।

सातवें भाग में २६ प्रकृतियाँ बँधती हैं। पूर्व की प्रकृतियों में से (१) देवगति, (२) देवानुपूर्वी, (३) पंचेन्द्रिय जाति, (४) शुभ विहायोगति, (५) त्रस, (६) बादर, (७) पर्याप्त, (८) प्रत्येक, (९) स्थिर, (१०) शुभ, (११) सुभग, (१२) सुस्वर, (१३) आदेय, (१४) वैक्रियशरीर, (१५) आहारकशरीर, (१६) तेजस्शरीर, (१७) कार्मणशरीर, (१८) समचतुरस्र संस्थान, (१९) वैक्रिय अंगोपांग, (२०) आहारक अंगोपांग, (२१) निर्माण नाम, (२२) तीर्थंकर(जिन) नाम (२३) वर्ण, (२४) गन्ध, (२५) रस, (२६) स्पर्श, (२७) अगुरुलघु, (२८) उपघात, (२९) पराघात, (३०) श्वासोच्छास, इस प्रकार ३० कर्म प्रकृतियाँ कम करने से २६ कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है।[९२]

९. अनिवृत्तिबादर

अनिवृत्ति का अर्थ 'अभेद' है। अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के एक समयवर्ती जीवों की परिणामविशुद्धि सदृश ही होती है। इसलिए यह सदृश परिणाम विशुद्धि का गुणस्थान है।[९३] इस कारण इस गुणस्थान का अनिवृत्तिबादर गुणस्थान है। इसे अनिवृत्तिबादर सम्पराय अथवा बादर सम्पराय (कषाय) भी कहते हैं।

पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थानों की अपेक्षा से उत्तर-उत्तरवर्ती गुणस्थानों में कषाय के अंश कम होते जाते हैं। वैसे-वैसे परिणामों की विशुद्धि भी बढ़ती जाती है। आठवें गुणस्थान के परिणामों की विशुद्धि की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में परिणामों की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक है। इस गुणस्थान में होने वाले परिणामों द्वारा आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी, निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थिति-खण्डन और अनुभागखण्डन होता है। अभी तक करोड़ों सागर की स्थिति वाले कर्म बँधते जाते थे। उनका स्थिति बन्ध उत्तरोत्तर कम होता जाता है। यहाँ तक कि इस गुणस्थान के अन्तिम समय में पहुँचने पर मोहनीयकर्म की जो जघन्य अन्तर्मुहूर्त स्थिति बतायी गयी है तत्प्रमाण स्थिति का बन्ध होता है। कर्मों के सत्त्व का भी अत्यधिक परिणाम में ह्रास होता है। प्रति समय कर्म-प्रदेशों की निर्जरा भी असंख्यात गुणी बढ़ती जाती है। यह स्थिति-खण्डन आठवें गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो जाता है और इस गुणस्थान में उसकी मात्रा पहले से अधिक बढ़ जाती है। इस गुणस्थान में उपशमश्रेणी वाला जीव मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोभवृत्ति को छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियों का उपशमन कर लेता है और क्षपकश्रेणी वाला उन्हीं प्रकृतियों का क्षय करता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी वाला मोहनीयकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नौवें गुणस्थान के पाँच भाग हैं। उनमें प्रथम भाग में २२ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। आठवें गुणस्थान में जो २६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है उसमें से हास्य, रति, दुर्गुच्छा, भय, ये चार कर्मप्रकृतियाँ कम करने से शेष २२ का बन्ध होता है।

द्वितीय भाग में २१ प्रकृतियाँ बँधती हैं, यहाँ पूर्व प्रकृतियों में से पुरुष वेद कम करना चाहिए।

तृतीय भाग में २० का बन्ध होता है, संज्वलन क्रोध कम करना चाहिए।

चतुर्थ भाग में १९ प्रकृतियाँ बँधती हैं, संज्वलन मान कम करना चाहिए।

पांचवें भाग में १८ प्रकृतियाँ बंधती हैं। उपरोक्त में से संज्वलन माया कम करनी चाहिए।[७४]

१०. सूक्ष्म-सम्पराय

इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभरूप कषाय का ही उदय रहता है। अन्य कषायों का उपशम या क्षय हो जाता है। जैसे धुले हुए कुसुमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है। इसी प्रकार इस गुणस्थान में लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से रह जाता है। इसी कारण इस गुणस्थान को सूक्ष्म सम्पराय (कषाय) गुणस्थान कहा है। दसवें गुणस्थान के प्रारम्भ में १७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, किन्तु उसके अन्त में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, उच्च गोत्र और यशःकीर्ति इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है। अतः ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में केवल एक सातावेदनीय का ही बन्ध होता है। चूँकि इन गुणस्थानों में कषाय का अभाव रहता है इसलिये सातावेदनीय की स्थिति अधिक नहीं बँधती। किन्तु योग के सद्भाव होने से एक समय की स्थिति वाला ही सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। कुछ आचार्य दो समय की स्थिति का बन्ध मानते हैं। उनके मतानुसार प्रथम समय में सातावेदनीय कर्म के परमाणु आते हैं और दूसरे समय में निर्जीर्ण हो जाते हैं।

११. उपशान्तमोह

दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का उपशमन होते ही वह जीव ग्यारहवाँ गुणस्थान में आता है। जैसे गँदले जल में कतक फल या फिटकरी आदि फिराने पर उसका मल भाग नीचे बैठ जाता है और स्वच्छ जल ऊपर रह जाता है, वैसे ही उपशमश्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म जघन्य एकसमय और उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिससे कि जीव के परिणामों में एकदम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है। एतदर्थ इसे उपशान्तमोह या उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं।[७५]

इस गुणस्थान में वीतरागता तो आ जाती है किन्तु ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म विद्यमान रहते हैं। अतः वीतरागी बन जाने पर भी वह जीव छद्मस्थ या अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ नहीं।

मोहकर्म का उपशमन एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए होता है। उस काल के समाप्त होने पर राख से दबी हुई अग्नि की भाँति वह पुनः अपना प्रभाव दिखाता है। परिणामतः आत्मा का पतन होता है और वह जिस क्रम से ऊपर चढ़ता है उसी क्रम से नीचे के गुणस्थानों मे आ जाता है। यहाँ तक कि इस गुणस्थान से गिरने वाला आत्मा कभी कभी प्रथम गुणस्थान तक पहुँच जाता है। इस प्रकार का आत्मा पुनः प्रयास कर प्रगति-पथ पर बढ़ सकता है।

इस सम्बन्ध में गीता का अभिमत है कि दमन के द्वारा विषय-कषाय का निवर्तन तो हो जाता है, किन्तु उसके पीछे रहे हुए अन्तर्मानस की विषय संबंधी भावनाएँ नष्ट नहीं होतीं जिससे समय पाकर वे पुनः उद्बुद्ध हो जाती हैं। अतः दमन द्वारा उच्चतम स्थिति पर पहुँचा हुआ साधक पुनः पतित हो जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में मृत्यु प्राप्त करने वाला मुनि अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है।

१२. क्षीण-मोह

इस भूमिका में मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है। कषायों को नष्ट कर आगे बढ़ने वाला साधक दसवें गुणस्थान के अन्त में लोभ के अन्तिम अवशेष को नष्टकर मोह से सर्वथा मुक्ति पा लेता है। इस अवस्था का नाम क्षीण-मोह, क्षीणमोह वीतराग, या क्षीणकषाय है।[७६] इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का पतन नहीं होता।

भगवान ने कहा—कर्म का मूल मोह है। सेनापति के भाग जाने पर सेना स्वतः भाग जाती है। वैसे ही मोह के नष्ट होने पर एकत्व-विचार शुक्लध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय ये तीनों कर्म-बन्धन टूट जाते हैं और साधक अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति से युक्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. सयोगी केवली

चार घातिक कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय के क्षीण होने पर जिसके शरीर आदि की प्रवृत्ति शेष रहती है, उसे सयोगी केवली कहा जाता है। अर्थात् जो विशुद्ध ज्ञानी होने पर भी यौगिक प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं होता वह सयोगी कहलाता है। घातीकर्मों के नष्ट होने पर जीव समस्त चराचर तत्वों को हस्तामलकवत् देखता है। वह विश्वतत्त्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। इस अवस्था में जीव कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक एक करोड़ पूर्व वर्ष तक रहता है। वह सर्वज्ञ और केवली कहलाता है और उसे ही वेदान्त ने 'जीवन्मुक्ति' अथवा 'सदेह मुक्ति' की अवस्था कहा है।

जब तेरहवें गुणस्थान के काल में एक अन्तर्मुहूर्त समय अवशेष रहता है, उस समय यदि आयुकर्म की स्थिति कम और शेष तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तो उसकी स्थिति के समीकरण के लिए केवली समुद्घात करते हैं, अर्थात् मूल शरीर को छोड़े बिना ही अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकाल देते हैं। प्रथम समय में चौदह रज्जू प्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म-प्रदेश फैलते हैं। उन आत्म-प्रदेशों का आकार दण्ड जैसा होता है। ऊँचाई में लोक के ऊपर से नीचे तक होता है किन्तु उसकी मोटाई शरीर के बराबर होती है। दूसरे समय में जो दण्ड के समान आकृति थी उसे पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण में फैलाकर उसका आकार कपाट (किवाड़) के सदृश बनाया जाता है। तीसरे समय में कपाट के आकार वाले उन आत्म-प्रदेशों को मन्थाकार बनाया जाता है। अर्थात पूर्व-पश्चिम उत्तर-और दक्षिण दोनों तरफ आत्म-प्रदेशों को फैलाने से उनका आकार मथनी के जैसा हो जाता है। चौथे समय में विदिशाओं में आत्म-प्रदेशों को पूर्ण करके संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। इसे आचार्य ने लोकपूरण समुद्घात कहा है। इसी प्रकार चार समयों में आत्म-प्रदेश पुनः संकुचित होते हुए पहले आकारों को धारण करते हुए शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसे केवली-समुद्घात कहते हैं। इस क्रिया से जिस प्रकार गीले वस्त्र को फैलाने से उसकी आर्द्रता शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आत्म-प्रदेशों को फैलाने से उनमें संसक्त कर्म-प्रदेशों का स्थिति व अनुभागांश क्षीण होकर आयु-प्रमाण हो जाते है।[७७]

केवली-समुद्घात में आत्मा की व्यापकता का प्रतिपादन किया गया है। उसकी तुलना श्वेताश्वतरोपनिषद्[७८], भगवद्गीता[७९] में जो आत्मा की व्यापकता का विवरण है उससे की जा सकती है।

जिस प्रकार जैन साहित्य में वेदनीय आदि कर्मों को शीघ्र भोगने के लिए समुद्घात क्रिया का उल्लेख है वैसे ही योग-दर्शन में[८०] बहुकाय-निर्माण क्रिया का वर्णन है जिसे तत्त्व साक्षात् करने वाला योग स्वोपक्रम कर्म को शीघ्र भोगने के लिए करता है।

षट्खण्डागम में सजोगी केवली के स्थान पर सयोग केवली शब्द का प्रयोग हुआ है।[८१]

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, पाँच अन्तराय, उच्च गोत्र और यशः नाम इन सोलह प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सातावेदनीय कर्म प्रकृति का ही बन्ध होता है।

१४. अयोगी केवली

इस गुणस्थान में प्रवेश करते ही शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्त प्रकट होता है। उसके द्वारा योगों का निरोध होता है। मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों का सर्वथा निरोध करने के कारण ही इस गुणस्थान को अयोगी केवली कहा गया है। यह चारित्र-विकास और आत्म-विकास की चरम अवस्था है। इसमें आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान के द्वारा सुमेरु पर्वत की तरह निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त कर अन्त में देहत्याग कर सिद्धावस्था को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व अक्षरों को बोलने में जितना समय लगता है उतने ही समय में वह मुक्त हो जाता है, जिसे परमात्मपद, स्वरूपसिद्धि, मुक्ति, निर्वाण, अपुनरावृत्ति-स्थान और मोक्ष आदि नामों से कहा जाता है। यह आत्मा की सर्वांगीण पूर्णता पूर्णकृतकृत्यता एवं परमपुरुषार्थ-सिद्धि है।

षट्खण्डागम में अयोगी केवली के स्थान पर अयोग केवली शब्द व्यवहृत हुआ है।[८२] आत्मा के इस विकास क्रम से स्पष्ट है कि जैनधर्म में कोई अनादि सिद्ध, परमात्मा नहीं माना गया है। प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है।

आत्मा के तीन रूप

इस विराट विश्व में अनन्त आत्माएँ हैं, चाहे वे त्रस हैं या स्थावर। जैन-दर्शन में अध्यात्म-विकास की दृष्टि से उनका तीन भागों में वर्गीकरण किया है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[८३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रारंभ के तीन गुणस्थान वाले जीवों की बहिरात्मा संज्ञा है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले जीवों को अन्तरात्मा कहते हैं। और तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा कहलाते हैं।[८]

प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव पूर्ण रूप से बहिरात्मा है। द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव में बहिरात्म-तत्त्व प्रथम गुणस्थानवर्ती की अपेक्षा न्यून है और तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव में द्वितीय गुणस्थान वाले की अपेक्षा बहिरात्म-तत्व और भी कम है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतिसम्यक्दृष्टि जीव ज्यों-ज्यों अन्तर्मुख होकर अपनी दैनिक प्रवृत्तियों का अवलोकन करता है त्यों-त्यों उसे बाह्यप्रवृत्तियाँ अशांति का कारण, अशाश्वत एवं दुःखप्रद प्रतीत होने लगती है और उसके विपरीत आन्तरिक प्रवृत्तियाँ उसे शांति देने वाली अनुभव होती हैं। ऐसी स्थिति में जब वह अपनी असद् प्रवृत्तियों के त्याग की ओर उन्मुख होता है और स्थूल प्राणातिपात प्रभृति पापों का परित्याग करता है और वह अन्तरात्म तत्त्व की ऐसी श्रेणी पर पहुँचता है जिस अवस्था को श्रावक, उपासक और श्रमणोपासक कहते हैं। इसके पश्चात् जब उसकी विचारधारा और अधिक निर्मल होती है और वह यह अनुभव करने लगता है कि सांसारिक वस्तुओं के परित्याग में ही सच्ची शांति है, संग्रह में नहीं; तब वह सांसारिक मोह-बन्धनों एवं कौटुम्बिक स्नेह-पाश से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने का उपक्रम करता है। फलस्वरूप वह परिवार तथा घर आदि का परित्याग कर सद्गुरुदेव के सन्निकट श्रमणधर्म को स्वीकार करता है, यह अन्तरात्मा की दूसरी श्रेणी है।

इस श्रमणावस्था में रहते हुए वह जिस समय अप्रमत्त होकर स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन में तल्लीन होता है उस समय वह अन्तरात्म-तत्त्व की एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ जाता है। किन्तु मानव की मनोवृत्ति अहर्निश अप्रमत्त नहीं रह सकती। उसे बीच-बीच में विश्राम लेना पड़ता है, शारीरिक चिन्ताएँ करनी पड़ती हैं। एतदर्थ ही श्रमण की प्रवृत्ति प्रमत्त और अप्रमत्त रूप में होती रहती है। जब कोई साधक अप्रमत्त अवस्था में रहते हुए परम समाधि में तल्लीन होता है, अपनी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को बाहर से हटाकर एकमात्र आत्मस्वरूप में ही स्थिर करता है, उस समय उसके हृदय में एक विशुद्ध व अपूर्व भाव जागृत होता है। इस भाव से पूर्व संचित कर्मबन्धन क्रमशः विनष्ट होते हैं, श्रमण नवीन कर्मबन्धनों को क्रमशः घटाता है और ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जब नवीन बँधने वाले कर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है। केवल एक समय जैसी अत्यल्पस्थितिवाला सातावेदनीय कर्म का आस्रव या बन्ध केवल नाममात्र का होता है; और अनादिकाल से संलग्न अष्ट कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय का क्षय करता है, यह अन्तरात्म-तत्त्व की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है।

अन्तरात्मा की इस उत्कृष्ट अवस्था में चार घनघाती कर्मों के क्षय होते ही परमात्म-दशा प्रकट होती है। और वह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाता है। जब तक उसका आयुकर्म समाप्त नहीं होता तब तक शरीर बना रहता है। शरीर को 'कल' भी कहते हैं। शरीर के साथ रहने वाली परमात्म-दशा को सकल परमात्मा कहते हैं। इस अवस्था को अन्य दार्शनिक चिन्तकों ने सगुण या साकार परमात्मा के नाम से अभिहित किया है। इस सकल परमात्म-अवस्था में रहते हुए वे केवली विश्व के विभिन्न अंचलों में पादविहार करते हुए मुमुक्षु जीवों को सन्मार्ग पर चलने के लिए उत्प्रेरित करते हैं। जब उनका जीवनकाल अत्यल्प रह जाता है तब वे विहार, देशना आदि सभी क्रियाओं का निरोध कर पूर्ण आत्मस्थ हो जाते हैं। एक लघु अन्तर्मुहूर्त काल में अवशेष रहे हुए आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की समस्त प्रकृतियों को नष्ट कर नित्य, निरंजन, निर्विकार सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। इस अवस्था को अन्य दार्शनिकों ने निर्गुण या निराकार के नाम से कहा है। जैसे धान्य के ऊपर का छिलका दूर हो जाने से चावल में अंकुरोत्पादन की शक्ति नहीं रहती वैसे ही कर्म-नोकर्म रूपी मल के नष्ट हो जाने से सिद्ध परमात्मा का भी भवांकुर पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाता है और वे अपुनरागम स्थिति में सदा सिद्ध रूप में स्थित रहते हैं।

योगविद् जैनाचार्यों ने चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की गणना सम्प्रज्ञातयोग से की है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान की तुलना असंप्रज्ञातयोग से की है।[९] साधना की दृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा को क्रमशः पतित अवस्था, साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था कह सकते हैं। नैतिकता की दृष्टि से इन तीनों अवस्थाओं को अनैतिकता की अवस्था, (immoral), नैतिकता की अवस्था (moral), और अतिनैतिकता की अवस्था (amoral) कह सकते हैं। प्रथम अवस्था वाला प्राणी दुराचारी व दुरात्मा होता है। दूसरी अवस्था वाला प्राणी सदाचारी व महात्मा होता है और तीसरी अवस्था वाला प्राणी आदर्शात्मा या परमात्मा होता है।

जैन गुणस्थान और वैदिक भूमिकाएँ

जैनदर्शन की भाँति वैदिक परम्परा में भी आत्मविकास के सम्बन्ध में विचार किया गया है। योगवासिष्ठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व पातंजलयोगसूत्र प्रभृति ग्रन्थों में आत्मविकास की भूमिकाओं का विस्तार से विवेचन है। योगवासिष्ठ में चौदह भूमिकाओं का वर्णन है उनमें सात भूमिकाएँ अज्ञान की हैं और सात भूमिकाएँ ज्ञान की हैं। इनमें से सात अज्ञान की भूमिकाएं ये हैं।[८]

(१) **बीज जाग्रत**—इस भूमिका में अहं और ममत्व बुद्धि की जागृति नहीं होती है। किन्तु उस जागृति की बीज रूप में योग्यता होती है। अतः यह बीजजाग्रत भूमिका कहलाती है। यह भूमिका वनस्पति आदि क्षुद्र निकाय में मानी जा सकती है।

(२) **जाग्रत**—इस भूमिका में अहं व ममत्व बुद्धि अल्पांश में जाग्रत होती है। यह भूमिका कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियों में मानी जा सकती है।

(३) **महाजाग्रत**—इस भूमिका में अहं व ममत्व बुद्धि विशेषरूप से पुष्ट होती है। एतदर्थ इसे महाजाग्रत भूमिका कहा है। यह भूमिका मानव व देव समूह में मानी जा सकती है।

(४) **जाग्रत-स्वप्न**—इस भूमिका में जागते हुए मनोराज्य अर्थात् भ्रम का समावेश होता है। जैसे एक चाँद के बदले दो चाँद दिखायी देना, सीप में चाँदी का भ्रम होना। इन कारणों से यह भूमिका जाग्रत-स्वप्न कहलाती है।

(५) **स्वप्न**—निद्रावस्था में आये हुए स्वप्न का जागने के पश्चात् भी जो भान होता है वह स्वप्न भूमिका है।

(६) **स्वप्न-जाग्रत**—वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का समावेश इसमें होता है। यह स्वप्न शरीरपात हो जाने पर भी चालू रहता है।

(७) **सुषुप्तक**—यह भूमिका प्रगाढ़ निद्रावस्था में होती है जिसमें जड़ जैसी स्थिति हो जाती है और कर्म मात्र वासना के रूप में रहे हुए होते हैं। अतः वह सुषुप्ति कहलाती है।

तीसरी भूमिका से लेकर सातवीं भूमिका स्पष्ट रूप से मानव निकाय में होती है।[८अ]

ज्ञानमय स्थिति के भी सात भाग किये गये हैं और वे सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं।[८ब]

(१) **शुभेच्छा**—आत्मावलोकन की वैराग्ययुक्त इच्छा।

(२) **विचारणा**—शास्त्र एवं सज्जनों के संसर्गपूर्वक वैराग्याभ्यास के कारण सदाचार में प्रवृत्ति।

(३) **तनुमानसा**—शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का घटना। क्योंकि इसमें संकल्प-विकल्प कम होते हैं।

(४) **सत्त्वापत्ति**—सत्य और शुद्ध आत्मा में स्थिर होना।

(५) **असंसक्ति**—असंग रूप परिपाक से चित्त में निरतिशय आनन्द का प्रादुर्भाव होना।

(६) **पदार्थाभाविनी**—इसमें बाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थों पर से इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। देह यात्रा केवल दूसरों के प्रयत्न को लेकर चलती है।

(७) **तूर्यगा**—भेदभाव का भान बिलकुल भूल जाने से एक मात्र स्वभावनिष्ठा में स्थिर रहना। यह अवस्था जीवनमुक्त में होती है। विदेह मुक्ति के पश्चात् तूर्यातीत अवस्था है।

सात अज्ञान की भूमिकाओं में अज्ञान का प्राबल्य होने से उन्हें अविकास काल में गिन सकते हैं। उसके विपरीत सात भूमिकाएँ ज्ञान की हैं, उन्हें विकास क्रम में गिना जा सकता है। ज्ञान की सातवीं भूमिका में विकास पूर्ण कला में पहुँचता है। उसके पश्चात् की स्थिति मोक्ष मानी जाती है।

कुछ विद्वानों ने इन भूमिकाओं की तुलना मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अवस्थाओं से की है।[९] हमारे अपने अभिमतानुसार भले ही संख्या की दृष्टि से गुणस्थानों के साथ उनकी तुलना की जाय, किन्तु क्रमिक विकास की दृष्टि से इनमें साम्य नहीं है।

जैन गुणस्थान और चित्त की पाँच अवस्थाएँ

योग-दर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ बतायी हैं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।[१०]

(१) **मूढ़**—इसमें तमोगुण की प्रधानता होती है। इस अवस्था में व्यक्ति अज्ञान और आलस्य से घिरा रहता है। न उसमें सत्य को जानने की जिज्ञासा होती है, न धर्म के प्रति अभिरुचि होती है, और न धन-सम्पत्ति के संग्रह की ओर ही प्रवृत्ति होती है। उसका सम्पूर्ण जीवन अज्ञान तथा अनैश्वर्य में ही व्यतीत होता है। यह अवस्था अविकसित मनुष्यों और पशुओं में पायी जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) **क्षिप्त**—इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। चित्त बाह्य विषयों में फँसा रहता है। वह कभी इधर दौड़ता है, कभी उधर। रजोगुण की प्रबलता के कारण इच्छाएँ प्रबल हो जाती हैं। जब रजोगुण या तमोगुण का मिश्रण होता है तब क्रूरता, कामान्धता और लोभ आदि की वृत्तियाँ पनपने लगती हैं और जब उसका सत्त्वगुण के साथ मिश्रण होता है तब श्रेष्ठ प्रवृत्तियों में मन लगता है। यह अवस्था उस संसारी मानव की है जो संसार में फँसा है और विविध प्रकार की उधेड़बुन करता रहता है।

(३) **विक्षिप्त**—इस अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है। रजोगुण और तमोगुण दबे हुए और गौण रूप से रहते हैं। इस अवस्था में सत्त्वगुण रहने के कारण मानव की प्रवृत्ति धर्मज्ञान और ऐश्वर्य की ओर रहती है किन्तु रजोगुण के कारण चित्त विक्षिप्त बन जाता है।

इन तीन अवस्थाओं को योग में सम्मिलित नहीं किया है। क्योंकि इसमें चित्तवृत्ति प्रायः बहिर्मुखी होती है। विक्षिप्त अवस्था में कभी-कभी अन्तर्मुखी भी होती है किन्तु मन शीघ्र ही पुनः विषयों में भटकने लगता है।

(४) **एकाग्र**—मन का किसी एक प्रशस्त विषय में स्थिर होना एकाग्र है। जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव घट जाता है तब चित्त इधर-उधर भटकना छोड़कर एक विषय पर स्थिर हो जाता है। लम्बे समय तक चिन्तन की एक ही धारा चलती रहती है। इससे विचार शक्ति में उत्तरोत्तर गहराई आती-जाती है। साधक जिस बात को सोचता है उसकी गहराई में उतर आता है। नेत्र बन्द करने पर भी वह उसके सामने घूमती रहती है। इस प्रकार की एकाग्रता होने पर वह वस्तु उसके वशीभूत हो जाती है। योग की शक्तियाँ ऐसी अवस्था में प्रकट होती हैं। इस भूमिका को सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि कहते हैं। उसकी चार अवस्थाएँ हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

(५) **निरुद्ध**—जिस चित्त में सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो गया हो, केवल मात्र संस्कार ही अवशेष रहे हों, वह निरुद्ध है। इस अवस्था को असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि कहा जाता है। इसके प्राप्त होने पर पुरुष का चित्त के साथ सम्बन्ध टूट जाता है और वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

इसी का अपर नाम स्वरूपावस्थान है। अर्थात् द्रष्टा या पुरुष बाह्य विषयों का चिन्तन छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

इन पाँच अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर चित्त के दो भेद किये जाते हैं—व्युत्थानचित्त और निरोधचित्त। प्रथम तीन अवस्थाओं का सम्बन्ध व्युत्थानचित्त के साथ है और अन्तिम दो अवस्थाओं का सम्बन्ध निरोध चित्त के साथ है। प्रथम तीन अवस्थाएँ अविकास काल की हैं और अन्तिम दो अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास क्रम को सूचित करती हैं।

चित्त की इन पाँचों अवस्थाओं में मूढ़ और क्षिप्त में रजोगुण और तमोगुण की इतनी अधिक प्रधानता रहती है कि वे निःश्रेयस प्राप्ति के साधक नहीं, बाधक बनते हैं। चित्त की इन दो अवस्थाओं में आध्यात्मिक विकास नहीं होता। विक्षिप्त अवस्था में वह कभी सात्त्विक विषयों में समाधि प्राप्त करता है, किन्तु उस समाधि के काल में चित्त की अस्थिरता इतनी अधिक होती है, जिससे उसे भी योग की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। एकाग्र और निरुद्ध के समय जो समाधि होती है उसे योग कहा है। और वही आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम है। इन पाँच भूमिकाओं के पश्चात् की स्थिति मोक्ष है।[११]

जैन गुणस्थानों के साथ चित्त की पाँच अवस्थाओं की जब हम तुलना करते हैं तो हम यह कह सकते हैं कि प्राथमिक दो अवस्थाएँ प्रथम गुणस्थान की सूचक हैं। तृतीय विक्षिप्त अवस्था मिश्र गुणस्थान के सदृश है। चतुर्थ एकाग्र अवस्था विकास का सूचन करती है और पाँचवीं निरुद्ध अवस्था पूर्ण विकास को बताती है। इन अवस्थाओं में विकास की क्रमशः भूमिका नहीं बतायी गयी है। ये अवस्थाएँ चित्तवृत्ति के आधार पर आयोजित हैं। इनमें आत्मा की गौणता रहती है। इनमें आत्मा की अन्तिम स्थिति का कुछ भी परिज्ञान नहीं होता, जबकि गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मा से है, चित्त से नहीं। अतः जैन गुणस्थानों के साथ इन चित्तवृत्तियों की आंशिक तुलना हो सकती है, पूर्णरूप से नहीं।

जैन गुणस्थान और गीता की त्रिगुणात्मकता

श्रीमद्भगवद्गीता वैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यद्यपि उसमें आध्यात्मिक विकास का वर्णन विस्तार के साथ और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता, तथापि बहुत ही संक्षेप में त्रिगुणात्मक धारणा के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है—आत्मा का विकास तीन सोपानों में होता है। यह निष्क्रिय, जड़ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अज्ञान (तमोगुण प्रधान अवस्था) से भौतिक सुखों के लिए संघर्ष कर, रजोगुणात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ऊपर उठती हुई ज्ञान और आनन्द की ओर बढ़ती है।[12] सारांश यह है कि आत्मा तमोगुण से रजोगुण और सत्वगुण की ओर बढ़ता हुआ अन्त में गुणातीत अवस्था को प्राप्त करता है। जिस समय रजस और सत्वगुण को दबाकर तमोगुण प्रधान होता है उस समय जीवन में निष्क्रियता और जड़ता की अभिवृद्धि होती है और वह परिस्थिति का दास बन जाता है। यह "अविकास" की अवस्था है। जब सत्व और तम को दबाकर रजस प्रधान होता है तो उस समय वह निश्चय नहीं कर पाता। तृष्णा और लालसा के बढ़ने से उसमें आवेश की मात्रा बढ़ जाती है, यह 'अनिश्चय' की स्थिति है। ये दोनों अविकास के सूचक हैं। जब रजस और तमस को दबाकर सत्व प्रधान होता है उस समय जीवन में ज्ञान का अभिनव आलोक जगमगाने लगता है और जीवन पवित्र और यथार्थ आचरण की ओर प्रगति करता है। यह 'विकास' की स्थिति है। जब सत्व के निर्मल आलोक में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान लेता है तो वह गुणातीत हो गुणों का द्रष्टा मात्र हो जाता है। यह त्रिगुणातीत अवस्था ही आध्यात्मिक पूर्णता की अवस्था है। तीन गुणों के आधार पर ही व्यक्तित्व, श्रद्धा, ज्ञान, बुद्धि, कर्म और कर्ता आदि का वर्णन किया गया है। गीता में बन्धन का मूल कारण त्रिगुण बतलाया है।[13] गीता में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सत्व, रज, तम इन गुणों से उत्पन्न त्रिगुणात्मक भावों के मोह में पड़ कर जगत के प्राणी उस परम अव्यय परमात्मस्वरूप को जान नहीं पाते हैं।[14]

गीता की दृष्टि से तमोगुण में अज्ञान, जाड्यता, निष्क्रियता, प्रमाद, आलस्य, निद्रा और मोह की प्रधानता होती है। रजोगुण में रागात्मकता, तृष्णा, लोभ, क्रियाशीलता, अशान्ति और ईर्ष्या की प्रधानता होती है। सत्वगुण में ज्ञान का प्रकाश, निर्विकारस्थिति की प्रधानता होती है। इन तीनों गुणों के स्वभाव पर हम चिन्तन करें तो जैन साहित्य में कर्मबन्धन के जो मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच करण बताये हैं उनके साथ भी इनकी तुलना हो सकती है। तमोगुण में मिथ्यात्व और प्रमाद, रजोगुण में अव्रत, कषाय और योग तथा सत्वगुण में ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग और चारित्रोपयोग हैं।

त्रिगुणों के आधार पर यदि हम गुणस्थानों पर चिन्तन करें तो इस प्रकार कर सकते हैं—

प्रथम गुणस्थान में तमोगुण की प्रधानता होती है। रजोगुण तमोन्मुखी होता है और सत्वगुण तमोगुण और रजोगुण के अधीन रहने से यह अवस्था तमोगुण प्रधान है।

द्वितीय गुणस्थान में भी तमोगुण की ही प्रधानता होती है और रजोगुण भी तमोन्मुखी ही होता है। तथापि कुछ सत्वगुण रहता है, अतः इसे सत्व-रज से मिली हुई तमोगुणावस्था कहते हैं।

तृतीय गुणस्थान में रजोगुण की प्रधानता होती है। सत्व और तम ये दोनों गुण रजोगुण के अधीन होते हैं। अतः यह सत्व और तम से मिली हुई रजोगुण प्रधानावस्था है।

चतुर्थ गुणस्थान में विचारों में सत्वगुण होता है किन्तु आचारों में तमोगुण और रजोगुण की प्रधानता होती है। उसके विचारों में तमस और रजस गुण सत्व गुण के अधीन होते हैं किन्तु आचार में सत्वगुण तमस और रजस के अधीन होता है।

पंचम गुणस्थान में विचार की दृष्टि से सत्वगुण की प्रधानता होती है और आचार में भी सत्वगुण का विकास होना प्रारम्भ होता है। यह अवस्था तम से युक्त सत्वोन्मुखी रजोगुण की अवस्था है।

छठे गुणस्थान में विचार और आचार दोनों में सत्व गुण की प्रधानता होती है तथापि तम और रज विद्यमान होने से वे सत्व पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं।

सातवें गुणस्थान में सत्वगुण की इतनी अधिक प्रधानता हो जाती है कि तमोगुण पर वह पूर्ण अधिकार कर लेता है किन्तु रजोगुण पर उसका पूर्ण अधिकार नहीं हो पाता।

आठवें गुणस्थान में सत्वगुण रजोगुण पर पूर्ण अधिकार करने का प्रयत्न करता है।

नौवें गुणस्थान में सत्वगुण रजोगुण पर अधिकार कर उसको मृतप्रायः कर देता है। कषाय प्रायः नष्ट हो जाते हैं, केवल सूक्ष्म लोभ रूप रहता है।

दसवें गुणस्थान में सत्वगुण सूक्ष्म रूप में जो रजस रहा है उसको भी नष्ट कर देता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में तम और रज दोनों पर सत्वगुण का पूर्ण अधिकार हो जाता है। वह इन दोनों गुणों को नष्ट नहीं करता, किन्तु उनका दमन करता हुआ प्रगति करता है अतः तमस और रजस ये पुनः उद्बुद्ध होकर सत्व पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बारहवें गुणस्थान में तम और रज को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है और यहाँ पर सत्त्व की, रजस और तमस के साथ-संघर्षमय स्थिति समाप्त हो जाती है। इस गुणस्थान में रजोगुण-तमोगुण के नष्ट होने के साथ ही सत्त्वगुण भी नष्ट हो जाता है।

तेरहवें गुणस्थान में त्रिगुणातीत अवस्था होती है, यद्यपि इस गुणस्थान में शरीर रहता है तथापि वह तीनों गुणों से प्रभावित नहीं होता।

चौदहवें गुणस्थान में भी त्रिगुणातीत अवस्था ही है।

इस प्रकार सत्त्व, रज और तम गुण की दृष्टि से गुणस्थानों की आंशिक तुलना की जा सकती है।

सत्त्व, रज और तम के आधार से आध्यात्मिक विकास का अन्य प्रकार से भी चिन्तन किया जा सकता है। गीता में तमोगुण को आध्यात्मिक विकास का बाधक गुण माना है। रजोगुण, तमोगुण की अपेक्षा कम बाधक है तो सत्व गुण साधक है। प्रत्येक गुण में तरतमता रही हुई है जिससे उनके अनेक भेद-प्रभेद हो सकते हैं। संक्षेप में मनीषियों ने आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उन्हें आठ भूमिकाओं में विभक्त किया है। वह विभाग इस प्रकार है।

प्रथम भूमिका में श्रद्धा और आचार दोनों में तमोगुण की प्रधानता होती है जिससे उसकी जीवन-दृष्टि अशुद्ध होती है। जीवन-दृष्टि अशुद्ध होने से प्रस्तुत वर्ग का प्राणी परमात्मा की उपलब्धि नहीं कर सकता। ज्ञान-शक्ति भी कुण्ठित होने से और आसुरीवृत्ति की प्रधानता होने से उसका आचरण भी पापमय होता है।[५] इस भूमिका की तुलना जैनदृष्टि से मिथ्यात्व गुणस्थान के साथ और बौद्ध दृष्टि से अन्धपृथक् जन-भूमि के साथ की जा सकती है।

द्वितीय भूमिका में श्रद्धा में तमस गुण की प्रधानता होती है किन्तु आचरण में सत्त्व गुण होता है। इस भूमिका में जो धर्म की साधना की जाती है वह फल की आकांक्षा से की जाती है। फल की आकांक्षा होने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जैनदर्शन में कामनायुक्त साधना का निषेध किया है और उसे शल्य कहा है। प्रस्तुत भूमिका की तुलना मार्गानुसारी अवस्था और बौद्ध दृष्टि की कल्याणपृथक्जन-भूमि से की जाती है।

तीसरी भूमिका में श्रद्धा और बुद्धि राजस होने से उसमें चंचलता रहती है। इसमें संशयात्मकता और अस्थिरता के कारण गीताकार ने इसे अविकास की अवस्था कही है। इस भूमिका की तुलना मिश्रगुणस्थान से की जा सकती है। जैनदृष्टि से मिश्र गुणस्थान में मृत्यु नहीं होती किन्तु गीताकार ने कहा है कि इस वर्ग का प्राणी मृत्यु होने पर आसक्ति-प्रधान योनियों में जन्म ग्रहण करता है।

चतुर्थ भूमिका में दृष्टिकोण सात्त्विक होता है किन्तु आचरण में तम और रज की प्रधानता होती है। इस भूमिका की तुलना चतुर्थ गुणस्थान से कर सकते हैं। यह एक तथ्य है कि जिसका दृष्टिकोण निर्मल हो जाता है भले ही उसका वर्तमान में आचरण सम्यक् न हो किन्तु भविष्य में वह अपने आचरण को सम्यक् बनाकर अपना पूर्ण विकास कर सकता है। इस सत्य-तथ्य को जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं ने स्वीकार किया है।

पाँचवीं भूमिका में श्रद्धा और बुद्धि सात्त्विक होती है किन्तु आचरण में रजोगुण सतोन्मुखी होने से चित्तवृत्ति में चंचलता होती है। और तमोगुण के संस्कार के पूर्ण रूप से नष्ट न होने से वह अपनी साधना की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता। प्रस्तुत भूमिका की तुलना पाँचवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के साधकों से की जा सकती है।

छठी भूमिका में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये तीनों ही सात्त्विक होते हैं जिससे उसके मन, वचन और कर्म में एकरूपता आती है। अहंकार और आसक्ति का अभाव होने से यह विकास की भूमिका है। इसकी तुलना हम बारहवें गुणस्थान से कर सकते हैं। बारहवें गुणस्थान में मोह के नष्ट होने के पश्चात् ज्ञानावरण आदि कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

सातवीं भूमिका में साधक त्रिगुणात्मक जगत् में रहते हुए भी उससे ऊपर उठ जाता है। यह भूमिका गुणातीत अवस्था की चरम परिणति है और यह पूर्ण विकास का प्रथम चरण है। इसकी तुलना हम तेरहवें गुणस्थान से कर सकते हैं और बौद्ध विचारणा की दृष्टि से यह अर्हत् भूमि के समकक्ष है।

आठवीं भूमिका—यह पूर्ण विकास का अन्तिम चरण है। इसमें त्रिगुणात्मक देह से मुक्त होकर व्यक्ति विशुद्ध परमात्मा स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस भूमिका में अवस्थित वीतराग मुनि शरीर के सब द्वारों का संयम करके मन को हृदय में रोककर प्राणशक्ति को शीर्ष में स्थिर कर योग को एकाग्र कर 'ओं' का उच्चारण करता हुआ विशुद्ध आत्मस्वरूप का स्मरण करता हुआ शरीर का परित्याग कर उस परम गति को प्राप्त करता है।[५१] इस भूमिका की तुलना अयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन आठ भूमिकाओं के साथ जो गुणस्थानों की तुलना की गयी है वह भी एक देशीय ही है। जैसा गुणस्थानों में विकास का क्रम प्रतिपादित है वैसा तो नहीं किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से समझने के लिए यह क्रम उपयोगी है ऐसा अवश्य कह सकते हैं।*

जैन गुणस्थान और बौद्ध अवस्थाएँ

बौद्ध-दर्शन में भी आत्मा के विकास के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। उसने आत्मा की, संसार और मोक्ष आदि अवस्थाएँ मानी हैं। त्रिपिटक साहित्य में आध्यात्मिक विकास का वर्णन उपलब्ध है। हीनयान और महायान दोनों में आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं को लेकर मतभेद है। हीनयान का लक्ष्य वैयक्तिक निर्वाण या अर्हत् पद प्राप्ति है। वह आध्यात्मिक विकास की चार भूमिकाएँ मानता है। महायान सम्प्रदाय का लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ लोक मंगल की साधना करना भी है। वह आध्यात्मिक विकास की दस भूमियाँ मानता है।

बौद्धधर्म में विश्व में जितने भी प्राणी हैं उन्हें पृथक्जन (मिथ्यादृष्टि) आर्य (सम्यक् दृष्टि) इन दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। पृथक्जन अविकास का काल है और आर्य विकास का काल है, जिसमें साधक सम्यक् दृष्टि को प्राप्त कर निर्वाण मार्ग की ओर अग्रसर होता है। यह सत्य है कि सभी पृथक्जन एक समान नहीं होते। कुछ पृथक् जन सदाचारी होते हैं और वे सम्यक्दृष्टि के बहुत ही सन्निकट होते हैं। पृथक्जन को अन्धपृथक्जन और कल्याण-पृथक् जन इन दो भागों में विभक्त किया है।[१७] अन्धपृथक्जन में मिथ्यात्व की तीव्रता होती है किन्तु कल्याणपृथक् जन निर्वाण मार्ग पर अभिमुख होता है पर उसे प्राप्त नहीं करता। मज्झिमनिकाय में प्रस्तुत भूमिका का वर्णन है। जैन दृष्टि से उस साधक की अवस्था मार्गानुसारी कही जा सकती है जिसके ३५ गुण बताये गये हैं।[१८]

हीनयान की दृष्टि से जो सम्यक्दृष्टि से युक्त निर्वाण मार्ग के पथिक साधक हैं उन्हें अपने लक्ष्य को संप्राप्त करने हेतु चार भूमिकाओं को पार करना होता है। वे भूमिकाएँ इस प्रकार हैं—

(१) **श्रोतापन्न भूमि**—श्रोतापन्न का अर्थ है धारा। जो साधक कल्याण मार्ग के प्रवाह में प्रवाहित होकर अपने लक्ष्य की ओर मुस्तैदी कदम बढ़ा रहा है वह साधक तीन संयोजनों अर्थात् बन्धनों को क्षय करने पर प्रस्तुत अवस्था को प्राप्त करता है।

(अ) सत्कायदृष्टि—देहात्म बुद्धि, शरीर जो नश्वर है उसे आत्मा मानकर उस पर ममत्व करना।

(आ) विचिकित्सा अर्थात् सन्देहात्मकता।

(इ) शीलव्रत परामर्श।

इन दार्शनिक एवं कर्मकाण्ड के प्रति मिथ्या दृष्टिकोण एवं सन्देह समाप्त हो जाने से इस भूमि में पतन की सम्भावना नहीं है। साधक निर्वाण के लक्ष्य की ओर गति-प्रगति करता है। श्रोतापन्न साधक बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संधानुस्मृति और शील और समाधि, इन चार अंगों से युक्त होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति उसके अन्तर्मानस में निर्मल श्रद्धा अंगड़ाइयाँ लेती है, उसका विचार और आचार विशुद्ध होता है, वह अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण प्राप्त करता है। श्रोतापन्न भूमि की तुलना हम चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक की अवस्था से कर सकते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में जीव क्षायिक सम्यक्त्व को उपलब्ध कर लेता है, उसके पश्चात् अन्य अगले गुणस्थानों में दर्शनविशुद्धि के साथ चारित्रविशुद्धि भी होती है। सातवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी चतुष्क तथा संज्वलन [क्रोध के नष्ट होने पर केवल संज्वलन] मान, माया और लोभ तथा हास्यादि प्रकृतियाँ इसमें अवशेष रहती हैं इसी तरह श्रोतापन्न भूमि में भी कामधातु(वासनाएँ) समाप्त हो जाती हैं किन्तु रूपधातु (आस्रव, राग, द्वेष, मोह) अवशेष रहते हैं।

(२) **सकृदानुगामी भूमि**—श्रोतापन्न अवस्था में साधक काम-राग (इन्द्रियलिप्सा) और प्रतिघ (दूसरे का अनिष्ट करने की भावना) प्रभृति अशुभ बन्धक प्रवृत्तियों का क्षय करता है किन्तु उसमें बन्ध के कारण राग, द्वेष मोह रूपी आश्रव है जिसका पूर्ण रूप से अभाव नहीं होता किन्तु इस भूमिका में उसका लक्ष्य आश्रव क्षय करना है। अन्तिम चरण में वह पूर्ण रूप से काम-राग और प्रतिघ को नष्ट कर देता है और अनागामी भूमि की ओर अग्रसर होता है। इस भूमिका की तुलना हम आठवें गुणस्थान से कर सकते हैं। क्योंकि इसमें साधक राग, द्वेष और मोह पर प्रहार करता है और अन्त में क्षीणमोह को प्राप्त करता है। क्षीणमोह को ही बौद्ध दृष्टि में अनागामी भूमि कहा है। जैन दृष्टि से

---

* देखिए—'आध्यात्मिक साधना का विकासक्रम गुणस्थान सिद्धान्त' —ले० डा० सागरमल जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवें से ११वें गुणस्थानों में आयु पूर्ण करने वाला साधक अधिक से अधिक तीसरे जन्म में निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। बौद्ध दृष्टि से इस भूमि में एक ही बार संसार में जन्म ग्रहण करता है।

३. **अनागामी भूमि**—पूर्व की दो भूमियों को पार कर साधक इस भूमि में आता है। वह रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या को नष्ट करने का प्रयास करता है। जब वह पाँचों संयोजनों को नष्ट कर देता है तो वह अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लेता है। जो इन संयोजनों को नष्ट करने के पूर्व ही साधना काल में ही मृत्यु को वरण कर लेता है वह ब्रह्मलोक में जन्म लेकर शेष पाँच संयोजनों के नष्ट होने पर निर्वाण को प्राप्त करता है। उसे पुनः प्रस्तुत लोक में जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती। अनागामी भूमि की तुलना आठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की जा सकती है।

४. **अर्हत् भूमि**—इसमें सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, कामराग, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या इन दस बन्धनों को नष्ट कर साधक अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण भाव नष्ट हो जाने से वह कृतकार्य हो जाता है, उसके लिए कुछ भी करणीय अवशेष नहीं रहता, तथापि वह संघ की सेवा हेतु क्रियाएँ करता है।"[५८] इसकी तुलना सयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

महायान की दृष्टि से अध्यात्मविकास की जो दस भूमिकाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) **प्रमुदिता**—यह शील विशुद्धि सम्बन्धी प्रयास करने की अवस्था है। इसमें बोधिसत्व (साधक) लोक मंगल की साधनभूत बोधि को संप्राप्त कर प्रमुदित होता है। इस अवस्था को बोधि प्रस्थानचित्त की अवस्था कहा जाता है। बोधि प्रणिधि चित्त में मार्ग का ज्ञान होता है तो बोधिप्रस्थान चित्त में मार्ग में गमन की क्रिया का। साधक इस भूमि में शक्ति पारमिता का अभ्यास करता है और पूर्ण शीलविशुद्धि की ओर प्रस्थित होता है। प्रस्तुत भूमिका की तुलना पाँचवें और छठे गुणस्थानों से की जा सकती है।

(२) **विमला**—इसमे अनैतिक आचरण से मुक्त होकर साधक आचरण की शुद्धि को प्राप्त करता है और शान्त पारमिता का अभ्यास करता है। यह अधिचित्त शिक्षा है। इस भूमिका का लक्षण ज्ञान प्राप्त है और इसमें अच्युत समाधि का लाभ होता है। इसकी तुलना अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से की जा सकती है।

(३) **प्रभाकरी**—इसमें साधक बुद्ध का ज्ञान रूपी प्रकाश (प्रभा) संसार में वितरित करता है। इसकी भी तुलना अप्रमत्त संयतगुणस्थान से की जा सकती है।

(४) **अर्चिष्मती**—इसमें प्रज्ञा अर्चि (लपट) का काम करती है और क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण का दाह करती है। इसमें साधक वीर्य पारमिता का अभ्यास करता है। इसकी तुलना अपूर्वकरण गुणस्थान से की जा सकती है।

(५) **सुदुर्जया**—इसमें धार्मिक भावों की परिपुष्टि तथा स्वचित्त की रक्षा के साथ दुःख पर विजय पायी जाती है। यह कार्य अत्यन्त दुष्कर होने के कारण इस भूमि को 'दुर्जय' कहा गया है। बोधिसत्व (साधक) इस भूमि में ध्यान पारमिता का अभ्यास करता है। इसकी तुलना आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान की अवस्था से कर सकते हैं।

(६) **अभिमुखी**—साधक प्रज्ञापारमिता के आश्रय से संसार और निर्वाण दोनों के प्रति अभिमुख होता है। उसमें यथार्थ प्रज्ञा का उदय होता है अतः उसमें संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं होता है। और अब संसार उसके लिए बन्धक नहीं रहता। इसमें साधक के निर्वाण की दिशा में अभिमुख होने के कारण इस भूमि को अभिमुखी कहा है। चौथी-पाँचवीं भूमि में प्रज्ञा की साधना होती है और इसमें प्रज्ञा पारमिता की साधना पूर्ण होती है। इस भूमि की तुलना सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान की पूर्वावस्था से की जा सकती है।

(७) **दूरंगमा**—इस भूमि में बोधिसत्व (साधक) शाश्वतवाद और उच्छेदवाद से दूर हो जाता है और बोधिसत्व की साधना पूर्णकर निर्वाण के सर्वथा योग्य हो जाता है। इस भूमि में बोधिसत्व अन्य प्राणियों को निर्वाण मार्ग में लगाता है। स्वयं सभी पारमिताओं का पालन करता है और विशेष रूप से कौशल्य पारमिता का अभ्यास करता है। इसकी तुलना क्षीणमोह गुणस्थान से की जा सकती है।

(८) **अचला**—प्रस्तुत भूमि में संकल्पशून्यता एवं विषय से मुक्त होकर अनिमित्त विहारी समाधि की उपलब्धि होती है। इसलिए इसका नाम 'अचला' है। विषय न होने से चित्त में संकल्प-विकल्प नहीं होते और संकल्प शून्य होने के कारण चित्त अविचल होता है जिससे तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसकी तुलना सयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

(९) **साधुमती**—इस भूमि में बोधिसत्व के हृदय में सम्पूर्ण जीवों के प्रति शुभकामनाएँ अगड़ाइयाँ लेने लगती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं और वह प्राणियों के बोधि बीज को परिपुष्ट करता है। इसमें समाधि की विशुद्धता एवं विश्लेषण तथा अनुभव करने वाली बुद्धि जिसे प्रतिसंविन्मति कहा जाता है, उसकी प्रधानता होती है और अन्य प्राणियों के मनोगत भावों को जानने की क्षमता भी उत्पन्न होती है। इसकी भी तुलना सयोगी केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

(१०) **धर्ममेघा**—जैसे अनन्त आकाश मेघ से व्याप्त होता है वैसे ही प्रस्तुत भूमि में समाधि धर्माकाश को व्याप्त कर लेती है। इसमें बोधिसत्व का दिव्य और भव्य शरीर रत्नकमल पर अवस्थित दृग्गोचर होता है। इसकी तुलना समवसरण में विराजित तीर्थंकर भगवान से कर सकते हैं।

ये दस भूमियां महायान सम्प्रदाय के दशमभूमि शास्त्र की दृष्टि से हैं। हीनयान से महायान की ओर संक्रमण काल में लिखे हुए महावस्तु में अन्य नाम भी उपलब्ध होते हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) दुरारोहा, (२) वर्द्धमान, (३) पुष्पमण्डिता, (४) रुचिरा, (५) चित्त विस्तार, (६) रूपमती, (७) दुर्जया, (८) जन्मनिदेश, (९) यौवराज और (१०) अभिषेक। महायान का दस भूमियों का सिद्धान्त इसी मूलभूत धारणा पर अवलम्बित है। असंग के महायान सूत्रालंकार और लंकावतार सूत्र में इन भूमिकाओं की संख्या ११ हो जाती है। महायान सूत्रालंकार में प्रथम भूमि को "अधिमुक्तचर्या" कहा गया है और उसके पश्चात् प्रमुदिता भूमि की चर्चा की गयी है। अभिमुक्तचर्या भूमि में साधक को पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य का यथार्थ ज्ञान होता है और यह विशुद्धि की अवस्था है। इसकी तुलना चतुर्थ गुणस्थान से की जा सकती है।

जैन गुणस्थान और आजीवक भूमिकाएँ

आजीवक सम्प्रदाय का अधिनेता मंखलीपुत्र गोशालक था। भगवती[100] उपासकदशांग,[101] आवश्यक निर्युक्ति[102] आवश्यकचूर्णि,[103] आवश्यक हारिभद्रियावृत्ति[104], आवश्यक मलयगिरिवृत्ति,[105] महावीरचरियं,[106] त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र,[107] आदि जैन साहित्य में उसका विस्तार से वर्णन है। वह भगवान महावीर का प्रतिद्वन्द्वी था। सम्राट् अशोक के शिलालेखों से भी आजीवक भिक्षुओं का सम्राट् द्वारा गुफा दिये जाने का उल्लेख है।[108] पर यह सम्प्रदाय कब तक चलता रहा यह कहना कठिन है। तथापि शिलालेखों आदि से ई० पू० दूसरी शताब्दी तक उसका अस्तित्व प्रमाणित होता है।[109] किन्तु उसका कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता।[110]

मज्झिमनिकाय में आजीवक सम्प्रदाय के आठ सोपान बताये गये हैं (१) मन्द (२) खिड्डा (३) पदवीमंसा (४) उज्जुगत (५) सेख (६) समण (७) जिन और (८) पन्न। इन आठों का आजीवक सम्प्रदाय के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से क्या अर्थ था यह मूल ग्रन्थों के अभाव में कहा नहीं जा सकता। किन्तु आचार्य बुद्धघोष जिनका समय ५-६वीं शती माना जाता है, उन्होंने सुमंगल विलासिनी टीका में आठ सोपानों का वर्णन इस प्रकार किया है—

(१) **मन्द**—जन्म दिन से लेकर सात दिन तक गर्भ निष्क्रमणजन्य दुःख के कारण प्राणी मन्द (मोमुह) स्थिति में रहता है।

(२) **खिड्डा**—जो बालक दुर्गति से आकर जन्म होता है वह बालक पुनः-पुनः रुदन व विलाप करता है और जो बालक सुगति से आता है वह बालक सुगति का स्मरण कर हास्य करता है। यह खिड्डा (क्रीडा) भूमिका है।

(३) **पदवीमंसा**—माता-पिता के हाथ व पैरों को पकड़कर या पलंग अथवा काष्ठ के पाट को पकड़कर बालक पृथ्वी पर पैर रखता है। यह पदवीमंसा भूमिका है।

(४) **उज्जुगत**—पैरों से स्वतन्त्र रूप से जो चलने का सामर्थ्य आता है वह उज्जुगत (ऋजुगत) भूमिका है।

(५) **सेख**—शिल्पकला के अध्ययन का समय वह शैक्ष भूमिका है।

(६) **समण**—घर से निकल कर संन्यास ग्रहण करना, यह समण (श्रमण) भूमिका है।

(७) **जिन**—आचार्य की उपासना कर ज्ञान प्राप्त करने का समय जिन भूमिका है।

(८) **पन्न**—प्राज्ञ बना हुआ भिक्षु (जिन) जब कुछ भी नहीं बोलता है ऐसे निर्लोभ श्रमण की स्थिति यह पन्न (प्रज्ञ) भूमिका है।

प्रो० होर्नले[111] और पं० सुखलाल जी[112] आदि का मन्तव्य है कि बुद्धघोष की प्रस्तुत व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस व्याख्या में बाल्यकाल से लेकर युवावस्था तक का व्यावहारिक वर्णन आया है जिसका मेल आध्यात्मिक विकास के साथ नहीं बैठता। सम्भव है इन भूमिकाओं का सम्बन्ध अज्ञान और ज्ञान की भूमिकाओं के साथ रहा हो। इन आठ भूमिकाओं में से प्रथम तीन भूमिकाएँ अविकास की सूचक हैं और पीछे की पाँच भूमिकाएँ विकास का सूचन करने वाली हैं। उसके पश्चात् मोक्ष होना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन भूमिकाओं को हम आध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञान और अज्ञान की भूमिकाएँ स्वीकार करते हैं तो भी गुणस्थानों के साथ इनकी तुलना नहीं हो सकती क्योंकि गुणस्थानों में जिस प्रकार वैज्ञानिक क्रम है उस प्रकार के व्यवस्थित क्रम का इनमें अभाव है।

गुणस्थान और योग

गुणस्थानों में आध्यात्मिक विकास का क्रम मुख्य है और योग में मोक्ष के साधन का विचार प्रमुख रूप से किया गया है। यद्यपि दोनों का प्रतिपाद्य विषय पृथक्-पृथक् है तथापि एक विचार में दूसरा विचार आ ही जाता है। क्योंकि कोई भी आत्मा सीधा मोक्ष प्राप्त नहीं करता, अपितु क्रमानुसार ही उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अन्त में उसे प्राप्त करता है। इसलिए योग में मोक्ष की साधन रूप विचारधारा में आध्यात्मिक विकास के क्रम का वर्णन आ ही जाता है। आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है इस पर चिन्तन करते हुए आत्मा के शुद्ध शुद्धतर और शुद्धतम परिणाम जो मोक्ष के साधन रूप हैं वे भी इसमें आ जाते हैं।

योग किसे कहते हैं ?

वैदिक परम्परा में वेद का मुख्य स्थान है। वेदों में भी सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसका अधिकांश भाग आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णनों से भरा हुआ है। वस्तुतः वेदों में आध्यात्मिक वर्णन बहुत ही कम आया है। ऋग्वेद के मन्त्रों में योग शब्द का उपयोग हुआ है।[११३] किन्तु वहाँ पर उसका समाधि और आध्यात्मिक भाव विवक्षित नहीं हुए हैं। उपनिषदों में योग पद प्रयुक्त हुआ है।[११४] यह स्मरण रखना चाहिए जहाँ उपनिषदों में योग शब्द आया है उसका मुख्य सम्बन्ध सांख्य तत्त्वज्ञान और उससे अवलंबित किसी योग परम्परा के साथ है। महाभारत में अनेक स्थलों पर योग शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु वहाँ पर भी उसका मुख्य सम्बन्ध सांख्य परम्परा के साथ है।[११५] गीता में आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है। तिलक ने गीता रहस्य में इसी कारण गीता को योगशास्त्र कहा है। गीता का योग भी सांख्य तत्त्वज्ञान की भूमिका पर प्रतिष्ठित है।[११६]

जैन आगम साहित्य में योग शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[११७] पर वह तप शब्द की तरह व्यापक रूप से विकृत नहीं हुआ। बौद्ध साहित्य में भी योग शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु वह समाधि शब्द की तरह व्यापक नहीं बन सका। तथ्य यह है कि जब से सांख्य तत्त्वज्ञों ने आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग विशेष रूप से प्रारम्भ किया तब से प्रायः सभी आध्यात्मिक * परम्पराओं का ध्यान योग शब्द पर केन्द्रित हुआ और उन्होंने योग शब्द को इस दृष्टि से अपनाया।

योगलक्षण द्वात्रिंशिका[११८] में लिखा है—आत्मा का धर्म व्यापार मोक्ष का मुख्य हेतु और बिना विलम्ब से जो फल देने वाला हो वह योग है। जिस क्रिया से आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है, वह योग है। योग शब्द 'युज्' धातु 'घञ्' प्रत्यय मिलने से बनता है। युज् धातु के दो अर्थ हैं—संयोजित करना व जोड़ना।[११९] और दूसरा अर्थ है मन की स्थिरता और समाधि।[१२०] आत्मा का परमात्मा के साथ, जीव का ब्रह्म के साथ संयोग योग है। योग शुभभाव, या अशुभभाव पूर्वक किये जाने वाली क्रिया है।[१२१] आचार्य पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा है।[१२२] उसका भी तात्पर्य यही है कि ऐसा निरोध मोक्ष का मुख्य कारण है। क्योंकि उसके साथ कारण और कार्य रूप से शुभ भाव का अवश्य सम्बन्ध उसके साथ होता है।

आत्मा अनादिकाल से इस विराट विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। जब तक आत्मा मिथ्यात्व से ग्रसित रहता है तब तक उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति अशुभ होने से योग वाली नहीं है। और जब मिथ्यात्व नष्ट होता है और सन्मार्ग की ओर वह अभिमुख होता है तब उसका कार्य शुभ भाव युक्त होने से योग कहा जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व के नष्ट होने से उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मल भावना को लिये हुए होती है, अतः मोक्ष के अनुकूल होने के कारण वह शुभभाव युक्त होने के कारण योग कहलाती है। उसे जैन परिभाषा में अचरम पुद्गल परावर्त और चरम पुद्गल परावर्त कह सकते हैं। अचरम पुद्गल परावर्त में मिथ्यात्व रहता है, किन्तु चरम पुद्गल परावर्त में मिथ्यात्व शनैः-शनैः हटने लगता है और आत्मा मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ता है। आचार्य पतंजलि ने भी अनादि सांसारिक काल निवृत्ताधिकार प्रकृति और अनिवृत्ताधिकार प्रकृति कहा है।[१२३]

---

* योगशतक, प्रस्तावना, डा० इन्दुकला हीराचन्द झवेरी, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद पृ० ३५-३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतंजलि ने योग के संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ये दो प्रकार बताये हैं।[१२४] असंप्रज्ञात समाधि को वेदान्तियों ने निर्विकल्प समाधि कहा है। पतंजलि ने इसको निर्बीज समाधि भी कहा है क्योंकि उससे नये संस्कार प्रस्फुटित नहीं होते। उससे नीचे की अवस्था संप्रज्ञात समाधि है। इसमें यद्यपि प्रकृति से अपने को भिन्न समझने का ज्ञान साधक के मन में उत्पन्न होता है तो भी यह अवस्था पूर्ण मोक्ष या कैवल्य से नीचे ही है क्योंकि इसमें द्वैत बुद्धि दूर नहीं होती।

जैन दृष्टि से (१) अध्यात्म (२) भावना (३) ध्यान (४) समता और (५) वृत्ति संक्षय ये योग के पांच भेद हैं।[१२५] जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, जिसके प्राप्त होते ही शीघ्र मोक्ष हो जाता है वही वस्तुतः योग है, जिसे पतंजलि ने असंप्रज्ञात कहा है और जैनाचार्यों ने वृत्तिसंक्षय कहा है। असंप्रज्ञात और वृत्तिसंक्षय आत्मा को सर्वप्रथम प्राप्त नहीं होता किन्तु उसके पूर्व उसे विकास के अनेक कार्य करने होते हैं। और उत्तरोत्तर विकास कर वास्तविक योग—असंप्रज्ञात या वृत्तिसंक्षय तक पहुँचता है। उसके पूर्व की अवस्थाएँ संप्रज्ञात और जैनदृष्टि से अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता है जो मिथ्यात्व के नष्ट होने पर प्राप्त होती हैं।

आचार्य पतंजलि ने योग के अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय बताये हैं। वैराग्य के पर और अपर ये दो प्रकार हैं।[१२६] उपाध्याय यशोविजयजी ने अपर वैराग्य को अतात्त्विक धर्म संन्यास और पर-वैराग्य को तात्त्विक धर्म-संन्यास योग कहा है।[१२७]

संप्रज्ञात योग में जैनदृष्टि से अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता होने से हम उसकी तुलना चतुर्थ गुण-स्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के साधकों के साथ कर सकते हैं और असंप्रज्ञात में वृत्ति संक्षय होता है अतः उसकी तुलना तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान से की जा सकती है।[१२८]

उपर्युक्त पंक्तियों में बहुत ही संक्षेप में हमने गुणस्थानों के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। विस्तार भय से उनके भेद-प्रभेद और अन्य दर्शनों के साथ उनके प्रत्येक पहलुओं पर विचार न कर संक्षेप में ही एक झाँकी प्रस्तुत की है, जिससे प्रबुद्ध पाठक गुणस्थानों के महत्त्व को समझ सकते हैं। गुणस्थान आध्यात्मिक विकास के सोपान हैं। आत्मा मिथ्यात्व से किस प्रकार निकलकर अपनी प्रगति कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी अवस्था को प्राप्त करता है उसका वैज्ञानिक विश्लेषण गुणस्थान में है। आचार्य हरिभद्र ने मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा इन आठ योग-दृष्टियों के साथ गुणस्थानों की तुलना की है। इससे स्पष्ट है कि गुणस्थानों का आध्यात्मिक दृष्टि से कितना महत्त्व है।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१ समवायाङ्ग १४वां समवाय

२ गुणठ्ठाणा य जीवस्स—**समयसार, गा. ५५**

३ प्राकृत पद्य संग्रह, १।३-५

४ नमिय जिणं जिअमग्गण, गुणठाणुवओग-लोग लेसाओ। बंधप्प बहूभाने संखिज्जाई किमवि वुच्छं····॥

—**कर्म-ग्रन्थ, ४।१**

५ जेहिं तु लक्खिज्जंते उदयादिसु सम्भवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं॥

—**गोम्मटसार, गाथा ७**

६ चउद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा यं णादव्वा।

—**गोम्मटसार, गाथा १०**

७ जीवसमास इति किम्, ? जीवाः सम्यगासतेऽस्थिन्निति जीव समासः।
क्वा सते ? गुणेषु। के गुणाः औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः। अस्य गमनिका, कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः तेषामुपशमादौपशमिकः क्षयात्क्षायिकः तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः। कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः। गुणसहचरितत्वादात्मापि गुण संज्ञा प्रतिलभते।

—**षट्खण्डागम, धवलावृत्ति प्रथम खण्ड, २-१६-६१**

८ संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोह जोगभवा—

—**गोम्मटसार, गाथा ३**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९ इह सुहुमबायरेगिंदिबितिचउ असन्निसन्नि पंचिंदी ।
अपज्जता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा । —कर्मग्रन्थ ४।२

१० समवायाङ्ग १४।१

११ कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवठाणा पन्नत्ता । —समवायाङ्ग १४।१

१२ कर्मविशोधिमार्गणां प्रतीत्य—ज्ञानावरणादिकर्मविशुद्धि गवेषणामाश्रित्य । —समवायाङ्ग वृत्ति, पत्र २६

१३ एदे भावा णियमा, दंसणमोहं पडुइच्च भणिदा हु ।
चारित्तं णत्थि जदो अविरद अन्तेसु ठाणेसु ॥
देसविरदे पमत्ते, इदरे य खओ वसमियमानो दु ।
सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तहा उवरि ॥ —गोम्मटसार, गा० १२-१३

१४ मद्यमोहायथा जीवो न जानाति हिताहितम् ।
धर्माधर्मो न जानाति तथा मिथ्यात्वमोहितम् । —गुणस्थान क्रमारोह० गा० ८

१५ तत्त्वार्थभाष्य ८।१

१६ आवश्यकचूर्णि अ० ६, गा० १६५८

१७ प्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह १।७

१८ गुणस्थान क्रमारोह० गा० ६ की वृत्ति

१९ कर्मग्रन्थ भाग ४ गा० ५१, पृ० १७५

२० धर्मसंग्रह पृ० ४०

२१ कर्मग्रन्थ ४, हिन्दी, पृ० १७६

२२ लोक प्रकाश, सर्ग ३, गा० ६८९

२३ इत्यत्रापि येदकमनाभोगिक मिथ्यात्वं तदव्यक्तं शेषमिथ्यात्वचतुष्टयं तु व्यस्तमेन ।
—गुणस्थान क्रमारोह० स्वोपज्ञ वृत्ति, ६

२४ दसविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते, तं जहा, अधम्मे धम्म सन्ता, धम्मे अधम्मसन्ता, उम्मग्गो मग्गसन्ता, मग्गे उम्मग्गसन्ता, अजीवेसु जीव सन्ता, जीवेसु अजीव सन्ता, असाहु सु साहु सन्ता, साहुसु असाहुसन्ता, अमुक्तेसु मुक्त सन्ता, मुक्तेसु अमुक्त सन्ता ।·इत्येवमादिकमपि यन्मिथ्यात्वं तद्वयक्तमेव अपरं तु यदनादिकालं यावन्मोहनीयप्रकृति रूपं, मिथ्यात्वं सद्दर्शनरूपात्यगुणाच्छादकं जीवेन सह सदाऽविनाभावि भवति, तदव्यक्तं मिथ्यात्वमिति ।
—गुणस्थान क्रमारोह० वृत्ति, पृ० ४

२५ अंगुत्तर निकाय १/१०, १/१७, १/१८

२६ मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं एयत्तं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ।।
—गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. १५.

२७ न मिथ्यात्व पंचक नियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पंचविधं मिथ्यात्वमिति । —धवला टीका

२८ अभव्याश्रित मिथ्यात्वे अनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत् ।
सा भव्याश्रिता मिथ्यात्वे अनादि सान्ता पुनर्भता ।। —गुणस्थान क्रमारोह ९

२९ कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा ३ —आचार्य देवचन्द्र

३० परिणाम विशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम् । लोकप्रकाश—उपा०, विनयविजय

३१ गंथि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणसूण गूढ़ गंठिव्व ।
जीवस्स कम्म जणिओ, घणरागदोस परिणामो । —विशेषावश्यक भाष्य

३२ (क) विशेष विवरण के लिए देखिए—विशेषावश्यकभाष्य १२०२ से १२१८
(ख) प्रवचन सारोद्धार, द्वार २२४, गा० १३०२ टीका
(ग) कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा, २

३३ (क) सह्येष तत्त्वश्रद्धान रसास्वादनेन वर्तते इति सास्वादनः घण्टालालान्यायेन प्रायः परित्यक्त-सम्यक्त्वः तदुत्तरकालं षडावलिकः तथा चोक्तम्—
उवसमसंमत्ताओ चयओ मिच्छं अपानमाणस्स ।
सासायणसंमत्तं तदंतरालंमि छावलियं ॥१॥
इति सास्वादनस्वासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति विग्रहः । —समवायाङ्ग वृत्ति, पत्र २६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) समयादवली षट्कं, यावन्मिथ्यात्वभूतम् ।
नासादयति जीवोऽसं, तावत्सास्वादनो भवेत् ।। —गुणस्थान क्रमारोह १२

३३ आसादनं सम्यक्त्व विराधनम्, सह आसादनेन वर्त्तत इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनो ऽप्राप्तमिथ्यात्व कर्मोदय जनित परिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते । —षट्खंडागम, धवलवृत्ति प्रथम खण्ड, पृ० १६३

३४ गुणस्थान क्रमारोह ११

३५ (क) नरयतिग जाइथावरचउ, हूंडायवछेवट्ठन पुंमिच्छं ।
सोलं तो इगहि असयं, सासणि तिरिथीण दुहगतिगं ।। —कर्मग्रन्थ भाग २ गा० ४
(ख) गुणस्थान क्रमारोह० स्वोपज्ञ वृत्ति ।

३६ (क) मिश्रकर्मोदयाज्जीवे, सम्यग्मिथ्यात्वमिश्रितः ।
यो भावोऽन्तर्मुहुर्त्तं स्या-तन्मिश्रस्थानमुच्यते ।। —गुणस्थान क्रमारोह १३
(ख) तथा सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्या-दृष्टिः तस्य गुणस्थानं सम्यग् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानम् ।।
—कर्मग्रन्थ २, स्वोपज्ञवृत्ति पृ० ७०
(ग) सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतर सव्वघादिकज्जेण ।
णय सम्मं मिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ।। —गोम्मटसार, जीवकांड, गा० २१

३७ जात्यन्तर समुद्भूतिर्बंडवारवरयोर्यथा ।
गुडदध्नोः समायोगे रसभेदान्तरं यथा ।—गुणस्थान क्रमारोह १४

३८ गुणस्थान क्रमारोह गा० १३.
आयुर्बध्नापि नो जीवो मिश्रस्थो म्रियते न वा ।

३९ सद्दृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा भूत्वा मरण मश्नुते ।—गुणस्थान क्रमारोह १६

४० सो संजयं ण गिण्हदि, देसजयं वा ण बंध दे आउं ।
सम्मं वा मिच्छं वा, पडिवज्जिय मरदि णियमेण ।। —गोम्मटसार गा० २३

४१ मूल शरीर को बिना छोड़े ही आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना समुद्घात है । उसके सात भेद हैं—वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणांतिक, तैजस, आहार और केवल । मरण से पूर्व होने वाले समुद्घात को मारणांतिक समुद्घात कहते हैं । —बृहद्द्रव्य संग्रह गा० १०

४२ (क) सम्मत्तमिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं ।
तहिं मरणं मरणंतसमुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि ।। —गोम्मटसार गा० २४
(ख) सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये, ह्यायुर्येनार्जितं पुरा ।
म्रियते तेन भावेन, गतिं याति तदाश्रिताम् ।। —गुणस्थान क्रमारोह १७

४३ (क) कर्मग्रन्थ भाग २, गा० ४-५—देवचन्द्र रचित ।
(ख) गुणस्थान क्रमारोह १७

४४ अयमस्यामवस्थायां बोधिसत्वोऽभिधीयते ।
अन्यैस्तल्लक्षणं यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते । —योग बिन्दु २७०

४५ बोधो ज्ञाने सत्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्व : ।। —बोधिपंजिका ४२१, उद्धृत बौद्ध-दर्शन, पृ० ११७

४६ यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः ।
सत्वोऽस्तु बोधिसत्व स्तद्धन्तैषेऽन्वर्थतोऽपि हि ।।
वरबोधि समेतो वा तीर्थकृधौ यो भविष्यति ।
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्वः सतां मतः ।। —योग बिन्दु २७३-२७४

४७ जो अविरओऽविसंघे, भत्ति तित्थुण्णइं सया कुणइ ।
अविरय सम्मद्दिट्ठी, प्रभावगो सावगो सोवि ।। —गुणस्थान क्रमारोह० वृत्ति गा० २३ की वृत्ति ।

४८ कर्मग्रन्थ भाग २, गा० ६

४९ असंजद सम्माइट्ठी —षट्खण्डागम १।१।१२

५० णो इन्दियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ।। —गोम्मटसार गा० २९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५१ संजदासंजदा —षट्खण्डागम १।१।१३

५२ जो तसवहाउविरदो, अविरदो तहय थावरवहादो।
एक्क समयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ —गोम्मटसार गा० ३१

५३ उपासकदशाङ्ग अ० १

५४ कर्मग्रन्थ भाग २, गा० ६

५५ —विकहा कहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयो य।
—चदु चदु पणभेगेगं, होंति पयादा हु पण्णारस ॥ —गोम्मटसार गा० ३४

५६ कर्मग्रन्थ गा० ७

५७ कर्मस्तव पृ० २८१, मेहसाणा संस्करण

५८ प्रमत्तसंयतः प्राप्तसंयतः प्राप्तसंयमो यः प्रमाद्यति ॥
सोऽप्रमत्तसंयतो यः संयमी न प्रमाद्यति।
उभावपि परावृत्त्या स्यातामान्तर्मुहूर्तिकौ ॥ —योगशास्त्र, प्रथम प्रकाश ३४-३५

५९ इत्येतैः प्रमादैर्युक्तत्वात् क्व सति ? चतुर्थानां कषायाणं संज्वलनाख्यकषायाणां तीव्रोदये सति, अयमर्थः यदा मुनिर्महाव्रतिनोऽपि संज्वलन कषायस्तीव्रो भवति, तदाऽवश्यमन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्सप्रमादत्वात् प्रमत्त एव भवति यदा अन्तर्मुहूर्तादुपरि सप्रमादो भवति तदा प्रमत्त गुणस्थानदधस्तात्पतति, यदा त्वन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमपि प्रमाद रहितो भवति तदा पुनरपि अप्रमत्त गुणस्थानमारोहतीति। —गुणस्थान क्रमारोह स्वोपज्ञवृत्ति २७ पृ० २०

६० प्रमत्तसंयतादि क्षीण कषायान्तानामुत्कृष्टः कालः अन्तर्मुहूर्तः। —सर्वार्थसिद्धि वृत्ति

६१ कर्मस्तव पृ० २८१, महेसाणा संस्करण

६२ पमत्त संजयस्स णं भंते ! पमत्त संजये वट्टमाणस्स सव्वावि य णं पमत्तद्धा कालओ केवच्चिरं होइ ?
मंडियपुत्ता ! एगजीवं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी, णाणा जीवे पडुच्च सव्वद्धा।
—भगवती ३।४।१५३, सुत्तागमे पृ० ४५८

६३ भगवती ३।४।१५३

६४ सव्वावि य णं पमत्तद्ध, त्ति सर्वाऽपि च सर्वकाल सम्भवाऽपि च "प्रमत्ताद्धा" प्रमत्तगुणस्थानककालः 'कालतः', प्रमत्ताद्धासमूह लक्षणं कालमाश्रित्य "कियच्चिरं" कियन्तं कालं यावद्भवतीति प्रश्नः, न तु कालत इति वाच्यं, कियच्चिरमित्यनेनैव गतार्थत्वात्, नैवं क्षेत्रत इत्यस्य व्यवच्छेदार्थत्वात् भवति हि क्षेत्रतः कियच्चिरमित्यपि प्रश्नः यथाऽवधिज्ञानं क्षेत्रतः कियच्चिरं भवति ? त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, कालतस्तु सातिरेका षट्षष्टिरिति "एक्कं समयं' ति कथम् ? उच्यते, प्रमत्तसंयम प्रतिपत्ति समयसमनन्तरमेव मरणात् 'देसूणा पुव्वकोडि "त्ति किल प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाणे एव प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानके ते च पर्यायेण जायमाने देशोनपूर्वकोटिं यावदुत्कर्षेण भवतः, संयमवतो हि पूर्व-कोटिरेव परमायुः, स च संयममष्टासु वर्षेषु गतेष्वेव लभते, महान्ति चाप्रमत्तान्तर्मुहूर्तापेक्षया प्रमत्तान्तर्मुहूर्तानि कल्प्यन्ते, एवं चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणानां प्रमत्ताद्धानां सर्वासां मलिनेन देशोना पूर्वकोटि कालमानं भवति, अन्ये त्वाहुः— अष्टवर्षोनां पूर्वकोटिं यावदुत्कर्षतः—प्रमत्त संयतता स्यादिति। एवमप्रमत्तसूत्रमपि, नवरं "जहन्नेणं अंतोमुहूत्तं" त्ति किलाप्रमत्ताद्धायां वर्तमानस्यान्तर्मुहूर्त्तमध्ये मृत्युर्न भवतीति, चूर्णिकारमतं तु प्रमत्तसंयतवर्जः सर्वोऽपि सर्वविरतोऽ-प्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात् स चोपशम श्रेणीं प्रतिपद्यमानो मुहूर्त्ताभ्यन्तरे कालं कुर्वन् जघन्यकालो लभ्यत इति, देशोनपूर्वकोटी तु केवलिनमाश्रित्येति।
—भगवती अभयदेव वृत्ति श० ३-३३, सू० १४४, पृ० १८५, आगमोदय समिति।

६५ (क) मोक्षमार्ग, पृ० ८१ जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना
(ख) सम्यग्दर्शन— डा० एल० के० गाँधी, पृ० ६३ शामजी वेलजी वीराणी, राजकोट

६६ निर्मदेन वृत्तिः निवृत्तिः —षट्खण्डागम, प्रथम भाग, धवला वृत्ति, पृ० १८३

६७ निवृत्ति—यद्गुणस्थानकं समकालप्रतिपन्नानां जीवानामध्यवसायभेदः तत्प्रधानो बादरो बादरसम्परायो निवृत्ति बादरः —समवायाङ्ग वृत्ति, पत्र २६
(ख) भिन्नसमयट्ठिएहिं दु जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्क समयट्ठिएहिं सरिसो विसरिसो वा। —गोम्मटसार, पृ० ५२

६८ गोम्मटसार गा० ५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६६ द्वितीया पूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।
आयोज्य करणादूर्ध्वं द्वितीया इति तद्विदः ॥ —योगदृष्टि समुच्चय—१०
७० गोम्मटसार गा० ५१
७१ कर्मग्रन्थ भाग २, गा० ६—१०
७२ षट्खण्डागम, धवलावृत्ति, पृ० १८३-१८४
७३ कर्मग्रन्थ भाग २, गा२ ११
७४ गोम्मटसार गा० ६१
७५ गोम्मटसार गा० ६२
७६ गुणस्थान क्रमारोह
७७ "विश्वतश्चक्षुरत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरत विश्वतस्यात् ॥" —श्वेताश्वतरोपनिषद ३-३, ११-१५
७८ सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति । —भगवद्गीता १३, १३
७९ पातंजल योग-दर्शन पाद ३, सूत्र २२वाँ का भाष्य और वृत्ति तथा पाद ४ सूत्र ४ का भाष्य और वृत्ति
८० सजोग केवली —षटखण्डागम १।१।२१
८१ अयोग केवली —षटखण्डागम १-१-२२
८२ अन्ये तु मिथ्यादर्शनादि भावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादि—परिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादि परिणमस्तु परमात्मा । —अध्यात्ममत परीक्षा गा० १२५
८३ बाह्यात्मा चान्तरात्मा च परमात्मेति च त्रयः ।
कायाधिष्ठायक ध्येया प्रसिद्ध योग वाङ्मये ॥
अन्य मिथ्यात्व सम्यक्त्व केवलज्ञान भागिनः ।
मित्ते च क्षीणमोहे च विश्रान्तास्ते स्वयोगिनी ॥ —योगावतार द्वात्रिंशिका १७-१८
८४ (क) योगावतार द्वात्रिंशिका १५-२१
(ख) परमात्म—प्रकाश १३-१४, १५
८५ योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११७ श्लोक २ से २४
८६ 'दर्शन अने चिन्तन' भाग दो, पृ० ११६
८७ 'योगवासिष्ठ' उत्पत्ति प्रकरण, सर्ग ११८, श्लोक ५।१५
८८ 'जैन आचार' —डॉ० मोहनलाल मेहता, पृ० ३६ ।
८९ योग-दर्शन—व्यास महाभाष्य
९० पातंजल-दर्शन, पाद १, सूत्र १, व्यास भाष्य तथा वाचस्पति मिश्र की टीका ।
९१ भगवद्गीता—डॉ० राधाकृष्णन पृष्ठ ३१३ ।
९२ सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ —गीता १४।५
९३ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ —गीता ७।१३
९४ न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ —गीता ७।१५
९५ सर्वद्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधियात्मनः प्राणमास्थितो योग धारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्या मनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ —गीता ८/११-१३
९६ दुवे पुथुज्जना वुत्ता बुद्धेनादिच्च बंधुना ।
अंधो पुथुज्जनो एको कल्याणेको पुथुज्जनो ॥ —मज्झिमनिकाय, मूल परियाय, सुत्तवण्णना ।
९७ देखिए—'योगशास्त्र'—आचार्य हेमचन्द्र, प्रकाश,
९८ विनय पिटक-चुल्लवग्ग-खन्दक ४-४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९९ भगवतीशतक १५
१०० उपासकदशांग अ० ६ व ७
१०१ आवश्यक निर्युक्ति ४७४ से ४७८
१०२ आवश्यकचूर्णि प्रथम भाग, पत्र २८३-२८७
१०३ आवश्यक हारिभद्रियावृत्ति, पृ० २०६
१०४ आवश्यक मलयगिरिवृत्ति पूर्व भाग, पत्र सं २७७ से २७८
१०५ महावीरचरियं ६-१९४ से
१०६ त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व—१
१०७ अशोक के धर्मलेख—जनार्दन भट्ट-पब्लिकेशन्स डिविजन, दिल्ली १९५७, पृ० ४०१-४०३
१०८ उत्तर हिन्दुस्तान मां जैन धर्म, चिमनलाल जयचन्द शाह—लांग मैन्स एण्ड कं०, लन्दन, १९३०, पृ० ६४
१०९ दर्शन और चिन्तन—गुजराती भाग २, पं० सुखलाल जी संघवी, पृ० १०२१
११० उपासकदशा का अनुवाद, प्रो० होर्नले, भाग २, परिशिष्ट, पृ० २३
१११ दर्शन अने चिन्तन, भाग २, पृ० १०२२
११२ ऋग्वेद १।३४।९; २।८।१, ९।५८।३; १०।१६६।५; १।१८।७; १।५।३
११३ (क) योग आत्मा —तैत्तिरीय उपनिषद २।४
(ख) तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगे हि प्रभवाप्ययौ ॥ —कठोपनिषद २।६।११
(ग) तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ — श्वेताश्वतर उप० ६।१३
(घ) अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति । —कठोपनिषद् १।२।१२
११४ महाभारत में २४, २५ एवं २६ तत्त्व मानने वाली सांख्य परम्परा का वर्णन है ।
११५ गीता ४।२८; ३।३-४; ५।६-७; ६।१७;—२३-२९;
६।४-६, ८।१०-२, गीता रहस्य भाग २ की शब्द सूची देखें ।
११६ (क) सूत्रकृताङ्ग १।६।३
(ख) उत्तराध्ययन ८।१४; ११।१४
११७ मोक्षेण योजनादेव योगोह्यत्र निरुच्यते ।
लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतुव्यापारतास्य तु ॥ —योगलक्षण द्वात्रिंशिका ।
(ख) मोक्षेण योजनाद् योगः एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् । —योगबिन्दु ३१, हरिभद्र
११८ युजृपी योगे, गण—७ हेमचन्द्र धातुपाठ
११९ युजिच समाधौ, गण—४, हेमचन्द्र धातुपाठ
१२० योगलक्षण द्वात्रिंशिका १०,१६
१२१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । —पातंजल योगसूत्र पा—१, सू-२
१२२ अपुनर्बन्धद्वात्रिंशिका—१४
१२३ पातंजल योग-दर्शन पाद १, सूत्र १७-१८
१२४ योगभेदद्वात्रिंशिका—१
१२५ पातंजल योग दर्शन पाद १, सूत्र १२, १५ और १६
१२६ विषय दोष-दर्शनजनित भयातधर्म संन्यासलक्षणं प्रथमम् स तत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीया पूर्व-करणभावितात्त्विक-धर्मसंन्यास लक्षणं द्वितीयं वैराग्यं यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्त इत्यस्माकं सिद्धान्तः ॥" —श्री यशोविजयजी कृत पातंजल-दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६
१२७ संप्रज्ञातोऽवतरित, ध्यानभेदोऽत्र तत्वतः ।
तात्त्विकी च समापत्तिर्नात्मनो भाव्यतां विना ॥१५॥
'असम्प्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः ।
सर्वतोऽस्मादकरणनियमः पापगोचरः ॥२१॥ —योगावतार द्वात्रिंशिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रमणधर्म : एक विश्लेषण

✡ श्री हीरामुनि 'हिमकर'

भारतीय संस्कृति दो धाराओं में प्रवाहित हुई है—एक धारा का नाम ब्राह्मण संस्कृति है तो दूसरी धारा का नाम श्रमण संस्कृति है। ब्राह्मण संस्कृति ने गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया तो श्रमणसंस्कृति ने श्रमणधर्म को। जब तक ब्राह्मण संस्कृति का संपर्क श्रमण संस्कृति से नहीं हुआ वहाँ तक उसमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थ ये दो ही आश्रम थे। सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन की प्रगति के लिए ये दो ही आश्रम पर्याप्त थे। जब श्रमण संस्कृति का प्रभाव पड़ा तब तीन और चार आश्रम स्वीकार किये गये तथापि महत्ता गृहस्थाश्रम की ही रही। किन्तु श्रमण संस्कृति में प्रारम्भ से ही श्रमण का महत्त्व रहा। गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थ श्रावक भी व्रतों को ग्रहण करते समय इस सत्य को स्वीकार करता है कि मैं श्रमणधर्म को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ अतः श्रावक के द्वादशव्रतों को ग्रहण कर रहा हूँ। श्रावक-जीवन में रहते हुए भी उसकी प्रतिपल-प्रतिक्षण यही भावना रहती है कि वह दिन कब होगा जिस दिन मैं गृहस्थाश्रम का परित्याग कर श्रमणधर्म को ग्रहण करूंगा। उत्तराध्ययनसूत्र में छद्मवेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा—राजर्षे! तुम पहले यज्ञ करो, श्रमण और ब्राह्मणों को भोजन कराओ, दान दो, फिर श्रमण हो जाना।

उत्तर में नमी राजर्षि ने कहा—जो मानव प्रति मास दस लाख गायें दान देता है उसके लिए भी संयम श्रेष्ठ है। अर्थात् दस लाख गायों को देने से बढ़कर भी श्रमण जीवन का अधिक महत्त्व है। इससे स्पष्ट है कि श्रमण-परम्परा में श्रमण-जीवन का कितना अधिक महत्त्व रहा है। श्रेष्ठता व्यक्ति की नहीं साधना की है, संयम की है। साधना के अनुकूल वातावरण के लिए वेष परिवर्तन करना, गृहवास का त्याग करना आदि आवश्यक है। यदि उत्कृष्ट आंतरिक विशुद्धि हो चुकी हो तो गृहस्थ या अन्य किसी भी वेष में मुक्ति हो सकती है। मुक्ति में वेष उतना बाधक नहीं है जितना कि आंतरिक विकार। आत्मा का उत्कर्ष साधने के लिए बाहरी वातावरण और अभ्यास की आवश्यकता होती है। क्योंकि साधक एक यात्री है यदि उसे अनुकूल वातावरण न मिले तो वह भटक भी सकता है, अटक भी सकता है और अधर में लटक भी सकता है। एतदर्थ ही आगम साहित्य में साधक के लिए योग्य वातावरण आवश्यक माना है। क्योंकि सभी साधक आचार्य स्थूलभद्र नहीं हो सकते। अतः साधक को अत्यधिक जागरूक रहकर साधना व आराधना करनी चाहिए।

श्रमण संस्कृति ने आध्यात्मिक विकास पर बल देकर भारतीय समृद्धि व वैभव को बढ़ाने में सहयोग दिया। भारत का जब कभी भी पतन हुआ उसका मूल कारण था विलास, परस्पर कलह तथा स्वार्थवृत्ति। इन सभी दुर्गुणों को जीतने व परित्याग करने का सन्देश श्रमण संस्कृति ने दिया है। उसने अधिक से अधिक सद्गुणों को अपनाने की प्रेरणा दी है। गृहस्थ श्रावकों के लिए द्वादशव्रतों का विधान किया है तो श्रमण के लिए पंच महाव्रतों की व्यवस्था की है। गृहस्थों के व्रत तो सभी स्वीकार कर सकते हैं, पर महाव्रतों को सभी स्वीकार नहीं कर सकते।

स्थानांगसूत्र में धर्म के दो अंग माने हैं—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। श्रुतधर्म से बुद्धि की निर्मलता होती है, साधना के रहस्य परिज्ञात होते हैं, तत्त्वों का सही स्वरूप समझ में आता है। कौन हेय है, कौन उपादेय है और कौन ज्ञेय है—इसका ज्ञान श्रुत से ही होता। जो ज्ञान हुआ उसे चारित्रधर्म के द्वारा स्वीकार करना, सद्गुणों को जीवन में ग्रहण कर आध्यात्मिक विकास करना आवश्यक है। जैसे केसर जैसी बहुमूल्य वस्तु काश्मीर के सुरम्य प्रदेश में पैदा होती है, रेगिस्तान में नहीं; वैसे ही श्रमणधर्म वही व्यक्ति ग्रहण कर सकता है जिसका आचार श्रुतधर्म से सुवासित हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुका है। वर्तमान अवसर्पिणी काल में श्रमणधर्म का प्रारम्भ भगवान श्री ऋषभदेव ने किया और अपने पुत्र ऋषभ को श्रमण के वेष में केवलज्ञान प्राप्त हुए देखकर माता मरुदेवा को केवलज्ञान केवल-दर्शन की उपलब्धि हुई और वह मोक्ष में पधार गयी। भगवान ऋषभदेव के पुत्र और पुत्रियां भी श्रमणधर्म को स्वीकार कर मोक्ष पधारे। भगवान ऋषभदेव के पश्चात् अन्य तेईस तीर्थंकर हुए। उन्होंने भी श्रमण संस्कृति के दीप में समय-समय पर तेल प्रदान कर उसे अधिक प्रदीप्त किया और ज्योतिर्धर आचार्यों व प्रभावक श्रमण मुनियों ने इस संस्कृति की गौरव-गरिमा को बढ़ाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

जैन संस्कृति के श्रमण का उद्देश्य है विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना, पर-दर्शन नहीं, आत्मदर्शन करना। सूत्रकृतांगसूत्र में बताया है कि एकमात्र आत्मा के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करे। संसार में विराट दुःख है। जब तक आत्मा संसार के किनारे नहीं पहुँचता वहाँ तक दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। एतदर्थ ही उत्तराध्ययनसूत्र में श्रमण जीवन को नौका के समान कहा है। जो नौका छिद्रसहित होती है वह समुद्रतट पर नहीं पहुँच पाती। जो नौका छिद्र रहित है वही सागर के पार होती है। श्रमण संयम के द्वारा सभी पाप-छिद्रों को रोक देता है और भव-सागर को पार कर जाता है।

श्रमण की पहचान के लिए वेष आवश्यक माना गया है। श्रमण के लिए आगम साहित्य में मुखवस्त्रिका, रजोहरण, पात्र आदि उपकरण रखने का विधान है। जब श्रमण धर्म स्वीकार किया जाता है उस समय वह केश-लुंचन भी करता है। स्थानांग में श्रमण के लिए दस प्रकार का मुण्डन बताया है। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय के विषयों को जीतना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों पर विजय प्राप्त करना—ये नौ प्रकार के आंतरिक मुण्डन हैं और दसवाँ सिर के बालों का मुण्डन है।

श्रमण के मुख्य दस धर्म हैं—(१) क्षमा, (२) मुक्ति, (निर्लोभवृत्ति), (३) आर्जव (सरलता), (४) मार्दव, (५) लाघव (मोहरहित विनय), (६) सत्य, (७) संयम, (८) तप (९) त्याग और (१०) ब्रह्मचर्य।

केवल वेष परिवर्तन करने से श्रमण नहीं बनता। श्रमण बनने के लिए गुणों का होना आवश्यक है। समवायांग सूत्र में श्रमण के सत्ताईस गुणों का वर्णन है। वह इस प्रकार है—

"प्राणातिपातविरमण" ऐसे ही सर्वथा प्रकार से मृषावाद का त्याग, अदत्तादानत्याग, मैथुनत्याग, परिग्रहत्याग, श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह आदि से ५वीं स्पर्शनेन्द्रियनिग्रह, क्रोधविवेक, मानविवेक, मायाविवेक, लोभविवेक, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, वैराग्य, मनसमाधारणता, वचनसमाधारणता, कायसमाधारणता, ज्ञान-संपन्नता, दर्शन-संपन्नता, चरित्र-संपन्नता, वेदनासहन एवं मृत्युसहिष्णुता।

दिगम्बर परम्परा में श्रमण के अट्ठाईस मूल गुण माने हैं—पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, पाँच समिति छः आवश्यक, स्नानत्याग, शयनभूमि का शोधन, वस्त्र-त्याग, केश लुंचन, एक समय भोजन, दन्तधावनत्याग और खड़े-खड़े भोजन।

जैन-श्रमण के लिए सतरह प्रकार के संयम का पालन करना आवश्यक है। वह सतरह प्रकार के संयम यह हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, अजीवकाय, प्रेक्षा—सोते, बैठते समय वस्त्र आदि उपकरणों को सम्यक् प्रकार से देखना, उपेक्षा—सांसारिक कार्यों के प्रति उपेक्षा, अपहृत्य-श्रमणधर्म का अध्ययन करना, शरीरउपाधि, मल-मूत्रादि परिष्ठापन करते हुए जीवरक्षा करना, प्रमार्जना—वस्त्र, पात्र, मकान शरीर का उपयोग करते समय प्रमार्जनी गुच्छ विशेष से प्रमार्जन करना, मन को कषायरहित रखना, वचन असत्य, मृषा व सिद्धान्तविरुद्ध न बोलना, काय—सोने-बैठने आदि शारीरिक क्रियाओं को करते समय जीवरक्षा का ध्यान रखना, इस प्रकार साधक असंयम से निवृत्त होकर संयम में प्रवृत्त होता है।

श्रमणधर्म स्वीकार करने वाले साधक की कुछ बाह्य विशेषताएँ भी आचार्यों ने प्रतिपादित की हैं, वे ये हैं—(१) आर्यदेशोत्पन्न, इसमें यह अपवाद है जो व्यक्ति अनार्यदेश में उत्पन्न हुआ है किन्तु गुणों से युक्त है तो वह दीक्षा ग्रहण कर सकता है। (२) शुद्ध जाति कुलान्वित (३) क्षीणप्राय अशुभकर्म (४) विशुद्ध बुद्धि (५) विज्ञात संसार (६) विरक्त (७) मन्द कषायभाक् (८) अल्प हास्यादि अकौतूहली (९) कृतज्ञ (१०) विनीत (११) राजसम्मत (१२) अद्रोही (१३) सम्पूर्ण अंग सुन्दर हों (१४) श्रद्धावान् (१५) स्थिरचित्त (१६) समुप-सम्पन्न—पूर्णरूप से जीवन को संयम से व्यतीत करने वाला हो। इन बाह्य सद्गुणों से युक्त व्यक्ति ही श्रमणधर्म का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकता है।

स्थानांगसूत्र में श्रमणों के लिए तीन प्रकार के पात्र लेने का विधान है—(१) तुम्बे का पात्र, (२) काष्ट का पात्र और (३) मिट्टी का पात्र। श्रमण तीन कारणों से वस्त्र धारण करते हैं—(१) लज्जा के निवारण हेतु, (२) जनता की घृणा को दूर करने के लिए (३) शीत, ताप आदि परीषह असह्य होने पर। स्थानांगसूत्र में तीन प्रकार के वस्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण करने का भी उल्लेख है—ऊन के, कपास के और सन के। वस्त्र की मर्यादा में श्रमण के लिए बहत्तर हाथ और श्रमणी के लिए छियानवे हाथ से अधिक वस्त्र नहीं रखने का विधान है। श्रमणोपासक श्रमण को चौदह प्रकार का निर्दोष दान प्रदान करता है। वे इस प्रकार हैं—(१) असन, (२) पान, (३) खादिम, (४) स्वादिम, (५) वस्त्र; (६) प्रतिग्रह (काष्ट पात्रादि), (७) कंबल, (८) पादपौंछन, (९) पीठ—बैठने का बाजोट, (१०) फलक—सोने का पाट, (११) शय्या मकान, (१२) संथारा—तृण, घास आदि सोने के लिए, (१३) रजोहरण—ऊन का गुच्छक जीवरक्षा हेतु; (१४) औषधभेषज आदि।

जैन-श्रमण की भिक्षा भी एक प्रकार की तपस्या है। भिक्षा को मधुकरी या गोचरी भी कहते हैं। वह जिस गृहस्थ से भिक्षा प्राप्त करे उसे किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होना चाहिए। श्रमण अपने लिए भोजन नहीं बनाता और न अपने लिए बनाये हुए भोजन को ग्रहण ही करता है। भिक्षा के लिए एक पृथक् समिति का ही विधान किया गया है, जिसका नाम ऐषणासमिति है। श्रमण को सोलह उद्गमन के तथा सोलह उत्पाद के एवं दस ऐषणा के इस प्रकार बयालीस दोष टालकर आहार-पानी ग्रहण करना चाहिए और सैंतालीस दोष टालकर आहार का उपभोग करना चाहिए। श्रमण छः कारणों से आहार करते हैं—क्षुधा-वेदना सहन न होने पर, वैयावृत्ति हेतु, ईर्याशोधनार्थ, संयम-पालनार्थ, प्राणरक्षणार्थ और धर्मचिन्तनार्थ। इसी प्रकार छः कारण उपस्थित होने पर वह आहार का परित्याग करता है—रोग की अभिवृद्धि होने पर, संयम त्याग का उपसर्ग उपस्थित होने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु, प्राणियों की रक्षा निमित्त तप के लिए तथा शरीरत्याग के अवसर पर। इस तरह आहार का ग्रहण और आहार का परित्याग संयम-साधना के लिए लिया जाता है या छोड़ा जाता है।

श्रमण-जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। उसके लिए मुख्य दो साधन हैं—स्वाध्याय और ध्यान। श्रमण के दैनन्दिन जीवन में स्वाध्याय और ध्यान का अत्यधिक महत्त्व है। श्रमण प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में भिक्षा-चर्या और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करता है। इसी तरह रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करने का विधान है। दिन में एक प्रहर भिक्षाहेतु और रात्रि में एक प्रहर निद्राहेतु बताया है। वह भी संयम, स्वाध्याय व ध्यान की अभिवृद्धि हेतु है। बिना आहार और विश्रांति के निर्विघ्नतापूर्वक साधना नहीं हो सकती। स्वाध्याय और ध्यान करते समय रुग्ण, तपस्वी, वृद्ध, आदि श्रमणों की सेवा का प्रसंग उपस्थित हो तो वह सर्वप्रथम उनकी सेवा-शुश्रूषा करे। वैयावृत्ति भी श्रमण की साधना का एक प्रमुख अंग है।

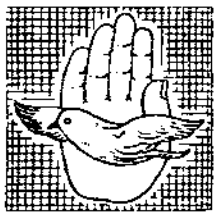
आगम साहित्य में श्रमण के पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना, कषायकुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक—ये छह प्रकार बताये गये हैं। पुलाक खेत में अवस्थित शाली के सदृश्य जिसमें शुद्धि कम और अशुद्धि की मात्रा अधिक होती है; बकुश खेत में कटी हुई शाली के समान शुद्धि और अशुद्धि समान होती है; प्रतिसेवना खलिहान में उफनती शालीवत् शुद्धि अधिक और अशुद्धि कम; कषायकुशील छिलकेयुक्त शाली के समान; निर्ग्रन्थ छिलकेरहित चावल की तरह और स्नातक शुद्ध चावल के जैसे। इनमें पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना इन तीन में सामायिक और छेदोपस्थापनीय ये दो चारित्र होते हैं। कषायकुशील में सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्ध और सूक्ष्म सम्पराय, ये चार चारित्र होते हैं। निर्ग्रन्थ एवं स्नातक में एक यथाख्यात चारित्र होता है। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना में छठा और सातवाँ गुणस्थान होता है, कषायकुशील में छठे से लेकर ग्यारहवाँ गुणस्थान हो सकता है। निर्ग्रन्थ में बारहवाँ गुणस्थान होता है और स्नातक में तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान होता है।

श्रमण-जीवन में अनेक प्रकार के परीषह उपस्थित होते हैं। आगम साहित्य में मुख्य परीषहों की परिगणना की है। उनमें क्षुधा, तृषा, शीत, ताप आदि बाईस हैं। श्रमण चाहे अनुकूल परीषह हो चाहे प्रतिकूल परीषह हो—उन परीषहों को हँसते और मुस्कराते हुए सहन करता है किन्तु कभी भी परीषहों से विचलित नहीं होता। एतदर्थ ही शास्त्रकारों ने कहा है श्रमण जीवन में इतना सुख प्राप्त होता है जितना स्वर्ग में भी उपलब्ध नहीं है। श्रमण स्वर्गीय सुखों का भी अतिक्रमण कर जाता है। क्योंकि स्वर्गीय सुख भौतिक पदार्थों पर अवलंबित है जबकि श्रमण-जीवन का जो सुख है वह आध्यात्मिक है, उसमें किसी की भी अपेक्षा नहीं होती।

सारांश यह है कि श्रमण संस्कृति में श्रमणधर्म का जो निरूपण किया गया है वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि आज भी यदि साधक उन सद्गुणों को अपनाये तो उसका जीवन चमक सकता है। उसके जीवन में अभिनव आलोक का संचार हो सकता है। जैन आगम साहित्य में श्रमणाचार का बहुत ही विस्तार से विश्लेषण किया गया है। किन्तु विस्तारभय से हमने संक्षेप में ही उस पर चिन्तन किया है। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

AHIMSĀ—A Psychological Study



Dr. T. G. Kalghatgi, M. A., Ph. D.

(I) Romain Rolland said 'Those who discovered the principle of Ahiṁsā are far greater than Napolean or Wellington'. Gandhiji said that non-violence is the law of our species and violence is the law of the brutes. And Zimmer said that Ahiṁsā or non-violence is the first principle or Dharma of saints or sages by which they lift themselves out of the range of normal human beings to the higher state of self-realisation.

The Jainas have given the supreme importance to the principle of non-violence. '*Ahiṁsā paramodharmaḥ*' is the cardinal principle of Jainism. In ancient Indian thought Ahiṁsā was the important principle of conduct. In the *Bṛhadāraṇyaka* and *Chhāndogya Upaniṣads* one is advised to practise ahiṁsā and to develop qualities of self-discipline. Similar advice in given in the *Bhagavadgītā*. Patanjali emphasises the importance of ahiṁsā as an important *vrata* to be practised as psychological preparation.

(II) Hiṁsā is the root of all evil. It should be avoided by all. And Ahiṁsā is the root of negative and positive virtues. Patanjali Yoga includes ahiṁsā along with four other *vratas* as necessary condition for the psychological background and the ethical preparation for the highest form of *yoga* that is *samādhi*. Self-realisation would be possible if we first prepare the background for the ethical foundation of meditation. Ahiṁsā gives this background. A person who has moral strength can alone practise the higher forms of meditation. And that would be possible if moral foundation is strong. Practice of non-violence does help the development of personality towards self-realisation. It is therefore necessary to understand the implications of the concept of ahiṁsā for the proper appreciation of the psychological basis of the development of personality.

(III) Ahiṁsā is non-injury. It is abstaining from doing harm to any living being physically or mentally. The Jainas have analysed the concept of ahiṁsā on psychological and ethical bases. This is possible if we understand the nature of the life, both in the empirical and spiritual sense. All things are divided into living and non-living. The Jainas believe in the plurality of jīvas living individuals. The *jīvas* in the phenomenal world are classified on the basis of various principles like the status and the number of sense-organs etc. There is the vegetable kingdom; there are one-sensed organisms like the earth-bodied, water-bodied and the plants. The *trasajīvas* are the animal world. They have more than one sense, upto five sense-organs. The *jīvas* are possessed of *prāṇas*, life-forces. On the bases of the analyses of the living organisms and the life-force possessed by them, ahiṁsā is non-injury to any living being or a life-force of an individual being through the body, mind and speech and through three *karaṇas*, *i. e.*, onself doing injury, causing others to injury or to consenting to the act of injury. We are not to injure any living organism, however small it may be, or a life-force of the organism directly with our own hands, by causing someone to do so on our behalf or by giving consent to the act of injury caused by

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

others. Similarly we should not cause any injury to another person, we should not speak of causing injury to others nor should harbour any thought of injury to any living being.

Hiṁsâ has two aspects : psychic injury, *Bhāvahiṁsā* and physical injury, *dravyahiṁsā*. Physical injury refers to the physical harm done to any living being. But psychic hiṁsā is concerned with entertaining thoughts of causing hiṁsā to another being. Physical hiṁsā is bad enough; but psychic hiṁsā. has greater intensity of causing evil conscience. It is more dreadful than physical hiṁsā. For instance, there may be hiṁsā sometimes but without any evil intention and inspite of our efforts to keep ourselves away from it. In such cases, it may not be considered as hiṁsā to the extent to which the intensity of the injury would be considered evil if psychic accompaniment of hiṁsā is involved. Harbouring illwill of doing harm to another being or even having an idea of causing harm to another is much worse than actually causing physical injury to a living being. Therefore psychic violence has to be condemned with equal emphasis as the physical violence.

The Jaina conception of ahiṁsā has been based on the scientific psychological notion of hiṁsā. In the Tattvārtasūtra we read 'Pramattayogātprāṇavyaparopaṇam hiṁsā'. Hiṁsā is injury or violence caused to the living being due to carelessness and negligence and actuated by prejudice and other passions, like hatred. In the *Yaśastilaka* Somadeva defines hiṁsā as injury caused to the living being through the error of judgment. He says 'Yat syāt pramādayogena prāṇisu prāṇa hāpanam hiṁsā'. This has two elements : (i) injury to life, and (ii) motivation to cause injury. To injure another life is to cause pain to it. But, as we mentioned earlier, mere injury may not be characterised as hiṁsā. It has to be considered with reference to motive and the disturbing emotion which characterise the fall of one's personality. Similarly hiṁsā caused with the specific purpose like causing injury to animal for sport or for some gain will be hiṁsā. In this the will or the saṁkalpa is a dominating factor. On the contrary, a careful and a pious man who is not disturbed by passions and who is kind towards animals will not suffer the sin of violence even if, by accident, injury is caused to any living being. Psychologically considered motivation and psychic accompaniments promoting the act of hiṁsā may be considered the mental set. Thus, physical injury is hiṁsā, but more important and harmful is the psychic condition of hiṁsā. Speaking harsh and harbouring ill-feeling against a fellow being is also to be considered as hiṁsā.

(IV) It has been suggested that the principle of ahiṁsā as moral principle has certain inherent limitations : (i) It is said that the practice of ahiṁsā is inconsistent with human nature, because man is not purely a rational being, but he has sensibility and he is governed by passions and impulses. The instinct of pugnacity is natural to man. It is in our blood to quarrel and fight. If we cannot fight in the modern set of the civilised world, we atleast take pleasure in witnessing fights like the bullfight and cockfight and the stunt pictures. There is a philosophy of war which says that wars are natural and necessary for the development of man and his society. To preach meekness and non-violence is against the very nature of man. Nietzsche condemend religion that preaches meekness as virtue, as it lowers the dignity of man. Non-violence promotes cowardice. The second objection to the practice of ahiṁsā is that it is impossible to practise ahiṁsā in its complete and real sense, as there are psychological and social limitations. Mrs. Stevenson said that the principle of ahiṁsā is scientifically impossible for a life motto, since it is contrary to the code of nature. Complete and unexceptional practice of ahiṁsā would be impossible in this, the human nature as it is. Except for the heaven-born prophets like the Buddha, Tirthankaras and Mahatma Gandhi, it is not possible for the average man to practise ahiṁsā fully.

These objections are not without significance. There is some truth in saying that animals including human beings do exhibit the instinct of pugnacity and they are not totally free from its influence. However, we should realise, as Kant the famous philosopher puts it, man is an autonomous creature. He is not merely governed by sensibility as other lower animals are, but he has reason also. Reason is the distiguishing feature of man. He knows that he is governed by animal-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

nature, while the lower animals are not aware of this fact. This gives him a special ability and a special responsibility in the hierarchy of the world of life. He can transcend his lower nature and channelise his energies for a higher purpose. He can sublimate his instinctive energy. For instance, a man frustrated in love can sublimate his energy and channelise it for social service. Similarly abundant energy of man can be sublimated for struggling towards the betterment of humanity. In this sense we can interpret the lives and activities of great souls and social reformers. This does not mean that their activity is the result of frustration. They are supermen who have to be emulated by us. And in this sense, we can understand Gandhiji's statement that non-violence is the principle of man and violence is the principle of the brutes.

Yet Indian philosophers were aware of the limitation of the average human being in the practice of non-violence. They were also aware of the difficulty of common men to accept unqualified practice of ahiṁsā. The principle of ahiṁsā has to be fitted with the social structure that makes it possible to practise non-violence as far as possible and with the best motivations. Therefore the Jainasāstras presented the graded system of ethical rules. There is the higher code of conduct meant to be practised by the persons who have renounced this world and have become recluses. They have to practise the *vratas* to the highest degree of perfection possible. This is *muni-dharma* and the vratas are called *Mahāvratas* The monks and nuns have to practise the *ahimsāvrata* most rigorously without exception to the extent humanly possible. But in the case of *Śrāvakas* (householders) a more liberal view is taken in giving instructions to the practice of ahiṁsā. This is *aṇuvrata*. In the *Ratnakaraṇḍaśrāvakācāra*, the *Śrāvak* is enjoined not to cause injury himself or be an agent for injury or appraise the act of injury knowingly and intentionally i.e. *saṁkalpāt*. He should be free from *sthalahiṁsā*. In the case of the citizen prohibion of hiṁsā begins with two-sensed organisms, because it would be impossible for him to practise non-injury to one-sensed organisms intentionally or unintentionally in the conduct of his daily life. He is therefore, exempted from such restrictions. This is social ethics.

Even in the practice of non-violence by the citizen, certain forms of injury are permitted as exceptional cases. For instance, it is recognised as a duty of a *kṣatriya* to defend the weak even with arms. In the *Ādipurāṇa* there is a description that *Ṛṣabha*, the first Tīrthankara gave training to his subjects in agriculture, in trade and in the use of arms. However, one is not to cause injury to living being wantonly and with malice and hatred. Do not hate the enemies. In the *Yaśstilaka* Somadeva forbids a *kṣatriya* to indulge in indiscrete killing even in battle.

Here we are reminded of Gandhiji's words that violence is preferred to cowardice. He exhorted the Indian women to resist the *Gooṇḍās* (scounderals etc.) even with violence, if necessary. He said, 'where there is choice between cowardice and violence, I would advice violence. Hence, it was I took part in the boer-war and the so-called Zulu rebellion and the late war.' But Gandhiji said that non-violence is infinitely superior to violence. It is the principle of courage. Forgiveness adorns the soldier. A coward has no moral strength to observe non-violence. A mouse hardly forgives a cat when it allows itself to be torn to pieces by her. For Gandhiji non-violence was a creed, but for lesser men it might be a policy.

(V) Non-violence is not mere non-injury in the negative sense. It has a positixe content also. It implies the presence of cultivated and noble sentiments like kindness and compassion for all beings. Non-violence is love. It also implies self-sacrifice The Buddha renounced the pleasures of the world out of compassion for all living creatures. Jesus was filled with compassion when he said 'whoever smite thee in the right cheek, turn to him the other also.' In the *Yaśstilaka* Somadeva enumerates the qualities that should be cultivated to realise the ideal of ahiṁsā. The qualities are—(i) *maitrī*, (ii) *pramoda* (affection coupled with respect for men eminent for their virtues, (iii) *kāruṇya* (compassion) and (iv) *mādhyastha* (equitable attitude). Ahiṁsā is thus a positive virtue which resolves itself into spontaneous attitude of *jīvadayā* in higher beings. For us, we have to carefully cultivate it.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

We should also note that the ultimate end of the practice of ahiṁsā is not merely to save other souls but in a positive sense to save our own souls. Self-culture is the main problem in the practice of ahiṁsā. In the *Sūtrakṛtāṅga* it is said that if a person causes violence out of greed or if he supports such violence of others, he increases the enemies of his own soul. In the *Ācārāṅga-sūtra* we are asked to consider ourselves in the position of the persons or animals to whom we want to cause injury. Gandhiji said, 'I believe in loving my ememies. I believe in the power of suffering to melt the stoniest heart.'

Ahiṁsā is kindness, it is beneficial to the soul for its realisation of perfection. In ahiṁsā there is the force of the soul and in hiṁsā there is the expression of our animal-nature. Ahiṁsā is beneficial to all, to the persons who practise ahiṁsā and to those who are saved by ahiṁsā. Ahiṁsā destroys all anxiety; disorder and cowardice. It can overcome and defeat the most cruel brute force. Gandhiji has shown this by the Satyāgraha movement against the mighty British empire. Zimmer says, 'Gandhiji's Satyāgraha is the battle waged in the collosal modern scale and according to the principles from the textbooks not of the Royal Military college, but of Brahman.'

The sun of Ahiṁsā (non-violence) carries all the hosts of darkness, such as hatred, anger, malice before himself. Ahiṁsā in education shines clear and far and can no more be hidden even as the sun cannot be hidden by any means.

—*Mahatma Gandhi*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमों के आलोक में—

श्रावकाचार : एक परिशीलन

✡ आर्या श्री चन्द्रावती जी म०, जैनसिद्धान्ताचार्य

दर्शन और जीवन

श्रावकधर्म श्रमण भगवान महावीर की एक अमूल्य देन है। धर्म के उच्चादर्श को जीवन के धरातल पर साक्षात्कार करने की यह सुन्दर से सुन्दर और सरल से सरल विधि है। दर्शन केवल कल्पना के सौन्दर्य तक सीमित नहीं है किंतु वह यथार्थ जीवन से उतना ही सम्बन्ध मानता है जितना कि सूर्य के साथ उसकी रश्मियों का है। दर्शन का सम्बन्ध जब जीवन के साथ एकाकार हो जाता है तब उस जीवन में एक अनुपम चमत्कृति उत्पन्न हो जाती है। जैसे टेढ़ी-मेढ़ी अनमेल लकीरों को सुव्यवस्थित रूप देकर चित्रकार एक मनोहर चित्र की अभिव्यक्ति करता है और एक कलाकार अनगढ़ पाषाण से दर्शनीय प्रतिमा उत्कीर्ण करता है। श्रमण भगवान महावीर भी दर्शन के ऐसे अनुपम कलाकार थे जिन्होंने मृण्मय मानव में चैतन्य की मुक्त चेतना का आलोक प्रसारित किया। पाश्चात्य दार्शनिकों का यह अभिमत है कि कला कला के लिये है, जीवन के लिये उसका सम्बन्ध अपेक्षित नहीं है। ऐसे ही अनेक भारतीय दार्शनिक भी यह मानते हैं कि दर्शन दर्शन के लिए है जीवन के लिए दर्शन की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं—ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है[1] यह ज्ञप्ति होने पर मुक्ति स्वतः हो जाती है किंतु जैनदर्शन यह मानता है कि इस ज्ञप्ति में भी एक विशिष्ट प्रक्रिया है जिसके साथ जीवन का प्रत्येक क्षण जड़ता से मुक्त होकर चैतन्य की ज्ञानचन्द्रिका से जगमगा उठता है और वे विचार आचार में प्रत्यक्ष ओतप्रोत हो जाते हैं। जैनदर्शन में विद्या-अविद्या अर्थात् ज्ञान और अज्ञान को एक सम्यकाचार और मिथ्याचार की विधि में निहित किया है। वहाँ आचार को पाँच प्रकार से प्रदर्शित किया है, वह हैं "ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार।"[2]

मुक्ति का पथिक

आत्मा अनन्तकाल से अनन्त आधि-व्याधि-उपाधि के दुःखों से संत्रस्त है। अतः प्रत्येक आत्मा उन दुःखों से मुक्ति चाहता है।[3] जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, इत्यादि अनेक असह्य दुःखों से संसारी आत्माएँ क्लेश पा रही हैं। श्रमण भगवान महावीर ने शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित विषयों को एकान्त दुःखप्रद माना है। आत्मा जब तक अज्ञान अवस्था में होता है तब तक दुःख के कारणों को सुख रूप समझकर उनका सम्मान करता है। किन्तु सम्यग्ज्ञान होने पर वही आत्मा यह समझ लेता है कि शरीर व इन्द्रियों के विषय क्षणमात्र सुख की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं और बहुत काल के लिए दुःखप्रद होते है, उनमें सुख अल्प है और दुःख अनन्त है, वे अनन्त मोक्ष सुख के प्रतिपक्षी है एवं अनर्थों की खान हैं ऐसे दुःखद काममोगों से मुक्ति का साधक विरक्त हो जाता है।[4] संसार का मार्ग और मुक्ति का मार्ग—इन दोनों में पूर्व पश्चिम का अन्तर है। आत्मा जब मुक्तिपथ का पथिक होता है तो संसार के सुखों की ओर पीठ कर देता है। जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य उमास्वाति[5] ने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया है। उसमें आगे चलकर तीनों का विस्तृत विवेचन किया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र के अनेक भेद-प्रभेद करके समझाया गया है। तत्त्वार्थसूत्र के पूरे दस अध्यायों में इन तीनों का विस्तार से वर्णन कर मोक्षमार्ग का स्वरूप बताया है अतः इस ग्रन्थ का नाम ही मोक्षशास्त्र हो गया है। इसमें 'तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन'[6] कहा है तत्पश्चात् प्रत्यक्ष-परोक्ष पाँच प्रकार के ज्ञान का वर्णन है, वे हैं मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञान।[7] इसके प्रथम अध्याय में ज्ञान-दर्शन का विवेचन है तो द्वितीय में क्षायोपशमिक, क्षायिक आदि पाँच भावों से संपन्न शुद्ध व अशुद्ध जीव का वर्णन, तृतीय में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरक, मनुष्य व चतुर्थ में देवगति के जीव, पाँचवें में षट्द्रव्य, षष्ठम में मन-वचन-काय-त्रियोग के कारण एवं सप्तम अध्याय में उससे निवृत होने के उपायस्वरूप देशविरति एवं सर्वविरतिचारित्र की व्याख्या की गई है। आठवें में कर्मबन्ध के हेतु, नौवें में संवर निर्जरा व ध्यान का स्वरूप व दसवें में मुक्ति का स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि इस मोक्ष-शास्त्र में मुक्तिमार्ग का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय में मोक्षमार्ग गति का विवेचन है। उसमें और इसमें बहुत अधिक साम्य है। मुक्ति के साधक के लिए ज्ञान-दर्शन जितने अपेक्षित हैं उतना ही चारित्र भी अपेक्षित है।[८] ज्ञान के द्वारा मुक्त जीव का स्वरूप समझा जाता है तो दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा विश्वास होता है तथा चारित्र के द्वारा अशुभ का निग्रह एवं तप के द्वारा पूर्णविशुद्धि प्राप्त होती है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है, निरुद्देश्य कोई कार्य नहीं होता। आत्मा जब मुक्ति का पथिक होता है तो मुक्ति ही उसका अन्तिम ध्येय है, साध्य है, लक्ष्य एवं वही आराध्य व अन्तिम विश्रान्ति है। पथिक सदैव पथ पर चलता ही नहीं रहता, वह मञ्जिल प्राप्त करने पर विश्रान्ति भी करता है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुक्ति का पथ है किंतु उसकी भी एक निश्चित सीमा है जो कि चरम एवं परम है। यह मुक्ति का पथ आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है और न ही मुक्ति कहीं दूर है। एक दृष्टि से मुक्ति का पथ व मुक्ति का स्वरूप आत्मा का ही एक शुद्ध स्वरूप है अतः एक मुक्तात्मा व बद्धात्मा में शक्ति व अभिव्यक्ति का अन्तर है। जैसे मलयुक्त तन तथा वस्त्र वाले व्यक्ति में एवं स्नानयुक्त व्यक्ति में अन्तर होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्षमार्गगति अध्ययन में जो मुक्ति का मार्ग है वहीं उसका स्वरूप व लक्षण बताया है। अतः आत्मा मुक्ति का मार्ग एवं मुक्ति अपने आप में ही उपलब्ध करता है। क्योंकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण हैं[९] अर्थात् शुद्धात्मा का अपना स्वरूप है। और जो आत्मा का स्वरूप है वह आत्मा से तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। अतः उसे बाहर ढूँढना व्यर्थ है। इस दृष्टि से श्रमण भी मुक्ति का पथिक है और श्रावक भी मुक्ति का पथिक है।[१०] दोनों में इतना ही अन्तर है कि एक अपनी सम्पूर्ण शक्ति व सम्पूर्ण समय साधना में अर्पित करता है किंतु द्वितीय आंशिक समय के लिए साधना में अपनी शक्ति लगाता है। अतः प्रथम को सर्वविरत एवं द्वितीय को देशविरत कहा जाता है। किंतु दोनों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप व वीर्य आदि मुक्ति-मार्ग व साधन में एकता है, दोनों के साध्य साधन एक है। जैसे दो पथिक एक ही पथ पर चलते है। चाहे उनमें से एक वायुयान से चले और दूसरा बैलगाड़ी या पैदल यात्रा करें। किन्तु ये दोनों एक लक्ष्य व एक मन्जिल पर पहुँचने के इच्छुक हैं तो वे एक ही पथ के पथिक कहे जाते हैं। ऐसे ही श्रमण व श्रावक दोनों ही एक मुक्ति मार्ग के पथिक हैं।

श्रावकशब्द के पर्यायवाची

जैनदर्शन में 'श्रावक' शब्द उस विशिष्ट व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है जो कि धर्म की आंशिक रूप से साधना करता है। स्थानांगसूत्र में धर्म के दो भेद बताये हैं—वे हैं श्रुतधर्म व चारित्रधर्म।[११] उसमें प्रथम श्रुतधर्म के दो भेद हैं सूत्ररूप श्रुतधर्म व अर्थरूप श्रुतधर्म। तदन्तर द्वितीय चारित्रधर्म के दो भेद किये हैं—"आगार चारित्रधर्म व अनगार चारित्रधर्म।" आगार का अर्थ होता है 'गृह'। जो व्यक्ति गृह में रहता हुआ धर्म की साधना करता है उसके धर्म को आगार चारित्रधर्म कहते है।[१२] इसीलिए 'श्रावक' का एक पर्यायवाची शब्द आगारिक भी होता है।[१३] जैनागमों में अधिकतर श्रावक शब्द के लिए श्रावक एवं श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग हुआ है। 'श्रावक' शब्द 'श्रृ' धातु से निष्पन्न हुआ है उसका तात्पर्य है श्रद्धापूर्वक निर्ग्रंथ प्रवचन सुनने वाला। किन्तु श्रावक केवल सुनता ही नहीं, यथाशक्ति उसका आचरण करता है अतः श्राद्धविधि ग्रन्थ में 'श्रावक' शब्द के तीन अक्षरों से तीन तात्पर्य बताये हैं, वह हैं 'श्रा' का अर्थ श्रद्धापूर्वक तत्त्वार्थ श्रवणकर्ता। 'व' का अर्थ सत्पात्रों में अशनादि दानरूप बीज का वपन करने वाला एवं 'क' का तात्पर्य सुसाधु की सेवा के द्वारा पापकर्म दूर करने वाला। इस प्रकार संक्षिप्त में **'श्रा'—श्रद्धावान 'व'—विवेकी 'क'—क्रियावान** यह तीनों अक्षरों का तात्पर्य है।[१४] उत्तराध्ययनसूत्र में 'श्रावक' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे—'चम्पानगर में पालित नाम का श्रावक रहता था।'"[१५] भगवतीसूत्र व उपासकदसांगसूत्र में अनेक स्थलों पर श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे "श्रावस्ती नगरी में बहुत शंख प्रमुख श्रमणोपासक निवास करते थे।"[१६] इस प्रकार "श्रावक" शब्द के श्रमणोपासक, आगारिक, देशविरत, गृहस्थधर्मी, बालपंडित, संयतासंयति, व्रताव्रती, प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी इत्यादि अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं।

श्रावक की प्रतिज्ञाएँ

श्रावक-जीवन एक विशिष्टतम जीवन है। यह जीवन मानव को जन्म से ही प्राप्त नहीं होता अथवा किसी श्रावक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कुल में जन्म लेने से कोई श्रावक नहीं कहला सकता। चाहे नाम से वह श्रावक कहा भी जाए किन्तु कर्म से वह श्रावक नहीं हो सकता। अतः श्रमणधर्म की तरह श्रावकधर्म की भी विशिष्ट प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं। श्रावकधर्म की प्रतिज्ञा ग्रहण करने पर उसको नवजीवन प्राप्त होता है। सूत्रों में श्रमणोपासक का नया जन्म माना जाता है। वह श्रमणोपासक जीव-अजीव का ज्ञाता होता है, पुण्य-पाप को समझकर अपने योग्य कर्म को करता है। उसका जीवन समाज की दृष्टि में विश्वासपात्र होता है। यदि वह राजाओं के अन्तःपुर में भी प्रवेश करे तो उसके चरित्र के प्रति सभी का आदर व विश्वास होता है। दानपात्र के लिए उसका गृह द्वार सदा अनावृत रहता है। श्रमण निर्ग्रन्थों को वह सदैव अशन-पान खादिम, स्वादिम आहार व वस्त्र पात्र, निवासार्थ मकान, कम्बल, पादपीठ, औषधी आदि चौदह प्रकार का दान करके उनकी उपासना करता रहता है। अतः उसका श्रमणोपासक नाम एक सार्थक नाम है। श्रमणोपासकों के जीवन की विशिष्ट से विशिष्टतम चर्या का विवेचन उपासकदसांगसूत्र में सविस्तार दिया गया है। उस समय में वाणिज्यग्राम नगर के ईशान कोण में द्युतिपलाश नाम का उपवन था। वहाँ श्रमण भगवान महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ। उनके प्रवचन को सुनकर आनन्द नामक गाथापति ने गृहस्थधर्म धारण करने की इच्छा प्रकट की और भगवान महावीर के सान्निध्य में उसने द्वादश प्रकार के गृहस्थधर्म की निम्न प्रतिज्ञाएँ कीं।

प्रथम अहिंसा-व्रत की प्रतिज्ञा

प्रथम अहिंसाव्रत में श्रावक स्थूलप्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता है। यह प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिये दो करण तीन योग से किया जाता है।[13] अर्थात् निरापराध त्रसजीव की हिंसा वह मन, वचन व काया इन तीन योगों से न करता है न कराता है। सूत्रकार ने प्रथम अहिंसा व्रत का नाम 'स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत" बतलाया है इसका एक विशेष तात्पर्य है क्योंकि जीव तो त्रिकाल शाश्वत अजर अमर ध्रुव तत्त्व है उसका कभी अतिपात अर्थात् मृत्यु नहीं हो सकती अतः हिंसा करने वाला व्यक्ति जीवातिपात नहीं कर सकता किन्तु जीव के साथ जो शरीर इन्द्रियाँ आदि दस प्राण हैं, उन्हीं को अलग करता है। 'स्थूल' का तात्पर्य यहाँ पर 'निरपराध त्रसजीव' की हिंसा से है। क्योंकि जीव दो प्रकार के हैं—त्रस एवं स्थावर। इनमें से श्रावक स्थावर अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, एवं वनस्पति इन एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि वह भिक्षा के द्वारा तो उदर-पोषण नहीं करता है अतः अन्नोत्पादन के लिये वह खेती करता है, उपवन लगाता है, कूप खुदवाता है, महल-भवन बनाता है, भोजन बनाता है विवाह में प्रीतिभोज आदि कार्य करता है। इनमें एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा अवश्यम्भावी है अतः वह त्रसजीव अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का त्याग करता है।[14]

सर्वविरति और देशविरति की अहिंसा में अन्तर

जैन श्रमण सर्वविरति साधक होता है उसकी अहिंसा परिपूर्ण होती है। वह त्रस एवं स्थावर—दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग करता है। श्रावक त्रसजीव की हिंसा का ही त्याग करता है अतः बीस विस्वा की अहिंसा में दस विस्वा की अहिंसा कम हो गई। त्रस की अहिंसा में भी दो भेद हैं—आरम्भजा और संकल्पी। श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग कर सकता है किन्तु खेत खोदते, मकान बनाते इत्यादि आरम्भ करते समय अनजान में त्रस की हिंसा हो सकती है अतः वह आरम्भजा हिंसा का भी त्याग नहीं कर सकता। स्थावर का आरम्भ करते समय त्रस की हिंसा अवश्यम्भावी है। अतः दस में पाँच विस्वा और कम हुए। आरम्भजा हिंसा के भी दो भेद हैं—सापराधी और निरपराधी। श्रावक केवल निरपराधी त्रसजीव की दया पालता है क्योंकि वह चोर को, व्यभिचारी को, हत्यारे को यथोचित दण्ड दे सकता है। यदि वह राजा हो या राजा का सैनिक हो तो अपने प्रतिपक्षी अन्यायी अपराधी राजा व उसकी सेना के साथ युद्ध भी करता है। भगवतीसूत्र में भगवान महावीर के शिष्य श्रमणोपासक महाराजा चेटक एवं उनके सैनिक वरुण नाग-नप्तुवा ने युद्ध किया था। अतः ५ विस्वा अहिंसा में ढाई विस्वा अहिंसा और कम हो गई। निरपराधी की हिंसा के भी दो भेद हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष अर्थात् सकारण और अकारण, सप्रयोजन एवं निष्प्रयोजन। श्रमण दोनों तरह की अहिंसा का पालन करता है किन्तु श्रावक निष्प्रयोजन अहिंसा का पालन कर सकता है, सप्रयोजन अहिंसा का नहीं। जैसे हाथी को चलाते समय अंकुश लगाते हैं घोड़े को चाबुक, बैल को दण्ड प्रहार करते हैं अपने एवं अपने पारिवारिक जन एवं गाय बैल आदि पशु के शरीर में कृमि उत्पन्न होते हैं तो उनको औषधि प्रयोग से दूर करते हैं इससे ढाई विस्वा अहिंसा में भी उसके सवा विस्वा अहिंसा शेष रहती है। किन्तु जब कभी श्रावक सामायिकव्रत या प्रतिपूर्ण पौषध आदि विशेष प्रतिज्ञा ग्रहण करता है तो उस समय कुछ समय के लिये वह श्रमणवत परिपूर्ण अहिंसा का भी पालन कर सकता है इसीलिये उसकी अहिंसा भी देशविरति की अहिंसा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय स्थूलमृषावादविरमणव्रत

प्रथम व्रत की प्रतिज्ञा के पश्चात् श्रावक द्वितीय व्रत की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है। उसमें वह स्थूलमृषावाद का यावज्जीवन के लिये त्याग करता है।[१९] स्थूल हिंसा-त्याग के सदृश ही वह दो करण व तीन योग से झूठ बोलने का त्याग करता है, अर्थात् न वह स्वयं स्थूलमृषा बोलता है और न किसी अन्य को बोलने के लिए प्रेरित करता है।

तृतीय अदत्तादान विरमणव्रत

तत्पश्चात् स्थूल अदत्तादानविरमणव्रत की प्रतिज्ञा करता है। यावज्जीवन के लिये वह स्वयं न करता है न कराता है मन, वचन व काया से।

चतुर्थ स्वदार-संतोषव्रत

तत्पश्चात् श्रावक स्वस्त्री-संतोषव्रत की प्रतिज्ञा करता है एवं संसार की अन्य समस्त स्त्रियों का परित्याग करता है। आनन्द श्रावक ने एक अपनी शिवानन्दा पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के लिये ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था। स्व-स्त्री में भी संतोष अर्थात् मर्यादा रक्खी जाती है जैसे पर्वतिथियों एवं दिन के समय ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

पञ्चम इच्छापरिमाण अपरिग्रह व्रत

परिग्रह अनेक प्रकार के हैं किन्तु उसमें पाँच मुख्य है :—हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, वास्तु, धन धान्य एवं कुविण अर्थात् कुर्सी, पलंग, आदि अनेक गृहोपयोगी आवश्यक सामग्री इन सभी की मर्यादा की जाती है।

षष्ठम दिशापरिमाणव्रत

इस व्रत में छह दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा की जाती है।

सप्तम उपभोग-परिभोगपरिमाणुव्रत

अन्य ग्यारह व्रतों की अपेक्षा इस व्रत में जीवन की सभी आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा अत्यधिक विस्तार से बताई गई है। उपभोग का तात्पर्य है जो वस्तु एक बार ही उपयोग में आती है जैसे कि अन्न-जल आदि और परिभोग का तात्पर्य है एक ही वस्तु अनेक बार उपयोग में आ सके जैसे—मकान, वस्त्र, आभूषण स्त्री आदि। इस व्रत में विशेषतया छब्बीस प्रकार की वस्तुओं का वर्णन है वे निम्न हैं—

(१) **उल्लणियाविहि**—गीले शरीर को पोंछने के तोलिये आदि का परिमाण।

(२) **दन्तवणविहि**—दन्त शुद्ध करने के साधनों की संख्या की मर्यादा करना जैसे—नीम, जेठीमूल, बोर-जड़ी आदि।

(३) **फलविहि**—आम, अनार, अंगूर, पपीता, मोसम्बी, केला, निम्बु, जामुन, खरबूजा, तरबूजा आदि फलों की संख्या की सीमा रखना।

(४) **अब्भंगणविहि**—मालिश करने के लिए शतपाक, सहस्रपाक, सरसों का तेल, आँवले का तेल आदि विलेपनीय वस्तुओं की नियमित संख्या रखना।

(५) **उव्वट्टणाविहि**—उद्वर्तन करना अर्थात् पीठी करने के द्रव्य गेहूँ, चने, जौ आदि का आटा केसर, चन्दन, बदाम क्रीम आदि वस्तुओं की अमुक संख्या रखना।

(६) **मज्जणविहि**—स्नान करने के लिए जल का नाप-तौल रखना जैसे घड़े, कलश, आदि संख्या में इतने लीटर जल।

(७) **वत्थविहि**—वस्त्रों की अनेक जातियाँ होती हैं जैसे—रेशम, सन, कपास आदि अथवा चीन, अमेरिका, यूरोप, जापान आदि अनेक देशों में उत्पन्न वस्त्रों की जाति की मर्यादा करना।

(८) **विलेवणविहि**—स्नान के पश्चात् देह सजाने के लिए केसर चन्दन तेल आदि लगाने की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना।

(९) **पुप्फविहि**—फूलों की अनेक जातियाँ हैं जैसे—गुलाब, चमेली, चम्पा, मोगरा, सूर्यमुखी आदि फूलों की निश्चित जाति संख्या में पहनने के लिए मर्यादा करना।

(१०) **आभरणाविहि**—शरीर को अलंकृत करने के लिए किरीट, कुण्डल, कंगन, करमुद्रिका आदि अनेक प्रकार के भूषण होते हैं उनकी संख्या में कमी करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(११) **धूवणविहि**—महल सुवासित करने अगरबत्ती आदि धूप देने की वस्तुओं की संख्या कम करना।

(१२) **भोयणविहि**—पेय पदार्थों की मर्यादा।

(१३) **भक्खणविहि**—भक्ष्य—खाने योग्य वस्तुओं की संख्या नियमित करना।

(१४) **ओदणविहि**—चावल, खिचड़ी, दूधपाक, थूली, खीच, खीचड़ा, मक्की, गेहूँ, आदि का रोटी के अतिरिक्त खाद्य की मर्यादा करना।

(१५) **सूयविहि**—दालों की गिनती रखना जैसे—उड़द की दाल, मूँग की दाल, तुवर की दाल, मसूर की दाल आदि की मर्यादा।

(१६) **घयविहि**—घृत, दूध, दधि, गुड़, शर्करा, नवनीत आदि विगयों में प्रतिदिन एक या दो कम करके मर्यादा करना।

(१७) **सागविहि**—लौकी, टमाटर, भिण्डी, तुरई, ककड़ी इत्यादि सब्जियों की संख्या नियमित करना।

(१८) **माहुराविहि**—काजु, बिदाम, पिस्ता, अञ्जीर, चारोली आदि खाने के मेवा की संख्या नियमित रखना।

(१९) **जेमणविहि**—भोजन के पदार्थों की मर्यादा।

(२०) **पाणियविहि**—पीने के जल का प्रतिदिन नाप रखना।

(२१) **मुहवासविहि**—लौंग, इलायची, पान सुपारी आदि मुखशोधक पदार्थों की निश्चित संख्या रखना।

(२२) **वाहणविहि**—बैलगाड़ी, इक्का, रथ, मोटर, रेल, वायुयान, अश्व, गज, ऊँट, आदि यात्रा के वाहनों की संख्या का नियम।

(२३) **उपानतविहि**—पैर रक्षक जूते आदि।

(२४) **शयनविधि**—शय्या, पलंग आदि।

(२५) **सचित्तविधि**—सचित्त वस्तुओं की मर्यादा।

(२६) **द्रव्यविधि**—द्रव्यों की मर्यादा।

अष्टम अनर्थदण्डविरमणव्रत

निरर्थक पापाचार से बचने के लिए इस व्रत की व्यवस्था की गई है। इस व्रत में चार तरह के कार्यों का त्याग किया जाता है, वह है—"अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंस्रप्रदान एवं पापकर्मोपदेश। (१) अपध्यानाचरित—अपने से प्रतिकूल व्यक्तियों के विनाश का विचार करना जैसे अमुक व्यक्ति का धन नष्ट हो जाय, पुत्र मर जायें इत्यादि क्रूर चिन्तन का परित्याग करना एवं अपने प्रियजनों की मृत्यु होने पर, सम्पत्ति का नाश होने पर निरर्थक चिन्ता में घुलते रहना इन दोषों से बचना इस व्रत का उद्देश्य है (२) प्रमादाचरित—शुभ कार्यों में आलस्य न करना (३) हिंस्र प्रदान—क्रूर व्यक्तियों को शिकार खेलने के लिए शस्त्रास्त्र देना (४) पापकर्मोपदेश—निरपराधी मनुष्य या पशु को हास्य या क्रीड़ा के लिए मारने का उपदेश करना या वेश्यावृत्ति को प्रेरणा देना।[२०]

व्रतों के अतिचार

अपने व्रतों की सुरक्षा करने के लिए श्रावक को उन व्रतों के दोषों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। अतिचारों के सेवन करने पर श्रावक अपने व्रतों का आंशिक रूप से उल्लंघन करता है। उपासकदशांगसूत्र में श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने आनन्द श्रावक को श्रावकधर्म की प्रतिज्ञा कराते समय अपने श्रीमुख से द्वादशव्रतों के साठ अतिचारों का निरूपण किया है। उन्होंने कहा—स्थूल प्राणातिपातविरमणव्रत के पाँच अतिचार श्रावक को जानने योग्य हैं किन्तु समाचरित करने योग्य नहीं है, वे हैं—बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार एवं भक्तपान का विच्छेद।[२१]

(१) **बन्ध**—अपने आश्रित किसी भी मनुष्य या पशु को कठोर बन्धन में बाँधना, उसकी शक्ति से अधिक कार्य लेना, अधिक समय तक रोक रखना, अनुचर आदि को अवकाश के समय उसके घर नहीं जाने देना इत्यादि। विवाहोत्सव, मृत्युभोज, आदि सामाजिक उत्सवों में निर्धन व्यक्तियों पर अनुचित आर्थिक भार डालना भी एक सामाजिक बन्धन है। अतः शारीरिक बन्धन के अतिरिक्त वाचिक, मानसिक, वैचारिक, सामाजिक, आर्थिक आदि अनेक कार्य भी बन्धन है।

(२) **वध**—निरपराधी मनुष्य या पशु का क्रीड़ा हास्य तथा अन्य कारण से दण्ड, असि, आदि से गाढ़ प्रहार या सर्वथा प्राणरहित करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) **छविच्छेद**—किसी भी प्राणी के अङ्गोपाङ्ग का छेदन करना अथवा किसी मनुष्य की आजीविका नष्ट करवाना। अधिक कार्य लेकर पारिश्रमिक कम देना इस व्रत के दोष हैं।

(४) **अइभारे**—बैल, ऊँट, घोड़े आदि पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक भार लाद देना तथा अनुचर मनुष्यों से अधिक कार्य करवाना।

(५) **भक्तपानविच्छेद**—अपने आश्रित पशु या मनुष्यों को प्रमाण से कम भोजन पानी देना या अनुचर को कम वेतन देना इत्यादि। रुग्णता के समय वेतन या भोजनादि न देना।

इसी प्रकार द्वितीय या स्थूल मृषावाद विरमणव्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक के जानने योग्य हैं किन्तु आदरने योग्य नहीं हैं, वे हैं—सहसाभ्याख्यान, रहस्याभ्याख्यान, स्वदारमंत्रभेद, मिथ्योपदेश एवं कूटलेख प्रक्रिया।[२२] इनका तात्पर्य क्रमशः इस प्रकार है—(१) किसी पर चोरी, व्यभिचार आदि का बिना निर्णय किये कलंक लगाना (२) किसी की रहस्यमय गुप्त बात जान-बूझकर प्रकट करना अर्थात किसी के अपयश के उद्देश्य से अपने विश्वासपात्र व्यक्ति के साथ विश्वासघात करना (३) पति-पत्नी का पारस्परिक रहस्य उद्घाटन करना (४) हिंसा, असत्य, इत्यादि पाप कार्य में प्रवृत्ति का उपदेश करना (५) किसी को धोखा देने, झूठी लिखापढ़ी, झूठे हस्ताक्षर आदि करना।

स्थूल अदत्तादानविरमणव्रत के पाँच अतिचार त्यागने योग्य हैं वे इस प्रकार हैं—(१) **स्तेनाहृत**—स्वयं चोरी न करके अन्य चोर से चुराई वस्तु अपने पास रखना। (२) **तस्करप्रयोग**—अन्य व्यक्तियों को चोरी करने को प्रेरणा देना। (३) **विरुद्धराज्यातिक्रम**—राज्य के न्याययुक्त नियमों का उल्लंघन करना, व्यापार आदि में राज्य का कर न चुकाना, राज्यकर्मचारी का रिश्वत खाना, अर्थलोभ के लिए अपने देश के अहित में देशविरोधी कार्य करना आदि-आदि कार्य। (४) **कूटतुला-कूटमान**—नाप-तोल में कम देना व अधिक लेना। (५) **तत्प्रतिरूपकव्यवहार**—वस्तु में मिलावट करना जैसे दूध में पानी, असली घृत में डालडा, चावल में सफेद कंकर, हल्दी में पीली मिट्टी, शुद्ध तैल में अन्य तैल आदि।[२३]

स्वदारसंतोषव्रत के पाँच अतिचार है—(१) **इत्वरिकपरिगृहीतागमन**—अल्पकाल के लिए धन देकर रक्खी हुई स्त्री से सहवास करना (२) **अपरिहीतागमन**—वेश्या आदि के साथ सहवास करना (३) **अनंगक्रीड़ा**—अन्य कृत्रिम साधनों से कामसेवन करना (४) **परविवाहकरण**—अपनी संतति के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को विवाह में प्रोत्साहन देना, रस लेना। (५) **कामभोगतीव्राभिलाष**—विषयभोगों में तीव्र आसक्ति रखना।

स्थूल इच्छापरिमाण अपरिग्रह व्रत के पाँच अतिचार—

(१) क्षेत्रवस्तु के यथापरिमाण का उल्लंघन करना।
(२) हिरण्य सुवर्ण के यथापरिमाण का उल्लंघन करना।
(३) द्विपद-चतुष्पद के यथापरिमाण का उल्लंघन करना।
(४) धन-धान्य के यथापरिमाण का उल्लंघन करना।
(५) कुप्य का यथापरिमाण का उल्लंघन करना।

दिशाव्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—
(१) ऊर्ध्वदिशा के परिमाण का अतिक्रम करना।
(२) अधोदिशा के परिमाण का अतिक्रम करना।
(३) तिर्यक्दिशा के परिमाण का अतिक्रम करना।
(४) एक दिशा में क्षेत्र घटाकर दूसरी दिशा में बढ़ाना।
(५) स्मृति में मर्यादा भूलने पर आगे बढ़ना।

उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत के भोजन सम्बन्धी पाँच अतिचार—
(१) सचित्त का आहार करना।
(२) सचित्त-प्रतिबद्धाहार—त्यागी हुई सचित्त वस्तु से मिश्रित का आहार करना।
(३) अपक्वाहार अर्थात् अधकच्चे फल या अग्नि पर पूरी तरह से नहीं पके हुए अन्न या फल का उपयोग करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) दुष्पक्वाहार—अर्ध पक्व वस्तु का आहार करना।

(५) तुच्छोषधिभक्षण—जो वस्तु अधिक मात्रा में फैंकने योग्य हो और अल्पमात्रा में खाने योग्य हो ऐसी वस्तु खाना।

कर्म से पन्द्रह कर्मादान के द्वारा व्यापार करना श्रमणोपासकों के लिए अतिचार स्वरूप है, वह निम्न है[२५]—

(१) **अंगारकर्म**—अग्नि सम्बन्धी व्यापार जैसे कोयले बनाना आदि।

(२) **वनकर्म**—वनस्पति सम्बन्धी व्यापार जैसे वृक्ष काटना आदि।

(३) **शाटककर्म**—वाहन का व्यापार जैसे मोटर, ताँगा आदि बनाना।

(४) **भाटकर्म**—वाहन आदि किराये देना।

(५) **स्फोटकर्म**—भूमि फोड़ने का व्यापार, जैसे खानें खुदवाना, नहरें बनाना, मकान बनाना आदि सम्बन्धित व्यापार।

(६) **दन्तवाणिज्य**—हाथी दाँत आदि का व्यापार।

(७) **लाक्षावाणिज्य**—लाख आदि का व्यापार।

(८) **रसवाणिज्य**—मदिरा, गोला गुड़ आदि का व्यापार।

(९) **केशवाणिज्य**—बालों व बालवाले प्राणियों का व्यापार।

(१०) **विषवाणिज्य**—जहरीले पदार्थ एवं हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार।

(११) **यन्त्रपीडनकर्म**—हिंसक मशीनें बनाकर बेचना।

(१२) **निर्लाञ्छन कर्म**—प्राणियों, अवयवों के काटकर बेचने का व्यापार।

(१३) **दावाग्नि दान**—जंगल, खेत, पर्वत में अग्नि लगाने का कार्य।

(१४) **सरोहृदतड़ाग शोषणता कर्म**—सरोवर, ह्रद, तालाब आदि में जल सुखाने का कार्य करना।

(१५) **असतीजन पोषणता कर्म**—कुलटा स्त्रियों का पोषण करके उनसे अर्थ लाभ करना एवं हिंसक, चोर आदि अवांछनीय व्यक्तियों को प्रोत्साहन देना।

इस प्रकार सातवें उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत के भोजन सम्बन्धी पाँच अतिचार एवं कर्म सम्बन्धी पन्द्रह अतिचार कुल मिलाकर बीस अतिचार होते हैं।

अनर्थदण्ड विरमणव्रत के पाँच अतिचार निम्न हैं—

(१) **कन्दर्प**—विकारवर्धक वचन बोलना, सुनना व वैसी चेष्टाएँ करना।

(२) **कोत्कुच्य**—भाण्डों के समान हास्य व विकारवर्धक चेष्टा करना।

(३) **मौखर्य**—वाचालता बढ़ाना, निरर्थक मनगढ़न्त असत्य व कल्पित बातें कहना।

(४) **संयुक्ताधिकरण**—अनावश्यक हिंसक अस्त्रशस्त्रों का संग्रह रखना।

(५) **उपभोग-परिभोगातिरेक**—उपभोग-परिभोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना।

नवम सामायिकव्रत व उसके अतिचार—

(१) **मनोदुष्प्रणिधान**—सामायिक के समय मन में आत्मा से अन्य वस्तुओं के संयोग-वियोग की कल्पना करना।

(२) **वचनदुष्प्रणिधान**—सामायिक के समय निरर्थक सावद्य असत्य वचन बोलना।

(३) **कायदुष्प्रणिधान**—शरीर से सावद्य प्रवृत्ति करना।

(४) **स्मृत्यकरण**—सामायिक के समय की स्मृति न रखना।

(५) **अनवस्थितता**—सामायिक के समय मन में चंचलता रखना।

दशम देशावकाशिकव्रत व उसके अतिचार—

देशावकाशिकव्रत में देश और अवकाश दो शब्द हैं जिसका तात्पर्य होता है जितने क्षेत्र में आरम्भ-परिग्रह सावद्य व्यापार आदि की सीमा निश्चित की है, उस सीमा क्षेत्र के बाहर व्यापार आदि की कोई प्रवृत्ति न करना। इस व्रत में कुछ समय के लिये भी सावद्य प्रवृत्ति का भी त्याग किया जाता है अथवा प्रतिदिन के लिये कुछ ऐसे दैनिक नियम लिये जाते हैं जिससे अन्य सभी व्रतों का पोषण होता है। इसमें चतुर्दश नियम विशेषतया लिये जाते हैं, वे निम्न हैं—(१) **सचित्त**—अन्न, फल, आदि सचित्त वस्तुओं की संख्या नाप, तोल का प्रतिदिन निश्चित करना (२) द्रव्य—खाने पीने की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना। जितने स्वाद पलटे उतने द्रव्य माने जाते हैं, जैसे—पूरी, रोटी आदि (३)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विगय। घृत, तैल, दूध, दही, गुड़ आदि में एक या दो प्रतिदिन कम करना (४) **उपानह**—चप्पल, बूट, मोजे आदि की संख्या में कमी करना (५) **ताम्बूल**—पान, सुपारी, चूर्ण, आदि की मर्यादा (६) **वस्त्र**—प्रतिदिन पहनने की ड्रेसों की संख्या निश्चित करना (७) **कुसुम**—पुष्पों की जाति व इत्रादि सुगन्धित पदार्थों की मर्यादा (८) **वाहन**—हाथी, घोड़े, ऊँट, गाड़ी, रेल, मोटर, ताँगा, रिक्शा, वायुयान आदि चढ़ने के वाहनों की प्रतिदिन संख्या की मर्यादा (९) **शयन**—पर्यंक, शय्या की मर्यादा रखना। (१०) **विलेपन**—केसर, चन्दन, तेल आदि विलेपन की वस्तुओं की मर्यादा (११) **अब्रह्मचर्य**—अमुक समय के लिये मैथुन का त्याग करना (१२) **दिशा**—छह दिशा में यातायात की मर्यादा में और संकोच करना (१३) **स्नान**—स्नान के जल का नाप-तौल रखना, (१४) **भक्त**—निश्चित समय के लिये भोजनादि का त्याग। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) **आनयन प्रयोग**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मँगाना। (२) **प्रेष्य प्रयोग**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भेजना। (३) **शब्दानुपात**—स्वयं ने जिस क्षेत्र में जाने का त्याग किया हो, वहाँ अन्य व्यक्तियों को शाब्दिक संकेत समझाकर कार्य करना, जैसे—अनुचर एवं टेलिफोन आदि से व्यापार करना। (४) **रूपानुपात**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर अपना चित्र तथा मिट्टी, प्रस्तर, आदि की मूर्ति प्रतिकृति आदि सांकेतिक वस्तुओं के द्वारा कार्य कराना। (५) **पुद्गल प्रक्षेप**—सीमा से बाहर कंकर, पत्थर, आदि कुछ वस्तु फेंककर किसी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना।

एकादश पौषधोपवास व्रत एवं उसके अतिचार

पौषधव्रत का विशिष्ट उद्देश्य है—आत्मा का पोषण करना। जैसे शरीर की तृप्ति का साधन भोजन है वैसे ही पौषध आत्मा की तृप्ति का साधन है। इस व्रत में शरीर के पोषण के सभी साधनों का परित्याग किया जाता है। इस व्रत की साधना करने के लिये श्रमणोपासक अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या एवं पूर्णिमा आदि एक महिने में निश्चित तिथियों के दिन अष्ट प्रहर आदि अमुक काल के लिये समस्त सांसारिक कार्यों से निवृत्त होता है। इस समय में वह चार प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा अब्रह्मचर्य आदि समस्त पापजनक व्यापार का त्याग करके श्रमणवत जीवन साधना करता है। इस व्रत के पाँच अतिचार त्याज्य है वे इस प्रकार हैं—(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या संस्तारक (२) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक—इन दोनों का तात्पर्य है पौषधयोग्य स्थान का अच्छी तरह निरीक्षण न करना एवं उसका सम्यक् प्रमार्जन न करना। (३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रस्रवण भूमि—बिना देखे या अच्छी तरह बिना देखे लघुशंका आदि के स्थानों का प्रयोग करना। (४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चार-प्रस्रवण भूमि—मल-मूत्र त्यागने के स्थान को साफ न करना। (५) पौषधोपवास-सम्यगननुपालनता—पौषधोपवास के नियमों का अच्छी तरह से पालन न करना।

द्वादश अतिथिसंविभागव्रत एवं उसके अतिचार

भारतीय संस्कृति में अतिथि को देवतुल्य माना है। अतिथि का तात्पर्य है जिसके आने की तिथि निश्चित न हो वह अतिथि है। यह एक सामान्य अर्थ है किन्तु जिस अतिथि को देवतातुल्य माना जाय उस अतिथि का विशिष्टार्थ कुछ अन्य ही है। इस व्रत में सर्वोत्कृष्ट अतिथि 'श्रमण' को माना गया है। उन्हें जैनागमों में धर्मदेव के महत्त्वपूर्ण पद से अलंकृत किया है। श्रमणोपासक बारहवें व्रत में यह नियम अपनाता है कि अपने लिए बनी हुई वस्तु में से एक विभाग अतिथि के लिए रखता है। वह वस्तु चाहे भोजन हो, भवन हो, या वस्त्रादि हो। श्रमण सदैव नहीं आते अतः इस व्रत का उपासक अपने स्वधर्मी अन्य श्रमणोपासकों, दीन-असहायों को भी दान-पात्र समझता है। किन्तु सर्वोत्कृष्ट अतिथि श्रमण को ही माना है। आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र में इस सर्वोत्कृष्ट पात्र के उद्देश्य से ही इस व्रत में दान की विशेष विधि, देय-द्रव्य, देने वाला दातार एवं दान ग्रहण करने वाला सत्पात्र इन चार विषयों की विशेषता के कारण दान भी विशिष्ट माना है।[२८] जैसे उपजाऊ धरती में बोया गया बीज अनेकगुणा फल देता है। दान लेने वाले सत्पात्र की अपेक्षा इस व्रत से दाता को भी अधिक लाभ है इसीलिये तत्वार्थसूत्रकार ने अतिथिसंविभागव्रत का विवेचन करते हुए बताया है कि दाता "अपने अनुग्रह के लिए वस्तु पर स्व का उत्सर्ग करता है अर्थात् ममत्व का त्याग कर निस्वार्थ भाव से जो वस्तु देता है वह दान है।"[२९] ऐसे निस्वार्थ भाव से देनेवाले मुधादानी एवं निस्वार्थभाव से लेनेवाले मुधाजीवी दोनों ही महार्घ एवं अतिदुर्लभ है। ऐसे दान दाता और दान लेनेवाले दोनों ही सद्गति के अधिकारी बनते हैं। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं। दान के इन पाँच दोषों को देखने से ही यह ज्ञात होता है कि अतिथिसंविभागव्रत में दिये गये दान का वास्तविक अधिकारी श्रमण है, जो मोक्षमार्ग का साधक है एवं स्वपर का उद्धारक है। फिर भी अनुकम्पा से अन्य को देने का निषेध नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं, वे ये हैं—

(१) **सचित्त निक्षेप**—दान योग्य अचित्त आहार में सचित्त वस्तु मिलाना।

(२) **सचित्तपिधान**—अचित्त वस्तु को सचित्त से ढक रखना।

(३) **कालातिक्रम**—समय पर दान न देना, असमय में दान की भावना करना।

(४) **परव्यपदेश**—देने की भावना न होने से अपनी वस्तु को दूसरे की कहना अथवा दूसरे की वस्तु को अपनी कहना।

(५) **मात्सर्य**—ईर्ष्या व अहंकार की भावना से दान देना।

इस प्रकार गृहस्थधर्म के द्वादश व्रतों के कुल साठ अतिचारों का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त सम्यक्त्व के पाँच अतिचार एवं संलेखना के पाँच अतिचार और हैं उन सभी को सम्मिलित करने पर श्रमणोपासक के जीवन में सत्तर नियमों की एक व्यवस्थित सूची हो जाती है जो कि उसके जीवन उन्नयन के विशिष्ट सोपान हैं। उसमें सम्यक्त्व के पाँच अतिचार निम्न है—(१) **शंका**—आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष—संसार इत्यादि सर्वज्ञकथित तत्वों में सन्देह रखना (२) **कांक्षा**—अपने शुभकृत्य के फल स्वर्गादि की आकांक्षा रखना (३) **वितिगिच्छा**—सर्वज्ञकथित श्रमणादि के आचार से घृणा करना। (४) **पर-पाखण्डप्रशंसा**—जिनोक्त सिद्धान्त से विपरीत तत्त्वों की प्रशंसा करना (५) **पर-पाखण्डसंस्तव**—मिथ्यावाद का परिचय।

अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना व उसके अतिचार

जीवन के अन्तिम समय में एक विशेष प्रकार की साधना की जाती है उसे अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना कहते हैं। मरते समय अज्ञानी जीव शारीरिक-मानसिक वेदना से छटपटाते रहते हैं। इस वेदना का एक प्रमुख कारण है, वह है—आसक्ति अर्थात् आत्मा की ममता तन, धन या परिवार के प्रति होती है और जब उनसे वियोग होता है तो आत्मा मानसिक वेदना से दुःखी होता है। किन्तु संलेखनाव्रत में इस दुःख के समूल नाश का उपाय किया जाता है क्योंकि आत्मा का वास्तविक स्वरूप ज्ञात होने पर देहादि की आसक्ति कम हो जाती है और मानव हँसते-हँसते मृत्यु का स्वागत कर सकता है। इसीलिए संलेखना का अपर नाम समाधिमरण एवं पण्डितमरण भी है। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—

(१) **इहलोकाशंसाप्रयोग**—इस लोक में राजा, श्रेष्ठि इत्यादि पद, सत्ता की आकांक्षा रखना।

(२) **परलोकाशंसाप्रयोग**—संलेखना का तप कर उसके फलस्वरूप परलोक में स्वर्ग, देव, इन्द्र आदि भोगोपभोगों को पाने की इच्छा करना।

(३) **जीविताशंसाप्रयोग**—बहुत समय जीवित रहने की कामना।

(४) **मरणाशंसाप्रयोग**—रोगादि कष्ट से छूटने के लिए शीघ्र मरने की इच्छा।

(५) **कामभोगाशंसाप्रयोग**—इन्द्रिय-विषयों की तृष्णा रखना।

श्रमणोपासक की चार विश्रान्तियाँ

स्थानांगसूत्र में श्रमणोपासक के लिए चार विश्राम बताये गये हैं।[31] भारवाहक जैसे वस्त्र, काष्ट, सुवर्ण रत्नादि किसी पदार्थ के भार को एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाता है तो मार्ग में चार विश्राम लेता है। जैसे—भार को एक कंधे से दूसरे कंधे पर रखना प्रथम विश्राम, भार को किसी एक स्थान पर रखकर मलमूत्रादि बाधा दूर करना यह द्वितीय विश्राम, नागकुमार सुपर्णकुमार आदि देवस्थान के आवास में अथवा विश्रामगृह या किसी भी धर्मशाला में उपवनादि में ठहरकर भोजनपान करना, घड़ी, प्रहर अथवा रात्रि विश्राम लेना यह तृतीय विश्राम है। भार को यथास्थान पहुँचाकर भार से सर्वथा निवृत्त होना यह चतुर्थ विश्राम है। श्रमणोपासक भी ऐसे सांसारिक कृत्यों को अर्थात् तन, धन, परिवार के लिए होने वाले पाप कृत्यों को एक भार बोझ रूप समझता है। अतः उसे दूर करने एवं मुक्ति पाने के लिए वह श्रावकधर्म को विश्राम समझता है। भारवाहक जैसे ही श्रावक जब पाँच अणुव्रतरूप शीलव्रत, तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधादि व्रत ग्रहण करता है, यह प्रथम विश्राम है। जब वह सामायिक एवं देशावकासिक व्रत को सम्यग्तया पालता है तो यह द्वितीय विश्राम है। जब वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या एवं पूर्णिमा आदि तिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करता है तब वह तृतीय विश्राम लेता है। जब वह मृत्यु के अन्तिम समय में अपश्चिम संलेखना को धारण कर लेता है, भक्तपान का प्रत्याख्यान कर देता है एवं काल की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है तब चतुर्थ विश्राम होता है। इस प्रकार श्रावक चार तरह की विश्रान्तियों के द्वारा अपने व्रतों की परिपूर्ण आराधना करता है और जैसे भारवाहक भार को यथास्थान पहुँचाकर निवृत्त होता है वैसे ही श्रावक व्रतों के द्वारा अपूर्व आत्म-शान्ति को प्राप्त करता है।

श्रमणोपासकों का श्रमणों के साथ व्यवहार

श्रमणों के साथ श्रमणोपासकों का अनन्य सम्बन्ध होता है। श्रावक के बिना श्रमण का जीवन-निर्वाह असम्भव है। श्रावक श्रमण के जीवन में धर्म की सहायता करते हैं। स्थानांगसूत्र में श्रावकों के सम्बन्ध अनेक तरह के बताये हैं। कुछ सम्बन्ध आचरणीय हैं कुछ सम्बन्ध अनाचरणीय हैं। जैसे कुछ श्रावक श्रमणों के साथ पुत्रवत् वात्सल्य प्रीति रखते हैं वे उनकी सेवा भी करते हैं और उनके चरित्र में दोष देखने पर उन्हें माता-पिता की तरह हितशिक्षा भी देते हैं किन्तु अन्य के समक्ष उनकी निन्दा-विकथा का निवारण करते हैं।[३२] कुछ श्रावक श्रमणों के साथ भ्राता समान तथा मित्र समान व्यवहार रखते हैं ये तीनों व्यवहार श्रमणोपासकों के लिए उपादेय हैं। पर कुछ श्रावक सौत के सदृश छिद्रान्वेषण करके उनसे ईर्ष्या एवं शत्रुता का व्यवहार करते हैं। यह व्यवहार हेय है। इसी प्रकार स्थानांग में अन्य चार प्रकार के श्रमणोपासकों का भी उल्लेख है। वह इस प्रकार है—आदर्श-दर्पणसदृश, पताकासदृश, स्थाणुसदृश एवं खरकण्टक सदृश।[३३] इसमें से सर्वप्रथम आदर्श अर्थात् दर्पणसदृश श्रावक आदरणीय होते हैं जैसे दर्पण अपने समीपवर्ती पदार्थों के यथातथ्य प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है वैसे ही श्रावक भी गुरुप्रदत्त तत्त्वज्ञान के उपदेशों को यथावत् धारण करता है। द्वितीय पताकासदृश श्रावक भी अनादरणीय है क्योंकि जैसे ध्वजा-पताका पवन के प्रबल झोंकों से कभी पूर्व तो कभी पश्चिम की ओर उड़ती है इसी प्रकार जो श्रावक सत्य का उपदेश सुनकर कभी उस पर श्रद्धा कर लेता है तो कभी असत्य का उपदेश श्रवणकर उस पर भी श्रद्धा कर लेता है ऐसी चंचल श्रद्धा वाला श्रावक पताकासदृश कहलाता है। जो श्रावक अपने असदाग्रह का कभी त्याग नहीं करता है तथारूप सद्गुणी श्रमणों को भी अपने मिथ्याभिमान के कारण झुकता नहीं है, वंदन नहीं करता है ऐसा ठूंठ-स्थाणुवत् श्रावक भी हेय है। जैसे खरकण्टक का जो भी स्पर्श करता है उसी को चुभता है इस प्रकार जो श्रावक श्रमणों के प्रति अप्रीतिकारी तीक्ष्ण चुभता काँटे-सा व्यवहार करता है वह श्रावक खरखण्टक कहा जाता है यह व्यवहार भी हेय है, त्याज्य है।

श्रमणोपासक के तीन मनोरथ

जिस प्रकार साधारण व्यक्ति अनेक वस्तुओं की प्राप्ति की आकांक्षा किया करते हैं। जैसे—मुझे इतना धन प्राप्त हो, पुत्र हो, महल हो, उपवन हो, मुझे श्रेष्ठि, राजा इत्यादि उच्च पद प्राप्त हो। किन्तु श्रमणोपासक इन सभी वस्तुओं को अपनी नहीं मानता है चाहे वह राजा के सम्माननीय सिंहासन पर हो तब भी उसे अनित्य मानता है। उसे संसार की किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती। किन्तु उसे जो इच्छाएँ होती हैं वे इतनी उत्कृष्ट होती हैं कि उनकी सफलता होने पर उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। प्रथम मनोरथ में श्रावक यह चिन्तन करता है कि कब मैं अल्प या बहुत अधिक परिग्रह का परित्याग करूँगा। यह चिन्तन सांसारिक जीवों से सर्वथा विपरीत है क्योंकि सांसारिक आत्मा सदैव धन-सम्पत्ति पाने की तृष्णा में उलझा रहता है किन्तु श्रमणोपासक मुक्ति का साधक होता है और वह इन सांसारिक वस्तुओं को दुःखरूप मानता है। जब इनसे निवृत होता है तब वह आत्म-शान्ति का अनुभव करता है। द्वितीय मनोरथ में श्रावक यह चिन्तन करता है कि कब मैं गृहस्थ अवस्था का त्याग करके सम्पूर्ण पापों से रहित अनगार बनकर विचरण करूँगा। तृतीय मनोरथ में श्रावक यह चिन्तन करता है कि—कब मैं जीवन के अन्तिम समय में अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना जोषणाजोषित करके काल अर्थात् मृत्यु की इच्छा से भी रहित होकर विचरण करूँगा। इस प्रकार इन तीनों मनोरथ में किसी भी सांसारिक वस्तु की कामना नहीं है किन्तु सांसारिक वस्तुओं से परित्याग की भावना है अतः इन मनोरथों को चिन्तन करने वाला श्रमणोपासक अपने पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करके उसके फल-स्वरूप महापर्यवसान अर्थात् भव भ्रमण की परम्परा का अन्त कर देता है क्योंकि जिसकी जैसी भावना होती है उसका फल वैसा ही होता है। "याहशी भावनायस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" इस उक्ति के अनुसार श्रावक इस भावना को जब मन, वचन, काया से प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करता है तब वह संसार का अन्त कर सिद्धि प्राप्त करता है।

श्रमणोपासकों की धर्मदृढ़ता

श्रमणोपासक एक बार जिन व्रतों को ग्रहण करता है, उस प्रतिज्ञा को जीवन भर पालन करता है। यदि उस प्रतिज्ञा से उसे कोई देव, दानव या मानव विचलित करना चाहे तब भी वह चलित नहीं होता। उसकी श्रद्धा सुमेरु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वत् स्थिर रहती है जैसे सुमेरु प्रलय-पवन चलने पर भी हिल नहीं सकता इसी प्रकार श्रावक भी किसी भय अथवा प्रलोभन से अपने धर्म का परित्याग नहीं करता है। उपासकदशाङ्ग सूत्र के अनुसार कामदेव श्रावक अपने धर्म पर इतना सुदृढ़ था कि स्वयं भगवान महावीर ने उसकी प्रशंसा की। कामदेव श्रावक जब एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में धर्म-जागरणा कर रहा था उस समय उसके सम्मुख एक भयंकर रूपधारी पिशाच प्रकट हुआ। उसने अपने हाथों में तीक्ष्ण तलवार नचाते हुए कहा—अहो ! कामदेव ! यदि आज तुम अपने शीलव्रत प्रत्याख्यान पौषधोपवास का परित्याग नहीं करोगे तो मैं इस तलवार के द्वारा तुम्हारी देह के टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा जिससे असमय में ही तुम मृत्यु को प्राप्त करोगे। इस प्रकार तीन बार कहने पर भी कामदेव अपने धर्म से विचलित नहीं हुआ तब उस देव ने कामदेव के तन के टुकड़े-टुकड़े करके फिर यथावत् कर दिया, हाथी का रूप बना आकाश में उछाला, दन्तशूलों पर झेला, पैरों तले रौंदा, विशाल-काय सर्प बनकर हृदय पर डंक लगाया तथापि वह चलित नहीं हुआ तब वह पिशाच एक दिव्य रूप धारण करने वाला देव बना उसके अंग प्रत्यंगों पर किरीट कुण्डल कंगन आदि रत्नाभूषण चमक रहे थे और पैरों व कमर में स्वर्ण घुंघरू बज रहे थे। उसकी देह वस्त्र तथा आभूषणों के प्रकाश से प्रकाशित हो रही थीं। उस देव ने कामदेव की प्रशंसा करते हुए कहा[३५]—कामदेव ! तुम धन्य हो, पुण्यवान हो, कृतार्थ हो, कृतकृत्य हो कृतलक्षण हो, तुम्हें मनुष्य-जीवन का सुफल प्राप्त हुआ है, तुम्हारा जन्म सार्थक हो गया है, तुम्हारी निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर ऐसी अटूट श्रद्धा है। देवानुप्रिय ! स्वर्ग के अधिपति देवेन्द्र देवराज शक्र ने तुम्हारी धर्मश्रद्धा की प्रशंसा की है कि उसकी श्रद्धा को बदलने में कोई भी देव, दानव, गन्धर्व समर्थ नहीं है। वह कभी भी निर्ग्रन्थ प्रवचन से चलित, क्षुभित एवं उससे विपरीत भाव नहीं कर सकता है। इन्द्र की उस बात पर श्रद्धा न करके तुम्हारी परीक्षा लेने आया था और मैंने तुम्हारी धर्मऋद्धि को प्रत्यक्ष देखा है अब तुम मेरा अपराध क्षमा करो। इस प्रकार नमन कर वह देव स्वस्थान को चला गया इस प्रकार देव, असुर, मनुष्य तिर्यञ्च आदि के द्वारा अनेक श्रावकों की धर्मदृढ़ता की परीक्षाएँ हुईं किंतु वे अपने धर्म में ध्रुव तारे की तरह अटल रहे यद्यपि श्रमणोपासक देवादि के भयंकर उपसर्गों में भी अटल रहता है तथापि आगमों मे उसके लिए आठ आगारों का वर्णन मिलता है पर ये आगार केवल बाह्य दृष्टि से लोक-व्यवहार की शुद्धि के लिए रक्खे होंगे इन आगारों के समय भी उसकी आन्तरिक श्रद्धा अणुमात्र भी जिन प्रज्ञप्त धर्म से विपरीत नहीं हो सकती है। अन्य मिथ्या देव, गुरू व धर्म का स्वीकार बिना मन से वह विशेष परिस्थितियों के समय करता है। जैसे कि कार्तिक सेठ ने राजा की आज्ञा से तापस को अपनी पीठ पर खीर की स्वर्णथाल रखवाकर भोजन करवाया। उसने अच्छी तरह से स्पष्टीकरण कर दिया कि मैं राजाज्ञा से ही तपस्वी परिव्राजकका आदर-सम्मान कर रहा हूँ वास्तव में न इनको अपना गुरु स्वीकार करता हूँ और न इनको गुरु व धर्म मानकर नमस्कार ही करता हूँ। मैं एक गृहस्थ हूँ इस अवस्था में राजाज्ञा की अवहेलना करना मेरा कर्तव्य नहीं है। फिर भी गुरू तो मैं उन्हीं को स्वीकार करता हूँ जिनमें पञ्च महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति आदि जिनोक्त सत्ताईस मूलगुण हों। इसी प्रकार देव, गुरु व धर्म की मिथ्या मान्यता को वह कभी स्वीकार नहीं करता। स्वीकार न करने पर भी ये आगार व छूटें विशेष परिस्थिति को संलक्ष्य में रखकर रखी हैं।

श्रमणोपासकों के कुछ विशिष्ट गुण —

श्रमणोपासकों के कुछ गुण ऐसे विशिष्ट होते हैं जिन्हें प्रमुखता प्रदान की जाती है। भगवतीसूत्र में कुछ प्रत्याख्यान ऐसे बताये गये हैं जिन्हें मूलगुण प्रत्याख्यान कहते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें उत्तर गुण कहते है।[३६] मूल गुण वृक्ष के मूल की भाँति हैं और उत्तरगुण उसके पत्र, पुष्प व फल की तरह हैं। मूल नष्ट होने पर पत्र, पुष्प व फल की आशा नहीं रहती है। मूलगुण प्रत्याख्यान के दो भेद है—सर्वमूलगुण व देशमूलगुण प्रत्याख्यान। उसमें देशमूलगुण प्रत्याख्यान के पाँच भेद हैं—स्थूल प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण स्थूलमैथुनविरमण एवं स्थूल परिग्रहविरमणव्रत। इसी प्रकार देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान के सात भेद हैं, वे इस प्रकार हैं—दिशिपरिमाण, उपभोग, परिभोगपरिमाण, अनर्थदण्डविरमण, सामायिक, पौषधोपवास, अतिथिसंविभाग, अपश्चिममारणन्तिक संलेखना-झूसणा आराधना। यह श्रमणोपासकों के मूलगुण व उत्तरगुण हैं। इन गुणों के अतिरिक्त श्रावकों के अन्य आवश्यक गुणों का वर्णन भगवती के द्वितीय शतक पञ्चम उद्देशक तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों के वर्णन में है।[३७] वे विराट सम्पत्ति के अधिपति थे, साथ ही वे जीव-अजीव के ज्ञाता, यथायोग्य पुण्य-पाप को उपलब्ध करने वाले, आस्रव, संवर निर्जरा, क्रिया, अधिकरण व बन्ध-मोक्ष में कुशल थे। उनकी निर्ग्रन्थ प्रवचन पर इतनी सुदृढ़ श्रद्धा थी कि वे देव असुर नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर किम्पुरुष, गरुड़ गंधर्व, महोरग, आदि देवगणों से भी उनकी श्रद्धा अतिक्रमण नहीं होती थी। तथा उनकी कर्मवाद में ऐसी आस्था थी कि वे देवादि की सहायता भी स्वीकार नहीं करते थे निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति वे पूर्ण निशंक निष्कांक्ष तथा निर्विचिकित्सक थे अर्थात् धर्म के प्रति अरुचि एवं अप्रीति से रहित थे। उन्हें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमार्थ की उपलब्धि होने से वे लब्धार्थ, गृहीतार्थ, पृष्टार्थ एवं विनिश्चितार्थ थे। उनकी अस्थियाँ निर्ग्रन्थ धर्म के अनुराग से रञ्जित थीं। जब परस्पर धर्मचर्चा करते तो वे धर्म की प्रशंसा करते हुए कहते—आयुष्मान्! इस असार विश्व में एक निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सारभूत है, यही परमार्थ है इसके अतिरिक्त तन-धन इत्यादि समस्त वस्तुएँ तथा इसके विपरीत अन्य मत-मतान्तर निस्सार है, अनर्थ स्वरूप हैं। उनका हृदय स्फटिकमणि की तरह अत्युज्ज्वल था, उनके गृहद्वार दान देने के लिए नित्य अनावृत रहते थे। राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने पर भी उनके चरित्र पर किसी को अविश्वास नहीं था। वे बहुत शीलव्रत गुणव्रत विरमण प्रत्याख्यान एवं पौषध सहित उपवास करके दोनों अष्टमी चतुर्दशी पूर्णिमा अमावस्या इन षट तिथियों में धर्म की सम्यक् आराधना करते थे।

श्रमण निर्ग्रन्थों को वे प्रासुक एषणीक अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र प्रतिग्रह-पात्र, कम्बल, पाद प्रोंछन का वस्त्र विशेष, पीठफलक—सोने बैठने के पाट विशेष, शय्या, निवास करने का मकान तथा बिछाने का पलाल तृण शय्या इत्यादि श्रमणोपयोगी साधनों का दान करके उनकी सेवा उपासना करते थे। इस प्रकार दान, शील, तप आदि की यथाशक्ति आराधना करते हुए आत्मा में रमण करते थे।

श्रमणोपासकों के प्रत्याख्यान के विविध भेद

श्रमण के प्रत्याख्यान संपूर्ण होते हैं किन्तु श्रमणोपासकों के प्रत्याख्यान अपूर्ण और संपूर्ण अनेक भेद वाले होते है। भगवती में इसी अपेक्षा से श्रावकों के प्रत्याख्यान के उनन्चास भेद बताये हैं। उसमें तीन योग और तीन करण से किया गया एक भंग सम्पूर्ण है शेष सभी अपूर्ण हैं। जैसे—मन-वचन-काया इन तीन योगों से पाप कृत्य करना नहीं, कराना नहीं व अनुमोदन नहीं करना यह भंग मूल है। शेष एक करण एक योग, दो करण एक योग, तीन करण एक योग इत्यादि भंग बनते हैं। उनके अंक हैं—११-१२-१३।२१-२२-२३।३१-३२-३३

श्रमणोपासकों की गति

श्रमणोपासक की कभी दुर्गति नहीं होती है। क्योंकि उसके कर्म शुक्लपक्षी चन्द्र की तरह अत्युज्ज्वलता की वृद्धि करते हैं। यद्यपि उसमें अप्रत्याख्यान का कुछ कृष्णावरण अवशेष रहता है तथापि उसका लक्ष्य अन्धकार नहीं प्रकाश है। श्रमणोपासक मोहनीयकर्म की एकादश कर्म प्रकृतियों का क्षयोपशम करता है अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानी कषाय के चार-चार भेद, दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय एवं सम्यक्त्वमोहनीय की तीन प्रकृति। नरक और तिर्यंच की आयु, अनन्तानुबन्धीकषाय तथा अप्रत्याख्यानीकषाय के उदय में बँधती है। इन कषायों के अभाव में नरक-तिर्यंच की आयु का बंध नहीं होता है। भगवती के प्रथम शतक में श्रावक की आयु बँधने के विषय में प्रश्न किया गया है।[34] उसमें श्रावक को बालपण्डित बताया है इसका कारण है उसमें दो चौकड़ी कषाय का सद्भाव हैं इसलिये वह बाल है तथा दो चौकड़ी कषाय का अभाव है इसलिये उसे पण्डित कहा गया है। जब तक उसमें पूर्ण वीतरागता प्रकट नहीं होती तब तक वह पूर्णचन्द्र की तरह पूर्ण नहीं कहलाता है और पूर्ण वीतराग होने पर तो किसी भी गति का आयु बन्ध होता ही नहीं है। इसीलिये श्रमणोपासक अपनी साधना को यदि उसी सीमा तक रक्खे उससे आगे न बढ़ सके तो "उसे नरक-तिर्यंच-मनुष्य इन तीन गति की आयु नहीं बँधती है एकमात्र देवगति का आयुष्य बँधता है।" देवायु पूर्ण होने पर आनन्द कामदेवादि श्रावकों की तरह अनेक श्रमणोपासक मनुष्य का एक भव और करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। देवायु बन्ध का क्या कारण है। श्रमणोपासक उसी जीवन में मुक्ति प्राप्त क्यों नहीं करता है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि बालपण्डित मनुष्य तथारूप श्रमण ब्राह्मण के समीप एक भी आर्यधर्म का सुवचन सुनकर हृदय में धारण करता है और कुछ अंश में संसार के विषय अर्थात् देह-इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति प्राप्त करता है, कुछ अंश में देशतः अविरक्त रहता है। देशतः अर्थात् कुछ अंश में प्रत्याख्यान करता है कुछ अंश में प्रत्याख्यान नहीं करता है। इसीलिये इस देशविरति के कारण वह न तो नरक का आयुष्य बाँधता है न तिर्यञ्च का न मनुष्य का किन्तु एक मात्र देवायु का बंध करता है।

कुछ आदर्श श्रमणोपासक

तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की थी—श्रमण, श्रमणी, श्रमणोपासक एवं श्रमणोपासिका। उसमें से गौतम आदि चौदह सहस्र श्रमण थे। चन्दनबाला आदि छत्तीस सहस्र श्रमणियाँ थीं। आनन्द प्रमुख एक लक्ष उनसठ सहस्र श्रमणोपासक थे, और जयन्ती आदि तीन लक्ष, अट्ठारह सहस्र श्रमणोपासिकाएँ थीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवती, उपासकदशांग, ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में यत्र-तत्र अनेक श्रमणोपासकों की गौरव गाथाएँ अंकित हैं। जिससे उनके गम्भीर अध्ययन का भी पता चलता है। उदाहरण स्वरूप देखें—

ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक

ऋषिभद्रपुत्र श्रावक आलम्भिका नगर का निवासी था। एक बार श्रमणोपासकों की जिज्ञासा का समाधान करते हुए उसने कहा कि देवताओं की जघन्य स्थिति दस सहस्र वर्ष की है और उससे एक समय अधिक दो समय अधिक तीन समयाधिक ऐसे संख्यात असंख्यात समयाधिक बढ़ाते हुए उत्कृष्ट स्थिति तेत्तीस सागरोपम की है उससे आगे अधिक स्थिति के न कोई देव हैं, न देवलोक हैं उससे आगे देवलोग विच्छिन्न हैं। किन्तु ऋषिभद्र श्रावक के प्रस्तुत उत्तर पर अन्य श्रावकों को श्रद्धा, प्रतीति नहीं हुई। वे स्वस्थान गये। कुछ समय के पश्चात् नगर में श्रमण भगवान महावीर का पदार्पण हुआ। सभी श्रावक भगवान् को वन्दनार्थ उपस्थित हुए, प्रवचन सुना एवं अपनी शंका उनके सामने रखी। महावीर ने कहा—ऋषिभद्रपुत्र ने देवताओं की जो स्थिति बतलाई है वह सर्वथा सत्य है, मैं भी ऐसा ही कहता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ। वे श्रमणोपासक भगवान महावीर से यह सुनकर ऋषिभद्रपुत्र श्रावक के पास गये, वन्दन कर क्षमा-याचना की। गौतम गणधर ने ऋषिभद्र श्रावक के भविष्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया—यह श्रमण बनेगा या नहीं? भगवान महावीर ने कहा—नहीं श्रावक जीवन में ही तीन दिन का अनशन करके प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होगा। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य बन कर सिद्ध बुद्ध एवं मुक्त होगा।[३९] इसी प्रकार शंख पुष्कली, मद्रुक श्रावक, पिंगलक निर्ग्रन्थ, जयन्ती श्रमणोपासिका, आनन्द, कामदेव, चुल्लनीपिता, सुरादेव, कुण्डकोलिक, सकडाल पुत्र, महाशतक, नन्दनीपिता, सालिहीपिता आदि अनेक श्रावक हैं। विस्तार भय से उन सभी का वर्णन यहाँ नहीं दिया गया है।

बहुत ही संक्षेप में मैंने आगम साहित्य के आलोक में श्रावकाचार के सम्बन्ध में चिन्तन प्रस्तुत किया। श्रावकाचार पर आगम साहित्य के पश्चात् श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य मनीषी गणों ने अत्यधिक साहित्य का निर्माण किया है। आगम साहित्य में जो बातें सूत्र रूप में बताई गईं उन्हीं पर बाद में बहुत ही विस्तार से लिखा गया। आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में भी हम चिन्तन करें तो श्रावक के नियमोपनियम की आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी अतीत काल में थी। मेरी दृष्टि से उससे भी अधिक आवश्यकता है जीवन को शान्त और आनन्दमय बनाने के लिए।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

१ ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या आत्मा ब्रह्मैव नापरः।
२ पंचविहे आयारे पन्नत्ते तं जहा—नाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियारे —ठाणांग, ५ वां स्थान, उद्देशक २
३ जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥ —उत्तरा० गाथा १६
४ खणमित्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥ —उत्तरा० गाथा १३
५ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय १, सूत्र १
६ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। —तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १, सू० २
७ "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। —तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय १
८ नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुपत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥ —उत्त० २८, गाथा ३
९ नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥ —उत्त० अ० २८, गा० ११
१० देशसर्वतोऽणुमहती। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० ७, सू०२
११ दुविहे धम्मे—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव। —ठाणांग, सू० २ ठा०
१२ वही, स्था० २।२
१३ पुच्छिस्सुणं समणा माहणाय, 'आगारिणो' य परतित्थियाय"। —सूत्रकृतांग अ० ६
१४ श्रद्धालुतां याति पदार्थ चिन्तनाद्, धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।
किरत्यपुण्यानि सुसाधुसेवना, दत्तोपि तं श्रावक माहुरुत्तमा।" —श्राद्धविधि शा० श्लो० ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५ चम्पाए पालिए नाम, 'सावए' आसि वाणिओ ।
महावीरस्स भगवओ सीसे सोउ महप्पणो ॥ —उत्त० अ० २१

१६ (क) तत्थणं सावत्थीए नयरीए बहवे संखप्पामोक्खा समणोवासगा परिवसन्ति —भग० सू० श० १२ उ० १
(ख) समणोवासए जाए अभिगय जीवाजीवे उवलद्ध पुण्णपावे ।

१७ तएणं से आणन्दे गाहावइ समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए तप्पढमाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा ।

१८ जीव सुहुमथूला संकप्पा आरम्भ भवे दुविहा ।
सावराह-निरवराह सविक्खा एव निरविक्खा ॥

१९ तयाणन्तरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए ।

२० उपासकदशा १, २१ उपासकदशा १, २२ उपासकदशा १,

२३ उपासकदशा १, २४ वही, २५ वही

२६ उपासकदशा १,

२७ रूवाणुवाए बहिया पोग्गल पक्खेवे"—**उपासकदशा**

२८ विधिद्रव्यदातृपात्र विशेषात् ।

२९ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।

३० उपासकदशा १,

३१ भारं णं वहमाणस्स चत्तारि आसासा पण्णत्ता । —स्थानांग ४

३२ चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता तंज हा—अम्मापिउसमाणे, भाईसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाणे ।
—स्थानांगसूत्र, ठाणा ४

३३ स्थानांग सू० ठा० ४

३४ तिहिं ठाणेहिं समणोवासए महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ । —स्थानांग ३

३५ उपासकदशांग

३६ कइविहे णं भन्ते पच्चक्खाणे पन्नत्ते ? गोयमा दुविहे पन्नत्ते तं जहा—सव्वमूलगुण पच्चक्खाणे य देसमूलगुण पच्चक्खाणे य ॥ —भगवती सूत्र

३७ "असहेज्जदेवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खस्सकिन्नरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाएहिंदेवगणेहिंनिग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा णिग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिया, निव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता अयमाउसो निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, उसियफलिहा, अवंगुयदुवारा, चियंतेउरघरप्पवेसा बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमण-पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा" —भगवतीसूत्र श० २ उ० २५

३८ भगवती श० १ उ० ८

३९ भगवती सू० श० ११ उद्दे० १२

पुष्कर वाणी

साँप बिल में अकेला रहता है, बिल में प्रवेश करते समय बिलकुल सीधा हो जाता है। कैंचुली के साथ अनासक्त वृत्ति रखता है, उसे छोड़ देता है। अपने लक्ष्य (भक्ष्य) पर दृष्टि टिकाए रखता है।

साधक को सांप से शिक्षा प्राप्त होती है। कहीं भी रहे, मन में एकाकी वृत्ति रखे, व्यवहार में सदा सरल और सीधा रहे। कैंचुली की तरह देह को भिन्न समझकर उससे अनासक्त रहे और अपने लक्ष्य पर केन्द्रित रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साधना-पद्धति में ध्यान

साध्वी दर्शनप्रभा, बी० ए०

जीवन में मानवीय सद्गुणों के विवेकपूर्ण विकास की प्रक्रिया को साधना कहा है। साधना के कई रूप हैं, किन्तु सभी साधना-पद्धतियों का एक ही संलक्ष्य है—सद्गुणों का उत्कर्ष कर स्थायीसुख को प्राप्त करना। अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ना, अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति करना, मृत्यु से अमरत्व की ओर कदम बढ़ाना और विभाव से स्वभाव की ओर प्रगति करना। साधना का संलक्ष्य है पूर्णता की प्राप्ति। एक बार के प्रयत्न से पूर्णता नहीं आती। उसके लिए सतत प्रयास अपेक्षित है। ज्यो-ज्यों मोह की मात्रा कम होती है त्यों-त्यों साधक के कदम प्रगति की ओर बढ़ते हैं। साधना का समय एक अभ्यास का काल है। वह साधनाकाल में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यग्तप की आराधना कर आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी विजातीय तत्त्व को नष्ट करता है।

जैन साधना-पद्धति में ध्यान का सर्वोपरि स्थान है। ध्यान का अर्थ है मन को अनेक में से एक में, और एक से आत्मा में लीन कर देना। यह कठिन क्रिया है। इस क्रिया में जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को खपा दिया है वे भी कितना पथ पार कर सके हैं यह एक प्रश्न है। जो साधक यह मानते हैं कि हम घण्टों तक निर्विकल्प समाधि में अवस्थित रहते हैं, पर यह केवल उनके मन का भ्रम ही है। नाक के अग्रभाग पर, श्वास पर, या अन्य किसी भौतिक अवलंबन पर टिका हुआ मन उस वस्तु में रहता है। जैन दृष्टि से पूर्ण योगनिरोध रूप शैलेशी समाधि का कालमान पाँच ह्रस्व अक्षर जितना माना गया है और वह भी वीतराग भगवान के जीवन के अन्तिम क्षणों में ही होता है। अवशेष जो ध्यान की प्रक्रिया है उसमें मुख्य रूप से चिन्तन होता है। जैन दृष्टि से (१) पृथक्त्ववितर्कसविचार, (२) एकत्ववितर्कअविचार (३) सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती (४) समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति—ये शुक्ल ध्यान-प्रक्रिया के चार प्रकार हैं, जिसमें साधक का चिन्तन क्रमशः सिमटता चला जाता है। बौद्ध परम्परा में भी प्रथम ध्यान के वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पाँच अंग हैं। क्रमशः उनका सारांश इस प्रकार है—ध्येय में चित्त का गहराई से प्रवेश वितर्क है। मन का ध्येय से बाहर नहीं जाना विचार है। मानसिक आनन्द प्रीति है; काम, व्यापार स्त्यानगृद्ध, औद्धत्य, विचिकित्सा—इन पाँच नीवरणों को अपने में समाहित हुए देखकर मन में आल्हाद उत्पन्न होता है। उसी आल्हाद से प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति से तन शान्त हो जाता है जिससे काय-सुख उत्पन्न होता है। एकाग्रता का अर्थ समाधि है। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार ये दो अंग नहीं होते जिससे आंतरिक प्रसाद व चित्त की एकाग्रता होती है। इस ध्यान में निष्ठा, प्रीति, सुख व एकाग्रता की प्रधानता होती है। तृतीय ध्यान में तृतीय अंग प्रीति भी नहीं होती। केवल सुख और एकाग्रता की प्रधानता रहती है। सुख की भावना साधक के चित्त में विक्षेप पैदा नहीं करती जिससे चित्त में विशेष शांति और समाधान बना रहता है। चतुर्थ ध्यान में शारीरिक सुख-दुःख का पूर्णरूप से त्याग कर साधक रागद्वेष से रहित हो जाता है और उसमें एकाग्रता के साथ उपेक्षा और स्मृति ये दो मनोवृत्तियाँ होती हैं। इसमें सौमनस्य-दौर्मनस्य के लुप्त हो जाने से चित्त सर्वथा निर्मल और विशुद्ध बन जाता है।

बौद्ध साहित्य में ध्यान के अन्य चार भेद भी है—१. कायानुपश्या, २. वेदनानुपश्य ३. चित्तानुपश्या ४. धर्मानुपश्या। साधक कायानुपश्या से काया सम्बन्धी, वेदनानुपश्या से वेदना सम्बन्धी, चित्तानुपश्या से चित्त सम्बन्धी और धर्मानुपश्या से धर्म सम्बन्धी चिन्तन करता है।

ध्यान एक साधना है। उसके बाह्य और आभ्यन्तर ये दो रूप हैं। शारीरिक आदि एकाग्रता उसका बाह्य रूप है; अहंकार-ममकार आदि मनोविकारों का न होना उसका आभ्यन्तर रूप है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो एकाग्रता ध्यान का शरीर है और अहंभाव-ममत्व आदि का परित्याग उसकी आत्मा है। मनोविकारों के बिना परित्याग के काय, वाक् और मन में स्थैर्य नहीं आ सकता और न समता ही प्रस्फुटित हो सकती है। एकाग्रता व स्थिरता के साथ मनोविकारों का परित्याग वास्तविक साधना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक उत्कृष्ट साधना की। छह-छह महीने तक वे उपवासी रहे। किन्तु वे उपवास आदि उन्हें कष्टकर प्रतीत नहीं हुए क्योंकि उन्होंने ध्यानयोग के द्वारा समत्व का इतना विकास कर लिया था कि विषमभाव या परभाव उनके पास तक नहीं आये। वे अधिक से अधिक समय तक ध्यान में लीन रहते। वे समझते थे कि यह शरीर पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। जब तक आयुकर्म का सम्बन्ध है तब तक शरीर रहेगा। साधनाकाल में अनेक रोमांचकारी उपसर्ग भी उपस्थित हुए। संगम देव ने, शूलपाणि यक्ष ने, कटपूतना ने, चंडकौशिक सर्प ने, ग्वाले ने और अनार्य देशवासियों ने उन्हें भयंकर उपसर्ग दिये। किन्तु वे ध्यान से कभी विचलित नहीं हुए। समभाव में स्थिर रहकर केवलज्ञान व केवलदर्शन को प्राप्त किया।

जैन साधना-पद्धति में तप के बारह प्रकार बताये हैं—उनमें ध्यान और कायोत्सर्ग सर्वोत्कृष्ट हैं। अन्य तप उसके साधन मात्र हैं। योगिराज पद्मसिंह ने लिखा है—जैसे पाषाण में स्वर्ण, काष्ठ में अग्नि बिना प्रयोग के दृष्टिगोचर नहीं होती वैसे ही बिना ध्यान के आत्म-दर्शन नहीं होते। ध्यान से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का परिज्ञान होता है।

ध्यान की संसिद्धि के लिए प्रारम्भिक साधक को मन एकाग्र करने का सुगम और सरल उपाय आचार्यों ने मन्त्र जाप आदि बताया है। जो अध्यवसाय चल है वह चित्त है और जो स्थिर है वह ध्यान है। ध्यान का प्रथम रूप चित्त का निरोध करना है और दूसरा रूप शरीर, वाणी और मन का पूर्ण रूप से निरोध करना है। जैन आगम साहित्य में ध्यान के चार प्रकार बताये हैं। आर्त और रौद्र—ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं और धर्म व शुक्ल—ये प्रशस्त हैं। धर्मध्यान शुक्लध्यान की भूमिका तैयार करता है। शुक्लध्यान मुक्ति का साक्षात् कारण है। सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान रहता है। आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान का प्रारम्भ होता है। कहा जाता है कि शुक्लध्यान पूर्वधर मुनियों को होता है।

धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय—ये चार प्रकार हैं। आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान ये ध्येय हैं। इन ध्येय विषयों पर चित्त एकाग्र किया जाता है। इनके चिन्तन से चित्त-निरोध के साथ उसकी शुद्धि होती है। आज्ञाविचय से वीतरागभाव की प्राप्ति होती है। अपायविचय से रागद्वेष और मोह और उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों से मुक्ति प्राप्त होती है। विपाकविचय से दुःख प्राप्ति का मूल कारण परिज्ञात होता है। संस्थानविचय से अनासक्तभावों की वृद्धि होती है और आसक्ति नष्ट होती है। इस प्रकार धर्म-ध्यान से चित्तविशुद्धि का अभ्यास किया जाता है और वह अभ्यास परिपक्व होने पर धर्मध्यान में प्रवेश होता है।

धर्मध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—१. आज्ञारुचि—रागद्वेष-मोह के कम हो जाने से मिथ्या-आग्रह का अभाव हो जाता है। २. निसर्गरुचि—पूर्ण शुद्धि से समुत्पन्न सहजरुचि। ३. सूत्ररुचि—सूत्र के अध्ययन से उत्पन्न रुचि। ४. अवगाढ़ रुचि—तत्त्व के अवगाहन में उत्पन्न रुचि।

धर्मध्यान के चार आलंबन है। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा। धर्मध्यान की अनुप्रेक्षा चार प्रकार की है—१. एकत्वानुप्रेक्षा—मैं अकेला हूँ इस प्रकार चिन्तन करना। २. अनित्यानुप्रेक्षा—सब संयोग अनित्य हैं ऐसा चिन्तन। ३. अशरणानुप्रेक्षा—दूसरा कोई भी व्यक्ति त्राण नहीं दे सकता इस प्रकार विचार करना। ४. संसारानु-प्रेक्षा—जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है, इस प्रकार चिन्तन करना।

धर्मध्यान के पश्चात् शुक्लध्यान आता है। शुक्लध्यान का शाब्दिक अर्थ है उज्ज्वल और स्वच्छ ध्यान। शुक्लध्यान के चार आधार स्तंभ माने गये हैं।

(१) **पृथक्त्ववितर्कसविचारी**—इसमें मानव प्रत्येक कार्य को विचार सहित करता है। इसमें विचार होते हैं किन्तु तर्क नहीं होता। इसमें एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्वश्रुत का आलंबन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में एवं मन, वचन, काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है। शुक्लध्यान की प्रस्तुत स्थिति पृथक्त्ववितर्कसविचारी कही जाती है।

(२) **एकत्ववितर्कअविचारी**—जब एक द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्वश्रुत का आलम्बन लिया जाता है, जहाँ पर शब्द, अर्थ तथा मन, वचन, काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है शुक्लध्यान की प्रस्तुत अवस्था एकत्ववितर्कअविचारी है।

(३) **सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती**—जब मन और वाणी के योगों का पूर्ण रूप से निरोध हो जाता है। किन्तु काया के योग का पूर्ण निरोध नहीं होता है, श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्मक्रिया अवशेष रहती है, प्रस्तुत अवस्था को सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है। इसमें कभी भी पतन नहीं होता। अतः यह अप्रतिपाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) **समुच्छिन्नक्रियाअनिवृत्ति**—जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है उस अवस्था को समुच्छिन्न-क्रिय कहते हैं। इसका निवर्तन नहीं होता, अतः यह अनिवृत्ति है।

आचार्य पतंजलि ने शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों को संप्रज्ञात और अन्तिम दो भेदों को असंप्रज्ञात समाधि कहा है।

शुक्लध्यान के चार लक्षण हैं—(१) अव्यथ—क्षोभ का अभाव, (२) असंमोह—सूक्ष्म पदार्थ विषय संबंधी मूढ़ता का अभाव। (३) विवेक—शरीर और आत्मा के भेद का परिज्ञान (४) व्युत्सर्ग—शरीर और उपाधि में अनासक्त भाव।

शुक्लध्यान के चार आलंबन हैं—(१) क्षांति—क्षमा (२) मुक्ति-निर्लोभता (३) मार्दव—मृदुता, और (४) आर्जव—सरलता।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—(१) अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा—संसार की परंपरा पर चिन्तन करना। (२) विपरिणाम अनुप्रेक्षा—वस्तुओं के परिणामों का चिन्तन। (३) अशुभ अनुप्रेक्षा—पदार्थों की अशुभता पर चिन्तन। (४) अपाय अनुप्रेक्षा—दोषों पर चिन्तन।

वर्तमान युग में शुक्लध्यान का अभ्यास संभव नहीं है तथापि उसका विवेचन आवश्यक है जिससे कोई विशिष्ट साधक लाभान्वित हो सकता है। हमने उपर्युक्त पंक्तियों में शुक्लध्यान के चार आलंबन बताये हैं। प्रारंभ में मन का आलंबन समूचा संसार होता है किन्तु शनैः-शनैः अभ्यास होते-होते वह एक परमाणु पर स्थिर हो जाता है। केवलज्ञान प्राप्त होने पर मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। आलंबन का जो संक्षेपीकरण है उसे आचार्यों ने उदाहरणों के द्वारा समझाया है। जिस प्रकार संपूर्ण शरीर में फैले हुए जहर को डंक के स्थान में एकत्रित करते हैं और फिर उस जहर को बाहर निकाल देते हैं वैसे ही विश्व के सभी विषयों में फैला हुआ मन एक परमाणु में निरुद्ध किया जाता है और उसे हटाकर आत्मस्थ किया जाता है। जिस प्रकार ईंधन समाप्त हो जाने पर अग्नि पहले क्षीण होती है, फिर वह अग्नि बुझ जाती है उसी प्रकार विषयों के समाप्त होने पर मन पहले क्षीण होता है, फिर शान्त हो जाता है। जिस प्रकार गरम लोहे के बर्तन में डाला हुआ जल क्रमशः न्यून होता जाता है, इसी प्रकार शुक्लध्यानी का मन अप्रमाद से क्षीण होता जाता है।

आचार्य पतंजलि ने अपने योगसूत्र में लिखा है—योगी का चित्त सूक्ष्म जप में निविशमान होता है तब परमाणु स्थित हो जाता है। और स्थूल में निविशमान होता है तब परम महत्त्व उसका विषय बन जाता है। पतंजलि ने परमाणु पर स्थिर होने की बात तो कही है किन्तु स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की चर्चा नहीं की।

शुक्लध्यान के पहले दो चरणों में शुक्ललेश्या होती है। तीसरे चरण में परमशुक्ललेश्या होती है और चौथे चरण में लेश्या नहीं होती। शुक्लध्यान का अन्तिम फल मोक्ष है।

कुछ व्यक्तियों का यह मन्तव्य है कि वर्तमान युग में ध्यान नहीं हो सकता क्योंकि शरीर का संहनन जितना सुदृढ़ चाहिए उतना नहीं है। आचार्य उमास्वाति ने भी लिखा है कि ध्यान वही कर सकता है जिसका शारीरिक संहनन उत्तम है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है इस दुःषमकाल में आत्मस्वभाव में स्थित ज्ञानी के धर्मध्यान हो सकता है, जो इस बात को स्वीकार नहीं करता वह अज्ञानी है। आचार्य देवसेन का भी यही मन्तव्य है। तत्त्वानुशासन में आचार्य रामसेन ने तो यहाँ तक लिखा है जो व्यक्ति वर्तमान में ध्यान होता नहीं मानते हैं वे अर्हत मत को नहीं जानते। यह सत्य है कि वर्तमान में शुक्लध्यान के योग्य शारीरिक संहनन नहीं है किन्तु धर्मध्यान के योग्य आज भी संहनन है। शारीरिक संहनन जितना अधिक सुदृढ़ होगा उतना ही मन स्थिर होगा। शरीर की स्थिरता पर ही मन की स्थिरता संभव है।

ध्यान की सिद्धि के लिए रामसेन ने गुरु का उपदेश, श्रद्धा, निरन्तर अभ्यास और स्थिरमन ये चार बातें आवश्यक मानी हैं। आचार्य पतंजलि ने अभ्यास की दृढ़ता के लिए दीर्घकाल, निरन्तर और सत्कार ये तीन बातें आवश्यक बतायी हैं। सोमदेवसूरि ने वैराग्य, ज्ञानसम्पदा, असंगतता, चित्त की स्थिरता, भूख-प्यास आदि को सहन करना—ध्यान के ये पाँच हेतु बताये हैं।

संक्षेप में ध्यान मोक्ष का प्रधान कारण है। ध्यान से कर्म रूपी बादल उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे दाक्षिणात्य पवन के चलने से। साबुन से मलिन वस्त्र स्वच्छ हो जाता है वैसे ही ध्यान से आत्मा निर्मल बन जाता है। जैन साधना में ध्यान का विशिष्ट महत्व रहा है। आज आवश्यकता है ध्यान की साधना को पुनरुज्जीवित करने की। ज्यों-ज्यों ध्यान की साधना विकसित होगी त्यों-त्यों राग-द्वेष-ईर्ष्या-मोह आदि की मात्राएँ कम होंगी और आत्मा में अधिक मात्रा में विशुद्धता प्राप्त होगी। और जीवन में अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड ६

राजस्थानकेसरी

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ



जैन साहित्य

बहुरंगी परिवेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय साहित्य को जैन साहित्य की विशिष्ट देन



✡ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैनधर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है। उसके प्रवर्तक और प्रचारक २४ तीर्थंकर इसी भारत भूमि में ही जनमे; साधना करके विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया और जनता को धर्मोपदेश देकर भारत में ही निर्वाण को प्राप्त हुए। जैन परम्परा के अनुसार भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। उन्होंने ही युगलिक धर्म (पुत्र एवं पुत्री युगल का साथ ही जन्म एवं बड़े होने पर उनमें पति-पत्नी सम्बन्ध) का निवारण करके असि (शास्त्र), मषि (लेखनी) कृषि तथा विद्याओं और कलाओं की शिक्षा देकर भारतीय संस्कृति को एक नया रूप दिया। वे महान् आविष्कर्ता थे। उन्होंने अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को जो लिपि सिखाई वह भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी के नाम से प्रसिद्ध हुई और छोटी पुत्री सुन्दरी को अंक आदि सिखाये जिससे गणित का विकास हुआ। पुरुषों की ७२ तथा स्त्रियों की ६४ कलाएँ या विद्याएँ भगवान ऋषभदेव की ही विशिष्ट देन हैं। भगवान ऋषभदेव के बड़े पुत्र भरत ६ खण्डों को विजय कर चक्रवर्ती सम्राट् बने और उन्हीं के नाम से इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ।

व्यावहारिक शिक्षा देने के बाद भगवान ऋषभदेव ने पिछली आयु में संन्यास ग्रहण किया और तपस्या तथा ध्यान आदि की साधना से आत्मिक ज्ञान प्राप्त किया। उस परिपूर्ण और विशिष्ट ज्ञान का नाम "केवलज्ञान" जैन-धर्म में प्रसिद्ध है। इसके बाद उन्होंने आध्यात्मिक साधना का मार्ग प्रवर्तित किया; आत्मिक उन्नति और मोक्ष का मार्ग सबको बतलाया। इसलिए भगवान ऋषभदेव का जैन साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व है। यद्यपि उनको हुए असंख्यात वर्ष हो गये, इसलिए उनकी वाणी या उपदेश तो हमें प्राप्त नहीं है, पर उनकी परम्परा में २३ तीर्थंकर और हुए, उन्होंने भी साधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। सभी केवलियों का ज्ञान एक जैसा ही होता है। इसलिए ऋषदेव की ज्ञान की परम्परा अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी और उपदेश के रूप में आज भी हमें प्राप्त है। समस्त जैन साहित्य का मूल आधार वही केवलज्ञानी तीर्थंकरों की वाणी ही है।

प्राचीनतम जैन साहित्य

भगवान महावीर के पहले के तीर्थंकरों के मुनियों का जो विवरण आगमों में प्राप्त है, उससे मालूम होता है कि पूर्वों का ज्ञान उस परम्परा में चालू था। आगे चलकर उनको १४ पूर्वों में विभाजित कर दिया। भगवान महावीर के समय और उसके कई शताब्दियों तक १४ पूर्वों का ज्ञान प्रचलित रहा, उसके पश्चात् क्रमशः उसमें क्षीणता आती गई, और करीब-करीब हजार वर्षों से १४ पूर्वों के ज्ञान की वह विशिष्ट परम्परा लुप्त-सी हो गई।

भगवान महावीर ने जो ३० वर्ष तक अनेक स्थानों में विचरते हुए धर्मोपदेश दिया उसे उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ११ गणधरों ने सूत्ररूप में निबद्ध कर दिया। वह उपदेश १२ अंगसूत्रों में विभक्त कर दिया गया जिसे "द्वादशांग-गणि-पिटक" कहा जाता है। इनमें से १२वाँ दृष्टिवाद अंग सूत्र जो बहुत बड़ा और विशिष्ट ज्ञान का स्रोत था, पर वह तो लुप्त हो चुका है। बाकी ११ अंग सूत्र करीब हजार वर्ष तक मौखिक रूप से प्रचलित रहे इसलिए उनका भी बहुत-सा अंश विस्मृत हो गया। वीरनिर्वाण संवत् ९८० में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने सौराष्ट्र की वल्लभी नगरी में उस समय तक जो आगम मौखिक रूप से प्राप्त थे, उनको लिपिबद्ध कर दिया। अतः प्राचीनतम जैन साहित्य के रूप में वे ११ अंग और उनके उपांग तथा उनके आधार से बने हुए जो भी आगम आज प्राप्त हैं, उन्हें प्राचीनतम जैन साहित्य माना जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर सम्प्रदाय में तो ये अंग सूत्रादि लुप्त हो गये ऐसा माना जाता है, पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वे ही आगम-ग्रन्थ प्राप्त और मान्य हैं।

जैन साहित्य का विकास

भगवान महावीर के बाद कई जैनाचार्यों ने बहुत से सूत्रग्रन्थ बनाये, पर उन सूत्रों में से २-४ को छोड़कर बाकी में रचयिता का नाम नहीं मिलता। उन रचयिता के नामवाले ग्रन्थों में सबसे पहला सूत्र है "दशवैकालिक" जिसमें जैन मुनियों का आचार संक्षेप में वर्णित है। इस सूत्र के रचयिता शय्यंभवसूरी महावीर निर्वाण के ९८वें वर्ष में स्वर्गस्थ पूर्व पट्टधर हुए हैं। इसके बाद आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली ने बृहद्कल्प, व्यवहार और दशाश्रुतस्कन्ध नामक ३ छेदसूत्रों की रचना की। १० आगमों की निर्युक्तियांरूप प्राचीन आगमिक टीकाएँ भी भद्रबाहु रचित हैं। पर आधुनिक विद्वानों की राय में इनके कर्ता द्वितीय भद्रबाहु पीछे हुए हैं। इसके बाद श्यामाचार्य ने पन्नवणासूत्र बनाया। इस तरह समय-समय पर अन्य कई आचार्यों और विद्वानों ने ग्रन्थ बनाकर जैन साहित्य की अभिवृद्धि की।

संस्कृत में जैन साहित्य

भगवान महावीर ने तत्कालीन लोकभाषा अर्द्धमागधी में उपदेश दिया था और उसी परम्परा को जैनाचार्यों ने भी ५०० वर्षों तक बराबर निभाया। अतः उस समय तक का समस्त जैन साहित्य प्राकृत भाषा में ही रचित है। इसके बाद संस्कृत के बढ़ते हुए प्रचार से जैन विद्वान् भी प्रभावित हुए और उन्होंने प्राकृत के साथ-साथ संस्कृत में भी रचना करना प्रारम्भ कर दिया। उपलब्ध जैन साहित्य में सबसे पहला संस्कृत ग्रन्थ आचार्य उमास्वाति रचित "तत्त्वार्थसूत्र" माना जाता है, जो विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी की रचना है। इसमें छोटे-छोटे सूत्रों के रूप में जैन सिद्धान्तों का बहुत खूबी से संकलन कर दिया गया है। यह १० अध्यायों में विभक्त है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय इसे समान रूप से मान्य करते हैं; और दोनों सम्प्रदाय वालों की इस पर टीकाएँ प्राप्त हैं। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार तो तत्त्वार्थसूत्र का भाष्य स्वयं उमास्वाति ने ही रचा है। सूत्रग्रन्थों की परम्परा का यह महत्त्वपूर्ण संस्कृत जैन ग्रन्थ है।

इसके बाद तो समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक, हरिभद्र आदि श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों संप्रदायों के विद्वानों द्वारा दार्शनिक न्यायग्रन्थ और टीकाएँ आदि संस्कृत में बराबर रची जाती रहीं। और आगे चलकर काव्य, चरित्र और सभी विषयों के जैन ग्रन्थ संस्कृत में खूब लिखे गये।

अपभ्रंश एवं लोक-भाषाओं में जैन साहित्य—

जनभाषा में निरन्तर परिवर्तन होता ही रहता है, अतः प्राकृत भाषा अपभ्रंश के रूप में परिणत हो गई। अपभ्रंश में भी जैनों ने ही सर्वाधिक साहित्य का निर्माण किया है। वैसे तो प्राचीन संस्कृत नाटकों में भी निम्न जाति के एवं साधारण पुरुषों और स्त्रियों की भाषा अपभ्रंश व्यवहरित हुई है पर स्वतन्त्र अपभ्रंश भाषा की रचनाएँ ८वीं-९वीं शताब्दी से मिलने लगी हैं और १७वीं शताब्दी तक छोटी-बड़ी सैकड़ों रचनाएँ जैन कवियों की रचित आज भी प्राप्त हैं। कवि स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि अपभ्रंश के जैन महाकवि हैं। जैनेतर रचित अपभ्रंश साहित्य विशेष नहीं मिलता। क्योंकि उन्होंने प्रारम्भ से ही संस्कृत को प्रधानता दे रखी थी, अतः उनका सर्वाधिक साहित्य संस्कृत में है।

अपभ्रंश से उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओं का निकास और विकास हुआ। १३वीं शताब्दी से राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी में साहित्य मिलने लगता है। यद्यपि १५वीं शताब्दी तक अपभ्रंश का प्रभाव उन रचनाओं में पाया जाता है। उस समय तक राजस्थान और गुजरात में तो एक ही भाषा बोली जाती थी जिसे राजस्थान वाले पुरानी राजस्थानी एवं गुजरात वाले जूनी गुजराती कहते हैं। अतः कई विद्वानों ने उसे 'मरु-गुर्जर' भाषा कहना अधिक उचित माना है। आगे चलकर राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी में प्रान्तीय-भेद अधिक स्पष्ट होते गये। इन तीनों भाषाओं में भी जैन विद्वानों ने प्रचुर रचनाएँ बनायी हैं। वैसे कुछ रचनाएँ सिन्धी, मराठी, बंगला आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी जैनों की रचित प्राप्त है। हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती में तो लाखों श्लोक परिमित गद्य और पद्य की जैन रचनाएँ प्राप्त हैं, एवं प्राचीनतम रचनाएँ जैनों की ही प्राप्त हैं।

कथाओं का भण्डार-जैन साहित्य

लोकभाषा की तरह लोक-कथाओं और देशी संगीत को भी जैनों ने विशेषरूप से अपनाया। इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोककथाओं का भी बहुत बड़ा भण्डार जैन साहित्य में पाया जाता है। लोकगीतों की चाल या तर्ज पर हजारों स्तवन, सज्झाय, ढाल आदि छोटे-बड़े काव्य रचे गये हैं। उन ढाल आदि के प्रारम्भ में किस लोकगीत की तर्ज पर इस गेय रचना को गाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए उस लोकगीत की कुछ प्रारम्भिक पंक्तियाँ भी उद्धरित कर दी गई हैं, जिससे हजारों विस्मृत और लुप्त लोकगीतों की जानकारी मिलने के साथ-साथ कौनसा गीत कितना पुराना है इसके निर्णय करने में भी सुविधाएँ हो गयी हैं। इस सम्बन्ध में मेरे कई लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं।

एक-एक लोक-कथा को लेकर अनेकों जैन रचनाएँ प्राकृत, संस्कृत, राजस्थानी आदि भाषाओं में जैन विद्वानों ने लिखी हैं। इससे वे लोक-कथाएँ कौनसी कितनी पुरानी हैं, उनका मूल रूप क्या था ? और कब-कब कैसा और कितना परिवर्तन उनमें होता रहा, इन सब बातों की जानकारी जैन कथा साहित्य से ही अधिक मिल सकती है। उन लोक-कथाओं को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाने के लिए उनमें जैन-सिद्धान्तों और आचार-विचारों का पुट दे दिया गया है, जिससे जनता उन कथाओं को सुनकर पापों से बचे और अच्छे कार्यों की प्रेरणा प्राप्त करें। क्योंकि कथाएँ बालक, युवा वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी को समान रूप से प्रभावित कर सकती हैं, इसलिए जैन लेखकों ने कथा सम्बन्धी साहित्य बहुत बड़े परिमाण में रचा है। और इससे जन-साधारण के जीवन में सदाचार और नैतिकता का खूब प्रचार हुआ।

विशेषताएं

जैन साहित्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें विकारवर्द्धक और वासनाओं को उभारने वाले साहित्य को स्थान नहीं मिला। इससे लोक-जीवन का नैतिक स्तर ऊँचा उठा, और भारत का गौरव बढ़ा।

साहित्य संरक्षण में जैनों का विशेष योगदान

जैन साहित्य की एक दूसरी विशेषता यह है कि वह निरन्तर लिखा जाता रहा और उसकी सुरक्षा का भी बहुत अच्छा प्रयत्न किया जाता रहा। इसलिए हस्तलिखित प्रतियों के 'ज्ञान भण्डार' जैनों के पास बहुत बड़ी व अच्छी संख्या में सुरक्षित है। प्राचीन और शुद्ध प्रतियों की उपलब्धि उन ज्ञान भण्डारों की उल्लेखनीय विशेषता है।

जैसलमेर के ज्ञान भण्डार में एक ताड़पत्रीय प्रति १०वीं शताब्दी की है। वैसे १२वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक की ताड़पत्रीय प्रतियाँ जैसलमेर, पाटण, खंभात, बड़ौदा आदि में करीब एक हजार सुरक्षित हैं। १३वीं शताब्दी से कागज पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। तब से अब तक की लाखों प्रतियाँ कागज की, प्राप्त हैं। इनमें केवल जैन साहित्य ही नहीं, अपितु बहुत-सा जैनेतर साहित्य भी है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलता और यदि मिलता है तो भी उन जैनेतर ग्रन्थों की प्राचीन व शुद्ध प्रतियाँ जैन भण्डारों में जितनी व जैसी मिलती हैं, उतनी और वैसी जैनेतर संग्रहालयों में नहीं मिलतीं। अर्थात् साहित्य के निर्माण में ही नहीं, संरक्षण में भी जैनों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। सचित्र, स्वर्णाक्षरी, रौप्याक्षरी, पंचपाठ, त्रिपाठ आदि अनेक शैलियों की विशिष्ट प्रतियाँ बहुत ही उल्लेखनीय हैं। लेखनकला और चित्रकला का जैनों ने खूब विकास किया। इस सम्बन्ध में सौजन्य मूर्ति महान साहित्य सेवी स्वर्गीय पुण्यविजयजी लिखित 'भारतीय श्रमण संस्कृति अने लेखनकला' नामक गुजराती ग्रन्थ पठनीय है जो साराभाई नबाब, अहमदाबाद से प्रकाशित है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन में जैन साहित्य की उपयोगिता

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जैन साहित्य का महत्त्व सबसे अधिक है क्योंकि जैन मुनि निरन्तर घूमते रहते हैं और सब प्रान्तों में धर्म-प्रचारार्थ और तीर्थ-यात्रा आदि के लिए उनका यातायात होता रहा है। उनका जीवन बहुत संयमित होने से उन्होंने साहित्य निर्माण और लेखन में बहुत समय लगाया। इसी का परिणाम है कि अलग-अलग प्रान्तों की भाषाओं में जैन विद्वान बराबर लिखते रहे। इससे उन भाषाओं का विकास किस तरह होता गया, शब्दों के रूपों में किस तरह का परिवर्तन हुआ, इसकी जानकारी जैन रचनाओं से जितनी अधिक मिलती है, उतनी जैनेतर रचनाओं से नहीं मिलती। क्योंकि एक तो वे इतनी सुरक्षित नहीं रहीं और प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की जैन रचनाएँ जिस तरह की मिलती है, वैसी जैनेतरों की नहीं मिलतीं।

प्राकृत भाषा के दो प्रधान भेद हैं—शौरसेनी और महाराष्ट्री। शौरसेनी में दिगम्बर और महाराष्ट्री में श्वेताम्बर साहित्य रचा गया। इनसे अपभ्रंश और अपभ्रंश से उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओं की शृंखला जुड़ती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओं की तरह दक्षिण भारत की प्रमुख भाषा कन्नड़ और तमिल इन दोनों में भी जैन साहित्य बहुत अधिक मिलता है। आचार्य भद्रबाहु दक्षिण भारत में अपने संघ को लेकर पधारे क्योंकि उत्तर भारत में उन दिनों बहुत बड़ा दुष्काल पड़ा था। उनके दक्षिण भारत में पधारने से उनके ज्ञान और त्याग तप से प्रभावित होकर दक्षिण भारत के अनेक लोगों ने जैनधर्म को स्वीकार कर लिया और उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती ही गई। आस-पास के क्षेत्रों में जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ। जैन मुनि चातुर्मास के अतिरिक्त एक जगह रहते नहीं हैं, इसलिए उन्होंने घूम-फिर कर जैनधर्म का सन्देश जन-जन में फैलाया। लोक-सम्पर्क के लिए वहाँ जो कन्नड़ और तमिल भाषाएँ अलग-अलग प्रदेशों में बोली जाती थीं उनमें अत्यधिक साहित्य निर्माण किया। अतः उन दोनों भाषाओं का प्राचीन और महत्त्वपूर्ण साहित्य जैनों का ही प्राप्त है। इस तरह उत्तर और दक्षिण भारत की प्रधान भाषाओं में जैन साहित्य का प्रचुर परिमाण में पाया जाना बहुत ही उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है। भारतीय साहित्य को जैनों की यह विशिष्ट देन ही समझनी चाहिये।

विषय वैविध्य

विषय वैविध्य की दृष्टि से भी जैन साहित्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि जीवनोपयोगी प्रायः प्रत्येक विषय के जैन ग्रन्थ रचे गये हैं इसलिए जैन साहित्य केवल जैनों के लिए ही उपयोगी नहीं उसकी सार्वजनिक उपयोगिता है। व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, काव्य-शास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र, गणित, रत्न-परीक्षा आदि अनेक विषयों के जैन ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत, कन्नड, तमिल और राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती में प्राप्त हैं। इनमें से कई ग्रन्थ तो इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि जैनेतरों ने भी उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और उन्हें अपनाया है। जैन विद्वानों ने साहित्यिक क्षेत्र में बहुत उदारता रखी। किसी भी विषय का कोई अच्छा ग्रन्थ कहीं भी उन्हें प्राप्त हो गया तो जैनविद्वानों ने उसकी प्रति मिल सकी तो ले ली या खरीद करवा ली, नहीं तो नकल करवाकर अपने भण्डार में रख ली। जैनेतर ग्रन्थों का पठन-पाठन भी वे बराबर करते ही थे। अतः आवश्यकता अनुभव करके उन्होंने बहुत से जैनेतर ग्रन्थों पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। इससे उन ग्रन्थों का अर्थ या भाव समझना सबके लिए सुलभ हो गया और उन ग्रन्थों के प्रचार में अभिवृद्धि हुई। जैनेतर ग्रन्थों पर जैन टीकाओं सम्बन्धी मेरा खोजपूर्ण लेख "भारतीय विद्या" के दो अंकों में प्रकाशित हो चुका है। जैन ग्रन्थों में बौद्ध और वैदिक अनेक ग्रन्थों के उद्धरण पाये जाते हैं। उनमें से कई जैनेतर ग्रन्थ तो अब उपलब्ध भी नहीं होते। बहुत से जैनेतर ग्रन्थों को अब तक बचाये रखने का श्रेय जैनों को प्राप्त है।

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन साहित्य का महत्त्व—

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारतीय इतिहास, संस्कृति और लोक-जीवन सम्बन्धी बहुत ही महत्वपूर्ण सामग्री जैन ग्रन्थों व प्रशस्तियों एवं लेखों आदि में पायी जाती है। जैन आगम साहित्य में दो-अढाई हजार वर्ष पहले का जो सांस्कृतिक विवरण मिलता है, उसके सम्बन्ध में डा० जगदीशचन्द्र जैन लिखित "जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज" नामक शोध-प्रबन्ध चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है, उससे बहुत सी महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है। जैन प्रबन्ध संग्रह, पट्टावलियाँ, तीर्थमालाएँ और ऐतिहासिक गीत, काव्य आदि में अनेक छोटे-बड़े ग्राम-नगरों, वहाँ के शासकों, प्रधान व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, जिनसे छोटे-छोटे गाँवों की प्राचीनता, उनके पुराने नाम और वहाँ की स्थिति का परिचय मिलता है। बहुत से शासकों के नाम जिनका इतिहास में कहीं भी नाम नहीं मिलते, उनका जैन ग्रन्थों में उल्लेख मिल जाता है। बहुत से राजाओं आदि के काल-निर्णय में भी जैन सामग्री काफी सूचनाएँ देती है व सहायक होती है। इस दृष्टि से गुर्वावली तो बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

जैन साहित्य की गुणवत्ता

अब यहाँ कुछ ऐसे जैन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय कराया जायगा, जो अपने ढंग के एक ही हैं। इनमें कई ग्रन्थ तो ऐसे भी हैं जो भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व साहित्य में भी अजोड़ हैं। प्राचीन भारत में ज्ञान-विज्ञान का कितना अधिक विकास हुआ था और आगे चलकर इसमें कितना ह्रास हो गया—इसकी कुछ झाँकी आगे दिये जाने वाले विवरणों से पाठकों को मिल जायगी। ऐसे कई ग्रन्थों का तो प्रकाशन भी हो चुका है, पर उनकी जानकारी विरले ही व्यक्तियों को होगी। वास्तव में जैन साहित्य अब तक बहुत ही उपेक्षित रहा है और बहुत से विद्वानों ने तो यह गलत धारणा बना ली है कि जैन साहित्य, जैनधर्म आदि के सम्बन्ध में ही होगा, सर्वजनोपयोगी साहित्य उसमें नहीं-वत् है। पर वास्तव में सर्वजनोपयोगी जैन साहित्य बहुत बड़े परिमाण में प्राप्त है, जिससे लाभ उठाने पर भारतीय समाज का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत बड़ा उपकार होगा। बहुत-सी नयी और महत्त्वपूर्ण जानकारी जैन साहित्य के अध्ययन से प्रकाश में आ सकेगी। संख्या की दृष्टि से ही नहीं, गुणवत्ता की दृष्टि से भी जैन साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण है।

जैन साहित्य के विशिष्ट ग्रन्थ

प्राकृत भाषा का एक प्राचीन ग्रन्थ "अंगविज्जा" मुनि श्री पुण्यविजयजी संपादित प्राकृत ग्रन्थ परिषद् से प्रथम ग्रन्थाङ्क के रूप में सन् १९५७ में प्रकाशित हुआ है। ९ हजार श्लोक परिमित यह ग्रन्थ अपने विषय का सारे भारतीय समाज में एक ही ग्रन्थ है। इसमें इतनी विपुल और विविध सांस्कृतिक सामग्री सुरक्षित है कि उस समय के जैनाचार्यों का किन-किन विषयों का कैसा विशद ज्ञान था, यह जानकर आश्चर्य होता है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी में और डा० मोतीचन्द्र ने अँग्रेजी में इस ग्रन्थ का जो विवरण दिया है, उससे इसका महत्व स्पष्ट हो जाता है। निमित्त शास्त्र के ८ प्रकारों में पहली 'अंगविद्या' है। अग्रवालजी ने लिखा है कि "अंगविद्या क्या थी ? इसको बताने वाला **एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ यही जैन साहित्य में 'अंगविज्जा' के नाम से बच गया है।** यह अंगविज्जा नामक प्राचीन शास्त्र सांस्कृतिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण सामग्री से परिपूर्ण है। अंगविज्जा के आधार पर वर्तमान प्राकृत कोशों में अनेक नये शब्दों को जोड़ने की आवश्यकता है।"

मुनि पुण्यविजयजी ने जो ग्रन्थ के अन्त में शब्द कोश दिया है, उसमें हजारों नाम व शब्द आये हैं, जिनमें से बहुतों का सही अर्थ बतलाना भी आज कठिन हो गया है। मुनिश्री ने लिखा है कि "सामान्यतया प्राकृत वाङ्मय में जिन क्रियापदों का उल्लेख संग्रह नहीं हुआ है, उनका संग्रह इस ग्रन्थ में विपुलता से हुआ है जो प्राकृत समृद्धि की दृष्टि से बड़े महत्व का है। फलादेश विषयक यह ग्रन्थ एक पारिभाषिक ग्रन्थ है।"

डा० अग्रवालजी ने इसे कुषाण-गुप्त युग की सन्धि काल का बतलाया है। अर्थात् यह ग्रन्थ बहुत पुराना है। इस तरह के न मालूम कितने महत्वपूर्ण ग्रन्थ काल के गाल में समा गये हैं।

प्राकृत भाषा का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है संघदासगणि रचित "वसुदेव हिन्डी।" यह भी तीसरी और पाँचवीं शताब्दी के बीच की रचना है। इसमें मुख्यतः तो श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण और कई विवाहों का वर्णन है, पर इसमें प्रासंगिक रूप में अनेक पौराणिक और लौकिक कथाओं का समावेश भी पाया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों और डा० जगदीशचन्द्र जैन तथा डा० सांडेसरा आदि के अनुसार यह अप्राप्त बृहत्कथा नामक लुप्त ग्रन्थ की बहुत अंशों में पूर्ति करता है। सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से इसका बहुत ही महत्व है। इस सम्बन्ध में दो बड़े-बड़े शोध प्रबन्धात्मक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। 'वसुदेव हिन्डी' का मध्यम खण्ड उत्तरकालीन है।

प्राकृत भाषा का तीसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ है "ऋषिभाषित"। इसमें कई ऋषियों के वचनों का संग्रह है। ये ऋषि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धर्मों के हैं। अपने ढंग का यह एक ही ग्रन्थ है। इसी तरह हरिभद्रसूरि का "धूर्ताख्यान" भी प्राकृत भाषा का अनूठा ग्रन्थ है। ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

भारतीय मुद्राशास्त्र सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है "द्रव्यपरीक्षा"। इसकी रचना अलाउद्दीन खिलजी के कोषाध्यक्ष या भण्डारी खरतरगच्छीय जैन श्रावक 'ठक्कुर फेरु' ने की है। उस समय की प्रचलित सभी मुद्राओं के तौल, माप, मूल्य आदि की जो जानकारी इस ग्रन्थ में दी गयी है, वैसी और किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती। ठक्कुर फेरु ने इसी तरह धातोत्पत्ति, वास्तुसार, गणितसार, ज्योतिषसार, रत्नपरीक्षा आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ बनाये हैं। इन सबकी प्राचीन हस्तलिखित प्रति की खोज मैंने ही की और मुनि जिनविजयजी द्वारा सभी ग्रन्थों के एक संग्रह-ग्रन्थ में प्रकाशित करवा दिया है। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से यह प्राप्य है।

संस्कृत भाषा में एक विलक्षण ग्रन्थ है "पार्श्वाभ्युदय काव्य", जिसकी रचना आचार्य जिनसेन ने की है। इसमें मेघदूत के समग्र चरणों को पादपूर्ति रूप में भगवान पार्श्वनाथ का चरित्र दिया गया है। कालिदास के पद्यों के भावों को आत्मसात् करके ऐसा काव्य सबसे पहले समग्रपादपूर्ति के रूप में बनाकर ग्रन्थकार ने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है।

विश्व साहित्य में अजोड़ अन्य जैन संस्कृत ग्रन्थ है "अष्टलक्षी"। इसे सम्राट् अकबर के समय में महोपाध्याय समयसुन्दरजी ने संवत् १६४९ में प्रस्तुत किया था। इस आश्चर्यकारी प्रयत्न से सम्राट बहुत ही प्रसन्न हुआ। इस ग्रन्थ में "**राजा नो ददते सौख्यम्**" इन आठ अक्षरों वाले वाक्य के १० लाख से भी अधिक अर्थ किये हैं। रचयिता ने लिखा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि कई अर्थ संगति में ठीक नहीं बैठें तो भी दो लाख शब्दों को बाद देकर ८ लाख अर्थ तो इसमें व्याकरणसिद्ध हैं ही। इसीलिए इसका नाम "अष्टलक्षी" रखा है। यह ग्रन्थ देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, से प्रकाशित 'अनेकार्थ रत्न मंजूषा' में प्रकाशित हो चुका है।

संस्कृत का तीसरा अपूर्व ग्रन्थ है—'सप्त-सन्धान' महाकाव्य। यह १८वीं शताब्दी के महान् विद्वान् उपाध्याय मेघविजय रचित है। इसमें ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पाँच तीर्थंकरों और लोकप्रसिद्ध महापुरुष द्वय—राम और कृष्ण इन सातों महापुरुषों की जीवनी एक साथ में चलती है। यह रचना विलक्षण तो है ही। कठिन भी इतनी है कि बिना टीका के सातों महापुरुषों से सम्बन्धित प्रत्येक श्लोक की संगति बैठाना विद्वानों के लिए भी सम्भव नहीं होता। यह महाकाव्य टीका के साथ पत्राकार रूप में प्रकाशित हो चुका है। वैसे द्विसंधान, पंचसंधान आदि तो कई काव्य मिलते हैं, पर 'सप्तसंधान' ग्रन्थ विश्वभर में यह एक ही है। ग्रन्थकार ने ऐसा उल्लेख किया है, कि ऐसा काव्य पहले आचार्य हेमचन्द्र ने बनाया था, पर आज वह प्राप्त नहीं है।

दक्षिण के दिगम्बर जैन विद्वान् हंसदेव रचित 'मृगपक्षी शास्त्र' भी अपने ढंग का एक ही ग्रन्थ है। इसमें पशु-पक्षियों की जाति एवं स्वरूप का निरूपण है। इस ग्रन्थ का विशेष निरूपण मेरी प्रेरणा से श्री जयंत ठाकुर ने गुजराती में लिखकर "स्वाध्याय" पत्रिका में प्रकाशित कर दिया है। इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि बड़ौदा के प्राच्य विद्या मंदिर में है। पशु-पक्षियों सम्बन्धी ऐसी जानकारी अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलती।

कन्नड़ साहित्य का एक विलक्षण ग्रन्थ है "सिरि भूवलय"। यह अंकों में लिखा गया है। कहा जाता है कि इसमें अनेक ग्रन्थ संकलित हैं एवं अनेक भाषाएँ प्रयुक्त हैं। इसका एक भाग जैन मित्र मंडल, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी के समय तो इस ग्रन्थ के महत्व के सम्बन्ध में काफी चर्चा हुई है पर उसके बाद उसका पूरा रहस्य सामने नहीं आ सका।

हिन्दी भाषा में एक बहुत ही उल्लेखनीय रचना है 'अर्द्धकथानक"। १७वीं शताब्दी के जैन कवि बनारसीदास जी ने अपने जीवन की आत्मकथा बहुत ही रोचक रूप में इस ग्रन्थ में दी है। इस आत्मकथा की प्रशंसा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने मुक्त कंठ से की है।

इस तरह के और भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ जैन साहित्य-सागर में प्राप्त हैं जिससे भारतीय साहित्य अवश्य ही गौरवान्वित हुआ है। वास्तव में इस विषय पर तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा जाना अपेक्षित है। यहाँ तो केवल संक्षिप्त झांकी ही दी जा सकी है।

पुष्कर वाणी

कहा जाता है कि बत्तख सदा पानी में रहता है किन्तु कभी पानी में डूबता नहीं। पानी का प्रवाह चाहे जितना तेज हो जाये वह स्वभावतः सदा उसके ऊपर-ऊपर ही तैरता रहता है।

जीवन में ऐसी निर्लिप्तता सीखनी है। धन-वैभव, सत्ता और विषयों के जल में रहने वाले मानव ! कभी उनमें डूबो मत ! धन, सत्ता और सुखों के साधन चाहें जितने बढ़ें, तुम बत्तख की भाँति सदा ऊपर तैरते ही रहो, डूबो मत !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आगमों का व्याख्या साहित्य

श्री महेन्द्र मुनि 'कमल'

भावों की अभिव्यंजक भाषा है। भाषा के दो रूप हैं—सांकेतिक और शाब्दिक। सांकेतिक का क्षेत्र सीमित है और शाब्दिक का सीमित एवं असीमित। सांकेतिक भाषा तो प्राणिमात्र के पास है, लेकिन उसमें आशय, प्रयोजन, अनुभूति, भावों एवं अभिव्यक्ति की अस्पष्टता होती है, जबकि शाब्दिक में स्पष्टता। इसीलिए भाषा की परिभाषा की गई है—जो स्पष्ट भावबोधक शब्द रूप हो। मानव शाब्दिक भाषा प्रयोग का अधिकारी है। मानव ने शब्दों का उपयोग किया साहित्य रचने में, भावों की सुरक्षा में और भावी पीढ़ी को विरासत के रूप में अनुभव-कोश सौंपने में।

आज हमारे पास जो साहित्य है, वह शब्दों की देन है, शब्दों का पुंज है। उसमें शब्दों की संख्या सीमित और गणना भी सम्भव है, लेकिन गर्भित भाव असीम हैं। जिनका उद्घाटन होता है विशेषरूप से विवेचन करने पर, विभिन्न दृष्टियों से विश्लेषण करने पर। अन्तर की अनुभूति विवेचन के द्वारा ही व्यक्त होती है।

यही कारण है कि साहित्य के क्षेत्र में विवेचन को विशिष्ट स्थान प्राप्त था और है। सर्वानुमति से यह स्वीकार किया गया है कि ग्रन्थगत रहस्योद्घाटन के लिए उसकी विविध व्याख्यायें आवश्यक हैं। जब तक ग्रन्थगत वैशिष्ट्य की प्रामाणिक व्याख्या नहीं होती, तब तक ग्रन्थ में रही हुई अनेक महत्वपूर्ण बातें अज्ञात रह जाती हैं, यह दृष्टिकोण जितना वार्तमानिक मौलिक ग्रन्थों पर लागू होता है, उससे भी अधिक प्राचीन ग्रन्थों पर। क्योंकि पुरातन ग्रन्थों की रचना पद्धति सूत्रात्मक है इसीलिए उन पर व्याख्या साहित्य का निर्माण करना भारतीय ग्रन्थकारों की परम्परा रही है।

व्याख्या के प्रकार

व्याख्या साहित्य के निर्माण से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं। प्रथम ग्रन्थगत भावों के प्रकटीकरण से जनसाधारण सत्य तथ्यों को समझने में समर्थ होता है, द्वितीय ग्रन्थ के अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण करने में व्याख्याकार को असीम आत्मोल्लास की अनुभूति एवं प्रसंगानुरूप अपनी मान्यता तथा बौद्धिक चिन्तन को प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है।

व्याख्या और सरिता में समानरूपता है। जैसे सरिता स्रोत से प्रारम्भ होकर क्रम-क्रम से क्षेत्र विस्तार करती हुई नये-नये जल-प्रवाहों को अपने में समाहित करती हुई सागर का रूप ले लेती है वैसे ही व्याख्या व्याख्येय ग्रन्थ के विशेष व पारिभाषिक शब्दों के अर्थ और उनकी परिभाषाओं को बताते हुए युगानुरूप विवेचन प्रक्रिया के अनुसरण द्वारा नये-नये रूपों को धारण कर अपनी पूर्ण विकास अवस्था को प्राप्त होती है। अर्थात् विशेष व पारिभाषिक शब्दों का लाक्षणिक अर्थ बताना और समग्र भावों का विवेचन करना व्याख्या का कार्य है। प्राचीन सभी भारतीय साहित्यकारों ने व्याख्या का यही क्रम स्वीकार किया। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका। निर्युक्ति शब्दार्थ रूप होती है। भाष्य में शब्दार्थ के साथ भावों का विश्लेषण भी किया जाता है। चूर्णि और टीकायें भी भावों का विवेचन करती हैं।

व्याख्या का मूल उद्देश्य ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करना है, पाठक की जिज्ञासा को शान्त करना है। अतः वह किसी भी युगानुकूल प्रचलित भाषा में हो सकती है चाहे फिर वह भाषा संस्कृत हो, प्राकृत हो, हिन्दी हो या अंग्रेजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा अन्य कोई भाषा। संग्रहणी भी व्याख्या का एक रूप है जिसमें ग्रन्थ के विषय का संक्षेप में परिचय दिया जाता है। वार्तमानिक शिक्षा प्रणाली में प्रचलित प्रेसी (Precis), समरी, नोट्स संग्रहणी के दूसरे नाम हैं।

जैन आगमों पर निर्युक्ति आदि सभी प्रकार के व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण हुआ है। निर्युक्तियों में मूल-ग्रन्थ के प्रत्येक पद का व्याख्यान न किया जाकर विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों का व्याख्यान है। भाषा प्राकृत और रचना पद्यात्मक है। निर्युक्तियों की व्याख्या शैली गूढ़ और संक्षिप्त है जिससे किसी विषय का जितने विस्तार से विचार होना चाहिये उसका उनमें अभाव है। इनकी अनेक बातें उसके पश्चात् के व्याख्या ग्रन्थों से समझ में आती हैं। अतः इन निर्युक्तिगत गूढ़ार्थों को प्रकट रूप में प्रस्तुत करने के लिए उत्तरकाल में जो पद्यात्मक विस्तृत व्याख्यायें की गईं वे भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हुईं। भाष्यों में निर्युक्तियों के गूढ़ अर्थ की अभिव्यक्ति के साथ-साथ यत्किंचित् मूल ग्रन्थगत भावों को प्रकट किया गया है। फिर भी भाष्यों के पद्यात्मक होने से उनमें भावों का प्रकाशन पूर्णरूप से नहीं हो सका। अभिव्यंजना के लिए उनका भी क्षेत्र सीमित है। इसीलिए उन पद्यात्मक व्याख्याओं को व्यापक रूप देने व ग्रन्थगत भावों को विशेष रूप में स्फुट करने की आवश्यकता हुई तब उत्तरवर्ती काल में गद्यात्मक व्याख्यायें प्राकृत अथवा संस्कृतमिश्रित प्राकृत में लिखी गईं। व्याख्या का नवीन रूप होने से यह विद्या चूर्णि के नाम से प्रसिद्ध हुई। चूर्णि तक के व्याख्या साहित्य का रूप प्राकृत और संस्कृत मिश्रित प्राकृत रहा और मौलिक ग्रन्थ के भावों की स्फुट व्याख्या होने पर भी युगानुरूपता को लक्ष्य में रख कर विद्वद् भोग्य शुद्ध संस्कृत भाषा में व्याख्याएँ की गईं, वे टीका के नाम से विख्यात हुईं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्युक्ति से प्रारम्भ हुआ व्याख्या का रूप क्रमशः विकासोन्मुख होकर व्यापक बनता गया, जिसके फलस्वरूप जैन साहित्य की भी वृद्धि हुई। संभान्य विद्वानों ने उसकी गरिमा को परखा एवं सामान्य जन अध्ययन पठन-पाठन की सुविधा प्राप्त कर सका, ग्रन्थ की विशेषता को सरलता से समझ सका।

प्रायः सभी आगमों पर व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये हैं लेकिन उनमें भी कल्पसूत्र और आवश्यकसूत्र की टीकाओं की सूची काफी लम्बी है। इसका कारण यह है कि पर्युषण पर्व में कल्पसूत्र के वाचन का विशेष प्रचार होने और आवश्यकसूत्र का साधुचर्या से सम्बन्ध होने के कारण टीकायें अधिक रची गईं।

कतिपय प्रमुख व्याख्याकार

प्रायः प्रत्येक आगम की व्याख्या हुई है। अतः यह जानने की सहज जिज्ञासा होती है कि उन व्याख्याता विद्वान आचार्यों के नाम क्या हैं जिन्होंने साहित्य कोश की श्रीवृद्धि में अपना योगदान दिया है? संक्षेप में उनका परिचय इस प्रकार है—

निर्युक्तिकार

आगमिक व्याख्या में निर्युक्ति का प्रथम स्थान है। विशेष पारिभाषिक शब्दों के विवेचन, विश्लेषण करने को निर्युक्ति कहते हैं। व्याख्यात्मक साहित्य लिखने की प्राचीन परम्परा में इस विधा का अधिक उपयोग हुआ है। वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए महर्षि यास्क ने निघण्टु भाष्यरूप निरुक्त लिखा है।

निर्युक्तियों की व्याख्यान शैली निक्षेप-पद्धतिरूप है। इस पद्धति में किसी भी पद के अनेक सम्भावित अर्थ करके उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। जैन न्यायशास्त्र में इस पद्धति का विशेष महत्व है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने निर्युक्ति का प्रयोजन बताते हुए इस पद्धति को सर्वाधिक उपयुक्त बताया है। उन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ८८) में स्पष्ट किया है कि प्रत्येक शब्द अनेकार्थक होता है, उसमें से यथाप्रसंग कौन-सा अर्थ उपयुक्त है और भगवान महावीर के उपदेश के समय कौनसा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा आदि बातों पर दृष्टि रखते हुए सम्यक्रूप से अर्थ-निर्णय करना और उसका मूल रूप के शब्दों के साथ सम्बन्ध जोड़ना निर्युक्ति का प्रयोजन है।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु से भिन्न हैं और प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के सहोदर माने जाते हैं एवं अष्टांग निमित्त व मंत्रविद्या में पारंगत नैमित्तिक भद्रबाहु के रूप में प्रसिद्ध हैं। वराहमिहिर वि० सं० ५६२ में विद्यमान थे। अतः इनका समय भी यही मानना चाहिए। आगम प्रभावक पुण्यविजयजी महाराज तथा प्रसिद्ध साहित्य मनीषी देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री का मानना है कि निर्युक्तियों की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। प्रथम भद्रबाहु ने भी निर्युक्तियाँ लिखीं और जो रूप वर्तमान में निर्युक्तियों का मिलता है वह रूप द्वितीय भद्रबाहु तक स्थिर हुआ था, इसमें अनेक गाथाएँ प्रथम भद्रबाहु के समय की भी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने निम्न आगमों पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं—
आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार।

दूसरे निर्युक्तिकार गोविन्दाचार्य जी हैं। लेकिन उनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य भद्रबाहु ने जैन-परम्परागत अनेक महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की स्पष्ट व्याख्या अपनी आगमिक निर्युक्तियों में की है, जिनका आधार लेकर उत्तरवर्ती भाष्यकारों ने अपनी-अपनी कृतियों का निर्माण किया। इसीलिए जैन साहित्य के इतिहास में आचार्य भद्रबाहु का एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है।

भाष्यकार—निर्युक्तियों की वर्णनपद्धति गूढ़ एवं अति संक्षिप्त है। उनमें पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या है। अतः उन गूढ़ार्थों को प्रकट रूप में प्रस्तुत करने के लिए उत्तरवर्ती काल में आचार्यों ने जो व्याख्यायें लिखीं वे भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हुईं। निर्युक्तियों की ही तरह इनकी भाषा प्राकृत एवं शैली पद्यात्मक है।

प्रत्येक आगम पर जैसे निर्युक्तियाँ नहीं लिखी गई वैसे ही प्रत्येक निर्युक्ति पर भाष्य भी नहीं लिखे गये हैं। जिन आगमों पर भाष्य लिखे गये हैं उनके नाम हैं:—आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ। आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं—(१) मूलभाष्य, (२) भाष्य, (३) विशेषावश्यकभाष्य। प्रथम दो भाष्य संक्षिप्त हैं और उनकी अनेक गाथायें विशेषावश्यकभाष्य में सम्मिलित कर ली गई हैं। उत्तराध्ययनभाष्य बहुत छोटा है। कुल ४५ गाथायें हैं। बृहतकल्प पर बृहत् और लघु यह दो भाष्य हैं। व्यवहार और निशीथ भाष्य में लगभग क्रमशः ४६२ और ६५०० गाथायें हैं।

उपलब्ध भाष्यों के आधार से आचार्य जिनभद्रगणी और संघदासगणी इन दो भाष्यकारों के नाम का पता चलता है।

अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थों के कारण यद्यपि आचार्य जिनभद्रगणी का जैन-परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है लेकिन उनके जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में कोई सामग्री नहीं मिलती है। आचार्य जिनभद्रकृत विशेषावश्यकभाष्य की प्रति शक संवत् ५३१ में लिखी गई और वह वल्लभी के एक जैनमन्दिर में समर्पित की गई। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि उनका वल्लभी से कोई सम्बन्ध अवश्य रहा है। डा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने अकोटा गाँव से प्राप्त दो प्रतिमाओं के लेखों के आधार से यह संकेत दिया है कि आचार्य जिनभद्र का समय ई० सन् ५५० से ६०० के बीच होना चाहिये। मुनि श्री जिनविजयजी ने जैसलमेर स्थित विशेषावश्यकभाष्य की प्रति के आधार पर आचार्य जिनभद्र का समय विक्रम सं० ६६६ के आसपास माना है लेकिन यह समय भी विवादास्पद है।

आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य (प्राकृत पद्य), विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति (अपूर्ण संस्कृत गद्य) बृहत्संग्रहणी (प्राकृत पद्य), बृहत्क्षेत्रसमास (प्राकृत पद्य), विशेषणवती (प्राकृत पद्य), जीतकल्प (प्राकृत पद्य), जीतकल्प भाष्य (प्राकृत पद्य), अनुयोगद्वारचूर्णि (प्राकृत पद्य), ध्यानशतक (प्राकृत पद्य)। ध्यानशतक का कर्तृत्व सन्दिग्ध है। आदि ग्रन्थों की रचना की।

संघदासगणी भी भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध है। इनके दो भाष्य उपलब्ध हैं—बृहत्कल्पलघुभाष्य और पंचकल्प महाभाष्य। मुनिश्री पुण्यविजयजी के मतानुसार संघदासगणी नाम के दो आचार्य हुए हैं। एक वसुदेव हिंडी के प्रणेता और दूसरे बृहत्कल्पलघुभाष्य व पंचकल्पमहाभाष्य के कर्ता। क्योंकि वसुदेव हिंडी के कर्ता आचार्य धर्मसेनगणी के कथनानुसार वसुदेव हिंडी प्रथम खण्ड के प्रणेता 'वाचक' पद से अलंकृत थे जबकि भाष्य प्रणेता संघदासगणी 'क्षमाश्रमण' पद से। लेकिन केवल उपाधिभेद से व्यक्तिभेद की कल्पना करना उचित नहीं है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति दो पदवियों से अलंकृत हो सकता है और विभिन्न दृष्टियों से उनका समयानुसार प्रयोग भी होता है। अतः संघदासगणी नाम से दो अलग-अलग आचार्य हुए हों यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। यह सत्य है कि संघदासगणी आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं।

अन्य भाष्यकारों का भी अनुमान किया जाता है लेकिन उनका निश्चित पता नहीं लगने से यही माना जायेगा कि भाष्यकारों में आचार्य जिनभद्र और संघदासगणी प्रमुख हैं।

चूर्णिकार—निर्युक्ति और भाष्य के अनन्तर व्याख्या विधि में अंतर आया। निर्युक्ति और भाष्य की भाषा प्राकृत एवं शैली पद्यात्मक रही। उनके पश्चात् उत्तरवर्ती आचार्यों ने गद्यात्मक व्याख्या का निर्माण किया। यह व्याख्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत में या संस्कृत मिश्रित प्राकृत में है, जिसे चूर्णि कहा जाता है। चूर्णियाँ आगमों पर और आगमेतर अन्य ग्रन्थों पर लिखी गईं लेकिन उनकी संख्या अल्प है।

जिन आगम ग्रन्थों पर चूर्णियाँ लिखी गईं उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, जीवाभिगम, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कंध, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति। निर्युक्तियों एवं अन्य ग्रन्थों पर भी चूर्णियाँ लिखी गई हैं।

चूर्णिकार के रूप में जिनदासगणी महत्तर का नाम प्रसिद्ध है। इन्होंने कितनी चूर्णियाँ लिखीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। फिर भी निशीथ, नन्दी, अनुयोगद्वार, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग आगमों की चूर्णियाँ इनके द्वारा रचित हैं।

जिनदासगणी महत्तर की जीवनी के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती। निशीथचूर्णि के अन्त में चूर्णिकार का नाम जिनदास बताया है और उसके प्रारम्भ में विद्यागुरु के रूप में प्रद्युम्न क्षमाश्रमण का नाम तथा उत्तराध्ययनचूर्णि के अन्त में जो प्रशस्ति दी है, उसमें इनके नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु गुरु का नाम गोपालगणी महत्तर है। जिनदासगणी के समय के बारे में उपलब्ध साक्ष्यों से इतना ही कहा जा सकता है कि ये भाष्यकार आचार्य जिनभद्र के बाद और टीकाकार आचार्य हरिभद्र के पूर्व हुए हैं। क्योंकि जिनदासगणी महत्तर ने आचार्य जिनभद्र के भाष्य की अनेक गाथाओं का अपनी चूर्णियों में और आचार्य हरिभद्र ने इनकी चूर्णियों का अपनी टीकाओं में यथास्थान उपयोग किया है। अतः इन दोनों के मध्य में जिनदासगणी का समय उचित प्रतीत होता है। आचार्य जिनभद्र का समय विक्रम सं० ६००-६६० के आसपास है और हरिभद्र का समय वि० सं० ७५७ से ८२७ के मध्य। अतः जिनदासगणी का समय विक्रम सं० ६५०-७५० के बीच मानना चाहिये।

जिनदासगणी महत्तर के अतिरिक्त सिद्धसेनसूरि, प्रलम्बसूरि और अगस्त्यसिंहसूरि ने भी कुछ चूर्णियाँ लिखी हैं।

टीकाकार—आगमों की संस्कृत भाषा में लिखी गई गद्य व्याख्यायें टीका के नाम से प्रसिद्ध हैं। संस्कृत भाषा का विशेष प्रचार-प्रभाव बढ़ने पर जैनाचार्यों ने भी अपने प्राचीनतम आगमग्रन्थों पर संस्कृत में टीका में लिखना प्रारम्भ किया। जिनमें प्राचीन निर्युक्तियाँ, भाष्य और चूर्णियों का उपयोग तो किया ही साथ में नये नये तर्कों, हेतुओं द्वारा पूर्व सामग्री को व्यापक बनाया। प्रायः प्रत्येक आगम पर टीकाएँ मिलती हैं।

टीकाकारों में हरिभद्रसूरि, शीलांकसूरि, वादिवेताल शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र के नाम प्रमुख हैं। किन्तु इन टीकाकारों से भी पूर्व आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जिन्होंने विशेषाश्यकभाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति लिखना प्रारम्भ किया था पर उसे वे अपने जीवनकाल में समाप्त न कर सके और उस अपूर्ण वृत्ति को कोट्याचार्य ने पूर्ण किया। इस दृष्टि से आचार्य जिनभद्र को अन्य टीकाकारों से भी पूर्ववर्ती प्राचीन आगमिक टीकाकार के रूप में स्मरण कर सकते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि आदि प्रमुख टीकाकार के अतिरिक्त अन्य टीकाकार भी हुए हैं। जिनरत्नकोश आदि में आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं जिन्होंने आगम साहित्य पर टीकायें लिखी हैं।

हरिभद्रसूरि जैन आगमों के प्राचीन टीकाकार हैं। इन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार आगमों पर टीकायें लिखी हैं। आपका जन्म चित्तौड़ में हुआ। वे वहाँ के राजा जितारि के राज पुरोहित थे। गच्छपति गुरु का नाम जिनभट, दीक्षागुरु का नाम जिनदत्त, धर्म-जननी का नाम याकिनी महत्तरा, धर्म-कुल का नाम विद्याधर गच्छ है। इनका समय विक्रम सं० ७५७-८२० अर्थात् ई० सन् ७००-७७० है। कहा जाता है कि हरिभद्रसूरि ने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें से ७५ ग्रन्थ तो अभी उपलब्ध हैं जिनको देखने से इनकी विद्वत्ता का पता लगता है कि ये एक बड़े बहुश्रुत विद्वान थे।

आचार्य शीलांक के लिए कहा जाता है कि इन्होंने प्रथम नौ अंगों पर टीकायें लिखी थीं। पर वर्तमान में आचारांग और सूत्रकृतांग की टीकायें उपलब्ध हैं। आचारांगटीका की प्रतियों में भिन्न-भिन्न समय का उल्लेख है, जैसे किसी पर शक संवत ७७२ तो किसी पर शक सं ७८४ या ७९८। इससे शक की आठवीं अर्थात् विक्रम की नौवीं-दसवीं शताब्दी इनका समय माना जा सकता है। शीलांकाचार्य शीलाचार्य एवं तत्त्वादित्य के नाम से भी ये प्रसिद्ध हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वादिवेताल, शांतिसूरि उत्तराध्ययनसूत्र की टीका के कर्ता हैं। इनका जन्म राधनपुर (गुजरात) के पास ऊण गाँव में हुआ था। पिता का नाम धनदेव, माता का नाम धनश्री तथा स्वयं का नाम भीम तथा दीक्षा का नाम शान्ति था। शान्तिसूरि का समय पाटन के राजा भीमराज (शासनकाल वि. सं. १०७८ से ११२०) के समकालीन माना जा सकता है। आप भीमराज की सभा में 'वादिचक्रवर्ती' तथा 'कवीन्द्र' के रूप में प्रसिद्ध थे। मालव प्रदेश में विहार करते समय धारा नगरी के प्रसिद्ध राजा भोज (शासन काल वि. सं. १०६७ से १११९) की सभा में ८४ वादियों को पराजित करने पर राजा भोज ने इन्हें 'वादिवेताल' के पद से विभूषित किया था।

आपके गुरु का नाम विजयसिंहसूरि था और बाद में आचार्य पद प्राप्त कर अपने गुरु के पट्टधर शिष्य हुए। आपके ३२ शिष्य थे। उन्हें आप प्रमाणशास्त्र का अभ्यास कराते थे। इसी प्रसंग पर एक विद्वान मुनि चन्द्रसूरि का सुयोग मिला जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि थे। उन्हें भी अपने पास रखकर प्रमाणशास्त्र का विशेष अभ्यास कराया।

अन्त वेला में गिरनार में आकर आपने संथारा किया और विक्रम सं. १०९६ ज्येष्ठ शुक्ला ९ मंगलवार को कालधर्म को प्राप्त हुए।

अभयदेवसूरि नवांगी वृत्तिकार के रूप में प्रसिद्ध है। आपने स्थानांग आदि नौ अंग आगमों एवं औपपातिक उपांग की टीकाएँ लिखी हैं। आपकी कुल रचनाओं का ग्रन्थमान करीब ६०,००० श्लोक प्रमाण हैं।

अभयदेवसूरि का बाल्यकाल का नाम अभयकुमार था और धारा नगरी के सेठ धनदेव के पुत्र थे। आपके दीक्षागुरु का नाम वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि था। अभयदेव का जन्म अनुमानतः वि. सं. १०८८, दीक्षा वि. सं. ११०४ आचार्य पद एवं टीकाओं का प्रारम्भ वि. सं. ११२० और स्वर्गवास वि. सं. ११३५ अथवा ११३९ माना जाता है।

मलयगिरिसूरि कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे और उन्हीं के साथ विद्या साधना भी की थी। आप आचार्य थे। आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन होने से मलयगिरि सूरि का समय वि. सं. ११५०-१२५० के लगभग मानना चाहिए।

आचार्य मलयगिरिरचित निम्नलिखित आगमिक टीकायें आज भी उपलब्ध हैं—भगवती (द्वितीय शतक) राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, नन्दी, व्यवहार, बृहत्कल्प, आवश्यक। कुछ और ग्रन्थों की भी टीकायें लिखी हैं। आपने कुल २६ ग्रन्थों का निर्माण किया था जिनमें से पच्चीस टीकायें हैं। कुल ग्रन्थमान दो लाख श्लोक प्रमाण है। टीकाओं की विद्वद्वर्ग में बड़ी प्रतिष्ठा है।

मलधारी हेमचन्द्रसूरि का गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था। आप राजमंत्री थे और मलधारी अभयदेवसूरि के शिष्य थे। वि. सं. ११६८ में आचार्य पद प्राप्त किया और सम्भवतः वि. सं. ११८० में कालधर्म को प्राप्त हुए। आपने आवश्यक, अनुयोगद्वार, नन्दीसूत्र की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की भी रचना की, जिनका ग्रन्थमान करीब अस्सी हजार श्लोक प्रमाण है।

उक्त प्रमुख टीकाकारों के अतिरिक्त नेमिचन्द्रसूरि ने उत्तराध्ययनवृत्ति, श्रीचन्द्रसूरि ने आवश्यक, नन्दी, निरयावलिका आदि अन्तिम पाँच उपांगों पर टीकायें लिखी हैं। आगमों पर संस्कृत टीकायें लिखने का क्रम विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा और अनेक आचार्यों ने आगमों या उनके किसी अंश पर विद्वत्तापूर्ण टीका ग्रन्थ लिखे हैं।

लोकभाषा टीकाकार—आगमों की संस्कृत टीकाओं की बहुलता होने पर भी समयानुसार भाषा प्रवाह में परिवर्तन आने और लोक-भाषाओं का प्रचार बढ़ने के कारण तथा संस्कृत टीकाओं के सर्वगम्य न होने से उत्तरवर्ती काल में आचार्यों ने जनहित को दृष्टि में रखते हुए लोक-भाषाओं में सरल सुबोध टीकायें लिखी हैं। इन व्याख्याओं का उद्देश्य आगमों के मूलभावों को समझाने का है। परिणामतः तत्कालीन अपभ्रंश (प्राचीन गुजराती) में बालावबोधों की रचना हुई। इस प्रकार की रचनाओं से राजस्थानी एवं गुजराती बोलियों के जानने वाले आगम-प्रेमियों को काफी लाभ मिला तथा आज तो साधारण-जन भी उन व्याख्याओं को पढ़कर अपनी आगम निधि का रसास्वादन कर सकता है।

बालावबोधों की रचना करने वालों में मुनिश्री धर्मसिंहजी का नाम प्रमुख है। आपने भगवती, जीवाभिगम,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञापना, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति इन पाँच सूत्रों के अतिरिक्त शेष स्थानकवासी सम्मत २७ आगमों के बालावबोध (टब्बे) लिखे हैं। साधु रत्नसूरि के शिष्य पार्श्वचन्द्रगणी (वि० सं० १५७२) विरचित आचारांग, सूत्रकृतांग आदि के बालावबोध भी उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा गुजराती है।

प्रसिद्ध बालावबोधकार मुनिश्री धर्मसिंहजी जामनगर (सौराष्ट्र) के निवासी थे। पिताश्री का नाम जिनदास और माता का नाम शिवादेवी था। आप करीब १५ वर्ष के थे उस समय लोंकागच्छ के आचार्य रत्नसिंह के शिष्य देवजी मुनि का जामनगर पदार्पण हुआ। उनके प्रवचन से प्रभावित होकर आपने व आपके पिताजी ने दीक्षा अंगीकार कर ली थी। अध्ययन करते-करते आपको शास्त्रों का अच्छा अभ्यास हो गया था। आपके बारे में यह प्रसिद्ध है कि दोनों हाथों से ही नहीं दोनों पैरों से भी लेखनी पकड़कर लिख सकते थे। वि० सं० १७२८ आश्विन शुक्ला ४ को आप कालधर्म को प्राप्त हुए।

मुनिश्री धर्मसिंहजी ने २७ सूत्रों के टब्बों के अतिरिक्त निम्नलिखित गुजराती ग्रन्थों की भी रचना की है :—समवायांग की हुण्डी, सूत्रसमाधि की हुण्डी, भगवती का यन्त्र, स्थानांग का यन्त्र, जीवाभिगम का यन्त्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का यन्त्र, चन्द्रप्रज्ञप्ति का यन्त्र, सूर्यप्रज्ञप्ति का यन्त्र, राजप्रश्नीय का यन्त्र, व्यवहार की हुण्डी, द्रौपदी की चर्चा, सामायिक की चर्चा, साधु सामाचारी, चन्द्रप्रज्ञप्ति की टीप। कुछ ग्रन्थ और भी लिखे हैं लेकिन अभी तक इन ग्रन्थों का प्रकाशन नहीं हुआ है।

आजकल हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में अनेक आगमों के अनुवाद व सार भी प्रकाशित हुए हैं। आगमों पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य भी चल रहे हैं। आधुनिक दृष्टि से आगमों का सम्पादन कार्य भी चल रहा है।

सुप्रसिद्ध साहित्य मनीषी श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री ने अपने महत्त्वपूर्ण शोधप्रधान ग्रन्थ "जैन आगम: साहित्य मनन और मीमांसा' में आगम और उसके व्याख्या साहित्य पर विस्तार से प्रकाश डाला है। मैंने बहुत ही संक्षेप में यहाँ कुछ विचार व्यक्त किये हैं। विशेष जिज्ञासुओं को प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न पढ़ने के लिए सूचन करता हूँ।

पुष्कर वाणी

कुछ बालक पिंग पांग खेल रहे थे। मैंने देखा कि एक छोटा सा बॉल है, उस पर जितनी चोटें लगती हैं वह उतना ही जोर से उछलता है। उछलने का रहस्य क्या है ? बॉल का हलकापन ! बॉल हलका होता है, इसलिए उछलता है।

क्रोध आदि विकारों से हलके आत्मा पर भी संसार में चाहें जितनी चोटें लगें, वह उनमें दुःखी नहीं होता अपितु अपने आप में मगन बना उछलता है, कूदता है, अर्थात् प्रसन्न रहता है।

वास्तव में आत्मा तो हलका है, वजन है कर्मों का, विकारों का। स्थूल भौतिक पदार्थों का।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Impersonal Universal Vision

Swami Nirmalananda

☆

It was a bright and beautiful morning when the gentle rays of the rising sun infused a new life into everything. Even a blade of grass or a petal of a flower began to throb with life. After many days of continuous downpour, the entire forest looked fresh and fragrant. Wild animals moved about in freedom when man left them undisturbed. The gentle deer, the green parrot, the lovely woodpecker and the shy robin looked healthy and clean, whereas the domesticated animals and fowls were not so healthy and clean. By leading natural life in freedom, these wild animals and birds are free from diseases and they manage well without the help of doctors and medicines. With too much of modernisation and artificial way of life, we not only invite diseases, but also forget our essential oneness with Nature. By cultivating the intellect without corresponding development of the heart, we remain incomplete and fragmented beings. When undue emphasis is given to intellectual development, we lose our balance and innate simplicity and thereby develop a kind of hypocritical attitude of trying to be different from what we are.

He was a poor hill tribe, simple and primitive in many ways. Short and a hunchback, with long matted hair left loosely around his neck and shoulders and with features resembling a cave-man, he would often wander alone in the vast forest unafraid of wild animals. A small dhoti, a shirt and a sheet were all the garments he had, and they were torn and dirty with long use. Yet he did not bother to wash them. His wants were few and his earthly possessions consisted of a crowbar for digging wild roots, an axe for chopping firewood, a sickle, a couple of mud pots and a small tumbler. Carrying the crowbar and the axe, he would go into the dense forest taking his dog with him. After digging up wild tubers and roasting them in the fire, he would eat after sharing it with his dog. Before getting dark, he would select one of the nearest caves and would make fire in front of it to scare away bears and other wild beasts that frequented the place. After spreading a torn gunny bag on the floor of the cave and another one for his dog, he would spend the night there.

People called him 'Ogari Madha' (Ogari means cave and Madha is a crude abbreviation of Mahadeva). Ogari Madha had no need for politicians or even for the government. Just as the monkey needed no permission of anyone for jumping from tree to tree, so also he did not have to obtain any sanction from anyone for wandering in the forest. Whenever he needed a couple of rupees for his smoke, jaggery and coffee decoction, he would chop firewood or cut wild grass and carry the heavy load on his head to the village. During the season, he would bring honey-combs for squeezing them in your presence. Occasionally he would bring wild roots and then he would narrate his strange and dreadful experiences and encounters with wild elephants, tigers, bears, cheetahs and pythons. Despite his ignorance and dirty dress, he was extremely simple and sincere. Above all, there was something unspoilt in him which we often lose as we get more educated and civilised. More than anything else, it was this aspect which made you love and like him. Whenever he came to the ashram, he became the focus of your attention.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Sometimes god came on him and he was used as a medium when his whole body would shake with the power of the Invisible. On those occasions, tribal men and women would come to him seeking guidance from god in warding off evil spirits and in solving their troubles and problems. He would give them suitable answers as to how to avert dangers and how to appease the wrath of god. He would then hit his lower abdomen with the sickle he carried. A couple of years ago, while so hitting, it is said, he inflicted a wound over his abdomen and blood began to ooze out of it. But he never got perturbed about it nor did he want to go to any doctor for treatment. He simply applied some holy ashes over the wound and remarked : 'It was my punishment for this foolish Madha for his disobedience of eating food instead of fasting until I came on him'.

Man is here for the supreme purpose : 'of know himself'. It is because of the lack of Self-Knowledge that we, knowingly or unknowingly, create more misery and suffering in this sorrow-ridden world. One may be highly educated, or may possess a lot of wealth or may occupy the highest position in society or may roll in all sorts of luxuries and comforts, yet it is impossible to find perfect peace and happiness unless one knows oneself. Unless the ego-shell is broken, it is not possible to find the Self-kernel which is the Living Truth in all. The world is too much in all of us. Its nagging problems impinge us all the time from all directions. Yet the world is only a reflections of the mind. Therefore, it is foolish to run away from it to a forest or to a holiday resort or to a foreign country where everything on the surface looks nicer and appealing. We carry the mind wherever we go and, therefore, we cannot escape from life and its problems until and unless we tackle the mind itself. The truth is only the truth of our own being and, therefore, it is of paramount importance to know oneself. Without Self-Knowledge, our knowledge of all other things has no basis at all. The Self-alienation makes one feel incomplete and it is the cause of one's unhappiness. When we get trapped in our own thoughts and activities, we feel isolated from the Self and thus remain cut off from our Source. Unless the root is one with the branch, it will not bear fruit. Thinking is not the nature of the Self and, therefore, we should stand apart from the thoughts if we want to be free and happy. If we want to be whole and complete, we should feel our inherent perfection.

Without the seer, nothing is seen. Surely, beauty lies in the beholder. We say that the world is real. But does the world tell us that it is real ? We seem to know the world. But does the world know us ? Or is the vision of the world only an experience of each person often modified by the changing mood of the mind ? When the mind wakes up, the world rises up in the mind and when the mind ceases to exist, the world also comes to nought. Moreover, the world does not appear to all in the same light, as each one has a different conception of the world. Seeing the world in its present plight, we all react to it in different ways. Even the ordinary mind is greater than the world, because, after one travels around the world, the entire world and what all one has seen, appear within the mind. Even when it seems to us that the objective world and the subjective mind are two different things, in deeper analysis a stage is sure to reach when the apparent boundary and distinction between the mind and matter vanish completely. What we then discover is the voil of pure awareness, the Universal Mind or the Formless Self.

When this realisation dawns in man, he knows without a trace of doubt that I AM (AHAM) the Infinite Truth, the whole of Life or the all-pervading Self, which is not limited to one's body. From this realisation springs genuine love, ethics and morality. When I AM All or when All are I AM, if I harm another, it amounts to harming myself. It is like cutting the base of the branch on which I sit and thereby I myself fall to the ground, hurting myself. **To see everything as my real Self and my true Self in everything is the right vision.** Mere intellectual knowing of this fact is no knowing at all. We have already gathered a lot of knowledge and this knowing will be one more piece of information to be added to the store-house of our know-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ledge. **The Self-knowing is a state of being, not a process of accumulating knowledge.** For the realization of I AM ALL, there is no need to force and strive, with the mind to become anything. All that is needed is just BE what I AM. If we want to be as free as a bird, what is required is to live in the moment giving complete attention to what we are and what we do. It is this realisation that brings SAMADARŚANAM (the sameness of vision) Without this all-embracing impersonal universal vision, one will never be able to say that 'I AM not in the world, but the world is in Me' or that 'I AM the Truth, the Way and the Life'.

As the world is not different from us and as we are not different from the world, when we change our vision and thinking, we find that the world is already transformed. As we are, so the world is. When our concept of the world is completely changed, the world and its happenings will have a different significance for us. Moreover, why try to change others, when they are I AM in different forms ? The fact is that by changing ourselves, we change the world. Therefore, there is no need to set right the world. What is needed is to set right one's own mind for precision, clarity and lucidity of the mind.

The Self-knowing is not possible when the mind's attention is turned towards other objects. Our so-called concern for others is often to disguise our own self-centred activities and preoccupation with our ego. If we really had deep concern for others, we would have instantly changed to be benefactors of the world and humanity. When each one of us is seeking blindly one's own ambition and success and when greed and selfishness rule our life, of what use is our thinking and talking about others ? What is needed is love in action and action in love. We often pretend to be what we are not. For Self-investigation, one should be sufficiently interested in oneself, though, of course, not in a selfish way. Pretension, wearing a mask, make-up, outward show, vain and proud display of one's wealth and knowledge, position and status have become the mania of our modern times. We seem to dress not for our own comfort and convenience, but to please others. When this tendency goes too far, we will not be true to our own being, but will dance to the whims and fancies of other people. We do not realise that the pretense of doing good is self-deception. Therefore, one should be honest and sincere to oneself to the core.

As the world consists of people of different interests, ambitions and aspirations, and, as all of them are at different stages of their mental and spiritual development, there will be chaos and confusion in the world, as it has always been. War, violence, brutality of every kind, on a big or small scale, are bound to prevail in society. Trying to bring order in this disorderly world, without first bringing order and clarity in one's own mind, is like trying to change the image of the face in the mirror without first correcting the face itself. Similarly, trying to escape from life and its problems which we ourselves have created, is like coming out of one trap and then falling into another trap. To seek escape is to invite sorrow. Undoubtedly, the world makes many demands on us. As we solve one problem, further problems continue to confront us all the time. Life is a shoreless ocean and the only shore is found in one's own Self. Behind the facade of glamour and pleasure, there is much ugliness and pain, and we all get greatly agitated about them. But if we are able to look beyond these dualistic impostors, we may find beauty and bliss. In the midst of darkness, light exists and in the midst of sorrow, happiness prevails. When one overcomes the world, safety and security are found in one's own Self which is the source of all blessings.

The usual tendency to blame the world or others for all the troubles arises from lack of Self-knowledge. When one's own vision is set right by conquering the mind and by putting it in its proper gear, perhaps there may be no need at all to reform others or to improve the lot of the world by our unnecessary and unwarranted interference which often does more harm than good. When we attempt to make others happy according to our notion of happiness, we are, in fact causing them more unhappiness. Despite all the benefit that accrues from education,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

science and technology, the number of poor and illiterate people in the world is on the increase. What does it prove ? It clearly shows that we have no genuine love in our heart for all. We do not sufficiently realise that we are the cause of the world's sorrow. When we realise it, we will cease to trouble the world and the world will then cease to trouble us.

True love cannot be awakened in the heart by preaching ethics and morality to others. When one is in need of it in himself, first one should reform the reformer that is himself. One should light the lamp of love in one's own heart and feed it with intense feeling and profound reverence. Love and compassion, generated in the heart of an enlightened soul, can be a more effective cure for the world's sorrow than all the organised charity, philanthrophy, social work and social reform put together. In this sorrow-ridden world we need more love and compassion which come as a result of the wisdom of self knowledge. Let love, therefore, inspire our actions, let love reign in our hearts and let love lead and guide our lives !

Mind from the light of the Truth-Consciousness, Life from the energy of the Consciousness-Force, Matter primal substance of Existence—these things are derived from Spiritual force. The Mystics had the Vision of the plane of the Truth-Consciousness whose power is inherent in all the living beings; and this power of Truth-Consciousness quicken that Manifestation towards which man is progressing in his evolution. And so, manifestation would therefore mean the ascent of man into a higher than his present mental plane of Consciousness.

—The Vision of India

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य विद्वानों का जैनविद्या को योगदान

डॉ० प्रेमसुमन जैन

आधुनिक युग में प्राच्यविद्याओं का विदेशों में अध्ययन १७वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। संस्कृत भाषा एवं साहित्य के बाद पालि एवं बौद्धधर्म का अध्ययन विदेशों में विद्वानों द्वारा किया गया। १८२६ ई० में बर्नोफ तथा लास्सन का संयुक्त रूप से 'ऐसे सुर ला पालि' निबन्ध प्रकाशित हुआ, जिसमें बुद्ध की मूल शिक्षाओं के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अनुसन्धान के क्षेत्र में १८६१ ई० तक जो ग्रन्थ प्रकाश में आये,[1] उनमें प्राकृत व अपभ्रंश भाषा पर कोई विचार नहीं किया गया। क्योंकि तब तक इन भाषाओं का साहित्य विदेशी विद्वानों की दृष्टि में नहीं आया था।

किन्तु १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राकृत भाषा का अध्ययन भी विदेशी विद्वानों द्वारा प्रारम्भ हो गया। फ्रान्सीसी विद्वान् चार्ल्स विल्किन्स ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के अध्ययन के साथ प्राकृत का उल्लेख किया। हेनरी टामस कोलब्रुक ने प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म के सम्बन्ध में कुछ निबन्ध लिखे। तथा १८९७ ई० में लन्दन के जे० जे० फलीट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'शार्ट स्टडीज इन ए साइन्स आव कम्पेरेटिव रिलीजन्स' में शिलालेखों में उत्कीर्ण प्राकृत भाषा का उल्लेख किया है। इस प्रकार प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म के अध्ययन के प्रति पाश्चात्य विद्वानों ने रुचि लेना प्रारम्भ किया, जो आगामी अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण भूमिका थी।

जैनविद्या के खोजी विद्वान

पाश्चात्य विद्वानों के लिए जैनविद्या के अध्ययन की सामग्री जुटाने वाले प्रमुख विद्वान् डा० जे० जी० बूलर थे। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में व्यतीत किया। १८६६ ई० के लगभग उन्होंने पाँच सौ जैन ग्रन्थ भारत से बर्लिन पुस्तकालय के लिए भेजे थे। जैन ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर डा० बूलर ने १८८७ ई० में जैनधर्म पर जर्मन भाषा में एक पुस्तक लिखी, जिसका अंग्रेजी अनुवाद १९०३ ई० में लन्दन से 'द इंडियन सेक्ट आफ द जैन्स' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में डा० बूलर ने कहा है कि जैनधर्म भारत के बाहर अन्य देशों में भी फैला है तथा उसका उद्देश्य मनुष्य को सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करना रहा है।

इस समय के जैनविद्या के दूसरे महत्वपूर्ण खोजी विद्वान् अल्बर्ट वेबर थे। उन्होंने डा० बूलर द्वारा जर्मनी को प्रेषित जैन ग्रन्थों का अनुशीलन कर जैन साहित्य पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। १८८२ ई० में प्रकाशित उनका शोधपूर्ण ग्रन्थ Indischen Studien (Indian Literature) जैनविद्या पर विशेष प्रकाश डालता है। इन दोनों विद्वानों के प्रयत्नों से विदेशों में प्राकृत भाषा के अध्ययन को पर्याप्त गति मिली है।

प्राकृत भाषा का अध्ययन

पाश्चात्य विद्वानों ने जैनविद्या के अध्ययन का प्रारम्भ प्राकृत भाषा के तुलनात्मक अध्ययन से किया। कुछ विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन करते हुए प्राकृत भाषा का अनुशीलन किया तो कुछ विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में अपनी शोध प्रस्तुत की। यह शोध-सामग्री निबन्धों और स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में प्राप्त होती है। पाश्चात्य विद्वानों के प्राकृत भाषा सम्बन्धी सभी लेखों और ग्रन्थों का मूल्यांकन प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। अतः १९वीं एवं २०वीं शताब्दी में प्राकृत भाषा सम्बन्धी हुए अध्ययन का संक्षिप्त विवरण कालक्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९वीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में जर्मनी में प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। होएफर की 'डे प्राकृत डिआलेक्टो लिब्रिदुओ (१८३६ ई०) तथा लास्सन की 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाएँ इस समय की प्रमुख रचनाएँ हैं। पाँचवें दशक में प्राकृत ग्रन्थों का जर्मन में अनुवाद भी होने लगा था। ओ बोलिक ने १८४८ ई० में हेमचन्द्र के 'अभिधान चिन्तामणि' का जर्मन संस्करण तैयार कर दिया था।[२] स्पीगल (१९४९ ई०) ने 'म्युंशनर गेलेर्ने आन्त्साइगन' में प्राकृत भाषा का परिचय दिया है।

इस समय तुलनात्मक दृष्टि से भी प्राकृत भाषा का महत्व बढ़ गया था। अतः अन्य भाषाओं के साथ प्राकृत का अध्ययन विदेशी विद्वान् करने लगे थे। डा० अर्नेस्ट ट्रम्प (१८६१-६२) ने इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया, जो 'ग्रेमर आव द सिन्धी लैंग्वेज कम्पेयर्ड विद द संस्कृत, प्राकृत एण्ड द कान्गेनेट इंडियन वर्नाक्युलर्स' नाम से १८७२ ई० में प्रकाशित हुआ। १८६९ ई० में फ्रेडरिक हेग ने अपने शोध-प्रबन्ध 'वर्गलचुंग डेस प्राकृत डण्ड डेर रोमानिश्चियन श्प्राखन' में प्राकृत भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में प्राकृत भाषा के व्याकरण का अध्ययन गतिशील हो गया था। डा० जे० एच० बूलर ने १८७४ ई० में 'द देसी शब्द संग्रह आफ हेमचन्द्र' एवं 'आन ए प्राकृत ग्लासरी इनटायटिल्ड पाइय-लच्छी' ये दो महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये।[३] तथा १८८९ ई० में आपकी 'ई० यूवर डास लेबन डेस जैन मोएन्दोस, हेमचन्द्रा' नामक पुस्तक विएना से प्रकाशित हुई। ई० बी० कावेल ने संस्कृत नाटकों की प्राकृत का अध्ययन प्रस्तुत किया जो सन् १८७५ ई० में लन्दन से 'ए शार्ट इंट्रोडक्शन टु द आर्डनरी प्राकृत आव द संस्कृत ड्रामाज विद ए लिस्ट आव कामन इर्रेगुलर प्राकृत वर्ड्स' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस सम्बन्ध में ई० म्यूलर की 'बाइत्रेगे त्सूर ग्रामाटीक डेस जैन प्राकृत' (बर्लिन, १८७५ ई०) नामक रचना भी प्राकृत भाषा पर प्रकाश डालती है। सम्भवतः प्राकृत व्याकरण के मूलग्रन्थ का अंग्रेजी संस्करण सर्वप्रथम डा० रुडोल्फ हार्नल ने किया। उनका यह ग्रन्थ 'द प्राकृत लक्षणम् आफ हेमचन्द्राज ग्रेमर आफ द एन्शियेंट प्राकृत' १८८० ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

प्राकृत भाषा के पाणिनि : पिशल :

पाश्चात्य विद्वानों में जर्मन विद्वान् रिचर्ड पिशल (R.Pischel) ने सर्वप्रथम प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक एवं व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है। यद्यपि उनके पूर्व हार्नल, लास्सन, होयेफर, वेबर आदि ने प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु इस अध्ययन को पूर्णता पिशल ने ही प्रदान की है।

रिचर्ड पिशल ने आचार्य हेमचन्द्रकृत 'हेमन्दानुशासन' प्राकृत व्याकरण का व्यवस्थित रीति से प्रथम बार सम्पादन किया, जो सन् १८७७ ई० में प्रकाशित हुआ। प्राकृत भाषा के अध्ययन में पिशल ने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया। प्राकृत भाषा के व्याकरण की प्रकाशित एवं अप्रकाशित अनेक कृतियों के अनुशीलन के आधार पर उन्होंने प्राकृत भाषाओं का व्याकरण 'ग्रेमेटिक डेर प्राकृत श्प्राखन' नाम से जर्मन में लिखा, जो १९०० ई० में जर्मनी के स्तास्बुर्ग नगर से प्रकाशित हुआ। इसके अब अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

प्राकृत भाषा के इस महान् ग्रन्थ में पिशल ने न केवल प्राकृत भाषा के व्याकरण को व्यवस्थित रूप दिया है, अपितु प्राकृत भाषा की उत्पत्ति आदि पर भी विचार किया है। अपने पूर्ववर्ती पाश्चात्य विद्वानों के मतों का निरसन करते हुए पिशल ने पहली बार यह मत प्रतिपादित किया कि प्राकृत भाषा संस्कृत से उत्पन्न न होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई है। वैदिक भाषा के साथ प्राकृत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उन्होंने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन की नई दिशा प्रदान की है।[४]

विभिन्न प्राकृतों का अध्ययन

डा० पिशल के बाद बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत भाषा के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया था। स्वतन्त्र ग्रन्थों के साथ-साथ प्राकृत भाषा सम्बन्धी लेख भी शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे। इस समय के विद्वानों में जार्ज ग्रियर्सन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सामान्य भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उनका जो योगदान है, उतना ही प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में भी।

सन् १९०६ में ग्रियर्सन ने पैशाची प्राकृत के सम्बन्ध में 'द पैशाची लेंग्वेज आफ नार्थ-वेस्टर्न इण्डिया' नाम से एक निबन्ध लिखा, जो लन्दन से छपा था।[५] १९६९ ई० में दिल्ली से इसका दूसरा संस्करण निकला है। पैशाची प्राकृत की उत्पत्ति एवं उसका अन्य भाषाओं के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर आपने विशेष अध्ययन कर १९१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ई० में 'द प्रिवेशन आफ पैशाची एण्ड इट्स रिलेशन टु अदर लेंग्वेज' नामक निबन्ध के रूप में प्रकाशित किया।[६] १९१३ ई० में आपने ढक्की प्राकृत के सम्बन्ध में अध्ययन प्रस्तुत किया 'अपभ्रंश एकॉर्डिंग टू मार्कण्डेय एण्ड ढक्की प्राकृत।'[७] इनके अतिरिक्त ग्रियर्सन का प्राकृत के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में अध्ययन निरन्तर चलता रहा है। 'द प्राकृत डिभाषाज'[८] 'एन अरवेकवर्ड क्वेटेड वाय हेमचन्द्र',[९] 'प्राकृत घत्वादेश',[१०] 'पैशाची',[११] आदि निबन्ध प्राकृत भाषा एवं अपभ्रंश के अध्ययन के प्रति ग्रियर्सन की अभिरुचि को प्रगट करते हैं।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशक तक प्राकृत भाषा का अध्ययन कई पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए इस समय भारतीय भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक समझा जाने लगा था। कुछ विद्वानों ने तो प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थों का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन भी किया है। हल्टजश्च ने सिंहराज के प्राकृत-रूपावतार का सम्पादन किया, जो सन् १९०९ में लन्दन से छपा।

जैनविद्या का अध्ययन करने वाले विद्वानों में इस समय के प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी थे, जिन्होंने प्राकृत वाङ्मय का विशेष अनुशीलन किया है। जैकोबी ने 'औसगे वेल्ते एत्से लिंगन इन महाराष्ट्री' (महाराष्ट्री (प्राकृत) की चुनी हुई कहानियाँ) नाम से एक पाठ्यपुस्तक तैयार की, जो सन् १८८६ ई० में लिपजिग (जर्मनी) से प्रकाशित हुई। इसके इण्ट्रोडक्शन में उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है तथा वैदिक भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक के विकास को प्रस्तुत किया है। जैकोबी ने अपने द्वारा सम्पादित प्राकृत ग्रन्थों की भूमिकाओं के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में स्वतन्त्र निबन्ध भी लिखे हैं। सन् १९१२-१३ में उन्होंने 'प्राकृत देर जेस, उवर आइने नीव सन्धिरीगल इन पाली इण्ड इन, इण्ड उबर दी वेटोमिंग इण्डिश्चिन स्प्राखन' नामक निबन्ध लिखा,[१२] जो, पालि-प्राकृत भाषाओं पर प्रकाश डालता है। जैनकथा साहित्य के आधार पर प्राकृत का सर्वप्रथम अध्ययन जैकोबी ने ही किया है। इस सम्बन्ध में उनका 'उवर डैस प्राकृत इन डेर इत्सेलंग लिटरेचर डेर जैन' नामक निबन्ध महत्वपूर्ण है।

इसी समय पीटर्सन का 'वैदिक संस्कृत एण्ड प्राकृत'[१३], एफ० इ० पजिटर का 'चूलिका पैशाचिक प्राकृत'[१४], आर० शिमदित का 'एलीमेण्टर बुक डेर शौरसैनी', बाल्टर शुब्रिंग का 'प्राकृत डिचटुंग उण्ड प्राकृत ग्रैमेनीक'[१५], एल० डी० बर्नेट का 'एप्ल्यूरल फार्म इन द प्राकृत आफ खोतान'[१६] आदि गवेषणात्मक कार्य प्राकृत भाषाओं के अध्ययन के सम्बन्ध में प्रकाश में आये।

इस शताब्दी में चतुर्थ एवं पंचम दशक में पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत भाषा के क्षेत्र में जो कार्य किया उसमें ल्युजिआ निस्सि का अध्ययन विशेष महत्व का है। उन्होंने न केवल प्राकृत के विभिन्न वैयाकरणों के मतों का अध्ययन किया है, अपितु अभी तक प्राकृत भाषा पर हुए पिशेल आदि के ग्रन्थों की सम्यग् समीक्षा भी की है।[१७] उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेस ग्रेमेरियन्स प्राकृत्स' (प्राकृत के व्याकरणकार) है, जो पेरिस से सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ है। नित्ति डोलची का दूसरा ग्रन्थ 'डु प्राकृतकल्पतरु डेस रामशर्मन विब्लियोथिक डिले आल हेट्स इटूयड्स' है। इन्होंने प्राकृत-अपभ्रंश भाषा से सम्बन्धित समस्याओं पर शोध-निबन्ध भी लिखे हैं—'प्राकृत ग्रेमेरिअन्स टडिस एट डायलेक्ट्स डु'[१८] आदि।

इसी समय टी० बरो का 'द लेंग्वेज आफ द खरोष्ट्री डोकुमेंट्स फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान', नामक निबन्ध १९३७ में कैम्ब्रिज से प्रकाशित हुआ। प्राकृत मुहावरों के सम्बन्ध में विल्तोरे पिसानी ने 'एन अननोटिस्ड प्राकृत इडियम' नामक लेख प्रकाशित किया। मागधी एवं अर्धमागधी के स्वरूप का विवेचन करने वाला डब्ल्यू० ई० क्लर्क का लेख 'मागधी एण्ड अर्धमागधी',[१९] सन् १९४४ ई० में प्रकाश में आया। १९४८ ई० में नार्मन ब्राउन ने जैन महाराष्ट्री प्राकृत और उसके साहित्य का परिचय देने वाला 'जैन महाराष्ट्री प्राकृत सम केनिकल मेटेरियल इन' नाम से एक लेख लिखा।[२०]

इस शताब्दी के छठे दशक में प्राकृत के साहित्यिक ग्रन्थों पर भी पाश्चात्य विद्वानों ने दृष्टिपात किया। कुवलय-मालाकथा की भाषा ने विद्वानों को अधिक आकृष्ट किया। सन् १९५० में अल्फ्रड मास्तर ने 'ग्लीनिंग्स फ्राम द कुवलय-माला' नामक लेख लिखा[२१], जिसमें उन्होंने ग्रन्थ की १८ देशी भाषाओं पर प्रकाश डाला। दूसरे विद्वान् जे० क्यूपर ने 'द पैशाची फागमेन्ट आफ द कुवलयमाला' में ग्रन्थ की भाषा की व्याकरण-मूलक व्याख्या प्रस्तुत की।[२२] प्राकृत भाषा के अध्ययन के इस प्रसार के कारण विश्व की अन्य भाषाओं के साथ भी उसकी तुलना की जाने लगी। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ज्यूल्स ब्लाख ने अपने 'प्राकृत Cia लैटिन guiden लेंग्वेज'[२३] नामक लेख में प्राकृत और लैटिन भाषा के सम्बन्धों पर विचार किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक प्राकृत और अपभ्रंश में कोई विशेष भेद नहीं माना जाता था। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की खोज एवं अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में आने से अब ये दोनों भाषाएँ स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में आ गयी हैं और उन पर अलग-अलग अध्ययन-अनुसन्धान होने लगा है। अपभ्रंश भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अब तक हुए अध्ययन और प्रकाशन का विवरण डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने परिश्रमपूर्वक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है।[२४] उससे ज्ञात होता है कि पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपभ्रंश भाषा का पर्याप्त अध्ययन किया है।

रिचर्ड पिशल ने प्राकृत व्याकरण के साथ अपभ्रंशभाषा के स्वरूप आदि का भी अध्ययन प्रस्तुत किया। १८८० ई० में उन्होंने 'देशी नाममाला' का सम्पादन कर उसे प्रकाशित कराया, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि अपभ्रंश भाषा जनता की भाषा थी और उसमें साहित्य भी रचा जाता था। आपके मत का लास्सन ने भी समर्थन किया। १९०२ ई० में पिशल द्वारा लिखित 'माटेरिआलिसन त्सुर डेस अपभ्रंश' पुस्तक बर्लिन से प्रकाशित हुई, जिसमें स्वतन्त्र रूप से अपभ्रंश का विवेचन किया गया।

जिस प्रकार प्राकृत भाषा के अध्ययन का सूत्रपात करने वाले रिचर्ड पिशल थे, उसीप्रकार अपभ्रंश के ग्रन्थों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने वाले विद्वान् डॉ० हर्मन जैकोबी थे। १९१४ ई० में जैकोबी को भारत के जैन-ग्रन्थ भण्डारों में खोज करते हुए अहमदाबाद में अपभ्रंश का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भविसयत्तकहा' प्राप्त हुआ तथा राजकोट में 'नेमिनाथ चरित' की पाण्डुलिपि मिली। जैकोबी ने इन दोनों ग्रन्थों का सम्पादन कर अपनी भूमिका के साथ इन्हें प्रकाशित किया। तभी से अपभ्रंश भाषा के अध्ययन में भी गतिशीलता आयी। अपभ्रंश का सम्बन्ध आधुनिक भाषाओं के साथ स्पष्ट होने लगा।

अपभ्रंश भाषा के तीसरे विदेशी अन्वेषक मनीषी डॉ० एल० पी० टेस्सिटरी हैं, जिन्होंने राजस्थानी और गुजराती भाषा का अध्ययन अपभ्रंश के सन्दर्भ में किया है। सन् १९१४ से १९१६ ई० तक आपके विद्वत्तापूर्ण लेखों ने[२५] अपभ्रंश के स्वरूप एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ उसके सम्बन्धों को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। टेस्सिटरी के इन लेखों के अनुवादक डा० नामवरसिंह एवं डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इन लेखों को आधुनिक भारतीय भाषाओं और अपभ्रंश को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में स्वीकार करते हैं। इस बात की पुष्टि डा० ग्रियर्सन द्वारा अपभ्रंश के क्षेत्र में किये गये कार्यों से हुई है।

डा० ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' के प्रथम भाग में अपभ्रंश पर विशेष विचार किया है। १९१३ ई० में ग्रियर्सन ने मार्कण्डेय के अनुसार अपभ्रंश भाषा के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत करते हुए एक लेख प्रकाशित किया। १९२२ ई० में 'द अपभ्रंश स्तवकाज आफ रामशर्मन' नामक एक और लेख आपका प्रकाश में आया।[२६] इसी वर्ष अपभ्रंश पर आप स्वतन्त्र रूप से भी लिखते रहे।

बीसवीं शताब्दी के तृतीय एवं चतुर्थ दशक में अपभ्रंश पर और भी निबन्ध प्रकाश में आये। हर्मन जैकोबी का 'जूर फ्राग नाक डेम उरस्प्रंगप्स अपभ्रंश[२७] एस० स्मिथ का 'देजीमांस दु तीय अपभ्रंश आ पाली'[२८] तथा लुडविग आल्सडोर्फ का 'अपभ्रंश मटेरेलियन जूर केंटनिस, डेस, बेमर कुनजन जू पिशेल'[२९] आदि अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। १९३७ ई० में डा० आल्सडोर्फ ने 'अपभ्रंश स्टडियन' नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ ही पिपर्जिग से प्रकाशित किया, जो अपभ्रंश पर अब तक हुए कार्यों का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। १९३९ ई० में लुइगा नित्ति डोलची के 'द अपभ्रंश स्तवकाज आफ रामशर्मन' से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश कृतियों के फ्रेंच में अनुवाद भी होने लगे थे। नित्ति डोलची ने अपभ्रंश एवं प्राकृत पर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन ही नहीं किया, अपितु पिशल जैसे प्राकृत भाषा के मनीषी की स्थापनाओं की समीक्षा भी की है।

सन् १९५० के बाद अपभ्रंश साहित्य की अनेक कृतियाँ प्रकाश में आने लगीं। अतः उनके सम्पादन और अध्ययन में भी प्रगति हुई। भारतीय विद्वानों ने इस अवधि में प्राकृत-अपभ्रंश पर पर्याप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है।[३०] विदेशी विद्वानों में डा० के० डी० ब्रीस एवं आल्सडोर्फ के नाम उल्लेखनीय हैं। के० डी० ब्रीस ने १९५४ ई० में 'अपभ्रंश स्टडीज' नामक दो निबन्ध प्रस्तुत किये।[३१] द्रविड़ भाषा और अपभ्रंश का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उन्होंने 'ए द्राविडियन टर्न इन अपभ्रंश,[३२] 'ए द्राविडियन ईडियम इन अपभ्रंश[३३] नामक दो निबन्ध तथा 'अपभ्रंश स्टडीज' का तीसरा[३४] और चौथा[३५] निबन्ध १९५९-६१ के बीच प्रकाशित किये।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में अपभ्रंश भाषा के क्षेत्र में विदेशी विद्वान् तिश्योशी नारा का कार्य महत्त्वपूर्ण है। सन् १९६३ ई० में उन्होंने 'शार्टनिंग आफ द फाइनल वावेल आफ इन्स्ट० सीग० एन एण्ड फोनोलाजी आफ द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेंग्वेज इन सरह दोहा' नामक निबन्ध प्रकाशित किया[31], १९६४ ई० में 'ए स्टडी आफ अवहट्ट एण्ड प्रोटोबेंगाली' विषय पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से आपका शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हुआ। इसके बाद भी अपभ्रंश पर आपका अध्ययन गतिशील रहा। १९६५ ई० में अपभ्रंश एण्ड अवहट्ट-प्रोटो न्यू इंडो-आर्यन स्टेजेज'[32] नामक निबन्ध आपके द्वारा प्रस्तुत किया गया।

जैन साहित्य

पाश्चात्य विद्वानों ने केवल प्राकृत एवं अपभ्रंश का भाषावैज्ञानिक अध्ययन ही नहीं किया अपितु इन भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन किया है। जैनागम, जैनटीका-साहित्य तथा स्वतन्त्र-साहित्यिक रचनाओं के प्रामाणिक संस्करण जर्मन और फ्रेंच विद्वानों द्वारा तैयार किये गये हैं। जैन कथा साहित्य पर उनकी विशेष रुचि रही है। व्याकरण एवं भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त १९वीं शताब्दी से अब तक जैन साहित्य के जिन प्रमुख ग्रन्थों पर पाश्चात्य विद्वानों ने कार्य किया है, उनका विवरण-कालक्रम की दृष्टि से इस प्रकार है—

१.	अभिधानचिन्तामणि	ओ० बोतलिक	१८४८ ई०
२.	शत्रुंजयमहात्म्य	अल्ब्रर्ट वेबर	१८५८
३.	भगवतीसूत्र[34]	जैकोबी	१८६८
४.	कल्पसूत्र	जैकोबी	१८७९
५.	देशीनाममाला	पिशल	१८८०
६.	नायाधम्मकहा	स्टेनल	१८८१
७.	औपपातिकसूत्र एवं		
८.	रायपसेणिय	लायमन	१८८२
९.	आचारांग	जैकोबी	१८८५
१०.	उत्तराध्ययनटीका	जैकोबी	१८८६
११.	हेमचन्द्र लिंगानुशासन	एफ० आर० ओटो	१८८६
१२.	कथासंग्रह	जैकोबी	१८८६
१३.	सगरकथा का जैन रूप	फिक	१८८६
१४.	उपमितिभवप्रपंचकथा	जैकोबी	१८९१
१५.	महावीर एवं बुद्ध	एस० एफ० ओटो	१९०२
१६.	धर्मपरीक्षा	मिरनोव निकालेस	१९०३
१७.	कल्पसूत्र	शुब्रिंग	१९०४
१८.	जैनग्रन्थसंग्रह	ग्यूरेनिट	१९०६
१९.	ज्ञाताधर्मकथा	हट्टमन	१९०७
२०.	अंतगडदसाओ	बरनट	१९०७
२१.	वज्जालग्ग	जूलस	१९१३
२२.	पउमचरियं	जैकोबी	१९१४
२३.	कर्मग्रन्थ	ग्लसनप	१९१५
२४.	भविसयत्तकहा	जैकोबी	१९१८
२५.	प्रबन्धचिन्तामणि	सिवेल	१९२०
२६.	कालकाचार्य कथानक	जैकोबी	१९२१
२७.	नेमिनाथचरित	जैकोबी	१९२१
२८.	सनत्कुमारचरित	जैकोबी	१९२१
२९.	तत्वार्थाधिगमसूत्र एवं कल्पसूत्र	सुजुकी	१९२१
३०.	उत्तराध्ययनसूत्र	कारपेण्टर	१९२२
३१.	दिगम्बर जैन ग्रन्थों का परिचय	वाल्टर	१९२३
३२.	कुमारपालप्रतिबोध	आल्सडोर्फ	१९२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३३.	दसवेयालियसुत्त	लेमन	१९३२
३४.	हरिवंशपुराण एवं		
३५.	महापुराण	आल्सडोर्फ	१९३५
३६.	सूर्यप्रज्ञप्ति	कोल	१९३७
३७.	जम्बूदीपप्रज्ञप्ति	डब्लू किर्फेल	१९३७
३८.	प्राकृत कल्पतरु	नित्ति डोलची	१९३९
३९.	न्यायावतारसूत्र	कनकुरा	१९४४
४०.	महानिशीथ	हम्म	१९४८
४१.	मल्ली की कथा	गुस्तेव	१९५२
४२.	चौपन्न महापुरिसचरियं	कलास	१९५५
४३.	महानिशीथ	शुब्रिंग	१९६३
४४.	आयारदशाओ	शुब्रिंग	१९६६
४५.	प्रवचनसार	ए. ऊनो	१९६६
४६.	उत्तराध्ययन	आल्सडोर्फ	१९५४-६६
४७.	ओघनिर्युक्ति	ए. मेटे	१९६८
४८.	मूलाचार[३९]	आल्सडोर्फ	१९६८
४९.	भगवती मूलाराधना	आल्सडोर्फ	१९६८
५०.	अनुयोगद्वारसूत्र	टी० हनाकी	१९७०

विभिन्न विषय

जैन साहित्य के इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन-दर्शन की अन्य विधाओं पर पाश्चात्य विद्वानों ने लिखा है। उन्होंने जैन ग्रन्थों का सम्पादन ही नहीं किया, अपितु उनके फ्रेंच एवं जर्मन भाषाओं में अनुवाद भी किये हैं। लायमन ने पादलिप्तसूरि की तरंगवती कथा का सुन्दर अनुवाद दाइनोन (Die Nonne—The Nun) के नाम से प्रकाशित किया है। इस दृष्टि से चार्लट क्रोसे का इंडियन नावेल (Indisch Novellen) महत्त्वपूर्ण कार्य है।[४०] जैनाचार्यों की जीवनी-साहित्य की दृष्टि से हर्मन जैकोबी का 'अवर डास लेवन डेस जैन मोन्स हेमचन्द्र' नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

जैन इतिहास और पुरातत्त्व के महत्त्वपूर्ण अवशेषों के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य विद्वानों ने अध्ययन प्रस्तुत किया है। डी० मेनट ने गिरनार के जैन मन्दिरों पर लिखा है। जोरलड्डबरल ने दक्षिण भारत के पुरातत्त्व पर विचार करते हुए जैन पुरातत्त्व के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। ए० ग्यूरिनट ने जैन अभिलेखों के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डाला है।[४१] ग्यूरिनट का विशेष योगदान जैन ग्रन्थ सूची के निर्माण करने में भी है। उन्होंने ८५२ जैन ग्रन्थ का परिचय अपने 'एसे आन जैन बिब्लियोग्राफी' नामक निबन्ध में दिया है। इसके बाद 'नोटस आन जैन बिब्लियोग्राफी' तथा 'सम कलेक्शन्स आफ जैन बुक्स' जैसे निबन्ध भी उन्होंने जैन ग्रन्थ सूची के निर्माण के सम्बन्ध में लिखे हैं।[४२] इनके पूर्व भी १८९७ ई० में अर्नेस्ट ल्यूमन ने २०० हस्तलिखित दिगम्बर जैन ग्रन्थों का परिचय अपने एक लेख में दिया है।[४३]

जैन साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में विन्तरनित्स का स्थान उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने 'हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में लगभग १५० पृष्ठों में जैन साहित्य का विवरण दिया है। उस समय उन्हें उतने ही जैन ग्रन्थ उपलब्ध थे। इस विवरण में विन्टरनित्स ने जैन कथाओं का भारत की अन्य कथाओं एवं विदेशी कथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

विदेशों में जैनविद्या के अध्ययन केन्द्र

लगभग दो सौ वर्षों तक पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जैनविद्या पर किया गया अध्ययन भारत एवं विदेशों में जैनविद्या के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त उपयोगी रहा है। इन विद्वानों के कार्यों एवं लगन को देखकर भारतीय विद्वान् भी जैनविद्या के अध्ययन में जुटे। परिणामस्वरूप न केवल प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य के सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाश में आये, अपितु भारतीय विद्या के अध्ययन के लिए जैनविद्या के अध्ययन की अनिवार्यता अब अनुभव की जाने लगी है। डा० पी० एल० वैद्या, डा० एच० डी० वेलणकर, डा० एच० एल० जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० जी० बी० सगारे, मुनिपुण्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विजय एवं मुनि जिनविजय, पं० दलसुख भाई मालवणिया आदि विद्वानों के कार्यों को इस क्षेत्र में सदा स्मरण किया जावेगा ।

विदेशों में भी वर्तमान में जैनविद्या के अध्ययन ने जोर पकड़ा है। पूर्व जर्मनी में फ्री युनिवर्सिटी बर्लिन में प्रोफेसर डा० क्लोस ब्रुहन (Klaus Bruehn) जैन लिटरेचर एण्ड माइथोलाजी, इंडियन आर्ट एण्ड इकोनोग्राफी का अध्यापन कार्य कर रहे हैं। उनके सहयोगी डा० सी० बी० त्रिपाठी बुद्धिस्ट-जैन लिटरेचर तथा डा० मोनीका जार्डन जैन लिटरेचर का अध्यापन कार्य करने में संलग्न हैं। पश्चिमी जर्मनी हमबर्ग में डा० एल० आल्सडार्फ स्वयं जैनविद्या के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न हैं। उत्तराध्ययननिर्युक्ति पर कार्य कर रहे हैं। उनके छात्र श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैन ग्रन्थों पर शोध कर रहे हैं।

प्राकृत भाषाओं का विशेष अध्ययन बेलजियम में किया जा रहा है। वहाँ पर डा० जे० डेल्यू० 'जैनिज्म तथा प्राकृत' पर, डा० एल० डी० राय 'क्लासिकल संस्कृत एण्ड प्राकृत' पर प्रो० डा० आर० फोहले 'क्लासिकल संस्कृत प्राकृत एण्ड इंडियन रिलीजन' पर तथा प्रो० डा० ए० श्चार्ये 'एशियण्ट इंडियन लेंग्वेजेज एण्ड लिटरेचर—वैदिक, क्लासिकल संस्कृत एण्ड प्राकृत' पर अध्ययन-अनुसन्धान कर रहे हैं।[४४]

इसी प्रकार पेनीसिलवानिया युनिवर्सिटी में प्रो० नार्मन ब्राउन के निर्देशन में प्राकृत तथा जैन साहित्य में शोधकार्य हुआ है। इटली में प्रो० डा० वितरो विसानी एवं प्रो० ओकार बोटो (Occar Botto) जैन विद्या के अध्ययन में संलग्न हैं। आस्ट्रेलिया में प्रो० ई० फ्राउल्नर वेना (E. Frauwalner Viena) जैनविद्या के विद्वान हैं। पेरिस में प्रो० डा० लौस रेनु (Louis Renou), रोम में डा० टुची (Tuchi) तथा जार्जिया (Georgia) में डा० वाल्टर वार्ड (Walterward) भारतीय विद्या के अध्ययन के साथ साथ जैनिज्म पर भी शोध-कार्य में संलग्न हैं।[४५]

जापान में जैनविद्या का अध्ययन बौद्धधर्म के साथ चीनी एवं तिब्बतन स्रोतों के आधार पर प्रारम्भ हुआ। इसके प्रवर्तक थे प्रो० जे सुजुकी (J. Suzuki) जिन्होंने 'जैन सेक्रेड बुक्स' के नाम से (Jainakyoseiten) लगभग २५० पृष्ठ की पुस्तक लिखी। वह १९२० ई० में 'वर्ल्डस सेक्रेड बुक्स' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुई।[४६] सुजुकी ने 'तत्वार्थधिगम सूत्र', 'योगशास्त्र' एवं 'कल्पसूत्र' का जापानी अनुवाद भी अपनी भूमिकाओं के साथ प्रकाशित किया।[४७] जैनविद्या पर कार्य करने वाले दूसरे जापानी विद्वान तुहुकु (Tohuku) विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या के अध्यक्ष डा० ई० कनकुरा (E. Kanakura) हैं। इन्होंने सन् १९३९ में प्रकाशित हिस्ट्री आफ स्प्रिचुअल सिविलाइजेशन आफ एशियण्ट इंडिया के नवें अध्याय में जैनधर्म के सिद्धान्तों की विवेचना की है। तथा 'द स्टडी आफ जैनिज्म' कृति १९४० में आपके द्वारा प्रकाश में आयी। १९४४ ई० में तत्त्वार्थधिगमसूत्र एवं न्यायावतार का जापानी अनुवाद भी आपने किया है।[४८]

बीसवीं शताब्दी के छठे एवं सातवें दशक में भी जैनविद्या पर महत्त्वपूर्ण कार्य जापान में हुआ है। तेशो (Taisho) विश्वविद्यालय के प्रो० एस० मत्सुनामी (S. Matsunami) ने बौद्धधर्म और जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।[४९] 'ए स्टडी आन ध्यान इन दिगम्बर सेक्ट' (१९६१) 'एथिक्स आफ जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म' (१९६३) तथा इसिभासियाइं' (१९६६) एवं 'दसवेयालियसुत्त' (१९६८) का जापानी अनुवाद जैनविद्या पर आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं।[५०] सन् १९७० ई० में डा० एच० उइ (H. Ui) की पुस्तक 'स्टडी आफ इंडियन फिलासफी' प्रकाश में आयी। उसके दूसरे एवं तीसरे भाग में उन्होंने जैनधर्म के सम्बन्ध में अध्ययन प्रस्तुत किया है।

टोकियो विश्वविद्यालय के प्रो० डा० एच० नकमुरा (H. Nakamura) तथा प्रो० यूतक ओजिहारा (Yotak Ojihara) वर्तमान में जैनविद्या के अध्ययन में अभिरुचि रखते हैं। उनके लेखों में जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।[५१] श्री अत्सुशी उनो (Atsush Uno) भी जैनविद्या के उत्साही विद्वान् हैं। इन्होंने वीतरागस्तुति (हेमचन्द्र), प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार, तथा सर्वदर्शनसंग्रह के तृतीय अध्याय का जापानी अनुवाद प्रस्तुत किया है। कुछ जैनधर्म सम्बन्धी लेख भी लिखे हैं। सन् १९६१ में 'कर्म डॉक्ट्राइन इन जैनिज्म' नामक पुस्तक भी आपने लिखी है।[५२]

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जैनविद्या पर किये गये कार्यों के इस विवरण को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। बहुत से विद्वानों और उनके कार्यों का उल्लेख साधनहीनता और समय की कमी के कारण इसमें नहीं हो पाया है।[५३] फिर भी पाश्चात्य विद्वानों की लगभग लगन, परिश्रम एवं निष्पक्ष प्रतिपादन शैली का ज्ञान इससे होता ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जैनविद्या के क्षेत्र में किये गये इस योगदान का एक परिणाम यह भी हुआ कि भारत और विदेशों में जैनविद्या के अध्ययन-अध्यापन के लिए स्वस्थ वातावरण तैयार हुआ है। अनेक विदेशी विद्वान भारत की विभिन्न संस्थाओं में तथा अनेक भारतीय विद्वान् विदेशों के विश्वविद्यालयों में जैनविद्या पर शोध-कार्य करने में संलग्न हैं।[५७]

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

1 Pot—The Etymological Study of Indo-European Languages (1833-36).
Shliescher—Comparative Work in the Grammar of Indo-European Languages.
2 F. Wiesinger—Grammar Indology : Past and Present, 1969, Bombay.
3 The Indian Antiquary, Vol. 3, p. 17-21 and p. 166-168.
4 A. M. Ghatge—A Brief Sketch of Prakrit Studies : In Progress of Indic Studies, Poona, 1942.
5 Asiatic Society Monographs, Vol. 8, London, 1906.
6 Journal of the German Oriental Society, 1912.
7 Journal of the Royal Asiatic Society, 1913, p. 875-883.
8 The Indian Antiquary, 1918.
9 Journal of the Royal Asiatic Society, London, 1919.
10 Memories of the Asiatic Society of Bengal, Vol. 8. No. 2, 1924.
11 Sir Ashutosh Mukerjee Silver Jubilee Vol. 3, 1925, p. 119-141.
12 केस्टगवे डेलब्रुक स्मृतिग्रन्थ, स्ट्रासबर्ग, १९१२-१३, पृ० २११-२२१
13 Journal of the American Oriental Society, Vol. 32, 1912.
14 Journal of the Royal Asiatic Society, New Series, London, 1912, p. 711-713.
15 F. Stegarve Jacobi, Bonn (Germany) 1926, p. 89-97.
16 Journal of the Royal Asiatic Society, New Series, London, 1927, p. 848 and 1928, p. 399.
17 See—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु० जोशी, आमुख पृ० ३-७
18 Bulletin of School of Oriental and African Studies, No. 8. p. 681-683, London, 1936.
19 Journal of the American Oriental and African Studies, No. 8, p. 681-683, London, 1936.
20 के० एम० मुन्शी स्वर्णमहोत्सव ग्रन्थ, भाग ६, पृ० २७-३२
21 Bulletin of the School of Oriental and African Studies, Vol. 13, No. 2, 4.
22 Indo-Iranian Journal, Vol. 1, No. 1, 1957.
23 Journal of the Linguistic Society of America, Vol. 29. No. 2, Part 1-2, April-June, 1953.
24 डी० के० शास्त्री—अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ, दिल्ली, १९७२
25 'Notes on the Grammar of the Old Western Rajasthani with special reference to Apabhramsa and Gujrati and Marvari'—Indian Antiquary, 1914-16.
26 Indian Antiquary, Jan. 1922.
27 फेस्टगिश्रिष्ट जे० वाकरनल, पृ० १२४-१३१, गाटिंगन, १९२३
28 Bulletin of the School of London, 33, p. 169-72.
29 M. Winternitz Memorial Volume, p. 29-36. 1933.
30 डॉ० शास्त्री, वही, पृ० ६०-६४
31 Journal of the American Oriental Society, Vol. 74. No. 1. p. 1-5, No. 3, p. 142-46.
32 Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ayarland, London, Vol. 1-2. 1954.
33 Prof. P. K. Gour *Commemoration* Vol. 1960.
34 Journal of the American Oriental Society, Vol. 79, No. 1. 1959.
35 Ibid, Vol. 81, No. 1, p. 13-21, 1961.
36 Bulletin of the Philological Society of Calcutta, 4, 1, 1963.
37 Journal of the Linguistic Society of Japan, Vol. 42, p. 47-58, 1965.
38 German Indology—Past and Present, p. 21
39 Bharatiya Jnanpith Patrika, Oct. 1968, p. 183.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

40 The Contribution of French and German Scholars to Jain Studies.—Acharya Bhikshu Smritigranth, p. 106.
41 Ibid, D. K. Banerjee, p. 106.
42 Ibid, p. 106
43 'वीनेर जेटिश्चिफ्ट फुडी कुण्डे डेस मोर जेनलेण्डस' (जर्मनी), पृ० २६७-३१२.
44 डॉ० शास्त्री, वही, पृ० ६२
45 ज्ञानपीठ पत्रिका, १६६८ पृ० १८३
46 Atsushi Uno—'Jain Studies in Japan' —Jain Journal Vol. VIII, No. 2., 1973, p. 75.
47 Ibid, p. 77
48 The Voice of Ahimsa, Vol. 6. 3-4, 1956, p. 136-37.
49 Jain Journal, Oct. 1973, p 78.
50 Ibid, p. 77.
51 Ibid.
52 'Progress of Prakrit and Jain Studies'—Presidential address of Dr. Nathmal Titia in AIOC Varnansi, 1968.
53 See—Ghatage—Above article, and Winternitz—History of Indian Literature, Vol. II.—Jain Literature.
54 जैन, राजाराम—अध्यक्षीय भाषण, प्राकृत एवं जैनिज्म विभाग, अ. भा. प्राच्यविद्या सम्मेलन, धारवाड़ १६७६

पुष्कर वाणी

किसी भी वस्तु का बाहरी रंग-रूप देखकर मत भरमाओ, उसका गुण और तत्त्व देखो, कस्तूरी काली होती है, पर कितनी मूल्यवान है ?

भैंस भी काली होती है, पर कितना उजला चिकना दूध देती है ?

सज्जन बाहर से भले ही मलिन वस्त्र पहने दिखें, सीधे-सादे दुबले-पतले हों, किन्तु उनकी उज्ज्वल आत्मा कितनी महान् है ? तुम बाहर को नहीं, भीतर को देखो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनविद्या के मनीषी प्रोफेसर आल्सडोर्फ

☆ डा० जगदीशचन्द्र जैन

फरवरी का महीना था—कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। तापमान शून्य डिग्री से नीचे पहुँच गया था। लेकिन किसी भी हालत में हाम्बुर्ग तो पहुँचना ही था। इतनी जर्मन नहीं सीख पाया था कि निराबाध यात्रा कर गन्तव्य स्थान पर अकेला पहुँच सकूँ। यद्यपि आल्सडोर्फ ने स्वयं हाम्बुर्ग स्टेशन पर पहुँच मुझे युनिवर्सिटी में लिवा ले जाने के लिये टेलीफोन किया था, परन्तु मैंने उनका यह प्रस्ताव अस्वीकार कर एक मित्र को साथ लेकर स्वयं उपस्थित होना ही ठीक समझा।

जर्मनी की रेलगाड़ियाँ अत्यन्त नियमित होती हैं। जहाँ काँटे पर घड़ी की सुई पहुँची कि गार्ड की सीटी सुनाई दी और गाड़ी फक्-फक् आवाज करती हुई चल पड़ी। हिन्दुस्तान जैसा भीड़-भड़क्का भी गाड़ियों में नहीं होता। सीटें खाली पड़ी रहती हैं। हम लोग १ मिनिट पहले पहुँचे और टिकट खरीद कर गाड़ी में सवार हो गये।

कील से हाम्बुर्ग पहुँचने में करीब डेढ़ घण्टा लगा। स्टेशन के दफ्तर में पता किया कि युनिवर्सिटी किस प्रकार पहुँचा जा सकता है। दफ्तर की एक युवती महिला ने नक्शे में दिखाकर हमें मार्ग-दर्शन किया। चलते समय शहर का एक नक्शा भी हमारे हाथ में थमा दिया। कहना न होगा कि यहाँ के लोग किसी अनजाने आदमी की मदद बड़ी तत्परता के साथ करते हैं। यदि कोई बात उन्हें स्वयं ज्ञात न हो तो किसी दूसरे या फिर तीसरे व्यक्ति से पूछकर बताते हैं।

जमीन के नीचे चलने वाली रेलगाड़ी में बैठकर हम लोग अपने गन्तव्य स्थान की ओर चले। स्टेशन से उतरने के बाद रास्ते में द्वितीय विश्वयुद्ध में काम आने वाले बन्दूकधारी सैनिकों का स्मारक बना हुआ था जिसे देखकर उस संहारकारी भीषण युद्ध की याद ताजा हो आई जो यहाँ की भूमि पर लड़ा गया था।

चारों ओर गगनचुम्बी इमारतें दिखाई दे रही हैं जिनका निर्माण प्रायः विश्वयुद्ध के बाद ही हुआ है। दीर्घ-काय 'टावर' दिखाई दे रही है जिसके ऊपर चढ़कर देखने से सारे शहर का दृश्य दिखाई पड़ता है। इसकी पहली मंजिल पर एक रेस्तराँ बना हुआ है जो निरन्तर घूमता रहता है। योरोप में जर्मन गणतन्त्र, स्वीडन और पेरिस आदि नगरों में इस प्रकार की टावरें देखी जा सकती हैं।

रास्ते में फूलों की दूकान पर से हमने एक पुष्पगुच्छ खरीदा और युनिवर्सिटी की ओर चल पड़े। युनिवर्सिटी शहर की घनी बस्ती में ही है—हिन्दुस्तान की युनिवर्सिटियों जैसी शान-शौकत और तड़क-भड़क नहीं जो दूर से ही उन्हें पहचाना जा सके। अन्दर प्रवेश करते समय लगा कि जैसे कोई 'प्राइवेट अपार्टमेण्ट' हो।

इंडोलौजी विभाग की सेक्रेटरी हमें ऊपर ले गई। एक नवयुवक सज्जन ने (बाद में पता लगा कि वे बौद्ध-धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान् बैर्नहार्ड थे जिनकी अब मृत्यु हो गई है) हमारा स्वागत करते हुए कहा—हम लोग आपका इन्तजार ही कर रहे थे।

कुछ ही मिनिटों में एक उन्नतकाय, स्वस्थ और चुस्त व्यक्ति ने प्रवेश किया। उनकी मुखमुद्रा और भाव-भंगी देखकर मैं समझ गया कि यह वही विद्वान् होना चाहिये जिसके सम्बन्ध में हम लोग सुनते आ रहे हैं और जिससे भेंट करने के लिये मैं उपस्थित हुआ हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोरों से हस्तान्दोलन हुआ। पुष्पगुच्छ भेंट किया गया जिसे उन्होंने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक एक पुष्पपात्र में सजाकर मेज पर रख दिया।

क्षणभर के अन्दर इतनी आत्मीयता का अनुभव होने लगा कि कुछ पूछिये मत। कुशल समाचार के बाद कहने लगे कि वसुदेव हिंडी में आपकी रुचि कहाँ से हो गई। मुनि पुण्यविजयजी की अत्यन्त श्रद्धापूर्वक चर्चा करते हुए उन्हें प्रणाम निवेदन किया।

लुडविग आल्सडोर्फ बड़े भाग्यशाली हैं जो बारह बार (सन् १९७४ तक पन्द्रह बार) भारत की यात्रा कर चुके हैं। १९३० में हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय से पी-एच. डी की उपाधि प्राप्त करने के बाद वे पहली बार हिन्दुस्तान आये। लगभग २ वर्ष तक इलाहबाद विश्वविद्यालय में जर्मन भाषा के अध्यापक रहे। यहाँ रहकर उन्होंने संस्कृत के एक पंडित के पास संस्कृत का अध्ययन किया। उनके सान्निध्य में उन्होंने वेद, क्लासिकल संस्कृत साहित्य तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ा। गुरुजी आंग्ल भाषा और शिष्यजी हिन्दी भाषा के ज्ञान से वंचित थे, अतएव शिक्षा का एकमात्र साधन बना संस्कृत। उस समय के कितने ही रोचक संस्मरण आल्सडोर्फ बड़ी तन्मयता के साथ सुनाते हैं। 'जैन्टलमैन' का लक्षण पूछने पर पंडितजी ने एक श्लोक सुनाया: "हैट बूट मुखे चुरुट....." (शेष भाग इन पंक्तियों के लेखक को स्मरण नहीं रहा)। पंडित जी सभी शब्दों का अर्थ संस्कृत में समझाया करते थे, कभी अपवादमार्ग का भी आश्रय लेना पड़ जाता था। 'रबर' शब्द का संस्कृत में पर्यायवाची न था, अतएव 'रबर इत्यभिधीयते' कहकर सन्तोष कर लिया जाता।

अपनी भारत-यात्रा के दौरान आल्सडोर्फ ने दूर-दूर तक भ्रमण किया है। प्राचीन जैन ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों की खोज में उन्होंने जैसलमेर, अणहिलपुर पाटन (जिसे वे जैनपुरी कहते हैं) अहमदाबाद, कोल्हापुर, बम्बई आदि अनेक स्थानों का परिभ्रमण किया है। आबू, पालिताना आदि तीर्थस्थानों में पहुँच जैन मन्दिरों के दर्शन किये हैं। ऐसे भी प्रसंग उपस्थित हुए जबकि उन्हें मन्दिर के अन्दर प्रवेश करने से रोका गया। उस समय संस्कृत के श्लोक उनकी सहायता करते। श्रोता सफेद चमड़ी वाले एक विदेशी के मुख से संस्कृत के श्लोक सुनकर स्तब्ध रह जाते। और फिर तो उनका खूब सन्मान किया जाता—कितने ही लोग उन्हें पुस्तकें आदि भेंट करते।

अहमदाबाद पहुँच जैन उपाश्रय में जाकर उन्होंने स्व० मुनि पुण्यविजयजी के दर्शन किये। उन्हें शान्त्याचार्यकृत उत्तराध्ययन की पाइयटीका की आवश्यकता थी। मुनिजी ने पुस्तक तुरत निकालकर उनके हवाले कर दी। आल्सडोर्फ अत्यन्त प्रभावित हुए। बेलूर पहुँचकर जैनमठ के पुरोहित से साक्षात्कार किया। जब वे कोई बहुमूल्य ताड़पत्रीय प्रति दिखाने में व्यस्त थे तो गर्मी के कारण उनके शरीर से पसीने की एक बूँद पुस्तक के पृष्ठ पर चू गई! मूलाचार की स्याही से लिखी हुई एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति आल्सडोर्फ के निजी पुस्तकालय की शोभा बढ़ा रही है। कोल्हापुर में लक्ष्मीसेन भट्टारक द्वारा उपहार में दी गई गोम्मटेश्वर की सुन्दर मूर्ति हाम्बुर्ग युनिवर्सिटी में आल्सडोर्फ के कक्ष में रक्खी हुई बहुत भव्य जान पड़ती है। हिन्दुस्तान से उपहार में मिली हुई और भी कितनी ही कीमती वस्तुएँ बड़े करीने से सजाकर रक्खी हुई हैं। लगता है एक छोटा-सा हिन्दुस्तान उठकर चला आया है।

जैन आगम साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् और आल्सडोर्फ के विद्यागुरु प्रोफेसर वाल्टर शूब्रिंग का चित्र टंगा हुआ है। उनका आदेश था कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके सम्बन्ध में कोई विवरण आदि प्रकाशित न किया जाये। उनके चित्र के निचली ओर उक्त आदेश छपा हुआ है।

आल्सडोर्फ सुप्रसिद्ध हाइनरिश ल्यूडर्स (१८६९-१९४३) के शिष्य रहे हैं। अर्न्स्ट लायमान (१८५९-१९३१) के सम्पर्क में वे आये तथा योरोप की विद्वन्मण्डली में जैनधर्म का बौद्धधर्म से पृथक् अस्तित्व सिद्ध करने वाले जैनधर्म के सुप्रसिद्ध मनीषी हर्मन याकोबी (१८५०-१९३७) से उन्होंने अभूतपूर्व प्रेरणा प्राप्त की। यह याकोबी की प्रेरणा का ही परिणाम था कि आल्सडोर्फ पुष्पदंतकृत महापुराण जैसा महान् ग्रन्थहाथ में ले सके जो महत्वपूर्ण भूमिका आदि के साथ १९३६ में प्रकाशित हुआ। आगे चलकर दो वर्ष बाद उन्होंने रोम में होने वाली ओरिएन्टल कांग्रेस में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निबन्ध पढ़ा जिसमें संघदासगणी कृत वसुदेव हिंडी को गुणाढ्य की बृहत्कथा का रूपान्तर सिद्ध किया गया। भारतीय विद्या के क्षेत्र में आल्सडोर्फ की यह विशिष्ट देन थी।

जहाँ तक भारतीय इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी पुस्तकों के संग्रह की बात है, बर्लिन विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी के बाद हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी का ही नम्बर आता है। युद्धकालीन बमबारी से नष्ट होने से यह बच गई थी। वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, स्मृति, दर्शन, बौद्ध और जैन आदि साहित्य सम्बन्धी पुस्तकों का यहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुत अच्छा संग्रह है। समस्त जैन आगम और उनकी व्याख्यायें उपलब्ध हैं। कितने ही प्राकृत जैन ग्रन्थों की माइक्रो-फिल्म मौजूद है और चूर्णी-साहित्य की जेरोकापी कराकर इस साहित्य को सुरक्षित रखा गया है।

शोध विद्यार्थियों को काम करने के लिए हर प्रकार की सुविधा प्राप्त है। विभिन्न विषयों को लेकर शोध-कार्य हो रहा है। श्रीमती आडलहाइड मेटे ओघनिर्युक्ति के पिण्डैसणा अध्याय को लेकर शोधकार्य में संलग्न हैं (उनका यह शोध प्रबन्ध १९७४ में प्रकाशित हो चुका है और अब वे म्यूनिक विश्वविद्यालय के इंडोलौजी विभाग में जैन आगम साहित्य पर शोधकार्य कर रही हैं)। दिल्ली के राजेन्द्रप्रसाद जैन प्रोफेसर आल्सडोर्फ के निर्देशन में जैन आगम साहित्य सम्बन्धी किसी विषय को लेकर शोध-प्रबन्ध लिख रहे है। कई वर्ष से यहाँ रह रहे हैं, यूनिवर्सिटी में विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाते हैं। (पता लगा है कि आजकल जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी, दिल्ली में जर्मन भाषा के अध्यापक हो गये हैं)। एक सज्जन "महाभारत में अस्त्र-शस्त्र" पर कार्य कर रहे हैं।

तिब्बत के लामा का परिचय प्राप्त किया। आठ वर्ष की अवस्था में लामा बन गये थे। तिब्बत से वे भाग निकले। दलाई लामा ने उनकी नियुक्ति के लिए सिफारिश की, और बस हवाई जहाज में सवार हो सीधे हाम्बुर्ग हवाई अड्डे पर पहुँच गये। जर्मन भाषा का ज्ञान न था। लेकिन बिना डिक्शनरी अथवा बिना किसी बीच की भाषा के शीघ्र ही जर्मन सीख गये। अब तो सारा कारोबार जर्मन के माध्यम से ही चलता है।

जर्मन विश्वविद्यालयों में तिब्बती भाषा का अध्ययन-अध्यापन काफी लोकप्रिय हुआ है। कितना ही बौद्ध साहित्य इस भाषा में सुरक्षित है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं। प्रोफेसर बेर्नहार्ड तिब्बती पर शोधकार्य कर रहे हैं। लगता है अपने शोधकार्य में पूरी तरह डूबे हुए हैं। कबीर की 'गहरे पानी पैठ' वाली उक्ति याद आ गई। बड़े ही प्रभावशाली दिखाई देते हैं और साथ ही अत्यन्त विनम्र भी। फोन पर बात होती रही: "हम लोग सुखी नहीं; भारत एक महान् देश है, संस्कृति का खजाना है। बारिश हो रही है, नहीं तो मैं आपको शहर में घुमाता। आप ऐसे समय पधारे हैं और वह भी शहर के उस हिस्से में जो बिलकुल भी सुन्दर नहीं। दूसरी बार जब आप आयेंगे मैं आपको अपने साथ ले चलूँगा, हम लोग हिन्दुस्तान के बारे में बात करेंगे।" कुछ समय बाद अपने शोधकार्य के सिलसिले में बेर्नहार्ड को नेपाल जाना पड़ा और दुर्भाग्य से वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। फिर कभी साक्षात्कार न हो सका।

आल्सडोर्फ को चलती-फिरती ऐनसाइक्लोपीडिया ही समझिये। अपने विषय के अतिरिक्त कितनी ही बातों की जानकारी उन्हें है जिन्हें अत्यन्त मनोरंजक ढंग से पेश करने में वे सिद्धहस्त हैं। आप उन्हें सुनते जाइये, कभी किसी तरह की ऊब का अनुभव न होगा।

अंग्रेजी भाषा के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए बोले कि यह भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कही जा सकती है और इसमें मुहावरों का सौन्दर्य है, जिसका प्रयोग बहुत कम लोग जानते हैं। (अपनी भाषा के गर्व के कारण जर्मन विद्वान् अंग्रेजी की ओर प्रायः उदासीन रहते हैं किन्तु आल्सडोर्फ अंग्रेजी बड़े धड़ल्ले के साथ बोलते और लिखते हैं।) उन्होंने बताया कि उनके पास भारत से कितने ही लोगों के पत्र आते हैं कि वे जर्मनी आकर इण्डोलौजी पढ़ना चाहते हैं, या उनके विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाना चाहते हैं, लेकिन उन्हें इस बात की कल्पना नहीं कि जर्मनी में आने के लिए जर्मन भाषा का जानना अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी आदि का अध्यापन करने के लिए भी ऐसे ही अध्यापकों की आवश्यकता है जो जर्मन के माध्यम से शिक्षा दे सकें।

विभाग के छात्र, छात्राओं एवं अध्यापकों के बीच चर्चा हो रही थी। एक जर्मन युवती जो तमिल भाषा का अभ्यास कर रही थीं, बीच में उठकर, हम लोगों के लिए चाय बनाकर लाई। मेरी तरफ मुखातिब होकर हिन्दी में बोली—चाय-पान कीजिये।

समय काफी हो गया था। जिस सम्बन्ध में चर्चा करने में आया था, उसकी कोई चर्चा नहीं हो पायी थी। चाय-पान के बाद आल्सडोर्फ का इशारा पाकर विद्यार्थी वहाँ से चले गये। उसके बाद वसुदेव हिंडी पर चर्चा होती रही। जैसा कहा जा चुका है, आल्सडोर्फ ने ही सर्वप्रथम दुनिया के विद्वानों का ध्यान वसुदेव हिंडी की महत्ता की ओर आकर्षित किया, इस बात की घोषणा करके कि यह अनुपम ग्रन्थ गुणाढ्य की बृहत्कथा का रूपान्तर है। वसुदेव हिंडी को लेकर जो कार्य उन्होंने किया था, उस सम्बन्ध की जो भी प्रकाशित अथवा अप्रकाशित सामग्री उनके पास थी, उसका पुलिन्दा उन्होंने मेरे समक्ष लाकर रख दिया। निस्संकोच भाव से उस सामग्री का उपयोग करने के लिए उन्होंने मुझसे कहा। इस सामग्री में भारत-भ्रमण के समय स्वयं मुनि पुण्यविजयजी के हस्ताक्षर सहित उन्हें भेंट की हुई वसुदेव हिंडी की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक प्रति भी थी जिसका आद्योपान्त पारायण कर जगह-जगह आल्सडोर्फ के नोट्स लिखे हुए थे। वसुदेव हिंडी जैसे महान् ग्रन्थ का सम्पादन कर उसे प्रकाश में लाने के लिए मुनिजी की स्तुति करते हुए उन्होंने ग्रन्थ-सम्पादन की कमजोरियों की ओर लक्ष्य किया। उनका कथन था कि वसुदेव हिंडी की प्रकाशित टैक्स्ट में कितने ही पाठ अशुद्ध हैं और कितने ही शुद्ध पाठ टैक्स्ट में न देकर फुटनोट में दिये गये हैं। उनके पास भी वसुदेव हिंडी की एक ताड़पत्रीय प्रति है किन्तु उनका कहना है कि अब टैक्स्ट का शुद्ध करना टेढ़ी खीर है। धर्मदासगणी महत्तरकृत अप्रकाशित (एल० डी० इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलौजी, अहमदाबाद से प्रकाश्यमान) मज्झिम खंड के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए उन्होंने इस रचना को कोई खास महत्वपूर्ण नहीं बताया। इन पंक्तियों के लेखक की 'द वसुदेव हिंडी—ऐन ऑथेण्टिक जैन वर्जन आफ दी बृहत्कथा' नामक पुस्तक की पांडुलिपि की भूमिका पढ़कर उन्होंने अपने भ्रम का निवारण किया)। उसके बाद दशवैकालिकसूत्र में मांस प्रकरण आदि अनेक विषयों को लेकर बातचीत होती रही।

उसी दिन कील वापिस लौटना था। प्रोफेसर याकोबी लॉयमान और शूब्रिंग जैसे जैनधर्म के प्रकाण्ड पंडितों की स्वस्थ परम्परा को सुरक्षित रखने वाले जैनविद्या के इस महामनीषी (अभी कुछ समय पूर्व भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर, आचार्य तुलसी के सान्निध्य में, प्रोफेसर आल्सडोर्फ को नई दिल्ली में आमंत्रित कर जैन विश्व भारती की ओर से उन्हें 'जैन विद्या मनीषी' की पदवी से समलंकृत किया गया है) ने भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष के लिए कितना अथक परिश्रम किया है—यह सोचकर मैं मन ही मन श्रद्धा से विनत हो उठा।

फिर से जोर के साथ हस्तान्दोलन हुआ। 'ऑफ हिदरजेन' (फिर मिलेंगे) कहकर मैंने विदा ली।

पुष्कर वाणी

पानी ! तुम दूध के भाव बिकते हो यह कितना बड़ा धोखा है ?

पानी—मैं दूध में तन्मय (एकाकार) बन जाता हूँ तभी उसी का मूल्य प्राप्त करता हूँ। तन्मयता कभी प्रवंचना नहीं बनती।

सच है, अगर आत्मा भी परमात्म-प्रेम में तन्मय बन जाये तो वही परमात्म पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत एवं अपभ्रंश का आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं पर प्रभाव

डा० महावीरसरन जैन, एम. ए., डी. फिल., डी. लिट.
[स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषा-विज्ञान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर]

प्राकृत एवं अपभ्रंश के विविध भाषिक रूपों से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विविध रूपों का विकास १०वीं से १२वीं शताब्दी के बीच में हुआ। यह बात अलग है कि इस विकास परम्परा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना एक सीमा तक असम्भव-सा है। इस सम्बन्ध में अभी तक जितने कार्य सम्पन्न हुए हैं उनमें अधिकांशतः अज्ञात से ज्ञात की ओर आया गया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना जरूरी है कि ज्ञात से अज्ञात की ओर वैज्ञानिक ढंग से उन्मुख होने पर ही अज्ञात-अनुपलब्ध रूपों को पुनर्निर्मित किया जा सकता है और पुनर्निर्माण के सिद्धान्तों पर अवलम्बित होकर ही प्राकृत से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तक की विकास यात्रा का वैज्ञानिक अध्ययन अंशतः सम्पन्न किया जा सकता है।

आज हमारे पास प्राकृत एवं अपभ्रंश की जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की सारी कड़ियाँ अलग-अलग सुस्पष्ट रूप से जोड़ पाना दुष्कर कार्य है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) हमारे पास प्राकृतयुग एवं अपभ्रन्श युग के साहित्यिक भाषिक रूप ही उपलब्ध हैं। मध्य भारतीय आर्यभाषाकाल में उसके सम्पूर्ण क्षेत्र में विभिन्न भाषाओं के जो विविध क्षेत्रीय एवं वर्गीय भाषिक रूप बोले जाते होंगे, वे उपलब्ध नहीं हैं।

(२) प्राकृत एवं अपभ्रंश के जो साहित्यिक भाषा रूप प्राप्त हैं उनके क्षेत्रीय प्रभेदों का विवरण मिलता है। इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि उपलब्ध क्षेत्रीय भेद आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं यथा—पंजाबी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, असमिया, उड़िया आदि की भाँति भिन्न साहित्यिक भाषाएँ हैं अथवा उस काल की किसी एक ही साहित्यिक प्राकृत अथवा साहित्यिक अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूप हैं। दूसरे शब्दों में, प्राकृतों के उपलब्ध क्षेत्रीय रूप भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं अथवा किसी एक ही भाषा के क्षेत्रीय रूप हैं।

इस दृष्टि से जब हम विविध प्राकृत रूपों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि इनका नामकरण विभिन्न दूरवर्ती क्षेत्रों के आधार पर हुआ है तथापि इनमें केवल उच्चारण के धरातल पर थोड़े से ध्वन्यात्मक अन्तर ही प्रमुख हैं। महाराष्ट्री में स्वर बाहुल्यता है, द्विस्वरान्तर्गत व्यंजन का लोप हो जाता है तथा श्, ष्, स् संघर्षी ध्वनियाँ काकल्य संघर्षी 'ह' में बदल जाती हैं। शौरसेनी में द्विस्वरान्तर्गत स्थिति में अघोष व्यंजनों का घोषीकरण हो जाता है। मागधी प्राकृत में र् > ल् में तथा मूर्धन्य 'ष्' तथा दन्त्य 'स्' > तालव्य 'श्' में परिवर्तित हो जाते हैं। अर्ध-मागधी प्राकृत में दन्त्य 'स्' > मूर्धन्य तथा मूर्धन्य 'ष्' एवं तालव्य 'श्' > दन्त्य 'स्' में परिवर्तित हो जाते हैं तथा द्विस्वरान्तर्गत श्रुति का आगम हो जाता है। पैशाची प्राकृत में सघोष > अघोष; र् > ल तथा मूर्धन्य 'ष्' > श् स् में परिणत हो जाते हैं।

प्राकृतों के ये अन्तर अथवा इनकी विशिष्ट विशेषतायें इतनी भेदक नहीं हैं कि इन्हें अलग-अलग भाषाओं का दर्जा प्रदान किया जा सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मराठी, हिन्दी, गुजराती, बंगला आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में केवल थोड़े से उच्चारणगत भेद ही नहीं हैं अपितु इनमें भाषागत भिन्नता भी है; पारस्परिक संरचनात्मक एवं व्यवस्थागत अन्तर है तथा पारस्परिक अवबोधन का अभाव है। आज कोई मराठीभाषी मराठी भाषा के द्वारा मराठी से अपरिचित हिन्दी, बंगला, गुजराती आदि किसी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के व्यक्ति को भाषात्मक स्तर पर अपने विचारों, संवेदनाओं का बोध नहीं करा पाता। भिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति एक-दूसरे के अभिप्राय को संकेतों, मुखमुद्राओं, भावभंगिमाओं के माध्यम से भले ही समझ जावे भाषा के माध्यम से नहीं समझ पाते। किन्तु अर्धमागधी का विद्वान मागधी अथवा शौरसेनी अथवा महाराष्ट्री प्राकृत को पढ़कर उनमें अभिव्यक्त विचार को समझ लेता है। इस रूप में जो साहित्यिक प्राकृत रूप उपलब्ध हैं उनका नामकरण भले ही सुदूरवर्ती क्षेत्रों के आधार पर हुआ हो किन्तु तत्त्वतः ये उस युग के जन-जीवन में उन विविध क्षेत्रों में बोली जाने वाली भिन्न-भिन्न भाषायें नहीं हैं और न ही आज की भाँति इन क्षेत्रों में लिखी जाने वाली भिन्न साहित्यिक भाषायें हैं, प्रत्युत एक ही मानव अथवा साहित्यिक प्राकृत के क्षेत्रीय रूप हैं।

ऐसा नहीं हो सकता कि दसवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद तो भिन्न-भिन्न भाषायें विकसित हो गयी हों किन्तु उसके पूर्व प्राकृत युग में पूरे क्षेत्र में भाषात्मक अन्तर न रहे हों। आधुनिक युग में 'भारतीय आर्यभाषा क्षेत्र' में जितने भाषात्मक अन्तराल हैं, उसकी अपेक्षा प्राकृत युग में 'भारतीय आर्यभाषा क्षेत्र' में भाषात्मक अन्तराल कम होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता; ये निश्चय ही बहुत अधिक रहे होंगे। प्राकृत युग १ ईस्वी से ५०० ईस्वी तक है। आधुनिक युग की अपेक्षा डेढ़-दो हजार साल पहले तो सामाजिक-सम्पर्क निश्चित ही बहुत कम होगा फिर भाषात्मक अन्तराल के कम होने का सवाल कहाँ उठता है? सामाजिक सम्पर्क जितना सघन होगा; भाषा विभेद उतना ही कम होगा। आधुनिक युग में तो विभिन्न कारणों से सामाजिक सम्प्रेषणीयता के साधनों का प्राकृत युग की अपेक्षा कई-कई गुना अधिक विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त नागरिक जीवन, महानगरों का सर्वभाषायी स्वरूप, यायावरी वृत्ति, शिक्षा, भिन्न-भाषायी क्षेत्रों में वैवाहिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक केन्द्रीय शासन आदि विविध तत्त्वों के द्रुत विकास एवं प्रसार के कारण आज भिन्न-भिन्न भाषाओं के बीच परस्पर जितना आदान-प्रदान हो रहा है उसकी डेढ़ दो हजार साल पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इनके अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल में तो अरबी, फारसी, अँग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं की शब्दावली, ध्वनियों एवं व्याकरणिक रूपों ने सभी भाषाओं को प्रभावित किया है। इतना होने पर भी आज भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की भाषाओं में पारस्परिक बोधगम्यता नहीं है। आज भारतीय आर्यभाषा क्षेत्र में जितनी भिन्न भाषायें एवं किसी भाषा के जितने भिन्न-भिन्न उपरूपों का प्रयोग होता है; प्राकृत युग में तो उस क्षेत्र में निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अधिक संख्या में भिन्न भाषाओं तथा उनके विभिन्न क्षेत्रीय उपरूपों का प्रयोग होता होगा किन्तु हमें आज तो प्राकृत रूप उपलब्ध है वे एक ही प्राकृत के क्षेत्रीय रूप है जिनमें बहुत कम अन्तर है। एक भाषा की क्षेत्रीय बोलियों में जितने अन्तर प्रायः होते हैं उससे भी बहुत कम। भाषा की बोलियों के अन्तर तो सभी स्तरों पर हो सकते हैं जबकि इन तथाकथित भिन्न प्राकृतों में तो केवल उच्चारणगत भेद ही उपलब्ध हैं। विभिन्न प्राकृतों को देश-भाषाओं के नाम से अभिहित किया गया है किन्तु तात्विक दृष्टि से ये देश की अलग-अलग भाषायें न होकर एक ही प्राकृत भाषा के देश-भाषाओं से रंजित रूप हैं। एक ही मानक साहित्यिक प्राकृत के विविध क्षेत्रीय रूप हैं जिनमें स्वभावतः विविध क्षेत्रों की उच्चारणगत भिन्नताओं का प्रभाव समाहित है। आधुनिक दृष्टि से समझना चाहें तो ये हिन्दी, मराठी, गुजराती की भाँति भिन्न भाषायें नहीं है अपितु आधुनिक साहित्यिक हिन्दी भाषा के ही 'कलकतिया हिन्दी,' 'बम्बइया हिन्दी,' 'नागपुरी हिन्दी' जैसे रूप हैं।

मेरी इस प्रतिपत्तिका का आधार केवल भाषा वैज्ञानिक नहीं है; इसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से भी सम्भव है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र[1] में यह विधान किया है कि नाटक में चाहे शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया जावे चाहे अपनी इच्छानुसार किसी भी देशभाषा का, क्योंकि नाटक में नाना देशों में उत्पन्न हुए काव्य का प्रसंग आता है। उन्होंने देश-भाषाओं का वर्णन करते हुए उनकी संख्या सात बतलायी है—(१) मागधी, (२) आवंती, (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्धमागधी, (६) बाल्हीका, (७) दाक्षिणात्या।

इस विवेचन के आधार पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भरत मुनि सात भाषाओं की बातें कर रहे हैं, किन्तु यदि हम संदर्भ को ध्यान में रखकर विवेचना करें तो पाते हैं कि भरत मुनि यह विधान कर रहे हैं कि नाटककार किसी भी नाटक में इच्छानुसार देश प्रसंग के अनुरूप किसी भी देशभाषा का प्रयोग कर सकता है। कोई भी नाटककार अपने नाटक में पात्रानुकूल भाषा नीति का समर्थक होते हुए भी विविध भाषाओं का प्रयोग नहीं करता, न ही कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है। इसका कारण यह है कि उसे ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता है जिसका अभिनेता ठीक प्रकार उच्चारण कर सके और उस नाटक का दर्शक समाज भिन्न-भिन्न पात्रों के भिन्न-भिन्न सम्वादों को समझ सके। यदि सम्प्रेषणीयता ही नहीं होगी तो 'रस' कैसे उत्पन्न होगा ? यही कारण है कि समाज के विविध स्तरों एवं विभिन्न क्षेत्रों के पात्रों के स्वाभाविक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करते समय एक ही भाषा के विविध रूपों तथा उस भाषा के अन्य भाषियों के उच्चारण-लहजों के द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। कोई हिन्दी नाटककार अपने हिन्दी नाटक में बंगला भाषी पात्र से बंगला भाषा में नहीं बुलवाता अपितु उसकी हिन्दी को बंगला उच्चारण से रंजित कर देता है।

इस दृष्टि से सात देशभाषायें अलग-अलग भाषायें नहीं हैं, किसी एक ही साहित्यिक प्राकृत के भिन्न देशों की भाषाओं से रंजित रूप हैं। यदि ये देशभाषायें अलग-अलग भाषायें ही होतीं तो भरत मुनि यह विधान न करते कि अन्तःपुरनिवासियों के लिए मागधी; चेट राजपुत्र एवं सेठों के लिए अर्धमागधी, विदूषकादिकों के लिये प्राच्या; नायिका और सखियों के लिए शौरसेनी मिश्रित आवंती; योद्धा, नागरिकों और जुआरियों के लिए दाक्षिणात्या और उदीच्य, खसों, शबर, शकों तथा उन्हीं के समान स्वभाव वालों के लिए उनकी देशी भाषा वाल्हीका उपयुक्त है।[२] जहाँ तक इन तथाकथित भिन्न प्राकृतों के प्रयोग का प्रश्न है शौरसेनी प्राकृत का उपयोग संस्कृत नाटकों में गद्य की भाषा के रूप में हुआ है। मागधी प्राकृत में कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिलती। संस्कृत नाटककार निम्न श्रेणी के पात्रों से मागधी का प्रयोग कराते हैं। अर्धमागधी में मागधी एवं शौरसेनी दोनों की प्रवृत्तियाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। महाराष्ट्री प्राकृत को आदर्श प्राकृत कहा गया है।[3] दण्डी ने यद्यपि महाराष्ट्री को महाराष्ट्र आश्रित भाषा कहा है तथापि सत्य यह है कि यह क्षेत्र-विशेष की प्राकृत न होकर शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती विकसित रूप है। यह जरूर विवादास्पद है कि शौरसेनी एवं महाराष्ट्री का अन्तर कालगत है अथवा शैलीगत। कालगत अन्तर माननेवालों का तर्क है कि प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री का अनुशासन आठवीं शताब्दी के पश्चात् निबद्ध किया है। डा० मनमोहन घोष ने स्थापित किया कि प्राचीन शौरसेनी महाराष्ट्री की जननी है।[४] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की एक अवस्था को महाराष्ट्री प्राकृत माना है।[५] इनका शैलीगत अन्तर मानने वालों में स्टेन कोनो प्रमुख हैं जिन्होंने यह नियम प्रतिपादित किया कि पद्य की महाराष्ट्री एवं गद्य की शौरसेनी होती है। शौरसेनी में द्विस्वरान्तर्गत व्यंजनों का घोषीकरण अर्थात् व्यंजन वर्ग के प्रथम व्यंजन के स्थान पर उसी वर्ग के तृतीय व्यंजन की स्थिति पायी जाती है जबकि महाराष्ट्री में द्विस्वरान्तर्गत व्यंजनों का लोप होकर स्वर बाहुल्य स्थिति हो जाती है।

डा० मनमोहन घोष ने विकास एवं शैली में तारतम्य स्थापित कर प्रतिपादित किया कि पहले शौरसेनी प्राकृत थी जिसमें गद्य रचना हुई। संस्कृत के नाटककार जब गद्य में पात्रों से वार्तालाप कराते थे तो शौरसेनी प्राकृत का उपयोग करते थे क्योंकि वह तत्कालीन जनता के भाषिक रूपों के निकट थी। बाद में उसका विकास महाराष्ट्री प्राकृत के रूप में हुआ। जब कवियों ने पद्यरचना में महाराष्ट्री प्राकृत का उपयोग किया तो उन्होंने मृदुता के लिए व्यंजनों का लोप कर भाषा को स्वर बाहुल्यता प्रदान कर दी।[६]

प्राकृतों की भाँति ही अपभ्रंशों की भी स्थिति है अपभ्रंश शब्द के भाषागत प्रयोग का जो प्राचीनतम उल्लेख प्राप्त है उसमें तो अपभ्रंश किसी भाषा के लिये प्रयुक्त न होकर संस्कृत के विकृत रूपों के लिए प्रयुक्त मिलता है।[७] नाट्यशास्त्रकार के समय प्राकृतों के युग में अपभ्रंश एक बोली थी। कालान्तर में इस बोली रूप अपभ्रंश पर आधारित मानक अपभ्रंश का उत्तरोत्तर विकास हुआ जिसका स्वरूप स्थिर हो गया। अपनी इसी स्थिति के कारण हिमालय से सिन्धु तक इसका रूप उकार बहुला था। प्राकृतों के साहित्यिक युग के पश्चात् उकार बहुला अपभ्रंश साहित्यिक रचना का माध्यम बनी। आठवीं-नौवीं शताब्दी तक राजशेखर के समय तक यही अपभ्रंश सम्पर्क भाषा के रूप में पंजाब से गुजरात तक व्यवहृत होती थी।

"समस्त मरु एवं टक्क, और भादानक में अपभ्रंश का प्रयोग होता है।[८] तथा सौराष्ट्र एवं त्रवणादि देशों के लोग संस्कृत को भी अपभ्रंश के मिश्रण सहित पढ़ते हैं[९] जैसी उक्तियां इसकी परिचायक हैं।

आगे चलकर इसी मानक साहित्यिक अपभ्रंश रूप के विविध क्षेत्रों में उच्चारण भेद हो गए। नौवीं शताब्दी में ही रुद्रट ने स्वीकार किया कि अपभ्रंश के देशभेद से बहुत से भेद हैं।[१०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश भाषा के उपनागर, आभीर एवं ग्राम्य भेदों को 'भूरिभेद' कहकर अर्थात् भूमि की भिन्नता के कारण एक ही भाषा के स्वाभाविक भेद बतलाकर रुद्रट ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है।

ईसा की १२वीं शताब्दी तक अपभ्रंश लोकभाषा न रहकर साहित्य में प्रयुक्त होने वाली रुढ़ भाषा बन चुकी थी। वस्तुतः ११वीं शताब्दी से तो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के प्राचीन भाषारूपों में लिखित साहित्यिक ग्रन्थ मिलने आरम्भ हो जाते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि बोलचाल की भाषा के रूप में तो अपभ्रंश के विविध रूप ९०० ई० या अधिक से अधिक १००० ई० तक ही व्यवहृत होते होंगे। अपभ्रंश के इन विविध रूपों की सामग्री, जिनसे विविध आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ, उपलब्ध नहीं है। अपभ्रंश के देशगत भेद उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक विद्यमान रहे होंगे जिस प्रकार आज आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के भेद विद्यमान हैं।

विष्णु धर्मोत्तरकार के अनुसार तो स्थानभेद के आधार पर अपभ्रंश के भेदों का अन्त ही नहीं है।[११] प्राकृत सर्वस्व से भी पता चलता है कि अपभ्रंश के २७ भेद स्वीकृत थे।[१२]

'प्राकृतानुशासन' में भी नागर, ब्राचड, उपनागर, पंचाल, वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौड़ी, टक्क, बर्बर, कुन्तल, पांड्य तथा सिंहल आदि अपभ्रंशों का उल्लेख है।

अपभ्रंश के विविध रूप बोले जाते थे इसमें कोई सन्देह नहीं है किंतु इन भिन-भिन रूपों में साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इनका परिचय प्राप्त नहीं है। अपभ्रंश साहित्य का विकास मालवा, राजस्थान तथा गुजरात में ही हुआ। इन्हीं प्रदेशों की अपभ्रंशों के आधार पर विकसित साहित्यिक अपभ्रंश में साहित्यिक रचना हुई। इसी साहित्यिक अपभ्रंश का रूप आज सुरक्षित है जिसमें कालान्तर में प्रत्येक प्रदेश के साहित्यकारों ने साहित्य रचना की। इस प्रकार साहित्य के रूप में जिस मानक अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है उसमें प्राकृतों की भाँति यत्किंचित् स्थानीय भेदों की झलक तो है किन्तु वस्तुतः वे एक ही साहित्यिक अपभ्रन्श भाषा के रूप है।

(३) अपभ्रंश के विविध रूपों से निःसृत होते समय आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का जो रूप बोला जाता होगा उसकी भी हमें जानकारी नहीं है। इस प्रकार के विवरण तो उपलब्ध हैं कि किस अपभ्रंश रूप से किस आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का विकास हुआ है। इस सम्बन्ध में 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' का विवरण उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है कि "महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी और कोंकणी भाषा; मागधी अपभ्रंश की पूर्वी शाखा से बंगला, उड़िया और असमिया भाषा; मागधी अपभ्रंश की बिहारी शाखा से मैथिली, मगही और भोजपुरिया, अर्द्धमागधी अपभ्रन्श से पूर्वीय हिन्दी भाषायें अर्थात् अवधी, बघेली, और छत्तीसगढ़ी; शौरसेनी अपभ्रंश से बुन्देली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बांगरु, हिन्दी य। उर्दू ये पाश्चात्य हिन्दी भाषायें; नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, मालवी, मेवाड़ी, जयपुरी, मारवाड़ी तथा गुजराती भाषा; पालि से सिंहली और मालदीवन; टाक्की अथवा ढाक्की से लहण्डी या पश्चिमीय पंजाबी; टाक्की अपभ्रंश (शौरसेनी से प्रभावयुक्त) से पूर्वीय पंजाबी; ब्राचड अपभ्रंश से सिन्धी भाषा; पैशाची अपभ्रंश से काश्मीरी भाषा[१३] का उद्गम हुआ।

यद्यपि यह विवरण भी केवल ऐतिहासिक सम्बन्धों का द्योतन कराने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत है फिर भी इसमें यह दृष्टि तो मिलती ही है कि अपभ्रंश में ही विविध भाषिक धारायें थीं तथा अलग-अलग धारा से किस प्रकार आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की किस प्रमुख शाखा-प्रशाखों का विकास हुआ है। जिस प्रकार हमें अपभ्रंश की अलग-अलग भाषाधारा के वैशिष्ट्य की जानकारी एवं सामग्री प्राप्त नहीं है उसीप्रकार इन धाराओं से निःसृत होते समय आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की किस शाखा का क्या जन प्रचलित स्वरूप था इसका ज्ञान नहीं है।

(४) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में से कुछ भाषाओं में प्राचीन साहित्य अवश्य उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में भी दो सीमायें हैं—

(क) उपलब्ध साहित्य संक्रांतिकाल के प्रथम चरण का न होकर परवर्ती युग का है। हिन्दी में ग्यारहवीं सदी में राउलवेल, उड़िया में १०५१ ई० में अनन्त वर्मा के उरजम शिलालेख, बंगला में १०५० ई० से १२०० ई० तक के चरियागीति, मराठी एवं गुजराती में १२वीं शताब्दी में क्रमशः मुकुन्दराय के गीत तथा शालिभद्र कृत भरतेश्वर-बाहुबलि-रास मिलता है। पंजाबी में तो १२वीं शताब्दी के भी अन्तिम चरण में बाबा फरीद शकरगंज की रचनायें तथा असमिया में १३वीं शताब्दी में जाकर हेम सरस्वती, हरि विप्र, माधव कंदाले तथा शंकरदेव की रचनायें प्राप्त हो पाती हैं।

(ख) इससे लिखित साहित्यिक भाषा के ही स्वरूप का पता चल सकता है; जनजीवन में व्यवहृत तत्कालीन भाषिक रूपों का पता नहीं चलता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार यह यद्यपि निर्विवाद है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विविध रूपों का विकास उनके प्राकृत एवं अपभ्रंश रूपों से हुआ किन्तु उपर्युक्त कारणों से हम इस विकास यात्रा का पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं कर सकते ।

अतएव प्राकृत एवं अपभ्रंश के साहित्यिक भाषा रूपों की सामान्य उच्चारणगत अभिरचनाओं, व्याकरणिक व्यवस्थाओं एवं संरचनाओं ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को जिस प्रकार सामान्य रूप से प्रभावित किया है यहाँ केवल उसी प्रभाव की चर्चा प्रस्तुत की जा रही है ।

ध्वन्यात्मक

(१) प्राकृत अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक अभिरचना एवं प्रमुख स्वर-व्यंजन ध्वनियाँ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की केन्द्रवर्ती भाषाओं में सुरक्षित हैं। इसके विपरीत सीमावर्ती आर्यभाषाओं में प्राकृत अपभ्रंश ध्वन्यात्मक अभिरचना से भिन्न ध्वन्यात्मक विशेषताओं का भी विकास हुआ है ।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) असमिया में दन्त्य एवं मूर्धन्य व्यंजनों की भेदकता एवं वैषम्य समाप्त हो गया है । तालव्य व्यंजन दन्त्य संघर्षों में तथा दन्त्य संघर्षी 'स्' का कोमल तालव्य संघर्षी के रूप में विकास हुआ है ।

(ख) मराठी में 'च' वर्गीय ध्वनियों का विकास दो रूपों में हुआ है तथा स्वरों की अनुनासिकता का लोप हो गया है ।

(ग) केन्द्रवर्ती भाषाओं में पूर्व भारतीय आर्यभाषा की परम्परानुरूप महाप्राण ध्वनियों का उपयोग होता है किन्तु अन्य भाषाओं में सघोष महाप्राण व्यंजनों एवं हकार का भिन्न-भिन्न रूपों में उच्चारण होता है । इस दृष्टि से डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पूर्वी बंगला में कण्ठनालीय स्पर्श के साथ-साथ आंशिक रूप में विशिष्ट स्वर विन्यास का व्यवहार तथा पंजाबी में स्वर विन्यास परिवर्तन मानते है तथा राजस्थानी में ह-कार की जगह कण्ठनालीय स्पर्श ध्वनि तथा सघोष महाप्राणों के आश्वसित उच्चारण की उपस्थिति से यह अनुमान व्यक्त करते हैं कि राजस्थानी तथा गुजराती में इस प्रकार का उच्चारण कम से कम अपभ्रंश काल की रिक्थ तो अवश्य ही है ।[१४]

(घ) सिन्धी एवं लहंदा में अन्तःस्फोटात्मक ध्वनियों का विकास हुआ है ।

(ङ) पंजाबी में तान का विकास हुआ तथा सघोष महाप्राण व्यंजन तानयुक्त अल्पप्राण व्यंजनों के रूप में परिवर्तित हो गए । इस सम्बन्ध में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने डा० सिद्धेश्वर वर्मा के मत का उल्लेख किया है कि श्रुति की दृष्टि से पंजाबी में 'भ, घ, ढ' आदि के परिवर्तन में महाप्राणता सुनायी नहीं पड़ती; बाद के स्वर के साथ श्वास का कुछ परिमाण संलग्न रहता है, जो उसके स्वर-विन्यास की एक विशिष्टता माना जा सकता है ।[१५]

(२) 'क्ष' का उच्चारण पालि युग में ही समाप्त हो गया था । इसका उच्चारण आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में 'र', 'रि' एवं 'रु' रूप में हुआ । आज भी 'रि' में 'र्' के बाद का 'इ' का उच्चारण अग्र की अपेक्षा मध्योन्मुखी होता है ।

(३) 'ष' वर्ण का मूर्धन्य उच्चारण किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं होता ।

(४) अपभ्रंश के 'ए' एवं 'ओ' के ह्रस्व उच्चारण आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में सुरक्षित हैं । इसी कारण 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'औ' का उच्चारण मूल स्वरों के रूप में होने लगा है ।

(५) हिन्दी, उर्दू, सिन्धी, पंजाबी, उड़िया, आदि में मूर्धन्य उत्क्षिप्त 'ड़' एवं 'ढ़' विकसित हो गयी है ।

(६) मध्य भारतीय आर्यभाषा काल में जिन शब्दों में समीकरण के कारण एक व्यंजन का द्वित्व रूप हो गया था, अपभ्रंश के परवर्ती युग में एक व्यंजन शेष रह गया तथा उसके पूर्ववर्ती अक्षर के स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो गया । सिन्धी, पंजाबी एवं हिन्दी की बांगरु एवं खड़ी बोली के अतिरिक्त सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में यह प्रवृत्ति सुरक्षित है । यथा—

कर्म > कम्म > कम्मु > कामु > काम्

(७) अपभ्रंश में अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण एवं लोप की प्रवृत्ति मिलती है । 'पासणाह चरिउ'[१६] से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

महिला / महिल १।१०।१२ ।	जंघा > जंघ ३।२।८ ।
गृहिणी > घरिणि १।१०।४ ।	गम्भीर > गहिर ३।१४।२ ।
पाषाण > पाहण २।१२।६ ।	पुंडरीक > पुंडरिय १७।२१।२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिहारी, काश्मीरी, सिन्धी और कोंकड़ी के अतिरिक्त अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में भी यह प्रवृत्ति है।

हिन्दी में अकारान्त शब्दों को प्रायः व्यंजनान्त रूप में उच्चरित किया जाता है।[१७]

व्याकरणिक

(१) विभक्ति रूपों की संख्या में कमी

प्राकृत काल में ही विभक्ति रूपों की संख्या में कमी हो गयी थी। विभिन्न कारकों के लिए एक विभक्ति तथा एक कारक के लिए विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने लगा था। एक ओर कर्म, करण, अपादान तथा अधिकरण के लिए षष्ठी विभक्ति का तथा कर्म एवं करण के लिए सप्तमी विभक्ति का तो दूसरी ओर अपादान के लिए तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियों का प्रयोग मिलता है।[१८]

अपभ्रंश में विभक्ति रूपों की संख्या में और कमी हो गयी। कर्त्ता-कर्म-सम्बोधन के लिए समान विभक्तियों का प्रयोग आरम्भ हो गया। इसीप्रकार एक ओर करण-अधिकरण के लिए तो दूसरी ओर सम्प्रदान-सम्बन्ध के लिए समान विभक्तियों का प्रयोग होने लगा। उदाहरणार्थ, अपभ्रंश के विभक्ति रूपों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :

	एकवचन		बहुवचन	
			पुल्लिग	स्त्रीलिंग
कर्ता–कर्म–सम्बोधन	–अ, –आ, –उ, –ओ		–अ, –आ	–अ, –आ, –उ
	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
करण–अधिकरण	–ए, –एं –एण, –इण –ईं	–एं –इ –हिं	–हिं –एहिं	–हिं
सम्प्रदान–सम्बन्ध	–हो –आसु –स्स	–हे –हिं	–हं –आहं	–हं
अपादान	–हो, –हे, –हु	–हे, –हिं	–आहुं	–हिं

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में विभक्ति रूपों की संख्या में क्रमशः ह्रास हुआ है। जिन भाषाओं की संश्लिष्ट प्रकृति अभी भी विद्यमान है उनमें विभक्ति रूपों की संख्या अभी भी अधिक है किन्तु जिन भाषाओं ने वियोगात्मकता की ओर तेजी से कदम बढ़ाया है उनमें विभक्ति प्रत्ययों की संख्या बहुत कम रह गयी है। इस दृष्टि से यदि हम मराठी एवं हिन्दी का अध्ययन करें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। मराठी में संज्ञा शब्द के जहाँ अनेक वैभक्तिक रूप विद्यमान हैं—मुलास (द्वितीया), मुलाने (तृतीया), मुलाला (चतुर्थी), मुलाहून (पंचमी), मुलाचा (षष्ठी), मुलात (सप्तमी), मुला (सम्बोधन) वहाँ दूसरी ओर हिन्दी में पुल्लिग संज्ञा शब्दों में या तो केवल विकारी कारक बहुवचन के लिए अथवा अविकारी कारक बहुवचन, विकारी कारक एकवचन एवं विकारी कारक बहुवचन के लिए विभक्तियाँ लगती हैं। स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों में केवल अविकारी बहुवचन एवं विकारी बहुवचन के लिए विभक्तियाँ जुड़ती हैं, एकवचन में प्रातिपदिक ही प्रयुक्त होता है।[१९]

(२) परसर्गों का विकास

अपभ्रंश में विभक्ति रूपों की कमी के कारण अर्थों में अस्पष्टता आने लगी होगी। कारकों के अर्थों को व्यक्त करने के लिए इसी कारण अपभ्रंश में शब्द के वैभक्तिक रूप के पश्चात् अलग से शब्दों अथवा शब्दांशों का प्रयोग आरम्भ हो गया। यद्यपि संस्कृत में भी 'रामस्य कृते' तथा प्राकृत में 'रामस्स केरम घरम्' जैसे प्रयोग मिल जाते है तथापि इतना निश्चित है कि अपभ्रंश में परसर्गों की सुनिश्चित रूप से स्थिति मिलती है। करण के लिए-सहूँ, सउं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाणु, सम्प्रदान के लिए—तेहिं, केहिं, अपादान के लिए—लइ,-होन्तउ,-ठिन,-पासिउ, सम्बन्ध के लिए—तण,-तणि,-केरउ तथा अधिकरण के लिए—मज्झे-मज्झि जैसे परसर्गों का बहुल प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में हुआ है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में परसर्गों का विकास हुआ है। इनके प्रयोग में सभी भाषाओं की स्थिति समान नहीं है। आज भी कुछ भाषायें कारकीय अर्थों को परसर्गों से नहीं अपितु शब्द के विभक्तियुक्त रूपों से द्योतित कर रही हैं किन्तु फिर भी परसर्गों का प्रयोग कम या अधिक सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में होता है। जिन भाषाओं में विभक्तियुक्त शब्द द्वारा कारक का अर्थ व्यक्त किया जाता है उनमें भी अलग-अलग कारक के लिए अलग-अलग विभक्ति रूपों का सम्बन्ध सुनिश्चित नहीं है। यथा:—मराठी में एक ही कारक को व्यक्त करने के लिए अनेक विभक्तियों का प्रयोग होता है तथा एक ही विभक्ति अनेक कारकों का अर्थ व्यक्त करती है।[२०] उसमें भी तृतीया के ने,-नी, पंचमी के —ऊन,-हून तथा षष्ठी में प्रयुक्त—चा, ची, चे, च्या आदि रूपों को परसर्ग कोटि में रखा जा सकता है। इसी प्रकार बंगला की प्रकृति भी अपेक्षाकृत संश्लिष्ट है किन्तु वहाँ भी दिया, द्वारा, के दिया, संगे, हइते, थेके जैसे शब्दांशों की स्थिति परसर्गों की ही है। यथा:—

मन **दिया** पढ़ (मन से पढ़ो); तोमा द्वारा हाइबे ना (तुमसे नहीं होगा)
बहू के **दिया** गंधाउ (बहू से रसोई बनवाओ)
आमी बंधु संगे देखा करिते गल (मैं मित्र से मिलने गया)
बाड़ी **हइते** चलिया गेल (घर से चला गया)
बाड़ी **थेके** चलिया गेल (,, ,,)।[२१]

गुजराती में भी सम्प्रदान में 'माटे' तथा संबंध के लिए ना, नी का प्रयोग होता है। पंजाबी में भी संबंध में 'दा', 'दी', का प्रयोग होता है।

परसर्गों के प्रयोग के संबंध में हिन्दी की स्थिति अधिक स्पष्ट है। हिन्दी में संज्ञा शब्दों में कारकीय अर्थों को विश्लिष्ट प्रकृति के परसर्गों द्वारा ही व्यक्त किया जाता है।

हिन्दी में परसर्गों का विकास आरम्भ से ही अधिक हुआ। हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में ही विभिन्न कारकीय रूपों को सम्पन्न करने के लिए परसर्गों का प्रयोग मिलता है। कर्त्ता के अर्थ में डा० उदयनारायण तिवारी ने चंदबरदाई की भाषा में 'ने' का प्रयोग स्वीकार किया है।[२२] कीर्तिलता की भाषा में कर्त्ता के अर्थ में—आ,-ए,-ओ का प्रयोग हुआ है।[२३]

कर्म के अर्थ में 'को' का प्रयोग ११वीं सदी से राउलवेल में मिलने लगता है। बीसलदेव रास[२४] में 'नूं' एवं कीर्तिलता[२५] मे 'हि,' 'हिं' का प्रयोग कर्मकारक के अर्थ में हुआ है।

करण के अर्थ में कीर्तिलता में[२६] 'ए' 'एन' 'हि' का पृथ्वीराजरासो[२७] में 'ते', 'वाचा', 'से' 'सहुं', 'सूं', 'सौं', तथा खुसरो[२८] के काव्य में 'से' का प्रयोग मिलता है।

इसी प्रकार की स्थिति अन्य कारकीय अर्थों को व्यक्त करने के सम्बन्ध में है।

(३) भाषा प्रकृति अर्द्ध अयोगात्मक

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की विवेचना करते समय प्रायः विद्वानों ने उन्हें अयोगात्मक भाषायें कहा है। यह ठीक है कि 'हिन्दी' ने अपभ्रंश की अर्द्ध-अयोगात्मक स्थिति की अपेक्षा अयोगात्मकता की ओर अधिक विकास किया है तथापि भाषा-प्रकृति की दृष्टि से आज भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषायें अर्द्ध-अयोगात्मक हैं। शब्द के वैभक्तिक रूप भी मिलते हैं तथा परसर्गों का भी प्रयोग होता है। कारकीय रूपरचना में विभिन्न भाषाओं में विभक्तियाँ संश्लिष्ट रूप में भी व्यवहृत होती हैं। उदाहरणार्थ, सिन्धी एवं पंजाबी में अपादान एवं अधिकरण कारकों में; गुजराती में करण एवं अधिकरण में, मराठी में करण, सम्प्रदान तथा अधिकरण में तथा इसी प्रकार उड़िया में अधिकरण में विभक्तियों का संयोगात्मक रूप द्रष्टव्य है। बंगला में भी सम्बन्धतत्व संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होता है।

हिन्दी में भी सर्वनाम रूपों में कर्म सम्प्रदान में इसे, उसे, इन्हें, उन्हें, तुझे जैसे रूप मिलते हैं जिनकी प्रकृति संश्लिष्ट है। यह बात अलग है कि हिन्दी में इनके वियोगात्मक रूप भी उपलब्ध है यथा—इसको, उसको, उनको, इनको तुझको। इसी प्रकार वर्तमान सम्भावनार्थ—पढ़ूँ, पढ़े, पढ़ें, पढ़ो तथा आज्ञार्थक—पढ़ना, पढ़ियेगा, पढ़ो, पढ़ में संयोगात्मकता की स्थिति देखी जा सकती है।

(४) नपुंसक लिंग की स्थिति

अपभ्रंश काल में नपुंसकलिंग का लोप हो गया था। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में मराठी एवं गुजराती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को छोड़कर शेष सभी में नपुंसकलिंग नहीं है। सिंहली में प्राणी तथा अप्राणीवाची आधार पर प्राणवान तथा प्राणहीन दो लिंग हैं जो द्रविड़ परिवार की भाषाओं के प्रभाव के सूचक प्रतीत होते हैं। शेष में पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग दो लिंग हैं। इनमें भी बंगला एवं उड़िया में देशज शब्दों में लिंग विधान शिथिल है। जान बीम्स के अनुसार इनमें तत्सम शब्दों को छोड़कर शेष शब्दों में लिंग व्यवस्था नहीं है।[२९]

(५) बहुवचन द्योतक शब्दावली

सिंधी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी के अतिरिक्त शेष अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में कर्ताकारक के शब्दों में बहुवचन का द्योतन विभक्तियों से न होकर बहुवचन द्योतक शब्दों अथवा शब्दांशों से व्यक्त होने लगा है। उदाहरणार्थ, बंगला में "सकल" यथाकुक्कुर सकल (कुत्ते)। इसी प्रकार उड़िया में "मनि" असमिया में "बोर" मैथिली में "सम" एवं भोजपुरी में "लोगनि" इत्यादि शब्द रूप बहुवचन द्योतक हैं।

पश्चिमी हिन्दी, सिन्धी, मराठी में कर्ताकारक बहुवचन के वैभक्तिक रूप उपलब्ध हैं। यथा—

सिन्धी—एकवचन—पिउ बहुवचन—पिउर
मराठी—एकवचन—रात बहुवचन—राती
हिन्दी—एकवचन—लड़का बहुवचन—लड़के

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन भाषाओं में भी बहुवचन को स्वतन्त्र शब्दों द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यथा—

हिन्दी—एकवचन—राजा बहुवचन—राजा लोग
मराठी—एकवचन—दीर्घ बहुवचन—दीर्घ जण

इस प्रकार की प्रवृत्ति संज्ञा शब्दों की अपेक्षा सर्वनाम रूप में अधिक है। यथा—पश्चिमी हिन्दी—हम लोग। भोजपुरी—हमनीका। मागधी—हमनी। मैथिली—हमरा सम। बंगला—आमि सब।

आधुनिक भारतीय भाषाओं की यह प्रवृत्ति मध्ययुगीन भाषाओं की व्यवस्था से अवश्य भिन्न है तथा अयोगात्मकता की ओर उन्मुख होने का सूचक है।

(६) प्राकृत एवं अपभ्रंश के क्रियारूप

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की क्रिया संरचना का प्रभाव आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में वर्तमान अथवा वर्तमान सम्भावनार्थ काल एवं आज्ञार्थक रूपों पर पड़ा है।

अपभ्रंश में वर्तमान काल द्योतक उत्तम पुरुष—उं,-हुँ, मध्यम पुरुष—हि,-हु एवं अन्य पुरुष-अह,—हि,-अन्ति विभक्तियाँ थीं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में ये प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

पुरुष	वचन	हिन्दी	गुजराती	मराठी	बंगला	उड़िया	पंजाबी
उत्तम पुरुष	एकवचन	—ऊँ	—ऊँ	—एँ	—इ	—अइं	—आं
	बहुवचन	—एँ	—इये	—ओं —ऊँ	—इ	—उ	—अय
मध्यम पुरुष	एकवचन	—ए	—ए	—अस	—इस	—उ	—ए
	बहुवचन	—ओ	—ओ	—आ	—अ	—अ	—ओ
अन्य पुरुष	एकवचन	—ए	—ए	—ए	—ए	—अइ	—ए
	बहुवचन	—एँ	—ए	—अत	—एन	—अन्ति	—अण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक भारतीय भाषाओं के वर्तमान आज्ञार्थक रूपों का विकास भी मध्यकालीन भारतीय क्रियारूपों से हुआ है।

अपभ्रंश में भविष्यकालिक रूपों की रचना में धातु में विभक्ति लगने के पूर्व "इस्स" अथवा "इह" प्रत्यय जुड़ता था। गुजराती—करीश,-करिशुं,-करशे आदि रूपों में "इस्स" का तथा हिन्दी की ब्रज आदि बोलियों के—करिहौं, -करिहैं आदि में "इह" का प्रभाव विद्यमान है।

(७) क्रिया के कृदन्तीय रूपों का प्रयोग

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाकाल में भूतकालिक रचना के कई प्रकार थे। लङ्० से असम्पन्न भूत, लुङ्० से सामान्यभूत तथा लिट् से सम्पन्न भूतकाल की रचना होती थी। उदाहरणार्थ गम् धातु के रूप अगच्छत्, अगमत् एवं जगाम बनते थे। इनमें क्रियारूप विद्यमान था।

प्राकृत अपभ्रंश युग में इनके बदले भूतकाल भावे या कर्मणि-कृदन्त "गत" लगाकर बनाया जाने लगा।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में कर्मणि कृदन्त रूप तो विद्यमान हैं ही; कृदन्तीय रूपों से काल रचना होने लगी है।

अधिकांश आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में वर्तमानकालिक कृदन्तीय रूप में पुरुष एवं लिंगवाचक प्रत्यय लगाकर कालरचना होती है। यथा—हिन्दी—करता। गुजराती—करत। बंगला—करित। मराठी—करित। उड़िया—करन्त।

इसी प्रकार भूतकालिक कृदन्तीय रूपों से भी कालरचना सम्पन्न होती है। अपभ्रंश में भूतकालिक कृदन्त रूप विशेषणात्मक रूप में पूर्ण क्रिया के स्थान में भी व्यवहृत होने लगे थे। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में हिन्दी—गया, गुजराती—लीधुं जैसे रूप वर्तमान है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से बंगला, उड़िया, असमिया, भोजपुरी, मैथिली, मराठी आदि में भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय "ल" जुड़ता है। यथा—बंगला—गेल, होइल, मराठी—गेलों, गेलास, भोजपुरी—मारलो, मारलास। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय का प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश में हुआ है। राउलवेल की भाषा में इसका प्रयोग देखा जा सकता है।[३०]

(८) क्रियाओं में लिंगभेद

अपभ्रंश में कृदन्ती रूपों में लिंगभेद किया जाता था। हिन्दी जैसी भाषाओं में क्रियाओं में लिंगभेद का कारण अपभ्रंश के कृदन्तीय रूपों का क्रिया रूपों में प्रयोग है। कृदन्त रूपों को क्रिया रूपों में अपनाने के कारण हिन्दी में पढ़ता; पढ़ती; पढ़ा आदि क्रियाओं में लिंगभेद मिलता है। मराठी में भी मी जातो (मैं जाता हूँ) एवं मी जाते (मैं जाती हूँ) तथा तू जातोस (तू जाता है) एवं तू जातेस (तू जाती है) क्रियाओं में लिंगभेद द्रष्टव्य है।

(९) संयुक्त कालरचना एवं संयुक्त क्रिया निर्माण

हिन्दी जैसी भाषाओं में मूल धातुओं में प्रत्यय लगाकर कालरचना की अपेक्षा वर्तमानकालिक कृदन्त एवं भूतकालिक कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाओं को जोड़कर विविध कालों की रचना की जाती है। इसी प्रकार क्रिया के विभिन्न अर्थों को व्यक्त करने के लिये मुख्य क्रिया रूप के साथ सहकारी क्रियाओं को संयुक्त किया जाता है। मध्य-भारतीय आर्यभाषाकाल तक इस प्रकार की भाषायी प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। इस कारण विद्वानों ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में संयुक्त काल रचना एवं संयुक्त क्रिया निर्माण को द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव का सूचक माना है। इस सम्बन्ध में मेरा यह अभिमत है कि हिन्दी ने इस परम्परा को परवर्ती अपभ्रंश परम्परा से स्वीकार किया है। संयुक्त काल एवं संयुक्त क्रिया निर्माण की प्रवृत्ति 'उक्त व्यक्ति प्रकरण' एवं 'राउलवेल' की भाषा में दिखायी देती है और इसी का विकास हिन्दी में हुआ है। परवर्ती अपभ्रंश में इस प्रकार की व्यवस्था भले ही द्रविड़ परिवार की भाषाओं के प्रभाव के कारण आयी हो।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

१ नाट्यशास्त्र १८।३४-३५।
२ नाट्यशास्त्र १८।३६-४०।
३ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। —काव्यादर्श १।३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4 Introduction to Karpūrmanjarī p. 75 University of Calcutta (1948).
५ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १०३ (१९६३) तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, दिल्ली
6 Manomohan Ghosh, Mahārāṣṭrī, a late phase of Śauraseni, Journal of the Department of Letters of the Calcutta University, Vol. xxxii. 1933.
७ गरीयानपशब्दोपदेशः। एकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः।
तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गौणी गौता गोपोतलिका इत्येवमादयो बहवोऽपभ्रंशाः।
—(पातंजल, महाभाष्य १।१।१)।
८ सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कु मादानकाश्च (काव्यमीमांसा, अध्याय १०)
९ सुराष्ट्र त्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पित सौष्ठवम्।
अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृत वचांस्यपि (काव्यमीमांसा, अध्याय ७)
१० "भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश" (काव्यालंकार २।१२)।
११ स चान्यरूपनागराभीर गाम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थं मुक्तं भूरिभेद इति।
१२ ब्राचडौ लाट वैदर्भानुपनागर नागरौ बार्बरावन्त्यपांचालटांक्कमालवकैकयाः। गौड़ौद्रवैनपाश्चात्यपांड्यकौन्तल सैंहला। कलिंग्यप्राच्य कार्णाटिकां च द्राविडगौर्जराः। आभीरौ मध्यदेशीयः सूक्ष्म भेदव्यवस्थिताः सप्तविंशत्यपभ्रंशाः वेतालादि प्रभेदताः (प्राकृत सर्वस्व २)।
१३ पण्डित हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द शेठ, पाइअ-सद्द-महण्णवो (प्राकृत शब्द महार्णवः) कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति संवत् १९८५ (सन् १९२८ ई०)
१४ दे० भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १२२-१३२।
१५ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १२७-१२८।
१६ पासणाहचरिउ सम्पादक—प्रफुल्लकुमार मोदी (सन् १९६५)।
१७ डा० महावीरसरन जैन, परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० २०-२२।
१८ दे० (१) कोमलचन्द जैन, प्राकृत-प्रवेशिका, पृ० ५८।
(२) पं० ऋषिकेश भट्टाचार्य, प्राकृत ग्रामर, पृ० १२८।
१९ डा० महावीर सरन जैन, हिन्दी संज्ञा, भाषा, हिन्दी भाषा विशेषांक।
२० महादेव मा० बासुतकर, मराठी की कारक व्यवस्था, गवेषणा, पृ० ८४, वर्ष १०, अंक २०।
२१ सरोजिनी शर्मा—हिन्दी और बंगला के परसर्गों का व्यतिरेकात्मक अध्ययन, गवेषणा, पृ० ९३-११०, वर्ष १०, अंक २०
२२ सं० उदयनारायण तिवारी—वीरकाव्य, पृ० १६५ : सं० २०१२।
२३ सं० वासुदेवशरण अग्रवाल—कीर्तिलता २।२२८, २।२१८। ४।२४।
२४ सं० उदयनारायण तिवारी—वीर काव्य, पृ० २२०।
२५ सं० वासुदेवशरण अग्रवाल—कीर्तिलता २।२७, ३।७८।
२६ वही—क्रमशः १।५०; १।४६; ४।४०।
२७ सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवरसिंह —संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृ० २५, ३१, ३२, १०८।
२८ सं० बालकृष्ण राव —हिन्दी काव्यसंग्रह (खुसरो), पृ० २७।
29 John Beams, A Comparative Grammar of the Modern Indian Aryan Languages, p. 177.
३० देखिए डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया, राउलवेल में प्रयुक्त क्रियाएं, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती विशेषांक, पृ. ४५७, वर्ष ६६, अंक २-३-४ (सम्वत् २०१८)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The Logavijaya-Niksepa and Lokavicaya



Dr. B. Bhatt, Dr. Phil (Germany)
[University of Rajasthan, Jaipur]

☆

§1. Introduction

Ācāra (or Ācārāṅgasūtra; Prākrit. Āyāro) is one of the earliest sūtra-text in Prākrit and has been assigned (without any specific reason) the first place among the twelve aṅgas of the Jain canonical literature. The tradition is silent regarding its authorship.* The text of Ācāra has been edited and translated repeatedly. It deals with sermon on ahiṁsā, ethics and vows, Mahāvira's biography, etc. The text proper is covered mainly by prose passages which are admixture of fragmentary lines of triṣṭubh and anuṣṭubh meters. The whole Ācāra is divided into two skandhas; the first and the earliest skandha (ca. 4-3 cent. B. C.) which is called Brahmacharya, has nine (including the 7th one which the Jainas believe to be lost) and the second skandha called Agra (अग्र) younger in character, has sixteen chapters (adhyayanas). Most of these chapters are subdivided into uddeśas, number of which varies from chapter to chapter. Every chapter and a few of the uddeśas have been given title-names, which are evident from the earliest stratum of the post-canonical literature supplied by the niryuktis, and later on by the cūrṇis. The Niryukti (vss. 1-356; traditionally ascribed to Bhadrabāhu) on Ācāra is in fact, basically a string of nikṣepas of the catch-words often derived from the title-names. Such title-nikṣepas (called : nāma-niṣpanna-nikṣepa) in the Ācāraniryukti are sometimes complete, sometimes supplied by way of references, and mostly at the end of the work. The nikṣepa matter is reduced to minimum to that extent that in the case of some titles even the barest mention is missing.

The theme of our present study is about the "Logavijaya"-Nikṣepa in the Ācāraniryukti and rendering into Sanskrit the title-name of Ācāra 1.2. The title of chapter 2 in Ācāra I is called "Logavijaya" in vs. 31 and is nikṣepized in a group of five verses (173-177) of the Ācāraniryukti. The topic of these five verses is the "Logavijaya"-Nikṣepa (a twin Nikṣepa : LOKA-Nikṣepa and "VIJAYA"-Nikṣepa) of the title "Logavijaya". The Sanskrit form of the title on the basis of Cūrṇi's Second Interpretation would be Lokavijaya which remains of secondary importance, while on the contrary, as yet quite unknown Sanskrit form Lokavicaya amerges from the First Interpretation of the Cūrṇi, and moreover, this Sanskrit form Lokavicaya equivalent with its Prākrit counterpart seems genuine when we study the technical term "vicaya" (="investigation", "reflecting upon") used in the title : Lokavicaya and also the subject matter of chapter 2 (Ācāra I) containing six uddeśas (total 100 sūtras, S. I, pp. 6-11). The Lokavicaya interpretation of the Cūrṇi is also in keeping with some external evidences. Besides, our study throws new light on the exegetical language of the Nikṣepa dialectics,— it reflects interrelated nature of two different Niryukti-traditions, and it reveals spurious character of the Niryukti verses dealing with the "Logavijaya"-Nikṣepa as well.

---

* The propounder of Ācārāṅga is Bhagavān Mahāvīr and the scriber is Gaṇadhar Sudharmā.

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं ॥ —आ० नि० गाथा १९२ —Editor.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Our investigation of the title : Lokavicaya opens from § 5 after demonstrating some discripancies in the "Logavijaya"-Nikṣepa of the Ācāra-tradition and its relation with the Āvaśyaka-tradition. Below (§§ 7-9) we have presented with notes three texts (Niryukti, Cūrṇi, and Tīkā) concerning with the Nikṣepa. We will not study problematic elements of the texts if we felt it not relevant to our present inquiry. We shall first of all study the Niryukti as such, that is in a semi-independent manner, avoiding too direct references to the Cūrṇi and the Tīkā.

§ 2. **Ācāra Niryukti vss. 173-177**

The full text of the Ācāra Niryukti vss. 173-177 is supplied on pp. 75[a]-76[b] of the SCSP edition. The pratīkas are found on pp. 43-44 of the ŚS edition of the Cūrṇi. The Niryukti text is based on Śīlāṅka (there are, however, no deviations from the Cūrṇi in the pratīka words or otherwise). Our presentation of the text (interpunctuation etc.) is identical in the case of the Niryukti text (§ 7), Cūrṇi text (§ 8), and Śīlāṅka's text (i. e. Tīkā, § 9).

Vs. 173 introduces five catch-words. Only the first two words (LOGA and VIJAYA) belong to the Nikṣepa under consideration. They are derived from the title Logavijaya of Ācāra I.2. All the chapters of Ācāra have titles, and the present one can be derived from expressions like "accei loya-saṁjogaṃ" (he goes beyond the contact of the world) in Ācāra 1.2 6 151 (S. I, p. 11). The word Logavijaya occurs in the chapter colophon (as usually is the case S. I. p. 11), but its age is corroborated by the immense interest which the tradition takes in this word. The three remaining catch-words (GUṆA, MŪLA, ṬHĀṆA) appear at the beginning of Ācāra I 2.1, i.e., in the text proper ("je guṇe, se mūla-ṭṭhāṇe.....", S. I, p. 6). The respective Nikṣepas are supplied in the Niryukti vss. 178-184 (178-181 : GUṆA, 182-183 : MŪLA; 184 : STHĀNA).

§ 2.1. **The Āvaśyaka-tradition**

The elements taken from the Āvaśyakaniryukti (which is traditionally ascribed to Bhadrabāhu) are the Nikṣepas on LOKA (generally speaking) as well as certain "*Subsections*" which are used independently from the general LOKA-Nikṣepa. The LOKA-Nikṣepa was developed in the Āvaśyaka-tradition on account of the phrase : "logassa ujjoyagare....." (illuminating the world.....) occuring in Āvaśyaka Sūtra 2 (Übersicht, p. 6; Haribhadra p. 494[a]) We, therefore, get the following sequence :—

(a) Sūtra (the mere word "loga")
(b) Āvaśyaka-tradition (LOKA-Nikṣepa)
(c) Ācāra-tradition (secondary employment of the LOKA-Nikṣepa)

The Āvaśyaka-tradition is split up into Mūlācāra 7 (Übersicht, pp. 16[a]-19[b]; Mūlācāra is ascribed by the Digambaras to Vaṭṭakera, (ca. 1-2 cent. A. D.) on the one hand, and the Āvaśyakaniryukti (i.e. Niryukti plus Bhāṣya) on the other. In Mūlācāra 7, it covers vss. 40-50. The following is the programme :—

nāma[1]-*ṭṭhavaṇaṃ*[2] *davvaṃ*[3] *khetta*[4] *cihnaṃ*[5] *kasāya*-LOGO[6] ya
bhava-LOGO[7] *bhāva*-LOGO[8] *pajjava* LOGO[9] ya nāyavvo. ||40||

(The LOKA-Nikṣepa should be known as *nāma, sthāpanā, dravya, kṣetra, chihna, kaṣāya*-LOKA, *bhava*-LOKA, *bhāva*-LOKA and *paryāya*-LOKA.)

In the case of the Āvaśyakaniryukti, only one verse belongs to the Niryukti proper, i.e., the one containing the programme (1057, Haribhadra p. 494[b]) :—

nāmaṃ[1] *ṭhavaṇā*[2] *davie*[3] *khitte*[4] *kāle*[5] *bhava*[6] ya *bhāve*[7] a
pajjava-LOGE[8] a : tahā aṭṭhaviho LOGA-nikkhevo. ||1057||.

The execution (corresponding to Mūlācāra 7.41-50) is transmitted as Bhāṣya vss. 195-203. .....The "*subsections*" to be considered separately are connected with the kaṣāya concept (passion in the sense of a metaphysical force, just like tṛṣṇā or avidyā) In Mūlācāra, reference to the kaṣāyas is both, direct (vs. 40, no. 6) and indirect (vs. 40, no. 8), see vss. 47 and 49 respectively :—

koho māno māyā lobho udiṇṇā jassa jantuṇo
kaṣāya-LOGAM[6] viyāṇāhi aṇanta-jiṇa-desiyam. ||47||

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(Anger, pride, deceit, greed—originated in whichever being, know that to be the *kaṣāya*-LOKA as instructed by the eternal jinas.)

tivvo rāgo ya doso ya udiṇṇā jassa jantuṇo
bhāva-LOGAM[8] viyāṇāhi aṇanta-jiṇa-desiyam. ||49||

(Severe attachment and vice—or, hatred—originated in whichever being, know that to be the *bhāva*-LOKA as instructed by the eternal jinas.)

This recurs in almost identical form as (Āvaśyakaniryukti) Bhāṣya vs. 201 :—

tivvo rāgo a doso a udinnā jassa jantuṇo
āṇāhi *bhāva*-LOAM[7] aṇanta-jiṇa-desiam sammaṃ. ||201||

Here, the second line has been extended by addition of "sammaṃ" (samyag, "properly") to form an āryā line. This change and the fact that the kaṣāya theme (Mūlācāra 7.47) got lost in the Āvaśyakaniryukti (Bhāṣya) indicate that the Mūlācāra material is more authentic than the material of the Śvetāmbaras. The articles on "rāga" and "dosa" (doṣa or dveṣa) in the PTS dictionary already indicats a certain osmosis between—krodha, māna, māyā, lobha, on the one hand, and—rāga, doṣa (or dveṣa), on the other. This may help to explain the combination—not of rāga/doṣa, but of the term : *bhāva* with the term : kaṣāya in the Ācāra-tradition.

§ 2.2. The "blending" of the Ācāra—and the Āvaśyaka-tradition :—

The "blending" of the Ācāra—and the Āvaśyaka-tradition has two aspects. On the one hand, a LOKA-Nikṣepa was not supplied. The Niryukti vs. 176 says : "LOGO bhaṇio", the Cūrṇi says : "LOYA-nikkhevo *jahā LO'ujjoyagara-Nijjuttīe*", the Ṭīkā says : "LOKO'ṣṭadhā nikṣepârtham prāg upâdeśi". By contrast, the Niryukti mentions in vs. 176 the four determinants *(davvaṃ, khittaṃ. kālo, bhāva)* for "VIJAYA" and the due explanation or explication is supplied by both, Cūrṇi and Ṭīkā (though in an independent manner). In other words, "blending" means that for LOKA only a reference to tradition is given. In so far, only a mechanical juxtaposition of the old LOKA-Nikṣepa and the new "VIJAYA"-Nikṣepa takes place.

The situation is different, as far as the kaṣāya complex is concerned. This was a theme of utmost importance. The Ṭīkā says (in explanation of the Niryukti vs. 173[d]) : "*Saṁsāra-taror mūlam.....kaṣāyāḥ*". The tradition regarding "VIJAYA" (i.e. regarding the individual "concepts" to be supplied) was not unanimous in the Ācāra-tradition. Also, the Niryukti vs. 176 was spurious (as will be seen later on), i.e. spurious in the sense of an explanatory intercalation. The introduction of the kaṣāya complex was nevertheless decided from the very beginning. The Niryukti vss. 175 and 177 supply the following : "*kasāya-LOGO; ahigāro tassa VIJAENAM*" and "*vijio kasāya-LOGO*", translated : "the kaṣāya-LOKA; its investigation is the main point" and " (this) kaṣāya-LOKA is investigated". The problem arising for the ancient authors was to find a way for weaving the kaṣāya-"vijaya" in the texture of the twin Nikṣepa. The exegetical limitation was carried to the extreme that any matter could only be supplied by connecting them with few words or words appearing at the beginning of a section of the Sūtra-text-Āvaśyaka Sūtra 2 is an instance of this. Both, Mūlācāra and Āvaśyaka Niryukti-cum-Bhāṣya are mainly concerned with its first verse ("logassa ujjoyagare.....). Again, the only possible mechanism of establishing a relation was the Nikṣepa, and this could, of course, be twisted in such a way that it accommodated every conceivable subject. At the same time, it must be admitted that the Nikṣepa was more than a means to an end. Nikṣepa and some other procedures (e. g. etymology and synonyms) were necessary as such. The Nikṣepa matter can be sub-divided in the following way :—

(a) Stop-gaps (e. g. *nāma-sthāpane sugamatvād anādṛtya*—Ṭīkā)

(b) Ad hoc material (e. g. *puttaṃ naṭṭham maggati* – Cūrṇi, line 24)

(c) Important material taken verbatim from tradition (e. g. LOKA-Nikṣepa)

(d) Important material, more or less traditional in its contents, but brought into literary form for the relevant Nikṣepa (probably the tree-simile—Ṭīkā)

In the case of (b) above, we have to distinguish between trivial matter, invented ad hoc, and more or less complicated matter taken from tradition—not however, for its own sake but in order to fill various positions of the Nikṣepa in a learned manner. An instance of the latter variety is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the insertion of the Rūcaka complex into the DIŚĀ-Nikṣepa in the Ācāraniryukti (vss. 40-63; derived from Ācāra I.1.1.2, S. I, p. 1 : *"puratthimāo vā disāo āgao aham amsi"*, Or, have I come from the Eastern direction).

In the case of the kaṣāya theme, the difficulties of insertion reached a degree which made even the responsible authors helpless. There were three problems :—

(i) "vijaya" is a substantive of verbal character. This stimulated a shift of emphasis from the basic word to the object. Therefore, the object (in the accusative) and not the word "vijaya" was the main subject of nikṣepization, although "VIJAYA" was also nikṣepized to some extent.

(ii) This shift of emphasis implied a tendency to take "vijaya" not exclusively, but primarily in its usual meaning, so that it seems sometimes necessary to employ the writing "VIJAYA/vijaya"

(iii) One of the objects of "VIJAYA" were kaṣāyas. This fact presented no problem by itself, as the Nikṣepa of "VIJAYA" admitted of any number of accusative objects (e. g. *puttaṃ naṭṭhaṃ maggati*, just quoted). However, the kaṣāyas according to the tradition as presented in Mūlācāra, were part of the LOKA-Nikṣepa. Not in the classical way of using an abstract determinant (e. g. *bhāve*), but in the primitive way of taking *kaṣāya* as a determinant, and the individual members (KMML) as the "concepts". Again, the LOKA-Nikṣepa was not any nikṣepa but precisely the one used for the nikṣepization of the first part of the chapter-title (Logavijaya). Therefore, the kaṣāya matter could not be employed without considering the fact that they belonged to the twin Nikṣepa, and that they were virtually considered twice, first in the general way of quoting the LOKA-Nikṣepa and again in the employment of one element (kaṣāyas) as an object for one of the "concepts" of "VIJAYA". This resulted in a sort of molecule, described in different ways by different texts concerned.

The skill was performed with the help of the term : *bhāva*. The author of the Niryukti inserts the word : *bhāva* once and in the usual enigmatic way (vs. 175^{c}), the author of the Cūrṇi connects *bhāva* with LOKA in the literal explanation (line 17), with "VIJAYA" in the actual text (i. e. in both sections of this text : lines 33 and 51). He was obviously reluctant to combine *bhāva* with both, and there was no possibility to connect it with LOKA alone. After all, *bhāva* was a sort of hinge, connecting LOKA and "VIJAYA" in the construction of *"kaṣāyāṇāṃ vicayaḥ"* (phrase ours). It was only Śīlāṅka who expressly stated that the bhāvas of both, LOKA and "VIJAYA" were involved (see Ṭīkā).

We have principally treated only the Ācāraniryukti—but not the Cūrṇi and the Ṭīka—in demonstrating the blending of the Ācāra—and the Āvaśyaka-tradition, due to the fact that the Cūrṇi and the Ṭīkā are more or less dependent on the Ācāraniryukti and are also younger in relation to both, Mūlācāra plus the Āvaśyakaniryukti and the Ācāraniryukti, and as such, Cūrṇi and Ṭīkā add nothing more to what we have discussed above about the blending. And for the same reason, we have not treated Viśeṣāvaśyakabhāṣya of Jinabhadra (ca. 7. cent. A. D.) and other texts of the Āvaśyaka-tradition, but only the main ones, viz Mūlācāra and the Āvaśyakaniryukti.

§ 2.3. Ācāraniryukti vs. 176

We have to discuss yet the Niryukti vss. 173 as well as 176. The pāda 173^{d} indicates, apart from the manoeuvre described above, a kaṣāya tract which was part and parcel of the Ācāraniryukti (vss. 185 ff.). This influenced the text of the LOKA-"VIJAYA"-Nikṣepa : compare 173^{d} *(jaṃ-mūlāgaṃ ca saṃsāro)* with 187^{d} *(taṃmūlāgaṃ ca saṃsāro)*. Again, the words MŪLA and STHĀNA are both, nikṣepized individually (MŪLA : vss. 182-183; STHĀNA : vs. 184) and inserted repeatedly into the kaṣāya tract—which is, according to the Ṭīkā, part and parcel of the STHĀNA-Nikṣepa proper. Vs. 176 is a later parallel or twin of vs. 175 which interrupts the link 175^{d}-plus-177. The use of "pagayaṃ" with nominative (vs. 176) is in contrast with the more common "ahigāro" in instrumental (vs. 175^{d}). Obviously vs. 176 does not genuinely belong to the Niryukti proper.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

We will now in the following paragraphs examine some relevant matters discussed independently in the Cūrṇi and the Ṭīkā.

§ 3. Ācāra Cūrṇi

The Ācāra Cūrṇi which is traditionally ascribed to Jinadāsa does supply pratīkas of the Niryukti verses, but the whole discussion in the Cūrṇi is inserted between vss. 175 and 176, and only vs. 175 is considered. The proper explanation of vs 175 appears in lines 15-22 (from lines 15-17 : explanation for LOKA is just a passing remark), but a detailed exposition of vs. 175 starts from line 17 onwards till it reaches line 44. This includes the First Interpretation of the word "vijaya" in the sense of vicaya (=reflecting upon) in Sanskrit (see below). This is a fundamental interpretation of "vijaya". However, it should be noted that the word : loka is ignored in this explanation.

The word : "ahavā" in line 45 opens a new independent Second Interpretation with an alternative sanskritization vijaya (=winning victory over, defeat) for the Prakrit word : vijaya. The words : loka and kaṣāya do not occur in this new interpretation. It will be seen later on that this passage of the Cūrṇi is not much authentic.

It would thus appear that we have *three different versions* : Niryukti, Cūrṇi A (on the basis of and containing the First Interpretation), and Cūrṇi B (on the basis of and containing the Second Interpretation). The Ṭīkā is partly based on this and partly supplies new material (see below). A disentanglement of the various versions could probably only be attempted only on the basis of a general comparison between Niryukti, Cūrṇi, and Ṭīkā.

§ 4. Ācāra Ṭīkā

Ṭīkā particularly used here the earliest available prose commentary in Sanskrit by Śīlāṅka (9 cent. A. D.) on both, Ācāra and Ācāraniryukti. The Ṭīkā material is to a considerable extent an explanation or more explicit rendering of the earlier versions, one should not overlook the fact that it also supplies original material not found in either Niryukti or Cūrṇi (e. g. compare the tree-simile used to demonstrate the nature of the kaṣāyas). The two sections of the Ṭīkā have the character of an excursus ; lines 9-15 on the kaṣāyas and lines 38-51 on the problem of borrowing from a latter work (he thinks the Āvaśyakaniryukti is later than the Ācārāṅga, but after all Bhadrabāhu wrote the Ācāraniryukti after having completed the Āvaśyakaniryukti etc.). There is also the parallelism between lines 30 ff and lines 85 ff. In the latter portion, "bhāva+ bhāva" formula is developed which does not occur in either Niryukti or Cūrṇi. However, the employment of the formula does not seem to be consistant.

§ 5. **Lokavicaya, the title-name of Ācāra 1.2**

An investigation into the originality of the title-names of chapters etc. of a text like Ācāra presents considerable problems such as the genuineness of the title-names as they are available now and also that of the colophons supplying the title-names, the Jaina tradition transmitting different ones, etc. Such an examination cannot be undertaken in the context of the present inquiry, as it would necessitate a close study of several other texts. However, it is highly probable that the title-names of the sections or subsections in Ācāra are transmitted through tradition and revealed in the Niryukti.

Before we demonstrate how the Skt. form Lokavicaya of the Pkt. Logavijaya a title-name of Ācāra 1 2 was implied in the Niryukti verses and elaborated in interpreting the word "vijaya" in the Cūrṇi we would like to examine that word appearing in the early literature of the Jainas.

§ 5.1. **"Vijaya" (Pkt.)=Vicaya (Skt.)**

Hemacandra in his Siddhahema 1.177 (SH p. 455) gives a rule that sometimes "c" in Sanskrit is changed into "j" in Prakrit *("kva-cic casya jaḥ)*, e. g. piśācī (Skt. "a she demon") =pisājī (Pkt.). Pischel (§ 202) has given also the same example.

Abhayadeva (SMC p. 179°) on Sthāna 4.1.308 (S. I. p. 224) renders Pkt. word vijaya into Sanskrit as vicaya and remarks that vijaya is a Pkt. form from Skt. vicaya *("prākṛtatvena 'vijayam' iti.)*. Schubring (Lehre § 180) has also equated the Pkt. vijaya with the Skt. vicaya.

The word vicaya in Sanskrit has got changed all the time as vijaya in the canonical

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

literature, e. g. Sthāna 4.1.308 (S. I, 224)=Bhagavatī 25.7.802 (S. I, p. 896)=Aupapātika 19 (S. II. p. 12), etc.

It should however be noted that word vijaya (Skt.) remains almost in all cases unchanged in the Jaina canon, though sometimes "j" in Sanskrit is replaced by "c" in Prakrit, e. g. (Pischel § 202) jakṣ—(Skt. "to eat", "to taste")=cakkh—(Pkt.).

The meaning of the Skt. word vicaya (=vijaya in Pkt.) is "reflection" (Paryālocanā) or "decision" (nirṇaya) according to Abhayadeva (SMC p. 179[a] on Sthāna 4 1.308, S. I, p. 224; ĀgS p. 926[a] on Bhagavatī 25.7.802, S. I, p. 896) and it is "investigation" (anveṣaṇa) according to Haribhadra on Tattvārtha 9.37 (p. 493). The very concept of the word vicaya and its usages in the literature suggest its meditational importance, which will be shown in the following paragraph.

§ 5.2. Vicaya in Meditation

The word vicaya (Pkt. vijaya) appears in most of the cases closely connected with the Dharmadhyāna type of meditation in the Jaina canon. (see § 5.1). The Dharmadhyāna is of contemplative aspect, and this is well expressed by employing with each of its four varieties the word vicaya, e. g.

1. āṇā-vijaya (ājñā-vicaya) "reflecting upon precepts"
2. avāya-vijaya (apāya-vicaya) "reflecting upon the evils"
3. vivāga-vijaya (vipāka-vicaya) "reflecting upon the fruits of actions"
4. saṃṭhāṇa-vijaya (saṃsthāna-vicaya) "reflecting upon forms"

The Jaina meditation including Dharmadhyāna is described in details in the canonical texts mentioned in § 5.1. Let us add that these texts have borrowed their material about meditation from the Daśavaikālikaniryukti (see vss. 51 ff).

§ 5.3. Lokavicaya, an ancient title-name

We now examine the "Logavijaya"-Nikṣepa in the Niryukti and the Cūrṇi in the light of our discussion in the foregoing paragraphs § 5.1-2.

On account of the fact that the word vijaya (Pkt.) is very much misleading as it offers two quite different concepts, (1) "winning, victory over" (vijaya) and (2) "reflecting upon" (vicaya), have to consider, the proper context in which this word vijaya is employed in a Prakrit passage.

§ 5.3.1. The Niryukti

A careful study of the relevant verses of the Niryukti will reveal the concept of vicaya implied, on the other hand in the Cūrṇi, the concept of vicaya is not only evident but also conspicuous by its detailed exposition in connection with the term avāya (apāya="evil").

Only two Niryukti verses : 175[d] and 177 need further clarification. Vs 177 designating the fourth and the last stage of a Classical Nikṣepa examines the adhikāra which is stated in vs. 175[d]. Vs. 177 is directly related to vs. 175[d]—compare "*tassa (=kaṣāya-LOGASSA*, phrase ours) "*VIJAENAM*" in vs. 175[d] and "*vijio kasāya-LOGO*" in vs. 177[a]. The Cuṛṇi (line 17) seems to be right also in interpreting the verses in the same way, for, there is in fact no other possible alternative to this interpretation. Moreover, the concept of vicaya is very much necessitaied by the context in vss. 175[d] and 177, the context in which a sequence of process and result (i. e. result merging from the process) is evident in the following way :—

process	result
177[a] : kaṣāya-LOGO vijio.	177[b] : tao niyattium khu seyam hoi.
177[b] : tao.....hoi	177[d] : khalu saṃsārā khippaṃ muccaī
177[c] : kāma.....maī	

"*tao*" in vs. 177[b] has to be connected with *kaṣāya-LOGO* in vs. 177. In this context vijio is not "vijitaḥ" but surely "vicitaḥ" (vicaya=reflecting upon the kaṣāyas), which serves the purpose of a process towards the desired result,—to turn back (niyattium) from them (*tao*= kaṣāyas). The sequence is : 177[a] leads to 177[b]/177[c] which ultimately results in 177[d].

The Niryukti is silent about the actual process as such by which the results are to be obtained. In the language of the Nikṣepas the fourth stage gives a very abrupt conclusion in justi-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

fication of the adhikāra, but of course, keeping in view the subject matter of the text from which the catch-word is derived. It remains the duty of the later commentators on it, who explain this stage 4 clearly. We shall see in the following paragraphs how the Cūṛṇi explains this process and how it is in keeping with the text of Ācāra I.2.

§ 5.3.2. **The Cūṛṇi**

The author of the Cūṛṇi has in his First Interpretation elaborated the meaning of vijaya consistently in the sense of vicaya (cf. vijayo=vicāraṇā, maggaṇā, and also maggati, viciṇeti, viciṇāti, etc. etc.). He has explained the process of vicaya—reflecting upon the kaṣāyas as evils (apāya). We have demonstrated such peculiarities in the text of the Cūṛṇi supplied herewith by us for the sake of ready reference.

The second Interpretation of the Cūṛṇi seems to be not much authentic on account of many discripancies. Here, only four determinants for VIJAYA are considered which is not in keeping with the vs. 175 wherein there is a clear mention for six determinants (cf. *cha-vvihou VIJAYASSA*).

The Second Interpretation has been the main source for the later commentators like Śīlāṅka and others in modern time. (cf. Ṭīkā : vijayena=parājayena, also vijitaḥ=parājitaḥ). It is obvious that it is only through such commentors that less relevant Skt. form Lokavijaya became much popular.

§ 5.3.3. **Ācāra 1.2**

In Ācāra 1.2, the words vijaya and loga occur nowhere except the word loga 7 times in the Uddeśas 5 and 6. Schubring in his Ācāra edition Glossar (p. 80[b] : under the verb "ji") give a variant "vijittā" for "viditta" (Ācāra I.2.6.144, S. I, p. 10). Jacobi has not mentioned this variant in his Ācāra edition. Nor the concept of vijaya (defeat) is reflected throughout the second chapter of Ācāra I. On the contrary, the concept of vicaya—reflecting upon—is evident; but of course in no cases by the use of the word vicaya, but by the use of other word such as sampehāe, pariṇṇāya, etc, which are used frequently in this chapter. Probably because at the time of Ācāra 1.2, Jaina meditation was not developed and especially vijaya—a later technical term in Pkt. was not meditationalized.

We summarized here the second chapter of Ācāra I so as to give an idea about the subject matter which lays considerable stress on reflecting upon the worldly matters ultimately resulting in evils.

Uddeśa 1, thinking the family members, friends, etc. that are transitory, one should leave them for ever, cf. evam jāṇittu dukkham patteyam.....74.

Uddeśa 2, one should accept a-lobha, and not lobha (79) ; for lobha leads to hiṃsā. thinking that lobha brings forth evils, one should be away from it.

Uddeśa 3, thinking birth and death that give us pain, one should never be stirred by their clutches. The wise one should be neither happy nor angry.

Uddeśa 4, What we possess or gain remains no longer with us. We have thereby danger from all sides. One should not possess anything. One should think in that way.

Uddeśa 5, Karman is through the worldly character. Wise men should not enjoy any gain, and should not be unhappy on account of any loss. One should not be led away by such evil instincts.

Uddeśa 6, One becomes happy or otherwise on account of his actions, which should be abandoned. You know that merit and demerit are both alike. One who reflects in this way is not attached to them.

§ 6 **Conclusion**

We have thus shown that there is a contamination of the Āvaśyaka-tradition and the Ācāra-tradition having at least three versions, viz. Niryukti, Cūṛṇi A, Cūṛṇi B. As far as the "Logavijaya"-Nikṣepa is concerned, some Niryukti verses and particularly Cūṛṇi B donot appear authentic. Although the subject matter (loga, vijaya, kaṣāya) is very simple, the "Logavijaya"-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Nikṣepa creates considerable problems on account of the fact that different elements are contaminated (Ācāra material and Āvaśyaka material) and that this process of contamination is again reflected in more than one version.

We think, any attempt to study Niryukti or Cūrṇi or Ṭīkā should rest upon the disentanglement of the Ācāra and the Āvaśyaka-tradition.

In accordance with the treatment of the subject matter in the ancient Prakrit texts—Niryukti, Cūrṇi A and also Ācāra 1.2, the Sanskrit form Lokavicaya of the Prakrit title-name Logavijaya is correct. Its wrong sanskritization Lokavijaya became popular since the earliest available Sanskrit commentary (Ṭīkā) by Śīlāṅka who was misguided by Cūrṇi B.

TEXT (Relevant Verses)

Cūrṇi (ed. ŚS pp. 43.4) on Ācāraniryukti (ed. SCSP pp. 75[a]-76[b]) Vss. 173-177.

173 *LOGASSA ya VIJAYASSA* [ya GUṆASSA MŪLASSA tahā ya ṬHĀṆASSA nikkhevo kāyavvo jaṃ-mūlāgaṃ ca samsāro.]

gāhā kaṇṭhyā.

174 *LOGO tti ya VIJAYO tti ya* [ajjhayaṇe lakkhaṇam tu nipphannam.]
GUṆA-MŪLAM ṬHĀṆAM ti suttâlāve ya nipphannam.‖

gāhā.

175 *LOGASSA ya nikkhevo aṭṭha-viho,* [chav-viho u VIJAYASSA.
bhāvae[7] kasāyaLOGO, ahigāro tassa VIJAYEṆAM.]

(LOKA-Nikṣepa :)

LOYA-nikkhev (o) : aṭṭha-viho LOYA-nikkhevo *Jahā LO'ujjoya-gara-Nijjuttīe.*

(adhikāra :) appasattha-*bhāva*-LOE kasāya-LOYA-VIJAEṆAM ahigāro.

VIJAYA-Nikṣepa : First Interpretation : vijaya=vicaya.)

VIJAYO vicāraṇā maggaṇā eg aṭṭhā. *(Programme)* so VIJAO chav-viho tam jahā:

nāma-VIJAO[1], *ṭhavaṇa*-VIJAYO[2], *davva*-VIJAO[3], *khetta*-VIJAO[4], *kāla*-VIJAO[5], *bhāva*-VIJAO.[6].....

(Exposition :) nāma[1]-*ṭhavaṇāo*[2] : gayāo.....*davve*[3] : sa-cittâdi[3·1·3] ti-viho. sa-citta-*davva*-VIJAO[3·1] : du-padam 3.1.1-3+du-padāṇam[3 1·1] tiviho : pure raṇṇ (e) vā puttam naṭṭham maggati. cau—

ppade[3·1·2] : gāvī-assa-m-ādi naṭṭham viciṇeti. a-padesu[3·1·3] : sāli-m-ādīṇi kiṇamāṇo vīhi-rūviyâdi viciṇāti godhūmehi (m) jave. evam a-citta[3.2]-mīsesu[3.3] vi joeyavvam..... *khetta*-VIJAO[4] : kayaraṃ sāli-khittam bahu-sāhiyam Jattha davvâdīṇam cayaṃ kareti ? .....*kāla*-VIJAYO[5] nāma : jo samayâti-kālam viciṇāti jahā : "samayassa parūvaṇam karissāmi : jattha vā kāle, jattieṇa kāleṇa"..... *bhāva*-VIJAE[6] : tac c eva. bhāva-parūvaṇā kāyavvā. sāmittam vā prati kasāyâdi-bhāvā bhavanti. samnigāso kāyavvo.

(adhikāra :) bhāva-VIJAENA[6] ahigāro tattha vi kasāyâdi-VIJAENA.

(apāya-vicaya :) tesiṃ āvāe viciṇāti iha-loya-pāra-loie,

(1 : apāya-vicaya of kaṣāyas : 1[a] : apāya of kaṣāyas :) taṃ jahā :

koho pītiṃ paṇāseti, [māṇo viṇaya-nāsaṇo,
māyā mittāṇi nāsei, lobho savva-viṇāsaṇo.]

(1[b] : vicaya of kaṣāyas :) kahaṃ ca niggaho kāyavvo ? khamâi him.

(2 : apāya-vicaya of viṣayas : 2[a] : apāya of viṣayas :) visayāṇam avāo :

sad (d) eṇa mao, [rūveṇa padaṃgo, vaṇa-gao vi phariseṇa maccho raseṇa, bhamaro gandheṇa ya pāvido dosam.]

(2[b] : vicaya of viṣayas :) vicao :

saddesu ya bhaddaya-pāvaesu [soya-visayaṃ uvagaesu tuṭṭheṇa va ruṭṭheṇa va samaṇeṇa sayā na hoyavvaṃ.]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

45 *(VIJAYA-Nikṣepa, Second Interpretation : vijaya=vijaya,)* ahavā :
VIJAYO bhannai ti-viho (sic ! cau-vviho, cha-vviho ?). visiṭṭho vā jao vi-jao. *(Exposition=) davvao*[2] : jo jaṃ davvaṃ vijayati, jahā mallo mallaṃ. ahavā jitam osahaṃ visaṃ vā.....*khetta*-VIJAO[2] : Bharahâti-VIJAO.....*kāle*[3] : jahim kāle, jattieṇa vā kāleṇaṃ.
50 jahā Bharaheṇaṃ saṭṭhīe varisa-sahassehiṃ jitaṃ, bhataeṇa vā māso jito.....*bhāva*[4] : pasattho appasattho ya VIJAYO paruveyavvo.
(adhikāra :) appasatthe-*bhāva*-VIJAENA ahigāro. tattha *bhāva*-VIJAYE :
se taṃ kāraka [... ..]- gāhā :
55 *176* ++++ *LOGO bhaṇio.* [*davaṃ*[3], *khittaṃ*,[4] *kālo*,[5] a *bhāva-VIJAO*[6] a. *bhava*-LOGA[7] ? *bhāva*-VIJAO[6] pagayaṃ, jahā bajjhai LOGO.]
177 *vijio kaṣāya-LOGO.* [seyam khu tao niyattium hoi :
kāma-niyatta-maī khalu saṃsārā muccaī khippaṃ.]

Notes : 1. .....=pratīkas from the verses of the Niryukti etc. 2. .....=references to other text (s). 3. [square brackets]=suphlied by us, the remaining text after the pratīkas. 4. (.....)=our hints. 5. CAPITALS=catch-words, 6. underlined and numbered are the determinnats. 7. ++++ with indentation=suggests spurious nature. 8. interpunctuations, paragraphing, also.....and ( ) are all ours.

SCSP : Siddha-Cakra Sābitya Pracāraka Samiti edition of Ācāra with Niryukti and Śīlāṅka's commentary (Ṭīkā) on both, Bombay 1935-36.

ŚS : Ṛsabhadevajī kesarīmalajī Śvetāmbara Saṃsthā edition of Ācāra Cūrṇi, Ratlam 1941.

Āvaśyaka-tradition (relevant verses)

1. *Mūlācāra 7.40.47.49* (ed. Übersicht, pp. 16[a]-19[b])

40 *nāma*[1]-*ṭṭhavaṇaṃ*[2] *davvaṃ*[3] *khetta*[4]-*cihnaṃ*[5] *kasāya*-LOGO[6] ya *bhava*-LOGO[7] *bhāva*-LOGO[8] *pajjava*-LOGO[9] ya nāvavvo.
47 koho māno māyā lobho udiṇṇā jassa jantuṇo,
kaṣāya-LOGAM[6] viyāṇāhi aṇanta-jiṇadesiyam.
49 tivvo rāgo ya doso ya udiṇṇā jassa jantuṇo,
bhāva-LOGAM[8] viyāṇāhi aṇantajina-desiyam.

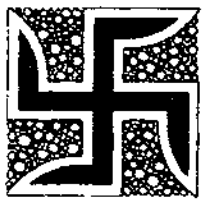
2. *Āvaśyakaniryukti vs. 1057, bhāṣya vs. 201* (ed. Hari. 494[a])

1057 *nāmaṃ*[1] *ṭhavaṇā*[2] *davie*[3] *khitte*[4] *kāle*[5] *bhave*[6] ya *bhāve*[7] a *pajjava*- LOGE[8] a : tahā aṭṭhaviho LOGA-nikkhevo.
201 tivvo rāgo a doso a udinnā jassa jantuṇo,
jāṇāhi bhāva-LOAM[7] āṇanta-jiṇa-desiam sammaṃ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानकवासी परम्परा के एक अध्यात्मकवि

श्री नेमिचन्द्रजी महाराज



☆ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

□

सन्त साहित्य भारतीय साहित्य का जीवनसत्व है। साधना के अमर-पथ पर निरन्तर प्रगति करते हुए आत्म-बल के धनी संतों ने जिस सत्य के दर्शन किये उसे सहज, सरल एवं बोधगम्य वाणी द्वारा 'सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय' अभिव्यक्त किया। जीवन काव्य के रचयिता, आत्मसंगीत के उद्गाता, संतों ने अपनी विमल वाणी में जो अनमोल विचार रत्न प्रस्तुत किये हैं, वे युग-युग तक मानवों को अन्तस्श्रेयस की ओर प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ने की पवित्र प्रेरणा देते रहेंगे। संतों के विचारों की वह अमर ज्योति जो हृदयस्पर्शी पदों में व्यक्त हुई है, वह कभी भी बुझ नहीं सकती, उसका शाश्वत प्रकाश सदा जगमगाता रहेगा। उनकी काव्य सुरसरि का प्रवाह कभी सूखेगा नहीं किन्तु बहता ही रहेगा जिसका सेवन कर मानव अमरत्व को उपलब्ध कर सकता है।

कविवर्य नेमीचन्द्र जी महाराज एक क्रान्तद्रष्टा, विचारक संत थे। वे विकारों व रूढ़ियों से लड़े और स्थिति-पालकों के विरुद्ध उन्होंने क्रान्ति का शंख फूंका, विपरीत परिस्थितियाँ उन्हें डिगा नहीं सकीं और विरोध उन्हें अपने लक्ष्य से हिला नहीं सका। वे मेरु और हिमाद्रि की तरह सदा स्थिर रहे, जो उनके जीवन की अद्भुत सहिष्णुता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का प्रतीक है। वे सत्य को कटु रूप में कहने में भी नहीं हिचके। यही कारण है कि उनकी कविता में कबीर का फक्कड़पन है और आनन्दघन की मस्ती है और समयसुन्दर की स्वाभाविकता है। साथ ही उनमें ओज, तेज और संवेग है।

कवि बनाये नहीं जाते किन्तु वे उत्पन्न होते हैं। यद्यपि कविवर नेमीचन्द महाराज ने अलंकार शास्त्र, रीति-ग्रन्थ और कवित्व का विधिवत शिक्षण प्राप्त किया हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। जब हृदय में भावों की बाढ़ आयी और वे बाहर निकलने के लिए छटपटाने लगे तब सारपूर्ण शब्दों का सम्बल पाकर कविता बन गयी। कवि पर काव्य नहीं किन्तु काव्य पर कवि छाया है। उनके कवित्व में व्यक्तित्व और व्यक्तित्व में कवित्व इस तरह समाहित हो गया है जैसे जल और तरंग। उनकी अपनी शैली है, लय है, कंपन है और संगीत है।

उनकी कविताओं में कहीं कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है, कहीं प्रकृति नटी का सुन्दर चित्रण है तो कहीं शब्दों की सुकुमार लड़ियाँ और कड़ियाँ हैं, भक्ति व शान्तरस के साथ-साथ कहीं पर वीररस और कहीं पर करुणरस प्रवाहित हुआ है। यह सत्य है कि कवि की सूक्ष्म कल्पना प्रकृति-चित्रण करने की अपेक्षा मानवीय भावों का आलेखन करने में अधिक सक्षम रही है। कवि के जीवन में अध्यात्म का अलौकिक तेज निखर रहा है, उसकी वाणी तपःपूत है और उसमें संगीत की मधुरता भी है।

कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज एक विलक्षण प्रतिभासम्पन्न संत थे। वे आशुकवि थे, प्रखर प्रवक्ता थे, आगम साहित्य धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् थे और सरल, सरस लोकप्रिय काव्य के निर्माता थे।

नेमीचन्द जी महाराज का लम्बा कद, श्याम वर्ण, विशाल भव्य भाल, तेजस्वी नेत्र, प्रसन्न वदन और श्वेत परिधान से ढके हुए रूप को देखकर दर्शक प्रथम दर्शन में ही प्रभावित हो जाता था। वह ज्यों-ज्यों अधिकाधिक मुनिश्री के सम्पर्क में आता त्यों-त्यों उसे सहजता, सरलता, निष्कपटता, स्नेही स्वभाव, उदात्त चिन्तन व आत्मीयता की सहज अनुभूति होने लगती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपश्री का जन्म विक्रम संवत् १९२५ में आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को उदयपुर राज्य के बगगुन्दा (मेवाड़) में हुआ। आपके पूज्य पिताश्री का नाम देवीलाल जी लोढ़ा और माता का नाम कमलादेवी था।

बचपन से ही आपका झुकाव सन्त-सतियों की ओर था। प्रकृति की उन्मुक्त गोद में खेलना जहाँ उन्हें पसन्द था वहाँ उन्हें सन्त-सतियों के पावन उपदेश को सुनना भी बहुत ही पसन्द था।

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज के छठे पट्टधर आचार्य श्री पूनमचन्दजी महाराज एक बार विहार करते हुए बगडुन्दा पधारे। पूज्यश्री के त्याग-वैराग्ययुक्त प्रवचनों को सुनकर आपश्री के मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई और आपने दीक्षा लेने की उत्कट भावना अपने परिजनों के समक्ष व्यक्त की। किन्तु पुत्र-प्रेम के कारण उनकी आँखों से अश्रु छलक पड़े। उन्होंने अनेक अनुकूल और प्रतिकूल परीषह देकर उनके वैराग्य का परीक्षण किया, किन्तु, जब वैराग्य का रंग धुँधला न पड़ा तब विक्रम संवत् १९४० में फाल्गुन शुक्ल छठ को बगडुन्दा ग्राम में आचार्य प्रवर पूनमचन्दजी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

आप में असाधारण मेधा थी। अपने विद्यार्थी जीवन में इकतीस हजार पद्यों को कण्ठस्थ कर अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। आचाराङ्ग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, विपाक आदि अनेक शास्त्र आपने कुछ ही दिनों में कण्ठस्थ कर लिये और सैकड़ों (स्तोक) थोकड़े भी कंठस्थ किए। आपने अठाणु बोल का बासठिया एक मुहूर्त में याद कर सभी को विस्मित कर दिया।

आप आशुकवि थे। चलते-फिरते वार्तालाप करते या प्रवचन देते समय जब भी इच्छा होती तब आप कविता बना देते थे।

एक बार आप समदड़ी गाँव में विराज रहे थे। पोष का महीना था। बहुत ही तेज सर्दी पड़ रही थी। रात्रि में सोने के लिए एक छोटा-सा कमरा मिला। छह साधु उस कमरे में सोये। असावधानी से रजोहरण की दण्डी पर पैर लग गया जिससे वह डण्डी टूट गयी। आपने उसी समय निम्न दोहा कहा :—

ओरी मिल गयी सांकड़ी, साधू सूता खट्ट।
नेमीचन्दरी डांडी भागी, बटाक देता बट्ट॥

आपश्री ने रामायण, महाभारत, गणधर चरित्र, रुक्मिणी मंगल, भगवान ऋषभदेव, भगवान् महावीर आदि पर अनेक खण्डकाव्य और महाकाव्य विभिन्न छन्दों में बनाये थे किन्तु आपश्री उन्हें लिखते नहीं थे जिसके कारण आज वे अनुपलब्ध हैं। क्या ही अच्छा होता यदि वे स्वयं लिखते या अन्यों से लिखवाते तो वह बहुमूल्य साहित्य सामग्री नष्ट नहीं होती।

आप प्रत्युत्पन्न मेधावी थे। जटिल से जटिल प्रश्नों का समाधान भी शीघ्रातिशीघ्र कर देते थे। आपश्री के समाधान आगम व तर्कसम्मत होते थे। यही कारण है कि गोगुन्दा, पंचभद्रा, पारलू आदि अनेक स्थलों पर दया-दान के विरोधी सम्प्रदायवाले आप से शास्त्रार्थ में परास्त होते रहे।

एक बार आचार्यप्रवर श्री पूनमचन्दजी महाराज गोगुन्दा विराज रहे थे। उससमय एक अन्य जैन सम्प्रदाय के आचार्य भी यहाँ पर आये हुए थे। मार्ग में दोनों आचार्यों का मिलाप हो गया। उन आचार्य के एक शिष्य ने आचार्य श्री पूनमचन्दजी महाराज के लिए पूछा—"थांने भेख पेहर्यां ने कितराक बरस हुआ है।" कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज ने उस साधु को भाषा समिति का परिज्ञान कराने के लिए उनके आचार्य के सम्बन्ध में पूछा। "थाँने हाँग पेहर्यां ने कितराक बरस हुआ है।" यह सुनते ही वह साधु चौंक पड़ा और बोला—'यों कांई बोलो हो ?' आपने कहा 'हम तो सदा दूसरे के प्रति पूज्य शब्दों का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु आपने हमारे आचार्य के लिए जिन निकृष्ट शब्दों का प्रयोग किया, उसी का आपको परिज्ञान कराने हेतु मैंने इन शब्दों का प्रयोग किया है।' साधु का सिर लज्जा से झुक गया और भविष्य में इस प्रकार के शब्दों का हम प्रयोग नहीं करेंगे कहकर उसने क्षमायाचना की।

आपश्री के बड़े गुरुभ्राता श्री ज्येष्ठमलजी महाराज थे जो एक अध्यात्मयोगी सन्त थे। रात्रि भर खड़े रहकर ध्यान-योग की साधना करते थे जिससे उनकी वाचा सिद्ध हो गयी थी। और वे पंचम आरे के केवली के रूप में विश्रुत थे। उनके दिव्य प्रभाव से प्रभावित होकर आपश्री भी ध्यान-योग की साधना किया करते थे। ध्यानयोग की साधना से आपका आत्मतेज इतना अधिक बढ़ गया था कि भयप्रद स्थान में भी आप पूर्ण निर्भय होकर साधना करते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक बार आपश्री का चातुर्मास निंबाहेड़ा (मेवाड़) में था। वहाँ पर साहूकों की छह मंजिल की एक भव्य बिल्डिंग थी। उस हवेली में कोई भी नहीं रहता था। महाराजश्री ने लोगों से पूछा—यह हवेली खाली क्यों पड़ी है? इसमें लोग क्यों नहीं रहते हैं जबकि गाँव में यह सबसे बढ़िया हवेली है? लोगों ने भय से काँपते हुए कहा—महाराज श्री! इस हवेली में भूत का निवास है जो किसी को भी शांति से रहने नहीं देता। महाराजश्री ने कहा—यह स्थान बहुत ही साताकारी है। हम इसी स्थान पर वर्षावास करेंगे। लोगों ने महाराजश्री को भयभीत करने के लिए अनेक बातें कहीं, किन्तु महाराजश्री ने उनकी बातों पर ध्यान न देकर वहीं चातुर्मास किया। चार माह तक किसी को कुछ भी नहीं हुआ। आध्यात्मिक साधना से भूत का भय मिट गया।

इसी तरह कम्बोल गाँव में सेठ मनरूपजी लक्ष्मीलालजी सोलंकी का मकान भयप्रद माना जाता था। वहाँ पर भी चातुर्मास कर उस स्थान को भयमुक्त कर दिया।

वि. सं. १९५९ में नेमीचन्द जी महाराज तिरपाल पधारे और आपश्री के उपदेश से श्री प्यारचन्दजी और भैरूलाल जी दोनों भ्राताओं ने भागवती दीक्षा ग्रहण की और माता तीजबाई ने तथा सोहनकुंवरजी ने भी महासती रामकुवंरजी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। महासती सोहनकुंवरजी महाराज बहुत ही भाग्यशाली, प्रतिभा सम्पन्न चारित्रनिष्ठा सती थीं।

आपश्री की प्रवचन शैली अत्यधिक चित्ताकर्षक थी। आगम के गहन रहस्यों को जब लोक भाषा में प्रस्तुत करते थे तब जनता झूम उठती थी। आपकी मेघ गम्भीर गर्जना को सुनकर श्रोतागण चकित हो जाते थे। रात्रि के प्रवचन की आवाज शान्त वातावरण में दो मील से अधिक दूर तक पहुँचती थी। और जब श्रीकृष्ण के पवित्र चरित्र का वर्णन करते उस समय का दृश्य अपूर्व होता था।

कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज श्रेष्ठ कवि थे। उनका उदय हमारे साहित्याकाश में शारदीय चन्द्रमा की तरह हुआ। उन्होंने अपने निर्मल व्यक्तित्व और कृतित्व की शारदीय स्निग्ध ज्योत्स्ना से साहित्य संसार को आलोकित किया तथा दिग्दिगन्त में शुभ्र शीतल प्रभाव को विकीर्ण करते रहे। वे एक ऐसे विरले रस-सिद्ध कवियों में से थे जिन्होंने एक ही साथ अज्ञ और विज्ञ, साक्षर-निरक्षर सभी को समान रूप से प्रभावित किया। उनकी रचनाओं में जहाँ पर आत्म-जागरण की स्वर लहरी झनझना रही है, वहाँ पर मानवता का नाद भी मुखरित है। जन-जन के मन में अध्यात्मवाद के नाम पर निराशा का संचार करना कवि को इष्ट नहीं है, किन्तु वह आशा और उल्लास से कर्मरिपु को परास्त करने की प्रबल प्रेरणा देता है। पराजितों को विजय के लिए उत्प्रेरित करता है।

मुनिश्री की उपलब्ध सभी रचनाओं का संकलन 'नेमवाणी' के रूप में मैंने किया है। नेमवाणी का पारायण करते समय पाठक को ऐसा अनुभव होता है कि वह एक ऐसे विद्युत् ज्योतित उच्च अट्टालिका के बन्द कमरे में बैठा हुआ है, दम घुट रहा है, कि सहसा उसका द्वार खुल गया है और पुष्पोद्यान का शीतल मन्द समीर का झोंका उसमें आ रहा है, जिससे उसका दिल व दिमाग तरो-ताजा बन रहा है। कभी उसे गुलाब की महक का अनुभव होता है तो कभी चम्पा की सुगन्ध का। कभी केतकी केवड़े की सौरभ का परिज्ञान होता है तो कभी जाई जुही की मादक गन्ध का।

प्रस्तुत कृति का निर्माण काल, संवत १९४० से १९७५ के मध्य का है। उस युग में निर्मित रचनाओं के साथ आपके पद्यों की तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि आपके पद्यों में नवीनता है, मंजुलता है और साथ ही नया शब्द-विन्यास भी। मुख्यतः राजस्थानी भाषा का प्रयोग करने पर भी यत्र-तत्र विशुद्ध हिन्दी व उर्दू शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। सन्त कवि होने के नाते भाषा के गज से कविता को नापने की अपेक्षा भाव से नापना अधिक उपयुक्त है।

नेमवाणी की रचनाएँ दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में विविध विषयों पर रचित पद हैं, तो द्वितीय खण्ड में चरित्र है। प्रथम खण्ड में जो गीतिकाएँ गई हैं उनमें कितनी ही गीतिकाएँ स्तुतिपरक हैं। कवि का भावुक भक्त हृदय प्रभु के गुणों का उत्कीर्तन करता हुआ अघाता नहीं है। वह स्वयं तो झूम-झूम कर प्रभु के गुणों को गा ही रहा है साथ ही अन्य भक्तों को प्रेरणा दे रहा है कि तुम भी प्रभु के गुणों को गाओ।

"नव पद को भवियण ध्यान धरो।
यो पनरिया यंत्र तो शुद्ध भरो....."

कवि सन्त हैं, संसार की मोहमाया में भूले-भटके प्राणियों का पथ-प्रदर्शन करना उनका कार्य है। वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जागृति को सन्देश देता है—कि क्यों सोये पड़े हो ! उठो ! जागो ! और अपने कर्त्तव्य को पहचानो ! कवि के शब्दों में ही देखिए—जागृति का सन्देश—

"कुण जाणे काल का दिन की
या दिन की, तन की, धन की रे····
एक दिन में देव निपजाई
या द्वारापुरी कंचन की रे·····"

अभिमान का काला नाग जिसे डस जाता है, वह स्व-रूप को भूल जाता है और पर-रूप में रमण करने लगता है, कवि उसे फटकारता हुआ कह रहा है—

"मिजाजी ढोला, टेढ़ा क्यों चालो छकिया मान में
मदिरा का झोला,
जैसे तू आयो रे तोफान में ॥
टेढ़ी पगड़ी बंट के जकड़ी
ढके कान एक आँख ।
पटा बंक सा बिच्छु डङ्क सा
रहा दर्पण में मुख झाँक ॥

आगमिक तात्त्विक बातों को भी कवि ने अत्यधिक सरल भाषा में संगीत के रूप में प्रस्तुत किया है । कवि गुणस्थानों की मार्गणा के सम्बन्ध में चिन्तन करता हुआ कहता है—

"इण पर जीवडो रे गुणठाणे फिरे ॥
प्रथम गुणस्थाने रे मारग चार कह्या,
तीन चार पंच सातो रे ।
गुणठाणे दूजे रे मारग एक छे,
पडतां पैले मिथ्यातो रे ॥"

द्रव्य-नौकरी की तरह कवि भाव-नौकरी का वर्णन करता है—सम्यक्दृष्टि जीव से लेकर जिनेश्वरदेव तक नौकरी का चित्रण करते हुए कवि लिखता है—

"काल अनन्ता हो गया सरे, कर्जा बढ़ा अपार ।
खर्चा को लेखो नहीं सरे, नफा न दीसे लगार रे ॥
अति मेंगाई घर में तंगाई, अर्ज करूँ तुम साथ ।
दरबार सुं कुण मिलण देवे, बात मुसुद्दी हाथ ॥"

लौकिक त्यौहार, शीतला का, कवि आध्यात्मिक दृष्टि से सुन्दर विश्लेषण करता है । शीतला का शीतल पदार्थों से पूजन होता है तो कवि क्षमा रूपी माता शीतला का पूजन इस प्रकार करता है—

'सम्यक्त रंग की मेंहदी है राची, थारा रूप तणो नहीं पार ।
मद्दव रूप खर की असवारी, खूब किया सिणगार है ॥
म्हारी भाव भवानी क्षम्या माता ए पूजूं शीतला ।
दान शीयल तप भावना सरे, देव गुरु ने धर्म ॥
शील सातम ये सातों पूजियां, तूटे आठों ही कर्म है ।
म्हारी भाव भवानी क्षम्या माता ए पूजूं शीतला ॥

स्थानाङ्गसूत्र में वैराग्य-उत्पत्ति के दस कारण बताये हैं । कवि ने उसी बात को कविता की भाषा में इस रूप में रखा है—

'सुणो सुणो नर नार, वैराग उपजे जीव ने दश परकार ।
ज्यारो घणो अधिकार, शास्त्र में ज्यांरो है बहु विस्तार ॥
पहले बोले साधुजी रो दर्शन होय ।
मृगापुत्र नी परे·····लीजोजी जोय ॥

इसी तरह जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के आधार से आपने 'भरत पच्चीसी' का निर्माण किया जिसमें संक्षेप में सम्राट् भरत के षट्खण्ड के दिग्विजय का वर्णन है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दौलत मुनि और हंस मुनि को कम्बल तस्कर ले जाने पर आपश्री ने भजन निर्माण किया जिसमें कवि की सहज प्रतिभा का चमत्कार देखा जा सकता है।

पूज्यश्री पूनमचन्दजी महाराज के जीवन का संक्षेप में परिचय भी दिया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

निह्नव सप्तढालिया का ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। कवि मानवता का पुजारी है, मानवता के विरोधियों पर उसकी वाणी अंगार बनकर बरसती है, अनाचार की धुरी को तोड़ने के लिए और युग की तह में छिपी हुई बुराइयों को नष्ट करने के लिए उनका दिल क्रांति से उद्वेलित हो उठा है। वे विद्रोह के स्वर में बोले हैं, उनकी कमजोरियों पर तीखे बाण कसे हैं और साथ ही अहिंसा की गम्भीर मीमांसा प्रस्तुत की है।

पक्खी की चौबीसी में अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक और आगमिक कथाएँ दी गयी हैं और क्षमा का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है। लोक-कथाएँ भी इसमें आयी हैं।

नेम-वाणी के उत्तरार्द्ध में चरित्र कथाएँ हैं। क्षमा के सम्बन्ध में गजसुकुमार, राजा प्रदेशी, स्कन्दक मुनि, और आचार्य अमरसिंहजी महाराज आदि के चार उदाहरण देकर विषय का प्रतिपादन किया है। दान, शील, तप और भावना के चरित्र में एक-एक विषय पर एक-एक कथा दी गया है। नमस्कार महामन्त्र पर तीन कथाएँ दी गई हैं। महाव्रत की सुरक्षा के लिए ज्ञाताधर्म कथा की कथा को कवि ने बड़े ही सुन्दर रूप से चित्रित किया है। लंकापति रावण की प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर महारानी मन्दोदरी सीता के सन्निकट पहुँची। उसने रावण के गुणों का उत्कीर्तन किया, किन्तु जब सीता विचलित न हुई और वह उल्टे पैरों लौटने लगी तब सीता ने उसे फटकारते हुए कहा—

"पाछी जावण लागी बोल वचन सुण अब को।
उभी रहे मन्दोदरी नार लेती जा लब को॥
अब सुण ले मेरी बात राम जो रूठो।
थाने लाम्बी पहरासी हाथ हियो क्यों फूटो।
थारो अल्प दिनों को सुख जाणजे खूटो।
यो सतियों केरो मुख वचन नहीं झूठो।
यो वचन जो झूठो होय जगत् होय डब को॥"

जब लक्ष्मण ने रावण पर चक्र का प्रयोग किया उस समय का सजीव चित्रण कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि पढ़ते ही पाठक की भुजाएँ फड़फड़ाने लगती हैं। रणभेरी की गूँज, वीर हृदय की कड़क और कायर-जन की धड़क स्पष्ट सुनायी देती है। देखिए—

"लक्ष्मण कलकल्यो कोप में परजल्यो,
कड़कड़ी भीड़ ने चक्र वावे।
आकाशे ममावियो सणण चलावियो,
जाय वैरी नो शिरच्छेद लावे॥
हरि रे कोपावियो चक्र चलावियो॥

जोधपुर के राजा की लावणी में क्रूर काल की छाया का सजीव चित्रण किया गया है। मानव मन में विविध कल्पनाएँ करता है और भावी के गर्भ में क्या होने वाला है उसका उसे पता नहीं होता। चेतन चरित्र में भावना प्रधान चित्र हुआ है। वस्तुतः इस चरित्र में कवि की प्रतिभा का पूर्णरूप से निखार हुआ है। इसमें शान्तरस की प्रधानता है। कवि की वर्णन शैली आकर्षक है।

इस प्रकार कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज की कविता का भाव और कलापक्ष अत्यन्त उज्ज्वल व उदात्त है। जैन श्रमण होने के नाते उनकी कविता में उपदेश की भी प्रधानता है। साथ ही मानव-जीवन का चरमोत्कर्ष ही उनकी कविता का संलक्ष्य है। कविवर्य का जीवन साधनामय जीवन था और १९८५ वि० सं० में छीपा का आकोला गाँव में आपका चातुर्मास था। शरीर में व्याधि होने पर संल्लेखनापूर्वक संथारा कर कार्तिक शुक्ला पंचमी को आप स्वर्गस्थ हुए। आपका विहारस्थल मेवाड़, मारवाड़, मालवा, ढूंढार, प्रभृति रहा है।

आपश्री अपने युग के एक तेजस्वी सन्त थे। आपने विराट् कविता साहित्य का सृजन किया। आपकी कविता स्वान्तःसुखाय होती थी। आपने अपने व्यक्तित्व के द्वारा जैनधर्म की प्रबल प्रभावना की। आप दार्शनिक थे, वक्ता थे, कवि थे और इन सबसे बढ़कर सन्त थे। आपका व्यक्तित्व और कृतित्व दिल को लुभाने वाला और मन को मोहने वाला था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दी जैन कवियों की छन्द-योजना

✯ डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, विद्यावारिधि एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.
मानद संचालक : जैन शोध अकादमी, अलीगढ़

भारतीय विचारधारा के उन्नयन में अन्य अनेक आचार्यों की भाँति जैनाचार्यों और मुनियों का जो सक्रिय सहयोग रहा है उससे आज का सामान्य स्वाध्यायी प्रायः परिचित नहीं है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा कन्नड़, तमिल तेलगु, मराठी, गुजराती और राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं में विरचित साहित्य की भाँति जैन विद्वानों का हिन्दी-वाङ्मय की अभिवृद्धि में भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, राजनीति, कोश, नाटक, चम्पू, काव्य, सुभाषित, छन्द, अलंकार आदि नाना रूपों में जैन लेखकों की मूल्यवान रचनाएँ आज वस्तुतः अनुसंधान का विषय बनी हुई हैं।

उपर्युक्त विषयों पर जीवन के नाना संदर्भों पर आधारित जैनाचार्यों की मौलिक चिन्तनप्रसूत रचनायें वस्तुतः भारतीय साहित्य की थाती के रूप में आरम्भ से ही विख्यात रही हैं। आज भी जैन सरस्वती-भण्डारों में जो विपुल जैन-जैनेतर साहित्य लुप्त तथा अप्रकाशित भरा पड़ा है, उसका अवलोकन कर वस्तुतः भारी आश्चर्य होता है।

अभिव्यक्ति एक शक्ति होती है। उसके मूल में भाव-भाषा तथा अभिव्यंजना शिल्प का समन्वय महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से प्राचीनतम आर्यवंश की भाषाओं की साक्षात् क्रमिक परम्परा हिन्दी भाषा को प्राप्त हुई है। संहिता, ब्राह्मण और सूत्रकालीन संस्कृत भाषा का उत्तराधिकार शताब्दियों से विकसित होता हुआ हिन्दी को प्राप्त हुआ है।

भगवान महावीर के जनकल्याणकारी प्रवचनों को सुरक्षित रखने वाली अर्द्धमागधी भाषा एवं कालान्तर में विकसित शौरसेनी, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा की विकासधारा में अपने समृद्ध साहित्य-कोश को लिये हुए वर्तमान हिन्दी भाषा और साहित्य के कलेवर में समवेत हुई है।

अपभ्रंश से लेकर उन्नीसवीं शती तक जैनधर्मानुयायी विद्वानों ने हिन्दी में जिस साहित्य की संरचना की, उसका हिन्दी-साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। पुरानी हिन्दी के विकास में जैनाचार्यों तथा बौद्ध-सिद्धों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। शब्द-शास्त्र और साहित्यिक शैलियों का बहुत बड़ा योग जैन साहित्यकारों से हिन्दी को प्राप्त हुआ है। यहाँ हम हिन्दी जैन कवियों की छन्द-योजना पर संक्षेप में चर्चा करेंगे।

भावाभिव्यक्ति कोई न कोई रूप ग्रहण करती है।[1] रूप किसी वस्तु के आकार पर निर्भर करता है।[2] बिना आकार या रूप ग्रहण किये कोई भी अभिव्यक्ति न तो हो सकती है और न अभिव्यक्ति का नाम ही पा सकती है। काव्य भी तभी कहलाता है जब वह अभिव्यक्त हो और कोई रूप ग्रहण करे। वे राग और अनुभूतियाँ, जो काव्य कही जा सकती हैं जब अपनी अभिव्यक्ति चाहती हैं, तब वे वाणी का आश्रय लेती है। वाणी की मूलतः तीन स्थितियाँ मानी गई हैं जिन्हें परा, पश्यन्ति और बैखरी नाम दिये जाते हैं। ये तीनों वस्तुतः अभिव्यक्ति की तीन प्रक्रियाएँ हैं।

अनुभूति अथवा भाव पहले 'परा' का आश्रय ग्रहण करता है। परावाणी की स्थिति में अनुभूति या भाव या राग अभिव्यक्त होने के लिये तत्पर होता है, उसकी इस तत्परता से वाणी-अवयव उसके अनुकूल होने के लिये अपने आप को ढालते हैं। वाणी अवयवों में अनुभूति, भाव, राग, विचार की अभिव्यक्ति के लिये अनुकूल आन्दोलन होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगता है। इन अवयवों में प्रस्तुत वह गति जब स्पन्दनयुक्त हो उठती है, यह स्पन्दनयुक्त स्थिति 'पश्यन्ति' है। यही स्पन्दन मुख से निकल कर कान से टकरा कर शब्द अथवा 'बैखरी' रूप ग्रहण कर लेते हैं।

सामान्यतः ही देखा जाय तो विदित होगा कि एक अभिव्यक्त शब्द में एक साथ कई तत्त्व रहते हैं। उसमें एक तो अक्षर, वर्ण या शब्द की ध्वनि रहती है। शब्द का ठोस तत्त्व, यह किसी भी उच्चरित ध्वनि में अभिव्यक्त होने वाली अनुभूति का बीज तत्त्व होता है, इसी में अर्थ-शक्ति रहती है। इस मूल के साथ एक पुट रहता है रागतत्त्व का, प्रत्येक ध्वनि में राग या म्यूजीकल एलीमेन्ट विद्यमान है, क्योंकि वाणी केवल बिन्दु ही नहीं, नाद भी होती है। प्रत्येक उच्चरित अक्षर ध्वनि के साथ रागतत्त्व सहजरूपेण लिपटा रहता है या कुछ और ठीक-ठीक कहें तो भिदा रहता है। क जब क् होता है तब बिन्दु है क होने पर नाद या रागयुक्त या स्वर युक्त हो जाता है : यह सभी जानते हैं कि बिना स्वर से योग के व्यंजनों का उच्चारण हो ही नहीं सकता। ये स्वर ही प्रत्येक अक्षर में मात्रा का काम देते हैं। मात्रा बारहखड़ी की मात्रा का परिणाम है जो लघु-गुरु के स्थूल भावों द्वारा प्रकट की जाती है, यों भाषा-तत्त्वविद् बता सकते हैं कि लघु से पूर्व भी लघुतर-लघुतम की स्थिति होती है, लघु-गुरु के बीच में भी और कितनी ही मात्रायें हैं और गुरु के उपरान्त गुरुतर, गुरुतम और उससे प्लुत आदि की। वस्तुतः एक मात्रा या व्यंजन का उल्लेख एक ग्राम होता है और विविध उच्चारणकर्त्ताओं की अपनी स्थिति के अनुरूप वे स्थान को अभ्यासतः टिकने के लिये ग्रहण कर लेते हैं, वहीं उनके अक्षर या वर्ण का मात्रायुक्त उच्चारण माना जाता है। क ध्वनि का पूर्ण ग्राम क क क क क क मान लीजिये।

१ २ ३ ४ ५ ६

अब इसमें हमने ३ को बोलने का अभ्यास डाल लिया है तो हम इस ३ को अपना क मानेंगे। इन छहों उच्चारणों में मात्राभेद अनिवार्य है। उसी से क मूल का ग्राम बनता है। इस मात्रा में राग-तत्त्व के कारण ही इतने उच्चारण बनते हैं। यही राग-बिन्दु या नाद-विशेष विस्तार पाकर मात्रा संयोगों से छन्द का रूप ग्रहण करता है।

छन्द व्यवस्थित ध्वनि है। मात्राओं और वर्णों की विशेष व्यवस्था एवं गणना जिस रूप में व्यवस्थित होती है उसे छन्द कहा जाता है तथा संगीत सम्बन्धी लय और गति वाली धारा प्रवाहित होती है।[3] आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित है कि **छन्दोबद्धं पदं पद्य** : अर्थात् छन्दोबद्ध पद को ही पद्य कहा जाता है।[4] छन्द से काव्य में लयता, नियमितता तथा अर्थपूर्णता प्रायः अभिव्यंजित हुआ करती है।

काव्य और छन्द का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। वे परस्पर में साथ-साथ हैं, उन्हें पृथक नहीं किया जा सकता। **छन्दयति आह्लादयति इति छन्दः** अर्थात् जो मनुष्यों को प्रसन्न करता है या आनन्द देता है वह छन्द है।[5] छन्द में व्याप्त लय और ताल के कारण काव्य में उत्पन्न मधुरता से उसमें प्राणिमात्र को आकर्षित तथा सम्मोहित करने की अमोघ शक्ति का उन्नयन होता है। काव्यशास्त्र के सुधी विचारक डा० भगीरथ मिश्र ने कहा है कि कविता की मुख्य विशेषता रमणीयता है, इस विशेषता की रक्षा का सहायक तत्त्व छन्द ही है जिसके अभाव में कविता को नीरस गद्य बनने में देर नहीं लगती अतः छन्द का कविता में इस दृष्टि से महत्व रहा है।[6]

छन्दों को प्रकार की दृष्टि से मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। यथा—

१. मात्रिक
२. वर्णिक

मात्रिक छन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं, इसका कारण है कि मात्रिक छन्दों की मात्रा विषयक तथ्य का आधार मूलतः ताल है और ताल नृत्य के साथ प्रसूत तन्त्र व्यवस्था है जो गीत में टेक कहलाती है।

हिन्दी का छन्दविज्ञान मूलतः संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के छन्दविज्ञान पर आधारित है। छंद का गण विभाजन जिसका सम्बन्ध वर्णवृत्तों से है। वर्णात्मक छन्दों का मूल आधार संस्कृत काव्यधारा है। इस प्रकार मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों का व्यवहार काव्य में नैत्यिक है और नाना प्रसंगों पर आधृत विविध रसों का निरुपण विभिन्न छन्दों के माध्यम से समर्थ किन्तु रससिद्ध कवियों द्वारा सफलतापूर्वक होता रहा है।

इस प्रकार यह सार संक्षेप में कहा जा सकता है कि छन्द अपनी नाद-प्रियता के लिए विख्यात है। भावाभिव्यक्ति को सरस तथा सफल बनाने के लिये भाषा का वैज्ञानिक-विधान—छन्द वस्तुतः नाद सौन्दर्य को उच्च, नम्र; समतल, विस्तृत और सरस बनाने में समर्थ होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन कवियों की हिन्दी काव्य-कृतियों में वर्णिक और मात्रिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। जैन कवियों की हिन्दी काव्य-कृतियों में जिन-जिन छन्दों का व्यवहार हुआ है, यहाँ उनका संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

पन्द्रहवीं शती में रचित काव्यों में केवल मात्रिक छन्दों का व्यवहार परिलक्षित है। सामान्यतः वर्णवृत्तों का प्रयोग नहीं मिलता है। आवलि[७], चौपई[८], दोहा[९], वस्तुबन्ध[१०], सोरठा[११], नामक मात्रिक छन्दों का सफलतापूर्वक व्यवहार हुआ है।

सोलहवीं शती में रचित हिन्दी जैन काव्य में व्यवहृत छन्दों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। यथा—

१. मात्रिक
२. वर्णिक

मात्रिक छन्दो में कुंडलिया[१२], गीतिका[१३], चौपाई[१४], छप्पय[१५], दोहा[१६], वस्तुबन्ध[१७], नामक छन्दों के दर्शन होते हैं। जहाँ तक वर्णवृत्तों के व्यवहार का प्रश्न है इन्द्रवज्रा[१८], उपेन्द्रवज्रा[१९], त्रिवलय[२०], त्रोटक[२१] छन्दों का सफल प्रयोग हुआ है।

सत्रहवीं शती में विरचित हिन्दी जैन काव्यों में मात्रिक और वर्णिक छन्दों का व्यवहार द्रष्टव्य है। जहाँ तक मात्रिक छन्दों के प्रयोग का प्रश्न है उनमें अडिल्ल[२२], कुण्डलिया[२३], करखा[२४], गीतिका[२५], गीत[२६], चौपाई[२७], चौपई[२८], छप्पय[२९], दोहा[३०], पद्मावती[३१], पद्धरि[३२], वस्तुबन्ध[३३], तथा सोरठा अधिक उल्लेखनीय हैं। विवेच्य काल में वर्णवृत्तों[३४] का प्रयोग भी बड़ी खूबी से हुआ है इनमें कवित्त[३५], हरिगीतिका[३६] तथा त्रोटक[३७] छन्दों के अभिदर्शन सहज में हो जाते हैं।

जहाँ तक अठारहवीं शती में रचित काव्यों में व्यवहृत मात्रिक[३८] तथा वर्णिक छन्दों का प्रश्न है उनकी संख्या कम नहीं है। अडिल्ल[३९], आर्या[४०], आभीर[४१], कुण्डलिया[४२], करखा[४३], गीत[४४], घत्ता[४५], चौपई[४६], चौपाई[४७], चन्द्रायण[४८], छप्पय[४९], जोगीरासा[५०], दोहा[५१], दुर्मिल[५२], नाराच[५३], पद्धरि[५४], प्लवंगम[५५], बेसरि[५६], व्योमवती[५७], सोरठा[५८], तथा त्रिभंगी[५९], नामक मात्रिक छन्दों का विभिन्न काव्यों में सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है। जहाँ तक वर्णवृत्तों का प्रश्न है जैन कवियों द्वारा द्रुतविलम्बित[६०], भुजंगप्रयात[६१], मनहरण[६२], कवित्त[६३], सुन्दरी[६४], हरिगीतिका[६५], तथा त्रोटक[६६] नामक सात छन्दों के अभिदर्शन होते हैं।

उन्नीसवीं शती में विरचित हिन्दी जैन काव्य-कृतियों में मात्रिक छन्दों के साथ ही साथ वर्णवृत्तों का सफलता पूर्वक प्रयोग हुआ है। मात्रिक छन्दों में अडिल्ल[७०], गीतिका[७८], गीत[७९], गाथा[८०], चौपई[८१], चौपाई[८२], छप्पय[८३], जोगीरासा[८४], धत्ता[८५], दोहा[८६], पद्धरि[८७], पद अवलिप्त-कपोल[८८], मोतीदास[८९], रोला[९०], सोरठा[९१], तथा त्रिभंगी[९२], नामक छन्दों का प्रयोग जैन कवियों द्वारा सफलतापूर्वक हुआ है। इसी प्रकार विभिन्न काव्य रूपों में कवित्त[९३], चामर[९४], नाराच[९५], भुजंगप्रयात[९६], सुगीतिका[९७], सुन्दरी[९८], सखी प्राग्विणी[९९], तथा हरिगीतिका[१००] नामक विविध वर्णवृत्तों का सुन्दर प्रयोग परिलक्षित है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन कवियों की हिन्दी काव्य-कृतियों में हिन्दी के उन सभी छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनके दर्शन हमें हिन्दी काव्य में मिलते है। इन कवियों की विशेषता यह रही है कि इन सभी छन्दों की प्रकृति तथा रूप को भली भाँति समझ कर उचित शब्दावलि के सहयोग से रसानुभूति को शब्दायित किया है। हिन्दी के अनेक कवियों की नाँई यहां काव्य पाठ अथवा श्रवण करते समय छन्द आनन्दानुभूति में साधक का काम करते हैं, बाधक का नहीं। काव्य में आचार्यत्व प्रमाणित करने के लिये छन्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। स्थायी संदेश को प्राणी मात्र तक पहुँचाने के लिये इन कवियों ने काव्य का सृजन किया। भाषा तथा छन्दों का सहज प्रयोग इनके काव्य में सरसता, सरलता तथा गजब की ध्वन्यात्मकता लयता का संचार करने में सर्वथा सक्षम है। विशेष बात यह है कि इन कवियों द्वारा व्यवहृत छन्द केवल सन्देशवाहक ही नहीं हैं अपितु वे प्रभावक भी प्रमाणित हुए हैं।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

१ हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ८४८
२ वही, पृष्ठ ८४८
३ छन्द प्रभाकर, जगन्नाथ प्रसाद भानु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४ सांस पिंगल, रामचन्द्र शुक्ल सरस, पृष्ठ ५।
५ छन्द विज्ञान की व्यापकता, डा० हरिशंकर शर्मा, पृष्ठ २।
६ हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ४१२।
७ सीमन्धर स्वामी स्तवन, विनयप्रभ उपाध्याय।
८ प्रद्युम्न चरित्र, सधारु।
९ चतुर्विंशतिजिनस्तुति, उपाध्याय जयसागर।
कथाकोश संग्रह, ब्र० जिनदास।
प्रद्युम्न चरित्र-सधारु तथा यशोधर चरित्र, सधारु।
१० प्रद्युम्नचरित्र, सधारु।
नगरकोटतीर्थ चैत्य परिपाटी, उपाध्याय जयसागर।
सीखामणि, सकलकीर्ति।
११ नगरकोट तीर्थ चैत्य परिपाटी, जयसागर।
१२ ललितांग चरित्र, ईश्वरसूरि।
१३ सन्तोषजयतिलक, बूचराज।
१४ सिद्धान्त चौपई, लावण्यमय।
मृगावती चौपई, विनयसमुद्र।
१५ ललितांगचरित्र, ईश्वरसूरि।
कृपणचरित, ठकुरसी।
संतोषजयतिलक, बूचराज।
१६ यशोधरचरित, ब्र० जिनदास। पंच सहेली गीत, छीतल, । चेतन पुद्गल, बूचराज, । मृगावती चौपई, विनयसमुद्र।
१७ ललितांगचरित, ईश्वरसूरि।
बलिभद्र चौपई, यशोधर।
१८ ललितांगचरित्र, ईश्वरसूरि।
१९ ललितांगचरित्र, ईश्वरसूरि।
२० गुर्वावलि, सोमकीर्ति।
२१ सन्तोषतिलक, बूचराज।
२२ समयसार नाटक, बनारसीदास।
२३ समयसार नाटक तथा सूक्ति मुक्तावलि, बनारसीदास।
२४ सूक्ति मुक्तावलि, बनारसीदास।
२५ बनारसीविलास, बनारसीदास।
२६ सूक्ति मुक्तावलि, बनारसीदास।
२७ जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, पृष्ठ २१०, डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया।
२८ समयसार नाटक, अर्द्ध कथानक, बनारसीदास।
सीता सुत, पं० भगवतीदास।
२९ समयसार नाटक, सूक्ति मुक्तावलि, बनारसीदास।
३० परमार्थी दोहा शतक रूपचन्द्रकवि।
समयसार नाटक तथा बनारसी विलास, बनारसीदास।
मनराम विलास, मनराम
मनःप्रशंसा, उदयराज जती।
सुन्दर शृंगार, सुन्दरदास।
श्रीपालचरित्र, परिमल्ल।
आनन्दघन बहत्तरी, आनन्दघन।
साम्यशतक, यशोविजय।
३१ सूक्ति मुक्तावलि, बनारसीदास।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२ बनारसी विलास, बनारसीदास।
३३ सहसनाम बनारसीदास।
३४ समयसार नाटक तथा प्रश्नोत्तरमाला, बनारसीदास।
३५ सूक्तिमुक्तावलि तथा समयसार नाटक, बनारसीदास।
३६ सूक्ति मुक्तावलि, बनारसीदास।
३७ नेमिनाथ बारहमासा, भट्टारक रत्नकीर्ति।
३८ भक्तामर स्तोत्र कथा, विनोदीलाल।
३९ जीवन्धर चरित्र, अध्यात्म बारहखड़ी, दौलतराम काशलीवाल।
देवशास्त्रगुरु पूजा, द्यानतराय।
४० द्रव्यसंग्रह, भगवतीदास।
४१ ब्रह्मविलास, भगवतीदास।
४२ भक्तामर चरित्र, विनोदीलाल, शत अष्टोत्तरी, भैया भगवतीदास।
४३ शत अष्टोत्तरी, चेतन कर्मचरित्र, भूधरदास।
सिद्धय, भगवतीदास।
४४ जैन शतक, भूधरदास। देवशास्त्रगुरु पूजा, द्यानतराय।
४५ तीर्थंकर जयमाला, भैया भगवतीदास। शान्तिनाथ पूजा, बृन्दावनदास। महावीर पूजा, वही
४६ जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, पृष्ठ २४१, डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया।
४७ पार्श्वपुराण भूधरदास। जीवंधरस्वामीचरित्र, दौलतराम काशलीवाल। जिनजी की रसोई अजयराज पाटनी। चेतन कर्म चरित्र, भैया भगवतीदास, सोलह कारण पूजा, द्यानतराय।
४८ रागादि निर्णयाष्टक-भैय्या भगवतीदास; पुण्यपाप जगमूल पचीसी, भैया भगवतीदास।
४९ पांडवपुराण, बुलाकीदास; पार्श्वपुराण, भूधरदास। जीवन्धर स्वामी चरित्र, दौलतराम काशलीवाल।
५० क्रिया कोष, भूधरदास।
५१ सीताचरित, रामचरित्र, उपदेशशतक, पांडेय हेमचन्द्र; देवशास्त्रगुरु पूजा, द्यानतराय। महावीर पूजा, बृन्दावनदास।
५२ शत अष्टोत्तरी, भैया भगवतीदास।
५३ अध्यात्म बारहखड़ी, दौलतराम काशलीवाल। फूलमाल पचीसी, विनोदी लाल।
५४ अध्यात्म बारहखड़ी, पं० दौलतराम काशलीवाल, चेतन कर्म चरित्र, भैया भगवतीदास। देव शास्त्र गुरु पूजा, द्यानतराय।
५५ शत अष्टोत्तरी, भैया भगवतीदास।
५६ जीवन्धर चरित्र, दौलतराम काशलीवाल; अध्यात्म बारहखड़ी, वही, पंचमेरु पूजा, द्यानतराय।
५७ बाइस परीषह—भूधरदास।
५८ भक्तामर चरित्र, विनोदीलाल; श्रीपाल चरित्र—दौलतराम।
५९ शान्तिनाथ जिनपूजा—बृन्दावनदास।
६० श्री शान्तिनाथ जिनपूजा, बृन्दाबनदास।
६१ अध्यात्म बारहखड़ी तथा जीवन्धर चरित्र, दौलतराम काशलीवाल। पार्श्वनाथ स्तोत्र द्यानतराय जी।
६२ द्रव्य संग्रह, भैया भगवतीदास।
६३ अध्यात्म बारहखड़ी दौलतराम काशलीवाल; ब्रह्म विलास, भगवतीदास, तथा पुण्य पचीसी, भगवतीदास।
६४ शान्तिनाथ जिनपूजा, बृन्दावनदास।
६५ महावीर जिनपूजा, बृन्दावनदास।
६६ अध्यात्म बारहखड़ी, दौलतराम, महावीर जिनपूजा तथा चन्द्रप्रभु पूजा, बृन्दावनदास।
६७ श्री सम्मेदशिखर पूजा, रामचन्द्र; पार्श्वनाथ जिनपूजा, बख्तावर जी; सम्मेदाचल पूजा, जवाहरलाल।
६८ सम्मेदाचल पूजा, जवाहरलाल।
६९ शीतलनाथ तथा अनन्तनाथ और पार्श्वनाथ जिन पूजा, मनरंगलालजी।
७० क्रिया कोश, दौलतराम; शीतलनाथ जिन पूजा, मनरंगलाल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७१ जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, पृष्ठ २४५, डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया।
७२ श्रीसम्मेदाचल पूजा, जवाहरलाल। छहढाला तथा दौलत विलास, दौलतराम।
७३ सप्तर्षि पूजा मनरंग लाल जी; वर्द्धमानपुराण, नवलशाह।
७४ वर्द्धमानपुराण, नवलशाह; छहढाला, दौलतराम तथा श्री सम्मेदशिखर पूजा, जवाहरलाल।
७५ गिरिनार सिद्ध क्षेत्र पूजा, रामचन्द्र।
७६ बुधजन सतसई, बुधजन तथा दौलत विलास, दौलतरामजी।
७७ छहढाला, दौलतराम; श्री सम्मेदशिखर पूजा, जवाहर लाल; श्री पार्श्वनाथ पूजा, बख्तावरजी। पावापुर सिद्धक्षेत्र पूजा, दौलतराम जी।
७८ श्री सम्मेदशिखर पूजा, जवाहरलाल।
७९ वही,
८० छहढाला, दौलतराम जी, सप्तर्षि पूजा, मनरंगलाल जी।
८१ शीतलनाथ पूजा, मनरंगलाल जी; श्री सम्मेद शिखर पूजा, जवाहरलाल जी, छहढाला, दौलतराम जी।
८२ शीतलनाथ जिन पूजा, मनरंगलाल जी।
८३ श्री सम्मेद शिखर पूजा, रामचन्द्र।
८४ श्री पार्श्वनाथ जिन पूजा, बख्तावरमल जी।
८५ भक्तामर स्तोत्र हिन्दी भाषानुवाद, हेमराज।
८६ जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, पृष्ठ २५८—डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया
८७ श्री सम्मेदशिखर पूजा, जवाहरलाल जी।
८८ श्री सम्मेदशिखर पूजा, कविवर रामचन्द्रजी; वही, जवाहरलालजी।
८९ आलोचना पाठ, कविवर श्री जौहरी।
९० शीतलनाथ जिन पूजा, मनरंगलालजी।
९१ छहढाला, छठी ढाल, दौलतरामजी।

पुष्कर वाणी

कपड़ा चाहे जितने विभिन्न रूपों में है, आखिर वह है क्या ? सूत का ताना-बाना ! और सूत क्या है—रुई का लम्बा कता हुआ रेशा !

यह देह, चमड़ी चाहे जितनी विभिन्न आकृतियां व रूप धारण कर ले आखिर है क्या ? पाँच तत्त्वों का पिण्ड मात्र ! और पंचतत्त्व क्या हैं ? पुद्गल समूह मात्र !

फिर कपड़े पर इतना राग और द्वेष क्यों ? देह पर इतनी ममता और घृणा क्यों ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Sahitya in Kannada Literature

B. S. Sannaiah,
Institute of Kannada Studies Manas Gangotri, Mysore-6

Some scholars are of the opinion that Kannada literature was in existence even before the Christian era. Excepting the inscriptions, the first literary work available in Kannada is the *Kavirājamārga* which is written by Amoghavarṣa Nṛpatuṅga in about 850 A. D. It appears from the references and the passages quoted in this work that there lived some Kannada poets earlier than its author. But unfortunately none of them is available. According to some scholars, the author of this *Kavirājamārga* is Amoghavarṣa but according to some others, its author is the court poet, Śrīvijaya. Though it is said that Śrīvijaya wrote the *Raghuvaṁśapurāṇa*, yet it is not available. Similarly, the works such as *Harivaṁśa*, *Śūdraka*, by Guṇavarma, *Vatsarājacarite*, by Nāgavarma, *Sulocanācarite* by Nāgānanda, *Bhuavanaikarāmābhyudaya* by Ponna etc., are lost beyond recovery. All these works belong to Jaina literature in Kannada. Thus the Kannada literature made its start with Jaina works.

Besides the Kavirājamārga, we have two great literary Kāvyas from the pen of the great poet Pampa *e. g.*, *Ādipurāṇa* and *Vikramārjunavijaya*. Pampa won the epithets such as Ādikavi, Mahākavi of the Kannada poets. His works are counted as the first and foremost Kāvyas and that Mahākavyas too. He lived in 941 A. D.

Pampa was followed by Ponna (950 A. D.) who composed two Kāvyas : one a religious poem called *Śāntipurāṇa* and the other a secular poem by the name *Bhuvanaikarāmābhyudaya*. Ranna (993 A. D.) who followed Ponna wrote two poems : one a religious and the other a secular one viz., *Ajitarātḥapurāṇa* and *Gadāyuddha* or *Sāhasabhīmavijaya*. Thereafter Janna who lived in 1209 A. D. gave to the Kannada literary world his two poems such as *Anantanāthapurāṇa* and *Yaśodharacarite* both of which are religious in character and contents. All these three poets won the epithet as Kavicakravarti. Nāgachandra who lived in 1100 A. D. has been ascribed to the authorship of *Rāmacandracaritapurāṇa* or *Pamparāmāyaṇa*, and *Mallināthapurāṇa* The former work is styled on the model of Pampa's second work and due to this he is called himself as "*Abhinavapampa*" All these poets continued their writings in the same trend and each of them wrote a secular and a religious one, in the Campū style *i. e.*, mixed with prose and poetry (more poetry and less prose).

Apart from these literary works, the Jaina writers are said to have adventured to write books on scientific themes. Nāgavarma (990 A. D.) wrote his book on prosody with the title "*Chandombudhi.*" The *Madanatilaka* which deals with errotics has been ascribed to Candrāraja. Śrīdharācārya (1050 A. D.) wrote his *Jātatilaka* on astrology. Nāgavarma II's (1040 A. D.) *Kāvyāvalokana* on poetics, Bhāṣabhūṣaṇa, a grammar, *Vastukośa*, a dictionary, *Chandovṛtti* on prosody, Jagaddala Somanātha's (1100 A. D.) Kalyāṇakāraka, a treatise on medicine *Khagendramaṇidarpaṇa* by Maṅgaraja on Vishavaidya are some of the excellent gifts contributed by the Jaina writers to the Kannada literature in particular and to the Indian literature in general. The *Śabdamaṇidarpaṇa* of Keśirāja who lived in 1260 A. D. has won the popularity from both the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

students and scholars as an ideal grammar of Kannada language and it has served as a model to the subsequent works on Kannada language.

Besides the above mentioned works, *Vardhamānapurāṇa* of Nāgavarma II (1040 A. D.) who is the author of *Kāvyavalokana*, *Dharmāmṛta* of Nayasena (1100 A. D.), *Sukumaracarite* of Śāntinātha (1070 A. D.), *Samayaparīkṣe* of Brahmaśiva (1150 A. D.), *Nemināthapurāṇa* of Karṇapārya (1140 A. D.), *Nemināthapurāṇa* of Nemicandra (1180 A. D.) etc., are some of the famous works which are written in Campū style.

Thus from 9th to the 13th century A. D. the Jaina poets are seen engaged themselves in the product of works embracing all branches of Kannada literature and thereby won the reputation as poets, scientists, rhetoricians, compilators of dictionaries, astrologers, physicians and grammarians etc. Just as the Jaina writers have proved themselves to be the pioneers of the above branches of Kannada literature, they are said to be the first to bring about literary works in the prose style. Cāvuṇḍarāya who is wellknown to the world as the one who got installed the collosal of Bāhubali at Śravaṇabelgola wrote his prose work called *Cāvuṇḍarāyapurāṇa* or *Triṣaṣthiśalākāpuruṣacarite* After him Śivakoṭyācārya or Revakoṭṭacarya whose date has been put between 900-1070 A. D. wrote his famous Kannada prose work called Vaḍḍharadhane which contains 19 stories of varied length and these stories are found sprinkled over with Prakrit gāthās. This period has been called as the Age of the Jainas or the Age of the Campū, because this age has seen mostly the works of Jaina writers. After the 15th century A. D., the Jaina poets started composing their poems in the Sāṅgytya or Ṣaṭpadi metres because these metres were being used popularly by poets of other communities. It is found later on that the Jaina saints wellversed in Sanskrit and Prakrit have written extensive commentaries in Kannada on some of the most important Jaina philosophical works in Sanskrit and Prakrit. Thus these saints have enriched this section of Kannada literature also. The works like *Gommaṭasāra*, *Padārthasāra*, *Puruṣārthasiddhyupāya*, *Tattvaratnadīpike*, *Pañcastikāya* etc. are made easily accessible to the Kannada readers only through these commentaries.

Though Kannada literature repletes with works of Vīraśaiva and Brahmin writers, the Jaina literature forms a class by itself because of its being vast and varied in character and thus has become admirable to the Kannada world.

I love India not because I cultivate the idolatory of geography, not because I have had the chance to be born in her soil, but because she has saved through tumultuous ages the living words that have been issued from the illuminated consciousness of her great ones.

—*Rabindranath Tagore*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन जैनाचार्य और रस-सिद्धान्त

डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
पुणे विद्यापीठ, गणेशखण्ड, पुणे

काव्यशास्त्रीय लेखन के प्रसङ्ग में जैन ग्रन्थकारों के बीच ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी ईसवी के हेमचन्द्र सूरि और उनके शिष्य रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र का नाम आदर के साथ लिया जाता है। हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभा के शास्त्रकर्ता थे और रामचन्द्र एक साथ नाटककार, कवि और नाट्यशास्त्रकर्ता। हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' और रामचन्द्र तथा उनके सहपाठी गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण', संस्कृत काव्यशास्त्र-साहित्य के दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। यद्यपि हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में अधिकांशतः अपनी संग्राहक वृत्ति का ही परिचय दिया है, तथापि यत्र-तत्र उनकी स्वतन्त्र मेधा का प्रकाश भी दिखाई पड़ता है। काव्य-प्रयोजन हो या काव्य-लक्षण अथवा अलंकार-विवेचन, वे अपने पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट के विरोध में जा खड़े होते हैं। रस-प्रसंग में भी वे किसी स्वतन्त्र पथ के पथिक तो नहीं दिखाई देते, किन्तु विशदतया उस सिद्धान्त की प्रस्तुति में सक्षम और अभिनवगुप्त के आनन्दवादी दृष्टिकोण के समर्थक अवश्य दिखाई देते हैं।

इसके सर्वथा विपरीत उनके शिष्य रामचन्द्र गुणचन्द्र अपने 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ में न केवल अपने समकालिक धनञ्जय से अपना मतभेद व्यक्त करते हैं, बल्कि रस के विवेचन में वे आनन्दवादी पक्ष को अस्वीकार करते हुए अभिनवगुप्त के मत से भिन्न अपने मौलिक मत की स्थापना करते हैं और इस तरह स्वयं अपने गुरु हेमचन्द्रसूरि के विरोध में जा खड़े होते हैं। रस की आनन्दवादी व्याख्या के विरुद्ध वे नवरसों में से पाँच को सुखात्मक और शेष चार को दुःखात्मक मानते हैं। उनके इस मत ने काव्यशास्त्रियों को पर्याप्त विचलित किया है। रस-विचारकों के बीच उनकी प्रसिद्धि भी विशेषतः इसी धारणा के कारण हुई है। किन्तु रस-प्रसङ्ग में उनकी अपनी धारणा मात्र इतनी ही हो, ऐसा नहीं है। वे काव्य में रस-अलंकार की अवस्थिति, रस-क्रम, नवीन रस-कल्पना, रस के मूलतत्त्व आदि इतर विषयों के सम्बन्ध में भी अपना मत रखते हैं। रस को शब्दार्थ-शरीररूप काव्य में प्राणतत्त्व की तरह स्वीकार करते हुए[1] भी वे कथा और मुक्तक में अलंकार-चमत्कार और नाटक तथा प्रबन्ध काव्य में रस की सिद्धि स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे काव्यमात्र की व्याख्या और उनका स्वरूप निर्धारण आस्वाद की एक ही प्रक्रिया के धरातल पर नहीं करते, उनमें परस्पर भेद प्रतिलक्षित करते हैं। इस तरह वे **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** कहने वाले विश्वनाथ कविराज के अतिवादी दृष्टिकोण को तो अस्वीकार कर ही देते हैं, अमरुक जैसे कवियों के मुक्तकों में उन्हें **'प्रबन्धशतायते'** कहकर रसपरिपाक की आनन्दवर्द्धन वाली धारणा[2] को भी प्रत्यक्षतः स्वीकार नहीं करते। यों वे काव्य में रस की महनीयता के प्रशंसक हैं, किन्तु इस प्रसङ्ग में वे आचार्य रामचन्द्रशुक्ल की तरह कहीं यह भी नहीं कहते कि 'मुक्तकों में तो रस के छींटे ही उड़ा करते हैं।' रामचन्द्र-गुणचन्द्र के लिए रस की महत्ता तो है ही, उसके आधार पर काव्य-रचना की सुकरता एवं दुष्करता को भी वे लक्षित करते हैं और ग्रन्थारम्भ में ही आज की उस प्रचलित धारणा के विरुद्ध खड़े दिखाई देते हैं जिसके अनुसार रसयुक्त काव्य की रचना करना भावों से खेल करना अतः एक हल्का काम है। उनकी धारणा है कि "कथा आदि [काव्य के अन्य प्रभेदों की रचना] का मार्ग अलंकारों से कोमल हो जाने के कारण सुखपूर्वक सञ्चरण करने योग्य है [अर्थात् अलंकार-प्रधान कथा आदि की रचना सरलता से की जा सकती है] किन्तु रसों की कल्लोलों से परिपूर्ण होने से नाट्य का मार्ग अत्यन्त कठिन [दुःसञ्चर] है।"[3] "वही [वास्तविक] कवि है और उसके काव्य [के पढ़ने] से मर्त्यलोक के वासी [मनुष्य] भी [काव्यरस रूप] अमृत का पान करने वाले बन जाते हैं जिसकी वाणी नाटकों में रस की लहरियों में चकराती हुई-सी नाचती है।"[4] और इसीलिए "जो कवि नानार्थक [अर्थात् अनेकार्थ वाचक श्लिष्ट]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दों के प्रलोभन में [पड़कर] रसामृत से पराङ्मुख हो जाते हैं [अर्थात् रस की उपेक्षा कर, केवल श्लेष आदि के निर्वाह के लिए शब्द प्रधान तुकबन्दी में लग जाते हैं] वे विद्वान् [शब्द-पटुता के कारण विद्वान् तो कहे जा सकते हैं किन्तु वे 'कवीन्द्राणां कथा न अर्हन्ति'] उत्तम कवि नहीं कहा सकते हैं।"[५] रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस-प्रवाहरहित और श्लेष अलंकारयुक्त वाणी को कर्कश और सहृदय हृदयाह्लाद को उत्पन्न करने में असमर्थ मानते हुए उसकी दुर्भग स्त्रियों से तुलना करते हैं।[६]

उक्त धारणाओं के आधार पर जहाँ यह निष्कर्ष निकलता है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र काव्य में रस-निर्वाह को ही उसकी उत्कृष्टता की कसौटी मानते हैं और उसके निर्वाह करने वाले कवि को ही उत्तम कवि कहते हैं, वहाँ यह भी निकलता है कि रसयुक्त काव्य अलौकिक और आह्लादकारी ही नहीं होता बल्कि रचना और आस्वादयिता दोनों के लिए अमृत की तरह जीवनदायी भी होता है। इसके विपरीत अलंकारों का प्रयोग शब्द-केलि मात्र है और शब्द-पटु विद्वानों के द्वारा व्यवहार्य है। रस-निर्वाह की तुलना में अलंकार-निर्वाह का कार्य सरल है।

इससे रस की महनीयता और उसकी अनिवार्यता का सहज-बोध तो होता है, किन्तु अलंकारादि युक्त काव्य का निषेध नहीं होता उसकी कोटि निर्धारित होती है। वह उत्तम काव्य नहीं है क्योंकि उसके रचयिता 'उत्तम कवि' नहीं हैं बल्कि 'विद्वान्' हैं। विद्वत्ता और कवित्व के बीच की सीमारेखा शब्द एवं रस-प्रयोग से निश्चित होती है। शब्द-चमत्कार कोश-ज्ञान से सम्बन्ध रखता है और इसीलिए शब्द-ज्ञान पर्यन्त स्थिर रहता है और क्षणिक आनन्ददायी है, जबकि रस का सीधा सम्बन्ध हृदय से है, मानव की असीम भाव-शक्ति से है और इसीलिए रसयुक्त काव्य का प्रभाव हल्के चमत्कार और बौद्धिक ज्ञान या बौद्धिक व्यायाम सापेक्ष नहीं है, उससे युक्त काव्य की रचना भी इसीलिए सरल नहीं है। गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए "भावभेद रसभेद अपारा" कहा है। काव्य की एकाध पंक्ति में रस-भाव का निर्वाह कर लेना और बात है, सम्पूर्ण प्रबन्ध या नाटक में नाना भावों एवं रसों का निर्वाह करते हुए किसी एक अङ्गीरस का समायोजन करना खेल नहीं है। अलंकार-योजना की तरह वह उक्ति-चमत्कार-निर्भर नहीं है, अन्तःवृत्ति-निर्भर होने से अनन्त अज्ञात पथों में सञ्चार के सदृश अतः दुष्कर कार्य है। काव्य की आनन्दवादी व्याख्या से दुःखी होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य को मनोरञ्जन की हल्की वस्तु मान लिए जाने के भय से खेद व्यक्त किया है, किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उस आनन्द और आह्लाद की रक्षा करते हुए भी रसवाही काव्य को मनोरंजन की वस्तु नहीं माना और वैसा होने के कारण कोई दुःख व्यक्त नहीं किया, उलटे रसवाही काव्य की श्रेष्ठता का एक अच्छा और मौलिक तर्क प्रस्तुत करके उसके स्वरूप के प्रति निष्ठा व्यक्त की है। आज भी जो बौद्धिक कविता को कविता मानते हैं और रसवाही कविता को उपहास की दृष्टि से देखते हैं, उनके सामने यह तर्क बिना निष्प्रभ हुए प्रस्तुत किया जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उक्त कथनों से इतना ही तात्पर्य ग्रहण किया जाना चाहिए कि काव्य में रस का निर्वाह सरल नहीं, एक दुष्कर कार्य है जिसे नाटक में अपेक्षाकृत अधिक अच्छे ढंग से पूरा किया जा सकता है। नाट्य में रस की अनिवार्यता है, किन्तु मुक्तकादि अलंकार-निर्वाह से भी काम चल सकता है, और शब्द प्रयोग पर निर्भर रहने के कारण उनके प्रयोग में रस-निर्वाह की अपेक्षा सरलता रहती है। ऐसा नहीं कि मुक्तकादि में रस होता या हो ही नहीं सकता, किन्तु उनमें विभावादि समस्त सामग्री के संयोजन का कभी अवकाश नहीं भी रहता। और यदि गद्य कवियों की प्रतिभा का निकष है तो वह भी इसी दृष्टि से कि उसमें रस-भाव का परिपोष करना उतना सरल नहीं है जितना अलंकार ले आना है। यों पण्डितराज जगन्नाथ कितना भी कहें कि प्रतिभाशाली की सर्वत्र समान गति होती है,[७] किन्तु जैसे काव्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि मुक्तक में उक्ति-चमत्कार और अलंकार-निर्वाह सहज-प्राय है और छोटे-छोटे छन्दों में कोई-कोई बिहारी जैसा श्रेष्ठ कवि ही रस-निर्वाह की करामात दिखा सकता और गागर में सागर भर सकता है, वैसे ही यह भी स्पष्ट है कि बहुमुखी और सर्वत्र समान प्रतिभा के धनी लेखक भी कठिनाई से ही हुआ करते हैं। पण्डितराज ने जहाँ अपनी रचना-शक्ति की प्रशंसा में सर्वत्र समान प्रतिभा सञ्चार की बात कही है, वहीं वे अपने को सामान्य मृग से भिन्न करते हुए 'कस्तूरिका-जनन' में क्षम मृग भी कहते हैं। कस्तूरी-मृगों की दुर्लभता अज्ञात नहीं है, अतः विशिष्ट प्रतिभावानों की स्थिति की बात छोड़ दें तो काव्य-रचना में सुकरता दुष्करता का भेद अस्वीकार्य नहीं ठहरता।

रस-विचार के प्रसंग में 'नाट्यदर्पणकार' रसों का पूर्वापर क्रम तो वही निश्चित करते हैं जो भरत द्वारा किया गया है और उनकी उस पर व्याख्या भी भरत के कथन पर अभिनवगुप्त द्वारा की गयी व्याख्या का अनुगमन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करती है,[९] परन्तु आगे चलकर भरत ने रसों में प्रमुखता-गौणता अथवा एक से दूसरे की उत्पत्ति की जो कल्पना प्रस्तुत की है और अभिनवगुप्त ने उस पर जो विस्तृत टीका लिखा है, उस सबका 'नाट्य दर्पण' में कहीं पता नहीं है। हाँ, पूर्वापर क्रम निर्धारण के बाद रामचन्द्र-गुणचन्द्र कतिपय नवेतर रसों का उल्लेख अवश्य करते हैं। ये हैं—लौल्य, स्नेह, व्यसन, दुःख एवं सुख। इनके स्थायीभाव क्रमशः गर्द्ध (तृष्णा), आर्द्रता, आसक्ति, अरति और असन्तोष बताये गये हैं।[१०] किन्तु जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है इनके पूर्व भी इन रसों का प्रस्ताव हो चुका था और कुछ विद्वान पूर्व-निर्धारित नवरसों में ही उनका अन्तर्भाव कर लेते थे।[११] स्वयं इन्हें अलग मानते हुए भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इनका लक्षणोदाहरण निर्देश नहीं किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये स्वयं भी इनके प्रति दृढ़भाव न रखकर यहाँ इनकी सूचना मात्र देते हैं। लौल्य और स्नेह का प्रत्याख्यान तो स्वयं अभिनवगुप्त ही 'नाट्य-शास्त्र' की टीका में कर चुके थे।[१२] इन दोनों के सीधे प्रत्याख्यान से स्पष्ट है कि कुछ अन्य रसों के समान इनका प्रस्ताव भी अभिनव गुप्त के ही पूर्व हो चुका था। रामचन्द्र-गुणचन्द्र क्योंकि रस-संख्या के विषय में भी अभिनवगुप्त का ही अनुसरण करते हैं अतः उन्हीं के तर्क को प्रस्तुत करते हैं,[१३] परन्तु फिर भी उनके द्वारा प्रत्याख्यात लौल्य एवं स्नेहादि को चुपके से अन्य रसों में परिगणित भी कर लेते हैं और अपनी ओर से व्यसनादि का प्रस्ताव भी कर देते हैं। उनके गुरु हेमचन्द्र सूरि ने केवल अभिनवगुप्त को उद्धृत किया था, ये स्वयं प्रस्तावक भी बन गये। फिर भी इन्होंने भक्ति और वात्सल्य का रस रूप में नाम नहीं लिया। वस्तुतः जैसाकि हम अपने ग्रन्थ 'रस-सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण' में दिखा चुके हैं इस प्रस्ताव में कोई बल नहीं है।"[१४]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की ओर से कही गयी बातों में यदि कोई विशेष ध्यान आकर्षित करती है तो वह रसों को सुख और दुःख के आधार पर विभक्त करने की ही है और उसके सम्बन्ध में विद्वानों ने पर्याप्त विचार भी किया है। यहाँ उसकी दीर्घतावश हम उस विषय की चर्चा में न पड़कर इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस-निर्वाह में भी किस मूलतत्त्व को महत्त्व देते हैं। नाट्य और लौकिक अनुभव परस्पर दो भिन्न स्थितियाँ हैं। लोक में जो कुछ घटित होता है वह एक वस्तुस्थिति है और नाट्य में जो कुछ प्रदर्शित है वह वस्तुतः घटित नहीं उसका कलात्मक प्रदर्शन मात्र है। कलात्मक प्रदर्शन है, अतएव उसकी उपस्थापना भी लोक-भिन्न है, क्योंकि वैसा हुए बिना उसमें कोई आकर्षण नहीं रहता। रचना में इस आकर्षण की उपस्थिति का मार्ग है, अद्भुत तत्त्व का समावेश। अद्भुत की उपस्थिति के विषय में रामचन्द्र-गुणचन्द्र की स्थापना है कि नाटक में अङ्गाङ्गिभाव से रस-व्यवस्था करते हुए उसके अन्त में अद्भुत रस का समावेश होना चाहिए।[१५]

अंगी रस की कल्पना के उपरान्त भी निर्वहण सन्धि में नाटक के अन्त में अद्भुत रस की समाविष्टि की माँग कुछ विचित्र-सी ही है। नाटक या काव्य का पर्यवसान तो अंगी रस में ही होना चाहिए। अन्त अद्भुत रस में हुआ तो अंगी रस में बाधक तत्व उपस्थित होने का डर है। या फिर अद्भुत का यत्किंचित् रूप में समावेश हो, अंगी के साधक के रूप में और केवल सांकेतिक ढंग से ही। रस-रूप में परिपाक न होकर विस्मय की हल्की लहर उत्पन्न करने वाला हो। कौतूहल की सीमा तक हो और अंगी रस की सिद्धि में हर्ष-संचार के साथ हो। ऐसा क्यों हो, इसकेलिए 'नाट्यदर्पण कार' का तर्क यह है कि यों तो सभी क्रियाओं का कोई न कोई फल या परिणाम तो होता ही है, किन्तु नाटक में भी वैसे ही सीधे-सादे परिणाम दिखाये जायें तो उसकी रचना का परिश्रम करने से भी क्या लाभ है? नाटक में तो कुछ ऐसा हो जो एक ओर वह लोकोत्तर जान पड़े और दूसरी ओर असम्भाव्य। लोकोत्तर होगा तो सामान्य-जनों के द्वारा उसकी पूर्ति न हो सकने के कारण उसके प्रति सबकी लालसा जागृत होगी और यदि असम्भाव्य प्रतीत होगा तो नायक के विलक्षण आचरण और विशेष प्रयत्न के कारण सिद्धि की महनीयता भी प्रकट होगी और प्राप्ति का अलभ्य सुख भी प्रतीत होगा। या फिर अप्राप्ति की आकस्मिकता नाटक को प्रभावकारी त्रासदी में परिवर्तित कर देगी। विशेष प्रभाव के लिए इन दोनों—लोकोत्तरता और असम्भाव्यता—की योजना की आवश्यकता है।[१६]

नाटक (या काव्य) में इस विस्मय तत्त्व की योजना की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। अन्तर इतना ही है कि 'नाट्यदर्पणकार' इसकी योजना को एक तो अन्त में आवश्यक मानते हैं और दूसरे इसे अद्भुत रस कहते हैं। निःसंदेह वे अंगरस के रूप में उसे वहाँ स्वीकार नहीं करते। करते तो अंगरसों के कथन के साथ ही उसे भी स्थान देते हुए कहते कि अन्त भी उसी के साथ होना चाहिए। वे उसे अंगीरस भी नहीं कहते। इसका तात्पर्य, हमारी समझ से यही है कि वे उसे रस कहकर भी उसके सञ्चारित्व में विश्वास करते हैं, उसकी पूर्ण परिपुष्ट दशा में नहीं। अद्भुत तत्त्व उन्हें अन्तःप्रवाहित जान पड़ता है। केवल अन्त में उसके होने पर बल देकर उन्होंने उसके सार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप होने की बात को दृष्टि से ओझल-सा कर दिया है। या कहें कि उसे अन्यत्र उपस्थित मानकर अन्त में उसकी अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

यहाँ यह शंका करना उचित नहीं होगा कि लोकोत्तरता तथा असंभाव्यता को समाविष्ट करके रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने आचार्यों द्वारा कथित प्रतिपत्तावयोग्यता तथा संभावनाविरह नामक रस-विघ्न की कल्पना को ठुकरा दिया है। इन दोनों शब्दों से उनका तात्पर्य अविश्वसनीयता या पूर्णतया न घटित हो सकनेवाली अकल्पनीयता की ओर इंगित करना नहीं है, बल्कि केवल इतना है कि नाटक की घटनाओं को नितान्त तथ्यात्मक और सरल रूप में प्रस्तुत करना प्रभावकारी नहीं होगा। यों इस तत्त्व की योजना दिव्य अथवा दिव्यादिव्य कथाओं में सहज ही की जा सकती है, किन्तु अदिव्य कथाओं में भी घटना का मोड़ कुछ इस प्रकार का हो सकता है जिसकी हम ठीक उस समय कल्पना न कर रहे हों या कि जो साधारणजनों की शक्ति से करणीय कार्य न हो किन्तु असाधारण शक्ति सम्पन्न व्यक्ति उसे कर सकता हो। ऐसी योजना ही उनका अभिप्रेत हो सकती है। और यदि यह मान लिया जाय तो घटनाओं के इस आकस्मिक मोड़ को अन्त में ही प्रस्तुत करने की आवश्यकता की अपेक्षा यह मानना उचित होगा कि नाटक (या काव्य) में बीच में भी इस प्रकार की योजना की जा सकती है। अर्थात् उनमें निरन्तर एक अद्भुत तत्व आद्यन्त बना रह सकता है और उसी के कारण काव्य में नाटकीयता उपस्थित होती है।

इस प्रसंग में हम यह भी कहना चाहेंगे कि यह तत्त्व नाटकादि के लिए महत्वपूर्ण है अवश्य, किन्तु ऐसे नाटक भी हो सकते हैं, और काव्य भी जिनमें अन्त में अद्भुत का निर्वाह नहीं होने पर भी उनका काव्यत्व बना रहता है। विशेषतः शान्त रस के नाटक-काव्यादि में, इस बात की संभावना अधिक रहती है। उदाहरणतः, 'प्रबोध चन्द्रोदय' जैसे नाटक में। इसका तात्पर्य यह नहीं कि शान्त रस के नाटकों या काव्यों में इस तत्त्व की योजना हो ही नहीं सकती। हमारा कहना इतना ही है कि एक तो इसके बिना [अन्त में निर्वाह किये] भी नाटकों की सृष्टि हो सकती है और दूसरे यह कि सम्भवतः 'नाट्यदर्पणकार' के समक्ष शृंगार और वीर रस युक्त नाटकों का विचार अधिक रहा हो, जिनमें इस प्रकार की योजना सहज है। जो हो, यहाँ यह बात और भी महत्वपूर्ण है कि अद्भुत की इस स्वीकृति की व्याख्या पश्चिम के शील-वैचित्र्य या अन्तःप्रकृति वैचित्र्य के अनुसार भी की जा सकती है जिससे आचार्य शुक्ल ने आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, आश्चर्यपूर्ण अवसादन और कुतूहल की सिद्धि बताई है।[19]

अन्त में, हम कहना चाहेंगे कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र की दृष्टि में रस का महत्व नाटक में सर्वोपरि है और इस अर्थ में वे परम्परा का अनुमोदन ही करते हैं, किन्तु नाटक को सर्वत्र एक कलाकृति मानकर उसी दृष्टि से उसके तत्त्वों पर दृक्पात करने के विचार से उनमें मौलिकता भी पर्याप्त है। वे एक ओर अभिनवगुप्त का अनुगमन भी करते हैं और दूसरी ओर उनसे छिटक कर अपना नया मार्ग भी निकाल लेते हैं। यहाँ तक कि स्वयं अपने गुरु के प्रतिपक्ष में भी उपस्थित हो जाते हैं। उनकी मौलिकता आज के सन्दर्भ में भी सार्थक है और काव्य के स्वरूप, उसके भेद और उसके ग्रहण की प्रक्रिया को नये रूप में प्रस्तुत करने की संभावनाएँ भी उनमें अमित हैं। हमने यहाँ जिन विषयों की ओर इंगित किया है उन पर विस्तारशः और सोदाहरण विचार किया जा सकता है और विचार की इस प्रक्रिया में पौरस्त्य मतों के साथ पाश्चात्य मतों का ग्रहण-त्याग भी समुचित दशा में हो सकता है। रसों की द्विविधता के विषय में उनके विचारों ने तो ध्यान आकर्षित किया ही है किन्तु इस पर विचार के लिए पुनः अत्यधिक विस्तार अपेक्षित है, अतः हमने कुछ अन्य क्षेत्रों की ओर इंगित करना ही उचित समझा है। इन विषयों के अतिरिक्त भी कुछ और विषय हैं जो विचारणीय हैं। यही कारण है कि जैन आचार्यों में से रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विद्वानों का विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

१. अर्थशब्दवपुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति।
अञ्जसा तेन सौहार्दं रसेषु कविमानिनाम्॥ ना० द० ३/२१॥
२ ध्वन्यालोक, पृ० ३२५ तथा ३।१७ सं०
३ अलंकारमृदुः पन्थाः कथादीनां सुसञ्चरः।
दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसंकुलः॥३।१ ना० द०॥
४ स कविस्तस्य काव्येन मर्त्या अपि सुधान्धसः।
रसोर्मिघूर्णिता नाट्ये यस्य नृत्यति भारती॥५।१ ना० द०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५ नानार्थ शब्दलौल्येन पराञ्चो ये रसामृतात् ।
विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम् ॥६।१ ना० द०॥

६ श्लेषालंकारभाजोऽपि रसानिस्यन्दकर्कशाः ।
दुर्भगा इव कामिन्यः प्रीणन्ति न मनो गिरः ॥७।१ ना० द०॥

७ साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती ॥
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भांकुरैरास्तृता ।
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतियोषिताम् ॥

८ रस गंगाधर, श्लोक ६.

९ मिलाइये, अभिनव भारती, पृ० २६७ तथा हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३०५ ।

१० गर्द्धस्थायी लौल्यः । आर्द्रता स्थायी स्नेहः । आसक्तिस्थायि व्यसनम् । अरतिस्थायि दुःखम् । सन्तोषस्थायि सुखमित्यादि । —हि० ना० द० पृ० ३०६ ।

११ केचिदेषां पूर्वेष्वन्तर्भावमाहुरिति । —हि० ना० द०, पृ० ३०६ ।

१२ आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत् । स्नेहो ह्यभिषङ्गः । स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति । तथाहि —बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये मिश्रान्तः । यूनोर्मित्रजेन रतौ । लक्ष्मणादौ भ्रातरि स्नेहो धर्ममय एव । एवं वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम् । एवैव गर्द्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या । हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात् । एवं भक्तावपि वाच्यमिति । —अभि० भा० पृ० ३४१ ।

१३ मिलाइये—पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात् । तेन रसान्तरसंभवेऽपि चार्ष प्रसिद्ध्या संख्यानियम इति यदन्यैरुक्तं तत्प्रत्युक्तम् । —अभि० भा०; पृ० ३४१ ।
एते शृङ्गारादयो नवैव रसा रञ्जनाविशेषेण पुरुषार्थोपयोगाधिक्येन च सद्भिः पूर्वाचार्यैरुपदिष्टाः सम्मवन्ति त्वपरेऽपि । —हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३०६ ।

१४ पृ० ३२०—३२१ ।

१५ एकाङ्गि रसमन्याङ्गमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः ।
अलङ्घितमलङ्कार-कथाङ्गैरगलद्रसम् ॥ —ना० द०, प्रथम विवेक, का० १५, सूत्र १२ ।

१६ नाटकं हि सर्वरसं, केवलमेको अंगी, तदपरे गौणाः । अद्भुत एव रसो अन्ते निर्वहणे यत्र । यतः शृंगार-वीर-रौद्रैः स्त्रीरत्न-पृथ्वीलाभ-शत्रुक्षयसम्पत्तिः । करुण-भयानक-बीभत्सैः तन्निवृत्तिः । इति इयता क्रमेण लोकोत्तरासम्भाव्यफल प्राप्तौ भवितव्यमत्तं अद्भुतेनैव । अपि च नाटकस्यासाधारणवस्तुलाभः फलत्वेन यदि न कल्प्यते तदानीं क्रियायाः फलमात्रं किञ्चिदस्त्येवेति किं तत्रोपायव्युत्पादनक्लेशेन । —ना० द० (हिन्दी), पृ० ३७ ।

१७ चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३१७

पुष्कर संस्मरण

गरम का नुकसान होता है

घोड़नदी वर्षावास में आपश्री को गैस की शिकायत थी, एक अनुभवी वैद्य ने बताया कि दूध में जरा निंबू का रस डाल देवें तो दूध तत्काल फट जाता है । आपने दूध में जरा सा निंबू का रस डाला, किन्तु दूध फटा नहीं, आपने कहा—दूध क्यों नहीं फटा ? मैंने कहा—गुरुदेव ! जो दूध गरम होता है वह जल्दी फटता है । ठण्डे दूध को फटने में विलम्ब लगता है । आपश्री ने चिन्तन की गहराई में डुबकी लगाते हुए कहा —जो गरम होता है उसका नुकसान जल्दी होता है और जो ठण्डा है उसका नुकसान दूसरा नहीं कर पाता । अतः जीवन में शांति आवश्यक है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैन ज्योतिष साहित्य : एक चिन्तन

ज्योतिषाचार्य उपाध्याय पं० प्रवर
श्री कस्तुरचन्द जी महाराज

जैन साहित्य विविध विधाओं में लिखा गया है। विश्व में ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिस विषय पर जैन मनीषियों ने नहीं लिखा हो। धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल, खगोल साहित्य और संस्कृति, कला और विज्ञान एवं कथाओं के क्षेत्र में भी उनकी लोह लेखनी अजस्र रूप से प्रवाहित हुई है। यहाँ तक कि आयुर्वेद, ज्योतिष, छन्द, अलंकार, कोश, निमित्त, शकुन, स्वप्न, सामुद्रिक, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शिल्पशास्त्र, रत्नशास्त्र, मुद्राशास्त्र, धातुविज्ञान, प्राणिविज्ञान पर भी जैन चिन्तकों ने लिखा है। और जिस पर भी लिखा है उस विषय के तलछट तक पहुँचने का प्रयास किया है। अत्यधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में मैं प्रस्तुत निबन्ध में जैन ज्योतिष साहित्य पर अपने विचार व्यक्त करूँगा।

सूर्यादि ग्रह और काल का परिज्ञान करने वाला शास्त्र ज्योतिष कहलाता है।[1] अतीत काल से ही अनन्त आकाश मानव के कौतूहल का विषय रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, तारागण को देखकर उसके मस्तिष्क में विविध जिज्ञासाएँ उद्‌बुद्ध हुईं। जैन परम्परा की दृष्टि से 'प्रतिश्रुत' कुलकर के समय मानव सूर्य के चमचमाते हुए प्रकाश को देखकर और चन्द्रमा की चारु चन्द्रिका को निहार कर विस्मित हुए तो प्रतिश्रुत ने सौरमण्डल का परिज्ञान कराया और वही ज्ञान ज्योतिष के नाम से विश्रुत हुआ। वर्तमान में जो ज्योतिष है, उनका मूल स्रोत वही है, पर उसमें कालक्रम से अत्यधिक परिवर्तन हो चुका है।

जैन आगमों में ज्योतिष-शास्त्र का वर्णन सर्वप्रथम दृष्टिवाद में हुआ था। आज दृष्टिवाद विच्छिन्न हो चुका है। वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं उनमें ज्योतिष का वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति में है। सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य आदि ज्योतिश्चक्र का वर्णन है। इसमें एक अध्ययन, २० प्राभृत, उपलब्ध मूल पाठ २२०० श्लोक परिमाण है। गद्यसूत्र १०८ और पद्यगाथा १०३ हैं। इसी प्रकार चन्द्रप्रज्ञप्ति में भी चन्द्र आदि ज्योतिश्चक्र का वर्णन है। डाक्टर विन्टरनित्ज सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति को वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं।[2] डाक्टर शुब्रिंग ने लिखा है जैन चिन्तकों ने जिस तर्कसम्मत और सुसम्मत सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है वे अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण हैं। विश्व-रचना के सिद्धान्त के साथ उसमें उच्चकोटि का गणित एवं ज्योतिष विज्ञान भी उपलब्ध है। सूर्यप्रज्ञप्ति में गणित एवं ज्योतिष पर गहराई से चिन्तन किया गया है, अतः सूर्यप्रज्ञप्ति के अध्ययन के बिना भारतीय ज्योतिष के इतिहास को सही दृष्टि से नहीं समझा जा सकता।[3]

सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य के गमनमार्ग, आयु, परिवार प्रभृति के प्रतिपादन के साथ ही पंचवर्षात्मक युग के अयनों के नक्षत्र, तिथि एवं मास का वर्णन है। सूर्यप्रज्ञप्ति के समान ही चन्द्रप्रज्ञप्ति में भी वर्णन है किन्तु वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य के प्रतिदिन की योजनात्मिकागति निकाली है और उत्तरायन दक्षिणायण की वीथियों का पृथक्-पृथक् विस्तार निकालकर सूर्य और चन्द्र की गति निश्चित रूप से बतायी गयी है। चतुर्थ प्राभृत में चन्द्र और सूर्य का संस्थान दो प्रकार से बताया है—(१) विमान संस्थान (२) प्रकाशित क्षेत्र संस्थान। दोनों प्रकार के संस्थानों के सम्बन्ध में अन्य सोलह मतान्तरों का भी उल्लेख है। स्वमत से प्रत्येक मण्डल में उद्योत और तापक्षेत्र का संस्थान बताकर अन्धकार क्षेत्र का निरूपण किया है। सूर्य के उर्ध्व एवं अधो और तिर्यक् ताप क्षेत्र का परिमाण भी प्रतिपादित किया है।[4] चन्द्रप्रज्ञप्ति में छायासाधन का प्रतिपादन है, और छायाप्रमाण पर से दिनमान निकाला गया है। ज्योतिष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की दृष्टि से प्रस्तुत विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जब अर्धपुरुषप्रमाण छाया हो उस समय कितना दिन व्यतीत हुआ और कितना दिन अवशेष रहा ? उत्तर देते हुए कहा है—ऐसी छाया की स्थिति में दिनमान का तृतीयांश व्यतीत हुआ समझना चाहिए। यदि मध्याह्न के पूर्व अर्धपुरुषप्रमाण छाया हो तो दिन का तृतीय भाग गत और दो-तिहाई भाग अवशेष समझना चाहिए और मध्याह्न के पश्चात् अर्धपुरुषप्रमाण छाया हो तो दो-तिहाई भाग प्रमाण दिनगत और एक भाग प्रमाण दिन अवशेष समझना चाहिए। पुरुषप्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भागगत और तीन चौथाई भाग अवशेष समझना चाहिए। और डेढ़ पुरुषप्रमाण छाया होने पर दिन का पंचम भाग गत और ४/५ भाग अवशेष दिन समझना चाहिए।[४]

प्रस्तुत आगम में गोल, त्रिकोण, लम्बी व चतुष्कोण वस्तुओं की छाया पर से दिनमान का आनयन का प्रतिपादन किया गया है। चन्द्रमा के साथ तीस मुहूर्त तक योग करने वाले श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा इन पन्द्रह नक्षत्रों का वर्णन है। पैंतालीस मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले उत्तराभाद्रपद, रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढ़ा ये छह नक्षत्र हैं। और पन्द्रह मुहूर्त तक चन्द्रमा के साथ योग करने वाले शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाती और ज्येष्ठा ये छह नक्षत्र हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्र को अपने आप प्रकाशमान बताया है। उसकी अभिवृद्धि और घटने के कारण पर भी प्रकाश डाला है। और साथ ही पृथ्वी से सूर्यादि ग्रहों की ऊँचाई कितनी है, इस पर चिन्तन किया गया है। ये दोनों आगम ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

स्थानांग और समवायांग में विविध विषयों का वर्णन है। उस वर्णन में चन्द्रमा के साथ ही स्पर्शयोग करने वाले नक्षत्रों का भी उल्लेख किया गया है। आठ नक्षत्र कृतिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा ये चन्द्र के साथ स्पर्शयोग करने वाले हैं। प्रस्तुत योग का फल तिथियों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। इसी तरह नक्षत्रों की विभिन्न संज्ञाएँ उत्तर, पश्चिम, दक्षिण पूर्व दिशा की ओर से चन्द्रमा के साथ योग करने वाले नक्षत्रों के नाम और उनके फल पर विस्तार से विश्लेषण किया गया है। स्थानांग में ८८ ग्रहों के नाम भी आये हैं। वे इस प्रकार हैं—अंगारक, काल, लोहिताक्ष, शनैश्चर, कनक, कनक-कनक, कनक-वितान, कनक-संतानक, सोमहित, आश्वासन, कज्जोवग, कर्बट, अयस्कर, दुंदुयन, शंख, शंखवर्ण, इन्द्राग्नि, धूमकेतु, हरि, पिंगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, राहु, अगस्त, भानवक्र, काश, स्पर्श, धुर, प्रमुख, विकट, विसन्धि, विमल, पपिल, जटिलक, अरुण, अगिल, काल, महाकाल, स्वस्तिक, सौवास्तिक, वर्द्धमान, पुष्पमानक, अंकुश, प्रलम्ब, नित्यलोक, नित्योदियत, स्वयंप्रभ, उसभ, श्रेयंकर, प्रेयंकर, आयंकर, प्रभंकर, अपराजित, अरज, अशोक, विगतशोक, निर्मल, विमुख, वितत, वित्रस्त, विशाल, शाल, सुव्रत, अनिवर्तक, एकजटी, द्विजटी, करकरीक, राजगल, पुष्पकेतु एवं भावकेतु आदि।[६]

इसी तरह समवायांग में भी एक-एक चन्द्र और सूर्य के परिवार में ८८-८८ महाग्रहों का उल्लेख हुआ है।[७] प्रश्नव्याकरण में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु केतु या धूमकेतु नौ ग्रहों के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है।

प्रश्नव्याकरण में नक्षत्रों पर चिन्तन अनेक दृष्टियों से किया गया है। जितने भी नक्षत्र हैं उन्हें कुल, उपकुल और कुलोपकुल में विभक्त किया है। प्रस्तुत वर्णन प्रणाली ज्योतिष के विकास को समझने के लिए अपना विशिष्ट स्थान रखती है। धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपद, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, उत्तराफाल्गुन, चित्रा, विशाखा, मूल एवं उत्तराषाढ़ा ये नक्षत्र कुल-संज्ञक है। श्रवण, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, भरणी, रोहिणी, पुनर्वसु, आश्लेषा, पूर्वाफाल्गुनी हस्त, स्वाती, ज्येष्ठा एवं पूर्वाषाढ़ा ये नक्षत्र उपकुल संज्ञक हैं। और अभिजित, शतभिषा, आर्द्रा तथा अनुराधा ये कुलोपकुल संज्ञक हैं। कुलोपकुल का जो विभाजन किया गया है वह पूर्णिमा को होने वाले नक्षत्रों के आधार पर किया गया है। सारांश यह है श्रावण मास में धनिष्ठा, श्रवण और अभिजित; भाद्रपद में उत्तराभाद्रपद, पूर्वभाद्रपद और शतभिषा आदि नक्षत्र बताये गये हैं। प्रत्येक मास की पूर्णिमा को उस मास का प्रथम नक्षत्र कुलसंज्ञक, दूसरा उपकुलसंज्ञक और तृतीय कुलोपकुल संज्ञक हैं। इस वर्णन का तात्पर्य उस महीने का फल प्रतिपादन करना है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ऋतु, अयन, मास, पक्ष, तिथि सम्बन्धी विचारचर्चाएँ भी की गयी हैं।

समवायांग में नक्षत्रों की ताराएँ और दिशा द्वारा प्रकृति का भी वर्णन है, जैसे कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेषा ये सात नक्षत्र पूर्वद्वार के है। मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती और विशाखा ये नक्षत्र दक्षिण द्वार के हैं। अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, अभिजित् और श्रवण ये सात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नक्षत्र पश्चिम द्वार के हैं। धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती, अश्विनी और भरणी उत्तर द्वार के हैं।

समवायांग में ग्रहण के कारणों पर विचार करते हुए राहु के दो भेद किये हैं—नित्यराहु और पर्वराहु। नित्यराहु को कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का कारण माना है और पर्वराहु को चन्द्रग्रहण का कारण माना है। सूर्यग्रहण का कारण केतु है जिसका ध्वजदण्ड सूर्य के ध्वजदण्ड से ऊँचा है। दिनवृद्धि और दिनह्रास के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया गया है।[८]

इस प्रकार उपलब्ध जैन श्वेताम्बर आगम साहित्य में ऋतु, अयन, दिनमान, दिनवृद्धि, दिनह्रास, नक्षत्रमान, नक्षत्रों की अनेक संज्ञाएँ, ग्रहों के मण्डल, विमानों का स्वरूप एवं ग्रहों की आकृतियों पर संक्षेप में वर्णन मिलता है। ये चर्चाएँ बहुत ही प्राचीन हैं जो जैन ज्योतिष को ग्रीक-पूर्व सिद्ध करती हैं।

'**ज्योतिष करण्डक**' यह एक महत्वपूर्ण कृति है। उस पर एक वृत्ति भी प्राप्त होती है जिसमें पादलिप्तसूरि द्वारा रचित प्राकृत वृत्ति का संकेत है। किन्तु वर्तमान में ज्योतिष करण्डक पर जो प्राकृत वृत्ति उपलब्ध होती है उसमें वह वाक्य नहीं है। यह सम्भव है कि प्रस्तुत सूत्र पर अन्य दूसरी प्राकृत वृत्ति होगी जिसका उल्लेख आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका में किया है। विज्ञों का यह भी मन्तव्य है कि पादलिप्तसूरि कृत वृत्ति ही मूल टीका है जो इस समय प्राप्त है। यह सत्य है कि उसमें कुछ वाक्यों का या पाठों का लोप हो गया है। इसमें अयनादि के निरूपण के साथ नक्षत्र व लग्न का भी वर्णन है। ज्योतिर्विद इस लग्न निरूपण प्रणाली को सर्वथा नवीन और मौलिक मानते हैं।[९] जैसे अश्विनी और स्वाती ये नक्षत्र विषु के लग्न बताये गये हैं वैसे ही नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था राशि है यहाँ पर नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को लग्न भी कहा गया है। ग्रन्थ में कृत्तिकादि, धनिष्ठादि, भरण्यादि श्रवणादि तथा अभिजित् आदि नक्षत्रों की गणनाओं की विवेचना की गयी है। विषय व भाषा दोनों ही दृष्टियों से ग्रन्थ का अपना महत्व है।

'**अंगविज्जा**' (अंगविद्या) यह फलादेश का एक ही बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें सांस्कृतिक सामग्री लबालब भरी हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में शरीर के लक्षणों को निहार कर या अन्य प्रकार के निमित्त अथवा मनुष्य की विविध चेष्टाओं द्वारा शुभ-अशुभ का वर्णन किया गया है। अंगविज्जा के अभिमतानुसार अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छींक, भौम, अन्तरिक्ष, ये निमित्त कथन के आठ आधार हैं और इन आठ महानिमित्तों से भूत और भविष्य का ज्ञान किया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में साठ अध्याय हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में अंग विद्या की प्रशस्ति करते हुए कहा है इसके द्वारा जय-पराजय, आरोग्य, हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि का परिज्ञान होता है। आठवें अध्याय में तीस पटल हैं और अनेक आसनों के भेद बताये गये हैं। नवें अध्याय में दो सौ सत्तर विषयों पर चिन्तन है। प्रिय-प्रवेश यात्रारम्भ, वस्त्र, यान, धान्य, चर्या, चेष्टा आदि के द्वारा शुभाशुभ फल का कथन किया गया है। पैंतालीसवें अध्याय में प्रवासी पुनः घर पर कब और कैसी परिस्थिति में लौटकर आयेगा, उस पर विचार किया गया है। बावनवें अध्याय में इन्द्रधनुष, विद्युत्, चन्द्रग्रह, नक्षत्र, तारा उदय-अस्त, अमावस्या-पूर्णमासी, मंडल, वीथी, युग, संवत्सर, ऋतुमास, पक्ष, क्षण, लव, मुहूर्त, उल्कापात, दिशादाह, प्रभृति निमित्तों से फल-कथन किया गया है। सत्ताइस नक्षत्र और उनसे होने वाले शुभ-अशुभ फल का भी विस्तार से वर्णन है। अन्तिम अध्याय में पूर्वभव जानने की युक्ति भी बतायी गयी है।

'**गणिविज्जा**' यह भी ज्योतिर्विद्या का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रहदिवस, मुहूर्त, शकुन, लग्न, निमित्त आदि नौ विषयों पर विवेचन है। ग्रन्थकार ने दिवस से तिथि, तिथि से नक्षत्र और नक्षत्र से करण आदि क्रमशः बलवान् होते हैं, ऐसा लिखा है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक और तारों का वर्णन दिया है। इनके अभिमत से ग्रहों का केन्द्र सुमेरु पर्वत है, ग्रह गतिशील हैं और वे सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त निर्युक्ति, चूर्णी, भाष्य व वृत्तियों में भी ज्योतिष सम्बन्धी महत्वपूर्ण बातें अंकित हैं। यह एक तथ्य है कि गणित और फलित दोनों ही प्रकार के ज्योतिष का पूर्वमध्यकाल में अच्छा विकास हुआ था।

'**ज्योतिस्सार**' ग्रन्थ के रचयिता ठक्कर फेरु हैं। इस ग्रन्थ में वार, तिथि, नक्षत्रों में सिद्धि योग का प्रतिपादन है। व्यवहारद्वार में ग्रहों की राशि, स्थिति, उदय-अस्त और वक्रदिन की संख्या का वर्णन है। ग्रन्थ में कुल २३८ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में हरिभद्र, नरचन्द्र, पद्मप्रभसूरि, जोण, वराह, लल्ल, पाराशर, गर्ग आदि के ग्रन्थों का अवलोकन कर ऐसा उल्लेख किया है।

'**लग्नशुद्धि**' ग्रन्थ के रचयिता आचार्य हरिभद्र माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में गोचर शुद्धि, प्रतिद्वार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशक, मास, वार, तिथि, नक्षत्र, योगशुद्धि, सुगण दिन, रजच्छन्नद्वार, संक्रांति, कर्कयोग, वार, नक्षत्र, अशुभ योग, सुगणा सर द्वार, होरा, नवांश, द्वादशांश, षड्वर्गशुद्धि, उदयास्तशुद्धि आदि विषयों पर चर्चा है।

विनशुद्धि आचार्य रत्नशेखर की कृति है। इसमें रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि का वर्णन करते हुए तिथि, लग्न, प्रहर, दिशा और नक्षत्र की शुद्धि आदि प्रतिपादित की गयी है।

'कालसंहिता' आचार्य कालक की रचना है। वराहमिहिर ने वृहद् जातक में कालकसंहिता का उल्लेख किया है। निशीथचूर्णी, आवश्यकचूर्णी, प्रभृति ग्रन्थों से भी आचार्य कालक के ज्योतिष ज्ञान का परिज्ञान होता है।

'प्रश्नपद्धति' के रचयिता हरिश्चन्द्र गणि हैं। 'भुवनदीपक' के रचयिता पद्मप्रसूभरि हैं। यह ग्रन्थ लघु होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में छत्तीस द्वार हैं जिसमें ज्योतिष विषयक अनेक विषयों पर चिन्तन किया गया है।

'भुवनदीपकवृत्ति' नाम से आचार्य सिंहतिलक की, मुनि हेमतिलक की और दो अज्ञात लेखकों की वृत्तियाँ मिलती हैं।

'आरम्भसिद्धि' के रचयिता आचार्य उदयप्रभ हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निर्मित है। इसमें तिथि, वार, नक्षत्र, सिद्धि आदि योग, राशि, गोचर, कार्य, गमन, वास्तु, विलग्न आदि ग्यारह प्रकरण हैं जिसमें प्रत्येक कार्य के शुभ-अशुभ मुहूर्तों का वर्णन है।

हेम हंसगणि ने आरम्भसिद्धि पर एक वृत्ति की रचना की। वृत्ति में यत्र-तत्र ग्रह विषयक प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं जिससे यह ज्ञात होता है इसके पूर्व प्राकृत में ग्रह विषयक कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होना चाहिए। वृत्ति में मुहूर्त के संबंध में सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

'भद्रबाहुसंहिता'—विज्ञों का ऐसा मत है कि आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत भाषा में 'भद्रबाहुसंहिता' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वर्तमान में जो भद्रबाहुसंहिता संस्कृत भाषा में उपलब्ध है वह भद्रबाहु की नहीं है। मुनिश्री जिनविजयजी ने इसे बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की रचना माना है और मुनि कल्याणविजयजी ने पन्द्रहवीं शताब्दी के पश्चात् की रचना माना है। क्योंकि इसकी भाषा में साहित्यिकता नहीं है और साथ ही छन्द-विषयक अशुद्धियाँ भी है। वर्तमान में जो भद्रबाहुसंहिता संस्कृत में उपलब्ध है, उसमें सत्ताईस प्रकरण हैं और वह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है।

'ज्योतिस्सार' इस ग्रन्थ के रचयिता मलधारी आचार्य नरचन्द्र हैं जिनके गुरु देवप्रभसूरि थे। इस ग्रन्थ में तिथि, वार, नक्षत्र, योग, राशि, चन्द्र, तारका बल, भद्रा, कुलिक उपकुलिक, कण्टक आदि अड़तालीस विषयों पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर ही मुनि सागरचन्द्र ने तेरह सौ पैन्तीस श्लोक प्रमाण टिप्पण की रचना की जो अभी तक अप्रकाशित है।

'जन्म समुद्र' के रचयिता उपाध्याय नरचन्द्र हैं। यह लाक्षणिक ग्रन्थ है। गर्भसम्भवादि लक्षण, जन्मप्रत्यय-लक्षण, रिष्टयोग तद्भंगलक्षण, निर्वाण लक्षण, द्रव्योपार्जनराजयोग लक्षण, बालस्वरूप लक्षण, स्त्रीजातकस्वरूप, नाभसादियोगदीक्षावस्थायुर्योग लक्षण, इन आठ कल्लोलों में यह विभक्त है। इसमें लग्न और चन्द्रमा के सम्पूर्ण फलों पर चिन्तन किया गया है। इसकी हस्तलिखित सोलहवीं शताब्दी की एक प्रति लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, में है। अभी तक यह ग्रन्थ मुद्रित नहीं हुआ है। उपाध्याय नरचन्द्र ने 'प्रश्नशतक', 'ज्ञान-चतुर्विंशिका', 'लग्न विचार', 'ज्योतिषप्रकाश', 'ज्ञान दीपिका' आदि अनेक ज्योतिष विषयक ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों में ज्योतिष सम्बन्धी खासी अच्छी सामग्री है। और ये सभी ग्रन्थ अप्रकाशित हैं।

'ज्योतिस्सार संग्रह' के रचयिता आचार्य हर्षकीर्ति हैं जिन्होंने वि० सं० १६८० में प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की। इनकी दूसरी रचना "जन्मपत्री-पद्धति" मिलती है जिसमें जन्मपत्री बनाने की रीति, ग्रह, नक्षत्र, वार, दशा आदि के फल प्रतिपादित किये हैं। लब्धिचन्द्रगणी' की भी इसी नाम से रचना है जिसमें इष्टकाल, भयात् भभोग, लग्न आदि नवग्रहों का स्पष्टीकरण किया गया है और गणित विषयक चर्चा करते हुए सामान्य फलों का भी वर्णन किया है। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। मुनि महिमोदय ने भी इसी नाम से ग्रन्थ की रचना की है जिसमें सारिणी, ग्रह, नक्षत्र, वार आदि के फल बताये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय यशोविजयजी 'फलाफल विषयक प्रश्नपत्र' ग्रन्थ के रचयिता माने जाते हैं। इसमें चार चक्र हैं और प्रत्येक चक्र में सात कोष्ठक हैं। मध्य के चारों कोष्ठकों में ओं, ह्रीं श्रीं अर्हं नमः उट्टंकित किया गया है। आस-पास के कोष्ठकों को गिनने से चौबीस कोष्ठक बनते हैं। जिनमें चौबीस तीर्थंकरों के नाम दिये गये हैं। चौबीस कोष्ठकों में कार्य की सिद्धि, मेघवृष्टि, देश का सौख्य, स्थानसुख, ग्रामांतर, व्यवहार,, व्यापार, ब्याजदान, भय, चतुष्पाद, सेवा, सेवक, धारणा, बाधारुधा, पुररोध, कन्यादान, वर, जयाजय, मन्त्रौषधि, राज्यप्राप्ति, अर्थचिन्तन, सन्तान, आगंतुक तथा गतवस्तु को लेकर प्रश्न किये गये हैं।

उपाध्याय मेघविजय जी के उदयदीपिका, प्रश्नसुन्दरी, वर्षप्रबोध, आदि ग्रन्थ मिलते हैं जिसमें ज्योतिष् सम्बन्धी चर्चाएँ हैं।

मुनि मेघरत्न ने 'उत्तरलावयंत्र' की रचना की है जिसमें अक्षांश और रेखांश का ज्ञान प्राप्त होता है तथा नतांश और उन्नतांश का वेध करने में भी इसका उपयोग होता है। इसकी प्रति अनूपसंस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में हैं। श्री अगरचन्द जी नाहटा ने उत्तरलावयंत्र सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ से एक निबन्ध भी लिखा है।

'ज्योतिष्-रत्नाकर' के रचयिता मुनि महिमोदय हैं जो गणित और फलित दोनों प्रकार की ज्योतिषविद्या के श्रेष्ठ ज्ञाता थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में संहिता, मुहूर्त और जातक पर विचार-चर्चा की गयी है। ग्रन्थ लघु होते हुए भी उप-योगी है। इनकी दूसरी रचना "पंचांगानयन-विधि" नामक ग्रन्थ मिलता है जिसमें पंचांग के गणित में सहयोग प्राप्त होता है। ये दोनों ग्रन्थ अब तक अप्रकाशित है।

वाघजी मुनि का 'तिथि सारिणी' नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ है जिसकी प्रति लिमडी के जैन भण्डार में है। मुनि यशस्वतसागर का 'यशोराज्य-पद्धति' ग्रन्थ मिलता है जिसके पूर्वार्द्ध में जन्मकुण्डली की रचना पर चिन्तन किया गया है और उत्तरार्द्ध में जातक पद्धति की दृष्टि से संक्षिप्त फल प्रतिपादित किया गया है। यह ग्रन्थ भी अप्रकाशित है।

आचार्य हेमप्रभ का "त्रैलोक्य प्रकाश" ज्योतिष सम्बन्धी एक श्रेष्ठ रचना है। प्राकृत भाषा में एक अज्ञात लेखक की 'जोइसहिर' नामक रचना मिलती है। जिसमें शुभाशुभ तिथि, ग्रह की सबलता, शुभ घड़ियाँ, दिनशुद्धि, स्वर ज्ञान, दिशाशूल, शुभाशुभयोग, व्रत आदि ग्रहण करने का मुहूर्त आदि का वर्णन है। इसी नाम से मुनि हरिकलश की भी रचना मिलती है जिसकी भाषा राजस्थानी है और इसमें नौ सौ दोहे हैं।

'पंचांग तत्त्व' 'पंचांग तिथिविवरण' 'पंचांगदीपिका', 'पंचांग पत्र विचार' आदि भी जैन मुनियों की रच-नाएँ हैं किन्तु उनके लेखकों के नामों का अता-पता विज्ञों को नहीं लगा है। 'सुमतिहर्ष' ने 'जातक पद्धति' जो श्रीपति की रचना थी उस पर वृत्ति लिखी है। उन्होंने 'ताजिकसार' 'करण कुतूहल' 'होरा मकरन्द' आदि ग्रन्थों पर भी टीकाएँ निर्माण की हैं।

महादेवीसारणी टीका, विवाह पटल—बालावबोध, ग्रहलाघव टीका, चन्द्रार्की टीका, षट्पंचाशिका टीका, भुवनदीपक टीका, चमत्कार चिन्तामणि टीका, होरामकरंद टीका, बसन्तराज शाकुन टीका, आदि अनके ग्रन्थों जिनमें ज्योतिष् के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया गया है जो जैन मुनियों की व जैन विज्ञों की ज्योतिष् के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण देन है। अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमितिगणित, प्रतिभागणित, पंचांग निर्माण गणित, जन्म-पत्र निर्माण गणित, प्रभृति गणित ज्योतिष के अंगों के साथ ही होराशास्त्र, मुहूर्त, सामुद्रिकशास्त्र, प्रश्न-शास्त्र, स्वप्नशास्त्र, निमित्तशास्त्र, रमलशास्त्र, पासा-केवली आदि फलित अंगों पर विशद रूप से विवेचन किया है। शोधार्थी विज्ञों को जैन ज्योतिष साहित्य के सम्बन्ध में पाँच सौ से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं। स्पष्ट है कि आगम साहित्य में जिस ज्योतिष के सम्बन्ध में संक्षेप से चिन्तन किया गया उस पर परवर्ती आचार्यों और लेखकों ने अपनी शैली से विस्तार से निरूपण किया। यह सम्पूर्ण साहित्य इतना विराट् है कि उन सभी पर विस्तार से विश्लेषण किया जाय तो एक बृहद्काय ज्योतिष ग्रन्थ बन सकता है। किन्तु हमने यहाँ अति संक्षेप में ही अपने विचार व्यक्त किये हैं जिससे प्रबुद्ध पाठकों को परिज्ञात हो सके कि जैन मनीषियों ने भी ज्योतिषविद्या के सम्बन्ध में कितना कार्य किया है।[१०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

१ "ज्योतिषां सूर्यादि ग्रहाणां बोधकं शास्त्रं"

२ जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा —देवेन्द्र मुनि

3 He who has a thorough knowledge of the structure of the world cannot but admire the inward logic and harmony of Jain ideas. Hand in hand with the refined Cosmogrophical ideas goes a high standard of Astronomy and Mathematics. A History of Indian Astronomy is not Concievable without the famous "Surya Pragyapti" —Dr. Schubring

४ जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा —लेखक देवेन्द्र मुनि, पृष्ठ २६४ से २७०

५ ता अवड्ढ पोरिसाघं छाया दिवसस्स किं गते सेसे वा ता तिभागे गए वा ता से से वा, पोरिसाणं छाया दिवस्स किं गए वा सेसे वा जाव चऊ भाग गए सेसे वा । —चन्द्रप्रज्ञप्ति प्र० ६·५

६ स्थानांग, पृष्ठ ६८ से १००

७ "एगमेगस्सणं चंदिम सूरियस्स अट्ठासीइ महग्गहा परिवारो ।" —समवायांग संख्या ८१-१

८ समवायांग : १५-३

९ लग्गं च दक्खिणाय विसुवे सुवि अस्स उत्तरं अयणे ।
लग्गं साई विसुवेसु पंचसु वि दक्खिणे अयणे ।।

१० विशेष विस्तार के लिए देखिए 'जैन ज्योतिष साहित्य : एक पर्यवेक्षण'—लेखक देवेन्द्र मुनि

पुष्कर संस्मरण

सच्चा फोटो

कई बार श्रद्धालु भक्तगण कहते हैं—गुरुदेव, हमें आपका फोटो चाहिए। आपके फोटो से हमें आध्यात्मिक प्रेरणा मिलेगी।

गुरुदेव उन्हें कहते हैं—मेरे फोटो से क्या प्रेरणा लोगे ? मैं जिन्दा बैठा हूँ। मेरे में जो सद्गुण हैं उसे अपनाओ, यही मेरा सच्चा फोटो है। भयभीत मत बनो। मुझे पैसा और धन नहीं चाहिए। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे में जो दुर्व्यसन है—तम्बाकू पीना, शराब पीना, तस्कर कृत्य करना, आदि जितनी भी बुराइयाँ उन्हें भेंट चढ़ा दो।

किसानों ने गुरुदेव की बात सुनी। वे एक दूसरे से कहने लगे—बाबा तो बहुत देखे हैं, जो हमारे से पैसा माँगते हैं, भांग, चरस अफीम और तम्बाकू मांगते हैं। किन्तु यह बाबा निराला है जो हमारे से दुर्गुणों की भेंट माँग रहा है।

उन्होंने गुरुदेव के कथन से प्रभावित होकर मद्य, मांस और तम्बाकू आदि व्यसनों का परित्याग कर दिया और यथासमय प्रतिदिन प्रभुस्मरण करने का भी नियम लिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैन भूगोल पर एक दृष्टिपात

☆ नेमीचन्द्र सिंघई
रिटायर्ड चीफ ड्राफ्समन दक्षिण पूर्व रेलवे
सदर बाजार मैन रोड, नागपुर

☆

चन्द्रमा पर अमेरिका के अपोली चन्द्रयान तथा वाइकिंग मंगलयान मंगल ग्रह पर उतरने से जैनियों की दृष्टि जैन भूगोल पर जाना स्वाभाविक है। जैन भूगोल पर शोध करने के लिए भारत में दो संस्थान है। एक का नाम है भू-भ्रमण शोधसंस्थान कपडवंज, गुजरात और दूसरे का नाम है दि० जैन त्रिलोक शोध-संस्थान हस्तिनापुर। ये दोनों संस्थान अभी तक जैन साहित्य के आधार पर ही कार्य कर रहे हैं।

इस विषय पर जो तत्थ मिल सके हैं, वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) आधुनिक विज्ञान के अनुसार हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं, वह नारंगी के आकार की गोल है। इसकी त्रिज्या ३२६० मील है, व्यास ७९२० मील है, परिधि २४८८१ मील है, क्षेत्रफल १९,७०,६१,२५८ वर्ग (प्रतर) मील है, तथा घनफल २,६०,१२,०८,६०,८७६ घनमील है। मकर वृत्त तथा कर्कवृत्त का अन्तर ३२४८ मील है। पृथ्वी की परिक्रमा चन्द्र २,३९,००० मील की दूरी पर करता है, तथा सूर्य की परिक्रमा चन्द्रसहित पृथ्वी ९३×१०^{६} मील की दूरी पर करती है, सौरवर्ष ३६५$\frac{१}{४}$ दिन का होता है तथा चन्द्रवर्ष ३५४ दिन का होता है। अहोरात्र २४ घण्टे की होती है। इस सिद्धान्त में एक ही सूर्य व एक ही चन्द्र हैं।

सूर्य का व्यास लगभग ८६५ हजार मील है, उसमें द्रव्य की मात्रा २२×१०^{२६} (यानी बाईस के बाद छब्बीस शून्य) टन है, अर्थात् सूर्य में पृथ्वी के मुकाबले ३३३४३४ गुनी अधिक मात्रा है। दस लाख से भी अधिक पृथ्वियाँ सूर्य के घेरे में ठूँसकर भरी जा सकती हैं। सूर्यतल पर का गुरुत्वाकर्षण पृथ्वीतल के गुरुत्वाकर्षण से २८ गुना है यानी १८० पौंड वजन वाला मनुष्य यदि सूर्य की सतह पर खड़ा हो जाए तो उसका वजन ५०४० पौंड हो जाएगा।

सूर्य पृथ्वी से लगभग ९ नौ करोड़ ३० तीस लाख मील की दूरी पर है। प्रकाश की गति १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकण्ड है, इस चाल से चलकर सूर्य का प्रकाश लगभग ८ आठ मिनिट में पृथ्वी तलपर पहुँचता है। सूर्य की गरमी सूक्ष्म रूप में पृथ्वी के अंश अंश में व्याप्त हो जाती है। इसी से जीवनदायिनी वर्षा होती है। खेतों में अनाज पकता है। जीवन बनाए रखने के लिए एक के बाद दूसरी ऋतुएँ बदलती हैं। पृथ्वी पर जीवन का उद्भव व अस्तित्व सभी सूर्य पर निर्भर है। प्राणी सूर्य द्वारा दी गई शक्ति को अपने अन्दर प्राप्त करते हैं और उसी के उपयोग से जीते हैं।

पृथ्वी के चतुर्दिक घूमते हुए चन्द्रमा जब पृथ्वी और सूर्य के बीच में इस तरह आ जाता है कि सूर्य थोड़ी देर के लिए दिखाई न दे तो उसे सूर्यग्रहण कहते हैं।

(२) भारतीय पंचांग के अनुसार सबसे बड़ा दिन १६$\frac{४}{९}$ मुहूर्त का होता है तथा सबसे छोटा दिन १३$\frac{१}{९}$ मुहूर्त-का होता है। सूर्य १३ अप्रेल को मेष राशि तथा अश्विनी नक्षत्र में प्रवेश करता है। १६ अगस्त को मघा नक्षत्र तथा सिंह राशि में प्रवेश करता है तथा १५ दिसम्बर को मूल नक्षत्र तथा धनुष्य राशि मे प्रवेश करता है। मकर संक्रान्ति १४ जनवरी को होती है। चन्द्र १२ मास के ३५४ दिन में १३ तेरह बार १२ बारह राशि व २७ सत्ताईस नक्षत्रों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार करता है, अधिक मास के वर्ष में ३८४ दिन होते हैं। इस मास में चन्द्र १४ चौदह बार समस्त राशि व नक्षत्रों को पार करता है।

(३) जैन भूगोल के अनुसार मध्य लोक के मध्य में एक लाख योजन व्यास वाला थाली के आकार वाला जंबूद्वीप है। इसकी त्रिज्या पचास हजार योजन है। परिधि ३१४१६० योजन है। क्षेत्रफल ७८५४×१०[८] वर्ग योजन है। इसमें भरतक्षेत्र दक्षिण में है। भरतक्षेत्र का विष्कंभ उत्तर दक्षिण ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है। उत्तरी मर्यादा १४४७१$\frac{५}{१९}$ योजन है। अतः भरतक्षेत्र का क्षेत्रफल ४९४६९०० वर्ग (प्रतर) योजन होता है। इसको ४०००[२] से गुणा करने पर (१ योजन=४००० मील) क्षेत्रफल वर्गमील में आ जायेगा। इस जंबूद्वीप को दो लाख योजन विस्तार वाला कंकणाकृति लवण समुद्र घेरे हुए है। लवणसमुद्र का व्यास पांच लाख योजन है, जंबूद्वीप के मध्य में दस हजार योजन व्यास वाला सुदर्शन मेरु है। इसकी ऊँचाई ९९००० हजार योजन है। इस ऊंचाई पर सुदर्शन मेरु क्रमशः घटकर १००० योजन रह जाता है। इस मेरू के ऊपर स्वर्ग लोक प्रारम्भ हो जाते हैं। सर्वोच्च भाग में (सात राजू पर) मोक्ष लोक है तथा मेरु के निचले भाग में व्यन्तर तथा भवनवासी देवों के भवन तथा उसके नीचे नरक लोक है।

(४) सुदर्शन मेरु की दो सूर्य तथा दो चन्द्र नित्य प्रदक्षिणा देते रहते हैं। वे परस्पर विरुद्ध दिशा में ९९६४० योजन दूर रहने पर कर्क वृत्त में माने जाते हैं, उस समय सबसे बड़ा दिनमान १८ मुहूर्त अर्थात् १४ घण्टे २४ मिनिट का माना जाता है और रात्रिमान १२ मुहूर्त अर्थात ९ घण्टे ३६ मिनिट का माना जाता है। सूर्य और चन्द्र, दोनों अपने परिभ्रमण का व्यास बढ़ाते चले जाते हैं, दोनों सूर्य १८३ दिनों में १००६६० योजन परस्पर दूर हो जाते हैं, तब वे मकर वृत्त में माने जाते हैं, उस समय सबसे छोटा दिनमान १२ मुहूर्त अर्थात् ९ घण्टे ३६ मिनिट का माना जाता है और रात्रिमान १८ मुहूर्त अर्थात् १४ घण्टे २४ मिनिट का माना जाता है, एक सूर्य एक तरफ ३० मुहूर्त अर्थात् २४ घण्ट में सुदर्शन मेरु की आधी परिक्रमा करता है। दोनों सूर्यों को एक पूर्ण परिक्रमा में ६० मुहूर्त अर्थात् ४८ घण्टे लगते हैं। विदेहक्षेत्र मे दिनमान तथा रात्रिमान कितने समय के होते हैं—इसका विवरण शास्त्रों में नहीं है। फिर भी चूंकि अहोरात्र ३० मुहूर्त अर्थात् २४ घण्टे का होता है, तब विदेहक्षेत्र में जब यहाँ १८ मुहूर्त का दिनमान होता है ३०—१८ =१२ मुहूर्त का दिनमान होना चाहिए, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। उसीतरह जब यहां १२ मुहूर्त का दिनमान हो तब विदेहक्षेत्र में ३०— १२=१८ मुहूर्त का दिनमान होना चाहिये। दोनों सूर्य १८३ दिनों में अपने परिभ्रमण का व्यास प्रतिदिन घटाते हुए मकरवृत्त से कर्कवृत्त मे पहुँच जाते हैं। इस तरह सौर वर्ष १८३+१८३=३६६ दिन का माना जाता है। यह अँग्रेजी कैलेण्डर से ३६६—३६५$\frac{१}{४}$=३/४ दिन अधिक होता है।

(५) दोनों चन्द्र परस्पर विरुद्ध दिशा में कर्कवृत्त से मकरवृत्त में आने में १४ दिन लगते हैं और मकरवृत्त से कर्कवृत्त को लौटने में १४ दिन लगते हैं इस तरह कर्क वृत्त से विस्तृत होकर फिर संकुचित होकर कर्क वृत्त में लौटने में २८ दिन लगते हैं। किन्तु २७ नक्षत्रों को पार करने के लिए उत्तरायण में १३$\frac{४४}{६७}$ दिन तथा दक्षिणायन में १३$\frac{४४}{६७}$ दिन कुल १३$\frac{४४}{६७}$+१३$\frac{४४}{६७}$=२७$\frac{३१}{३७}$ दिन लगते हैं।

(५अ) भारतीय पंचांगों के अनुसार चांद्र-मासों के दिन निम्न प्रकार हैं—(त्रिलोकसार गाथा ३७१ के अनुसार प्रत्येक मास ३०$\frac{१}{२}$ दिन का होता है)

ईस्वी सन् १९७६-७७		ईस्वी सन् १९७७-७८	
चैत्र	३० दिन	चैत्र	३० दिन
वैशाख	३० ,,	वैशाख	३० ,,
ज्येष्ठ	२९ ,,	ज्येष्ठ	२९ ,,
आषाढ़	३० ,,	आषाढ़	३० ,,
श्रावण	२९ ,,	अधिक श्रावण	२९ ,,
भाद्रपद	२९ ,,	श्रावण	३० ,,
आश्विन	३० ,,	भाद्रपद	२९ ,,
कार्तिक	२९ ,,	आश्विन	३० ,,
मार्गशीर्ष	३० ,,	कार्तिक	२९ ,,
पौष	२९ ,,	मार्गशीर्ष	३० ,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माघ—३० ,,	पौष—२९ ,,
फाल्गुन—२९ ,,	माघ—३० ,,
	फाल्गुन—२९ ,,
कुल—३५४ दिन	कुल—३८४ ,,
सरासरी—२९½ दिन प्रतिमाह	सरासरी—२९½ दिन प्रतिमाह

(५ब) भारतीय पंचांगों के अनुसार चन्द्र, मेष, राशि तथा अश्विनी नक्षत्र में कब प्रवेश करता है, उनकी तालिका निम्न प्रकार है :

(५ब) तारीख	मिती	अश्विनी नक्षत्र और मेष राशि में प्रवेश कितने घड़ी पल बाद
३१. ३ ७६	चैत्र शुक्ल प्रथमा	२५ घडी २३ पल बाद
२८. ४.७६	चैत्र कृष्ण चतुर्दशी	७ ,, ५८ ,, ,,
२५. ५.७६	वैसाख कृष्ण द्वादशी	१४ ,, २८ ,, ,,
२१. ६ ७६	ज्येष्ठ कृष्ण नवमी	२१ ,, ४२ ,, ,,
१८. ७ ७६	आषाढ़ कृष्ण सप्तमी	२९ ,, ३१ ,, ,,
१५. ८.७६	श्रावण कृष्ण पंचमी	१३ ,, २८ ,, ,,
११. ९.७६	भाद्रपद कृष्ण तृतीया	२० ,, ५३ ,, ,,
८.१०.७६	आश्विन शुक्ल पूर्णिमा	२७ ,, ३५ ,, ,,
५.११.७६	कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी	९ ,, ४५ ,, ,,
२.१२.७६	मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी	१६ ,, ०१ ,, ,,
२९.१२.७६	पौष शुक्ल नवमी	२३ ,, ०५ ,, ,,
२६. १ ७७	माघ शुक्ल सप्तमी	७ ,, १० ,, ,,
२२. २.७७	फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी	१९ ,, ४३ ,, ,,

यह विवरण सोलापुर की दाते बंधु द्वारा कृत पंचांग से उद्धृत है।

२१. ३.७७	चैत्र शुक्ल द्वितीया	४३ घडी १० पल बाद
१८. ४.७७	चैत्र कृष्ण अमावस्या	१ ,, २५ ,, ,,
१५. ५.७७	वैशाख कृष्ण त्रयोदशी	१६ ,, ५८ ,, ,,
११. ६.७७	ज्येष्ठ कृष्ण दशमी	३१ ,, ३७ ,, ,,
८. ७.७७	आषाढ़ कृष्ण अष्टमी	४८ ,, २३ ,, ,,
५. ८.७७	अधिक श्रावण कृष्ण षष्ठी	७ ,, ५० ,, ,,
१. ९.७७	श्रावण कृष्ण चतुर्थी	२९ ,, २० ,, ,,
२८. ९.७७	भाद्रपद कृष्ण प्रतिपदा	५० ,, २५ ,, ,,
२६.१० ७७	आश्विन शुक्ल पूर्णिमा	८ ,, ४० ,, ,,
२२.११.७७	कार्तिक शुक्ल द्वादशी	२३ ,, २५ ,, ,,
१९.१२.७७	मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी	३७ ,, ०० ,, ,,
१५.१.७८	पौष शुक्ल सप्तमी	५३ ,, ४२ ,, ,,
१२.२.७८	माघ शुक्ल पंचमी	२५ ,, ३८ ,, ,,
११.३.७८	फाल्गुन शुक्ल तृतीया	४० ,, ३५ ,, ,,
८.४.७८	चैत्र शुक्ल प्रतिपदा	.....

यह विवरण अकोला के राजंदेकर कृत वैदर्भ पंचांग से उद्धृत है।

उपरोक्त तालिका से यह जाना जा सकता है कि चन्द्र को १२ राशि अर्थात २७ नक्षत्र पार करने को २७$\frac{3}{5}$ दिन लगते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) सूर्य सुदर्शन मेरु की एक प्रदक्षिणा ६० मुहूर्त (४८ घण्टे) में करता है, एक परिधि में आधुनिक पद्धति में ३६०° अंश है, अतः एक मुहूर्त में सूर्य ३६०÷६०=६ अंश परिधि पार करता है। इन ६ अंश के जैन भूगोल में गणित की सरलता के लिए १८३० खण्ड किये हैं, अर्थात् सूर्य एक मुहूर्त में १८३० परिधिखण्ड गमन करता है चन्द्र १७६८ परिधिखण्ड गमन करता है और नक्षत्र १८३१ परिधिखण्ड गमन करते हैं। राहू १८२९$\frac{११}{१२}$ परिधिखण्ड गमन करता है। पूर्ण परिधि में १८३०×६०=१०९८०० खण्ड होते हैं, अतः सूर्य पूर्ण परिधि १०९८००÷१८३०=६० मुहूर्त में चन्द्र १०९८००÷१७६८=६२$\frac{२३}{२२१}$मुहूर्त में, नक्षत्र १०९८००÷१८३५=५९ $\frac{३०७}{३६७}$मुहूर्त में तथा राहू १०९८००÷ १८२९ $\frac{११}{१२}$=१०९८००÷$\frac{२१९५९}{१२}$=$\frac{१०९८००}{१}$×$\frac{१२}{२१९५९}$=$\frac{१३१७६००}{२१७५९}$=६०$\frac{६०}{२१९५९}$मुहूर्त में गमन करेंगे। इसका सीधा अर्थ यह है कि नक्षत्र, सूर्य, राहू और चन्द्र नित्य मेरु गिरि प्रदक्षिणा करते हैं। नक्षत्र सूर्य से प्रति मुहूर्त १८३५—१८३०=५ परिधि खण्ड आगे रहते हैं, राहू से १८३५—१८२९$\frac{११}{१२}$=$\frac{६१}{१२}$ परिधि खण्ड आगे रहते हैं और चन्द्र से १८३५—१७६८=६७ परिधि खण्ड आगे रहते हैं।

(६ अ) जंबूद्वीप के सुदर्शन मेरु गिरि की दो सूर्य, दो चन्द्र तथा ५६ नक्षत्र परस्पर विरोधी दिशा में प्रदक्षिणा करते हैं, अतः अर्ध परिधि में एक सूर्य, एक चन्द्र तथा २८ नक्षत्र होते हैं। जैन भूगोल में अभिजित नक्षत्र अधिक माना है और इसी नक्षत्र से उत्तरायण की शुरुआत मानी है। इस अर्ध परिधि में १०६८००÷२=५४९०० परिधि खंड होते हैं। सूर्य उत्तरायण में अभिजित नक्ष में प्रवेश करता है। चूँकि नक्षत्र प्रति मुहूर्त सूर्य से ५ परिधि खंड आगे जाता है तो उसे पुनः उसी जगह आने को प्रतिदिन ५×३०=१५० परिधिखंड आगे आना पड़ता है, इस हिसाब से ५४९००÷ १५०=३६६ दिन लगते हैं यह हुआ सौर वर्ष राहू से प्रति मुहूर्त नक्षत्र $\frac{६१}{१२}$ परिधिखंड आगे रहते हैं, प्रतिदिन $\frac{६१}{१२}$×$\frac{३०}{१}$ = $\frac{३०५}{२}$परिधि आगे रहते हैं, अतः अभिजित नक्षत्र को पुनः अपनी जगह आने के लिए ५४९००÷ $\frac{३०५}{२}$=३६० दिन लगते है, यह हुआ राहू वर्ष। चन्द्र से नक्षत्र प्रति मुहूर्त ६७ परिधिखंड आगे रहते हैं, प्रतिदिन ६७×३०=२०१० परिधि खंड आगे रहते हैं, अतः अभिजित नक्षत्र को पुनः अपनी जगह आने के लिए ५४९००÷२०१०=२७ $\frac{६३}{२०१}$अर्थात् २७$\frac{२१}{६७}$ दिन लगते हैं। चूँकि पूर्ण परिधि में दो सूर्य, दो चन्द्र, दो राहू और दो नक्षत्र समूह हैं, इसलिए इन प्रथम सूर्य का अग्रणी अभिजित नक्षत्र दूसरे सूर्य, राहू और चन्द्र को उपरोक्त दिनों में मिल जाता है।

(७) जैन भूगोल में अभिजित नक्षत्र सहित २८ नक्षत्र हैं। भारतीय पंचांगों में २७ नक्षत्र ही माने हैं। अभिजित नक्षत्र का उल्लेख नहीं होता है। राहू ग्रह भी उलटी दिशा में गमन करता है और उसकी गति भी बहुत ही मन्द है। इन सभी का तुलनात्मक विवरण नीचे कोष्ठकों में दिया गया है।

सूर्य नक्षत्र सह-गमन दिन
प्रतिदिन १५० परिधिखंड

नक्षत्र	परिधिखंड	सह-गमन दिन जैन भूगोल से	भारतीय पंचांगों से
		उत्तरायण प्रारम्भ	
अभिजित	६३०	४.२	—
श्रवण	२०१०	१३.४	१३
घनिष्ठा	२०१०	१३.४	१४
शतभिषा	१००५	६.७	१४
पूर्वाभाद्रपद	२०१०	१३.४	१४
उत्तराभाद्रपद	३०१५	२०.१	१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रेवती	२०१०	१३.४	१३
अश्विनी	२०१०	१३.४	१४
भरणी	१००५	६.७	१४
कृत्तिका	२०१०	१३.४	१३
रोहिणी	३०१५	२०.१	१४
मृगशीर्ष	२०१०	१३.४	१४
			दक्षिणायन प्रारम्भ
आर्द्रा	१००५	६.७	१४
पुनर्वसु	३०१५	२०.१	१४
पुष्य	६६०	४.६	
		दक्षिणायन प्रारंभ	१४
पुष्य	१३२०	८.८	
आश्लेषा	१००५	६.७	१४
मघा	२०१०	१३.४	१४
पूर्वाफाल्गुनी	२०१०	१३.४	१४
उत्तराफाल्गुनी	३०१५	२०.१	१३
हस्त	२०१०	१३.४	१४
चित्रा	२०१०	१३.४	१३
स्वाती	१००५	६.७	१४
विशाखा	३०१५	२०.१	१३
अनुराधा	२०१०	१३.४	१३
ज्येष्ठा	१००५	६.७	१३
मूल	२०१०	१३.४	१३
			उत्तरायण प्रारम्भ
पूर्वाषाढ़ा	२०१०	१३.४	१४
उत्तराषाढ़ा	३०१५	२०.१	१३

जैन भूगोल के अनुसार चन्द्र के साथ नक्षत्र प्रतिदिन ६७ × ३० = २०१० परिधिखंड सह-गमन करते हैं। इस हिसाब से जिन नक्षत्रों के १००५ परिधि खंड हैं, उनको १००५ ÷ २०१० = $\frac{1}{2}$ दिन लगेगा, २०१० परिधिखंड नक्षत्रों को २०१० ÷ २०१० = १ दिन लगेगा, ३०१५ परिधिखंड नक्षत्रों को ३०१५ ÷ २०१० = १$\frac{1}{2}$ दिन लगेगा, अभिजित नक्षत्र को ६३० ÷ २४१० = $\frac{3}{67}$ दिन लगेगा और उत्तरायण में पुष्य नक्षत्र को ६६० ÷ २०१० = $\frac{23}{67}$ दिन तथा दक्षिणायन में पुष्य नक्षत्र को १३२० ÷ २०१० = $\frac{44}{67}$ दिन लगेगा। भारतीय पंचांगों के अनुसार चन्द्र-नक्षत्र सह-गमन काल कम-से-कम ५२ घड़ी ४२ पल अर्थात् २६$\frac{2}{3}$ मुहूर्त तथा अधिक से अधिक ६७ घड़ी ४४ पल अर्थात् ३४ मुहूर्त होता है। अभिजित नक्षत्र को नहीं माना है।

राहू-नक्षत्र सहगमन प्रतिदिन $\frac{61}{12} \times \frac{30}{1} = \frac{305}{2}$ परिधिखंड होता है। इस हिसाब से

१००५ परिधिखंड नक्षत्रों को १००५ ÷ $\frac{305}{2}$ = ३$\frac{36}{61}$ दिन,

२०१० परिधिखंड नक्षत्रों को २०१० ÷ $\frac{305}{2}$ = १३$\frac{11}{61}$ दिन,

३०१५ परिधिखंड नक्षत्रों को ३०१५ ÷ $\frac{305}{2}$ = १९$\frac{47}{61}$ दिन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिजित नक्षत्र को $६३० \div \frac{३०५}{२} = ४\frac{८}{६१}$ दिन

तथा उत्तरायण के पुष्य नक्षत्र को $६६० \div \frac{३०५}{२} = ४\frac{३२}{६१}$ दिन

और दक्षिणायन के पुष्य नक्षत्र को $१३२० \div \frac{३०५}{२} = ८\frac{४०}{६१}$ दिन लगते हैं

(७) भारतीय पंचांगों के अनुसार राहू विरुद्ध दिशा में किस तरह चलता है, यह नीचे दर्शाते हैं :

तारीख	राहू-नक्षत्र व चरण	पंचांग
१८-४-१९७६	स्वाती—चतुर्थ चरण	सोलापुर दाते पंचांग
२०-६-१९७६	,, तृतीय ,,	,,
२२-८-१९७६	,, द्वितीय ,,	,,
२३-१०-१९७६	,, प्रथम ,,	,,
२५-१२-१९७६	चित्रा—चतुर्थ ,,	,,
२६-२-१९७७	,, तृतीय ,,	,,
३०-४-१९७७	,, द्वितीय ,,	बंबई जन्मभूमि पंचांग
२-७-१९७७	,, प्रथम ,,	,,
३-९-१९७७	हस्त—चतुर्थ ,,	,,
७-११-१९७७	,, तृतीय ,,	,,
७-१-१९७८	,, द्वितीय ,,	,,
११-३-१९७८	,, प्रथम ,,	,,

इस तालिका से स्पष्ट है कि राहू दो वर्षों में स्वाती, चित्रा और हस्त ये तीन नक्षत्र पार कर सका है। दिशा भी जैन भूगोल से विपरीत रही है।

(८) सूर्य प्रकाश की मर्यादा त्रिलोकसार गाथा ३९७ के अनुसार निम्न प्रकार है—

मंदर गिरि मज्झादो जावय लवणुवहि छट्ठ भागो दु।
हेट्ठा अट्ठरससया उवरि सम जोयणा ताओ ॥३९७॥

अर्थात् सूर्य का प्रकाश सुदर्शन मेरु के मध्य भाग से लेकर लवणसमुद्र के छठवें भाग पर्यंत फैलता है, तथा नीचे १८०० अठारह सौ योजन और ऊपर एक सौ (१००) योजन पर्यंत फैलता है। भावार्थ—सूर्य यदि कर्क वृत्त पर हो तो मेरु मध्यपर्यंत ४९८२० योजन। लवणसमुद्र में विस्तार २ लाख योजन के छठवे भाग ३३३३३$\frac{१}{३}$ योजन तक तथा सूर्य के ऊपर ज्योतिर्लोक पर्यंत १०० योजन और सूर्य के नीचे पृथ्वी ८०० योजन व पृथ्वी की जड़ १००० योजन कुल १८०० योजनपर्यंत प्रकाश फैलता है। सूर्य प्रकाश की मर्यादा में असमानता क्यों है, इसका स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है।

(९) सूर्य मेरु मध्य से ४९८२० योजन से ५०३३० योजन तक ५१० योजन तक १८४ परिधियों में, जो $२\frac{३५}{६१}$ योजन अंतराल में होती हैं, भ्रमण करता है। एक परिधि में भ्रमण करने को ६० मुहूर्त अर्थात दो दिन लगते हैं माना यह जाता है कि कर्कवृत्त की परिधि से मकरवृत्त की परिधि १८४वीं है, अतः प्रथम १८३ परिधियाँ कर्कवृत्त की हुईं और १८४वीं परिधि मकरवृत्ति की पहिली परिधि हुई। इस प्रकार १८३ परिधियाँ कर्कवृत्त की हुई और लौटने पर १८३ परिधियाँ मकरवृत्त की हुईं इस तरह १८३ दिन दक्षिणायन के और १८३ दिन उत्तरायन के हुए। मगर कठिनाई यह है कि यदि सूर्य को एक परिधि पार करने में दो दिन लगते हैं तो १८३ परिधियों को दक्षिणायन के समय १८३ × २ = ३६६ दिन लग जावेंगे उसी तरह उत्तरायण के समय भी ३६६ दिन लगेंगे। यदि एक अयन में १८३ दिन होते है तो परिधियाँ १८३ ÷ २ = ९१ $\frac{१}{२}$ होंगी। इस शंका का समाधान कठिन जान पड़ता है।* अंग्रेजी कैलेंडर के अनुसार सौर वर्ष ३६५$\frac{१}{४}$ दिन का होता है, ३६६ दिन का नहीं।

(१०) त्रिलोकसार गाथा ३७९ में दिन रात्रि का परिमाण इस प्रकार है—

---

* जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं। इसीलिए शंका का समाधान हो जाता है। —सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूरावो दिणरत्ती अट्ठारस बारसा मुहुत्ताणं।
अब्भंतरम्हि एदं विवरीयं बाहिरम्हि हवे ॥३७६॥

अर्थात् सूर्य अभ्यंतर परिधि अर्थात कर्कवृत्त में भ्रमण करता है, तब दिन अठारह मुहूर्त का और रात्रि बारह मुहूर्त की होती है; सूर्य बाह्य परिधि अर्थात मकरवृत्त में भ्रमण करता है, तब अठारह मुहूर्त की रात्रि और बारह मुहूर्त का दिन होता है। भारतीय पंचांगों के अनुसार सबसे बड़ा दिन १६$\frac{3}{4}$ मुहूर्त का और सबसे छोटा दिन १३$\frac{1}{4}$ मुहूर्त का होता है।

(११) इस तरह यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन भूगोल का मेल भारतीय पंचांगों से कतई नहीं बैठता है। जैन भूगोल में मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि ग्रहों का भ्रमण कैसे होता है, यह नहीं बताया है। इसलिए जैन भूगोल से पंचांग नहीं बन सकता है। आधुनिक पंचांगकर्ताओं ने हर्षल, नेपच्यून तथा प्लूटो ग्रहों को भी शामिल कर अपना ज्योतिष-शास्त्र पूर्ण कर लिया है। भारत की जनता इन पंचांगों पर विश्वास करती है और अपने सांस्कृतिक कार्यक्रम भी इन्हीं गणना के आधार पर होते हैं धार्मिक कार्यक्रम भी इन्हीं पंचांगों के तिथि अनुसार होते हैं।

(१२) अन्त में निवेदन है कि जैन समाज एक संशोधन कमेटी बनावें, जिनमें करणानुयोगी शास्त्री हों, वैज्ञानिक हों, ज्योतिषी हों और गणितज्ञ भी हों। वे उपरोक्त प्रकरणों की सूक्ष्मता से जाँच कर अपना निर्णय देवें कि सत्य क्या है और किसे मानना चाहिए।

(१३) कलकत्ता और बम्बई में प्लानेटेरियमों द्वारा जनता को आकाश के ग्रह-नक्षत्र-तारों की जानकारी प्रतिदिन अनेक बार दी जाती है। इनसे विषय को समझने में सहायता ली जा सकती है।

(१४) भारत के दो उपग्रह "आर्यभट्ट" और "फखरुद्दीन अहमद" पृथ्वी के चक्कर लगाते रहते हैं, इनसे भी प्रेरणा मिल सकती है।

उपरोक्त लेख का मुख्य आधार श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती विरचित तथा श्रीमन्माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव कृत व्याख्या सहित "त्रिलोकसार" ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ ब्र० लाडमल जैन, अधिष्ठाता, शान्तिवीर गुरुकुल, श्री महावीरजी (राजस्थान) द्वारा वीर निर्वाण सं० २५०१ में प्रकाशित हुआ है। सम्बन्धित गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

गाथा नं०	पृष्ठ नं०	विषय
३०८	२५४	जंबूद्वीप का व्यास
३११	२५८	जंबूदीप की परिधि व क्षेत्रफल इनकी जगह आधुनिक फार्मूला का उपयोग किया है यथा— (१) त्रिज्या = व्यास ÷ २ (२) परिधि = $\pi \times$ व्यास ($\pi = ३.१४१६$) (३) क्षेत्रफल = $\pi \times$ त्रिज्या^{2} (४) घनफल (गोल वस्तु का) = $\frac{४ \times \pi \times \text{त्रिज्या}^3}{३}$ (५) क्षेत्रफल (गोल वस्तु का) = $४ \times$ ^{३} $\times$ त्रिज्या^{2}
६०४	५०६	भरतक्षेत्र का विष्कंभ ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन
७७१	६१० ६११ ६१७	भरतक्षेत्र की जीवा १४४७१$\frac{५}{१९}$ योजन
३०८	२५४	लवणसमुद्र का विस्तार
३०९ ३१०	२५५ २५६	वलयव्यास सूचीव्यास
६०६	५१०	मेरुगिरि का उदय, भू व्यास व मुख व्यास
४७०	४०८	स्वर्ग व मोक्ष का स्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२१	२०७	व्यन्तर तथा भवनवासी देवों के आवास
२२२	२०८	तथा
२६०	२४५	नारकियों के आवास
३४६	२६०	जंबूद्वीप सम्बन्धी दो सूर्य तथा दो चन्द्र
३७८	३२४	
से	से	ज्योतिर्लोकाधिकार सम्बन्धी
४०६	३७०	समस्त विवरण

इस ग्रन्थ में एक योजन ४००० मील के बराबर लिया है। इसके लिए प्रस्तावना—त्रिलोकसार के गणित की विशेषताएँ पृष्ठ ३४ देखें २ मील = १ कोश, ४ कोश = १ योजन, ५०० योजन = एक महायोजन।

भरत क्षेत्र का क्षेत्रफल आधुनिक गणित पद्धति से निकाला है।

(AREA OF SEGMENT = AREA OF SECTOR – AREA OF TRIANGLE OVER ITS CMORD)

पुष्कर संस्मरण

चरणामृत नहीं, वचनामृत

एक वृद्ध सज्जन अपने पौत्र को लेकर आये। उनके हाथ में एक गरम पानी का जल पात्र था और चाँदी की कटोरी थी। उन्होंने गुरुदेव को नमस्कार कर कहा—गुरुदेव मेरा पौत्र कई दिनों से अस्वस्थ है। मैंने अनेकों उपचार करवाये; किन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। मेरा आत्म-विश्वास है कि आप अध्यात्मयोगी हैं जरा आपका चरणामृत मिल जाय तो यह पूर्ण स्वस्थ हो जाएगा। गुरुदेव ने कहा—चरणामृत नहीं, मंगल-पाठ जो वचनामृत है उसी का पान करा दो जिससे इसे लाभ होगा। गुरुदेव ने मंगल-पाठ सुनाया। दूसरे दिन वह वृद्ध नाचता हुआ आया और बोला—गुरुदेव! आपके वचनामृत में अद्भुत चमत्कार है जिससे मेरा पौत्र स्वस्थ हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Jain Literature in Kannada

Dr. B. K. Khadabadi, M. A., Ph. D.
3, Pal Building, Saptapur, Dharwar.

Jain Literature in General

Jaina literature in its earliest phase is found in Prakrit *viz.*, Ardhamāgadhī and Jaina Śaurasenī. According to the Śvetāmbara tradition, after Lord Mahāvīra taught the Sacred Laws in the Ardhamāgadhī language, his teachings, as received and composed by Sudharmā (the 5th Gaṇadhara) in the twelve Aṅgas, were preserved through *svādhyāya* on the tongues of generations of monks for about a thousand years and then were finally put to writing, more or less, in the same language[1] at the Vallabhī Council convened by Devardhigaṇī in 454 A. D. According to the Digambara tradition, the canonical knowledge of the twelve Aṅgas was almost lost except some portion of the 12th Aṅga and a part of the 5th Aṅga which have been preserved in the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* by the great foresight of Ācārya Dharasena and the sincere efforts of the two learned monks Puṣpadanta and Bhūtabali who composed it in Jaina Śaurasenī between the 1st and 2nd centuries A. D.[2] Besides almost all other works of the pro-canon of the Digambaras have also been composed in Jaina Śaurasenī.

After the appearance of the principal canonical works in Ardhamāgadhī and Jaina Śaurasenī, commentaries of varied types were written in Jaina Mahārāṣṭrī, Jaina Śaurasenī and also in Sanskrit. Thereafter Jaina teachers and scholars commenced to produce original works in Sanskrit, in addition to those in Prakrit, possibly to convince and propagate their religious tenets in Sanskrit-knowing circles and also to expand their influence over rival groups and others by composing worthy works of secular nature too. There also arose a situation when Sanskrit was preferred to Prakrit as a literary medium. Shri K. M. Munshi, observes :[3] "The revolt in favour of using Sanskrit as against Prakrit, headed by Siddhasena Divākara (C. 533 A. D.) was an attempt to raise the literature and the thought of the Jainas to the high intellectual level attained by those of the Brahmins. This revolt naturally met with considerable opposition from the orthodox Sādhus."

Moreover wherever the Jaina teachers moved and settled down they adopted the language of the soil, cultivated it and produced in it excellent works of varied interests. Tamil and Kannada literatures stand out as classical examples of this Jaina feat in South India, whereas Apabhraṁśa (the forerunner of the New Indo-Āryan languages), Hindī, Rājasthānī and Gujarātī hold out this fact to a notable extent in North India. Thus in the long cultural history of India, the contribution of the Jainas to Indian literature and thought can be seen through the media of Prakrit (Ardhamāgadhī, Jaina Śaurasenī, Jaina Mahārāstri and Apabhraṁśa) and Sanskrit, through Hindī, Rājasthanī, Gujarātī in North India and Tamil and Kannada in South India. And this contribution, as assessed by eminent scholars like Winternitz,[4] is of no mean value.

Jaina Literature in South Indian Languages

The beginning and growth of Jaina literature in South Indian languages is invariably

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

connected with the advent and prosperity of Jainism in South India. According to a well-known South Indian tradition, Jainism entered into South India with the great migration of the Jaina Saṅgha, headed by the Śrutakevalī Bhadrabāhu and accompanied by his royal disciple Candragupta, who left Madhyadeśa owing to the twelve year famine, moved to the South and had their first colony at Kaḷbappu (Śravaṇabeḷgoḷa) in C. 300 B.C. Then a part of the Saṅgha under Viśākhācārya moved fruther to the Tamil country. But an evidence of the existence of Jainism in Ceylon in C. 400 B.C. led scholars to serious thinking and, then, to a reasonable conclusion that Jainism had made its entrance into the Telugu country via Kaliṅga during the life-time of Mahāvīra himself (C. 600 A. D.), passed on to the Tamil country and then reached Ceylon and that consequently the Jaina followers were already in Karnatak before the great migration.[6]

This acceptable track of Jainism in South India would naturally tempt us to expect from the Talugu region, which was the first and earliest to receive the Jaina teachers and scholars, rich and varied forms of Jaina literature in the Telugu language. But the actual state of things is quite different : there are found just less than a half dozen Jaina works belonging to the later period, the earliest available literary work in the language being the *Mahābhārata* of Nannayya Bhaṭṭa (C. 1050 A.D.). But taking into consideration the very early advent of Jainism into the Telugu country, the available Jaina epigraphs and the various Jaina vestiges, scholars opine that at the beginning Jainism had its hold in several parts of the Telugu country. Then rivalling with Buddhism on one hand and the Hindu reaction on the other, it established its influence over different strata of society and had made Krishna and Guntur districts its strong-holds. The 9th and 10th centuries were prosperous for it. By the middle of the 11th century, the mighty and violent Hindu revival swept it away when all Jaina literary works might have been destroyed.[6] The names like *danavulapāḍu* (Place of demons) given to a Jaina vestige is sufficient to indicate the whole dreadful story.[7] Hence it will not be hazardous if we surmise a Jaina period in the Telugu literary history between the 9th and 11th centuries.

But in the Tamil country, which received Jainism in two streams as noted above, Jaina literature had a good beginning and considerable growth until the Śaiva saints and the Vaiṣṇava Alvāras strongly reacted and produced vast literature of their own. As usual the Jaina monks and scholars soon picked up the Tamil language, cultivated it for literary usage and produced in it a good amount of literature in its varied branches : inscriptions, poetry, prosody, grammar, lexicography, mathematics, astrology etc.[8] To mention a few :[9] *Tolkāppiyam* (C. 450 A.D.)—the most authentic Tamil grammar, *Tirukkuraḷ* (C. 600 A.D.)[10]—the immortal Tamil Veda, *Śilappadikāram* (C. 800 A.D.)—the well-known Tamil classic of abiding interest, *Jīvaka Cintāmaṇī* (C. 1000 A.D.) —the great romantic epic and *Vasudevanār Sindam* (?),[11] which is based on the Paiśācī Bṛhatkathā of Guṇāḍhya and which stands in rank with the Prakrit *Vasudevahiṇḍī*—are all by Jaina authors. The Tamil Jaina inscriptions, as observed by scholars in the field,[12] clearly show the Jaina contribution to the growth of Tamil language and literature.

When we come to the Malayālam langauge of Keral, the Southern portion of the west coast of India, we do not find any Jaina contribution in it. The reason is obvious that it happens to be the youngest of the Dravidian group of languages which had its distinctive existence just by the 10th century.A.D. Until when Śendamil (Pure Tamil) was the sole language of the land. The first Malayālam literary pieces go back to C. 13th century A. D.[13] Yet there are reasons to believe that Jainism had its spread and roots in this country too. It is interesting to note that Prof. A. Chakravarti, while presenting critical observations on the *Śilappadikāram*, writes[14] "Mr. Logan in his Malbar District Manual states several important points indicating the Jaina influence over the people of Malbar coast before the introduction of Hinduism." Moreover, Dr. P. B. Desai, basing his study on the notes on the Chitral inscription and the Jaina vestiges in Travanacore published in the Travanacore Archaeological Series, Vol. I (1910-13), pp. 193 ff., and Vol. II (1920), pp. 125 ff., comes to conclusion that approximately the age of 9th to 11th centuries

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

constituted the glorious period of Jainism in Keral.[15] Hence we can reasonably expect some Jaina literature produced in Keral during this period. But according to the linguistic picture of the country of this period, as viewed above, such literature could be in Tamil alone

And lastly coming to Kannada, we find that this has been for the Jaina scholars—monks and lay disciples, the most favourite of the South Indian languages in which they have left a very rich literary heritage in addition to their contributing significantly to the general cultural wealth of the land which they have described as the home of Jainism in one of their inscription.[16]

Jaina Literature in Kannada

Jaina literature in Kannada, being vast and varied, is a topic for an independent monograph. Hence taking just a bird's researching eye-view of it or presenting a descriptive and critical sketch of outstanding works and authors, high-lighting some of the findings of the recent researches, could alone be within the range of my attempt here.[17]

The earliest available Jaina literature in Kannada can be said to be in inscriptional form belonging to C. 7th century A.D. and even a little earlier. In the epigraphic wealth of Karnataka the Jaina share is of considerable volume and value[18] and it extends even up to the end of the 18th century. Many of the Kannada Jaina inscriptions are metrically composed and have high poetic quality. Some of them also provide us with varied data of religious, social and political importance. It can be remembered with pride that the appearance of the Śravaṇabelgoḷa inscriptions in the Epigraphia Carnatica Volumes gave the Jaina studies a historic and scientific turn and inspired towards the birth of the esteemed volumes of the Jaina Śilālekha Saṅgraha in the M. D. J. series.

Then the earliest available Jaina literary work in Kannada is the *Kavirājamārga*, a treatise on poetics, of Nṛpatuṅga, the Rāṣṭrakūṭa King, also known as Amoghavarṣa (815—877 A.D.) who was a disciple of Ācārya Jinasena. This work on poetics naturally presupposes the existence of a pretty good number of earlier Kannada works. Nṛpatuṅga mentions several names of earlier eminent writers of Kannada prose and poetry : Vimala, Udaya, Nāgārjuna, Jayabandhu and Durvinīta as eminent prose-writers ; Śrivijaya, Kavīśvara, Paṇḍita, Candra and Lokapāla as renowned poets. Unfortunately we do not get any exact and decisive information about these authors, Durvinīta is identified as the Gaṅga King who was a disciple of Devanandī or Pūjyapāda. Kavīśvara is surmised as Kaviparameṣṭhi praised by the Ācāryas Jinasena and Guṇabhadra. Any way it is quite possible that several of these authors were Jains.

Besides such eminent authors there are a few great ones who, along with their works, are known by references only : Syāmakuṇḍācārya wrote a commentary in 12,000 gathas on the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* and *Kaṣāya Prābhṛta* in Sanskrit, Prakrit and Kannada. He is placed in C. 600 A. D. Tumbaḷūrācārya wrote on these very works another commentary in Kannada, named *Cūḍāmaṇi* extending over 91,000 gāthās. He is placed between round-about 650 A.D. Moreover some so far unidentified scholar wrote on the *Tatvārthasūtra* an exhaustive commentary in Kannada extending over 96,000 gāthās. Though anything definite about its date cannot be said, it must be more or less on the same antiquity as that of the two commentaries on the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* noted above. Lastly, Bhrājṣṇu wrote in Kannada a voluminous commentary on the *Mūlārādhanā (Bhagavatī Ārādhanā)*.[19] It appears to have been in prose and possibly belonging to the period anterior to that of Nṛpatuṅgā.

Had these four commentarial works, together with those of the eminent authors mentioned by Nṛpatuṅga, been available to us, the glory of the early Kannada literature, as mainly built by the Jaina teachers and scholars, would have stood before our eyes in its far factual vividity than could be just conjectured now; and also the early line of development of Kannada literature could have been restored to a great extent. Hence all these four commenta-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

rial works can be said to represent a hidden landmark in the history of early Kannada literature and I am tempted to call the period covered by these works, together with a few other ones,[20] the Period of the great Jaina Commentories, which could in all probability be the 6th and 7th centuries A. D.

Next to *Kavirājamārga* is available the Vaḍḍārādhane (C. 925 A. D.) the earliest available prose work in Kannada which is based on the *Mūlārādhanā* (*Bhagavatī Ārādhanā*) of Śivārya. It is an *Ārādhanā Kathākośa* standing in rank with similar *Kathākośas* of Hariṣeṇa, Śricandra, Nemidatta and Prabhācandra. This can be said to be the only *Ārādhanā Kathākośa* in modern Indian languages, Aryan or Dravidian, and hence, is of great oriental value. It shows considerable influence of the diction of the Prakrit narrative works and is unparallelled in Kannada literature in respect of its excellence of language and literary style.[21] Along with this classic can be mentioned another prose work, the *Cāvuṇḍarayapurāṇa* (C. 978 A. D.), composed by the great Cāmuṇḍarāya. The prose of this work shows some Prakrit influence; but the language is more Sanskrit-ridden.

Now entering the realm of poetry, we first meet Pampa (941 A. D.), the greatest of the Kannada poets. He is known as the Ādikavi of Karnataka. His *Ādipurāṇa* and *Vikramārjunavijaya*, composed in the Campū style, are the masterpieces in Kannada literature. Ponna (C. 950 A. D.), known as Kavicakravartī, composed his *Śāntipurāṇa* in the same Campū style. Ranna (C. 993 A. D.). also entitled as Kavicakravartī by the Cālukya King Tailapa, gave us the far esteemed *Ajitapurāṇa* and *Gadāyudha*. All these three poets are known as the Ratnatraya of Kannada literature.

Among other eminent Jaina poets who flourished after this great trio, the following are worthy of special mention along with their respective works : *Śāntināthapurāṇa* (1068 A. D)—*Sukumāracarita*; Nāgacandra or Abhinavapampa (C. 1100 A. D.)—*Ramcandracaritapurāṇa* and *Mallināthapurāṇa* Brahmaśiva (C.1100 A. D.)—*Samayaparīkṣe* and *Trailokyacūḍāmaṇi Stotra*; Nayasena (C. 1112 A.D.)—*Dharmāmṛta*; Nemicandra (C. 1170 A. D.)—*Nemināthapurāṇa* known as *Ariṣṭanemi* and also a secular romance called *Līlāvati*; Aggaḷa (C. 1189 A.D.)—*Candraprabhapuraṇa*; Bandhuvarma (C. 1200 A.D.)—*Harivaṁśa Purāṇa*; Guṇavarma II (C. 1225 A.D.)—*Puṣpadantapurāṇa*; Janna (C. 1230 A. D.)—*Yaśodharacarita* and *Anantanāthapurāṇa*, Āṇḍayya (C. 1300 A.D.)—*Kabbigara Kāva*, an interesting secular work written in pure Kannada without the mixture of Sanskrit words; Nāgarāja (C. 1331 A.D.)—*Puṇyāsrava*, Mudhura (C. 1385 A.D.)—*Dharmanāthapurāṇa*; Bhāskara (C. 1424 A. D.)—*Jīvandharacarite*; Bommarasa (C. 1485 A. D.)—*Sanatkumāracarite*; and Ratnākaravarni (C. 1557 A. D.)—*Bharateśa Vaibhava*.

The Jainas, being the earliest cultivators of the Kannada language, have predominantly contributed to its grammar, lexicography, prosody and poetics : Nāgavarma's (II) *Karṇāṭaka-Bhāṣābhūṣaṇa* (C. 1145) in Sanskrit Sutras, Keśirāja's *Śabdamaṇidarpaṇa* (C. 1260 A. D.) in Kannada and Bhaṭṭākalaṅka's *Śabdānuśāsana* (1604 A. D.) in Sanskrit with his own exhaustive commentary are well-known grammatical works among which that of Keśirāja is accepted as the most authoritative one. Ranna's *Rannakanda* and Nāgavarma's (II) *Vastukośa* are the earliest lexicons. Nāgavarma's (I) *Chandombundhi* (C. 990 A. D.) is the earliest extinct work on Kannada prosody. Nṛpatuṅga's *Kavirājamārga* (C. 815 A. D.), Nāgavarma's *Kāvyāvalokana* (C. 1145 A. D.) and Sāḷva's *Rasaratnākara* (C. 1500 A. D.) are notable works on Kannada poetics.

Besides inscriptions and commentaries, poetry and prose (with biography, religion, philosophy, metaphysics, logic etc.) grammar and lexicography, prosody and poetics, the Jaina scholars also applied themselves to several other fields like Mathematics, astrology, medicine, veterinary science, toxicology, cookery etc. and have produced many interesting books on these subjects. The last notable Jaina contribution to Kannada literature may be said to be in the fied of history—rather quasi-history (Jaina traditional history and chronology) i. e., the *Rājāva-*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Iikathe by Devacandra, composed at the instance of a queen of the Mysore Royal Family. The number of Jaina authors in Kannada, as noted by the late M. M. R. Narasimhachar some forty years ago, is about two hundred.[22] To this number may be added another hundred found in recent years. A cursory survey of the *Kannaḍa Prāntīya Tāḍapatrīya Granthasūci* [23] and the *List of Unmentioned works of the History of Kannada Literature*,[24] shows that there are numerous Kannada Jaina authors and Jaina works (some without the author's names) awaiting publication. All these are of the nature of commentaries on the Prakrit works of Kundakunda, Vaṭṭakera. Kārtikeya, Nemicandra etc., their translations and digests, their imitations, Purāṇas, Caritas, collections of stories etc.

Conclusion

The Jaina teachers and scholars happen to be the earliest cultivators of Kannada language for literary purpose. Unfortunately the earlier line of the development of Kannada literature, for the laying of which mainly the Jaina scholars appear to have been responsible, is not traceable. The great Kannada Jaina Commentaries on the pro-canonical works in Prakrit and Sanskrit represent a hidden landmark in the early history of Kannada literature of the 6th and 7th centuries A.D. There must have flourished several Jaina writers of prose and poetry during the period of the 7th and 8th centuries A.D. *i.e.*, prior to the appearance of the *Kavirājamārga* and a pretty good number of the authors mentioned in it must have been Jaina teachers and scholars. The period between the 9th and 13th centuries A.D. can reasonably called not only the Jaina Period but also the 'Augustan Age' of Kannada literature, though Jaina authors continued to appear here and there up to the middle of the 19th Century A.D. The Jaina literature in Kannada though religious in the main, it also possesses a number of secular works produced for the benefit of day-to-day life of the people at large. In respect of antiquity Jaina Literature in Tamil stands first and that in Kannada stands next, not only among South Indian languages but also when compared with that in north Indian ones. But in extent and range, Jaina literature in Kannada surpasses that in Tamil too. Thus the contribution of Jainism to Kannada literature is unique ; and early literature, to a certain extent, has often served as an authentic source of religious, social and political history of a community in India as also elsewhere. Hence without a thorough study of Jaina literature in Kannada, the Jaina Studies in general would not only remain incomplete but even rather poor.

Notes and References

1. Of course admitting the changes effected by time, of which we have no record.
2. Thus the two traditions regarding the preservation of the canonical knowledge are complement each other to a certain extent. Vide Introduction to *Ṣaṭkhaṇḍagama* Vol. I, by Dr. H. L. Jain, Amaravati, 1939, p. iii.
3. In his *Gujārat and its Literature*, Longmans, Green and Co.. Ltd., Bombay 1935, p. 32.
4. In his *History of Indian Literature*, Vol, II, Calcutta 1933, pp. 394—95.
5. (i) Vide *Jainism in South India and some Jaina Epigraphs*, by Dr. P. B. Desai, Sholapur 1957, pp. 18 ff and *Dakṣiṇa Bhārat meṁ Jaina Dharma* by Pt. K. C. Shastri, Varanasi, 1967, Intro. pp. i-iii.
   (ii) Vide also Antiquity of Jainism in South India, *Indian Culture*, Vol. IV, pp. 512-516.
6. Vide Pt. K. C. Shastri, op. cit., pp 62-72.
7. Noted by Dr. P. B. Desai, op. cit , p. 15.
8. For details on this topic vide *Jaina Literature in Tamil*, by Prof. A. Chakravarti, First Revised Edition, Delhi 1974.
9. For the dates of these Tamil works, some of which are controversial, I have mainly depended on the *History of Tamil Literature*, by Prof. S. Vaiyapuri Pillai, Madras, 1956.
10. There has been also a lot of controversy on the authorship of this great work : Some

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

scholars have claimed that the author of this work is Kundakundācārya (Elācārya). Generally it is attributed to Vaḷḷuvar ; but scholars have differed on the details of his life. Discussing all such points Prof. Pillai observes : "That he was a Jain admits of no doubt." Vide op. cit. pp. 79—88.

11. This important work, however, has not yet come to light. It is mentioned in the commentary of Yāpparuṅgalam. Vide Prof. Pillai, op. cit., p. 139.
12. Like Dr. K. V. Ramesh, Intro. to *Jaina Literature in Tamil*, pp. XVIII—XIX.
13. For further details on Malayalam Literature, Vide *Shipley's Encyclopaedia of Literature*, New York 1946, pp. 536-539.
14. Op. cit , p. 61.
15. Vide Jainism in Kerala, *Journal of Indian History*, Vol. XXXV—2, 1957.
16. It is the Kuppaṭūr inscription of 1408 A.D. : *Epigraphia Carnatica*, Vol, VIII, Sb. 261.
17. The general sketch of the Jaina literature in Kannada drawn here, is mainly based on : (i) *Kavicarite*, Vols. I—III by R. Narasimhachar, Bangalore 1961—63, (ii) *History of Kannada Literature*, by the same author, Mysore 1940. (iii) *Epigraphia Carnatica*, Vols I and II. (iv) *Śasanapadya Mañjari*, by R. Narasimhachar, Bangalore 1923.
18. It is interesting to note that of the 375 Jaina epigraphs in different languages recently collected in the *Jaina Śilālekha Saṅgraha*, Part V (M. D. J. Series No. 52, Delhi 1971), 110 are in Kannada : Introduction by the editor Dr. Johrapurkar, p. 15.
19. Bhrājiṣṇu is mentioned by Rāmacandra Mumukṣu, author of the *Puṇyāsrava Kathākośa*. For details on his Kannada commentary on the *Ārādhanā*, Vide 'Observations on some Sources of the Puṇyāsrava Kathākośa,' by Dr. B. K. Khadabadi, *Journal of Karnatak University* (Humanities), Vol. XIV, 1970.
20. (i) There could also be some commentaries on a few important works of Kundakudācārya viz., *Pañcāstikāya*, *Pravacanasāra*, Samayasāra, *Niyamasāra*, etc. and the *Mūlācāra* of Vaṭṭkera.
    (ii) With the addition of these; the mammoth attempt at the commentarial exposition in Kannada of the early stratum of the pro-canon of the Digambaras would have been completed.
21. For all details and comparative study of this important Kannada Jaina classic, vide '*Vaḍḍāradhane : a study*,' by Dr. B. K. Khadabadi, Karnatak University, Dharwar 1977.
22. *History of Kannada Literature* p. 66.
23. Edited by Pt. K. Bhujabali Shastri, Bharatiya Jñānapiṭha, Varanasi, 1948.
24. Available in Kannada : *Karṇāṭaka Kavicariteya Anukta Kṛtisuci*, by S. Shivanna, Mysore University, 1967.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दी जैन-काव्य में योगसाधना और रहस्यवाद

डा० श्रीमती पुष्पलता जैन
एम. ए., (हिन्दी, भाषा विज्ञान) पी-एच. डी. नागपुर

व्यक्ति का विशुद्धतम साध्य सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हुआ करता है। इस साध्य की प्राप्ति के लिए वह अपने कर्मों की निर्जरा करने का सतत प्रयत्न करता है। प्रयत्न का यही रूप योगसाधना है और उसका भावात्मक पक्ष रहस्यभावना है। यहाँ हम रहस्यभावना अथवा रहस्यवाद पर चर्चा नहीं करेंगे।[1] मात्र इतना कहना चाहेंगे कि अध्यात्मवाद की चरम अवस्था को प्राप्त करने वाला साधक रहस्यभावना के मिथ्यात्व, मोह-माया आदि तत्त्वों को समूल नष्ट करने का अथक प्रयत्न करता है।

रहस्यभावना के बाधक तत्त्वों को दूर कर साधक, साधक-तत्त्वों को प्राप्त करने में जुट जाता है और उनमें रमण करते हुए एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जब उसके मन में संसार से वितृष्णा और वैराग्य का भाव जाग्रत हो जाता है। फलतः वह सद्गुरु की प्रेरणा से आत्मा की विशुद्धावस्था में पहुँच जाता है। इस अवस्था में साधक की आत्मा, परमात्मा से साक्षात्कार करने के लिए आतुर हो उठती है और उस साक्षात्कार की अभिव्यक्ति के लिए वह रूपक, आध्यात्मिक विवाह, आध्यात्मिक होली, फागु आदि साहित्यिक विधाओं का अवलम्बन खोज लेती है। मध्यकालीन हिन्दी जैन-काव्यों में इन विधाओं का पर्याप्त उपयोग हुआ है। उनमें साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार की रहस्य साधनाओं के दर्शन होते हैं। साधना की चिरन्तनता, मार्मिकता, संवेदनशीलता, स्वसंवेदनता, भेद-विज्ञान आदि तत्त्वों ने साधक को निरंजन, निराकार, परमवीतराग आदि रूपों में पगे हुए साध्य को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया है और चिदानन्द, चैतन्यमय, ब्रह्मानन्द रस का खूब पान कराया है। साथ ही परमात्मा को अलख, अगम, निराकार, अध्यात्म-गम्य, परब्रह्म, ज्ञानमय, चिद्रूप, निरन्जन, अनक्षर, अशरीरी, गुरु गुसाईं, अगूढ़ आदि शब्दों का प्रयोग कर उसे रहस्यमय बना दिया है।[2] दाम्पत्यमूलक प्रेम का भी सरस प्रवाह उसकी अभिव्यक्ति के निर्झर से झरता हुआ दिखाई देता है। इन सब तत्त्वों के मिलने से जैन-साधकों का रहस्य परमरहस्य बन जाता है।

प्रस्तुत निबन्ध में हमने साधनात्मक पक्ष में सहज-योग साधना और भावनात्मक पक्ष में दाम्पत्यमूलक आध्यात्मिक प्रेम, विवाहलो, होली, फागु आदि का उल्लेख किया है। इन दोनों ही प्रकारों से साधक अपने परम रहस्य को प्राप्त करता है।

योग-साधना भारतीय साधनाओं का अभिन्न अंग है। इसमें साधारणतः मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया का समावेश किया गया है। उत्तरकाल में यह परम्परा हठयोग की प्रस्थापना में मूलकारण रही। इसमें सूर्य और चन्द्र के योग से श्वासोच्छ्वास का निरोध किया जाता है अथवा सूर्य (इड़ा नाड़ी) और चन्द्र (पिंगला) को रोककर सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु का संचार किया जाता है। उत्तरकालीन वैदिक और बौद्ध सम्प्रदायों में हठयोग साधना का बहुत प्रचार हुआ। जैन साधना में मुनि योगीन्दु[3], मुनि रामसिंह और सन्त आनन्दघन में इसके प्रारम्भिक तत्त्व अवश्य मिलते हैं।[4] पर उसका वह वीभत्स रूप नहीं मिलता जो उत्तरकालीन वैदिक अथवा बौद्ध सम्प्रदाय में मिलता रहा है। जैन-साधना का हठयोग जैनधर्म के मूल भाव से पतित नहीं हो सका। उसे जैनाचार्यों ने अपने रंग में रंगकर अन्तर्भूत कर लिया। योग-साधना सम्बन्धी प्रचुर साहित्य भी जैन साधकों ने लिखा है। उसमें योग दृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशति, योग-शास्त्र आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग का तात्पर्य है यम-नियम का पालन करना। यम का अर्थ है इन्द्रियों का निग्रह और नियम का अर्थ है महाव्रतों का पालन। पंचेन्द्रियों के निग्रह के साथ ही 'अन्तर्विजय' का विशेष महत्त्व है। उसे ही सत्यब्रह्म का दर्शन माना जाता है—"अन्तर विजय सूरता सांची, सत्यब्रह्म दर्शन निरवाची।"[५] इसी से योगी के मन की परख की जाती है।[६] ऐसा ही योगी धर्मध्यान और शुक्लध्यान को पा जाता है। दौलतराम ने ऐसे ही योगी के लिए कहा है—

"ऐसा योगी क्यों न अमयपद पावै, सो फेर न भव में आवै।"[७]

बनारसीदास का चिन्तामणि योगी आत्मा सत्यरूप है जो त्रिलोक का शोक हरण करने वाला है और सूर्य के समान उद्योतकारी है।[८] कवि द्यानतराय को उज्ज्वल दर्पण के समान निरंजन आत्मा का उद्योत दिखाई देता है। वही निर्विकल्प शुद्धात्मा चिदानन्दरूप परमात्मा है जो सहज-साधना के द्वारा प्राप्त हुआ है इसीलिए कवि कह उठता है—"देखो भाई आतमराम विराजे।[९] साधक अवस्था के प्राप्त करने के बाद साधक के मन में दृढ़ता आ जाती है और वह कह उठता है—

"अब हम अमर भये न मरेंगे।[१०]

शुद्धात्मावस्था की प्राप्ति में समरसता और तज्जन्य अनुभूति का आनन्द जैनेतर कवियों की तरह जैन कवियों ने भी लिया है। उसकी प्राप्ति में सर्वप्रथम द्विविधा का अन्त होना चाहिए जिसे बनारसीदास और भैया भगवतीदास ने दूर करने की बात कही है। आनन्दतिलक की आत्मा समरस में रंग गई —

"समरस भावे रंगिया अप्पा देखई सोई,
अप्पउ जाणइ परहणई आणंद करई णिरालंब होई।[११]

यशोविजय ने भी उनका साथ दिया।[१२] बनारसीदास को वह कामधेनु चित्रावेलि और पंचामृत भोजन जैसा लगा।[१३] उन्होंने ऐसी ही आत्मा को समरसी कहा है जो नय पक्षों को छोड़कर समतारस ग्रहण करके आत्मस्वरूप की एकता को नहीं छोड़ती और अनुभव के अभ्यास से पूर्ण आनन्द में लीन हो जाती है।[१४] ये समरसी सांसारिक पदार्थों की चाह से मुक्त रहते हैं—"जो समरसी सदैव तिनकौं कछू न चाहिए।[१५] ऐसा समरसी ब्रह्म ही परम महारस का स्वाद चख पाता है। उसमें ब्रह्म, जाति, वर्ण, लिंग, रूप आदि का भेद अब नहीं रहता। भूधरदास जी को सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के बाद कैसी आत्मानुभूति हुई और कैसा समरस रूपी जल झरने लगा, यह उल्लेखनीय है—

"अब मेरे समकित सावन आयो॥
बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो॥
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो।
बोलैं विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन भायो॥
मूल धूल कहि मूल न सूझत, समरस जल झर लायो।
भूधर को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो॥[१६]

आनन्दघन पर हठयोग की जिस साधना का किंचित् प्रभाव दिखाई देता है वह उत्तरकालीन अन्य जैनाचार्यों में नहीं मिलता—

"आतम अनुभव रसिक को, अजब सुन्यो बिरतंत।
निर्वेदी वेदन करै, वेदन करै अनन्त॥
माहारो बालुड़ो सन्यासी, देह देवल मठवासी।
इड़ा-पिंगला मारग तजि जोगी, सुषमना घरबासी॥
ब्रह्मरंध्र मधि सांलन पूरी, बाऊ अनहद नाद बजासी।
यम नीयम आसन जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी॥
प्रत्याहार धारणा धारी, ध्यान समाधि समासी।
मूल उत्तर गुण मुद्राधारी, पर्यंकासन वासी॥[१७]

द्यानतराय ने उसे गूंगे का गुड़ माना।[१८] इस रसायन का पान करने के उपरान्त ही आत्मा निरञ्जन और परमानन्द बनता है।[१९] उसे हरि, हर ब्रह्मा भी कहा जाता है। आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति को ही दौलतराम ने "शिवपुर की डगर समरस सौ भरी, सौ विषय विरस रुचि चिरविसरी" कहा है।[२०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्यकाल में जिस सहज-साधना के दर्शन होते हैं उससे हिन्दी कवि भी प्रभावित हुए हैं, पर उन्होंने उसका उपयोग आत्मा के सहज स्वाभाविक और परम विशुद्धावस्था को प्राप्त करने के अर्थ में किया है। बाह्याचार का विरोध भी इसी सन्दर्भ में किया है।[२१] जैन साधक अपने ढंग की सहज साधना द्वारा ब्रह्मपद प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे। कभी-कभी योग की चर्चा उन्होंने अवश्य की, पर हठयोग की नहीं। ब्रह्मानुभूति और तज्जन्य आनन्द की प्राप्ति का उद्घाटन करने में जैन-साधकों की उक्तियाँ अधिक जटिल और रहस्मय नहीं बनीं और न ही उनके काव्य में अधिक अस्पष्टता आ पाई। जैन काव्य में सहज शब्द मुख्य रूप से तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है—१. सहज-समाधि के रूप में २. सहज-सुख के रूप में और ३. परमतत्त्व के रूप में।[२२]

पीताम्बर ने सहज समाधि को अगम और अकथ्य कहा है। यह समाधि सरल नहीं है वह तो नेत्र और वाणी से भी अगम है उसे साधक ही जान पाते हैं—

नैनन ते अगम अगम याही बैनन तैं,
उलट पुलट बहै कालकूट कह री।
मूल बिन पाए मूढ़ कैसे जोग साधि आवें,
सहज समाधि की अगम गति गहरी ॥३४॥[२३]

बनारसीदास ने उसे निर्विकल्प और निरुपाधि अवस्था का प्रतीक माना। वही आत्मा केवलज्ञानी और परमात्मा कहलाता है।

पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि,
दुंदज अवस्था की अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकल्प मेंटि,
निरविकलप ग्यान मन में धरतु है।
इन्द्रियजनित सुख-दुःख सौं विमुख ह्वै कै,
परम के रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागि पर की उपाधि,
आतम अराधि परमातम करतु है॥[२४]

इसी को आतम समाधि कहा गया है जिसमें राग-द्वेष मोह-विरहित वीतराग अवस्था की कल्पना की गई है।

रागद्वेष मोह की दसासों भिन्न रहै यातैं,
सर्वथा त्रिकाल कर्म जाल कौ विधुंस है।
निरुपाधि आतम समाधि में विराजै तानैं,
कहिए प्रगट पूरन परमहंस है॥[२५]

जैन साधकों ने नाम सुमिरन और अजपा जाप को अपनी सहज साधना का विषय बनाया है। साधारण रूप से परमात्मा और तीर्थंकरों का नाम लेना सुमिरन है तथा माला लेकर उनके नाम का जप करना भी सुमिरन है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने सुमिरन के जो तीन भेद माने हैं[२६] वे जैन साधकों ने अपनी साधना में अपनाये हैं। उन्होंने बाह्यसाधना पर चिन्तन करते हुए अन्तःसाधना पर बल दिया है। व्यवहारनय की दृष्टि से जाप करना अनुचित नहीं है पर निश्चयनय की दृष्टि से उसे बाह्य क्रिया माना है। तभी तो द्यानतरायजी ऐसे सुमिरन को महत्त्व देते हैं जिससे—

ऐसो सुमरन करिये रे भाई।
पवन थमै मन कितहु न जाई॥
परमेसुर सौं साचौं रही जै।
लोक रंजना भय तजि दीजै॥
यम अरु नियम दोऊ विधि धारौ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसन प्राणायाम समारो ॥
प्रत्याहार धारना कीजै ।
ध्यान समाधि महारस पीजै ।।[२७]

उसी प्रकार अनहद नाद के विषय में लिखते हैं—

अनहद सबद सदा सुन रे ।
आप ही जानैं और न जानैं;
कान बिना सुनिये धुन रे ॥
अमर गुंज सम होत निरन्तर,
ता अन्तर गति चितवन रे ॥[२८]

इसीलिए द्यानतरायजी ने सोहं को तीन लोक का सार कहा है । जिन साधकों के श्वासोच्छ्वास के साथ सदैव ही 'सोहं सोहं' की ध्वनि होती रहती है और जो सोहं के अर्थ को समझकर, अजपा जाप की साधना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं—

सोहं सोहं होत नित, सांस उसास मझार ।
ताको अरथ विचारियै, तीन लोक में सार ॥
तीन लोक में सार, धार सिव खेत निवासी ।
अष्ट कर्म सौं रहित, सहित गुण अष्ट विलासी ॥
जैसो तैसो आप थाप, निहचै तजि सोहं ।
अजपा जाप सँभार, सार सुख सोहं सोहं ॥[२९]

आनन्दघन का भी यही मत है कि जो साधक आशाओं को मारकर अपने अन्तः में अजपा जाप को जगाते हैं वे चेतन मूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं ।[३०] इसीलिए सन्त आनन्दघन भी सोहं को संसार का सार मानते हैं—

चेतन ऐसा ज्ञान विचारो ।
सोहं-सोहं सोहं सोहं सोहं अणु नबी या सारो ।[३१]

इस अजपा की अनहद ध्वनि उत्पन्न होने पर आनन्द के मेघ की झड़ी लग जाती है और जीवात्मा सौभाग्यवती नारी के सदृश भावविभोर हो उठती है—

"उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी ।
झड़ी सदा आनन्दघन बरखत, बन मोर एकनतारी ॥[३२]

सहज योग साधनाजन्य रहस्यभावना में साधक आध्यात्मिक क्षेत्र को अधिकाधिक विशुद्ध करता है तथा ब्रह्म (परमात्मा) और आत्मा के सम्मिलन अथवा एकात्मकता की अनुभूति तथा तज्जन्य अनिर्वचनीय परम सुख का अनुभव करता है । इन्हीं साधनात्मक अभिव्यक्तियों के चित्रण में वह जब कभी अपनी साधना के सिद्धान्तों अथवा पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग करता है । इस शैली को डॉ० त्रिगुणायत ने पारिभाषिक शब्दमूलक रहस्यवाद और आध्यात्मिक रहस्यवाद कहा है ।[३३] इस तरह मध्यकालीन जैन साधकों की रहस्यसाधना अध्यात्ममूलक साधनात्मक रहस्यभावना की सृष्टि करती है ।

भावनात्मक रहस्यभावना में साधक की आत्मा के ऊपर से जब अष्टकर्मों का आवरण हट जाता है और संसार के मायाजाल से उसकी आत्मा मुक्त होकर विशुद्धावस्था को प्राप्त कर लेती है तो उसकी भावदशा भंग हो जाती है । फलतः साधक विरह-विधुर हो तड़प उठता है । यह आध्यात्मिक विरह एक ओर तो साधक को सत्य की खोज अर्थात् परमपद की प्राप्ति की ओर प्रेरित करता है और दूसरी ओर उसे साधना में संलग्न रखता है । साधक की अन्तरात्मा विशुद्धतम होकर अपने में ही परमात्मा का रूप देखती है तब वह प्रेम और श्रद्धा की अतिरेकता के कारण उससे अपना घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने लगती है । यही कारण है कि कभी साधक उसे पति के रूप में देखता है और कभी पत्नी के रूप में, क्योंकि प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य रति में देखी जाती है । अतः रहस्यभावना की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और प्रिया के आश्रय में होती है ।

आध्यात्मिक साधना करने वाले जैन और जैनेतर सन्तों एवं कवियों ने इसी दाम्पत्यमूलक रतिभाव का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवलम्बन परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए लिया है। आत्मा-परमात्मा का प्रिय-प्रेमी के रूप में चित्रण किया गया है। श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव का यह कथन इस सन्दर्भ में उपयुक्त है कि लोक में आनन्दशक्ति का सबसे अधिक स्फुरण दाम्पत्य संयोग में होता, ऐसे संयोग में जिनमें दो की पृथक् सत्ता कुछ समय के लिए एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती है। आनन्दस्वरूप विश्वसत्ता के साक्षात्कार का आनन्द इसीकारण अनायास लौकिक दाम्पत्य-प्रेम के रूपकों मे प्रकट हो जाता है।[३४] अलौकिक प्रेमजन्य तल्लीनता ऐसी विलक्षण होती है कि द्वैधभाव ही समाप्त हो जाता है। मध्यकालीन कवियों ने आध्यात्मिक प्रेम के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विवाहों का चित्रण किया है। प्रायः इन्हें विवाहला, विवाह, विवाहलउ और विवाहलो आदि नामों से जाना जा सकता है। विवाह भी दो के मिलते हैं। रहस्यसाधकों की रहस्यभावना से जिन विवाहों का सम्बन्ध है उनमें जिनप्रभसूरि का अन्तरंग विवाह अति मनोरम है। सुमति और चेतन प्रिय-प्रेमी रूप हैं। अजयराज पाटणी ने शिवरमणी विवाह रचा जिसमें आत्मा वर (शिव) और मुक्ति वधु (रमणी) है। आत्मा मुक्तिवधु के साथ विवाह करती है।[३५]

बनारसीदास ने भगवान शांतिनाथ का शिवरमणी से परिणय रचाया। परिणय होने के पूर्व ही शिवरमणी की उत्सुकता का चित्रण देखिये, कितना अनूठा है—री सखि, आज मेरे सौभाग्य का दिन है कि जब मेरा प्रिय से विवाह होने वाला है पर दुःख यह है कि वह अभी तक नहीं आया। मेरा प्रिय सुख-कन्द है, उनका शरीर चन्द्र के समान है इसलिए मेरा मन आनन्द सागर में लहरें ले रहा है। मेरे नेत्र-चकोर-सुख का अनुभव कर रहे हैं, जग में उनकी सुहावनी ज्योति फैली है, कीर्ति भी छायी है, वह ज्योति दुःख रूप अन्धकार दूर करने वाली है, वाणी से अमृत झरता है। मुझे सौभाग्य से ऐसा पति मिल गया।[३६]

एक अन्य कृति अध्यात्मगीत में बनारसीदास को मन का प्यारा परमात्मा रूप प्रिय मिल जाता है। अतः उनकी आत्मा अपने प्रिय (परमात्मा) से मिलने के लिए उत्सुक है। वह अपने प्रिय के वियोग में ऐसी तड़प रही है जैसे जल के बिना मछली तड़पती है। मन में पति से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती है तब वह अपनी समता नाम की सखी से अपने मन में उठे भावों को व्यक्त करती है, यदि मुझे प्रिय के दर्शन हो जायें तो मैं उसी तरह मग्न हो जाऊँगी जिस तरह दरिया में बूंद समा जाती है। मैं अहंभाव को तजकर प्रिय से मिल जाऊँगी। जैसे ओला गलकर पानी में मिल जाता है वैसे ही मैं अपने को प्रिय में लीन कर दूंगी।[३७] आखिरकार उसका प्रिय उसके अन्तर्मन में ही मिल गया और वह उससे मिलकर एकाकार हो गई। पहले उसके मन में जो दुविधाभाव था वह भी दूर हो गया।

दुविधाभाव का नाश होने पर उसे ज्ञान होता है कि वह और उसका प्रियतम एक ही है। कवि ने अनेक सुन्दर दृष्टान्तों से इस एकत्वभाव को अभिव्यक्त किया है। वह और उसके प्रिय, दोनों की—

"जो पिय जासि जानि सम सोइ। जानहिं जात मिलै सब कोइ ॥१८॥
पिय मोरे घट, मैं पिय मांहि। जलतरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ॥१९॥
पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति ॥२०॥
पिय सुख सागर मैं सुखसींव। पिय शिव मन्दिर में शिवनींव ॥२१॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ॥२२॥
पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवलबानि ॥२३॥
जहँ पिय तहँ मैं पिय के संग। ज्यों शशि हरि में ज्योति अभंग ॥२४॥

कविवर बनारसीदास ने सुमति और चेतन के बीच अद्वैतभाव की स्थापना करते हुए रहस्यभावना की साधना की है। चेतन को देखते ही सुमति कह उठती है—रे चेतन, तुमको निहारते ही मेरे मन से परायेपन की गागर फूट गयी। दुविधा का अंचल फट गया और शर्म का भाव दूर हो गया। हे प्रिय, तुम्हारा स्मरण आते ही मैं राजपथ को छोड़कर मयावह जंगल में तुम्हें खोजने निकल पड़ी। वहाँ हमने तुम्हें देखा कि तुम शरीर की नगरी के अन्तःभाग में अनन्त शक्ति सम्पन्न होते हुए भी कर्मों के लेप में लिपटे हुए हो। अब तुम्हें मोह निद्रा को भंगकर और रागद्वेष को चूरकर परमार्थ प्राप्त करना चाहिए।

बालम तुहुँ तन चितवन गागरि फूटि।
अंचरा गो फहराय सरम गै छूटि ॥ बालम ॥१॥
हूँ तिक रहूँ जे सजनी रजनी घोर।
घर करकेउ न जानै चहुदिसि चोर ॥ बालम ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिउ सुधि पावत बन में पैसिउ पेलि।
छाडउ राज डगरिया भयउ अकेलि ॥ बालम ॥३॥
काय नगरिया भीतर चेतन भूप।
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप ॥ बालम ॥५॥
चेतन बूझि विचार धरहु सन्तोष।
राग दोष दुइ बंधन छूटत मोष ॥ बालम ॥१३॥[३८]

साधक की आत्मारूप सुमति के पास परमात्मा स्वयं ही पहुँच जाते हैं क्योंकि वह प्रिय के विरह में बहुत क्षीणकाय हो गई थी। विरह के कारण उसकी बेचैनी तथा मिलने के लिए आतुरता बढ़ती ही गई। उसका प्रेम सच्चा था इसलिए भटका हुआ पति स्वयं वापिस आ गया। उसके आते ही सुमति के खंजन जैसे नेत्रों में खुशी छा गयी और वह अपने चपल नयनों को स्थिर करके प्रियतम के सौन्दर्य को निरखती रह गयी। मधुर गीतों की ध्वनि से प्रकृति भर गयी। अन्तः का भय और पापरूपी मल न जाने कहाँ विलीन हो गये। क्योंकि उसका परमात्मा जैसा साजन साधारण नहीं, वह तो कामदेव जैसा सुन्दर और अमृत रस जैसा मधुर है। वह अन्य बाह्य क्रियायें करने से प्राप्त नहीं होता बनारसीदास कहते हैं—वह तो समस्त कर्मों का क्षय करने से मिलता है।

म्हारे प्रगटे देव निरंजन।
अटकौ कहाँ कहाँ सिर भटकत कहा कहूँ जन-रंजन ॥म्हारे०॥१॥
खंजन दृग, दृग नयनन गाऊँ चाऊँ चितवत रंजन।
सजन घट अन्तर परमात्मा सकल दुरित भय भंजन ॥म्हारे॥
वो ही कामदेव होय, कामघट वो ही मंजन।
और उपाय न मिले बनारसी सकल करमषय खंजन ॥म्हारे॥[३९]

जैन साधकों एवं कवियों ने रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का उद्घाटन करने के लिए राजुल और तीर्थंकर नेमिनाथ के परिणय कथानक को विशेष रूप से चुना है। राजुल आत्मा का प्रतीक है और नेमिनाथ परमात्मा का। राजुलरूप आत्मा नेमिनाथरूप परमात्मा से मिलने के लिए कितनी आतुर है यह देखते ही बनता है। यहाँ कवियों में कबीर और जायसी एवं मीरा से कहीं अधिक भावोद्वेग दिखाई देता है। संयोग और वियोग दोनों के चित्रण भी बड़े मनोहारी और सरस हैं।

भट्टारक रत्नकीर्ति की राजुल से नेमिनाथ विरक्त होकर किस प्रकार गिरिनार चले जाते हैं, यह आश्चर्य का विषय है। उन्हें तो नेमिनाथ पर तन्त्र मन्त्र मोहन का प्रभाव लगता है—"उन पे तन्त मन्त मोहन है, वेसो नेम हमारो।" सच तो यह है कि "कारण कोउ पिया को न जाने।" पिया के विरह से राजुल का संताप बढ़ता चला जाता है और एक समय आता है जब वह अपनी सखी से कहने लगती है—"सखी री नेम न जानी पीर", "सखी को मिलावो नेम नरिन्दा।"[४०]

भट्टारक कुमुदचन्द्र और अधिक भावुक दिखाई देते हैं। उनकी राजुल असह्य विरह-वेदना से सन्तप्त होकर कह उठती है—सखी री अब तो रह्यो नहीं जात।"[४१] हेमविजय की राजुल भी प्रिय के वियोग में अकेली चल पड़ती है उसे भी लोक-मर्यादा का बंधन तोड़ना पड़ता है। घनघोर घटायें छायी हुई हैं, चारों तरफ बिजली चमक रही है, पिउरे, पिउरे की आवाज पपीहा कर रहा है, मोरें कंगारों पर बैठकर आवाजें कर रहीं हैं। आकाश से बूँदें टपक रही हैं, राजुल के नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है।[४२] भूधरदास की राजुल को तो चारों ओर अपने प्रिय के बिना अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देता है। उनके बिना उसका हृदयरूपी अरविन्द मुरझाया पड़ा है। इस वेदना का स्वर वह अपनी मां से भी व्यक्त कर देती है, सखी तो ठीक ही है "बिन पिय देखें मुरझाय रह्यो है, उर अरविन्द हमारो री।"[४३] राजुल के विरह की स्वाभाविकता वहाँ और अधिक दिखाई देती है जहाँ वह अपनी सखी से कह उठती है—"तहाँ ले चल री जहाँ जदोपति प्यारो।"[४४]

इस सन्दर्भ में "पंच सहेली गीत" का उल्लेख करना आवश्यक है जिसमें छीहल ने मालिन, तम्बोलनी, छीपनी, कलालनी और सुनारिन नामक पाँच सहेलियों को पांच जीवों के रूप में व्यंजित किया है। पांचों जीव रूप सहेलियों ने अपने-अपने प्रिय (परमात्मा) का विरह वर्णन किया है। जब उन्हें ब्रह्मरूप पति की प्राप्ति नहीं हो पाती है तो वे उसके विरह से पीड़ित हो जाती हैं। कुछ दिनों के बाद प्रिय (ब्रह्म) मिल जाता है। उससे उन्हें परम आनन्द की प्राप्ति होती है। इस रूपक काव्य में बड़े सुन्दर ढंग से प्रियमिलन और विरह-जन्य पीड़ा का चित्रण है। उनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रिय-मिलन ब्रह्ममिलन ही है। पति का मिलन होने पर उनकी सभी आशायें पूर्ण हो गयीं। उन्होंने पति के साथ रभस आलिंगन किया। साधक जीव जब ब्रह्म से मिलता है तो एकाकार हुए बिना नहीं रहता। इसी को परमसुख की प्राप्ति कहते हैं। ब्रह्म-मिलन का चित्रण द्रष्टव्य है—

चोली खोल तम्बोलनी काढ्या गात्र अपार।
रंग कीया बहु प्रीयसुं नयन मिलाई तार॥[४५]

भैया भगवतीदास का 'लाल' उनसे कहीं दूर चला गया इसलिए उसको पुकारते हुए वे कहते हैं लाल, तुम किसके साथ घूम रहे हो। तुम अपने ज्ञान के महल में क्यों नहीं आते। तुमने अपने अन्तर में झांककर कभी नहीं देखा कि वहाँ दया, क्षमा, समता और शांति जैसी सुन्दर नारियाँ तुम्हारे लिए खड़ी हुई हैं। वे अनुपम रूपसम्पन्न हैं।[४६]

"कहाँ कहाँ कौन संग लागे ही किरत लाल,
आवौ क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में।
नेकहु बिलोकि देखौ अन्तर सुदृष्टि सेती;
कैसी कैसी नीकि नारी ठाड़ी हैं टहल में।
एक ते एक बनी, सुन्दर स्वरूप घनी,
उपमा न जाय बनी बाम की चहल में।"[४७]

आनन्दघन की आत्मा भी अपने प्रियतम के वियोग में तड़पती दिखाई देती है। इसी स्थिति में कभी वह मान करती है तो कभी उपालम्भ देती है तो कभी भक्ति के प्रवाह में बहती है, कभी प्रिय के वियोग में सुध-बुध खो देती है "पिया बिन सुधि-बुधि भूली हो।"[४८] विरह-भुजंग उसकी शैय्या को रात में खूंदता रहता है, भोजन-पान करने की तो बात ही क्या? अपनी इस दशा का वर्णन किससे कहा जाय?[४९] उसका प्रिय इतना अधिक निष्ठुर हो जाता है वह उपालम्भ दिये बिना नहीं रहती। वह कहती है कि मैं मन, वचन और कर्म से तुम्हारी हो चुकी, पर तुम्हारी यह निष्ठुरता और उपेक्षा क्यों? तुम्हारी प्रवृत्ति फूल-फूल पर मंडराने वाले भ्रमर जैसी है तो फिर हमारी प्रीति का निर्वाह कैसे हो सकता है। जो भी हो, मैं तो प्रिय से उसी प्रकार एकाकार हो चुकी हूँ जिस प्रकार पुष्प में उसकी सुगन्ध मिल जाती है। मेरी जाति भले ही निम्न कोटि की हो, पर अब तुम्हें किसी भी प्रकार के गुण-अवगुण का विचार नहीं करना चाहिए।

पिया तुम निठुर भए क्यूँ ऐसे।
मैं मन बच क्रम करी राउरी, राउरी रीति अनैसें॥
फूल फूल भंवर कैसी माउंरी भरत हौ निबहै प्रीति क्यूं ऐसे।
मैं तो पियतें ऐसि मिली आली कुसुम वास संग जैसें॥
ओछी जात कहा पर एती, नीर न ह्वैयै मैंसें।
गुन-अवगुन न विचारों आनन्दघन कीजियै तुम हो तैसे॥[५०]

आनन्दघन की आत्मा एक दिन सौभाग्यवती हो जाती है। उसे उसका प्रिय (परमात्मा) मिल जाता है। अतएव वह सोलहों शृंगार करती है। पहनी हुई झीनी साड़ी में प्रेम प्रतीति का राग झलक रहा है। भक्ति की मेहंदी लगी हुई है, शुभ भावों का सुखकारी अंजन लगा हुआ है। सहज-स्वभाव की चूड़ियाँ और स्थिरता का कंकन पहन लिया है। ध्यान की उर्वशी को हृदय में रखा और प्रिय की गुणमाला को धारण किया। सुरति के सिन्दूर से मांग संवारी, निरति की वेणी सजाई। फलतः उसके हृदय में प्रकाश की ज्योति उदित हुई। अन्तःकरण में अजपा की अनहद ध्वनि गुंजित होती है और अविरल आनन्द की सुखद वर्षा होने लगती है।

आज सुहागन नारी, अवधू आज।
मेरे नाथ आप सुध, कीनी निज अंगचारी।
प्रेम प्रतीति राग रुचि रंगत, पहिरे झीरी सारी।
मँहिदी भक्ति रंग की राची, भाव अंजन सुखकारी।
सहज सुभाव चुरी मैं पैन्ही, थिरता कंकन भारी।
ध्यान उरबसी उर में राखी, पिय गुनमाल अधारी।
सुरत सिन्दूर मांग रंगराती, निरतै बैनि समारी।
उपजी ज्योति उद्योत घट त्रिभुवन आरसी केवलकारी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी।
झड़ी सदा आनन्दघन बरसत, बन मोर एकनतारी ॥[५१]

जैनसाधकों ने एक और प्रकार के आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन किया है। साधक जब अनगार दीक्षा लेता है तब उसका दीक्षाकुमारी अथवा संयमश्री के साथ विवाह सम्पन्न होता है। आत्मारूप पति का मन शिवरमणी रूप पत्नी ने आकर्षित कर लिया—"शिवरमणी मन मोहीयो जी जेठै रहे जी लुभाय।"[५२]

कवि भगवतीदास अपनी चूनरी को अपने इष्टदेव के रंग में रंगने के लिए आतुर दिखाई देते हैं। उसमें आत्मारूपी सुन्दरी शिवरूप प्रीतम को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। वह सम्यक्त्व रूपी वस्त्र को धारण कर ज्ञान रूपी जल के द्वारा सभी प्रकार का मल धोकर सुन्दरी शिव से विवाह करती है। इस उपलक्ष में एक सरस ज्योंनार होती है जिसमें गणधर परोसने वाले होते हैं जिसके खाने से अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होती है।

तुम्ह जिनवर देहि रंगाइ हो, विनवइ सखी पिया शिवसुन्दरी।
अरुण अनुपम माल हो मेरी भव जल तारण चूनड़ी ॥२॥
समकित वस्त्र विसाहिले ज्ञान सलिल संग सेइ हो।
मल पचीस उतारि के दिढिपन साजी देइ जी ॥मेरी०॥३॥
बड़ ज्ञानी गणधर तहाँ भले, परोसणहार हो।
शिव सुन्दरी के ब्याह को, सरस भई ज्यौंणार हो ॥३०॥
मुक्ति रमणि रंग त्यौ रमैं, वसु गुण मंडित सेइ हो।
अनन्त चतुष्टय सुष घणां जन्म मरण नहि होइ हो ॥३२॥[५३]

आध्यात्मिक होली

जैनसाधकों और कवियों ने आध्यात्मिक विवाह की तरह आध्यात्मिक होलियों की भी सर्जना की है। इसको फागु भी कहा गया है। यहाँ होलियों और फागों में उपयोगी पदार्थों (रंग, पिचकारी, केशर, गुलाल, विविध वाद्य आदि) को प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यंजित किया गया है। इसके पीछे आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार से सम्बद्ध आनन्दोपलब्धि करने का उद्देश्य रहा है। यह होली अथवा फाग आत्मारूपी नायक शिवसुन्दरी रूपी नायिका के साथ खेलता है। कविवर बनारसीदास ने "अध्यातम फाग में 'अध्यातम बिन क्यों पाइये हो, परम पुरुष को रूप।' अघट अंग घट मिल रह्यो हो महिमा आगम अनूप।" की भावना से वसन्त को बुलाकर विविध अंग-प्रत्यंगों के माध्यम से फाग खेली और होलिका का दहन किया। 'विषम विरस' दूर होते ही 'सहज वसन्त' का आगमन हुआ। 'सुकचि-सुगंधिता' प्रगट हुई। 'मन-मधुकर' प्रसन्न हुआ। 'सुमति-कोकिला' का गान प्रारम्भ हुआ। अपूर्व वायु बहने लगी। 'भरमकुहर' दूर होने लगा। 'जड़ जाड़ा' घटने लगा। 'माया-रजनी' छोटी हो गई। 'समरस शशि' का उदय हो गया। 'मोह-पंक' की स्थिति कम हो गई। 'संशय-शिशिर' समाप्त हो गया। 'शुभ पल्लवदल', लहलहा उठे। 'अशुभ पतझर' होने लगी। 'मलिन विषयरति' दूर हो गई, 'विरति बेलि' फैलने लगी, 'शशि विवेक' निर्मल हो गया, 'थिरता अमृत' हिलोरें लेने लगा। 'शक्ति सुचन्द्रिका' फैल गई, 'नयन चकोर' प्रमुदित हो उठे, 'सुरति अग्नि ज्वाला' भभक उठी, 'समकित सूर्य', उदित हो गया, 'हृदय कमल' विकसित हुआ, 'सुयश मकरंद' प्रगट हो गया, 'दृढ़ कषाय हिमगिरि' गल गया, 'निर्जरा नदी' में धारणाधार 'शिव-सागर' की ओर बहने लगी, 'वितथ वात प्रभुता' मिट गई, 'यथार्थ कार्य' जाग्रत हो गया, वसन्त काल में जंगल भूमि सुहावनी लगने लगी।[५४]

बसन्त ऋतु के आने के बाद अलख अमूर्त आत्मा अध्यात्म की ओर पूरी तरह से झुक गयी। कवि ने फिर यहाँ फाग और होलिका का रूपक खड़ा किया और उसके अंग-प्रत्यंगों का सामंजस्य अध्यात्म-क्षेत्र से किया। 'नय चाचरि पंक्ति' मिल गई, 'ज्ञान-ध्यान' डफताल बन गया, 'पिचकारी पद' भी साधना हुई, 'संवरभाव गुलाल' बन गया, 'शुभ भाव भक्ति तान में' 'राग विराग' अलापने लगा, 'परम रस' में लीन होकर दस प्रकार के दान देने लगा। दया की रसभरी मिठाई, तप का मेवा, शील का शीतल जल, संयम का नागर पान खाकर निर्लज्ज होकर गुप्ति-अंग प्रकट होने लगा, अकथकथा प्रारम्भ हो गई, उद्धत गुण रसिया मिलकर अमल-विमल रसप्रेम में सुरति की तरंगें हिलोरने लगीं। रहस्यभावना की पराकाष्ठा हो जाने पर परमज्योति प्रगट हुई। अष्टकर्मरूप काष्ठ जलकर होलिका की आग बुझ गई, पचासी प्रकृतियों की भस्म को भी स्नानादि करके धो दिया और स्वयं उज्ज्वल हो गया। इसके उपरान्त फाग का खेल बन्द हो जाता है, फिर तो मोह-पाश के नष्ट होने पर सहज आत्मशक्ति के साथ खेलना प्रारम्भ हो जाता है—

"नय पंकति चाचरि मिलि हो, ज्ञान ध्यान डफताल।
पिचकारी पद साधना हो, संवर भाव गुलाल ॥अध्यातम॥११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग विराम अलापिये हो, भावभगति सुमतान।
रीझ परम रसलीनता, दीजे दशविधि दान ॥अध्यातम॥१२॥
दया मिठाई रसभरी हो, तप मेवा परधान।
शील सलिल अति सीयलो हो, संजम नागर पान ॥अध्यातम॥१३॥
गुपति अंग परगासिये हो, यह निलज्जता रीति।
अकथकथा मुख भखिये हो, यह गारी निरनीति ॥अध्यातम॥१४॥
उद्धत गुण रसिया मिले हो, अमल विमल रसप्रेम।
सुरत तरंगमह छकि रहे हो, मनसा वाचा नेम ॥अध्यातम॥१५॥
परमज्योति परगट भई हो, लगी होलिका आग।
आठ काठ सब जरि बुझे हो, गई ततांई भाग ॥अध्यातम॥१६॥
प्रकृति पचासी लगि रही हो, भस्म लेख है सोय।
न्हाय धोय उज्ज्वल भये हो, फिर तहँ खेल न कोय ॥अध्यातम॥१७॥
सहज भक्ति गुण खेलिये हो चेत बनारसिदास।
सगे सखा ऐसे कहै हो, मिटे मोह दधि फास ॥अध्यातम॥१८॥[५५]

जगतराम होली खेलना चाहते हैं पर उन्हें खेलना नहीं आ रहा है—"कैसे होरी खेलौं खेलि न आवै।" क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा आदि पापों के कारण चित्त चपल हो गया। ब्रह्म ही एक ऐसा अक्षर है जिसके साथ खेलते ही मन प्रसन्न हो जाता है।[५६] उन्होंने एक अन्यत्र स्थान पर 'सुधबुध गोरी' के साथ 'सुरुचि गुलाल' लगाकर फाग भी खेली है। उनके पास 'समता जल' की पिचकारी है जिससे 'करुणा-केसर' का गुण छिटकाया है। इसके बाद अनुभव की पान-सुपारी और सरस रंग लगाया।

"सुध बुधि गोरी संग लेय कर,
सुरुचि गुलाल लगा रे तेरे।
समता जल पिचकारी
करुणा केसर गुण छिरकाय रे तेरे॥
अनुभव पानि सुपारी चरचानि।
सरस रंग लगाय रे तेरे।
राम कहे जे इत विधि पेले,
मोक्ष महल में जाय रे॥"[५७]

द्यानतराय ने होली का सरस चित्रण प्रस्तुत किया है। वे सहज वसन्तकाल में होली खेलने का आह्वान करते हैं। दो दल एक दूसरे के सामने खड़े हैं। एक दल में बुद्धि, दया, क्षमा-रूप नारी वर्ग खड़ा हुआ है और दूसरे दल में रत्नत्रयादि गुणों से सजा आत्मारूप पुरुष वर्ग है। ज्ञान, ध्यान रूप डफताल आदि वाद्य बजते हैं, घनघोर अनहद नाद होता है, धर्मरूपी लाल वर्ण का गुलाल उड़ता है, समता का रंग घोल लिया जाता है, प्रश्नोत्तर की तरह पिचकारियाँ चलती हैं। एक ओर से प्रश्न होता है तुम किसकी नारी हो, तो दूसरी ओर से प्रश्न होता है तुम किसके लड़के हो। बाद में होली के रूप में अष्टकर्मरूप ईंधन को अनुभवरूप अग्नि में जला देते हैं और फलतः चारों ओर शान्ति हो जाती है। इसी शिवानन्द को प्राप्त करने के लिए कवि ने प्रेरित किया है।[५८]

इसी प्रकार वे चेतन से समतारूप प्राणप्रिया के साथ 'छिमा बसन्त' में होली खेलने का आग्रह करते हैं। प्रेम के पानी में करुणा की केसर घोलकर ज्ञान-ध्यान की पिचकारी से होली खेलते हैं। उस समय गुरु के वचन ही मृदङ्ग हैं, निश्चय व्यवहार नय ही ताल हैं, संयम ही इत्र है, विमल व्रत ही चोवा है, भाव ही गुलाल है जिसे अपनी झोरी में भर लेते हैं, धरम ही मिठाई है, तप ही मेवा है, समरस से आनन्दित होकर दोनों होली खेलते हैं। ऐसे ही चेतन और समता की जोड़ी चिरकाल तक बनी रहे, यह भावना सुमति अपनी सखियों से अभिव्यक्त करती हैं—

चेतन खेलै होरी॥
सत्ता भूमि छिमा बसन्त में समता प्रान प्रिया संग गोरी॥१॥
मन को माट प्रेम को पानी, तामें करुना केसर घोरी,
ज्ञान-ध्यान पिचकारी भरि भरि, आप में छारैं होरा होरी॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु के वचन मृदंग बजत हैं, नय दोनों डफताल टकोरी,
संजम अतर विमल व्रत चोवा, भाव गुलाल भरै भर झोरी ॥
धरम मिठाई तप बहु मेवा, समरस आनन्द अमल कटोरी,
द्यानत सुमति कहै सखियन सों, चिरजीवो यह जुग जुग जोरी ॥[९]

इसी प्रकार कविवर भूधरदास का भी आध्यात्मिक होली का वर्णन देखिये—

"अहो दोऊ रंग भरे खेलत होरी ॥१॥
अलख अमूरति की जोरी ॥
इतमैं आतम राम रंगीले,
उतमैं सुबुद्धि किसोरी।
या के ज्ञान सखा संग सुन्दर,
वाकै संग समता गोरी ॥२॥
सुचि मन सलिल दया रस केसरि,
उदै कलस मैं घोरी।
सुधी समझि सरल पिचकारी,
सखिय प्यारी भरि भरि छोरी ॥३॥
सतगुरु सीख तान धर पद की,
गावत होरा होरी।
पूरव बंध अबीर उड़ावत,
दान गुलाल भर झोरी ॥४॥
भूधर आज बड़े भागिन,
सुमति सुहागिन मोरी।
सो ही नारि सुलछिनी जग मैं
जासों पति नैं रति जोरी ॥५॥"[१०]

एक अन्य कृति में भूधरदास अभिव्यक्त करते हैं कि उसका चिदानन्द जो अभी तक संसार में भटक रहा था, घर वापिस आ गया है। यहाँ भूधर स्वयं को प्रिया मानकर और चिदानन्द को प्रीतम मानकर उसके साथ होली खेलने का निश्चय करते हैं—"होरी खेलूंगी घर आये चिदानन्द" क्योंकि मिथ्यात्व की शिशिर समाप्त हो गई, काल-लब्धि का बसन्त आया, बहुत समय से जिस अवसर की प्रतीक्षा थी, सौभाग्य से वह आ गया, प्रिय के विरह का अन्त हो गया अब उसके साथ फाग खेलना है। कवि ने यहाँ श्रद्धा को गगरी बनाया, उसमें रुचि का केशर घोला, आनन्द का जल डाला और फिर उमंग में भरकर प्रिय पर पिचकारी छोड़ी। कवि अत्यन्त प्रसन्न है कि उसकी कुमति रूप सौत का वियोग हो गया। वह चाहता है कि इसी प्रकार सुमति बनी रहे—

'होरी खेलूँगी घर आए चिदानन्द ॥
शिशिर मिथ्यात गई अब,
आई काल की लब्धि वसन्त ॥होरी॥
पीय संग खेलनि कौं,
हम सइये तरसी काल अनन्त ॥
भाग जग्यो अब फाग रचानौ
आयौ विरह को अन्त ॥
सरधा गागरि में रुचि रूपी
केसर घोरि तुरन्त ॥
आनन्द नीर उमंग पिचकारी,
छोड़ूँगी नीकी भंत ॥
आज वियोग कुमति सौतनिकों,
मेरे हरष अनन्त ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूधर धनि एही दिन दुर्लभ,
सुमति राखी विहसंत ॥[11]

नवलराम ने भी ऐसी ही होली खेलने का आग्रह किया है।[12] उन्होंने निज परणति रूप सुहागिन और सुमति-रूप किशोरी के साथ यह खेल खेलने के लिए कहा है। ज्ञान का जल भरकर पिचकारी छोड़ी, क्रोध-मान का अबीर उड़ाया, राग गुलाल की झोली ली, संतोषपूर्वक शुभभावों का चन्दन लिया, समता की केसर घोली आत्मा की चर्चा की 'मगनता' का त्यागकर करुणा का पान खाया और पवित्र मन से निर्मल रंग बनाकर कर्म मैल को नष्ट किया। अन्यत्र एक होली में वे पुनः कहते हैं—"ऐसे खेल होरी को खेलिरे" जिसमें कुमति ठगोरी को त्यागकर सुमति-गोरी के साथ होली खेल। आगे नवलराम यह भाव दर्शाते हैं कि उन्होंने इसी प्रकार होली खेली जिससे उन्हें शिव पैंढी का मार्ग मिल गया।

"ऐसे खेल होरी को खेलि रे ॥
कुमति ठगोरी को अब तजि करि,
तु साथ सुमति गोरी को ॥
.....
नवल इसी विधि खेलत हैं,
ते पावत हैं मग शिव पौरी को ॥"[13]

बुधजन भी चेतन को सुमति के साथ होली खेलने की सलाह देते हैं—"चेतन खेल सुमति संग होरी।" कषायादि को त्यागकर, समकित की केशर घोलकर, मिथ्या की शिला को चूर-चूरकर निज गुलाल की झोरी धारणकर शिव गौरी को प्राप्त करने की बात कही है।[14] कवि को विशुद्धात्मा की अनुभति होने पर वह यह भी कह देते हैं—

निजपुर में आज मची होरी।
उमँगि चिदानँदजी इत आये, इत आई सुमती गोरी।
लोक लाज कुलकानि गमाई, ज्ञान गुलाल भरी झोरी।
समकित केसर रंग बनायो, चारित की पिचुकी छोरी।
गावत अजपा गान मनोहर, अनहद झरसौं वरस्यो री।
देखन आये बुधजन भीगे, निरख्यौ ख्याल अनोखी री ॥[15]

आध्यात्मिक रहस्यभावना से ओतप्रोत होने पर कवि का चेतनराय उसके घर वापिस आ जाता है और फिर वह उसके साथ होली खेलने का निश्चय करता है—"अब घर आये चेतनराय, सजनी खेलौंगी मैं होरी।" कुमति को दूरकर सुमति को प्राप्त करता है, निज स्वभाव के जल से हौज भरकर निजरंग की रोली घोलता है, शुद्ध पिचकारी लेकर निज मति पर छिड़कता है और अपनी अपूर्व शक्ति को पहचान लेता है—

"अब घर आये चेतनराय, सजनी खेलौंगी मैं होरी।
आरस सोच कानि कुल हरिकै, धरि धीरज वरजोरी ॥
बुरी कुमति की बात न बूझे, चितवत है मो ओरी,
वा गुरुजन की बलि-बलि जाऊँ, दूरि करी मति भोरी।
निज सुभाव जल हौज भराऊँ, घोरु निजरंग रोरी।
निज ल्यौं ल्याय शुद्ध पिचकारी, छिरकन निजमति दोरी ॥
गाय रिझाय आप वश करिकै, जावन द्यों नहिं पोरी।
बुधजन रचि मचि रहूँ निरंतर, शक्ति अपूरब मोरी ॥सजनी ॥"[16]

दौलतरामजी का मन भी ऐसी ही होली खेलता है। उन्होंने मन के मृदंग को सजाकर, तन को तंबूरा बनाकर, सुमति की सारंगी बजाकर, सम्यक्त्व का नीर भरकर, करुणा की केशर घोलकर ज्ञान की पिचकारी से पंचेन्द्रिय सखियों के साथ होली खेली। आहारादिक चतुर्दान की गुलाल लगाई, तप के मेवा को अपनी झोली में रखकर यश की अबीर उड़ाई और अन्त में भव-भव के दुःखों को दूर करने के लिए 'फगुआ शिव होरी' के मिलन की कामना करते हैं।[17] कवि ने इसी प्रसंग में बड़े ही सुन्दर ढंग से यह बताने का प्रयत्न किया है कि सम्यग्ज्ञानी जीव कर्मों की होली किस प्रकार खेलता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानी ऐसी होली मचाई।
राग कियो विपरीत विपन घर, कुमति कुसौति नहाई।
धार दिगम्बर कीन्ह सु संवर निज-पर भेद लखाई।
घात विषयनि की बचाई ॥ज्ञानी ऐसी०॥
सुमति सखा भजि ध्यानभेद सम, तन में तान उड़ाई।
कुम्मक ताल मृदंग सौं पूरक रेचकबीन बजाई।
लगन अनुभव सों लगाई ॥ज्ञानी ऐसी०॥
कर्म बलीता रूपनाम अरि वेद सुइन्द्रि गनाई।
वे तप अग्नि भस्म करि तिनको, धूल अघाति उड़ाई।
करी शिव तिय की मिलाई ॥ज्ञानी०॥
ज्ञान को फाग भाग वश आवै लाख करो चतुराई।
सो गुरु दीनदयाल कृपाकरि दौलत तोहि बताई।
नहीं चित्त से विसराई ॥ज्ञानी०॥[१८]

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी के जैन कवियों द्वारा लिखित विवाह, फागु और होलियाँ अध्यात्मरस से सिक्त ऐसी दार्शनिक कृतियाँ हैं जिनमें एक ओर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीक आदि के माध्यम से जैन दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है वहीं दूसरी ओर तत्कालीन परम्पराओं का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। दोनों के समन्वित रूप से साहित्य की छटा कुछ अनुपम-सी प्रतीत होती है। साधक की रहस्य भावनाओं की अभिव्यक्ति का यह एक सुन्दर माध्यम कहा जा सकता है। विशुद्धावस्था की प्राप्ति, चिदानन्द चैतन्यरस का पान परम सुख का अनुभव तथा रहस्य की उपलब्धि का भी परिपूर्ण ज्ञान इन विधाओं से झलकता है।

जैन साधकों की रहस्य-साधना में भक्ति, योग, सहज और प्रेमभावना का समन्वय हुआ है। इन सभी मार्गों का अवलम्बन लेकर साधक अपने परम लक्ष्य पर पहुँचा है और परम सत्य के दर्शन किये हैं। उसके और परमात्मा के बीच की खाई पट गई है। दोनों मिलकर वैसे ही एकाकार और समरस हो गये जैसे जल और तरंग। यह एकाकारता भक्त साधक के सहज स्वरूप का परिणाम है जिससे उसका भावभीना हृदय सुख-सागर में लहराता रहता है और अनिर्वचनीय आनन्द का उपभोग करता रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी जैन साहित्य के मध्यकाल में कवियों ने अध्यात्म और साधना को लोकभाषा में उतारने का अनूठा प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में वे सफल भी हुए हैं। इन रचनाओं से यह भी ज्ञात होता है कि योग-साधना के क्षेत्र में इस समय तक किन-किन नये साधनों का प्रयोग होने लगा था। इसे हम योग-साधना का विकास भी कह सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में हिन्दी जैन काव्यधारा का मूल्यांकन करना अपेक्षित है।

सम्बर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

१ बनारसी विलास, जिनसहस्रनाम
२ इस विषय पर विस्तार से हमारा लेख देखिए—"जैन रहस्यवाद बनाम अध्यात्मवाद"
—आनन्दऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३३०-३५३
३ दोहापाहुड, १६८.
४ योगसार, पृ० ३८४
५ पाहुडदोहा, पृ० ६
६ बनारसी विलास, प्रश्नोत्तरमाला १२, पृ० १८३
७ मनराम विलास ७२-७३, ठोलियों का दि० जैन मन्दिर, जयपुर, वेष्टन नं० ३६५
८ दौलत जैन पद संग्रह, ६५, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता,
९ बनारसी विलास, अध्यात्मपद पंक्ति, २१, पृ० २३६६
१० हिन्दी पद संग्रह, पृ० ११४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११ आणंदा ४०, आमेरशास्त्र भण्डार जयपुर की हस्तलिखित प्रति
१२ हि० जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० २०२, जसविलास
१३ नाटक समयसार, उत्थानिका १६,
१४ नाटक-समयसार, कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार २७, पृ० ८६
"ऐसी नयकक्ष वाकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव,
समरसी भए एकता सौं नहिं टले हैं।
महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं॥
१५ साध्य-साधकद्वार १०, पृ० ३४०
१६ अवधू नाम हमारा राखे, सोई परम महारस चाखे।
ना हम पुरुष नहीं हम नारी, बरन न भाँति हमारी।
जाति न पांति न साधन साधक, ना हम लघु नहीं भारी।
ना हम ताते ना हम सीरे, ना हम दीर्घ ना छोटा।
१७ आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३५८
१८ ज्ञानत विलास, कलकत्ता
१९ आणंदा, आनन्दतिलक, जयपुर आमेर शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति २,
२० दौलत जैन पद संग्रह ७३, पृ० ४०
२१ भेषधार रहे भैया भेष ही में भगवान।
भेष में न भगवान, भगवान भाव में॥' —बनारसी विलास, ज्ञानबावनी ४३, पृ० ८७
२२ अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० २४४
२३ बनारसी विलास, ज्ञान बावनी ३४, पृ० ८४
२४ नाटक समयसार, निर्जराद्वार, पृ० १४१
२५ नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार, ८२, पृ० २८५
२६ (१) **जाप**—जो कि बाह्य क्रिया होती है। (२) **अजपा-जाप**—जिसके अनुसार साधक बाहरी जीवन का परित्याग कर आभ्यंतरिक जीवन में प्रवेश करता है। (३) **अनाहद**—जिसके द्वारा साधक अपनी आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश करता है, जहाँ पर अपने आप की पहिचान के सहारे वह सभी स्थितियों को पार कर अन्त में कारणातीत हो जाता है।
२७ हिन्दी पद संग्रह, पृ० ११६
२८ वही, पृ० ११८; आओ सहज वसन्त खेलैं सब होरी होरा॥
अनहद शब्द होत घनघोरा॥ —वही, पृ० ११९-२०
२९ धर्म विलास, पृ० ६५; सोहं सोहं नित जपै, पूजा आगमसार।
सत्संगत में बैठना, यही करै व्योहार॥ —अध्यात्म पंचासिका दोहा, ४९
३० आसा मारि आसनधरि घट में, अजपा जाप जगावै।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावै॥७॥ —आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३५९
३१ आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३९५; अपभ्रंश और हिन्दी जैन रहस्यवाद, पृ० २५५
३२ वही, पृ० ३६५
३३ कबीर की विचारधारा— डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० २२६-२२८
३४ कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ० ३७२
३५ शिवरमणी विवाह, १६ अजयराज पाटणी, बधीचन्द मन्दिर, जयपुर-गुटका नं० १५८, वेष्टन नं० १२७५
३६ सहिरी ए! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नहीं घरे।
सहि एरी! मन उदधि अनन्दा सुख-कन्दा चन्दा देह धरे।
चन्द जिवां मेरा बल्लभ सोहे, नैन चकोरहिं सुक्ख करे।
जग ज्योति सुहाई कीरति छाई, बहु दुख तिमिर वितान हरे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहु काल विनानी अमृतवानी, अरु मृग का लांछन कहिये।
श्री शांति जिनेश नरोत्तम को प्रभु, आज मिला मेरी सहिये।

—बनारसी विलास, श्री शांति जिन स्तुति, पद्य १, पृ० १८६

३७ मेरा मन का प्यारा जो मिलै। मेरा सहज सनेही जो मिलै ॥१॥
उपज्यो कंत मिलन को चाव। समता सखी सों कहै इस भाव ॥२॥
मैं विरहिन पिय के आधीन। यों तलफों ज्यों जल बिन मीन ॥३॥
बाहिर देखूं तो पिय दूर। बट देखे घट में भरपूर ॥४॥
होहुं मगन मैं दरशन पाय। ज्यों दरिया में बूंद समाय ॥६॥
पिय को मिलों अपनपो खोय। ओला गल पाणी ज्यों होय ॥१०॥

—बनारसी विलास, अध्यातम गीत १-१०, पृ० १५८-१६०

३८ वही, अध्यातम गीत १८-२६, पृ० १६१-१६२

* एक ही जाति है। प्रिय उसके घट में विराजमान है और वह प्रिय में। दोनों का जल और लहरों के समान अभिन्न सम्बन्ध है। प्रिय कर्ता है और वह करतूति, प्रिय सुख का सागर है और वह सुख-सींव है। यदि प्रिय शिव मन्दिर है तो वह शिवनींव, प्रिय ब्रह्मा है तो वह सरस्वती, प्रिय माधव है तो वह कमला, प्रिय शंकर है जो वह भवानी, प्रिय जिनेन्द्र हैं तो वह उनकी वाणी है। इस प्रकार जहाँ प्रिय है वहाँ वह भी प्रिय के साथ में है। दोनों उसी प्रकार से है "ज्यों शशि हरि में ज्योति अभंग" है।

३६ बनारसी विलास, अध्यातम पद पंक्ति १०, पृ० २२८-२६

४० बनारसी विलास

४१ हिन्दी पद संग्रह, पृ० ३-५

४२ हिन्दी पद संग्रह, पृ० १६; जिनहर्ष का नेमि-राजीमती बारहमास सवैया १, जैन गुर्जर कविओं, खंड २, भाग ३, पृ० ११८०; विनोदीलाल का नेमि-राजुल बारहमासा, बारहमासा संग्रह, जैन पुस्तक भवन कलकत्ता, तुलनार्थ देखिये।

४३ नेमिनाथ के पद, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० १५७; लक्ष्मीबल्लभ का भी वियोग वर्णन देखिये जहाँ साधक की परमात्मा के प्रति दाम्पत्यमूलक रति दिखाई देती है, वही, नेमिराजुल बारहमासा, १४; पृ० ३०६

४४ भूधर विलास १३, पृ० ८

४५ वही, ४५, पृ० २५

४६ पंच सहेली गीत, लूणकरजी पाण्डया मन्दिर, जयपुर के गुटका नं० १४४ में अंकित है;

—हि० जैन भक्ति काव्य और कवि पृ० १०१-१०३

४७ ब्रह्म विलास, शत अष्टोत्तरी, २७वां पद्य, पृ० १४

४८ आनन्दघन बहोत्तरी, ३२-४१

४६ पिया बिन सुधि-बुधि मूंदी हो।
विरह भुवंग निसा समै, मेरी सेजड़ी खूंदी है।
भोयनपान कथा मिटी, किसकूं कहुं सुद्धी हो ॥ —वही, ६२

५० आनन्दघन बहोत्तरी, ३२

५१ वही, २०

५२ शिव-रमणी विवाह, १६—अजयराज पाटणी, बधीचन्द मन्दिर, जयपुर गुटका नं० १५८, वेष्टन नं० १२७५

५३ श्री चूनरी, इसकी हस्तलिखित प्रति मंगोरा (मथुरा) निवासी पं० बल्लभराम जी के पास सुरक्षित है; अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० ६०

५४ विषम विरण पूरो भयो हो, आयो सहज वसन्त।
प्रगटी सुरुचि सुगन्धिता हो, मन मधुकर मयमंत ॥
अध्यातम बिन क्यों पाइये हो ॥२॥
सुमति कोकिला गहगही हो बही अपूरब वाउ।
भरम कुहर बादर फटे हो, घट जाड़ो जड़ ताउ ॥अध्यातम०॥३॥
मायारजनी लघु भई हो, समरस दिवशशि जीत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह पंक की थिति घटी हो, संशय शिशिर व्यतीत ॥अध्यातम०॥४॥
शुभ दल पल्लव लहलहे हो, होहिं अशुभ पतझार।
मलिन विषय रति मालती हो, विरति बेलि विस्तार ॥अध्यातम०॥५॥
शशि विवेक निर्मल भयो हो, थिरता अमिय झकोर।
फैली शक्ति सुचन्द्रिका हो, प्रमुदित नैन-चकोर ॥अध्यातम०॥६॥
सुरति अग्नि ज्वाला जगी हो, समकित भानु अमन्द।
हृदयकमल विकसित भयो हो, प्रगट सुजश मकरन्द ॥अध्यातम०॥७॥
दिढ कषाय हिमगिर गले हो, नदी निर्जरा जोर।
धार धारणा बह चली हो, शिवसागर मुख ओर ॥अध्यातम०॥८॥
वितथ वात प्रभुता मिटी हो, जग्यो जथारथ काज।
जंगल भूमि सुहावनी हो, नृप वसन्त के राज ॥अध्यातम०॥९॥

—बनारसी विलास, अध्यातम-फाग, २-९, पृ० १५४

५५ गो सुवर्ण दासी भवन, गज तुरंगे परधान।
कुल कलत्र तिल भूमि रथ, ये पुनीत दशदान ॥ —वही, दसदान, १, पृ० १७७

५६ वही, अध्यातम फाग, १८, पृ० १५५-१५६
महावीर जी अतिशय क्षेत्र का एक प्राचीन गुटका, साइज ८×६, पृ० १६०; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० १५६

५७ अक्षर ब्रह्म खेल अति नीको खेलत ही हुलसावै ॥ —हिन्दी पद संग्रह, पृ० ९२

५८ आयो सहज बसन्त खेलैं सब होरी होरा ॥
उत बुधि दया छिमा बहुठाढी,
इत जिय रतन सजे गुन जोरा।
ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत हैं,
अनहद शब्द होत घनघोरा।
धरम सुराग गुलाल उड़त है,
समता रंग दुहूनें घोरा ॥आयो०॥२॥
परसन उत्तर भरि पिचकारी,
छोरत दोनों करि करि जोरा।
इततैं कहैं नारि तुम काकी,
उततैं कहैं कौन को छोरा ॥३॥
आठ काठ अनुभव पावक में,
जल बुझ शांत भई सब ओरा।
द्यानत शिव आनन्द चन्द छवि,
देखैं सज्जन नैन चकोरा ॥४॥ —हिन्दी पद संग्रह, पृ० ११९

५९ हिन्दी पद संग्रह, पृ० १२१
६० वही, पृ० १४९
६१ हिन्दी पद संग्रह, पृ० १५८
६२ इह विधि खेलिये होरी हो चतुर नर।
निज परनति संगि लेहु सुहागिन,
अरु फुनि सुमति किसोरी हो ॥१॥
ग्यान मइ जल सौ भरि भरि कै,
सबद पिचरिका छोरी।
क्रोध मान अबीर उड़ावो,
राग गुलाल की झोरी हो ॥३॥ —हिन्दी पद संग्रह, पृ० १७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६३ वही, पृ० १७६

६४ छार कषाय त्यागी या गहि लै समकित केशर घोरी।
मिथ्या पत्थर डारि धारि लै, निज गुलाल की झोरी॥ —'बुधजन विलास' ४०

६५ वही, ५१ ६६ वही, पृ० ४६

६७ मेरो मन ऐसी खेलत होरी।
मन मिरदंग साजकरि त्यारी, तन को तमूरा बनोरी।
सुमति सुरंग सारंगी बजाई, ताल दोउ करजोरी।
राग पांचौ पद को री। मेरो मन॥१॥
समवृति रूप नीर भर झारी, करुना केशर घोरी।
ज्ञानमई लेकर पिचकारी, दोउ कर माहिं सम्होरी।
इन्द्री पांचों सखि बोरी। मेरो मन॥२॥
चतुरदान को है गुलाल सो, भरि भरि मूठि चलोरी।
तप मेवा की भरि निज झोरी, यश की अबीर उड़ोरी।
रंग जिनधाम मचोरी। मेरो मन॥३॥
दौलत बाल खेलैं अस होरी, भवभव दुःख टलोरी।
शरना ले इक श्रीजन को री, जग में लाज हो तोरी।
मिलै फगुआ शिव होरी। मेरो मन॥४॥ —दौलत जैन पद संग्रह, पृ० २६

६८ वही, पृ० २६

पुष्कर संस्मरण

आदमी बनो

विहार करते-करते हम एक छोटे से गाँव में पहुँचे और गुरुदेवश्री स्वयं भिक्षार्थ गये। एक घर में आप जा रहे थे कि एक आदमी ने टोका—यहाँ कोई आदमी नहीं है भीतर कहाँ जाते हो?

इसीलिए तो जा रहा हूँ भाई, हमारा तो काम ही है जानवरों को आदमी बनाना और आदमी को देवता बना देना।

टोकने वाले ने गुरुदेव की आँखों में झाँककर देखा, बाबा तो राजयोगी मालूम पड़ता है, बड़ा तेजस्वी है। बोला—अच्छा-अच्छा जाओ। रोटी ले आओ।

आपश्री ने कहा—नहीं, अब तो पहले तुम मेरा उपदेश सुनकर आदमी बनो, फिर ही रोटी लूँगा....और आपने सचमुच ही उसे उपदेश सुनाकर आदमी ही क्या, भक्त बना लिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Some Amphibious Expressions in Umasvati

Dr. M. P. Marathe, M. A., Ph. D.
[Deptt. of Philosophy, University of Poona.]

I

Umāsvati's Tattvārthādhigamasūtra [TAS], written in short, pithy sentences is devoted to the statement and elaboration of the threefold Mokṣamārga. He himself wrote a commentary on it for the purposes of explanation and clarification. But in both these works Umāsvāti seems to have used certain expressions amphibiously and equivocally. In some places he has attempted to explain the significance of one expression by another expression. This seems to give the impression that he reckons these expressions as synonymous. In some other places he appears to have used certain expressions interchangeably. These instances tend to gen rate certain mbiguities and confusions. It is the object of this paper to focus on some of them and point out that, neither in the TAS nor in the commentary, Umāsvāti has made any attempt to avert them. It will also be pointed out that he does not clearly demarcate the boundaries of the significances of those expressions. The expressions in question are : *Artha*, *Tattva*, *Padārtha*, *Dravya* and *Sat*. Of these, the discussion of the first three expressions seems to give rise to one set of amphibious expressions, while that of the last two to another. After dealing with them, we shall hint at one methodologically weak point in Umāsvāti that seems to emerge. We shall concentrate on the first and the fifth chapters of the TAS. For, it is in these chapters and commentary on them that the discussion of the significances of these expressions figures mainly, if not exclusively.

Coming to the first set of amphibious expressions, let us first deal with '*Tattva*'. After the prefatory remarks, in which Umāsvāti tells us that *Samyakdarśana*, *Samyakjñāna* and *Samyak-Cāritra* are the three pillars of the *Mokṣamārga*, he begins the discussion of *Tattvas*. For, *Samyakdarśana*, according to him, is nothing else than either acceptance of *Tattvas* or *Arthas*, or acceptance of *Arthas* as they are ! We are not told what the word *Artha* signifies. Since difference of opinion about the commonly accepted convention is not registered, it seems that by *Artha* is meant an object, no matter of what kind. Similarly, regarding the significance of the word '*Tattva*' too any deviation from the convention is not noticed. This means that *Tattva* seems to signify that which is the case or that which is accepted to be the case. On the contrary, the word *Artha* means an object, no matter given or not. It (*Artha*) can be an object pre-supposed, talked about, mentioned or of any other sort. Umāsvāti seems to hold that the expressions '*tattva*' and '*artha*' are loosely interchangeable, if not totally synonymous. Our contention is not that they cannot at all be so, but that they need not necessarily be so. That the expressions '*artha*' and '*tattva*' cannot necessarily be taken to be synonymous does not seem to have stuck Umāsvāti. That is why he appears to have taken that which is accepted to be the case and that which is considered to be an object as the same. Something may be pre-supposed to be a case or a fact ; but every fact is not an object. For example, 'it is raining' is a fact, not an object. Again something may be an odject, but need not necessarily be a fact. Nor should it necessarily be taken to be so. For instance, according to some, a proposition is an object ; but this need not make it a fact too. Or, according to some, there are negative facts ; but that does not signify that there are negative

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

objects also. Thus, given objects, that there will be facts is a permanent possibility. Conversely, given facts, that they will comprise of objects is quite understandable. Yet, what facts comprise of are not objects alone. Moreover, facts and objects need not be the same. Umāsvāti does not merely seem to hold that *Tattvas* and *Arthas* are the same. He seems also to favour the view that each one of them should in principle be capable of being given empirically.[2] This view would hold provided we are talking about empirical objects and not about any object whatever. Interchangeability of the expressions *Tattva* and *Artha* would be a weak link in Umāsvāti's explanation. For, that seems to generate the view that the sets of *Tattvas* and *Arthas* are co-extensive. And it seems difficult to accept such a view.

Again in his commentary on I.2 he mentions that *Jīva* etc. are *Tattvas* and in I. 4 he proceeds to enumerate them. He enumerates seven *Tattvas*,[3] and in the commentary on I. 4 he writes that these are seven kinds of objects.[4] Here there seems to be a slip. Kinds or sorts can be enumerated, but what is enumerated need not necessarily be sorts or kinds. Such enumeration can even be by naming. Naming is an enumerative device but not necessarily a sortal one. For instance, when I enumerate the persons present at the meeting naming them as Ram, Kiran, Ajit etc., I am not enumerating kinds of persons. Here, then, Umāsvāti seems to overlook the distinction between enumerated individuals or objects and kinds of objects which can be enumerated. Thus, in the first instance, it is incorrect to equate *Tattvas* with *Arthas*; and further maintain that the same basis and pattern of classification would apply to both of them.

Further, in his commentary on I. 4 Umāsvāti states that these *Tattvas* (which were earlier taken to be objects or their kinds) are *Padārthas*. That means, he appears to take the terms *Tattva* and *Padārtha* as synonymous. But this seems to be an error as would be clear in our further discussion. As in the case of the word *Artha* or *Tattva*, Umāsvāti does not register any deviation from the commonly accepted convention regarding the word *Padārtha*. There are three different generally accepted senses of the word Padārtha.[5] It may nevertheless be granted that these three senses might not be so understood at the time of Umāsvāti or perhaps even later. For, Pūjyapāda, who wrote a commentary on the work of Umāsvāti also does not shed any light on the issue. Be that as it may. But the general context of the word *Padārtha* leads one to believe that Umāsvāti perhaps uses it in one sense. viz., *'Padasya padena sucitāḥ vā arthaḥ'*. this is because as stated earlier, he presumes that the expressions Padārtha and Tattva are interchangeable, however loosely they may be.

What seems to have guided Umāsvāti's view is that both *Tattvas* and *Padārthas* can be enumerated. Prima facie, this contention is sound as far as it goes. Enumerative, rather than classificatory statement of *Padārthas* appears to be common to the discussion of *Padārthas* by the *Prācīna Nyāya* and that by Umāsvāti. Similarly, the Sāṁkhyas as also Umāsvāti adopt the enumerative pattern while enlisting their *Tattvas*. But this seems to be too weak a ground for *Padārthas* being equated with *Tattvas*. Equation of *Tattvas* with *Padārthas* seems to be Umāsvāti's innovation. But let it not be forgotten that innovations, philosophical or otherwise, should be meaningful and tenable. The only point which Umāsvāti seems to bring to the focus successfully is that both *Tattvas* and *Padārthas* can be mentioned by enumeration. But this does not warrant the equation of the two.

As one proceeds in one's study of Umāsvāti's works one begins to notice yet weaker links in his explanatory observations. Whereas consideration of *Tattvas* presupposes no use of communicative language and the scheme of concepts it brings in, that of *Padārthas* does presuppose them. For, by *Tattvas* one may minimally mean the topics around which a philosophical discussion is designed to centre. It is irrelevant and redundant whether any statements are made about them or whether anything is attempted to be communicated about them. Regarding *Padārthas*, on the contrary, the case seems to be different. They presuppose language and communication, no matter whether successful or not. This being the case, it seems misleading to suppose that *Tattvas* and *Padārthas* are the same. Further, there can be no language, which is bereft of concepts. Any consideration of and in terms of *Padārthas*, therefore, presupposes some

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

concepts. Perhaps, it presupposes an inter-relation between or among such concepts also. But it is doubtful whether a consideration of *Tattvas* also presupposes any concepts and the interrelation between or among them.

Supposing again, even if one grants, for the sake of argument, that there is some relation, proximate or remote, between *Tattvas* and *Padārthas*, it does not follow that one should accept as many *Tattvas* as *Padārthas*. Further it is irrelevant for any philosophical inquiry to talk in terms of both of them. The number of items which the employment of significant expressions in a language designates and the number of topics or items that figure in a philosophical discussion need not necessarily bear any relation to one another. Nor should there be one to one correspondence among them. This is not of course to say that they cannot at all be related. The only point is that there is no necessary relation between them and the acknowledgement of a contingent relation between them does not seem to suffice for the establishment of the synonymity or interchangeability of the expressions. This being the case, it seems equally doubtful whether sets of *Tattvas* and *Padārthas* could be taken to be co-extensive. As pointed out earlier, Umāsvāti seems to take the sets of *Tattvas* and *Arthas* as co-extensive. Now, since he holds *Tattvas* and *Arthas* on the one hand and *Tattvas* and *Padārthas* on the other as co-extensive, he seems to favour the view that the sets of *Padārthas* and *Arthas* are also co-extensive. Indeed this seems difficult to accept for there is not any additional explanation and clarification in Umāsvāti's works.

Further, Umāsvāti states that he intends to explain *Padārthas* in detail, definitionally or symptomatically (*lakṣaṇataḥ*) and (ca) stipulatively (*vidhānataḥ*).[6] There may not be any objection to this procedure provided one does not intend to derive any ontological implication from one's discussion of *Padārthas*. But it is not correct to hold that the procedure of explaining *Padārthas* and *Tattvas* can be the same. Even if the procedure of explaining both of them may contingently meet and tally, it is doubtful whether it would hold universally and necessarily. This seems, therefore, to be another weak link in the procedure of Umāsvāti's discussion. It seems that Umāsvāti would adopt the same procedure, with regard to *Arthas*. One might ignore this as a similar kind of weak point in Umāsvāti's explanation just mentioned. But it all depends upon how the logical connective and (ca) is to be understood and interpreted. If it is interpreted conjunctively it would lead to one consequence. If, on the contrary, it is interpreted disjunctively, that would lead to another consequence. But more about this, at the end of the paper.

II

Up to the close of the fourth chapter of the TAS and Umāsvāti's *Bhāṣya* thereon, the discussion centres around the explanation of the nature of *Jīva* and other related topics. At the very beginning of the fifth chapter he declares his intention of proceeding to consider the nature of *Ajīvas*,[7] they being the second *Tattva*. This, as far as it goes, is in line with his declaration of considering various *Tattvas* or *Padārthas* in the same sequential order in which they have been mentioned in I. 4. At this juncture, Umāsvāti seems to introduce another set of amphibious expressions. It is to this set that we now turn.

At the beginning of the fifth chapter, Umāsvāti enumerates four *Ajīvakāyas*[8] or *Ajīvas*. He states that he intends to explain them symptomatically or definitionally.[9] In the next *Sūtra* he tells that *Jiva* etc are *Dravyas*.[10] In his commentary on V. 2, he states that the four *Ajīvakāyas* and living beings (*prāṇināsca*) are *Dravyas*.[11]

One may not dispute Umāsvāti's statement that there are five *Dravyas*.* But his stipulation here seems to disagree with his statement in the first chapter. After the enumeration

---

* Really here Umāsvāti put the word '*Kāya*', *Kāya* narrates *Astikāya*. But the author mis-takes it to *Dravya*. While really *Kāya* and *Dravya* have different significance in Jaina technology. —*Editor*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of *Tattvas*, which are nothing else then *Padārthas*, an anticipatory question seems to be answered saying one would be in a position to bring out each one of the *Tattvas* beginning with *Jiva* etc. by naming (nāma), idolization (sthāpana), substantiation (dravya) and consideration of state/modality (bhāva).[13] This seems to indicate that each one of the *Tattvas* can also be considered as a *Dravya*. Now, if this contention is juxtaposed with the view that there are five *Dravyas*, there seems to arise some inconsistency. Perhaps Umāsvāti did not realise that it so happened. It is likely that Umāsvāti intends to concentrate only on *Ajivadravyas* in the chapter under consideration. He also seems to mention in passing that the four *Ajiva Dravyas* along with the *Jīvadravya* make five *Dravyas*. This may not perhaps give an impression that *Dravyas* are just five, no more and no less. Be that as it may.

There is another point which Umāsvāti makes with regard to *Dravyas* in his commentary on I. 5. He argues that (any) *Dravya* * is *Bhavya*.[13] While explaining what he meant by this, he states that '*bhavya*' is to be understood in the sense of acquirable. Hence, *Dravya* is that which acquires or can be acquired [14]. It is doubtful whether Umāsvāti would allow this to be applied to *Tattvas*. If he has no objection in doing so, *Tattvas* too become either those which acquire or are acquirable. This would perhaps be acceptable to him, if *Tattvas* and *Dravyas* are the same.

It may, however, be contended that Umāsvāti did not mean to take seven *Tattvas* to be *Dravyas* and to hold that *Tattvas* either acquire (something) or are acquirable. For, one does not normally raise points of this kind with reference to *Tattvas*. Perhaps there is a substance in this contention. But Umāsvāti takes at least some *Tattvas* to be *Dravyas*. This should be taken to be just contingent feature. This means that, although *Dravya* and *Tattva* need not necessarily be the same, what is called *Tattva* may be a *Dravya*. In principle one may not dispute this. Yet one may object that this kind of contingency does not yield any necessary relation between them. It does not give rise to any reciprocity between *Tattvas* and *Dravyas* either. It is this which needs to be grasped. Perhaps it is likely that in the initial stages of philosophical inquiry and investigation boundaries of the significances of various expressions were not clearly demarcated. But this should not lead us to continue to do so even now.

Ambiguity of expressions in Umāsvāti does not seem to come to an end here. In the fifth chapter of the *Tattvārthādhigamasūtra* there are in all two statements about a *Dravya*. They are : (i) *Dravya* is that which has *Guṇas* (and) *Paryāyas* ;[15] (ii) *Dravya* is *Sat* definitionally or symptomatically.[16] Of these the former is important in one way, the latter in another. In the commentary on the former, Umāsvāti states that anything is *Dravya* which has both *Guṇas* and *Paryāyas* [17] It is needless for our present purpose to enter into the other nuences mentioned in the commentary. It seems that this statement is either about any *Tattva* that is considered to be a *Dravya* or about five *Dravyas*[18]† only. Whatever may be the case. We shall concentrate on the latter view, it being the least troublesome one as also being explicitly approved by Umāsvāti.

Even if we delimit our consideration to five *Dravyas*, there seems to be a certain ambiguity. Out of the five *Dravyas*, each one is said to have *Guṇas* as well as *Paryāyas*. This may be the case But the question is : does each one of the *Dravyas* have a *Guṇa* as well as a *Paryāya* in exactly the same way and sense or in different way or sense ? It does not seem to be sufficient to say symptomatically or definitionally that each one of the *Dravyas* has both *Guṇas* as well as *Paryāyas*. For, each one of the five *Dravyas* is not physical. Where physical as well as extra-physical *Dravyas* are considered together, it seems doubtful whether each one of them has a *Guṇa* or a *Paryāya* or both in exactly the same way. It seems equally doubtful whether mere symptomatic or definitional statement about all of them would establish the point.

* Here word *Dravya*, by Umāsvāti, is dealt with according to the root, *Dravya* fluid matter By this explanation he means continuity. —*Editor*

† There are five *Astikāyas* and not *Dravyas*, as the writer assumes. —*Editor*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

But this is a minor point. Let us consider the other way of explaining *Dravyas*. Here we are told that to be existent is the symptom or definition of a *Dravya*.[19] Understood in this way, anything that is existent is *Dravya* and anything that is *Dravya* is existent. This seems to be slippery and ambiguous. It seems difficult to accept that anything that is existent is *Dravya*, for although there are *Guṇas*, *Paryāyas* etc., just on that count we do not call them *Dravyas*. Further, when we use 'exists' or its near synonyms with reference to different items, we do not use it in the same sense. For example, we do say, there is a table, there is a ghost, there is an idea in my mind, there is a human society etc. Statement of existence or obtainability does not necessarily seem to have an ontological implication. For, at least sometimes, existential claims are ontologically sterile and impotent. Hence, even if it is said that *Dravyas* exist, does not entail that each one of them is a part of the furniture of the world. Secondly, it also seems difficult to accept that anything, that is, *Dravya* is existent. This contention seems to stem from the normal convention that anything that is considered to be a *Dravya* is mentioned in the nominative case. But unfortunately the converse of this does not hold. For, although *Guṇas*, *Pardyāyas* etc. could be mentioned in the nominative, none of them has a substantial implication. Thus, substantive usage of an expression and its substantial import do not necessarily go hand in hand. Substantive usage, however, has substantival implication but not necessarily a substantial one. The distinction could be brought out in a technical language saying that whereas substantial is object-linguistic, substantial is metalinguistic. Substantive usage and its substantial implication may seem to meet in some cases ; but this is more an accident than a rule. It is for this reason that acceptance of the co-extensivity of the sets of *Dravyas* and *Sats* seems very difficult both to entertain and justify. Unfortunately, Pūjyapāda goes a step further, saying that the expression *Sat* and *Dravya* are synonymous.[20] And that appears more difficult to sustain.

Another anticipatory question is raised by Umāsvāti. What is *Sat* ? The question is answered saying anything is *Sat*, provided it is generated or has a beginning in time, undergoes change and yet retains its unity or continuity.[21] These features any *Sat* is supposed to exhibit conjunctively and not disjunctively. Now, if *Sat* and *Dravya* are the same, then *Dharma*, *Adharma*, *Ākāśa* and *Pudgala* too must exhibit these features of *Sat*. Now, we are told by Umāsvāti himself that, of the five *Dravyas*. every *Dravya* except *Jiva* is a *Nityadravya*.[22] It seems, therefore, difficult to accept *Dharma*, *Adharma*, *Ākāśa* and *Pudgala* are *Nityā* and exhibit the features of *Utpāda*, *Vyaya* and *Dhrauvya*.

It may be argued that when *Utpāda* is spoken of with regard to *Nitya Dravyas* it does not mean that they themselves are produced. Rather it means that they have the potentiality of producing others.[23] But this would be the case provided the expression *Utpāda* is used equivocally. And there does not seem to be any indication to that effect. Hence, this argument, designed to give Umāsvāti a benefit of doubt, also seems to turn out to be an equally weak link.

To turn to the other definition of a *Dravya*. According to it a *Dravya* is that which has *Guṇas* as well as *Paryāyas*.[24] Taking this definition of *Dravya* together with that of *Sat* would raise two questions : (a) how is one to reconcile them ? (b) why are these two definitions, if *Dravya* and *Sat* are the same ? First, coming to the problem of reconciliation. It has been maintained[25] that what are called generation and corruption (to use Aristotelian phraseology) with regard to any *Sat* are nothing else than what are called *Paryāyas* with regard to a *Dravya*. What, on the contrary, is called *Dhrauvya* (continuity or unity) with regard to *Sat* is nothing else than what is called *Guṇa* with reference to a *Dravya*. Thus, understood, it does not raise any dust of inconsistency. But ambiguity it does not seem to free itself of completely. For, if *Dravya* is *Sat* and *Sat* is *Dravya* and if difinitions of *Dravya* and *Sat* are to be understood with regard to each one of them, there does seem to remain a weak point at least with regard to *Dharma*, *Adharma*, *Ākāśa* and *Pudgala*, if not with regard to the *Tattvas* like *Āsrava*, *Bandha*, *Saṁvara Nirjara* and *Mokṣa*, as well. Because, if *Tattvas* are *Dravyas* and *Dravyas* are *Sats*,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

there seems to be no reason to preclude ascription of *Utpāda, Vyaya* and *Dhrauvyatva* to each one of the *Tattvas*. This problem would of course arise provided *Tattvas* are *Dravyas*. If, on the contrary, *Jīva* and *Ajīvakāyas* alone are *Dravyas* such a problem would not arise regarding every *Tattva, Dravya* and *Sat*, but rather with regard to some *Tattvas*, every *Dravya* and each *Sat*. That is, it seems that the problem would still remain with regard to *Ākāśa, Dharma, Adharma* and *Pudgala*. Instead of pressing this point further, let us, however, turn to the next problem. The reason why the separate definitions of *Sat* and *Dravya* are given is perhaps that, it may be argued, although Umāsvāti takes every *Dravya* to be *Sat*, he does not seem to take every *Sat* to be a *Dravya*. But this prima facie plausible line of the explanation of the weak link in Umāsvāti seems to turn out to be unacceptable one. For, first, Umāsvāti himself does not seem to favour this defence as he seems to take the sets of things which are *Sat* and *Dravya* to be co-extensive. Secondly, both of these could plausibly be taken to be definitions of *Dravya* or *Sat* itself. Actually, Pūjyapāda maintains[26] that, these are not two different things at all. Similarly, he states that these are not two different definitions of different things either. They are the two ways of stating the definition of *Dravya* itself. But both Umāsvāti and Pūjyapāda seem to be silent on the necessity of giving these two definitions of *Dravya*. Thus *Dravya* and *Sat* seems to be another set of amphibious expressions in Umāsvāti.

III

So far we endeavoured to point out two possible sets of amphibious expressions in Umāsvāti. Our inquiry shows that, even after making sufficient allowance to Umāsvāti, there appear certain weak points in his explanation. Before we close, we wish to draw attention to one more weak point that seems to emerge by way of a corollary. In the commentary on I. 4, Umāsvāti states his intention to explain each one of the *Tattvas, Arthas* or *Padārthas* definitionally and stipulatively.[27] But in the fifth chapter, while talking about *Dharma* etc., he states that he would explain their nature definitionally.[28] Further, in the same chapter a question is raised : How is one to say that there are *Dharma* etc. ? This question is answered saying definitionally. Now, the two ways mentioned in I. 4 are to be understood conjunctively or disjunctively. On each count, these seems to remain some weakness. If conjunctively understood, *Dharma* etc., which one is to comprehend definitionally alone, are not to be counted as *Tattvas* even derivatively. Since *Tattva, Artha, Padārtha, Dravya* and *Sat* seem to be the same, *Dharma* etc., cannot be called any of them. Moreover, if stipulation or description is taken as having existential import, then those *Tattvas, Arthas, Dravyas* etc., which lack this aspect are considered to be so either improperly or metaphorically. Now, if disjunctively understood, the ground for taking each one of them as *Tattva, Artha, Dravya* etc., seems to be shaky. For, criteria of *lakṣaṇataḥ* and *vidhānataḥ* respectively may bring to the fore two different sorts of *Tattvas, Dravyas* etc. Even the contention of *Pūjyapāda* that whereas *'utpādavyayadhrauvyayuktaṃ sat'* is a *sāmānya lakṣaṇa* (generic property) while *'rupiṇaḥ pudgalaḥ'* etc., are *viśeṣalakṣaṇas* (differentia) of *Pudgala* etc. too seems to leave a weak link.[30] For, while accepting the distinction between two sorts of definitions bringing definienda of both the kinds of definitions under one banner does not seem to be the ground for *Tattvas* or *Dravyas* being treated on par. If we are going to count anything as *Tattva, Dravya, Sat* etc. irrespective of the distinction between those fulfilling and not-fulfilling existential or ontological condition, then we seem to be mixing between them. For, unless *Tattvas, Dravyas*, etc., are of the same kind, it seems futile to call them to be so. Such way understood there remains a difficulty in the comprehension of *Tattvas, Dravyas* etc. ; for, any mixing up between what is ontological and what is other than ontological seems unreasonable. And therein one is constrained to say that there are certain weak links in Umāsvāti's explanation of *Tattvas, Dravyas* etc.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Notes and References

1. Tattvānām arthānām śradhānam tattvena vārthānam śradhānam tattvārthaśradhānām tat samyakdarśanam. —Tattva bhasya I. 2
2. Tattvāni jivādini vakṣyante/ta eva ca arthāḥ teṣam śraddhānam teṣu pratyayāvadharanam. —Tattva bhasya I. 2.
3. Jīvājīvāsravabandhasaṁvaranirjarāmokṣaḥ tattvaṃ. —Tattva I.4.
   Before Umāsvāti the Jaina cannon had accepted nine Dravyas. Umāsvāti, omitting Papa and Puṇya, enumerates seven. Pūjyapāda on the contrary, accepts nine.
4. .....iti eṣa saptavidhaḥ arthāstattvam. —Tattva Bhasya I. 4.
5. Pramitivisayaḥ padārthaḥ/ (b) abhidheyaḥ padarthaḥ/ (a) padāsya padena sucitaḥ va arthaḥ padrāthaḥ.
6. tam lakṣaṇataḥ vidhānataḥ ca purastāt vistāreṇa upadekṣyāmaḥ. —Tattva Bhasya, I. 4.
7. uktā jīvaḥ/ajīvan vakṣyāmaḥ. —Tattva Bhasya V. 1
8. ajīvakāyā dharmādharmākāśapudgalaḥ. —Tattva V. 1
9. tān lakṣaṇataḥ parastāt vakṣyāmaḥ. —Tattva Bhasya V. 1
10. Dravyāṇi jīvāḥ ca. —Tattva V. 2
11. ete dharmādayāḥ catvāraḥ praṇināḥ ca panca dravyāṇi. —Tattva Bhasya, V. 2
12. Nāmasthāpanādravyabhāvataḥ tannyāsaḥ. —Tattva I. 5
    Bhasya on it too is instructive.
13. Dravya ca bhavye. —Tattva Bhasya, I. 5
14. Bhāvyam iti prapyam aha/bhu prāptau atmanepadi/tadeva prāpyante prāpnuvanti vā dravyāṇi. —Tattva Bhasya, I. 5
15. gunaparyayavat dravyam. —Tattva V. 37
16. Sat dravyalakṣaṇam. —Tattva V. 29
    This aphorism is not available in the Tattvārthādhigamasūtram, (ed) Keshavalal Premachand ; Bengal Asiatic Society, Samvat, 1959.
17. guṇān lakṣaṇataḥ vakṣyāmaḥ/bhāvāntaram samjñāntaram ca paryāyaḥ/tadubhayam yatra vidyatetat dravyam/guṇaparyayaḥ asya asmin vā santi iti guṇaparyayavat. —Tattva Bhasya, V. 37
18. Umāsvāti considers Jīva, Dharma, Ākāśa, Adharma and Pudgala to be Dravyas. But he also mentions a view that Kāla too is a Dravya, without any further comment by way of approval or disapproval. Yet the Vartikakāra Pūjyapāda holds that Kāla is a Dravya. He also holds that two definitions of Dravya are applicable to Kāla. cf. Sarvārthasiddhi, V. 39
19. Sat dravyalakṣaṇam. —Tattva V. 29
20. Yat sat tat dravyamityarthāḥ —Sarva. V. 29 (Kolhapur Edition, Samvat, 1825)
21. Utpādavyayadhrauvyayuktam sat —Tattva. V. 29
22. etāni dravyāṇi nityāni bhavanti/tadbhāvāvyayam nityam iti vakṣyate...Tattva Bhasya, V. 3
23. guṇaparyayavat dravyam. —Tattva, V. 38
24. Utpannam vā utpanne vā utpannāni va sat. —Tattva Bhasya, V. 31
25. Devendramuni Shastri : Jaina Darśana : Svarūpa aur viśleṣaṇa, p. 59.
26. Utpādavyayadhrauvyayuktam sat iti dravyalakṣaṇam/punah aparena prakāreṇa dravyalakṣaṇam pratipādayannāḥ guṇaparyayavatdravyam. —Sarva., V. 37
27. tān lakṣaṇataḥ vidhānataḥ ca purstāt vaksyāmaḥ. —Tattva Bhasya, I. 4
28. tān lakṣaṇataḥ prastāt vaksyāmaḥ. —Tattva Bhasya V. 1
29. atraha—dharmādini santi iti katham gṛhyate iti/atrocyate lakṣaṇataḥ..—Tattva Bhasya, V. 28
30. aha—dharmādinām dravyānām viśeṣalakṣaṇāni uktāni, sāmānya lakṣaṇam na uktāni, tadvaktavyam/ucyate sat dravyalakṣaṇam. —Sarva. V. 28—29.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन रामकथा की पौराणिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि

✡ प्रा० डॉ० गजानन नरसिंह साठे,
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
रा० आ० पोद्दार वाणिज्य महाविद्यालय, माटुंगा, बम्बई

(१) रामकथा का विश्वव्यापकत्व

कहते हैं, आज से लगभग साढ़े चार सहस्र वर्ष * पूर्व अयोध्या में राम नाम के कोई एक परम प्रतापी राजा हो गए। उनकी महानता के कारण, उनके जीवन की अनेकानेक घटनाएँ तथा उनके व्यक्तित्व की विविध विशेषताएँ लोक-मानस पर अंकित हो गई थीं और उनकी कथा लोगों की जिह्वा पर घर किए हुई थीं। मौखिक परम्परा से प्रसारित उस कथा से सूत्र संकलित करते हुए, ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दी में वाल्मीकि नामक कवि ने अपने महाकाव्य "रामायण" अथवा "पौलस्त्य-वध" की संस्कृत में रचना की। इसी रामायण को भारत में "आदि काव्य" और उसके रचयिता को "आदिकवि" माना जाता है। यह काव्य ब्राह्मण परम्परा की रामकथात्मक रचनाओं का मूलाधार है। दूसरी ओर वीर (निर्वाण) शक ५३० में, अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी में जैनाचार्य विमलसूरि ने प्राकृत में 'पउम-चरियं' नामक कृति प्रस्तुत करते हुए, जैन-परम्परा की रामकथा लिपिबद्ध की। यही जैन रामकथा का सर्वप्रथम अर्थात् प्राचीनतम लिपिबद्ध रूप है।

वाल्मीकि रामायण से प्रेरणा लेकर अनेकानेक प्रतिभाशाली रचयिताओं ने परवर्ती काल में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में छोटे-बड़े काव्य, चम्पूकाव्य और नाटक लिखे। आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी रामकथात्मक रचनाएँ विपुल मात्रा में की गई हैं और आज भी उस विषय पर रचनाएँ की जा रही हैं।

अंग्रेजी, इतालियन, रूसी आदि योरोपीयन भाषाओं में भारत की रामकथात्मक कृतियों के अनुवाद हो गए हैं। पाश्चात्य अनुसन्धानकर्ताओं, समीक्षकों और पाठकों ने वाल्मीकि रामायण, उत्तर-रामचरित, रामचरितमानस जैसी कृतियों का अनुशीलन करते हुए, उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सीलोनी, बर्मी, चीनी, तिब्बती, कम्बोडियन, हिन्द चीनी आदि एशियायी भाषाओं में रामकथात्मक साहित्य न्यूनाधिक मात्रा में लिखा गया है।

× × ×

धार्मिक दृष्टि से भारत में वैदिक (ब्राह्मण), बौद्ध और जैन नामक तीन परम्पराएँ पर्याप्त रूप में विकसित हैं। इन तीनों ने रामकथा को अपनाते हुए, उसे अपने-अपने दृष्टिकोण के रंग में रंग दिया—हाँ, बौद्ध-परम्परा में यह कथा अपेक्षाकृत बहुत कम विकसित रही है। ब्राह्मण परम्परा ने नर राम को पहले भगवान विष्णु का अवतार माना और अन्त में परब्रह्म के स्थान पर स्थापित किया, तो जैनों ने उन्हें "शलाका पुरुष" माना। बौद्ध जातककथाओं के अनुसार, तथागत गौतम बुद्ध अपने पूर्वजन्म में राम के रूप में उत्पन्न हो गए थे। ब्राह्मण और जैन-परम्परा के आचार्यों तथा कवियों ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों, उपासना-मार्गों और साधना-प्रणालियों को प्रसारित करने के हेतु राम-कथा को माध्यम बना लिया है। इस दृष्टि से अनेक पुराणों, पौराणिक कथाओं तथा पौराणिक शैली के चरित काव्यों की रचना विपुल मात्रा में हो गई है।

धार्मिक-दार्शनिक पक्ष को छोड़ भी दें, तो भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि रामकथा व्यावहारिक,

---

* जैन साहित्य की दृष्टि से राम को हुए ८६ हजार वर्ष हुए हैं। —सम्पादक देवेन्द्र मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारिवारिक, सामाजिक आदर्शों को प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत करती है। व्यक्ति, परिवार तथा समाज के प्रत्येक पक्ष को उसने स्पर्श किया है, जिससे उसके जीवन का वह अभिन्न अंग बन चुकी है।

सदियों पहले, रामकथा गंगोत्री से उत्पन्न गंगा की धारा सदृश थी; फिर गंगा-धारा की भाँति, रामकथा-धारा विकसित होती गई है और अब उसे आज का यह विश्वव्यापी रूप प्राप्त हो गया है। कहना न होगा कि यह विकास उसके प्रत्येक अंग का—कथावस्तु, चरित्र, उद्देश्य, देश-काल-स्थिति—समस्त पहलुओं का हो गया है।

(२) राम का गगनभेदी व्यक्तित्व और कृतित्व

रामकथा के विश्वव्यापकत्व का रहस्य नायक राम के गगनभेदी व्यक्तित्व में निहित है। प्रागैतिहासिक काल में राम का व्यक्तित्व मूलतः ही असाधारण रूप से उच्चकोटि का रहा होगा; तभी तो काल-जयी बनते हुए, ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी तक वह गगनभेदी बन सका था, अथवा बनाया जा सका था। अवश्य ही उस व्यक्तित्व में असाधारण विकासशीलता रही होगी। विकास को प्राप्त होते हुए उसका जो रूप वाल्मीकि के हाथ लगा, वह उनके हाथों पड़कर रामायण में अंकित होने के पश्चात् "नरत्व" से "नारायणत्व" की ओर विद्युत-गति से अग्रसर होता गया। वाल्मीकि के राम—

नियतात्मा महावीर्यो श्रुतिमान् धृतिमान् वशी।
बुद्धिमान, नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रु निवर्हणः॥

थे। वे परम प्रतापी, धर्मज्ञ, सत्यसन्ध, प्रजाहितरत थे। वे समुद्र-सदृश गम्भीर और हिमालय-सदृश धीर थे। उनके व्यक्तित्व की और कितनी विशेषताओं को गिनाएँ?

× × ×

नायक राम को प्रतिनायक रावण का सामना करना था। यह प्रतिनायक नायक के लिए तुल्यबल था। कुछ पहलुओं में वह राम से अधिक शक्तिशाली था। राम का व्यक्तित्व तभी तो निखर उठा। राम के साथ न्याय था, धर्म था, नैतिकता से परिपूर्ण सदाचरण था, तो रावण के पक्ष में पाशविकता थी, अन्याय था, परधन-परदारासक्ति थी। अतः राम की विजय "रामत्व" की विजय थी।

राम के व्यक्तित्व के अनुरूप ही उनका कृतित्व था। दुष्कृत्यों का विनाश करते हुए, साधु-जनों की रक्षा करके उन्होंने सद्धर्म को प्रतिष्ठित किया। उनका राज्य "रामराज्य" था। भले ही उसे कोई स्वप्न-लोक माने, यूटोपिया कहे, फिर भी वह हर तरह से काम्य रहा है, अभीष्ट रहा है, आदर्श रहा है।

(३) कथा-साहित्य : धर्म-संस्कार का माध्यम

धर्म के प्रचार का, जन-मानस पर संस्कार उत्पन्न करने का सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम है: कथा-साहित्य। प्रारम्भ में तो उसका प्रयोग अनजाने में ही हुआ होगा। परन्तु उसकी उपयोगिता और लोकप्रियता को देखकर परवर्ती काल में आचार्यों, नेताओं, गुरु-जनों तथा कविजनों ने उसका प्रयोग सहेतुक किया होगा। जन-साधारण के सम्मुख ये रचयिता धर्म, दर्शन, आदर्श आदि को कथा के माध्यम से प्रस्तुत करने लगे। फिर प्राचीन युग तो विशेष रूप में विभूति-पूजन का युग था। इसलिए हितोपदेश देने के लिए जैसे आचार्यों ने कल्पित कथाओं का आश्रय ग्रहण किया, वैसे ही इहलोक के महापुरुषों के आख्यान भी माध्यम के रूप में उनके द्वारा स्वीकार किए गए। उन कथाओं में अनेक तत्त्व जोड़ दिए गए। उससे इन कथाओं का तथा नायक आदि के चरित्र का विकास होता गया। उनमें दार्शनिक, साधनात्मक तत्त्वों का भी समावेश किया गया। उनकी लोकप्रियता देखकर उस कथा-साहित्यरूपी सामाजिक सम्पदा को विभिन्न-धर्मी या सम्प्रदायों के आचार्य उस पर अपना-अपना अधिकार जतलाने लगे। लोकप्रिय नायक या लोक-नायक को वे अपने-अपने सम्प्रदाय का प्रणेता या अनुयायी बताने लगे। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप राम, कृष्ण आदि वैदिक परम्परा में परब्रह्म स्वरूप माने गए, तो जैनों ने उन्हें जैनमतावलम्बी "शलाका पुरुष" के रूप में चित्रित किया। नारद जैसे ऋषि पर भी ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों सम्प्रदाय अपना अधिकार बताते हुए, उसे अपने-अपने सम्प्रदाय का प्रचारक मानते हैं इन बातों को देखकर भदन्त आनन्द कौशल्यायन की यह उक्ति समीचीन जान पड़ती है—"हमारा अनुमान है कि किसी अंश में अबौद्ध और बौद्ध साहित्य, दोनों ही, एक ही परम्परा के ऋणी हैं। प्राचीनकाल का साहित्य आज की तरह स्पष्ट रूप से बौद्ध और अबौद्ध विभाग में विभक्त नहीं था। उस समय एक ही कथा ने बौद्धों के हाथों बौद्ध रूप और अबौद्ध कलाकारों के हाथों पड़कर अबौद्ध रूप धारण किया होगा।" भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने यह रामकथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धी जातककथाओं की और बौद्ध साहित्य की चर्चा करते हुए कहा है। अबौद्ध से उनका मतलब है ब्राह्मण और जैन परम्पराओं का साहित्य। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही रामकथा ने ब्राह्मण, बौद्ध और जैन रूप किस स्थिति में ग्रहण किए होंगे।

(४) जैन रामकथा

नामावली तथा परम्परागत कथा-सूत्रों के आधार पर विमलसूरि ने प्राकृत में जो 'पउमचरियं' लिखा, आचार्य रविषेण ने उसका पल्लवित रूपान्तर संस्कृत में 'पद्म पुराण' नाम से प्रस्तुत किया (सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध)। उसका विकसित रूप स्वयम्भुदेव कृत अपभ्रंश में लिखित 'पउमचरिउ' में उपलब्ध है (नवम शताब्दी)। विमलसूरि के पउमचरियं की परम्परा के अतिरिक्त, जैन रामकथा का और एक रूप उपलब्ध है, जो गुणभद्रकृत 'महापुराण' में पाया जाता है (नवम शताब्दी)। फिर भी विमलसूरि की परम्परा की रामकथा जैनधर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में सर्वाधिक लोकप्रिय है।

(अ) विमलसूरि की परम्परा की रामकथा

विद्याधर वंश की राक्षस वंश नामक शाखा में रावण नामक परम प्रतापी राजा लंका का अधिपति था। वह परम तेजस्वी, जिन-भक्त तथा परम प्रतापी था। कुम्भकर्ण और विभीषण उसके बन्धु थे, मेघनाद (इन्द्रजित) उसका पुत्र था। रावण ने तपोबल से एक सहस्र विद्याएँ प्राप्त कीं। फिर उसने कुबेर से लंका का राज्य और पुष्पक विमान जीत लिया। तदनन्तर इन्द्र, वरुण, यम आदि विद्याधर राजाओं को जीतकर वह भरत क्षेत्र के तीन खण्डों का अधिपति हो गया।

इधर अयोध्यापति दशरथ के राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नामक चार पुत्र थे। ज्योतिषियों ने कहा था सीता के कारण कि दशरथ के पुत्र के हाथों रावण का वध होगा, इसलिए रावण की रक्षा के हेतु विभीषण ने दशरथ और जनक को मार डालने का एक बार यत्न भी किया था, जिसमें वह असफल हो गया था। राम-लक्ष्मण ने बर्बर-शबरों से मिथिला की रक्षा करने में जनक की सहायता की थी। तब राम के प्रताप से प्रसन्न होकर, जनक ने अपनी पुत्री सीता राम को विवाह में प्रदान करने की घोषणा की। परन्तु चन्द्रगति नामक विद्याधर राजा के षड्यन्त्र में उलझने के कारण, जनक ने सीता का स्वयंवर आयोजित किया। उसमें राम-लक्ष्मण ने क्रमशः वज्रावर्त और सागरावर्त धनुषों पर प्रत्यंचा चढ़ाई, तो राम-सीता का ब्याह हुआ। उस अवसर पर शक्तिवर्धन की आठ कन्याओं ने लक्ष्मण का वरण किया।

कुछ वर्ष पश्चात् दशरथ ने जीवन और जगत की असारता अनुभव करने पर राम को राज्य देने और स्वयं प्रव्रज्या ग्रहण करने की घोषणा की। परन्तु केकया (कैकेयी) ने दशरथ द्वारा दिए हुए वर के आधार पर अपने पुत्र भरत के लिए राज्य माँगा, तो कटुता टालने के लिए राम ने स्वयं वनवास के लिए जाना निश्चय किया और वे सीता और लक्ष्मण को साथ में लेकर अयोध्या से विदा हो गए। इधर दशरथ ने भरत को उसकी इच्छा के विरुद्ध राज्य दिया और स्वयं दीक्षा ली। तदनंतर, भरत ने कैकेयी सहित राम से चित्रकूट पर मिलकर उनसे अयोध्या लौट आने की विनती की, परन्तु सोलह वर्ष के पश्चात् वन से लौटने का अभिवचन देकर, उन्होंने उसे अस्वीकार किया।

चित्रकूट से आगे बढ़कर दशपुर, कुबेरनगर, अरुणग्राम, जीवंतनगर, नन्दावर्त, जयन्तपुर, क्षेमांजलि होते हुए वे वंशस्थल नगर पहुँचे। वंशस्थल नगर में मुनियों को उपसर्ग से बचाते हुए उनकी उपस्थिति में राम और सीता ने कुछ व्रत ग्रहण किए। मार्ग में लक्ष्मण ने अनेक प्रसंगों में अपनी वीरता प्रदर्शित की और अनेक कन्याओं का पाणिग्रहण भी किया। घूमते-घामते वे दण्डकारण्य में आकर, गोदावरी के तट पर लता-मण्डप में रहने लगे। वहीं दो मुनियों की सेवा करते हुए उनकी जटायु से भेंट हुई, जिसे सीता ने पुत्र मानकर अपने पास रख लिया। एक दिन लक्ष्मण के हाथों सूर्यहास नामक खड्ग आया और उससे उन्होंने अनजाने चन्द्रनखा (शूर्पणखा) के शम्बु नामक तपस्या-रत पुत्र का वध किया। तब वह बदला लेने के लिए उनके पास आई, फिर भी राम-लक्ष्मण को देखकर उन पर वह आसक्त हो गई। उसके विवाह के प्रस्ताव को लक्ष्मण ने ठुकराया, तो उसने अपने पति एवं देवर—खर-दूषण को उकसाया फलस्वरूप खर सेनासहित राम-लक्ष्मण पर चढ़ दौड़ा, तो दूषण ने रावण को प्रोत्साहित किया। रावण सीता को देखकर काम-विह्वल हो गया, उसने अवलोकनी विद्या की सहायता से लक्ष्मण की मदद करने के निमित्त राम को सीता से दूर भेज दिया और सीता का अपहरण कर, वह लंका की ओर चल दिया। मार्ग में उसने जटायु को आहत किया, एक विद्याधर की विद्याएँ छीन लीं और सीता को लंका में लाकर अशोक वन में रख दिया उसने यह व्रत ले रखा था कि किसी स्त्री की इच्छा के विरुद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बलात्कार-पूर्वक उससे वह सम्भोग नहीं करेगा।' इसलिए उसे सीता को प्रसन्न कर अथवा उसे डरा-धमका कर विवाह करने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक था।

इधर लक्ष्मण ने खर-दूषण-त्रिशिरा को सेना-सहित छिन्न-भिन्न कर डाला और उनका राज्य विराधित को दे दिया। फिर सीता को अपहृत समझकर वे उसे खोजते हुए दक्षिण की ओर चल दिए। विराधित की सूचना के अनुसार, किष्किन्धा के निकट आने पर सुग्रीव राम-लक्ष्मण से मिला। उससे मित्रता करने के पश्चात् लक्ष्मण ने कोटि-शिला को उठाकर अपने बल का प्रमाण दिया। फिर माया सुग्रीव को पराजित कर राम-लक्ष्मण ने सुग्रीव को उसकी पत्नी तारा और राज्य की पुनः प्राप्ति करा दी। सुग्रीव पुनः किष्किन्धा का राजा बन गया। यद्यपि वानरों और राक्षसों की अठारह पीढ़ियों से मित्रता थी, फिर भी सुग्रीव अपने बहनोई रावण से सीता को प्राप्त कर लेने में राम की सहायता करने के लिए तैयार हो गया। सीता की खोज कर लेने की क्षमता केवल हनुमान में ही है, यह समझकर सुग्रीव ने हनुमान को राम के पक्ष में सम्मिलित कर लिया। हनुमान चन्द्रनखा का जामाता था, फिर भी रावण को कुमार्ग पर बढ़ते देखकर, वह उसके विरोध में राम का साथ देने को तैयार हो गया। अनेक संकटों का सामना करते हुए और महेन्द्र आदि अनेक राजाओं को पराजित कर राम के पक्ष में सम्मिलित कराते हुए वह लंका में पहुँचा। वह सीता से मिला; उसने रावण को सदुपदेश दिया और लंका को उध्वस्त करके लौट आया। फिर राम ने वानर-सेना सहित लंका पर आक्रमण किया। मार्ग में समुद्र, सेतु और सुवेल नामक राजा राम के पक्ष में सम्मिलित कराए गए। विभीषण भी रावण के पक्ष को छोड़कर राम की शरण में आ गया।

अंगद ने राम के दूत के रूप में रावण से मिलकर समझौता कराने का यत्न किया, परन्तु रावण और इन्द्रजित ने उसे अपमानित करते हुए उसकी सूचना को अस्वीकार किया। युद्ध शुरू हो गया। पहले दो दिनों में रावण के हस्त, प्रहस्त, आक्रोश आदि महायोद्धा मारे गए। तीसरे दिन के युद्ध में कुम्भकर्ण ने हनुमान को पकड़ लिया, परन्तु अंगद ने उसे मुक्त करा लिया। सुग्रीव, भामण्डल आदि को इन्द्रजित ने नागपाश में आबद्ध कर लिया, फिर विभीषण के कथन के अनुसार राम ने गारुड़ीविद्या का प्रयोग कर उन्हें मुक्त कर लिया। चौथे दिन के युद्ध में लक्ष्मण ने इन्द्रजित को और राम ने कुम्भकर्ण को पकड़ लिया। यह देखकर रावण ने विभीषण पर एक शक्ति चला दी, तो उसे बचाने के लिए आगे बढ़ा हुआ लक्ष्मण उस शक्ति से आहत हो गिर पड़ा। इस अवसर पर प्रतिचन्द्र की सूचना के अनुसार हनुमान द्रोणघन राजा की कन्या विशल्या को ले आया और उसके स्नान-जल से लक्ष्मण सचेत हो गया। फिर लक्ष्मण और विशल्या का विवाह हो गया।

तदनंतर रावण ने नंदीश्वर के उत्सव के अवसर पर बहुरूपिणी विद्या को सिद्ध किया। इधर अंगद आदि ने उसे विचलित करने का बहुत प्रयास किया, रावण की स्त्रियों को भी अपमानित किया था। फिर भी रावण अविचल रहा। अनन्तर उसने सीता का हृदय-परिवर्तन कर लेने का यत्न किया। परन्तु उसे हार माननी पड़ी। फिर उसने निश्चय किया कि राम-लक्ष्मण को पराजित करके वह उन्हें सीता लौटा देगा।

अंत में राम और रावण का सात दिन युद्ध हो गया। तत्पश्चात् लक्ष्मण आगे बढ़ा। उनके युद्ध के ग्यारहवें दिन रावण ने लक्ष्मण की ओर अपना चक्र फेंक दिया। परन्तु वह चक्र लक्ष्मण के हाथ में अनायास आ गया। लक्ष्मण ने उसी चक्र से रावण का वध किया।

तदनन्तर विभीषण ने रावण का दाह-संस्कार किया। फिर सीता को सम्मानपूर्वक राम के पास लाया गया। मुनि अप्रमेयबल का उपदेश सुनने पर इन्द्रजित, कुम्भकर्ण, मंदोदरी आदि ने दीक्षा ग्रहण की। फिर विभीषण का राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। लंका में छः वर्ष बिताने के बाद राम आदि अयोध्या लौट गए। लक्ष्मण ने राज्य स्वीकार किया और भरत और कैकेयी ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

× × ×

इसके पश्चात् जैन राम कथा में निम्नलिखित घटनाएँ मिलती हैं—

शत्रुघ्न द्वारा मथुरा के राजा मधु को पराजित करना—राम द्वारा गर्भवती सीता को वन में छुड़वा देना——राम के बहनोई वज्रजंघ द्वारा उसे आश्रय देना—लवण-अंकुश का जन्म, विवाह, राम-लक्ष्मण का सामना करना, लक्ष्मण के चक्र का प्रभावहीन हो जाना, नारद द्वारा उनका परिचय कराना—सीता की अग्नि-परीक्षा, दीक्षा ग्रहण कर आर्यिका होना, मृत्यु के पश्चात् सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र के रूप में जन्म लेना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्मण की मृत्यु—राम का विक्षिप्त-सा हो जाना—दीक्षा ग्रहण करना, तपस्या, केवलज्ञान की प्राप्ति—मोक्ष लाभ।

हनुमान, विभीषण आदि का दीक्षा ग्रहण करना—लक्ष्मण-रावण का नरक-वास।

× × ×

(५) दर्शन तथा पुराण

प्रायः सभी प्राचीन जातियों, देशों और धर्मों में अनेक परम्परागत कथा-कहानियाँ होती हैं। उनमें से कुछ का न्यूनाधिक ऐतिहासिक आधार होता है। ऐसी कथाओं में प्रायः प्राकृतिक घटनाओं, मानव-जाति की उत्पत्ति, सृष्टि की रचना, प्राचीन धार्मिक कृत्यों और सामाजिक रीति-रूढ़ियों के कुछ अत्युक्तिपूर्ण अथवा रूपकात्मक विवरण होते हैं। उनमें परम्परागत देवी-देवताओं और परमप्रतापी पुरुषों के जीवन वृत, राजवंशों की वंशावलियाँ आदि भी प्रस्तुत होती हैं। ऐसी बातें विशिष्ट जाति, धर्म या सम्प्रदाय को दार्शनिक, उपासनात्मक या साधनात्मक मान्यताओं के अनुकूल दिखाई देती हैं।

ब्राह्मण पुराणों की भाँति, जैन पुराण भी विद्यमान हैं। उनमें प्रधानतः २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों, ९ बलदेवों, ९ वासुदेवों और ९ प्रतिवासुदेवों की कथाएँ हैं। इनके अतिरिक्त अनेक मुनियों, महापुरुषों, राजाओं की कथाएँ भी उनमें समाविष्ट हैं। प्राचीनकाल में जैन रामकथा भी पुराणों या पौराणिक शैली में लिखित चरितकाव्यों के रूप में प्रस्तुत की गई है। जैनों के पुराणों के अनुसार, राम का मूल नाम "पद्म" (प्रा० तथा अपभ्रंश पउम, पोम) था। इसके आधार पर रामकथा आचार्य विमलसूरि के प्राकृत "पउमचरियं" में, रविषेणाचार्य के संस्कृत 'पद्मपुराण' में तथा स्वयम्भुदेव के अपभ्रंश "पउमचरिउ" में ग्रथित है। ये तीनों रचनाएँ पौराणिक शैली में विरचित हैं। अतः कहना न होगा कि उनमें कुछ पौराणिक मान्यताएँ भी समाविष्ट हैं।

दर्शन वह विज्ञान है जिसमें प्राणियों को होने वाले ज्ञान या बोध, सब तत्त्वों तथा पदार्थों के मूल और आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, विश्व, सृष्टि आदि से सम्बन्ध रखने वाले नियमों, विधानों, सिद्धान्तों आदि का गम्भीर अध्ययन, निरूपण तथा विवेचन होता है। उसमें सब बातों के रहस्य, स्वरूप आदि का विचार करके तत्त्व, नियम आदि स्थिर किए हुए होते हैं।

भारत में प्राचीन काल में दर्शनशास्त्र पर्याप्त मात्रा में विकसित हो चुका था। सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त) नामक छः वैदिक या आस्तिक दर्शन के भेद हैं, जबकि चार्वाक्, बौद्ध और जैन-दर्शन वैदिकेतर या नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। वेदों को अस्वीकार करने के कारण, जैन-दर्शन को वैदिकों ने नास्तिक दर्शन कहा है।

(६) पौराणिक पृष्ठभूमि

जैन रामकथा के लिए जिन पौराणिक और दार्शनिक मान्यताओं का आश्रय लिया गया है, उनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है। जैन रामकथा की दो परम्पराओं में से विमलसूरि की परम्परा की रामकथा जैनों के दोनों सम्प्रदायों में सर्वाधिक लोकप्रिय है; वह अधिक विकसित भी है। अतः जैन रामकथा की पौराणिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि का निम्नलिखित विवेचन मुख्यतः उसी के आधार पर किया जा रहा है। (प्राकृत) पउमचरियं, (संस्कृत) पद्मपुराण और (अपभ्रंश) पउमचरिउ आदि पौराणिक शैली में विरचित रामकथात्मक कृतियों में सृष्टि का स्वरूप, लोक-परलोक आदि के विषय में अनेक जैन मान्यताएँ समाविष्ट हैं। यद्यपि ये मान्यताएँ रामकथा के अंग नहीं हैं, फिर भी रामकथा उनके रंग में रंगी हुई है। इसलिए उनका उल्लेख यहाँ पर संक्षेप में किया जा रहा है।

(क) कथा का कृतित्व—जैनों की मान्यता के अनुसार, रामकथा रूपी सरिता तीर्थंकर वर्धमान महावीर के मुख रूपी रंध्र से निःसृत होकर क्रम से बहती हुई चली आई है। वह तीर्थंकर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी को प्राप्त हुई और मगध के राजा श्रेणिक की रामकथा-सम्बन्धी शंकाओं का समाधान करने के हेतु उन्होंने उसे सुनाई।

(ख) राम का काल—राम, रावण आदि पात्र बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थकाल में उत्पन्न हो गए थे। यह काल आज से सहस्रों वर्ष पूर्व पड़ता है।

(ग) राम का स्थान—राम भरतखण्ड के साकेत अयोध्या नगर में उत्पन्न हुए थे साकेत, अयोध्या, चित्रकूट, दसपुर, दण्डकवन, किष्किन्धा, लंका आदि रामकथा में उल्लिखित स्थान जंबूद्वीप के अन्तर्गत भरतखण्ड में स्थित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(घ) **काल-तत्त्व**—जैन रामकथाकारों ने कथा-कथन के दौरान काल-तत्त्व सम्बन्धी जैन मान्यता प्रस्तुत की है। उनके अनुसार काल मौलिक तत्व है। निश्चयकाल और व्यवहारकाल नामक काल के दो भेदों में से व्यवहार काल दो भागों में विभक्त है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। यह त्रिभुवनरूपी वल्मीक काल-भुजंगम ने परिवेष्टित कर रखा है। इस काल-भुजंगम के परिवार में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दो सर्पिणियाँ है। इनमें से प्रत्येक के छः-छः पुत्र हैं। उन सबका परिवार विशाल है। उत्सर्पिणी काल में पदार्थ मात्र का विकास होता रहता है, जबकि अवसर्पिणी काल में उसकी अवनति होती जाती है। अवसर्पिणी काल के दुःखमा-दुःखमा नामक अंश में संसार की सबसे अधिक बुरी स्थिति हो जाती है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, राम-लक्ष्मण-रावण आदि समस्त शलाका पुरुष अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में हो गए हैं। पउमचरियं आदि के अनुसार मुनि अप्रमेयबल से काल-भुजंगम का वर्णन सुनकर इन्द्रजित, कुम्भकर्ण आदि ने दीक्षा ग्रहण की।

(ङ) **लोक-तत्त्व**—जैन मान्यता के अनुसार, पहले अनन्त आकाश है। उसके बीच कर्ता से रहित निरंजन और परिवर्तनशील तीन लोक हैं। इनमें से तिर्यक् लोक के अन्दर जंबूद्वीप में सुमेरु नामक स्वर्ण पर्वत के दाहिने भाग में छःखण्ड वाला भरतक्षेत्र है। भरतक्षेत्र के उत्तर में हिमवान पर्वत और मध्य में विजयार्ध पर्वत है। उत्तर भरतक्षेत्र के तीन और दक्षिण भरतक्षेत्र के तीन—कुल छः खण्ड हैं। कहा जा चुका है, राम आदि का सम्बन्ध इसी भरतक्षेत्र से है। छहों खण्डों का अधिपति चक्रवर्ती कहलाता है। भरत, सगर आदि बारह चक्रवर्ती हो गए हैं। तीन खण्डों का अधिपति अर्धचक्रवर्ती कहलाता है। लक्ष्मण और रावण अर्धचक्रवर्ती थे।

(च) **स्वर्ग-नरक**—श्वेताम्बर सम्प्रदाय बारह स्वर्ग मानता है, तो दिगम्बर सोलह। पुण्यवान जीव मृत्यु के बाद स्वर्ग में स्थान प्राप्त करके सुख-भोग कर लेते हैं। रामकथाकारों के अनुसार सीता मृत्यु के पश्चात्, अच्युत नामक स्वर्ग में इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुई थी। जटायु और राम के सेनापति कृतान्तवक्त्र ने माहेन्द्र नामक चौथे स्वर्ग में जन्म लिया था। जैन पुराणों के अनुसार नरक सात हैं, जिनमें पापियों को उनके पाप की मात्रा के अनुसार मृत्यु के पश्चात् स्थान मिलता है। रत्नप्रभा आदि नरकों में अग्नि प्रज्वलित रहती है, वे नाना प्रकार के कीड़ों-कृमियों कीचड़ से भरे रहते हैं। नरक में असिपत्रवन तथा वैतरणी नदी का भी अस्तित्व है। पउमचरिउ के ८९वीं सन्धि में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा आदि नरकों का उल्लेख है, उसमें वालुकाप्रभा नरक के एक दृश्य का भी वर्णन है। जैन रामकथा के अनुसार रावण, लक्ष्मण, शम्बु आदि को नरक-वास प्राप्त हो गया था।

स्वर्ग ऊर्ध्वलोक में हैं, तो नरक अधोलोक में।

(छ) **योनियाँ, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म**—जैन पुराणों के अनुसार जीव को ८४ लाख योनियों में से भ्रमण करते हुए कृमि-कीट, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि का जन्म ग्रहण करना पड़ता है। प्रत्येक जन्म में कर्म करते हुए जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और अपने कर्म के अनुसार पुनर्जन्म प्राप्त करता है। जैन रामकथा में राम, लक्ष्मण, सीता, रावण, जटायु आदि के पूर्वजन्मों की कथा बताई गई है। केवली राम ने लक्ष्मण आदि के परवर्ती जन्मों की झलक भी दिखाई है। जैन मान्यता के अनुसार तिर्यंच योनि के जीवों को भी तीर्थंकर के समवशरण में स्थान है और मनुष्येतर जीव तक तीर्थंकर के उपदेश को श्रवण करने के लिए इकट्ठे होते हैं। देव भी एक स्वतन्त्र योनि है और जीव सत्कर्म करने पर उसे प्राप्त कर सकता है। पउमचरिउ में कहा है कि मृत्यु के समय णमोकार मंत्र का श्रवण करने के कारण एक वानर स्वर्ग में देव के रूप में उत्पन्न हो गया था।

(ज) **वंश**—आदिकाल के चौदह कुलकरों में से अन्तिम कुलकर नाभिराजा के मरुदेवी नामक पत्नी से ऋषभदेव नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह पुत्र ही आदि तीर्थंकर माना जाता है। ऋषभदेव की एक उपाधि 'इक्ष्वाकु' थी इससे उनका वंश "इक्ष्वाकु" कहलाया। ऋषभदेव का भरत नामक पुत्र प्रथम चक्रवर्ती हो गया। उससे "सूर्यवंश" चल पड़ा। राम-लक्ष्मण इक्ष्वाकु वंश की इसी सूर्यवंशी शाखा में उत्पन्न हुए थे। ऋषभदेव के बाहुबली नामक पुत्र के वंश को "ऋषिवंश" कहते हैं। बाहुबली के पुत्र से "सोम" या चंद्रवंश चल पड़ा। मिथिलाधिपति जनक का सम्बन्ध इसी वंश से है। रामकथात्मक ग्रन्थों के रचयिताओं ने आवश्यकतानुसार इन वंशों की उत्पत्ति और विस्तार का और उनमें उत्पन्न महापुरुषों के प्रताप का वर्णन किया है।

जब भगवान ऋषभदेव तपस्या में लीन थे, तब कश्यप और महाकश्यप के पुत्र नमि और विनमि वहाँ उपस्थित होकर राज्य-सम्पदा की माँग करने लगे। तो धरणेन्द्र ने उन्हें विद्याएँ और विजयार्ध पर्वत की उत्तर तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दक्षिण श्रेणियाँ राज्य के रूप में प्रदान कीं। विद्याओं के धारक होने के कारण वे "विद्याधर" कहलाए और उनका वंश "विद्याधरवंश" नाम से विख्यात हुआ। इसी विद्याधरवंश की दो शाखाएँ हैं—राक्षसवंश और वानरवंश। राक्षस द्वीप के कारण राक्षसवंश नाम चल पड़ा, इस वंश को राक्षसी विद्या भी प्राप्त थी। वानरद्वीप के निवासी विद्याधर वानरवंशी कहलाए। उनके मुकुट, ध्वज आदि वानर-चिह्न से अंकित थे।

पउमचरियं आदि ग्रन्थों का प्रारम्भिक भाग विद्याधरों के प्रताप और लीलाओं की गाथा मात्र है। रावण आदि ने तपस्या करके विद्याएँ प्राप्त कीं। उनका प्रयोग करके युद्ध-भूमि में वानरों-राक्षसों ने अद्भुत लीलाएँ प्रदर्शित कीं। रामायण में विद्याधरों की विद्याओं का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। रावण ने इन्द्र, वरुण, चंद्र आदि को जीत लिया था, वे देव नहीं थे, विद्याधर थे।

(झ) देव और देवियाँ—जैन रामकथा में देवों और देवियों का उल्लेख मिलता है। परन्तु ये इन्द्र आदि देव ब्राह्मण परम्परा के देवों से भिन्न हैं, वे कर्तुमकर्तुमसमर्थ नहीं हैं।

(ञ) शलाका पुरुष—कहा जा चुका है कि त्रेसठ शलाका पुरुषों की कथाएँ जैन पुराणों का वर्ण्य-विषय हैं। उनके अनुसार प्रत्येक कल्प में २४ तीर्थंकर और १२ चक्रवर्तियों के अतिरिक्त नौ बलदेव, नौ वासुदेव या नारायण और नौ प्रतिवासुदेव उत्पन्न होते हैं। इन नौ त्रयिओं में से प्रत्येक त्रयी के बलदेव-वासुदेव-प्रतिवासुदेव समकालीन होते हैं। बलदेव-वासुदेव तेजस्वी, ओजस्वी, परम प्रतापी, कान्त, काम्य, सुभग, प्रियदर्शन, महाबली और अपराजेय होते हैं वस्तुतः "बलदेव" और "वासुदेव" उपाधिविशेष हैं। वासुदेव तीन खण्डों के अधिपति, अर्थात् "अर्ध-चक्रवर्ती" माने जाते हैं। प्रतिवासुदेव का भी तीन खण्डभूमि पर आधिपत्य होता है। वस्तुतः वह भी महान पुरुष होता है, परन्तु जीवन के उत्तर काल में वह अधिकार के मद में अन्याय और अत्याचार करने लगता है। उस अन्याय को मिटाने के लिए वासुदेव को प्रतिवासुदेव से युद्ध करना पड़ता है। युद्ध में वासुदेव प्रतिवासुदेव को पराजित करके उसका वध करता है। हिंसा के कारण वासुदेव-प्रतिवासुदेव नरक में जाते हैं, जब कि बलदेव स्वर्ग अथवा मोक्ष-लाभ कर लेता है।

सहस्रों भवों में उत्तमोत्तम कर्म करते हुए विशिष्ट जीव बलदेव के रूप में उत्पन्न है, वह अहिंसा आदि व्रतों का धारी तथा स्वर्ग या मोक्षगामी होता है। तुलनात्मक दृष्टि से वासुदेव बलदेव की अपेक्षा अति उग्र स्वभाव का होता है, सांसारिक भोगविलास की भी अभिलाषा उसमें अधिक होती है।

रामायण के राम, लक्ष्मण और रावण क्रमशः आठवें बलदेव, आठवें वासुदेव और आठवें प्रतिवासुदेव माने गये हैं।

(७) दार्शनिक पृष्ठभूमि

(क) जीव : जैनदर्शन के अनुसार, जीव स्वतंत्र भौतिक तत्त्व है। उसका प्रमुख लक्षण है—चैतन्य, जिससे वह समस्त जड़ पदार्थों से भिन्न जाना जा सकता है। वह किसी से उत्पन्न नहीं है। वह न किसी का अंश है, न अन्त में किसी में विलीन हो जाता है। वह अनादि-निधन है; फिर भी वह देह-प्रमाण है। जीवों के दो भेद हैं—(१) संसारी जीव, अर्थात् वे जीव, जो अपने कर्म-संस्कारों के कारण नाना योनियों में उत्पन्न होते हुए शरीरों को धारण करते हुए जन्म-मरण द्वारा संसरण करते रहते हैं, और (२) मुक्त जीव, अर्थात् वे जीव जो अपने कर्म-संस्कारों से मुक्त होकर शुद्ध रूप में सदा स्थित रहते हैं।

जैन रामायणों में उनके रचयिताओं ने यथास्थान जीवों की स्थिति का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए सीता के अपहरण के पश्चात् उसकी खोज करने वाले व्यथित-हृदय राम से दो चारणमुनि मिले। उन्होंने राम को ढाढ़स बँधाने के हेतु सुन्दर दिखाई देने वाली नारी के घिनौने रूप का उल्लेख किया और ऐसी नारी के उदर में जीव किस स्थिति में गर्भवास करता है, इसका वर्णन किया है।

संसारी जीव जुए में जुते हुए तेली के बैल की तरह संसार में भटकता हुआ कभी नहीं थकता। वह संसार में आते-जाते और मरते हुए सबको रुलाता है। खाते हुए उसने तीनों लोक खा डाले और जल-जलकर सारी धरती फूँक डाली। वह नट की तरह सैकड़ों रूप ग्रहण कर जन्म, जरा और मरण की परम्परा में भटकता रहता है। वे राम से कहते हैं, तुम और सीता दोनों सैकड़ों योनियों में जन्म पा चुके हो। (पउम चरिउ, संधि ३९)

जीव सम्बन्धी अधिक जानकारी हनुमान के शब्दों में दी गई है। रावण की सभा में हनुमान रावण को उप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देश देते हुए द्वादश अनुप्रेक्षाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है। जैनदर्शन में इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। हनुमान ने उनका विवरण प्रस्तुत करते हुए रावण से कहा (पउमचरिउ, संधि ४४)—इस अनित्य संसार में सांसारिक व्यक्ति अशरण होता है, वह असहाय है। उसके अनुसार जीव वस्तुतः निराधार, अशरण है; वह अपने पाप-कर्मों से आच्छन्न होकर अकेला ही उनके फलों को भोगता रहता है। उसके साथ उसके किए हुए सुकृत और दुष्कृत रहते हैं। वस्तुतः शरीर से पृथक् रहने पर भी जीव को उस घिनौने एवं अपवित्र शरीर के प्रति और उसके द्वारा सांसारिक भोग-विलास के प्रति बहुत आसक्ति होती है। (कहना न होगा कि रावण इसका मूर्तिमान उदाहरण है।) जीव असंख्यात है। उसकी चार गतियाँ हैं—देव, नरक, तिर्यंच, मनुष्य। जीव नित्य भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हुआ मारता है, पिटता है, मरता है, रोता है, खाता है और खाया जाता है।

कहा जा चुका है कि जीव के विशिष्ट जन्म के सन्दर्भ में पूर्वजन्म होते हैं, परवर्ती जन्म भी होते हैं। जैन रामायण में उनके रचनाकारों ने राम, लक्ष्मण, सीता, रावण, जटायु, आदि के पूर्वभवों का वर्णन किया है। उन्होंने भामण्डल, लक्ष्मण, रावण आदि के परवर्ती भवों का भी चित्रण किया है।

जन्म और मृत्यु के सन्दर्भ में कहना होगा कि जीव के जीवत्व रूप भाव का नाश कभी भी नहीं होता। अर्थात् मृत्यु शरीर की होती है, न कि जीव की। स्वयम्भु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जीव कलेवर को धारण करता है और उसे त्याग देता है। (संधि ५४,६ और १२)।

वस्तुतः प्रत्येक जीव में स्वभाव से अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तसामर्थ्य आदि गुण रहते हैं, परन्तु आवरणीय कर्मों के प्रभाव से उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। जीव कर्म से आबद्ध है, फिर भी उससे छुटकारा प्राप्त करके वह मुक्त हो सकता है। मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता के अनुसार जीव के दो भेद हैं—भव्य और अभव्य। जो तपस्या एवं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र द्वारा सिद्ध-पद प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं, वे 'भव्य' जीव कहलाते हैं। जो इसके विपरीत हैं, वे 'अभव्य' जीव हैं। जैन रामकथा में भरत भव्य या आसन्न भव्य है, उसे सांसारिक जीवन में कोई रुचि नहीं है। उसकी इस विरक्ति को देखकर कैकेयी चिन्तित है, और उसे राजकाज में उलझाये रखने के हेतु वह दशरथ से उसके लिए राज्य माँगती है। ये भव्य जीव यथाकाल दीक्षा लेते हैं और मोक्ष-लाभ करते हैं। राम भी मोक्ष-लाभ करने के हेतु ही उत्पन्न हुए हैं। दूसरी ओर रावण, लक्ष्मण दीक्षा ग्रहण नहीं करते। मुनि राम के कथन के अनुसार अनेकानेक जन्मों के पश्चात ये संसारी जीव मोक्ष लाभ करेंगे। इसका यह मतलब हुआ कि राम, भरत, हनुमान आदि सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हुए मोक्ष जाने की शक्ति प्राप्त करके उत्पन्न हुए हैं।

(ख) **परमात्मा** : जैनदर्शन के अनुसार आत्मा के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। कर्म-फलस्वरूप अज्ञान से शरीरादि बाह्य पदार्थों में आसक्त तथा इन्द्रियों के विषयों में निमग्न जीव बहिरात्मा कहा जाता है। इस दृष्टि से चन्द्रनखा (शूर्पणखा), माया-सुग्रीव बहिरात्मा हैं, रावण भी अधिकांशतः बहिरात्मा है। जिसकी दृष्टि बाह्य पदार्थों से हटकर अपनी आत्मा की ओर उन्मुख होती है और स्व-पर का विवेक होने से जो लौकिक कार्यों में अनासक्त और आत्मिक कार्यों में सावधान होता है, उसे अन्तरात्मा कहते हैं। दशरथ, राम, हनुमान आदि अपने जीवन के उत्तरकाल में इस प्रकार के अन्तरात्मा हो गए। घरबार आदि का परित्याग करके साधु-जीवन को अंगीकार करते हुए जो आत्मस्वरूप की साधना में तत्पर हो जाते हैं, वे उत्तम अन्तरात्मा है। इस दृष्टि से दशरथ, राम, सीता, भरत, हनुमान, बाली आदि अन्त में उत्तम अन्तरात्मा हो गए। जो उत्तम अन्तरात्मा की सर्वोच्च दशा में पहुँच कर अपने आन्तरिक विकारों का अभाव कर परम कैवल्य को प्राप्त हो जाता है, उसे परमात्मा कहते हैं। इस दृष्टि से मुनि कुलभूषण, अप्रमेयबल परमात्मा हैं, राम भी अन्त में मुनिधर्म स्वीकार करके केवलज्ञान का उपार्जन करने में समर्थ हो गए है। अतः राम अन्त में परमात्मा हो गए हैं।

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह प्रत्येक आत्मा को यह विश्वास दिलाता है कि वह अपना विकास करते-करते स्वयं परमात्मा बन सकता है। राम उसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

(ग) **मोक्ष** : जैन-दर्शन के अनुसार जीव के सम्पूर्ण कर्मों के क्षय हो जाने को 'मोक्ष' कहते हैं। जिस मार्ग से कर्म का 'आस्रव' है, उसका 'संवर' या निरोध करते हुए कर्मों की 'निर्जरा' (विनाश) करने से जीव को मोक्ष लाभ हो जाता है। इस स्थिति में आत्मा का विनाश या किसी अन्य परमात्मा में विलीन होना अपेक्षित नहीं है। मोक्ष को प्राप्त हुआ जीव निर्मल, निश्चल और अनन्तचैतन्यमय हो जाता है। राम आदि इसी प्रकार के जीव हो गए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव स्वभावतः ऊर्ध्वगामी होता है। अतः कर्मों के नष्ट हो जाने पर जीव शरीर से वियुक्त हो जाता है और लोक के अन्त को प्राप्त करता है। लोकाग्र में जिस स्थान पर मुक्त जीव ठहरता है, उसे 'सिद्धशिला' कहते है। रामायण के अनेकानेक पात्र मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं और सिद्धशिला पर निवास करने के अधिकारी हो जाते हैं।

(घ) **मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य**—जैनदर्शन के अनुसार मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है। सांसारिक धन-वैभव एवं सुखोपभोग की सारहीनता अनुभव करके उसका त्याग करना और प्रव्रज्या लेना मोक्ष-लाभ के मार्ग का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। जैन रामकथा के अनुसार दशरथ, बाली, राम, सीता, हनुमान आदि पात्र प्रव्रज्या लेते हैं और मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर हो जाते है। रावण, लक्ष्मण, शम्बु आदि ऐसा नहीं करते, इसलिए उन्हें मोक्ष प्राप्ति के पहले और भी अनेकानेक योनियों में भ्रमण करना पड़ेगा।

(ङ) **जगत** : जैनदर्शन के अनुसार जगत को अनन्त और सर्वव्यापी आकाश में स्थान प्राप्त है। इस जगत का कोई निर्माता नहीं है, इस दृष्टि से वह स्वयंसिद्ध तथा अनादि है। फिर भी प्रत्येक द्रव्य की भाँति वह परिणमन करता रहता है। अतः वह सारहीन है, प्रत्येक-स्थिति क्षणिक है। भोगविलास, धन-दौलत आदि की निःसारता भव्य जीव को उसका परित्याग करने की प्रेरणा देती है। इसका भान होने पर दशरथ ने सर्वत्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण की। एक तारे के गिर कर विनष्ट होने को देखकर हनुमान ने वही किया। इस निःसार राज्य-वैभव के लिए लड़ाई-झगड़ा क्यों करें ?—इस विचार से बाली ने राज्यश्री सुग्रीव को सौंप कर प्रव्रज्या ग्रहण की। भरत ने राम को राज्य लौटाकर वही किया।

(च) **माया** : 'पाइअसद्दमहण्णव' के अनुसार 'माया' का अर्थ है—छल-कपट, धोखा। जैन-ग्रन्थों के अनुसार माया चार कषायों में से एक है। मन, वचन और काय का प्रयोग जहाँ पर विषमरूप से किया जाए, वहाँ मायाकषाय समझना चाहिए। अर्थात्, दूसरे को धोखा देने या ठगने के अभिप्राय से अपने मन के अभिप्राय को छिपाकर दूसरा आशय प्रकट करनेवाले वचन बोलने या शरीर से वैसी कोई चेष्टा करने तथा इसी प्रकार वचन और काय में भी वैषम्य रखने को माया कहते हैं। माया आदि कषाय आत्मा को कसकर उसमें विकृति उत्पन्न करते हैं और उसे कर्ममल से मलिन करते हैं। जैन रामकथा के अन्तर्गत मायासुग्रीव प्रकरण माया का मूर्तिमान उदाहरण है। सहस्रगति नामक विद्याधर ने छल-कपटपूर्वक सुग्रीव का-सा रूप धारण करके उसकी पत्नी राज्य आदि छीन लिया और उसकी प्रजा को भी चकमा दिया। रावण ने भी अवलोकनी विद्या की सहायता से सिंहनाद उत्पन्न करवाकर सीता की रक्षा करने वाले राम को धोखा दिया और राम के दूर चले जाने पर सीता का अपहरण किया। इस प्रकार रावण माया कषाय से लिप्त हो गया। चन्द्रनखा द्वारा राम-लक्ष्मण को धोखा देने का यत्न भी इसी श्रेणी में आता है।

(छ) **कर्म** : भारतीय दर्शन में कर्मसिद्धान्त विशिष्ट महत्व रखता है। इसे भारत के सभी दार्शनिक संप्रदायों ने स्वीकार किया है, फिर भी उसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। जैनदर्शन में कर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शरीर, मन और वचन की क्रिया या 'योग' से आकर्षित पुद्गल परमाणु आत्मा में चिपकते हैं। आत्मा के सम्पर्क में आने वाले कार्माण वर्गणा के परमाणु 'कर्म' कहलाते हैं। आत्मा के सम्पर्क में योगाकर्षित परमाणुओं के आने को 'आस्रव', रोकने को 'संवर' और उनके झड़ जाने को निर्जरा कहते हैं। कर्म के अनेकानेक भेद बताए गए हैं। जीव का प्रत्येक कर्म अपना कुछ-न-कुछ प्रभाव दिखाता ही है। साधक घातिकर्मों का क्षय करके परमात्म पद प्राप्त करता है। जैन रामायणों में बाली, राम आदि द्वारा घातिकर्मों के क्षय कर देने का न्यूनाधिक विस्तार से उल्लेख मिलता है।

जैनदर्शन के अनुसार कर्म का कर्ता और कर्म-फल का भोक्ता स्वयं जीव होता है। साधक विशिष्ट नियम के अनुसार आचरण करता हुआ अपना विकास स्वयं कर लेता है। ब्राह्मण-परंपरा की रामकथा में ऋषि-मुनियों के अभिशाप या वरदान तथा राम द्वारा किसी का उद्धार करते हुए उसे मोक्ष—मुक्ति दिला देने की कथाएँ मिलती हैं, परन्तु जैन रामकथा में ऐसी कथाएँ नहीं मिलतीं। राम न किसी का उद्धार करते हैं न कोई मुनि किसी को अभिशाप देता है। रावण सीता के साथ बलात्कार इसलिए नहीं करता कि उसने वैसा व्रत ले रखा है।

जैन कर्म सिद्धान्त की विशिष्टता के कारण जैन रामकथा के व्यक्तित्व और उनकी कथा का रंग ही बदल गया है।

(ज) **दर्शन** : जीव के चैतन्य लक्षण का तात्पर्य 'उपयोग' से है और उपयोग के दर्शन और ज्ञान नामक दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेद हैं। वस्तुतः अपनी सत्ता की अनुभूति या आत्मचेतना ही 'दर्शन' कहलाती है। तत्त्वरूप अर्थों के श्रद्धान को तत्त्वार्थ श्रद्धान कहते हैं और इसी का नाम 'सम्यग्दर्शन' है। जैनदर्शन के अनुसार 'सम्यग्दर्शन' मोक्ष-प्राप्ति के त्रिविध साधनों में से एक है—वह आत्मा का गुण है। उसके उदित होने पर आत्मा में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा आदि भाव प्रकट होते हैं। जैन रामायणों में बाली, राम तथा मुनियों द्वारा सम्यग्दर्शन के उपार्जन का उल्लेख मिलता है।

(ग) ज्ञान : जैन शास्त्रों के अनुसार जीव के उपयोग लक्षण के भेदों में से बाह्य पदार्थों को अवगत करने की शक्ति का नाम ज्ञान है। साधक में ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म से आच्छन्न रहता है और साधक विशिष्ट साधना द्वारा उस कर्म का क्षय करते हुए ज्ञान को प्राप्त करता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यक्ज्ञान आवश्यक है। जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल के विषयभूत अनन्त गुप्त-पर्यायों से मुक्त पदार्थ यथार्थ रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उसे सम्यक्ज्ञान कहते हैं। ज्ञान के अनेक भेद बतलाए जाते हैं। यहाँ रामकथा के सन्दर्भ में उनमें से केवलज्ञान का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। त्रिलोक और त्रिकाल के समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानने को केवलज्ञान कहते हैं। ज्ञानावरणीय आदि चारों घातिकर्मों का नाश करने से साधक को केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब वह साधक 'केवली' कहलाता है। जैन रामकथा में बाली, राम आदि के केवली हो जाने का उल्लेख मिलता है। इसी के बल पर मुनि राम ने दशरथ, भामण्डल, लवण, अंकुश, लक्ष्मण आदि के अन्यान्य भवों का वर्णन किया। केवलज्ञान से युक्त आत्मा परमात्मा हो जाता है और उसके उत्पन्न हो जाने के अवसर पर ज्ञानकल्याण उत्सव मानने के लिए इन्द्र आदि देव उपस्थित हैं।

(८) साधना-पक्ष

(क) चारित्र : जैन शास्त्रों के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अत्यन्त आवश्यक है। दर्शन और ज्ञान की उपलब्धि के लिए चारित्र सम्बन्धी साधनात्मक पक्ष नींव के बराबर है। हिंसा, अनृत, चौर्य, कुशील और परिग्रह—इन पाँच पापों का त्याग करने और पर-पदार्थों में आसक्ति, राग, द्वेष न रखते हुए उदासीनता या अनासक्ति अनुभव करने को चारित्र कहते हैं।

पाँच पापों का स्थूलरूप से त्याग करने को देशचारित्र कहते हैं। देशचारित्र का धारक व्यक्ति श्रावक कहलाता है। श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत नामक बारह व्रत बताए जाते हैं।

पंच पापों का पूर्णतः त्याग करने को महाव्रत कहते हैं—यही सकल चारित्र है और यह मुनिधर्म का अनिवार्य अंग है।

जैन रामकथात्मक ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर उपर्युक्त व्रतों और उनके फलों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त हम यह कह सकते हैं कि रामकथा के पात्रों के चारित्रिक गठन का परीक्षण इस सन्दर्भ में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, राम हिंसा, अचौर्य, अनृत आदि पापों से मुक्त हैं। इसलिए वे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। लक्ष्मण के हाथों हिंसा होती है, अतः वह नरक में जाता है। दूसरी ओर रावण हिंसाचार करता है, सीता का अपहरण करता है, असत्य का आश्रय करके सीता, राम आदि को धोखा देने का यत्न करता है, परस्त्री के प्रति उसे आसक्ति है, धनादि का परिग्रह करता है। इसलिए अन्य उत्तम गुणों के होते हुए भी उसका अधःपतन हो जाता है। राम से अहिंसा व्रत का निर्वाह कराना है, संभवतः इसलिए रावण, खर-दूषण, आदि के वध का उत्तरदायित्व जैन रामकथाकारों ने लक्ष्मण पर छोड़ दिया।

शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत जिन-वंदना, उपवास, आहारदान और संल्लेखना नामक व्रत आते हैं। स्वयम्भु आदि कवियों ने इनका विवेचन किया है।

(ख) भक्ति : साधना सम्बन्धी आचारपक्ष में जैन-शास्त्र भक्ति का महत्वपूर्ण स्थान मानते हैं। जीव को अपने कल्याण के लिए जिनेन्द्र के प्रति श्रद्धापूर्वक भक्तिभाव रखना आवश्यक है। जिनेन्द्र के अतिरिक्त किसी अन्य के प्रति नतमस्तक न होने या किसी को प्रणाम न करने की प्रतिज्ञा करने वाले व्यक्ति जैन रामकथा में मिलते हैं। ऐसी प्रतिज्ञा के कारण बाली को रावण का सामना करना पड़ा, तथा वज्रकर्ण को संकट झेलने पड़े।

जैन-शास्त्रों के अनुसार भक्ति के निम्नलिखित अंग माने जाते हैं—

पूजा-विधान, स्तुति-स्तोत्र, संस्तवन, वंदन, विनय, मंगल, महोत्सव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहना न होगा कि ये सब भक्ति की अभिव्यक्ति की शैलियाँ मात्र हैं। भाव के विचार से इनमें एक-दूसरे में कोई अन्तर नहीं है।

स्तुति-स्तोत्र, स्तवन इत्यादि—आराध्य के गुणों की प्रशंसा करना स्तुति है। ऐसी स्तुतियाँ साधक के कर्ममल को दूर करने में सहायक होती हैं। जैन रामकथा के अनुसार राम-लक्ष्मण-सीता ने अयोध्या से निकलकर सिद्धवर कूट में विश्राम किया और फिर जिनेन्द्र की वन्दना की। उन्होंने सहस्रकूट पर स्थित जिनेन्द्र की स्तुति की थी। मुनि कुल-भूषण देशभूषण को होने वाले उपद्रव को राम ने दूर किया। तदनन्तर जब मुनिवरों को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तो राम ने उनकी वन्दना की। हनुमान ने मन्दराचल पर स्तुति की। इस प्रकार की स्तुतियों के रामकथा में अनेक उदाहरण मिलते हैं। स्वयम्भु आदि जैन ग्रन्थकर्ता ग्रन्थारम्भ में जिनवन्दना करते हैं।

इस प्रकार **वन्दना** और **विनय** के भी उदाहरण पाए जाते हैं।

मंगल—जो मल को गलाकर नष्ट करता है, वह मंगल कहलाता है। उससे आत्मा शुद्ध होते हुए परमसुख का अनुभव करती है। राम द्वारा भगवान जिनेन्द्र की वन्दना करते हुए उनके अनेक नामों का स्मरण करना (पउम-चरिउ, सन्धि ४३), रावण की कैलास यात्रा (सन्धि १३), नन्दीश्वर महोत्सव (सन्धि ७१) आदि मंगल भक्ति के उदाहरण है। कोटिशिला उठाने के पूर्व लक्ष्मण ने चारों मंगलों का उच्चारण किया (सन्धि ४४)।

महोत्सव—इसमें नृत्य, गायन, वादन, रथ-यात्रा आदि द्वारा भक्त की भक्ति की अभिव्यक्ति होती है। मुनियों के पूजन के पश्चात् सीता ने भक्ति-पूर्वक नृत्य किया था (सन्धि ३२)। रावण ने कैलास-उद्धरण के अनन्तर भक्ति-पूर्वक गायन किया था (सन्धि १३)। इसी प्रकार लक्ष्मण द्वारा गान करने (सन्धि ३२) और राम द्वारा सुघोष वीणा बजाने का उल्लेख मिलता है। हरिषेण प्रकरण में रथ-यात्रा का भी उल्लेख है। रावण ने लंका में बड़े उत्साह के साथ नन्दीश्वर उत्सव सम्पन्न किया था (सन्धि ७१)।

इस भक्ति भावना की अभिव्यक्ति के लिए अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, तीर्थंकर आदि आलम्बनस्वरूप है।

(ग) **तप**—जैन शास्त्रों के अनुसार, कर्म-निर्जरा के लिए जिस महान पुरुषार्थ या प्रयास की आवश्यकता होती है, उसे तप कहते हैं। तप के मुख्य दो भेद हैं—बाह्यतप और आभ्यन्तरतप। इनमें से प्रत्येक के छह-छह उपभेद हैं। जैन रामकथा में बताया गया है कि दशरथ, हनुमान, बाली, राम आदि अनेक व्यक्तियों ने यथाकाल घरबार का त्याग करके तप के लिए प्रस्थान किया।

तप का आचरण आसान नहीं है। तप करने वाले के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं, तप करने वाले को प्रलोभन दिखाए जाते हैं, उपद्रव भी किया जाता है। फिर भी साधक को अविचल रहना चाहिए। मुनि देशभूषण-कुलभूषण का तप प्रकरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। राम के तप की कथा(सन्धि ९०) भी इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है।

(घ) **ध्यान**—तप करने वाला साधक ध्यान द्वारा कर्मों का नाश करता है। घातिकर्मों का नाश करने के उपरान्त साधक को केवलज्ञान प्राप्त होता है। राम आदि ध्यान द्वारा ही केवली हुए हैं।

(ङ) **अनुप्रेक्षाएँ**—जैनदर्शन के अनुसार, शरीर तथा संसार की अन्यान्य वस्तुओं की प्रकृति का तथा उचित सिद्धान्तों का अनवरत चिन्तन ही 'अनुप्रेक्षा' है। अनुप्रेक्षा के बारह भेद माने गए हैं। वस्तुतः इन बारह अनुप्रेक्षाओं में जैन-दर्शन के बहुत से प्रमुख सिद्धान्त समाविष्ट हैं। अनुप्रेक्षा कर्मबन्ध से मुक्ति प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। अतः विमलसूरि, रविषेणाचार्य तथा स्वयम्भु जैसे राम-कथाकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अनुप्रेक्षाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।

इन्द्रजित ने हनुमान को नागपाश में आबद्ध करके रावण के सम्मुख उपस्थित कर दिया, तो हनुमान ने रावण को सन्मार्ग का उपदेश देते हुए द्वादश अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया। ये अनुप्रेक्षाएँ नीचे लिखे अनुसार हैं :—

१. **अध्रुव**—जीवन, सम्पत्ति, संसार—सब क्षणिक है, केवल धर्म अस्थिर नहीं है।

२. **अशरण**—मृत्यु से हमारी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। इस अशरण अवस्था में धर्म ही जीव का एक मात्र सहारा है।

३. **एकत्व**—संसार में जीव का सुख-दुख में, जन्म-मृत्यु आदि में कोई भी साथी नहीं है। केवल उसके सुकृत दुष्कृत उसके साथ रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **अन्यत्व**—शरीर, वैभव, स्वजन-परिजन सब दूसरे हैं। धर्म के अतिरिक्त जीव का कोई अन्य साथी नहीं है।

५. **संसार**—जीव चार गतियों में घूमता हुआ अपने पापों का फल भोगता रहता है।

६. **त्रिलोक**—जीव त्रिलोक में विभिन्न योनियों में उत्पन्न होते हुए पापों का फल भोगता रहता है।

७. **अशुचि**—यह अनुप्रेक्षा देह की घिनौनी स्थिति की ओर संकेत करती है।

८. **आस्रव**—अनेक प्रकार के कर्मों से जीव आच्छन्न रहता है।

९. **संवर**—यह अनुप्रेक्षा कर्म निरोध की ओर संकेत करती है।

१०. **निर्जरा**—इस अनुप्रेक्षा के अनुसार जीव उपवास, व्रत, तप आदि द्वारा कर्मफल का नाश करता है।

११. **धर्म**—इस अनुप्रेक्षा में जीवदया, मृदुता, चित्त की सरलता, लाघव, तपश्चरण, संयम, ब्रह्मचर्य सत्य आदि धर्म आते हैं।

१२. **बोधि**—इस अनुप्रेक्षा के अनुसार, जीव को यह दिन-रात सोचना चाहिए कि भव-भव में जिनेन्द्र मेरे स्वामी हों, भव-भव में मुझे सम्यक्ज्ञान, सम्यक्-दर्शन एवं निज गुण-सम्पत्ति की प्राप्ति हो और कर्म-मल का नाश हो।

(६) रामकथा का उपसंहार

राम : दीक्षा-तपस्या-निर्वाण

अन्त में रामकथा के नायक के जीवन के अन्तिम चरण पर प्रकाश डालना समीचीन जान पड़ता है। उसके आधार पर पाठक राम जैसे मोक्षगामी व्यक्ति के जीवन के साधनात्मक पक्ष के बारे में अनुमान कर सकेंगे।

लक्ष्मण की मृत्यु के पश्चात् राम मोहान्ध होकर उसे जीवित ही समझकर उसके शव को सुरक्षित रख रहे थे। परन्तु दो देवों द्वारा उन्हें उद्बोध दिया गया, तो उनका मोह दूर हुआ और उनकी आँखें खुल गईं। उन्हें अपनी मूर्खता पर ग्लानि अनुभव हुई। जब उनको बोध प्राप्त हो गया, तो देवताओं ने अपनी ऋद्धियों का प्रदर्शन उनके सम्मुख कर दिया। फिर लक्ष्मण का दाह-संस्कार करने के पश्चात् उन्होंने समस्त परिग्रह का त्याग किया और महाव्रतों को निष्ठापूर्वक स्वीकार किया। उन्होंने बारह प्रकार के कठोर तप किए, परीषह सहन किए और समितियों का पालन किया वे पहाड़ की चोटी पर ध्यान-मग्न होकर बैठ गए। एक दिन रात में उन्हें अवधिज्ञान की उत्पत्ति हुई। धीरे-धीरे उन्होंने संसार-भ्रमण के मूल कारण कर्मों के नाश के लिए तत्पर हो गए। षष्ठ उपवास करने के बाद जब वे धनकनक देश में पहुँचे, तो वहाँ के राजा ने उनको पारणा कराया। फलस्वरूप देवों ने दुन्दुभियाँ बजाते हुए उनका साधुवाद किया, अपार धन की वर्षा कर दी। तदनन्तर महामुनि राम ने धरती पर विहार किया और घोर तपश्चरण किया। फिर कोटिशिला पर बैठकर आत्म-ध्यान में लीन हो गए। अवधिज्ञान से उनकी इस स्थिति को जान कर सीता के जीव रूपी इन्द्र ने उन्हें विचलित करने का अपार प्रयत्न किया, फिर भी मुनिवर राम का मन अडिग रहा। अन्त में माघ शुक्ला द्वादशी के दिन उन्होंने चार घातिकर्मों का नाश करके परम उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त किया, तो त्रिलोक-त्रिकाल उन्हें हस्तामलकवत् दिखाई देने लगे। तब इन्द्रादि देवों ने वहाँ आकर उनकी वन्दना की। तदनन्तर इन्द्र ने लवण आदि की स्थिति के बारे में जिज्ञासा प्रकट की, तो केवली मुनीन्द्र राम ने उनके स्थित्यन्तरों का वर्णन किया।

कितने ही दिनों के पश्चात् राम ने मोक्ष प्राप्त किया।

× × ×

उपसंहार

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैन रामकथा के विवेकवान पात्रों के आचार-विचार जैन-दर्शन से अनुप्राणित हैं। जो इसका ध्यान नहीं रखते, उनका अधःपात हो जाता है। वस्तुतः दर्शन जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है, वह अमूर्त है, जबकि साधनापक्ष व्यावहारिक होता है। जैन रामकथा के अनुसार राम जैसे आदर्श पात्र व्यवहार-पक्ष का ध्यान रखते हुए जीवन के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते जाते हैं।

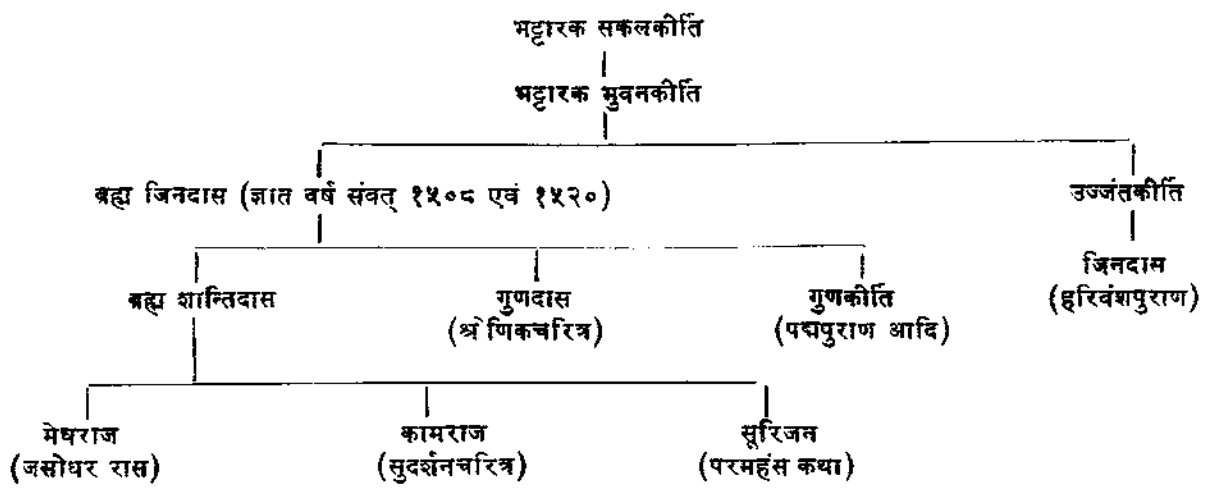
कहा जा चुका है रामकथा के विमलसूरि, रविषेण, स्वयम्भु आदि रचनाकार धार्मिक दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रभावित है, न्यूनाधिक रूप से वे प्रचारक के स्तर पर उतर आते हैं। अतः अवसर मिलते ही वे दर्शन और साधना सम्बन्धी बातों की या तो चर्चा करते हैं या उन्हें व्यवहृत होते दिखाते हैं। विमलसूरि और रविषेण पहले आचार्य हैं, अतः उनकी कृतियों में इस प्रकार का विवेचन अधिक मिलता है, जबकि स्वयम्भु कवि पहले हैं, अतः वे सिर्फ उपदेशक के रूप में पाठकों के सामने नहीं आते। संक्षेप में जैन रचनाकारों ने जैन दार्शनिक दृष्टिकोण को सामने रखकर रामकथा का वर्णन किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मराठी जैन साहित्य

✲ डा० विद्याधर जोहरापुरकर
(महाकोशल कला महाविद्यालय, जबलपुर)

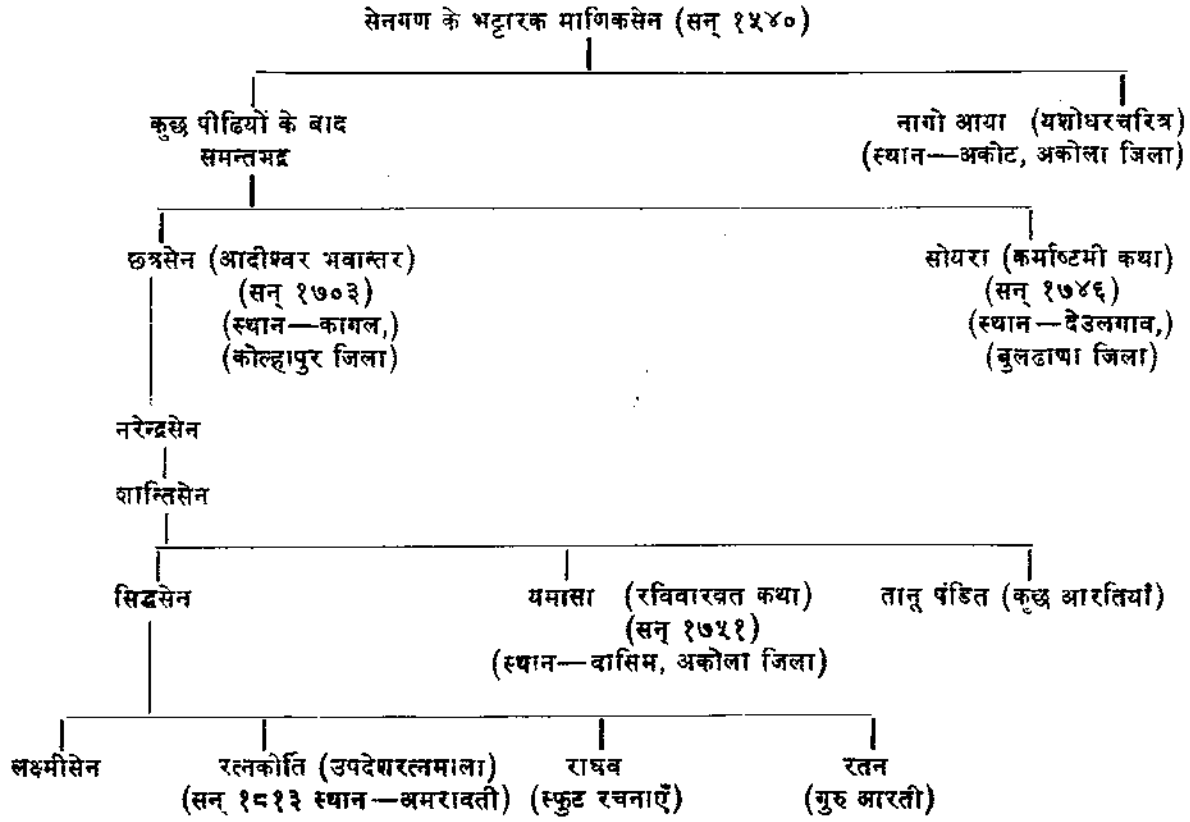
महाराष्ट्र में जैनों की संख्या लगभग पाँच लाख है। इस प्रदेश के ज्ञात इतिहास के प्रारम्भ से आज तक निरन्तर जैनों की सांस्कृतिक गतिविधियाँ यहाँ चलती रही हैं। धाराशिव (उस्मानाबाद जिला), एलोरा (औरंगाबाद जिला) आदि के गुहा मन्दिर, अंजनेरी (नासिक जिला), पातूर (अकोला जिला) आदि से प्राप्त शिलालेख तथा आचार्य वज्रसेन, कालक, पादलिप्त, भद्रबाहु, पुष्पदन्त, भूतबलि आदि की कथाओं से इस प्रदेश में जैनों की परम्परा का ज्ञान होता है। इस प्रदेश की वर्तमान भाषा मराठी है। इसके पूर्वरूप अपभ्रंश में पुष्पदन्त आदि कवियों की विस्तृत रचनाएँ प्राप्त हैं। किन्तु उनके बाद लगभग चार सदियों में लिखित कोई मराठी जैन रचना अभी नहीं मिली है। इस विषय में शोधकार्य अभी नया है अतः आशा कर सकते हैं कि आगे चलकर यह अभाव दूर हो सकेगा। अब तक ज्ञात मराठी जैन साहित्यिकों की पहली दो पीढ़ियाँ गुजरात के ईडर दुर्ग में स्थित भट्टारकों के शिष्यवर्ग में ज्ञात हुई हैं। इनका गुरु-शिष्य सम्बन्ध निम्नांकित तालिका से स्पष्ट होगा (कोष्ठकों में मराठी रचनाओं के नाम हैं)।



इन लेखकों का रचनाकाल स्थूलतः सन् १४५० से १५०० तक कहा जा सकता है। ब्रह्म जिनदास के विस्तृत गुजराती साहित्य से प्रेरणा लेकर प्राचीन जैन कथाओं को मराठी में लाने का उद्योग इन्होंने किया। इनमें से केवल हरिवंशपुराण कर्ता जिनदास ने अपना स्थान देवगिरि (दौलताबाद, औरंगाबाद के पास) बताया है, शेष का स्थान अज्ञात है। इसी प्रकार केवल गुणकीर्ति ने अपनी जाति जैसवाल और गोत्र पुरिया बताया है, शेष का कोई व्यक्ति-परिचय नहीं मिलता। ऊपर उल्लिखित बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त गुणदास, गुणकीर्ति, मेघराज और कामराज के कुछ छोटे गीत भी मिलते हैं। गुणकीर्ति की एक गद्य रचना धर्मामृत है जिसमें श्रावकों के धर्माचरण का उपदेश है। उपर्युक्त सब रचनाएँ पद्यबद्ध हैं जिनमें मराठी के लोकप्रिय ओवी छन्द का प्रयोग है। परमहंस कथा में कुछ गद्य अंश भी हैं। पद्मपुराण का एक अंश द्वादशानुप्रेक्षा स्वतन्त्र रूप में भी मिलता है। गुणकीर्ति और मेघराज की कुछ गुजराती रचनाएँ भी मिलती हैं।

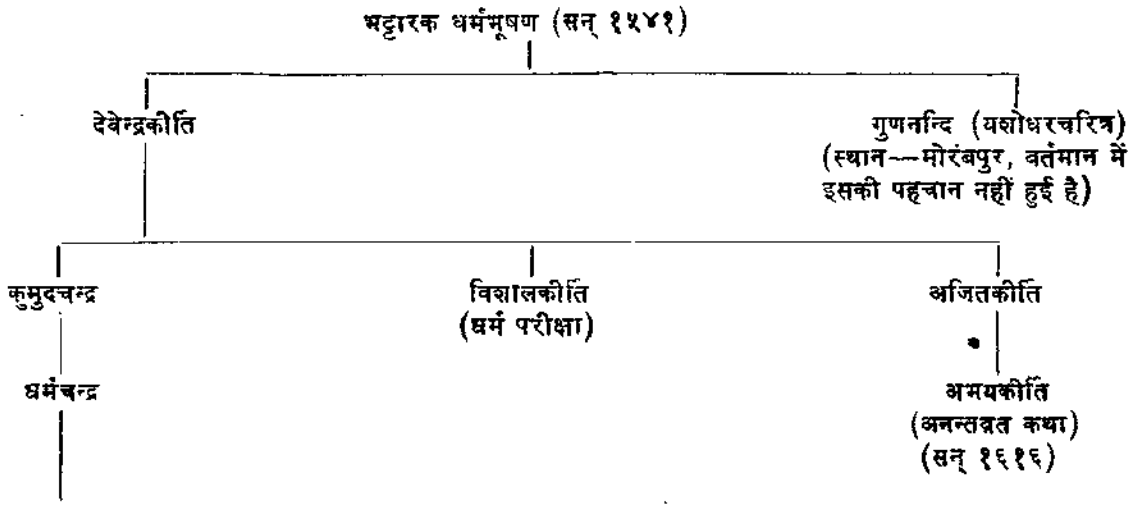
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारंजा (अकोला जिला) में सन् १५०० के लगभग सेनगण और बलात्कारगण के भट्टारकों के पीठ स्थापित हुए जिनकी परम्परा बीसवीं सदी तक चलती रही। दोनों के शिष्यवर्ग में कई मराठी लेखक हुए जिनकी तालिकाएँ आगे दी जाती हैं (मराठी रचनाओं के नाम कोष्ठकों में हैं)।

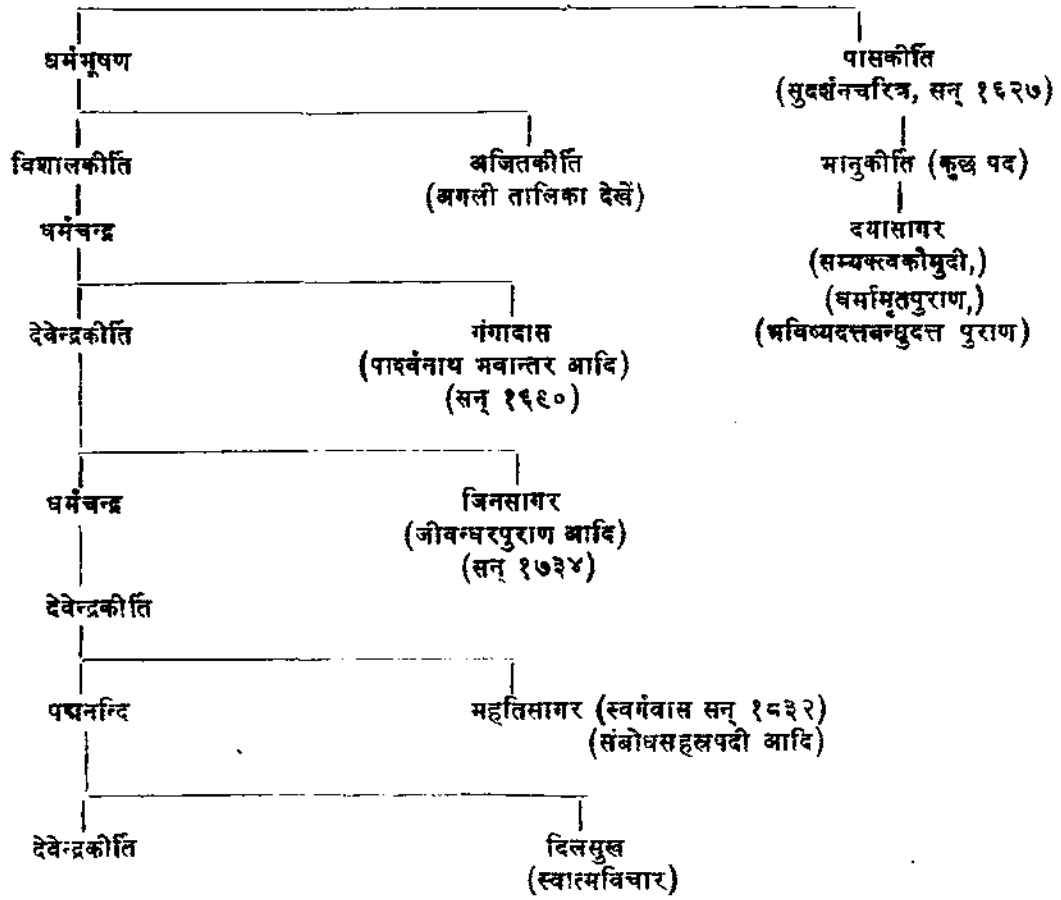


उपर्युक्त रचनाओं में नागो आया और सोयरा की कृतियाँ ओवी छन्द में तथा शेष विविध वृत्तों में हैं। सोयरा ने अपनी आधारभूत रचना कन्नड़ भाषा में होने की सूचना दी है। छत्रसेन की कुछ संस्कृत और हिन्दी रचनाएँ भी मिलती हैं। रत्नकीर्ति की उपदेशरत्नमाला सकलभूषण की संस्कृत रचना पर आधारित है। इन्होंने नेमिदत्त की संस्कृत रचना पर आधारित आराधनाकथाकोष का लेखन शुरू किया था। इसे उनके शिष्य चन्द्रकीर्ति ने पूर्ण किया।

कारंजा के बलात्कारगण की परम्परा के लेखकों की तालिका इस प्रकार है—

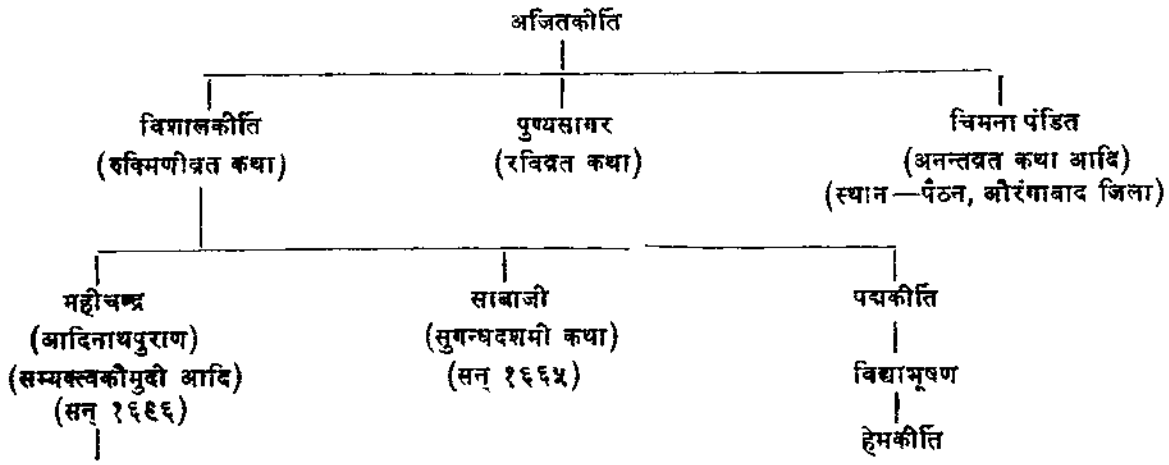


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

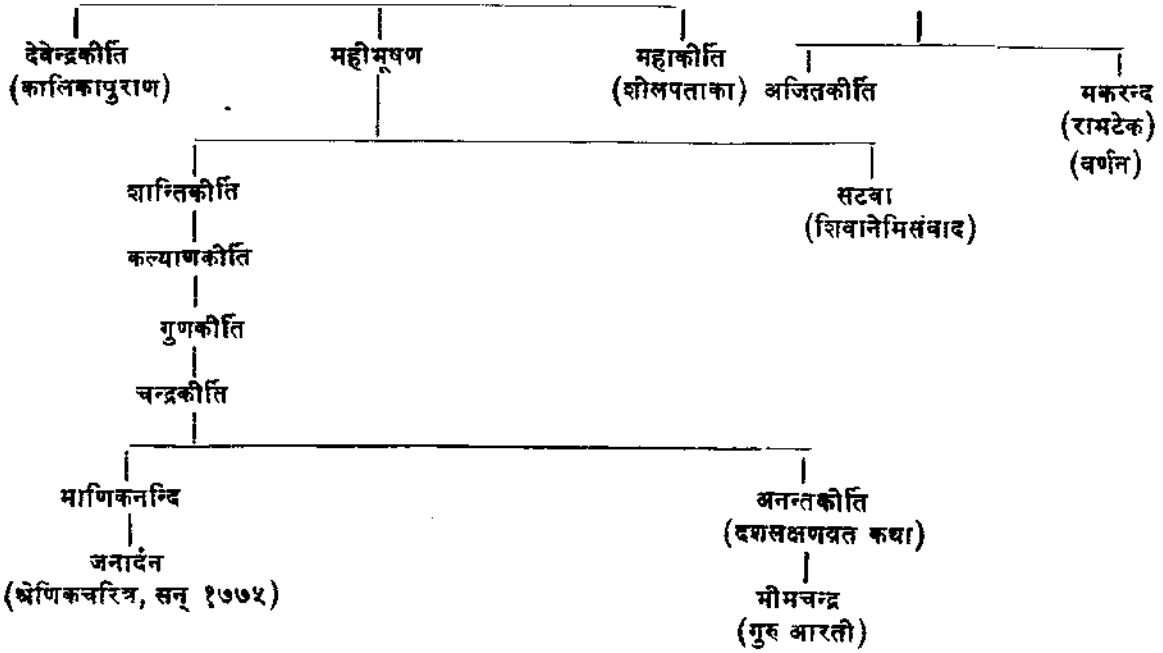


उपर्युक्त लेखकों में पासकीर्ति का मूल नाम वीरदास था। इनके कुछ गीत भी मिले हैं। ये और इनके शिष्य औरंगाबाद में गुरु द्वारा नियुक्त हुए थे। गंगादास की कुछ संस्कृत और हिन्दी रचनाएँ भी मिलती हैं। जिनसागर की नौ कथाएँ, सात स्तोत्र तथा सात आरतियाँ भी मिली हैं। इन्होंने भी संस्कृत और हिन्दी में कुछ रचनाएँ लिखी हैं। महतिसागर की चार कथाएँ मिली हैं। गंगादास, जिनसागर और महतिसागर ने विविध छन्दों में लिखा है। शेष लेखकों ने ओवी छन्द का प्रयोग किया है।

उपर्युक्त तालिका में उल्लिखित धर्मभूषण-शिष्य अजितकीर्ति की परम्परा लातूर (उस्मानाबाद जिला) क्षेत्र में काफी विस्तृत हुई। इसकी तालिका इस प्रकार है—



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



उपर्युक्त तालिका में उल्लिखित चिमना पंडित के कई छोटे गीत भी हैं। इनकी मुनिसुव्रत विनती हिन्दी में है। महीचन्द्र की ऊपर उल्लिखित बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त कुछ कथाएँ, स्तोत्र, गीत और आरतियाँ भी हैं। इनका काली-गोरी संवाद हिन्दी में है। यहाँ उल्लिखित गीत विविध छन्दों में हैं, पुराण और कथाएँ ओवी छन्द में हैं।

सेनगण की एक परम्परा कोल्हापुर में भी थी। इसके भट्टारक जिनसेन की तीन रचनाएँ जम्बूस्वामीपुराण, उपदेशरत्नमाला तथा पुण्यास्रवपुराण (सन् १८२१ से १८२६) प्राप्त हैं। इनके शिष्य गिरिसुत ठकापा का पाण्डव पुराण (सन् १८५०) प्राप्त है। ये सब ग्रन्थ ओवी छन्द में हैं।

इन प्रमुख परम्पराओं से सम्बद्ध लेखकों के अतिरिक्त भी कुछ लेखक हैं। इनमें दामा पंडित का जम्बू-स्वामीचरित्र (सन् १६७५ के करीब) तथा लक्ष्मीचन्द्र की मेघमालाव्रत एवं जिनरात्रिव्रत की कथाएँ (सन् १७२८) तथा कवीन्द्र सेवक के अभंग प्रमुख हैं।

लगभग चारसौ वर्षों के समय में (सन् १४५० से १८५०) रचित इन रचनाओं के विषय उनके नामों से स्पष्ट हैं। अधिकतर संस्कृत, गुजराती और कन्नड़ की कथाओं को मराठी में लाने का प्रयास हुआ। प्रसंगवंश कुछ तत्त्वचर्चा, आचरण सम्बन्धी उपदेश आदि भी इनमें प्राप्त होते हैं। वर्णन विस्तार में रोचकता की दृष्टि से श्रेणिक, यशोधर, सुदर्शन, जीवंधर की कथाएँ अच्छी हैं। इनमें से कई ग्रन्थ इस शताब्दी के प्रारम्भ में छपे थे किन्तु सुसंपादित न होने के कारण मराठी साहित्य के इतिहास लेखकों का ध्यान उनकी ओर नहीं गया। उस समय जैन और जैनेतर पंडितों में सम्पर्क न होने से भी ऐसा हुआ। विगत दो दशकों में सोलापुर की जीवराज ग्रन्थमाला ने इस साहित्य के सम्पादन और प्रकाशन में अच्छा योग दिया है। श्री सुभाषचन्द्र अक्कोले का इस विषय पर शोध-प्रबन्ध 'प्राचीन मराठी जैन साहित्य' सुविचार प्रकाशन मंडल, पूना-नागपुर ने प्रकाशित किया है। अधिक विवरण जानने के लिए विद्वानों को उसे देखना चाहिए।

आधुनिक मराठी में जैन लेखकों की रचनाएँ विविध रूपों में प्रकाशित हुई हैं। सोलापुर के सेठ हीराचन्द नेमीचन्द दोशी ने सन् १८८४ में जैन बोधक मासिक पत्र के प्रकाशन से इस कार्य का शुभारम्भ किया। यह पत्र अब साप्ताहिक रूप में चल रहा है। दूसरा दीर्घजीवी पत्र प्रगति-जिनविजय दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा का मुखपत्र है जो सन् १९०१ में शुरू हुआ था। बाहुबली (जिला कोल्हापुर) से श्री माणिकचन्द भीसीकर के सम्पादन में मासिक सन्मति ने गत वर्ष अपनी रजत जयन्ती मनाई। कुछ पत्रिकाएँ कुछ वर्ष ही चल पाईं किन्तु अपने समय में उनका काफी महत्त्व रहा। इनमें जैन विद्यादानोपदेश प्रकाश, वर्धा (१८९२), जैन भास्कर, वर्धा (१८९८), वन्दे जिनवरम्, बार्शी (१९०८) सुमति, वर्धा (१९१२), जैन भाग्योदय, प्रभावना (इनका निश्चित वर्ष ज्ञात नहीं हुआ) उल्लेखनीय हैं। अतिशीघ्र कवि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मारुतिराव डांगे की 'श्री पुष्करमुनि जी जीवन आणि विचार गंगा' एक सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें विविध छन्दों में उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी के जीवन और विचार पर गहराई से चिन्तन किया गया है। कवि की प्रताप पूर्ण प्रतिभा के सर्वत्र संदर्शन होते हैं।

आचार्यप्रवर आनन्द ऋषिजी महाराज पं० प्रवर सिरेमल जी महाराज, पं० प्रवर विनयचन्द जी महाराज, देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री के लेख व पुस्तकें मराठी साहित्य में प्रकाशित हुई हैं। राजेन्द्र मुनि शास्त्री की 'भगवान 'महावीर जीवन आणि दर्शन' लघु कृति होने पर भी महावीर के जीवन-दर्शन को समझने में अत्यन्त उपयोगी है।

सेठ हीराचन्द नेमीचन्द ने पुरातन संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद कार्य का भी शुभारंभ 'रत्नकरण्ड' से किया। मध्ययुगीन लेखकों ने जहाँ भावानुवाद की पद्धति अपनाई थी वहाँ आधुनिक अनुवादकों ने शब्दशः अनुवाद को महत्त्व दिया। महापुराण, आप्तमीमांसा आदि अनेक ग्रन्थों का अनुवाद कल्लाप्पा शास्त्री निटवे, कोल्हापुर ने प्रकाशित किया। अनुवाद ग्रन्थों की सूची काफी लम्बी है, जो विस्तारभय से नहीं दी जा रही है। कुछ अनुवादकों ने विस्तृत व्याख्या की शैली अपनाई। पं० जिनदास शास्त्री फडकुले की दशभक्ति और स्वयम्भूस्तोत्र की व्याख्याएँ उल्लेखनीय हैं। आपने अन्य अनेक ग्रन्थों के अनुवाद किये हैं। आधुनिक समीक्षात्मक व्याख्या का सुन्दर उदाहरण श्री बाबगौंडा पाटील का रत्नकरण्ड का संस्करण है। पं० फडकुले की पद्यानुवाद में विशेष रुचि है। पद्मपुराण, आदिपुराण आदि का उन्होंने पद्य में अनुवाद किया है। दूसरे उल्लेखनीय पद्यानुवादक श्री मोतीचन्द गांधी 'अज्ञात' हैं। कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, योगीन्दु आदि आचार्यों के ग्रन्थों का आपने पद्य में अनुवाद किया है। हरिषेण कथाकोश, कुरल काव्य आदि का गद्य अनुवाद भी आपने किया है। हाल के कुछ वर्षों में पं० धन्यकुमार भोरे के समयसार और प्रवचनसार के अनुवाद उल्लेखनीय हैं।

जैनेतरों और जैनधर्म के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए सरल परिचय के रूप में कुछ ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें श्री रावजी नेमचन्द शहा का जैन धर्मादर्श उल्लेखनीय है। पं० कैलाशचन्द्र का 'जैनधर्म' और डा० हीरालालजी का 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म' का योगदान भी मराठी में अनुवादित हुए हैं। बालकों के लिए क्रमबद्ध अध्ययन की दृष्टि से सेठ रावजी सखाराम दोशी के बालबोध जैनधर्म के चार भाग कई दशकों तक उपयुक्त सिद्ध हुए हैं। पाठ्य पुस्तकों के रूप में छहढाला, द्रव्यसंग्रह, रत्नकरण्ड, तत्त्वार्थसूत्र के कई मराठी संस्करण निकले हैं। बाल पाठकों के लिए जैन इतिहास की अनेक कथाएँ श्री मगदूम की वीर ग्रन्थमाला, सांगली से प्रकाशित हुई। हाल के वर्षों में श्री सुमेर जैन, सोलापूर ने करकण्डु आदि अनेक कथाओं का ललित मराठी रूप प्रस्तुत किया है। जीवराज ग्रन्थमाला ने भी श्री अक्कोले की महामानव सुदर्शन, पराक्रमी वरांग आदि कथाएँ प्रकाशित की हैं। हमने कुवलयमाला कथा का मराठी साररूपान्तर किया जो सन्मति प्रकाशन, बाहुबली से प्रकाशित हुआ है। पुरातन कथाओं को काव्य के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। इस दिशा में श्री दत्तात्रय रणदिवे ने वर्तमान शताब्दी के प्रथम चरण में काफी ख्याति प्राप्त की। आपकी गजकुमारचरित, कुलभूषणदेशभूषणचरित आदि कविताएँ प्रकाशित हुईं। आपने स्वतन्त्र कथाओं पर अनेक उपन्यास भी लिखे। विगत दो दशकों में श्री जयकुमार क्षीरसागर ने जीवन्धरचरित आदि काव्य ग्रन्थ लिखे हैं। कविता के माध्यम से धर्मतत्त्वों की चर्चा का एक उल्लेखनीय प्रयास सोलापूर की पंडिता सुमतिबाई शहा की 'आदिगीता' में मिलता है। नाटकों के रूप में भी कुछ कथाएँ प्रस्तुत हुई है। इनमें श्री नेमचन्द चवडे रचित सुशील मनोरमा, श्री गणपत चवडे रचित गर्वपरिहार आदि इस शताब्दी के प्रथम चरण में छपे थे। विगत दो दशकों में भी रत्नाची पारख (श्री सुमेर जैन), शील सम्राज्ञी (श्री हेमचन्द्र जैन) आदि नाटक प्रकाशित हुए हैं। गायन के लिए उपयोगी पदों की कई छोटी-छोटी पुस्तकें भी लिखी गईं। इनमें 'रत्नत्रय मार्ग प्रदीप','जिन पद्यावली' (अनन्तराज पांगल), जैन भजनामृत पद्यावली (तात्यासाहब चोपडे), जिनपद्यकुसुममाला (माणिकसावजी खंडारे), पद्यकुसुमावली (शांतिनाथ कटके) आदि उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक मराठी जैन साहित्य का पूरा लेखा-जोखा तो श्रमसाध्य कार्य है, फिर भी हमने जहाँ तक संभव हो सका प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय देने का प्रयत्न किया है। पर यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि मराठी साहित्य की श्री वृद्धि में जितना दिगम्बर परम्परा के विद्वानों का योगदान रहा है उसी तरह श्वेताम्बर परम्परा के मनीषियों का भी योग रहा है, पर मुझे श्वेताम्बर साहित्य के सम्बन्ध में विशेष परिज्ञान न होने से उनका मैं यहाँ पर परिचय नहीं दे सका हूँ अतः क्षमाप्रार्थी हूँ। इसी प्रकार पुरानी मराठी के लेखकों की भी पूरी गणना यहाँ नहीं की गई है छोटी-छोटी रचनाओं के लेखकों का उल्लेख छोड़ दिया गया है। आशा है कि इस सामान्य परिचय से जैन साहित्य के विशाल मराठी के योगदान की कुछ प्रतीति हो सकेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Akalanka—as a Logician

T. G. Kalghatgi
Professor and Head of the Department of Jainalogy and Prakrit, Manas Gangotri, Mysore 6

(I) Akalanka occupies a unique place in the development of Indian logic. He was one of the foremost Jaina logicians. If Kundakundācārya is to be considered as the father of Jaina logic, Akalanka cemented the foundations of Jaina logic and built a logical structure with depth and subtlety of thought. His writings are difficult to understand and even eminent logicians have expressed their profound admiration for the subtlety of thought and depth of vision in his writings. Prabhācandra, in the first part of his Nyāyakumudacandra has expressed his admiration for Akalanka and said that he was fortunate to have been able to study the writings of Akalanka, although his writings are full of subtlety of thought.[1] Vādirājasūri was amazed at the profoundity of thought expressed in the writings of Akalanka. It is difficult to express in our words the profoundity of thought contained in the writings of Akalankadeva.[2] The writings of Akalanka are so difficult for understanding that 'ordinary persons like me would not be able to explain much less comment on the writings'.[3] As Dharmakīrti is for Buddhist logic, Akalanka is for the Jaina logic. In the Śravaṇabeḷagola inscription, it has been stated that Akalanka is the Brahaspati in the six darśanas [4] After Ācārya Pūjyapāda Akalankadeva has been eulogised as the sun dispelling the darkness of ignorance arising out of the perversity of thought, as the sun clears darkness and gives light.[5]

(II) It is difficult to give a clear picture of the life-history of Akalanka. Similarly there is controversy regarding the period in which he lived. Some have suggested that Akalanka lived in the latter part of the 8th century on the basis of the interpretation on 'Vikramānka as 'samvat', as mentioned in the verse in the Akalankacarita.[6]. He has been considered as the contemporary of Rājā Dantidurga alia Kriṣhṇarājā of the Rāṣṭrakūta dynasty. The other view suggested by Sri Jugal Kishore Mukhtār fixed his date as the seventh century A. D. on the basis of the interpretation of the word Vikramārka as 'vikramasamvat'. Pandit Kailāścandra Śāstri is of the opinion that Akalanka's period must have been from 620 to 680 A.D. There is verse of Dhanañjaya in which the Pramāṇaśastra of Akalanka has been mentioned with respect.[7] Ācārya Jinasena has mentioned the name of Akalanka in *Ādipūraṇa* with reverence and gratitude.[8] On the basis of the review of the various views about the date of Akalanka, Shri Nemichandra Śāstri has suggested that Akalanka must have lived in the latter half of the seventh century.[9]

It is as much difficult to give a coherent and authentic picture of his life-story as it is difficult to determine the age in which he lived, but one thing is certain that he must have been from the south. There is the mention in the Rājāvalikathe that Akalanka was the son of Puruṣottama the minister of the king Śubhatuṅga of Mānykheṭa. In the Praśasti of the first adhyāya of Tattvārtha-vārtika it has been suggested that he was the son of the king Laghuhavya, although it is difficult to identify the king. There is greater evidence to consider him as the son of the minister of the king Śubhatuṅga.[10] Some interesting incidents have been described in the Kathākoṣa of Prabhācandra. Akalanka and Niṣkalanka were two brothers. When they came of age, the parents tried to pursuade them for marriage. But they refused to get married and enter into the life of 'gṛhastha', because once when they had gone along with their parents to a muni, the parents had taken the vow of brahmacarya for the period of one week in their presence. The boys insisted that the vow once taken is always valid and it opplies to them also, although they

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

were very young at the time when the parents took the vrata in the presence of the muni. The two brothers remained unmarried and devoted themselves to the sudy of śāstras. They joined the Buddhist Academy for the study of the Buddhist Nyāya, as Buddhism was in the ascendent stage at that time. Akalanka was a brilliant boy and was well-versed in the Jain philosophy. The two brothers had joined the Buddhist Academy in the guise of Buddhist scholars, as otherwise they would not have been admitted. But once, when the teacher was explaining the Saptabhangi nyāya of the Jainas, the lesson was not correctly taught. After the teacher left the class Akalanka quietly corrected the lesson. Later, the teacher got suspicious that the pupil who corrected the lesson must be a Jaina. The life of the two brothers was in danger due to the unhealthy and phanatic rivalry of Buddhists towards Jainas. They ran for life. But unfortunately Niṣkalanka was caught and killed by the guards of the king. It was destined that Akalanka was to escape for the sake of the promotion of learning and the advancement of logic and metaphysics. Another interesting incident in his life has been narrated in which it was stated that Akalanka defeated the Buddhist scholars in the court of Himaśitala of Kalinga in logical and metaphysical discussions with the help of Yakṣini Kūṣmāṇḍini. The Buddhist scholar was being assisted by the deity (goddess) Tārā.[11] Apart from the story contents in the incident, the narration has to be looked at from an historical perspective. From the analysis of the narration it is clear that there was academic and sectional rivalry between the Buddhist and the Jaina sections of society for social and spiritual superemacy. It is also clear that the tāntrik and the ritualistic aspects of religion had come to stay. The deities were invented and invoked for the sake of gaining superiority over one another. 'Para-spiritual' ritualistic practices became important in society—may be for the sake of retaining the supremacy of one's religion or for establishing faith in the 'para-spiritual' practices so that the common man would be satisfied.

(III) We now consider the work of Akalanka in the field of logic and metapyhsics with special reference to the Jaina system of thought. Akalanka's contribution to the study of Jaina logic and philosophy is immense. His works may be studied from two points of view :—(a) his original works, and (b) his commentaries on the works of other great Ācāryas.

(a) His original works are :
1. *Laghīyastraya* with the notes.
2. *Nyāyaviniścaya* with notes.
3. *Siddhiviniścaya* with notes.
4. *Pramāṇasaṁgraha* with notes.

(b) Some the commentaries that he wrote, we may mention :
1. *Tattvārthvārtika—sabhāṣya.*
2. *Aṣṭaśati—devāgamavṛtti.*

Laghīyastraya is primarily a logical treatise with certain explanations of the epistemological implications of the logical concepts like naya and nikṣepa. The logical and epistemological critique of the theory of pramāṇa in the light of the Jaina analysis of the pramaṇas is a special contribution of Akalanka in this work.

Laghīyastraya is a critique of knowledge. It gives critical analysis of the problem of knowledge in the light of logical and epistemological implications. It has three parts : (1) Pramāṇa praveśa, (2) Nyāya praveśa and (3) Nikśepa praveśa. Pramāṇa praveśa has four sections : (i) pratyakṣa pariccheda, (ii) Viṣaya pariccheda, (iii) parokṣa pariccheda and (iv) Āgama pariccheda.

In the *Nyāyakumudacandra,* commentary on *Laghīyastraya,* Prabhācandra has mentioned the seven sections in the *Laghīyastraya* on the basis of the two-fold distinction in the Pravacana praveśa. Akalanka has also written a short treatise on the *Laghīyastraya* which is primarily in the form of added noted to the work and not an independent work.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jainism presents a many-folded approach to the understanding of the nature of reality. The Anekānta outlook is the very basis of the Jaina view of life. And Samyag-Jñāna (right knowledge) is the essential characteristic of the soul. It is also the prerogative of the soul. Knowledge and the source of knowledge could be considered from two aspects : (a) pratyakṣa (direct knowledge) and (b) parokṣa (indirect knowledge.) Pratyakṣa Jñāna is the knowledge that the soul gets directly without the help of sense organs, as the sense organs are impediments to the attainment of perfect knowledge. However, with a view to accommodating the traditional views of other systems of Indian thought, knowledge gained directly by the soul without the help of the sense organs was termed as Mukhya pratyakṣa, and sense experience was considered as Saṁvyavahāra pratyakṣa. Akalanka has given an exhaustive and critical analysis of the two types of pratyakṣas. He has also given critical exposition of the ontological problems of permanence and change, unity and diversity and the one and the many. Dravyārthikanaya leads to the unity and paryayārthikanaya presents the distinctions. The Jaina view of reality is comprehensive. Reality cannot be considered as mere unity nor mere diversity. It is unity and diversity. It is equally diversified. Similarly it is both eternal and non-eternal—eternal if looked at from the synthetic point of view, and non-eternal from the practical point of view (vyavahāranaya). Akalanka gives a critical exposition of the various forms of knowledge, like mati, smṛti, saṁjñā and cintā. In the latter half of *Laghīyastraya* Akalaṅka has discussed the logical and epistemological implications of pramāṇa and naya along with the fallacies involved therein. Nayābhāsa has been critically examined. In this part, he has considered the presentation of the nature of reality given by the other Indian systems of thought from the different nayas. And to assert the exclusive truth of the expression of reality from a particular point of view is to be dogmatic. It is ekānta. For the Absolutist, assertion of reality as One. The Buddhist gives emphasis on the changing nature of reality as fundamental considered from the point of view of moments. Both give partial views of truth, not the whole truth. But to insist on the exclusive and the full truth for these presentations would be dogmatism and ekānta. The Logical positivists and the school of Analytic philosophy give the view of reality from point of view of linguistic analysis (śabdanaya). But it is not the whole truth. Akalanka, in his *Laghīyastraya*, has given an exhaustive and critical account of the logical and epistemological problems concerning the nature of reality in the light of his discussions of the problems in other schools of Indian philosophy.

In the *Nikṣepa Viṣaya* Akalanka has discussed the problem regarding the nature and function of nikṣepa. One can strive for self-realisation through the understanding of the fundamental principles of Jainism by means of pramaṇa, naya and nikṣepa. One can also understand the nature of jīvadravya through the comprehension of the many facts of a thing. Akalanka has made subtle distinction between the assertion of the many facets of a thing and the assertion regarding the nature of a thing from a particular point of view. The former predication is the *pramāṇavākya* while the latter is the *nayavākya*. The pramāṇavākya is the comprehensive predication of the nature of a thing as for example the statement 'Syādjīva eva' presents the predication of the Jīvadravya. It is called 'sakalādeśa' predication. Nayavākya presents the predication of a facet of the nature of Jīvadravya, for example from a particular point of view. 'Syādastijīvaḥ' is predication of this types which is called *Vikalādeśa* predication. Such distinction is the special feature of the analysis of logical and epistemological concepts made by Akalanka.

Again, Akalanka gives a critical study of the logical and epistemological problems with special reference to the concepts in other Indian systems. In the works *Nyāyaviniścaya*, *Pramāṇasaṁgraha* and *Siddhiviniścava* the *Nyāyavinīścyaya* has three sections and problem of pratyakṣa, anumāna and śabda have been thoroughly discussed. Akalanka has refuted the Buddhist, Sāṁkhya and Yoga theories of the characteristics of pratyakṣa. While discussing the theory of inference he has given a comparative picture of the nature of anumāna and the consequent implications of the validity or the fallacies thereon in the light of the criticism of the theories of inference in other schools of thought. In the third part of the *Nyāyaviniścya* he has elucidated the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jaina theory of Āgama-pramāṇa and refuted the 'apauruṣeyatva' of Āgamas as propounded by the Mīmāṁsakas. He has also discussed the nature of mokṣa and other metaphysical problems as the fringe of the logical and epistemological discussions which are the primary problems of the book.

Pramāṇasaṁgraha is a study of the epistemological problems of mati, śruta, smṛti pratyabhijñā, tarka and the other fallacies involved in logical and psychological process of thinking. For instance, the fallacies like, asiddha, viruddha, vāda and jāti have been analysed. The theories of causation as arising out of the discussions of the logical problems have been presented. There is again a discussion of the naya and nikṣepa as a corrolary of the total discussion.

Siddhiviniścaya has twelve parts. It gives a critical study of the same problems of logical and epistemological concepts like naya, pramāṇa, pratykṣa, pratyabhijñā, smṛti, jalpa and other logical concepts.

In the logical discussion of the pramāṇas, the question of pratyabhijñā to be considered as pramāṇa by the Jainas has been discussed. Upamāna is to be included in the 'Sādṛśya pratyabhijñā' (recognition on the basis of similarities). Certain metaphysical problems concerning the nature of bondage of the soul to karmic particles which are material in nature and the possibility of presenting a coherent view of this problem has been critically studied. The *Siddhiviniścaya* is a comprehensive and critical treatise on logic and metaphysics, although the emphasis is primarily on the discussion of logical and epistemological problems. Akalanka by his three works on logic has established himself as the undisputed master of logic and the relentless critic of the inadequacies in the theories of other schools of Indian thought.

Now we come to his two important commentaries which have brought him fame as philosophical commentator. The *Tattvārthavārttika-sabhāṣya* and the *Aṣṭaśati* have thrown greater light on the subtleties of thought as expressed in the *Tattvārthasūtra* of Umāswāmi and the *Āptamīmāṁsā* of Samantabhadra.

Tattvārthavārttika-sabhāṣya is a unique work which synthesises the explanatory notes in the form of vārttika and the commentaries on the sūtras of the *Tattvārthasūtra* of Umāswāmi. The work is based on the *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda. On the basis of the presentational statements of *Sarvārthasiddhi* Akalanka has formulated the explanatory notes and has commented elaborately on these explanatory notes. It is, in fact, a compendium of *Sarvārthasiddhi*. And it would be easier to understand the intricacies of the discussions in the *Tattvārthavarttika-sabhāṣya* only when we have a thorough understanding of the *Sarvārthāsiddhi*.

Tattvārthavārttika has ten parts based on the ten chapters of the *Tattvārthasūtra*. The cardinal note of this work is the confidence of the author to present solutions of all the problems in the light of the Anekānta attitude, specially in discussing the metaphysical problems.[13] In discussing the metaphysical problems raised in the *Tattvārthasūtra* and in the *Sarvārthasiddhi*, several contemporary philosophers of the age have been referred to, such the Akriyāvādins, Ajñānavādins, Vinayāvādins and the Kriyāvādins. Cosmological problems like the structure of the Universe have been elaborately presented. Here we are reminded of the exhaustive presentation of the constitution of the Universe as presented in the *Tiloyapaṇṇatti*. Akalanka has shown his masterly ability as a logician and a critic in the *Tattvārthavārttika*.

Āptamīmāṁsā of Ācārya Samantabhadra is a scholarly exposition of Anekantdarśana. And *Aṣṭaśati* presents a critique and an enthusiastic exposition of the assertions of Ācārya Samantabhadra in the *Āptamīmaṁsā*. The *Aṣṭaśati* is so called because it contains 800 ślokas. This work presents a critique of the several philosophical theories like Dvait-advaita, Śāśvata-aśāśvata, Daiva-puruṣārtha and Pāpa-puṇya and many other views. Vigorous presentation of the anekānta view is the cardinal note of this work.[14]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(IV) The style of Akalanka is thoughtful, cryptic and difficult to understand. He is more concerned with the analysis, critical study and with the presentation of the subtleties of thought than with the flourish of language. Yet his writings are not bereft flourish and we find subtle and meaningful satire against the writings of other schools of thought.

The writings of Akalanka have been an important landmark in the development of logic and metaphysics. His works have contributed to the effective presentation of the development of Jaina logic and metaphysics, in the perspective of the problem in other systems of Indian thought.

Anekānta is the foundational principle on Jainism. It permeates the very texture of Jaina thought and life. In the context of the present day development of logic and linguistic analysis as metaphysical theory, it would be necessary to study the contributions of Akalanka afresh in the light of the modern developments in logic.

Akalanka showed the catholicity of outlook in understanding the problems of other views of thought as expressed in the controversies in the Indian systems of philosophy. Without entering into the controversy regarding the original intention of the author in the verse given below, we might with confidence say that Akalanka did express the magnanimity of thought and catholicity of outlook—

Yo viśvam vedāvedyam janana jala nidherbhangināḥ paradṛṣvā ।
Pourvāparya viruddhaṃ vacanamanupsmam niṣkalaṅkaṃ yadīyaṃ ॥
Tām vande sādhuvandyam salalaguṇanidhim dhvastadośadviṣantam ।
Buddham vā Vardhamānam Śatadalanilayam Keśavam vā Śivam vā ॥

Notes and References

1. *Nyāyakumudacandra* IV Adhyāya.
   "Trailokyodaravartivastuviṣayajñānaprabhāvedyayo,
   duṣprāpōpyakalanka devasaraṇihi prāptōtra punyodayāt ।
   Svabhyastaśca vivecitaśca śataśaḥ sōnantavīryoktito
   Bhuyānme nayanītidattamanasatadbodhasiddhipadah ॥"
2. *Nyāyaviniścayavivaraṇa* of Vādirājasuri
   "Gūḍhamarthamakalanka vāngmayāgadha bhūminihitam tadarhimām ।
   Vyanjayatyamalamanantavīryavāk dīpavartiranišam pade pade ॥"
3. Ibid. :.....
   "Bhūyobhedanayāvagāhana devasya yadvāṅgmayam ।
   Kastadvistarato vivicya vaditum mandam prabhrmādṛśaha ॥"
4. Nemicandra Shastri : *Tīrthankara Mahāvīra aur Unaki Ācārya Paramparā* (Jaina Vidvat Pariṣad 1974.) Vol. II. pp. 300. "Ṣaṭtarkeṣvakalanka devavibhudhaḥ sākṣādayam bhūtale." quoted from *Jaina Śilālekha Saṁgraha*, Part. I. Vo. 47.
5. *Jaina Śilālekha Saṁgraha* : inscription 108.
   as quoted by Nemicandra Shastri :
   "Tatah param Śāstravidām munināmagresarōbudakalaṅkasūrihi ।
   Mithyāndhakkārasthagitākhilārthāhā prakāśitā yasya vacomayūkhehe । ।"
6. *Akalanka Carita* mentioned as A.D. 778.
   "Vikramārkaśakābdīyaśatasaptapramajuṣi ।
   Kalē Akalankayatinō Bauddhairvadō mahānbhūt । । "
7. *Dhanañjaya Nāmamālā* as quoted by Nemicandra Shastri in his *Tīrthankara Mahāvīra aur Unaki Ācārya Paramparā* p. 305.
   "Pramāṇamakalankasya Pūjyapādasya lakṣaṇam ।
   Dhanañjaya kavehe kāvya Ratnatrayamapaścimam । । "
8. Jinasena : *Ādipurāṇa* (Bharatiya Jñanapeetha) 1/53.
   "Bhaṭṭākalankaśrīpalapātrakesariṇām guṇāhā ।
   Viduṣām hṛdayarūḍhā hārayantētimirmalāhā । । "

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

9. Nemicandra Shastri : *Tīrthankara Mahāvīra aur Unaki Ācārya Paramparā*. Vol II. p 306.
10. *Tattvārthavārttikaprasasti.*
"Jīyacciramakalnakabrahmā Laghuhavvanṛpativaratanayah |
Anavaratanikhilajananutavidhah praśastjanahṛdah | | "
Also see *Ārādhanākathākoṣa.*
11. *Rājāvalikathe*
12. *Nyāyakumudacandra*, part I, of Prabhācandra
13. *Tattvārthavārtika* (Bharatiya Jñanapeetha) 1, 6-7.
14. Aṣṭaśati (Bharatiya Jaina Siddhanta Prakashan Samiti Kashi) 1914, Karika. 109.
"Yatsat tatsarvamanekāntātmakam vastutattvam sarvathā tadarthakriyākāritvāt |
Na kincitdekāntam vastutattvam sarvatha tadarthakriyāsambhavāt ||
Nasti sadekantaha sarvavyāpāravirodhaprasangāt asadekantavaditi |
Vidhinā pratiṣedhena vā vastutattvam nyamyate ||"

It is human effort which leads to liberation. Though no action takes place in seclusion and human beings are also affected by circumstances and environments, yet the main factor, however remains human effort. Here we accept the existence of freedom of will over circumstances.

The reality is that that no object can interfere with the working of another object, whether animate or inanimate. So the self, accordingly is the agent of its own actions and modifications.

Thus the acceptance of the freedom of will glorifies the human efforts.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड 9

राजस्थानकेसरी

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ

जैन संस्कृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रमण-संस्कृति का उदात्त दृष्टिकोण

—प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव

मानव-समाज में जब वैचारिक ह्रास आ जाता है, तब उसमें संकीर्णता का प्रवेश होता है और उसकी चिन्तनधारा का उदात्त दृष्टिकोण संशय के धुंधलके में दिग्भ्रान्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में विशेष रूप से जाति और धर्म ही संकीर्णता के प्रवेश-द्वार हुआ करते हैं। जाति और धर्म के प्रति दुराग्रह या हठाग्रह ही वैचारिक संकीर्णता को जन्म देता है। इस सन्दर्भ में श्रमण-संस्कृति का दृष्टिकोण इसलिए उदात्त है कि वह वैचारिक संकीर्णता का सर्वथा प्रत्याख्यान करती है।

श्रमण-संस्कृति और वैदिकसंस्कृति के बीच, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। ये दोनों संस्कृतियाँ चक्रगति के अनुक्रम से समय-समय अपनी सत्ता स्थापित करती रही हैं। जिस संस्कृति में जितनी अधिक वैचारिक उदारता रहेगी, उसकी सत्ता अपनी ही अविचल और लोकादृत होगी। अधुना श्रमण-संस्कृति के प्रति अत्यधिक लोकाग्रह का कारण उसकी वैचारिक उदारता ही है।

कोई भी संस्कृति मानव-जिजीविषा की पूर्ति के साधनों की प्राप्ति के उपायों का समर्थ निर्देश तभी कर सकती है, जब कि वह वैचारिक दृष्टि से अपने को कभी अनुदार नहीं होने देती। इसीलिए जनकल्याण के निमित्त वैचारिक उदारता की शर्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य मानी गई है। लोकमार्ग का नेतृत्व वही कर सकता है, जो विचार से उदार होता है और आचार की दृष्टि से 'आत्मनेपदी'। आचार की दृष्टि से जो केवल 'परस्मैपदी' होता है, उसका विचार या आचार कभी लोकग्राह्य नहीं होता। इसीलिए, सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में आत्मचिन्तन को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

उदारवादी दृष्टि से यह स्पष्ट है कि आत्मचिन्तन का सम्बन्ध आत्मसंयम या आत्मनियन्त्रण या आत्मदमन से जुड़ा हुआ है। श्रमण तीर्थंकर भगवान महावीर ने आत्मदमन को बड़ा कठिन बताया है। उन्होंने कहा है :

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य॥

—उत्तरा० १।१५

निश्चय ही, दुर्दम आत्मा का दमन करने वाला व्यक्ति ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है। आत्मदमन, आत्मपीड़न का पर्याय है। आत्मा के अनुकूल वेदनीयता सुख है और प्रतिकूल वेदनीयता दुःख। तीर्थंकर पुरुष चूंकि सर्वभूतहित के आकांक्षी होते हैं, इसलिए वे प्रतिकूल वेदनीयता पर विजय पाने के निमित्त आत्मदमन या आत्मपीड़न करते हैं। अर्थात्, परत्राण के लिए प्रतिकूल को अनुकूल बनाकर आत्मसुख अनुभव करते हैं और, सही अर्थों में उदार व्यक्ति वही होता है, जो परदुःख के विनाश के लिए आत्मदुःख के वरण करने में ही सुख का अनुभव करता है। इसीलिए, 'वसुदेवहिण्डी' के 'धम्मिल्लचरित' में धर्म की परिभाषा करते हुए संघदासगणिवाचक ने कहा है : **'परस्स अदुक्खकरणं धम्मोत्ति'**। इस प्रकार, सम्पूर्ण श्रमण-संस्कृति परदुःख के विनाशमूलक उदारता की उदात्त भावना से ओतप्रोत है।

भगवान् महावीर के पंचयाम धर्म में श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का ही भव्यतम विनियोग हुआ है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँचों साधारण जन-जीवन को उदात्त दृष्टिकोण से संबलित करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले ऐसे विचार-बिन्दु हैं, जिनसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपलब्धि सम्भव होती है और मोक्ष का मार्ग उद्घाटित होता है।

लोकैषणा या लोकहित श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का महनीय पक्ष है। आधुनिक लोकदृष्टि इसलिए अनुदार हो गई है कि वह हिंसा, असत्य, चौर्यवृत्ति, कामलिप्सा और संचयवृत्ति से आक्रान्त है। अनुदारता ही संकीर्ण विचार की जननी है। आज के वक्रजड़ लोग दुर्व्याख्या के विष से मूर्च्छित हैं। आत्महित के लिए परहित का प्रत्याख्यान उनका धर्म हो गया है। आस-पड़ोस के जलते हुए घरों के बीच अपने घर को सुरक्षित समझने का प्रमाद ही उनका आत्मसंस्कार बन गया है। परदुःख के विनाश में आत्मसुख को सही न मानकर वे आत्मसुख को परदुःख का कारण बनाना उचित समझते हैं। श्रमण-संस्कृति इसी अनुदार दृष्टि के निर्मूलन के प्रयास के प्रति सतत् आस्थाशील है।

श्रमण-संस्कृति अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के उदात्त दृष्टिकोण की त्रिपुटी पर आधृत है। अनेकान्त की उदार विचारधारा श्रमण-संस्कृति का महार्घ अवदान है। अनेकान्त यदि वैचारिक उदात्त दृष्टिकोण का प्रतीक है, तो अहिंसा और अपरिग्रह आचारगत उदारता का परिचायक। श्रमण-संस्कृति का अहिंसावाद भी सीमित परिधि की वस्तु नहीं है। प्राणिवध जैसी द्रव्यहिंसा से भी अधिक व्यापक भावहिंसा पर श्रमण-संस्कृति बल देती है। उसका मन्तव्य है कि मूलतः भावहिंसा ही द्रव्यहिंसा का कारण है। यदि भावहिंसा पर नियन्त्रण हो जाय, तो फिर द्रव्यहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठे। आज सामाजिक जीवन में भवहिंसा की प्रधानता से ही द्रव्यहिंसा होती है और यही फिर भयंकर युद्ध और भीषण रक्तपात में परिणत हो जाती है।

जाति और धर्म की भावना में संकीर्णता आने पर हिंसा का उदय स्वाभाविक है। इस स्थिति में पुण्य की परिभाषा परोपकार न होकर सामान्य वैयक्तिक पूजा-पाठ में ही निःशेष हो जाती है। जात्यभिमान हमें अधःपतन की ओर ले जाता है और इससे हम मानवता का निरादर कर बैठते हैं। इसीलिए, भगवान महावीर ने कर्मणा जाति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुआ कहा—

कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

—उत्तरा० २५।३३

अहिंसावाद पर अनास्था के कारण ही आज के समाज में जातिगत हीनभावना का विस्तार हो रहा है। जाति के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण उदात्त नहीं रह गया है। हम इसीलिए, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि के घेरे में बन्दी बनते जा रहे हैं। श्रमण-संस्कृति दुरभिमान को चुनौती देती है और सघोष उद्घोषणा करती है: **"मेत्ती मे सव्वभूएसु।"**

सामाजिक अवधारणा के सन्दर्भ में अपरिग्रहवाद भी श्रमण-संस्कृति के उदात्त दृष्टिकोण का परिचय प्रस्तुत करता है। अपरिग्रह का तात्पर्य धन के प्रति स्वामित्व की भावना का परित्याग है। अनावश्यक संचय से सामान्य लोक-जीवन को कष्ट पहुँचता है। घूसखोरी, जमाखोरी, मिलावट, तस्करी आदि का व्यापार परिग्रह वृत्ति का ही जघन्यतम रूप है। हम धन से दूसरे की सहायता करते भी हैं, तो स्वामित्व की भावना रखकर ही। स्वामित्व की भावना का त्याग हम नहीं कर पाते। इससे अपरिग्रह का सही रूप तिरोहित ही रह जाता है। और फिर, हम संकीर्ण भावना से ऊपर नहीं उठ पाते, हमारा वैचारिक दृष्टिकोण उदात्त नहीं हो पाता। श्रमण-संस्कृति अपरिग्रह के माध्यम से हमें उदात्त दृष्टिकोण प्रदान करती है, जिससे हमारे अन्तर्मन में सर्वोदय की भावना का संचार होता है और जनमानस ग्रहण की संकीर्ण भावना से त्याग की उदात्त भूमि की ओर अभिमुख होता है।

श्रमण-संस्कृति का अनेकान्त उसकी उदात्त दृष्टि का एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का जीवन-दर्शन आलोकित है। अनेकान्तवाद, जनसमुदाय को दुराग्रहवादिता की संकीर्ण मनोवृत्ति से मुक्त होने की प्रेरणा देता है। दर्शन के क्षेत्र में या फिर जीवन के व्यावहारिक जगत् में व्याप्त श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की भावना के व्यामोह का विलोप अनेकान्त से ही सम्भव है। नीर-क्षीर-विवेक की सम्प्राप्ति एकमात्र अनेकान्त से ही हो सकती है। सत् के प्रति आसक्ति और असत् के प्रति वैराग्य अनेकान्त की भावना से ही आता है।

भाषिक शुद्धि की दृष्टि से स्याद्वाद और वैचारिक शुद्धि की दृष्टि से अनेकान्तवाद की स्थापना श्रमण-संस्कृति की उदात्तता का ही पार्यन्तिक रूप है। आज हम किसी वस्तु को एकान्त दृष्टि से सत्य मानने का भ्रम पालते हैं। किन्तु, अनेकान्तवाद इस भ्रम को दूर करता है। किसी वस्तु को हम एकान्त दृष्टि से सत्य मानकर अपनी अनुदात्त दृष्टि का ही परिचय देते हैं। कोई भी मानव एकान्त भाव से पूर्ण नहीं होता। यदि हम किसी दर्शन के तत्त्वज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को ही पण्डित मान लेते हैं, तो यह एकान्त दृष्टि हुई। सम्भव है, उस पण्डित को सांख्यिकी में तत्त्वज्ञता प्राप्त नहीं हो, तो फिर उसे एकान्तभाव से पण्डित कहना उचित भी नहीं। अनेकान्त दृष्टि से दर्शन की अपेक्षा यदि वह पण्डित है, तो सांख्यिकी की अपेक्षा पण्डित नहीं भी है। इसी विचारधारा के आधार पर अनेकान्त में 'सप्तभंगी न्याय' की प्रतिष्ठा हुई है। इस न्याय के द्वारा हम एकान्त से अनेकान्त की ओर प्रस्थान करते हैं, जहाँ हमें सम्पूर्ण जागतिक स्थिति का सही अभिज्ञान प्राप्त होता है और उदात्त दृष्टिकोण से संवलित होने का अवसर मिलता है। सर्वधर्म-समन्वय की समस्या का समाधान भी अनेकान्त ही दे सकता है।

ज्ञान और दया श्रमण-संस्कृति के मेरुदण्ड हैं। ये दोनों ऐसे दिव्य तत्त्व हैं, जिनमें उदात्त दृष्टिकोण का अपार सागर तरंगित होता रहता है। कोई भी ज्ञानी पुरुष अनुदार नहीं हो सकता और किसी भी दयालु की विचार-धारा संकीर्ण नहीं होती। किन्तु, दया की भावना का उदय बिना ज्ञान के सम्भव नहीं। इसीलिए, जिनवाणी की मान्त्रिक भाषा है : **'पढमं णाणं तओ दया।'** श्रमण-संस्कृति में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। ज्ञान भी ऐसा, जो स्व और पर को समान रूप से आभासित करे और उसमें किसी प्रकार की बाधा-व्यवधान न हो। इसीलिए **आचार्य सिद्धसेन** ने कहा है : **'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।'** उदात्त दृष्टिकोण के लिए ज्ञान का होना अनिवार्य है और ज्ञान का क्रियान्वयन दया-भावना से ही सम्भव है। ज्ञान की ही सक्रिय अवस्था दया है। ज्ञान की सक्रियता के लिए दया अनिवार्य है। कहना चाहिए कि ज्ञान और दया दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसीलिए, अनन्तज्ञान से सम्पन्न तीर्थंकर 'दयालु' या 'कल्याणमित्र' की संज्ञा से सम्बोधित हुए।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या में भी श्रमण-संस्कृति ने उदार दृष्टिकोण से काम लिया है। अन्यत्र जहाँ **'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'** का कठोर निर्देश मिलता है, वहीं श्रमण-संस्कृति ने **'स्वदार सन्तोषित्व-व्रत'** को ब्रह्मचर्य का दरजा दिया है। आज ब्रह्मचर्य के नाम पर उन्मुक्त यौनमेध का जो नग्न ताण्डव दृष्टिगत होता है, उसका संयमन 'स्वदार सन्तोषित्व-व्रत' से सहज ही सम्भव है। एकमात्र अपनी पत्नी में ही सन्तोष के व्रत का पालन किया जाय, तो कामोष्मा से प्रतप्त आधुनिक समाज में संयम के स्वर्गिक सुख की अवतारणा हो जाय।

श्रमण-संस्कृति अपने उदात्त दृष्टिकोण के कारण ही व्यष्टिगत धारणा की अपेक्षा समष्टिगत धारणा के प्रति आग्रहशील है। वह **'भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति'** के सिद्धान्त का समर्थन करती है। वह प्रमा **(सद्वृत्ति तत्प्रकारकं ज्ञानं)** पर आस्था रखती है, बाहरी चाकचिक्य को नकार देती है। वह सिद्धान्तों के भटकाव की स्थिति नहीं उत्पन्न करती। वह तो जीवन को सन्त्रास, कुण्ठा, अनास्था, विसंगति आदि दुर्भावनाओं के घात-प्रतिघातों से बचने को प्रेरित करती है, ताकि मानव अपनी मानवता की चरम परिणति के सुमेरु पर विराजमान हो सके, सिद्धशिला पर आसीन हो सके।

आज का मानव नितान्त परिग्रही हो गया हो। उसने अपने इर्दगिर्द अनेक आडम्बर चिपका रखे हैं। अज्ञानता और दयाहीनता के कारण वह अनपेक्षित आभिजात्य भावना में पड़कर मानवता की गरिमा से परिच्युत हो गया है। वह बाह्य जगत में अकर्म को कर्म और कर्म को अकर्म मान बैठा है। भौतिकता से अतिपरिचय के कारण वह आध्यात्मिकता की अवज्ञा कर रहा है। उसका कोई भी कथन न तो सुचिन्तित होता, न ही वह कोई सुविचारित कार्य कर पाता है। कुल मिलाकर, आधुनिक मानव-समाज में आत्मप्रदर्शन की मिथ्या गतानुगतिकता की ऐसी लहर छा गयी है कि वह सिवाय दूसरे का छीनने के आलावा और कुछ सोच ही नहीं सकता। श्रमण-संस्कृति ने इसीलिए अस्तेय-भावना को सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठा दी है।

ईशोपनिषद् की **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** जैसी सामाजिक भावना को उद्बुद्ध करने वाली चेतावनी को आज के मानव ने नजरन्दाज कर दिया है, इसीलिए उसमें चौर्यवृत्ति आ गई है। आत्मधन की अपेक्षा परधन के प्रति तृष्णा से वह निरन्तर आकुल-व्याकुल हो रहा है। फलतः उसके संयम का चाबुक बेकार हो गया है और इन्द्रियों के घोड़े बेलगाम हो गये हैं। उसके जैसा कामगृध्र व्यक्ति काम से ही काम को शान्त करना चाहता है। घी से आग को ठण्डा करना चाहता है! और, इसके लिए वह चौर्यवृत्ति से ही अपने सुख-सन्तोष की सामग्री जुटाने में प्रबल पुरुषार्थ मान रहा है और हिंसा तथा मिथ्यात्व के प्रति एकान्त आग्रहशील हो उठा है।

सारस्वत जगत में भी आज अजीब छीना-झपटी चल रही है। गीता की **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'** की चेतावनी भी उसे याद नहीं रह गयी है। फलतः, उसकी जिन्दगी की गाड़ी समतल सड़क को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ रास्ते में दौड़ पड़ी है। कृत्रिम पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में पड़ उसने अपनी सहज पौरस्त्य संस्कृति की उपेक्षा कर दी है। यहाँ तक कि अपनी भाषा और साहित्य को भी वह मूल्यहीन मानने लगा है। उसके मूल्यांकन की तुला ही अभारतीय हो गयी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही कारण है कि आधुनिक मानव विभिन्न मतवादों और साम्प्रदायिक रूढ़ियों की वात्या में विलुण्ठित हो रहा है। उसका अपना ज्ञानबोध अहंकार के अँधेरे में डूब गया है। ऐसी स्थिति में श्रमण-संस्कृति के पंचयाम धर्म की प्रोज्ज्वल प्रभा उसके तिमिरावृत हृदय को भास्वर बना सकती है। उसके दिग्भ्रष्ट जीवन-पोत के लिए अनेकान्तजय-पताका दिशासूचक यन्त्र का काम कर सकती है। क्योंकि, श्रमण-संस्कृति के पंचयाम धर्म में मानव की चेतना को अनावश्यक आग्रह से अलग कर अपेक्षित अनाग्रह के ज्योतिष्पथ की ओर ले चलने की अपरिमित शक्ति है। कहना न होगा कि श्रमण-संस्कृति में जीवन के विधायक अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष—जैसे अवर्णवाद, धार्मिक आचरण के नाम पर हिंसा एवं परिग्रहमूलक आडम्बरों का प्रतिक्षेप, सैद्धान्तिक मतों का समन्वय, सामाजिक जीवन में समतावाद की स्थापना के द्वारा स्त्री-पुरुषों के लिए समान प्रगति की योजना, अधिक धन का प्रत्याख्यान और प्राप्त धन का स्वामित्व-हीन समान वितरण, पूँजीवाद का विरोध, ऊँच-नीच और स्पृश्यास्पृश्य जैसी समाजोत्थान-विरोधी भावना का निराकरण आदि—प्रतिनिहित हैं, जिनसे उसके उदात्त दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष परिज्ञान प्राप्त होता है।

श्रमण-संस्कृति में श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस के लिए किसी निर्धारित वेश-विशेष की आवश्यकता नहीं। भगवान महावीर ने इनकी परिभाषा उपस्थित करते हुए निर्देश किया है :

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो॥
समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ तवेणं होइ तावसो॥

—उत्तरा० २५।३१-३२

निस्सन्देह, केवल सिर मुँड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, न ही ओंकार के जप से ब्राह्मण। जंगल में रहने से ही मुनि नहीं होता और न कुश तथा चीवर धारण करने से तपस्वी। वस्तुतः, जो समता से सम्पन्न है, वही श्रमण है, ब्रह्मचर्य का उपासक ही ब्राह्मण है, ज्ञानी ही मुनि है और तप करने वाला ही तपस्वी।

इस प्रकार श्रमण-संस्कृति ने प्रत्येक व्यक्ति को उत्थान के मार्ग का अधिकारी घोषित किया है। अपनी साधना से सर्वसामान्य व्यक्ति भी पारमैश्वर्य की सिद्धि सुलभ कर सकता है। श्रमण-संस्कृति ने ईश्वर के कतृत्व को नकारते हुए मानव के अजेय पुरुषार्थ के प्रति अडिग आस्था अभिव्यक्त की है। आत्मशक्ति के प्रति अविश्वास हो जाने के कारण ही वह किसी पारमेश्वरी शक्ति की कल्पना कर उसके प्रति समर्पित हो जाता है। परवर्त्तीकालीन भक्त कवि चण्डीदास की प्रसिद्ध काव्य-पंक्ति—**'सबार ऊपरे मानुस सत्य'** में श्रमण-संस्कृति का ही उदात्त दृष्टिकोण समाहित है।

श्रमण-संस्कृति के उदात्त विचारप्रधान दार्शनिक चिन्तन ने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को भी अनुकूलित किया था और गांधीजी के प्रसिद्ध ग्यारह व्रतों में प्रारम्भ के पाँच व्रत भगवान महावीर के ही पंचयाम धर्म से आकलित हैं। कहना यह चाहिए कि महात्मा गांधी का जीवन-दर्शन श्रमण-संस्कृति के जीवन-दर्शन का ही परवर्त्ती व्यापक विस्तार है, जिसकी उदात्त विचारधारा परम्परानुक्रम से विकसित होकर आज की सामाजिक एवं आर्थिक अभ्युत्थानमूलक राष्ट्रीय योजना विंशसूत्री कार्यक्रम से आ जुड़ी है। इसलिए; यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि राष्ट्रीय अभियान के प्रत्येक पड़ाव पर या सामाजिक जीवन के हर मोड़ पर प्रगति और उत्कर्ष का मन्त्र फूँकने वाली श्रमण-संस्कृति को किसी विशिष्ट देश, काल, आयु, नाम, गोत्र आदि की सीमा में रखकर देखने की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व के सन्दर्भ में मंगल-कारी उदात्त दृष्टिकोण का ही पर्याय समझना समीचीन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैनदर्शन में समतावादी समाज-रचना के आर्थिक तत्त्व

—डा० नरेन्द्र भानावत, एम० ए०, पी-एच० डी०
[हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर]

जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म के साथ अर्थ रखने का फलितार्थ यह है कि अर्थ का उपयोग धर्म द्वारा नियन्त्रित हो और धर्म अर्थ द्वारा प्रवृत्यात्मक बने। इस दृष्टि से धर्म-अर्थ का यह सम्बन्ध सन्तुलित अर्थव्यवस्था और सामाजिक समानता स्थापित करने में सहायक बनता है। धर्म अन्तर की सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने के साथ-साथ शरीर-रक्षण के लिए आवश्यक व्यवस्था भी देता है। इसी धरातल पर धर्म आर्थिक तत्त्वों से जुड़ता है।

जैन धर्म केवल निवृत्तिवादी दर्शन नहीं है। इसमें प्रवृत्तिमूलक धर्म के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। वस्तुतः निवृत्ति और प्रवृत्ति के उचित समन्वय से ही धर्म का लोकोपकारी रूप प्रकट होता है। कहना तो यह चाहिए कि धर्म का प्रवृत्ति रूप ही उसकी आन्तरिकता को, उसकी अमूर्तता को उजागर करता है। उदाहरण के लिए, अहिंसा धर्म की आन्तरिकता किसी को नहीं मारने तक ही सीमित नहीं है। वह दूसरों को अपने तुल्य समझने, उनसे प्रेम करने जैसे विश्वात्मभाव में प्रतिफलित होती है। इस दृष्टि से जैनधर्म में जहाँ एक ओर संसारत्यागी, अपरिग्रही, पंच महाव्रत धारी साधु (श्रमण) हैं वहाँ दूसरी ओर संसार में रहते हुए मर्यादित प्रवृत्तियाँ करने वाले अणुव्रतधारी श्रावक (सद्-गृहस्थ) भी हैं। जैनधर्मावलम्बी मात्र साधु ही नहीं हैं, बड़े-बड़े राजा-महाराजा, दीवान और कोषाध्यक्ष, सेनापति और किलेदार तथा सेठ-साहूकार भी इसके मुख्य उपासक रहे हैं। यही नहीं, वैभवसम्पन्नता, दानशीलता, धनाढ्यता और व्यावसायिक कुशलता में जैनधर्मावलम्बी सदा अग्रणी रहे हैं। ईमानदारी, विश्वस्तता और प्रामाणिकता के क्षेत्र में भी ये प्रतिष्ठित रहे हैं। इस पृष्ठभूमि में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म के आचार-विचारों ने उनकी व्यावसायिकता, प्रबन्धकुशलता और आर्थिक गतिविधियों को प्रेरित-प्रभावित किया है।

आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने राजनीति और अर्थनीति के धरातल पर अहिंसात्मक संवेदना से प्रेरित होकर जो प्रयोग किये, उनमें जैनदर्शन के प्रभावों को सुगमता से रेखांकित किया जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में ट्रस्टी-शिप का सिद्धान्त, आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं का संचय न करना, शरीर श्रम, गो-पालन, स्वादविजय, उपवास आदि पर बल इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

जैनदर्शन का मूल लक्ष्य वीतरागभाव अर्थात राग-द्वेष से रहित समभाव की स्थिति, प्राप्त करना है। जब तक हृदय में या समाज में विषम भाव बने रहते हैं, तब तक यह स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती। इस विषमता के कई स्तर हैं, जैसे सामाजिक विषमता, वैचारिक मतभेद आदि, पर इनमें प्रमुख है—आर्थिक विषमता। आर्थिक वैषम्य की जड़ स्वार्थ है, और स्वार्थ के कारण ही मन में कषायभाव जागृत होते हैं और प्रवृत्तियाँ पापोन्मुख बनती हैं। लोभ और मोह पापों के मूल कहे गये हैं। भगवान महावीर ने इसे परिग्रह कहा है। यह अर्थ-मोह या परिग्रह कैसे टूटे, इसी के लिए जैनधर्म में श्रावक के लिए मुख्यतः बारह व्रतों की व्यवस्था की गयी है। समतावादी समाज-रचना के लिए आवश्यक है कि न मन में विषमभाव रहें और न समाज में असमानता रहे। इसके लिए धार्मिक और आर्थिक दोनों स्तरों पर प्रयत्न अपेक्षित हैं। जैनदर्शन में धार्मिक प्रेरणा से जो अर्थतन्त्र उभरा है, वह इस दिशा में हमारा मार्ग दर्शन कर सकता है। इस दृष्टि से मुख्य अग्रलिखित तत्त्वों को रेखांकित किया जा सकता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) श्रम की प्रतिष्ठा।
(२) आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन।
(३) साधन-शुद्धि पर बल।
(४) अर्जन का विसर्जन।

(१) **श्रम की प्रतिष्ठा**—जैन मान्यता के अनुसार सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में जब प्राकृतिक कल्प-वृक्षादि साधनों से आवश्यकताओं की पूर्ति होना सम्भव न रहा, तब भगवान ऋषभदेव ने असि, मसि, और कृषि रूप जीविकोपार्जन की कला विकसित की और समाज को प्रकृति-निर्भरता से श्रमजन्य आत्मनिर्भरता की ओर उन्मुख किया।

जैनदर्शन में आत्मा के पुरुषार्थ और श्रम की विशेष प्रतिष्ठा है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर ही आत्म-साधना कर परमात्म-दशा प्राप्त कर सकता है। इस दशा को प्राप्त करने के लिए किसी अन्य का पुरुषार्थ उसके लिए मार्गदर्शक और प्रेरक तो बन सकता है, पर सहायक नहीं। इसी दृष्टि से भगवान महावीर ने अपने साधनाकाल में इन्द्र की सहायता नहीं स्वीकार की और स्वयं के पुरुषार्थ-पराक्रम के बल पर ही उपसर्गों का समभावपूर्वक सामना किया। 'उपासक दशांग' सूत्र में भगवान महावीर और कुम्भकार सद्दालपुत्त का जो प्रसंग वर्णित है, उससे स्पष्ट होता है कि गोशालक का आजीवक मत नियतिवाद का विश्वासी है जबकि महावीर का मत आत्म-पुरुषार्थ और आत्म-पराक्रम को ही अपनी उन्नति का केन्द्र मानता है। जैन साधु को 'श्रमण' और जैन श्रावक को 'श्रमणोपासक' कहा जाना भी इस दृष्टि से अर्थवान बनता है (तप के बारह भेदों में, भिक्षाचरी' और कायक्लेश) तथा दैनन्दिन प्रतिलेखन और परिमार्जन का क्रम भी प्रकारान्तर से साधना के क्षेत्र में शारीरिक श्रम की महत्ता प्रतिष्ठापित करते हैं।

साधना के क्षेत्र में प्रतिष्ठित श्रम की यह भावना सामाजिक स्तर पर भी समादृत हुई। भगवान महावीर ने जन्म के आधार पर मान्य वर्ण व्यवस्था को चुनौती दी और उसे कर्म अर्थात् श्रम के आधार पर प्रतिष्ठापित किया। उनका स्पष्ट उद्घोष था—'कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता है।' दूसरे शब्दों में उन्होंने 'जन्मना' जाति के स्थान पर 'कर्मणा समूह' को मान्यता दी और इस प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार कर्म शक्ति को बनाया। इसी बिन्दु से श्रम अर्थव्यवस्था से जुड़ा और कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि की प्रतिष्ठा बढ़ी।

(२) **आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन**—जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा होने पर जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं को सभी पैदा करने लगे और आवश्यकतानुसार उनमें विनिमय होने लगा। धीरे-धीरे विनिमय के लाभ ने अनावश्यक उत्पादन क्षमता बढ़ाई और तब अर्थ-लोभ ने मुद्रा को मान्यता दी। मुद्रा के प्रचलन ने समाज में ऊँच-नीच के कई स्तर कायम कर दिये। समाज में श्रम की अपेक्षा पूँजी की प्रतिष्ठा बढ़ी और नाना प्रकार से शोषण होने लगा। औद्योगीकरण, यन्त्रवाद और यातायात तथा संचार के द्रुतगामी साधनों के विकास से उत्पादन और वितरण में असन्तुलन पैदा हो गया। एक वर्ग ऐसा बना जिसके पास आवश्यकता से अधिक पूँजी और वस्तु-सामग्री जमा हो गयी और दूसरा वर्ग ऐसा बना जो जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं से भी वंचित रहा। पहला वर्ग दूसरे वर्ग के श्रम का शोषण कर उत्पादन में सक्रिय भागीदार न बनने पर भी, अधिकाधिक पूँजी संचित करने लगा। फलस्वरूप वर्ग संघर्ष बढ़ा। यह संघर्ष प्रदेश विशेष तक सीमित न रहकर, अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गया।

इस समस्या को हल करने के लिए आधुनिक युग में समाजवाद, साम्यवाद जैसी कई विचारधाराएँ सामने आईं। सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। भगवान महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व इस समस्या पर चिन्तन किया और कुछ सूत्र दिये जो आज भी हमारे लिए समाधानकारक हैं।

(१) उनका पहला सूत्र यह है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करो। मनुष्य की इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं और ज्यों-ज्यों लाभ होता है, लोभ की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। यदि चाँदी-सोने के कैलाश पर्वत भी व्यक्ति को प्राप्त हो जाएँ, तब भी उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकती, अतः इच्छा का नियमन आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रावकों के लिए परिग्रह-परिमाण या इच्छा-परिमाण व्रत की व्यवस्था की गयी है। इसके अनुसार सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा को सीमित किया जाता है और यह निश्चय किया जाता है कि मैं इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नहीं करूँगा। शास्त्रकारों ने ऐसे पदार्थों को नौ भागों में विभक्त किया है (१) क्षेत्र (खेत आदि भूमि) (२) वास्तु (निवास योग्य स्थान) (३) हिरण्य (चाँदी) (४) सुवर्ण (सोना) (५) धन (सोने-चाँदी के ढले हुए सिक्के अथवा घी, गुड़, शक्कर आदि मूल्यवान पदार्थ) (६) धान्य (गेहूँ, चावल, तिल आदि) (७) द्विपद (जिसके दो पाँव हों, जैसे मनुष्य और पक्षी) (८) चतुष्पद (जिसके चार पाँव हों, जैसे हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि) और (९) कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषध, आदि)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार की मर्यादा से व्यक्ति अनावश्यक संग्रह और शोषण की प्रवृत्ति से बचता है।

(२) भगवान महावीर का दूसरा सूत्र यह है कि विभिन्न दिशाओं में आने-जाने के सम्बन्ध में मर्यादा कर यह निश्चय किया जाये कि मैं अमुक स्थान से अमुक दिशा में अथवा सब दिशाओं में इतनी दूर से अधिक नहीं जाऊँगा। इस मर्यादा या निश्चय को दिक्परिमाणव्रत कहा जाता है। इस मर्यादा से वृत्तियों का संकोच होता है, मन की चंचलता मिटती है और अनावश्यक लाभ या संग्रह के अवसरों पर स्वैच्छिक रोक लगती है। प्रकारान्तर से दूसरों के अधिकार-क्षेत्र में उपनिवेश बसा कर लाभ कमाने की अथवा शोषण करने की वृत्ति से बचाव होता है। आधुनिक युग में प्रादेशिक सीमा, अन्तर्राष्ट्रीय सीमा, नाकेबन्दी आदि की व्यवस्था इसी व्रत के फलितार्थ हैं। क्षेत्र सीमा का अतिक्रमण करना आज भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में अपराध माना जाता है। तस्कर वृत्ति इसका उदाहरण है।

(३) भगवान महावीर ने तीसरा सूत्र यह दिया कि मर्यादित क्षेत्र में रहे हुए पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा भी निश्चित की जाए। दिक्परिणामव्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एवं वहाँ के पदार्थादि से तो निवृत्ति हो जाती है पर यदि मर्यादित क्षेत्र के पदार्थों के उपभोग की मर्यादा निश्चित नहीं की जाती तो उससे भी आवश्यक संग्रह का अवसर बना रहता है। अतः उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत की विशेष व्यवस्था की गयी है। जो एक बार भोगा जा चुकने के पश्चात् फिर न भोगा जा सके, उस पदार्थ को भोगना, काम में लेना, उपभोग है, जैसे भोजन, पानी आदि; और जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके, उसे भोगना परिभोग है; जैसे वस्त्र, बिस्तर आदि। उपभोग-वस्तुओं में वे वस्तुएँ आती हैं जिनका होना शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है। परिभोग-वस्तुओं में उन पदार्थों की गणना है जो शरीर को सुन्दर और अलंकृत बनाते हैं अथवा जो शरीर के लिए आनन्ददायी माने जाते हैं। शास्त्रकारों ने उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं को २७ भागों में विभक्त किया है।

इस प्रकार की मर्यादा का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति का जीवन सादगीपूर्ण हो और वह स्वयं जीवित रहने के साथ-साथ दूसरों को भी जीवित रहने का अवसर और साधन प्रदान कर सके।

(४) भगवान महावीर ने चौथा सूत्र यह दिया है कि व्यक्ति प्रतिदिन अपने उपभोग-परिभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा निश्चित करे और अपने को इतना संयमशील बनाये कि वह दूसरों के लिए किसी भी प्रकार बाधक न बने। दिक्परिमाण और उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत जीवन भर के लिए स्वीकार किये जाते हैं। अतः इनमें आवागमन का जो क्षेत्र निश्चित किया जाता है तथा उपभोग-परिभोग के लिए जो पदार्थ मर्यादित किये जाते हैं, उन सबका उपयोग वह प्रतिदिन नहीं करता है। इसीलिए एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को भी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र और भोग्योपभोग्य पदार्थों की मर्यादा कम कर देना, देशावकाशिकव्रत है। अर्थात् उक्त व्रतों में जो अवकाश रखा है, उसको भी प्रतिदिन संक्षिप्त करते जाना।

श्रावक के लिए प्रतिदिन चौदह नियम चिन्तन करने की जो प्रथा है वह इस देशावकाशिक व्रत का ही रूप है। शास्त्रों में वे नियम इसप्रकार कहे गये हैं—

सचित्त दव्व विग्गई, पन्नी ताम्बूल वत्थ कुसुमेषु।
वाहण सयण विलेवण, बम्भ दिसि नाहण भत्तेषु॥

अर्थात्—१. सचित्त वस्तु, २. द्रव्य ३. विगय, ४. जूते-खड़ाऊँ, ५. पान, ६. वस्त्र, ७. पुष्प, ८. वाहन, ९. शयन, १०. विलेपन, ११. ब्रह्मचर्य, १२. दिशा, १३. स्नान और १४. भोजन। इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी जाती है, उसका संकोच होता है और आवश्यकतायें उत्तरोत्तर सीमित होती हैं।

उपर्युक्त चारों सूत्रों में जिन मर्यादाओं की बात कही गयी है वह व्यक्ति की अपनी इच्छा और शक्ति पर निर्भर है। भगवान महावीर ने यह नहीं कहा कि आवश्यकतायें इतनी-इतनी सीमित हों। उनका संकेत इतना भर है कि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार आवश्यकतायें सीमित करे, इच्छायें नियंत्रित करे क्योंकि यही परम शान्ति और आनन्द का रास्ता है। आज की जो राजनैतिक चिन्तनधारा है उसमें भी स्वामित्व और आवश्यकताओं को नियंत्रित करने की बात है। यह नियमन, नियंत्रण और सीमांकन विविध कर पद्धतियों के माध्यम से कानून के तहत किया जा रहा है। यथा—आयकर, सम्पत्तिकर, भूमि और भवन कर, मृत्युकर और नागरिक भूमि सीमांकन एवं विनियमन अधिनियम (अरबन लैण्ड सीलिंग एण्ड रेग्युलेशन एक्ट) आदि।

भगवान महावीर ने अपने समय में, जबकि जनसंख्या इतनी नहीं थी, जीवन की जटिलतायें भी कम थीं, तब यह व्यवस्था दी थी। उसके बाद तो जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि हुई है, जीवन पद्धति जटिल बनी है, आर्थिक दबाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ा है, आर्थिक असमानता की खाई विस्तृत हुई है, फिर भी लगता है कि महावीर द्वारा दिया गया समाधान आज भी अधिक व्यावहारिक और उपयोगी है क्योंकि कानून के दबाव से व्यक्ति बचने का प्रयत्न करता है, पर स्वेच्छा से उसमें जो आत्मानुशासन आता है, वह अधिक प्रभावी बनता है।

(३) **साधन-शुद्धि पर बल**—भगवान महावीर ने आवश्यकताओं को सीमित करने के साथ-साथ जो आवश्यकताएँ शेष रहती हैं, उनकी पूर्ति के लिए भी साधन शुद्धि पर विशेष बल दिया है। महात्मा गांधी भी साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता को भी महत्व देते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि व्रत, साधन की पवित्रता के ही प्रेरक और रक्षक हैं। इन व्रतों के पालन और इनके अतिचारों से बचने का जो विधान है, वह भाव-शुद्धि का सूचक है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को स्थूलहिंसा से बचना चाहिए। उसे ऐसे नियम नहीं बनाने चाहिए जो अन्याययुक्त हों, न ऐसी सामाजिक रूढ़ियों के बन्धन स्वीकार करने चाहिए जिनसे गरीबों का अहित हो। अइभार (अतिभार), अतिचार इस बात पर बल देता है कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से निश्चित समय से अधिक काम न लिया जाय, न पशुओं, मजदूरों आदि पर अधिक बोझ लादा जाए और न बाल-विवाह, अनमेल विवाह और रूढ़ियों को अपनाकर जीवन को भारभूत बनाया जाए। भत्त-पाण-विच्छेद अतिचार से यह तथ्य गृहीत होता है कि व्यक्ति अपना व्यापार इस प्रकार करे कि उससे किसी का भोजन व पानी न छीना जाए।

सत्याणुव्रत में सत्य के रक्षण और असत्य से बचाव पर बल दिया गया है। कहा गया है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए **कन्नालीए** अर्थात् कन्या के विषय में, **गवालीए** अर्थात् गौ के विषय में, **भोमालीए** अर्थात् भूमि के विषय में, **नासत्थहारे** अर्थात् धरोहर के विषय में झूठ न बोले **कूडसक्खिज्जे** अर्थात् झूठी साक्षी न दें। इसी प्रकार सत्यव्रत के अतिचारों से बचने के लिये कहा गया है कि बिना विचारे एकदम किसी पर दोषारोपण न करें, दूसरों को झूठा उपदेश न दें, झूठे लेख, झूठे दस्तावेज न लिखें, न झूठे समाचार या विज्ञापन आदि प्रकाशित करायें और न झूठे हिसाब आदि रखें।

अस्तेय व्रत की परिपालना का, साधन शुद्धता की दृष्टि से विशेष महत्व है। मन, वचन और काय द्वारा दूसरों के हकों को स्वयं हरण करना और दूसरों से हरण करवाना चोरी है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म बनते जा रहे हैं। सेंध लगाने, डाका डालने, ठगने, जेब काटने वाले ही चोर नहीं हैं बल्कि खाद्य वस्तुओं में मिलावट करने वाले, एक वस्तु बताकर दूसरी लेने-देने वाले, कम तोलने और कम नापने वाले, चोरों द्वारा हरण की हुई वस्तु खरीदने वाले, चोरों को चोरी की प्रेरणा करने वाले, झूठा जमा-खर्च करने वाले, जमाखोरी करके बाजारों में एकदम से वस्तु का भाव घटा या बढ़ा देने वाले, झूठे विज्ञापन करने वाले, अवैध रूप से अधिक सूद पर रुपया देने वाले भी चोर हैं। भगवान महावीर ने अस्तेय व्रत के अतिचारों में इन सबका समावेश किया है। इन सूक्ष्म तरीकों की चौर्यवृत्ति के कारण ही आज मुद्रा-स्फीति का इतना प्रसार है और विश्व की अर्थव्यवस्था चरमरा रही है। एक ओर काला धन बढ़ता जा रहा है तो दूसरी ओर गरीब अधिक गरीब बनता जा रहा है। अर्थव्यवस्था के संतुलन के लिये आजीविका के जितने भी साधन हैं, पूंजी के जितने भी स्रोत हैं उनका शुद्ध और पवित्र होना आवश्यक है।

इसी संदर्भ में भगवान महावीर ने ऐसे कार्यों द्वारा आजीविका के उपार्जन का निषेध किया है जिनसे पाप का भार बढ़ता है और समाज के लिए जो अहितकर हों। ऐसे कार्यों की संख्या शास्त्रों में पन्द्रह गिनाई गयी है और इन्हें 'कर्मादान' कहा गया है। इसमें से कुछ कर्मादान तो ऐसे हैं जो लोक में निन्द्य माने जाते हैं और जिनके करने से सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट होती है। उदाहरण के लिए, जंगल को जलाना (**इंगालकम्मे**), शराब आदि मादक पदार्थों का व्यापार करना (**रसवाणिज्जे**), अफीम, संखिया आदि जीवन नाशक पदार्थों को बेचना (**विसवाणिज्जे**), सुन्दर केश वाली स्त्रियों का क्रय-विक्रय करना (**केसवाणिज्जे**), वनदहन करना (**दवग्गिदावणियाकम्मे**), असज्जनों अर्थात् असामाजिक तत्त्वों का पोषण करना (**असईजणपोसणियाकम्मे**) आदि कार्यों को लिया जा सकता है।

साधन-शुद्धि में विवेक, सावधानी और जागरूकता का बड़ा महत्व है। गृहस्थ को अपनी आजीविका के लिये आरम्भज हिंसा आदि करनी पड़ती है। यह एक प्रकार का अर्थदण्ड है जो प्रयोजन विशेष से होता है पर बिना किसी प्रयोजन के निष्कारण ही केवल हास्य, कौतूहल, अविवेक या प्रसादवश जीवों को कष्ट देना, सताना अनर्थ-दण्ड है। इस प्रवृत्ति से व्यक्ति को बचना चाहिए और विवेकपूर्वक अपना कार्य-व्यापार सम्पादित करना चाहिए।

जैनदर्शन में साधन शुद्धि पर विशेष बल इसलिये भी दिया गया है कि उससे व्यक्ति का चरित्र प्रभावित होता है। 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' सूक्ति इस प्रसंग में विशेष अर्थ रखती है। बुरे साधनों से एकत्र किया हुआ धन अन्ततः व्यक्ति को दुर्व्यसनों की ओर ढकेलता है और उसके पतन का कारण बनता है। शास्त्रकारों ने इसलिये खाद्य शुद्धि और खाद्य-संयम पर विशेष बल दिया है। तप के बारह प्रकारों में प्रथम चार तप-अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और रस-परित्याग प्रकारान्तर से भोजन से ही सम्बन्धित है। साधु की भिक्षाचर्या के सम्बन्ध में जो नियम बनाये गये हैं वे भी किसी न किसी रूप में गृहस्थ की साधन-शुद्धि और पवित्र भावना पर ही बल देते हैं।

(४) **अर्जन का विसर्जन**—उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझा जाना चाहिये कि जैनधर्मावलम्बी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं होते। इसके विपरीत ऐसे उदाहरण पर्याप्त हैं जो उनकी वैभवसम्पन्नता और श्रीमन्तता को सूचित करते हैं। उपासकदशांगसूत्र में भगवान महावीर के दस आदर्श श्रावकों का वर्णन आया है। वहाँ उल्लेख है कि आनन्द, नन्दिनीपिता और सालिहीपिता के पास १२-१२ करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी। चार-चार करोड़ सोनैया निधानरूप अर्थात् खजाने में था, चार-चार करोड़ सोनैयों का विस्तार (द्विपद, चतुष्पद, धन-धान्य आदि की सम्पत्ति) था और चार-चार करोड़ सोनैयों से व्यापार चलता था। इसके अलावा उनके पास गायों के चार-चार गोकुल थे (एक गोकुल में दस-हजार गायें होती थीं)। इसी प्रकार कामदेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक के पास १८-१८ करोड़ सोनैये थे और गायों के ६-६ गोकुल थे। चुलनीपिता, सुरादेव, महाशतक के पास २४-२४ करोड़ सोनैये की सम्पत्ति और गायों के ८-८ गोकुल थे। सद्दाल पुत्र जो जाति का कुम्भकार था, उसके पास तीन करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी और दस-हजार गायों का एक गोकुल था। मध्ययुग में वस्तुपाल-तेजपाल और भामाशाह जैसे श्रेष्ठि थे। आधुनिक युग में भी श्रेष्ठियों की कमी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि महावीर गरीबी का समर्थन नहीं करते। उनका प्रहार धन के प्रति रही हुई मूर्च्छावृत्ति पर है। वे व्यक्ति को निष्क्रिय या अकर्मण्य बनने को नहीं कहते, पर उनका बल अर्जित सम्पत्ति को दूसरों में बांटने पर है। उनका स्पष्ट उद्घोष है—**असंविभागीणहु तस्स मोक्खो** अर्थात् जो अपने प्राप्य को दूसरों में बाँटता नहीं, उसकी मुक्ति नहीं होती। अर्जन के विसर्जन का यह भाव उदार और संवेदनशील व्यक्ति के हृदय में ही जागृत हो सकता है और ऐसा व्यक्ति क्रूर, हिंसक या पापाचारी नहीं हो सकता। निश्चय ही ऐसा व्यक्ति मिष्टभाषी, मितव्ययी, संयमी और सादगी पूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला होगा और इन सबके सम्मिलित प्रभाव से उसकी सम्पत्ति भी उत्तरोत्तर वृद्धिमान होगी।

अर्जन का विसर्जन नियमित रूप से होता रहे और मर्यादा से अधिक सम्पत्ति संचित न हो, इसके लिए अतिथि-संविभागव्रत और दान का विधान है। भगवतीसूत्र में तुंगियानगरी के ऐसे श्रावकों का वर्णन आता है जिनके घरों के द्वार अतिथियों के लिए सदा खुले रहते थे। अतिथियों में साधुओं के अतिरिक्त जरूरतमन्द लोगों का भी समावेश है। पुण्य तत्त्व के प्रसंग में पुण्यबन्ध के नौ कारण बताए गये हैं इस दृष्टि से वे उल्लेखनीय हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) भूखे को भोजन देना (अन्न पुण्य) (२) प्यासे को पानी (पेय पदार्थ) पिलाना, (पानपुण्य), (३) जरूरतमन्द को मकान आदि देना (स्थान पुण्य), (४) पाट, बिस्तर आदि देना (शयन पुण्य), (५) वस्त्र आदि देना (वस्त्र पुण्य), (६) मन (७) वचन और (८) शरीर की शुभ प्रवृति से समाज सेवा करना (मन पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य) तथा (९) पूज्य पुरुषों और समाज सेवियों के प्रति विनम्र भाव प्रकट करते हुए उनका सम्मान सत्कार करना (नमस्कार पुण्य)।

आवश्यकता से अधिक संचय न करना और मर्यादा से अधिक प्राप्य सम्पत्ति को जरूरतमंद लोगों में वितरित कर देने की भावना ही जन कल्याण के कार्य को आगे बढ़ाती है। दान या त्याग का यह रूप केवल रूढ़ि पालन नहीं है। समाज के प्रति कर्तव्य व दायित्व बोध भी है। दान का उद्देश्य समाज में ऊँच-नीच का स्तर कायम करना नहीं, वरन् जीवन रक्षा के लिये आवश्यक वस्तुओं का समवितरण करना है। धर्म शासन इस प्रवृत्ति पर जितना बल देता है उतना ही बल जनतांत्रिक समाजवादी शासन व्यवस्था भी देती है।

जैनदर्शन में दान का यह पक्ष केवल अर्थदान तक ही सीमित नहीं है। यहाँ अर्थदान से अधिक महत्व दिया गया है आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान को। उत्तम दान के लिये यह आवश्यक है कि जो दान दे रहा है वह निष्काम भावना से दे और जो दान ले रहा है, उसमें किसी प्रकार की दीन या हीन भावना पैदा न हो। दान देते समय दानदाता को मान-सम्मान की भूख नहीं होनी चाहिये। निर्लोभ और निरभिमान भाव से किया गया दान ही सच्चा दान है। दाता के मन में किसी प्रकार का ममत्व भाव न रहे, इसी दृष्टि से शास्त्रों में गुप्तदान की महिमा बतायी गई है।

दान की होड़ में येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने की प्रवृत्ति आत्मलक्षी व्यक्ति के लिये हितकर नहीं हो सकती। दान में मात्रा का नहीं, गुणात्मकता का महत्व है। नीति और न्याय से अर्जित सम्पदा का दान ही वास्तविक दान है। आवश्यकता से अधिक वस्तु का संचय न कर, दूसरों को दे देना लोकधर्म है, पर अपनी आवश्यक वस्तुओं में से कमी करके, दूसरों के लिये देना आत्मधर्म है। इस दूसरे रूप में ही व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों का विशेष नियमन कर पाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनदर्शन में जिन आर्थिक तत्त्वों का संगुम्फन है, उनकी आज के सन्दर्भ में बड़ी प्रासंगिकता है और धर्म तथा अर्थ की चेतना परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा : वर्तमान युग में



—माणकचन्द कटारिया

□

मनुष्य के साथ और इस पूरी सृष्टि के साथ अहिंसा इस तरह जुड़ी है कि उसे आप बाँट नहीं सकते। अभी युग अहिंसा का चल रहा है और कल हिंसा का युग आने वाला है या हिंसा का युग बीत गया और अब अहिंसा की बारी आई है, ऐसा कैसे कहेंगे ? क्रिकेट के खेल की तरह कभी हिंसा की इनिंग (पारी) और कभी अहिंसा की इनिंग नहीं चलती। अहिंसा मनुष्य के जीवन की तर्ज है, जो उसके रक्त में बिंधी है। अपने उन्माद में आदमी बहुत भड़ककर अपनी और सामने वाले की तबाही करके भी जब सहज होता है तो शान्ति की खोज करने लगता है। उसके भीतर करुणा के, प्रेम के, संवेदना के अंकुर फिर-फिर उग आते हैं। यही मनुष्य के जीवन का मर्म है। बल्कि, बहुत ध्यान से आप देखें तो पूरी सृष्टि में जीवन के तार करुणा से जुड़े हैं, संवेदना से जुड़े हैं।

फिर भी कुछ ऐसा तो हो ही गया है कि हमें अहिंसा पाने के लिए, जीवन में उसे प्रतिष्ठित करने के लिए और हमारे चारों ओर समाज में धधक रही हिंसा को बुझाने के लिए लगातार साधना करनी पड़ रही है। अहिंसा वालों का एक अलग खेमा है। वे जीव-दया वाले हैं। फूंक-फूंक कर जीवन जी रहे हैं। रात में नहीं खाते। मांस, मछली; अण्डा तो दूर, बहुत-सी तरकारियाँ भी नहीं छूते। कई चीजें छोड़ दी हैं। बहुत से डू-नाट्स—नहीं करने के बन्धन स्वीकारते हैं। धीरे-धीरे अहिंसा के बारे में हमारा ऐसा ख्याल बना कि काया को हिंसा से बचाओ। काया हिंसा से बच गई तो अहिंसा सध जायगी। इस एक मामले से हम अहिंसा वाले बहुत लम्बा रास्ता नाप गये। खूब चले हैं। लेकिन लगता है कि केवल ऊपर-ऊपर ही चलते रहे हैं। नतीजा यह है कि हमारे हाथ जो अहिंसा आई वह केवल 'सतही अहिंसा' है। एकदम ऊपर की अहिंसा। मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में निहत्था होता जा रहा है। उसके हाथ से तलवार छूट गई है और उसकी पीठ पर से तरकश उतर गया है। उसके मुँह का कौर निरामिष बनता जा रहा है। जिनका नहीं बन पाया है वे भी धीरे-धीरे निरामिष हो जायेंगे। मनुष्य की सभ्यता ने आपस के व्यवहार में मिठास घोली है। हम अपने विवाद आपसी बातचीत, समझाइश, तर्क-चर्चा के धरातल पर ले आये हैं। बहुत गुस्सा होकर भी पिस्तौल नहीं तानते। हत्याओं का प्रतिशत इतना नगण्य है कि मनुष्य अहिंसक होने का दावा कर सकता है।

पैराडाक्स-विरोधाभास

लेकिन यह एक परत है—बहुत पतली झिल्ली जो हमें अहिंसक होने का आभास दे रही है। भीतर तो सारा व्यापार हिंसा का चल रहा है। बल्कि हिंसा बहुत खुलकर खेल रही है। मनुष्य की तृष्णा बढ़ी है, ईर्ष्या पैनी हुई है, स्पर्धा ने घेरा है उसे, स्वार्थ ने नए आयाम पाये हैं, सत्ता-धन-यश के त्रिभुज पर हमारी आँखें टिक गई हैं। एक ऐसी हायरआरकी-श्रेणीबद्धता में हम उलझ गये हैं कि शोषण, अन्याय और अहंकार की शृंखला टूटती ही नहीं। मनुष्य भयभीत है। वह इस दुविधा में पड़ा है कि इस पटरी से उतर कर कहाँ जाय। जरा चूका कि मानव समाज के बहुत ही निचले धरातल पर फेंक दिया जायगा। इसलिए कोई चूकना नहीं चाहता—जैसे भी हो अपने लिए समाज का ऊँचा धरातल बनाये रखना चाहता है।

वस्तुओं के बाहुल्य ने और बाहुल्य के साथ जुड़ी सामाजिक प्रतिष्ठा ने मनुष्य को बहुत तोड़ा है। हम टूट कर दो समानान्तर पटरियों पर दौड़ लगा रहे हैं। एक पटरी पर दौड़कर संग्रह कर रहे हैं और दूसरी पटरी पर चलकर उसमें से थोड़ा बाँट आते हैं ताकि करुणा को, त्याग को, संयम को और जिसे हमने 'धर्म' नाम दे रखा है उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थोड़ा समाधान मिल जाय। यह बहुत साफ है कि आदमी अपने स्वधर्म पर नहीं हैं। उसने अपने समाज जीवन में जिन प्रतिष्ठा प्रतिमानों को आत्मसात् किया है वही उसका सेकण्ड नेचर-संस्कारित धर्म बन गया है और इसे ही दोनों हाथों से वह थामे हुए है। इसलिए आज हम मनुष्य के चेहरे पर जो अहिंसा देख रहे हैं वह बहुत ऊपर-ऊपर है—एकदम सतह पर है।

यों हिंसा को समर्थन नहीं है। कोई उसकी पैरवी नहीं करता। मारकाट, दंगा-फसाद, जोर-जबर्दस्ती, हत्या, युद्ध मनुष्य की लाचारी भले ही हो, उसके जीवन का मान्य रास्ता नहीं है। वह हिंसा से बचना चाहता है। समाज-व्यवस्था के प्रत्येक बिन्दु पर हम इसी बात की चौकीदारी में लगे हैं कि हिंसा कहीं से फूट न पड़े। पंचायतों और जनपदों से लेकर संयुक्तराष्ट्रसंघ तक जितनी व्यवस्थाएँ मनुष्य ने अपने-अपने दायरों में खड़ी की हैं, वे सब इसी उधेड़बुन में हैं कि समाज में शान्ति कायम रहे और आदमी आदमी बना रहे। बल्कि इसी अमनोअमान के लिए हमारे पास पुलिस और फौज की व्यवस्था है। इतनी ज्यादा है कि मनुष्य की सर्वाधिक ताकत इसी में खर्च हो रही है। फिर भी हिंसा जहाँ-तहाँ फूट पड़ती है और यदि सारे संसार के पुलिस थानों के रोजनामचे एकत्र किए जायें तो हम काँप जायेंगे। कबीर को हरिगुण का वर्णन करने के लिए सात समंदर की मसि चाहिए थी, लेकिन पूरे विश्व के चप्पे-चप्पे पर चल रहे अन्याय, अत्याचार और शोषण की कहानी लिखने के लिए सात समंदर की मसि से कुछ नहीं होगा।

ये दो चीजें एक साथ कैसे चलेंगी? हिंसा के जितने ब्रीडिंग ग्राउण्ड—उपज स्थान हैं वे कायम रहेंगे, बल्कि दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ते जायेंगे और अधिकाधिक पुष्ट होते जाएँगे, साथ ही हम अपने चेहरे, अपनी संस्कृति, अपने सारे धर्म-ग्रन्थ, अपने सम्पूर्ण नीति वचन अहिंसा के चरणों में न्यौछावर करते जायेंगे—तो ये दोनों बातें एकसाथ कैसे चलेंगी? इसलिए मैं कहता हूँ कि आज का मनुष्य एक ब्रोकन मैन—टूटा हुआ मनुष्य है। एक ही मनुष्य का एक हिस्सा जमकर हिंसा में जी रहा है और उसी का एक हिस्सा अहिंसा का गीत गा रहा है। जब वह अपने-आप में होता है तो उसकी संवेदना पिघलती है, उसकी तृष्णा गलती है, उसकी करुणा सक्रिय होती है। उसे बाहुल्य नहीं चाहिए। वह अपना कौर किसी भूखे के मुँह में देकर संतुष्ट होता है। लेकिन जब वही समाज के बीच होता है, व्यापार-व्यवसाय में होता है, राज-सत्ता में होता है, किसी पद पर आसीन है, किसी मान-मर्यादा में लिप्त है तब वह एकदम बदला हुआ मनुष्य है—तब उसे चाहिए ही चाहिए। जितना पाया है वह कम है। जैसे भी हो चाहिए—एक से एक बढ़िया वस्तु चाहिए। वह समाज के जिस धरातल पर है उससे भी अधिक ऊँचा धरातल उसे चाहिए। इस तरह मनुष्य ने अपनी डबल परसनलिटी—दोहरा व्यक्तित्व रच लिया है। वह अपने-आप में कुछ और है तथा अपने आसपास के संसार में कुछ दूसरा ही आदमी है।

हिंसा का काम

इस कारण अहिंसा एक मुकाम पर आकर ठिठक गई है। वह इतना ही चल पाई कि काया खुद की हिंसा से बची रह जाय। अहिंसा को रसोईघर में स्थापित करके हम बहुत प्रसन्न हैं कि हमसे अहिंसा निभ गई। हमारा ध्यान इस बात पर गया ही नहीं कि जिस सभ्यता को हम जी रहे हैं, जिस बाहुल्य को हम भोग रहे हैं, वस्तुओं के एक विशाल सागर में तैर रहे हैं, व्यापार-व्यवसाय और समाज-व्यवस्था का जो आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक ढाँचा हमने खड़ा कर लिया है तथा मनुष्यों के बीच आपस में जितना भेद-जाति का, सम्प्रदाय का, रंग का, धर्म का, धन का, सत्ता का और संस्कृति का खड़ा कर लिया है—इस सबने मनुष्य को पारे की तरह बिखेर दिया है। ऐसा टूटा हुआ मनुष्य कौन-सी अहिंसा जीयेगा? वह तो अपनी ही चिंता में पड़ा है। उसे अब अपने सिवाय कुछ दूसरा सूझता ही नहीं। लेकिन अहिंसा का तो एक अलग क्षेत्र है। वह संवेदना और सह-अस्तित्व के रथपर चढ़कर ही आयेगी। आप प्यार करते हैं तो मेरा क्रोध गलता है। आप कुछ छोड़ रहे हैं तो मेरा स्वार्थ भी टूटता है। मैं आपकी सहनशीलता के आगे परास्त हूँ। अहिंसा को अपरिग्रह का, त्याग का, संयम का, प्रेम का, करुणा का, परिश्रम का, और निज की तृष्णा को समेट लेने का कड़ा धरातल चाहिए। लेकिन इन्सान अपनी आधुनिक सभ्यता को इस धरातल पर खड़ा नहीं रख सका। उसने जो पटरियाँ बिछाई हैं वे स्वार्थ की और अहंकार की है—इन पटरियों पर अहिंसा की रेल कैसे दौड़ेगी?

दूसरी ओर, हमारी वस्तु-निष्ठा ने और आरामदेह जिन्दगी की चाह ने वस्तुओं का एक महासागर रच लिया है। वस्तु, सम्पदा और धन को अपना आराध्य देव घोषित करके मनुष्य ने जिस हिंसा को जन्म दिया है वह बहुत विषैली है। धीरे-धीरे उसने पूरी सृष्टि पर अपना विष फैलाया है। वैज्ञानिकों को चिंता हुई है कि यदि इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रफ्तार से मनुष्य अपने उपभोग के लिए धरती की सम्पदा को लूटता रहा तथा अपनी आरामदेह जिन्दगी के लिए अनन्त वस्तुओं की उत्पादन प्रक्रिया में इस पूरे जगत को अनेकानेक प्रदूषणों से ढँकता रहा तो जीवन टूट जायगा। आदमी के रहन-सहन की आधुनिक सभ्यता के साथ जुड़ी हिंसा हमारी धमनियों में इस कदर प्रवाहित हुई है कि इसे रोकने के लिए एक महा-पुरुषार्थ की जरूरत है। एक आदमी के लिए यह बहुत आसान है कि वह अपनी थाली से मांस का टुकड़ा अलग कर दे और अपने पैर के नीचे दबकर मर जाने वाली चींटी को बचा ले जाय। लेकिन बेशुमार हिंसा को जन्म देने वाली हमारी उत्पादन प्रक्रिया का क्या होगा? वह तो वस्तु के गर्भ में जाकर बैठ गई है। जिस यंत्रीकरण पर मनुष्य को नाज है, अपनी विज्ञान प्रगति पर उसे गर्व है और बिजली की सहायता से उसने अपने ही लिए उपभोग की वस्तुओं का जो जाल बुना है—इन सबने व्यापक हिंसा को जन्म दिया है। क्या-क्या छोड़ेंगे आप? यह संभव नहीं रह गया है कि हम वल्कल पर उतर आयें और पाषाण-युग की सभ्यता को स्वीकार लें।

बात बहुत साफ है मित्रो, कि हमसे अपनी एफ्लूएन्सी—अपना बाहुल्य छोड़ते नहीं बनेगा। उपभोग की जिस ऊँचाई पर हम जा खड़े हुए हैं वहाँ से बहुत नीचे उतरते भी नहीं बनेगा। एक अजीब आकांक्षा हमें घेरे हुए है—जो हमें मिल गया है उसे छोड़ देने का तो सवाल ही नहीं, पर जो नहीं मिल पाया है उसे प्राप्त करने की धुन में हम लगे हैं। और अपने घर में, समाज में, क्षेत्र में ऐसा जीवन जी रहे हैं जो अहिंसा से बहुत दूर चला गया है।

फिर भी अहिंसा हमसे फेंकी नहीं जायगी—वह तो मनुष्य के जीवन की तर्ज है। उसके रक्त में बिंधी है। एक अजीब उलझन में आज का मनुष्य पड़ गया है। अहिंसा छोड़ नहीं सकता और हिंसा स्वीकार नहीं सकता। साथ ही साथ जीवन उसका टिक गया है हिंसा के उपकरणों पर और बाहर समाज में अहिंसा के उपकरण उससे छुए नहीं जा रहे हैं। इसलिए हम अपनी-अपनी अहिंसा लेकर रसोईघर में चले गये हैं या मन्दिर में जा बैठे हैं और उधर जीवन को खुले हाट-बाजार में होड़, स्पर्द्धा, स्वार्थ, अहंकार, शोषण, आपाधापी, भय, अन्याय और क्रूरता के हवाले कर दिया है। ये सब हिंसा के ब्रीडिंग ग्राउण्ड—उपज स्थान है। बात यह है कि जिन बातों को समाज में हमने प्रतिष्ठित किया है, उनसे हिंसा उपज रही है। हमारे सामाजिक प्रतिष्ठा-प्रतिमान अहिंसा से मेल नहीं खाते। वस्तुओं के कारण, सत्ता के कारण, धन के कारण जो शरीर-सुख, सन्तुष्टि और सम्मान हमें समाज में प्राप्त होता है वही हमारा सिरमौर बन गया है। दोनों हाथ लड्डू—आरामदेह जिन्दगी भी और यश भी। लेकिन इसी आरामदेह प्रतिष्ठित जिन्दगी के लिए जिन उपकरणों का सहारा हम ले रहे हैं वे हिंसा की एक अटूट शृंखला अपने साथ ले आये हैं और मनुष्य खुद ही आगे बढ़कर हिंसा के विषम-चक्र में फँस गया है।

इस अर्थ में जितनी अहिंसा मनुष्य के हाथ लगी वह बहुत छोटी साबित हो रही है। हमारी रसोई घर की अहिंसा सफल होकर इतना ही तो कर पायगी कि मनुष्य की पूरी की पूरी जमात शाकाहारी बन जाय और जीव-दया पालने लगे। दूसरी ओर, सम्पूर्ण क्रूरताओं, अन्यायों, अत्याचारों को वैसा ही चलने देकर हम एक ऐसा मानव समाज रच लेंगे जो अपने-आप में शाकाहारी हिंसक समाज कहलायेगा।

इस तरह अहिंसा नहीं उगेगी। अहिंसा की दृष्टि से आज का युग बहुत नाजुक और चुनौती भरा है। अनजाने ही हम हिंसा के एक बड़े आरबिट—घेरे में ढुलक गये हैं, तथा रोज गहरे धँसते जा रहे हैं। प्रश्न यह पैदा हुआ है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच के सम्बन्ध अहिंसा आधारित कैसे हों? बहुत अजीब प्रश्न है—मनुष्य को सर्वप्रथम आपस में ही अहिंसा जीनी है और अहिंसा सिद्ध करनी है। सृष्टि का सर्वाधिक संवेदनशील प्राणी अपने आपसी सम्बन्धों में एक प्रश्न चिन्ह बन गया है।

समाजबोध

अब हमें समाजबोध की जरूरत है। आत्मबोध अकेला काम नहीं देगा। मनुष्य ने अच्छी तरह समझा है कि यदि वह हारता है तो अपनी ही तृष्णा से हारता है, उसका वैर ही उसको पछाड़ता है। मेरा पशुबल आपके आत्मबल के आगे हिम्मत हार जायगा। भारत ने यह करिश्मा करके दिखलाया है—नंगी खुली छातियों पर अंग्रेजी हुकूमत की गोलियाँ बेमाने हो गयी थीं। यह जो दिलेरी से कष्ट सह जाने की और वीरता के साथ अन्याय के मुकाबले डटकर खड़ा हो जाने की भीतरी ताकत है उसके आगे बन्दूक की कोई हस्ती ही नहीं। मनुष्य के पास प्रेम की, करुणा की, संवेदना की, क्षमा की, त्याग की और कष्ट-सहन की जो ताकत है वह अनन्त गुनी है और उसके सामने शरीर का पशुबल कोई अर्थ नहीं रखता।

इतनी अनन्तगुनी शक्ति का मालिक मनुष्य समाज-जीवन में बहुत पंगु बन गया है। वह अपना आत्मबल आजमा ही नहीं पाया। अहिंसा जीनी है तो अब समाज के रोजमर्रा के प्रतिपल-प्रतिक्षण के जीवन में जीनी होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवालयों में तो हमने बहुत अहिंसा साध ली और रसोई घर की अहिंसा के लिए भी हम बहुत सजग हैं, पर समाज जीवन में हमने धन की सत्ता स्वीकार ली है, व्यापार-व्यवसाय के शोषण-अन्याय-अत्याचार के साथ समझौता कर लिया है, हुकूमत की मनमानी के आगे घुटने टेक दिए हैं—इस कारण मनुष्य की दिशा ही बदल गई है। उसका सामाजिक जीवन हिंसा आधारित हो गया है।

अहिंसा इस मुकाम पर ठिठकी खड़ी है। उसका दायरा फैलना चाहिए। जब तक वह मानव समाज के सम्पूर्ण जीवन को नहीं छूती—उसके व्यापार-व्यवसाय में, हाट-बाजार में, राजनीति में, कल-कारखाने में नहीं उतरती तब तक पंगु ही बनी रहेगी। आज के अहिंसा-धर्मी के सामने यह एक बड़ी चुनौती है। उसे यह देखना होगा कि किन-किन बातों ने मनुष्य को तोड़ा है, उसकी संवेदनशीलता को फीका किया है, करुणा को क्रूरता में बदला है, प्रेम का स्थान बैर ने लिया है और अपने ही समुदाय में आदमी भयभीत होकर दीनता का शिकार बना है। अहिंसा के क्षेत्र में मनुष्य के सामने यह एक महा-भागीरथ कार्य है। वह इसे नहीं छूएगा तो उसका सारा आत्मबोध जो उसने इतना चलकर प्राप्त किया है, अर्थहीन हो जायगा। भले ही वह अपने व्रत-उपवासों में और भोजन की थालियों में अहिंसा पालता रहे और मुँह से अहिंसा का जयघोष करता रहे—वर्तमान युग में बढ़ रही समाज जीवन की हिंसा उसे ढंक लेगी। यह सम्भव नहीं है कि हमारे कदम हिंसा के डग भरते रहें और हम अहिंसा की वाणियाँ उच्चारते रहें। हमारे चारों ओर कांस की तरह उग रही हिंसा का मुकाबिला किये बिना अहिंसा हाथ नहीं आयगी।

पहले अपरिग्रह फिर अहिंसा

अहिंसा के पंगु हो जाने का जो एक बुनियादी कारण है, वह यह है कि हमने अहिंसा की आधारशिला—बैकबोन को पकड़ा ही नहीं। अहिंसा की पीठ पर महावीर ने लिख दिया था 'अपरिग्रह'। यह अहिंसा का बैकबोन—मेरुदण्ड है। पर आज सादा-सरल जीवन प्रतिष्ठित नहीं है। मेहनत से कमाई सूखी रोटी लाचारी है, समाधान नहीं। वस्तुहीन मनुष्य पर वस्तु न होने की चिन्ता का अधिक बोझ लदा है। हमारा सारा प्यार, सम्मान, नेह और आदर 'त्याग' के पक्ष में पहुँचना चाहिए था, पर वह बटोरने वाले की गोद में जा रहा है। मनुष्य की आँखें वहीं टिकी हैं, जहाँ वैभव है, अधिकार है। उपभोग की अन्धाधुन्ध दौड़ ने मनुष्य को तो खण्ड-खण्ड किया ही है, प्रकृति को भी तोड़ा है। इकॉलाजी (परिस्थिति-विज्ञान) ने खतरे की घण्टी बजाना शुरू कर दिया है। जीवन-स्तर की कभी न बुझने वाली चाह के कारण इन्सान ने प्रकृति को इतना दुहा है कि उसके सारे भण्डार चीं बोल रहे हैं। मनुष्य के उपभोग का सामान प्रकृति से मिल पायेगा या नहीं, यह खतरा सामने है। जीवन के लिए प्रकृति, प्राणी जगत् और मनुष्य के बीच गहरे विवेकशील सामंजस्य की जरूरत है। **हमें अपना उपभोग सीमित करना होगा।** जितनी जरूरत है, उतना ही लेना होगा और बदले में प्रकृति को वह सब लौटाना होगा जो उसे तोड़े नहीं, बल्कि पुष्ट करे। हमने प्रकृति को बेशुमार जहरीली गैस, गन्दगी, नाशक दवाइयाँ, केमिकल्स, दूषित वायुमण्डल दिया है। यदि उपभोग की वस्तुएँ सीमित नहीं हुईं और हमारे कल-कारखाने वे सब सामान उगलते रहे जो एक ओर तो मनुष्य को तोड़ रहे हैं और दूसरी ओर प्रकृति का विनाश कर रहे हैं तो अनचाहे हम हिंसा का ही वरण कर रहे हैं और करते जायेंगे। ऐसी स्थिति में हमारी यह परम्परागत देवालयी और रसोईघर की अहिंसा हमारा कितना साथ देगी? अहिंसा तभी जीवन में उतरेगी जबकि मनुष्य उसकी आधारशिला—बैकबोन—अपरिग्रह को भी जीवन में लायेगा और प्रतिष्ठित करेगा।

आज के युग की अहिंसा का सीधा मुकाबिला परिग्रह से है, वस्तुओं के अम्बार से है, उपभोग की असीम चाह से है और उपने लिए अधिकाधिक पा लेने या बटोर लेने की आकांक्षा से है। एक ऐसा युद्ध, जो हमें एक नई जिन्दगी जीने के लिए ललकार रहा है। मनुष्य को अपना पूरा जीवन बदलना होगा—बाहर से भी और भीतर से भी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



भारतीय साधना-पद्धति में गुरुतत्त्व का महत्व

—डा० न० चि० जोगलकर, (पूना)

पारमार्थिक जीवन के विकास के लिए सद्गुरु तत्त्व की असीम आवश्यकता है। सद्गुरु के अन्तःकरण में परमात्म-तत्त्व का दिव्य प्रकाश विद्यमान रहता है जिससे वह शिष्यों के अन्तःकरण में अज्ञान अन्धकार को दूर करने में सक्षम होता है। बिना सद्गुरु के पथ-प्रदर्शन के विकास संभव नहीं। जे. कृष्णमूर्ति जैसे आधुनिक चिन्तकों का यह भी मन्तव्य है कि आत्मज्ञान प्राप्ति हेतु गुरु की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह कथन एक दृष्टि तक ही सीमित है। सामाजिक विषमता और राजनीति के दुश्चक्रों के कारण मानव-जीवन में अशांति, मत्सर, द्वेष, संघर्ष के बादल उमड़-घुमड़ कर मंडराने लगते हैं। ऐसी विषम और विकट परिस्थिति में मानव जीवन का महत्त्व समझना अधिक कठिन हो जाता है। आध्यात्मिक शांति, निर्भयता और तत्त्वज्ञान को रहस्य का परिज्ञान कराने वाले सद्गुरु की आवश्यकता होती है। सद्-गुरु अशान्त मानव को शांति का पुनीत पाठ पढ़ाता है। उसे जीवन का सही लक्ष्य बताता है। इसी कारण अतीत काल से ही सद्गुरु का महत्व प्रतिपादन किया गया है। उसकी गौरव गाथा गायी गयी है।

ज्ञानदान देने वाले विद्यागुरु से लेकर मोक्ष प्रदाता सद्गुरु की महत्ता प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं है। तथापि आधुनिक भौतिकवाद की चकाचौंध में भूले और बिसरे साधकों के अन्तर्मानस में यह प्रश्न अंगड़ाइयाँ लेने लगता है कि सद्गुरु की आवश्यकता क्यों है? चिन्तन करने पर परिज्ञात होता है कि प्रत्येक जीव को किसी भी विषय, वस्तु या पदार्थ का परिज्ञान स्वतः नहीं होता। स्वयं का परिश्रम, साधना व अध्यवसाय होने पर भी गंभीर एवं तात्त्विक ज्ञान प्राप्ति के लिए किसी न किसी से सहायता लेने की आवश्यकता होती है। जो सुयोग्य और सुचारु-रूप से उसका पथ प्रदर्शन कर सके। ऐसा महान् व्यक्ति सद्गुरु देव के अतिरिक्त अन्य कौन मिल सकता है? सद्गुरु शिष्य का सही पथ-प्रदर्शन करता है, वह शिष्य की प्रसुप्त शक्ति को जागृत करता है। कबीर जैसे विशिष्ट साधक जो आँखन देखी पर विश्वास करने वाले थे, वे भी कहते हैं :—

जाके गुरु भी आंधरा चरा खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया दोनों कूप पड़न्त॥

चिन्तकों का कहना है कि साधक की योग्य परीक्षा कर गुरु बनाना चाहिए जिससे साधक का आध्यात्मिक विकास सम्यक् प्रकार से हो सके। सत्यान्वेषण करने वाले जिज्ञासु को किसी योग्य जानकार सद्गुरु की आवश्यकता है। परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञानोपलब्धि सद्गुरु प्रदत्त साधना से ही सम्भव है; क्योंकि सद्गुरु ही प्रथम स्वय सत्य का साक्षा-त्कार करता है, उसके पश्चात् शिष्य को अखण्ड सत्य के साक्षात्कार की पवित्र प्रेरणा प्रदान करता है। सद्गुरु द्वारा बतायी गयी राह पर चलते हुए साधकों ने अपने लक्ष्य को प्राप्त किया है। शिष्य को चाहिए कि सर्वप्रथम अहंकार का परित्याग करे और कर्तृत्वाभिमान को छोड़कर सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करे। मन में जो भी शंकाएँ उद्बुद्ध हों उनका विनय के साथ सद्गुरु से निराकरण करे। यदि अन्तर्मानस में संशय बना रहा तो साधक का विनाश निश्चित है। **"संशयात्मा विनश्यति"** कहा गया है। एतदर्थ ही गीताकार ने कहा है—**"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः"**। आत्मा परमात्मा आदि की गुरु-गंभीर गुत्थियाँ बिना गुरु पर श्रद्धा रखे सुलझ नहीं सकतीं। श्रद्धा के साथ इन्द्रियों पर संयम भी बहुत आवश्यक है। वीर अर्जुन श्रीकृष्ण के सत् शिष्य थे और मर्यादा पुरुषोत्तम राम वशिष्ठ के, शिवाजी रामदास के और चन्द्रगुप्त मौर्य चाणक्य के सत् शिष्य थे जिन्होंने गुरुओं के मार्गदर्शन पर चलकर सही प्रगति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की। आधुनिक युग में भी श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, महर्षि अरविन्द, महर्षि रमण जैसे मूर्धन्य मनीषियों ने साधना के क्षेत्र में सद्गुरु का महत्त्व सिद्ध किया है। सत्य की अन्वेषणा करने वाले शिष्य का संशय नष्ट हो जाता है, वह कर्मक्षय करता है, अविद्या और अहंकार का भंजन कर सद्गुरु उसे विवेक का संबल प्रदान करता है। एतदर्थ ही गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवि ने सद्गुरु का महत्व प्रतिपादन करते हुए कहा है—

"भिद्यते हृदयग्रंथिः, छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परापरे॥

तात्पर्य यह है कि विवेक से हृदयग्रंथि का छेदन हो जाने से निष्ठा पनपती है, संपूर्ण सन्देह नष्ट हो जाते हैं। कर्मों का क्षय हो जाने से द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध जुड़कर आत्मा की सहज स्थिति और स्वरूप रूप जो सम्यक्ज्ञान है वह उपलब्ध हो जाता है। यह है सद्गुरु की महिमा। व्यवहार में सद्गुरु तराजू की तरह और परमार्थ में गंगा की निर्मल धारा की तरह शिष्य का उद्धार कर सकता है।[1] एतदर्थ ही सद्गुरु को शिष्यों में सद्गुणों का आरोपण करने के कारण उन्हें ब्रह्मा कहा है, शिष्य के सद्गुणों का संरक्षण करने के कारण उन्हें विष्णु कहा है और शिष्य में रहे हुए दुर्गुणों को नष्ट करने के कारण उन्हें शिवशंकर कहा है। सद्गुरु वस्तुतः साक्षात् परमब्रह्म है।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया है जैसे भक्त भगवान के साथ भक्ति करता है वैसे ही शिष्य को गुरु के प्रति हार्दिक भक्ति करनी चाहिए जिससे अध्यात्म ज्ञान की उपलब्धि होती है।[3] सन्त कवि कबीर के समक्ष एक महान समस्या उपस्थित हो गयी कि गुरु और गोबिन्द यदि एक ही साथ उपस्थित हो जायें तो किसके चरणों में प्रथम नमस्कार करना चाहिए। उन्होंने चिन्तन की गहराई में डुबकी लगायी। उन्हें स्पष्ट अनुभव हुआ कि प्रथम सद्गुरुदेव को नमन करना चाहिए। क्योंकि उन्हीं के कारण गोविन्द से साक्षात्कार हुआ है। सद्गुरु ने ही वह दिव्य दृष्टि प्रदान की जिससे गोविन्द का साक्षात्कार हुआ।[4]

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा—कि मैं ज्ञानबोध प्रदान करने वाले शंकररूपी सद्गुरु को वन्दन करता हूँ, जिनके आश्रय को पाकर वक्र चन्द्रमा भी सभी के द्वारा अर्चनीय होता है। सद्गुरु जिसके संरक्षक हों उसे अन्य किसी की भी चिन्ता नहीं। सद्गुरु के अमृतोपम उपदेश से मोहान्धकार विनष्ट हो जाता है। सद्गुरु के पादारविन्दों से धूल भी फूल की तरह सुन्दर और सुगंधित बन जाती है। सद्गुरु का अनुराग ऐसी संजीवनी बूटी है जिससे भव-रोग नष्ट हो जाते हैं। उनके पुनीत स्मरण से ही हृदय में दिव्य आलोक प्रस्फुटित होता है।[5]

तुलसीदासजी ने 'विनयपत्रिका' में गुरु प्रदत्त साधना का महत्त्व बताते हुए लिखा है—इस कलिकाल में सद्गुरु ही ऐसे हैं जिनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति-मार्ग ही साधक के लिए योग्य मार्गदर्शक है। सद्गुरुदेव के मंगलमय आशीर्वाद से सिद्धि प्राप्त होती है।[6]

सन्त चरणदास सद्गुरु के महत्त्व पर चिन्तन करते हुए लिखते हैं—परमेश्वर की सौ वर्षों तक सेवा करते रहने की अपेक्षा सद्गुरु की चार क्षण तक सेवा करना भी अधिक श्रेष्ठ है।[7]

मलूकदास का मन्तव्य है कि—आवागमन से मुक्त कराने वाले सद्गुरु है। वे जन्म-जन्मान्तरों की मनोकामना को परिपूर्ण करते हैं। अतः वे परमेश्वर से भी श्रेष्ठ हैं।[8]

हिन्दी साहित्य के कवियों में सूरदास का मूर्धन्य स्थान है। उन्होंने कृष्ण-लीला पर सवा लाख पद लिखे। किसी जिज्ञासु ने उनसे पूछा—आपने अपने गुरु वल्लभाचार्य का गुण-कीर्तन क्यों नहीं किया? उत्तर में उन्होंने कहा—मैंने जो कुछ भी वर्णन किया उसका सम्पूर्ण श्रेय सद्गुरुवर्य को ही है। मैंने सद्गुरु और श्रीकृष्ण को कभी पृथक नहीं देखा। मुझे गुरुचरणों में पूर्ण विश्वास है। उनके अभाव में मुझे सर्वत्र अन्धकार दिखायी देता है। सद्गुरु के अतिरिक्त विश्व में कोई भी उद्धारक नहीं है। इस तरह सूरदास ने सद्गुरु को भगवत्स्वरूप समझा है।[9] सद्गुरु भवसागर में डूबते हुए शिष्य को बचाता है और उसका उद्धार करता है।

भक्त कवयित्रियों में मीरा का नाम सर्वोच्च है। 'मीरा पदावली' में वह सद्गुरु के सम्बन्ध में लिखती है—कि मैं मोह की निद्रा में सोई हुई थी। कृपालु सद्गुरु ने मुझे जाग्रत किया। मुझे आध्यात्म ज्ञान प्रदान किया। मेरे सद्गुरु गुणों के सागर हैं। उन्होंने मेरे अवगुणों पर ध्यान न देकर मुझ पर स्नेह की सदा वृष्टि की। मुझे भवसागर से पार लगाया। अब मुझे गुरुचरणों के अतिरिक्त अन्य किसी की भी इच्छा नहीं है। सद्गुरु की कृपा से ही मुझे गिरधारी के दर्शन हुए हैं। हे सद्गुरु! तुम मुझे छोड़कर कभी मत जाना।[10]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवि सुन्दरदास ने भी सद्गुरु का महत्त्व बताते हुए लिखा है—सद्गुरु अपने शिष्य पर कभी रुष्ट नहीं होता और न कभी तुष्ट होता है। न वह किसी का पक्ष लेता है और न किसी पर ईर्ष्या ही करता है। वह प्रतिपल-प्रतिक्षण ब्रह्मभाव में लीन रहकर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करता रहता है। परब्रह्म के अतिरिक्त सद्गुरु के मन में और कोई विचार नहीं होता। -उनके सान्निध्य में रहनेवाले की आधि-व्याधि और उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं। सद्गुरु के प्रसाद से वैर-विरोध नष्ट होकर उसका सबके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। योगशास्त्र की सारी युक्तियाँ और प्रयुक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और वह सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेता है।[11]

सद्गुरु की कृपादृष्टि से साधक को परा और अपरा विद्या की उपलब्धि होती है। 'बिन गुरु होई न ज्ञान' यह कथन यथार्थ है। गुरु केवल ज्ञान ही नहीं सिखाता अपितु योग उपासना, तंत्र व भक्ति की साधना का रहस्य भी बताता है और साधना किसप्रकार करनी चाहिए उसका प्रैक्टिकल प्रयोग भी सिखाता है। शिष्य को चाहिए कि अत्यन्त नम्र होकर सद्गुरु से अपने मन की जो भी शंकाएँ हों उनका निरसन करे। मन में शंकाएँ रखना उचित नहीं है। सद्गुरु ज्ञानमूर्ति है। उसमें अनुभूति की प्रधानता होती है। अतः निरर्थक अहंकार में न उलझ कर जिज्ञासु बनकर वह ज्ञान प्राप्त करे। एतदर्थ ही कबीर ने कहा—"साधो, सो सद्गुरु मोहि भावे"। सद्गुरु अपने शिष्य का सदा विकास चाहता है। वह "**शिष्यादिच्छेत् पराजयम्**" की भावना रखता है। "**गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं**" कहा गया है। बिना सद्गुरु के भवार्णव को कोई भी पार नहीं कर सकता। सद्गुरु की महिमा अकथनीय और अवर्णनीय है।

बौद्ध तन्त्र साहित्य में करुणा को शिव और प्रज्ञा को शक्ति माना है। इसी तन्त्रमार्ग से विकसित होकर नवीं सदी में सहजयानी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसने शंकर पार्वती स्वरूप को स्वीकार किया। पार्वती को सृष्टि के बीज के विवरण को जानने की जिज्ञासा हुई तब शिवशंकर ने उसकी जिज्ञासा का समाधान किया। वही तत्त्व-ज्ञान नाथ सम्प्रदाय के नाम से विश्रुत हुआ। सहजयानी पंथ में संसार का स्वरूप भी सहज समझा गया। सरहपाद ने बताया कि इस सहजतत्त्व को मौन से ही जाना जाय और गुरुमुख से सुना जाय। नाथ सम्प्रदाय में गुरु का गौरव-पूर्ण स्थान है। सारी मध्ययुगीन साधनाओं और उनसे निःसृत भक्ति सम्प्रदायों में गुरु-भक्ति और गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान-परम्परा को स्वीकार किया गया। यह कहा जा सकता है कि दसवीं सदी तक गुरुभक्ति का विकास हो चुका था। सरहपाद ने 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' गीतों के माध्यम से नाम-संकीर्तन को सहज सुलभ बनाया और नृत्य-गीतों के माध्यम से नाम-भक्ति का प्रसार किया। इस पंथ में बौद्धतंत्र की करुणा और प्रज्ञा को महत्वपूर्ण माना। यह कहा जा सकता है कि नाथ सम्प्रदाय में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से बौद्ध तन्त्र के अनेक आचार-विचार तथा तत्त्वज्ञान के सूत्र अनुस्यूत हैं। नाथ सम्प्रदाय में सद्गुरु पर अत्यधिक निष्ठा है। नाथ सम्प्रदाय से भागवत, वारकरी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें तथा दत्त एवं समर्थ सम्प्रदाय के साधना मार्ग में भी सद्गुरु का महत्त्व एक स्वर से स्वीकार किया गया है।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथ ने लिखा है—यदि ग्रन्थ पढ़कर के शिष्य का उद्धार हो जाता तो बड़े-बड़े सद्गुरु क्यों अवतरित होते? ग्रंथों को पढ़कर जो शंकाएं अन्तर्मानस में उद्बुद्ध होंगी उनका समाधान ग्रंथ नहीं कर सकते। उनका समाधान सद्गुरु ही कर सकते हैं। गुरु के अनेकों शिष्य होते हैं, पर शिष्यों के लिए गुरु एक ही होता है। गुरुडम या गुरुबाजी के विरुद्ध सदा स्वर बुलन्द होते रहे हैं पर खेद है कि शिष्य जो अनुचित कार्य करते हैं उनके सम्बन्ध में आज तक किसी ने कुछ नहीं लिखा। आधुनिक युग में विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय करने की अतीव आवश्यकता है। यह आवश्यकता बिना सद्गुरु के कोई पूर्ण नहीं कर सकता।

जैन साधना पद्धति में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। नमस्कार महामंत्र में गुरुतत्त्व की ही प्रधानता है। अरिहन्त और सिद्ध इन दो पदों में देव-तत्त्व की प्रधानता है तो आचार्य, उपाध्याय और साधु में गुरुतत्त्व की प्रमुखता है। सर्वप्रथम अर्हत को नमस्कार किया गया है और उसके पश्चात् सिद्धों को। सिद्ध अशरीरी होने से देह-धारी मानव को साक्षात् प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकते। किन्तु अर्हत् देहधारी हैं इसलिए वे साक्षात् प्रेरणा देते हैं। अर्हत् पथप्रदर्शक हैं अतः उनका सर्वप्रथम स्थान है। एक दृष्टि से अर्हत् ही गुरु हैं, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के। आचार्य या गणधर, संघ संचालन करते हैं उपाध्याय संघ के श्रमणों को पढ़ाते हैं, साधु विशिष्ट साधक होते हैं। एतदर्थ ही वे गुरु के रूप में उपास्य रहे हैं। तात्त्विक दृष्टि से गुरु का स्थान निमित्त और उपादान के सिद्धान्त से निःसृत है। जैन दर्शन में निश्चय नय की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपना उद्धार करने में समर्थ है। उसको अनन्त सामर्थ्य प्रदान करने वाला गुरु केवल निमित्त है। प्रत्येक साधक को अपनी प्रगति स्वयं ही करनी होती है। श्रमण भगवान महावीर जैस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर आदि विशिष्ट व्यक्तियों को गुरु की कोई आवश्यकता नहीं होती। जैन साहित्य में प्रत्येकबुद्ध का जो वर्णन है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्रत्येकबुद्ध बिना गुरु को निमित्त बनाये अपनी प्रगति स्वयं कर लेता है। गुरु अनिवार्य ही है ऐसा कोई शाश्वत नियम नहीं है। स्वयं साधक प्रबल पुरुषार्थ से अपनी प्रगति स्वयं करता है तथापि जैन साधना में गुरु का गौरव कम नहीं है। सामाजिक जीवन में गुरु की प्रतिष्ठा अनिवार्य है। चतुर्विध संघ की सुव्यवस्था गुरु करता है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, और पाँच आचार का पालन करने वाले, पाँच इन्द्रियों का संवरण करने वाले, नवविध ब्रह्मचर्य गुप्ति को धारण करने वाले और चार कषायों से विमुक्त इस प्रकार छत्तीस गुणों से युक्त व्यक्ति को सद्गुरु कहा गया है।

अष्टकर्म को नष्ट कर सिद्ध बनते हैं। अर्हन्त और सिद्ध में यही अन्तर है कि अर्हन्त, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय इन चार घनघाती कर्मों को नष्ट कर देते हैं जिससे वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाते हैं। पूर्णज्ञान-दर्शन के धारक बनकर जन-जन का उपदेश द्वारा कल्याण करते हैं। अरिहन्त देहधारी होते हैं। जब सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं तब अरिहन्त ही सिद्ध बन जाते हैं। सिद्ध निरञ्जन, निराकार, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और निर्लिप्त होते हैं।

सारांश यह है कि भारतीय संस्कृति में फिर भले ही वह वैदिक संस्कृति हो, जैन संस्कृति हो या बौद्ध संस्कृति हो, सभी ने गुरु के गौरव की यशोगाथा गायी है। सद्गुरु, का जीवन एक विशिष्ट जीवन है जिसमें आचार की उत्कृष्टता के साथ ही विचारों की निर्मलता होती है। उसके जीवन का कण-कण, मन का अणु-अणु विश्वकल्याण के लिए समर्पित होता है। मैंने उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी के दर्शन किये थे। मुझे उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में सद्गुरु की विष्टिताओं के संदर्शन हुए, उनके सन्निकट बैठकर अपार आह्लाद का अनुभव हुआ। ऐसे विशिष्ट सन्त ही सद्गुरु की अभिधा के योग्य हैं। **'नास्ति तत्वं गुरोः परं'** जो कहा गया है वह अधिक सार्थक है। मैंने बहुत ही संक्षेप में गुरुतत्त्व पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। मेरा मानना है कि गुरु के बिना साधक को साधना के गुर प्राप्त नहीं हो सकते। कोई भी साधना बिना गुरु के अपना चमत्कार नहीं दिखा सकती। अतः सद्गुरु की महिमा जितनी भी गाई जाय उतनी कम है।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ व्यवहारो मंत्र साम्यं भवेत् देशिकशिष्ययोः।
परमार्थे तु गुर्वाधीनः इति स्वमतनिर्णयः॥ —षष्टी १६

२ गुरुब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् पारब्रह्मः तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

३ यस्य देवे पराशक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः॥ —श्वेताश्वतर उपनिषद

४ गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपनै गोविन्द दिया बताय॥

५ (अ) वन्दे बोधमयम् नित्यं गुरु शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते॥
× × ×

(आ) बन्दौ गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महामोहतम पुंज, जासु वचन रविकर निकर॥
× × ×

(इ) वन्दौ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचिर वास सरस अनुरागा॥
× × × ×

(ई) श्री गुरुपद नख मनिगन ज्योती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
× × × ×

(उ) गुरुपदरज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष विभंजन॥

—रामचरितमानस (बालकाण्ड ५-७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६ नाहिन आपात आन भरोसो।.....
गुरु कह्यो राम भंजन नी को मोहि लागत राज-डगरो सो।

—विनयपत्रिका

७ हरि सेवा कृत सौ बरस, गुरु सेवा पल चार।
तो भी नहीं बराबरी, वेद न कियो विचार॥

८ आवागमन मिटाया सद्गुरु, पूजी मन की आसा।
जीवन्मुक्त किया परमेसुर कहत मलूकादासा॥

९ (अ) भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री बल्लभ नख चंद-छटा बिनु सब जग मांझ अँधेरो।
साधन और नहीं या कलि में जासो होन निबेरो।
सूर कहा कहै द्विविध अंधेरो बिना मोल का चेरो॥

(आ) गुरु बिन ऐसी कौन करे।.....
सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ छिन में ले उधरे॥

१० (अ) मीरां सूती अपने भवन में
सतगुरु आय जगाओ। ज्ञानी गुरु आय जगायो॥
× × ×

(आ) सतगुरू म्हारा प्रीत निभाज्यो जी।
थे छो म्हारां गुणसागर औगण म्हारो मति जाज्यो जी॥
× × ×

(इ) मोही लागी लगन गुरु चरनन की।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर आस वही गुरु सरनन की॥

११ गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा को गहे, गुरु के प्रसाद, भव दुख बिसराइए।
गुरु के प्रसाद प्रेम प्रीतिहु अधिक बाढै, गुरु के प्रसाद, राम नाम गुण गाइए॥
गुरु के प्रसाद सब जोग जुगुति जानै, गुरु के प्रसाद, शून्य में समाधि लाइए।
'सुन्दर' कहत गुरुदेव जो कृपालु होइ, तिनके प्रसाद, तत्त्वज्ञान पुनि पाइए॥

—सुन्दरवास वाणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर और विश्व-शान्ति

—श्री गणेशमुनि शास्त्री

वर्तमान युग में अध्यात्म की आवश्यकता

आज का युग विकास और उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर अवस्थित है। विकासोन्मुखी उत्कर्ष की ध्वनि चारों ओर से कर्णगोचर हो रही है, पर इस आवेशपूर्ण परिस्थिति में मानव यह नहीं सोच पा रहा है कि उत्कर्ष और विकास की सीमा क्या है? किससे सम्बद्ध है? यह एक बुद्धिगम्य तथ्य है कि जब तक योजनाबद्ध और सुनियन्त्रित आदर्शमूलक विकास-पथ का सक्रिय अनुसरण मानव-समाज द्वारा न होगा तब तक वास्तविक उत्कर्ष के उन्नत शिखर पर दृढ़तापूर्वक चरण स्थापित नहीं किये जा सकेंगे। आज उन्नति सीमित है और प्राकृतिक प्रसुप्त शक्तियों के निगूढ़ रहस्यों को जान कर मानव ही नहीं, प्राणीमात्र को सुखशान्ति और समृद्धि की ओर गतिमान करना ही विकास या मानवोन्नति समझी जाती है। विज्ञान इसी की परिणति है। यही वैज्ञानिक विकास की पृष्ठभूमि है, पर इसी को अन्तिम साध्य मानने में बुद्धिमत्ता नहीं है। जीवन का लक्ष्य यहीं समाप्त नहीं होता। उसे इस प्रकार के ढाँचे की आवश्यकता है कि वह नित नूतन के प्रति आस्थावान रहते हुए भी स्थायी जगत—आध्यात्मिक क्षेत्र के प्रति उसका केन्द्रबिन्दु लक्षित होना चाहिए।

भगवान महावीर की विचार-त्रिवेणी

भगवान महावीर ने इस रत्नगर्भा वसुन्धरा पर जन्म लेकर आध्यात्मिक क्षेत्र में परिशीलन एवं मनोमंथन कर जो वैचारिक क्रान्ति की, आज भी उसके स्वर प्रकम्पित हैं। अनेक भौतिक उपलब्धियों के बावजूद आज मानव वास्तविक सुख से वंचित है। वह वर्ग-संघर्ष, शीतयुद्ध, साम्प्रदायिक द्वेष, बेकारी आदि में उलझकर स्वयं की सत्ता भी विस्मृत कर चुका है। ऐसे विकट समय में महावीर के सिद्धान्त प्रकाश-स्तम्भ हैं और हमारा पथ आलोकित कर विश्व-शान्ति एवं विश्वबन्धुत्व का संदेश दे रहे हैं।

प्रयोग व विश्लेषण के युग में यह विचित्र लगता है कि प्रयोगशाला के अभाव में महावीर ने चिरन्तन सत्यों एवं तथ्यों का प्रकटीकरण कैसे किया? वस्तुतः उनका जीवन स्वयं ही प्रयोगशाला था और उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, आज भी चिर-नवीन है। महावीर की साधना अनुभूत चिन्तन की आधारशिला पर टिकी थी न कि थोथी कल्पनाओं पर। महावीर की विचार-त्रिवेणी में अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह की धाराएँ हैं जो हमारा जीवन ही बदलने में समर्थ हैं। आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त एवं व्यवहार में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा कर महावीर ने जीवन-दर्शन को नया आयाम दिया। इनको जीवन में अपनाकर हम विश्व का वर्तमान स्वरूप ही बदल सकते हैं।

भारतीय संस्कृति की आत्मा-अहिंसा

अहिंसा भारतीय संस्कृति की आत्मा है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का शाश्वत विकास अहिंसा की सफल साधना पर ही अवलम्बित है। जिस प्रकार अहिंसा तत्त्व द्वारा आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का पोषण होता है उसी प्रकार जीवन का भौतिक क्षेत्र भी सन्तुलित रह सकता है। कहने की शायद ही आवश्यकता रहती है कि अब वह केवल आन्तरिक जगत के उन्नयन तक ही सीमित नहीं है अपितु राजनैतिक क्षेत्र तक में इसकी प्रतिष्ठा निर्विवाद प्रमाणित हो चुकी है। भयाक्रांत मानव अहिंसा की ओर दृष्टि गड़ाये हुए है। विज्ञान के विकास का खूब अनुभव हो चुका है। अब वह पुनः लौट कर देखना चाहता है कि हमें ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है जो मानवता में जीवनी शक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सिंचन कर सके, उसे प्रोत्साहित कर सके और मानव-मानव में सत्ता और स्वार्थों को लेकर पनपने वाली संघर्ष परम्परा को सदा के लिए समाप्त कर आत्म-ज्योति का सर्वोत्तम पथ प्रदर्शित कर सके तभी विश्वशान्ति का सृजन सम्भव है। सिद्धान्ततः किसी भी तत्त्व को स्वीकार करने की अपेक्षा उसे जीवन के दैनिक व्यवहार में लाना वांछनीय है। उन्नति और विकास का वास्तविक रहस्य तभी प्रकट हो सकता है जब तत्त्व जीवन में साकार हो, वही परम्परा का रूप ले सकता है। सर्वोच्च निर्दोष और बलिष्ठ जीवन पद्धति मानव ही नहीं प्राणीमात्र के प्रति समत्वमूलक जीवन की दिशा स्थिर कर सकती है। जीवन भी सचमुच आज एक जटिल समस्या के रूप में खड़ा है। साथ ही राजनीति और तर्क द्वारा इसे और भी विषम बनाया जा रहा है। आध्यात्मिक जागृति के पथ पर भी प्रहार किये जा रहे हैं। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि उन्नतिमूलक आत्मिक तत्त्व साधक तथ्यों को अन्तरंग दृष्टि से देखने का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में सुरक्षित और शान्तिमय जीवन की स्थिति और भी गम्भीर हो जाती है। जीवन को जगत की दृष्टि से सन्तुलित बनाये रखने के लिए विकारों पर प्रहारों का औचित्य है, पर वे संस्कारमूलक होने चाहिए। मान लीजिए परिस्थितिजन्य वैषम्य के कारण आज हिंसा के नाम पर जो अहिंसा पनप रही है उसमें संशोधन अनिवार्य है। दो विश्वयुद्धों के हृदय-विदारक दृश्यों की पुनरावृत्ति रोकने के लिए राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ स्थापित हुए, जो हिंसा से विश्व को बचाने के लिए प्रयत्नशील रहे। भयाक्रान्त मानव की रक्षा के लिए आज अहिंसा ही आधार-स्तम्भ बन सकती है और इसी से सर्वोन्नति एवं विश्वशान्ति सम्भव है।

भगवान महावीर ने 'एगे आया' आत्मा एक है, कहकर बताया कि सबकी आत्मा एक रूप, एक समान है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुसार यदि हम सभी जीवों को अपने समकक्ष एक ही धरातल पर मानें तो हिंसा ही क्यों करें। यह मेरा है, यह उसका है, मेरा लाभ अपेक्षित है, दूसरों का नहीं, ऐसी भावना ही हमें हिंसा की ओर प्रवृत्त करती है।

आज के मर्यादाहीन एवं उच्छृंखल जीवन में समरसता एवं शान्ति लाने के लिए अहिंसा ही वह आधार-शिला है जिस पर परमानंद का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। अहिंसा के परिपार्श्व में भगवान महावीर ने बताया कि प्राणीमात्र जीना चाहता है, कोई मरना नहीं चाहता। सुख सभी के लिए अनुकूल एवं दुःख प्रतिकूल है।[1] अहिंसक समाज की सफल संरचना अहिंसा से ही सम्भव है अतः अहिंसा को धर्म का मूल बताया है।[2]

हिंसा से हिंसा का विस्तार होता है। जहाँ हिंसा, सत्ता व दबाव चाहती है वहाँ अहिंसा प्रेम और शान्ति। यह साधकों का साधन ही नहीं वीरों का शस्त्र भी है क्योंकि अहिंसा में कायरता का स्थान नहीं। यही कारण है कि क्षमा को 'वीरों का भूषण' माना गया है। हिंसा को अहिंसा से, क्रोध को क्षमा से एवं अहंकार को नम्रता से जीता जा सकता है। समग्र चैतन्य के साथ बिना भेदभाव के तादात्म्य स्थापित करना ही अहिंसा है जो वस्तुतः अंधकार पर प्रकाश की, घृणा पर प्रेम की एवं वैर पर सद्भाव की विजय का उद्घोष है।

स्पष्ट चिन्तन की धारा से भगवान् महावीर ने अहिंसा के सिद्धान्त एवं व्यवहार पक्षों को एकाकार किया। उनके अहिंसादर्शन का संदेश है—पापी से नहीं पाप से घृणा करो। बुरे व्यक्ति एवं बुराई के बीच एक स्पष्ट रेखा है। बुराई सदा बुराई रहती है, कभी भलाई नहीं हो सकती। परन्तु बुरा व्यक्ति यथा अवसर भला भी हो सकता है। मूलतः कोई आत्मा बुरी नहीं होती परन्तु व्यक्ति की वैकारिक प्रवृत्तियाँ, वैर-विरोध, राग-द्वेष, घृणा, कलह आदि हिंसा के रूप ही उसे बुराई की ओर प्रवृत्त करते हैं।

वास्तव में अहिंसा नित्य, शाश्वत व ध्रुव सत्य है। जो हिंसा करता है, करवाता है अथवा कर्त्ता का अनुमोदन करता है, वह अपने साथ अर्थात् अपनी आत्मा के साथ वैरभाव की वृद्धि करता है। 'आय तुले पयासु' अर्थात् सभी जीवों को आत्मवत् मानने का सन्देश देकर महावीर ने जो जीवनधर्म बताया वह अनुकरणीय है। ज्ञान और विज्ञान का सार यही है कि किसी प्राणी की हिंसा न की जाय।[3]

महावीर ने हमें शाश्वत सत्य और त्रैकालिक तथ्य प्रदान किये हैं जिनकी उपयोगिता आज पहले से भी अधिक है। आज हम मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में किसी को सताना, अनुचित शासन, बुरी भावना आदि को बुरा मानते हैं परन्तु २५ शताब्दियों पूर्व बंधन, अधिकभार, भक्तपानविच्छेद के रूप में इन्हें हिंसा मानना क्रान्तिकारी परिकल्पना है महावीर की। वर्तमान युग में शोषण, नौकरों से अधिक व अनुचित कार्य कराना आदि कानूनी दृष्टि से दण्डनीय हैं परन्तु उस युग में ऐसी सूक्ष्मदृष्टि से सोचना अकल्पनीय है। इसे देखकर द्रव्यहिंसा के साथ भावहिंसा की कल्पना को जमाने से पर्याप्त आगे का चिन्तन ही कहा जायगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा और प्रमाद

हिंसा शब्द का मूल हननार्थक हिंसि धातु में है। किसी जीव को प्राण से रहित करना हिंसा है। वस्तुतः प्रमाद ही हिंसा है क्योंकि प्रमादवश अर्थात् असावधानी के कारण ही हम किसी जीव को प्राणरहित करते हैं।[४] एतदर्थ महावीर ने जीवों का सूक्ष्म व वैज्ञानिक वर्णन किया[५] तथा सर्वत्र जीवों का अस्तित्व बताया। पेड़-पौधों में प्राण बताना मनुष्यों ने तभी सत्य माना जब जगदीशचन्द्र बसु ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इसे प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिया किन्तु भगवान महावीर ने तो पृथ्वी, जल, अग्नि आदि में जीव बताकर यत्नपूर्वक कार्य करने का संदेश दिया, जिससे हिंसा से बचा जा सकता है।[६]

जैन दृष्टि से किसी जीव का मर जाना ही अपने आप में हिंसा नहीं है किन्तु क्रोध, मान, माया, राग-द्वेष आदि कलुषित भावों से किसी जीव के प्राणों को नष्ट करने का विचार भी हिंसा है। यही भावहिंसा है। चूँकि हिंसा का मूलाधार कषायभाव है अतः बाह्य रूप में किसी की हिंसा न भी हो, यदि भीतर कषायभाव एवं राग-द्वेष की परिणति चल रही है तो वह हिंसा ही है।

किसी भी प्राणी के प्रति मन में दुःसंकल्पों का प्रादुर्भाव होना भावहिंसा है। यदि किसी की आत्मा में दुष्ट संकल्प जाग्रत हो गया, सद्गुणों का नाश हुआ कि भावहिंसा हो गई। भावहिंसा बड़ी हिंसा है। जिस आत्मा में कलुषित भाव उठे उसकी भी हिंसा दूसरे के साथ ही हो रही है। विचारों व भावों के उत्कर्ष-अपकर्ष के कारण ही राजर्षि प्रसन्नचन्द्र सातवीं नरक के दलिक एकत्रित करते हुए कुछ ही क्षणों में परिणाम शुद्ध होने पर केवलज्ञान, केवल-दर्शन की भूमिका पर पहुँच गये।

अहिंसा जैनधर्म का प्राण है। इसे परमधर्म मानकर जहाँ महावीर ने सब जीवों के प्रति मैत्री भाव रखने की शिक्षा दी है—**'खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे'** वहाँ इसे संयम और तप की श्रेणी में रखा है। अहिंसा को मंगलकारी मानकर बताया है कि उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।[७] इस आधार पर हम कह सकते हैं कि अहिंसा विश्व की आत्मा है, प्राण है और है चेतना का एक स्पन्दन।

समन्वय का आधार : अनेकान्तवाद

प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक है अतः उसको पूर्ण रूप में जान लेना असम्भव है। अपनी बात या धारणा के प्रति दुराग्रह होना एकान्तवाद है। यही कारण है कि हठवादिता और एकान्त दृष्टिकोण हमारे लिए अशांति और संघर्ष उत्पन्न करते हैं। महावीर ने विश्व को इस स्थिति से त्राण दिलाने के लिए हमें अनेकान्तवाद का सिद्धान्त दिया। उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु के अनेक पक्ष हैं अतः हमें उसे अनेक दृष्टियों से देखना एवं विभिन्न अपेक्षाओं से पर्यालोचन करना चाहिये।

जैसे एक व्यक्ति किसी का पिता, पुत्र, भाई, पति आदि है। उसे एक रूप में जानना ही व मानना उसका एक धर्म (अंश) ही है। किसी वस्तु के लिए एकान्ततः 'ऐसा ही है'—कहने के बजाय हमें 'ऐसा भी है' कहना चाहिए। 'ही' के आग्रह स्थान पर 'भी' के प्रयोग से वस्तु का अपेक्षा से स्वरूप प्रकट होता है। ऐसे कथन से संघर्ष नहीं बढ़ेगा और परस्पर समता, स्नेह व सौहार्द का वातावरण प्रस्तुत होगा।

अपेक्षादृष्टि से अनेकान्तवाद का नाम स्याद्वाद और अपेक्षावाद भी है। स्यात् का अर्थ है किसी अपेक्षा से और वाद का अर्थ है कथन। अर्थात् अपेक्षाविशेष से वस्तुतत्त्व का विवेचन करना ही स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद के अनुसार प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी। जैसे आत्मा कर्मानुसार मानव, पशु-पक्षी आदि रूप धारण करती है तो उसका पूर्वपर्याय नष्ट हो जाता है। दूसरी ओर चाहे कोई रूप धारण करे आत्मा सदा आत्मा ही रहेगी, कभी अनात्मा नहीं होगी। अतः इस सिद्धान्त को सप्तभंगी भी कहते हैं जिसके अनुसार किसी वस्तु को सात पक्षों से देखा जा सकता है।

१. कथञ्चित् है।
२. कथञ्चित् नहीं है।
३. कथञ्चित् है और नहीं है।
४. कथञ्चित् वक्तव्य है।
५. कथञ्चित् कहा नहीं जा सकता अर्थात् अवक्तव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. कथञ्चित् है तथापि अवक्तव्य है ।

७. कथञ्चित् है नहीं है, पर अवक्तव्य है ।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने अपने महान् सिद्धान्त सापेक्षवाद को इसी भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है । यह उदार दृष्टिकोण विश्व के दर्शनों, धर्मों, सम्प्रदायों एवं पंथों का समन्वय करता है। किसी भी धर्म के सत्यांश को ग्रहण कर जीवन को उन्नत बनाने की प्रणाली ही अनेकांत है। जहाँ एकान्तवाद द्वेष उत्पन्न कर व्यक्ति व समाज के बीच दीवारें खड़ी करता है वहाँ अनेकान्तवाद समन्वय का प्रशस्त राजमार्ग प्रस्तुत करता है। महावीर ने बताया— यदि तुम अपने को सही मानते हो तो ठीक है, परन्तु दूसरे को गलत मत समझो। क्योंकि ज्ञान के एक अंश की जानकारी तुम्हें है तो दूसरे अंश की अन्य को भी हो सकती है। सर्वज्ञ ही उसे पूर्णतः सत्यांश से जान सकता है।

सर्वोदय का मार्ग : अपरिग्रहवाद

विश्वयुद्ध की विभीषिका के बाद हम सभी विश्व-शान्ति के लिए प्रयत्नशील हैं तथापि आज शीतयुद्ध का वातावरण बना ही हुआ है। कारण एक ही है आर्थिक वैषम्य। अनावश्यक और अनुचित संचय ही संघर्ष और हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। आज अधिक उत्पादन की ओर संसार जुटा हुआ है। दिनानुदिन आवश्यकतायें इतनी बढ़ती जा रही हैं कि उनकी पूर्ति के लिए ही जीवन समाप्त हो जाता है। उपभोग के लिए भी अवकाश नहीं मिलता। जब कि व्यक्ति स्वातंत्र्यमूलक और जनतान्त्रिक परम्परा का अनुगमन करने वाली श्रमणों की साधना ने यह संकेत दिया है कि यदि समाज और राष्ट्र में शान्ति व सन्तुलन की स्थापना करनी है तो व्यक्ति को ही सर्वप्रथम अपना आंतरिक विकास करते हुए जीवन की आवश्यकताओं को कम करना चाहिए ताकि अनावश्यक स्वार्थलिप्सा और वासनाविवर्द्धक तत्त्वों को पनपने का अवसर ही न मिले। जीवन एक ऐसी वस्तु है कि उसे किसी भी ढाँचे में ढाला जा सकता है। अपरिग्रहवाद जनतंत्र की बहुत बड़ी शक्ति है। सरल जीवन और उच्च आदर्श ही अहिंसा और अपरिग्रह का पोषण कर सकते हैं। एक ओर अट्टालिकाओं में रहकर पोषक एवं रुचिप्रद भोजन पचाने के लिए औषधियाँ प्रयुक्त की जा रही हैं तो दूसरी ओर सड़क पर पड़ा व्यक्ति भूख से दम तोड़ रहा है। इस प्रकार की भयावह असमानता दूर करने का एकमात्र उपाय है अपरिग्रह।

जहाँ व्यक्ति समाज के प्रति उदासीन होकर स्वार्थपूर्ति में केन्द्रित हो जाता है, वहाँ दूसरों के हित प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। अतः महावीर ने अनावश्यक संग्रह न करने एवं ममत्व कम करने का संदेश दिया है। संसार में झूठ, अन्याय, छल, हिंसा, संघर्ष के मूल में परिग्रह की प्रबल इच्छा है। अतः महावीर ने बताया कि सभी अनर्थों का मूल अर्थ है और आवश्यकतायें अनंत हैं।[८] इच्छा को आकाश के समान अनंत बताकर इसे परिमित करना ही अपरिग्रह है। वस्तुतः ममत्व या मूर्च्छा भाव से संग्रह करना परिग्रह है।[९] जो परिग्रह (संग्रह वृत्ति) में व्यस्त हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते हैं।[१०] भगवान महावीर ने सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए सक्रिय प्रयास किये हैं। उन्होंने केवल बाह्य कारणों को ही समाप्त करना पर्याप्त नहीं माना वरन् आन्तरिक मूल कारण (संग्रहवृत्ति, आसक्ति) खोजकर इसे समूल उखाड़ फेंकने की राय दी। परिग्रह को व्यक्ति सुख का साधन समझता है परन्तु उसमें आसक्त होकर दुःखी हो जाता है। अन्ततः यह ममत्व ही हमें बन्धन में डालता है।

पदार्थ उपभोग के लिए है परन्तु अनावश्यक संग्रह, आसक्ति, ममत्व, अनर्थदण्ड है। एक ओर पेटियों में बन्द वस्त्रों को कीड़े खा जाएँ और दूसरी ओर वस्त्रों के अभाव में लोग अर्द्धनग्न-सा जीवन यापन करे यह वैषम्य दूर करने पर ही शान्ति, सुख सम्भव है। परिग्रह की भावना से प्रेरित होने पर ही राष्ट्रों में युद्ध होते हैं। अतः इस मूल कारण से बचना विश्वशान्ति को आमंत्रण देना है। मार्क्स ने साम्यवाद का नारा देकर समाज को जगाया पर महावीर की विवेचना उससे भी आगे है। इसका केन्द्रबिन्दु जड़ पदार्थ नहीं, वरन् व्यक्ति स्वयं है। जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा अपरिग्रह से ही सम्भव है और अपरिग्रह की आधारशिला अहिंसा है। इसीप्रकार अनेकान्तवाद का व्यावहारिक रूप या आचारगत रूप अहिंसा है। अतः समता-धर्म की साधनारूप यह त्रिवेणी परस्पर आबद्ध विचारों की शृंखला ही है।

उपसंहारात्मक : एक दृष्टि

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भगवान महावीर के सिद्धान्तों का पालन कर हम विश्वबन्धुत्व की पृष्ठभूमि में विश्वशान्ति स्थापित कर सकते हैं। जहाँ महावीर ने जन्मगत एवं वर्णगत भेदभाव मिटाने के लिए समाज को नई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि दी वहाँ व्यक्ति को अपना आचार व व्यवहार सुधारने के लिए नया आयाम दिया। परिवर्तित मूल्यों के वर्तमान युग में भी महावीर के संदेश उतने ही नवीन एवं प्रभावशाली हैं जितने शताब्दियों पूर्व। आवश्यकता है कि हम इन सिद्धान्तों पर जीवन-धारा मोड़ दें और विश्वशान्ति के प्रवेश द्वार पर पहुँचें।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया, दुह पडिकूला, अप्पियवहा। —आचा० १।२।३.

२ अहिंसा मूलो धम्मो।

३ एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंत वियाणिया॥
—सूत्रकृतांग श्रु १, अ० १, गा० ६

४ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। —तत्वार्थसूत्र ७/८

५ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्य० ३६.

६ जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पाव-कम्मं न बन्धई॥ —दशवै० ४/८

७ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥ —दशवै० १/१

८ इच्छाहु आगाससमा अणंतिया। —उत्त० अ० ६/४८

९ मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। —दशवै० ६/२१

१० परिग्गह निविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई। —सूत्रकृतांग १/६/३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन राजनीति



☐ डॉ० गोकुलचन्द्र जैन एम० ए०, पी-एच० डी०

☐

प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र का जो स्वरूप जैन वाङ्मय में उपलब्ध होता है, उससे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(१) **भोगभूमि और यौगलिक व्यवस्था**—मानव सभ्यता के आदिकाल में 'यौगलिक व्यवस्था' थी। एक नर और एक नारी। ऐसे अनेक युगल थे। प्रत्येक युगल नये युगल को जन्म देता और यह यौगलिक-प्रक्रिया चलती जाती। वृक्षों से उनके जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। ये वृक्ष 'कल्पवृक्ष' थे। भोजन, वस्त्र और आवास भिन्न-भिन्न प्रकार के कल्पवृक्षों से सम्पन्न होते। कल्पवृक्ष इतने थे कि आवश्यकता-पूर्ति के लिए संघर्ष न था। आवश्यकताएँ भी कम थीं। सब अपने में मस्त। इसीलिए शास्त्रकारों ने उस युग को 'भोगभूमि' कहा है। उस समय परिवार नहीं थे। ग्राम, नगर आदि भी न थे। तब की राजनीति, समाजनीति और धर्मनीति इतनी ही थी।[1]

जैन साहित्य में इस 'यौगलिक व्यवस्था' का जो विस्तृत विवरण मिलता है, उसके ये सूत्र हैं। मेरी दृष्टि से शास्त्रकारों ने अपने-अपने समय तक विकसित तथा परिकल्पित सभ्यता के विवरण भी इस वर्णन के साथ जोड़कर इसे अतिरंजित और अविश्वसनीय-सा बना दिया है। इसीलिए इसका उपयोग न तो राजनीतिशास्त्र के इतिहास में किया जाता है और न ही मानव-सभ्यता के इतिहास में। इन सूत्रों को आधुनिक अनुसन्धान सन्दर्भों में व्याख्यायित करना अपेक्षित है।

(२) **कुलकरों की व्यवस्था नीति**—युगल या 'यौगलिक व्यवस्था' के बाद जो व्यवस्था विकसित हुई, उसे शास्त्रकारों ने 'कुलकर व्यवस्था' कहा है। कई युगल साथ रहने लगे। कुल बने। सन्तति बढ़ी। कल्पवृक्षों से जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी हुई। कुलकरों ने जीवन-यात्रा को आगे बढ़ाने के नये-नये रास्ते खोजे। प्रकृति के स्वरूप को समझा। हिंसक पशुओं से रक्षा करने के उपाय निकाले। संघर्ष रोकने के लिए कल्पवृक्षों की सीमाएँ बाँधी। पशुपालन और उनका उपयोग करना आरम्भ किया। संघर्ष और अपराध के लिए दण्ड का स्वरूप-निर्धारण किया। सन्तान का पालन-पोषण आरम्भ किया। जीवन सुरक्षित हो चला। वृक्ष-पादपों और धान्यों को उपजाने का मार्ग निकाला गया। कुलकर इस व्यवस्था का केन्द्र होता था। मार्ग-दर्शन, व्यवस्था और अनुशासन की धुरी कुलकर था।[2]

यह 'कुलकर व्यवस्था' विकसित होते-होते राजतन्त्र बन गयी। इस विकासयात्रा में हजारों-हजार वर्ष लगे। शास्त्रकारों ने 'कुलकर व्यवस्था' का विस्तृत वर्णन किया है। यौगलिक व्यवस्था की तरह यह वर्णन भी अतिरंजित और अविश्वसनीय-सा लगता है, किन्तु निःसन्देह इसमें सांस्कृतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है।

सन्तति के जीवन का उपाय जानने के कारण 'कुलकर' को 'मनु' भी कहा गया है। कुल के रूप में संगठित होकर रहने की प्रेरणा देने के कारण ये 'कुलकर' कहलाते थे। कुल को धारण करने के कारण 'कुलधर' और युग के आदि में होने के कारण इन्हें 'युगादि पुरुष' भी कहा जाता था।[3]

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने आदिपुराण के आधार पर 'कुलकर संस्था' के निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं[4]—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'कुलकर संस्था' एक प्रकार की समाज व्यवस्था को सम्पादित करने वाली संस्था है। कुलकर जीवन-मूल्यों को नियमबद्ध कर एकता और नियमितता प्रदान करते हैं। अपराध या भूलों का परिमार्जन दण्ड-व्यवस्था के बिना सम्भव नहीं है। अतः कार्यों और क्रिया-व्यापारों को नियन्त्रित करने के लिए अनुशासन की स्थापना की जाती है। इस 'कुलकर संस्था' का विकसित रूप ही राज्य संस्था है, जिसमें समाज और राजनीति दोनों के तत्त्व वर्तमान हैं। आदि-पुराण के अनुसार कुलकर-संस्था द्वारा सामान्यतः निम्नांकित कार्यों का सम्पादन हुआ है—

१. समाज के सदस्यों के बीच सम्बन्धों का संस्थापन।
२. सम्बन्धों की अवहेलना करने वालों के लिए दण्ड-व्यवस्था का निर्धारण।
३. स्वाभाविक व्यवहारों के सम्पादनार्थ कार्य-प्रणाली का प्रतिपादन।
४. आजीविका, रीति-रिवाज एवं सामाजिक अर्हाओं की व्याख्या का निरूपण।
५. सांस्कृतिक उपकरणों द्वारा स्वस्थ वैयक्तिक जीवन-निर्माण के साथ सामाजिक जीवन में शान्ति और सन्तुलन स्थापनार्थ विषय सुख की अवधारणाओं में परिवर्तन।
६. समाज संगठन एवं विभिन्न प्रवृत्तियों का स्थापन।
७. सामूहिक क्रियाओं का नियन्त्रण एवं समाजहित प्रतिपादन।

डॉ० शास्त्री ने आगे लिखा है कि "कुलकर एक सामाजिक संस्था है। वर्तमान में परिवार, क्लब, चर्च आदि को जिस प्रकार संस्थाओं की संज्ञा प्राप्त है, उसी प्रकार कुलकर-संस्था को भी।"[५]

डॉ० शास्त्री के इस निष्कर्ष से सहमत होने की अपेक्षा मैं उनके इस कथन से सहमत हो सकता हूँ कि "इस प्राचीन संस्था का विकसित रूप ही राज्य, स्वायत्तशासन, पंचायत एवं नगरपालिका आदि संस्थाएँ हैं।"[६] वास्तव में कुलकर व्यवस्था सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक व्यवस्था का सम्मिलित रूप है। सभ्यता के प्रारम्भिक युग में इससे भिन्न रूप की सम्भावना करना भी उचित नहीं होगा।

कुलकर व्यवस्था की तुलना मन्वन्तर-संस्था से की जाती है। कुलकरों को भी जिनसेन ने मनु कहा है। संस्था और कार्यों आदि में भी समानता है।[७]

कुलकरों की दण्ड-नीति—कुलकरों की दण्डनीति का जो विवरण प्राप्त होता है उसके अनुसार उनकी दण्डनीति का विकास इस प्रकार है[८]—

१. **'हा'कार**—जब कोई मर्यादा का उल्लंघन करता तो उसे 'हाकार' का दण्ड दिया जाता है। अर्थात् "हा! तूने यह क्या किया?" ऐसा कहकर अपराधी की निन्दा की जाती।

२. **'मा'कार**—इस दण्डनीति के अन्तर्गत अपराधी को भविष्य के लिए चेतावनी भी दी जाती थी कि फिर भविष्य में ऐसा नहीं करना।

३. **'धिक्'कार**—इसके अन्तर्गत अपराधी की तीव्र विगर्हणा की जाती थी।

जिनसेन ने लिखा है कि पहले मात्र 'हाकार' का प्रयोग होता था। उसके बाद 'हाकार' और 'माकार' का प्रयोग किया जाने लगा और उसके भी बाद 'हाकार', 'माकार' और 'धिक्कार' का प्रयोग आरंभ हुआ।[९]

'कुलकर व्यवस्था' के विवरण में बताया गया है कि १४ कुलकर एक लम्बी कालावधि में क्रमशः हुए। कहीं-कहीं संख्या में अन्तर है, किन्तु क्रमशः हुए, इस विषय में सभी शास्त्रकार एकमत हैं।

जिस समय 'कुल' बने और कुलकर व्यवस्था आरंभ हुई, या जब तक यह व्यवस्था चलती रही, तब तक सारा मानव समाज एक कुल के रूप में संगठित था और उसका प्रमुख कुलकर कहलाता था तथा यह व्यवस्था क्रमशः १४ कुलकरों की दीर्घावधि तक चलती रही, ऐसा स्वीकार करने में कठिनाई है। ऐसा प्रतीत होता है कि यौगलिक व्यवस्था के बाद मानव समूह छोटे-छोटे अनेक कुलों में संगठित हो गया था और उन कुलों के मुखिया कुलकर कहलाते थे।

कुलकर कौन हो सकता था? वय या शक्ति, किसके आधार पर उसका चुनाव होता था, इसकी पकड़ का कोई सूत्र स्पष्ट रूप से ग्रन्थों के वर्णन में नहीं मिलता। उनके अनुसार तो कुलकर जन्म से ही कुलकर होता था।

संभवतया मुख्य रूप से वयोवृद्ध व्यक्ति ही अपने अनुभव-ज्ञान के आधिक्य के कारण अपने कुल का प्रमुख होता था। किसी विशेष स्थिति में कुल के विशेष शक्तिसम्पन्न व्यक्ति को भी कुल का प्रमुख स्वीकार कर लिया जाता होगा। वही कुलकर कहलाता था। कुल के भरण-पोषण, संरक्षण, अनुशासन आदि के लिए भी वह उत्तरदायी होता होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुलकर व्यवस्था के सन्दर्भ में एक अन्य जिस बात पर ध्यान दिया जाता है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। कुलकरों के जितने भी नाम आगम साहित्य या अन्य साहित्य में प्राप्त होते हैं, वे सभी पुरुषों के हैं। सन्तति के प्रजनन, पोषण और संरक्षण में स्त्री की महत्त्वपूर्ण भूमिका होते हुए भी कुलकरों में एक भी स्त्री का नाम न होना, विचारणीय है।

कुलकर संस्था का अध्ययन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक किंवा समग्र सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से किया जाना आवश्यक है।

(३) **ऋषभदेव का राजतन्त्र**—कुलकर व्यवस्था के बाद जैन वाङ्मय में राजनीति का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह स्पष्ट रूप से राजतन्त्र का है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पिता नाभिराय अंतिम कुलकर थे। उनके नाम के साथ जुड़ा 'राय' शब्द संभवतया उनके राजा होने का इंगित है। वे उस राज्य की नाभि (केन्द्र) थे।

नाभिराय ने अपने बाद अपने पुत्र ऋषभ को अपना उत्तराधिकारी बनाया। विधिवत् अभिषिक्त होने के पूर्व से ही नाभिराय अनेक मामलों को ऋषभ के पास भेज देते थे।[१०] जब उन्होंने सारी व्यवस्था सँभाल ली तथा उनका प्रभाव धरती और आकाश में फैल गया तो सुरों ने आकर उन्हें अधिराज पद पर अभिषिक्त किया।[११] नाभिराज ने अपना मुकुट उतारकर अपने ही हाथ से अपने बेटे को पहना दिया।[१२]

ऋषभ ने ग्राम, नगर, खेट, कर्वट आदि की व्यवस्था की तथा कृषि, वाणिज्य आदि का सम्यक् विनियोग किया। बाद के शास्त्रकारों ने ऋषभ के युग की राजनीति का जो वर्णन किया है, उसे उस युग का नहीं माना जा सकता। उस प्रकार की शासन व्यवस्था का विकास बाद में हुआ।

ऋषभ की शासन व्यवस्था का विवरण आचार्य हस्तिमल जी ने आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर इस प्रकार दिया है[१३]—

"राज्याभिषेक के पश्चात् ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था और विकास के लिए प्रथम आरक्षक दल की स्थापना की। उसके अधिकारी 'उग्र' नाम से कहे जाने लगे। फिर राजकीय व्यवस्था में परामर्श के लिए मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया गया, जिसके अधिकारी को 'भोग' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त एक परामर्श मण्डल की स्थापना की गयी जो सम्राट् के सन्निकट रहकर उन्हें समय-समय पर परामर्श देता रहे। परामर्श मण्डल के सदस्यों को 'राजन्य' और सामान्य कर्मचारियों को 'क्षत्रिय' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। विरोधी तत्त्वों से राज्य की रक्षा करने तथा दुष्टों को दण्डित करने के लिए उन्होंने चार प्रकार की सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की। अपराधी की खोज एवं अपराध-निरोध के लिए साम, दाम, दण्ड और भेदनीति तथा निम्नलिखित चार प्रकार की दण्डव्यवस्था का भी नियोजन किया—

१. **परिभाषण**—अपराधी को कुछ समय के लिए आक्रोशपूर्ण शब्दों से दण्डित करना।

२. **मण्डली बन्ध**—अपराधी को कुछ समय के लिए सीमित क्षेत्र—मंडल में रोके रहना।

३. **चारक बन्ध**—बन्दीगृह जैसे किसी एक स्थान में अपराधी को बन्द रखना।

४. **छवि-विच्छेद**—अपराधी के हाथ-पैर जैसे शरीर के किसी अंग-उपांग का छेदन करना।

उपर्युक्त चार नीतियों के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मत है कि अंतिम दो नीतियाँ भरत के समय से प्रचलित हुई थीं परन्तु भद्रबाहु के मन्तव्यानुसार बन्ध और घात नीति भी ऋषभदेव के समय में ही प्रचलित हो गयी थी।"[१४]

आवश्यकनिर्युक्ति के इस विवरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार के पूर्व राजनीति शास्त्र का जो विकास हो चुका था, उसकी भी बहुत सी बातों को इसमें समाहित कर लिया गया है।

ऋषभदेव की शासन व्यवस्था में राजतंत्र का जो पूर्वरूप प्राप्त होता है, उससे लगता है कि यद्यपि स्वायत्त-शासन या स्टेट्स की तरह के शासन की भी शुरुआत उस समय हो गयी थी। केन्द्रीय शासन सर्वोच्च था और उसी की रीति-नीति के अनुसार सभी प्रशासनिक इकाइयाँ कार्य करती थीं।

ऋषभ तीर्थंकर के युग के लोगों को 'ऋजुजड़'[१५] कहा गया। इससे ज्ञात होता है कि मानव सभ्यता के विकास के उस प्रथम चरण में अपराधवृत्ति अत्यल्प थी। जीवन की आवश्यकताएँ सीमित होने के कारण संघर्ष भी कम था और जिज्ञासाओं के समाधानों के सामने प्रश्न चिन्ह लगाने की प्रवृत्ति न होने के कारण विरोधजन्य कलह भी नहीं था। इसीलिए राजनीति सरल और शासन मृदु था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) **भारत का सार्वभौमिक राज्य**—ऋषभ के एक सौ पुत्र थे। संन्यस्त होने के पूर्व उन्होंने सभी को एक-एक प्रशासनिक इकाई सौंपी। जिन्हें संन्यास मार्ग रुचिकर लगा, वे तो अपने पिता के ही साथ संन्यस्त हो गये, शेष ने अपना-अपना शासन सँभाला।

ऋषभ के पुत्रों में भरत ज्येष्ठ थे। उनकी दूसरी माँ के पुत्रों में बाहुबलि सबसे बड़े थे। पिता के बाद भरत के मन में यह विकल्प आया कि पिता की तरह सत्ता का केन्द्र वही है। जो उसे होना चाहिए। अन्य सभी को उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार करनी चाहिए।

भरत ने अपनी इस प्रभुसत्ता को स्थापित और संपुष्ट करने के उद्देश्य से चतुर्दिक भ्रमण किया। उनकी यह यात्रा 'दिग्विजय' मानी गयी। बाहुबलि को छोड़कर सभी ने भरत की संप्रभुता स्वीकार कर ली। बाहुबलि ने कहा—'पिता ने हमें समान अधिकार और स्वातन्त्र्य दिया है। हम किसी के आधीन नहीं हो सकते।' भरत सत्ता के दर्प में था। उसने बाहुबलि को युद्ध के लिए ललकारा। तीन प्रकार के निर्णायक युद्ध हुए—जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध। बाहुबलि तीनों में विजयी हुए। सत्ता के लिए भरत हिंसा पर उतारू हो गया। उसने बाहुबलि पर चक्र फेंका। बाहुबलि उससे घायल नहीं हुए पर उनका मन घायल हो गया। उन्होंने सत्ता के लिए हिंसा के प्रतिरोध में अपना सर्वस्व छोड़ दिया और संन्यस्त हो गये। भरत चक्रवर्ती शासक बन गया। शास्त्रों में यह प्रसंग बहुत विस्तार के साथ वर्णित है।[15]

भरत-बाहुबलि युद्ध, जैन राजनीति के इतिहास में सत्ता के लिए संघर्ष और संघर्ष में पराजय होने पर अनीति तथा हिंसा का आश्रय लेने की सर्वप्रथम घटना है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के समय तक राजतन्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था। राज्य, राजा और राजनीति के स्वरूप का निर्धारण हो चुका था। आदिपुराण के ४२वें पर्व में राजनीति का जो विस्तृत वर्णन है, उसे पूर्ण-रूप से भरत के युग का तो नहीं माना जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि उसके आधार पर भरत की नीति का एक सामान्य चित्र अवश्य अंकित किया जा सकता है। यह राजतन्त्र दीर्घकाल तक चला।

(५) **जैन राजनीति और गणतन्त्र**—जैन राजनीति में 'गणतन्त्र' के उल्लेख सम्पूर्ण भारतीय राजनीति शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं।

जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के युग में अर्थात् ईसा पूर्व छठी शती में वैशाली में एक समृद्ध गणतन्त्र था। पाली दीघनिकाय में इसका एक स्पष्ट चित्र उपलब्ध होता है।

महात्मा बुद्ध से यह पूछा गया कि 'वैशाली पर विजय किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है।'

उत्तर में बुद्ध ने कहा 'जब तक इस गणतन्त्र के सदस्य सात बातों को मानते रहेंगे, तब तक वैशाली विजित नहीं हो सकती।' वे सात बातें इस प्रकार हैं[16]—

(१) सम्मति के लिए सभा में एकत्र होना।
(२) एक होकर बैठना, एक होकर उठना और एक होकर करणीय कार्यों को करना।
(३) अप्रज्ञप्त को प्रज्ञप्त न मानना तथा प्राचीन वज्जि धर्म का अनुसरण करना।
(४) अपने वयोवृद्धों के प्रति आदरभाव रखना।
(५) स्त्री वर्ग के सम्मान की रक्षा करना।
(६) अपने चैत्यों की पूजा करना।
(७) अर्हंतों के ठहरने का सुविधाजनक तथा सुरक्षित प्रबन्ध करना।

वैशाली गणतन्त्र में वज्जियों और लिच्छवियों के नौ राज्य शामिल थे। इसको संचालन करने वाली सभा 'वज्जियान राजसंघ' कहलाती थी। चेटक इस गणतन्त्र के अध्यक्ष थे।

मगध का शक्तिशाली राजतन्त्र वैशाली के सन्निकट होने के बावजूद भी वैशाली का प्रभाव और प्रतिष्ठा अत्यधिक थी।

वैशाली के अतिरिक्त उस समय कतिपय और भी गणराज्य थे। शाक्य गणराज्य के अध्यक्ष शुद्धोधन थे। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। मल्लों की गणराज्य की राजधानी कुशीनारा और पावा थी। कतिपय अन्य छोटे-छोटे गणराज्य भी थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणराज्यों का वैशिष्ट्य उस संघ में शामिल राज्यों के स्वातन्त्र्य, निर्णयों में विचार-विनिमय और एक दूसरे के प्रति मैत्री और आदर भाव में था।

(६) **राजनीति पर धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव**—महावीर के युग तक भोगभूमि की 'यौगलिक व्यवस्था' से लेकर 'गणराज्य' तक की राजनीति का जो विकास हुआ था, उसमें धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तीर्थंकरों ने प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करके व्यक्ति स्वातन्त्र्य को जो प्रतिष्ठा दी थी, उससे 'श्रावकाचार' की एक विशेष आचार-संहिता विकसित करने में चिन्तकों को एक नयी दृष्टि प्राप्त हुई।

'अनेकान्त' के चिन्तन ने एक-दूसरे के विचारों को आदर देने तथा स्याद्वाद ने अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के नियमन का मार्ग प्रशस्त किया।

पार्श्वनाथ के 'चाउज्जाम संवर' तथा महावीर के 'पंच व्रतों' ने समाज में सुव्यवस्था और समान वितरण की व्यवस्था को बल दिया। शासक और शासित दोनों को अपनी मर्यादाओं का बोध कराया। विभिन्न सन्दर्भों में आये उल्लेख राजनीति के सन्दर्भ में भी महत्वपूर्ण हैं। दशवैकालिक में एक स्थान पर आया है—

"जहा दुम्मस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं॥ १/२॥"

जिस प्रकार भ्रमर फूलों से रस ग्रहण करके अपना निर्वाह करता है, किन्तु फूल को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचने देता, उसी प्रकार शासन को प्रजा से अपना भागधेय ग्रहण करना चाहिए।

जैन राजनीति में हिंसा का प्रश्रय लेने की बात कहीं भी नहीं कही गयी। अनीति का आश्रय लेने की बात भी अनुमत नहीं है। भरत के इन दोनों कार्यों की शास्त्रकारों ने विगर्हणा की है।

(७) **राजनीति विषयक जैन साहित्य**—ऊपर हमने जैन वाङ्मय में उपलब्ध उन सन्दर्भों की चर्चा की है जिनका अध्ययन-अनुसन्धान 'जैन राजनीति तथा प्राचीन भारत के राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास' की दृष्टि से किया जाना चाहिए।

जिनसेन के आदिपुराण तथा अन्य पुराण और चरित साहित्य में राजनीतिशास्त्र की जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसे मात्र जैन राजनीति कहना उपयुक्त न होगा, सम्पूर्ण भारतीय सन्दर्भ में उसे जाँचा-परखा जाना चाहिए।

राजनीति पर इस समय जैनाचार्यों की स्वतन्त्र रचनाएँ मात्र दो उपलब्ध हैं। सोमदेव सूरि (१०वीं शती) का 'नीतिवाक्यामृत' और हेमचन्द्र सूरि (११वीं शति) की 'लघु-अर्हन्नीति' या 'अर्हन्नीतिसार'।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद भारतीय राजनीतिशास्त्र पर संभवतया एकमात्र सोमदेव का नीतिवाक्यामृत अद्वितीय ग्रन्थ है। पिछले दो दशकों में इस ग्रन्थ पर दो शोध प्रबन्ध लिखे गये—

१. सोमदेव : एक राजनीतिक विचारक।
   डॉ० पी. एम. जैन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९६४ में पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत। अप्रकाशित।
२. नीतिवाक्यामृत में राजनीतिक आदर्श एवं संस्थाएँ।
   डॉ० एम. एल. शर्मा, लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 'नीतिवाक्यामृत में राजनीति' नाम से प्रकाशित।

जैन राजनीति पर एक स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध भी लिखा गया, जिस पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५५ में लेखक श्री श्यामसिंह जैन (S. S. Jain) को पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की। यह शोध प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है।

(८) **आदिपुराण के विशेष सन्दर्भ**—जिनसेन (नवीं शती) कृत आदिपुराण में प्रतिपादित राजनीतिशास्त्र को डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने गुप्तवंशीय सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राज्य व्यवस्था से तुलनीय बताया है।[१८] जिनसेन राष्ट्रकूटों की राजनीति और शासन व्यवस्था से भी निकट से परिचित थे। इसलिए आदिपुराण में उसका समावेश भी स्वाभाविक है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आदिपुराण में प्रतिपादित राजनैतिक सिद्धान्त पौराणिक, गुप्तवंशीय तथा राष्ट्रकूट राजनीति का सम्मिलित रूप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन राजनीति की दृष्टि से आदिपुराण के कतिपय सन्दर्भ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वे इस प्रकार हैं---

राजा का वृत्त---जिनसेन ने राजा का वृत्त या धर्म पाँच प्रकार का बताया है[१९]---

१. कुलानुपालन।
२. मत्यनुपालन।
३. आत्मानुपालन।
४. प्रजानुपालन।
५. समंजसत्व।

जिनसेन ने इनका विस्तार से वर्णन किया है। कुलाम्नाय तथा कुलोचित समाचार का परिरक्षण कुलानुपालन है।[२०] लोक तथा परलोकार्थ के हिताहित का विवेक मत्यनुपालन है।[२१] इसका प्रयोग अविद्या के दूर करने से ही हो सकता है। इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायों से आत्मा की रक्षा करना आत्मानुपालन है।[२२] विष और शस्त्र आदि से रक्षा लोकापाय रक्षा है। परलोक सम्बन्धी अपायों से बचने का एकमात्र साधन धर्म है।

जिनसेन ने लिखा है कि आत्मरक्षा करने के बाद राजा को प्रजानुपालन में प्रवृत्त होना चाहिए। यह राजाओं का मूलभूत गुण है।[२३] ग्वाले द्वारा गायों के रक्षण का दृष्टान्त देकर प्रजानुपालन की विस्तृत व्याख्या की गयी है।[२४]

जिनसेन के इस विवरण से ज्ञात होता है कि राजा को अपने बाह्य और आध्यात्मिक विकास के लिए सर्वप्रथम ध्यान देना चाहिए। आत्मिक विकास के उपरान्त ही वह उचित रूप से प्रजा के अनुपालन में प्रवृत्त हो सकता है।

समंजसत्व के अन्तर्गत दुष्टनिग्रह और शिष्ट अनुपालन आते हैं।[२५] जिनसेन का कहना है कि राजा को निग्रह योग्य शत्रु और पुत्र दोनों का समान भाव से निग्रह करना चाहिए।

राजा के स्वरूप और कर्तव्यों का उक्त विवरण जैन राजनीति की दृष्टि से एक आदर्श राजा या राज्य के प्रधान के व्यक्तित्व का निदर्शन है। जिसका स्वयं का व्यक्तित्व आदर्श हो, वही आदर्श राजा या राज्य का प्रधान हो सकता है। राज्यतन्त्र और गणतन्त्र दोनों ही दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है।

प्रजा के मन्तव्यों का मूल्य---राज्य के विभिन्न अंगों---अमात्य, पुरोहित आदि के माध्यम से प्रजा के मन्तव्यों का प्रशासन में मूल्यांकन राजतन्त्र में किया जाता है। जिनसेन ने एक स्थान पर बलवान् शत्रु के आक्रमण के समय वृद्धजनों की सम्मति लेने का स्पष्ट उल्लेख किया है।[२६] लिखा है कि यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्य के सम्मुख आवे तो वृद्ध लोगों के साथ विचारकर उसे कुछ देकर उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिए।

युद्ध का अहिंसक प्रतिरोध---जिनसेन युद्ध के पूर्ण विरोधी हैं क्योंकि युद्ध बहुत से लोगों के विनाश का कारण है। उसमें बहुत-सी हानियाँ हैं और भविष्य के लिए दुखदायी हैं। इसलिए कुछ देकर बलवान् शत्रु के साथ सन्धि कर लेना चाहिए।[२७]

कठोर दण्ड का निषेध---जिनसेन अत्यधिक कठोर दण्ड की सलाह नहीं देते। उनका कहना है कि जिस प्रकार यदि अपनी गायों के समूह में कोई गाय अपराध करती है तो उसका गोपालक उसे अंगछेदन आदि कठोर दण्ड नहीं देता प्रत्युत अनुरूप ही दण्ड देता है उसका नियन्त्रण करके उसकी रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।[२८]

(६) **सोमदेव सूरि का नीतिवाक्यामृत**[२९]---कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद सोमदेव सूरि का नीतिवाक्यामृत राजनीतिशास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है। इसकी रचना सूत्रों में की गयी है। पूरा ग्रन्थ बत्तीस समुद्देशों में विभाजित है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की अपेक्षा संक्षिप्त, सरल और सहजग्राह्य होने के कारण यह ग्रन्थ दशवीं शती से लेकर दीर्घावधि तक राजाओं का सच्चा पथ-प्रदर्शक रहा है।

सोमदेव ने अपने काव्य ग्रन्थ यशस्तिलक में भी राजनीति का विस्तार से वर्णन किया है किन्तु नीतिवाक्यामृत इस विषय का स्वतन्त्र ग्रन्थ है। जिस समय इस ग्रन्थ की रचना हुई, उस समय इसकी अत्यधिक आवश्यकता थी। हर्षवर्धन के बाद भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। राजा लोग अपने-अपने राज्यों की सीमा विस्तार के लिए अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहे थे। इस अव्यवस्था का लाभ उठाकर यवनों ने भारत पर अधिकार कर लिया। ऐसे अवसर पर सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत की रचना करके भारतीय नरेशों का पथ प्रदर्शन किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीतिवाक्यामृत में प्रतिपादित राजनीति समग्र रूप में प्राचीन भारतीय राजनीति का एक आदर्श रूप है। इसे जैन राजनीति मानने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं हो सकता। सोमदेव स्वयं जैन साधु थे। इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ में जैन-धर्म के उच्च आदर्शों का पूरा ध्यान रखा है।

नीतिवाक्यामृत में शासन व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाले सभी पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। राज्य के सप्तांग—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, बल एवं मित्र के लक्षणों पर विशद प्रकाश डाला गया है। राजधर्म की भी विस्तार से व्याख्या-विवेचना की गयी है।

सोमदेव ने धर्मनीति, अर्थनीति और समाजनीति को राजनीति का अभिन्न अंग माना है। इसलिए राजनीति के साथ इनका भी उन्होंने विशद विवेचन किया है। डॉ० शर्मा ने लिखा है कि नीतिवाक्यामृत "मानव-जीवन का विज्ञान और दर्शन है। यह वास्तव में प्राचीन नीति साहित्य का सारभूत अमृत है। मनुष्य मात्र को अपनी-अपनी मर्यादा में स्थिर रखने वाले राज्य प्रशासन एवं उसे पल्लवित, संवर्धित एवं सुरक्षित रखने वाले राजनीतिक तत्त्वों का इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया गया है।"[१०]

नीतिवाक्यामृत के टीकाकार ने ग्रन्थ के नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है कि 'इस ग्रन्थ के अमृत तुल्य वाक्य-समूह विजयलक्ष्मी के इच्छुक राजा की अनेक राजनीतिक विषयों, सन्धि, विग्रह, मान, आसन आदि में उत्पन्न हुई संदेह रूप महामूर्च्छा का विनाश करने वाले हैं, इसलिए इसका नाम नीतिवाक्यामृत रखा गया है।'[११]

नीतिवाक्यामृत के कतिपय विशेष सन्दर्भ

राज्य का महत्त्व—नीतिवाक्यामृत के मंगलसूत्र में राज्य को नमस्कार किया गया—

"अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः।"

राज्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की सिद्धि का अमोघ साधन है। इसलिए उसे नमस्कार है। राज्य के लिए दशवीं शताब्दी में इतना महत्त्व देने वाला यह एक मात्र उदाहरण है। सोमदेव जैसे जैन साधु की लेखनी से प्रसूत होने के कारण इसका और भी अधिक महत्व है। सोमदेव को धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक नीति के सम्मिश्रित रूप में तीर्थंकर ऋषभदेव की राजनीति का जो दाय परम्परा से प्राप्त हुआ था, उसे उन्होंने इस रूप में प्रस्तुत कर दिया।

धर्मनिरपेक्षता—आज से एक हजार वर्ष पूर्व धार्मिक संघर्ष के उस युग में धर्मनिरपेक्षता की बात सोमदेव जैसा समर्थ विचारक ही कह सकता था। नीतिवाक्यामृत का प्रथम समुद्देश धर्मसमुद्देश है, धर्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में उनकी नीति का स्पष्ट ज्ञान होता है। वे कहते हैं कि जिसकी जिस देवता में श्रद्धा हो, वह उसकी प्रतिष्ठा करे। (७/१७)

राज्य का अधिकारी—सोमदेव ने क्रम और विक्रम दोनों को राज्य का मेल बताया है।[१२] क्रमागत राज्य भी विक्रम के अभाव में नष्ट हो जाता है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि भूमि पर कुलागत अधिकार किसी का नहीं है, किन्तु वसुन्धरा वीरों के द्वारा भोग्य है।[१३]

निरंकुश शासन का निषेध—राजतन्त्र में भी सोमदेव निरंकुश शासन के हिमायती नहीं हैं। उनके अनुसार राजा को मन्त्रि-परिषद् के मन्तव्यों की कदापि अवहेलना नहीं करनी चाहिए। यदि वह मन्त्रियों की उपेक्षा करता है तो वह राजा कहलाने के योग्य नहीं है।[१४]

लोक हितकारी राज्य—सोमदेव ने लोक हितकारी राज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। समृद्ध राष्ट्र की कल्पना उनका आदर्श है। पशु, धान्य, हिरण्य आदि सम्पत्ति से जो सुशोभित हो, वह राष्ट्र है। कृषि पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य आदि में किस प्रकार प्रगति हो सकती है, इस विषय पर उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों को समरूप से सेवन करना चाहिए।[१५]

लोकनीति राजनीति—सोमदेव ने लोकनीति और राजनीति का समन्वय किया है। समाज की उन्नति में ही राष्ट्र की उन्नति है। लोक व्यवहार की दृष्टि से जो व्यवस्था महत्वपूर्ण है, उसका पूर्ण विवेचन सोमदेव ने नीति-वाक्यामृत में किया है।

वर्ग-भेदहीन राजनीति—सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत में यद्यपि वर्णाश्रम व्यवस्था का वर्णन किया है किन्तु इस विषय में उनके विचार जैन परम्परा के अनुरूप बहुत उदार हैं। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार सूर्य का दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी कर सकते हैं, उसी प्रकार धर्म सभी के लिए है।[३६] उनका कहना है कि आचार की पवित्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जिसका आचार शुद्ध है, जिसके घर के पात्र पवित्र हैं तथा जो शरीर से स्वच्छ है, ऐसा शूद्र भी देव, द्विज और तपस्वियों की सेवा का अधिकारी है।[३७] सदाचार का पालन करना सभी का समाजधर्म है।[३८]

राष्ट्रीयता का महत्त्व—सोमदेव ने लिखा है कि राजा को जहाँ तक सम्भव हो राज्य के उच्च पदों पर स्वदेशवासियों की ही नियुक्ति करनी चाहिए।[३९] स्वदेशवासी में अपने राष्ट्र के प्रति अधिक लगाव होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नीतिवाक्यामृत जैन राजनीति का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है।

(१०) **निष्कर्ष**—संक्षेप में जैन राजनीति, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक नीति के साथ राजनीति का एक सम्मिलित रूप है। धर्म को राजनीति से अलग करने पर राष्ट्रीय चरित्र के विकास का स्पष्ट आधार शेष नहीं रहता। समाजनीति की उपेक्षा करने पर सामाजिक जीवन के उत्थान की संभावनाएँ कम हो जाती हैं और आर्थिक नीति पर ध्यान न देने की स्थिति में समाज और राज्य के विकास की रीढ़ ही दुर्बल हो जाती है। जैन राजनीति लौकिक और आध्यात्मिक समग्र विकास पर बल देती है। भौतिकवाद के इस युग में मानव व्यक्तित्व और राष्ट्रीय चरित्र के विकास के लिए जैन राजनीति का विशेष अध्ययन-अनुसंधान करके उसे विश्व के राजनैतिक क्षितिज पर प्रस्तुत करने की महती आवश्यकता है।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थान

१ **यतिवृषभ**—तिलोय-पण्णत्ति, जीवराज जैन ग्रंथमाला, शोलापुर, द्वि० सं० १९५६। महाधिकार चार।
जमला जमलपसूया ॥३३४॥
ते जुगलधम्मजुत्ता परिवारा णत्ति तक्काले ॥३४०॥
गामणयरादि सव्वं ण होदि ते होंति सव्व कप्पतरू।
णियणियमणसंकप्पियवत्थूणि देंति जुगलाणं ॥३४१॥
पाणंगतूरियंगा भूसणवत्थंगभोयणंगा य।
आलयदीवियभायणमालातेजंगआदि कप्पतरू ॥३४२॥

२ **जिनसेन**—आदिपुराण भाग १, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन काशी, द्वि० सं० १९६३। पर्व तीन।
तिलोय-पण्णत्ति, महाधिकार चार।

३ प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मतः।
आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥
कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति।
युगादिपुरुषाः प्रोक्ताः युगादौ प्रभविष्णवः ॥ —**आदिपुराण** ३।२११, २१२

४ **डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री**—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६८, पृ० १३४।

५ वही, पृ० १३६। ६ वही, पृ० १३६। ७ (क) वही, पृ० १३६-१३७।
(ख) आचार्य हस्तिमल—जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, जैन इतिहास समिति, जयपुर, १९७१, पृ० १-८।

८ आवश्यकनिर्युक्ति—हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चैव।

९ आदि पुराण ३/२१४-२१५ : तत्राद्यैः पञ्चभिर्ज्ञेयाः कुलकृद्भिः कृतागसाम्।
हाकारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा ॥
हामाकारश्च दण्डोऽन्यैः पञ्चभिः संप्रवर्तितः।
पञ्चभिस्तु ततः शेषैर्हामाधिक्कारलक्षणः ॥

१० आदिपुराण १६।१२३-१३४ : नाभिराजमुपासेदुः प्रजा जीवितकाम्यया ॥
नाभिराजाज्ञया स्रष्टुस्ततोऽन्तिकमुपाययुः ॥

११ वही, १५।१७२ : तदास्याविरभूद् द्यावा पृथिव्यो प्राभवं महत्।
आधिराज्येऽभिषिक्तस्य सुरैरागत्य सत्वरम् ॥

१२ वही, १६।२३२—नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत् प्रभोः।

१३ जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० २०।

१४ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा २ से १४।

१५ उत्तराध्ययनसूत्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२। पुरिमा उज्जुजडा ॥ अध्ययन २३, गाथा २६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६ विस्तार के लिए दृष्टव्य—आदिपुराण, पर्व ३५, ३६ ।

१७ सुत्तपिटके दीघनिकायपालि, महावग्ग, बिहार शासन द्वारा प्रकाशित, १९५८ । महापरिनिब्बान सुत्त ४, पृ० ५९ ।
वज्जीनं सत्त अपरिहानिया धम्मा ।
(१) वज्जी अभिण्हं सन्निपाता सन्निपातबहुला ।
(२) वज्जी समग्गा सन्निपतन्ति समग्गा वुट्ठहन्ति ।
समग्गा वज्जिकरणीयानि करोन्ति ॥
(३) वज्जी अपञ्ञत्तं न पञ्ञापेन्ति पञ्ञत्तं न समुच्छिन्दन्ति, यथा पञ्ञत्ते पोराणे वज्जिधम्मे समादाय वत्तन्ती ।
(४) वज्जी ये ते वज्जीनं वज्जिमहल्लका ते सक्करोन्ति गरूं करोन्ति मानेन्ति पूजेन्ति तेसं च सोतब्बं मञ्ञन्ती ।
(५) वज्जी या ता कुलित्थियो कुलकुमारियो ता न ओक्कस्स पसय्ह वासेन्ती ।
(६) वज्जी यानि तानि वज्जीनं वज्जिचेतियानि अब्भन्तरानि चेव बाहिरानि च तानि सक्करोन्ति, गरूं करोन्ति मानेन्ति, पूजेन्ति, तेसि च दिन्नपुब्बं कतपुब्बं धम्मिकं बलिं नो परिहापेन्ती ।
(७) वज्जीनं अरहन्तेसु धम्मिका रक्खावरणगुत्ति सुसंविहिता, किन्ति अनागता च अरहन्तो विजितं आगच्छेय्युं, आगता च अरहन्तो विजिते फासु विहरेय्युं ।

१८ आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३६६ ।

१९ आदिपुराण भाग १, ४२/४ : तच्चेदं कुलमत्यात्मप्रजानामनुपालनम् ।
समंजसत्वं चैत्येवमुद्दिष्टं पञ्चभेदभाक् ॥

२० वही, ४२/५/ : कुलानुपालनं तत्र कुलाम्नायानुरक्षणम् ।
कुलोचितसमाचारपरिरक्षणलक्षणम् ॥

२१ वही, ४२/३१/३२ : कुलानुपालनं प्रोक्तं वक्ष्ये मत्यनुपालनम् ।
मतिर्हिताहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥
तत्पालनं कथं स्याच्चेदविद्यापरिवर्जनात् ।

२२ वही, ४२/११३ : अत्रिकामुत्रिकापायात् परिरक्षणमात्मनः ।
आत्मानुपालनं नाम तदिदानीं विवृण्महे ॥

२३ वही, ४२/१३७ : कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने ।
राजा यत्नं प्रकुर्वीत राज्ञां मौलो ह्ययं गुणः ॥

२४ वही, ४२/१३९ से १९७ तक : गोपालको यथा यत्नाद् गाः संरक्षत्यतन्द्रितः ।
क्षमापालश्च यत्नेन तथा रक्षेन्निजाः प्रजाः ॥

२५ वही, ४२/१९९ : राजा चित्तं समाधाय यत् कुर्याद् दुष्टनिग्रहम् ।
शिष्टानुपालनं चैव तत्सामंजस्यमुच्यते ॥

२६ वही, ४२/१९५ : भूपोऽप्येवं बली कश्चित् स्वराष्ट्रं यद्यभिद्रवेत् ।
तदा वृद्धैः समालोच्य संदध्यात् पणबन्धतः ॥

२७ वही, ४२/१९६ : २८ वही, ४२/१४०-१४२ ।

२९ नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका के साथ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में तथा हिन्दी अनुवाद के साथ वाराणसी से प्रकाशित हुआ है ।

३० डॉ. एम. एल. शर्मा—नीतिवाक्यामृत में राजनीति, पृ० २४ ।

३१ नीतिवाक्यामृत, टीका पृ० २ ।

३२ वही, ५/२७/ राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च ।

३३ वही २९/६९/ नहि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा ।

३४ वही, १०/५८/ स खलु नो राजा यो मन्त्रिणोऽतिक्रम्य वर्तेत ।

३५ वही, ३/३/

३६ वही ७/१४ : आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणः ।

३७ वही, ७/१२/ ३८ वही, ७/१३/ ३९ वही, १०/६/

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



उत्तराध्ययन, गीता और धम्मपद : एक तुलना

—उदयचन्द्र प्रभाकर, शास्त्री, शास्त्राचार्य
जैनदर्शनाचार्य, एम० ए० (हिन्दी, पाली-प्राकृत)
[जंवरीबाग, नसिया, इन्दौर (मध्य प्रदेश)]

चिन्तनशील व्यक्तियों के विचारों का आधार देश-काल की परिस्थिति पर निर्भर रहता है। भारतीय चिन्तकों की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक रही है। यद्यपि संस्कृति और सभ्यता का समय-समय पर ह्रास हुआ है, फिर भी सम्पूर्ण भारतीय परम्परा में सत्य का अंश किसी न किसी रूप में मौजूद रहा है। वैदिककाल से लेकर आधुनिक युग तक वही धारा, वही विचार तथा वही दृष्टि दिखाई पड़ती है। वैदिक विचारों का कथन करने वाली गीता जन-मन के विचारों को उस ओर मोड़ लेती है, जिस ओर कर्मयोगी श्रीकृष्ण का उपदेश होता है। उत्तराध्ययन उत्तमोत्तम प्रकरणों द्वारा आत्मा को पवित्र बनाने के साथ-साथ महावीर के सिद्धान्तों का रहस्य प्रकट करता है। धम्मपद एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें नैतिक सदाचार, दुःखमय संसार से छुटकारा पाने के उपाय बताये गये हैं तथा बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित चार आर्यसत्य, आर्याष्टाङ्गिक मार्ग का उद्बोधन भली-भाँति प्राप्त हो जाता है।

भारतीय संस्कृति की रूपरेखा का कथन अन्य बहुत से ग्रन्थों में भी है, पर प्राकृत-साहित्य में उत्तराध्ययन का कई दृष्टियों से अधिक महत्व है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञान को अनेकों उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत कर दिया है। भद्रबाहु स्वामी द्वारा कथित यह गाथा विचारणीय है—

जे किर भवसिद्धिया, परित्त संसारिआ य भविआ य।
ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे॥

अर्थात् जो भवसिद्धिक जीव शीघ्र ही मुक्ति पाने वाले हैं, जिनका संसार-भ्रमण बहुत थोड़ा रह गया है, ऐसे भव्य आत्मा ही छत्तीस अध्ययनों वाले उत्तराध्ययन को भावपूर्वक पढ़ते हैं।

गीत का महत्व महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में दिया है—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैशास्त्रविस्तरैः

अर्थात् श्री गीता को भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भाव सहित अन्तःकरण में धारण कर लेना मुख्य कर्त्तव्य है।

धम्मपद बौद्धधर्म के सिद्धान्तों एवं साधनामार्ग को स्पष्ट करने वाली कृति है। इसमें नैतिक दृष्टि को अधिक महत्व दिया गया है।

ये तीनों ग्रन्थ किसी न किसी उद्देश्य का कथन करने वाले हैं। गीता यदि महाभारत का अंश है, तो, 'धम्मपद' खुद्दकनिकाय का एक अंश है। इसकी स्वतन्त्र रचना नहीं है। फिर भी सभी का अपना-अपना प्रतिपाद्य विषय है। उत्तराध्ययन ज्ञान, कर्म के साथ तत्त्वज्ञान को अधिक महत्व देता है। श्रीमद्-भगवद्गीता ज्ञान, कर्म और भक्ति को तथा 'धम्मपद' केवल कर्म को, वह भी सत्कर्म को। इन तीनों का पृथक-पृथक मूल्यांकन करना अत्यन्त आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त भारतीय दर्शनों का एकमात्र उद्देश्य दुःख से निवृत्ति और परमपद की प्राप्ति रहा है। और परमात्मपद आध्यात्मिक साधनों द्वारा ही संभव है। इसलिए भारतीय चिंतकों ने आध्यात्मिकता को अधिक महत्व दिया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में विविध तत्त्वज्ञान का सरल रूप में प्रतिपादन किया गया है। कुछ स्थलों पर कथानकों द्वारा वैराग्य भाव को बतलाया गया है। जिसका अध्ययन, मनन-चिंतन एवं भली प्रकार से श्रवणकर आत्मानुभूति को समझ सकता है। आत्मा ही परमात्मरूप है। जबकि गीता आत्मा को परमात्मरूप स्वीकार कर परमात्मा में लीन होने को कहती है। जो परमात्मा में लीन हो जाता है, परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उत्तराध्ययन में प्रथम विनयश्रुत में आत्मार्थी के लिए (मुक्ति के साधक के लिए) कर्तव्यों की ओर प्रेरित किया गया है।

आणाणिद्देसकरे गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसंपण्णे, से विणीए त्ति वुच्चइ॥

गीता और धम्मपद भी कर्त्तव्यों का बोध कराते हैं। गीता का प्रथम-द्वितीय अध्याय बोध को संकेत करते हैं। जिस समय अर्जुन शोकयुक्त हो जाता है तब उसे अपनी आत्मा का बोध कराया जाता है कि हे अर्जुन! आत्मा का कभी वध नहीं किया जा सकता है। इसलिए सम्पूर्ण भूतप्राणियों के लिए तू शोक करने योग्य नहीं है और अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं हैं।[1] आगे कर्मफल का निषेध किया है। कर्म करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है, फल की इच्छा का नहीं। कर्मफल आसक्ति का कारण होता है।[2] **"कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।"**[3] अर्थात् कर्मों के सम्बन्ध से मूढ़ प्राणी दुःखी और अत्यन्त वेदना को पाते हैं। धम्मपद के पण्डितवर्ग में व्यक्ति को क्या करना चाहिए, क्या नहीं? इसका उल्लेख बहुत ही मार्मिक रूप से प्रस्तुत किया है।

निधीनं व पवत्तारं यं पस्से वज्जदस्सिनं।
निग्गय्हवादिं मेधाविं तादिसं पण्डितं भजे॥
तादिसं भजमानस्य सेय्यो होति न पापियो॥१॥

अर्थात् जो निधियों के बतलाने के समान वर्जनीय बातों को बतलाने वाला है, जो निगृह्यवादी और मेधावी है—ऐसे, इस प्रकार के बुद्धिमान का साथ करना चाहिए। ऐसे मनुष्य का साथ करने वाले को पुण्य मिलता है, पाप नहीं। तथा **'धम्मपीती सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा'** अर्थात् धर्म का पालन करने वाला प्रसन्नचित्त होकर सुख से सोता है। उत्तराध्ययन में धर्म के आश्रय रहने वाले को सुखदायक और महान् निर्वाण गुणों की प्राप्ति होती है। **"सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं, धारेज्ज निव्वाणगुणावहं महं।"** २०।९९॥ और कर्मों में आसक्त जीव के लिए कहा है कि जो अति आसक्त होता है वह जंगल के तालाब के ठंडे पानी में पड़े हुए और मकर द्वारा ग्रसे हुए भैंसे की तरह अकाल में ही मृत्यु पाता है।[4]

दुःख और दुःख के कारण—सभी जीव सुख चाहते हैं, तथा दुःख से डरते हैं। पर दुःख से बचने का उपाय नहीं जानते। इसलिए जन्मजन्मांतर से इस संसार में जन्म-मरणरूप दुःख को भोग रहे हैं। इसका मूल कारण अज्ञान दशा है। अज्ञान के कारण ही भौतिक पदार्थों की ओर सुख मानकर दौड़ता रहता है। इसकी इस तृष्णा का कहीं अंत नहीं। अज्ञानी सोचता है कि **"जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ।"** अर्थात् जो दूसरों का हाल होगा वह मेरा भी होगा" इस प्रकार सोचने वाले **"लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए।"** अनंत संसार में ही भटकते रहते हैं। उनके दुःखों का अन्त करने वाली संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है।[5]

यदा च पच्चति पापं अथ बालो दुक्खं निगच्छति। बालवग्ग-१०॥ अर्थात् जब पापकर्म का परिपाक होता है, तब वह मूर्ख मनुष्य दुःख को प्राप्त होता है। धम्मपद में एक उदाहरण है कि "बूंद-बूंद गिरने से घड़ा भर जाता है और मनुष्य थोड़ा-थोड़ा भी संचय करते हुए पाप का घड़ा भर लेता है।[6] तब वह पापरूप दुःख से कैसे मुक्त हो सकेगा? जब तक बाह्य वस्तुओं के प्रति मोह रहेगा, तब तक दुःख रहेगा। गीता में लिखा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।५।२२॥

अर्थात् जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले हैं सब भोग ये निःसंदेह दुःख के कारण हैं। बुद्धवग्ग[7] में दुःख को चार भागों में बाँट दिया है—

(१) दुःख
(२) दुःख की उत्पत्ति
(३) दुःखनिवृत्ति
(४) दुःखनिवृत्ति के उपाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये चार आर्य सत्य भी कहे जाते हैं। दुःख—जन्म, जरा, मरण, शोक-परिदेव, दौर्मनस्य, (रोना-पीटना दुःख है, पीड़ित होना दुःख है), चिन्तित होना दुःख है, परेशान होना दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है, ये सब दुःख हैं और सब दुःखों का कारण तृष्णा है। इसलिए तृष्णा को जड़ से खोदने का उपदेश दिया है—

तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ उसीरत्थो व वीरणं॥

गीता में दुःख के कारण को एक पंक्ति में कह दिया—

"**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।**" गीता-अ० १३।८

उत्तराध्ययन में इसी भाव को इस रूप में व्यक्त किया है कि जन्म दुःखरूप है, बुढ़ापा दुःखरूप है, रोग और मृत्यु ये सभी दुःखरूप हैं आश्चर्य है कि सारा संसार दुःखरूप है।[८] दुःख का मूलभूत कारण तृष्णा है।[९]

तीनों दृष्टिकोणों से दुःख के कारणों को उपस्थित कर दुःख बतलाया, पर दुःख से छूटने का उपाय क्या है? इससे पूर्व दुःख-सुख की वास्तविकता को समझ लेना आवश्यक होगा। "**यदिष्टं तत्सुखं प्राहुः द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते**"—जो कुछ हमें इष्ट प्रतीत होता है, वही सुख है और जिससे हम द्वेष करते हैं अर्थात् जो हमें रुचिकर नहीं, वह दुःख है। दुःख संसार का कारण है और सुख आत्मानंद का कारण। आत्मानंद से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। जब तक व्यक्ति राग-द्वेष की समाप्ति नहीं कर देता, तब तक वह सुख को प्राप्त नहीं कर पाता है। इसलिए राग-द्वेष का नाश करें।[१०] यही सुख का साधन है। परन्तु जो मनुष्य दूसरों को दुःख देने से अपने सुख की इच्छा करता है, वह वैर के संसर्ग में पड़ा हुआ वैर से नहीं छूटता। ऐसा मनुष्य जो कर्त्तव्य है उसे छोड़ देता है, और अकर्त्तव्य को करने लगता है।[११] गीतारहस्य में तिलक ने सुख-दुःख के विषय में लिखा है "चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय लगे अथवा अप्रिय, परन्तु जो कार्य जिस समय जैसे आ पड़े, उसे उसी समय मन को निराश न करते हुए (कर्त्तव्य को न छोड़ते हुए) करते जाओ।.....संसार में अनेक कर्त्तव्य ऐसे हैं, जिन्हें दुःख सहकर भी करना पड़ता है।"[१२] '**न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।**" ५।२०। सुख पाकर हर्षित नहीं होना चाहिए और दुःख से खिन्न नहीं होना चाहिए। क्योंकि आत्मा ही सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाली और यही दुःख को क्षय कर अनंतसुख को प्राप्त करने वाली है। श्रेष्ठ आचार वाली आत्मा मित्र और दुराचार वाली आत्मा शत्रु है।[१३] (**तुममेव मित्तं तुममेव सत्तु**) इसलिए दुःख के जो मूलभूत कारण है, उन्हें नाश कर देना ही सुख का साधन है। बुद्धने पापवग्ग में उपदेश दिया है कि "मनुष्य कल्याणकारी कार्य करने के लिए ऐसे कारणों को जुटाये जिससे सुख की उपलब्धि हो सके और दुःखरूप संसार से शीघ्र ही मुक्त हो सके। यह दुःख संसार में नाना गतियों में भटकाता रहता है।[१४] ऐसे कार्य करना सरल है जो बुरे हैं और अपने लिए अहितकर हैं। जो हितकारी और अच्छे हैं, उनमें हमारी बुद्धि ही नहीं जाती। क्योंकि उनका करना अत्यन्त कठिन होता है "**न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।**" अर्थात् "दुराचार में प्रवृत्त आत्मा अपना जितना अनिष्ट करता है, उतना अनर्थ गला काटने वाला शत्रु भी नहीं करता।" मनुष्य का जन्म अशाश्वत और दुखों का घर है तथा यह संसार अनित्य और सुख रहित है।.....सुख कोई सच्चा पदार्थ नहीं है फलतः सब तृष्णाओं, कर्मों को छोड़े बिना शांति नहीं मिल सकती।[१५]

मोक्ष और मोक्षोपाय—अज्ञान रूप दुःख की निवृत्ति का नाम मोक्ष है। जैनदर्शन में आत्मा की विशुद्ध एवं स्वाभाविक (**कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**) तथा सम्पूर्ण कर्मों की समाप्ति का नाम मोक्ष माना है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण को (**निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा**—धम्मपद-गा० १८४) मोक्ष कहा है। आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति ही 'निर्वाण' है। 'निर्वाण' ज्ञान के उदय से होता है। गीता में नैष्कर्म्य, निस्त्रैगुण्य, कैवल्य, ब्रह्मभाव, ब्राह्मीस्थिति, ब्रह्मनिर्वाण को मोक्ष कहा है। वेदों के पढ़ने में, यज्ञों में और दानों में फल निश्चित हैं, पर ब्रह्मज्ञानी उस सबको उल्लंघन कर जाता है और वह सनातन परमपद को प्राप्त हो जाता है।[१६] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की योग्यता को जब व्यक्ति प्राप्त कर लेता है तो वह मोक्षपथ या मोक्ष की ओर अग्रसर हो जाता है। उत्तराध्ययन के अट्ठाइसवें अध्ययन में मोक्षमार्ग का भली प्रकार से चित्रण किया गया है। तथा कहा है :—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥

अर्थात् मोक्षार्थी ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्मास्रव को रोकता है और तप से विशेष शुद्धि करता है। २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४ में अध्ययनों क्रमशः आत्मोत्थानकारी प्रश्नोत्तर, तपश्चर्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का स्वरूप और विधि, चारित्र की संक्षिप्त विधि प्रमाद की व्याख्या और उससे बचकर मोक्ष प्राप्त करने का उपाय, कर्मों के भेद-प्रभेद, गति, स्थिति आदि, छः लेश्याओं का स्वरूप, फल, गति, स्थिति आदि और ३५ वें अध्ययन में नियम-उपनियम बतलाये गये हैं। गीता के सोलहवें अध्याय में परमात्म-साक्षात्कार के हेतुओं का विवेचन किया है। यद्यपि दैवी सम्पदा है। "**ज्ञानयोग व्यवस्थिति**" में स्थित व्यक्ति सच्चिदानन्द को प्राप्त कर लेता है। दैवी सम्पदाएँ मोक्ष का कारण हैं और आसुरी सम्पदा संसाररूप एवं बन्धन का कारण मानी गई है।[१७] मुक्ति अथवा मोक्ष सर्वोपरि आत्मा के साथ संयुक्त हो जाने का नाम है। डॉ० राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन में लिखा है कि मुक्त व्यक्ति समस्त पुण्य-पाप से परे है। पुण्य भी पूर्णता के रूप में परिणत हो जाता है। मुक्त पुरुष जीवन के केवल नैतिक नियम से ऊपर उठकर प्रकाश, महत्ता और आध्यात्मिक जीवन की शक्ति को पहुँचता है।[१८] डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने जैनदर्शन में मुक्ति का मूल साधन 'स्वपर-विवेकज्ञान' कहा है। अतः यह सिद्ध है कि आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति और तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

बौद्धधर्म का साधना पक्ष आष्टांगिक मार्गरूप है—(१) सम्यक्दृष्टि, (२) सम्यक्संकल्प, (३) सम्यक्-वचन, (४) सम्यक्व्यवहार, (५) सम्यक्आजीव, (६) सम्यक्व्यायाम, (७) सम्यक्स्मृति, (८) सम्यक्समाधि। ये दुःख-निरोध के कारण हैं। पण्डितवग्ग में निर्वाण के विषय में लिखा है "**खीणासवा जुतीमंतो ते लोक परिनिब्बुता**"। अर्थात् जिनके चित्त का मैल नष्ट हो गया है, जो दीप्तिमान् हैं ऐसे मनुष्य संसार में निर्वाण को प्राप्त करते हैं। क्योंकि जिसका मार्ग समाप्त हो चुका है, जो शोकरहित है, तथा सर्वथा विमुक्त है, सब ग्रंथियों से छूट चुका है, उसके कोई संताप नहीं हैं।[१९] एवं "**रहदो व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो।**" अर्थात् जलाशय के समान कीचड़ से रहित मनुष्य को संसार नहीं होता। "**यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते** (गीता) अपितु विपरीत बुद्धिवाला, आलसी, अज्ञानी और मूर्ख जीव श्लेष्म में लिपटी हुई मधुमक्खियों की तरह संसार में फँसते जाते हैं, काम-भोगों का त्याग करने वाला **जे तरंति अतरं वणिया व**"[२०] अर्थात् व्यापारी के जहाज की तरह तिर जाते हैं।

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त—कर्म या पुनर्जन्म का सिद्धान्त शाश्वत नियम पर आधारित है। शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही कर्मफल की प्राप्ति होती है। शुभकर्म के कारण अच्छा फल मिलेगा और अशुभ कर्म के कारण बुरा फल। उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययनों में कर्म की बात का स्पष्टीकरण किया गया है। यह जीव संसार में नाना प्रकार के कर्म करके अनेक गोत्र वाली जातियों में होकर व्याप्त हुआ है। कर्मों के अनुसार यह जीव कभी देवलोक में और कभी असुर की पर्याय को तो कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, आदि की पर्याय को प्राप्त होता रहा और अनेक पर्यायों में अपने ही कारण से भटकता रहा, मनुष्य जन्म को पाकर भी अज्ञानता के कारण यत्र-तत्र भ्रमण करता रहा। ग्यारहवें अध्ययन में मनुष्य जन्म की सार्थकता को बतलाया है। जिन कर्मों के कारण संसार में भटक रहा है उसका विवेचन तेंतीसवें अध्ययन में भेद-प्रभेद के साथ किया गया है और अन्त में यह उपदेश दिया गया है कि हे भव्य पुरुष! कर्मों के विपाक को जानकर इनको क्षय करने का प्रयत्न करे। चौंतीसवें अध्ययन में लेश्या द्वारा मनुष्य के भावों को समझाया तथा कहा है कि जो पुरुष जिस रूप का विचार करता, वह कृष्ण, नील, कापोत, पीत-पद्म और शंख इन छः रूप को धारण कर लेता और इन्हीं काषायिक भावों के द्वारा नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों को प्राप्त करता रहता है। जो अपने आत्मस्वरूप को समझने लगता और जिसकी दृष्टि राग-द्वेष एवं मोह से रहित हो जाती है वह कर्म से मुक्त हो जाता है और उसका जन्म-मरण रूप रोग मिट जाता है। जो सार से सार को तथा असार से असार को जानते हैं। सम्यक् संकल्पों को देखने वाले वे लोग सार को प्राप्त करते हैं।[२१] **इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्दमोहेन भारत**।[२२] अर्थात् संसार में इच्छा-द्वेष का उत्पन्न होना अज्ञानता का कारण है। **रागद्वेषवियुक्तैः**[२३] राग-द्वेष से विमुक्त कर्मों से मुक्त हो जाते हैं। राग-द्वेष से युक्त मनुष्य शास्त्र के अर्थ को भी विपरीत मान लेता है। राग-द्वेष दोनों ही वैरी है।[२४] शंकरभाष्य में कर्म के विषय में स्पष्ट कथन किया है कि कर्म आरम्भ किये बिना जन्म-जन्मान्तर के संचित पापों का नाश नहीं हो सकता। पाप-कर्मों का नाश होने पर मनुष्यों के अन्तःकरण में ज्ञान प्रकट होता है। इसलिए ही नियतकर्म का आचरण श्रेष्ठ कहा है, उसके प्रति आसक्ति नहीं, क्योंकि कर्मफलआसक्ति कर्मबंधन का कारण है।[२५] गीता का केवल तीसरा अध्याय ही नहीं, अपितु इसके सभी अध्याय निष्काम कर्मयोग की शिक्षा देते हैं, जो परमात्म या परब्रह्म के साक्षात् का कारण है।

जैनदर्शन की तत्त्वदृष्टि प्रत्येक बात का स्पष्टीकरण कर देती है। जीव-अजीव इन तत्त्वों के आधार पर विश्व का सही-सही ज्ञान हो जाता है। पर समझना है कर्म के कारणों को। आस्रव द्वारा कर्मों कर आना होता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध में कर्म आकर इस तरह बँध जाते हैं जैसे दूध में पानी उसे अलग-अलग नहीं किया जा सकता। बंध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं और ये बंध के कारण अपनी-अपनी कर्मशक्ति के अनुसार बँधते हैं। इनके अभाव होने से व्यक्ति कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। तब कर्म-संस्कार आत्मा पर नहीं पड़ते।[२६] डॉ० रामनाथ शर्मा ने लिखा है कि "संसार एक रंगमंच के समान है जिस पर सभी को अपने कर्मानुसार निश्चित पार्ट अदा करना पड़ता है।.....कर्म के सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी लगा हुआ है। कर्म के बंधनों के कारण आत्मा को बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है। मोक्ष होने पर ही पुनर्जन्म से छुटकारा मिलता है।"[२७] धम्मपद के यमक-वर्ग में पुनर्जन्म का एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया है "सारे कार्यों का आरम्भ मन से होता है। मन श्रेष्ठ है। सारे कार्य मनोमय होते हैं। मनुष्य यदि दुष्ट मन से बोलता है तो दुःख इसका पीछा करता है जैसे कि चक्र बैल के पैर का पीछा करता है।"[२८] जन्म के बाद मरण और मरण के बाद जन्म निश्चित होता है। कर्म नियमानुसार ही कर्मफल को भोगना पड़ता है। समस्त कर्मफल को एक साथ नहीं भोगा जा सकता। जिस क्रम से कर्मफल को भोगता है, उसी क्रम से कर्मफल का अन्त भी होता है। गीता में आत्मा की शाश्वतता के बतलाने के बाद कहा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को छोड़कर नये कपड़े धारण करता है उसी प्रकार यह आत्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण कर लेती है। अतः जन्म-मरण का चक्र अनादि से चला आया है। जो जन्म-मरण का अन्त कर देता है वही परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। आत्मा "**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता व न भूयः।**" गीता २/२० तथा धम्मपद के आत्मवर्ग में स्वयं को उद्बोधन किया गया है "**अत्ताहि अत्तनो नाथो**"....और गीता के छठे अध्याय के पाँचवें-छठवें श्लोक में भी इसी प्रकार का कथन किया है।

नैतिक समन्वयात्मक दृष्टि—तीनों नीतिपरक रचनायें हैं। सदाचार, सत्कर्म एवं ज्ञान को विशेष महत्व दिया गया है। उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन में गुरु-शिष्य की विशेषताओं को बतलाया गया है। शिष्य को उपदेशित किया है कि गुरु के निकट रहकर गुरु की आज्ञा-पालन करे, जो आज्ञा को नहीं मानता वह तत्त्वज्ञान को नहीं समझ सकता। इसलिए विनय का आचरण करना चाहिए।[२९] चौथे अध्ययन में साधु के गुणों का विवेचन किया है कि साधु विवेक को बन्द करके लुभाने वाले विषयों में मन नहीं लगावे, क्रोध को शान्त करे, मान को हटावे, माया का सेवन नहीं करे और लोभ का त्याग करे।[३०] उत्तराध्ययन की तरह गीता में अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के अधीन एवं दूसरों की निन्दा करने वाला, भगवत् विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष को न इहलोक है और न परलोक है और न सुख ही।[३१] आलसी और वीर्यहीन रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है, पर वीर्ययुक्त और दृढ़तापूर्ण रहकर एक दिन का जीवित रहना श्रेष्ठ है। सदाचारी और संयत, बुद्धिमान और ध्यानी इत्यादि अनेक उदाहरणों को प्रस्तुत कर यह बतलाया गया है कि जीव को अपने जीवन का महत्व समझना चाहिए। ज्ञानी पुरुष दुर्लभ है। वह सब जगह पैदा नहीं होता।[३२] ऐसे अनेकों नीतियुक्त वचनों का कथन तीनों ग्रन्थों में मिल जाता है। इन तीनों की समन्वयात्मक दृष्टि है। उत्तराध्ययन स्याद्वाद एवं अनेकान्तदृष्टि से वस्तुतत्व को समझने के लिए प्रेरणा देता है। केवल यही बात नहीं है, अपितु उन विभिन्न आदर्शों को तर्क-वितर्क एवं उपदेशात्मक शैली से बतला दिया कि जिसे सर्वसाधारण पढ़कर या गम्भीर रूप से सुनकर आत्म-कल्याण की भावना को पैदा कर लें। गीता कर्म-योग की शिक्षा अन्त तक देती है, और व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का बोध कराती है। धम्मपद सत्कर्म की ओर प्रेरित करता है "**न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचन।**" वाली युक्ति मानव कर्तव्य का बोध दिलाती है। गीता "**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**" और उत्तराध्ययन "**अप्पणा सच्चमेसेच्चा, मित्तिं भूएहिं कप्पये।**" अतः तीनों का प्रतिपाद्य विषय आत्मकर्तव्य ही है। प्रत्येक मानव का लक्ष्य कर्तव्य को जानना है।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ **गीता** अ० २।३०-३१
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ! । तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

२ **वही** अ० २।४७-४८

३ **उत्तराध्ययन** ३।६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४ उत्त०३२।७६ से ८४ के भाव को देखिये। ५ वही अ. ६।३ से १४ तक

६ धम्मपद पापवग्गो ६—उदबिन्दु निपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
बालो पूरति पापस्स थोकं थोकं पि आचिनं ॥

७ धम्मपद—गा० १९१ : दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमागमिनं ॥

८ उत्तरा० अ० १९ गा० १६ : जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो..... ॥

९ वही—अ० ३२ गा० ३० से १०७ तक १० उत्त० ११—३७ "रागं दोसं य छिंदिया।"

११ धम्मपद गा० २९१-२९२ परदुक्खूपधानेन अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न परिमुच्चति ॥
यं हि किच्चं अपविद्धं अकिच्चं पन करीयति ॥

१२ गीतारहस्य हिन्दी पृ० ११२ प्रथम संस्करण

१३ उत्त० अ० २०। गा० ३७ अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥

१४ धम्मपद—गा० ११६।

१५ तिलक—गीता रहस्य, पृ० १०६-१०७ १६ गीता अ० ८/२८

१७ गीता अ० १६ श्लोक १ से ५ तक दैवी सम्पदा—अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! संपदमासुरीम् ॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

१८ डॉ० राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन पृ० ५३१।

१९ धम्मपद—अरहन्तवग्गो गा० ९० : "गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
सब्बगन्थप्पहीनस्स परिलाहो न विज्जति ॥"

२० उत्त०—अ० ८ गा० ५-६।

२१ धम्मपद—गा० १२ २२ गीता अ० ७/२७ २३ गीता अ० २/६४

२४ गीता शांकरभाष्य—अ० ३/२४—"रागद्वेष प्रयुक्तो मन्यते शास्त्रार्थ अपि अन्यथा।
रागद्वेषौ ह्यस्य परिपन्थियो ॥"

२५ गीता भाष्य—३/८ : नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

२६ डॉ० महेन्द्र कुमार—जैनदर्शनः कर्मवाद विशेष पठनीय है।

२७ भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व—पृ० ५

२८ धम्मपद—गा० १—मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ॥
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं ॥

२९ उत्त० अ० १/७ : "तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडिलभेज्जओ।" ३० वही० अ० ४/१२

३१ गीता ४/४०—"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

३२ धम्मपद गा० १० से १६ तक।

३३ वही गा० १९३ 'दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैन-संस्कृति में ब्रह्मचर्य एवं आहार-शुद्धि

महासती श्री प्रियदर्शना, एम० ए०
[महासतीजी उज्ज्वलकुमारीजी की शिष्या]

जैन संस्कृति में ब्रह्मचर्य

भरतखण्ड, आर्यावर्त, भारत, भारतवर्ष, हिन्दुस्तान, India आदि विविध नामों से सम्बोधित इस धरा के कण-कण में सौरभ, सुषमा, सौन्दर्य एवं संगीत स्वर; इसकी आत्मा में ममत्व, माधुर्य तथा आकर्षण; इसकी संस्कृति में वैभव, वीरता, विराग तथा बलिदान का सौष्ठव रहा है। यह जौहर तथा स्वाभिमान की भूमि, जहाँ की देवियों ने अपने सतीत्व एवं आदर्श की रक्षा के लिए, अपने आपको धधकती ज्वालाओं में झोंक दिया था। यह त्याग और नीति की, ममता, सौहार्द, वात्सल्य की, धर्म और त्याग की, ज्ञान-ध्यान-दर्शन की, श्रमिकों की एवं कृषकों की, कला और साहित्य की, आचार-विचार के समानता की प्रसूताभूमि है, जिसने अपने आँचल में अतीत की गरिमा को संजोए रखा। अपने उदात्त विचारों से, अपनी गौरवपूर्ण संस्कृति को अमर बना दिया। वह आदर्शपूर्ण अतीत जिसने प्रगतिमय वर्तमान को राह दी और भविष्य को एक आशा।

अद्भुत महिमामयी यह भारतभूमि भौगोलिक दृष्टि से, विभिन्न नद-नदियों, उत्तुंग पर्वतों तथा वनबनान्तरों से अनेक खण्डों में विभाजित अवश्य है, किन्तु विभाजन केवल शरीर से है न कि आत्मा से। किसी भी राष्ट्र की आत्मा उसकी संस्कृति होती है। संस्कृति बाह्य आचार व्यवहार या वेशभूषा से नहीं परन्तु महान् प्रवृत्तियों, उदात्त भावनाओं एवं विराट् विचारधाराओं से सम्बन्धित है। इसी दृष्टि से भारतीय संस्कृति त्रिपथगा होते हुए भी आत्मत्व की दृष्टि से एक है, अखण्ड है। किन्तु किसी भी संस्कृति के पूर्व कोई विशेषण लगा दिया जाता है तब वह विभाजित हो जाती है। जैसे कि श्रमण संस्कृति, ब्राह्मण संस्कृति आदि।

विश्व की विविध संस्कृतियों में श्रमणसंस्कृति एक गौरवपूर्ण प्रधान संस्कृति है। समता प्रधान होने के कारण यह संस्कृति श्रमण संस्कृति कहलाती है। श्रमणसंस्कृति जैन और बौद्ध धर्म से अनुप्राणित रही है। श्रमण संस्कृति, जीवन की संस्कृति है। ज्ञान, विज्ञान, चिन्तन और अनुसन्धान की संस्कृति है। श्रमण संस्कृति की समता सार्वभौम है। श्रमण संस्कृति के पुरस्कर्ता भगवान महावीर तथा उनके समकालीन शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध तो थे ही किन्तु लगभग छठी शताब्दी में निर्मित साहित्य में श्रमणों में, निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक, आजीवकों की गणना भी की गई है। जैनधारा और बौद्धधारा ये श्रमण संस्कृति की प्रमुख धाराएँ हैं। श्रमण संस्कृति की इन दोनों धाराओं ने अपने सुचिन्तन की सुशीतल जलधारा से, इसको सिंचित किया है। श्रमण संस्कृति की जैनधारा बौद्धधारा से भी प्राचीन है।

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है—तप, त्याग, संयम और आचार। श्रमण संस्कृति में, विशेषतः जैन संस्कृति में भी ये तत्त्व प्रमुख रूप से स्वीकार किये गये हैं। उनमें भी दम, दान और दया को आत्मोन्नति का मार्ग बताया गया है। आत्मनिग्रह को 'दम' कहा जाता है इसी को संयम भी कहते हैं। आत्मसंयम और इन्द्रिय-दमन से परब्रह्म सम्बन्धी साक्षात्कार होता है। केनोपनिषद् में तो 'दम' को ब्रह्म सम्बन्धी रहस्यज्ञान का आधार बताया है। 'ब्रह्म' आत्मा 'चर्य' याने चलना, आत्मा में चलना इसी का नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य भारतीय संस्कृति का प्रमुख अंग है। श्रमण संस्कृति में ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक बताया है। मन-वचन-काया से इन्द्रियों के संयम, मनोविकारों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवरोध तथा वासनाओं के उन्मूलन को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। योगदर्शन में 'ब्रह्मचर्य' का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया गया है—"**ब्रह्मचर्य गुप्तस्येन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।**" अथर्ववेद में कहा गया है कि :

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं हि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ अथर्ववेद ११/५/४

अर्थात् ब्रह्मचर्य एवं तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आचार्य शिष्यों के शिक्षण की योग्यता अपने में सम्पादन करते हैं। उपनिषदों में ब्रह्मचर्य का विशेष महत्व प्रतिपादन किया गया है :—

तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं,
येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्। —प्रश्न उपनिषद्

ब्रह्मलोक उनका है जो तप, ब्रह्मचर्य तथा सत्य में निष्ठा रखते हैं। छांदोग्यउपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ, उपवास आदि जितने भी पवित्र कर्म हैं वे बिना ब्रह्मचर्य के निरर्थक हो जाते हैं। गोपथ ब्राह्मण में भी यह प्रश्न पूछकर स्पष्ट किया गया है :—

किं पुण्यमिति ? ब्रह्मचर्यमिति,
किं लोक्यमिति ? ब्रह्मचर्य मेवेति। —१/२/५

अर्थात्—पवित्र क्या है ? ब्रह्मचर्य है। दर्शनीय क्या है ? ब्रह्मचर्य है। वैसे ही और भी अनेक वैदिक सूक्तियों के रूप में ब्रह्मचर्य का वर्णन पाया गया है। शक्ति का प्रादुर्भाव भी ब्रह्मचर्य से ही सम्भव है—महर्षि पतंजलि ने अपने योगशास्त्र में कहा है "**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**" अर्थात्—ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर ही वीर्य (शक्ति, बल) का लाभ होता है। मन-वचन-काया से समस्त इन्द्रियों का संयम करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य एक ऐसा धर्म है, जिसकी पवित्रता, पावनता और स्वच्छता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। विश्व के समस्त धर्मों में ब्रह्मचर्य एक पावन और पवित्र धर्म माना गया है। इसकी पवित्रता से सभी प्रभावित हैं। वैदिक परम्परा में आश्रम व्यवस्था स्वीकार की गई है। चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य सबसे पहला आश्रम है। वैदिक परम्परा का यह विश्वास रहा है कि मनुष्य को अपने जीवन का भव्य प्रासाद ब्रह्मचर्य की नींव पर खड़ा करना चाहिए। ज्ञान और विज्ञान की साधना एवं आराधना बिना ब्रह्मचर्य की साधना के नहीं की जा सकती। बौद्ध परम्परा में भी ब्रह्मचर्य को बड़ा महत्व दिया गया है। बोधिलाभ प्राप्त करने के लिए मार को जीतना आवश्यक है, वासना पर संयम रखना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपनी वासना पर संयम नहीं रख सकता, वह बुद्ध नहीं बन सकता।

भारतीय धर्मों के अतिरिक्त ईसाईधर्म में ब्रह्मचर्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनके ग्रन्थों में भी एक नहीं, अनेक स्थानों पर व्यभिचार, विलासिता और विषय-वासना आदि दुर्गुणों की भर्त्सना की गई है। यूनान के महान् दार्शनिक पाइथागोरस ने अपने युग की मानव-जाति को सम्बोधित करते हुए कहा था, No man is free who cannot command himself (मैं उस व्यक्ति को स्वतन्त्र नहीं कह सकता जो अपने आप पर नियन्त्रण, संयम का नियन्त्रण न कर सके।) इस प्रकार ईसाईधर्म में भी ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया है। मुस्लिमधर्म में भी व्यभिचार, वासना विलास का तीव्र विरोध किया गया है। ऐसे दुर्गुणग्रस्त व्यक्ति का जीवन गर्हित और निन्दनीय समझा जाता है। दुनिया का कोई भी धर्म या संस्कृति क्यों न हो, सबने एक स्वर से ब्रह्मचर्य की महानता स्वीकार की है।

जैन संस्कृति में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा—जैन संस्कृति का वज्र आघोष है कि ब्रह्मचर्य में एक अपार बल, अमित शक्ति और एक प्रचण्ड पराक्रम है। ब्रह्म का अर्थ है परमात्मा, आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए जो चर्या=गमन=प्रयत्न किया जाता है उसका नाम ब्रह्मचर्य है। शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य एक आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, जिसके द्वारा मानव-समाज पूर्ण सुख और शान्ति को प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य की स्तुति में बहुत कुछ कहा गया है, लिखा गया है, और गाया गया है। ब्रह्मचर्य की महत्ता के विषय में स्वयं भगवान् महावीर कहते हैं कि देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी दैवी शक्तियाँ ब्रह्मचारी के चरणों में प्रणाम करती हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्य की साधना बड़ी ही कठोर साधना है। जो ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, वस्तुतः वे एक बहुत बड़ा दुष्कर कार्य करते हैं।

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करन्ति ते॥ —उत्तराध्ययन सूत्र अ. १६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर की उपर्युक्त वाणी को आचार्य शुभचन्द्र भी प्रकारान्तर से दुहरा रहे हैं :—

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्-विशुद्धि समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ।। —ज्ञानार्णव

ब्रह्मचर्य ही तीनों लोक में एकमात्र श्लाघनीय है । ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम के वेग को रोकना है । यह वेग बड़ा ही भयंकर है । जब आता है तो बड़ी-बड़ी शक्तियाँ भी लाचार हो जाती हैं । वे महापुरुष धन्य हैं जो इस वेग पर नियन्त्रण रखते हैं और मन को अपना दास बनाकर रखते हैं । महाभारत में व्यासजी ने कहा है—

वाचो वेगं, मनसः क्रोध-वेगं, विधित्सा, वेगमुदरोपस्थ-वेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहे दुर्दीर्णास्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ।। —महा. शान्ति. २९९/१४

जो पुरुष वाणी के वेग को, मन के वेग को, क्रोध के वेग को, काम करने की इच्छा के वेग को, उदर के वेग को, उपस्थ (काम-वासना) के वेग को रोकता है, उसको मैं ब्रह्मवेत्ता मुनि समझता हूँ । ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सम्भोग में वीर्य का नाश न करते हुए उपस्थ इन्द्रिय का संयम रखना ही नहीं है । ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है । अतः उपस्थेन्द्रिय के संयम के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों का निरोध करना भी अत्यावश्यक है । वह जितेन्द्रिय साधक ही पूर्ण ब्रह्मचर्य पाल सकता है, जो ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले, उत्तेजक पदार्थों के खाने, कामोद्दीपक दृश्यों को देखने और इस प्रकार की वार्ताओं को सुनने तथा ऐसे गन्दे विचारों को मन में लाने से बचता है । जैन परम्परा के तत्त्वचिंतकों ने ब्रह्मचर्य व्रत को स्थिर रखने के लिए जो शोध एवं खोज की है, जो नियम और उपनियम बनाये हैं, वे अद्‌भुत एवं विलक्षण हैं । आचार्य शुभचन्द्र ने ब्रह्मचर्य की साधना के लिए दस प्रकार के मैथुन से विरत होने का उपदेश दिया है—

१. शरीर का अनुचित अर्थात् कामोत्तेजक शृंगार आदि करना ।
२. पौष्टिक एवं उत्तेजक रसों का सेवन करना ।
३. वासनामय नृत्य गीत आदि देखना सुनना ।
४. स्त्री के साथ संसर्ग—घनिष्ट परिचय रखना ।
५. स्त्री-सम्बन्धी संकल्प रखना ।
६. स्त्री के मुख, स्तन आदि अंग-उपांग निरखना ।
७. स्त्री के अंगदर्शन सम्बन्धी संस्कार मन में रखना ।
८. पूर्व भोगे हुए काम-भोगों को स्मरण करना ।
९. भविष्य के काम-भोगों की चिन्ता करना ।
१०. परस्पर रतिकर्म अर्थात सम्भोग करना ।

ब्रह्मचर्य-पालन के लिये उक्त बातों का स्पष्ट निषेध किया गया है । भारत के धर्मग्रन्थों में कहा गया है कि स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और संभोग—इन आठ प्रकारों के मैथुनों का ब्रह्मचर्य के साधकों के लिये सदैव परित्याग करना चाहिये । जैनधर्म में "सत्य, तप, प्राणिदया और इन्द्रिय-निरोधरूप ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान को ब्रह्मचर्य कहा गया है । वस्तुतः कायिक, वाचिक, एवं मानसिक समस्त प्रकार की वासनाओं का परित्याग करना ही 'ब्रह्मचर्य' है ।

ब्रह्मचर्य जीवन की साधना है, अमरत्व की साधना है । ब्रह्मचर्य जीवन है, वासना मृत्यु । ब्रह्मचर्य अमृत है, वासना विष । ब्रह्मचर्य अनन्त शान्ति है, अनुपम सुख है । वासना अशान्ति का अथाह अर्णव है । ब्रह्मचर्य शुद्ध ज्योति है, वासना कालिमा । ब्रह्मचर्य ज्ञान-विज्ञान है, वासना भ्रान्ति एवं अज्ञान । ब्रह्मचर्य अजेय शक्ति है, अनन्त बल है, वासना जीवन की कायरता, दुर्बलता एवं नपुंसकता है । ब्रह्मचर्य, शरीर की मूल शक्ति है । जीवन का ओज है । जीवन का तेज है । ब्रह्मचर्य अनुत्तर धर्म है । संयम के द्वारा वह सुरक्षित है, उसकी सुरक्षा का द्वार है—ध्यान, और उसकी आगल है अध्यात्म । भगवान महावीर के शब्दों में ब्रह्मचर्य भगवान् है । प्रश्नव्याकरणसूत्र में इसका उल्लेख आया है—

"तं बंभं भगवंतं गह-गण-णक्खत-तारगाणं जहा उडुवइ, मणि-मुत्त-सिलप्पवाल-रत्तरयणागराणं य जहा समुद्दो, वेरुलिओ चेव जहा मणिणं, जहा मउडो चेव भूसणाणं, वत्थाणं चेव खोमजुयलं, अरविंदं चेव पुप्फजेट्ठं, गोसीसं चेव चंदणाणं, हिमवं चेव ओसहीणं, सीतोदा चेव निन्नगाणं, उदहीसु जहा सयंभूरमणो·····—प्रश्न व्याकरण, संवरद्वार, ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् ब्रह्मचर्य भगवान है। वह ग्रह-गण-नक्षत्र-ताराओं में चन्द्रमा के समान है। चन्द्रकान्त मणि, मोती प्रवाल व पद्मराग आदि रत्नों के उत्पत्ति स्थानों में समुद्रवत् है अर्थात् जैसे समुद्र में रत्न उत्पन्न होते हैं वैसे ब्रह्मचर्य भी अन्यान्य व्रतों का उत्पत्ति स्थान है। जैसे मणियों में वैडूर्य श्रेष्ठ है, भूषणों में मुकुट प्रवर है, वस्त्रों में क्षौम युगल (बहुमूल्य रेशमी वस्त्र) मुख्य है, पुष्पों में अरविन्द पुष्प उत्कृष्ट है, चन्दनों में गोशीर्ष प्रकृष्ट है, औषधियुक्त पर्वतों में हिमवान् श्रेष्ठ है, नदियों में सीतोदा नदी बड़ी है, समुद्रों में स्वयम्भूरमण बृहत्तम है तथा हाथियों में ऐरावत्, स्वर्गों में ब्रह्मस्वर्ग, दानों में अभयदान, मुनियों में तीर्थंकर और वनों में नन्दनवन जैसे उत्कृष्ट है, वैसे व्रतों में ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ हैं। इसी प्रश्नव्याकरण सूत्र में पुनश्च कहा गया है :

"जम्बू ! एत्तो य बंभचेरं तव-नियम-नाण-दंसण-चरित-सम्मत्त विणयमूलं"

हे जम्बू ! यह ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन-चारित्र सम्यक्त्व और विनय का मूल है।

"एगंमि बंभचेरे, जंमिय आराहियंमि, आराहियं वयमिणं, सव्वं, सीलं तवो य, विणयो य, संजमोय खंती, गुत्ती, मुत्ती। तहेव य इहलोइय-पारलोइय-जसे य कित्ती य पच्चओ य तम्हा निहुएण बंभचेरं चरियव्वं।"

अर्थात् एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर, शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता, गुप्ति आदि सभी व्रतों-गुणों की आराधना हो जाती है। इसी प्रकार इहलोक-परलोक में यश, कीर्ति और विश्वास की प्राप्ति होती है, अतः निश्चल भाव से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। ब्रह्मचर्य तपों में उत्तम तप है—**"तवेसु वा उत्तम बंभचेरं.... सूत्रकृतांग।"** ब्रह्मचर्य से देवता अमर बन जाते हैं। अथर्ववेद में नेता के लिये ब्रह्मचारी होना आवश्यक माना है। ऐतरेय उपनिषद् में कहा है—शरीर के समस्त अंगों में जो यह तेजस्विता है वह वीर्यजन्य ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—"जो स्त्रियों के सुन्दर अंगों को देखते हुए भी विकार नहीं लाते वे ब्रह्मचारी हैं। महात्मा गांधी ने कहा है—'ब्रह्मचर्य का अर्थ है समस्त इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण और मन-वचन-कृत्य द्वारा लोलुपता से मुक्ति। आत्मा की शुद्ध परिणति ही परमात्म ज्योति है, परब्रह्म है, परमधर्म है, अनन्तसत्य की सिद्धि है। इसे प्राप्त करने की साधना का नाम ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य की साधना

मानव जीवन की चरम साधना ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना में समाहित है। शुद्ध साधना का सिंहद्वार ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य की साधना अन्दर और बाहर दोनों क्षेत्रों में चलती है। इसकी साधना का एक ही मार्ग है, कि हम अपनी इन्द्रियों, मन और शरीर को आत्मा के केन्द्र पर ले जाये, अपने समस्त व्यापारों को आत्मा में ही केन्द्रीभूत कर ले। जब आत्मा की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित हो जाती है तब ब्रह्मचर्य की शक्ति बढ़ जाती है। यह केन्द्रीकरण जितना-जितना मजबूत होता जाता है, उतनी-उतनी ब्रह्मचर्य की शक्ति में अभिवृद्धि होती चली जाती है। ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य की साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिये, इन्द्रियनिग्रह और मनोनिग्रह की अत्यन्त आवश्यकता है। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधकों को, इन्द्रियजन्य भोगों की आसक्ति से और उनके विषयों की लालसा से बचते रहने का आदेश दिया है।

वासना, विकार एवं विषयेच्छा आत्मा के शुद्ध भावों की विनाशक है, अतः जिस समय आत्मा के परिणामों में मलिनता आ जाती है, उस समय ब्रह्मज्योति स्वतः ही धूमिल पड़ जाती है। ब्रह्मव्रत की साधना, वासना के अन्धकार को समूलतः विनष्ट करने की साधना है। वासना आत्मा का सब से भयंकर एवं खतरनाक शत्रु है। वासना हिंसा है, वासना ज्वाला है और वह आत्मा को जलाती है। भगवान महावीर ने साधना के दो रूप बताये हैं—(१) वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण और वासनाओं का केन्द्रीकरण; इसे आगम में पूर्ण ब्रह्मचर्य और आंशिक ब्रह्मचर्य भी कहा गया है। अब एक कुशल कारीगर तीनों ओर से मजबूत पहाड़ियों से घिरे हुए स्थल को एक ओर दीवार बनाकर (Dam) बाँध का रूप देता है, साथ ही उसमें कई द्वार भी बनाता है ताकि उससे अनावश्यक पानी निकाला जा सके और बाँध की सुरक्षा के लिए, उसे खतरा पैदा न हो, उसकी क्षमता के अनुसार उसमें पानी रखते हैं। अनावश्यक पानी का प्रबल वेग कभी दीवार को भी तोड़ सकता है। मानव मन के महासरोवर की भी यही स्थिति रही है। वासना के प्रवाह को पूर्णतः नियन्त्रण में रखना साधक का परम कर्तव्य है परन्तु उसे देखना है अपनी क्षमता कितनी है। अगस्त्य ऋषि की भाँति, वासना के समुद्र को पीकर पचा सके तो यह आत्म-विकास के लिए सुवर्ण अवसर है। परन्तु यदि वह वासनाओं पर पूरा नियन्त्रण करने की क्षमता नहीं रखता है, तो प्रवहमान वासना के प्रवाह को केन्द्रित करके कुछ नियन्त्रित करके भयंकर बर्बादी से अपने को बचा लेता है। जैनदृष्टि से विवाह वासनाओं का केन्द्रीकरण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असीम वासनाओं को सीमित करने का मार्ग है। पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ने का कदम है। वासना का अनियन्त्रित रूप आत्मा का पतन है। विवाह वासना को नियन्त्रित करने का एक साधन है। यह एक मलहम (Ointment) है। इसका प्रयोग घाव ठीक करने के लिए किया जाता है। परन्तु घाव ठीक हो जाने पर कोई भी अपने शरीर पर मलहम उपयोग नहीं करता। इसी तरह विवाह भी वासना के उद्दाम वेग को रोकने के लिए, विकारों की व्याधि को क्षणिक उपशान्त करने के लिए है न कि उसे बढ़ाने के लिए। दाम्पत्य जीवन भी मर्यादित हो, अमर्यादित नहीं।

उद्दाम वासनाओं का मूल उद्गम स्रोत मानव-मन रहा है, पशुओं में भी वासना की झलक पाई जाती है परन्तु वह प्राकृतिक ढंग से उपशान्त होती है। आज के मनोवैज्ञानिकों ने मन को सभी का मूलभूत कारण माना है। अस्वस्थ मन अनेक आधि-व्याधि-उपाधियों का कारण है। मनोविज्ञान के अनुसार मन के तीन भेद किये जाते हैं—चेतन मन (Conscious), अचेतन मन (Unconscious) और चेतनोन्मुख मन (Pre-conscious)। डॉ० फ्रायड (Freud) के अनुसार मानव-जीवन के समस्त व्यवहार एवं क्रियायें चेतन मन से ही की जाती है। अचेतन मन हमारे पुराने अनुभवों की महानिधि के समान है। मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियाँ अचेतन मन में ही रहती है। विस्मृत अनुभव और अतृप्त वासनाएँ भी अचेतन मन में ही रहती है। अचेतन मन क्रियात्मक मनोवृत्तियों का उद्गम-स्थल है। मन का वह भाग जहाँ पर चेतना के समय आने पर विचार-वासनाएँ ठहरती हैं चेतनोन्मुख मन है।

मनोवैज्ञानिकों ने, मन की मूलशक्ति क्या है और उसका स्वरूप क्या है, इसको अपने अनुभवों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। डॉ० फ्रायड ने मानव-मन की मूलशक्ति को काम एवं वासनामयी माना है। मानव-जीवन की मूलइच्छा कामेच्छा है। यही इच्छा अनेक प्रकार के भोगों में परिणित हो जाती है। सभ्यता और संस्कृति का विकास, इसी काम इच्छा के अवरोध (Inhiatition), मार्गान्तरीकरण (Redirection), रूपान्तर (Transformation) अथवा शोध (Sublimation) में है। इस शक्ति के अत्यधिक दमन और अत्यधिक प्रकाशन में मनुष्य अपने स्वरूप को भूल जाता है। वासना का सम्यक् संयमन ही शुद्ध ब्रह्मचर्य है। वासना का दमन करने की अपेक्षा, विवेक के प्रकाश में, उसका ऊर्ध्वीकरण, रूपान्तर, शमन और शोधन हो तो वह अधिक फलदायी हो सकती है। कामातुर तुलसी दास, सन्त तुलसीदास बन जाते हैं। काम का भक्त तुलसी, राम का भक्त बन जाता है। इसमें तुलसी ने काम का दमन नहीं किया अपितु उस शक्ति का शोधन करके, उसका ऊर्ध्वीकरण करके साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियां संसार के सामने प्रस्तुत की, निश्चय ही वे अद्भुत हैं। जैनशासन के उन्नायक कामविजेता आर्य स्थूलभद्र ने अपने जीवन की ज्योति से ब्रह्मचर्य की साधना को सदा के लिये ज्योतिर्मय बना दिया। आचार्य हेमचन्द्र ने, स्थूलभद्र के जीवन के सम्बन्ध में लिखा है कि वे योगियों में श्रेष्ठ योगी, ध्यानियों में श्रेष्ठ ध्यानी और श्रेष्ठ तपस्वी थे। उनकी ब्रह्मचर्य की अमर साधना से प्रभावित हो पाटलीपुत्र की सुप्रसिद्ध कोशा वेश्या अब्रह्मचर्य के पाप से हटकर ब्रह्मचर्य की पुण्यमयी शरण में पहुँच जाती है। यह है ब्रह्मचर्य योग की साधना का अद्भुत प्रभाव।

ब्रह्मचर्य की साधना, मन, वचन और तन तीनों से सम्पन्न हो तभी उसका जीवन सुखद, शान्त और मधुर बन सकता है। ब्रह्मचर्य की साधना से जैसे-जैसे वीर्यशक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे इच्छाशक्ति और संकल्पशक्ति भी बढ़ती है। वीर्य शरीर में कैसे तैयार होता है? इसके लिये बताया गया कि, जैसे एक औंस इत्र (Scent) तैयार करने में ८७५२ रत्तल गुलाब के फूल नष्ट होते हैं उसी प्रकार वीर्य की एक बूंद बनने में काफी पदार्थों का विलय होता है। इसीलिये अन्वेषकों ने कहा **"मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दु धारणात्।"** वीर्य ही प्राणशक्ति है और उसके कारण ही शरीर प्राणवान्-सबल बनता है अतएव वीर्यरक्षा जीवन है और वीर्यपात मृत्यु! वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्य से ही संभव है।

आहार-शुद्धि और ब्रह्मचर्य

भोजन और ब्रह्मचर्य का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। आयुर्वेदशास्त्र में कहा है कि मनुष्य के भोजन का प्रभाव उसके विचारों पर पर्याप्त रूप में पड़ता है। जैन महर्षियों ने आहार और आहार-शुद्धि पर गम्भीर एवं व्यापक रूप में लिखा है। आहार के अच्छे-बुरे प्रभाव का सम्बन्ध शरीर तक ही नहीं है बल्कि शरीर में व्यापक रूप से व्याप्त मन के साथ भी प्रगाढ़ सम्बन्ध है। मन का तादात्म्य आत्मा के साथ है। अतः आहार का असर आत्मद्रव्य पर भी पड़ता है। आहार-शुद्धि के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा गया है कि आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि होती है। सत्त्व की शुद्धि से बुद्धि निर्मल बनती है। स्मृति ताजी बनी रहती है। स्मृति के लाभ से अर्थात् जागरूक अमूढ़ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य की सब ग्रंथियाँ खुल जाती हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,
स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। —छन्दोग्योपनिषद् ७/२६३

विश्व में भोजन की अच्छी-बुरी बहुत-सी चीजें मौजूद हैं। अच्छी चीजें जीवन के लिये उपयोगी हैं और बुरी चीजें अनुपयोगी। आहार-शुद्धि के लिये भोजन की अच्छाई-बुराई का दृष्टिकोण स्वादपूर्ति के रूप में नहीं होना चाहिये अपितु उसका उद्देश्य, जीवन निर्माण के लिये तथा शरीर की क्षति और दुर्बलता की पूर्ति के रूप में हो। जहाँ यह दृष्टि है वहाँ ब्रह्मचर्य की विशुद्धि रहती है। जहाँ यह दृष्टि नहीं रहती, वहाँ जीभ निरंकुश होकर रहती है, मिर्च-मसालों की ओर लपकती है। कभी-कभी सीमा से अधिक खा लिया जाता है। तामसिक भोजन और सात्त्विक भी मर्यादा से अधिक खा लेने से शरीर का रक्त खौलने लगता है और शरीर में गरमी आ जाती है। शरीर में गरमी आ जाने पर मन में गरमी आ जाती है। मन में गरमी आ जाती है तो साधक भान भूल जाता है। तब साधना के सर्वनाश का दारुण दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आज मानव ने स्वाद के लिये अनेकविध आविष्कार कर लिये हैं। भोजन के भाँति-भाँति के रूप तैयार कर लिये हैं। शरीर के लिये नहीं, जीभ के स्वाद के लिये ही तैयार किये हैं। विविध प्रकार के अप्राकृतिक खाद्य-पदार्थ, पेय-पदार्थ के सेवन से आज घातक बीमारियों का जाल-सा फैल गया है। तकनीकी युग का मानव, खाने के चक्कर में इतना उलझ गया है कि अपने ही शरीर में इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है, समझने-जानने के लिये उसके पास समय नहीं। होटेल्स, रेस्तोरां लॉज आदि सभी अनेक व्याधियों के अड्डे बन गये हैं। आज का मानव रेडिमेड चीजें अधिक पसन्द करता है अतः बाजारू खाने-पीने के पदार्थ खरीदकर अपने स्वास्थ्य का नुकसान अपने हाथों ही कर रहा है परन्तु इसका उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं है। चरक संहिता में स्पष्ट कहा है कि विरोधी आहार का सेवन नहीं करना चाहिये। इसके देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, अग्निविरुद्ध, मात्राविरुद्ध, कोष्ठविरुद्ध, अवस्थाविरुद्ध एवं विधिविरुद्ध आदि अनेक भेद हैं। विरोधी आहार से शक्ति का ह्रास होता है। जो शक्ति भोजन से प्राप्त होती है उसी भोजन से शक्ति का ह्रास भी होता है। भोजन के भी अपने कुछ विधान हैं। भोजन लेते हैं जीवन चलाने के लिये। महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये जीवन धारण करते हैं। वह उद्देश्य भी तीन प्रकार का है—चेतना का विकास, चेतना का ऊर्ध्वगमन, चेतना का उन्नयन। इन्हीं से ब्रह्मचर्य की साधना संभव है। साधना में बाधक न बने, भोजन में हमें उन्हीं तत्त्वों को ग्रहण करना है। भोजन में किये जाने वाले पदार्थों से यदि वासनाएँ उत्तेजित होती हैं, विकार या अन्य बुरी भावनाएँ जन्म लेती हैं तो साधना आगे बढ़ नहीं पायेगी। मस्तिष्क भारी होगा। जब तक यह भारमुक्त नहीं होता तब तक ध्यान-योग की साधना, ब्रह्मचर्ययोग की आराधना नहीं हो पायेगी। मस्तिष्क का भारमुक्त होना आमाशय, पक्वाशय और मलाशय की शुद्धि पर निर्भर है। इनकी शुद्धि के लिये भोजन और उसकी मात्रा पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। स्वादु, स्निग्ध, भारी, विकारवर्धक आहार मनुष्य के शरीर में गर्मी पैदा करता है, उत्तेजना बढ़ती है। अतः आगम में ब्रह्मचर्य की साधना के लिये ब्रह्मचारी को नित्य सरस आहार करने की मनाई है। इस प्रकार के आहार से वासना के उदय से, कभी उन्माद की स्थिति भी आ जाती है। ब्रह्मचारी को पूर्ण जागृति लानी होती है।

प्राचीन समय में संत, ऋषि, महर्षि, तपस्वी जिनका आहार-शुद्धि की ओर ध्यान रहता था, उनकी साधना में ब्रह्मचर्य का तेज भी चमकता था। उनके ब्रह्मतेज से देव-देवी भी उनके चरणों में झुकते थे। साधक को यदि ब्रह्मतेज को अक्षुण्ण रखना है तो अवश्य ही उन्हें आहार-विहार पर आवश्यक नियंत्रण रखना चाहिए। आयुर्वेद के अनुसार भोजन हमारे स्वभाव, रुचि और विचारों का निर्माता है। गीता में मानवीय प्रकृति को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुख-प्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या, आहाराः सात्विकप्रियाः ॥८॥
कट्वम्ललवणात्युष्ण, तीक्ष्ण, रूक्षविदाहिनः।
आहाराराजसस्येष्टा, दुःखशोकभयप्रदाः ॥९॥
यातयामं गतरसं पूति-पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

—गीता अ. १७

मनुष्य का आहार सात्त्विक, राजस और तामस के भेद से तीन प्रकार का है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयु, जीवनशक्ति, बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति को बढ़ाने वाले तथा रसीले, चिकने, जल्दी खराब न होने वाले एवं हृदय को पुष्ट बनाने वाले भोज्य पदार्थ सात्त्विक प्रकृति वाले मनुष्यों को प्रिय होते हैं, अतः वे **सात्त्विक** कहलाते हैं।

अति कड़ुवे, अति खट्टे, अति नमकीन अति उष्ण तीखे, रूखे, जलन पैदा करने वाले दुःख-शोक एवं रोग उत्पन्न करने वाले भोज्य पदार्थ राजस प्रकृति वाले मनुष्य को प्रिय होते हैं। अतः ये **राजस** कहलाते हैं।

बहुत देर का रखा हुआ, रसहीन, दुर्गन्धित, बासी, झूठा, अमेध्य, अपवित्र भोजन तामस प्रकृति वाले मनुष्यों को प्रिय होता है, अतः वह **तामस** कहलाता है।

इस प्रकार भोजन के भी तीन प्रकार हो जाते हैं—सात्त्विक भोजन, राजसिक भोजन और तामसिक भोजन। तामसिक भोजन करने वाले को निद्रा अधिक आती है। आलस्य और अनुत्साह छाया रहता है। वे जीवित भी मृतक के समान होते हैं। राजसी भोजन करने वाले को वासना (काम) अधिक सताती है किन्तु सात्त्विक भोजन करने वालों के विचार प्रायः पवित्र एवं निर्मल होते हैं।

मांस, मछली, अण्डे और मदिरा आदि नशीले पदार्थ तामसिक भोजन में परिगणित किये जाते हैं। आज के युग में मांस, मदिरा और अण्डों का बहुत प्रचार है। मांस का शोरबा, अण्डों का आमलेट, अहिंसक कहलाने वाले समाज में तीव्र गति से फैल रहा है किन्तु याद रखें कि निसर्ग की गोद में पले हुए मनुपुत्र का यह नैसर्गिक भोजन नहीं है यह उसके स्वभाव (Nature) के विरुद्ध है। विश्व के सभी धर्मों ने मांसाहार का डटकर विरोध किया उसे अप्राकृतिक (Unnatural) कहकर मानव-जाति को उससे बचाने का प्रयत्न सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, नानक, कबीर आदि सभी ने शाकाहार को पुरस्कृत किया है। गुरु नानक कहते हैं—

मांस मांस सब एक है मुर्गी हिरनी गाय।
आँख देख नर खात है वे नरकहिं जाय॥

भारतीय आयुर्वेद या विदेशी औषध विज्ञान (Medical Science) भी यह नहीं कहता कि मांस मानव का स्वाभाविक भोजन है। डॉक्टर हेनरी विलियम टाल्बोट कहते हैं कि केलशियम, कार्बन, लोरीन, क्लोरीन, सिलीकन आदि सोलह तत्त्व हमारे शरीर-निर्माण के लिए उत्तरदायी हैं, वे सभी शाकाहार में उपलब्ध हैं। यही भोजन हमारे आन्तरिक एवं बाह्य शरीर को दैविक जीवनी शक्ति से ओत-प्रोत कर सकता है। मांसाहार से जीवन सफल बनने के बजाय कषाय और वासनाएँ बढ़कर उसको नष्ट कर डालते हैं। डॉक्टर लाटबोट, सर हेनरी टाम्पसन, डॉक्टर एम० बडोवेयली, डॉक्टर जोजिया, ओल्डफील्ड, आदि सभी प्रसिद्ध डॉक्टरों ने मांसाहार का निषेध करके उसे अप्राकृतिक और हानिकारक बताया है। एक वैज्ञानिक का विचार है कि मांस, मदिरा और अण्डों के कारण ही आज के युग में बहुत से रोगों का सूत्रपात्र हुआ है। जैसे-जैसे मांस-मदिरा आदि तामसिक भोजन का प्रभाव बढ़ा है वैसे-वैसे मनुष्यों के शरीर में विभिन्न रोगों की उत्पत्ति अधिकाधिक बढ़ी है। औषधियों के रूप में भी मांसाहार बढ़ता जा रहा है। मांसाहारी के जीवन में करुणा का स्रोत मन्द होकर, क्रूरता प्रवेश करती है। डॉ० अल्बर्ट स्वाईत्सर ने कहा है "कि संस्कृति के पतन का मूल कारण है कि मनुष्य जीवन के प्रति आदर, (Reverence for Life) गँवा बैठा है। संयम बढ़ाने के लिए, ब्रह्मचर्य की साधना के लिए इस प्रकार के तामसिक आहार का त्याग सर्वप्रथम आवश्यक चीज बन जाता है। ब्रह्मचर्य के साधक के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह शुद्ध एवं सात्त्विक भोजन का लक्ष्य रखे। तामसिक और राजसिक भोजन साधना में विघ्नकर्ता है। जैनशास्त्रों के अनुसार अतिभोजन और अतिस्निग्ध भोजन प्रणीत-भोजन भी उस साधक के लिए त्याज्य है जो ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करना चाहता है। योगशास्त्र में कहा गया है कि अतिभोजन और अतिअल्पभोजन दोनों से योग की साधना नहीं की जा सकती। खटाई, मिठाई, मिर्च और मसाले सभी शरीर में विकृति लाने वाले, साधना में बाधक हैं। ये सभी उत्तेजक हैं, उत्तेजना लाने वाले हैं अतः भोजन का विवेक आवश्यक ही नहीं, परमावश्यक है। स्वस्थ जीवन के लिए भी आहार-शुद्धि अपना विशेष महत्व रखती है। क्योंकि कहा भी है—Sound mind in a Sound body. स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में ही सम्भव है। आहार-विशुद्धि के साथ-साथ, आसन प्राणायाम आदि भी ब्रह्मयोग की साधना में पोषक है। इन्द्रियसंयम और आहारसंयम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आहार संयम से ही इन्द्रियसंयम फलित होता है। अनियमित आहार, अतिआहार और अल्पआहार तीनों शरीर के लिए-हानिप्रद हैं। अतिआहार से सभी धातु विषम हो जाते हैं। अतः आहार-परिज्ञान सभी साधकों को होना आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य के आधार-स्तम्भ

ब्रह्मचर्य की साधना की परिपूर्णता के लिए जैन शास्त्रकारों ने कुछ साधन और उपायों का वर्णन किया है। इसकी सफलता के लिए भगवान महावीर ने दस प्रकार की समाधि और ब्रह्मचर्य की नव बाडों का उपदेश दिया है। स्थानांगसूत्र में समाधि, गुप्ति और बाडों का वर्णन आया है। भगवान महावीर के पश्चात् उत्तरकालीन आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में इन्हें और भी विशद रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मूल आगम में और आगमकाल के बाद होने वाले श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों ने अपने-अपने समय में समाधि, गुप्ति एवं बाडों का विविध प्रकार से, मूल आगमों का आधार लेकर वर्णन किया है। ब्रह्मचर्य को स्थिर रखने के लिए एक अन्य प्रकार का जो उपदेश दिया गया है उसे भावना कहते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' में, आचार्य शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' में और स्वामी कार्तिकेय विरचित 'द्वादशानुप्रेक्षा' में विस्तार के साथ भावनाओं का वर्णन आया है। आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्त्वार्थ-भाष्य' में ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। तत्त्वार्थसूत्र के नवम अध्याय में द्वादश भावनाओं का अति सुन्दर वर्णन आया है। इसी भाष्य में ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए दुःख-भावना का भी वर्णन आया है। ये सभी ब्रह्मचर्य की साधना के आधारस्तम्भ हैं।

उपसंहार

मनुष्य का महान् जीवन ब्रह्मचर्य की आधारशिला पर ही टिका है। ब्रह्मचर्य ही शरीर को सशक्त और जीवन को शक्तिसम्पन्न बनाता है। विचारों में बल ब्रह्मचर्य की साधना से ही आता है। भारतीय संस्कृति में विशेषतः जैन संस्कृति में ब्रह्मचर्य को, परमधर्म, परमशौच, परमतप, परमजप कहकर उसमें सभी उच्च तत्त्वों के नैतिक सिद्धान्तों को समाहित किया है। ब्रह्मचर्य के सद्भाव में सब साधनाएँ सफल होती है, उसके अभाव में सब विफल होती हैं। पर-भाव से हटकर स्वरूप में लीनता ही पूर्ण ब्रह्मचर्य है और यही मुक्ति का साक्षात् कारण है। ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला समस्त लौकिक कल्याणों के साथ परम लोकोत्तर कल्याण का भी भागी बनता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य नीरोग, कान्तिमान्, दीर्घजीवी, यशस्वी, तेजस्वी बनता है। ब्रह्मचर्य की साधना वासनाजय की साधना है। इसका अर्थ है—बृहत् आदर्श। सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से भी हमारे जीवन में बृहत् आदर्श और बृहत् कल्पना आनी चाहिए क्योंकि उसके आने पर ही ब्रह्मचर्य की प्राणदायिनी साधना सफल हो सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र के सोलहवें अध्ययन की सत्तरवीं गाथा में कहा गया है—

एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे॥

यह अर्थात् ब्रह्मचर्यधर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनदेशित है अर्थात् जिनों द्वारा उपदिष्ट है। इसी धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध बन गये, वर्तमान में बन रहे हैं और भविष्य में भी बनेंगे। तथास्तु!

पुष्कर वाणी

जिस प्रकार मन्दे पानी को एक स्थान पर केन्द्रित करके विविध औषधियों आदि से उसे शुद्ध, स्वच्छ और जन्तुरहित करके पीने योग्य बनाया जाता है, उसी प्रकार मन की वासना तथा विकारों को ब्रह्मचर्य की साधना, भावना और विचारणा द्वारा उनका परिष्कार कर जीवन को पवित्र और निर्दोष बनाया जाता है। वृत्तियों का शुद्धीकरण और जीवनी शक्ति का ऊर्ध्वीकरण ब्रह्मचर्य द्वारा सम्भव है।

पुष्कर वाणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन शिक्षा पद्धति

☐ श्रीमती सुनीता जैन, एम० ए०, एम० एड०, वाराणसी
[शिक्षा संकाय—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि भारत में प्राचीनकाल से ब्राह्मण और श्रमण विचारधाराओं का समानान्तर विकास होता रहा है।

तीर्थंकर वृषभ श्रमण परम्परा के आदि अनुशास्ता रहे हैं। यह तीर्थंकर परम्परा वृषभ या ऋषभ से लेकर ईसा पूर्व छठी शती में वर्द्धमान महावीर के उदय तक अविच्छिन्न रूप से चली आयी। गौतम बुद्ध द्वारा बौद्धधर्म की स्थापना के साथ श्रमण परम्परा में एक नयी इकाई जुड़ी जिसे सम्राट अशोक ने देश-देशान्तरों में प्रसारित किया। तीर्थंकर परम्परा जैनधारा के रूप में स्थापित हुई।

पिछले सौ वर्षों में भारतीय विद्याओं के उच्चानुशीलन की दिशा में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों द्वारा जो प्रयत्न हुए हैं उसमें ब्राह्मण या वैदिक तथा बौद्ध परम्परा की अनुपम उपलब्धियाँ सामने आयीं हैं किन्तु श्रमण या जैन परम्परा का अनुशीलन इस दृष्टि से लगभग सर्वथा अछूता है। प्राचीन भारतीय विचारधाराओं की इस महनीय परम्परा ने भारत-मनीषा को सम्पूर्ण रूप से व्याप्त किया है। जैनाचार्यों द्वारा विभिन्न विषयों पर लिखे सहस्रों ग्रन्थ एवं उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में व्याप्त शिल्प और कला निर्मितियाँ इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि जैन चिन्तकों ने ज्ञान-विज्ञान के हर पक्ष पर अपनी एक विशेष दृष्टि दी है।

शिक्षा के क्षेत्र में जैन चिन्तकों ने जिस पद्धति का विकास किया वह बेजोड़ है। मानव व्यक्तित्व के समग्र विकास का उद्देश्य सामने रखकर जैन गुरुओं ने विभिन्न बौद्धिक स्तरों को ध्यान में रख कर शिक्षाविधियों का क्रम निर्धारण किया। लोकभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के कारण उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में अतिशय सफलताएँ उपलब्ध हुईं। जीवन की चरम उपलब्धि 'निश्रेयस्' या मोक्ष को शिक्षा का केन्द्रबिन्दु मान कर जीव और जगत सम्पूर्ण ज्ञेयतत्त्व को शिक्षा का विषय बनाया। जड़ (मैटर) और चेतन (इनरजी) के समग्र अध्ययन का आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा के रूप में वर्गीकरण तथा लौकिक शिक्षा का चौसठ या बहत्तर कलाओं के रूप में अध्ययन शिक्षा के उत्तर-कालीन चरण हैं।

जैन शिक्षा पद्धति सम्पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि उसमें इन्स्ट्रक्सन की सहज सम्प्रेषणीयता है। गुरु, शिष्य और अभिभावक के उदात्त सम्बन्धों के कारण न वहाँ शिक्षा व्यवस्था की समस्याएँ हैं न अनुशासन-प्रशासन की। सम्यक्दृष्टि के स्फुरण के साथ सम्यग्ज्ञान की पूर्णता उसके प्रायोगिक ज्ञान सम्यक्चारित्र में निहित है। ऐसा ज्ञान ही 'निश्रेयस्' को उपलब्ध कराता है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति पर जो पुस्तकें लिखी गयी हैं उनको देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उनका मुख्य आधार वैदिक वाङ्मय ही रहा है। डा० अनन्त सदाशिव अल्टेकर ने प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति पर 'एजुकेशन इन एन्शिएण्ट इण्डिया' शीर्षक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी किन्तु उसमें जैन वाङ्मय की सन्दर्भ सामग्री का उपयोग नहीं हुआ। डा० राधाकुमुद मुकर्जी की 'एन्शिएण्ट इण्डियन एजुकेशन' में भी जैन स्रोतों का उपयोग नहीं हो पाया। प्राचीन भारतीय शिक्षा पर जो अन्य पुस्तकें लिखी गयीं उनमें भी जैन स्रोतों का उपयोग नहीं किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डा० एच० डी० सांकलिया ने बौद्ध साहित्य के आधार पर 'बुद्धिस्ट एजुकेशन' लिखी। बी० सी० ला आदि ने भी अपनी पुस्तकों में इस विषय को लिया है।

सन् १९७० में पाली इन्स्टीट्यूट नालन्दा में त्रिपिटक के आधार पर 'बौद्ध शिक्षा विषय' पर डा० नन्दकिशोर उपाध्याय ने एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

कुछ विद्वानों का ध्यान जैन वाङ्मय की ओर भी आकृष्ट हुआ। डाक्टर डी० सी० दासगुप्ता ने 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में दस व्याख्यान दिये जो १९४२ में 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' के नाम से प्रकाशित हुए। इसमें प्राचीन जैन आगमों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर भारतीय शिक्षा पद्धति का विवेचन किया गया है।

डाक्टर एच० आर० कापड़िया का एक विस्तृत निबन्ध 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' बम्बई विश्वविद्यालय के जर्नल में प्रकाशित हुआ। इसमें जैन वाङ्मय के आधार पर प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का विश्लेषण किया गया है। डाक्टर एन० ए० देशपाण्डे का शोध प्रबन्ध 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' बम्बई विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत हुआ। सन् १९७४ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय में मैंने अपना लघु शोध-प्रबन्ध 'जैन शिक्षा पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन' शीर्षक प्रस्तुत किया था। १९७६ में पटना विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय में पी एच० डी० उपाधि के लिए श्री निशानन्द शर्मा का 'जैन वाङ्मय में शिक्षा तत्त्व' शीर्षक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हुआ था जिस पर उन्हें उक्त उपाधि भी प्राप्त हुई। जैन वाङ्मय पर लिखे गये कुछ अन्य प्रबन्धों में भी जैन वाङ्मय में उपलब्ध प्राचीन भारतीय शिक्षा सम्बन्धी सामग्री का उपयोग किया गया है। इस दृष्टि से निम्न-लिखित ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं :

(१) डा० जगदीशचन्द्र जैन : 'सोशल लाइफ इन ऐन्शियेण्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन जैन केनोनिकल लिटरेचर', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई--१९।

(२) डा० गोकुलचन्द्र जैन : यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९६७।

(३) डा० जे० सी० सिकदर : स्टडीज इन पउमचरियम्, इन्स्टीट्यूट आफ प्राकृत जैनोलाजी एण्ड अहिंसा, वैशाली १९७३।

(४) डा० श्रीमती मधु सेन : ए कल्चरल स्टडी आफ निशीथ चूर्णि, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

(५) डा० नेमिचन्द्र शास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी।

(६) डा० प्रेमचन्द जैन 'सुमन' : कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन, प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली, मुजफ्फरपुर (बिहार)।

कतिपय निबन्ध भी जैन शिक्षा पर विभिन्न सेमिनारों में पढ़े गये। १९७३ के अक्टूबर में उदयपुर विश्व-विद्यालय में आयोजित सेमिनार में जैन शिक्षा पर भी दो निबन्ध पढ़े गये—डा० हरीन्द्रभूषण जैन : जैन एजुकेशन इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, प्रो० सी० एम० कर्णावत : एजुकेशन इन जैनिज्म।

सन् १९७४ में जैन विश्वभारती, लाडनू द्वारा दिल्ली में आयोजित सेमिनार में मैंने "जैन शिक्षा पद्धति" शीर्षक निबन्ध पढ़ा। १९७५ में प्रो० निर्मलकुमार बोस प्रतिष्ठान, वाराणसी द्वारा आयोजित सेमिनार में मैंने "जैन शिक्षा : उद्देश्य और विधियाँ" शीर्षक निबन्ध पढ़ा।

जैन शिक्षा पर अनुसन्धान कार्य करने के पूर्व इस सम्पूर्ण सामग्री का अवलोकन आवश्यक है।

हमारी यह धारणा है तथा तथ्यों के आधार पर इस बात की पुष्टि भी होती है कि प्राचीन भारत में शिक्षा की जो पद्धतियाँ प्रचलित थीं, उनमें दो पद्धतियाँ मुख्य थीं :

(१) वैदिक या ब्राह्मण शिक्षा पद्धति।

(२) श्रमण या जैन शिक्षा पद्धति।

इन दोनों शिक्षा पद्धतियों में कुछेक समानताएँ होते हुए भी मौलिक भेद थे जिनके कारण दोनों का स्वतन्त्र रूप से विकास होता रहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन शिक्षा पद्धति का इस दृष्टि से विश्लेषणात्मक अध्ययन करने का अभी तक विशेष प्रयत्न नहीं हुआ। ऊपर जो विवरण दिया गया है उसमें जैन स्रोतों का तो उपयोग हुआ है किन्तु वह अनेक दृष्टियों से अपूर्ण और कई दृष्टियों से भ्रामक भी है। अपूर्ण इस कारण से क्योंकि विपुल जैन वाङ्मय में से अत्यन्त सीमित ग्रन्थों के आधार पर ही ये अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। भ्रामक इसलिए कि नाम तो 'जैन सिस्टम आफ एजुकेशन' दिया गया किन्तु सिस्टम के विश्लेषण का प्रयत्न नहीं किया गया प्रत्युत आधुनिक पाश्चात्य पद्धति के बँधे बँधाए सांचे में जैन वाङ्मय में उपलब्ध सामग्री को ढाल कर उसे जो जामा पहनाया गया है वह न तो जैन शिक्षा पद्धति है, न ही वैदिक या बौद्ध शिक्षा पद्धति। वास्तव में वह इन सबका मिला जुला घोल है। जैन शिक्षा पद्धति का प्राचीन काल से क्रमिक विकास हुआ है। प्रारम्भिक चरण में जब भारतीय चिन्तन निश्रेयस् या मोक्ष को केन्द्रबिन्दु मान कर चल रहा था उस समय जैन शिक्षा-पद्धति का जो स्वरूप था वह आगे चलकर देश और काल के अनुरूप विकसित हुआ।

तीर्थंकरों से गणधर तथा गणधरों से आचार्य परम्परा द्वारा शिक्षा की जो स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई उसे मन्दिर वास्तु का विकास होने के साथ-साथ नया स्वरूप मिला। भट्टारक व यती परम्परा तक पहुँचते-पहुँचते इसका स्वरूप और अधिक बदल चुका था।

प्राचीन भारत में शिक्षा

जैन शिक्षा पद्धति का जो स्वरूप साहित्य में उपलब्ध होता है उसका विश्लेषण करने के पूर्व संक्षेप में वैदिक शिक्षा पद्धति को जान लेना आवश्यक है जिससे दोनों पद्धतियों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझा जा सके। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'एजुकेशन इन एन्शियेण्ट इण्डिया' में लिखा है—"भारत में शिक्षा तथा विज्ञान की खोज केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही नहीं हुई, अपितु वे 'धर्म' के मार्ग पर चल कर मोक्ष प्राप्त करने का एक क्रमिक प्रयास माने गये। मोक्ष ही जीवन का चरम विकास था। यही कारण है कि जीवन की सम्पूर्ण बहुमुखी क्रियाएँ धर्म के मार्ग पर चल कर ही अपने एकमात्र गन्तव्य 'मोक्ष' की ओर अग्रसर हुईं।"

यह कथन सभी प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धतियों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है, किन्तु शिक्षा की जो पद्धतियाँ थीं, उनमें विभिन्नता थी। वैदिक काल में शिक्षा का केन्द्रबिन्दु ऋषियों के आश्रम थे। वे आवासीय विद्यालय और विश्वविद्यालयों की तरह थे। आश्रम ग्राम और नगरों से दूर अरण्य में होते थे। आवास और अध्ययन की सम्पूर्ण व्यवस्था वहाँ हो जाती थी। आवास और भोजन समस्या न थी। अरण्य ही जीवन की अधिकांश आवश्यकताएँ पूरी कर देते थे। पर्णकुटी उनके छात्रावास थे, नीवार, धान्य, कन्दमूल, फल, पुष्प और पत्र भोजन के मुख्य अंग थे। शिक्षार्थी वहाँ जाकर रहता था और ऋषियों से शिक्षा प्राप्त करता था। ऋषि ही उस समग्र शिष्य कुल के कुलगुरु एवं कुलपति भी होते थे, उनका संकेत ही निर्देश था।[१]

ऋषि द्रष्टा होते थे। वे आत्मसाक्षात्कार करते थे, अध्ययन नहीं। ऋषि प्रयोक्ता था, अध्येता नहीं।

शिक्षा का माध्यम उपदेश था। गुरु उपदेष्टा था, वह मात्र अध्यापक नहीं था। शिक्षा का विषय सम्पूर्ण जीव और जगत था। उपदेश को श्रोत्र (कान) के माध्यम से स्मृति पट पर अंकित कर लिया जाता था इसलिए वे ज्ञानकोश श्रुति थे, पुस्तक नहीं थे।

जिज्ञासु व्यक्ति विद्यार्थी था। कभी जिज्ञासाएँ उपदेश का क्रम बनतीं, कभी ऋषि का आत्म-साक्षात्कार।

जिज्ञासा एक जगह तृप्त न होती तो विद्यार्थी यायावर होकर निकल पड़ता और ऋषियों के ठौर-ठौर जाकर उनसे अपनी जिज्ञासाओं के समाधान माँगता। वेद में एक सूत्र है **"एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।"**

जीव और जगत की जिज्ञासाएँ लेकर छात्र अनेक ऋषियों के पास गया। उनके समाधान सुने। लौटने पर किसी ने पूछ लिया—क्या समझे? तो उसके ओठों पर ये शब्द फूट पड़े—**"एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"।**

जैन शिक्षा-पद्धति की विशेषताएँ

जैन शिक्षा पद्धति वैदिक शिक्षा पद्धति से कई बातों में भिन्न है। यद्यपि दोनों का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना रहा है किन्तु उस उद्देश्य को प्राप्त करने के विषय में जो पूर्वकालीन सोपान रहे हैं, वे भिन्न हैं।

जैनधर्म में देव, शास्त्र और गुरु का समान महत्त्व है। पाँच परमेष्ठियों में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की गणना की जाती है। अरिहन्त और सिद्ध को परमगुरु माना गया है क्योंकि वे सर्वज्ञ, सर्वदेशी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सम्पूर्ण दोषों से रहित होते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु-गुरुओं के क्रम से तीन स्तर हैं। उपाध्याय का कार्य मुख्य रूप से शिक्षा का बताया गया है। ये तीनों ही गुरु जैनधर्म में साधु का आचार पालन करने वाले बताये गये हैं।[२]

जैन साधु संस्था में आचार्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। मुनि संघ का प्रमुख आचार्य ही होता था। पूरा संघ उसके निर्देशों पर चलता था। जैन साधु के आचार के विषयों के अन्तर्गत बताया गया है कि जैन साधु एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहता प्रत्युत विभिन्न नगर, ग्रामों में पदयात्रा करता हुआ तत्त्वोपदेश देता है तथा अपनी साधना करता है, वर्षाकाल के चार माह एक जगह स्थिर होकर रहता है।[३]

आचरण के इस नियम के कारण जैनशिक्षा के वैसे केन्द्र नहीं बने जिस प्रकार के वैदिक ऋषियों के आश्रम होते थे। इसके विपरीत जहाँ साधु संस्था का चातुर्मास होता था वे अस्थायी रूप से शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। जैन साधु वर्षा के चार महीनों में एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं, इसे वर्षावास कहा जाता है। कुछ केन्द्र ऐसे भी थे जहाँ साधु संस्था के कतिपय मुनि बराबर विद्यमान रहते थे। ऐसे केन्द्रों में पाटलीपुत्र, मथुरा, श्रावस्ती, वल्लभी, गिरिनगर, श्रवणबेलगोल, खण्डगिरि, उदयगिरि, शीतन्नवासल, राजगृह, एलोरा आदि प्रमुख केन्द्र थे।[४]

मन्दिर वास्तु का विकास होने के बाद जैन अध्ययन केन्द्रों का विस्तार होता गया।[५] प्रत्येक मन्दिर के साथ शास्त्र भण्डार और स्वाध्यायशाला तथा गुरु के आवास के लिए कक्ष की व्यवस्था हुआ करती थी।

श्रावक गृहस्थ के दैनिक छः कर्तव्य बताये गये हैं :

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायसंयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानाम् षट् कर्माणि दिने-दिनेः॥

इन छह दैनिक कर्तव्यों में गुरु की उपासना और स्वाध्याय की भी गणना की गयी है। देव की पूजा के बाद गुरु की उपासना का विधान है। गुरु की उपासना के साथ ही स्वाध्याय का उल्लेख किया गया है।[६]

स्वाध्याय के पाँच भेद हैं जिन्हें जैन शिक्षा की विभिन्न विधियाँ मानना चाहिए। (१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) अनुप्रेक्षा, (४) आम्नाय, (५) धर्मोपदेश।[७]

आचार्य और अध्येता की दृष्टि से भी जैन शिक्षा पद्धति में भिन्नता थी। जैन आचार्य शिष्य से किसी प्रकार की अपेक्षा या आकांक्षा नहीं रखता था। न शिष्य उनके ऊपर अपनी अन्य सभी जिम्मेदारियाँ छोड़ सकता था। जब कि वैदिक शिक्षा पद्धति में शिष्य गुरु के यज्ञ पूजा इत्यादि के लिए सामग्री और समिधाएँ आदि जुटाता था तथा उन्हीं के आश्रम में रहता था एवं आश्रम में उपलब्ध समस्त सुविधाओं का उपयोग करता था। शिक्षा समाप्ति के बाद गुरु को दक्षिणा भी दी जाती थी किन्तु जैन आचार्य इस प्रकार कोई भी दक्षिणा नहीं लेते थे।

जैन दृष्टि से ज्ञान पाँच प्रकार का बताया गया है[८]—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यय ज्ञान, (५) केवलज्ञान। केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। जिसके ज्ञान का सम्पूर्ण विकास हो जाता है वह केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। सामान्य व्यक्ति का विकास मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से आरम्भ होता है। इन्द्रियों और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहा जाता है। सामान्य रूप से मतिज्ञान को हम प्रतिभा या योग्यता कह सकते हैं। इसी के आधार पर व्यक्ति के (I. Q.) का पता चलता है और उसके आधार पर उसके श्रुतज्ञान का विकास होता है। इन ज्ञानों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

शिक्षा के माध्यम के विषय में वैदिक और जैन शिक्षा पद्धति लगभग समान रही है। जिस प्रकार वैदिक शिक्षा पद्धति में शिक्षा का माध्यम उपदेश था उसी प्रकार जैन शिक्षा पद्धति भी उपदेशमूलक थी।

शिक्षा के विषय भी लगभग समान ही रहे हैं अर्थात् जिस प्रकार वैदिक युग में सम्पूर्ण जीव और जगत के विषय में जानकारी देना शिक्षा का उद्देश्य रहा उसी प्रकार जैन शिक्षा पद्धति में भी। दोनों में अन्तर यह है कि वैदिक गुरु इहलौकिक जीवन के लिए जिस प्रकार से प्रवृत्तिमूलक शिक्षा देता था उस प्रकार की जैन आचार्य नहीं। प्रत्युत वह निवृत्ति-लक्षी प्रवृत्ति का उपदेश देता था।[९]

शिक्षण विधि के विषय में कई बातों में समानता प्राप्त होती है। चूँकि उस युग में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी इसलिए उसे याद रखने की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है। बात को चुने हुए शब्दों में सूत्र रूप में कहा जाता था जिससे शिष्य उसे ज्यों का त्यों स्मरण रख सकें। इसी कारण प्रारम्भिक साहित्य सूत्र रूप में मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरी विधि यह थी कि शिक्षणीय विषय को गेय रूप में प्रस्तुत किया जाये जिससे उसे कण्ठस्थ किया जा सके। तीसरी विधि के अनुसार विषय को कथाओं के माध्यम से कहा जाता था जिससे उन कथा प्रसंगों के साथ मूल वस्तुतत्त्व को याद रखा जा सके।

इसी प्रकार लौकिक दृष्टान्तों या विभिन्न जीवन के प्रसंगों के साथ तुलना करके वस्तुतत्त्वों का प्रतिपादन किया जाता था। इन्हीं पद्धतियों का विभिन्न रूपों में विकास हुआ जैसे सूत्र की व्याख्या की गयी जिसे वार्तिक कहा गया। वार्तिक के बाद टीका और वृत्ति लिखी गयी। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, नामक विशेष विवरण तैयार किये गये।

जैन शिक्षा : उद्देश्य और विधियाँ

जैन दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का समग्र विकास माना गया है। समग्र विकास से अभिप्राय उसके अन्तरंग एवं बाह्य सभी गुणों का विकास है। व्यक्तित्व के चरम विकास की स्थिति को ही जैनदर्शन में मोक्ष कहा गया है।[10] मोक्ष की अवस्था को प्राप्त व्यक्तित्व में दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख पूर्णरूप से विकास को प्राप्त हो जाते हैं। और उनमें किसी भी कारण कमी होने की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए उसे 'सिद्ध' कहा गया है। इससे पूर्व की स्थिति अरिहन्त की मानी गई है। अरिहन्त के भी दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख का समग्र विकास हो चुकता है। कुछ औपाधिक प्रवृत्तियाँ सम्बद्ध रहने के कारण वे 'सिद्ध' नहीं माने जाते। किन्तु उनका सिद्ध होना निश्चित रहता है।

व्यक्तित्व के समग्र के विकास के लिए तीन कारण बताये गये हैं।[11]

(१) सम्यग्दर्शन।

(२) सम्यग्ज्ञान।

(३) सम्यक्चारित्र।

ये तीनों मिलकर ही व्यक्तित्व विकास के साधक है, पृथक्-पृथक् नहीं। इसलिए इन तीनों को मार्ग कहा गया है।

शिक्षा विधियाँ

शिक्षा के इस महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जैन वाङ्मय में शिक्षा विषय, शिक्षाविधि, शिक्षा के माध्यम, गुरु एवं शिष्य का स्वरूप और शिक्षा संस्थाओं एवं शिक्षाकेन्द्रों के बारे में अत्यन्त व्यवस्थित और विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में इसका विस्तार से विश्लेषण किया गया है। यहाँ पर केवल शिक्षा विधि के बारे में ही मैं कुछ कहूँगी।

शिक्षा के सम्पूर्ण विषय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। इन तीनों को सम्मिलित रूप से मोक्ष का मार्ग कहा गया है। जो तत्त्व जिस रूप में अवस्थित है, उसका ठीक उसी रूप में बोध होना, उनका प्रामाणिक रूप से सविवरण ज्ञान होना तथा व्यावहारिक रूप में उन्हें जीवन में उतारना, यह इनका तात्पर्यार्थ है। इसके लिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने दो विधियाँ बतायी हैं।[12]

(१) निसर्ग विधि।

(२) अधिगम विधि।

निसर्गविधि[13]—निसर्ग का अर्थ है स्वभाव। स्वयंप्रज्ञ व्यक्ति को गुरु और आचार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रहती। जीवन के विकास क्रम से वे स्वतः ही ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों को सीखते जाते हैं। तत्त्वों का सम्यक् बोध वे स्वतः प्राप्त करते जाते हैं। उनका जीवन ही उनकी प्रयोगशाला होता है। सम्यक्बोध और सम्यक्ज्ञान की उपलब्धियों को वे जीवन की प्रयोगशाला में उतारकर सम्यक्चारित्र को उपलब्ध करते हैं। यह निसर्ग विधि है।

अधिगमविधि[14]—अधिगम का अर्थ है पदार्थ का ज्ञान। दूसरों के उपदेशपूर्वक पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह अधिगमज कहलाता है।

इस विधि के द्वारा प्रतिभावान तथा अल्पप्रतिभायुक्त सभी प्रकार के व्यक्ति तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। यही तत्त्वज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण बनता है।

निसर्गविधि में प्रज्ञावान व्यक्ति की प्रज्ञा का स्फुरण स्वतः होता है किन्तु अधिगम विधि में गुरु का होना अनिवार्य है। गुरु के उपदेश से जीवन और जगत के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना यही अधिगम विधि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिगम के निम्नलिखित भेद हैं :

निक्षेपविधि[15]—लोक में या शास्त्र में जितना शब्द व्यवहार होता है, वह कहाँ किस अपेक्षा से किया जा रहा है, इसका ज्ञान निक्षेपविधि के द्वारा होता है। एक ही शब्द के विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। इन अर्थों का निर्धारण और ज्ञान निक्षेपविधि द्वारा किया जाता है। अनिश्चय की स्थिति से निकालकर निश्चय में पहुँचाना निक्षेप है।

निक्षेपविधि के चार भेद हैं—

(१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य, (४) भाव।

(१) **नामनिक्षेप**[16]—व्युत्पत्ति की अपेक्षा किये बिना संकेत मात्र के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु का नामकरण करना नामनिक्षेपविधि के अन्तर्गत आता है। जैसे किसी व्यक्ति का नाम हाथीसिंह रख दिया। नामनिक्षेप विधि ज्ञान प्राप्ति का प्रथम चरण है।

(२) **स्थापनानिक्षेप**—वास्तविक वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति, चित्र आदि बनाकर अथवा उसका आकार बिना बनाये ही किसी वस्तु में उसकी स्थापना करके उस मूल वस्तु का ज्ञान कराना स्थापनानिक्षेपविधि है। इसके दो भेद हैं[17]—

(क) सद्भावस्थापना (ख) असद्भावस्थापना।

(क) सद्भावस्थापना का अर्थ है मूल वस्तु या व्यक्ति की ठीक-ठीक प्रतिकृति बनाना। यह प्रतिकृति काष्ठ, मृत्तिका, पाषाण, दाँत, सींग आदि की बनाई जा सकती है। इस प्रकार की प्रतिकृति बनाकर जो ज्ञान कराया जाता है वह सद्भावस्थापनाविधि है।

(ख) असद्भावस्थापना में वस्तु की यथार्थ प्रतिकृति नहीं बनायी जाती प्रत्युत किसी भी आकार की वस्तु में मूल वस्तु की स्थापना कर दी जाती है। जैसे शतरंज के मोहरों में राजा, वजीर, प्यादे, हाथी आदि की स्थापना कर ली जाती है।

षट्खण्डागम, धवला तथा श्लोकवार्तिक आदि में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है।

(३) **द्रव्यनिक्षेप**[18]—वर्तमान से पूर्व अर्थात् भूत एवं बाद की स्थिति को ध्यान में रखते हुए वस्तु का ज्ञान कराना द्रव्यनिक्षेपविधि है। इस विधि के भी आगम और नोआगम दो भेद हैं। नोआगम के भी तीन भेद हैं।

(४) **भावनिक्षेप**[19]—वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखकर वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराना भावनिक्षेपविधि है। इनके भी आगम और नोआगम ऐसे दो भेद हैं।

प्रमाणविधि[20]—संशय आदि से रहित वस्तु का पूर्णरूप से ज्ञान कराना प्रमाणविधि है।

जैन आचार्यों ने प्रमाण का विस्तृत विवेचन किया है। जीव और जगत का पूर्ण एवं प्रामाणिक ज्ञान इस विधि के द्वारा प्राप्त किया है।

सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण के अन्तर्गत माना है। मिथ्याज्ञान प्रमाणाभास हो सकते हैं, प्रमाण नहीं।

प्रमाण विधि के दो भेद हैं।

(क) प्रत्यक्ष (ख) परोक्ष

प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—(१) सांव्यवहारिक या इन्द्रियप्रत्यक्ष।
(२) पारमार्थिक या सकलप्रत्यक्ष।

परोक्ष के निम्नलिखित पाँच भेद हैं—

(१) स्मृति (२) प्रत्यभिज्ञान (३) तर्क (४) अनुमान (५) आगम।

जैन आचार्यों ने इनका विस्तार से वर्णन किया है।[21]

नयविधि—इस विधि के द्वारा वस्तुस्वरूप का आंशिक विश्लेषण करके ज्ञान कराया जाता है। नय के मूलतः दो भेद हैं।

(१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों के भी निम्नलिखित सात भेद हैं—

(१) **नैगम**—अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करना।

(२) **संग्रह**—भेदसहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करना। जैसे घट कहने से सभी प्रकार के घटों का ग्रहण हो जाता है।[१२]

(३) **व्यवहार**—संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण या भेद करना। जैसे घट के स्वर्णघट, रजतघट, मृत्तिकाघट आदि भेद।[१३]

(४) **ऋजुसूत्र**—वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करना।[१४]

(५) **शब्दनय**—शब्द प्रयोगों में आने वाले दोषों को दूर करके तदनुसार अर्थभेद की कल्पना करना।[१५]

(६) **समभिरूढ**—शब्दभेद के अनुसार अर्थ भेद की कल्पना करना।[१६]

(७) **एवंभूत**—शब्द के फलित होने वाले अर्थ के घटित होने पर ही उसको उस रूप में मानना।[१७]

अनुयोगद्वारविधि[१८]—तत्त्वों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनुयोगद्वार विधि बतायी गयी है। इसके निम्नलिखित छः भेद हैं—

(१) **निर्देश**—वस्तु के नाम का कथन करना।

(२) **स्वामित्व**—वस्तु के स्वामी का कथन करना।

(३) **साधन**—जिन साधनों से वस्तु बनी है, उसका कथन करना।

(४) **अधिकरण**—वस्तु के आधार का कथन करना।

(५) **स्थिति**—वस्तु के काल का कथन करना।

(६) **विधान**—वस्तु के भेदों का कथन करना।

प्ररूपणाविधि[१९]—प्ररूपणा के निम्नलिखित आठ भेद हैं :—

(१) **सत्**—अस्तित्व कथन करके समझाना।

(२) **संख्या**—भेदों की गणना करके समझाना।

(३) **क्षेत्र**—वर्तमान काल विषयक निवास को ध्यान में रख कर समझाना।

(४) **स्पर्शन**—त्रिकाल विषयक निवास को ध्यान में रखकर समझाना।

(५) **काल**—समयावधि को ध्यान में रखकर समझाना।

(६) **अन्तर**—समय के अन्तर को ध्यान में रखकर समझाना।

(७) **भाव**—भावों का कथन करके समझाना।

(८) **अल्पबहुत्व**—एक दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक का ज्ञान करके समझाना।

स्वाध्यायविधि[२०]—विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वाध्यायविधि का उपयोग किया जाता था। इसके निम्नलिखित पाँच भेद बताये गये हैं—

(१) **वाचना**—ग्रन्थ, अर्थ या दोनों का निर्दोष रीति से पाठ करना वाचना है।

(२) **पृच्छना**—शंका को दूर करने के लिये या विशेष निर्णय करने के लिये पृच्छा करना पृच्छना है।

(३) **अनुप्रेक्षा**—पढ़े हुए पाठ का मन से अभ्यास करना अर्थात् उसका पुनः पुनः मन से विचार करते रहना अनुप्रेक्षा है।

(४) **आम्नाय**—जो पाठ पढ़ा है उसका शुद्धतापूर्वक पुनः-पुनः उच्चारण करना आम्नाय है।

(५) **धर्मोपदेश**—धर्मकथा करना धर्मोपदेश है।

स्वाध्यायविधि का उपयोग प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिये, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिये, परम संवेग के लिये, तप में वृद्धि करने के लिये तथा अविचारों में विशुद्धि लाने आदि के लिये किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गूढ़ से गूढ़ विषय को भी इस रूप में प्रस्तुत किया जाता था कि शिष्य उसे भली प्रकार हृदयंगम कर सके। इसके लिये विषयवस्तु को सूत्ररूप में कहा जाता था क्योंकि उस युग में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी। इसी कारण प्रारम्भिक साहित्य सूत्र रूप में मिलता है।

कभी-कभी विषयवस्तु को गेयरूप में भी प्रस्तुत किया जाता था जिससे उसे कंठस्थ किया जा सके। कथाओं के माध्यम से भी विषयवस्तु को कहा जाता था जिससे उन कथा-प्रसंगों के साथ मूल वस्तुतत्त्व को याद रखा जा सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन शिक्षा विधि की एक विशेषता यह भी रही है कि जैन आचार्यों ने मुख्यरूप से सदा लोकभाषाओं को साहित्यिक स्वरूप देकर शिक्षा का माध्यम बनाया। उन्हीं भाषाओं को साहित्यिक स्वरूप देकर उनमें ग्रन्थों की रचना की। इन भाषाओं को जनसामान्य की भाषा होने के कारण प्राकृत कहा गया तथा विभिन्न क्षेत्रों के अनुसार इनके अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि नाम दिये गये। बाद में यही भाषाएँ अपभ्रंश हुई और राजस्थानी, गुजराती, मराठी, मगही, मैथिली, भोजपुरी, आदि के रूप में विकसित हुई।

संस्कृत को भी जैन शिक्षकों ने शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाया तथा संस्कृतभाषा में विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की।

इस प्रकार जैन शिक्षा पद्धति का अनुशीलन करने पर हमें निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

(१) प्राचीन भारत में ब्राह्मण और श्रमण शिक्षा पद्धतियों का समानान्तर रूप में विकास हुआ।

(२) उक्त पद्धतियों में कतिपय समानताएँ होते हुए भी दोनों में अनेक मौलिक अन्तर थे।

(३) ब्राह्मण शिक्षा पद्धति के वैदिक युग में शिक्षा का चरम लक्ष्य स्वर्गप्राप्ति था किन्तु श्रमण-पद्धति में शिक्षा का चरम उद्देश्य मोक्षप्राप्ति था।

(४) उपनिषद्काल में ब्राह्मण शिक्षा पद्धति में भी मोक्षप्राप्ति को चरम लक्ष्य मान लिया गया।

(५) ब्राह्मण शिक्षा पद्धति में शिक्षा प्रवृत्तिमूलक थी जबकि श्रमण शिक्षा निवृत्तिमूलक।

(६) ब्राह्मण शिक्षा में शिक्षा के केन्द्रबिन्दु ऋषि थे। उनके आश्रम ही शिक्षा के केन्द्र थे। श्रमण-पद्धति में श्रमण या साधु शिक्षा के केन्द्र अवश्य थे किन्तु आचार-विषयक नियमों के कारण वे एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रह सकते थे इसलिए वे एक चलते-फिरते शिक्षायतन थे किन्तु आश्रम नहीं थे।

(७) ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी में गौतम बुद्ध ने बौद्धधर्म की स्थापना की। उसके फलस्वरूप बौद्ध शिक्षा पद्धति का विकास हुआ।

(८) श्रमण पद्धति में उत्तरकाल में गुहागृह, तीर्थक्षेत्र, चैत्यालय, जिनालय, निषधि, मठ, विहार, स्वाध्याय शाला, विद्यामंडप आदि संस्थाओं का विकास हुआ और ये जैन शिक्षा के केन्द्र बने।

(९) जैन शिक्षा मूलतः मोक्षमूलक थी किन्तु उसका उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का समग्र विकास था। इसलिए शिक्षा के विषयों में जीव और जगत् को केन्द्र बना कर सम्पूर्ण प्राणि-विज्ञान तथा जड़ जगत के सम्पूर्ण विषयों को समाहित किया गया।

(१०) जैन शिक्षा पद्धति में पाँच परमेष्ठी गुरु माने गये हैं, इनमें उपाध्याय को शिक्षा का अधिष्ठाता माना गया है।

(११) जैन साधु-शिक्षक स्वयं अनगार होने के कारण वैदिक ऋषियों की तरह शिष्य के आवास आदि व्यवस्था का दायित्व अपने ऊपर नहीं लेता था। इसी प्रकार शिक्षा समाप्ति के बाद शिष्य से दक्षिणा आदि भी नहीं लेता था।

(१२) शिक्षा विधि और शिक्षा के माध्यमों में भी जैन शिक्षा पद्धति की अपनी विशेषताएँ थीं। शिक्षा विधि के अन्तर्गत मूलतः प्रमाण, नय और निक्षेप ये तीन विधियाँ थीं। इनकी अवान्तर पद्धतियाँ अनेक थीं।

(१३) जैन आचार्यों ने मुख्य रूप से सदा लोकभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया। उन्हीं भाषाओं को साहित्यिक स्वरूप देकर उनमें ग्रन्थों की रचना की। इन भाषाओं को जन सामान्य की भाषा होने के कारण प्राकृत कहा गया तथा विभिन्न क्षेत्रों के अनुसार इनके अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि नाम दिये गये। बाद में यही भाषाएँ अपभ्रंश हुई और राजस्थानी, गुजराती, मराठी, मगही, मैथिली, भोजपुरी आदि के रूप में विकसित हुई।

(१४) संस्कृत को भी जैन शिक्षकों ने शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाया तथा संस्कृत में विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की।

(१५) जैन आचार्यों ने शिक्षा मनोविज्ञान का सूक्ष्म विवेचन किया है।

जैन शिक्षा पद्धति पर प्रस्तुत निबन्ध तैयार करते समय जो तथ्य सामने आये उनके आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि इस विषय में अनुसंधान कार्य की व्यापक सम्भावनाएँ तथा विस्तृत क्षेत्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ डॉक्टर अ० स० अल्तेकर : एजुकेशन इन एंशियेंट इण्डिया ।
२ दृष्टव्य—वट्टकेर : 'मूलाचार' (माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७, १९८०) ।
३ शिवार्य : 'भगवती आराधना' (अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९८९) ।
आशाधर : अनगार धर्मामृत (माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१९) ।
४ पी० बी० देसाई : जैनिज्म इन साउथ इण्डिया (जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापूर, १९५२) ।
सी० जे० शाह : जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, लन्दन, १९३२ ।
५ डॉ० कैलाशचन्द्र जैन : जैनिज्म इन राजस्थान ।
६ आशाधर : सागार धर्मामृत (माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई) ।
७ उमास्वामि : 'तत्त्वार्थ-सूत्र'—सम्पादक पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, (श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी) ।
८ पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, सम्पादक पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी) ।
९ पं० सुखलाल संघवी : 'दर्शन और चिन्तन' (पं० सुखलाल जी सम्मान समिति, अहमदाबाद, १९५७) ।
१० बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । —तत्त्वार्थ सूत्र १०/२
११ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । —तत्त्वार्थ सूत्र १/१
१२ तन्निसर्गादधिगमाद्वा । —तत्त्वार्थ सूत्र १/३
१३ निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः । यद्बाह्योपदेशाहते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम् । —सर्वार्थसिद्धि १/३
१४ अधिगमोऽर्थावबोधः । यत्परोपदेशपूर्वकं जीवा अधिगमनिमित्तं तदुत्तरम् । —सर्वार्थसिद्धि १/३
१५ संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितेरयोऽपसार्यनिश्चये क्षिपतीति निक्षेपः । —धवला भाग ४/१३, १/२/६
१६ अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम । —सर्वार्थसिद्धि १/४
१७ सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः । —श्लोकवार्त्तिक २/१/५
१८ सद्भाविपरिणामप्राप्तिं प्रति योग्यतामादधन् ।
सद् द्रव्यमित्युच्यते अथवा अद्भावं वा द्रव्यमित्युच्यते । —तत्त्वार्थवार्त्तिक १/५
१९ वर्तमान तत्त्वार्थोपलक्षितं द्रव्यं भावः । —सर्वार्थसिद्धि १/५
२० प्रकर्षेण मानं प्रमाणम् सकलादेशीत्यर्थः । —धवला भाग ९/४१ ४५/१६६-१
दृष्टव्य—परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमाणानयतत्त्वालोकालंकार, प्रमाणमीमांसा आदि ।
२२ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः ।
२३ संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ।
२४ ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तंत्रयतीति ऋजुसूत्रः ।
२५ लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः ।
२६ नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः ।
२७ येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसायमतीति एवम्भूतः । —सर्वार्थसिद्धि १/७
२८ निर्देशः स्वरूपाभिधानम् । स्वामित्वमाधिपत्वम् । साधनमुत्पत्तिनिमित्तम् ।
करणमधिष्ठानम् । स्थितिः कालपरिच्छेदः । विधानं प्रकारः । —सर्वार्थसिद्धि १/७
२९ सदित्यस्तित्वनिर्देशः । संख्या भेद गणना । क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः । तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम् । कालो द्विविधः मुख्यो व्यावहारिकश्च । अन्तरं विरहकालः । भावः औपशमिकादिलक्षणः । अल्पबहुत्वमन्योन्यापेक्षया विशेष प्रतिपत्तिः । —सर्वार्थसिद्धि १/८
३० वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः । —तत्त्वार्थ सूत्र ९/२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानकवासी जैन समाज की अनुपम संस्था स्थानकवासी श्रमण



☐ जवाहरलाल मूणोत
अध्यक्ष—अ० भा० स्था० जैन कॉन्फ्रेंस

☐

इस सच्चाई को समझने के लिए कोई समाजशास्त्री अथवा मनोवैज्ञानिक होने की जरूरत नहीं है कि जन-साधारण के सर्वसामान्य धर्म की व्याख्या में, जितना महत्त्व धर्म के तात्त्विक विवेचन, धर्म के दर्शन और उसकी संस्कृति का है, उससे कहीं ज्यादा महत्व, धर्म के बाह्य स्वरूप और उसके कलेवर का है। हकीकत तो यह है कि आम आदमी के लिए, विद्वानों की दार्शनिक बहसें, तार्किकों के शास्त्रार्थ और साहित्यकारों की मीमांसा बहुत कम मतलब रखती है। उसके लिए तो उसके धर्म का गहन तत्व, धर्म के बाहरी प्रतीक, पहिचान और कर्मकाण्ड द्वारा ही मन के भीतर उतरता है।

किसी ईसाई के लिए, एक क्रास (क्रूस) करुणा, प्रेम और शरणागति की भावना का सबसे प्रबल स्रोत है, आप क्रास के बदले में उनसे ईसाई दर्शन का अर्थ समझा नहीं पायेंगे। आम हिन्दू के लिए मन्दिर से बजती घण्टियाँ, आरती के ढोल और होम का धुँआ—उसके समस्त धार्मिक संस्कारों और आस्थाओं के आधारस्तम्भ हैं। मस्जिद की गुम्बद से पुकारते मुअज्जन की पुकार पर जैसे मुसलमान नमाज के लिए सिजदे में झुक जाता है या फिर मुहर्रम के ताबूत को देख-देखकर, मरसिये गा-गाकर रोने लगता है—उसके मजहब की पहिचान क्या आप इसलाम के एकेश्वरवाद से करने लगेंगे ?

मगर जो धर्म, बुनियादी रूप से अमूर्तिपूजक है, निराकारी है, उसके अनुयायियों के लिए वह बाहरी कलेवर, वह धर्म का मूर्तिमान स्वरूप क्या होता है, क्या हो सकता है ?

अमूर्तिपूजक जैनधर्म का सशरीरी प्रतीक—श्रमण

बहुत विविध है जैनधर्म का आयाम। बहुत विशाल शरीर है इसके इतिहास का। और इसके वर्तमान से कहीं ऊँचा, सुपुष्ट और मनोहारी है इसका इतिहास का वृतान्त। और इसी जैनधर्म का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है—इसका स्थानकवासी समाज—जो रूढ़िगत मूर्तिपूजा को नहीं मानता। लेकिन हम भूल न करें, जैन जगत में स्थानकवासी समाज, अपनी इस निजी विशेषता के बाद भी, हिन्दुओं का आर्यसमाज ही नहीं है।

अगर स्थानकवासी समाज का वर्तमान रूप दो-ढाई सौ बरसों से ज्यादा पुराना नहीं है तो यह प्रश्न उठ सकता है कि कहीं यह सुधारवादी आन्दोलन, कमी-बेशी आर्यसमाज-सा ही तो नहीं ? लेकिन हम जानते हैं, आर्यसमाज के इतने महत्वपूर्ण काम-काज और अर्थपूर्ण भूमिका के बावजूद, यह धर्म का रूप ले न पाया, केवल पढ़े-लिखे, नव-जागरण की पुरुष-पीढ़ी ही इसका अंगीकार कर सकी। आम जनता, विशेष रूप से महिलाओं ने इसे आत्म-सात् न किया। वह उनका धर्म न बन सका, केवल कुतूहल और आदर का सुधार भर रहा।

परन्तु, स्थानकवासी समाज की स्थिति तो बिलकुल भिन्न है। यह अमूर्तिपूजक धर्म, आज भी और पहिले भी, लाखों-लाखों नर-नारियों का निजी, अविच्छिन्न और समग्र भावनामय धर्म है। इसे केवल सुधारवादी आन्दोलन कहने की हिम्मत कोई भी कर नहीं सकेगा।

तब सवाल है, वह कौनसा रहस्य है जिसके कारण, स्थानकवासी जैन समाज, साफतौर पर मूर्तिपूजा से किनारा काट कर भी, इतना प्रबल जन-साधारण का धर्म बना हुआ है, प्रगति कर रहा है ? अन्य मूर्तिभंजक धर्मों (यथा—इस्लाम) से इसकी कोई तुलना नहीं क्योंकि इस धर्म की जो बुनियाद है, वहाँ मूर्तिपूजा को भी अत्यन्त महत्व-पूर्ण और ऐतिहासिक स्थान है, जैनधर्म की संस्कृति, सैकड़ों अनुपम, भव्य मन्दिरों और चित्रों में सुरक्षित है। और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर भी, सुधार का यह जबरदस्त प्रवाह, केवल सुधारवाद की लहर न बनी रह कर, समग्र, सम्पूर्ण आम आदमी का धर्म है। इस चमत्कार के लिए कौन उत्तरदायी है ?

जवाब है—**स्थानकवासी श्रमण**। जैन साधु और जैन साध्वी की संस्था सचमुच बहुत गहन है। केवल इसी संस्था की स्थिरता के कारण, स्थानकवासी धर्म, एक ओर, बाहरी आडम्बर यथा—मन्दिर, पूजा-अर्चना आदि—से पूरी तरह मुक्त है लेकिन वहीं, श्रमण संस्था के कारण, लाखों नर-नारियों की भावनाओं को धार्मिक प्रतीक के द्वारा आलोकित करने की क्षमता रखता है। यों तो समस्त जैनधर्म के सभी साधु और साध्वी जन-जन में आदर और श्रद्धा पैदा करते हैं परन्तु—विशेष रूप से, स्थानकवासी समाज अपने श्रमणवृन्द का जिस उत्साह, आस्था, विश्वास, श्रद्धा और उल्लास से समादर करता है, वह निःसन्देह बेजोड़ है। चाहे चार्तुमास का अवसर हो या विहार का क्षण, व्याख्यान का प्रसंग हो या सेवा-शुश्रूषा का—स्थानकवासी श्रमण, धर्म का अन्तरंग और बहिरंग का संयुक्त प्रतीक बनता है। एक साथ ही, स्थानकवासी श्रमण, जैनधर्म के आदर्श—सम्यक्चारित्र का प्रतिमान है तो धर्म के सामान्य कलेवर का शारीरिक स्वरूप। श्रमण, धर्म के स्थूल और सूक्ष्म, सामान्य और विशिष्ट, जन-साधारण और आम श्रावक-श्राविका तथा दर्शन, तत्व-चिन्तन—सभी स्तरों पर—स्थानकवासी धर्म का वह अप्रतिम उदाहरण पेश करता है जिसकी तुलना सम्भव नहीं दीखती।

चरित-नायक श्री पुष्कर मुनिजी

प्रकट है कि जहाँ श्रमण, इतने विविध स्तरों पर, व्यापक रूप से समस्त धर्म के अन्तरंग और बहिरंग का प्रतिनिधित्व करता हो, वहाँ उसके प्रति आदर, श्रद्धा, विश्वास, आस्था और अनुराग भी, सामान्यतया अन्य साधुओं की तुलना में कई गुना बढ़ा-चढ़ा है। और इसीलिये, एक औसत जैनधर्मावलम्बी (यानि स्थानकवासी जिस तीव्रता से अपने श्रमण के प्रति समर्पित रहता है, उसी आतुरता और तत्परता से अपने श्रमण के शुद्धाचार पर किसी भी तरह की जरा-सी भी आँच सहन नहीं कर पाता।

स्थानकवासी श्रमण के अन्य पहलू पर भी गौर करिये। आम तौर पर, आत्म-कल्याण, किसी भी साधु के लिये अपना अभीष्ट है, अपना पहला लक्ष्य है। यही आत्म-कल्याण की लगन उसे न केवल साधु बनने बल्कि साधु बने रहकर अपनी साधना के प्रति अर्पित होने के लिये प्रेरणा देती है। परन्तु जैन श्रमण का लक्ष्य केवल अपना कल्याण ही नहीं है। स्थानकवासी श्रमण के लिये, स्वयं उसका अपना अन्तिम लक्ष्य, अपने श्रावक-श्राविकाओं के कल्याण में ही जुड़ा हुआ है। यह बलवती भावना, स्थानकवासी श्रमण को, अपने श्रावक-श्राविकाओं के सुख-दुख, पतन-प्रगति आध्यात्मिक उन्नति और तप सभी समस्याओं की ओर अधिकाधिक ध्यान देने के लिये बाध्य करती है। यानि, जैन शास्त्र और धर्माचार के अनुसार, अत्यन्त निरपेक्ष और तटस्थ होने के बावजूद, स्थानकवासी श्रमण, अपने समाज के आध्यात्मिक उद्धार का व्रत लिये जागरूक पहरेदार है।

सो, जिन-जिन महाभाग स्थानकवासी श्रमणों में, ये विभूतियाँ, ये गुण एकत्र पाये जाते हैं, वे श्रमण-शिरोमणि, हमरे समाज के वन्दनीय ही नहीं, ऐतिहासिक रूप से भी गौरव के धनी हैं क्योंकि स्थानकवासी समाज की धार्मिक धुरी श्रमण ही हैं।

आनन्दरूप श्रमणवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज इसलिये और भी अधिक श्रद्धा जगाने वाले हैं क्योंकि उन्होंने अपने श्रावक संघ की बहुमुखी प्रगति की योजनाओं के लिये लगातार प्रेरणा दी है और धर्म को चारित्र, आचार व्यवहार और आचरण का शरीर प्रदान किया है। राजस्थान-केसरी की उपाधि उनके लिये अत्यन्त योग्य विरुद है क्योंकि स्थानकवासी समाज का राजस्थान राज्य में महत्व देखते हुए, वहाँ पूरे राज्य में एकमुखी श्रद्धा सम्पादन कर पाना केवल सुयोग्य और आचरण-शुद्ध श्रमणों के लिये ही सम्भव है।

कालयोग से, हर संस्था में ज्वार-भाटे की तरह उतार-चढ़ाव आते हैं और स्थानकवासी समाज की यह आदर्श संस्था—श्रमण संघ—भी इसका अपवाद नहीं। परन्तु इस संस्था की यह अनूठी विशिष्टता है कि हर तरह की विपरीत स्थितियों में भी यह आगे बढ़ने को रास्ता पा लेती है क्योंकि इसका सम्बल—आदर्श श्रमण—कभी चुकता नहीं। वर्तमान परिस्थितियों में भी, प्रातःस्मरणीय श्री पुष्कर मुनि की उपस्थिति, समस्त स्थानकवासी जैन समाज के लिये विश्वास और संतोष का बहुत बड़ा आधार है।

यह अभिनन्दन का आयोजन, समस्त स्थानकवासी समाज द्वारा अपनी इसी आस्थामय निश्चितता और आशामय आराधना का समर्पण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



JAINISM : The Most Humanistic Religion

☐ Justice T. K. Tukol (*Rtd.*),
Former Vice-Chancellor,
Bangalore University

Humanism is a philosophical attitude and is a logical development of the pragmatic method of testing knowledge by human values. It makes for toleration and rests upon the growth of human knowledge. Its general effect is to diminish the philosophic importance of dialectical subtleties which appeal only to the few.

Human beings can survive only in society. They depend upon one another for the realization of their wishes. The unfettered pursuit of personal interests would lead to internecine strife, which would completely destroy this possibility. But because they are intelligent enough to realize that unrestrained conduct is destructive of all desirable ends, they accommodate their activities to one another's aims and subject their conduct to rules which take other peoples' welfare into account. If they did not, cooperation would be impossible and the common purpose that mutual dependence or interdependence generates would not be permanent. But this subjection to rule of social relationships and the consequent mutual accomodation of cooperative activities, have as their counter-part, the self-discipline of the individual in his own private life.....[1].

Reason, tempered with mercy and truth, is the foundation of social justice. Most of our contemporary evils have surely been the result of the decline of such reason. That was why Socrates said that "Philosophy is the love of Wisdom." "Good life" said Betrand Russell, "is the life inspired by love and guided by knowledge." It is that which provides justification for man's claim to rational autonomy. The exaltation of freedom is, in fact, one of the major themes of humanists. The humanist exalts the soul of man for its powers of freedom. This freedom can be utilized for creation of a better social order, a better world.

Though humanism started as a movement in philosophical thought and literature in the second half of the 14th century in Italy, it recognised the value of human dignity and the spirit of freedom. It asserted the superiority of the active life of contemplation and of moral philosophy to physics and metaphysics .....Its interest in defending the value and freedom of man drew it into discussing the traditional problems of God and providence and of the soul and its immortality.[2] It has been used to designate communism, pragmatism, personalism also called spiritualism which affirms man's capacity to contemplate the internal truths or in general, to enter into relationship with transcedent reality..... which affirms that there is no other universe than the human universe, the universe of human subjectivity.[3]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Humanism and Religion

Humanism, as a philosophical attitude of mind, is closely related to religion which is almost a universal phenomenon in human societies. One striking fact about the word religion is that we use it without hesitation ; we find it difficult to tell others what we mean by it.....The lack of agreement among students of religion is due to wide differences in intellectual orientation and basic assumptions. Religion is essentially contemplative, covering man's consciousness about the universe and the infinite. In its concern for human welfare, it deals with ethics, the science of action. Belief or faith has a practical and moral import assuring affection, peace and safety.

The existence of many religions is due to existence of different persons in different positions, with different powers, with different functions and duties. No two of us have identical difficulties ; we cannot therefore expect identical solutions.....Life is an internal fact for its own sake, before it is an external thing relating itself to other things. The worth of internal life depends upon the self-realization of extence.[4]

Authoritarian Religion

The Oxford Dictionary defines religion "as recognition on the part of man of some higher unseen power as having control of his destiny and as being entitled to obedience, reverence and worship." This definition has reference only to authoritarian religions which require their followers to surrender themselves to a power which has created them and the world they live in. Obedience to such power as revealed through certain scriptures interpreted by saints and sages assiduously following the tenets is virtue ; disobedience of the tenets or the will of that power as required by the holy followers would be a great sin. That Authoritarian Power called God is conceived of as the creator, protector, preserver and destroyer of all the living creatures and man and the world they live in. He is conceived of as Omniscient and Omnipotent before which a human being is powerless. In *authoritarian religion*, God is the symbol of power and force. He is supreme because he has supreme power, and man, in juxtaposition, is utterly powerless.[5] Though some religions consider God to be creator and mover of everything on earth, they consider him to be the very "self-essence of love". Different religions have attributed to Him different forms. While thinking about the forms of different Gods, one finds some satisfaction in what Robert Bridges said in his *Testament of Beauty* :

> "I wondered finding only my own thought of myself, and reading there that man was made in God's image knew not yet that God was made in the image of man ; nor the profounder truth that both these truths are one."
>
> (Book I, lines 402-5)

Humanistic Rilegion

Humanistic religion, on the contrary, centres around man and his strength, particularly his moral and spiritual. Such religion requires man to develop his power of reason in order to understand himself, his relationship to his fellowmen and his position in the Universe. He must recognise the truth both with regard to his limitations and his potentialities. He must develop his power of love for others as well as for himself and experience the solidarity of all living beings. He must have principles and norms to guide him in this aim.....Man's aim in humanistic religion is to achieve the greatest strength, not the greatest powerlessness. Virtue is self-realization and not blind obedience.[6]

In humanistic religions which are theistic, God is the symbol of man's own soul-powers which it is his ultimate aim in life to realize ; in such religion, God is not the symbol of force

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and domination ; He is not the absolute Ruler and man is not merely a creature of his play. God as conceived by Spinoza has no trace of authoritarianism. He is identical with the totality of the universe, and man is free to develop his powers of love and reason to the fullest extent to attain the true nature of his Soul.

While in humanistic religion, God is the image of man's higher self, a symbol of what man potentially is or ought to become. In authoritarian religion God becomes the sole possessor, the highest ruler, judge, benefactor and the controller of the destinies of all. He is the first cause of all consequent existence and adjectives like Absolute, Supreme, Immutable and 'Primary Cause and Ruler of All' apply to Him.

"For humanism" says Dr. S. Radhakrishnan, "man is the highest type of individual in existence and the service of man is the highest religion. It believes in the good life, in moderation, harmony, balance while religion insists on another standard. Humanism assumes that man is by nature good and that evil rests in society, in conditions which sorround man."[7] He concludes the discussion by saying : "Humanism is a legitimate protest against those forms of religion which separate the secular and the sacred, divide time and eternity and *break up the unity of the soul and flesh*. Religion is all or nothing. Every religion should have sufficient respect for the dignity of man and the rights of human personality. We cannot preserve them if we repudiate religion.....Religion is the perception of the truly human....."[8]

Jainism : A Humanistic Religion

Judged in the light of what we know of a humanistic religion, Jainism can be said, without hesitation, to be a religion or a system of thought which preaches the supremacy of the individual soul and his capacity to realize his inherent attributes of a *Paramātman*. Every *Jiva* is the architect or maker of his own destiny and there is no supernatural power which can hinder him in the realization of what he has sown or exerted for. The path of Liberation or *Nirvāna* is well-defined and is constituted by a harmonious combination of the *three Jewels*, propounded by the Tirthankaras.

Jaina Concept of God and Worship

The most common concept of a God in other religions is that he is the Supreme Being Who created the world and Who rules over it. He presides over the destinies of living beings and awards rewards or punishments according to the merits or sins committed by an individual. In the *Bhagvadgitā*, Shri Krishna says : "If any devotee desires to worship the idol of a God with devotion, I grant him unshakeable faith in that God only. He worships that God endowed with faith and gains his desires, for it is I who bestow the same on him."[9] *Swami Vivekananda* said : "What makes the creation : God. What do I mean by the English word God : Certainly not the word ordinarily used in English. I would rather confine myself to the Samskrit word *Brahman*. He is the general cause of these manifestations. What is *Brahman* : He is eternal, eternally pure, eternally awake, the almighty, the all-knowing, the all merciful, the omnipresent, the formless, the partless. He creates this universe."[10]

During the primitive days of civilization, man regarded the most powerful elements of nature like wind, rain, fire etc., as gods. He conceived of many forms as worthy of worship and propitiated them in various ways including sacrifices etc. Among the Hindus, the Tainity of *Brahma, Vishnu* and *Mahesa* is most popular and the incarnations of *Vishnu* are too well-known to need mention. Their functions in the creation and protection of the universe are well-known.

The idea of a Jaina God is that of a pure soul possessed of infinite knowledge, infinite faith, infinite bliss and infinite power. These attributes are inherent in every soul but they are

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

veiled by the Karmas due to the exhibition of passions in thought, word and deed. It is this pure soul known as the *Paramātman* or which has attained his inherent divinity and purity that is regarded as worthy of worship. The Tirthankaras are such liberated personalities who have attained perfection and omniscience. They are prophets who have preached the eternal truths of life to all living beings so that they too could liberate themselves from the miseries of transmigration.

The object of worshipping them is not for getting their favours and grace but to cultivate the same attributes of one's own soul to attain their state by gradual advancement on the path of spiritualism. Acarya Pujyapāda in his commentary on the *Tattvartha-Sutra* by Umāsvami has expressed in the opening verse the concept of Jaina worship :

Moksamargasya netaram, bhettaram karmabhūbhritam :
Jnataram visvatattvanam vande tadgunalabdhaye.

"I bow to the Lord who is the leader to the path of liberation, the destroyer of the mountains of Karmas and the Knower of the whole of the substances and their modifications of the universe, so that I may realize the same qualities which He has attained."

This verse makes it clear that liberation can be attained by a soul, on removal of all Karmic impurities and on realization of his inherent qualities of Knowledge and Bliss, with freedom from wordly pain and pleasure. The same is the object of every Jaina repeating the *Namokara Mantra* :

Namo Arihantanam, Namo Sidhanam, Namo Ayariyanam,
Namo Uvajjhayanam, Namo Loe Savvasahūnam.

"Adoration to the Arhat, Adoration to the Siddhas, Adoration to the Acaryas, Adoration to the Upadhyayas and Adoration to all the Sadhus of the Universe." This mantra which a Jaina is required to meditate upon everyday requires him to offer his salutations to the five Supreme Beings so that he could acquire their attributes and ideals.

The special features of Jaina worship and prayer are : (1) the catholicity of the Jaina attitude in worshipping all liberated and holy souls : (2) the worship is of the aggregate of all virtues and attributes and not of any particular individual : (3) the Arhat, the Omniscient being, who has shown the path of salvation is the highest ideal as it is he who has laid down the principles leading to the path of liberation ; and (4) the prayer and the worship are the media through which we can exert to achieve the ideals. As J. L. Jaini has observed : "Jainism, more than any other creed, gives absolute religious independence and freedom to man. Nothing can intervene between the actions which we do and the fruits thereof. Once done, they become our masters and must fruitify. As my independence is great, so my responsibility is co-extensive with it. I can live as I like but my voice is irrevocable, and I cannot escape the consequences of it. This principle distinguishes Jainism from other religions, e. g., Christianity, Muhammadanism, Hinduism etc. No God or His prophet or deputy or beloved can interfere with human life. The soul, and soul alone, is responsible for all that it does."[11]

The Universe

The Vedanta school maintains that every thing in the universe, souls and matter alike, was produced from God's own essence as *Lila* or sport of the Brahman. Christianity holds the view that God made the Heaven, the Earth, the Sea and all that is there. It is the "lord of Heaven and earth.....that maketh the sun to rise on the evil and the good, and send the rain on the just and the unjust." "In Him" says St. Paul, "we live and move, and have our being." The Muslim account of the Universe, as found in the Quran seems to have been founded upon

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the story in the Genesis. The Buddha discouraged all speculation on the origin and end of the Universe, as he thought, that it was transient and in continuous flux.

The Jaina Cosmology is both realistic and scientific. It does not share the views of other authoritarian religions which conceive of God as the creator or the Universe and as its ruler. The core of Jaina metaphysics is that reality and existence are identical. The Jaina Acaryas propound that *Jiva* and *Ajiva* are the two main substances that are basic to the formation of the world or *Loka*. *Ajiva* is divided into five categories, namely, *Pudgala* or matter, *Dharma* or the medium of motion, *Adharma* or the medium of rest, *Akasha* or the space, and *Kala* or time. These substances are uncreated, eternal and of immense magnitude. The world is dynamic and not static. It is subject to modifications and decay. The principles underlying the concept are real and scientific. The theories in Physics have been undergoing changes since the time of Newton. The intricacies of the theory of Relativity have revolutionized the fundamental concepts of mass, time and space. It (the theory) has provided a new key to a perception of the mysteries of the Universe. In view of the limitations on space, it is not possible to discuss the characteristics of the substances and their importance in the scheme of the Universe.

It is however necessary to mention the characteristics of a soul according to the Jaina philosophy. *Jiva* or soul has consciousness, knowledge (*Jnana*) and perception (*darhsana*) ; he is the enjoyer of the consequences of his own actions and his size is conditioned by his own body ; the Jiva is incorporeal and is ordinarily found bound by its Karmas. Every soul which is bound by Karmas is possessed of four characteristics—strength, senses, life-span and respiration. The Jivas may be either mundane (*samsari*) or liberated (*mukta*). A Jiva may be found in the form of a plant, insect, bird, animal or human being. Due to its Karmas, a Jiva may be born in any of the four *gatis* or states of existence : *Naraka gati* (hellish state), *tiryanch gati* (State of plant, bird or animal) and *manusya gati* (human state) and *deva gati* (State of god or goddess). These differences are brought about by karmic conditions which are responsible for transmigration.

Soul and Karma

It is necessary at this stage to explain what exactly is the connection between a *Jiva* and Karma. Almost all religions recognise the theory of Karma. Karma is a form of fine matter consisting of innumerable atoms which are indivisible and possessed of structure, colour, taste, touch and smell. The vibrations generated by activities of the mind, speech and action attract the Karmic matter which clings to the soul. Anger, greed, pride and delusion are the passions which often disturb the tranquillity of mind. Our psychological conditions may be auspicious (*shubha*), inauspicious (*ashubha*) or pure (*Shuddha*) in character. The first two are responsible for bondage of meritorious or sinful karmas which are the natural conditions of a mundane life (*Jiva*). The goal of every living being is to attain purity by getting rid of Karmic pollutions.

The importance of the doctrine of Karma lies in providing a rational and satisfying explanation to the apparently inexplicable phenomena of birth and death, happiness and misery, of inequalities in mental and physical attainments and of the existence of different species of living beings. The Karmic atoms baffle all analysis as they are subtler than the waves of sound, light of electricity. There are eight kinds of Karmas—*Jnanavaraniya, Darshanavaraniya, Antaraya, Mohaniya, Ayu, Nama, Gotra, Vedaniya.* The first four are called *Ghati* Karmas as they are destructive of soul's knowledge, perception, power and bliss which are the supreme attributes of a pure soul. The other four Karmas which are called *aghatiya* (non-destructive) determine the span of life (*Ayu*), the nature of the body, (*nama*), family status in which a being is born (*gotra*) and pleasure and pain causing circumstances and things (*Vedniya*). These eight Karmas explain every feature of life, either pertaining to the body or the strength or weaknesses of the attributes of a human being. It is laid down by every religion that the main task of a

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

living being is to get over these mental and physical infirmities so that the soul can regain its supreme status of the *Siddha* (or liberated and perfect being).

Jainism expects each individual in society to live in a pious way and at the same time, if possible, to exert for the annihilation of the Karmas by following the spiritual path. One common charge made against this religion is that it only preaches the path of renunciation and says nothing about the life on earth. This criticism is far from the truth. Jainism lays so much emphasis on the importance of human life that even the gods and goddesses must return back or be born again, after the exhaustion of the meritorious Karmas, as human beings in order to work for their salvation or liberation from the bondages of Karmas.

Jaina Ethics

The Code of Conduct prescribed for a householder is less rigorous than the one prescribed for a monk or a nun. Every person must live in such a way that the spiritual goal of his life should not be lost sight of. He must grow in wisdom and virtue. As he progresses in life, he must become more humane and capable of sympathetic understanding. We all live by faith ; and the health of every society depends upon the moral values that the individuals practise in daily life. Jainism preaches a universal spirit of humanism and harmony among all living beings. Acarya Samantabhadra who lived in the latter half of the second century A. D. preached the doctrine of *Sarvodaya* in the following words in his work called the *Yuktyanushasana* :

Sarvapadamantakaram nirantam,
sarvodayam tirthamidam tavaiva. (Verse 61)

The all-round advancement of all beings by warding off all their difficulties is Sarvodaya as preached by Bhagavan Mahavir. It cannot be denied that we are bound by sympathy with countless souls and that our happiness depends upon the smiles and well-being of others. That is why the principle of Sarvodaya was preached as a code of conduct for daily practice.

There is another principle of mutual self-help that is advocated by another Jaina Acarya by name Umaswami by about the same time. He said in his work *Tattvarthasutra* :

Parasparopagraho Jivanam[12] (Chapter V, sutra 21)

To help each other mutually in their work is the good turn that one ought to do towards another. This is how we can be useful to one another. We can help others by good and timely advice and guidance. In fact, our life depends upon the work of numerous people known and unknown to us. The services that others render to us to make our life happy and worth living cannot be counted and ascertained ; that is the secret of social existence. It is therefore the duty of every one of us to help others in whatever manner we can. The number of persons who work for others in society is inconceivably large and no ethic which does not provide for social obligations towards their well-being can be perfect or humane.

Pancha Anuvrata or the Five Small Vows

It is with a view to achieve the twin objectives of *sarvodaya* and mutual help that the five rules of conduct have been prescribed by the Jaina religion. These five vows are : *Ahimsa* (non-violence), *satya* (truthfulness), *Achaurya* (non-stealing), *brahmachayra* (celibacy) and (non-possessiveness). In fact, *Ahimsa* is the basis on which all these principles or rules of conduct *aparigraha* are founded.

The goal of ethics is maintenance of moral values of brotherhood, justice and peace, Devotion to ethical ideals is the hall-mark of all modern civilizations. Jaina ethics is the most glorious part of Jainism and it is simplicity itself. That is why some authors have described Jainism as ethical realism. There is no conflict between man's duty to himself and to his society. The highest good of the society is the highest good of the individual. The soul has to be evolved

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

to the best of its present capacity, and one means to this evolution is the duty of helping others by example, advice, encouragement and help. [13]

Our speech and our actions are reflections in action of our inner faith in religion and moral values cherished by each individual. In the last resort, every moral code rests, like the Ten Commandments of Christianity, on prohibitions but in Jainism, each of the vows has its positive as well its prohibitive aspects.

Ahimsa literally means non-violence, non-injury and harmlessness in its negative connotation; its basic concept is one of love, compassion and kindness towards all living beings. To Jaina thinkers, *Ahimsa* is the highest form of religion. Passion or self-interest is the root cause of *himsa* or injury. Jainism holds that the immobile beings like plants possess four vitalities, viz., touch, energy, respiration and life-duration. The mobile beings possess, besides the above, any two or more of the additional senses ; sense of taste, of smell, of sight, of hearing and of speech. There are some endowed with the mind also. *Himsa* is caused by harm or severance of anv of the vitalities in a mobile or immobile being. Such injury or harm causes pain and suffering to life. He who causes harm or injury through passion or carelessness is guilty of *Himsa.* Regulation of thought, speech or conduct is essential for avoidance of *Himsa.*

Truthfulness begets trust and confidence in private and public dealings. For Gandhi, 'Truth is God and God is Truth.' Today, there is definite decline in men's regard for truth. A truthful man is ridiculed as an impractical person with no common-sense and worldy wisdom. "At no period of the world's history" says Aldous Huxley "has organized lying been practised so shamelessly or, thanks to modern technology, so efficiently or on so vast a scale as by the political and economic dictators of the present century. Most of this organized lying takes the form of propaganda, inculcating hatred and vanity....."[14] Good ends can be achieved only by good and honest means. The end cannot justify the means. There can never be progress unless honesty is valued, truthfulness in word and deed is held sacred, and charity is considered holy.

The last ethical rule has personal and social implications. *Aparigraha* is imposition of voluntary restraint on acquisition of property. It is gradual elimination of greed in private life. A greedy person is ever dissatisfied and as Bhagavan Mahavira has said, "sky is the only limit to fulfilment of greed." Honesty, goodness and straight-forwardness are all thrown to the winds by a person whose heart is set upon acquisition of more and more property. Generosity, charity and non-attachment which are vital to contented living are replaced by wealth, fame and social or official position of power.

Jaina thinkers saw that a balanced and contented society is possible only where there is economic equality or balance among all members of a society. Pursuit of property and pleasure is an endless instinct of avarice, and unless it is curbed before it becomes a passion, it will end in ruination of all humane qualities. *Aparigraha* requires a mental poise and an earnest desire to safeguard the social well-being ; its observance in practice results in social justice and equitable distribution of property. If each individual practises non-attachment to more than what is needed for a normally comfortable living, there will be no enviable difference between the rich and the poor ; it will help creation of a society which will be just, morally peaceful and aware to all obligations to fellow citizens.

In most of the democratic countries, the planning is more towards industrialization which creates social and economic disparities. Economic disparity sows the seeds of unrest and friction. Authoritarian management of industries and factories creates a new privileged bureaucracy. No country can progress unless the economic differences between the rich and poor are reduced to a level where the latter are ensured of reasonable development in education and human comforts. *Aparigraha,* if adopted as a doctrine ensuring economic equality or at least means of reducing disparity in the economic field, there will be harmony between capital and labour so as to inspire them to work for the good of the country.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

A humanistic religion must relieve men from doubt and perplexity and lead them to a region of happiness and serenity. It must interpret the universe and life in terms of human values and show the practical path of self-realization. These ethical principles are morally elevating as they do recognize the sacredness of all life and emphasise their practice in daily life as the surest means of elevating the soul. They are simple and can be observed by every one in accordance with his capacity. Their object is to improve the quality of life in society by emphasis on conversion of an individual into a selfless citizen with high morals and awareness of his duty towards his fellow-citizens. It does not debar its votary from achieving material progress in his life but requires him to regulate his life by self-control with an eye on charity and well-being of his fellow beings.

While I am on the question of Jaina ethics, I must refer to another aspect of the same which helps man to keep himself constantly alert in the development of his moral sense and his love for all living beings. Every Jaina, whether a Digambara or a Svetambara observes for ten or eight days a Festival of Universal Forgiveness technically known as the *Paryūshana-Parva* or the *Dashalakshana-dharma* during which period every householder, whether man or woman must observe the ten rules of piety besides fasting each day partially or wholly. Study of scriptures, prayers and meditations accompanied by austerities and hearing of discourses are observed by the Jainas on each of the ten or eight days' festival. It is well-known that men live by the social ideals of their Prophets, particularly by such ideals as have appealed to them and form the philosophy of their life.

This Festival of Universal Forgiveness annually reminds every follower of the religion of the ten ideals which he must think over by self-study or by hearing discourses. They are ennobling qualities of life which contribute to our inner purity and add sweet kindness to our external conduct. They are :

(1) *Supreme Forgiveness*—As the saying goes —to err is human, to forgive is divine. Its observance requires an inward introspection, repentance and confession of one's own faults consciously or unconsciously committed. There is a simple verse which everyone is required to recite and absorb its spirit so as to reflect it in his conduct towards all living beings :

> "I forgive all living beings, may all living beings forgive me ;
> I have love and friendship for all living beings and enemity towards none."

(2) *Supreme Humility*—Humility is the sign of real culture and learning. It is a virtue that adorns the learned and adds grace to his life. It annihilates all pride.

(3) *Supreme Straight-forwardness*—It requires a person to be straight-forward. Crookedness is a vice and is characteristic of the perverse. It creates suspicion and ruins friendship. It never begets any trust in others.

(4) *Supreme Truthfulness*—I have already spoken about the divine quality of this virtue. A truthful man is ever and everywhere trusted and respected. He can be fearless and attain real contentment and happiness.

(5) *Supreme Purity*—Purity of thought and action is next only to goldliness. To be pure is to be free from all passions. Inner purity is the highest strength which nothing on earth can diminish. Life is short but purity of soul is immortal.

(6) *Supreme Self-Control*—Self-control in thought, speech and action is what makes for goodness in life. It drives away enemity and engenders friendship and good-will among all members with whom a person with this virtue comes in contact. It is the virtue of the brave. It is the mother of all virtues and even great saints have lost the sanctity of their lives by sudden loss of self-control.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(7) *Supreme Austerity*—Austerity can be internal and external. Repentance, fasting, meditation are some examples of austerity. Self-denial reduces external attachments and makes life meaningful. It is a quality which rehabilitates a mundane life in its real Self.

(8) *Supreme Renunciation*—This is one of the most difficult phases of human conduct for practice in life. It is the abdication of mine-ness that sows the seeds of spiritual greatness. When we are in mundane life, it is a real test of inner strength to renounce love of the body, of relatives and friends, and of everything else which one claims as his own.

(9) *Supreme Non-attachment*—The secret of this virtue is to know that the soul is distinct from the body, that everything else in the world is foreign to me and I am full of bliss, knowledge, potentiality etc. I am alone and I go alone from this world ; such firm conviction is the gist of this virtue.

(10) *Supreme Celibacy*—To discard all pleasures of sex and the other senses is the cardinal principle of this virtue. It helps in the preservation of the life-forces and physical strength. It elevates the soul and turns our mind towards the *Paramatman*.

This brief reference to the ten virtues which are required to be understood and practised during the whole life of an individual will prove that Jainism attaches the highest importance to purity of thought and conduct in society. The observance of these virtues every year requires an individual to renew his relationship of friendship by forgetting and forgiving the past faults that might have been committed during the course of the year. It may be pertinent to refer to the impressions of one Mrs. Emma Schubmehl, Legal Advisor and Curator of the Youth Welfare Work in Germany, when this Festival of Universal Forgiveness was observed in 1955 by Prof. Lothal Wendel and his friends in Bad Godesberg—"This is one of the most valuable and useful institution for a people. Everybody is invited to recreate himself and to renew his relations with his fellow creatures, with his relatives and with his friends but also with his enemies. Every thought of hatred must be examined and revised during these days .....Everybody who aims seriously to deepen his insight has got the task to forgive and to try to understand.....And perhaps kindness and love, waiving all reproach will lift the other on a higher, more progressive level...I am sorry that in Germany we have not a day or a month of universal forgiveness... Such a day of universal forgiveness would favourably influence the social intercourse of humanity. All those personnel aiming at religious purity, all those who are active in politics and administration, should follow. The people of the world should also follow this generous institution of the Indian people and celebrate a week of universal forgiveness"[15]

Such ethical festivals and practices which are enjoined by Jainism are intended to sustain the morals of the society at large to keep every one alive to his social and personal obligations and consequently to maintain the morals of the country at the highest level. Morality cannot be enforced by the authority of law, as such a course will create only hypocrites who practise their vices in secrecy. Today the world has been laying so much emphasis, on the glories of science that we are gradually forgetting the wisdom of saints which alone can maintain the dignity of man and sanctity of his soul.

Anekantavada

All of us are born in one religion or the other and it is but natural that we try to find our salvation, if at all we are spiritually inclined, in our own religion. But experience tells us that unless we broaden our outlook by studying other religions, we are likely to remain fanatical and conservative in our social behaviour and public actions. Jainism has presented to the world two significant instruments of understanding and expression : one is *Nayavada* and the other is *Anekantavada*. The former requires us to analyse the different aspects of a tenet, doctrine or subject-matter to enable us to understand the same in all its aspects.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

No aspect or point-of-view should be lost sight of. By overlooking certain aspects our understanding will be defective and our action based thereon will be faulty, if not harmful. There are many complex problems or questions in life and this doctrine of *Nayavada* cautions us not to reach final conclusions unless the problem or the question is analytically considered and evaluated by weighing the pros and cons of it. Religious truths and tenets ought to be examined from various angles; the truth behind each of them might be hidden and a superficial view might elude the truth.

Anekanta, as the term implies, is the doctrine of many view-points, requiring an individual to have a harmonious view of things before he could get a perfect and comprehensive idea of truth or reality. This doctrine which is also known as *Syadavada* is subjected to severe criticism by some scholars. Some say that it is a doctrine of scepticism while some others say that it is beset with contradictions. It is obvious that analytical stand-points refer to partial truths and it is only their synthetic combination that will bring harmony into a coherent scheme of knowledge. The Jaina thinkers have illustrated this by a parable of seven blind men and an elephant. One blind man feels the legs and says that the elephant is like a pillar; the other feels its body and says that it is like a wall; the third feels its ear and says that is like a winnowing pan. Thus each one feels one organ and considers that it represents the whole truth. To have a clear picture of an elephant, all the view-points must be harmonized to understand the whole elephant.

I do not desire to refer to seven predications which help us to have a full knowledge of an object. Every philosophical doctrine must be examined in the light of the basic principles of that religion or philosophical creed; this according to Hermann Jacobi, is the happy way leading out of the maze of *ajnanwada* or ignorance. Referring to this doctrine, Dr. Radhakrishnan says : All that the Jainas say is that everything is of a complex nature and identity in difference. The real comprehends and reconciles differences in itself. Attributes which are contradictory in the abstract co-exist in life and experience. The tree is moving in that its branches are moving but it is not moving because it is fixed in its place in the ground. The human mind cannot comprehend the complexities of existence fully nor can human speech express it adequately. Therefore all statements can be true only so far as they go, in so far as the speaker's viewpoints is concerned. It is the inadequacy of human understanding that renders the different points-of-view possible."[16]

A simple illustration can be given about the personality of man. Let us take the case of a person who is a professor. He is a professor so far his students are concerned; to the management of his institution, he is an employee; to his wife he is her husband; to his son or daughter, he is the father; to his sister or brother, he is the brother; to his nephew, he is his uncle. In this way, any one position cannot be a complete description of a human being.

When applied to different philosophies in vogue, the doctrine arms us with a catholicity of understanding to convince us that truth is not anybody's monopoly with tarriff walls of denominational religions. This doctrine, therefore, inculcates in a votary of another religion a deep sense of tolerance which is a part of the another important part of Jaina doctrine, viz., *ahimsa* which is fundamental to that religion. The *Anekanta* doctrine is very essential for human understanding and progress. It propagates the right mode of approach and enables us to know the whole truth by logical reconciliation and ascertainments. It saves us from mental errors, religious bigotry and verbal disputes. Different seers have taken different points-of-view about the Universe and God. Some subscribe to nihilism, others to realism, some to monism, others to dualism, some to idealism, others to materialism, some to theism, others to atheism and so on. Jainism does not quarrel with any of them; it only explains by saying that these assertions contain limited truth and they are expressions of different views looked at the Reality

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

from a particular point-of-view. Hence its message is to enlighten the enquirer about the other view-points and rise above the relative view-points of intellect and thinking.

Contributions of Jainism

Jainism has contributed immensely to the enrichment of all languages in India. Wherever its saints and writers went, they adopted the language of the masses as their means of communication. The result is that we find Jaina writers in Prakrit, Sanskrit, Kannada, Tamil, Hindi, Gujarati, Marathi, and so on. There is abundant secular literature in the forms of poetry, stories, *puranas*, and treatises on subjects like Medicine, Mathematics, Astronomy, Veterinary sciences and so on. Beauty, perfection, serenity, and spirituality mark the Jaina images, temples, pillars and paintings so as to make their Art a vehicle of devotion and piety.

The Tirthanakaras preached that human birth is the most invaluable acquisition for a soul; for, even the gods and goddesses must be reborn as human beings in order to attain *Nirvana*. Man's worth is not to be judged by his birth but by the virtues he possesses. For every human being, Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct constitute the path of salvation. Jainism has shown us a very simple way of life, which in the words of its great Saint Amitagati, reads :—

O Lord, may myself shall ever extend,
Loving friendship towards all living creatures,
Joyful reverence towards the virtuous,
Unalloyed sympathy for those in distress, and
An attitude of tolerance towards the perverted.

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदम्
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृतौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

Notes & References

1. Human Values and Natural Sciences by Errol. E. Harris p. 104 (North Western University.)
2. Encyclopaedia of Philosophy, Vol. IV. 71, Article by Nicola Abbagnano.
3. *Ibid*, p. 72.
4. Philosophy of Religion, edited by George and Abernathhy, (Macmillan & Co.) p. 43, Article by John, N. Noss.
5. *Ibid*, p. 82.
6. *Ibid*, p. 85.
7. Recovery of Faith by Dr. S. Radhakrishnan, pp. 44-5 (Orient Paper-backs, New Delhi. 32.)
8. *Ibid*, p. 50.
9. Bhagvadgita Canto VII Verses 21-22.
10. Swami Vivekananda, Lectures from Colombo to Almora, p. 21.
11. Outlines of Jainism by J. L. Jaini. pp. 3-4.
12. Tattvartha Sutra by Umaswami, Chapter V, Sutra 21.
13. Outlines of Jainism by J. L. Jaini, p. xxiii.
14. Ends and Means by Alduous Huxley, p. 7 (Chatto & Windus London, 1957).
15. Voice of Ahimsa, Vol. V, p. 274, (published by Research Institute Arrah.)
16. Indian Philosophy Dr. S. Radhakrishnan, Vol. I. p. 304. (Allen and Unwin, London).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड ८



जैन परम्परा और इतिहास

एक बहती धारा

भगवान ऋषभदेव से
वर्तमान युग तक का
ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



जैन-धर्म-परम्परा : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण

[भगवान ऋषभदेव से लोंकाशाह]

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

ऋषभदेव—जैनधर्म विश्व का एक प्राचीनतम धर्म है। प्रस्तुत अवसर्पिणीकाल में इस धर्म के आद्य संस्थापक भगवान ऋषभदेव हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में वे उपास्य के रूप में रहे हैं। उनका तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व जन-जन के आकर्षण का केन्द्र रहा है। आधुनिक इतिहास से उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि वे प्रागैतिहासिक युग में हुए। उनके पिता का नाम नाभि और माता का नाम मरुदेवा था। उनका पाणिग्रहण सुमंगला और सुनन्दा के साथ हुआ। सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी तथा अन्य अठानवें पुत्रों को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को। कुलकर व्यवस्था का अन्त होने पर वे राजा बने, राजनीति का प्रचलन किया, खेती आदि की कला सिखाकर खाद्य-समस्या का समाधान किया; अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाएँ, और कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी-लक्षणों का ज्ञान कराया; और ब्राह्मी को अठारह लिपियों का तथा सुन्दरी को गणित विद्या का परिज्ञान कराया। असि-मसि और कृषि की व्यवस्था की। वर्ण-व्यवस्था की संस्थापना की। अन्त में भरत को राज्य देकर चार हजार व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की। जनता श्रमणचर्या के अनुसार भिक्षा देने की विधि से एक संवत्सर तक भिक्षा नहीं मिली। उसके पश्चात् उनके पौत्र श्रेयास ने इक्षुरस की भिक्षा दी जिससे इक्षु तृतीया या अपरिचित थी, अतः अक्षय तृतीया पर्व का प्रारम्भ हुआ। एक हजार वर्ष के पश्चात् उनको केवलज्ञान हुआ। संघ की संस्थापना की। उनके पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ। भरत को आदर्श महल में केवलज्ञान हुआ। उनके अन्य सभी पुत्र और पुत्रियाँ भी साधना कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुईं और माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन ऋषभदेव ने भी अष्टापद पर्वत पर शिवगति प्राप्त की जिससे शिवरात्रि विश्रुत हुई।[1]

बाईस तीर्थंकर—भगवान ऋषभदेव के पश्चात् अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि, (पुष्पदन्त), शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्वनाथ—ये बाईस तीर्थंकर हुए।

अरिष्टनेमि—भगवान अरिष्टनेमि और भगवान पार्श्व—इन दोनों को आधुनिक विद्वान ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं। अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। ऋग्वेद आदि में उनके नाम का उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद, सामवेद, छान्दोग्योपनिषद्, महाभारत, स्कंदपुराण, प्रभासपुराण आदि में भी उनके अस्तित्व का संकेत मिलता है। मांस के लिए मारे जाने वाले प्राणियों की रक्षा हेतु उन्होंने उग्रसेन नरेश की पुत्री राजीमती के साथ विवाह करने से इनकार किया और स्वयं गृह त्यागकर श्रमण बने, केवलज्ञान प्राप्त कर रैवताचल (गिरिनार) पर मुक्त हुए। मांसाहार के विरोध में जो उन्होंने अभियान प्रारम्भ किया वह इतिहास के पृष्ठों में आज भी चमक रहा है। वासुदेव श्रीकृष्ण उनके परम भक्तों में से थे।[2]

पार्श्वनाथ—भगवान पार्श्वनाथ वाराणसी के राजकुमार थे। उनके पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामादेवी था। आपका जन्म ई. पू. ८५० में पौषकृष्णा दशमी को हुआ था। आपके युग में तापस परम्परा में विविध प्रकार की विवेकशून्य क्रियाएँ प्रचलित थीं। गृहस्थावस्था में ही पंचाग्नि तप तपते हुए कमठ को अहिंसा का पावन उपदेश दिया और धूनी के लक्कड़ में से जलते हुए सर्प का उद्धार किया। श्रमण बनने के पश्चात् उग्र साधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर सर्वज्ञ बने और विवेकमूलक धर्म-साधना का प्रचार किया और अन्त में सम्मेदशिखर (बिहार प्रान्त) पर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। पाश्चात्य और पौर्वात्य सभी विद्वानों ने भगवान पार्श्व की ऐतिहासिकता को स्वीकार किया है। अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा के अनुसार तथागत बुद्ध के चाचा बप्प निर्ग्रंथ श्रावक थे। धर्मानन्द कोशांबी का अभिमत है कि बुद्ध ने अपने साधक जीवन के प्रारम्भिक काल में भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा को अपनाया था। आगम साहित्य में पार्श्वनाथ के लिए पुरुषादानीय, लोकपूजित, संबुद्धात्मा सर्वज्ञ एवं लोकप्रदीप जैसे विशिष्ट विशेषण देकर उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को उजागर किया गया है।[३]

महावीर—भगवान महावीर विश्व-इतिहास गगन के तेजस्वी सूर्य थे। ई. पू. छठी शताब्दी में वैशाली के उपनगर क्षत्रियकुण्ड में चैत्र सुदि त्रयोदशी को आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम राजा सिद्धार्थ और माता का नाम रानी त्रिशला था। धन-धान्य की अभिवृद्धि के कारण उनका नाम वर्द्धमान रखा गया। उनके बड़े भाई का नाम नन्दिवर्द्धन, बहन का नाम सुदर्शना और विदेह गणराज्य के मनोनीत अध्यक्ष चेटक उनके मामा थे। वसन्तपुर के महासामन्त समरवीर की पुत्री यशोदा के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ और प्रियदर्शना नामक एक पुत्री हुई जिसका पाणिग्रहण जमाली के साथ हुआ।

अट्ठाईस वर्ष की आयु में माता-पिता के स्वर्गस्थ होने पर संयम ग्रहण करना चाहा, किन्तु ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्द्धन के अत्याग्रह से वे दो वर्ष गृहस्थाश्रम में और रहे। तीस वर्ष की अवस्था में गृहवास त्यागकर एकाकी निर्ग्रंथ मुनि बने। उग्रतप की साधना की। देव-दानव-मानव पशुओं के द्वारा भीषण कष्ट देने पर भी प्रसन्न मन से उसे सहन किया। अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर का तपःकर्म अधिक उग्र था। साधना करते हुए बारह वर्ष बीते। तेरहवाँ वर्ष आया, वैशाख महीना था, शुक्लपक्ष की दशमी के दिन अन्तिम प्रहर में साल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से आतापना ले रहे थे, तब केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हुआ। वहाँ से विहार कर पावापुरी पधारे। वहाँ सोमिल ब्राह्मण ने विराट यज्ञ का आयोजन कर रखा था जिसमें इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डितपुत्र, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलभ्रात, मैतार्य, प्रभास ये ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे। उनके तर्कों का निरसन कर उन्हें अपने शिष्य बनाया, साथ ही चार हजार चार सौ उनके विद्वान शिष्यों ने भी दीक्षा ग्रहण की। भगवान ने उन्हीं ग्यारह विज्ञों को गणधर के महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया। श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका इस चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर बने। भगवान के संघ में चौदह हजार श्रमण, छत्तीस हजार श्रमणियाँ थीं। एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएँ थीं। भगवान के त्यागमय उपदेश को श्रवण कर वीरांगक, वीरयश, संजय, एणेयक, सेय, शिव, उदयन और शंख—काशीवर्धन आदि आठ राजाओं ने श्रमण धर्मग्रहण किया था। सम्राट श्रेणिक के तेईस पुत्रों और तेरह रानियों ने दीक्षा ग्रहण की। धन्ना और शालिभद्र जैसे धन-कुबेरों ने भी संयम स्वीकार किया। आर्द्रकमार जैसे आर्येतर जाति के युवकों ने, हरिकेशी जैसे चाण्डाल जातीय मुमुक्षुओं ने और अर्जुन मालाकार जैसे क्रूर नरहत्यारों ने भी दीक्षा ग्रहण की।

गणराज्य के प्रमुख चेटक महावीर के मुख्य श्रावक थे। उनके छह जामाता उदायन, दधिवाहन, शतानीक, चण्डप्रद्योत, नन्दिवर्द्धन, श्रेणिक तथा नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी के अठारह गणनरेश भी भगवान के परमभक्त थे। केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् तीस वर्ष तक काशी, कोशल, पांचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरुजांगल, बाह्लीक, गान्धार, सिन्धुसौवीर प्रभृति प्रान्तों में परिभ्रमण करते हुए भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए अन्तिम वर्षावास मध्यम-पावा में सम्राट हस्तिपाल की रज्जुक सभा में किया। कार्तिक कृष्णा अमावास्या की रात्रि में स्वाती नक्षत्र के समय बहत्तर वर्ष की आयु पूर्ण कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। निर्वाण के समय नौ मल्लवी नौ लिच्छवी गणों के अठारह राजा उपस्थित थे जिन्होंने भावउद्योत के चले जाने पर द्रव्यउद्योत किया, तभी से भगवान महावीर की स्मृति में दीपावली महापर्व मनाया जाता है।[४]

इन्द्रभूति गौतम—भगवान महावीर के प्रधान शिष्य थे इन्द्रभूति गौतम। वे राजगृह के सन्निकट गोबर ग्राम के निवासी थे।[५] उनके पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथ्वी था। उनका गोत्र गौतम था।[६] वे घोर तपस्वी, चौदह पूर्व के ज्ञाता, चतुर्ज्ञानी, सर्वाक्षर सन्निपाती, तेजस्लब्धि के धर्ता और अनेक लब्धियों के भण्डार थे।[७] जैन आगम साहित्य का मुख्य भाग महावीर और गौतम के संवाद के रूप में है। गौतम प्रश्न करने वाले हैं और महावीर उत्तर देने वाले हैं। जो स्थान उपनिषद् में उद्दालक के सामने श्वेतकेतु का है, त्रिपिटक में बुद्ध के सामने आनन्द का है और गीता में कृष्ण के सामने अर्जुन का है वही स्थान आगम में महावीर के सामने गौतम का है। गौतम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अन्तर्मानस में भगवान महावीर के प्रति अनन्य आस्था थी। नम्रता की वे साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। सत्य को स्वीकार करने में उन्हें किंचित्मात्र भी संकोच नहीं था। उनमें उपदेश देने की शक्ति भी विलक्षण थी। भगवान महावीर ने पृष्ठचम्पा के गांगील नरेश को प्रतिबोध देने हेतु उन्हें प्रेषित किया था। उन्होंने १५०३ तापसों को प्रतिबोध देकर श्रमणधर्म में दीक्षित किया था।[८] भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी केशीश्रमण तथा उदकपेढ़ाल आदि सैकड़ों शिष्यों को महावीर के संघ में सम्मिलित करने का श्रेय भी उन्हें था।[९]

श्रमण भगवान महावीर के संघ के संचालन का सम्पूर्ण भार गौतम के कन्धों पर था। भगवान महावीर के परिनिर्वाण होने पर उन्हें केवलज्ञान हुआ और उन्होंने संघ संचालन का कार्य गणधर सुधर्मा को सौंप दिया और वे बारह वर्ष तक जीवनमुक्त केवली अवस्था में रहे। उन्होंने पचास वर्ष की आयु में दीक्षा ली, तीस वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे और बारह वर्ष केवली रहे। बयानवे वर्ष की उम्र में गुणशील चैत्य में मासिक अनशन व्रत करके परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।[१०]

(१) **गणधर सुधर्मा**—ये कोल्लागसन्निवेश के निवासी अग्निवेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम धम्मिल और माता का नाम भद्दिला था। आपके पास पाँच सौ छात्र अध्ययन करते थे। पचास वर्ष की अवस्था में शिष्यों के साथ प्रव्रज्या ली, बयालीस वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे। महावीर के निर्वाण के बाद बारह वर्ष होने पर केवली हुए और आठ वर्ष तक केवली अवस्था में रहे। भगवान महावीर के सभी गणधरों में सुधर्मा दीर्घजीवी थे। अतः अन्य सभी गणधरों ने निर्वाण के समय अपने-अपने गण सुधर्मा को समर्पित किये थे।[११] सौ वर्ष की अवस्था में मासिक अनशनपूर्वक राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।[१२] दिगंबर परम्परा सुधर्मा स्वामी का निर्वाण विपुलाचल पर होना मानती है।

(२) **आर्य जम्बू**—श्रमण भगवान महावीर के परिनिर्वाण के सोलह वर्ष पूर्व मगध की राजधानी राजगृह में जम्बू का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। ये अपने पिता के इकलौते पुत्र थे। सोलह वर्ष की उम्र में आठ कन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। दहेज में निन्यानवे करोड़ का धन मिला। किन्तु सुधर्मा स्वामी के उपदेश को श्रवण कर बिना सुहागरात मनाये ही अपार वैभव का परित्याग कर सुधर्मा के चरणों में दीक्षा ग्रहण की। जम्बू के साथ उनके माता-पिता आठों पत्नियाँ, उनके भी माता-पिता, तस्करराज प्रभव, और उसके पाँच सौ साथी चोर इस प्रकार पाँच सौ सत्ताइस व्यक्तियों ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक सुधर्मा स्वामी से आगम की वाचना प्राप्त करते रहे। वीर निर्वाण सं० १ में दीक्षा ग्रहण की, वीर सं० १३ में सुधर्मा स्वामी के केवलज्ञानी होने के पश्चात् उनके पट्ट पर आसीन हुए। आठ वर्ष तक संघ का नेतृत्व कर वीर सं० २० में केवलज्ञान प्राप्त किया और वीर सं० ६४ में अस्सी वर्ष की आयु पूर्ण कर मथुरा में निर्वाण हुआ। आज जो आगम उपलब्ध हैं उसका सम्पूर्ण श्रेय जम्बू को है। जम्बू के मोक्ष पधारने के पश्चात् निम्न दस बातें विच्छिन्न हो गईं—

१. मनःपर्यवज्ञान।
२. परमावधिज्ञान।
३. पुलाक लब्धि।
४. आहारक शरीर।
५. क्षणक श्रेणी।
६. उपशम श्रेणी।
७. जिनकल्प।
८. संयमत्रिक् (परिहारविशुद्धचारित्र, सूक्ष्मसम्परायचारित्र, यथाख्यातचारित्र)।
९. केवलज्ञान।
१०. सिद्धपद।[१३]

(३) **आर्य प्रभवस्वामी**—आर्य प्रभव विन्ध्याचल के समीपवर्ती जयपुर के निवासी थे। पिता का नाम विन्ध्य राजा था। पिता से अनबन हो जाने के कारण अपने पाँच सौ साथियों के साथ राज्य का परित्याग कर जंगल में निकल पड़े और तस्करराज बन गये। जिस दिन जम्बूकुमार का विवाह था उसी दिन वे डाका डालने के लिए उनके घर पहुँचे। प्रभव के पास दो विद्याएँ थीं—तालोद्घाटिनी (ताला तोड़ने की) एवं अवस्वापिनी (नींद दिलवाने की)। उन विद्याओं के प्रभाव से सभी सदस्यगण सो गये किन्तु जम्बू अपनी नव-परिणीता पत्नियों के साथ संयम की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चा कर रहे थे जिसे सुन प्रभव विरक्त हो गये और तीस वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ग्रहण की। पचास वर्ष की अवस्था में जम्बू के केवलज्ञानी होने पर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और एक सौ पाँच वर्ष की उम्र में अनशन कर स्वर्गवासी हुए।

(४) **आर्य शय्यंभव**—आर्य प्रभव के स्वर्गस्थ होने पर शय्यंभव उनके पट्ट पर आसीन हुए। वे राजगृह के निवासी वत्स गोत्रीय ब्राह्मण थे। एक समय वे यज्ञ कर रहे थे। आर्य प्रभव के आदेशानुसार कुछ शिष्य उनके समीप आये और यह कहा—**अहो कष्टमहो कष्टं पुनस्तत्त्वं न ज्ञायते** (अत्यन्त परिताप है, तत्त्व को कोई नहीं जानता।) इस वाक्य से वे जागृत हुए। उन्होंने मुनियों से पूछा तत्त्व क्या है? शिष्यों ने कहा—यदि तत्त्व जानना है तो हमारे गुरु के पास चलो। वे प्रभवस्वामी के पास पहुँचे और उनके प्रवचन से प्रबुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। चतुर्दश पूर्वों का अध्ययन किया। जब उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की थी तब उनकी पत्नी सगर्भा थी। पश्चात् पुत्र हुआ। मनक नाम रखा। मनक ने चम्पानगरी में आपके दर्शन किये। मुनि बना। छह माह का अल्पजीवी समझकर पुत्र को श्रमणाचार का सम्यक् परिज्ञान कराने हेतु दशवैकालिक का निर्माण किया। इन्होंने अट्ठाइस वर्ष की उम्र में प्रव्रज्या ग्रहण की। चौंतीस वर्ष सामान्य मुनि-अवस्था में रहे और तेईस वर्ष युगप्रधान आचार्य पद पर। वीर निर्वाण संवत् ९८ में पचासी वर्ष आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुए।

(५) **आर्य यशोभद्र**—ये आर्य शय्यंभव के प्रधान शिष्य थे। तुंगियायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। बाइस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की, चौदह वर्ष मुनि-अवस्था में रहे और पचास वर्ष युगप्रधान आचार्य पद पर। ये वीर सं० १४८ में छियासी वर्ष पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुए।

(६) **आर्य संभूतिविजय**—यशोभद्र के दो उत्तराधिकारी हुए—आर्य संभूतिविजय और आर्य भद्रबाहु। आर्य संभूतिविजय माठर गोत्रीय थे। वे बयालीस वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे, चालीस वर्ष साधु अवस्था में, आठ वर्ष युगप्रधान आचार्य के पद पर। कुल नब्बे वर्ष की उम्र में वीर निर्वाण संवत् १५६ में स्वर्गस्थ हुए।

(७) **आर्य भद्रबाहु**—ये जैन संस्कृति के ज्योतिर्धर आचार्य थे। जैन साहित्य सर्जना के आदि पुरुष हैं। आगम व्याख्याता, इतिहासकार और साहित्य के सर्जक के रूप में इनका नाम प्रथम है। आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर में हुआ। पैंतालीस वर्ष की वय में आचार्य यशोभद्र के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। चौदह वर्ष तक युगप्रधान आचार्य पद पर रहे। वीर सं १७० में छिहत्तर वर्ष की आयु में स्वर्गस्थ हुए।

आर्य प्रभव से प्रारंभ होने वाली श्रुतकेवली परम्परा में भद्रबाहु पंचम श्रुतकेवली हैं। चतुर्दश पूर्वधर हैं। उनके पश्चात् कोई भी श्रमण चतुर्दशपूर्वी नहीं हुआ। दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार,[१४] कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, आदि दस निर्युक्तियाँ आपकी रचित मानी जाती हैं। किन्तु कितने ही विद्वान निर्युक्तियों की रचना द्वितीय भद्रबाहु की मानते हैं। उवसग्गहर स्तोत्र[१५] आपकी ही रचना है। आगमों की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में आपके द्वारा ही सम्पन्न हुई।[१६] उस समय आप नेपाल में महाप्राणध्यान की साधना कर रहे थे। संघ के आग्रह को सम्मान देकर स्थूलभद्र मुनि को बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार किया। दस पूर्व अर्थ सहित सिखाये। ग्यारहवें पूर्व की वाचना के समय आर्य स्थूलभद्र ने बहनों को चमत्कार दिखाया; अतः वाचना बन्द की। किन्तु संघ के आग्रह से अंतिम चार पूर्वों की वाचना दी, किन्तु अर्थ नहीं बताया और दूसरों को उसकी वाचना देने की स्पष्ट मनाई की।[१७] अर्थ की दृष्टि से अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं। स्थूलभद्र शाब्दिक दृष्टि से चौदहपूर्वी थे, पर अर्थ की दृष्टि से दसपूर्वी थे। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त आपके अनन्य भक्त थे। उनके द्वारा देखे गये सोलह स्वप्नों का फल आपने बताया जिसमें पंचम काल की भविष्यकालीन स्थिति का रेखा चित्रण था। श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों ही परम्परा आपके प्रति पूर्ण श्रद्धाभाव रखती हैं। वीर निर्वाण संवत् १७० में आपका स्वर्गवास हुआ।

वीर निर्वाण १७० के पश्चात् आर्य भद्रबाहुस्वामी के शिष्य काश्यप गोत्रीय स्थविर गोदास से गोदासगण प्रारम्भ हुआ जो ताम्रलिप्तिया (ताम्रलिप्तिका), कोडीवरिसिया (कोटिवर्षीया), पोंडवद्धणिया (पौण्ड्रवर्धनिका) और दासी खब्बडिया (दासी-कर्पटिका) इन चार शाखाओं में विभाजित हो गया।

(८) **आर्य स्थूलभद्र**—ये जैन जगत के उज्ज्वल नक्षत्र हैं। मंगलाचरण के रूप में उनका स्मरण किया जाता है। ये पाटलीपुत्र के निवासी थे। इनके पिता का नाम शकडाल था जो नन्द महाराजा के महामंत्री थे। स्थूलभद्र के लघु भ्राता का नाम श्रेयक था। यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा, वेणा और रेणा ये सातों ही आर्य स्थूलभद्र की सगी बहनें थीं। स्थूलभद्र जब यौवन की चौखट पर पहुँचे तब कोशा गणिका के रूपजाल में फँस गये। महापण्डित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वररुचि के षड्यन्त्र से विवश होकर पिता की इच्छानुसार श्रेयक ने पिता को मार दिया। पिता के अमात्य पद को ग्रहण करने के लिए स्थूलभद्र से कहा गया, किन्तु पिता की मृत्यु से उन्हें वैराग्य हो गया, उन्होंने आचार्य संभूतिविजय के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रथम वर्षावास के समय एक मुनि ने सिंह गुफा पर चातुर्मास की अनुमति माँगी। दूसरे ने दृष्टिविष सर्प की बांबी पर। तीसरे ने कुँए के कोठे पर और स्थूलभद्र ने कोशा की चित्रशाला में। स्थूलिभद्र कोशा के यहाँ पहुँचे। वासना का वातावरण था। कोशा वेश्या ने हाव-भाव और विलास से स्थूलभद्र को चलित करने का प्रयास किया किन्तु वे चलित न हुए। अन्त में वेश्या स्थूलभद्र के उपदेश से श्राविका बन गयी।

वर्षावास पूर्ण होने पर सभी शिष्य गुरु के चरणों में पहुंचे। तीनों का दुष्करकारक तपस्वी के रूप में स्वागत किया। स्थूलिभद्र के आने पर गुरु, सात-आठ कदम उनके सामने गये और दुष्कर-दुष्कर-कारक तपस्वी के रूप में उनका स्वागत किया। सिंह गुफावासी मुनि यह देखकर क्षुब्ध हुआ। आचार्य ने ब्रह्मचर्य की दुष्करता पर प्रकाश डाला किन्तु उसका क्षोभ शान्त न हुआ। द्वितीय वर्ष सिंह गुफावासी मुनि कोशा के यहाँ पहुँचा, किन्तु वेश्या का रूप देखते ही वह विचलित हो गया। वेश्या के कहने से वह रत्न-कंबल लेने हेतु नेपाल पहुँचा। वेश्या ने उस कंबल को गन्दी नाली में डालकर उसे प्रतिबोध दिया कि रत्नकंबल से भी संयम अधिक मूल्यवान है। सिंह गुफावासी मुनि को अपनी भूल मालूम हुई तथा गुरु के कथन का रहस्य भी ज्ञात हो गया। स्थूलभद्र का महत्व काम-विजेता के कारण ही नहीं, किन्तु पूर्वधर होने के कारण भी है। वीर सं० ११६ में इनका जन्म हुआ। तीस वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की। चौबीस वर्ष तक साधारण मुनि पर्याय में रहे और पैंतालीस वर्ष युगप्रधान आचार्य पद पर। निन्यानबे वर्ष की उम्र में वैभारगिरि पर्वत पर पन्द्रह दिन का अनशन कर वीर सं० २१५ में स्वर्गस्थ हुए।

(९-१०) **आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती**—आर्य स्थूलभद्र के पट्ट पर उनके शिष्यरत्न आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती आसीन हुए। आर्य महागिरि उग्र तपस्वी थे। दस पूर्व तक अध्ययन करने के पश्चात् संघ संचालन का उत्तरदायित्व अपने लघु गुरुभ्राता सुहस्ती को समर्पित कर स्वयं साधना के लिए एकान्त में चले गये। आर्य महागिरि का जन्म वीर सं० १४५ में हुआ और दीक्षा १७५ में, २११ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और २४५ में सौ वर्ष की आयु को पूर्ण कर दशार्णप्रदेशस्थ गजेन्द्रपुर तीर्थ में स्वर्गस्थ हुए। आर्य सुहाती का जन्म वीर सं० १९१ में हुआ, दीक्षा २१५ में हुई, आचार्य पद २४५ में और २९१ में सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुए।[१९] आर्य सुहस्ती के समय अवन्ती निवासिनी भद्रा का पुत्र अवन्तीसुकुमाल, नलिनीगुल्म विमान का वर्णन सुनकर श्रमण बना और कंथार वन में शृगालिनी के उपसर्ग से मृत्यु को प्राप्त कर नलिनीगुल्म विमान में देव बना। आर्य सुहस्ती ने दुष्काल से ग्रसित द्रमक नामक भिखारी को प्रव्रज्या दी और समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वह कुणाल पुत्र संप्रति हुआ। आर्य सुहस्ती के दर्शन कर उसे जातिस्मरण हुआ और वह जैनधर्मावलम्बी बना। उसका हृदय दयालु था। उसने सात सौ दानशालाएँ खुलवायीं। जैनधर्म के प्रचार के लिए अपने विशिष्ट अधिकारियों को श्रमण वेष में आन्ध्रादि प्रदेशों में भेजा।[२०]

(११-१२) **आर्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबद्ध**—आर्य सुहस्ती के बारह शिष्य थे। उनमें से आर्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबुद्ध ये दोनों आचार्य बने। ये दोनों काकन्दी नगरी के निवासी थे। राजकुलोत्पन्न व्याघ्रापत्य गोत्रीय सहोदर थे। कुमारगिरि पर्वत पर दोनों ने उग्रतप की साधना की। संघ संचालन का कार्य सुस्थित के अधीन था और वाचना का सुप्रतिबुद्ध के। हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार इनके युग में कुमारगिरि पर एक लघु श्रमण सम्मेलन हुआ था और द्वितीय आगम वाचना भी हुई। इकतीस वर्ष की अवस्था में आर्य सुस्थित ने प्रव्रज्या ग्रहण की, सत्रह वर्ष तक सामान्य श्रमण रहे और अड़तालीस वर्ष तक आचार्य पद पर रहे और छियानवे वर्ष की अवस्था में वीर सं० ३३९ में कुमारगिरि पर्वत पर स्वर्गस्थ हुए। इसी तरह आर्य सुप्रतिबुद्ध का भी उसी वर्ष देहान्त हुआ।

आचार्य सुहस्ती तक के आचार्य गण के अधिपति और वाचनाचार्य दोनों ही होते थे। वे गण को संभालते भी थे और साथ ही गण की शैक्षणिक व्यवस्था भी करते थे। किन्तु आचार्य सुहस्ती के पश्चात गण की रक्षा करने वाले को गणाचार्य और श्रुत की रक्षा करने वाले को वाचनाचार्य कहा गया। गणाचार्यों की परम्परा गणधरवंश अपने अपने गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती रही। वाचनाचार्यों और युगप्रधान आचार्यों की परम्परा एक गण से सम्बन्धित नहीं है। जिस किसी भी गण में या शाखा में एक के पश्चात् दूसरे प्रभावशाली वाचनाचार्य या युगप्रधान हुए उनसे उनका क्रम संलग्न किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्य सुहस्ती के पश्चात भी कुछ आचार्य गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों हुए हैं। जो आचार्य प्रबल प्रतिभा के धनी थे उन्हें युगप्रधान माना गया है, वे गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों में से हुए हैं।

हिमवन्त स्थविरावलि की दृष्टि से वाचकवंश या **विद्याधरवंश की परम्परा** इस प्रकार है—

१. आचार्य सुहस्ती।
२. आचार्य बहुल और बलिस्सह।
३. आचार्य उमास्वाति।
४. आचार्य अमम।
५. आचार्य सांडिल्य या स्कंदिल (वि० सं० ३७६ से ४१४ तक युग-प्रधान)।
६. आचार्य समुद्र।
७. आचार्य मंगूसूरि।
८. आचार्य नन्दिलसूरि।
९. आचार्य नागहस्तीसूरि।
१०. आचार्य खेति नक्षत्र।
११. आचार्य सिंहसूरि
१२. आचार्य स्कंदिल (वि० सं० ८२६ वाचनाचार्य)।
१३. आचार्य हिमवन्त क्षमाश्रमण।
१४. आचार्य नागार्जुनसूरि।
१५. आचार्य भूतदिन्न।
१६. आचार्य लौहित्यसूरि।
१७. आचार्य दुष्यगणी।
१८. आचार्य देववाचक (देवर्धिगणी क्षमाश्रमण)।
१९. आचार्य कालिकाचार्य (चतुर्थ)।
२०. आचार्य सत्यमित्र (अन्तिम पूर्वविद्)।

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव और विचार-श्रेणी के अनुसार '**युग-प्रधान-पट्टावलि**' और समय—

आचार्यों के नाम	समय (वीर-निर्वाण से)
१. गणधर सुधर्मास्वामी	१–२०
२. आचार्य जम्बूस्वामी	२०–६४
३. आचार्य प्रभवस्वामी	६४–७५
४. आचार्य शय्यंभवसूरि	७५–९८
५. आचार्य यशोभद्रसूरि	९८–१४८
६. आचार्य संभूतिविजय	१४८–१५६
७. आचार्य भद्रबाहुस्वामी	१५६–१७०
८. आचार्य स्थूलभद्र	१७०–२१५
९. आचार्य महागिरि	२१५–२४५
१०. आचार्य सुहस्तीगिरि	२४५–२९१
११. आचार्य गुणसुन्दरसूरि	२९१–३३५
१२. आचार्य श्यामाचार्य	३३५–३७६
१३. आचार्य स्कंदिल	३७६–४१४
१४. आचार्य रेवतिमित्र	४१४–४५०
१५. आचार्य धर्मसूरि	४५०–४९५
१६. आचार्य भद्रगुप्तसूरि	४९५–५३३
१७. आचार्य श्रीगुप्तगिरि	५३३–५४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८.	आचार्य वज्रस्वामी	५४८–५८४
१९.	आचार्य आर्यरक्षित	५८४–५९७
२०.	आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र	५९७–६१७
२१.	आचार्य वज्रसेनसूरि	६१७–६२०
२२.	आचार्य नागहस्ती	६२०–६८९
२३.	आचार्य रेवतीमित्र	६८९–७४८
२४.	आचार्य सिंहसूरि	७४८–८२६
२५.	आचार्य नागार्जुनसूरि	८२६–९०४
२६.	आचार्य भूतदिन्नसूरि	९०४–९८३
२७.	आचार्य कालिकसूरि (चतुर्थ)	९८३–९९४
२८.	आचार्य सत्यमित्र	९९४–१०००
२९.	आचार्य हरिल्ल	१०००–१०५५
३०.	आचार्य जिनभद्रगणी-क्षमाश्रमण	१०५५–१११५
३१.	आचार्य उमास्वातिसूरि	१११५–११९०
३२.	आचार्य पुष्यमित्र	११९०–१२५०
३३.	आचार्य संभूति	१२५०–१३००
३४.	आचार्य माठरसंभूति	१३००–१३६०
३५.	आचार्य धर्मऋषि	१३६०–१४००
३६.	आचार्य ज्येष्ठांगगणी	१४००–१४७१
३७.	आचार्य फल्गुमित्र	१४७१–१५२०
३८.	आचार्य धर्मघोष	१५२०–१५९८

वल्लभी युगप्रधान पट्टावलि

१.	आचार्य सुधर्मास्वामी	(शासन-समय) २०	वर्ष
२.	आचार्य जम्बूस्वामी	४४	,,
३.	आचार्य प्रभवस्वामी	११	,,
४.	आचार्य शय्यंभव	२३	,,
५.	आचार्य यशोभद्र	५०	,,
६.	आचार्य संभूतिविजय	८	,,
७.	आचार्य भद्रबाहु	१४	,,
८.	आचार्य स्थूलभद्र	४६	,,
९.	आचार्य महागिरि	३०	,,
१०.	आचार्य सुहस्ती	४५	,,
११.	आचार्य गुणसुन्दर	४४	,,
१२.	आचार्य कालकाचार्य	४१	,,
१३.	आचार्य स्कन्दिलाचार्य	३८	,,
१४.	आचार्य रेवतिमित्र	३६	,,
१५.	आचार्य मंगु	२०	,,
१६.	आचार्य धर्म	२४	,,
१७.	आचार्य भद्रगुप्त	४१	,,
१८.	आचार्य वज्रसेन	३६	,,
१९.	आचार्य रक्षित	१३	,,
२०.	आचार्य पुष्यमित्र	२०	,,
२१.	आचार्य वज्रसेन	३	,,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२.	आचार्य नागहस्ती	६९ वर्ष
२३.	आचार्य रेवतिमित्र	५९ ,,
२४.	आचार्य सिंहसूरि	७८ ,,
२५.	आचार्य नागार्जुन	७८ ,,
२६.	आचार्य भूतदिन्न	७९ ,,
२८.	आचार्य कालक	११ ,,

माथुरी युगप्रधान पट्टावलि

१.	आचार्य सुधर्मास्वामी	२.	आचार्य जम्बूस्वामी
३.	आचार्य प्रभवस्वामी	४.	आचार्य शय्यंभव
५.	आचार्य यशोभद्र	६.	आचार्य सम्भूतिविजय
७.	आचार्य भद्रबाहु	८.	आचार्य स्थूलभद्र
९.	आचार्य महागिरि	१०.	आचार्य सुहस्ती
११.	आचार्य बलिस्सह	१२.	आचार्य स्वाति
१३.	आचार्य श्यामाचार्य	१४.	आचार्य सांडिल्य
१५.	आचार्य समुद्र	१६.	आचार्य मंगु
१७.	आचार्य आर्यधर्म	१८.	आचार्य भद्रगुप्त
१९.	आचार्य वज्र	२०.	आचार्य रक्षित
२१.	आचार्य आनन्दिल	२२.	आचार्य नागहस्ती
२३.	आचार्य रेवतिनक्षत्र	२४.	आचार्य ब्रह्मदीपकसिंह
२५.	आचार्य स्कन्दिलाचार्य	२६.	आचार्य हिमवन्त
२७.	आचार्य नागार्जुन	२८.	आचार्य गोविन्द
२९.	आचार्य भूतदिन्न	३०.	आचार्य लौहित्य
३१.	आचार्य हृष्यगणी	३२.	आचार्य देवर्द्धिगणी

(१३) **आर्य इन्द्रदिन्न**—प्रस्तुत आचार्य परम्परा में आचार्य इन्द्रदिन्न (इन्द्रदत्त) युगप्रभावक आचार्य थे। आपके लघु गुरुभ्राता प्रियग्रन्थ भी युगप्रभावक व्यक्ति थे। आपने हर्षपुर में होने वाले अजमेध यज्ञ का निवारण किया था और हिंसाधर्मी ब्राह्मण विज्ञों को अहिंसा धर्म का पाठ पढ़ाया था। आपने कर्नाटक में धर्म का प्रचार किया।

आर्य शान्तिश्रेणिक से उच्चानागर शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। प्रस्तुत शाखा में प्रतिभा मूर्ति आचार्य उमास्वाति हुए जिन्होंने सर्वप्रथम दर्शन-शैली से तत्त्वार्थसूत्र का निर्माण किया। आपके ही समय में कुछ आगे पीछे आर्य कालक, आर्य खपुटाचार्य, इन्द्रदेव, श्रमणसिंह, वृद्धिवादी, सिद्धसेन आदि आचार्य हुए।

(१४) **आर्य कालक**—आर्य कालक के नाम से चार आचार्य हुए हैं। प्रथम कालक जिनका अपर नाम श्यामाचार्य भी है और जिन्होंने प्रज्ञापना सूत्र का निर्माण किया, वे द्रव्यानुयोग के महान ज्ञाता थे। अनुश्रुति है कि शक्रेन्द्र ने एक बार भगवान सीमन्धर स्वामी से निगोद पर गम्भीर विवेचन सुना। उन्होंने यह जिज्ञासा व्यक्त की कि क्या भरत क्षेत्र में कोई इस प्रकार की व्याख्या कर सकता है। भगवान ने आर्य कालक का नाम बताया। वे आचार्य कालक के पास आये। जैसा भगवान ने कहा था वैसा ही वर्णन सुनकर अत्यन्त प्रमुदित हुए। आपका जन्म वीर सं० २८० में हुआ। वीर सं० ३०० में दीक्षा ली। ३२५ में युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन हुए और ३७६ में उनका स्वर्गवास हुआ।

द्वितीय आचार्य कालक भी इन्हीं के सन्निकटवर्ती हैं। ये धारानगरी के निवासी थे। इनके पिता का नाम राजा वीरसिंह और माता का नाम सुरसुन्दरी था। इनकी लघु बहन का नाम सरस्वती था जो अत्यन्त रूपवती थी। दोनों ने ही गुणाकरसूरि के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। साध्वी सरस्वती के रूप पर मुग्ध होकर उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने उसका अपहरण किया। आचार्य कालक को जब यह ज्ञात हुआ तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उन्होंने शक राजाओं से मिलकर गर्दभिल्ल का साम्राज्य नष्ट कर दिया। आचार्य कालक सिन्धु सरिता को पार कर ईरान तथा बर्मा, सुमात्रा भी गये थे। एक बार आचार्य का वर्षावास दक्षिण के प्रतिष्ठानपुर में था। वहाँ का राजा सातवाहन जैनधर्मावलम्बी था। उस राज्य में भाद्रपद शुक्ला पंचमी को इन्द्रपर्व मनाया जाता था, जिसमें राजा से लेकर रंक तक सभी अनिवार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से सम्मिलित होते थे। राजा ने आचार्य कालक को निवेदन किया कि मुझे तो महापर्व संवत्सरी की आराधना करनी है। अतः संवत्सरी महापर्व छठ को मनाया जाय तो अधिक श्रेयस्कर है। आचार्य ने कहा—उस दिन का उल्लंघन कदापि नहीं किया जा सकता। राजा के आग्रह से आचार्य ने कारणवशात् चतुर्थी को सम्वत्सरी महापर्व मनाया।[११] आचार्य ने अपवादरूप से चतुर्थी को सम्वत्सरी पर्व की आराधना की थी न कि उत्सर्ग-सामान्य स्थिति के रूप में।

(१५) **आर्य सिंहगिरि**—आर्य सिंहगिरि कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण थे। जातिस्मरणज्ञान सम्पन्न थे। उनके मुख्य चार शिष्य थे—आर्य समित, आर्य धनगिरि, आर्य वज्रस्वामी और आर्य अर्हद्दत्त।

आर्य समित का जन्म अवन्ती देश के तुम्बवन ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम धनपाल था। ये जाति से वैश्य थे। उनकी बहन का नाम सुनन्दा था। उसका पाणिग्रहण तुम्बवन के धनगिरि के साथ सम्पन्न हुआ था। आर्य समित योगनिष्ठ और महान तपस्वी थे। कहा जाता है कि आभीर देश के अचलपुर ग्राम में इन्होंने कृष्णा और पूर्णा सरिताओं को योगबल से पार किया और ब्रह्मद्वीप पहुँचे। वहाँ पाँच सौ तापसों को अपने चमत्कार से चमत्कृत कर अपना शिष्य बनाया।

(१६) **आर्य वज्रस्वामी**—आर्य समित की बहिन का विवाह इभ्यपुत्र धनगिरि के साथ हुआ था।[१२] धनगिरि धर्मपरायण व्यक्ति थे। जब उनके सामने धनपाल की ओर से विवाह का प्रस्ताव आया तब उन्होंने उसे अस्वीकार करते हुए कहा—मैं विवाह नहीं करूँगा, संयम लूंगा। किन्तु धनपाल ने उनका विवाह कर दिया। विवाह हो जाने पर भी उनका मन संसार में न रमा। अपनी पत्नी को गर्भवती छोड़कर ही उन्होंने आर्य सिंहगिरि के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। जब बच्चे का जन्म हुआ तब उसने पिता की दीक्षा की बात सुनी, सुनते ही उसे जातिस्मरण हुआ। माता के मोह को कम करने के लिए वह रात-दिन रोने लगा। एक दिन मुनि धनगिरि और समित भिक्षा के लिए जा रहे थे जब आचार्य सिंहगिरि ने शुभ लक्षण देखकर शिष्यों को कहा जो भी भिक्षा में सचित्त और अचित्त मिल जाय उसे ले लेना। दोनों मुनि भिक्षा के लिए सुनन्दा के यहाँ पहुँचे। सुनन्दा बच्चे से ऊब गयी थी। ज्यों ही आर्य धनगिरि ने भिक्षा के लिए पात्र रखा उसने आवेश में आकर बालक को पात्र में डाल दिया और बोली—आप तो चले गये और पीछे इसे छोड़ दिया। रो-रो कर इसने परेशान कर दिया है। इसे भी अपने साथ ले जाइये। धनगिरि ने उसे समझाने का प्रयास किया, किन्तु वह न समझी। धनगिरि ने छह मास के बालक को ले लिया, गुरु को सौंपा; अतिभार होने से गुरु ने बच्चे का नाम वज्र रखा।[१३] पालन-पोषण हेतु गृहस्थ को दे दिया गया। श्राविका के साथ वह साध्वियों के उपाश्रय में जाता, और निरन्तर स्वाध्याय सुनने से उसे ग्यारह अंग कण्ठस्थ हो गये। जब बच्चा तीन वर्ष का हुआ उसकी माता ने बच्चे को लेने के लिए राजसभा में विवाद किया। माता ने बालक को अत्यधिक प्रलोभन दिखाये, किन्तु बालक उधर आकृष्ट नहीं हुआ और धनगिरि के पास जाकर रजोहरण उठा लिया।

जब बालक आठ वर्ष का हुआ तब धनगिरि ने उसे दीक्षा दी, वह वज्रमुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। जृंभक देवों ने अवन्ती में उनकी आहार-शुद्धि की परीक्षा ली। उस परीक्षा में वे पूर्ण रूप से खरे उतरे। देवताओं ने लघुवय में ही आपको वैक्रिय-लब्धि और आकाशगामिनी विद्या दी।[१४] एक बार उत्तर भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय विद्या के बल से आप श्रमणसंघ को कलिंग प्रदेश में ले गये। पाटलीपुत्र के इभ्यश्रेष्ठि धनदेव की पुत्री रुक्मिणी, आपके रूप पर मुग्ध हो गयी। धनश्रेष्ठी ने पुत्री के साथ करोड़ों की सम्पत्ति दहेज में देने का प्रस्ताव किया। पर आप कनक और कान्ता के मोह में उलझे नहीं, किन्तु रुक्मिणी को प्रतिबोध देकर प्रव्रज्या प्रदान की।

कहा जाता है एक बार वज्रस्वामी को कफ की व्याधि हो गयी। उन्होंने एक सोंठ का टुकड़ा भोजन के पश्चात् ग्रहण करने हेतु, कान में डाल रखा था। पर उसे लेना भूल गये। सान्ध्य प्रतिक्रमण के समय वन्दन करते हेतु वे नीचे झुके तो वह सोंठ का टुकड़ा गिर पड़ा। अपना अन्तिम समय सन्निकट समझकर आपने वज्रसेन से कहा—द्वादशवर्षीय भयंकर दुष्काल पड़ेगा अतः साधु-सन्तों के साथ तुम सौराष्ट्र-कोंकण प्रदेश में जाओ और मैं रथावर्त पर्वत पर अनशन करने जाता हूँ। जिस दिन तुम्हें लक्ष मूल्य वाले चावल में से भिक्षा प्राप्त हो उसके दूसरे दिन सुकाल होगा। ऐसा कहकर आचार्य संथारा करने हेतु चल दिये।

वज्रस्वामी का जन्म वीर निर्वाण सं० ४९६ में, दीक्षा ५०४ में, आचार्य पद ५३६ में तथा ५८४ में आप स्वर्गस्थ हुए।

वज्रसेन—आर्य वज्रसेन के समय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। निर्दोष भिक्षा मिलना असंभव हो गया जिसके कारण सात सौ चौरासी श्रमण अनशन कर परलोकवासी हुए। सभी क्षुधा से छटपटाने लगे। जिनदास श्रेष्ठि ने एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाख दीनार से एक अंजलि अन्न मोल लिया और दलिया में विष मिलाकर समस्त परिवार के साथ खाने की तैयारी में था। उस समय एक मुनि उसके यहाँ गोचरी के लिए पधारे। सभी स्थिति समझकर गुरुदेव ने निवेदन किया तब आर्य वज्रसेन ने वज्रस्वामी के कहने से सुभिक्ष की घोषणा की और सबके प्राणों की रक्षा की। दूसरे दिन अन्न से परिपूर्ण जहाज आ गये। जिनदास ने वह अन्न लेकर गरीबों को वितरण कर दिया। कुछ समय के पश्चात् वर्षा होने से सर्वत्र आनन्द की उर्मियाँ उछलने लगीं। जिनदास ने अपनी विराट संपत्ति को जन-कल्याण के लिए न्योच्छावर कर अपने नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति, और विद्याधर आदि पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की। (देखिए कल्पसूत्र)। दुष्काल के समाप्त होने पर आर्य वज्रसेन ने श्रमणसंघ को पुनः एकता के सूत्र में पिरोया। इस दुष्काल में अनेक श्रमणों का स्वर्गवास हो जाने से कई वंश, कुल और गण विच्छेद हो गये।

आर्यरक्षित—आर्य वज्रसेन के ही समय में आगमवेत्ता आर्यरक्षित हुए। उनकी जन्मभूमि दशपुर थी। पिता का नाम रुद्रसोम था। जब आप काशी से गंभीर अध्ययन कर लौटे तब माता बहुत प्रसन्न हुई। माता की प्रबल प्रेरणा से दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए दशपुर के इक्षुवन में विराजित आचार्य तोसलीपुत्र के पास गये और श्रमण बने। तोसलीपुत्र से आगमों का अध्ययन किया। उसके पश्चात् दृष्टिवाद का अध्ययन करने हेतु आचार्य वज्रस्वामी के पास पहुँचे। साढ़े नौ पूर्व तक अध्ययन किया। आपने अनुयोगद्वार सूत्र की रचना की और आगमों को द्रव्यानुयोग, चरण-करणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग के रूप में विभक्त किया। आपके समय तक प्रत्येक आगम पाठ की द्रव्यानुयोग आदि के रूप में चार-चार व्याख्याएँ की जाती थीं। आपने श्रुतधरों की स्मरणशक्ति के दौर्बल्य को देखकर जिन पाठों से जो अनुयोग स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता था उस प्रधान अनुयोग को रखकर शेष अन्य गौण अर्थों का प्रचलन बन्द कर दिया। जैसे—ग्यारह अंगों—महाकल्पसूत्र और छेदसूत्रों का समावेश चरणकरणानुयोग में किया गया, ऋषिभासितों का धर्मकथानुयोग में, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि का गणितानुयोग में और दृष्टिवाद का समावेश द्रव्यानुयोग में किया गया।[१] इस प्रकार जब अनुयोगों का पार्थक्य किया गया तब से नयावतार भी अनावश्यक हो गया।[१६] प्रस्तुत कार्य द्वादशवर्षीय दुष्काल के पश्चात् दशपुर में किया गया। इतिहासकारों का मत है कि यह आगम-वाचना वीर सं० ५९२ के लगभग हुई। इस आगम वाचना में वाचनाचार्य आर्य नंदिल, युग-प्रधानाचार्य आर्यरक्षित और गणाचार्य वज्रसेन आदि उपस्थित थे। विद्वानों का यह भी मानना है कि आगम साहित्य में उत्तरकालीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का जो चित्रण हुआ है उसका श्रेय भी आर्यरक्षित को है। वीर सं० ५९७ में आर्यरक्षित स्वर्गस्थ हुए। उनके उत्तराधिकारी दुर्बलिकापुष्यमित्र हुए।

आर्यरथस्वामी—ये वज्रस्वामी के द्वितीय पट्टधर थे। आप वसिष्ठ गोत्रीय थे और बड़े ही प्रभावशाली थे। आपका अपर नाम जयन्त भी था जिससे जयन्तिशाखा का प्रादुर्भाव हुआ।

आर्यधर्म के आर्यस्कंदिल और आर्यजम्बू ये दो शिष्यरत्न थे। स्कंदिल की जन्मभूमि मथुरा थी। गृहस्थाश्रम में आपका नाम सोमरथ था। आर्य सिंह के उपदेश को सुनकर आर्य धर्म के सन्निकट प्रव्रज्या ग्रहण की। ब्रह्मद्वीपिका शाखा के वाचानाचार्य आर्य सिंहसूरि से पूर्वों का अध्ययन किया। वाचक पद प्राप्त कर युगप्रधानाचार्य बने।

इतिहास की दृष्टि से उस समय भारत की स्थिति विषम थी। हूणों और गुप्तों में युद्ध हुआ था। बारह वर्ष के दुष्काल से मानव-समाज जर्जरित हो चुका था।[१७] जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म के अनुयायी परस्पर खण्डन-मण्डन में लगे हुए थे; आदि अनेक कारणों से श्रुतधरों की संख्या कम होती जा रही थी। उस विकट वेला में आर्य स्कंदिल ने श्रुत की सुरक्षा के लिए मथुरा में उत्तरापथ के मुनियों का एक सम्मेलन बुलवाया[१८] और आगमों का पुस्तकों के रूप में लेखन किया। यह सम्मेलन वीर सं० ८२७ से ८४० के आसपास हुआ था। उधर आचार्य नागार्जुन ने भी वल्लभी (सौराष्ट्र) में दक्षिणापथ के मुनियों का सम्मेलन बुलाया। आगमों का लेखन व संकलन किया। ये सम्मेलन दूर-दूर होने से स्थविर एक दूसरे के विचारों से अवगत न हो सके, अतः पाठों में कुछ स्थलों पर भेद हो गये।

आचार्य देवर्द्धिगणी—ये जैन आगम साहित्य के प्रकाशमान नक्षत्र हैं। वर्तमान में जो आगम साहित्य उपलब्ध है उसका सम्पूर्ण श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को है। आपका जन्म वेरावल (सौराष्ट्र) में हुआ था। आपके पिता का नाम कामर्द्धि और माता का नाम कलावती था। कहा जाता है भगवान महावीर के समय शक्रेन्द्र का सेनापति हरिणैगमेषी देव था। वही आयु पूर्ण कर देवर्द्धिगणी बना।

आपने उपकेश गच्छीय आर्य देवगुप्त के पास एक पूर्वतक अर्थ सहित और दूसरे पूर्व का मूल पढ़ा था। आप अन्तिम पूर्वधर थे। आपके बाद कोई भी पूर्वधर नहीं हुआ। आपने वीर सं० ९९० के आस-पास वल्लभी (सौराष्ट्र) में एक विराट् श्रमण सम्मेलन बुलवाया जिसका नेतृत्व आपने किया। उस सम्मेलन में आगम पुस्तकारूढ़ किये गये। इस आगम वाचना में नागार्जुन की वाचना के गम्भीर अभ्यासी चतुर्थ कालकाचार्य विद्यमान थे। जिन्होंने वीर सं० ९९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आनन्दपुर में राजा ध्रुवसेन के सामने श्रीसंघ को कल्पसूत्र सुनाया था। पूर्व माथुरी वाचना और नागार्जुन वाचना में जिन-जिन विषयों में मतभेद हो गया था उन भेदों का देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने समन्वय किया। जिन पाठों में समन्वय न हो सका उन स्थलों पर स्कंदिलाचार्य के पाठों को प्रमुखता देकर नागार्जुन के पाठों को पाठान्तर के रूप में स्थान दिया। टीकाकारों ने **'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति'** के रूप में उनका उल्लेख किया है।

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पश्चात् पूर्व-ज्ञान-परम्परा विच्छिन्न हो गयी।[२९] पुराने गच्छ लुप्त हो रहे थे, नित्य नये गच्छ अस्तित्व में आ रहे थे। अतः आचार्यों के नामों की विभिन्न परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं। उनमें से कई विशृंखलित हो गयी हैं।

यह एक ऐतिहासिक सत्य-तथ्य है कि आर्य सुहस्ती के समय कुछ शिथिलाचार प्रारम्भ हुआ था। वे स्वयं सम्राट सम्प्रति के आचार्य बनकर कुछ सुविधाएँ अपनाने लगे थे, किन्तु आर्य महागिरि के संकेत से वे पुनः सँभल गये। लेकिन उनके सम्भलने पर भी एक शिथिल परम्परा का प्रारम्भ हो गया।

वीर निर्वाण की नवीं शताब्दी (८५०) में चैत्यवास की संस्थापना हुई। कुछ शिथिलाचारी श्रमण उग्र विहार यात्रा को छोड़कर मन्दिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी तक इनका प्रभुत्व बढ़ नहीं सका। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्वर्गवास होने पर इनका समुदाय शक्तिशाली हो गया। विद्याबल और राज्य बल मिलने से उन्होंने शुद्धाचार्यों का उपहास किया। 'सम्बोध प्रकरण' नामक ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्र ने उन चैत्य-वासियों के आचार-विचारों का सजीव वर्णन किया है। आगम अष्टोत्तरी में अभयदेवसूरि ने लिखा है कि देवर्द्धिगणी के पश्चात् जैन शासन की वास्तविक परम्परा का लोप हो गया।[३०] चैत्यवास के पहले गण, कुल और शाखाओं का प्राचुर्य होने पर भी उनमें किसी भी प्रकार का विग्रह या अपने गण का अहंकार नहीं था। जो अनेक गण थे, वे व्यवस्था की दृष्टि से थे। विभिन्न कारणों से गणों के नाम बदलते रहे। भगवान महावीर के प्रधान शिष्य सुधर्मा के नाम से भी सौधर्म गण हुआ। चैत्यवासी शाखा के उद्भव के साथ एक पक्ष संविग्नविधिमार्ग या सुविहित मार्ग कहलाया और दूसरा पक्ष चैत्यवासी।

आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पश्चात् की पट्ट-परम्परा में एकरूपता न होने के कारण हम यहाँ पर कुछ विशिष्ट प्रभावशाली मुनियों का ही परिचय दे रहे हैं।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जैन परम्परा में तर्कविद्या और तर्कप्रधान संस्कृत वाङ्मय के आद्य निर्माता हैं। वे प्रतिभा मूर्ति हैं। जिन्होंने उनका प्राकृत ग्रन्थ सन्मतितर्क और संस्कृत द्वात्रिंशिकाएँ देखी हैं वे उनकी प्रतिभा की तेजस्विता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। उन्होंने चर्वित चर्वण नहीं किया। किन्तु सन्मतितर्क जैसे मौलिक ग्रन्थों का सृजन किया। सन्मतितर्क जैन दृष्टि से और जैन मन्तव्यों को तर्क-शैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करने वाला जैन साहित्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसमें तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि का सामान्य विचार है। द्वितीय काण्ड में ज्ञान और दर्शन पर सुन्दर विश्लेषण है। तृतीय काण्ड में गुण और पर्याय, अनेकान्त दृष्टि और तर्क के विषय में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

आचार्य सिद्धसेन ने बत्तीस बत्तीसियाँ भी रची थीं। उनमें से इक्कीस बत्तीसियाँ वर्तमान में उपलब्ध हैं जो संस्कृत भाषा में हैं। प्रथम की पाँच बत्तीसियों में श्रमण भगवान महावीर की स्तुति की गयी है और ग्यारहवीं बत्तीसी में पराक्रमी राजा की स्तुति की गयी है। वे आद्य स्तुतिकार हैं। उन स्तुतियों को पढ़कर अश्वघोष के समकालीन बौद्ध स्तुतिकार मातृचेटरचित अर्धशतक और आर्यदेवरचित चतुश्शतक की स्मृति हो आती है। आचार्य हेमचन्द्र की दोनों बत्तीसियाँ तथा आचार्य समन्तभद्र का स्वयंभू स्तोत्र और युक्त्यनुशासन नामक दार्शनिक स्तुतियाँ भी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की स्तुतियों का अनुकरण हैं। सिद्धसेन वाद-विद्या के पारंगत पण्डित थे। उन्होंने सातवीं वादोपनिषद् बत्तीसी में वाद के सभी नियम-उपनियमों का वर्णन कर विजय पाने का उपाय भी बताया है। आठवीं बत्तीसी में वाद-विद्या को कल्याणमार्ग न बताने का प्रयास भी किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कल्याण का मार्ग अन्य है, वादी का मार्ग अन्य है। क्योंकि किसी भी मुनि ने वाग्युद्ध को शिव का उपाय नहीं बताया है। उनकी बत्तीसियों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, आजीवक और जैनदर्शन का वर्णन है, किन्तु चार्वाक एवं मीमांसक दर्शन का वर्णन नहीं है। सम्भव है कि जो बत्तीसियाँ उपलब्ध नहीं हैं उनमें यह वर्णन होगा। जैनदर्शन का वर्णन अनेक बत्तीसियों में किया है। वे उपनिषद्, गीता, वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित थे।

जैसे दिङ्नाग ने बौद्धदर्शनमान्य विज्ञानवाद को सिद्ध करने के लिए पूर्व परम्परा में किंचित् परिवर्तन करके बौद्धप्रमाणशास्त्र को व्यवस्थित रूप दिया उसी प्रकार सिद्धसेन दिवाकर ने भी पूर्व परम्परा का सर्वथा अनुकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न करके अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से न्यायावतार की रचना की। इस लघु कृति में प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इन चार तत्त्वों की जैनदर्शन सम्मत व्याख्या करने का अनूठा प्रयास किया है। उन्होंने प्रमाण और उनके भेद-प्रभेदों का लक्षण किया है। अनुमान के सम्बन्ध में उनके हेत्वादि सभी अंग-प्रत्यंगों की संक्षेप में मार्मिक व्याख्या की है। प्रमाण के साथ नयों का लक्षण और विषय बताकर मनीषियों का ध्यान उस ओर आकर्षित किया। स्वमत के निरूपण के साथ ही परमत का निराकरण भी किया। इनके गुरु का नाम वृद्धवादी था। इनका अपर नाम कुमुदचन्द्र भी था। उज्जयिनी के महाकाल के मन्दिर में चमत्कार दिखाकर राजा को प्रतिबोध दिया। ये महान तेजस्वी आचार्य थे। वीर निर्वाण सं० ४०० के आसपास इनका अस्तित्व माना जाता है और ४८० में प्रतिष्ठानपुर में इनका स्वर्गवास माना जाता है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण—इनकी जन्मस्थली माता-पिता आदि के सम्बन्ध में कुछ भी सामग्री प्राप्त नहीं होती। १५ वीं १६ वीं शताब्दी में निर्मित पट्टावलियों में इन्हें आचार्य हरिभद्र का पट्टधर लिखा है; जबकि आचार्य हरिभद्र जिनभद्र से सौ वर्ष के पश्चात् हुए हैं। ये निवृत्तिकुल के थे। वल्लभी के जैन भण्डार में शक सं० ५३१ की लिखी हुई विशेषावश्यकभाष्य की एक प्रति मिली है जिससे स्पष्ट है कि उनका सम्बन्ध वल्लभी के साथ अवश्य रहा होगा। विविधतीर्थकल्प से ज्ञात होता है उन्होंने मथुरा में महानिशीथसूत्र का उद्धार किया था। वाचक, वाचनाचार्य, क्षमाश्रमण, आदि शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। आचार्य जिनभद्र की नौ रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

१. विशेषावश्यकभाष्य—प्राकृत पद्य में
२. विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति—अपूर्ण, संस्कृत गद्य
३. बृहत्संग्रहणी—प्राकृत पद्य
४. बृहत्क्षेत्रसमास—प्राकृत पद्य
५. विशेषणवती—प्राकृत पद्य
६. जीतकल्प—प्राकृत पद्य
७. जीतकल्पभाष्य—प्राकृत पद्य
८. अनुयोगद्वारचूर्णि—प्राकृत पद्य
९. ध्यानशतक—प्राकृत पद्य (इस सम्बन्ध में एकमत नहीं है)।

विशेषावश्यकभाष्य आचार्य जिनभद्र की अन्तिम रचना है। इन्होंने इस पर सोपज्ञवृत्ति लिखना भी प्रारम्भ किया था, किन्तु पूर्ण होने से पहले ही उनका आयुष्य पूर्ण हो गया जिससे वह अपूर्ण रह गयी। विज्ञजन जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का उत्तर काल विक्रम संवत् ६५० से ६६० के आसपास मानते हैं।

जिनदासगणी महत्तर—चूर्णि साहित्य के निर्माताओं में इनका मूर्धन्य स्थान है। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। नन्दीविशेषचूर्णि में इनके विद्यागुरु का नाम प्रद्युम्न क्षमाश्रमण आया है। उत्तराध्ययनचूर्णि में इनके सद्गुरुदेव का नाम वाणिज्य कुलीन कोटीकगणीय वज्रशाखीय गोपालगणी महत्तर आया है। विज्ञों का मानना है कि ये जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के बाद और आचार्य हरिभद्र से पहले हुए हैं, क्योंकि भाष्य की अनेक गाथाओं का उपयोग चूर्णि में हुआ है और आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्तियों में चूर्णियों का उपयोग किया है। इनका समय वि० सं० ६५० से ७५० के मध्य होना चाहिए। इनकी निम्न चूर्णियाँ मानी जाती हैं—

१. निशीथविशेषचूर्णि
२. नन्दीचूर्णि
३. अनुयोगद्वारचूर्णि
४. दशवैकालिकचूर्णि
५. उत्तराध्ययनचूर्णि
६. आवश्यकचूर्णि
७. सूत्रकृतांगचूर्णि

भाषा की दृष्टि से इनकी चूर्णियाँ संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में हैं। किन्तु संस्कृत कम और प्राकृत अधिक है। आवश्यकचूर्णि की भाषा प्राकृत है। भाषा सरल और सुबोध है। इन चूर्णियों में सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक सामग्री भरी पड़ी है।[११]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र—हरिभद्र नाम के कई आचार्य हुए हैं। पुरातत्त्ववेत्ता जिनविजयजी, डा० हर्मन जेकोबी ने याकिनी महत्तरासूनु हरिभद्र को प्रथम हरिभद्र माना है। वे उनका समय सन् ७०० से ७७० (वि० सं. ७५७ से ८२७) मानते हैं। उनका जन्म चित्तौड़ में हुआ। वे जाति के ब्राह्मण थे। जितारि राजा के राज पुरोहित थे। उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे शास्त्रार्थ में पराजित करेगा मैं उसका शिष्य बन जाऊँगा। याकिनीमहत्तरा स्वाध्याय कर रही थीं। उनके कानों में यह गाथा गिरी :—

"चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्केण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य॥"

उन्होंने चिन्तन किया किन्तु अर्थ समझ में नहीं आया। अतः प्रतिज्ञा के अनुसार वे शिष्य बनने के लिए तत्पर हो गये और साध्वी महत्तरा की आज्ञा से वे आचार्य जिनभट्ट के शिष्य हुए। प्रभावकचरित्र के अनुसार जिनभट्ट उनके गच्छपति गुरु थे, जिनदत्त दीक्षागुरु थे याकिनी महत्तरा धर्मजननी थी, उनका कुल विद्याधर था, गच्छ एवं सम्प्रदाय श्वेताम्बर था। कहा जाता है उन्होंने चौदह सौ चव्वालीस ग्रंथ लिखे किन्तु अभी तक तिहत्तर ग्रंथ मिले हैं। आपने सर्वप्रथम आगम ग्रंथों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। उसके पूर्व निर्युक्तियाँ, भाष्य और चूर्णियाँ विद्यमान थे। आपने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार और पिण्डनिर्युक्ति पर टीकाएँ लिखीं। पिण्डनिर्युक्ति की अपूर्ण टीका वीराचार्य ने पूर्ण की।

आचार्य हरिभद्र की महान विशेषता यह है कि जितनी सफलता के साथ उन्होंने जैनदर्शन पर लिखा उतनी ही सफलता से उन्होंने वैदिक और बौद्ध दर्शन पर भी लिखा। साम्प्रदायिक अभिनिवेश का उनमें अभाव था। खण्डन-मण्डन के समय में भी वे मधुर भाषा का ही प्रयोग करते हैं। उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने जिस प्रकरणात्मक पद्धति का प्रचलन किया था उन प्रकरणों की रचनाओं को आचार्य हरिभद्र ने व्यवस्थित रूप दिया।

बप्पभट्टसूरि—इनकी माता का नाम भट्टी और पिता का नाम ब्रह्म था। ये भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी स्मरणशक्ति बहुत ही तीक्ष्ण थी। एक साथ एक हजार श्लोक एक दिन में वे कंठस्थ कर लेते थे। उनके दीक्षा गुरु का नाम सिद्धसेन था। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इनका जन्म हुआ। कहा जाता है कि ग्यारह वर्ष की लघु वय में गुरु ने इन्हें आचार्य पद प्रदान किया। ग्वालियर के राजा को इन्होंने जैन-धर्म में दीक्षित किया। कन्नौज के राजा तथा मौडा (बंगाल) के अन्तर्गत लक्षणावति के राजा को भी आपने प्रतिबोध दिया था। पंचानवे वर्ष की आयु में आपका स्वर्गवास हो गया।

आचार्य शीलांक—इनका विशेष परिचय अनुपलब्ध है। इनका अपर नाम शीलाचार्य व तत्त्वादित्य भी था। प्रभावकचरित्र के अनुसार उन्होंने नौ अंगों पर टीकाएँ लिखी थीं, किन्तु इस समय आचारांग और सूत्रकृताङ्ग की ही टीका मिलती है। ये दोनों टीकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें दार्शनिक चिन्तन भी है। विषय को स्पष्ट करने के लिए अन्य श्लोक व गाथाओं का उपयोग भी किया है, किन्तु उनके रचियता का नाम-निर्देश नहीं है। इनका कुल निवृत्ति था।

श्रीसिद्धर्षिसूरि—ये श्रीमाल के राज्य मंत्री श्री सुप्रभदेव के पुत्र थे। इनके गुरु का नाम दुर्गस्वामी था। इनकी अनेक रचनाएँ हैं, उसमें 'उपमितिभवप्रपंच' नामक श्रेष्ठ रचना है।

आचार्य अभयदेव—नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव महान् प्रतिभासम्पन्न थे। प्रभावकचरित्र के अनुसार इनकी जन्मस्थली धारानगरी थी। वर्ण की दृष्टि से वैश्य थे। पिता का नाम महीधर और माता का नाम धनदेवी था। ये जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। इन्होंने स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक-दशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक, औपपातिक इन आगमों पर टीकाएँ लिखीं, जिनमें पाण्डित्यपूर्ण विवेचनाशक्ति सचमुच ही प्रेक्षणीय है। आगम रहस्यों को बहुत ही सरलता और सुगमता से व्यक्त किया है। इन वृत्तियों के अतिरिक्त प्रज्ञापना, पंचाशकसूत्रवृत्ति, जयतिहुअण स्तोत्र, पंचनिर्ग्रंथी, षट्कर्म, ग्रंथ-सप्तति, पर भी इन्होंने भाष्य लिखा। लगभग साठ हजार श्लोकों का निर्माण किया।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र—प्रभावकचरित्र के अनुसार आपका जन्म वि० सं० ११४५ कार्तिक पूर्णिमा को अहमदाबाद के सन्निकट धन्धुका ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम चाचदेव और माता का नाम पाहिनी था। गृहस्थाश्रम में उनका नाम चंगदेव था और गुरु का नाम देवचन्द्र था। देवचन्द्र ने जब चंगदेव को देखा तो बड़े

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावित हुए और माँ से उसे प्राप्त किया। दीक्षा के पश्चात् उनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। गम्भीर विद्वत्ता को देखकर २१ वर्ष की आयु में आचार्य पद प्रदान दिया गया और सोमचन्द्र के स्थान पर हेमचन्द्र नाम रखा गया। आपने गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह जैसे विद्यारसिक नरेश को अपनी प्रतिभा से चमत्कृत किया और उस शैव नरेश को परमार्हत बनाया। आपने शब्दानुशासन, संस्कृतद्वयाश्रय, प्राकृतद्वयाश्रय, अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघण्टु, निघण्टुशेष, देशीनाममाला, काव्यानुशासन, योगशास्त्र, प्रमाणमीमांसा, आदि शताधिक, ग्रंथों की रचना की। आपने आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। वस्तुतः आप जैन जगत् के व्यास हैं।

आचार्य मलयगिरि—ये उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी थे। इनकी टीकाओं में प्रकाड पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता के साथ भाषा की प्रांजलता, शैली की लालित्यता के दर्शन होते हैं। आगम साहित्य के साथ ही गणित, दर्शन और कर्मसिद्धान्त के भी ये निष्णात थे। वर्तमान में उनके बीस ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त भी उनके ग्रंथ थे। आगम के गंभीर रहस्यों को तर्कपूर्ण शैली में उपस्थित करने की अद्भुत कला इनमें थी। मुनिश्री पुण्यविजयजी के शब्दों में कहें तो व्याख्याकारों में उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

इस तरह प्रबल प्रतिभा के धनी अनेक मूर्धन्य आचार्य हुए हैं जिन्होंने विपुल साहित्य का सृजन कर सरस्वती के भण्डार को भरा है किन्तु विस्तारभय से हम उन सभी का यहाँ परिचय नहीं दे रहे हैं।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ विशेष परिचय के लिए देखिए लेखक का ऋषभदेव एक परिशीलनः ग्रन्थ।
२ विशेष परिचय के लिए देखिए लेखक का "भगवान अरिष्टनेमि और कर्म योगी श्रीकृष्ण" ग्रन्थ।
३ विशेष परिचय के लिए देखिए लेखक का ग्रन्थ "भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन"।
४ विशेष परिचय के लिए देखिए लेखक का ग्रन्थ "भगवान महावीर : एक अनुशीलन"।
५ आवश्यक निर्युक्ति ६४३।
६ वही. गाथा ६४७-४८।
७ भगवती १-१-८।
८ (क) कल्प सूत्रार्थ प्रबेधिनी (ख) गणधरवाद की भूमिका, दलसुख मालवणिया पृ० ६६।
९ भगवान महावीर : एक अनुशीलन।
१० (क) आवश्यक निर्युक्ति ६५५। (ख) आवश्यक मलयगिरि-३३९।
११ (क) कल्प सूत्र चूर्णि २०१। (ख) आवश्यक निर्युक्ति गाथा ६५८।
१२ आवश्यक निर्युक्ति ६५५।
१३ मण परमोहि पुलाए आहार खवग उवसमेकप्पे।
संजमतिग केवल सिज्झणा य जंबूम्मि वुच्छिण्णा-॥
१४ दाशाश्रुत स्कंध चूर्णि।
१५ (क) गुर्वावली-मुनिरत्न सूरि। (ख) कल्पसूत्र कल्पार्थ बोधिनी टीका पृ० २०८।
१६ आवश्यक चूर्णि-भाग २, पृ० १८७।
१७ तित्थोगालिय ८०/१/२/
१८ पट्टावली पराग : मुनि कल्याणविजय पृ० ५१।
१९ जैन परम्परा नो इतिहास भाग १. पृ० १७५-७६।
२० बृहत्कल्प भाष्य १/५० ३२७५ से ३२८९।
२१ पज्जोसमणाकप्पणिज्जुत्ती पृ० ८९।
(क) श्री निशीथ चूर्णि० उ० १०।
(ख) भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति।
२२ (क) आवश्यक चूर्णि प्रथम भाग—पन्ना ३९०।
(ख) आवश्यक हरिभद्रयावृत्ति टीका प्रथम भाग-पन्ना २८९।

[शेष पृष्ठ ८३ पर]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण-परम्परा में क्रियोद्धार

क्रान्तिकारी वीर लोंकाशाह—भगवान महावीर की शासन परम्परा चल रही थी। किन्तु दुष्काल आदि कारणों से श्रमणधर्म में शिथिलता आ गयी। जिनपूजा और जिनभक्ति के नाम पर बड़े-बड़े आडम्बर रचे जाने लगे। श्रमणवर्ग **"सज्झायझाणरए स भिक्खू"** के आदर्श को विस्मृत होकर लोकसंग्रह में जुट गया। 'अणगार' और 'अणिकेय चारी' कहलाने वाला श्रमण चैत्यवासी और उपाश्रय-उपधिधारी बन गया। राजाओं, बादशाहों, ठाकुरों तथा श्रेष्ठियों को यंत्र-मंत्र और तंत्र का चमत्कार बताकर राजकीय सम्मान और अधिकार प्राप्त करने का पिपासु बन गया। इस प्रकार धर्मगंगा में विकृति की काफी शैवाल जम गयी जिससे उसकी धारा शुष्क और क्षीण-सी होने लगी। श्रमणवर्ग की शिथिलता विचार व चिन्तन के अभाव के कारण एक महान् क्रांति का जन्म हुआ।

क्रांतिकारी लोंकाशाह के संबंध में जैसी प्रामाणिक सामग्री चाहिए वैसी उपलब्ध नहीं होती। यह पूर्ण सत्य है कि विरोधी लेखकों के द्वारा उनके जीवन को विकृत करने का अत्यधिक प्रयास किया गया है। मुनिश्री कल्याण-विजयजी गणी के तथा मुनि कांतिसागरजी के संग्रह में मैंने ऐसी अनेक प्रतियाँ देखी थीं जिनमें उनके माता-पिता, जन्मस्थल, विचार, आदि के सम्बन्ध में विभिन्न उल्लेख हुए हैं। किन्तु यह सत्य है कि वे महान् क्रांतिकारी थे। वे केवल लिपिकार ही नहीं आगमों के मर्मज्ञ विद्वान भी थे। "लुंकाना सद्दिया अने कर्या अट्ठावन बोल, लुंकानी हुण्डी तैन्तीस बोल" नामक कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उन्हें आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, दशाश्रुतस्कंध, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, राजप्रश्नीय, अनुयोगद्वार, नन्दीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांग की टीका, उत्तराध्ययन, औपपातिकसूत्र, जीवाभिगम, उपासकदशा, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिकसूत्र, प्रज्ञापना, आचारांगनिर्युक्ति और आचारांगवृत्ति, विपाक, उत्तराध्ययन चूर्णि तथा वृत्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्प वृत्ति तथा चूर्णि और निशीथ चूर्णि आदि का गंभीर ज्ञान था। उन्होंने उनके प्रमाण उपस्थित किये हैं जो उनके आगमों के गंभीर अध्ययन का स्पष्ट प्रतीक है। उन्हें आगमों का गहरा ज्ञान था और जब उन्होंने तत्कालीन साधु समाज की आगमविरुद्ध आचार-संहिता देखी तो वे चौंक पड़े। भगवान महावीर ने श्रमण के लिए जहाँ एक फूल की पंखुड़ी को भी छूने का भी निषेध किया, एक

[टिप्पण शेष पृष्ठ ८२ का]

२३ (क) ऋषिमंडल प्रकरश श्लो० २४, पृ १९३। (ख) उपदेशमाला सटीक पत्र २०८।
(ग) परिशिष्ट पर्व १२/५२/, २७४।

२४ भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति. पृ. ७३।

२५ आवश्यक निर्युक्ति ३६५ से ३७७ (ख) विशेषावश्यक भाष्य २२८४ से २२९५ तक

२६ आवश्यक निर्युक्ति ७६२. (ख) विशेषावश्यक भाष्य २२७९

२७ नंदि चूर्णि पृ. ८

२८ वीर निर्वाण संवत् और काल गणना—कल्याणविजय पृ० १०४

२९ भगवती सूत्र १०/९/, ६७७।

३० आगम अष्टोत्तरी ७१ : देवड्ढिखमासमणजा, परं परं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा॥

३१ देखिए जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा ग्रंथ लेखक—देवेन्द्र मुनि पृ.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्न के कण के संग्रह को पाप बताया, वहाँ भक्ति और अर्चना के नाम पर पुष्पों का अनर्गल ढेर लगाना कहाँ तक उचित है? पूर्ण अकिंचन वीतराग की प्रतिमा पर बहुमूल्य आभूषण सजाना सचित्त पदार्थों से उनकी अर्चना करना कहाँ तक योग्य है आदि के कारण ही लोंकाशाह ने श्रमण-यति-वर्ग के विरुद्ध क्रांति की।

'लुंकाना सद्दिया अट्टावन बोल, लुंकानी हुण्डी तैन्तीस बोल' के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी क्रान्ति मर्यादाहीन तथा उग्र नहीं थी। सत्यशोधक होने पर भी उनके अन्तर्मानस में हित-बुद्धि और मृदुता थी। उन्होंने यतिवर्ग को विनम्र शब्दों में कहा—जो बुद्धिमान हैं वे मेरी बातों पर विचार करें। विवेकी लोग मेरी बातों को समझें। इस तरह विरोधियों को भी अपनी बातों पर चिन्तन करने के लिए वे प्रार्थना करते हैं और सत्य को समझने के लिए कहते हैं जिससे उनके चित्त की शान्ति का और उत्तर देने की मधुर शैली का स्पष्ट ज्ञान होता है। जहाँ परस्पर विचारों में संघर्ष की स्थिति होती है वहाँ पर कटुता आना स्वाभाविक है। किन्तु लोंकाशाह में कुछ भी कटुता नहीं आयी है। यही कारण है कुछ ही समय में एक अपूर्व प्रभाव छा जाता है, लखमसी जो पाटन का महान् धनाढ्य व्यापारी था वह लोंकाशाह का समर्थक बन जाता है और शनैः-शनैः जन-मानस में विचार-क्रान्ति की ऐसी लहर लहराने लगती है कि पुरानी परम्परा के सिंहासन डगमगाने लगते हैं। उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए लोंकाशाह के समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् कमलसंयम ने लिखा है—

"डगमगपडियं, सघलउ लोक, पोसालइ पणि आवइ थोक।
लुंकइ बात प्रकासी इसी, तेहनुं शिष्य हुउ लखमसी॥"

विज्ञों का यह मन्तव्य है कि प्रारम्भ में लोंकाशाह ने केवल श्रमणवर्ग के शिथिलाचार के विरुद्ध ही आवाज उठायी थी, पर जब वह विरोध प्रबल हो गया तो उसमें मूर्तिपूजा विरोध, वेश-परिवर्तन प्रभृति अनेक बातें सम्मिलित हो गयीं। लखमसी आदि के साथ विचार चर्चा करते हुए अनेक बातें सामने आयीं। उस पर उन्होंने चिन्तन किया और मतभेद की बातें विस्तृत होती चली गयीं।

लोंकाशाह के तेजस्वी और निष्ठावान् व्यक्तित्व से हजारों व्यक्ति प्रभावित हो रहे थे। आगम स्वाध्याय व चिन्तन से उन्होंने जो ज्योति प्राप्त की थी, उग्र विरोध होने पर भी वे भय से कतराये नहीं। किन्तु विरोध को विनोद मानकर निरन्तर आगे बढ़ते रहे। उनकी धर्म-क्रान्ति से सहस्रों व्यक्तियों को प्रकाश मिला; क्योंकि वह युग ही धर्म-क्रान्ति का युग था। यूरोप में उन दिनों पोप के विरोध में जन-मानस जागृत हो रहा था। मार्टिन लूथर (जर्मन) जैसे उग्रवादी नेता उसका संचालन कर रहे थे। भारत के विविध अंचलों में भी धर्म, समाज और राजनीति में अभिनव क्रान्ति हो रही थी। पंजाब में गुरु नानकदेव, पूर्व भारत में कबीर, और दक्षिण में नामदेव आदि के तेजस्वी स्वर गूंज रहे थे। धार्मिक आडम्बर, बाह्याचार, मूर्तिपूजा आदि के विरोध में एक विचित्र सी लहर लहरा रही थी जो जन-मानस को शुद्ध धर्म-साधना की ओर आगे बढ़ने के लिए उत्प्रेरित कर रही थी। इस तरह लोंकाशाह ही नहीं किन्तु भारत का प्रबुद्ध वर्ग भी उस धार्मिक क्रान्ति से प्रभावित था। जीवन की सान्ध्य बेला में सुकरात की तरह उन्हें भी विरोधियों ने विष दिया। किन्तु जिस महापुरुष ने जीवनभर जन-जन को अमृत बाँटा हो वह कभी विष से विचलित हो सकता है? वह सत्य-पथ पर जीवन के अन्तिम क्षण तक बढ़ता रहा। मर करके भी वह अमर हो गया। स्थानकवासी और तेरापन्थ परम्परा उस महापुरुष की सदा ऋणी रहेगी और वह प्रकाश-दीप की तरह अपने दिव्य और भव्य आलोक से आलोकित करता रहेगा।

(१) **भाणाजी**—ये सिरोही के निकट अरहटवाल-अटकवाड़ा के निवासी थे। जाति से पोरवाल थे। सं. १५३१ में उन्होंने दीक्षा ली ऐसा स्वर्गीय मोहनलाल दलीचन्द देसाई का मत है; किन्तु तपागच्छीय पट्टावलियों में दीक्षा समय १५३३ उल्लिखित है। उपाध्याय रविवर्धन ने अपनी पट्टावली में उनका दीक्षाकाल १५३८ दिया है। किन्तु उनका यह कथन विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि कुँवरजी पक्षीय केशवजी रचित लोंकाशाह शिलोके में जिसकी रचना सं. १६८८ के लगभग हुई है उसमें भी १५३३ का समर्थन होता है। ये लोंकागच्छ के आद्यमुनि थे। इनके वैयक्तिक जीवन और विहार प्रदेश आदि के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। कहा जाता है कि इन्होंने पैंतालीस व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी[1] और ये दीक्षाएँ लोंकाशाह की प्रेरणा से हुई थीं। अतः उन्होंने अपने गच्छ का नाम लोकागच्छ रखा। मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने भाणाजी का स्वर्गगमन १५३७ में सूचित किया है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। कारण कि कडुवामत पट्टावली में सं. १५४० में भाणाजी से नाडोलाई गाँव में कडुवाशाह मिले थे और उनसे वार्तालाप भी हुआ था। अतः १५४० तक उनका अस्तित्व असंदिग्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) **भीदाजी**—ये सिरोही के ओसवाल थे, इनका गोत्र साथडिया था। इन्होंने सं. १५४० में अहमदाबाद में ४५ व्यक्तियों के साथ भाणाजी ऋषि के पास दीक्षा ग्रहण की। संघवी तोला आपका भाई था।

(३) **तूनाजी**—इन्होंने भीदाजी के पास सं. १५४५ या १५४६ में दीक्षा ग्रहण की थी। ये सिरोही के निवासी ओसवाल वंशीय थे।

(४) **भीमाजी**—इन्होंने १५५० में तूनाजी के पास दीक्षा ग्रहण की थी। ये पाली के निवासी लोढा गोत्रीय ओसवाल थे।

(५) **जगमालजी**—इन्होंने सं. १५५० में दीक्षा ग्रहण की और भीमाजी के पट्टधर बने। आप उत्तरार्ध वासी सुराणा गोत्रीय ओसवाल थे। मणिलालजी महाराज ने आपको नागपुरा का निवासी बताया है।

(६) **सखाजी**—इन्होंने १५५४ में दीक्षा ग्रहण की ऐसा लोंकागच्छीय बड़े पक्ष की पट्टावली से ज्ञात होता है। ये दिल्ली के निवासी थे। जाति से ओसवाल थे। स्वर्गीय मणिलालजी महाराज ने लिखा है कि आप बादशाह के वजीर थे। जब आप श्रमण बनने के लिए उद्यत हुए तब बादशाह ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—तुम श्रमण क्यों बनते हो? उत्तर में आपने कहा कि—इस विराट विश्व में जो भी जन्म लेता है वह एक दिन अवश्य ही मरता है, किन्तु मैं ऐसा मरण चाहता हूँ कि जिसमें पुनः-पुनः मरना न पड़े। बादशाह के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने दीक्षा ली, बहुत वर्षों तक संयम की आराधना की और कहा जाता है कि एक माह के संथारे के पश्चात् आपका स्वर्गवास हुआ।

(७) **रूपजी**—ये अणहिलपुर पाटन के निवासी थे। ओसवाल वेद गोत्रीय पिता देवा, माता मिरधाई, और जन्म संवत् १५४३। १५६८ माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन स्वयमेव दीक्षा ग्रहण की। लोंकागच्छ की बड़े पक्ष की पट्टावली में यह उल्लेख है कि रूपाशाह ने शत्रुंजय का संघ निकाला था, किन्तु बाद में सखाजी का अहमदाबाद में प्रवचन सुनकर ५०० व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हुए।[२] और सखाजी के पट्टधर हुए। इन्होंने पाटनगच्छ गुजराती लोंकागच्छ की स्थापना की। इनके समय में हीरागुरु नामक यतिप्रवर ने नागोरी लोंकागच्छ की स्थापना की। इसी समय उत्तरार्द्ध लोहारी लोंकागच्छ स्थापित हुआ। उसके सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। तथापि विज्ञों का मानना है कि जीवाजी महाराज की परम्परा के किसी सन्त ने इसकी स्थापना की थी। उत्तरार्द्ध गच्छानुयायी सखाजी के शिष्य अर्जुन के शिष्य दुर्गादास ने सं. १६२५ में खंदक चौपाई की रचना की थी।[३]

(८) **जीवाजी**—ये सूरत के देश-लहरा गोत्रीय तेजपाल की पत्नी कपूरा बाई के पुत्र थे। जन्म सं. १५५०। दीक्षा सं. १५७८ माघ शुक्ला दूज गुरुवार[४]। 'रूपऋषि भास' में लेखक ने जीवराजजी का दीक्षा संवत् १५७८ सूचित किया है। 'जीवराजजी भास' में वही कवि सं. १५६८ सूचित करता है। जबकि १५६८ में स्वयं रूपजी दीक्षा स्वीकार करते हैं। कहा जाता है कि दीक्षा ग्रहण करते समय आपकी उम्र लगभग २८ वर्ष की थी। संवत् १६१२ वैशाख शुक्ला छठ को बड़े वरसिंघजी को पद पर स्थापित किया था तथा स्वयं १६१३ ज्येष्ठ शुक्ला छठ सोमवार को पाँच दिन का अनशन लेकर ६३ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए थे। इन्हीं के नाम से गुजराती लोंकागच्छ प्रसिद्ध हुआ था।

जीवाजी ऋषि के अनेक शिष्य थे। उनमें से सं. १६१३ में वीरसिंह जी ऋषि को बड़ोदा में आचार्य पद प्रदान किया गया और दूसरी ओर बालापुर में कुँवरजी ऋषि को आचार्य पद दिया गया जिससे गुजराती लोंकागच्छ दो भागों में विभक्त हो गया। प्रथम पक्ष मोटीपक्ष और द्वितीय पक्ष न्हानीपक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनकी पट्टावली इस प्रकार है—

मोटीपक्ष की पट्टावली

९. वरसिंघजी ऋषि बड़े	१९. जगरूपजी ऋषि
१०. लघुवरसिंघजी	२०. जगजीवनजी ऋषि
११. जसवन्त ऋषि जी	२१. मेघराजजी ऋषि
१२. रूपसिंह जी ऋषि	२२. सोमचन्द्रजी ऋषि
१३. दामोदरजी ऋषि	२३. हरखचन्द्रजी ऋषि
१४. कर्मसिंहजी ऋषि	२४. जयचन्द्रजी ऋषि
१५. केशवजी ऋषि	२५. कल्याणचन्द्रजी ऋषि
१६. तेजसिंहजी ऋषि	२६. खूबचन्द सूरीश्वर
१७. कानजी ऋषि	२७. न्यायचन्द्र सूरीश्वर
१८. तुलसीदासजी ऋषि	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ढूंढानीपक्ष की पट्टावली

९. कुँवरजी ऋषि	१६. श्री भागचन्द्रजी ऋषि
१०. श्रीमल्लजी ऋषि	१७. श्री बालचन्द्रजी ऋषि
११. श्री रत्नसिंहजी ऋषि	१८. श्री माणकचन्द्रजी ऋषि
१२. केशवजी ऋषि	१९. श्री मूलचन्द्रजी ऋषि (१८७६)
१३. श्री शिवजी ऋषि	२०. श्री जगतचन्द्रजी ऋषि
१४. श्री संघराजजी ऋषि.	२१. श्री रत्नचन्द्रजी ऋषि
१५. सुखमल्लजी ऋषि	२२. श्री नृपचन्द्रजी ऋषि

(ये अन्तिम गादीधर थे, आगे गादीधर नहीं हुए)

जीवराजजी महाराज—यह हम पूर्व बता चुके हैं कि लोंकागच्छ में भी शिथिलता प्रारम्भ हो गयी। जिस उद्देश्य से लोंकाशाह ने क्रान्ति का बिगुल बजाया था, उसका स्वर मन्द हो गया। आचार-विचार की शिथिलता के कारण पुनः नव जागृति लाने के लिए सर्वप्रथम वि. सं. १६६६ में जीवराजजी महाराज ने क्रियोद्धार किया। जीवराजजी महाराज के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। कितने ही विज्ञ उनकी जन्मस्थली सूरत मानते हैं और माता का नाम केसर बहिन और पिता का नाम वीरजी मानते हैं। किन्तु पूर्ण सत्य-तथ्य क्या है यह प्राचीन साक्षी के अभाव में कहना कठिन है तथापि यह सत्य है कि वे गृहस्थाश्रम में किसी विशिष्ट परिवार के सदस्य रहे होंगे। क्योंकि उनकी प्रतिभा की तेजस्विता उनके कृतित्व से झलकती है। यह भी माना जाता है कि उनका पाणिग्रहण एक सुरूपा बाला के साथ सम्पन्न हुआ था, किन्तु उनका मन गृहस्थाश्रम में न लग सका। वे भोग से योग को श्रेष्ठ समझते थे। अतः वे लोंकागच्छ के यति जो बहुत ही प्रसिद्ध ज्योतिर्विद थे, उनकी सेवा में वे पीपाड पहुँचे। यतिप्रवर के प्रभावपूर्ण प्रवचनों से वे अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्हें लगा कि वस्तुतः संसार असार है, यह मानव का जीवन बहुत ही अनमोल है। विषय-वासना के दलदल में फँसकर यह जीवन कूकर और शूकर की तरह बरबाद करने के लिए नहीं है। इस जीवन को आबाद करने के लिए मुझे साधना के पथ पर बढ़ना चाहिए। अतः सं. १६५४ में यतिदीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के पश्चात् शिक्षा प्रारम्भ हुई। आगमों के गम्भीर रहस्य ज्यों-ज्यों पढ़ते गये त्यों-त्यों ज्ञात होते गये। उन्हें अनुभव हुआ कि आगमों में जो श्रमण जीवन की आचार-संहिता बतायी गयी है आज वह यतिवर्ग में दिखायी नहीं दे रही है। यह प्रवृत्ति आत्मवंचना है। अतः इसमें सुधार अपेक्षित है। उन्होंने सर्वप्रथम अपने गुरुजी से नम्र निवेदन किया कि आज हम किधर जा रहे हैं, धर्म के नाम पर मिथ्याडम्बरों में उलझे हुए हैं। अतः इसमें सुधार अपेक्षित है। किन्तु यतिजी गद्दी के मोह को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। वे सत्य पर आवरण डालना चाहते थे; किन्तु डाल नहीं सके। कुछ समय तक जीवराजजी यह प्रतीक्षा करते रहे कि अवश्य ही सुधार होगा। किन्तु जब उन्होंने देखा कि गुरुजी सत्ता व सम्पत्ति के मोह को नहीं छोड़ सकते हैं, तो वे वि. सं. १६६६ में अपने गुरुजी से पृथक् हो गये और उन्होंने अपने साथी अमीपालजी, महीपालजी, हीरोजी, गिरिधरजी और हरजी इन पाँच व्यक्तियों के साथ लाल भाटा के उपाश्रय का परित्याग कर पीपाड के बाहर वट वृक्ष के नीचे बैठकर अपने अतीत के जीवन की आलोचना की। अरिहन्त, सिद्ध की साक्षी से पंच महाव्रतों को ग्रहण किया। स्थानकवासी परम्परा के ये ही सर्वप्रथम क्रियोद्धारक हैं। यतिवर्ग ने जब देखा कि इनके तपः-तेज से जनमानस इनके प्रति आकर्षित हो रहा है तो उन्होंने उग्र विरोध करना प्रारम्भ किया, किन्तु विरोध के बावजूद भी आपका प्रभाव दूज के चाँद की तरह बढ़ता रहा। आपने सर्वप्रथम ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद और एक आवश्यक इन बत्तीस आगमों को प्रमाणभूत माना। साथ ही मुखवस्त्रिका को सदा मुख पर रखना आवश्यक समझा। मुखवस्त्रिका हाथ में रखने से प्रमादजन्य अनेक दोष लगने की सम्भावना है। अतः साधक को मुखवस्त्रिका मुख पर बाँधना आवश्यक है। मुखवस्त्रिका के साथ ही जीवों की रक्षा के लिए रजोहरण रखना भी आवश्यक माना। श्रमण जीवन की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता के लिए श्रमण सामाचारी का भी निर्माण किया।

जीवराजजी महाराज के साथ जिन पाँच यतिप्रवरों ने क्रियोद्धार में सहयोग दिया था वे भी कष्टों को सहन करते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ते रहे। इन छः साधकों में जीवराजजी महाराज का शिष्य परिवार अधिक विस्तृत था। वर्तमान में भी अनेक सम्प्रदाय आपको अपना मूलपुरुष मानते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवराजजी महाराज श्रेष्ठ वक्ता के साथ ही सुयोग्य कवि भी थे। यद्यपि उन्होंने किसी बृहदाकार कृति का सर्जन नहीं किया तथापि भक्तिमूलक चौबीसी की रचना की जिसमें स्तुतियों की प्रधानता है, जीवन के विविध अनुभवों का संचय है।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज के पास जीवराजजी महाराज के पद्यों का संग्रह है जो बहुत ही जीर्ण-शीर्ण और खण्डित स्थिति में है। कई स्थानों पर अक्षर चले भी गये हैं। पत्र का व्यास आठ अंगुल और आयाम १२ अंगुल हैं। २६ से ३६ और १६ से पहले के पन्ने नहीं हैं। ४५वें पन्ने में चौबीसी पूर्ण होती है। लेखन-काल और लेखक का परिचय अन्त में नहीं दिया गया है, पर ऐसा लगता है कि यह रचना कुछ समय के पश्चात् ही किसी ने लिखी है।

इस चौबीसी की रचना जीवराजजी महाराज ने की है और अपने आपको सोमजी का शिष्य बताया है। कुछ पद्यों के प्रान्त में रचनाकाल और स्थल का भी निर्देश किया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत रचना क्रमशः न कर जब भी कवि के अन्तर्मानस में भावलहरियाँ उद्बुद्ध हुई तब उसने स्तुतियाँ निर्माण की हैं। इसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कवि को प्रारम्भ में चौबीसी लिखने का विचार नहीं होगा। कुछ स्तवन बनाने के पश्चात् अवशिष्ट तीर्थंकरों के स्तवन उसमें सम्मिलित करके चौबीसी का रूप दिया होगा। यही कारण है कि भगवान महावीर की स्तुति १६७५ अषाढ़ सुदी १० को जेतपुर में की। एक वर्ष पश्चात् १६७६ के श्रावण सुदी ५ को बाबेल चातुर्मास में आदिनाथ की स्तुति की। फिर वर्षभर बाद सं० १६७७ भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को बालापुर में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की स्तुति की। बीच के अन्य तीर्थंकरों की स्तुति सं० १६७६ विजयदशमी को बहादुरपुर में १७वें तीर्थंकर की स्तुति की है।

इस प्रकार प्रस्तुत चौबीसी स्तुति के पद विभिन्न क्षेत्रों में पाँच वर्ष के दीर्घ काल में पूर्ण किये गये हैं। इस चौबीसी की यह विशेषता है कि एक स्तवन कई ढालों में बनाया गया है जैसे ऋषभदेव का स्तवन ७५ गाथाओं में है। सर्वत्र तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन किया गया है। आपने "ऋषि सोमजी का शिष्य जीवराज बोले दया तणा फल दाखिए" इसमें स्पष्ट रूप से अपने को सोमजी का शिष्य बताया है। आपका संयमकाल सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध सुनिश्चित है। पर प्रश्न है कि सोमजी किनके शिष्य थे और आपके पास उन्होंने कब प्रव्रज्या ग्रहण की थी, यह अन्वेषणीय है। चौबीसी के पश्चात् दो-तीन पन्नों में मारवाड़ी अक्षरों में सोमजीकृत बारहमासा है, पर इससे भी यह ज्ञात नहीं होता कि ये सोमजी कौन थे और किसकी परम्परा के थे। सोलहवीं शती के ऋषि जीवाजी के पश्चात् सत्रहवीं शती में ऋषि जीवराजजी हुए हैं और सम्भव है यही क्रियोद्धारक जीवराज महाराज हों।

उनकी कृतियों से यह भी ज्ञात होता है कि उनका विहार क्षेत्र कौनसा प्रदेश रहा था। जिन पदों में उनका रचनाकाल दिया गया है उनका ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व होने के कारण कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

संवत् सोल छिहोत्तरा वरषे श्रावण सुदि पंचमी सार ए।
बावेल चौमासि मन उल्लासि कर्यूं स्तवन रविवार ए।
जे भावे भणसई नित्य श्रुणसइं सिद्ध थाय तस काज ए।
कर जोडी हरष कोडी गुण जंपे ऋषि जीवराज ए॥

—आदिनाथस्तवन का अंतिम भाग

संवत सोल पंचोत्तरा वरषे आषाढ़ सुद दसमी सार ए।
शुक्रवारे तवन रच्युं जेतपुर नगर मझार ए।
ऋषि सोमजी सदा सोभागी जेहनो जस अपार ए।
तास सेवक ऋषि जीवराज जंपे सकल संघ जयकार ए॥

—वीरस्तवन—अन्त भाग

संवत् सोल सित्योत्तरा भाद्रवा सुदि आठम सार ए।
मंगलवारे तवन कीधु बालापुर मझार ए।
गल्ल भाव आणी भगति जाणी, तवन भणई जे एकमना।
कर जोडी जीवराज बोलइ काज सरसइ तेहना॥

—चन्द्रप्रभुस्तवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्तमो जिनवर उदय दिनकर सोभागी महिमा निलो।
भगति वच्छल विरद जेहनें धन्य स्वामी त्रिभुवन तिलो॥
संवत सोल उगणासी बरषे विजयदशमी सोमवार ए।
बाहादरपुर मांहे तवन कीधुं भणतां सुणतां जयकार ए॥
सुबुद्धि आणी सहज वाणी जिन तणां गुण भाषी ए।
ऋषि सोमजी चा सीस जीवराज बोले दया तणां फल दाखी ए॥

—सप्तजिनस्तवन॥

कहा जाता है कि जीवराजजी महाराज ने अत्यधिक धर्म प्रचार किया। जीवन की सान्ध्यबेला में समाधि-भाव में अवस्थित रहने से उन्हें विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि हुई जिससे उन्होंने अपना अन्तिम समय सन्निकट समझकर ससंथारा आयु पूर्ण किया।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जीवराजजी महाराज ने नया धर्म स्थापित नहीं किया, किन्तु पुरातन परम्परा में जो आचार-शैथिल्य हो चुका था उसका उचित संशोधन किया। शिथिलाचार के स्थान पर शुद्धाचार की संस्थापना की। श्रमण-जीवन में जो आडम्बरप्रियता, और जड़ता आ चुकी थी उसे दूर कर शुद्ध साधुचर्या का पथ प्रशस्त किया। प्रस्तुत क्रियोद्धार में किसी भी प्रकार का मनोमालिन्य व रागद्वेष की भावना नहीं थी; किन्तु विशुद्ध धर्म की पुनर्जागरणा थी।

स्थानकवासी परम्परा एक विशुद्ध आध्यात्मिक परम्परा है। उसका किसी भी जड़-पूजा में विश्वास नहीं है। किन्तु विशुद्ध चैतन्यतत्त्व की उपासना और साधना का ही संलक्ष्य है। वह बाह्य आडम्बर, विवेकशून्य क्रियाकाण्ड में विश्वास नहीं करती। उसका मन्तव्य है कि धर्म का आधार भौतिक नहीं, मानव की आन्तरिक आध्यात्मिक भावना है। त्याग, तप, संयम स्थानकवासी परम्परा के मूल स्वर रहे हैं जिसके कारण यह परम्परा शतशाखी की भाँति दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धि को प्राप्त होती गयी।

जीवराजजी महाराज के पश्चात् लवजी ऋषि जी म०, धर्मसिंह जी म०, धर्मदास जी म०, श्री हरजी ऋषि जी महाराज आदि चार महापुरुषों ने भी क्रियोद्धार कर अभिनव जागृति का संचार किया। इन्हीं पाँचों क्रियोद्धारकों की परम्परा ही आज स्थानकवासी परम्परा के रूप में है। जीवराजजी म० के प्रधान शिष्य लालचन्दजी महाराज थे। उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में भी इतिहास मौन है। किन्तु वे एक महान प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उनके अनेक शिष्य थे जिनके नामों से पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय हैं। विस्तार भय से मैं उन सभी की चर्चा यहाँ नहीं कर रहा हूँ। मैं यहाँ केवल जीवराजजी महाराज के शिष्य लालचन्दजी महाराज, आ० तुलसीदासजी महाराज, आ० सुजानमलजी म०, आ० जीतमलजी म०, आ० ज्ञानमलजी म०, आ० पूनमचन्दजी म०, आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी म०, महास्थविर ताराचन्द जी म०, उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज का परिचय अगले अध्याय में दे रहा हूँ।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ "तन्मध्ये वेषधरास्तु वि. त्रयस्त्रिंशदधिकशशत १५३३ वर्षे जाता तत्र प्रथमो वेषधारी भाणाख्योऽभूतदिति।"

—**पट्टावली समुच्चय**, पृष्ठ ६७

"तद्वेषधरास्तु सं. १५३८ वर्षे जाताः, तत्र प्रथमो वेषधारी ऋषि भाणाख्योऽभूदिति।"

—**पट्टावली समुच्चय**, पृष्ठ १५७

"शत पन्नर तेत्रीसनी सालइ, भाणजी ने दीक्ख आलइ।" —**जैनगुर्जरक विओ**, भाग ३, पृष्ठ १०६४

२ मुनि श्रीहजारीमल स्मृति ग्रन्थ, प्र. अ., पृष्ठ २१६।

३ देखिए रूपऋषि भास।

४ देखिए जैन गुर्जर कविओ, भाग तीसरा, पृष्ठ ७४०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



युगप्रवर्तक क्रांतिकारी आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज : व्यक्तित्व और कृतित्व

भारतीय संस्कृति विश्व की एक महान् संस्कृति है जो हजारों वर्षों से गंगा के विशाल प्रवाह की तरह जन-जन के अन्तर्मानस में प्रवाहित हो रही है; मन और मस्तिष्क का परिमार्जन कर रही है। यह संस्कृति मूलतः दो संस्कृतियों का समन्वित रूप है—एक वैदिक संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति में बाह्यशुचिता, सम्पन्नता एवं समृद्धि को प्रोत्साहन दिया गया है, तो श्रमण संस्कृति में अन्तरंग पवित्रता, आत्मगुणों का विकास एवं आत्मलीनता पर विशेष बल दिया गया है। वैदिक संस्कृति का मूल प्रकृति है तो श्रमण संस्कृति का मूल स्वात्मा है। प्रथम बाह्य है तो दूसरी आन्तर है। प्रकृति के विविध पहलुओं, घटनाओं को निहारकर समय-समय पर ऋषियों ने जो कल्पनाएँ कीं उनमें से ब्रह्म का स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है किन्तु श्रमण संस्कृति का आत्मचेतना की ओर अधिक झुकाव रहा है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है—प्रत्येक प्राणी में एक चिन्मय ज्योति छिपी हुई है चाहे कीड़ा हो, चाहे कुंजर, पशु हो या मानव, नरक का जीव हो या स्वर्ग का अधीश्वर देवराज इन्द्र हो, सभी में वह अखण्ड ज्योति जगमगा रही है। किसी ने उस ज्योति का विकास किया है तो किसी में वह ज्योति राख से आच्छादित अग्नि के समान सुप्त है। वैदिक संस्कृति में परतन्त्रता, ईश्वरालम्बन और क्रियाकाण्ड की प्रमुखता रही तो श्रमण संस्कृति में स्वातन्त्र्य, स्वावलम्बन और विशुद्ध आत्मा की सर्वोच्च शक्ति पर विश्वास रहा।

श्रमण संस्कृति का मूल शब्द "समण" है जिसका संस्कृत रूपान्तर है श्रमण, शमन और समन।

श्रमण शब्द श्रम् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है परिश्रम करना, उद्योग करना। इस संस्कृति में तथा-कथित ईश्वर मुक्तिदाता नहीं है, वह सृष्टि का कर्ता-धर्ता और हर्ता नहीं है। इस संस्कृति की मान्यतानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम और सत्कार्यों से ईश्वर बन सकता है। वह ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नहीं, किन्तु आत्म-विकास से स्वयं उस चरम स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

शमन का अर्थ शान्त करना है। श्रमण अपनी चित्तप्रवृत्तियों के विकारभावों का शमन करता है। उसकी मूल साधना है आत्म-चिन्तन और भेद-विज्ञान। चारों वर्ण वाले समान रूप से आत्म-चिन्तन करने के अधिकारी हैं और मुक्ति को प्राप्त करने के भी। साधक शत्रु-मित्र, बन्धु-बान्धव, सुख-दुःख, प्रशंसा और निन्दा, जीवन और मरण जैसे विषयों में भी समत्व भावना रखता है।[1]

समन शब्द का अर्थ समानता है। श्रमण संस्कृति में सभी जीव समान हैं, उसमें धन, जन, परिजन की दृष्टि से कोई श्रेष्ठ और कनिष्ठ नहीं है। आत्म-भाव में स्थिर रहकर साधना करना समानता है।

इस तरह श्रमण संस्कृति का मूल श्रम, शम और सम है। ये तीनों सिद्धान्त विशुद्ध मानवता पर आधारित हैं। इसमें वर्ग-भेद, वर्ण-भेद, उपनिवेशवाद आदि असमानता वाले तत्त्व नहीं हैं।

श्रमण संस्कृति ने आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। आत्मा की अन्तरंग पवित्रता, निर्मलता और उसके गुणों का विकास करने में श्रमण संस्कृति ने उदात्त चिन्तन प्रस्तुत किया है। आत्मा की अनन्त ज्ञान शक्तियाँ, अनन्त विभूतियाँ और अनन्त सुखमय स्वरूप दशा के विकास में जागरूक ही नहीं प्रयत्नशील भी रही हैं। आत्म-गुणों का चरम विकास ही इस संस्कृति का मूल ध्येय रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक असंख्य साधकों ने आत्म-साधना के महान पथ पर कदम बढ़ाये हैं, आत्म-जागरण और आत्म-विकास तथा आत्म-लक्ष्य तक पहुँचते रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतिहासविज्ञों का अभिमत है कि भगवान महावीर का युग श्रमण संस्कृति का स्वर्ण-युग था। इस युग में श्रमण संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर थी। हजारों-लाखों साधकों ने आत्म-कल्याण व जन-कल्याण किया। काल प्रवाह से उसमें कुछ विकृतियाँ आ गयी थीं, जिसे श्रमण भगवान महावीर ने अपने प्रबल प्रभाव से दूर किया और नया चिन्तन, नया दर्शन देकर युग को परिवर्तित किया।

भगवान महावीर ने चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में जो क्रान्ति कर अवरुद्ध प्रवाह को मोड़ा था, परिस्थितिवश पुनः उस प्रवाह में मन्दता आ गयी, धार्मिक अन्धविश्वासों ने मानव के चिन्तन को अवरुद्ध कर दिया था। अतः क्रान्तिकारी ज्योतिर्धर आचार्यों ने पुनः क्रान्ति की।

सन्त परम्परा के समुज्ज्वल इतिहास में सोलहवीं शदी का विशेष महत्व है। इसी युग को वैचारिक क्रान्तिकारियों का युग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। कबीर, नानक, सन्त रविदास, तरण-तारण स्वामी और लोंकाशाह आदि ने क्रान्ति की शंखध्वनि से भारतीय जनमानस को नवजागरण का दिव्य सन्देश दिया। धर्म के मौलिक तत्वों के नाम पर जो विकार, असंगतियाँ और कलह-मूलक धारणाएँ पनप रही थीं उनके प्रति तीव्र असन्तोष व्यक्त किया। उन क्रान्तिकारियों के उदय से स्थितिपालक समाज में एक हलचल उत्पन्न हो गयी और परिणामस्वरूप प्रतिक्रियावादी भावनाएँ उद्‌बुद्‌ हुईं। यह एक ऐतिहासिक परखा हुआ सत्य है कि मानव-संस्कृति का वास्तविक पल्लवन और संवर्धन संघर्ष की पृष्ठभूमि में ही होता है। शान्तिकाल में तो भौतिक समृद्धि और उसकी चकाचौंध पनप सकती है किन्तु क्रान्ति और नव-सृजन संघर्ष की पृष्ठभूमि पर ही पनपते हैं। यही कारण है सन्त परम्परा का विकास विपरीत परिस्थितियों में हुआ है। वह विशाल और उदात्त भावनाओं को लेकर पाशविकता से लड़ी और सुदृढ़ सौन्दर्यसम्पन्न परम्पराएँ डालीं जिन पर मानवता सदा गर्व करती रही।

श्रमण संस्कृति की एक क्रान्तिकारी परम्परा स्थानकवासी समाज के नाम से विश्रुत है जिसने साधना, भक्ति और उपासना के क्षेत्र में विस्तार किया। यह एक अध्यात्मप्रधान सम्प्रदाय है। इसमें यम, नियम और संयम की प्रधानता है। मानव-जीवन के मूल्य व महत्व का इसमें सही-सही अंकन किया गया है। इस परम्परा का उद्देश्य मानव को भोग से योग की ओर, संग्रह से त्याग की ओर, राग से विराग की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, असत्य से सत्य की ओर ले जाना है।

श्रद्धेय मरुधर धरा के उद्धारक युग-प्रवर्तक पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज इसी संस्कृति के सजग और सतेज सन्तरत्न थे। अपने युग के परम विद्वान, विचारक और तत्ववेत्ता थे। आपके अगाध पाण्डित्य व विद्वत्ता की सुरभि दिग्-दिगन्त में फैल चुकी थी और आज भी वह मधुर सौरभ जन-जन के मानस को अनुप्रेरित व अनुप्राणित करती है। आपका ज्ञान निर्मल था, सिद्धान्त अटल था और आप स्थानकवासी परम्परा व श्रमण संस्कृति की एक विमल विभूति थे।

पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज का जन्म भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ। दिल्ली की परिगणना भारत के प्रधान नगरों में की गयी है। यह वर्षों से भारत की राजधानी रही है। इस महानगरी का निर्माण किसने किस समय किया इस सम्बन्ध में विज्ञों में एकमत नहीं है। दिल्ली राजावली, कवि किसनदास व कल्हण की एक महत्वपूर्ण कृति है। इसके अभिमतानुसार दिल्ली की संस्थापना संवत् ९०९ में हुई।[१] पट्टावली समुच्चय[२] में संवत् ७०३ में अनंगपाल तुअर द्वारा बसाने का उल्लेख है। कनिंघम[३] ने "दि आर्कियलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया" ग्रन्थ में सन् ७३६ में अनंगपाल प्रथम के द्वारा दिल्ली बसाने का निर्देश किया है। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी[४] का मन्तव्य है तोमर वंशीय अनंगपाल प्रथम दिल्ली का मूल संस्थापक है। उसका राज्याभिषेक सन् ७३६ में हुआ और उसी ने सर्वप्रथम दिल्ली में राज्य किया। उसके पश्चात् उसके वंशज कन्नौज में चले गये और वे वहीं पर रहे। बहुत वर्षों के पश्चात् द्वितीय अनंगपाल दिल्ली में आया और उसने अपनी राजधानी दिल्ली बनायी। उसने नवीन नगर का निर्माण करवाया। नगर का कोट बनवाया। कुतुबमीनार के सन्निकट जो आज खण्डहरों का वैभव बिखरा पड़ा है उसे इतिहासकार द्वितीय अनंगपाल की राजधानी मानते हैं। उसके समय का शिलालेख भी मिलता है जिसमें संवत् ११०९ अनंगपाल वही का उल्लेख है। कुतुबमीनार के सन्निकट अनंगपाल के द्वारा बनाया गया एक मन्दिर है, उसके एक स्तम्भ पर अनंगपाल का नाम उत्कीर्ण किया हुआ है।[५] श्री जयचन्द्र विद्यालंकार[६] सन् १०५० में अनंगपाल नामक एक तोमर सरदार द्वारा दिल्ली की स्थापना का उल्लेख करते हैं और श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[७] का अभिमत है कि द्वितीय अनंगपाल ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिल्ली बसाई। यह अनंगपाल तोमरवंशीय क्षत्रिय था। संवत् १३८४ का एक शिलालेख[8] जो दिल्ली म्यूजियम में है, उसमें तोमर वंशियों के द्वारा दिल्ली बसाने का उल्लेख मिलता है। इसके पूर्व दिल्ली का नाम इन्द्रप्रस्थ था।

किसनदास ने अपनी कविता में दिल्ली नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है कि जमीन में लोहे की एक कीली लगायी गयी, किन्तु वह ढीली हो जाने से उसका नाम ढिल्ली हुआ।[9] फरिश्ता कहते हैं[10] कि यहाँ मिट्टी इतनी मुलायम है कि इसमें मुश्किल से किल्ली मजबूत रह सकती है। अतः इसका नाम ढिल्लिका रखा गया। इसके योगिनीपुर, दिल्ली, देहली आदि नामों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

गणधर सार्धशतक[11] उपदेशसार[12] खरतरगच्छ गुर्वावली[13] विविध तीर्थकल्प[14], तीर्थमाला[15] प्रभृति अनेक ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि दिल्ली प्रारम्भ से ही जैनियों का प्रमुख केन्द्र रही है। यहाँ पर अनेक श्रेष्ठी लोग जैनधर्म के अनुयायी थे, श्रमण संस्कृति के उपासक थे।

देहली के ओसवाल वंशीय तातेर गोत्रीय सेठ देवीसिंहजी अपने युग के प्रसिद्ध व्यापारी थे। उनकी धर्म-पत्नी का नाम कमलादेवी था। पति और पत्नी दोनों समान स्वभाव के थे. सन्तों की संगति में विशेष अभिरुचि थी। जैन श्रमणों का जब कभी योग मिलता तो वे धर्मकथा श्रवण करने को पहुँचते थे, धर्मचर्चा में उन्हें विशेष रस था।

एक दिन कमला देवी अपनी उच्च अट्टालिका में सानन्द सो रही थी। शीतल मन्द सुगन्ध समीर आ रहा था। प्रातःकाल होने वाला ही था कि उसे एक स्वप्न आया कि आकाशमार्ग से एक अति सुन्दर और अमर भवन नीचे उतर रहा है और वह उसके मुँह में प्रवेश कर रहा है। स्वप्न को देखकर कमलादेवी उठकर बैठ गयी और उसने अपने पति देवीसिंहजी से स्वप्न की बात कही। देवीसिंहजी ने हर्षविभोर होकर कहा—सुभगे, तेरे भाग्यशाली पुत्र होगा। यथासमय आश्विन शुक्ला चतुर्दशी रविवार सवत् १७१६ में रात्रि के समय शुभ मुहूर्त और शुभवेला में पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र का नाम अमरसिंह रखा गया और वे इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। शैशवकाल में यह नाम माता-पिता को तृप्ति प्रदान करता था। श्रमण बनने पर आचार्य लालचन्दजी महाराज को तृप्ति देने लगा। आचार्य-जीवन में वह लाखों श्रद्धालुओं के लिए श्रद्धा का केन्द्र बन गया। यह नाम स्थानकवासी परम्परा के गौरव का प्रतीक है।

शिशु का वर्ण गौर था, तेजस्वी आँखें थीं, मुस्कुराता हुआ सौम्य चेहरा था और शरीर सर्वांग सुन्दर था। जिसे देखकर दर्शक आनन्दविभोर हो जाता था। अमरसिंह के जन्म लेते ही अपार संपत्ति की वृद्धि होने से और सुख-समृद्धि बढ़ने से पारिवारिक जन अत्यन्त प्रसन्न थे। माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह और पारिवारिक जनों का प्रेम उसे पर्याप्त रूप से मिला था। रूप और बुद्धि की तीक्ष्णता के कारण सभी उसकी प्रशंसा करते थे। अमर संस्कारी बालक था। उसमें विचारशीलता, मधुरवाणी, व्यवहारकुशलता आदि सद्गुण अत्यधिक विकसित हुए थे। उसमें एक विशिष्ट गुण था, वह था चिन्तन करने का। वह अपने स्नेही-साथियों के साथ खेल-कूद भी करता था, नाचता-गाता भी था, हँसता-हँसाता भी था, रूठता-मचलता भी था, बाल-स्वभावसुलभ यह सब कुछ होने पर भी उसकी प्रकृति की एक अनूठी विशेषता थी कि सदा चिन्तन मनन करते रहना। योग्य वय होने पर उसे कलाचार्य के सन्निकट अध्ययन के लिए प्रेषित किया, किन्तु अद्भुत प्रतिभा के कारण अल्प समय में ही उसने अरबी, फारसी, उर्दू, संस्कृत आदि भाषाओं का उच्चतम अध्ययन कर लिया। आपकी प्रकृष्ट प्रतिभा को देखकर कलाचार्य भी मुग्ध हो गया। संस्कारों का वैभव दिन प्रतिदिन समृद्ध हो रहा था।

एक बार ज्योतिर्धर जैनाचार्य लालचन्दजी महाराज देहली पधारे। उनके उपदेशों की पावन गंगा प्रवाहित होने लगी। अमरसिंह भी अपने माता-पिता के साथ आचार्यप्रवर के प्रवचन में पहुँचा। प्रवचन को सुनकर उसके मन में वैराग्य भावना अंगड़ाइयाँ लेने लगी। उसे लगा कि संसार असार है। माता-पिता ने उसकी भाव-भंगिमा को देख-कर यह समझ लिया कि यह बालक कहीं साधना के मार्ग में प्रवेश न कर जाय। अतः उन्होंने देहली की एक सुप्रसिद्ध श्रेष्ठीपुत्री के साथ तेरह वर्ष की लघुवय में बालक अमर का पाणिग्रहण कर दिया गया। उस युग में बालविवाह की प्रथा थी। बाल्यकाल में ही बालक और बालिकाओं को विवाह के बन्धन में बाँध दिया जाता था; किन्तु उनका गार्हस्थिक सम्बन्ध तब तक नहीं होता था जब तक वे पूर्ण युवा नहीं हो जाते थे। विवाह होने के पश्चात् भी लड़की मायके में ही रहती थी। किशोर अमर को विवाह के बन्धन में बँधने पर भी उसके मन में किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं था। उसका अन्तर्मानस उस बन्धन से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था। किन्तु माता-पिता की अनुमति के वे बिना संयम साधना के महामार्ग पर नहीं बढ़ सकते थे। उन्होंने माता-पिता से निवेदन किया, किन्तु माता-पिता धर्म-प्रेमी होने पर भी पुत्र को मोह के कारण श्रामणी जीवन में देखना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा—पुत्र, कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय तक तुम रुको। अतः माता-पिता के आग्रह को सम्मान देकर वे गृहस्थाश्रम में रहे। किन्तु उनका मन विषय-भोगों से उसी तरह उपरत था जैसे कीचड़ से कमल। इक्कीस वर्ष की पूर्ण युवावस्था में उन्होंने अपनी पत्नी को विषय-भोगों की निस्सारता और ब्रह्मचर्य की महत्ता समझाकर अ-ब्रह्मचर्य का त्याग करा दिया। वे अपने निश्चय पर चट्टान की तरह दृढ़ थे। माता की ममता, पिता का स्नेह, और पत्नी का उफनता हुआ मादक प्यार उन्हें अपने ध्येय से डिगा नहीं सका। एक दिन अवसर पाकर अपने मन की बात आचार्यप्रवर लालचन्दजी महाराज से कही—गुरुदेव, क्या आप मुझे अपने श्रीचरणों में शिष्य रूप से स्वीकार कर सकते हैं? गुरु ने शिष्य की योग्यता देखकर कहा—वत्स! मैं तुम्हें स्वीकार कर सकता हूँ, किन्तु माता-पिता और पत्नी की आज्ञा प्राप्त करनी होगी। उनसे अनुमति प्राप्त करना तुम्हारा काम है। गुरु की स्वीकृति प्राप्त करके अमरसिंह बहुत प्रसन्न हुए।

राही को राह मिल ही जाती है, यह संभव है देर-सबेर हो सकती है, किन्तु राह न मिले यह कभी संभव नहीं। अमरसिंह ने माता-पिता और पत्नी से स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैं अब संसार में नहीं रहूँगा। मुझे साधु बनना है। माता ने आँसू बहाकर उसके वैराग्य को भुलाना चाहा। पिता ने भी कहा—पुत्र, तुम्हीं मेरी वृद्धावस्था के आधार हो, मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो? पत्नी ने भी अपने मोह-पाश में बाँधने का प्रयास किया। किन्तु दृढ़ मनोबली अमरसिंह ने सभी को समझाकर आज्ञा प्राप्त कर ली और भरपूर युवावस्था में संवत् १७४१ में चैत्र कृष्णा दशमी को भागवती दीक्षा ग्रहण की। अब वे अमरसिंह से अमरसिंह मुनि हो गये।

अमरसिंह मुनि ने दीक्षा ग्रहण करते ही संयम और तप की साधना प्रारम्भ की। वे सदा जागरूक रहा करते थे, प्रतिपल-प्रतिक्षण संयम साधना का ध्यान रखते थे। विवेक से चलते, विवेक से उठते, विवेक से बैठते, विवेक से बोलते, प्रत्येक कार्य वे विवेक के प्रकाश में करते। संयम के साथ तप और जप की साधना करते, जैन आगम साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया। अपनी पैनी बुद्धि से, प्रखर प्रतिभा से और तर्कपूर्ण मेधाशक्ति से अल्प काल में ही आगम के साथ दर्शन, न्याय, व्याकरण, साहित्य का विशेष अध्ययन किया।

तप, संयम के साथ विशेष अध्ययन में परिपक्व होकर आचार्य श्री लालचन्दजी महाराज की आज्ञा से आपने धर्मप्रचार का कार्य आरम्भ किया। अपनी विमल-ज्ञान राशि को पंजाब और उत्तर प्रदेश के जन जीवन में महामेघ के समान हजार-हजार धाराओं में बरसाकर बिखेर दिया। अनेक स्थलों पर बलि-प्रथा के रूप में पशुहत्या प्रचलित थी, उसे बन्द करवाया। अन्धविश्वास और अज्ञानता के आधार पर फैले हुए वेश्यानृत्य, मृत्युभोज और जातिवाद का आपने दृढ़ता से उन्मूलन किया। श्रमणसंघ व श्रावकसंघ में आये हुए शिथिलाचार और भ्रष्टाचार पर आप केसरी सिंह की तरह झपटते थे। आपकी वाणी में ओज था, सत्य का तेज था और विवेक का विशुद्ध प्रकाश था। अतः जिस विषय पर आपश्री बोलते, साधिकार बोलते और सफलता देवी आपके चरण चूमने के लिए सदा लालायित रहती थी। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी इन छह भाषाओं पर आपने पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था और आप साधिकार छह भाषाओं में लेखन, भाषण कर सकते थे। आपने अनेक साधु-साध्वियों, श्रावक और श्राविकाओं को शास्त्रों का अध्यापन करवाया। आप मानवरूप में साक्षात् बहती हुई ज्ञान-गंगा थे। जिधर भी वह ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई उधर अध्ययन, मनन-चिन्तन के सूखे और उजड़े हुए खेत हरे-भरे हो गये।

अमरसिंहजी महाराज का आगम और दर्शनशास्त्र का ज्ञान बहुत ही गम्भीर था। आपके सम्बन्ध में लिखी हुई अनेक अनुश्रुतियाँ मुझे प्राचीन पन्नों में मिली हैं। एक बार आपश्री जम्मू में विराज रहे थे। श्रावक समुदाय आपके सन्निकट बैठा हुआ चर्चा कर रहा था। उस समय कुछ बहनें सुमधुर गीत गाती हुई जा रही थी। अमरसिंहजी महाराज कुछ समय तक रुक गये। वार्तालाप में प्रसंग में उन्होंने बताया गाने वाली बहनों में एक बहिन जिसका स्वर इस प्रकार का था उसका रंग श्याम है उसकी उम्र पच्चीस वर्ष की है और वह एक आँख से कानी है। महाराजश्री ने उस बहन को देखा नहीं था और न वह पूर्व परिचिता ही थी। अन्य बहनों के सम्बन्ध में भी उन्होंने वय, रंग और उम्र बतायी। लोगों को बहुत ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने शीघ्र ही जाकर जाँच की तो उन्हें सत्य तथ्य का परिज्ञान हो गया। श्रावकों ने पूछा—गुरुदेव आपको कैसे पता लगा? आपश्री ने फरमाया स्थानाङ्ग, अनुयोगद्वार आदि आगम साहित्य में स्वरों का निरूपण है, उसी के आधार पर मैंने कहा है। उन्होंने केवल शास्त्र पढ़े ही नहीं थे किन्तु उन शास्त्रों को हृदयंगम भी किया था।

एक बार आपश्री लुधियाना विराज रहे थे। उस समय एक सज्जन घबराते हुए आये कि गुरुदेव शीघ्र ही मांगलिक फरमा दीजिये। मुझे आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाना है। विलम्ब हो गया है। मुनि अमरसिंहजी ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा—क्यों शीघ्रता करते हो, एक सामायिक कर लो। किन्तु श्रावक के मन में दृढ़ता कहाँ थी ? उसने आपश्री के कथन की उपेक्षा की और बिना मांगलिक सुने ही चल दिया। मार्ग में सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और हथकड़ियाँ डालकर कारागृह में बन्द कर दिया। जब वह न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया गया तब न्यायाधीश ने कहा—मैंने इन सेठजी को नहीं किन्तु इनका नाम राशि जो स्वर्णकार है उसे बुलाया था। तुमने व्यर्थ ही सेठजी को परेशान किया। क्षमायाचना कर सेठजी को बिदा किया गया। तब सेठजी को ध्यान आया कि महाराजश्री की आज्ञा की अवहेलना करने का क्या परिणाम होता है।

एक बार आपश्री पटियाला विराज रहे थे। पटियाला सिक्खों का प्रमुख केन्द्र था। आपके प्रवचन में कुछ सिक्ख सरदार प्रतिदिन आया करते थे। मध्याह्न के समय एक सिक्ख सरदार आया। उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे। चेहरा उदास था। आपश्री ने उसकी उदासी का कारण पूछा। उसने कहा—गुरुजी ! मेरे एक ही लड़का है। रात को वह बिल्कुल ठीक सोया था, पता नहीं उसकी नेत्र ज्योति कैसे गायब हो गयी। उसे कुछ भी नहीं दीखता है। अभी तो वह बच्चा ही है। मैंने हकीमों और वैद्यों को आँख बतायी। उन्होंने कहा कि अब रोशनी नहीं आ सकती। यह कहकर उसकी आँखें डबडबा गयीं, गला भर आया। महाराजश्री ने कहा—बताओ, तुम्हारा लड़का कहाँ है ? सरदार ने कहा—गुरुदेव ! मैं अभी जाकर उसे ले के आता हूँ। गुरुदेवश्री ने बच्चे को मंगल पाठ सुनाया कि लड़का पहले से भी अधिक स्पष्ट रूप से देखने लगा। सरदारजी चरणों में गिर पड़े, और उनकी हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे—अमरसिंहजी महाराज देवता ही नहीं साक्षात् भगवान हैं।

एक बार अमरसिंहजी महाराज रोहतक विराज रहे थे। उस समय एक युवक आया। वह पारिवारिक संक्लेशों से संत्रस्त था। वह आत्महत्या करने का संकल्प लेकर ही घर से चला था। किन्तु आपश्री के मधुर वार्तालाप से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि सदा के लिए उसने क्रोध का परित्याग कर दिया। उसका पारिवारिक जीवन जो विषम था, जिसमें रात-दिन क्रोध की चिनगारियाँ उछलती रहती थीं, आपश्री के सत्संग से उस परिवार में स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित होने लगी। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ आपके पंजाब प्रवास के समय की मिलती हैं जो विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखी जा रही हैं।

अमरसिंहजी महाराज प्रकाण्ड पण्डित, प्रभावक, प्रवचनकार और यशस्वी साधक थे। आपश्री को जैन-अजैन जनता में सर्वत्र एक दिव्य महापुरुष जैसा सत्कार, सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी तथापि आपश्री के अन्तर्मानस में गुरुवर्य के प्रति अटूट श्रद्धा व भक्ति थी। उनके लिए आचार्य लालचन्दजी महाराज एक व्यक्ति नहीं किन्तु आदर्श थे। वे उनके प्रति समर्पित थे। समर्पण विनिमय के लिए नहीं होता, किन्तु जहाँ पर समर्पण होता है वहाँ विनिमय स्वतः ही हो जाता है। आचार्य लालचन्दजी महाराज के मन में अमरसिंहमुनिजी के प्रति पूर्ण विश्वास था। एक दिन किसी सन्त ने आचार्य लालचन्दजी महाराज से कहा कि अमरसिंहजी प्रतिलेखना सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। आचार्य लालचन्दजी महाराज ने बिना अमरसिंहजी को पूछे ही दृढ़ता के साथ कहा कि वह तुम्हारे से श्रेष्ठ करता है। विश्वास उसी का नाम है जिसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं होता।

अमरसिंह मुनिजी प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, आदि आचार्य लालचन्दजी महाराज के पास बैठ करके ही करते थे, अतः वे अमरसिंह मुनि की चर्या से पर्याप्त रूप से परिचित थे। उनके प्रति उनका आत्मीयभाव दिन प्रतिदिन बढ़ रहा था। उनकी कृपा उन पर अत्यधिक थी।

मुनि अमरसिंहजी जितने महान् थे उतने ही विनम्र भी थे। आप पुष्पित फलित विराट वृक्ष के समान ज्यों-ज्यों यशस्वी, महान् और प्रख्यात हुए त्यों-त्यों अधिक विनम्र होते गये। गुरुजनों के प्रति ही नहीं लघुजनों के प्रति भी आपके हृदय में अपार प्रेम था। जब कभी भी लघु श्रमण भी रुग्ण होते तब आपश्री उनकी स्नेह से सेवा करते थे। अहंकार और ममकार के दुर्गुणों से आप कोसों दूर थे। आपश्री सद्गुरुदेव के साथ ही पंजाब के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर धर्म की प्रबल प्रभावना करते रहे। हजारों व्यक्ति आपके उपदेशों से प्रभावित होकर श्रावक बने और सम्यक्त्वरत्न को प्राप्त किया। बीस व्यक्तियों ने आर्हती दीक्षा ग्रहण कर आपका शिष्यत्व स्वीकार किया।

संवत् १७६१ में आचार्यश्री लालचन्दजी महाराज का चातुर्मास अमृतसर में था। आचार्यश्री का स्वास्थ्य अस्वस्थ रहने लगा। उनके मन में स्वास्थ्य पूर्ण रूप से ठीक होने की सम्भावना क्षीण हो गई। उन्होंने इसी समय चतुर्विध संघ को बुलाकर उल्लास के क्षणों में अमरसिंह मुनि को युवाचार्य पद प्रदान किया। सभी ने आचार्यश्री की अनूठी सूझबूझ की प्रशंसा की। आचार्यश्री ने आलोचना व संलेखना कर संथारा ग्रहण किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साधना में समाधिपूर्ण जीवन का जितना महत्व है उससे भी अधिक महत्व समाधिपूर्ण मृत्यु का है। समाधि पूर्ण मृत्यु को वरण करने वाले साधक को पूर्ण शान्ति और समाधि प्राप्त करनी होती है। आचार्यश्री ने सभी के साथ खमत्खामणा किये और कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन पन्द्रह दिन के संथारे के पश्चात् स्वर्गवासी हुए।

संघ ने युवाचार्य श्री अमरसिंहजी महाराज से सनम्र प्रार्थना की कि आपश्री आचार्य पद पर आसीन होकर हमें सनाथ करें। स्थान-स्थान से शिष्ट मण्डल अमृतसर पहुँचे और सभी ने अपने यहाँ आचार्य पद महोत्सव मनाने की प्रार्थना की। अन्त में देहली संघ की प्रार्थना को स्वीकार किया गया और आपश्री शिष्य समुदाय व सन्तों को लेकर देहली पधारे। संवत् १७६२ में चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन देहली में आचार्य पद महोत्सव मनाया गया। 'आचार्यश्री की जय' के सुमधुर घोष से वायुमण्डल गूँज उठा। समूचा संघ हर्ष से पुलकित हो उठा। आपश्री जैसे अनासक्त कर्मठ आचार्य को पाकर संघ धन्य हो गया।

आचार्यश्री अमरसिंहजी ने देहली संघ की प्रार्थना को सम्मान देकर देहली में इस वर्ष वर्षावास सम्पन्न किया, अत्यधिक धर्म की प्रभावना हुई। उसके पश्चात् पुनः आपश्री पंजाब संघ की प्रार्थना को संलक्ष्य में रखकर पंजाब पधारे और चार चातुर्मास पंजाब में करके पुनः संवत् १७६७ में देहली में चातुर्मासार्थ पधारे। पूज्यश्री का तेज प्रतिदिन बढ़ रहा था। उनके प्रवचनों में चुम्बकीय आकर्षण था।

चीनी भाषा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ताओ उपनिषद में लिखा है कि हृदय से निकले हुए शब्द लच्छेदार नहीं होते और लच्छेदार शब्द कभी विश्वास योग्य नहीं होते। जो वाणी हृदय की गहराई से निकलती है उसमें स्वाभाविकता होती है और सहजता होती है। जैसे कुएँ की गहराई से निकलने वाला पानी शीतल, निर्मल और ताजा होता है वैसे ही सहज वाणी भी प्रभावशाली होती है। जो उपदेश आत्मा से प्रस्फुटित होता है वह आत्मा का स्पर्श करता है, किन्तु जो जीभ से निकलता है उसमें चिन्तन, भावना और आचार का बल न होने से वह हृदय को स्पर्श नहीं कर सकता। हृदय से निकली हुई बात में बकवास नहीं होता किन्तु तीर-सी वेधकता होती है। आचार्य संघदासगणी ने अपने बृहत्-कल्पभाष्य में लिखा है कि गुणवान व्यक्ति का वचन घृतसिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी और पथ-प्रदर्शक होता है, किन्तु गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित दीपक की तरह निस्तेज और अन्धकार से परिपूर्ण होता है, आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के प्रवचनों में जीवन का गहरा चिन्तन था, मनन था, साथ ही अनुभवों का सुदृढ़ पृष्ठबल था। नदी की निर्मल धारा की तरह उसमें गति थी, प्रगति थी और जाज्वल्यमान अग्नि की तरह उसमें आचार और विचार का तेज था। उनके प्रवचनों में वासीपन नहीं, किन्तु विचारों, भावों और भाषा में ताजगी थी। यही कारण है कि जातिवाद, पंथवाद, और सम्प्रदायवाद को भूलकर हजारों की संख्या में हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख और जैनी प्रवचन-सभाओं में उपस्थित होते थे और आचार्यश्री के पावन प्रवचनों को सुनकर झूमने लगते थे। आचार्यश्री के प्रवचनों की धूम से देहली गूँज रहा था।

उस समय हिन्दुस्तान के बादशाह थे शाहनशाह बहादुरशाह।[११] वे दक्षिण से अजमेर आये थे। बादशाह से किसी विशिष्ट कार्य के लिए मिलने हेतु जोधपुर के महामन्त्री खींवसी जी भण्डारी* अजमेर आये और शहजादा अजीम

---

* जिन व्यक्तियों से मारवाड़ का इतिहास गौरवान्वित हुआ है उन व्यक्तियों में भण्डारी खींवसी जी का स्थान मूर्धन्य है। वे सफल राजनीतिज्ञ थे। तत्कालीन मुगल सम्राट पर भी उनका अच्छा-खासा प्रभाव था। उस समय राजनीति संक्रान्ति के काल में गुजर रही थी। सम्राट औरंगजेब का निधन हो चुका था और उनके वंशजों के निर्बल हाथ शासन नीति को संचालन करने में असमर्थ सिद्ध हो रहे थे। चारों ओर राजनीति के क्षेत्र में विषम स्थिति थी। उस समय जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह जी के प्रधानमन्त्री खींवसी भण्डारी थे। जब भी जोधपुर राज्य के सम्बन्ध में कोई भी प्रश्न उपस्थित होता तब वे बादशाह की सेवा में उपस्थित होकर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से गम्भीर समस्याओं का समाधान कर देते थे और शाहजादा मुहम्मद शाह को राज्यासीन कराने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही थी ऐसा फारसी तवारीखों से भी स्पष्ट होता है।

भण्डारी खींवसीजी सत्यप्रिय, निर्भीक वक्ता और स्वामीजी के परम भक्त थे। धर्म के प्रति भी उनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। वे वि० सं० १७६६ में जोधपुर के दीवान बने और सं० १७७२ में वे सर्वोच्च प्रधान बने। फिर महाराजा अजीतसिंह के साथ मतभेद होने से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। पुनः महाराजा अजितसिंह के पुत्र महाराज अभयसिंह के राज्य गद्दी पर बैठने पर पुनः सं० १७८१ में सर्वोच्च प्रधान बने और स० १७८२ में मेडता में उनका देहान्त हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मारफत सन् १७६७ मे बादशाह से मुलाकात की। बादशाह भण्डारी जी को लेकर अजमेर से लाहौर होते हुए देहली पहुँचे। उस समय आचार्यप्रवर अमरसिंहजी महाराज के प्रवचन-कला की प्रशंसा भण्डारी खींवसी जी ने सुनी। वे पूज्यश्री के प्रवचन श्रवण हेतु पहुँचे। पूज्यश्री के प्रभावोत्पादक प्रवचनों को सुनकर खींवसी जी अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने श्रावकधर्म को ग्रहण किया। वे प्रतिदिन नियमित रूप से प्रवचन श्रवण करने के लिए उपस्थित होते। विविध विषयों पर आचार्यप्रवर से वे विचार-चर्चा भी करते।

बादशाह बहादुरशाह की अनेक लड़कियाँ थीं। एक कन्या जो अविवाहिता थी वह गर्भवती हो गयी। जब बादशाह को यह सूचना प्राप्त हुई तब वे क्रोध से आग-बबूला हो उठे। उनकी आँखें क्रोध से अंगारे की तरह लाल हो गयीं। उन्होंने कहा—यह लड़की कुल को कलंक लगाने वाली है। शाही कुल में इस प्रकार की लड़कियों की आवश्यकता नहीं, मैं ऐसी लड़कियों का मुँह देखना भी पाप समझता हूँ। अतः इसे नंगी तलवार के झटके से खतम कर दो ताकि अन्य को भी ज्ञात हो सके कि दुराचार का सेवन कितना भयावह है। भण्डारी खींवसी ने जब बादशाह की यह आज्ञा सुनी तो वे काँप उठे। उन्होंने बादशाह से निवेदन किया—हुजूर, पहले गहराई से जाँच कीजिए, फिर इन्साफ कीजिए। किन्तु आवेश के कारण बादशाह ने एक भी बात न सुनी। खींवसी जी गिड़गिड़ाते रहे कि मनुष्य मात्र भूल का पात्र है, उसे एक बार क्षमा कर आप विराट् हृदय का परिचय दीजिए, किन्तु बादशाह किसी भी स्थिति में अपने हुकुम को पुनः वापिस लेना नहीं चाहता था। खींवसीजी भण्डारी कन्या को मौत के घाट उतारने की कल्पना से सिहर उठे। मनःशान्ति के लिए वे आचार्यश्री के पास पहुँचे। आचार्यश्री ने उनके उदास और खिन्न चेहरे को देखकर पूछा—भण्डारीजी! आज आपका मुखकमल मुरझाया हुआ क्यों है? आप जब भी मेरे पास आते हैं उस समय आपका चेहरा गुलाब के फूल की तरह खिला रहता है। भण्डारीजी अति गोपनीय राजकीय बात को आचार्यश्री से निवेदन करना नहीं चाहते थे। उन्होंने बात को टालने की दृष्टि से कहा—गुरुदेव! शासन की गोपनीय बातें हैं। यह आपसे कैसे निवेदन करूँ। कई समस्याएँ आती हैं, जब उनका समाधान नहीं होता है तो मन जरा खिन्न हो जाता है।

आचार्यश्री ने एक क्षण चिन्तन किया और मुस्कराते हुए कहा—भण्डारीजी, आप भले ही मेरे से बात छिपायें, किन्तु मैं आपके अन्तर्मन की व्यथा समझ गया हूँ। बादशाह की क्वारी पुत्री को जो गर्भ रहा है और उसे मरवाने के लिए बादशाह ने आज्ञा प्रदान की है, उसी के कारण आपका मन म्लान है। क्या मेरा कथन सत्य है न?'

अपने मन की बात आचार्यश्री कैसे जान गये यह बात भण्डारी जी के मन में आश्चर्य पैदा कर रही थी। उन्होंने निवेदन किया—भगवन्, आपको मेरे मन की बात का परिज्ञान कैसे हुआ? आप तो अन्तर्यामी हैं। कृपा कर यह बताइये कि उस बालिका के प्राण किस प्रकार बच सकते हैं?

आचार्यप्रवर ने कहा—भण्डारी जी, स्थानाङ्गसूत्र में[१७] स्त्री पुरुष का सहवास न करती हुई भी वह पाँच कारणों से गर्भ धारण करती है, ऐसा उल्लेख है। वे कारण हैं—

(१) अनावृत तथा दुनिषण्ण—पुरुष वीर्य से संसृष्ट स्थान को गुह्य प्रदेश से आक्रान्त कर बैठी हुई स्त्री के योनि-देश में शुक्र-पुद्गलों का आकर्षण होने पर,

(२) शुक्र-पुद्गलों से संसृष्ट वस्त्र के योनि-देश में अनुप्रविष्ट हो जाने पर,

(३) पुत्रार्थिनी होकर स्वयं अपने ही हाथों से शुक्र-पुद्गलों को योनि-देश में अनुप्रविष्ट कर देने पर,

(४) दूसरों के द्वारा शुक्र-पुद्गलों के योनि-देश में अनुप्रविष्ट किए जाने पर,

(५) नदी, तालाब आदि में स्नान करती हुई के योनि-देश में शुक्र-पुद्गलों के अनुप्रविष्ट हो जाने पर।

इन पाँच कारणों से स्त्री पुरुष का सहवास न करती हुई भी गर्भ को धारण कर सकती है।

सारांश यह है कि पुरुष के वीर्य-पुद्गलों का स्त्री-योनि में समाविष्ट होने से गर्भ धारण करने की बात कही गयी है। बिना वीर्य पुद्गलों के गर्भ धारण नहीं हो सकता। आधुनिक युग में कृत्रिम गर्भाधान की जो प्रणाली प्रचलित है इसके साथ इसकी तुलना की जा सकती है। सांड या पाड़े के वीर्य पुद्गलों को निकालकर रासायनिक विधि से सुरक्षित रखते हैं या गाय और भैंस की योनि से उसके शरीर में वे पुद्गल प्रवेश कराये जाते हैं और गर्भकाल पूर्ण होने पर उनके बच्चे उत्पन्न होते हैं। अमेरिका में 'टेस्ट-ट्यूब बेबीज' की शोध की गयी है। उसमें पुरुष के वीर्य-पुद्गलों को काँच की नली में उचित रासायनों के साथ रखा जाता है और उससे महिलाएँ कृत्रिम गर्भधारण करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम साहित्य में जहाँ पर स्त्रियाँ बैठी हों उस स्थान पर मुनि को और जहाँ पर पुरुष बैठे हों उस स्थान पर साध्वी को एक अन्तर्मुहूर्त तक नहीं बैठना चाहिए, जो उल्लेख है वह प्रस्तुत सूत्र के प्रथम कारण को लेकर ही है। इन पाँचों कारणों में कृत्रिम गर्भाधान का उल्लेख किया गया है। किसी विशिष्ट प्रणाली द्वारा शुक्र पुद्गलों का योनि में प्रवेश होने पर गर्भ की स्थिति बनती है जिसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है।

सुश्रुत संहिता में लिखा है[१४] कि जिस समय अत्यन्त कामातुर हुई दो महिलाएँ परस्पर संयोग करती हैं। उस समय परस्पर एक दूसरे की योनि में रजः प्रवेश करता है तब अस्थिरहित गर्भ समुत्पन्न होता है। जब ऋतुस्नान की हुई महिला स्वप्न में मैथुन क्रिया करती है तब वायु आर्तव को लेकर गर्भाशय में गर्भ उत्पन्न होता है और वह गर्भ प्रति मास बढ़ता रहता है तथा पैतृक गुण (हड्डी, मज्जा, केश, नख आदि) रहित मांस पिण्ड उत्पन्न होता है।

तन्दुल वैचारिक प्रकरण में गर्भ के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण किया गया है और कहा गया है जब स्त्री के ओज का संयोग होता है तब केवल आकाररहित मांसपिंड उत्पन्न होता है। स्थानांग[१५] के चौथे ठाणे में भी यह बात आयी है।

आचार्यश्री ने जब प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि बिना पुरुष के सहवास के भी रजोवती नारी कुछ कारणों से गर्भ धारण कर सकती है। बादशाह की पुत्री ने जो गर्भ धारण किया है, वह बिना पुरुष के संयोग के किया है ऐसा मेरा आत्मविश्वास कहता है। तुम बादशाह से कहकर उसके प्राण बचाने का प्रयास करो। यह सुनकर दीवान जी को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उनका मन-मयूर नाच उठा कि अब मैं बादशाह को समझाकर कन्या के प्राण बचा सकूंगा। और एक निरपराध कन्या के प्राणों की सुरक्षा हो सकेगी। उन्होंने आचार्यप्रवर को नमस्कार किया और मंगलिक श्रवण कर वे बादशाह बहादुरशाह के पास पहुँचे। उन्होंने बादशाह से निवेदन किया—हुजूर, कन्या कभी-कभी बिना पुरुष संयोग के भी गर्भ धारण कर लेती है और आपकी सुपुत्री ने जो गर्भ धारण कर लिया है वह इसी प्रकार का है, ऐसा मुझे एक अध्यात्मयोगी संत ने अपने आत्मज्ञान से बताया है। और उसकी परीक्षा यही है—जब बच्चा होगा तब उसके बाल नाखून हड्डी आदि पैतृक अंग नहीं होंगे और पानी के बुलबुले की तरह कुछ ही क्षणों में वह नष्ट हो जायगा। अतः उस अध्यात्मयोगी की बात को स्वीकार कर उस समय तक जब तक कि बच्चा न हो जाय तब तक उसे न मारा जाय। दीवान खींवसीजी की अद्भुत बात को सुनकर बादशाह आश्चर्यचकित हो गया—अरे! यह नयी बात तो आज मैंने सर्वप्रथम सुनी है। उस फकीर के कथन की सत्यता जानने के लिए हम तब तक उस बाला को नहीं मरवाएँगे जब तक उसका बच्चा पैदा नहीं हो जाता है।

बादशाह ने कन्या के चारों तरफ कड़क पहरा लगवा दिया ताकि वह कहीं भागकर न चली जाय। कुछ समय के पश्चात् बालिका के प्रसव हुआ। बादशाह और दीवान खींवसी उसे देखने के लिए पहुँचे। जैसा आचार्य प्रवर अमरसिंहजी महाराज ने कहा था वैसा ही पानी के बुलबुले की तरह पिण्ड को देखकर बादशाह विस्मय विमुग्ध हो गया। बादशाह और दीवान के देखते ही वह बुलबुला नष्ट हो गया। बादशाह ने दीवान की पीठ थपथपाते हुए कहा—अरे, बता ऐसा कौन योगी है, औलिया है जो इस प्रकार की बात बताता है? लगता है वह खुदा का सच्चा बन्दा है।

दीवानजी ने नम्रता के साथ निवेदन किया कि देहली में ही वर्षावास हेतु विराजे हुए ज्योतिर्धर जैनाचार्य पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज हैं जो बहुत ही प्रभावशाली हैं और महान् योगी हैं। उन्होंने ही मुझे यह बात बतायी थी। आप चाहें तो उनके पास चल सकते हैं। बादशाह अपने सामन्तों के साथ आचार्यश्री के दर्शनार्थ पहुंचा। आचार्य प्रवर ने अहिंसा का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण करते हुए कहा—जैनधर्म में अहिंसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ पर किसी भी प्राणी की हिंसा करना निषेध किया गया है। वैदिक और बौद्धधर्म में भी अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इस्लामधर्म में भी अहिंसा का गहरा महत्त्व है। इस धर्म में ईश्वर में विश्वास रखने धर्म पन्थ प्रवर्तकों के विचारों पर आस्था रखने, गरीब और कमजोरों पर दयाभाव दिखाने की शिक्षा प्रदान की गई है। इस धर्म में गाली (abuse), क्रोध (anger), लोभ (avarice), चुगली खाना (back biting); खून-खराबी (blood-shedding), रिश्वत लेना (bribery); झूठा अभियोग (Calumny), बेईमानी (dishonesty), मदिरापान (drinking), ईर्ष्या (envy), चापलूसी (flattery), लालच (greed), पाखण्ड (bypocrisy), असत्य (lying), कृपणता (miserliness), अभिमान (pride), कलङ्क (slandering), आत्महत्या (suicide), अधिक ब्याज लेना (usury), हिंसा (violence), उच्छृखलता (Wickedness), युद्ध (warfare), हानिप्रद कर्म (wrongdoings), आदि को हमेशा ही त्याज्य समझा है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और ठीक इसके विपरीत भाईचारा (brotherhood), दान (charity), स्वच्छता (cleanliness), ब्रह्मचर्य (chastity), क्षमा (forgiveness), मैत्री (friendship), कृतज्ञता (gratitude), विनम्रता (humility), न्याय (Justice), दया (kindness), श्रम (labour), उदारता (liberlity), प्रेम (love), कृपा (mercy), संयम (moderation), सुशीलता (modesty), पड़ोसीपन का भाव (neighbourliness), हृदय की शुद्धता (purity of heart), सदाचार (righteousness), धैर्य(steadfastness), सत्य (truth), विश्वास (trust) को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है।[२०]

इससे स्पष्ट है कि इस्लाम परम्परा में भी उन तत्त्वों की अवहेलना की गयी है जिससे हिंसा की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। कुरआन के प्रारम्भ में ही खुदा को उदार, दयावान कहकर संबोधित किया है।[२१] यहाँ तक कि पशुओं को कम भोजन देना, उन पर चढ़ना, सामान लादना आदि का भी इस्लामधर्म में विरोध किया गया है। वह वृक्षों को काटने के लिए भी नहीं कहता।[२२]

इसलामधर्म में कहा है—खुदा सारे जगत् (खल्क) का पिता है, जगत् में जितने भी प्राणी हैं वे खुदा के पुत्र (बन्दे) हैं। कुरान शरीफ सुरा उलमायाद सियारा मंजिल तीन आयत तीन में लिखा है—मक्का शरीफ की हद में कोई भी जानवर न मारे, यदि भूल से मार ले तो अपने घर के जो पालतू जानवर हैं उसे वहाँ पर छोड़ दें। मक्का शरीफ की यात्रा को जाये तब से लेकर पुनः लौटने तक रोजा रखा जाय और गोश्त का इस्तेमाल न किया जाय। आगे चलकर सुरे अनयाम आयत १४२ में लिखा है कि सब्जी और अन्न को ही खाया जाय किन्तु गोश्त को नहीं—

"बमिल अनआमें हमूल तम्बू वफसद कुलुमिमा रजक कुमुल्ला हो।"

हजरत मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली साहब ने[२३] कहा है—हे मानव! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना अर्थात् पशु-पक्षियों को मारकर उनका भोजन मत कर। इसी तरह दीन-ए-इलाही के प्रवर्तक बादशाह अकबर ने भी कहा है—मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान बनाना नहीं चाहता। जिसने किसी की जान बचायी तो मानो वह सारे इनसानों को जान बख्शी।[२४]

विश्व के समस्त धर्मों ने अहिंसा को स्वीकार किया है। वह धर्म का मूल आधार है। संसार में चारों ओर दुःख की जो ज्वालाएँ उठ रही हैं उसका मूल कारण हिंसक भावना है। अहिंसा भगवती है। भगवान महावीर ने कहा है जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है। अतः अहिंसा के मर्म को समझा जाय। इस प्रकार अहिंसा पर आचार्यप्रवर ने गम्भीर विश्लेषण किया जिसे सुनकर बादशाह ने कहा—योगी प्रवर! मेरे योग्य सेवा हो तो फरमाइये। उत्तर में आचार्यश्री ने कहा हम जैन श्रमण है। अपने पास पैसा आदि नहीं रखते हैं और न किसी महिला का स्पर्श भी करते हैं। हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। यहाँ तक कि मुँह की गरम हवा से हवा के जीव न मर जायें इसलिए मुख पर मुखवस्त्रिका रखते हैं और रात्रि के अन्धकार में पैर के नीचे आकर कोई जन्तु खतम न हो जाय इसलिए रजोहरण रखते हैं। भारत के विविध अंचलों में पैदल घूमकर धर्म का प्रचार करते हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप किसी भी प्राणी को न मारें; गोश्त का उपयोग न करें—यही हमारी सबसे बड़ी सेवा होगी। बादशाह ने आचार्यश्री के आदेश को सहर्ष स्वीकार किया और नमस्कार कर अपने राजभवन में आ गया।

वर्षावास पूर्ण होने जा रहा था, आचार्यप्रवर के सम्पर्क से दीवान खींवसींहजी का जीवन ही धर्म में रंग गया था। उनके अन्तर्मानस में यह विचार उद्बुद्ध हो रहे थे कि यदि आचार्यश्री जोधपुर पधारें तो धर्म की अत्यधिक प्रभावना हो सकती है। जोधपुर राज्य की जनता धर्म के मर्म को भूलकर अज्ञान अन्धकार में भटक रही है। चैतन्योपासना को छोड़कर जडोपासना में दीवानी बन रही है। दीवान खींवसीं जी ने आचार्यप्रवर से निवेदन किया—भगवन्! कृपाकर आप एक बार जोधपुर पधारें। क्योंकि **"न धर्मो धार्मिकैंबिना।"**

आचार्यश्री ने कुछ चिन्तन के पश्चात् कहा—दीवानजी, आपका कथन सत्य है; मारवाड़ में धर्म का प्रचार बहुत ही आवश्यक है। किन्तु साम्प्रदायिक भावना का इतना प्राबल्य है कि वहाँ पर सन्तों का पहुँचना खतरे से खाली नहीं है। जिस प्रकार बाज पक्षियों पर झपटता है उसी प्रकार धर्मान्ध लोग सच्चे साधुओं पर झपटते हैं। मैंने यहाँ तक सुना है कि सम्प्रदायवाद के दीवानों ने इस प्रकार के सिद्धान्त का निर्माण किया है कि "चार सवाया पाँच" अर्थात् मक्खी चतुरिन्द्रिय है और जैन साधु पंचेन्द्रिय हैं उनको मारने में सवा मक्खी का पाप लगता है। इस प्रकार निकृष्ट कल्पना कर अनेकों साधुओं को मार दिया गया है। अतः ऐसे प्रदेश में विचरण करना खतरे से खाली नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीवान खींवसी जी विचार सागर में गोते लगाने लगे कि किस प्रकार आचार्यप्रवर को मारवाड़ में ले जाया जा सके। चिन्तन करते हुए उन्हें एक विचार आया और वे आचार्यप्रवर को नमस्कार कर बादशाह बहादुरशाह के पास पहुँचे। और विनम्र निवेदन करते हुए कहा—जहाँपनाह! मैं आचार्यसम्राट श्री अमरसिंहजी महाराज को जोधपुर ले जाना चाहता हूँ। आपश्री जानते ही हैं जैन साधु किसी वाहन का उपयोग नहीं करते, वे पैदल चलते हैं। सम्प्रदायवाद के नशे में उन्मत्त बने हुए लोग इन साधुओं को भी अत्यधिक कष्ट देते हैं। उन्हें मार्ग में कोई कष्ट न हो, अतः आप शासन की ओर से ऐसा आज्ञा पत्र निकाल दें कि आचार्य अमरसिंहजी जो मारवाड में आ रहे हैं इन साधुओं को जो कष्ट देगा उनके साथ कड़क बर्ताव किया जायगा; खेतवाले का खेत, घर वाले का घर, गाँव वाले का गाँव और अधिकारियों का अधिकार छीन लिया जायगा। इस प्रकार बाईस ताम्रपत्रों पर आदेश लिखकर जोधपुर राज्य के बाईस परगनों में भिजवा दिये गये।

दीवान खींवसीह जी प्रसन्नमुद्रा में आचार्य प्रवर के पास आये और उनसे सनम्र निवेदन किया—भगवन्! अब आप मारवाड़ में पधारें। आपको मारवाड़ में किसी भी प्रकार कष्ट नहीं होगा। मैंने शासन की ओर से आज्ञा पत्र सभी स्थानों पर भिजवा दिये हैं। आचार्यश्री ने दीवान खींवसी जी भण्डारी की स्नेहपूर्ण प्रार्थना को स्वीकार किया और वर्षावास के पश्चात् आचार्यप्रवर ने देहली से मारवाड़ की ओर विहार किया। दीवानजी भी अपना कार्य पूर्ण कर चुके थे, अतः उन्होंने भी वहाँ से जोधपुर की ओर प्रस्थान कर दिया।

आचार्यश्री देहली से विहार करते हुए अलवर पधारे। कुछ समय तक अलवर में विराज कर धर्म की प्रभावना की और वहाँ से जयपुर पधारे। पूज्यश्री के जयपुर पधारने पर जयपुर की भावुक जनता प्रति दिन हजारों की संख्या में प्रवचन सभा में उपस्थित होने लगी। पूज्यश्री ने अपने प्रवचन में अपरिग्रह का महत्व प्रतिपादन करते हुए कहा—जड़ वस्तुओं के अधिक संग्रह से मानव की आत्मा दब जाती है। उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। मानव चाहे जितने व्रत ग्रहण करे किन्तु संग्रहवृत्ति पर नियन्त्रण न रखे तो उसको सच्चे आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। धर्मरूपी कल्पवृक्ष को परिग्रहवृत्ति जलाकर नष्ट कर देती है। चिन्ता-शोक को बढ़ाने वाला, तृष्णारूपी विषवल्लरी को सींचने वाला, फूट-कपट का भण्डार और क्लेश का घर परिग्रह है। परिग्रह का अर्थ है मन की ममता, व आसक्ति। जिनेश्वरदेव ने वस्तु के प्रति रहे ममत्व-भाव को परिग्रह कहा है—

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।"[२५]

विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नहीं है।[२६] इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है।[२७] विश्व के पदार्थ ससीम हैं, किन्तु इच्छाएँ असीम हैं, अतः कामनाओं का अन्त करना ही दुःख का अन्त करना है।[२८] प्रमत्तपुरुष धन के द्वारा न इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता, न परलोक में।[२९]

पूज्यश्री के अ-परिग्रह के विश्लेषण को सुनकर रंगलालजी पटवा जो बहुत ही गरीब थे, उन्होंने निवेदन किया—भगवन्, मुझे पाँच हजार से अधिक परिग्रह न रखना है इसकी मर्यादा करवा दीजिए। आचार्यश्री ने रंगलाल जी के चेहरे की ओर देखकर कहा—नियम ग्रहण करने के पूर्व तुम्हें यह अच्छी तरह से सोच लेना चाहिए कि नियम भंग न हो। बाद में विचार करने की स्थिति पैदा न हो।

रंगलाल जी पटवा ने निवेदन किया—भगवन्, मेरे पास पाँच सौ से अधिक पूँजी ही नहीं है। मेरी आर्थिक स्थिति बड़ी नाजुक है। बड़ी कठिनता से मैं अपने परिवार का भरण-पोषण करता हूँ तथापि तृष्णा के वशीभूत होकर पाँच हजार की मर्यादा करना चाहता हूँ। और आपश्री मुझे पुनः चिन्तन के लिए फरमा रहे हैं। आचार्य श्री ने कहा—क्या नीति की कहावत तुम्हें स्मरण नहीं है? "**स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम् देवो न जानाति कुतो मनुष्यः**" अतः मैं जो कह रहा हूँ वह सोच-विचार कह रहा हूँ। रंगलालजी ने सोचा कि आचार्यप्रवर जो कुछ कह रहे हैं इसमें गम्भीर रहस्य होना चाहिए। उन्होंने बीस हजार की मर्यादा के लिए कहा तब भी आचार्यश्री ने वही बात दुहराई। रंगलालजी ने अन्त में पच्चीस लाख की मर्यादा की। आचार्यप्रवर ने कुछ दिनों तक जयपुर विराज कर किसनगढ़ की ओर प्रस्थान किया। किसनगढ़ से अजमेर होते हुए आचार्यश्री सोजत पधारे। सम्प्रदायवाद के अधिनायक यतिगण चिंतित हो गये कि यहाँ शुद्ध स्थानकवासी धर्म का प्रचार हो जायेगा तो हमारी दयनीय स्थिति बन जायगी। अतः उन्होंने अपने भक्तों को बुलाकर कहा कि कोई ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। यदि हम मारने का प्रयास करेंगे तो शासन की आज्ञा की अवहेलना होने से हमारी स्थिति विषम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती है। अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे हमें किसी भी प्रकार के कष्ट का सामना न करना पड़े। चिन्तन के पश्चात् यह नवनीत निकाला गया कि आने वाले आचार्यश्री को कोट के मुहल्ले में स्थित जो मसजिद है वहाँ पर ठहराया जाय क्योंकि वहाँ पर एक मुसलमान मरकर जिन्द हुआ है, वह रात्रि में किसी को अपने वहाँ रहने नहीं देता है। जो रात्रि में वहाँ रहते हैं वे स्वतः ही काल-कवलित हो जाते हैं।

यति-भक्तों ने आचार्यश्री को पूर्व योजनानुसार इस मसजिद में ठहरने के लिए आग्रह किया और कहा कि इस मकान के अतिरिक्त कोई अन्य मकान खाली नहीं है। आचार्यश्री वहाँ ठहर गये। आचार्यश्री का शिष्य समुदाय भी अत्यन्त विनम्र था जो उनके इंगित पर प्राण न्योछावर करने के लिए सदा तैयार रहता था। उनके चुम्बकीय आकर्षण से शिष्यों का हृदय उनके प्रति नत था। आचार्यश्री ने मकान की स्थिति को देखकर अपने सभी शिष्यों को सूचित किया कि वे घबराये नहीं। परीक्षा सोने की होती है, उसे आग में डाला जाता है, तभी उसमें अधिक चमक और दमक आती है। हीरे को सान पर घिसा जाता है, ज्यों-ज्यों घिसा जाता है त्यों-त्यों वह चमकता है। मिट्टी के ढेले को जमीन पर डाला जाय तो वह उछलता नहीं, किन्तु गेंद जमीन पर नीचे डालते ही वह और अधिक तेज उछलती है। जिनके जीवन में तेज नहीं होता वे मिट्टी के ढेले की तरह होते हैं। परन्तु जिनमें तेज होता है वे गेंद की तरह प्रगति करते हैं। अतः तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है, कष्ट तुम्हारे जीवन को निखारने के लिए है। उनका हँसते और मुसकराते हुए मुकाबला करना है। सभी शिष्यों ने आचार्यश्री के उद्‌बोधक संदेश को सुना और उनमें दुगुना उत्साह संचरित हो गया।

रात्रि का महन अन्धेरा मंडराने लगा। जिन्द ने अपने स्थान पर विचित्र व्यक्तियों को ठहरे हुए देखा तो क्रोध से उन्मत होकर विविध उपसर्ग देने लगा। किन्तु आचार्यश्री के आध्यात्मिक तेज के सामने वह हतप्रभ हो गया, उसकी शक्ति कुण्ठित हो गयी। आचार्य भद्रबाहु विरचित महान् चमत्कारी "उवसग्गहरं स्तोत्र" को सुनकर वह आचार्यश्री के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध की क्षमायाचना करने लगा—भगवन्! मुझे ज्ञात नहीं था कि आप इतने महान् हैं। आपके आध्यात्मिक तेज के सामने मेरी दानवी वृत्ति आज नष्ट हो गयी है। आज मेरा क्रोध क्षमा के रूप में बदल गया है। मैंने आज एक सच्चे व अच्छे सन्त के दर्शन किये हैं। मैं आपसे सनम्र प्रार्थना कर रहा हूँ कि यह स्थान अब सदा के लिए जैन साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं के ही धार्मिक साधना के लिए उपयोग में लिया जायेगा। मैं स्थानीय मौलवी के शरीर में प्रवेश कर यह स्थान जैनियों को दिलवा दूंगा। आचार्यश्री मौन रहकर जिन्द की बात को सुनते रहे। प्रातः होने पर यति भक्तगण इस विचारधारा को लेकर पहुँचे कि सभी साधुगण मर चुके होंगे। पर ज्यों ही उन्होंने सभी सन्तों को प्रसन्नमुद्रा में देखा तो उनके देवता ही कूँच कर गये। जिन्द ने मौलवी के शरीर में प्रवेशकर मसजिद को जैन स्थानक बनाने के लिए उद्‌घोषणा की। और सर्वत्र अपूर्व प्रसन्नता का वातावरण छा गया। जैनधर्म की प्रबल प्रभावना हुई। दो सौ पचास घर जो ओसवाल थे उन्होंने पूज्य श्री के उपदेश से स्थानकवासी धर्म को स्वीकार किया और वर्तमान में नवीन कोट मुहल्ले में जो स्थानक है वही स्थानक पहले मसजिद का स्थानक था और उसी स्थान पर कुछ वर्षों पूर्व नवीन स्थानक का निर्माण किया गया है।

आचार्यश्री ने सोजत में स्थानकवासी धर्म का प्रचार कर पाली की ओर प्रस्थान किया। पाली के श्रद्धालु लोगों का मानस उसी तरह नाचने लगा जिस तरह उमड़-घुमड़ कर घटाओं को देखकर मोर नाचता है। आचार्यश्री के प्रभावोत्पादक प्रवचनों में जनता का प्रवाह उमड़ रहा था। यतिगण देखकर उसी तरह घबरा रहे थे जिस तरह शृगाल सिंह को देखकर घबराता है। उन्होंने विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे अमरसिंहजी का नदी की बाढ़ की तरह बढ़ता हुआ प्रभाव रुक जाय। गम्भीर विचार विनिमय के पश्चात् शास्त्रार्थ की आचार्यश्री को चुनौती दी। उन्हें यह अभिमान था कि आचार्यश्री में ज्ञान का अभाव है, वे तो केवल आचारनिष्ठ ही हैं। किन्तु जब शास्त्रार्थ के लिए आचार्यश्री तैयार हो गये तो यति समुदाय की ओर से बीकानेर से विमलविजयजी, जोधपुर से ज्ञान विजयजी, मेडता से प्रभाविजयजी और नागोर से जिनविजयजी ये चार मेधावी यति शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित हुए। विविध विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ। आचार्यश्री ने जब मुखवस्त्रिका का प्रश्न आया तब कहा कि—आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर मुखवस्त्रिका का उल्लेख है। उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी विभाग में बताया गया है कि "**मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता पडिलेहिज्ज गोच्छगं।**"[१०] अर्थात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छग की प्रतिलेखना करें। निशीथ भाष्य[११] में जिनकल्पिक श्रमणों का उल्लेख है वहाँ पर पाणिपात्र और पात्रधारी ये दो भेद किये हैं। दोनों ही प्रकार के श्रमण कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपधि रखते हैं। जिनकल्पिक श्रमणों के लिए भी मुखवस्त्रिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और रजोहरण ये दो आवश्यक हैं, अन्य उपकरण चाहे हो या न हो। फिर स्थविरकल्पिकों के लिए तो मुखवस्त्रिका अनिवार्य है।

भगवती सूत्र में[३१] स्पष्ट कहा है कि जब खुले मुँह बोला जाता है तब सावद्य भाषा होती है।

महानिशीथ जिसे स्थानकवासी परम्परा प्रमाणभूत आगम नहीं मानती है उसमें यह विधान है कान में डाली गयी मुँहपत्ती के बिना या सर्वथा मुँहपत्ती के बिना इरियावही क्रिया करने पर साधु को **मिच्छामि दुक्कडं** या दो पोरसी का (पूर्वार्द्ध) दण्ड आता है।[३३]

योगशास्त्र[३४] में भी कहा है मुख से निकलने वाले उष्ण श्वास से वायु काय के जीवों की तो विराधना होती है किन्तु त्रस जीवों के मुख में प्रवेश की भी सम्भावना सदा रहती है तथा अकस्मात् आयी हुई खाँसी, छींक आदि से थूंक शास्त्रों या कपड़ों पर गिरने की सम्भावना रहती है, अतः मुखवस्त्रिका इन सभी का समीचीन उपाय है।

आगम साहित्य में यत्र-तत्र मुखवस्त्रिका मुँह पर बाँधने का विधान प्राप्त होता है। जैसे ज्ञातासूत्र[३५] में तेतली प्रधान को उसकी धर्मपत्नी अप्रिय हो गयी। तो वह दान आदि देकर समय व्यतीत करने लगी। उस समय तेतलीपुर में महासती सुव्रताजी का आगमन हुआ। वे भिक्षा के लिए तेतली प्रधान के घर पर पहुँची, तब तेतली प्रधान की अप्रिय पत्नी पोट्टिला ने साध्वीजी को आहारदान दिया और उसके पश्चात् उसने साध्वीजी से पूछा—आप अनेकों नगरों में परिभ्रमण करती हैं कहीं पर ऐसी जड़ी-बूटी या वशीकरण आदि मन्त्र के उपाय देखे हों तो बताने का अनुग्रह कीजिए जिससे मैं पुनः अपने पति की हृदयहार बन जाऊँ। यह सुनते ही महासतीजी ने अपने दोनों कानों में दोनों हाथों की अंगुलियाँ डाल दीं और कहा—भो देवानुप्रिये! हमें इस प्रकार के शब्द कानों से सुनना भी नहीं कल्पता। फिर ऐसा मार्ग बताना तो दूर रहा। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि साध्वीजी के मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँधी हुई होनी चाहिए नहीं तो दोनों हाथ दोनों कानों में डालकर खुले मुँह कैसे बोलती? निरयावलिका[३६] में उल्लेख है सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुँहपत्ती मुँह पर बाँधी थी। वैदिक परम्परा के संन्यासियों में मुँह पर काष्ठ की पट्टी बाँधने का विधान अन्यत्र देखने में नहीं आया है। इससे यह सिद्ध होता है जैन श्रमण मुँहपत्ती बाँधते थे और उसी का अनुसरण सोमिल ने काष्ठ पट्टी बाँध कर किया हो।

भगवती में[३७] जमाली के दीक्षा ग्रहण करने के प्रसंग में नाई का उल्लेख है, उसने भी आठ परतवाली मुँहपत्ती मुँह पर बाँधी थी।

शिवपुराण ज्ञानसंहिता में[३८] जैन श्रमण का लक्षण बताते हुए कहा है—हाथ में काष्ठ के पात्र धारण करने वाले, मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँधने वाले, मलिन वस्त्र वाले, अल्पभाषी ही जैन मुनि हैं। उसमें यह भी बताया गया है कि इस प्रकार के जैन श्रमण ऋषभावतार के समय में भी थे।

श्रीमाल पुराण में[३९] मुँह पर मुँहपत्ती धारण करने वाले जैन श्रमणों का वर्णन है। साथ ही भुवन भानुकेवली चरित्र, हरिबल मच्छीनुं रास, अमतारचरित्र, सम्यक्त्वमूल बारहव्रत की टीप, हितशिक्षानुंरास, जैनरत्नकथाकोश, ओघ निर्युक्ति आदि में मुखवस्त्रिका का वर्णन है।

आचार्यप्रवर के अकाट्य तर्कों से यति समुदाय परास्त हो गया। वह उत्तर न दे सका। और वहाँ से वे लौट गये। स्थानकवासीधर्म की पाली में प्रबल प्रभावना हुई। वहाँ से आचार्यप्रवर ने जोधपुर की ओर प्रस्थान किया। जब आचार्यश्री जोधपुर पधारे उस समय दीवान खींवसीजी भण्डारी ने आचार्यश्री का हृदय से स्वागत किया और आचार्यप्रवर को तलहटी के महल में ठहरा दिया। राजकीय कार्य से खींवसीजी बाहर चले गये, तब यतिभक्तों ने सोचा कि किसी तरह से अमरसिंहजी महाराज को खत्म करना चाहिए।

यतिभक्तों ने सोचा कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे आचार्यश्री सदा के लिए खत्म हो जायें। जोधपुर में आसोप ठाकुर साहब की एक हवेली है जहाँ पर ठाकुर राजसिंह जोधपुरनरेश के बदले में जहर का प्याला पीकर मरे थे। वे व्यन्तर देव बने थे, वे रात्रि में अपनी हवेली में किसी को भी नहीं रहने देते थे। यदि कोई भूल से रह जाता तो उसे वे मार देते थे। अतः यतिभक्तों ने सोचा कि ऐसे स्थान पर यदि आचार्य अमरसिंहजी को ठहरा दिया जाय तो वे बिना प्रयास के समाप्त हो जायेंगे। उन्होंने महाराज अजितसिंह से प्रार्थना की—राजन्! आप जिस महल के नीचे होकर परिभ्रमण करने के लिए जाते हैं, उस महल के ऊपर अमरसिंहजी साधु बैठे रहते हैं। वे आपको नमस्कार भी नहीं करते। हमसे आपका यह अपमान देखा नहीं जाता। राजा ने कहा—साधु फक्कड़ होते हैं। वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमस्कार नहीं करते तो कोई बात नहीं। यतिभक्तों ने मुँह मटकाते हुए कहा—राजन्! आप बड़े हैं, पृथ्वीपति हैं, आपको तो नमस्कार करना ही चाहिए। यदि आपश्री को कोई एतराज न हो तो हम आचार्यश्री को दूसरा बहुत ही बढ़िया स्थान बता देंगे। दरबार ने कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा। यतिभक्त आचार्यश्री के पास आये और कहा कि महाराजा साहब ने आपको आज्ञा प्रदान की है, अतः आप दूसरे मकान में पधारिये। जहाँ पर आपको ठहरने की योग्य व्यवस्था की गई है। आचार्यप्रवर अपने शिष्यों के साथ चल दिये। यतिभक्तों ने पूर्व योजनानुसार आसोप ठाकुर साहब की हवेली उन्हें ठहरने के लिए बता दी। आचार्यश्री आज्ञा लेकर वहाँ पर ठहर गये।

रात्रि का झुरमुट अँधेरा होने लगा। आचार्यश्री ने पहले से ही अपने शिष्यों को सावधान कर दिया कि आज की रात्रि में भयंकर उपसर्ग उपस्थित हो सकते हैं, अतः तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है। सभी ध्यान-साधना में दत्तचित्त हो लग जाओ जिससे कोई भी बाल बाँका न कर सकें। आचार्यश्री जानते थे कि ध्यान में वह अपूर्व बल है जिससे दानवी शक्ति परास्त हो जाती है।

रात्रि का गहन अँधेरा धीरे-धीरे छा रहा था। रात्रि के गहन अन्धकार में दानवी शक्ति का जोर बढ़ता है। ज्यों ही अँधेरे ने अपना साम्राज्य स्थापित किया त्यों ही आसुरी शक्ति प्रकट हुई। उसने मानवाकृति में आकर सर्वप्रथम हवेली को परिष्कृत किया और सुगन्धित द्रव्यों से चारों ओर मधुर सुगन्ध का संचार कर दिया। उसके पश्चात् राजसिंहजी का जीव जो व्यन्तर देव बना था, वह अपने असुर परिजनों के साथ उपस्थित हुआ। वह सिंहासन पर बैठा किन्तु उसे मानव की दुर्गन्ध सताने लगी। अरे, आज इस हवेली में कौन मानव ठहरे हैं? लगता है मौत ने इनको निमन्त्रण दिया है। इन्हें मेरी दिव्य-दैवी शक्ति का भान नहीं है। मैं अभी इन्हें बता दूंगा कि मेरे में कितनी असीम शक्ति है। विकराल रूप बनाकर वह आचार्यश्री के चरणों में पहुँचा और साँप, बिच्छू, शेर, चीते आदि विविध रूप बनाकर आचार्यश्री को संत्रस्त करने का प्रयास करने लगा। जब आध्यात्मिक शक्ति के सामने दानवी शक्ति का बल कम हो गया, तब उसने क्रोध में आकर जिस पट्टे पर आचार्यश्री विराजमान थे उसका एक पाया तोड़ दिया और देखने लगा अब नीचे गिरे, अब नीचे गिरे। किन्तु पूज्यश्री ध्यान में इतने तल्लीन थे कि वे तीन पाये वाले पट्टे पर पूर्ववत् ही बैठे रहे। दानवी शक्ति यह देखकर हैरान थी—क्या जादू है इनके पास। ये तीन पाये पर ही बैठे हुए हैं। अन्त में हारकर उसने कहा—अभी रात में ही यहाँ से निकल जाओ, नहीं तो तुम्हें भस्म कर दूंगा। पूज्यश्री मौन रहे। तो उसने कहा—रात में नहीं जाते हो तो कोई बात नहीं, कल सुबह ही यहाँ से चले जाना। अन्यथा मैं सभी को मौत के घाट उतार दूंगा। दानवी शक्ति अन्त में हारकर अपने स्थान पर जाकर बैठ गयी। आचार्यश्री ने ध्यान से निवृत्त होकर जैनागमों में से संग्रहीत अर्ध-मागधी भाषा में भानुद्वार को उच्च स्वर से सुनाया। दानवी शक्ति ने जब सुना तब उसके आश्चर्य का पार न रहा—अरे यह तो कोई विशिष्ट व्यक्ति है, इसे कोई विशेष ज्ञान है जिसके कारण इसे हमारी, अवगाहना, स्थिति, भवन और अन्य ऋद्धियों का परिज्ञान है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारा ही नहीं हमारे से भी बढ़कर जो देव हैं उनके सम्बन्ध में भी ये अच्छी तरह से जानते हैं। जिन चीजों को हम नहीं जानते उन चीजों को ये जानते हैं। बड़े अद्भुत हैं ये व्यक्ति। दानवी शक्ति अपने स्थान से उठकर आचार्यश्री के श्री चरणों में पहुँची और उसने नम्र शब्दों में निवेदन किया—भगवन्! मैं आपको समझ नहीं सका। आप तो महान् हैं। हमारे से अधिक ज्ञानी हैं। हमें जिन बातों का परिज्ञान नहीं है, वे बातें भी आप जानते हैं। बताइये आपको कौन सा ज्ञान है?

आचार्यश्री ने मधुर मुसकान बिखरते हुए कहा—मेरे में कोई विशेष ज्ञान नहीं है। मैं जो बात कह रहा हूँ वह बात श्रमण भगवान महावीर ने अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर कही है। हम उन्हीं की वाणी को दुहरा रहे हैं। यह आगम वाणी है जिसमें अनेक अपूर्व बातें हैं यदि आप सुनेंगे तो ताज्जुब करेंगे।

दानवी शक्ति ने विनत होते हुए कहा—हम आपकी यह स्वाध्याय प्रतिदिन सुनना चाहते हैं। क्या आप हमें यह स्वाध्याय सुनायेंगे?

आचार्यप्रवर ने कहा—तुम्हारे कहने से हमें कल यहाँ से प्रस्थान करना है। फिर तुम्हें किस प्रकार स्वाध्याय सुना सकेंगे।

दानवी शक्ति ने कहा—भगवन्! आप यहाँ रह सकते हैं, किन्तु अपने शिष्य आदि को मत रखिये।

आचार्यश्री ने कहा—कहीं सूर्य और उसका प्रकाश पृथक् रह सकता है? नहीं। वैसे ही गुरु और शिष्य कैसे पृथक् रह सकते हैं। ये तो देह की छाया की तरह सदा साथ में ही रहते हैं। उनका नाम ही अन्तेवासी ठहरा।

दानवी शक्ति ने कहा—आप अपने शिष्यों सहित यहाँ पर प्रसन्नता के साथ रह सकते हैं, किन्तु अन्य व्यक्तियों को यहाँ आने न दीजिएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यश्री—जहाँ हम ठहरे हुए हैं वहाँ उपदेश श्रवण करने के लिए लोग आयेंगे ही। हम उन्हें कैसे इन्कार कर सकते हैं ?

दानवी शक्ति—अच्छा, तो ऐसा कीजिएगा पुरुषों को आने दीजिएगा, किन्तु महिलाओं को यहाँ आने का निषेध कर दीजिएगा।

आचार्यश्री—आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में पुरुष और महिलाओं का भेद नहीं किया जाता। जिस प्रकार पुरुष आध्यात्मिक साधना करता है उसीप्रकार महिलाएँ भी साधनाएँ कर सकती हैं। पुरुषों से भी महिलाओं का हृदय अधिक भावुक होता है। वे साधना के मार्ग में सदा आगे रहती हैं। अतः उन्हें आध्यात्मिक साधना से वंचित करना हमारे लिए कैसे उचित है ? हम जहाँ रहेंगे वहाँ पर रात्रि में नहीं, किन्तु दिन में उपदेश-श्रवण हेतु पुरुषों के साथ महिलाएँ भी आयेंगी।

दानवी शक्ति ने कहा—आपका कथन सत्य है, किन्तु ऐसा करें कि जिन महिलाओं को नहीं आना है, उन्हें न आने देवें।

आचार्यश्री ने कहा—मैं स्वयं भी नहीं चाहता हूँ कि वे महिलाएँ यहाँ आवें, किन्तु हम किन्हें पूछने जायेंगे कि तुम्हें आना है या नहीं आना है ?

दानवी शक्ति ने कहा—आप ऐसा कीजिए कि मेरा यह जो स्थान विशेष है वहाँ पर कोई महिला नहीं आने पावे, अतः अपना पट्टा यहाँ पर ले लेवें।

आचार्यश्री ने कहा—आपका यह कथन उचित है। हम आपके स्थान पर पट्टा ले लेंगे किन्तु पट्टे को तो आपने पहले से ही तोड़ रखा है। अतः इसे पहले आप ठीक कीजिए।

दानवी शक्ति ने उसी समय पट्टे को ठीक कर दिया और आचार्यश्री से प्रार्थना की कि आप आनन्द से यहाँ विराजिए और अत्यधिक धर्म की प्रभावना कीजिए। आपको यहाँ विराजने पर किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। दानवी शक्ति आचार्यप्रवर को नमस्कार कर और अपने अपराधों की क्षमा-याचना कर वहाँ से विदा हो गयी।

प्रातः होने पर ज्यों ही सहस्ररश्मि सूर्य का उदय हुआ यतिभक्त इसी विचार से आसोप ठाकुर की हवेली में पहुँचे कि आचार्य अमरसिंहजी अपने शिष्यों सहित समाप्त हो गये होंगे। किन्तु आचार्यप्रवर व अन्य सन्तों को प्रसन्नमुद्रा में स्वाध्याय-ध्यान आदि करते हुए देखा तो उनके आश्चर्य का पार न रहा। एक दूसरे को देखकर परस्पर कहने लगे कि दानवी शक्ति तो इतनी जबरदस्त थी कि किसी की भी शक्ति नहीं थी जो इससे जूझ सके। इस दानवी शक्ति ने तो अनेकों को खतम कर दिये थे। पता नहीं इनके पास ऐसी कौनसी विशिष्ट शक्ति है जिससे इतनी महान् शक्ति भी इनके सामने परास्त हो गयी। लगता है यह कोई महान् योगी है। इसके चेहरे पर ही अपूर्व तेज झलक रहा है। आँखों से अमृत बरस रहा है। हमें इनके पास अवश्य चलना चाहिए और इनसे धर्म का मर्म भी समझ लेना चाहिए।

आचार्यश्री की यशःसौरभ जोधपुर में फैल गयी। भौंरों की तरह भक्त मंडलियाँ मंडराने लगीं। हजारों लोग आचार्यश्री के दर्शन के लिए उपस्थित हुए। आचार्यप्रवर ने जिज्ञासु श्रोताओं को देखकर अपना प्रवचन प्रारम्भ किया। आचार्यश्री ने कहा—जैन संस्कृति का मूल आधार है त्याग, तपस्या और वैराग्य। उसने जितना बाह्य शुद्धता पर बल दिया है उससे भी अधिक, अन्तर्मन की पवित्रता को महत्व दिया है। यह संस्कृति भोगवादी नहीं; त्याग, तपस्या, वैराग्य की संस्कृति है। इस संस्कृति के मूल में भोग नहीं त्याग है। भोगवाद पर त्यागवाद की विजय है, तन पर मन का जयघोष, वासना पर संयम का जयनाद।

मधुर मुसकान के साथ आचार्यश्री के भाषणों ने जन-मन-नयन को चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लिया। आचार्यश्री के भावों में गाम्भीर्य था, उनकी शैली में ओज था, शैली बड़ी सुहावनी थी, जो नदी के प्रवाह की तरह अपने प्रतिपाद्य विषय की ओर बढ़ती थी। उनके सांस्कृतिक प्रवचनों में जैन संस्कृति की आत्मा बोलती थी। आचार्यश्री के प्रवचनों से प्रभावित होकर हजारों जन जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुए।

भण्डारी खींवसीजी जो बाहर गये हुए थे, वे लौटकर पुनः जोधपुर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि आचार्यप्रवर को भयंकर उपद्रवकारी स्थान में उतारा गया है। उन्होंने आचार्यश्री से पूछा—भगवन् ! किस दुष्ट ने आपको यहाँ पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठहराया है ? मैंने तो आपको महलों में ठहराया था। आपको यहाँ पर बहुत ही कष्ट हुए होंगे। कृपया मुझे नाम बताइये जिससे उस दुष्ट को दण्ड दिया जा सके। आचार्यश्री ने कहा—जिसने मुझे यहाँ पर ठहराया उसने मेरे पर महान् उपकार किया है। यदि वह मुझे न ठहराता तो मैं उतना कार्य नहीं कर पाता, वर्षों तक प्रयत्न करने पर जितना प्रचार नहीं हो सकता था, उतना प्रचार यहाँ ठहराने से एक ही दिन में हो गया। वह तो हमारा बहुत बड़ा उपकारी है, उसे दण्ड नहीं किन्तु पुरस्कार देना चाहिए जिसके कारण हम इतनी धर्म की प्रभावना कर सके। आचार्यश्री की उदात्त भावना को देखकर दीवान खींवसीजी चरणों में गिर पड़े—भगवन् ! आप तो महान् हैं। अपकार करने वाले पर भी जो इस प्रकार की सद्भावना रखते हैं। वस्तुतः आपके गुणों का उत्कीर्तन करना हमारी शक्ति से परे है।

आचार्यप्रवर के प्रबल प्रभाव से यतियों के प्रमुख गढ़ जोधपुर में धर्म की विजय-वैजयन्ती फहराने लगी। यतिगणों का प्रभाव उसी तरह क्षीण हो गया जिस तरह सूर्य के उदय होने पर तारागणों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वे मन ही मन पश्चात्ताप करने लगे कि हमने बहुत ही अनुचित किया। यदि हम ऐसा नहीं करते तो उनके धर्म का प्रचार नहीं हो पाता। हमारा प्रयास उन्हीं के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ।

जोधपुर संघ की प्रार्थना को सन्मान देकर आचार्यप्रवर ने संवत् १७६८ का चातुर्मास जोधपुर में किया। उस वर्ष जोधपुरनरेश महाराजा अजितसिंहजी अनेकों बार आचार्यप्रवर के प्रवचनों में उपस्थित हुए और आचार्य प्रवर के उपदेश से प्रभावित होकर शिकार आदि न करने की प्रतिज्ञाएँ ग्रहण कीं और हजारों व्यक्तियों ने आचार्य श्री के सत्संग से अपने जीवन को निखारा। वर्षावास में श्रेष्ठिप्रवर रंगलालजी पटवा जयपुर से आचार्यप्रवर के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। उन्होंने आचार्यश्री से विवेदन किया—भगवन् ! आपश्री के उपदेश से प्रभावित होकर मैंने श्रावक के व्रत ग्रहण किये थे। परिग्रहपरिमाणव्रत में मैंने पाँच हजार रखने का विचार किया था, किन्तु आपश्री के संकेत से मैंने पच्चीस लाख की मर्यादा की। उस समय मेरे पास पाँच सौ की भी पूँजी नहीं थी। पर भाग्य ने साथ दिया। जो भी व्यापार किया उसमें मुझे अत्यधिक लाभ ही लाभ हुआ। नवीन मकान बनाने के लिए ज्यों ही नींव खोदी गयी उसमें पच्चीस लाख से भी अधिक की सम्पत्ति मिल गई। मैं चिन्तन करने लगा कि कहीं मेरा नियम भंग न हो जाय, अतः उदार भावना के साथ मैंने दान देना प्रारम्भ किया। किन्तु दिन-दूनी रात चौगुनी लक्ष्मी बढ़ती ही गयी। तब मुझे अनुभव हुआ कि दान देने से लक्ष्मी घटती नहीं किन्तु बढ़ती है। एक शायर ने इस तथ्य को इस रूप में कहा है—

जकाते माल बदर कुनके, फजले ए रजरा।
चो बाग बां बबुर्द, बेशतर दिहद अंगूर॥

अर्थात्—दान देने से उसी तरह लक्ष्मी बढ़ती है जैसे अंगूर की शाखा काटने से वे और अधिक मात्रा में आते हैं।

गुरुदेव ! एक बहुत ही आश्चर्य की घटना हुई। अपराह्न का समय था, एक अवधूत योगी हाथ में तुम्बी लेकर आया और जयपुर की सड़कों पर और गलियों में यह आवाज लगाने लगा—है कोई माई का लाल जो मेरी इस तुंबी को अशर्फियों से भर दे। जब मेरे कर्ण-कुहरों में यह आवाज आयी तब मैंने योगी को अपने पास बुलाया और स्वर्ण मुद्राओं से तुंबी को भरने लगा। हजारों स्वर्ण मुद्राएँ डालने पर भी तुंबी नहीं भरी। मैं मुद्राएँ लेने के लिए अन्दर जाने के लिए प्रस्तुत हुआ। योगी ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—हम साधुओं को स्वर्णमुद्राओं से क्या लेना-देना। साधु तो कंचन और कामिनी का त्यागी होता है। उसने पुनः तुंबी खाली कर दी और कहा—मैं तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए स्वर्ग से आया हूँ। मैंने सोचा, तुम नियम पर कितने दृढ़ हो। तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, यह कहकर वह अन्तर्धान हो गया। गुरुवर्य ! वे सारी स्वर्ण मुद्राएँ मैंने गरीबों को, जिन्हें आवश्यकता थी, उनमें वितरण कर दीं। वस्तुतः गुरुदेव, आपका ज्ञान अपूर्व है। आपश्री नियम दिलाते समय यदि मुझे सावधान न करते तो सम्भव है मैं नियम का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर पाता। दीर्घकाल से आपश्री के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा थी, वह आज पूर्ण हुई। कुछ दिनों तक श्रेष्ठिवर्य रंगलालजी आचार्यश्री की सेवा में रहे और पुनः लौटकर वे जयपुर पहुँच गये।

इस वर्षावास में अत्यधिक धर्म की प्रभावना हुई। वर्षावास पूर्ण होने पर आचार्यप्रवर ने मारवाड़ के विविध ग्रामों में धर्म का प्रचार किया और पाली चातुर्मास किया। उसके पश्चात् सोजत और जालोर चातुर्मास किये। आचार्यप्रवर ने अथक परिश्रम से मारवाड़ के क्षेत्रों में धर्मप्रचार किया था। उस समय पूज्यश्री धर्मदास जी महाराज के शिष्य पूज्यश्री धन्नाजी महाराज जो साचौर में धर्मप्रचार कर रहे थे उन्होंने सुना कि आचार्यप्रवर अमरसिंहजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराज ने मारवाड़ के क्षेत्र को सुगम बना दिया है और उन्होंने स्थानकवासी धर्म का खूब प्रचार किया है, तब उन्होंने विचार किया कि मुझे भी चलकर उस महापुरुष के कार्य को सुगम बनाने के लिए प्रयास करना चाहिए। अतः वे साचौर से विहार कर पूज्यश्री की सेवा में पधारे। उस समय आचार्यश्री नागोर विराज रहे थे। दोनों ही महापुरुषों का मधुर संगम हुआ। आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज, आचार्य धन्नाजी महाराज से दीक्षा और ज्ञान में भी बड़े थे। अतः विनय के साथ उन्होंने आचार्यश्री से अनेकों जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं और योग्य समाधान प्राप्त कर उन्हें संतोष हुआ। दोनों ही महापुरुषों में दिन-प्रतिदिन प्रेम बढ़ता ही रहा। आचार्य अमरसिंहजी महाराज ने वहाँ से विहार कर मेडता, नागोर, बगडी (सज्जनपुर), अजमेर, किसनगढ़, जूनिया, केकड़ी, शहापुरा, भीलवाडा, कोटा, उदयपुर, रतलाम, इन्दौर, पीपाड, बिलाडा, प्रभृति क्षेत्रों में धर्मप्रचार करते हुए वर्षावास किये। जहाँ भी वर्षावास हुआ वहाँ पर धर्म की प्रबल प्रभावना हुई।

आचार्यप्रवर के प्रतिदिन बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर कानजी ऋषि के सम्प्रदाय के आचार्यश्री ताराचन्द जी महाराज, श्री जोगराजजी महाराज, श्री मीवाजी महाराज, श्री तिलोकचन्दजी महाराज एवं आचार्यजी राधा जी महाराज, आचार्यश्री हरिदासजी महाराज के अनुयायी श्री मलूकचन्दजी महाराज, आर्याजी फूला जी महाराज, आचार्यश्री परसराम जी महाराज के आज्ञानुवर्ती खेतसिंहजी महाराज, खींवसिंहजी महाराज तथा आर्याश्री केशर जी महाराज आदि सन्त-सती वृन्द **पचबर** ग्राम में एकत्रित हुए और परस्पर उल्लास के क्षणों में मिले और एक दूसरे से साम्भोगिक[१०] सम्बन्ध प्रारम्भ किया तथा श्रमण संघ की उन्नति के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी पारित किये गये। इस समय आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के लघु गुरुभ्राता दीपचन्दजी महाराज एवं प्रवर्तिनी महासती भागाजी भी उपस्थित थीं। स्थानकवासी परम्परा की दृष्टि से यह सर्वप्रथम सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी पारित हुए। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी के पास उस समय का लिखित एक पन्ना है, उससे उस समय की स्थिति का स्पष्ट परिज्ञान होता है।

पचवर से विहार कर आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज ने किसनगढ़ में चातुर्मास किया। वर्षावास के पश्चात् वहाँ पर परमादरणीय आचार्यश्री भूधरजी महाराज के शिष्य उग्र तपस्वी श्रद्धेय आचार्य रघुनाथमलजी महाराज, श्रद्धेय आचार्यश्री जयमलजी महाराज, आदि सन्तों ने तथा आर्या वखताजी ने आचार्यश्री के साथ स्नेह सम्बन्ध स्थापित किया और एक बनकर धर्म की प्रभावना प्रारम्भ की। आचार्य प्रवर ने सं० १८११ में पुनः जोधपुर चातुर्मास किया। आचार्यप्रवर के उपदेशों से धर्म का कल्पवृक्ष लहलहाने लगा। जोधपुर का चातुर्मास सम्पन्न कर आचार्यश्री सोजत, बगड़ी, शहापुरा होते हुए अजमेर वर्षावास हेतु पधारे। क्योंकि अजमेर संघ आचार्यश्री की वर्षों से भावभीनी प्रार्थना कर रहा था।

आचार्यश्री का स्वास्थ्य वृद्धावस्था के कारण कुछ शिथिल हो रहा था। किन्तु शरीर में किसी प्रकार की व्याधि न थी। उनके शक्तिशाली नेतृत्व में धर्म संघ अभ्युदय के शिखर को स्पर्श कर रहा था, प्रगति के नये उन्मेष नयी सम्भावनाओं को खोज रहे थे। आचार्यश्री ने अपने शिष्यों को संस्कृत, प्राकृत और आगम साहित्य का उच्चतम अध्ययन करवाया था। स्वयं आचार्यश्री के हाथ के लिखे हुए अनेकों ग्रन्थ जोधपुर, जालोर, अजमेर और खण्डप तथा अन्य भण्डारों में मैंने देखे हैं। उनका लेखन शुद्ध है; लिपि इतनी बढ़िया और कलात्मक तो नहीं किन्तु सुन्दर है जो उनके गहन अध्ययन और प्रचार की स्पष्ट झांकी प्रस्तुत करती है। अत्यन्त परिताप है कि व्यवस्थापकों की अज्ञता के कारण उनके हाथ के लिखे हुए अनेकों ग्रन्थ दीमकों के उदरस्थ हो गये, उन दीमकों की ढेर में से कुछ प्रतियाँ मुझे उपलब्ध हुई हैं, जो मेरे संग्रह में हैं।

इस वर्षावास में आचार्य प्रवर ने विशेष जागरूकता के साथ विशेष साधनाएँ प्रारम्भ कीं। उन्हें पूर्व ही यह परिज्ञान हो गया था कि मृत्यु ने अपने डोरे डालने प्रारम्भ कर दिये हैं और अब यह शरीर लंबे समय तक नहीं रहेगा। अतः उन्होंने आलोचना संल्लेखना कर पाँच दिन का संथारा किया और ९३ वर्ष की आयु पूर्ण कर संवत् १८१२ में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन इस संसार से अन्तिम विदा ली।

श्रद्धालु गण की आँखों में मोती चमक रहे थे, सर्वत्र एक अजीब शांति थी। चारों ओर सभी गमगीन थे, सभी का हृदय वेदना से भीगा हुआ था। दूसरे दिन अन्तिम विदा की यात्रा प्रारम्भ हुई। विशाल जनसमूह, जिधर देखो उधर मानव ही मानव; सभी चिन्ताशील; हजारों आँखों से झरते हुए मोतियों की बरसात से अजमेर की पवित्र धरती भीग उठी। बोलने को बहुत कुछ था, किन्तु बोलने की शक्ति कुण्ठित हो चुकी थी। सब देख रहे थे, सुन रहे थे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु यह सब कुछ कैसे हो गया यह समझ में नहीं आ रहा था। आचार्यश्री की अर्थी के साथ लड़खड़ाते हुए कदमों से लोग चल रहे थे। उनके अवरुद्ध कण्ठों से एक ही स्वर निकल रहा था—

जीवन के उपवन में आये, आकर फिर क्यों लौट चले।
मधुर प्रेम की बीन बजाकर, अब अपना मुंह मोड़ चले॥

किन्तु सुनने वाला तो बहुत दूर चला गया था, जहाँ हजारों कण्ठों का आर्तनाद भी पहुँच नहीं सकता। शिव जा चुका था, शव में देखने और सुनने की कहाँ शक्ति थी ?

आचार्यश्री के अन्तिम पार्थिव शरीर को देखने के लिए सभी व्याकुल थे, देखते ही देखते चन्दन की लकड़ियों की आग ने उनके पार्थिव शरीर को जलाकर नष्ट कर दिया।

उस विमल विभूति के वियोग ने समाज को अनाथ बना दिया। श्रद्धालुगण यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं थे कि ये हमारे बीच में नहीं हैं। उनका भौतिक शरीर भले ही नष्ट हो गया था किन्तु यशःशरीर से वे जीवित थे और आज भी जीवित हैं।

आचार्यप्रवर का जीवन प्रारम्भ से ही चमकते हुए नगीने की तरह था और अन्त तक वे उसी प्रकार चमकते रहे। वे स्थानकवासी समाज के एक ज्योतिर्मय स्तम्भ थे। उनका जीवन पवित्र था, विचार उदात्त थे; और आचार निर्मल था। उन्होंने जैन शासन की महान् प्रभावना की थी।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ नृप अनंगपाल बावीसमाँ बत्तीस लक्षण तास।
संवत् जहाँ नो सई निडोत्तर (९०९) वर्ष मीत सुप्रकाश॥
गुरुवार दसमी दिवस उत्तम तह आषाढ़े मास।
दिल्ली नगर करि गढी किल्ली कहे कवि किसनदास॥
सो गढ़के जब छखेडी उतपत्ति गड तह वेर।
सो वह हुई किल्ली वहाँ गाडी भई ढिल्ली फेर॥

२ संवत् सात सौ तीन दिल्ली तुअर बसाई अनंगपाल तुअर। —**पट्टावली समुच्चय,** भाग १, पृ० २०५

३ Cunnigham : The Archaeological Survey of India, p 140.

४ दिल्ली अथवा इन्द्रप्रस्थ, पृ० ६।

५ राजपूताने का इतिहास, प्रथम जिल्द, पृ० २३४।

६ इतिहास प्रवेश, भाग १, पृ० २२०।

७ टॉड—राजस्थान का इतिहास, पृ० २३०।

८ "देशोऽस्ति हरियानाख्यो पृथिव्यां स्वर्गसंनिभः। दिल्लीकाख्या पुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्मिता।"

९ नं० १ देखिए। १० जैन तीर्थ सर्व संग्रह, ले० अंबालाल, पृ० ३५२।

११ ले० वर्धमान सूरी। १२ उपदेशसार की टीका। १३ ले० जिनपाल उपाध्याय।

१४ ले० जिनप्रभ सूरी, सं० जिनविजय, प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

१५ ले० विनयप्रभ उपाध्याय : प्रका० 'जैन सत्य प्रकाश' अन्तर्गत अहमदाबाद।

१६ बहादुरशाह (१७०७-१२) औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बहादुरशाह गद्दी पर बैठा। बूढ़ा बहादुरशाह उदारहृदय और क्षमाशील मनुष्य था। इसलिए कभी-कभी इतिहासकार उसे शाह-ए-बेखबर कहा करते हैं।
—**भारतवर्ष का इतिहास**

१७ पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं असंवसमाणीवि गब्भं धरेज्जा तं जहा—
१ इत्थी दुव्वियडा दुण्णिसण्णा सुक्कपोग्गले अधिट्ठिज्जा।
२ सुक्कपोग्गलसंसिट्ठे वसे वत्थे अन्तोजोणीए अणुपवेसेज्जा।
३ सइं वा से सुक्कपोग्गल अणुपवेसेज्जा।
४ परो वासे सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा।
५ सीओदगवियडेणं वा से आयममाणीए सुक्कपोग्गला अणुपवेसेज्जा—इच्चेतेहिं पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेणं सद्धिं असंवसमाणीवि गब्भं धरेज्जा। —**स्थानाङ्ग**—स्थान ५, सूत्र १०३,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८ यदा नार्य्याविुपेयातां, वृषस्वन्त्यौ कथञ्चन ।
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनास्थिस्तत्र जायते ॥१॥
ऋतुस्नाता तु या नारी, स्वप्ने मैथुनमावहते ।
आर्त्तवं वायुरादाय, कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥२॥
मासि मासि विवर्धेत, गर्भिण्या गर्भलक्षणम् ।
कललं जायते तस्याः वर्जितं पैतृकैगुणैः ॥३॥ —सुश्रुत संहिता

१९ चत्तारि मणुस्सीगब्भा पं० तं० इत्थित्ताए पुरिसत्ताए, णपुंसगत्ताए बिबत्ताए ।
अधसुक्कं बहु ओयं, इत्थी तत्थप्पजायइ
अप्पओयं बहूसुक्कं पुरिसो तत्थ जायइ ॥
दोण्हंपि रत्तसुक्काणं तुल्लभावे नपुंसओ
इत्थीओतसएमाओगे, बिम्बं तत्थप्पजायई ॥ 'स्थानाङ्ग'—पृ० ५१२-५१३ आचार्य अमोलक ऋषि

२० Glimpses of World Religion--Charles Dickens, Jaico Publishing House, Bombay, pp. 201-202-203.

२१ "बिस्मिल्लाह रहमानुर्रहीम"—कुरान १-१.

२२ Towards Understanding Islam—Sayyid Abulatt'la Mamdudi, pp. १८६-१८७ ।

२३ "फला तज अलू बुतून मका वरक्त हय वतात ।"

२४ व मन् अहया हा फकअम्मा अह्यन्नास जमीअनः । कुरान श. ५/३५

२५ दशवैकालिक ६/२० ।

२६ अत्थि एरिसो पडिबंधो । सव्व जीवाणं सव्वलोए । —प्रश्नव्याकरण १/५

२७ इच्छा हु आगास समा अणंतिया । —उत्तराध्ययन ९/४८

२८ कामे कमाही कमियं खु दुक्खं । —दशवैकालिक २/५

२९ वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था । —प्रश्नव्याकरण १/५

३० उत्तराध्ययन २६/२३ ।

३१ निशीथभाष्य गाथा १३९० भाग २, पृष्ठ ६८१ ।

३२ गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं भासं भासति ताहेणं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ जाहेणं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं णिज्जूहित्ताणं भासं भासइ ताहे सक्के देविंदे देवराया असावज्जं भासं भासइ—**श्री व्याख्या-प्रज्ञप्तौ षोडश शतकस्य द्वितीयोद्देशे ।**

३३ कन्नेट्ठियाए व मुहणंतगेण वा विणा ।
दरियं पडिक्कमे मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढं ॥ —महानिशीथ सूत्र अ. ७

३४ तथा संपातिमा सत्त्वाः सूक्ष्मा च व्यजपनोऽपरे ।
तेषां रक्षानिमित्तं च विज्ञेयो मुखवस्त्रिका ॥ —योगशास्त्र हिन्दी भा. पृ० २६०

३५ ज्ञातासूत्र अध्ययन १४वाँ ।

३६ निरयावलिका ।

३७ भगवतीसूत्र, शतक ८, उद्देशक ३३ ।

३८ हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः ।
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्त्यल्पभाषिणः ॥ —शि० पु० ज्ञान संहिता

३९ श्रीमाल पुराण अध्याय ७-३३ ।

४० 'साम्भोगिक' यह जैन परंपरा का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है आहार, आदि तथा अन्य वस्तुएँ एक सन्त का दूसरे सन्त को आदान-प्रदान करना, यह संभोग कहलाता है । जैन परम्परा में एक दूसरे के साथ प्रदान की जाने वाली वस्तुएँ बारह प्रकार की मानी गयी हैं और उनका परस्पर आदान-प्रदान ही साम्भोगिक सम्बन्ध कहा जाता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे ज्योतिर्धर आचार्य

—देवेन्द्रमुनि, शास्त्री

आचार्यश्री तुलसीदासजी महाराज

इस विराट विश्व में हजारों प्राणी प्रतिदिन जन्म लेते हैं और प्रतिदिन मरते हैं, किन्तु उन्हें कोई भी याद नहीं करता। जिनका जीवन आत्महित के साथ जगत्हित के लिए समर्पित होता है, आत्मविकास के साथ जन-जीवन के लिए क्रियाशील होता है, वह जीवन विश्व में सार्थक जीवन गिना जाता है। जिन्दगी का अर्थ है विश्व की अन्धकाराच्छन्न काल-रात्रि में सुख, सद्भाव और स्नेह का आलोक फैलाना। सन्त अपने लिए ही नहीं विश्व के लिए जीता है। भगवान पार्श्वनाथ के चरित्रकार ने[1] भगवान पार्श्व की परम कारुणिक भावना का चित्रण करते हुए लिखा है—ये साधुजन स्वभाव से ही परहित करने में सदा तत्पर रहते हैं। चन्दन की तरह अपना शरीर छिलाकर सुगन्ध फैलाते हैं, अगरबत्ती की तरह जलकर वातावरण को मधुर सौरभ से महकाते हैं, मोमबत्ती की तरह अपनी देह को नष्ट कर अन्धकार से अन्तिम क्षण तक संघर्ष करते रहते हैं, अपने परिश्रम की बूंदों से मिट्टी को सींचकर कल्पवृक्ष उत्पन्न करते हैं। वे जीते-जागते कल्पवृक्ष हैं। जिनदासगणी महत्तर ने[2] श्रमण-जीवन की महिमा उत्कीर्तन करते हुए लिखा है—सन्तजन विविध जाति और कुलों में उत्पन्न हुए, पृथ्वी के चलते-फिरते कल्पवृक्ष हैं। वह कल्पवृक्ष भौतिक कामनाएँ पूर्ण करता है तो यह कल्पवृक्ष आध्यात्मिक वैभव की वृद्धि करता है। श्रीमद् भागवत[3] में कर्मयोगी श्रीकृष्ण कहते हैं—सन्तजन ही सबसे बड़े देवता हैं। वे ही समस्त जगत् के बन्धु हैं, वे जगत् के आत्मा हैं, और सत्य-तथ्य तो यही है मेरे में (भगवान में) और सन्त में कोई अन्तर नहीं है। गुरु अर्जुनदेव[4] ने लिखा है—सन्त धर्म की जीती-जागती मूर्ति हैं, तप और तेज के प्रज्वलित पिण्ड हैं और करुणा के अन्तःस्रोत हैं।

सन्त-जीवन के परमानन्द का मूल स्रोत है समता। जब तक मन में राग-द्वेष के विकल्प और संकल्प उद्बुद्ध होते रहते हैं, कषाय की लहरें तरंगित होती रहती हैं, मन अशान्ति की आग में झुलसता रहता है। सन्त समता के शीतल जल से कषायों की आग को शान्त करता है। वह क्रोध नहीं करता, किन्तु सदा प्रसन्न रहता है।[5] वह चन्द्र के समान सौम्य,[6] और विराट सागर के समान गहन-गम्भीर[7] होता है। यदि उस पर विरोधी असज्जन तेज कुल्हाड़ी का प्रहार करता है या भक्त सज्जन शीतल चन्दन का लेप करता है तो वह दोनों स्थितियों में सम रहता है[8] चाहे बसौले की मार हो या चन्दन का उपहार हो, मधुर मिष्ठान्न की मनुहार हो या घृणा-तिरस्कार की दुत्कार हो उसके अन्तर्मानस पर कोई असर नहीं होता। वह द्वन्द्वातीत और विकल्पातीत होकर साधना के महा-पथ पर बढ़ता रहता है।

महामहिम आचार्यप्रवर श्री तुलसीदासजी महाराज इसीप्रकार के सन्तरत्न थे। आपश्री का जन्म मेवाड़ के जूनिया ग्राम में हुआ था। आपके पूज्य पिताश्री का नाम फकीरचन्दजी था और माता का नाम फूलाबाई था। आपके पूज्य पिताश्री अग्रवाल समाज के प्रमुख नेता थे। आपका जन्म सं० १७४३ आश्विन शुक्ला अष्टमी सोमवार को हुआ था। **'होनहार विरवान के होत चीकने पात'** उक्ति के अनुसार आपके जीवन में अनेक विशेषताएँ थीं। आपकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। किन्तु साथ ही पूर्वभवों के संस्कारों के कारण आपके मन में संसार के भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण नहीं था। आपके अन्तर्मानस की विरक्त वृत्ति को निहारकर माता और पिता के मन में यह विचार उत्पन्न हुए कि कहीं यह साधु न बन जाय। अतः पानी आने के पूर्व ही पाल बाँधनी चाहिए—इसलिए पन्द्रह वर्ष की किशोरावस्था में ही इनका पाणिग्रहण एक रूपवती कन्या के साथ कर दिया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु जिनका उपादान शुद्ध होता है, उन्हें निमित्त मिल ही जाता है और अनुकूल निमित्त मिलते ही वह दबी हुई ज्योति प्रज्वलित हो जाती है। तुलसीदासजी का पाणिग्रहण होने पर भी उनका मन संसार के भौतिक पदार्थों में नहीं लगा था। आचार्यसम्राट् अमरसिंहजी महाराज विचरण करते हुए जूनिया ग्राम में पधारे। आचार्यप्रवर के प्रवचन को श्रवणकर उनके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। विक्रम संवत् १७६३ की पौष बदी ग्यारस को बीस वर्ष की भरी जवानी में उन्होंने संयम साधना के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग को अपनाया। माता-पिता, पत्नी और परिजनों के अति आग्रह करने पर भी वे विचलित नहीं हुए और संयम को ग्रहण कर एक आदर्श उपस्थित किया।

संयम ग्रहण करने के पश्चात् आपश्री ने आचार्यश्री के नेतृत्व में आगम व दर्शन साहित्य का गहरा अध्ययन किया। अन्त में आपश्री को योग्यतम समझकर आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज ने आपको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। आपश्री ने राजस्थान के विविध अंचलों में विचरण कर स्थानकवासी धर्म की अत्यधिक प्रभावना की। सैकड़ों व्यक्तियों को जो मिथ्यात्व के गहन अन्धकार में भटक रहे थे उन्हें सम्यक्त्व की ज्योति के दर्शन कराये। हजारों व्यक्तियों को श्रावकधर्म प्रदान किया और अनेकों को श्रमणधर्म में दीक्षित किया। अन्त में जोधपुर में वृद्धावस्था के कारण कुछ दिनों तक स्थानापन्न विराजे और पैंतालीस दिन का सन्थारा कर वि० सं० १८३० के भाद्रपद शुक्ला सप्तमी को आप स्वर्गस्थ हुए।

आपश्री बहुत ही प्रभावशाली और तेजस्वी आचार्य थे। आचार्यसम्राट् श्री अमरसिंहजी महाराज के शिष्यों में आप अग्रगण्य थे। आचार्यप्रवर जीवन के अन्तिम क्षणों तक जाग्रत रहे, जाग्रत मृत्यु विशिष्ट साधकों को ही उपलब्ध होती है जो उनके तेजस्वी जीवन की प्रतीक है। उनका जीवन युग-युग तक विश्व को प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

आचार्यप्रवर श्री सुजानमलजी महाराज

महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक रूपक प्रस्तुत किया है कि एक बार जलती हुई लकड़ी को निहार कर हरी लकड़ी की आँखों में आँसू आ गये। उसके अन्तर्मन की व्यथा इस रूप में व्यक्त हुई—इसमें कितना तेज भरा पड़ा है। अन्धकार बेचारा लज्जा से एक ओर खिसक गया है, चारों ओर ज्योति ही ज्योति जगमगा रही है। परमात्मा! ऐसा तेज मुझे कब प्राप्त होगा।

जलते हुए अंगारे ने उत्तर दिया—बहन, चेष्टाविहीन इस व्यर्थ वासना से पीड़ित होने में क्या लाभ है? हमें जो कुछ भी प्राप्त हुआ है वह तप करके प्राप्त हुआ है। क्या वह तुम्हारे लिए यों ही टपक पड़ेगा?

प्रत्येक आत्मा में दिव्य ज्योति छिपी हुई है। उसे प्रगट करने के लिए अखण्ड साधना करनी होती है। कवीन्द्र-रवीन्द्र की भाषा में अंगारे ने वही उत्तर दिया है कि बिना तपे कोई ज्योति नहीं बनता और बिना खपे कोई मोती नहीं बनता। ज्योति बनने के लिए स्वयं को तपाना होता है, खपाना होता है, विश्व के जितने भी महापुरुष हुए उन्होंने अपने जीवन को साधना की भट्टी में तपाकर निखारा है। आचार्यप्रवर श्री सुजानमल जी महाराज का जीवन ऐसा ही जीवन था। उन्होंने उत्कृष्ट साधना कर एवं तप की आराधना कर जीवन को मांजा था और स्वर्ण के समान उसे निखारा था।

सुजानमलजी महाराज आचार्यसम्राट श्री अमरसिंहजी महाराज के तृतीय पट्टधर थे। आप तुलसीदास जी महाराज के शिष्य थे। आपका जन्म राजस्थान के सरवाड ग्राम में विक्रम संवत् १८०४ भाद्रपद कृष्णा चौथ को हुआ था। आपश्री के पूज्य पिताश्री का नाम विजयचन्द जी भण्डारी और माता का नाम याजू बाई था। आपके पूज्य पिताश्री और मातेश्वरी दोनों ही सात्विक प्रकृति के धनी थे। दोनों में धर्म के प्रति गहरी निष्ठा थी। संसार में रह करके भी जल-कमलवत् वे निर्लिप्त थे। यही कारण है कि माता-पिता के सुसंस्कार पुत्र पर भी गिरे और उसके जीवन में भी त्याग-वैराग्य के फूल महकने लगे। आचार्यप्रवर तुलसीदासजी महाराज विविध स्थानों पर धर्म की ज्योति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जागृत करते हुए जब सरवाड़ पधारे तब आचार्यश्री के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचनों को सुनकर अपनी मातेश्वरी याजूबाई तथा भगिनी के साथ आचार्य प्रवर के सान्निध्य में वि० सं० १८१८ की चैत्र शुक्ला ग्यारस सोमवार को आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आचार्यश्री के सान्निध्य में रहकर आगम का गहराई से अध्ययन किया। आपकी प्रवचन-कला बहुत ही चित्ताकर्षक थी, जो श्रोताओं के दिल और दिमाग को आकर्षित कर लेती थी। आपने मेवाड़, मारवाड़, और मध्यप्रदेश में परिभ्रमण कर हजारों भव्य-प्राणियों को प्रतिबोध प्रदान किया। आचार्य प्रवर तुलसीदास जी महाराज ने आपको सुयोग्य शिष्य समझकर आचार्य पद प्रदान किया। आपने अपने आचार्य काल में धर्म की ज्योति जागृत की। अनेकों व्यक्तियों ने श्रामण्य प्रव्रज्या ग्रहण कर आपका शिष्यत्व स्वीकार किया। आप जहाँ भी पधारे वहाँ अपने यश:सौरभ से जन-जन के मन को मुग्ध किया।

विहार करते हुए आचार्यश्री किशनगढ़ पधारे। आचार्यश्री के प्रवचनों में जनता उमड़ पड़ी। किसे ज्ञात था कि आचार्यश्री लघुवय में ही संसार से बिदा हो जायेंगे। शरीर में व्याधि उत्पन्न होने पर इसके उपचार का प्रयास किया गया। श्रद्धालुगण सेवा में प्रस्तुत था। उपचार करने के बावजूद भी व्याधि शैतान की आंत की तरह बढ़ रही थी। शरीर एक था, व्याधियाँ अनेक थीं। रोगों ने ऐसे महापुरुष पर आक्रमण किया था जिसकी वेदना केवल उन्हीं को ही नहीं अपितु अनगिनत श्रद्धालुओं को वह अभिभूत कर रही थी। रोगी वीर सेनानी की भाँति रोगों से जूझ रहा था, किन्तु उसके श्रद्धालु उस युद्ध में उसका साथ नहीं दे पा रहे थे। वे आचार्य के प्रति मोह से ग्रसित थे।

अन्त में आचार्यश्री ने देखा मेरा शरीर अब रोगों का घर बन चुका है, मुझे सावधानी से ही इस शरीर का त्याग करना चाहिए। यदि शरीर ने मुझे छोड़ा, इसमें बहादुरी नहीं है। उन्होंने प्रसन्नता से चतुर्विध संघ की साक्षी से अनशन व्रत ग्रहण किया और वि० सं० १८४९ की ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी मंगलवार को वे स्वर्गस्थ हुए।

युवा आचार्य के स्वर्गवास से समाज ने भारी आघात का अनुभव किया। किन्तु क्रूर काल के सामने किसका जोर चला है? आचार्यश्री का भौतिक देह नष्ट हो गया किन्तु वे यश:शरीर से आज भी जीवित हैं और भविष्य में भी सदा जीवित रहेंगे।

आचार्यश्री जीतमलजी महाराज : व्यक्तित्व दर्शन

समय-समय पर विश्व के क्षितिज पर ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों का उदय होता है जो अपने अलौकिक व्यक्तित्व और कृतित्व से जन-जन का पथ-प्रदर्शन करते हैं। भूले भटके जीवन राहियों को मार्ग दर्शन देते हैं। उन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों की शृंखला में आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी महाराज का भी नाम आता है। वे एक मनीषी और मनस्वी सन्त थे। उन्होंने जैन साहित्य और कला के क्षेत्र में एक अद्वितीय कीर्तिमान स्थापित किया। जो आज भी चिन्तकों के लिए प्रेरणादायी है।

आपश्री का जन्म हाडोती राज्य के अन्तर्गत रामपुरा में हुआ था। आपश्री के पिता का नाम सुजानमल जी और माता का नाम सुभद्रा देवी था। आपका जन्म कार्तिक शुक्ला पंचमी वि० सं० १८२६ में हुआ था। माता-पिता के संस्कारी जीवन का असर आपके जीवन पर पड़ा था।

विक्रम संवत् १८३३ में आचार्य प्रवर सुजानमल जी महाराज का रामपुरा में पदार्पण हुआ। उनके पावन प्रवचनों को सुनकर सुभद्रादेवी को और कुमार जीतमल के अन्तर्मानस में वैराग्य भावना उद्‌बुद्ध हुई। पुत्र ने अपने हृदय की बात माँ को कही। माँ मेरे पिताजी का नाम और आचार्यश्री का नाम एक ही है। आचार्य श्री का उपदेश तो ऐसा है मानो अमृत रस हो। उस अमृत रस का पान चाहे कितना भी किया जाय, तृप्ति नहीं होती। पर एक अद्‌भुत आनन्द की उपलब्धि होती है। आचार्य प्रवर के उपदेश को सुनने के पश्चात् मेरे मन में ये विचार प्रतिपल प्रतिक्षण समुत्पन्न हो रहे हैं कि मानव का जीवन कितना अमूल्य है जिसको प्राप्त करने के लिए देवता भी छटपटाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। क्या हम उसे यों ही बरबाद कर दें? यह तो निश्चित है कि एक दिन जो व्यक्ति जन्मा है उसे अवश्य ही मरना है, जो फूल खिलता है वह अवश्य ही मुरझाता है। जो सूर्य उदय होता है वह अवश्य ही अस्त होता है। किन्तु हम कब मरेंगे यह निश्चित नहीं है। अतः क्षण मात्र का भी प्रमाद न कर साधना करनी चाहिए। बोल माँ, क्या मेरा कथन सत्य है न?

हाँ बेटा, आचार्यश्री के उपदेश में पता नहीं क्या जादू है। तेरी तरह मेरे मन में भी ये विचार पैदा होते हैं। मैं क्यों संसार में फंस गयीं? अब तो घर-गृहस्थी का सारा भार मेरे पर है। मैं उसे कैसे छोड़ सकती हूँ। तू तो बच्चा है। अभी तेरी उम्र ही क्या है? अभी तो तू खूब खेल-कूद और मौज मजा कर।

'माँ, तुम्हें अब अनुभव हुआ है कि संसार असार है। यदि पहले न फँसती तो अच्छा था। फिर माँ तुम मुझे क्यों फंसाना चाहती हो? लगता है तुम्हारा मोह का परदा अभी तक टूटा नहीं। आचार्यश्री ने आज ही बताया था न कि अतिमुक्तकुमार छह वर्ष की उम्र में साधु बने थे। वज्रस्वामी भी बहुत लघुवय में साधु बन गये थे तो फिर मैं साधु क्यों नहीं बन सकता? आत्मा तो न बालक है, न वृद्ध है, न युवा है। उसमें अनन्त शक्ति है। यदि उस शक्ति का विकास करे तो वह नर से नारायण बन सकता है। मानव से महामानव बन सकता है, और इन्सान से भगवान बन सकता है। फिर माँ हम साधु बनकर अपनी आत्मा का विकास क्यों नहीं कर सकते? अतः माँ, तुम मुझे अनुमति प्रदान करो तो मैं साधु बनना चाहता हूँ।

माता ने अपने लाड़ले का सिर चूमते हुए कहा—बेटा, अभी तो तू बहुत ही छोटा है। तो साधु बनकर कैसे चलेगा? साधु बनना कोई हंसी-मजाक का खेल नहीं है। मोम के दाँतों से लोहे के चने चबाने जैसा कठिन कार्य है। तलवार की धार पर चलना सरल है, किन्तु साधना के कठोर कंटकाकीर्ण पथ पर चलना बड़ा ही कठिन है। साधु बनने के पश्चात् केशों का लुंचन करना पड़ता है। भूख और प्यास सहन करनी पड़ती है। अतः जितना कहना सरल है उतना ही कठिन है साधना का मार्ग।

'माँ तुम तो वीरांगना हो। तुम मुझे समय-समय पर वीरता की प्रेरणा देती रही। तुमने मुझे इतिहास की वे घटनाएँ सुनायी हैं कि वीर बालक क्या नहीं कर सकता? वह आकाश के तारे तोड़ सकता है। मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, दीक्षा लेकर अपने जीवन को ही नहीं किन्तु जैन धर्म को भी चमकाऊँगा। तुम्हारे दूध की कीर्ति बढ़ाऊँगा।'

अच्छा बेटा! मुझे विश्वास है कि तेरी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण है। तेरे में प्रतिभा है। तू अवश्य ही जैन धर्म की प्रभावना करेगा। यदि तू दीक्षा लेगा तो मैं भी तेरे साथ ही दीक्षा लूंगी। मैं फिर संसार में नहीं रहूँगी। किन्तु बेटा, पहले तेरे पिता की अनुमति लेना आवश्यक है। बिना उनकी अनुमति के हम दोनों साधु नहीं बन सकते।

बालक जीतमल पिता के पास पहुँचा और उसने अपने हृदय की बात पिता के समक्ष प्रस्तुत की। पिता ने मुस्कराते हुए कहा—'वत्स, तुझे पता नहीं है कि साधु की चर्या कितनी कठोर होती है। तेरा शरीर मक्खन की तरह मुलायम है। तू उन कष्टों को कदापि सहन नहीं कर सकता। तथापि मैं श्रावक होने के नाते साधु बनने के लिए इन्कार नहीं करता। किन्तु बारह महीने तक मैं तुम्हारे वैराग्य की परीक्षा लूंगा और यदि उन कसौटियों पर तुम खरे उतर गये तो तुम्हें सहर्ष अनुमति दे दूंगा।'

श्रेष्ठि सुजानमलजी ने विविध दृष्टियों से पुत्र की परीक्षा ली। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि मेरा पुत्र वय की दृष्टि से भले ही छोटा है, किन्तु इसमें तीक्ष्ण प्रतिभा है। यह श्रमण बनकर जैनधर्म की ज्योति को जागृत करेगा। इसकी हस्तरेखाएँ यह बता रही हैं कि यह कभी भी गृहस्थाश्रम में नहीं रह सकता। यह एक ज्योतिर्धर आचार्य बनेगा। मैं स्वयं दीक्षित नहीं हो सकता तो इसे क्यों रोकूँ। उन्होंने पुत्र व पत्नी को सहर्ष दीक्षा की अनुमति प्रदान की। गर्भ के सवा नौ मास मिलने से बालक की उम्र नौ वर्ष की हो गयी थी। अतः आचार्य प्रवर सुजानमलजी महाराज ने योग्य समझकर १८३४ में माँ के साथ बालक जीतमल को दीक्षा प्रदान की और उनका नाम जीतमुनि रख दिया गया।

बालक जीत मुनि ने गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं का अध्ययन किया। आगम, दर्शन, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, मंत्र-तन्त्र और आयुर्वेद शास्त्र का भी गहराई से अध्ययन किया। उनकी लिपि बहुत ही सुन्दर थी। वे दोनों हाथों और दोनों पैरों से एक साथ लिख सकते थे। प्राचीन प्रशस्तियों के आधार से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने तेरह हजार ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की थीं। स्थानकवासी परम्परामान्य बत्तीस आगमों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को उन्होंने बत्तीस बार लिखा था। आपके द्वारा लिखित एक आगम बत्तीसी जोधपुर के अमर जैन ज्ञान भण्डार में उपलब्ध है और कुछ आगम उदयपुर तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, के संग्रहालय में हैं। आपके द्वारा लिखित नौ आगम बत्तीसी आपके सम्प्रदाय की साध्वियाँ चम्पाजी जो अजमेर में लाखन कोठडी में अवस्थित (चम्पाजी का स्थानक) स्थानक में स्थानापन्न थीं, उनके पास रखी गयी थीं। पर परिताप है कि स्थानकवासी समाज की साहित्य के प्रति उपेक्षा होने के कारण वे नौ बत्तीसियाँ और हजारों ग्रन्थ कहाँ चले गये आज उसका कुछ भी पता नहीं है। जैन श्रमण होने के नाते से वह सारा साहित्य जो आपने लिखा था वह गृहस्थों के नेश्राय में कर देने से और उनकी, साहित्य के प्रति रुचि न होने से नष्ट हो गया है। उन्होंने उर्दू-फारसी में भी ग्रन्थ लिखे थे, उसमें से एक ग्रन्थ अभी विद्यमान है। एक फारसी के भाषा-विशेषज्ञ को हमने वह ग्रन्थ बताया था। उसने कहा यह बड़ा ही अद्भुत ग्रन्थ है इस ग्रन्थ में महाराजश्री ने अपने अनुभूत अद्भुत प्रयोग लिखे हैं। इस ग्रन्थ को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि महाराजश्री का ज्ञान बहुत ही गहरा था। एक जैन श्रमण विविध विषयों में कितनी तलस्पर्शी जानकारी रख सकता है इससे स्पष्ट होता है। यह ग्रन्थ ज्ञान का अद्भुत भण्डार है।

आप कुशल कवि भी थे। आपने अनेक ग्रन्थ कविता में भी बनाये हैं। चन्द्रकलारास यह आपकी एक महत्वपूर्ण रचना है जो आपश्री के हाथ से लिखा हुआ है। उसके अठारह पन्ने हैं। प्रत्येक पन्ने में सत्रह पंक्तियाँ हैं और सूक्ष्माक्षर हैं। ग्रन्थ में लेखक ने अपना नाम नहीं दिया है और नाम न देने का कारण बताते हुए उसने लिखा है—

"हूँ मतिमन्द बालकवत कीधो, हुकम सामियां दीधो रे।
लोपी जे मर्याद प्रसिद्धो, मिच्छामि दुक्कडं लीधो रे॥

अर्थात्, आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की परम्परा में उस समय ऐसा नियम बनाया गया था कि कविता आदि न लिखी जाय, क्योंकि कवि को कभी-कभी अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी करना पड़ता है और उस वर्णन से सत्य महाव्रत में दोष लगने की संभावना है। अतः कवि ने कविता लिख करके भी अपना नाम नहीं दिया। सम्भव है जीतमल जी महाराज से पूर्व भी आचार्य प्रवरों ने तथा अन्य मुनिगणों ने कविताएँ आदि लिखी हों पर नाम न देने से यह पता नहीं चलता कि ये कविताएँ किन की बनाई हुई हैं।

आपका द्वितीय ग्रन्थ शंखनृप की चौपाई है। यह चार खण्डों में विभक्त है। इसमें छत्तीस ढालें हैं और बाईस पन्ने हैं। ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति में कवि ने लिखा है—

सम्मत अठारे चोपने, जेठ वद बारस दिन में रे।
नगर बालोतरो भारी, रिष जीत भणे सुखकारी रे॥

आपकी तृतीय रचना कौणिक संग्राम प्रबन्ध है। इस प्रबन्ध में सत्तावीस ढाले हैं और दस पन्ने हैं और प्रत्येक पन्ने में चौदह पंक्तियाँ हैं और सूक्ष्माक्षर हैं। उसके अन्त में प्रशस्ति में लिखा है—

एम सुणी ने चेतजाए, लोभ थकी मन वाल।
सेंठा रह जो सन्तोष में ए, भयो जीत रसाल॥

एक बार आचार्यश्री जीतमलजी महाराज जोधपुर राज्य के रोइट ग्राम में विराज रहे थे। उस समय साम्प्रदायिक वातावरण था और उस युग में एक दूसरे की आलोचना-प्रत्यालोचना की जाती थी। उस समय के ग्रन्थ इस बात की साक्षी हैं—रात्रि का समय था। तेरह पन्थ के चतुर्थ आचार्य जीतमल जी भी वहाँ आये हुए थे और आपश्री भी वहाँ पर विराज रहे थे। आपने उस समय उनके दयादान के विरोध में एक लघु-काव्य का सृजन किया जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

छांड रे जीव पत पात पाखण्डनी, समकीत रहत नहीं मूल बाकी।
देव गुरु धर्म उत्थापियो पापियां, नागडा दीधी छे खोय नाकी॥
साधु मुख सांभली वाणी सिद्धान्त री सावण में जवासो जेम सूखे।
नाम चर्चा रो लिया थका नागडा, सियालिया जेम दिन रात रुके॥

आपकी पाँचवीं रचना पूज्य गुणमाला प्राप्त होती है। आचार्यश्री तुलसीदासजी महाराज के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए अन्त में लिखा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समत अठारें वर्ष गुणचासे, महावद आठम भारी जी।
शहर जोधाणे जोडो जुगत सु, थे सुण जो सहु नर नारी जी॥

आचार्यश्री सुजानमल जी महाराज के गुणों पर प्रकाश डालते हुए भी अन्त में उन्होंने लिखा है—

म्हारा गुरां रा गुण कहूं किस्या, म्हारा दिल में तो म्हारा गुरु जी बस्या।
जोडी जुगति सु ढाल हरसोर ग्रामी, मनें वल्लभ लागे सुजाण जी स्वामी॥
संमत अठारे वर्ष पचासे, पूज जीतमल तो इम भाषे।
वद फागुण शुक्ल तिथ छट्ठ पामी॥ मनें वल्लभ लागे.....॥

आचार्यश्री जीतमल जी महाराज के द्वारा लिखित रचनाएँ मुझे जितनी भी उपलब्ध हो सकी हैं वे सारी रचनाएँ मैंने 'अणविन्ध्या-मोती' के नाम से संग्रह की हैं जो अभी तक अप्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त भी आपकी अनेक रचनाएँ थीं और उनकी संख्या पचास-साठ ग्रन्थों की थी। ऐसा मुझे एक प्राचीन पत्र में उल्लेख मिला है। किन्तु वे सारी रचनाएँ आज मिलती नहीं हैं।

आपश्री कुशल चित्रकार भी थे। आपने संग्रहणी अढाई-द्वीप का नक्शा, त्रसनाडी का नक्शा, केशी-गौतम की चर्चा, परदेशी राजा के स्वर्ग का मनोहारी दृश्य, द्वारिका दृश्य, भगवान अरिष्टनेमी की बरात, स्वर्ग और नरक आदि विविध विषयों पर लगभग दो हजार चित्र आपने बनाये हैं। सूर्य पल्ली आपकी बहुत ही उत्कृष्ट कलाकृति है जिसे देखकर भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद और प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू मुग्ध हो गये थे। आपने सूई की नोंक से काटकर कटिंग की है, वह कटिंग अत्यन्त चित्ताकर्षक है। साथ ही आपने कटिंगों में श्लोक आदि भी लिखे हैं। आपका एक कटिंग तो बड़ा ही अद्भुत और अनूठा है। उसमें आपने इस प्रकार अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है कि एक पन्ना होने पर भी आगे और पीछे पृथक्-पृथक् श्लोक पढ़े जाते हैं। भारत के मूर्धन्य मनीषी इसे विश्व का एक महान आश्चर्य मानते हैं।

एक बार आपश्री अपने शिष्यों के साथ संवत १८७१ में जोधपुर विराज रहे थे। उस समय आपके प्रवचनों की अत्यधिक धूम थी। जैन-अजैन सभी आपके प्रवचनों में उपस्थित होते थे और प्रवचनों को सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। कुछ ईर्ष्यालु विपक्षियों को आचार्यश्री का बढ़ता हुआ तेज सहन नहीं हुआ' उन्होंने आचार्यश्री से कहा—आप कहते हैं कि पानी की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं, कृपया हमें प्रत्यक्ष बतायें। आचार्यश्री ने विविध युक्तियाँ देकर उन्हें समझाने का प्रयास किया, किन्तु वे कहाँ समझने वाले थे? उनके अन्तर्मानस में तो ईर्ष्याग्नि जल रही थी। वे आचार्य श्री का अपमान करने हेतु तत्पर थे। उन्होंने उस समय जोधपुर के नरेश मानसिंह के पास जाकर निवेदन किया कि हुजूर, आपके राज्य में जैन-साधु मिथ्या प्रचार करते हैं। वे कहते हैं कि जल की एक बूंद में असंख्य जीव हैं। आप जरा उन्हें पूछे तो सही कि कुछ जीव निकालकर हमें बतावें। इसप्रकार मिथ्या प्रचार कर जन-मानस को गुमराह करना कितना अनुचित है। आपश्री को चाहिए कि उस पर प्रतिबन्ध लगाया जाय।

राजा मानसिंह एक प्रतिभा सम्पन्न राजा थे। वे कवि थे, विचारक थे। उन्होंने महाराजश्री के पास सन्देश भिजवाया। महाराजश्री ने उत्तर में कहा—जिन्हें जिज्ञासा है वे स्वयं आकर जिज्ञासाओं का समाधान कर सकते हैं। जिज्ञासु राजा आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् आचार्यश्री से पूछा—

आचार्य-प्रवर, जैन आगमों में हजारों बातें ऐसी हैं जो बुद्धिगम्य नहीं हैं और पागलों के प्रलाप-सी प्रतीत होती हैं। यही कारण है बनियों के अतिरिक्त जैन धर्म को कोई नहीं मानता।

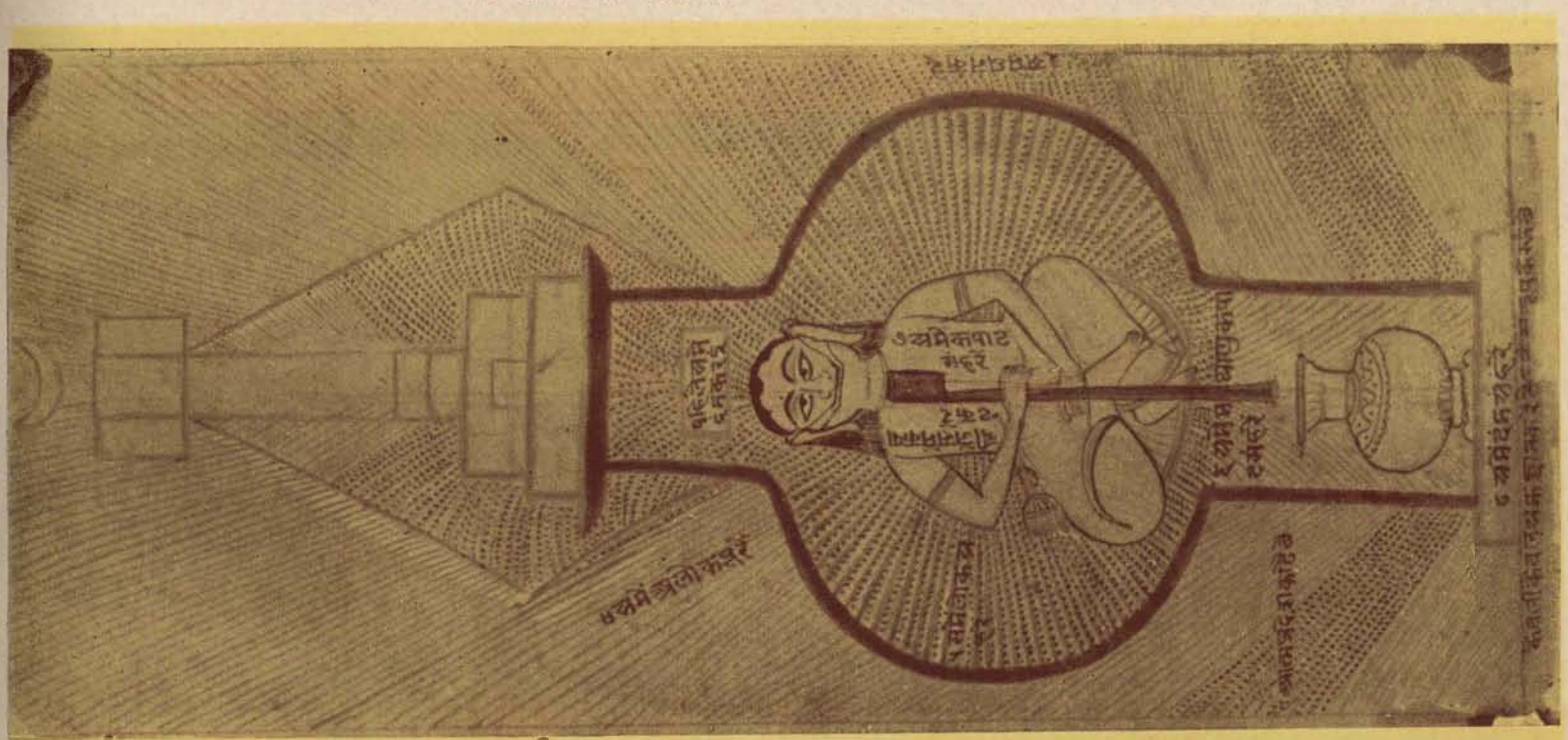
आचार्यश्री ने मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा—राजन्, ! आपका यह मानना भ्रांतिपूर्ण है। स्वयं भगवान महावीर क्षत्रिय थे। वे सम्राट-सिद्धार्थ के पुत्र थे। उनके नाना चेटक गणतन्त्र के अधिपति थे। उनके शिष्य उस युग के जाने-माने हुए विद्वान् थे और शास्त्रार्थ करने में निपुण थे। भगवान महावीर के अनेक राजागण उपासक थे। आठ राजाओं ने महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर जैन धर्म की प्रभावना की और अनेक राजकुमारों ने, महारानियों ने भी संयम स्वीकार किया था और सम्राट श्रेणिक जैसे अनेक राजागण भी महावीर के परम भक्त थे। उसके पश्चात् भी सम्राट चन्द्रगुप्त ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। कुमारपाल जैसे प्रभावी राजा भी जैन धर्म के दिव्य प्रभाव से प्रभावित थे। अतः आपका यह कहना कि जैन धर्म बनियों का धर्म है यह उचित नहीं है। आचार्य भद्रबाहु, संमतभद्र, उमास्वाती सिद्धसेन दिवाकर, हेमचन्द्र, अभयदेव, हरिभद्र, यशोविजय आदि अनेकों ज्योतिर्धर आचार्य हुए हैं जिन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



पूज्य आचार्य श्री
जीतमल जी महाराज
की
हस्तकला के
कुछ
अद्‌भुत चित्र

द्वारिका नगरी, वासुदेव श्री कृष्ण, भगवान नेमिनाथ के समक्ष धर्म देशना सुनने आना, और द्वैपायन ऋषि के समक्ष जाना—चार दृश्यों का चित्रण।



जब केवली समुद्‌घात होती हैं तब आत्म-प्रदेश लोक में प्रसारित होते हैं। उस स्थिति का चित्रण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



मानतुंग-मानवती कथा से सम्बन्धित चित्र ।
राजा मानतुंग योगिनी वेषधारी मानवती को नमस्कार कर रहा है ।



तीर्थंकरों की माता द्वारा देखे जाने वाले चौदह महास्वप्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में हजारों ग्रन्थों की रचना की। इसलिए जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। जैन आगम साहित्य में प्रत्येक पदार्थ का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। राजन् ! आपने आगम साहित्य को पढ़ा नहीं है। अतः आपको ऐसा भ्रम हो गया है कि जैन आगमों में अनर्गल बातें हैं। वस्तुतः जैन आगमों में एक भी बात ऐसी नहीं है जो असंगत हो।

राजा मानसिंह ने कहा—

आचार्य प्रवर ! आप कहते हैं कि आगम साहित्य में अनर्गल बातें नहीं है, तो देखिए जैन आगमों में बताया गया है कि जल की एक बूंद में असंख्य जीव हैं। यह कितनी बड़ी गप है। यदि कोई विद्वान् इसे सुने तो वह जैन आगमों का उपहास किये बिना नहीं रह सकता।

आचार्यश्री ने पुनः गंभीर वाणी में कहा—

राजन् ! जिसकी दृष्टि जितनी तीक्ष्ण होगी वह उतनी सूक्ष्म वस्तु देख सकता है। तीर्थंकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं। उनका कथन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। उन्होंने जो कहा है वह अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से देखकर कहा है।

मानसिंह—आचार्य प्रवर ! आपको ताज्जुब होगा कि हमारे वैदिक परम्परा के शास्त्रों में इस प्रकार की कहीं पर भी गप्पे नहीं हैं जैसे कि जैन शास्त्रों में हैं।

आचार्यश्री ने कहा—

राजन् ! किसी भी मत और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में खण्डन करना हमारी नीति नहीं है। हम तो हंस की तरह जहाँ भी सद्गुण होते हैं वहाँ ग्रहण कर लेते हैं, पर आपने जो कहा वह उचित नहीं है। आप कहते हैं इसीलिए मैं कहता हूँ कि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी आपकी दृष्टि से अनेक गप्पें हैं। उदाहरण स्वरूप एक गाय की पूंछ में तैन्तीस कोटि देवताओं का निवास मानते हैं, वह कैसे सम्भव हो सकता है। क्या, आपने गाय की पूंछ में एकाध देवता भी कभी देखा है ?

राजा मानसिंह—जैसे जैन शास्त्रों में असम्बद्ध बातें भरी पड़ी हैं, वैसे ही वैदिक परम्परा के शास्त्रों में भी हैं, मुझे दोनों ही बातें मान्य नहीं हैं। मैं तो राजा हूँ जो न्याय युक्त बात होती है उसे ही मैं स्वीकार करता हूँ, मिथ्या बातें नहीं मानता।

आचार्यश्री—राजन् ! आपका चिन्तन अपूर्ण है। मैं सप्रमाण सिद्ध कर सकता हूँ कि जैन आगम साहित्य में एक बात भी ऐसी नहीं है जिसे गप कहा जाय। हम भी लकीर के फकीर नहीं हैं। भगवान महावीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—"**पन्ना समिक्खए धम्मतत्तं**"—बुद्धि की कसौटी पर कसकर देखें धर्म तत्व को। आपके अन्तर्मानस में जो यह शंका है कि जल की एक बूंद में असंख्यात जीव कैसे हो सकते हैं, मैं इसे सप्रमाण आपको आज से सातवें दिन बताऊँगा।

राजा मानसिंह नमस्कार कर लौट गये, किन्तु कहीं आचार्यश्री यहाँ से प्रस्थान न कर जायें अतः अपने एक सेवक को वहाँ पर नियुक्त कर दिया। उस समय आधुनिक विज्ञान इतना विकसित नहीं हुआ था और न ऐसे साधन ही थे जिससे सिद्ध किया जा सके। आचार्यश्री ने अपनी कमनीय कल्पना से चने की दाल जितनी जगह में एक कागज पर एक चित्र अंकित किया और वह चित्र जब सातवें दिन राजा मानसिंह उपस्थित हुआ तब उन्होंने वह उसे सामने रखते हुए कहा—जरा देखिए, इस चित्र में क्या अंकित है ? राजा मानसिंह ने गहराई से देखने का प्रयास किया किन्तु यह स्पष्ट नहीं हो रहा था कि उसमें क्या चीज है ? तब आचार्य प्रवर ने उस पन्ने पर लिखित दोहे पढ़े—वे दोहे इस प्रकार हैं—

पृथ्वी अप तेऊ पवन, पंचमी वणसई काय।
तिरा जितनी मांहि कह्या, जीव असंख्य जिनराय॥ १॥
कर्म शरीर इन्द्रियप्रजा, प्राण जोग उपयोग।
लेश्यादिक ऋद्धिवन्त को, लूटें अन्धा लोग॥ २॥
जीव सताओ जु जुवा, अनघड नर कहे एम।
कृत्रिम वस्तु सूझे नहीं, जीव बताऊँ केम॥ ३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दाल चिणों की तेह में बाधत है कछु घाट।
शंका हो तो देख लो, हाथी एक सौ आट ॥ ४ ॥
जीव जतन निर्मल चित्ते, किधौ जीव उद्धार।
एक कर्म मय आदि को, मेटे यह उपगार ॥ ५ ॥

आचार्यश्री ने एक काँच के टुकड़े को विशेष औषध लगाकर तैयार किया था जो आइ-ग्लास की तरह था, उसे राजा मानसिंह को देते हुए कहा—आप इसकी सहायता से देखिए, इसमें क्या चित्र है ? राजा ने ज्यों ही देखा उनके आश्चर्य का पार न रहा। उस लघु स्थान में हाथी चित्रित थे, जिस पर लाल झूलें थीं। जब राजा ने गिना तो वे १०८ की संख्या में थे। आचार्यश्री ने कहा—

पशुओं में सबसे बड़ा हाथी है, और उसे मैंने चित्रित किया है। वे भी आपकी आँखों से नहीं दिखायी दिये तो जल की बूंद में असंख्यात जीव आपको किस प्रकार दिखायी दे सकते हैं ? राजा मानसिंह के पास उसका कोई उत्तर नहीं था। वह श्रद्धा से नत था। इसके हृतन्त्र के तार झनझना उठे कि वस्तुतः जैन श्रमण महान् हैं। जैन आगमों में कोई मिथ्या कल्पना नहीं है। जैन श्रमणाचार्य के प्रति वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने कहा—

काहू की आश राखे, काहू से न दीन भाखे,
करत प्रणाम ताको, राजा राणा जेवड़ा।
सीधी सी आरोगे रोटी, बैठा बात करे मोटी,
ओढ़ने को देखो जांके, धोला सा पछेवड़ा।
खमा खमा करें लोक, कवियन राखें शोक,
बाजे न मृदंग चंग, जग मांहि जे बड़ा।
कहे राजा मानसिंह, दिल में विचार देखो,
दुःखी तो सकल जन, सुखी जैन खेवड़ा।

आचार्यश्री को नमस्कार कर श्रद्धा के साथ राजा मानसिंह बिदा हुए। आचार्यश्री के सत्संग से राजा मानसिंह के जीवन में परिवर्तन हो गया और वे अब जैन श्रमणों का सम्मान करने लगे। जैन साहित्य के प्रति भी उनके मन में आस्था अंकुरित हो गयी।

आचार्य जीतमल जी महाराज ने प्रज्ञापना सूत्र के वनस्पति पद का सचित्र लेखन किया। जिन वनस्पतियों का उल्लेख टीकाकार ने वनस्पति-विशेष में किया उन वनस्पतियों के चित्र आपश्री ने बनाये और वे वनस्पतियाँ किन-किन रोगों में किस रूप में काम आती हैं और वनस्पतियों के परस्पर संयोग होने पर किस प्रकार सुवर्ण आदि निर्मित होते हैं आदि पर भी प्रकाश डाला।

अंगस्फुरण, पुरुष का कौन-सा शुभ है या कौन-सा अशुभ है, हाथ की रेखाएँ और उनमें कौन-से लक्षण अपेक्षित होते हैं, विजयपताका यन्त्र, ह्रींकार यन्त्र, सर्वतो भद्र यन्त्र तथा मन्त्र साहित्य, तन्त्र साहित्य पर आपने बहुत लिखा था। आपने सूक्ष्माक्षर में एक पन्ने पर दशवैकालिकसूत्र, वीर स्तुति (पुच्छिसुणं) और नमि पवज्जा का लेखन किया था। राजस्थान, मध्यप्रदेश में आपका मुख्य रूप से विचरण रहा और आपने जैन धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरायी।

आपने अठत्तर वर्ष तक शुद्ध संयम का पालन किया। जीवन की सान्ध्य वेला में आपश्री कुछ दिनों तक जोधपुर विराजे। जैन साधना में समाधि मरण का वरण करने वाला व्यक्ति धन्य माना जाता है। संयम की आराधना करते हुए परम आह्लाद के साथ जो मृत्यु का वरण करता है वह जागृत मृत्यु है। जिनमें भेद-विज्ञान होता है, आत्मा और शरीर की भिन्नता का जिसे बोध हो जाता है, वह देह के प्रति आसक्त नहीं होता और न वह मृत्यु से ही भयभीत होता है। किन्तु वह तो मृत्यु को सहर्ष स्वीकार करता है। आचार्य प्रवर ने चतुर्विध संघ से क्षमायाचना की और सन्थारा ग्रहण किया। एक मास तक सन्थारा चलता रहा। दिन-प्रतिदिन आपके परिणाम उज्ज्वल और उज्ज्वलतर होते गये। उस समय आपके सन्निकट योग्यतम शिष्य का अभाव था। आपने अपने एक शिष्य से गरम पानी मंगवाया और जो अत्यन्त श्रम से प्रज्ञापना सूत्र का वनस्पति पद सचित्र तैयार किया था उसका कहीं दुरुपयोग न हो जाय, अतः आपने उसे पानी में डालकर नष्ट कर दिया। उस समय जोधपुर के प्रसिद्ध श्रावक वैदनाथ जी ने आपश्री से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



स्वर्ग में देव सभा तथा देवियों का नृत्य।

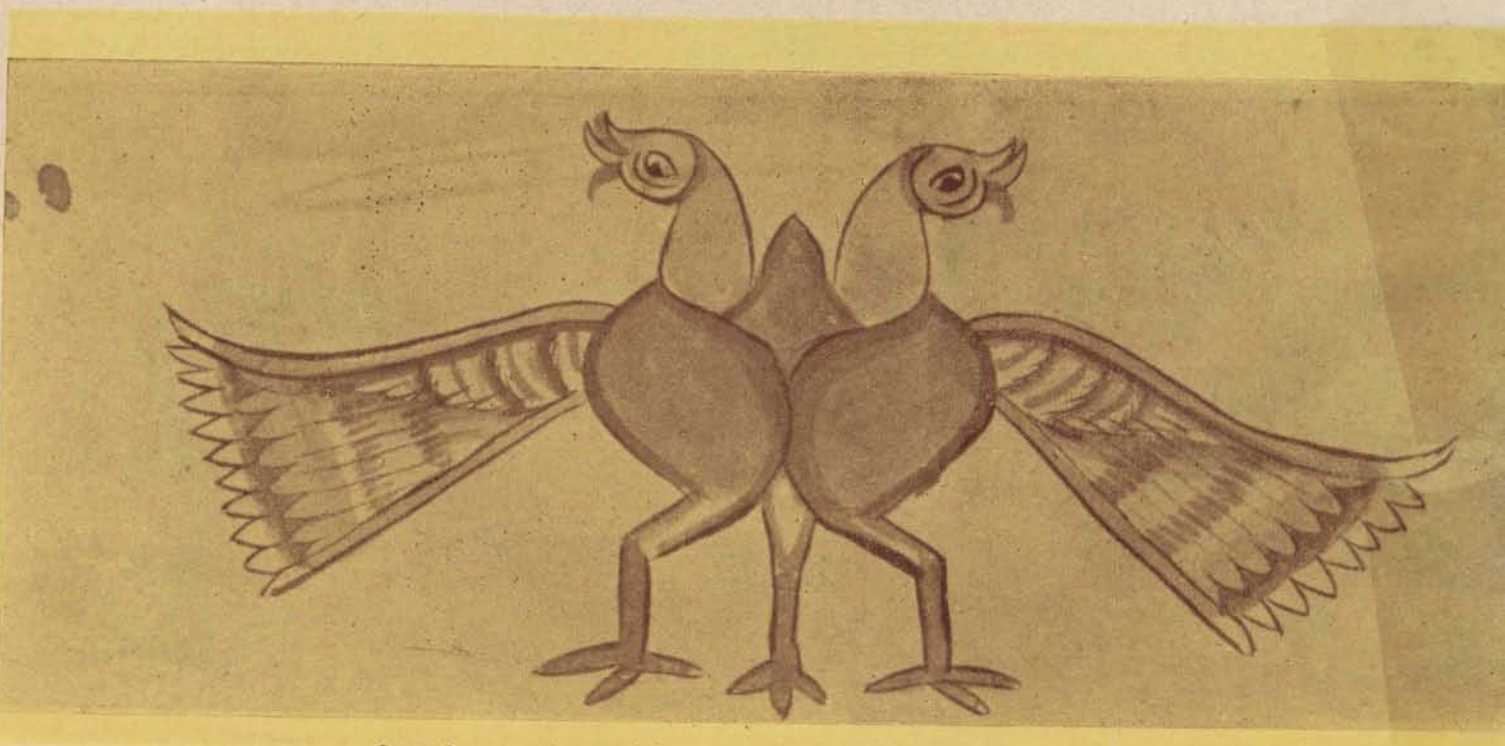


राजा मानसिंह जी ने आचार्य श्री जीतमल जी म० के समक्ष—जल की एक बूंद में असंख्य जीव कैसे ?
यह जिज्ञासा व्यक्त करने पर प्रमाण रूप में सातवें दिन यह चित्र तैयार किया जिसमें लाल झूले वाले १०८ हाथी हैं।
राजा देख कर आल्हादित हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अष्टापद पक्षी—जो सभी पक्षियो में अधिक शक्ति सम्पन्न हैं। जन्मता हुआ बालक भी अनेक हाथियों को लेकर आकाश में उड़ जाता हैं।



भारण्ड पक्षी का चित्र—भारण्ड पक्षी के अप्रमत्त जीवन की उपमा श्रमण जीवन के साथ दी जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सानग्र प्रार्थना कि भगवन् ! आप यह अनमोल वस्तु क्यों नष्ट कर रहे हैं, आपश्री ने उन्हें कहा—इन सबका सारांश मैंने एक पन्ने में लिख दिया है जो समर्थ विद्वान होगा वह उससे सब कुछ समझ जायेगा और शेष व्यक्ति इसका दुरुपयोग नहीं करेंगे। अन्त में ज्येष्ठ शुक्ला दशमी के दिन संवत् १९१३ में आपका स्वर्गवास हो गया।

आपश्री के वर्षावास की सूची प्राचीन पत्र के अनुसार इस प्रकार है :—

१. उदयपुर
२. चावर
३. जुनिया
४. बड़ोदरा
५. चित्तौड़गढ़
६. अजमेर
७. जोधपुर
८. पाली
९. बालोत्तरा
१०. सोजत
११. जालोर
१२. जोधपुर
१३. मेड़ता
१४. उदयपुर
१५. पाली
१६. सोजत
१७. विशलपुर
१८. बीकानेर
१९. बघेरा
२०. बालोत्तरा
२१. जोधपुर
२२. जोधपुर
२३. रूपनगर
२४. जोधपुर
२५. बघेरा
२६. समदडी
२७. जोधपुर
२८. जालोर
२९. पाली
३०. जोधपुर
३१. बालोत्तरा
३२. नागौर
३३. जोधपुर
३४. पाली
३५. जयपुर
३६. जोधपुर
३७. कोटा
३८. बिकानेर
३९. जोधपुर
४०. बालोत्तरा
४१. जालोर
४२. उदयपुर
४३. जोधपुर
४४. कुचामण
४५. किशनगढ़
४६. जोधपुर
४७. जोधपुर
४८. अजमेर
४९. अजमेर
५०. जोधपुर
५१. सोजत
५२. अजमेर
५३. जोधपुर
५४. किशनगढ़
५५. उदयपुर
५६. जोधपुर
५७. जोधपुर
५८. अजमेर
५९. जोधपुर
६०. पाली
६१. अजमेर
६२. जोधपुर
६३. पाली
६४. जोधपुर
६५. जोधपुर
६६. जोधपुर
६७. अजमेर
६८. अजमेर
६९. जोधपुर
७०. जोधपुर
७१. जोधपुर
७२. पाली
७३. जोधपुर
७४. जोधपुर
७५. चौपासनी
७६. जोधपुर
७७. जोधपुर
७८. जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के राजगीर नगर में १४ चातुर्मास हुए तो आपश्री के जोधपुर ३० चातुर्मास हुए। उसका मुख्य कारण कुछ सन्त वृद्धावस्था के कारण वहाँ पर अवस्थित थे तो उनकी सेवा हेतु आपश्री को वहाँ पर चातुर्मास करना आवश्यक हो गये थे।

आचार्यश्री जीतमलजी महाराज की शिष्य परम्परा

आचार्यश्री जीतमलजी महाराज एक महान् प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। उनके कुल कितने शिष्य हुए ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर यह सत्य है कि उनके दो मुख्य शिष्य थे—प्रथम **किशनचन्द जी महाराज** और द्वितीय **ज्ञानमलजी महाराज**। ज्ञानमलजी महाराज और उनकी परम्परा का परिचय विस्तार के साथ मैंने अगले पृष्ठों में दिया है। किशनचन्द जी महाराज एक प्रतिभासम्पन्न सन्त रत्न थे। आपका जन्म अजमेर जिले के मनोहर गाँव में वि० सं० १८४३ में हुआ। आपके पिता का नाम प्यारेलाल जी और माता का नाम सुशीलादेवी था। जाति से आप ओसवाल थे। आपने वि० सं० १८५३ में आचार्यश्री के पास दीक्षा ग्रहण की। आपको आगम साहित्य, स्तोक साहित्य का अच्छा परिज्ञान था। आपके हाथ के लिखे हुए पन्ने जोधपुर के अमर जैन ज्ञान भण्डार में आज भी सुरक्षित हैं। उनमें मुख्य रूप से आगम, थोकड़े व रास, भजनादि साहित्य है।

वि० सं० १९०८ में आचार्यश्री जीतमलजी महाराज के सानिध्य में ही आपश्री का स्वर्गवास हुआ। किशनचन्दजी महाराज के शिष्य **हुकमचन्दजी महाराज** थे। आपकी जन्मस्थली जोधपुर थी। वि० सं० १८८२ में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम नथमलजी तथा माता का नाम राजीबाई था और वे स्वर्णकार थे। आपके गृहस्थाश्रम का नाम हीराचन्द था। आपश्री ने वि० सं० १८९८ में किशनचन्द जी महाराज साहब के शिष्यत्व को ग्रहण किया। आप कवि भी थे। आपकी कुछ लिखी हुई कविताएँ जोधपुर के अमर जैन ज्ञान भण्डार में प्राप्त होती हैं और बहुत-सी कविता साहित्य जो सन्तों के पास में था वह नष्ट हो गया। आपका आगम साहित्य का अध्ययन बहुत ही अच्छा था। गणित विद्या के विशेषज्ञ थे। चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के रहस्यों के ज्ञाता थे। आपके मुख्य चातुर्मास जोधपुर, पाली, जालोर, जूठा, हरसोल, रायपुर, सालावास, बड़ और समदड़ी में हुए थे। सं० १९४० के भादवा वदी दूज को चार दिन के संथारे के पश्चात् जोधपुर में आपका स्वर्गवास हुआ। आपश्री के रामकिशनजी महाराज मुख्य शिष्य थे। आपकी जन्मस्थली जोधपुर थी। स० १९११ में भादवा कृष्ण चौदस मंगलवार को आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम गंगारामजी और माता का नाम कुन्दन कुँवर था। गृहस्थाश्रम में आपका नाम मिट्ठालाल था। वि० सं० १९२५ के पौष वदी ११ को गुरुवार बड़ु ग्राम में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपकी लिपि बड़ी सुन्दर थी। आपने पालनपुर, सिद्धपुर, पाटन, सूरत, अहमदाबाद, खम्भात और मौर्वी आदि महागुजरात के क्षेत्रों में विचरण किया। आपके राजस्थान में जोधपुर, सोजत, पाली, समदड़ी, जालोर, सिवाना खण्डप, हरसोल, जूठा, रायपुर, बड़ु, बोरावल, कल्याणपुर, दुंदाडा, बालोतरा, कर्मावस प्रभृति क्षेत्रों में आपका मुख्य रूप से विहार क्षेत्र और वर्षावास हुए। वि० सं० १९६० ज्येष्ठ वदी १४ को संथारा जोधपुर में आपका स्वर्गवास हुआ।

श्री रामकिशनजी महाराज के शिष्य-रत्न थे, नारायणचन्दजी महाराज। आपका जन्म बाडमेर जिले के सणदरी ग्राम में हुआ। आपके पिताश्री का नाम चेलाजी और माता का नाम राजाजी था। वि० सं० १९५२ पौष कृष्ण १४ के दिन आपका जन्म हुआ। जब आपकी उम्र ५ वर्ष की थी, आपके पिताश्री का देहान्त हो गया, तब आपकी मातेश्वरी अपने पितृगृह थोब ग्राम में रहने लगी, वहीं पर आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय की आनन्द कुंवरजी ठाणा ९ वहाँ पधारीं। उनके उपदेश से माता और पुत्र दोनों को वैराग्य भावना उत्पन्न हुई और आत्मार्थी श्री ज्येष्ठमलजी महाराज के सन्निकट आपने मातेश्वरी के साथ सं० १९६७ में माघ पूर्णिमा के दिन दीक्षा ग्रहण की। ज्येष्ठमलजी महाराज ने आपको रामकिशनजी महाराज का शिष्य घोषित किया और आपश्री ने उन्हीं के नेतृत्व में रहकर आगम साहित्य का व स्थोक साहित्य का अच्छा अभ्यास किया। आपकी लिपि बड़ी सुन्दर थी। आपकी प्रवचन-कला मधुर, सरस व चित्ताकर्षक थी। आपश्री के दो शिष्य हुए—प्रथम शिष्य का नाम **मुलतानमलजी महाराज** था जिनकी जन्मस्थली बाड़मेर जिले के बागावास थी। आपके पिता का नाम दानमलजी और माता का नाम नैनीबाई था। सं० १९५७ में आपका जन्म हुआ। आपकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। आपने वि० सं० १९७० में समदडी में दीक्षा ग्रहण की। वि० सं० १९७५ में आपका स्वर्गवास हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारायणचन्दजी महाराज के दूसरे शिष्य **प्रतापमलजी महाराज** थे। आपका जन्म सं० १९९७ में हुआ। आप गृहस्थाश्रम में जाट परिवार के थे। आपका नाम रामलालजी था। उपाध्याय पुष्कर मुनिजी के साथ सं० १९८१ ज्येष्ठ शुक्ला १० को जालोर में दीक्षा हुई और आपका नाम मुनिश्री प्रतापमलजी महाराज रखा गया। आप बहुत ही सेवाभावी सन्तरत्न थे। आपने अपने गुरुवर्य नारायणचन्दजी महाराज की अत्यधिक सेवा की। नारायणचन्दजी महाराज का दिनांक १८-९-१९५४ के आसोज सुदी ५ शुक्रवार को दुन्दाडा ग्राम में संथारे से स्वर्गवास हुआ और स्वामी नारायणचन्दजी महाराज के स्वर्गवास के चार महीने के पश्चात् प्रतापमलजी महाराज का जोधपुर में स्वर्गवास हुआ। उनके कोई शिष्य नहीं थे। इस प्रकार किशनचन्दजी महाराज की पद-परम्परा रही।

ज्योतिर्धर आचार्यश्री जीतमलजी महाराज का व्यक्तित्व बहुत ही तेजस्वी था और कृतित्व अनूठा था। आप में वे सभी सद्गुण थे जो एक महापुरुष में अपेक्षित होते हैं। आपकी आकृति में बिजली-सी चमक थी। आपकी आँखों से छलकता हुआ वात्सल्य रस का स्रोत दर्शक को आनन्दविभोर कर देता था। आपश्री के शासन काल में सम्प्रदाय की हर दृष्टि से काफी अभिवृद्धि हुई। आपके ग्रन्थ, आपकी चित्रकला आपके ज्वलन्त कीर्तिस्तम्भ के रूप में आज भी विद्यमान हैं।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ "जात्यैवैते परहितविधौ साधवो बद्धकक्षाः"।
२ "विविह कुलुप्पण्णा साहवो कप्परुक्खा"। —नन्दी चूर्णि २/१६
३ "देवता बान्धवा सन्तः, सन्त आत्माऽहमेव च"। —श्रीमद् भागवत ११/२६/३४
४ 'साधु जी महिमा वेद न जाने, जेता सुने तेता बखाने।
"साधु की शोभा का नहिं अन्त, साधु की शोभा सदा बे-अन्त ॥"
५ 'महप्पसाया इसिणो हवंती' —उत्तराध्ययन ११
६ 'चन्दो इव सोमलेसा'
७ सागरो इव गंभीरा। —औपपातिक सूत्र-समवसरण अधिकार
८ "वासी चंदणकप्पो य असणे अणसणे तहा" —उत्तराध्ययन १९/९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



महामहिम आचार्य

[१] पूज्य श्री ज्ञानमलजी महाराज

महामनस्वी आचार्यश्री ज्ञानमलजी महाराज का व्यक्तित्व विराट था। उनका तेजस्वी व्यक्तित्व जन-जन के लिए प्रेरणा-स्रोत था। उन्होंने अपने जीवन का ही निर्माण नहीं किया किन्तु अनेकों व्यक्तियों का भी निर्माण किया। उनके जीवन की समताओं को पल्लवित, पुष्पित और फलित होने का सुअवसर प्रदान किया। जीवन का निर्माण वही व्यक्ति कर सकता है जिसके हृदय में सद्भावना हो, स्नेह का सागर लहराता हो। आचार्य प्रवर ज्ञानमल जी महाराज का मानस जहाँ कुसुम-सा कोमल था वहाँ अनुशासन की दृष्टि से वज्र से भी अधिक कठोर था। स्नेह-सहानुभूतियुक्त अनुशासन ही निर्माण में सहायक होता है।

आचार्यश्री ज्ञानमल जी महाराज का जन्म राजस्थान के सेतरावा ग्राम में हुआ था। आपके पूज्य पिताश्री का नाम जोरावरमलजी गोलेछा और माता का नाम मानदेवी था। ओसवाल वंश और गोलेछा जाति थी। वि० संवत् १८६० की पौष कृष्णा छठ मंगलवार को आपका जन्म हुआ। जन्म के पूर्व माता ने स्वप्न में एक प्रकाशपुञ्ज को अपनी ओर आते हुए देखा और उस प्रकाशपुञ्ज में से एक आवाज आयी—माँ, मैं तुम्हारे पास आ रहा हूँ। माता मानदेवी ने कहा—जरूर आओ, मैं तुम्हारा स्वागत करती हूँ। मानदेवी ने प्रातः अपने पति जोरावरमल जी से स्वप्न की बात कही कि आज मुझे इस प्रकार का श्रेष्ठ स्वप्न आया है। जोरावरमलजी ने प्रसन्नता से कहा—तुम्हारे पुत्र होगा, प्रकाशपुञ्ज ज्ञान का प्रतीक है। लगता है तुम्हारा पुत्र लक्ष्मी-पुत्र के साथ सरस्वती-पुत्र भी बनेगा और वह हमारे कुल के नाम को रोशन करेगा।

सवा नौ मास पूर्ण होने पर बालक का जन्म हुआ। जोरावरमलजी ने ज्योतिषी से उसकी कुण्डली बनवाई। कुण्डली के आधार पर ज्योतिषी ने कहा—यह बालक योगीराज बनेगा। यह बहुत ही भाग्यशाली है, किन्तु तुम्हारे घर पर नहीं रहेगा। जिसने भी बालक को देखा वह हर्ष से नाच उठा। उस बालक का नाम ज्ञानमल रखा गया।

वि० संवत् १८६६ में आचार्यप्रवर जीतमलजी महाराज अपने शिष्यों के साथ विहार करते हुए सेतरावा पधारे। आचार्यप्रवर के पावन प्रवचन को सुनकर बालक ज्ञानमल के अन्तर्मानस में वैराग्यांकुर उद्बुद्ध हुआ। उसने अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति माँगी। माता-पिता ने विविध उदाहरण देकर संयम-साधना की दुष्करता बताकर और संसार के सुखों का प्रलोभन देकर उसके वैराग्य के रंग को मिटाने का प्रयास किया, किन्तु उसका वैराग्य-रंग हल्दी का रंग नहीं था जो जरा-से प्रलोभनों की धूप लगते ही धुल जाता। बालक ज्ञानमल की उत्कृष्ट वैराग्य भावना को देखकर माता-पिता को अनुमति देनी पड़ी और संवत् १८६६ पौष कृष्णा तीज बुधवार को झाला मण्डप, जो जोधपुर के सन्निकट है, वहाँ हजारों मनुष्यों की उपस्थिति में दीक्षा की विधि सम्पन्न हुई। दीक्षा देने वाले थे आचार्य अमरसिंहजी महाराज के चतुर्थ पट्टधर आचार्य जीतमलजी महाराज और दीक्षित होने वाले थे ज्ञानमलजी।

मुनि ज्ञानमलजी में विनय और विवेक का मणि-कांचन योग था। उनकी बुद्धि बहुत ही प्रखर थी। साथ ही चारित्र की अनुपालना में भी वे अत्यधिक जागरूक थे। उनकी विशेषताओं ने आचार्यश्री को आकर्षित किया। आचार्यश्री ने आगम ग्रन्थों का अध्ययन कराया, लिपि-कौशल सिखाया, और साथ ही अन्य तत्त्वों का भी परिज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कराया। आप बहुत ही शान्त, दान्त और गम्भीर प्रकृति के सन्तरत्न थे। अन्त में आचार्य जीतमलजी महाराज ने आपको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। जब वि० संवत् १९१२ में आचार्य जीतमलजी महाराज का स्वर्गवास हो गया तब शासन की बागडोर आपके हाथ में आयी। आपने आचार्यकाल में राजस्थान, मध्यप्रदेश के विविध अंचलों में विचरण कर धर्म की प्रभावना की।

आचार्यप्रवर का वि० संवत् १९३० में चातुर्मास जालोर में था। प्रतिदिन आचार्यश्री के प्रभावशाली प्रवचन होते, जैन संस्कृति का महान् पर्व पर्युषण सानन्द सम्पन्न हुआ। आचार्यश्री ने चतुर्विध संघ से प्रातःकाल क्षमायाचना की और स्वयं एक पट्ट पर पद्मासन की मुद्रा में विराजकर भक्तामर स्तोत्र का पाठ किया और "अरिहन्ते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरणं पवज्जामि। साहू सरणं पवज्जामि। केवलिण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि" का उच्चारण करते हुए स्वर्गस्थ हो गये।

आचार्यप्रवर का एकाएक स्वर्गवास समाज के लिए एक चिन्ता का विषय था, किन्तु आपश्री के योग्यतम शिष्य पूनमचन्दजी थे। उन्हें आपके पट्ट पर आसीन किया गया। आचार्यप्रवर के द्वारा लिखे गये अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ ज्ञानभण्डारों में हैं। आपकी लिपि चित्ताकर्षक थी। आपने मौलिक ग्रन्थों का सृजन भी किया होगा, किन्तु वे ग्रन्थ मुझे प्राप्त नहीं हुए।

[२] आचार्यश्री पूनमचन्दजी महाराज

महापुरुषों के जीवन में कुछ ऐसी स्वाभाविक विशेषताएँ होती हैं जो जन-मानस को एक अभिनव प्रेरणा और आलोक प्रदान करती हैं। उनका जीवन जन-जन के लिए एक वरेण्य वरदान सदृश होता है। महामनस्वी प्रतिभा-मूर्ति आचार्यश्री पूनमचन्दजी महाराज इसी कोटि के महामानव थे। उनके जीवन में अध्यात्म की ज्योत्स्ना, साधना की आभा और ज्ञान की ज्योति सर्वत्र अनुस्यूत थी। उनकी चिन्तन धारा सत्त्वोन्मुखी थी। ये अध्यात्म वैभव के धनी महापुरुष थे। वे स्वयं प्रकाशपुञ्ज थे। उन्होंने आसपास के वातावरण को भी प्रकाशमय बनाया। वे पारदर्शी स्फटिक थे। उनकी स्वच्छता में प्रत्येक व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब देख सकता था।

आपश्री का जन्म राजस्थान के सुप्रसिद्ध नगर जालोर में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम 'ऊमजी' था और माता का नाम फूलादेवी। आपका वंश ओसवाल और गोत्र राय गान्धी था। वि० संवत् १८९२ की मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी शनिवार के दिन आपका जन्म हुआ था। आपका प्रारम्भिक अध्ययन जालोर में प्रारम्भ हुआ। आचार्यप्रवर ज्ञानमलजी महाराज के पावन उपदेश को श्रवण कर ग्यारह वर्ष की लघुवय में आपके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना जागृत हुई। आपकी ज्येष्ठ भगिनी तुलसाजी के मन में तो पहले से ही दीक्षा की भावना थी और आचार्यश्री के उपदेश से उसकी भावना अधिक बलवती हो गयी। आप दोनों ने पूज्य पिता से दीक्षा के लिए अनुमति चाही। किन्तु पूज्य पिताजी ने साधना की अतिदुष्करता बताकर पहले दीक्षा लेने की अनुमति नहीं दी, किन्तु अन्त में पुत्र-पुत्री के अत्यधिक आग्रह को देखकर पिता ने अनुमति दे दी।

पूनमचन्दजी के चाचा का लड़का जो जालोर में ही कोतवाल था, जब उसने भाई-बहन की दीक्षा की बात सुनी तो समझाने का प्रयास किया। जब आपको पूर्ण रूप से दीक्षा के लिए कटिबद्ध देखा तो उसने अन्य उपाय न देखकर एक कमरे में आपको बन्द कर दिया। किन्तु भाग्यवशात् कमरे की खिड़की जो मकान से बाहर की ओर थी, वह खुली रह गयी। उस खिड़की में से आप निकलकर जंगलों में लुकते-छिपते जोधपुर पहुँचे और पिताश्री का आज्ञा पत्र आचार्यश्री के चरणों में रखकर दीक्षा के लिए प्रार्थना की। पिता की आज्ञा होने से आचार्यश्री को दीक्षा देने में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। शुभमुहूर्त में दीक्षा की तैयारी प्रारम्भ हुई। बालक पूनमचन्द शोभा-यात्रा के रूप में दीक्षा के लिए घोड़े पर बैठकर मध्य बाजार के बीच में से जा रहा था। आचार्य ज्ञानमलजी महाराज दीक्षास्थल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर पहुँच चुके थे। बालक पूनमचन्द के फूफाजी जोधपुर में रहते थे। उन्हें पता लगा कि बालक पूनमचन्द जालोर से भागकर यहाँ आया है और वह श्रमणधर्म ग्रहण करने जा रहा है। अतः वे शीघ्र ही आरक्षक दल के अधिकारी के पास पहुँचे और आरक्षक दल के अधिकारी को लेकर बालक पूनमचन्द जो दीक्षा लेने के लिए जा रहा था उसके घोड़े को रोक दिया और बालक को अपने घर ले आये। बुआ ने बालक को विविध दृष्टियों से रूपक देकर समझाने का प्रयास किया कि तू बालक है, अतः दीक्षा ग्रहण न कर। हमारे घर में किसी भी बात की कमी नहीं है। जोधपुर-नरेश भी हमारे पर प्रसन्न हैं। फिर तू संयम क्यों ले रहा है? बालक पूनमचन्द ने कहा बुआजी, दीक्षा किसी वस्तु की कमी के कारण नहीं ली जाती। जो किसी की कमी के कारण दीक्षा लेता है वह दीक्षा का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। बुभुक्षु दीक्षा का अधिकारी नहीं, किन्तु सच्चा मुमुक्षु ही दीक्षा लेता है। आप चाहे कितना भी प्रयास करें तथापि मैं संसार में न रहूँगा और दीक्षा ग्रहण कर जैन श्रमण बनूँगा। तथापि मोह के कारण बुआ ने उसे कमरे में बन्द कर दिया और द्वार तथा खिड़कियों के ताले लगवा दिये। एक महीने तक वह कमरे में बन्द रहा। किन्तु एक दिन बुआ एक खिड़की का ताला लगाना भूल गयी थी। अतः उस खिड़की के रास्ते से बालक पूनम घर से बाहर निकल गया और लुकता-छिपता जालोर पहुँच गया और अपनी बहन तुलसाजी को उन्होंने अपने हृदय की बात कही। बहन तुलसी ने कहा— भाई, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती-करती परेशान हो गयी हूँ। पता नहीं तुम्हारी दीक्षा कब होगी। आचार्यप्रवर अभी यहाँ आये हुए हैं। अतः मैं पिता को कहकर दीक्षा ग्रहण करती हूँ। पिता की अनुमति से पुनः दोनों भाई-बहन दीक्षा के लिए तैयार हुए और ज्यों ही दीक्षा के लिए वे नगर के द्वार पर पहुँचे त्यों ही काका का पुत्र जो कोतवाल था, वह वहाँ आ पहुँचा और बालक पूनम का हाथ पकड़कर अपने घर ले चला। सभी इनकार होते रहे, किन्तु उसने किसी की भी न सुनी। बहन तुलसी ने वहीं पर सत्याग्रह कर दिया कि अब मैं पुनः घर नहीं जाऊँगी। अतः विवश होकर बहन तुलसी को उसी दिन दीक्षा देने की अनुमति प्रदान की। बालक पूनम ने भी अत्यधिक आग्रह किया और कोतवाल का कठोर दिल पिघल गया और उसने कहा—तू जालोर में तो दीक्षा नहीं ले सकता। यदि तुझे दीक्षा लेनी ही है तो जालोर के अतिरिक्त कहीं पर भी दीक्षा ले सकेगा। तीन वर्ष तक मैं तेरी हर दृष्टि से परीक्षा कर चुका। अतः तुझे मैं अब अनुमति देता हूँ। बालक पूनम ने अपने भ्राता कोतवाल की बात स्वीकार कर ली और जालोर से २०-२५ मील दूर भँवरानी ग्राम में बड़े ही उत्साह के साथ आपकी दीक्षा सम्पन्न हुई। दीक्षा का दिन वि० संवत् १९०६ माघ शुक्ला नवमी मंगलवार था। इस प्रकार ग्यारह वर्ष की उम्र में वैराग्य भावना जागृत हुई थी किन्तु तीन वर्ष तक विविध बाधाओं को सहन करने के पश्चात् चौदह वर्ष की उम्र में आपकी दीक्षा सम्पन्न हुई। आपने आचार्यश्री के सान्निध्य में आगम और दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। आपका रूप पूनम के चाँद की तरह सुहावना था। आपके रूप और प्रतिभा पर मुग्ध होकर एक यति ने आपसे निवेदन किया कि स्थानकवासी परम्परा के श्रमणों को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है। न उन्हें समय पर खाने को मिलता है और न सुन्दर भवन ही मिलते हैं। आपका शरीर बहुत ही सुकुमार है, वह इन सभी कष्टों को सहन करने में अक्षम है। एतदर्थ मेरा नम्र निवेदन है कि आप यति बन जायँ तो मैं आपको यतियों का श्रीपूज्य बना दूँगा। यतियों का श्रीपूज्य बनना बहुत ही भाग्य की निशानी है। क्योंकि श्रीपूज्य के पास लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति होती है, उनके पास अधिकार होते हैं। वे जमीन पर पैर भी नहीं रखते। चलते समय उनके पैरों के नीचे पावडे बिछा दिये जाते हैं और खाने के लिए बढ़िया से बढ़िया मन के अनुकूल पदार्थ मिलते हैं। जीवन की प्रत्येक सुविधा उन्हें उपलब्ध है।

मुनि पूनमचन्दजी ने यति को कहा—यतिवर, मेरे स्वयं के घर में कौनसी कमी थी? यदि मुझे खाना-पीना और मौज-मजा ही करना होता तो फिर साधु क्यों बनता? साधु बनकर इस प्रकार का संकल्प करना ही मन की दुर्बलता है। मैं साधना के महापथ पर वीर सेनानी की तरह निरन्तर आगे बढ़ूँगा। शरीर भले ही मेरा कोमल हो, किन्तु मन मेरा दृढ़ है। मैं तो तुम्हें भी प्रेरणा देता हूँ कि भौतिकवाद की चकाचौंध में साधना को विस्मृत होकर आत्मवंचना न करो।

यति के पास कोई उत्तर नहीं था। वह नीचा सिर किये हुए वहाँ से चल दिया। आपश्री ने प्रवचन-कला में विशेष दक्षता प्राप्त की। आपश्री के प्रवचनों में आगम के गहन रहस्य सुगम रीति से व्यक्त होते थे। कठिन से कठिनतर विषय को भी आप सरल, सुबोध रीति से प्रस्तुत करते थे जिसे सुनकर श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। आपश्री ने जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, कोटा, ब्यावर, पाली, शहापुरा, अजमेर, किसनगढ़, फलौदी, जालोर, बगड़ुंदा, कूचामण, समदडी, पंचभद्रा, प्रभृति क्षेत्रों में वर्षावास किये। आप जहाँ भी पधारे वहाँ पर धर्म की अत्यधिक प्रभावना हुई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपश्री के मानमलजी महाराज, नवलमलजी महाराज, ज्येष्ठमलजी महाराज, दयालचन्दजी महाराज, नेमीचन्दजी महाराज, पन्नालालजी महाराज और ताराचन्दजी महाराज—ये सात शिष्य थे जो सप्तर्षि की तरह अत्यन्त प्रभावशाली हुए ।

आचार्य पूनमचन्दजी महाराज के प्रथम शिष्य मानमलजी महाराज थे । उनकी जन्मस्थली गढ़जालोर थी । वे लूणिया परिवार के थे । उन्होंने अपनी माँ और बहन के साथ आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी । उनके शिष्य बुधमलजी महाराज थे, जो कवि, वक्ता और लेखक थे ।

आचार्यश्री के द्वितीय शिष्य नवलमलजी महाराज थे, जो एक विलक्षण मेधा के धनी थे । किन्तु आपका पाली में लघुवय में ही स्वर्गवास हो गया ।

आचार्यश्री के तीसरे शिष्य ज्येष्ठमलजी महाराज थे जो महान् चमत्कारी थे । उनका परिचय स्वतन्त्र रूप से अगले पृष्ठों में दिया गया है । ज्येष्ठमलजी महाराज के दो शिष्य थे । प्रथम शिष्य नेणचन्दजी महाराज थे जो समदडी के निवासी और लुंकड परिवार के थे । आपका अध्ययन संस्कृत और प्राकृत भाषा के साथ आगम साहित्य का बहुत ही सुन्दर था । आपकी प्रवचनकला चित्ताकर्षक थी । आपश्री के द्वितीय शिष्य तपस्वी श्री हिन्दूमलजी महाराज थे । इनकी जन्मस्थली गढ़सिवाना में थी । इन्होंने अपने भरे-पूरे परिवार को छोड़कर दीक्षा ग्रहण की थी और जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से पाँच विगयों का परित्याग कर दिया और उसके साथ ही उत्कृष्ट तप भी करते रहते थे और पारणे में वही रूखी रोटी और छाछ ग्रहण करते थे ।

आचार्यश्री के चतुर्थ शिष्य दयालचन्दजी महाराज थे । आप मजल (मारवाड) के निवासी थे । मुथा परिवार में आपका जन्म हुआ था । नौ वर्ष की लघुवय में पूज्यश्री के पास वि० संवत् १९३१ में गोगुन्दा (मेवाड) में दीक्षा ग्रहण की । आपका स्वभाव बड़ा ही मधुर था । आपके हेमराजजी महाराज शिष्यरत्न थे जिनकी जन्मस्थली पाली—मारवाड़ थी । आप जाति से मालाकार थे । आपने वि० संवत् १९६० में दीक्षा ग्रहण की थी । आप ओजस्वी वक्ता थे । आपका गंभीर घोष श्रवण कर श्रोता झूम उठते थे । आपका स्वभाव बहुत ही मिलनसार था । आपश्री ने गढ़जालोर में एक विराट् पुस्तकालय की संस्थापना की थी । पर, खेद है कि श्रावकों की पुस्तकों के प्रति उपेक्षा होने से वे सारे बहुमूल्य ग्रन्थ दीमकों के उदर में समा गये । पंडित मुनिश्री हेमराज महाराज का वि० संवत् १९९७ में दुन्दाड़ा ग्राम में संथारापूर्वक स्वर्गवास हुआ और वि० संवत् २००० में दयालचन्दजी महाराज साहब का गढ़ जालोर में स्वर्गवास हुआ ।

आचार्यश्री के पाँचवें शिष्य कविवर नेमीचन्दजी महाराज थे । आपका विशेष परिचय अगले लेख में स्वतन्त्र रूप से दिया है । आपश्री के तीन शिष्य थे—सबसे बड़े वर्दीचन्दजी महाराज थे । वे मेवाड के बगडुंडा गाँव के निवासी थे । आपने लघु वय में दीक्षा ग्रहण की । वि० संवत् १९५६ में पंजाब के प्रसिद्ध सन्त मायारामजी महाराज मेवाड़ पधारे । कविवर नेमीचन्दजी महाराज के साथ उनका बहुत ही मधुर सम्बन्ध रहा । वर्दीचन्दजी महाराज की इच्छा मायारामजी महाराज के साथ पंजाब क्षेत्र स्पर्शने की हुई । कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज ने उन्हें सहर्ष अनुमति दी । वे पंजाब में पधारे । उनके शिष्य शेरे-पंजाब प्रेमचन्दजी महाराज हुए जो प्रसिद्ध वक्ता और विचारक थे । उनकी प्रवचन-कला बहुत ही अद्भुत थी । जब वे दहाड़ते थे तो श्रोता दंग हो जाते थे ।

कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के द्वितीय शिष्य हंसराजजी महाराज थे । वे मेवाड के देवास ग्राम के निवासी थे और बाफना परिवार के थे ।

आपकी प्रकृति बहुत ही भद्र थी । आप महान् तपस्वी थे, आपने अनेक बार साठ उपवास किये, कभी इकावन किये, कभी मासखमण किये । वि० संवत् में आपका स्वर्गवास हुआ । आपके तीसरे शिष्य दौलतरामजी महाराज थे जो देलवाड़ा के निवासी थे और आपका जन्म लोढा परिवार में हुआ था । आप जपयोगी सन्त थे ।

आचार्यश्री के छठे शिष्य पन्नालालजी महाराज थे । आप गोगुन्दा—मेवाड़ के निवासी थे । लोढा परिवार में आपका जन्म हुआ था । वि० संवत् १९४२ में आपने दीक्षा ग्रहण की थी । आपका गला बहुत ही मधुर था । कविवर नेमीचन्दजी और आप दोनों गुरुभ्राता जब मिलकर गाते थे तो रात्रि के शांत वातावरण में आपकी आवाज २-३ मील तक पहुँचती थी । आपश्री का स्वर्गवास मारवाड़ के राणावास ग्राम में हुआ । आपके सुशिष्य तपस्वी प्रेमचन्दजी महाराज थे जो उत्कृष्ट तपस्वी थे । भीष्म ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की चिलचिलाती धूप में आप आतापना ग्रहण करते थे और जाड़े में तन को कँपाने वाली सनसनाती सर्दी में रात्रि के अन्दर वे वस्त्रों को हटाकर शीत-आतापना लेते थे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। वि० संवत् १९८३ में मोकलसर ग्राम में आपका स्वर्गवास हुआ। आपके सुशिष्य उत्तमचन्दजी महाराज थे जो मेवाड़ के कपासन ग्राम के सन्निकट एक लघु ग्राम के निवासी थे। आप जाति से मालाकार थे। वि० संवत् १९५६ में आपने दीक्षा ग्रहण की। आप आगम साहित्य व थोकड़े साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। आपकी प्रकृति बहुत ही भद्र थी। आपका प्रवचन मधुर होता था। वि० संवत् २००० में मोकलसर ग्राम में आपका स्वर्गवास हुआ। आपश्री के दो शिष्य थे—जुवारमलजी महाराज और वाघमलजी महाराज, जिनकी क्रमशः जन्म-भूमि वागावास और पाटोदी थी। जुवारमलजी महाराज तपस्वी थे। आपकी प्रकृति सरल और भद्र थी। वाघमलजी महाराज को थोकड़ों का बहुत ही अच्छा परिज्ञान था। आपको सैकड़ों थोकड़े कण्ठस्थ थे।

आचार्यश्री के सातवें शिष्य ताराचन्दजी महाराज थे, जिनका परिचय अगले पृष्ठों में दिया गया है। आपश्री के सुशिष्य उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज, पंडित हीरामुनिजी महाराज और तपस्वी भैरूलालजी महाराज ये तीन शिष्य हैं। उपाध्यायश्री के देवेन्द्रमुनि, शांतिमुनि, गणेशमुनि रमेशमुनि और दिनेशमुनि शिष्य हैं और देवेन्द्र-मुनि के राजेन्द्रमुनि तथा गणेशमुनि के जिनेन्द्रमुनि और प्रवीणमुनि शिष्य हैं। इनका परिचय वर्तमान युग के सन्त-सती वृन्द के परिचय लेख में दिया गया है।

पंडित प्रवर श्री पूनमचन्दजी महाराज महान प्रतिभासम्पन्न थे। विक्रम संवत् १९५० में माघ कृष्णा सप्तमी को जोधपुर में चतुर्विध संघ ने आपश्री को योग्य समझ कर आचार्य पद प्रदान किया। आचार्यश्री ज्ञानमलजी महाराज का स्वर्गवास संवत् १९३० में हुआ था। उसके पश्चात् बीस वर्ष तक आचार्य पद रिक्त रहा, यद्यपि आपश्री आचार्य की तरह संघ का संचालन करते रहे। किन्तु पारस्परिक मतभेद की स्थिति के कारण एकमत से निर्णय नहीं हुआ था। इसका मूल कारण यह भी था कि आचार्यप्रवर ज्ञानमलजी महाराज ने अपना उत्तराधिकारी पूर्वघोषित नहीं किया था जिसके फलस्वरूप यह स्थिति उत्पन्न हुई थी। किन्तु आपश्री संघ का कुशल संचालन करते रहे जिससे प्रभावित होकर अन्त में संघ ने आपश्री को आचार्य चुना।

वि० सं० १९५२ का चातुर्मास आचार्यप्रवर का अपनी जन्मभूमि गढ़जालोर में था। प्रस्तुत वर्षावास में आचार्यश्री के तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर शताधिक व्यक्ति जैनधर्म के अभिमुख हुए। जैनधर्म और जैन संस्कृति में पण्डित-मरण का अत्यधिक महत्व है। प्रतिपल प्रतिक्षण साधक की यही प्रशस्त भावना रहती है कि वह दिन कब होगा जब मैं पण्डित-मरण को प्राप्त करूँगा। आचार्यप्रवर जागरूक थे। शरीर में कुछ व्याधि समुत्पन्न होने पर आचार्यश्री ने वीर सेनानी की तरह मुस्कराते हुए संल्लेखना सहित संथारा ग्रहण किया। ग्यारह दिन का संथारा आया और सं० १९५२ के भाद्रपद पूर्णिमा के दिन आपने समाधिपूर्वक स्वर्ग की राह ली।

सहस्राधिक भावुक भक्तगण जय-जय के गगनभेदी नारों से चतुर्दिशाओं को मुखरित करते हुए शोभायात्रा की तैयारी करने लगे। जनता ने श्रद्धावश एक भव्य विमान का निर्माण किया था। उसमें आचार्यप्रवर का विमुक्त शरीर रखा गया था। सभी उसे लेकर श्मशान पहुँचे। शरीर का दाहसंस्कार करने के लिए चन्दन की चिता लगायी गयी। ज्योतिपुञ्ज का वह विमुक्त शरीर पुनः ज्योति से प्रज्वलित हो उठा। अगरु की सुगन्ध से वातावरण महक उठा। घी, कपूर और नारियलों का प्रज्वलन वातावरण को सुरभित कर रहा था। लोगों ने देखा आचार्यप्रवर का दिव्य देह विमान सहित जल गया है किन्तु विमान पर जो तुर्रा था वह अग्निस्नान करने पर भी प्रह्लाद की तरह जला नहीं है। श्रद्धालु श्रावकगण वीर हनुमान की तरह उसे लेने के लिए लपके किन्तु वह इन्द्र धनुष की तरह रंग-बिरंगे रंग परिवर्तन करता हुआ पक्षी की तरह उड़कर अनन्त गगन में विलीन हो गया। अद्भुत आश्चर्य से सभी विस्मित थे।

वहाँ से सभी श्रावकगण स्नान के लिए जलकुंड पर पहुँचे। वहाँ का जल केशर की तरह रंगीन, गुलाबजल की तरह सुगन्धित और गंगाजल की तरह निर्मल व शीतल था जिसे देखकर सभी चकित हो गये और उनके हृत्तन्त्री के सुकुमार तार झनझना उठे। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !! धन्य है आचार्यश्री को जिन्होंने स्वर्ग में पधार करके भी नास्तिकों को आस्तिक बनाया। प्रस्तुत घटना प्रत्यक्षद्रष्टा श्रावकों के मुँह से मैंने सुनी। वस्तुतः आचार्यप्रवर का जीवन महान् था। वे महान् प्रभावशाली आचार्य थे। और उन्होंने अपने आचार्यकाल में हर दृष्टि से शासन का विकास करने का प्रयत्न किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अध्यात्मयोगी सन्तश्रेष्ठ ज्येष्ठमलजी महाराज

भगवान महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् यद्यपि जैन गगन में किसी सहस्ररश्मी सूर्य का उदय नहीं हुआ किन्तु यह एक ज्वलन्त सत्य है कि समय-समय पर अनेक ज्योतिष्मान नक्षत्र उदित हुए हैं जो अज्ञान अन्धकार से जूझते रहे। अपने दिव्य-प्रभामण्डल के आलोक से विश्व का पथ प्रदर्शन करते रहे। ऐसे प्रभापुञ्ज ज्योतिष्मान नक्षत्रों से जप-तप, सेवा-सहिष्णुता और सद्भावना की चमचमाती किरणें विश्व में फैलती रही हैं। ऐसे ही एक दिव्य नक्षत्र थे अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज। आपका जन्म बाड़मेर जिले के समदडी ग्राम में विक्रम संवत् १९१४ पौष कृष्णा तीज को हुआ था। आपके पूज्य पिताश्री का नाम हस्तिमलजी और माताजी का नाम लक्ष्मीबाई था जिन्हें प्रेम के कारण लोग हाथीजी और लिछमाबाई भी कहा करते थे। आपका वंश ओसवाल और लुंकड गोत्र था। आपके पूज्य पिताश्री और मातेश्वरी दोनों ही धर्मनिष्ठ थे। पिताश्री व्यापारकला में कुशल थे। वे न्याय और नीति से और कठोर परिश्रम से धन कमाते थे और मातेश्वरी लक्ष्मी बहन को सत्संगति बहुत ही प्यारी थी। जब भी समय मिलता उस समय को वह निरर्थक वार्तालाप या किसी की निन्दा विकथा न कर धर्मस्थानक में पहुँचती और मौन रहकर समभाव की साधना करती जिसे जैन परिभाषा में सामायिक कहते हैं। माता के ये संस्कार बालक ज्येष्ठमलजी के जीवन में झलकने स्वाभाविक थे।

नेपोलियन से किसी जिज्ञासु ने पूछा कि आपने यह वीरता कहाँ से सीखी? उसने उत्तर में कहा कि माता के दूध के साथ मुझे प्राप्त हुई थी। यदि कोई साधक ज्येष्ठमलजी महाराज से पूछता कि आपके जीवन में आध्यात्मिकता कैसे आयी तो सम्भव है कि वे यही कहते कि माता की जन्मघूंटी के साथ ही मिली। सत्य-तथ्य यह है कि माता के दूध के साथ जो संस्कार मिलते हैं वे चिरस्थायी होते हैं। बालक का हृदय निर्विकारी होता है। वह कच्ची मिट्टी के पिण्ड के सदृश है। माता-पिता जैसा संस्कार उसमें भरना चाहें जैसी मूर्ति निर्माण करना चाहें वैसा ही कर सकते हैं।

बालक ज्येष्ठमलजी का अध्ययन समदडी में ही सम्पन्न हुआ। उस युग में गाँवों में उच्चतम अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं थी। जीवनोपयोगी अध्ययन कराया जाता था। अध्ययन सम्पन्न होने पर हस्तीमलजी ने अपने पुत्र का विवाह सम्बन्ध करना चाहा। पुत्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मुझे अभी विवाह नहीं करना है। मेरे अन्तर्मानस में संसार के प्रति किंचित् मात्र भी आसक्ति नहीं है।

ज्योतिर्धर जैनाचार्यश्री पूनमचन्दजी महाराज जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म-दीप जलाते हुए समदडी पधारे। आचार्यश्री के पावन उपदेशों को सुनकर किशोर ज्येष्ठमलजी के मन की कलियाँ उसी प्रकार खिल गयीं जैसे सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर सूरजमुखी फूल खिलता है। किशोर ज्येष्ठमलजी के भीतर दिव्य संस्कारों की झलक थी। सत्संग से शनैः शनैः विचारों में एक रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और किशोर ज्येष्ठमलजी ने एक दिन अपने विचार माता-पिता के सामने रखे। माता-पिता ने कहा—वत्स! अभी तुम युवावस्था में प्रवेश करने जा रहे हो। तुम हमारे कुल-दीपक हो। पहले विवाह करो और तुम्हारी सन्तान होने के पश्चात् तुम साधना के मार्ग को स्वीकार करना। भगवान महावीर ने भी तो माता-पिता के आग्रह से विवाह किया था। फिर तुम्हें इतनी क्या जल्दी है।

किशोर ज्येष्ठमल ने कहा—पूज्यप्रवर, आपका कथन उचित है। वे विशिष्ट ज्ञानी थे, किन्तु मुझे विशेष ज्ञान नहीं है जिससे मैं कह सकूँ कि मेरी इतनी उम्र है। विषय तो विष के समान भयंकर हैं। क्या कभी रक्त से सना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ वस्त्र रक्त से साफ हो सकता है ? वैसे ही विषय-विकारों से किसी की तृप्ति नहीं हुई है। मुझे उनके प्रति किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं है। आप मुझे सहर्ष अनुमति प्रदान करें जिससे मैं आचार्य प्रवर के सन्निकट प्रव्रज्या ग्रहण कर जीवन को निर्मल बना सकूं।

पुत्र की उत्कृष्ट विरक्ति-वृत्ति को देखकर माता-पिता ने सहर्ष अनुमति प्रदान की और सत्तरह वर्ष की उम्र में सं० १९३१ में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षा समदडी में ही सम्पन्न हुई। आचार्यश्री के सान्निध्य में रहकर आपने आगम साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। आपकी लिपि बहुत ही सुन्दर थी। आपके जीवन की महान् विशेषता थी स्वाध्याय और ध्यान। दिन में अधिकांश समय आपका स्वाध्याय में व्यतीत होता था। आपका अभिमत था कि जैसे शरीर की स्वस्थता के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे जीवन की पवित्रता के लिए स्वाध्याय आवश्यक है। जैसे नन्दनवन में परिभ्रमण करने से अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है वैसे ही स्वाध्याय के नन्दनवन में विचरण करने से जीवन में आह्लाद होता है। स्वाध्याय वाणी का तप है। उससे हृदय का मैल धुलकर साफ हो जाता है। स्वाध्याय एक अन्तः प्रेरणा है जिससे आत्मा परमात्मा बन जाता है। स्वाध्याय से योग और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। स्वाध्याय का अर्थ है अपनी आत्मा का अपने अन्तरात्मा में डुबकी लगाकर अध्ययन करना। मैं कौन हूँ और मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है इत्यादि का चिन्तन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है, जन्म जन्मान्तरों में संचित किये हुए कर्म स्वाध्याय से क्षीण हो जाते हैं। स्वाध्याय अपने आप में एक तप है। उसकी साधना आराधना में साधक को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। निरन्तर स्वाध्याय से मन निर्मल और पारदर्शी बन जाता है और शास्त्रों के गम्भीर भाव उसमें प्रतिबिम्बित होने लगते हैं।

रात्रि का अधिकांश समय आप जप-साधना में लगाते थे। मन को स्थिर और तन्मय बनाने के लिए अशुभ विचारों से हटकर शुभ विचारों में लीन होने के लिए जप किया जाता है। जप के निष्काम और सकाम ये दो भेद हैं। किसी कामना व सिद्धि के लिए इष्टदेव का जप करना सकाम-जप है और बिना कामना के एकान्त निर्जरा के लिए जप करना निष्काम-जप है। जप के भाष्यजप, उपांशुजप और मानसजप ये तीन प्रकार हैं। सर्वप्रथम भाष्यजप करना चाहिए, उसके पश्चात् उपांशु और उसके पश्चात् मानसजप करना चाहिए। ज्येष्ठ मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर जिस समय उपाश्रय में लोग बैठे रहते थे उस समय वे सो जाते थे और ज्यों ही लोग चले जाते त्यों ही एकान्त शान्त स्थान पर खड़े होकर जप की साधना करते थे और प्रातः काल जब लोग आते तो पुनः सो जाते थे। इस प्रकार उनकी साधना गुप्त रूप से चलती थी। लोग उन्हें आलसी समझते थे, किन्तु वे अन्तरंग में बहुत ही जागरूक थे। स्वाध्याय और जप की साधना से उन्हें वचनसिद्धि हो गयी थी। अतः लोग उन्हें पंचम आरे के केवली कहते थे।

एक बार आपश्री आहोर से विहार कर बादनवाडी पधार रहे थे। रास्ते में उस समय के प्रकाण्ड पण्डित विजयराजेन्द्र सूरिजी अपने शिष्यों के साथ आपसे मिले। आपश्री ने स्नेह-सौजन्यता के साथ वार्तालाप किया। राजेन्द्रसूरिजी ने अहंकार के साथ कहा कि आप मेरे से शास्त्रार्थ करें। आपश्री ने कहा आचार्यजी शास्त्रार्थ से कुछ भी लाभ नहीं है। न आप अपनी मान्यता छोड़ेंगे, और न मैं अपनी मान्यता छोड़ूंगा। फिर निरर्थक शास्त्रार्थ कर शक्ति का अपव्यय क्यों किया जाय ? शास्त्रार्थ में राग-द्वेष की वृद्धि होती है, किन्तु अन्य कुछ भी लाभ नहीं होता। अतः आप अपनी साधना करें और मैं अपनी साधना करूँ, इसी में लाभ है।

राजेन्द्र सूरिजी ने जरा उपहास करते हुए कहा—ये ढूंढिया पढ़ा हुआ नहीं है। लगता है मूर्खराज शिरोमणि है। इसीलिए शास्त्रार्थ से कतराता है। राजेन्द्र सूरिजी के सभी शिष्य खिलखिला कर हँस पड़े।

महाराजश्री ने उसी शान्तमुद्रा में कहा—अभी इतनी शास्त्रार्थ की जल्दी क्यों कर रहे हैं ? कल ही आपका शास्त्रार्थ हो जायगा। यह कहकर महाराजश्री अपने लक्ष्य की ओर चल दिये और राजेन्द्र सूरिजी भी आहोर पहुँच गये। आहोर पहुँचते ही दस्त और उलटियाँ प्रारंभ हो गयीं। वैद्य और डाक्टरों से उपचार कराया गया किन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इतनी अधिक दस्त और उलटी हुईं कि राजेन्द्रसूरिजी बेहोश हो गये। सारा समाज उनकी यह स्थिति देखकर घबरा गया। जरा-सा होश आने पर उन्हें ध्यान आया कि मैंने अभिमान के वश उस अध्यात्मयोगी सन्त का जो अपमान किया जिसके फलस्वरूप ही मेरी यह दयनीय स्थिति हुई है। उन्होंने उसी समय अपने प्रधान शिष्य विजय घनचन्द्रजी सूरि को बुलाकर कहा—तुम अभी स्वयं बादनवाडी जाओ और मुनि ज्येष्ठमल जी महाराज से मेरी ओर से जाकर क्षमायाचना करो। मुझे नहीं पता था कि वह इतना चमत्कारी महापुरुष है। यदि तुमने विलंब किया तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे प्राण ही संकट में पड़ जायेंगे। राजेन्द्रसूरि के आदेश को शिरोधार्य कर शिष्य वादनवाड़ी पहुँचे और महाराजश्री से क्षमाप्रार्थना की। महाराजश्री ने कहा कि इस प्रकार ज्ञानियों का अभिमान करना योग्य नहीं है। यदि उन्हें शास्त्रार्थ करना है तो मैं प्रस्तुत हूँ।

शिष्यों ने राजेन्द्रसूरिजी की ओर से क्षमायाचना की और कभी भी किसी सन्त का अपमान न करेंगे ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण की। महाराजश्री ने कहा—सूरिजी ठीक हो चुके हैं। आप पुनः सहर्ष जा सकते हैं। शिष्यों ने ज्यों ही जाकर देखा त्यों ही सूरि जी की उलटी और दस्तें बन्द हो चुकी थीं और वे कुछ स्वस्थता का अनुभव कर रहे थे।

एक बार आपश्री जालोर विराज रहे थे। प्रवचन के पश्चात् आपश्री स्वयं भिक्षा के लिए जाते थे। ज्यों ही आप स्थानक से निकलते त्यों ही प्रतिदिन एक वकील, सामने मिलता जिसके मन में साम्प्रदायिक भावना के कारण आपके प्रति अत्यधिक घृणा की भावना थी। महाराजश्री ज्यों ही आगे निकलते त्यों ही वह अपने पैर के जूते निकालकर अपशकुन के निवारणार्थ उसे पत्थर पर तीन बार प्रहार करता था। प्रतिदिन का यही क्रम था। एक दिन किसी सज्जन ने गुरुदेव को बताया कि यह प्रतिदिन इस प्रकार का कार्य करता है।

महाराजश्री ने उसे समझाने की दृष्टि से दूसरे दिन पीछे मुड़कर देखा तो वह पत्थर पर जूते का प्रहार कर रहा था। महाराजश्री ने मधुर मुसकान बिखेरते हुए कहा—वकील साहब, यह क्या कर रहे हैं? आप जैसे समझदार बुद्धिमान व्यक्तियों को इस प्रकार सन्तों से नफरत करना उचित नहीं है। सन्त तो मंगल स्वरूप होते हैं। उनका दर्शन जीवन में आनन्द प्रदान करता है।

वकील साहब ने मुँह को मटकाते हुए कहा—आपके जैसों को हम सन्त थोड़े ही मानते हैं। ऐसे तो बहुत नामधारी साधु फिरते रहते हैं।

महाराजश्री ने कहा—आपका यह भ्रम है। सन्त किसी भी सम्प्रदाय में हो सकते हैं। किसी एक सम्प्रदाय का ही ठेका नहीं है। सन्तों का अपमान करना उचित नहीं है। एक सन्त का अपमान सभी सन्त-समाज का अपमान है। अतः आपको विवेक रखने की आवश्यकता है।

वकील साहब ने कहा—ऐसे तीन सौ छप्पन सन्त देखे हैं।

महाराजश्री ने कहा—यहाँ पत्थर पर जूते क्यों मारते हैं? सिर पर ही जूते पड़ जायेंगे। यों कहकर महाराजश्री आगे बढ़ गये और वकील साहब कोर्ट में पहुँचे। वकील साहब के प्रति गलतफहमी हो जाने के कारण न्यायाधीश ने आज्ञा दी कि वकील साहब के सिर पर इक्कीस जूते लगाकर पूजा की जाय।

वकील साहब अपनी सफाई पेश करना चाहते थे, पर कोई सुनवाई नहीं हुई और जूतों से उनकी पिटाई हो गयी।

उस दिन से वकील साहब किसी भी सन्त का अपमान करना भूल गये और वकील साहब महाराजश्री के परम भक्त बन गये। इसको कहते हैं 'चमत्कार को नमस्कार'।

आचार्यप्रवर श्रीलालजी महाराज के एक शिष्य थे जिनका नाम धन्ना मुनि था। वे मारवाड़ में सारण गाँव के निवासी थे। उन्होंने आचार्य श्रीलालजी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की और तेले-तेले पारणा करते थे। लोग कहते थे चतुर्थ आरे का धन्ना तो बेले-बेले पारणा करता था और यह पंचम आरे का धन्ना उससे भी बढ़कर है जो तेले-तेले पारणा करता है। एक बार आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी महाराज ब्यावर के सन्निकट 'बरं' गाँव में पधारे। उधर धन्ना मुनि जी वहाँ पर अन्यत्र स्थल से विहार करते हुए पहुँच गये। जंगल में महाराजश्री उनसे मिले। किन्तु धन्ना मुनि को अपने तप का अत्यधिक अभिमान था। महाराजश्री ने स्नेह सद्भावना भरे शब्दों में सुखसाता पूछने पर भी वे नम्रता के साथ पेश नहीं आये। अभिमान के वश होकर उन्होंने कहा—ज्येष्ठमलजी, पूज्य श्रीलालजी महाराज साधु ही सच्चे साधु हैं। अन्य सम्प्रदाय के साधु तो भाड़े के ऊँट है, जो इधर-उधर घूमते रहते हैं। उनमें कहाँ साधुपना है? वे तो रोटियों के दास हैं।

महाराजश्री ने कहा—धन्ना मुनि! आप तपस्वी हैं, साधु हैं। कम से कम भाषा समिति का परिज्ञान तो आपको होना ही चाहिए। सभी सम्प्रदाय में अच्छे साधु हो सकते हैं। इस प्रकार मिथ्या अहंकार करना उचित नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धन्नामुनि—मुनिजी ! सत्य बात कहने में कभी संकोच नहीं करना चाहिए। मैं साधिकार कह सकता हूँ कि पूज्य श्रीलालजी महाराज के सम्प्रदाय के अतिरिक्त कोई सच्चे व अच्छे साधु नहीं हैं।

महाराजश्री ने एक क्षण चिन्तन के पश्चात् कहा—आप जिस सम्प्रदाय की इतनी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं, उस सम्प्रदाय को अमुक दिन आप छोड़ देंगे और जिस तप के कारण आपको अहंकार आ रहा है उससे भी आप भ्रष्ट हो जायेंगे। तप अच्छा है, चारित्र श्रेष्ठ है, किन्तु तप और चारित्र का अहंकार पतन का कारण है।

महाराजश्री इतना कहकर चल दिये। धन्ना मुनि व्यंग्य भरी हँसी हँसते हुए अपने स्थान पर चले आये और जिस दिन के लिए महाराजश्री ने भविष्यवाणी की थी, उसी दिन उन्होंने सम्प्रदाय का परित्याग कर दिया और तप आदि को छोड़कर विषय-वासना के गुलाम बन गये।

इसी तरह आचार्यश्री श्रीलालजी महाराज के शिष्य घेवर मुनि थे। उन्हें अपने ज्ञान तथा सम्प्रदाय का भयंकर अभिमान था। वे एक बार रोहट गाँव में महाराजश्री से मिले। उन्होंने भी अहंकार से महाराजश्री का भयंकर अपमान किया। उन्हें यह अभिमान था कि सबसे बढ़कर मैं ज्ञानी हूँ और हमारा सम्प्रदाय साधुओं की दृष्टि से और श्रावकों की दृष्टि से समृद्ध है। महाराजश्री ने कहा—घेवर मुनिजी ! आप इतना अभिमान न करें। आप अपने आपको महान् ज्ञानी समझते हैं। यह बड़ी भूल है। गणधर, श्रुतकेवली और हजारों ज्योतिर्धर जैनाचार्य हुए हैं। उनके ज्ञान के सामने आपका ज्ञान कुछ भी नहीं है। सिन्धु में बिन्दु सदृश ज्ञान पर भी आपको इतना अहंकार है। यह सत्य ज्ञान की नहीं किन्तु अज्ञान की निशानी है। ज्ञानी वह है जिसमें अहंकार न होकर विनय हो। रहा सम्प्रदाय का प्रश्न ? मैं स्वयं मानता हूँ कि पूज्य श्रीलालजी महाराज क्रियानिष्ठ श्रेष्ठ सन्तों में से हैं। आपका सम्प्रदाय भी बड़ा है, किन्तु अहंकार करना योग्य नहीं है।

घेवर मुनि ने अहंकार की भाषा में ही कहा कि सत्य को छिपाना पाप है। किसी भी सम्प्रदाय में इतने ज्ञानी-ध्यानी व तपस्वी सन्त नहीं हैं। वस्तुतः श्रीलालजी महाराज का सम्प्रदाय ही एक उत्कृष्ट सम्प्रदाय है और तो सभी नामधारी व पाखण्डी साधु हैं।

महाराजश्री ने कहा—ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है। आप जिस सम्प्रदाय की प्रशंसा करते हुए फूले जा रहे हैं अमुक दिन आप स्वयं इस सम्प्रदाय को छोड़ देंगे और मन्दिरमार्गी सन्त बन जायेंगे।

वस्तुतः महाराजश्री ने जिस दिन के लिए उद्घोषणा की उसी दिन घेवर मुनि मंदिरमार्गी सन्त बन गये और वे ज्ञानसुन्दरजी नाम से विश्रुत हुए। उन्होंने स्थानकवासी सम्प्रदाय के विरोध में बहुत कुछ लिखा। वे जब मुझे पीपलिया और जोधपुर में मिले तब स्वयं उन्होंने मुझे यह घटना सुनायी कि तुम उस महापुरुष की शिष्य परम्परा में हो जो महापुरुष वचनसिद्ध थे। बड़े चमत्कारी थे।

समदडी में नवलमलजी भण्डारी आपश्री के परमभक्त थे। वे आपश्री को कहा करते थे कि गुरुदेव मुझे भी क्या संथारा आयगा ? मेरी अन्तिम समय में संथारा करने की इच्छा है। वे पूर्ण स्वस्थ थे। सर्दी का समय था। घर पर वे बाजरी का पटोरिया पी रहे थे। आपश्री उनके वहाँ सहजरूप से भिक्षा के लिए पधारे। भण्डारी नवलमलजी ने खड़े होकर आपश्री को वन्दन किया। महाराजश्री ने उनकी ओर देखकर कहा—नवलमल, तू मुझे संथारे के लिए कहता था। अब बाजरी का पटोरिया पीना छोड़ और जावज्जीव का संथारा कर ले।

नवलमल जी ने कहा—गुरुदेव, मैं तो पूर्ण स्वस्थ हूँ। इस समय संथारा कैसे ? महाराजश्री ने कहा यदि मेरे पर विश्वास है तो संथारा कर। नवलमलजी ने संथारा किया। सभी लोग आश्चर्यचकित थे। किन्तु किसी की भी हिम्मत नहीं हुई कि महाराजश्री के सामने कुछ कहते। तीन दिन तक संथारा चला और वे स्वर्गस्थ हो गये।

एक बार जब महाराजश्री समदडी विराज रहे थे। उस समय एक युवक और युवती विवाह कर मांगलिक श्रवण करने के लिए आपके पास आये। महाराजश्री ने युवक को देखकर कहा—तुझे यावज्जीवन अब्रह्मसेव का त्याग करना है। युवक कुछ भी नहीं बोल सका। लोगों ने कहा—गुरुदेव, अभी तो यह विवाह कर आया ही है। यह कैसे नियम ले सकता है ? महाराजश्री ने कहा—मैं जो कह रहा हूँ। अन्त में महाराजश्री ने उसे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन का नियम दिला दिया। सायंकाल चार पाँच बजे उसे अकस्मात् ही हृदयगति का दौरा हुआ और उसने सदा के लिए आँख मूँद लीं। तब लोगों को पता लगा कि महाराजश्री ने यह नियम क्यों दिलाया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपश्री का चातुर्मास विक्रम संवत १९६३ में सालावास था। संवत्सरी महापर्व का आराधन उल्लास के क्षणों में सम्पन्न हुआ। प्रतिक्रमण पूर्ण हुआ। रात्रि के दस बजे होंगे कि महाराजश्री ने सभी श्रमणों को और श्रावकों को कहा कि वस्त्र पात्र आदि जो भी तुम्हारे नेश्राय की सामग्री है वह सारी सामग्री लेकर इस स्थानक से बाहर चले जाओ। श्रावकों को भी जो १११ व्यक्ति पौषध किये हुए थे उन सभी को कहा कि बाहर निकलो। श्रावकों ने और श्रमणों ने निवेदन किया—गुरुदेव, रिमझिम वर्षा आ रही है। इस वर्षा के समय हम कहाँ जाय? और रात भी अँधियारी है।

महाराजश्री ने कहा—मैं कहता हूँ सभी मकान खाली कर दें। चाहे वर्षा है उसकी चिन्ता न करें। महाराजश्री के आदेश से सभी बाहर निकल गये। महाराजश्री उसी मकान में विराजे रहे। जब सभी बाहर चले गये तब महाराजश्री ने हाथ में रजोहरण लेकर सारे मकान को देखा कि कहीं कोई नींद में सोया हुआ तो नहीं है। सभी को देखने के पश्चात महाराजश्री बाहर पधारे और ज्यों ही बाहर पधारे त्यों ही वह तीन मंजिल का भवन एकाएक हड़हड़ करता हुआ ढह गया। तब लोगों को ज्ञात हुआ कि महाराजश्री ने सबको मकान से बाहर क्यों निकाला। यह थी उनकी आध्यात्मिक शक्ति जिससे भविष्य में होने वाली घटना का उन्हें सहज परिज्ञान हो जाता था।

पूज्य गुरुदेव ज्येष्ठमलजी महाराज एक बार समदडी विराज रहे थे। प्रातःकाल का समय था। एक श्रावक रोता हुआ धर्मस्थानक में आया—गुरुदेव, मैं आँखों की भयंकर व्याधि से अत्यधिक परेशान हो गया हूँ, अनेक उपचार किये किन्तु व्याधि मिट ही नहीं रही है अब तो आपकी ही शरण है।

आपश्री उस समय शौच के लिए बाहर पधारने वाले थे। आपने कहा—भाई, सन्तों के पास क्या है यहाँ तो केवल धूल है। उस व्यक्ति ने आपके चरणों की धूल लगाई त्यों ही व्याधि इस प्रकार नष्ट हो गई कि उसे पता ही नहीं चला कि पहले व्याधि कभी थी। रोता हुआ आया था और हँसता हुआ लौटा। अनेकों व्यक्ति भूत-प्रेत आदि की पीड़ाओं से ग्रसित थे वे आपश्री से मांगलिक सुनकर पूर्णरूप से स्वस्थ हो जाते थे। पण्डितप्रवर नारायण दास जी महाराज जिनको आपश्री ने दीक्षा प्रदान की थी और उन्हें पण्डितप्रवर रामकिशनजी महाराज का शिष्य घोषित किया था, उनके एक शिष्य थे मुलतानमलजी महाराज। जब ज्येष्ठमलजी महाराज का स्वर्गवास हो गया तब उन्हें एकाएक खून की उल्टी और दस्त होने लगे और भयंकर उपद्रव भी करने लगे। उस समय नागौर से मन्त्रवादी जुलाहा आया। उसने मन्त्र के द्वारा जिन्द को बुलवाया कि तू मुनिश्री को कब से लगा हुआ है? जिन्द ने कहा—मैं आज से पाँच वर्ष पूर्व लगा था। इन्होंने मेरे स्थान पर पेशाब कर दिया था। किन्तु इतने समय तक ज्येष्ठमलजी महाराज जीवित थे, उनका आध्यात्मिक तेज इतना था कि मैं प्रकट न हो सका। यदि मैं प्रगट हो जाता तो एक दिन भी मुझे नहीं रहने देते। उनके स्वर्गवास के बाद ही मेरा जोर चला। यह थी उनकी आध्यात्मिक शक्ति जिनसे उनके सामने भूत भी भयभीत हो जाते थे।

आपश्री के प्रमुख शिष्य थे नेणचन्दजी महाराज जो समदडी के ही निवासी थे और लुंकड परिवार के थे। आपका स्वभाव बहुत ही मिलनसार तथा सेवापरायण था। आपके दूसरे शिष्य गढ़सीवाना के निवासी हिन्दूमल जी महाराज थे जो रांका परिवार के थे। हिन्दूमलजी महाराज ने आर्हती दीक्षा ग्रहण करते ही दूध, दही, घी, तेल मिष्टान्न इन पाँच विगय का परित्याग कर दिया था। साथ ही वे एक दिन उपवास और दूसरे दिन भोजन लेते थे। साथ ही अनेक बार वे आठ-आठ दस-दस दिन के उपवास भी करते थे। किन्तु पारणे में सदा रुक्ष आहार ग्रहण करते थे। बहुत ही उग्र तपस्वी थे। श्रद्धेय श्री ताराचन्दजी महाराज ज्येष्ठमलजी महाराज के लघु गुरुभ्राता थे। किन्तु आचार्य पूनमचन्द जी महाराज का, दीक्षा के तीन वर्ष पश्चात् स्वर्गवास हो जाने से आपश्री ज्येष्ठमल जी महाराज के पास ही रहे। उन्हीं के पास अध्ययन किया और गुरु की तरह उन्हें पूजनीय मानते रहे। आपकी उन्होंने बहुत ही सेवा की जिसके फलस्वरूप आपके हृदय से अन्तिम समय में यह आशीर्वाद निकला—ताराचन्द, तेरे आनन्द ही आनन्द होगा।

आपके जीवन के अनेकों चामत्कारिक संस्मरण हैं। किन्तु विस्तारभय से मैं यहाँ उन्हें उट्टंकित नहीं कर रहा हूँ। श्री ज्येष्ठमलजी महाराज को अनेक बार संघों ने आचार्य पद ग्रहण करने की प्रार्थना की। किन्तु आपश्री ने सदा यही कहा कि मुझे आचार्य पद नहीं चाहिए। मैं सामान्य साधु रहकर ही संघ की सेवा करना चाहता हूँ। आपमें नाम की तनिक भी भूख नहीं थी। राजस्थान के सैकड़ों ठाकुर आपके परमभक्त थे। आप उपाधि के नहीं समाधि के इच्छुक थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवत् १९७४ में आप समदडी पधारे और साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चारों संघ को बुलाकर कहा—मेरा अब अन्तिम समय सन्निकट आ चुका है। आपने शान्त और स्थिर मन से निश्शल्य होकर आलोचना की। संल्लेखना व संथारा किया। श्रावकों ने निवेदन किया—गुरुदेव ! आपश्री का शरीर पूर्ण स्वस्थ है। इस असमय में यह संथारा कैसे ?

आपश्री ने कहा—मुझे तीन दिन का संथारा आयेगा। वैशाख शुक्ला चतुर्थी के दिन मध्याह्न में एक बजे जिस समय पाली से जो ट्रेन समदडी स्टेशन पर आती है, उसके यात्रीगण समदडी गाँव में आएँगे और मेरे दर्शन करेंगे, उसी समय मेरा स्वर्गवास हो जायगा। जैसे महाराजश्री ने कहा था—उसी दिन, उसी समय आपश्री का स्वर्गवास हुआ, स्वर्गवास के समय हजारों लोग बाहर से दर्शनार्थ उपस्थित हुए थे।

अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज अपने युग के एक महान चमत्कारी वचनसिद्ध महापुरुष थे। आपका जीवन सादगीपूर्ण था। आप आडम्बर से सदा दूर रहते थे और गुप्त रूप से अन्तरंग साधना करते थे। आपकी साधना मन्दिर के शिखर की तरह नहीं किन्तु नींव की ईंट की तरह थी। आज भी जो श्रद्धालु आपके नाम का श्रद्धा से स्मरण करते हैं वे आधि-व्याधि-उपाधि से मुक्त होते हैं। आपके नाम में भी वह जादू है जो जन-जन के मन में आह्लाद उत्पन्न कर देता है। आप महान प्रभावक सन्त थे। आपसे जैन शासन की अत्यधिक प्रभावना हुई।

महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज

विश्व के मूर्धन्य मनीषियों ने जीवन के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन किया है। यह सत्य है कि संस्कृति की भिन्नता के कारण चिन्तन की पद्धति पृथक्-पृथक् रही। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकता-प्रधान होने से उन्होंने भौतिक दृष्टि से जीवन पर विचार किया है, तो पौर्वात्य संस्कृति ने अध्यात्म-प्रधान होने से आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन किया। भारतीय जीवन बाहर से अन्दर की ओर प्रवेश करता है तो पाश्चात्य जीवन अन्दर से बाहर की ओर अभिव्यक्ति पाता है। महात्मा ईसा ने बाइबल में जिस जीवन की परिभाषा पर चिन्तन किया है उस परिभाषा को शेक्सपियर ने अत्यधिक विस्तार दिया है। वेद, उपनिषद्, आगम और त्रिपिटक साहित्य में जीवन की जो व्याख्या की गयी है वह दार्शनिक युग में अत्यधिक विकसित हो गयी। भारतीय संस्कृति में जीवन के तीन रूप स्वीकार किये हैं—ज्ञानमय, कर्ममय और भक्तिमय। वैदिक परम्परा में जिस त्रिपुटी को ज्ञान, कर्म और भक्ति कहा है उसे ही जैन दर्शन में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा है और बौद्ध परम्परा में वही प्रज्ञा, शील और समाधि के नाम से विश्रुत है। यह पूर्ण सत्य है कि श्रद्धा ज्ञान और आचार से जीवन में पूर्णता आती है। पाश्चात्य विचारक टेनिसन ने भी लिखा है—

"Self-reverence, Self-knowledge and Self-control, these three alone lead life to sovereign power."

आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान और आत्मसंयम इन तीन तत्त्वों से जीवन परम शक्तिशाली बनता है।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी ने जीवन पर चिन्तन करते हुए लिखा है—जीवन का उद्देश्य आत्मदर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीव मात्र की सेवा करना है। महादेवी वर्मा ने साहित्यिक दृष्टि से जीवन पर विचार करते हुए लिखा है—जीवन जागरण है, सुषुप्ति नहीं; उत्थान है पतन नहीं; पृथ्वी के तमसाच्छन्न अन्धकारमय पथ से गुजरकर दिव्यज्योति से साक्षात्कार करना है; जहाँ द्वन्द्व और संघर्ष कुछ भी नहीं है। जड़, चेतन के बिना विकास-शून्य है और चेतन, जड़ के बिना आकार-शून्य है। इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया ही जीवन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—जीवन का रहस्य भोग में नहीं, त्याग में है। भोग मृत्यु है और त्याग जीवन है। सुकरात ने लिखा है—जीवन का उद्देश्य ईश्वर की भाँति होना चाहिए। ईश्वर का अनुसरण करते हुए आत्मा भी एक दिन ईश्वरतुल्य हो जायगी। श्रेष्ठ जीवन में ज्ञान और भावना, बुद्धि और सुख दोनों का सम्मिश्रण होता है। टालस्टाय ने लिखा—मानव का सच्चा जीवन तब प्रारम्भ होता है जब वह यह अनुभव करता है कि शारीरिक जीवन अस्थिर है और वह सन्तोष नहीं दे सकता। इस प्रकार जीवन के सम्बन्ध में चिन्तकों ने समय-समय पर विविध प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।

एक महान् दार्शनिक से किसी जिज्ञासु ने पूछा—जीवन क्या है? दार्शनिक ने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् कहा—जीवन एक कला है, जो कुसंस्कारों को हटाकर सुसंस्कारों से संस्कृत किया जाता है। जीवन को संस्कारित बनाने के लिए चरित्र की आवश्यकता है। फ्रेडरिक सैण्डर्स ने सत्य ही कहा है—

"Character is the governing element of life, and is above genius."

चरित्र जीवन में शासन करने वाला तत्त्व है और वह प्रतिभा से उच्च है।

बर्टल ने भी लिखा है—

"Character is a diamond that scratches every other stone."

चरित्र एक ऐसा हीरा है जो हर किसी पत्थर को काट सकता है।

चरित्र से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरता है और चरित्र ही व्यक्ति को अमर बनाता है। भारत के महान् अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने व्यक्ति को क्षर और व्यक्तित्व को अक्षर कहा है। व्यक्ति वह है जो आकर लौट जाता है, बनकर बिगड़ जाता है; किन्तु व्यक्तित्व वह है जो आकर लौटता नहीं, बनकर बिगड़ता नहीं। व्यक्ति मरता है किन्तु व्यक्तित्व अमर रहता है। महास्थविर परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री ताराचन्दजी महाराज व्यक्तिरूप से हम से पृथक् हो गये हैं किन्तु व्यक्तित्वरूप से वे आज भी जीवित हैं और भविष्य में भी सदा जीवित रहेंगे।

महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज का जन्म वीरभूमि मेवाड़ में हुआ। मेवाड़ बलिदानों की पवित्र भूमि है। सन्त महात्माओं की दिव्यभूमि है भक्त और कवियों की व्रजभूमि है; एक शब्द में कहूँ तो वह एक अद्भुत खान है जिसने अगणित रत्न पैदा किये। मेवाड की पहाड़ी और पथरीली धरती में अद्भुत तत्त्व भरे हैं। वहाँ की जलवायु में विशिष्ट ऊर्जा है। वहाँ के कण-कण में आग्नेय प्रेरणा है जिससे मानव अतीतकाल से ही राष्ट्र व धर्म के लिए बलिदान होता रहा है, परोपकार के लिए प्राणोत्सर्ग करता रहा है।

मैंने अनुभव किया है यहाँ का मानव चट्टानों की भाँति दृढ़ निश्चयी है, अपने लक्ष्य और संकल्प के लिए परवाना बनकर प्राणोत्सर्ग करने के लिए भी तत्पर है। शंका और अविश्वास की आँधियाँ उसे भेद नहीं सकतीं। साथ ही वह अन्य के दुःख और पीड़ा को देखकर मोम की तरह पिघल जाता है। किसी की करुण-कथा को सुनकर उसकी आँखें छलछलाती हैं और किसी क्षुधा से छटपटाते हुए याचक की गुहार सुनकर उसके मुँह का ग्रास हाथों में रुककर हाथ याचक की ओर बढ़ जाते हैं।

मेवाड़ की भूमि जहाँ वीरभूमि है वहाँ धर्मभूमि भी है। यहाँ धर्म शौर्य का स्रोत रहा है, वीरत्व को जगानेवाला रहा है। यहाँ पर वीरों का यह नारा रहा है—"जो दृढ़ राखे धर्म को ताहि राखे करतार।" यहाँ के वीर धार्मिक थे, दयालु थे। वे राष्ट्र, समाज और धर्म के लिए त्याग, बलिदान और समर्पण हँसते और मुस्कराते हुए, करने के लिए सदा कटिबद्ध थे।

महास्थविर ताराचन्दजी महाराज के जीवन में मेवाड़ की संस्कृति, धर्म और परम्परा, शौर्य और औदार्य, भक्ति और तपस्या का विलक्षण समन्वय था। उनके साहस, शौर्य, त्याग, तप, दृढ़ संकल्प, और अजेय आत्मबल की गाथाएँ जब भी स्मरण आती हैं तब श्रद्धा से मस्तक नत हो जाता है।

मेवाड़ की एक सुन्दर पहाड़ी पर बंबोरा ग्राम बसा हुआ है। वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य अद्भुत है। गाँव के सन्निकट ही मेवाड़ की सबसे बड़ी झील जयसमन्द है जिसमें मीलों तक पानी भरा पड़ा है, जो जीवन की सरसता का प्रतीक है और दूसरी ओर विराट् मैदान है जो विस्तार की प्रेरणा दे रहा है। तीसरी ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं जो जीवन को उन्नत बनाने का पावन संदेश दे रहे हैं। ऐसे पावन पुण्यस्थल में महास्थविर श्री ताराचन्दजी उत्पन्न हुए। उनके पिता का नाम शिवलालजी और माता का नाम ज्ञानकुँवर बहिन था। आश्विन शुक्ला चतुर्दशी के दिन वि०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवत् १९४० में आपका जन्म हुआ। आपका नाम हजारीमल रखा गया। बालक हजारीमल स्वभाव से सरल, गम्भीर, तथा बालसुलभ चंचलता से युक्त था। जब आप तीन वर्ष के हुए तब आप इतने नटखट थे कि माता जब पानी भरने के लिए जाती तब वह आपके पाँव रस्सी से बाँध देती थी। आपकी चंचलता को देखकर माँ को कृष्ण की याद आ जाती थी। आप कभी रूठते, कभी मचलते और कभी किसी वस्तु के लिए हठ कर के माता और पिता के मन को आह्लादित करते। जब आप की उम्र सात वर्ष की हुई तब अकस्मात् पिताजी बीमार हुए और सदा के लिए उन्होंने आँखें मूंद लीं। पिता के स्वर्गस्थ होने पर सन्तान के पालन-पोषण की पूरी जिम्मेदारी माता पर आ गयी। किन्तु वह मेवाड़ की वीरांगना थी। वह अपने कर्तव्य को भली-भाँति समझती थी। अतः बम्बोरा से वह उदयपुर आकर रहने लगी। क्योंकि बम्बोरे में उस समय अध्ययन की इतनी सुविधा नहीं थी और श्रमण-श्रमणियों के दर्शन भी बहुत ही कम होते थे। उदयपुर में बालक हजारीमल पोशाल में अध्ययन के लिए प्रविष्ट हुआ, क्योंकि उस युग में स्कूल, हाई स्कूल व कालेज नहीं थे। पोशाल में आचार्य के नेतृत्व में अध्ययन कराया जाता था। अध्ययन के साथ जीवन को संस्कारित बनाने के लिए अधिक लक्ष्य दिया जाता था। बालक हजारीमल की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, अतः स्वल्प समय में ही उन्हें अक्षरज्ञान हो गया था और वे पुस्तकें भी पढ़ने लगे थे।

विक्रम संवत् १९४९ में आचार्यप्रवर पूज्यश्री पूनमचन्दजी महाराज अपने शिष्यों के साथ उदयपुर पधारे और साथ ही परम विदुषी महासती गुलाबकुँवरजी, छगनकुँवरजी प्रभृति सती वृन्द भी वहाँ पर पधारीं। आचार्यप्रवर के पावन प्रवचनों को सुनने के लिए माता ज्ञानकुँवर के साथ बालक हजारीमल प्रतिदिन पहुँचता। आचार्यप्रवर के प्रवचनों में जादू था। वे वाणी के देवता थे। जो एक बार उनके प्रवचन को सुन लेता वह मन्त्रमुग्ध हो जाता। बालक हजारीमल के निर्मल मानस पर प्रवचन अपना रंग जमाने लगे और वह सुबह-शाम मध्याह्न में गुरुदेव के चरणों में बैठता, उनसे धार्मिक अध्ययन करता। गुरुदेव ने सामायिक करने की प्रेरणा दी। उन्होंने मुँह-पत्ती लगाकर सामायिक की। मुँह-पत्ती लगाते ही उनका चेहरा चमकने लगा। उनका गेहुवाँ वर्ण का गठा हुआ गुदगुदा शरीर, बड़ी-बड़ी कटोरे-सी आँखें, गोल मुँह, भव्य भाल, को देखकर हमजोले साथियों ने मजाक किया कि तुम तो गुरुजी की तरह लगते हो। तुम्हारे चेहरे पर मुँह-पत्ती बहुत अच्छी जँचती है। बालक हजारीमल ने आचार्यप्रवर से पूछा—भगवन्, मेरे मुँह पर मुँह-पत्ती बहुत अच्छी लगती है न? मुँह-पत्ती लगाकर तो मैं साधु-जैसा दीखने लगा हूँ।

आचार्यश्री ने बालक की ओर देखा। उसके शुभ लक्षणों को देखा और वे समझ गये कि यह बालक होनहार है और शासन की शोभा को बढ़ाने वाला है। गुरुदेव ने माता ज्ञानकुँवर को कहा—तुम्हारा यह पुत्र जैन शासन की शान को बढ़ायेगा। बालक का भविष्य उज्ज्वल है। अतीतकाल में भी अतिमुक्तक, ध्रुव, प्रह्लाद, आर्यवज्र, हेमचन्द्राचार्य, आदि शताधिक बालकों ने बाल्यकाल में दीक्षा ग्रहण कर धर्म की प्रभावना की है।

आचार्यप्रवर के उद्बोधक वचनों को सुनकर ज्ञानकुँवर ने कहा—आचार्यप्रवर, यदि हजारीमल दीक्षा लेगा तो मैं इनकार न करूँगी और यह मैं अपना सौभाग्य समझूंगी कि मेरा पुत्र जैन शासन की सेवा के लिए तैयार हुआ है। यदि वह दीक्षा लेगा तो मैं स्वयं भी महासतीजी के पास प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी।

बालक हजारीमल के मामा सेठ हंसराजजी भण्डारी थे जो उमड ग्राम के निवासी थे और बुद्धिमान थे। वे आसपास के गाँवों में प्रमुख पंच के रूप में भी थे। जब उन्हें पता लगा कि मेरी बहिन और भानजा आर्हती दीक्षा ग्रहण करने वाले हैं तो वे उदयपुर पहुँचे। आचार्यप्रवर के पास बालक हजारीमल को धार्मिक अध्ययन करते हुए देखकर वे घबरा गये और बहिन को यह समझाकर कि मैं कुछ दिनों के लिए हजारीमल को और तुम्हें लिवाने के लिए आया हूँ। तुम न चलो तो भी कुछ दिनों के लिए बालक को तो भेज ही दो ताकि मैं उसे प्यार कर सकूँ।

सरलहृदया माता ने बालक हजारीमल को उसके मामा के साथ भेज दिया। हजारीमल को उन्होंने संयम की कठिनता बताकर उसके वैराग्य को कम करने का प्रयास किया। उन्होंने, प्रेम, भय, लालच और आतंक से समझाने की कोशिश की। किन्तु बालक हजारीमल तो गहरे रंग से रँगा हुआ था। 'सूरदास की काली कामरिया चढ़ै न दूजो रंग।' उसके मुँह से एक ही बात निकली कि मैं आचार्यप्रवर के पास साधु बनूँगा। बालक के मामा भण्डारी हंसराज जी के जब अन्य प्रयत्न असफल हो गये तो उन्होंने न्यायालय में अर्जी पेश की कि बालक हजारीमल नाबालिग है, माता उसे जबरदस्ती दीक्षा दिलाना चाहती है। अतः रोकने का प्रयास किया जाय। न्यायाधीश ने बालक हजारीमल को अपने पास बुलाया और उससे पूछा कि क्या तुम अपनी माता के कहने से दीक्षा लेना चाहते हो? उन्होंने कहा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं, मेरी स्वयं की इच्छा हैं। मेरी दीक्षा की बात को सुनकर माँ ने भी कहा कि यदि तू दीक्षा लेगा तो मैं भी दीक्षा लूंगी। दीक्षा की प्रेरणा देने वाला मैं स्वयं हूँ, माँ नहीं।

हंसराजजी भण्डारी तो देखते ही रह गये। न्याय उनके विरुद्ध में हुआ कि बालक सहर्ष दीक्षा ले सकता है। तथापि उन्होंने अपना प्रयास नहीं छोड़ा। उन्होंने बालक को अपने पास ही रख लिया। माता ज्ञानकुँवर पुत्र के बिना छटपटाने लगी। अन्त में प्यारचन्दजी मेहता, जिनका महाराणा फतेहसिंह जी से बहुत ही मधुर सम्बन्ध था, उनके आदेश को लेकर वे उमड़ गाँव पहुँचे और बालक हजारीमल को उदयपुर ले आये।

आचार्यप्रवर वर्षावास पूर्ण होने पर उदयपुर से विहार कर जालोर पधारे। पुत्र ने माँ से कहा—माँ, अपन आचार्यश्री की सेवा में पहुँचें और आर्हती दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को साधना में लगावें। किन्तु उदयपुर से जालोर पहुँचना एक कठिन समस्या थी। क्योंकि उदयपुर से साठ मील चित्तौड़गढ़ था जहाँ तक बैलगाड़ी से जाना होता और वहाँ से ट्रेन के द्वारा समदडी पहुँचना और समदडी से बत्तीस मील जालोर तक ऊँट पर जाना कितना कठिन होगा। अतः वत्स, कुछ समय के पश्चात् अपन जायेंगे। बालक हजारीमल ने कहा—माँ, शुभ कार्य में विलम्ब करना उचित नहीं है। विघ्न-बाधाओं से तो वह व्यक्ति भयभीत होता है जो कायर है। तुम तो वीरांगना हो। फिर यह कायरतापूर्ण बात क्यों करती हो?

पुत्र की प्रेरणा से प्यारचन्दजी मेहता की धर्मपत्नी के सहयोग से वे जालोर पहुँचे। आचार्यश्री के दर्शन कर अत्यन्त आह्लादित हुए और जब माता ज्ञानकुँवर को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि मेरा पुत्र दीक्षा ग्रहण करने के लिए योग्य है तब उसने आज्ञापत्र लिखकर आचार्यप्रवर को समर्पित किया और स्वयं महासतीजी की सेवा में रहकर अध्ययन करने लगी। आचार्यप्रवर ने चैत्र सुदी दूज वि० सं० १९५० में ज्ञानकुँवर बहिन को दीक्षा प्रदान की और परम विदुषी महासती छगनकुँवर जी की शिष्या घोषित की। महासती ज्ञान कुँवरजी ने अपनी सद्गुरुणी के साथ विहार किया क्योंकि महासती गुलाबकुँवरजी उदयपुर में स्थानापन्न थीं। उनकी सेवा में रहना बहुत ही आवश्यक था।

बालक हजारीमल ने आचार्यप्रवर के पास धार्मिक अध्ययन प्रारम्भ किया और वि० सं० १९५० के ज्येष्ठ शुक्ला तेरस रविवार को समदडी ग्राम में संघ के अत्याग्रह को सम्मान देकर आचार्यश्री ने दीक्षा प्रदान की और बालक हजारीमल का नाम मुनि ताराचन्द रखा गया। आपश्री का प्रथम चातुर्मास जोधपुर में हुआ। उस समय आचार्य पूनमचन्दजी महाराज के अतिरिक्त जोधपुर में अन्य सन्तों के भी चातुर्मास थे। किन्तु परस्पर में किसी भी प्रकार का मन-मुटाव नहीं था। जैसे वर्षा ऋतु में वर्षा की झड़ी लगती है, वैसी ही तप-जप, ज्ञान-ध्यान, संयम-सेवा की झड़ी लगती थी। नवदीक्षित बालक मुनि ताराचन्दजी मन लगाकर अध्ययन करने लगे। प्रतिभा की तेजस्विता से उन्होंने कुछ ही समय में आगमों का तथा स्तोक साहित्य का खासा अच्छा अध्ययन कर लिया। आचार्यश्री के चरणों में उन्हें अपूर्व आनन्द आ रहा था। उनके स्नेहाधिक्य से वे माता के वात्सल्य को और पिता के प्रेम को भूल गये। उनका द्वितीय चातुर्मास पाली में हुआ और तृतीय चातुर्मास जालोर में। महाकवि कालिदास ने कहा है—यह संसार बड़ा विचित्र है; यहाँ पर न किसी को एकान्त सुख मिलता है और न किसी को एकान्त दुःख ही। नियति का चक्र निरन्तर घूमता रहता है; कभी ऊपर और कभी नीचे। जन्म मानव का शुभ प्रसंग है और मृत्यु अशुभ प्रसंग है जो कभी टल नहीं सकते। जालोर वर्षावास में आनन्द की स्रोतस्विनी बह रही थी। सन्त समागम का अपूर्व लाभ जन मानस को मिल रहा था, और मुनिश्री ताराचन्दजी की श्रुत-आराधना भी अस्खलित गति से प्रवाहित थी। जैन संस्कृति का महापर्व पर्युषण का विशाल समारोह भी सानन्द सम्पन्न हो चुका था। आचार्यप्रवर को भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन वि० सं० १९५२ को तेज ज्वर ने आक्रमण किया। साथ ही अन्य व्याधियाँ भी उपस्थित हुईं। किन्तु आचार्य प्रवर समभाव पूर्वक उन्हें सह रहे थे। व्याधि का प्रकोप प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ रहा था। मृत्यु सामने आकर नाचने लगी। तथापि आपश्री पूर्ण समाधिस्थ व शान्त थे। केवल उनके मन में एक विचार था—बालक मुनि ताराचन्द के व्यक्तित्व निर्माण का। अतः उन्होंने अपने प्रधान अन्तेवासी आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी महाराज को और कविवर्य नेमिचन्दजी महाराज को कहा—मुनि ताराचन्द को तुम्हारे हाथ सौंप रहा हूँ। इसका विकास करना तुम्हारा काम है और स्वयं शान्त व स्थिर मन से आलोचना, संल्लेखना-संथारा कर पूर्ण समाधिस्थ हो गये। अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्ररूपित धर्म इन चार महाशरण का स्मरण करते हुए उन्होंने पूर्णिमा के दिन देहत्याग किया। पूर्णिमा की चारु चन्द्रिका चमक रही थी, किन्तु वह ज्योतिपुञ्ज धरा से विलीन हो चुका था। बाल मुनिक ताराचन्दजी के हृदय को गुरु-वियोग का वज्र-आघात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगा जिससे वे विचलित हो गये। जिस गुरुदेव की शीतल छाया में जीवन का यह नवीन पौधा संरक्षण व संवर्द्धन पा रहा था, अकस्मात् क्रूर काल की आँधी के एक ही वेग से वह शीतल छाया ध्वस्त हो गयी। इस स्थिति में बालक मुनि अपने को असहाय व आश्रयहीन अनुभव करने लगा। उस समय ज्येष्ठमलजी महाराज व नेमीचन्दजी महाराज ने मधुर स्नेह से उन्हें स्वस्थ किया। वे पुनः शान्त और स्थिरचित्त होकर संयम-साधना में लीन हो गये।

वर्षावास के पश्चात् जालोर से विहार हुआ। श्रमण ऋषियों के लिए विहार करना प्रशस्त माना गया है—'विहार चरिया इसिणंपसत्था'। सरिता की सरस धारा के समान श्रमणों की विहार यात्रा है। जैसी सरिता के सन्निकट की भूमि उर्वरा होती है वैसे ही सन्तों के सत्संग से जन-जीवन में सत्संस्कार, सद्विचार तथा सदाचार पनपने लगते हैं और स्नेह सद्भावना की सरस भावनाएँ अठखेलियाँ करने लगती हैं। एक कवि ने कहा भी है—

"साधु, सलिला, बादली, चले भुजंगी चाल।
जिण-जिण सेरी नीसरे, तिण-तिण करत निहाल॥"

बालक मुनि श्री ताराचन्दजी अपने गुरुभ्राता कविवर्य श्री नेमीचन्दजी महाराज के साथ मेवाड़ पधारे और मातेश्वरी ज्ञानकुँवरजी से मिले। माँ ने अपनी वाणी में स्नेह-सुधा घोलते हुए कहा—वत्स! मैं जानती हूँ कि गुरुदेव श्री का एकाएक स्वर्गवास हो गया है। तुम्हें साधना के क्षेत्र में अब अधिक जागरूकता से आगे बढ़ना है। दूध को गरम करते समय उफान आता है किन्तु समझदार रसोइया जल के छींटे डालकर उस उफान को शान्त कर देता है। जो व्यक्ति समुद्र की यात्रा करता है उसे तूफान का सामना करना पड़ता है। कुशल नाविक तूफानी वातावरण में भी नौका को खेता हुआ पार पहुँचा देता है। तो तुम्हें उफान और तूफान में शान्त रहना है। उफान जीवन में अनेक बार आते हैं। यदि साधक जागरूक न रहे तो उफान भी तूफान बन जाता है। अतः सतत जागरूकता की आवश्यकता है।

वत्स! अभी तेरी उम्र छोटी है। यह उम्र अध्ययन करने की है। अध्ययन से बुद्धि मँजती है। विचारों में निखार व प्रौढ़ता आती है। अध्ययन के साथ ही विनय और विवेक भी आवश्यक हैं। नगीना स्वर्ण में जड़ने से ही शोभा पाता है। वैसे ही विनय के साथ विवेक की भी शोभा होती है। विनय से जीवन में हजारों सद्गुण आते हैं। विनय वह चुम्बक है जो सद्गुणों को अपनी ओर आकर्षित करता है। साथ ही चाहे तुमसे बड़े हों चाहे छोटे हो उन सभी की, तन, मन, से सेवा करना। सेवा से तेरे जीवन में नयी चमक और दमक आयेगी। देख बेटा, "चाम नहीं, काम वाल्हो है।" मेरी इन शिक्षाओं पर तू सदा ध्यान रखना। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् तू पहली बार मुझसे मिला है। अतः मैंने अपने हृदय की बात तुझे कही है। इसे जीवन भर न भूलना।

माँ की शिक्षाभरी बातों को सुनकर बालकमुनि ताराचन्दजी ने कहा—माँ! तू चिन्ता मत कर। मैं तेरे दूध को रोशन करूँगा। मैं ऐसा कोई भी कार्य नहीं करूँगा जिससे तुझे उपालंभ सुनना पड़े। माँ पुत्र के तेजस्वी और ओजस्वी चेहरे को देखकर प्रफुल्लित थी। उसे आत्मविश्वास था कि मेरा लाल साधना के महामार्ग में सदा आगे ही बढ़ता रहेगा। आपश्री ने विक्रम संवत् १९५३ का वर्षावास रंडेडा में किया और वर्षावास के पश्चात् अपनी जन्मस्थली बम्बोरा पधारे। उस समय वहाँ पर पूज्यश्री तेजसिंह जी महाराज की सम्प्रदाय के बड़े प्यारचन्दजी महाराज से आपका मिलना हुआ। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि आपश्री इसके पश्चात् पुनः अपनी जन्मभूमि में संवत् २००३ में पधारे, अर्थात् पचास वर्ष के बाद।

आपश्री का स्वभाव बहुत मधुर था। आपकी वाणी में मिश्री के समान मिठास था। सेवा और विनय के कारण आपश्री सन्तों के अत्यधिक प्रिय हो गये। आपकी प्रतिभा से सन्त प्रभावित थे। आपश्री ने छह चातुर्मास कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के साथ किये और दूज के चाँद की तरह आपका प्रेम निरन्तर बढ़ता ही रहा। रतलाम में श्री उदयसागरजी महाराज ने अपको देखकर नेमीचन्दजी महाराज से कहा—इसके शुभ लक्षण बताते हैं कि यह महान प्रभावशाली सन्त होगा और यह देश-विदेशों में भी लम्बी यात्राएँ करेगा।

विक्रम संवत् १९५९ में आपश्री आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी महाराज की सेवा में पधार गये और वे जब तक जीवित रहे तब तक आपश्री उन्हीं की सेवा में रहे। आपश्री की सेवा से ज्येष्ठमलजी महाराज अत्यधिक प्रभावित हुए। आपने ज्येष्ठमलजी महाराज के सुशिष्य तपस्वी हिन्दूमलजी महाराज जो गढ़सिवाना के थे, जिन्होंने भरे-पूरे परिवार का परित्याग कर आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी, और दीक्षा ग्रहण करते ही जिन्होंने पाँचों विगयों का परित्याग कर दिया था एवं उग्र तप की साधना करते थे। एक बार वे सिवाना के सन्निकट अजियाना गाँव में थे। उस समय परस्पर कुत्ते लड़ रहे थे। उनकी झपट में आ जाने से तपस्वी हिन्दूमलजी महाराज नीचे गिर गये और उनके पैर की हड्डी टूट गयी, जिससे वे चल नहीं सकते थे। आप उन्हें अपने कन्धे पर बिठाकर उपचार हेतु छह मील चलकर गढ़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिवाना लाये और उनकी अत्यधिक सेवा करके उन्हें स्वस्थ किया। तपस्वी हिन्दूमलजी महाराज ने चौदह वर्ष तक संयम-साधना और उग्र तप की आराधना की। अन्तिम चार वर्षों में वृद्धावस्था और रुग्णावस्था के कारण उनमें चलने का सामर्थ्य नहीं था। तब अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज के आदेश को शिरोधार्य कर चार वर्ष तक उनकी अत्यधिक सेवा की। नन्दीसेन मुनि की तरह अग्लानभाव से आपको सेवा करने में आनन्द की अनुभूति होती थी। अपनी सम्प्रदाय के सन्तों की तो सेवा करते ही थे, किन्तु अन्य सम्प्रदाय के सन्तों की सेवा का प्रसंग उपस्थित होने पर भी आप पीछे नहीं रहते थे।

एक बार आचार्य रघुनाथमलजी महाराज की सम्प्रदाय के सन्त कालूरामजी महाराज अत्यधिक अस्वस्थ हो गये थे। उस समय उनकी सेवा में कोई भी सन्त नहीं था। जब आपश्री को यह ज्ञात हुआ, तो गुरुजनों की आज्ञा लेकर उनकी सेवा में समदडी पहुँचे और मन लगाकर सेवा की। अन्त में कालूरामजी महाराज को बीस दिन का संथारा आया उस समय आपकी सेवा प्रशंसनीय रही। आपश्री ने ज्येष्ठमलजी महाराज, नेमीचन्द महाराज, मुलतानमलजी महाराज, दयालचन्दजी महाराज, उत्तमचन्दजी महाराज, बाघमलजी महाराज, हजारीमलजी महाराज आदि सन्तों की अत्यधिक सेवाएँ कीं। सेवा आपका जीवन-व्रत था। जिस असिधारा व्रत पर चलते समय बड़े-बड़े वीर भी घबरा जाते हैं, किन्तु आपने सेवा का ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया।

आपश्री को जब सेवा से अवकाश मिलता तब आप ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ उतारते थे। आपके अक्षर मोती के समान सुन्दर थे। आपश्री ने रामायण, महाभारत, श्रेणिकचरित्र, आदि चरित्र और सैकड़ों भजन, चौपाइयाँ लिखीं।

आपकी प्रवचन-कला अत्यन्त आकर्षक थी। जब आप प्रवचन करते तब सभा मन्त्रमुग्ध हो जाती थी। हास्यरस, करुणरस, वीररस और शान्तरस सभी रसों की अभिव्यक्ति आपकी वाणी में सहज होती थी। उसके लिए आपको किंचित्मात्र भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। आपकी वाणी में मृदुता, मधुरता और सहज सुन्दरता थी। वक्तृत्वकला स्वभाव से ही आपको प्राप्त हुई थी। किस समय, क्या बोलना, कैसे बोलना, कितना बोलना यह आप अच्छी तरह से जानते थे। जहाँ-जहाँ भी आप गये वहाँ आपका जय-जयकार होता रहा।

आपश्री का वि० सं० १९९१ का चातुर्मास ब्यावर में था। ब्यावर सदा से संघर्ष का केन्द्र रहा है। वहाँ का संघ तीन विभागों में विभक्त है—प्रथम स्थानक के अनुयायी, दूसरे आचार्य जवाहरलालजी महाराज को मानने वाले और तीसरे जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज के अनुयायी थे। स्थानक वालों में तथा दिवाकरजी महाराज के अनुयायियों में परस्पर सद्भाव था जिससे एक वर्ष उनका चातुर्मास और द्वितीय वर्ष स्थानक का चातुर्मास होता था। किन्तु उस वर्ष ऐसा वातावरण बना कि तीनों संघों ने मिलकर आपश्री के चातुर्मास की प्रार्थना की। संगठन, स्नेह सद्भावना की वृद्धि को संलक्ष्य में रखकर आपने चातुर्मास स्वीकार किया और आपके प्रवचनों की ऐसी धूम मची कि सभी श्रोता विस्मित हो गये। आप प्रवचनों में आगमिक गम्भीर रहस्यों को रूपक, लोककथाओं, उक्तियों व संगीत के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त करते थे कि श्रोता झूम उठते।

आपश्री संगठन के प्रबल पक्षधर थे। स्थानकवासी परम्परा में विभिन्न मतों को देखकर आपका हृदय द्रवित हो गया था। आपने स्थानकवासी समाज की एकता के लिए प्रबल प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप सर्वप्रथम विक्रम संवत् १९८८ में पाली के पवित्र प्रगण में मरुधर प्रान्त में विचरने वाले छह सम्प्रदायों के महारथियों का सम्मेलन हुआ और आपश्री के प्रबल पुरुषार्थ से संगठन का सु-मधुर वातावरण तैयार हुआ। उस सम्मेलन के कारण संघ में एक उत्साहपूर्ण वातावरण का निर्माण हुआ और बृहत साधु-सम्मेलन, अजमेर की भूमिका तैयार हुई। अजमेर में विराट सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में भी आपश्री ने स्थानकवासी समाज की एकता पर अत्यधिक बल दिया। सन् १९५२ में जो सादड़ी सम्मेलन हुआ उस वर्ष आपश्री का वर्षावास सादड़ी में था और आपकी ही प्रबल प्रेरणा से सादड़ी में सन्त सम्मेलन हुआ। उसमें आपश्री ने अत्यधिक निष्ठा के साथ कार्य किया। आपश्री का कार्य नींव की ईंट के रूप में था, यद्यपि वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ में आप सबसे बड़े थे, तथापि आपश्री में तनिक मात्र भी अहंकार नहीं था। संघ की प्रगति किस तरह हो, यही चिन्तन आपश्री का था। आपश्री को पद का किंचित् मात्र भी लोभ नहीं था। यही कारण था कि सादड़ी सन्त सम्मेलन में आपको पद देने के लिए अत्यधिक आग्रह भी किया गया। किन्तु पद लेना आपश्री ने स्वीकार नहीं किया। यह थी आपकी पूर्ण निस्पृहता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा के प्रति आपश्री की स्वाभाविक अभिरुचि थी। स्वयं आपने तो पण्डित से डेढ़ दिन ही पढ़ा था। क्योंकि वह युग ऐसा था जिस युग में पंडितों से पढ़ना उचित नहीं माना जाता था। केवल गुरुओं से अध्ययन किया जाता था। किन्तु समय ने करवट बदली; आपश्री ने देखा, संस्कृत, प्राकृत भाषा का जब तक गहरा अध्ययन नहीं होगा तब तक आगमों के रहस्य स्पष्ट नहीं हो सकते। अतः आपश्री ने अपने सुयोग्य शिष्य श्री पुष्कर मुनि जी महाराज को संस्कृत-प्राकृत भाषा का अध्ययन ही नहीं करवाया अपितु किंग्स कालेज बनारस की और कलकत्ता असोसियेशन की काव्यतीर्थ, न्यायतीर्थ आदि परीक्षाएँ भी दिलवायीं। अपने अन्य शिष्य और प्रशिष्यों को भी तथा सती वृन्द को भी अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा दी। आपश्री को एक बार प्रातःकाल स्वप्न आया था कि मेरे शिष्य-शिष्याएँ प्रकाश की ओर बढ़ रही हैं। आपश्री ने उसका यही अर्थ लगाया कि ज्ञान के क्षेत्र में ये प्रगति करेंगे।

ज्ञान के साथ ही आचार पर आपका बहुत अधिक बल था। आप स्वयं कम बोलते थे और गृहस्थों से निरर्थक वार्तालाप नहीं किया करते थे। आपका यह मानना था कि सन्तों को गृहस्थों का सम्पर्क कम से कम करना चाहिए। अधिक सम्पर्क से श्रमणों के जीवन में साधना की दृष्टि से न्यूनता आती है। मक्खन लम्बे समय तक छाछ में रहेगा तो मक्खन का ही नुकसान है, छाछ का नहीं। साधना की उत्कृष्टता के लिए आचार की निर्मलता अपेक्षित है। जितना आचार शुद्ध होगा उतना ही साधक के जीवन का प्रभाव बढ़ेगा।

आपके जीवन पर अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज के जीवन का प्रभाव था। यही कारण है आपको जप-साधना अत्यधिक प्रिय थी। मैंने स्वयं देखा है कि जीवन की सान्ध्यवेला में प्रमाद आ जाता है। सूर्य का तेज भी कम हो जाता है। किन्तु आपश्री जप-साधना के क्षेत्र के प्रतिक्षण आगे बढ़ते ही रहे। एक दिन मैंने पूछा—गुरुदेव, आप प्रतिदिन चौदह-पन्द्रह घण्टे तक जप करते हैं। आपने आज दिन तक कितना जप किया है? आपने कहा—"देवेन्द्र! जप अपने लिए किया जाता है। जप में हिसाब की मनोवृत्ति नहीं होती। मैं नमस्कार मन्त्र का जाप करता हूँ। आपश्री ने बात टालने का प्रयास किया। किन्तु मेरे बालहठ के कारण अन्त में आपने कहा सवा करोड़ से भी अधिक जप हो चुका है।" मैं सोचने लगा सवा करोड़ का जप करना कितना कठिन है। उसके लिए कितना धैर्य अपेक्षित है। मैंने स्वयं यह देखा कि जप के कारण आपश्री को वचनसिद्धि भी हो गयी थी। किन्तु विस्तारभय से मैं वे सारे प्रसंग यहाँ नहीं दे रहा हूँ।

आपश्री एक फक्कड़ सन्त थे। चाहे धनवान हो चाहे गरीब, सभी के प्रति समतापूर्ण व्यवहार था। धनवानों को देखकर आपने कभी उनका विशेष आदर करना पसन्द नहीं किया और निर्धनों को देखकर कभी अनादर नहीं किया। जयपुर वर्षावास में सेठ विनयचन्द दुर्लभजी जौहरी जब भी दर्शन के लिए आते तब पूज्य गुरुदेवश्री की सेवा में घण्टा-आधा घण्टा बैठते थे, किन्तु गुरुदेव उनसे कभी भी बातचीत नहीं करते थे। वे अपनी जप-साधना में ही तल्लीन रहते थे। विनयचन्दभाई ने अनेकों बार पूज्य गुरुदेवश्री से प्रार्थना की कि मुझे कुछ सेवा का लाभ दीजिए। किन्तु गुरुदेव ने सदा यही कहा कि मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। अन्त में पूज्य गुरुदेवश्री की स्मृति-सभा में बोलते हुए विनयचन्दभाई ने कहा—"मैंने ताराचन्दजी महाराज जैसे निस्पृह सन्त नहीं देखे जो मेरे द्वारा बीसों बार प्रार्थना करने पर भी कभी किसी वस्तु की या संस्था के लिए दान दिलवाने हेतु इच्छा व्यक्त नहीं की। सेठ सोहनलालजी दुग्गड जो महान् दानवीर थे, वे आपश्री के दर्शन हेतु कलकत्ता से जयपुर आये। उस समय पूज्य गुरुदेवश्री शौच के लिए बाहर पधारे हुए थे। दुग्गडजी गुरुदेव के साथ दो मील तक चलकर लाल भवन आये। उन्होंने गुरुदेवश्री से अत्यधिक प्रार्थना की कि मुझे अवश्य ही लाभ दें। मैं कलकत्ता से ही यह संकल्प करके आया हूँ कि आप जहाँ भी फरमाएँगे वहाँ मुझे अर्थ-सहयोग देना है। आपश्री ने कहा—जहाँ आपको सुख उत्पन्न होता हो वहाँ पर आप दान दे सकते हैं। मुझे कहीं पर भी नहीं दिलवाना। और आपश्री अपनी जप-साधना में लग गये। सेठ सोहनलालजी दुग्गड गुरुदेव के चरणों में डेढ़ घन्टे तक बैठे रहे। पुनः पुनः प्रार्थना करने पर भी आपश्री ने कुछ भी नहीं फरमाया। आपश्री के स्वर्गवास के पश्चात् श्रमण-संघ के उपाचार्य श्रीगणेशीलालजी महाराज तथा उपाध्याय हस्तीमलजी महाराज के सामने सेठ सोहनलालजी दुग्गड ने कहा कि मैं अपने जीवन में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा के साधु-सन्तों के और आचार्यों के सम्पर्क में आया किन्तु जैसा निस्पृह सन्त महास्थविर ताराचन्दजी महाराज को मैंने देखा वैसा अन्य सन्त मुझे दिखायी नहीं दिया।

भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ४ दिसम्बर, १९५४ को पूज्य गुरुदेवश्री से मिले थे, अन्य सन्त गण उनसे पचपन मिनट तक बातें करते रहे; किन्तु आपश्री उस समय भी जप-साधना में तल्लीन थे। आपश्री की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निस्पृहता और आध्यात्मिक मस्ती को देखकर नेहरूजी के हृत्तन्त्री के तार भी झनझना उठे कि यह महात्मा अद्भुत है।

आपश्री ने छह महीने पूर्व ही कह दिया था कि अब मेरा अन्तिम समय सन्निकट है। अतः आपश्री ने अपने जीवन की, निःशल्य होकर आलोचना करली। और सदा मुझे या अन्य सन्त को अपने पास रखते। आपने यह भी कहा—कि जब मुझे अर्धांग (लकवा) होगा, उस समय मेरा अन्तिम समय समझना। मैं तुम्हें अपने पास इसीलिए रखता हूँ कि कदाचित् उस समय मेरी वाचा बन्द हो जाय तो तू मुझे संथारा करा देना। वि० सं० २०१३ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन मध्याह्न में आपश्री प्रधानमन्त्री मदनलालजी महाराज के पास पधारे जो लालभवन में नीचे विराज रहे थे। वार्तालाप के प्रसंग में आपश्री ने कहा मदनलालजी, कल व्याख्यान नहीं होगा। मदनलालजी महाराज ने विनय के साथ पूछा—गुरुदेव, किस कारण से व्याख्यान नहीं होगा? आपश्री ने कहा इसका रहस्य अभी नहीं, कुछ समय के बाद तुझे स्वयं ज्ञात हो जायेगा। सायंकाल पाँच बजे आपश्री ने आहार किया और हाथ धोने के लिए ज्यों ही लघुपात्र आपने उठाया त्यों ही लकवे का असर हो गया। लकवे के असर होते ही आपने कहा—मेरा अन्तिम समय आ चुका है। अब मुझे संथारा करा दो। उसी समय प्रधानमंत्री मदनलालजी महाराज ने आकर कहा—गुरुदेव, आपका शरीर पूर्ण स्वस्थ है? डाक्टर को अभी बुलवाते हैं। वे जाँच करेंगे क्योंकि लकवे का मामूली असर हुआ है और यह बीमारी तो ऐसी है कि समय का कुछ भी पता नहीं। गुरुदेवश्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मेरा अब अन्तिम समय आ चुका है। यदि आप विलम्ब करते हैं तो मैं स्वयं चतुर्विध संघ की साक्षी से संथारा ग्रहण करता हूँ। आपश्री ने यह कहकर संथारा ग्रहण कर लिया। आपकी अत्युत्कृष्ट भावना देखकर अन्त में मदनलालजी महाराज ने संघ की साक्षी से संथारा करवाया। आपने चतुर्विध संघ से क्षमायाचना की और अपने शिष्यों को हित-शिक्षाएँ दीं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा दी और अन्त में आपने प्रधानमंत्री मदनलालजी महाराज से प्रतिक्रमण सुना और अन्त में ये शब्द निकले कि—मदनलालजी, आपने प्रतिक्रमण अच्छा सुनाया। उसके बाद आपकी वाचा बन्द हो गयी। आपकी भावना उत्तरोत्तर निर्मल हो रही थी। और प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में आपने महाप्रकाश की ओर प्रयाण कर दिया।

महास्थविर ताराचन्दजी महाराज का जीवन एक ज्योतिर्मय जीवन था। आपमें चारित्रिक पवित्रता, वैचारिक उदारता और दृढ़ता तथा सेवापरायणता के सद्गुणों के सुमन सदा खिलते रहे। आप में अत्यधिक स्फूर्ति थी। अपना कार्य अपने हाथों से करना पसन्द था। लघुमुनियों की सेवा करने में भी आप सदा आगे रहते थे। आपका विहार-क्षेत्र पूर्वाचार्यों की अपेक्षा विस्तृत था। आपने भारत के विविध अंचलों में ६४ वर्षावास किये। उसकी तालिका इस प्रकार है—

जोधपुर	(मारवाड़)	१९५०, १९६१, १९७७, २००१ (वि० संवत्)
पाली	(,,)	१९५१, १९६२, १९७०, १९८०
जालोर	(,,)	१९५२, १९६७, १९७५, १९७९, १९७५
रंडेडा	(मेवाड़)	१९५३
निबाहेडा	(,,)	१९५४
सनवाड	(,,)	१९५५, १९६६
भिडर	(,,)	१९५६
गोगुंदा	(,,)	१९५७, १९८८
सादडी	(मारवाड़)	१९५८, २००८
सिवाना	(,,)	१९५९, १९६५, १९७८, १९८४, १९८६, १९९६, २००९
समदडी	(,,)	१९६०, १९६४, १९६९, १९७१, १९७२, १९७३, १९७४, १९८१, १९८३, १९९८
सालावास	(,,)	१९६३
बालोतरा	(,,)	१९६८
देलवाड़ा	(मेवाड)	१९७६
नान्देशमा	(,,)	१९८२, २००२, २००७,
खंडप	(मारवाड)	१९८७, १९९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीपाड	(मारवाड़)	१९८९, २०००
दुन्दाडा	(,,)	१९९०
ब्यावर	(राजपूताना)	१९९१
लीमडी	(गुजरात)	१९९२
नासिक	(महाराष्ट्र)	१९९३, २००४
मनमाड	(,,)	१९९४
कम्बोल	(मेवाड़)	१९९५
रायपुर	(मारवाड़)	१९९९
धार	(मध्य प्रदेश)	२००३
घाटकोपर	(बम्बई)	२००५
चूडा	(सौराष्ट्र)	२००६
जयपुर	(राजस्थान)	२०१०, २०१२, २०१३
दिल्ली	(,,)	२०११

महास्थविर श्री ताराचन्दजी म० के जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ पर प्रस्तुत की गई है। जिससे विज्ञगण समझ सकते हैं कि उनका व्यक्तित्व कितना तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी था। उनके विराट जीवन को शब्दों में बाँधना बड़ा ही कठिन है। उन्होंने जन-जन के सुषुप्त अन्तर्जीवन को जागृत किया। श्रमणसंघ के संगठन के लिए भगीरथ प्रयास किया। ग्राम और नगरों में कलहाग्नि का उपशमन किया, शान्ति, सौमनस्य एकता की स्थापना की और समाज की बुराइयों के विरुद्ध सिंहनाद किया और जैनधर्म के गौरव में चार चाँद लगाये।

दिव्य तपोधन श्री जसराजजी महाराज

तप आत्मा की एक परम तेजोमय शक्ति है। साधारण मानव इस परम शक्ति को जागृत नहीं कर सकता। वह इस परम शक्ति के सम्बन्ध में जानता भले ही हो, किन्तु अनुभव नहीं कर सकता। वे महान् भाग्यशाली हैं जिन्होंने इस शक्ति का अनुभव किया है।

आचार्य मलयगिरि ने तप की परिभाषा करते हुए लिखा है—जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता हो उन्हें भस्मसात् कर डालने में समर्थ हो, वह तप है।[1] आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने तप की व्युत्पत्तिजन्य परिभाषा करते हुए कहा—जिस साधना-आराधना व उपासना से पाप-कर्म तप्त हो जाते हैं वह तप है।[2] आचार्य अभयदेव ने तप का निरुक्त अर्थ करते हुए कहा है—जिस साधना से शरीर के रस, रक्त, मांस, हड्डियाँ, मज्जा, शुक्र आदि तप जाते हैं, सूख जाते हैं वह तप है तथा जिसके द्वारा अशुभ कर्म जल जाते हैं वह तप है।[3]

विश्व में जितनी भी शक्तियाँ, विभूतियाँ और लब्धियाँ हैं उनकी उपलब्धि तप से होती है—'**तपोमूला हि सिद्धयः**' कहा गया है। श्रद्धाविभोर होकर वैदिक ऋषियों ने भी तप की महिमा मुक्तकण्ठ से गायी है। 'तप ही मेरी प्रतिष्ठा है।'[4] श्रेष्ठ और परमज्ञान तप के द्वारा प्रकट होता है।[5] ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा देवताओं ने भी मृत्यु को जीत लिया।[6] तप ही स्वयं ब्रह्म है।[7] यह आत्मा सत्य और तप के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।[8]

भारतभूमि अतीत काल से ही तपोभूमि रही है। यहाँ पर महातपस्वियों की एक सुदीर्घ परम्परा है। तपस्वी अपनी साधना से न केवल बाह्य शरीर को तपाता है किन्तु अन्तरंग का भी शोधन करता है। वस्तुतः अन्तःशोधन ही तप का उद्देश्य है। परम श्रद्धेय श्री जसराजजी महाराज एक परमतपस्वी सन्त थे। उनका जन्म अजमेर जिले के सरवाड ग्राम में विक्रम संवत् १८७७ (सन् १८२०) को हुआ था। उनके पिता का नाम धरमचन्दजी और माता का नाम श्रद्धा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। जाति से ओसवाल थे। आपका पाणिग्रहण एक सुरूपा बाला सरस्वती से सम्पन्न हुआ। आचार्य श्री अमरसिंहजी महाराज के प्रशिष्य कोजूरामजी महाराज थे और उनके शिष्य रामपहचानजी महाराज थे। उनके पावन प्रवचन को श्रवण कर आपके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना प्रबुद्ध हुई और आपने उनचास वर्ष की वय में संवत् १९२६ (सन् १८६९) में गृहस्थाश्रम का परित्याग कर आर्हती दीक्षा ग्रहण की। और उन्हीं के चरणों में बैठकर जैन आगमों का गहन अध्ययन किया। आगमों का अध्ययन करते समय जैन श्रमण व श्रमणियों के उग्र तप का वर्णन पढ़ते ही आपका तपस्या के प्रति जो स्वाभाविक अनुराग था वह प्रस्फुटित हो गया और आपने तप के कठोर कण्टकाकीर्ण महामार्ग की ओर अपने मुस्तैद कदम बढ़ाये।

सवासोलह वर्ष तक संयम-साधना, आत्म-आराधना करते हुए आपने जो तप किया उसका वर्णन आपके एक शिष्य ने भक्तिभाव से विभोर होकर पद्य रूप में अंकित किया है जिसे पढ़ते ही धन्ना-अनगार का स्मरण हो आता है। उन्होंने पारणे में सरस आहार का त्याग कर दिया था। वे नीरस और अल्पतम आहार ग्रहण करते थे। आश्चर्य तो यह है उन्होंने सवा सोलह वर्ष में केवल पाँच वर्ष ही आहार ग्रहण किया। उन्होंने अट्ठाई तप से अधिक जो तप किया उसका वर्णन इस प्रकार मिलता है :

तपोदिन	६२	६०	५२	५१	४५	४२	४१	३०	२४	२१	२०	१६	१५	१२	१०	९	८
तप	१	२	१	१	५	२	१	१७	४	२	२	१	९	२	८	१५	१५

संवत् १९४२ (सन् १८८५) में आपश्री जोधपुर पधारे। वृद्धावस्था तथा उग्रतप के कारण शरीर शिथिल हो चुका था। अतः आपश्री ने संलेखनापूर्वक संथारा किया। श्रद्धालु लोगों ने इनकारी की। किन्तु आपका आत्म-तेज इतना तीव्र था कि आपने कहा—आपका मेरे प्रति मोह है, किन्तु मुझे जीवन को निर्मल बनाना है। अतः मैं संथारा करूँगा। संथारे में आपकी भावना उत्तरोत्तर निर्मल होती रही और ७१ दिन के सन्थारे के पश्चात् आपका समाधि-पूर्वक स्वर्गवास हुआ।

तप के कारण आपको अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त हुई थीं। किन्तु आपके तपश्चरण का एक उद्देश्य था कर्म निर्जरा करना, आत्मा को उज्ज्वल और परम शुद्ध बनाना। न चाहते हुए भी तपस्वी को सहज सिद्धियाँ मिल जाती हैं। आप वचनसिद्ध थे। आपश्री की चरणधूलि के स्पर्श से अनेक व्यक्ति भयंकर रोगों से मुक्त हो जाते थे। आपके साधनामय जीवन की अनेक अनुश्रुतियाँ हैं, किन्तु कभी अवकाश के क्षणों में उन अनुश्रुतियों पर लिखने का सोचता हूँ।

[नोट—अष्टम खण्ड के अब तक के सभी निबन्धों के लेखक हैं—**श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री**।]

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ-स्थल

१ तापयति अष्ट प्रकारं कर्म-इति तपः। —**आवश्यक मलयगिरि**, खण्ड २, अध्ययन १.

२ 'तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो।' —**निशीथचूर्णि** ४६

३ रसरुधिर मांस मेदाऽस्थि मज्जा शुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्तः। —**स्थानांगवृत्ति** ५

४ तपो मे प्रतिष्ठा। —**तैत्तिरीय ब्राह्मण** ३/७/७०

५ श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातः। —**गोपथ ब्राह्मण** १/१/९

६ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। —**अथर्ववेद** ११/५/१९

७ तपो ब्रह्मेति। —**तैत्तिरीय आरण्यक** ९/२

८ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। —**मुण्डक उपनिषद्** ३/१/५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शासन-प्रभाविका अमर साधिकाएँ



—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

भगवान महावीर ने केवलज्ञान होने के पश्चात् चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की। साधुओं में गणधर गौतम प्रमुख थे तो साध्वियों में चन्दनबाला मुख्य थीं। किन्तु उनके पश्चात् कौन प्रमुख साध्वियाँ हुईं, इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है। यों आर्या चन्दनबाला के पश्चात् आर्या सुव्रता, आर्या धर्मी, आर्य जम्बू की पद्मावती, कमलभाल विजयश्री, जयश्री, कमलावती सुसेणा, वीरमती, अजयसेना इन आठ सासुओं के प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख है और जम्बू की समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, रूपश्री, जयश्री इन आठ पत्नियों के भी आर्हती दीक्षा लेने का वर्णन है। वीर निर्वाण सं० २० में अवन्ती के राजा पालक ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अवन्तीवर्धन को राज्य तथा लघु पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद पर आसीन कर स्वयं ने आर्य सुधर्मा के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। राष्ट्रवर्धन की पत्नी का नाम धारिणी था। धारिणी के दिव्य रूप पर अवन्तीवर्धन मुग्ध हो गया। अतः धारिणी अर्धरात्रि में ही पुत्र और पति को छोड़कर अपने शील की रक्षा हेतु महल का परित्याग कर चल दी। और कौशांबी की यानशाला में ठहरी हुई साध्वियों के पास पहुँची। उसे संसार से विरक्ति हो चुकी थी। वह सगर्भा थी। किन्तु उसने यह रहस्य साध्वियों को न बताकर साध्वी बनी। कुछ समय के पश्चात् गर्भसूचक स्पष्ट चिह्नों को देखकर साध्वी प्रमुखा ने पूछा तब उसने सही स्थिति बतायी। गर्भकाल पूर्ण होने के पर पुत्र को जन्म दिया और रात्रि के गहन अंधकार में नवजात शिशु को उसके पिता के अभूषणों के साथ कोशांबी नरेश के राजप्रासाद में रख दिया। राजा ने उस शिशु को ले लिया और उसका नाम मणिप्रभ रखा, और पुनः धारिणी प्रायश्चित्त ले आत्मशुद्धि के पथ पर बढ़ गयी। अवन्तीवर्धन को भी जब धारिणी न मिली तो अपने भाई की हत्या से उसे भी विरक्ति हुई। और धारिणी के पुत्र अवन्तीसेन को राज्य दे उसने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। जब मणिप्रभ और अवन्तीसेन ये दोनों भाई युद्ध के मैदान में पहुँचे तब साध्वी धारिणी ने दोनों भाइयों को सत्य-तथ्य बनाकर युद्ध का निवारण किया।

वीरनिर्वाण की दूसरी-तीसरी सदी में महामन्त्री शकडाल की पुत्रियाँ और आर्य स्थूलभद्र की बहनें यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा इन सातों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। वे अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न थीं। क्रमशः एक बार, दो बार यावत् सात बार सुनकर वे कठिन से कठिन विषय को भी याद कर लेती थी। उन्होंने अन्तिम नन्द की राजसभा में अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति के चमत्कार से वररुचि जैसे मूर्धन्य विज्ञ के अहं को नष्ट किया था। सातों बहिनों के तथा भाई स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने के पश्चात् उनके लघु भ्राता श्रीयक ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की जो अत्यन्त सुकोमल प्रकृति के थे। भूख और प्यास को सहन करने में अक्षम थे। साध्वी यक्षा की प्रबल प्रेरणा से श्रीयक ने उपवास किया। और उसका रात्री में प्राणान्त हो गया जिससे यक्षा ने मुनि की मृत्यु का कारण अपने आपको माना। दुःख, पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से अपने आपको दुःखी अनुभव करने लगी। कई दिनों तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। संघ के अत्यधिक आग्रह पर उसने कहा कि केवलज्ञानी मुझे कह दें कि मैं निर्दोष हूँ तो अन्न-जल ग्रहण करूँगी, अन्यथा नहीं। संघ ने शासनाधिष्ठात्री देवी की आराधना की। देवी की सहायता से आर्या यक्षा महाविदेह क्षेत्र में भगवान श्री सीमन्धरस्वामी की सेवा में पहुँची। भगवान ने उसे निर्दोष बताया और चार अध्ययन प्रदान किये। देवी की सहायता से वह पुनः लौट आयीं। उन्होंने चारों अध्ययन संघ के समक्ष प्रस्तुत किये जो आज चूलिकाओं के रूप में विद्यमान हैं। इन सभी साध्वियों का साध्वी संघ में विशिष्ट स्थान था पर ये प्रवर्तिनी आदि पद पर रहीं या नहीं इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके पश्चात् कौन साध्वियाँ उनके पट्ट पर आसीन हुईं यह जानकारी प्राप्त नहीं होती है। वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह के समय हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार विदुषी आर्या पोइणी तथा अन्य तीनसौ साध्वियाँ विद्यमान थीं। कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल द्वारा वीर निर्वाण चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण में कुमारगिरि पर आगम परिषद हुई थी, जिसमें वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह और गणाचार्य सुस्थित सुप्रतिबद्ध की परम्पराओं के पाँच सौ श्रमण उपस्थित हुए थे। वहाँ आर्या पोइणी भी तीनसौ श्रमणियों के साथ उपस्थित हुई थीं। इससे स्पष्ट है कि आर्या पोइणी महान प्रतिभाशाली और आगम रहस्य को जानने वाली थीं। उनके कुल, वय, दीक्षा, शिक्षा, साधना सम्बन्धी अन्य परिचय प्राप्त नहीं है। हिमवन्त स्थविरावली से स्पष्ट है कि पोइणी का चतुर्विध संघ में गौरवपूर्ण स्थान था।

वीरनिर्वाण की पाँचवीं शती में द्वितीय कालकाचार्य की भगिनी सरस्वती थी। उनके पिता का नाम वैरसिंह और माता का नाम सुरसुन्दरी था। राजकुमार कालक का अपनी बहन सरस्वती पर अपार स्नेह था। गुणाकर मुनि के उपदेश से दोनों ने जैन दीक्षा ग्रहण की। एक बार आर्य कालक के दर्शन हेतु साध्वी सरस्वती उज्जयिनी पहुँची। राजा गर्दभिल्ल ने उसके अनुपम लावण्य को देखा तो वह उस पर मुग्ध हो गया। उसने अपने राजपुरुषों द्वारा साध्वी सरस्वती का अपहरण करवाया। आर्य कलक को गर्दभिल्ल के घोर अनाचार का पता लगा। राजा को समझाने का प्रयास किया, किन्तु राजा न समझा। अतः आर्य कालक ने शकों की सहायता प्राप्त की एवं अपने भानजे भड़ौच के राजा भानुमित्र को लेकर युद्ध किया, साध्वी सरस्वती को मुक्त करवाया और पुनः अपनी बहन सरस्वती को दीक्षा प्रदान की। साध्वी सरस्वती अनेक कष्टों का सामना करके भी अपने पथ से च्युत नहीं हुई।

वीर निर्वाण की पाँचवीं शती में आर्य वज्र की माता सुनन्दा ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। उन्होंने किस श्रमणी के पास श्रमणधर्म स्वीकार किया इसके नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। यह सत्य है कि उस युग में साध्वियों का विराट समुदाय होगा, क्योंकि बालक वज्र ने साध्वियों से ही सुनकर एकादश अंगों का अध्ययन किया था।

वीरनिर्वाण की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में साध्वी रुक्मिणी का वर्णन मिलता है। वह पाटलीपुत्र के कोट्याधीश श्रेष्ठी धन की एकलौती पुत्री थी। आर्य वज्र के अनुपम रूप को निहार कर मुग्ध हो गयी। उसने अपने हृदय की बात पिता से कही। वह एक अरब मुद्राएँ तथा दिव्य वस्त्राभूषणों को लेकर वज्रस्वामी के पास पहुँचा। किन्तु रुक्मिणी ने वज्रस्वामी के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की। और रुक्मिणी तथा वज्रस्वामी के अपूर्व त्याग को देखकर सभी का सिर श्रद्धा से नत हो गया।

वीरनिर्वाण की पाँचवीं-छठी शती में एक विदेशी महिला के द्वारा आर्हती दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। विशेषावश्यकभाष्य तथा निशीथचूर्णि में वर्णन है कि मुरुण्डराज की विधवा बहिन प्रव्रज्या लेना चाहती थी। मुरुण्डराज ने साध्वियों की परीक्षा लेने हेतु एक आयोजन किया कि कौन साध्वी कैसी है। एक भीम-काय हाथी पर महावत बैठ गया और चौराहे पर वह खड़ा हो गया। जब कोई भी साध्वी उधर से निकलती तब महावत हाथी को साध्वी की ओर बढ़ाते हुए साध्वी को चेतावनी देता कि सभी वस्त्रों का परित्याग कर निर्वसना हो जाय, नहीं तो यह हाथी तुम्हें अपने पाँवों से कुचल डालेगा। अनेक साध्वियाँ, परिव्राजिकाएँ, भिक्षुणियाँ उधर निकलीं। भयभीत होकर उन्होंने वस्त्र का परित्याग किया। अन्त में एक जैन श्रमणी उधर आयी। हाथी ज्यों ही उसकी ओर बढ़ने लगा त्यों ही उसने क्रमशः अपने धर्मोपकरण उधर फेंक दिये, उसके पश्चात् साध्वी हाथी के इधर-उधर घूमने लगी। किन्तु उसने अपना वस्त्र-त्याग नहीं किया। जब जनसमूह ने यह दृश्य देखा तो उनका आक्रोश उभर आया। मुरुण्डराज ने भी संकेत कर हाथी को हस्तीशाला में भिजवाया और उसी साध्वी के पास अपनी बहिन को प्रव्रजित कराया। साहस, सहनशीलता, शान्ति और साधना की प्रतिमूर्ति उस साध्वी का तथा मुरुण्ड राजकुमारी इन दोनों का नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है।

वीरनिर्वाण की छठी शती में आर्यरक्षित की माता साध्वी रुद्रसोमा का नाम भी भुलाया नहीं जा सकता जिसने अपने प्यारे पुत्र को जो गम्भीर अध्ययन कर लौटा था, उसे पूर्वों का अध्ययन करने हेतु आचार्य तोसलीपुत्र के पास प्रेषित किया और सार्द्ध नौ पूर्व का आर्यरक्षित ने अध्ययन किया। रुद्रसोमा की प्रेरणा से ही राज पुरोहित सोम-देव तथा उसके परिवार के अनेकों व्यक्तियों ने आर्हती दीक्षा स्वीकार की और स्वयं उसने भी। उसका यशस्वी जीवन इतिहास की अनमोल सम्पदा है।

वीरनिर्वाण की छठी शती के अन्तिम दशक में साध्वी ईश्वरी का नाम आता है। भीषण दुष्काल से छट-पटाते हुए सोपारकनगर का ईभ्य श्रेष्ठी जिनदत्त था। उसकी पत्नी का नाम ईश्वरी था। बहुत प्रयत्न करने पर भी अन्न प्राप्त नहीं हुआ, अन्त में एक लाख मुद्रा से अंजली भर अन्न प्राप्त किया। उसमें विष मिलाकर सभी ने मरने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निश्चय किया। उस समय मुनि भिक्षा के लिए आये। ईश्वरी मुनि को देखकर अत्यन्त आह्लादित हुई। आर्य वज्रसेन ने ईश्वरी को बताया कि विष मिलाने की आवश्यकता नहीं है। कल से सुकाल होगा। उसी रात्रि में अन्न के जहाज आ गये जिससे सभी के जीवन में सुख-शान्ति की बंसी बजने लगी। ईश्वरी की प्रेरणा से सेठ जिनदत्त ने अपने नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर इन चारों पुत्रों के साथ आर्हती दीक्षा ग्रहण की। और उनके नामों से गच्छ और कुल परम्परा प्रारम्भ हुई। साध्वी ईश्वरी ने भी उत्कृष्ट साधना कर अपने जीवन को चमकाया।

इसके पश्चात् भी अनेक साध्वियाँ हुई, किन्तु क्रमबार उनका उल्लेख या परिचय नहीं मिलता, जिन्होंने अपनी आत्म ऊर्जा, बौद्धिक चातुर्य, नीति-कौशल एवं प्रखर प्रतिभा से जैन शासन की महनीय सेवा की। मैं यह मानता हूँ कि ऐसी अनेक दिव्य प्रतिभाओं ने जन्म लिया है, किन्तु उनके कर्तृत्व का सही मूल्यांकन नहीं हो सका।

हम यहाँ अठारहवीं सदी की एक तेजस्वी स्थानकवासी साध्वी का परिचय दे रहे हैं जिनका जन्म देहली में हुआ था। उनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं है और उनका सांसारिक नाम भी क्या था यह भी पता नहीं है। पर उन्होंने आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के समुदाय में किसी साध्वी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। ये महान प्रतिभासम्पन्न थीं। इनका श्रमणी जीवन का नाम महासती भागाजी था। इनके द्वारा लिखे हुए अनेकों शास्त्र, रास तथा अन्य ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ श्री अमर जैन ज्ञान भण्डार, जोधपुर में तथा अन्यत्र संग्रहीत हैं। लिपि उतनी सुन्दर नहीं है, पर प्रायः शुद्ध है। और लिपि को देखकर ऐसा ज्ञात होता है कि लेखिका ने सैकड़ों ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की होंगी। आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के नेतृत्व में पंचेवर ग्राम में जो सन्त सम्मेलन हुआ था उसमें उन्होंने भी भाग लिया था। और जो प्रस्ताव पारित हुए उसमें उनके हस्ताक्षर भी हैं।

अनुश्रुति है कि उन्हें बत्तीस आगम कण्ठस्थ थे। एक बार वे देहली में विराज रही थीं। शौच के लिए वे अपनी शिष्याओं के साथ जंगल में पधारीं। वहाँ से लौटने के पश्चात् रास्ते में एक उपवन था उसमें एक बहुत रमणीय स्थान था जो एकान्त था वहाँ पर बैठकर महासती जी स्वाध्याय करने लगी। स्वाध्याय चल रही थी, इधर वृहद् नौ तत्त्व के रचयिता श्रावक दलपतसिंहजी उधर निकले। उन्होंने देखा कि उपवन के वृक्षों के पत्ते दनादन गिर रहे हैं। फूल मुरझा रहे हैं। असमय में पतझड़ को आया हुआ देखकर उन्होंने सोचा इसका क्या कारण है? इधर-उधर देखा तो उन्हें महासतीजी एकान्त में बैठी हुई दिखायी दीं। श्रावकजी उनकी सेवा में पहुँचे। नमन कर उन्होंने महासती से पूछा—आप क्या कर रही हैं। महासती ने बताया कि मैं स्वाध्याय कर रही हूँ। इस समय चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति की स्वाध्याय चल रही है। श्रावकजी ने नम्रता से निवेदन किया—सद्गुरुणीजी, देखिए कि वृक्ष के पत्ते असमय में गिर रहे हैं, फूल मुरझा रहे हैं। लगता है स्वाध्याय करते समय कहीं असावधानी से स्खलना हो गई है। कृपाकर आपश्री पुनः स्वाध्याय करें। लाला दलपतसिंहजी भी आगम के मर्मज्ञ विद्वान थे। स्वाध्याय की गयी। जहाँ पर स्खलना हुई थी श्रावकजी ने उन्हें बताया। स्खलना का परिष्कार करने पर वृक्षों के पत्ते गिरने बन्द हो गये और फूल मुस्कराने लगे।

महासतीजी का विहार क्षेत्र दिल्ली, पंजाब, जयपुर, जोधपुर, मेड़ता और उदयपुर रहा है—ऐसा प्रशस्तियों के आधार से ज्ञात होता है। महासती भागाजी की अनेक विदुषी शिष्याएँ थीं। उनमें वीराजी प्रमुख थीं। वे भी आगमों के रहस्यों की ज्ञाता और चारित्रनिष्ठा थी। उनकी जन्मस्थली आदि के सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त नहीं है। महासती वीराजी की मुख्य शिष्या सद्दाजी थीं जिनका परिचय इस प्रकार है।

राजस्थान के साम्भर ग्राम में वि० सं० १९५७ के पौष कृष्ण दशम को महासती सद्दाजी का जन्म हुआ। उनकी माता का नाम पाटनदे था और पिता का नाम पीथाजीमोदी था। और दो ज्येष्ठ भ्राता थे। उनका नाम मालचन्द और बालचन्द था। सद्दाजी का रूप अत्यन्त सुन्दर था तथा माता-पिता का अपूर्व प्यार भी उन्हें प्राप्त हुआ था। उस समय जोधपुर के महाराजा अभयसिंहजी थे। सुमेरसिंहजी मेहता महाराजा अभयसिंह के मनोनीत अधिकारी थे। उन्होंने उनके पिता के सामने प्रस्ताव रखा चारण के द्वारा सद्दाजी के अपूर्व रूप की प्रशंसा सुनकर अन्त में सद्दाजी का पाणिग्रहण उनके साथ सम्पन्न हुआ। विराट वैभव और मनोनुकूल पत्नी को पाकर मेहताजी भोगों में तल्लीन थे। सद्दाजी को बाल्यकाल से ही धार्मिक संस्कार मिले थे। इस कारण वे प्रतिदिन सामायिक करती थीं और प्रातःकाल व सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण भी करती थीं।

एक बार सद्दाजी एक प्रहर तक संवर की मर्यादा लेकर नमस्कार महामन्त्र का जाप कर रहीं थीं, उसी समय दासियाँ घबरायी हुई और आँखों में आँसू बरसाती हुई दौड़ी आयीं और कहा मालिकन, गजब हो गया। मेहताजी की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हृदय गति एकाएक रुक जाने से उनका प्राणान्त हो गया है। उन्होंने सदा के लिए आँखें मूंद ली हैं। ये सुनते ही सद्दाजी ने तीन दिन का उपवास कर लिया और दूध-दही, घी, तेल और मिष्ठान्न इन पाँचों विगय का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर दिया। भोजन में केवल रोटी और छाछ आदि का उपयोग करना ही रखकर शेष सभी वस्तुओं का त्याग कर दिया। पति मर गया, किन्तु उन्होंने रोने का भी त्याग कर दिया। सास-ससुर दोनों आकर फूट-फूट कर रोने लगे, सद्दाजी ने उन्हें समझाया—अब रोने से कोई फायदा नहीं है। केवल कर्म-बन्धन होगा। इसलिए रोना छोड़ दें। आपका पुत्र आपको छोड़कर संसार से बिदा हो चुका है। ऐसी स्थिति में मैं भी अब संसार में नहीं रहूँगी और श्रमणधर्म को स्वीकार करूंगी। सास और ससुर ने विविध दृष्टियों से समझाने का प्रयास किया किन्तु सद्दाजी की वैराग्य भावना इतनी दृढ़ थी कि वे विचलित नहीं हुईं। देवर रामलाल ने भी सद्दाजी से कहा कि आप संसार का परित्याग न करें। पुत्र को दत्तक लेकर आराम से अपना जीवन यापन करें। किन्तु सद्दाजी इसके लिए प्रस्तुत नहीं थीं। उनके भ्राता मालचन्दजी और बालचन्दजी ने भी आकर बहन को संयम साधना की अतिदुष्करता बतायी। किन्तु सद्दाजी अपने मन्तव्य पर दृढ़ रहीं।

उस समय आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की आज्ञानुवर्तिनी महासती भागाजी की शिष्या महासती वीराजी जोधपुर में विराज रही थी। मेहता परिवार भी महासतीजी के निर्मल चारित्र से प्रभावित था। उन्होंने कहा तुम महासतीजी के पास सहर्ष प्रव्रज्या ग्रहण कर सकती हो किन्तु हम उन्हें जोधपुर में कभी भी दीक्षा नहीं लेने दे सकते। यदि तुम्हें दीक्षा ही लेनी है तो जोधपुर के अतिरिक्त कहीं भी ले सकती हो। सद्दाजी ने बाडमेर जिले के जसोल ग्राम में वि० सं० १८७७ में महासती वीराजी के पास संयमधर्म स्वीकार किया। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने विनयपूर्वक अठारह शास्त्र कण्ठस्थ किये, सैकड़ों थोकड़े और अन्य दार्शनिक धार्मिक ग्रन्थ भी। इसके बाद देश के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर धर्म की अत्यधिक प्रभावना की।

सद्दाजी की अनेक शिष्याएँ हुईं। उनमें फत्तूजी, रत्नाजी, चेनाजी और लाधाजी ये चार मुख्य थीं। चारों में विशिष्ट विशेषताएँ थीं। महासती फत्तूजी का विहार-क्षेत्र मुख्यरूप से मारवाड़ रहा और उनकी शिष्याएँ भी मारवाड़ में ही विचरण करती रहीं। आज पूज्य श्रीअमरसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय की मारवाड़ में जो साध्वियाँ हैं, वे सभी फत्तूजी के परिवार की हैं और महासती रत्नाजी का विचरण क्षेत्र मेवाड़ में रहा। इसलिए मेवाड़ में जितनी भी साध्वियाँ हैं वे रत्नाजी के परिवार की हैं। महासती चेनाजी में सेवा का अपूर्व गुण था तथा महासती लाधाजी उग्र तपस्विनी थीं। इन दोनों की शिष्या-परम्परा उपलब्ध नहीं होती है।

महासती श्री सद्दाजी ने अनेक मासखमण तथा कर्मचूर और विविध प्रकार के तप किये। तप आदि के कारण शारीरिक शक्ति विहार के लिए उपयुक्त न रहने पर वि० सं० १९०१ में वे जोधपुर में स्थिरवास ठहरीं। महासती फत्तूजी और रत्नाजी को उन्होंने आदेश दिया कि वे घूम-घूम कर अत्यधिक धर्मप्रचार करें। उन्होंने राजस्थान के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर अनेकों बहनों को प्रव्रज्या दी। सं० १९२१ में महासती फत्तूजी और रत्नाजी ने विचार किया कि इस वर्ष हम सब गुरुणीजी की सेवा में ही वर्षावास करेंगी। सभी महासती सद्दाजी की सेवा में पहुँच गयीं। आषाढ़ शुक्ला पंचमी के दिन महासती सद्दाजी ने तिविहार संथारा धारण किया। सद्गुरुणीजी को संथारा धारण किया हुआ देखकर उनकी शिष्या महासती लाधा जी ने भी संथारा कर लिया और सद्गुरुणी जी से कुछ दिनों के पूर्व ही स्वर्ग पहुँच गईं। संथारा चल रहा था, महासतीजी ने अपनी शिष्याओं को बुलाकर अंतिम शिक्षा देते हुए कहा—"अपनी परम्परा में ब्राह्मण और वैश्य के अतिरिक्त अन्य वर्णवाली महिलाओं को दीक्षा नहीं देना, तथा मैंने अन्य जो समाचारी बनायी है, उसका पूर्णरूप से पालन करना। तुम वीरांगना हो। संयम के पथ पर निरन्तर बढ़ती रहना। चाहे कितने भी कष्ट आवें उन कष्टों से घबराना नहीं। सद्गुरुणीजी की शिक्षा को सुनकर सभी साध्वियाँ गद्गद हो गयीं।" उन्हें लगा कि अब सद्गुरुणीजी लम्बे समय की मेहमान नहीं हैं। हमें उनकी आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करना ही चाहिए। भाद्रपद सुदी एकम के दिन पचपन दिन का संथारा कर वे स्वर्ग पधारीं। इस प्रकार पैंतालीस वर्ष तक महासती सद्दाजी ने संयम की साधना, तप की आराधना की। आज भी महासती सद्दाजी की शिष्या-परिवार में पचास से भी अधिक साध्वियाँ हैं।

महासती रत्नाजी की शिष्या-परिवार में शासन-प्रभाविका लछमाजी का नाम विस्मृत नहीं किया जा सकता। इनका जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम में सं० १९१० में हुआ था। आपके पिता का नाम रिखबचन्दजी माण्डोत और माता का नाम नन्दूबाई था। आपके दो भ्राता थे किसनाजी और बच्छराज जी। आपका पाणिग्रहण मादडा गाँव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साँकलचन्दजी चौधरी के साथ हुआ। कुछ समय के पश्चात् साँकलचन्दजी के शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हुई और उन्होंने सदा के लिए आँख मूंद ली। उस समय महासती रत्नाजी की शिष्या गुलाबकुँवरजी मादडा पधारीं। वे महान तपस्विनी थीं, उन्होंने अपने जीवन में अनेकों मासखमण किये थे। उनके उपदेश को सुनकर लछमाजी के मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। और वि० सं० १९२८ में भगवती दीक्षा ग्रहण की। वे प्रकृति से भद्र, विनीत और सरल मानसवाली थीं।

एक बार वे अपनी सद्गुरुणीजी के साथ बड़ी सादडी में विराज रही थीं। सती-वृन्द कमरे में आहार कर रही थीं कि एक बालक आँखों से आँसू बरसाता हुआ आया। बालक को रोते हुए देखकर लछमाजी ने पूछा—तू क्यों रो रहा है? बालक ने रोते हुए कहा—मैं गट्टूलालजी मेहता के यहाँ नौकरी करता हूँ। मेरा नाम वछराज है। आज सेठ के वहाँ मेहमान आये हैं और सभी मिष्ठान खा रहे हैं। पर मेरे नसीब में रूखी-सूखी रोटी भी कहाँ है? क्षुधा से छटपटाते हुए मैंने भोजन की याचना की। किन्तु उन्होंने मुझे दुत्कार कर घर से निकाल दिया कि तुझे माल खाना है या नौकरी करनी है। मैं अपने भाग्य पर पश्चात्ताप कर रहा हूँ। लछमजी ने बालक की ओर देखा। उसके चेहरे पर अपूर्व तेज था। उन्होंने उसे आश्वासन देते हुए कहा—रोओ मत। कल से तेरे सभी दुःख मिट जायेंगे। बालक हँसता और नाचता हुआ चल दिया।

छोटी सादडी में नागोरी श्रेष्ठी के लड़का नहीं था। पास में लाखों की सम्पत्ति थी। सेठानी के कहने से सेठ जी बालक वछराज को दत्तक लेने के लिए बड़ी सादडी पहुँचे और उसको अपना दत्तक पुत्र घोषित कर दिया। बालक ने महासती के चरणों में गिरकर कहा—सद्गुरुणीजी, आपका ही पुण्य प्रताप है कि मुझे यह विराट सम्पत्ति प्राप्त हो रही है। आपकी भविष्यवाणी पूर्ण सत्य सिद्ध हुई। महासती लछमाजी के सहज रूप से निकले हुए शब्द सत्य सिद्ध होते थे। उनकी वाचा सिद्ध थी। उनके जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिसमें उनकी चमत्कारपूर्ण जीवन-झाँकियाँ हैं। विस्तारभय से मैं उसे यहाँ नहीं दे रहा हूँ।

महासती लछमाजी सं० १९५५ में गोगुन्दा पधारीं। मन्द ज्वर के कारण शरीर शिथिल हो चुका था। अतः चैत्र वदी अष्टमी के दिन उन्होंने संथारा ग्रहण किया। रात्रि में तीन दिन के पश्चात् एक देव ने प्रकट होकर उन्हें नाना प्रकार के कष्ट दिये और विविध प्रकार के सुगंधित भोजन से भरा हुआ थाल सामने रखकर कहा कि भोजन कर लो। किन्तु सतीजी ने कहा—मैं भोजन नहीं कर सकती। पहला कारण यह है कि देवों का आहार हमें कल्पता नहीं है। दूसरा कारण यह है कि रात्रि है। तीसरा कारण यह है कि मेरे संथारा है। इसलिए मैं आहार ग्रहण नहीं कर सकती। देव ने कहा—जब तक तुम आहार ग्रहण नहीं करोगी तब तक हम तुम्हें कष्ट देंगे। आपने कहा—मैं कष्ट से नहीं घबराती। एक क्षण भी प्रकाश करते हुए जीना श्रेयस्कर है किन्तु पथ-भ्रष्ट होकर जीना उपयुक्त नहीं है। तुम मेरे तन को कष्ट दे सकते हो, किन्तु आत्मा को नहीं। आत्मा तो अजर अमर है। अन्त में देवशक्ति पराजित हो गयी। उसने उनकी दृढ़ता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। संथारे के समय अनेकों बार देव ने केशर की और सूखे गुलाब के पुष्पों की वृष्टि की। दीवालों पर केशर और चन्दन की छाप लग जाती थी। संगीत की मधुर स्वर लहरियाँ सुनायी देती थीं और देवियों की पायल ध्वनि सुनकर जन-मानस को आश्चर्य होता था कि ये अदृश्य ध्वनियाँ कहाँ से आ रही हैं। इस प्रकार ६७ दिन तक संथारा चला। ज्येष्ठ वदी अमावस्या वि० सं० १९५६ के दिन उनका संथारा पूर्ण हुआ और वे स्वर्ग पधारीं।

परम विदुषी महासती श्री सद्दाजी की शिष्याओं में महासती श्री रत्नाजी परम विदुषी सती थीं। उनकी एक शिष्या महासती रंभाजी हुईं। रंभाजी प्रतिभा की धनी थीं। उनकी सुशिष्या महासती श्री नवलाजी हुईं। नवलाजी परम विदुषी साध्वी थीं। उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जो एक बार आपके प्रवचन को सुन लेता वह आपकी त्याग, वैराग्ययुक्त वाणी से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। आपकी अनेक शिष्याएँ हुईं। उनमें से पाँच शिष्याओं के नाम और उनकी परम्परा उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम महासती नवलाजी की सुशिष्या कंसुबाजी थीं। उनकी एक शिष्या हुईं। उनका नाम सिरेकुँवरजी था और उनकी दो शिष्याएँ हुईं। एक का नाम साकरकुँवरजी और दूसरी का नाम नजरकुँवरजी था। महासती साकरकुँवरजी की कितनी शिष्याएँ हुईं यह प्राचीन साक्ष्यों के अभाव में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु महासती नजरकुँवरजी की पाँच शिष्याएँ हुईं। महासती नजरकुँवरजी एक विदुषी साध्वी थीं। इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के वल्लभनगर के सन्निकट मेनार गाँव थी। आप जाति से ब्राह्मण थीं। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण आप में स्वाभाविक प्रतिभा थी। आगम साहित्य का अच्छा परिज्ञान था। आपकी पाँच शिष्याओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) महासती रूपकुँवरजी—यह उदयपुर के सन्निकट देलवाड़ा ग्राम की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवासिनी थीं। (२) महासती प्रतापकुँवरजी। यह भी उदयपुर राज्य के वीरपुरा ग्राम की थीं। (३) महासती पाटूजी—ये समदड़ी (राजस्थान) की थीं। इनके पति का नाम गोडाजी लुंकड था। वि० सं० १९७८ में इनकी दीक्षा हुई। (४) महासती चौथाजी—इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के बंबोरा ग्राम में थी और इनकी ससुराल वाटी ग्राम में थी, (५) महासती एजाजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के शिशोदे ग्राम में हुआ, आपके पिता का नाम भेरूलालजी और माता का नाम कस्थूबाई था। आपका पाणिग्रहण वारी (मेवाड़) में हुआ और वहीं पर महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की। वर्तमान में इनमें से चार साध्वियों का स्वर्गवास हो चुका है केवल महासती एजाजी इस समय विद्यमान हैं। उनकी कोई शिष्याएँ नहीं है। इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक रही है।

महासती श्री नवलाजी की द्वितीय शिष्या गुमानाजी थीं। उनकी शिष्या-परम्पराओं में बड़े आनन्दकुँवरजी एक विदुषी महासती हुई। वे बहुत ही प्रभावशाली थीं। उनकी सुशिष्याएँ अनेक हुईं, पर उन सभी के नाम मुझे उपलब्ध नहीं हुए। उनकी प्रधान शिष्या महासती श्री बालब्रह्मचारिणी अभयकुँवरजी हुईं। आपका जन्म वि० सं० १९५२ फाल्गुन वदी १२ मंगलवार को राजवी के बाटेला गाँव (मेवाड़) में हुआ। आपने अपनी मातेश्वरी श्री हेमकुँवरजी के साथ महासती आनन्दकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर वि० सं० १९६० मृगशिर सुदी १३ को पाली-मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की। आपको शास्त्रों का गहरा अभ्यास था। आपका प्रवचन श्रोताओं के दिल को आकर्षित करने वाला होता था। जीवन की सान्ध्यबेला में नेत्र-ज्योति चली जाने से आप भीम (मेवाड़) में स्थिरवास रहीं और वि० सं० २०३३ के माघ में आपश्री का संथारा सहित स्वर्गवास हुआ। आपश्री की दो शिष्याएँ हुईं—महासती बदामकुँवरजी तथा महासती जसकुँवरजी। महासती बदामकुँवरजी का जन्म वि० सं० १९६१ वसन्त पंचमी को भीम गाँव में हुआ। आपका पाणिग्रहण भी वहीं हुआ और वि० संवत् १९७८ में विदुषी महासती अभयकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आप सेवाभावी महासती थीं। सं० २०३३ में आपका भीम में स्वर्गवास हुआ। महासती श्री जसकुँवरजी का जन्म १९५३ में पदराडा ग्राम में हुआ। आपने महासती श्री आनन्दकुँवरजी के पास सं० १९८५ में कम्बोल ग्राम में दीक्षा ग्रहण की और महासती श्री अभयकुँवरजी की सेवा में रहने से वे उन्हें अपनी गुरुणी की तरह पूजनीय मानती थीं। आप में सेवा की भावना अत्यधिक थी। सं० २०३३ में भीम में स्वर्गवास हुआ। इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक चली।

महासती श्री नवलाजी की तृतीय शिष्या केसरकुँवरजी थीं। उनकी सुशिष्या छगनकुँवरजी हुईं।

महासती छगनकुँवरजी—आप कुशलगढ़ के सन्निकट केलवाड़े ग्राम की निवासी थीं। लघुवय में ही आपका पाणिग्रहण हो गया था। किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से आपके अन्तर्मानस में धार्मिक साधना के प्रति विशेष रुचि जागृत हुई। आपका ससुर पक्ष मूर्तिपूजक आम्नाय के प्रति विशिष्ट रूप से आकर्षित था। आप तीर्थयात्रा की दृष्टि से उदयपुर आयीं। कुछ बहिनें प्रवचन सुनने हेतु महासती गुलाबकुँवरजी के पास जा रही थीं। आपने उनसे पूछा कि कहाँ जा रही हैं। उन्होंने बताया कि हम महासतीजी के प्रवचन सुनने जा रही हैं। उनके साथ आप भी प्रवचन सुनने हेतु पहुँचीं। महासतीजी के वैराग्यपूर्ण प्रवचन को सुनकर अन्तर्मानस में तीव्र वैराग्य भावना जाग्रत हुई। आपने महासतीजी से निवेदन किया कि मेरी भावना त्याग-मार्ग को ग्रहण करने की है। महासतीजी ने कहा—कुछ समय तक धार्मिक अध्ययन कर, फिर अन्तिम निर्णय लेना अधिक उपयुक्त रहेगा। बुद्धि तीक्ष्ण थी। अतः कुछ ही दिनों में काफी थोकड़े, बोल, प्रतिक्रमण व आगमों को कण्ठस्थ कर लिया। परिवार वालों ने आपकी उत्कृष्ट भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान की। आप अपने साथ तीर्थयात्रा करने हेतु विराट् सम्पत्ति भी लायी थीं। परिवार वालों ने कहा—हम इस सम्पत्ति को नहीं लेंगे, अतः उस सारी सम्पत्ति का उन्होंने दान कर दिया। आपका प्रवचन बहुत ही मधुर होता था। आपकी अनेक शिष्याएँ थीं। उनमें महासती फूलकुँवरजी मुख्य थीं। वि० सं० १९६५ में संथारे के साथ आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

महासती ज्ञानकुँवरजी—महासती छगनकुँवरजी की एक शिष्या विदुषी महासती ज्ञानकुँवरजी थीं। आपका जन्म वि० सं० १९०५ में उम्मड ग्राम में हुआ और बम्बोरा के शिवलालजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ था। सं० १९४० में आपके एक पुत्र हुआ जिसका नाम हजारीमल रखा गया। आचार्यप्रवर पूज्यश्री पूनमचन्दजी महाराज तथा महासती छगनकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने १९५० में महासती श्रीछगनकुँवरजी के पास जालोट में दीक्षा ग्रहण की। आपके पुत्र ने ज्येष्ठ शुक्ला १३ रविवार के दिन समदड़ी में दीक्षा ग्रहण की। उनका नाम ताराचन्दजी महाराज रखा गया। वे ही आगे चलकर उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के गुरु बने। महासती ज्ञानकुँवरजी महाराज बहुत ही सेवाभावी तथा तपोनिष्ठा साध्वी थीं। महासती श्री गुलाबकुँवरजी के उदयपुर स्थानापन्न विराजने पर आपश्री ने वहाँ पर वर्षों तक रहकर सेवा की और वि० सं० १९८७ में उदयपुर में संथारा सहित उनका स्वर्गवास हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासती फूलकुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के दुलावतों के गुढ़े में वि० सं० १९२१ में हुआ। आपके पिता का नाम भगवानचन्दजी और माता का नाम चुन्नीबाई था। लघुवय में आपका पाणिग्रहण तीरपाल में हुआ। किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से महासती छगनकुँवरजी के उपदेश को सुनकर विरक्ति हुई और १७ वर्ष की उम्र में आपने प्रव्रज्या ग्रहण की। आपकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। आपने अनेकों शास्त्र कंठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली भी अत्यन्त मधुर थी। आपके प्रवचन से प्रभावित होकर निम्न शिष्याएँ बनीं—(१) महासती माणककुँवरजी, (२) महासती धूलकुँवरजी, (३) महासती आनन्दकुँवरजी, (४) महासती लाभकुँवरजी, (५) महासती सोहनकुँवरजी, (६) महासती प्रेमकुँवरजी और (७) महासती मोहनकुँवरजी। आपने पचास वर्ष तक संयम की उत्कृष्ट साधना की। वि० सं० १९८९ में आपको ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा शरीर लम्बे समय तक नहीं रहेगा। आपने अपनी शिष्याओं को कहा कि मुझे अब संथारा करना है। किन्तु शिष्याओं ने निवेदन किया कि अभी आप पूर्ण स्वस्थ हैं, ऐसी स्थिति में संथारा करना उचित नहीं है। उस समय आपने शिष्याओं के मन को दुःखाना उचित नहीं समझा। आपने अपने मन से ही फाल्गुण शुक्ला बारस के दिन संथारा कर लिया। दूसरे दिन जब साध्वियाँ भिक्षा के लिए जाने लगीं, तब उन्होंने आपसे निवेदन किया कि हम आपके लिए भिक्षा में क्या लावें तब आपने कहा कि मुझे आहार नहीं करना है। तीन दिन तक यही क्रम चला चौथे दिन साध्वियों के आग्रह पर आपने स्पष्ट किया कि मैंने संथारा कर लिया है। चैत्र बदी अष्टमी को बारह दिन का संथारा पूर्ण कर आप स्वर्ग पधारीं।

महासती माणककुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के कानोड में वि० सं० १९१० में हुआ। आपकी प्रकृति सरल, सरस थी। सेवा की भावना अत्यधिक थी। ७५ वर्ष की उम्र में वि० सं० १९८५ के आसोज महीने में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

महासती धूल कुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के मादडा ग्राम में वि० सं० १९३५ माघ बदी अमावस्या को हुआ। आपके पिताश्री पन्नालाल जी चौधरी और माता का नाम नाथीबाई था। माता-पिता ने दीर्घकाल के पश्चात् सन्तान होने से आपका नाम धूलकुँवर रखा। तेरह वर्ष की लघुवय में वास निवासी चिमनलाल जी ओरडिया के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। कुछ समय के पश्चात् ही पति का देहान्त होने पर, आपकी भावना महासती फूलकुँवर जी के उपदेश को सुनकर संयम ग्रहण करने की हुई। किन्तु पारिवारिक जनों के अत्याग्रह के कारण आप संयम न ले सकीं और वि० सं० १९५६ में फाल्गुन बदी तेरस को वास ग्राम में महासती फूलकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। विनय, वैयावृत्य और सरलता आपके जीवन की मुख्य विशेषताएँ थीं। आपने अनेक शास्त्रों को भी कण्ठस्थ किया था। लगभग ३०० थोकड़े आपको कण्ठस्थ थे। आपके महासती आनन्दकुँवरजी, महासती सौभाग्यकुँवरजी, महासती शम्भुकुँवरजी, बालब्रह्मचारिणी शीलकंवरजी, महासती मोहनकुँवरजी, महासती कंचनकुँवरजी, महासती सुमनवतीजी, महासती दयाकुँवरजी, आदि शिष्याएँ थीं। श्रद्धेय सगुरुवर्य पुष्करमुनिजी महाराज को भी प्रथम आपके उपदेश से ही वैराग्य भावना जागृत हुई थी। आपका विहार क्षेत्र मेवाड़, मारवाड़, मध्यप्रदेश, अजमेर, ब्यावर था। वि० सं २००३ में आप गोगुन्दा ग्राम में स्थानापन्न विराजीं और वि० २०१३ में कार्तिक शुक्ला ग्यारस को २४ घंटे के संथारे के पश्चात् आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती लाभकुँवरजी—आपका जन्म वि० सं० १९३३ में उदयपुर राज्य के ढोल ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम मोतीलालजी ढालावत और माता का नाम तीजबाई था। आपका पाणिग्रहण सायरा के कावेडिया परिवार में हुआ था। लघुवय में ही पति का देहान्त हो जाने पर महासती फूलकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर वि० सं० १९५९ में सादडी मारवाड में दीक्षा ग्रहण की। आपका कण्ठ बहुत मधुर था। व्याख्यान-कला सुन्दर थी। आपकी दो शिष्याएँ हुईं—महासती लहरकुँवरजी और दाखकुंवरजी। आपका स्वर्गवास २००३ में श्रावण में यशवंतगढ़ में हुआ।

महासती लहरकुँवरजी—आपका जन्म नान्देशमा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम सूरजमलजी सिंघवी और माता का नाम फूलकुंवर बाई था। आपका पाणिग्रहण ढोल निवासी गेमराजजी ढालावत के साथ हुआ। पति का देहान्त होने पर कुछ समय के पश्चात् एक पुत्री का भी देहावसान हो गया। एक पुत्री जिसकी उम्र सात वर्ष की थी उसे उसकी दादी को सौंपकर वि० सं० १९८१ में ज्येष्ठ सुदी बारस को नान्देशमा ग्राम में दीक्षा ग्रहण की। आपकी प्रकृति मधुर व मिलनसार थी। स्तोक साहित्य का आपने अच्छा अभ्यास किया। आपकी एक शिष्या बनी जिनका नाम खमानकुँवरजी है।[+] आपका स्वर्गवास २०२६ माह बदी अष्टमी को १२ घंटे के संथारे से सायरा में हुआ।

[+] देखिए—परिचय वर्तमान परम्परा में साध्वियाँ—ले० राजेन्द्र मुनि साहित्यरत्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासती प्रेम कुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के गोगुन्दा ग्राम में हुआ और आपका पाणिग्रहण उदयपुर में हुआ था। पति का देहान्त होने पर महासती फूलकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की। आप प्रकृति से सरल, विनीत और क्षमाशील थीं। वि० सं० १९९४ में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या थी जिनका नाम विदुषी महासती पानकुँवरजी था, जो बहुत ही सेवाभाविनी थीं और जिनका स्वर्गवास वि० सं० २०२४ के पौष माह में गोगुन्दा ग्राम में हुआ।

महासती मोहनकुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के वाटी ग्राम में हुआ। आप लोदा परिवार की थीं। आपका पाणिग्रहण मोलेरा ग्राम में हुआ था। महासती फूलकुँवरजी के उपदेश को श्रवण कर चारित्रधर्म ग्रहण किया। आपको थोकड़ों का अच्छा अभ्यास था और साथ ही मधुर व्याख्यानी भी थी।

महासती सौभाग्यकुँवरजी—आपका जन्म बड़ी सादडी नागोरी परिवार में हुआ था और बड़ी सादडी के निवासी प्रतापमल जी मेहता के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। आपके एक पुत्र भी हुआ। महासती श्री धूल कुँवरजी के उपदेश को सुनकर आपने प्रव्रज्या ग्रहण की। आपकी प्रकृति भद्र थी। ज्ञानाभ्यास साधारण था। वि० सं० २०२७ आसोज सुदी तेरस को तीन घंटे के संथारे के साथ गोगुन्दा में आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती शम्भुकुँवरजी—आपका जन्म वि० सं १९५८ में वागपुरा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम गेमराजजी धर्मावत और माता का नाम नाथीबाई था। खाखड़ निवासी अनोपचन्द जी वनोरिया के सुपुत्र धनराजजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। आपके दो पुत्रियाँ हुईं। बड़ी पुत्री भूरबाई का पाणिग्रहण उदयपुर निवासी चन्दनमल जी कर्णपुरिया के साथ हुआ। कुछ समय पश्चात् पति का निधन होने पर आप उदयपुर में अपनी पुत्री के साथ रहने लगीं। महासती धूलकुँवरजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। अपनी लघु पुत्री अचरज बाई के साथ वि० सं० १९८२ फाल्गुन शुक्ला द्वितीय को खाखड ग्राम में दीक्षा ग्रहण की। पुत्री का नाम शीलकुँवरजी रखा गया। आपको थोकड़ों का तथा आगम साहित्य का अच्छा परिज्ञान था। आपके प्रवचन वैराग्यवर्धक होते थे। वि० सं० २०१८ में आप गोगुन्दा में स्थिरवास विराजीं। वि० सं० २०२३ के अषाढ़ बदी तेरस को संथारापूर्वक स्वर्गवास हुआ। आपकी प्रकृति भद्र व सरल थी। सेवा का गुण आप में विशेष रूप से था।

इसी परम्परा में परम विदुषी महासती श्री शीलकुँवरजी महाराज वर्तमान में हैं। महासती शीलकुँवरजी की महासती मोहनकुँवरजी, महासती सायरकुँवरजी, विदुषी महासती श्री चन्दनबालाजी, महासती श्री चेलनाजी, महासती साधनाकुँवरजी और महासती विनयप्रभाजी आदि अनेक आपकी सुशिष्याएँ हैं जिनमें बहुत सी प्रभावशाली विचारक व वक्ता हैं।

महासती नवलाजी की चतुर्थ शिष्या **जसाजी** हुईं। उनके जन्म आदि वृत्त के सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। उनकी शिष्या-परम्पराओं में महासती श्री **लाभकुँवरजी** थीं। इनका जन्म उदयपुर राज्य में कंबोल ग्राम में हुआ। इन्होंने लघुवय में दीक्षा ग्रहण की। ये बहुत ही निर्भीक वीरांगना थीं। एक बार अपनी शिष्याओं के साथ खमनोर (मेवाड़) ग्राम से सेमल गाँव जा रही थीं। उस समय साथ में अन्य कोई भी गृहस्थ श्रावक नहीं थे, केवल साध्वियाँ ही थीं। उस समय सशस्त्र चार डाकू आपको लूटने के लिए आ पहुँचे। अन्य साध्वियाँ डाकुओं के डरावने रूप को देखकर भयभीत हो गयीं। डाकू सामने आये। महासतीजी ने आगे बढ़कर उन्हें कहा—तुम वीर हो, क्या अपनी बहू-बेटी साध्वियों पर हाथ उठाना तुम्हारी वीरता के अनुकूल है? तुम्हें शरम आनी चाहिए। इस वीर भूमि में तुम साध्वियों के वस्त्र आदि लेने पर उतारू हो रहे हो। क्या तुम्हारा क्षात्रतेज तुम्हें यही सिखाता है? इस प्रकार महासती के निर्भीकतापूर्वक वचनों को सुनकर डाकुओं के दिल परिवर्तित हो गये। वे महासती के चरणों में गिर पड़े और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि हम भविष्य में किसी बहन या माँ पर हाथ नहीं उठायेंगे और न बालकों पर ही। डाका डालना तो हम नहीं छोड़ सकते, पर इस नियम का हम दृढ़ता से पालन करेंगे।

एक बार महासती लाभकुँवरजी चार शिष्याओं के साथ देवरिया ग्राम में पधारीं। वहाँ पर एक बहुत ही सुन्दर मकान था। एक श्रावक ने कहा—महासतीजी यह मकान आप सतियों के ठहरने के लिए बहुत ही साताकारी रहेगा। अन्य श्रावकगण मौन रहे। महासतीजी वहाँ पर ठहर गयीं। महासतीजी ने देखा उस मकान में पलंग बिछा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ था। उस पर गादी-तकिये बिछाये हुए थे तथा इत्र और पुष्पों की मधुर सौरभ से मकान सुवासित था। रात्रि में कोई भी बहिन महासती के दर्शन के लिए वहाँ उपस्थित नहीं हुई। महासतीजी को पता लग गया कि इस मकान में अवश्य ही भूत और प्रेत का कोई उपद्रव है। महासती लाभकुँवरजी ने सभी शिष्याओं को आदेश दिया कि सभी आकर मेरे पास बैठें। आज रात्रि भर हम अखण्ड नवकार मंत्र का जाप करेंगी। जाप चलने लगा। एक साध्वीजी को जरा नींद आने लगीं। ज्यों ही वे सोईं त्यों ही प्रेतात्मा उस महासती की छाती पर सवार हो गयी जिससे वह चिल्लाने लगी। महासती लाभकुँवरजी ने आगे बढ़कर उस प्रेत को ललकारा कि तुझे महासतियों को परेशान करते हुए लज्जा नहीं आती। हमने तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ा है। महासती की गंभीर गर्जना को सुनकर प्रेतात्मा एक ओर हो गया। महासती लाभकुँवरजी ने सभी साध्वियों से कहा जब तक तुम जागती रहोगी तब तक प्रेतात्मा का किंचित् भी जोर न चलेगा। जागते समय जप चलता रहा। किन्तु लंबा विहार कर आने के कारण महासतियाँ थकी हुई थीं। अतः उन्हें नींद सताने लगी। ज्योंही दूसरी महासती नींद लेने लगी त्यों ही प्रेतात्मा उन्हें घसीट कर एक ओर ले चला। गहरा अंधेरा था महासती लाभकुंवरजी ने ज्यों ही अन्धेरे में देखा कि प्रेतात्मा उनकी साध्वी को घसीट कर ले जा रहा है, नवकार मंत्र का जाप करती हुई वे वहाँ पहुँचीं और प्रेतात्मा के चंगुल से साध्वी को छुड़ाकर पुनः अपने स्थान पर लायीं और रात भर जाप करती हुईं पहरा देती रहीं। प्रातः होने पर उनके तपःतेज से प्रभावित होकर महासतीजी से क्षमा माँगकर प्रेतात्मा वहाँ से चला गया। महासतीजी ने श्रावकों को उपालंभ देते हुए कहा—इस प्रकार भयप्रद स्थान में साध्वियों को नहीं ठहराना चाहिए। श्रावकों ने कहा—हमने सोचा कि हमारी गुरुणीजी बड़ी ही चमत्कारी हैं, इसलिए इस मकान का सदा के लिए संकट मिट जायगा अतः उस श्रावक की प्रार्थना करने पर मौन रहे, अब क्षमा-प्रार्थी हैं। महासतीजी ने कहा—संकट तो मिट गया पर हमें कितनी परेशानी हुई।

इस प्रकार महासतीजी के जीवन में अनेकों घटनाएँ घटीं किन्तु उनके ब्रह्मचर्य के तेज व जप-साधना के कारण सभी उपद्रव शांत रहे। महासती श्री लाभकुँवरजी की अनेक शिष्याओं में एक शिष्या महासती **छोटे आनन्द कुंवरजी** थीं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के कमोल ग्राम में थी। ये बहुत ही मधुरभाषिणी थीं। उनके जीवन में त्याग की प्रधानता थी। इसलिए उनके प्रवचनों का असर जनता के अन्तर्मानस पर सीधा होता था। आप जहाँ भी पधारीं वहाँ आपके प्रवचनों से जनता मंत्रमुग्ध होती रही। आपकी अनेक शिष्यायें हुईं। उनमें महासती **मोहनकुंवरजी** महाराज और **लहरकुँवरजी** महाराज इन दो शिष्याओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

महासती **मोहनकुँवरजी** का जन्म उदयपुर राज्य के भूताला ग्राम में हुआ। उनका गृहस्थाश्रम का नाम मोहनबाई था। जाति से आप ब्राह्मण थीं। नौ वर्ष की लघुवय में उनका पाणिग्रहण हो गया। वह पति के साथ एक बार तीर्थयात्रा के लिए गुजरात आयीं। भडोच के सन्निकट नरमदा में स्नान कर रही थीं कि नदी में तीव्र पानी का एक प्रवाह आ गया जिससे अनेक व्यक्ति जो किनारे पर स्नान कर रहे थे पानी में बह गये। मोहनबाई का पति भी बह गया जिससे ये विधवा हो गयीं। उस समय महासती आनन्दकुँवरजी विहार करती हुई भूताले पहुँचीं। उनके उपदेश से प्रभावित हुई। मन में वैराग्य-भावना लहराने लगी। किन्तु उनके चाचा मोतीलाल ने अनेक प्रयास किये कि उनका वैराग्य रंग फीका पड़ जाय। अनेक बार उन्हें थाने के अन्दर कोठरी में बन्द कर दिया, पर वे सभी परीक्षाओं में समुत्तीर्ण हुईं। अन्त में मोतीलालजी उन्हें महाराणा फतहसिंह के पास ले गये। महाराणाजी ने भी उनकी परीक्षा ली। किन्तु उनकी दृढ़ वैराग्य-भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी जिससे सोलह वर्ष की उम्र में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। खूब मन लगाकर अध्ययन किया। आपकी दीक्षा के सोलह वर्ष के पश्चात् आपका वर्षावास अपनी सद्गुरुणी के साथ उदयपुर में था। आश्विन शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि में वे सोयी हुई थीं। उन्होंने देखा एक दिव्य रूप सामने खड़ा है और वह आवाज दे रहा है कि जाग रही हैं या सो रही हैं? तत्क्षण वे उठकर बैठ गयीं और पूछा —आप कौन हैं? और क्यों आये हैं? देव ने कहा—यह न पूछो, देखो तुम्हारा अन्तिम समय आ चुका है। कार्तिक सुदी प्रतिपदा के दिन नौ बजे तुम अपनी नश्वर देह का परित्याग कर दोगी, अतः संथारा आदि कर अपने जीवन का उद्धार कर सकती हो। यह कहकर देव अन्तर्धान हो गया। महासती आनन्दकुंवर जी जो सन्निकट ही सोयी हुई थीं, उन्होंने सुना और पूछा किससे बात कर रही हो? उन्होंने महासती से निवेदन किया कि मेरा अन्तिम समय आ चुका है, इसलिए मुझे संथारा करा दें। महासतीजी ने कहा—अभी तेरी बत्तीस वर्ष की उम्र है, शरीर में किसी भी प्रकार व्याधि नहीं है, अतः मैं संथारा नहीं करा सकती। उस समय उदयपुर में आचार्य श्रीलालजी महाराज का भी वर्षावास था; उन्होंने भी अपने शिष्यों को भेजकर महासती से संथारा न कराने का आग्रह किया और महाराणा फतहसिंहजी को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञात हुआ तो उन्होंने भी पुछवाया कि असमय में संथारा क्यों कर रही हो; तब महासती मे कहा मैं स्वेच्छा से संथारा कर रही हूँ, मैं मेवाड़ की वीरांगना हूँ। स्वीकृत संकल्प से पीछे हटने वाली नहीं हूँ। अन्त में संथारा ग्रहण किया और गौतम प्रतिपदा के दिन निश्चित समय पर उनका स्वर्गवास हुआ।

महासती **लहरकुँवरजी** का जन्म उदयपुर राज्य के सलोदा ग्राम में हुआ और आपका पाणिग्रहण भी सरोदा में हुआ। किन्तु लघुवय में ही पति का देहान्त हो जाने से महासती श्री आनन्दकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आगम साहित्य का अच्छा अभ्यास किया। एक बार सायरा ग्राम में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक और तेरापंथ की सतियों के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ। आपने अपने अकाट्य तर्कों से उन्हें परास्त कर दिया। आपकी प्रकृति बहुत ही सरल थी। आपकी वाणी में मिश्री सा माधुर्य था। सं० २००७ में अपका वर्षावास यशवन्तगढ़ (मेवाड़) में था। शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई और संथारे के साथ आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी दो शिष्याएँ हुई—महासती **सज्जनकुँवरजी** और महासती **कंचनकुँवरजी**।

महासती **सज्जन कुँवरजी** का जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम के बंबोरी परिवार में हुआ। आपके पिता का नाम भैरूलालजी और माता का नाम रंगूबाई था। १३ वर्ष की अवस्था में आपका पाणिग्रहण कमोल के ताराचन्दजी दोशी के साथ सम्पन्न हुआ। आपका गृहस्थाश्रम का नाम जमुना बाई था। सोलह वर्ष की उम्र में पति का देहान्त होने पर विदुषी महासती आनन्दकुँवरजी के उपदेश से सं० १९७६ में दीक्षा ग्रहण की। चौपन वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन कर सं० २०३० आसोज सुदी पूर्णिमा के दिन आपका यशवन्तगढ़ में स्वर्गवास हुआ। महासती सज्जनकुँवरजी की एक शिष्या हुई जिनका नाम बालब्रह्मचारिणी विदुषी महासती कौशल्या जी है। महासती कौशल्या जी की चार शिष्याएँ हैं—महासती विजयवतीजी, महासती हेमवतीजी, महासती दर्शनप्रभा जी और महासती सुदर्शन प्रभा जी।

महासती लहरकुवरजी की दूसरी शिष्या महासती **कंचनकुंवर** जी का जन्म उदयपुर राज्य के कमोल गाँव के दोसी परिवार में हुआ। तेरह वर्ष की वय में आपका विवाह पदराडा में हुआ और चार महीने के पश्चात् ही पति के देहान्त हो जाने से लघुवय में विधवा हो गयीं। महासती श्री लहरकुँवरजी के उपदेश को सुनकर दीक्षा ग्रहण की। आपका नांदेशमा ग्राम में संथारे के साथ स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या है जिनका नाम महासती **वल्लभ कुँवरजी** हैं—जो बहुत ही सेवापरायण है।

पूर्व पंक्तियों में हम बता चुके हैं कि महासती सद्दाजी की रत्नाजी, रंभाजी, नवलाजी की पाँच शिष्याएँ हुईं, उनमें से चार शिष्याओं के परिवार का परिचय दिया जा चुका है। उनकी पाँचवीं शिष्या अमृता जी हुईं। उनकी परम्परा में महासती श्री रायकुंवर जी हुईं जो महान प्रतिभासम्पन्न थीं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट कविता ग्राम में थी। आप ओसवाल तलेसरा वंश की थीं। उनके अन्य जीवनवृत्त के सम्बन्ध में मुझे विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। पर यह सत्य है कि वे एक प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं। जिनके पवित्र उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक शिष्याएँ बनीं। उनमें से दस शिष्याओं के नाम उपलब्ध होते हैं। अन्य शिष्याओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है।

(१) **महासती सूरजकुंवरजी**—इनकी जन्मस्थली उदयपुर थी और आपका पाणिग्रहण साडोल (मेवाड़) के हनोत परिवार में हुआ था। महासती जी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने साधनामार्ग स्वीकार किया। आपकी कितनी शिष्याएँ हुईं यह ज्ञात नहीं।

(२) **महासती फूलकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आँचालिया परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ। महासतीजी के पावन प्रवचनों से प्रभावित होकर श्रमणीधर्म स्वीकार किया। आपकी भी कितनी शिष्याएँ हुईं यह ज्ञात नहीं।

(३) **महासती हुल्लासकुंवरजी**—आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आपका पाणिग्रहण भी उदयपुर के हरखावत परिवार में हुआ था। आपने भी महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर संयम धर्म ग्रहण किया था। महासती हुल्लासकुंवरजी बहुत विलक्षण प्रतिभा की धनी थी। आपके उपदेश से प्रभावित होकर पाँच शिष्याएँ बनीं—महासती देवकुँवरजी (जन्म कर्णपुर के पोरवाड परिवार में तथा विवाह उदयपुर पोरवाड परिवार) महासती प्यारकुँवरजी (जन्म—बाठेंडा, ससुराल—डबोक) महासती पदमकुँवरजी इनका जन्म उदयपुर के सन्निकट थामला के सियार परिवार में हुआ और डबोक झगड़ावत परिवार में पाणिग्रहण किया। स्थविरा विदुषी महासती सौभाग्य कुंवरजी और सेवामूर्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासती चतुरकुँवरजी। इनमें महासती परमकुंवरजी की महासती **कैलास कुंवरजी** शिष्या हुईं। आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपके पिता का नाम हीरालालजी और माता का नाम इंदिरा बाई था। आपका गणेशी लालजी से पाणिग्रहण हुआ था। सं० १९९३ फाल्गुन शुक्ला दसमी के दिन देलवाड़ा में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपकी चरित्र बाँचने की शैली बहुत ही सुन्दर थी, आपकी सेवाभावना प्रशंसनीय थी। सं० २०३२ में आपका अजमेर में संथारा सहित स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती रतनकुँवरजी है।

महासती हुल्लासकुँवरजी की चतुर्थ शिष्या **सौभाग्य कुंवरजी हैं***। आपकी जन्मस्थली उदयपुर, पिता का नाम मोडीलालजी खोखावत और माता का नाम रूपाबाई था। आपश्री वर्तमान में विद्यमान हैं। आपका स्वभाव बहुत ही मधुर है। आपकी शिष्या हुई महासती **मोहनकुँवरजी** जिनका जन्म दरीबा (मेवाड़) में हुआ और उनका पाणिग्रहण दबोक ग्राम में हुआ। वि० सं० २००६ में आपने दीक्षा ग्रहण की और सं० २०३१ में आपका स्वर्गवास उदयपुर में हुआ।

महासती हुल्लासकुँवरजी की पाँचवीं शिष्या महासती **चतुरकुंवरजी** हैं जो बहुत ही सेवापरायणा साध्वी रत्न हैं।

(४) महासती रायकुँवरजी की चतुर्थ शिष्या **हुकमकुंवरजी** थी। उनकी सात शिष्याएँ हुईं—महासती **नूरकुंवरजी**—आपका जन्म उदयपुर राज्य के कविता ग्राम में हुआ। आपको थोकड़े साहित्य का बहुत ही अच्छा परिज्ञान था। पचहत्तर वर्ष की उम्र में आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती प्रतापकुँवरजी जो प्रकृति से भद्र थीं। लखावली के भण्डारी के परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ था और लगभग सत्तर वर्ष की उम्र में आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती हुकुमजी की दूसरी शिष्या **रूपकुँवरजी** थीं। आपकी जन्मस्थली देवास (मेवाड़) की थी। लोढा परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ। आपने महासतीजी के पास दीक्षा ग्रहण की। वर्षों तक संयम पालन कर अन्त में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

महासती हुकुमकुँवरजी की तृतीय शिष्या **बल्लभकुंवरजी** थीं। आपका जन्म उदयपुर के बाफना परिवार में हुआ था और आपका पाणिग्रहण उदयपुर के गेलडा परिवार में हुआ। आपने दीक्षा ग्रहण कर आगम शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया। आपकी एक शिष्या हुईं जिनका नाम महासती **गुलाबकुँवरजी** था। आपका जन्म 'गुलुंडिया' परिवार में हुआ था और पाणिग्रहण 'बया' परिवार में हुआ था। आपको आगम व स्तोक साहित्य का सम्यक् परिज्ञान था। उदयपुर में ही संथारा सहित स्वर्गस्थ हुईं।

महासती हुकुमकुँवरजी की चौथी शिष्या **सज्जनकुँवरजी** थीं। आपने उदयपुर के बाफना परिवार में जन्म लिया और दुगड़ों के वहाँ पर ससुराल था। आपकी एक शिष्या हुईं जिनका नाम **मोहनकुँवरजी** था जिनकी जन्मस्थली अलवर थी और ससुराल खण्डवा में था। वर्षों तक संयम साधना कर उदयपुर में आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती हुकुमकुँवरजी की पाँचवीं शिष्या छोटे **राजकुँवरजी** थीं। आप उदयपुर के माहेश्वरी वंश की थीं।

महासती हुकुमकुँवरजी की एक शिष्या **देवकुँवरजी** थीं जो उदयपुर के सन्निकट कर्णपुर ग्राम की निवासिनी थीं और पोरवाड वंश की थीं और सातवीं शिष्या महासती **गेंदकुँवरजी** थीं। आपका जन्म उदयपुर के सन्निकट भुआना के पगारिया कुल में हुआ। चन्देसरा गाँव के बोकड़िया परिवार में आपकी ससुराल थी। आपको सैकड़ों थोकड़े कण्ठस्थ थे। आप सेवापरायण थीं। सं० २०१० में ब्यावर में आपका स्वर्गवास हुआ।

(५) **महासती मदनकुंवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपकी प्रतिभा गजब की थी। आपने महासतीजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आपको आगम साहित्य का गम्भीर अध्ययन था और थोकड़ा साहित्य पर भी आपका पूर्ण अधिकार था। एक बार आचार्यश्री मुन्नालालजी महाराज जो आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे, उन्होंने उदयपुर के जाहिर प्रवचन सभा में महासती मदनकुँवरजी को उन्नीस प्रश्न किये थे। वे प्रश्न आगम ज्ञान के साथ ही प्रतिभा से सम्बन्धित थे। उन्होंने पूछा—बताइये महासतीजी; सिद्ध भगवान कितना विहार करते हैं? उत्तर में महासती जी ने कहा—सिद्ध भगवान सात राजु का विहार करते हैं, क्योंकि सिद्ध जो बनते हैं वे यहाँ पर बनते हैं, यहीं पर अष्ट कर्म नष्ट करते हैं और फिर कर्म नष्ट होने से वे ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर अवस्थित होते हैं। क्योंकि वहाँ से आगे आकाश द्रव्य है, पर धर्मास्तिकाय नहीं।

---

* देखिए—वर्तमान युग की साध्वियाँ—ले० राजेन्द्रमुनि साहित्यरत्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराजश्री ने दूसरा प्रश्न किया—साधु कितना विहार करते हैं ? उत्तर में महासतीजी ने कहा—आचार्य प्रवर, साधु चौदह राजु का विहार करते हैं। केवली भगवान जिनका आयुकर्म कम होता है और वेदनीय नाम, गोत्र कर्म अधिक होता है, तब केवली समुद्घात होती है। उस समय उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोक में प्रसरित हो जाते हैं। केवली महाराज साधु हैं। उनके आत्मप्रदेश भी साधु के हैं। इस दृष्टि से वे चौदह राजु का विहार करते हैं।

आचार्यश्री ने तीसरा प्रश्न किया—सिद्ध भगवान कितने लम्बे हैं और कितने चौड़े हैं ? महासतीजी ने उत्तर में निवेदन किया—सिद्ध भगवान तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अंगुल लम्बे हैं। क्योंकि पाँच सौ धनुष की अवगाहना वाले जो सिद्ध बनते हैं उनके आत्मप्रदेश तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अंगुल लम्बे रहते हैं और सिद्ध भगवान चौड़े हैं पैंतालीस लाख योजन। पैंतालीस लाख योजन का मनुष्य-क्षेत्र है। जहाँ पर एक सिद्ध हैं वहाँ पर अनन्त सिद्ध हैं। सभी सिद्धों के आत्म-प्रदेश परस्पर मिले हुए हैं। बीच में तनिक मात्र भी व्यवधान नहीं है। इस घनत्व की दृष्टि से सिद्ध पैंतालीस लाख योजन चौड़े हैं।

चौथा प्रश्न आचार्यश्री ने किया—चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। बताइये दोनों में से किसकी आत्मा हमारे से अधिक सन्निकट है ? उत्तर में महासतीजी ने कहा—भगवान ऋषभदेव की आत्मा हमारे से अधिक सन्निकट है बनिस्वत महावीर के। क्योंकि भगवान ऋषभदेव की अवगाहना पाँच सौ धनुष की थी और महावीर की अवगाहना सात हाथ की थी। जिससे ऋषभदेव के आत्म-प्रदेश तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अंगुल है और महावीर की आत्मा के प्रदेश चार हाथ और सोलह अंगुल है। अतः ऋषभदेव की आत्मा महावीर की आत्मा से हमारे अधिक सन्निकट है।

पाँचवाँ प्रश्न आचार्यश्री ने किया—दो श्रावक हैं। वे दोनों एक ही स्थान पर बैठे हैं। एक देवसी, प्रतिक्रमण करता है और दूसरा राईसी प्रतिक्रमण करता है। ये दोनों पृथक्-पृथक् प्रतिक्रमण क्यों करते हैं ? उसकी क्या अपेक्षा है स्पष्ट कीजिए। महासतीजी ने उत्तर में कहा—दो श्रावक हैं, एक भरतक्षेत्र का और दूसरा महाविदेह क्षेत्र का। वे दोनों श्रावक विराधक हो गये और वे वहाँ से आयु पूर्ण कर अढाई द्वीप के बाहर नन्दीश्वर द्वीप में जलचर के रूप में उत्पन्न हुए। नन्दीश्वर द्वीप में देव भगवान तीर्थंकरों के अष्टाह्निक महोत्सव मनाते हैं। उन महोत्सवों में तीर्थंकर भगवान के उत्कीर्तन को सुनकर उन जलचर जीवों को जातिस्मरणज्ञान होता है और वे उस ज्ञान से अपने पूर्वभव को निहारते हैं और उस जातिस्मरणज्ञान के आधार से वे वहां पर प्रतिक्रमण करते हैं। क्योंकि नन्दीश्वर द्वीप में तो रात-दिन का कोई क्रम नहीं है। अतः वे जातिस्मरणज्ञान से अपने पूर्व स्थल को देखते हैं, मन में ग्लानि होती है, अतः वे वहाँ प्रतिक्रमण करते हैं। पर जिस समय भरतक्षेत्र में दिन होता है उस समय महाविदेहक्षेत्र में रात्रि होती है, अतः एक देवसी प्रतिक्रमण करता है और दूसरा राईसी प्रतिक्रमण करता है। सन्निकट बैठे रहने पर भी वे दोनों पृथक्-पृथक् प्रतिक्रमण करते हैं।

आचार्यश्री ने छठा प्रश्न किया—पाँच सौ तिरसठ जीव के भेदों में से ऐसा कौन-सा जीव है जो एकान्त मिथ्यादृष्टि है और साथ ही एकान्त शुक्ललेश्यी भी। क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं। महासतीजी ने कहा—तेरह सागर की स्थिति वाले किल्विषी देव में एकान्त मिथ्यादृष्टि होती है और साथ ही वे एकान्त शुक्ललेश्यी भी हैं।

इस प्रकार उन्नीस प्रश्नों के उत्तरों को सुनकर आचार्य प्रवर और सभा प्रमुदित हो गयी और उन्होंने कहा—मैंने कई सन्त-सतियाँ देखीं, पर इनके जैसी प्रतिभासम्पन्न साध्वी नहीं देखी। महासती मदनकुँवरजी जिस प्रकार प्रकृष्ट प्रतिभा की धनी थी उसी प्रकार उत्कृष्ट आचारनिष्ठा भी थीं। गुप्त तप उन्हें पसन्द था। प्रदर्शन से वे कोसों दूर भागती थीं। वे साध्वियों के आहारादि से निवृत्त होने पर जो अवशेष आहार बच जाता और पात्र धोने के बाद जो पानी बाहर डालने का होता उसी को पीकर सन्तोष कर लेतीं। कई बार नन्हीं सी गुड की डेली या शक्कर लेकर मुँह में डाल लेती। यदि कोई उनसे पूछता कि क्या आज आपके उपवास है, वे कहती नहीं, मैंने तो मीठा खाया है।

उनमें सेवा का गुण भी गजब का था। उन्हें हजारों जैन कथाएँ और लोक कथाएँ स्मरण थीं। समय-समय पर बालक और बालिकाओं को कथा के माध्यम से संसार की असारता का प्रतिपादन करती। कर्म के मर्म को समझातीं। उनका मानना था कि बालकों को और सामान्य प्राणियों को कथा के माध्यम से ही उपदेश देना चाहिए जिससे वह उपदेश ग्रहण कर सके। उन्होंने मुझे बाल्यकाल में सैकड़ों कथाएँ सुनाई थीं। सन् १९४९ में तीन दिन के संथारे के साथ उदयपुर में उनका स्वर्गवास हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) **महासती सल्लेकुंवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी और आपका उदयपुर में ही मेहता परिवार में पाणिग्रहण हुआ। आपने महासतीजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य-भावना जागृत हुई और अपनी पुत्री सज्जनकुंवर के साथ आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आप सेवापरायणा साध्वी थीं।

(७) **महासती सज्जनकुंवरजी**—आपकी माता का नाम सल्लेकुंवर था और आपने माँ के साथ ही महासती जी की सेवा में दीक्षा ग्रहण की थी।

(८) **महासती तीजकुंवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव में थी। आपका पाणि-ग्रहण उसी गाँव में सेठ रोडमलजी भोगर के साथ सम्पन्न हुआ। गृहस्थाश्रम में आपका नाम गुलाबदेवी था। आपके दो पुत्र थे जिनका नाम प्यारेलाल और भैरूलाल था तथा एक पुत्री थी जिनका नाम खमाकुंवर था। आपने महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर दो पुत्र और एक पुत्री के साथ दीक्षा ग्रहण की। आपके पति का स्वर्गवास बहुत पहले हो चुका था। आपश्री ने श्रमणीधर्म स्वीकार करने के पश्चात् नौ बार मासखमण की तपस्याएँ कीं, सोलह वर्षों तक आपने एक घी के अतिरिक्त दूध, दही, तेल और मिष्टान इन चार विगयों का त्याग किया। एक बार आपको प्रातःकाल सपना आया—आपने देखा कि एक घड़े के समान बृहत्काय मोती चमक रहा है। अतः जागृत होते ही आपने स्वप्न-फल पर चिन्तन करते हुए विचार किया है अब मेरा एक दिन का ही आयु शेष है। अतः संथारा कर अपने जीवन को पवित्र बनाऊँ। आपने संथारा किया और एक दिन का संथारा कर स्वर्गस्थ हुई।

(९) **परम विदुषी महासती श्री सोहनकुंवरजी**—आपश्री की जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव में थी और जन्म सं० १९४९ (सन् १८९२) में हुआ। आपके पिताश्री का नाम रोडमलजी और माता का नाम गुलाबदेवी था और आपका सांसारिक नाम खमाकुंवर था। नौ बरस की लघुवय में ही आपका वाग्दान डुलावतों के गुडे के तकतमलजी के साथ हो गया। किन्तु परम विदुषी महासती रायकुँवरजी और कविवर्य पं० मुनि नेमीचन्दजी महाराज के त्याग-वैराग्ययुक्त उपदेश को श्रवण कर आपमें वैराग्य भावना जाग्रत हुई और जिनके साथ वाग्दान किया गया था उनका सम्बन्ध छोड़कर अपनी मातेश्वरी और अपने ज्येष्ठ भ्राता प्यारेलाल और भैरूलाल के साथ क्रमशः महासती राजकुंवरजी और कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के पास जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षा स्थली पचभद्रा (बाडमेर) में थी और दोनों ने शिवगंज (जोधपुर) में दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपके भ्राताओं की उम्र १३ और १४ वर्ष की थी और आपकी उम्र ९ वर्ष की। दोनों भ्राता बड़े ही मेधावी थे। कुछ ही वर्षों में उन्होंने आगम साहित्य का गहरा अध्ययन किया। किन्तु दोनों ही युवावस्था में क्रमशः मदार (मेवाड़) और जयपुर में संथारा कर स्वर्गस्थ हुए।

खमाकुँवर का दीक्षा नाम महासती सोहनकुँवरजी रखा गया। आप बालब्रह्मचारिणी थी। आपने दीक्षा ग्रहण करते ही आगम साहित्य का गहरा अध्ययन प्रारम्भ किया और साथ ही थोकड़े साहित्य का भी। आपने शताधिक रास, चौपाइयाँ तथा भजन भी कण्ठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जिस समय आप प्रवचन करती थीं विविध आगम के रहस्यों के साथ रूपक, दोहे, कवित्त, श्लोक और उर्दू शायरी का भी यत्र-तत्र उपयोग करती थी। विषय के अनुसार आपकी भाषा में कभी ओज और कभी शान्तरस प्रवाहित होता था और जनता आपके प्रवचनों को सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाती थी।

अध्ययन के साथ ही तप के प्रति आपकी स्वाभाविक रुचि थी। माता के संस्कारों के साथ तप की परम्परा आपको वारिस में मिली थी। आपने अपने जीवन की पवित्रता हेतु अनेक नियम ग्रहण किये थे, उनमें से कुछ नियमों की सूची इस प्रकार है—

(१) पंच पर्व दिनों में आयंबिल, उपवास, एकासन, नीवि आदि में से कोई न कोई तप अवश्य करना।

(२) बारह महीने में छह महीने तक चार विगय ग्रहण नहीं करना। केवल एक विगय का ही उपयोग करना।

(३) छः महीने तक अचित्त हरी सब्जी आदि का भी उपयोग नहीं करना।

(४) चाय का परित्याग।

(५) उन्होंने महासती कुसुमवतीजी, महासती पुष्पवतीजी और महासती प्रभावतीजी* ये तीन शिष्याएँ

* इन तीनों का परिचय हमने 'वर्तमान युग की साध्वियाँ' के परिचय में दिया है। —ले० राजेन्द्रमुनि साहित्यरत्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनायीं, उसके पश्चात् उन्होंने अपनी नेश्राय में शिष्याएँ बनाना त्याग दिया। यद्यपि उन्होंने पहले भी तीस-पैंतीस साध्वियों को दीक्षा प्रदान की किन्तु उन्हें अपनी शिष्याएँ नहीं बनायीं।

(६) प्लास्टिक, सेलूलाइड आदि के पात्र, पट्टी आदि कोई वस्तु अपनी नेश्राय में न रखने का निर्णय लिया।

(७) जो उनके पास पात्र थे उनके अतिरिक्त नये पात्र ग्रहण करने का भी उन्होंने त्याग कर दिया।

(८) एक दिन में पाँच द्रव्य से अधिक द्रव्य ग्रहण न करना।

(९) प्रतिदिन कम से कम पच्चीसों गाथाओं की स्वाध्याय करना।

(१०) बारह महीने में एक बार पूर्ण बत्तीस आगमों की स्वाध्याय करना।

इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन को अनेक नियम और उपनियमों से आबद्ध बनाया। उनके जीवन में वैराग्य भावना अठखेलियाँ करती थीं। यही कारण है कि अजमेर में सन् १९६३ में श्रमणी संघ ने मिलकर आपको चन्दनबाला श्रमणी संघ की अध्यक्षा नियुक्त किया और श्रमणसंघ के उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज समय-समय पर अन्य साध्वियों को प्रेरणा देते हुए कहते कि देखो, विदुषी महासती सोहनकुँवरजी कितनी पवित्र आत्मा है। उनका जीवन त्याग वैराग्य का साक्षात् प्रतीक है। तुम्हें इनका अनुसरण करना चाहिए।

विदुषी महासती सोहनकुंवरजी जहाँ ज्ञान और ध्यान में लल्लीन थीं वहाँ उन्होंने उत्कृष्ट तप की भी अनेक बार साधनाएँ कीं। उनके तप की सूची इस प्रकार हैं—

३३	३२	३१	२४	२३	२२	२१	२०	१७	१६	१५	१०	९	८	६	५	४	३	२
२	१	१	२	१	२	१	२	३	३	१३	१०	१०	५०	४०	४०	६५	६१	८०

जब भी आप तप करती तब पारणे में तीन पौरसी करती थीं या पारणे के दिन आयंबिल तप करतीं जिससे पारणे में औद्देशिक और नैमित्तिक आदि दोष न लगे।

बाह्य तप के साथ आन्तरिक तप की साधना भी आपकी निरन्तर चलती रहती थी। सेवा भावना आप में कूट-कूट कर भरी हुई थी। आप स्व-सम्प्रदाय की साध्वियों की ही नहीं किन्तु अन्य सम्प्रदाय की साध्वियों की भी उसी भावना से सेवा करती थी। आपके अन्तर्मानस में स्व और पर का भेद नहीं था।

आचार्य गणेशीलालजी महाराज की शिष्याएँ केसरकुंवरजी, जो साइकल से अक्सिडेण्ट होकर सड़क पर गिर पड़ी थीं, सन्ध्या का समय था, आप अपनी साध्वियों के साथ शौच भूमि के लिए गयी। वहाँ पर उन्हें दयनीय स्थिति में गिरी हुई देखा। उस समय आपके दो चद्दर ओढ़ने को थी, उसमें से आपने एक चादर की झोली बनाकर और सतियों की सहायता से स्थानक पर उठाकर लायीं और उनकी अत्यधिक सेवा-सुश्रूषा की। इसी प्रकार महासती नाथकुँवरजी आदि की भी आपने अत्यधिक सेवा सुश्रूषा की और अन्तिम समय में उन्हें संथारा आदि करवाकर सहयोग दिया। आचार्य हस्तीमलजी महाराज की शिष्याएँ महासती अमरकुंवरजी, महासती धनकुंवरजी, महासती गोगाजी आदि अनेक सतियों की सुश्रूषा की और संथारा आदि करवाने में अपूर्व सहयोग दिया।

सन् १९६३ में अजमेर के प्रांगण में श्रमण संघ का शिखर सम्मेलन हुआ। उस अवसर पर वहाँ पर अनेक महासतियाँ एकत्रित हुईं। उन सभी ने चिन्तन किया कि सन्तों के साथ हमें भी एकत्रित होकर कुछ कार्य करना चाहिए। उन सभी ने वहाँ पर मिलकर अपनी स्थिति परचिन्तन किया कि भगवान महावीर के पश्चात् आज दिन तक सन्तों के अधिक सम्मेलन हुए, किन्तु श्रमणियों का कोई भी सम्मेलन आज तक नहीं हुआ और न श्रमणियों की परम्परा का इतिहास भी सुरक्षित है। भगवान महावीर के पश्चात् साध्वी परम्परा का व्यवस्थित इतिहास न मिलना हमारे लिए लज्जास्पद है जबकि श्रमणों की तरह श्रमणियों ने भी आध्यात्मिक साधना में अत्यधिक योगदान दिया है। इसका मूल कारण है एकता व एक समाचारी का अभाव। अतः उन्होंने श्री वर्द्धमान चन्दनबाला श्रमणी संघ का निर्माण किया और श्रमणियों के ज्ञान-दर्शन चारित्र के विकास हेतु इक्कीस नियमों का निर्माण किया। उसमें पच्चीस प्रमुख साध्वियों की एक समिति का निर्माण हुआ। चन्दनबाला श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी पद पर सर्वानुमति से आपश्री को नियुक्त किया गया जो आपकी योग्यता का स्पष्ट प्रतीक था।

राजस्थान प्रान्त में रहने के बावजूद भी आपका मस्तिष्क संकुचित विचारों से ऊपर उठा हुआ था। यही कारण है कि सर्वप्रथम राजस्थान में साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा के उच्चतम अध्ययन करने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपके अन्तर्मानस में भावनाएँ जागृत हुईं। आपने अपनी सुशिष्या महासती कुसुमवतीजी, पुष्पावतीजी, चन्द्रावतीजी आदि को किंग्स कालेज बनारस की, संस्कृत, हिन्दी साहित्व सम्मेलन, प्रयाग की साहित्यरत्न प्रभृति उच्चतम परीक्षाएँ दिलवायीं। उस समय प्राचीन विचारधारा के व्यक्तियों ने आपश्री का डटकर विरोध किया कि साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का उच्च अध्ययन न कराया जाय और न ही परीक्षा ही दिलवायी जाएँ। तब आपने स्पष्ट शब्दों में कहा—साधुओं की तरह साध्वियों के भी अध्ययन करने का अधिकार है। आगम साहित्य में साध्वियों के अध्ययन का उल्लेख है। युग के अनुसार यदि साध्वियाँ संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अध्ययन नहीं करेंगी तो आगम और उसके साहित्य को पढ़ नहीं सकतीं और बिना पढ़े आगमों के रहस्य समझ में नहीं आ सकते। इसका विरोधियों के पास कोई उत्तर नहीं था। आप विरोध को विनोद मानकर अध्ययन करवाती रहीं। उसके पश्चात् स्थानकवासी परम्परा में अनेक मूर्धन्य साध्वियाँ तैयार हुईं। आज अनेक साध्वियाँ एम. ए., पी. एच-डी. भी हो गयी हैं। यह था आपका शिक्षा के प्रति अनुराग।

आपने अनेक व्यक्तियों को प्रतिबोध दिया। जब अन्य सन्त व सती जन अपनी शिष्या बनाने के लिए उत्सुक रहती हैं तब आपकी यह विशेषता थी कि प्रतिबोध देकर दूसरों के शिष्य व शिष्याएँ बनाती थीं। आपने अपने हाथों से ३०-३५ बालिकाओं और महिलाओं कों दीक्षाएँ दीं पर सभी को अन्य नामों से ही घोषित किया। अपनी ज्येष्ठ गुरु बहिन महासती मदनकुँवरजी के अत्यधिक आग्रह पर उनकी आज्ञा के पालन हेतु तीन शिष्याओं को अपनी नेश्राय में रखा। यह थी आप में अपूर्व निस्पृहता। मुझे भी (देवेन्द्र मुनि) आद्य प्रतिबोध देने वाली आप ही थीं।

आपके जीवन में अनेक सद्गुण थे जिसके कारण आप जहाँ भी गयीं, वहाँ जनता जनार्दन के हृदय को जीता। आपने अहमदाबाद, पालनपुर, इन्दौर, जयपुर, अजमेर, जोधपुर, ब्यावर, पाली, उदयपुर, नाथद्वारा, प्रभृति अनेक क्षेत्रों में वर्षावास किये सेवा भावना से प्रेरित होकर अपनी गुरु बहिनों की तथा अन्य साध्वियों की वृद्धावस्था के कारण दीर्घकाल तक आप उदयपुर में स्थानापन्न रहीं।

सन् १९६६ में आपका वर्षावास पाली में था। कुछ समय से आपको रक्तचाप की शिकायत थी, पर आपश्री का आत्मतेज अत्यधिक था जिसके कारण आप कहीं पर भी स्थिरवास नहीं विराजीं सन् १९६६ (सं० २०२३) में भाद्र शुक्ला १३ को संथारे के साथ रात्रि में आपका स्वर्गवास हुआ। आप महान प्रतिभासम्पन्न साध्वी थीं। आपके स्वर्गवास से एक तेजस्वी महासती की क्षति हुई। आपका तेजस्वी जीवन जन-जन को सदा प्रेरणा देता रहेगा।

विदुषी महासती श्री सोहनकुँवरजी महासती की प्रथम शिष्या विदुषी महासती कुसुमवतीजी हैं। उनकी चार शिष्याएँ हैं—बाल ब्रह्मचारिणी महासती चारित्रप्रभाजी, बाल ब्रह्मचारिणी महासती दिव्यप्रभा, बाल ब्रह्मचारिणी दर्शन प्रभाजी और विदुषी महासती पुष्पवतीजी द्वितीय शिष्या हैं। उनकी तीन शिष्याएँ हैं—बाल ब्रह्मचारिणी चन्द्रावतीजी, बाल ब्रह्मचारिणी प्रियदर्शनाजी और बालब्रह्मचारिणी किरणप्रभाजी।

तृतीय सुशिष्या महासती प्रभावतीजी महाराज की चार शिष्याएँ हैं—महासती श्रीमतीजी, महासती प्रेम कुंवरजी, महासती चन्द्रकुंवरजी तथा महासती बालब्रह्मचारिणी हर्षप्रभाजी।

इस प्रकार प्रस्तुत परम्परा वर्तमान में चल रही है। इस परम्परा में अनेक परम विदुषी साध्वियाँ हैं।

परम विदुषी महासती सद्दाजी की एक शिष्या फत्तूजी हुई जिनके सम्बन्ध में हम पूर्व सूचित कर चुके हैं। महासती फत्तूजी का विहार क्षेत्र मुख्य रूप से मारवाड़ रहा। उनकी अनेक शिष्याएँ हुईं और उन शिष्याओं की परम्पराओं में भी अनेक शिष्याएँ समय-समय पर हुईं। मारवाड़ के उस प्रान्त में जहाँ स्त्रीशिक्षा का पूर्ण अभाव था, वहाँ पर उन साध्वियों ने त्याग, तप के साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति की। क्योंकि कई साध्वियों के हाथों की लिखी हुई प्रतियाँ प्राप्त होती हैं जो उनकी शिक्षा-योग्यता का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है। पर परिताप है कि उनके सम्बन्ध में प्रयास करने पर भी मुझे व्यवस्थित सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी। इसलिए अनुक्रम में उनके सम्बन्ध में लिखना बहुत ही कठिन है। जितनी भी सामग्री प्राप्त हो सकी है उसी के आधार से मैं यहाँ लिख रहा हूँ। यदि राजस्थान के अमर जैन ज्ञान भण्डार में व्यवस्थित सामग्री मिल गयी तो बाद में इस सम्बन्ध में परिष्कार भी किया जा सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फत्तूजी की शिष्या-परम्परा में महासती आनन्दकुँवरजी एक तेजस्वी साध्वी थीं। उनकी बाईस शिष्याएँ थीं जिनमें से कुछ साध्वियों के नाम प्राप्त हो सके हैं। महासती आनन्दकुँवरजी ने कब दीक्षा ली यह निश्चित संवत् नहीं मिल सका। उनका स्वर्गवास सं० १९८१ पौष शुक्ला १२ को जोधपुर में संथारे के साथ हुआ। महासती आनन्दकुंवरजी के पास ही पं० नारायणचन्दजी महाराज की मातेश्वरी राजाजी ने और नारायणदासजी महाराज के शिष्य मुलतानमलजी महाराज की मातेश्वरी नेनूजी ने दीक्षा ग्रहण की थी। महासती राजाजी का स्वर्गवास सं० १९७८ वैशाख सुदी पूनम को जोधपुर में हुआ था।

महासती राजाजी की एक शिष्या रूपजी हुई थीं जिन्हें थोकड़े साहित्य का अच्छा अभ्यास था। महासती आनन्दकुंवरजी की एक शिष्या महासती परतापाजी हुई जिनका वि० सं० १९८३ मृगशिर वदी ११ को स्वर्गवास हुआ था। महासती फूलकुंवरजी भी महासती आनन्दकुंवरजी की शिष्या थीं और उनकी सुशिष्या महासती झमकूजी थी जिन्होंने अपनी पुत्री महासती कस्तूरीजी के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। दोनों का जोधपुर में स्वर्गवास हुआ। महासती कस्तूराजी की एक शिष्या गवराजी थीं वे बहुत ही तपस्विनी थीं। उन्होंने अपने जीवन में पन्द्रह मासखमण किये थे, और भी अनेक छोटी-मोटी तपस्याएँ की थीं। उनका स्वर्गवास भी जोधपुर में हुआ।

महासती आनन्दकुंवरजी की बभूताजी, पन्नाजी, धापूजी, और किसनाजी अनेक शिष्याएँ थीं। महासती किसनाजी की हरकूजी शिष्या हुई। उनकी समदाजी शिष्या हुई और उनकी शिष्या पानाजी हैं। आपका जन्म जालौर में हुआ, पाणिग्रहण भी जालोर में हुआ। गढ़सिवाना में दीक्षा ग्रहण की और वर्तमान में कारणवशात् जालोर में विराजिता हैं।

इस प्रकार महासती आनन्दकुंवरजी की परम्परा में वर्तमान में केवल एक साध्वीजी विद्यमान हैं।

महासती फत्तूजी की शिष्या-परिवारों में महासती पन्नाजी हुई। उनकी शिष्या जसाजी हुई। उनकी शिष्या सोनाजी हुई। उनकी भी शिष्याएँ हुई, किन्तु उनके नाम स्मरण में नहीं हैं।

महासती जसाजी की नैनूजी एक प्रतिभासम्पन्न शिष्या थी। उनकी अनेक शिष्याएँ हुई। महासती वीराजी, हीराजी, कंकूजी, आदि अनेक तेजस्वी साध्वियाँ हुई। महासती कंकूजी की महासती हरकूजी, रामूजी, आदि शिष्याएँ हुई। महासती हरकूजी की महासती उमरावकुंवरजी, बक्सूजी (प्रेमकुंवरजी) विमलवतीजी आदि अनेक शिष्याएँ हुई। महासती उमरावकुंवरजी की शकुनकुंवरजी उनकी शिष्या सत्यप्रभा और उनकी शिष्या चन्द्रप्रभा आदि हैं। और महासती विमलवतजी की दो शिष्याएँ महासती मदनकुंवरजी और महासती ज्ञानप्रभाजी।

महासती फत्तूजी के शिष्या-परिवार में महासती चम्पाजी भी एक तेजस्वी साध्वी थीं। उनकी ऊदाजी, बायाजी आदि अनेक शिष्याएँ हुई। वर्तमान में उनकी शिष्या-परम्परा में कोई नहीं हैं।

महासती फत्तूजी की शिष्या-परम्परा में महासती दीपाजी, वल्लभकुंवरजी आदि अनेक विदुषी व सेवा-भाविनी साध्वियाँ हुई। उनकी परम्परा में सरलमूर्ति महासती सीताजी और श्री महासती गवराजी (उमरावकुंवरजी) आदि विद्यमान हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के समय से महासती भागाजी की जो साध्वी परम्परा चली उस परम्परा में आज तक ग्यारह सौ से भी अधिक साध्वियाँ हुई हैं। किन्तु इतिहास लेखन के प्रति उपेक्षा होने से उनके सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। इन सैकड़ों साध्वियों में बहुत-सी साध्वियाँ उत्कृष्ट तपस्विनियाँ रहीं। अनेकों साध्वियों का जीवनवत सेवा रहा। अनेकों साध्वियाँ बड़ी ही प्रभावशालिनीं थीं। मैं चाहता था कि इन सभी के सम्बन्ध में व्यवस्थित एवं प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत ग्रन्थ में दूं। पर राजस्थान के भण्डार जहाँ इनके सम्बन्ध में प्रशस्तियों के आधार से या उनके सम्बन्ध में रचित कविताओं के आधार से सामग्री प्राप्त हो सकती थी, पर स्वर्ण भूमि के. जी. एफ. जैसे सुदूर दक्षिण प्रान्त में बैठकर सामग्री के अभाव में विशेष लिखना सम्भव नहीं था। तथापि प्रस्तुत प्रयास इतिहासप्रेमियों के लिए पथ-प्रदर्शक बनेगा इसी आशा के साथ मैं अपना लेख पूर्ण कर रहा हूँ। यदि भविष्य में विशेष प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हुई तो इस पर विस्तार से लिखने का भाव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अतीत की कुछ स्थानकवासी आर्याएँ

—भँवरलाल नाहटा (बीकानेर)

भगवान महावीर ने स्त्री-जाति की तत्कालीन दुरवस्था देखकर उन्हें मोक्ष-मार्ग की अधिकारिणी बनाया और चतुर्विध संघ में साध्वी और श्राविका को पुरुषों के समकक्ष स्थान दिया। गत ढाई हजार वर्षों में लाखों महिलाओं ने विभिन्न क्षेत्रों में उन्नत दशा प्राप्त की। भगवान महावीर के समय में ही उनसे छत्तीस हजार साध्वियों ने दीक्षा ली। सती चन्दनबाला, मृगावती आदि अनेकों ने केवलज्ञान पाकर मुक्ति प्राप्त की। उनके बाद भी अगणित तेजस्वी साध्वियों ने जैन संघ के महान् धुरंधर आचार्यों को जिनशासन सेवा में समर्पित करने का महान् कार्य किया। आर्य रक्षित को वज्रस्वामी से पूर्वों का अभ्यास करने के लिए उनकी धर्म-प्राण माता ने ही प्रेरित कर भगवती दीक्षा दिलाई थी। याकिनी महत्तरा के प्रताप से ही हरिभद्रसूरि जैसे युगप्रधान ज्योतिर्धर जिनशासन की सेवा करने में भाग्यशाली हुए। श्री जिनदत्तसूरि जैसे महान् आचार्य, युगप्रधान पुरुष का धर्मदेवोपाध्याय के पास दीक्षित कराने में भी साध्वीजी का ही महान् हाथ था। उदाहरणों की कमी नहीं, वास्तव में जैन संघ पर साध्वियों का महान् उपकार है। उन्होंने गाँव-गाँव घूमकर धर्म प्रचार किया, जैन संघ के भावी स्तम्भों की जननी महिलाओं में धार्मिक संस्कार भरे। जैन संघ के उद्धार, तपश्चर्या, धार्मिक अनुष्ठानों में साध्वियों की देन स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। आज भी जैन संघ में साध्वियाँ पर्याप्त संख्या में हैं; वे विदुषी, प्रवचनकार और साहित्यकार भी हैं। जैन समाज के वर्तमान स्वरूप में उनका गौरवपूर्ण स्थान है।

आधुनिक युग में जैन साध्वियों के इस बन्द पृष्ठ को खोलकर जनता के समक्ष रखना आवश्यक है, अतः उनके इतिहास पर प्रकाश डालने के लिए मेरे काकाजी अगरचन्दजी के कई लेख प्रकाशित हुए हैं। गत तीन-चार सौ वर्षों में स्थानकवासी समाज का उदय हुआ और उसमें भी अनेक साध्वियाँ अतीत में हुई जिनके ज्ञानपक्ष पर प्रकाश डालने वाली कोई सामग्री प्राप्त नहीं है, पर त्याग-तपश्चर्यादि क्रियापक्ष पर प्रकाश डालने वाली अनेक कृतियाँ विविध ज्ञान भण्डारों व हमारे संग्रह में विद्यमान हैं। सन् १९६९ में मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन ब्यावर से अगरचन्दजी के सम्पादकत्व में ऐतिहासिक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ, उसमें भी पाँच कृतियाँ साध्वियों से सम्बन्धित हैं। हमारे संग्रह में और भी कई कृतियाँ अप्रकाशित हैं, उन सब का संक्षिप्त सार जनता के समक्ष रखा जाना आवश्यक समझकर यह लेख लिखा जा रहा है।

(१) 'काव्य संग्रह' में मूलांजी की सज्झाय, मयांजी का संथारा, वसंतोजी का संथारा, चलरूजी की सज्झाय और सती पदमण बाई सम्बन्धी काव्य छपे हैं। उनके संक्षिप्त सार के साथ-साथ अप्रकाशित कृतियों में से सती हस्तुजी, सती अमरांजी, सती मयाकुँवरजी, सती प्रेमाजी और सती गोरांजी (अपूर्ण) का परिचय भी यथा प्राप्त संक्षेप में दिया जा रहा है।

एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये सब कृतियाँ न तो किसी साक्षर की रचना है और न किसी विद्वान की ही लिपि की हुई है, अतः उनमें पद-पद पर त्रुटियों, अशुद्धियों की भरमार है, अतः उनसे सार-ग्रहण कर ही जनता के समक्ष रखना उपयुक्त है। हमें इनकी भाषा या काव्य-सौष्ठव पर लक्ष न देकर केवल रचनाकार की तपस्विनियों के प्रति अभिव्यक्त भक्ति पर ही ध्यान देकर ऐतिहासिक तथ्य ग्रहण करना है।

स्थानकवासी समाज की ऐतिहासिक सामग्री बहुत ही कम प्रकाश में आई है। उसको संग्रहीत कर प्रकाशित करने पर ही उसका इतिहास लिखा जा सकेगा। विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयमल ज्ञान भण्डार, अमर जैन ज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भण्डार, भिणाय, लीमडी (सौराष्ट्र) आदि के स्थानकवासी ज्ञान भण्डारों की सामग्री शीघ्र ही प्रकाश में लायी जाय तो अत्यधिक श्रेयस्कर होगा। हमें तेरह महासतियों की कुछ गीत व ढालें अपूर्ण मिले हैं। उनकी पूरी कृतियाँ नहीं मिल पायी हैं। यदि कहीं प्राप्त हों तो हमें सूचित किया जाय।

१ सती पदमण

सरस्वती नमस्कार कर कवि पदमणी सती का गुण गाता है। नागोर (नगीन) में श्री पूज पधारे, रतलन, पदमण और करमेती तीनों वन्दनार्थ चलीं। बीकानेर की बाट में झीणी खेह उड़ती है, कपड़े मैले और देह निर्मल होती है। तीन प्रदक्षिणा से गुरु वन्दन किया। सासू ने पदमण से कहा—बहु, हमारे घर में रहो, आठम चौदस उपवास करो, गरम पानी पीओ, अपना धर्म करो। रतलन ने कहा—तुम्हारा घर मिथ्यात्वी है, तुम्हें संताप होगा। सती ससुराल गई, सासू ने घर का भार सौंपा। सासू ने कहा—पुत्र को खेलाना। पदमण ने कहा—मेरे पुत्र होने के भ्रम में न रहना। सती को सात तालों में बन्द कर दिया। सासजी पटसाल में और ससुर मालीये में सोया था। नेतसी भी मालीये में सोया था, सती पास में बैठी थी। बातचीत के दौरान नींद आ गई। देवता आकर खड़ा हुआ, कहा—तुम निश्चिंत हो गई हो, तुम्हारे लिए यही अवसर है, ऊपर से डाको। सती उठकर सात डागले डाक कर दीवाल फांद कर उपाश्रय जा पहुँची। शील के प्रसाद से न तो कुत्ता भोंका, न कोई रास्ते में मिला। दरवाजा खोलकर अन्दर भी दीपक जलाया। तीन घोड़ियाँ पलान कर बीकानेर पहुँचा दिया। भौजाइयाँ पाँव पड़ी। दो घड़ी पिछली रात में झिरमिर मेह बरसने पर नेतसी जगे, सती न देखकर सात डाग ले और लोहाडा की भीत, सौगंधिक की हाट व इधर-उधर सब जगह खोज की। न मिलने पर नेतसी को साह बापलराय ने कहा—कुपुत्र, तुम्हें धिक्कार है, सती घर से निकल गई, तुम्हारा घर का सूत्र भग्न हो गया। नेतसी ने शाह जीवराज के घर पत्र भेजा—सती आपके घर गई, मेरा क्या हवाल होगा? साह जीवराज ने पत्र भेजा—सती हमारे यहाँ आ गई। आप वैराग्य धारण करें। सती शिरोमणि पदमणल ने कलिकाल में नाम रखा [गाथा २५ प्रथम ऐतिहासिक काव्य संग्रह पृष्ठ २१६]

२ हसतुजी सती

वीरप्रभु ने ज्ञाता सूत्र में गुरु-गुरुणी का गुणगान करने से तीर्थंकर गोत्र उपार्जन होता यह बतलाया है। चन्दनबाला जैसी सती हस्तुजी धन्य है जिसने जिनेश्वर के ध्यान द्वारा आत्मा को उज्ज्वल किया। जोधा के राज्य में वोहरा विरमेचा बसते हैं अथवा हर जोर में जोधराजजी निवास करते हैं। उनकी स्त्री इन्दु के कोख से पुत्रीरत्न जन्मा, ज्योतिषियों ने हस्तुजी नामकरण किया। वयस्क होने पर बराबरी का सगपण देखकर झंवर मुंहता के यहाँ नागोर में उसका विवाह कर दिया। पति का आयुष्य पूर्ण हुआ, विशेष शोक संताप न कर शान्त रहे। गुरुणी वरजुजी जो सूत्र सिद्धान्त के ज्ञाता थे, उनके उपदेश से हस्तुजी को वैराग्य उत्पन्न हो गया। पीहर ससुरालवालों को समझा बुझा कर हस्तुजी दीक्षित हो गई। शास्त्राभ्यास और गुरुणीजी की बड़ी वैयावच्च की। वरजुजी महासती के स्वर्गवासी होने पर हस्तुजी उनके पट्ट पर विराजे। ये तपस्या खूब करती। विगय त्याग था, गुड़, खांड़, मिठाई, रसाल कुछ भी न लेकर ४२ दोषरहित आहार लेती। सतरे भेद संयम, नववाड युक्त ब्रह्मचर्य पालन करने वाली हस्तुजी महासती धन्य-धन्य है। [इसकी २ ढाल हैं। पहली ढाल में गाथा १६ हैं और दूसरी ढाल में ५ गाथाएँ एक पत्र में आई हैं, अपूर्ण प्रति पत्र की है।]

३ सती अमराजी

मारवाड के अराइ (?) नगर में नेबेसिंगजी की स्त्री गुलाबाई के यहाँ अमराजी का जन्म हुआ। आपका गोत्र आंचलीया था। सरपाचेवर (?) में रांकों के यहाँ विवाह हुआ। ससुर का नाम सोजी माहाजी (?) और पति का नाम थानसिंहजी था। सबके साथ अत्यन्त प्रीति थी। एक बार सरपाचेवर में महासती अजवांजी पधारे। अमराजी उनके उपदेश से वैराग्यवान होकर दीक्षा लेने के लिए सास-ससुर से आज्ञा मांगी। सास-ससुर ने घर में रहकर यावज्जीवन श्रावकव्रत पालते रहने का निर्देश किया पर संयम की उत्कट अभिलाषा थी, रांकों का बड़ा परिवार था, सब ने मना की। इसके बाद अमराजी अराइ अपने पीहर आई, आज्ञा मांगने पर माता-पिता व सभी आंचलिया परिवार ने चारित्र दिलाने से अस्वीकार किया, किसी का कथन न माना और किसनगढ़ पत्र भेजा। [पत्री अपूर्ण] चौथी ढाल अपूर्ण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४ सती मयाकुँवरजी

सती मयाकुंवरजी ने सामगढ़ के ओसवाल जीवराजजी की पत्नी उत्तम सती के कोख से जन्म लिया। सं० १८१४ में आर्या सुखांजी सामगढ़ पधारे। उनके उपदेश से आपने चौदह वर्ष की अवस्था में दीक्षा ले ली। श्री पूज्य मनजी और नाथूरामजी जैसे गुरु मिले, उसके कार्य सिद्ध हुए। आर्या रूपांजी और सुखांजी मिलीं। दादा गुरुणी के दर्शनों की उत्कण्ठा थी। सं० १८१५ का चातुर्मास बूंदी किया। आंखों की नजर घट गई। चातुर्मास के बाद बिहार कर कोटा रामपुरा आये। सुखांजी महाराज से समता भाव पूर्वक तपश्चर्या करने के भाव व्यक्त किये। सुखांजी ने कहा—धैर्य रखो, अवसर आने पर तपस्या करना। मयाकुंवरजी ने कहा—मेरे चढ़ते परिणाम हैं। एक महीने तक बेले-बेले पारणा किया। जब उन्होंने दीपचन्दजी का संथारा सुना तो तपस्या का रंग चढ़ा और पंचोले-पंचोले पारणा करते हुए ध्यान में लवलीन होकर बैठे रहते, सूत्र की स्वाध्याय करते। तेंतीस पंचोले करने के पश्चात दही, बूरा, मिश्री के अतिरिक्त चार विगय का त्याग कर दिया। पंचेंद्रिय दमन करते हुए संयम साधना में दिन में बैठे ही रहते।

साढ़े बारह महीने में ६१ पंचोले हुए। देह की शक्ति घटी। गुरुणी सुखांजी तथा गुरु बहिन अजवांजी, खेमजी, मीठुजी ने पूर्ण सहायता व सेवा की। सं० १८१७ मार्गशीर्ष सुदि ७ के दिन स्वयं संथारा कर दिया। कोटा-रामपुरा में चतुर्विध संघ इकट्ठा हुआ। मयाजी का संथारा सुन श्री पूज्यजी ने जीवराजजी रामचन्द्रजी के साधु को विहार कराया। संथारे पर लक्ष्मीचन्दजी पधार गए। रामचन्द्रजी सूत्र-व्याख्यान करते। आगरा से साह भोलानाथजी ने आकर सेवा की। भावा खुशालचन्दजी ने भी सेवा बजाई। ५५ दिन तीविहार में और १३ प्रहर चौविहार अनसन संथारा गुरु रामचन्द्रजी के मुख से सिद्ध हुआ। मिती माघ सुदि ३ के दिन सूर्योदय के समय स्वर्ग गति प्राप्त की। श्रावक साह मल ने यह ४१ गाथा महासती मयाकुंवरजी की सज्झाय रची। सं० १८१७ में कोटा रामपुरा में श्री पूजजी मनजी की शिष्या जेठाजी शिष्या रूपाजी शिष्या सुखांजी की शिष्या मयाकुंवरजी की सज्झाय लिखी।

५ सती पेमाजी

पेमाजी सतियों में सरदार थी। काया की शक्ति घट गई, वेदना बढ़ी। साधु सुन्दरजी को बुलाया। हाथ ऊँचाकर संथारा का पच्चक्खाण किया। मिती आषाढ़ बढ़ी १२ को संथारा किया। मुहणोतों का यश फैला। क्षमत क्षामणा करते हुए पौने चार प्रहर का संथारा आया। सं० १७९१ में बाई नगरि ने यह ४० गाथा की सज्झाय पूर्ण की। [दूसरा पत्र गा-२४ से है आदि विहीन]

६ सती मयाजी

ढुंढाड देश में दुधु नगर है जहाँ मयाजी ने अवतार लिया। आपके पिता सुखरामजी और माता वीरादेजी थी। वयस्क होने पर आपकी सगाई की। विवाहित हो साबडदा आये। कितने ही काल सांसारिक सुख भोगा। फिर पति का वियोग होने से संसार की अस्थिरता भासित हुई। सती संभाजी के उपदेश से दीक्षा की भावना हुई और गोपीपर में जाकर दीक्षा ली, रंभाजी के पास शास्त्राभ्यास किया। [दोहे ६]

आगे ५२ गाथा की ढाल में अरिहंत-गणधर-भगवान को व पूज्य नाथूरामजी को नमस्कार कर मयाजी का गुण वर्णन किया है। पूज्य नथमलजी स्वामी भोजराजजी पट्टधर हैं और विद्वान व्याख्यानदाता और संयमी हैं। दुधू नगर में राजा जीवणसिंह के राज्य में प्रजा सुख से निवास करती है। वहाँ मयाजी ने सुखरामजी की भार्या वीरां दे की कोख से जन्म लिया। भाई भौजाई भतीजे परिवार पूरा था। कितने ही वर्ष सांसारिक सुख भोगकर रंभाजी के पास दीक्षित हुए। स्वाध्याय ध्यान में लवलीन रहते तीन लाख ग्रन्थ (परिमाण शास्त्र) लिखे।

सती मयाजी ने खूब तपस्या की, उपवास, बेलों-तेलों की गिनती नहीं सतरह अठाइयाँ कीं। शुद्ध चारित्र पालते हुए बत्तीस वर्ष बिताए। अपनी आयु शेष जानकर पुस्तक पात्रों से मोह हटाकर सती मगनाजी को सौंप दिए। आलोयणा पूर्वक निःशल्य होकर श्रावण बदि ६ मंगलवार को तिविहार संथारा कर दिया। सती ने पूज्य भोजराज जी की विनयपूर्वक बड़ी सेवा की। स्वामी गोरधन जी जोबनेर में चातुर्मास स्थित थे। सती मयाजी का संथारा सुनकर दूधावती पधारे। सती मयाजी ने मगनाजी, लिछमाजी को पास बुलाकर पूज्यजी की आज्ञा में रहते शिक्षा मानने का निर्देश किया। इन दोनों शिष्याओं ने गुरुणी की बड़ी सेवा की। गाँव के श्रावक आये। लोगों ने शीलव्रत, रात्रि भोजन-त्याग, कंदमूल त्याग एवं व्रत उपवासादि अनेक प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान किये। सं० १८६३ मिती आसोज सुदी ७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शनिवार के दिन ढाई महीने का संथारा पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए। 'मनसुख काला' उन्हें बारंबार वंदन करता है। सं० १८६३ आश्विन शुक्ला १० को चन्द्रवार के दिन कवि मनसाराम ने यह रचना की। [ऐतिहासिक काव्य संग्रह पृ० २०५ में प्रकाशित]

७. सती मूलांजी

सं १७८६ में मूल नक्षत्र में आपने जन्म लिया। आपके पिता सरूपचन्द जी और माता का नाम फूलांजी था। आर्या अनोपांजी के फतैपुर पधारने पर आपने चार महीने सेवा की। दीक्षा का भाव हुआ, प्रतिक्रमण सीख कर दीक्षा की बात की। मन में चिंता हुई कि मेरा बड़ा भाई विदेश में है, ससुराल वाले मिथ्यात्वी हैं। मूलांजी की इस चिंता में अन्न खाने पर भी अरुचि हुई देखकर छोटे भाई ने आज्ञा दे दी। सं १८१० के मृगसर बदि २ के दिन दीक्षा ग्रहण की। अनेकों व्रत पच्चक्खाण किये। दीक्षा के अनंतर विहार कर ५ वर्ष देश में रहे। फिर बीकानेर चौमासा किया। जयपुर, कोटा, शेरगढ़ में विचरे। कोटा चौमासा में विषम ज्वर की व्याधि हुई परन्तु तपस्या के प्रभाव से ज्वर दूर हुआ। फागी आये, तिवाडी की आज्ञा न होने से किशनगढ़ चातुर्मास किया। इस प्रकार आठ चौमासे उग्र विहार करते बीते। सं० १८१६ में बीकानेर पधार कर हरजी कमलजी के दर्शन किए। सं० १८२० में नाथूरामजी का चौमासा हुआ। सती मूलांजी ने करबद्ध होकर तपचर्या करने की भावना व्यक्त की। गुर्वाज्ञा से बेले-बेले पारणा, फिर तेले पारणे, इस प्रकार संग्राम में उतर कर कर्म खपाने के लिए पाँच-पाँच उपवास और चार विगय का त्याग किया। जब शरीर क्षीण हो गया तो संथारा लेकर बीकानेर में आश्विन सुदि ११ को तिविहार के पच्चक्खाण किए। सत्रह दिन तिविहार और सात प्रहर चौविहार संथारा पूर्ण कर कार्तिक बदि १२ के पिछले प्रहर स्वर्गवासी हुए। बसत (संभवतः नीचेवाली घटना) कवि ने सं० १८२१ कार्तिक सुदी १४ को इस ३७ गाथा की सज्झाय बनाई [ऐ० का० सं० पृ० २०३]

८. सती वसन्तोजी

सांथा गाँव के ब्राह्मण टोडरमल की पत्नी विरजावती की कोख में वसंतोजी ने जन्म लिया। गरुणीजी के पास दीक्षा लेकर ग्राम नगर में विचरण करते हुए आगरा नगर पधारे। सती बसन्तोजी ने बहुत तपस्या की। सं० १८८६ मिति श्रावण सुदि रविवार के दिन कर्मों का क्षय करने के लिए अनशन कर दिया। श्री सीमंधर स्वामी को वन्दनापूर्वक पूज्य श्री वैणसुख जी के मुंह से संभार पयन्नाशास्त्र सुना। सती बसन्तो जी ने भावपूर्वक भाद्र शुक्ल २ सोमवार को तृतीय प्रहर में लाभ के चौघडिये में देह त्याग की। सती ने अपने माता पिता और कुल को उज्ज्वल कर स्वर्गवास किया। कवि आसकरण ने २६ गाथा की सज्झाय में सती के गुण गाए। [ऐ० का० सं० पृ० २११]

९. महासती चतरुजी

नगर गाँव में संगी सरूपचन्द के यहाँ सती चतरुजी ने जन्म लिया। बाल्यकाल से गुरुओं के समागम से धार्मिक संस्कार थे। महासती अमरुजी महाराज के पास दीक्षा लेकर शास्त्राभ्यास किया। आपने देश विदेश में विचर कर बहुतों का उपकार किया। शारीरिक शक्ति घट जाने से गढ़ में स्थिर ठाणा विराजे। उपवास, छट्ठ, अष्टम बहुत किए। आठों प्रहर स्वाध्याय ध्यान में रत रहते। कार्तिक बदि १० के दिन आपने तीनों आहार का त्याग रात्रि के पिछले प्रहर में मन ही मन किया। चनणाजी महाराज ने कहा अभी धैर्य रखें, शीघ्रता न करें। चतरुजी ने कहा—पूज्य महाराज नहीं फरमावेंगे तो चौहिवार कर दूंगी। चतुर्विध संघ एकत्र हुआ। कूचामन से अमेदमलजी महाराज पधारे, गुरु बहिनों और जनाजी, झमीजी, शिष्याओं ने बड़ी सेवा की। श्राविकाओं ने छट्ठ, अट्ठम किए, रतनाबाई ने तो संथारा पर्यन्त तिविहार पच्चक्खाण किया। मिती मिगसर सुदि १२ के दिन अनशनपूर्वक संथारा पूर्ण हुआ। ५३ वर्ष की आयु पाई। ३४ वर्ष संयम पालन किया। हरखबाई ने २१ गाथा में यह सज्झाय रची। [ऐ० का० सं० पृ० २१४]

१०. सती गोरांजी

सरस्वती को नमस्कार कर गुरुणीजी के गुण गाते कवि कहता है कि लाहोर के खत्री कुल में सती गोरांजी ने जन्म लिया। यौवन वय में वैराग्य वासित होकर उन्होंने जन्म सफल किया। गुरु श्री लालचन्दजी शहर जहानाबाद पधारे। गुरुवाणी सुनकर नश्वर संसार की अस्थिरता ज्ञात कर दीक्षा लेना निश्चय किया। उन्हें आणंदांजी जैसी गुरुणी मिली, गुरु वचनों से संयम पथ की ओर बढ़ी। [अपूर्ण पत्र]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. गीगां सती

इनका एक विहार पत्र हमारे संग्रह में है जिससे मालूम होता है कि उन्होंने सं० १८३० वैशाख बदी ५ को जोधपुर में पूज्य श्री जयमलजी और रायचन्दजी के पास दीक्षा ली थी। इनकी गुरुणी लाछांजी थीं। इनके चौमासे इस प्रकार हुए—सं० १८३० जोधपुर, १८३१ पाली, १८३२ नागोर, १८३३ मेडता, १८३४ नागोर, १८३५ तीवरी, १८३६·····, १८३७ रीयां, १८३८·····, १८३९ मगड़ाणै, १८४० डेह, १८४१ जोधपुर, १८४२ रीयां, १८४३ पीपाड, १८४४ जोधपुर, १८४५ जोधपुर, १८४६ पाली, १८४७ पीपाड, १८४८ नागोर, १८४९ मेडता, १८५० जोधपुर, १८५१ बीकानेर, १८५२ पीपाड, १८५३ जोधपुर, १८५४ सैर (नागोर), १८५५ सैर (नागोर), १८५६ जोधपुर, १८५७ पाली, १८५८ मेडता में ठाणा ५ से चातुर्मास किया। इन चातुर्मासों में अन्य दीक्षाओं का व कितने ठाणों से चातुर्मास हुआ वह भी उल्लेख है।

१२. डाही सती

इनके सम्बन्ध में बाई रेखादे से नागबाई ने "डाही सती भास' लिखी है जिसका सार आगे दिया जा रहा है—

डाही सती की भास २१ गाथाओं में बाई रेखादे की बीनती से नागबाई ने रची है। सर्वप्रथम आदिनाथ और गणधर-सरस्वती को प्रणाम कर डाहीजी सती के गुणगान का उपक्रम किया है। सं० १६५० फाल्गुन शुक्ला ११ गुरुवार के दिन इस महासती का जन्म मरुधर देश के आडवा गाँव में हुआ था। आपके पिता लूंकड गोत्रीय पेथड-सा के पुत्र हंसराज थे जिनकी धर्मपत्नी हर्षमदे शील में सीता जैसी थी, वह आपकी जन्मदात्री थी।

डाहीजी, साह भोजा के यहाँ छाछलदे सती की कुलवधू थी अर्थात् उनके पुत्र के साथ विवाहित थी जिसका नाम इस भास में नहीं है। चरित्र नायिका ने अपने विनय गुण से उभय पक्ष की शोभा बढ़ाई। ज्ञान वैराग्य की प्रबलता से संयम ग्रहण करने के लिए सारे कुटुम्ब की अनुमति पाकर सं० १६७२ माघ सुदी ७ के दिन पूज्य श्री जसवन्तजी के कर-कमलों से दीक्षित हुई। आपको सती मनकीजी की शिष्या घोषित की गई। आप गुणवान थी, शिष्य परिवार बढ़ा। डाहीजी ने ४२ वर्ष पर्यन्त सिंह की भाँति संयम पालन किया, आपकी ज्ञानवान शिष्याओं ने अच्छी सेवा की।

आर्या डाहीजी के संथारे का अवसर ज्ञात कर श्री पूज्यजी के दीप्तिवान् शिष्य सहसकर्ण वन्दना कराने के लिए निवली नगर पधारे। संघ से परामर्श कर सतीजी का उत्साह देखकर सं० १७१३ ज्येष्ठ सुदी १५ को संथारा कराया, तीन प्रहर का तिविहार और फिर चार प्रहर का चौविहार प्रतिपक्ष सोमवार को प्रातःकाल संथारा सिद्ध हुआ। साह केशव, जीवजी, रासिंघ ने प्रचुर द्रव्य व्यय कर उत्सव-महोत्सव किए। श्री पूज्य धनराजजी के शासन में श्रावण शुक्ल गुरुवार के दिन जीवदया प्रतिपाल श्रावकों की सेवा प्रशस्त थी, उस समय बाई रेखादे की विनती से नागबाई ने यह भास जोड़ कर बनाई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन इतिहास में नारी

—उपाध्याय पुष्कर मुनि
[प्रवचन का एक अंश]

जैन इतिहास के पृष्ठों को पलट कर देखेंगे तो वहाँ पुरुष से भी अधिक तेजस्वी, तपोमय, समर्पणशील तथा सहिष्णु व्यक्तित्व नारी का है। नारी ने पुरुष का मार्ग-दर्शन किया है, प्रेरणा दी है, सेवा और विनय की सीख दी है। नारी जीवन की दिव्यता की अनेक ऊर्जस्विल गाथाएँ जैन इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं।

भगवान ऋषभदेव के युग में देखिए—मुक्ति का द्वार सर्वप्रथम माता मरुदेवा ने खोला। इस अवसर्पिणी काल की प्रथम सिद्ध एक नारी थी, एक माता थी। मानव जाति को अक्षर लिपि और अंक विद्या का प्रथम ज्ञान देने वाली भी नारी थी। भगवान ऋषभदेव ने ब्राह्मी को सर्व प्रथम अक्षरलिपि का बोध दिया और सुन्दरी को अंक विद्या का। उन्हीं दोनों सुकन्याओं ने मानव जाति के ज्ञान-विज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया, अक्षर लिपि सिखाकर, अंकविद्या (गणित) का रहस्य समझाकर। संगीत, नृत्य, काव्य आदि नारी की चौंसठ कलाएँ भी सर्वप्रथम इन्हीं दोनों ने सीखीं और उसका विकास-विस्तार किया।

नारी में सहज सुन्दरता, सरलता, मधुरता तो होती ही है, किन्तु प्रतिभा, निष्ठा और त्याग की तन्मयता भी उसमें पुरुष से अधिक होती है। भरत जैसे चक्रवर्ती निर्लिप्त सम्राट का भी संयम व मनोबल डिग गया था, भोग व सौन्दर्य की आंधी में। सुन्दरी जैसी राजकुमारी ने ही उसे त्याग, तितिक्षा और संयम की ओर मोड़ा। पुरुष के विकार को सुसंस्कार में बदलने का इतिहास सर्वप्रथम नारी ने ही लिखा है अपने उदात्त संयम व शील की लेखनी से।

रथनेमि जैसे पुरुषपुंगव को भी संयम व शील की शिक्षा देने वाली सती राजीमती का नाम आज भी अमर है। पुरुष की प्रीत क्षण स्थायी होती है, किन्तु नारी ने तो नौ भवों की प्रीति को पूर्णता दी, उसके साथ संयम, साधना और आत्मलीनता के पथ पर चरण से चरण मिलाकर बढ़ने में। राजीमती की प्रीति-नारी के अमर पारमार्थिक प्रेम की कितनी हृदय-हारी कथा है।

भगवान महावीर ने तो नारी के अन्तर में सुप्त दिव्यता को पहचाना और उसे त्याग-सेवा-सहिष्णुता के पथ पर बढ़ने में सदा प्रोत्साहन दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक राजकुमारी, युग की बर्बर प्रथा के चक्कों में पिस कर दासी बनी और किराने की भाँति बाजार में बिकी। पर भगवान महावीर ने उसी दासी रूपा चन्दना की आत्मा में अमर सौन्दर्य जगाया, आत्म-साधना का शंख फूंका, दिव्यता और भव्यता प्रदान की। बाजार में बिकने वाली नारी को इतना ऊँचा उठाया कि एक दिन भारत के समस्त निर्ग्रन्थ-श्रमणी वर्ग की अधिशासिका बनी। हजारों राजरानियाँ, राजकुमारियाँ, श्रेष्ठी कुमारियाँ दीक्षित होकर उसके चरणों में आत्म-साधना करने लगी। चन्दनबाला का साहस, शौर्य और प्रखर साधना नारी के गौरव में चार चाँद लगाने वाला महाकाव्य है।

सीता, अंजना, दमयन्ती, चेलना, सुभद्रा, मदनरेखा आदि सैकड़ों दिव्य नाम हैं नारी के यशोमय स्वरूप के, गरिमा मंडित इतिहास के। नारी में सुकुमारता है तो शौर्य भी है, सरलता है तो चतुरता भी है। कोमलता है तो साहस भी है। वत्सलता है तो दृढ़ मनोबल और उग्र तपश्चरण की अद्भुत क्षमता भी है।

जैन इतिहास में नारी के सर्वांग सुन्दर दिव्य-भव्य तेजोमय स्वरूप का दर्शन होता है। इसीलिए आज हर श्रद्धालु प्रातः उठकर महान् सोलह सतियों का नाम स्मरण कर अपना दिवस धन्य समझता है। जैन संस्कृति में नारी, नारी रूप में नहीं, किन्तु त्याग, तपश्चरण, शील, सहिष्णुता और आत्मलीनता की एक प्रतीक रूप में पूजी गई है आज भी पूजी जाती है और युग-युग तक पूजा पाती रहेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड ६

राजस्थानकेसरी

श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ



योग एवं साधना

स्वरूप तथा प्रक्रिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



योग : स्वरूप और साधना

एक सर्वांगीण विवेचन

डा० ए० डी० बतरा
एम.ए., पी-एच.डी., डी.वाय.पी.

भारतीय दर्शन में 'योग' शब्द का प्रयोग 'साधना-विशेष' के अर्थ में प्रयुक्त है। मूलतः 'योगी' साधक ही होता है और यह साधना किसी धर्म-सम्प्रदाय के कर्मकाण्ड की तरह नहीं होती; बल्कि आधुनिक युग के विज्ञान की भाँति प्रयोगात्मक होती है। दर्शनशास्त्र या धर्मशास्त्र की तरह सिद्धान्त प्रतिपादित करना योग का कार्य नहीं है, इसमें तो दीर्घकाल तक धैर्यपूर्वक प्रयोग करके निष्कर्ष निकालने पड़ते हैं।

साधकों के प्रयोगात्मक वर्गीकरण के कारण ही सम्भवतः योग में विभिन्न प्रकार के प्रवाह प्रचलित हुए हैं; जैसे—**मंत्रयोग, भक्तियोग, लययोग, शिवयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, कुंडलिनीयोग** इत्यादि। इन योगों से सम्बन्धित कुछ साहित्य भी आधुनिक युग में प्राप्त होता है। यहाँ हमारा विवेचन, पतंजलि के योगसूत्र; हठयोग सम्बन्धी साहित्य, और योग उपनिषद् में व्यक्त विचारों तक ही सीमित है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में योग की प्राचीन परम्परा उपलब्ध है। परन्तु यहाँ पर योग का ऐतिहासिक विकास प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि योग को प्रयोग द्वारा ही समझना है तो कोई भी उपलब्ध साहित्य सहायक हो सकता है, उसके ऐतिहासिक विकास-विवेचन की आवश्यकता नहीं।

प्रायोगिक दृष्टि से, योग को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न सम्भवतः कभी नहीं हुआ। योग-अभ्यासी साधक अपने गुरु के सान्निध्य में रहकर, प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में साधना करते रहे। प्राचीन भारत की समाज रचना के अनुसार यह 'साधना' उचित थी। परन्तु आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से प्रभावित भारतीय समाज रचना के कारण, कभी-कभी योग और योग-साधक को समझने में भ्रम भी उत्पन्न हुए हैं। योग साहित्य की क्लिष्ट भाषा, प्रयोगकर्ताओं की अनुपलब्धि और कुछ लोगों द्वारा योग को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न आदि कारणों ने भी योग सम्बन्धी कुछ भ्रम खड़े कर दिये हैं। किन्तु भ्रमात्मक धारणाओं के होते हुए भी, भारत में और अन्य देशों में भी, योग सम्बन्धी साहित्य; योग का अभ्यास करने वाले साधक और योग पर प्रयोग करने वाले वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। यह एक अलग बात है कि इनमें से सही दिशा में काम करने वाले साधक अथवा प्रयोगकर्ता कितने हैं।

अध्यात्म और रहस्यवाद के साथ योग का सम्बन्ध स्थापित करना भी आधुनिक युग की एक नयी प्रवृत्ति है। इसके कारण योग सम्बन्धी कुछ धारणायें तो स्पष्ट हुई हैं परन्तु कुछ और नये भ्रम खड़े कर दिये गये हैं। वास्तव में योग को प्रायोगिक अभ्यास के द्वारा न समझते हुए, सिर्फ भाषा-साहित्य के द्वारा समझने का जब भी प्रयत्न होगा, तब ऐसे भ्रम खड़े होना स्वाभाविक है। योग सम्बन्धी अधिकृत साहित्य बहुत सीमित है; परन्तु टीकायें, भाष्य और व्यावसायिक लेखकों द्वारा लिखित सस्ती पुस्तकों की कमी नहीं है। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली की 'तुलनात्मक अध्ययन' प्रवृत्ति के अनुकरण पर, योग-साहित्य का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रकाश में आया है। इस प्रवृत्ति के अनुसार, योग तथा मनोविज्ञान; योग-मनोविश्लेषण; योग और यौगिक चिकित्सा पद्धति; योग तथा शरीर विश्रांति; योग और आयुर्वेद; योग और गीता; योग और महाभारत, इत्यादि अनेक सीमित दृष्टिकोणों से योग-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत हुआ है और हो रहा है। परिणामतः योग-साहित्य का विकास तो हुआ है परन्तु योग-साधना करने वाले सच्चे अभ्यासिकों की संख्या अत्यल्प है। योग-साहित्य की नयी अध्ययन-शैली की आलोचना करना हमारा उद्देश्य नहीं है, परन्तु सच्चाई यह है कि साहित्य से ही मनःशान्ति प्राप्त करने की भावना 'योग-अभ्यास' के लिए घातक सिद्ध हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव और मानव-समाज अन्योन्याश्रित हैं। परन्तु मानव-समाज के संगठन की प्रक्रिया इतनी जटिल हो गयी है कि उससे मानव जीवन में अनेक समस्यायें गुणात्मक रूप में विकसित होती जा रही हैं। आज के कुछ विचारक बड़ी तीव्रता से यह अनुभव करते हैं कि आधुनिक युग में समाज प्रबल होता जा रहा है और 'व्यक्ति' का अस्तित्व खोता जा रहा है। यदि हमें व्यक्ति और समाज के सन्तुलन को बनाये रखना है तो व्यक्ति के 'व्यक्तित्व-विकास' की ओर अधिक ध्यान देना होगा, जिसकी अपेक्षाकृत उपेक्षा होती रही है। अष्टांग योग में व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक विकास के साथ-साथ समाज-संगठन का समन्वयात्मक दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है। व्यक्ति के शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पहलुओं को दृष्टि में रखकर ही, अष्टांग योग में 'यम', 'नियम' आदि का प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के साथ-साथ शौच, संतोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन्हीं पहलुओं की ओर समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

कुछ प्राचीन ग्रन्थों में योग-चर्चा के अन्तर्गत दी गयी कुछ विशेष शब्दावली पर, हम यहाँ विचार करना चाहते हैं। भगवद्गीता में 'युक्त आहार-विहार'[१] का उल्लेख किया गया है। हठयोग के साहित्य में 'मिताहार' और योगी के विहार करने के स्थान पर "सुराज्य" का उल्लेख है। पतंजलि ने भी अहिंसा, शौच आदि पर सिर्फ एक-एक सूत्र लिखकर ही समाधान मान लिया है। वास्तव में इस शब्दावली को आधुनिक युग के वैज्ञानिक और गणितीय स्तर पर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। कारण स्पष्ट है, प्रत्येक व्यक्ति का आहार अत्यन्त व्यक्तिगत (निजी) रूप में होता है और इसी प्रकार निद्रा, शुचिता एवं कार्य करने की क्षमता आदि का निर्णय भी व्यक्ति स्वयं ही कर सकता है। हमारे विचार से, इन शास्त्रकारों ने अष्टांग योग के द्वारा व्यक्ति को स्वयं विचार करने के लिए प्रेरित किया है। जो व्यक्ति इस सम्बन्ध में स्वयं विचार नहीं कर सकता उसे गुरु या शास्त्र-ग्रन्थ कुछ विशेष सहायता नहीं पहुँचा सकते। व्यक्ति की अपनी निजी क्षमता के अभाव में, गुरु अथवा ग्रन्थ अत्यन्त मर्यादित रूप में ही सहायक हो सकते हैं। साधना-मार्ग में साधक को अपना उत्तरदायित्व अपने आप ही समझना पड़ता है। इसलिए युक्ताहार, मिताहार, अल्पाहार, प्रजल्प, जनसंग, स्थैर्य, चित्त विश्रांति, आत्माध्यायी, दिव्य-दृष्टि, ध्रुवगति, कंठकूप इत्यादि शब्दों के सर्वजनीन अर्थ निश्चित नहीं किये जा सकते। इनके अर्थ साधना-मार्ग के व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर निर्भर हैं। यदि शरीर या मन में विकार या व्याधियाँ आती हैं तो उसका कारण गुरु या समाज नहीं है, इस सम्बन्ध में साधक को स्वयं विचार करना चाहिए। आध्यात्मिक-साधना के मार्ग-दर्शन में शब्द के ठीक-ठीक अर्थ समझना-समझाना एक कठिन समस्या है, जिसे सार्वजनिक रूप से सुलझाना दुष्कर कार्य है।

अष्टांग योग की प्रक्रिया में आसन और प्राणायाम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आज सारी दुनियाँ में आसन-प्राणायाम का प्रचार 'फैशन' बन गया है। शारीरिक-शिक्षण के क्षेत्र में भी योग-आसनों का समावेशन किया जा रहा है। 'यौगिक-व्यायाम' नाम से ग्रन्थ भी प्रकाशित हो रहे हैं। रोग-निवारण के लिए भी आसन-प्राणायाम का प्रचार-प्रसार हो रहा है। 'योग चिकित्सा पद्धति' अब सरकारी मान्यता प्राप्त कर रही है। इस सम्बन्ध में भी साहित्य लिखा जा रहा है। परन्तु हमारे विचार से ये सारे प्रयास अधूरे और भ्रामक हैं। आसन-प्राणायाम के इस प्रकार के प्रचार-प्रसार से अधिकांश लोगों ने यह समझ लिया है कि आसन-प्राणायाम ही 'योग' है। वस्तुतः आसन-प्राणायाम को ही 'योग' समझ लेना एक बड़ी भ्रान्ति है। शारीरिक-शिक्षण और रोग-निवारण के लिए इनका प्रयोग करना कोई बुरी बात नहीं; परन्तु यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि आसन-प्राणायाम 'व्यायाम' मात्र नहीं है। इनके संयोजन का उद्देश्य, 'शरीर' तक ही सीमित नहीं, बल्कि इनका उद्देश्य, एक ओर मनुष्य की सामाजिक पवित्रता बनाये रखना है तो दूसरी ओर व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति के लिए आधार तैयार करना है। परन्तु ये उद्देश्य तभी साध्य हो सकते हैं जब आसन-प्राणायाम का अभ्यास, यम-नियम के पालन करते हुए किया जायेगा। आसन-प्राणायाम का उद्देश्य भौतिक भोग-विलास की अभिवृद्धि करना नहीं है। दुर्भाग्य से अधिकांश लोग इन्द्रिय-भोग विलास के लिए ही आसन-प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। इससे उनका व्यक्तिगत उद्देश्य कितना साध्य होता है, यह तो वही समझें, किन्तु इसके द्वारा 'योग' के नाम पर 'सामाजिक-शोषण' का एक और आयाम विकसित हो रहा है। साथ ही 'योग' जैसी सर्वांगपूर्ण जीवन पद्धति की छीछलेदार होती है, यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

आसन और प्राणायाम के प्रभाव के सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत कुछ विशेष संकेत प्राप्त होते हैं। जैसे भूख और प्यास पर नियन्त्रण होना; दिव्य दृष्टि प्राप्त करना; निद्रा-आलस्य और वात-पित्त, कफ आदि दोषों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से मुक्ति प्राप्ति करना, बहुत ही सहज बताया गया है। इन संकेतों के सम्बन्ध में आधुनिक युग में दो प्रकार के मत हैं। एक वर्ग यह मानता है कि ये सभी बातें साहित्यिक अतिशयोक्तियाँ हैं; वस्तुतः इनमें कोई तथ्य नहीं है। दूसरा मत यह है कि पूर्वजों ने जो बातें कहीं हैं वे अक्षरशः सत्य हैं, उनमें कोई शंका नहीं करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि इस प्रकार के संकेतों को 'त्याग' अथवा 'ग्रहण' करने से पूर्व, बौद्धिक विवाद में न पड़ते हुए, उन्हें प्रायोगिक कसौटी पर कसना चाहिए। आज विश्व में करोड़ों लोग आसन-प्राणायाम का उपयोग करते हैं। परन्तु प्रयोगात्मक सिद्धान्त के लिए किसी एक आसन को तीन साल, छः साल, नौ साल, बारह साल तक एक घंटा, दो घंटे, तीन घंटे नियमित रूप से करने वाले कितने लोग हैं ? जबकि हठयोग साहित्य में इस प्रकार के काल और अभ्यास का स्पष्ट निर्देश है।[२] हठयोग के इस प्रभाव की जाँच-पड़ताल के लिए कई स्थानों पर वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की स्थापना हुई है और जहाँ तक प्रामाणिक रूप से योग अभ्यासी उपलब्ध हुए हैं वहाँ तक योग सिद्धान्तों की पुष्टि में कोई अड़चन उत्पन्न नहीं हुई है। परन्तु जहाँ पर्याप्त और अनुकूल साधक ही उपलब्ध नहीं हैं, वहाँ प्रयोग अधूरे पड़े हुए हैं। अधूरे प्रयोगों के निष्कर्ष तो त्रुटिपूर्ण ही होंगे या भ्रान्तियाँ निर्माण करेंगे।

हठयोग में शोधन क्रियाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। वास्तव में शोधन क्रियाओं के बाद ही आसन तथा प्राणायाम करने का निर्देश है। स्थूल रूप से शोधन क्रियायें शरीर की तत्कालीन अनियमितताओं से मुक्ति कराने के लिए हैं। परन्तु वास्तव में इनका प्रभाव बड़ी सूक्ष्मता के साथ शरीर पर पड़ता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रभाव का आसन-प्राणायामों की तरह ही, वैज्ञानिक रूप से, समायोजन और संशोधन किया जाय। आसन और प्राणायाम की तरह अधिकार के साथ 'शोधन-क्रिया' सिद्ध करने वाले व्यक्ति समाज में क्यों नहीं होने चाहिए ?

अष्टांग योग की श्रेणियों में 'प्रत्याहार' के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा गया है। वास्तव में प्रत्याहार, अपरिग्रह तथा यम-नियम आदि एक ही दृष्टिकोण के विविध आयाम हैं। परन्तु ये बातें शास्त्रों की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं कही गयीं। दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री आदि इस बात को मान्य करते हैं कि मनुष्य के अन्तर्मन में ये जीवन मूल्य निहित हैं अर्थात् मनुष्य स्वभावतः अहिंसक, सत्यभाषी, ब्रह्मचारी, आदि है परन्तु सामाजिक वातावरण और परिस्थितियों के कारण वह हिंसा, असत्यता आदि सीखता है। तर्कशास्त्र के अनुसार जो बातें सीखी जा सकती हैं वे भुलाई भी जा सकती हैं। प्रत्याहारमय जीवन जीने वाले कुछ आदर्श व्यक्ति प्रत्येक समाज में होते आये हैं, जिन्हें हम ऋषि, मुनि, पीर, फकीर, सेंट, मोंक, भिक्षु, आदि कहते हैं। ये व्यक्ति अपने-अपने समाजों के लिए प्रेरणास्रोत रहे हैं। परन्तु जब ये व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करें तो शास्त्रों का दोष नहीं है। समाज में आज एक ऐसा वर्ग भी है जो किसी सम्प्रदाय या शास्त्र को नहीं मानता है परन्तु आधारभूत नैतिक मूल्यों की आवश्यकता को वह चरम सीमा तक स्वीकार करता है। आज ऐसे वर्ग की आवश्यकता भी है कि जो साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर जीवन मूल्यों को स्वीकार करे। वास्तव में आज के सामाजिक जीवन में कृत्रिमता इस हद तक घर कर गयी है कि प्रत्याहारमय जीवन ही अप्राकृतिक और अत्यन्त कठिन लगता है। परन्तु सत्य यह है कि प्रत्याहारमय जीवन ही मानव का स्वाभाविक जीवन है। इस स्वाभाविक जीवन की अधिक चर्चा नहीं की जा सकती।

अष्टांग योग में, यम-नियम, आसन-प्राणायाम और प्रत्याहार को **'बहिरंग योग'** तथा धारणा, ध्यान और समाधि को **'अंतरंग योग'** के नाम से अभिहित किया जाता है। 'बहिरंग-योग' पर चित्रों से भरी हुई अनेक पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं। आसन-प्राणायाम की कुछ क्रियायें चर्म चक्षुओं से दिखाई देती हैं और उनके चित्र बनाये जा सकते हैं। परन्तु यम-नियम, प्रत्याहार और आसन-प्राणायाम की सूक्ष्म क्रियाओं और प्रभावों के चित्र निर्माण करना क्या सम्भव है ? इसी प्रकार धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन करना और चित्रों से समझाना असम्भव ही है। परन्तु ऐसी भी पुस्तकें दिखायी देती हैं जिनमें 'समाधिस्थ' साधक के चित्र दिये गये हैं। सोये हुए अथवा मरे हुए तथा समाधिस्थ आदमी के चित्रों में कोई अन्तर नहीं होता। पता नहीं इस प्रकार के चित्र देकर, लेखकगण किस प्रकार योग-साधना समझाना चाहते हैं ?

योग की दार्शनिक शब्दावली के स्पष्टीकरण की भी एक समस्या है। पुरुष, प्रकृति, गुण, चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार, सविकल्प-निर्विकल्प समाधि, सप्तधा, प्रान्तभूमि, धर्ममेघ समाधि, कैवल्य, पुरुषार्थ, शून्य, प्रतिप्रश्व, आदि अनेक शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में मिलता है। हठयोग में खेचरी, बज्रोली, सहजोली, अमरोली, चंडी, रण्डी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोमांस, राधा, आदि अनेक शब्दों का उल्लेख किया गया है। योग-साधक मनीषियों से अपेक्षा है कि वे इन शब्दों के रहस्यों का उद्घाटन करें। इनमें से कुछ शब्द श्लेषात्मक हैं और कुछ दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। कुछ शब्दों का अर्थ सांख्य और वेदान्त से जोड़ा जाता है। किन्तु फिर भी ये शब्द विवादास्पद हैं। परन्तु हमारा विचार यह है कि इस शब्दावली को समझे बिना भी योग अभ्यास किया जा सकता है। साधना करने में यह शब्दावली कोई बाधा उपस्थित नहीं करती।

योगशास्त्र में धारणा, ध्यान और समाधि को 'संयम' नाम से सम्बोधित किया गया है[3] और बताया है कि संयम से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भारतीय दर्शन में सिद्धियों का वर्णन एक मोह का विषय बना हुआ है। सिद्धियाँ प्राप्त करने तथा सिद्धियाँ प्राप्त व्यक्तियों की ओर, लोग दीवानों की तरह आकृष्ट होते हैं। सिद्धि आकांक्षा ने मनुष्य के एक विकृत आयाम को प्रस्तुत किया है; इसके कारण योग के सम्बन्ध में भ्रम और गलत धारणायें प्रचुर मात्रा में फैली हुई हैं। इस विवादास्पद विषय पर यहाँ हम विचार नहीं करना चाहते। परन्तु 'योगसूत्र' के अन्तर्गत, सिद्धियों के वर्णन क्रम में प्राप्त "**मैत्र्यादिषुबलानि**" नामक सूत्र की ओर, हम, सुधीजनों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

योगाचार्य 'मैत्री' को सिद्धि मानते हैं। सिद्धि एक बहुत बड़ा 'बल' है तथा सिद्धियाँ 'संयम' से प्राप्त होती हैं। दूसरे शब्दों में, सिद्धि प्राप्त करने के लिए मनुष्य को एक प्रकार का नियंत्रित जीवन जीने की नितान्त आवश्यकता है, जिसमें लौकिक तथा अलौकिक किसी भी तथाकथित योग्यता की आवश्यकता नहीं है। हठयोग साहित्य में 'सुराज्य' तथा 'सुधार्मिक' और योग में मैत्री, करुणा, उपेक्षा आदि शब्दों का उल्लेख भी मनुष्य-जीवन के उस आयाम की ओर संकेत करता है जिसमें शान्तिमय जीवन की व्यवस्था हो। इस प्रकार की व्यवस्था में मानसिक वृत्तियों को एक दिशा प्रदान करने में अधिक सुविधा अथवा सरलता होती है। इस प्रकार का नियन्त्रित या संयमित जीवन स्वस्थ-समाज की अभिवृद्धि और योग अभ्यास का पोषण करता है। परन्तु इस प्रकार का सुरक्षित वातावरण कौन निर्माण करे? हमारी दृष्टि से, अप्रत्यक्ष रूप में यह उत्तरदायित्व योगाभ्यासी का ही है।

अष्टांग योग के सम्बन्ध में एक समझ यह मानी जाती है कि योग के आठों 'सोपान' अलग-अलग हैं और एक के सिद्ध होने पर दूसरे का अभ्यास करना चाहिए। हमारी दृष्टि में यह विचार एक भ्रांति है। वास्तव में योग के आठों अंग समान्तर रूप से साथ-साथ चलते हैं। यम, नियम के साथ-साथ आसन-प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए। यद्यपि हठयोग में आसन सिद्धि का वर्णन है; परन्तु इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि योग अभ्यास की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति को कुछ निश्चित समय तक स्थिर बैठने की क्षमता आनी चाहिए। प्राणायाम आदि के सम्बन्ध में भी इसी नियम का अवलम्बन लेना चाहिए। इसलिए योग अभ्यास की आकांक्षा होते ही पूर्ण अष्टांग योग की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है; उसके किसी एक अंग के पूर्ण होने का प्रश्न नहीं उठता। सम्भव है कि परम्परावादियों को यह विचार पसन्द न आये। परन्तु यहाँ हम 'योगसूत्र' ४/१ के उस वर्णन की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जिसमें यह बताया गया है कि सिद्धियाँ न सिर्फ समाधि से ही प्राप्त होती हैं बल्कि कुछ लोगों को जन्म से, कुछ लोगों को मन्त्र से और कुछ लोगों को तप से भी सिद्धियाँ मिलती हैं। परम्परावादियों के अनुसार, अष्टांग योग की कठोर नियन्त्रणा से उपलब्ध 'समाधि' के द्वारा ही सिद्धियाँ मिलनी चाहिए।

योग एक निश्चित दृष्टिकोण की ओर जाने वाला मार्ग है। उस मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति पर, मर्यादित रूप में, कुछ नियन्त्रण लगाया जा सकता है। हमारी दृष्टि से यह नियन्त्रण जितना 'सहज' होगा साधना उतनी ही सुफलदायक होगी। सम्भवतः इसलिए ही शास्त्रों में '**अजपा जप**' और '**सहज प्राणायाम**' का उल्लेख किया गया है। यह इस बात का भी द्योतक है कि जीवन बहुत ही 'सहज' है और यदि उसे कृत्रिमताओं से अलग रखा जाय तो वह अत्यन्त आनन्ददायक है। अष्टांग योग की कठोर परम्परा हमें मान्य है, परन्तु इसका अर्थ साधक को मशीन या 'जीव-मात्र' नहीं मान लेना चाहिए। साधक एक चैतन्य-प्राणी है जो अपने मार्ग के बारे में सद्-असद् का विवेक रखता है। जीवन व्यवहार को इस मार्ग पर लगाने के बाद, यदि ध्येय स्पष्ट है तो, परम्परावादियों को, उसे थोड़ी स्वतन्त्रता देना बहुत आवश्यक है, क्योंकि इस स्तर तक आने वाला साधक उच्छृंखल नहीं होगा, यह स्पष्ट है।

योग की साधना मानव समाज के कृत्रिम विभेदों से अप्रभावित है। इसके प्रयोग सर्वजनीन और सर्वकालिक हैं जहाँ किसी भी अवस्था, लिंग, जाति, अथवा देश-प्रदेश का कोई बन्धन नहीं है। योग मानव मात्र की उपलब्धि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस उपलब्धि का लाभ करना तथा कराना उत्तरदायित्व का काम है। इस उत्तरदायित्व को कौन वहन करे ? भारत में एक बहुत बड़ा समाज ऐसा है जिसे समाज ने आर्थिक-सामाजिक चिंताओं से मुक्त किया हुआ है और जिन्हें भारतीय योग की परम्परा मान्य है। यहाँ हमारा संकेत भारत भर के अनेक सम्प्रदायों में बिखरे हुए उन साधु-संन्यासियों की ओर है; जिन्होंने विचारपूर्वक यम-नियम के मार्ग पर चलने का व्रत लिया है। यम-नियम आदि की सूक्ष्म प्रक्रियायें उनके जीवन की हर गतिविधि में परिलक्षित होनी चाहिए। इन लोगों को आगे आकर उन लोगों की सहायता करनी चाहिए जो 'योग' को 'वैज्ञानिक कसौटी' पर परख कर, आधुनिक-जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार, उसका पुनर्मूल्यांकन करना चाहते हैं। आधुनिक युग के जीवन की गतिशीलता और व्यस्तता को ध्यान में रखकर उसका पुनर्मूल्यांकन होना नितान्त आवश्यक है। गुरु-शिष्य परम्परा की प्राचीन समाज के अनुकूल कठोर परिपाटी को आज ज्यों का त्यों अपनाने से 'गुरुडम' ही अधिक विकसित हुआ है जिससे योग की सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

बहुत ही संक्षेप में मैंने योग के कुछ दृष्टिकोण पर चिन्तन प्रस्तुत किया है। आशा है विज्ञगण इस पर चिन्तन करेंगे।

★★★

योग में विभिन्न परम्पराएँ

भारतीय दार्शनिक परम्परा में योग का महत्त्व इसलिए है कि इसमें एक जीवन प्रणाली का क्रमबद्ध स्वरूप उपलब्ध है। आजकल विश्व में सम्भवतः योग ही सर्वाधिक चर्चित विषय है। 'yogic way of living' को आधार रखकर लोगों ने इतने विचित्र आयाम सामने रखे हैं कि योग के सही रूप के बारे में भ्रम पैदा कर दिया है। इस समय योग प्रचार और योग के नाम से होने वाला आसन अभ्यास एक फैशन के रूप में प्रचलित हो रहा है और योग का उपयोग शरीर की सुदृढ़ता और रोग-निवारण के लिए बहुत ही अधिकृत रूप में किया जा रहा है। क्या योग शरीर तक ही मर्यादित है ? क्या योग रोग-निवारण के लिए ही विकसित हुआ होगा ? योग के विषय में इतने भ्रम क्यों पैदा हुए ? योग के भिन्न-भिन्न आयाम कौन से हैं ? इस विषय पर कुछ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

योग सम्बन्धी क्रमागत विचार पतंजलि के योग-सूत्रों में उपलब्ध हैं। योगदर्शन का षड्दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त योग शब्द के साथ ध्वनित होने वाले बहुत सारे योग के ही आयाम अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रस्थापित करने में सफल हुए हैं। आज हमें हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, लययोग के अतिरिक्त कर्मयोग, भक्तियोग, क्रियायोग, कुंडलिनीयोग इत्यादि के नाम से विपुल मात्रा में साहित्य उपलब्ध है और श्रद्धा तथा भक्ति के साथ इसका प्रचार करने वाले तथा पालन करने वाले भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त विदेशों में तो योग के नाम से ऐसी शब्दावली तैयार हो गयी है कि भारतीय योग परम्परा के प्रेमियों को भी संभ्रम और आश्चर्य होता है।[४] उदाहरण के लिए योग के साथ जोड़े गये कुछ शब्द इस प्रकार हैं—Centre for Applied Yoga, Integral Yoga Centre, Kripalu Yoga Centre, Shri Gurudev Siddha Yoga Ashram, Rajayoga Centre, Sodhana Yoga Centre, Santosh Yoga Centre, Shanti Studio of Yoga, Yoga Gestalt Studio, Yoga Synthesis : Inner Awareness, Yoga Theraphy Centre, Integral Yoga Institute, Christa Nomdo Ashram for Yoga and Meditation, The American Institute of Yoga, International School of Yoga and Vedanta Philosophy, Temple of Kriya Yoga, Babaji Yoga Sangam, East-West Yoga Centre, The Yoga Academic Foundation, Yoga Seminary of New York, Agniyogo Society, Yoga Guild of America, Light of Yoga Society, Yoga and Health Centre, Yogananda Ashram Society, Yoga Fitness Centre etc.

पतंजलि ने अपने सूत्रों में "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**" इस प्रकार योग की परिभाषा दी है। भाष्यकार व्यास ने "**योगः समाधिः**" ऐसी व्याख्या की है। विज्ञानभिक्षु ने अपने ग्रन्थ योगसारसंग्रह में योग की परिभाषा "**सम्यक् प्रज्ञायते**" इस प्रकार की है। याज्ञवल्क्य ने योग की परिभाषा "**संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो**" इन शब्दों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की है। विष्णुपुराण में योग की परिभाषा एक विशेष प्रकार से की गई है—"**आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।**" हठयोग साहित्य में भी कुछ इसी प्रकार के शब्दों द्वारा योग को परिभाषित किया गया है।

पतंजलि ने योग की एक परिभाषा "**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि**" इस प्रकार भी की है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो एक दूसरी भी परिभाषा योगसूत्रों में उपलब्ध है। इस परिभाषा के आधार पर क्रियायोग नामक एक योग प्रचलित हुआ है। वह परिभाषा इस प्रकार है—"**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि।**" कुछ लोग "**अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः**" अथवा "**तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः**" भी करते हैं। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि पतंजलि के सूत्रों में हमें एक क्रमबद्ध प्रणाली मिलती है।

अष्टांग योग के विषय में बहिरंग और अन्तरंग शब्दों द्वारा आधुनिक योग साहित्य में विश्लेषणात्मक भ्रम निर्माण हो गया है और इस प्रकार का कुछ साहित्य भी उपलब्ध है। अष्टांग योग के प्रथम पाँच अंगों को कुछ लोगों ने बहिरंग योग के स्वरूप में लिया है और धारणा, ध्यान, समाधि को अन्तरंग योग के नाम से प्रचलित किया है। वास्तव में योग की सारी प्रक्रिया चित्तवृत्तिनिरोध के लिए है। और चित्त की व्याख्या न देकर पतंजलि ने उसके कार्य की ओर संकेत किया है। अतः यम और नियम जिनका परिणाम मनुष्य के व्यवहार पर पड़ने वाला है, किस प्रकार बहिरंग हो सकते हैं? उसी प्रकार आसन और प्राणायाम करते हुए लोग यद्यपि हमें दिखते हैं, तो भी उनका परिणाम क्या सिर्फ शरीर पर ही होता है? प्रत्याहार किस प्रकार बाह्य क्रिया हो सकती है? वास्तव में इन शब्दों को समझने में थोड़ा-सा भ्रम हो गया है और शाब्दिक भ्रम के कारण कुछ लोग इस प्रकार की व्याख्या कर बैठे हैं।

अष्टांग योग को आधारभूत मानकर कुछ अन्य साधना पद्धतियाँ योग के अन्तर्गत समय-समय पर विकसित हुई हैं और मनुष्य स्वभाव की विविधता के अनुरूप आज सब अपना-अपना स्वतन्त्र स्थान प्राप्त कर चुकी हैं।

हठयोग सर्वविदित और बहुश्रुत साधना पद्धति है। हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार योग के अंग इस प्रकार स्वीकार किये गये हैं—आसन, कुम्भक (प्राणायाम), मुद्रा और नाद-अनुसन्धान।[५] हठयोग-प्रदीपिका के ही चौथे उपदेश के अन्त में "**समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः**" है परन्तु समाधि का विवेचन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। हठयोग का दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'घेरण्डसंहिता' है। इसके अनुसार योग के सात अंग बताये गये हैं—षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि।[६] हठयोग के अन्य साहित्य में शिवसंहिता, गोरक्षशतक, सिद्धसिद्धान्त पद्धति आदि में इसका विशेष उल्लेख नहीं है, परन्तु अमृतनाद उपनिषद् में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि योग के ये छः अंग बताये हैं।[७] [छः अंगों का क्रम यहाँ विचारणीय है, साथ ही तर्क नामक अंग अन्यत्र कहीं भी समाविष्ट नहीं किया गया है। इस उपनिषद् को यदि आधार माना जाय तो बहिरंग और अन्तरंग विभाजन करने की इच्छा के लिए एक नयी समस्या खड़ी हो जायेगी। परम्परागत धारणा, ध्यान और समाधिक्रम उपनिषद्कार को मान्य प्रतीत नहीं होता। इस क्रम में प्रत्याहार और प्राणायाम के मध्य में ध्यान को रखा गया है और सम्भवतः यहाँ पर ध्यान का अर्थ कुछ भिन्न भी हो सकता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात ध्यान के बाद धारणा को रखना है। यह एक चिन्तन और मनन का विषय है।]

तेजबिन्दु उपनिषद् में योग के पन्द्रह अंग दिखाये हैं—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥१५॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यंगानि वै क्रमात्॥१६॥

सम्भवतः योग अंगों की यह विस्तृत सूची है। परम्परागत अष्टांग योग इसमें निश्चित क्रम के अनुसार ही मान्य है। सम्भवतः उपनिषद्कार ने कुछ विश्लेषण साधुओं की सुविधा के लिए कर दिया है। दर्शन उपनिषद् में अष्टांग योग तथाक्रम मान्य किया है। यहाँ हमें एक नयी चीज यम और नियमों के विस्तार सम्बन्धी दिखती है। पतंजलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ऐसे पाँच यम बताये हैं। दर्शन उपनिषद् में दस यम इस प्रकार बताये गये हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) दया, (६) आर्जव, (७) क्षमा, (८) धृति, (९) मिताहार, (१०) शौच। पतंजलि के अनुसार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान पाँच नियम हैं। दर्शन उपनिषद् के अनुसार दस नियम ये हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥१॥

यम और नियमों के इस विवरण में यदि पतंजलि को आधार माना जाय तो अन्तर्गत विवरण में थोड़ा-सा भेद ध्यान में आता है। उपनिषद्कार ने शौच को यम के अन्तर्गत लिया है और कुछ अन्य विश्लेषण अपनी ओर से दे दिया है। नियमों के वर्णन में भी कुछ अधिक विश्लेषण हमें उपलब्ध है। यद्यपि अपरिग्रह शब्द का यहाँ उल्लेख नहीं है, तो भी भावरूप से उपलब्ध है। परम्परागत योग-प्रणाली में यह एक महत्त्वपूर्ण योगदान है और सम्भवतः साधक को शब्द छल से बचाने के लिए सुस्पष्ट विवेचन किया गया है।

मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् में यद्यपि अष्टांग योग शब्द का प्रयोग किया है तो भी इसका विश्लेषण परम्परागत अष्टांग योग से भिन्न है। यहाँ पर चार यम दिये गये हैं और नौ नियम दिखाये हैं।[८] इस विवरण से एक बात स्पष्ट होती है कि यद्यपि परम्परागत शैली और इस उपनिषद् की शैली में कुछ भेद है, तथापि अधिक से अधिक मार्गदर्शन करने की भावना परिलक्षित है। योगचूडामणि उपनिषद् के अनुसार योग के छः अंग मान्य किये गये हैं। उसमें यम और नियम समाविष्ट नहीं है। योगतत्त्व उपनिषद् में चार प्रकार के योग बताये गये हैं।[९] हठयोग का वर्णन करते समय अष्टांग योग का क्रम मान्य किया है। यहाँ एक बात और कुछ नये रूप में दिखती है, इसके अनुसार आहार को मुख्य यम बताया गया है और अहिंसा को मुख्य नियम। चार आसन भी मुख्य रूप से बताये गये हैं—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन (सिंह आसन) और भद्रासन। योगशिक्षा उपनिषद् में यद्यपि चार प्रकार के योग दिये गये हैं तथापि परम्परागत अष्टांग योग का वर्णन उपलब्ध नहीं है। परन्तु योग अभ्यास सम्बन्धी विविध आयाम विस्तृत रूप में उपलब्ध हैं। शांडिल्य उपनिषद् में परम्परागत अष्टांग योग का क्रम मान्य किया है। यहाँ पर भी दस प्रकार के यम और दस प्रकार के नियमों का उल्लेख है। एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्रत्याहार सम्बन्धी है। शांडिल्य उपनिषद् के अनुसार पाँच प्रकार के प्रत्याहार दिये गये हैं।[१०] ध्यान सम्बन्धी चर्चा में सगुण और निर्गुण दो प्रकार के ध्यान बताये गये हैं।

उपर्युक्त अति संक्षिप्त वर्णन में हठयोग सम्बन्धी शाब्दिक मतभेद ही स्पष्ट रूप से दिखता है। वास्तव में मूल भावना सभी ग्रन्थकारों को मान्य है—ऐसा प्रतीत होता है। अपनी स्वतन्त्र शैली में विषय प्रतिपादित करते समय इस प्रकार के भेद दिखाई पड़ते हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण चर्चा साधक के विकास की दृष्टि से आहार-आचरण सम्बन्धी विस्तृत और स्पष्ट रूप से की गयी है। यदि ऐसा कहा जाय कि इन ग्रन्थों में विशद किये गये विषय आधुनिक जगत में प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपयोगी हैं तो अतिशयोक्ति न होगी।

हठयोग प्रदीपिका में "**केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते**" (१-२) कुछ इस प्रकार का वर्णन चौथे उपदेश में भी आया है (३ और ८)। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजयोग की व्याख्या यहाँ पर उपलब्ध नहीं है। योगतत्त्व उपनिषद् में राजयोग का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त रूप में उपलब्ध है।[११] विवेक और वैराग्य को सबसे ज्यादा महत्त्व प्रदान किया गया है। योगशिक्षा उपनिषद् में राजयोग का वर्णन इस प्रकार है—

योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसंनिभम् ।
रजो वसति जन्तूनां देवी तत्त्वं समावृतम् ॥१३६॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः ।
अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः ॥१३७॥

राजयोग शब्द का अधिक प्रचार सम्भवतः पतंजलि के योगसूत्रों पर स्वामी विवेकानन्द द्वारा लिखित भाष्य के बाद हुआ। योगसूत्रों को किस आधार पर उन्होंने राजयोग की संज्ञा दी, यह एक विवादास्पद विषय है। Yoga, the method of Re-integration—by Alain Daniclou नामक ग्रन्थ में नवम अध्याय में राजयोग का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु प्रदत्त आधार विषय को कुछ अधिक ही उलझा देता है। सम्भवतः राजयोग शब्द राज शब्द के कारण कुछ भ्रम निर्माण करने में सफल हुआ है। परन्तु राजयोग का सही मर्म अप्राप्य है। ऐसा भी हो सकता है कि हठयोग की व्यवस्थित परम्परा के सामने राजयोग का शिथिल वर्णन टिकने में असमर्थ रहा हो और आचार्यों ने इसकी आवश्यकता न समझ कर उपेक्षा कर दी हो।

योगतत्त्व उपनिषद् में जो चार योग बताये हैं, उनमें मंत्रयोग सबसे प्रथम है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इसका वर्णन केवल दो श्लोकों में ही कर दिया गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् वक्ष्ये शृणु समासतः ।
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥२१॥
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥२२॥

योगशिक्षा उपनिषद् में भी मंत्रयोग का वर्णन अति संक्षिप्त रूप में किया है।[१२] मंत्रयोग के एक रूप का नाम जपयोग के नाम से भी विकसित है। इसकी प्रशंसा मनुस्मृति में भी की गयी है।[१३] जप सम्बन्धी विस्तृत वर्णन अन्य साहित्य में भी उपलब्ध है। त्रिशखी-ब्राह्मण उपनिषद्, दर्शन उपनिषद्, वराह उपनिषद् और शांडिल्य उपनिषद् में जप को व्रत के रूप में मान्य किया है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात जप सम्बन्धी हमें यहाँ पर उपलब्ध है और वह है जपविधि सम्बन्धी साधक को दी गयी स्वतन्त्रता।[१४]

योगतत्त्व उपनिषद् में 'लययोग' का वर्णन इस प्रकार है—

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः ।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥२३॥

कुछ इसी प्रकार का वर्णन योगशिक्षा उपनिषद् में भी उपलब्ध है।[१५] हठयोग प्रदीपिका में नाद का वर्णन करते समय "लय" शब्द का उपयोग किया गया है जो सम्भवतः क्रिया का बोध कराता है।[१६]

घेरण्ड संहिता में लय योग का संदर्भ इस प्रकार है—

शम्भव्या चैव भ्रामर्या खेचर्या योनिमुद्रया ।
ध्यानम् नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥७-५॥

नादबिन्दु उपनिषद् में विस्तार के साथ लययोग के क्रम और प्रभाव का वर्णन और विश्लेषण किया गया है। वास्तव में यह सब वर्णन नाद (ध्वनि) पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए किया गया है और साधक निरन्तर अभ्यास से सर्व प्रकार की चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त करता हुआ और सब प्रकार के प्रयत्नों से परे एक ऐसी अवस्था में आ जाता है जिसे चित्त की विलीनता कहा जाता है।[१७] निरन्तर एक ही ध्वनि अथवा एक ही प्रकार की आवाज पर ध्यान केन्द्रित करने पर शरीर के ऊपर सम्भवतः कुछ अद्भुत परिणाम होते हैं। चित्त की एकाग्रता की दृष्टि से क्रमबद्ध स्वर का आलम्बन स्वीकार करके उसे बाँधने का प्रयत्न किया गया है। चित्त की इस प्रकार की अवस्था लाने का प्रयत्न आधुनिक संगीत में भी प्रयोगात्मक रूप में विकसित हो रहा है। पेड़-पौधों पर और पशुओं पर एक विशेष प्रकार की संगीत लहरियों का प्रयोग कुछ वैज्ञानिकों ने आरम्भ किया है। जो परिणाम वनस्पति और पशुओं पर हो सकते हैं, उसी प्रकार के कुछ परिणाम अध्यात्म साधना में रत व्यक्ति पर भी अवश्य होते होंगे। इस प्रकार के शब्दों का प्रभाव योग के अन्य साहित्य में भी उपलब्ध है जो इस बात का संकेत है कि प्राचीन ऋषियों ने कुछ नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिये थे। स्वर-योग का यह भाग वैज्ञानिक दृष्टि से शोध का विषय है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति योग श्रीमद्भगवद्गीता के साथ सर्वाधिक जुड़े हुए प्रचलित शब्द हैं। योग के सम्पूर्ण साहित्य में किसी न किसी रूप में इन शब्दों का उपयोग मिलता है। इस विषय पर अधिक विस्तार से विवेचन न करते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि एक ही विषय के ये तीन आयाम हैं। अथवा किसी भी काम को पहले समझना और फिर श्रद्धा और भक्ति के साथ क्रियान्वित करना। भक्तियोग पर तो जितना लिखा जाय उतना ही कम है। भागवत धर्म में नवधाभक्ति का विस्तृत विश्लेषण हुआ है। भक्ति मार्ग का ही एक रूप पराभक्ति है। इन तीनों योग की विधाओं में वैराग्य भावना पर बहुत जोर दिया गया है। भारतीय सांस्कृतिक जीवन—बौद्ध, जैन और वैदिक परम्परा में वैराग्य भावना को विकसित करने का सदा आग्रह किया गया है। वस्तुतः वैराग्य भावना विकसित होते-होते साधकों को बहुत से अनुभव होने की परिस्थिति निर्मित हो जाती है। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने भी वैराग्य भावना से मिलते-जुलते विचार प्रगट किये हैं। समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री[१८] भी कुछ हिचकते हुए संग्रह वृत्ति की ओर संकेत करते हैं। समाज में समान भावना प्रेषित करने की दृष्टि से अपरिग्रह और वैराग्य अतीव आवश्यक है। त्रिशिखी ब्राह्मण उपनिषद् में ज्ञान और कर्म योग के विषय में विस्तृत विश्लेषण उपलब्ध है।[१९] जीवन की ये विधाएँ सामाजिक विषमताओं को कम करने में भी किसी दृष्टि तक सम्भवतः उपयुक्त मानी गई हैं। यदि ऐसा कहें तो अति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शयोक्ति न होगी कि सम्भवतः सभी प्रकार की धार्मिक विधाओं में ज्ञान, भक्ति और कर्म का प्रभाव किसी न किसी रूप में मिलता है।

कुंडलिनीयोग, योग का सबसे अधिक प्रिय और आकर्षित करने वाला व विवादास्पद आयाम है। योगशास्त्र में कुंडलिनी शक्ति के अनेक नाम दिये गये हैं और इस पर विस्तृत साहित्य भी उपलब्ध है।[२०] योग सम्बन्धी ग्रन्थों में कुंडलिनी के चक्र और पद्मदलों के बारे में भी शिवसंहिता—अध्याय ५; ध्यानबिन्दु उपनिषद्, शांडिल्य उपनिषद्; योग कुण्डलिनी उपनिषद्; सिद्ध सिद्धान्त पद्धति आदि विभिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग वर्णन है।

★★★

ध्यान-सम्प्रदाय, योग और जैन साधना

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मानव के अस्तित्व को टिकाने के लिए कुछ प्राचीन दार्शनिक परम्परायें और उन्हीं परम्पराओं से कुछ अंशों को सामने रखते हुए कुछ नये मत, मनन-चिन्तन तथा चर्चा के विषय हो रहे हैं। प्राचीन भारतीय परम्परा में मानव के सर्वांगीण विकास की ओर सदैव प्रयास किया जाता रहा है। भारत की दार्शनिक परम्परा और धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन की घनिष्ठता तथा एकरूपता को, पाश्चात्य दार्शनिक प्रणाली में निश्चय ही कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि भारतीय परम्परा में व्यावहारिक जीवन और जीवन में नित्य प्रति आने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में गहनता के साथ विचार और विवेचन किया गया है। शरीर के भौतिक आयामों से परे हटकर, एक दूसरा भी ऐसा आयाम है जिसकी चर्चा सम्भवतः तार्किक भाषा में न उतारी जा सके। भारतीय परम्परा में वैदिक दर्शन के साथ-साथ जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन का भी विकास हुआ।* तीनों दर्शनों का जीवन के व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ गहरा सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध, जीवन में—शरीर तथा शरीर से होने वाले शुभाशुभ कर्मों अथवा शरीर में उत्पन्न होने वाली इच्छाओं और उनसे होने वाले परिणामों (शरीर पर, बुद्धि पर और यदि मन की परिभाषा निश्चित हो तो उस पर भी) आदि से सम्बन्धित है। बीसवीं शताब्दी में कुछ अस्तित्ववादियों ने कुछ इसी प्रकार का चिंतन करने का प्रयत्न किया है और मनोविश्लेषण के क्षेत्र में काम करने वाले कुछ विद्वानों ने भी इसी तरह का विवेचन करने का प्रयास किया है। सभी जगह हमें एक ही प्रयत्न इस सन्दर्भ में दिखाई देता है कि मानव को संसार में भौतिक सुख के साथ-साथ कुछ और भी चाहिए; जो उसकी प्राप्ति हेतु मार्ग दिखा सके, प्रेरणा दे सके। यद्यपि यह एक बहुत बड़ी आकांक्षा है और निश्चित परिणाम तक पहुँचने की सम्भावना न दिख रही हो तो भी विश्वास ऐसा दिख रहा है कि इस प्रयत्न के द्वारा मानव को कुछ उपलब्धि अवश्य होगी।

प्रस्तुत विवेचन में भारतीय दर्शन प्रणाली में से हमारे विवेचन का विषय योग का वह भाग होगा जहाँ शरीर के साथ कुछ प्रयोग करने की सुविधा है और उस प्रयोग के साथ अनुभव प्राप्त करने का आह्वान भी है। इसी प्रकार जैन-दर्शन में योग सम्बन्धी किये गये कार्यों में विशेष रूप से आचार्य हेमचन्द्र का योगशास्त्र और उसी से सम्बन्धित विवेचन ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र और बौद्ध-दर्शन में 'जेन बुद्धिज्म' सम्बन्धी साहित्य का विवेचन किया जायेगा। इस विवेचन में तुलनात्मक दृष्टिकोण नहीं है। साथ ही किसी भी प्रणाली की आलोचना भी नहीं की गयी है। मानव जीवन के समस्यामूलक आयाम का जो प्रयास तीनों प्रणालियों में किया गया है उसी का विवेचन करने का एक प्रयास है। एक महत्वपूर्ण बात और भी है, कि जब तक मानव स्वयं अपनी समस्याओं के सम्बन्ध में गहनतम रूप से चिन्तन और तीव्रता के साथ अनुभूति न करे, दूसरे के दिखाये गये मार्ग, प्रारम्भ में उसे उपयोगी लग सकते हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा वे मार्ग उसका साथ नहीं दे पाते। ऐसी भी सम्भावना है कि वे उसके लिए बोझ बन जायें। प्राचीनकाल से दार्शनिक पृष्ठभूमि पर जो मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं वे या तो व्यक्तिगत समझ के परिणाम हैं

* हिन्दू, बौद्ध, जैन अथवा हिन्दू-जैन, हिन्दू-बौद्ध आदि का क्रमिक विवाद उठाना यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

—सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा स्वार्थबुद्धि के कारण और प्रमाद के कारण भी हो सकते हैं। मानव स्वभाव की सरलता और स्वाभाविक जीवन तर्क पर नहीं, अन्धविश्वास पर भी नहीं, परन्तु श्रद्धा और विश्वास पर अवश्य ही आश्रित है। योग-मार्ग में चित्त में प्रसारित होने वाली वृत्तियों को समझने के लिए और उनसे मुक्ति प्राप्त करने के लिए मार्ग बताया गया है तथा अपने सही मार्ग को देखने और समझने के लिए संकेत किया गया है।[२१] योग का हेतु अन्तिम सूत्रों में पतंजलि ने स्वरूप-प्रतिष्ठा कहा है। इस स्वरूप-प्रतिष्ठा को समझने की यदि तीव्र आकांक्षा होगी तो यह बहुत सरल है और यदि अपना प्रयत्न भावनात्मक और क्षणिक वैराग्य से प्रभावित होगा, तो बहुत कठिन है। योग-सूत्रों में जो क्रमिक विकास हमें दिखता है उसके पीछे एक ऐसा प्रयत्न है जिसमें साधक सहज और स्वाभाविक अवस्था में रहता हुआ; सब प्रकार के सामाजिक अनुभवों से गुजरता हुआ भी अपने स्वरूप को जानने के लिए प्रयत्नशील रहता है। यद्यपि पतञ्जलि कुछ मार्गों की ओर संकेत करते हैं तथापि उन्हें इस बात की पूर्ण कल्पना है कि साधनावस्था में मशीन की तरह निश्चित मार्ग नहीं बताया जा सकता; मार्ग की ओर संकेत ही किया जा सकता है। चलने की प्रेरणा दी जा सकती है, परन्तु चलने के लिए जो प्रयत्न है वह स्वयं साधक को ही करना होगा। और इसीलिए सम्भवतः वे ऐसा कहते हैं कि आपकी जैसी इच्छा है आप वैसा करें।[२२] हठयोग के साहित्य में भी कुछ इसी प्रकार का विवेचन है।[२३] यहाँ इस बात का संकेत किया गया है कि जब तक साधक स्वयं क्रियारत नहीं होगा उसे किसी प्रकार का लाभ होने की सम्भावना नहीं है। वेश धारण करने से किसी भी प्रकार का मार्ग मिलने की सम्भावना नहीं है, लोगों में भ्रम अवश्य प्रसारित हो सकता है। 'विवेक मार्तण्ड' में बड़े कड़े शब्दों में साधक की तुलना 'गधे' के साथ की गयी है। यदि संकल्प स्पष्ट न हो तो धूल में जीवन व्यतीत करना अथवा ठण्डी और गर्मी से शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है क्योंकि गधा हमेशा गर्मी-सर्दी सहन करता रहता है और धूल-मिट्टी से भी लथपथ रहता है। साधक यद्यपि इसी प्रकार का दिखता है तो भी उसका हेतु बड़ा स्पष्ट रहता है और जब तक हेतु स्पष्ट न रहे तब तक बाह्याडम्बर एक प्रकार का बन्धन ही रहता है।[२४] पतञ्जलि ने तो आसनों का वर्णन करते समय भी स्वयं अनुभव लेने के लिए प्रेरित किया है। उन्होंने शरीर को जैसी साधक की इच्छा हो वैसा रखने का संकेत किया है। इससे एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि साधना सामूहिक रूप से नहीं की जा सकती। कुछ साधक एकत्र रह सकते हैं, परन्तु अनुभूति व्यक्तिगत और मर्यादित रूप में ही होगी। दूसरे शब्दों में हम ऐसा कह सकते हैं कि साधक का जीवन आडम्बरहीन, निष्कपट, एक दृष्टिकोण को सामने रखते हुए जीने की आकांक्षा और अपने स्वरूप को समझने का विश्वास—यही योग का एक सहज स्वरूप है। जैन परम्परा में योगशास्त्र के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र के चौथे और पाँचवें प्रकाश में आसन और प्राणायाम का विस्तृत विश्लेषणात्मक वर्णन करते हैं। यदि इस ग्रन्थ को पाँचवें प्रकाश तक ही पढ़ा जाए तो जैन आचार्य के प्रति भ्रम हुए बगैर नहीं रहेगा। कुछ ऐसी भी सम्भावना साधक को दिखेगी कि जैन आचार्य या तो योगमार्ग से प्रभावित हैं या उसके प्रवर्तक हैं। परन्तु जब हम छठे प्रकाश को देखते हैं तो हमें एक सौम्य झटका-सा लगता है।[२५] जिन आचार्यश्री ने आसन और प्राणायाम के विस्तृत विश्लेषण में इतना समय लगाया उन्हें इसकी अनावश्यकता के लिए यह श्लोक लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी? हेतु स्पष्ट दिखता है। यद्यपि जैन आचार्य योगमार्ग का संकेत करते हैं तो भी यह मार्ग बाधा स्वरूप है, इस बात का भी उन्हें पूर्णरूप से ध्यान है और इसीलिए साधकों को उन्होंने स्पष्ट संकेत दे दिया है। साधना-मार्ग में एक विस्तृत स्वरूप की स्वतन्त्रता देने के बाद वह स्वतन्त्रता उच्छृंखलता में परिवर्तित न हो जाए, ऐसी सावधानी हमें स्पष्ट रूप से परखनी होती है। आडम्बर और प्रमाद का भी यहाँ ध्यान रखना पड़ता है। जैन साधना पद्धति के परम्परागत रूप में टिके रहने का सम्भवतः यही कारण रहा होगा। मानव की सहज वृत्तियों को एक नियन्त्रित मार्ग-दर्शन इस जीवन प्रणाली में पग-पग पर दिखता है।

प्रस्तुत निबन्ध ध्यान-परम्परा को सम्मुख रखकर चिन्तन करने के लिए निश्चित किया गया है और ध्यान-परम्परा का सम्पूर्ण प्राचीन और आधुनिक साहित्य मानव की व्यक्तिगत अनुभूति को ही ध्यान में रखकर सृजित किया गया है। योग-परम्परा और जैन-परम्परा में भी कुछ आयाम इसी स्तर के प्राप्त होते हैं। जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है, इस निबन्ध का हेतु न तो किसी मार्ग की आलोचना करना है और न किसी मार्ग की तुलना, वरन् तीनों प्रणालियों का हेतु मानव के सही स्वरूप को समझने के लिए सहायता करना है। इसी सन्दर्भ में थोड़ा सा उल्लेख हमने अस्तित्ववादी प्रयत्न और मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के सम्बन्ध में भी किया है।

जैन बुद्धिज्म के ऐतिहासिक विवेचन में न फँसकर जो कुछ उपलब्ध साहित्य है उसके तात्त्विक विवेचन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर विचार करने का हमारा प्रयास रहेगा। अंग्रेजी में उपलब्ध साहित्य में लगभग सभी ग्रन्थों में विस्तृत ग्रन्थ सूची उपलब्ध है।[२९]

सुविधा के लिए हम 'जेन' शब्द का अनुवाद 'ध्यान' शब्द में करके मर्यादित स्वरूप में विवेचन करेंगे। ध्यान-साहित्य में कुछ विचित्र घोषणाएँ पढ़ने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए, Sitting quietly, doing nothing, अथवा ताली की आवाज एक हाथ से, अथवा बोतल में बन्द बतख को बोतल तोड़े बगैर बाहर निकालना अथवा मैं कुछ भी स्वीकार नहीं करता और कुछ निषेध भी नहीं। ध्यान मत के अनुसार 'कार्य को करना' कार्य को करना है—'The Zen way of doing things is to do them.' 'Zen lives in facts, fades in abstractions and is hard to find in our noblest thought.' 'A sense of serenity, a sense of flow, and a sense of rightness in all action.' 'All that happens, happens right.' 'To the good I act with goodness; to the bad I also act with goodness.' Zen talks of quality of living and not standard of living.' Is-ness Now-ness One-ness.'

ध्यान सम्बन्धी सभी साहित्य और सभी प्रयत्नों में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि तर्क और शब्दों में न तो धर्म को बाँधा और नापा जा सकता है और न ही जीवन को। प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक सभी अवस्थाओं का जीवन शब्दों से परे है, विवेचन से मुक्त है, सभी प्रकार के शाब्दिक जाल से मुक्त है, और जीवन की प्रत्येक घटना स्वीकार करने में ही मनुष्य की श्रेष्ठता दिखायी है। यदि हम अपने जीवन के कालक्रम में घटित होने वाली सभी घटनाओं का तार्किक दृष्टि से विवेचन करें तो बहुत जल्दी ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीवन की सभी गतिविधियों का विवेचन असम्भव है। स्वयं को भुलावा देने के लिए शाब्दिक जाल खड़ा कर सकते हैं, परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि जीवन को तार्किक जाल में बाँधा ही नहीं जा सकता। इस विधान से कुछ निराशाजनक ध्वनि परिलक्षित होती हो तो भी सच्ची बात से मुँह मोड़ना अपने आपको अँधेरे में रखना है। सृष्टि में होने वाली सभी घटनाएँ किसी एक ऐसे क्रम से बँधी हैं जिन पर हम कुछ निश्चित मात्रा तक ही मर्यादा रख सकते हैं। इस क्रम को यदि हम स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लें तो जीवन निराशावाद के स्थान पर विकासवाद की ओर निश्चित रूप से बढ़ेगा। ध्यान-सम्प्रदाय के लोग जब Is-ness की बात करते हैं, That-ness की बात करते हैं, घटनाओं के होने की स्वीकृति देते हैं, तो इसमें हमें मानव के बौद्धिक चिन्तन और स्थिरता का भास होता है। रहस्यवादी कवि और सूफी भी हमें इन्हीं मार्गों की ओर आकृष्ट करते हैं। दूसरे शब्दों में सुखी जीवन, शान्त जीवन और विकसित जीवन ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार, जीवन का भौतिक विकास नहीं, वरन् अभौतिक विकास है (अभौतिक का अर्थ, आध्यात्मिक, मानसिक, साधनामय या अन्य इसी प्रकार की प्रणालियाँ हो सकती हैं)।

ध्यान-सम्प्रदाय सम्बन्धी बहुत सारा साहित्य छोटी-छोटी आख्यानों अथवा कहानियों के द्वारा समाज के सामने प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए एक छोटी सी कथा दो ऐसे साधुओं के लिए हैं जिन्हें प्रवास करने के लिए नदी के किनारे एक सुन्दर कन्या नदी पार करने में सहायता माँगते हुए दिखती है। दोनों भिक्षु एक-दूसरे की ओर देखते हैं और अचानक एक भिक्षु उस कन्या को उठा लेता है। नदी पार कर जाते हैं। दूसरा भिक्षु बहुत क्रुद्ध है और इसी अवस्था में प्रवास करते-करते आश्रम के पास पहुँचते समय दूसरा भिक्षु पहले भिक्षु से एक प्रश्न करता है कि उस कन्या को उठाते समय तुम्हें कैसा अनुभव हुआ था, तब पहले भिक्षु ने बहुत ही शान्त भाव से कहा—भंते ! मैंने उस कन्या को नदी पार करने के बाद वहीं छोड़ दिया परन्तु तुम अभी तक उसे उठाये फिरते हो। इसी प्रकार मात्सु नामक शिष्य ने हुईजान नामक गुरु से पूछा—गुरुदेव ! ध्यान में बैठने का हेतु क्या है ? हुईजान ने बड़े ही शान्त स्वभाव से उत्तर दिया—बुद्ध बनना। हुईजान चुपचाप उठा और एक पत्थर को घिसने लगा। मात्सु ने अपने गुरु से पूछा कि आप क्या कर रहे हैं ? इस पर हुईजान ने इस प्रकार कहा, कि मैं इस पत्थर का दर्पण बना रहा हूँ। कभी पत्थर भी दर्पण बनाया जा सकता है ? ऐसी शंका व्यक्त की गई। गुरु ने उत्तर दिया कि यदि ध्यान में बैठने से बुद्ध बना जा सकता है तो पत्थर को दर्पण में भी रूपान्तरित किया जा सकता है। इन दोनों कथाओं में जीवन के दो ऐसे आयाम प्रस्तुत किये गये हैं जिससे सहज जीवन और कृत्रिम जीवन का एक स्वरूप हमें दिखाया गया है। यदि मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय तो हमें ऐसा बताया जाता है कि हमें किसी भी कार्य को प्रत्यक्ष रूप में करना और उस करने की क्रिया का कालान्तर में चिन्तन या मनन करना, दो अलग-अलग स्वतन्त्र पक्ष हैं। कभी-कभी तो किसी क्रिया के करने के बाद उस क्रिया का शरीर और मन पर शायद उतना परिणाम न हो जितना विपरीत और हानिकारक परिणाम, उस क्रिया के चिन्तन-मनन से होने की सम्भावना है। ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार सहज जीवन की ओर संकेत मिलता है। किसी विशिष्ट समय पर घटी हुई घटनाओं का उतना प्रभाव नहीं होता जितना उन पर दीर्घकालीन चिन्तन-मनन का। उसी प्रकार प्रयत्न का आडम्बर और प्रयत्न की भावना की ओर संकेत किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुईजेन के जीवन से सम्बन्धित एक कथा का सारांश, दो छोटी गाथाओं में इस प्रकार है—

"शरीर बोधि वृक्ष के समान है,
और मन स्वच्छ दर्पण के समान;
हर क्षण हम उन्हें सावधानी से साफ करते रहते हैं,
ताकि उन पर धूल न जम जाय।"

इस गाथा का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—

"नहीं है बोधिवृक्ष के समान शरीर,
और न कहीं चमक रहा है स्वच्छ दर्पण,
तत्त्वतः सब कुछ शून्य है,
धूल जमेगी कहाँ ?"

इन दोनों गाथाओं में एक तात्त्विक भेद को व्यावहारिक दृष्टि से दिखाने का प्रयत्न किया गया है। सामाजिक जीवन में हम बहुत ही योजनापूर्वक प्रयत्नशील जीवन की आकांक्षा करते हैं। परन्तु सामाजिक घटनाएँ (यदि दैवी परिस्थितियों का विचार थोड़ी देर के लिए अपने पक्ष के सम्बन्ध में ही समझ लिया जाय तो भी) कभी-कभी हमारे सिद्धान्तों और परिस्थितियों के विपरीत होती हैं और हम उनसे विचलित हो जाते हैं, ऐसी दुर्घटनाओं से बचने के लिए हम विभिन्न प्रकार के कवच तैयार करते हैं, संगठन बना लेते हैं और अन्य सुरक्षा के साधन भी खोजते रहते हैं। साधारणतः अनुभव अपने मन के विरुद्ध ही होता है। संसार एक ऐसी गति से जा रहा है जिसके नियन्त्रण के बारे में विचार करते समय बुद्धि को अपनी मर्यादाएँ माननी पड़ती हैं, तर्क काम नहीं करते और हम सिद्धान्तों और शब्दों का आश्रय ढूँढते हैं। ध्यान-सम्प्रदाय की मान्यता है कि यदि हम अपने अस्तित्व को समाज पर अथवा प्रकृति के निश्चित क्रम पर छोड़ दें तो हमारी तथाकथित व्याधियाँ, मानसिक क्लेश और इसी प्रकार के अन्य दुःख, अपने आप विलीन हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में ये सिद्धान्त जीवन की एक नयी-दृष्टि दिखाने का प्रयास करते हैं; जिसमें सहज-जीवन जीने की ओर संकेत है।

एक अन्य उदाहरण में हुईजेन ने कहा है—

"जो ईमानदारी से सच्चाई के मार्ग पर चलता है,
वह दुनिया की गलतियों को नहीं देखता।
यदि हम दूसरों के दोष देखते हैं,
तो हम स्वयं भी गलत हैं।
यदि दूसरे पुरुष गलती पर हैं तो उस पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए,
क्योंकि दूसरों के दोष देखना हमारे लिए गलत है।
दोष ढूँढने की आदत से पीछा छुड़ा कर,
हम अपवित्रता के एक स्रोत को बन्द कर देते हैं,
जब न घृणा और न प्रेम हमारे मन को विक्षुब्ध कर सकते हैं,
तो हम गहरी शान्ति में सोते हैं।"

हुईजेन ने इन गाथाओं द्वारा हमें यह बताया है कि समाज में हमें अपना प्रतिबिम्ब दिखता है। यदि हम अच्छे हैं तो लोग हमारे साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। दूसरे शब्दों में हम लोगों को उनके दोष दिखाकर अथवा उनकी निन्दा करके सुधार नहीं सकते। वास्तविकता तो यह है कि गुण और दोष का निर्णय करना भी बहुत कठिन है। ये दोनों शब्द सापेक्ष अर्थ रखते हैं और इसलिए यदि हम प्राप्त परिस्थिति को जिस स्वरूप में मिलती है, वैसा ही स्वीकार कर लें तो ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से शरीर पर होने वाले सूक्ष्म प्रभावों से हम बच सकते हैं। यहाँ पर यही अभिप्राय है कि जीवन के आदर्श निन्दा, आलोचना से परे हटकर वास्तविकता को स्वीकार कर लेने में है।

ध्यान-साहित्य में बहुत सारी ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं का वर्णन है जो दैनिक जीवन में होने वाली गतिविधियों से सम्बन्धित हैं। किसी साधक को खेत में काम करते समय एक विशेष प्रकार की घटना से कुछ बोध होता है। किसी को कुछ विशेष प्रकार की आवाज से ज्ञान प्राप्त हो जाता है। किसी समय गुरु थप्पड़ मार देता है और ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तर्क-बुद्धि से परे ऐसी बहुत सारी घटनाओं से ध्यान-साहित्य का भण्डार भरा पड़ा है। जिन घटनाओं का प्राचीन समय में लोगों ने उपयोग किया उसका प्रभाव आज क्यों नहीं हो पा रहा है ? तत्कालीन सामाजिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषमता का वर्णन सौखियान ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है[२७]—"आधुनिक समय में मानव ने धर्म की अनुभूति को भुला दिया है। कुछ लोगों ने धर्म को दर्शनशास्त्र की कठोर तार्किक शब्दावली में ढालने का प्रयत्न किया है। धार्मिक वातावरण इस शैली में प्रस्थापित न होकर कुछ नई चीज खड़ी हो गयी है।" उनका कहना है कि हम आजकल आहार के स्वाद के विषय में बड़े जागरूक हैं। सभी प्रकार के शारीरिक सुखों के उपलब्ध हेतु के विषय में सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। काव्य और साहित्य आदि के रसास्वादन का भरपूर आनन्द लेना चाहते हैं। विज्ञान की परिभाषाएँ हम अच्छी तरह समझते हैं और नित्यप्रति घटित होने वाली घटनाओं के बारे में विश्लेषणात्मक चर्चा करते हैं। परन्तु जीवन का प्राकृतिक स्वरूप हम भूल गये हैं। अपने स्वयं के स्वभाव को भी हम भूल गये हैं। शरीर सुख से परे भी कुछ है; इस बात का विचार भी हमें नहीं आता और जिस प्रेम की हम बातें करते हैं वह प्रेम स्वार्थ भावना से भरा होता है, मजबूरियों से घिरा रहता है। ध्यान-सम्प्रदाय के अनुसार धार्मिकता का अर्थ जीवन की संवेदनशीलता है। संवेदनशीलता का अर्थ जीवन और समाज में होने वाली प्रत्येक घटना के प्रति एक सहज और निस्पृह दृष्टिकोण है। इसमें शाब्दिक छल नहीं है, तर्कशास्त्र का आधार भी नहीं है और दार्शनिक भ्रम भी नहीं है। जीवन एक सहज गति-विधि है और जीवन को जीने के लिए किसी विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। तीव्र अनुभूति, स्वतन्त्र अभिव्यक्ति और सभी प्रकार की स्वीकृति ही जीवन का भाग है। जीवन में सभी जगह क्रियाएँ हैं। कहीं भी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया उसमें नहीं दिखती। अस्तित्ववादी जर्मन दार्शनिक मार्टिन हेडगर्न ध्यान-सम्प्रदाय सम्बन्धी साहित्य को देखते ही अस्तित्ववादी सिद्धान्तों का समन्वय प्राप्त करता है। मनोविश्लेषणात्मक विद्वान कार्लयुंग एरेकफ्राम और कॉरेनहोर्नी भी ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य में एक प्रकार की ऐसी प्रवृत्ति का आभास पाते हैं जिसे वे विकसित कर रहे हैं। उनके अनुसार "स्वयं को पूर्णरूपेण समझना और अपने मन की सर्वप्रकार की गतिविधियाँ सचेतन स्वरूप में अनुभव करना बहुत आवश्यक है।"[२८]

संक्षेप में विश्व के दार्शनिक जगत में मानव की मूल्यात्मक समस्याओं के बारे में अथवा जीवन मूल्यों की दृष्टि से जो विचार किया गया है, उसमें हम एक ऐसा संकेत पाते हैं कि जीवन बड़ा ही सरल है और दृष्टि स्पष्ट हो तो सुखद भी है। परन्तु दार्शनिक हथकंडों में मनुष्य किस प्रकार उलझ जाता है इसका अनुभव हर उस व्यक्ति को है जो शरीर से थोड़ा सा परे हटकर, द्रष्टा के रूप में स्वयं को देख सकता है। कितने आश्चर्य की बात है कि अलग-अलग दार्शनिक पृष्ठभूमि और सामाजिक अवस्था होने के बाद भी इन सभी दर्शनों में हमें एक अनूठा साम्य दिखता है। यह साम्य एक महत्वपूर्ण बात की ओर इंगित करता है। दूसरे शब्दों में इन साधना पद्धतियों में मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों को सामने रखकर हर प्रकार के आडम्बर से परे विचार और चिन्तनयुक्त जीवन व्यतीत करने को कहा है। इसीलिए जेन दार्शनिक Quality of living की बात करते हैं Standard of living की नहीं। Standard of living का हमें पूर्ण अनुभव है और उसका कोई अन्त नहीं। यह बात भी हमें स्पष्ट रूप से समझ में आ गयी है। Quality of living की ओर अब हमें गहराई से चिन्तन करना चाहिए।

★★★

ध्यान : एक अनुचिन्तन

योग का आकर्षण अनादि काल से साधना में रत लोगों को रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में ध्यान सम्बन्धी कुछ विचार योग की आधारभूत मान्यताओं को सम्मुख रखकर एक आयाम स्पष्ट करने का हेतु है। योग के नाम से कुछ प्रवाह बहुत ही प्रबल रूप से प्रचलित हुए। आसन और ध्यान ये दोनों प्रवाह समान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। आसनों का विकास हठयोग के साहित्य के कारण बहुत ही विस्तृत रूप से हुआ और आधुनिक शरीर-शिक्षाशास्त्र के विकास के साथ-साथ तो आसनों के विशेषज्ञ भी तैयार हो गये। ध्यान का भी आकर्षण स्वभावतः कुछ कम नहीं है। परन्तु प्रक्रिया के रूप में उसका विकास हमें उपलब्ध नहीं है। अष्टांग योग की प्रक्रिया में ध्यान शब्द का क्रम सातवाँ है। ध्यान सम्बन्धी साहित्य बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है। पतंजलि के योगसूत्रों में ध्यान का वर्णन एक सूत्र में ही किया गया है।[२९] हठयोग के साहित्य में आसनों के वर्णन में दो प्रकार के आसनों का वर्गीकरण है। उसमें बैठकर के किये जाने वाले आसनों को ध्यान-आसन के नाम से सम्बोधित किया गया है। योग परम्परा में कुण्डलिनीयोग नाम से एक प्रवाह भी ध्यानयोग के साथ-साथ सम्बन्धित किया जाता है। ध्यान पर विचार करते समय बहुत सारे प्रश्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपस्थित होते हैं। पतंजलि ने धारणा, ध्यान और समाधि तीनों को एक सूत्र में संयम[30] के नाम से सम्बोधित किया है। संयम शब्द से पतंजलि का अभिप्राय धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अभिप्रेत है। भाष्यकारों ने संयम की परिभाषा नहीं की है; परन्तु इतना ही कहकर वे शान्त रह गये हैं कि संयम तान्त्रिकी विषय है। एक बात तो स्पष्ट होती है कि शास्त्रकार और भाष्यकार दोनों ही इस विषय को प्रतिपादित करते समय कुछ अड़चन अनुभव कर रहे हैं। अतएव निर्देश मात्र से ही उन्होंने सन्तोष मान लिया है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि अनुभव के विषय का वर्णन करते समय भाषा या शैली के भेद के कारण कुछ भ्रम होने की सम्भावना से सशंक होकर ही ध्यान सम्बन्धी वर्णन शास्त्रों में नहीं मिलता है।

संक्षेप में ध्यान को समझने के लिए शास्त्रीय दृष्टि से कम से कम धारणा को भी समझना बहुत आवश्यक होगा। अष्टांग योग की प्रक्रिया में धारणा का क्रम छठा है। साधारण बोलचाल की भाषा में भी हम कभी-कभी धारणा-ध्यान या ध्यान-धारणा की बात करते हैं। जिस प्रकार संयम में हम तीन अंगों का वर्णन करते हैं, साधारण भाषा में लोग दो अंगों की भाषा बोलते हैं। समाधि के बारे में बोलते समय लोग कुछ डर और संकोच का अनुभव करते हैं। ध्यान शब्द वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र भी प्रयुक्त है। आधुनिक युग में जापान में जेन (zen) प्रवाह का आधार भी लोग ध्यान से जोड़ने का प्रयास करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के अनुसार ध्यान एक प्रदीर्घ प्रक्रिया है और उन्होंने बहुत ही स्पष्ट रूप के साथ इस प्रक्रिया का विश्लेषण सातवें और आठवें "प्रकाशों" में किया है। इसका बहुत सारा सम्बन्ध मन्त्रशास्त्र के साथ और हठयोग के अनुसार चक्रों की कल्पना के साथ मिलता-जुलता है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, कालांतर में कुण्डलिनीयोग भी स्वयं में यद्यपि एक शास्त्र बना तथापि उसका आधार धारणा और ध्यान ही रहा। योग-मार्ग की ओर आकृष्ट होने वाले व्यक्ति की ध्यान की ओर प्रवृत्ति होना एक स्वाभाविक क्रम माना जायेगा। और इस क्रम का अभिप्राय यह भी होगा कि धारणा, ध्यान आदि के पूर्व अंगों पर साधक का अपनी आवश्यकता और योग्यतानुसार अधिकार अभिप्रेत है। पतंजलि ध्यान की व्याख्या करते समय एक ही प्रत्यय को सदा बने रहने की बात कहते हैं। 'एकतानता' शब्द का व्यक्ति के जीवन के साथ-साथ उसकी वैचारिक परिपक्वता पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा है। 'प्रत्यय' शब्द के आधार पर एक विस्तृत शास्त्र निर्मित हुआ और ध्यान के नाम से भिन्न-भिन्न प्रवाह चल पड़े। यदि ध्यान सम्बन्धी प्रवाह या सम्प्रदाय मान्य न हो तो भी ध्यान के बहुत से आलम्बन प्रचलित हो गये। मन्त्र-पूजा, मूर्ति-पूजा और चक्रों की उपासना इस एक 'प्रत्यय' शब्द के द्वारा विकसित हुई है (विकृत हुई है)। आचार्य हेमचन्द्र ने बड़े विस्तृत रूप से इसका वर्णन किया है। हठयोग में भी इसका बड़ा विस्तृत रूप उपलब्ध है। योग के ग्रन्थों में स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्मध्यान का विवेचन है।[31] योग तैत्तरीयोपनिषद् में बारह धारणा मिलकर एक ध्यान बनता है। उसी प्रकार ध्यान के नौ स्थान भी मान्य किये गये हैं।[32] आधुनिक युग में जो प्राचीन 'विपश्यना साधना' फिर से प्रयोग में आ रही है उसका भी सम्बन्ध अपने श्वास का ध्यान केन्द्रित करना है और इस ध्यान साधना का सम्बन्ध कुछ लोगों ने रोग-निवारण के साथ भी जोड़ दिया है। सूफी लोगों ने भी दरवेश नृत्य के नाम से ध्यान के प्रयोग प्रचलित किये हैं। इस समय पूरे विश्व में चर्चा, टीका और उत्सुकता का विषय 'ट्रान्सेन्डेण्टल मेडिटेशन" है। दिन में दो बार किसी एक निश्चित समय किसी एक निश्चित मन्त्र पर ध्यान करने के लिए लोगों को प्रेरणा दी गयी है। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से जो प्रतिक्रियाएँ लोगों ने व्यक्त की हैं उससे एक बात तो बिलकुल स्पष्ट हो गयी है कि इस प्रक्रिया का शरीर पर कुछ प्रभाव हो रहा है और इस प्रभाव को जानने के लिए संगठनात्मक रूप में प्रयोगशालाओं में परिणामों की जाँच की जा रही है और लोगों का विश्वास है कि ये परिणाम आशादायक और उत्साहवर्धक हैं। भारत में कुछ अन्य लोग भी अपने-अपने रूप में ध्यान का प्रसार कर रहे हैं और इस प्रचार का सबसे बड़ा प्रमाण लोगों का ध्यान की ओर आकृष्ट होना है।

कुछ छोटे-छोटे प्रश्न ध्यान के सम्बन्ध में अनेक बार प्रस्तुत किये जाते हैं और विशिष्ट रूप से उत्तर न मिलने के कारण स्वाभाविक रूप से भ्रम पैदा होते हैं। उदाहरणार्थ, ध्यान करने का पात्र कौन है? कब ध्यान करना चाहिए? स्थान कैसा हो? समय कितना लगाना चाहिए? ध्यान किस पर करना चाहिए (मन्त्र, चक्र, इष्टदेवता, श्वास-प्रश्वास, शून्य, सहज इत्यादि)? ध्यान सीखा जा सकता है क्या? गुरु की आवश्यकता है क्या? गलत ध्यान से अनिष्ट होने की सम्भावना है क्या? ध्यान का किसी विशेष धर्म के साथ सम्बन्ध है क्या? इत्यादि अनेक छोटे-छोटे प्रश्न साधकों के मन में प्रायः उपस्थित रहते हैं और अनुत्तरित भी रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगशास्त्र के अनुसार कषायों से मुक्ति ध्याता के लिए एक आवश्यक योग्यता बतायी गयी है। उसी प्रकार वायु की भाँति निसंग-अवस्था ध्यान के लिए बहुत आवश्यक बतायी गयी है। योगसूत्रों के भाष्यकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता को ध्येय में रखकर ध्यान करने के लिए प्रेरित करते हैं। हठयोग में स्पष्ट रूप से प्राण-निरोध का संकेत किया गया है। दूसरे शब्दों में जब तक पवन-विजय या प्राण-निरोध नहीं होता तब तक चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। हठयोग की प्रक्रिया एक निश्चित दृष्टिकोण को लेकर विकसित की गयी है और यद्यपि हठयोग की सभी मान्यताएँ समाज के सभी स्तर के लोगों को मान्य न हों तो भी कुछ निष्कर्ष मननीय हैं और हमारी यह मान्यता है कि कोई भी मत या लिंग या धर्म इन्हें स्वीकार करने के लिए कोई बाधा उपस्थित नहीं करेगा।

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥२२॥
मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥२३॥
मनःस्थैर्येस्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥२८॥
इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥२९॥[33]

इन श्लोकों में प्राणशक्ति के नियन्त्रण की ओर संकेत है। श्वास की गति का हमारे भावनात्मक और संवेगात्मक जीवन के साथ सम्बन्ध है। प्रसन्न अवस्था, क्रोध, दुःख आदि के समय सबसे पहले परिणाम श्वसन-प्रक्रिया पर दीखता है। आधुनिक युग में जो तनावपूर्ण जीवन का वर्णन किया जाता है उसका विवरण श्वास-गति के साथ है। योग में जिस संयम का वर्णन किया जाता है उसका आरम्भ यम, नियम से होता है और यदि यम, नियम जीवन में आस्था ला सकें तो जीवन की बहुत-सी कठिनाइयाँ आने से पहले ही विलीन हो सकती हैं, और कुछ बची-खुची प्रक्रियाएँ आसन-प्राणायाम आदि के साथ समन्वयात्मक रूप में एक स्थिर जीवन प्रस्थापित करेंगी जिसका लक्ष्य प्रत्यय-एकतानता ही होगा। उसी जीवन में लक्ष्य होगा और वही जीवन सफल होगा और वही सफल जीवन अपनी सफलता के परिणाम-स्वरूप दूसरों के मार्ग प्रशस्त कर सकेगा क्योंकि उसका जीवन एक दृढ़ नैतिक आधार पर खड़ा रहेगा। अतः ध्यान की प्रक्रिया एक जंजीर में गुंथी हुई प्रक्रिया है और उस जंजीर से उसे अलग करना या देखना 'ध्यान' और 'स्वयं' दोनों पर अन्याय होगा। केवल व्यावहारिक सुविधा के लिए ही ये विचार यहाँ व्यक्त किये जा रहे हैं। ध्यान की सच्ची भावना के अनुसार ध्यान का प्रयोग करना चाहिए। चिन्तन, मनन और लेखन उसका एक अंग है और एक मर्यादित अंश तक ही उसका लाभ हो सकेगा। हमारी धारणा यह भी है कि एक निश्चित क्रमगत जीवन के बाद ध्यान करना नहीं पड़ेगा, ध्यान हो जायेगा। भगवान महावीर के जीवन में कुछ उस प्रकार की घटनाओं का वर्णन मिलता है, जहाँ वे किसी एक विशेष अवस्था में सहज स्वरूप में दीखते हैं। उस अवस्था को दिखाने के लिए उन्हें कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। परन्तु इस चरम अवस्था के पीछे उनकी सुदीर्घ साधना थी और यह अवस्था उसका परिणाम थी। इसी प्रकार का वर्णन गौतमबुद्ध और आधुनिक युग तक के इस मार्ग की ओर आकृष्ट अनेक सन्तों के जीवन में उपलब्ध है। हमारा अभिप्राय इस प्रक्रिया की ओर संकेत करना है कि ध्यान एक अवस्था है और वह होती है, लायी नहीं जा सकती। सम्भवतः इसीलिए शास्त्रकारों ने इस विषय में बहुत कम लिखना पसन्द किया। अनुभूतियों को शब्दों में बाँधने के बाद अर्थगत कठिनाइयों से बचने का हेतु स्पष्ट परिलक्षित होता है। साथ ही जिनकी इस विषय की ओर रुचि है, उन्हें प्रयत्न करने की प्रेरणा भी है।

क्या ध्यान को समाज के सर्वसाधारण स्तर तक ला सकते हैं? और क्या यह सर्वसाधारण के लिए सरल और उपयुक्त प्रक्रिया है? उत्तर बहुत सीधा और सरल है। समाज में रहने वाले ऐसे लोग जो गम्भीरता के साथ अपने जीवन के बारे में विचार करते हैं, जीवन का हित-अहित जिन्हें अभिप्रेत है और अधिकार व कर्तव्य, स्वार्थ और परार्थ, नीति-अनीति के विषय में यदि पूर्ण नहीं तो कुछ विचार करते हैं, उन्हें यह मार्ग अवश्य उपयोगी और परिणामकारक सिद्ध होगा। थोड़ी देर के लिए शास्त्रों का आधार न लेते हुए जीवन की गतिविधियों के सम्बन्ध में यदि हम विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर सकें तो हमें ऐसा अनुभव आयेगा कि हर व्यक्ति कुछ न कुछ विचार अवश्य करता है। इस आवश्यक स्वरूप की ध्यान प्रक्रिया अवश्य मार्गदर्शक हो सकती है। मनोविज्ञान के आधुनिक रूप में शरीर की व्याधियों का सम्बन्ध मन के साथ जोड़ा जा रहा है और मन का सम्बन्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ। दूसरे शब्दों में हर व्यक्ति के ऊपर स्वयं एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ खड़ा होता है और इस उत्तरदायित्व से निपटने के लिए स्वयं के जीवन की स्पष्ट कल्पना बहुत आवश्यक है। जीवन की स्पष्ट कल्पना आने के लिए जीवन का चित्र जब तक स्पष्ट रूप से सामने न होगा यश-अपयश की बात असम्भव है, और जीवन का स्पष्ट उद्देश्य जब तक मन शान्त न होगा, संकल्पना शक्ति कुछ काम न करेगी। हम रोज मन-शांति के उपाय लोगों से सुनते हैं। मन-शांति के लिए प्राचीन समय में लोग एकान्त गुफाओं की खोज में भागते थे। आधुनिक युग में अपने घरों को लोग वातानुकूलित और ध्वनि-नियन्त्रित कराने का प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य उपकरण, सुगन्ध, संगीत आदि के रूप में भी प्रचलित हैं और लोगों को उनका आकर्षण भी है। परन्तु ये सभी बाहरी उपकरण एक मर्यादा तक ही उपयोगी हैं। महत्वपूर्ण वातावरण और परिस्थिति साधना करने वाले को स्वयं ढूँढ़ लानी होगी। अतः हमारी यह धारणा है कि ध्यान करने की जगह, समय, मन्त्र, गुरु आदि निश्चित रूप से उपयोगी हैं। परन्तु ध्याता सर्वोपरि महत्वपूर्ण अंग है और ध्यान करने वाले के शरीर और कार्य पर उसका परिणाम अवश्य होना ही चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस मनःशांति की बात या आकांक्षा लोग करते हैं उसकी आकांक्षा ध्यान द्वारा ही तीव्र होगी। ध्यान द्वारा ही हमारे शरीर की संवेदनशीलता बढ़ेगी और संवेदनशीलता के साथ-साथ सहनशीलता भी। ध्यान, किसी भी समय शरीर को किसी भी निश्चल अवस्था में अपनी इच्छानुसार एक मर्यादा तक स्थिर रखना होगा। सम्भवतः परम्पराओं से बँधे हुए लोगों को ध्यान की यह परिभाषा रुचिकर न लगे परन्तु परम्पराएँ और सुविधा समन्वयात्मक रूप में यदि साधक के जीवन में कुछ सुविधाएँ और प्रगति दे सके तो परम्पराएँ थोड़ी देर के लिए स्थगित करने में कोई हर्ज नहीं। कोई एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में दो-तीन घण्टे एकाग्रचित्त होकर यदि कोई प्रयोग कर रहा है और टाँग टूट जाने के कारण बिस्तरे पर पड़ा हुआ कोई रोगी यदि एक-दो घण्टे निश्चल रूप में एक विचार को पकड़कर लेटा रह सकता है और सड़क पर भीड़ में गाड़ी चलाने वाला दुर्घटना किये बिना सफल रूप से वाहन चलाने वाला और उसी प्रकार के अन्य उदाहरणों में जीवन में रस लेने वाला व्यक्ति ध्याता क्यों नहीं हो सकता ? ध्यान करने के लिए या ध्यान की अवस्था लाने के लिए पद्मासन या अन्य आसन यदि किया तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु जिसे पद्मासन करना नहीं आता वह ध्यान नहीं कर सकता, यह अभिप्राय हम नहीं दे सकेंगे। क्योंकि ऐसी सम्भावना है कि पद्मासन करने वाला शायद अपने पैर या कमर की ओर ही अधिक ध्यान देगा और इसलिए यदि शरीर ही सुख-अवस्था में न हुआ तो शरीर के आगे ध्याता कहाँ जायेगा ? हमारा तो अभिप्राय यह भी है कि लेटकर भी ध्यान किया जा सकेगा। लक्ष्य इतना ही रखना होगा कि ध्याता ध्यान में पहुँचना चाहता है अथवा सोना चाहता है। अभिप्राय, ध्यान की यदि कोई अवस्था है तो उसका पूर्णरूपेण आनन्द अनुभूति की शक्ति और सामर्थ्य एकाग्रता के रूप में एकत्रित हो सकनी चाहिए। अतएव हमें यहाँ दो सिद्धान्तों का प्रस्थापित होना दृष्टिगत होता है। सर्वप्रथम अष्टांग योग की प्रक्रिया में ध्यान का जो क्रम है उस क्रम की भावना शारीरिक और मानसिक दृष्टि से परिपक्वता है। इसके अनुसार शरीर को नियन्त्रित करने वाले प्राण का नियमन अभिप्रेत है और साथ ही ध्यान की ओर मन की तैयारी एक स्पष्ट और निश्चित क्रम है। अतएव पहला दृष्टिकोण परम्परागत प्रणाली में ही मान्य होकर स्वीकृत होगा। दूसरा आयाम उस विधि की ओर संकेत है जिसके अनुसार हम ध्याता को उसकी सुविधानुसार ध्यान करने का स्वातन्त्र्य दे रहे हैं। आधुनिक युग की मनोवैज्ञानिक खोज के साथ हम इस निर्णय पर तो अवश्य ही आते हैं कि यदि ध्यान आदि किसी प्रक्रिया का प्रयोग करना है तो शरीर में किसी प्रकार का संवेगात्मक तनाव नहीं होना चाहिए। क्योंकि संवेगात्मक तनाव का सबसे पहला प्रभाव श्वसन प्रक्रिया पर ही होता है। उसी प्रकार कभी-कभी अत्यन्त अद्विग्न अवस्था में भी श्वास की गति कम होती हुई पायी गयी है जिसे (Depression) की अवस्था के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह ध्यान नहीं है, यद्यपि श्वास की गति कम है। अभिप्राय श्वास की गति को हेतुपूर्वक नियन्त्रण में लाना है और हेतुपूर्वक नियन्त्रण में लायी गयी श्वसन प्रक्रिया के परिणामस्वरूप शरीर में प्रस्थापित हुई अवस्था ध्यान कहलायेगी। इस अवस्था में हम शरीर की शक्तियाँ कुछ भी व्यय नहीं कर रहे हैं वरन् जब कभी भी ध्यान की तथाकथित अवस्था समाप्त होगी तब एक अभूतपूर्व उत्साह, आनन्द और ताजगी का अनुभव होगा। यदि थकान का अनुभव होता है तो वह ध्यान नहीं होगा किन्तु उसका चित्र लिया जा सकेगा। लोगों को प्रभावित करने के लिए उसका वर्णन ध्यान के रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में लोग अवश्य कर देंगे। परन्तु इस प्रक्रिया में बहुत सारी शक्ति का अपव्यय हो चुका होगा और कालान्तर में इससे अरुचि होने की सम्भावना बहुत अधिक मात्रा में है। प्रारम्भ में हमने पतंजलि का उल्लेख किया है। आसनों का वर्णन पतंजलि ने "**अनन्त समापत्ति**"[३४] कहा है। इसका अर्थ ऐसी अवस्था के साथ किया गया है जहाँ "प्रयत्न" का काम समाप्त हो गया है। क्रिया हो रही है, की नहीं जा रही है। क्रिया करने में शक्ति का उपयोग करना पड़ता है परन्तु होने में स्वाभाविक रूप से क्रिया होती है। हठयोग में भी एक ऐसी अवस्था का वर्णन है जहाँ पर चित्त विश्रान्ति का वर्णन है। सम्भवतः उनका भी हेतु शरीर की ऐसी अवस्था को प्राप्त करना है जिसमें शरीर के ऊपर किसी प्रकार का तनाव या बोझा न रहे। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ तत्त्वानुशासन में बहुत ही विस्तृत रूप से ध्यान का वर्णन किया गया है। पूरे ग्रन्थ का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार होगा कि ध्याता सभी प्रकार के संयम और विधि-निषेध स्वयं निश्चित करे और उसके प्राप्त फलों को भोगने के लिए सब प्रकार की तैयारी उसकी स्वयं की होनी चाहिए। पूरे ग्रन्थ में विस्तृत रूप से इसका वर्णन किया गया है। एक अन्य प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ ज्ञानार्णव के अनुसार ध्यान और संयम एक-दूसरे के आधार बताये गये हैं। ध्यान का वर्णन बहुत ही विस्तृत रूप में किया गया है। परन्तु महत्वपूर्ण सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि जिसका शरीर पर अनिष्ट परिणाम हो उस वातावरण में नहीं रहना चाहिए। [सर्ग २६ और २७] इसी ग्रन्थ में अन्तिम सर्गों में बहुत ही विस्तार के साथ ध्यान के स्वरूप और फल का वर्णन किया गया है जिसका संक्षिप्त वर्णन उसी ग्रन्थ के आधार पर भिन्न-भिन्न परिणामों के रूप में वहाँ पर वर्णित है। ध्यान सम्बन्धी विस्तृत विश्लेषण का कारण धार्मिक चिन्तन करने वाले साधकों की सुविधा के लिए एक निश्चित मार्ग प्रदर्शित करने का हेतु है। आरम्भ में ही ध्यान के साथ धर्म का भी उल्लेख चित्त को स्थिर करने के लिए विशेष उल्लेखनीय है और ध्यान की ओर प्रवृत्त साधकों को कर्म-विपाक से मुक्ति प्राप्त करने का आश्वासन भी आचार्यों ने दे दिया है।[३५]

इस निबन्ध में भारतीय परम्परा का ध्यान सम्बन्धी एक संक्षिप्त विश्लेषण समन्वयात्मक रूप में करने का प्रयत्न किया गया है। प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्त और आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का उल्लेख करने का हेतु इतना ही है कि विचारशील मनुष्य के लिए ध्यान एक उपयोगी प्रक्रिया है। शास्त्रीय आधार से जरा परे हटकर हम यह कहने का दुस्साहस करते हैं कि जिनकी रुचि या भावना ध्यान में प्रविष्ट होने की होती हो उन्हें परम्पराओं का डर नहीं होना चाहिए। वास्तव में जरा से गहरे चिन्तन से हमें यह लक्षित होगा कि ध्यान-प्रक्रिया को ओर जाते हुए हम किसी मत, सिद्धान्त या धर्म का खण्डन नहीं कर रहे हैं। ध्यान-प्रक्रिया का धर्म, मत या सिद्धान्त के साथ सम्भवतः कोई भी सैद्धान्तिक भेद नहीं होगा। साधना-मार्ग की ओर चलने वाले साधक की यह एक स्वाभाविक अवस्था है। साधनाओं का स्वरूप असाम्प्रदायिक है, उसी प्रकार ध्यान का स्वरूप भी असाम्प्रदायिक है। यदि श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया पर हम ध्यान कर सकते हैं, और उसमें हमें आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है तो इस प्रकार के ध्यान में सभी धर्मों के लोग एकत्र बैठ सकते हैं। उसी प्रकार कुण्डलिनीयोग का उल्लेख किया गया है। भिन्न-भिन्न चक्रों का वर्णन बड़े ही मार्मिक रूप में हठयोग और तांत्रिक साहित्य में उपलब्ध है। अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार ध्यान का केन्द्र चुना जा सकता है और अवधि भी निश्चित की जा सकती है। इन सभी प्रयोगों में भी कोई धार्मिक भावना अड़चन उत्पन्न नहीं करती।

महत्वपूर्ण प्रश्न, शंकाएँ इस रूप में आयेंगी कि क्या हम ध्यान द्वारा स्वयं को सम्मोहित तो नहीं कर रहे हैं अथवा स्वयं को किसी एक विशेष प्रकार की आदत (conditioning) का शिकार तो नहीं बना रहे हैं? वस्तुतः इस प्रकार की शंकाओं का आधुनिक युग में सन्देहमय वातावरण के कारण उठना स्वाभाविक है। परन्तु यदि सचमुच में मानव व्यथित या दुःखी है और उसे स्वयं ही अपने द्वारा एक मार्ग मिलता हुआ दीखता है तो इसमें आपत्ति होने का कोई कारण नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम सम्मोहन आदि का प्रतिपादन कर रहे हैं। न ही किसी विशेष प्रकार की आदत का शिकार हमें मानव को बनाना है। परन्तु उसकी संवेदनशीलता का विकास करना बहुत आवश्यक है और ध्यान की अवस्था में जब शरीर का बहुत सारा कार्यकलाप स्थगित हो जायेगा तो शरीर की संवेदनशीलता स्वाभाविक रूप में बढ़ने लगेगी। आधुनिक युग में भारत में और विदेशों में भी इस सम्बन्ध में बड़े व्यापक रूप पर प्रयोग और अन्वेषण किये जा रहे हैं। ऐसा भी देखने में आया है कि लोगों की रुचि इस ओर बढ़ रही है। अब प्रश्न यह होगा कि ध्यान को एक वैज्ञानिक रूप दिया जाय या सहज अवस्था में ही रहने दिया जाय। यह आने वाला समय बतायेगा।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसन-प्रयोग-विधि : एक चिन्तन

भारतीय संस्कृति में योग-परम्परा का एक विशिष्ट स्थान है। आध्यात्मिक अभ्यास मार्ग में शरीर को एक विशिष्ट अवस्था की आवश्यकता होती है और सम्भवतः इसीलिए प्राचीन काल में अध्यात्म-मार्गी साधकों ने शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करने के कुछ साधन खोज निकाले थे। स्थूल रूप से दिखायी देने वाला शरीर और उस शरीर पर नियन्त्रण करने वाली शक्तियाँ (प्राण, मन, कुण्डलिनी, आत्मा इत्यादि) अपने नियन्त्रण में हों, ऐसी सबकी इच्छा रहती है। इस नियन्त्रण ने ही योग परम्परा में आसन का महत्व प्रस्थापित किया है। ये आसन विभिन्न स्वरूप के हैं। कालान्तर में इनकी संख्या, समय, मर्यादा, अधिकारी आदि के विषय में मतभेद उठ खड़े हुए और इन मतभेदों ने योग में भिन्न-भिन्न परम्पराएँ खड़ी कर दीं। कहीं-कहीं तो यह मतभेद केवल शाब्दिक प्रतीत होता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, यदि मनुष्य स्वभाव की विविधता को मान लिया जाय तो विविध मार्ग स्वीकार करने में हमें कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

आसन करने से शरीर पर दृश्य और कुछ अदृश्य रूप में प्रभाव पड़ते हैं। यह वर्णन भी योग सम्बन्धी पुस्तकों में विस्तार से पाया जाता है। आसनों की संख्या के सम्बन्ध में और आसनों की विधि के विषय में 'योग' के अन्तर्गत सबसे ज्यादा साहित्य उपलब्ध है।

योग-साहित्य में प्रमुख रूप से दो प्रकार की परम्पराओं का साहित्य उपलब्ध है। पतंजलि के 'योगसूत्र' की एक परम्परा है तो दूसरी परम्परा के साहित्य के रूप में, हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता, सिद्ध संहिता, योग याज्ञवल्क्य संहिता, भक्ति सागर और कुछ योग उपनिषद् हमें योग के सम्बन्ध में विस्तृत भूमिका उपलब्ध कराने में सहायक होते हैं। (योग उपनिषदों में मुख्य रूप से शाण्डिल्य उपनिषद्, योग कुण्डलिनी उपनिषद्, दर्शन उपनिषद्, त्रिशिखी ब्राह्मण उपनिषद् इत्यादि का उल्लेख है।) इन सभी ग्रन्थों में (पतञ्जलि के अतिरिक्त) भिन्न-भिन्न आसनों का वर्णन है और आसन करने की विधि और उनसे होने वाले लाभ आदि का विश्लेषण है।

सर्वप्रथम हम पतञ्जलि के मत का विवेचन करेंगे। योग-सूत्रों में अष्टांग योग का विवेचन करते समय आसन की परिभाषा पतञ्जलि ने **'स्थिरसुखमासनम्'** (२-४६) की है। आगे के दो सूत्रों में पतञ्जलि ने आसनों से होने वाले लाभों को बताने का प्रयत्न किया है। आसनों से होने वाले लाभ एक व्यक्तिगत अनुभूति का विषय हैं और जैसा कि हमने ऊपर निर्दिष्ट किया है, ये अनुभूतियाँ स्वाभाविक रूप से व्यक्तिगत ही होंगी। उसके विषय में वैज्ञानिक संशोधन की आवश्यकता है। मुख्य विषय स्थिरसुख कहा है और स्थिरसुख की परिभाषा करना बड़ा कठिन है। पर स्थिरसुख का अनुभव लेने में कोई अड़चन नहीं है। पतञ्जलि के ऊपर भाष्य लिखने वाले व्यास, वाचस्पति और भोज इस विषय पर मौन हैं। **सम्भवतः स्थिरसुख की व्याख्या करना ये अनावश्यक समझते रहे होंगे अथवा स्थिरसुख की कल्पना लोगों के सामने रखने में उन्हें कुछ कठिनाई रही होगी।** विज्ञान भिक्षुओं ने 'निश्चल' और 'सुखकर' शब्दों का उपयोग किया है परन्तु इन शब्दों से भी विषय कुछ स्पष्ट नहीं होता। अन्य सभी भाष्यकारों ने आसनों की संख्या गिनाकर ही सन्तोष प्राप्त कर लिया है। पतञ्जलि की परम्परा को सामने रखते हुए अष्टांग योग को एक महत्वपूर्ण स्थान देने के पश्चात् आसन सम्बन्धी इतने कम सूत्र उपलब्ध हैं कि उन सूत्रों के मनमाने अर्थ लगाने की सुविधा या मतभेद उत्पन्न करने की परिस्थिति, इच्छा न होते हुए भी निर्माण हो जाती है। सम्भवतः पतञ्जलि की भूमिका को देखते हुए और मन का स्वभाव, शरीर की अवस्था और परिस्थिति के अनुसार, हम जो चाहे अर्थ लगालें; इस तरह की बहुत बड़ी सुविधा हमें इन छोटे सूत्रों में उपलब्ध है। स्थिरसुख प्राप्त करने के लिए मार्ग का निर्देशन करते हुए, उससे प्राप्त होने वाले फल का निर्देश एक सूक्ष्म तथा गहन मनोवैज्ञानिक सुविधा है। इसमें पतञ्जलि के द्वारा चित्रित मानव स्वभाव की विविधता की मान्यता हमें दिखायी देती है।

आसनों की दृष्टि से, यदि हम पतञ्जलि के योगसूत्रों को अधिक सुविधाजनक न समझें तो हमें हठयोग के ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है। इन ग्रन्थों (हठयोग प्रदीपिका आदि) में विस्तृत व सुस्पष्ट मार्ग-दर्शन उपलब्ध है। हठयोग प्रदीपिका के पहले अध्याय के १७वें श्लोक में आसनों का वर्णन भी है और उनसे होने वाले लाभों का संकेत भी किया गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यम् चांगलाघवम् ॥"

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार यम-नियम का भी उल्लेख है, तथापि आसन को ही उन्होंने प्रथम अंग माना है। आसन करने से स्थैर्य प्राप्त होता है। शरीर सुन्दर और निरोगी हो जाता है। हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार ब्रह्मानन्द कहते हैं कि "आसन करने से शरीर को स्थिरता प्राप्त होती है और मन की चंचलता के ऊपर भी नियन्त्रण आ जाता है।" "**आसनेन रजोहंति**" यहाँ पर थोड़ा सा रजोगुण और तमोगुण का सन्दर्भ भी प्राप्त है। ब्रह्मानन्द ने पतञ्जलि का एक सूत्र भी निर्दिष्ट किया है।[३६] आसनों का वर्णन करते समय विभिन्न प्रकार के आसन बताये गये हैं और उनसे होने वाले लाभ और करने की विधियाँ विस्तारपूर्वक हठयोग के इन ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं।

आसनों का वर्णन करते समय हठयोग प्रदीपिका में प्रथम अध्याय के बत्तीसवें श्लोक में[३७] कहा है कि शव आसन करने से थकान नष्ट होती है और चित्त को विश्रान्ति मिलती है। प्राचीन भाषा-शैली को ध्यान में रखते हुए हमें ऐसा अनुभव होता है कि शरीर की विश्रांति समझ सकना बहुत आसान है परन्तु चित्त विश्रांति एक समस्या है। चित्त-विश्रांति की चर्चा करने से पहले चित्त के सम्बन्ध में जब तक परिभाषा निश्चित न हो तब तक व्याख्या देना कहाँ तक उचित होगा, इस प्रश्न का निर्णय करना भी आवश्यक है। पतञ्जलि का योगशास्त्र चित्त, मन, बुद्धि आदि शब्दों का उपयोग करता है, परन्तु हठयोग में इन शब्दों का उपयोग विचारपूर्वक नहीं किया गया है, ऐसी शंका स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत होती है। आसन करने से विष भी पच जाता है, शरीर में सब प्रकार की व्याधियाँ अपने आप नष्ट हो जाती हैं।[३८] आधुनिक वैज्ञानिक शोधों द्वारा कुछ लोगों ने एक नये वैचारिक आयाम को प्रस्तुत किया है। जिसके अनुसार 'यौगिक-चिकित्सा' नाम की नयी पद्धति समाज के सामने लाने का प्रयत्न किया जा रहा है।[३९]

स्थूल रूप से यदि देखा जाय तो अष्टांग योग में या हठयोग के कुछ ग्रन्थों के अनुसार षडांग योग में आसनों को सबसे अधिक महत्व इसलिए प्राप्त हो गया है कि हम आसन करते हैं या आसन किये जा सकते हैं, ऐसी प्रक्रिया हमें दिखती है।[४०] इसी आसन करने की प्रक्रिया ने आसन करने वाले को योगी, योगाभ्यासी, योगाचार्य आदि बना दिया है और जहाँ आसन सिखाये जाते हैं वे योगाश्रम बन गये हैं।[४१] इन आचार्यों ने अपनी-अपनी नयी परम्पराएँ प्रस्थापित करना आरम्भ कर दिया है। इस नये मोड़ ने, योग के नाम पर, एक व्यापारिक-वृत्ति की झलक दिखाना आरम्भ किया है। शोधकर्ताओं और जिज्ञासुओं को सावधानी की आवश्यकता है।[४२] इससे इस बात का भी निर्देश होता है कि हमें योग परम्परा तो मान्य है, पर इस परम्परा से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य पर स्वतः चिन्तन-मनन करने की प्रवृत्ति नहीं है, या पात्रता नहीं है। यदि परम्परा टिकाये रखनी है तो परम्परा का सही रूप भी सामने रखना होगा, यही युग का आह्वान है।[४३]

हठयोग प्रदीपिका में सिद्धासन को सबसे अधिक महत्व दिया गया है।[४४] इन श्लोकों में यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि सिद्धासन द्वारा ही सब प्रकार के मल-शोधन और अभ्यास प्राप्त होते हैं। एक स्थान पर तो यहाँ तक कहा है कि सिद्धासन के समान कोई दूसरा आसन ही नहीं है।[४५] यह इस बात की ओर संकेत करता है कि आसनों की संख्या के बारे में ग्रन्थकार विचारशील थे। कुछ लोगों ने आसनों के दो प्रकार ही बताये हैं। इनके अनुसार चार बैठकर और शेष खड़े होकर, पेट के बल एवं पीठ के बल किये जाते हैं। एक आसन सिर के बल खड़े होकर भी किया जाता है। यद्यपि ऐसा आभास होता है कि प्राचीन ग्रन्थों में आसनों का वर्गीकरण किया गया था और कुछ लोगों ने वर्गीकरण के आधार पर साहित्य लिखा हो, तथापि यह वर्गीकरण कृत्रिम ज्ञात होता है। क्योंकि योग-कुण्डली उपनिषद्[४६] में दो आसनों के ही दो प्रकार बताये गये हैं। उपनिषद्कार ने पद्मासन और वज्रासन इन दो आसनों के द्वारा ही योग-साधना की पूर्णता मानी है जबकि 'शिव संहिता' में[४७] कहा है कि कुल चौरासी आसन हैं। उनमें सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन मुख्य हैं। इन आसनों का वर्णन[४८] करते समय ऐसा कहा गया है कि इन आसनों के करने से सर्व पापों से मुक्ति होती है, सब रोगों से मुक्ति प्राप्त होती है, सर्व प्रकार की शुद्धि और दुखों से मुक्ति होती है। आसनों की इसी प्रकार की सिद्धि हठयोग प्रदीपिका में भी कही गयी है। इससे हमें एक बात का संकेत मिलता है कि सम्भवतः प्राचीन आचार्य, अपनी शैली के अनुसार, अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने में समर्थ रहे हों; परन्तु आधुनिक युग में इन आसनों का महत्व समझाने में हमें कुछ अड़चनें आती हैं। आसनों का वर्णन करते हुए, एक स्थान पर यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी है कि वेश-भूषा धारण करने से या चर्चा और शास्त्रार्थ से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग की सिद्धि नहीं होगी जब तक कि क्रियारूप प्रत्यक्ष अंगीकार न किया जाय। संकेत इस बात का है कि प्राचीन काल से ही योग परम्परा में 'स्व' अनुभूति की ओर विशेष लक्ष्य केन्द्रित कराया गया था। इसी उत्साह में एक उपनिषद्कार ने तो यहाँ तक कह दिया कि "जिसने आसन विजय कर ली उसने तीनों लोकों को जीत लिया।"[४९]

अष्टांग योग में आसन को सबसे अधिक महत्व प्राप्त होने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि हेतु-अहेतु सहज रूप से लोग आसन करने लगते हैं। कई बार तो ऐसा भी अनुभव में आया है कि आसनों के सम्बन्ध में जो विधि-निषेध दिये गये हैं, उनका ज्ञान न होते हुए भी लोग भावनावश आसन किया करते हैं और उसका कुछ न कुछ परिणाम, यद्यपि शरीर के लिए उपयोगी ही होता है, तथापि कभी-कभी कुछ अनिष्ट की सम्भावना रहती है। योग ग्रन्थों में कुछ संदिग्ध चर्चा इस सम्बन्ध में उपलब्ध है। हठयोग-प्रदीपिका में[५०] नाड़ी शुद्धि का उल्लेख है। अन्यत्र ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।[५१] स्वामी कुवलयानन्द लिखित ग्रन्थ में आसनों के दो लाभ बताये हैं।[५२] पहला, शरीर को पूर्णतया शक्ति प्रदान करना और दूसरा, मेरुदण्ड को सक्रिय करके बुद्धि और कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करना। जहाँ तक पहले विषय का सम्बन्ध है स्थूल शरीर पर होने वाले प्रभावों को आजकल मनोविज्ञान की प्रयोगशालाओं में लोगों ने सिद्ध करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है। परन्तु कुण्डलिनी शक्ति और बुद्धि पर होने वाले प्रभाव किस तरह कार्य करते हैं और क्यों करते हैं यह एक रहस्य है। शरीर-शास्त्र को जितना अधिक हम समझेंगे उतना ही प्रस्तुत रहस्य का सुलझता हुआ स्वरूप हमारे समक्ष आने की सम्भावना है। आधुनिक शरीर-विज्ञान की प्रगति और वैज्ञानिक संशोधन और प्राचीन ग्रन्थों में शरीर सम्बन्धी किये गये वर्णन और शरीर पर होने वाले प्रभाव इस बात का संकेत करते हैं कि प्राचीन आचार्य शरीर विज्ञान के कुछ आयामों से अवश्य ही परिचित थे। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम एक समन्वयात्मक दृष्टि से चिंतन भी करें और वैज्ञानिक अनुसन्धान भी। ये आसन जैसे दिखते हैं, उससे कहीं अधिक विशिष्टता लिये हुए हैं और योग साहित्य में उनका वर्णन कुछ ऐसी भाषा में किया गया है, जो आधुनिक समय में या तो रहस्य माना जाय या वैचारिक क्लिष्टता। असंदिग्ध स्वरूप से उसका वर्णन करना बहुत आवश्यक है।

जैसा कि हमने ऊपर की पंक्तियों में लिखा है कि आसनों को कुछ व्यक्तियों ने व्यायाम का ही एक प्रकार मान लिया है और विशाल साहित्य भी इस दृष्टि से सर्जन किया है। शारीरिक शिक्षा के सम्बन्ध में हम अधिक विस्तार में न जाकर इतना ही निवेदन करना चाहेंगे कि "यद्यपि आसन करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर पर कुछ प्रयोग हो रहे हैं, तो भी वस्तुस्थिति यह है कि स्थूल शरीर के साथ लगी हुई ग्रन्थियों और उन ग्रन्थियों के शरीर पर होने वाले परिणाम, उनका मस्तिष्क पर चित्त या मन पर भी होने वाला प्रभाव अभिप्रेत है। इसलिए अष्टांग योग क्रम में आसनों को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उसका एक निश्चित उद्देश्य सामने रखा गया है। यह बात जब शारीरिक शिक्षा के साथ आसन मिला दिये जायेंगे तो आ पायेगी या नहीं ऐसा कह सकना कठिन है। इससे किस प्रकार के लाभ लोगों को मिल सकेंगे, यह भी एक विवाद का विषय है।"

योग साहित्य में प्राणायाम करने से पहले आसन दृढ़ होना चाहिए ऐसा निर्देश है।[५३] अतः आसन कितने समय तक करना? कितने आसन करने? और किस हेतु से आसन करने? यह विषय अपने आप स्पष्ट हो जाता है। हठयोग-प्रदीपिका में[५४] ऐसा उल्लेख है कि युवा, वृद्ध और दुर्बल कोई भी योगाभ्यास कर सकता है। वहाँ इस बात का निर्देश भी है कि अभ्यास करने की जिज्ञासा होना आवश्यक है और शरीर की आवश्यकतानुसार जैसे हम आहार करते हैं, उसी प्रकार शरीर की आवश्यकतानुसार आसनों का अभ्यास करना भी अभिप्रेत होगा। इसलिए योगशास्त्र में गुरु के महत्व को स्पष्ट किया है और गुरु के ही मार्ग-दर्शन में अभ्यास करने का संकेत किया है।[५५] उदाहरण के लिए, कोई साधक पहले दिन ही पद्मासन में पन्द्रह-बीस मिनट सुविधापूर्वक बैठ सकेगा और दूसरा सम्भवतः पन्द्रह-बीस दिन बाद भी इस आसन में न बैठ सके। इसलिए आसन-जय की कल्पना का अर्थ हम पतञ्जलि के स्थिरसुख शब्द से अच्छी तरह समझ सकते हैं। इन दो शब्दों ने योग की सर्व प्रकार की व्यापकता को मान्य कर लिया है और उसके साथ-साथ साधक को पूर्ण स्वतन्त्रता भी दे दी है। शरीर-शास्त्र के शोधकर्ताओं के लिए योगशास्त्र का यह एक आह्वान है, "शरीर की अवस्था सुखकर है या नहीं इसका अनुसन्धान कुछ व्यक्तियों ने करना आरम्भ किया है। परन्तु योग सम्बन्धी साहित्य को सामने रखकर इस दृष्टि से व्यक्ति-निरपेक्ष निरीक्षण की आवश्यकता है।"

आसन करते समय योगाचार्यों ने आहार सम्बन्धी जो संकेत दिये हैं[५६] उनसे केवल इस बात का संकेत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलता है कि आहार का शरीर पर विपरीत परिणाम न हो, ऐसी दक्षता रखनी चाहिए। आधुनिक युग में भी अल्पाहार, फलाहार, दुग्धाहार, आदि की चर्चा हमें प्राप्त होती है। शारीरिक श्रम करने वाले का आहार और बौद्धिक कार्य करने वालों का आहार पृथक्-पृथक् बताया गया है। स्वाभाविक है कि योगाभ्यास करने वाले का आहार भी एक विशिष्ट प्रकार का ही होना चाहिए। सम्भवतः तात्पर्य यह रहा होगा कि योगाभ्यास की प्रक्रिया में जब शरीर में अन्दर ही अन्दर कुछ प्रयोग हो रहे हैं तो आहार की दृष्टि से संयत आहार होना बहुत आवश्यक है जिससे खाये हुए पदार्थों को पचाने में शरीर को विशेष श्रम न करना पड़े। साथ ही शरीर को अधिक से अधिक कार्यक्षम भी बनाया जा सके। शास्त्रकारों के शब्दों में जो 'संदिग्धता' दिखती है उसका हेतु यदि हम समझने का प्रयत्न करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा। यहाँ पर भी ऊपर निर्दिष्ट आसन-जय की कल्पना या स्थिरसुख की कल्पना दुहराई गयी ज्ञात होती है। आहार से किसी प्रकार की उत्तेजना न हो इतना ही संकेत दिया है और इस संकेत से इस बात का बोध होता है कि योगमार्ग में साधकों को वैचारिक स्वतन्त्रता अभिप्रेत है। अपने शरीर की आवश्यकता समझना और उसके अनुसार आहार ग्रहण करना ही अभिप्रेत है।

आहार के साथ ही साथ थोड़ा-सा वर्णन दैनिक दिनचर्या सम्बन्धी भी इंगित है। इसमें इस बात का संकेत मिलता है कि शरीर को ज्यादा क्लेश नहीं देना चाहिए और योगाभ्यास करने का स्थान एकान्त में होना चाहिए। कुछ लोग यह शंका उठा सकते हैं कि आधुनिक व्यस्त जीवन में निर्दिष्ट मर्यादाओं का पालन करना असम्भव है। किन्तु साधारण सी बात है कि किसी भी कार्य के लिए कुछ न कुछ पथ्यों का पालन करना ही पड़ता है। इन्हीं पथ्यों में यदि हम योगों की मर्यादाओं को मान्य कर लें, तो कोई आपत्ति न होगी। सभी संकेत जीवन की मर्यादाओं को सामने रखकर दिये गये थे। यदि छात्रावास में रहने वाला विद्यार्थी अपने कमरे में एकान्त व शान्त वातावरण बना सकता है और शरीर पर थोड़ा संयम रख सकता है तो योगाभ्यास करने वाला साधक एकान्त क्यों नहीं बना सकता ?

योगशास्त्रों के अनुसार साधकों को एकान्त में तो रहना ही चाहिए परन्तु अपनी साधना की चर्चा भी इधर-उधर नहीं करनी चाहिए।[13] विशेषतः आसन-प्राणायाम करते समय मन में हीन भावना आने की सम्भावना है या अहंकार को आश्रय मिलने की भी। यदि साधक को कोई आसन करना न आ रहा हो तो सहयोगी उसे निराश कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि कोई भलीभाँति अच्छी तरह आसन कर पा रहा हो, तो उसे लोग योगी कहना आरम्भ कर देते हैं। दोनों अवस्थायें साधकों के लिए अहितकर हैं। यहाँ एक बात और स्पष्ट दिखायी देती है कि आजकल भारत और विदेशों में भी; सामूहिक आसनों के प्रशिक्षण वर्ग चलाये जा रहे हैं और वहाँ पर आसन तथा प्राणायाम शारीरिक शिक्षा के स्तर पर ही सामूहिक रूप से किये जाते हैं। आधुनिक युग की समस्याओं को देखते हुए, कुछ लोगों का एकत्र बैठकर आसन करना हानिकारक नहीं। परन्तु एक-दूसरे के साथ तुलना करना या सभी आसन करने वालों में एकरूपता लाने का प्रयास करना, आसनों की मुख्य भूमिका के साथ अन्याय है। वास्तव में सभी साधनायें व्यक्तिगत साधनायें होती हैं और उन व्यक्तिगत साधनाओं में थोड़ा सा साम्य देखने के बाद, वहीं तक ही सीमित रह जाना चाहिए। जब बहुत सारे लोग एक साथ मिलकर साधनारत होंगे या शारीरिक विकास की दृष्टि से भी प्रयत्नशील होंगे तो एक-दूसरे से प्रेरणा लेने तक ही सीमित रखना महत्वपूर्ण होगा।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के चतुर्थ प्रकाश में बहुत सारे आसनों का वर्णन करने के पश्चात् ऐसा कहा है कि साधक जिस अवस्था में मन को स्थिर पा सकें उसी को अपना लें।[14] यहाँ यह बात स्पष्ट होती है कि आसनों का अभ्यास करते समय शरीर पर किसी भी प्रकार का विपरीत प्रभाव न पड़े और मन सदा प्रसन्न रहे। इसका अभिप्राय यही है कि अभ्यास करते समय शरीर के ऊपर किसी भी प्रकार का अन्याय न हो। इस ओर विचारपूर्वक ध्यान देना होगा। पतञ्जलि का वर्णन करते समय स्थिर-सुख के विस्तार में जो अड़चनें आयीं सम्भवतः उसी प्रकार की कुछ अवस्था आचार्य हेमचन्द्र की भी रही हो। ये अड़चनें सम्भवतः उन आचार्यों को न रही होंगी। परन्तु कालान्तर में परम्परा का लोप हो जाने के बाद, ये शाब्दिक अड़चनें हमें कुछ समय के लिए आभास मात्र दिखाई देती हैं। परन्तु यदि शरीर शुद्ध और संवेदनशील हो तो इस अड़चन का आभास भी अपने आप क्षीण हो जाता है। दूसरे शब्दों में सूत्र और श्लोकों की भाषा एक निश्चित परम्परा की ओर संकेत देती है और उस संकेत का अर्थ भी व्यक्तिगत अनुभव ही होगा।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१ युक्ताहार विहारस्य योगो भवति दुःखहा ।
२ शिव संहिता ५-१८-३१ ।
३ प० यो० सू० ३-२२ ।
४ Spiritual Community Guide (for North America only)
५ हठयोग-प्रदीपिका १-५६ और ५७ ।
६ घेरण्ड संहिता १-१० ।
७ अमृतनाद उपनिषद् ६ ।
८ मंडल ब्राह्मण उपनिषद् १-३-४ ।
९ योगतत्त्व उपनिषद् १९ ।
१० शांडिल्य उपनिषद्—अष्टम खण्ड ।
११ योगतत्त्व उपनिषद् १२९-३० ।
१२ योगशिक्षा उपनिषद् १३०-३१ ।
१३ मनुस्मृति २-५-८६ ।
१४ दर्शन उपनिषद् २-१२ से १६ तक ; शांडिल्य उपनिषद् २-१० ।
१५ योगशिक्षा उपनिषद् १३४-३५ ।
१६ हठयोग प्रदीपिका ४-२९ ।
१७ नादबिन्दु उपनिषद् ३१ से ४१ तक ।
१८ महात्मा गान्धी, मैस्लो, सुरोकिन ।
१९ विशिष्ट ब्राह्मण उपनिषद् २३ से २७ तक ।
२० शक्तिपात, स्वामी विष्णुतीर्थ; देवात्मशक्ति, Mysterious Kundalini.
२१ पतञ्जलि योगसूत्र १—२, ३—४, १२, ३३, २—३, १५, २८, ४६, ४७, ४—२९, ३०, ३४ ।
२२ पतञ्जलि योगसूत्र १—३९ ।
२३ हठयोग प्रदीपिका १—६६ ।
२४ विवेकमार्तण्ड ।
२५ योगशास्त्र—षष्ठ प्रकाश ४, ५ ।
२६ (i) *The Way of Zen*—A. Watts.
(ii) *Zen Buddhism*—C. Humphreys.
(iii) *The World of Zen*—N. W. Ross.
(iv) *Chan and Zen Teaching* (First and Second Series)—C. Luk.
(v) *A Buddhist Bible*—D. Goddard.
(vi) *Zen Flesh & Zen Bones*—P. Reps.
(vii) *Zen Buddhism & Psycho-analysis*—E. Fromm, D. T. Suzuki & R. Martino.
(viii) *Studies in Zen*—D. T. Suzuki.
(ix) *Essays in Zen Buddhism*—D. T. Suzuki.
(x) **ध्यान सम्प्रदाय**—डॉ. भरतसिंह उपाध्याय ।
२७ *The World of Zen*—N. W. Ross, p. 33.
२८ *The World of Zen*—N. W. Ross, p. 5, 197, 332.
२९ "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।"—प. यो. सू. ३-२ ।
३० "त्रयमेकत्र संयमः ।"—प. यो. सू. ३-४ ।
३१ घेरण्ड संहिता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२ गुदं मेढ्रं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः।
घण्टिका लम्बिकास्थान भ्रूमध्यं च नभोबिलम्।
कथितानि नवंतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः॥—अ. यो. सि. ७-१३।

३३ हठयोग प्रदीपिका ४।

३४ पतंजलि योग सूत्र २-४७।

३५ ज्ञानार्णव ४१-४।

३६ पतञ्जलि योगसूत्र १-३०।

३७ हठयोग प्रदीपिका १-३२।

३८ घेरण्ड संहिता २-१९।

३९ (क) योगिक थेरेपि, कैवल्यधाम, लोनेवाला, १९७१।
(ख) योगिक थेरेपि—स्वामी शिवानन्द सरस्वती, उमांचल योग आश्रम, कामाख्या (असम)।

४० साइन्स स्टुडे युग १९७५ लेखक डॉ. चिन्ना और डॉ. बलदेव सिंह।

४१ कम्बेलकर और घरोटे लिखित योग-मीमांसा १९६९।

४२ इण्डियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च १९६१, लेखक डॉ. आनन्द, डॉ. चिन्ना।

४३ योगा टुडे, योगा इन मेडिसिन, प्रकाशक : मेकमिलन एण्ड कम्पनी १९७१ संकलन: डॉ. जयदेव योगीन्द्र।

४४ हठयोग प्रदीपिका १-३८, ३९।

४५ हठयोग प्रदीपिका १-४३।

४६ योगकुण्डली उपनिषद् १०४।

४७ शिव संहिता ३-९८।

४८ शिव संहिता ९९-११७।

४९ त्रिशिखी ब्राह्मण उपनिषद् १-५२।

५० हठयोग प्रदीपिका १-५६।

५१ घेरण्ड संहिता ५-३६, हठयोग प्रदीपिका २-७७ और श्वेताश्वेतर उपनिषद् २-१२, १३।

५२ आसन : स्वामी कुवलयानन्द, १३१।

५३ हठयोग प्रदीपिका २-१; योगसूत्र २-४७।

५४ हठयोग प्रदीपिका १-६४।

५५ हठयोग प्रदीपिका १-१४।

५६ हठयोग प्रदीपिका १-६२, ६३; घेरण्ड संहिता ५—१६ से ३२।

५७ हठयोग प्रदीपिका १-११।

५८ योगशास्त्र ४-१३४ और ज्ञानार्णव २८-११।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



YOGA AND THE SOCIETY

□ Dr. R. V. Ranade, M. D.
Yoga Vidyadham
Narain Peth, Pune (Poona)

Problems and problems ! The world, to-day, is facing several problems—economic, social and political, and also those of the basic needs, such as food, shelter and health. If we try to find out a solution for these problems, it is not one but many, and this leads increasing confusion. The need of the day is a single but perfect solution. Yoga, as a science of psychology and sociology, appears to be the best answer to all these questions. It is not a new science or philosophy to the Indians, but unfortunately, we have forgotten its importance in the near past. The situation now is encouraging, in the sense, that the whole world is looking to it as a tool that can solve many a problems of the modern society.

The Sociological Thought

The society is a group of individuals living together. They are mutually bonded by common culture, language and thought. They observe certain moral rules, so that there is least interference with the independent existence of every individual. Only such community can be happy and prosperous.

The great French philosopher Auguste Comte thought that the psychological and intellectual development of an individual was directly related to the scientific progress of the society. According to him, the social system is regulated by the laws of nature. The individuals must have unity of thought, ideals and faith, which he calls '*Consensus Universalis*'. He considers the family-unit as the basic school where an individual is taught to maintain social integrity. It is important to note his view that the temporal power in an industrial society must be controlled by the spiritual powers of the philosophers and the scientists. This statement of a modern Western thinker has a great similarity to the principle held by the learned people of ancient India, which emphasises, that the powers of the ruling and the rich must be governed by the penniless philosophers and homeless sages.

Herbert Spencer, an Englishman, was a master of Biology and Sociology. He believed that the progress of the society depended upon certain evolutionary processes. According to him, 'Individualism' has a central importance in the formation of a society. A society is formed mainly to guard the benefits of the individual. Naturally, this organization is perpetuated to maintain the progress of the individual. Emile Durkheim, coming from a religious French family, said, "A society has to remain as a unit. This unity depends upon the homogeneity of thought and behaviour." He further maintained, "the individual is born of a society and not society of individuals." This shows the important role of the society in building up the personality of an individual.

Max Weber, son of a German politician, has been recognised as the greatest of the sociologists. He related the psychology and the religious thoughts of a person to the progress of the society. Wilfredo Pareto, an Italian philosopher, clearly analysed the social system in terms of inter-relations and mutual dependence among the constituent individuals. He laid much stress on the mind of the individual in connection with the society. Fardinand Tonies

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

pointed out that the customs and habits of the individuals always maintained the bonds of affinity and retained the unity of the family. Families of common interests grows into a group, and such groups come together to form a society. The relation among the individuals are useful and durable only in the context of the individual emotions, purpose, values and ideals. These elements together frame the "culture" of the society. Charles H. Cooley, an American justice of law, looked at the society through the glasses of psychology. He argued that the "self of an individual was the most important and it always reflected the ideas of other individuals in the society around." He says, "society is an interweaving and inter-working of the mental selves."

This review of the sociological and psychological thoughts of various experts from the West, belonging to the 19th century, clearly shows, that Yoga is not only a complete science, as viewed from these angles, but also, a deeper and simpler approach to all the problems of the individual, both as a person and as a part and parcel of the society.

The Society To-day

Let us now examine the social structure of to-day and yesterday. The social framework in India has been based on certain religious and cultural values since the Vedic times. The religious customs and the duties of an individual are well defined. The changing role of a person through the different periods or Ashramas in life are specifically laid down. The general flow of social progress, unity and harmony has been steady through the ages, except for a few temporary and superficial variations caused by some inner or outer forces. Such periods have been short, if we consider the long history of our country. Let us study these arbitrary periods as outlined below :

(1) **The Ancient Vedic Period.** When the rules of the individual and social discipline, as prescribed by the Upaniṣadas, were followed to advantage.

(2) **The Period of Fall in Vedic Faith.** When certain religious principles were stretched too far, and rigidly applied. Due to this, the harmony and equality in the society suffered badly. Buddhism and other sects came up as a timely help to rebuild the faith of the people in good morals and the cultural heritage.

(3) **The period of Patanjali.** Patanjali further strengthened this faith, chiefly through his presentation of the Vedic principles in a simple, definite and practical manner, easy for the common man to follow.

(4) **The Historical Period.** In this period India was repeatedly attacked by the people of different cultures and traditions. During this period, the social structure did show a few outward changes, but gradually, the newer views were imbibed and became one with our original culture.

(5) **The Modern Period.** This may be conveniently divided into four phases:

(a) The early period of the 'orthodox', who strictly followed the old religious and cultural discipline.

(b) The period when the British rule was stabilized. The so-called 'reformists' took fancy in forgetting our cultural ties and tried to imitate the Western manners. This was probably done for gaining a false social and political status.

(c) The period of the 'ultra-modern' is the story of the recent past. The wave of 'Individual Freedom' that rocked the world and shattered the faith in good morals also touched our society. The religions, culture and social discipline were thought to be barriers to the individual's progress. This was a short but chaotic period.

(d) The period of realisation, is, how we can describe the situation to-day. Now the pendulum is swinging to the other end. There is re-awakening in all the corners of the world. Once more there is an interest in reaching the path of good morals and a desire to obtain the eternal satisfaction in life. The society is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

aware of the disastrous detachment and the harmful heterogeneity. A generalized unrest existed inspite of the major scientific progress which brings the so-called worldly happiness. People have started feeling that *Yoga* is the real answer to the problems of our 'inner' and 'outer' life. This re-kindling of the faith is certainly a good sign and it shows that the unfortunate deviation from the path of moral was only temporary, and that, now, everybody is eager to follow the principles of our original culture.

Yoga : As a Science

We are living in a world where people have a great faith in science and scientific methods. Yoga can be more easily appreciated if looked at from this angle. Yoga is a 'complete' science. It is based upon the eternal laws of higher life, and does not require the support of any othe science or philosophical system. The great theosophist Annie Besant calls it a science of psychology. This can be better realised when we study Patanjali's *Yogasūtras*. Samādhi or spiritual absorption means the union of human soul with the divine soul in consciousness. This, together with the mental processes and the discipline through which it is attained, is called Yoga. It is further explained in one of the initial *sūtras* as "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" which means that Yoga is the restraint of mental operations. Here, the worth *Citta* corresponds, to some extent, to the word 'mind' of the modern psychology, but really has a more comprehensive meaning. While 'mind' is confined to the expression of only thought, volition and feeling, '*Citta*' may be considered as a universal medium through which consciousness functions on all the planes of the manifested universe. Thus, Yoga is a science of psychology in much wider and deeper perspective. It follows the laws of psychology, applicable to the unfolding of the whole consciousness of man on every plane. Yoga, with its various laws and dictums, is the most practical and scientific way to help the present society to solve its problems.

Yoga : As Applied to the Society

The peace and prosperity of a society depends upon its happy and disciplined individuals. The *Aṣṭāṅgayoga* or the Eight-faceted-Yoga can certainly achieve this goal. *Yama, Niyama, Āsana, Prāṇāyama, Pratyāhāra, Dhāraṇā, Dhyāna* and *Samādhi*, are the eight facets of Yoga. These are the stages through which one can achieve eternal peace. These stages have a certain sequential relationship. The first five practices are referred to as *Bahiraṅga* or external. These are of a preparatory nature. The next three are considered as *Antaraṅga* or internal. It is through these practices, which culminate in *Samādhi*, that all the mysteries of Yogic life are unravelled. In the modern society, it is more useful to lay stress on the first five or the external principles. Out of them, *Yama* and *Niyama* are the most important laws or rules of morality which are necessary for social harmony through personal discipline. Most of the problems of to-day's life will be solved if these rules are sincerely followed. Let us therefore concentrate here on the discussion of these two facets.

Yama means self-restraints or vows of abstention. The practices included under this heading, are, in general, moral and prohibitive. They aim at laying ethical foundation of life. Every now and then, a person is required to react to the incidents and events in his life, and this depends upon his circumstances. Thus, they are valuable for a person in relation to the society around. They are, therefore, considered as rules of social discipline.

The first moral quality under Yama is *Ahiṁsā*. It means non-violence or harmlessness. It denotes an attitude or mode of behaviour towards all living creatures based on recognition of the underlying unity. To-day, personal and social unrest, and the violence arising through them is rampant. We have, as if, lost our faculty of tolerance and co-existence. If we merely consider food-habits in our society, preference to non-vegetarian diet is looked upon as a sign of modernity. Does it not show total disregard for the life of aminals ? The principle of non-violence is to be followed not only with reference to action, but also in relation with mind, emo-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

tions and words. Some thinkers interpret the word *Ahiṁsā* as avoidance of offensive violence. But this is a compromise with the principle. One should slowly but surely put the ideal into practice, and then only the cruelties and injustices involved in the thoughts, actions and words will be revealed and corrected.

Satya is the second moral rule, meaning truthfulness. However, it indicates much greater sense. There should be avoidance of all exaggerations, equivocations and pretences. Lack of this quality creates many complications in life. An effort to keep up falsehood causes a strain on the mind and leads to many emotional disturbances. The best policy is to remember that 'silence is golden'. Truthful persons are always trusted and respected. They can remain free from vices like bribery and evil competition, that are so common to-day. We should also be careful, not to disturb somebody else's mind by talking an unpleasant truth. It is always better to remember :

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः ॥

"One should speak out what is true and pleasant. One should avoid talking the truth which is unpleasant. However, one should not talk lie only because it is pleasant to listen."

The third moral quality is *Asteya*, literally meaning abstaining from stealing. But it should be interpreted as abstaining from misappropriation of all kinds. One should not allow oneself to accept anything which does not properly belong to him, not only in the way of cash or kind, but even as a simple credit for things he has not done ; or any privileges which do not properly belong to him. "परधनं विषम्"—'All that belongs to others is to be considered as poison'. This should be our attitude. It will avoid all the dishonesty and the uneasiness of mind arising from it. Such behaviour is valuable in these days of 'quick money' and 'easy money' when even persons, belonging to noble professions, such as teachers and doctors have been turned into money-making-machines. It is easy to follow this principle, if our needs are cut down to the minimum, and 'simple living' becomes our motto. It guards us from evil ambitions, and brings tranquillity to our mind.

Brahmacharya is the fourth and the most vital of the moral qualities. It means sexual continence. The ideal of a true Yogi is to prepare himself to give up completely, not only physical indulgence but even thoughts and emotions connected with the pleasures of sex. In a wider sense, it also means freedom from crazing for all kinds of sensual enjoyments and luxuries. This becomes possible when one gradually learns to equate them with the peace and bliss of the higher life. In practice, for the common man, it is important to remember, that lack of this quality is the root of all the sorrows. It is useful for the preservation of the health of mind and body, because it needs the restraint of all the five senses, *viz.*, hearing, touch, vision, taste and smell. The common man must follow this rule within the framework of his routine family duties *(Gṛhasthāśrama)*. The practical significance of this principle, in relation to the population control, cannot be forgotten.

The fifth *Yama* is *Aparigraha*. It means absence of greediness ; or better non-possessiveness. The tendency to accumulate worldly things may be considered as a basic instinct in human life. Of course, as long as we live in this physical world, we have to possess a few things which are essential for the maintenance of the body. There is no limit to our desire for wealth and the material things. Even looking at this moral rule from the point of view of psychology, the greed for luxury makes us spend time and energy for obtaining these things. This also involves a lot of anxiety. Further, we have to worry over maintaining and guarding them. There is a constant fear of losing some of them, and finally the regret of leaving them all behind when we ultimately leave this world. This quality teaches the sense of detachment and brings happiness. In this connection, the story of 'a shirt of a happy man' is illustrious. The poor man was happy because he did not even possess a shirt over which he should worry. The lust for

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

possession is the cause of all discontentment in this life. By retaining extra material things, we might be depriving somebody of them, who really needs them.

While the practices included in *Yama*, are, in general, moral and prohibitive, those in *Niyama* are disciplinal and constructive. *Niyama* are fixed observances. They pertain to the individual, and are to be practised everyday, whatever the circumstances.

Śauca is the first *Niyama*, meaning purity and cleanliness. It applies to the nature of a person, and includes both body and mind. Healthy mind and healthy body always go together. One should maintain the body clean. The food and drink should be of the right kind, moderate and simple. Meat, spicy foods and alcohol in the modern diet lead to the deterioration of the body and mind alike. The purity of body, mind, speech and behaviour can be maintained by following all the moral rules of Yoga, and also by meditation and prayer. This brings genuine tranquillity of mind, which is so difficult to obtain in present world.

The second *Niyama* is *Santoṣa* or contentment. It is achieved by keeping the mind in equilibrium, inspite of the several impacts to which it is continuously subjected. If our requirements are minimum, the frustration is minimum. *Santoṣa* is not a negative mentality based on laziness and lack of initiative, but a positive and dynamic condition of mind. It demands complete indifference to all personal enjoyments and comforts, the object being the attainment of peace that takes us beyond the realm of illusion and misery.

Tapa is austerity or penance. It is the third *Niyama*. The word *Tapa* stands for purification, self-discipline and austerity. We should discipline our mind and bring it under the control of our will-power. This builds a pure character and ideal personality. *Tapa* has three faces. The 'physical', which expects us to keep company with respectable people having good morals ; to be polite with the elderly and the like ; to be kind to everybody ; and to observe self-restraint. The 'verbal' implies truthfulness, softness of speech, and recitation of prayers. The 'mental' penance includes maintaining a peaceful and cheerful attitude, mental restraint, and having a constant desire that everybody remains happy. This *Niyama* promotes patience and tolerance, thus preventing all stresses and strains of life.

The next *Niyama* is *Swādhyāya*, meaning self-study. More clearly, it is the study which leads to the knowledge of the 'self'. It is achieved by the study of the sacred scriptures and prayers, and of the theoretical principles and practice of Yogic ideals. This faculty is useful in every walk of life. It gives us an ability to concentrate on our work by increasing mental stability. This study begins on the intellectual path and has to be carried through the progressive stages of reflection and meditation till the individual is able to gain all the knowledge or devotion from within, by his own efforts.

The fifth *Niyama* is *Iśwarapraṇidhāna*. It means dedication to God. It begins with a steady effort to bring about a continuous recession of consciousness from the level of personality which is the seat of ego into the consciousness of the Supreme, Whose will is working in the world. When we learn to forget ourselves and dedicate to God, we can easily work with dedication in various spheres of life, whether in relation with our family or our country. Unfortunately, the bonds of affection, unity, sacrifice and dedication, among the individuals of the modern society, have become weak and fragile. This weakness can be overcome by observing these moral laws prescribed by Yoga.

After the discussion of *Yama* and *Niyama* in relation to the social conditions of the day, let us have a glance at the next three facets of the *Bahiraṅgayoga*, in brief. *Āsana* or Yogic postures are considered by many as a system of physical culture. The various *Āsanas* described in *Haṭha-Yoga*, if practised correctly and for a sufficiently long period, promote health in a remarkable manner. They prepare the body and mind for further meditation. *Rāja-Yoga* lays more stress on the elimination of all sources of disturbance to the mind, whether external or internal, thus gaining control of the mind by will-power. One of the important sources of disturbance to mind is the body. This disturbance is avoided through practice of *Āsana* for a long

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

time. Patanjali narrates the technique of *Āsana* in three sūtras. (1) *Āsana* should be steady and comfortable. (2) This steadiness can be mastered by relaxation of effort, and meditation. (3) Attaining perfection in the practice of *Āsana* brings resistance to adverse conditions in the environment. The practice of these postures makes the body healthy, and then we can easily withstand the fatigue and strain of life. It also gives fitness for the practice of *Prāṇāyāma*, and helps in the development of will-power.

Prāṇāyāma is the regulation of breath or life-force. The *Prāṇa* or the life-force is the link between matter and energy on one hand, and mind and consciousness on the other. It is a vital force, a highly specialised kind of composite energy with material basis which is entirely different from the other kinds of energies working in the body. This energy is controlled to the advantage of the individual during *Prāṇāyāma*. It is useful for maintaining good health and achieving concentration of mind, thus serving as an important basis for the preparation of *Samādhi*.

Pratyāhāra means abstraction. When we are relaxed, we find that the mental images which are present and changing constantly are of three types—(1) Ever-changing impressions produced by the outer world through the impacts on the sense-organs. (2) Memories of past experiences in the mind. (3) Mental impressions connected with anticipations of the future. In *Pratyāhāra*, we completely eliminate the vibrations of the impacts on the sense-organs coming from outside. The other two types of mental images are retained and they are mastered through *Dhāraṇā* and *Dhyāna*. Thus, this facet of Yoga teaches us the control of senses by mind, or withdrawal of mind from worldly attachments. This is useful for achieving that concentration of mind which helps us to get a better performance in any field of everyday life. The detachment of mind relieves us of all the attractions and sorrows in this world.

In short, the five facets under the *Bahiraṅga* Yoga eliminate, one by one, different sources of disturbances to the mind. *Yama* and *Niyama* correct the moral defects, *Āsana* eliminates the disturbances arising in the physical body, *Prāṇāyāma* removes all the irregularities in the flow of vital forces, and *Pratyāhāra* eliminates the sources of disturbance coming through the sense-organs.

The eight facets of Yoga are usually considered as sequential stages through which one can achieve eternal peace. However, some experts of Yoga feel that these can be practised and mastered independent of each other. There is no doubt that the sequence is important and useful, especially for a common man who desires to achieve perfection by reaching the stage of *Samādhi*. To the beginner, the *Bahiraṅgayoga* is more simple to understand and practice, as it is directly concerned with every-day life. It is the desire of all those who love and preach Yoga, that more and more people are attracted to this science and philosophy. It is more convenient to introduce the people to *Āsana* and *Prāṇāyāma*, which show their favourable effects on mental and physical health, and prepare a basis for further study. Once a person appreciates the value of some of the facets of Yoga, he feels like going deeper into the study and practice of other facets. Gradually, the benefits of this study are revealed to him through his own experiences.

It is not expected that every person in the society becomes a sage or a Yogi. Keeping this in mind, I have not touched upon the three facets included under the *Antaraṅgayoga, viz., Dhāraṇā, Dhyāna* and *Samādhi*. I feel that their consideration is beyond the scope of the present discussion. The practice of Yoga will surely help to build up individuals with healthy mind and body. Such individuals will form a homogeneous society. The simple rules of Yoga should be propogated to the new generations, in the home, at the school and in the society. This will break the disharmony among various people and their different generations, and bring peace and progress to the world.

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

YOGA AND MEDITATION

☐ B. K. S. Iyengar

Man must touch the spiritual beauty at some point, for not by bread alone does man live. But he believes that this contact is painful and should be rendered as painless and as brief as possible. Meditation is in vogue. Actresses pose for five-minute meditations and speak of the enhancement of their "spiritual beauty".

There is a scramble for seats on the meditation bus, but the trip to the transcendent should not last longer than five minutes. The art of meditation has been pilled, and sugarcoated —meditation may even be induced by drugs. An LSD or Marijuana trip is supposed to give the sublime self-realisation of the Lord Buddha, while another avatar is considered a hippie.

Yet, if a journey to outer space demands rigorous discipline covering a period of years, it should be clear that a trip to the transcendent is not that easy. The demands of meditation properly performed are more exacting than the discipline needed by the cosmonaut.

A space trip can come a cropper due to a fault in a tiny wire and meditation can keep on hugging the things of earth, if the body is neglected.

For meditation must begin with the body, that vehicle of the Self which, if not controlled in its desires, prevents true meditation. The wisdom of the ancients knew this, but modern make-believe would ignore the body. Ignoring the body, springs from ignorance of the body and for that matter of the soul. For the body cannot be ignored, a mosquito, a stomach-ache, a running nose divert attention to themselves and the sublime is caught up in the ridiculous. A dull body begets a dull mind, a distracted body, a distraught mind.

It is easy to assert that one can meditate in the heart of Piccadilly but has one ever tried to still the Piccadilly of ones own body, nerves and emotions ? The *Yoga Sūtras* of Patanjali, that classic of meditative wisdom, begin not with the esoteric but with the common-sensical.

'Choose a place', says Patanjali, (as also other ancient authorities) 'free of insects, noise and evil smells and spreading a rug, sit on it. The choice of time is also important, before sun-rise or after sunset, for, at early dawn and late evening, the Spirit of God broods over the earth like a healing benediction. And for the practical-minded, there is less dust.'

Body posture is important. Meditation begins with the body and the awareness from within of every pore of the body in the various *āsanas* is itself meditation. It is like the turning on of millions of spiritual eyes.

The mind impregnates the body and yet remains an observer, the body becomes mind and yet remains supremely alert as body. And so mind and matter are fused in the dynamism of sheer energy, which is active without being spent, creative without bringing on exhaustion. The *āsanas* are not simply important because they strengthen the nerves, lungs and other parts of the body for their role in meditation but they are themselves vehicles of meditative action.

The classical meditative pose that we find depicted even in the ruins of Mohenjodaro, is the crossed-legged *Padmāsana* pose with the spine held straight and rigid. When the ancients

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

however counselled ; 'sit in any comfortable position with the spine straight', they certainly did not mean that slouching would do. For to sit in a loose collapsed sort of way induces sleep, and drowsiness is not to be mistaken for meditation.

Meditation does not make the mind dull, rather, in meditation, the mind is still but razor-sharp, silent but vibrant with energy. But this stage cannot be achieved without a stable sitting posture, where the spine ascends and the mind descends and dissolves in the consciousness of the heart, where the true Self reveals itself.

The whole body, far from being ignored, is taken up in this spiritual alertness, till the whole mind becomes pure flame. An alert, erect spine creates a spiritual intensity of concentration, that burns out distracting thoughts and brooding over past and future, and leaves one in the virginal, fresh present.

In *Dhyâna* or pure meditation, the eyes are shut, the head held erect and the gaze directed downward and backward as though the parallel gaze of the eyes is searching the infinity of darkness that lies beyond the back of the head for Him, Who is the True Light that enlightens every man. The facial skin is relaxed and descends. The brain is released from the senses as the eyes, ears, root of the tongue, *etc.*, become passive and consciousness passes from the active aggressive front part of the brain to the quiet, observing back of the brain. The hands are pressed together, palm against palm before the breast-bone. This classic pose of all prayer is not only symbolic but also practical. Symbolically the palms salute the Lord, who is within. The mind is drawn to surrender to the Holy One. This surrender by breaking the chain of distracting thoughts, increases the intensity of one's concentration. Practically speaking, the hands are locked together by the magnetism of the human body. The increase or decrease of the pressure on the palms is the sensitive gauge of one's alertness and one's freedom from distracting thoughts. The exact balance of the electric currents of the body can also be tested by the palms pressed against each other. If both palms press equally against each other, both mind and body are in balance and harmony. If one palm exerts more pressure than the other, that side of the body is more alert also. By increasing the pressure on the weaker palm a delicate adjustment should be made to bring the body-mind unit back to balance. For Yoga is nothing, if it is not perfect harmony.

It has been maintained that yogic meditation is without content, mere emptying of the mind. For those who have had the experience of its richness and satisfying fulness, such an assertion can only sound ridiculous. The intellect of the mind may cease its roving but the intellect of the heart goes out to the Lord. And it is the heart that matters. Is there really need of the petty content of our own thoughts, when the heart is drawn to the Infinite One, Who is always near and ever receding, immanent and transcendent at the same time ?

The yogic *prāṇâyāmic* or breathing techniques are meditative in their origin and in their effect. Consisting basically of breath inhalation, breath retention and breath exhalation, their rhythmic movements still the mind by withdrawing the senses and help one to uncover the depths of the Self. Unlike as in *Dhyâna*, the head is sunk on the chest with a firm chin-lock. Physically the chin-lock relieves the strain on the heart.

Mentally the chin-lock releases the breath from the egotistical domination of the brain and makes its more gentle and impersonal. The chin-lock takes one to the quiet centre of the heart, where the Lord resides. The hands either rest on the knees or control the breath with the fingers. But the other basic aspects of meditation such as the gaze of the eyes, the erect spine etc., are maintained, the *prāṇāyāmic* techniques, like the *Āsanas* are vehicles of meditation and prayers. Breath inhalation or *pūraka* is acceptable of the Lord, breath retention or *kumbhak* (form a pot filled to the brim with water which is thereafter silent) is savouring of the Lord in the full deep stillness of the heart. Exahalation or *rechaka* is not simply exhalation but it is the emptying

(*continued on page 35*)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

PATHS TO THE DIVINE

☐ Yogi Amirt Desai

P. O. Box 120, Summit Station, Pennsylvania

There are two types of religions—one in which God is believed to be outside man and the other in which God is believed to be within man. On the first religious path, God is described as an entity descending from above, from heaven. Heaven is up in the sky, beyond man's reach and remote from his existence. The main method of communication with God on this path is prayer.

The person who follows this path believes that God's grace will save him, remove his pain and suffering and restore him to a distant and future heaven. He believes himself to be totally dependant on God and relies completely on the compassion and mercy of God. "Thy will be done, O Lord, and not mine," is his prayer. This person's journey begins with surrender. His path is the path of prayer and surrender—the path of *Bhakti Yoga*. Christianity and Islam are clear examples of religions which fall into this category.

The second type of path teaches that God exists within man. He is not remote from man's existence nor far from his reach. He is as close as man's very breath. The purpose of following such a path is to uncover the God who already exists within, while the purpose of following the path of prayer is to gain the favour of a God who exists outside. The path that believes God to be outside solicits His grace through prayer; the path that believes God to be within strives to uncover Him through meditation. Prayer speaks to God without; meditation listens to God within. The man of prayer says, "My Lord, come to me. Do this for me." The man of meditation, on the other hand, says "*Aham Brahmāsmi*" (I am the Brahman—I am God) and "*Tat Twam Asi*" (Thou art That).

When the actual presence of God is believed to reside within the body of man, the body is considered to be the temple of God. As such, care of the body is stressed to a greater degree than it is on religious paths which believe God to be an entity separate from man. Yoga has designed an elaborate system which considers care of the body to be an integral part of spiritual growth. In most religions, spiritual growth has nothing to do with body. The body is ignored and, in some cases, even shunned. This is not the case in Yoga. Spiritual practices on the yogic path concern themselves initially with the tangible body, the body which man experiences and feels. They gradually lead man to understand the more subtle levels of his being. The physical practices are designed to affect the glands, muscles, nerves, tissues, cells and organs of the body as well as the body's major systems.

The body which is seen as the temple of God is also recognized as the instrument through which oneness with God is achieved. It is like a bowl which is full of milk. The bowl is useful to contain the milk which is not yet drunk. When the milk is gone, however, the bowl has served its purpose and is no longer useful. In like manner, the body is useful to contain the energy of God within man. When man has fully realized God, the body is no longer useful. It is a tool and not an end in itself—it is the temple of God, but it is not God Himself.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Kuṇḍalinī Yoga is based upon this approach. Thus the yogi on the *Kuṇḍalinī* path begins with the body and gradually progresses to the deeper spiritual practices of meditation. He applies his will as well as his reason and logic to his search for God. In contrast with the practitioner on the path of prayer, who begins with surrender, the yogi's journey begins largely through the path of will. The beauty of the path of will is that the journey starts where the majority of aspirants are—it starts with what they can readily understand, communicate, experience and accept. It begins with the known, the external, the tangible and the concrete. The practitioner can be sure of what is happening when he deals with the body. He can feel and see the results of his practices. Thus the path of will is well-suited to the Western mind, which responds best to what is external, tangible and concrete.

The practitioner on the path of will, however, eventually comes to a stage in which he must let go of his will and allow the inner workings of the God within him to direct his progress. This 'letting go' is called surrender. In eight-limbed *Aṣṭāṅga Yoga** the first six steps, that of Yama (abstention from wrong doing), Niyama (moral observances), *Āsana* (posture), *Prāṇāyāma* (control of breath), *Pratyāhāra* (withdrawal of the mind from sense-objects), and *Dhāraṇā* (concentration) belongs to the path of will. The last two *Dhyāna* (meditation) and *Samādhi* (merger into centre of the Self) belong to the path of surrender. When the disciple arrives at the stage of surrender, he can no longer progress by using his will. His will, in fact, becomes a hindrance to him. At this stage, faith, trust and surrender are necessary to make continued growth possible. The faith and trust needed by the disciple, however, are now available to him as a result of his prior wilful practices.

The *Kuṇḍalinī* path progresses from the known to the unknown. When your journey begins with a God of whom you know nothing, it starts with the abstract, with what you are not. Such a search is a journey from the unknown to the unknown. To make such a journey is difficult for the man of logic, the man of reason and will. If you have the faith to surrender to the unknown, to jump into the unknown, then the path of surrender is valid at the very beginning of the search. If you do not have a sufficient amount of faith, however, you will find it difficult to use this approach. Such is the predicament of the average Western practitioner of traditional, faith-oriented religion.

The devotee, the follower of the path of prayer and faith, folds his hands and prays to the Father for His grace—and waits. The yogi, who believes the dormant aspect of God to be within himself, goes through various disciplines to awaken the energy of God, known as *Śakti*, within him. He acts. He begins with wilful, conscious practices. This difference in approach does not mean that prayer can be used only by those who believe God to be outside themselves. It also plays a useful role on the path of will, for prayer, in some form, can be and is used by all paths and in every religion. Prayer without attention to and care of the body, however, is an abstract prayer—a useless prayer.

If the person who prays to God lacks total faith and abiding trust, he will become vague in his belief of God. If he further ignores his body and condemns it, he will fail to see the power of God functioning through his body. He will tend to reject and separate the apparently lower forces of the body from the higher forces of God. As a result, it will become psychologically difficult for him to believe that the kingdom of heaven is within, that God can express Himself through man.

People of this belief unconsciously treat the body and its forces as devilish. They see that the sensual pleasures of lust and passion are so powerful that they distract the aspirant from the higher path. The saying 'the Spirit is willing, but the flesh is weak' is correct. The

* Aṣṭāṅga (Eight-Limbed) Yoga : A scientific approach to God-realization based on progressively unfolding levels of growth, expounded by the sage Patanjali in his *Yoga Sūtra* (200 B.C.).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

body can indeed be an obstacle, but when ignored, it becomes a greater obstacle. Only through understanding, study and proper care can man permanently transcend any obstacle including the body.

When man accepts the presence of Divine energy in each centre of his body, even in the traditionally condemned sex centre, he truly realizes that God is everywhere. Thus he begins to see God's presence manifesting through every aspect of his being. He realizes that God is energy, God is neutral in nature like electricity, which can be used to help man or to hurt him. It is man's choice to use this energy of God within him for higher growth or to misuse it for his own selfish gain and sensual pleasure. Yogis realize this fact and, through *Haṭha* and *Kuṇḍalinī Yoga* techniques, they purify the body and mind, thereby internalizing so-called sensual energy for use as a vehicle to achieve expanded states of consciousness. Thus the very sensual energy which is regarded as man's greatest obstacle on the path of prayer becomes the means of higher growth when God is accepted as existing within man through the understanding available in *Kuṇḍalinī Yoga.*

When man sees God within himself, he easily recognizes His presence within everyone and everything that surrounds him. He finds it easy to be at one with God. When man sees God as outside and above himself, he experiences a separation, a psychological dichotomy of good and bad, high and low, a dichotomy between heaven and the hell of the flesh, between all earthly beings and their remote Creator. He fails to understand the implications of his belief that God is omnipotent, omniscient and omnipresent. If God is everywhere, He is also in the body.

Because he believes God to be other than himself, man unconsciously condemns himself and the world in order to love a God who is other than himself and the world. He feels he is nobody, that he is weak because of his human flesh. Because he has separated himself from God by separating his body from God, he suffers a tremendous amount of guilt and shame. He feels only God's grace can save him. And God's grace can save him—but if man does not have total faith and trust, he will not be able to receive this grace. At the same time he will fail to do anything on his own will, to transform himself. If such a man does not receive God's grace or eastablish some sort of communication with the divine, he has nothing. He has neither a way to contact grace nor the concrete methods of working through the body.

The path of prayer is difficult for the average person to follow because it is based on faith. Man lives in an age of reason, an age of scientific explanation. The average person who wants logic and experiential proof of the truth of teachings finds it hard to accept a religion through faith alone. For this reason, the path of prayer and faith is difficult for modern man to accept. Yoga, on the other hand, is easily followed and well accepted because it uses logic and reasoning as tools to acquire faith. It provides unique benefits to many people because it does not require either faith or will alone, but provides approaches which are suited to people of varied temperaments. The faith-oriented person, the person for whom trust, selflessness, surrender and a prayerful attitude come easily, can practise the path of prayer—*Bhakti Yoga.* The will and reason-oriented can practise *Haṭha, Karma, Kriyā* and *Raja Yogas* with equally effective results.

Eventually all paths of yoga—both the path of prayer and the path of will—are designed to awaken the dormant energy known as *Kuṇḍalinī Śakti.* As the active Śakti begins to automatically hasten the practitioner's growth, he naturally enters the path of surrender in which devotion and faith play a predominant role. When the follower of the path of will reaches this stage, however, he experiences faith naturally as a result of his concrete experience of growth in the earlier stage of practice. Faith is not demanded at the outset of the search. Instead, it develops gradually and naturally as a result of sustained, wilful practice.

Whether God comes from above or exists within makes no difference to those who have experienced the heights of higher consciousness, but it does make a difference to beginners.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Sometimes a misunderstanding as to the most suitable path for an individual may retard the growth of even the most sincere seeker. The path that begins from man, from the known, is naturally much easier for most people to follow. The path of will and action is readily understood and practised by most Westerners, who have habitually relied upon logic and reason. Total surrender and faith are very hard to come by in this age of reason and science.

The path of prayer—the path of surrender—is a difficult path for most beginners. The beauty of yoga lies in the fact that each individual can follow the most suited to his nature, for yoga teaches that all paths lead to the same place—to the divine within.

★★★

There is a fixed state; sleep, learn and working states are mere movements in it. They are like pictures moving on the screen in a cinema show. Everyone sees the screen as well as the pictures but ignores the screen and takes in the pictures alone. The jñan, however, considers the screen and not the pictures. The pictures move on the screen but do not affect it. The screen itself does not move but remains stationary. The state is called *Turiya* and it is not a separate state but that which underlies the three states. Another name for it is the *Self*.

—*Raman Maharshi*

(*continued from page 31*)

of the ego. Exhalation makes one impersonal and hence is a fit instrument of surrender to the Lord. It is the highest form of surrender to the Lord.

Exhalation can also be understood as a cleansing process. As the breath is gently exhaled from the heart, the heart is cleansed of evil desires and emotional disturbances. This cooling-cleansing process initiated by the lungs can be compared to the *ārādhanā* or *abhiṣeka* performed each morning for the idols in the temples. Or again as the waters of *Ganga* drip on the *Śivaliṅgas*. So exhalation flows over the life-giving *liṅga* within, keeping it ever clean and pure. This surrender to the Lord has to be accepted and so there is a period of stillness after exhalation for the Lord to accept this surrender before inhalation begins.

Meditation is a subjective experience and the transplanting of subjective fall short of reality. To use a trite example; no amount of description of how a mango tastes will ever equal the delight that the first bite into that delicious fruit brings, so too with meditation. The sure and safe techniques can be given, the state of the mind can be described, but the savour of the fruit is only granted to those who "taste and see that the Lord is sweet."

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



योग और मन

□ सुरेश मुनि शास्त्री

मन ही मनुष्य है

मनुष्य कहाँ रहता है ? निवास-स्थान कहाँ है मनुष्य का ? यह एक चिरन्तन प्रश्न है। उत्तर में कहना होगा : मनुष्य अन्यत्र कहीं नहीं रहता, मनुष्य रहता है अपने मन में। बुद्ध का वचन है : भिक्षुओ, मनुष्य मन में रहता है।[1] जैन-परम्परा के मनीषी आचार्यों का स्पष्ट आघोष है—जो मन में सोता है, रहता है, वह मनुष्य है।[2]

वस्तुतः मनुष्य है ही वह, जिसके पास मन है। मनुष्य का अर्थ है मन वाला—विशिष्ट मन वाला। विशिष्ट मन से ही तो मनन होता है, जिसके आधार पर मनुष्य को मनुष्य कहलाने का अधिकार प्राप्त होता है।[3] "दूरगामी परिणाम को सोच-समझ कर कार्य करने वाले ही मनुष्य हैं।"[4] प्राचीन ऋषि का यह संकेत इसी दिशा में है।

मनुष्य इसलिए मनुष्य नहीं कहलाता कि वह मनु का पुत्र है। मनुष्य इसलिए मनुष्य कहलाता है कि वह अपना मानस-पुत्र है—अपने ही मन का बेटा है। मनुष्य मन की उपज है। मन से ही मनुष्य का सृजन होता है। मन ही मनुष्य का ब्रह्मा है, सिरजनहार है।[5]

मन मनुष्य-जीवन का एक ऐसा मध्य-बिन्दु है, जिसे केन्द्र बनाकर मनुष्य का समग्र जीवन-चक्र उसके इर्द-गिर्द घूमता है। मनुष्य-जीवन का वास्तविक आकलन एवं मूल्यांकन मन के द्वारा ही होता है—मनुष्य-जीवन का यह केन्द्रीय तथ्य है। मन और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्र को काल के किसी भी आयाम में विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। जैसा मन होता है वैसा ही मनुष्य बन जाता है, यह एक सनातन सत्य है। "जैसा मन, वैसा जीवन"—मन और जीवन का यह पारस्परिक सहयोग एक सजीव भाष्य है। मन मैला तो जीवन मैला, मन उजला तो जीवन उजला। मन अशांत तो जीवन अशांत, मन शांत तो जीवन शांत। मन अस्थिर तो जीवन अस्थिर, मन स्थिर तो जीवन स्थिर। मन दुःखी तो जीवन दुःखी, मन सुखी तो जीवन सुखी। मन असंयत तो जीवन असंयत, मन संयत तो जीवन संयत। मन अनियन्त्रित तो जीवन अनियन्त्रित, मन नियन्त्रित तो जीवन नियन्त्रित। मन आसक्त तो जीवन आसक्त, मन विरक्त तो जीवन विरक्त। मन रागी तो जीवन रागी, मन वीतरागी तो जीवन वीतरागी। मन रोगी तो जीवन रोगी, मन नीरोगी तो जीवन नीरोगी। मन भोगी तो जीवन भोगी, मन योगी तो जीवन योगी।

सच तो यह है कि मन ही मनुष्य है। मन के अतिरिक्त मनुष्य अन्य कुछ भी नहीं है।[6] मनुष्य के जीवन की रूप-रचना करने वाला मन मनुष्य के भीतर ही बैठा है; जो उसके जीवन की विविध रूप-रचना कर रहा है। जैसा मन का रंग, वैसा बाह्य जीवन का ढंग।[7] मनुष्य के उत्थान-पतन तथा ह्रास-विकास का राजप्रासाद मन की आधार-शिला पर ही स्थित है।

मन एक विचित्र पहेली है

स्पष्ट है कि मन मनुष्य के लिए एक विचित्र पहेली है। मन मनुष्य का गौरव भी है और मन मनुष्य का रौरव भी है। मन मनुष्य का मान-महत्व भी है और मन मनुष्य का अवमूल्यन-पतन भी है। मन मनुष्य के लिए वरदान भी है और मन मनुष्य के लिए अभिशाप भी है। मन मनुष्य के लिए अमृत भी है और मन मनुष्य के लिए हलाहल विष भी है। मन मनुष्य के लिए जीवन भी है और मन ही मनुष्य के लिए मृत्यु भी है। मन मनुष्य के लिए सुख का मूल बिन्दु भी है और मन ही मनुष्य के लिए मर्मान्तिक पीड़ा भी है। मन मनुष्य के लिए दुःख का प्रबलतम कारण भी है और मन से ही मनुष्य को शाश्वत सुख उपलब्ध होता है।[8] मन के कारण ही मनुष्य सर्वोपरि है, सब प्राणियों में श्रेष्ठ एवं वरिष्ठ है, सबसे ऊँचे सिंहासन पर अधिष्ठित है[9] और मन के ही कारण मनुष्य पशुतर है—पशु से भी गया-बीता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। मन मनुष्य के लिए सबसे बड़ा बन्धन भी है और मन ही मनुष्य के लिए मोक्ष का द्वार है।[१०] मन के कारण ही आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता और मन से ही मनुष्य को मुक्ति का मार्ग प्राप्त होता है।[११]

योग और मन : परस्पर एक-दूसरे के पूरक

कहने की आवश्यकता नहीं कि मन की यह पहेली विचित्र अवश्य है, किन्तु अनबूझ तथा अनुत्तरित नहीं है। इस पहेली का उत्तर एवं समाधान सम्भव है। योग मन की इस पहेली का सही उत्तर एवं समुचित समाधान प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः योग और मन परस्पर अनुस्यूत हैं, अत्यन्त गहरे में एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। योग का आधार है मन और मन का समाधान है योग। इस प्रकार योग और मन परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। मन की वृत्तियों का निरोध योग है।[१२] मन की एकाग्रता एवं स्थिरता ही योग का प्रथम उद्देश्य है। वृत्तियों की चाप से मन चंचल एवं अस्थिर होता है और चंचल तथा अस्थिर मन ही दुःख का मूल कारण है। जीवन के सारे ताप-आताप-संताप चंचल मन से ही उपजते हैं। जीवन की सारी अशांति, आकुलता-व्याकुलता, अव्यवस्था, अस्तव्यस्तता, विशृंखलता, अराजकता तथा तनावपूर्ण स्थिति मन की चपलता एवं अस्थिरता से ही उत्पन्न होती हैं। योग निग्रह एवं निरोध के माध्यम से मन के भीतर से विष-तत्त्व खींच लेता है और स्वस्थ, सुन्दर, स्थिर, शांत तथा अमृतोपम मन का सृजन करता है—मनुष्य के लिए अमृत का द्वार खोल देता है।

अधोवाही मन दुःख को निमन्त्रण देता है

मनुष्य का मन उभयवाही है—अधोवाही भी और ऊर्ध्ववाही भी। जब मनुष्य का मन अधोवाही होता है, मन की शक्ति का प्रवाह नीचे की ओर बहता है, संसार के क्षुद्र भोगों की ओर बहता है, माया-मोह की ओर बहता है, भौतिक पदार्थों और पार्थिव एषणाओं-लालसाओं तथा कामनाओं-कल्पनाओं की ओर बहता है, यश-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान की ओर बहता है तो मनुष्य जीवन के वास्तविक लक्ष्य से भूल-भटक जाता है। सांसारिक पदार्थों की उपलब्धि और भोगों की प्राप्ति ही उसके जीवन का एकमात्र ध्येय बन जाता है। फलतः वह पतन के गहरे गर्त में गिर जाता है। अधोवाही मन मनुष्य को मृत्यु की ओर ले जाता है, नरक की ओर ले जाता है, दुःख को निमन्त्रण देता है, पीड़ा देता है, ताप-आताप-संताप की आग में जलाता है। मनुष्य का समग्र जीवन दुःख और पीड़ा से भर जाता है। क्षण-भर का सुख-भोग और चिरकाल का दुःख कितना भयावह परिणाम है इन भोगों का।[१३]

योग मन को नयी दिशा देता है

संसार की सारी नदियाँ एकमुखी हैं—एक ओर को बहती हैं। किन्तु मनुष्य के मन की नदी उभयमुखी है, दोनों ओर को बहती है। वह कल्याण-पुण्य की ओर बहती है और पाप की ओर भी बहती है।[१४] शुभ की ओर भी बहती है, अशुभ की ओर भी बहती है, धर्म की ओर भी बहती है, अधर्म की ओर भी बहती है, संसार की ओर भी बहती है, मोक्ष की ओर भी बहती है, नीचे की ओर भी बहती है, ऊपर की ओर भी बहती है, बाहर की ओर भी बहती है, भीतर की ओर भी बहती है।

योग मन की नदी के बहाव को गलत दिशा से एक नयी और सही दिशा की ओर मोड़ देता है, मन के अधोवाही शक्ति-प्रवाह को ऊर्ध्ववाही बना देता है, अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी कर देता है। दिशा बदलने से शक्ति का बहाव अन्तर्मुख हो जाता है। अतः वह अब बाहर की ओर न बहकर भीतर की ओर बहता है, आत्मा की ओर बहता है, परमात्मा की ओर बहता है, मोक्ष की ओर बहता है, संयम-तप की ओर बहता है, त्याग-वैराग्य की ओर बहता है, ध्यान-समाधि की ओर बहता है। यह मन की शक्ति का ऊर्ध्वीकरण है। मन की शक्ति के इस ऊर्ध्वीकरण का नाम ही योग है।

मनुष्य के मन की शक्ति का मूल-स्रोत जब किसी उच्चतम ध्येय तथा पवित्रतम आदर्श के लिए प्रवाहित होता है तो आत्मा के लिए श्रेय का द्वार खुल जाता है। मन की शक्ति का यह अन्तर्मुखी बहाव जीवन में सुख लाता है, स्वर्ग लाता है, आनन्द लाता है, मोक्ष लाता है। शक्तियाँ भिन्न-भिन्न नहीं हैं, केवल दिशाएँ भिन्न हैं। मात्र अधोगमन और ऊर्ध्वगमन का अन्तर है। सीढ़ियाँ वही हैं। जिस व्यक्ति का मुँह नीचे की ओर है, वह नीचे पहुँच जाता है और जिसका मुख ऊपर की ओर होता है, वह ऊपर चढ़ता जाता है, शिखर पर पहुँच जाता है। शक्ति का बहाव किस ओर है—सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है। शक्ति का अधोगमन भोग है और ऊर्ध्वगमन योग।

योग मन का कायाकल्प करता है

योग एक अध्यात्म-साधना है, दुःख से मुक्त होने के लिए। योग एक अन्तर्यात्रा है, भीतर अपने आप तक पहुँचने के लिए। योग एक धर्मकला है, चंचल एवं अस्थिर मन को साधने के लिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतना तो सुनिश्चित है कि वर्तमान स्थिति में जैसा मनुष्य का मन है, इस मन को लेकर साधना की इस अन्तर्यात्रा पर नहीं चला जा सकता। पुराने गले-सड़े और जीर्ण-शीर्ण मन के साथ आत्मा की ओर, परमात्मा की ओर, मोक्ष की ओर गति नहीं हो सकती। क्योंकि, प्रस्तुत चंचल, अस्थिर, अशांत, असंयत, भोगासक्त एवं विकारयुक्त मन आत्मा को परमात्मा तथा मोक्ष से जोड़ता नहीं, तोड़ता है। साधना की इस अमृत-यात्रा पर चलने के लिए साधक को एक नया—नितान्त नया मन चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि वह नया मन योग से उत्पन्न किया जा सकता है। योग-दर्शन के मनीषी एवं चिन्तनशील आचार्यों ने योग के रूप में, मनुष्य के भीतर नया मन निर्मित करने की एक अद्भुत रसायन की खोज की है। योग से मन को रूपान्तरित किया जा सकता है। योग मन के रूपान्तरण की एक बृहत्तर परियोजना है। योगाभ्यास मन को परिवर्तित करने का एक आध्यात्मिक अभियान है। यह यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अष्टांग योग की व्यवस्था[१५], आध्यात्मिक भावना और समता का विकास करने वाला तथा विकारों का क्षय करने वाला धर्म-व्यापार[१६]—मनुष्य के भीतर नया मन निर्मित करने का एक अनुपम उपक्रम तथा अध्यात्म-आयोजन ही तो है।

सच तो यह है कि योग मानव-मन का पूरी तरह कायाकल्प करता है। जैसे कल्प के माध्यम से शरीर का पूर्णतः रूपान्तरण, परिवर्तन एवं कायापलट हो जाता है, पुराने शरीर के स्थान पर एक नये शरीर का सृजन हो जाता है, त्वचा, मांस, मज्जा, रक्त तथा रोमराजि आदि सब शारीरिक तत्त्वों का पूर्णतया नवीकरण और पुनर्निर्माण हो जाता है; इसी प्रकार सतत योगाभ्यास से मनुष्य के मन का आमूल परिवर्तन हो जाता है। योग पुराने मन के स्थान पर एक नया, स्फूर्त, स्थिर, शांत, संयत, अनासक्त एवं निर्मल मन निर्मित कर देता है। इस नये मन को लेकर ही साधक अपनी साधना की अन्तर्यात्रा पर आगे बढ़ सकता है और आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर सकता है।

योग दुःख से मुक्त होने का उपाय है

मनुष्य-जीवन का सर्वोच्च ध्येय है—दुःख से मुक्ति, बन्धन से मुक्ति, वासना से मुक्ति। दुःख से मुक्त होना परम पुरुषार्थ है।[१७]

मनुष्य का भोगासक्त, वासनायुक्त एवं संसाराभिमुख, चंचल एवं अस्थिर मन जो दुःख अर्जित कर लेता है, उससे मुक्त होने का मार्ग भी मन से ही प्राप्त होता है।[१८] दुःख की गहन अनुभूति एवं गहरी प्रतीति से ही मुक्ति की खोज प्रारम्भ होती है। दुःख का आत्यन्तिक बोध होने पर व्यक्ति का उसमें रहना और जीना असम्भव हो जाता है। घर में लगी आग को व्यक्ति अपनी खुली आँखों से भलीभाँति देख ले, जान ले तो उसकी समग्र चेतना उस आग से भाग निकलने का उपाय खोजने में संलग्न हो जाती है और वह उपाय खोज लेती है। गहरी अनुभूति एवं प्रतीति से ही उपाय निकलता है। जिसने गहरे मन से दुःख का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया है तो योग उससे मुक्त होने का द्वार बन सकता है। दुःख से योग फलित होता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में, जैन-परम्परा का एक प्रसिद्ध एवं हृदयस्पर्शी आख्यान है। राजकुमार मृगापुत्र को जब भीतर बहुत गहरे तक यह प्रतीति होती है कि यह समग्र संसार दुःख की आग में जल रहा है तो उसकी अन्तरात्मा एकदम छटपटा उठती है और दुःख की उस आग से बाहर निकलने के लिए उसकी समग्र चेतना पूरी तरह जाग्रत हो जाती है। वह अपनी माता से विनम्र एवं साग्रह निवेदन करता है—"माँ, मुझे आज्ञा दीजिए। जन्म, जरा और मरण की आग में जलते इस संसार से मैं आत्मा को पार ले जाना चाहता हूँ, इससे मुक्त होना चाहता हूँ।"[१९]

दुःख का यह आत्यन्तिक बोध ही उसके लिए उपाय की खोज बन गया; और, माता की आज्ञा उपलब्ध होते ही, वह राजकुमार तत्काल छलांग लगा गया—योगी बनकर दुःख से पार हो गया।

संक्षेप में, योग एक विधि है, दुःख की आग से बाहर निकलने के लिए। योग एक अमोघ साधन है, दुःख से त्राण पाने के लिए। योग एक नौका है, दुःख से पार जाने के लिए। योग एक युक्ति है, दुःख सागर को तैरकर पार उतरने के लिए।[२०] योग एक तीक्ष्ण कुठार है, जीवन की समस्त आपदा-विपदाओं का समूल उन्मूलन करने के लिए।[२१] दुःख के साथ जो मनुष्य के जीवन का संयोग है, उससे वियुक्त होने का नाम ही तो योग है।[२२] योग के माध्यम से प्राप्त मनोनिग्रह एवं निरोध ही इस संसार के दुःख से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है।[२३] मन के निग्रह तथा निरोध से दुःख शांत हो जाता है।[२४]

योग से निरोध फलित होता है

मनुष्य का मन चंचल है, अस्थिर है—यह एक निर्विवाद तथ्य है। योग चंचल एवं अस्थिर मन को एकाग्र तथा स्थिर करने का सर्वोपरि साधन है। वृत्तियों का निरोध योग है। योग से निरोध फलित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि चंचलता मन का स्वभाव नहीं है। यदि चंचलता मन का स्वभाव होता तो उसके निरोध, निग्रह एवं स्थिरता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि स्वभाव को कभी बदला नहीं जा सकता। मन का अपना स्वभाव चंचलता नहीं, स्थिरता है। चंचलता तो ऊपर की बात है। कमल के पत्ते पर पानी कितना चंचल एवं अस्थिर प्रतीत होता है। वह प्रतिक्षण यहाँ-वहाँ थिरकता रहता है। कहीं टिकता और ठहरता ही नहीं। किन्तु चंचलता एवं अस्थिरता क्या पानी का अपना निजी स्वभाव है? गहराई से देखा जाए तो पानी तो ठहरने के लिए स्थिरता खोज रहा है। उसकी चंचलता, स्थिरता खोजने के लिए है। अपना अभीप्सित स्थान उपलब्ध होते ही, वह स्थिर हो जायेगा। इसी प्रकार मन भी अपनी स्थिरता ढूंढ़ने के लिए चंचल प्रतीत हो रहा है, इधर-उधर उड़ता-दौड़ता दिखायी दे रहा है। अपना स्थान मिलते ही वह भी वहीं स्थिर हो जायेगा, ठहर जायेगा।

कहना न होगा कि पानी और मन की चंचलता अकारण नहीं, सकारण है। पानी कमल के पत्ते के कारण चंचल लग रहा है और मन वृत्ति की चाप एवं वासना के वेग से चपल प्रतीत हो रहा है। मन के पटल से ज्यों ही वृत्तियाँ विसर्जित होती हैं अथवा वृत्तियों का निरोध और वासना का विसर्जन होता है, त्यों ही मन अपने स्थिर स्वभाव में आ जाता है। मन की वृत्ति तथा वासना जितनी तीव्र होगी, मन का कम्पन एवं चांचल्य भी उतना ही तीव्र होगा और मन की वृत्ति जितनी शांत होगी, मन की चंचलता का वेग भी उतना ही शांत हो जाता है। वृत्ति की चाप और वासना के अन्धे वेग से मनुष्य का मन चंचल बनता है, इधर-उधर, आगे-पीछे तथा ऊपर-नीचे होता है। वृत्ति का निरोध होने पर मन की चंचलता स्वयं विलीन हो जाती है, अपने आप मिट जाती है। घर के भीतर कमरे में एक दीपक जल रहा है। यदि उसे हवा का झोंका न लगे तो वह अकंप-अडोल जलता है। उसकी लौ नहीं कंपती। निर्वात स्थान में दीपक की लौ अखण्ड रूप से जलती है। किन्तु हवा के झोंके से दीपक की लौ कंप जाती है, अस्थिर हो जाती है। इसी प्रकार वृत्ति के आघात और वासना के अंधे वेगों के धक्के लगने से मनुष्य का मन डावांडोल हो जाता है। यहाँ-वहाँ, आगे-पीछे दौड़ता-भागता है। वृत्तियों और वासनाओं से मुक्त मन चंचलता के भय से भी मुक्त हो जाता है। जब तक वृत्तियाँ और वासनाएँ क्षीण नहीं होतीं, तब तक मन शांत एवं स्थिर नहीं हो सकता।[३५] दीपक की लौ को अकंप एवं स्थिर होने के लिए वायु-रहित स्थान चाहिए और मन को स्थिर तथा शांत होने के लिए वृत्तियों का निरोध और वासनाओं का क्षय नितान्त आवश्यक है।

इसी दृष्टि से मन की वृत्ति के निरोध को योग कहा गया है। योग से ही निरोध फलित होता है।

मनोनिरोध के दो उपाय : अभ्यास और वैराग्य

मन की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।[३६] अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों का निरोध होता है।[३७] जैसे एक पहिए से गाड़ी नहीं चल सकती और एक पंख से पक्षी अनन्त आकाश में उड़ान नहीं भर सकता; इसी प्रकार केवल अभ्यास अथवा वैराग्य के द्वारा मन की समस्त वृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता। अभ्यास तथा वैराग्य दोनों से ही मन की वृत्तियों का निरोध सम्भव है। वैराग्य के द्वारा मन का बहिर्मुख-प्रवाह निवृत्त होता है और अभ्यास से वह आत्मोन्मुख आन्तरिक प्रवाह में स्थिर हो जाता है।

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने अपने योग-भाष्य में इसी तथ्य को एक सुन्दर रूपक के द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है—"चित्त एक नदी के समान है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ हैं। एक धारा संसार सागर की ओर बहती है और दूसरी कल्याण-सागर की ओर। पूर्वजन्म में जिन व्यक्तियों के संस्कार संसारी विषय-भोगों को भोगने के रहे हैं, उनके मन की वृत्तियों की धारा विगत संस्कारों के फलस्वरूप दुःख-सुख रूपी विषम-मार्ग से बहती हुई संसार-सागर में जा मिलती है और जिन व्यक्तियों ने कैवल्यार्थ आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए काम किये हैं; तो विगत संस्कारों के परिणामस्वरूप उनके मन की वृत्तियों की धारा विवेक-मार्ग से बहती हुई कल्याण-सागर में जा मिलती है। विषयासक्त व्यक्तियों की पहली धारा जन्म से ही खुली रहती है और दूसरी धारा को शास्त्र, गुरु, धर्माचार्य तथा ईश्वर-चिन्तन खोलते हैं। पहली धारा को बन्द करने के लिए वैराग्य का बाँध लगाया जाता है और अभ्यास के फावड़ों से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोद कर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक-स्रोत में डाल दिया जाता है तब प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह कल्याण-सागर में विलीन हो जाता है। जैसे किसी नदी के बाँध से दो नहरें निकलती हैं, तो एक नहर में तख्ता डालकर, उसके जल-मार्ग को रोककर दूसरी नहर में जल छोड़ देते हैं, तो पहली नहर सूख जाती है, इसी तरह अभ्यास तथा वैराग्य से दुःखदायी वृत्तियों को सांसारिक विषयों से मोड़कर कल्याण-सागर में ले जाते हैं।"[३८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोरोध के सन्दर्भ में, अभ्यास और वैराग्य का आधार यह है कि मनुष्य के मन में संपरिवर्तन लाया जा सकता है; मन की वृत्तियों को रूपान्तरित किया जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि वर्तमान स्थिति में जैसा मनुष्य का मन है, वह उससे भिन्न हो सकता है, उसे परिवर्तित किया जा सकता है। परिवर्तन से मन की समूची स्थिति सँवर-सुधर सकती है और मन में स्थिरता आ सकती है।

वास्तव में, अभ्यास एक प्रकार का आध्यात्मिक प्रशिक्षण है। मनुष्य का मन प्रशिक्षण का पुतला है। उसे जैसा प्रशिक्षण दिया जाय, वह वैसा ही हो जाता है। भोग के प्रशिक्षण से मन भोगी तथा चंचल और योग के प्रशिक्षण से मन योगी तथा स्थिर हो जाता है। समता, सत्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, शौच, सत्य, संयम, तप, स्वाध्याय, त्याग, वैराग्य, ज्ञान और ध्यानरूपी सद्अभ्यास मन को रूपांतरित करने का एक प्रशिक्षण ही तो है। ज्यों-ज्यों सद्अभ्यास से मन की स्थिरता होती जाती है; त्यों-त्यों प्राण, वचन, तन तथा दृष्टि में भी स्थिरता आती जाती है।[२९] अभ्यास का अर्थ है मन की स्थिरता के लिए यत्न करना।[३०] मन की स्थिरता के लिए बार-बार प्रयास करने का नाम ही अभ्यास है।[३१] अदम्य उत्साह एवं पूरी आस्था के साथ चिरकाल तक निरन्तर प्रयास करने से ही अभ्यास परिपुष्ट एवं दृढ़ होता है।[३२]

अभ्यास के साथ वैराग्य का विधान मन की दौड़ और चंचलता को रोकने के लिए है। राग तथा आसक्ति से मन चंचल होता है और वैराग्य तथा अनासक्ति से मन स्थिर होता है। जब तक मनुष्य के मन में कुछ भी पाने का राग है; संसार की कोई भी काम्य वस्तु प्राप्त करने की वृत्ति एवं लालसा है; तब तक मन स्थिर नहीं हो सकता, वह चंचल ही बना रहेगा। वैराग्य से काम्य वस्तु के प्रति लोलुपता, आसक्ति एवं तृष्णा नहीं रहती। दृष्ट (लौकिक) आनुश्रविक (अलौकिक) विषयों के प्रति तृष्णा न होना ही तो वैराग्य है।[३३] वैराग्य से मन स्थिरता की स्थिति में पहुँच जाता है।

ज्ञानयोग : मनोरोध का एक अमोघ साधन

मनोरोध एवं मनोनिग्रह योग का प्रथम उद्देश्य है। मनोनिग्रह तथा मनोरोध मात्र कहने अथवा जानने से नहीं हो सकता। उसके लिए तो चिरकाल तक निरन्तर निष्ठापूर्वक बहु-आयामी प्रयास और अनेक उपाय करने होते हैं।

जैन-योग की दृष्टि से ज्ञान मनोरोध एवं मनोनिग्रह का श्रेष्ठ साधन है। वैदिक परम्परा की दृष्टि से भी ज्ञान को मनोनिग्रह तथा मनोनिरोध का प्रमुख उपाय माना गया है। महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—राम, योग और ज्ञान मनोनिरोध के दो उपाय हैं। चित्त-वृत्तियों का निरोध योग है और आत्म-स्वरूप की सच्ची अनुभूति ज्ञान है।[३४]

जैन आगम-वाङ्मय में इस सन्दर्भ में केशी-गौतम का एक सुन्दर संवाद है। केशी स्वामी गौतम से पूछते हैं—मन का साहसिक, चंचल और दुष्ट घोड़ा दौड़ रहा है। गौतम ! तुम उस पर सवार हो। वह तुम्हें उन्मार्ग पर क्यों नहीं ले जाता ? गौतम बोले—मुनिवर ! मैंने उसे ज्ञान की लगाम से वश में कर लिया है। मेरे द्वारा नियन्त्रित और वश में किया गया वह घोड़ा अब उन्मार्ग पर नहीं जाता, प्रत्युत मार्ग पर ही चलता है।[३५]

प्रस्तुत संवाद में ज्ञान को मनोनिग्रह का श्रेष्ठ उपाय बताया गया है। ज्ञान का अर्थ शास्त्रीय ज्ञान नहीं है। ज्ञान से अभिप्रेत है 'स्व' का आत्यन्तिक बोध, अपनी सत्ता का परिज्ञान, अपने अस्तित्व की तीव्र अनुभूति। ज्ञान का अधिष्ठान शास्त्र नहीं, आत्मा है। यह आत्म-बोध ही मानव-जीवन का सार है।[३६] किन्तु यह आत्म-ज्ञान अत्यन्त कठिन है।[३७]

आत्म-ज्ञानी वह है, जिसकी आँखें 'स्व' की ओर लगी हैं। जीवन में जो महान् है, उसका स्मरण और जो क्षुद्र है, उसका विस्मरण—यही तो है अपने अस्तित्व की तीव्र अनुभूति। वैराग्य इसी आत्म-ज्ञान का फल है।[३८] अपने अस्तित्व के प्रति उन्मुख तथा विषयों से विमुख होने का नाम ही उपरति (वैराग्य) है।[३९]

जब तक साधक को 'स्व' के अस्तित्व का प्रबल साक्षात्कार नहीं होता, तब तक 'पर'—बाह्य तत्त्वों के प्रति मन में आसक्ति एवं तृष्णा बनी रहती है। आत्म-परिबोध होते ही स्थिति एकदम बदल जाती है। जो आत्मज्ञानी है, वह विरक्त है और जो विरक्त है, वह आत्मज्ञानी है। ज्ञान मनुष्य के अनुरक्त मन को विरक्त कर देता है। इसीलिए मनरूपी मदोन्मत्त हाथी को वश में करने के लिए ज्ञान को अंकुश की उपमा दी गयी है।[४०] जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता है, वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नहीं है और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नहीं है, वह 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि भी नहीं रखता है।[४१] 'स्व' के प्रति अनुरक्ति और 'पर' के प्रति विरक्ति से मन में वितृष्णा आ जाती है। फलतः मन की दौड़ बन्द हो जाती है। वह चंचल नहीं रहता। तृष्णा ही मन को दौड़ाती है, चंचल बनाती है। वितृष्णा से मन स्थिर एवं शांत हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यानयोग : मनोरोध का प्रबलतम कारण

मनोरोध योग का एक विशिष्ट अंग है। जब तक मन का निरोध नहीं होता, तब तक साधक को आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता। ध्यान मनोरोध का प्रबलतम एवं उत्कृष्टतम साधन है।

ध्यान-साधना की अन्तर्यात्रा पर चलने वाले साधक को जब अन्तर् से अलोक मिलता है, तभी ध्यान का आविर्भाव होता है। ध्यान का जन्म ज्ञान से होता है। ध्यान का अभिप्राय है—साधक का चिन्तन को छोड़कर चेतना में प्रतिष्ठित होना। चिन्तन 'पर' है और चेतना 'स्व' है। चिन्तन से निवृत्त होकर चेतना में स्थिर होना ही समस्त साधनाओं का प्रमुख ध्येय है।

जिससे चिन्तन किया जाय, वह मन है।[४२] मनुष्य के मन का चिन्तन अनेक विषयों की ओर चलता है। मन के चिन्तन का प्रवाह बहुमुखी है। इस बहुमुखी चिन्तन के कारण ही मनुष्य का मन एकरूप नहीं रह पाता। वह अनेक रूप धारण कर लेता है। इसीलिए तीर्थंकर महावीर ने आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले कहा था : मनुष्य अनेकचित्त है।[४३] वह एकचित्त नहीं है। उसके भीतर बहुत चित्त हैं। और, जिसके भीतर बहुत चित्त हैं, वह कभी स्थिर एवं शांत नहीं हो सकता। एक चित्त कुछ कहता है तो दूसरा चित्त कुछ और चाहता है और तीसरा चित्त कुछ और ही कल्पना करता है। अनेकचित्तता का अर्थ है कि मनुष्य के मन में वृत्तियों, विचारों, कामनाओं, वासनाओं, कल्पनाओं और स्मृतियों का एक बहुत बड़ा जमघट है। इसलिए मनुष्य का मन खण्ड-खण्ड तथा बिखरा-बिखरा रहता है। इस अनेक-चित्तता के कारण ही मनुष्य का मन चंचल, अस्थिर, अशांत एवं व्यग्र रहता है। अनेकचित्तता मन को चंचल करती है—अस्थिरता की ओर ले जाती है।

ध्यान मनुष्य को एकचित्त बनाता है। ध्यान का अर्थ है एकचित्तता। अनेकचित्तता के कारण ही मन के चिन्तन का प्रवाह बहुमुखी होता है। ध्यान मन के इस बहुमुखी चिन्तन को एकमुखी करता है। ध्यान मन की बहुमुखी चिन्तनधारा को एक दिशा की ओर मोड़ देता है। मन के चिन्तन को एक आलम्बन पर केन्द्रित करना ध्यान है।[४४] मन के चिन्तन का एक ही वस्तु पर अवस्थान या ठहराव ध्यान कहलाता है।[४५] एक ही ध्येय में एकतानता—चित्तवृत्ति का एकरूप तथा एकरस बने रहना ध्यान का स्वरूप है।[४६] एक विषय पर मन की अवस्थिति एवं एकाग्रता ही समाधि है।[४७] मन के इस एकाग्र-सन्निवेशन से निरोध फलित होता है।[४८]

वस्तुतः ध्यान की साधना मन को धीरे-धीरे वृत्तियों और विषयों से शून्य एवं रिक्त करने की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। ज्यों-ज्यों साधक एक आलंबन पर चित्त-वृत्ति को स्थिर करने के लिए ध्यान का अभ्यास करता है, त्यों-त्यों मन के पटल से अन्य वृत्तियाँ विसर्जित होने लगती हैं। मनोरोध के लिए मन का वृत्तियों और विषयों से मुक्त एवं रिक्त होना आवश्यक ही नहीं, अत्यन्त अनिवार्य एवं अपरिहार्य है। मन को वृत्तियों और विषयों से शून्य करना ध्यान-साधना का चरम बिन्दु है। निर्विषय मन ध्यान की परम स्थिति है।[४९] वृत्ति-शून्य होने पर मन का निरोध हो जाता है।

मनोरोध की फलश्रुति : आत्मस्वरूप की उपलब्धि

आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही योग का चरम लक्ष्य है। मनुष्य की चित्त-वृत्तियाँ ही बाह्य जगत की वस्तुओं को ग्रहण करने वाली और उनमें लिप्त होने वाली होती हैं। योग-साधना से ज्यों-ज्यों मन की वृत्तियाँ बहिर्मुख से अन्तर्मुख होती हैं और क्रमशः उनका निरोध होता है, त्यों-त्यों मनुष्य बाहर से सिमट कर अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होने लगता है और धीरे-धीरे वह आत्म-स्वरूप के निकट—निकटतर पहुँचता जाता है। वृत्ति-शून्य मन ब्रह्माकारता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, यही असंप्रज्ञात समाधि है।[५०]

योग-दर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने समाधि को ही योग कहा है। समाधि की अवस्था में पहुँचकर ही चित्त-वृत्तियों के पूर्णतः निरोध और परमात्मा से तादात्म्य की स्थिति प्राप्त हो सकती है। वृत्ति-शून्य एवं स्थिर मन में आत्मस्वरूप को आवृत करने की क्षमता ही नहीं रह जाती। स्थिर तथा निर्मल मनरूपी जल में आत्म-दर्शन होता है।[५१] वृत्तियों के निवृत्त होने पर उपराग शांत हो जाता है और आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।[५२] चित्त के वृत्ति-शून्य होते ही आत्मा स्वयं प्रकाशित हो उठती है।[५३] चित्त-वृत्ति का निरोध होने पर द्रष्टा—आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।[५४] योग के अभ्यास से वश में किया हुआ चित्त जब आत्मा में स्थित हो जाता है, तभी वह सब कामनाओं से निःस्पृह पुरुष योगयुक्त ध्यानयोगी कहलाता है।[५५] जीवन की यह वह सर्वोच्च स्थिति है, जहाँ पहुँचकर, योग के अभ्यास द्वारा, चित्त निरुद्ध और उपराम को पा लेता है और जहाँ आत्मा के द्वारा ही आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप आत्मा को पहचानकर अपने आप में सन्तुष्ट रहता है।[५६] योग के द्वारा आत्म-साक्षात्कार करना परम धर्म है।[५७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१ चित्तन्तरो अयं भिक्खवे मच्चो ।—अंगुत्तर निकाय, १०/२१/६ ।
२ मनसि शेते मनुष्यः ।—उत्तराध्ययन चूर्णि, ३ ।
३ मननात् मनुष्यः ।
४ मत्वा कार्याणि सीव्यन्तीति मनुष्याः—यास्क मुनि, निरुक्त ।
५ मनो वै ब्रह्मा—गो. ब्रा. ३/५/४ ।
६ चित्तमेव नरोनाऽन्यद् ।—योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, ४/२० ।
७ मन ही भीतर रच रहा, भांत-भांत के रूप ।
जैसा मन का रंग है, वैसा बाह्य स्वरूप ॥—संत कबीर
८ तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।—उपनिषद्
९ न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।—महर्षि व्यास
१० मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।—मैत्रायणी आरण्यक, ६/३४-३ ।
११ मनसा मुक्तेः पन्था उपलभ्यते ।—यजुर्वेदीय उव्वट-भाष्य ।
१२ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।—योग-सूत्र, १/१ ।
१३ खणमेत्तसोक्खा, बहुकालदुक्खा ।—उत्तराध्ययन, १४ ।
१४ चेतोमहानदी उभयतोवाहिनी । वहति कल्याणाय वहति पापाय च । —योग-सूत्र, व्यास-भाष्य ।
१५ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।—योग-सूत्र, २/२९ ।
१६ अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग एव श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥—हरिभद्र, योगबिन्दु, ३१ ।
१७ अथ त्रिविधदुःखस्यात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः । —महर्षि कपिल, सांख्यसूत्र, १ ।
१८ मनसा मुक्तेः पन्था उपलभ्यते । —यजुर्वेदीय उव्वट-भाष्य
१९ एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य ।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥—उत्तराध्ययन, १९/२४ ।
२० संसारोत्तरणेयुक्तिर्योगशब्देन कथ्यते । —योगवासिष्ठ, ६-१/३३/३ ।
२१ योगः सर्वविपद्वल्लीविताने परशुः शितः । —आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र, १/५ ।
२२ विद्याद दुःख संयोग-वियोगं योगसंज्ञितम् । —गीता, ६/२३ ।
२३ संसारस्योस्य दुःखस्य, सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति, मनसः स्वस्यनिग्रहः ॥ —योगवासिष्ठ, ४/३५/२ ।
२४ मनोविलयमात्रेण, दुःखशान्तिरवाप्यते । —योगवासिष्ठ, ६/११२/९ ।
२५ (क) यथा दीपोनिवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता । —गीता, ६/१९ ।
(ख) तहरायानिलरहिओ, झाणपईवो वि पज्जलई । —भावपाहुड, १२३ ।
२६ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । —पातंजल योग-सूत्र, १/२ ।
२७ अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।—योग-सूत्र १/१२ ।
२८ चेतो महानदी वहति कल्याणाय वहति पापाय च ।—व्यास-भाष्य, योग-सूत्र १/१२ ।
२९ यथा यथा सदभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत् ।
वायुवाक्कायदृष्टीनां, स्थिरता च तथा-तथा ॥—अज्ञात
३० तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । —पातंजल योग-सूत्र, १ ।
३१ पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते । —योगवासिष्ठ, ६-२/६७/४३ ।
३२ (क) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः । —योग-सूत्र, १/१४ ।
(ख) "स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।" —गीता, ६/२३ ।
३३ दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णष्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ।—योगवासिष्ठ, १/१५/७ ।
३४ द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय, योगो ज्ञानं च राघव !
योगाच्चित्तवृत्तिनिरोधो हि, ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् । —योग वासिष्ठ ५/७८/८ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५ अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ । जंसि गोयममारूढो, कह तेण न हीरसि ।
पधावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं । न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ।।
—उत्तराध्ययन, २३/५५-५६ ।

३६ नाणं नरस्स सारं ।

३७ दुक्खेन नज्जइ अप्पा ।

३८ ज्ञानस्य फलं विरतिः ।

३९ विषयेभ्यः परावृत्तिः परमोपरतिर्हि सा । —शंकराचार्य, अपरोक्षानुभूति ७/२ ।

४० णाणं अंकुसभूदं मदोन्मत्तस्स हत्थिस्स ।

४१ जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी । —तीर्थंकर महावीर, आचारांग, १/२/६ ।

४२ चिंतिज्जइ जेण तं चित्तं । —नन्दी-चूर्णि, २/१३ ।

४३ अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे । —आचारांग, १/३/२ ।

४४ एकाग्र चिन्तानिरोधोध्यानम् ।—उमास्वाति, तत्त्वार्थ-सूत्र, ९/२६ ।

४५ चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि, छउमत्थाणं झाणं । —ध्यानशतक, गाथा ३ ।

४६ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । —पातंजल योग-सूत्र, ३/२ ।

४७ तत्रैकाग्रता समाधि । —महर्षि कपिल, सांख्यदर्शन ।

४८ एगग्गसंन्निवेसेण निरोहं जणयइ ।—उत्तराध्ययन, २९/२७ ।

४९ ध्यानं निर्विषयं मनः । —महर्षि कपिल, सांख्यदर्शन, ६/२५ ।

५० मनसोवृत्तिशून्यस्य, ब्रह्माकारतया स्थितिः ।
साऽसम्प्रज्ञात नामासौ, समाधिरित्यभिधीयते ।। —अज्ञात

५१ मणसलिले थिरभूए, दीसइ अप्पा तहा विमले । —तत्त्वसार २४६ ।

५२ तन्निवृत्तावुपशान्तरागः स्वस्थः । —महर्षि कपिल, सांख्यदर्शन, ६/२५ ।

५३ सुण्णीकयम्मि चित्ते, णूणं अप्पा पयासेइ । —आराधनासार, ७४ ।

५४ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।—पातंजल योग-सूत्र, १/३ ।

५५ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो, योगयुक्त स उच्यते ।। —गीता, ६ ।

५६ यत्रोपरमते चित्तं, निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं, पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। —गीता, ६/२० ।

५७ अयं तु परमोधर्मो, यद्योगेनात्मदर्शनम् । —महर्षि मनु

★★★

णाणमयविमलसीय सलिलं पाऊण भविय भावेण ।
बाहिजरमरणवेयणडाह विमुक्का सिवा होंति ।।

ज्ञान रूपी विमल, शीतल जल को सम्यक्त्व भाव से पीने से व्याधि, जरा, मृत्यु, वेदना आदि मिट जाते हैं और मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



योग और ब्रह्मचर्य

□ योगाचार्य स्वामी कृपाल्वानन्द—कायावरोहण
[जि. बरोड़ा, गुजरात]

असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतं गमय ।

१. योग

योग को 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। यह महाविद्या अतिगूढ़, अति प्राचीन एवं सुदुष्कर है। इसकी सिद्धि के लिए अनेक जन्मों की आवश्यकता होती है। यदि तटस्थ दृष्टि से योग का मूल्यांकन किया जाय तो उसको ईशधर्म, विश्वधर्म, सर्वधर्म, मानवधर्म अथवा अमरधर्म ही कहना पड़ेगा। यह सत्य है कि उसकी उद्गम-भूमि भारत ही है तथापि उस पर समस्त विश्व का समान अधिकार है। इसकी सिद्धि के लिए योग पारंगत गुरु की कृपा अनिवार्य है। इस योग का अन्तर्भाव षड्दर्शनों में किया गया है।

विश्व में दो निष्ठाएँ सुप्रसिद्ध हैं—ज्ञाननिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा, अतएव योग भी दो प्रकार के हो सकते हैं—ज्ञानयोग एवं कर्मयोग। इन दोनों योगों के अन्तर्गत भक्तियोग आ जाता है, क्योंकि बिना प्रेम के ज्ञान एवं कर्म विफल ही रहते हैं।

योग के प्रकार नहीं हो सकते किन्तु मनुष्य में प्रकृतिभेद, संस्कारभेद, साधनभेद, साधनाभेद, शक्तिभेद, अवस्थाभेद इत्यादि अनेक भेद होते हैं; इसी प्रयोजन से योग में अनेकता के दर्शन होते हैं।

योग का अर्थ समाधि है।

जिस प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये मन की तीन अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार समाधि भी मन की एक अवस्था ही है। इस चौथी अवस्था का अनुभव सभी साधारण मनुष्यों को नहीं होता, केवल उच्च कक्षा के योगी को होता है।

योग के दो अवान्तर-भेद हैं—सकाम एवं निष्काम। इनमें से पहला सकामयोग 'समाजधर्म' कहलाता है और दूसरा निष्कामयोग 'व्यक्तिधर्म अथवा मोक्षधर्म'। अखिल विश्व के विभिन्न धर्मों में केवल एक ही, समाजधर्म की शाखा उपलब्ध होती है किन्तु भारतीय धर्मों में उपर्युक्त दो शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। यही भारतीय धर्मों की विशिष्टता है। पहले समाजधर्म में अनुष्ठान से व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र समुन्नत बनता है। यह धर्म सर्वोपयोगी है। दूसरा व्यक्तिधर्म वा मोक्षधर्म महापुरुषों का धर्म है। इसी धर्म के अंशों से समाजधर्म का निर्माण किया जाता है। उसमें प्राप्त परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर बाह्य परिवर्तन होता रहता है तथापि उसके मूल अंशों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाता।

२. ब्रह्मचर्य का महत्व

योग की परिभाषा में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'यम' और शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान और तप को 'नियम' कहते हैं। यम-नियम ही योग अथवा धर्म का वज्रदुर्ग है। इसके बिना योग वा धर्म की संरक्षा असंभाव्य है। योगपारंगत योगियों ने इन यम-नियमों को सार्वभौम महाव्रत कहा है। समाजधर्म में यम-नियम के ही अंश सर्वाधिक होते हैं।

समाजधर्म में ब्रह्मचर्य का स्थान सर्वोच्च है। यदि उसका परित्याग करके अन्य शेष अंशों को स्वीकृत कर लिया जाय तो समाजधर्म निष्प्राण शरीर के सदृश ही दिखायी देगा। उसमें चेतना नहीं रहेगी। समाजधर्म द्वारा व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र का चारित्र्य विधान होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन भारत में चार आश्रमों का संविधान था। इनमें तीन आश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यस्ताश्रम—अरण्य में व्यवस्थित थे। केवल एक गृहस्थाश्रम ही नगर में था। गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य तीनों आश्रमों में ब्रह्मचर्य की प्रधानता थी। गृहस्थाश्रम में भी मर्यादाएँ थीं, जिससे आंशिक ब्रह्मचर्य सिद्ध होता था।

इस निरीक्षण से अवगत हो जाता है कि चारित्र्यविधान में ब्रह्मचर्य की समता करने वाला दूसरा एक भी उपकरण नहीं है। जिस योग में ब्रह्मचर्य के लिए स्थान नहीं है उस योग को 'योग' कहना अज्ञानता ही है, क्योंकि भोग का विपरीत शब्द योग है और योग का पर्याय है ब्रह्मचर्य। योगग्रन्थों में 'बिन्दुयोग' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है, इससे ब्रह्मचर्य की महत्ता अनायास सिद्ध हो जाती है। भोग पतन एवं योग उत्थान है। भोग में वीर्य की अधोगति और योग में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। जिसको ब्रह्मचर्य का महत्व ही ज्ञात नहीं है वह विद्वान् होने पर भी मूर्ख है। बिना ब्रह्मचर्य के व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ही नहीं होता। महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा है—**ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।** "योग द्वारा ऊर्ध्वरेता बनने के पश्चात योगी महापराक्रमी हो जाता है।" वही योगी परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है। जब ब्रह्मचर्य द्वारा असम्भाव्य भी सम्भाव्य हो जाता है तो कीर्ति, लक्ष्मी इत्यादि लौकिक पदार्थों की प्राप्ति सम्भाव्य ही होगी, यह निःसंशय है। एक स्थान पर शिवजी ने पार्वतीजी से कहा है—"**सिद्धे बिन्दौ महादेवि! किं न सिद्ध्यति भूतले।**" "हे पार्वती! बिन्दु सिद्ध हो जाने पर भूतल में ऐसी कौन सी सिद्धि है कि जो साधक को सम्प्राप्त नहीं होती?" अर्थात् बिन्दुसिद्ध ऊर्ध्वरेता महापुरुष के श्रीचरणों में समस्त सिद्धियाँ दासी होकर रहती हैं।

केवल योगी ही योग के अवलम्ब द्वारा ऊर्ध्वरेता बन सकता है। देवों का देवत्व भी ब्रह्मचर्य पर ही आधारित है—"**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।**" "देवों ने ब्रह्मचर्य रूप तप से मृत्यु को मार डाला। जहाँ मृत्यु को भी निराशा प्राप्त होती हो वहाँ बेचारे रोगों की क्या सामर्थ्य कि वे ऊर्ध्वरेता महापुरुष के शरीर में प्रवेश कर सकें।

३. ब्रह्मचर्य के महत्व का प्रयोजन

कर्मयोगी श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—"**बीजं मां सर्वभूतानाम् विद्धि पार्थ! सनातनम्।**" "पार्थ! सर्वभूतों का शाश्वत बीज मैं ही हूँ।" अर्थात् मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, सर्व की आत्मा हूँ, शुक्र हूँ और समस्त सृष्टि का कारण हूँ। तभी तो ब्रह्म प्राप्ति के लिए ऋषिमुनि ब्रह्मचर्य की कठोरातिकठोर उपासना करते थे—"**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।**"

बिन्दु की यथार्थ महत्ता तो केवल एक योगी ही जानता है। इसीलिए योगीराज गोरक्षनाथजी ने शुक्रस्तुति गाते हुए कहा है—"**कंत गयाँ कूँ कामिनी झूरै, बिन्दु गयाँ कूँ जोगी।**" योगशास्त्रकार तो कहते हैं—"जब तक मृत्यु है, तब तक जन्म है और जब तक जन्म है तब तक मृत्यु है।" जन्म एक विवशता है। उसका निरोध शक्य नहीं है किन्तु मृत्यु का तो निरोध हो सकता है। प्राचीन योगविज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि मृत्यु का कारण बिन्दु का अधःपतन और अमरता का कारण बिन्दु का ऊर्ध्वगमन है। यदि मृत्यु जीवन का एक छोर हो तो अमरता जीवन का दूसरा छोर होना चाहिए। यदि मृत्यु का कारण हो सकता है तो उस कारण को विनष्ट करने की मनुष्य में क्षमता भी हो सकती है। जब यन्त्र किसी क्षति के कारण निष्क्रिय हो जाता है तब यान्त्रिक उसको पुनः सक्रिय बना सकता है। तद्वत् किसी क्षति के कारण शरीरयन्त्र भी निष्क्रिय हो जाता है तब पूर्णयोगी उसको पुनः सक्रिय-जीवित बना सकता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन है। उसमें कहा है—"**न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।**" "जिस योगी को योगाग्निमय विशुद्ध शरीर की सम्प्राप्ति हो जाती है उसके शरीर में रोग, वृद्धावस्था एवं मृत्यु प्रविष्ट नहीं हो सकते।" सबीज समाधि सिद्ध हो जाने पर योगी को योगाग्निमय दिव्यदेह की प्राप्ति होती है। यह दिव्य देह ही सच्चे योगी का बाह्य परिचय है।

४. ब्रह्मचर्य का स्वरूप और उसकी द्विविध साधना

योगदर्शन के भाष्यकार महामनीषी व्यासजी ने ब्रह्मचर्य की परिभाषा इस प्रकार की है—"**ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।**" "विषयेन्द्रिय द्वारा प्राप्त होने वाले सुख का संयमपूर्वक परित्याग करना, उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं।" उपस्थ इन्द्रिय के संयम का नाम ही 'निष्काम कर्मयोग' है। उसी को 'ब्रह्मविद्या' भी कहते हैं। उसके अनुष्ठान से योगी ऊर्ध्वरेता बनता है। यह विद्या अत्यन्त रहस्यमयी, अतिप्राचीन और सर्वविद्याओं की जनयित्री है। उसकी प्राप्ति के अनन्तर विश्व में कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। ब्रह्मचर्य की महत्ता जानने वाले असंख्य साधक ब्रह्मचर्य-पालन का प्रयत्न तो करते हैं किन्तु ब्रह्म-विद्या की उपलब्धि के लिए जैसा ब्रह्मचर्य-पालन अपेक्षित है वैसा ब्रह्मचर्य-पालन वे कर नहीं सकते। इसलिए शास्त्र में कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः॥

"ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम तप है, अन्य तप तप अवश्य हैं किन्तु वे समस्त तप निम्न कक्षा के हैं। जिसने उपस्थ इन्द्रिय का संयम रूप तप किया है वह ऊर्ध्वरेता महापुरुष मनुष्य नहीं किन्तु देव है।"

१. **ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य**

हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रन्थियाँ हैं—अन्तःस्रावी एवं बहिःस्रावी। नलिकारहित अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का स्राव रसवाहिनियाँ एवं शिराएँ शोष लेती हैं। इस प्रकार रुधिरशोषित स्राव समस्त शरीर को प्राप्त हो जाता है। दूसरे प्रकार में नलिकावाली बहिःस्रावी ग्रन्थियों का स्राव नलिका द्वारा विविध अवयवों को प्राप्त होता है। बाल्यावस्था में बालक की शुक्रग्रन्थि और बालिका की रजःग्रन्थि में स्राव तो उत्पन्न होता है किन्तु उसको रुधिर शोष लेता है। युवावस्था का अभ्युदय होते ही युवक-युवती के शरीर में काम की ऊर्जा अति प्रबल हो उठती है और वह उनको विह्वल बना देती है। अन्त में स्खलन होता है। इस प्रकार जहाँ एक बार स्खलन हुआ कि सदा के लिए अधोमार्ग खुल जाता है। उसका नियन्त्रण करके ऊर्जा को ऊर्ध्वगामिनी बनाने का दुष्कर कार्य करना, मानो अवनीस्थ प्रवाहित गंगा को आकाश की दिशा में प्रवाहित करना है।

ब्रह्मचारी बनना यह एक पक्ष है और ऊर्ध्वरेता बनना यह दूसरा पक्ष है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी का ब्रह्मचर्य साधारण ब्रह्मचर्य है और योगी का ब्रह्मचर्य असाधारण ब्रह्मचर्य है। साधारण ब्रह्मचर्य पालन करने वाले व्यक्ति यम-नियम सहित सामान्य योग का प्रश्रय लेते हैं और असाधारण ब्रह्मचर्य पालन करने वाला योगी यम-नियम सहित सहजयोग का प्रश्रय लेता है। दूसरा मार्ग अतिविकट होने से कोई विरला महापुरुष ही उसकी यात्रा कई जन्मों के पश्चात ही पूर्ण कर सकता है।

ब्रह्मचर्य-पालन के लिए कतिपय अत्यावश्यक नियम

विजातीय का दूषित भाव से स्मरण नहीं करना चाहिए। मन को व्यग्र करने वाली उसकी चर्चा भी नहीं करनी चाहिए। प्रत्यक्ष में उसके साथ क्रीड़ा भी नहीं करनी चाहिए। उसको अनुराग की दृष्टि से देखना भी नहीं चाहिए। उसके साथ एकान्त में वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए। उपयोग का संकल्प भी नहीं करना चाहिए। उसकी प्राप्ति के लिए निश्चय भी नहीं करना चाहिए और सम्भोग भी नहीं करना चाहिए।

अब हम सामान्य साधकों को ब्रह्मचर्य रक्षा के लिए कुछ वैज्ञानिक उपाय दिखाते हैं।

(अ) **विशिष्ट उपाय**—यदि किसी भी कारण से मन में कामवासना का संचार हो जाय तो नेत्रों को भ्रूकुटि के मध्य में बारम्बार सुस्थिर करना चाहिए, इससे अवांछनीय जागृति का प्रशमन हो जायेगा। अपानवायु प्रबल बनने से गुह्येन्द्रिय जाग्रत होती है और मन विक्षुब्ध। जैसे-जैसे मन विषयमग्न होता जाता है वैसे-वैसे अपानवायु और गुह्येन्द्रिय ये दोनों निरंकुश होते जाते हैं। इस अवस्था में अपान के वेग का प्रतिकार करने के लिए प्राण की शरण लेनी चाहिए। नेत्रों को भ्रूकुटि के मध्य में स्थापित करने से प्राण की शरण प्राप्त हो जाती है। शरण मिलते ही अपान निर्बल होता जाता है और इन्द्रिय की जागृति न्यून होती जाती है। भ्रूकुटि में नेत्रों को बारम्बार सुस्थिर करने से वायु की गति में परिवर्तन होता है और वायु की गति में परिवर्तन होने से मन की गति में परिवर्तन होता है। जिस प्रकार यन्त्र के गतिमान चक्र को स्तम्भित करने के लिए हम नियत यन्त्रावयव को दबाते हैं तो वह अवश्य रुक जाता है, उसी प्रकार शरीर यन्त्र के सक्रिय विषय-चक्र को नियन्त्रित करने के लिए नेत्रों को भ्रूकुटि में बारम्बार सुस्थिर करना चाहिए। इससे वह अवश्य ही नियन्त्रण में आ जायेगा। यह योगयुक्ति है। संयमी साधकों के लिए तो यह युक्ति दैवी सम्पत्ति का भण्डार है।

(आ) **सामान्य उपाय**—१. यदि मन एवं इन्द्रिय में कामवासना का प्राथमिक संचार होने लगा हो तो मात्र एक गिलास शीतल जल पीने से और मन को सद्विचार में प्रवृत्त करने से उसका प्रशमन हो जाता है।

२. उस समय माता, बहिन, पुत्री, आराध्यदेव अथवा श्रद्धेय श्री सद्गुरु की पवित्र स्मृति में मन को स्थिर करने से कामवासना निवृत्त हो जाती है किन्तु यहाँ यह आध्येय है कि यदि उन स्मरणीय व्यक्तियों के प्रति परमादर होगा तभी यह क्रिया सिद्ध हो सकेगी।

३. एकान्त के परित्याग से भी कामवासना दूर हो जाती है।

४. उस अवस्था में लघुशंका करके गुह्येन्द्रिय पर पाँच मिनट पर्यन्त शीतल जल की पतली धारा डालनी चाहिए। इससे जागृति में बाधा उपस्थित होगी और मस्तिष्क में इस नयी प्रवृत्ति के कारण नवीन विचारों का उद्भव होगा, जिससे विषय-विकार दुर्बल होकर विनष्ट हो जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. शीतल जल के स्नान से भी कामवासना शान्त हो जाती है।

६. कटि डूब जाय इतने गहरे जल में खड़े रहने से अथवा शीतलजलपूर्ण टप में बैठने से विषय-विकार विनष्ट हो जाता है।

७. गुरुमन्त्र सहित पन्दरह-बीस लोम-विलोम प्राणायाम करने से भी कामशमन हो जाता है। लोम-विलोम के स्थान पर भस्त्रिका प्राणायाम का प्रयोग भी हो सकता है। लोम-विलोम प्राणायाम में मन्त्र की शक्ति मिलती है, अतः मन बलवान हो जाता है और वह विषय-विकार के वशीभूत नहीं होता।

८. सद्ग्रन्थों के पाठ, प्रभु प्रार्थना अथवा इष्ट मन्त्र के जप से भी कामवासना नष्ट हो जाती है।

२. ऊर्ध्वरेता योगी का ब्रह्मचर्य

ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि ऊर्ध्वरेता हुए बिना नहीं होती, इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

"कौन्तेय ! ज्ञानी का नित्य वैरी अतृप्त काम है। उसके द्वारा ब्रह्मज्ञान ढँका हुआ है।" जिस प्रकार यन्त्र में वाष्प को रुँधने से आश्चर्यजनक ऊर्जा उत्पन्न होती है उसी प्रकार शरीर में शुक्र को ऊर्ध्वगामी बनाने से अलौकिक शक्ति उत्पन्न होती है। इससे सर्वप्रथम योगी का शरीर दिव्य हो जाता है। योग की जिस भूमिका में योगी को दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है उस भूमिका को भक्तिशास्त्रों ने 'सारूप्यमुक्ति' कहा है। उस मुक्ति की प्राप्ति के पश्चात् अर्थात् उस भूमिका के उत्क्रमण के पश्चात योगी को योग की चतुर्थ भूमिका में 'साष्ट्र्य' नामक मुक्ति की उपलब्धि होती है। 'सारूप्यमुक्ति' में उसको श्रीहरि के समान रूप की और 'साष्ट्र्यमुक्ति' में श्रीहरि के समस्त अधिकारों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार योगी हरिरूप हो जाता है। मुक्ति की यह चतुर्थ भूमिका सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग एवं भक्तियोग की चरम सीमा है।

ब्रह्मविद्या के आद्य प्रवर्तक श्री ऋषभदेव हैं। शिवजी एवं कर्मयोगी श्रीकृष्णजी भोगी नहीं अपितु ऊर्ध्वरेता योगी हैं।

ऊर्ध्वरेता (निष्काम) बनने के लिए साधक को आरम्भ में क्या करना चाहिए। यह श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार बताया है—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ३/४०॥

"इसलिए, भरतश्रेष्ठ ! तू पहले इन्द्रियों को रोककर ज्ञान-विज्ञान के नाश करने वाले इस पापी काम को निश्चय ही त्याग दे।" अब वे उस काम को किस युक्ति द्वारा दूर करना चाहिए, वह बताते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥३/४१॥

"इस प्रकार इस दुर्विजय कामरूप शत्रु को बुद्धि से भी प्रबल मानकर, हे महाबाहो ! तू आत्मा से आत्मा को रोककर त्याग।" इस श्लोक में काम को दूर करने के लिए आत्मा को आत्मा से स्तम्भन करने की प्रेरणा प्रदान की गयी है। यह एक रहस्यमयी योग प्रक्रिया है। मैं यहाँ 'आत्मा' शब्द का अर्थ 'शुक्र' करता हूँ। संस्कृत में 'आत्मन्' शब्द अनेकार्थी है। इनमें 'जीवनतत्त्व' और 'सारतत्त्व' इन अर्थों का भी समावेश होता है। शुक्र जीवनतत्त्व भी है और सारतत्त्व भी। अतः इन शब्दों को आत्मा के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है। यहाँ प्रसंग भी काम को दूर करने का है। दूसरा 'आत्मा' शब्द शुद्ध मन के लिए प्रयुक्त किया गया है। आत्मा को आत्मा से रोकना यानी शुद्ध मन से वीर्य को स्खलित होने से रोकना। इस योग प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार है—

महाभारत के युद्ध की अपेक्षा विषय-वासना का युद्ध अति भीषण है। निष्काम कर्मयोग में साधक को सिद्धासन द्वारा शुक्रग्रन्थि में शुक्र उत्पन्न कर उसको ऊर्ध्वगामी बनाते रहना होता है। शुक्रग्रन्थि में वीर्योत्पत्ति तब होती है जबकि गुह्येन्द्रिय में प्रबल जागृति आती है। जिस समय अपानवायु शुक्र को बलात् अधोमार्ग में आकर्षता है, उस समय अक्षुब्ध योगसाधक को प्राणवायु की सहायता द्वारा अपानवायु को ऊर्ध्वगामी बनाने का अति भीषण कर्म करना पड़ता है। यह कार्य योगयुक्ति एवं आचार्य के अनुग्रह द्वारा ही हो सकता है। इस 'निष्काम कर्मयोग' का यथार्थ स्वरूप अवगत न होने के कारण पीछे से बौद्धधर्म और सनातन धर्म की शैव, वैष्णव और शाक्त शाखाओं में वाममार्ग का प्रचलन हुआ था।

निष्काम कर्मयोग द्वारा शरीर की प्रत्येक नाड़ी मलरहित हो जाने के पश्चात् शरीर स्वाभाविक रीति से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुस्थिर एवं सरल हो जाता है। अर्थात् प्रत्याहार की भूमिका समाप्त होकर ध्यान की भूमिका का आरम्भ होता है। इस अवस्था में बाह्य इन्द्रियाँ ध्यान को सहयोग प्रदान करती हैं। किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करतीं। इससे मनोनिग्रह सुकर हो जाता है। अन्य शब्दों में इस तथ्य को प्रस्तुत करना हो तो इसे इस प्रकार कर सकते हैं कि इन्द्रियों की चंचलता छूट जाने के पश्चात् मन स्वाभाविक रीति से अन्तर्मुख हो जाता है, क्योंकि मन की बहिर्मुखता का कारण इन्द्रियों की चंचलता ही होता है। प्राण और मन की सहायता द्वारा इन्द्रियनिग्रह सिद्ध होता है, अतः इन्द्रियों की चंचलता विनष्ट होने से प्राण एवं मन में भी आंशिक स्थिरता का संचार होने लगता है। इस भूमिका की प्राप्ति के अनन्तर ही सांख्ययोग का आरम्भ आज्ञा-चक्र से होता है। निष्काम कर्मयोग द्वारा मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धाख्यचक्र तथा ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि का भेदन होता है। इन चक्रों के स्थान कर्मेन्द्रियों की सीमा में होने के कारण उसको निष्काम कर्मयोग का क्षेत्र कहा है। निम्न चक्रों एवं ग्रन्थियों के भेदन के अनन्तर आज्ञाचक्र एवं सहस्रदलपद्म के भेदन का कार्यारम्भ होता है। इन चक्रों के स्थान ज्ञानेन्द्रियों की सीमा में होने के कारण उसको ज्ञानयोग या सांख्ययोग का क्षेत्र कहा है।

अब गीताकार कैसी पात्रता वाले साधक इस अतिगूढ़ और सर्वोत्तम ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, वह बतलाते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्म कर्म चाखिलम् ॥७/२९॥

"जो जरामरण से छूटने के लिए मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और समस्त कर्मों को जान लेता है।" यह श्लोक अत्यन्त ध्यानपूर्वक चिन्तन करने योग्य हैं। इसमें कहा गया है कि जो साधक स्व-शरीर को वृद्धावस्था और मृत्यु से विमुक्त करने के लिए मेरी शरण ग्रहण करके साधना करता है, केवल वही उस परब्रह्म परमात्मा को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और समस्त कर्मों को जान लेता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो योगी ऊर्ध्वरेता बनकर दिव्य शरीर की उपलब्धि करता है, वही जरा-मरण से विमुक्त जीवनमुक्त है और वही योगी सच्चा तत्त्वदर्शी महापुरुष है। इस श्लोक में 'जरा' शब्द अधिक महत्व का है। जो मरण से छूटता है वह जन्म से भी छूट जाता है। मरण से छूटना ही जन्म से छूटना है। अतः यहाँ जरा-मरण के स्थान पर 'जन्म-मरण' शब्द को ग्रहण करना अनुचित है। जरा-मरण से छूटना यानी योगाग्निमय दिव्य शरीर को पाना। योगी दिव्य शरीर की प्राप्ति की भूमिका पर्यन्त पहुँचता है। उस अवधि में चित्त की संशुद्धि हो जाती है। निर्बीज समाधि की सिद्धि का सामान्य चिह्न दिव्य शरीर है। वह समाधि तभी सिद्ध होती है जबकि योगी के अन्तःकरण में परम वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसे योगी को पार्थिव अथवा अपार्थिव शरीर के प्रति ममता या आसक्ति नहीं होती। यदि ममता या आसक्ति हो तो उसके अन्तःकरण में परम वैराग्य उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं कह सकते। ऐसा योगी निर्बीज समाधि सिद्ध ही नहीं कर सकता। मोक्षेच्छु योगी योग की सिद्धियों के लिए साधना नहीं करता, उसको तो केवल मोक्ष की ही कामना होती है और वह भी पर-वैराग्य की उत्पत्ति के अनन्तर लुप्त हो जाती है। तत्पश्चात् वह निरिच्छ और निर्भय होकर उपासना किया करता है। यह योग विज्ञान है।

तन्त्रों ने दिव्य शरीर की प्राप्ति को एक सिद्धान्त ही माना है। इतना ही नहीं, बौद्धतन्त्रों ने भी उसी को महत्ता दी है। बौद्धधर्म के तीन महा सिद्धान्त हैं—शील, समाधि एवं प्रज्ञा। ज्ञान की स्थिति अन्तिम है। इसका वैज्ञानिक क्रम इस प्रकार है—शील एवं समाधि से प्रज्ञा का उद्गम होता है। जब तक शरीर की सम्पूर्ण शुद्धि नहीं होती, तब तक मलिन शरीर में प्रज्ञा अथवा परमज्ञान को धारण करने की क्षमता ही नहीं उत्पन्न हो पाती। शुद्ध शरीर में ही शुद्ध ज्ञान का आविर्भाव हो सकता है। शील द्वारा शारीरिक शुद्धि एवं समाधि द्वारा चित्तशुद्धि होती है। जब क्रियायोग द्वारा रजस्-तमस् निर्बल बनते हैं और सत्त्वगुण अति प्रबल होता है तभी चित्त शुद्ध होता है। ऋतंभराप्रज्ञा को ही श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में सात्त्विक बुद्धि कहा है। इस दृष्टिकोण से 'नाड़ीशुद्धि' शब्द 'चित्त-शुद्धि' का पर्याय है।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण अपने प्रियतम शिष्य को आज्ञा करते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥६/४६॥

"तपस्वियों और ज्ञानियों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ है, इतना ही नहीं, अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ है, अतः हे अर्जुन ! तू योगी ही बन।"

योगी बनना यानी ऊर्ध्वरेता बनना।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

CAN YOGA PAVE THE WAY FOR WORLD UNITY ?

□ Smt. SITADEVI YOGENDRA

Yoga Institute, Santa Cruz, Bombay-56

The poser—Can Yoga Pave the Way for World Unity ?—requires a general appraisal of Yoga both as culture and science, the two chief indices of the evolutive attainments of Man, applicable either individually or on a mass scale. In fact, both as culture and science, Yoga is as old as civilization itself, for it challenges what is ignoble or uncontrollable in Nature and through its annihilation or control proves the superiority of Man in achieving the ultimate.

Ancient scriptures like the Vedas and even the recent findings with regard to Mohenjodaro and the Indus civilization indicate that certain primitive efforts towards man's physical, mental, moral and spiritual achievements existed in some form of secretly guarded practices of an archaic culture, (*purātana yoga*) even before the Aryans reached India. This represented the efforts, the paths, the stages of progress and the consummation of self-culture later refined added to and systematised and compiled in a metaphysical whole synthetically known as Yoga.

There are over one hundred different definitions of Yoga according to the systems of thought and the paths associated with it. What is important is their synthetic unity as the practical sum and total of all cultural endeavours of Man in his upward progress unto the Absolute, which to science must remain the maxim in the evolution of Man.

Culturally, Yoga thus is no more and no less than a scientific process of cultural evolution individually applied for elevating what is ignoble in Man to the noble and unto the realisation of the highest, the purest and the absolute in all planes of consciousness. No wonder therefore that the authorities on Yoga maintain that even the gods could not achieve Godhood except through Yoga (*vinā yogen devopi nā mukti labhate*).

Scientifically, Yoga contributes to, and rests on, the fundamentals of such positive sciences as physical education, hygiene, therapeutics, psychology, ethics, sociology, mental hygiene, eugenics and such others, besides being a constant source of inspiration to such cultural arts as music, dancing, painting, sculpture, literature and others.

Since Yoga consists not in precept but in practice, it is really not necessary that the whole of Yoga—especially the subjective endeavours in the higher planes of the conscious and the subconscious mind leading to the Absolute (*kaivalya*)—be applied to pave the way for world unity. In fact, in the lofty sublimable process of Yoga, world unity, except in the plane of divinity, assumes a minor socio-political and mundane aspect which even the preliminary training it affords in the cultivation of such social virtues as universal brotherhood (*maitrī*), universal sympathy (*karuṇā*), etc., and the habituation (*abhyāsa*) to its catholic (*sārvabhaumaḥ*), vows (*yama-niyama*) could easily guarantee.

For one thing, Yoga has recognised and concentrated on the individual as the constant unit for all practical purposes for the solution of world problems. For another, Yoga qualifies the individual as inheriting many impure traits, tendencies and instincts of animality along with

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

his accumulated potency-desire complexes (*saṁskāra-vāsanā*) which necessitate his personal reformation.

Yoga further holds that the synchronal reformation of the masses because of their divergent qualifications remains problematical, and to wait for such a miracle to happen is equally suicidal. Consequently, the only rational alternative being the subjective element of self education, Yoga insists on all such practical efforts as regenerative and regalvanize mental purity so that the personal attainments in moral life of the individual will produce elevating reaction in the society in which he lives and thereby in the world.

To begin with, Yoga paves the way for world unity through its immaculate moral activism which constitutes the first step in its practice. It provides for the moral emphasis of man through its emphasis on the cultivation of and habituation to vital social virtues which are to be developed and perfected through both objective and subjective processes of self-culture.

This consists in the regulation of will, thought and action to absolute purity not only in relation to oneself but also in relation to all others. Its negative approach analyses the main elements which prevent world unity and by gradual practice ends up in their total elimination, while its positive counterpart continually aids all such efforts as contribute to world unity.

Accordingly Yoga recognises that the biological instincts of self-preservation, self-propagation, self-aggrandizement, self-assertion and self-love which really keep individuals apart, and thus continually disturb world unity, need man's habituation to strong physical and mental restraints (*yama*) in the form of non-violence (*ahiṁsā*), truth (*satya*), abstinence from theft (*asteya*), sexual sublimation (*brahmacharya*) and non-covetousness (*aparigraha*).

To reinforce such moral efforts, Yoga suggests that advantage should be taken to the fullest measure of such compelling virtues as universal brotherhood (*maitrī*), universal sympathy (*karuṇā*), complacency (*muditā*), and non-violent non-cooperation (*upekṣā*) with evil.

These broad-based social virtues demand varying degrees of effort at self-control throughout life and are indispensable to Yoga for the purification and steadying of the mind. They have therefore been enjoined as the very first lesson in yoga education—a worthy prerequisite to yoga life and the most reliable basis for world unity.

Progressively, its positive counterpart testifies to the distinct growth of the individual mind to yoga behaviour (*yogācara*) edified with more virtues as follow the natural sequence in reciprocal ratio to his own moral elevation. These are contentment (*santoṣa*), absolute purity (*sauca*), enduring indifference to the opposites (*tapa*), self-education (*svādhyāya*) and renunciation to the fruits of all actions (*īśvarāprāṇidhāna*).

Thus, purged of all moral and mental impurities, when the individual rises above his ego (*ahaṁkāra*), his will, thought and action become self-denying and in conformity with the commonweal, and the road for world unity is thus paved.

This scientific moral activism of Yoga may be summed up for all practical purposes in daily life in a few ethical maxims. They contain the essence of yoga behaviour—some of the negative aspects representing the subjective and the positive aspects representing the objective side of human conduct.

Being universal in their conception and application, they are in complete harmony with the vital teachings and injunctions of known religions and schools of thought, but with this difference that the mere knowledge of these teachings of Yoga is not Yoga—in fact, the actual practice of Yoga is Yoga.

1. (a) Avoid any tendency to violence not only in action and speech but also in thought; (b) disapprove all forms of violence.
2. (a) Think, speak and act nothing but truth; (b) dissociate yourself from all that is untrue.
3. (a) Put into practice the spirit of 'live and let live'; (b) resist exploitation of others.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. (a) Regulate your sex life to conform the marital obligations ; (b) refuse to submit to the force of passion.
5. (a) Accept your dues but accept no more ; (b) disclaim all forms of social injustice.
6. (a) Keep your body and mind pure ; (b) avoid close contact with those who are physically or mentally contaminated.
7. (a) Be content with what you have ; (b) discredit the enjoyment of immoral gains.
8. (a) Cultivate indifference to both pleasure and pain ; (b) sacrifice no moral principles whatever the risk.
9. (a) Pursue knowledge for the sake of self-realization ; (b) censure prostitution of intelligence to iniquiteous ends.
10. (a) Discharge your duties honourably and leave the rest to the Absolute ; (b) oppose all forms of self-aggrandizement.
11. (a) Uphold world fellowship and the commonweal by your catholic thoughts, speech and actions ; (b) deprecate all attempts to divide humanity.
12. (a) Keep out immoral thoughts ; (b) annihilate evil wherever found.

When put into practice the above yoga moral code is enough to assure world unity. What is more according to Yoga, their constant practice leads to greater heights such as immunity from unbalanced emotionalism conducive to physical and mental good health, development of character and personality, bestowing upon the individual the necessary strength and grip over life, adaptation of universal love to behaviour generating selfless social service, freedom from egocentric complexes augmenting an immaculate sense of duty to oneself and society, the acquisition of a highly developed moral conscience, sensitiveness to social justice, purity of the mind concentrated on the higher pursuits of life, evolution of psychic equipoise progressively favourable to self-realization, and, thus, the uninterrupted enjoyment of the blessings of absolute holiness.

★★★

That Śramaṇa, who has fivefold carefulness, who is controlled in three ways, who has curbed his five senses, who has subdued his passions and who is completedy endowed with faith and knowledge, is called self-disciplined.

—*Kundakunda*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

YOGA : PERSONALITY, MIND AND VAIRAGYA

□ Dr. K. S. JOSHI, M. A., M. Sc. (Ag.), Ph.D.
Secretary of Indian Yoga Society & Head of the Department of Yoga,
University of Sagar (M. P.)

Yoga and Personality

Personality is a very vague term. Hundreds of definitions of it are given by psychologists, but there is not a single one which is accepted by all.

Whenever we talk about somebody being successful or unsuccessful in playing a particular role, or whenever we use such statements as 'he is liked by all', or 'he has become unpopular', we are really speaking about the personality of the individual in question. The process of education and learning which everyone of us undergoes in life, is concerned not only with the mere acquisition of knowledge, but is, also at the same time, a matter of personality development. The interest in the development of personality is perhaps as old as the human civilization. But a scientific treatment of the subject seems to be of a recent origin.

The word 'personality' is derived from the Latin *persona*, which means a mask. Masks were used extensively in the Greek and Roman drama to enable the spectators to distinguish the characters from a distance. Hence, personality is a convenient collective term for certain psychological functions.

We should distinguish between personality and mere individuality. Individuality may be said to be a characteristic of anything that can be counted separately ; whereas personality seems to imply self-consciousness. The term 'personality' may be used in relation to an agent who is conscious of himself. Thus, it may be interesting to ask whether a neonate has personality.

Guilford has classified all the definitions of personality into five groups : (i) Those which view personality as it appears to others, (ii) Those in which personality is called the sum-total of all observable characteristics, (iii) those which speak in terms of organization pattern, (iv) personality viewed as a whole, forgetting the parts entirely, and (v) those definitions which look at personality as organism-environment relationship.

A survey of various definitions shows that 'personality' is a convenient concept useful for understanding human behaviour. Personality is revealed through both overt and implicit behaviour. It is a function of two factors, namely, characteristics which are inherited, and those which are acquired. There may be general laws for explaining human behaviour, but our grasp of such laws is rather too poor. Hence it is generally said that each human being behaves in a unique manner. And lastly, personality as an indicator of behaviour can be measured in terms of quantitative variables.

Every person is found to have his own characteristic ways of doing things. These are called 'traits'. They show up in every act of the individual, in which he is trying to adjust himself with the internal and external reality.

Measurement of personality is usually done by first singling out aspects or dimensions of personality, and then assessing the position of an individual on the continuum or the scale posited in the method. Various such approaches have been tried by investigators, but a completely satisfactory method which would reveal one's personality in all its aspects is yet to be

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

found out. There are three main varieties of personality measurement, such as—(i) the life-record method, (ii) self-rating, and (iii) objective test method. No single test is sufficient to bring out a complete picture of personality. Hence a battery of such tests is generally employed.

Various dimensions have been studied by investigators of personality. They are, to mention a few, the somatic dimensions, dimensions of aptitude, dimensions of temperament, biological drives and so on.

In some sense, it is the job of the science of personality to analyse human behaviour with a view to arrive at the basic principles, and then to show as to how behaviour is to be modified in order to achieve what may be called the most desirable or ideal personality. I think, Psychology and its mother Philosophy, have both failed in this dual task, which is one of their primary objectives. Otherwise there would not be so much hypocrisy, exploitation, tension, war and superstition in the world in the which we live.

Is there any other discipline which can fulfil these two needs of humanity, namely, understanding the basic principles which govern human behaviour, and then showing a practical way of moulding human behaviour for realising the ideal personality ? In relation to this question it may be said that Yoga, it is being realised more and more, is coming forward as that discipline or art or science of personality which humanity needs very badly today.

The ancient Indian view of personality may be summarized in the language of the *Kaṭhopaniṣad* (I. iii. 3 to 9) in the following manner :

"The human body is like a chariot, having the *buddhi* as its charioteer, and the *ātman* as the person travelling in that chariot. The mind provides the reins to control the horses, which are the *indriyas*, the objects of enjoyment being the territory to be traversed. The *ātman* along with the senses and mind is called the experiencer (*bhokta*). When the mind is filled with *avidyā*, it cannot be applied properly, and under this situation the senses act like uncontrolled horses. But when the mind gets filled with right knowledge (*vidyā*), it can be applied properly, so that the senses are fully under its control like trained horses, and such a person reaches the highest state, which is the goal of life."

This is, in sum, the Yoga view of personality, which is found described also in the *Maitrāyaṇī Upaniṣad* (II. 6), and *Mahābhārata* (Vana-parvan, 211. 23 to 27). It may be said that the main emphasis in Yoga has always been on the goal of human life, that is to say, the state of liberation or emancipation. It is a basic view-point of Yoga that the life of an individual on the earth (*saṁsāra*) is overwhelmingly sorrowful. In fact, having to be born is itself looked upon as one of the most dreaded things, and a complete fullstop to the cycle of rebirths once and for all is the sole and ultimate concern of all the techniques that go to form the Yoga discipline. Thus the normal everyday personality of an individual, which is the most important sphere of investigation in modern approaches to personality, seems to have received hardly any attention in Yoga. Out of the five possible states of mind, called *'chittabhoomi's* namely, *mugdhā, kṣipta, vikṣipta, ekāgra*, and *niruddha*, only the last two are the concern of Yoga. And how many of us can have their minds go into these two states of stillness ?

The actual jurisdiction of Yoga has thus ever remained extremely restricted to a handful of people. Perhaps it was this situation that caused Lord Krishna to declare in the *Gītā* that the tradition of Yoga started by him in the beginning of creation by imparting its knowledge first of all to Vivaswāna, the Sun God, got lost, and vanished after some time. Thus in the strict sense Yoga may be called the science of the 'ideal personality'. And this science of personality has ever been without any significance, so far as the common man was concerned.

But things are showing a tremendous improvement over the past two decades. The practice of Yoga is spreading to all classes of the society, and it is becoming more and more evident that Yoga is not for the chosen few, as it used to be thought ; it is a thing from which everyone of us can derive some benefit. Importance of Yoga as a system of exercise, and as a therapy has now come to be established. And development of personality seems to be a more fruitful

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

area where Yoga can be put to extensive use. If it is main business of the science of personality to understand the principles governing human behaviour, and to show us how to apply those principles for bringing about a balanced and integrated personality, then even a superficial inquiry into Yoga-Psychology and Yoga-Ethics would show it clearly that Yoga is the most wonderful science of personality.

Yoga-psychology derives all human behaviour from five basic propensities of the mind, called the '*kleśas*'. They are : *Avidyā* or faulty knowledge of one's own nature, *asmitā* or the ego-feeling, *rāga* or craving for enjoyment, *dveṣa* or aversion for pain, and *abhiniveśa* or fear of death. These five *kleśas* govern the behaviour of all of us, whether we are lay or learned, ignorant or intelligent. *Avidyā* gives rise to a conditioned, one-sided view of the self and the world. This is the root cause of all misery, conflict, tension and war in the world. Cessation of *avidyā* is what Yoga aims at. For achieving this aim Yoga propounds an excellent training programme for the mind. Its psychological aspect consists of three stages, respectively called *dhāraṇā*, *dhyāna* and *samādhi*. This is aided by attitude training through development of right attitudes like *maitrī*, *karuṇā*, etc., and *pratipakṣabhāvanā*. The ethical aspect of the Yoga training involves behaviour issuing from *yama*, *niyama* and *pratyāhāra*. In addition to these there is the physical discipline which helps to train our muscles, nerves, and breathing, making the mind calm and peaceful. This is brought about by *āsana* and *prāṇāyāma*. Thus the eight parts or *aṅgas* of Yoga provide an overall and all-purpose training programme for the body and mind, bringing about balance, poise and peace in life.

One very remarkable feature of the Yoga practices is that even a small measure (*svalpamapyasya dharmasya*, as explained by the *Gītā*) of it yields very high and encouraging results. Just sitting silently in a meditative pose for a few minutes every day is found to give rise to personality changes which make life happier. Relaxation induced by yogic methods is found beneficial in overcoming tensions from the mind. *Āsanas*, *mudrās*, and *prāṇāyāma*, make up together a wonderful system of exercising all the organs, glands and parts of the body, taking care of the psycho-somatic dimension of personality. In fact, every one of the eight parts of the Yoga discipline helps to bring about harmony and balance in our life. Harmony and balance is the very essence of Yoga. Yogic counselling is found to be extremely useful in making us aware of the pit-falls which we must avoid while we look at ourselves in relation to the world. Outlook on ourselves and outlook on life is what forms the very core of our personality. Yoga helps to bring about a radical transformation in this core of personality. The result of prolonged Yoga training is a *jīvanmukta*.

A *jīvanmukta* is free, first of all, from *avidyā*. He is a person who has achieved *ātmadarśana* by overcoming conditioning. As a result of this he stops seeking. Everyone of us is ever seeking to be something or to have something. This seeking stops completely in the state of *ātmadarśana*. That puts an end to all psychological conflict, struggle, fear and uneasiness. Such a person exhibits the ideal of Yoga through his behaviour. It may be an ideal extremely difficult to attain. But that is not really a weak point of Yoga. Because every step in the direction of that ideal brings with it a wonderful experience of personality development. We can start near so that ultimately we can go far. Yoga is a way of training the body and mind, and thereby bringing about better adjustment within us, and between us and the world we live in. Yoga seems destined to play an increasingly important role as a science of personality in a world of Scientific achievement and psychological backwardness.

Yoga and the Mind

In Yoga the mind is called '*chitta*'. Another word for it is '*antaḥkaraṇa*' or the internal organ. There are in all thirteen organs or *indriyas* recognised in Yoga. Ten out of them are called external organs, which are the five congnitive organs (*jñanendriyas*) and five motory organs (*karmendriyas*). The *antaḥkaraṇa* is composed of three segments, respectively called

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

buddhi, ahaṁkara and *manas*. At times the word *manas* is also used in the sense of the *antaḥkaraṇa*. But '*chitta*' is a more common word with Patanjali, although he also uses word such as *sattva, buddhi, mana* and so on. *Buddhi* is the first product out of *Prakriti*. It has a preponderance of *sattvaguṇa*. It is the most important segment of the mind, as in it there are stored all the traces of past experiences in the form of *saṁskāras*. It is the decision-making part of the mind. Understanding or lack of it, memorizing, and arriving at conclusions and decisions, are all its functions. From the *buddhi ahaṁkāra* or *asmitā* arises. It supplies the ego-feeling, or feeling of one's existence, or self-consciousness. Words like 'I', 'me', 'to me', 'for me', 'mine', etc., are due to this segment. *Manas* is the segment which establishes a relation between the *buddhi* and the external world through the *Jñanendriyas*. Hence it is called *ubhayātmaka*. Its function is *saṁkalpa* and *vikalpa*. It is this part of the mind that needs to be silenced in *dhāraṇā and samādhi*.

Chitta is the instrument of knowledge. Being a product of the insentient prakriti, the *chitta* also is completely insentient (*jaḍa*). Then how can it be an instrument of knowledge ? This difficulty is solved by yoga by supposing that the *chitta*, due to the preponderance of *sattvaguṇa* in it, has a special capacity of reflecting the *puruṣa*, which is the sentiment principle, and thus getting 'energized', so to say. Thus the *chitta*, which has formed a reflection of the *puruṣa* in itself, behaves itself like being sentient. This is made possible because of the togetherness (*saṁyoga*) of the *puruṣa* and *chitta*, which is a fundamental presupposition of Yoga. The cause of this *saṁyoga* is *avidyā*. As long as this cause is there, *saṁyoga* also continues, and with it, the experiences gathered by the *chitta* go on accumulating in the form of *saṁskāras*. Yoga aims at putting an end to the accumulation of *saṁskāras* by the *chitta*, and seeks to achieve this by putting an end to *avidyā*. When *avidyā* is removed, the *saṁyoga* based on it also ceases to exist. That is called *Hana*, or *kaivalya*. All the eight parts of Yoga are prescribed in order to achieve *kaivalya*.

Chitta is supposed to go out through any one of the five doors of the cognitive senses. It grasps the object and becomes one with it. This communion with an object of experience gives rise to a modification in the *chitta*, which is called a '*vṛtti*'. *Vṛtti* may be a thought, or memory, correct or incorrect understanding, imagination, fantasy, etc. In Yoga, sleep is also called a *vṛtti*, as it is also a modification of the mind.

The *chitta* is compared to a crystal, which, although colourless in itself, shows completely the colour of any object in its vicinity, as if that colour belongs to itself. Thus a crystal placed near a blue flower appears blue, and one placed near a red flower shows the red colour in itself. Similarly the *chitta* when it reaches any object of experience, becomes '*tadākara*' or '*tadrūpa*' with the object and assumes its form. This is called '*uparāga*' which gives rise to a modification in the *chitta*, which is its *vṛtti*. But the *chitta* is full of all the *saṁskāras* of past experience, and these *saṁskaras* interfere with the process of '*uparāga*', and the resulting *vṛtti* is more or less confused. When the chitta is purified by *dhyāna*, and the impurities of the *saṁskāras* are removed, the '*uparāga*' with any object becomes complete. This gives rise to a complete knowledge about that object. This is what happens in '*saṁyama*', and Patanjali has described many *siddhis* which arise due to *saṁyama*. The *chitta*, actually, has a capacity to know anything past, present, and future, without any limits. But in actual experience this limitless capacity is very much restricted, because of the impurities called '*chittamalas*', which are the *kleśas* and the *saṁskāras* gathered over countless past lives due to the presence of the *kleśas* in the *chitta*. Yoga aims at complete removal of the *kleśas* and *saṁskāras* from the chitta through the practice of the eight aṅgas of Yoga.

Experiences of the *chitta* are superimposed on the *puruṣa* reflected in it. Actually, the *puruṣa* being devoid of the *triguṇas*, does not really get affected by anything happening in the *chitta*. An example is given to explain this. The moon in the sky is reflected on the surface of a pond. When the water moves due to wind, the reflection of the moon also moves, and it may

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

appear to be broken into pieces. But actually nothing happens to the moon in the sky. Due to the relation of water with the moon, what is happening only to water and not to the moon, gets superimposed on the reflected moon. Similarly the *puruṣa*, although it is ever free and outside the happenings in the *chitta*, gets affected by the *vṛttis* of the *chitta*, and starts assuming itself to be happy, sorrowful, successful, and so on. This is called '*aviveka*', and it is one of the primary objectives of Yoga *sādhanā* to overcome this *aviveka*. That is achieved through making the *chitta* completely free of *avidyā* and the other *kleśas*. Then it shows the real nature of the *puruṣa*, just as an undistorting mirror shows the image of a person perfectly as the person actually is. This puts an end to *aviveka*, and gives rise to what is called '*puruṣakhyāti*' or '*viveka-khyāti*'. That is the highest state of experience for the *chitta*, which precedes '*kaivalya*', or liberation, which is the ultimate aim of Yoga.

Yoga and Vairāgya

Vairāgya is the beginning of Yoga. And a higher form of it, called '*parāvairāgya*' marks the culmination of Yoga, because, when that is achieved the ultimate goal of Yoga is sure to be reached. *Vairāgya* is the one single factor which determines to the greatest extent the success of Yoga. Hence it is spoken of very highly in Yoga literature. Patanjali, who defines Yoga in terms of cessation of *vṛttis*, has declared that *vairāgya* and *abhyāsa* are the two means to that end. The same thing is said also by Lord Krishna in the Gītā.

Rāga means the desire to have something or to be something. It is looked as a *kleśa*, or affliction of the mind. It does play a great role in the life of every one of us. It is primarily the dual process of *rāga* and *dveṣa* that continually keeps all of us bound to the *saṁsāra* and the various activities in life. The absence of this process is what is called *vairāgya*. It is a state of silence marked by a complete absence of craving for getting any object or reaching any state. It consists of a sort of 'turning in'. As described in the *Kaṭhopaniṣad* (II. i. l.), "our senses have an inherent tendency to be attracted towards the objects of enjoyment. The wise man, who wants to reach immortality has to turn his eyes inward and look to his inner self." Such a person is described there as "*avṛttachakṣuḥ*". This is *vairāgya*. It means absence of greed.

Śankarācharya, in his commentary on the *Kena upaniṣad* (I. l.) has pointed out that "he alone, whose mind is filled completely with *vairāgya*, is a fit person for taking a course to *mukti*." At another place (*Vivekacooḍamaṇi* 78), he has clearly said that "even a person well-versed with the six śāstras can become fit for attaining *mukti* only when he is a man of *vairāgya*." We learn from the Bhagavadgitā (XV. 3-4.) that first the tree of ignorance should be brought down with the instrument of "*vairāgya*" and then one can proceed to reach that highest plane from where there is no return to this *saṁsāra*.

Vairāgya may be called detachment from cravings and retirement from the process of desire. Thus it is a sort of liberation or emancipation itself. Many of us have an experience of it, especially when we are grief-striken, or when there is a terrible shock of disappointment. While attending a funeral, all of us seem to be convinced of the utter futility and insignificance of life, of achievements, small and big, and of the whole process of desire. This is called '*śmaśāna-vairāgya*', because it lasts only so far as one is in the crematory. After getting caught up in the stream of events of daily life again, we forget those thoughts. The effect of this *vairāgya* is very short-lived. So this kind of *vairāgya* is not of much use. *Vairāgya* in Yoga is a product of right thinking, and of understanding the true nature of the self and the world.

Patanjali speaks about two forms of *vairāgya*. The lower one, so to say, is called '*vaśikara-vairagya*'. It is the *vitṛṣṇa* or absence of desire in relation to two categories of objects of enjoyment, namely the '*dṛṣṭa*' and '*ānuśravika*' objects. In the first category, objects which we can actually experience, such as, house, clothes, riches, money, sex, recognition, felicitation, and so on, are included. The second category comprises those objects which are only heard of, but never actually experienced, like *svarga, apsarās, amrita*, etc. When the desire for enjoyment

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of both these kinds of objects ceases, one is in the state of *vaśikara vairāgya*. In Yoga the *chitta* is compared to a river. *Vairāgya* may, in that case, be compared to a dam on the river. It cuts the flow of *vṛttis* about objects of enjoyment.

The higher kind of *vairāgya* is said to be a product of *viveka-khyāti*. It puts an end even to the craving for *muktī*. It denotes the highest state of understanding or realization. It paves the way to '*kaivalya*'.

A person who has attained *vairāgya* is called '*veetarāga*'. Patanjali has recommended the *chitta* to be fixed and absorbed into thoughts of the *veetāragas*. All the high authorities of Yoga, like Kapila, Panchaśikha, Śuka, Janaka, Matsyendra, Jñānadeva, Shankarācārya, and in recent times, Ramakriśṇa, Ramana, and Vivekānanda, were examples of veetarāga personalities. They do not crave anything to achieve for themselves. The Jaina Tirthankaras like Bhagavan Mahavira are also called veetaragas. He provided the best example of all that Yoga stands for. And *vairāgya* is one of the most unmistakable and most fundamental marks of yoga.

There can be no Yoga without *vairāgya*. Lord Krishna has himself said this in the Gita. The highest form of *vairāgya* may be very difficult or even impossible for most of us to achieve. But every one of us seems to be in need of achieving *vairāgya* in actual practice in our daily life, to some extent. It brings peace and satisfaction, and helps a great deal in reducing tensions. It is very essential that every one of us should learn this essential part of Yoga so as to overcome the present unhappy state of humanity due to conflict, tension and war.

★★★

The Spiritual Heart-Centre is quite different from the blood-propelling, muscular organ known by the same name. The Spiritual-centre is not an organ of body. All that you can say of the heart is that it is the very core of your being. That with which you are awake, asleep or dreaming whether you are engaged in work or immersed in Samādhi.

This conscious entry into the heart will result in consciousness free of body-identification, *i.e.*, thought free awareness.

—Raman Maharshi

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक योग और प्राणशक्ति

□ मुनि नथमल

साधना के तीन पक्ष हैं—अध्यात्म, प्राण और व्यवहार। हमें केवल प्राण-विद्या पर अटकना नहीं है। हमारा मुख्य ध्येय है—अध्यात्म, आत्मिक विकास। यह चैतन्य-विकास की सबसे ऊँची भूमिका है।

दूसरा है—प्राण का प्रयोग। वह भी आवश्यक है। हम प्राणबल, मनोबल और शक्ति का विकास करें जिससे कि अध्यात्म तक पहुँचने में सुविधा हो।

तीसरी बात है—व्यवहार की। अध्यात्म की साधना चल रही है। प्राण की साधना चल रही है और यदि व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता है तो लोगों के लिए मखौल की बात बन जाती है। हमारा व्यवहार भी साथ-साथ बदलना चाहिए। अध्यात्म का विकास होता है तो व्यवहार अपने आप ही बदलता है, बदले बिना रह नहीं सकता, फिर भी उसकी साधना साथ-साथ चलनी चाहिए। व्यवहार की साधना भी अध्यात्म के लिए पूरक और सहयोगी सिद्ध होगी। अब मैं एक प्रयोग की चर्चा करूँगा।

अध्यात्म की दृष्टि से आप छह मास तक अहं-विसर्जन का प्रयोग करें। अहंकार और ममकार—ये दो ही हमारी अध्यात्म साधना की, चैतन्य-विकास की बाधाएँ हैं। आप अहं-विसर्जन का अभ्यास करें। प्राण-साधना की दृष्टि से दो बातें हैं—एक है दीर्घश्वास और दूसरी है समताल-श्वास। आप इन दोनों का अभ्यास करें। श्वास लम्बा लें। श्वास जितना लम्बा होगा, उतना ही मन में विकार कम आएगा। क्रोध कम आएगा, आवेग कम आएगा। श्वास जितना छोटा है, उतना ही विकार ज्यादा आता है। जब श्वास लम्बा होता है, पूरा होता है, वह हमारे भीतर जो उत्तेजना देने वाले पदार्थ हैं उन्हें बाहर निकाल फेंकता है। इसके पीछे एक वैज्ञानिक कारण है। फेफड़ों में रक्त की छनाई होती है। हार्ट पम्पिंग का काम करता है। वहाँ से रक्त पम्पिंग होता है, सारे शरीर में पहुँचता है। वह संस्कारों को लेकर बहता है। जितना शुद्ध रक्त जायेगा, मन उतना ही शान्त रहेगा। आवेग कम होंगे। रक्त जितना दूषित होगा, स्वभाव चिड़चिड़ा बन जायेगा, क्रोध अधिक आने लगेगा। जब हम दीर्घश्वास लेते हैं, पूरा श्वास लेते हैं, तो जो कार्बन है, जितनी खराबी जमती है, वह सारी की सारी उस श्वास के साथ बाहर निकल जाती है। श्वास छोटा लेते हैं तो न पूरा आक्सीजन अन्दर जाता है और भीतर जो मैल जमा है वह भी पूरा बाहर नहीं निकलता। इसलिए आदमी का स्वभाव नहीं बदलता। दीर्घश्वास का अभ्यास बहुत जरूरी है।

दूसरी बात है—हम समताल-श्वास लें। संगीत में जब तक ताल सम नहीं होता तब तक संगीत का आनन्द नहीं आता। ताल सम होना चाहिए। श्वास में भी ताल का मूल्य है। श्वास समताल होना चाहिए। जितने समय में पहला श्वास लिया, जितने समय रोका या छोड़ा, दूसरा श्वास भी उतने ही समय में आये, तीसरा श्वास भी उतने ही समय में आये। समय का अन्तर न हो। जब हम चलते हैं तब एक पैर तो यहाँ रखा, दूसरा पैर एकदम आगे रख दिया, तीसरा फिर और कहीं रख दिया तो गति नहीं बनेगी। गति तब बनती है जब पैर बराबर उठते जाते हैं। समताल-श्वास आवश्यक होता है। मान लीजिए कि पहला श्वास लेने छोड़ने में बीस सेकण्ड लगते हैं, तो दूसरे-तीसरे श्वास में भी बीस सेकण्ड ही लगने चाहिए। यह है समताल-श्वास। इससे एक ऐसी लयबद्धता उत्पन्न होती है कि आदमी सहज ही ध्यान की स्थिति में चला जाता है। शान्त हो जाता है। ध्यान का मतलब यह नहीं कि हम बैठकर जो करते हैं, वही ध्यान है। जब हमारा मन शान्त रहे, मन अशान्त और उद्विग्न न हो, वह सारी ध्यान की स्थिति है। यह समताल-श्वास की निष्पत्ति है। प्राण की दृष्टि से दो बातें हैं—दीर्घश्वास और समताल-श्वास।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब तीसरी बात है—व्यवहार की। व्यवहार की दृष्टि से साधक को करुणा का अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास लम्बे समय तक चले। प्रतिपल हम इसका जागरूकता से अभ्यास करें। अपने बच्चों के प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने नौकर के प्रति करुणा करें, सबके प्रति करुणा करें। किसी के प्रति क्रूर व्यवहार न करें, क्रूरता न दिखायें। जब कभी मन में क्रूरता आयेगी, हम संभलेंगे और करुणा करेंगे। यदि करुणा हमारे मन में आती है, जीवन में आती है तो अनेक व्याधियाँ अपने आप मिट जाती हैं। बहुत सारे अन्याय क्रूरता के कारण होते हैं। आदमी क्रूर होकर अन्याय करता है। यदि करुणा का अभ्यास होता है, विकास होता है तो ये सारी स्थितियाँ समाप्त हो जाती हैं। जैन परम्परा में यह माना गया है कि जिसमें करुणा नहीं है वह सम्यक्दृष्टि भी नहीं हो सकता। सम्यक्दृष्टि का एक लक्षण है—अनुकम्पा। यदि आदमी में अनुकम्पा है, करुणा है तो समझ लो कि वह सम्यक्दृष्टि है। यदि करुणा नहीं है तो वह मिथ्यादृष्टि है। यह कसौटी है पहचानने की कि कौन सम्यक्दृष्टि है और कौन मिथ्यादृष्टि। यह हमारे व्यवहार का सूत्र है।

अध्यात्म की साधना में अहं का विसर्जन, प्राण की साधना में दीर्घश्वास तथा समताल-श्वास और व्यवहार की साधना में करुणा का अभ्यास—ये प्रयोग के तीन आयाम हैं। इनसे तीन बातें फलित होंगी, सिद्ध होंगी। पहली बात होगी—अहं का विसर्जन, दूसरी बात होगी—वासना-विजय, तीसरी बात होगी—करुणा का अभ्यास।

चौथी बात है—जप। इन तीनों बातों को बल देने के लिए जप बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि इससे हमारी सारी शक्ति में परिवर्धन होता है। शक्ति का विकास होता है। जप प्राणशक्ति और आत्मशक्ति दोनों को प्रभावित करता है। इसके लिए आप नवकार का जप करते हैं, माला फेरते हैं। वही चले आपका क्रम। विधि में थोड़ा सा परिवर्तन आपको सुझा दूं। कोई नवकार मंत्र की एक माला फेरता है। कोई दो माला और कोई पाँच माला फेरता है। यह आप फेरते रहें। एक परिवर्तन करें। एक माला मेरे द्वारा बतायी विधि से फेरें। आप नमस्कार मंत्र का एक चरण लें—**'णमो अरहंताणं'**। इस चरण का आपको जप करना है। श्वास लेते समय इसका जप न करें, उच्चारण न करें। श्वास छोड़ते समय भी इसका जप न करें। पूरक में भी इसका जप न करें और रेचन में भी इसका जप न करें। इसका जप कुंभक की अवस्था में करें। आपने श्वास लिया, पूरक किया, अभी उसे अन्दर टिकाए हुए हैं। कुम्भक की अवस्था में हैं। श्वास को बाहर छोड़ा नहीं है। उस अवस्था में आप उसका जप करें। **'णमो अरहंताणं'** का उच्चारण करें। फिर श्वास को निकाला, फिर श्वास लिया। निकालते समय भी जप नहीं करना है। न लेते समय करना है और न निकालते समय करना है। फिर श्वास को अन्दर रोका, कुंभक किया। तब **'णमो सिद्धाणं'** का जप करें। कुंभक की स्थिति में ही जप हो। यह जरूरी नहीं कि पूरी माला ही फेरी जाये। दस बार भी इस विधि से यदि नमस्कार महामन्त्र का जप होता है तो वह बहुत लाभदायी है, मूल्यवान् है। जितनी आपको सुविधा है, उतनी देर करें। पर एक सुझाव है। कम से कम इक्कीस बार अवश्य करें। एक माला फेरते हैं तो बहुत अच्छा है अन्यथा इतना तो अवश्य ही हो। आपकी स्थिरता बढ़ेगी। एकाग्रता बढ़ेगी। जप करने की यह एक विधि है। कुंभक की स्थिति में जप हो यानी पूरक और रेचन के बीच की स्थिति में जप हो। यह एक विधि है।

इसके साथ-साथ रंग का ध्यान भी आवश्यक है तो स्थान का ध्यान भी बहुत जरूरी है। किस पद को किस रंग के साथ, शरीर के किस भाग में जपना है, यह जानना भी जरूरी है। जप के साथ चार बातें जुड़ गयीं—पद, रंग, स्थान और श्वास की स्थिति।

हम **'णमो अरहंताणं'** को लें। इसका वर्ण है श्वेत और स्थान है—मस्तिष्क, सहस्रार चक्र। इस पद का उच्चारण करते समय मन सहस्रार चक्र में स्थित हो और श्वेत वर्ण का चिन्तन हो, आभास हो। सहस्रार चक्र अर्थात् ब्रह्मरंध्र, तालु के ऊपर का भाग। हमारी स्थिति कुंभक की हो। तो चार बातें हो गयीं—

पद है—णमो अरहंताणं।
रंग है—श्वेत।
स्थान है—सहस्रार चक्र (ब्रह्मरंध्र, तालु के ऊपर का स्थान)।
श्वास की स्थिति है—कुंभक। अन्तर् कुंभक।

हम **'णमो सिद्धाणं'** को लें। अब हम 'णमो अरहंताणं' से आगे चलें। **'णमो सिद्धाणं'** को लें। इसका वर्ण है लाल। इसका स्थान है—ललाट का मध्य भाग, आज्ञा चक्र। श्वास की स्थिति होगी—अन्तर् कुंभक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'णमो आयरियाणं'—यह तीसरा पद है। इसका रंग है पीला। इसका स्थान है—विशुद्धि चक्र, गला। यह पवित्रता का स्थान है, चक्र है। हमारी सारी भावनाओं, आवेगों पर नियन्त्रण रखने वाला यही स्थान है। श्वास की स्थिति होगी—अन्तर् कुंभक।

'णमो उवज्झायाणं'—यह चौथा पद है। इसका रंग है नीला। इसका स्थान है—हृदय-कमल। श्वास की स्थिति है—अन्तर् कुंभक।

'णमो लोए सव्वसाहूणं'—यह पाँचवाँ पद है। इसका रंग है—कृष्ण, काला। इसका स्थान है—पैरों का अंगूठा। श्वास की स्थिति है—अन्तर् कुंभक।

पाँचों पदों के वर्ण भिन्न हैं, स्थान भिन्न हैं। श्वास की स्थिति पाँचों में समान है। तो प्रत्येक के साथ—पद, वर्ण, स्थान और श्वास की स्थिति—चारों बातें जुड़ी हुई हैं। अब इनके साथ हमारे मन का पूरा योग रहना चाहिए। मन का योग होने से पाँच बातें हो गयीं। पाँचों का विधिवत् योग होने से ही जप शक्तिशाली होता है। एक की भी कमी, परिणाम में न्यूनता ला देती है।

आप अहं का विसर्जन करना चाहते हैं, करुणा का विकास करना चाहते हैं और श्वास पर नियन्त्रण चाहते हैं, ये तीनों इस जप से सधते हैं। मन्त्र शक्तिशाली बन जाता है। आज आप समझते हैं कि नवकार मन्त्र का इतना जाप किया, कितनी मालाएँ फेरीं, वर्षों तक क्रम चलता रहा, पर लाभ, दृश्यलाभ कुछ भी नहीं हुआ। यह अनुभूति एक ही नहीं, अनेक व्यक्तियों की हो सकती है। आप ऊपर बताये हुए क्रम से जप करें और छह मास बाद बतायें कि परिवर्तन हुआ या नहीं? परिवर्तन अवश्य होगा। मैंने इस प्रयोग की चर्चा की। जो लोग बहुत सारे प्रयोगों में जाना नहीं चाहते, जिनमें अनेक प्रयोग करने की क्षमता भी नहीं है, वे इस प्रयोग को पकड़ें। इसे हृदयंगम कर लें। इससे चार बातें फलित होंगी।

पहली बात है—अहं का विसर्जन। इसका अर्थ है—विनम्रता। यह भी एक समाधि है। भगवान् महावीर ने चार समाधियाँ बतायी हैं—विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचारसमाधि। पहली है—विनय-समाधि। यह है अहं का विसर्जन। अहं स्वयं की उद्दण्डता है, अपनी चण्डता है, प्रकृति का उद्धतपन है। आदमी अपने आपको बहुत मानने लग जाता है। यह है अहं। विनय का अर्थ क्या है? 'विनयनं'—दूर करना, हटाना। विनय का मतलब है—दूर कर देना, हटा देना, अपसारित कर देना। जो हमारे भीतर कषाय का भाव है, अहं है, उसे दूर करना, यही है विनय, विनम्रता। विनम्रता दूसरे के प्रति नहीं होती। यह तो अपना स्वयं का गुण है। अहंकार स्वयं का ही दोष है। विनय का अभ्यास करना, विनयसमाधि में रहना, आत्म-समाधि में रहना है। यह समाधि अहंकार के विसर्जन से फलित होती है। इससे स्वयं को समाधान मिलता है, एकाग्रता सिद्ध होती है।

दूसरी बात है—करुणा का अभ्यास।

तीसरी बात है—प्राण की साधना।

चौथी बात है—मन्त्र का विधिवत् जप।

ये चारों बातें मिलती हैं तब पूरा प्रयोग बनता है। इस प्रकार के प्रयोग से सिद्धि प्राप्त होती है। इससे हमारा चतुर्मुखी विकास होता है। किसी एक अंश का विकास नहीं होता, सब अंशों का विकास होता है। केवल प्राण-कोश का विकास हो जाये और स्वभाव न बदले तो वह शक्ति हमारे लिए बहुत खतरनाक बन जाती है। हमारे लिए दुःखदायी बन जाती है। हम आत्मा का विकास करना चाहते हैं, किन्तु यदि प्राण का विकास नहीं होगा तो दुर्बल प्राण आत्मा तक नहीं पहुँच पायेंगे। उपनिषदों में एक सुन्दर बात कही है—**'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**—बलहीन या वीर्यहीन व्यक्ति आत्मा को नहीं पा सकता। आत्मा तक नहीं पहुँच सकता। कमजोर कुछ नहीं कर सकता, कुछ नहीं पा सकता।

करुणा का अभ्यास और अहं का विसर्जन—ये दो बातें आपके संकल्प पर निर्भर रहेंगी, संकल्प के सहारे चलेंगी। करुणा का व्यवहार में प्रयोग होगा, किन्तु अभी यह भूमि प्रयोग करने की नहीं है। अभी आप किस पर क्रूरता करते हैं? किस पर करुणा करते हैं? यह स्वयं आप पर निर्भर हैं। आपको स्वयं ही सोच-समझकर प्रयोग करना है। दीर्घश्वास, समताल-श्वास और नमस्कार मन्त्र का जप—इनका प्रयोग कराया जा सकता है, सीखा जा सकता है।

दो आदमी नदी के तट पर पहुँचे। उन्हें नदी पार करनी थी। उन्होंने देखा, नौका पड़ी है। पहला बोला—'नाविक तो नहीं है, पर नौका पड़ी है। नदी पार कर लेंगे।' दूसरा बोला—'ऐसा नहीं हो सकता। नदी को पार करने के लिए केवल नौका ही पर्याप्त नहीं है। नाविक भी चाहिए, डांड भी चाहिए, नौका को खेने की कला भी चाहिए। ये सब हों, तब नदी को पार किया जा सकता है।' पहला बोला—'यह कैसे हो सकता है? जीवन भर सुनते आये हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि नदी को पार करना हो तो नौका से उसे पार कर लो। नौका पड़ी है। क्या आवश्यकता है दूसरी चीजों की ?' दूसरे ने समझाया, पर वह नहीं माना। उसने नौका को खोला। अकेला ही उसमें बैठ गया। पानी की एक हिलोर आयी और नौका आगे बहने लगी। नौका तैराने वाली थी पर आज वह उस यात्री के डूबने का कारण बन गयी। जो तैराने वाला होता है, वह कभी-कभी डुबोने वाला भी हो जाता है। वास्तव में तैराने वाला और डुबोने वाला—दो नहीं होते, एक ही होते हैं। जो तैराने वाला है वही डुबोने वाला है और जो डुबोने वाला है वही तैराने वाला है। ये दो हैं नहीं वास्तव में। यह तो संयोग का अन्तर है। वह नौका चली। आदमी शांत बैठा है। पानी का बहाव तेज था, धारा तेज थी। नौका डगमगाने लगी। कुछ दूर जाकर नौका उलट गयी। यात्री पानी में डूब गया।

यह बात तो ठीक है कि नौका पार ले जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कोरी नौका, अकेली नौका पार ले जाती है। इसके साथ कुछ और सामग्री भी चाहिए। जो व्यक्ति एक अंश को पकड़ता है, शेष की उपेक्षा करता है उसके लिए तैराने वाली वस्तु भी डुबोने वाली हो जाती है।

ठीक ऐसा ही हमारे जीवन में घटित होता है। हम समझते हैं कि ॐकार बड़ा मन्त्र है। 'अर्हम्' महत्वपूर्ण मन्त्र है। **'णमो अरहंताणं'** बड़ा मन्त्र है। इनका जाप करें, सारे काम सिद्ध होंगे। बात तो ठीक है और यह भी ठीक नौका जैसी ही बात है कि नौका में बैठो, पार पहुँच जाओगे। मन्त्र का जप करो, सब सिद्ध हो जायेगा। बात तो सही है। कोरे मन्त्र को पकड़ लिया और बरसों तक जाप करते चले गये, कुछ भी नहीं हुआ, कुछ अनुभव नहीं हुआ, काम सिद्ध नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में लोग कहने लग जाते हैं—इतने बरसों तक मन्त्र का जप किया, माला फेरी, पर कुछ भी चमत्कार नहीं हुआ। कुछ भी नहीं हुआ। यानी वह नौका तैरा नहीं रही है, लगता है डुबोने के प्रयत्न में है या डुबो रही है। कुछ कहते हैं—इतने दिन तक तो हमने विश्वास के साथ माला फेरी, मन्त्र का जप किया, अमुक-अमुक अनुष्ठान किये, पर लगा नहीं कि कुछ हो रहा है तब हमने माला छोड़ दी, जप छोड़ दिया। मन में विश्वास ही नहीं रहा उन पर। इसका अर्थ है कि वे व्यक्ति स्वयं मझधार में आकर डूब जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? ऐसा इसलिए होता है कि हम पूरी बात को नहीं जानते, पूरी बात को नहीं पकड़ते। हमें पूरी बात को जानना चाहिए, पूरी बात को पकड़ना चाहिए। मन्त्र में शक्ति है, यह बात ठीक है। मन्त्र तैराने वाला है, किन्तु सब कुछ केवल मन्त्र से ही तो नहीं होगा। इसके साथ कुछ और भी चाहिए। सबसे पहले आप इस बात पर ध्यान दें कि मन्त्र के साथ आपके मन का योग हुआ है या नहीं ? आप मन्त्र का जप तो कर रहे हैं, किन्तु मन उसमें संयुक्त नहीं है तो कुछ नहीं होगा। अर्थात् नदी को पार करने से पूर्व, नौका में बैठने से पूर्व आपको देखना होगा कि नाविक है या नहीं ? नाविक भी नहीं है और आप स्वयं नौका को खेना तक नहीं जानते तो निश्चित ही वह नौका आपको पार नहीं पहुँचा पायेगी, बीच में ही डुबो देगी। मन्त्र में शक्ति है, पर आपका मन यदि उसमें संयुक्त नहीं है, आपके मन का योग उसमें नहीं है, उसे चला नहीं रहा है, खे नहीं रहा है तो वह मन्त्र भी गड़बड़ी पैदा कर देगा। हमें पूरी बात पकड़नी चाहिए। पहली बात है मन के योग की। मन के योग के बिना जो भी काम किया जाता है, वह पूरा नहीं होता, अधूरा ही रह जाता है। आदमी खाता है और यदि मन खाने में संयुक्त नहीं है तो उसका खाना भी अधूरा है। आदमी चलता है और यदि मन साथ नहीं है तो उसका चलना भी अधूरा है, अधूरे मन से चलता है, पूरे मन से नहीं। आप स्वयं इस तथ्य का अनुभव करें। क्या आप कभी पूरे मन से खाते हैं ? कभी नहीं। क्या आप ऐसा करते हैं कि खाते समय खाते ही हैं और कुछ नहीं करते ? न सोचते हैं, न बोलते हैं और न इशारा करते हैं। क्या आपका मन पूर्णरूप से खाने में ही लगा रहता है ? नहीं, कभी नहीं। खाते-खाते आप सैकड़ों काम कर लेते हैं। कहाँ से कहाँ चले जाते हैं ? कितनी यात्राएँ कर लेते हैं ? कितनी कल्पनाएँ कर लेते हैं ? कितनी योजनाएँ बना लेते हैं ? आप पूरे मन से नहीं खाते, अधूरे मन से खाते हैं। इसका तात्पर्य है कि मन का एक कोना खाने में काम आता है और शेष हजारों कोने अलग-अलग काम करते चले जाते हैं। चलते हैं तो भी पूरे मन से नहीं चलते। चलते हैं तब मन का एक भाग चलने में सहयोग दे रहा है, चलने में संयुक्त है और शेष हजारों भाग न जाने कहाँ-कहाँ उड़ानें भरते रहते हैं। यही बात मन्त्र-जप में लागू होती है। पूरे मन से मन्त्र-जप कहाँ होता है ? मन का एक भाग मन्त्र-जप में लगा हुआ है और शेष हजारों भाग अन्यान्य कल्पनाओं में व्यस्त हैं।

एक भाई कह रहा था कि जब अन्यान्य कामों में लगा रहता हूँ तब मेरा मन प्रायः उसी कार्य में संलग्न रहता है किन्तु ज्योंही मैं माला फेरने या जप करने बैठता हूँ, अनगिनत कल्पनाएँ मन में आने लगती हैं। दिमाग भर जाता है उन कल्पनाओं से।

पूरे मन से कोई काम नहीं होता। यही तो हमारी साधना की कमी है। साधना का अर्थ क्या है ? साधना में आप और कुछ सीखें या न सीखें, यह अवश्य सीख लें कि जो भी काम करना है वह पूरे मन से करना है। समग्रता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से करना है अर्थात् उस काम में मन को समग्र रूप से लगा देना है। मन को इतना लगा देना है कि मन के सारे कोने उसमें तन्मय हो जायें। एक भी कोना खाली न रहे, ताकि उसे भागने के लिए अवकाश ही न मिले। उसके सामने अवकाश रहे ही नहीं। बेचारा भागेगा कैसे ? कहाँ भागेगा ? यह स्थिति यदि प्राप्त हो जाती है तो साधना सफल है। आप चाहें इसे साधना की पहली सफलता कहें या अन्तिम सफलता, यह एकमात्र रहस्य है साधना का। इसका तात्पर्य यह है कि साधना के द्वारा मन को इतना प्रशिक्षित कर देना कि हम जिस काम में उसे लगाना चाहें, वह उसी काम में लगे। हम जिस काम में उसे लगाना न चाहें, वह उस ओर झाँके ही नहीं। यदि इतना प्रभुत्व स्थापित हो जाता है मन पर, तब कोई समस्या उत्पन्न ही नहीं होगी। फिर हम अपने मन के मालिक हो जाते हैं। हम जो चाहें कर सकते हैं, जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं। मन का अनेक टुकड़ों में बँट जाना ही समस्या है। हमारा मन इतने टुकड़ों में बँटा हुआ है कि हम उनकी गिनती भी नहीं कर सकते। यह बँटा हुआ मन सबसे बड़ी समस्या है मानव मात्र की। भगवान महावीर ने कहा—**'अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे'**—मनुष्य अनेक मन वाला है। वह एक मन वाला नहीं है। अनेक मन हैं उसके। वह अनेक भागों में बँटा हुआ है। इसीलिए वह किसी बात को पूरे मन से नहीं सोच पाता। यदि वह पूरे मन से सोचने लग जाय तो सचमुच ही उसकी नौका पार लग सकती है, अन्यथा नहीं।

तो सबसे पहले आप देखें कि मन्त्र के साथ आपका मन संयुक्त है या नहीं। मन की पूरी शक्ति मन्त्र के साथ है या नहीं ? मन्त्र और मन दो बातें हैं।

तीसरी बात है—आप मन्त्र के अर्थ को जान रहे हैं या नहीं ? मन्त्र के अर्थ को जानना बहुत जरूरी है। यदि मन्त्र का अर्थ नहीं जान रहे हैं तो आप जो करना चाहते हैं, जो होना चाहते हैं, वह नहीं कर सकेंगे, वह नहीं हो सकेंगे।

परिणमन का सिद्धान्त शाश्वत है। कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है, स्थायी नहीं है। सब परिणमनशील हैं। परिणमन सत्य है। हर चीज बदलती है। परमाणु नष्ट नहीं होते। जो आकार है, जो संस्थान है जो रूप है, वह स्थायी नहीं हो सकता। सब परिणमनशील हैं। सब कुछ बदलेगा। आदमी भी बदलता रहता है। आत्मा शाश्वत है। वह नहीं बदलता। आदमी बदलता है। इसलिए आदमी जो होना चाहता है वैसा हो सकता है, उस रूप में बदल सकता है। उसका जो संकल्प होगा, उसी रूप में बदल जायेगा। आदमी जीवन के पहले क्षण से बदलता रहता है। प्रतिक्षण बदलता है। बदलने का क्रम बन्द नहीं होता। इसलिए संकल्प के अनुरूप वह बदल जाता है। अगर संकल्प नहीं है तो दूसरे रूप में बदलेगा। अगर संकल्प है तो संकल्प के अनुरूप बदलेगा।

हमारे शरीर में कोशिकाएँ हैं जो शरीर की मूल घटक हैं। वे शरीर का निर्माण करती हैं। बहुत बड़ी संख्या है उनकी। हमारे शरीर में साठ हजार अरब कोशिकाएँ हैं। हमारे मस्तिष्क में प्रति घन सेमी० करोड़ कोशिकाएँ हैं। शरीर की कोशिकाएँ प्रतिक्षण नष्ट होती हैं, नयी बनती हैं। हजारों कोशिकाएँ मरती हैं और हजारों नई जन्मती हैं। पुरानी क्षीण होती हैं और नई बनती हैं। यह चक्र निरन्तर चल रहा है। जब आदमी की अवस्था के अनुसार कोशिकाएँ क्षीण अधिक होती हैं और बनती कम हैं तब शरीर में क्षीणता आती है, मस्तिष्क कमजोर होता है। इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं, मस्तिष्क का नियन्त्रण ढीला हो जाता है। जवान आदमी अपने शरीर पर, अपने मस्तिष्क पर, अपने मन पर चाहे जैसा नियन्त्रण कर सकता है किन्तु बूढ़े आदमी की नियन्त्रण शक्ति क्षीण हो जाती हैं, ढीली हो जाती है। इसका कारण है कि साठ-सत्तर वर्ष की अवस्था में दस प्रतिशत मस्तिष्क क्षीण हो जाता है। इतनी कोशिकाएँ मर जाती हैं कि मस्तिष्क की शक्ति कम हो जाती है। यह शरीर के भीतर चलने वाला अवश्यम्भावी क्रम है। हम एक चिता को देखकर डर जाते हैं और कह देते हैं—अरे ! चिता जल रही है। मुर्दा जल रहा है। हम अपने भीतर देखें। एक नहीं, हजारों चिताएँ जल रही हैं निरन्तर। हजारों कोशिकाएँ मर रही हैं। हजारों कोशिकाओं का जन्म हो रहा है। जन्म और मरण—दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। एक ओर श्मशान है तो दूसरी ओर प्रसूतिगृह। एक में मुर्दे जलाये जा रहे हैं, चिताएँ सजाई जा रही है और एक में नये-नये चेहरे जन्म ले रहे हैं, सूर्य की किरण का पहला स्पर्श कर रहे हैं। विचित्र है यह शरीर। हम इसे केवल बाहर से देखते हैं। बाहर हम श्मशान भी देखते हैं और प्रसूतिगृह भी देखते हैं। जन्मते बच्चों को भी देखते हैं और मरते बूढ़ों को भी देखते हैं। सब कुछ देखते हैं बाहर से, परन्तु भीतर से कुछ भी नहीं देखते। भीतर एक चक्र चल रहा है। निरन्तर बदल रहा है भीतर। तो क्या आप बदलते नहीं ? बदल तो रहे हैं। प्रतिक्षण संघर्ष चल रहा है भीतर। बनने और मिटने का काम हो रहा है निरन्तर। यह सारा स्वाभाविक हो रहा है। यदि आप संकल्प करें तो उस बदलने में परिवर्तन ला सकते हैं। यानी आप जो होना चाहें, वह हो सकते हैं। यह सारा का सारा होता है प्राण के स्तर पर।

दो वस्तुएँ हैं—आत्मा और प्राण। एक है आत्मशक्ति और एक है प्राणशक्ति। एक है प्राणबल और एक है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मबल। हमारा लक्ष्य है—आत्मोपलब्धि। हम आत्मा के मूल स्तर तक पहुँचना चाहते हैं, आत्मा को पाना चाहते हैं, मूल चेतना तक पहुँचना चाहते हैं। यह है हमारा मूल लक्ष्य। इससे पहले आता है प्राण। उसका स्थान इससे पूर्व है। आत्मा तक कौन पहुँच पाता है? आत्मा तक वही पहुँच पाता है जो प्राणवान् है, जो शक्तिशाली है। जिसका मनोबल ऊँचा है, जिसका संकल्प-बल प्रबल है वह पहुँच सकेगा आत्मा तक। जिसकी इच्छाशक्ति प्रबल है वह आत्मा तक पहुँच पायेगा। जिसका मनोबल क्षीण है, जिसका संकल्प-बल क्षीण है, जिसकी इच्छा-शक्ति, प्राणशक्ति दुर्बल है, जो वीर्यहीन है वह कभी आत्मा को नहीं पा सकता। आत्मा को पाने के लिए प्राण को शक्तिशाली बनाना जरूरी है। जो जप का स्तर है, वह प्राण के स्तर पर चलने वाला क्रम है। यह प्राण को शक्तिशाली बनाता है। प्राण हमारी विद्युत्-शक्ति है। हर प्राणी में यह शक्ति होती है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होता जिसमें यह शक्ति न हो। हमारी सारी सक्रियता, चंचलता, हमारा उन्मेष और निमेष, हमारी वाणी, हमारा चिन्तन, हमारी गति, हमारी दीप्ति, हमारा आकर्षण—ये सब प्राण के आधार पर होते हैं, विद्युत्-शक्ति के आधार पर होते हैं। विद्युत् ही ये सारे कार्य निष्पन्न करती है। हमारे शरीर में यह विद्युत् मौजूद है। इसे हम तैजस् शरीर कह सकते हैं, प्राण कह सकते हैं। विद्युत् को बढ़ाना मनोबल को बढ़ाना है। जिसकी विद्युत् तीव्र होती है उसका मनोबल बढ़ जाता है। जिसकी विद्युत् क्षीण होती है उसका मनोबल घट जाता है।

'आदमी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए'—यह केवल एक मान्यता मात्र नहीं है। इसके पीछे बहुत बड़ा रहस्य है। हमारे भीतर विद्युत्-शक्ति का एक आयतन है, एक पॉवर हाउस है। उसका स्थान है पृष्ठरज्जु का अन्तिम छोर। पृष्ठरज्जु जहाँ समाप्त होती है वहाँ एक कन्द है। वह है पीछे के हिस्से में, कटिभाग के पास। वहाँ विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होती है। वह एक विद्युत् जेनरेटर है, विद्युत् उत्पत्ति का केन्द्र है। जिस व्यक्ति की विद्युत्-शक्ति ऊर्ध्व की ओर जाती है, ऊर्ध्वगामी बन जाती है वह बहुत शक्तिसम्पन्न हो जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना से व्यक्ति अपनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाकर मस्तिष्क तक ले जाता है। उसकी शक्ति बढ़ जाती है। उसका प्राण शक्तिशाली हो जाता है। उसका मनोबल मजबूत हो जाता है और उसमें इतना पराक्रम फूट पड़ता है कि वह जो संकल्प करता है, वह पूरा होता है। वह अपने संकल्प से कभी नहीं हटता, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायें। जिसकी प्राणधारा कामवासना के कारण नीचे की ओर प्रवाहित होने लगती है, उसका मनोबल क्षीण हो जाता है, चेतना क्षीण हो जाती है, संकल्प टूट जाता है, मन निराशा से भर जाता है, पग-पग पर विचलन होता है, किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ पाता। इसीलिए ब्रह्मचर्य, वाणी का संयम, मन का संयम, एकाग्रता की साधना, ये सारे प्राणशक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाने के उपाय हैं। इनसे मनोबल बढ़ता है और धैर्य मजबूत होता है। ये अध्यात्म नहीं हैं, किन्तु अध्यात्म तक पहुँचने के साधन हैं। नौका के समान हैं। ये सारी नौकाएँ हैं। ये लक्ष्य नहीं, साधन मात्र हैं। हमें पहुँचना कहीं और है। इनको माध्यम बनाकर हम वहाँ पहुँच जाते हैं, जहाँ हमें पहुँचना है। संकल्प किया और अध्यात्म की साधना हो गई—यह बात नहीं है। संकल्प उस व्यक्ति को ही करना पड़ता है जो निशाना मारता है, निशाना मारना जानता है। एक शिकारी जो निशाना मारना जानता है, उसे संकल्प भी करना होता है और एकाग्रता भी करनी होती है। क्या शिकारी की एकाग्रता कम होती है? क्या प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाले निशानेबाजों की एकाग्रता कम होती है? कम नहीं होती। पूरी एकाग्रता होती है तभी लक्ष्य पर तीर लगता है। युद्ध लड़ने वालों में भी संकल्प होता है। द्वितीय विश्व-युद्ध में चर्चिल ने 'वी' का चिह्न दिया था। उसने प्रत्येक योद्धा से कहा—'वी' को सदा अपने समक्ष रखो, हम जीत जायेंगे। यह 'वी' जीतने का दृढ़ संकल्प था। सैनिक में जितना दृढ़ संकल्प होता है, साहस होता है, एकाग्रता होती है, वैसी दूसरे में नहीं होती। तो प्रश्न होता है कि क्या यह संकल्प, साहस, एकाग्रता आत्मोपलब्धि है? अध्यात्म है? नहीं। ये तो साधन मात्र हैं। संकल्प एक साधन है। इच्छाशक्ति एक साधन है। प्राणशक्ति एक साधन है। मनोबल एक साधन है। एकाग्रता एक साधन है। अब इन साधनों को हम किस दिशा में ले जाते हैं, किस दिशा में प्रवाहित करते हैं, यह उद्देश्य पर निर्भर होता है। आत्मा को पाने के लिए भी इनका उपयोग किया जा सकता है और आत्मा से दूर भागने के लिए इनका उपयोग किया जा सकता है। आत्मा की दिशा में भी इनका प्रयोग हो सकता है और आत्म-विरोधी दिशा में भी इनका प्रयोग हो सकता है। ये साधन मात्र हैं, उपकरण हैं। आप इन्हें किस दिशा में प्रयुक्त करते हैं, यह आपके उद्देश्य पर निर्भर है।

जप भी एक साधन है। यह कोई आध्यात्मिक नहीं है। साधन मात्र है, साध्य नहीं है। यह प्राणशक्ति का एक प्रयोगमात्र है। इसमें शब्द और मन—इन दोनों का योग होता है। शब्द और मन—दोनों का समुचित योग होते ही एक शक्ति पैदा होती है। हम बोलते हैं। बोलने के साथ-साथ विद्युत् की तरंगें पैदा होती हैं। हम सोचते हैं। हमारे सोचने के साथ-साथ विद्युत् की तरंगें पैदा होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रंग, शब्द, मन और उच्चारण—ये चार मुख्य बातें हैं। रंग का हमारे चिन्तन के साथ और हमारे जीवन के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। रंग हमारे शरीर को प्रभावित करता है, हमारे मन को प्रभावित करता है। रंग-चिकित्सा पद्धति आज भी चलती है। 'कलर थेरापी' यह पद्धति चल रही है। एक पद्धति है 'कोस्मिक रे थेरापी' अर्थात् दिव्य-किरण-चिकित्सा। इसका भी रंग के साथ सम्बन्ध है। इसका रंग और सूर्य की किरण—दोनों के साथ सम्बन्ध है। प्रकाश के साथ यह संयुक्त है। रंग हमारे शरीर और मन को विविध प्रकार से प्रभावित करता है। उससे रोग मिटते हैं फिर चाहे वे रोग शारीरिक हों या मानसिक। मानसिक रोग चिकित्सा में भी रंग का विशिष्ट स्थान है। पागलपन को रंग के माध्यम से समाप्त कर दिया जाता है। रंग थोड़ा सा विकृत हुआ कि आदमी पागल हो जाता है। रंग की पूर्ति हुई, आदमी स्वस्थ बन जाता है। शरीर में रंग की कमी के कारण अनेक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। 'कलर थेरापी' का यह सिद्धान्त है कि बीमारी के कोई कीटाणु नहीं होते। रंग की कमी के कारण बीमारी होती है। जिस रंग की कमी हुई है, उसकी पूर्ति कर दो, आदमी स्वस्थ हो जायेगा, बीमारी मिट जायेगी। तो बीमारी का होना या बीमारी का न होना या स्वस्थ होना, यह सारा रंगों के आधार पर होता है।

हमारे चिन्तन के साथ भी रंगों का सम्बन्ध है। आपके मन में खराब चिन्तन आता है, अनिष्ट बात उभरती है, अशुभ सोचते हैं, तब चिन्तन के पुद्गल काले वर्ण के होते हैं। आपकी लेश्या कृष्ण होती है। आप अच्छा चिन्तन करते हैं, हित-चिन्तन करते हैं, शुभ सोचते हैं तब चिन्तन के पुद्गल पीत वर्ण के होते हैं, पीले होते हैं। लाल वर्ण के भी हो सकते हैं और श्वेत वर्ण के भी हो सकते हैं। उस समय तेजोलेश्या होगी या पद्मलेश्या होगी या शुक्ललेश्या होगी। बुरे चिन्तन के पुद्गलों का वर्ण है काला, अच्छे चिन्तन के पद्गलों का वर्ण है पीला या लाल या श्वेत। कितना बड़ा सम्बन्ध है रंग का चिन्तन के साथ। जिस प्रकार का चिन्तन होता है उसी प्रकार का रंग होता है।

शरीर के साथ रंग का गहरा सम्बन्ध है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के आसपास का एक आभामण्डल है। उसमें अनेक रंग होते हैं। किसी के आभामण्डल का रंग काला होता है, किसी के नीला, किसी के लाल और किसी के सफेद। अनेक वर्णों का भी होता है आभामण्डल। आपकी आँखों को वे रंग नहीं दिखते। पर वे हैं अवश्य ही। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसके चारों ओर आभामण्डल न हो। इसका स्वयं पर भी असर होता है और दूसरों पर भी असर होता है। आप किसी व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं। बैठते ही आपके मन में एक परिवर्तन होता है। लगता है कि आपको अपूर्व शान्ति का अनुभव हो रहा है। आपका मन आनन्दित है और अन्दर ही अन्दर एक संगीत चल रहा है। आप किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं। अकारण ही उदासी छा जाती है। मन उद्विग्न हो जाता है। मन में क्षोभ और संताप उत्पन्न हो जाता है। वहाँ से उठने की शीघ्रता होती है। यह सब क्यों होता है? भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास बैठकर हम भिन्न-भिन्न भावनाओं से आक्रान्त होते हैं। यह सब क्यों और कैसे होता है? इसका कारण है व्यक्ति-व्यक्ति का आभामण्डल, आभावलय। सामने वाले व्यक्ति का जैसा आभामण्डल होगा, आभावलय होगा, उसके रंग होंगे, वे पास वाले व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति चाहे या न चाहे वह उन रंगों से प्रभावित अवश्य ही होता है। जिस व्यक्ति का आभामण्डल श्वेत वर्ण का है, नीले वर्ण का है, पीले वर्ण का है, उसके पास जाकर बैठते ही मन शान्त हो जाता है, शान्ति से भर जाता है, उद्विग्नता मिट जाती है, प्रसन्नता से चेहरा खिल जाता है। जिसका आभामण्डल विकृत है, कृष्ण-वर्ण के पद्गलों से निर्मित है तो उस व्यक्ति के पास जाते ही अकारण ही चिन्ता उभर जाती है, उदासी छा जाती है, मन उद्विग्नता से भर जाता है और ईर्ष्या—द्वेष, बुरे विचार मन में आने लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि रंग हमें प्रभावित करते हैं।

एक है रंग, दूसरा है शब्द। हमारे जीवन पर शब्द का असर होता है। मन पर शब्द का असर होता है। शब्द के स्थूल प्रभाव से हम सब परिचित हैं। एक बार स्वामी विवेकानन्द से एक व्यक्ति ने कहा—'शब्द निरर्थक है। उनका प्रभाव या अप्रभाव कुछ भी नहीं होता। वे निर्जीव हैं।' विवेकानन्द ने सुना। कुछ देर मौन रहने के बाद बोले—'बेवकूफ हो तुम। बैठ जाओ।' इतना कहते ही वह व्यक्ति आगबबूला हो गया। उसकी आकृति बदल गयी। आँखें लाल हो गयीं। उसने कहा—'आप इतने बड़े सन्त हैं। मुझे गाली दे दी। शब्दों का ध्यान ही नहीं रहा आपको।' विवेकानन्द ने मुस्कराते हुए कहा—'अभी तो तुम कह रहे थे कि शब्दों में क्या प्रभाव है? और स्वयं एक 'बेवकूफ' शब्द से इतने प्रभावित हो गये और क्रोध में आ गये।' शब्दों में शक्ति होती है। वे प्रभावित करते हैं। यह स्थूल प्रभाव की बात मैंने कही। शब्द का बहुत सूक्ष्म प्रभाव होता है, असर होता है। आज शब्द के द्वारा चिकित्सा होती है। शब्दों के द्वारा आपरेशन होते हैं। आपरेशन में किसी शस्त्र की जरूरत नहीं होती, किसी उपकरण की जरूरत नहीं होती। शब्द की सूक्ष्म तरंगें आ रही हैं और चीड़-फाड़ हो रहा है। कपड़ों की धुलाई होती है शब्दों के द्वारा, सूक्ष्मध्वनि के द्वारा। सूक्ष्मतम ध्वनि से हीरे की कटाई होती है। पुराने जमाने में कहा जाता था कि हीरे से हीरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कटता है। यह मान्य सिद्धान्त था। आज हीरा शब्द की सूक्ष्मध्वनि से कटने लगा है। यन्त्र घूमता है। ध्वनि की सूक्ष्म तरंगें निकलती हैं और सूक्ष्म समय में ही हीरा कट जाता है। ये हैं शब्द के चमत्कार। इनसे आगे हैं—जप और मन्त्र के चमत्कार।

शब्द का उच्चारण छह प्रकार से होता है। उसके छह प्रकार हैं—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म। मन्त्रविद् आचार्यों ने बताया है कि शब्द का ह्रस्व उच्चारण पाप का नाश करता है। दीर्घ उच्चारण लक्ष्मी की वृद्धि करता है, स्त्री की प्राप्ति कराता है और प्लुत उच्चारण ज्ञान की वृद्धि करता है। तीन उच्चारण और हैं—सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म। ये समापत्ति करते हैं, ध्येय के साथ व्यक्ति को जोड़ देते हैं। ध्येय के साथ व्यक्ति का योग कर देते हैं। आप 'अर्हं' शब्द को लें। आप इसका उच्चारण करते हैं। इसका एक होता है ह्रस्व उच्चारण, एक होता है दीर्घ उच्चारण और एक होता है प्लुत उच्चारण। फिर सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म। परमसूक्ष्म में आकर हमें लगता है कि हम पहुँच गये। अर्हत् का अनुभव करने लग गये। इन छहों प्रकार के उदाहरणों के भिन्न-भिन्न प्रभाव होते हैं।

इस प्रकार हमें शब्द की शक्ति को पहचानना है, शब्द के अर्थ को समझना है और उच्चारण को भी समझना है।

चौथी बात है—मन। मन को शब्द के साथ जोड़ देना। जिस शब्द का हम जाप कर रहे हैं उसके साथ मन का योग कर देना। इन सबका उचित योग मिलता है तब जप की शक्ति पैदा होती है। कोरी नौका से काम नहीं चलेगा। कोरी माला फेरने से काम नहीं चलेगा। यह हमें जानना होगा, समझना होगा कि नौका के साथ और क्या-क्या आवश्यक होता है नदी पार करने के लिए? यह हमें समझना होगा कि जप के साथ और क्या-क्या आवश्यक होता है? **'णमो अरहंताणं'** बहुत शक्तिशाली मन्त्र है। यह सही है। पर जब इसका उच्चारण भी शुद्ध नहीं होता तब यह फल कैसे देगा? इसका उच्चारण भी किसी उद्देश्य से कैसे होना चाहिए—यह जब तक नहीं जानते तो फिर हम इससे कैसे लाभ उठा पायेंगे? लाभ नहीं पा सकेंगे। अपने अज्ञान और दोष के कारण ही मन्त्र या जप लाभदायी नहीं होता और हम सारा दोष मन्त्र या जप पर थोप देते हैं। हम कह देते हैं कि मन्त्र से कुछ नहीं बना। जप से कुछ लाभ नहीं हुआ। शब्द के उच्चारण के ध्येय को समझना भी बहुत जरूरी है। ये सब बातें जप के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

जप क्या है? ध्येय के साथ एकरस हो जाना ही जप है। यह भी ध्यान है। महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ध्यान माना है। चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ध्यान है। ध्यान का सम्बन्ध चित्त से है। जैन आचार्यों ने कहा—**'ध्यानं त्रिविधम्'**—ध्यान के तीन प्रकार हैं—कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान। यह एक नया दृष्टिकोण है, नई परम्परा है। शरीर का शिथिलीकरण, शरीर की स्थिरता जो है वह है—कायिक ध्यान। वाचिक जप—वाणी का ध्येय के साथ में योग कर देना, ध्येय और वचन—दोनों में समापत्ति कर देना, दोनों को एकरस कर देना—यह है वाचिक ध्यान। मन का ध्येय के साथ योग कर देना, यह है मानसिक ध्यान। ये तीन प्रकार के ध्यान हैं। जप है—वाचिक ध्यान। यह वचन के द्वारा होने वाला ध्यान है। अर्थात् वचन के माध्यम से हम इतने एकाग्र हो जाते हैं, इतने लीन हो जाते हैं कि हमारा ध्येय और हम दो नहीं रहते।

आप **'णमो अरहंताणं'** का जप करते हैं, लेकिन जब तक अर्हत् की कल्पना आपके मस्तिष्क में ठीक प्रकार से नहीं बैठ जाती और आप मन में यह भावना नहीं करते कि 'मैं स्वयं अर्हत् होता जा रहा हूँ; तब तक **'णमो अरहंताणं'** का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। हाँ, इतना सा लाभ अवश्य होता है कि उच्चारण के द्वारा जो तरंगें उत्पन्न होती हैं उनसे प्राणशक्ति में कुछ विकास होता है। किन्तु जप के द्वारा आपकी अर्हत् के रूप में जो परिणति होनी चाहिए थी, परिणमन होना चाहिए था, वह नहीं होता। इस बड़े लाभ से वंचित रहना पड़ता है। थोड़ा-सा लाभ प्राप्त होता है। बहुत बार ऐसा होता है कि हम बड़े ध्येय को लेकर चलते हैं, बड़ी बात को सामने रखकर चलते हैं किन्तु बीच में छोटा-सा लाभ होता है तो हम समझ लेते हैं कि लाभ मिल गया। यह बहुत बड़ा खतरा है। विकास के लिए बहुत बड़ा खतरा है। जिस बड़ी बात को लेकर हम चले, आत्मा की उपलब्धि सबसे बड़ी बात है, उसके लिए हम चले, बीच में कुछ प्राप्त हुआ, उसे ही सब कुछ मानकर आगे का प्रयत्न छोड़ देते हैं। उसी में सन्तुष्ट हो जाते हैं। यह सन्तोष भी बहुत बड़ा खतरा है। हमें सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। ये तो रास्ते में ही मिलने वाले यात्री हैं, सहचारी हैं। आदमी यात्रा में चला। थक गया। रास्ते में विश्राम के लिए ठहरा। एक साथी मिल गया। उसके साथ रात भर रहा। बातचीत की। मनोरंजन किया। यदि उसे ही मंजिल मानकर वह वहीं रुक जाये तो वह कभी मंजिल पर नहीं पहुँच पाता। यह बहुत बड़ा खतरा है। ये प्राणविद्या की जितनी बातें हैं ये मध्य में मिलने वाले सहयात्री हैं। मिल जाते हैं, मन बहला लेते हैं। पर वह मंजिल की प्राप्ति नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारा ध्येय होगा कि हमें अर्हत् बनना है। अर्हत् वीतराग होते हैं। अर्हत् वे होते हैं जिनमें सारी अर्हताएँ, क्षमताएँ, शक्तियाँ, योग्यताएँ विकसित हो जाती हैं। कुछ भी अविकसित नहीं रहता। उस आत्मा की उपलब्धि का नाम है—अर्हत्। हमें भी अर्हत् होना है। इसीलिए हम **'णमो अरहंताणं'** का जप करते हैं। जप को प्रारम्भ करने से पूर्व हमारे मन में यह भावना होनी चाहिए, यह संकल्प होना चाहिए कि 'मैं अर्हत् हूँ, मैं अर्हत् हूँ'। फिर जप करते समय यह धारणा हो कि 'मैं अर्हत् बन रहा हूँ, मैं अर्हत् बन रहा हूँ'। यह धारणा कर ली, यह भावना कर ली। इसके बाद हमें **'णमो अरहंताणं'** का जाप करना चाहिए। मैं नमस्कार अर्हत् को नहीं कर रहा हूँ, मैं स्वयं अर्हत् बनने के लिए आगे बढ़ रहा हूँ। तो अर्हत् की पूरी प्रतिमा, पूरा चित्र हमारे मस्तिष्क में इस प्रकार स्थिर हो जाये, स्थित हो जाये और फिर उसके आस-पास हमारा शब्द चलता रहे तो वे शब्द की तरंगें वास्तव में हमें अर्हत् के रूप में हमारे पर्याय को बदलने लग जायेंगी। हम स्वयं अर्हत् के रूप में बदलने लग जायेंगे और कुछ दिनों के बाद आपको पता लगेगा कि राग कम हो रहा है, द्वेष कम हो रहा है, वासनाएँ कम हो रही हैं, अर्हताएँ जाग रही हैं, शक्तियाँ विकसित हो रही हैं। तब समझना चाहिए कि जप हो रहा है। पूरी सामग्री प्राप्त है। नौका है, नाविक भी मिला है, डांड भी मिला है। सारे उपकरण प्राप्त हैं। नौका को ठीक खेया जा रहा है। यदि सामग्री में कुछ कमी रहती है, कोई विकलता रहती है तो आप जप को दोष देते चले जाइए, जप आपको पीछे छोड़ता चला जायेगा।

★★★

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन, ध्याते स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद्, ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥

—**तत्त्वानुशासन** ७४

आत्मा का, आत्मा में, आत्मा द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा से ही ध्यान करना चाहिए। निश्चयदृष्टि से षट्कारकमय यह आत्मा ही ध्यान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



योग और परामनोविज्ञान

□ डा० रामनाथ शर्मा
डी. फिल्. (प्रयाग), डी. लिट्. (मेरठ)

योग शब्द का शाब्दिक अर्थ जोड़ना, मिलाना, मिलाप, संगम अथवा मिश्रण है। इसके अतिरिक्त रघुवंश में इसका अर्थ सम्पर्क, स्पर्श और सम्बन्ध आदि से लगाया गया है। मनुस्मृति में इसे काम में लगाना, प्रयोग, इस्तेमाल आदि के अर्थ में लिया गया है। हितोपदेश में इसे पद्धति, रीति, क्रम, साधन के अर्थ में प्रयोग किया गया है। अन्य स्थानों पर इसको फल, परिणाम, जुआ, वाहन, सवारी गाड़ी, जिरहबख्तर, योग्यता, औचित्य, उपयुक्तता, व्यवसाय, कार्य, व्यापार, दाव-पेंच, जालसाजी, कूटनीति, योजना, उपाय आदि के भी अर्थ में प्रयोग किया गया है। मनुस्मृति में इसका प्रयोग उत्साह, परिश्रम और अध्यवसाय के अर्थ में भी हुआ है। योग का प्रयोग उपचार, चिकित्सा, इन्द्रजाल, अभिचार, जादू-टोना, धन-दौलत, नियम, विधि, सम्बन्ध, निर्वचन, गम्भीर भाव, चिन्तन, मन का केन्द्रीकरण आदि अर्थों में भी हुआ है। पतंजलि ने योगसूत्र में इसे चित्तवृत्ति-निरोध कहा है। साधारणतया दार्शनिक ग्रन्थों में योग को इसी अर्थ में इस्तेमाल किया गया है। इस योग में उन उपायों की शिक्षा दी गयी है जिनके द्वारा मानव आत्मा पूर्ण रूप से परमात्मा में लीन होकर मोक्ष प्राप्त करता है। इसीलिए योग मन के संकेन्द्रीकरण का अभ्यास माना गया है। गणित में योग का अर्थ जोड़ या संकलन होता है। ज्योतिषशास्त्र में इससे तात्पर्य संयुति, दो ग्रहों का योग, तारापुंज, समय विभाग, मुख्य नक्षत्र इत्यादि माना गया है। इसके अतिरिक्त योग को आचार के अर्थ में भी इस्तेमाल किया गया है। योगदर्शन का अध्यापक आचार्य कहलाता था। उसे अलौकिक शक्ति सम्पन्न, जादूगर, देवता इत्यादि माना जाता था। योग को जादू जैसी शक्ति भी माना गया है। अनेक दार्शनिक ग्रन्थों में योग को समाधि के अर्थ में प्रयोग किया गया है। चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों में योग को अनेक प्रकार के चूर्ण के अर्थ में भी प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार योगिन् (योगी) शब्द को भी अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है जैसे युक्ति सहित या जादू की शक्ति से युक्त, चिन्तनशील, महात्मा, भक्त, संन्यासी, जादूगर, ओझा, बाजीगर, इत्यादि। प्रस्तुत लेख में योग शब्द को उन विधियों के लिए प्रयोग किया जायेगा जो भारतीय विचारकों ने आत्मा के आध्यात्मिक विकास के लिए समाधि की स्थिति प्राप्त करने के लिए या मोक्ष प्राप्त करने के लिए बतायी थीं।

योग साहित्य

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में योग शब्द को अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। रामायण, महाभारत, महापुराण, उपपुराण, स्मृतियों, धर्मशास्त्र, वेद और संहिताएँ, षड्दर्शनग्रन्थ, बौद्धग्रन्थ, जैन साहित्य आदि में योग के विवरण भरे पड़े हैं। तन्त्र साहित्य में भी योग के लम्बे-चौड़े विवरण मिलते हैं। इस प्रकार वैदिक और अवैदिक सभी प्रकार के धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों में योग की चर्चा की गयी है। योग में आत्मा की मान्यता आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए बौद्ध दार्शनिक आत्मा को नहीं मानते किन्तु योग की चर्चा करते हैं। योग शब्द का भारत में इतना प्रयोग हुआ है कि केवल हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन सन्तों ने ही नहीं बल्कि मुस्लिम सूफियों ने भी इस शब्द का व्यापक प्रयोग किया है। इस प्रकार अति प्राचीनकाल से वैदिक ऋषियों से लेकर आधुनिक काल में श्री अरविन्द और विवेकानन्द तक भारत में योग की परम्परा रही है।

योग और परामनोविज्ञान

पश्चिम में मनोविज्ञान के इतिहास में अनुसन्धान का सबसे अधिक अर्वाचीन क्षेत्र परामनोविज्ञान है। इसमें, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, अनुभव के कुछ ऐसे क्षेत्रों में अनुसन्धान किया जा रहा है जिन्हें परा (Para) कहा जा सकता है। परा से तात्पर्य असाधारण लगाया जाना चाहिये। इस प्रकार के अनुभवों में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सबसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक उल्लेखनीय है जिसको कि संक्षेप में ई. एस. पी. (E.S.P.) कहा गया है। पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने कुछ दशक के प्रयोगों से अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के अस्तित्व को सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त मनोगति (Psycho-kinesis) के प्रभाव को भी पासा फेंकने के प्रयोग के द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। अब विशेष अनुसन्धान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष और मनोगति को नियन्त्रित करने वाले कारकों का पता लगाने की दिशा में हो रहा है।

चूँकि योग में कुछ ऐसी क्रियाओं के होने का दावा किया जाता है जिनसे अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक आज यह आशा करने लगे हैं कि परामनोविज्ञान में अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष, दूरदर्शन (Clairvoyance), मनःपर्याय (Telepathy), अनागत का ज्ञान (Pre-cognition), मनोगति (P. K.) इत्यादि को नियन्त्रित करने अथवा इन्हें उत्पन्न करने की शक्ति या क्रिया का पता लगाने में योग से सहायता मिल सकेगी। इस सम्बन्ध में लेखक द्वारा सम्पादित 'Parapsychology and Yoga' (परामनोविज्ञान और योग) के प्रकाशित होने पर जरट्रूड श्मीडलर ने लेखक को अपने एक पत्र में लिखा था, "यदि आप इस अत्यन्त रुचिकर दृष्टिकोण को चलाये रखने की आशा करते हैं, तो मुझे निश्चय है कि हममें से अनेक, जिनमें मैं भी शामिल हूँ, यह आशा करेंगे कि इन विधियों के द्वारा आप ज्ञान के क्षेत्र में एक वास्तविक नयी राह निकालने में सफल होंगे।"[1] पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के इस प्रकार रुचि दिखाने के बाद से भारतवर्ष में भी योग और परामनोविज्ञान के सम्बन्ध को लेकर अनेक सेमीनार आयोजित किये जा चुके हैं। बम्बई में एस.पी.आर. (S.P.R.) तथा राजस्थान में परामनोवैज्ञानिक संस्थान (Parapsychological Institute) की स्थापना, सागर में आयोजित परिसंवाद, उत्तर प्रदेश की राज्य मनोविज्ञानशाला में परामनोविज्ञान सम्बन्धी अनुसन्धान के अतिरिक्त पिछले दो दशकों में होने वाले अनेक सेमीनार आधुनिककाल में परामनोविज्ञान के क्षेत्र में भारतीय मनोवैज्ञानिकों की बढ़ती हुई रुचि के परिचायक हैं। इस सम्बन्ध में सन् १९६२ में लखनऊ विश्वविद्यालय में 'योग और परामनोविज्ञान' पर एक सेमीनार का आयोजन किया गया जिसमें अनेक प्रसिद्ध भारतीय और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने योग और मनोविज्ञान के सम्बन्ध पर शोध पत्र प्रस्तुत किये। ये शोधपत्र सन् १९६३ में लेखक के सम्पादकत्व में 'Parapsychology and Yoga' शीर्षक से रिसर्च जर्नल ऑफ फिलासफी एण्ड सोशल साइंसेज (Research Journal of Philosophy and Social Sciences) के प्रथम अंक के रूप में प्रकाशित हुए। इसमें सम्मिलित मनोवैज्ञानिकों में के. रामकृष्ण राव, ऐलेन जे. मेन, मिलान रिज्ल, नन्दोर फोदोर, एच. प्राइस, आर.एच. थाउलैस, जे. सी. क्रमा, जी. जारेब, आई. जे. गुड, टी. जी. कलघटगी, रामचन्द्र पाण्डे, भीखनलाल आत्रेय, रामजी सिंह, गार्डनर मर्फी, एच.एन. बनर्जी, एफ.सी. डोमेयर तथा एस. जी. सोल के शोधपत्र थे।

ड्यूक विश्वविद्यालय की विश्वप्रसिद्ध पत्रिका जर्नल ऑफ पेरासाइकोलाजी में योग और मनोविज्ञान पर संसार के सभी प्रसिद्ध परामनोवैज्ञानिकों और योग के अधिकारी विद्वानों के लेखों के लेखक द्वारा सम्पादित इस संग्रह का स्वागत करते हुए लिखा गया था, "योग और मनोविज्ञान के सम्भावित सम्बन्ध पर अनेक प्रसिद्ध परामनोवैज्ञानिकों और चित्तविद्या के दार्शनिकों के विचारों को देखकर अत्यन्त रुचि उत्पन्न होती है। यदि इस परम्परागत विश्वास में कोई सत्य है कि योग का प्रशिक्षण और अभ्यास अतिसामान्य योग्यताओं की प्राप्ति की ओर ले जाता है, तो यह समय है कि उसके लिये कुछ किया जाना चाहिए। इस प्रकाशन का इसीलिए स्वागत है कि वह इस महत्वपूर्ण समस्या पर ध्यान केन्द्रित करता है।"[2] पश्चिम में परामनोविज्ञान की सबसे अधिक प्रसिद्ध पत्रिका में योग के अध्ययनों का यह स्वागत यह स्पष्ट करता है कि आज परामनोविज्ञान के क्षेत्र में योग की प्रक्रिया की ओर आशा की दृष्टि से देखा जा रहा है। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी कोई उल्लेखनीय अनुसन्धान नहीं हो सका है। प्रस्तुत लेख में भारतीय दार्शनिक और योग साहित्य में परामनोवैज्ञानिक रुचि की सामग्री का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

योगवाशिष्ठ में परामनोवैज्ञानिक विवरण

भारतवर्ष में अति प्राचीनकाल से ही अलौकिक शक्तियों की चर्चा होती रही है। प्राचीन वेदों और उपनिषदों में अनेक स्थलों पर अलौकिक शक्तियों का उल्लेख किया गया है। उपनिषदों में योग के अनेक अंगों का उल्लेख करते हुए उनसे मिलने वाली अलौकिक शक्तियों का उल्लेख किया गया है। प्राचीन भारत में योग की एक अत्यन्त श्रेष्ठ पुस्तक योगवाशिष्ठ में ऐसी अनेक कथायें मिलती हैं जिनमें अतिसामान्य (असाधारण) घटनाओं और शक्तियों का विवरण दिया गया है। इनमें वशिष्ठ की कथा, लीला की कथा, इन्दु के पुत्रों की कथा, इन्द्र और अहिल्या की कथा, जादूगर की कथा, शुक्राचार्य की कथा, बलि की कथा इत्यादि विभिन्न कथाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की अतिसामान्य शक्तियों का उल्लेख किया गया है। वशिष्ठ की कथा में विचार के मानव शरीर ग्रहण कर लेने का उल्लेख है। लीला की कथा में अनेक अतिसामान्य घटनाएँ दी गयी हैं। कर्कटी की कथा में अणिमा सिद्धि का उल्लेख है। इन्दु-पुत्रों की कथा में इच्छा और संकल्प की अलौकिक शक्तियों का उल्लेख है। इन्द्र और अहिल्या की कथा में मन की शक्ति के द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शारीरिक कष्टों पर पूर्णतया विजय प्राप्त करने का उल्लेख है। शुक्राचार्य की कथा यह दिखाती है कि इच्छा-मात्र से नया जन्म कैसे प्राप्त किया जा सकता है। बलि की कथा में निर्विकल्प समाधि प्राप्त करने की विधि बतायी गयी है। काकभुशुण्डि की कथा में असीम रूप से लम्बे और पूर्ण स्वस्थ जीवन की सम्भावना बतायी गयी है। अर्जुन की कथा में भविष्य का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष दिखाया गया है। शतरुद्र की कथा आत्मा के पुनर्जन्म में विचार और इच्छा की शक्ति दिखाती है। शिकारी और साधु की कथा समाधि का अनुभव बताती है। इन्द्र की कथा लघिमा सिद्धि का उल्लेख करती है। विपश्चित की कथा पुनर्जन्म पर विचार और इच्छा की शक्ति दिखाती है। इन सब कथाओं के अतिरिक्त योगवाशिष्ठ में उपर्युक्त अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करने की विधियों की भी व्यापक चर्चा की गयी है। इसमें यह बताया गया है कि कैसे मन को सर्वशक्तिमान बनाया जा सकता है। इसके लिये कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर प्राण का नियन्त्रण, चित्त का शुद्धीकरण और नियन्त्रण तथा आध्यात्मिक प्रकृति के साक्षात्कार का उल्लेख किया गया है। योगवाशिष्ठ में कुण्डलिनी शक्ति को जगाने की प्रक्रिया को विस्तारपूर्वक बताया गया है। इसके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ में सभी प्रकार के शारीरिक रोगों के उपचार की विधि बतायी गयी है। इसके लिये मन्त्रों के प्रयोग की विधि भी बतायी गयी है। योगवाशिष्ठ में ऐसी क्रियाएँ बतायी गयी हैं जिनसे मनुष्य रोग, जरा और मृत्यु से बच सकता है। योगवाशिष्ठ में दूसरों के मन के विचारों को जानने के उपाय भी बताये गये हैं। ये मनः-पर्याय के उपाय हैं। इस ग्रन्थ में सिद्ध आत्माओं के लोक में प्रवेश करने के उपाय भी बताये गये हैं। इसमें ऐसी क्रियाओं की चर्चा की गयी है जिनको करने से स्थूल आकार छोड़कर सूक्ष्म आकार प्राप्त किया जा सकता है।

योगसूत्र में परामनोवैज्ञानिक विवरण

योगवाशिष्ठ के अतिरिक्त योगसूत्र में परामनोविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कथन बिखरे पड़े हैं। वास्तव में यदि योगसूत्र को परामनोविज्ञान की सबसे अधिक प्राचीन पुस्तक कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। परा-मनोविज्ञान की दृष्टि से योग के महत्व के विषय में पहले कहा ही जा चुका है। यहाँ पर उन सिद्धियों का विवरण दिया जायेगा जिनको प्राप्त करने के उपाय योगसूत्र में बताये गये हैं। सिद्धियों के विषय में पतंजलि ने लिखा है, "**जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः**"[3] अर्थात् सिद्धियाँ पाँच प्रकार की होती हैं जिनमें से कुछ जन्म से, कुछ औषधियों से, कुछ मन्त्रों से, कुछ तप से और कुछ समाधि से उत्पन्न होती हैं। इनका विवरण निम्नलिखित है :

१. **जन्म से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ**—अनेक लोगों को मनःपर्याय, अतीन्द्रियप्रत्यक्ष इत्यादि अति-सामान्य शक्तियाँ जन्म से ही प्राप्त होती हैं। कभी-कभी आयु बढ़ने पर ये नष्ट हो जाती हैं।

२. **औषधि से प्राप्त सिद्धियाँ**—वेदों से लेकर आज तक अनेक संस्कृत ग्रन्थों में ऐसी औषधियों का उल्लेख किया गया है जिनके सेवन से अनेक अतिसामान्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वेदों में सोमरस की भारी महिमा बतायी गयी है। अन्य ग्रन्थों में अनेक अन्य प्रकार की औषधियों का उल्लेख पाया जाता है।

३. **मन्त्रज सिद्धियाँ**—संस्कृत साहित्य में मन्त्रों से प्राप्त शक्तियों का उल्लेख पाया जाता है। मन्त्र का जप श्रद्धा सहित किया जाना चाहिए। मन्त्र दो प्रकार के होते हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। पहले प्रकार में ध्वनि का विशेष महत्त्व होता है। इसका उदाहरण ओंकार का मन्त्र है। वर्णात्मक मन्त्र में व्याकरण के नियमों के अनुसार मिलाये हुए शब्द होते हैं जैसे 'नमो नारायणाय'। मन्त्र देने वाले को ऋषि कहा जाता है। ऋषियों में अतिसामान्य शक्ति होती है। अस्तु, उनसे निकले हुए मन्त्र भौतिक क्रिया के साधन बन जाते हैं।

४. **तपोजन्य सिद्धियाँ**—संस्कृत ग्रन्थों में ऐसी अनेक सिद्धियों का उल्लेख पाया जाता है जो विभिन्न प्रकार के शारीरिक और मानसिक तप से प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए अहिंसा का पूर्ण रूप से अभ्यास करने पर साधक में यह शक्ति आ जाती है कि उसके सम्पर्क में आने वाले पशु भी हिंसा भाव छोड़ देते हैं।

उपर्युक्त सिद्धियों के अतिरिक्त पतंजलि ने समाधिजन्य सिद्धियों का भी उल्लेख किया है। संक्षेप में ये सिद्धियाँ निम्नलिखित हैं :

१. **प्रातिभज्ञान**—प्रातिभज्ञान वह है जिसमें कुछ भी अज्ञेय न हो। योग के साधन से इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रातिभज्ञानप्राप्त व्यक्ति के विषय में पतंजलि ने लिखा है, "**प्रातिभाद्वा वा सर्वम्**।"[4] प्रातिभज्ञान की सिद्धि ध्यान से होती है। ध्यान से व्यक्ति वासना से ऊपर उठ जाता है।

२. **भुवनों का ज्ञान**—पतंजलि के अनुसार जिस वस्तु की कामना हो उस पर अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करने से वह वस्तु प्राप्त हो जाती है। भुवनों के ज्ञान के लिए सूर्य पर संयम लगाना चाहिए। पतंजलि के शब्दों में "**भुवनज्ञान सूर्ये संयमात्**।"[5] इसको स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि भूमि आदि सात लोक, अवीच आदि सात महानरक तथा महातल आदि सात पाताल, यह भुवन पद का अर्थ है। तीन ब्रह्म लोक हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनसे नीचे महा नाम का प्रजाति का लोक है, उनसे नीचे माहेन्द्र लोक है, उनसे नीचे तारा लोक है और उनसे नीचे मनुष्यों का लोक है। पृथ्वी के ऊपर छः और नीचे १४ लोक हैं जिनमें सबसे नीचा अवीच नाम का नरक है। लोकों की व्यवस्था का अन्य अनेक संस्कृत ग्रन्थों में भी उल्लेख पाया जाता है। सूर्य पर संयम करने से इनके ज्ञान की बात प्रामाणिक नहीं है।

३. **ताराव्यूह का ज्ञान**—पतंजलि के अनुसार चन्द्रमा पर संयम करने से ताराव्यूह का ज्ञान होता है। भाष्यकार की व्याख्या को विस्तारपूर्वक पढ़ने से इस सिद्धि की बात भी समझ में आने वाली नहीं लगती।

४. **मनःपर्याय**—पतंजलि के योगसूत्र के अनुसार यदि दूसरे के मन की क्रिया पर संयम किया जाये तो उसके मन की बातों का पता लगाया जा सकता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित करने से भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। नाभि पर ध्यान लगाने से सम्पूर्ण शरीर रचना का ज्ञान होता है। कर्ण और आकाश के सम्बन्ध पर ध्यान लगाने से मीलों दूर बोला जाने वाला शब्द सुनायी पड़ता है। आत्मा पर संयम करने से मनःपर्याय की शक्ति प्राप्त होती है। इसी से भविष्य का ज्ञान भी प्राप्त होता है।

५. **सर्वज्ञानित्व**—आत्मा और जड़ पदार्थ के विवेक पर संयम करने से सर्वज्ञानित्व प्राप्त होता है। कुछ लोगों को इसके बिना भी यह सिद्धि प्राप्त हो जाती है। रूप, काल तथा वस्तु की विभिन्न दशाओं पर संयम करने से भी भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार चित्त का यथार्थ वृत्तियों पर संयम करने से भी यह सिद्धि प्राप्त होती है।

६. **अतीन्द्रियप्रत्यक्ष**—समाधि की प्रक्रिया में योगों को अतीन्द्रियप्रत्यक्ष की शक्ति प्राप्त होती है। धर्ममेघ-समाधि की स्थिति में वह सब कुछ जान सकता है।

समाधि की प्रक्रिया के अतिरिक्त अष्टांग योग के अन्य अंगों का अभ्यास करने से भी अनेक प्रकार की सिद्धियों के मिलने का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए, योग में प्रथम सोपान यम है। यम के अभ्यास से योगी भयंकर पशुओं तक की हिंसात्मकता को दूर कर देता है। उसके सम्पर्क में आने वाले पशु भी हिंसा भूल जाते हैं। नियम के पालन से भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जैसे अत्यधिक आनन्द, दिव्य दृष्टि, इष्ट देवता की सिद्धि, ध्यान की सिद्धि इत्यादि। आसन का अभ्यास करने से अनेक प्रकार की शारीरिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। प्राणायाम से मन प्रकाशयुक्त हो जाता है और किसी भी वस्तु पर ध्यान को एकाग्र किया जा सकता है। प्रत्याहार से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि को मिलाकर संयम नाम दिया गया है। संयम की शक्ति का पीछे वर्णन किया जा चुका है। शरीर पर संयम करने से अदृश्य होने की शक्ति मिलती है। तत्काल और भविष्य के कर्म पर संयम करने से भावी मृत्यु का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मैत्री पर संयम करने से मित्रता की शक्ति प्राप्त होती है। हाथी इत्यादि पशुओं पर संयम करने से अजेय शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है। आन्तरिक ज्योति पर संयम करने से भूगर्भशास्त्र का ज्ञान प्राप्त होता है। सूर्य, चन्द्र, नाभि इत्यादि के संयम के विषय में पीछे उल्लेख किया जा चुका है। ध्रुव तारे पर संयम करने से तद्विषयक ज्ञान प्राप्त होता है। गले पर संयम करने से भूख और प्यास पर अधिकार हो जाता है। ब्रह्मरन्ध्र पर संयम करने से वासनाओं पर नियन्त्रण किया जा सकता है। भ्रकुटि के मध्य संयम करने से स्थिरता और सन्तुलन प्राप्त होता है। बन्धन और मोक्ष के कारणों पर संयम करने से दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त होती है। उदानवायु पर संयम करने से पृथ्वी से ऊपर उठ जाने की शक्ति प्राप्त होती है। समानवायु पर संयम करने से इच्छा-मृत्यु की शक्ति प्राप्त होती है। शरीर पर संयम करने से आकाश में यात्रा की जा सकती है। आकाश पर संयम करने से भी इसी प्रकार की शक्ति प्राप्त होती है। वस्तुओं के गुणों, सम्बन्धों और प्रयोजनों पर संयम करने से अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जैसे शरीर को अणु के समान सूक्ष्म बना लेना अथवा अत्यन्त विशाल बना लेना, चाँद और सितारों को छू लेना, किसी भी वस्तु को प्राप्त कर लेना अथवा बना देना, भूत जगत पर अधिकार इत्यादि। इन्द्रियाँ, अहंकार और उनके गुणों पर संयम करने से योगी इन्द्रियजयी हो जाता है। इससे वह प्रधानजय हो जाता है। वस्तुओं के परिवर्तनों पर संयम करने से उनमें विवेक की शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार पतंजलि के योगसूत्र में संयम के भिन्न-भिन्न आधारों के अन्तर से विभिन्न प्रकार की शक्तियों के प्राप्त होने का उल्लेख किया गया है। यह विवरण कहाँ तक प्रामाणिक है, इसका तर्क से विवेचन न करके यौगिक क्रियाओं की प्रयोगात्मक जाँच से पता लगाया जा सकता है।

वेदों तथा उपनिषदों में योग और परामनोविज्ञान

अथर्ववेद में तपस्वियों की अतिसामान्य शक्ति का उल्लेख है। योग का ऋग्वेद में भी उल्लेख किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। अनेक उपनिषदों में भी परामनोविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विवरण बिखरे पड़े हैं। उपनिषदों में मन और इन्द्रियों के नियन्त्रण से मिलने वाली शक्तियों का उल्लेख है। कठ, तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी उपनिषदों में योग की क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। षड्दर्शनों के ग्रन्थों में किसी न किसी प्रकार से योग और उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का उल्लेख किया गया है। चार्वाक और मीमांसा दर्शनों को छोड़कर अन्य सभी आस्तिक और नास्तिक भारतीय दर्शनों के ग्रन्थों में अतिसामान्य अनुभवों और शक्तियों का उल्लेख पाया जाता है। प्रशस्तपाद ने यौगिक प्रत्यक्ष को युक्त और अयुक्त दो वर्गों में विभाजित किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने, छान्दोग्य उपनिषद् में प्रजापति ने, कठोपनिषद् में यम ने, और गौड़पाद ने अपनी कारिका में योग का उल्लेख किया है।

जैनदर्शन में योग और परामनोविज्ञान

भारतवर्ष में केवल वैदिक दर्शनों में ही नहीं बल्कि जैन और बौद्ध दर्शनों में भी अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करने के अभ्यासों का वर्णन मिलता है। इस दृष्टि से जैन आचार्यों ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं जिनका परामनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्व है। जैनों में जीव का मनोविज्ञान बताते हुए अनेक प्रकार की साधनाओं के द्वारा अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करने का उल्लेख है। जैनों के अनुसार इन्द्रियप्रत्यक्ष के अलावा अतीन्द्रियप्रत्यक्ष भी सम्भव है। जैन ग्रन्थों में मनःपर्याय, अतीन्द्रियप्रत्यक्ष, मनोगति, सर्वज्ञानित्व आदि की चर्चा की गयी है। सकलज्ञान से तात्पर्य सभी वस्तुओं का ज्ञान है। अवधि और मनःपर्याय ये सकलज्ञान के दो प्रकार हैं। अवधिज्ञान प्राप्त होने पर अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जैसे इससे भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कालों और निकट तथा दूर सभी देशों की रूपधारी वस्तुओं का ज्ञान सम्भव है। कर्मक्षय हो जाने से ये शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। भिन्न-भिन्न स्थितियों में अवधिज्ञान में आंशिक अन्तर पाया जाता है। अंगुल अवधिज्ञान छोटी से छोटी वस्तु का ज्ञान है। लोकअवधिज्ञान बड़ी से बड़ी वस्तु का ज्ञान है। अवधिज्ञान को स्थूल रूप से दो वर्गों में बाँटा गया है—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान केवल स्वर्ग और नरक के निवासियों को प्राप्त होता है। मानव और पशुओं को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान को भी आगे छः वर्गों में बाँटा गया है। प्रकार भेद से भी अवधिज्ञान के कुछ वर्गीकरण पाये जाते हैं जैसे देशावधि, परमावधि, सर्वावधि इत्यादि। अवधिज्ञान के अतिरिक्त सकलज्ञान का दूसरा प्रकार मनःपर्याय है। अवधिज्ञान में देशकाल में दूरस्थ वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। मनःपर्याय में दूसरों के विचारों को प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न जैन विचारकों में न्यूनाधिक मतभेद भी पाया जाता है। मनःपर्याय के दो प्रकार माने गये हैं—ऋजुमति और विपुलमति। पहले में दूसरे के मन के वर्तमान विचारों का ज्ञान होता है तथा दूसरे के मन के भूत और भविष्य के विचारों को जाना जा सकता है।

अवधि और मनःपर्याय, सकलज्ञान के ये दोनों प्रकार कर्म के बन्धन और आवरण के हट जाने से प्राप्त होते हैं। कर्म का आवरण हटाने के लिए जैन साहित्य में अनेक साधनाओं का उल्लेख किया गया है। जैन साधना में सर्वोच्च स्थिति को केवलज्ञान कहा गया है। इस प्रकार की स्थिति-प्राप्त व्यक्ति के लिए कोई भी ज्ञान असम्भव नहीं है क्योंकि उसकी आत्मा पर से कर्म का आवरण पूर्णतया हट चुका है। जैन ग्रन्थों में पातंजल-योग से कुछ भिन्न योग-साधना की प्रक्रिया मिलती है। जैन विद्वानों के लिए योग चारित्र है। इसके लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय इत्यादि विभिन्न प्रकार की साधनाओं का उल्लेख किया गया है। आध्यात्मिक विकास में १४ गुणस्थान माने गये हैं। ये विभिन्न सोपान हैं। अध्यात्म की साधना में योग के ५ सोपान माने गये हैं—अध्यात्म, भावना, समता, वृत्तिसंक्षय तथा ध्यान। आत्मा पर कर्म-पदार्थ का आवरण लेप्य के रूप में होता है। जैन आचार्यों ने अनेक प्रकार की लेप्यों की चर्चा की है और उनको हटाने के उपाय बताये हैं।

परामनोविज्ञान के क्षेत्र में भारतीय मनोवैज्ञानिकों के योगदान के इस लेख में दिये गये संक्षिप्त विवरण से यह अवश्य सिद्ध होता है कि भविष्य में व्यवस्थित अनुसन्धान करने पर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जा सकेगा। हर्ष है कि आज देश में अनेक विश्वविद्यालयों में योग और परामनोविज्ञान के विषय में अनुसन्धान किये जा रहे हैं। इनमें डा. के. रामकृष्ण राव के निर्देशन में आन्ध्र विश्वविद्यालय का परामनोविज्ञान केन्द्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है और इसमें प्रामाणिक अनुसन्धान होने की सम्भावना है। इलाहाबाद में राज्य मनोविज्ञानशाला के भूतपूर्व निर्देशक डा. जमनाप्रसाद तथा उनके सहयोगियों ने भी परामनोविज्ञान के क्षेत्र में अनुसन्धान को आगे बढ़ाया है। राजस्थान में परामनोविज्ञान को सेठ सोहनलाल स्मारक संस्था और बाद में राजस्थान विश्वविद्यालय में परामनोविज्ञान विभाग में श्री एच.एन. बैनर्जी के निर्देशन में परामनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक अनुसन्धान किये गये हैं। इन केन्द्रों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिरिक्त विभिन्न विश्वविद्यालयों में समय-समय पर योग और परामनोविज्ञान से सम्बन्धित विषयों को लेकर सेमीनार होते रहे हैं। अनेक भारतीय परामनोवैज्ञानिक अमरीका में ड्यूक विश्वविद्यालय में डा. जे. बी. राइन की परामनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं। ये सभी अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने भी अनेक विश्वविद्यालयों में परामनोवैज्ञानिक अनुसन्धान को आर्थिक सहायता दी है। उपर्युक्त समस्त गतिविधि से यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में भारतीय मनोवैज्ञानिक परामनोविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकेंगे।

योग और परामनोविज्ञान के सम्बन्ध के विषय में महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान में सबसे बड़ी बाधा यह है कि भारत में अभी योगियों और परामनोवैज्ञानिकों में प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्पर्क तथा सहयोग नहीं है। इस क्षेत्र में केवल पुस्तकीय अध्ययन पर्याप्त नहीं है। आशा है कि भविष्य में परामनोवैज्ञानिक योगियों का सहयोग प्राप्त करके इस क्षेत्र में स्थायी महत्व के अनुसन्धान कर सकेंगे।

सन्दर्भ और सन्दर्भ स्थल

1 "If you expect to continue with this most interesting approach, I am sure that many of us, including myself, will hope that by those methods you will be able to make a real breakthrough in knowledge." —*Gertrude Schmeidler.*

2 "It is very interesting to see many distinguished parapsychologists and philosophers of P.S.I. reflecting on the possible relationship of Yoga to Parapsychology. If there is any truth in the age old belief that Yoga training and practice lead one to paranormal abilities, it is time that something should be done about it. This publication is welcome in that it focuses its attention on that important problem."

—*The Journal of Parapsychology*, Vol. 28, No. 2—June 1964, p. 142.

३ योगसूत्र, ४, १।

४ योगसूत्र, ३, ३२।

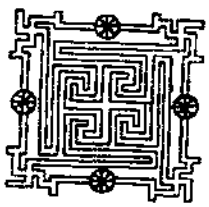
५ योगसूत्र, ३, २५।

★★★

असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप्य इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

मन को वश में न करने वाले पुरुष को योग की प्राप्ति होना बहुत कठिन है। उपाय से आत्मा को वश में करने वाला योग को प्राप्त हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अरविन्द की योग-साधना

☐ कन्हैयालाल राजपुरोहित

पाण्डिचेरी के एकान्तवास में निरन्तर चालीस वर्षों तक एक महत् उद्देश्य से की गयी महायोगी श्री अरविन्द की योग-साधना भारत की देदीप्यमान किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से किंचित् विस्मृत आध्यात्मिकता को उद्घाटित करने वाली एक ऐसी विलक्षण यात्रा थी जिसका अभीष्ट व्यक्तिगत मुक्ति का संकुचित लक्ष्य न होकर इस मर्त्यलोक को दिव्य चेतना की आभा से युक्त करना था ताकि तमस, जड़ता एवं क्षुद्र अहं से आवेष्टित यह मानव जीवन दिव्यता के उच्च धरातल पर अवस्थित हो सके। अपने स्वरूप, पद्धति एवं चरम लक्ष्य सभी दृष्टियों से उनकी साधना अद्वितीय थी। सम्पूर्ण मानव-समाज की भवितव्यता को अपने कलेवर में समेटने का लक्ष्य लेकर चलने वाली इस साधना व साधक के अत्युच्च महत्वाकांक्षी स्वरूप का अनुमान अरविन्द-योग के अध्येता एवं मनीषी श्री आर. आर. दिवाकर के इन शब्दों से लगाया जा सकता है—

"वे एक ऐसे कवि के समान थे जो उस समय तक सन्तुष्ट नहीं होता जब तक मानवीय चेतना के एक महाकाव्य की रचना नहीं कर दे। वे एक ऐसे चित्रकार के समान थे जिसके लिए अखिल दिगन्त कैनवास और इन्द्रधनुष मसिपात्र थे। वे एक ऐसे वास्तुशिल्पी के समान थे जिसका लक्ष्य एक ऐसे मन्दिर का निर्माण करना था जिसमें मानवता के आराध्यदेव विराजमान होंगे।"[1]

योग का अभिप्राय

श्री अरविन्द की साधना के वैशिष्ट्य व लक्ष्य का सांगोपांग निदर्शन करने हेतु योग के अर्थ को समझना समीचीन होगा। संस्कृत की 'युज्' धातु से व्युत्पन्न योग शब्द के अर्थ हैं—संयुक्त करना, एक होना, सम्मिलित होना अर्थात् योग संयुक्त होने, एक होने की प्रक्रिया का नाम है। इसका तात्पर्य उस विधि या तकनीक से भी है जो जीवात्मा के विश्वात्मा से मिलने के पथ को प्रशस्त करती है। ऋग्वेद में योगोल्लेख प्रचुर मात्रा में हुआ है। उपनिषदों में कठोपनिषद् में 'योगनिधि' का सन्दर्भ आया है, जब यम नचिकेता को गुह्य विद्या प्रदान करते हैं। इसका उद्भव चाहे कुछ भी हो, महत्वपूर्ण बात यह है कि मस्तिष्क व चेतना की एकाग्रता एवं नियन्त्रण, रहस्यात्मक शक्तियों की प्राप्ति एवं सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि की प्राप्ति के साधन, विधि एवं तकनीक के रूप में योग भारत के सुदूर अतीत में व्यवहृत था।

कला एवं विज्ञान दोनों

योग एक विज्ञान एवं कला दोनों है। यह उस स्थिति में विज्ञान है जब वह चिंतन, अनुभूति व एषणा के मानवीय उपकरणों की प्रकृति व चेतना के अन्य क्रियाकलापों की खोजबीन करता है। यह एक कला भी है क्योंकि यह मस्तिष्क को पूर्णरूपेण नियन्त्रित करने के व्यावहारिक तरीकों का, उसे 'अहं' तथा 'स्व' से निरासक्त करके तथा सच्चिदानन्द के साथ आत्मा के सम्मिलन को सम्भाव्य बनाने का ज्ञान प्रदान करता है।

योग अन्तरात्मा विषयक एक सरल सिद्धान्त पर आधारित है। यह अन्तरात्मा व्यक्ति के अहं, चेतना व उसके स्वरूप परिवर्तनों से अप्रभावित एवं स्वतन्त्र होती है। वह आत्मा प्रकाशित होती है और मानवीय चेतना की आन्तरिक क्रियाशीलता के अन्तर्दर्शी ज्ञान से अनुभूत की जा सकती है। इस अन्तरात्मा-पुरुष की खोज करना जो निर्गुण है जिसकी प्रकृति आनन्दमयी है—उस आत्मा के साथ एकाकार होना योग का उद्देश्य है। योग के इस लक्ष्य को प्राप्त करने के पतञ्जलि के अनुसार आठ सोपान हैं, अतः इसे अष्टांग योग कहते हैं। वे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। राजयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, मन्त्रयोग, लययोग आदि के नाम से अन्य योग-मार्ग भी प्रचलित हैं। सभी योग-मार्गों का अन्तिम लक्ष्य एक ही है—ब्रह्म या सर्वोच्च आत्मा के साथ एकात्मकता एवं संयुक्तावस्था के विशुद्ध आनन्द का सतत् रूप से अनुभव करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री अरविन्द-योग

श्री अरविन्द के योग का प्रारम्भ यद्यपि प्राणायाम से और सीधे से राजयोग के रूप में हुआ, बाद में प्रत्येक योग-मार्ग में उनके व्यापक अनुभवों एवं उनके द्वारा सभी योग-पद्धतियों के संश्लेषण के बाद पूर्णयोग के रूप में विकसित हुआ।

अपनी कृतियों में श्री अरविन्द एक स्थल पर लिखते हैं कि सम्पूर्ण जीवन ही एक योग है। उनके अपने मामले में अक्षरशः ऐसा ही था। अपने महत् उद्देश्य की चेतना तथा एक उच्च आध्यात्मिक जीवन की अभिज्ञा के प्रारम्भ से ही उन्होंने एक अभ्यासरत योगी का जीवन बिताया जिसमें किसी प्रकार के शैथिल्य व कमी के लिए कोई स्थान नहीं था। उनकी योग-साधना अपने पद्धति-वैशिष्ट्य एवं सिद्धि की दृष्टि से परिपूर्णता तो पाण्डिचेरी में प्राप्त करती है किन्तु इसका प्रारम्भ तो उनके इंगलैण्ड प्रवास के पश्चात् भारतभूमि पर पदार्पण के तुरन्त बाद हो गया था। अपोलो बन्दर पर असीम मानसिक शान्ति का अनुभव भावी महायोगी की साधना का प्रथम सोपान था जिसके अगले महत्वपूर्ण चरण लेले की सहायता से योगाभ्यास, अलीपुर कारा में गीतोक्त योग की साधना एवं वासुदेव-दर्शन व विवेकानन्द-वाणी का श्रवण, चन्द्रनगर में वेदोक्त देवियों का दर्शन आदि उनके पूर्णयोग की पूर्व पीठिका हैं।

उनकी साधना का विश्लेषण आसान नहीं है। दिनकर की यह उक्ति उचित ही प्रतीत होती है कि "भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में आइन्स्टीन के सापेक्षवाद की व्याख्या जितनी कठिन है, अध्यात्म के क्षेत्र में अरविन्द के अतिमानस व अतिमानव की व्याख्या भी उतनी ही दुरूह सिद्ध हुई है।"[२]

गुरु बिना साधना

श्री अरविन्द की योग-साधना इस रूप में भी परम्परा से हटकर थी कि उन्हें सामान्य अर्थों में किसी गुरु का मार्गदर्शन प्राप्त नहीं था। उन्होंने स्वयं लिखा है—"मुझे एक आन्तरिक प्रेरणा हुई और मैंने योगाभ्यास किया। एक विशेष स्तर पर, जब मैं आगे बढ़ने में असमर्थ था, लेले ने मेरी किंचित् सहायता की। जब मैं पाण्डिचेरी आया मुझे अपनी साधना के लिए अन्तःकरण से कार्यक्रम प्राप्त हुआ।"[३]

अरविन्दीय साधना का महत् उद्देश्य

श्री अरविन्द का उद्देश्य था—मानव-जीवन को सर्वांशतः रूपान्तरित कर उसमें अतिमानसिक ज्योति की प्रतिष्ठा करना। उनके सामने एक व्यक्ति की मुक्ति का प्रश्न नहीं था, यह था समग्र मानवता की जीवन-मुक्ति का प्रश्न, यह थी सम्पूर्ण मानव-जाति के विकास और रूपान्तर की समस्या। ऐसी समस्या जिसके हल के लिए अब तक किसी ने प्रयत्न नहीं किया है। उनका योग प्राचीन भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से भिन्न है। यह मन से परे अतिमानस में प्रवेश कर उसे इस पृथ्वी पर उतार लाना चाहता है जिसके द्वारा मनुष्य की बुद्धि, जीवन और शरीर का रूपान्तर हो जाय—हमारे अन्नमय, मनोमय, प्राणमय कोषों का परिशोधन कर उन्हें दिव्य बना सके।

किन्तु उनका तिरस्कार इसे स्वीकार्य नहीं है। वे जिस योग और साधना की बात करते हैं उसमें स्थूलतम भौतिक से लेकर सूक्ष्म चैतन्य तक सभी साधन हैं। जीन हर्बर्ट ने लिखा है—"अरविन्द की शिक्षा की एक विशिष्टता यह है कि वे जीवन के किसी भी पक्ष को, यहाँ तक कि पौद्गलिक भौतिक तत्त्व की भी उपेक्षा नहीं करते। उनका कथन है कि दिव्य शक्ति को सबसे निचले स्तर तक उतरना पड़ेगा और सब कुछ का आध्यात्मिक रूपान्तरण करना होगा क्योंकि तभी उसकी क्रिया सही अर्थों में पूर्ण हो सकती है।"[४]

उनकी साधना जीवननिष्ठ थी। जीवन से पृथक् होकर योग उनकी दृष्टि में अर्थहीन है। किन्तु जीवन में योग उतरेगा कैसे? श्री अरविन्द का योग जीवन को ईश्वरीय कार्य के लिए ईश्वरीय यन्त्र में बदल देना चाहता है। वे मानते हैं कि दिव्य चेतना की उपलब्धि, दिव्य चेतना द्वारा मानवीय चेतना का स्वीकरण, शांति, प्रकाश, प्रेम, शक्ति और आनन्द की प्राप्ति और सर्वोपरि स्वयं को ईश्वरीय इच्छाशक्ति और क्रिया के लिए पूर्ण तैयार यन्त्र के रूप में ढाल देना ही इस योग का उद्देश्य है।

प्रायः अध्यात्म-पथ के पथिक सांसारिक हलचलों के प्रति पूर्ण उदासीन रहकर या उन्हें त्याज्य समझकर सामान्य लोगों से परे स्वनिर्मित अलग वातावरण में ही खोये रहते हैं। यद्यपि प्रकट रूप में श्री अरविन्द बाह्य जगत से सर्वथा दूर थे, एक रहस्य के आवरण से आवेष्टित थे किन्तु उनकी अन्तःसलिला इस भौतिक जगत के दिव्य रूपान्तरण के उद्देश्य की ओर ही अभिमुख थी। इस दिव्य प्रक्रिया की पूर्ति हेतु उन्होंने अत्यन्त निष्ठा से कार्य किया। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में अटूट लगन से काम करता है, कठिनाइयों में भी आनन्द मानता है ठीक उसी प्रकार रूपान्तर की प्रक्रिया में श्री अरविन्द ने एक सच्चे वैज्ञानिक के धैर्य, दार्शनिक की दृष्टि, कवि की कल्पना और निरन्तर श्रमरत श्रमिक का कठोर अक्लान्त श्रम कर अपना प्रयोग किया। वे जीवन में रहकर जीवन को बदलना चाहते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिलीपकुमार राय ने अपनी पुस्तक 'तीर्थंकर' में अरविन्द से एक साक्षात्कार का उल्लेख किया है, जिसमें उनकी साधना का उद्देश्य स्पष्टतः उभरा है। उनके शब्दों में—

"एक समय मैं भी अपने योग के माध्यम से संसार के रूप को बदलना चाहता था। मैं मानवता की मूलभूत प्रकृति व प्रवृत्तियों को बदलना व उन सभी बुराइयों का निराकरण करना चाहता था जो मनुष्यों को प्रभावित करती हैं। इसी उद्देश्य और दृष्टिकोण से मैं प्रारम्भ में योग की ओर प्रवृत्त हुआ तथा मैं पाण्डिचेरी आया क्योंकि अपनी योग-साधना यहाँ करने का मुझे ऊपर से निर्देश प्राप्त हुआ था।"[५]

साधनापथ के पथिक हेतु आवश्यक योग्यताएँ

उपर्युक्त महान् उद्देश्य से प्रेरित अरविन्दीय योग-साधना के लिए स्वस्थ मस्तिष्क, शक्तिशाली प्राणिक और शारीरिक व्यक्तित्व अत्यन्त आवश्यक अर्हताएँ हैं। ऐसा बताना उस भ्रान्त मान्यता का निवारण करने हेतु आवश्यक है जो इसे एक सीधा-सपाट मार्ग समझते हैं अथवा यह मानते हैं कि योग की ओर स्वभावतया वे लोग उन्मुख होते हैं जो भावुक हैं या जीवन की विपदाओं का सामना करने में असमर्थ हैं। श्री अरविन्द-योग इस प्रकार के शिथिल बुद्धि वाले लोगों के लिए नहीं था। मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ लोगों को ही वे अपने योगमार्ग में प्रवेश की अनुमति देते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—"मेरा योग मस्तिष्क के पूर्ण सन्तुलन की माँग करता है, इसलिए जिनके मन में ऊपरी तौर पर हल्की इच्छा जागी हो वे इधर न आयें क्योंकि इस योग में उच्चतर चेतना के आवरण के लिए उद्घाटित होने की सम्भावना के साथ ही प्राणिक स्तर की शक्तियों के भी घुस आने की सम्भावना रहती है। इसलिए यदि किसी व्यक्ति के पास पूर्ण बौद्धिक सन्तुलन नहीं है तो उन गलत शक्तियों द्वारा अधिकृत होने की आशंका रहती है।"

वे पूरी सृष्टि को आध्यात्मिक आधारों पर अवस्थित देखना चाहते हैं अतः साधक के लिए एक सतत तर्कपूर्ण एवं जागरूक मस्तिष्क भी अनिवार्य है। उनके अनुसार—"सत्य की खोज के लिए एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण मौलिक आवश्यकता है समीक्षात्मक तर्क क्षमता, करीब-करीब हठी किस्म का ऐसा दिमाग जो हर मुखौटे को चीर सकता हो और चालू बातों, विचारों व मतों को अस्वीकार कर सकता हो। व्यक्ति ऐसे साहस से युक्त होना चाहिए कि वह किसी भी प्रकार के धोखे व आवरण से भिन्न सत्य को देख सके।"[६]

गलदश्रु भक्ति घातक

इसलिए अपने साधना-पथ में श्री अरविन्द निरन्तर सन्तुलन बनाये रखने की वांछनीयता पर जोर देते हैं। भावुकता की अति तक पहुँची हुई वैष्णव-साधना के इसी कारण वे प्रबल विरोधी हैं। स्वयं भक्ति का विरोध उन्हें अभीष्ट नहीं था वरन् उसके साथ जुड़ी हुई गलदश्रु भावुकता का विरोध था, जो मस्तिष्क को असन्तुलित बना देती है। वे भक्ति के उस खतरे से आगाह करते हैं जो संवेगों के उच्छल वेग को जगाने का कारण होता है।

श्री अरविन्द-साधना का स्वरूप

स्वयं श्री अरविन्द द्वारा इधर-उधर छोड़े गये कुछ संकेतों तथा अन्य स्रोतों से हमें उनकी साधना की सामान्य दिशा, उन विभिन्न स्तरों का जिनसे वे गुजरे तथा समय-समय पर उनके द्वारा अपनाये गये परिष्करण, उनकी पद्धति के विशिष्ट लक्षण तथा अन्ततः उन अत्यधिक कठिन व कभी-कभी अतीव पीड़ाजनक स्थितियाँ जिनका उन्हें सामना करना पड़ा—आदि बातों का अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

अज्ञात के अन्वेषण की अभिनव पद्धति

उनके अनुसार योग-साधना एक सर्वोच्च प्रकार का साहसिक अभियान तथा व्यक्ति के सम्पूर्ण अस्तित्व व आत्मा के साथ एक प्रयोग है। उनके मामले में यह बात विशेष रूप से घटित होती है क्योंकि उन्होंने सर्वथा नवीन आधारों का सृजन करके स्वयं को अध्यात्म क्षेत्र के अनन्वेषित अज्ञातसिंधु की उत्ताल उर्मियों के हवाले करके बिना किसी गुरु की सहायता के खतरों से पूर्ण भीषण मार्गों को पार किया। सामान्यतः जब कोई व्यक्ति अध्यात्म-पथ का अनुकरण करता है तो उसे समस्त भौतिक सुखों का त्याग करना होता है एवं विविध मानसिक व नैतिक संघर्षों से गुजरना पड़ता है जिनकी कुछ झलक एक शब्द 'मर्मभेदी' से प्राप्त होती है। जब एक बार निर्णय ले लिया गया श्री अरविन्द पूर्ण निष्ठा एवं उद्देश्य की तीव्रानुभूति से अपने कार्य में जुट गये जो उनकी कार्य पद्धति की विशिष्टता थी।

उनकी साधना ने शनैः शनैः उन्हें अपनी आध्यात्मिक प्रगति में सहायता करना प्रारम्भ किया। उत्तरोत्तर इसका विकास मानवता के लिए योग के रूप में हुआ और अन्ततः उसने सार्वभौम योग के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया। वह शक्तिशाली ऊर्ध्वगामी विकास में सचेतन साझेदारी तथा दिव्य चेतना की ओर आरोहण बन गयी। यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द की साधना के इतिहास में योग का एक विशेष स्थान और महत्व है। यह उस अद्वितीय आध्यात्मिक प्रगति के साथ विकसित हुआ जिस पर उन्होंने बल दिया था। दिवाकर का कथन इस सम्बन्ध में अत्यन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सटीक है—"श्री अरविन्द के जीवन में योग शब्द का विकासक्रम महात्मा गांधी के जीवन में अहिंसा शब्द के गहराते व विस्तृत होते महत्व या गीता में 'यज्ञ' शब्द की महत्ता के समान था।"[७]

योग-संश्लेषण का प्रयास (पूर्णयोग)

योग और उसकी क्षमता में श्री अरविन्द का विश्वास दिव्य में उनके विश्वास की भाँति ही गहन था। अपने अनुभवों से पुष्ट इसी विश्वास के सहारे वे अपनी साधना के एक बाद एक विभिन्न स्तरों को पार करते रहे। पाण्डिचेरी में अपनी साधना के प्रथम चार वर्षों में अरविन्द ने अपने "योग-संश्लेषण" का अभ्यास किया और तकनीक का पूर्ण विकास किया जो पूर्णयोग या इन्टिग्रल योग के नाम से विख्यात है। इसमें वस्तुओं का पूर्ण परिदृश्य और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली बातों का भव्य समन्वय दिखाई पड़ता है। अपनी कष्टसाध्य साधना के द्वारा एक पूर्ण व्यक्तित्व का विकास एवं स्वयं में विद्यमान आन्तरिक समरसता की खोज करके श्री अरविन्द ने विविध क्षेत्रों में सामंजस्य स्थापना की कुंजी खोज ली। उनकी साधना एक पूर्णतर अनुभव के लिए तीव्र खोज थी जो आत्मा व पदार्थ, पुरुष व प्रकृति के वास्तविक द्वय को संयुक्त करने व समरस बनाने की साध थी।

उनकी साधना की अभिनव दिशा का आभास अपने अनुज वारीन को लिखे गये पत्र से होता है जो उन्होंने योग के क्षेत्र में उनके मार्गदर्शन हेतु लिखा था। उनके योग के साथ जुड़ा 'पूर्ण' विशेषण इस पत्र में व्यक्त उनके विचारों से भलीभाँति समझा जा सकता है। प्राचीन योग पद्धतियों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं—पुराने योग में दोष यही था कि वह मन, बुद्धि को जानता, मन के भीतर ही अध्यात्म की अनुभूति पाकर सन्तुष्ट रहता, किन्तु मन खण्ड को ही आयत्त कर सकता है। वह अनन्त खण्ड को सम्पूर्ण नहीं पकड़ सकता। पुरातन योग प्रणालियाँ अध्यात्म व जीवन का सामंजस्य अथवा ऐक्य नहीं कर सकीं, जगत को माया या अनित्य लीला कहकर उड़ा देती हैं। फल हुआ है जीवन-शक्ति का ह्रास और भारत की अवनति।

श्री अरविन्द का योग उनके द्वारा अनुभूत चार सिद्धियों पर आधारित है—(१) देशकालातीत शान्त ब्रह्म की अनुभूति जो लेले के साथ साधना करते हुए प्राप्त हुई (२) विश्वचेतना अर्थात् सर्वत्र भगवान् दर्शन की अनुभूति जो अलीपुर जेल में प्राप्त हुई (३) परम सत् चेतना की अनुभूति जिसके दो पक्ष हैं—निष्क्रिय ब्रह्म और सक्रिय ब्रह्म (४) अतिमानसिक चैतन्य की अनुभूति जो सर्वोच्च सत् की अन्तिम उपलब्धि है। उनका योग उनकी इन चार अनुभूतियों के चौखम्बे पर आधारित है।[८] इनकी सिद्धि की समस्त विधि और साधना, मार्ग और तरीके व खतरे उन्होंने स्पष्ट रूप से समझाये हैं।

साधना का प्रस्थान बिन्दु

योगी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने से बहुत पहले अपनी पत्नी मृणालिनी देवी को लिखे गये एक पत्र में श्री अरविन्द की तीव्र आध्यात्मिक उत्कण्ठा का प्रकटीकरण हुआ है जिसमें परमात्मा से साक्षात्कार की इच्छा के उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर छा जाने की बात भी कही गयी है। इस पत्र में उन्होंने योग-साधना को अपना लक्ष्यपूर्ति का एक मात्र अवलम्ब बताते हुए साधना के प्रारम्भिक स्तर व विकास के विभिन्न चरणों की चर्चा की है। उन्होंने बताया कि योग के क्षेत्र में इच्छुक व्यक्ति को प्रवेश कैसे करना चाहिए।

प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण

वे कहते हैं कि आकांक्षी को हार्दिक प्रार्थनाभाव से परमात्मा के प्रति समर्पण करना चाहिए। प्रभु का तभी अवतरण होगा और वे समस्त कमियों को दूर कर भक्त को आशीर्वाद देंगे। यह वस्तुतः पूर्णयोग में पहला पाठ है जिसका बाद में अरविन्द ने क्रमशः सविस्तार प्रतिपादन किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि प्रभु का द्वार प्रवेश के लिए इच्छुक किसी व्यक्ति के लिए बन्द नहीं है। गहन प्रार्थना के माध्यम से प्रभु के चरणों में स्वेच्छिक हार्दिक समर्पण भक्त को परमात्मा से मिलाने में समर्थ होगा।

इस योगभूमि में प्रवेश पाने की पहली शर्त है **अभीप्सा**। क्या आपके भीतर इस सांसारिक जीवन से भिन्न एक उच्चतर जीवन की इच्छा है? यदि अभीप्सा है तो **ईमानदारी** से उसके लिए प्रयत्न करना होगा और ये दोनों ईश्वर, गुरु व मार्ग में **विश्वास** होने पर ही फलदायी हो सकती हैं। क्योंकि मार्ग की बाधाएँ डिगा सकती हैं इसलिए **समर्पण भाव** अत्यावश्यक है। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण बाधाओं पर विजय दिला सकेगा। "इन चार कीलक और अर्गलाओं से सुसज्जित होकर आप निधड़क योगमार्ग में आगे बढ़ सकते हैं किन्तु साधना में गफलत आत्मघाती होती है, इसलिए निरन्तर सावधानी और चौकसी आवश्यक है।"[९]

प्रथम सोपान—मस्तिष्क की नीरवता और शान्ति

श्री अरविन्द यह मानते हैं कि जब तक मानव-मन नीरव और शान्त नहीं होता तब तक किसी प्रकार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगाभ्यास सम्भव नहीं है। यह शान्ति दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती है। सक्रिय रूप से मस्तिष्क को खाली करके या तटस्थरूप के मस्तिष्क में चलने वाली क्रिया का मात्र द्रष्टा रहते हुए। कठिन प्रतीत होने वाले इन कार्यों की कठिनाई प्रकृति को न समझने के कारण और बढ़ जाती है।

नीरवता प्राप्त करने का सीधा मार्ग है जो भी मन में प्रवेश कर रहा है, उसे पकड़ कर बाहर फेंकना। यही पद्धति श्री अरविन्द ने लेले के साथ साधना करते हुए अपनाई थी। वे स्वयं लिखते हैं "इसके लिए मैं लेले का अत्यधिक ऋणी हूँ कि उन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार कराया। ध्यान के लिए बैठ जाओ, उन्होंने कहा, परन्तु कुछ भी सोचो नहीं, केवल अपने मन का निरीक्षण करो, तुम विचारों को उसके अन्दर आता देखोगे।.....बस मैं बैठ गया और वैसा ही किया। क्षण भर में मेरा मन उच्च पर्वत शिखर के निर्वात आकाश की भाँति शांत हो गया और तब मैंने देखा एक विचार, फिर दूसरा विचार बाहर से स्पष्ट रूप से आ रहा है। इसके पूर्व कि वे मेरे मस्तिष्क में घुसकर उसे अपने अधिकार में कर सकें मैंने इन्हें झटक कर दूर फेंक दिया और तीन दिन में ही उनसे मुक्त हो गया। उसी क्षण सिद्धान्ततः मेरे अन्दर का मनोमय पुरुष एक स्वतन्त्र प्रज्ञा किंवा विराट् मन बन गया जो विचारों के कारखाने के एक मजदूर की भाँति वैयक्तिक विचार के संकुचित घेरे में बँधा नहीं था बल्कि सत्ता के सैकड़ों स्तरों से ज्ञान ग्रहण करने लगा।"[१०]

खालीपन क्या है ?

मस्तिष्क के खालीपन का मनोवैज्ञानिक स्वरूप क्या है ? उसका मूल तत्व क्या है ? इस विषय में वे कहते हैं—"मानसिक सत्ता का मूल पदार्थ एकदम शान्त है। कोई वस्तु उसे आन्दोलित नहीं कर सकती। विचार या वैचारिक क्रियाएँ जब उसमें प्रवेश करती हैं तो वैसा ही होता है मानो वायुहीन आकाश को पक्षी पार कर रहे हैं। यह उड़ता चला जाता है। कहीं कोई हलचल नहीं होती। कोई निशान नहीं पड़ता। मस्तिष्क का मूल ढाँचा ही इस प्रकार के तत्व से बना है जो शाश्वत और अक्षय शान्ति से निर्मित है। ऐसा मस्तिष्क जिसने यह नीरवता और शान्ति पा ली है, अपनी प्रक्रिया शुरू कर सकता है। यह प्रक्रिया निहायत सघन और शक्तिशाली होती है, तो भी मस्तिष्क अपनी मौलिक शान्ति बनाये रखता है।"

मस्तिष्क को नीरव व शान्त बनाने की इस प्रक्रिया से अरविन्दीय योग-साधना का प्रारम्भ होता है। इस शान्ति के लिए प्रयत्न आवश्यक है क्योंकि अधिकांश लोग अशान्त जीवन के इतने अभ्यस्त होते हैं कि यह शान्ति उन्हें भयभीत करने लगती है। उसे एक ठोस और व्यापक आधार देने के लिए आवश्यक है कि यह प्राणिक व शारीरिक स्तरों तक भी उतरे और सम्पूर्ण सत्ता को सराबोर कर दे। किन्तु यह दृष्टव्य है कि शान्ति सहजरूप से उपलब्ध हो जाती है, ऐसा नहीं है और यह भी नहीं कि एक बार उपलब्ध हो जाये तो सदैव बनी रहे। यह सतत् प्रयत्न की प्रक्रिया है।

मस्तिष्क के खालीपन का अर्थ शून्यता नहीं वरन् नीरवता और शान्ति है। नीरवता का अर्थ जीवन से निष्क्रिय होना नहीं है वरन् एक महत्तर चेतना को हस्तगत करना है। शान्त होने के लिए कार्य छोड़ने की आवश्यकता नहीं क्योंकि उसकी परीक्षा क्रियाशीलता में ही होती है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने एक शिष्य को लिखा—"पुराने योग में जीवन से अलग होकर ईश्वर को पाना चाहते हैं। अतः वे कहते हैं कर्म छोड़ दो। इस नये का उद्देश्य ईश्वर तक पहुँचना और वहाँ से प्राप्त पूर्णता को जीवन में उतारना है। अतः हमारे लिए कर्म अनिवार्य है।"[११]

चैत्य का उन्मीलन

प्रार्थना, आकांक्षा, भक्ति, प्रेम, समर्पण आदि साधना के इस प्रथम चरण के मुख्य सहायक तत्त्व हैं। इनके साथ ही उस सब कुछ को, जो इस साधना में बाधक हैं, अस्वीकृत करना आवश्यक है। उदाहरण के तौर पर अहंकार उनकी साधना में सबसे बड़ा विघ्नकारी तत्त्व माना गया है, जो सभी बुराइयों की जड़ है।

दूसरा चरण मस्तिष्क में ध्यान की एकाग्रता है जो बाद में सिर के ऊपर ध्यान में बदल जाती है। इसमें पहले शान्ति उतरती है अथवा शान्ति और शक्ति साथ-साथ। जब शान्ति भली-भाँति प्रतिष्ठित हो जाती है तब उच्चतर या दिव्य शक्ति अवतरित होकर हमारे भीतर क्रियाशील हो जाती है जिसे श्री अरविन्द चैत्यपुरुष का उन्मीलन कहते हैं। यह चैत्यपुरुष ईश्वरीय किरण या ज्योति है जिसके उदय के बाद मनुष्य का बौद्धिक अहं नष्ट हो जाता है इसलिए मस्तिष्क ईश्वरीय सत्य को अभिव्यक्त करने का साधन मात्र रह जाता है। जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है श्री अरविन्द-योग परमसत्ता के लिए निवेदित है, व्यक्तिगत मुक्ति हेतु नहीं अतः अहं-विसर्जन इस साधना की शाश्वत शर्त है।

योगाभ्यासी को जानना चाहिए कि उसके भीतर सक्रिय शक्ति निर्वैयक्तिक और अनन्त है। जब उसे यह ज्ञात हो जाता है तो चैत्यपुरुष उसकी सभी क्रियाओं का संचालन अपने हाथ में लेता है। हृदय के पीछे एक झिल्ली में छिपे इस चैत्यपुरुष को आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्मीलन कैसे

जब प्राणिक और मानसिक उद्वेग नष्ट हो जाते हैं, अहं का विसर्जन हो जाता है, मस्तिष्क की सीमाएँ जानकर व्यक्ति परम-चेतना के सम्मुख समर्पणभाव से नतशिर खड़ा हो जाता है तो हृदय-गुफा में छिपी यह ज्योति-किरण बाहर आ जाती है। आनन्द इसका प्रथम लक्षण है। एक ऐसा आनन्द जो उद्वेगहीन पर ठोस होता है। शान्त, गम्भीर, निःस्वार्थ, यही आनन्द चैत्यपुरुष के जागरण का प्रथम लक्षण है। एक सहज आनन्द और व्यापकता की भावना। चैत्यपुरुष की अवधारणा को समझाना कठिन भी है और सरल भी। सरल इसलिए कि 'सत्प्रेम' के अनुसार "एक शिशु भी इसे जानता है। कितनी निर्द्वन्द्वता से वह हँसता है क्योंकि वह अपने चैत्यपुरुष में ही रहता है। कठिन इसलिए कि ज्यों-ज्यों हम बड़े होते हैं, नाना प्रकार की भावनाओं, विचारों आदि के कारण वह स्वतोद्भूत चैत्यस्थिति नष्ट होने लगती है और तब हम अपनी आत्मा की बात करने लगते हैं।"[१२]

ईश्वर-ज्योति से एकरूपता प्राप्ति

चैत्यपुरुष के उन्मीलन के लिए जो द्वार खुलता है—उसे श्री अरविन्द ओपनिंग कहते हैं। चैत्यकेन्द्र का खुलना प्रमुखतः हमें वैयक्तिक ईश्वर से जोड़ता है। यह दिव्यता को आन्तरिक ढंग से सम्बद्ध करता है। यह मुख्य रूप प्रेम और भक्ति का स्रोत है। सिर के ऊपर केन्द्र का खुलना हमें पूर्ण दिव्य से सीधा जोड़ता है और हमारे भीतर दिव्य से चेतना को जन्म देता है। इसे नवजन्म या आध्यात्मिकजन्म कहा जा सकता है। जितना ज्यादा प्रेम और भक्ति से हृदय भरता है, जितना अधिक समर्पण होता है उतना ही पूर्ण साधना का विकास हो पाता है क्योंकि अवतरण और रूपान्तर का अर्थ ही है दिव्य चेतना से अधिक सम्पर्क और सायुज्यता।

यही साधना का मौलिक विचारतत्त्व है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इसमें हृदय चक्र और सिर के ऊपर से मानसिक चक्रों का खुलना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि हृदय चैत्यपुरुष के लिए खुला रहता है और मानसिक चक्र उच्चतर चेतना के लिए। कहना न होगा कि चैत्यपुरुष व उच्चतर चेतना का यह परस्पर सहयोग सिद्धि के लिए आवश्यक है।

तात्कालिक व चरम लक्ष्य

श्री अरविन्द की इस साधना के तात्कालिक व चरम लक्ष्य भिन्न-भिन्न थे। सर्वोच्च सत्ता का अनिर्वचनीय, अन्तर्दर्शी और संयोजक अनुभव इसका तात्कालिक लक्ष्य था। उन्होंने इसकी प्राप्ति की मूलभूत शर्तों को पूरा करने का प्रयत्न किया—जैसे नैतिक जीवन का उन्नयन, इच्छाओं व संवेगों का पूर्ण नियन्त्रण आदि। उनका चरम लक्ष्य संकुचित आत्म का प्रत्यक्ष ज्ञान, संवेदन, विचार तथा मानस के अन्य रूपान्तरणों से पृथक्करण तथा इसका वास्तविक आत्म से तादात्म्य स्थापित करना था जो समस्त सच्चे ज्ञान का आधार है। यह वास्तविक आत्म आत्मप्रकाशित, आत्मस्थित, अतिचैतन्य ब्रह्माण्डीय सत्य है। वे इस सबमें विश्वास करते थे और उनका दृढ़ विचार था कि इस सत्य की खोज उस अवस्था में नहीं की जानी चाहिए जब भौतिक जीवन में निराशा का सामना करना पड़े वरन् इसलिए कि यह मानवीय आत्मा की वास्तविक साध है।

श्री अरविन्द की मान्यता थी कि इस विधि से विकसित होना समस्त मानवीय चेतना की मूल प्रकृति है किन्तु उनकी दृष्टि में यह चरम अवस्था या योग का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि दिव्य सत्ता के साधन के रूप में कार्य करना आत्मा के विलीनीकरण या नीरवता से उच्चतर आध्यात्मिक स्थिति है। यही कारण था कि उनकी दृष्टि में उनका सक्रिय राजनैतिक जीवन उनकी आध्यात्मिक साधना के मार्ग में बाधक नहीं बन सकता था। वे राजनैतिक क्षेत्र में अत्यधिक उत्तेजनापूर्ण कार्यों में संलग्न रहे फिर भी अपने चेतन-जीवन के प्रत्येक क्षण में उनकी साधना सतत रूप से चलती रही।

इस साधना का उद्देश्य स्वर्गप्राप्ति या निर्वाणप्राप्ति नहीं बल्कि जीवन और सत्ता का परिवर्तन करना था और वह भी किसी प्रासंगिक के तौर पर नहीं बल्कि विशेष और मुख्य उद्देश्य के तौर पर।

साधना : एक दिव्य एवं भव्य संघर्ष

इस साधना में जिस ध्येय की खोज करनी थी वह व्यक्ति के हित के लिए भगवान के साक्षात्कार की व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं है वरन् अभीप्सित वस्तु है चेतना की वह शक्ति जिसे क्रियाक्षेत्र में उतारना है जो अभी पार्थिव प्रकृति में, यहाँ तक कि आध्यात्मिक जीवन तक में संगठित या प्रत्यक्षतः क्रियाशील नहीं है। फिर भी इतना महान् उद्देश्य प्रारम्भ में अत्यन्त सरल रूप में दिखायी पड़ता है। इसका वास्तविक स्वरूप समझने का प्रयास करते हैं तो जो भव्य दृश्य उभरता है वह कुछ इस प्रकार है—सत्य के अनुसंधान के लिए संघर्षरत एक मानवीय आत्मा किन्तु ज्यों-ज्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अग्रसर होती है वह महाकाव्य के नायक के रूप में दिखायी देती है जो बाह्य व आन्तरिक विरोधी शक्तियों से मानवता के मार्ग को सुगम बनाने हेतु युद्ध में संलग्न है। वस्तुतः उनकी साधना मस्तिष्क, जीवन व पदार्थ पर अति-मानसिक चेतना के विजय के मार्ग को भावी पीढ़ियों के लिए सुनिश्चित करने के लक्ष्य पर केन्द्रित थी।

अतिमानस की अवधारणा

अतिमानस की अवधारणा के विवेचन के बिना श्री अरविन्द की योग-साधना के वैशिष्ट्य को समझना असम्भव है। उनकी योगपद्धति में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी सरल ढंग से इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है। हम आमतौर पर यह मानकर चलते हैं कि मानव-मन ही हमारे इस इन्द्रियगोचर जगत में अस्तित्व का का सर्वोच्च रूप है और यह रूप केवल ईश्वर से ही निम्नतर है। अरविन्द-दर्शन का प्रारम्भ ही इस मान्यता के अस्वीकरण से होता है। उनके अनुसार ईश्वर मानव-चेतना में सीधे नहीं उतरता। ब्रह्म अथवा अतिचैतन्य और मन या साधारण-चैतन्य के बीच एक कड़ी आवश्यक है। इस कड़ी या बीच की सत्ता को श्री अरविन्द अतिमानस कहते हैं। उनके अनुसार केवल अतिमानस के माध्यम से ही मन ब्रह्म तक उठ सकता है और ब्रह्म मन तक उतर सकता है। अतिमानस ब्रह्म के तीनों पक्षों को विभाजित या पृथक् किये बिना ही विकसित करता है। यह व्यापक और सृजनशील है।

वे इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं "वह चेतना शक्ति की एक क्षमता है जो ईश्वर को अभिव्यक्त करती है, ईश्वर से जन्म लेती है और उसके स्वरूप के अंश को प्राप्त करती है। न तो वह शून्य की उपज है, न कल्पनाओं की रचयिता। वह चेतन सत्ता है जो अपने अविनाशी और नित्य पदार्थ को अनित्य रूपों में ढालती हैं।"[१३]

अतिमानस के स्तर पर ही वास्तविक बोध

योग-साधना के प्रारम्भिक स्वरूप व अतिमानस की चर्चा करते हुए वे अपने अनुज को लिखे पूर्वोक्त पत्र में लिखते हैं—"पहले मानसिक स्तर पर अनुभूति पाकर, मन को अध्यात्म-रस से प्लावित कर अध्यात्म-प्रकाश से प्रकाशमान करना होता है। इसके बाद ऊपर उठना अर्थात् अतिमानस में उठे बिना जगत् के शेष रहस्य जानना असम्भव है। वहीं आत्मा और जगत्, अध्यात्म और जीवन-द्वन्द्व की अविद्या नष्ट होती है। उस समय जगत को माया कहकर नहीं देखा जाता। जगत् भगवान की सनातन लीला, आत्मा का नित्य विकास है। उसी समय भगवान को पूर्ण रूप से जान पाना सम्भव होता है। गीता में जिसे "**समग्र मां ज्ञातुम**" कहा गया है। अन्नमय देह, प्राण, मन, बुद्धि, विज्ञान आनन्द यह हुई आत्मा की पंचभूमि। जितना ऊँचा उठो—मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की चरम सिद्धि की अवस्था उतनी ही निकट आती है। अतिमानस में उठने से आनन्द में उठना सहज हो जाता है। अखण्ड अनन्त आनन्द की अवस्था में स्थिर प्रतिष्ठा होती है। केवल त्रिकालातीत परब्रह्म में नहीं—देह में, जगत जीवन में। पूरी सत्ता, पूर्ण चैतन्य, पूर्ण आनन्द विकसित होकर जो जीवन में मूर्त होता है—वह चेष्टा मेरे योग-पन्थ का मूल सूत्र है।"[१४]

अतिमानस में उठना दुःसाध्य

यद्यपि श्री अरविन्द परब्रह्म के चैतन्य की अनुभूति के लिए अपनी साधना में अतिमानस को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान देते हैं किन्तु इसकी प्राप्ति एक दुष्कर कार्य है, ऐसा वे स्वयं स्वीकार करते हैं। वारीन को लिखे गये पत्र में वे बताते हैं—"इस प्रकार होना सहज नहीं। इन पन्द्रह वर्षों के बाद में केवल मानस के तीन स्तरों के निम्नतर स्तर में पहुँचकर नीचे की सभी वृत्तियों को उसमें खींचकर लाने के लिये उद्योगरत हूँ। जब यह सिद्धि पूर्ण होगी तब भगवान मेरे द्वारा दूसरों को अल्प आयास में अतिमानस की सिद्धि देंगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं। तभी मेरा असली कार्य प्रारम्भ होगा। मैं कर्मसिद्धि के लिए अधीर नहीं हूँ। जो होना है भगवान के निर्दिष्ट समय में होगा। उन्मत्त की तरह दौड़कर क्षुद्र 'अहं' की शक्ति से कर्मक्षेत्र में कूद पड़ने की मेरी प्रवृत्ति नहीं है। यदि कर्मसिद्धि नहीं हो तो भी धैर्यच्युत नहीं हूँगा। यह काम मेरा नहीं, भगवान का है।"[१५]

सच्चे अर्थों में पूर्णता की ओर अभिमुख

श्री अरविन्द ने पार्थिव जीवन के दिव्यकरण हेतु जो साधना-पद्धति अपनायी और विकसित की उसे पूर्ण-योग सत्य ही कहा गया है। यह केवल सम्पूर्ण और व्यापक होने के अर्थ में ही पूर्ण न होकर, इस अर्थ में भी पूर्ण है कि इसमें योग और अन्य साधना-पद्धतियों के अत्यधिक गतिशील एवं स्थायी पहलुओं का संश्लेषण किया गया है। गुह्य एवं अन्य पहलुओं का महत्व क्षीण कर दिया गया है और मुख्यतः आध्यात्मिक पहलू पर बल दिया गया है। इसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक शब्दावली में प्रस्तुत किया गया है ताकि लोग इसे भली-भाँति समझ सकें। सर्वोपरि, यह योग को एक सामाजिक उद्देश्य प्राप्ति का साधन बनाना चाहती है किन्तु किसी संकीर्ण अर्थ में नहीं, वरन् समस्त मानवता के दिव्यकरण के व्यापक अर्थ में।

उनकी अपूर्व उपलब्धि यह है कि जिस समय अन्य लोग विश्व दृष्टियों और अभिवृत्तियों के बारे में सामान्य रूप में चर्चा करके ही सन्तुष्ट थे, उन्होंने एक सम्पूर्ण और व्यापक पद्धति का निर्माण किया। उन्होंने दर्शन के सभी परम्परागत प्रश्नों के उत्तर दिये हैं, उन्होंने 'क्यों' और 'कैसे' की, पाप और दुःख के अस्तित्व की, मानव ज्ञान के स्रोतों व प्रकारों की, मूल्यों के स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनका ध्यान इस बात पर इतना नहीं है कि हमारा उत्तराधिकार क्या है अथवा कि आज हम क्या हैं बल्कि इस पर है कि हमें अभी क्या होना है? यही कारण है कि वे अनन्त आशावाद का सन्देश देते हैं। पलायनवाद और निवृत्तिपरकता को आध्यात्मिक अभिनति का लक्षण स्वीकार नहीं करते।

समकालीन युग में सभी प्रकार की संकीर्णताओं जो कि तथाकथित आध्यात्मिकता के नाम पर प्रचलित हैं, से ऊपर उठकर महायोगी श्री अरविन्द ने एक ऐसे विश्व-समाज का निर्माण करने हेतु अपनी साधना की जहाँ मानव एकता का आदर्श सभी प्रकार से साकार रूप ग्रहण कर सकेगा। एक ऐसा समाज जिसमें दिव्य चेतना का अवतरण होने के फलस्वरूप तनाव एवं वैमनस्य को जन्म देने वाली प्रवृत्तियों का सर्वथा लोप हो जायेगा और होगी एक अविचल अखण्ड शान्ति जिसमें जीवन की सार्थकता का अनुभव हो सकेगा।

सन्दर्भ और सन्दर्भ स्थल

१ आर. आर. दिवाकर—महायोगी (अँग्रेजी), पृ० १६३
२ रामधारीसिंह दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६१६
३ आर. आर. दिवाकर—'महायोगी' में उद्धृत, पृ० १२८-१२९
४ जीन हर्बर्ट—पायनियर आफ सुप्रामेन्टल एज, पृ० ६०
५ दिलीपकुमार राय—"तीर्थंकर"—आर. आर. दिवाकर कृत 'महायोगी' के पृ० १६५ पर उद्धृत।
६ श्री अरविन्द इवनिंग टाक्स—द्वितीय भाग, पृ० २२४
७ आर. आर. दिवाकर—पूर्वोक्त, पृ० १३१
८ शिवप्रसादसिंह—उत्तरयोगी, पृ० ३४२
९ माधव पंडित—साधना इन श्री अरविन्दोज योग, पृ० ३१-३२
१० श्री अरविन्द—अपने तथा माताजी के विषय में पृ० ७५
११ श्री अरविन्द लेटर्स, भाग २, पृ० ७
१२ सत्प्रेम—श्री अरविन्दो ऑर द एडवेंचर आफ कॉनशियसनैस पृ० ९३
१३ श्री अरविन्द—द लाइफ डिवाइन, पृ० १७७
१४ श्री अरविन्द द्वारा वारीन को ७ अप्रैल, १९२० को लिखा पत्र—शिवप्रसादसिंह कृत 'उत्तरयोगी' के पृ० २३५ पर उद्धृत।
१५ उपर्युक्त वही, पृ० २३५

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



प्राणायाम : एक चिन्तन

☐ महासती पुष्पावती
साहित्यरत्न

हठयोग में प्राणायाम एक महत्त्वपूर्ण अंग है। पतंजलि के स्वरचित योगसूत्रान्तर्गत अष्टांगयोग में आसनों के लिए तीन और प्राणायाम के लिए चार सूत्र प्राप्त होते हैं।[1] लेकिन आसन और प्राणायाम सम्बन्धी विस्तृत विश्लेषणात्मक विवेचन हठयोग के ग्रन्थों में ही अधिक प्राप्त होता है। पतंजलि ने जिस दार्शनिक भूमि को प्रस्तावित करने का प्रयत्न किया है, उसमें प्राणायाम जैसे अंगों को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। परन्तु इस लघु-काय निबन्ध में पतंजलि के सूत्रों का विवेचन करना हमारा उद्देश्य नहीं है। यहाँ पर, हम हठयोग-साहित्य और जैन साधना साहित्य के आधार पर प्राणायाम सम्बन्धी कुछ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

साधना-मार्ग में शरीर पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है; और इस नियन्त्रण के लिए प्राणायाम एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसीलिए प्रायः सभी साधना सम्प्रदायों में प्रमुख रूप से प्राणायाम सम्बन्धी उल्लेख—कुछ भेद के साथ प्राप्त होते हैं। हमें उपनिषदों में प्राण सम्बन्धी अनेक रूपों का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे प्राण-जप, प्राण-धारणा, प्राण-रोध, प्राण-स्पन्दः, प्राणादिवायवः आदि। त्रिशिखी ब्राह्मण उपनिषद् में दस प्राणों का उल्लेख है।[2] कुछ इसी तरह का उल्लेख हमें ध्यानबिन्दु उपनिषद् और ब्रह्मविद्या उपनिषद् में भी मिलता है। इन उपनिषदों में विस्तार के साथ इन प्राणों के स्थान और कार्य का वर्णन किया गया है। प्राणजप या संयम आदि द्वारा कुण्डलिनी से सम्बन्ध जोड़ा गया है। षट्चक्र मण्डल में ज्ञानदीप प्रज्ज्वलित हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक अनूठे अनुभव बताने का प्रयत्न किया गया है। पतंजलि के 'प्रकाश-आवरण-क्षय' का भी अर्थ सम्भवतः कुछ इसी प्रकार से होता है। यद्यपि इन शब्दों का आधुनिक विश्लेषणात्मक भाषा-शैली से अर्थ लगाना बहुत कठिन है, फिर भी यह निश्चित है कि प्राचीन आचार्यों के सम्मुख, इन शब्दों के कुछ न कुछ अर्थ निश्चित रहे होंगे। आसन और प्राणायाम के वर्णन के बाद, शरीर पर होने वाले इनके परिणामों का वर्णन, इस बात की ओर संकेत करता है कि प्राचीन आचार्य, तत्त्वचिन्तन करने के साथ-साथ व्यावहारिक अनुभूतियाँ भी प्राप्त करते होंगे। इन अनुभूतियों की भाषा कुछ अगम्य सी प्रतीत होती है—जो आज के चिन्तकों और साधकों से स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती है।

हठयोग में प्राण के सम्बन्ध में कहा गया है कि जब तक प्राण चल रहे हैं तभी तक शरीर जीवित रहता है। प्राण के साथ ही शरीर का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। प्राणायाम के 'युक्त' अभ्यास से सर्वरोगों से मुक्ति मिल जाती है और प्राणायाम के 'अयुक्त' अभ्यास से बहुत सारे रोग उत्पन्न भी हो जाते हैं। प्राणायाम के सन्दर्भ में 'युक्त' और 'अयुक्त' अभ्यास और 'शोधन-क्रिया' का अपना विशिष्ट महत्व है। हम यहाँ 'युक्त' और 'अयुक्त' अभ्यास पर ही विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

प्राणायाम से जिस प्रकार शरीर शान्त होता है उसी प्रकार मन भी निराश्रय होता है। इसी निराश्रय अवस्था का विस्तार करना, सम्भवतः प्राणायाम का हेतु रहा होगा। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि प्राणायाम अपने आप में कोई साध्य नहीं है अपितु साधना-मार्ग का एक सोपान है। अतः यह साधकों के लिए आवश्यक तो है किन्तु अनिवार्य नहीं। अध्यात्म-साधना के विभिन्न मार्गों में से यह भी एक मार्ग है; और साधक की अवस्थानुसार आसन तथा प्राणायामों का उपयोग व स्वरूप बदला जा सकता है और बदलना भी चाहिये।

हठयोग में इसका वर्णन शारीरिक आरोग्यता के सन्दर्भ में भी किया गया है। प्राणायाम करने से मन प्रसन्न होगा और शरीर में किसी प्रकार के दोष नहीं रहेंगे। प्राणायाम के इस विवेचन को लेकर ही आधुनिक शरीर-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रियों ने रोग-निदान और रोग-मुक्ति के लिए प्राणायाम का उपयोग करना आरम्भ किया है। बहुत से अस्पतालों में प्राणायाम की प्रारम्भिक अवस्थाएँ शरीर में स्थिरता लाने तथा रक्त संचार के लिए उपयोग में लाई जा रही हैं।

प्राणायाम के सन्दर्भ में, योगाचार्यों ने आहार और आसनों के भी महत्त्व का प्रतिपादन किया है। प्राणायाम प्रारम्भ करने से पूर्व आसन में स्थिरता प्राप्त कर लेना आवश्यक है। साथ ही शरीर-शोधन की दृष्टि से, शरीर की आवश्यकतानुसार, षट्कर्मों का उपयोग करना भी श्रेयस्कर है। आसनों की सिद्धता के लिए आहार का पोषणयुक्त होना आवश्यक है। प्राणायाम के सन्दर्भ में पुनः आहार सम्बन्धी निर्देश दिया गया है जो इस बात का सूचक है कि साधक को इस संदर्भ में पर्याप्त सावधान रहना चाहिए।

ऊपर हमने जिन 'युक्त' और 'अयुक्त' शब्दों का उल्लेख किया है, योगाचार्यों ने उनका स्पष्टीकरण नहीं दिया है। भगवद्गीता में भी जब युक्त-आहार-विहार की चर्चा की गयी है, तो वहाँ भी स्पष्टीकरण की समस्या सामने आती है। भारतीय परम्परा अथवा योग परम्परा में इस प्रकार के शब्दों का उपयोग सम्भवतः दो बातों की ओर संकेत करता है। एक तो प्राचीन आचार्य ऐसा चाहते रहे होंगे कि योग सम्बन्धी सभी अभ्यास गुरु के मार्गदर्शन में सम्पन्न हों और दूसरा यह कि साधक पूर्णरूपेण जागरूक हो। आहार कितना लेना, किस आसन का उपयोग करना, तथा प्राणायाम कितना और कब करना आदि सभी बातों में उसे किसी प्रकार का भी भ्रम नहीं होना चाहिए। हमारी धारणा यह है कि यहाँ गुप्त रखने लायक कुछ भी नहीं है। साधक अपने स्वयं के अनुभव द्वारा अपने सम्बन्ध में युक्त-अयुक्त आहार, आसन, प्राणायाम उसके परिमाण, और समय आदि का निश्चय स्वयं कर सकता है, परन्तु उसको अभ्यास करने से पूर्व शास्त्रीय-ज्ञान आवश्यक है। सूत्रमय भाषा के प्रयोग करने का अभिप्राय भी सम्भवतः यही रहा होगा।

हठयोग में प्राणायाम का वर्णन 'कुम्भक' शब्द से किया गया है। यहाँ पर यह भी समझ लेना आवश्यक है, कि प्राण, कुम्भक, मारुत, वायु, वात आदि शब्द सन्दर्भभेद के अनुसार प्रयोग किये गये हैं। इन आठ कुम्भकों का वर्णन जहाँ-जहाँ किया गया है वहाँ-वहाँ शरीर पर होने वाले परिणामों का भी निर्देश मिलता है। उदाहरणार्थ, श्लेष्मा दोष से मुक्ति, आलस्य से मुक्ति, पित्त आदि दोषों से उत्पन्न होने वाले रोगों से मुक्ति, शरीर-अग्नि की वृद्धि और अन्त में आरोग्यता तथा शारीरिक प्रसन्नता का वर्णन है।

अध्यात्म-मार्ग का अनुसरण करने वाले साधक प्रसन्न दीखने चाहिये। सामाजिक दृष्टि से उनकी प्रसन्नता का बड़ा महत्त्व है। इसी तरह साधक निरोगी भी होना चाहिए, जिससे कि वह स्वावलम्बन का जीवन जी सके और साथ ही अपने सद्मार्ग पर दूसरों को आकर्षित कर सके।

प्राणायाम के जो आठ प्रयोग बताये जाते हैं, उसका हेतु सम्भवतः यह होगा कि साधक अपनी आवश्यकतानुसार कोई एक प्राणायाम निश्चित कर ले। गुरु के बताये हुए मार्ग में से, अपनी रुचि और शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार कोई भी प्राणायाम निश्चित किया जा सकता है। इसका निश्चय करने से पूर्व शरीर पर नियन्त्रण और विचार करने की क्षमता अपेक्षित है। विभिन्न प्रकार के प्राणायाम मानव-स्वभाव की विभिन्नता और प्रयोगबुद्धि की ओर संकेत करते हैं। इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि प्राणायाम अति आवश्यक नहीं है। सम्भवतः इसलिए ही पतंजलि ने इसका उल्लेखमात्र ही किया है। प्राणायाम की आवश्यकता अनुभव करने के बाद, उसका स्वरूप और मर्यादायें या तो साधक स्वयं निश्चित करें या उसका मार्गदर्शक, गुरु अथवा सम्प्रदाय। प्रत्येक स्थिति में सम्पूर्ण उत्तरदायित्व साधक का ही होगा। गुरु, शास्त्र, सम्प्रदाय आदि आधार मात्र हैं। शरीर पर होने वाले परिणाम (युक्त-अयुक्त) साधक को स्वयं ही अनुभव करने होंगे।

योग-मार्ग में ये साधना पद्धतियाँ शरीर से आरम्भ होकर एक निश्चित दिशा की ओर ले जाती हैं। उसी दिशा का वर्णन जैन-साहित्य में भी उपलब्ध है। जैन आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में हमें प्राणायाम सम्बन्धी विस्तृत वर्णन मिलता है। आचार्य ने आसनों का उचित अभ्यास करने के पश्चात् प्राणायाम प्रारम्भ करना उपयोगी बताया है। प्राणायाम के सम्बन्ध में आचार्य की मान्यता है कि बिना इसके मन को जीता नहीं जा सकता और मन को जीतने के पवन-जय आवश्यक है। उन्होंने शेष सारी प्रक्रियाएँ योग के अनुसार ही मान्य की हैं। प्राणायाम से होने वाले लाभ भी उसी प्रकार बताये गये हैं। प्राणायाम करते समय प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान वायु को वश में करने के लिए कुछ बीजाक्षरों का प्रयोग बताया गया है। यहाँ पर योग परम्परा की अपेक्षा थोड़ा-सा भेद दिखाई देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुण्डलिनी का वर्णन भी इन बीजाक्षरों की सहायता से किया गया है। जैन-आचार्यों ने वायु-विजय का सम्बन्ध रोग-मुक्ति के साथ जोड़ा है। आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों के लिए और योगशास्त्र का अभ्यास करने वाले चिन्तकों के लिए यह वर्णन एक प्रकार का आह्वान है। अगर आधुनिक जीवन में उसका समुचित प्रतिफल प्राप्त होता है तो योग-मार्ग की चिकित्सा पद्धति में, जैन-योग-शास्त्र का प्रदाय निश्चय ही अनूठा सिद्ध होगा।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में प्राणायाम के साथ-साथ, स्वर-शास्त्र का भी संकेत मिलता है। स्वर-शास्त्र के अनुसार सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में प्रत्येक तिथि को बदलती रहती हैं और कभी सूर्यनाड़ी, कभी चन्द्रनाड़ी और कभी पिंगला नाड़ी का प्रवाह रहता है। हेमचन्द्राचार्य ने इनके लक्षणों का विस्तृत वर्णन किया है और इन नाड़ियों के चलने के साथ-साथ, जीवन सम्बन्धी सभी प्रकार के लक्षणों और भविष्य-ज्ञान सम्बन्धी-लक्षणों का भी वर्णन किया है। यह आश्चर्य की ही बात है कि विभिन्न प्रकार के लक्षणों का वर्णन देकर मनुष्य की आयु निश्चित करने का प्रयास किया गया है। स्वर-शास्त्र के साथ-साथ शरीर में होने वाली प्रक्रियाओं का भी वर्णन मिलता है। प्राणायाम के साथ अन्य विषय किस प्रकार सम्बन्धित हैं, इसका भी सुन्दर विवेचन आचार्य हेमचन्द्र ने दिया है। यह इस बात का द्योतक है कि उस समय की परम्परा में निश्चित ही सूक्ष्म अध्ययन करने की प्रवृत्ति रही होगी। आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में, अन्य अनेक प्राचीन विद्याओं की तरह, यह विषय भी संशोधन के लिए शास्त्रज्ञों की राह देख रहा है।

इस प्रकार संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्राणायाम की प्रक्रिया के साथ अनेक विषय गुँथे हुए हैं और अप्रत्यक्ष रूप से यह भी स्पष्ट है कि साधना-मार्ग में साधना सम्बन्धी भेद महत्वपूर्ण नहीं हैं।

सन्दर्भ और सन्दर्भ स्थल

१ पतंजलि—योगसूत्र २-४९ से ५२ तक

२ प्राणापानौ समानश्च उदानोव्यान एव च।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनजयः॥

★★★

उपयोगे विजातीय - प्रत्ययाव्यवधानभाक्।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्मालोगसमन्वितम्॥
—द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १८/११

स्थिर दीपक की लौ के समान मात्र शुभ-लक्ष्य में लीन और विरोधी लक्ष्य के व्यवधानरहित ज्ञान, जो सूक्ष्म विषयों के आलोचन सहित हो, उसे ध्यान कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



पतञ्जलि योगशास्त्र : एक चिन्तन

□ डा. वसन्त गजानन्द राहुरकर
एम.ए., पी-एच.डी.
(रीडर, संस्कृत उच्च अध्ययन केन्द्र, पूना विश्वविद्यालय)

कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन ! तपस्वी, ज्ञानी और कर्म करने वाले की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है। अतः तू योगी बन।[1]

योगशास्त्र के इस सर्वोपकारित्व को लक्ष्य में रखकर मुमुक्षु साधकों को इसका सम्यग् परिज्ञान कराने के लिए आचार्य पतञ्जलि ने भारतीय वाङ्मय का गहराई से अनुशीलन-परिशीलन कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा और ज्ञान के अनुभव के आधार पर योग-सूत्रों की रचना की। आज योगशास्त्र को संस्कृत वाङ्मय और भारत की एक अद्वितीय देन के रूप में माना जाता है। डॉक्टर कर्णसिंह के शब्दों में[2] मानव के मस्तिष्क, मन, बुद्धि आदि का कार्य किस प्रकार चल रहा है, यह आज तक एक पहेली के रूप में रहा है। प्रस्तुत योगशास्त्र में भारत में प्राचीनकाल से अत्यधिक गवेषणा हुई है परन्तु आधुनिक विज्ञानशास्त्र के परीक्षण-प्रस्तर पर उस गवेषणा का परीक्षण एवं सम्वाद होना अपेक्षित है। कुण्डलिनी-जागरण और ध्यानातीत-समाधिमार्ग प्रभृति विषयों पर भी प्रायोगिक स्तर पर संशोधन होना बहुत ही आवश्यक है।

पातञ्जल योगदर्शन को हम भारतीय मनोविज्ञान कह सकते हैं। शिक्षा क्षेत्र में मनोबलवर्धन की दृष्टि से योग, आसन, आदि का प्रचार उपयुक्त है, इसलिए उसका प्रचार होना चाहिए। प्राचीन महर्षियों के अभिमतानुसार मानव 'अमृतस्य पुत्र' है किन्तु पतित नहीं। अतः योग-मार्ग से प्राण-शक्ति और ज्ञानमार्ग से अवधानशक्ति जागृत करके मानव के हित के लिए इन सुप्त शक्तियों का विकास आवश्यक है। योग को हम शास्त्र भी कह सकते हैं और कला भी। शरीर-पुष्टि अथवा रोग-मुक्ति तक ही योग सीमित नहीं है और न विभूति सम्पादन करना तथा चमत्कार से जन-मानस को चमत्कृत करना ही योग है। योगशास्त्र तो आत्मा की ऊर्ध्वमुखी विजय यात्रा का शास्त्र है। मानव के शरीर, मन, सुप्त शक्तियाँ, शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य, नैतिक जीवन और आत्म-जागरण के कार्य में वृद्धि करना योगशास्त्र का उद्देश्य है। इसे हम मानव के विकास का शास्त्र भी कह सकते हैं क्योंकि यह हमें दिव्य व भव्य पथ पर बढ़ने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करता है।

पातञ्जल योगदर्शन अद्वैतवेदान्त का परिपूरक शास्त्र है। एक ही ब्रह्मविद्या के ये दो रूप हैं। इसमें प्रथम उपपत्त्यात्मक है और द्वितीय प्रयोगात्मक है। कुछ चिन्तकों की यह धारणा है कि ब्रह्मसूत्र में जो योग शब्द व्यवहृत हुआ है वह पातंजल योगशास्त्र ही है।[3] उन चिन्तकों में प्रमुख चिन्तक वाचस्पति मिश्र हैं; परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। वेदान्तसूत्रों के अनुसार द्वैत अनुकूल योग सम्भव नहीं है। उपनिषदों में प्रतिपादित योग का चरम उत्कर्ष भगवद्गीता में निहारा जा सकता है। योग का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध है। इस निरोध का वर्णन श्रीकृष्ण ने अर्जुन के उद्बोधन के लिए किया है। भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में **'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'** शब्द जो प्रयुक्त हुआ है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस वेदोक्त ब्रह्मविद्या के योगशास्त्र रूप अंग को सूत्र रूप में प्रतिबद्ध कर पतञ्जलि ने उसे एक विशिष्ट शास्त्रीय रूप दिया है। पतञ्जलि ने समाधि-पाद, साधना-पाद, विभूति-पाद और कैवल्य-पाद के रूप में योगशास्त्र का विवेचन किया है।

पतञ्जलि ने यम-नियमों का सूक्ष्म विवेचन किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण विश्लेषण है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच यम; और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच नियम निश्चित किये गये हैं। इन यम और नियमों में व्यक्ति की उन्नति और समाज के समन्वयात्मक सहयोग की धारणा पतञ्जलि के अन्तर्मन में है। पतञ्जलि के समय में उपलब्ध योगशास्त्र विषयक सम्बन्धी साहित्य का अनुशीलन योगसूत्रों में स्पष्ट रूप से दीखता है। अभ्यास-वैराग्य से निरोध[४] होता है। पतञ्जलि के इस विधान का समर्थन भगवद्गीता से भी होता है।[५]

भारत में वेद आदि के निर्माण के पश्चात् मानव की जिज्ञासा वृत्ति से ही षडाङ्गों एवं षड्दर्शन-शास्त्रों का निर्माण हुआ है। इस विराट् विश्व की रमणीयता एवं भव्यता को निहार कर मूर्धन्य मनीषियों के अन्तर्मानस में जिज्ञासाएँ उद्बुद्ध हुईं। ऋग्वेद[६] के शब्दों में कहूँ तो 'यह विविध सृष्टि जिससे निर्मित हुई, तथा जिन्होंने धारण की और जिनमें इसका उपसंहार होता है, उस परम व्योम के निवासी परमेश्वर हैं। उनको यह किस प्रकार सम्भव हुआ होगा, यह कहना कठिन है, परन्तु प्रस्तुत जिज्ञासावृत्ति ने ही षट्-दर्शन को जन्म दिया।[७]

वैशेषिकदर्शन के आद्यप्रणेता कणाद ने षट्पदार्थों का निरूपण किया है।[८] न्यायदर्शन के निर्माता गौतम ने 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ का वर्णन किया है। जैसे द्रव्य-गुण आदि छह पदार्थ इन्द्रियों से गोचर होते हैं उसी प्रकार 'अभाव' भी इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होने वाला पदार्थ है। इस अभाव के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव नामक चार प्रकार हैं। अभाव पदार्थ की सिद्धयर्थ उसके प्रतियोगी पदार्थ के अस्तित्व की आवश्यकता होती है। घट और घटाभाव ये परस्पर प्रतियोगी पदार्थ हैं। शशशृंग का कहीं पर भी अस्तित्व नहीं है अतः उसका अभाव न्यायशास्त्र के अनुसार पदार्थ नहीं कहला सकता। इसके उपरान्त विचार-विकास के क्रम में सांख्यदर्शन आता है। इसमें तत्त्वज्ञान विचारों की उत्क्रान्ति स्पष्ट रूप से दृग्गोचर होती है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा और मन का समावेश पदार्थों में किया गया है किन्तु कपिल के सांख्यशास्त्र में आत्मा अर्थात् पुरुष को पच्चीसवाँ तत्त्व माना है। अतःकरण के संकल्प-विकल्प के व्यापार को मन कहा है। सांख्यदर्शन का प्रधान कारणवाद सभी ने मान्य किया है क्योंकि सत्कार्यवाद आदि की संसिद्धि के लिए उसका उपयोग आवश्यक है। सांख्य के अनेक तत्त्व वेदान्त के तत्त्वों को समझने के लिए आवश्यक हैं। सांख्य में तत्त्व विचारों के विकास की परिपक्व अवस्था दिखायी देती है। सांख्यशास्त्र का 'प्रधान' जगत का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह अचेतन तत्त्व है अतः ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया और सेश्वरसांख्य का निर्माण हुआ। चेतन-पुरुष ही ईश्वर है और वह जगत का भी कारण है। उसकी उपासना साधकों को इष्ट फल प्रदान करती है। मन की वृत्तियों का निरोध करके पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है। सेश्वरसांख्य ही योग है।

वेद-मन्त्रों का ऋषियों के हृदय में विकास इन चारों दर्शनों के विकास के साथ हो रहा था। वेदव्यास ने वेदों के मन्त्रों का चार संहिताओं में वर्गीकरण करके उन्हें अध्ययन-सुलभ बनाया। इन सभी वेद-मन्त्रों का उपयोग यज्ञकर्म में आवश्यक माना गया। मन्त्रों का अर्थ-विवरण, मन्त्रों का विनियोग, धर्म का स्वरूप, धर्म का अन्तिम फल, आदि विषयों पर जैमिनीप्रणीत पूर्वमीमांसादर्शन आधारित है। वेद का स्वरूप त्रिकाण्डात्मक (कर्म, उपासना और ज्ञान) है। इनमें कर्म-काण्ड का विचार पूर्वमीमांसा-दर्शन में उपलब्ध है। यज्ञयाग से स्वर्ग-प्राप्ति कर्म-काण्ड का पुरुषार्थ माना जाता था किन्तु उपासना और ज्ञान इन काण्डों की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं थे।[९] जीव और ब्रह्म इन दोनों का संयोग वेदों का परम पुरुषार्थ माना गया है। इन सिद्धान्तों को ब्रह्मसूत्र में गठित किया गया है और वह उत्तरमीमांसा के नाम से विश्रुत हुआ है।

सेश्वरसांख्य में उपासनाकाण्ड का विचार अतिअल्प है। यहाँ पर ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख है। इस दर्शन का अन्तिम ध्येय पुरुषतत्त्व है। जीव, ब्रह्म में ऐक्य नहीं। ब्रह्मसूत्रों का ध्येय जीव और ब्रह्म में ऐक्य स्थापित करना है। विवेक चूडामणि में आचार्य शंकर ने इस प्रकार कहा है कि जीव और ब्रह्म को विवेक से जानो।[१०]

इन छह दर्शनों में सेश्वरसांख्य पुरुषतत्त्व के दर्शन के लिए मनोवृत्तियों का निरोध प्रतिपादित करता है। महर्षि व्यास ने इस योगदर्शन का खण्डन किया है।[११] पतञ्जलि के योगसूत्र का प्रथम सूत्र[१२] है कि मैं अब योग का प्रतिपादन करता हूँ। अतः ब्रह्मसूत्र में योग का खण्डन पतञ्जलि योग नहीं है। इस विषय का प्रतिपादन मराठी भाषा में प्रकाशित सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय मानसशास्त्र' अथवा 'सार्थ-सविवरण पातंजल योगदर्शन" में भी इस विषय का प्रतिपादन है।[१३] इस ग्रन्थ के अभिमतानुसार वेदान्तसूत्रकार बादरायण व्यास के लगभग तीन सहस्र वर्ष पश्चात् आचार्य पतञ्जलि हुए, जिन्होंने योगशास्त्र का संकलन-आकलन किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कितने ही अन्य विज्ञों का ऐसा मन्तव्य है कि वेदान्त में पाँच मनोवृत्तियों का वर्णन मिलता है वह पतञ्जलि के योग-सूत्र से लिया गया है।[१४] पतञ्जलि योगसूत्र में पाँच चित्तवृत्तियों का उल्लेख है, परन्तु यहाँ पर 'मनस्' और 'चित्त' शब्द का अर्थ विचार करना आवश्यक है। सांख्यदर्शन में मन, बुद्धि और अहंकार नामक अन्तःकरण त्रितय हैं। पतञ्जलि योगशास्त्र में मन, बुद्धि, अहंकार और 'चित्त' नामक अन्तःकरण चतुष्टय है। 'चित्त' शब्द पतञ्जलि के योगशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और सांख्य में इसकी चर्चा नहीं है।

पतंजलि के योगशास्त्र में भारतीय मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किया गया है। व्यक्तिधर्म और समाजधर्म का उत्कृष्ट समन्वय प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्न में दिखाया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच यमों का पालन जब साधक करेगा तब वह समाज के अभ्युदय के मार्ग पर निश्चित रूप से ही आगे बढ़ेगा। समाज-हित को सामने रखकर व्यक्तिगत उत्कर्ष के लिए शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान महत्त्वपूर्ण नियम हैं। इन सामाजिक एवं व्यक्तिगत धर्मों के अतिरिक्त साधक यथाशक्ति एवं यथाआवश्यकतानुसार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का भी अभ्यास करता है।

समाधि के दो प्रकार हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में 'चित्त' को सूक्ष्म आलम्बन देते-देते केवल मैं हूँ 'अस्मि' इस शुद्ध आलम्बन पर स्थिरता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। उसके पश्चात् 'अस्मि' रूप भावना का सहज परित्याग होता है और साधक असंप्रज्ञात की ओर प्रस्थित होता है। इस अवस्था में जीव को अपने तात्त्विक स्वरूप का परिज्ञान होता है। यही आत्म-साक्षात्कार है। योगशास्त्र में इसे 'कैवल्य' कहते हैं। इसके पश्चात् योगी जगत-व्यवहार को साक्षीरूप में देखकर जगत के उद्धार हेतु सात्त्विक कर्म करता रहता है। जीवन्मुक्ति सुख का अस्वाद लेते हुए असत्व-भाव से सत्वगुणों से सम्पन्न श्रेष्ठ अवस्था में बढ़ता चलता है। योगशास्त्र की यह चरम-अवस्था भारतीय मनोविज्ञान की एक अनमोल निधि है।

विज्ञों का ऐसा मन्तव्य है कि पतञ्जलि योग-सूत्र का चौथा पाद बाद में समाविष्ट किया गया है। किन्तु पतञ्जलि में योगशास्त्र का क्रम विकास सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस मत का प्रतिपादन करना अति सुलभ हो जाता है। योग का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध है, यह स्पष्ट रूप से प्रथम पाद में कहा गया है। यह चित्तवृत्तिनिरोध समाधि अवस्था में पूर्णता को प्राप्त होता है। अभ्यास और वैराग्य निरोधसाधक साधन हैं। उसका विश्लेषण करने के पश्चात् पतंजलि ने समाधि की चर्चा की है। इसलिए पहले पाद का नाम समाधि-पाद रखा है। दूसरे पाद में समाधि-साधन के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन पाँच बहिरंग साधनों का उल्लेख है। तीसरे पाद में चित्तवृत्तिनिरोध के अन्तरंग-साधनों का उल्लेख आरम्भ में ही कर दिया है और इन तीन साधनों से ज्ञान और सामर्थ्य का अनुभव इस पाद में विस्तृत किया गया है और इसीलिए इस पाद का नाम विभूति-पाद रखा है। योग-साधना में प्राप्त सिद्धियों का यहाँ स्पष्टीकरण किया है।[१५] पतञ्जलि ने इन सिद्धियों को उपसर्ग माना है और साधक को कैवल्य अवस्था प्राप्त करने के लिए अग्रसर होने की पवित्र प्रेरणा प्रदान की है। इस क्रम में कैवल्य-पाद का होना अत्यधिक आवश्यक है। कैवल्यपाद में कैवल्य-अनुभव के मार्ग में आने वाली बाधाओं से निवृत्त होने के लिए योगी अनेक शरीर एवं 'चित्त' का निर्माण करता है और अनन्त चित्त-विश्रान्ति की श्रेष्ठ भूमिका की ओर अग्रसर होता है। अन्त में विदेह-मुक्ति पद को प्राप्त कर लेता है। 'पाद' शब्द का अर्थ चतुर्थांश है इससे यह सिद्ध होता है कि योगशास्त्र पादचतुष्टय से ही युक्त है।

कितने ही आक्षेप करने वाले पतंजलि के सम्बन्ध में बहुत कम जानते हैं। कितने ही लोग समाधि, कुण्डलिनी और योग द्वारा प्राप्त कुछ सिद्धियों के प्रदर्शन मात्र को ही योग समझ बैठे हैं। इस विषय की चर्चा यहाँ पर अधिक करना उपयुक्त नहीं है। हम यहाँ इतना ही कहकर अपना वक्तव्य पूर्ण करते हैं—

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि—
वृद्धो विद्वद्वरोऽसि च।
यस्मिन् देशे त्वमुत्पन्नो
योगस्तत्र न ज्ञायते॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ और सन्दर्भ स्थल

१ तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥
—**भगवद्गीता**, ६।४६

२ डा. कर्णसिंह के अभिभाषण से ।

३ एतेन योगः प्रत्युक्तः ।
—**अध्याय १, पाद २ ।**

४ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।
—**योग १/१२ ।**

५ अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।
—**भगवद्गीता**, ६/३५

६ इयं विसृष्टिर्यत आबूभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ।
—**ऋग्वेद, नासदीय सूक्त**, १२९

७ कपिलस्य कणादस्य गौतमस्य पतंजलेः ।
व्यासस्य जैमिनेश्चापि शास्त्राण्याहु षडेव हि ॥—**अद्वैतामोद**

८ वैशेषिकाः तन्त्रार्थभूतान् षट्पदार्थान् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष समवायाख्यान् अत्यन्तभिन्नान भिन्नलक्षणान् अभ्युपगच्छन्ति ।

९ सर्वं खल्विदं ब्रह्म । —**ब्रह्मसूत्र २-२-९७ शांकरभाष्य**

१० देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धिर्देहे च जीवे विदुषस्त्वहंधीः ।
विवेक विज्ञानवतो महात्मनो ब्रह्माहमित्येव मतिसदात्मनि ॥
—**विवेकचूडामणि, आचार्य शंकर**

११ एतेन योगः प्रत्युक्तः । —**ब्रह्मसूत्र-व्यास**

१२ अथ योगानुशासनम् । —**योगसूत्र**, १/१

१३ कृष्णाजी केशव कोल्हरकर ।

१४ पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते । —**ब्रह्मसूत्र**, २/४/१२

१५ ते समाधातुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः । —**योगसूत्र, विभूतिपाद**, ३/३८

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

YOGA IN PHYSICAL EDUCATION

☐ Dr. M. L. GHAROTE, M. A , M.Ed., Dy. P., Ph.D.

Introduction

Yoga has a hoary past. Its importance for the spiritual attainment has been recognised throughout the ages by all the systems of Indian Philosophy. There is no doubt that the essence of Yoga has been considered in the spiritual upliftment of man.

One may question as to how then Yoga is related to the Physical Education and whether Yoga will not be pulled down from its highest pedestal in doing this. It is necessary, therefore, to clear our concepts of Yoga and Physical Education, first.

The Concept of Yoga

Although the word 'Yoga' has many connotations, etymologically it means 'Integration'. The term '*Samatva*' of Bhagwad-Gita conveys the same meaning. Other terms like homeostasis, equilibrium, balance, harmonious development etc. more or less suggest the same thing. The aim of Yoga itself is integration of personality in its all aspects.

In order to help the development of such an integration various techniques are employed. These techniques or practices enjoined in Yogic literature and handed down in different traditions also go under the name of Yoga.

The various yogic practices may be classified into (a) *Āsanas*, (b) *Prāṇayāmas*, (c) *Bandhas* and *Mudrās*, (d) *Kriyās*, and (e) Meditation.

(a) *Āsanas*—These are certain special patterns of postures that stabilise the mind and body. They aim at establishing proper rhythm in the neuromuscular tonic impulses and improving the general tone of the muscles.

(b) *Prōṇāyāmas*—These are the practices for the control of respiratory impulses which form one of the main channels of the flow of autonomic nerve currents.

(c) *Bandhas and Mudrās*—These are special features of *Haṭhayoga*. These consist of practices wherein one tries to consciously control more and more certain semi-voluntary and involuntary muscles in the body. In these muscles there is an integration of central and autonomic nerve supply. By bringing these muscles more and more under volition one could influence thereby the activity of the autonomous nervous system which functions as a whole. *Bandhas* and *Mudrās* help to tone up the internal organs, decongest them and stimulate their healthy functioning.

(d) *Kriyās*—These are cleansing processes usually classified into six divisions and therefore they are often called *Saṭkarmas* or *Saṭkriyās*. Each one of these consists of many subsections.

(e) *Meditation*—This is a continuum of mental practice involving from initial withdrawal of senses to the complete oblivion of the external environment. Literally, there are innumerable stages and practices which could be included under this head.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

For undergoing yogic practices an adequate substratum is formed by resorting to a mode of self-imposed code of conduct technically known as *Yāmās* and *Niyāmās*. They form the very basis of Yoga and is considered to be essential part of yogic routine, howsoever on a mild scale.

The nature of all yogic practices is psycho-physiological. Some practices emphasizing control of mental processes directly are more psychological. Other practices are more physical or physiological. It is the latter part of the yogic practices that has become more popular and is being extensively used for the maintenance of health.

The Concept of Physical Education

Confusions, contradictions and misunderstandings have always existed concerning physical education and these persist even to-day. But more effective interpretation of the purposes and substance of physical education is being carried on to-day than in the past. Nixon and Jewett (1969) state that the aim of organized physical education is "to make the maximal contribution to the optimal development of the individual's potentialities in all phases of life, by placing him in an environment which will promote the movement and related responses or activities that will best contribute to this purpose". In the light of this statement physical education may be defined as an integral part of the total education process which endeavours at the development of physically, mentally, emotionally and socially fit citizens through the medium of physical activities. Thus physical activities are the means, while optimal development of the individual's potentialities in all phases of life is the aim of physical education.

Keeping this aim in view several objectives have been formulated and revised literally thousands of times over the years. From a long list of general objectives from a variety of sources we could isolate two most important objectives—(1) Health and Physical fitness and (2) Emotional stability.

Common Objectives of Yoga and Physical Education

Health and Physical Fitness and Emotional Stability are the two objectives which bring Yoga and Physical Education on a common platform for the benefit of human individuals. Health is a more general and comprehensive term conveying the 'feeling of well-being', while physical fitness is a more specific term. Physical fitness is an organic fitness. It may be defined as 'the capacity of an individual to perform a given task at a particular time.' There are several factors of physical fitness. The important ones may be enumerated as—(a) Speed, (b) Strength, (c) Stamina (endurance), (d) Suppleness, (e) Stability, (f) Skill (neuro-muscular co-ordination).

Health and physical fitness are not static. They are always changing. They follow 'the law of use and disuse'. Health and physical fitness can be maintained only by carefully selected physical activities which are called 'exercise.' The utility of a particular exercise programme can be evaluated only in terms of the effects that are obtained in promoting a particular factor or factors of physical fitness.

Evaluating Various Programmes of Physical Activities and Yogic Practices

There have been literally thousands of scientific investigations carried out uptill now for finding out the utility of various individual activities, systems of exercises, and several exercise programmes in developing different factors of physical fitness. Scientific books and periodicals are full of reports on the effects of these physical activities on the various systems of the human organism leading to health and physical fitness. However, we do not find many studies conducted on the yogic practices with a view to find their utility in promoting health and physical fitness. This seems to have reflected in an apathy toward Yoga and yogic practices by the workers in the field of physical education.

Yogic Practices in Physical Education Programme

Until five decades ago Yoga was shrouded in a mystery and some yogic practices were undergone by individuals here and there for spiritual purposes only. Swami Kuvalayānanda

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

was the first person and the Kaivalyadhāma founded by him is the first institution who brought scientific evidence about the utility of yogic practices for the promotion of health and physical fitness.

Yogic practices were for the first time officially included in the syllabus of physical activities by the Physical Education Committee appointed by the then Bombay Provincial Government and headed by Swami Kuvalayānanda in 1937. Even before that attempts were made by the Uttar Pradesh Government to train physical education teachers in yogic practices for which help of Swami Kuvalayānanda was sought in 1932. Yogic practices are now being recognized as a part of physical education programme by all the States as well as by the Central Government in India. We know of some countries like Brazil, Argentine and Poland where interest in yogic practices has been shown by the Departments of Physical Education and taken steps to train physical education teachers in yogic practices. Though Yoga has become popular all over the world, physical education workers in many countries do not feel, Yoga to be accommodated in their regimen.

Although the field of yogic practices has not been sufficiently explored yet, whatever little work has been done brings home the fact that these practices could make an important contribution to the field of physical education.

It would be our endeavour to take a brief resume of the scientific investigations conducted on yogic exercises with a view to evaluate their utility in the field of physical education.

A Brief Resume of the Scientific Research Related to Yoga

The first pioneering attempt along the scientific lines to study the physiological effects of yogic practices was made by Swami Kuvalayānanda (1924 a and b). His studies published in *Yoga Mimasma Journal* occupy very important and unique position among the scientific works in Yoga done so far in the field. Later other workers like Therese Brosse (1964), Bagchi and Wenger (1959) Anand et al (1961) took interest and studied electrical activity of the brain during yogic meditation. Autonomic Nervous System activity among yogic practitioners was studied by Wenger and Bagchi (1961).

Individual yogic practices have been studied by Kuvalayānanda and Karambelkar (1956 a and b, 1957 a, b, c, d and e), Bhole and Karambelkar (1971 a and b), Rao (1962, 1963, 1968), Gharote (1971 a and b), Karambelkar et al (1969), Wallace (1970), Udupa et al (1975 a, b, c).

Therapeutical aspect of yogic practices has been very well brought forward by Kuvalayānanda and Vinekar (1963), Datey et al (1969), Tulpule et al (1973), Bhole and Karambelkar (1971 c, 1972), Gharote (1973 b), Gharote and Karmbelkar (1975).

Limited research seems to have been carried out regarding the effects of a selected routine of yogic practices on the improvement of physical fitness. It is now accepted by the authorities in physical education that yogic procedures are best to contribute to flexibility (De Vries, 1967, Smithells and Cameron 1962). The experimental evidence comes from the studies of Herbert de Vries (1961 a and b, 1962), Dhanaraj (1974), Gharote (1973). But that other aspects of physical fitness are also equally favourably influenced are rarely known. From our own investigations we present herewith some interesting results.

Table A exhibits the results of the improvement among the failures of Kraus-Weber Tests after yogic training. Kraus-Weber Tests are minimum muscular fitness tests in which six items are included to measure strength of (1) abdominal plus psoas muscles, (2) abdominal muscles without the help of psoas, (3) psoas and lower abdominal muscles, (4) upper back muscles, (5) lower back muscles, and (6) the length of back and hamstring muscles. These are pass or fail tests and person failing in one item of the test is scored a failure on the test. No allowances are made for partial scores. In a survey of minimum muscular fitness on Indian school children it was reported by Gharote and Ganguly (1975) that 40.3% students failed in Kraus-Weber tests. Since the particular key muscular groups used in Kraus-Weber Tests are better attended to in yogic exercises, it was thought of conducting a pilot experiment. This

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

experiment was conducted on 9 students who failed in a survey of 70 boarding students from the local high school when tested for their fitness by Kraus-Weber Tests. A comparison of experimental group of 4, undergoing yogic training for three weeks, with the control group of 5 on the basis of chi-square showed significant improvement in the experimental group suggesting some utility of yogic exercises in improving the status of these failures (Gharote, 1976 b).

TABLE A

Classification of control and experimental groups from the Failures of K-W Test according to 'Improved' and 'Not-improved' conditions due to yogic exercises.

	Improved	Not improved	Total
Control Group ..	0 (2)	5 (3)	5
Experimental Group ...	3 (1)	1 (3)	4
Total ...	3	6	9

(Note—Bracketed figures show expected values on the basis of the independency of two classes).

chi-square = 8.66 $p < .05$

TABLE B

Effect of yogic training programme on the Achievement in Physical Fitness Index derived from the Fleishman Battery of Basic Fitness Tests.

	Control Group			Experimental Group			Diff.	t value
	N	Mean Achievement.	S.D.	N	Mean Achievement.	S.D.		
Physical Fitness Index	19	+1.78	4.78	19	+6·21	3.46	+4.43	2.326 $p < .05$

In Table B the effects of a short term yogic training programme of three weeks (18 sessions of 30 minutes each) on the general physical fitness level of the boys students of a secondary school are shown. General physical fitness is expressed by the physical fitness index derived from the Fleishman Battery of Basic Fitness tests (Fleishman 1964). The test items of the battery and the fitness aspect measured by each test are as follows :

Test Item	*Fitness aspect measured*
(1) Extent Flexibility.	Extent flexibility.
(2) Dynamic Flexibility.	Dynamic flexibility.
(3) Shuttle Run.	Explosive strength. (leg emphasis)
(4) Softball Throw.	Explosive strength. (arm emphasis)
(5) Hand Grip.	Static strength.
(6) Pull-ups.	Dynamic strength.
(7) Leg lifts.	Trunk strength.
(8) Cable Jump.	Gross body co-ordination.
(9) Balance.	Gross body equilibrium.
(10) 600-Yard run.	Stamina or Cardio-vascular efficiency.

As will be seen physical fitness level improved significantly in the group undergoing yogic training. This shows that yogic training contributes to the development of different basic factors of fitness besides flexibility. Further experimentation showed delayed effects on various other measures, after discontinuation of the yogic training for the same period of practice.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

TABLE C

Comparison of Fitness Index derived from Harvard Step Test Before and After Long Term Yogic Training.

Test	N	Initial Mean	Final Mean	Mean Diff.	SEM Diff.	t value	Sig. level
Harvard Step Test	11	78.636	86.272	+7.636	2.439	3.131	$p<.05$

Table C depicts the picture of cardio-vascular efficiency influenced by a long term yogic training (Ganguly & Gharote, 1974). These results were obtained on the male students of the G. S. College of Yoga, Lonavla who underwent yogic training for 9 months during which period they did not engage in any other vigorous physical exercises except yogic routine. Programmes of vigorous and resistance exercises are usually advocated for the improvement of cardio-vascular efficiency. But yogic training programme which is not a vigorous one, also helps to improve the cardio-vascular efficiency is a new finding. This seems to be a great contribution of yogic practices. These results were also confirmed in another study conducted by us with short term yogic training programme.

This study was conducted on the trainees of the Regional Police Training School, Khandala. Yogic training was imparted to the experimental group for 9 weeks keeping a control group for comparison who did not undergo yogic training. The routine physical activities in the School were commoniy engaged in by both the groups. The results presented in Table D will show the significant improvement in the experimental group undergoing yogic training.

TABLE D

Harvard Step Test Fitness Index in Control and Experimental Groups after a period of nine weeks.

Item	Control Mean	Group SEM	Experimental Mean	Group SEM	Diff. Mean	t value
(1) Initial score.	79.19	2.93	78.47	2.36	0.72	0.19 NS
(2) After Exptl. period.	64.56	2.31	100.66	3.03	36.10	9.47**
(3) Diff. bet. initial score and score after exptl. period.	−14.64	3.73	22.19	3.84	36.82	6.88**
		(t=3.92)**	(t=5.78)**			

** Significant at .01 level.

Emotional Stability

This is an important aspect of personality. Mental health depends on it. Although Yoga and physical education, both, strive to attain this objective through their programmes, yogic approach seems to be more sound and effective. Apart from the practices like *Yamas* and *Niyamas*, meant for training and conditioning of attitudes, the nature of so-called yhysical practices like *Āsanas*, *Prāṇāyāmas*, etc., contributes to emotional training by influencing autonomic nervous system and endocrinal system. Various studies reported by Vijayendra Pratap (1968), Kocher and Pratap (1971 a and b, 1972), Kocher (1972 a and b), Palsane and Kocher (1973), Gharote (1962) showed favourable results of short term yogic training on mental health. Our own studies on school children evaluating the psycho-physiological effects of short term yogic training programme on the working of the autonomic nervous system, using a sophisticated and elaborate battery of Wenger's Autonomic Balance, brought evidence about the utility of yogic exercises towards improved emotional stability (Gharote, 1971 c). A summary of results has been presented in Table E.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

TABLE E

Effect of Yogic Training on Autonomic Balance Score.

	Control Group N=22 Achievement		Experimental Group N=22 Achievement		Control Group v/s Exptl. Group Diff. Mean	t value	p
	Mean	SD	Mean	SD			
Autonomic Balance Score	5.92	9.91	13.44	7.62	+7.92	2.977	<·01

Wenger on the basis of factor analysis developed a method of studying autonomic balance which has a relationship with personality and other aspects of behaviour (Wenger, 1947, 1948). He called the estimates of this autonomic factor as "Scores of Autonomic Balance". Scores more than one sigma unit of 10 above the mean score of 69 were regarded as manifesting an apparent predominance in function of the para-sympathetic nervous system and scores of lower than one sigma unit were believed to demonstrate an apparent predominance in function of the sympathetic nervous system. Wenger (1956) observed that extreme children in the group of higher sympathetic activity (lower scores) were found to be easily excited to emotional behaviour, while those at the parasympathetic end were more calm. He states, "in general, good physical health and psychological adjustment will be associated with higher scores, while deterioration in psychological adjustment or some physical disorders will result in lower scores." On the basis of the above results, it would seem appropriate to assume that the yogic training tends to contribute to calmness of mind and stability of emotional behaviour.

Thus on the basis of some of the scientific investigations with yogic training programme, it would be clear that Yoga can play prominent role in achieving the objectives of physical education.

Apart from the contributions described so far, a few more special features of the yogic exercises may be summarised in passing.

(a) *Health of Spine*—Yogic practices render the spine supple and strong which is indicative of youth and vigour.

(b) *Care of Vital Organs*—There are excellent practice in Yoga like *Uḍḍiyāna, Nauli, Kapâlabhati, Mayūrāsana, Shalabhāsana* which influence directly on the vital organs of the thoraco-abdominal cavity and improve their function.

(c) *Scope and Limitations*—There are practically no limitations for the practice of Yoga.

(d) *Individualistic Nature*—Yogic practices are individualistic and can be performed without the requirement of any equipment or partner. They are suitable for all individuals of all ages and for all times.

Conclusion

Physical education is considered as an ecclectic science. It tries to be benefitted from the facts and conclusions of different fields. It is hoped that on the basis of the scientific evidence presented and indicated here, physical educators will derive maximum benefit from this important discipline of Yoga, which is getting worldwide popularity, by including it in the curriculum of physical activities.

Yoga teachers with the technical know-how of the subject should also come forward to convince the utility of Yoga for the profession of physical education and help to train the teachers and workers in physical education, taking into consideration their special problems and interests. This will clear up many misunderstandings on both sides and will ultimately result in the good of the society.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

References

Anand, B. K., G. S. Chinna, and B. Singh, 1961, Some Aspects of Electroencephalographic Studies in Yogis. Electroenceph. Clin. Neurophysiol., 134:452—56.

Bagchi, B. K., and M. A. Wenger, 1959. Electrophysiological Correlates of Some Yogic Exercises. In:EEG Clinical Neurophysiology and Epilepsy.

Bhole, M. V., and P. V. Karambelkar, 1971 c. Effect of Yogic treatment of Blood Picture in Asthama Patients. Yoga-Mimamsa 14 : 1 & 2 : 1—6.

Bhole, M. V., and P. V. Karambelkar, 1971 b. Intra-gastric Pressure changes in Asanas. Yoga Mimamsa 13 : 473—76.

Bhole, M. V., and P. V. Karambelkar, 1971 a. Pressure Changes in Internal Cavities during Uddiyana and Nauli. Yoga Mimamsa 13 : 4 : 19—25.

Bhole, M. V., and P. V. Karambelkar, 1972. Yoga Practices in relation to Therapeutics. Souvenir of the 24th Annual Conference of the Indian Psychiatric Society. pp. 39—43.

Bhole, M. V., and P. V. Karambelkar, and M. L. Gharote, 1970. Effect of Yogic Practices on Vital Capital Capacity. Ind. J. Chest. Dis. 12 : 1 & 2 : 1—4.

Brosse, Therese, 1964. Contribution to the Experimental study of Altruism. In P. A. Sorokin (Ed.) : Forms and Techniques of Altruistic and Spiritual Growth. Boston : The Beacon Press. pp. 189—282.

Datey, K. K., S. N. Deshmukh, C. P. Dalvi, and S. L. Vinekar, 1969. Shavasana—A Yogic Exercise in the Management of Hypertension. Angiology 20 : 325-333.

De Vries, Herbert, A., 1961 a. Prevention of Muscular Distress after Exercise. Research Quarterly 32 : 177-185.

De Vries, Herbert, A. 1961 b. Electromyographic Observations of the Effects of Static Stretching upon Muscular Distress, Research Quarterly. 32 : 468-479.

De Vries, Herbert A. 1962. Evaluation of Static Stretching Procedures for Improvement of flexibility. Research Quarterly. 33 : 222-229.

De Vries, Herbert A. 1967. Physiology of Exercise for Physical Education and Athletics. London : Staples Press.

Dhanaraj, V. Hubert, 1974. The Effects of Yoga and 5 BX Fitness Plan selected Physiological Parameters. Ph.D. Thesis, The University of Alberta, Edmonton, Canada.

Fleishman, Edwin. A., 1964. The Structure and Measurement of Physical Fitness. Englewood Cliffs, N. U. : Prentice-Hall, Inc., 207 pp.

Ganguly, S. K. and Gharote, M. L. 1974. Cardiovascular Efficiency before and after Yogic training, Yoga Mimamsa, 17 : 1 : 89-97.

Gharote, M.L., 1962. A Study of Psychophysiological effects of short term Yogic exercises on the Adolescent high School boys—A research report submitted to Government of India, Ministry of Education, 56 pp. (unpublished).

Gharote, M. L., 1971 a. Effect of air-swallowing on the Gastric Acidity—A pilot study. Yoga-Mimamsa 14 : 1 and 2 : 7-10.

Gharote, M. L., 1971. Energy Expenditure during deep Meditative State. Yoga-Mimamsa 14 : 1 & 2 : 57-62.

Gharote, M. L., 1971 c. Psychophysiological Study of short term Yogic training on the Adolescent high school boys, Yoga-Mimamsa, 14 : 1 & 2 : 92-99.

Gharote, M. L., 1973 a. Effect of Yogic training on Physical fitness. Yoga-Mimamsa 15 : 4 : 31-35.

Gharote, M. L., 1973 b. Evaluation of the effects of Yogic treatment on obesity, A paper read at the West Zone Scientific Seminar on Indegenous System of Medicine at Haffkins Institute, Bombay (Unpublished).

Gharote M. L. and Karambelkar P. V. 1975. Influence of Danda Dhauti on Gastric Acidity—A preliminary communication. Collected papers on Yoga, pp. 41-47, Lonavla : Kaivalyadhāma.

Gharote, M. L. and Ganguly, S. K., 1975. A Survey of Minimum Muscular fitness on school children. Ind. J. Med. Res. 63 : 9 : 1242-1250.

Gharote M. L. 1976 a. Physical Fitness in relation to the practice of selected yogic exercises, Yoga-Mimamsa, 18 : 1 : 14-23.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Gharote, M. L. 1976 b. Effect of Yoga exercises on failures on the Kraus-Weber Tests. Perceptual and Motor Skills, 43 : 654.

Karambelkar, P.V., M.V. Bhole. and M. L. Gharote, 1969 a. Muscle Activity in Some Asanas. Yoga-Mimamsa 12 : 1 : 1-13.

Kocher. H. C. 1972 a. Yoga Practices as a Variable in Neuroticism, Anxiety and Hostility. and Hostility. Yoga-Mimamsa 15 : 2 : 37-47.

Kocher, H. C. 1972 b. The Mirror Tracing test as a measure of Steadiness among Yoga Practitioners. Yoga-Mimamsa 15 : 3 : 13—22.

Kocher, H. C., and Vijayendra Pratap, 1971 b. A Free-association Study and before after Yogic Practices. Yoga-Mimamsa 14 : 1 & 2 : 41-56.

Kocher, H. C. and Vijayendra Pratap, 1972. Anxiety level and Yogic Practices. Yoga-Mimamsa 15 : 1 : 11-15.

Kuvalayananda, Swami, 1924 a. X-ray experiments on Uddiyana. Yoga-Mimamsa 1 : 15-24.

Kuvalayananda, Swami, 1924 b. Barometric Experiments on Nauli. Yoga-Mimamsa 1 : 27-28.

Kuvalayananda, Swami and P. V. Karambelkar, 1956 a. Experiments Prāṇāyāma—Bhastrika Prāṇāyāma. Yoga-Mimamsa 6 : 9-20.

Kuvalayananda, Swami, and P. V. Karambelkar, 1956 b. Studies in Internal and External Pressure changes in Uddiyana. Yoga-Mimamsa 6 : 203-208.

Kuvalayananda, and P. V. Karambelkar, 1957 a. Studies in Internal and External pressure changes in *Madhya* (Central), *Dakṣhiṇa* (right), and *Vāma* (left) Naulies. Yoga-Mimamsa, 6 : 273-290.

Kuvalayananda, Swami, and P. V. Karambelkar, 1957 b. Studies in Alveolar Air in Kapālabhati. Yoga-Mimamsa 7 : 18-25.

Kuvalayananda, Swami, and P. V. Karambelkar, 1957 c. Studies in Alveolar Air in Kapalaphati-Part II. Yoga-Mimamsa 7 : 87-94.

Kuvalayananda, Swami and P. V. Karambelkar, 1957. Kymographic and X-ray studies of pressure changes in Agnisara. Yoga-Mimamsa 7 : 157-167.

Kuvalayananda, Swami and Vinekar, S. L. 1963. Yogic Therapy—Its Basic Principles and Methods. New Delhi : Central Health Education Bureau. 96 pp.

Nixon, John. E and Jewett, Anne E. (1969). An Introduction to Physical Education (7th edn.). Philadelphia : W. B. Saunders Co., p. 67.

Palsane, M. N. and H. C. Kocher, 1973. The effects of short term Yogic Training Programme on immediate memory of school boys. Research bulletin 3 : 1 : 33—43.

Pratap, Vijayendra, 1968. Steadiness in Normals before and after Yogic Practices—An Exploratory Study. Yoga-Mimamsa 11 : 2 : 1-13.

Rao, S. 1962. Metabolic Cost of Headstand posture. J. Appl. Physiol. 117 : 118.

Rao, S. 1968. Respiratory responses to Headstand Posture. J. Appl. Physiol., 24 : 697-699.

Smithells Philip A. and Cameron Peter E. 1962. Principles of Evaluation in the Physical Education, New York : Harper & Brothers, Publishers.

Tulpule, T. H., Shantilal J. Shah, H. M. Shah, H. K. Havelivala, 1973. Yogic Exercises in the Management of Ischaemic heart disease, Indian Heart Journal. 23 : 259-264.

Wallace, R. K. 1970. Physiological effects of Transcendental Meditation. Science, 167 : 1751-1754.

Wenger, M. A., 1947. Preliminary Study of the Significance of the Measures of Autonomic Balance, Psychosom. Med. 9 : 301-309.

Wenger, M. A. 1948. Studies of the Autonomic Balance in Army Air Force Personnel, Comp. Psychol. Monogr. Sol. 1, No. 4.

Wenger, M. A. Jones, F. N., and Jones M. H., 1956. Psysiological Psychology, Henry Holt and Co., New York, pp. 266-67.

Wenger, M. A., and Bagchi, 1961. Studies of Autonomic Functions in Practitioners of Yoga in India. Behav. Sci. 6 : 312-323.

Wenger, M. A., Studies of Autonomic Balance : A Summary, Psychophysiology, Vol. 2, No. 3.

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



YOGA & WEST

□ SWAMI VISHNU DEVANANDA

When I came to the West 20 year ago, I had nothing except faith in my master, Swami Sivananda. But that was more than enough. He had told me to go the West where people were waiting. He felt that the time was right for the people in the West to accept the teachings of the ancient science of Yoga.

Of course, Master Sivananda was right. The West has reached a point in its history and development where it has attained the heights of material success. People have enough food to eat, they have comfortable houses, big motor cars, etc. Yet they are not happy.

Every sort of sensual pleasure is readily available, yet there are many people who have 'dropped out'. They have found that material things do not bring happiness and have started to look elsewhere. Unfortunately, many of these people have looked to drugs. But eventually, even they discover that the answer to the search for happiness is not in drugs or any other external means. The answer is within—within one's self.

It is like the old woman who lost her needle and went out to the garden to look for it. She did not look inside the house because it was too dark there.

Here in the West, we have built overselves the most beautiful and luxurions gardens. But the thing that is missing is still not there. To find the lost thing, we must take a light and go inside to look for it.

Yoga is that light. More and more Westerners are learning to use the light of the beautiful teachings of Yoga. They are taking this light searching within themselves for what they have lost.

And what is it that we have all lost ? It's the the realization that "I am That"—*Tat Twam Asi.*"

I pray, that with the Lord's Grace you may all find illumination in this very lifetime.

OM SHANTI

★★★

While Yogi rests in Prāṇāyāma, his mind becomes quiet and still. By the stilliness of mind, he attains higher kind of knowledge, and by the dint of this higher knowledge, every thing of the world mirrorred clearly in it.

— *Jñānārṇava. 29/14*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

WHY IS THE WEST INTERESTED IN YOGA?

□ B. K. S. IYENGAR

For 25 years, I have been regularly visiting the West for periods of three months or so. On these visits, I have met many eminent personalities, as well as common people. The question : "Why is interest in Yoga increasing day by day in the West ?", has been asked several times by our people.

India is a land enriched by its ancient but ever-fresh and flourishing culture. Although we were ruled for a long time by foreigners and were in the clutches of poverty. We did not lose our ground, for our culture, and strong faith in its philosophical thought, along with our strong faith in the Inner Self, have always protected us from all sorts of disasters. Facing the calamities of life, we have understood the meaning and the depth of life. Even the Hindu religion has not remained within limited boundries. Though it is known as the Hindu religion, it has often proven that it is not meant only for Indians, but is a universal religion, or *Vishva-Dharma;* for its truth has not remained only for a selected few, or for any particular caste, creed, or class. The truth of this Dharma or religion has contributed human betterment.

Yoga is neither a foreign nor a new subject to our country. It was evolved centuries ago by our sages. If anything at all it is Yoga—the ancient Art, the perfect science—the path which takes one towards the innermost truth.

Yoga means Union. It means evenness of attitude in our day-to-day life, or a skill which arises by itself in our action or meditation, and so on.

To achieve union and evenness one has to still one's mind. One has to break the frontiers which distract one's mind from thoughts and emotions. Actions are subordinated to thoughts and emotions. Thus these actions are not pure. Pure action is that by which skill comes into being, which brings serenity, morality, and creativity. That is true Yoga. Thus Yoga brings purity in action, clarity in thought and stability in mind.

The West has realized that there is a fundamental need to introduce Yoga into their way of life. India could make Yoga a gift to the world.

It was first introduced to the West in 1954 by Yehudi Menuhin, the world famous violinst. It was then that I sowed the seed of Yoga, and today I am proud to say that it has grown into a gigantic tree. I see the enthusiasm growing. Hundreds of Westerners have benefitted from my instruction, tacking advantage of my presence and working hard to maintain what they learned with great effort and keenness to add to their practices. Not only did they derive the benefit of my work, but they also started conducting classes in different centres in different centres in Europe, America, Africa, Australia, New Zealand, Mauritious, etc., on a purely humanitarian basis. Thus more and more people are being introduced to Yoga.

Western people have always been interested in Indian Philosophy. Not only are they keen to know about the Indian way of life, but they are also keen to adopt it. Impeded by all their book-knowledge of Yoga, they could never grasp what Yoga is exactly and actually. In 1954 when I arrived at London airport, I was looked upon as a 'miracle man', and was asked

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

whether I, being a practitioner of Yoga, could chew glass, drink acid, or walk on fire. When I denied all such demonstrations, the audience was very surprised and enquired further what kind of Yogi I am. I immediately realized that some gross misconceptions about Yoga existed in the West, and I felt that there was a lot of work for me to make these people understand what Yoga is. It was then a kind of challenge for me to dispel so many misconceived notions.

The West has progressed very rapidly in technical and scientific knowledge. But the simultaneous growth of materialism has created a great spiritual void. Discipline has become a mechanical format in a barren existence. Bored with materialism, the people in the West are searching for something which will give them peace of mind. The lack of any spiritual touch in human life and relationship has led many frustrated people to turn to the East for solace and inspiration. They realize that happiness and peace elude them. The art of living has been drained from their lives. A hectic life has eclipsed their peace of mind; the soft and sophisticated material comforts have robbed them of life's simple happiness; an externally imposed discipline has kidnapped their inner freedom.

Now they are realizing that it is Yoga that can keep their minds out of bondage. Though physically able to sustain the pace of modern life, they are often not able to bear the mental pressures of it. The artificiality of that life has been hurting the core of their consciences. A lopsided and pampered existence has not harboured them from enormous mental tensions generated by so many hectic claims on their lives. Though Western society recognizes and permits divorce, re-marriage, free sex, independent living even in adolescent aged children, etc., still the people there have not been able to bring peace to their inner selves. On the contrary, this so-called liberty has produced innumerable mental and psychological worries and problems. Westerners are intellectually developed but emotionally starved, as they are cut off from the fountain of inner life springs. They talk a lot from the brain, but their hearts are empty and sterile. This has separated them from spirituality. Because of all this they have been drawn to Yoga, to regain inner balance.

While explaining why the West has taken to Yoga, I cannot refrain from saying that we Indians have neglected Yoga, this rich legacy which has come to us from our ancient sages. While the West wants to adopt the Indian way of life, which is known for its simplicity and straight-forwardness, we Indians are trying to immitate their way of life. Not only have we neglected our own Art : Yoga, but we are forgetting it. We talk a great deal about our philosophy, but we do not convert it into action. We are merely glorifying the past. We do not live according to what is morally important ; we live on ideals. We are humble and simple ; belief has a very strong hold on us, but we are very slow and even slovenly in action.

The Western mind is intellectually well-trained. In India we believe that one cannot improve society unless one is evolved mentally and spiritually. As the Westerners are people of action, they go all out to improve society. Both types of approach are partially correct and productive. No doubt we Indians are proud of our civilization and culture, and of our great Yogis and Rishis. But that feeling is not going to lift us from lethargy. We must work, steadfastly and purposefully, as did our great masters in the past. We have to act in our chosen paths earnestly, and not casually and merely intellectually. Only action with understanding and a desire to learn with humility will bring us once again to that past glory. We are patient, simple and humble, but we lack keenness and interest and the drive to get results.

Being of just the opposite frame of mind, the Westerners, once they set their minds to something, will persevere with fit. Once they take to Yogic practice, they do not treat it casually, but try to project it. Yoga has gone to every nook and corner in the West, whereas we in India think that it is in our blood and neglect the real Art.

The West is eager to know about our philosophical approach in the daily walks of like. The Western mind is in search of peace ; but peace cannot come from outside ; it has to come from within. Unless people learn to distinguish essentials and non-essentials, peace will ever

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

elude them. The West thought that the soul could be realized through intelligence. Now India must teach that the head can take us only so far and no further ; we must instead hitch the wagon to our heart. There should be co-ordination of head and heart. The proper mental approach and a firm moral background are essential factors; without them, a spiritual approach is an impossibility. The West seems to have realized that Yoga is the only path which is universal in its nature, and which can bring about a fundamental change in their way of life.

When I came in contact with Westerners, the first thing they told me was that they are tired of lectures on Indian philosophy and weary of so much endless theoretical knowledge ; they wanted something practical and tangible, of which they were ignorant. We do not distinguish between the body and the mind. There must be an integrated approach. I then had to teach the *Yogāsanas* and *Prāṇāyāma* with this wholesome approach. At every step, it had to insist and make them understand how the body and the mind work in co-ordination, how each *āsana* and each breath is treated with a kindred spirit. Their bodies, being very supple and elastic, could perform the *āsanas* very easily, but I had to make them aware that it is not merely a physical movement, but that the mind has also to be kept alert, living all the time in the present, and how the current of spiritual awareness has to flow in each movement, in each action, in each breath.

The family structure in the West, their habits, conventions, and social living, are all opposite in nature to the Yogic way. Smoking and drinking have never been regarded as unacceptable behaviour. Their idea of morality is such that they never considered it necessary to give up smoking, drinking etc., for spiritual life. Yet after beginning the regular practice of Yoga, many of them stopped smoking and drinking, and even attending so often social parties.

The only solution for mental and psychological problems is Yoga, and this is the main reason for its becoming so popular. It is of course true that popularity can sometimes damage the real and original nature of a subject : and it is here that I have found the second stage of my work. In the fifties and sixties I worked hard to popularize the subject of Yoga ; now I must work to correct the distortions that have appeared since that popularization. On television especially, in classes such as "Keep Fit", Yoga is being presented, not in its true form, but in a Westernized version that is more like any other form of physical exercise. Whenever I appeared on Western television, it became my duty to point out the discrepancies between these adapted versions and the true original Yoga, and to emphasize that Yoga is not done merely to "keep fit". If one practises well health will be an inevitable by-product.

Today I am happy to say that at least my pupils have remained faithful to me and to my work; they are carrying that work in its true form to their brothers and sisters abroad. There are now hundreds of teachers trained by me working in centres throughout the west. Many are teaching in the Inner and Greater London Educational Authorities, (ILEA), Local Educational Authorities, and in the Universities.

The scientific Western mind is also greatly interested in the medical effects and application of Yoga. While we in India only claim that Yoga is beneficial in the treatment and curing of such diseases as heart trouble, high or low blood pressure, diabetes and so on; the Western doctors are actually testing these claims in hospitals, with the result that they have concluded that Yoga can and does help to a great extent to cure many physiological, psychological, and psychosomatic illnesses. In America, Britain, and other places, I have several doctors as pupils, and they have made observations and experiments during classes I was conducting, to assist them in their research into the effects of Yoga. Their research has led them to conclude the *āsanas* and *prāṇāyāma* done merely in the name of Yoga do not help, and that only that which is practised in the genuine and correct way, can have a beneficial effect. I fear that one day these doctors may prove to the world that it is they who are

(Continued on Page 107)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तान्त्रिक-साधनाएँ : एक पर्यवेक्षण

□ डा. रुद्रदेव त्रिपाठी
[एम.ए., पी-एच.डी., साहित्य-सांख्ययोगदर्शनाचार्य]

भारतीय मानव के जन-जीवन को सुखी, समृद्ध तथा शान्तिमय बनाने के लिए पूर्व महर्षियों ने जिन उपायों का आख्यान किया है, उनमें "तान्त्रिक साधना" का स्थान भी प्रमुख है। यह साधना इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण की कामना से आविर्भूत होने के कारण युगों से परीक्षा की कसौटी पर खरी उतरती रही है। तपःपूत महर्षियों ने आत्मसाधना के द्वारा इसके सत्य को शास्त्रों के माध्यम से आज के मानव तक पहुंचाया है और अपने अपार श्रम से इसके वास्तविक तथ्य को पुरस्कृत करने का आर्ष पुरुषार्थ किया है।

श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को बोध देते हुए मानव की ईश्वर अथवा ईश्वरीय-सत्ता-सम्पन्न वस्तुओं के प्रति अभिरुचि के प्रमुख कारण बताते हुए कहा कि—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥७-१६॥

अर्थात् भरतवंशियों में श्रेष्ठ हे अर्जुन, (१) आर्त—संकट में पड़ा हुआ, (२) जिज्ञासु—यथार्थ ज्ञान का इच्छुक, (३) अर्थार्थी—सांसारिक सुखों का अभिलाषी, तथा (४) ज्ञानी—ऐसे चार प्रकार के लोग मेरा स्मरण करते हैं। यह कथन सभी के सम्बन्ध में लागू होता है। इन चार कारणों में अन्तिम कारण को छोड़कर शेष तीन तो ऐसे हैं कि इनसे कोई बचा हुआ नहीं है। कुछ केवल पीड़ित हैं, कुछ केवल जिज्ञासु हैं और कुछ केवल अर्थार्थी हैं; जबकि अधिकांश व्यक्ति तीनों कारणों से ग्रस्त हैं। ऐसे लोगों की आवश्यकताएँ कितनी अधिक होती हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। ये आवश्यकताएँ मूलतः कष्टों से छुटकारा पाने, ज्ञातव्य को जानकर जिज्ञासा को शान्त करने तथा सांसारिक सुखों को प्राप्त करने के लिए निरन्तर बढ़ती रहती हैं। अतः आचार्यों ने इनकी पूर्ति के लिए भी अनेक मार्ग बताये हैं, जिनमें "तन्त्र-साधना" भी एक है। तन्त्र-शक्ति से प्राचीन आचार्यों ने अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त की थीं और अन्य साधनाओं की अपेक्षा तन्त्र-साधना को सुलभ तथा सरल रूप में प्रस्तुत कर हमारे लिये वरदानरूप ही सिद्ध किया था। यही कारण है कि सुपठित, अल्पपठित और अपठित, शहरी तथा ग्रामीण, पुरुष एवं स्त्री सभी तन्त्र द्वारा अपनी-अपनी आवश्यकता की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं और पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए तन्त्र को सभी आवश्यकताओं का पूरक माना जाता है।

जब हम दुःखों से मुक्त होते हैं, तो हमारी आकांक्षाएँ कुलाचें भरने लगती हैं, इच्छाएँ सीमाएँ लाँघकर असीम बनती जाती हैं साथ ही हम यह भी चाहते हैं कि इन सबकी पूर्ति में अधिक श्रम न उठाना पड़े। ठीक भी है, कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो घोर परिश्रम से साध्य क्रिया की अपेक्षा सरलता से साध्य क्रिया की ओर प्रवृत्त न हो? तन्त्र वस्तुतः एक ऐसी ही शक्ति है, जिसमें न अधिक कठिनाई है और न अधिक श्रम। थोड़ी-सी विधि और थोड़े से प्रयास से सिद्धि प्राप्त हो सकती है तो तन्त्र से ही।

अतः आवश्यकता और आकांक्षा की सिद्धि के लिए तन्त्र-शक्ति का सहारा ही एक सर्वसुलभ साधन है।

तन्त्र : शब्दार्थ और परिभाषा

'तन्त्र' शब्द के अर्थ बहुत विस्तृत हैं, उनमें से सिद्धान्त, शासन-प्रबन्ध, व्यवहार, नियम, वेद की एक शाखा, शिव-शक्ति आदि की पूजा और अभिचार आदि का विधान करने वाला शास्त्र, आगम, कर्मकाण्ड-पद्धति और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनके उद्देश्यों का पूरक उपाय अथवा युक्ति प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध से महत्त्वपूर्ण है। वैसे यह शब्द "तन्" और "त्रै" इन दो धातुओं से बना है, अतः विस्तारपूर्वक तत्त्व को अपने अधीन करना, यह अर्थ व्याकरण की दृष्टि से स्पष्ट होता है, जबकि "तन्" पद से प्रकृति और परमात्मा तथा "त्रै" से स्वाधीन बनाने के भाव को ध्यान में रखकर "तन्त्र" का अर्थ—देवताओं की पूजा आदि उपकरणों से प्रकृति और परमेश्वर को अपने अनुकूल बनाना होता है तथा परमेश्वर की उपासना के लिए जो उपयोगी साधन हैं वे भी "तन्त्र" ही कहलाते हैं। इन्हीं सब अर्थों को ध्यान में रखकर शास्त्रों में तन्त्र की परिभाषा दी गयी है—

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनात्।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते॥

अर्थात् जिसके द्वारा सभी मन्त्रार्थों—अनुष्ठानों—का विस्तारपूर्वक विचार ज्ञात हो तथा जिसके अनुसार कर्म करने पर लोगों की भय से रक्षा हो वही "तन्त्र" है, तन्त्रशास्त्र के मर्मज्ञों का यही कथन है।

तन्त्र का दूसरा नाम आगम है। अतः तन्त्र और आगम एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। वैसे आगम के बारे में यह प्रसिद्ध है कि—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो, गतं च गिरिजामुखे।
मतं च वासुदेवस्य, तत् आगम उच्यते॥

तात्पर्य यह है कि जो शिवजी के मुखों से आया और पार्वतीजी के मुख में पहुँचा तथा जिसे विष्णु जी ने अनुमोदित किया वही आगम है। इस प्रकार आगमों या तन्त्रों के प्रथम प्रवक्ता शिव हैं तथा उसमें सम्मति देने वाले विष्णु हैं जबकि पार्वतीजी उसका श्रवण कर जीवों पर कृपा करके उपदेश देने वाली हैं। अतः भोग और मोक्ष के उपायों को बताने वाला शास्त्र "**आगम**" अथवा "**तन्त्र**" कहलाता है, यह स्पष्ट है।

तन्त्र और जनसाधारण का भ्रम

तन्त्रों के बारे में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। हम अशिक्षितों को छोड़ दें, तब भी शिक्षित-समाज तन्त्र की वास्तविक भावना से दूर केवल परम्परामूलक धारणाओं के आधार पर इस भ्रम से नहीं छूट पाया है कि 'तन्त्र का अर्थ, जादू-टोना है।' अधिकांश जन सोचते हैं कि जैसे सड़क पर खेल करने वाला बाजीगर कुछ समय के लिए अपने करतब दिखाकर लोगों को आश्चर्य में डाल देता है उसी प्रकार "तन्त्र" भी कुछ करतब दिखाने मात्र का शास्त्र होता होगा और जैसे बाजीगर की सिद्धि क्षणिक होती है वैसे ही तान्त्रिक सिद्धि भी क्षणिक होगी।

इसके अतिरिक्त तन्त्रों में उत्तरकाल में कुछ ऐसी बातें भी प्रविष्ट हो गयीं कि उनमें पंचमकार—मद्य, मांस, मीन (मछली), मुद्रा और मैथुन—का सेवन तथा शव-साधना, बलिदान आदि के निर्देश प्राप्त होते हैं। किन्तु खेद है कि इन बातों को तो लोगों ने देखा पर इसके साथ ही तन्त्रों की "गोपनीयता" की ओर उनका ध्यान नहीं गया। निश्चित ही गोपनीयता के इस रहस्य की पृष्ठभूमि में ये लाक्षणिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन सब निर्देशों का एक विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ है जिसे शास्त्रों से तथा गुरु-परम्परा से ही जाना जा सकता है। वाममार्ग या वामाचार का अर्थ भी इसी प्रकार संकेत से सम्बद्ध है। इसमें जो बात सामान्य समाज समझता है, वह कदापि नहीं है।

एक यह भी कारण इस शास्त्र के प्रति दुर्भाव रखने का है कि मध्यकाल में जब इस देश में बौद्धों के हीनयान पंथ का प्रचार बलशाली था तथा विदेशी आक्रमणों से त्रस्त जनता कुछ करने में अपने आपको अशक्त पाकर ऐसे मार्गों का अवलम्बन ले रही थी, तब हमारे सन्त कवियों ने स्वयं तन्त्र साधना के बल पर ही लोगों को 'भक्ति' की ओर प्रेरित किया—जो कि आत्मशान्ति और आत्मकल्याण का एक सुगम उपाय था। ऐसे समय में कुछ प्रासंगिक रूप में तन्त्रों की निन्दा भी हुई जो बाद में हीन दृष्टि का कारण बनी।

अस्तु, यह नितान्त सत्य है कि—"तन्त्रों की उदात्त भावना एवं विशुद्ध आचार पद्धति के वास्तविक ज्ञान के अभाव से ही लोगों में इस शास्त्र के प्रति घृणा उपजी है और कतिपय स्वार्थी लोग तुच्छ क्रियाओं-आडम्बरों के द्वारा जनसाधारण को तन्त्र के नाम पर जो ठग लेते हैं, वह भी इसमें हेतु हैं। अतः इस साहित्य का पूर्णज्ञान प्राप्त किये बिना घृणा करना भूल है।

वस्तुतः "तन्त्र" क्या है ?

जैसा कि हमने ऊपर तन्त्र के शब्दार्थ में दिखाया है कि "यह एक स्वतन्त्र शास्त्र है, जो पूजा और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार-पद्धति का परिचय देते हुए इच्छित तत्त्वों को अपने अधीन बनाने का मार्ग दिखाता है।" इस प्रकार यह "साधना-शास्त्र" है। इसमें साधना के अनेक प्रकार दिखाये गये हैं, जिनमें देवताओं के स्वरूप, गुण, कर्म आदि के चिन्तन की प्रक्रिया बतलाते हुए "पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम तथा स्तोत्र" इन पाँच अंगों वाली पूजा का विधान किया गया है। इन अंगों का कुछ विस्तार से परिचय इस प्रकार है—

(क) **पटल**—इसमें मुख्य रूप से जिस देवता का पटल होता है, उसका महत्त्व, इच्छित कार्य की शीघ्र सिद्धि के लिए जप, होम का सूचन तथा उसमें उपयोगी सामग्री आदि का निर्देश होता है। साथ ही यदि मन्त्र शापित है, तो उसका शापोद्धार भी दिखाया जाता है।

(ख) **पद्धति**—इसमें साधना के लिए शास्त्रीय विधि का क्रमशः निर्देश होता है, जिसमें—प्रातः स्नान से लेकर पूजा और जप-समाप्ति तक के मन्त्र तथा उनके विनियोग आदि का सांगोपांग वर्णन होता है। इस तरह नित्य-पूजा और नैमित्तिक-पूजा दोनों प्रकारों का प्रयोग-विधान तथा काम्य-कर्मों का संक्षिप्त सूचन इसमें सरलता से प्राप्त हो जाता है।

(ग) **कवच**—प्रत्येक देवता की उपासना में उनके नामों के द्वारा उनका अपने शरीर में निवास तथा रक्षा की प्रार्थना करते हुए जो न्यास किये जाते हैं, वे ही कवच रूप में वर्णित होते हैं। जब ये "कवच" न्यास और पाठ द्वारा सिद्ध हो जाते हैं, तो साधक किसी भी रोगी पर इनके द्वारा झाड़ने-फूंकने की क्रिया करता है और उससे रोग शान्त हो जाते हैं। कवच का पाठ जप के पश्चात् होता है। भूर्जपत्र पर कवच का लेखन, पानी का अभिमन्त्रण, तिलकधारण, वलय, ताबीज तथा अन्य धारण वस्तुओं को अभिमन्त्रित करने का कार्य भी इन्हीं से होता है।

(घ) **सहस्रनाम**—उपास्यदेव के हजार नामों का संकलन इन स्तोत्रों में रहता है। ये सहस्रनाम ही विविध प्रकार की पूजाओं में, स्वतन्त्र पाठ के रूप में तथा हवन-कर्म में प्रयुक्त होते हैं। ये नाम अति रहस्यपूर्ण देवताओं के गुण-कर्मों का आख्यान करने वाले, मन्त्रमय तथा सिद्धमन्त्र रूप होते हैं। अतः इनका भी स्वतन्त्र अनुष्ठान होता है।

(ङ) **स्तोत्र**—आराध्यदेव की स्तुति का संग्रह ही स्तोत्र कहलाता है। प्रधानरूप से स्तोत्रों में गुण-गान एवं प्रार्थनाएँ रहती हैं किन्तु कुछ सिद्ध-स्तोत्रों में मन्त्र-प्रयोग, स्वर्ण आदि बनाने की विधि, यन्त्र बनाने का विधान, औषधि-प्रयोग आदि भी गुप्त संकेतों द्वारा बताये जाते हैं। तत्त्व, पंजर, उपनिषद् आदि भी इसी के भेद-प्रभेद हैं।

इन पाँच अंगों से पूर्ण शास्त्र 'तन्त्रशास्त्र' कहलाता है। कलियुग में तन्त्रशास्त्रों के अनुसार की जाने वाली साधना शीघ्र फलवती होती है। इसीलिए कहा गया है कि—

विना ह्यागममार्गेण नास्ति सिद्धिः कलौ प्रिये।

इसी प्रकार "योगिनी तन्त्र" में तो यहाँ तक कहा गया है कि—

निर्वीर्याः श्रौतजातीया विषहीनोरगा इव।
सत्यादौ सफला आसन् कलौ ते मृतका इव॥
पांचालिका यथा भित्तौ सर्वेन्द्रिय-समन्विताः।
अमूरशक्ताः कार्येषु तथान्ये मन्त्रराशयः॥
कलावन्योदितैर्मार्गैः सिद्धिमिच्छति यो नरः।
तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः॥
कलौ तन्त्रोदिता मन्त्राः सिद्धास्तूर्णफलप्रदाः।
शस्ताः कर्मसु सर्वेषु जप-यज्ञ-क्रियादिषु॥

वैदिक मन्त्र विषरहित सर्पों के समान निर्वीर्य हो गये हैं। वे सतयुग, त्रेता और द्वापर के सफल थे; किन्तु अब कलियुग में मृतक के समान हैं। जिस प्रकार दीवार के समान सर्वइन्द्रियों से युक्त पुतलियाँ अशक्त होती हैं, उसी प्रकार तन्त्र से अतिरिक्त मन्त्र-समुदाय अशक्त है। कलियुग में अन्य शास्त्रों द्वारा कथित मन्त्रों से जो सिद्धि चाहता है वह अपनी प्यास बुझाने के लिए गंगा के पास रहकर भी दुर्बुद्धिवश कुआं खोदना चाहता है। कलियुग में तन्त्रों में कहे गये मन्त्र सिद्ध हैं तथा शीघ्र सिद्धि देने वाले तथा जप, यज्ञ और क्रिया आदि में भी प्रशस्त हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मत्स्यपुराण में कहा गया है कि—

विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्लादानामुदधिर्यथा ।
नदीनां च यथा गंगा पर्वतानां हिमालयः ॥
तथा समस्तशास्त्राणां तन्त्रशास्त्रमनुत्तमम् ।
सर्वकामप्रदं पुण्यं तन्त्रं वै देवसम्मतम् ॥

जैसे देवताओं में विष्णु, सरोवरों में समुद्र, नदियों में गंगा और पर्वतों में हिमालय श्रेष्ठ है, वैसे ही समस्त शास्त्रों में तन्त्र-शास्त्र सर्वश्रेष्ठ है। वह सर्वकामनाओं का देने वाला पुण्यमय और वेदसम्मत है।

"महानिर्वाणतन्त्र" में भी कहा गया है कि—

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा आगमोक्ताः कलौ शिवे ।
नान्यमार्गैः क्रियासिद्धिः कदापि गृहमेधिनाम् ॥

हे पार्वती ! कलियुग में गृहस्थ केवल आगम-तन्त्र के अनुसार ही कार्य करेंगे। अन्य मार्गों से गृहस्थियों को कभी सिद्धि नहीं होगी।

यही कारण है कि उत्तरकाल में तन्त्रशास्त्र और उसके आधार पर होने वाले प्रयोगों पर श्रद्धापूर्वक विश्वास ही नहीं किया गया अपितु स्वयं प्रयत्न करके सुख-सुविधाएँ भी उपलब्ध की गयी है।

यह असत्य नहीं है कि जहाँ जल अधिक होता है वहाँ कीचड़ भी जम जाता है। इसी प्रकार युगों से चले आये तान्त्रिक कर्मों में कुछ सामयिक तथा अन्य देशीय क्रियाकलापों के प्रभाव से पंचमकारोपासना, मलिन प्रक्रियाएँ, हिंसक वृत्ति आदि भी बहुधा समाविष्ट हो गयी। इन्द्रिय-लोलुप लोगों ने अपने क्षणिक स्वार्थ को अपनाकर इन बातों को अबोध व्यक्तियों में पर्याप्त विस्तार दिया। फलतः उनका प्रवेश स्थायी हो गया। फिर भी जो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं वे नितान्त शुद्ध उपासना और अध्यात्मतत्त्व पर ही आधारित हैं जिनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना भी इस सम्बन्ध में उपयोगी होगा।

"कुलार्णवतन्त्र" में "पंचमकार" के प्रयोग का निषेध करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि—

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभेत् वै ।
मद्यपानरताः सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु मानवाः ॥
मांसभक्षणमात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत् ।
लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्यभाजो भवन्ति हि ॥

यदि मद्यपान करने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता हो, तो सभी शराबी सिद्ध बन जायेंगे और यदि मांसभक्षण मात्र से अच्छी गति होती तो सभी मांसभक्षी पुण्यात्मा क्यों नहीं बन जाते ? आदि।

तन्त्रशास्त्र के पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र—इन पाँच अंगों में भी क्रमशः यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, योग और स्वरोदय रूप पंचामृत की अपेक्षा रहती है इसकी पूर्ति के लिए हमारे आचार्यों ने इन पर भी पूरा विचार किया है। यथा—

(१) **यन्त्र**—आज का युग भी यान्त्रिक युग कहा जाता है। मानव लोहे से लड़-भिड़कर भौतिक विज्ञान की वृद्धि में सतत जागरूक बना हुआ है। कुछ अंशों में वह अपनी कृतियों को देखकर मन में सन्तोष भी करता है पर अन्ततोगत्वा ये साधन विनाश की ओर ही ले जा रहे हैं—इस बात को वह अस्वीकृत नहीं करता।

हमारे यहाँ भी एक यान्त्रिक युग रहा है जिस काल में प्रत्येक उपासक प्राणिमात्र के दुःखविनाश के लिए देवी उपासना से सिद्ध मन्त्रों के द्वारा प्रयोग करता रहा। सही स्वरूप में उसने अपने पक्ष में इस स्थिति पर नियन्त्रण तो किया ही, साथ ही साथ आत्मोन्नति के चरम लक्ष्य से भी वह पीछे नहीं रहा। यन्त्रमयी देवता की दिव्य उपासना के द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक सभी समस्यायें उचित ढंग से हल कीं और विश्व के समक्ष एक नया विज्ञान उपस्थित किया।

(२) **मन्त्र**—"**नास्ति मन्त्रमनक्षरम्**" के आधार पर यह कहना सरल हो गया है कि मन्त्रों की व्यापकता कितनी विशाल है। वाणी के द्वारा संसार की समस्त प्रक्रियायें सरलता से चल रही हैं और अहर्निश वाणी के माध्यम से ही हमारे सभी कार्य सम्पन्न हो रहे हैं। किन्तु यह वाणी का विकास अथवा विलास इतना विशाल है कि इसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सच्चा उपयोग न्यून मात्रा में ही होता रहा है। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर "बिखरी हुई शक्ति का एकीकरण हो जाने पर उसकी क्रियाशील तेजस्विनी बन जाती है" इस सिद्ध भावना को साकार स्वरूप देते हुए यान्त्रिकों ने वाणी के संवरण को प्राथमिकता दी और बीजमन्त्रों के द्वारा ही समस्त कार्य सिद्ध होने की ओर संकेत किया। उचित निर्देशन पाकर लक्ष-लक्ष उपासकों ने एक दो नहीं, गाँव के गाँव और बड़े-बड़े नगरों तक को मन्त्र प्रभाव से विपज्जाल से छुड़ाया है, आपत्तियों के आवरण से प्रकाश में ला बिठाया है, जिसका साक्षी पूर्वकाल है।

(३) **तन्त्र**—क्रिया कुशलता के बिना अच्छी प्रतिभाएँ भी अन्ध, मूक और बधिर की कोटि में स्थिर रहकर विलुप्त हो जाती हैं। संयोजना शक्ति का लोहा मानने से कौन सिर हिला सकता है। उपर्युक्त दो धारायें भी इस सरस्वती के बिना शून्य सी रहती हैं। यही कारण है कि आचार्यप्रवरों ने इस पर विशेष बल दिया। उन दो धाराओं में इसकी प्रमुखता न रहने पर भी इसके सहयोग की पूर्ण अपेक्षा रहती है। और फिर विज्ञान तो इसमें कूट-कूटकर भरा हुआ है। इसमें भौतिक वस्तुओं का संकलन और उनकी उपादेयता पर पूरा लक्ष्य रहा है और इसके निमित्त भी कई ग्रन्थ समक्ष आये हैं।

(४) **योग**—इस 'त्रिवेणी' में अवगाहन करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए "योग" की पूर्ण आवश्यकता है। योग के बिना किसी भी कार्य में सफलता पाने की अभिलाषा करना ख-पुष्प-संचय की तरह निराधार है। इस शास्त्र ने भी भारत में यथेच्छ प्रचार-प्रसार पाया है। इसकी महिमा से विश्व-परिचित है। आज भी इसके द्वारा सिद्धि-पथ पर समारूढ़ होते हुए कई महापुरुष देखे जाते हैं।

(५) **स्वर**—किसी कार्य का आरम्भ अनुकूल वातावरण में हो, तो वह "**अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति**" वाली उक्ति का ग्रास नहीं बनता। गतागत का विचार भी साधक के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि योग। बाह्य साधनों से हम भूत, वर्तमान और भविष्य की उच्चावच परिस्थितियों का ज्ञान कर सकते हैं, किन्तु हम जिस देह के द्वारा कार्य करने जा रहे हैं उसकी त्रैकालिक स्थिति अनुकूल है या नहीं, इसका ज्ञान तो "स्वरोदय" से ही हो सकता है। इस विषय को लेकर कई ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।

इस पंचामृत के पान कर लेने पर आज का अस्त-व्यस्त और त्रस्त मानव अवश्य ही अपनी त्रिविध तापनाओं से त्राण पाकर आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण कर सकता है, इसमें सन्देह को तनिक भी अवकाश नहीं। इन सब उदात्त संकल्पों की सर्वांगीण सिद्धि के लिए निम्नलिखित साधना की अपेक्षा है—

(१) विश्व के समस्त धर्मों में प्रचलित तान्त्रिकादि परम्पराओं का परिचय।

(२) विभिन्न तन्त्रादि शास्त्र एवं अन्य सहयोगी अनेक प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थों का एक अभिनव विशाल संग्रह।

(३) अप्राप्य एवं विलुप्तप्राय ग्रन्थों की प्राप्ति का प्रयत्न।

(४) ताड़पत्रीय, भोजपत्रीय, प्रस्तरलिखित, ताम्रपत्र और वस्त्र पर अथवा बाँस पर लिखे हुए जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थ अथवा एतत् सम्बन्धी साहित्य की प्रतिलिपि-चित्र (फोटो), छायाचित्र (फिल्म) एवं अन्य साधनों द्वारा संरक्षण।

(५) प्रत्येक धर्मगुरुओं से सम्पर्क साधकर देवालय, उपासनागृह आदि स्थानों पर स्थापित सिद्ध-यन्त्रों के एक विशाल संग्रह (म्यूजियम के रूप में) की स्थापना।

(६) प्रयोग में आने वाली आलेख्य-सामग्री, उपासना-सामग्री एवं धातु, द्रव्य, ग्रन्थ आदि का प्रदर्शन के लिए संग्रह।

(७) उपासना के उपयोग में आने वाले यौगिक एवं अन्य चित्रों का निर्माण और मुद्राओं के प्रदर्शन के लिए स्वरूप-दर्शन।

(८) कोष-निर्माण, पत्र-प्रकाशन, अनुसन्धान से प्राप्त ग्रन्थ का सुलभ प्रकाशन, विचार-गोष्ठी आयोजन एवं प्रचार-प्रसार के लिए अन्य साधन।

(९) सुदूर राष्ट्रों के विद्वानों से सम्पर्क स्थापित कर उचित सहयोग की प्राप्ति।

(१०) भारतीय विद्वानों से सहयोग-प्राप्ति तथा मार्गदर्शन-प्राप्ति।

(११) इतिवृत्त, आलेखन, दुरूह ग्रन्थों पर टीका, उपटीका निर्माण तथा विविध भाषाओं में सरल सुबोध अनुवाद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके साथ ही ग्रामीण और कुछ पुराने विचारकों के मानस में फैली हुई भूत-प्रेतादि बाधा सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं की सच्चाई सामने रखने के लिए प्रचलित अन्यान्य लौकिक परम्पराओं का अनुसन्धान एवं संग्रह तथा मैस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म आदि का सच्चा रूप-निदर्शन ।

जैनधर्म और तान्त्रिक साधनाएँ

जैनधर्म में शक्ति का मूल केन्द्र आत्मा को माना गया है । आत्मा की अनन्त शक्तियों के साक्षात् जागृत प्रतिनिधि तीर्थंकर हैं । तीर्थंकर की उपासना में ही सम्पूर्ण भौतिक एवं दैविक शक्तियाँ संलग्न हैं । अतएव जैनाचार्यों द्वारा यन्त्र-मन्त्र-साधना के लिए विहित किया गया सम्पूर्ण यन्त्र-मन्त्रविधान, "**नमो अरिहंताणं**" इस नमस्कार-मन्त्र पर निर्भर है । यहाँ अरिहंत का सामान्य अर्थ है अरि अर्थात् शत्रु और हन्ता अर्थात् हनन करने वाला । पूरे मन्त्र वाक्य का अर्थ हुआ "शत्रुओं को समाप्त कर देने वाले परम योद्धा को नमस्कार हो" । इसका अर्थ यह हुआ कि जिसने राग-द्वेष दोनों आवरणकारक दोषों को नष्ट कर, कर्मफल का विध्वंस कर, अनन्त शक्तियों को उपलब्ध कर लिया है, उस अरिहंत को नमस्कार हो ।

परमात्मा और अरिहंत में अन्तर केवल इतना ही है कि अरिहंत सशरीरी परमात्मा है और सिद्ध परमात्मा अशरीरी हैं । सशरीर होते हुए भी अरिहंत साक्षात् परमात्म-स्वरूप हैं क्योंकि अरिहंत में अनन्तज्ञान-शक्ति, अनन्त-दर्शन-शक्ति, अनन्तचारित्र-शक्ति एवं अनन्तबलवीर्य, पराक्रम-शक्ति का पूर्ण जागरण एवं पूर्ण विकास हो जाता है । सामान्य साधक को तो अरिहंत की उपासना मात्र से ही ऋद्धि, सिद्धि विषयक कामना की उपलब्धि तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक आकांक्षा की प्राप्ति हो जाती है । ऐसा हम कह सकते हैं कि यन्त्र-मन्त्र उसी परमाराध्य अरिहंत भगवान् के स्वरूपों की पूजामात्र है । जैनधर्म के परम्परागत आचार्यों ने यन्त्र-मन्त्र के क्षेत्र में अपनी महान् उपलब्धियों के बूते पर इस उपासना प्रणाली में इतने शक्तिशाली एवं ऊर्जासम्पन्न बीजों को अन्तर्निहित कर दिया है कि जैन यन्त्र-मन्त्रों की साधना के लिए विहित विधि-विधान के मार्ग से साधना करने वाले व्यक्ति को अल्प-समय में ही अपनी साधना की फल-प्राप्ति हो जाती है ।

जैन श्रमणों की शक्ति-पूजा

जैनधर्म में भी शक्ति-पूजा तथा शाक्ततन्त्रों को समुचित स्थान प्राप्त हुआ है । आचार्य हेमचन्द्ररचित "योगशास्त्र" के सातवें और आठवें प्रकाश में धर्मध्यान के अन्तर्गत "पदस्थ" नामक ध्यान में अन्य धर्मानुयायियों के समान ही षट्चक्रवेध की पद्धति के अनुसार वर्णमयी देवता का चिन्तन किया गया है । वहाँ मातृकाध्यान का वर्णन बहुत ही रोचक है[1] तथा अनेक मन्त्रों की परम्परा से शक्तियुक्त आत्मस्वरूप की भावनाओं का विधान दृष्टिगत होता है । जैनमन्त्रों में प्रणव (ॐ), माया (ह्रीं), कामनाबीज (क्लीं) आदि बीजाक्षरों की शक्ति जैसी अन्यत्र वर्णित है वैसी ही बतलायी गयी है । केवल प्रधान देवता के रूप में "अरिहंत" की मान्यता है । इसमें पंचनमस्कार-महामन्त्र के पाँचों पद लिये गये हैं, तथा श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुसार तो प्रत्येक तीर्थंकर की शासन-देवियाँ चक्रेश्वरी, अजिता, दुरितारि, कालिका, वैरोट्या आदि मानी गयी हैं । धरणेन्द्र-पद्मावती की उपासना तो वस्तुतः शाक्त सम्प्रदाया-नुकूल ही है । सनातनी उपासकों में जो "श्रीविद्याराधना" प्रसिद्ध है और बौद्ध-सम्प्रदाय में जो महत्त्व तारादेवी को प्राप्त है, ठीक वैसी ही मान्यता पद्मावती देवी की जैनों में है । कुछ विचारकों का कथन है कि श्री देवी की तारा और पद्मावती उपदेवियाँ हैं । जैन सरस्वती के सोलह विद्याव्यूह मानते हैं जो रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला आदि नामों से प्रसिद्ध हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि जैनधर्मानुयायी शक्ति-पूजा में भी विश्वास करते हैं और वे एक प्रकार से शाक्त माने जा सकते हैं । यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि जैनों में हिन्दुओं के वामाचार अथवा बौद्धों के हीनयान जैसा कोई मार्ग नहीं है ।

मन्त्रोपासना में गुरु और दीक्षा

जब कोई उपासक किसी भी देवी-देवता की उपासना में प्रवृत्त होता है तो उसे गुरु की आवश्यकता होती है और वे गुरु अपने आचार के अनुरूप दीक्षित करते हैं, तभी आराधक की साधना फलवती होती है और यह उचित ही है । आद्य शंकराचार्य ने कहा है—**मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमाः**"—गुरु-दीक्षा से जिसका अज्ञान नष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो चुका है ऐसा मुनि मोह को प्राप्त नहीं होता। जैनाचार्यों को भी यह बात सर्वथा अभीष्ट है, इसलिए वहाँ पंच-नमस्कार-मन्त्र में आचार्य, उपाध्याय और साधु को महत्व दिया गया है। आजकल भले ही मुद्रित पुस्तकें पढ़कर प्रस्तुत शास्त्रों के ज्ञाता बन जायँ, किन्तु गुरुगम्य सम्प्रदायक्रम का ज्ञान न होने पर सफलता नहीं मिल सकती तथा दुराग्रही साधकों को कभी-कभी ऐसा फल भी मिल जाता है कि वे जीवन भर कष्टानुभव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर पाते। मानव भूलों का पात्र है, जबकि साधनामार्ग असिधारा-तुल्य दुरूह है। अतः दीक्षा लेकर ही आगे बढ़ना चाहिए। दीक्षा एक प्रकार से गुरु द्वारा प्रदत्त अनुग्रह शक्ति है। आचार्य अभिनवगुप्त "तन्त्रालोक" नामक ग्रन्थ में दीक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बताते हुए कहते हैं कि—

"दीक्षा द्वारा ज्ञान की वास्तविकता दी जाती है और पाशविक बन्धन काट दिये जाते हैं अर्थात् दान और क्षपण-क्षय के आद्याक्षरों से दीक्षा शब्द का निर्माण हुआ है।[२] इसी तरह अन्य तन्त्रग्रन्थों में भी दीक्षा के माहात्म्य का वर्णन उपलब्ध होता है। अतः दीक्षित होकर ही साधनामार्ग में प्रवेश करना श्रेयस्कर है।[३]

तान्त्रिक प्रयोग तथा उनका उपयोग

कामिक—आगम में तन्त्र की व्याख्या—"विपुल अर्थों का विस्तार तन्त्र-मन्त्र द्वारा किया जाता है तथा साधकों का त्राण किया जाता है अतः उसे तन्त्र कहते हैं" ऐसी की गई है। यद्यपि शास्त्रों में तन्त्र के अर्थ शास्त्र, अनुष्ठान, विज्ञान, दर्शन, आचार-पद्धति, सांख्य, न्याय, धर्मशास्त्र, स्मृति आदि किये गये हैं और जैनधर्म में योग को ही तन्त्र कहा गया है, तथापि यहाँ यन्त्रमन्त्रादिसमन्वित एक विशिष्ट साधना-मार्ग का नाम तन्त्र माना जाता है।

महान् तन्त्रज्ञ नागार्जुन ने अपनी माता नागमती की कृपा से अर्बुदाचल (आबू पर्वत) पर औषधि विज्ञान को पहिचाना। बाद में पादलिप्त सूरि के पास जाकर आकाशगामिनी विद्या का अध्ययन किया। तब से ही अपने द्वारा संगृहीत सिद्ध-प्रयोगों की पुस्तिका को लिखकर, कोई अन्य व्यक्ति इस संग्रह को चुरा न ले इस धारणा से अपनी काँख में ही उसे रखने लगा, जिसे उत्तर-काल में "कक्षपुटी" नाम से सम्बोधित किया गया। इस प्रकार कुछ जैनाचार्यों ने भी तन्त्र-साधना की।

जांगुलिमन्त्र, औषधिमन्त्र, सर्प और बिच्छू के विषापहार मन्त्र, वशीकरण औषधियाँ, श्वेतार्क, श्वेतगुंजा, अपराजिता, मूली, श्वेतपुष्पी, शंखपुष्पी आदि वृक्षों के मूल तथा अपराजिता, रुदन्ती, मयूरशिखी, सहदेवी, सियारसिंगी, मार्जारी, सर्पप आदि का प्रयोग, रविपुष्य, होली, दिवाली, नवरात्रि आदि दिनों में लाकर किया जाता है। इनके द्वारा सुखप्रसव, गर्भबाधा, मृतवत्सात्व, काकवन्ध्यादि दोष दूर किये जाते हैं। साथ ही ज्वर—एकाहिक, द्वयहिक, त्रिदिवसीय, चतुर्दिनात्मक भी उपर्युक्त औषध-मूलिकाओं के बाँधने से दूर हो जाते हैं। पीलिया, गोला, नाभिस्खलन आदि के लिए भी वैद्यक एवं ग्रामीण प्रक्रिया से उपयोग किया जाता है।

एकाक्षि-नारियल, दक्षिणावर्त शंख[४], एक नेत्र वाला रुद्राक्ष, दक्षिण शुण्डावाले गणपति, श्वेतार्क के गणपति जैसी वस्तुओं की सिद्धि के लिए निर्दिष्ट कल्प-विधान का निर्माण भी हमें लौकिक अभिरुचि के अनुरूप तान्त्रिक प्रयोगों की विपुलता से परिचित करवाता है। हम देखते हैं कि भारतवर्ष में जादूगरी, यक्षिणीसाधन, प्रेतसिद्धि, श्मशान-साधन, वेताल-सिद्धि, परकाय-प्रवेश, मृत व्यक्ति दर्शन, इन्द्रजाल-प्रदर्शन, हिप्नोटिज्म, मेस्मेरिज्म, प्लांचेस्टर आदि आश्चर्यपूर्ण वस्तुओं का भी तत्र-तत्र प्रयोग मिलता ही है, जिनकी गणना भी तन्त्र में ही की जाती है।

उपसंहार

इस प्रकार सभी सम्प्रदायों में प्रचलित तान्त्रिक साधनाओं के सामूहिक पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि साधना के विभिन्न मार्गों में यह प्रमुख मार्ग है। इसके आश्रय से समुचित विधि का पालन होता है, आत्मबल की प्राप्ति होती है। खण्डित अंगों से की जाने वाली साधना सफल नहीं होती। साधक का आशय उदार होना चाहिए। बुरी भावना से की जाने वाली साधना साधक का अपकार भी करती है। निन्द्यकर्मों से तान्त्रिक साधना नहीं करनी चाहिए। शास्त्र के प्रामाण्य और गुरु में विश्वास ही साधना के सच्चे साधन हैं आदि।

अतः हमारी अपेक्षा है कि प्रत्येक साधक **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'** गीता के इस वाक्य को दृष्टि में रखकर तान्त्रिक साधना करे। अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ और सन्दर्भ स्थल

१ तुलना कीजिए—
क्षीराम्भोधेर्विनिर्यान्तीं प्लावयन्तीं सुधाम्बुभिः ।
भाले शशिकलां ध्यायेत्, सिद्धिसोपानपद्धतिम् ॥ इत्यादि (हेमचन्द्राचार्य)

२ दीयते ज्ञानसद्भावः, क्षीयते पशुबन्धनम् ।
दानक्षपणसंयुक्ता, दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

३ दीक्षा के सम्बन्ध में विशेष जानने के लिए देखिए म. म. श्री गोपीनाथजी कविराज का लेख "दीक्षा-रहस्य", कल्याण, भाग १५, संख्या ४ ।

४ देखिए '**तन्त्रशक्ति**' लेखक डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी, रंजन प्रकाशन, दिल्ली ।

★★★

कपाल कुहरे जिह्वा, प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥
न रोगो मरणं तस्य, न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य, मुद्रां यो वेत्ति खेचरीम् ॥
—गोरक्षाशतक ६६-६७

जीभ को उलटकर कपाल कुहर-तालु में लगाना और दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में स्थापित करना खेचरीमुद्रा होती है। जो खेचरीमुद्रा को जानता है, वह न बीमार होता, न मरता, न सोता, न उसे भूख-प्यास लगती और न ही मूर्च्छा उत्पन्न होती है।

(*Continued from Page 99*)

pioneers, thus advancing medical science one step further, when it is really this ancient science of Yoga that is responsible for such 'advancement'.

Westerners are very enthusiastic, courageous, sincere and hard-working. They are always awaiting with humility guidance from the East. I think that their scientific and technical knowledge, if coupled with our qualities of spiritual understanding and maturity, such as are embodied in Yoga, could perhaps, working hand in hand together, bring homosapiens—human beings—once again to the *Vishva-shanti-Dharma*, the religion meant for universal peace, which was founded by our ancient masters.

The people of the West are now discovering the light of Yoga. I hope that it will not one day be they who bring Yoga back to our country. The East is the origin of Yoga, and I pray that it will always remain that origin and will continue to preserve this great Art.

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



विपश्यना : कर्मक्षय का मार्ग

□ कन्हैयालाल लोढ़ा, एम ए.

विपश्यना स्वरूप

'विपश्यना' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'पश्य' धातु से बना है। पश्य का अर्थ है दर्शन। वर्तमान में दर्शन शब्द केवल 'देखना' अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु बुद्ध व महावीर के काल में पश्य या दर्शन शब्द संवेदन, साक्षात्कार या अनुभव करने के अर्थ में प्रयुक्त होता था। 'वि' उपसर्ग 'विशेष' अर्थ का द्योतक है। अतः विपश्यना शब्द का अर्थ है—विशेष रूप से दर्शन या साक्षात्कार करना।

यहाँ विशेष से अभिप्राय यह है कि जो जैसा है उसे ठीक वैसा ही अनुभव करना अर्थात् बिना किसी प्रकार की मिलावट, जोड़ व भ्रान्ति के वस्तुस्थिति का साक्षात्कार करना। साधारणतः मानव जो साक्षात्कार करते हैं, वे राग-रंजित, द्वेष-दूषित व मोह-मूर्च्छित होकर करते हैं। अतः वह शुद्ध साक्षात्कार न होकर राग-द्वेष-मोह से युक्त अशुद्ध साक्षात्कार होता है। इसी अशुद्ध साक्षात्कार का निषेध करने के लिए यहाँ 'वि' (विशेष) उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। दूसरे शब्दों में वस्तुस्थिति की सच्चाई का साक्षात्कार करना ही विपश्यना है।

विपश्यना धर्म

वस्तु या प्रकृति के स्वभाव को धर्म कहा जाता है। जैसे आग का स्वभाव; उष्णता आग का धर्म है और वस्तु के स्वभाव का साक्षात्कार करना ही विपश्यना है अर्थात् वस्तु या प्रकृति का वास्तविक रूप ही धर्म है और उस धर्म का साक्षात्कार या अनुभव करना ही विपश्यना है। इस प्रकार धर्म और विपश्यना एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

विपश्यना : सत्य का साक्षात्कार

सत्य का साक्षात्कार बुद्धिजन्य कल्पनाओं, जल्पनाओं व मान्यताओं से नहीं होता है, अपितु अनुभव से होता है। उस सत्य पर चलने से होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति जीवन में सत्य को स्थान देता जाता है, उस पर आचरण करता है, चरण बढ़ाता है वैसे-वैसे वह सत्यता की गहराई व सूक्ष्मता का अधिकाधिक साक्षात्कार करता जाता है। यह नियम है कि जो जितना ही सूक्ष्म होता है वह उतना ही विभु, विशेषता लिए और अधिक सक्षम होता है तथा अलौकिक, विलक्षण व अचिन्त्य शक्तियों का भण्डार होता है। यही नियम या तथ्य विपश्यना पर भी घटित होता है।

विपश्यना में जिस सत्य का साक्षात्कार होता है उस पर चलने से प्रकृति के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम सत्यों (सिद्धान्तों), धर्मों व शक्तियों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होने लगता है और अन्त में अपने ही में विद्यमान अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तसामर्थ्य प्रकट हो जाता है फिर वह सर्वथा बन्धनमुक्त होकर सदा के लिए भव-भ्रमण व दुःख से छुटकारा पा जाता है।

विपश्यना : ऋजु मार्ग

वस्तुतः विपश्यना कोई रहस्य, जादू या चमत्कार नहीं है; प्रत्युत् सत्य को साक्षात्कार करने के क्रमिक विकास का सरल व सुगम मार्ग है। इसमें न तो कोई छिपाने की बात है और न कुछ जोड़ने की बात है; न कुछ साधन सामग्री की, न दार्शनिक बुद्धि की और न भाषाज्ञान की आवश्यकता है। केवल अपने ही अन्तरंग में विद्यमान दर्शन व ज्ञान को स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ाना है। विपश्यना अपनी ही अनुभूतियों से अपनी भ्रान्तियों (मिथ्या मान्यताओं) को मिटाते हुए पूर्ण सत्य व शुद्ध दर्शन-ज्ञान को प्रकट करने का मार्ग है, प्रक्रिया है। जिस पर चलने में मानवमात्र समर्थ है भले ही वह किसी भी जाति का हो, किसी भी देश का हो, कोई भी व्यवसाय करने वाला हो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी भी आयु वाला हो—किशोर हो, युवा हो, वृद्ध हो, विद्वान हो, निरक्षर हो, धनवान हो, निर्धन हो, स्त्री हो पुरुष हो।

प्रस्तुत लेख में विपश्यना साधना से किस प्रकार कर्मक्षय होकर दुःख से मुक्ति मिलती है, इस पर प्रकाश डाला जायेगा।

विपश्यना : आध्यात्मिक विकास की वैज्ञानिक प्रक्रिया

चित्त की स्थिरता—चित्त को स्थिर करने का प्रारम्भिक उपाय है चित्त को श्वास के आवागमन पर लगाना। इससे चित्त का भटकना रुक जाता है, चित्त स्थिर हो जाता है। फिर श्वास पर स्थित चित्त को शरीर की त्वचा (चमड़ी) की संवेदना पर लगाया जाता है। चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता के कारण त्वचा पर होने वाली क्रियाओं (संवेदनाओं) का अनुभव होने लगता है। चित्त को आगे बढ़ाते हुए सिर से पैर तक, पैर से सिर तक सारे शरीर की संवेदनाओं को बार-बार देखने से चित्त की स्थिरता, समता व सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। निरन्तर अभ्यास से यह वृद्धि अधिकाधिक होती जाती है।

समता—विपश्यना में चित्त को शरीर के बाहरी व भीतरी भाग के सूक्ष्म स्तरों पर लगाने से वहाँ उत्पन्न होने वाली अनुकूल-प्रतिकूल संवेदनाओं का अनुभव होता है। यदि चित्त अनुकूल संवेदनाओं में राग और प्रतिकूल संवेदनाओं में द्वेष करने लगता है, उनमें हर्ष व दुःख का भोग करने लगता है तो चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता खो देता है, चित्त चंचल व स्थूल हो जाता है। उन अनुकूल-प्रतिकूल, सुखद-दुःखद संवेदनाओं का अनुभव करते हुए, राग-द्वेष न करते हुए केवल उनको सिर्फ देखते रहना विपश्यना है। इससे समभाव प्रगाढ़ होता है, संयम स्वयं परिपुष्ट होता है और मन, वचन व काया की प्रवृत्तियों का संवर होता है।

दर्शनावरण-क्षय—विपश्यना में चित्त की समता, स्थिरता, सूक्ष्मता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् दर्शन का आवरण क्षीण होता जाता है और दर्शन या अनुभव स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम रूप में विकसित होता जाता है। हमारे शरीर में व त्वचा पर प्रत्येक स्थान या अणु पर निरन्तर किसी न किसी प्रकार की क्रिया चालू रहती है परन्तु हमारे दर्शन (अनुभव) की शक्ति विकसित न होने से, दर्शन पर आवरण आने से उन क्रियाओं से जनित संवेदनाओं का हम दर्शन (साक्षात्कार) नहीं कर पाते हैं। परन्तु विपश्यक चित्त के संवर व संयम से दर्शन के आवरण को कम करता है जिससे उसको पहले शरीर के बाहरी स्तर पर होने वाली संवेदनाओं का दर्शन होने लगता है। फिर जैसे-जैसे संयम या संवर या समभाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे दर्शनावरण हटता जाता है जिससे शरीर में मांस, रक्त, हड्डियों में उत्पन्न होने वाली क्रियाओं, तरंगों का संवेदन या अनुभव विपश्यक करने लगता है। यहाँ तक कि वह शरीर में होने वाली रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं, विद्युत्-चुम्बकीय लहरों की संवेदनाओं का भी दर्शन करने लगता है।

इस प्रकार दर्शन की शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तर पर प्रकट होने लगती है। फिर जैसे-जैसे समता-संयम-संवर का स्तर ऊँचा होता जाता है, बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही दर्शनावरण की उदीरणा व निर्जरा होती जाती है जिससे उसकी दर्शन की शक्ति प्रकट होती है और वह व्यक्ति चित्त में उठने वाली लहरें, उससे बँधने वाले कर्म, अचेतन मन में उठने वाली लहरें तथा उससे भी सूक्ष्म स्तर पर स्थित अपने पूर्वजन्म के संचित संस्कारों, कर्मों व ग्रन्थियों का दर्शन करने लगता है और संवर व निर्जरा जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तो दर्शन के समस्त आवरण-पर्दे हट जाते हैं तथा राग-द्वेष के हट जाने से उसका दर्शन विशुद्ध केवलदर्शन हो जाता है।

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय—ज्ञान अनेक प्रकार का होता है; यथा इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला शब्द, वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श का ज्ञान, चिन्तन व बुद्धिजन्य ज्ञान, दूसरों से सुना हुआ ज्ञान आदि। परन्तु इन ज्ञानों से वस्तु के स्थूल व बाहरी स्तर का ही बोध होता है जिससे वस्तु की यथार्थता जो सूक्ष्म व आन्तरिक स्तर पर होती है उसका बोध नहीं होता है। यह अयथार्थ ज्ञान हितकारी व कल्याणकारी नहीं होता है। अतः इसे असम्यक्ज्ञान या मिथ्याज्ञान कहा है।

विपश्यना से जैसे-जैसे दर्शन के आवरण क्षीण होते जाते हैं तथा समताभाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे अनुभव-शक्ति बढ़ती जाती है जिससे वस्तु के सूक्ष्म, आन्तरिक स्वरूप का वास्तविक व कल्याणकारी बोध होता है। ऐसा ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान कहा जाता है।

विपश्यक दर्शन या अनुभव के स्तर पर प्रत्यक्ष देखता है कि केवल बाहरी स्थूल जगत ही नहीं बदल रहा है अपितु हमारे शरीर की त्वचा, रक्त, मांस, अस्थियों में भी प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तन हो रहा है। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवर्तन सूक्ष्मजगत में और भी अधिक तेजी से, शीघ्रता से हो रहा है। शरीर के ऊपरी भाग से भीतरी भाग में, शरीर में उत्पन्न विद्युत्-चुम्बकीय लहरों में, मन में, अवचेतन मन में हजारों-लाखों गुना अधिक द्रुतगति से परिवर्तन हो रहा है। यहाँ तक कि वस्तु के सूक्ष्मतम स्तर पर यह उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तन एक पल में करोड़ों-अरबों व इससे भी अधिक अगणित बार होता है ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है।

इस प्रकार विपश्यना से जैसे-जैसे आवरण क्षीण होते जाते हैं वैसे ही वैसे संसार की अनित्यता का प्रत्यक्ष दर्शन (साक्षात्कार) होता जाता है। ऐसे अनित्य संसार में आत्म-बुद्धि रखना, उसे अपना मानना, उससे रक्षण व शरण की आशा करना अज्ञानता है। वह संयोग में वियोग का, जीवन में मृत्यु का दर्शन करने लगता है जिससे उसमें तन, मन, धन, जन आदि समस्त परिवर्तनशील अनित्य वस्तुओं के प्रति ममत्वभाव अर्थात् मैं व मेरेपन रूप अपनेपन का 'आत्म-भाव' हटता जाता है और अनात्मभाव की जागृति होती जाती है। वह अनुभूति के आधार पर यह भी जानता है कि रोग, वृद्धावस्था, इन्द्रियों की शक्ति-क्षीणता, मृत्यु, अभाव, वेदना, पीड़ा आदि तो दुःख हैं ही परन्तु संसार में जिसे सुख या आनन्द कहा जाता है वह भी दुःखरूप ही है। कारण कि वह आनन्द राग व मोहजनित होता है। राग की उत्पत्ति चित्त में असंख्य लहरों रूपी तूफान उठने से होती है। यह राग या चित्त की लहरों का तूफान, समता के सागर की शान्ति को भंग कर देता है जिससे चित्त अशान्त, आकुल, आतुर व तनावमय तथा मूर्च्छित हो जाता है। वह रागजनित चित्त की इस स्थिति में अर्थात् इन्द्रिय-भोगों के सुख में असुख (दुःख) का दर्शन करने लगता है और अनित्य, अशरण व दुःखद संसार में सम्बन्ध स्थापित करने व सुख चाहनेरूप अज्ञानता से अपने को बचाता है।

विपश्यक यह भी देखता है कि संसार की प्रत्येक घटना कारण-कार्य के अनिवार्य नियमानुसार घटित हो रही है। वस्तुतः कोई भी घटना अप्रत्याशित, आकस्मिक या अनहोनी रूप में नहीं घटती है। जो भी घटित हो रहा है वह कर्म के नियम (कारण-कार्य के सिद्धान्त या विधान) के अनुसार घटित हो रहा है। जिस प्रकार प्रकृति के नियमानुसार जैसा बीज बोया जाता है वैसा ज्ञान मिलता है; उसी प्रकार जो जैसा कर्म करता है उसे उसका वैसा ही फल भोगना पड़ता है अर्थात् जो भी सुखद-दुःखद स्थिति प्राप्त होती है वह अपने ही पूर्व में किये गये कर्मों का फल है। अतः उसमें न तो शिकायत व शोक की बात है और न हर्ष या विषाद की। उस घटना या परिस्थिति को भला-बुरा मानना या कोसना व राग-द्वेष करना अज्ञानता है।

विपश्यना से सूक्ष्मदर्शन या साक्षात्कार करने में प्रगति होती है, प्रज्ञा बढ़ती जाती है। फलतः लोक के सूक्ष्मतत्त्वों का या गहन नियमों का ज्ञान अधिक से अधिक होता जाता है तथा ग्रन्थिनिर्माण, आस्रव, कर्मबन्ध, कर्म-विपाक, जाति-स्मरण, जन्म-मरण, संवर-निर्जरा, विमोक्ष आदि का प्रत्यक्ष (स्पष्ट) ज्ञान होने लगता है। जो जितना सूक्ष्म होता है वह उतना ही विभु व शक्तिशाली होता है। इस नियम के अनुसार विपश्यना द्वारा सूक्ष्मतत्त्वों का प्रत्यक्षीकरण होने से सीमित व विकृत ज्ञान विशद् विशुद्ध होता जाता है। अन्त में ज्ञान पर से जब सर्व आवरण हट जाते हैं तो पूर्ण निर्मल अनन्तज्ञान प्रकट हो जाता है।

मोहनीय क्षय—विपश्यना के अभ्यास से जैसे-जैसे समता व सूक्ष्म अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे राग-द्वेष-मोह आदि से उठने वाली लहरों का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है तथा वह यह भी देखने लगता है कि राग-द्वेष से नवीन ग्रन्थियों का निर्माण होता है। ये ग्रन्थियाँ समय पाकर फल देती हैं, इनसे तन-मन का सर्जन होता है तथा जन्म-मरण व सुखद-दुःखद संवेदनाएँ पैदा होती हैं। उन सुखद-दुःखद संवेदनाओं में प्रतिक्रिया करने से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। फिर नवीन ग्रन्थियों का निर्माण होता है, जन्म-मरण, सुखद-दुःखद संवेदनाओं की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह क्रम बार-बार चलने लगता है। यही भव-भ्रमण अनन्तकाल से चल रहा है तथा वह यह भी अनुभव करने लगता है कि लहर द्वेष की उठे या राग की उठे अथवा अन्य किसी भी प्रकार की उठे उसमें समताजनित शान्ति, सुख, स्वाधीनता, सन्तुष्टि का लोप हो जाता है और अशान्ति, क्षुब्धता व आकुलता, आतुरतारूप दुःख का उदय हो जाता है। इस प्रकार जहाँ पहले वह राग-द्वेष, मोह, हिंसा, झूठ आदि दोषों में सुख का आस्वादन करता था अब इनमें दुःख का अनुभव करने लगता है।

इस प्रकार वह विपश्यक इस परिणाम पर पहुँचता है कि दुःख या भव-चक्रभेदन का एक ही उपाय है कि नवीन ग्रन्थियों का निर्माण न हो और पुरानी ग्रन्थियों का भेदन व उदीरणा होकर निर्जरा हो जाय।

नवीन ग्रन्थियों का निर्माण पुराने कर्म के फल भोगते समय राग-द्वेषरूप प्रतिक्रिया करने से होता है। अतः नवीन ग्रन्थियों के निर्माण को रोकने का एक ही उपाय है कि पुराने कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न सुखद संवेदनाओं में राग न करे, दुःखद संवेदनाओं (स्थितियों) में द्वेष न करे अर्थात् समता (द्रष्टाभाव) में रहे। इस प्रकार समता में रहने-रूप संवर से नवीन ग्रन्थियों (कर्मों) का निर्माण रुक जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरानी ग्रन्थियों (कर्मों) के नाश का उपाय है—उन ग्रन्थियों का भेदन करना। तन, मन, धन, जन आदि सबसे आसक्ति (राग-द्वेष) छोड़ना—समता में रहना यह स्थूलग्रन्थिभेदन है। सूक्ष्म-शरीर, चित्त, अवचेतन मन आदि के स्तर पर प्रकट व उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं (ग्रन्थियों) का धुन-धुन कर विभाजन करना, टुकड़े-टुकड़े करना यह सूक्ष्मग्रन्थिभेदन है। इस ग्रन्थि-भेदन से पुराने कर्मों के समुदाय की तीव्रता के साथ उदीरणा होकर निर्जरा होती है।

इस ग्रन्थि-भेदन में ध्यान (चित्त की एकाग्रता या समता), स्वाध्याय ('स्व' का अध्ययन, स्वानुभव), कायोत्सर्ग (सूक्ष्मतर स्तर पर तन का, मन का उत्सर्ग करना) एक साथ होता है। राग-द्वेष व मोह पर विजय मिलती है अर्थात् राग-द्वेष माया-मोह का प्रवाह या प्रभाव घटता जाता है। यह विजय उसके उत्साह, सुख, साता, शान्ति, स्वाधीनता को बढ़ाती है जिससे उसमें राग-द्वेष पर और अधिक विजय पाने का पुरुषार्थ जग जाता है। इस प्रकार धर्मचक्र से वह धीरे-धीरे समता की परमावस्था में पहुँच कर राग-द्वेष-मोह आदि विकारों पर पूर्ण विजय पाकर वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह हो जाता है।

अन्तराय क्षय—विपश्यना साधना से जैसे-जैसे राग-द्वेष-मोह घटते जाते हैं, समता भाव बढ़ता जाता है वैसे ही अनुभव के क्षेत्र में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रगति होती जाती है तथा आन्तरिक शक्तियाँ व अनुभूतियाँ प्रकट होती जाती हैं। आन्तरिक शक्ति के बढ़ने से उसका पुरुषार्थ, वीर्य बढ़ता है जो उत्साह के रूप में प्रकट होता है और उद्देश्य या लक्ष्य की सिद्धि या सफलता प्राप्ति में सहायक होता है।

आन्तरिक शक्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे अधिक से अधिक सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूति बढ़ती जाती है जो समत्व व प्रीति (मैत्री) के रस के रूप में 'भोग' व प्रमोद के रस के रूप में 'उपभोग' में व्यक्त होती है।

विपश्यना से विरतिभाव बढ़ता है जो कामनाओं, वासनाओं, कृत्रिम आवश्यकताओं को घटाता है। इनकी उत्पत्ति न होने से इनकी अपूर्ति से होने वाला दुःख उसे सहन नहीं करना पड़ता व सन्तुष्टि व तृप्तिभाव की अनुभूति होती है तथा उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतः हो जाती है। कारण कि यह प्राकृतिक नियम है कि जो प्राप्त का सदुपयोग करता है उसे उससे अधिक हितकर वस्तुओं की प्राप्ति अर्थात् लाभ अपने आप होता है। अभाव का दुःख उसे पीड़ित नहीं करता है उसका चित्त समृद्धि से भरा होता है।

विपश्यना-साधना से जैसे-जैसे राग पतला पड़ता जाता है वैसे-वैसे स्वार्थपरता, संकीर्णता घटती जाती है, सेवाभाव, करुणाभाव, परोपकार या दान की वृत्ति की भावना बढ़ती जाती है।

इस प्रकार विपश्यना-साधना से जैसे-जैसे राग-द्वेष-मोह क्षीण होता जाता है, वैसे-वैसे दान, लाभ, भोग (प्रेमरस, मैत्रीरस), उपभोग (प्रमोदरस), वीर्य (पुरुषार्थ) आदि आन्तरिक गुणों की अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती जाती है और पूर्ण वीतराग अवस्था में ये गुण असीम व अनन्त हो जाते हैं।

आशय यह है कि विपश्यना से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय कर्म क्षीण होते हैं। इन चारों का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इनमें से किसी एक कर्म के क्षीण होने का प्रभाव शेष तीन कर्मों पर भी पड़ता है और उनमें भी क्षीणता आ जाती है।

उपर्युक्त चार कर्मों का सम्बन्ध चेतन के निज गुण, ज्ञान, दर्शन, पवित्रता व वीर्य से है। इन कर्मों के कारण इन गुणों में विकृति व न्यूनता आती है। इन कर्मों के क्षीण होने से इन गुणों में वृद्धि होती है और पूर्ण रूप से क्षीण होने पर इन गुणों में असीमता आ जाती है।

उपर्युक्त चार कर्मों के अतिरिक्त नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय—ये चार कर्म और हैं। ये कर्म शरीर, मन आदि भौतिक या बाहरी पदार्थों से सम्बन्धित हैं। यह नियम है कि भीतरी स्थिति के अनुरूप ही बाहरी स्थितियों एवं परिस्थितियों का निर्माण होता है या यों कहें कि चेतना की सूक्ष्मशक्तियों व गुणों की न्यूनाधिकता के अनुरूप ही प्रकृति भौतिक पदार्थों, तन-मन, इन्द्रियादि की संरचनादि करती है। यही नामकर्म है। नाम कर्म से उत्पन्न शरीर के टिकने की अवधि आयुकर्म है। शरीर से सम्बन्धित जन्मजात संस्कार गोत्रकर्म है और शरीर चित्तादि के माध्यम से होने वाली सुखद-दुःखद संवेदनाएँ वेदनीयकर्म है। इन चारों कर्मों की उत्पत्ति का कारण राग-द्वेष, मोह व भोगेच्छा है। अतः विपश्यना-साधना से राग-द्वेष-मोह जैसे-जैसे हटता जाता है और आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है; उसका प्रभाव नाम, गोत्र, आयु व वेदनीय इन चारों पर भी पड़ता है। राग-द्वेष मोह के पूर्ण हट जाने पर फिर शरीर, आयु, गोत्र के निर्माण करने वाले कर्मों का बन्ध रुक जाता है। पुराने कर्म उदय व उदीरणा को प्राप्त होकर निर्जरित हो जाते हैं। तदनन्तर कर्मातीत अवस्था हो जाती है जो अनिर्वचनीय है, अनुभवगम्य है। इसे ही निर्वाण कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि विपश्यना से अर्थात् संवर उदीरणा (निर्जरा) की साधना से साधक के सब कर्म क्षय होकर वह शुद्ध, बुद्ध व मुक्त हो जाता है। ★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग : एक जीवन-पद्धति

□ का. ब. सहस्रबुद्धे

कितने ही महानुभाव यह समझते हैं कि योगाभ्यास करने के लिए सर्वसंग परित्याग कर एकान्त-शान्त जंगल में या हिमालय की गिरि-गुफाओं में जाना पड़ता है। कितने ही व्यक्तियों के मस्तिष्क में यह मिथ्या धारणा घर कर चुकी है कि योगाभ्यास से मस्तिष्क विकृत हो जाता है, इसके अधिकारीगण साधु और संन्यासी ही हैं, गृहस्थवर्ग नहीं। जब कभी भी वे किसी नगर या गाँव में योगाभ्यास के लिए सन्नद्ध गृहस्थ समुदाय को देखते है तो उनके मन में यह भ्रम का भूत सवार हो जाता है कि योगाभ्यास से कहीं इन गृहस्थियों की सुख-सुविधाएँ तथा जीवन का आनन्द चौपट न हो जाये।

मैं यह साधिकार कह सकता हूँ कि योगाभ्यास के लिए गृहस्थाश्रम को छोड़कर जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं है, और न योगाभ्यास से मस्तिष्क विकृत होता है अपितु ज्ञानतन्तु निर्मल होने से बुद्धि तीक्ष्ण होती है, प्रतिभा जागृत होती है। योगाभ्यास से गृहस्थाश्रम चौपट नहीं होता किन्तु यम और नियम के सतत अभ्यास से जीवन संयमी बनता है और गृहस्थाश्रम का सच्चा आनन्द उपलब्ध होता है।

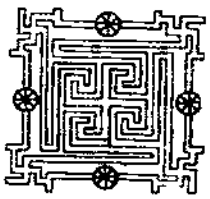
हर्बर्ट विश्वविद्यालय में दो अनुभवी चिकित्सक 'ट्रान्सेण्डेण्टल मेडिटेशन' अर्थात् भावातीत ध्यान या शवासन से रुग्ण व्यक्तियों की चिकित्सा करते हैं। उन्होंने उससे दो सहस्र व्यक्तियों के रक्तचाप को ठीक किया। पाश्चात्य देशों में इक्कावन विश्वविद्यालयों में योग पर अनुसन्धान का कार्य चल रहा है। मेडिकल टाइम्स प्रभृति अनेक अंग्रेजी भाषा की उच्चकोटि की पत्रिकाओं में आंग्ल भाषा में पाश्चात्य चिन्तकों के योग पर लेख आते हैं। वे लेख गम्भीर अध्ययन-मनन के पश्चात् लिखे हुए होते हैं; पर दुर्भाग्य है कि योग की जन्म-स्थली भारत में योग के सम्बन्ध में अत्यधिक उपेक्षा बरती जा रही है। हम लोगों में यह मिथ्या अहंकार घर कर चुका है कि योग हमारी संस्कृति और सभ्यता के कण-कण में फैला हुआ है। किन्तु आज योगाभ्यास के अभाव में हम योग के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानते हैं। कुछ ही स्थलों पर योग के सम्बन्ध में अनुसन्धान का कार्य हो रहा है पर वह आटे में नमक जितना भी नहीं है। जैसे लोनावला में कैवल्यधाम, मध्यप्रदेश में सागर और रुड़की स्थलों पर तथा उत्तर प्रदेश में भी कुछ शिक्षण केन्द्र हैं किन्तु इतने विराट् देश में यह कार्य नहीं के सदृश ही है। हमें प्रस्तुत दिशा में अत्यधिक श्रम करने की आवश्यकता है। यदि इस दिशा में उपेक्षा रखी गयी तो वह दिन दूर नहीं है कि योग की जन्म-स्थली भारत में पैदा होने वाले विज्ञों को पाश्चात्य देशों में योग के अभ्यास के लिए जाना पड़ा करेगा।

यह स्मरण रखना चाहिए कि योग केवल पुस्तकों के पठन-मात्र से नहीं आ सकता, और न टेलीविजन के देखने मात्र से आ सकता है और न केवल प्रवचन सुनने से ही सीखा जा सकता है किन्तु योग का सही अभ्यास गुरु के मार्ग-दर्शन से ही प्राप्त हो सकता है। गुरु के बिना योग का गुर (रहस्य) कदापि नहीं मिल सकता। गुरु साधक की पात्रता देखकर ही योग का मार्ग प्रदर्शित करता है। गुरु-गम्भीर रहस्यों को गुरु सरल व सुगम रीति से बताता है जिससे साधक सहज रूप से हृदयंगम कर सके। योग अभ्यास की वस्तु है, केवल जानने की नहीं। योग का अभ्यास करने से ही उसके वास्तविक आनन्द का अनुभव हो सकता है। एक दिन के अभ्यास से कोई चाहे कि मुझे लाभ प्राप्त हो जाये, यह कदापि सम्भव नहीं है। उसके लिए अपार धैर्य की आवश्यकता है। प्रतिदिन नियमित अभ्यास की आवश्यकता है।

योग एक जीवन पद्धति है। शारीरिक और मानसिक स्वस्थता व प्रसन्नता के लिए योग का अभ्यास आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। योग हमें जीवन जीने की कला सिखाता है। हँसते और मुस्कराते हुए किस प्रकार जिया जा सकता है, यह योग के अभ्यास से ही आ सकता है। रोते और बिलखते हुए जीवन जीना वास्तविक

(शेषांश पृष्ठ १२० पर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अकुलागम का परिचय

□ रा. पां. गोस्वामी, एम. ए., बी. लिब.
[पुणे विद्यापीठ, पुणे]

संसार के बहुत से धर्म-संस्थापकों के बीच यह एक सामान्यभाव है कि ये धर्मों के उपदेष्टा आत्मसाक्षात्कार से सम्पन्न थे। हमें बहुशः इन श्रेष्ठ महात्माओं के साक्षात्कार-प्रसंग के बाद की जीवनी के बारे में कुछ ज्ञान होता है। कहीं इनके बचपन की कुछ बातें भी परम्परा में सुरक्षित हैं। मगर इनके साधनाकाल के बारे में हमें बहुत ही कम जानकारी होती है। साधनाकाल गुप्तता में व्यतीत करने का संकेत जरूर है। इसके अनन्तर भी अपने साधनाकाल, व्यक्तित्व और अनुभवों के बारे में इन साक्षात्कारी पुरुषों के मुख से बात सहसा निकली नहीं। मगर जो बातें निकली हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि इन महानुभावों ने अपनी जीवनी में योग और योगशास्त्र को अपनाया था। योग के अन्तर्गत जो एक साधारण प्रक्रिया है इसके ये महाभाग जरूर ज्ञाता थे और प्रसंगवश चुने हुए शिष्यों को ही इसकी जानकारी देते थे। अब वर्तमान युग में ज्ञान का परिस्फोट हो रहा है। पुराने जमाने में जो विद्या गुप्त रहती थीं अब स्वयं कपाटों को भेदकर विश्व को अपना दर्शन दे रही हैं।

केवल योग ही नहीं, मध्ययुग तक सभी विद्याएँ गोपनीय समझी जाती थीं। विद्या अथवा शास्त्र, शस्त्र के समान ही हैं। चंचलवृत्तिवाले शिष्य के हाथ कहीं उसका दुरुपयोग न हो और परिणामतः समाज को लाभ के बजाय हानि न हो, इस दृष्टि से केवल गुरूपदिष्ट विद्या को महत्व दिया जाता था। योगविद्या के बारे में यह सावधानी रखने की विशेष जरूरत थी। कारण कि योगविद्या एक ऐसा तन्त्र है जिसमें थोड़ी-सी असावधानी से साधक को खतरा होना सम्भव है। और जबकि विद्यासम्पन्न व्यक्ति विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न होता है तब अगर वह विवेक-मार्ग पर स्थिर न रह सके तो उस शक्ति का दुरुपयोग होना बहुत ही सम्भव है।

उपकरण और देश-काल-जाति विशिष्टता की आवश्यकता कम रहने के कारण योगविद्या सर्वसाधारण मनुष्य को भी सुलभ है। यही सुलभता बढ़ाने के कारण परम्परा-प्राप्त मौखिक विद्या अक्षरों में निबद्ध कर लिखित रूप में लाने का कष्ट जिन महाभागों ने किये उन्होंने खुद को बाद की पीढ़ियों का ऋणी बनाया है। हाल में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों को जिज्ञासुओं के उपयोग के लिए संगृहीत करने का जो एक प्रवाह शुरू हुआ है यह इस कारण स्तुत्य है कि इससे हमें अश्रुतपूर्व और अप्राप्य ग्रन्थों के बारे में जानकारी हो रही है। योगशास्त्र पर कुछ थोड़े ही ग्रन्थ लिखे हुए हैं और जो लिखे हुए हैं उनमें से भी थोड़े ही उपलब्ध हैं। इनमें पातञ्जल योगसूत्र की टीकाएँ, कुछ योग-उपनिषद् हैं। इसके बाद गोरक्षनाथ, हेमचन्द्र, इन्दुदेव, स्वात्माराम आदि कुछ महानुभावों के इस विषय पर लिखे हुए ग्रन्थ मुख्य हैं।

इनके अतिरिक्त एक प्रकार का वाङ्मय है जो आगमस्वरूप है या आगमों का अंश बनकर रहा है। प्रारम्भिक जैन आगम और बौद्धसूत्रग्रन्थों में योगविद्या के कुछ अंश जरूर हैं। यही पद्धति आगे शैव, शाक्त और पाञ्चरात्र जैसे वैष्णव आगमों में अनुस्यूत है। कुछ शैव आगम और कुछ पाञ्चरात्र आगम ज्ञान, योग, चर्या और क्रिया नाम के पादों में विभक्त है। इन आगमों के बीच रचना-पद्धति और कथनीय विषयों के बारे में बहुत कुछ परस्पर लेन-देन हो गयी है। इस तथ्य का पता हमें इनके तुलनात्मक अध्ययन से लग सकता है। पाद्मसंहिता का योगपाद तो इस विषय में उल्लेखनीय है जिसका बहुत-सा अंश शब्दशः त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ही है।

आगम ग्रन्थों की एक विशेषता यह है कि उनके कर्ता अथवा रचयिता का पता नहीं चलता। कहीं ईश्वर-पार्वती के संवादरूप में आगम है तो कहीं वैष्णवों के आराध्यदेव और भक्त या आचार्य के संवाद रूप में है। प्रतीत होता है कि कर्ता ने परम्परा-प्राप्त ज्ञान क्वचित् शब्दों में फेरफार करके या क्वचित् फेरफार न करके स्वयं ग्रथित किया हो और उसे प्रामाणिकता प्राप्त करवाने के लिए किसी पूजापात्र देवता या व्यक्ति के नाम से जोड़ दिया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब जिस योगशास्त्र ग्रन्थ के परिचयस्वरूप में कुछ लिखना प्रस्तुत है उसका नाम है अकुलागमशास्त्र। इस ग्रन्थ में उपरिनिर्दिष्ट सभी विशेषताएँ मौजूद हैं। मुख्यतः शिव-पार्वती संवाद-रूप इस संस्कृत ग्रन्थ को भगवान नारायण ने नारदजी को उपदेशरूप में बनाया है, ऐसे ढंग में लिखा है। इसमें करीब ७०० श्लोक हैं और यह नौ या दस पटलों में विभक्त हैं। ढाँचे से मालूम होता है कि यह शैव और वैष्णव दोनों धाराओं का समन्वितरूप है। इस पर भगवद्गीता का विशेष प्रभाव है और शैली में यह मध्ययुगीन कुछ ग्रन्थों का अनुकरण करने वाला है। प्रकाशित ग्रन्थों की सूचियाँ देखने से पता चलता है कि यह ग्रन्थ सम्भवतः अभी तक मुद्रित नहीं हुआ है।

इसकी एक प्रति पुणे (पूना) के संस्कृत-प्रगत-अध्ययन-केन्द्र में है जो जांभूलपाडा के श्री वीरेश्वर जी दीक्षित से भेंट आयी है। म. म. गोपीनाथ कविराज सम्पादित 'तान्त्रिक साहित्य' इस तन्त्र वाङ्मय के सूचीरूप ग्रन्थ से मालूम होता है कि इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ लन्दन के इण्डिया ऑफिस में, कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी में और पुणे के भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर में हैं। इसके अलावा स्व. हरप्रसाद शास्त्रीजी द्वारा दी हुई विवरणात्मक सूची के दूसरे खण्ड में एक प्रति का उल्लेख है। न्यू कैटलोगस कैटलोगोरम में और भी तीन प्रतियों के उल्लेख हैं जिनमें एक अमरीका के पेन्सिल्वानिया विद्यापीठ के संग्रह में है; दूसरी मैसूर के राजकीय (अब विद्यापीठ में) ग्रन्थ संग्रह में है, और एक कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी में है।

संस्कृत केन्द्र की प्रति में १ से ४ और ६ से ९ पटल हैं। भाण्डारकर मन्दिर की प्रति में पूरे नौ पटल मौजूद हैं। पाँचवाँ पटल सबसे छोटा केवल १८ श्लोकों का है। इण्डिया ऑफिस की प्रति में दस पटल हैं। इन प्रतियों में श्लोक संख्या क्रमशः ६८४, ६६३ और ७६७ है। तुलनात्मक सारणी नीचे दी गयी है—

पटल	सं. केन्द्र प्रति	भां. मन्दिर प्रति	इण्डिया ऑफिस प्रति
१	१२२	८८	१२३
२	५३	५०	५३
३	७१	७२	६८
४	५५	६०	६७
५	—	१८	१६
६	२९	२९	२८
७	८१	८२	८०
८	३९	३८	३५
९	२३४	२२६	२२९
१०	—	—	७५
	६८४	६६३	७६७

इससे यह स्पष्ट होता है कि श्लोक संख्या में और पाठ में बहुत कुछ बढ़-घट हो गयी है। गोपीनाथ कविराज जी ने भां. मन्दिर की प्रति (संवत् १७५८) सबसे पुरानी मानी है और यही इस ग्रन्थ के लेखन का काल निश्चित किया है। संस्कृत केन्द्र की प्रति का लिपिकाल संवत् १८३५ है। भाण्डारकर मन्दिर की प्रति के अन्त में श्लोक संख्या ५७५ लिखी है जबकि असल में उसमें ६६७ श्लोक हैं। हरप्रसाद शास्त्रीजी को उपलब्ध प्रति में श्लोक संख्या १००० दी गई है। भाण्डारकर मन्दिर प्रति में एक जगह पत्र की बाजू में 'नकुलागम' ऐसा नाम लिखा है।

इसी ग्रन्थ का अन्य नाम योगसारसमुच्चय है। हो सकता है कि यही इस ग्रन्थ का असली नाम हो और अनन्तर जब इसे महत्व देने के लिए ईश्वर-पार्वती संवादरूप आगम के ढाँचे में रखा गया तब इसे अकुलागमतन्त्र यह नाम दिया गया हो।

कश्मीर शैव सम्प्रदाय में 'अकुल' शब्द का कुछ महत्व है। लकुलीश नामक महात्मा के नाम से एक सम्प्रदाय प्राचीन काल में था जो शायद ज्ञात शैव सम्प्रदायों में सबसे अधिक प्राचीन होगा। आगे चलकर उसे ही नकुलीश कहा गया। इस शब्द का मूल कारण भूल जाने से नकुलीश के आद्याक्षर 'न' को नकारात्मक—अभाववाची समझकर उसे आगे 'अकुलीश' बनाया गया। फिर 'अकुल' शब्द को 'कुल' शब्द के सन्दर्भ में लिया गया। कुल शब्द का उपर्युक्त शैव सम्प्रदाय में एक महत्वपूर्ण स्थान है जिसके कारण एक पूरा सम्प्रदाय ही कौल नाम से प्रसिद्ध हुआ। कौल मार्ग को ही अनुत्तर या निरुत्तर कहते हैं। इस सन्दर्भ में अकुलागम से एक श्लोक यहाँ उद्धृत करना उचित है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनन्यत्वादखण्डत्वाद्द्वयत्वादनाश्रयात् ।
निर्धामत्वादनामत्वादकुलं स्यान्निरुत्तरम् ॥

इसमें अकुल शब्द या सम्प्रदाय को निरुत्तर संज्ञा के समानार्थ कहा है। इसकी दार्शनिक व्युत्पत्ति की पुष्टि में अनन्य, अखण्ड इत्यादि नकारप्रथम शब्दों का आधार लिया है। कुछ भी हो, आज तो इतना ही कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ का उपलब्ध रूप अकुल-नकुल शब्दों का सन्दर्भ रखने वाले शैवमार्ग से जरूर सम्बन्ध रखता था और आगे ग्रन्थ के स्वरूप में कुछ फेरफार होने के बाद भी ग्रन्थ नाम वही रहा हो।

अकुल शब्द कोशकारों के मत से शिव का वाचक है। यह अकुलागम शिवजी ने कहा है इसलिए इसे यह नामाभिधान प्राप्त हुआ हो। और भी एक बात सम्भव है। गोरक्षनाथप्रणीत सिद्धसिद्धान्त-पद्धति के नाथनिर्वाण व्याख्या में 'कुलाकुलम्' शब्द पर '**शाक्तक्रमो योगक्रमश्च**' ऐसा लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि अकुल शब्द कभी योग-मार्ग का वाचक बना था। कुल शब्द कुण्डलिनी या सुषुम्ना मार्ग का वाचक है और अकुल शब्द उस मार्ग से परे रहने वाले परम शिव का वाचक है। अकुलागम का श्रेष्ठ मन्तव्य कहने के अवसर पर नौवें पटल में कहा है—

असून्नियम्य मार्गेण मध्यमेनाकुलं नयेत् ।
एतज्ज्ञानं वरं भद्रे अकुलागममध्यतः ॥९।२२४॥

यहाँ अकुल शब्द प्राण का वाचक है। इस ग्रन्थकार की दृष्टि से प्राण ही आत्मा (और मन भी) है और वही ईश्वर-स्वरूप है। पटल ६ में यह बात स्पष्ट की है। इन सब बातों से इस ग्रन्थ के अकुलागम नाम का रहस्य खुल जाता है।

अब इस ग्रन्थ के समय के बारे में कुछ चिन्तन करना चाहिए। गोपीनाथ कविराज ने भाण्डारकर मन्दिर की प्रति के लिपिकाल के आधार पर इसका रचनाकाल ईस्वी सन् की अठारहवीं सदी निश्चित किया है। मगर लिपिकाल का समय ही रचनाकाल मानना भूल है। इण्डिया ऑफिस में दो पाण्डुलिपियाँ हैं। उसमें एक का काल संवत् १६२८ है। दूसरे का काल नेपाल संवत् ७९८ है जो १७३५ के लगभग होता है। संवत् १६२८ की प्रति इस ग्रन्थ की ज्ञात पाण्डुलिपियों में सबसे प्राचीन मालूम होती है। इसलिए यह अवश्य है कि इस ग्रन्थ की रचना उस वर्ष के पहले हुई है।

इस ग्रन्थ के अन्तर्गत कहीं ज्ञात काल की घटना या किसी काल का उल्लेख नहीं है। मगर एक जगह उल्लेख है जिसे भविष्यवाणी रूप में लिखा है। उसका शायद ग्रन्थ रचना से सम्बन्ध हो इसलिए यहाँ उसका उद्धरण दिया जाता है :

चत्वारिंशच्छताब्दानि चतुःसहस्रं तथैव च ।
भविष्यति कलौ संख्या तदा काले महेश्वरि ॥१४॥
विंध्यस्य दक्षिणे भागे गंगायां दक्षिणे तटे ।
तत्राहं द्विजरूपेण कथयाम्यकुलागमम् ॥९।१५॥

'कलियुग के ४०४० वर्ष बीतने पर विंध्य के दक्षिण भाग में गंगा नदी (गोदावरी ?) के दक्षिण तट पर द्विज के रूप में मैं अकुलागम प्रस्तुत करूँगा।' कलियुग वर्ष की यह संख्या ईस्वी सन् ९४० के बराबर है। इस साल में मैं अकुलागम प्रस्तुत करूँगा यह ईश्वर ने कहा है। इतना ही नहीं, 'द्विज' के रूप में कहूँगा यह भी कहा है। हो सकता है कि किसी हुई घटना को भविष्य के रूप में बतलाया हो। जैसा कि राजवंशों के बारे में पुराणों में उल्लेख मिलते हैं। इसे अगर प्रमाणित माना जाय तो यही इस ग्रन्थ के आद्यरूप का रचना समय मानने में कोई हानि नहीं। शैव सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले और हठयोग के अभिमानी नाथसिद्ध साम्प्रदायिकों की बहुत कुछ बोलचाल इसी समय की हमें मिलती है। इसलिए ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी के आसपास इस ग्रन्थ का समय हो, यह सर्वथा असम्भव नहीं। इस ग्रन्थ में आये हुए भगवद्गीता के उद्धरण, षट्दर्शनों के उल्लेख तथा अन्य तात्त्विक व धार्मिक सम्प्रदायों के पारिभाषिक शब्दों के उल्लेख से यही इसकी पूर्व-मर्यादा निश्चित समझनी चाहिए।

हो सकता है किसी 'द्विज' ने इसे प्रथम प्रस्तुत किया हो। मगर 'द्विज' शब्द से हम क्या समझेंगे ? इतना ही समझ सकते हैं कि यह किसी अन्त्यवर्णियों में से या अन्त्य आश्रमियों में से नहीं हो तथा सतत भ्रमण करने वाले नाथसिद्धों में से भी कोई न हो।

इस ग्रन्थ में विषय का अनुक्रम यह है—

पटल १—प्रस्तावना और पार्वतीजी द्वारा शंकरजी की स्तुति और योगमार्ग का उपदेश करने की प्रार्थना (१—६१)। शास्त्रों में केवल नाम से भेद है वस्तुतः नहीं इत्यादि कहकर योग के आसन-प्राणायामादि छः अंगों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाभि, हृदय आदि स्थानों से सम्बन्ध (—८१)। जीव, शक्ति इत्यादि ; मन और प्राण का समागम होने से पाशमुक्ति और प्रणव के अभ्यास से मनःप्राणसमागम (—९०)। प्रणव और प्राणायाम का एकत्व; प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राणापानयोग जमाकर जीव और शिव का ऐक्य निर्माण करना यह योग है (—९७)। ऐसे सिद्ध योगी की जरामरण से मुक्ति (—१०६)। मन और प्राण के संयोग का महत्व (—१२२)।

पटल २—कर्मस्वरूप कथन (—१३)। नाभिमध्यस्थित शिवात्मक कन्द निरूपण (—१९)। शुभाशुभ निरूपण (—२०)। चार मनोवस्था और उनके स्थानभेद (—२३)। मोक्षबन्ध और धर्माधर्म निरूपण (—३३)। जीवित और मरण निरूपण (—४१)। चतुर्विध योग (—५३)।

पटल ३—देवी का प्रश्न (—६)। ईश्वर का उत्तर—अनेक पंथ का अर्थ है इड़ापिंगलादि मार्ग, इन मार्गों से जाने वालों का गन्तव्य स्थान है ब्रह्मस्थान (—१०)। मायाविमोहित लोग भिन्न मार्गों का समर्थन करते हैं। वेदों में प्रतिष्ठित तत्वार्थ केवल एक प्रणव ही है। प्राण और अपान का एक करना ही निराकार को प्रत्यक्ष करना है और यह प्राणायाम से साध्य है (—१८)। मद्य तू (पार्वती) है और शुक्र या मांस मैं (ईश्वर) हूँ। अविद्या मदिरा है और विद्या मांस है। विद्या और अविद्या का समरूप तृतीय जो पिण्ड है उसे मैथुन कहते हैं। या विद्या-अविद्यारूप प्राण और अपान का एकीकरण ही मैथुन है। बिन्दु से नाद का आकर्षण किया जाता है, उसी को सुरापान कहते हैं। बिन्दु को कला खाती है वही है मांसभक्षण (—२८)। काल अभक्ष्य है, परमाकला अपेय है और परमतत्त्व अगम्य है। इनका भक्षण, पान और गमन योगी करता है (—३०)। सत्य त्रिपद, त्रिगुण, त्रिवेद, ब्रह्मविष्णु शिवात्मक है। यह सत्य अधम, मध्यम और उत्तम त्रिविध है। प्रणव के उच्चारण से प्राण का अर्ध्वगमन होता है, वही सत्य है। वैखरी वाणी के उच्चारण द्वारा प्राण अधोगामी होता है, उसी को असत्य कहते हैं (—४०)। बिन्दु का चलित होना ही संसृति का कारण है। वह एक ही बिन्दु सर्वजीवों में त्रिभावात्मक रहता है। बिन्दु के अधोमार्ग में जाने से प्रवृत्ति होती है और ऊर्ध्वमार्ग में जाने से निवृत्ति होती है। वह्निस्थान को छोड़कर सूर्य-स्थान में जब बिन्दु जाता है तब शरीर का पतन होता है। वायु को साध्य करने से बिन्दु साध्य होता है। अन्न के सेवन से निर्माण होने वाले बिन्दु को धातु कहते हैं; मगर असल में बिन्दु उसी को कहते हैं जो शरीर में चैतन्य है। वह शिवरूप है। बिन्दु के स्थिर होने से आयुष्य की वृद्धि और मन की निश्चलता होती है। चंचल बिन्दु भी योनिमुद्रा से निबद्ध होकर ऊपर की ओर जाता है तब निश्चल होकर देह का काल से रक्षण करता है (—६६)। पवन के अभ्यास से देह निश्चल हो जाता है। अमूर्त के ध्यान से योगी अदृश्य बन जाता है। उसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं (—६८)। मुनि, अरण्यवासी, गृहस्थ और ब्रह्मचारी को क्रमशः आठ, सोलह, बत्तीस और यथेष्ट ग्रास लेना चाहिए।

पटल ४—देवी का वह्निमार्ग—धूममार्ग इत्यादि के बारे में प्रश्न (—६)। ईश्वर का उत्तर—इड़ा में प्राण संस्थित है वही वह्निमार्ग है और पिंगला में अपान स्थित है वही धूममार्ग है। वह्निमार्ग का आश्रय ब्रह्म है और धूम का भव। प्राण उत्तरायण है और अपान दक्षिणायन है। देह में प्राण और अपान वृक्ष और छाया की तरह है (—२५)। समान से उत्थित वह्नि में प्राण और अपान की आहुति देना ही प्राणाग्निहोत्र है (—३१)। परमेशरूप हंस स्वभाव (उत्तर) और भाव (दक्षिण) ये दो पक्ष हैं। उसके एक पक्ष से सृष्टि और दूसरे से संहार होता है। प्राणापानरूप पक्षद्वय के संयम से यह हंस निश्चल होने पर देहमुक्ति हो जाती है और नर आकाशगामी हो जाता है (३९)। उस हंस की स्थिरता विषुव में होती है। उभयपक्षरहित संध्याकाल ही विषुव है। नाड़ीत्रय गुणत्रयादि के अन्त में जो है वही विषुव है और प्राण का संयम करना ही पुण्य है। देह में प्रणव का ध्यान करने से ही सिद्धि होती है (५५)।

पटल ५—आत्मा के प्रतिकूल कर्म होते हैं। देह में स्थित गुण ही कर्म है। गुणों के प्रवाह से अधोमार्ग और बन्धन होते हैं और गुणरहित होने से ऊर्ध्वमार्ग और मुक्ति हो जाती है।

पटल ६—ब्रह्मार्पण का अर्थ प्रतिपादन। कर्म मनोमय हैं और कर्मों का त्याग ही ब्रह्मार्पण है। ब्रह्मविद्या ज्ञान है (—१२)। ब्रह्म को कर्म, स्वभाव, काल, काम इत्यादि नाम से कहते हैं। मगर शरीर में स्थित वायु ही देह में आत्मा है। वह हरि है। उसी की चारों वेदों में स्तुति है। योगाभ्यास से उसकी प्राप्ति होती है (—२१)। अपान और प्राण का संयोग ही योग कहलाता है। प्राण का संयम करके अन्तर्नाड़ी में संचार करना ही ब्रह्मार्पण करना है। षट्चक्र का भेदन ही ब्रह्मार्पण है।

पटल ७—देवी का षट्चक्रों के बारे में प्रश्न। ईश्वर का उत्तर—षट्चक्रों के भेदन का प्रमुख उपाय है आचार। अपने-अपने कर्मों में स्थित रहना ही आचार है। श्रुतिचोदित विधि से प्रथम शौच करना चाहिए, बाद में पादप्रक्षालन, आचमन, स्नान, धौतवस्त्र परिधान करके सूर्योदय में न्यासपूर्वक गायत्री जप करके ध्यान करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मत्याग करके योगाभ्यास करने वाले को बहुत-से विघ्न होते हैं (—११)। मोहमात्सर्यवर्जित होकर कर्मकाण्ड में रत रहने वाले व्यक्ति ही योगेश्वर हैं (१२)। श्रवण, दान, पूजन, आस्तिक्य, मैत्री, ब्रह्मचर्य, मौन इत्यादि योग के साधन हैं (—१७)। सदाचार से वैराग्य, वैराग्य से गुरुप्राप्ति और उससे योग का ज्ञान होता है। इसके कारण कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। गीता में कथित यम-नियमों का पालन करके कर्मसाधन करना चाहिये (—२०)। शुद्ध देश में गणेश, दुर्गा, विष्णु, गुरु और शिव का पूजन करके मठ में आसन करें। उस पर सिद्धासन लगाकर भ्रूमध्य में दृष्टि करके गुरूपदिष्ट मार्ग से प्राणायाम करें। इससे नाड़ीशुद्धि हो जाती है (—३२)। अपान आधारचक्र है। प्राण स्वाधिष्ठान चक्र है। समान मणिपूर है। उदान अनाहत है। व्यान विशुद्ध है। उसके बाद आकाशकमलस्थित चक्र है (—३७)। इन चक्रों में वर्णमातृकाओं का स्थान है। प्राणापान रूप ह-क्ष वर्ण व्योमचक्र में है। षट्चक्रों के सम्बन्ध से संसार है और उसके भेद से मुक्ति। प्राण ही चक्रस्वरूप है और वह स्वयं ही अपना भेद करने वाला है। इसलिए प्राण का संयमन करें। प्राण ही निश्चल निराकार केवल शाश्वत ब्रह्म है और उसका ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है (—५७)। यह शास्त्र अनधिकारी व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। इस ज्ञान से अन्य कुछ पवित्र नहीं है (—८१)।

पटल ८—योग की दीक्षा के बारे में प्रश्न (—५)। उत्तर—ज्ञान का दान और कर्म का क्षालन होने से दीक्षा नाम सिद्धि होता है। वह दीक्षा त्रिविध है—शांभवी, वेद्य और आणवी। यही प्रणव के और प्राणायाम के तीनों अंशों में विद्यमान है (—२२)। ब्रह्मदीक्षा, प्रणवदीक्षा, मन्त्रदीक्षा इत्यादि व्यर्थ है। सत्संग से ही कौलिक दीक्षाज्ञान होता है। योग और दीक्षा एक ही है (—३९)।

पटल ९—चार आश्रमों के बारे में प्रश्न। अमूर्त, सगुण-निर्गुण, प्राणलिंग की धारणा व पूजा आदि के बारे में प्रश्न (—१५)। मणिपूर, अनाहत, निरंजन और निरालय इन चार क्रमों में रहने वालों को क्रमशः ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थी और यती कहते हैं (—२७)। वाग्दण्ड, कर्मदण्ड और मनोदण्ड इन तीन दण्डों को धारण करने वाला त्रिदंडी है। इससे परा है ज्ञानदण्ड। इसलिए उसको धारण करने वाला यती एकदण्डी कहलाता है। ज्ञानमयी शिखा धारण करने वाला शिखी होता है। परमपद को सूत्र कहते हैं। ब्रह्मभाव से विचरण करने वाला ही ब्रह्मचारी है। इन्द्रिय पशु को अव्यक्ताग्नि में हवन करने वाला वानप्रस्थ है। त्रिगुण से रहित हंस होता है। विचार शब्द में 'वि' का अर्थ है हंस और 'चार' का अर्थ है उसका निरंजन में विचरण होने वाला। यही महावाक्यविचार है (—५०)। सूददोहा ही परब्रह्म है। नियत कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। अतः सूददोहा का नित्य अभ्यास करना चाहिए। विभिन्न धर्मों के अभिमानी योग को जानते नहीं (—९८)। वेद के पूर्वभाग में कर्ममार्ग का उपदेश है। उससे द्वैत बढ़ता है। उससे देह गुण वृद्धि होता है। परिणामस्वरूप दुःख की प्राप्ति होती है। इसलिए ज्ञानी कर्म का त्याग करते हैं। सुख के लिए कर्म करते हैं मगर कर्म से सुख की उपलब्धि नहीं होती। कर्म से उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है। ज्ञान से इन तीनों का नाश होता है (—१०४)। योगी उत्तम कुल में जन्म लेता है। योगाभ्यासरत मुनि धन्य है (—११९)। षट्कर्मों को साध्य करने की युक्तियाँ हैं—आधार में यजन, स्वाधिष्ठान में याजन, मणिपूर में अध्ययन, अनाहत में अध्यापन, विशुद्ध में दान और आज्ञा में प्रतिग्रह। इसी तरह का कर्म मोक्षदायी होता है (—१२५)। योग साधना के लिए जाति का बन्धन नहीं है। योग का प्रथम साधन है सज्जनसंगति। आत्मयोग ही परमधर्म है। ब्रह्मज्ञान केवल गुरुमुख से ही प्राप्य है। योगमार्ग ही प्रशस्त है (—१४२)। आश्रमों का फल योग है और उनकी गति है मुक्ति (—१४३)। सर्वभूतों में स्थित मुझ ईश्वर को छोड़कर अन्य की अर्चा करने वाला भस्म में हवन करता है (—१४६)। शब्द-ब्रह्म मेरा शरीर है (—१५०)। सब कर्म संसारफल देने वाले हैं। देह में ईश्वर का वास है। उसकी पूजा करनी चाहिए। चतुर्विध भूतग्राम में स्थित ईश्वर को सगुण कहते हैं। उसकी त्रिविध मानसपुष्प से समाराधना करनी चाहिए। जिससे गुणों की साम्यता हो उसी को पूजा कहते हैं। उसको निरालम्बा पूजा कहते हैं। षोडशोपचार पूजा बाह्य है। उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती (—१७०)। चित्त ही प्राणलिंग कहा जाता है। चित्त की षट्चक्रों में धारणा करना ही प्राणलिंग धारण करना है। अघोरमन्त्र से उसकी पूजा होती है। उसका लक्ष जप करने के लिए कहा है। उसका ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद वाचिक, उपांशु और मानस रूप में है (—१८५)। भक्ति, कर्म, तप, दान, दीक्षा इत्यादि सब प्रणव में है और प्रणव ही योग है। योगी सर्वदेवमय है (—१९७)। अभ्यासयोग से साकार देही निराकार हो जाता है (१९८)। योगशास्त्र में जीव और शिव में भेद नहीं है। प्राणसंयमन यही एक मार्ग है। इस अकुलागम शास्त्र को लोकोद्धार के लिए वेदशास्त्र से साम्य रखकर यह मार्ग बतलाया है (—२०६)। कलियुग ४०४० वर्ष में विंध्य के दक्षिण में गंगा के दक्षिण तट पर द्विज रूप में मैं अकुलागम कहूँगा (—२१५)। यह शास्त्र अनधिकारी व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। योग ही सर्वश्रेष्ठ है। आसनादि क्रम से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास से वायु स्वयं व्योममण्डल में जाता है (—२३४)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब इस ग्रन्थ की कुछ विशेषताओं के बारे में विचार करना है। सबसे पहले यह बात ध्यान में आती है कि इस ग्रन्थ में षष्ठांग योग बताया है (**योगं च षड्विधं प्रोक्तम्**....।१।३)। हमें ज्ञात है कि पतञ्जलि से अष्टांग योग की प्रसिद्धि है। अनन्तर बहुत से योग ग्रन्थों में योग के आठ अंग कहे हैं, मगर इस बात को नहीं भूलना चाहिए षडङ्ग योग मानने वालों का भी एक संप्रदाय था। इनमें प्रायः यम और नियम इन दोनों प्राथमिक अंगों को गिना नहीं जाता था। गोरक्षनाथ की सिद्धसिद्धान्तपद्धति में अष्टांग योग में यम और नियमों का उल्लेख जरूर है, मगर ये यम और नियम भगवद्गीता या पातञ्जल सूत्र के यम-नियमों से कुछ अन्तर रखते हैं। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषदादि कुछ योग-उपनिषदों में योग के छः अंग बताये है। सम्भवता छः अंग मानने वालों का सम्प्रदाय प्राचीन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में यम और नियमों का नाम से उल्लेख जरूर है। मगर उनकी योग के अंगों में गिनती नहीं की गयी है और उनका स्पष्टीकरण भी नहीं किया गया है।

यह ग्रन्थ योग के अन्य ग्रन्थों से भिन्न है। इसमें आसन, प्राणायाम, ध्यान इत्यादि अंगों का प्रात्यक्षिक विवरण या तात्त्विक विश्लेषण नहीं है। यहाँ है केवल प्रशस्ति। केवल योगमार्ग की प्रशस्ति। उसमें भी केवल प्राणायाम की प्रशस्ति है। ध्यानादि अंगों का केवल नाममात्र उल्लेख है। तो इतने पूरे लगभग सात सौ श्लोकों में क्या लिखा है? ऊपर दिये हुए सारांश से विषय का पता जरूर चलता है। मगर इन विषयों का सन्दर्भ क्या है? क्रम क्या है? क्यों इन विषयों का विवेचन यहाँ किया है?

ठीक ध्यान देने पर इस बात का पता चलता है कि इस ग्रन्थ में उन विषयों पर विशेषतः उन पारिभाषिक संज्ञाओं पर विचार किया है जो कि विभिन्न तात्त्विक व धार्मिक सम्प्रदायों में विशेष स्थान रखते हैं। और इनका विचार भी उस ढंग से किया है जिससे इन संज्ञाओं के योग वैज्ञानिक रूप में अर्थ स्पष्ट हो जाय। वह्निमार्ग और धूममार्ग, षट्कर्म, दीक्षा, सगुण पूजा इत्यादि संज्ञाओं का स्पष्टीकरण देखने योग्य है। हर एक पटल के प्रारम्भ में देवी ने ईश्वर से ऐसी कुछ संज्ञाओं के बारे में प्रश्न पूछा है और बाद में उत्तररूप में ईश्वर ने उन संज्ञाओं के अर्थ दिये हैं। हर एक पटल में क्रमशः देवी द्वारा पूछे गये प्रश्न ये है—(१) कर्म और योग में मोक्ष का साधन कौन-सा है? सब शास्त्रों में कौन-से एक तत्त्व का विचार है? योग के छः अंग, जीव, गुणात्मिका शक्ति, निर्गुण परमात्मा, वली-पलित, जरा स्तंभन इत्यादि क्या हैं? (२) कर्म-अकर्म-विकर्म, चार मनोवस्था, धर्माधर्म, बन्धन-मोक्ष, जीवित-मरण, भावाभाव, चार योग, सहज ध्यान इत्यादि क्या हैं? (३) नेति नेति का अर्थ, दृष्ट-नष्ट-अदृष्ट, मद्य-मैथुन-मांस, सत्यासत्य, बिन्दुपान इत्यादि। (४) अग्निषोमात्मक मार्ग, चन्द्र-सूर्य का संचार, विषुव, प्रणवरूप हंस इत्यादि। (५) गुण और माया (यह पटल '**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**' इस श्लोकपंक्ति की टीका पर है) (६) ब्रह्मस्वरूप (यह पटल '**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः**....' इस श्लोक की टीका पर है)। (७) षट्चक्रभेदन (८) दीक्षा (९) चार आश्रम, कर्मयोग, संन्यास, हंस, परमहंस, त्रिदंडी, एकदण्ड, मूर्तामूर्त, पूजा, सगुण-निर्गुण, प्राणलिंग और उसकी धारणा इत्यादि।

इससे पता चलता है कि योगमत के सिवाय अन्य विश्वासों का योगमार्ग के अनुकूल अर्थ लेकर योगमार्ग की श्रेष्ठ मार्ग के रूप में प्रतिष्ठापना करना यही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। इससे समझना चाहिए कि इस ग्रन्थ का कर्ता योगमार्ग का दृढ़ अभिमानी था। कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग का वाङ्मय देखने से हमें पता चलता है कि उनके कर्ता या तो अन्य मार्गों की निन्दा करते हैं अथवा उनके मतों का समन्वय करके अपने मत के अन्तर्गत उनका स्थान दिखलाते हैं। सभी मार्गों की यह विशेषता है और मार्गियों की यही रीति है। मानो अपने मार्ग की श्रेष्ठता प्रस्थापित करने के लिए उन्हें यह करना ही पड़ता है। प्रस्तुत ग्रन्थ योगमार्ग का श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करते हुए अन्य मार्गों से समन्वय रखता है।

योगमार्ग में प्राणायाम का अनन्यसाधारण महत्व है और वायु को साध्य करने से सब कुछ सिद्ध होता है यही हठयोग की धारणा है। अकुलागम में आदि से अन्त तक केवल यही भाव दृढ़ रखा गया है। वायु ही आत्मा है और वायु ही परमेश्वर है—इसको सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रमाण लिया है ऋग्वेद के '**आत्मा देवानां**....' (ऋग्वेद १०।१६८।४ और अकुलागम ६।१८) इस मन्त्र का। इस ग्रन्थ में योग के किसी अंग का विशेष रूप से विचार किया गया है तो वह है प्राणायाम का। उसका देवता है विष्णु और स्थान है नाभि। इसी प्राणायाम का प्रणव से समीकरण किया है। देखिए—

प्रणवः प्रोच्यते सद्भिः प्राणायामस्तृतीयकः ॥१।९१॥

प्राणायाम के बिना अमूर्त में भावना नहीं होती। इसलिये हर प्रयत्न से प्राणायाम का ही अभ्यास करना चाहिए—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमूर्ते भावना विद्धि प्राणायामेन नान्यथा ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामं समभ्यसेत् ॥३।१८॥

यही मोक्ष का दाता है—

प्राणसंयमनं पुण्यं निर्गुणं मोक्षदायकम् ॥४।५२॥

बिन्दु को साध्य करने का साधन वायु ही है और बिन्दु सिद्ध होने से अन्य सब सिद्ध हो जाता है—

वायुना साध्यते बिन्दुर्नचान्यं बिन्दुसाधनम् ।
सिद्धे बिन्दौ महारम्भे सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥३।५६॥

योगमत में शरीरस्थित चैतन्य ही बिन्दु है। उसका चलन या स्थिरता वायु के अनुसार है। उस बिन्दु के अधोमार्ग में जाने से गर्भवास, जरा-मरण इत्यादि संसार है और ऊर्ध्वमार्ग में जाने से मोक्ष की प्राप्ति है। इसके बारे में तृतीय पटल में विशेष विवेचन है। वायु की धारणा करने में योनिमुद्रा (वज्रोली ?) का विशेष स्थान है। इसका भी निर्देश इस ग्रन्थ में हुआ है—

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्नोति हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥
तदासौ निश्चलोभूत्वा रक्षते देहपञ्जरम् ।
कालोप्यकालतां याति इति वेदविदोऽब्रवीत् ॥३।६५-६६॥

वायु के अभ्यास से देह ब्रह्मरूप हो जाता है। अमूर्त के ध्यान से देह अदृश्य हो जाता है और उसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। देखिए—

ब्रह्मरूपो भवेद्देहोऽभ्यासात्पवनस्य च ।
अमूर्ते ध्यानयोगेन अदृश्यो जायते स्वयम् ॥३।६७॥
जीवन्मुक्तिरिति ख्याता नान्यथा मुक्तिरुच्यते ।

मूल सम्प्रदाय स्रोत में पारिभाषिक संज्ञाओं के अर्थ कुछ भी हों, इस ग्रन्थ में उनके योगमार्ग की दृष्टि से अर्थ दिये हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही नारद मुनि ने नारायण से प्रार्थना की है—

अनेकशास्त्रश्रवणादस्माकं भ्रामितं मनः ।
एतच्च कारणं किंचित्कि योगः प्रोच्यते श्रुतौ ॥१।३॥

वीरशैव सम्प्रदाय में प्राणलिंग को धारण करने की पद्धति है। अब इस योगशास्त्र की दृष्टि से षट्चक्रों के मार्ग में नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य आदि स्थानों में चित्त की धारणा करना ही प्राणलिंग को धारण करना है—

प्रथमं धारयेन्नाभौ भावपुष्पैः प्रपूजयेत् ।
हृदये च तथा कंठे भ्रुवोर्मध्ये वरानने ॥९।१७६॥

शाक्त सम्प्रदाय में मद्य, मांस और मैथुन का महत्व है। इस ग्रन्थकार की दृष्टि से अविद्या मद्य है, विद्या मांसरूप है और इनका एकत्र वास ही मैथुन है। तृतीय पटल में लिखा है—

अविद्या मदिरा ज्ञेया भ्रामिका विश्वरंजिका ।
विद्या मांससमुद्दिष्टा मोचका चोर्द्ध्वगामिनी ॥२३॥
विद्याविद्यात्मकं पिण्डं तृतीयं समरूपकम् ।
मैथुनं तत्परं देवि ज्ञातव्यं मोक्षसंभवम् ॥२४॥

इसी ढंग से देखिए श्रौतमार्ग के प्राणाग्निहोत्र का अर्थ—

समानादुत्थितो वह्निस्तत्र मध्ये असुद्वयम् ।
स्वाहोच्चारितमंत्रेण हुत्वा यज्ञः प्रकीर्तितः ॥४।३०॥
प्राणाग्निहोत्रं परमं पवित्रं येनैककालें विजितं स सद्यः ।
देहस्थितं योगजरापहारं मोक्षस्य सारं मुनयो वदन्ति ॥४।३१॥

यही गति है स्मार्तधर्म के संध्यावन्दन की। प्राण और अपानरूप अहः और रात्रि के बीच विषुव में ध्यान करना ही संध्या है—

अहः प्राणश्च विज्ञेयो अपानो रात्रिरेव च ।
संध्यानं विषुवं ध्यानं वन्दनं पुण्यकर्मणाम् ॥४।४२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहोरात्रिद्वयोर्मध्ये ब्रह्मसंचारिणी कला।
सा संध्या ज्ञाननिष्ठानां विशुद्धं परिकीर्तितम् ॥४।४३॥

इस ग्रन्थ पर भगवद्गीता का बहुत असर है। इसमें जगह-जगह पर भगवद्गीता के अवतरण हैं। छठा पटल तो 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि'...इस गीतोक्ति की टीकात्मक ही है। कुछ अन्य उदाहरण हैं—**भूतभवान भूतेश** (१।२३); **किं कर्म किमकर्मेति**...(२।८-९); **कर्मण्यकर्म यः पश्येत्**...(२।१२); **अग्निरुर्योतिरहः, कृष्णः**...(४।८-९); **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**...(९।१६); **काम्यानां कर्मणां न्यासं**...(९।५२-५३); **प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्**...(९।११०-११३); **अहं सर्वेषु भूतेषु**...(९।१४६) इत्यादि।

भगवद्गीता का मूल भावार्थ लोग जानते नहीं। योग की दृष्टि से भगवद्गीता का अर्थ देखना चाहिए, ऐसा इस ग्रन्थ का अभिप्राय है। जैसे—

गीताशास्त्रस्य भावार्थं न जानन्ति यथार्थतः।
प्रलयन्त्यन्यथायुक्त्या भ्रामिता विष्णुमायया ॥४।१०॥

इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ श्रुतिमार्ग (**किं योगः प्रोच्यते श्रुतौ** १।३) और भगवद्गीतोक्त स्मृतिमार्ग का अभिमानी है। इसलिए श्रुति और गीतारूप स्मृति का प्रमाणरूप में उद्धरण किया है और उनका योगमार्ग के अनुकूल अर्थ बताया है।

★★★

(शेष ११२ का)

जीवन जीना नहीं है। चाहे सुख की सुनहरी धूप हो, चाहे दुःख की काली निशा हो, साधक को दोनों ही स्थिति में समभाव में रहना चाहिए। गीता में इसे ही योग कहा है—**'समत्वं योगमुच्यते'** तथा **'योगः कर्मसु कौशलम्'** है।

योग की साधना सभी व्यक्तियों के लिए है—चाहे वह गृहस्थ हो या साधु हो। हाँ, पात्र की दृष्टि से उसमें भेद हो सकता है। गृहस्थाश्रम का जीवन भी एक दृष्टि से अखण्ड कर्मयोग का जीवन है। उसके जीवन में अनेक उत्तरदायित्व हैं। एतदर्थ भगवान महावीर ने गृहस्थाश्रम को 'घोर आश्रम' की संज्ञा प्रदान की है। गृहस्थाश्रम में रहकर योग की सम्यक् साधना की जा सकती है। प्रतिदिन प्रातः और सन्ध्या को नियमितरूप से गृहस्थ को योगाभ्यास करना चाहिए, जिससे तन और मन दोनों स्वस्थ रह सकें। योग से तन में अपूर्व स्फूर्ति पैदा होती है। कितना भी कार्य किया जाय तो भी थकान का अनुभव नहीं होगा और वही ताजगी बनी रहेगी तथा मन में भी वही उल्लास अँगड़ाइयाँ लेता रहेगा। मेरा स्वयं का अनुभव है कि जो व्यक्ति जीवन से हताश और निराश हो गये थे और आत्महत्या जैसे जघन्यकृत्य करने पर उतारू हो चुके थे, मेरे सम्पर्क में आकर और योगाभ्यास करने से आज वे तन से स्वस्थ और मन से प्रसन्न हैं। वस्तुतः योग वह संजीवनी की बूटी है जिससे सभी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। योग एक विज्ञान है। योगासनों से शरीर में 'इंडोक्राइन ग्रन्थियाँ' (Indocrine Glands) अपना कार्य कम कर देती हैं और हारमोन्स ग्रन्थियाँ अपना कार्य प्रारम्भ करती हैं। उससे वह अन्तःस्राव 'कार्टेक्स' अर्थात् मस्तिष्क में जाता है जिससे उस व्यक्ति को मानसिक शान्ति मिलती है तथा उसका मानसिक सन्तुलन बना रहता है। उसके नर्वस सिस्टम (Nervous System), मज्जातन्तु और नाड़ी संस्थान श्रेष्ठ होते हैं। अतः सतत योगाभ्यास कर जीवन का सच्चा और अच्छा आनन्द प्राप्त करना चाहिए। ★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

INTEGRAL YOGA : ITS NATURE & SIGNIFICANCE

☐ Dr. G. N. JOSHI, M. A., Ph. D.

Fergusson College, Pune

Misconceptions about Yoga

The word 'Yoga' is characteristically Indian in its origin and practice. In general 'Yoga' has a repulsive meaning for the people who are interested in the pleasures of the world. By long association the word 'Yoga' is associated with the practice of severe self-control, aversion for the pleasures of the senses, body and mind, an attitude of withdrawal from the world, denial of worldly life and apathy for striving for the prosperity of the material life, love for seclusion, desire for the attainment of supernatural and occult powers, exercising severe and harsh control over the working of the sense-organs, practising certain physical postures and breath-control etc. Such a popular impression about the Yoga is found very commonly, and it is further believed that the life of Yoga is not meant for young men and women who naturally desire to enjoy a full and healthy life of senses, body, mind and intellect. Youths are naturally interested in enjoying the life of senses and sex, and wish to attain wealth, fame, power and all worldly goods. To such a great majority of people, it is no wonder, Yoga becomes repulsive and detestable. If the real meaning of Yoga is not explained to the young people they are bound to be misled by wrong prevailing ideas about Yoga, and they need not also be blamed for their apathy and antipathy for Yoga. It is traditionally believed that Yoga is meant only for exceptionally few religiously-minded individuals, and for the mature and aged persons who have experienced the worldly life in all its aspects, and have realised the futility, hollowness and worthlessness of the life of material and worldly enjoyment after a good deal of experience and struggle through which they may have passed during their long career.

It is true that many of the prevalent ideas about Yoga are really misleading, wrong, distorted and perverted. A large number of hypocrites, pseudo-sadhus, Hathayogins and dishonest Yogic practitioners have created wrong, repulsive, detestable and ridiculous ideas about Yoga. Unfortunately, it has become an instrument in the hands of many ignorant, hypocrite, dishonest and quack persons, and hence Yoga is unnecessarily criticised adversely by the some well-intentioned and educated people also on account of its large-scale misuse and wrong interpretations put on it by half-educated people and by people of malafide intentions, to suit their conveniences and interests. It is a misfortune that this great ancient invention of Indian wisdom has fallen into great disrepute and has become a subject for ridicule and blashphemy on account of its great misuse and perverted interpretations.

Yoga for All

There is also a long-standing impression in the minds of several people that Yoga is essentially a part of Hindu religion, and only Hindus are entitled to its use and practice. This is not a fact. Yoga is not and need not at all be confined to the Hindu religion. Yoga is practised very seriously by the followers of Buddhism and Jainism also. Yoga is a *technique* of changing the consciousness and inner attitude of man, and it is not necessarily connected with

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

certain Hindu deities, and hence it can be accepted and practised by all persons irrespective of their belonging to this or that religion, creed, tradition, complexion, race, culture, language, country etc. Yoga is a universal phenomenon, and it is such that it can be learnt and practised by any person who may have nothing to do with the creed and mythology of Hindusim. Yoga belongs to and is meant for the entire humanity, and if it is practised faithfully the entire human race can improve mentally and spiritually, and attain a higher level of life and consciousness. The Yogic way of life can bring about an alround improvement of man, and it can help to evolve a man of superior calibre and attainments on the physical, mental, intellectual, moral and spiritual planes.

The Real Meaning of Yoga

Yoga does not mean withdrawal into seclusion, renunciation and aversion for material and physical life, as it is generally believed to be. Yoga is not to be identified with the external physiological and ritualistic behaviour. Though it needs and values tremendously concentration and meditation, *āsanas* and *prāṇāyāma*, observance of the rules of conduct, both for the body and mind, restrictions on food and sensuous and sexual experiences, the real Yoga does not amount to a sum total or aggregate of all these features, which are usually associated with the life of the Yogins. The real emphasis of Yoga has to be not so much on its external features as on its *inner aspect*. Unfortunately, the popular mind takes Yoga to be nothing more than the external observances and rituals, and this is indeed not a correct meaning of Yoga. It has now become necessary to remove a lot of non-sense and hotch-potch deposited on the concept of Yoga, and to free it from all its unsound, wrong and misconceived entanglements, and to present it in its real and genuine form to the younger generations so that they can benefit themselves immensely from it to enrich their life, and make it meaningful, delightful and glorious. Yoga can certainly save the younger generation from the deep-seated sense of futility, meaninglessness and absurdity of life.

Man's Helplessness

It is true that Yoga aims at God-realisation. Generally the goal of Yogic life is the attainment of the higher powers of consciousness. Sri Aurobindo says that the aim of Yoga is Divinisation of human life. The contact of the human and individual consciousness with the divine is the essence of Yoga. Yoga tries to reunite the individual soul with its original source. *i.e.*, the Supreme Self. It is possible that every human person may not be having the particular keen urge for uniting with the Divine, and may not also possess the necessary faculty for such an experience. It is a common experience that the average men and women are not only interested in and attached to the world of sensuous and mental enjoyment, but they do not as well feel the necessity to rise above the routine human experiences and activities. They feel satisfied with the world, its ways and its gains and enjoyments although they are ceaselessly tossed by certain upleasant and painful experiences. The average man is convinced that the world is not a straight road of pleasant and happy experiences. It is a mixture of good and evil, happiness and misery, success and failure and he is deeply involved in the contradictory experiences of life. He also feels helpless before the various forces of the world, and realising the limitations of human powers to control and change the conditions of the world, many times accepts a number of things which come to him unexpectedly, and mainly because he has no control over the forces which produce certain undesirable and harmful results. Every man realises that he is powerless before the natural and cosmic forces which rule our life, and then he quietly acquiesces in a situation which encircles him. Life is a series of adjustments with the environment and social situations ; but in these adjustments often man has to submit to the powerful forces which are not created by him and which also are beyond his powers. The man

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

in the modern civilization of science and technology ceaselessly tries to discover the causes of several undesirable and evil events and overpower them by employing certain remedial and curative measures. The man of the 20th century feels great confidence more than ever before to be able to diagnose the causes of several evils of the world, and tries either to prevent or stop or cure them by employing appropriate remedial measures. He does succeed in correcting and improving the situation, but he succeeds very little. As man's power over natural agencies and forces increases, his helplessness also increases in some other direction and sense. The capacity of man to control, modify and improve nature according to his requirements and expectations always falls short and inadequate, and therefore the problems of his life always continue to confront him.

The Functions of Yoga

Man therefore stands in need of improving his powers either by scientific and technological means or by some other method. Yoga, according to Sri Aurobindo, is a method and technique of improving and enhancing man's powers in various directions. According to the traditional belief, Yoga primarily performs one function of giving peace of mind and freedom excitability and perturbability of the mind. Yes, Yoga certainly sets man in his self firmly and brings to him peace, tranquillity and imperturbability. But this is a limited function of Yoga. Yoga formerly acted as a technique to give man liberation (*Mokṣa*) by helping him to enter into an experience of trance and *Samādhi*. It is all true. The traditional Yoga had a specific and limited purpose and function, and the Yogic training did enable man to overcome some of his hurdles and attain certain super-moral and super-natural (occult) powers (*siddhis*). The traditional idea of Yoga had serious limitations and since it appeared to be cut off from the usual and normal current of life, the sphere of Yoga was as if reserved for and confined to individuals of special interests, aptitudes and aspirations.

Yoga for Everyday Life

Now in the present century there has been a revolutionary change in the outlook on and attitude to Yoga. Yoga is now brought also to man's normal and daily life. Yoga has now ceased to be a secret and sacred occupation of a few privileged persons. The Yoga is brought close to the life of the present man and its help is called upon to solve the problems of the current life. Sri Aurobindo is the first and the most original thinker and a pioneer in this field of Yoga. He carried out Research of tremendous significance in the field of Yoga, and showed how Yoga can be made to bear on the current life of man. He is the first to declare "All life is Yoga" ; that Yogic life is not something very much mystical and unconcerned with the life of the average man. He brought down the secrets of the spiritual life and the life of Yoga to the life of the common and normal man, and showed by his own experiences and example how Yoga transforms the life of earthly man.

Yoga not Indifferent to Man's Social Life

Perhaps it is a misunderstanding which is continuing from very ancient times that Yoga is unrelated to the worldly life, and that it is indifferent to the current problems of the social life. There is an aspect of Yoga, which deals with the attainments of higher states of consciousness, and Yogins interested in such pursuits may be said to be indifferent to the actual problems of life of the man in society. But it is Sri Aurobindo who has emphatically given a new turn to this approach to Yoga. Yoga, according to him, has a *positive role* to play in the progress and enrichment of life. A Yoga which feels no concern for the perplexing problems of man's life and does not seek to solve those problems cannot be considered to be a sound or ideal kind of Yoga, since it provides only for an individual's personal gain.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

No Cheap Utilitarian View of Yoga

Though Yoga is to be used for the well-being of the individual and society, Yoga is not to be made instrumental to social uplift and amelioration in a materialistic and pragmatic sense. When it is said that Yoga has a contribution to make to the development of the society and the world, it is not to be understood in a cheap, utilitarian and pragmatic sense. Sri Aurobindo says that the idea of usefulness to humanity is the odd confusion due to second hand ideas imported from the West. Obviously, to be 'useful' to humanity there is no need of Yoga ; everyone who leads the human life is useful to human life in one way or another. Thus though Yoga solves the problems of human life it does not solve them in a temporary and ordinary way. It strikes at the roots of the problems and seeks to solve them in a radical manner. Therefore, Sri Aurobindo makes it clear that the true object of Yoga is not philanthropy, but to find the Divine, to enter into the divine consciousness and to find one's true being (which is not the Ego) in the Divine. He further says that Yoga is directed *towards Gods, not towards man.* The object of *Sādhanā* can only be to live in the divine consciousness and to manifest it in life.

Inadequacy of Human Reason

When Sri Aurobindo emphasises that Yoga is meant for the improvement of life and action, he means that Yoga is not going to solve particular worldly problems in this or that way. When he says "Yoga must include life and not exclude it", he does not mean that we are bound to accept life as it is with all its stumbling ignorance and misery and obscure confusion of human will and reason and impulse and instinct which it expresses. The modern man labours under the illusion that intellect can ably solve all the problems. Sri Aurobindo maintains that neither the human intellect nor the reason is competent to solve the real problems of the world, though people expect so much from them and rely on their saving capacity. He says that the human reason is a convenient and accommodating instrument and works only in the circle set for it by interest, partiality and prejudice. The politicians reason wrongly or insincerely and have power to enforce the results of their reasoning so as to make a mess of the world's affairs, the intellectuals reason and show what their minds show them, which is far from being always the truth. Thus Sri Aurobindo has great doubt about the capacity of the present mind and reason of man to solve the stupendous problems which humanity is facing at present. The reason of man is not impartial, disinterested and pure. It often becomes muddy on account of mixing with the narrow and selfish passions and desires of individual persons, and so it is unable to take a total view of problems. Since it works in the service of individuals and seeks to satisfy their limited particular and conflicting purposes, it cannot take a detached view and guide the world-affairs so as to serve the universal aims and interests of the entire humanity. People make too much of reason and logic, but both the reason and logic of men work for and under the influence of man's narrow egoistic motives. The universal reason alone is free from the defects of narrow and selfish motives of individuals.

The main problem is whether man thinks sincerely, honestly, unselfishly and in the wider interests of the entire world and humanity or he acts with reservation and serves his selfish interests knowingly and unknowingly.

Ego

The tendency of man to serve his own selfish interest or the interests of his group is his 'Ego'. According to Sri Aurobindo, as long as the ego of man remains intact and it is allowed to serve and satisfy its various desires directly or indirectly, consciously or unconsciously, man's universalisation and divinisation becomes impossible.

The ego is the most deceptive mechanism. It always escapes man's conscious understanding of it. It is highly elusive and difficult to trace. Its ways of working are surreptitious,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and it tries to maintain itself under several attractive, socially acceptable, polite and generous garbs. But it is all deception. The ego always works under several disguises and is extremely tenacious in its behaviour. It is difficult to control. Sri Aurobindo does not recommend its mutilation and assimiliation, but prescribes its regulation by the higher self and its transformation.

Apathy for Work

Yoga is not of one kind only. There is a Yoga of Devotion (*Bhaktiyoga*), a Yoga of Knowledge (*Jñānayoga*), a Yoga of Action (*Karmayoga*), *Haṭhayoga*, *Rājayoga*, and some other kinds of Yoga. An individual may adopt any kind of Yoga according to his inclination and tendency which suits his temperament. Unfortunately, in the past many centuries Yoga has been predominantly Devotional in character, and it has resulted into a kind of indifference to and apathy for work. It has also resulted into a kind of idleness, which has adversely affected the work which is required for social well-being, material enrichment and progress. Apathy for work has indirectly resulted into impoverishment of the material weath and into shortage of things of utility and the material needs of the society. As there is an unhealthy cleavage between the life of thought and experience or spiritual life, a life of meditation and devotion on the one hand and a kind of life of work, activity and labour on the other hand. Excessive and one-sided concentration on either of these two sides has resulted into an unsound and unhealthy mode of life. The spiritualists are dubbed as idlers indulging in abstract thinking, feeling, meditation and devotion having no contact with the concrete world of facts and experience, and the men of work and activity are ridiculed as men of the concrete world, absorbed in the production of utilities. They are branded as positivists, materialists, sensualists and heretics having no regard for the higher and spiritual values of life. Over-emphasis on either of these two approaches has become a source of distortion and that has created split-personalities, a kind of schizophrenia, and life of either kind has become defective and unhealthy in its own way.

Integral (Synthetic) Yoga

Sri Aurobindo does not appreciate and favour this kind of broken or divided life. He advocates a new Yoga known as Integral Yoga to cure this unhealthy and artificial division of the two. He takes into consideration the *whole man* in whom all these tendencies form organic parts. Knowledge, Devotion, Work, Meditation etc., are inherent in the natural constitution of man, and all of them have their own roles to play. When they are not allowed legitimate expression in the human experience, some of them get suppressed, and suppression usually leads to some kind of abnormality. But it is also true that since all the individuals are not and should not be exactly alike, it is also proper that some individuals emphasize some aspects more than others, and therefore we come across individuals who are more prone and dedicated to different kinds of Yoga such has *Jñānayoga*, *Bhaktiyoga*, *Karmayoga*, *Haṭhayoga* and so on. Sri Aurobindo maintains that a healthy integration of Knowledge, Devotion and Work is necessary for a sound Yoga, and he advocates such a synthetic Yoga in the form of Integral (*Pūrṇa*) Yoga. The Integral Yoga is not an invention of Sri Aurobindo himself. It has been advocated and explained by the Bhagavdgītā. Sri Aurobindo has expanded the philosophy of the Bhagavadgītā in his several essays published in a book "Essays on the Gita". He brings out the essence of the teaching of the Gita in these essays. Perhaps his interpretation of the Gita is the most faithful to the essential spirit of the Gita.

Sri Aurobindo emphasises not the external and the physical aspect which consists in the mechanical observance of certain Yogic practices, for example strict control over the working of the sense-organs, abstinence, renunciation of sensuous experience, withdrawal from the worldly life, which are usually supposed to be characteristics of the life of a Yogin. But according to Sri Aurobindo this is based on a misunderstanding and distorted view about Yogic life.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

All Life is Yoga

Sri Aurobindo says that all life is either consciously or unconsciously or subconsciously a Yoga. It consists in a methodised effort towards self-perfection by the expression of the potentialities latent in the being and a union of the human individual with the universal and transcendent Existence we see partially expressed in man and the cosmos. All Life, when we look behind its appearances, is a vast Yoga of Nature, attempting to realise her perfection in an ever-increasing expression of her potentialities and to unite herself with her own divine reality. In man, he thinks, for the first time upon this Earth devises self-conscious mean and willed arrangements of activity by which this great purpose may be swiftly and puissantly attained. Yoga, as Swami Vivekananda has said, may be regarded as a means of compressing one's evolution into a single life or a few years or even a few months of bodily existence. Yoga is a kind of compressed but concentrated and intense activity according to the temperament of an individual.

Sri Aurobindo maintains that it is this view of Yoga that alone can form the basis for a sound and rational synthesis of Yogic methods. He further says that if we look at Yoga from this point of view, Yoga ceases to appear something mystic and abnormal which has no relation to the ordinary processes of the World-Energy or the purpose she keeps in view in her two great movements of subjective and objective self-fulfilment ; it reveals itself rather as an intense and exceptional use of powers that she has already manifested or is progressively organising in her less exalted but more general operations. Going further he says that the Yogic methods have something of the same relation to the customary psychological workings of man as he has the scientific handling of the natural force of electricity or of steam to the normal operations of steam and of electricity. And they, too, are formed upon a knowledge developed and confirmed by regular experiment, practical analysis and constant result.

The Aim of Yoga

Sri Aurovindo do not favour the popular forms of Yoga such as the *Haṭhayoga*, *Rājayoga* and the *Tāntrikayoga* which have less of spiritual aims. The aim of Yoga, according to Sri Aurobindo, should not be the attainment to physical goods, wealth, property, power, fame nor certain occult powers but the spiritual elevation and transformation of the entire being of man. In a way the whole of life is the Yoga of Nature. The Yoga that we seek must also be an integral action of Nature, and the whole difference between the Yogin and the natural man will be this that the Yogin seeks to *substitute* in himself for the integral action of the lower Nature working in and by ego and division the integral action of the higher Nature working in and by God and unity. Sri Aurobindo does not propose an escape from the world to God, but he advocates a transformation of our integral being into the terms of God-existence. Sri Aurobindo advocates a new Integral Yoga by which he seeks to facilitate the Descent of the Divine in man and on the earthly life. For this purpose he advises to put our whole conscious being into relation and contact with the Divine and to call him in to transform our entire being into His, so that in a sense God Himself, the real person in us, becomes the *sādhaka* of the *Sādhana* as well as the Master of the Yoga by whom the lower personality is used as the centre of a divine transfiguration and the instrument of its perfection.

While explaining the essence of Yoga Sri Aurobindo points out that Yoga is the founding of all life and consciousness in the Divine, so also love and affection must be rooted in the Divine, and a spiritual and psychic oneness in the Divine must be their foundation.

New and Old Yogas

Sri Aurovindo compares his new idea of Yoga with the old ideas, and says that the old Yoga demand a complete renunciation extending to the giving up of the worldly life itself. This (new) Yoga aims instead at a new and transformed life. But it insists inexor-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ably on a complete throwing away of desire and attachment in the mind, life and body. The aim of the new Yoga is to refound life in the truth of the spirit, and for that purpose to transfer the roots of all we are and do from the mind, life and body to a greater consciousness above the mind. That means that in the new Yogic life all the connections must be founded on a spiritual intimacy and a truth quite other than any which supports our present consciousness. One must be prepared to renounce at the higher call what are spoken of as the natural affections. All must be given up to the Supreme Master of the Yoga.

Sri Aurobindo while describing the nature, aim and speciality of the New Yoga, says that the new (Integral) Yoga aims not at a departure out of the world and life into Heaven and *Nirvāṇa*, but at a change of life and existence, not as something subordinate or incidental, as a distinct and central object. In it the ascent is the first step, but it is a means for the descent. It is the descent of the new consciousness attained by the ascent. Moreover the object sought after by the New Yoga is not an individual attainment of divine realisation for the sake of the individual, but something to be gained for the earth-consciousness here on the cosmic level, and make it active. It mainly aims at a total and integral change of the consciousness and nature. Thus the aim of the Integral Yoga, as enunciated by Sri Aurobindo, is to facilitate and hasten the Descent of the Divine into the earth-consciousness. He does not simply want to attain peace and *mokṣa* for the individuals, but seeks to transform spiritually the life on the earth.

He says that man cannot improve and reform the present man and the social atmosphere simply by means of mental and intellectual changes which remain on the surface-consciousness, and do not change the depths of the spirit of man.

Superficiality of Mind

Sri Aurobindo is not prepare to trust the mind for bringing liberation to man. Though the psyche is absolutely necessary for developing spiritual consciousness at the same time he thinks that neither mind nor intellect nor reason is competent to reach the Supreme Truth of the Self. He says that the human Mind is not the self. The mind works only on a superficial plane of consciousness, and its powers of comprehension have serious limitations. He says that Yoga is not a thing of idea but of inner spiritual experience. Merely to be attracted to any set of religious or spiritual ideas does not bring with it any realisation. The mind can think and doubt and question and accept and withdraw its acceptance, make formations and unmake them, pass decisions and revoke them, judging always on the surface and by surface indications and therefore never coming to any deep and firm experience of Truth, but by itself it can do no more. Mind has the tendency to play with ideas, concepts and relations. Mind by itself is incapable of ultimate certitude; whatever it believes, it can doubt; whatever it can affirm, it can deny, whatever it gets hold of, it can and does let go. Mind is a small instrument with limited capacities. It deals with trifling things and indulges in trivialities and superficialities. But Yoga is not a mental field; the consciousness which has to be established is not a mental, logical or debating consciousness. It is even laid down by Yoga that unless and until the mind is stilled, including the intellectual and logical mind and opens itself in quietude or silence to a higher and deeper consciousness, vision and knowledge, *sādhanā* cannot reach its goal.

No Mentalisation and No Intellectualisation

Yogic consciousness, thus, is not the ordinary consciousness of the mind and intellect with which we are familiar. Such a consciousness cannot be changed by the mental activity. Yogic consciousness cannot be brought about by intellectual, rational and logical thinking. Mind cannot arrive at the Supreme Truth ; it can only make some new mental constructions and formulas, build systems and put one system against another, justify one and pull down another, attack one and defend another, and justify and at the same time disprove the same from a

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

different point of view. But neither the mind nor the intellect can penetrate deep into the heart of Reality. Sri Aurobindo rightly points out that as long as we remain in the domain of the intellect only, an impartial pondering over all that has been thought and sought after a constant throwing up of all the possible ideas, and the formation of this or that philosophical belief, opinion or conclusion is all that can be done.

Thus, according to Sri Aurobindo, all mental, intellectual, rational and logical thinking suffers from its inherent limitations, and all of them prove to be inadequate for the understanding of spiritual truths. Therefore the modern Western way of mentalising, intellectualising and conceptualising the real spiritual truths is bound to prove inadequate, insufficient and futile for reaching in the real sense the spiritual experience, which ought to be the base of the new way of life.

Spiritual Transformation

Sri Aurobindo advocates a radical change in the consciousness of man, and he describes it as 'Transformation'. In regard to the spiritual transformation which he advocates, he says that by transformation he does not mean some change of the nature like sainthood or ethical perfection or Yogic *siddhis* (like the *Tāntrik's*) or a transcendental body. He used transformation in a special sense ; it is a change of consciousness radical and complete and of a certain specific kind, which is so conceived as to bring about a strong and assured step forward in the spiritual evolution of the being of a greater and higher kind, and of a larger sweep and completeness than what took place when a mentalised being first appeared in a vital and material animal world. He makes the idea of transformation more clear and says that there must be a descent of the light not merely into the mind or part of it but into all the being down to the physical and below before a real transformation can take place. A light in the mind may spiritualise or otherwise change the mind or part of it in one way or another, but it need not change the vital nature ; a light in the vital may purify and enlarge the vital movements or else silence and immobilise the vital being, but leave the body and the physical consciousness as it was, or even leave it inert or shake its balance. And the descent of Light is not enough, it must be the whole higher consciousness, its Peace, Power, Knowledge, Love, Ananda. Moreover, the descent may be enough to liberate, but not to perfect, or it may be enough to make a great change in the inner being, while the outer remains an imperfect instrument, clumsy, sick or unexpressive. Finally, transformation effected by the *sādhanā* cannot be complete unless it is a supermentalisation of the being. Psychicisation is not enough, it is only a beginning, spiritualisation and the descent of the higher consciousness is not enough, it is only a middle term ; the ultimate achievement needs the action of the supermental consciousness and force. Something less than that may very well be considered enough by the individual, but it is not enough for the earth-consciousness to take the definitive stride forward, it must take at one time or another. The idea of spiritual transformation is quite new and unique, and it is the original contribution of Sri Aurobindo to Yoga. By spiritual transformation he means something dynamic and not merely liberation of the self or realisation of the one which can very well be attained without any descent. It is a putting on of the spiritual consciousness, dynamic as well as static, in every part of the being down the subconscient. That cannot be done by the influence of the Self leaving the consciousness fundamentally as it is with only purification, enlightenment of the mind and heart, and quiescence of the vital.

The Special Mission of the Integral Yoga

It means a bringing down of the Divine consciousness, static and dynamic, into all these parts and the entire replacement of the present consciousness by that. Sri Aurobindo believes that such a spiritual transformation can be brought about, and the supramental consciousness can and does descend in the whole nature, top to bottom, to transform the entire being of man.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Only for a limited spiritual liberation less than transformation became enough, but if the supramental has to govern and change the entire structure, it has got to come down to mental, vital and physical planes by an earnest, ardent and intense *sādhanā* by the individual self. Sri Aurobindo prescribes aspiration for and complete surrender of the Ego to the Divine for this purpose. For attaining such fundamental spiritual attainment no metaphysical and logical reasoning can be of use and so philosophy cannot do it.

Sri Aurobindo says that the one and only aim of the Integral Yoga is to bring down the supramental Truth into the world. Truth alone is its aim. He further says that the Integral Yoga is not something brand new in all its elements. It is integral because it takes up the essence and many processes of the old Yogas, and its newness consists in its aim, standpoint and the totality of its method. According to him neither Sri Krishna nor Buddha nor Śankara nor Rāmakrishna had any idea of transformation of the body. Their aim was spiritual *mukti* and nothing more than that.

The aim of Integral Yoga is to change spiritually the world and not to escape or abandon it. Man has to become a fit instrument of the Divine and to facilitate the descent of the supramental into the world. According to him never such an attempt was made in the past even by the great veterans of spiritual life. According to Sri Aurobindo there are some grades of consciousness between the Mind and the Supermind, and the great sages and spiritual veterans had reached some of the grades or rungs of spiritual consciousness. For example, Sri Aurobindo believes that *Sri Krishna's* mind was overmentalised, *Rāmakrishna's* intuitive, *Chaitanya's* spiritual-psychic, Buddha's illumined higher mental ; but none of them had experienced the supramental. The object of spiritual seeking is to find out what is eternally true, not what is new in Time.

Divinisation

Sri Aurobindo repeatedly says that the aim of Yoga is not and should not be either social reform or moral perfection or greater material enrichment of the society, nor should it be merely mental, intellectual and rational development and enrichment. In his opinion the only aim of Integral Yoga is total Divinization of the human being. He uses a new term 'Divinisation' which does not mean the destruction of the human elements; but divinisation consists in taking up the human elements, showing them the way to their own perfection, raising them by perfection to their full power and *Ānanda*, and that means the raising of the whole earthly life to its full Power and *Ānanda*. While elaborating it further he says that divinisation of life means a greater art of life, for the present art of life produced by ego and ignorance is comparatively mean, crude and imperfect, and it is by a spiritual and psychic opening and refinement that it has to reach its true perfection. This can only be done by its being steeped in the Divine Light and Flame in which its material will be stripped of all heavy dross and turned into the true metal. This Yoga is not a rejection of life but of closeness and intimacy between the Divine and the *sādhakes*. Its ideal aims at the greatest closeness and unity on the physical as well as the other planes, at the most divine largeness and fullness and joy of life.

Complete Surrender

The practice of Yoga is *Sādhanā*. It can be performed in many ways. In *Sādhanā* one has to return one's all facilities and powers such as the passions, emotions, thoughts, mind, heart, will and even action to the Divine. One can adopt knowledge, devotion (*Bhakti*), work or *Tapasyā* of Self-purification. Sri Aurobindo says that there is no single rule for all, it depends on one's personality and nature. Surrender is the main power of the Yoga. One has to offer not only one's thoughts and emotions but one's very will and entire being to the Divine. Sri Aurobindo's main emphasis is on offering oneself or a complete surrender to the Divine. If

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

one's surrender to the Divine is complete, unreserved and without any expectation one can attain the Grace of the Divine more easily. By surrender Sri Aurobindo means giving oneself to the Divine, to give everything one is or has to the Divine, and regard nothing as one's own, to obey only the Divine will and no other, to live for the Divine and not for the ego. One's spiritual transformation becomes impossible without one's unreserved surrender to the Divine. Surrender can be outer as well as inner. The *inner* surrender is of the mind, heart and the vital. The core of inner surrender is trust and confidence in the Divine. The attitude should be to want the Divine and nothing else. The process of surrender itself is a *Tapasyä*. Sri Aurobindo says that surrender is giving oneself to the Divine, to give everything one is or has to the Divine and regard nothing as one's own, to obey only the Divine will and no other, to live for the Divine and not for the ego; and reciprocally it happens that the Divine also gives itself to those who give themselves totally and without reserve to the Divine.

Surrender is not easy to practise. It is an attitude to life and the world, and it gets gradually consolidated and set in one's habits. Usually there is a resistence to the surrender form the vital and mind of man, but inspite of the passive reluctance of man's vital and mental nature, and also frequently stern opposition by them to offer surrender to the Divine man has to determine firmly and tell oneself, "I want the Divine and nothing else. I want to give myself entirely to him and since my soul wants that, it cannot be but that I shall meet and realise him. I ask nothing but that and his action in me to bring me to him, his action secret or open, veiled or manifest. I do not insist on my own time and way ; let him do all in his own time and way ; I shall believe in him, accept his will, aspire steadily for his light and presence and joy, go through all the difficulties and delays, relying on him and never giving up. Let my mind be quiet and trust him and let him open it to his light, let my vital be quiet and turn to him alone, and let him open it to his calm and joy. All for him and myself for him. Whatever happens I will keep to this aspiration and self-giving, and go on in perfect reliance that it will be done." According to Sri Aurobindo, surrender is an attitude which must always remain growing. Surrender is not a thing that is done in a day. The mind clings to its ideas and the body also is a slave to its habits. It is only the psychic that knows how to surrender.

Sädhanä

For making the surrender, a determined and ceaseless efforts is indispensable. Such an active willed and voluntary effort and practice is the '*Sädhanä*.' Making the idea further clear he says that active surrender consists in associating one's will with the Divine will and rejecting what is not Divine. The surrender is a continuous process, the *Sädhaka* has to be very much vigilant against falling directly or indirectly into the trap of his individual self or ego. Those who surrender completely and unreservedly to the Divine, the Divine takes their care and then his position become like that of a Baby-cat which is entirely at the mercy of the Mother-cat. The Mother-cat carries the Baby-cat from place to place by holding it in mouth. The Baby-cat has to do no effort whatsoever.

Empty Vessel

If the devotee surrenders to the Divine so completely and says to him 'I am in your hands do whatever you like, with me'. It becomes a Yoga of a very high level. Then the Divine decides and does every thing for the devotee (*Sädhaka*) who has no separate desire of his own. He almost empties himself and negates his separate individual being and plays into hands of the Divine like a doll or a passive instrument. Sri Aurobindo says that the *Sädhaka* then becomes a vessel or medium for the expression of the Divine light and consciousness. The *Sädhaka* then retains to no consciousness of himself as a separate being, and in him is left no craving no choice no preference. He says to the Divine "Thy will be done, I have nothing different of my own and nothing to ask for; I am totally yours and your decision and action will be final, and it will be for my good, it will be a saving grace to me."

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

A real surrender does not come easily and in a short time. It is a long arduous process. A complete surrender means to cut the knot of the ego in each part of the being and offer it, free and whole, to the Divine. The Mind, the vital, the physical consciousness and even each part of these in all its movements have one after the other to surrender separately, to give up their own way and to accept the way of the Divine. All kinds of knots are to be loosened and cut simultaneously and completely ; then alone the grip of the 'ego' can be removed. Such an attitude should govern not only meditation but every thought, every feeling and every action of a person.

Opening to the Divine

The process of surrender is very closely connected with the 'Opening to the Divine.' In fact, a real surrender consists in becoming a passive or non-resisting vehicle or medium of the Divine power and will. In this regard Sri Aurobindo says that in the Integral Yoga the whole principle is to open oneself to the Divine influence. It is there above every one waiting to descend into. When one becomes conscious of it one has to call it down into oneself. It is a gradual opening of the mind and heart and then the vital to it. This opening is the attitude to accept whole-heartedly the influence and guidance when the joy and peace come down, to accept them without question or cavil and without the slightest reservations of the ego, and when it comes to receive and accept it without opposition and resistance and make oneself an efficient and effective receptacle of it, and also a faithful transmitting instrument of the Divine knowledge and will. The Divine can lead, He does not drive. Especially in the Integral Yoga all depends on whether one can open to the Divine Influence or not. If there is a sufficient sincerity in the aspirant and a patient will to arrive at the higher consciousness in spite of all obstacles, then the opening in one form or another is sure to come. It may take a long or short time according to the prepared or unprepared condition of the mind, heart and body of a person. What it requires is an earnest and intense desire or aspiration for it. One can actively make effort for its attainment by intensifying one's urge and aspiration. The Descent of the Divine Power is facilitated and hastened in proportion to one's earnestness and intensity of aspiration for it. It requires a patient waiting in addition to intensifying one's desire and aspiration. As Sri Aurobindo says there is no method in this Yoga except to concentrate, preferably in the heart, and call the presence and power of the Mother to take up the being and by the workings of her force transform the consciousness. When the mind falls quiet and the concentration becomes strong and the aspiration intense, then there is a beginning of the experience of the descending of the Divine light and consciousness in the individual's mind and heart.

Faith

The more the faith and intenser the aspiration and yearning the more rapid is the result likely to be. One never ought to forget that the divinisation of one's being cannot be done solely by one's own effort and *tapasyā*, however intense and sincere it be. A corresponding response from the Divine to an individual's effort and calling are of great importance.

The Way of Opening

Openness to the Divine is felt when the *sādhaka* becomes conscious of the Divine Force working in him or of its results at a least and does not obstruct its descent or its action by his own mental activities, vital restlessness or physical obscurity and inertia. Surrender is the best way of opening. Surrender means to consecrate everything in oneself to the Divine, to offer all one is and has, not to insist on one's ideas, desires, habits etc., but to allow Divine Truth to replace them by its knowledge, will and action everywhere. As long as the ego and the vital continue to make and press for their demands complete and effective surrender becomes impos-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

sible. For one's real opening to Divine one has to be free from all preferences, and receive and accept joyfully whatever comes from the Divine Will. For such a willingness one should always cherish the idea that what the Divine wills is always for his best even when the mind does not see how it is so, to accept with resignation what one cannot yet accept with gladness and so to arrive at a calm equality which is not shaken even on the surface, there may be passing movements of monetary reaction to outward happenings. If that is once firmly founded, the rest can come.

If the complete surrender the vital and physical being also have to be surrendered. For a complete opening to be effective one has to offer more and more without any reservation and without holding anything back. Similarly if one has faults and weaknesses one should hold them up before the Divine to be changed or abolished.

No Judging of the Divine

One should not try to judge the working of the Divine intelligence and will, because, as Sri Aurobindo says, the ways of the Divine are not like those of the human mind, or according to our patterns, and it is impossible to judge them or to lay down for him what he shall or shall not do, for the Divine knows better than we can know. Once one admits the Divine one should do so totally, and should not place one's thinking and demands against the will of the Divine and should not entertain any idea, desire or aspiration which will not be acceptable to the Divine. The true attitude of the *Sādhaka* should be not to impose one's mind and vital will on the Divine but to receive the Divine's will and follow it.

Divine Grace

The Divine shows his Grace to the human soul in proportion to the intensity of the aspirant for him. The human soul tries to move up and ascend to the Divine by his *Tapasyā* which consists mainly in an earnest surrender to the Divine. When the devotee tries to ascent sincerely to the Divine, the Divine also responds to him equally and shows Grace to the aspiring soul by descending or coming down to him. As the devotee has already opened his total being the Divine finds it easy to enter him through his head and heart to the lower parts. It is difficult to say when and on whom the Grace of the Divine will dawn. It comes in different forms. The Grace moves and works spontaneously. The Divine Grace is a power that is superior to any rule, even to the Cosmic Law. It is not indiscriminate, but it has a discrimination of its own, which sees things and persons and the right times and seasons with another Visions than that of the Mind or any other normal Power. A state of Grace is prepared in the individuals often behind thick veils by means not calculable by the mind; and when the state of Grace comes, then the Grace itself acts.

The Divine Alone and Nothing Else

When one really yearns for the Divine Grace, the sole occupation of his mind, heart and desires must be the Divine only ; one should seek the Divine alone, and nothing other than the Divine. The Divine should be invoked to take complete charge and possession of one's being, and there should be no interference by any other idea, desire and craving. If one wants the Divine quickly, absolutely, entirely, that must be the spirit of the approach, absolute all-engrossing and nothing else should be allowed to interfere with it. The spiritual cannot be one of the many different things sought by the ego for its enhancement and recreation.

The Mysterious Way of the Grace

Sri Aurobindo says that the human mind is incapable of understanding the Divine reason. The Divine Grace is something not calculable, not bound by anything that the intellect can fix as a condition. It does not act in the manner of the human mind and intellect on its

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

routine and conventional lines. It should not be supposed and expected that the Divine Grace should work in way that the human mind can understand. It works in its own 'mysterious' way. The human mind being partial and limited, is constitutionally incapable of grasping the Divine. The human mechanism of knowledge has very serious inherent limitations, and therefore all the available ways of understanding it fail to grasp it. It is not accessible to concepts, logical arguments and any abstract thinking. The Grace has no definite method of expressing itself and therefore there is no fixed law of attaining it. Its appearance cannot be anticipated, nor foretold. It makes its own choice and it descends in any way and in a manner which is beyond the comprehension of the human reason. One has to wait for it with complete faith, and no impatient calling for it becomes of use in its case. The Grace chooses its own moment to come, which can neither be anticipated nor hastened, except by ever-increasing intensity of yearning for it and deepening of the surrender. One should not entertain doubt, uneasiness and impatience for its arrival.

The Internal Preparation

What one needs is an unflinching faith that the Divine will surely descend into him at a moment which He will choose. Sri Aurobindo says that the road of Yoga is long, every inch of ground is to be won against much resistance. All that the *Sādhaka* needs is unshaken determination, firmness of will, inexhaustible patience, singleminded perseverance, absence of nervousness, disappointment and weariness. One has to take and face life and its trials with a quiet mind, a firm courage and an entire reliance on the Divine power. The *Sādhaka* needs cultivating qualities such as peace, tranquillity, calmness and inner imperturbability. The spiritual progress does not and should not depend on outer conditions ; spiritual life consists in living from within without, and it should not take the form of reactions to external stimuli. The inner calmness, tranquillity, poise and contentedness should never be kept dependent on external happenings. No external events should be allowed to disturb the inner state of the deep peace and equality. The outer should be a mere instrument, and should not be allowed at all to compel or dictate our actions and overpower the inner life.

The Core of Spirituality

Thus to be able to receive the Divine power and let it act through us in the things of the outward life Sri Aurobindo recommends a constant aspiration, inner stillness and quietude, absolute faith that what is for the best will happen, no craving for fruits of action, and calm receptivity to receive the Divine power and to allow it to work in one's ideas, desires, will and action. It is not the effort but the surrender which works effectively in the attainment of spiritual delight. Spirituality consists not so much in the external behavoural actions as in the attitude to look at and meet the changing situations, without being inwardly disturbed, confused and excited. All work or activity should be used as a means or instrument for the practice of spiritual attitude and inward experience. Spiritual life concentrates on inwardness and not outward attainments and material gains, nor on the reform of the world in its conventional sense.

The Supramental Manifestation

The aim of the Integral Yoga is to enable men to live a Divine Life or the earth. As it is made clear in the earlier part, Sri Aurobindo does not want the Yogin to escape from the life in the world, but to remain in it and spread divinity in the worldly life itself. The man of divine life is not to shun the mundane life and live in isolation and seclusion; on the contrary he has to do the work of the Divine in the world, and not a work outside or away from it. He envisages a divine life in a divine body. Divinisation of life includes the transformation of human body also. According to the Integral Yoga, the body and its activities, must be accepted as part of the Divine life. It does not advocate the suppres-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

sion of the physical body and its normal activities like the ascetics, but it tries to make the body a fit, efficient and effective medium and vehicle for the divine energy for its work. It must be remembered that for the divine life on the earth, earth and matter have not to be and can not be rejected, and have only to be sublimated, and to reveal in themselves the possibilities of the spirit, serve the spirit's highest uses and be transformed into instruments of of a greater living.

The Supermind

By 'Divinisation' Sri Aurobindo means the descent of the supramental consciousness in man. The Supermind is in its very essence truth-consciousness, which is always free from the ignorance which is the foundation of our present natural or evolutionary existence. The supermind is an eternal reality of the Divine Being and the Divine Nature.

The supermind is already involved in the present inconscient part of man and the world. It is not something to evolve as a new emergent quality, as Lloyd Morgan would say. The supermind is already here but is involved, concealed behind this manifest mind, life and matter and not yet acting overtly or in its own power ; if it acts, it is through these interior powers and modified by their characters, and so not yet conceivable. Sri Aurobindo says that it is only by the arrival of the descending supermind upon earth that it can reveal itself in the action of our material, vital and mental parts so that these lower powers can become portions of a total divinised activity of our whole being. Sri Aurobindo asserts in categorical terms that the manifestation of a supramental truth-consciousness is therefore the capital reality that will make the divine life possible. It is when all the movements of thought, impulse and action are governed and directed by a self-existent and luminously automatic truth-consciousness and our whole nature comes to be constituted by it and made of its stuff that the life divine will be complete and absolute.

In Sri Aurobindo's view, the Divine is already there immanent within us, and it is our inmost reality, and it is this reality that we have to manifest. It is that which constitutes the urge towards the divine living and makes necessary the creation of the life divine even in this material existence.

Descent and Ascent

The manifestation of the supermind will happen in the normal course of evolution of the universe because it is inevitable. It must happen in this world sooner or later. This evolution has two aspects *i.e.*, a Descent from Above and an Ascent from Below. The Descent is a self-revelation of the spirit, an evolution in Nature. But the Ascent is necessarily an effort, a working of Nature, an urge on her side to raise her lower parts by an evolutionary or revolutionary change, conversion or transformation into the divine reality, and it may happen by a process and progress or by a rapid miracle.

The evolutionary process is slow and tedious and it usually needs ages to reach new levels. But the pace of evolution can be made quick and rapid and the realisation of the Supermind can be expedited by another method, and it consists in the practice of Yoga. Sri Aurobindo advocates the supermental Yoga for an easy and speedy descent of the supermind to the lower levels of consciousness and material existence by supporting it with an ardent and sincere *ascent* of the individual self. The descent of the supermind itself becomes a process of divinisation of the mind, vital, body and senses. Sri Aurobindo says that the divine life will give to those who enter into it and possess it. An increasing and finally complete possession of the truth-consciousness and all that it carries in it—will bring with it the realisation of the Divine in self and the Divine in Nature. The God-seeker will then realise in his personal experience the *Sachchidānanda*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The Supramental Experience

In the supramental experience man will become one with cosmic being and universal Nature ; he will contain the world in himself, in his own cosmic consciousness and feel himself one with all beings ; he will see himself in all and all in himself, and become united and identified with the self which has become all existence. He then feels the Divine Light, Power and Bliss filling every strand of his nature, every cell and atom of his being, flooding his soul and mind and life and body, surrounding him like an illimitables sea and filling the world, suffering all his feeling and sense and experience, making all his life truly and utterly divine. In the instance of such an experience all relations with the Divine will be his. He will live in God and with God, possess God, as it is said even plunge in Him forgetting all separate personality, but not losing it in self-extinction.

Divine Life

The descent of the supermind will bring to one who receives it, and in the truth-consciousness all the possibilities of the divine life are fulfilled. A divine life on earth need not be a thing apart and exclusive having nothing to do with the common earthly existence ; it will take up human being nnd human life, transform what can be transformed and spiritualise what can be spiritualised. The supermind has the capacity and power to transform completely the nature and functions of the mind and body and to enhance their powers. Those who can open themselves and remain open to the influence of the supermind will feel in them a divinising change in their thought, will, feeling and acts, and all their resistances will be removed and difficulties will be solved by the pressure of the supramental light and power *from above*, pouring itself into the mind and life-force and the body.

From Mind to Supermind

This is the meaning of spiritual transformation and divinisation of man. The present man will be then free from the serious limitations and handicaps of his mentality. He will cease to be a mental being and become supramental. He will rise from the status of man to that of superman. Sri Aurobindo says that after the transformation of the mental men the place of the mind will be taken by the supermind. The present or existing human mind is very much limited, imperfect, open at every moment to all kinds of deviations from the truth or missing of the truth, all kinds of errors and openness even to the persuasions of a complete falsehood and perversion of the nature. The present mind is blinded by its own irrational impulses and urges, and has a tendency to be pulled towards inconscience and ignorance. The intellect is prone to interpret the higher knowledge in abstractions and indirect figures. The supermind will be free from all kinds of limitations, and is capable of the free and utmost perfection of itself and its instruments. The new man will be then a qualitatively different man and the new society will naturally be better in every respect since the actions will not be based on and governed by the defective and imperfect nature of the mind and ego of the present man. Since it will be a level of superior life and consciousness. Sri Aurobindo chooses to describe it as *Super*-Mind and *Super*-Man. Such a change into supermind will happen not only individuals but also in the entire human or species.

The Future Humanity

Sri Aurobindo says that the descent of the Supermind into the earthly existence will make tremendous changes in the life of man on the earth. The supramental change will exercise an immense influence on mankind as a whole, and it will bring about far reaching consequences. The Supermind will effect an uplifting and transforming change in the nature and function of the Mind itself. All the forms of thinking, willing and living of man will change fundamentally. A

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

new human (Superhuman) race will emerge. The supermind will be the directive and dictating power, and the mind will serve only as its channel and vessel for putting into action the decisions of the Supermind. The Mind of man will rise to higher levels and will act in such ways which are beyond the imagination of the present man. Sri Aurobindo says that the Supramental will be radically and qualitatively of a different kind. No effort to understand and describe it with the present available mental equipment of man will be of use to concieve it. Therefore Sri Aurobindo says that it is supra-intellectual, and no attempt should be made to mentalise, intellectualise and conceptualize the supramental. It has to be felt in a unique kind of experience, which too is beyond concepts and language.

The Integral Yoga of Sri Aurobindo thus aims at transforming radically the basic structure of the human body, mind and ego by trying to bring about an ascent of the individual soul to the Supreme Self, which too in response to its earnestness, descends down and takes the possession of the entire human life, ego, mind and body, and reveals its Light, Knowledge and Power in and through individual beings, and thus seeks to transform and create a new race of supramentalised beings.

References :

Sri Aurobindo—On Yoga I : The Synthesis of Yoga.
Sri Aurobindo—On Yoga II : Tome One and Tome Two.
Sri Aurobindo—The Supramental Manifestation upon Earth.

★★★

You are aware of the body, while waking. You are not aware of the body in deep sleep. Still you remained in sleep. After waking up you hold the body and say, 'I cannot realise the self.' Did you say so in your sleep ? Because you were undivided then, you did not say so. Now that you are contracted within the limits of your body, you say, 'I have not realised.'

Why do you feel yourself contracted with body and then become miserable ? Be of your true nature and happy. Find out wherefrom this 'I' arises. Then the self is realised. Then this 'I' will disappear and the self will remain.

—Ramana Maharshi

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



मन्त्र-शक्ति : एक चिन्तन

☐ प्रो. जी. आर. जैन (मेरठ)

मूल विषय का प्रतिपादन करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि ध्वनि-विज्ञान की कुछ प्रारम्भिक बातों का उल्लेख कर दिया जाय। शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन वैशेषिकदर्शनकार का मत तो यह था कि शब्द आकाश का गुण है, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों से यह बात असत्य सिद्ध होती है। ध्वनि निर्वात (Vacuum) स्थान में होकर नहीं जाती। यदि ध्वनि आकाश का गुण होता तो शब्द की गति निर्वात स्थान में भी होनी चाहिए थी क्योंकि आकाश तो वहाँ भी विद्यमान रहता ही है।

जैन शास्त्रों में जो पुद्गल के छह भेद किये गये हैं उनमें शब्द (Sound) को पुद्गल का सूक्ष्म-स्थूल रूप कहा गया है क्योंकि पुद्गल के इस रूप को आँखों से नहीं देखा जा सकता, केवल कर्ण इन्द्रिय द्वारा सुना जा सकता है। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि शब्द की उत्पत्ति द्रव्य के परमाणुओं के कम्पन द्वारा होती है। यही बात तत्त्वार्थसूत्र, पंचम अध्याय, सूत्र २४ और उत्तराध्ययन, अध्याय २८, गाथा १२-१३ में कही गयी है। शब्द के शास्त्रकारों ने प्रथम दो भेद किये हैं—(१) भाषात्मक, और (२) अभाषात्मक। भाषात्मक के दो भेद कहे गये हैं—(१) अक्षरात्मक, (२) अनक्षरात्मक। इसी प्रकार अभाषात्मक के भी दो भेद किये गये हैं—(१) प्रायोगिक (वाद्य यन्त्रों द्वारा उत्पन्न की गयी ध्वनियाँ), और (२) वैस्रसिक (बिजली की कड़क, समुद्र का गर्जन इत्यादि नैसर्गिक ध्वनियाँ)। प्रायोगिक के चार भेद कहे गये हैं—(१) तत (ढोल या तबले की ध्वनि), (२) वितत (सारंगी, सितार इत्यादि की ध्वनियाँ), (३) घन (हारमोनियम, पियानो, लोहतरंग इत्यादि की ध्वनियाँ), (४) सुषिर (बांसुरी या शंख आदि की ध्वनि)।

इस विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैन आचार्यों को ध्वनि के सम्बन्ध में बड़ा ही सुन्दर, सही-सही और पूर्ण ज्ञान था। भौतिक विज्ञान की किसी भी पुस्तक को उठाकर यदि आप देखेंगे, तो ध्वनि उत्पन्न करने की यही क्रियाएँ लिखी हुई मिलेंगी—(१) तारों की झनझनाहट से, (२) प्लेट या रीड (Reed) की झनझनाहट से, (३) तने हुए परदे (Stretched Membrane) की झनझनाहट से, और (४) वायु-स्तम्भ के कम्पन से।

शब्द या ध्वनि के सम्बन्ध में एक बात विशेषरूप से समझने योग्य है। यदि वस्तु के कणों की स्पन्दन गति १६ स्पन्दन प्रति सेकण्ड की गति से कम है तो कोई शब्द उत्पन्न नहीं होता। स्पन्दन की गति जब १६ या २० प्रति सेकण्ड से बढ़ जाती है तो शब्द सुनायी देने लगता है। जैसे-जैसे स्पन्दन की गति बढ़ती जाती है, स्वर भी ऊँचा होता जाता है, किन्तु स्पन्दन गति २०,००० (बीस हजार) प्रति सेकण्ड हो जाने पर और कभी विशेष अवस्थाओं में ४०,००० (चालीस हजार) तक शब्द कर्णगोचर होता है अर्थात् सुनायी देता है। स्पन्दन की गति ४०,००० प्रति सेकण्ड से अधिक होने पर जो शब्द उत्पन्न होता है, उसे हमारे कान नहीं सुन पाते। इस शब्द को कर्णागोचर नाद (Ultrasonic) कहा जाता है।

हाथ का पंखा जब शनैः-शनैः हिलाया जाता है, तो कोई ध्वनि उत्पन्न नहीं होती। यदि उसी पंखे को एक सेकण्ड में १६ या २० बार हिलाया जाय तो एक क्षीण स्वर सुनायी देता है। इसके उपरान्त ज्यों-ज्यों पंखे के हिलने की गति तीव्र होती जाती है, स्वर भी ऊँचा होता जाता है। हारमोनियम के अन्दर जो छोटी बड़ी पीतल की पट्टियाँ (Reeds) लगी रहती हैं, वे भी इसी प्रकार प्रति सेकण्ड भिन्न-भिन्न संख्या में कम्पन करती हैं और इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वरों की सृष्टि होती है। सम्भाषण के समय हमारे कण्ठ में स्थित स्नायु लगभग १३० बार प्रति सेकण्ड की गति से झनझनाते हैं। झनझनाहट की यह क्रिया बालकों तथा नारियों के कण्ठ में अधिक तीव्र होती है, इस कारण उनका स्वर पुरुष-स्वर से ऊँचा होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब हम ऊपर कहे गये कर्ण-अगोचर शब्द के सम्बन्ध में कुछ विशेषरूप से चिन्तन करते हैं। कर्ण-अगोचर शब्द उत्पन्न करने के हेतु एक यन्त्र का प्रयोग किया जाता है जिसे 'Piezo-electric Oscillator' कहते हैं। इस यन्त्र का मुख्य भाग बिल्लोर (Quartz) का एक प्लेट होता है। बिल्लोर का प्लेट जब बिजली की ए. सी. धारा से जोड़ दिया जाता है, तो उसकी सतह कम्पन करने लगती है। इस प्लेट का कम्पन प्रति सेकण्ड कई लाख से कम नहीं होता। सतह के कम्पन के कारण चारों ओर की वायु में शब्द की सूक्ष्म लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। यही लहरें कर्ण-अगोचर शब्द की लहरें हैं।

जब हम सम्भाषण करते हैं, तो वायु में लगभग १० फीट लम्बी तरंगें उत्पन्न होती हैं। ये तरंगें जब कान के परदे तक पहुँचती हैं तो परदा हिलने लगता है और उसके कम्पन से हमारे मस्तिष्क में शब्द का बोध होता है। किन्तु जब कर्ण-अगोचर शब्द की उत्पत्ति होती है तो वायु में ध्वनि की तरंगें केवल १ इंच अथवा ½ इंच लम्बाई की होती हैं। इन सूक्ष्म तरंगों की यह विशेषता होती है कि यह एक ही दिशा में बहुत दूर तक बिना हस्तक्षेप के चली जाती हैं। न केवल ध्वनि की तरंगें अपितु विद्युत् तरंगों की भी यही स्थिति है। इसी कारण लन्दन अथवा बर्लिन से रेडियो द्वारा आने वाले समाचार अधिकांश छोटी लहरों द्वारा भेजे जाते हैं। जिस प्रकार प्रचण्ड आँधी केवल बड़े-बड़े वृक्षों का संहार करती है, छोटी-छोटी घास पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, ठीक उसी प्रकार विद्युत् की छोटी-छोटी लहरें लन्दन से आँधी, वर्षा, गर्मी, सर्दी, सबके प्रभाव से अप्रभावित रहकर यहाँ तक सकुशल चली जाती हैं। इसी गुण के कारण कर्ण-अगोचर नाद की लहरों का अनेक दिशा में उपयोग हुआ है।

(१) सन् १९१२ में जब टिटैनिक नाम का बड़ा जहाज एक जलमग्न बर्फ की पहाड़ी से टकराकर नष्ट हो गया था, तभी प्रो. रिचार्डसन ने भविष्य में ऐसी दुर्घटनाओं को रोकने की एक योजना बनायी थी, जिसमें कर्ण-अगोचर नाद का उपयोग बतलाया था।

जिस Oscillator यन्त्र का ऊपर उल्लेख किया गया है उसके द्वारा कर्ण-अगोचर नाद की तरंगों को समुद्र की तली की ओर भेजा जाता है। इस तरंगावलि के मार्ग में जब कोई बर्फ की चट्टान (Iceberg) आ जाती है तो तरंगें उससे टकराकर वापस लौट आती हैं। तरंगों को जाने और लौट आने में जो समय लगता है, वह एक घड़ी द्वारा नाप लिया जाता है और चूँकि समुद्र-जल में तरंगों की गति ज्ञात है, गणित करने से चट्टान की दूरी का अनुमान हो जाता है, और इस प्रकार जहाज को अज्ञात खतरे से बचाने का प्रयास किया जाता है।

(२) समुद्रों की गहराई भी आजकल इसी यन्त्र के द्वारा नापी गयी है।

(३) इन स्वर-लहरों के मार्ग में यदि मनुष्य अपना हाथ कर दे तो उसके हाथ में से रक्त की बूंदें टपकने लगेंगी और उसे ऐसी वेदना होगी मानो कि उसके हाथ में सहस्रों सुइयाँ चुभ रही हैं। वैज्ञानिकों ने मछली, मेंढक आदि अनेक अन्य प्राणियों पर प्रयोग करके देखा है कि इन तरंगों के प्रभाव से इनकी मृत्यु तक हो सकती है। कृषि विभाग में इन तरंगों का विशेष उपयोग जर्मनी आदि देशों में हो रहा है। एक यन्त्र किसी अनाज के खेत के मध्य में स्थापित कर दिया जाता है। उसमें से निकली हुई तरंगें उन सब कीड़ों को नष्ट कर देती हैं जो खेत को हानिकर होते हैं। (यह बात विशेषरूप से नोट करने योग्य है कि वैज्ञानिकों ने शब्द या ध्वनि की सहायता से जीवों का प्राण-हनन सम्भव करके दिखा दिया है। यही कार्य पुरातन समय में मारण मन्त्रों की सहायता से भी किया जाता था, ऐसी मान्यता है।)

(४) कर्ण-अगोचर नाद का उपयोग धातु में झाल लगाने के कार्य में भी हुआ है। Ultrasonic Soldering Set के द्वारा एल्युमीनियम के बरतनों में भी झाल लगायी जा सकती है। अर्थात् शब्द की शक्ति के द्वारा इतना ताप उत्पन्न किया जा सकता है कि धातु के दो टुकड़े पिघलकर आपस में जुड़ जाते हैं।

(५) इन लहरों की सहायता से पारा पानी में घुल जाता है।

(६) इन लहरों द्वारा दही के प्रोटीन कणों को चूर्ण करके हल्का-फुल्का और शीघ्र पचने वाला बनाया जाता है और ऐसे दही को आज अमेरिकी अस्पतालों में कमजोर रोगियों को दिया जा रहा है।

कर्ण-अगोचर नाद की विशेषताओं का उल्लेख करने के पश्चात् अब हम मन्त्र-शास्त्र की ओर आते हैं।

'ज्ञानार्णव' नाम का ग्रन्थ मन्त्र-शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें अनेक मन्त्रों का भण्डार पाया जाता है और प्रत्येक मन्त्र के वाच्य देवी-देवताओं का अथवा शुद्धात्मतत्त्व या परमात्म-तत्त्व का विधिपूर्वक चिन्तन करने की विधि, जाप संख्या इत्यादि का वर्णन पाया जाता है। मन्त्रों का वर्गीकरण मन्त्रों की अक्षर संख्या के आधार पर किया गया है जैसे ॐ, ह्रँ, ह्रीं, श्वीं, श्रीं, ऐं, ह्रां, ह्रं, ह्रौं, ह्रः, क्लीं, क्लं, क्रौं, श्रां, श्रीं, श्रूं, क्षां, क्षीं, क्षूं, क्षः इत्यादि अनेक एकाक्षरी मन्त्र हैं। इसी प्रकार अर्हं, सिद्ध, साधु इत्यादि युग्माक्षरी मन्त्र हैं। इसी प्रकार एक-एक अक्षर बढ़ाकर अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्त्र दिये हुये हैं और मन्त्र को सिद्ध करने के लिए उसे विधिपूर्वक कई-कई दिन तक लाखों बार जपना पड़ता है, और उस मन्त्र के आराध्यदेव की उपवास सहित उपासना करनी पड़ती है। मन्त्र के सिद्ध हो जाने पर उसका सांसारिक कार्यों में भी उपयोग किया जा सकता है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान में शब्द की शक्ति को बढ़ाने के लिए उसकी कम्पन, आवृत्ति (Frequency) को लाखों की संख्या पर पहुँचाना पड़ता है, जैसा कि ऊपर कर्ण-अगोचर नाद की व्याख्या में लिखा जा चुका है। ठीक उसी प्रकार किसी भी मन्त्र को सिद्ध करने के लिए उसको लाखों बार जपना पड़ता है; क्योंकि एक सेकण्ड में लाखों शब्दों का बोलना तो मनुष्य की शक्ति के परे है। अनेक सांसारिक कार्यों के लिए अनेक प्रकार के मन्त्रों का वर्गीकरण किया गया है जैसे सिद्धि-दाता मन्त्र, आरोग्य-दाता मन्त्र, वशीकरण मन्त्र, सम्मोहन मन्त्र, स्तम्भन, उच्चाटन और मारण आदि के मन्त्र।

प्राचीन मान्यता ऐसी है कि देवताओं के विमान मन्त्र की शक्ति से चलते थे, इंजिन की शक्ति से नहीं। यद्यपि शिल्प-संहिता और सभ्रांगणसूत्रधार नाम के प्राचीन ग्रन्थों में इंजन बनाने की विधियाँ दी हुई हैं और लिखा है कि रावण का पुष्पक-विमान पारे की भाप से चलता था, न कि पानी की भाप से। आज भी यूरोप और अमरीका के अनेक स्थानों पर पारे की भाप के इंजन चल रहे हैं। पारे की भाप के इंजन, पानी की भाप के मुकाबले में कई गुना ज्यादा अच्छा काम करते हैं। शब्द की शक्ति का चमत्कार देखिये। ऐसी रोबट (Robot) मोटर-कारें बन गयी हैं कि जो आपके कहने के अनुसार काम करती हैं। आप गाड़ी में बैठे और कहा कि "चलो", गाड़ी चल पड़ी। आपने कहा कि "रुको", गाड़ी रुक गयी। आपने कहा "पीछे लौटो", गाड़ी लौट पड़ी। यह होता है सब यन्त्रों की सहायता से, मगर शब्दों की शक्ति के द्वारा। ग्वालियर में लोगों ने मुझे बताया था कि उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से ग्वालियर के भट्टारक की पालकी को बिना कहारों के चलते हुए देखा। ध्वनि या शब्द माइक्रोफोन पर पड़ते ही बिजली की लहर बन जाते हैं और आज संसार के सभी काम बिजली की सहायता से हो रहे हैं। अतएव यह बात समझ में आती है कि मन्त्र की शक्ति से कार्य का होना कोई असंगत बात नहीं है।

★★★

अनित्यबाह्यभावेषु, प्रियाऽप्रियविकल्पतः।
रागवृत्तिस्तथा ज्ञेया, द्वेषवृत्तिर्विचक्षणैः॥
चञ्चला हि मनोवृत्तिरसद्ध्यानपरम्परा।
भववृद्धिकरी सैव, विना साम्येन दुर्जया॥

—गि. प. शाह 'कल्पेश'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



सूफी सिद्धान्त और साधना

□ डॉ. केरव प्रथम वीर, एम. ए., पी-एच. डी.
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, कला-वाणिज्य महाविद्यालय, हडपसर (पूना)

संसार के रहस्यवादी साधना सम्प्रदायों में सूफी-मत अपना एक प्रमुख स्थान रखता है। अनेक पहुँचे हुए औलियों (सन्तों) और उदात्त प्रेम की पीड़ा को अभिव्यक्ति देने वाले अनेक कवियों ने विश्व को इस मत के रहस्यवादी साहित्य का एक अनूठा तथा समृद्ध उपहार प्रदान किया है। राबिया (सन् ७१७), जूननून (सन् ८६०), बायजीद बिस्तानी (सन् ८७६), अबू सुलैमान, मंसूर (सन् ८५८-९२२), अबूहमीद अलगजनी (सन् १०५८), फरीदुद्दीन अत्तार (सन् ११२०), अमीर खुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी आदि अनेक ऐसे ही कुछ विश्वप्रसिद्ध सूफियों के नाम हैं।

'सूफी' इस्लाम का ही एक सम्प्रदाय माना जाता है और उसका मूल आधार भी 'कुरान' को ही बताया गया है किन्तु सूफी सन्तों की साधना और आचरण, परम्परावादी इस्लामियों से नितान्त भिन्न और स्वच्छन्द है। इसलिए प्रारम्भ के अनेक सूफियों को परम्परावादी इस्लामियों ने बड़े कष्ट पहुँचाये। मंसूर जैसे अनेक सन्तों को निर्मम मृत्युदण्ड भी भोगना पड़ा।

इस्लाम का रहस्यवाद (तसव्वुफ) ही सूफी 'दर्शन' है।[1] किन्तु इसका धीरे-धीरे विकास हुआ और यह परम्परावादी इस्लाम से अलग होता चला गया। सूफी नाम के सन्दर्भ में भी विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। परन्तु अधिकांश विद्वानों का कहना है कि सूफी शब्द 'सफा' (पवित्र) से बना है। जो लोग पवित्र थे वे 'सूफी' कहलाये।[2] कुछ विद्वानों का मत है कि 'सूफी' शब्द 'सूफ' (ऊन) से बना है।[3] सूफी साधक ऊन का वस्त्र धारण किया करते थे, इसलिए उन्हें सूफी कहा गया। कुछ भी हो, ईसा की ९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस शब्द का अत्यधिक प्रचलन हो गया।[4] प्रारम्भ में मुसलमान साधक संन्यासी जीवन व्यतीत करते थे; रहस्यवादी प्रवृत्ति का विकास बाद में हुआ। वे गरीबी में अपना जीवन व्यतीत करते और बड़े विनम्र थे। वे वैयक्तिक रूप से साधनारत थे; उनका कोई संगठित साम्प्रदायिक स्वरूप नहीं था।[5] सूफीमत का वास्तविक रूप तो बाद में विकसित हुआ।

इस विकास पर किस धर्म और दर्शन का अधिक प्रभाव रहा है, इस सन्दर्भ में विद्वानों में मतभिन्नता है। कुछ लोग ग्रीक-दर्शन, यूनानी-दर्शन और नव-अफलातूनीदर्शन के प्रभाव से इसका विकास बताते हैं। कुछ विद्वानों के मत से इस पर भारतीय दर्शन (वेदान्त और बौद्ध) का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। यहाँ इस मत-भिन्नता की छानबीन करना हमारा उद्देश्य नहीं है। परन्तु इतना निश्चित है, सूफी सिद्धान्तों पर बहुत कुछ वेदान्त और बौद्ध-दर्शन का प्रभाव दिखायी देता है। यहाँ हम सूफी आस्था और साधना के प्रमुख तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन करना चाहते हैं। जूननून बायजीद बिस्तानी, अबू सुलैमान, मंसूर, अबू-हमीद अलगजनी आदि ने सूफी सिद्धान्तों का विकास किया है। इनसे पूर्व के सूफी साधक सिर्फ संन्यासी जीवन व्यतीत करते थे। राबिया सूफियों में सर्वप्रथम साधिका थी जिसने सभी प्रकार के कर्मकाण्ड का त्यागकर, प्रेमतत्त्व के आधार पर परमात्मा से एकत्व स्थापित किया था।

सूफी आस्था का केन्द्रबिन्दु ईश्वर है। अतः यहाँ सर्वप्रथम ईश्वर सम्बन्धी सूफियों की धारणा का आकलन कर लेना समीचीन होगा। कुरान में ईश्वर (अल्लाह) को सृष्टिकर्ता कहा गया है (Allah is the Creator of all things and He is One and Almighty.)[6] वह सर्वोत्कृष्ट है; समृद्धवान है, विजेता है और महान है; संसार के सभी पदार्थ उसी से उत्पन्न हुए हैं और उसी में चले जायेंगे (Unto Allah belongeth whatsoever is on the earth, and unto Allah all things are returned)[7], वह दण्ड में कठोर है (He is severe in punishment)[8]। कुरान में ईश्वर के सिंहासन आदि का वर्णन भी इस तरह किया गया है मानो उस पर बैठने वाला व्यक्ति अपरिमेय वैभव और समृद्धि का स्वामी है। इस तरह इस्लाम में ईश्वर सगुण जैसा दिखायी देता है।[9] वह एक ऐसा नटवर है, जिसकी इच्छा मात्र से उत्पन्न हुई सृष्टि-नटी सदैव जिसके संकेत से नृत्य करती है। वह ऐसा सूत्रधार है जो एक स्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर बैठा हुआ भी समस्त ब्रह्माण्ड को पुतलियों की भाँति नचाता है और जो स्वयं संसार में न आकर देवदूतों को भेजा करता है।[१०]

सूफी भी ईश्वर को एक मानते हैं। परन्तु उनका ईश्वर संसार से अलग कहीं सातवें आसमान पर नहीं रहता। उनके मत से वही एक परमसत्ता है और सम्पूर्ण दृश्यमान जगत उसी परमसत्ता की अभिव्यक्ति है। अतः परमात्मा और जगत् में साम्य है।[११] सारा विश्व उसी का प्रदर्शन होने के कारण वह एक भी है और अनेक भी है। कुरान का यह सिद्धान्त कि 'केवल एक ही ईश्वर है', सूफियों के हाथ में आकर कुछ इस प्रकार का बन गया कि केवल ईश्वर ही वास्तविक है, और कुछ नहीं। अतः वह एक, सर्वत्र और सर्वरूप है।[१२] कुरान में ईश्वर को अत्यन्त सुन्दर कहा है—'Allah is of infinite beauty.'[१३] सूफी भी उसे अद्वितीय सौन्दर्यवान मानते हैं और सम्पूर्ण प्रकृति में उसके अपूर्व सौन्दर्य का दर्शन करते हैं। सूफी को प्रकृति के मधुर रूप (जमाल) में तो उसके दर्शन होते ही हैं, उसके प्रचण्ड रूप (जलाल) में भी वह उसी का सौन्दर्य देखता है।[१४] वह परम सौन्दर्यवान होने के कारण प्रेम का आलम्बन है। सौन्दर्य से प्रेम करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। सूफियों के लिए परमात्मा प्रेम-स्वरूप है। वह प्रियतम है, प्रेम है और प्रेमी भी है। 'जामी' अपने काव्य में कहता है, "मैं वही हूँ जिसे मैं प्यार करता हूँ और जिससे मैं प्रेम करता हूँ मैं वही हूँ। एक ही शरीर में वास करने वाले हम दो प्राण हैं।"[१५]

सूफी परमात्मा को अपना माशूक (प्रियतम) मानते हैं। यह इस्लाम की शरीअत के विरुद्ध है। जो ईश्वर आराध्य है, उपास्य है, वह माशूक कैसे हो सकता है? जो सर्वेसर्वा है और सारा संसार जिसकी कामना मात्र का खेल है वह जीवात्मा से एकत्व कैसे स्थापित कर सकता है? इसलिए परम्परावादी इस्लामियों ने सूफियों पर बड़े अत्याचार किये। इन अत्याचारों से बचने के लिए सूफियों ने प्रतीकात्मक प्रेम का आश्रय ग्रहण किया। उनके लिए सांसारिक प्रेम (इश्के मिजाजी) परमात्म-प्रेम (इश्के हकीकी) का साधन है। वे मानवीय प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम तक पहुँचने की सीढ़ी मानते हैं। 'उन्होंने रमणियों को प्रेम का आलम्बन बनाया। यही नहीं किशोर भी प्रेम प्रतीक बनाये गये।'[१६] उनके मत से जब तक 'मनुष्य सांसारिक प्रेम को नहीं जान पाता उसके लिए आदर्श प्रेम तक पहुँचना सम्भव नहीं। सीमित और मानवीय प्रेम का विस्तार क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सारे विश्व (ब्रह्माण्ड) को छा लेता है और वैसी अवस्था प्राप्त होने पर साधक सर्वत्र आत्मा-परमात्मा की प्रेम-लीला के दर्शन करने लगता है। सौन्दर्य की सीमित परिधि; अन्त में अनन्त सौन्दर्य तक पहुँच जाती है।'[१७] जामी की एक कविता में कहा गया है, "धन्य है वह संसार का मालिक जिसने प्रत्येक अणु-परमाणु को दर्पण जैसा बनाया, जिससे उसका सौन्दर्य प्रतिबिम्बित होता है। गुलाबों से प्रकट होने वाले उस (परमात्मा) के सौन्दर्य ने बुलबुल को प्रेम से पागल बना दिया। उसी चिनगारी से शमा प्रकाशमान होती है जिस पर लुब्ध होकर परवाना अपने आपको नष्ट कर डालता है।"[१८] इस प्रकार सूफी धारणा में अल्लाह (ईश्वर) का रूप इस्लाम की धारणा की अपेक्षा व्यापक और उदात्त है।

सूफी जहाँ एक ओर सारी सृष्टि में परमात्मा के दर्शन करते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे अपनी आत्मा में उससे अभेदत्व अनुभव करते हैं। इसलिए उनके मत से, परमात्मा को जानने के लिए आत्मा को जानना बहुत आवश्यक है। 'सूफी' आत्मा के दो भेद मानते हैं—(१) नफ्स, (२) रूह। नफ्स निम्नकोटि का है और सभी प्रकार की बुराइयों का स्थान है। 'रूह' सद्वृत्तियों का उद्गम स्थल है और उच्चकोटि का आत्मा माना गया है। इसके भी तीन विभाग माने जाते हैं—(१) कल्ब या दिल, (२) रूह अथवा जान, (३) सिर्र अथवा अन्तःकरण। वह सिर्र ही सबसे भीतर का हिस्सा है, जहाँ सूफी साधक परमात्मा का दर्शन किया करता है। वहीं परमात्मा का वासस्थान है।[१९] आत्मा पवित्र है लेकिन नफ्स उसे बुराइयों की ओर प्रवृत्त करता है। साधना द्वारा आत्मा की बुराइयों को दूर किया जा सकता है। इसके लिए नफ्स पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

पहले कहा गया है कि सूफियों का परम लक्ष्य है—ईश्वर से अभेद सम्बन्ध स्थापित करना। मंसूर ने इसी लक्ष्य पर पहुँच कर 'अनलहक' (मैं परमात्मा हूँ) कहा था। यह कथन इस्लाम के विरुद्ध है।[२०] सूफी-साधकों का यह विश्वास है कि 'वज्द' (भावाविष्टावस्था) के द्वारा आत्मा-परमात्मा का एकत्व स्थापित किया जा सकता है। 'इस वज्द की प्रक्रिया के सम्बन्ध में सूफियों ने फना (लय), वज्द (भाव), समाँ (संगीत), जैक (स्वाद), शर्ब (पीना), गैबत (अहम् रहित) जज्बात तथा हाल आदि शब्दों का प्रयोग किया है।'[२१] वज्द के द्वारा साधक उस स्तर पर पहुँचता है जहाँ वह परमसत्य का साक्षात्कार करता है, परमात्मा से अद्वैत अनुभव करता है। इस स्तर पर पहुँचकर स्त्री-पुरुष का कोई भी भेद नहीं रहता। वज्द के बाद बजूद (शान्तिमय स्थैर्य) की स्थिति प्राप्त होती है और फिर 'मौजूद का बजूद' (परमात्मा की सत्ता में स्थिति) वाली स्थिति में पहुँचकर सूफी साधक चरमस्थिति का अनुभव करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस चरम अवस्था तक पहुँचने के लिए सूफी को एक कठोर साधना में होकर गुजरना पड़ता है। साधना का मार्गदर्शन करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। सूफी अपने गुरु (शेख, पीर, मुर्शीद) को सर्वाधिक प्रेम करता है। "गुरु और शिष्य (मुरीद) का यह सम्बन्ध, सूफीमत में भारतवर्ष से आया क्योंकि इस्लामधर्म की यह चीज नहीं है और न इस रूप में यह चीज, भारतवर्ष को छोड़कर अन्यत्र कहीं पायी जाती है।"[२३] सूफियों की धारणा है कि गुरु (मुर्शीद) में वह सामर्थ्य होती है जिसके द्वारा वह मुरीद (शिष्य) की आध्यात्मिक मार्ग की सारी कठिनाइयों से रक्षा करता है। उसकी वाणी से परमात्मा ही बोलता है क्योंकि मुर्शीद (गुरु) ने अभेदत्व स्थापित कर लिया है।

गुरु साधक को साधना की एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक पहुँचने में सहायता करता है। यहाँ तक कि परमात्मा के साथ मिलन भी उसके बिना सम्भव नहीं।[२४] मुरीद (शिष्य) अपने गुरु (मुर्शीद) का ध्यान करते-करते इतना आगे पहुँच जाता है कि वह सभी मनुष्यों तथा वस्तुओं में गुरु को ही देखता है। इस स्थिति को 'गुरु-लय' कहते हैं। गुरु अपनी दिव्यशक्ति से जान लेता है कि साधक इस साधना में कहाँ तक सफल हो सका है और कहाँ तक वह अपने को एकाकार कर पाया है? इस अवस्था में पहुँचने पर मुर्शीद (गुरु) उस साधक को अपने सम्प्रदाय के संस्थापक दिवंगत पीर की दिव्यशक्ति के अधीन कर देता है। साधक अपने गुरु की आध्यात्मिक शक्ति के सहारे उस पीर को प्रत्यक्ष करता है। इस स्थिति को 'पीर-लय' कहते हैं। अब साधक मानो उस पीर का अंग बन जाता है और उस पीर की सम्पूर्ण दिव्यशक्ति का अधिकारी बन जाता है। तीसरी अवस्था में मुर्शीद उसको पैगम्बर के निकट पहुँचा देता है और साधक सभी वस्तुओं में पैगम्बर को ही देखने लगता है। इस अवस्था को 'पैगम्बर-लय' कहते हैं। चौथी अवस्था में साधक परमात्मा तक पहुँचता है और सभी वस्तुओं में परमात्मा के दर्शन करता है। इस प्रकार से वह परमात्मा से एकत्व स्थापित करता है। इस अवस्था में पहुँचने के बाद गुरु फिर उसे प्रथमावस्था में ले आता है।[२४]

गुरु के मार्गदर्शन में सूफी सर्वप्रथम नफ्स से छुटकारा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए आत्म-शुद्धि की आवश्यकता होती है। परम्परावादी इस्लाम में आत्म-शुद्धि के लिए पाँच स्तम्भों का उल्लेख किया जाता है[२५]— (१) तोहीद (एक ईश्वर पर विश्वास), (२) सलात (प्रार्थना), (३) रोजा (उपवास), (४) जकात (दान), (५) हज (काबे की यात्रा)। सूफी सिद्धान्त में एक ईश्वर के जिस रूप पर आस्था की जाती है उसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। पंचकालिक नमाजों (प्रार्थनाओं) के सन्दर्भ में सूफियों की धारणा है कि ईश्वर सर्वकालिक और सर्वत्र विद्यमान है वह किसी निश्चित स्थान पर नहीं; बल्कि अणु-अणु में उसी का साकार प्रदर्शन है।[२६] उसका निवास हमारा हृदय भी है और उसी में उसे खोजा जा सकता है। सच्चा प्रेम उसका साक्षात्कार करा सकता है, फिर निश्चित कालों में ही प्रार्थना क्यों?

इस्लाम में रमजान के महीने में रोजा (उपवास) रखने का महत्व है। यह मास साल में एक बार आता है। इस मास में दिन में उपवास और हर प्रकार का संयम रखा जाता है। किन्तु रात्रि में किसी प्रकार का भी निषेध नहीं माना जाता। सूफी साधक उपवास को तो अपनाते हैं; किन्तु रमजान के महीने के बन्धन में बँधकर नहीं। उनकी स्वच्छन्द वृत्ति किसी प्रकार के ऐसे बन्धन में नहीं बँधना चाहती है। वे सच्चे प्रेमी हैं और प्रेमी को भूख-प्यास का ध्यान कहाँ रहता है? प्रेम की भूख पेट की भूख को मिटा देती है। अतः उपवास तो स्वयं ही हो जाया करते हैं।[२७]

परम्परावादी इस्लामी अपनी परिस्थिति के अनुसार जकात (दान) करते हैं। लेकिन सूफी तो आत्मदान में विश्वास करते हैं। वे अपने परमप्रिय के लिए सर्वस्व समर्पण करने को तत्पर रहते हैं। वे 'मैं' (अहं) का त्याग कर 'तू' (खुदा) में ही मिल जाते हैं। इसी प्रकार 'हज' के सन्दर्भ में भी सूफियों की अलग धारणा है। जो ईश्वर सर्वत्र है उसके लिए 'मक्का' जाने की आवश्यकता क्या है? ईश्वर का पूर्ण-वैभव जर्रे-जर्रे में अथवा अपने अन्तःकरण में ही प्रदर्शित है।

इस तरह इस्लाम के इन पंच-स्तम्भों में सूफियों की परम्परागत आस्था नहीं है। परन्तु उनके अपने कुछ विशिष्ट आचरण हैं। वे दुराचरण के लिए पश्चात्ताप का मार्ग अपनाते हैं। नफ्स से छुटकारा पाने के लिए फाका (उपवास) आदि करते हैं। 'पश्चात्ताप' में राबिया प्रायः रोया करती थी।[२८] पश्चात्ताप के लिए सूफियों में जिक्र (जप) एवं ध्यान आदि का बड़ा महत्व है। जिक्र का अर्थ है परमात्मा के नाम का स्मरण करना "ला अल्लाह इल्ल अल्लाह" इसका मूल मन्त्र है। जिक्र के दो भेद बताये जाते हैं—(१) जिक्र-जली, और (२) जिक्र-खपी।

जिक्र-जली का तात्पर्य है उच्च स्वर में नामोच्चारण करना। जिक्र-खपी में मन की एकाग्रता के साथ शान्त भाव से चुपचाप नामस्मरण करना। जिक्र के सम्बन्ध में सूफियों के विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं का प्रचलन है। 'बहुत सारे साधक ऐसे हैं जो आँख बन्द किये हुए बिना किसी प्रकार की आवाज किये अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वास-प्रश्वास पर ध्यान लगाये हुए रहते हैं। जब श्वास बाहर आती है तो उसे लगता है जैसे वह 'ला-इल्लाह' कहता है और जब श्वास भीतर जाती है तब वह 'इल अल्लाह' कहता है। कुछ साधकों का कहना है कि जाने या अनजाने प्रत्येक आदमी अपनी साँसों के भीतर जाने और बाहर आने के साथ 'अल्लाह' शब्द का उच्चारण करता है।[२९]

जिक्र के लिए सूफी माला (तसबीह) का उपयोग भी करते हैं। इसके द्वारा वे परमात्मा के नाम-स्मरण की संख्याओं का अंदाज लगाते हैं। 'जिक्र-जली' की क्रियाओं के सम्बन्ध में दिल्ली के शाह वली अल्लाह ने अपनी पुस्तक "कौलुल जमील" में इस प्रकार उल्लेख किया है—"साधक सहजभाव से बैठ जाता है और जोर से 'अल्लाह' शब्द का उच्चारण करता है। पहले अपनी आवाज को बायें पार्श्व से खींचता है और बाद में अपने गले से। इसके बाद प्रार्थना की मुद्रा में बैठकर पहले से भी अधिक उच्च स्वर में वह 'अल्लाह' शब्द दुहराता है। इस बार दाहिने घुटने से वह प्रथमतः आवाज को खींचता है और इसके बाद अपने बायें पार्श्व से। फिर पैरों को मोड़कर और भी अधिक ऊँचे स्वर में वह 'अल्लाह' शब्द का उच्चारण करता है। प्रथमतः दाहिने घुटने से, इसके बाद बायें पार्श्व से उसकी आवाज इस बार आती है। इसी मुद्रा में बैठा हुआ वह और भी अधिक जोर से 'अल्लाह' शब्द कहता है और इस बार उसकी आवाज का क्रम यों रहता है—पहले बायें घुटने से, फिर दाहिने घुटने से, इसके बाद बायें पार्श्व से और अन्त में सम्मुख से। आवाज का स्वर उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। इसके बाद साधक मक्का की दिशा में मुंह फेरकर प्रार्थना की मुद्रा में बैठ जाता है और अपनी आँखें बन्द कर लेता है। आवाज को नाभि से खींचकर बायें कन्धे की ओर ले जाता है और 'ला' शब्द का उच्चारण करता है; तब वह 'इलाह' कहता है मानो वह अपनी आवाज मस्तिष्क से खींचता है और अन्त में बायें पार्श्व से आवाज को जैसे खींचता है और पूरी शक्ति लगाकर 'इल्ला'-'ल्लाहु' कहता है।"[३०]

श्री रामपूजन तिवारी ने 'रोज' की पुस्तक 'दी दरवीशेज' (*The Dervishes* by Rose) के आधार पर रिफाइ सम्प्रदाय की जिक्र-क्रियाओं का जो विवरण दिया है उसे हम यहाँ ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना चाहते हैं—

"रिफाइयों के 'जिक्र' में एक के बाद एक पाँच दृश्य दीख पड़ते हैं और उसमें तीन घण्टे से भी अधिक समय लग जाता है। प्रथम दृश्य में, 'जिक्र' में शामिल होने वाले सभी दरवेश अपने शेख की वन्दना करते हैं जो वेदी के सामने बैठा हुआ रहता है। इसके बाद चार पुराने साधक उठकर शेख के निकट जाते हैं। परस्पर एक-दूसरे का आलिंगन कर उनमें से दो शेख के दाहिनी ओर और दो बायीं ओर स्थान ग्रहण करते हैं। अन्य दरवेश उनसे कुछ दूर हटकर उनके सामने अर्द्धवृत्त बनाते हुए, वहाँ बिछी हुई भेड की खाल पर बैठ जाते हैं। बैठने के बाद दरवेश, तकबीर और फातिहा पढ़ते हैं। इसकी समाप्ति के बाद शेख 'ला-इलाह-इल्ल अल्लाह' का उच्चारण अविराम गति से करने लगता है और अन्य उसके स्वर में स्वर मिलाकर 'अल्लाह' कहने लगते हैं और साथ ही एक-दूसरे से, दूसरी ओर झूमना शुरू कर देते हैं तथा अपने हाथों को कभी चेहरे पर, कभी छाती पर, कभी उदर पर और कभी घुटनों पर रखते जाते हैं। इसके बाद दूसरा दृश्य आरम्भ हो जाता है।

"शेख के दाहिनी ओर बैठा हुआ एक आदमी हमदी मुहम्मदी (पैगम्बर की वन्दना) का पाठ करने लगता है। अन्य 'अल्लाह' शब्द को ही दुहराते रहते हैं और आगे-पीछे झूमने लगते हैं। पन्द्रह मिनट के बाद वे उठ खड़े होते हैं और बायें से दायें और दायें से बायें हिलने लगते हैं। इसमें दाहिने पैर को स्थिर रखते हैं और बायें का ही संचालन करते हैं। अगर शरीर को दाहिनी ओर झुकाते हैं तो बायें पैर को बायीं ओर ले जायेंगे और अगर शरीर को बायीं ओर झुकाते हैं तो बायें पैर को दाहिनी ओर ले जायेंगे। इसके साथ ही 'या अल्लाह' और 'या हू' शब्द का ऊँचे स्वर से उच्चारण करते जाते हैं। उस समय कुछ आहें भरते रहते हैं, कुछ की आँखों से आँसू की धारा बहती रहती है, कई फफक-फफक कर रोते रहते हैं और कितनों के शरीर से पानी की बूंदें टपकती रहती हैं। उस समय उनकी आँखें बन्द रहती हैं, चेहरा पीला पड़ा हुआ रहता है। कुछ मिनटों के रुकने के बाद तीसरा दृश्य सामने आ जाता है।

"इसमें उनके अंग-संचालन आदि की क्रियाएँ और भी वेगवती हो जाती हैं और भी अधिक क्षिप्रता लाने के लिए उनमें से एक बीच में आकर अपने उदाहरण से अन्य सभी को और अधिक वेग लाने के लिए प्रोत्साहित करता है। थोड़ी देर ठहरने के बाद चौथा दृश्य प्रारम्भ होता है। सभी दरवेश अपने माथे की पगड़ी को उतार फेंकते हैं और एक वृत्त बनाकर खड़े हो जाते हैं और उस कमरे के चारों ओर तीव्र गति से घूमने लगते हैं। बीच-बीच में पाँव पटकते जाते हैं और सभी एक ही साथ उछल पड़ते हैं। यह नृत्य बड़े जोरों में 'या अल्लाह' और 'या हू' के निरन्तर उच्चारण के साथ चलने लगता है। अत्यधिक ऊँचे स्वर में वे चिल्लाते रहते हैं। शेख और उसकी बगल में बैठने वाले उनको और भी तीव्रता के साथ नाचने के लिए स्वयं जोरों से नाचकर प्रोत्साहन देते हैं। वे इस तरह से नाचते-नाचते ऐसी अवस्था में पहुँचते हैं जहाँ वे पागलों की नांई शेख के हाथों से आग में तपाये हुए लाल लोहे के छड़ों को बढ़-बढ़ कर लेने लगते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी वे उसे चाटते हैं, कभी प्यार से चूसते हैं, कभी दाँतों के बीच पकड़ लेते हैं और अन्त में उसे मुंह में लेकर ठण्डा करते हैं। जिनको ये लाल तपाये हुए छड़ नहीं मिल पाते, वे ठण्डे छड़ों को ही दीवारों पर से, जहाँ वे टंगे रहते हैं, ले लेते हैं और अपने हाथ-पाँव और शरीर में घुसेड़ते हैं। चौथे दृश्य का अन्त होते-होते दो दरवेश इन छड़ों को शेख के हाथों में दे देते हैं। जलती हुई आग में वे पहले से ही वहीं पर तपते रहते हैं।

"उस क्रिया में किसी के चेहरे पर शिकन या पीड़ा के चिन्ह नहीं दीखते। अन्त में शेख प्रत्येक के पास जाता है, उनके घाव पर मुंह से फूंकता और अपना थूक उस पर मलता है। उस पर मन्त्र का पाठ करता है और कहता है कि वे जल्दी ही आरोग्य लाभ करेंगे। कहा जाता है कि चौबीस घण्टे के बाद घाव का कोई भी चिन्ह नहीं रह जाता।"[३१]

जिक्र-जली का ही एक विकसित रूप है—'संगीत' (समाँ)। समाँ का अर्थ है तन्मयता के साथ सुनना। किन्तु सूफियों में इसका अर्थ है संगीत, गायन, आदि का ऐसा समस्वर पाठ, जिसमें एक या सबके सम्मिलित प्रभाव द्वारा भावाविष्टावस्था उत्पन्न हो जाय।[३२] इस्लाम में संगीत की विशेष प्रतिष्ठा न होते हुए भी सूफियों ने इसे अन्तर्दृष्टि खोलने का साधन माना है।[३३] इनका विश्वास है कि समाँ (संगीत) सौन्दर्य की प्रशंसा के लिए अद्वितीय साधन है। सांसारिक सौन्दर्य की प्रशंसा परम सौन्दर्य के लिए पुल का कार्य करती है। सूफी को अपने साथ प्रकृति सुन्दरी भी अपने सौन्दर्यस्रोत का गुणगान करती-सी दीख पड़ती है। 'संगीत, वाद्यादि से भावोल्लास उत्पन्न होने पर सूफी-साधक अकेले या सम्मिलित रूप से नृत्य करना शुरू कर देते हैं, जिसे 'रक्स' कहते हैं।[३४] जब कव्वाल विविध वाद्यों के साथ कीर्तन करते हैं तो एक मादकता-सी छा जाती है। अनेक को 'हाल' (तन्मयता) आ जाता है और इलहाम होने लगता है।"[३५]

"सूफी इस बात में विश्वास करते हैं कि परमात्मा ने जगत के सभी प्राणियों को अपनी-अपनी भाषा में उसका गुणानुवाद करने की शक्ति दी है। इस प्रकार से सृष्टि की जितनी ध्वनियाँ हैं वे स्तुति-वादन का रूप ले लेती हैं। अतएव परमात्मा ने जिसके अन्तर् को खोल दिया है; और आध्यात्मिक दृष्टि प्रदान की है वह सर्वत्र उसकी आवाज सुनता है। मुअज्जिन के लय-सुरवाले संगीत को सुनकर अथवा हवा की आवाज या चिड़ियों के सुरीले संगीत आदि को सुनकर वह भावाविष्टावस्था को प्राप्त हो जाता है। सूफी कवियों ने भी बहुत जगह कहा है कि इस सृष्टि में आने के पहले; जब आत्मा, परमात्मा से अलग नहीं हुआ था और उस समय उसने जो स्वर्गीय संगीत सुना था; उसको इस संसार का संगीत जाग्रत कर देता है। संगीत को सुन वह इस संसार से परे होकर उस स्वर्गीय संगीत को सुनने लगता है और उसे पूर्वावस्था (जिसमें आत्मा परमात्मा से अलग नहीं था) प्राप्त हो जाती है।"[३६]

योग की 'कुण्डलिनी-चक्रों' से मिलता-जुलता सूफीमत में 'लतायफ' का सिद्धान्त भी प्रचलित है। श्री राम-पूजन तिवारी ने शेख अहमद के अनुसार शरीर में छः अवस्थानों का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं :[३७]

(१) नफ्स—इसका स्थान नाभि के नीचे है।
(२) कल्ब—छाती के बायीं ओर अवस्थित है।
(३) रूह—छाती के दाहिनी ओर अवस्थित है।
(४) सिर्र—कल्ब और रूह के बीच में है।
(५) खफी—इसका स्थान ललाट है।
(६) अख्फा—मस्तिष्क में अवस्थित है।

इन लतीफों के रंगों तथा देवताओं की भी कल्पना की गयी है। किन्तु इन रंगों और स्थानों के बारे में मत-भिन्नता पायी जाती है। साधक जिस अवस्था को प्राप्त होता है वह उस रंग का सिरस्त्राण धारण करता है और उस रंग को देखकर उस साधक की आध्यात्मिक यात्रा की मंजिल का पता चलता है। साधारणतः रूह का रंग हरा हो जाता है। कहा जाता है कि जैसे-जैसे सालिक (यात्री) ऊपर की ओर बढ़ता जाता है वह भिन्न-भिन्न रंगों को देखता है। आखिरी मंजिल वह है जब सम्पूर्ण भाव से वर्णहीनता आ जाती है अर्थात् कोई भी रंग नहीं रह जाता। साधक उस समय फना की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इसे सूफी 'आलमे हैरत' कहते हैं।

"सूफी के लिए परमात्मा के अनवरत स्मरण द्वारा इन लतीफों को जाग्रत करना आवश्यक है। 'जिक्र' आदि की विशेष क्रियाओं द्वारा सूफी एक के बाद एक लतीफे को जाग्रत करने में समर्थ होता है और अन्त में उसे परम ज्योति के दर्शन होते हैं।"[३८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१. सूफीमत—साधना और साहित्य, रामपूजन तिवारी, पृ० १६६ ।
२. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, डॉ० विमलकुमार जैन, पृ० १ ।
३. सूफीमत—साधना और साहित्य, रामपूजन तिवारी, पृ० १७२ ।
४. वही, पृ० १७३ ।
५. वही, पृ० १७६ ।
६. *The Glorious Quran*, S. 13, 16.
७. *Ibid*, S. 3, 109.
८. *Ibid*, S. 3, 11.
९. सूफीमत और हिन्दी साहित्य—डॉ० जैन, पृ० ४६ ।
१०. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ४६ ।
११. सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० २५६ ।
१२. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ४७ ।
१३. *The Glorious Quran*, S. 62, 4 ।
१४. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ४४ ।
१५. सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० ३१६ ।
१६. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ७६ ।
१७. सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० ३१८ ।
१८. वही, पृ० ३१७ ।
१९. सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० २८१ ।
२०. वही, पृ० २९१ ।
२१. वही, पृ० २९२ ।
२२. वही, पृ० ३६२ ।
२३. वही, पृ० ३५५ ।
२४. वही, पृ० ३५३-५४ ।
२५. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ५५ ।
२६. वही, पृ० ५५ ।
२७. वही, पृ० ५६ ।
२८. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ६० ।
२९. सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० ३६६ ।
३०. वही, पृ० ३६७ पर उद्धृत ।
३१. सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० ३७१ ।
३२. वही, पृ० ३७३ ।
३३. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ६१ ।
३४. सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० ३७५ ।
३५. सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ६१ ।
३६. सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० ३७३ ।
३७. वही, पृ० ३७६ ।
३८ सूफीमत—साधना और साहित्य, पृ० ३७६ ।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावातीत ध्यान

☐ कृष्णकुमार, एम.आई.सी.आई. [ऋषिकेश]

वैदिक दृष्टि से जिस समय ईश्वर मानव का निर्माण कर रहे थे, उस समय देवदूत ने उनसे नम्र निवेदन किया कि मानव को सभी प्रकार की सुख-शांति व शक्ति प्रदान करें। उत्तर में ईश्वर ने कहा—नहीं, क्योंकि सभी सुखों का आधार मानव है। यदि वे सभी सुख मानव की उत्पत्ति के साथ ही उसे प्रदान कर दिये जायेंगे तो वह स्वयं अन्वेषणा के आधार पर प्राप्त सुख-समृद्धि एवं प्रसन्नता से वंचित हो जायेगा। प्रस्तुत रूपक का सारांश यह है कि सुख का अक्षय स्रोत मानव में है और वह उसे खोजने पर प्राप्त होता है। परिश्रम से प्राप्त उस सुख में उसे जो आह्लाद होता है उसका वर्णन शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता। उस विराट सुख को प्राप्त करने का सुगम और सरल उपाय है—भावातीत ध्यान।

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी 'विज्ञान और धर्म' नामक पुस्तक में लिखा है—'विश्व मे एक दिन ऐसा आयेगा जब धर्म व विज्ञान एक-दूसरे से हाथ मिलायेंगे तथा कविता और दर्शन आपस में मिलेंगे।' इस कथन की पूर्ति मेरी दृष्टि से आचार्य शंकर, ब्रह्मानन्द सरस्वती और उनके शिष्य महेश योगी ने भावातीत ध्यान के द्वारा पूर्ण की है। आज विश्व के एक सौ चालीस देशों में चेतना-विज्ञान एवं भावातीत ध्यान के केन्द्र हैं, जो इस ध्यान की शिक्षा प्रदान करते हैं। प्रस्तुत ध्यान से मानव शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन से लाभान्वित होकर परिपूर्ण जीवनयापन करने लगता है। मानव की चेतना में इतनी महान् शक्ति है कि वह सम्पूर्ण विश्व को हिला सकता है। उस विकसित चेतना-शक्ति का परिज्ञान ध्यान के द्वारा ही सम्भव है।

महर्षि महेश योगी की प्रेरणा से ३६०० ध्यान-केन्द्रों में १२००० अध्यापक व अध्यापिकाओं द्वारा भावातीत ध्यान व चेतना-विज्ञान की शिक्षा दी जाती है। इस ध्यान में प्रान्तवाद, संप्रदायवाद, देश आदि का कोई बन्धन नहीं है। जो भी मुमुक्षु साधक हैं वे यह ध्यान कर सकते हैं और ध्यान के अपूर्व आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं। इस ध्यान शैली से मानसिक एवं शारीरिक दुर्बलता समुत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। जिनके कारण मानव दुःखी है, विविध प्रकार की कमजोरियों का शिकार है, वे सारी कमजोरियाँ ध्यान से नष्ट हो जाती हैं। भावातीत ध्यान के प्रवर्तक महेश योगी नहीं हैं अपितु इस ध्यान के मूलस्रोत यत्र-तत्र प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को कुरुक्षेत्र के मैदान में इस ध्यान के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए कहा—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

—गीता० २-४८।

अतीत काल से ही अध्यात्म के नाम पर जो मिथ्याभ्रम तथा भ्रांतियाँ थीं वे शनैः-शनैः ध्यान के द्वारा मिट रही हैं। भावातीत ध्यान आन्तरिक शक्तियों को विकसित करने की एक सरलतम प्रक्रिया है। किंचित् समय में भी साधक अन्तर्मुख होकर अपने अन्तरतम में निहित उस शक्ति, ज्ञान तथा आनन्द के अक्षय भण्डार को प्राप्त कर लेता है जिसकी शिक्षा गीताकार ने दी थी।

प्रातः व सायंकाल नियमित रूप से पन्द्रह-बीस मिनट तक बिना किसी भी प्रयास अथवा तैयारी के शान्त बैठना चाहिए। मन को शान्त करने का यह सहज व सरल मार्ग है। इससे चेतना सतोगुणी होती है और प्रत्येक दिशा में उसे लाभ प्राप्त होता है। इस ध्यान से अपराधियों की संख्या कम हो गयी है। जो लोग रुग्ण रहते थे वे इस ध्यान को करने से रोगमुक्त हो गये हैं। जो लोग तनाव-मुक्ति के लिए शराब पीकर गाड़ियाँ चलाते थे वे इस ध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के करने से शराब आदि के व्यसनों से मुक्त हो गये जिससे दुर्घटनाएँ कम होने लगीं और जन-जन के अन्तर्मानस में स्नेह-सद्भावना अंगड़ाइयाँ लेने लगीं।

यह सत्य है कि अतीत काल से चले आ रहे भावातीत ध्यान को महर्षि महेश योगी ने पुनरुज्जीवित किया और उनकी प्रेरणा तथा अथक प्रयास से जनमानस की रुचि इस ध्यान की ओर अधिक बढ़ी। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भावातीत ध्यान के द्वारा सम्प्राप्त उपलब्धियों एवं तथ्यों को आधार मानकर इसे 'महर्षि एफेक्ट' (महर्षि-प्रभाव) की संज्ञा प्रदान की है।

भावातीत ध्यान से—

१. व्यक्ति की चेतना का विस्तार होता है।
२. सृजनात्मक एवं रचनात्मक बुद्धि का विकास होता है।
३. गहन विश्राम मिलता है जिससे व्यक्ति की कार्य-क्षमता एवं शक्ति में वृद्धि होने के साथ-साथ स्फूर्ति आती है।
४. बौद्धिक विकास एवं मानसिक स्पष्टता में वृद्धि होती है।
५. अनेक रोगों जैसे रक्त-चाप सम्बन्धी, हृदय सम्बन्धी, वातजनित, मानसिक, एलर्जी, अस्थमा, नींद न आना एवं शारीरिक दुर्बलता इत्यादि की चिकित्सा में यह ध्यान विशेष रूप से उपयोगी है।
६. अपने को समाज से पृथक समझने या हीन-भावना अथवा निराशावादी प्रवृत्ति का इस ध्यान द्वारा उन्मूलन होता है।
७. यह चिन्ताओं से मुक्ति दिलाता है।
८. अपने आचरण की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। मन स्वाभाविक रूप से शिष्टतापूर्ण व्यवहार करने लगता है।
९. दृष्टिकोण विशाल बन जाता है।
१०. कार्यक्षमता तथा उत्पादन में वृद्धि होती है।
११. पूर्णरूपेण शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है।
१२. मानसिक शान्ति के साथ-साथ आन्तरिक प्रसन्नता का अनुभव होता है।
१३. आत्मानन्द का लाभ होता है।

महर्षिजी ने भावातीत ध्यान शैली बौद्धिक स्तर पर समझाने के लिए एक नवीन साधना-पद्धति को जन-जन के सम्मुख प्रस्तुत किया जिसे चेतना-विज्ञान कहते हैं। इसे अनेक विश्वविद्यालयों ने अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है।

★★★

मोहोन्मत्तं जगद्वीक्ष्य, करुणापूर्णलोचनैः।
दर्शितं जिनवर्यैस्तु, साम्ययोगरसायनम्॥
कषायैरभिभूतानां, सत्त्वानां मूढचेतसाम्।
मनांसि निर्मलानि स्युः, संसर्गे समतावताम्॥

—गि. प. शाह 'कल्पेश'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग-साधना : एक पर्यवेक्षण

☐ उपाध्याय प्रवर्तक श्री फूलचन्दजी म० 'श्रमण'

यह विराट् विश्व चलचित्र की तरह परिवर्तनशील है। प्रतिपल प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। जीवन में कभी उत्थान होता है तो कभी पतन, कभी विकास होता है तो कभी ह्रास। आध्यात्मिक दृष्टि से विकास होने का अर्थ है मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को क्रमशः नष्ट करना। जब मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती हैं तब आत्मा का पुनः पतन नहीं होता। वह उत्तरोत्तर विकास करता जाता है और एक दिन अपने अंतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

मानव-जीवन की सफलता धर्म साधना में है। साधना के अनेक अंग हैं। सर्वप्रथम मानव में मानवता का होना आवश्यक है। मानव जाति, धन, वैभव और विद्या से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ नहीं माना गया है, अपितु मानवता का विकास ही श्रेष्ठता का प्रथम सोपान है। मानवता के बिना मानव निर्गन्ध पुष्प के समान है जो देखने में सुन्दर होने पर भी अपनी मधुर सौरभ के अभाव में जन-जन के मन को आकर्षित नहीं कर सकता। बिना मानवता के धर्म विकसित नहीं हो सकता। मानवता की सुदृढ़ नींव पर धर्म के भव्य भवन का निर्माण होता है। जैसे श्रेष्ठ फूल के लिए माली की देखरेख आवश्यक है वैसे ही मानवता के विकास के लिए, सर्वांगीण परिपूर्णता के लिए धार्मिक संस्कार एवं साधना अपेक्षित है। मानव अपने पुरुषार्थ से ही साधना के पवित्र पथ पर बढ़ सकता है। साधना का मार्ग सरल नहीं अपितु कठिन है। सभी उस महामार्ग पर नहीं बढ़ सकते और न सभी की रुचि उस ओर बढ़ने की हो सकती है।

प्राचीन मनीषियों ने साधक के विकास के लिए कुछ लक्षण निर्धारित किये हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी उनका महत्त्व किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। यह एक ज्वलन्त सत्य है कि प्राचीन मनीषियों ने मानव और मानवता की स्पष्ट अनुभूति के साथ जीवन और समाज के सम्बन्ध में भी बहुत स्पष्ट चिन्तन किया है। उनका मन्तव्य है, वही साधक साधना के पथ पर निश्चित रूप से अग्रसर हो सकता है जिसकी माता पूर्ण रूप से सदाचारिणी हो, जिसके पिता का जीवन निर्मल हो, जो शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ हो, जिसके विचार निर्मल हों और जो पवित्र आत्माओं की संगति करता हो।

प्रत्येक मानव में धर्म के प्रति रुचि नहीं होती। मनोविज्ञान की दृष्टि से इसके अनेक कारण हो सकते हैं। प्राचीन आचार्यों ने अनेक कारणों का उल्लेख करते हुए बताया है कि आलस्य, मोह, धर्मकथाश्रवण के प्रति अरुचि, जाति, कुल, बल, धन, रूप, तप, ज्ञान, प्रभृति का अहंकार, प्रमाद, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, विक्षेप, कुतूहल, क्रीड़ाएँ, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कारणों से मानव साधना नहीं कर सकता। धार्मिक साधना के लिए प्राकृतिक संवेगों पर नियन्त्रण आवश्यक है। बिना संयम के जीवन का कोई भी व्यापार संभव नहीं है। शारीरिक और मानसिक व्याधियों के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट कल्पना आचार्यों ने साधकों के समक्ष रखी है और साधक को राग, द्वेष, हिंसा, मोह आदि दुर्गुणों से भी बचने की प्रेरणा दी है।

साधक को जहाँ दुर्गुणों से बचने का संकेत किया गया है, वहाँ धर्म के प्रति श्रद्धा भी आवश्यक मानी है। बिना श्रद्धा के विकास संभव नहीं है। श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान को उपलब्ध करता है। साधना के लिए सम्यक्-श्रद्धा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के अन्तर्मानस में न तत्त्वों पर श्रद्धा होती है और न स्वयं पर ही। वह कर्म-फल के प्रति भी संदेहशील होता है। श्रद्धा में जीवन प्रस्थापित करने के लिए विरोधी तत्त्वों से बचना आवश्यक है। कुशाग्र-बुद्धि साधक हंस की तरह इसका निर्णय करता है। श्रद्धा का पूर्ण विकास ही साधक में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप के रूप में फलित होता है। उसमें विनय, विवेक, धैर्य, सरलता, आदि सद्गुणों का सहज विकास होता है। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने श्रद्धा को परम दुर्लभ कहा है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि के निग्रह का नाम संयम है। संयम एक दृष्टि से उद्देश्य प्राप्ति की भावना है। जैन आगम साहित्य में संयम के सत्रह प्रकार बताये हैं। उनमें साधक को अधिक से अधिक नियन्त्रण करने के लिए कर्तव्य की पवित्र प्रेरणा देने के लिए जीवन के प्रति बहुत ही सुलझा हुआ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। मन, वचन, काया, उपेक्षा, प्रेक्षा आदि संयम स्वयं के जीवन पर नियन्त्रण प्रस्थापित करने के लिए उपयोगी हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में हम ऐसा कह सकते हैं कि प्राचीन युग में संयम के सम्बन्ध में जो चिन्तन था वह योजनाबद्ध जीवन का स्वरूप है जिसमें जीवन की प्रत्येक गति-विधि का साधक बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है एवं साधनामार्ग को प्रशस्त करता है। भगवान महावीर ने संयमी साधकों के लिए विशेष कर्तव्यों का निर्देश किया है जिनमें निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का सूक्ष्म विश्लेषण है, जिस पर साधक को मनन करना बहुत ही आवश्यक है। बीसवीं शताब्दी में विज्ञान से प्रभावित जीवन और नये मूल्यों को संलक्ष्य में रखते हुए इन कर्तव्यों का पथ-प्रदर्शक के रूप में उतना ही महत्त्व है जितना भगवान महावीर के युग में था। वस्तुतः उन प्राचीन आचार्यों के इन विमल विचारों को देश, काल, जाति आदि से मर्यादित करना बिलकुल ही संभव नहीं है। संक्षेप में उनका वर्णन इस प्रकार है—

१. अनिदानता

आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति में 'निदान' शब्द का अर्थ रोग के स्वरूप को निश्चित करना है। जैनदर्शन की दृष्टि से निदान का अर्थ है संयम, तप आदि शुभ प्रवृत्तियों को भौतिक सुख की उपलब्धि की आकांक्षा के लिए करना। निदान आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाधक है। अतः संयम, तप, ब्रह्मचर्य आदि का निष्ठापूर्वक पालन करते समय किंचित् मात्र भी फल-प्राप्ति की आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। यह सत्य है कि मानव के अन्तर्मानस में फल प्राप्त करने की आकांक्षा स्वाभाविक रूप से होती है, तथापि जहाँ तक उसके अन्तर्मानस में अनिदानता की भावना विकसित न होगी वहाँ तक साधना के मार्ग में आने वाली बाधाएँ साधक को सच्ची प्रगति नहीं करने देंगी। प्राचीन आचार्यों ने भौतिक सुखों की तुलना घास-फूस के साथ की है जो अन्न और फलों के साथ इच्छा न होने पर भी विकसित हो जाता है। इस अनावश्यक पदार्थ से मुक्ति प्राप्त करने की बौद्धिक पात्रता ही अनिदानता है। जैनाचार्यों ने निदान के नौ भेद किये हैं जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि सभी प्रकार की संभावनाओं की उन्हें बहुत स्पष्ट कल्पना थी जिनसे साधक को बचना आवश्यक है।

२. दृष्टि-सम्पन्नता

साधना के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण अंग सम्यक्-दर्शन है। दूसरे शब्दों में उसे सम्यक्-दृष्टि भी कहते हैं। वस्तु या पदार्थ का जो स्वरूप है उसको उसी रूप में देखना, अपनी सद्-असद् भावना का उसमें आरोप न करना सम्यक् दृष्टि है। व्यावहारिक जीवन में हम प्रत्येक तथ्य को अपनी सुविधा और इच्छा के अनुसार देखने का प्रयास करते हैं। यदि हमारी भावनाओं के विपरीत कोई भी विचार हुए तो हम उद्विग्न हो जाते हैं। यह सत्य है कि प्रकृति के नियमों के अनुसार संसार की निश्चित गति है। उस गति और क्रम के अनुसार संसार चलता है। दृष्टिसम्पन्न साधक उन घटनाओं में समभाव रखता है, चाहे वे घटनाएँ अनुकूल हों चाहे प्रतिकूल हों।

आगम साहित्य में सम्यक्दृष्टि साधक के लिए—(१) निसर्गरुचि, (२) अधिगमरुचि (३) आज्ञारुचि (४) सूत्ररुचि (५) बीजरुचि (६) अभिगमरुचि (७) विस्ताररुचि (८) क्रियारुचि (९) संक्षेपरुचि (१०) धर्मरुचि का वर्णन और विश्लेषण किया है। सम्यक्दृष्टि साधक में ही धर्म-श्रद्धा का विकास स्वाभाविक रूप से होता है। उसके विचार करने की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और उसका प्रभाव आचरण पर होता है। वैचारिक दुर्बलता से ही आचार में भी दुर्बलता आती है। विचार ज्ञान का एक रूप है और सम्यक्दर्शन विचारों को निर्मल और पवित्र बनाने की साधना है। आचार की पवित्रता से आत्मा पूर्णता की ओर गति करता है। अतः सम्यक्दर्शन साधना का महत्त्वपूर्ण आयाम है।

३. योगवाहिता

मन और इन्द्रियों की गतिविधियों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए एक निश्चित साधना पद्धति का विकास किया गया है, वह योग के नाम से प्रचलित है। योग में शास्त्रज्ञान की आराधना और शास्त्रोक्त तपस्या का मधुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समन्वय है। ज्ञान का अनुभव तप से होता है और तप की साधना प्रत्येक साधक को अपने आप करनी पड़ती है। साधना में ज्ञान के द्वारा शक्ति का संचार होता है तथा तप की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। पारम्परिक योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टांग योग का विस्तृत विश्लेषण किया गया है जिसमें अनुभूतियों की प्रधानता है। अनुभवों के द्वारा ही साधक के जीवन में संयम व साधना के प्रति निष्ठा जागृत होती है।

४. क्षान्ति-क्षमणता

जैन साधना पद्धति के अनुसार अहिंसा की उत्कृष्ट साधना के परिणामस्वरूप निष्पन्न होने वाली क्षान्ति और क्षमणता है। साधक को कोई भी अनभिज्ञ व्यक्ति किसी भी प्रकार का कष्ट दे, उसका अपमान करे, तब भी उसके अन्तर्मानस में शान्ति बनी रहे, बदला लेने की भावना उद्‌बुद्ध न हो और न मन में किंचित् मात्र भी क्रोध ही उत्पन्न हो। मान-अपमान, सुख-दुःख की लौकिक मान्यताओं और कल्पनाओं से मुक्त होकर वह यह चिन्तन करता है कि मेरा कोई भी अपमान नहीं कर सकता और न मुझे कोई किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचा सकता है। जो उसे बाधाएँ पहुँचाते हैं उसके मन में उनके प्रति भी स्नेह-सद्‌भावनाएँ होती हैं। यह क्षमा करने की भावना साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार का जीवन पूर्ण स्वतन्त्र जीवन है और यही जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगति कर सकता है। समाज और परिस्थितियों को अपने मनोनुकूल बदलना असम्भव है; पर स्वयं पर नियन्त्रण करना इसकी अपेक्षा बहुत ही सरल है। साधक को परिस्थितियाँ बदलने की आवश्यकता नहीं होती और न दूसरों के प्रति विवेकहीन असद्-विचार करने की ही आवश्यकता होती है। वह सदा क्षान्ति की सुर-सरिता में अवगाहन करता है और मारणांतिक कष्ट होने पर भी वह किसी के प्रति द्वेष नहीं करता, अपितु सहिष्णुता से उस कष्ट को सहन करता है। इसे ही आचार्यों ने क्षान्ति-क्षमणता कहा है।

५. जितेन्द्रियता

संयमी साधक का जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। सुख-दुःख, स्वाद-अस्वाद, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि के सम्बन्ध में समाज में निश्चित मूल्य प्रस्थापित नहीं हैं। साधक का लक्ष्य इन्द्रियों से सम्बन्धित पदार्थों की ओर नहीं होता। एकाग्रता की दृष्टि से इन्द्रिय-निग्रह बहुत ही आवश्यक है। संसार की सभी साधना पद्धतियाँ इन्द्रिय-निग्रह पर बल देती रही हैं। उच्छृंखल व्यक्ति साधना का अधिकारी नहीं है। साधना तो क्या, वह किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अतः जितेन्द्रिय होना साधना में प्रगति के लिए आवश्यक है।

६. अमायाविता

विद्वत्ता से अहंकार बढ़ने की सम्भावना है। संयम और अहंकार ये एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व हैं। संयमी साधक को अपने गुण और दोषों का स्पष्ट परिज्ञान होना चाहिए और साथ ही उन दोषों को स्वीकार करने की क्षमता भी होनी चाहिए। दोषों को कपट के द्वारा छिपाना उचित नहीं है। कपट व माया से सुगति का प्रतिघात होता है। माया से की गयी उत्कृष्ट साधना भी आराधना न होकर विराधना बन जाती है। माया दुःख का मूल कारण है। अतः साधक को सरल होने के लिए शास्त्रकारों ने संकेत किया है। अमायाविता साधक के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

७. अपार्श्वस्थता

लौकिक भाषा में पाश का अर्थ बन्धन है। साधक को संसार के आकर्षण और उनके प्रलोभनों से अपने मन को विचलित न होने देना है। प्रस्तुत अवस्था को प्राप्त करने हेतु गुरु के सान्निध्य में कल्याणकारी स्वरूप में जीवन की गति निर्धारित करना है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र श्रमण जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक अंग हैं। जिन श्रमणों में इन सद्‌गुणों का अभाव हो, आचार्यों ने उनकी संगति करने का भी निषेध किया है। कु-संगति से गुणों की हानि और दोषों की वृद्धि होती है। अतः साधक को कु-संगति से बचने का संकेत किया गया है। जो चारित्रवान् है और ज्ञान व दर्शन से सम्पन्न है ऐसे गुरु के सान्निध्य में ही साधक का जीवन विकसित हो सकता है। साधक को शारीरिक सुखों के प्रति रुचि नहीं होनी चाहिए। आहार, वेष, सुखशय्या, प्रभृति के प्रति आकर्षण नहीं होना चाहिए। संक्षेप में अपार्श्वस्थता का अर्थ हम ऐसी मानसिक अवस्था से अनुलक्षित कर सकते हैं जिसमें शारीरिक सुखों से मन पूर्णतया विरक्त हो चुका है और तथाकथित शारीरिक सुखों की चर्चा या कल्पना भी नहीं करता है। सन्तोषी जीवन का यह जीता-जागता स्वरूप है। पाशस्था के देशपाशस्था और सर्वपाशस्था ये दो भेद किये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. सुश्रामण्यता

शास्त्रों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को संयम के नाम से सम्बोधित किया गया है। साधक को जिन विरोधी अवस्थाओं में प्रस्तुत संयम पालन करने में कठिनाइयाँ समुत्पन्न हों उनसे बचने का संकेत किया है। आचार्यों ने साधक को प्रेरणा देते हुए कहा है—तुम्हें प्राणों से भी अधिक संयम प्रिय होना चाहिए। प्रतिपल साधनों में सावधानी रखना आवश्यक है।

विनम्रता, निष्कपटता, सन्तोष, आदि सम्यक्दर्शन के मूल गुण हैं। तप से संयम की वृद्धि होती है तथा निर्दोष जीवन का विकास होता है। अशुभ कर्मों की निर्जरा होने से आध्यात्मिक प्रगति होती है। संयम और तप की आराधना करते समय यदि शारीरिक कष्ट भी होते हैं तो भी वह विचलित नहीं होता। चाहे कष्ट हो, चाहे आनन्द हो उसके लिए व्यर्थ है। वह तो दोनों ही स्थितियों में सम रहता है। सुश्रामण्यता का अर्थ हम जीवन की निर्मलता से ले सकते हैं जिसमें पवित्र जीवन व एकाग्र मन से संयम की ओर प्रगति की जाती है।

९. प्रवचनवत्सलता

जिनवाणी और संघ के प्रति वात्सल्य और प्रीति विकसित करने का प्रयास करना चाहिए। आधुनिक व्यस्त जीवन की दृष्टि से प्रवचनवत्सलता का अर्थ है वीतरागवाणी तथा सद्साहित्य की सात्विक गौरव के साथ विकसित करने की वृत्ति; धर्म से सम्बन्धित साहित्य का विविध स्वरूपों में अध्ययन-मनन करना; देश, समाज में जो अन्य प्रवाह प्रचलित हैं उनसे भी अपने आपको अवगत कराते हुए अपने धर्म के सम्बन्ध में आस्था एवं भक्ति को बढ़ाने हेतु मानसिक व बौद्धिक वातावरण तैयार करना; सद्-साहित्य का अपने मतावलम्बियों और अन्य लोगों को भी सम्यक्रूप से परिचय कराना। इससे विश्वास में अभिवृद्धि होती है तथा चिन्तन करने की क्षमता बढ़ती है।

१०. प्रवचन उद्भावना

जैन वह है जिसके अन्तर्मानस में जिनवाणी के प्रति गहरी निष्ठा-भक्ति हो और मन में जिनवाणी के प्रति किंचित् मात्र भी शंका न हो। जैन सम्बोधन को सुनकर स्वयं गौरव का अनुभव करे। स्वयं के द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो जिससे वातावरण दूषित हो—इस दृष्टि से बहुत ही सावधानीपूर्वक और योजनानुसार जीवन यापन करे। इस प्रकार जीवन जीने से संघ की वृद्धि होती है और समान रूप से चिन्तन करने वाले व्यक्तियों का समूह एक-दूसरे को प्रेरणा देता हुआ व्यक्ति और समाज का विकास करता है। प्रवचन प्रभावना के द्वारा हम एक-दूसरे का उत्साह बढ़ाते हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि जैन मनीषियों ने श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका एवं सम्यक्दृष्टि साधक के सर्वांगीण विकास के लिए जो सिद्धान्त प्रस्थापित किये हैं, उनसे जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता है। उन्होंने फूल, स्वर्ण, अन्न, प्रभृति विविध उपमाएँ देकर जीवन की उपयोगिता को समझाने का सुन्दर प्रयास किया है। विकसित जीवन की प्रेरणा ही है। यह सिद्धान्त हजारों-लाखों वर्ष पुराने होने पर भी आज भी उनमें वही चमक और दमक है। जीवन के लिए उपयोगी हैं। आधुनिक युग में परिवर्तन होते हुए भौतिक वातावरण में प्रकाशस्तम्भ के समान मार्गदर्शक हैं।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



कुंडलिनी योग—जैन दृष्टि में

□ पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह [अहमदाबाद]

सिद्धियों का उपयोग अच्छे कार्यों के लिए किया जाता है इसलिये महापुरुष पहले प्रार्थना, उपासना या ध्यान द्वारा परमतत्त्वों की साधना करते हैं, और उसके बाद योग-प्रक्रिया में प्रवेश करते हैं।

योग से मिट्टी का मानव वज्र जैसा बनता है। सागर की लहरों जैसी उनकी संकल्प शक्ति किसी पर्वत के खडक जैसी दृढ़ बनती है। काम करने के प्रचंड स्रोत की आवाज हृदय में गूंज उठती है और पामर आदमी को भी सिंह का सामर्थ्य देकर अमर बना देती है। जीवन उसका चरण-किंकर और मृत्यु उसकी दासी बन जाता है। ऐसी महाशक्ति कुंडलिनी योग द्वारा प्राप्त होती है। वह योग गुरुगम से ही प्राप्त हो सकता है। इस विषय में यहाँ जैन दृष्टि से लिख रहा हूँ।

इस भूमंडल का आधार जैसे मेरु पर्वत है इसी प्रकार इस मानव-शरीर का आधार मेरुदंड या करोडरज्जु है।

मेरुदंड तेतीस अस्थिखंडों से बना हुआ है। अन्दर से वह रिक्त है। उसके नीचे का भाग नोकदार और छोटा है। इस स्थान के पास का भाग कंद कहलाता है और उस कंद में महाशक्ति की प्रतिमूर्ति कुंडलिनी का निवास स्थान है, ऐसा माना जाता है।

मानव-शरीर में मेरुदंड की दोनों ओर इड़ा और पिंगला नाम की नाड़ियाँ हैं। इन दोनों नाड़ियों के बीच अत्यन्त सूक्ष्म एक नाड़ी है जिसे सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। इस नाड़ी के नीचे के भाग में चार पत्र वाला त्रिकोणाकार कमल है। इस कमल पर सर्पाकार वाली कुंडलिनी शक्ति की अवस्थिति है।

गुदा और लिंग के बीच निम्न मुखवाला योनिमंडल है जिसे कंदस्थान भी कहते हैं। उस कंद स्थान में कुंडलिनी महाशक्ति सभी नाड़ियों को आवृत करके साड़े तीन आंटे लगाकर, अपनी पूंछ अपने मुंह में रखकर सुषुम्ना नाड़ी के छिद्र को अवरुद्ध कर सर्प की तरह निद्रावस्था में पड़ी हुई है, तो भी वह अपने तेज से स्वयं देदीप्यमान है। वह सर्प की तरह संधिस्थान में गाढ़ निद्रा में पड़ी रहती है। उसे यौगिक प्रक्रिया से जागृत किया जा सकता है। वस्तुतः कुंडलिनी वाणी का कारणस्वरूप वाग्देवी है।

उपर्युक्त कंद और कुंडलिनी के विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रदर्शित किये हैं।

एक मत जिसका ऊपर निरूपण किया है उसके मुताबिक कंद मूलाधार चक्र के समीप ही अवस्थित है, जबकि दूसरे मत के अनुसार कंद की स्थिति नाभि के समीप मानी गयी है। इस मत के अनुसार कुंडलिनी भी नाभि प्रदेश के पास स्थित है। तीसरा मत एक पाश्चात्य अनुभवी विद्वान का है, वह कहता है कि कुंडलिनी अनाहत (हृदय) चक्र के पास है।

स्वामी विवेकानन्द ने कुंडलिनी के विषय में 'राजयोग' नामक पुस्तक में कहा है कि जिस केन्द्र में सब जीवों के मनोभाव संगृहीत रहते हैं उसे मूलाधार चक्र कहते हैं और कर्मों की जो शक्ति कुंडलित रहती है, वह कुंडलित होने के कारण कुंडलिनी कही जाती है।

कुंडलिनी के विषय में जैनेतर विद्वानों ने बहुत अधिक लिखा है। जैनाचार्यों ने भी कई रचनाओं में इस विषय में अपने उपयोगी विचार प्रकट किये हैं।

श्री बप्पभट्टिसूरि (९वीं शताब्दी) की 'सरस्वतीमन्त्रकल्पस्तोत्र' (पद्य १२, आदिपद—कन्दात् कुण्डलिनी)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचना मानी जाती है। यह कुंडलिनी के विषय में जैनाचार्यों में सर्वप्रथम प्रकाश डालती है, ऐसा मालूम देता है। उन आचार्यश्री ने सरस्वती की साधना की थी, ऐसा उनके चरित में बताया गया है।

श्री हेमचन्द्राचार्य (१३वीं शताब्दी) ने जो 'योगशास्त्र' की रचना की है उसमें सप्तम और अष्टम प्रकाश क्रमशः पिंडस्थ और पदस्थ ध्यान के बारे में हैं, यद्यपि उसमें कुंडलिनी का नाम निर्दिष्ट नहीं है तो भी वे शरीरस्थ चक्रों के विषय में अच्छा वर्णन देते हैं जो कुंडलिनी के अनुरूप हैं। श्री हेमचन्द्राचार्य ने भी सरस्वती की साधना की थी।

जिस स्तोत्र के कर्ता और रचनाकाल ज्ञात नहीं हो सका है वह 'चउव्विहज्झाणथुत्त' (नमस्कार स्वाध्याय, प्राकृत विभाग, पृ० ३६६) है, यह किसी जैनाचार्य की रचना है। यह १२ पद्यों का प्राकृत भाषा में स्तोत्र है, इसमें कुंडलिनी के १० चक्रों का निरूपण किया गया है।

श्री बालचन्द्र सूरि (१३वीं शती) द्वारा रचे हुए महामात्य वस्तुपाल विषयक 'वसन्तविलास महाकाव्य' (सर्ग १, श्लो० ७०, ७३) और 'उपदेशकन्दली-वृत्ति' (१. १.) में, 'गुणस्थान क्रमारोह' में, श्री जिनहर्षगणिकृत 'रयणसेहरीकथा' (पृ० १०) में, श्री मुनिसुन्दरसूरि (१५वीं शती) द्वारा रचे हुए कई स्तोत्रों में और जयमूर्तिगणि की 'अध्यात्मरूपा स्तुति' तथा इसी लेखक की गुजराती भाषा में रची हुई 'माइबावनीकाव्य' में कुंडलिनी विषयक स्पष्ट निर्देश किये हुए देखने में आते हैं। श्री संघतिलक सूरि के शिष्य श्री सोमतिलक सूरि, जिन्होंने लघु पंडित रचित 'त्रिपुरा-भारतीलघुस्तव' पर टीका रची है, वे तो कुंडलिनी के अठंग अभ्यासी हों, ऐसा प्रतीत होता है।

विशेष स्पष्ट रूप से तो श्री सिंहतिलक सूरि (१४वीं शती) ने अपने 'परमेष्ठि विद्यायन्त्र स्तोत्र' में पद्य ५६ से ७६ में विशद वर्णन किया है। उन्होंने कुंडलिनी नाम देकर शरीरस्थ नव चक्र और उनके दल, वर्ण, स्थान और आकृति के विषय में स्फुट विवेचन किया है। उनके द्वारा किया हुआ वर्णन उल्लेखनीय है।

नवचक्र

१. गुदा के मध्य भाग के पास आधारचक्र।
२. लिंगमूल के पास स्वाधिष्ठानचक्र।
३. नाभि के पास मणिपूरचक्र।
४. हृदय के पास अनाहतचक्र।
५. कंठ के पास विशुद्धचक्र।
६. अवान्तर जिह्वा (घंटिका) के पास ललनाचक्र।
७. ललाट में दोनों भ्रूकुटियों के पास आज्ञाचक्र।
८. मूर्धा के पास ब्रह्मरन्ध्रचक्र, जिसको सोमचक्र भी कहते हैं।
९. सोमचक्र के ऊर्ध्व भाग (ब्रह्मबिंदुचक्र) में सुषुम्नाचक्र हैं।

इस प्रकार नौ चक्र होते हैं। इसमें कंठ—विशुद्धचक्र तक पाँच चक्र और आज्ञाचक्र छठवाँ चक्र गिना जाता है। मुख्य छह चक्र माने गये हैं जो जैनेतर विद्वानों में प्रसिद्ध हैं।

चक्रों के दल

ये प्रत्येक चक्रकमल के दल-पत्र क्रमशः इस प्रकार हैं :

१. मूलाधार के चार पत्र
२. स्वाधिष्ठान के छह पत्र
३. मणिपूर के दस पत्र
४. अनाहत के बारह पत्र
५. विशुद्ध के सोलह पत्र
६. ललना के बीस पत्र
७. आज्ञा के तीन पत्र
८. ब्रह्मरन्ध्र के सोलह पत्र
९. ब्रह्मबिंदु के हजार पत्र

'षट्चक्रनिरूपण' आदि ग्रन्थों में आधारचक्र ४ दल का, स्वाधिष्ठानचक्र ६ दल का, मणिपूरचक्र १० दल का, अनाहतचक्र १२ दल का, विशुद्धचक्र १६ दल का, आज्ञाचक्र २ दल का और सहस्रारचक्र १००० दल का होता है, ऐसा बताया गया है। इन छह चक्रों के अलावा अन्य चक्रों के बारे में कोई निर्देश नहीं है।

चक्र दल के वर्ण (अक्षर)

चक्रों की दल संख्या के अनुसार 'अ' वर्ण से लेकर 'ह' और 'क्ष' तक के मातृकाक्षर छह चक्रों में विभाजित किये गये हैं :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. मूलाधार के चार पत्रों में व श ष स।
२. स्वाधिष्ठान के छः पत्रों में ब भ म य र ल।
३. मणिपूर के दश पत्रों में ड ढ ण त थ द ध न प फ।
४. अनाहत के बारह पत्रों में क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ।
५. विशुद्ध के सोलह पत्रों में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः।
६. आज्ञा के तीन पत्रों में ह क्ष (? ल)

इस वर्ण विभाग से यह शरीर भारती यंत्र या सरस्वती यंत्र बन जाता है।

ब्रह्मबिंदुचक्र जिसे सहस्रारचक्र भी कहते हैं उसमें स्थित मन और शरीर की पाँच इन्द्रियाँ मिलकर यह षट्कोण यंत्र नाम से भी प्रसिद्ध है।

नवचक्रों का वर्ण-रंग

मूलाधार का रंग रक्त, स्वाधिष्ठान का अरुण, मणिपूर का श्वेत, अनाहत का पीत, विशुद्ध का श्वेत, ललना का रक्त, आज्ञा का रक्त, ब्रह्मरंध्र का रक्त और ब्रह्मबिंदु का श्वेत वर्ण बताया गया है।

चक्रों के तत्त्व

मूलाधार का पृथ्वी तत्त्व, स्वाधिष्ठान का जल, मणिपूर का अग्नि, अनाहत का वायु, विशुद्ध का आकाश, और आज्ञा का महातत्त्व बताया गया है। अन्य चक्रों के तत्त्व के बारे में निर्देश नहीं मिलता है।

चक्रों के तत्त्वबीज

मूलाधार का लं बीज, स्वाधिष्ठान का वं बीज, मणिपूर का रं बीज, अनाहत का यं बीज, विशुद्ध का हं बीज, आज्ञा का ॐ बीज है, ऐसा कहा है।

चक्रों की अधिष्ठायिका देवियाँ

मूलाधार की डाकिनी, स्वाधिष्ठान की राकिनी, मणिपूर की लाकिनी, अनाहत की काकिनी, विशुद्ध की शाकिनी, ललना की हाकिनी, और आज्ञा की याकिनी देवियाँ अधिष्ठात्री हैं। ये सभी ज्ञानाधिकार की देवियाँ हैं।

चक्र-यंत्र का आकार

मूलाधार का आकार चतुष्कोण, स्वाधिष्ठान का चन्द्राकार, मणिपूर का त्रिकोणाकार, अनाहत का षट्कोणाकार, विशुद्ध का गोलाकार, आज्ञा का लिंगाकार, ब्रह्मरन्ध्र का चंद्राकार और ब्रह्मबिन्दु का कमलाकार होता है।

ये वर्ण, रंग, तत्त्व, तत्त्वबीज, अधिष्ठात्री देवियाँ और आकार ध्यान करने में उपयोगी हैं। पिंडस्थध्यान के समय की जाने वाली धारणाओं में इन सबकी जरूरत रहती है।

मन्त्रबीजों का ध्यान और फल

पदस्थध्यान में मन्त्रबीजों का ध्यान किया जाता है। हरेक चक्र के मन्त्रबीज हैं। मूलाधार का मन्त्रबीज 'ऐं', स्वाधिष्ठान का 'एं ह्रीं क्लीं', मणिपूर का 'श्रीं', अनाहत और विशुद्ध का कोई मन्त्रबीज नहीं बताया है। ललना का 'ह्रीं', आज्ञा का 'ह्रीं क्लीं 'इवीं' और ब्रह्मरन्ध्र तथा ब्रह्मबिन्दु के मन्त्रबीजों का उल्लेख नहीं है।

मूलाधार में 'ऐं' बीज का श्वेतवर्णी ध्यान करने से सरस्वती देवी सिद्ध होती है। इसकी सिद्धि से कवित्व और वक्तृत्व-शक्ति आती है। लेखनधारा अविच्छिन्न गति से रचना करती है।

स्वाधिष्ठान में 'ऐं' का ध्यान वशीकरण के लिए होता है। स्वाधिष्ठान में 'ह्रीं, क्लीं' और 'एं' का ध्यान वशीकरण का फल देता है।

मणिपूर में 'श्रीं' का जपाकुसुम जैसा अरुणवर्णी ध्यान वशीकरण और लाभ के लिए किया जाता है।

आज्ञाचक्र में 'ह्रीं' और 'क्लीं' का ध्यान वशीकरण का कार्य करता है, और 'इवीं' के ध्यान से विष और रोग को दूर किया जाता है।

अन्त में बताया गया है कि इन मन्त्रबीजों से क्या मतलब जबकि मन्त्रबीजों की झंझट में बिना पड़े इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी में कुंडलिनी शक्ति का ध्यान भुक्ति और मुक्ति देता है।

इस तरह यह कुंडलिनी इस लोक में सुख-समृद्धि की प्राप्ति में सहायक बनती है।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



देखना, मात्र देखना ही हो

☐ सत्यनारायण गोयनका

बम्बई से लगभग ५० मील दूर, पश्चिम रेलवे पर एक छोटा-सा स्टेशन है—नल्ला। पास में समुद्र के किनारे एक छोटा-सा ग्राम है—सुप्पारा। २५०० वर्ष पहले यह सुप्पारकपत्तन नामक भारत का अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था। उन दिनों पत्तन बन्दरगाह को कहते थे।

उन दिनों सुप्पारकपत्तन में एक अत्यन्त वृद्ध संन्यासी रहता था। सिर पर सफेद बालों की जटा, चेहरे पर श्वेत लम्बी दाढ़ी और मूछें, वल्कल धारी कृश शरीर—संन्यासी का बड़ा ही भव्य व्यक्तित्व था। उस नगरी के अनेक धनी-मानी लोग उसके भक्त थे। सैकड़ों नित्य दर्शन करने आते, चरण-रज सिर पर चढ़ाते, खूब दान-दक्षिणा, विपुल खाद्य सामग्री और औषधि अर्पित कर अपने आपको धन्य समझते। भक्तों द्वारा प्रकट की गयी भक्ति और महिमा ने संन्यासी के मन में यह विश्वास पैदा कर दिया कि वह अर्हत् अवस्था को प्राप्त हो गया है। जीवन्मुक्त हो, भवबन्धनों से छूट गया है।

एक दिन किसी हितैषी ने बड़े प्रेम से समझाया 'वह अभी अर्हत् नहीं हुआ और न ही अर्हत् होने के मार्ग पर ही है।' यह सुन उसे सदमा पहुँचा, पर विवेकशील होने से चिन्तन करने पर उसे प्रतीत हुआ कि उस पर अब तक विकारों का प्रभाव है, तो वह अर्हत् या जीवन्मुक्त कैसे हो सकता है। एकाग्रता के अभ्यास के बावजूद उसकी विचारधारा सर्वथा विकाररहित नहीं हो पायी।

उसने प्रश्न किया—'क्या इस संसार में कोई ऐसा व्यक्ति है जिसका चित्त विकारों से पूर्णतया मुक्त हो गया है? जो अर्हत् हो गया है?'

उत्तर मिला—'हाँ, अवश्य है। उत्तर भारत के कपिलवस्तु का राजकुमार सिद्धार्थ गौतम जो सत्य की खोज में घर से निकल पड़ा और वर्षों की खोज के बाद चित्त के समस्त विकारों से मुक्त होने की विधि उसने खोज निकाली और स्वयं अभ्यास से अर्हत् अवस्था प्राप्त कर ली है। वह स्वयं बुद्ध है। वे इस समय जेतवन में हैं। उन्होंने जिस विधि से दुःखों से मुक्ति पायी उसको करुणचित्त से, बिना भेदभाव के सबको सिखाते हैं।'

संन्यासी ने सुना तो उसके मन में विचारों का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। मुझे घर छोड़ मुक्त होने के लिए संन्यासी हुए कई वर्ष बीत गये। परन्तु अब तक ऐसा तो नहीं हुआ। बाहरी वेश-भूषा, कर्मकाण्ड और त्याग-तपस्या से मान-सम्मान, गौरव-गरिमा, पूजा-प्रतिष्ठा तो प्राप्त हो रही है, पर उन बेचारों को मेरी मन की स्थिति का क्या पता। वे तो मेरे बाह्य रूप को ही देख रहे हैं। पर मुझे इस झूठे मान-सम्मान से क्या लाभ? जिस लक्ष्य के लिए घर छोड़ा था वह तो प्राप्त हुआ ही नहीं। चित्त विशुद्ध और विमुक्त नहीं हुआ। यह तो मानव-जीवन में ही सम्भव है और मेरी अवस्था भी वृद्ध है, शेष जीवन अल्प रहा है।

उसके मन में संकल्प जगा—'जिस विधि से तथागत ने मुक्ति पायी उसे प्राप्त करूँ।' उसके मन में नवजीवन का संचार हुआ। जीर्ण शरीर में युवकों-सी स्फूर्ति जगी और तत्काल श्रावस्ती की ओर चल पड़ा। तथागत के दर्शन और चित्त-विशुद्धि की विद्या सीखने की अभिलाषा ने संन्यासी के मन में अदम्य उत्साह भर दिया। श्रावस्ती की लम्बी यात्रा से उसे थकान महसूस नहीं हुई।

श्रावस्ती के जेतवन विहार में पहुँचा तो मालूम हुआ कि बुद्ध तो भिक्षा के लिए शहर में गये हैं। विहार-वासियों ने कहा कि कुछ देर विश्राम कर लो, तब तक तथागत लौट आयेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिव्राजक ने श्रावस्ती की ओर प्रयाण किया। कुछ दूर चलने पर उसने धीर-गम्भीर, सौम्य, शान्त मुद्रा, करुणायुक्त नयन, संयम और शान्ति की आभा वाले बुद्ध को देखा तो श्रद्धाविभोर होकर चरणों में मस्तक रखकर कहा—'भंते, मुझे शुद्धधर्म की साधना सिखाइए, जिससे मेरा स्थायी हित—सुख सधे।'

'साधना सिखाने का यह अनुकूल समय नहीं है, संन्यासी ? विहार लौटकर अवश्य सिखायेंगे।' तथागत ने कहा।

'भन्ते ! जिन्दगी का क्या भरोसा ? न मेरी, न आपकी। इस समय मेरी श्रद्धा सजीव है, अभी धर्मदेशना दीजिए।'

संन्यासी का आग्रह देखकर बुद्ध ने एक ओर रुककर धर्मोपदेश दिया, साधना सिखायी। कहा—'**दिट्ठमत्त मविस्सति, सुत्तमत्त मविस्सति**' देखना, मात्र देखना ही हो; सुनना, मात्र सुनना ही हो। इस प्रकार सूँघने में मात्र सूँघना ही हो; चखना, मात्र चखना ही हो; स्पर्श, मात्र स्पर्श हो और जानना, मात्र जानना ही हो।

जिज्ञासु और समझदार संन्यासी ने इस संक्षिप्त उपदेश को ठीक से समझा।

आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छः ही इन्द्रिय-द्वारों में से जिस क्षण जिस किसी द्वार पर जिस किसी विषय का यानी रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्पर्श हो उस समय केवल उसी की जानकारी हो और केवल जानकारी मात्र ही रह जाय। जिस क्षण जो हो रहा है, उसी क्षण वही जाने। देखना मात्र देखना, सुनना मात्र सुनना, सूँघना मात्र सूँघना, चखना मात्र चखना, छूना मात्र छूना, सोचना मात्र सोचना, केवल जानकार ही रह जाय। उसकी कोई प्रतिक्रिया न होने दे।

सतत अभ्यास द्वारा टुकड़े-टुकड़े करके काल के उस छोटे से छोटे हिस्से तक जा पहुँचे जिसे चित्तक्षण कहते हैं। देखेंगे कि इस नन्हें से चित्तक्षण में एक साथ दो घटना नहीं घटतीं। परन्तु कालधारा अत्यन्त तीव्रगति से प्रवाहित होती रहती है जिससे कि एक-एक क्षण को और उस एक-एक क्षण में घटने वाली घटना को हम अलग-अलग करके जानने की क्षमता खो बैठे हैं। तेज चलने वाले चलचित्र की तरह जीवनधारा को गतिशील देखने के इतने आदी हो गये हैं कि फिल्मरील के एक-एक चित्र को अलग-अलग देख ही नहीं पाते। इसी से दृष्टिभ्रम होता है, मरीचिका पनपती है। इसी से पूर्वापर सम्बन्ध जुड़ता है और राग-द्वेष तथा मोह-मूढ़ता का प्रपंच बढ़ता है।

छः इन्द्रिय-द्वारों में से जिस किसी पर जिस क्षण जो घटना घटी उसे केवल जानकर ही नहीं रह जाते बल्कि तुरन्त ही 'संज्ञा' द्वारा पहचानते हैं। 'संज्ञा' चेतना का वह हिस्सा है जो पूर्व अनुभूतियों के बल पर पहचानने का काम करती है। 'संज्ञा' द्वारा पहचानते ही प्रपंच का आरम्भ होता है। क्षण छूट जाता है और अतीत में भ्रमण करने लगते हैं। ऐसी या इससे मिलती-जुलती अनुभूति पहले हुई थी और हुई थी तो अच्छी लगी थी या बुरी। इस प्रकार मूल्यांकन होते ही प्रपंच और आगे बढ़ता है। चेतना का वह हिस्सा जिसे 'संस्कार' कहते हैं वह त्वरित काम करने लगता है। उसका काम है प्रतिक्रिया करना। इस क्षण का देखना, सुनना, सूँघना, चखना, छूना और सोचना अच्छा लगा तो राग की और बुरा लगा तो द्वेष की प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। मन भविष्य की कल्पना करने लगता है—ऐसा हो और ऐसा न हो। भूतकाल की याद और भविष्य की कामना-कल्पना से चित्त पर राग-द्वेष की विचारधारा चलने लगती है। यदि जिस क्षण में जो देखना आदि होता है, उसे केवल देखना आदि ही जानकर रुक जाय तो न आरम्भ होता है और न प्रपंच ही बढ़ता है। अनारम्भी ही प्रपंचमुक्त होता है।

साधक ध्यानपूर्वक देखता है कि शरीर की पाँच इन्द्रियों की यह स्पर्श-संघात की अनुभूति जितनी बार और जितने समय तक होती है उससे मन पर कहीं अधिक होती है। देखने, सुनने, सूँघने, चखने और छूने की अपेक्षा सोचने का काम अनन्तगुना अधिक होता है। जो घटना मन पर घटती है उसकी प्रतिक्रिया तो मन पर होती ही है किन्तु पाँच इन्द्रियों में से किसी पर भी घटे तो उसका प्रभाव भी मन पर होता है। सारा प्रपंच बढ़ाव-फैलाव मन से ही होता है। क्योंकि आरम्भ मन से होता है। जब तक हम जीवित हैं, और तन-मन के आयतन (खिड़की-दरवाजे) खुले हैं तब तक हर क्षण किसी न किसी आयतन से कुछ न कुछ प्रवेश होता ही रहता है और उसे लेकर यह पागल मन राग-द्वेष आरम्भ कर प्रपंच बनाता ही रहता है। ऐसी अवस्था में चित्त-विशुद्धि, चित्त-विमुक्ति कैसे हो ?

क्षण-क्षण के टुकड़े-टुकड़े कर उन्हें अलग-अलग नहीं जानने से वर्तमान को अतीत और अनागत से जोड़ते रहते हैं। इससे और कठिनाई पैदा होती है। भावनाओं के तारतम्य में अहंभाव, अस्मिताभाव और आत्म-भाव का अविरल-अविरल सूत्र पिरोया हुआ आभासित होता है। इसी से 'मैं' का अस्तित्व उभरता है। धीरे-धीरे यह 'मैं' की प्रतीति 'मैं हूँ' में परिवर्तित होकर दृढ़मूल बन जाती है। यह 'मैं हूँ' जिसने बचपन से अब तक अनुभूतियाँ कीं और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मैं हूँ' ऐसी अनुभूतियाँ भविष्य में करेगा। 'मैं हूँ' का यह भ्रम इस अस्तित्वहीन 'मैं' के प्रति आसक्तियाँ पैदा करता है जो राग-द्वेष की अग्नि को और अधिक प्रज्वलित करता है। यह 'मैं हूँ' ही अविद्या है। रागद्वेष और रागद्वेष को मोह-मूढ़ता ही 'मैं हूँ' को बलवान बनाती है।

साधक अपने सतत अभ्यास द्वारा फिल्म की रील के टुकड़े-टुकड़े कर लेता है तो 'मैं हूँ' का भ्रम टूटता है। 'मैं हूँ' फिर 'मैं है' में परिवर्तित होता है और 'मैं है' भी केवल लोक व्यवहार के लिए रह जाता है। इसमें 'मैं' के अलग-थलग व्यक्तित्व की भ्रान्ति दूर होती है। एक-एक क्षण का अपने आप में अलग-अलग साक्षात्कार होने लगता है। भ्रम टूटकर वस्तुस्थिति स्पष्ट होती है। प्रज्ञा जागती है। अविद्या का सारा क्लेश दूर होता है। राग-द्वेष की नयी गाँठें बँधनी बन्द होती हैं और पुरानी खुलने लगती हैं।

तब देखने में 'मैं देखता हूँ' का भ्रम दूर होता है। देखने में मात्र देखना ही रह जाता है। जैसे देखने में मात्र देखना, वैसे ही सुनने में मात्र सुनना, सूँघने में मात्र सूँघना, चखने में मात्र चखना, छूने में मात्र छूना रह जाता है और जानने में मात्र जानना रह जाता है। 'कर रहा हूँ' या 'भोग रहा हूँ' की जगह 'हो रहा' की सच्चाई प्रकट होती है। अहंभाव अहंकारविहीनता में प्रतिष्ठित होता है। आत्मभाव अनात्मभाव में बदलता है।

अब तक केवल सैद्धान्तिक स्तर पर साधक यह मानकर चलता था कि यह काया और आत्मा मेरी नहीं है किन्तु यह महज मानने की बात न रहकर स्वानुभूतियों के बल पर इस सच्चाई को स्वयं जान लेता है और उसे स्पष्ट हो जाता है कि इन इन्द्रियों की अनुभूतियों में भी किसी 'मैं' का अस्तित्व नहीं है। न यह ऐन्द्रिय अनुभूतियाँ किसी 'मैं' को धारण किये हुए हैं और न कोई 'मैं' इन इन्द्रियों को धारण किये हुए है।

तथागत ने यही बात संन्यासी को समझाते हुए कहा था 'जब तुम्हें **दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति**, देखने मात्र देखना मात्र होने लगे **'तं तो त्वं न तेन'** यानी इस देखने-सुनने आदि के कारण तुम हो यह भ्रान्ति दूर होगी और तभी **'ततो त्वं न तत्थ'** यानी इस देखने, सुनने में तुम हो यह भ्रम मिटेगा। ऐसी अहंशून्य स्थिति के प्राप्त होते ही लोकोत्तर निर्वाण का साक्षात्कार होगा। **'एसन्तो दुक्खसा'** यही दुःखों का अन्त है।

इस उपदेश को संन्यासी केवल समझकर ही नहीं रह गया, बल्कि उसे जीवन में अपनाने लगा। जिसे अपनी मृत्यु समीप दिखायी दे, वह प्रमाद कैसे कर सकता है। वह एकान्त में बैठकर अन्तर्मुख हुआ और अविरल चित्त की धारा के टुकड़े-टुकड़े कर प्रत्येक क्षण को जैसा है वैसा देखने लगा। देखते-देखते ही अस्मिता दूर हुई, पूर्वसंस्कारों से छुटकारा मिला, चित्त अनासक्त बना, आस्रवों से मुक्त हो गया, परम निर्वाण पद का साक्षात्कार हो गया। संन्यासी कृतकृत्य हो गया। अल्प बचा जीवन सफल हो गया।

तथागत बुद्ध भिक्षा लेकर लौटे तो उसकी जीवन-लीला पूरी हो चुकी थी। भिक्षुओं ने उसकी गति के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा—वह सब गतियों से परे गतिमुक्त हो गया। परिनिर्वाण को प्राप्त हो गया है। उस समय उनके मुख से यह बोल निकल पड़े—

यत्थ आपो च पठवी, तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो न प्पकासती॥
त तत्थ चंदिमा भाति तमो तत्थ न निज्झति।
यदा च अत्तनावे दि मुनि मोने न ब्राह्मणो॥
अथ रूपा च सुख-दुक्खा वयुच्चति॥

जहाँ न पृथ्वी, न जल, न अग्नि और न वायु का ही प्रवेश है। जहाँ न शुक्र की ज्योति है, न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमा का उजाला है और जहाँ आलोक का अभाव भी नहीं है। कोई ब्राह्मण मुनि मौन-पथ पर चलकर इसे स्वयं जान लेता है तो सारे रूप और लोकों से पार चला जाता है। सुख-दुःखों के द्वन्दों से मुक्ति पा लेता है।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"THIS IS REALITY····A FRESH LOOK AT MEDITATION

□ DR. MOTILAL

Vivekananda Yoga Centre, 437 South 44th Street, Philadelphia, PA. 19104

Recent years have seen more and more people, both East and West growing more and more interested in meditation, not only for what it can do for the meditator but also for the whole world in which he or she lives.

Those who practice meditation find it relaxes the entire neuromuscular system. As nervous tension dissolves, psychosomatic diseases do too, since the very process of meditation breaks the continuity of unconscious drives and urges.

Anxiety, whatever its' origin, also decreases during meditation. As anxiety decreases, one's efficiency and confidence increase, giving the meditator a new serenity of mind both towards himself and his associates.

A faithful meditator soon finds that an inner peace lies beneath his layers of petty concerns, jealousies, hatreds and frustrations. He grows in emotional stability, and as he finds peace in himself, his relationship with others grows in harmony.

A man or woman of meditation can influence others through his or her serenity. Such a person may not be aware of the power he or she has to calm the restless, heal the miserable and cheer the sorrowful merely through his or her own serene approach to life.

While students of meditation may grow more and more interested in its origins and the theories of various philosophers concerning it, the beginner seeking the tranquillity to be gained in the act of meditating is interested only in how to do it successfully.

It is all well and good that the *Sāṁkhya* school of philosophy defines meditation as "the liberation of the mind from all disturbing and distracting emotions, thoughts and desires", but how does one accomplish this ? Patanjali, the father of Yoga, defines it as a "current of unified thought", but how does one achieve it ?

Many forms and techniques of meditation have been developed from the Transcendental Meditation of Maharshi Mahesh Yogi to Zen Buddhism.

At the Swami Vivekananda Yoga Centre in Philadelphia, members and I have developed a practical one that works for us.

The technique is called out of ancient Vedantic literature and is unique in that it integrates body, mind and sound vibrations with ultimate reality or truth.

We begin by resolving to practice twice a day. When this is impossible, then once, either in the morning or in the evening.

Your place of meditation should be comfortable to you, always accessible when you want it and free of distractions, especially those of sound and light.

(1) Sit on a thin soft flat cushion or soft wool blanket folded into quarters. You may sit in a straight-back chair, if for some reason you cannot meditate on the floor.

(2) Sit in a comfortable pose. If you can do the lotus, good. In any pose you take, the spinal column should be erect, hands resting in your lap, right over left. Keep your eyes

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

half open, or closed, and gaze or concentrate on some object, a statue, a photograph or an "OM" symbol (ॐ) placed before you.

A fixed posture is very important because the body and mind are inter-related. When the body moves, the mind loses its stillness. This posture helps to harmonize breath, nerves and mind and frees the latter from the bombardment of outer influences.

(3) Relax the body by massaging various parts mentally—the feet, the legs, the knees, the thighs, the back, the abdomen, chest, hands, lower arms, upper arms, shoulders, neck, chin, nose, eyes and forehead.

At this point, the entire body should be completely relaxed. As you grow more skilful at directing *Prāṇa* (life force) to all parts of the body, you get a greater sense of integration or unification of body and mind.

(4) After the thought massage, start chanting "OM" aloud. Let the sound of the chanting rise like a fountain. Let the "OM" vibration slowly grow and expand, forming an ever-enveloping atmosphere around you, unfolding themselves into ever-winding ripples. Chant on vigorously, powerfully and sincerely.

Why the "OM" chanting ? The Symbol AUM is composed of three syllables, namely the letters A, U, M, and when written has a crescent and dot on its top. The letter A symbolizes the conscious or waking state ; the letter U the dream state ; and M, the dreamless sleep state of mind and spirit.

The entire symbol of "OM" taken as a whole, together with the crescent and dot, stands for the fourth state of consciousness, *Brahman* (Ultimate Reality). This is the state of *Samādhi* which combines the three states of consciousness—waking, dream and dreamless sleep —and transcends them. This is the state of Perfect Bliss when the individual self recognizes its identity with the *Brahman* (Ultimate Reality).

Chanting has an entrancing effect on the mind. Since "OM" symbolizes Truth or Pure consciousness, "OM" chanting has been used as a part of meditation by spiritual aspirants from Vedic times to the present.

(5) After mastering the technique of chanting aloud, begin chanting "OM" silently. After chanting silently for some time, stop suddenly as if someone has shouted the order 'stop'. This will lead you to the thoughtless state of mind. The order to stop must come within you, however. If this is found difficult, as some meditators do, you can mentally chant louder and louder, and when you have reached the peak, slowly and steadily reduce the tone of this mental roar into a normal mental chanting. Then reduce it still further into a mere mental whisper. This soft inner whisper of "OM" chanting may be allowed to drown and dissolve itself into the Great Silence within.

(6) When you stop mental chanting and, for a split moment, dissolve into the thoughtless state of mind, hold on to that state as long as you can. As soon as the first thought breaks in and disturbs the peace and silence of this thoughtless state of mind, chant "SOHAM" to enable you to retire once again into this perfect silence. This process may be repeated as many as three times during one sitting.

During the process of meditation, many unwanted thoughts may appear on the horizon of your mind. Witness them. Don't try to be hostile to those disturbing and distracting thoughts, but try to be sympathetic and friendly to them and keep mentally chanting "SOHAM" which means I and the Ultimate Reality are one.

Any technique of meditation that works for you is fine. The important thing is to begin and then do it faithfully.

Your reward will be peace of mind, a healthy body and a more congenial world to live in.

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



साधना में आहार का स्थान

☐ ऋषभदास रांका

आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है। आत्मा की सुप्त शक्तियों का विकास कर नर से नारायण बना जा सकता है। साधना द्वारा चैतन्यशक्ति पर आये हुए आवरण हटाने का अनावृत करने का प्रयत्न करने से परमात्म-पद की प्राप्ति हो सकती है।

आत्मा पर कर्मबंध के कारण चैतन्यशक्ति पर जो आवरण छाया हुआ है उसे दूर करने के लिए अन्तर् की गहराइयों में जाकर उन शक्तियों से परिचित होना, ढूंढ़ना और उन शक्तियों का नियमित उपयोग लेना।

उसके लिए अन्तर्मुख होना आवश्यक है। स्थूलशरीर को सब कुछ मानकर बाह्य प्रवृत्तियों में लगना बहिर्मुखता है। किन्तु इस शरीर में व्याप्त जो चैतन्य शक्ति है उस ओर ध्यान देना अन्तर्मुखता है।

शरीर को सब कुछ न मानकर उसके द्वारा चैतन्यशक्तियों का विकास साधना द्वारा किया जाता है। संसार की शक्तियों की अभिव्यक्ति और प्रकटीकरण इस शरीर द्वारा ही होता है। इसलिए चैतन्यशक्ति का प्रकटीकरण शरीर के सहयोग से ही होता है। इसलिए शरीर की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आत्मविकास में शरीर को समझना भी उतना ही आवश्यक है, जितना आत्मा को समझना। शरीर को भलीभाँति समझे बिना, उसका हम उचित उपयोग नहीं कर सकते।

शरीर को सब कुछ मानकर इन्द्रियों द्वारा विषय-सुख प्राप्ति में लगना जैसे साधना में बाधक है वैसे ही शरीर की पूर्णरूप से उपेक्षा भी आत्मविकास में बाधक है। इसलिए उसका उचित स्थान समझना और उसका चैतन्य-शक्ति को अनावृत करने में उपयोग कर लेना आवश्यक है।

जब हम शरीर को सब कुछ मानकर उसमें मूर्च्छित होते हैं वह बहिर्मुखता है तथा मैं केवल शरीर ही नहीं हूँ, मेरे शरीर के भीतर जो चैतन्यशक्ति है, उसकी अनुभूति करना अन्तर्मुखता है।

बाह्य-शरीर को ही सब कुछ मानकर सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को वास्तविक मानकर चलना बहिर्मुखता है। शरीर को ही सब कुछ मान लेने पर राग-द्वेष, अहंता-ममता, ईर्ष्या-घृणा, संकल्प-विकल्प की परिणतियाँ होती हैं, हम उन्हें अपना मानकर चलते हैं तो शरीर हमारी साधना में बाधक होता है। लेकिन इस मूर्च्छा से जागकर हमें वीतरागता तक पहुँचना है और यह कार्य शरीर के सहयोग से ही होता है। सिर्फ हम उसे वह जैसा है समझें, जरूरत से ज्यादा उसे महत्व न देकर उसका उपयोग अपने पूर्ण विकास के लिए कर लेते हैं तो शरीर को सार्थक बना सकते हैं।

कई साधकों ने शरीर को नरक का द्वार और बुरा माना है, उसकी उपेक्षा करने को कहा है तो कुछ ने उसे प्रभु का मन्दिर मानकर, उसका निवासस्थान समझकर वन्दनीय माना है।

शरीर को निन्दनीय माने वैसा तो नहीं है क्योंकि वही तो हमारी सारी शक्तियों का, चैतन्य-रश्मियों का वाहक है। आत्मा से परमात्मा बनने का साधन तो यह मानव-शरीर ही है। संसार में जितने भी महापुरुष सिद्ध, बुद्ध, तीर्थंकर, जिन, अवतार, पैगम्बर हुए सभी मानव-शरीर में ही हुए हैं। सिर्फ सवाल यह है कि हम उसका कैसे उपयोग करें।

भगवान महावीर के साधना-मार्ग में भी शरीर का महत्व बताया गया है, उसकी उपेक्षा नहीं। उत्तम संहनन के बिना ध्यान नहीं होता यह कहा गया है, इसलिए साधक को शरीर स्वस्थ और कार्यक्षम रखना चाहिए।

यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो आहार को सन्तुलित रखना आवश्यक है। गीता ने भी योगी की चर्या में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युक्त आहार को प्रधानता दी है। भोजन सात्त्विक और उचित मात्रा में हो। सात्त्विक आहार भी आवश्यकता से अधिक मात्रा में लेने से शरीर अस्वस्थ हो सकता है।

भोजन की मात्रा के विषय में सबके लिए निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। उम्र, कार्य का स्वरूप, शरीर की स्थिति देखकर मात्रा निश्चित की जा सकती है। आहार की मात्रा और आहार का स्वरूप क्या हो? हम कितना और क्या खायें जिससे शरीर स्वस्थ रहकर उसमें स्फूर्ति रहे, कार्यक्षमता रहे, इसकी जानकारी जरूरी है।

हमारे शरीर के बाह्य रूप को देखकर कहा जा सकता है कि हमारा आहार उचित है या नहीं। यदि हममें जरूरत से अधिक मोटापा होता है तो समझ लेना चाहिए कि हमारे आहार की मात्रा अधिक है। सात्त्विक किन्तु अधिक आहार लेने से भी शरीर में स्निग्धता की मात्रा बढ़ती है जिससे मोटापा आता है। जरूरत से ज्यादा स्नेह बढ़ने से शरीर में वह संग्रहीत होता है। इसलिए साधक को आहार विषयक जानकारी होना आवश्यक है।

आजकल हर विषय पर अनुसंधान हो रहे हैं और वह ज्ञान साहित्य के द्वारा उपलब्ध है। आहार के विषय में विशेषज्ञों के अनुसंधानों द्वारा जो तथ्य उजागर हुए वे बड़े उपयोगी हैं। यह अनुसंधान कार्य पूरा नहीं हुआ है पर जो तथ्य सम्मुख आये उसका उपयोग कर साधक अपना आहार निश्चित कर सकता है। उचित आहार लेने से मनुष्य नीरोग रह सकता है। बिना औषधि के प्रयोग के नीरोग रहने वाले लोग अल्पसंख्यक क्यों न हों, पर हैं। मेरे मित्र धरमचन्दजी सरावगी ने ३५ साल से किसी औषधि का प्रयोग नहीं किया और ७० साल की आयु में भी एक युवक की तरह कार्यक्षम हैं। उसका मूल कारण आहार है। जो हम खाते हैं वैसा हमारा शरीर होता है। खाद्य वस्तुओं से हमारा शरीर निर्माण हुआ है। उन्हीं तत्त्वों के संग्रह से हमारा शरीर गठित होता है, वही तत्त्व शरीर को कार्यक्षम बनाये रखते हैं और शरीर-क्षय को रोकते हैं।

उचित आहार से बढ़कर नीरोग रहने के लिए कोई अच्छा उपाय नहीं है। सभी आहारशास्त्री इस पर एकमत हैं कि रोगों का प्रमुख कारण अयुक्त आहार ही है। युक्त आहार न लेने से अम्लत्व और श्लेष्म पैदा होता है जो बीमारियों की जड़ है। हमारा स्वस्थ जीवन आहार पर निर्भर है अथवा यों कहिए कि आहार पर ही जीवन निर्भर है। हम आहार जीवित रहने के लिए लेते हैं पर आहार के लिए हमारा जीवन नहीं है। जीवन तो हमारी सुप्त शक्तियाँ जगाकर पूर्णत्व प्राप्ति के लिए, आत्मा से परमात्मा और नर से नारायण बनने के लिए है। इसलिए भोजन संयम का साधन बने। भोजन स्वाद के लिए नहीं पर शरीर को स्वस्थ रखने के लिए किया जाय। आज भोजन में स्वाद का स्थान प्रमुख है, वहाँ स्वास्थ्य को स्थान दिया जाय। आज के भोजन में स्वाद को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है। आहार को स्वादिष्ट बनाने के लिए उपयोगी तत्त्वों का नाशकर उसे बीमारियों का कारण बनाते हैं। इसलिए संयम आवश्यक है।

चीजें स्वादिष्ट बनने पर उसके महत्वपूर्ण तत्त्व तो नष्ट होते ही हैं पर अधिक मात्रा में खाकर हम बीमारियों को न्यौता देते हैं। गांधीजी ने कहा है कि लाख में नियानवे हजार नौ सौ नियानवे लोग केवल स्वाद के लिए खाते हैं। वे इस बात की परवाह ही नहीं करते कि खाने के बाद वे बीमार पड़ जायेंगे या अच्छे रहेंगे। बहुत से लोग अधिक खा सकने के लिए जुलाब लेते हैं या पाचक चूर्ण खाते हैं।

इससे पता चल जाता है कि बहुसंख्यक लोग गलत और सही आहार के अन्तर को समझने में असमर्थ होते हैं; क्योंकि शताब्दियों से अशुद्ध और अस्वास्थ्यकर आहार करते आये हैं। हम समझ ही नहीं पाते कि स्वास्थ्यप्रद आहार कौन सा है।

आहार-शुद्धि पर जैन शास्त्रों में काफी गहराई से विचार किया गया है और साधक के लिए अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिसंक्षेप और रस-परित्याग बताये हैं। ये सब बातें शरीर स्वास्थ्य की दृष्टि से आज का विज्ञान भी बड़ी उपयुक्त मानने लगा है।

सुप्रसिद्ध आहारशास्त्री एरहार्ड ने अपने अनुभव से रोगमुक्ति का उपाय उपवास माना है और उसने कई बार एक-एक महिने से ४५ दिनों तक उपवास किये हैं। जैनियों में उपवास की परंपरा तो बहुत बड़े पैमाने में धार्मिक रूप से चल रही है। पर उपवास के बाद पारणा कैसे किया जाय, इसका वैज्ञानिक ज्ञान बहुत कम पाया जाता है जिससे उपवास के शरीर-स्वास्थ्य के लाभ से वंचित रह जाते हैं। इतना ही नहीं, कई बार तो उपवास और तपस्या करने वाले बीमार हो जाते हैं और कभी-कभी प्राणों को भी खो बैठते हैं। जैन-समाज के संत-साध्वियों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए कि इस विषय के आधुनिक अनुसन्धानों को समझकर पारणे की विधि में उचित परिवर्तन करें और स्वयं भी इस विषय पर अनुसन्धान और प्रयोग करें।

उपवास के बाद बहुत कम आहार लेना चाहिए। उपवास के कारण जो मल सूख जाता है, वह निकल जाय, रुककर विकृति पैदा न करे ऐसा आहार लेना चाहिए। यदि सहज मल-निष्कृति न होती हो तो एनिमा द्वारा मल-शुद्धि करानी चाहिए। तपस्या का आध्यात्मिक मूल्य तो है ही पर शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयोग है। इस दृष्टि से इस विषय पर अध्ययन व अनुसंधान होना आवश्यक है।

जैन-साधना पद्धति में बारह तपों का वर्णन है। उनमें बाह्यतपों के जो नाम दिये गये हैं वे भी साधना में आहार को सीमित करने के पक्ष में हैं। इस दृष्टि से उन तपों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

अवमोदर्य—अवमोदर्य का अर्थ है भूख से कम खाना। इस विषय में आज का विज्ञान यह कहता है कि भूख से जितने लोग मरते हैं, उससे बहुत अधिक लोग ज्यादा खाने से मरते हैं। भूख से कम खाना स्वास्थ्य के लिए हितकर है।

अवमोदर्य यानी मिताहार की उपयुक्तता वैद्यकशास्त्र ने तो बतायी ही है। क्या प्राचीन, क्या आधुनिक सभी वैद्य, डाक्टरों ने मिताहार को स्वास्थ्यप्रद व दीर्घायु देने वाला बताया है। आँकड़ों से भी यह सिद्ध हुआ है कि कम खाने वाले दीर्घायु होते हैं।

अमेरिका का डा० मैकफेडन कहता है 'भोजन के बहाने खाद्य पदार्थों का जितना दुर्व्यय होता है उससे एक-चौथाई में भी काम बड़ी आसानी से चल सकता है। अकाल में भोजन के अभाव में जितने लोग मरते हैं उससे कहीं अधिक अनावश्यक भोजन से मरते हैं।'

आस्ट्रेलिया के डा० हर्नल का कथन है कि 'मनुष्य जितना खाता है, उसका एक-तिहाई भाग भी वह पचा नहीं सकता, पेट में बचा हुआ भोजन रक्त को विषैला बनाता है जिससे अनेक रोग होते हैं। जीवन-शक्ति को भोजन पचाने का तथा आमाशय में बचे अनावश्यक भोज्य पदार्थों से निर्मित विषों से शरीर को मुक्त करने का—ऐसे दो काम करने पड़ते हैं।'

प्राचीन वैद्यकशास्त्र में भी हितभुक्, मितभुक्, ऋतुभुक् को निरोगी कहा है। हमारे आचार्यों ने भी यही बात कही है। सुप्रसिद्ध आचार्य हरिभद्र ने ओघनिर्युक्ति में कहा है—

'हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जातिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा॥

—**ओघनिर्युक्ति** ५७८

जो हितभोजी, मितभोजी होता है उसे वैद्यों की चिकित्सा की जरूरत नहीं होती। वह अपना चिकित्सक स्वयं होता है।

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति में कहा है—

कालं क्षेत्रं मात्रां, स्वात्म्यं द्रव्य-गुरु लाघवं स्वबलम्।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यः भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य।

—**प्रशमरति** १३७

जो काल, क्षेत्र, मात्रा, आत्महित, द्रव्य की लघुता-गुरुता एवं अपनी शक्ति का विचार कर भोजन करता है उसे औषधि की जरूरत नहीं पड़ती।

आचार्य सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत में लिखा है—

यो मितंभुंक्ते स बहुभुंक्ते।

—**नीतिवाक्यामृत** २५/३८

जो कम खाता है, वह बहुत खाता है।

क्षमाश्रमण जिनभद्र ने बृहत्कल्पभाष्य में लिखा है—

अप्पाहारस्स न इंदियाई विसएसु संपत्तंति।
नेव किलम्मइ तवसा रसेसु न सज्जए यावि॥

अल्पाहारी की इन्द्रियाँ विषयभोगों की ओर नहीं दौड़तीं। तप करने पर भी क्लांत नहीं होती और न स्वादिष्ट भोजन में आसक्त होती है। आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १२६५ में लिखा है—

'थोवाहारो थोवभणियो य, जो होइ थोवनिद्दो य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो साधक कम खाता है, कम बोलता है, कम नींद लेता है और धर्मोपकरण की सामग्री कम रखता है उसे देवता भी नमन करते हैं।

वृत्तिसंक्षेप—वृत्तिसंक्षेप का आशय है—खाद्य वस्तुओं की संख्या कम करना। इससे स्वादविजय का लाभ होता है। आज के आहारशास्त्री भी कहते हैं कि परस्पर विरोधी गुण वाली बहुत सी चीजें स्वास्थ्य के लिए भी हानिकर हैं। बिना दूसरी वस्तु के मिलावट के एक वस्तु का आमिल आहार पाचन और स्वास्थ्य की दृष्टि से बड़ा लाभदायक माना गया है। जैनियों में आमिल यानी आयंबिल का बड़ा महत्त्व है। जैन पुराणों में मैनासुन्दरी ने अपने पति को आयंबिल द्वारा कुष्ट रोग से मुक्ति दिलाई थी। मोनोडायट (Monodiet) एक बार भोजन में एक ही प्रकार की चीज खाना स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम माना जाता है।

रस-परित्याग—रस-परित्याग में घी, दूध, मक्खन शहद तथा मद्य का त्याग आता है। आज का विज्ञान बताता है कि मक्खन, मलाई, दूध आदि का अतिसेवन हानिप्रद होता है। खासकर अधिक उम्रवालों के लिए तो हानिप्रद ही है। इसलिए रस-परित्याग का महत्व धार्मिक दृष्टि से शरीर स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। वसायुक्त पदार्थों से मोटापा आता है और खाने पर जड़ता आती है इसलिए साधना की दृष्टि से रस-परित्याग आवश्यक है। डॉक्टर भी स्निग्ध चीजों का अधिक उपयोग हानिकारक मानते हैं।

इस तरह जैन साधना में तप का स्थान महत्त्वपूर्ण है और बाह्य तपों में छः में से चार आहार विषयक हैं। शेष दो साधना की पार्श्वभूमि के रूप में आसन और एकांत साधना की दृष्टि से आवश्यक ही हैं।

इससे पता चलता है कि यदि आत्मसाधना करनी हो तो शरीर को स्वस्थ तथा साधना के लिए उपयुक्त बनाने में आहार का स्थान महत्त्वपूर्ण है और बाह्यतप द्वारा यही किया जाता है।

जिन्हें आत्मसाधना करनी है उनके लिए ऐसा आहार जो दूसरों को दुःख देने वाला, अथवा किसी के प्राण हरने वाला हो वह सर्वथा अयुक्त है। गुरु नानक ने कहा है कि कपड़े पर खून लगने पर वह गंदा होता है तो वह खून जब आहार में आवेगा तो मनुष्य को चित्तवृत्ति अवश्य ही मलिन होगी।

शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अनुसन्धान करने पर पता चला है कि मांसाहार से वनस्पत्याहार ही अधिक लाभदायक है। अमेरिका, ब्रिटेन की मेडिकल एसोशियेसनों ने अपने अनुसंधानों में बताया है कि मांस के प्रोटीन से वनस्पति के प्रोटीन अधिक स्वास्थ्यप्रद व सुपाच्य हैं।

प्राणीमात्र के प्रति मैत्री और आत्मीयता की साधना करने वाले साधक के लिए मांसाहार उचित नहीं हो सकता। स्व० डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था—युद्ध के मूल में मांसाहार है, जब व्यक्ति प्राणी के प्रति दया गँवा देता है तो वह मनुष्य के प्रति भी दयाहीन हो जाता है।

आहार-शुद्धि का आध्यात्मिक दृष्टि से महत्व बताते हुए महात्मा गांधी ने कहा था कि 'मनुष्य खाने के लिए पैदा नहीं हुआ और न खाने के लिए जीता है, बल्कि अपने को पैदा करने वाले को पहचानने के लिए पैदा हुआ है और उसी के लिए जीता है।' इसलिए साधक का आहार ऐसा हो जो शरीर को स्वस्थ रख सके और साधना में उपयोगी हो सके। शारीरिक स्वास्थ्य के साथ स्फूर्ति होना आवश्यक है तभी साधना में प्रगति हो सकती है।

इसलिए साधक का आहार ऐसा सात्त्विक और संतुलित होना चाहिए जिससे शरीर को स्वस्थ और स्फूर्तिमय रखने के लिए उपयुक्त द्रव्य प्राप्त हो सके। खाद्य तत्त्वों में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, जल, विटामिन तथा खाद्योज व खनिज लवण उचित मात्रा में होना आवश्यक है।

जिस भोजन में कार्बोहाइड्रेट दो-तिहाई, स्निग्ध या वसा छठवाँ हिस्सा और प्रोटीन तथा खनिज व खाद्य लवण का छठवाँ हिस्सा होता है वह संतुलित भोजन समझा जा सकता है। यदि हम इन द्रव्यों के गुणों और कार्य को समझ लें तो आहार कैसे लिया जाय यह समझने में आसानी होगी।

प्रोटीन का मुख्य कार्य शरीर का पोषण, संवर्धन, रक्षण और छीजन को दूर करना होता है। यह शक्ति दूध, दही, पनीर, हरी सब्जियों से प्राप्त होती है। वसा या स्निग्धतापूर्ण चीजें शरीर में गर्मी पैदा करने में काम आती हैं। यह दूध, दही, मक्खन व तेल से प्राप्त होती है। कार्बोहाइड्रेट, जो पोषण और गर्मी देता है, गेहूँ, चावल, जौ, ज्वार, मकई तथा बाजरे से प्राप्त होती है। गुड़ और चीनी से भी मिलता है।

खनिज लवण कैलशियम, पोटेशियम, लोहा, मैग्नेशियम, फास्फोरस आदि जो हड्डियों का मज्जा व रक्त के निर्माण और संचरण में सहायक होते हैं, ये फल और साग-सब्जियों से प्राप्त होते हैं। साधक को इसका प्रमाण आहार में अधिक रखना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विटामिन शरीर को स्वस्थ रखने तथा आहार का उचित मात्रा में वितरण कर रोगों से रक्षा करने वाला द्रव्य है। यह हरा धनिया, गाजर, मक्खन व सब्जियों से, गेहूँ आदि अन्नों के चोकर तथा निंबू, संतरा, आंवला आदि से प्राप्त होता है।

किससे कितनी केलरी मिलती है उसका वर्णन निम्नलिखित है—

१ ग्राम वसा या स्नेह	से प्राप्त होती है	९ केलरी
१ ग्राम कार्बोहाइड्रेट	,,	४ केलरी
१ बड़ी कटोरी दाल पतली	,,	१०० से ११० केलरी
१ टुकड़ा ब्रेड (२० ग्राम)	,,	५० केलरी
१ संतरा	,,	४० केलरी
१ आम	,,	१०० केलरी
१ चम्मच शकर (चाय का चम्मच)	,,	२० केलरी
१ ग्राम प्रोटीन	,,	४ केलरी
१ फुलका चुपड़ा हुआ	,,	१०० केलरी
३/४ कटोरी या ३० ग्राम सूखा चावल	,,	१०० केलरी
१ ग्लुकोज बिस्किट	,,	४० केलरी
१ केला	,,	४० से ५० केलरी
१ औंस हरी सब्जी	,,	१५ से २० केलरी
१ औंस मलाई रहित दूध	,,	२० केलरी

१०० ग्राम अनाज या दाल (गेहूं चावल, अरहर, बाजरा, चना, मूंग आदि) ३५० केलरी

सामान्यतया साधक के भोजन में प्रोटीन (५० से ७० ग्राम) २८० केलरी, स्नेह (४० ग्राम) ३६० केलरी, कार्बोहाड्राइट (३०० ग्राम) १२०० केलरी, होना चाहिए जो लगभग ५० साल की उम्र वाले और सामान्य परिश्रम करने वाले के लिए पर्याप्त होता है।

साधक के लिए कितने केलरी आहार की दैनिक आवश्यकता होगी? यदि वह किशोर और युवा है तो २३०० केलरी, प्रौढ़ ५० से ६० वर्ष की उम्र का हो तो २००० केलरी, और वृद्ध ६० से ७५ वर्ष उम्र का हो तो १५०० केलरी। इसमें भी जो शारीरिक श्रम नहीं करते उन्हें इससे भी कम केलरी आहार पर्याप्त हो सकता है और जो अधिक शारीरिक श्रम करते हैं वे इससे कुछ अधिक ले सकते हैं। कहाँ से कितनी केलरी मिल सकती है यह निम्न-लिखित तालिका से पता लग सकता है :

सामान्यतया यह आहार साधक के लिए उपयुक्त हो सकता है। दूध बिना शकर का १ प्याला, १ खाकरा; या १०० ग्राम फल सवेरे अथवा ब्रेड १ स्लाइस।

दोपहर को दो फुलके, दाल १ कटोरी (लगभग आठ बड़े चम्मच), उबली सब्जी १५० से २०० ग्राम, कचूबर ५० ग्राम, छाछ १ ग्लास या दही एक कटोरी।

शाम को ४ बजे १ दूध का ग्लास या फल का रस। शाम को ६ बजे २ फुलके या १ कटोरी भात, उबली सब्जी, दाल, कचूबर, छाछ या दही, घी-तेल १ चम्मच से अधिक न हो।

इस आहार से १५०० केलरी मिल सकती हैं और प्रोटीन, वसा, विटामिन तथा खनिज द्रव्य उचित मात्रा में मिल सकते हैं। यह संतुलित आहार है। जितनी केलरी अधिक बढ़ानी हों आहार की मात्रा बढ़ाने से मिल सकती है। मिर्चें-मसाला, शकर आदि त्याग सकें तो अच्छा।

इस आहार से शरीर स्वस्थ रहकर ध्यान में स्फूर्ति रह सकती है। यदि गरिष्ठ आहार होता है तो ध्यान में तन्मयता नहीं होती। या तो ध्यान में ग्लानि आती या नींद; जबकि ध्यान में सजग और अप्रमत्त रहना आवश्यक होता है।

साधना की सफलता से लिए स्वस्थ शरीर होना आवश्यक है और शरीर को स्वस्थ्य और कार्यक्षम रखने के लिए आहार का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसलिए जिन्हें साधना करनी हो उन्हें भोजन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। ★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जप-साधना और मनोविज्ञान

□ डॉ. ए. डी. बत्तरा, एम.ए., पी-एच.डी.

भारतीय सांस्कृतिक सम्पदा विभिन्न दृष्टिकोणों से धर्म के द्वारा प्रभावित है। भारतीय वातावरण में धर्म की व्याख्या करना कठिन है। उसी प्रकार धर्म के विभिन्न अंगों सम्बन्धी वैज्ञानिक परिभाषा देना तो कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी है। धर्म और संस्कृति के साथ-साथ भारतीय जीवन में अनेक साधना-पद्धतियों का विकास हुआ है। इन साधना-पद्धतियों में ऐतिहासिक काल-क्रम के अनुसार भेद और विविधता एक आवश्यक अंग-सा बन गयी है। उसी प्रकार भारत के मुख्य धर्म और प्रत्येक धर्म के साथ-साथ छोटे-छोटे सम्प्रदाय अपनी-अपनी विशेषताएँ लिये अपने-अपने अनुयायियों के साथ समाज में स्पष्ट रूप से दीखते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में जीवन के प्रत्येक आयाम को विज्ञान और प्रयोगशाला की भाषा में देखने का प्रयत्न आधुनिक मानव की एक विशेषता है। भारत की ये बहुत-सी साधना-पद्धतियाँ विश्व की वैज्ञानिक परिभाषा में कहाँ तक खरी उतरेंगी यह एक जिज्ञासा का विषय है। परन्तु अनादिकाल से विभिन्न स्वरूप में प्रस्थापित पद्धतियों और परम्पराओं को साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक और प्रायोगिक स्वरूप में मान्यताएँ प्राप्त हैं। विश्व की, धर्म की दृष्टि से बढ़ती हुई जिज्ञासा, प्रायोगिक पद्धति की ओर प्रवृत्ति एवं चिकित्सात्मक दृष्टि से मनुष्य की जिज्ञासा व भावनाओं को प्रभावित करने वाले धार्मिक दृष्टिकोण की इस समय आवश्यकता है। धर्म के प्रति रुचि का स्वरूप यद्यपि बदल गया है, तथापि विश्व में अधार्मिक व्यक्तियों की संख्या बढ़ गयी है, ऐसा हम नहीं कह सकते। परम्परागत सिद्धान्त जीवन के बदलते आयामों के साथ बदलते मूल्यों के प्रभाव को ध्यान में रखकर यदि न किये गये तो आधुनिक मानव की धर्म की ओर उदासीनता और अरुचि बढ़ने की सम्भावना है। इसका उत्तरदायित्व धर्म के प्रति आस्था रखने वाले लोगों पर निश्चित रूप में है। धर्म का समग्र स्वरूप में और धर्म की विविध अवस्थाएँ तथा अंगों का मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक स्पष्टीकरण अति आवश्यक है। दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन से बुद्धिजीवी आधुनिक मानव का समाधान कठिन है।

प्रस्तुत निबन्ध में धर्म ने जप सम्बन्धी जो विचार प्रस्थापित किये हैं उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है। प्रायः विश्व के सभी धर्मों में "जप" का किसी न किसी रूप में उल्लेख और उपयोग होता है। जप के लिए मन्त्र-माला जिस प्रकार हिन्दुओं ने प्रस्थापित किये उसी प्रकार मुसलमानों ने 'तसबीह', ईसाइयों ने 'रोसरी' और तिब्बत के लोगों ने 'चक्र' का उपयोग किया। सभी धर्मों में महत्त्वपूर्ण विषय किसी एक विशेष मन्त्र का निश्चित और नियमित रूप में उच्चारण करना है। भारत में विकसित और प्रस्थापित पद्धति का ही हम यहाँ पर विवेचन करेंगे। इस निबन्ध में जप सम्बन्धी विविध ग्रन्थों में उपलब्ध ज्ञान की पुनरावृत्ति करने का हेतु नहीं है। परन्तु उस प्रणाली का मनुष्य के जीवन पर पड़ने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभाव का विवेचन करना हमारा मुख्य लक्ष्य है। धार्मिक साहित्य में विशद विवरण उपलब्ध है। उसका अति संक्षिप्त उल्लेख करने का हेतु मात्र इतना ही है कि धर्म द्वारा प्रस्थापित मान्यताएँ हमें स्वीकृत हैं।

भारतीय धर्मों में धर्म की दार्शनिक और प्रायोगिक दो विधाएँ हैं। जप धर्म की एक प्रायोगिक विधा है और बहुत ही गहनरूप से इसका विश्लेषण किया गया है। जप के स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम भेद किये गये हैं जो भारतीय प्रायोगिक मन का एक संकेत है। उसी प्रकार शास्त्रों में स्थान, समय, वस्त्र, दिशा, बैठने का स्थान, मानसिक अवस्था, मन्त्र सम्बन्धी निश्चित भावना आदि का भी बड़े सूक्ष्म ढंग से विवेचन किया गया है। श्रद्धा, धैर्य, भक्ति, विनय आदि का भी उल्लेख इस संदर्भ में उपलब्ध है। विभिन्न धर्मों में जप-मन्त्रों और विधि का भी बड़ा स्पष्ट उल्लेख है। इसी के साथ-साथ जप-माला का भी निर्देश किया गया है। विशेष रूप से तुलसी की माला का उपयोग और कुछ विशेष अवस्थाओं में रुद्राक्ष की माला का भी निर्देश है। चन्दन, सीप, मोती मूँगा, अकलबेल, वैजयन्ती आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की मालाओं का भी अपनी आवश्यकतानुसार साधक उपयोग करते हैं। आजकल काँच और प्लास्टिक की मणियों का भी उपयोग होने लगा है। कुछ लोगों ने अँगुली के पर्वों से जप करने की पद्धति भी प्रस्थापित की है। अँगुली के पर्वों से जप करना आवर्त जप कहलाता है। उसमें पाँच प्रकार के आवर्तों का उल्लेख है :

(१) आवर्त
(२) शंखावर्त
(३) नन्दावर्त
(४) ओं आवर्त
(५) ह्रीं आवर्त

जप पद्धति में आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से तीन महत्त्वपूर्ण अंग दृष्टिगोचर होते हैं। पहली महत्त्वपूर्ण बात, जप करने वाले की भावना, दूसरी उसका हेतु और तीसरी महत्त्वपूर्ण बात, अपने हेतु के साध्य करने के लिए प्रयत्न करने की शारीरिक व मानसिक अवस्थाओं का नियन्त्रण। मनोविज्ञान के प्रस्थापित नियमों के अनुसार संवेग की स्थिति में मनुष्य अपने शरीर पर वांछित नियन्त्रण नहीं रख सकता। शैक्षणिक प्रक्रिया में शरीर का शान्त और शुद्ध होना आवश्यक माना गया है। विद्या-अध्ययन करने वाला विद्यार्थी शान्त और स्वच्छ जगह की खोज करेगा। भोजन करते समय हम हाथ आदि धोकर स्वच्छ पात्रों में प्रसन्नमन से भोजन करने का प्रयत्न करते हैं। आधुनिक युग में बड़े-बड़े होटलों में भोजन के समय शान्त और मधुर संगीत, बहुत ही धीमा प्रकाश और ऋतु अनुकूल वातावरण के अनुसार तापमान पर नियन्त्रण कर लोग डेढ़-दो घण्टे तक धीरे-धीरे भोजन का आस्वादन करते हैं। यदि हम अध्ययन, भोजन आदि के लिए शान्त और निर्मल वातावरण की अपेक्षा करते हैं तो जप, ध्यान आदि के लिए भी इसी प्रकार के वातावरण की अपेक्षा करना अवांछित न होगा।

जप में दूसरी एक महत्त्वपूर्ण अवस्था शरीर की है। प्रायः सभी शास्त्रकारों ने 'आसन' शब्द का उपयोग किया है। लौकिक भाषा में लोगों ने बैठने की अवस्था के साथ-साथ जिस दरी या कम्बल के टुकड़े पर हम बैठते हैं उसे भी आसन के नाम से सम्बोधित करना आरम्भ कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि बैठने के लिए उपयोग में आने वाला कम्बल, चादर या वस्त्र स्वच्छ होना चाहिये, परन्तु महत्त्वपूर्ण बात शरीर की अवस्था है। साधारणतया साधना की प्रारम्भिक अवस्था में बैठकर ही जप करना मनोविज्ञान के नियम के अनुसार उचित माना जायेगा। सम्भवतः स्थूल जप का अर्थ भी यही है और स्थूल जप करते समय यदि साधक का ध्यान अपने शरीर के आसन की ओर गया (जंघों का शून्य होना, कमर पर तनाव पड़ना, ग्रीवा भाग में खिंचाव होना, पेट में विकार होने के कारण वायु को और डकारें वगैरह आना) तो इच्छा न रहते हुए भी मन्त्र की ओर से ध्यान अवश्य हटेगा। अतएव मन्त्र-जाप के संकल्प के समय शरीर की बाह्य और आन्तरिक दोनों अवस्थाओं पर नियन्त्रण अभिप्रेत है और शरीर पर नियन्त्रण थोड़े से अभ्यास के साथ स्वाभाविक रूप से आना चाहिए। एक बार जाप आरम्भ हुआ कि शरीर की ओर से, वातावरण की ओर से ध्यान हटना बहुत जरूरी है। सम्भवतः इसीलिए सभी परम्पराओं में किसी न किसी रूप में आसनों को स्वीकार किया है, परन्तु किसी एक विशेष आसन का उल्लेख आवश्यक नहीं समझा गया है। आहार-शुद्धि इत्यादि का भी अप्रत्यक्ष स्वरूप से उल्लेख अभिप्रेत है।

शान्त बैठने के अभ्यास के साथ-साथ स्वाभाविक रूप में मन्त्र की ओर ध्यान जाना आवश्यक है। भारत जैसे विचित्र देश में इस परम्परा में विविध प्रकार के मन्त्रों का संकलन उपलब्ध है (बीज अक्षरों से लेकर स्तोत्रों तक)। साथ ही इन मन्त्रों के जाप से होने वाले शुभ-अशुभ परिणामों का भी स्पष्ट विवरण उपलब्ध है। तर्क की दृष्टि से कुछ बातें समझ पाना बड़ा कठिन है। सम्भवतः मनुष्य की किसी असहाय अवस्था में कुछ धर्म-गुरुओं में इच्छा-पूर्ति मन्त्र तैयार कर दिये होंगे। परन्तु धर्म के सही स्वरूप को देखते हुए हमें ऐसा आभास होता है कि यदि सूक्ष्मतम अवस्था जप की श्रेष्ठ अवस्था है तो सभी जप अपने मन की शान्ति के लिए ही स्वीकृत होंगे। सहज, उपांशु, स्वाभाविक और साक्षीभाव प्रायः पर्यायवाची अवस्थाओं के नाम हैं जो साधक की प्रगति की ओर इंगित करते हैं और यह प्रगति मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके अनुसार मूलतः मानव आत्म-केन्द्रित होता है। जप इसी भावना को विकसित करने में सहायता करता है। अतः शास्त्रीय आधार को ध्यान में रखकर हम यह कह सकते हैं कि जप मनुष्य की एक ऐसी अवस्था लाने में सहायक हो सकता है जो उसके लिए और उसके सामाजिक जीवन के लिए बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हो सकती है। जप के द्वारा किस प्रकार मनुष्य का जीवन स्वयं के लिए और समाज के लिए उपयोगी है। इसका हम संक्षिप्त में विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूल रूप से दीखने वाली क्रिया जिसमें एक ही शब्द, अक्षर, या मन्त्र का पुनरुच्चार किया जाता है, जप कहलाता है। साधारणतया जब एक ही शब्द अथवा भावना का सतत और नियन्त्रित रूप में उपयोग किया जायेगा तो उसका स्वयं के शरीर में एक प्रकार का प्रवाहात्मक संचरण आरम्भ होगा। मनोविश्लेषण प्रणाली में जब रोगी की उसके रोग के विषय में शान्त स्वरूप में अधिक से अधिक विचार केन्द्रित करने को प्रेरित किया जाता है और एक ही भावना या कल्पना या विचार के सम्बन्ध में चिन्तन करने को कहा जाता है तो कुछ अर्थों में वहाँ जप की प्रक्रिया को ही अप्रत्यक्ष रूप से उपयोग में लाया जाता है। जप प्रक्रिया में साधक मन्त्र द्वारा सतत पुनरुच्चार करने के कारण मन्त्र की भावना के साथ एकात्मरूप होने का प्रयत्न करता है और एक ऐसी अवस्था लाने का प्रयत्न करता है जिसमें मन्त्र के सम्बन्ध में सभी भावनाएँ साकाररूप में उसके सामने खड़ी हो जाती हैं। साक्षीभाव का भी यह एक स्वरूप है। कतिपय उपनिषदों में प्राणायाममय जप अथवा ध्यानमय जप का उल्लेख है। आधुनिक युग में कुछ लोगों ने लिखकर जप करने के प्रयोग भी किये हैं जिसे लेखनात्मक जप के नाम से सम्बोधित किया जाता है। हेतु इतना ही है कि एक ही विचार के साथ अधिकाधिक रूप में सम्पर्क जागरूक अवस्था में बना रहे। माला फेरने का हेतु और जोर-जोर से बोलने का हेतु भी यही है कि एक ही विचार का यथासम्भव, यथाशक्ति प्रवाह बना रहे। इस प्रवाह में इच्छाशक्ति और भावना का बड़ा महत्त्व है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि जप द्वारा अभिप्रेत प्रवाहित अवस्था में सातत्य रखा जा सकता है और मन्त्र उसके लिए एक उपयुक्त साधन है। उसी प्रकार जप के सम्बन्ध में अपनी भावना और विचार स्पष्ट होना बहुत आवश्यक है।

एक महत्त्वपूर्ण बात है जो जप के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की अपेक्षा करती है वह है साधना-पद्धति में माला, जप, मन्त्र आदि का महत्त्व। ये सभी साधन के स्वरूप में स्वीकार किये गये हैं। साधन अनेक प्रकार के हो सकते हैं, अतः साधनों के सम्बन्ध में विवाद व्यर्थ है। आवश्यकता और सामर्थ्य के अनुसार लाभ लेने की वृत्ति साधक पर निर्भर करेगी। आधुनिक युग में कुछ लोगों ने जो आलोचना की है उस ओर संकेत करने से पहले हम कबीर के प्रसिद्ध वचन की ओर ध्यान देंगे।

'माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर।
कर का मनका छांड़ि दे, मन का मनका फेर॥

एक बात तो स्पष्ट है कि प्राचीन युग से आज तक इस क्रिया का विरोध नहीं किया गया है वरन् क्रिया के विकृत रूप का विरोध ही किया गया है। इसलिए जैसा कि हमने ऊपर संकेत दिया है, मन्त्र, माला, आसन, स्थान आदि का महत्त्व जप की दृष्टि से गौण है। महत्त्वपूर्ण बात जप की भावना है और भावना को सदा सामने रखने के लिए जप एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। साधक अपने लक्ष्य की ओर जागरूक अवस्था में जप द्वारा ही आगे बढ़ सकता है। उसका स्वरूप देश, काल, धर्म, अवस्था और आवश्यकतानुसार स्वीकार किया जा सकता है।

मनोविज्ञान की प्रयोगशालाओं में जप और ध्यान का शरीर और बुद्धि पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में कुछ प्रयोग हो रहे हैं। उसी प्रकार जप का श्वास-प्रश्वास, रक्त-प्रवाह और पाचन-क्रिया पर प्रभाव भी अभ्यास के विषय हैं। जप में शरीर जिस शिथिल अवस्था को प्राप्त होता है उस अवस्था को संवेगात्मक रोगों से बचने के लिए प्रस्थापित करना बहुत आवश्यक है। आज के प्रतियोगिता और तनावपूर्ण वातावरण में जप सम्बन्धी प्रायोगिक खोज की नितान्त आवश्यकता है। यद्यपि इस निबन्ध का विषय रोग-निवारण नहीं है, तथापि उसका वर्णन किये बिना भी इस चर्चा को नहीं छोड़ा जा सकता। अतएव प्राचीन आचार्यों की जप सम्बन्धी धारणाओं को आधुनिक विज्ञान और प्रयोग की भाषा में स्वीकार करने में सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई कठिनाई नहीं है। धर्म की इस विधा का जन-जन के लिए उपयोग हो सकता है।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जप-साधना

□ मुनिप्रवर कुन्दकुन्दविजयजी

कोई भी विज्ञ मानव जब किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब उसे उस कार्य के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा ही ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य द्वार है। जिज्ञासा में हार्दिक नम्रता अपेक्षित है। हार्दिक नम्रता से सुपात्र आत्मा अगम्य अलौकिक तत्त्वों को सम्यक् प्रकार से समझने में समर्थ बनता है। दैवी संपत्ति की सभी बातें केवल बुद्धि से समझी नहीं जा सकतीं। उसके लिए उच्च तत्त्वों के प्रति समर्पित होने की आवश्यकता है।

यह परम सौभाग्य की बात है कि वर्तमान युग में नमस्कार महामन्त्र के जाप के सम्बन्ध में कितने ही सुपात्र व्यक्तियों की विशेष जानने की भव्य भावना जाग्रत हो रही है। उसी दृष्टि से हम यहाँ कुछ चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं।

सर्वप्रथम हमें यह चिन्तन करना है कि नमस्कार महामन्त्र का जाप किसलिए किया जाना चाहिए। अनेकानेक अनुभवी तत्त्वदर्शियों ने इसकी महिमा-गरिमा का गौरव-गान किसलिए किया है ? समाधान है कि हमें जो मानव-जन्म मिला है उसका अत्यधिक महत्व है। यह जीवन खाने-पीने, ऐश-आराम के लिए नहीं है और न ही धन को एकत्रित करने के लिए है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन की वृत्तियाँ तो पशुओं में भी पायी जाती हैं। मानव जीवन का लक्ष्य है आत्मा से परमात्मा बनना, नर से नारायण बनना और इन्सान से भगवान बनना। अन्य किसी भी जीवयोनि में वह सामर्थ्य नहीं है जो भगवान बन सके। भगवान बनने का सामर्थ्य केवल मानव को ही प्राप्त है।

इसी दृष्टि से मूर्धन्य मनीषियों ने जीवों की भूमिका और योग्यता की दृष्टि से आत्मविकास के अनेक उपाय बताये हैं। आत्मविकास के सभी कारणों के मूल में नमस्कार महामन्त्र रहा हुआ है। नमस्कार महामन्त्र के सहारे ही जीवन का सही विकास हो सकता है और नमस्कार महामन्त्र की आराधना व साधना में आगे बढ़ते हुए क्रमशः गुणस्थानों को प्राप्त कर अन्त में जीव परमात्म-पद प्राप्त करने में समर्थ होता है।

अनुभवी सद्गुरु के द्वारा विधिपूर्वक प्राप्त नमस्कार महामन्त्र का पुनः-पुनः स्मरण करना 'जाप' है। इस जाप की संख्या में जैसे-जैसे विकास होता है वैसे-वैसे उसके साक्षात् प्रभाव का अनुभव होता है।

यह सत्य तथ्य है कि धर्म का वास्तविक प्रारम्भ नमस्कार से होता है।[1] जब हम अपने से श्रेष्ठ सद्गुणियों को वन्दन करने की वृत्ति वाले बनते हैं तब हमारी आत्मा पर लगी हुई पाप की कालिमा कम होने लगती है, जिससे हम में धर्म को ग्रहण करने की पात्रता आती है। धर्म अमृत है। जब तक हमारा अन्तःकरण राग-द्वेष, ईर्ष्या-असूया, अहंकार आदि दोषों से परिपूर्ण रहेगा तब तक वह अमृत उसमें प्रविष्ट भी नहीं हो सकता। घड़े में शक्कर डालनी है तो सर्वप्रथम उसे खाली करना होगा, उसमें जो कूड़ा-कचरा है उसे निकालना होगा। तभी उसमें शक्कर डाली जा सकेगी। इसी प्रकार अन्तःकरण में से विकार रूपी कूड़े-कचरे को निकालेंगे तभी नमस्कार मंत्ररूप शक्कर उसमें भर सकेंगे। अनन्तगुणों के पुञ्ज अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु भगवन्तों को शुद्ध भाव से हम प्रणाम करते हैं तब हमारे हृदय में धर्म प्रविष्ट होता है। अतः सर्वप्रथम नमस्कार करने का विधान है। अचिन्त्य और अनन्त शक्ति से परिपूर्ण परमेष्ठी के प्रति विनम्र बनकर जीव भक्तियुक्त परिणाम वाला बनता है, जीव की भक्ति और परमात्म-तत्त्व की अचिन्त्य शक्ति इन दोनों का सुमेल हो जाने से आत्मा में अपूर्व जागृति आती है।

विकास क्रम की इतनी अत्यधिक भूमिकाएँ हैं कि हम उन्हें संख्या की परिधि में नहीं बाँध सकते। आत्मा चाहे किसी भी भूमिका में हो लेकिन जब वह नमस्कार महामन्त्र से वासित अन्तःकरण वाला होता है, तब वह अपनी वर्तमान भूमिका से क्रमशः उच्चतर पद को प्राप्त करता जाता है अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से विकास करता हुआ आत्मा चतुर्दश गुणस्थान तक पहुँच जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे अन्न भण्डार में पड़े हुए अन्न में अंकुर प्रस्फुटित नहीं होता, किन्तु वही अन्न जब कृषक खेत में वपन करता है, उसे पानी, खाद, हवा और प्रकाश आदि सामग्री की सम्प्राप्ति होती है तो वह नन्हा-सा बीज विराट पौधे का रूप धारण कर लेता है और अगणित अन्न के दाने प्रदान करता है। हमारे अन्तःकरण में भी अनन्त सद्गुणों के बीज भरे पड़े हैं। जब तक योग्य सामग्री उपलब्ध नहीं होती तब तक वे प्रकट नहीं हो सकते। हमारे अन्तःकरण में नमस्कार महामन्त्र के प्रति हार्दिक सद्भावना, भक्ति जागृत होगी तब उन सद्गुणों को विकसित होने का अवसर प्राप्त होगा। नमस्कार महामन्त्र के जाप से आत्मा में रहे हुए अनन्त सद्गुणों को प्रकट होने का अवसर मिलता है और अन्त में जीव सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर अनन्त आनन्दरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। एतदर्थ ही नमस्कार महामन्त्र की चूलिका में बताया है कि पंच परमेष्ठी को किया गया नमस्कार सर्वपापों को नष्ट करता है और विश्व के सर्वमंगल-भूत पदार्थों में वह सबसे श्रेष्ठ मंगलरूप है। इस विराट विश्व में जितने भी दुःख, क्लेश, अशांति, रोग, शोक आदि कष्ट हैं वे सभी पाप से उत्पन्न होते हैं। पाप के नष्ट होने से पाप के फलरूप दुःखों का भी स्वतः नाश हो जाता है और अन्त में आत्मा का आनन्द ही अवशेष रहता है।

नियमित समय पर निरन्तर जाप का अभ्यास करने से साधक को ऐसा अनुभव होने लगता है कि जिन दोषों की पहले प्रधानता थी वे क्रमशः क्षीण हो रहे हैं; और सद्गुण विकसित हो रहे हैं। नमस्कार महामन्त्र के जाप से मन में अपार प्रसन्नता पैदा होती है जो प्रसन्नता कभी भी नष्ट नहीं होती।[२] जब मानव के मन में प्रसन्नता अंगड़ाइयाँ लेती है तब उसके चित्त की संक्लिष्टता नष्ट हो जाती है। संसार के अधिकांश प्राणी मन की प्रसन्नता के अभाव में ही विविध प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहे हैं। नमस्कार महामन्त्र के जाप से जो प्रसन्नता समुत्पन्न होती है उस प्रसन्नता का वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे जंगल में भी मंगल प्रतीत होता है और चक्रवर्ती सम्राट से भी अधिक वह आनन्द का अनुभव करता है। जहाँ मन में प्रसन्नता होती है वहाँ सुख-शांति की बंशी बजने लगती है।

मानव-मन के दो मुख्य दोष हैं—पहला, अप्रसन्नता और दूसरा, चंचलता। जब मानव के अन्तर्मानस में स्नेह सद्भावना का समुद्र ठाठें मारने लगता है तो अप्रसन्नता स्वतः ही नष्ट हो जाती है। वह स्वार्थ से हटकर परमार्थ की ओर प्रवृत्त होता है। परमेष्ठी के जाप में वह सामर्थ्य है कि अप्रसन्नता उसके सामने आ ही नहीं सकती। उसके जीवन में राग-द्वेषरूपी दोष नष्ट हो जाने से सदा प्रसन्नता का ही साम्राज्य रहता है। मन का दूसरा दोष चंचलता है। बन्दर की तरह मन भी एक क्षण स्थिर नहीं रहता। उसे ज्यों-ज्यों स्थिर करने का प्रयास किया जाता है त्यों-त्यों वह अधिक चंचल बनता जाता है। नमस्कार महामन्त्र के जाप से साधक के अन्तर्मानस में ये विचार अंगड़ाइयाँ लेने लगते हैं कि सांसारिक पदार्थ सुख के कारण नहीं किन्तु दुःख के कारण हैं। अतः उसकी मिथ्या आसक्ति उन पदार्थों से हटने लगती है, परिणामस्वरूप मन स्थिर होने लगता है। अतः नमस्कार के जाप का अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

शांतचित्त से बहुमानपूर्वक प्रातः व सन्ध्या के समय एकान्त शान्त स्थान पर बैठकर प्रसन्नमन से जाप करना चाहिए। जाप करते समय ऊन के आसन पर बैठना चाहिए। आसन का रंग श्वेत होना चाहिए। माला भी श्वेत सूत की होनी चाहिए। वस्त्र भी रंग-बिरंगे न होकर श्वेत, शुद्ध व खादी के होने चाहिए। श्वेत वर्ण शुक्लध्यान का प्रतीक है। शांति के कार्यों के लिए आचार्यों ने विशेषरूप से उसका विधान किया है। जाप करते समय मुँह पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की तरफ रखना चाहिए। कुछ साधकों को साधना के प्रारम्भ में बाह्य आलंबन की आवश्यकता होती है किन्तु कुछ समय के पश्चात् शरीर में ही हृदयकमल आदि स्थानों में कल्पना से नमस्कार के अक्षरों की संस्थापना करके मन को एकाग्र किया जा सकता है।

जाप करते समय शरीर को पूर्ण स्थिर रखना चाहिए। मेरुदण्ड सीधा रहे। सुखासन, पद्मासन, पर्यंकासन किसी भी आसन का उपयोग किया जा सकता है, पर यह ध्यान रहे कि उस आसन से बैठा जाय जिससे कष्ट न हो और दीर्घकाल तक सुखपूर्वक उस आसन से बैठा जा सके। जाप करते समय साधक का ध्यान नमस्कार महामन्त्र के अक्षरों पर होना चाहिए। यदि मन में किसी प्रकार का संक्लेश है तो प्रारम्भ में सुमधुर राग से भाष्यजप करना चाहिए। उसके बाद उपांशुजप करना चाहिए और उसके बाद मानसजप। जाप में एकाग्रता साधने के लिए यह पद्धति अत्यधिक श्रेष्ठ है। मानसजप के कुछ समय पश्चात् नेत्रों को बन्द कर मन को हृदयकमल पर स्थापित करना चाहिए। उस समय यह कल्पना की जा सकती है कि हृदय एक विकसित कमल के समान है। उस कमल की आठ पंखुडियाँ हैं। उस कमल के मध्य में एक कर्णिका है। उस कर्णिका में देदीप्यमान ज्योतिस्वरूप अरिहन्त भगवान विराजमान हैं।[३] उस कर्णिका में "नमो अरिहंताणं" इस प्रकार हीरे की तरह चमचमाहट करते हुए श्वेतवर्ण के सात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्षर हैं और आठ पंखुड़ियों पर "नमो सिद्धाणं" "नमो आयरियाणं" "नमो उवज्झायाणं" "नमो लोए सव्वसाहूणं" "नमो नाणस्स" "नमो दंसणस्स" "नमो चरित्तस्स" "नमो तवस्स" इन पदों की संस्थापना का ध्यान करना चाहिए।

जाप व ध्यान में कभी भी शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। धैर्य से आगे बढ़ना चाहिए। प्रारम्भ में पाँच-दस मिनट का समय ही पर्याप्त है। ज्यों-ज्यों आनन्द की अभिवृद्धि होगी त्यों-त्यों समय स्वतः ही बढ़ जायेगा। यह सत्य है कि प्रारंभिक स्थिति में मन जाप में जैसा चाहिए वैसा नहीं लगता किन्तु नियमित व सतत अभ्यास से मन पूर्ण-रूप से स्थिर हो जाता है। और एक दिन वह स्थिति आ जाती है कि निरन्तर बिना प्रयास के भी जाप चलता रहता है जिसे महर्षियों ने अजपाजप कहा है। एतदर्थ ही आचार्यों ने कहा हैं—**"जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिर्न संशयः।"**

विधिवत् जाप को प्रारम्भ करने से तीव्र गति से प्रगति होने लगती है। मन की अत्यधिक प्रसन्नता से क्लेश दूर हो जाते हैं। क्लेशयुक्त मन ही संसार है और क्लेशरहित मन ही मोक्ष है। अज्ञानी मानव संपत्ति में सुख मानता है, किन्तु संपत्ति विपत्ति का मूल है। नमस्कार महामन्त्र का स्मरण आत्मदशा का स्मरण है, आत्मविकास का प्रथम सोपान है और जीवन का चरम विकास भी। कल्पना कीजिए, एक महाविद्यालय है। उसमें प्रारंभिक वर्णमाला का अभ्यास भी प्रारम्भ किया जाता है और अंतिम पदवी समारोह भी। इसी तरह धर्म का प्रारम्भ भी नमस्कार महामन्त्र से ही होता है और पूर्णाहुति भी नमस्कार महामंत्र से ही होती है। अरिहन्त भगवान भी "नमो सिद्धाणं" का स्मरण करते हैं। नमस्कार महामन्त्र का स्मरण ही भावजीवन है और उसका विस्मरण ही भावमृत्यु है। नमस्कार महामन्त्र का स्मरण ही सच्ची संपत्ति है क्योंकि हमारी आत्मा में ही परमात्म-तत्त्व रहा हुआ है। आत्मा के आवरण को हटाने के लिए और स्व-स्वरूप का संदर्शन करने के लिए नमस्कार महामन्त्र का जाप अपेक्षित है।

हम पहले बता चुके हैं कि नमस्कार महामन्त्र का जाप करने वाले साधक को सतत अभ्यास करना चाहिए। सामान्य साइकिल, मोटर आदि वाहन चलाने जैसी प्रवृत्ति के लिए भी सतत अभ्यास आवश्यक है। विश्वविश्रुत महान् योद्धा, जादूगर, जो अपने चमत्कार से जनमानस को चमत्कृत कर देते हैं वे एक दिन के अभ्यास से नहीं, किन्तु दीर्घ काल के सतत अभ्यास से ही ऐसा करने में सक्षम बनते हैं। उसी प्रकार साधक को भी निरन्तर अभ्यास अपेक्षित है। उसे धैर्यपूर्वक अत्यन्त सम्मान के साथ नमस्कार महामन्त्र का जप करना चाहिए। जप-साधना से जीवन में पवित्रता और निर्मलता आती है और यह साधक के लिए बहुत ही आवश्यक है।

सन्दर्भ तथा सन्दर्भ स्थल—

१ धर्म प्रति मूलभूता वन्दना।
—श्री ललित विस्तरा

२ चित्तरत्नमसंक्लिष्टमान्तरं धनमुच्यते।
—श्री अष्टप्रकरण

३ जेह ध्यान अरिहंत को तेहिज आतम ध्यान।
फेर कुछ इणमें नहीं एहिज परम निधान॥

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



कुण्डलिनी योग : एक विश्लेषण

☐ योगाचार्य स्वामी कृपाल्वानन्द

१. योग की परिभाषा और उसकी स्पष्टता

योग की परिभाषाएँ अगणित हैं। इनमें मुख्य तीन परिभाषाएँ अत्यन्त अर्थपूर्ण और प्रिय प्रतीत होती हैं। दो परिभाषाएँ हैं श्रीकृष्ण की—(१) "समता ही योग है।"[1] (२) "कर्माचरण में निपुणता का नाम योग है।"[2] तीसरी परिभाषा है महर्षि पतञ्जलि की—"चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है।"[3] श्रीकृष्ण की दो परिभाषाएँ इन्द्रिय-निग्रह की प्रबोधक हैं और महर्षि पतंजलि की परिभाषा मनोनिग्रह की प्रबोधक है। यदि इन तीन परिभाषाओं का समन्वय करके एक ही परिभाषा बनायी जाय तो इसमें इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिग्रह का समावेश हो जायेगा। योग-कुण्डल्युपनिषद् में कहा है—"चित्त की अस्थिरता के दो कारण हैं—पहला कारण है वासना और दूसरा है वायु। इनमें से यदि एक का विनाश होता है तो दूसरे का भी विनाश हो जाता है।"[4]

वासनाएँ मन में होती हैं और वायु समस्त शरीर में।

श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में दो प्रकार की निष्ठाओं का निर्देश किया है—ज्ञाननिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा।[5] ज्ञाननिष्ठा का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों के साथ और कर्मनिष्ठा का सम्बन्ध कर्मेन्द्रियों* के साथ है। इस प्रकार निष्ठाएँ दो ही हैं, अतएव योग भी दो प्रकार के ही हो सकते हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग। ज्ञानयोग में मन को माध्यम बनाना पड़ता है और कर्मयोग में प्राणवायु को।

"तो क्या भक्तियोग का अस्तित्व ही नहीं है?"

भक्तियोग का अस्तित्व है। बिना प्रेम के ज्ञान एवं कर्म विफल ही रहते हैं। प्रेम तो योग की आत्मा ही है। वह ज्ञान एवं कर्म दोनों में अनुस्यूत है, इस कारण उसे पृथक नहीं दिखाया गया। ज्ञानमार्गी स्वामीभाव से उपासना करता है, अतः वह कर्म की उपेक्षा करता है और भक्त सेवकभाव से उपासना करता है, अतः वह कर्म की अपेक्षा रखता है। ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी साधक से भिन्न एक अन्य प्रकार का भी साधक होता है। वह विज्ञानप्रिय होता है। वह ईश्वर-निरीश्वर के सिद्धान्त को तटस्थता की दृष्टि से देखता हुआ कर्म करता है। उसे कर्मयोगी कहते हैं। सकाम कर्म की साधना करने वाला साधक भी कर्मयोगी कहलाता है।

भोगकर्म अयज्ञार्थकर्म है अतः वह बन्धन का और योगकर्म यज्ञार्थकर्म है, अतः मुक्ति का कारण है।[6]

साधक ज्ञानमार्गी हो या कर्ममार्गी किन्तु उसके लिए कर्म अनिवार्य है। बिना कर्म किये कोई भी एक क्षण नहीं रह सकता।[7] ऐसी अवस्था में ज्ञानी बिना कर्म किये कैसे रह सकता है? हाँ; ज्ञानी भी कर्म तो करता ही है किन्तु वह स्वयं को कर्ता नहीं मानता, क्योंकि प्रकृति ही कर्मों की जननी है।[8] उसी प्रकार भक्त भी कर्म तो करता ही है किन्तु वह स्वयं को कर्ता नहीं कारण मानता है, क्योंकि ईश्वर ही कर्मों को कराता है।[9]

अकर्तृत्व ही अकर्म है, यज्ञार्थ कर्म है।

विचार सूक्ष्मकर्म है और आचार स्थूलकर्म। सूक्ष्मकर्म ही स्थूल का कारण होता है। विचार वासनाओं पर और वासनाएँ विषय-संसर्ग पर आधारित हैं, अतः वासनाओं का अभाव और वायु का स्थैर्य ही चित्त का अभाव है। इसलिए योगसाधक सर्वप्रथम प्राण को ही वश करे।[10]

२. योग का प्रयोजन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थ की सिद्धि योग का प्रयोजन है। साधकों में जो साधक

---

* वैदिक तथा अन्य दर्शनों में कर्मेन्द्रियाँ पृथक से मानी गयी हैं; जबकि जैनदर्शन के अनुसार कर्मेन्द्रियों का अन्तर्भाव स्पर्शेन्द्रिय में ही हो जाता है। —सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकाम होते हैं, वे अपने अपूर्णधर्म द्वारा काम और अर्थ की प्राप्ति करते हैं और जो साधक निष्काम होते हैं वे अपने पूर्णधर्म द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। अन्य शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि सकाम साधक प्रेयपंथी यानी भोगपंथ का प्रवासी होता है और निष्काम साधक श्रेयपंथी यानी योगपंथ का प्रवासी होता है। इस प्रकार योग के दो अधिकारी हैं—संसारी एवं संन्यासी।

जब तक भोग का आकर्षण विनष्ट नहीं होता तब तक साधक श्रेयपंथ का प्रवासी नहीं बन सकता।

३. योग के प्रकार

मनुष्य को बन्धन और मुक्ति के दुःख-सुख की सामान्य अनुभूति तो निरन्तर ही होती रहती है। वह जाग्रतावस्था में विषयों के सम्पर्क में आता है, फलतः उसके मन में सुख-दुःख का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। सुषुप्तावस्था में विषयों का सम्पर्क नहीं रह पाता इससे उसको उसमें सुख-दुःख का अभाव प्रतीत होता है। यह तो उसके नित्य के अनुभव का वृत्तान्त है। इससे वह सरलतापूर्वक अनुमान कर सकता है कि मन की अन्तर्मुखता ही सुख, शान्ति और मुक्ति का अमोघ उपाय है।

चित्तवृत्ति का निरोध अर्थात् निर्बीज समाधि विश्व के समस्त योगों का अन्तिम परिणाम—पूर्णविराम है। जिस योग में इन्द्रियनिग्रह अथवा मनोनिग्रह नहीं है उसको योग कहना भ्रमणा ही है।

ईश्वर सनातन है, अतः उसकी प्राप्ति का योग भी सनातन है। सनातन यानी अविनाशी, अमर अथवा शाश्वत।

योग ही विश्वधर्म, ईशधर्म, मानवधर्म, सर्वधर्म, सत्यधर्म अथवा सनातनधर्म है।

योग के प्रकार नहीं हो सकते किन्तु मनुष्य में प्रकृतिभेद, साधनभेद, साधनाभेद इत्यादि असंख्य भेद होते हैं। इस प्रयोजन से योग में भी भेदों की भ्रान्ति होने लगती है।

प्रकृति त्रिगुणमयी होने से साधकों में कोई सात्त्विक, कोई सात्त्विक-राजसी, कोई राजसी-तामसी तो कोई तामसी होता है, फलतः तर्कप्रधान साधक ज्ञानयोग, भावप्रधान साधक भक्तियोग और कर्मप्रधान साधक कर्मयोग की साधना करता है।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा है—"मैंने श्रेय साधना के लिए ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग—इस प्रकार तीन उपायों का उपदेश किया है। इन उपायों के अतिरिक्त मेरी प्राप्ति का अन्य एक भी उपाय नहीं है।[११] योगवासिष्ठ में कहा गया है—"योगरूप पक्षी के ज्ञान और भक्तिरूप दो पंख हैं। उनके बिना वह व्योम विहार नहीं कर सकता है।" बिना ज्ञान के कर्म-भक्ति, बिना कर्म के ज्ञान-भक्ति और बिना भक्ति के ज्ञान-कर्म विफल ही होते हैं। ज्ञानी ज्ञान को ही प्रधानता प्रदान करता है और कर्म एवं भक्ति को गौण मानता है, योगी कर्म को प्रधानता प्रदान करता है और ज्ञान एवं भक्ति को गौण मानता है तथा भक्त भक्ति को ही प्रधानता प्रदान करता है और ज्ञान एवं कर्म को गौण मानता है। इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए यह कह सकते हैं कि ज्ञानयोग में ज्ञान सेनापति और कर्म एवं भक्ति सैनिक, कर्मयोग में कर्म सेनापति और ज्ञान एवं भक्ति सैनिक तथा भक्तियोग में भक्ति सेनापति और ज्ञान एवं कर्म सैनिक हैं।

योग एक ही है, परन्तु उसके साधन असंख्य हैं। इस प्रयोजन के साधनों की दृष्टि के कारण एक ही योग के अगणित नाम संप्राप्त होते हैं।

ब्रह्मयोग, अक्षरब्रह्मयोग, शब्दयोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, पूर्वयोग, अष्टांगयोग, अमनस्कयोग, असंप्रज्ञातयोग, निर्बीजयोग, निर्विकल्पयोग, अचेतनसमाधि, मनोनिग्रह इत्यादि नाम ज्ञानयोग के पर्याय हैं।

संन्यासयोग, वृद्धियोग, संप्रज्ञातयोग, सविकल्पयोग, हठयोग, हंसयोग, सिद्धयोग, क्रियायोग, तारकयोग, प्राणोपासना, सहजयोग, शक्तिपात, तन्त्रयोग, बिन्दुयोग, शिवयोग, शक्तियोग, कुण्डलिनीयोग, पाशुपतयोग, कर्मयोग, निष्कामकर्मयोग, इन्द्रियनिग्रह इत्यादि नाम कर्मयोग के पर्याय हैं।

कर्मसमर्पण योग, चेतनसमाधि, महाभाव, भक्तियोग, प्रेमयोग, प्रपत्तियोग, शरणागतियोग, ईश्वरप्रणिधान, अनुग्रहयोग, मन्त्रयोग, नादयोग, सुरत-शब्द-योग, लययोग, जपयोग इत्यादि नाम भक्तियोग के पर्याय हैं।

इस प्रकार 'योग' शब्द में समस्त योगों का समावेश हो जाता है।

कर्मयोग प्रथम सोपान और ज्ञानयोग अन्तिम सोपान है। जब तक इन्द्रियनिग्रह नहीं हो पाता अर्थात् इन्द्रियाँ अन्तर्मुख नहीं होतीं, तब तक मनोनिग्रह नहीं किया जा सकता। यदि इन्द्रियनिग्रह किये बिना ही मनोनिग्रह का अभ्यास किया जाता है तो मन के विक्षेपों और ज्ञानेन्द्रियों के मलों का प्रतिकार करने में ही समय का अपव्यय होता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना होती ही नहीं। अतएव साधक को सर्वप्रथम इन्द्रियनिग्रह करना चाहिए, तत्पश्चात् मनोनिग्रह। इन्द्रियनिग्रह को पूर्वयोग और मनोनिग्रह को उत्तरयोग कहते हैं। पूर्वोत्तर योगों को योग की ही दो अवस्थाएँ मानना चाहिए।

योगदर्शन सांख्यदर्शन का अनुसरण करता है, अतः वह ज्ञानशास्त्र है, ईश्वर का प्रतिपादन करता है, अतः वह भक्तिशास्त्र है, अष्टांग कर्मों का उपदेश करता है, अतः वह योगशास्त्र भी है।

वेदों में तीन काण्ड हैं—ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड। इनमें कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाले उपनिषदों में कर्मयोग की विस्तारपूर्वक समीक्षा की गयी है। कर्मयोग, क्रियायोग, सबीजयोग, संप्रज्ञातयोग, सविकल्पयोग अथवा चेतनसमाधि समानार्थक हैं। शाण्डिल्य, मण्डलब्राह्मण, वराह, जाबाल, ध्यानबिन्दु, योग चूडामणि, योगशिखोपनिषद, श्वेताश्वतर, सौभाग्यलक्ष्मी, योगकुण्डली, इत्यादि अनेक उपनिषदों में कर्मयोग का उपदेश किया गया है। कर्मयोग के स्वतन्त्र शास्त्र भी हैं—योगियाज्ञवल्क्य, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता, गोरक्षपद्धति, हठयोग प्रदीपिका, सिद्धसिद्धांतपद्धति, योगबीज, अमनस्कयोग इत्यादि।

ज्ञानकाण्ड के उपनिषदों में ज्ञानयोग की विस्तारपूर्वक चर्चा है। ज्ञानयोग, निर्बीजयोग, असंप्रज्ञातयोग, निर्विकल्पयोग अथवा अचेतनसमाधि समानार्थक हैं। ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, छांदोग्य, श्वेताश्वतर इत्यादि अनेक उपनिषदों में ज्ञानयोग का उपदेश किया गया है। यहाँ यह भूलना नहीं चाहिए कि कर्मयोग की सिद्धि के पश्चात् ही ज्ञानयोग की उपासना की जा सकती है।[१२]

उपासनाकाण्ड के उपनिषदों में भक्तियोग की विस्तृत चर्चा की गई है। उपासना, सबीजयोग, सम्प्रज्ञातयोग, सविकल्पसमाधि, महाभाव इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। जिस प्रकार कर्मयोग में निष्कामकर्म है उसी प्रकार भक्तियोग में भी प्रभुप्रीत्यर्थकर्म—तदर्थकर्म है, अतः कर्मयोग के उपनिषद् भक्तियोग के ही उपनिषद् हैं। भक्तियोग यानी सेश्वरसांख्य—ईश्वरवाद। 'योगदर्शन' सेश्वरसांख्य का समर्थन करता है; अतः वह सेश्वरसांख्य शास्त्र है। अठारह पुराण उसके अनुगामी हैं। उनमें भी तीनों काण्डों की विचारणा की गयी है।

योगशास्त्रों में कहीं-कहीं त्रिविध योग का निर्देश किया है—(१) आणवयोग, (२) शाक्तयोग, और (३) शांभवयोग। इनमें से आणवयोग में अष्टांगयोग के आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहारादि होते हैं। उसका प्रधान उद्देश्य इन्द्रियनिग्रह ही होता है, इसलिए इसमें इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि इत्यादि का अवलम्बन लिया जाता है। कुण्डलिनी शक्ति जागने के पश्चात् वही आणवयोग शाक्तयोग का स्वरूप धारण कर लेता है और आगे चलकर शाक्तयोग भी शांभवयोग का स्वरूप धारण कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि योग एक है किन्तु उसकी अवस्थाएँ तीन हैं।

४. समस्त योगों का आधार कुण्डलिनी

जो साधक प्रेयार्थी नहीं है परन्तु श्रेयार्थी है उसको श्रेय की सिद्धि के लिए कुण्डलिनी को जगाना पड़ेगा। कुण्डलिनी को जगाये बिना इष्टसिद्धि असम्भव है, क्योंकि समस्त योगों का आधार कुण्डलिनी है।[१३] वही योग का प्रवेशद्वार है, उसके बिना समस्त उपाय निरर्थक हैं।

ज्ञान, भक्ति एवं योग के विविध साधनों के अनुष्ठानों का शुभफल एक ही है, कुण्डलिनी की जागृति।

मोक्ष के बन्द द्वारों के मध्य में एक विलक्षण ताला है। वह बिना कुञ्जी के नहीं खुलता। उसकी कुञ्जी भी सबके लिए सुलभ नहीं है। उस कुञ्जी का नाम है कुण्डलिनी।[१४] मनुष्य के शरीर में कन्द के ऊर्ध्वभाग में यह सर्पाकार कुण्डलिनी सुषुम्ना के मार्ग को रोककर कुण्डली लगाकर सोई हुई है। इस कारण उस मार्ग पर कोई यात्रा नहीं कर सकता। संसारी साधक उसका आश्रय लेकर भोग भोगते हैं, परिणामतः वे बन्धन से बँधते हैं और संन्यासी साधक उसका आश्रय लेकर योग-साधना करते हैं, परिणामतः वे मुक्ति प्राप्त करते हैं।[१५] अधोगामी शुक्र रोग, वृद्धावस्था, मृत्यु और अज्ञान का कारण है और ऊर्ध्वगामी शुक्र आरोग्य, युवावस्था, अमरता और ज्ञान का कारण है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने काम को ज्ञानी का शत्रु कहकर अर्जुन को ऊर्ध्वरेता बनने का आदेश दिया है।[१६]

कुण्डलिनी को जगाने का साहस कोई बिरला योगी ही कर सकता है। सामान्य साधकों से यह कार्य नहीं हो पाता। उनके लिए यह कार्य अशक्य ही है। सिद्धियों के उपासक तो कुण्डलिनी को दूर से ही वन्दन करके वापस लौट जाते हैं। हम कुण्डलिनी को जानते हैं—ऐसा प्रलाप करने वाले साधक सहस्रों की संख्या में हैं, परन्तु उनमें से एक भी साधक कुण्डलिनी को यथार्थ रूप में नहीं पहचानता। जो कुण्डलिनी को जानता है, वह योग को जानता है, यह शास्त्रवचन मिथ्या नहीं है।[१७] प्राणोत्थान भिन्न है और कुण्डलिनी की जागृति भिन्न है। हाँ, यह सत्य है कि प्राणोत्थान द्वारा आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान, इत्यादि अपने आप होते हैं, तथापि उनके द्वारा चक्रों और ग्रन्थियों का भेदन नहीं होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा तन-मन की विशुद्धि भी नहीं होती। यह कार्य तो प्राणोत्थान द्वारा जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है तभी होता है। प्राणोत्थान निर्दोष और प्रशंसनीय ही है, क्योंकि इसके बिना कुण्डलिनी को जाग्रत करने का अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

जन्मान्ध को रंग-परिचय देने का और पूर्ण बधिर को स्वर-परिचय देने का कार्य जितना कठिन है उसकी अपेक्षा अनेकगुना कठिन कार्य अयोगी को कुण्डलिनी का परिचय देने का है। कुण्डलिनी के अनेक स्वरूप हैं, तथापि इन समस्त स्वरूपों का समावेश उसके स्थूल एवं सूक्ष्म—इन दो स्वरूपों में किया जा सकता है। स्थूलकुण्डलिनी का स्थान शरीर में मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र की सीमा में—आधुनिक शरीरविज्ञान के अनुसार विसर्जनतन्त्र और प्रजननतन्त्र की सीमा में—आया हुआ है। उसके द्वारा सबीज समाधि सिद्ध होती है। सूक्ष्मकुण्डलिनी शक्ति अथवा प्राणरूप है। उसके द्वारा निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। योगज्ञ स्थूलकुण्डलिनी के रूप में शिव की और सूक्ष्मकुण्डलिनी के रूप में शक्ति की भावना करते हैं, इस प्रयोजन से उनके संयुक्त स्वरूप को अर्धनारीश्वर भी कहा जाता है। शिव के आभ्यन्तर शक्ति और शक्ति के आभ्यन्तर शिव हैं। दोनों में चन्द्र-चन्द्रिका सम्बन्ध है। प्रसार में शक्ति और संकोच में शिव दिखायी देते हैं।[१८]

जब गुरुकृपा द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत होती है तब शरीरस्थ चक्रों एवं ग्रन्थियों का भेदन होता है।[१९]

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि इन्द्रियनिग्रह में होने वाली स्वाभाविक शारीरिक क्रियाएँ कर्मयोग की परिभाषा में 'क्रियायोग' कहलाती हैं। इसमें कर्मदृष्टि की प्रधानता होने से कुण्डलिनी का स्वरूप कर्मदृष्टि से अभिव्यक्त किया जाता है। वही क्रियायोग भक्तियोग की परिभाषा में 'भगवान की लीला' कहलाता है। इसमें भावदृष्टि की प्रधानता होने से कुण्डलिनी को आराध्य देव अथवा देवी के स्वरूप में स्वीकृत किया जाता है। भाव द्वारा सब कुछ प्राप्त होता है, भाव द्वारा देवदर्शन होता है और भाव द्वारा ही सर्वोत्तम ज्ञान की उपलब्धि होती है।[२०] "अगणित जप से, होम से और काया को अत्यन्त कष्ट देने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि बिना भाव के देव, यन्त्र और मन्त्र फल प्रदान नहीं करते हैं।"[२१] वही क्रियायोग अथवा भगवान की लीला ज्ञानयोग की परिभाषा में "प्रकृति की लीला" है। इसमें तत्त्वदृष्टि की प्रधानता होने से कुण्डलिनी को तत्त्व के रूप में स्वीकृत किया जाता है।

५. अधोमुखी एवं ऊर्ध्वमुखी कुण्डलिनी

कुण्डलिनी के दो भेद हैं—सुप्त एवं जाग्रत। जब तक मनुष्य-शरीर में कुण्डलिनी सुप्त रहती है तब तक अज्ञान का घोर अन्धकार विनष्ट नहीं होता, सत्य का साक्षात्कार नहीं होता और जन्म-मृत्यु का बन्धन कटकर अमरत्व की उपलब्धि भी नहीं होती।

मूलाधारस्थ अधोमुखी कुण्डलिनी को 'अधःशक्ति' भी कहते हैं। असंख्य साधक विविध योगों के विविध अनुष्ठान द्वारा इस "कामपीठ" भूमिका में प्रविष्ट तो हो जाते हैं किन्तु उनको उसके यथार्थ स्वरूप का बोध न होने से वह उनके पतन का कारण बन जाती है। यह भूमिका वाममार्ग का उद्गम स्थान है।

अधोमुखी कुण्डलिनी को जगाना साधारण कार्य है, किन्तु उसको ऊर्ध्वमुखी बनाना असाधारण कार्य है। इसमें सतत साधना की आवश्यकता रहती है। कुण्डलिनी को उत्तेजित करने के बाद निर्बल साधक भयभीत हो जाता है, क्योंकि उसके योगमार्ग में विषयवासना का महासागर उमड़ आता है। उसको पार करना यानी वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाकर ऊर्ध्वरेता बनना, यह महाभारत युद्ध से भी अधिक कठिन है।

मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र को भेदने पर ही योग में प्रवेश होता है। ये दोनों चक्र भोग-केन्द्र भी हैं और योग-केन्द्र भी। जैसे सीढ़ी पतन-उत्थान का कारण है वैसे ये दोनों चक्र भी पतन-उत्थान के कारण हैं। जब तक पूर्व-योग, तारकयोग, सम्प्रज्ञातयोग, सबीजयोग, सविकल्पयोग अथवा इन्द्रियनिग्रह सिद्ध नहीं होता, तब तक भोग-केन्द्र में ही निरन्तर क्रिया चलती रहती है, फलतः वही ध्यान का मध्यबिन्दु बना रहता है। जब प्राण अपान पर विजय पा लेता है और आज्ञाचक्र ध्यान का बिन्दु बन जाता है तब उस ऊर्ध्वरेता योगी को योगाग्निमय देह, ऋतंभरा प्रज्ञा और उत्तर योग, अमनस्कयोग, राजयोग, असंप्रज्ञातयोग, निर्बीजयोग, निर्विकल्पयोग, अथवा मनोनिग्रह की उपलब्धि होती है। तन्त्र में कहा है—योगी मनुष्य नहीं, ईश्वर ही है।[२२]

शिवजी ऊर्ध्वरेता हैं, अतः उनका प्रतीक ऊर्ध्वलिंग है। लिंग के पूर्व में शक्ति होती है और उत्तर में कूर्म। शक्ति लक्ष्य का और कूर्म संयम का प्रतीक है। श्री कृष्ण भी ऊर्ध्वरेता हैं, वे कालियनाग के फन पर जिस मुद्रा में खड़े हैं उसको आकर्षणीमुद्रा, मोहनमुद्रा, वैष्णवीमुद्रा, योनिमुद्रा अथवा लोपामुद्रा कहते हैं। श्रीकृष्ण के करकमलों में वंशी है, वह अनाहतनाद की द्योतक है।

नाभिस्थ मध्यमा कुण्डलिनी बोधरूप होती है। उस भूमिका में साधक के वैराग्य की वृद्धि होती है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्त्वगुण समृद्ध होने से उसके अन्तःकरण में ज्ञान के निर्झर झरने लगते हैं। अन्त में वह शक्ति ऊर्ध्वगामिनी बनकर सहस्रार में पहुँच जाती है और योगी संसार-बन्धन से विमुक्त हो जाता है।

अधःशक्ति में अधःशक्तिपात और ऊर्ध्वगामिनी शक्ति में ऊर्ध्वशक्तिपात होता है।

६. कुण्डलिनी की जागरणविधि

भारत में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के सामान्य साधन तो सहस्रों वर्ष से लोकसमाज में प्रचलित हैं। उनमें से किसी एक साधन का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करने से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है। यह भारतीय धर्मों की अद्वितीय विशिष्टता है।

भोगेच्छुक संसारी की सकाम-साधना का मार्ग भिन्न है और योगेच्छुक संन्यासी की निष्काम-साधना का मार्ग भिन्न है। सकाम साधक में सिद्धियों की कामना होती है, अतः उसके अन्तःकरण में विक्षेप का कारण सुरक्षित रहने से चित्तवृत्तियों का सम्पूर्ण निरोध नहीं हो पाता और निष्काम साधक में केवल शरणागति अथवा मोक्ष की भावना होती है, अतः उसके अन्तःकरण में विक्षेप का कारण न रहने से चित्तवृत्तियों का सम्पूर्ण निरोध हो सकता है।

सकाम साधना में संसारी साधक को यथाशक्ति संयम-ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है और निष्काम साधना में संन्यासी साधक को ऊर्ध्वरेता बनने के लिए आत्मसमर्पण करना पड़ता है अर्थात् आत्मा से विषय-विकारों को पूर्ण रूप से निकालना पड़ता है।

इन ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के प्रचलित साधनों की दूसरी विशेषता यह है कि उनके अनुष्ठान द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत तो हो ही जाती है किन्तु उसका वेग सह्य होता है, फलतः जैसा अनुष्ठित साधन, जैसा अधिकारी और जैसी परिस्थिति वैसा प्रयत्न करने में सुविधा होती है।

मोक्षप्राप्ति की इच्छा न हो और पात्रता भी न हो तथापि शक्तिपात की दीक्षा लेकर जो साधक भौतिक सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए साधना करता है वह बहुत बड़े भ्रम में पड़ा हुआ है। उसको यह ज्ञात नहीं है कि शक्तिपात की दीक्षा संन्यस्त दीक्षा ही है, मोक्षयात्रा है। इसमें तो संप्राप्त सिद्धियों को भी श्रीहरि अथवा श्री गुरुचरणों में समर्पित करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, वह इन सिद्धियों को अपने स्वार्थ के लिए उपयोग नहीं करता। सकाम साधना के अनुष्ठान से साधक को आरम्भ में भौतिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इससे उसके अन्तःकरण में श्रद्धा-भक्ति का अभ्युदय होता है और धर्मभावना सुस्थिर होती है, परिणामतः उसको सकाम कर्मों की तुच्छता और निष्काम कर्मों की महत्ता अवगत होती है। निष्काम मार्ग के साधक को आरम्भ और मध्य में आध्यात्मिक सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं, इससे वह वैराग्यसम्पन्न होता जाता है और उसको धीरे-धीरे विश्व की विस्मृति होती जाती है।

ज्ञानमार्गी संन्यासी साधक अरण्य में रहकर शास्त्राध्ययन और निरन्तर शास्त्रचिन्तन करता रहता है। इतना ही नहीं, ज्ञानप्राप्ति के लिए विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति और मुमुक्षुता के प्रति भी निरन्तर अभिमुख रहता है जिससे उसका उत्तरपथ निर्विघ्न होता जाता है और अन्त में वह उसका अधिकारी बन जाता है।

ज्ञानमार्गी संसारी साधक भी नगर में रहकर यथासम्भव शास्त्राध्ययन एवं यथासम्भव शास्त्रचिन्तन करता रहता है। इतना ही नहीं, ज्ञानप्राप्ति के लिए यथासम्भव विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता के प्रति अभिमुख रहने का आयास भी करता रहता है, जिससे वह संन्यास अथवा प्रव्रज्या का अधिकारी बन जाता है।

योगमार्गी संन्यासी साधक तपोवन में रहकर योगोपासना, शास्त्राध्ययन, शास्त्रचिन्तन और यम-नियम का परिपालन करता रहता है। फलतः उसके अन्तःकरण में ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि होती है और उसको आध्यात्मिक सिद्धियों की संप्राप्ति भी होती है। इस प्रकार वह अपने उत्तरपथ को प्रशस्त बनाता रहता है।

ज्ञान, भक्ति अथवा कर्मयोग हो अथवा उनके अन्तर्गत आने वाला कोई भी योग हो, उसकी सिद्धि के लिए साधक को कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत करनी ही पड़ती है। योगमार्गी एवं भक्तिमार्गी साधक निम्नोक्त साधनों के अनुष्ठान द्वारा कुण्डलिनी को जगा सकते हैं।

१. केवल सिद्धासन का नियमित अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है।

योगी लोग शरीरस्थ चक्रों को शक्तिकेन्द्र या नाड़ीकेन्द्र कहते हैं। उनमें प्रधान सात चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार और गौण दो चक्र—सोमचक्र तथा मनश्चक्र—अथवा इनसे भी अधिक गौण चक्र—व्योम चक्र, ललनाचक्रादि—मानते हैं। यद्यपि उनके स्थान शरीर के पृष्ठवंश में हैं तथापि उन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबका विस्तार अपने-अपने पूर्वभागों में भी है। सिद्धासन के अभ्यास द्वारा मूलाधार चक्र का भेदन होने लगता है। तत्पश्चात् क्रमशः शेष चक्रों का भी भेदन होता है। अभ्यास द्वारा मूलाधार चक्र में योगाग्नि प्रज्वलित होने से कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है।

विविध आसनों के नियमित अभ्यास द्वारा भी यही परिणाम आता है।

प्रत्येक आसन का सम्बन्ध किसी न किसी चक्र के साथ होता ही है। उदाहरणार्थ, जिनमें पार्ष्णि द्वारा गुदा का मध्यभाग पीड़ित किया जाता है ऐसे मूलबन्धासन, वीरासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, वृषासन, पार्श्वासनादि—आसनों का सम्बन्ध मूलाधारचक्र के साथ होता है। जिनमें पार्ष्णियों द्वारा गुदा और उपस्थ का मध्यवर्ती भाग दबाया जाता है ऐसे—सिद्धासन, सिंहासन, मुक्तासन, धीरासन, खंजनासन, कूर्मासन, गोमुखासनादि—आसनों का सम्बन्ध स्वाधिष्ठान चक्र के साथ होता है। जिनमें उदर को सिकोड़ा जाता है अथवा फुलाया जाता है ऐसे—पश्चिमोत्तानासन, भूनमनपद्मासन, पवनमुक्तासन, पृष्ठासन, उत्तानपादासन, कर्णपीड़नासन, सुप्तद्विपादशिरासन, हलासनादि—आसनों का सम्बन्ध मणिपूर-चक्र के साथ होता है। जिनमें वक्ष को दबाया जाता है अथवा कुंभक करके उसको फुलाया जाता है ऐसे—सर्वांगासन, हलासन, कर्णपीडनासन, सुप्तद्विपादशिरासन, सुप्तएकपादशिरासनादि—आसनों का सम्बन्ध विशुद्ध चक्र के साथ होता है। जिनमें दृष्टि को अपने आप स्थिर किया जाता है ऐसे—मूलबन्धासन, वज्रासनादि आसनों का सम्बन्ध आज्ञाचक्र के साथ होता है।

२. योगोक्त दस मुद्राओं में से किसी एक मुद्रा का या इससे अधिक मुद्राओं का नियमित अभ्यास करने से भी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है।

मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानबन्धमुद्रा, शक्तिचालनमुद्रा, जालंधरबन्धमुद्रा, महावेधमुद्रा, महामुद्रा, महाबन्धमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, वज्रोलीमुद्रा और खेचरीमुद्रा—ये दस मुद्राएँ योग की अमर अनुभूतियाँ हैं। उच्च कक्षा के सबीज योगसाधक को योग की सम्यक् साधना द्वारा उन मुद्राओं का साक्षात्कार होता है। मुद्रा आसन का विकसित स्वरूप है। आसनों में इन्द्रियों की प्रधानता और प्राण की गौणता होती है; इससे विपरीत, मुद्राओं में इन्द्रियों की गौणता और प्राण की प्रधानता होती है। एक ही मुद्रा विविध आसनों में की जा सकती है, अतः सिद्ध होता है कि आसन गौण और प्राणप्रक्रिया प्रधान है, इतना ही नहीं, एक ही आसन में एक साथ एकाधिक मुद्राएँ भी की जा सकती हैं।

सामान्य मुद्राएँ असंख्य हैं। इनमें उपर्युक्त दस मुद्राएँ प्रधान हैं। इनका सम्बन्ध भी चक्रों के साथ जुड़ा हुआ है।

(१) **महामुद्रा**—भूमि पर बैठकर दक्षिणपाद को लम्बा करना तदनन्तर वामपाद को मोड़कर उसकी पार्ष्णि द्वारा सीवनी को दृढ़तापूर्वक दबाना। पश्चात् दोनों हाथों द्वारा पाद के पंजों को पकड़ना और नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा आभ्यन्तर कुंभक करना। अन्त में जालंधरबन्ध बाँधकर और शरीर को नीचे की ओर झुकाकर मस्तक को घुटने पर रखना, इसको 'महामुद्रा' कहते हैं। वामपाद के स्थान पर दक्षिणपाद का उपयोग करके उसका दूसरा प्रकार भी बनाना। इस मुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार चक्र के साथ है। जब यह सिद्ध हो जाती है तब इसका सम्बन्ध सहस्रार के साथ हो जाता है।

(२) **मूलबन्धमुद्रा**—भूमि पर बैठकर दक्षिणपाद की पार्ष्णि द्वारा सीवनी को दबाकर वामपाद की पार्ष्णि को लिंग के मूल पर स्थापित करना, तदनन्तर गुदा को संकोचकर तथा नाभि को मेरुदण्ड की ओर बलपूर्वक आकृष्ट करके अपानवायु को ऊपर चढ़ाना, इसको 'मूलबन्धमुद्रा' कहते हैं। इस मुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार चक्र के साथ है।

(३) **शक्तिचालनमुद्रा**—शक्तिचालनमुद्रा समस्त मुद्राओं की जननी है और योग का परम रहस्य है, फलतः उसको गुप्त ही रखा जाता है। गुरु स्वयं उसकी शिक्षा केवल वैराग्यसम्पन्न श्रेष्ठ शिष्य को ही देता है, और किसी को नहीं। इसका सामान्य संकेत इस प्रकार है—

सिद्धासन पर आरूढ़ होकर दक्षिण हाथ की मुट्ठी द्वारा नाभि के निम्न भाग में आयी हुई कुण्डलिनी को दबाना। पश्चात् प्राण द्वारा अपान को क्रमशः मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार इत्यादि ऊर्ध्व चक्रों में चढ़ाना। यहाँ यह स्मरणीय है कि जब तक अपान निर्बल नहीं हो पाता तब तक प्राण उसको ऊपर के चक्रों में नहीं ले जा सकता, अतः प्राण-अपान का संघर्ष काफी समय तक चलता है। अन्त में जब प्राण प्रबल बनता है तब पराजित अपान ऊपर के चक्रों में चढ़ने लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त भूमिका में प्राण सुप्त कुण्डलिनी को बार-बार जगाता है, किन्तु वह प्राण को बार-बार पराजित करके पुनः सो जाती है। जब प्राण विजय प्राप्त करता है, तब कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होकर साधक को सबीजसमाधि प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है और सुषुम्ना के मुख पर से खिसक जाती है। तदनन्तर योनिमुद्रा की बारी आती है।

बिना शक्तिचालनमुद्रा के खेचरीमुद्रा और योनिमुद्रा सिद्ध नहीं होती। इस मुद्रा का सम्बन्ध स्वाधिष्ठान चक्र के साथ है। अन्त में जब वह सिद्ध हो जाती है तब उसका सम्बन्ध सहस्रार के साथ हो जाता है।

(४) **महाबन्धमुद्रा**—सिद्धासन अथवा मुक्तासन बाँधना अर्थात् दक्षिणपाद को मोड़कर उसकी पार्ष्णि द्वारा सीवनी को दबाना, और वामपाद को मोड़कर उसकी पार्ष्णि द्वारा लिंगमूल को दबाना, तदनन्तर त्रिबन्धसहित प्राणायाम का अभ्यास करना इसको 'महाबन्धमुद्रा' कहते हैं।

इस महाबन्धमुद्रा में जो प्राणायाम किया जाता है उसकी संज्ञा सगर्भ अथवा सबीज प्राणायाम है। इस भूमिका में साधक प्राणायामसहित शक्तिचालनमुद्रा, खेचरीमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानबन्धमुद्रा और जालंधरमुद्रा का स्वाभाविक अभ्यास करता है, फलतः वह बिन्दु को कुछ अंशों में जीत सकता है। इस मुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार एवं सहस्रारचक्र के साथ है।

यह महाबन्धमुद्रा सबीज समाधि की उपान्त्य भूमिका में होती है। आरम्भ का साधक उसकी सम्यक् साधना नहीं कर पाता। उसके लिए यह मुद्रा निरुपयोगी है।

(५) **उड्डीयानबन्धमुद्रा**—दीर्घ रेचक करके नाभि के ऊपर-नीचे के भागों को मेरुदण्ड की ओर आकृष्ट करना, उसको 'उड्डीयानबन्धमुद्रा' कहते हैं।

मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानबन्धमुद्रा और जालंधरमुद्रा—ये तीनों मुद्राएँ सर्वप्रथम सिद्धासन का आश्रय लेकर सिद्ध की जाती हैं। तदनन्तर उनको किसी भी आसन में किया जा सकता है। जब इन तीन मुद्राओं को क्रमशः एक साथ किया जाता है, तब उस अवस्था को 'त्रिबन्ध' कहते हैं। यह त्रिबन्ध ही तन्त्रों की भावमयी भाषा में शिवजी अथवा भगवती शक्ति का 'त्रिशूल' है। इस त्रिबन्ध द्वारा जब जिह्वाबन्धमुद्रा—खेचरीमुद्रा सिद्ध हो जाती है, तब त्रिबन्ध गौण हो जाते हैं। सामान्य साधकों को इन मुद्राओं का अभ्यास प्राणायाम का उत्तम अभ्यास करके ही करना चाहिए। इस मुद्रा का सम्बन्ध मणिपूर एवं सहस्रारचक्र के साथ है।

(६) **जालंधरबन्धमुद्रा**—कण्ठ को सिकोड़कर मस्तक को नीचे की ओर झुकाना और ठोड़ी को वक्ष पर दृढ़तापूर्वक दबाना उसको 'जालंधरबन्धमुद्रा' कहते हैं। यह मुद्रा किसी भी आसन में पूरक अथवा रेचक के अन्त में की जाती है। पूरक के अन्त में अन्तःकुम्भक और रेचक के अन्त में बाह्यकुम्भक किया जाता है। इस मुद्रा के अभ्यास से प्राण पश्चिममध्यमार्ग का प्रवासी बनकर अन्त में सहस्रारचक्र में सुस्थिर होता है। भ्रामरी एवं मूर्च्छा नामक प्राणायाम भी इसके अभ्यास द्वारा सिद्ध होते हैं।

(७) **विपरीतकरणीमुद्रा**—लम्बे सोकर रेचक करते हुए दोनों भुजाओं के बल शरीर का कटिपर्यन्त का भाग ऊँचा करना, वाम-दक्षिण हाथों के पंजों से पृष्ठ भागों को पकड़कर ऊँचा रखना और दृष्टि को नाभि की दिशा में तथा चित्त को मणिपूरचक्र में स्थापित करना। अन्त में रेचक समाप्त होने पर कुम्भक करना—यह 'विपरीतकरणी मुद्रा' है।

यह विपरीतकरणीमुद्रा सर्वांगासन से बहुत अंशों में समान है, परन्तु दोनों में विषमता भी है। सर्वांगसन में पाँव और उसके ऊपर के शरीर को समान्तर रखा जाता है, जबकि विपरीतकरणीमुद्रा में केवल पाँव को ही हाथ के समान्तर रखा जाता है। सर्वांगासन सिर्फ आसन ही होने से उसमें कोई विशेष क्रिया नहीं की जाती, परन्तु विपरीतकरणी मुद्रा होने से उसमें गुह्यांग को बार-बार भीतर सिकोड़ा जाता है। 'शिवसंहिता' में शीर्षासन को विपरीतकरणी



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा है और उपर्युक्त प्रक्रिया करने का आदेश दिया है। इससे यह फलित होता है कि विपरीतकरणी मुद्रा का विकसित रूप शीर्षासन है। वही 'पूर्णविपरीतकरणीमुद्रा' है।

(८) **खेचरीमुद्रा अथवा जिह्वाबन्धमुद्रा**—आरम्भ का सामान्य साधक इस खेचरीमुद्रा का अभ्यास नहीं कर सकता। हाँ, जिस साधक का प्राणोत्थान हो चुका है और जो शक्तिचालनमुद्रा का उत्तमरीति से अभ्यास करता है वही खेचरीमुद्रा के निकट जा सकता है।

खेचरीमुद्रा किसी भी आसन में की जा सकती है। उसमें केवल रसना को तालु के विवर में आये हुए छिद्र—दशमद्वार—में प्रविष्ट करके दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करना पड़ता है।

जो साधक योगशास्त्रों से खेचरीमुद्रा का वर्णन पढ़कर अथवा असिद्ध गुरु के उपदेश द्वारा रसना के शिराबन्ध को किसी शस्त्र द्वारा काटकर खेचरीमुद्रा का अभ्यास करता है वह कदापि समाधि सिद्ध नहीं कर सकता तथा उसको किसी प्रकार की योगसिद्धि भी प्राप्त नहीं होती। आचार्यानुग्रह द्वारा जिस साधक की कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है वही खेचरीमुद्रा का आविष्कार कर सकता है। आरम्भ में योगाग्नि के बल से रसना के नीचे का शिराबन्ध कटता है। तत्पश्चात् चालन और दोहन की प्राकृतिक क्रियाएँ गतिशील होती हैं। अन्त में रसना कपालकुहर—दशमद्वार में प्रवेश करने के लिए प्रयास करती है और उसमें विजय पा लेती है।

जब सबीज समाधि के अन्त में वज्रोली अथवा योनिमुद्रा का आविर्भाव होता है तब रसना में शिश्न के समान प्रबल जागृति आती है और वह अपान को ऊर्ध्वगामी बनाकर ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है, तत्पश्चात योगी ऊर्ध्वरेता बनता है।

खेचरी की सिद्धि के अनन्तर योगी को अमृतपान का शुभावसर संप्राप्त होता है। परिणामतः देह के पुराने परमाणुओं का विनाश होता है और उसके स्थान पर नूतन परमाणुओं का सर्जन होता है और वे ही दिव्यदेह का निर्माण करते हैं। दिव्यदेह की प्राप्ति के पश्चात् ही निर्बीज समाधि के मार्ग का उद्घाटन होता है।

खेचरीमुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार, विशुद्ध एवं आज्ञाचक्र के साथ है।

(९) **महावेधमुद्रा**—महाबन्धमुद्रा की स्थिति में बैठिए। तदनन्तर खेचरीमुद्रा द्वारा पूरक करके और दृष्टि को दृढ़तापूर्वक भ्रूमध्य में स्थापित करके मस्तक को आकाश की ओर ऊँचा रखिए। पश्चात् दोनों हाथों को फैलाकर रखें, शरीर को आगे झुकावें और अन्त में दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर स्थापित करें। ऐसा करने पर नितम्ब कुछ ऊपर की ओर उठेंगे। अन्त में मूल स्थिति में आ जाना चाहिए और किसी भी एक पार्श्व पर हाथ की मुट्ठी से प्रहार करना चाहिए।

जब मूलबन्धमुद्रा द्वारा प्राण-अपान का ऐक्य होता है तब प्लाविनी प्राणायाम द्वारा साधक योगी के दोनों पार्श्वों में वायु भर जाती है। उस समय जब वह किसी भी एक पार्श्व पर हाथ की मुट्ठी से बलपूर्वक प्रहार करता है, तब तत्क्षण उसके मुख द्वारा 'हूं' जैसी गर्जना स्वाभाविक रीति से निकलती है। यहाँ यह स्मरण रहे कि महामुद्रा, महाबन्धमुद्रा और महावेधमुद्रा का अभ्यास एक साथ करना पड़ता है। इस मुद्रा का सम्बन्ध आज्ञाचक्र के साथ है।

यह मुद्रा भी सबीज समाधि की अन्तिम भूमिका में होती है, अतः सामान्य साधक के लिए निरुपयोगी है।

(१०) **वज्रोली अथवा योनिमुद्रा**—मूत्रमार्ग को निर्मल करने के लिए रबड़ के कैथेटर को तेल लगाकर लिंग के छिद्र में धीरे-धीरे चढ़ाना चाहिए। आरम्भ में एक इंच, तदनन्तर क्रमशः अभ्यास बढ़ाते हुए दस से बारह इंच तक चढ़ाना चाहिए। इस क्रिया का उद्देश्य केवल मूत्रमार्ग की शुद्धि ही है। मूत्रमार्ग से दूध चढ़ाना और स्त्री-समागम करके स्खलित वीर्य को पुनः आकर्षित करने की चेष्टा करना इसका नाम वज्रोली नहीं है। यह एक बड़ा भारी भ्रम है।

सिद्धासन बाँधकर और प्राणापान को मस्तक पर चढ़ाकर वाम-दक्षिण नेत्रों को तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों से, वाम-दक्षिण कर्णों को दोनों अंगूठों से, नासिका के वाम-दक्षिण छिद्रों को दोनों अनामिका अंगुलियों से और दोनों ओष्ठों के वाम-दक्षिण भागों के दोनों कनिष्ठिका अंगुलियों से दबाकर भ्रूमध्य में दृष्टि और चित्तवृत्ति को स्थिर करे और अन्त में योनिमुद्रा द्वारा गुह्येन्द्रिय को भीतर सिकोड़े।

जब तक यह मुद्रा सिद्ध नहीं हो पाती यानी वीर्य ऊर्ध्वगामी नहीं बन पाता तब तक उसके सामर्थ्य की प्रतीति नहीं होती। मूलबन्ध सिद्ध होने पर ही योनिमुद्रा सिद्ध होती है। प्राणापान के ऐक्य के लिए योगी को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता है। जो योगी योनिमुद्रा सिद्ध कर सकता है वही सबीज समाधि को सिद्ध करके योगाग्निमय दिव्यदेह की संप्राप्ति कर सकता है। इस मुद्रा का सम्बन्ध मूलाधार एवं सहस्रार चक्र के साथ है। यह मुद्रा सबीज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि की अन्तिम भूमिका में होती है, अतः सामान्य साधक के लिए निरुपयोगी है। हाँ, इसके द्वारा प्रत्याहार का सामान्य ध्यान किया जा सकता है।

यदि योग की दृष्टि से इन दसों मुद्राओं को क्रम दिया जाये तो वह इस प्रकार हो सकता है—मूलबन्धमुद्रा, उड्डीयानबन्धमुद्रा, जालन्धरबन्धमुद्रा, शक्तिचालनमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महामुद्रा, महावेधमुद्रा और वज्रोली अथवा योनिमुद्रा।

उपर्युक्त मुद्राएँ पञ्च धारणाओं—पार्थिवीधारणा, आंभसीधारणा, आग्नेयी अथवा वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा और आकाशी अथवा तत्त्वरूपवती धारणा—में विभक्त हो जाती हैं। भूचरी, अगोचरी, चाचरी इत्यादि पंच मुद्राओं का भी इनमें समावेश हो जाता है।

इनसे अतिरिक्त अन्य मुद्राएँ भी हैं—तड़ागी, मांडवी, शांभवी, नभोमुद्रा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगिनी, भुजंगिनी, संक्षोभिणी, द्रावणी, आकर्षणी, वशी, उन्माद, महांकुश, मान्डूकी आवाहन इत्यादि।



३. प्राणायाम योग की कुञ्जी है। अनुलोम-विलोम प्राणायाम का नियमित अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है।

जीवित और मृत शरीर में केवल एक ही अन्तर होता है, वह यह कि जीवित शरीर में प्राण होता है और मृत शरीर में प्राण नहीं होता, अतः सिद्ध होता है कि शरीर में प्राण का ही सर्वोच्च स्थान है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि आत्मा और शरीर के मध्य में प्राण एक कड़ी रूप होता है। उस कड़ी के अभाव में शरीर निश्चेतन शव हो जाता है। विश्व का कोई भी योग क्यों न हो, इसमें परोक्ष अथवा अपरोक्ष रीति से प्राण ही की उपासना करनी पड़ेगी तभी चित्तवृत्तियों का निरोध हो सकेगा।[२३] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पंच-महाभूत प्रकृति के प्रधान तत्त्व हैं। उनमें से पृथ्वी स्थूल है, पृथ्वी से जल सूक्ष्म, जल से अग्नि, अग्नि से वायु और वायु से आकाश सूक्ष्म है। वायु प्रकृति का चौथा तत्त्व है, अतः उसके निग्रह से समस्त तत्त्वों की शीघ्र ही संशुद्धि होती है।

ज्ञानमार्गी साधक भी प्राणसंयम को अतिशय महत्व देते हैं। वेदों और उपनिषदों में प्राणोपासना की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। शंकराचार्यजी ने भी श्वेताश्वतरोपनिषद् के भाष्य में कहा है—"प्राणापान द्वारा जिस साधक के पाप क्षीण हो चुके हैं वहीं साधक ब्रह्म में स्थिर होता है। इसलिए सर्वप्रथम नाड़ीशोधन करना चाहिए। तत्पश्चात् ही प्राणायाम करने की पात्रता आती है।" अन्त में उन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्य के वचनों को उद्धृत किया है—"रेचक, पूरक और कुम्भक के क्रम से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राण और अपान का संयोग ही प्राणायाम कहलाता है। हे गार्गि! प्रणव त्रिरूप है। इस रेचक, पूरक और कुंभक को ही प्रणव समझ।"[२४]

४. केवल प्रत्याहार से भी कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है।

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, अतः प्रत्याहार भी पाँच प्रकार के हो सकते हैं। साधक को आरम्भ में जिस ज्ञानेन्द्रिय का प्रत्याहार अधिक सरल एवं प्रिय प्रतीत होता हो उस ज्ञानेन्द्रिय का अवलम्बन लेने की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता है। तत्पश्चात् उसमें प्रगति होने पर शेष इन्द्रियों के प्रत्याहार भी अपने आप होने लगेंगे। तदनन्तर क्रम की समस्या उपस्थित नहीं होती। मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्बद्ध रहता है, इसलिए उसको स्थिर करने के लिए किसी भी एक ज्ञानेन्द्रिय का आश्रय लेना ही पड़ता है।

बहिर्मुख मन को अन्तर्मुख बनाने का कार्य सुलभ हो जाय इसलिए ज्ञानेन्द्रियों को अन्तर्मुख बनाना पड़ता है। जिस ज्ञानेन्द्रिय को अन्तर्मुख बनाने की इच्छा हो उसका द्वार बन्द करना चाहिए। इस प्रकार द्वारों को बन्द करके जो ध्यान किया जाता है उसे प्रत्याहार का ध्यान कहा जाता है। इन्द्रियों के द्वार बन्द किये बिना भी प्रत्याहार हो सकता है। ऐसे प्रत्याहार में मन को किसी बाह्य पदार्थ पर केन्द्रित करना पड़ता है। किन्तु इसमें वह बाह्य वातावरण से अधिक प्रभावित होता है, जिससे प्रत्याहार में बार-बार विक्षेप होता है। इन्द्रियों के द्वार बन्द करने का प्रयोजन इतना ही होता है कि इन्द्रियों द्वारा मन में क्षोभ न हो। जैसे अज्ञात व सज्ञात अवस्था में अग्नि का स्पर्श होते ही वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंग उससे दूर हो जाता है, उसी प्रकार अवांछनीय विषय-सम्बन्ध को रोकने के लिए उस इन्द्रिय को सिकोड़ा जाता है। पाँचों इन्द्रियों को सिकोड़ने के पश्चात् किसी मन्त्र बीज अथवा आराध्य देव-गुरु के बिम्ब पर मन को लगाया जाता है। मन के उस बीज पर स्थिर होने के बाद प्रत्याहार सिद्ध होता है।

प्रत्याहार को सिद्ध किये बिना जो धारणा-ध्यान किये जाते हैं वे आत्माहीन अचेतन शरीरतुल्य हैं। ऐसी अवस्था में समाधि की तो सम्भावना ही नहीं है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच विषयों के पृथक्-पृथक् अथवा समूहगत प्रत्याहार करते समय क्रमशः कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका के द्वार बन्द अथवा मुक्त रखने पड़ते हैं।

(१) **कर्ण का प्रत्याहार**—कर्ण के प्रत्याहार में नेत्रों के द्वार बन्द करने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु कर्ण इन्द्रिय का प्रत्याहार उत्तम हो और चित्त भी बहिर्मुख न हो इसलिए नेत्रों के द्वार बन्द किये जाते हैं। यदि एक इन्द्रिय के प्रत्याहार में दूसरी इन्द्रिय का प्रत्याहार सहायक बनता हो तो उसकी सहायता लेने में भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है।

प्रत्याहार के समय बाह्य वातावरण में उठने वाली विविध ध्वनियों द्वारा और दृष्टिगोचर होने वाले विविध दृश्यों द्वारा मन में जितने विक्षेप होते हैं उतने विक्षेप स्पर्श, रस और गंध द्वारा नहीं होते। अतः कर्ण और नेत्र के प्रत्याहार आरम्भ के साधकों को सरल एवं प्रिय प्रतीत होते हैं। इन दोनों प्रत्याहारों की विशिष्टता यह है कि इनमें जिस इन्द्रिय के द्वारों को बन्द रखना होता है, उस इन्द्रिय के द्वारों को बन्द रखकर गृहीत ध्यान में आसन परिवर्तन भी किया जा सकता है। इस प्रत्याहार में मन को एक ही इन्द्रिय अथवा ध्येय में केन्द्रित करना पड़ता है। जब श्रमित शरीर एक प्रतिकूल अवस्था का परित्याग करके दूसरी अनुकूल अवस्था प्राप्त करने की प्रवृत्ति करता है तब उसको रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि साधक को प्रत्याहार की अवस्था में आसन की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए। शरीर को सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करके ही ध्यान करना चाहिए।

"ध्यान और प्रत्याहार में क्या अन्तर है ?"

प्रत्याहार ध्यान की ही एक निम्न अवस्था है। इसमें प्राण और इन्द्रियों की प्रधानता और मन की गौणता होने के कारण इन्द्रियों और प्राण को अन्तर्मुख बनाने के लिए आयास किया जाता है। ध्यान में प्राण और मन की प्रधानता और इन्द्रियों की गौणता होने के कारण प्राण और मन को स्थिर करने के लिए आयास किया जाता है।

स्वानुकूल आसन पर बैठकर, दोनों नेत्रों को दोनों हाथों की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों से बिना भार दिये दबाकर तथा वाम-दक्षिण कर्णों के छिद्रों में वाम-दक्षिण हाथों के अंगूठों को दबाकर अनाहतनाद श्रवण करने का आयास करना चाहिए। दोनों हाथों की अनामिका अंगुलियाँ नासिका के नीचे उपरि-ओष्ठ के ऊर्ध्वभाग पर और कनिष्ठिका अंगुलियाँ निम्न-ओष्ठ के अधोभाग पर रखना चाहिए। इस प्रक्रिया को शब्द का प्रत्याहार, नाद समाधि अथवा नादानुसन्धान कहते हैं। इसमें दृष्टि भ्रूमध्य में होती है और मस्तक आकाश की ओर होता है। कर्ण के प्रत्याहार की यह विधि 'क्रियायोग' की है।

कर्ण का यह प्रत्याहार भक्तजन भाव की दृष्टि से करते हैं। वे कर्णों के छिद्रों में न तो अंगूठों को दबाते हैं और न रुई ही डालते हैं। उनको वैसा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। वे कर्णों में अत्यन्त आतुरता उत्पन्न करके एकाग्रचित्त से सुशील सन्त के मुख से पुराणवर्णित भगवान् की अवतार लीलाओं को श्रवण करते हैं अथवा भगवद् भजन को सुनते हैं।

यह प्रथम सोपान है। प्राणोत्थान के पश्चात् वे भी कर्णों के द्वारों को बन्दकर अन्तर्नाद सुनने का आयास करते हैं।

(२) **त्वचा का प्रत्याहार**—समग्र शरीर त्वचा द्वारा आवेष्टित है और त्वचा साढ़े तीन करोड़ रन्ध्रों से परिपूर्ण है। ऐसी करोड़ों रन्ध्रों अथवा रोमछिद्रों वाली त्वचा का प्रत्याहार किस द्वार को बन्द करके सिद्ध किया जाय ? कर्ण, नेत्र, नासिका और जिह्वा—इन चार इन्द्रियों के समस्त द्वारों का समावेश मस्तक के विभाग में हो जाता है, परन्तु त्वचा का विस्तार तो समस्त शरीर में होता है। त्वचा का प्रत्याहार यानी पाँचों इन्द्रियों का सामूहिक प्रत्याहार है। उसको सामूहिक प्रत्याहार इसलिए कहा गया है कि जब विषयवासना उत्पन्न होती है तब विषयी स्त्री-पुरुष के मन में पाँचों विषयों की लोलुपता एक साथ उत्पन्न होती है। इस प्रयोजन से सबीज समाधि के उच्च कक्षा के साधक आरम्भ में शक्तिचालनमुद्रा का और अन्त में योनिमुद्रा का अवलम्बन लेते हैं।

यह प्रत्याहार सिद्धासन पर आरूढ़ होकर किया जाता है। दक्षिण अथवा वाम पार्ष्णि द्वारा सीवनी को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दबाकर दक्षिण अथवा वाम पार्ष्णि द्वारा गुह्येन्द्रिय के मूल को दबाना अथवा दक्षिण अथवा वाम पार्ष्णि द्वारा गुदाद्वार को दबाकर दक्षिण अथवा वाम-पार्ष्णि द्वारा गुह्येन्द्रिय के मूल को दबाना। तत्पश्चात् वाम-दक्षिण नेत्रों को वाम-दक्षिण हाथों की तर्जनी एवं मध्यमा अंगुलियों से, वाम-दक्षिण कर्णों को वाम-दक्षिण हाथों के अँगूठों से, वाम-दक्षिण नासापुटों को वाम-दक्षिण हाथों की अनामिका अंगुलियों से और दोनों बन्द ओष्ठों को वाम-दक्षिण हाथों की कनिष्ठिकाओं से दबाकर दिव्य स्पर्श के लिए कुम्भक सहित ध्यान करना चाहिए। इस प्रत्याहार को योनिमुद्रा और लयसमाधि कहते हैं। इस प्रत्याहार में गुह्येन्द्रिय का आकुंचन बार-बार किया जाता है तथा खेचरीमुद्रा द्वारा अपानवायु को ऊर्ध्व की ओर आकर्षित किया जाता है।

योगी इस प्रत्याहार के अभ्यास द्वारा वीर्य का अधःपात रोककर उसको ऊर्ध्वगामी बना लेता है। जब तक वीर्य ऊर्ध्वगामी नहीं बन पाता तब तक सबीज समाधि सिद्ध नहीं हो पाती और योगी भी ऊर्ध्वरेता नहीं बन पाता। जो योगी ऊर्ध्वरेता बनता है उसको दिव्यदेह और ऋतंभराप्रज्ञा की उपलब्धि होती है। यह योगविज्ञान है। तत्पश्चात् ही निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। जिसको दिव्यदेह और ऋतंभरा प्रज्ञा की संप्राप्ति नहीं हुई है वह योगी विश्वविख्यात, विश्ववंद्य, विश्ववक्ता आदि कुछ भी क्यों न हो, केवल साधक ही है। यह दिव्यदेह और ऋतंभराप्रज्ञा की संप्राप्ति ज्ञानयोगी, भक्तयोगी एवं कर्मयोगी इन सबको होती है।

यह सबीज समाधि अनन्त विघ्नों से परिपूर्ण है। इस कारण ही क्रम-मुक्ति एवं सद्योमुक्ति ऐसे दो मार्गों की उत्पत्ति हुई है। वे ही मार्ग दक्षिणायन और उत्तरायण कहलाते हैं। यथेष्ट समय तक साधना करने के अनन्तर ही योगी क्रममुक्ति की यात्रा समाप्त कर सकता है। अन्त में वह सद्योमुक्ति का अधिकारी बनकर वर्तमान जन्म में ही मुक्ति को पा लेता है। सबीज समाधि की सिद्धि में योग्य गुरु के परमानुग्रह की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

सामान्य साधक इस ध्यान में सिद्धासन का उपयोग न करे। विशेष साधक भी जब तक प्राणोत्थान द्वारा सिद्धासन अपने आप होने न लगे तब तक न करे।

उपर्युक्त विधि निष्काम कर्मयोग—क्रियायोग—की है।

भक्तिमार्गी साधक भावप्रधान होता है, अतः उसको अपने आराध्यदेव की प्रतीक पूजा में विलक्षण आनन्द आता है। बहुत प्रयास करने पर भी जब भगवान् की मूर्ति उसके मन-मस्तिष्क में सुस्थिर नहीं हो पाती, तो वह प्रतीक द्वारा अमूर्ति की पूर्ति कर लेता है, परिणामतः उसके प्रेमभाव का सातत्य अखण्डित रहता है। मानव का जड़ शरीर भी मूर्ति ही है। वह जब प्राणहीन हो जाता है तब उससे कोई स्नेह नहीं करता। धनहीन रिक्तकोश खुला हो तो उसमें से कोई कुछ चुरा ले जायेगा यह भाव उद्भूत ही नहीं होता। जैसे जड़ शरीर को बिसारकर उसमें रहे हुए चेतन से स्नेह किया जाता है, वैसे मूर्ति की जड़ता को बिसारकर उसमें आरोपित ईश्वरभाव से ही स्नेह किया जाता है।

सूक्ष्मदर्शक काँच पर सूर्य की किरणों को केन्द्रित करके तृण या रुई को जलाया जा सकता है। केवल सूर्य किरणों से अथवा किसी भी काँच पर सूर्य किरणों को केन्द्रित करने से अग्नि प्रज्वलित नहीं होती और तृण एवं रुई जलते नहीं हैं। जिस प्रकार अग्नि के प्राकट्य के लिए विशेष प्रकार के काँच की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार प्रतीक में ईश्वर को देखने के लिए भी विशेष प्रकार के भाव की आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार भक्तिमार्गी साधक आराध्यदेव के प्रतीक का स्पर्श करके त्वचा का प्रत्याहार सिद्ध करता है किन्तु आगे चलकर जब उसका प्राणोत्थान हो जाता है—उसका भगवत्लीला में प्रवेश हो जाता है—तब उसके अन्तःकरण में गोपीभाव अथवा अन्य प्रकार का निर्मल प्रेमभाव प्रकट होता है और वह पूर्ववर्णित कर्मयोग वाला प्राकृतिक ध्यान करने लगता है।

ज्ञानमार्गी साधक भी ज्ञान के प्रतीकतुल्य श्रीसद्गुरुदेव के श्रीचरणों का स्पर्श करके अथवा उनका चिन्तन करके त्वचा का प्रत्याहार सिद्ध करता है। वह भी जब लयचिन्तन (यह ज्ञानयोग का पारिभाषिक शब्द है। उसका पर्याय निदिध्यासन है। प्राणोत्थान कर्मयोग का पारिभाषिक शब्द है। वह 'लयचिन्तन' का समानार्थक शब्द है।) में लीन हो जाता है, तब त्वचा का प्रत्याहार सिद्ध कर लेता है और ऊर्ध्वरेता बन जाता है।

(३) **रूप का प्रत्याहार**—अरुणोदय होते ही आँखें खुल जाती हैं और उनमें असंख्य दृश्यों की छवियाँ अंकित हो जाती हैं। मानो सरोवर के स्थिर जल में पत्थरों एवं कंकड़ों की अखण्ड वर्षा होती है। उससे मन अतिशय चञ्चल हो उठता है। इस अवस्था के निग्रह के लिए रूप का प्रत्याहार अत्युपयोगी है।

स्वानुकूल आसन पर बैठकर वाम-दक्षिण नेत्रों को वाम-दक्षिण हाथों की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा अधिक भार दिये बिना दबाकर तथा मस्तक को आकाश की ओर रखकर आत्मज्योति के दर्शन के लिए मन को नेत्रेन्द्रिय में केन्द्रित करना चाहिए। उस समय वाम-दक्षिण हाथों की अनामिकाएँ नासिका के नीचे उपरि-ओष्ठ के ऊर्ध्व भाग में, और कनिष्ठिकाएँ अधरोष्ठ के निम्न भाग में रखना चाहिए। इस ध्यान को रूप का प्रत्याहार अथवा ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। ध्यान में विक्षेप न हो इसलिए वाम-दक्षिण कर्णों के छिद्रों में वाम-दक्षिण हाथों के अँगूठों को यदि दबाना चाहें तो दबा सकते हैं।

इस ध्यान में पीला (पृथ्वीतत्त्व), श्वेत (जलतत्त्व), रक्त (अग्नितत्त्व), धूम्रतुल्य (वायुतत्त्व), तथा सम्मिश्र विविध रंग (आकाशतत्त्व) दिखायी देते हैं।

भक्तिमार्गी साधक निर्निमेष नेत्रों से अपने आराध्यदेव के प्रतीक का ध्यान करते हैं। ज्ञानमार्गी साधक दीपज्योति अथवा ॐकार की छवि का निर्निमेष नेत्रों से ध्यान करके रूप का प्रत्याहार करते हैं। कई साधक किसी भी प्रकार का प्रतीक न रखकर निर्निमेष नेत्रों से ध्यान करके रूप का प्रत्याहार करते हैं।

यह प्राथमिक साधना है, किन्तु जब ज्ञानमार्गी साधक लयचिन्तन के प्राकृतिक पथ का प्रवासी बन जाता है तब वह उपर्युक्त 'क्रियायोग' का रूप-प्रत्याहार करने लगता है और भक्तिमार्गी साधक जब भगवत्लीला में प्रविष्ट हो जाता है तब वह भी 'क्रियायोग' का रूप-प्रत्याहार करने लग जाता है।

(४) **रस का प्रत्याहार**—मन रसीला और रसना भी रसीली, दोनों एक समान हैं। चाहे जैसा कठोर बन्धन बाँधो उनको, वे केवल एक ही झटके से सब तोड़ देते हैं। जब तक मलिन मन सत्संग द्वारा विशुद्ध नहीं होता तब तक उस पर ज्ञान का श्वेत, भक्ति का गेरुआ और योग का श्याम रंग कभी नहीं चढ़ता। किसी भी एक रंग में रँग जाने के पश्चात् ही रसना का प्रत्याहार सरल बनता है।

रसना एवं त्वचा के प्रत्याहार में एक-सी योग प्रक्रिया होती है। उसमें विपरीत रसना को कण्ठ के ऊर्ध्वभाग में और तालु के अन्त में आये हुए छिद्र—दशमद्वार—में खड़ी करके अमृतपान करना होता है। उसको रस का प्रत्याहार अथवा रसानन्द समाधि कहते हैं।

भक्तिमार्गी साधक भजन गाता है, नाममन्त्र का मौखिक जप करता है, आराध्यदेव के प्रतीक का चरणोदक पीता है और उसको समर्पित किया हुआ प्रसाद पाता है—यह रसना का प्रत्याहार ही है। उस भूमिका को लाँघकर जब वह भगवत्लीला में प्रविष्ट हो जाता है तब प्राप्त अनाहतनाद द्वारा अहर्निश 'राम' अथवा 'ॐ' मन्त्र का जप करने लगता है। उस अवस्था में उसको रामरस अथवा अमृतपान करने का शुभावसर सम्प्राप्त होता है। उस समय वह पूर्ववर्णित निष्काम कर्म वाली योग प्रक्रिया ही करता है।

ज्ञानमार्गी साधक भी 'ॐ' मन्त्र का मौखिक जप करता है और सद्गुरु के चरणोदक का पान करता है—वह भी रसना का ही प्रत्याहार है। उस भूमिका को पार करके जब वह लयचिन्तन द्वारा अनाहत 'ॐ' और 'राम' मन्त्र का अहर्निश जप करने लगता है तब उसकी अज्ञान की ग्रन्थि विच्छिन्न हो जाती है और वह सर्वत्र शुद्धात्मा अथवा परमात्मा का दर्शन करता हुआ उस अमृत का पान करने लगता है। उस अवस्था में वह भी पूर्ववर्णित निष्काम कर्मयोग वाली योग प्रक्रिया ही करता है।

स्तोत्रों के गान द्वारा अथवा अन्य धर्मशास्त्रों के मौखिक पाठ द्वारा भी लयचिन्तन—प्राणोत्थान—की उपलब्धि हो सकती है।

विलम्बित लय में स्वराभ्यास अथवा रागाभ्यास करने से प्राणोत्थान हो सकता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत तो योग का ही आविष्कार है, अतः इसकी गणना भारतीय संस्कृति में की जाती है। संगीत का अन्तर्भाव नादयोग, लययोग, बिन्दुयोग अथवा हठयोग में हो सकता है। भक्तियोग का यह सर्वोत्कृष्ट साधन है।

अनाहतनाद के साथ स्वयंभू नृत्य भी संलग्न है। यही 'रासलीला' है। वह योग का ही आविष्कार है, अतएव उसकी गणना भारतीय संस्कृति में की जाती है। उसका अन्तर्भाव भी उपर्युक्त योगों में हो जाता है। मन्दिरों एवं गुहाओं में भी देव-देवियों की असंख्य प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इनको देखकर कई लोग यह अनुमान लगाते हैं कि यह कार्य शिल्प, नृत्य इत्यादि कलाओं की सुरक्षा तथा विकास के लिए किया गया है, किन्तु इस अनुमान में पूर्ण तथ्य नहीं है। हमारे महापुरुषों ने इस कार्य को प्रेरणा देकर आशयपूर्वक करवाया है। संस्कृति का मूल है धर्म। धर्म ज्ञान, भक्ति एवं योग के सत्यपूर्ण अनुभव पर आधारित है। इन अनुभवों का जतन मूर्तियों में कुशलतापूर्वक किया गया है। मूर्तियाँ योग के निगूढ़ ग्रन्थ ही हैं। इनमें ज्ञान, योग एवं भक्ति के सूत्रों तथा प्रक्रियाओं के रहस्य प्रच्छन्नरूप से अंकित हैं। संगीत और नृत्य का विनियोग संस्कृति और धर्म के लिए करना चाहिए न कि केवल भोग-विलास के लिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिवजी का एक नाम है—'नटेश्वर' और श्रीकृष्ण का एक नाम है 'नटवर'। दोनों के ये एकार्थी नाम सार्थक हैं। उभय नृत्यकार भी हैं और संगीतकार भी। शिवजी का 'ताण्डवनृत्य' और श्रीकृष्ण का 'रासनृत्य' सुप्रसिद्ध है।

योग द्वारा अनाहतनाद की उपलब्धि होती है। वही शक्ति है।[२५] दुर्गा, राधा इत्यादि देवियों को भी नृत्य और संगीत अतीव प्रिय है, क्योंकि वही उनका स्वरूप है।

(५) **गन्ध का प्रत्याहार**—गन्ध की लोलुपता भी अति प्रबल होती है। वह भी मानव को विपरीत पथ का प्रवासी बना देती है। साधक को इस गन्ध के सागर को भी विवेकबुद्धि की सहायता द्वारा तैरना पड़ता है।

स्वानुकूल आसन पर स्थित होकर नासिका के दक्षिणरन्ध्र को दक्षिण हाथ के अंगूठे से दबाकर वामरन्ध्र से वायु को यथाशक्ति धीरे-धीरे भीतर आकर्षित करना चाहिये। जब वह सम्पूर्ण आकर्षित हो जाय तब वाम छिद्र को दक्षिण हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों से दबाकर आभ्यन्तर कुम्भक करना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करके दक्षिण रन्ध्र द्वारा वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। इस प्राणायाम को अनुलोम-विलोम प्राणायाम कहते हैं। उपर्युक्त क्रमानुसार प्राणायाम करने से उसकी एक आवृत्ति होती है। प्राणायाम करते समय इष्टमन्त्र का मानसिक जप करना चाहिए। इस गन्ध के प्रत्याहार से साधक को दिव्यगन्ध की अनुभूति होती है। इस प्रक्रिया को अजपाजप, हंसयोग, हठयोग अथवा प्राणोपासना भी कहते हैं।

अजपाजप का एक विशिष्ट प्रकार और भी है। उसकी विधि यह है। सिर, ग्रीवा और काया को सीधा रखकर स्वानुकूल आसन पर बैठना और दृष्टि को नासाग्र पर संस्थापित करके श्वासोच्छ्वास की गति का निरीक्षण करते रहना। जब दोनों नासापुटों द्वारा वायु भीतर प्रवेश करे तब मन में 'ओम्' बोलना और बाहर निकले तब 'एक'। इस प्रकार श्वास की गिनती स्वस्थचित्त से करते रहना। यह क्रिया करते समय यह भी देखना कि वायु जब भीतर प्रवेश करती है तब वह किन-किन अवयवों को प्रभावित करती है। हाँ, यह सत्य है कि आरम्भ में वायु की गति उथली है या गहरी यह एकदम ज्ञात नहीं होगा किन्तु जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे निरीक्षण स्थिर और सूक्ष्म होता जायेगा और वायु की गति को समझने में कठिनता प्रतीत नहीं होगी। यदि श्वासों की संख्याओं का मध्य में विस्मरण हो जाय तो ओम् एक, ओम् दो, ओम् तीन—इस प्रकार पुनः गिनती करना चाहिए। जैसे-जैसे मन की एकाग्रता बढ़ती जायेगी वैसे-वैसे गिनती का अवलम्बन अपने आप ही छूटता जायेगा और तन्द्रा आने लगेगी। 'ओम्' मन्त्र के स्थान पर राम, सोऽहम्, अर्हम्, इत्यादि मन्त्रों का भी प्रयोग हो सकता है। इस प्रक्रिया को अजपा-गायत्री, अजपाजप, हंसमन्त्र अथवा जप कहते हैं।

योग के अन्य साधनों की अपेक्षा प्राणायाम द्वारा अति शीघ्र प्रगति हो सकती है, किन्तु इसमें योग पारंगत गुरु के मार्गदर्शन की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। उसके अभाव में साधक अगणित उपद्रवों से घिर सकता है।

भक्तिमार्गी साधक भजन-कीर्तन करता है और पण्डित शास्त्रों एवं शास्त्र में वर्णित मन्त्रों का पाठ करता है इसमें भी प्राणसंयम होता है, अतः इस प्रत्याहार का समावेश गन्ध-प्रत्याहार में किया जाता है।

ध्यान के अभ्यास से भी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है। योगपारंगत बुद्धिमान आचार्य सकाम साधकों को अचलध्यान और निष्काम साधकों को चलध्यान की शिक्षा देते हैं। वे अचलध्यान में इन्द्रियों को स्थिर रखने की और चलध्यान में इन्द्रियों को स्वतन्त्रता प्रदान करने की आज्ञा करते हैं। इस चलध्यान का एक उदाहरण गमनयोग भी हो सकता है।

७. शक्तिपात और प्राणोत्थान

तन्त्रों में जिसको 'शक्तिपात' अथवा 'शक्तिसंचार' कहते हैं उसी को भक्ति और ज्ञानयोग में 'अनुग्रह' कहते हैं।[२६] समर्थ गुरु दृष्टि, शब्द, स्पर्श अथवा संकल्पन इन चार प्रकारों में से किसी एक प्रकार द्वारा शक्तिपात करते हैं। शक्तिपात द्वारा प्राणोत्थान होता है।

प्राचीनकाल के योगाचार्य आवश्यकता प्रतीत होने पर ही उच्च कोटि के मुमुक्षु पर शक्तिपात करते थे, जिससे साधक के शरीर में विविध योगप्रक्रियाएँ अपने आप क्रमशः उद्भूत होती थीं, फलतः उसको उन योगप्रक्रियाओं को किसी गुरु से विधिपूर्वक सीखने की आवश्यकता नहीं रहती थी। इस प्रकार उसकी साधना आत्मनिर्भर हो जाती थी।

प्राणोत्थान किसी भी योग की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके बिना योगयात्रा नहीं की जा सकती। हाँ, यह सत्य है कि यह प्राणोत्थान ज्ञान, योग अथवा भक्ति के किसी भी एक या एकाधिक साधनों के समुचित अनुष्ठान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा भी हो सकता है, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति बिना गुरु के भी जगायी जा सकती है, किन्तु ऐसा साधक अपनी अनुभूतियों को समुचित रूप में समझ नहीं पाता, परिणामतः उसकी प्रगति शंकाओं की बाधाओं से रुक जाती है। इस मार्ग में पूर्ण अनुभवी गुरु के मार्गदर्शन की अनिवार्य आवश्यकता है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि जो गुरु शक्तिपात की दीक्षा प्रदान कर सकता है वह पूर्णयोगी ही होता है, ऐसा नहीं है। शक्तिपात की दीक्षा देने वाले हर योगी को पूर्णयोगी मान लेना, यह बहुत बड़ा भ्रम है। यदि गुरु प्रसन्न होकर 'शक्तिपात-विद्या' किसी भी सामान्य शिष्य को, जिसके प्राणोत्थान को केवल चार ही दिन हुए हों उसको, देता है तो वह भी सहस्रों मनुष्यों को एक साथ शक्तिपात की दीक्षा दे सकता है, किन्तु उसको स्वल्प भी योगानुभव न होने से वह किसी उच्च कक्षा के साधक को मार्गदर्शन नहीं दे सकता।

साम्प्रत में जो योगी शिष्यों को शक्तिपात की दीक्षा दे रहे हैं उनमें से अधिकांश योगी ऐसा ही मानते है कि प्राणोत्थान ही कुण्डलिनी की जागृति है; वह उनका केवल भ्रम ही है। हाँ, प्राणोत्थान द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत होती है, यह सत्य है; किन्तु जिस साधक को आचार्यानुग्रह अथवा ईश्वरानुग्रह सम्प्राप्त होता है उसके शरीर में उठा हुआ गुरु का अधोगामी प्राण कुण्डलिनी नहीं है, वह तो उसको जाग्रत करने में सहायता पहुँचाने वाला सन्मित्र है। स्थूलकुण्डलिनी का कार्य चक्रभेदन और ग्रन्थिभेदन है। उसकी समाप्ति के पश्चात ऊर्ध्वगामी प्राणापान सुषुम्ना में निरन्तर प्रवाहित होते हैं। उस भूमिका में स्थूलकुण्डलिनी का कार्य ऊर्ध्वगामी प्राणापानरूप सूक्ष्मकुण्डलिनी अपने सिर ले लेती है। उस समय 'शक्तिचालनमुद्रा' भी अपने मूल स्वरूप का परित्याग करके 'योनिमुद्रा' का स्वरूप धारण कर लेती है।

निम्नोक्त शक्तिपात ध्यानविधि में 'शब्द' एवं 'संकल्प' इन दो दीक्षा-विधियों का समावेश किया गया है। इसका प्रयोग केवल उच्च कक्षा के साधक ही करें—यह मेरा विशेष सूचन है।

(१) सिर, ग्रीवा और काया को सीधा रखकर स्वानुकूल आसन पर बैठें, किन्तु ध्यान रहे कि शरीर सीधा होने पर भी तना हुआ न हो।

(२) तदनन्तर कुछ समय श्री सद्गुरु अथवा भगवान इन दोनों में से जिस पर आपको अधिक अनुराग हो उसकी प्रेमपूर्वक मूक प्रार्थना करें—"प्रभो! मैं आपका ध्यान उत्तम प्रकार से कर सकूँ इसलिए आप मुझ पर कृपा करें।" "**असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतंगमय।** हे दयानिधे! (कृपा करके) मुझे असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर ले जाइये।" यह दूसरी प्रार्थना भी करें।

(३) प्रार्थना के पश्चात दीर्घप्राणायाम, भस्त्रिका अथवा अनुलोम-विलोम प्राणायाम में से किसी एक प्राणायाम की पच्चीस आवृत्ति करें।

(४) तत्पश्चात शरीर पर से मन की सत्ता उठा लें यानी शरीर को सम्पूर्ण ढीला छोड़ दें—शिथिलीकरण करें। जब शरीर अपने आप क्रिया करने लग जाय तब उसे रोकिये मत।

(५) प्राप्त अवस्था में जो अनुभव हो रहा हो उसमें ही मन को केन्द्रित करें अथवा श्री गुरुदेव व श्री प्रभुजी की लीलाओं का चिन्तन करें अथवा महावीर, राम, इत्यादि नामों में से जो नाम अधिक प्रिय हो उसका मानसिक जप करें। गुरुमंत्र का जप भी कर सकते हैं। मैंने गन्ध के प्रत्याहार में अजपाजप की विधि—श्वास की गिनती—दिखाई है यदि उसका अवलम्बन लेना चाहें तो ले सकते हैं।

(६) ध्यान की समाप्तिपर्यन्त आँखें बन्द ही रखें। प्रतिदिन एक घण्टे का ध्यान पर्याप्त है।

(७) ध्यान धीरे-धीरे छोड़ें, शीघ्रता न करें।

(८) अंत में पुनः **असतो मा सद्गमय** वाली प्रार्थना करें।

उत्तम ध्यान इसलिए नहीं होता कि साधक अपने शरीर को सीधा और सम्पूर्ण तना हुआ रखने के लिए सतत आयास करता रहता है। इतना ही नहीं, उस पर मन का कठोर पहरा भी लगा देता है, अतः मन को आत्मा की गहनता में उतरने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता है। जैसे किनारे से बँधी हुई नौका में बैठकर चप्पू चलाने से वह दूसरे किनारे पर नहीं पहुँचती, उसी प्रकार शरीर पर मन का पहरा लगा देने से मन अंतर्मुख नहीं बन पाता। मनुष्य गाढ़निद्रा में एक दो बार पार्श्वों को बदलता है तथापि उसको उसका बोध नहीं होता। जायतावस्था में भी ऐसे असंख्य उदाहरण उपलब्ध होते हैं। गायक, वादक, चित्रकार, शिल्पकार, वक्ता, लेखक इत्यादि कलाकार अथवा अभीष्ट कार्य में निमग्न बने हुए स्त्री-पुरुष अज्ञात अवस्था में कई बार आसनों को बदलते रहते हैं। उसी प्रकार उत्तम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान में साधक भी प्राकृतिक रीति से आसन बदलता रहता है। शरीर को कष्टरहित रखने का कार्य प्राण का है, उसमें मन के आदेश की आवश्यकता ही नहीं है।

८. कुण्डलिनी जाग्रत होने पर क्या-क्या होता है ?

शक्तिपात की दीक्षा से साधकों के शरीर में प्राणोत्थान होता है। उस समय ध्यानस्थ साधकों को विविध अनुभव होने लगते हैं। यथा—

(१) किसी को रोमांच हो जाता है। (२) कोई काँपने लगता है। (३) कोई डोलने लगता है। (४) कोई विविध आसन करता है। (५) कोई विविध मुद्राएँ करता है। (६) कोई बैठे-बैठे चक्की की तरह गोल-गोल घूमने लगता है। (७) कोई मेढक की तरह इधर-उधर उछलने लगता है। (८) कोई नृत्य करता है। (९) कोई विविध प्राणायाम करता है। (१०) कोई 'राम', 'ॐ' इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करता है। (११) कोई वेदध्वनि करता है। (१२) कोई नाम संकीर्तन करता है। (१३) कोई शास्त्रीय रागों का आलाप करता है। (१४) कोई बड़बड़ाने लगता है। (१५) कोई रोता है। (१६) कोई अट्टहास करता है। (१७) कोई विविध गर्जनाएँ करता है। (१८) कोई चीत्कार करता है। (१९) कोई बैठा हुआ साधक आगे झुककर 'भूनमनासन' पर पड़ा रहता है। (२०) कोई बैठा हुआ साधक पीछे झुककर मत्स्यासन, शवासन इत्यादि आसन पर पड़ा रहता है। (२१) कोई आनन्ददायक स्वप्न देखता है। (२२) कोई भगवान् की लीलाओं का दर्शन करता है। (२३) कोई भयानक दृश्य देखता है। (२४) कोई प्रकाश देखता है। (२५) कोई विविध रंगों को देखता है। (२६) कोई देव-देवियों के अथवा अपने गुरु के दर्शन करता है। (२७) कोई तन्द्रा में रहता है। (२८) कोई योगनिद्रा का आस्वाद लेता है। (२९) कोई मूर्च्छित हो जाता है। (३०) किसी को मूत्रस्राव हो जाता है। (३१) किसी को वीर्यस्राव हो जाता है। इस प्रकार विविध शारीरिक प्रक्रियाएँ ध्यान की अपरिचित दिशा का उद्घाटन करती हैं। इनको योग की सामान्य अनुभूतियाँ भी कह सकते हैं।

श्रीमद्भागवत् में शक्तिपात—अनुग्रह—के ध्यान का वर्णन है। इसमें श्रीकृष्ण भगवद्भक्त की ध्यान में कैसी अवस्था होती है उसका वर्णन करते हैं—"जब तक शरीर पुलकित नहीं होता, चित्त द्रव कर गद्गद् नहीं होता, आँखों से आनन्दाश्रु बहने नहीं लगते तथा अंतरंग और बहिरंग भक्ति के पूर में चित्त प्रवाहित नहीं होता, तब तक उसकी शुद्धि की कोई संभावना नहीं है।"[२७] "जिसकी वाणी स्नेह से गद्गद् हो गयी है, चित्त द्रव रहा है, आँखों से अश्रु बह रहे हैं, और जो कभी अट्टहास करता है, कभी निर्लज्ज होकर उच्चस्वर से गाता है कभी नृत्य करता है, प्रिय उद्धव ! ऐसा मेरा भक्त केवल अपने को ही नहीं, समस्त संसार को पवित्र करता है।"[२८] "भक्त चक्रपाणि विष्णु के कल्याणकारक एवं लोकप्रसिद्ध अवतारों तथा उनकी लीलाओं को सुनता हुआ तथा उन गुणों का और लीलाओं का स्मरण करने वाले नामों का लज्जारहित गान करता हुआ संसार में अनासक्त होकर विचरता है।" "इस प्रकार का व्रत धारण करके वह प्रियतम प्रभु के नाम-संकीर्तन से उन पर अत्यन्त स्नेह उत्पन्न होने के द्रवित चित्त से कभी उन्मत्त के सदृश मुक्तहास्य करता है, कभी आक्रन्द करता है, कभी चीत्कार करता है, कभी उच्चस्वर से गाता है, कभी नृत्य करता है—इस प्रकार वह लोकमान्यता से परे हो जाता है।" यह सबीज समाधि की भूमिका है। यद्यपि आरम्भ का साधक भी उपर्युक्त क्रियाएँ करता है किन्तु वह साक्षात्कार को पहिचानता नहीं है। हाँ, ध्यान में आगे बढ़ा हुआ साधक ही उस साक्षात्कार को उत्तम रीति से पहिचानता है।

शिवपुराणादि पुराणों में, योगवासिष्ठ में, मण्डलब्राह्मणादि उपनिषदों में, नारद भक्तिसूत्र इत्यादि सूत्रों में और असंख्य तंत्रग्रंथों में शक्तिपात का वर्णन उपलब्ध होता है।

योगमार्ग की विविध अनुभूतियों से साधक के अन्तःकरण में श्रद्धा, शौर्य, धैर्य, ज्ञान, उत्साह, गुरुभक्ति, शास्त्रभक्ति और ईश्वरभक्ति की वृद्धि होती है। आरम्भ में उसको विविध आसन, मुद्रा, प्राणायाम, इत्यादि का परिचय होता है। मध्य में निम्नचक्रों का और मध्यचक्रों का परिचय होता है, अन्त में ऊर्ध्वचक्रों का अभ्यास दृढ़ होने पर ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि, रुद्रग्रंथि, अनाहतनाद, ज्योति, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का परिचय होता है। इस प्रकार साधक योग द्वारा योग का ज्ञान प्राप्त करता हुआ योग-यात्रा करता है।

जैसे-जैसे साधक योगाभ्यास-प्रगति सिद्ध करता जाता है वैसे-वैसे एक ही पुरानी अनुभूति नूतन स्वरूपों को धारण करके साधक के योग-मार्ग में बार-बार उपस्थित हुआ करती है, अतः आरम्भ के साधक को सावधान रहना चाहिए और किसी भी प्राप्त अनुभूति को अंतिम अनुभूति नहीं मानना चाहिए। हाँ, हम योगानुभूतियों को अनेक वर्गों में विभक्त कर सकते हैं, परन्तु उनके समस्त वर्गों को हमें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—इन तीन वर्गों में समाविष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर लेना चाहिए। उत्तम अनुभूतियाँ अंतिम परिणाम होने के कारण उनकी उपलब्धि समान रूप में हुआ करती है, परन्तु मध्यम एवं कनिष्ठ अनुभूतियों की उपलब्धि सर्व को न्यूनाधिक रूप में अथवा परिवर्तनयुक्त प्राप्त होती है। योग के सुप्रसिद्ध ग्रंथों में समस्त आसन-मुद्राओं, प्राणायामों, प्रत्याहारों, धारणाओं और ध्यानों का विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं होता, केवल संक्षिप्त और अतिमहत्व का वर्णन ही प्राप्त होता है। वे ही योग की अंतिम अनुभूतियाँ हैं।

इतना होने पर भी यह स्मरणीय है कि ईश्वर अनिवर्चनीय होने से योगानुभव भी अनिवर्चनीय है। हाँ, यदि ईश्वर निर्वचनीय होता तो योगानुभव भी निर्वचनीय होते।

मन सान्त और सीमित है, ईश्वर अनंत और असीमित है। जहाँ मन की ही गति न हो वहाँ वाणी की गति कैसे सम्भव है? अतः वाणी इन्द्रियों के अनुभवों को अभिव्यक्त कर सकती है, इन्द्रियातीत अनुभवों को अभिव्यक्त नहीं कर सकती।

'शक्तिपात की दीक्षा' संन्यास की ही दीक्षा है। इसमें कर्मफल का परित्याग करना पड़ता है। इस दीक्षा को 'निष्काम कर्मयोग' की दीक्षा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें साधक को ऊर्ध्वरेता बनना पड़ता है। सकाम साधक का योगमार्ग इससे भिन्न है जिसमें सामान्य ब्रह्मचर्य अथवा मर्यादित संयम होता है।

शक्तिपात की दीक्षा से दीक्षित साधक योगग्रन्थों का पठन करके उनमें निर्दिष्ट की हुई योगप्रक्रियाओं का अनुष्ठान नहीं करता है। वह तो उनमें मात्र दृष्टिनिक्षेप करता है और उनकी अनुभूतियों के साथ अपनी अनुभूतियाँ मिलती हैं या नहीं, इतना ही देखता है। ऐसा साधक जब अपनी योगानुभूतियों को शास्त्रों में देखता है तब उसके आनन्द की सीमा नहीं रह पाती। इस प्रयोजन से उसकी उपासना वेगपूर्वक आगे बढ़ती है और उसको शास्त्रचिन्तन में भी अवर्णनीय आनन्द आता है। जब तक साधक को ऐसा अनुभव नहीं होता, तब तक उसको 'शास्त्रकृपा' का सत्य सहस्य अवगत नहीं होता।

जो प्रचारक प्राचीन शास्त्रों के दृष्टिकोण को बिना समझे उनकी निन्दा करता है और अपने अनुभवों को ही गुप्त रीति से अधिक महत्व प्रदान करता है वह बाहर से कितना भी विनम्र क्यों न हो किन्तु भीतर से अभिमानी ही होता है। वह सत्य की नहीं अपितु स्वयं की प्रतिष्ठा करना चाहता है। सत्य का सम्मान चाहने वाला साधक पूर्वाचार्यों के अनुभवों का गुणगान करने लगता है और श्रेष्ठ शास्त्रों की समाज में सुप्रतिष्ठा करता है।

शास्त्रों का अस्तित्व उनकी अपनी विशेषताओं पर और सत्य पर निर्भर है। पूर्वकाल में ऐसे कई सामान्य ग्रन्थों की रचना हुई थी और उनकी सुरक्षा भी की गई थी फिर भी वे नष्ट हो गये हैं, आज उन ग्रन्थों के नाम तक कोई नहीं जानता। इससे विपरीत, आज प्राचीन अप्राप्य शास्त्रों को प्राप्त करने के लिए अथाह प्रयत्न किया जाता है।

मान लें कि प्राचीन शास्त्रों में सम्पूर्ण असत्य ही भरा हुआ है तो भी वे अत्युपयोगी हैं, क्योंकि सत्य के अन्वेषण में असत्य उपलब्ध होने के कारण सहायक होता है। हाँ, सत्यासत्य का निर्णय तर्क पर अवश्य आधारित है किन्तु उस तर्क को भी प्रयोग की कसौटी पर बार-बार कसना पड़ता है। योग तर्क नहीं है, श्रद्धा भी नहीं है, योग है उन दोनों की कसौटी का नाम।

९. समाधि

आरम्भ में अनुष्ठान द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है, मध्य में वह ऊर्ध्वमुखी होती है और अन्त में सहस्रार चक्र में पहुँचकर शिव से मिलती है। राजयोग, उन्मनी, मनोन्मनी, अमनत्व, लय, तत्त्व शून्याशून्य, परंपद, अद्वैत, अमनस्क, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजावस्था, तुर्यावस्था इत्यादि नाम समाधि के हैं।[२९]

समाधि में प्राण क्षीण हो जाने से मन का लय होता है यानी चित्तवृत्तियों का निरोध होने से जीव अपने स्व-स्वरूप में तद्रूप हो जाता है।[३०] योग का अंतिम अंग है समाधि। महर्षि घेरण्ड ने कहा है—"समाधि से भिन्न कोई योग नहीं है। जो योगी समाधि सिद्ध करता है उसके समान कोई भाग्यशाली नहीं है। यह समाधि सद्गुरु की भक्ति और उनके अनुग्रह द्वारा सिद्ध होती है।"[३१] योगीश्वर याज्ञवल्क्यजी ने कहा है—"जीवात्मा और परमात्मा की समता का नाम समाधि है।"[३२] समाधि तो एक ही है किन्तु उसकी अवस्थाएँ दो हैं। पहली अवस्था को सबीज, संप्रज्ञात, सविकल्प, क्रियायोग अथवा चेतन समाधि कहा जाता है। वह समाधि का पूर्वांग है। योगदर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों के एकत्ररूप को 'संयम' की संज्ञा दी है।[३३]

वासना का बीज है मन। इस समाधि में उसका अस्तित्व रहता है, अतः उसको सबीज समाधि कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस समाधि द्वारा ध्येय स्वरूप का संशय तथा विपर्ययरहित यथार्थबोध होने के कारण उसको सम्प्रज्ञात समाधि व चेतन समाधि कहते हैं।

संप्रज्ञात समाधि की चार भूमिकाएँ हैं—सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मिता।

प्राणोत्थान के पश्चात् कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और उसके जाग्रत होने पर सवितर्क समाधि का आरम्भ होता है। उस अवस्था में साधक का मन 'क्षिप्त' हो जाता है, क्योंकि वह जब-जब साधन के लिए बैठता है तब-तब उस पर कामवासना आरूढ़ हो जाती है। उस भूमिका में यदि साधक को अनुभवी योगी गुरु का समुचित मार्गदर्शन मिलता है तो उसकी साधना अक्षुण्ण रह पाती है, वरन् उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है या वह अन्य मार्ग का अवलम्बन ले लेता है। इसी भूमिका में गुरुहीन भावुक साधक योगभ्रष्ट होकर उन्मत हो जाते हैं।

सविचार समाधि दूसरा सोपान है। उसमें प्रथम सोपान की क्षिप्तता कुछ अंशों में न्यून हो जाती है किन्तु इसके स्थान पर 'मूढ़ता' का आक्रमण होता है। इस भूमिका में साधक का अधिक समय योगनिद्रा में व्यतीत होता है।

सानन्द समाधि तीसरा सोपान है। उसमें रजोगुण और तमोगुण क्षीण होते हैं और सत्त्वगुण समृद्ध होता है, फलतः शरीर में स्फूर्ति और मन में प्रसन्नता उत्पन्न होती है।

सास्मिता समाधि चौथा सोपान है। यह सबीज समाधि की अन्तिम भूमिका है। इसमें केवल 'एकाग्रता' ही होती है। ऋतंभरा प्रज्ञा, अपरवैराग्य, योगाग्निमय दिव्यदेह की प्राप्ति और निर्बीज समाधि करने की योग्यता—ये इसकी सिद्धियाँ हैं। शरीर पंचमहाभूतों से निर्मित हुआ है। योगी योग-साधना द्वारा उन पंचमहाभूतों को शुद्ध करता है, उन पर विजय पाता है। तदनंतर उसको अष्ट सिद्धियाँ—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और यत्र-कामावसायिता प्राप्त होती हैं।

सबीज समाधि में चित्त क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त और एकाग्र—इन चार अवस्थाओं की यात्रा करता है। निर्बीज समाधि में चित्त पाँचवीं निरुद्ध अवस्था में प्रवेश करता है। यह उसकी अंतिम अवस्था है।

सबीज समाधि में मन को शरीर से पृथक् किया जाता है। इसमें स्वतंत्र प्राण बहिरिन्द्रियों को अंतर्मुख बनाने की सतत प्रवृत्ति करता रहता है। इस प्रकार कई वर्षों की साधना के पश्चात् इन्द्रियनिग्रह सिद्ध होता है।[३४] निर्बीज समाधि में मन को आत्मा से पृथक किया जाता है। हठयोग की सीमा का विस्तार मूलाधारचक्र से लेकर विशुद्धचक्र पर्यन्त है। राजयोग की सीमा का विस्तार आज्ञाचक्र से लेकर सहस्रार पर्यन्त है। यहाँ से मनोनिग्रह का आरम्भ होता है। जो साधक निष्काम कर्मयोग द्वारा सुषुम्णा नाड़ी का मार्ग शुद्ध किये बिना ही ध्यान करता है उसको समाधि की प्राप्ति नहीं होती, वह मूर्च्छित हो जाता है।

सबीज समाधि की अपार महत्ता होने पर भी वह निर्बीज समाधि की अपेक्षा सामान्य है। प्राणोत्थान वाले साधक वर्षों पर्यन्त चेतन समाधि का अभ्यास करते रहते हैं। अन्त में वे मान लेते हैं कि यह चेतन समाधि ही अंतिम समाधि है, परन्तु यह उनका भ्रम है। जब प्राण और बिन्दु सुस्थिर हो जाते हैं तब योगी को निर्बीज समाधि प्राप्त होती है। उस अवस्था में योगी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध को तथा स्वदेह अथवा परदेह को नहीं जानता है।[३५]

योग का अंतिम परिणाम है कैवल्य। उसमें जीवात्मा स्व-स्वरूप में अवस्थित होता है। उस गुणातीत जीवात्मा को प्रवृत्ति का कोई बन्धन नहीं रहता। कई कर्मयोगी समाधिक्रम को चार अवस्थाओं में विभक्त कर देते हैं—नादयोग, रसानन्दयोग, लययोग और भक्तियोग। कई कर्मयोगी समाधिक्रम को नाद की चार अवस्थाओं में विभक्त कर देते हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्त्यावस्था।

ज्ञानयोग के अनुष्ठान द्वारा जीवात्मा स्व-स्वरूप में अवस्थित होता है। उस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते हैं। योग की असंप्रज्ञात समाधि ही ज्ञान की अपरोक्षानुभूति है।

भक्ति का अंतिम परिणाम प्रभुप्राप्ति है। यही मुक्ति है। इस मुक्ति की पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं—सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य और साष्ट्र्य। सालोक्यमुक्ति में भक्त सत्संग, कथाश्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि करता है। सामीप्यमुक्ति में उसको भगवान् के विविध अवतारों की दिव्य लीलाओं के दर्शन होते हैं। सायुज्यमुक्ति में वह भगवान् का अनन्य भक्त बनता है। इस भूमिका को योगमार्गी कुण्डलिनी की जागृति कहते हैं। सारूप्यमुक्ति में भक्त भगवान् के सदृश रूप प्राप्त करता है। इस भूमिका को योगमार्गी संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। उसमें भक्त को योगाग्निमय विशुद्ध शरीर, ऋतंभरा प्रज्ञा और अपरवैराग्य की उपलब्धि होती है। साष्ट्र्यमुक्ति में वह भगवान् के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त अधिकार प्राप्त कर लेता है। अर्थात् वह परमात्मरूप हो जाता है। इस भूमिका को योगमार्गी असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

उपर्युक्त समस्त योगियों को ऋतम्भरा प्रज्ञा, दिव्यदेह और अपरवैराग्य की प्राप्ति होती है। हाँ, उन सब की अभिव्यक्तियों में अन्तर प्रतीत होता है किन्तु योग प्रक्रिया तो समान ही होती है।

योग की इन सभी क्रियाओं अर्थात् प्रारम्भिक साधना से लेकर कुण्डलिनी जागरण और सबीज-निर्बीज समाधि तथा कैवल्य प्राप्ति की संप्राप्ति तक साधारण साधक को अनेक वर्ष लग जाते हैं, किसी-किसी को तो अनेक जन्मों तक साधना करनी पड़ती है। जैनदर्शन की दृष्टि से मोक्ष की साधना महायात्रा कही जाती है, किन्तु कुछ ऐसे साधक भी होते हैं, जो इस महायात्रा को अल्पकाल अर्थात् कुछ ही वर्षों में पूर्ण कर लेते हैं। यह उनके विशिष्ट वीर्य और तन्मयता का परिणाम होता है। कोई-कोई साधक योग्य गुरु की संप्राप्ति के कारण द्रुतगति से इन सब स्थितियों और सोपानों को पार कर जाते हैं और कोई-कोई साधक तो ऐसे विशिष्ट कोटि के होते हैं जो स्वयंबुद्ध होकर स्वयं ही अपना मार्ग तय कर लेते हैं।

सत्य तथ्य यह है कि साधना साधक की अपनी निजी लगन, सम्यक्श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान और इस ज्ञान द्वारा जाने गये मार्ग पर सम्यक् प्रकार से आचरण पर निर्भर करती है। यदि साधक की श्रद्धा सम्यक् और प्रगाढ़ है, उसका ज्ञान निर्मल और यथार्थग्राही है तो उसका आचरण भी दृढ़तापूर्ण और द्रुतगामी होगा।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि कुण्डलिनी जागरण भक्तियोग द्वारा भी हो सकता है, ज्ञानयोग द्वारा भी हो सकता है और निष्काम तथा सकाम योग द्वारा भी हो सकता है और यदि समन्वित रूप से कहा जाय तो इन तीनों ही द्वारा हो सकता है। जब ये तीनों योगमार्ग सम्यक्श्रद्धा (भक्ति एवं विश्वास) सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में समन्वित एवं एकाकार हो जाते हैं तो साधक द्रुतगति से अपने इष्ट अर्थात् कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्यातिर्गमय।
मृत्यो र्मा अमृतंगमय।

सन्दर्भ तथा सन्दर्भ स्थल

१ समत्वं योग उच्यते। —**गीता** २/४७।
२ योगः कर्मसु कौशलम्। —**गीता** २/५०।
३ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —**योगसूत्र, समाधिपाद**, सूत्र २।
४ हेतु द्वयं चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयो विनष्टे एकस्मिंस्तद् द्वावपि विनश्यतः ॥१॥ —**योगकुण्डल्युपनिषद्, प्रथम अध्याय।**
५ लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघः!
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥ —**गीता अ.** ३।
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥ —**गीता अ.** ६।
६ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचरः ॥९॥ —**गीता अ.** ३।
७ न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥ —**गीता अ.** ३।
८ (क) नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ॥८॥ —**गीता अ.** ५।
(ख) इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥ —**गीता अ.** ५।
९ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥ —**गीता अ.** १८।
१० तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ॥२॥ —**योगकुण्डल्युपनिषद्, प्रथम अध्याय।**
११ योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥६॥ —**श्रीमद्भागवत स्कन्ध. ११, अ.** २०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥ —**गीता अ. ३ ।**

१३ स शैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहि नायकः ।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥१॥ —**हठयोगप्रदीपिका, तृतीयोपदेशः ।**

१४ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥ —**हठयोगप्रदीपिका, द्वितीयोपदेशः ।**

१५ कंदोर्ध्वं कुंडलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥ —**हठयोगप्रदीपिका, द्वितीयोपदेशः ।**

१६ आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥ —**गीता अ. ३ ।**

१७ यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥ —**हठयोगप्रदीपिका द्वितीयोपदेश ।**

१८ शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ॥ —**सिद्धसिद्धांत संग्रह ।**

१९ सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥—**हठयोगप्रदीपिका तृतीयोपदेशः ।**

२० भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम् ।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावावलम्बनम् ॥ —**रुद्रयामलतंत्र ।**

२१ बहु जपात् तथा होमात् कायक्लेशादिविस्तरैः ।

२२ ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः । —**तन्त्र ।**

२३ नानाविधविचारस्तु न साध्यं जायते मनः ।
तस्मात् तस्य जयः प्रायः प्राणस्त्र जय एव हिः ॥ —**योगबीज ।**

२४ प्राणायामक्षपितमनो मलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवति । प्रथम नाडीशोधनं कर्तव्यम् । ततः प्राणायामे अधिकारः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादि रेचक पूरक कुम्भकैः ।
प्राणापान समायोगः प्राणायामः प्रकीर्तितः ॥
प्रणव त्रयात्मकं रेचक पूरक कुम्भकम् ॥ —**श्वेताश्वतरोपनिषद् शांकरभाष्य अ. २ ।**

२५ यत् किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥१०२॥ —**हठयोगप्रदीपिका, चतुर्थोपदेशः ।**

२६ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥ —**गीता अ. १० ।**
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन ।
यमवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्मेष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् ॥ —**कठोपनिषद् ।**

२७ कथं विना रोम हर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् अकृत्या विनाऽऽशः ॥२३॥ —**श्रीमद्भागवत ११ स्कं, १४ अ. ।**

२८ वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥२४॥ —**श्रीमद्भागवत ११ स्कं, १४ अ. ।**

२९ राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमनत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥३॥
अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरंजनम् ।
जीवनमुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥४॥ —**हठयोगप्रदीपिका चतुर्थोपदेशः ।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३० तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥ —पातंजल योगसूत्र, समाधिपाद ।

३१ समाधिश्च परं योगं बहु भाग्येन लभ्यते ।
गुरो कृपा प्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तितः ॥ —घेरण्डसंहिता ।

३२ समाधि समनावस्था जीवात्मापरमात्मनोः । —योगियाज्ञवल्क्य ।

३३ त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥ —योगदर्शन, विभूतिपाद ।

३४ भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥४८॥ —हठयोगप्रदीपिका, चतुर्थोपदेशः ।

३५ न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥१०६॥ —हठयोगप्रदीपिका, चतुर्थोपदेश ।

★★★

सुबोधं बालजीवानां, यद्विविधैः कथानकैः ।
माहात्म्यं साम्यतत्त्वस्य, तज्ज्ञेयं पण्डितैरपि ॥

आदिमतीर्थकृन्मातुर्भरतचक्रिणस्तथा ।
प्रसन्नचन्द्रराजर्षेश्चिलातिपुत्रयोगिनः ॥

—गि. प. शाह 'कल्पेश'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Modern Psycho-therapy V/s Ancient Indian Psycho-therapy

□ Dr. S. N. BHAVASAR, M. A., Ph.D.
Yoga Vidya Dhama, Pune-411005

Modern Psycho-Therapy

Modern psycho-therapy is a branch of medicine. It is an outcome of classical psychology—previously a part of philosophy—Analytical, Behaviouristic, Gestaltic, Introspective, etc. Not only that its scope has widened to such an extent that an integration of all the different approaches and divisions, had to be contemplated, and accordingly a new movement of psycho-synthesis has been started all over the world as back as in first quarter of this century itself ; it is yet widening and enriching its body.

This transition of psychology from a part of philosophy to the branch of medicine, almost an independent discipline to-day, so to say, historically speaking, is a very recent development. The factors that have contributed to the growth of modern psycho-therapy have mainly been industrial, scientific, and socio-political revolution in the last few centuries. The most important factor is the meeting of the East and the West, caused and made easy by means of modern transport and tele-communication, besides, the press and publicity. This change, however, is effected more from philosophical and cultural sides in the recent times, mainly through the ancient Indian tradition unique in its kind—it is Indian Culture.

Before the cultural and commercial transactions between the East and the West began, there was and is still continued to a certain extent a dispute between the philosophical view of the living being as a unit of Body, Mind and Spirit together as against a bio-physical and bio-chemical complex. It was thus a very fundamental issue as regards subjective and objective aspect of Life, Nature and the Transcendental. In a dispute between Science and Philosophy this is conspicuously present. Psycho-therapy, nay, medicine as a whole, being a scientific discipline, is affected by this tug of war causing such a heavy impact on psycho-therapy, that the very entity of mind, not to speak of soul, had lost its existence. In physical sciences Newton and others, Darwin and others in Biology etc., had given a radically different picture of Matter, Life and Spirit. Freud and his group on the other hand paved the way to Unconscious under the name Depth-psychology. There emerged, still side by side an opposite school of thought in psycho-therapy, through K. Abraham, Roverta Assagioly, etc., under the name Height-psychology in search of higher and brighter aspects of mind as against the darker ones of the former. Though Freud had already noted this dimension of mind, and Jung too had recognised the same, it were Assagioly and others, who incorporated it practically in the body of psycho-therapy.

The conflict between subjectivity and objectivity in fact is of inverse and reverse sides of the same coin—on the one hand and the height and depth of mind on the other, continued for a long time till the first quarter of this century.

By this time psycho-therapy had made a great advance on its march towards solving the problems of mental health. Three factors, however—population, over-urbanisation and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

over-use of industrialisation created unprecedented complications and problems of life causing stress and strain so much so that psycho-therapy in its present form is not in a position to keep pace with the alarming situation that is being created.

Still in another corner, the new concept of mind, in Experimental Psychology, as nothing more than a chemical complex, as an object to be investigated and controlled in the laboratory, like an electronic model, (*i. e.*, as Cybernetics looks at it), led to the belief that all the problems of life could fall within the jurisdiction of Chemistry, and is therefore a place for their solutions. The result is manufacturing of tranquilisers, L.S.D's and other painkiller products. The problem is further aggravated by an advent of Penicilin, Antibiotics etc. Over and above pollution on various levels and of all possible kinds (even psychic pollution, if this could be granted), along with all other plausible factors, practically nullifying all human endeavours. In psycho-therapy thus the ratio of problems and their solutions is in inverse proportion. And therefore if there is a constant need both for a scientific pursuit as well as an individual aspiration, of enriching every branch of modern learning from any possible source, irrespective of Time-Space and Cultural considerations, much so in the case with psycho-therapy. A radically different branches in comparatively recent times under the name Para-psychology dealing with the problems of meta-psychological events, was started, while the outside pressure caused by an impact of the East also gave it a new direction. In Philosophy, slowly though, an evolution had already begun due to pressure from without. While in material science a revolution was waiting for Einstein's Relativity. It saw almost an end of classical physics, opening, thereby a new vista. It tacitly opened a back-door for subjectivity in the hitherto edifice of objectivity. Its culmination was witnessed by an introduction of principle of uncertainty of Heisenberg and Quantum 'physics of Masc Plank'. Thus in science itself the objectivity had to accommodate subjectivity, while philosophy had to give place to objectivity of scientific world, by adjusting itself with its progress.

Yoga in the West

Emergence of Yoga on Western horizon saw the multiple impacts on its mental frame-work and cultural tradition. An aura of mysticism, the so-called exhibition of occult powers associated with the name Yoga, gave rise to as a reaction initially, a sort of disbelief if not a kind of hatred, in the scientific and rational mind of the West. A layman's reaction on the other hand was that of bewilderment, awe and sometimes disgust or a terror. As a matter of fact, both these were bubbles on the undercurrent of attraction and impulsion for its aims and objects on subconscious level. It is thus Yoga, which really happens to be the first prophet of Indian Culture to the Western Culture, and would eventually serve as a bridge between the two.

Curiosity of a common Western man restricted mainly to the practice of *Āsanas,* and certain types of *Prāṇāyāmas*, as well as a scientific belief of a scientist or of a man of medicine confining to an investigation of Yoga, based on modern scientific parametres, essentially go to Yogic spirit, has already arrived at certain generalisation. However it is really a matter of hearty commendation.

The overall impact of Indian Culture especially of Yoga, particularly on medicine of to-day, was a reorientation given to it basically as regards the concept of Health and ill-health, etc. That it is a psycho-somatic phenomenon as against previously somatic one's. This is a recognition and acceptance to the Spirit (in Indian sense), which otherwise was neglected by modern medicine.

However, this modern objectively scientific approach superimposed upon a basically subjectively objective Indian Culture, still needs more basic considerations, leading ultimately, the author supposes, to an hitherto unknown virgin scientific realm ; for modern science and modern man. And that is opened by Ancient Indian philosophy and science.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Yoga in the West, at present, forms more a part of physical education or medicine ; much less an independent pursuit, a means of Realisation, Deliverance, as is still the case with many Indian branches of learning.

Yoga

At the very outset it must be remembered that Yoga as such is independent of any religious impact even in its motherland, with its three great faiths Hinduism, Buddhism and Jainism, the names, forms and details only differ. And it is simply of because religious difference.

Since it is being subjected to modern scientific investigation Yoga has become known everywhere; and is thus quite at home in science as well as in philosophy. At present Yoga is in the hands of scientists, and is hence called a science. It is also called a philosophy. In India this sort of demarcation and distinction was not made. Actually Yoga really is a yoga *i. e.*, integration or synthesis of philosophy and science from to (युज्) yuj—to unite, join, synthesize. This permeable character of Yoga is unique in itself. From its proper Indian perspective this would, if looked into, be better comprehended.

Yoga with its Eight Limbs, is a combinaton of philosophy, science and practice. The *Yamas* and *Niyamas* form more of socio-ethical aspect, while *āsana* and *prāṇāyāma* more of bio-physiological aspect, the *pratyāhāra, dhāraṇā, dhyāna* and *samādhi*, more of psychological aspects. Yoga as a whole thus is a characteristically happy combination of all the three.

Before proceeding further to investigate the integral character of Yoga, it must be noted how and how far it is related to psycho-therapy. Yoga, as is maintained, is prescribed even for a diseased, disable and deficient not to speak of the young and healthy one. In this capacity then it serves both as a preventive as well as a prophylactic measure (*Yoga* and *Kṣema* in its technical sense). Treatment of a disease as well as achievement of health is a bi-product, on the way to the ultimate goal of self-realization and union of *piṇḍa-brahmāṇḍ* (*i. e.* microcosm and macrocosm), which it advocates. In its capacity as a preventive measure that Yoga comes close to medicine and psycho-therapy. It is exactly here that we have to know deeply as to what medicine would mean in Indian context. And that straightway brings us to *Āyurveda*, the ancient Indian medicine, divine in its origin, coming down to us from a hoary past. Both are, if anything, but a twin-products of Indian Culture *i. e.*, Aświnī Kumārs. Summarily taking into consideration all the features of life (*adhibhautika, adhidaivika* and *ādhyātmika*), Yoga is a higher type of Āyurveda, and vice versa. Āyurveda in its philosophic perspective is a mundane Yoga, with difference or rather a stress on subjective or objective characters respectively. It must also be noted here that in Indian tradition it is Patanjali who had composed Yoga, Medicine and Grammar to irradicate impurities of *Citta* (*Mental faculties*), Body and Language (*pada*), respectively. So also the Lord Brahmā is regarded as the revealer or Creater of Yoga as well as Āyurveda. Two more examples would suffice it to show an intimate relation of Yoga and Āyurveda.

Health, as Āyurveda defines is :

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

He is called healthy, who is endowed with equilibrium of *Agni* (including *dhātvagnis*) dhātumala-functions and whose soul, mind and senses are happy.

The word *Svastha* literally means "seated in one-self", which nothing less than the aim set-forth by Yoga *i. e.*, established in ones own self self—realisation. The Mahābhārata explicity speaks :

तत्त्वंरजस्तमं इति त्रयो स्युः मानसाः ।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थ लक्षणम् ॥
शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजाः गुणाः ।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वास्थ्यलक्षणम् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Health is an equilibrium of the three mental properties *sattva*, *rajas* and *tamas*, as well as of three (corresponding) properties of body *śīta* (kapha) *uṣṇa* (pitta) and *vāta*. In these verses, we find that Health in its Indian medical sense is a higher psycho-somatic condition. The problem of Health then is to achieve that state if it is lost, and afterwards to maintain for a given life-span. This is precisely the aim of Indian Culture. A means to arrive at it is the treatment, medically speaking. This is what *Caraka* speaks :

याभिः क्रियाभिः जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।
सा चिकित्सा मनुष्याणां कर्मनन् भिषजांस्मृतम् ॥

Yoga and Āyurveda have built up their edifices on this basement considering philosophy, science and practice. Therefore is than the need to know as to how Indian Culture, could correlate, manage and utilise these three and what is the linking factor that could make this effort possible. Before proceeding further it would rather be judicious and more feasible to find out whether there is something corresponding to this in modern Western Culture.

Symmetry and Consistency

Each branch of learning evolves out its own philosophy, science and practice *i. e.*, the problem of Transcendental, Creation and Life. Leaving aside shades of meanings of these terms, it could be well said that modern science accepts energy as an ultimate source of Life and Creation, and that this expresses in terms of atoms, molecules and all the living and non-living entities from matter to unicellular organism to highly developed complex organism like man, including flora in between. A theory of evolution, accepted by modern science, is another basic principle. These principles differ from those of tradition ones. The modern Western approach compared to its tradition one, is experimental and objective than the previous subjective or the speculative one. Therefore the traditional philosophy in the West could not get space for accommodation into science and practice. And therefore there is a need for enrichment, especially so is the case of medicine and psycho-therapy. Modern medicine, particularly psycho-therapy is at present, a combination of its tradition, as well as the modern scientific disciplines.

Consistency and Symmetry are the two main important dimensions that modern scientific theories require for their progress and their correlations. The scientific advancements to-day in all respects, follow these principles as quidlines for extending their horizons. It is with this, perspective that physics and chemistry and mathematics for example, are solving these problems and enriching their bodies.

Keeping such basic considerations in view Indian Culture had its structure frame. Therefore its summary expression is very much necessary. For an evaluation of a system is in proportion to the aims it sets forth, the fundamentals it anticipates and the practice wherein it combines there two.

Philosophy

It needs no mention that Indian Culture is of subjectively objective nature. And in this way it has arrived at two fundamental metaphysical principles. One is Unity in Diversity. Creation which represents diversity in a multiple expression of Ultimate Reality, the One, in terms of One and Many. Accordingly the Upaniṣadash have evolved out Vedantic formula as follows :

एकेन हि वा विज्ञातेन सर्वं विज्ञानं स्यात् वाचाऽरम्भणं
विकारो नामधेयम्·····इत्येव सत्यम्

By knowing (that) One indeed: All (this) is known; the Modification and Name have beginning (*i.e.*, existence) only in Speech. . . .THAT is true. (ii) Identity of macrocosm and microcosm. *piṇḍa brahmāṇḍa aikya*. The one represents the Universe while the other the individual.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The method adopted to have this knowledge is that of spiritual realization. It is stated that by the knowledge of the Self Indian sect arrived at the knowledge of universe.

The contents or the basic Creation are said to be 24/25 in Saṁkhya. Its evolution presupposes levels or grades of expression—as one, duals, triads, quadruples, pentagonic, etc. It must be borne in mind that, excepting a very little variation here and there, Sāṁkhya system has been accepted by other sects as well as a framework of all the branches of ancient Indian scientific thought, even for socio-political ones.

Religion

From the above mentioned two basic issues have been derived, adopted and applied other sub-issues in all Indian branches of learning. Thus the principle of Unity and Diversity gave rise to the secondary principle of *sāmānya-viśeṣa* (commonness and difference, genus and species, general and special, etc.).

सामान्यमेकत्वकरम्, विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्

Commonness causes unification, speciality causes difference. From this further, a practical principle is derived.

बुद्धि : समानैः सर्वेषां विपरीतैस्तु विपर्ययः

There is an increase in similars by all similars, by contraries, (the result) is contrary. These two secondary principles are judiciously employed in scientific and practical fields of a system, right from Medicine, Yoga, Grammar, Politics, Sociology, etc. In Medicine, especially these two are always kept in view and based upon them are also the concepts of Aetiology, Pathogenesm, therapeutics, pharmacology and others.

With such and similar background Religion has laid out its structure. In India, irrespective of individual differences, all religions have a common belief and aim in self-perfection by self-realization. Four ends have been thus recognised under the name *puruṣārthas i. e., dharma, artha, kāma* and *mokṣa*. In fact every religion in this or that form has conceived and considered these aims, while evolving and establishing, social, moral and other similar institutions. West is not exception to this. The only difference is that of order and emphasis. The East keeps *artha* and *kāma* between *dharma* and *mokṣa* the West puts *dharma* and *mokṣa* if at all between *artha* and *kāma*. This attitudinal difference between the two, is the main reason, which seems to account for all the differences between them, in all respects of philosophy, science and practice.

In its modified form the institution of *varṇāśrama* system has been conceived and established.

Ethics

Ethical and moral principles of the two fundamental principles stated above have been adopted to maintain social and individual balance. Without violating the basic biological instincts of self-preservation, self-reproduction and self-multiplications, three ethical deductions have been summarily formulated ; they are *dāreṣaṇa* (desire for wife) *vitteṣaṇa* (desire for wealth) and *lokeṣaṇa* (desire for name and fame in the world). A whole realm of psychological factors seem to have been simplified in these three factors. This is what is called *sūtra-style* in its essence. All socio-moral codes of Indian society bases on this fact. Now, if a balance of all these three on individual level, in relation to societal level, is arrived at and maintained properly, there is naturally and individual and mereby a social harmony. If on the other hand, if any one or more of these factors get overpowered, the individual life—also a social life to that extent—is disturbed, a seed of psychological disorder is sown.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Psychology

The whole of complex structure of mind has been described by Indian Culture to have been simply characterised by three basic properties *sattvaṃ*, *rajas* and *tāmas*. Here too a societal and individual balance is desirable. The factors that work against this balance and harmony are said to be six enemies *Kāma* (desire), *Krodha* (anger), *Lobha* (greed), *Moha* (implusion), *Mada* (pride), *Matsara* (envy). Indian Culture conceived individual as subjected to cyclic order of births and deaths so also conscious, it viewed as continuous flow, with past, present and future as its phases. It is here that *punarjanma* and *karma* theories crop up. Indian Culture also knew very well the unconscious, subconscious and superconscious levels of mind, extending upto seven in all.

Medicine

In Āyurveda and Yoga corresponding to the three *guṇas*, there are three *doṣas*, three *naḍis*, with their similar corresponding spacio-functional characteristics, as *uṣṇasīta* and *sama* etc. As has been indicated above in the definitions of health and ill-health, both of body and mind and the principle of generality and speciality with their practical application are derived from the same basic two metaphysical principles stated above.

In addition to these, the most important issues are *saṁskāra* (rites) in Hindu society. *Saṁskāra* is defined as a measure to inculcate and establish desired properties or impressions in an object in question on the one hand and also erradicate those properties which are not desired on the other hand. These started right before birth and even after death. Most noteworthy is *upanayana saṁskāra*, from that day onwards the *dvija* (the twice-born one) had to perform *saṁdhyā* (*i.e.*, to recite some mantras, in morning, midday, evening and midnight). From psychological point of view this has a very great bearing upon mind. To strengthen conscious level of mind as compared to unconscious and superconscious levels was the practical consideration of Indian Culture. Besides, other traditions and conventions like *kathā*, *purāṇa-śravaṇa*, *prāvachana*, *kīrtana*, *japa*, *homa*, pilgrimages (*tīrthayātrā*), temples, *mathas*, music, drama, dance, painting, even sports and festivals had a great force to cultivate the conscious mind of man. The whole social structure was suitable for this, but the rise of individualistic trend and breakdown of joint family system has greatly contributed to aggravate the problem of psychotherapy.

Summarily through philosophy, science and practice Indian Culture maintained consistency and symmetry to a great extent.

Yoga and Āyurveda (Science and/or Philosophy)

The present situation in India to-day is that traditional psycho-therapy has become stagnated or rather is replaced by modern psycho-therapy. In ancient times the problem of psychological disorder was managed either by the then medical (*i.e.*, Āyurvedic) or spiritual authority or by one who combined the both.

Being well aware of complications and implications of psychological disorders Yoga and Āyurveda had practically managed them by reducing them into two main factors out of 24/25 which constitute each entity of the universe according to Sāṁkhya. They are Mind and *Prāṇa*. Both of them have been assigned middle position in the scheme of psycho-somatic constituents of body. Mind is said to be practically material *i.e.*, made of *pañca mahābhūtas* though metaphysically it is not, while *buddhi ahaṁkāra* and *citta* are purely metaphysical. Likewise *prāṇa* is said to be always present with mind, related with it by intimate relation is also peculiar. Though essentially it is also on a lower grade yet practically it is par with mind. *Prāṇa* also serves as a link between lower faculties like *kapha*, *pitta*, *vāta* and higher faculties like mind, *buddhi*, etc. Even in its form of *Vātadoṣa prāṇa* is said to be vehicle for *kapha* and *pitta*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Of eight limbs *prāṇāyāma* is the fourth stage. Upto *prāṇāyāma* Yoga is more a science, than philosophy or art, from *pratyāhāra* onwards it is more a philosophy and art than science. Āyurveda as a whole also is either a philosophy of life or science of life if viewed respectively so. Yoga and Āyurveda have practically utilised this position and intimacy of *manas* and *prāṇa* in health and ill-health, which are defind as psycho-somatic.

Aetiology and Pathogenesis in Psycho-therapy

In psycho-therapy aetiology also is twofold, on mental level as well as on physical level. On mental level it is *prajñāparādha* (i.e., deviation from prajñā i.e., highest discriminating intelligence). This leads to *triguṇa* balance of mind causing disturbance in the whole scheme and order of one's life (*āhāra, vihāra* etc.). A psychological pathogenesis in this regard is very remarkable in Gita. It says ;

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधात्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशात्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

Thus this ultimately leads to disharmony of the whole being. As far *prāṇa* is concerned its machanism as regards *naḍīs, doṣas* and *dhātu, mala,* etc., in Yoga and Āyurveda is almost the same ; difference is on emphasis on particular aspect, that too because the former is subjective more, the other is more objective. Āyurvedically speaking mental disorders are mainly due to vitiation of *Udāna* and *Prāṇa* (two modes, out of five modes of *Prāṇa*). Located and functioning from *Kaṇṭha* and *heart* respectively. As for *doṣas* it is a kind of *pitta* (five kinds of *pittas*) that gets vitiated. Thus the mind, *prāṇa* and bodily *doṣas*, etc. jointly cause psychological disorder. The treatment also therefore a joint one. Reversal of pathogenesis and removal of aetiological factor is the purpose of treatment. From this point of view Āyurveda, as Caraka exhibits it, very precisely lays down the aphorism *niyanta, prāṇeta ca manasaḥ* (*i. e., praṇaḥ*). *Praṇa* (Caraka uses *Vayu* for that) is the controller as well as the leader of Mind. In these three words only Caraka masterly gives the quintessence of the whole problem of psychological phenomena. Modern medicine in general and psycho-therapy in particular is almost completely ignorant of *prāṇa* and its so intimate relation with mind. In fact Āyurveda says '*vāyus tantrayantra-dharaḥ*'. Vāyu is the upholder (supporter) of the Machine in the form of body (*Tantra*-body). A factor which has been assigned such a supreme fiat in body finds a little place in modern medicine, much so in psycho-therapy is real curse of the whole problem. Since mind has become weak, in such problems, they cannot be solved on mental level itself. Therefore Yoga and Āyurveda, judiciously resort to *Prāṇa*. Since sole of medicine is limited, Āyurveda prescribes also meta-physical remedies. And it is here the Yoga has its proper field after the problem temporarily managed by medicine. By the way it should be noted that in such cases and other that Āyurveda incorporates Yoga covertly and overtly as and when necessary.

The foregoing discussion thus brings us to study and investigate *praniclose*, so as to employ it for the welfare of humanity. Moreover it would serve as a liason officer or a scafolding for the East and West to meet, scientifically.

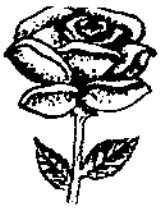
Sources of Prāṇa-Vidyā

Since there is no branch of learning, which has nothing to do with *prāṇa*, this lore ranges right from the *Vedas, Brāhmaṇas, Upaniṣads, Purāṇas*, Yoga and *Tantragranthas*, and Āyurveda as well as musical treatises are sources for *prāṇavidyā*. A short practical manual, of very recent composition, yet representative of ancient tradition, is available under the names' '*Svarodaya*' '*Śiva svarodya* or *Pavanavijaya*'. It is compared to the whole of its tradition—a surface layer of a iceberg on the ocean.

It is a necessity of collecting, editing this lost tradition, with a view to achieve human welfare.

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



योग और नारी

☐ पं. गोविन्दराम व्यास

भारतीय दर्शनों का चरम लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष दुःखों की एकान्तिक व आत्यन्तिक निवृत्ति है। कितने ही दार्शनिकों ने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के स्थान पर शाश्वत व सहज सुख-लाभ को मोक्ष माना है। इन दोनों बातों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि सुख की उपलब्धि होने पर दुःखों की आत्यन्तिक और एकान्तिक निवृत्ति अपने आप हो जाती है। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग एवं बौद्धदर्शन दुःख की निवृत्ति को मोक्ष मानते हैं तो वेदान्त और जैनदर्शन शाश्वत व सहज सुख-लाभ को मोक्ष मानते हैं। वेदान्तदर्शन में ब्रह्म को सच्चिदानन्दस्वरूप माना है तो जैनदर्शन में भी आत्मा को अनन्तसुखस्वरूप माना है। उस अनन्तसुख की अभिव्यक्ति मोक्ष प्राप्त होने पर होती है।

विभिन्न दर्शनों ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए विविध उपाय प्रतिपादित किये हैं। महर्षि पतंजलि ने योग साधना का एक बहुत ही सुन्दर क्रम प्रस्तुत किया है। अन्य दर्शनों ने भी अपनी परम्परा, बुद्धि, रुचि तथा शक्ति की दृष्टि से उसका निरूपण किया है। भारत की वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीनों परम्पराओं ने योग जैसी महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक और विकास प्रक्रिया से सम्बन्धित विषय पर उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है। तीनों ही परम्पराओं के मूर्धन्य मनीषियों ने अनेक योग विषयक ग्रन्थ विविध भाषाओं में लिखे हैं।

पुरुषों ने ही योग साधना नहीं की है अपितु महिला वर्ग भी योग साधना में सदा अग्रसर रहा है। योग वह आध्यात्मिक साधना है जिसमें लिंग-भेद बाधक नहीं है। चाहे पुरुष हो चाहे नारी हो, वे समानरूप से योग की साधना कर सकते हैं और अपने जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण विकसित कर सकते हैं।

जैनयोग पर लिखने वाले सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र हैं। उनका समय आठवीं शती है। आचार्य हरिभद्र ने योगशतक तथा योगविंशिका ये दो ग्रन्थ प्राकृत भाषा में तथा योगबिन्दु और योगदृष्टिसमुच्चय ये दो ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे। योग के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह केवल जैनयोग साहित्य में ही नहीं अपितु योग विषयक समस्त चिन्तनधारा में एक नयी देन है। जैन साहित्य में आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन चतुर्दश गुण-स्थानों के रूप में किया है। संक्षेप में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा इन आत्म-अवस्थाओं को लेकर भी आध्यात्मिक विकास का वर्णन किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने इस अध्यात्म विकास क्रम को योग रूप में निरूपित किया है। उन्होंने इस निरूपण में जो शैली अपनायी वह अन्य योग-विषयक ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती। उन्होंने प्रस्तुत क्रम को आठ योगदृष्टियों के रूप में विभक्त किया है। योगदृष्टिसमुच्चय में उन्होंने आठ प्रकार की योगदृष्टियाँ बतायी हैं—

मित्रा[१] तारा[२] बला[३] दीप्रा[४] स्थिरा[५] कान्ता[६] प्रभा[७] परा[८]।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत॥

इन आठों दृष्टियों के नाम स्त्रीलिंगवाची हैं। मेरी दृष्टि में उस युग में इन नामों वाली योग में पूर्ण निष्णात महिलाएँ होंगी। उन्हीं के नामों पर ये आठ दृष्टियाँ रखी गयी हों। सर्वप्रथम दृष्टि का नाम 'मित्रा' है। महिला वर्ग में मित्रता का भाव सहज रूप से होता है। एतदर्थ ही महाभारतकार व्यास ने "**साप्तपदिनं मैत्रं**" लिखा है। पौराणिक आख्यान है कि सत्यवान की आत्मा को यमलोक ले जाते हुए यमराज के साथ सावित्री सात कदम चलकर जाती है जिससे यमराज के साथ उसका मैत्री-सम्बन्ध हो जाता है। फलस्वरूप सत्यवान को पुनः जीवित लेकर योग-शक्ति से वह पृथ्वी पर आती है। मेरी मान्यता है कि नारी अपने मैत्री बल पर यम पर भी विजय प्राप्त कर सकती है। एतदर्थ ही योगदृष्टि में सर्वप्रथम 'मित्रा' दृष्टि रखी गयी है। इससे यह सिद्ध है कि जहाँ पर मित्रा दृष्टि है और अपने प्रिय के प्रति देवत्व भाव है उसे अपनी इच्छाओं के प्रदर्शन करने की आवश्यकता नहीं होती। यही बात निम्न श्लोक में भी प्रतिध्वनित हो रही है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्रायां दर्शनं मन्दं यम-इच्छादिकस्तथा ।
अखेदोदेव कार्यादा.....॥[१]

दूसरी दृष्टि का नाम 'तारा' है। तारा भारतीय संस्कृति के गौरव की प्रतीक नारी है जिसने अपने पति हरिश्चन्द्र के सत्य को जीवित रखने हेतु अपने आप में ही अगाध कष्ट को सहन करना स्वीकार किया। महारानी होने पर भी वह एक ब्राह्मण के घर में दासी बनकर कठोर कष्ट सहन करती है जो एक महासती के गौरव के अनुकूल है। तारा दृष्टि के विश्लेषण में आचार्य ने यही स्वरूप प्रतिपादित किया है। जैसे हरिश्चन्द्र को देखने में महासती तारा कुछ स्पष्ट रही वैसे ही तारादृष्टि में कुछ दर्शन स्पष्ट होता है। उसमें भी नियम का सम्यक् प्रकार से पालन किया जाता है। वह हित की प्रवृत्ति में उद्विग्न नहीं होती, और तत्त्व के सम्बन्ध में सदा जिज्ञासु बनी रहती है। एतदर्थ ही कहा है—

तारायां तु मनाक् स्पष्टं नियमश्च तथाविधः ।
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥[२]

योग की भूमि पर नारी अपने आराध्यदेव के दर्शन हेतु कुछ स्पष्ट होती है और नियम के पालन में पूर्ण तत्पर होती है जिससे आराध्य के अन्तर्मानस में किंचित् मात्र भी उद्वेग न हो। तारा नेत्रों के पलकों में प्रमुदित होने वाली वह दिव्य ज्योति है जो सती होकर योग-साधना की एक श्रेष्ठ पगडण्डी भी है।

तृतीय योगदृष्टि का नाम 'बला' है। भारतीय नीति साहित्य में नारी को जहाँ अबला कहा गया है वहाँ वह सबला भी है। नारी बल की प्रतीक है। शक्ति की उपासना के लिए दुर्गा की आराधना की जाती है। मेरी दृष्टि से बला नामक कोई नारी अतीत काल में हुई है जिसने अपने अतुल बल से नारी समाज के गौरव में चार चाँद लगाये। वह स्थिरासन होकर आत्मसाधना में सदा तल्लीन रहती होगी और आक्षेप, विक्षेप, प्रक्षेप जो साधना में बाधक हैं उन्हें जीवन में नहीं आने देती होगी। वह बला जितनी दृढ़ थी उतनी ही दक्ष भी थी। इस प्रकार दृढ़ता और दक्षता का अपूर्व संगम उसमें था। आचार्य ने भी इन्हीं दृढ़ता, दक्षता, स्थिरता आदि भावों को बलादृष्टि के निरूपण में स्पष्ट किया है—

सुखासनसमायुक्त बलायां दर्शनं दृढम् ।
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः ॥[३]

चतुर्थ दृष्टि का नाम 'दीप्रा' है। दीप्रा जो सदा साधना की ज्योति को प्रदीप्त रखती है। जब भी साधना में विचार धूमिल होने लगते हैं तब दीप्रा उस ज्योति को पुनः प्रदीप्त करती है। सम्भव है दीप्रा नामक कोई विशिष्ट नारी रही होगी जिसने साधना के अखण्ड दीप को प्रज्वलित रखा हो। जैन साहित्य में बाहुबलि को अभिमान के गज से उतारने वाली ब्राह्मी और सुन्दरी थीं और रथनेमि को साधना में स्थिर करने वाली राजीमती थी। ऐसी ही नारियों से साधना दीप्त रही है। अतः योगदृष्टियों में भी दीप्रा का उल्लेख किया गया है।

पाँचवीं योगदृष्टि का नाम 'स्थिरा' है जो स्थिरता के भावों को प्रगटाने का विधान प्रस्तुत करती है। नारी पृथ्वी के समान स्थिर है, हिमालय की तरह अडिग है। निर्मल भावभूमि पर अवस्थित होकर वह साधना में स्थिर रहने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करती है। बिना स्थिरादृष्टि के परिवार, समाज और राष्ट्र की स्थिति विषम बन जाती है। इसीलिए साधना में भी स्थिरा की आवश्यकता है। आचार्य ने स्थिरादृष्टि का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।
कृत्यमभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोध समन्वितम् ॥[४]

छठी दृष्टि का नाम 'कान्ता' है। विभाव से निवृत्ति और स्वभाव में प्रवृत्ति यही कान्ता की कमनीयता है। महर्षि पतंजलि ने योग का छठा अंग धारणा माना है। धारणा का वास्तविक अर्थ है आत्मा के सद्गुणों को धारण करना। अध्यात्मोपनिषद् में लिखा है—"**आत्मप्रवृत्तौ अतिजागरूकः, परप्रवृत्तौ बधिरान्धमूकः ।**" अपने आत्मा की कान्ति में कान्ता बनी हुई नारी सदा ज्योतिर्मान रहती है। पर-भाव का परित्याग कर आत्मभाव में रहती है। पर-भाव में वह अन्धे, गूँगे और बहरे के समान बन जाती है। अपने कान्तभाव के अतिरिक्त उसे कहीं पर भी आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। यही भाव आचार्य ने कान्तादृष्टि में व्यक्त किये हैं—

कान्तायामेतदन्येषा प्रीतये धारणा परा ।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसाऽस्ति हितोदया ॥[५]

सातवीं दृष्टि का नाम 'प्रभा' है। प्रभा को आचार्य ने ध्यान-प्रिया कहा है। ध्येय में बुद्धि को स्थिर कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारी समाज के हलचलों में रहती हुई भी ध्यानारूढ़ रहती है। भले ही वह एकान्त, शान्त, जंगल में एकाकी आसन न लगाती हो, और भले ही योगियों की तरह योग का प्रदर्शन न करती हो, क्योंकि उसका शारीरिक संस्थान इस प्रकार का है कि वह योगियों की तरह बाह्यरूप से साधना न कर पाती, पर प्रतिपल प्रतिक्षण तत्त्व के अनुशीलन में अग्रणी रह सकती है और अपनी प्रभा से जन-मानस को योग साधना की ओर अग्रसर कर सकती है।

योग की आठवीं दृष्टि का नाम 'परा' है। परा का अर्थ 'उस पार' है। जो जीवन के उस पार ले जाने वाली हो, संसार से पार उतारने वाली हो, वह परा-दृष्टि है। नारी पुत्र, पौत्र तथा पति के लिए सर्वस्व समर्पण कर असंग दोष से मुक्त रहती है। स्नेह सद्भावना के साथ वह संकटों से पार उतारती है, संशयों को नष्ट करती है और समाधि में स्थिर करती है। मेरी दृष्टि से नारी के उस ज्वलन्त रूप का चित्रण आचार्य हरिभद्र ने परादृष्टि में किया है—

समाधे निष्ठा तु परा तदासंग विवर्जिता।
सात्मीकृत प्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च॥[1]

प्रस्तुत निबन्ध में आचार्यप्रवर हरिभद्र सूरि की आठ योगदृष्टियों का अवलम्बन लेकर मैंने अपनी कल्पना से योगदृष्टियों का सम्बन्ध भारतीय नारियों के साथ किया है। मेरा ऐसा मानना है कि भारत की विशिष्ट नारियों के आधार पर और उनके सद्गुणों को सलक्ष्य में रखकर ही इन दृष्टियों के नाम रखे गये हों। नारी नागिन नहीं अपितु नारायणी है। प्रेरणा की पुनीत प्रतिमा है, साधना की ओर बढ़ने की पवित्र प्रेरणा देने वाली विशिष्ट साधिका है। वह सदा साधना के क्षेत्र में आगे रही है। पुरुषों से उसके कदम साधना में सदा आगे रहे हैं। जैनदर्शन के अनुसार ही सर्वप्रथम मुक्ति प्राप्त करने वाली माता मरुदेवी, एक नारी ही थी। प्रत्येक युग में नारी साधना की दृष्टि से अग्रणी रही है। यदि आधुनिक युग में भी नारी योग के क्षेत्र में आगे बढ़े तो योग के नये-नये आयाम उद्घाटित हो सकते हैं। क्योंकि नारी में वह शक्ति है, वह सामर्थ्य है जो अधिक आध्यात्मिक विकास कर सकती है।

सन्दर्भ तथा सन्दर्भ स्थल :

१ योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक २१।
२ योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक ४१।
३ योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक ४९।
४ योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक १५४।
५ योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक १६२।
६ योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक १७८।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ŚODHANA KRIYĀS : AN ANALYSIS

☐ DR. M. L. GHAROTE, M.A., M.Ed., D.Y. P., Ph. D.

Principal, G. S. College of Yoga and Cultural Synthesis, Lonavla

Importance of Śodhana

'*Śodhana*' is a very important concept in Yoga. Karma, *Kriyā*, *Śuddhikriyā*, *Śauca*, *Nāḍīśuddhi*, *Ghaṭaśuddhi*, *Cittaśuddhi* are some of the well-known terms used for representing the concept of '*Śodhana*'. Literally translated '*Śodhana*' means an internal cleansing or a purification. But in a wider sense of the term it also includes conditioning or strengthening. This idea of *śodhana* is very well expressed in *Gheraṇḍa Saṁhitā* as follows :

आमकुम्भ इवाम्भःस्थो जीर्यमाणः सदा घटः ।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ॥—घे. सं. I-८.

(āmakumbha ivāmbhaḥstho jīryamāṇaḥ sadā ghaṭaḥ ।
yogānalena saṁdahya ghaṭaśuddhiṁ samācaret ॥)

"Just an an unbaked earthern pot disintegrates in water so also is the case of the body, Therefore, bake the body in the fire of yoga so that it is purified and strengthened."

Yogabīja also, in the same connection, talks of '*apakva*' and '*Paripakva*' bodies. All the practices of Yoga aim at purification. The concept of '*Purgativum*' in Mysticism is similar to the '*Śodhana*'. The concepts of '*tapas*' in Yoga and 'mortification' in Mysticism are intended for and used as '*Śodhana*'. The process of '*Śodhana*' is completed when *samādhi* is attained.

Various Yogic Practices as a Means of Śodhana

From the following quotations, it will be clear how the various Yogic practices as a class act as *Śodhana.*

Āsanas :

आसनेन रुजो (रजो) हन्ति ।—गो. श. ५४

(āsanena rujo (rajo) hanti)

"*Āsanas* remove disorders of the body (and fickleness of mind)."

ततो द्वन्द्वानभिघातः ।—पा.यो.सू. II-४८

(tato dvandvānabhighātaḥ)

"Thereby (with the practice of *Āsanas*) dysrrhythmia in the tonic impulses, giving rise to tremors, disappears".

आसनेन भवेद् दृढम् ।—घे.सं. I-१०

(Āsanena bhaved dṛḍham)

"*Āsanas* strengthen the body."

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Prāṇāyāmas :

प्राणायामेन पातकं (हन्ति) ।—गो. श. ५४.

(Prāṇāyāmeṇa pātakam (hanti))

"*Prāṇāyāma* destroys the sins."

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥—ह. प्र. II-३८

(Prāṇāyāmaireva sarve praśuṣyanti malā iti ।
ācāryāṇāṁ tu keṣāñcidanyatkarma na sammatam ॥)

"With *prāṇāyāmas* alone all the impurities are removed. According to some authorities no other practice (purificatory) is necessary."

Dhāyna :

ध्यानेन सदृशं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम् ।—बृ. यो. या IX-१७८

(dhyānena sadṛśaṁ nāsti śodhanam pāpakarmaṇāṁ)

"There is no other purificatory process equal to *dhāyna* for overcoming the evil deeds."

Ṣaṭkarmas* for Śodhana

In a restricted sense *Śodhana Kriyās* represent *ṣaṭkarmas* or six cleaning processes. These are the special features of *Haṭhayoga*. Although the *ṣaṭkarmas* have some similarity with *Pañcakarmas* of Āyurveda, *Haṭhayoga* has developed the contents of *ṣaṭkarmas* very elaborately. Attempts have been made to synthesize the basis of *Pañcakarmas* with that of *ṣaṭkarmas* in *Ṣaṭkarmasaṁgraha*. There is no doubt that *ṣaṭkarmas* play a prominent role in the *Haṭhayoga* curriculum.

Ṣaṭkarmas refer to the following six cleansing processes which are summed up in the verse quoted in *Haṭhapradīpika* :

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥—ह. प्र. II-२२.

(dhautirbastistathā netistrāṭakaṁ naulikaṁ tathā ।
Kapālabhātiscaitāni ṣaṭ karmāṇi pracakṣate ॥)

Really speaking, *ṣaṭkarmas* are not six cleansing processes but *six classes of cleansing processes.* A very elaborate description of these cleansing processes is available in the *Gheraṇḍa Saṁhitā*. Table I gives divisions and sub-divisions of the *ṣaṭkarmas.* We do not know of any other authoritative Haṭhayogic text except *Gheraṇḍa Saṁhita* which gives exhaustive list of varieties of *Dhauti.* The efficacy of *ṣaṭkarmas* can be gathered from the following verse :

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ।
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥—ह. प्र. II-२३.

(Karmaṣaṭkamidaṁ gopyaṁ ghataśodhanakārakaṁ ।
vicitraguṇasandhāyi pūjyate yogipuṅgavaiḥ ॥)

'षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः'—Quoted by ब्रह्मानन्द in ज्योत्स्ना ।

(ṣaṭkarmayogamāpnoti pavanābhyāsatatparaḥ)

"Practitioners of Prāṇāyāma resort to ṣaṭkarmas."

'षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति ॥—ह. प्र. II-३७

(ṣaṭkarmanirgatasthaulyakaphadoṣamalādikaḥ :
prāṇāyāmaṁ tataḥ kuryādanāyāsena sidhyati ॥)

---

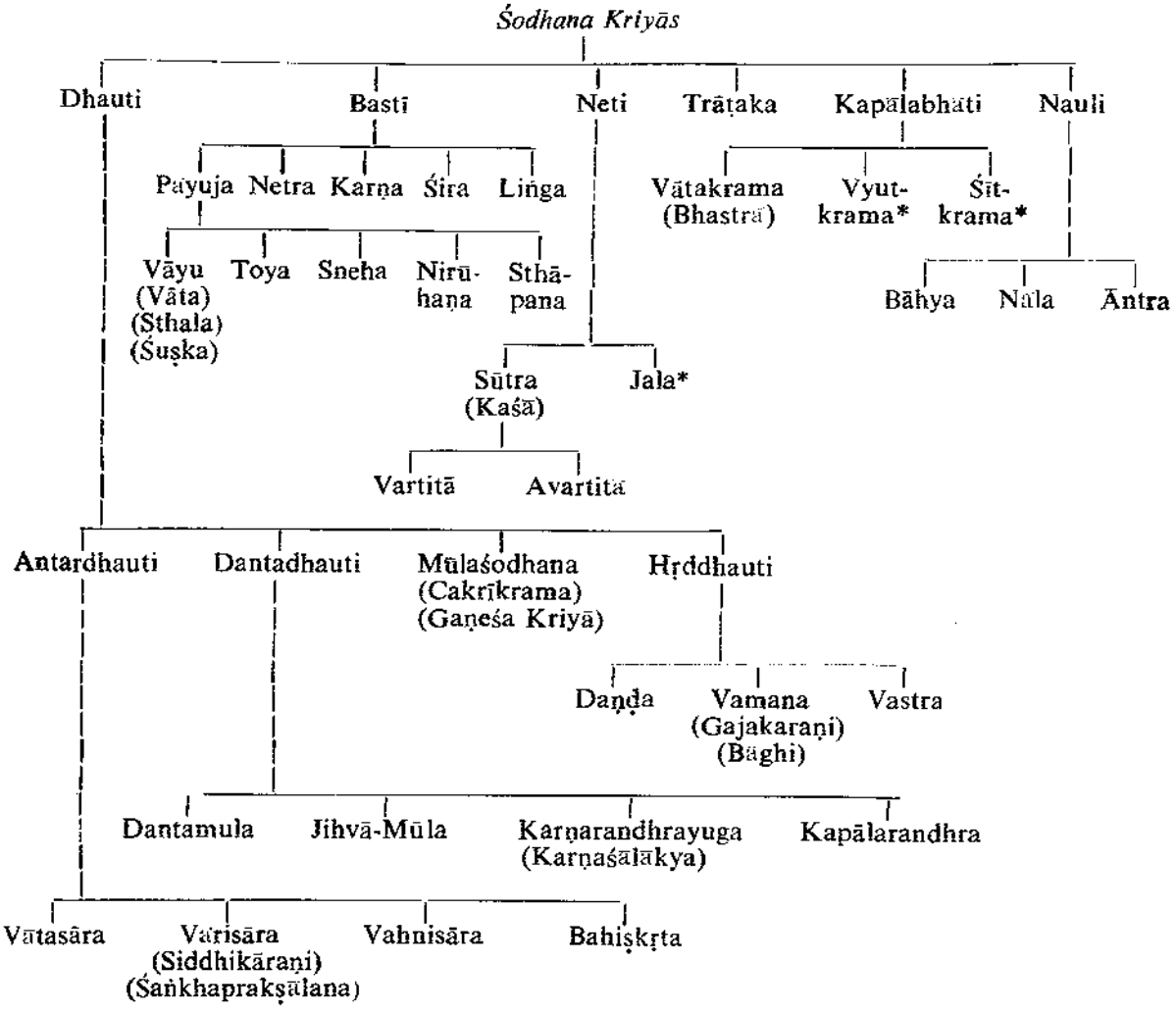
* *Ṣaṭkarmas* in *Smṛtis* have different meaning. The *ṣaṭkarmas* mentioned in *Bṛhatparāśara Smṛti* are as follows :

सन्ध्या स्नानं जपश्चैव देवतानाञ्च पूजनम् ।
वैश्वदेवं तथाऽऽतिथ्यं षट्कर्माणि दिने दिने ॥—बृहत् पराशरस्मृति २७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The above quotations bring home the utility and significance of the *ṣaṭkarmas* for the practice of *Prāṇāyāma*, which is the gate-way of higher states of consciousness. Although some authorities claim that practice of *Prāṇāyāma* alone is capable of bringing about thorough purification. *Swātmārāma*, the author of *Haṭhapradīpikā* takes a very practical view of *ṣaṭkarmas*. According to him persons suffering from excessive phlegm, fat and the like or having mucoid tendencies or tendency towards obesity, should do well to practise *ṣaṭkarmas* to establish humoural balance which will help in the comfortable practice of *Prāṇāyāma* and attain the results of *Prāṇāyāma* soon. Those who do not suffer from the imbalance of the humours may not practise *ṣaṭkarmas*. But in modern times, due to artificial and unnatural living conditions, rarely we may come across an individual who would possess a balanced humoural condition all the times. Therefore, practically considered, *ṣaṭkarmas* should be taken help of with due discrimination.

TABLE I



N.B. The bracketed words are synonyms referred to in different texts.

* Vyutkrama and Śītkrama types of Kapālabhāti are the forms of Jalaneti. They have been included under Kapālabhāti only in Gheraṇḍa Saṁhitā.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Classification of Ṣaṭkarmas

Ṣaṭkarmas can be classified according to : (A) Mode of cleansing, and (B) Region of cleansing.

(*A*) *Mode of Cleansing*

(i) *Cleansing by air* : Vātsāra, Bahiṣkṛta-dhauti, Śuṣkabasti or Sthalabasti Kapālabhāti.

(ii) *Cleansing by water* : Vaman-dhauti, Gajakaraṇi, Vārisāra or Saṅkhaprakṣālana, Jalabasti, Jalaneti or Vyutkrama and Śītkrama Kapālabhati, Netrabasti, Liṅgabasti.

(iii) *Cleansing by Friction or with an appliance* : Daṇḍadhauti, Vastradhauti, Mūlaśodhana or Gaṇeśakriyā, Sūtraneti, Dantamūla, Jihvāmūla, Karṇarandhrayuga, Kapālarandhra karṇaśālākya.

(iv) *Cleansing by Manipulating Movements* : Agnisāra, Nauli, Trāṭaka, Vātabasti, Vāribasti or Jalabasti.

(*B*) *Region of Cleansing* :

(i) *Cleansing of Naso-pharyngo-oro-cranial region* : Neti, Kapālabhāti, Trāṭaka, Dantamūla, Jihvāmūla, Karṇarandhara, Karṇaśālākya.

(ii) *Cleansing of Gastro-aesophageal region* : Dhautis like Daṇḍa, Vamana, Vastra, Gajakraṇi, Vātasāra.

(iii) *Cleansing of Ano-recto-intestinal region* : Vātasāra, Vārisāra, Vahnisāra, Jalabasti, Śuṣkabasti, Mūlaśodhana, Bahiṣkṛta, Nauli, Pāyuja bastis.

Therapeutical value of Ṣaṭkarmas

The materia-medica of Yogic therapy consists of several cleansing processes. Cleansing or '*śodhana*' forms one of the basic concepts of Yogic therapy. The condition of *Dhātuvaiṣamya* which gives rise to several psycho-physiological disturbances, is removed by resorting to appropriate '*śodhana Kriyās*'. *Kriyās* bring about widened range of adaptability of the tissues forming the various systems and the organs, as also raise the threshold of their reactivity. Autonomic and proprioceptive neuro-muscular reactions seem to have an important bearing in bringing about these results. Voluntary control is established on different reflexes through the '*Śodhana Kriyās*'. An illustration may be given about gaining control over vomitting reflex. This reflex is controlled by two methods :—(i) By inhibition during Daṇḍa Dhauti and Vastra Dhauti ; (ii) By stimulation as in Gajakaraṇi. The emphasis of these *Kriyās* as on establishing psycho-physiological balance after attaining which help is sought of other Yogic practices like *Āsanas, Prāṇāyāmas* and meditational techniques for strengthening and tranquillising psycho-physiological apparatus. The clinical evidence collected over five decades in the centres of Kaivalyadhāma and in many other Yoga centres in recent years indicates the utility and efficacy of the '*śodhana kriyās*' in treating the chronic functional disorders.

A Review of Scientific Experiments on Śodhanakriyās

Yoga was first brought into the laboratory by late Swami Kuvalayānanda, the Founder of Kaivalyadhama Institutions, in early 1920's by providing scientific evidence about the efficacy of an important *śodhana kriyā* called *Nauli*, using X-Ray techniques of scientific investigations. It was the novel attempt to rationally explain the utility of Yogic practices in scientific terms. With the help of X-Ray studies he showed that sub-atmospheric pressures could be created voluntarily in the colon during the practice of different aspects of *Nauli*. Development of sub-atmospheric or negative pressure in colon during the practice of *Nauli-kriyā* was given by him the name "*Mādhavadāsa Vacuum*" in the sacred memory of his Guru Mādhavadāsa Mahāraj of Mālsar. Upto that time the possibility of creating such pressure changes in the internal cavities by voluntary manipulations was not known, nor investigated in the field of physiology.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Studies on the position of colon and distribution of colon contents during *Nauli* threw much light on physiological changes and also explained the principle of water suction during *Basti Kriyā* and *Vajroli*, the phenomena which were attributed till that time to some miraculous powers of Yoga. These studies showed that the normal function of the colon could be helped and clinically *Nauli* could be used in the treatment of adhesions, kinks, hernia and constipation. *Nauli* not only creates partial pressures in the colon but also in all the internal cavities and helps in proper circulation, secretion, assimilation and elimination.

Swami Kuvalayānanda also studied *Vastra Dhauti* under X-Rays to know the treatment given to the *Dhauti* by the stomach under normal conditions and under different Yogic exercises. It was observed that the *Dhauti* is pushed down the pyloric sphincter (lower end of the stomach) if it is allowed to remain in the stomach for more than about 20 minutes. This finding is of a practical importance. To err on a safer side, therefore, the *Dhauti* should be withdrawn within 20 minutes after the swallowed end first reaches the stomach. The contents of the duodenum are pushed back into the stomach by opening the pylorus during *Uḍḍiyāna*.

Uropepsin excretion was studied during *Daṇḍa Dhauti* and *Vastra Dhauti*. The results indicated increased uropepsin excretion suggesting increased adreno-cortical activity. This explains the role of *Dhautis* in the treatment of Asthma, Eczema and other allergic conditions where cortisone therapy plays an effective role and brings forth the importance of *Dhautis* as a substitute or an adjunct to cortisone therapy.

Studies on the effect of *Daṇḍa Dhauti* on gastric acidity showed decrease in the secretion of free acid, while increase in the combined acid.

Vāyubhakṣaṇa (swallowing the air) a process in *Vātasāra* was also investigated for its effect on gastric acidity. This study indicated reduction in gastric acidity after filling the stomach with air during *Vāyubhakṣaṇa*. Its clinical trial in cases of hyper-acidity may give encouraging results.

Influence of *Trāṭaka* (still gazing) on behaviour, when studied suggested its usefulness as a means of psycho-therapy.

Agnisāra is an important *kriyā* classed under *Dhauti* by *Gheraṇḍa Saṁhitā*. It involves holding of breath out after deepest exhalation, followed by alternate retraction and protrusion of the abdomen several times until the breath is held. This was studied for the pressure changes in the stomach. It was observed that very high negative pressure to the extent of 155 mm. Hg. (-55 mm. Hg. maintained) are produced when the abdomen was protruded during *Agnisāra*. In retraction stage it was near about equal to the normal resting. Intra-thoracic pressure in protrusion was markedly positive, while during retracted stage it was near atmospheric.

Gajakaraṇi, a *kriyā* causing voluntary vomitting, was seen to produce very high positive pressures in the stomach to the extent of + 90 to + 120 mm. Hg.

Alveolar CO_2 percentages determined at the end of a two minute *Kapālabhāti* gave an average alveolar CO_2 percentage as 4·65. At the end of five minutes of *Kapālabhāti* alveolar CO_2 concentration reached 4.89 percent.

There are some of the results of scientific investigations about '*śodhana Kriyās*' carried on in the laboratory of Kaivalyadhāma, Lonavla.

Conclusion

Despite high values attached to the "*Śodhana Kriyās*" in maintaining psycho-physiological health of an individual and a great help rendered to the student of Yoga in attaining higher stages of consciousness, they have not attracted the attention of many practitioners of Yoga, especially in the West as much as other practices like *āsanas*, *prāṇāyāmas* and meditation. The efficacy of "*Śodhana Kriyās*" is not yet fully realised. Research workers in Yoga and medical men have not touched this aspect of Yoga. Therapeutical values of the "*Śodhana Kriyās*" have

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

yet to be scientifically investigated. There is much to be done about "*Śodhana Kriyās*" by way of training and research.

References :

1 Gharote, M. L., Effect of Air Swallowing on the Gastric Acidity—A Pilot Study, Y. M. Vol. XIV, No. 1 and 2 pp. 7-10, (1971).

2 Gharote, M. L. and Karambelkar, P. V., Influence of Daṇḍa Dhauti on Gastric Acidity—A Preliminary Communication, In : Collected Papers on Yoga, Kaivalyadhama, Lonavla (1975).

3 Gheraṇḍa Saṁhitā, Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, (1933).

4 Haṭhayoga Pradīpika, Kaivalyadhama SMYM Samiti, Lonavla (1970).

5 Jyotsna—A commentary on Haṭhayoga Pradīpika by Brahmānanda, Theosophical Publishing House, Adyar, Madras. (1933).

6 Karambelkar, P. V., Gharote, M. L. and Bhole M. V., Uropepsin Excretion as influenced by some Yogic Practices, Y. M. Vol. XI, No. 3, pp. 9-14, (1969).

7 Ṣaṭkarmasaṁgrahaḥ, Yoga Mimāṁsa Prakashan, Kaivalyadhama, Lonavla (1970).

8 Swami Kuvalayānanda, X-Ray Experiments on Nauli, Yoga Mīmāṁsa Vol. I, No. 2 pp. 91-95 (1925).

9 Swami Kuvalyānanda, X-Ray Experiments on Nauli, Yoga Mīmāṁsa Vol. I, No. 3 pp. 168-185, (1925).

10 Swami Kuvalayānanda, X-Ray Experiments on Dhauti, Yoga Mīmāṁsa Vol. II, No. 3 pp. 176-195, (1926).

11 Swami Kuvalayānanda, Experiments on Intra-gastric Pressure, Yoga Mīmaṁsa, Vol. III, No. 1, pp. 10-17, (1928).

12 Swami Kuvalayānanda and Karambelkar, P. V., Studies in Internal and External Pressure Changes in Madhya (central) Nauli, Y. M. Vol. VI, No. 4 pp. 273-281, (1957).

13 Swami Kuvalayānanda and Karambelkar, P. V., Studies in Internal and External Pressure Changes in Dakṣiṇa and Vāma Naulies, Y. M. Vol. VI, No. 4, pp. 282-286, (1957).

14 Swami Kuvalayānanda and Karambelkar, P. V., Studies in Alveolar Air in Kapālabhāti, Y. M. Vol. VIII, No. 1, pp. 18-25, (1957).

15 Swami Kuvalayānanda and Karambelkar, P. V., Studies in Alveolar Air during Kapālabhati, Y. M. Vol. VII, No. 2, pp. 87-94, (1957).

16 Swami Kuvalayānanda and Karambelkar, P. V., Kymographic and X-Ray studies of Pressure Changes in Agnisāra. Y. M. Vol. VII, No. 3, pp. 157-167, (1957).

17 Swami Kuvalayānanda and Karambelkar, P. V., Pressure Changes and X-Ray Studies in Gajakaraṇi, Y. M. Vol. XVIII, No. 1, pp. 1-10, (1976).

18 Yogabīja, Yogapracharini, Gorakṣatilla, Kashi, (1951).

19 Yogic Theraphy—Swami Kuvalayānanda and S. L. Vinekar, Central Health Education Bureau, Ministry of Health, New Delhi. (1963).

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणायाम : एक चिन्तन

☐ साध्वी दिव्यप्रभा, एम. ए.

प्राणायाम प्राणों को साधने की एक विधि विशेष है। प्राण का अर्थ वायु है। श्वास को अन्दर लेना, बाहर निकालना और श्वास को शरीर के अन्दर रोकना इन तीनों क्रियाओं का सामूहिक नाम प्राणायाम है। जो वायु जीवन धारण करती है वह प्राणवायु कहलाती है। प्राण ही जीवन का आधार है। आचार्य पतंजलि ने योग के आठ अंग माने हैं, उनमें प्राणायाम का चतुर्थ स्थान है।[1] उन्होंने प्राणायाम को मुक्तिसाधना में उपयोगी माना है। जैन साधना पद्धति में प्राणायाम का उल्लेख तो है किन्तु उसे मुक्ति की साधना में आवश्यक नहीं माना है। आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने प्राणायाम का निषेध किया है, क्योंकि प्राणायाम से वायुकाय के जीवों की हिंसा की संभावना है।[2] इसी तरह आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में[3] और उपाध्याय यशोविजय ने भी "जैनदृष्ट्या परीक्षितं पातंजलि योगदर्शनं" ग्रंथ में[4] प्राणायाम को मुक्ति की साधना के रूप में स्वीकार नहीं किया है। उनके अभिमतानुसार प्राणायाम से मन शान्त नहीं होता अपितु विलुप्त होता है। प्राणायाम की शारीरिक दृष्टि से उपयोगिता है। यशोविजयजी का मन्तव्य है कि प्राणायाम आदि हठयोग का अभ्यास चित्तनिरोध और परमइन्द्रियमेय का निश्चित उपाय नहीं है। निर्युक्तिकार ने एतदर्थ ही इसका निषेध किया है। स्थानांगसूत्र में अकाल मृत्यु प्राप्त होने के सात कारण प्रतिपादित किये हैं, उनमें आनप्राणनिरोध भी एक कारण है।[5] आवश्यकनिर्युक्ति का गहराई से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि उसमें उच्छ्वास के पूर्ण निरोध का तो निषेध है, पर संपूर्ण प्राणायाम का निषेध नहीं है। क्योंकि उन्होंने उच्छ्वास को सूक्ष्म करने का वर्णन किया है।[6]

रेचक, पूरक और कुम्भक—ये तीन प्राणायाम के अंग हैं।[7] अत्यन्त प्रयत्न करके नासिका-ब्रह्मरंध्र और मुख-कोष्ठ से उदर में से वायु को बाहर निकालना रेचक है।[8] बाहर के पवन को खींचकर उसे उपान द्वार तक कोष्ठ में भर लेना पूरक है।[9] और नाभिकमल में स्थिर करके उसे रोक लेना कुम्भक है।[10] कितने ही आचार्यों के अभिमतानुसार रेचक पूरक, कुम्भक के साथ प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर ये चार भेद मिलाने से प्राणायाम के सात प्रकार होते हैं।[11] नाभि में से खींचकर हृदय में और हृदय से खींचकर नाभि में इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान तक पवन को ले जाना प्रत्याहार है।[12] तालु, नासिका और मुख से वायु का निरोध करना शान्त है।[13] कुम्भक में पवन को नाभिकमल में रोकते हैं और शान्त प्राणायाम में वायु को नासिका आदि जो वायु को निकालने के स्थान हैं वहाँ रोका जाता है। बाहर से वायु को ग्रहण कर उसे हृदय आदि में स्थापित कर रखना उत्तर प्राणायाम है और उसी वायु को नीचे की ओर ले जाकर धारण करना अधर प्राणायाम है।[14]

प्राणवायु के प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पाँच प्रकार हैं। प्राणवायु नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि, पैर के अंगुष्ठ पर्यन्त फैलने वाला है।[15] उसका वर्ण हरा बताया गया है। उसे रेचक क्रिया, पूरक क्रिया और कुंभक क्रिया के प्रयोग एवं धारणा से नियंत्रित करना चाहिए। अपानवायु का रंग श्याम है। गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा और एडी में उसका स्थान है। इन स्थानों में गमागम रेचक की प्रयोगविधि से उसे नियन्त्रित कर सकते हैं। समानवायु का वर्ण श्वेत है। हृदय, नाभि और सभी संधियों में उसका निवास है।[16] सभी स्थानों में पुनः-पुनः गमागम करने से उस पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

उदानवायु का वर्ण लाल है। हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूकुटि एवं मस्तक में इसका स्थान है।[17] इन्हीं स्थानों में पुनः-पुनः गमागम करने से इस पर भी नियन्त्रण किया जा सकता है।

व्यानवायु का वर्ण इन्द्रधनुष के सदृश है। त्वचा के सर्वभागों में इसका निवास है।[18] प्राणायाम से इस पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन वायुओं को नियन्त्रित करने के लिए प्राणायाम के समय तत्सम्बन्धी बीजाक्षरों का ध्यान करना चाहिए, ऐसा आचार्यों ने बताया है। ये बीजाक्षर इस प्रकार हैं—

प्राणवायु

वायु	निवास	वर्ण	बीजाक्षर
प्राण	नासिका का अग्रभाग, हृदय, नाभि, पैर के अंगुष्ठ पर्यन्त	हरा	यँ
अपान	गर्दन के पीछे की नाडी, पीठ, गुदा, एड़ी	काला	पँ
समान	हृदय, नाभि, सभी संधियाँ	श्वेत	वँ
उदान	हृदय, कंठ, तालु, भ्रूकुटि, मस्तक	लाल	रौं
व्यान	त्वचा का सर्व भाग	इन्द्रधनुषी	लौं

नासिका प्रभृति स्थानों से पुनः-पुनः वायु का पूरण व रेचन करने से गमागम प्रयोग होता है और उसका अवरोध अर्थात् कुम्भक करने से धारण प्रयोग होता है। नासिका से बाहर के पवन को अन्दर खींचकर उसे हृदय में स्थापित करना चाहिए। वह यदि पुनः-पुनः दूसरे स्थान पर जाता है तो उसे पुनः-पुनः निरोध करके वश में करना चाहिए।[१९] वायु को नियन्त्रित करने का यह उपाय प्रत्येक वायु के लिए उपयोगी है। वायु के निवास के जो-जो स्थान आचार्यों ने बतलाये हैं वहाँ पर प्रथम पूरक प्राणायाम करना चाहिए अर्थात् नासिका द्वारा बाहर से वायु को अन्दर खींचकर उस स्थान पर रोकना चाहिए। ऐसा करने से खींचने की व रोकने की दोनों क्रियाएँ स्वतः बन्द हो जायेंगी और वह वायु उस स्थान पर नियत समय तक स्थिर रहेगा। यदि कभी वह वायु बलात् दूसरे स्थान पर चला जाय तो उसे पुनः-पुनः रोककर और कुछ समय तक रेचक प्राणायाम अर्थात् नासिका के एक छिद्र से शनैः-शनैः उसे बाहर निकालना चाहिए और पुनः उसी नासिका छिद्र से कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। इससे वायु अपने अधिकार में रहती है।

वीरासन, वज्रासन, पद्मासन आदि किसी भी आसन में अवस्थित होकर शनैः-शनैः पवन का रेचन करे। उसे पुनः नासिका के बायें छिद्र से अन्दर खींचे और पैर के अंगूठे तक ले जाये। मन को भी पैर के अंगुष्ठ में निरोध करे। फिर अनुक्रम से पवन के साथ पैर के तल भाग, एड़ी, जाँघ, जानु, उरू, अपान, उपस्थ, नाभि, पेट, हृदय, कंठ में धारण करे और उसे ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाय और पुनः उसी क्रम से उसे लौटाये और फिर पैर के अंगूठे में ले आये। इसके बाद वहाँ से उसे नाभि-कमल में ले जाकर वायु का रेचन करे।[२०]

यह नियम है कि जहाँ मन है वहाँ पर पवन है और जहाँ पर पवन है वहाँ मन है। अतः समान क्रिया वाले मन और पवन क्षीर-नीर की भाँति परस्पर मिले हुए हैं। मन और पवन इन दोनों में से एक के नष्ट होने पर दूसरा भी नष्ट हो जाता है। आत्मा में उपयोग को अवस्थित करने से श्वास शनैः-शनैः चलने लगता है। श्वास के शनैः-शनैः चलने से मन की प्रवृत्ति भी मन्द पड़ जाती है। कुछ व्यक्ति ध्यान की अवस्था में मन को स्थिर करने का प्रयास करते हैं, पर प्राणों पर विजय न होने से वह इतस्ततः परिभ्रमण करता है। जब पवन पर विजय होती है तो मन पर स्वतः विजय हो जाती है।

प्राणवायु को जीतने से जठराग्नि प्रबल होती है। यह सभी जानते हैं कि पवन ही जीवन है। भोजन और पानी के बिना महीनों तक प्राणी जीवित रह सकता है; किन्तु श्वास के बिना नहीं। हम श्वास लेते हैं जिससे वायु अन्दर जाती है। वायु में आक्सीजन रहती है जिसकी शरीर को अत्यधिक आवश्यकता है। वायु में स्थित आक्सीजन ही जीवन का आधार है। यदि वायु में आक्सीजन न हो तो जीवन निश्शेष हो जायेगा। प्राणवायु पर ही सभी वायु ठहरी हुई हैं। इससे शरीर में लघुता आती है। यदि शरीर के किसी भी अवयव में कहीं भी घाव हो जाय तो समान-वायु और अपान वायु पर नियन्त्रण करने से जख्म शीघ्र भर जाते हैं। टूटी हुई हड्डियाँ भी जुड़ जाती हैं। जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। मल-मूत्र कम हो जाते हैं तथा व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।[२१] उदानवायु पर विजय प्राप्त करने से मानव में ऐसी शक्ति समुत्पन्न होती है कि वह चाहे तो मृत्यु के समय अर्चि-मार्ग अथवा दशम द्वार से प्राण त्याग सकता है। न उसे पानी से किसी प्रकार की बाधा ही उपस्थित हो सकती है और न कंटकादि कष्ट ही। व्यानवायु की विजय से शरीर पर सर्दी-गर्मी का असर नहीं होता, शरीर में अपूर्व तेज की वृद्धि होती है और निरोगता प्राप्त होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[२२] जिस स्थान पर रोग उत्पन्न हुआ हो उसकी शांति के लिए उस स्थान पर प्राणादि वायु को रोकना चाहिए।[२३] उस समय प्रथम पूरक प्राणायाम करके उस भाग में कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए।

पैर के अंगुष्ठ, एड़ी, जंघा, घुटना, उरू, अपान, उपस्थ में अनुक्रम से वायु को धारणा करने से गति में शीघ्रता और बल की प्राप्ति होती है।[२४] नाभि में वायु को धारण करने से ज्वर नष्ट हो जाता है। जठर में धारण करने से मल शुद्धि होती है और शरीर शुद्ध होता है। हृदय में धारण करने से रोग और वृद्धावस्था नहीं आती। यदि वृद्धावस्था आ गयी तो उस समय उसके शरीर में नौजवानों की-सी स्फूर्ति रहती है।[२५] कंठ में वायु को धारण करने से भूख-प्यास नहीं लगती है। यदि कोई व्यक्ति क्षुधा-पिपासा से पीड़ित हो तो उसकी क्षुधा और पिपासा मिट जाती है। जिह्वा के अग्रभाग पर वायु का निरोध करने से रस ज्ञान की वृद्धि होती है। नासिका के अग्रभाग पर वायु को रोकने से गन्ध का परिज्ञान होता है। चक्षु में धारण करने से रूपज्ञान की वृद्धि होती है।[२६] कपाल व मस्तिष्क में वायु को धारण करने से कपाल-मस्तिष्क सम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं तथा क्रोध का उपशमन होता है। ब्रह्मरन्ध्र में वायु को रोकने से साक्षात् परमात्मा के दर्शन होते है।[२७] रेचक प्राणायाम से उदर की व्याधि व कफ नष्ट होता है। पूरक प्राणायाम से शरीर पुष्ट होता है, व्याधि नष्ट होती है।[२८] कुम्भक प्राणायाम करने से हृदयकमल उसी क्षण विकसित हो जाता है। हृदयग्रंथि का भेदन होने से बल की अभिवृद्धि होती है, वायु में स्थिरता आती है।[२९] प्रत्याहार करने से शरीर में बल और तेज की वृद्धि होती है। शान्त-प्राणायाम से वात, पित्त, कफ या सन्निपात की व्याधि नष्ट होती है। उत्तर और अधर प्राणायाम कुम्भक को स्थिर बनाते हैं।[३०]

सारांश यह है कि निर्युक्ति आदि में प्राणायाम का निषेध किया गया, पर जैन साधना में कायोत्सर्ग का विशिष्ट स्थान रहा है। दशवैकालिक में अनेक बार कायोत्सर्ग करने का विधान है। कायोत्सर्ग में कालमान श्वासोच्छ्वास से ही गिना गया है। आचार्य भद्रबाहु ने दैवसिक कायोत्सर्ग में सौ उच्छ्वास, रात्रिक कायोत्सर्ग में पचास, पाक्षिक में ३००, चातुर्मासिक में ५००, और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग में १००८ उच्छ्वास का विधान किया है। अन्य अनेक अवसरों पर भी कायोत्सर्ग का विधान है। श्वासोच्छ्वास का कालमान एक चरण माना गया है। श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म प्रक्रियाओं की जैन साहित्य में जो स्वीकृति है वह एक प्रकार से प्राणायाम की ही स्वीकृति है। इस दृष्टि से जैन परम्परा में भी प्राणायाम स्वीकार किया गया है। जैन साधना में जो कायोत्सर्ग की साधना है वह प्राणायाम से युक्त है। जैन आगमों में दृष्टिवाद जो बारहवाँ अंग है, उसमें एक विभाग पूर्व है। पूर्व का बारहवाँ विभाग प्राणायुपूर्व है। कषाय पाहुड में उस पूर्व का नाम प्राणवायु कहा है जिसमें प्राण और अपान का विभाग विस्तार से निरूपित है। प्राणायु या प्राणवायुपूर्व के विषय वर्णन से यह परिज्ञात होता है कि जैन मनीषी प्राणायाम से सम्यक् प्रचार से परिचित थे।

सन्दर्भ तथा सन्दर्भ स्थल :

१ योग सूत्र २-२९
२ (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५२४।
(ख) आवश्यकचूर्णि—१५२४ चूर्णि।
३ योगशास्त्र ६-४; ५-५।
४ जैनदृष्ट्या परीक्षितं पातंजलि योगदर्शनम्—२-५५।
५ स्थानांग ७।
६ आवश्यकनिर्युक्ति अवचूर्णि गाथा १५२४।
७ रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकश्चेति स त्रिधा।—**योगशास्त्र प्र. ५, श्लो. ४**
८ योगशास्त्र ५/६।
९ वही, ५/७।
१० वही, ५/७।
११ वही, ५/५।
१२ वही, ५/८।
१३ वही, ५/८।
१४ वही, ५/९।
१५ वही, ५/१४।
१६ वही, ५/१६; ५/१७।
१७ वही, ५/१८।
१८ वही, ५/२०।
१९ वही, ५/१९।
२० वही, ५/२७-३१।
२१ वही, ५/२।
२२ वही, ५/२४।
२३ वही, ५/२५।
२४ वही, ५/३२।
२५ वही, ५/३३।
२६ वही, ५/३४।
२७ वही, ५/३४।
२८ वही, ५/१०।
२९ वही, ५/११।
३० वही, ५/१२।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



PHILOSOPHY OF TĀNTRIK-YOGA SĀDHANĀ

□ Dr. BASHISHTHA NARAIN TRIPATHI,
M. A. (Double) D. Phil.

The essence of religion lies in the immediate experience of the divine. This experience presupposes, as its essential condition, various forms of discipline. The term 'Sādhanā' is a current Bengali expression for the forms of discipline. This Sanskrit form which is more commonly used in this sense, is 'Sādhanā'. Its literal meaning is 'that by which something is performed, or more precisely 'means to an end'. In the sphere of religion, it is always used to indicate the essential preliminary discipline that leads to the attainment of the spiritual experience which is regarded as the summum bonum (the highest good or *siddhi*, i.e., completion and perfection) of existence, and thus, though used in a technical sense, it retains still largely its literal meaning. Sādhanā includes all the religious practices and ceremonies that are helpful to the realisation of the spiritual experiences, and therefore may be regarded as the practical side of religion. As in the light of Indian thought it has been said, all true philosopby culminates in the religious experience.[1] The moral life is the indispensible preliminary discipline to the religious,[2] and this is the central teaching of all forms of Hindu Sādhanā. Hindu Sādhanā has for its goal a spiritual experience which is not partial and one-sided realisation of the entire individual through the whole dimensions of his existence. Such an experience can be had only if one can dive into the serene and transparent lake of Infinite Consciousness of *Cit* underlying the stream of surface-consciousness. Perfect synthesis or harmony that is absolutely changeless and the same everywhere, and with the perception and attainment of this Highest Harmony, and with the steadiness of this attainment, ends the course of Sādhanā.

The spiritual experience that apprehends or realises this in its naked splendour can happen only when the divergent elements of surface-consciousness harmoniously blend into a synthetic whole and re-unite into the original bond out of which they seemed to emanate. As Tuckwell beautifully puts it, "It is a sublime rational immediacy, in which the elements of thought and feeling after having diverged and been distinguished in a reflective self-conscious mind, meet and harmoniously blend once more."[3] Tāntrik Sādhanā aims at the attainment of a stage where the *'aham-idam'* division—the subject-object division, disappears. Ritual ceremonies, religious penances, recitation of *mantras* are perennial inspiration for supreme realisations and ecstasy, but they cannot be regarded as end in themselves. As we see in the following utterance : "O Goddess" the Lord says, "there is neither meditation nor concentration after having attained all knowledge and experience, after having realised the 'Essence of Bliss', the knowledge in the hearts of all, all the ritualistic observances are useless when *Brahman* is attained ; of what use is the palm leaf when the blissful southern wind blows ?"[4] Also, "At this stage cessation from action is the highest form of worship, and silence is the best kind of *Japa*."

Tāntrik school has developed a different spiritual principle based on impersonal movement of will in the place of the personal movement, as depicted in Vaiṣṇavism. Will is the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

dominating factor in the philosophy of the Tantras. The whole world is the play of will. The creative will evolves truth, beauty and goodness, but these are humanistic and relative ends. Tāntrik thinkers even concede spiritual powers consequent on the identification of wills, human and divine and emergence of fine being, subtle creative power and divine fellowship. Since immemorial past, it has been the object of search to be spiritual and divine in wisdom and power in human beings, because dynamic identification can elevate him from human agency to divine fellowship. But, in Tāntrik tradition, we witness a somewhat more developed spiritual outlook. Here dynamic identification directs the insight into finer channels and exhibits the impersonal expression of the transcendent will. Will as personal is shadowed in this transcedent will and elevates our outlook from the world of relative values to the world of abstract Truth. Tāntrik Sādhanā opens a new door for the uplift of the ordinary Sādhanā. The Sādhanā goes beyond the ordinary conception of spiritual of Śiva-Śakti. To be more frank on this point it can be expressed that in the Tāntrik approach, metaphysics consists of a higher status than religion as ordinarily understood. Thus, we face a clear demarcation line between Tāntrik sādhanā and modern outlook in science, value is reasserting its claims as finer and higher category than Truth. Science involves space, time and energy as the true Absolute. But *Tantra* crosses such limitation, because, behind the transcendent will and in the association with it, there are the Transcedent being and luminous superpersonal-consciousness. Hence Sadhakas remain aloof from delusion and ignorance. This value may not be overlooked. It is pragmatic but in a high sense. Such pragmatism is, in reality, spiritual pragmatism, for it supplies us with the sublime sense of freedom from the relative outlook on life. Ths Tāntrik Sādhanā gives impetus to acquire impersonal nature through impersonal will which ends in the silent luminous consciousness which is Śiva. The Sādhakas are directed to merge will into will-less bliss by the help of will. Will is the principle of spiritual progress and values, and eventually will is the Vidyā.

Tāntrik form of Sādhanā is suited to men of all equipments. It contains within it the elements of all the important forms of Sādhanā. It promises to award to the Sādhaka not merely liberation (*mukti*) but also enjoyment (*bhukti*), not merely final beatitude (niḥśreysa) but also progress (*abhyudaya*).[5] The individual has in the element of infinitude and absoluteness, otherwise, all Sādhanā would have been a myth : but this infinitude has to be realised and actually attained.[6] The *Tantra* recognises three distinct stages of Sādhanā and marks out five sub-divisions of the entire course of discipline. The three stages are Purification (śuddhi), Illumination (*Sthiti*) and Unification (arpaṇa), corresponding roughly to Karma, Bhakti and Jñāna. The five sub-divisions are a ablution (snāna) gratification (tarpaṇa), meditation (sandhyā) worship (pūjā) and complete self-abnegation (*homa*). The process of Bhūta-śuddhi also implies the process of purification or purgation. The gross body, the subtle body and the casual body, all have their respective taints, and these have to be got rid of before there can be union of the absolute and the finite. This purification of *Tantra* seeks to attain through both bhāvanā (meditation) and kriyā, through the harmonious working of both the mind and the body. The Sādhaka meditates on his identity with the Parama-Śiva (The Absolute) and, through this meditation on the state of absolute purity, becomes able to make some amount of progress towards attaining purification.[7]

The learned scholar of Śākta Philosophy, named M. M. Pt. Gopinath Kaviraj, has thrown sincere light on the functions of *malas* in Śākta-Philosophy in the following manner. He observes—"The divine attribute of the self are all diminished in its atomic condition, when the *cit* appears as *citta*. Of the three well-known impurities or *malas* this is the first, called āṇava. It is the state of a paśu in which the sense of limitation is first manifested. This limitation makes possible the rise of vāsanās, as a result of which the assumption of physical body for a certain length of time becomes necessary to work off these vāsanās through experience. These Vāsanās constitute *karma-mala*. The māyīya-mala is the name given to the source

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of the triple body, namely—(i) the casual or the Kalā-śarīra. (ii) the subtle or puryaṣthaka, *i. e.*, tattva-śarīra. In fact, everything which reveals itself in our experience as knowable and objective comes under māyīya-mala. The function of this impurity is to show an object as different from the subject (svarūpa). All the principles from kalā down to prithivī represent the fetters of māyā or pāśas. These give shape to body, senses, *bhuvanas*, bhāvas etc. for fulfilling the experience of the soul. Hence what is popularly known as saṁsāra extends from Prithivī upto Kalā, and not beyond the latter. These impurities persist always in the worldly soul."[8] The worldly soul being endowed with body, senses etc., is technically known as sa-kalā, corresponding to the *tattva* or *bhuvana* to which it belongs. The worldly soul have to suffer from migration. They make ascent from lower plane to the plane of kalā. They make flight in accordance with their *Karmans*. The soul has to go through another state where māyīya-mala is invisible or inactive while the other two go on functioning. This state is technically known as *pralaya* or dissolution in which the soul is deprived of all the creative principles. Here the soul remains in a dissembled condition absorbed in māyā. Such souls are called pralayākalas or *pralayakevalins*. M. M. Pt. Gopinath Kaviraj observes. "These are bodiless and senseless atoms with Karma-saṁskāras and the root ignorance clinging to them. When, however, the *karmans* are got rid of through discriminative knowledge, renunciation or such other means, the soul is exalted above māyā, though still retaining its atomic state, it is then above māyā no doubt, but remains within the limits of mahāmāyā, which it cannot escape unless the supreme grace of the Divine Mother acts upon it and removes the basic ignorance which caused its atomicity and the limitation of its infinite powers. This state of the soul represents the highest condition of the paśu known as Vijñānakalā or Vijñāna-kevalin. This is *Kaivalya*. Among these souls those which are thoroughly mature in respect of their impurity are to receive divine grace (*anugraha*) acting upon the soul is the origin of the so-called suddha-Vidyā.[9]

Tāntrik Sādhanā as a way to release :

Tāntrik Sādhanā holds that the individual (jīva) becomes identical with the Absolute (Śiva) when liberation is attained, and there is no difference, in essence, between them in the long run. This distinguishes it from the philosophy of the *Bhakti* schools, which agree in maintaining a difference of some sort or other even after liberation. Again, by maintaining that the Jīva-bhāva is real and not unreal or illusory, and that the many actually come out of the one, it distinguishes itself from the Māyā-vāda of Śaṅkara.[10]

'The Kuṇḍalinī Śakti' (Serpent Power) brings about the union of the individual and the absolute, and makes the realisation of the absoluteness and infinitude of the individual possible. The absoluteness is not anything foreign to the individual to be acquired from outside, but is inherent and latent in him to be gradually unfolded and realised. It is through the effect of the Sādhaka and the grace of the spiritual Guide (*Guru*) that the Serpent Power which ordinarily lies dormant at the foot of the spinal column becomes awakened and joins itself to the absolute that resides in the thousand petalled lotus in the highest centre of the cerebrum.[11] The 'Serpent Power' or Kuṇḍalinī Śakti' is the expression used by the Tantras to indicate the Spiritual Power that sleeps ; it is awakened or becomes active through sādhanā or regulated effort to arouse and intensify the spiritual energy that is latent in every man. The individual becomes the Absolute, the Jīva becomes Śiva[12], when the lower self of man realises its higher being and becomes identified with the Highest Self. This is nothing other than the Upaniṣad's view *i.e.*, the highest is one's own self (ātman). But whereas the Vedānta thinks that this realisation can be had through meditation (bhāvanā) alone, the Tantra recommends the joining Kriyā with bhāvanā, the supplementing of the intellectual process by physical and physiological exercises. According to the Vedānta, the Jīva as Śiva is an eternally accomplished fact; according to the Tantras, the absoluteness, (Śivatva) is to be attained through some process.[13]

As sacrifices occupy the foremost place in the vedic method and hymns in the Pāuranic,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

so do *mantra* form the most important item in the *Tantras*. The *Mantra* is not a mere word or symbol of expression, but is a concentrated thought of great power revealed to the Ṛṣi or the adept sādhaka in the hour of his profound illumination. *Mantra* literally signifies something which saves (trāyate) through reflection (*mana*) on it.[14] The Tāntrik Sādhaka is, therefore warned against that ignorance, which takes *Mantras* to be mere words or letters of the alphabets.[15] "Prediction is the lot of him, who thinks that Guru is a mere man, that *Mantra* are mere letters of the Alphabet, and that Pratimā (the image of the Deity), is mere stone." The Kulārṇava Tantra says : "A mantra should be repeated with faith, devotion, attention, submission and perception of the Divine image in the mind." The Śiva Saṁhitā says :[16] "When by the grace of the Guru, the slumbering Kuṇḍalinī wakes up, it is then that the lotuses are penetrated, and the knots (of Karma) united. Hence, to awaken the Iśwari, sleeping on the cleft of Brahman, practise Mudrās by all means."

Thus being awakened, Kuṇḍalinī enters the great road to liberation (*mukti*)—that is the Suṣumnā nerve and penetrating the centre one by one, ascends to the Sahaśrāra, and there coming in blissful communion with the Lord of Lords, again descends down through the same passage to the Mulādhāra-cakra. Nector is said to flow from such communion. The sādhaka drinks it and becomes supremely happy and satisfied. This is the wine called Mulāmṛta, which is drunk by the Sādhaka of the spiritual plane. There are three planes of the Sādhaka, according to the three planes of the consciousness in which the manifested Divinity is realised. – *viz.*, the Ādhibhautika (subtle physical) plane, the Ādhidaivika (psychic) plane, and the Ādhyātmika (spiritual) plane. In reference to the latter the Tantra says :[17] "Drinking, drinking, again drinking, drinking all down upon earth, and getting up and again drinking, there is no re-birth." In Rudrāyamala, quoted by the author of Prāṇatoṣiṇi Kulakuṇḍalinī, is called[18] "of aerial form, located in the Mulādhāra cakra." The knowledge of the Śakti as Prāṇa is of vital importance of self-culture. The Praśnopaniṣada thus summarises the result of such knowledge,[19] "He who knows in detail the birth, the arrival (in human body), the place (in the body), the pervasiveness, the external (as sun etc.) and the internal (as eyes, etc.) manifestation of Prāṇa become immortal". The importance of possession of a thorough knowledge of Śakti is thus stated in Niruttara Tantra :[20] "After many births the knowledge of Śakti-nirvāṇa is unattainable."

Tantra aims at not only self-immolation nor self-extinction but at the self-fulfilment of the existence of man and woman in the delight of psychic unity. Tantra is a union of Yoga and Bhoga and it seeks the divine bliss and freedom in the universe of existence. *Tantra* is wrongly stigmatised as "*a libidinous phallic necromancy*". This is due to the instances of the excesses of some misguided Vāmamārgins. The real Tāntrik is neither a cynic nor a cyronic hedonist. He is rather an endaemonist than a slave to passions. The much rediculed five 'M's are only esoteric symbologies. 'Wine' is the lunar ambrosia flowing from the *Soma Cakra*. 'Woman' is the Kuṇḍalinī Śakti sleeping in the lower Plexus, Mulādhāra. '*Matsya*' is the annihilation of "I" and "Mine". 'Māṁsa' is the surrender of the limited human to the unlimited Divine. 'Mudrā' is the cessation from evils. '*Maithuna*' is the union of the 'Śakti' with Śiva in man. In Tantra, woman is not considered as an object of animal passion. Tāntrikas consider woman as Parāśakti. She is deitified and adored. If there is any method that enables man to rise Phoenix-like from the dead ashes of the animal passion it is the irreproachable Tantra. Its Sādhanā is very complex, indeed. It analyses and scrutinises every atom of the human synthesis. It awakens the latent dynamism in all the planes of consciousness. It divinises every *Tattva* in man and woman. Its method is intrinsically inner, practical and sure of results.

The concept of five M's has been made and expressed in somewhat other manner in the following lines. The 'Divya Pañcatattva' for those of a truely sāttvika or spiritual temperament (Divyabhāva) have been described as follows : 'Wine' (*madya*) according to Kaula Tantra[21] is not only liquid, but that intoxicating knowledge acquired by Yoga of Pārabrahma which renders the worshippers senseless as regards the external world. 'Meat'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(Māṁsa) is not any fleshing thing, but the act whereby the sādhaka consigns all his acts to Me (Mām), that is the Lord. 'Fish' is the sense of 'Mineness' (a play upon the word *Matsya*) the worshipper sympathizes with the pleasure and pain of all being. 'Mudrā' is the act of relinquishing all association with evil which results in bondage. Coition (*Maithuna*) is the union of the Śakti Kuṇḍalinī, 'the inner woman' and world-force in the lowest centre (Mulādhāra) of the Sādhaka's body with the supreme Śiva in the highest-centre (Sahasrāra) in the upper Brain. This, the *Yogini Tantra* says, is the best of all union for those who are Yati, that is, who have controlled their passions.[22]

According to the Āgamaśāstra, 'Wine' is the Somādhāra or lunar ambrosia which drops from the śahasrāra. 'Meat' (Māṁsa) is the tongue (Mā) of which its parts (aṁśa) is speech. The Sādhaka in eating it, controls his speech. 'Fish' (*Matsya*) are those two (Vāyu or currents) which are constantly moving in the two "rivers" that is, (Yoga "nerves" or Nādis) called Iḍā and Piṅgalā, that is, the sympathetics on each side of the spinal column. He who controls his breath by Prāṇāyāma, eats them by *Kumbhaka* or retention of breath. Mudrā is the awakening of knowledge in the paricarp of the great Sahasrāra Lotus (the upper brain) where the Ātma resplenent as ten million suns and deliciously cool as ten million moons is united with the Devi-Kuṇḍalinī, the world-forces and consciousness in individual bodies, after her ascent thereto from the Mulādhāra in Yoga. The esoteric of coition or *Maithuna* is thus stated in the Āgama. The ruddy hued "Rā" is in the Kuṇḍa (ordinarily the seed-mantra Rām is in Maṇipūra but perhaps here the Kuṇḍa in the Mulādhāra is meant). The letter *Ma*[23] is in the Mahāyoni (not I may observe the genitals but in the lightening-like triangle or *Yoni* in the Sahasrāra or condensed form of Śakti and transformation of Nāda-Śakti). When M (Makāra) seated on the Haṁsa (the bird which is pair Śiva-Śakti as Jīva) in the form of A (A-kāra) united with R(R-kāra) then the knowledge of Brahman (Brahmajñāna) which is the source of spreme bliss is gained by the Sādhaka who is then called Ātmārāma (enjoyer with the self), for his enjoyment is in the Ātman *i.e.*, in the Sahasrāra. (For this reason two, the word Rāma, which also means sexual enjoyment, is equivalent to the liberator—Brahman, Ra+a+ma). The union of Śiva and Śakti is described[24] as true Yoga "Śivaśaktisamāyoga yoga eva na saṁsayaḥ, "from which as the Yāmala says, arises that Joy which is known as the Supreme Bliss.[25]

Dīkṣā (Initiation)

The significance of Guru is paramount in Tāntrik literature. It is the Guru, who initiates and helps, and the relationship between him and the disciple (śiṣya) continues till the attainment of spiritual *Siddhi*. It is only from that Sādhanā and Yoga are learnt and not (as it is commonly said) from a thousand Śāstras. As the Ṣāṭkarmadīpikā says, mere book-knowledge is useless[26] "O Beauteous one ! he who does *Japa* of a Vidyā (*Mantra*) learnt from a book can never attain Siddhi even if he persists for countless millions of years." Dīkṣā is defined in the following lines thus[26] : "That is, by which knowledge is imparted, and the removal of animal-passions are destroyed, and such gifts and dark-removing activities are called the process by Dīkṣā. Now, it is clear that the *baddha* (the person in bondage) is surrounded by three kinds of *Malas* and the process by which the removal of ignorance or bondage is destroyed, is called Dīkṣā (initiation). Dīkṣā which is imparted to the aspirant, has been placed into three heads : viz., Sabīja, Nirbīja and Sadyonirvāṇḍāyinī.

Haṁsocāra : Varnocára

The Bodharūpa-Śakti of Parameśvara, emboxing the universe in its lap, passing through Parākuṇḍalinī and being Vimarṣātmika in nature, bibrates ultimately in Varna Kuṇḍalinīrūpa. Again, suppressing this type of Varṇkuṇḍalinīrūpa, within inside, vibrates and appears in Prāṇa-Kuṇḍalinī. This Prāṇa is Haṁsa who goes upwards and downward naturally. Its movement is called "Hakāra and "*Sa*" Sakāra *i.e.* appears in Vimarṣarūpa. In this movement ("Hakāra").

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Hakāra means taking off or abandoning and ("Sakāra") Sakāra means taking up or accepting. This word Haṁsa symbolises a bird of this name, which serves the purposes of uttering words. Even by remembering or uttering this word "Haṁsa" Haṁsa represents the most highly elevated word in speech. This Varṇocāra (uttering words) is realised by the Yogis in the form of Bindurūpa in the most secret place in the body which has a technical name "Bhrūmadhya-sthāna". This *Bindu* is undifferentiated cognitive fact. All the different states of the world, *i.e.*; Jāgrata, *Svapna*, and Suṣupti represent three famous mantras '*Om*' (A), (U), (M). When these three are mixed together, it creates undifferentiated luminous knowledge (Avibhakte jyotirmaya jñāna) and this brilliance is called 'Bindu'. This achievement can be made in the 'Bhrūmadhya.' Then it turns upward towards forehead which in the place of crescent moon, taking a very subtle form of *Bindu*. In the state of *Bindu*, when the aspirant could realise only the undifferentiated knowledge, yet still the aspirant could focus his attention merely upon the object of knowledge, *i.e.*, the dominating thing is object itself. But in the state of crescent moon (*Ardha-candra*) the knowledge itself dominates in its discriminative form. Hence, it reaches to the state of Nirodhikāvasthā. Then it serves as a disturbance to those, who are not absolutely prepared in their attempts. It checks the unripe aspirant from entering into the realm of Nādamārga. The aspirant crosses this state and then enters the Nāda and Nādānta-Bhūmī. It is the place of God. Here the sense of difference merges into harmony. It should be remembered that *Abheda* of Vāchya lies in *Bindu*, while Abheda-Nāda of Vācakas are found in the Nādānta. After this, the Prāṇa, remaining in *Brahmarandhra, i.e.* ; Śaktisthāna (the place of energy) enjoys a kind of divine bliss. He crosses Ūrdhva-Pradeśa and culminates in Vyāpinī (it is a considerably expensive energy). Again residing in Samanā-pada, enjoys the bliss of "Viśuddha-manarūpa". But Prāṇātmaka-Haṁsa appears in "Śuddha-Ātma-rūpa" after crossing "Viśuddha-mana." The nature of Prāṇātmaka Haṁsa is to cross the limit of "*Mana*". In this way, the aspirant has to prepare all the prescribed functions and rules systematically, till and until the realisation of samanā-pada. When the Śuddha-Ātma realises its "Svabhāva (nature) above the stage of Samanā, he losses his step there. Just after the realisation of its purest form, the unity of entire universe appears bright. This "Abheda-Prakāśa" (The light produced out of unity), is the result of Unmanā-Śakti and by dint of this brilliance, the Śuddha-Ātma obtains the Parameśwarāvasthā. Thus there arises a "*Abheda*" (unity) which is Cidānandamaya-Parama-Śiva. Hence after the Prāṇātmaka-Haṁsa becomes motionless after reaching the stage of Śivatva. Then, he gets freedom from the act of narrow expansion (Saṅkucita-Prasāraṇa), but he becomes highly expansive (Vyāpaka) *i.e.* ; it begins to function throughout the whole world made of thirty six elements. He becomes expansive in Viśvarūpa as well as Viśvātita-rūpa.

Ajapā-Rahasya

It has been admitted by the Yogis that there are nine types of main distractions in the way of Yoga-Sādhanā. They lie deep-rooted in the mind of Sādhaka. They are nine, viz. ; Vyādhi, styāna or inactivity of the mind, Saṁśaya (suspicion), Pramāda (pride), or the things which prevent the aspirant from Samādhi, inactivity (Ālasya) in the body and mind, produced out of attachment towards mundane world, Bhrānti-jñāna, or Mithyājñāna, perverted knowledge, ignorance of the knowledge of detachment, Samādhi—or fluctuation even at the acquisition of the process of Samādhi, grief at the non-attainment of pleasure, pulpitation in the body—the process of taking breath, and throwing off,—these are the main and sub-clauses of the above scheme.

Ajapā is known as the Prānādhāriṇi-prāṇa-Vidyā, produced by Kuṇḍalinī-Śakti. Just as the śyena (Bāja, a kind of bird) flies in the sky, yet still, he is attached to the earth, because he is bound to the string. Similarly, the jīva bound by the activities of Prāṇa and Apāna, goes on running upward and downward. Some learned scholars observe that Paramātmā, who is described by the word "*Tat*" (that) stands for the Parameśvara of of Haṁsavidyā. and God who is described the "*Tvam*" (thou) has been used for Khechari-bīja, and describes the second letter

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"*Asi*" Akāśa, which is present in all the living beings is accompanied with Liṅga-Śarīra. Haṁsa takes the inspiration to make flight from the same element. The Śastra says :[28] "Jīva, after taking off mundane world or Jīvahood (here it means physical attachment or ignorance) feels itself absolutely indentical to Parmātmā. It is the state of 'Soham' 'That, I am.' Those Sādhakas, who worship their souls in the form of Haṁsa, attain the highest state of Godhood easily. Secondly the Haṁsa is used for "Pratyaka-ātma" or Vyaṣṭi-turiya" *i.e.*, for the sake of Ātmā (self) and the word "Paramhaṁsa" denotes Godhood. It represents "Samaṣṭi-turiya (for the whole). Haṁsa-Yoga is possible only when Vyaṣṭi turiya" and "Samaṣṭi-turiya" (the self in its individual and cosmic form) make compromise. This is the secret of Ajapā-Tattva in brief.

Mysticism in Tāntrik Sādhanā

TheTāntrik process of devotion is generally more absorbing than any other devotion, as it tries to turn even all instincts and appetites of a devotee for the attainment of spiritual bliss. Dr. N. K. Brahma observes that Tāntrik mysticism may be condensed in what is designated as the very purificatory *mantra* to be uttered at the very commencement of the spiritual exercise, *viz*, "Ātm Tattvāya Swāhā" "Śiva Tattvāya Swāhā" and Śākti Tattvāya Swāhā." This mantra is no less significant that the Brahma Gāyatri of Brahmanism. The first stage in the Tāntrik Mysticism is to have acquaintance with the knowledge of the self within the subject. This is called Sukhāsana of the Tāntriks and the Sūnya of the Buddhists. The second stage is to realise that all these selves which now appear as separate, are not really so but form a part and parcel of a Bigger-self of which the individual selves are like rippies. It is really the self that is actual seer, hearer etc. Our senses being classified under five categories, namely, seeing, hearing, touching, tasting and smelling, the Śiva of the Tantra is portrayed as one possessed of five heads. His faces are also five in number, of which four are presented towards the four cardinal points and the fifth one is turned upwards, *i.e.*, turned inwards. Śiva is thus the God of detachment and being the self-effulgent principle from which the individual selves produced, which are enjoyer of sorrow and happiness, birth and death, growth and decay, is himself, "Mṛtuñjaya", the conqueror of Death. The third stage is to utter "Śakti Tattvāya swāhā", which is meant to acknowledge the existence of a Śakti or power which sets Śiva, the undifferentiated-self into commotion and breaks the massive self to tiny individual selves always in motion and assuming new formations. Śiva, as we have already seen, is Yogeśvara, is serene in his attitude and solemny abstracted in his self. The Tāntric calls it the Ādya Kāli or Mahāmāyā. The Sādhaka is to worship this Śakti as Mother. The Sādhaka is to remain in this stage as a Mukta Puruṣa till the Great Mother in her infinite mercy takes him up, as She is the ultimate governor of the universe and it is at Her will that the Universe is created and will be withdrawn into herself. She is "Kāmākṣyā" the Goddess from where arise all desires and Her counterpart Śiva is Kāmeśvara in whom all desires are fulfilled. The Sādhaka has to make spiritual progress. After going through the different stages, as described above, he makes a flight to the most exalted state of bliss and brilliance, named Ānandamayī, *i.e.*, the Goddess rolling in bliss, the chief Goddess of the Tantras.[29]

Concept of Liberation

Dr. Radhakrishnan has drawn a graphic survey of the concept of liberation in Tāntrik Sādhanā in the following lines. He observes, "The Jīva, under the influence of Māyā looks upon itself as an independent agent and enjoyer until release is gained. Knowledge of Śakti is the road to salvation,[30] which is dissolution in the blis effulgence of the Supreme. It is said that for him who realises that all things are Brahman, there is neither Yoga nor worship."[31] Jīvamukti, or liberation in this life, is admitted[32]. Liberation depends on self-culture, which leads to spiritual insight. It does not come from the recitation of hymns, sacrifices or a hundred fasts. Man is liberated by the knowledge that he is himself Brahman.[33] The state of mind in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

which it is realised that Brahman alone is (*Brahmasadbhāva*), is the highest ; that in which there is meditation on Brahman (*dhyānabhāva*), is the middle, praise (*stuti*) and recitation (*japa*) of hymns is the next, and external worship is the lowest of all.[34] There is protest against ritualistic religion. Kulārṇava Tantra says : "If the mere rubbing of the body with mud and ashes gains liberation, then the village dogs who roll in them have attained it. The distinction of castes is sub-ordinated ; and the discipline of the Tantras is open to all."[35] *Bhakti* is regarded as helpful to salvation. Freedom of worship is allowed. As all streams flow into the ocean, so the worship offered to any God is received by Brahman.[36] The subordinate deities are however, subject to the force of *karma* and time.[37]

M. M. Pt. Gopinath Kaviraj observes that the Tantrik method of sublimation consists of three steps : purification, elevation, and reaffirmation of identity on the plain and pure consciousness. Tāntrik literature along with its mysticism, symbolism, and occulticism fulfil all the requisite demands of human life, *i.e.*, empirical and transcendental.

References :

1 Anubhavāsāntvāt —Bhāmati. 1.1.2.

2 Nāviraṭo duscaritannāśānto nāsamāhitaḥ,
Nāśāntmānaso vāpi prajñānenainamāpnuyāt.
—Kaṭhopaniṣad, i, ii, 24.

3 Tuckwell : Religion and Reality, p. 311.

4 Samprāpte jñānvijñāne jñeye ca hṛdi saṁsthite,
Labdhe śāntipade devi na yoga naiva dhāraṇā,
Pare brahmaṇi vijñāte samatairniyamairalam,
Tālavṛntena kiṁ kāryam labdhe malemārute.
—Kulārṇva Tantra : IX.27-28.

Also, "Akriyaiva parā pūja mananāmeva paro japaḥ".

5 Japa bhuktiśca muktiśca labhate nātra saṁśayaḥ.
—Kulārṇava Tantra III, 96.

6 Yathādhyānasya sāmarthyāt kits' pi bhramarāyate,
Tathā samādhisāmarthyāt brahmabhūto bhavennaraḥ.
—Kulārṇava Tantra IX.16.

7 The above extract has been taken in fragments from the book entitled "The Philosophy of Hindu Sādhanā" by N. K. Brahma.

8 M. M. Pt. Gopinath Kaviraj : Aspects of Indian Thought, pp. 204-205.

9 M. M. Pt. Gopinath Kaviraj : Aspects of Indian Thought, pp. 205-206.

10 Advaitaṁ mecidicchanti dvaitamicchanti cāpare ।
Māma tattvaṁ no jānanti dvaitadvaitavivarjitaṁ ॥
—Kulārṇava Tantra IX-16.

11 Suptā guruprasādena yadā jāgarṭi kuṇḍalinī,
Tadā sarvāṇi padmāni bhidyante granthyo pi ca,
Tasmāt sarvaprayatnena prabodhyitumiśvaraṁ,
Brahmarandhranmukhe suptām mudrābhyāsaṁ samācaret.
—Śiva Saṁhitā.

12 Jīvaḥ Śivaḥ śivo jīvaḥ kevalaḥ śivaḥ.
—Kulārṇava Tantra. IX 42,

13 "Karaṇbandhaḥ smṛto jīvāh karmamuktaḥ sadāśivaḥ. *Ibid 43.*

14 Mananaṁ viśvavijānām trāṇasām saṁsārabandhanāt,
Ytaḥ karoti samsiddhaṁ mantra ityucyate tataḥ.
—Piṅgala Tantra quoted in Sāradātilaka.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

15 Garo mānusa budhi ca mantre cakṣarbhavanam,
Pratimāyaṁ shilajñaṁ kurvaṇo narkaṁ brajeta.

16 Suptāguruprasādena yadā jāgṛti kuṇḍalini,
Tadāsarvāṇi padmāni bhidyante granthyo pi ca,
Tasmāt sarve prayatnen prabodhitumīśwaram,
Brahmarandhranmukhe suptāṁ mudrābhyāsam samācaret.

—Śiva saṁhitā.

17 Peetvā Peetvā Punaḥ peetvā, Peetvā patati Bhootale.
Utthāya ca punaḥ peetvā punarjanma na vidyate.

18 Vāyuroopāmoolāmbujsthitam.

19 Utpattimāyātim asthānam vibhutvam caiva Pañchddhā,
Adhyātma chaiva Prāṇasya vijñāyāmṛtamśnute. —sloka, 41.

20 Bahūnā janmanāmante śaktijñānam prajñāyate.
Śaktijñāna vinā devi nirwāṇam naiva jāyate.

21 See p. 85 of Pañcatattva-vicāra by Nilamani Mukhopadhyaya.

22 Sahsrāropari bindu kuṇḍalyā melanam śive,
Maithunaṁ parmaṁ dravyaṁ yatīnām parikīrtitaṁ,

—Chapter VI.

23 White like the autumal moon, Sattva guṇa Kaivalyarūpāprakṛtirūpī.

—Ch. 2. Kāmadhenu Tantra.

24 Tantrasāra, 702.

25 "Saṁyogaj Jāyate saukhyaṁ paramānandalakṣaṇam". Ibid. 703.

26 Pustake likhitāvidyā yena sundara japyate,
Siddhirjāyate tasya kalpakoṭi-śatairapi.

27 Deeyati jñāna sadabhāvaḥ kṣeeyate paśuvāsanā,
Dānakṣayaṇasaṁyukta Dīkṣhā teneḥ kīrtitā.

28 Sah kāro dhyāyate janturhakāro jāyate dhurvaṁ.

29 This extract has been borrowed from the book entitled "Philosophy of Hindu Sādhanā" by N. K. Brahma.

30 Śaktijñāna Vinā devī nirvāṇam naiva jāyate. —Niruttara Tantra.

31 Mahānirvāṇa Tantra, XIV, 123 see 124-127.

32 Ibid XIV, 135.

33 Ibid XIV, 113, 116.

34 Mahānirvāṇa Tantra, XIV. 122.

35 Antyajā api bhaktā nāmajñānadhikāriṇaḥ,
Striśūdrabrahmadhūnām tantrajñānédhikāritā.

—Vyomasaṁhitā.

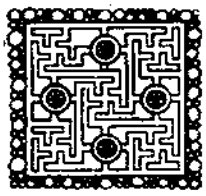
36 Mahānirvāṇa Tantra—XI. 50.

37 Ye Samastā jagatsraṭisthitisaṁhārakārinaḥ.
Te pi kāleṣu līyante kālo hi balabattaraḥ.

Quoted in Indian Philosophy by S. Radhakrishnan, Vol. II, page 737.

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Yoga and My Experience of Teaching in the West Europe

□ Smt. ATMA DEVI,
Welmington (U. S. A.)

Yoga is a very deep and vast science. To me Yoga is also another language which exists at a different level altogether. Though Yoga also has its physical and mental side, but it is very little compared to its higher level. Yoga may be in the beginning to reduce our tension, solve the problems of all kinds and remove much misunderstanding within about lot of things. Then a student enters into real Yoga, Inner Yoga. That is the most sublime and pure Yoga where we feel and become one with our inner centre which is so deep down within us that it is beyond *Ānanda—Māyā Kośa* (bless sheath), and *Turiyn* state of Yogis.

The point is to know and find out first—what we are, how we think and feel about everything and then what Yoga demands from you the way you have to live now. Which way it is going to affect you, and then lastly, are you ready for all these changes and transformations. Once you start practising Yoga (when say Yoga, mean inner and outer *Yoga*) there are going to be constant changes in your thinking, feeling and acting. Be ready to flow as Yoga life takes you. There are disciplines in Yoga which are hard to meet with especially in the long run and one should attempt slowly to different part of Yoga. It cannot be forced and neither should we expect things too quickly from Yoga.

I believe that people not only have to learn much more about these body, food, diet, emotions, mental growth, mind discipline, but have to feel consciousness (*Chit*) and grow in consciousness (Chiti) Universal power which pervades all sentient and non-sentient beings. This is what I teach in the Yoga as *Śaktiyoga*.

The Central teachings of *Śaktiyoga* is not only to awaken *Kuṇḍalinī-Śakti*, but how to awaken *Chiti-Śakti* consciousness and consciously feel and live into it. It is indeed marvellous to discover consciousness which I feel the science of Yoga and *Tantra* teach very well, and better than other science available on the planet and I am really proud of it as it comes from my country. Though I can give a million definitions and descriptions of what Yoga is, after such a long study, practice, and hearing about by living in many *āshrams* and with many gurus and masters in India that I really feel silly to talk about it because it is such an infinite thing, the more you study and practice, the less you feel you really know about it.

Though a seeker has many many unlimited good experiences in Yoga if one is properly initiated in Yoga that you will feel that you really know how what is Yoga, *Samādhi*, God, everything and at other times one may also feel so insecure at unhappy as though life is totally meaningless, impure and useless. Many positive and negative changes and experiences come in the life of a religious seeker or as our holy Yoga scriptures declares that one seeks the shelter of Guru and God with a sincere heart many bad Karmas shall perish by their grace and the path of Yoga can then become joyful and cheerful which really should be the case, inspite of all the struggles and hardships one may receive. Any way it all has to be learned and figured out by actually doing. Mere study cannot do any good. For instance, my own Guru Swami Kripālu has gone through very painful experience for the purification of the body and mind

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

by the *Kuṇḍalinī Sādhanā* that he is still doing, but still he has maintained a good physical health and cheerful spirit. I have been graced enough, many times, learning under such advanced gurus, and if you go near them to their heart, they will still say 'son ! I do not know much rather nothing. I am still a simple *Sādhaka.*' It is not only because of their humbleness but also due to the mere simplicity of their hearts. I really do not like this particular expression—humbleness—as I have seen many such yogis, Gurus, and advanced students misleading people under guise of their humbleness especially in the West. Sorry to say it but it is true at least and stray away from such Gurus. For this I really admired teaching of Bhagavan Sri Rajneesh who speaks openly about Gurus, yogis, Yoga, Tantra, religion, and spirituality. His teachings in the long run will especially do good to the West and also East.

★★★

No Tāntrik practice is complete without the use of the powerful yantras which can play a vital role in making for a fuller, happier and healthier life.

These yantras are the symbols of gods or goddesses, represented by geometrical designs. They are made up of straight lines, curves, triangles, squares and circles. But the methodology employed for making them is varied.

—Swami Devanand

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



YOGA FOR ME

□ SUSAN SHAW,

Delaware (U. S. A.)

Yoga began for me nearly five years ago and has become such an important part of my life that it is hard to remember what it was like before becoming involved. I can remember after having four children, being overweight, very tense and tired, a great deal of the time and smoking a pack of cigarettes a day. I was also aware at this time of a great spiritual void in my life—I was ready for the Guru to appear !

He came in the form of an Indian textile engineer who lives and works in this area and who teaches Yoga in the evenings. I signed up for a series of classes and found myself in a room filled with unfamiliar people, awkwardly trying to sit cross-legged and attempting to master the sounds of a Sanskrit *mantra*. However as the weeks went by and I practised the postures and chanting at home, the beginning of self awareness that Yoga brings, began to blossom and while listening to the beauty of the *Bhagavad Gīta* being read and explained, I realised that this was everything that I had been searching for, a spiritual path that integrated body and mind—my *Sādhanā* had begun.

Looking back, I can see how clearly defined some of the stages of my growth have been. Teachers and Gurus have appeared facilitating the transition from one growth period to the next. Workshops and Seminars have enabled me to experience some of the varied paths of Yoga. From the intense emotional surrender of *Bhakti* and the metaphysical beauty and power of *Kuṇḍalinī* to the physical action of *Haṭha* and *Karma Yogas*, each experience being woven into the fabric of my own *Sādhanā*. As I become more adept at *Haṭha Yoga*, the base on which my own Sādhanā rests, the desire to smoke fell away, my weight dropped and combined with weekly periods of fasting, an awareness of my eating habits and diet developed. The biggest problem I had to face and still have to cope with is integrating the physical practices into my busy life style. Working in an office all day and coming home at night to manage a home and children does not leave much time, but somehow the practices are fitted in and if I fall asleep occasionally while in meditation, now I accept that too, without becoming discouraged or angry at myself. Krishnamūrti says that freedom is the seeing of the self from moment to moment. Yoga is the tool that helps me to do this and although I am very much aware that I have taken just the first steps of a long journey, it never fails to amaze me—how much my life has been enriched by even my limited practice. It is such an incredible thing to me that this system of man's evolution known of and complied thousands of years ago is withstanding the scrutiny of Western science and many of its concepts being confirmed by scientific study.

So as I come to the end of this paper I find myself curious as to what direction my journey will take me in the near future. My path has been leading me away from the mysteries of Shiva and Shakti and Krishna and Rādhā as I became aware that I was exchanging the rituals of Christianity for those of Hinduism. Yoga combined with some of the Western therapeutic methods is a field that is becoming of great interest to me at the present time. To bring the concepts and as many of the practices that people here in the West will accept and use for their growth, is a challenge, one that I hope my own practice will enable me to meet.

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

YOGA AND AMERICA

□ YOGI SHANTANANDA,
Welmington (U. S. A.)

Western People and Yoga

Yoga has been popular in the West for many years. I do not see that Yoga has done any bad in the West, but only good. To truly understand its impact on the Western mind and culture one has to come to the West and experience it oneself. I repeatedly ask people to visit and live in India, in it's holy places for some time, if possible, to deeply appreciate the yogic wisdom and yogic life. All human beings are essentially the same in all countries, but still people are different in each country according to their social, cultural and political structure and environment.

The life-style of Western people is extremely different from those living in India. Not only their life-style, but their habits and nature is also quite different. It has many reasons. For instance, their diet, educational system, working system, religious influence and the structure as such, so then when a Western person studies Yoga in the West is one thing, but when the same person goes to study in India is quite different. There are very many limitations which one encounters to study Yoga under an advanced and well-versed Guru and to live a yogic life without much hassle from their friends and family. In the West people tend to think a student is corny or wierd if they are religious or in a yogic frame of mind, and also the practical approach of Yoga and Indian Spirituality is so different from the way the Western people are brought up that large numbers of them find it truly difficult to practise all the different codes and morals of Yoga, described in our Yogic text-books, for instance, many will find it difficult to understand why the mind, body, and nerves should be cleansed and purified and restrained to reach the Ultimate Spirit. Spirit here is considered very apart from the body; though it is very true that it is apart from the body, but a student of Yoga is taught that the body is the temple of God and Spirit and you must treat it properly, and feed it healthy vegetarian diet. Here in the West, all types of meat, especially beef, is consumed by all to a large quantity right from the age of two. Which naturally makes the body and mind very *Tāmasik* and *Rājasik*. *Sattva* quality of the mind is very little known to the Westerner.

I find most Western people are very simple, honest and straight-forward in their dealings and learning Yoga science. They will do exactly what is taught by the Gurus. They have the ability to be sincere and thus grow fast. There are many areas of deep understanding, high meditation and complete devotion and surrender to Guru that they find difficult to accept and understand.

The West is filled with many nervous and psychic tensions all over because of their extremely fast moving and stressful life-style. Yoga is really doing them a great deal of good in calming their mind and nerves, giving them a deeper meaning of life and ultimately showing them the true purpose of living, and as a result of this, many have given up using drugs, stop being alcoholics. Now they are eating a healthy diet and loving each other much more.

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



THE EXTINCT YOGI

□ Dr. JAYADEVA YOGENRA, M.A., Ph.D.

Yoga Institute, Santa Cruz, Bombay-56

This is a plea for the preservation of another kind of 'wild life' that may go extinct in India. In fact, this cry is more poignant since this wild life concerns one of the most highly developed species of mankind. It is the bearers of our ancient cultural traditions that have maintained an unbroken link of the finest process of evolution of man. If we are today proud of our contribution to world peace, to the concept of *Pañcaśīla*, to non-violence and non-co-operation, if we are proud of any aspect of Indian culture, of classical Indian music or of *Bhārat Nāṭyam*, we may as well become aware of the sources of this cultural expression—the *guru* concept, the *sādhaka* and the yogi. In fact, the yogi was the greatest inspiration of many of our cultural traditions. Before the sculptor carved out of the stone a form, he had already visualised this form in yogalike meditation. The musician himself was a devotee of a type of Yoga referred to as *Nādayoga*.

If we are pained to learn that 30 years ago there were as may as 30,000 tigers burning bright in the forests and jungles and that today they were dwindling to an estimated 2000, then we should be even more concerned that, while at the time of British, the census of *Nāth-Panthis* ran into six figures today we have no proper statistics of the *Gorakh-Nāthis* and the *Haṭhyogis*. In fact, the author has sadly scratched out the names of some of the old yogic practitioners from his survey of Yoga centres carried out incompletely for the Ministry of Education year after year.

The old masters and teachers of traditional arts are not able to cope up with the changing times since primarily they are engaged in creative work, undisturbed by the outside world. We may compare them with the modern scientists who are experimenting upon transformation of the baser aspects in man into the sublime. The yogi speaks of permanent attitude to life, while the artist speaks of a *Śānta-rasa*. For thousands of years, these experiments yielded profound results. In fact, we possess some of the finest traditions of art, architecture, medicine, dancing, music and techniques of spiritual evolution etc. If we are respected as a nation, it is rightly because of the past glory and cultural achievements besides our incorporation of some of these aspects of the past into the present like non-violence, non-cooperation, non-alignment, *upekṣa* of yoga etc.

Today the extreme development of materialism in medicine, education *et al.*, calls for a corrective. The interest in Yoga today therefore is not without significance. It is not only Yoga *āsanas* or *prāṇāyāmas* that people are interested in. They are also interested in relaxation, peace of mind, joy of living, and the tanquillity aspects of Yoga. If some of the old masters and the traditions can be allowed to blossom, this may become a great boon to the modern sick society. But are we giving it a chance ? My own suggestion to the Central Council of Research of which I have had the honour to be a Governing Body member is to allow the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

indigenous centres of learning to develop. The Government should do nothing more than assisting uniformly all such old masters of more than 20 years standing. Different social problems could be placed before these gurus to find their own answers through their own techniques. If we can think and be enthusiastic of a sanctuary for wild life, we may as well think of preserving not only the physical habitate but also the social and political environments that govern the functions of these gurus and their centres. But, who hears ! Who cares !!

★★★

Religious experience is absolute. It is indisputable. You can only say that you have never had such an experience. And your opponent will say, 'sorry I have' And then your discussion will come to an end. No matter what the world thinks of religious experience, the one who has it possesses the great treasure of a thing that has provided him with a source of life, meaning and beauty, and that has given new splendour to the world and mankind.

—*Dr. Clark*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

YOGA SĀDHANA

□ BHAG SINGH LAMBA

Retired Commissioner, Spiritual House, Dehradun

The word "YOGA" means union with Almighty. There are various branches of Yoga like *Haṭhyoga, Karmayoga, Bhaktiyoga* and *Rājyoga*. Each is a path to the same goal and they are complementary to each other. The essence is Integrated Yoga.

There are numerous books on the subject. I shall deal with Patanjali's *Aṣṭāṅgayoga, Rājyoga* and *Bhaktiyoga* ; other branches come by implication and it is essentially Integrated Yoga. The unique distinction with the scribe dealing with the subject is that God Himself became my guru from early 1957 onwards. It is exactly as stated in the Bhagavat Gita where Lord Krishna says that He himself does Yoga in a real and true *Sādhak*. The modern student considers the attainments of Yoga as Mythology but I have practically proved that what is stated in the Ancient Wisdom is quite correct.

Indian *Ṛṣis* (saints) did research work on Life and how to contact the life-giver. The result was Integrated Yoga.

The basic necessity is a clear and healthy body which should be a suitable vessel to contain the *Amṛt* (divine nector). For this purpose the first stage is *Yama* or self-control. This implies ten points of conduct namely (i) *Ahiṁsā* or non-injury, (ii) *Satya* or truthfulness, (iii) Non-covetousness, (iv) Chastity, (v) Forbearance, (vi) Patience, (vii) Kindness, (viii) Humanity, (ix) *Sāttwik* food, (x) Cleanliness.

The second stage for practice is *Niyama* or regulation. This also implies ten points, namely (i) Control of passions, (ii) Contentment, (iii) Faith, (iv) Charity, (v) Prayer, (vi) Listening to scriptures, (vii) Repentence over faults, (viii) To do goods deeds, (ix) Recitation of scriptures, (x) Sacrifice.

It is evident that *Yama* and *Niyama* cover ethics. After these preliminaries there are six more stages which will be described later.

Here I will take up *Rājyoga*. The key for crossing the bridge between materialism and spiritualism lies in the mind. *Rājyoga* deals with mind-control and its development and unfoldment of consciousness.

The ancient *Ṛṣis* discovered during their research that the physical body is just like a complicated machine that functions during the life span with God's power or spirit or monad a spark from His flame. They found that there are seven centres of energy or *chakras* through which the life force is absorbed. The most important is at the top of the brain called *Sahasrāra* or *Brahmarandhra*. This has been called "*Dasam-dāwr*" in Guru Granth Sahib as there are 9 other openings already exist in the body like mouth, ears, eyes, nose etc., secreting impure fluid and the tenth is concealed being the abode of the Driver of the body. The second centre of energy is at the bottom of the brain and is called *Ajña*. It is behind the spot between the two eye brows and the beginning of the nose. The third centre of energy is in the region of the throat and is called *Viśuddha* a *Kaṇṭha chakra*. It is the seat of *Ākāśa* or Ether Element. The fourth centre of energy is in the region of the heart or *hṛdaya chakra* or cardial plexus. This

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

controls the energy used for breathing or *Prāṇa Śakti*. It is the seat of Air Element. The fifth centre of energy is in the region of the *navel* and is called *Maṇipūra* or *Nābhi Chakra* or Solar plexus. This is the seat of *Agni* or Fire Element. Most of the arteries carry the food energy to different parts of the body from this centre. The sixth centre of energy is at the root of the male or female sex organ and is called *Swadhiṣṭhāna* or *Indriya Chakra* (Hypogastric plexus). It means the seat of pleasure. It is the seat of Water Element or creative power. The seventh and last *chakra* is at the bottom of the body between the *anus* and generating organ and is called *Mūlādhāra* or *Gudā Chakra* (pelvic plexus). This is the seat of Earth Element. It is also called *Ādhāra Chakra*. The whole Cosmic force in man is stored above this Chakra. It forms a reservoir of life force.

Again, the second centre of energy forming the centre of the circle at the bottom of the brain is the seat of mind. Therefore in order to control mind one should concentrate at the spot between the two eye-brows. This is the fundamental of *Rājyoga*.

The other six stages of *Aṣṭāṅga Yoga* are—(3) *Āsana* or sitting posture (4) *Prāṇāyāma* (5) *Pratyāhāra* (6) *Dhāraṇā* (7) *Dhyāna* (8) *Samādhi*.

I shall not go into details of these stages as their practice may arouse complications and unless one is absolutely pure one is exposed to danger. I know of one case in which the Life Force ascended from *Mūlādhāra* to *Sahasrāra* and perhaps descended from above and the person was going to die but for my intervention with divine touch. However for *Āsana* any convenient posture will do, though *Padmāsana* is the best. The trunk has to be kept straight without tension to facilitate the movement of force. As for *Prāṇāyāma* one should start with deep breathing. The in-take of Air – *Pūraka*, exhalation—*Rechaka* and holding breath after inhalation or exhalation *Kumbhaka*. These three have to be so regulated that breathing should proceed in a rhythmic manner. These should be performed in the ratio of 1 : 4 : 2. *i.e.*, one breath *Pūraka*, four breath *Kumbhaka* and two breath *rechaka*. This will help mind-control.

Rājayoga along with *Bhaktiyoga* is best and safest. *Bhaktiyoga* is the remembrance of God, reading and listening of scriptures and doing and listening to *kīrtan* or devotional songs. As soap washes out dirt, God's name in any language and His '*Kīrtan* will wash the internal dirt. This will serve like internal bath. The ordinary bath does not touch the internal dirt. Repetition of a '*Mantra*' also serves the same purpose and the power of a *Mantra* depends upon the attainment of the saint who gives the *Mantra*. It also depends on the aspiration of *Sādhaka*. If the Sādhaka is truly willing it makes one *Nirmal* or pure. The test for internal purity is that one will get flash of light or may see full moon or sun when meditating. The second essential is making the mind steady and calm. This is achieved by *Rājayoga* by concentrating at the brow centre- *Ajña*. Mind control, however, is a Herculean task. It is said *Man jeete Jag jeete*—if one has conquered the mind, he has conquered the world. However regular practice is necessary. Association with saints who are nearer to God will be of immense help and almost the impossible can be achieved through them as they know how to make others mind calm depending on their receptivity of the Divine Force. The first sign of Grace will be that the body may be joeted, some force may begin to ascend through the spinal column and the body may sway to and fro. With further progress the ascending force may begin to prescribe *chakra* or rotate in each or any Centre of Energy. The ascent of the force from below will hail the Spiritual birth of an individual. One lady has described that the back pain due to ascent of the force in *suṣumṇā* (the canal in the Spine) is almost like birth pangs, which are felt by the mother when a child is born; while in this case it hails one's own spiritual birth. I felt only a litttle pin-prick. When the Ascent is up to *Sahasrāra* then one may meet God. Further progress will be descent of force from above-Transcendent God. When this happens God Himself will become the teacher or Guru of the *Sādhaka*. The ascending and descending forces after fusion at the brow centre will virify each *Chakra* and concentration of the *Sādhaka* will be taken at different centres of energy. The stage will be reached when the entire *Yoga Sādhanā* will be perfectly

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

guided even the sitting posture included. Orison has been compared to watering the garden of the soul. While initial meditation is compared to drawing up water in a bucket with a rope from a deep well; the next step is drawing it up by installing a pulley; further progress is watering with canal water. The last step when God's force descends from above into the physical body is just like pouring rain to water the garden of the Soul when even the uneven and raised parts of the field will become green and fruitful. While the ascending force will bring bliss, the descending force from the Transcendent is the transferring force. It will change the vibratory power of each cell of the physical body which means extension of consciousness. The ascending force will come out of *Sahasrāra* and may lead to the formation of four subtle bodies. This is a lengthy subject and has been dealt with in my book "Spiritual Science" in the Chapter "Man and his Garments". Then bodies surround and interpenetrate the physical body (*Annamaya Koṣa*) and have been named *Prāṇāmāya Koṣa, Manomaya Koṣa, Vijñānamaya Koṣa* and *Ānandmaya Koṣa* by the ancient saints.

The play of the two forces proceeds in a wonderful manner in various permutations and combinations and enables the real man to come out of the physical body. The virification of the centres of energy to make us superman is a very long affair and may extend over several years while the play of forces may proceed for all the 24 hours in a day. The intensity of the forces increases with rhythmic Bhajans and *Śabda Kīrtan*. The inner controller teaches the *Sādhaka* to transform others and may allot other tasks like alleviation of human suffering.

When His full Grace is showered an individual will work in his subtle bodies as freely as in the physical body. He will dance with His tune and work with His will. God will bestow some or all of His power on the Saint. He may conquer death and leave the physical body with his will at His call. Such is the Ancient Indian Wisdom left to us as legacy to become man-God.

* * *

The prāṇayāma is not much appreciable by the yogin who has developed disregard about bodily and worldly pleasures, whose passions are suppresed and senses are under control.

—*Yogapradip*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Self-Realization Through Vedanta and Yoga

□ KIYOSHI KUROMIYA

Sw. Vivekananda Yoga Centre, Philadelphia (U.S.A.)

Self-realization is one's becoming aware of one's true Self and abiding in it. It is realizing that one is not the psycho-physical entity consisting of the body, mind, intellect and ego; but rather, one is the Self—all-pervading, birthless and deathless. The Self is described in Yogic parlance as *Ātman*, *Brahman*, Ultimate Reality and Truth. It is not enough to understand this theoretically or intellectually, but one must actually experience it.

It is important at this stage to dilate on the term Vedanta. Properly interpreted, Vedanta is a systematic search for the Ultimate Reality. Vedanta maintains that man's nature is divine, and that it is the aim of man's life to unfold this divine nature. This basic truth is universal—that is, every religion that has inspired mankind has been trying to state the same facts. Vedanta offers that system of thought and way of life for which men have been eternally looking; the universal religion, "which will have no location in place or time; which will be infinite, like the God it will preach, and whose sun will shine upon the followers of Krishna and of Christ, on saints and sinners alike; which will not be Brahmanic or Buddhistic, Christian or Mohammedan, but the sum total of all these, and still have infinite space for development; which in its catholicity will embrace in its infinite arms, and find a place for every human being." (Swami Vivekananda)

According to Vedanta, Truth is universal and all mankind and all existence are one. The philosophy of Vedanta preaches the unity of God as Ultimate Reality and accepts every faith as a valid means for its own followers to realize the Truth. On closer scrutiny, we find that the Vedanta philosophy is one of the oldest systems and has provided the highest ideals of life as well as the best explanation of the phenomenal world. According to Vedanta, the phenomenal universe is the expression of one Supreme Being, the Eternal Existence. That Eternal Existence or Ultimate Reality is called by various names, and is worshipped under various forms. The main thesis of the Vedanta philosophy is : "Truth is one, Sages call it by different names."

When we recall that Truth is one and that Truth is true all through eternity, it is a truism to say that the same truths that were realized and discovered by the ancient seers of India are the truths of today—and will remain truths throughout eternity.

Far from being a purely speculative philosophy, Vedanta is a very practical philosophy and has given the world the most solid foundation for a system of religion which is nameless, creedless and without dogma. It is the universal religion which underlies all the religions of the world—various religions being so many expressions of this universal religion.

Vedanta maintains that the practical side of philosophy is religion and the theoretical side of religion is philosophy.

According to Vedanta philosophy, that which is unscientific and unphilosophical, cannot be called religious. It must appeal to our reason, and that which appeals to our reason must be based upon truth. Vedanta embraces various systems or branches of science which are

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

described in Sanskrit under different names. The Sanskrit name for each of these systems is Yoga. On diving deep into the method by which this science of Yoga was developed, it is fascinating to find that, even in those ancient times, observations and experiments were employed as tools of research in discovering the secret truths of nature and the laws that govern our lives. The finer forces of nature and the description of their laws, are embodied in the various branches of the science of Yoga.

According to Vedata philosophy, there are five layers, called *Koṣas* or sheaths (coverings) enveloping the *Ātman*. Due to ignorance, we identify the *Ātman* or Ultmate Reality (the true Self) with the non-Ātman, the sheaths or coverings of the Self. These five layers are : (1) the Physical Sheath, or the Food Sheath, (2) the Vital Sheath, (3) the Mental Sheath, (4) the Intellectual Sheath, and (5) the Blissful Sheath. When all the Sheaths have been transcended, the *Ātman* alone remains. Shankara, the foremost exponent of Vedanta philosophy, sums it up beautifully in *Viveka Chūdāmaṇi* : "When all the five Sheaths have been eliminated (discriminated or discerned as being other than the Self), the Self of man appears pure, the essence of everlasting and unalloyed bliss, indwelling, supreme and self-effulgent."

The Physical Sheath

The first or outermost Sheath is the *Annamaya Koṣa* or gross, Physical Sheath, the physical body. The yogis say that it is made of and sustained by food. It comprises the material sheath. The gross, Physical Sheath is also termed as "Food Sheath." It is so called because it arises from the essence of the food taken by the eater. It exists because of the food regularly taken in and, ultimately after death, it must decompose to become food again. The substance of physical structure rising from food, existing in food, and going back to food, is naturally, and most appropriately termed, "Food Sheath." It is a mass of skin, flesh, blood, bones, etc., and can never be the eternally pure, self-existent *Ātman*. Any intelligent and discriminating man knows that he is not this physical body, for the body, is subject to change. The body, consisting of arms, legs, etc., cannot be *Ātman*, for one continues to live even after its particular limbs are gone. Moreover, the body, which is subject to the rule of Self, cannot be the Self which is the Ruler of all. And yet, ignorance is so deep and universal that we identify ourselves with the body in our day-to-day activities in the empirical world. Vedanta believes that all bodies die. The Self cannot die. Therefore, the body cannot be the Self.

The Vital Sheath

The second covering of the *Ātman* is called "*Prāṇamaya Koṣa*" or the Vital Sheath. It is made up of the vital forces and organs by which bodily actions are performed. The Vital Sheath controls all the organs of action, and it is five-fold with its five different functions. The vital forces are called the *prāṇas*. They consist of *prāṇa* (breathing), *apāna* (elimination), *samāna* (digestion), *vyāna* (circulation) and *udāna* (nerve currents). From experience, we have found that if we eat, these vital forces remain strong. But, if we starve, they become weak. Since these Vital Sheaths are also perishable, they also are not the Self.

The Mental Sheath

The third is *Manomaya Koṣa* or the Mental Sheath, the sheath of the mundane mind. It consists of *manas* (faculty of perception), *buddhi* (intellect) and *ahaṁkāra* (ego). The mind cannot be the Self because it manifests through thought and thoughts are extremely various—now good, now bad. The mind is too changeable to be the Self.

The Intellectual Sheath

The fourth sheath is *Vijñānamaya Koṣa*, or the Sheath of Higher Intelligence. Yogis believe that, when one has penetrated his own nature to this sheath, he gains knowledge of the universe as a manifestation of Ultimate Reality.

It is important to point out here that the term "mind" is not used in the same sense as it is used in Western psychology. What is known as "mind" in Western psychology is described

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

in Eastern psychology by the various functions of the mind—such as "mind" (the receiving faculty—*manas*), "intellect" (the discriminating faculty—*buddhi*), and "ego" (the knower or experiencer—*ahaṁkāra*).

There is a subtle difference between mind and intellect in Vedanta philosophy. Mind is that which entertains our doubts, joys, desires, etc., and which interrupts the constant flow of thought. Mind can fly to things and places seen or heard. Intellect, in each one of us, is the determining factor, whereas, the mind is the doubting one. Mind, when a determined decision or a willed judgment is required, takes the form of the intellect. However, the intellect is subtler than the mind because it ventures forth into realms unheard of or unseen, whereas, mind will only reach things or places already seen or heard.

The Blissful Sheath

There is a fifth sheath, called *Ānandamaya Koṣa*, or the covering of the "bliss". This covering is revealed to us in the state of deep sleep. It is called the covering of the bliss because it is the covering closest to the blissful *Ātman*. It is considered blissful also because, whatever the condition in which we happen to be in our waking and dream states, once we enter the portals of sleep, we all invariably experience the same undisturbed peace and bliss. But this covering is also a creation of ignorance.

The Ātman

"The *Ātman* (true Self), is beyond all thought, one, without birth or death, whom sword cannot pierce or fire burn, whom the air cannot dry or water melt, the beginningless and endless, the immovable, the intangible, the omniscient, the omnipotent Being—neither the body nor the mind, but beyond them both."

The *Ātman* is beyond the five coverings. In order to realize our Self, the Ultimate Reality, we have to go beyond the three states of consciousness, waking, dreaming and sleep, and reach the *turiya* or fourth, which is termed *Samādhi*.

According to Vedanta, the outstanding nature of the Ultimate Reality : (1) is Pure Sentiance or Consciousness; (2) is never born and will never die. It has no origin or end. It never decays nor undergoes changes and mutations; (3) is non-material, of the nature of Pure Existence, Pure Consciousness and Pure Bliss—*Sat-Chit-Ānanda*. (4) is non-moving and actionless. It only witnesses.

The *Ātman* is beyond the mind, beyond the ego. The ego is the primary expression of the *Ātman*. It screens off its very origin and also projects itself as the mind and through the mind as the world. The mind thus projected takes itself and the world to be real. It looks to the external world for happiness. The ego derives its existence and power from the *Ātman*. But not recognizing this fact, it keeps itself attached to the intellect, the mind and the body; enjoying and suffering through them. As long as the ego is conscious of and attached to the body, mind and the intellect, it is not conscious of the *Ātman*. The moment it withdraws from them and transcends itself by trying to trace out its own origin, the body consciousness goes away and the *Ātman* or Self-Consciousness dawns. The *Ātman* is realized only when the ego disintegrates and dissolves into Pure Consciousness.

To realize the *Ātman*, which is beyond the mind, the mind should be stilled and transcended. The mind can act in two ways. It can either keep on engaging itself with the external world in its search for happiness, or it can withdraw itself from the outside world and try to trace out its own origin. This faculty of the mind to withdraw should be cultivated if one is to realize the *Ātman*. The mind should be trained not to dabble with worldly thoughts but to retreat within itself deeper and deeper. It should be made to remember its true nature constantly, throughout the day, in and through all its daily activities. In addition, one or two hours a day should be set aside for contemplative meditation on one's Self. By all this, one must try to transcend the mind and merge into the Pure Consciousness. In fact, Yoga psychology aims

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

at preparing the mind to catch glimpses of the *Ātman* and then, eventually, transform the mind Pure Consciousness. The word "*Nirodha*" (suppression) is used by Patanjali and commentator Vyāsa in the sense of transformation. Swami Vivekananda, Swami Abhedananda, Sri Aurobindo and others have opined that we can transform the mind into its own nature, which is the Pure Consciousness.

In his Yoga aphorisms, Patanjali has disclosed the secret of bringing under control the distracted modifications of the mind and also the technique of transforming the mind stuff into higher consiousness.

In Vedanta, the path leading to Self-realization consists of three stages or steps, namely:

(1) *Śravaṇa*—hearing. First, an aspirant has to hear about the Ultimate Reality from a realized soul. Unless he learns the philosophy of Vedanta and comprehends what is to be attained, he will not have a correct ideal of the goal nor the method to reach it.

(2) *Manana*—cogitation. After hearing about the Ultimate Reality, the aspirant should cogitate or ponder over what he has heard. He must analyze and assess it through reasoning and then come to a firm conviction that it is the supreme goal to be achieved in life. Vedanta reveals a conscious process by which man realize his true and immortal nature. It requires that the aspirant be convinced of its truth and practicality.

(3) *Nididhyāsana*—contemplative meditation. This is the last and the most important stage leading one directly to Self-realization. Also called *Jñāna Niṣṭhā*, it is a process by which man consciously seeks to realize his true Self. It is a process in which our inner equipment consisting of the ego, the subconscious, the intellect and the mind stuff plays a vital role.

In order to realize the Self, one has to listen about the Truth of Ultimate Reality from the lips of an illumined soul. Then, after contemplating upon the Self, resolve that he is determined to follow the path leading to Self-realization.

Finally, one has to meditate on a regular basis, systematically and sincerely. The importance of meditation in the life of an aspirant need hardly be over-emphasized. In fact, meditation is given the greatest significance in all of Yogic and Vedantic literature. It is not the scope of this paper to expand upon the subject of meditation. Suffice it to say that one can eventually realize the Self through meditation.

It is fervently hoped that the foregoing discussion 'Self-realization through Vedanta and Yoga', will stimulate the sincere seeker to pursue the spiritual path with better understanding, dedication, devotion and a determined will until he attains *Samādhi* (Pure Consciousness).

References :

Vivekananda, Swami : *Jñāna-Yoga.* (New York : Ramakrishna-Vivekananda Center, 1970)

Vivekananda, Swami : *Karma-Yoga* and *Bhakti-Yoga.* (New York : Ramakrishna-Vivekananda Center, 1970)

Vivekananda, Swami: *Rāja-Yoga.* (New York ; Ramakrishna-Vivekananda Center, 1970)

Vivekananda, Swami : Inspired Talks. (New York : Ramakrishna-Vivekananda Center, 1970)

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



YOGA FLOURISHES IN BRAZIL

□ IGNEZ NOVAES ROMEU

President Institutos de Cultura Yoga Cientifica Integrados, São Paulo, Brazil

About some eleven years ago, I went to Kaivalyadhām, Lonavla, and there took the diploma course in Yoga. Before going to India I was already interested in Yoga and had been attached to a Yoga Institute in São Paulo. Previous to that I was trained as a teacher of Physical Education and afterwards went to the States where I received a degree of Master of Science in Corrective Physical Education at "Smith College", Northampton, Mass., U.S.A.

Because of this background I found myself very much at home in the Yoga School of Kaivalyadham, where the scientific aspect of Yoga is stressed, without losing sight of the spiritual aspect. I was really lucky to have chosen Kaivalyadham, where the Yoga students have a chance to receive the generous and competent guidance of Revd. Swami Digambarji. Since then I have returned twice to Lonavla and Rajkot to continue my studies, and I am glad to say I have been able to maintain the good relationship established since my student days.

I try as much as possible to keep in touch with the work being continuously done in the field of Yoga at Kaivalyadham.

During my last visit to Lonavla, two years ago, I asked and received permission to represent Kaivalyadham Institution in Brazil. I have considered it a great honour but this is also a great responsibility for me.

My work is centered mostly in São Paulo city, where I live, and which is the Capital of the same State ; being a city under continuous development where changes and growth constitute her distinctive mark, we all suffer the growing pains and have to face all the consequent problems.

This being the case and so many cultures coming together in a truly melting pot, we have here a fertile soil for all kinds of experiments. Naturally all cults, all sects, philosophies, etc., have a place in this city. Yoga has its share and like all over the world it is practised here in all aspects and combinations.

We hear all kind of opinions—pros and cons— and only the future will tell what the firm root will be. However some sort of stability is already taking place : groups are being formed, associations are taking shape and some paths are being opened.

There is a growing consciousness about Yoga in Brazil. Several individuals and centres are working in the field of Yoga in their own capacity. In spite of great interest about Yoga there are also many misconceived ideas associated with Yoga. It is necessary that the superfluous elements about Yoga are removed and Yoga is presented in its true nature. Various aspects of Yoga need to be clearly brought out and explained to the people.

Various associations and individuals working in the field of Yoga may create confusion in the minds of novice when they hear different views on Yoga. There is also a need that different associations working in the field with common objectives come together and strengthen the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

movement of Yoga unitedly. This is obviously a difficult task, but we have been successful in bringing three schools of Yoga together and forming one association.

Physical and mental health being the primary concern before us, we are centring our attention on projecting Yogic activities in a scientific manner in the departments of physical education. Our scientific approach and rational outlook of the problems of modern living tackled through Yoga is being appreciated in many quarters.

In order to deal with the stupendous task of educating the masses we have to depend on the adequately trained teachers. We are engaged in preparing the teachers of Yoga along the lines of and under the guidance of Kaivalyadham, Lonavla.

We are aiming our efforts in two directions : among the Official Schools and the Private Yoga Institutes. The work towards the Official Schools has found a footing in the Physical Education Schools.

For the last two years I have been teaching Yoga in the School of Physical Education of the São Paulo University. Upto now the work has been done on an experimental basis. There is a great interest on the part of the students and by now we hope to have established a permanent footing there.

Besides the São Paulo School, we have also established contact with the Physical Educational School in Goiania, capital of the State of Goias, where the Yoga has been taught for about two years. Since my visit to Goiania last October, we have the pleasure to learn that the orientation of Yoga adopted by that School will be in accordance with the lines of Kaivalyadham.

The book "Āsanas," which I have translated into Portuguese (duly authorized by Kaivalyadham) has been adopted as text book for their students in Goiania.

Furthermore, we have established contact with a private Yoga Institute in Goiania. Since geographically Goiania is situated in the centre of Brazil, very close to our new capital—Brasilia, this new association has a very auspicious meaning to us. We are very happy indeed with this last development of our work.

On the other hand, the work with the private Yoga Institutes and Yoga teachers in general is also taking shape. We have founded an Association as an effort to join all the Institutes and teachers willing to practise and to develop on the lines of scientific Yoga lines as directed by Kaivalyadham. The newly founded Association has already organized a training course whose candidates came from those Yoga Institutes forming the Association. This was our way to give them the fundamental tenets of scientific Yoga. Some 25 teachers completed the course and have already organized themselves in the "Association of Teachers of Scientific Yoga". And the new Association is already very active.

The translation of the book "Āsanas" by Kuvalayananda into Portuguese was a land-mark in our efforts. First. because it is a deserved homage from ourselves to the great Swami, founder of Kaivalyadham. Then, because through a book the spreading of Yoga on the right lines can reach anywhere, everywhere. It was a very difficult task to finish and still today it gives me a thrill to see the book in some libraries or displayed for sale in book-shops.

Another land-mark was to have a headquarter to all our activities and also a place to practise and teach Yoga. So, our Institute came to life and a group of students attend regularly Yoga classes under our guidance. It is a very gratifying experience, the real basis of our work.

It is our general experience that most people look after Yoga for mental and physical health reasons. Quite a few come to Yoga directed by their physicians. Sometimes a Yoga teacher finds himself dealing single-handed with therapy cases, besides trying to attend to all different needs of the group. So the requirement of joining forces and more guidance is very great indeed.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

There is always a small but important group of people looking after Yoga for its spiritual value also. Those are the students who become our close helpers and main support. It is with their kind help that our task can be carried on. And it is on their account that our link with Kaivalyadham is so important to us. Without our total trust in the guidance of Swami Digambarji and in the help of our teachers, even from a distance, we could not aim to the higher aspects of Yoga and MAY GOD BLESS AND PROTECT THEM.

★★★

The Self, encased in the body, undergoes various sorts of sufferings, because of this connection ; therefore those who desire Deliverance of their Selves, should avoid this corporeal contact either through mind, or speech, or action.

Liberate Thyself from the trammels of doubt through which Thou art lost in this world-forest. Realise Thyself as separate and absorbed in contemplation of the Highest Self.

—*Acharya Amitgati*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Research in Yoga by the Methods of Modern Natural Sciences

□ Dr. P. V. KARAMBELKAR, M. Sc., Ph. D.

Jt. Director of Research, Kaivalyadhama Shriman-Madhava-Yoga Mandira Samiti, Lonavla, Distt. Pune.

The worldwide popularity of Yoga in the recent times is often pridefully remarked by the Indians. Today there may be hardly any country worth the name where there are not a large number of people following some movement or activity, which goes under the name of Yoga, rightly or wrongly.

This fascination for Yoga is, no doubt, a result of the forces of circumstances. Yoga seems to be a panacea against the undesirable effects of the stresses produced as a consequence of the rush and hustle of life coming with the material progress. Efforts to introduce Yoga to the people of the Western countries made by the pioneers like Swami Vivekananda, Swami Ram Tirtha and others were, no doubt, causative in creating interest in Yoga at first, but the interest was limited to a smaller sphere comprising of people interested in spiritual and philosophical aspects of Yoga. Moreover, in this early period Yoga was erroneously looked upon as a peculiar religious movement linked with Hinduism or even a fad of some eccentric persons and so even shunned by a majority as against their own religions *viz.*, Christianity, Judaism, Islam etc.

That Yoga is fundamentally a non-parochial and secular discipline, an art and science, in fact a way of life leading to a better integration of the man is now generally well accepted and the old prejudicial attitude is largely disappearing. It is even recognised that the science of Yoga, which may some day be honoured as the 'Science of Sciences', can very well withstand the tests and criteria of modern life sciences and that the help of the other natural sciences can be taken to understand and elucidate the basic principles of the Yogic science in a clear and rational manner, in which the modern man wants to understand things.

The greatest credit for creating such an attitude about Yoga goes to the pioneer efforts of Late Śri Swami Kuvalāyananda. In 1924 he founded Kaivalyadhāma at Lonāvla, near Pune in Maharashtra,—the first institute of Yoga—where the attempts were made to co-ordinate this ancient science with the modern natural sciences on the basis of researches carried out with the use of the methodology and techniques of these latter.

In fact, as early as in 1920 Swami Kuvalayānandaji had started scientific researches on the physiological effects of certain Yogic practices employing the experimental investigative procedures of modern medicine, even before the founding of Kaivalyahdāma. Later after establishment of Kaivalyadhāma with developments of its various departments, branches and associated institutions, the researches were carried out in a more systematic manner and on a much wider scale.

The ancient treasure of Yogic knowledge is buried in the not very well-known storehouse of the old yogic literature. A lot of this literature has as yet remained to a great measure in the dark and has not been studied as critically and thoroughly as it is desirable. And without understanding what the ancient masters of this science have said in this sphere, it would be

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

impossible and also incorrect to develop the science further. Even the scientific research will have to build up its structure on the foundation of this research in yoga literature, which it being carried out by the Philosophico-Literary Research Department of the institution.

But the important work of co-ordination of the ancient yoga with the modern sciences is being carried out by the Scientific Research Department of Kaivalyadhāma. Here varying yoga practices like *Āsanas, Prāṇāyāmas, Ṣaṭkriyās* of *Haṭha Yoga* School, Meditational practices of various yoga schools are being studied in controlled experiments, to find their effects—physiological as well as psychological—on the human organism. Modern instruments and techniques from the fields of Biochemistry and Biophysics, Physiology including Electrophysiology and Radiology, Psychology and Psychometry, Physical education and physical fitness measurements *etc.*, are being utilised to evaluate objectively the changes produced by Yoga in man's mind and body.

As already mentioned, right in 1920 Swami Kuvalayānandji had made a start of such scientific research in Yogic field on modern lines. The first systematically planned and controlled experiments carried out by him in Baroda were investigations of the yogic practices of *Uḍḍīyāna Bandha, Nauli Kriyā, Basti Kriyā* and *Vastra Dhauti* by manometric techniques and with X-ray radiography.

These researches clearly showed the working and movements of various organs in the chest and abdomen during the performance of these Yogic *Kriyās* and very rationally explained that in *Uḍḍīyāna* and *Nauli* the pressure inside the hollow cavities, *e.g.*, stomach and intestines *etc.*, is reduced well below the normal, which is near about that of the atmosphere. This partial vacuum produced inside the abdominal organs was the cause which made it possible for Yoga students to suck various kinds of liquids in these internal cavities *e.g.*, water into the colon (large intestine) in *Basti Kriyā* and water, milk or even a heavy liquid like mercury into the urinary bladder through the urethra during *Vajroli Kriyā*. Thus these investigations proved that this strange feat of liquid suction inside the body was working on simple and natural laws. The mystery and awe were removed and the frequently made claim of miraculous yogic powers being behind the performance of such feats was exploded.

Since in those days of foreign domination and universal attitude of depreciating everything Indian, Swami Kuvalayānandaji found it impossible to get his researches published in the scientific journals or even popular standard magazines. He, therefore, was compelled to start his own journal, where he could place before the public these findings. Thus *Yoga Mīmāṁsā* quarterly started at the same time as Kaivalyadhāma in 1924 and these first scientific researches in the field of Yoga were published in this journal, being presented in such a manner that ordinary educated man conversant with English could also understand these. Though intermittingly, the journal is being published up-to-date and a lot of scientific research on Yoga, specially on its fundamental aspect *i.e.*, for understanding and elucidating the principles and mechanics lying at the basis of various Yogic practices rationally, with the help of modern methods of natural sciences, has been published in this journal. This will be briefly summarised in the following pages, when taking a general survey of modern scientific researches in Yoga.

Today a number of scientists, both in India and abroad, are getting interested in and even are carrying out researches related to Yoga. The findings of these researches are making the people interested in Yoga generally, and even a large number of scientists, specially to comprehend and recognise that the ancient discipline of Yoga can stand well tests of modern Western sciences. It is becoming also clear through these researches that Yoga can offer a number of benefits, which can and will enrich the life of humanity, irrespective of religion, creed, race, nationality, age, sex and such other limitations and even for those who may not be interested in the so-called spiritual gains.

It is for these reasons that all over the world a large number of persons are practising

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Yoga in some form or other. Today there are everywhere in the world hundreds,—nay thousands of people attending some kind of Yoga centres or meets. And these include even scientists as for instance Dr. Salk, discoverer of Polio vaccine and winner of Nehru Puraskāra very recently, who acclaim Yoga on the basis of personal experience.

This present popularity, we may even say craze for Yoga, is no doubt a need of the times, since as said above the contemporary man exposed to stresses resulting from the so-called material advancement has become confused and disturbed and wants a peaceful happiness, which Yoga seems to promise, but this same present day man is not ready to accept things on make-believe, but wants an objective evidence for everything. Foreseeing this, it was that Swami Kuvalayānanda had embarked upon the almost unsurmountable task of trying to comprehend, elucidate and propagate Yoga in the framework of modern natural sciences. He had often expressed that this hard task, from which he was discouraged by almost all the leading personalities in various fields in India of those days, was a God-ordained duty for him, as otherwise he feared that Yoga will soon die out, as very few would like to learn or practise it in this present age of rationality and science mindedness.

Even after seeing this impact of the scientific and experimental research in the field of Yoga on creating the outlook of the scientificness and rationality of the Yogic practices and consequent arousal of interest in and stimulus for practice of Yoga in thousands of sādhakas all the world over and on the clarification of yogic principles and practices in such an easy and rational manner, that modern man who looks upon science as authority and even the scientists rigorously trained to accept objective evidence only, have begun to respect Yoga as a valuable discipline having potentiality to resolve many problems of the present day and future human generations. There are many people, among them even wellknown Yoga proponents, who are against such scientific researches by modern methods being carried out in the Yogic field. They opine that this will not add anything new to Yoga nor benefit it in any way and fear that this may even lead to a distortion of ancient traditional and true principles of Yoga.

But such views and fears have no real ground. The research in Yoga with application of the techniques of modern science is not going to and cannot change any Yogic principle. It is going to elucidate these principles and the mechanisms underlying various Yogic practices in the language of modern science, which will remove all mystery and mystification about yogic things and explain them in such a manner that they will be clearly understood by present day man, who easily understands this language and is not ready to accept things on blind faith, as of old, but respects things acceptable to science. In fact this will make people turn towards Yoga with open eyes and with a conviction in its valuableness—an effect which we are seeing already to-day.

No doubt, this will also explode myths and mysteriousness of special yogic powers and will leave less opportunities for imposters and pretenders of miraculous powers, claimed through Yoga. But this will be a healthy and desirable thing.

There is another aspect of still greater significance of the need and value of this scientific yogic research. Ancient Books on Yoga have frequently made explicit statements that Yoga is for all irrespective of any limitations of religion, age, caste *etc.* In these statements it is implicit that Yoga signifies a means for spiritual advancement and objectives. Today every one agrees that even though the spiritual aspect of Yoga is really most important and highest, the benefits which can be derived from Yoga on other levels *viz.*, physical and mental, are also highly valuable and useful to man universally even in his day to day empirical life. It is stressed by all the Yoga teachers that Yoga will help to enrich the life of every man whatsoever may be his profession, or age or sex or religion *etc.*, and so it need be taught to and should be practised by each and every person. It is being advocated that Yoga should be taught to every child, even compulsorily, in the school itself, it should be imparted to even labourers, factory

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

workers and so on. So far so that it has been proposed that army and police personnel be trained in yogic practices.

Such proposals are not whimsical nor senseless. They are really worth taking into consideration seriously and if worked upon in right manner they will make the life of people more fruitfully creative and happy and will provide answers to many problems which humanity is facing today.

But upto very recent times the notion about the value and utility of yogic techinques for objectives even of our day to day worldly life was not there. So in the old literature and tradition very little indication is there of how to derive such benefits from Yoga. The research with controlled investigations about the applicability of yogic techniques for specific condition will provide answers to such questions.

Thus prior to the current century Yoga methods were rarely used for treatment of diseases. But the researches related to the application of yoga practices for therapeutical purposes have given very valuable information. During the last decade or two a number of medical practitioners, trained in Western or standard official medical systems, have recognised the value of yoga techniques for alleviations of certain very refractory disease conditions and disorders and are taking help of the yogic practices—mainly *āsanas*—for treating these.

A great demand for introducing Yoga in schools and colleges is there. To some extent this has been even brought into actuality. Thus the State of Maharashtra a few years back initiated a plan of training teachers of middle schools and high schools in yogic practices, with a view to introduce Yoga in schools in Maharashtra, although the scheme was interrupted midway. The Union Minister of Education has several times announced that directives are being given to introduce Yoga as a subject in schools all over the country and courses and syllabi for both students and school-yoga teachers have been published by the government of India. Gharote and Ganguli from Kaivalyadhāma Research Laboratories have observed specific deficiencies of muscular strength and flexibilities in school children of various age groups, which they, on the basis of their other data, advise to be made good through training in yoga practice (Indian Journal of Medical Research, 63, 1242, 1976).

Proposals have been put forth to introduce yogic training (treatment ?) in reformatory schools for rehabilitation of delinquent childern and into prisons to reform the offensive tendencies of inmates. Shri K. B. Sahasrabuddhe and his colleagues have even started some such work in Thana prison and have claimed good results out of it.

Few years ago there was a proposal from the then Director General of Health Services of the Armed Forces of India to make yogic exercises a part of general training in all the three wings of the services. Some research projects were also started in the Armed Forces Medical College, Pune. But the proposal went no further.

Similar proposal for introduction of yogic exercises in the training programme of the police force have been put forward and some exploratory work has been started in the state of Maharashtra. Gharote and Ganguli have reported (Indian Police Journal, July—September 1976 p. 34) marked improvement in flexibility and physical fitness in a group of police trainees practising Yoga (*Āsanas, Prāṇāyāma etc.*) along with their routine training as compared to the group having the usual training.

Some time back there was a news in the daily papers that Yoga in form of Transcendental Meditation was already made a compulsory part of Air Force personnel training in U. S. A.

Some two decades ago one Director of Armed Forces Research Organisation of U. S. A. had approached Kaivalyadhāma authorities for getting some research in Yogic states being carried out, which was expected to resolve some very hard to overcome difficulties encountered by them in connection with the training and preparation of space flight pilots.

All such proposals and movements are welcome, both from the points of view of Yoga

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

as well as from that of the happiness and real advancement of the humanity. But in such special situations, where definite objectives and specifically limited effects are desired, every thing recommended and propounded in traditional yoga, which has man's spiritual development as the sole goal, may not be advisable to be included in the yogic training having such limited and specific aims. Research projects specially planned and designed to give answers to such specific problems will only show the way and then, based on these findings the programmes of yoga training for special groups and situations could be arranged. This utility of the yogic scientific research is of prime importance in the present context.

If such caution is not observed and yogic things are introduced arbitrarily and haphazardly, situation may arise where yogic practices may be branded, no doubt erroneously and baselessly, as non-beneficial or even deleterious. This is what probably happened in Russia, when reports were published in news-papers with such captions as "Yoga branded as Dangerous in Russia."

Certain yogic practices were taught and included in the training of Olympic Atheletes and it was found that in them some untoward effects were produced. But there are so many doubts involved as to whether this conclusion was arrived at in a correct manner—(1) Whether the yogic practices were judiciously selected ? This would have been possible if the yoga experts were well-versed in yogic principles and also the physical training principles and could understand the precise requirements of the situation and could adjudge what to include and what not to, in order to produce the desired change. (2) Whether yoga practices were taught and performed correctly ? (3) Whether yogic and non-yogic training was mixed and this with proper care ? If such precautions were not observed the findings may give distorted view of the facts.

The same may be true in case of the adverse reports from the same source about the effects of *Śīrṣāsana* published cursorily in the news papers a few years earlier.

There was indication that the opposition to Yoga had some implications about idealogical and philosophical background of Yoga not being acceptable to the Soviet socialistic attitude. But here again only the researches carried out on strictly controlled and scientific lines will remove the misunderstandings and consequent opposition to yoga and we think that this is what has already been happening. We know that in spite of these news-paper reports, researches are being conducted in Russian laboratories on different applied aspects of Yoga. The number of Russian tourists visiting Yoga centres is on the increase. Even official delegations are being in India to examine the utility of Yoga and Yogis and Indian scientists working on yogic problems are being invited on official level to that country.

Having thus seen the need and significance of scientific objective research relating to Yoga, we may very briefly review the outcome of such researches carried out so far.

The earliest researches of Swami Kuvalayānanda on *Nauli, Uḍḍīyāna, Dhautī* and *Bastī*, which are like starting post on the path Yogic scientific research have been already mentioned.

Extension of these studies revealed that in such yogic practices the chest diaphragm and the ribs could be moved inversely to each other independently, which was revelation for Anatomy and Physiology.

This work was followed by blood pressure studies during *Śīrṣāsana, Sarvāṅgāsana* and *Matsyāsana*. A gradual small rise in diastolic pressure but no significant change in systolic pressure was found. Generally the blood pressure during these *āsanas* rose moderately in the beginning but fell down towards and sometimes became normal after a few minutes.

Later investigations in Kaivalyadhāma Laboratories confirmed these findings and it was observed that subjects having several months' or years' practice of the inverted postures showed practically very little or no increase in either diastolic or systolic blood pressure during their performance.

Shankar Rao made studies about *Śīrṣāsana* and found that there was about 12—17

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

mm. Hg. increase in systolic, diastolic and mean blood pressures as compared to supine position.

These findings show that *Śīrṣāsna* is not very dangerous for a normally healthy man and could be practised also by persons with mild or moderate high blood pressure with caution and in degrees.

Shankar Rao also found that during *Śīrṣāsana* the energy expenditure is increased by 48% over the general metabolism, but investigations carried in Kaivalyadhāma Laboratories showed this to be about 25-30%. He has also measured the changes in various respiratory volumes in supine, upright and *Śīrṣāsana* positions and found that vital capacity is lowest in *Śīrṣāsana* along with highest pooling of blood in the thorax amongst the three positions.

The pressure changes occuring in thorax during *Prāṇāyāma* were compared by Kuvalayānanda with deep and normal breathing which showed how *Prāṇāyāma* could help better circulation. Respiratory exchange studies in *Prāṇāyāma* indicated that from gaseous exchange aspect long duration of a round of *Prāṇāyāma* and long duration of *Kumbhaka* were not more valuable than the shorter ones. Also that in this respect *Prāṇāyāma* did not have any advantage even compared to normal restful breathing. This finding removed the popular misconception of oxygen enrichment of blood by *Prāṇāyāma*, which would be unphysiological and brand *Prāṇāyāma* as energy expending and fatiguing. On the other hand, these findings are in consonance with the tranquillisation effect claimed about *Prāṇāyāma*.

Behenan, Miller and also Shankar Rao, on the other hand, have reported increased oxygen utilisation during *Prāṇāyāmic* breathing, which as said would not go well with peaceful feeling expected from *Prāṇāyāma* practice. The different findings may be due to different methods used, the observations being on small number of subjects and also probably due to the *Prāṇāyāma* technique and phase lengths being different.

Kuvalayānanda and Karambelkar examined the possible effect of a fairly long (45') duration of *Prāṇāyāma*-round performance on the acid base equilibrium of the body. Through the urinary acid excretion studies they came to the conclusions that no disturbance is produced in this equilibrium with such a continuous long practice of *Prāṇāyāma*.

Their studies on gas exchange and circulating blood cell number alteration with *Kapālbhati* breathing showed that even a minute's performance of *Kapālbhati* increases the number of red and white cells circulating in the blood by about 15% over that in rest. Also that befitting to its inclusion in the six purificatory processes of *Haṭhayoga* it increases oxygen absorption by 10 to 15% and the carbon dioxide elimination by 10 to 12%. This also is a proof that in their mysteriously sagacious way the ancient yogis were quite correct in distinguishing this breathing technique from *Prāṇāyāma* and classifying it into *Śuddhi kriyās* ; without the help of modern instrumentation methods, whereas many modern yoga teachers confuse with and often erroneously speak of *Kapālbhati* as *Prāṇāyāma*.

Studies of pressure changes produced in the internal body cavities in *Āsanas* and other yogic *kriyās e.g., Agnisāra, Vyāghra-Karaṇī* and *Gajakaraṇī* demonstrated highly positive pressure production. Thus the voluntarily producable positive and negative pressures of yoga practices would have beneficial effects on circulation, glandular secretions, nerve centre and nerve plexus stimulation, decongestion and consequent better functioning of various organs and system.

It has been demonstrated by the author and colleagues that uropepsin is decreased by the practice of *yogāsanas*, a result of the relaxation maintained and tranquillisation produced by these ; while with practice of *Daṇḍa* and *Vastra Dhautis* this excretion is increased. *Vastra Dhauti* showed the effect very markedly. This thus explains that *yogāsanas* can help reduce stresses, probably both mental and physical. Also it shows that *Dhautis'* work as a physiologically regulated corticoid therapy by stimulating adrenocorticoid secretion with a feed back effected through gastric stimulation, clarifying their benefactory and curative effect in asthma, eczema and other allergic conditions.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

It was also demonstrated that *Dhautis* regulate the nastric acid secretion in judicious manner and thus they can be useful in setting right both hypo- and hyper-acidity conditions.

Swallowing of air in the stomach is a part of *Plāvini Prāṇāyāma*. It was found that gastric acid secretion is largely inhibited in subjects who swallowed air in this way or also in whose stomach it was pumped in through a tube and a pumping syringe. This measure thus could help hyper-acidity patients.

Yogic training in *Āsanas* (22), *Prāṇāyāmas* (2) and *Kriyās* (2) caused a reduction in the fibrinolytic activity of blood indicating that these yoga practices, specially *Āsanas*, are not to be equated to the physical exercises which increase the fibrinolytic activity.

Apparently similar practices, both in designations and manipulations, *e. g., Uḍḍīyāna, Uḍḍīyāna Bandha* in *Prāṇāyāma, Uḍḍīyāna Mudrā, Tadagi* and *Tadagi Mudrā* could be differentiated precisely with respect to the differences in the chest and abdominal manipulations and their possible effects, by graphically recording in details the abdominal and chest movements in these practices. This is a good instance of the modern instrumental research helping clarification of yoga techniques.

A subject trying to cut the under-attachments of the tongue to set it free, so that it could go up far into the upper nasopharyngeal cavity below the skull, which is traditionally done in *Khecharī Mudrā*, it was seen that when he had progressed fairly, so that his tongue could go well in the upper naso-pharynx, his oxygen consumption in basal condition (B.M.R.) was 25% below the normal, which was quite normal prior to his taking to this practice. But further examinations at intervals showed no further reduction and the BMR become stabilised at this new level.

One subject able to enter into a deep absorption state through a *Laya Yoga* practice, which could be designated as "*Laya Samādhi*", showed 20% less oxygen requirement during sitting in meditation than his normal oxygen requirement in basal state in lying down rest. This no doubt was made up slowly in post meditative state. E.E.G. records of this subject in such meditational state showed spread of "alpha" wave activity over practically all brain areas in the early stage, a phenomenon very often observed in meditation by many other workers and interpreted as an indication of alert relaxedness. But later when the subject entered into still deeper state, as adjudged from no physical response and no EEG change with external stimuli (even very painful), many channels showed at interval of a few seconds a marked flattening of the graph—often completely a straight line, indicative of complete silence of parts of brain—a finding very perplexing. Unfortunately these findings could not be rechecked and confirmed due to certain difficulties.

The concept of *Iḍā-Piṅgalā* respiratory channels and the claims of *Svarayoga* were examined. It was seen that even persons in good health do not breathe equally through both nostrils all the time. In 85.5% persons the breathing through one nostril was more than the other, without any apparent cause. Use of a small crutch or of hot or cold pads or pressure under the arm-pit opened the nostril on the opposite side. About 10% subjects responded in an opposite manner, and few did not show any response even after $1\frac{1}{2}$ hrs. stimulus application. By a long practice a few subjects could induce the change of nostril breathing flow merely by willing without using the crutch etc. It was also demonstrated that characteristic electrical changes were produced in the inner regions of the nostril which were partly influenced by the respiratory activity of the nostril and partly by the mental activity and psychological state of the subject. This new study-branch has been designated as 'Electronasography'—ENG, for short.

Electromyographic investigation of activity of various muscles during different *Āsanas* proved that with proper training even difficult *Haṭhayogic Āsanas* could be done with great relaxation (*Prayatnaśaithilya*) as recommended in Pātanjala *Yoga Sūtra* II, 47. This only could give

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the psychological and spiritual benefits fully from the *Āsanas*, which otherwise may become mere physical exercises. Subjects' capacity to relax is also generally improved in an overall way.

Bhole studied the effect of turning the head to one side on the relative transparency of the two sides of the lungs with X-ray fluoroscopy in the Radiology section of Kaivalyadhāma. It was seen that the ventilation is more on the side to which the head is turned. This explains one of the benefits accruing from practices like *Brahmamudrā*, *Vakrāsana etc.*, and could be used therapeutically in certain lung conditions.

Gharote and associates in Physical Education Research Wing of Kaivalyadhāma have reported the following results observed in groups of subjects trained in *Āsanas*, some *Prāṇāyāmas*, a few *Kriyās*, *Mudrās* and *Bandhas* :—

(1) Significant improvement in the Cardiovascular efficiency.

(2) Improvement in various flexibility measures *viz.*, forward flexion, backward extension, extent flexibility and dynamic flexibility, while no change was found in shoulder and ankle flexibilities.

(3) Physical Fitness Index Scores as measured by Fleishman Battery of Basic Fitness tests showed a significant increase in both males and females.

(4) Improvement of the tone of the abdominal muscles, which is very poor in most people and for which other systems of physical training have no exercising techniques as good as yoga.

(5) Vital capacity and Breath-holding time were significantly increased.

V. Pratap, H. C. Kochar and associates from the Psychological Section of the Kaivalyadhāma have noted the following effects of yogic training and practice of the similar type :—

(i) Handsteadiness scores showed a marked improvement, which is indicative of physical as well as mental steadiness claimed by Yoga through practice of *Āsanas* and *Prāṇāyāmas*.

(ii) Autonomic balance measured by A score method of Wenger showed generally a shift towards parasympathetic side. But the subjects having either sympathetic or parasympathetic extremes came into normal range of scores and those within the normal range also showed a betterment as their scores usually shifted towards the standard mean as a result of Yoga practice even of a few weeks.

(iii) Free Association test examinations showed a reduction in Free Associations of thoughts, indicative of increased relief from emotional conflicts as a result of Yoga practice.

(iv) Leg persistence, which serves to measure emotional stability, was found to have increased even after one month yoga practice.

(v) Railwalking tests indicating body control and balancing ability evidencing neuromuscular co-ordination level also showed improvement after yogic training.

(vi) Scheier and Cattell Neuroticism Questionnaire tests proved that a month's yoga practice reduces neurotic tendencies markedly as a result of resolution of emotional conflicts.

(vii) Studies employing Questionnaire tests *viz.*, N.S.Q., A.S.Q., H.D.H.Q. were made on groups practising yoga for varying periods. Significant reduction in Total Neuroticism, Anxiety and Hostility was seen with demonstration of better emotional equilibrium.

(viii) Memory drum test was given (1) to a group of adult. males and females and (2) to a group of schoolboys before and after a programme of three weeks of yoga practices. Both groups showed significant improvement in immediate memory after even such short yoga course.

(ix) Tests for production of mental fatigue were given to see the effect of *Ujjayi Prāṇāyāma* practice on this. The *Prāṇāyāma* delayed significantly the onset of mental fatigue.

The above running-survey of work done in Kaivalyadhāma Laboratories shows that the objective is to elucidate the psycho-physiological principles behind the Yoga practices, rather

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

than to find their therapeutical application or to study and understand the strange and abnormal feats performed by some yoga adherents.

Another such attempt recently started is of Udupa, Singh and their coworkers from the Institute of Medical Sciences, B.H.U., Varanasi. In their studies on Yoga *sādhakas* practising *Āsanas, Prāṇāyāma* and a few *Mudrās, Bandhas* etc. for 6 months or so they have noted similar beneficial effects. Their findings are :-

(1) Reduction of (over ?) body weight.

(2) Improvement in pattern of respiratory functions *viz.*, reduction of respiratory rate, increased expansion of chest, increase in vital capacity and in breath-holding time.

(3) Increased resistance to physical stress evidenced by stabilisation of respiratory functions.

(4) Increase in adreno-cortical activity, which will prepare the subjects to withstand stress in a better manner.

(5) Reduction of serum cholesterol, helpful in reducing tendencies for arterio— and atherosclerosis.

(6) Reduced fasting blood sugar suggestive of increased insulin activity leading to sugar and protein sparing.

(7) Restoration of serum protein levels to optimum.

(8) Electroencephalographic studies revealed a lowering of neurohumoral activity. On the whole the alpha index and mean voltage were increased. This appears to indicate diminution of the feeling of anxiety and production of relaxed wakeful state.

(9) Psychological assessement made by them led to similar conclusions as above.

(a) M.P.I. test showed decreased neuroticism index after yogic training.

(b) Mental Fatiguability index was also lowered.

(c) C.M.I. showed lowering of subjective complaints.

(d) Performance Quotient was increased.

(e) Memory Quotient was improved.

Another group working for similar fundamental understanding and evaluation of yogic practices with regard to their psycho-physiological effects on human organism is of Drs. O. P. Bhatnagar, K. S. Gopal and colleagues from JIPMER. Pondicherry.

They have studied the anatomical changes and effects of various *Haṭhayogic Bandhas* on the inner organs specially in the *Prāṇāyāma* viz. prevention of undue pressure on heart and big thoracic vessels, acceleration of veinous drainage from the head, strengthening of respiratory muscles as well as abdominal and pelvic accessory muscles, avoidance of ill-effects of *Prāṇāyāmic* practice on persons having hernia, piles etc.

The polygraphic studies carried out by them including ECG and EMG recordings gave similar results as noted with such studies by other workers. They have found that in well trained Yoga practitioners muscles electrical activity is very low, so also heart rate and respiratory rate are low, while peripheral blood flow respiratory amplitude are more in well trained subjects practising *Āsanas*.

Improvement in muscle tone and efficient cardiorespiratory adjustments after the practice of *yogāsanas* have been observed by these workers.

Reduction and stabilisation of blood pressure, decrease in pulse rate and betterment in respiratory function as a result of practice of *yogāsanas* and *Prāṇyāmas* have been reported by them.

In biochemical studies also their results are in agreement to those reported above.

Transcendental Meditation (TM) is a technique which is developed and propagated by Maharshi Mahesh Yogi and organisations sponsored by him. This seems to be an adaptation of *Mantra* and *Laya yoga* techniques, modified to suit modern conditions and specially the Westerners. It has, therefore, become very popular specially in U. S. A. and other Western

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

countries and a lot of research stimulated and supported by Mahesh Yogi's Organisations and directed towards the evaluation of TM effects has been carried out in various centres during recent years. TM is claimed to produce following results :—

(1) Decreases in metabolic rate, respiratory rate, heart rate and cardiac output, indicative of restful relaxed condition.

(2) Blood lactate is markedly reduced, helping to alleviate anxiety neurosis and attacks and high blood pressure.

(3) Increase of Galvanic skin resistance, an additional indication of deep relaxation and emotional stabilisation. Fewer G.S. responses indicate increased stability of nervous system and rapid habituation of G.S.R. denotes a better withstanding to stress.

(4) E.E.G. studies show a state of restful alertness with a high brain wave synchrony and it is claimed that the patterns are indicative of a "Fourth State of Consciousness", different from ordinary wakefulness, drowsiness and deep sleep.

(5) Reaction time is faster and perceptual ability is increased.

(6) Improvement is seen in (i) perceptual-motor skills, (ii) intelligence growth rate, (iii) learning ability, (iv) academic performance, (v) job performance, (vi) productivity, (vii) job satisfaction, (viii) relationships with superiors, (ix) co-operation and relationship with co-workers.

(7) A number of psychological tests *viz.*, Freiberger Personality Inventory, Personal Orientation Inventory, Rotter's Locus of Control Scale, Bendig's Anxiety Scale, Anxiety Scale of the Institute for Personality and Ability Testing, Netherlands Personality Inventory, Northridge Development Scale. Minnesota Multiple Personality Inventory, Spielberger Anxiety Scale etc. have shown improved psychology and mental health with reduction of anxiety, better emotional stabilisation with good personality development and increased self-actualisation.

(8) With respect to application to betterment in undesirable social conditions and in disease conditions following benefits have been claimed—(a) Improvement in (i) high blood pressure and (ii) asthmatic condition. (b) Relief from insomnia and faster recovery from sleep deprivation. (c) Increased resistance to disease. (d) Reduction in use of alcohol, smoking and drugs. (e) Better rehabilitation of prisoners and (f) Reduction of criminal tendencies.

This is a vast array of benefits and this is what has attracted world attention to TM and made it so popular. It also shows convincingly the value and importance of scientific research applied to yogic practices, which make them easily acceptable universally. TM is in fact a fraction of yoga and even it seems to produce such astounding benefits. Evidently if the innumerable practices and techniques of various yoga schools could be studied as thoroughly as TM the information will be all to the good for the real progress and happiness of humanity.

Ananda, Baldevsingh and Chhina and Wenger and Bagchi and Therese Brosse have carried out studies with EEG cum polygraph on a number of yoga practitioners. Their findings in general are similar to other EEG findings mentioned above.

These workers also have tried to examine the claims of heart and pulse stoppage of various yogis using ECG recording. Brosse had arrived at the conclusion that Yogis examined by her could slacken their heart rate. But this has been disputed by Anand *et al* and Wenger and Bagchi. They also did not find in some other yogis making such claims any evidence of heart stoppage or even significant slackening.

In Kaivalyadhāma laboratories, in one subject, it was observed both by ECG and X-ray fluoroscopic examination that the heart beats of the subject disappeared completely for 3 to 6 secs. (about 5-8 beats), when he performed *Jālandhara* and *Uḍḍīyāna bandhas* simultaneously. Several days practice of these *bandhas* by other subjects produced very minor slackening, if at all, in the heart rate, suggesting that the effect in the case of the former subject may be a result of many years' practice.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Govindsvamy and associates (from AIIMH, Bangalore), Anand *et al.* (from AIIMS, Delhi) and Karambelkar *et al.* (Kaivalyadhāma Lonavla) have studied the burial feat of some yogis, along with those of other control subjects. Govindsvamy and associates used a usual dug-out pit, which is quite pervious to air exchange due to porosity of soil and so they were not definite about their conclusions. Ananda *et al.*, on the basis that the oxygen consumption was significantly reduced below the basal level in the case of the Yogi, while it was not so in the two controls' cases, concluded that Yogis could control and reduce voluntarily then oxygen requirement. Karambelkar *et at.*, on the other hand found reduction in oxygen consumption in the case of every subject—Yogi as well as non-yogi—during his stay in an airtight pit. They conclude that reduced oxygen requirement is not a result of the voluntary control of the Yogis, but a natural consequence of the sedative and tranquillisation effect of the accumulated CO_2 in the pit. On the contrary the lowering of oxygen consumption was highest in non-yogi controls and was relatively smaller in the yoga practicants, showing an inverse relationship with duration in years of yoga practice. This means that lowering of oxygen requirement is a response to CO_2 stress, which yogis stand better as indicated by their maintenance of the metabolic rate.

On therapeutical application of Yogic practices, it is to be noted that *Āsanas, Prāṇāyāmas, Mudrās, Bandhas, Kriyās* and the various purificatory processes have been mainly utilised in this sphere and have been acclaimed to have given very remarkable results in treatment and cure of various psychosomatic functional disorders. In this respect the *Mudrās, Bandhas* and the purificatory practices are very valuable and rather unique contribution of Yoga in the field of treatment of diseases.

However the application and evaluation of more psychological and spiritual techniques of Yoga like meditation, *Japa*, etc., which also can do much in this field, specially for betterment in psychological derangements, have not been seriously undertaken and need much greater attention, seeing to the findings of researches on TM.

Reports of every good improvement, as good as a complete cure, of a large percentage and number of asthma patients coming from Bhole *et al.* from Kaivalyadhāma, Govindrajan and Gopal Reddy from Cardiac and Thoracid Clinic (Madras), form a land-mark in the sphere.

Very good benefits in treatment of different cardiac conditions and high blood pressure have been reported by Datey and his associates, Tulpule and his coworkers and others. Datey's evaluation of *Śavāsana* as a specially helpful technique in these cases and his demonstration of good control of the condition and rehabilitation of the patients, with lessening of the use of drugs, through judicious practices of Yoga *Āsanas* etc. have aroused great interest in the medical world all over.

Good improvement in diabetics has been claimed by Tulpule and others and has been observed in Kaivalyadhama hospital and other Yoga centres. Reports of Yogic treatment camps of diabetes from Vishwayatan Yogashrama of Delhi and Jaipur Yoga Centre note very remarkable in improvement, even cure, of this condition. But these reports have not been accepted in Medical circles and need a checking and confirmation from other workers.

Good results are claimed for digestive and metabolic disorders by workers in this field, but satisfactory data substantially supporting such claims are not available.

This very cursory survey gives just a brief glimpse of the research in Yoga completed so far employing the methods and gadgets of the modern sciences. A number of individuals and groups, besides those mentioned above, are working in India and elsewhere to find out more information on such lines about Yoga. Interest in the West in Yoga is growing rapidly and as a result larger number of scientists are attracted towards and are trying to understand yogic science in their own way. Even Communistic countries of East Europe have a large number of followers of Yoga and among these are many scientists. These latter are not just following yoga and many of them are carrying out researches in the field. Thus there are very valuable researches going on in Hungary, Roumania, Czechoslovakia, Poland and even in Russia on

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Yogic techniques. Even new processes and gadgets are being developed, which will be very helpful in throwing light on the Yoga practices. Instance of these are the very recently invented 'Kirlian Photography' and 'Electronography', which study photographically the effect of special radiations on/of the human body and organs and seem to have very great potentiality to give more detailed information about the changes in the human organs than even the X-rays.

Though the above survey of research work may give an impression that a great lot of work has been done in the field. It has been already mentioned that probably a still greater amount of work and a larger number of workers could not even be named either for want of space or as enough information about them was not available to the author at this writing. The reader who may be interested may get further information from the works noted in the references at the end.

Yet the number and variety of Yoga practices and techniques of various Yoga schools is so large that we may say that only the surface of the problem is scratched. But we may be quite hopeful that with growing interest there will be much more research done with greater availabilities of funds, facilities and workers. And certainly the outcome will be a better and lucid understanding of Yoga, leading to greater attraction for its practice and this will lead, no doubt, to betterment and happiness of humanity.

References :

1. Bibliography of Scientific Papers on Yoga.—M. L. Gharote, in "Collected Papers on Yoga", Kaivalyadhāma, Lonavla 410 408 (INDIA) pp. 80-104 (1975).
2. "Outlines of the Scientific Researches done in Kaivalyadhama, Anonymous, "Collected Papers on Yoga", pp. 55-79.
3. Scientific Studies on Yoga—A Review, V. Pratap, Yoga Mīmāṁsā (Qtly.), Kaivalyadhama, Lonavla, Vol. XIII, pp. 1-18, (1971).
4. Glimpses of the Research Work Done So Far in Kaivalyadhama, Anonymous, Golden Jubilee Souvenir, Kaivalyadhama, Lonavla (1975).
5. "Alliance for Knowledge", Anonymous, Maharshi Mahesh Yogi, World Plan Administrative Centre, Seelisberg., Switzerland, (1974).
6. Role of Yogic Practices in Gastro-intestinal Disorders, R. H. Singh and K. N. Udupa, J. Res. Indian Med. Yoga Homeo. Vol. XI, pp. 60-65, (1976).

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Concept of Pathogenesis with special reference to Yoga and Ayurveda

□ Dr. S. N. BHAVASAR, M. A., Ph. D.

Tilak Ayurveda Mahavidyalaya, Rasta Peth, Poona-11

Therapeutics presupposes Pathogenesis ; Pathogenesis again presupposes Genesis. The term Pathogenesis, here signifies cause, course and manifestation of disease. The term Genesis would refer to the notions of Nature (macrocosm), Man (microcosm) an Transcendental.

At the very outset there are two main considerations in Pathogenesis in this context : one is the East and other is the West. In the East the medicine is the same from the earliest times to this day, it is Ayurveda. In the West, however, there is a difference, between the ancient and the modern. It is quite interesting to note that the ancient western system of medicine and that of Ayurvedic, there are some fundamental affinities and similarities, as regards approach and Orientation, in Pathogenesis and Therapeutics. Philosophically speaking they are subjectively oriented as against the modern medicine which has objective orientation. The West contends that the growth and advancement of modern medicine and of modern science in general, is mainly due to its bifurcation from the Church. The problem as a whole rests upon four wings so to say ; (i) subjectivity, objectivity, (ii) the east and the west (iii) Ancient and modern, and (iv) Location.

Ancient Western Medicine

Genesis, according to ancient West, presupposes God (transcendental). Nature according to the ancient west constitutes of four fundmental elements, Air, Fire, Water and Earth. God has created everything out of these four. This is macrocosm and microcosm. In man, the living organism, there are other four corresponding factors, termed as 'Humours' ; Blood, Bile (yellow and black), and Phlegm, corresponding four qualities of which again, are, dry, hot, cold and moist ; Blood (hot and moist), Yellow Bile (hot and dry), Black Bile (cold and dry). They constitute and determine the bodily state in health and ill-health i. e. Physiology and Pathology. A proper and evenly balanced mixture of humours is responsible for health of body and mind; an imperfect balance resulting in disease, the characterstic of which depended upon, which humour was deficient or predominated. Corresponding again to these quadruple of humours, also was the temperament (psychological make-up), sanguine (Blood) choleric (yellow bile), melancholic (black-bile), phlegmatic (phlegm).

Later on the seasonal and astral considerations were included into the then medicine. On metaphysical level, good and bad spirits, gods, were, with their good and bad effects on man, thought of causing disease and derangements etc.

This was in general the Pathogenesis and so also the Theraputics as its counteract consisting of both physical and metaphysical measures.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

After separation of medicine from Church, first the metaphysical factors were ruled out from its domain, and latter the humoural theory itself was discarded giving birth to what is called as to-day, the modern medicine.

Modern Medicine :

The progress of thought from ancient to modern era, also brought change in the basic issues like that of Nature, Man and Transcendental. The transcendental along with subjectivity have lost their power and significance in this transition and Nature and Man are dominated by Newton, Drwin etc., in natural sciences which gave them a new form and frame. Modern sciences thus put forward the atomic and non-theological or material theory or creation. It maintains that life is an outcome and has developed from matter, which again is made of tinniest particles termed as atoms, which in turn themselves are composed of other sub-particles like electron, proton etc. Atom has its potential energy ; having power and force, which has replaced Transcendental and can assume any form Radiation, Electrical, Magnetic, Thermal, Atmospheric, Gravitational etc. Life eventually gives rise to mind and the living organism therefore is termed as Psycho-Somatic one. Along with the concept of Transcendental, the existance of Atman (Soul) also vanished from science, even mind is said to be nothing but an outcome of or emergence from Physico-Chemical interaction in the living body.

Advancement in Chemistry, Biology, Genetics have revealed forth many new dimensions of living organism i. e., creation, like chemical gases, proteins, vitamins, genes, chromosomes, viruses, bacteria, trace-metals, harmones etc.

Psychology is basically a branch of Philosophy. But in modern era its scope is extended to other branches of humanistics, social and biological sciences, so much so that it has become an independent branch and pursuit. In the beginning the role of mind was not much significant especially in medicine. At the end of this century, however its role in health and ill-health has become quite important in as much as that a disease is regarded a Psycho-somatic entity. This definition of disease has tacitly accepted and allowed the subjective element once again in new form as the most predominant factor in medicine. It should be regarded as a step towards reconcilation of the ancient and modern trends of thoughts.

Even in the realm of Physics and Chemistry the entry of subjective element i. e., the role of observer of interpreter has given new orientation to the classical Physics and Chemistry.

The third big milestone in the history of modern culture is the meeting of the East and the West. A synthesis is on the way to emerge out on the horizon. In the East modern seers like Swami Dayananda, Swami Vivekananda, Sri Aurobindo have already paved the way for it. Maharshi Mahesh Yogi and other at present are also trying to head the way in this direction.

All these and such other points while dealing with the problem of Pathogenesis need special attention.

Pathology in Modern Medicine

Modern medicine perceives disease as a product of mainly two causes (i) Constitutional, and (ii) Environmental. The former consists of hereditary and non-hereditary. Hereditary diseases are due to genes that are inherited through successive generations, governed by genetic laws. It also is the cause of disease proneness of an individual. Non-hereditary factors include nutrition—mal and over, unwholesome mode of living ; also includes age and sex. Environmental factors are of two types external and dietary deficiency. The external agents consists of living and non-living agents, like animals, parasites, Fungi, bacteria, viruses and mechanical thermal, chemical and radiational factors respectively.

Upon these factors depends Pathogenesis in medicine. Pathogenesis in modern medicine in its widest sense considers these factors for or after the determination of disease. They are

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) microscopic *i.e.*, anatomical (ii) macroscopic *i.e.*, cellular or histological, (iii) molecular *i.e.*, subcellular (iv) bio-chemical (v) immunological, *i. e.*, infectious (vi) functional *i. e.*, patho-physiological (vii) clinical (viii) experimental *i. e.*, producing disease in living organism for comparative study.

Naturopathy is a modification of the old Western medicine keeping pace with modern medicine. Homoeopathy and Biochemistry differ a little in philosophical consideration and therefore in Theraputics, yet it accepts many concepts of modern medicine. Homeopathy has a great deal of subjective element for its application.

Ayurveda and Pathogenesis

Genesis according to Ayurveda consists of Transcendental (God), Nature, and Man, a triad. (*tryāṇi ekatra saṁyamāt*). Ayurveda in a broad sense is a philosophy, science and art together, without missing these three factors, their limit and scope, also without missing their links and relations. The Ayurveda, Theraputics and Pathogenesis therefore presupposes these factors.

Sāṁkhya forms the basement of philosophy and science of Ayurveda. To Sāṁkhya, creation takes place out of *Prakṛti* and *Puruṣa* the primival duet. *Prakṛti* consists of 24 fundamental principles that take active part in Genesis ; while *Puruṣa* of innumerable numbers in practice cooperates the *Prakṛti* each entity the creation constitutes these 24/25 principles covertly or overtly. Creation expresses in term of *Piṇḍa* (living organism in its widest sense) and *Brahmāṇḍa* and having corresponding identification of both *Bhedābheda* or *Sāmānya-Viśeṣa*. *Prakṛti* is said to have been constituted of three basic characteristics, *Sattva*, *Rajas* and *Tamas* in their equal harmonious proportions the disturbance in which is the beginning of creation. The law of causality *i.e.*. cause and effect phenomena is another base for Ayurvedic medicine.

Ayurveda accepts this philosophy and build up its structure—most simple as well as most complex. Practically Sāṁkhya system is said to be *Penta-Bhantika*. Ayurveda therefore conceives creation, so also man (or any other living organism) part of creation as also made up of *Pañca Mahābhūtas* through the agency of the sixth entity—Ātman the bodily manifested form of *Puruṣa*.

From a Theraputic and Pathogenetic and clinical point of view Ayurveda defines health as follows :

"Samadoṣāḥ samāgnis ca
Samadhātumalā Kriyāḥ
Prasannat yenindriya Mana
Swastha ity abhibhīyate."

He is called healthy who has his doṣas in equilibrium and 'Agni' (with all thirteen or twenty three varieties) and whose (bodily physiological and other) functions of *mala*—urinary, excretary, sweating and other system that expel impurities of all sorts, *dhātu* (seven with their sub-varieties) are also in equilibrium as well as whose mind, sense-organs and soul (along with this together cosmic health) are happy.

All the bodily constituents like doṣas (three with their five sub-varieties) the seven dhātus and upadhātus, malas (of all sorts) the senses, sense-organs even the mind are said to be penta-bhautic in origin. As has been stated above the creation has macrocosm and micro-cosm as two aspects of manifestation with mutual correspondences in all respects. Therefore Ayurveda as is the case with Indian culture has depicted cosmic man (Loka-puruṣa virāṭ) as well there is an inter-action commerce and communication between the two. This has been very well reflected in depicting health also of cosmic man as well. It is indeed with this view Vagabhata specifically and explicitely states :

Visargadanavikṣepaith somasuryanitas tathā
dhāryanti jagad deham kapha-pittanite yatha.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

As soma (moon), surya (sun) and anila (air) by way of releasing, withdrawing and scattering (the energy) uphold the macrocosm so also the kapha, pittam and vāta (correspondingly) uphold the body. Ayurvedic authorities while dealing with creation specifically speak of cosmic function of *Pañca Mahābhūtas*, three guṇas, three doṣas (sun, moon and air) their effects on microcosm etc. For all the expressions of energy the sun is regarded as the source.

Sūryo ātmā jagataḥ tasthusaḥ ca Concept and practice of *Svasthavṛtta* (mode of conduct for living beings for health) depends upon their cosmic considerations which manifest in term of seasons upon which depend the bio-sphere, litho-sphere, hydro-sphere, and atmosphere. Health or ill-health is thus a product of the interaction between the two.

To follow the regime of food and behaviours (āhāra-vihāra) in relation to these factors is to maintain health, to disobey it, is the beginning of ill-health. This is the *patha* (patha in Sanskrit) and the word *Pathya* (lit. that which makes one to follow the path properly) from this. Thus *pathya* and *apathya* is based in this basic health issue. If one walks properly on the lines laid down in the regime one maintains good health and needs no medicine. Since microcosm is a part of macrocosm there is an automatic efforts *i.e.*, instinctive steps by the microcosm *i.e.*, nature to maintain if not corrected ill-health of man. This is called natural power and natural healing, an effect ascribed to a certain extent also to what we call resistance or immunity. In fact the following statement indicate a concept of cosmic health in its typical oriental style—

Vināpi bheṣajair vyādhiḥ
Pathyadaḥ eva nivartate
Nā tu pathya-vihīnasya
Bheṣajānām satairapi
Or
Pathye sati gadartasyā
Kim auṣadha-nirūpaṇam
Pathye' sati gadartasyā
Kim auṣadha-nirūpaṇam

Prescribing and administering medicine is just to help to bring one to the path, from which one is deviated.

Yoga and Ayurveda in this respect have developed their systems keeping this basic issue in view. The only difference between the two is that Yoga has more a subjective basis and Ayurveda more an objective emphasis. And also therefore Yoga lays more stress on measures within than without measures.

Within this thereputic and practical limit, Ayurveda has defined health and ill-health aetiology and pathogenesis. According to Ayurveda, five *mahābhūtas* form basic constituting factors, of a living organism, while the three doṣas are the practical immediate factors out of which the body is built up through successive series of seven *dhātus*, till it reaches final form at the time of birth. The five *prāṇas* on the other hand constitute functional factors of the same. It is Ātman that performs and carries out this scheme through his assistants *i. e.*, *manas*, *buddhi*, *ahaṁkāra* and *citta*.

Cause of disease and Pathogenesis within a given framework of living organism is the three doṣas which move and function throughout the whole body, when in proper condition and proportion, promote health and otherwise, bring disorder, and manifest in the form of disease, and as and when in a course of time find a weak location in the seven-type of *dhātu*-system.

Whatever may the initial cause be, within or without, unless the doṣas are not disturbed cannot produce disease.

Ayurveda conceives five stages of Pathogenesis to complete the process from its beginning to end. They are (i) *nidāna*-cause (ii) *Pūrvarūpā* symptoms (iii) rūpa—actual manifestation of disease as a decided individual entity. (iv) *upasaya*—symptoms indicative of relief resulting

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

from the time of treatment or aggravation of symptoms of negative side, so as to arrive negatively at the definite cause of disease indicating change of theraputic measures. (v) *samprāpti*—final full fledged form of disease. These stages are given in theoretical way, while these in practice have to be arrived at reverse way—a flash back method in literary sense.

To arrive at this, there are some more clinical factors, Ayurveda has introduced in the scheme of Pathogenesis. They are (i) *Deśa* (body as well as country of birth of habitation) (ii) *Duṣya*—bodily factor that initially get affected *i.e., dhātu*, or organ etc. (iii) *balam*—strength of the patient (iv) *Kāla*—time or condition of the disease, state of disease. (v) *prakṛti*—constitution of the patient. (vi) *anal-agni*—in Ayurveda sense with all its aspects. (vii) *vayas*—age of the patient. (viii) *satvam*—mental strength of the patient—will-power. (ix) satmyam—immunity or resistance or prophylactic capacity of the patient (x) *āhāra*—diet in Ayurveda.

To extend the scope of Pathogenesis some more factors, clinically relevent have been accommodated in Ayurveda. One such in vikalpanā—digital or fractional or atomistic consideration in Ayurveda as against holistic considerations. They are grouped under three broad heads in there limited narrow senses, (a) *ādhyātmic* physical or constitutional (i) *ādibalā i.e.* cogenital (ii) *janmabalā* depending upon the factors like mothers food and behaviour while in pregnancy (iii) *Deśabalā*—depepending upon deficiency and defect in Āhār-Vihār. (b) *ādhidaivik* (iv) *sanighatbalā*—accidental diseases caused by blow, stroke etc. (v) *kālabalā*—seasonal, winter, autumn etc. (vi) *daivabalā*—caused by evil spirits or divine anger etc. (c) (vii) *Avabhava-balā* caused by natural phenomenon, like hunger, thirst, oldage death etc.

A little more reflection on Ayurveda would show that it has perceived more than these factors which would fall within the perview of Pathogenesis in its widest sense. These points rotate around the points given above. And the framework that is given is the medical system *i.e.*, Ayurveda for Pathogenesis as well as theaputics which we must arrive at and use with the foundation other than these factors. And it is here that Yoga and Ayurveda take resort to the issues that are fundamental and govern the phenomenon of life itself with all its dimensions, Philosophy, Religion, Ethics, Society, Psychology, Astrology, Astronomy etc.

In a definition of health given above, the phrase prasannat yenindriyamanaḥ, indicates and presupposes this. It is well known that *prasannatva* or *prasāda* is the most desired object of any pursuit ultimately. Gita rightly states :

Prasade sarvadukhānām hanir asyopajāyate
Prasanna-cataso hyasuh buddiḥ paryavatisthate.

In *prasāda* is the end of all sorrows of him. And Buddhi (Intelligence) of his, whose *citta* has arrived *prasannatva*, gets overall stability and equanimity.

Ātman is said to be jñānadhikaraṇa—an instrument of knowledge for he employs *antaḥkaraṇa-catuṣṭaya i. e. manas, buddhi, ahaṁkāra* and *citta*. The jñāna indicates any kind of knowledge leading upto self and cosmic realisation. Therefore within the range of jñāna come all the branches of knowledge, learning and all the sorts of understandings and pursuits. Body is said to be an abode of *Ātman* for his own enjoyment. Moreover *prasannatva* of Ātman necessarily presupposes *prasannatva* of *manas, buddhi ahaṁkāra* and *citta*, which depend upon *prasannatva* of senses, which again are the direct instruments for them to have knowledge. Efficiency and *prasannatva* of senses depend upon bodily conditions and mental framework or it is senses which in turn decide the fate of body system *i.e., doṣa-dhātu-mala-agni* systems. Role of *manas* and *buddhi* are very important. The office of mind, characterised by *sattva, rajas* and *tamas* is perception and acquisition of happpiness and unhappiness (*sukha-dukhādi-upalabdhi-sādhanam-manaḥ*); while that of *buddhi* is to arrive at equality, equanimity, evenness, harmony, balance, right and wrong, good and bad, eternal etc. The faculty of *Ātman* which maintains all functions with all their relations on all the levels is said to *prajñā* be which resides in every being and cosmic of *dhi-dhṛti smṛti*. It is with this background that we can better understand the other definitions and statements of Ayurveda. It says :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

vikāro-dhātu-vaiṣamyam, samyam, prakritir ucyate
sukhasaṁjñākam asogyam vikāro dukham eva ca

Vikāra i. e., disease is *dhātu-Vaiṣamya*—loss of equality, equilibrium, harmony of *dhātu-Vaisamya* while *prakṛti* i.e., health is their equilibrium. Health is termed as happiness while ill-health is nothing more than unhappiness. And Caraka, therefore, further states that *asatmyendriyartha-saṁyoga, prajñāparādha and pariṇāma* are the causes of unhappiness itself and this is the final aetiological factor of disease. He declares : these be known as the causes of unhappiness, a downfall of man as regards *dhi, dhṛti* and *smṛti* which constitute *prajñā* aided by *kāla* (time) and action (*karma*) in its Indian sense ; besides absence or loss of *satmya* (tolerance) immunity or resistance, on the part of the senses when in contact with their respective objects.

Thus summarily and philosophicaly too it is the offence of prjañā which is the ultimate cause of disease : (*prajñāparadham tam sisṭaḥ bruvate vyādhi-karaṇam*). Therefore generally Caraka enumerates the causes of prajñāparādha.

He states : irritating, provoking, the nature calls that are in motion curbing of those which are irritated, resorting to those adventures of feats, excessive indulgence in women, to take part in those experiences which cause excessive excitement, excess as regards works and time, unwholesome beginning of undertakings, loss of moral conduct and modesty, insulting the respectworthy, resorting to know unrighteous acts and objects willingly travelling in improper region at improper times, friendship with those whose deeds or undertakings are impure and complicated to abandon the wholesome regime behaviour, resorting to envy, pride, fear, anger, greed, captivations, infatuation, intoxication and action done through *rajas, tamas,* characterstics of mind tends to prajñāparādha. Thus prajñāparādha is an uneven, unwholesome, improper knowledge which is perceptible only to mind i. e., from within, (*buddhyaviṣama vijñānam viṣam ca pravartanam)*.

Pathogenesis thus, commences from *Ātman* downwards to actual manifestation of disease. Theraputics, therefore, has to have also these dimensions. And Ayurveda recommends and prescribes all such measures, besides strict medical treatment and ultimately declares 'Yoge mokṣe ca sarveṣām vedanānām nivartnam' i. e., in yoga and mokṣa there is final emancipation from all the sufferings.

Yoga and Pathogenesis

Yoga and Ayurveda is a twin product of Indian culture, the former is known more to the world than the later. These two yoga has been subjected to all the sorts of investigation on modern lines, by modern parametres. However, these are completely align to the aims and spirit and even the methods of yoga. Of course this had to take place and has thereby today rendered a good service to Yoga and is still getting profitted by it. The difficulty arises when one tries to see the scientific and philosophic side of it, in itself and in relation to the modern scientific thought. This brings us ultimatly to conform the problem of the West and the East, more seriously than can we imagine. The East and the West have their a totally different, if not diametrically opposite approaches and also therefore the methods. Yoga as such is an irrependentally perfect system, philosophically, scientifically as well as practically. As a therapy its natural affinity and relation is with Ayurvea. Knowing each other we understand each other deeply ; which would in turn throw more light on pathogenesis and theraputic today.

In Yoga, we find that mind, *prāṇa, naḍīs* and *kuṇḍalinī, cakras* etc., have been given more emphasis, and the pathogenesis, and theraputics depends upon the same. Among Patañjala yoga-sūtra, Śiva-Saṁhita, Gheraṇḍa saṁhita, Haṭhayoga Pradīpika and other works dealing with Yoga, the last two books, especially deal with diseases and their cause. However, Pathogenesis has not been given by any of these texts. It is only Yogavasiṣṭha that gives us an Indian Pathogenesis. Yoga Vasiṣṭha states that the body is made up of Pañca-Mahābhūtas;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the *Kuṇḍalinī* characterised by *Spanda, Sparśa* and *samvit* (Vibration, Touch and Consciousness) vibrates through Pañcaprāṇas, appeals or manifests in phases (*Kāla*), becomes *cit* because of being conscient, becomes Jīva because of being alive, and becomes *manas* because of being minding, becomes *saṁkalpa* because of willing, becomes *buddhi* because of understanding, becomes *ahaṁkāra* because of self-asserting. This is Jīva with all to paraphernelia (*Jīvarāśi*). It is thus a unit of eight members or an eight-limbed city (*Puryāṣṭka*). Yoga-Vasiṣṭha, maintains further that it is *Kuṇḍalinī*, which generally assumes the form of *apāna* and has naturally a tendency to go downwards, assumes the form of *udāna* and has naturally a tendency to go upwards, if not stopped accordingly the living being succumbs death. And therefore, both these extremes of going upwards and downwards, have to be abandoned and one has to remain in the mid-way being firmly established in one's own self (*sarvathā ātmani tiṣṭhet*). And that is termed as being *Svastha*. Yogavasiṣṭha thereupon insists that this state has to be maintained by all means, otherwise one looses *svāsthya*—health and consequently disease takes place. As is typical of yogic spirit Yogavasiṣṭha maintains that disease could be of two types :— (1) ordinary (*sāmānya*) or (2) major (*pradhāna*), which are produced by respective *naḍī*-disorders, i.e., *sāmānya* and *pradhāna naḍīs* in yogic sense. According to Yoga-Vasiṣṭha *naḍīs*, really are responsible for causing any sort of disorders. They carry and also supply *anna-rasadi* (food-rasa etc), evenly throughout the body. Amongst them hundred are the major or main *naḍīs*, while their sub-branches are ordinary or minor or secondary *naḍīs*. As and when and where any or these either because of excess or overload or ever-increase of their activities or commerce or commotion is disturbed (*naḍī vaidhurya*) Vaidhurya means *vyāpāra*—commerce. It further states that this situation may arise even because of reverse or improper activities or *vyāyus* (*vaidhurya*, or *vaiṣamya*), leading to uneven absorption of anna-rasa etc., and when these take place, small or big diseases respectively. This general pathogenesis is in relation to *Kuṇḍalinī, naḍīs* ahd *prāṇas*.

Yoga Vasiṣṭha, thereafter, turns to the problem of *ādhi* and *vyādhi*. In this context *ādhi* means mental disorders, while *vyādhi* is somatic disorders. It says that *ādhi* and *vyādhi* cause suffering to the body, and the freedom from them is *sukha* and their complete destruction is emancipation. The root of them is folly and their total destruction is possible only through *tattvajñāna*, i.e., perfect knowledge of the essence of any entity.

Yoga-Vasiṣṭha then contends that *vyādhi* takes place, essentially, because of man's being overpowered by *atattvajñāna* (absence of tattvajñāna), because of which, there has also no control over the senses, being attached to Desire and Folly, having abandoned the lightness of body which is the cause of health, because of intake of improper, unwholesome food, because of travelling in unwholesome country or region like *śmaśāna* etc., because of engaging in activities at improper and unwholesome times (like eating late at night, indulging in sex at *pradoṣadi* occasions) because of responding to unrighteous undertakings, because of being in the company of the wicked and bad people, because of allowing improper and unwholesome thoughts into the mind and heart, because of *naḍīs* being imanciated or overloaded (*prapūrṇatva*), because of non-entry or excess of anna-rasadi, in them or because of the spaces getting blocked (*srotaṁsi* and *randhra-samitati*), the prāṇas loose their proper course, because of the doṣas getting vitiated or provoked, ultimately weaken the body (*vikṛtikṛte*). Once the body is weakened, the disease manifests in it, which depends upon the providence, good or bad, here or there (*ihaparatra*). Furthermore, disease is said to be either *sara* (Janma-maya *i. e.*, cogenital) or *sāmānya* (vyāvaharika-ordinary) of which the latter can be cured when the person gets his mundane desire of obtaining food, drinks, wife, children etc., fulfilled. *Vyādhi* could again be caused by *ādhi* or non-*ādhi*, both of which could be treated by drug (*dravya*), *mantra, subhakarma* (auspicious deeds) medical measures activities like bath etc.

Lastly Yoga-vasiṣṭha describe as to how *ādhi*, gives rise to *vyādhi* and as to how this process of pathogenesis takes place. It states that *ādhi*—mental disorder, leads to *cittavaidhurya*,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

i. e., a state or a condition of *citta* which has lost its proper function, which as a consequent agitates and excites the body as a whole : which further agitates prāṇas. Thereafter *Prāṇas* in their turn disturb *naḍīs*. They further loose their original status and stability (*naḍī-viṣamsthiti*), thereby they loose their harmony and equilibrium, as a result they become either empty or overloaded, and speak upon food. It becomes vitiated by way of *Kujīrṇatva* (mal-disgestion), *ajīrṇatva* (non-digestion) or *atijīrṇatva* (over-digestion) which further causes *doṣaduṣṭi*, Ama or *doṣa-prakopa*. (*i.e.*, vitiation of doṣas, provocation of them and poisionous or toxic undigested substance called *ama*), in a course of time (*pariṇāma*), giving rise to *vyādhi*.. To get rid of this pathogenesis there is reverse course that takes place as explained by Yoga-vasiṣṭha. It is in the form of *mantra*, auspicious or pure, holy deeds, worship of the respect-worthy. This causes *citta-suddhi* or *mano-nairmalya* (*i.e.*, purification of consciousness or of mind). This restores normal course of prāṇas, this causes *doṣa-suddhi* (purification of doṣas) and this consequently leads to *anna-suddhi*, i. e., purification of food eaten. And this ultimately eradicates disease.

Thus, we find that Yoga-vasiṣṭha also like Caraka, begins with *ātman* and its ignorance *i. e.*, desire and folly, comes down to mind, then to senses, thereafter to some external initiating factor, then to prāṇas, then to *naḍī*, then to *anna* food then to doṣas, ultimately to disease proper, which again is in relation to *prāktan i. e.*, Destiny, daiva, etc. or *aihika* (mundane act).

It is clear that both Yoga and Ayurveda have almost all the points common as regards the pathogenesis and theraputics.

In the light of Yoga and Ayurveda, today's modern Pathology seems to fall short in grasping the issue comprehensively. A more thorough, detailed, comparative investigation would be a time-honoured endeavour.

★★★

There is one religion. There are many common points in it. One of them is humanism. Our emphasis on humanism is very strong; and the ideal of humanism can be attained through Ahimsa. Ahimsa, compassion, a sense of brotherhood—these are very much involved. If we talk about a Creator there is a conflict. Without talking about this, the followers of all religions should make a common effort to agree on the ground of humanism and compassion ; and Ahimsa will be of great value to achive this goal.

—Dalai Lama

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



INTROVERT AND ĀGAMAS*

□ Dr. PRABHAKAR APTE, M. A., Ph. D.
1999 Sadashiv Peth, Madiwale Colony,
Tilak Road, Poona 30

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ —गीता १२. ५.

says the Gītā, referring obviously to a section of spiritual aspirants with an inclination towards the abstract path of attainment of salvation; however, keeping in view, the majority of common devotees who are often scared of the hard path, it prescribes for them *Bhaktiyoga* the easy yath of devotion and surrender unto the God.

Obviously, there exist two groups of individuals; one inclined towards the universe within and the other towards the universe without *i.e.*, to say the introverts and the extroverts. But this cannot be a watertight compartment and individuals appear to be rather composite personalities with both introvert and extrovert moods. The domination of either of these elements in the constitution of a devotee's mind makes him either introvert or an extrovert. (in the words of Gītā, अव्यक्तासक्तचेतस् or व्यक्तासक्तचेतस् —the one inclined towards the abstract and the one towards visible things). In the present paper these two classes are presumed to exist on the basis of broad division, without, in any way entering into the nicities of the comparative faculties of the two types mentioned above.

And in spiritual literature we find systems like Yoga devoted to the introvert's field and the *Karmakāṇḍa* literature in the Vedic religion and the works on temple rituals and festivals devoted to the extrovert's field. But these are works esteemed as 'revealed' and hold a position of dogmas to various cults with sizable following. Such texts or scriptures do provide for instructions with varied gradations so as to meet the needs of aspirant-devotees possessing varied eligibility and aptitude. The Bhagvadgītā seems to explain both the paths: *Vyakta* and *Avyakta*. And curiously enough, the relation of the Gītā and the *Pāñcarātra* is strikingly very close; so much so that, it is often put in terms of theoretical and practical portions of one and the same school, traditionally come down from the Lord through the agency of *Vivasvān, Manu, Ikṣvāku* etc.[1]

This presumed relation between the Gītā and the *Pāñcarātra*, in the present context leads us to a further hypothesis that Āgamas must have elaborated, to the minutest details, both the portions of theory and practice. And we find that on the Gītā saying '*Patram puṣpam, phalam, toyam,...*' the Āgamas have built up rituals incorporating these objects of offerings. Naturally if the Gītā speaks of *dravya-yajña, tapoyajña, svādhyāya yajña* it is for the Āgamas to help the devotees to perform them in a scientific way; and the aphoristic description of the introvert's venture, as described in the Gītā at भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् etc. ought to have received further treatment in the Āgamas, with the necessary borrowings from the authoritative works on the subject like the Pātañjalayoga-sūtras etc. In other words the followers of the Āgamas whether extroverts or introverts need not, as far as possible, be required to go beyond the Āgamic texts for guidance. But as already observed, there are no watertight compartments

* [N.B. Here the word Āgama does not denote the Jain Āgamas, but is used for old Sacred Hindu Texts like Upaniṣadas, Saṁhitās etc. —Editor]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of the extroverts and introverts, nay, it is for the *Sādhakas* at large that they must incorporate both the practices in their daily routine of life ; besides the entire superstructure of the ritualistic procedure is not meant for diverting the attention of the *Sādhaka* but to train his mind gradually in order to acquaint him with the 'universe within', where alone he is to find his destination, the salvation. The Āgamas do contain spiritual curriculum, so skilfully prepared that it has appealed numerous devotees, centuries after centuries and attracted millions of them from several places. At present, it is proposed to restrict the survey of the Āgamas to glean out the portions dealing with the topics of introverts' interest and to note some perusals by way of appreciation. The literature of the Pāñcarātra is indeed vast ; the Saṁhitās form the revealed literature available in printed form as well as in manuscript form ; it is possible to understand the importance of these texts better by visiting various centres of the Pāñcarātra, where the tradition is alive.[2] It must be, however, noted, with a feeling of distress that an introvert is likely to be disappointed on meeting the persons who are well-versed in the routine practices of the Āgamas. It is the ritualistic portion that seems to have been better preserved, probably because, there are funds available for the upkeep of the rituals and further because, they are much of mechanical nature.

If we approach the Āgamas with this specific purpose in mind then out of the four sections : *Jñānapāda, Yogapāda, Kriyāpāda,* and *Caryāpāda,* broadly concerning with the philosophy and theroretical aspect ; Yoga, temple-art, architecture and iconography and rituals respectively. The first and the fourth sections have some portions of our interest, whereas the second being entirely devoted to 'Yoga' falls exclusively in the sphere of our interest.

The Āgamas, though theoretically divided into four sections, are practically not so faithful to that division and furthermost of the Saṁhitā except one—the Pādma, neither follow the pattern nor cover the topics prescribed under these four sections. In fact the available saṁhitās taken together are found to deal with all these sections through their chapters to a limited extent. Here an attempt is made to survey the introvert's desired textual portions from printed as well as unprinted Saṁhitās which could be made available.

The first section deals with the theory of God, Creation, Jīva, Mokṣa etc. etc., which might be stated in brief as below. The Pāñcarātra is a theistic school and believes that Lord Vāsudeva or Viṣṇu is the Supreme Controller who is immanent as well as transcendent in whatever exists in the form of the universe. Unlike either Buddhistic or Advaitic concepts of reality, nothing is unreal for the metaphysics of the Pāñcarātra. The visible universe is nothing but God appearing in a specific form. The God is perceived in various aspects without undergoing any change. Actually these aspects are to be called so, since it is we who need them for the sake of proper grasp. In the technology of the Pāñcarātra metaphysics they are called *Para, Vyūha, Vibhava, Antaryāmī,* and *Arcā* manifestations.

'*Para*' is that aspect which is there for the quest by scholars in metaphysics who proceed on rational lines. Technically Para is *Jñāna-gamya.* This is an academic sort of form likely to attract those who are of scholastic aptitude.

'*Vyūha*' is a composite aspect with four forms which is taken to be so, in order to explain the process of God becoming the Universe. It is while explaining this aspect that the well known 'doctrine of Vyūhas' has come forth. It is a distinct contribution of the Pāñcarātra Āgama to the metaphysics in general. It is the backbone of the Pāñcarātra philosophy and from its nature, it would attract the scholars as well as spiritual aspirants. The description of a symbolic pillar, which explains the nature of the God and the concept of Mokṣa and the way to attain, it is closely connected with the doctrine of Vyūhas. It would, therefore, be useful to study these together.

The third aspect is known as '*Vibhava*' and may be taken to be somewhat akin to the '*Avatāra*' concept. The Vibhavas are said to be ten in number and include most of the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

traditional *Avatāras*. The Lord seems to interfere the normal working of the universal machinery so as to remove its obstructing elements, promoting the coordinating ones and setting right its proper order. In the Gītā terminology, it is (a) protection of the virtuous, (b) punishment of the wicked, and (c) establishment of *Dharma* or rule of law.[3] The '*Vibhava*' thus signifies the occasional incarnation of the Lord.

Then there remain two more aspects : the *Antaryāmin* and the *Arcā*. This arrangement is very important and manifests very high maturity on the part of its thinker. Of these two the former is exclusively for an introvert and the latter exclusively for an extrovert ; and they are placed on par. Both describe the same God with a distinct aspect. When the devotee shuts his eyes, He becomes *Antaryāmin* for him, ready to respond to his meditation and the efforts of his internal faculties to progress on the subtle path. And when he opens his eyes and proceeds to worship the idol, He is there in *Arcā* form to respond to his physical efforts in trying to offer him the best possible service with the best available material ; and when two different devotees worship Him by the two paths He simultaneously assumes two respective forms and responds simultaneously to both of them with no partial attitude to either. Here therefore both the paths get an equal treatment. The '*Antaryāmin*' or the '*Hārda*' i. e., the 'Indweller' or the 'Heartdweller' is the *Upāsyadevatā*' or the adorable deity for the introvert under the Pāñcarātra. As the *Antaryāmī* or the inner controller, the Lord resides in all as the controller within and it is through His impulsion that one com mits evil deeds and goes to or performs good deeds and goes to heaven. Thus one cannot in any way escape from this inner controller. The *Antaryāmin* also stays within our heart as the object of meditation for the devotees especially the Yogins.

As referred to above, the symbolic pillar is worth studying. The God in the *Pāñcarātra* as already pointed out is a Knower and Enjoyer who takes swings from one to other states of His consciousness. The analogy is quite simple. The *Jīva* and the *Paramātman* are both '*cit*' or sentient and for that reason both ought to possess identical qualities ; and it is common individual experience that individual soul switches his consciousness through four states : *jāgṛti, Swapna, Suṣupti* and *turyā i. e.*, awakenness, dream, deep-sleep and trance. The *Paramātman*— the Supreme Soul must also be having these states of consciousness. And as individual self sees and enjoys various experiences by swinging from *Jāgṛti-Swapna-Suṣupti-Turyā* and back or by skips from any state to any other state at random. Jīva undergoes various states when the experience and enjoyment change, but the Knower and the Enjoyer remains unchanged. So does the Lord undergo the stages of consciousness where like the *Jīva*, He remains unchanged as Knower and the Enjoyer. Technically, these states for Him, are called *Aniruddha, Pradyumna, Saṅkarṣaṇa* and *Vāsudeva*, the states which He may enter at His free will. From our point of view, to say that 'the world exists', is to say that 'the Lord is in the *Aniruddha* state of consciousness'. His switching over to some other state is the switching of the existence of the visible world for the said period. In other words, the reality of one state is relative to the presence of the Cosmic Soul. It is for the spiritual aspirant (*Sādhaka*) to grasp this particular nature of Reality and try to develop his own inner consciousness and the power of perception and realisation so as to enhance his own consciousness to the state of trance (*Turyāvasthā*) and link it up to *Aniruddha* State *i. e.*, the divine awakened (*Jagṛti*) state. It may remind us of something like the feat in a circus where the athlet leaves his own swing to catch a higher one just at the moment when the two have closest oscillation. The divine existence for the *Pāñcarātra* is of dynamic nature endowed with the best of all qualities ; and by way of corollary the state of emancipation is also a dynamic state of merger into the Supreme Self, as opposed to the negative concept of salvation or *Mokṣa* thought of elsewhere.

There is much of interest and use in the symbolic *Viśākhayūpa* for the introvert, nay, it would be a must to grasp the basic tenets and a perusal of the description of *Viśākhayūpa* would serve his purpose.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The '*Viśākhayūpa*' is described at two places ; *Sāttvata Saṁhitā* (Chapter 4 : 7-20 and 31-34) and *Lakṣmī Tantra* (Chapter 11 : 1-19) as follows :

ब्रह्मयूपस्वरूपेण त्वाक्रम्य स्वं महामते । सौम्यमूर्तिचतुष्कं तु सर्वदिक्प्रसृतं च यत् ॥ ७ ॥
प्राच्यां सितेन वपुषा सूर्यकान्त्याधिकेन तु । व्यक्तिमभ्येति भगवान् वासुदेवात्मना स्वयम् ॥ ८ ॥
पद्मरागसमानेन तेजसा समनन्तरम् । उदेति दक्षिणस्यां वै प्रभुः संकर्षणात्मना ॥ ९ ॥
धर्मांशुरश्मिसंतप्तशतधामाधिकेन तु । रूपेण पश्चिमस्यां च व्यक्तं प्रद्युम्नसंज्ञया ॥१०॥
शरद्गगनसंकाशवर्णेन परमेश्वरः । समास्त उत्तरस्यां चाप्यनिरुद्धात्मना ततः ॥११॥
संस्थानमादिमूर्तेर्वै सर्वेषां तु समं स्मृतम् । सूर्यकोटिप्रभाः सर्वे तेजसा कमलेक्षणाः ॥१२॥
....तथा भिन्नतनोर्मन्यं देवस्यास्य महात्मनः । विशाखयूपसंज्ञस्य वक्ष्ये विद्याविवेदकम् ॥२०॥
....नानामंत्रस्वरूपेण ह्यादिदेवः परो विभुः । आदिमध्यावसानेषु स्थितस्सर्वस्य सर्वदा ॥३१॥
चतुर्व्यूहचतुष्के स्वे शांतादि व्यक्तलक्षणे । प्राधान्येन त्रयाणां च देवानामवतिष्ठते ॥३२॥
यथाम्बरस्थस्सविता त्वेक एव महामते । जलाश्रयाणि चाश्रित्य बहुत्वं संप्रदर्शयेत् ॥३३॥
एवमेकोऽपि भगवान् नानामंत्राश्रयेषु च । तुर्यादिपदसंस्थेषु बहुत्वमुपयाति च ॥३४॥

—**सात्वत संहिता अ. ४.**

तुर्यादिजाग्रदन्तं यत्प्रोक्तं पदचतुष्टयम् । वासुदेवादिना व्याप्तमनिरुद्धोन्तिमेवतु ॥९॥
तत्र तत्र पदे चैव चातुरात्म्यं तथा तथा । अव्यक्तव्यक्तरूपैः स्वैरुदितं ते यथोदितम् ॥१०॥
व्यूहाद्व्यूहसमुत्पत्तौ पदाद्यावत्पदान्तरम् । अन्तरं सकलं देशं संपूरयति तेजसा ॥११॥
पूजितस्तेजसां राशिरव्यक्तो मूर्तिवर्जितः । विशाखयूप इत्युक्तस्तत्तज्ज्ञानादिवृंहितः ॥१२॥
तस्मिंस्तस्मिन् पदे तस्मात् मूर्तिशाखाचतुष्टयम् । वासुदेवादिकं शक्र प्रादुर्भवति वै क्रमात् ॥१३॥
एवं स्वप्नपदाज्जाग्रत्पदव्यूहविभावने । स्वप्नात्पदाज्जाग्रदन्ते तेजसः पूज्यते महान् ॥१४॥
विशाखयूपो भगवान् स देवस्तपसां निधिः । तुर्याद्ये स्वप्नपर्यन्ते चातुरात्म्यत्रिके हि यत् ॥१५॥
तत्तदैश्वर्यसंपन्ने षाड्गुण्यं सुव्यवस्थितम् । तदादायाखिलं दिव्यं शुद्धसंवित्पुरस्सरम् ॥१६॥
विभजन्नात्मनात्मानं वासुदेवादिरूपतः । पुनर्विभववेलायां विना मूर्तिचतुष्टयम् ॥१७॥
विशाखयूप एवैष विभवान्भावयत्युत । ते देवा विभवात्मानः पद्मनाभादयो मताः ॥१८॥

—**लक्ष्मीतंत्र अ. ११.**

In the edition of *Lakṣmītantra*, by V. Krishnammacharya published by the Adyar Library, he has given a precis of the description of *Viśākhayūpa* in prose, which runs as under :

अस्ति वैकुण्ठेऽप्राकृतलोके विशाखयूपो नाम ध्वजस्तंभाकारः कश्चन तेजोरूपी भगवन्मयः स्तंभविशेषः। स च ब्रह्मयूपनाम्नाऽप्याख्यायते । तत्राधःप्रदेशमारभ्योपर्युपरि चत्वारो भागाश्चतुरश्रा वर्तन्ते । प्रतिभागं चतुर्स्वपि पार्श्वेषु भगवान्पर वासुदेवः वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेण क्रमेण प्रागादिदिक्ष्ववतिष्ठते । तत्र प्रथमो भागः जाग्रत्पदाभिमानी अनिरुद्धप्रधानः । तत्र ते व्यूहदेवाः स्पष्टदृश्यरूपायुधवाहनमहिष्यादि परिच्छदा भान्ति। एते च जाग्रत्पदस्थोपासकानुग्रहाय तथा प्रकाश्यन्ते । तदुपरि द्वितीयो भागः स्वप्नस्थानाभिमानी प्रद्युम्नप्रधानकः । तत्र ते व्यूहदेवाः अस्पष्टदृश्यमलिनप्रायैः आयुधवाहनमहिष्यादि परिच्छदैर्वर्तन्ते । एते च स्वप्नपदस्थोपासकानुग्रहाय तथा वर्तन्ते । तदुपरि तृतीयो भागः सुषुप्तिस्थानाभिमानी संकर्षणप्रधानो रेखामात्र दृश्यायुधादि परिच्छदैर्देवैरध्यासितः । एते च सुषुप्तिपदस्थोपासकानुग्रहाय तथा वर्तन्ते । तदुपरि तुरीयस्थानाभिमानी वासुदेवप्रधानोऽत्यन्तादृश्यायुधादिपरिच्छदैः शून्यकल्पैर्देवैरध्यासितश्चतुर्थो-भागः । एते च तुरीयमपदस्थोपासकानुग्रहाय तथा वर्तन्ते । अतो जाग्रदादिपदस्थोपासकाधिकारानुगुण्येन व्यूहदेवास्तथा वर्तन्ते । ऐतादृशविशाखयूपाख्यानिरुद्धादेव पद्मनाभादयो विभवा अवतीर्णा इति ।

—**लक्ष्मीतन्त्र, प्रस्तावना, पृ. २५**

The passage could be rendered in English as under :

In the supra-material region otherwise called *Vaikuṇṭha*, there stands a pillar called *Viśākhayūpa*, resembling in shape to a flag staff. (It is also known as *Brahmayūpa*). It is divided into four sections—lengthwise *i. e.*, from the bottom to the top and has four sides directionwise *i.e.*, facing the four quarters—East, South, West and North. Lord *Para-Vāsudeva* entirely pervades

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

this column in the fourfold form of *Vāsudeva-Saṅkarṣna-Pradyumna* and *Aniruddha* in the directional order of East, South, West and North respectively.

Therein, the first or the bottom section marked for the *'jāgrat'* or 'the awakened state of consciousness' is principally presided over by *Aniruddha*. Here, the *Vyūhadevatās* or the divine manifestations along with their consorts, vehicles and weapons, shine in a clearly visible form. They rather exhibit themselves in that way so as to favour the devotees that have progressed only upto the 'awakened state'.

Above this, there is the second section marked by the 'dream state of consciousness' technically called 'स्वप्नपद' and principally presided over by Lord *Pradyumna*. Here the manifested deities exhibit in a somewhat blurred appearance along with their consorts, vehicles and weapons and also having a shadowy image. They appear so for the favour of the aspirants who have raised themselves upto the level of 'dream state of consciousness'.

Thereupon rests the third section which is marked by the 'deep sleep state' or सुषुप्तिपद and is presided over primarily by Lord *Saṅkarṣaṇa*. Here the *Vyūhadevatās* are visible, along with the paraphernelia, only in a dim lineary appearance. They are meant only for the benefit of the devotee aspirants who have progressed upto and stationed on the सुषुप्तिपद or the dormant state of consciousness.

The fourth or the topmost section marked by the तुरीयस्थान or the 'trance-state' and principally presided over by Lord *Vāsudeva*. The *Vyūhadevatās*, along with the retinue are, so to say, in a nearly invisible or thinly visible state which may be equated rather to a void. They exist so because the eligible devotees alone who stand on the trance state should perceive them.

Special tips are given herein, for the aspirants on the progressive sixteen stages, wherein the *Sādhaka* tempers his power of perception so as to penetrate into the obscure nature of the Divine Self. And on the ladder of his own manifestations, He meets each class of the *Sādhakas* on the level where they might have reached. And as assured in the Gītā or the Āgamas, death en route *Sādhanā* does not annihilate whatever is achieved but instead, enables the *Sādhaka* to assume a better-placed embodiment which would facilitate his further spiritual progress.

While the first section gives us theoretical suggestions, the later sections, which are larger in size, give us practical instructions. As we go further to the second section called the *Yogapāda*. Except in the *Pādma Saṁhitā*, there is no separate section for the *Yogapāda*, and there are few others *Saṁhitās* where some portion is exclusively allotted for the Yoga. The topics are naturally of great interest of an introvert since they contain explanation of the practice of the Yogic path. But then an introvert is normally expected to be conversant with the standard works on Yoga like Patañjali's *Yoga-Sūtra*. And the *Saṁhitās* seem to have a practical outlook of compiling whatever is needed for the building up of their system, from various sources and are not unduly keen on making original contributions on each and every branch of knowledge. So, after reading the Yoga portions in the *Pāñcarātra*, one is tempted to remark that 'Patañjali seems to have been watered down.' The special contribution of the *Saṁhitās* lies in the object of meditation viz., the *'Antaryāmin Vāsudeva'*. On Patañjali, we have already, a number of works leaving no scope for the secondary work to be studied afresh. This much on the *Yogapāda* would suffice as introductory remarks.[4]

Then we may just skip over the third section that treats the temple building and iconography which is a technological subject and does not contribute much to our present concern. This would lead us to the fourth section which treats in detail various parts of rituals. The entire effort is woven round the *Arcā* concept which is to be adored with the best available materials and with the best possible service. It is called *'Soḍaśa-upacāra-pūjā'* (process of worship including 16 varieties of offerings). This is, of course, the central part. But there is a well-knit scheme laid down by the *Pāñcarātra Āgama*, covering the entire

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

life-span of all the individuals with a religio-spiritual curriculum defining his conduct, routine and occasional, for every day and round the year and providing for the programme of domestic as well as temple rituals with daily rites and seasonal and occasional festivals (*nitya* and *naimittika utsavas*). The entire scheme though rotating round the idol-worship incorporates various actions where the devotee has to shut his eyes. The religio-spiritual diary (*Pancakālaprakriyā*) prescribed by the *Pāñcarātra* scriptures has a hoary past and has been praised even by its critics like Ādi Śaṅkarācārya as 'Ideal diary'. The *Pañcakālaprakriyā* divides a day (*i. e.*, day and night) into five parts and assigns some duty to be performed by the devotee in that period. This topic, though a short one, is found in many *saṁhitās* in almost identical manner.[5] It would be useful to proceed on the lines of this diary item by item lingering wherever the introvert would like as to and skipping over elsewhere.

The five divisions viz. (1) *Abhigamana*, (2) *Upādāna*, (3) *Ijjyā*, (4) *Svādhyāya* and (5) *Yoga*, are assigned for five tasks. The first covers the period before sunrise, beginning from *Brāhma-muhūrta* i. e., early dawn ; the fifth take the earlier portion of the night after the sunset. The second and third accommodate themselves upto noon and the fourth ranges from noon to sunset.

The first i.e., *abhigamana* or 'approach to the Almighty' with ardent surrender coupled with *japa i.e.*, muttering of the divine name, *dhyāna* or meditation and *stotra* or laudations.[6] Immediately after breaking sleep while about half of the night is yet to pass, the devotee should meditate upon the Supreme Power and offer prayers to purify one's actions throughout the day.[7] The action of *dhyāna* may fall directly under introverts' region; but the *japa* and *Stotra* are at least on border. Surrender unto the Lord (*Viṣṇu*)[8] with various names is more important. This period exclusively aims at a direct contact between the God and the devotee; it is a pretty long time when one finds seclusion and solitude coupled with quietude of time and atmosphere. During this period, almost everyone is required to be an introvert at least for a while.[9]

The secod portion called *Upādāna* is reserved for purely a mechanical activity of equipment of the idol worship. Having done this, the devotee is to embark on the ritual of worship technically called *Ijjyākāla*, covering late hours of the forenoon. The *Pūjā* especially that in the temple and that took at the time of festivals in renowned shrines is a meticulous process of very many mechanical activities. However, it includes some processes wherein the performer has to shut his eyes so as to yoke his inner faculties. Two such topics which rather form independent units, and which have received a fair treatment in the *Saṁhitās* are the '*Bhūtaśuddhi*' or 'Elemental purification' and '*Mānasayāga*' or 'worship-within'. The first comes under *Ijjyā* no doubt but actually may be treated as the finishing touch to the *Upādāna* activity which has a double mission—collection of materials and their purification even the body purification of the devotee. *Bhūtaśuddhi* aims at purification of the elements which go to form the body. The *Mānasayāga* is the first part of the *Ijjyā* wherein the entire function is performed with closed eyes with all abstract aid. Having done this, he is eligible to go on with the *Ṣoḍaśopacārapūjā*.

Bhūtaśuddhi—Elemental Purification

External bath and cleansing alone does not render the human body completely pure so as to make fit for worship. Evil thought, speech and actions too go on besmearing the body particles with impurities. Āgamas provide with a highly scientific and technical process for overhauling the entire body constitution and rejuvinating it every time before the performance of the *Pūjā*, since it is a must in accomplishing an atmosphere of purity, piety, sanctity, and serenity in the sanctum sanctorium, where the Lord is to be invoked to come and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

stay. So without the performance of the *Bhūtaśuddhi*, the *Arcaka* is not recognised to be eligible for the Pūjā.

The process of the elemental purification may be summarised as under :—

The devotee shuts his eyes and open his inner sight to visualise that Lord *Viṣṇu* is seated on the Supreme Altar. He then gradually elevates Him on way upwards through the right-hand portion of the '*Suṣumnā Vein*', seeing Him reclining on a 'circular orb' glowing like a clustre of a thousand suns. This seat, as he perceives is made up of '*mantras*' and resting 12 *aṅgulas* (fingers—a measurement) above the luminous disc (*Prabhācakra*) with a substratum made of elements. The devotee further perceives the Lord to assume a body of mantras alone.[10]

Just below the seat of the Lord, devotee sees a square shape piece of floor, yellow in colour and possessing the properties of the five elements : *śabda-sparśa-rūpa-rasa-gandha* (sound-touch-colour-taste-odour) and having an emblem of *Vajra*. He further sees that the entire creation marked with rivers, islands, cities, forts etc. etc., surround the earth. At this stage of visualisation the devotee chants the *Pṛthvīmantra* and finds that the earth enters his body and rests there through the mantric miracle ; he allows the earth to pervade the region from foot to knee. With the force of *Kumbhaka* wind, it is to be gradually led forth and made to merge into its subtle-element, the *tanmātrā*, called '*gandhaśakti*.[11] The *gandhaśakti* is then purged out to dissolve into the next element *i.e.*, *Āpa* (water) and be deposited in the majesty of *Varuṇa* ; in the same manner all the five elements are to be made to merge back and back ultimately into the *tanmātrā* of Ether namely *śabda*, Each one should be inhaled with *pūraka*, dissolved into the next one with *kumbhaka* and exhaled with *recaka*. While with *Āpa*, he meditates on *Varuṇa* and he sees all storages and reservoirs of water in-drain within his body makes it pervade over the portion between his knee and the thigh. With *Dhāraṇā* mantra (*i.e.*, the chant of retention), the entire quantity of water is seen to merge in its *tanmātrā* the '*rasaśakti*', and that should be thrown out by *recaka*, in the orb of fire, and should be deposited in the majesty of Lord *Agni* endowed with triangular shape altar. Then the whole empire of *Agni i.e.*, the lightening, the moon, the sun, the stars, the jewels etc., gush inside the body of the *Sādhaka* when the chanting of the *taijasa-mantra* commences. This power is absorbed with this *mantra* and it rests in the region from *Pāyu* to *Nābhī i.e.*, the organ of generation to the navel. This by contemplation, merges into the *rūpaśakti*, the *tanmātrā* of light. Then this is purged out to be deposited into the majesty of *Vāyu* or wind. Then he experiences that all sorts of winds enter his body. By the chant of retention, they are absorbed within the '*sparśaśakti*',' or *tanmātrās* of touch. Then it should be thrown out and deposited into the *Vyoma-vibhava* or the Etheric majesty. Then entire space without is contemplated to enter one's body and then by '*Vyomākhya-dhāraṇāmantra*' subtle element should be taken into one's own body, and it should pervade the region between the neck and the '*Brahmarandhra*'. Then he sustains it for sometime in *Kumbhaka* and then he pushes it out up from the *Brahmarandhra*. Here he experiences that the Jīva is full of pure consciousness (*caitanya*) and is completely rid of the fetters of the cage made up of the five gross elements—(*pañcamahābhūtapañjara*). Here the individual self *i.e.*, the Sādhaka gets a prospective as well as retrospective vision. He can see his entire body as if he is a third party spectator. So does he perceive the Lord seated on the Altar-Divine. The *Sādhaka* is then advised to remain in the body made of mantras and concentrate on the *Samādhi-stage*. Then he leaves that body also, thinking it to be impure and rises still higher and higher. He then visualises that he is coming out of the nest of his heart as well. He proceeds with the power of wisdom (*Jñāna*) alone and drops down the body of the '*tanmātrās*' and reaches the level of the physical vicinity of God. Here he realises and enjoys the luminous, indescribable state of bliss—the favour of Lord *Viṣṇu*. Here he experiences that he has resumed to the existence of his 'own'.

Then what he is expected to do is the act of burning down his earthly body by the strength of his will (*Icchāśakti*), see to it that the earthy body is completely reduced to ashes

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

leaving of course the *tanmātrās* which are already taken out ; by the fire which resembles one which is ablaze at the time of the great annihilation of Lord's Creation (*Yugānta-hutabhuk*). When the function is over the blaze is to be surrendered to the Lord of the *Mantras*. Then the *Sādhaka* sees that the fire is full burnt and what remains is a heap of ashes. Then he transmits a cyclonic wind to make the ashes scatter away at random, all over. Thus the body disappears totally with no visible trace.

Then the *sādhaka* invokes the disc of mantras shining like a full moon and drizzling nector from heavens. He should sprinkle this nector over the remnants whatsoever of his body and lo ! he sees that a lotus springs up out of void and gradually the universe evolves in in its normal order of creation. He finds that there shines for him a reborn body untinted with any impurities whatsoever. This is a body worth entering which he does by the retreating process and embarks on his worship of the Lord in the form *Arcā*, the tangible idol.

By way of resume one could note down following observations :

(i) *Bhūtaśuddhi* is a complete and independent process.

(ii) It is a prerequisite for the ritual of worship and a *saṁaskāra* on the body of the worshipper.

(iii) From spiritual point of view, it is a far difficult process as compared to the mechanism of the *Pūjā*. A sincere effort on the part of the devotee to master this process would certainly uplift him on much higher plane ; and it is worth giving repeated trials.

(iv) As for the scientific nature, its feasibility and efficacy, only those who are in that line *i.e.*, the introverts with adequate background alone could say anything.

(v) These various technical terms like the tackling of the *nāḍīs*, the *cakras* and winds present within one's own body. This could be compared by an introvert to the corresponding terms in the Yoga school.

(vi) We are told of *Layayāga* in the *Āgamas* elsewhere which is the abstract process of absorption of the creation. This might be similar to the *Bhūtaśuddhi*.

(vii) We come across some technical processes in metaphysics of the *Upaniṣads*, like *trivṛtkaraṇa*, *pañcīkaraṇa* and *Saṁvarga-vidyā* where one element is absorbed into the other. Those processes have served the source and might have played an important role in the building up of the scheme of elemental purification.

(viii) In any case, the entire process of isolating oneself from the earthly body, reaching the vicinity of the Great Soul, experiencing the discarding the gross and subtle bodies around oneself, to have a detached visualisation of one's own body from a long distance, to set it on fire by one's own fire of wisdom, seeing that it is reduced to ashes, blowing cyclonic hurricane to puff the heap of ashes helter scalter and further, with the mystic power to the *mantras*, to rejuvinate the body along with the entire Universe with the help of nector, all this is fascinating for anyone ; nay one would be tempted to become an introvert. Naturally, an introvert would rejoice on finding such a fine process to grasp and to practise.

(ix) Even for a devotee having academic interest, this portion would be of great help in tallying various tenets of the *Pāñcarātra* cult, especially those concerning the theories of Creation and Liberation. And further, it is noteworthy that in the form of *Bhūtaśuddhi* the tradition could retain the metaphysics of the *Pāñcarātra* ; and practising the *Bhūtaśuddhi* is making an at a glance revision of it metaphysics.

Whatever merits or otherwise, one may safely announce that here lies an important treasure of our spiritual heritage. Let us not just skip over it, or else sleep over it, casually dismissing it as impracticable.

The purification of everything from within and without, renders the *Sādhaka* eligible for the *Yāga*, where at the outset he is to perform *Mānasayāga* or the 'worship-within' and then alone he may handle the paraphernelia of outer worship (*Bāhyayāga*). And *Mānasayāga*, too, is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

an abstract process to be performed with one's eyes shut. This again would form a subject of introvert's special relish.

"Mānasayāga" : The Worship Within

There are two names for this *yāga—Mānasayāga or Antaryāga* which are same in connotation and hence inter-changeable. They are used as substitutes in the texts of *Śaivāgama, Śāktāgama* and *Vaiṣṇavāgama. Mānasapūjā* and *Mānasārcanā* are also used to denote the same thing. All these terms indicate a process which may be described as 'Internal worship', 'mental adoration' or 'worship within'. It is an abstract form of worship. The worship of the Lord is said to be threefold : internal worship, the image worship and the fire-worship—मानसी, बेरपूजा च होमपूजेति सा त्रिधा। What is common is the object of worship and what varies is the mode. *Āgamas* contemplate no option regarding the choice of one or more forms of worship ; but instead they regard all of them to be the essential components of what may be generally called *yāga* or worship. The *Mānasayāga* seems to be an unoptional portion of study for those who profess to follow the *Āgamic* path.

On par with the *Mānasapūjā*, there are some other functions wherein the mind plays an important role. There are modes of vedic sacrifices which can be performed internally and are called *Antaryāga*, where instead of the concrete material, only abstract material is used. In various *Upaniṣadic* passages and other places, descriptions of (1) *Manomayī-mūrti* an idol created by one's mental agency, (2) *Mānasa-snāna i. e.*, performance of ablution by mind, (3) *Mānasajapa i.e.*, the muttering of mantras without the movement of tongue and lips ;[13] (4) *Mānasahoma i.e.*, the ritual of fireworship within one's mind ; (5) *Mānasī-sṛṣṭi* mental creation and such other concepts connected exclusively to the sphere of mind are found. It means that the mind has power to create a world of its own—a replica to the outer world. We are familiar with the fascinating picture of the *Parāpūjā* and *Manas-pūjā* offered by *Ādi Śaṅkara*. The yogic practices, the *Bhūtaśuddhi* the *Nyāsa*, and such other topics are also allied ones, together forming a category of processes where internal faculties have a predominent role.

The description of the *Mānasayāga* may be summarised as follows :

The devotee takes a *Padmāsana* posture and folds his palms close to the navel in an *Añjalīmudrā*. Having come to a steady physical composure of limbs one recalls the group of senses constantly tending outward, so as to make theme merge in the mind and apply their faculties to the intellect and the faculties of the intellect towards the path of knowledge.[14] With this preparation one proceeds to perform the abstract spiritual rites. Hereafter what is functioning is the mind alone. The interior of the body of the devotee is to serve the purpose of the divine shrine described as चतुश्चक्रे नवद्वारे देहे देवगृहे पुरे। The sanctum sanctorium stands within one's own heart as a permanent abode of the Lord in the form of the 'Indweller' or *Antaryāmin*. We find a detailed scientific description or the construction of all the components of the temple and the relevant deities presiding over them. In fact, it is not a construction of the scene by the mind in the worldly sense. It is rather realisation of what is already created by the Lord within oneself. All the metaphysical principles, the divinities, the elements, the celestial globes, the sages, the scriptures and the like are invoked to come and take form to receive the worship to be offerred. Thereupon one contemplates the process of merger of all these into the body of the Lord. For example, the sacred Ganges is to be visualised to merge in Him in the form *Arghya* offered to him. This process is technically called *Laya-yāga* or the 'ritual of the worship of merger'. After accomplishing the *Laya-yāga* one should start the *Bhogābhidha-yāga*. This is just the counterpart of what is called the *Ṣoḍaśopacāra-pūjā* in the external worship. It begins with invocation and prayer—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसान् जयशब्दांश्च कृत्वा विज्ञापयेदिदम् ।
स्वागतं तव देवेश ! सन्निधिं भज मेऽच्युत !
गृहाण मानसीं पूजां यथार्थपरिभाविताम् ॥

—पारमे. सं. ४ : १३४–३५

The *upacāras* or the offerings to be presented are not tangible (सांस्पर्श) but products of will-power (संकल्पजनित) and their speciality lies in their being immense in size, abundant in quality and they can be gathered from any place of choice out of the seven worlds. Besides they are through and through auspicious, holy, bestowed with finest qualities and undecayable.[14] All is abstract for instance, the fire to be produced is by rubbing the sticks of meditation—ध्यानारणिं तु निर्मथ्य चिदग्निमवतार्य च The fire also is not ordinary but a spiritual one. The *nyāsa*, the *mantras*, the *mudrās* all are abstract. Nothing is tangible. The whole performance when accomplished is to be surrendered to the Lord and then the entire paraphernelia is to be withdrawn into one's heart and is to be treasured into one's self, by the power of will or *Saṁkalpa*. Then the devotee has to beg permission of the Lord to perform the *Bāhyayāga*. The conclusion (*Visarjana*) worship-within is not to be done till the completion of the worship without.

The *Āgamic* seers promise the performer of the *Mānasayāga* various reliefs : from diseases, oldage, mortality, bondage of the worldly ties etc., and further assure him of annihilation of all demerit to his account, thereby granting him 'the eternal bliss'. It is described as the best of the paths and the follower is honoured as the best of the worshippers. It is further assured that the performance of this form of worship, though very hard to practise becomes easy by constant practice.[15] The followers are warned against revealing this to those who have neither faith nor eligibility to perform this.

The first thing that strikes us is the completeness of the process contemplated in the *Mānasayāga* as compared to the processes of मानसजप, मानसस्नान, मानसहोम etc. They are small units in themselves which rather serve as component parts of the abstract worship, while this is a self-sufficient unit.

The *Parā-pūjā* or *Mānasapūjā* explained by Ādi Śaṅkara, the भूतशुद्धि, न्यास, योग and like topics fall under the same category with the *Mānasayāga* as noted already. But there are a number of subtle points of difference. In the *Mānasapūjā* offered to the Goddess, we find the *Ṣoḍaśopacāra* created and offered by mind alone. In the *Parāpūjā* however, the immense finiteness of the worshipper and his equipments in comparison to 'the Infinite' which is the object of worship seriously strikes the mind of great Śaṅkara and in a mood of ecstacy he expresses his inability to worship the Lord, and going a step further, he says that the action of *Pūjā* is impossible due to the identity of the *Pūjyā* and the *Pūjaka*. In the *Manasayāga* on the other hand, no inability is contemplated, nor the identity of the *Pūjya* and *Pūjaka* at least at the time of the ritual.

In the elemental purification we find a process wherein both psychological and physical agencies are at work. Besides, it is a preparation for the worship and not the body of it. In *Mānasa-snāna*, what is aimed at is the internal purification of the body and mind. *Mānasajapa* is a practice of concentrating on the muttering of the mantras or divine names without the help of the tongue and the lips. In the *nyāsa* both the physical as well as the mental activity is at work. In *dhyāna* or meditation, what is required is application of one's mind towards single object.

In the yogic practice, we find that at the stage of *Samādhi*, mind has to develop the faculty of concentration (*ekāgratā*) at the first instance and further in the state of the *Nirbīja-Samādhi* what is contemplated is the total merger in the object namely the Supreme Self. Besides, the *Nāḍī* system is yoked to the yogic feats, which may not be employed in the Āgamic process of the internal worship.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Mānasayāga differs much from the sister rituals mentioned above. Unlike the Yoga, it is restricted to mental and abstract functions alone. In Yoga, on the other hand, the faculties of mind too are withdrawn in the manner of the limbs of the tortoise. In the *Mānasayāga* we have to develop the subtle and sublime faculties of mind, since it has to create by realisation the entire expanse of the divine enshrinement within and maintain it carefully till the successful accomplishment of the *Mānasayāga*. In technical terms, we may say, the mind has to develop the faculty of *Samagratva* in stead of *ekāgratva*. *Samagratva* may be interpreted as 'concentration on totality.' What we find in that process is that the mind has to create the mental image (मनोमयी मूर्ति), prepare a seat for it by imagination, create the consorts and retinue deities by imagination, instal them at proper places, then collect the proper material for worship, deposit it at proper places and commence the worship, keeping all the while the scene created so far, firm and steady by not allowing it to vanish the least and for even a fraction of a moment. Supposing there occurs some slip, the whole process ought to be repeated 'ab initio'. Again the judgment of distance and interspaces of the objects must be maintained very very carefully. No jumble of misplacement would be tolerable if the worship is to be ideal. Keeping this theatrical show intact, the devotee has to proceed for performance, wherein he has to bear in mind the sequence or order of the details of worship, the priority and the posterity. If by chance some mistake creeps in, the process is to be started again from the beginning. In other words one has to be cautious about the space-perspective and the time-perspective and to effect a harmony of the two (स्थलावधानं कालावधानं उभयोः सामंजस्यं च). It is a collaborative enterprise of the पूज्य, पूजक, पूजास्थान, पूजाद्रव्य, पूजनक्रिया *i. e.*, the object of worship, the worshipper, the place of worship, the materials of worship and the process of worship—all being संकल्पजनित or the products of imagination. As such, one may feel that it is many times difficult a task than cultivation of concentration on a single object. (ekāgratā).

One more speciality of this worship-within is that it is independent of means (साधननिरपेक्ष and उपकरणनिरपेक्ष) in contrast to the बाह्ययाग since it requires no tangible material. All the material as already said is a product of imagination or as elsewhere described product of the subtle elements. In other respect, it may be called शरीरनिरपेक्ष or independent of the body as well. That is if one achieves skill in its performance, it is immaterial for one, whether the body is retained or abandoned, since it can be actuated with the help of the mind and the तन्मात्रा or the subtle elements. The process is, however dependent on attentiveness (अवधानसापेक्ष) and not independent of it (अवधाननिरपेक्ष). Indeed, the process of external worship may be done absent-mindedly after a long practice, reducing it to a prosaic mechanical functioning of the body. Mental adoration cannot ever be performed that way. A slight absent-mindedness means invitation to duplication and further repetitions of the entire effort.

As for the comparison of this process, as treated in different *Āgamas*, it may be observed that there is more similarity than difference. In the *Śaiva* and *Śāktāgamas*, we are often told of the maxim शिवो भूत्वा शिवं यजेत् or देवी भूत्वा तु तां यजेत् which aims at the identity of the object of worship and the worshipper. In the *Viśiṣṭādvaita* system this identification is not tolerated or entertained. In other words, differences in philosophical tenets reflect on the details or mental worship. Again, the object of worship varies as per the *Āgamas*, *Śiva*, *Viṣṇu*, the Goddess or any other god may assume that place. So would be the case regarding the *mudrās*, the *mantras*, the *maṇḍalas*, the *cakras* and other details of worship. In the process of *Mānasayāga* in the left-hand Tāntric practices (*Vāmācara*) would include the well known *Pañcamakāras* as the case may be. It might be interesting to observe whether the abstract form of offerings in the Tāntric worship would involve any kind of *himsā* or not. One cannot say whether it would be admissible to the followers of the strict rules of non-violence (अहिंसाधर्म). There would be a counter-argument that the mental act of killing

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

or injuring would fetch them worse fruit that accrued through a bodily act of injury. Again they may fear that indulgence in the मकार of मदिरा-मांस-मैथुन etc. even on a psychological plane may invite a mental degradation by the process contemplated in the Gītā verse : ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते etc., leading straightway to the doom or destruction. Mental contemplation (मानसचिंतन) may prove to be more harmful than actual physical act.

As for the relative superiority and inferiority between the inner and outer worships, it is unanimously declared that the former is superior to the latter. All the same, the two rites are not competitive but complementary ones. An option to the *Antaryāga* preferred by an individual devotee in his domestic worship (गृहार्चा) may be tolerated. But it is no way an option for the temple ritual. It is obligatory on the part of a temple priest (*Archaka*) to perform it with accuracy and devotion since he is doing it for the benefit of the devotees at large in a representative capacity. It seems that the *Āgamas* expect of an ideal worshipper, a capacity to perform the *mānasayāga* with perfection. In other words, it may be deemed as a necessary requisite for his eligibility to hold the office. Besides, sincere and devoted, accomplishment of the *Mānasayāga* paves the way for perfection and liveliness in the otherwise prosaic mechanism of the outer worship, and charge the ritual with spirituality which is automatically transmitted to the minds of the devotees who partake the worship only as spectators having full faith in the priest who actually performs the worship.

The priority and posterity of the two rituals also is an interesting topic and may create sometimes, a controversy among scholars. In the daily routine, we find that the *mānasayāga* comes first and then comes the *Bāhya-yāga*. The arrangement of chapters in the texts also testify this. It is however that it is '*Bāhyayāga* that paves the way for the *Antaryāga*'. There is an apparent contradiction between the two views before us. Probably the second view is based on the verse from *Vāmakeśwara Tantra* which runs as follows :

बहिःपूजा विधातव्या यावज्ज्ञानं न विद्यते । —वामकेश्वरतंत्र अ. ५१

When we understand the proper position, the paradox will be removed. In the daily worship, the *Antaryāga* comes prior and brings perfection, purity and better sense of devotion to the *Bāhyayāga* which follows. However, the *Bāhyayāga* has its own limits on the path of spiritual progress of the individual aspirants. One day or other he must cry halt to the performance of *Bāhyayāga* and it is always desired that the time should come as early as possible and that too before the aspirant is compelled to leave his earthly body. If he gains perfection in performing the *Mānasayāga*, before the end of his life, he may continue the worship during the tenure of his further embodiments or inter-embodied states. It would be interesting to note here that individual aspirants have a lattitude of acquiring the proficiency in this ritual even upto the end of this life or failing it in the subsequent embodiments. For an *Arcaka*, however, the skill has to come at the initial stage of life. It is just like those who enter the renunciation stage (संन्यासाश्रम) at the initial stage of life, which for others is a final stage. For this reason, the *Arcaka* is rightly praised as 'अर्चको हि हरिः साक्षात् ।'

One more point to be noted about the *Mānasyāga* is the purpose behind it. In the *Jayākhya Saṁhitā* of the *Pāñcarātra-Āgama*, it is explained that there exist two aspects of the *Vāsanās* or the passionic precipitates of the individual self. They are originating from without or within (बाह्योत्था and आन्तरिक). The former are accrued to the soul from the objects around, while the latter go on accumulating even in the absence of objects tempting the senses. The former can be overcome by diverting one's mind from their temptation by yoking the same to the process of outer worship. Nevertheless, that process is ineffective regarding the internal urges (*vāsanās*) that stir the mind from within and are likely to stir the faculties of the body which are restrained by the *Saṁskāras* achieved through the *Bāhyayāga*. Those *vāsanās* are not an outcome of outer functioning of the senses. They are the sum-total of accumulations of pre-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

vious embodiments and fresh creations of mind. Even after total annihilation of the external urges (बाह्योत्थवासना), the inner ones remain as arrear unremedied for. What one could do, is to close the doors of one's mind for the outer objects and take a fleuroscopic or X-ray search focussing the location of the seeds of the internal *vāsanās* by the help of the power created in him by repeated performance of the mental worship (मानसयाग), and burn the seeds reducing them to ashes once for all; and then sterilise one's mind so as to leave no scope for their further germination.

To conclude, it may be observed that the topic of *Mānasayāga* in the *Āgamas* is not only interesting and fascinating but is highly scientific as well. It has tremendous appeal to the aspirants, and scholars of an introvert-aptitude. It is a ceaseless challenge to their efforts and and perseverance to grasp and master it and an intellectual feast to their scholarly thirst for knowledge.

The third portion of the day is scrutinised and now remain two portions—the *Svādhyāya* and *Yoga*. The period after the meals upto the twilight period in the evening is reserved for self-study *i.e.*, revision of the religious texts. As stated in the *Āgamas*, the devotee performs his *sandhyāvandana* at the sun-set and then he becomes ready for the daily yogic practice.[16] This period brings him *Brahmasiddhi*—the attainment of Brahman.

At the outset, the devotee selects a spot fit for concentration of mind, preferably in a sacred but lonely and pleasant atmosphere. Then he has to purify the ground before setting for the venture. He progresses on the path of Yoga through its eight climbs, step by step. First of all he follows or rather strictly abides by the rules and regulations, the injunctions and prohibitions or the 'dos' and 'don'ts'. These things bring his physical body under desired results and make it fit for worship.

Then he assumes suitable postures, technically called *yogāsanas*. Different *āsanas* may suit the body constitution of different people.

A comfortable posture helps further tackling of the internal limbs. Having accomplished this, the *yogin* ventures to regulate and dialate his breath *i.e.*, technically to exercise *Prāṇāyāma* by *pūraka*, *kumbhaka* and *recaka*, the inhaling, retaining and exhaling the breath. This exercise is meant for regulating the five wind-movements.

The fifth stage is *Pratyāhāra* process wherein one has to shut out the objects of pleasure in the world and divert the sense organs towards the internal region. The sixth stage is *dhyāna* or meditation. Lord *Viṣṇu* is the object of worship. It is followed by *dhāraṇā* wherein, the one achieves the equilibrium of the internal organs. It is equated to the pacification of the waves of the disturbed waters. Here, he concentrates on the 'heartdweller' (*Hārda-paramātman*) along with his consort *Lakṣmī*. He visualises the divine couple *Lakṣmī Nārāyaṇa* in a direct vision of yogic insight.

When this stage of realisation is attained by the *Sādhaka*, he is advised to lead the Lord in abstract forms, by his will-power, gradually towards a seat prepared by the *Sādhaka*, for the Lord, on the altar in his heart through the via media of the right hand outlet to the passage of the *Suṣumnā* vein. The devotee perceives by imagination that he has assumed pure physique in the form of the *Mantras*. The *Yogin* then absorbs the five elements, in their proper order (as described in the *Bhūtaśuddhi*) within his own body and stand in the immediate presence of the Almighty—the ever-cherished goal of *Sādhaka's* life. He then causes the properties of the elements viz., शब्दस्पर्शरूपरसगंध to unite in one and gradually push out of the *Brahmarandhra* the apperture opening on the supracosmic region which is said to be situated at the top of the headgear.

At this superb state of *Sādhanā*, the devotee tries to induce the soul-essence or the *Caitanya*, out of the cage of the earthly body and transplant it on the *Mantraśarīra*. Further, the *mantraśarīra* is also withdrawn and what he receives is the sixfold causal existence i.e., the *Pañcatanmātrās* i. e., the five subtle elements and the *tanmātrā* of the mind. This also is to fall

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

back and one receives a body of a luminous disc technically called *Prabhācakram.* Resorting to this luminous disc one is led straightway to the navel of Lord *Nārāyaṇa.* The *Sādhaka* who is completely pure, having realised the Ultimate Truth and having totally severed from the material body, becomes endowed with *'Cit'* the sentient property, the basic characteristic. Like in the *Bhūtaśuddhi* process, he burns down his earthly body again to revive it by the help of nector and enter the newly formed pure body.

Repeated practice of this process finally uplifts the aspirant Yogin to the enviable state of *Samādhi*—the total merger in the Supreme Being. The fifth period of the day is utilised for this exercise. The devotee is then free to go to sleep.

That completes the survey of the Ideal diary of the *Pāñcarātra* and its literature, keeping in mind, the interest of an introvert as a guiding principle.

Notes

1 The history of the descent of the 'Yoga' is narrated in the Gītā (Chapter IV) and Iśvara, Pārameśvara and other Saṁhitās in the opening chapters, in almost identical manner.

2 Such centres are : Tirupati, Kanchi, Śriraṅgam (near Trichonopoly) and Nelkote (near Mysore).

3 परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ —**गीता** ४. ८

4 In the *Caryāpāda*, we have to study *Yogakāla* where the instructions of the *Yogapāda* are to be brought into practice. Hence, therein some analytical observations would be noted down.

5 Vide Jayākhya S. 22 : 68-69, Nāradīyas 30 : 2-4 ; Ṛṣirātra : 1 : 1-10 etc.

6 जपध्यानार्चनस्तोत्रैः कर्मवाक्चित्तसंयुतैः ।
अभिगच्छेज्जगद्योनिं तच्चाभिगमनं स्मृतम् ॥ —**जयाख्य सं.** २२: ६८-६९

7 समुत्थायार्धरात्रेऽथ जितनिद्रो जितश्रमः ।
कमण्डलुस्थितेनैवोदराचम्य तु वारिणा ॥ —**सात्वत** quoted in Pāñcarātra Rakṣa Ch. 3, p. 128
संप्रबुद्धः प्रभाते तु उत्थाय शयनेस्थितः ।
नाम्नां संकीर्तनं कुर्यात् षोडशानां प्रयत्नतः ॥ —**पारमेश्वर सं.** २. ४

8 नमो वासुदेवाय नमः संकर्षणाय ते ।
प्रद्युम्नाय नमोस्तेऽस्तु, अनिरुद्धाय ते नमः । —**पारमेश्वर सं.** २. ६
····दिव्यानामवताराणां दशानांमथ कीर्तनम् । ,, २.१०
हरिं हरिं ब्रुवंस्तल्पादुत्थाय भुवि विन्यसेत् । ,,
····नमः क्षितिधरायोक्त्वा वामपादं महामते ॥ ,, २.१७

9 A vide Aniruddha S. Ch. 18 Nāradīya 2, 37 Viṣṇutattva (iv)-1,Pauṣkara 20-24 Viśvāmitra 10

10 Besides the verbal meanings, such portion always have mystic, technical and conventional meanings which the aspirants in the same and allied field only are likely to comprehend. Here, the attempt is elementary and aims at highlighting such portions without going much in details.

11 One may trace this process to the *Saṁvargavidyā* of the Upaniṣada.

12 अंतर्योगं बहिर्योगं···· —**अमनस्कोपनिषद्** २. ३६
मनोवैज्ञस्य ब्रह्मा···· —**बृहदारण्यक उपनिषद्** ४।१।६
मानसपूजया जपेन ध्यानेन कीर्तनेन स्तुत्या···· —**राधोपनिषद्** १।६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

13 पद्मासनादिकं बद्ध्वा नाभौ ब्रह्मांजलिं दृढम् । मनस्युपरतं कुर्यादक्षग्रामं बहिःस्थितम् ।
चित्तं बुद्धौ विनिक्षिप्य तां बुद्धिं ज्ञानगोचरे । ज्ञानमावनया कर्मकुर्याद्वैपारमार्थिकम् ॥
—**पारमेश्वर संहिता** अ. ५ : १–३

14 संकल्पजनितैर्भोगैः पवित्रैरक्षयैः शुभे । सांस्पर्शं शैवचाराख्यैस्तथा चाभ्यवहारिकैः ।
महद्भूतैः प्रभूतैस्तु सप्तलोकसमुद्भवैः । यथोदितैस्तु विधिवदुत्कृष्टतरलक्षणैः ॥
—**पारमे. सं. अ.** ४ : १३७–३८

भावोपनीतपुष्पाद्यैर्हृदम्भोजे शिवं यजेत् ॥ —**सोमशम्भुपद्धति** ३. ३४

15 अंतर्यागात्मिका पूजा सर्वपूजोत्तमा प्रिये। —**वामकेश्वरतंत्र**

16 ततोऽष्टांगेन योगेन पूजयेत् परमेश्वरम् ।
पंचमो योगसंज्ञोऽसौ कालांशो योगसिद्धिदः ॥ —**जयाख्य सं.** २२ : ७२–७४

References

1 Bhagavadgītā
2 History of Indian Philosophy, S.N. Dasgupta, Vol. III, London, 1940
3 Idea of God, K.C. Varadachari, Tirupati, 1950
4 Introduction to Pañcarātra and Ahirbudhnya Saṁhitā, F.O. Schrader, Adyar, 1916
5 Ahirbubhnya Saṁhitā, Ed. F.O. Schrader, Adyar, 1916
6 Aniruddha Saṁhitā, Ed. A.S. Iyengar, Mysore, 1956
7 Bṛhadbrahma Saṁhitā, Anandashram Press, Poona, 1912
8 Iśvarā Saṁhitā, Sadvidya Press, Kanchi, 1923
9 Jayākhya Saṁhitā, E. Krishnammacharya, Baroda, 1931
10 Kapiñjala Saṁhitā, Bhadrachalam (A.P.) 1931
11 Lakṣmì Tantra, V. Krishnammacharya, Adyar, 1959
12 Pādma Saṁhitā, Ed. Yatiraja Swami Melkote (Mysore), 1924
13 Parama Saṁhitā. Gaikwad series, 1940
14 Pārameśwara Saṁhitā Ed. U. Govindacharya, Srirangam, 1950
15 Sāttvata Saṁhitā, P. B. Anantacharya, Kanchi, 1902
16 Śrìpraśna Saṁhitā, Kumbhakonam, 1904
17 Viṣṇu Saṁhitā, T. Ganapati Sastri, Trivendrum, 1926
18 Viṣṇu Tilaka Saṁhitā, Lithopress, Bombay, 1896
19 Bhargava Saṁhitā, Mss. (A.S. Iyengar Collection, Tirupati)
20 Nāradìya Saṁhitā Mss. (A.S. Iyengar Collection, Tirupati)
21 Amanaskopaniṣad
22 Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad
23 Rādhopaniṣad

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



परिशिष्ट १

कदम-कदम पर पदम खिले

[द्वितीय खण्ड के पृष्ठ १८३ पर गुरुदेवश्री की विहारचर्या के संक्षिप्त वृत्त-संस्मरण लिखे गये हैं। इस लेखन के पश्चात् जो विहार हुआ, उस समय के कुछ संस्मरण यहाँ परिशिष्ट में अंकित हैं। —सम्पादक]

सन् १९७७ का बेंगलोर में यशस्वी वर्षावास व्यतीत कर कर्णाटक के ऐतिहासिक सांस्कृतिक स्थानों का अवलोकन करते हुए तमिलनाडु की राजधानी मद्रास संघ जो वर्षों से सद्गुरुदेव के वर्षावास हेतु अभ्यर्थना कर रहा था, पलक पाँवड़े बिछाकर अपने यहाँ पधारने की राह देख रहा था, सद्गुरुदेव जो दया के देवता हैं वे उनकी प्रार्थना को कैसे टाल सकते थे? उनकी अभ्यर्थना को सन्मान देकर गुरुदेवश्री मद्रास पधारे।

मद्रास दक्षिण भारत का प्रमुख नगर है, जो समुद्र के किनारे बसा हुआ है। भारत के प्राचीन साहित्यकारों ने कुबेर का निवास उत्तर में माना है, पर मुझे लगा कि उत्तर की अपेक्षा भी दक्षिण में वर्तमान युग में कुबेर का निवास है। यहाँ पर जैन परिवार जितने समृद्ध हैं उतने उत्तर भारत में देखने को नहीं मिलते। मद्रास में सैकड़ों जैन परिवार कोट्याधीश हैं। उनके आँगन में विराट् वैभव अठखेलियाँ कर रहा है। एक बार तथागत बुद्ध ने वैशाली के लिए कहा था कि स्वर्ग की अलकापुरी देखनी हो तो वैशाली को देखें तथा देव और देवियाँ देखनी हों तो वैशाली के नर-नारियों को देखें वही साक्षात् पृथ्वी पर स्वर्ग है तो मैं कह सकता हूँ कि मद्रास भी वर्तमान युग की स्वर्गभूमि है। वहाँ के निवासी जहाँ भौतिक दृष्टि से समृद्ध हैं वहाँ वे आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टि से भी पीछे नहीं हैं। प्रस्तुत वर्षावास में गुरुदेवश्री के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, धार्मिक पावन-प्रवचनों ने जन-जीवन में ऐसी जागृति पैदा की जो देखते ही बनती थी। फूल से सुकुमार बालक और बालिकाओं में ही नहीं, युवक और युवतियों में तथा वृद्धों में जो धार्मिक-साधना की बाढ़ आयी वह प्रेक्षणीय थी। वे तप-जप में ही नहीं, दान और शील में भी अपने मुस्तैदी कदम आगे बढ़ा रहे थे। स्थानीय संस्थाओं को भी दान के शीतल सलिल से सिंचन किया जिससे वे लहलहा उठीं। क्या ज्ञान के केन्द्र और क्या स्वास्थ्य के केन्द्र सभी को खुलकर दान प्राप्त हुआ। राजस्थानी समाज ही नहीं, गुजराती समाज भी इस कार्य में आगे बढ़ रहा था। सभी के हृत्तंत्री के सुकुमार तार झनझना रहे थे कि मद्रास में यों तो अनेक सन्त-गण पधारे पर उपाध्यायश्री की वाणी में जो ओज और साधना में तेज है वह अन्य सन्तों में देखने को नहीं मिला, वस्तुतः ये पारस पुरुष हैं इनके सम्पर्क में जो भी आता है वह सच्चा सोना बन जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने एक ओजस्वी प्रवचन में कहा कि सम्राट् चन्द्रगुप्त को जो सोलह महास्वप्न आये थे उसमें एक स्वप्न था कि समुद्र का पानी तीन दिशाओं में सूख गया है पर दक्षिण दिशा में कुछ पानी अवशेष है। इस स्वप्न का फल बताते हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु ने कहा कि दक्षिण में धर्म रहेगा। अतः दक्षिण निवासियों को धर्म की दृष्टि से आगे बढ़ना है। मुझे आह्लाद है कि दक्षिण भारत अभी तक सम्प्रदायवाद से ऊपर उठा हुआ है। यह सत्य है कि उत्तर में जितनी भी सम्प्रदायें हैं उन सम्प्रदायों के प्रमुख लोग दक्षिण में रहते हैं पर यहाँ की भूमि में ही ऐसा असर है कि उनमें सम्प्रदायवाद की बीमारी के कीटाणुओं का असर न हो सका है। मैं चाहता हूँ कि दक्षिण भारत अपने इस आदर्श को सदा बनाये रखे और उसके लिए यहाँ पर बिन साम्प्रदायिक स्वाध्याय संघ की आवश्यकता है जो घर-घर में स्वाध्याय की निर्मल ज्योति जाग्रत कर सके। सद्गुरुदेव के पावन उपदेशों ने जादू का असर किया और दक्षिण भारतीय स्वाध्याय संघ की संस्थापना हो गयी। संस्थापना ही नहीं हुई अपितु मद्रास संघ के कुशल संचालक सेठ मोहनमलजी चोरडिया के नेतृत्व में वह संस्था स्वल्प समय में ही विकास के पथ पर बढ़ गयी और वह दिन दूर नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है जिस दिन यह संस्था शतशाखी के रूप में विकसित होकर दक्षिण भारत के लिए वरदान के रूप में सिद्ध होगी। गुरुदेवश्री ने प्रस्तुत संस्था की संस्थापना कर दक्षिण भारतीयों के लिए विकास का पथ प्रशस्त कर दिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के उपदेश से प्रभावित होकर 'शंकर नेत्र चिकित्सालय' (मद्रास) के लिए और मद्रास विश्वविद्यालय में 'जैन इण्डेमेन्ट' के लिए 'बापा लाल कम्पनी' ने लाखों का दान देकर अपने उदात्त हृदय का परिचय दिया।

इस वर्षावास में केरल की राज्यपाल ज्योति बहिन वेंकटाचरम् ने तथा मद्रास के राज्यपाल श्री प्रभुदास पटवारी, एवं सुप्रसिद्ध गांधीवादी वयोवृद्ध नेता रविशंकर महाराज, राजसभा दिल्ली के उपाध्यक्ष रामनिवासजी मिर्धा, डा. एस. एस. बद्रीनाथ, डॉ. पी. एस. देवदास, सत्यनारायणजी गोयनका, प्रभृति अनेक शासन के उच्चपदाधिकारी, कार्यकर्ता व मूर्धन्य मनीषियों ने सद्गुरुवर्य से मिलकर सत्संग का ही लाभ प्राप्त नहीं किया अपितु विविध विषयों पर विचार चर्चाएँ भी कीं। उन्हें अनुभव हुआ कि गुरुदेवश्री धर्मदर्शन के गम्भीर ज्ञाता हैं।

आन्ध्र प्रान्त के भावुक-भक्तगणों के अन्तर्मानस में जब श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थान में थे तभी से ये विचार लहरियाँ तरंगित हो रही थीं कि कब गुरुदेवश्री आन्ध्र में पधारेंगे और कब हमें जिनवाणी के अमृत रस का पान करायेंगे। सुप्रसिद्ध उद्योगपति रतनचन्द जी रांका (रांका केबल्स प्राइवेट लिमिटेड कडपा) तिरुपति, नेयाल, कर्नूल, हैदराबाद-सिकन्दराबाद प्रभृति आन्ध्र के प्रमुख संघों के व्यक्ति अनेक बार शिष्टमण्डल लेकर उपस्थित हुए। उनकी प्रार्थनाएँ भी ठुकराई नहीं जा सकती थीं। सद्गुरुदेवश्री मद्रास के उपनगरों को पावन करते हुए आन्ध्र में पधारे।

तिरुपति आन्ध्र प्रान्त का ही नहीं अपितु भारत का प्रमुख आकर्षण केन्द्र बना हुआ है। जहाँ पर देश-विदेश के प्रतिदिन हजारों व्यक्ति पहुँचते हैं और अपने श्रद्धा के सुमन समर्पित कर अपने आपको धन्य अनुभव करते हैं। मन्दिर के अधिकृत-अधिकारियों की प्रार्थना को संलक्ष्य में रखकर गुरुदेवश्री वहाँ पर पधारे। ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टि से उस स्थान का अवलोकन किया जिससे यह परिज्ञात हुआ कि इस स्थान का सम्बन्ध किसी न किसी दिन जैन संस्कृति के साथ अवश्य ही रहा है। ऐसे अनेक चिह्न हैं जो जैन संस्कृति की आज भी याद दिलाते हैं। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'श्रावकधर्म-दर्शन' का विमोचन समारोह भी हुआ।

गुरुदेवश्री आन्ध्र में ऐसे अनेक स्थलों पर पधारे जहाँ पर जैन श्रमण प्रथम बार पहुँचे। जैन श्रमणों को अपने यहाँ पर देखकर वहाँ के लोग फूले नहीं समाये। हजारों व्यक्तियों ने नमस्कार महामन्त्र स्मरण किया और सैकड़ों व्यक्तियों ने मांस-मदिरा और अन्य व्यसनों का त्याग कर सात्विक जीवन जीने का दृढ़ संकल्प किया।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्यश्री वृद्धावस्था में भी युवकों की तरह अपने मुस्तैदी कदम आगे बढ़ाते हुए आन्ध्र की राजधानी हैदराबाद पधारे हैं जहाँ पर महाराष्ट्र से विहार करते हुए आचार्य सम्राट महामहिम श्री आनन्द ऋषिजी भी पधारे। उनसे श्रमण संघ सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार चर्चाएँ भी हुईं। इस प्रकार पूज्य गुरुदेवश्री के कदम-कदम पर पदम खिलते रहे हैं।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



परिशिष्ट २

संत व सती परिवार

[प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड (पृष्ठ १८४) में सन्त व सती परिवार शीर्षक लेख लिखने के पश्चात् जिन सन्त व सतियों की दीक्षाएँ हुई उनका संक्षेप में परिचय यहाँ प्रस्तुत है। —सम्पादक]

श्री भगवती मुनि

आपका जन्म वि. सं. २०१७ ज्येष्ठ कृष्णा ग्यारस के दिन सोजत के सन्निकट सरवाड ग्राम में हुआ। पिता का नाम मंगलसिंह जी और माँ का नाम कानकुंवर बाई है। आपने सं. २०३५ आश्विन शुक्ला सप्तमी के दिन जोधपुर में दीक्षा ग्रहण की। आपकी अध्ययन के प्रति सहज रुचि है।

बाल ब्रह्मचारिणी चन्दनप्रभाजी

आपका जन्म अहमदाबाद में हुआ। आपके पिताश्री का नाम लाभुभाई मेहता और मातेश्वरी का नाम कंचन बहिन है। पति-पत्नी दोनों धर्मपरायण हैं। आपका गृहस्थाश्रम में नाम नयना बहिन था। सं. २०३४ में महासती श्री उमरावकुंवरजी की सुशिष्या सत्यप्रभाजी के शिष्यत्व को ग्रहण किया। आपकी दीक्षा अहमदाबाद के गान्धीनगर में हुई। आप मधुर प्रकृति की सेवाभावी तथा अध्ययन-प्रेमी सती हैं।

बाल ब्रह्मचारिणी सुमतिप्रभाजी

आपका जन्म राजस्थान के गढ़ सिवाना में हुआ। आपके पिताश्री का नाम मिश्रीमलजी छाजेड़ और माताजी का नाम उकीबाई है। दोनों ही धर्मनिष्ठ हैं। संसारावस्था में आपका नाम सुमित्रा बहिन था। आपने गढ़ सिवाना में सं. २०३५ ज्येष्ठ शुक्ला तीज को भागवती दीक्षा ग्रहण की और महासती श्री उमरावकुंवरजी की सुशिष्या सत्यप्रभाजी की शिष्या बनीं। आप स्वभाव से सौम्य, सेवाभावी व अध्ययनशीला हैं।

बाल ब्रह्मचारिणी देवेन्द्रप्रभाजी

आपका जन्म गढ़ जालोर में हुआ। आपके पिताश्री का नाम मूलचन्दजी और माताजी का नाम उगमबाई है। दोनों में धार्मिक भावना है। सं. २०३४ के फाल्गुन शुक्ला ६ को परम विदुषी महासतीश्री शीलकुंवरजी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की और विदुषी महासतीजी की सुशिष्या चन्दनबालाजी के शिष्यत्व को ग्रहण किया। आप सेवाभावी और अध्ययनशीला हैं।

बाल ब्रह्मचारिणी विनयप्रभाजी

आपका जन्म जयपुर में हुआ। आपके पिताजी····गान्धी हैं। माँ का नाम कमलाबाई है। आपने सं. २०३५ में देहली में परम विदुषी महासती कुसुमवतीजी की सुशिष्या चारित्रप्रभाजी के शिष्यत्व को ग्रहण किया। आप सेवाभावी और अध्ययनशीला सती हैं।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्माननीय सहयोगी

राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी

उपाध्याय श्री पुष्करमुनि

अभिनन्दन ग्रन्थ

प्रकाशन में

श्रद्धा व उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग

प्रदान करने वाले

सम्माननीय सहयोगी बंधुओं के

शुभनाम व चित्र

नोट—अनेक बार प्रयत्न करने पर भी कुछ सदस्य बंधुओं के चित्र प्राप्त नहीं हो सके, अतः ग्रन्थ मुद्रण समाप्त होने तक जिन सज्जनों के चित्र प्राप्त हुए हैं, यहाँ उन्हीं के चित्र दिये जा सके हैं। —संयोजक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्माननीय सहयोगी सदस्य

प्रथम श्रेणी

१. श्रीमान सेठ मोहनमल जी चोरडिया मींटस्ट्रीट, मद्रास
२. श्रीमान जसराज जी शान्तिलाल जी बोहरा, रायचूर (कर्णाटक)
३. श्रीमान दानमल जी पुनमिया, परेल, बम्बई
४. श्रीमान पारसमल जी साहब मुथा रायचूर (कर्णाटक)
५. श्रीमान रतनचन्द जी साहब रांका, रांका केबल्स प्राइवेट लिमिटेड, कडपा (आन्ध्र)
६. श्रीमान देवीलाल जी धनराज जी धोका, सायरा (राजस्थान)
७. श्रीमान हस्तीमल जी भूताजी जिनाणी, गढ़सिवाना (राजस्थान)
८. श्रीमान खेमराज जी देवराज जी चोरडिया, मद्रास
९. श्रीमान रिखबचन्द जी एम० छल्लानी, मैसूर (कर्णाटक)
१०. श्रीमान कपूरचन्द जी कल्याणचन्द जी बोथरा, दिल्ली
११. श्रीमान मेघराज जी छाजेड़, सिंधनूर (कर्णाटक)
१२. श्रीमान कान्तिलाल जी रतनचन्द जी बांठिया, पनवेल (महाराष्ट्र)
१३. श्रीमान मांगीलाल जी चुन्नीलाल जी सोलंकी, ४०६ रविवार पेठ, पूना (महा०)
१४. श्रीमती धर्मानुरागिणी पानीबाई गजराज जी काबेडिया, ११५३ रविवार पेठ, पूना (महाराष्ट्र)
१५. श्रीमान भंवरलाल जी फूलफगर, घोडनदी जि० पूणे (महाराष्ट्र)
१६. श्रीमान खुशालचन्द जी पुसाराम जी भुरट, घोडनदी जि० पूणें (महाराष्ट्र)
१७. श्रीमान रमणलाल जी मोतीलाल जी पुनमिया, बसई जि० ठाणें (महाराष्ट्र)
१८. श्रीमान घासीलाल जी बाफणा C/o. नेमीचन्द ख्यालीलाल, मनोहर रोड, पालघर जि० ठाणें (महाराष्ट्र)
१९. श्रीमान धनराज जी धीराजी, भवानी शंकर रोड, दादर, बम्बई
२०. श्रीमान पन्नालाल जी गुलाबचन्द जी सकलेचा, मलेशपुरम, बेंगलोर (कर्णाटक)
२१. श्रीमान तेजराज जी रूपचन्द जी बम्ब, इचलकरंजी जि० कोल्हापुर (महाराष्ट्र)
२२. श्रीमान जवरीमल जी बलवन्तराज जी मुथा, रायचूर (कर्णाटक)
२३. श्रीमान धनराज जी चुन्नीलाल जी बांठिया C/o. के. जी. बांठिया ब्रदर्स, पूना (महाराष्ट्र)
२४. श्रीमान मुकुनचन्द जी कुशलराज जी भण्डारी, रायचूर (कर्णाटक)
२५. श्रीमान सम्पतराज जी हुकमीचन्द जी चोपडा, रायचूर (कर्णाटक)
२६. श्रीमान दलीचन्द दीपचन्द पुनमिया, ४०६ रविवार पेठ, पूणे (महाराष्ट्र)
२७. श्रीमान मिश्रीमल जी पारसमल जी कातरेला, मामूल पेठ बेंगलोर (कर्णाटक)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय श्रेणी

१, श्रीमान चुनीलाल जी चान्दनमल जी धर्मावत, उदयपुर (राजस्थान)
२. श्रीमान घिसुलाल जी रांका C/o. मोहन प्लास्टिक नं० १० ओ. के. रोड, बेंगलोर ५३
३. श्रीमान खेमराज जी कोठारी, कल्पवृक्ष बालकेश्वर बम्बई ६
४. श्रीमान जीतमल जी सकलेचा, अजंता इण्टरनेशनल आनन्द प्रोपर्टी, दाभोलकरवाडी, कालबादेवी रोड, बम्बई २
५. श्रीमान घिसुलाल जी रिखबजी पुनमिया, नायगाँव क्रोस दादर बम्बई
६. श्रीमान मोहनमल जी हमीरमल जी भोगर C/o. डालचन्द वच्छराज पालघर जि० ठाणें (महा०)
७. श्रीमान चुनीलाल जी भेरूलाल जी कसारा, वीरार जि० ठाणे (महाराष्ट्र)
८. श्रीमान नथमल मनरूप जी पुनमिया नं० २ अब्दुला बिल्डिंग परेल, बम्बई
९. श्रीमान हीराचन्द वनेचन्द हीरापेठ, हुबली-धारवाड (कर्णाटक)
१०. श्रीमान जडावमल माणेकचन्द बेताला बागलकोट, (कर्णाटक)
११. श्रीमान पन्नालाल जी बरडिया बरडिया टेक्सटाईल एजेन्सी, मदनगंज (राज०)
१२. श्रीमान भेरूलाल जी चेनराज जी डोशी C/o. छोगालाल जी भेरूलाल जी दोशी, गुलालवाडी बम्बई
१३. श्रीमान मनोहरचन्द जी सुखराज जी बाघमार गजेन्द्रगढ़ जि० धारवाड (कर्णाटक)
१४. श्रीमती श्री हीराबाई घिसुलाल जी सोलंकी C/o. पोपट सोलंकी, रविवार पेठ, पूना (महा०)
१५. श्रीमान रणजीतमल जी चुन्नीलाल जी कावेडिया ४१० रविवार पेठ पूना (महाराष्ट्र)
१६. श्रीमान पुखराज जी हस्तीमल जी मेहता, रविवार पेठ पूना (महाराष्ट्र)
१७. श्रीमान स्वर्गीय मगनलाल जी मेहता गोगुन्दा जि० उदयपुर (राजस्थान)
१८. वेस्टर्न सिल्क सिण्डिकेट सूरत (गुजरात)
१९. वीर वर्धमान ट्रेडिंग कम्पनी, सूरत (गुजरात)
२०. श्रीमान मिश्रीमल सोना जी बिनाकिया C/o. मोती ड्रेसेस बल्लारी (कर्णाटक)
२१. श्रीमान स्व. सेठ नाथूलाल जी परमार C/o. डा० मोहनसिंह परमार, सजीव आम्बेडकर रोड मलाड बम्बई ८०
२२. श्री दलीचन्द रघुनाथमल एण्ड कम्पनी जैन मार्केट बल्लारी (कर्णाटक)
२३. श्रीमान मेघराज जी मेहता, मद्रास
२४. श्रीमान गेरीलाल जी घासीलाल जी कोठरी सेमा, जि० उदयपुर (राजस्थान)
२५. श्रीमान चान्दमल जी मोतीलाल जी बम्ब, शमशेर गंज, हैदराबाद (आंध्र)
२६. श्रीमान सम्पतराज जी तपस्वीचन्द जी रायचूर (कर्णाटक)
२७. श्रीमान केवलचन्द जी मोहनलाल जी बोहरा, रायचूर (कर्णाटक)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय श्रेणी

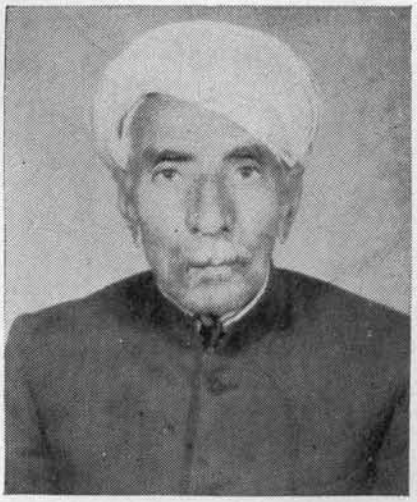
१. श्रीमान खुमाणसिंह जी काग्रेचा सिंघाड़ा, वाया सायरा जि० उदयपुर (राजस्थान)
२. श्रीमान सुन्दरलाल जी चांदनमल जी धर्मावत कोलपोल बड़ा, बाजार उदयपुर (राजस्थान)
३. श्रीमान हिम्मतचन्द मयाचन्द जी मेहता नायगांव, दादर बम्बई
४. श्रीमान वस्तीमल जी थानमल जी पुनमिया
५. श्रीमान हिम्मतमल जी प्रेमचन्द जी, कुलाबा बम्बई
६. श्रीमान चुन्नीलाल जी ढालावत C/o भगवती लाल जी मिठालाल जी जैन, माहीम रोड, पालघर (महा०)
७. श्रीमान चुन्नीलाल जी वच्छराज जी माण्डोत स्टेशन रोड, बीरार (महाराष्ट्र)
८. श्रीमान खेमराज जी दोलावत स्टेशन रोड, बीरार जि० ठाणे (महाराष्ट्र)
९. श्रीमान चांदमल जी अबीरचन्द जी पुनमिया, हरि कुञ्ज, भुईंवाड़ी बम्बई
१०. श्रीमान जीतमल जी सागरमल जी पुनमिया C/o देवराज जी, एलफिन्स्टन रोड, बम्बई
११. श्रीमती धर्मानुरागिणी बदामबाई सम्पतराज जी मुथा, मुथा बिल्डिंग, भंगीकुण्टा रायचूर (कर्णाटक)
१२. श्रीमान नेमीचन्द जी हीरालाल जी होलसेल क्लोथ मर्चेण्ट रायचूर (कर्णाटक)
१३. श्रीमती धर्मानुरागिणी सुन्दरबाई आंचलिया C/o ए० सोहन कुमार, स्टेशन रोड, रायचूर (कर्णाटक)
१४. श्रीमान मदलाल मांगीलाल C/o आसुजी मांगीलाल एण्ड कम्पनी मण्डी पेठ, दावणगिरे (कर्णाटक)
१५. श्रीमान चांदमल जी जोधराज जी मादरेचा हरियाली विलेज, विक्रोली बम्बई
१६. श्रीमान चन्दनमल जी जोरावरमल जी सोलंकी सिंधटवाड़ियों की सेरी, सिंघवी भवन, उदयपुर (राजस्थान)
१७. श्रीमान वस्तीमल जी चम्पालाल जी बिनाकिया C/o बी० चम्पालाल जैन, खाण्डप जि० बाडमेर
१८. श्रीमती धर्मानुरागिणी भिखीबाई चान्दमल जी सोलंकी ४/२ रविवार पेठ, पूना २ (महाराष्ट्र)
१९. श्रीमान कस्तुरचन्द जी सुरजमल जी जैन, टोल, जि० उदयपुर (राजस्थान)
२०. श्रीमान हजारीमल जी लालचन्द जी जैन मार्केट बल्लारी
२१. श्रीमती धर्मानुरागिणी स्वर्गीया माणीबाई डालचन्द जी परमार C/o विवेक सिल्क कॉर्पोरेशन, सूरत (गुजरात)
२२. श्रीमान मोहनलाल जी रिखबचन्द जी, बोम्बे ट्रेडर्स, कालम्बा स्ट्रीट बल्लारी (कर्णा०)
२३. श्रीमान भंवरलाल जी बाफणा, पारस ट्रेडिंग कम्पनी, कारस्ट्रीट, बल्लारी (कर्णा०)
२४. श्रीमान अगेरचन्द जी धासीराम जी नाहर, कोल बाजार बल्लारी (कर्णाटक)
२५. श्रीमान पारसमल जी हस्तीमल जी चोधरी कडप्पा (आंध्र)
२६. श्रीमान कुशलचन्द जी शिशोदिया १५३, ५ क्रोस गांधी रोड, बेंगलोर (कर्णाटक)
२७. श्रीमान शेषमल जी धर्मीचन्द जी बाघमार गजेन्द्रगढ़ जि० (कर्णाटक)
२८. श्रीमान प्रेमचन्द जी हंसराज जी मुथा कोट्टूर
२९. श्रीमान जे. एम. भंसाली, गोडउन स्टीट, मद्रास
३०. श्रीमान संघवी वच्छराज जी नेमाजी, नान्देशमा जि० उदयपुर
३१. श्रीमान नगराज जी बाबूलाल जी खिवेसरा, सिंधनूर (कर्णाटक)
३२. श्रीमान घिसुलाल जी झुंवरलाल जी झांगड़ा मुदगल (कर्णाटक)
३३. लोकसेवा ड्रेसेस, जैन मार्केट, बल्लारी
३४. शीवलाल जी गुलाबचन्द जी ट्रस्ट, रायचूर (कर्णा०)
३५. श्रीमान केशरचन्द चुन्नीलाल जी धोका, पूना (महाराष्ट्र)
३६. श्रीमान जवरीलाल जी सुराणा बुलारम-हैदराबाद (आंध्र)
३७. श्रीमान जवानमल जी भंवरीलाल जी बेंगलोर (कर्णाटक)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

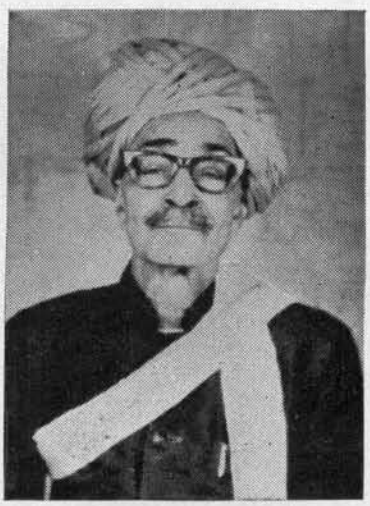
राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन सहयोगी [प्रथम श्रेणी]



धर्मप्रेमी सेठ श्री जसराजजी बोहरा, रायचूर



परम गुरुभक्त श्रीमान देवीलालजी धनराजजी धोका
सायरा, (उदयपुर)



श्रीमान हस्तीमलजी जिनाणी गढ़सिवाना, (राजस्थान)



श्रीमान ऋषभचन्दजी छल्लाणी, मैसूर (कर्णाटक)



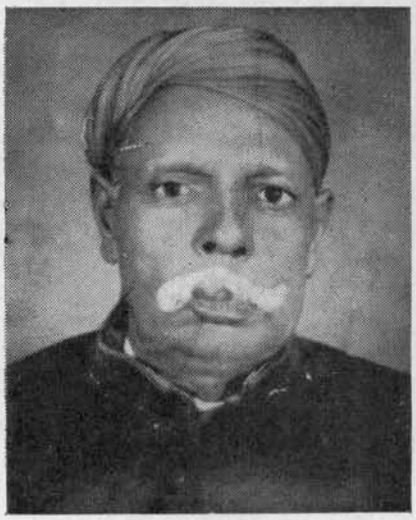
गुरुभक्त श्रीमान खुशालचन्दजी पूसारामजी भुरट
घोड़नदी (जिला पुणे)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

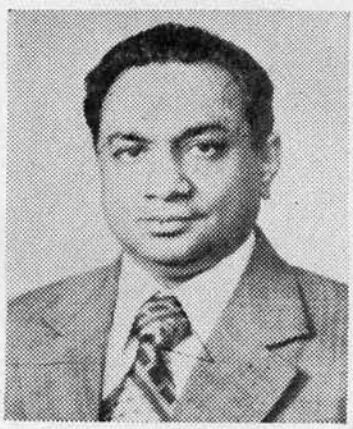
राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन सहयोगी [प्रथम श्रेणी]



श्रीमान सेठ चम्पालालजी हरखचन्दजी कोठारी
बम्बई-६



स्व० श्रीमान सेठ हमीरमलजी भोगर
सूरत (गुजरात)



दानवीर सेठ रतनचन्दजी रांका, कडपा

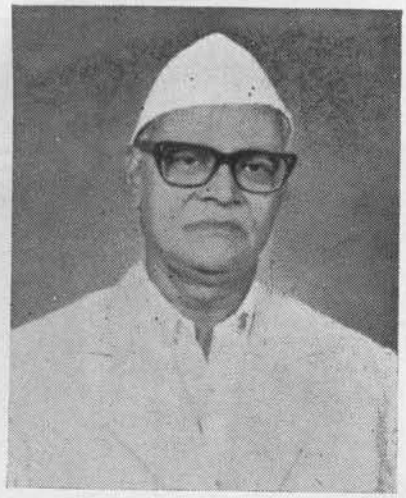


धर्मानुरागिणी अ० सौभाग्यवती प्यारीबाई
सम्पतराजजी चौपड़ा, रायचूर



धर्मप्रेमी श्रीमान तेजराजजी रूपचन्दजी बम्ब
इचलकरंजी (महाराष्ट्र)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



गुरुभक्त श्री धनराजजी चुन्नीलालजी बांठिया,
पुणे (महाराष्ट्र)



श्रीमान दानमलजी पुनमिया, बम्बई



श्रीयुत मांगीलालजी दलीचन्दजी सोलंकी
पूना

राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन सहयोगी [प्रथम श्रेणी]



स्व० श्री गजराजजी छोगमलजी कावेडिया
पूना, (महाराष्ट्र)



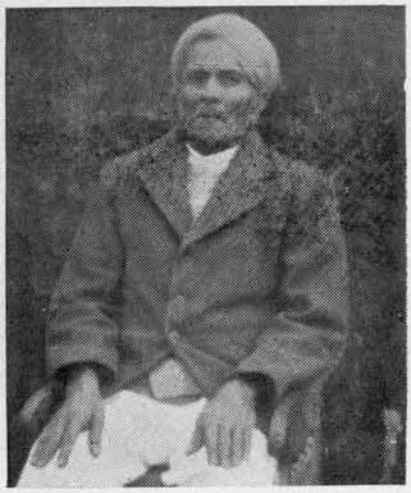
स्व० श्रीमान मिश्रीमलजी पारसमलजी कातरेला
बेंगलोर



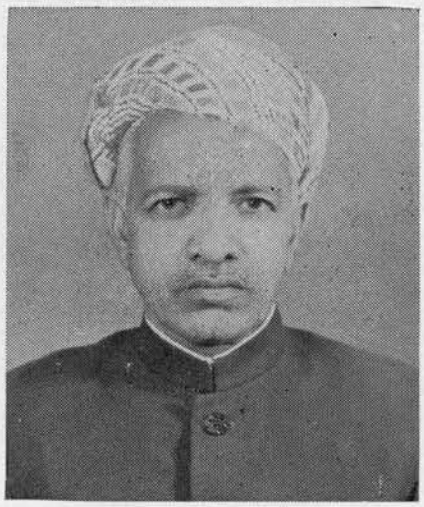
श्रीमान डालचन्दजी सिंगवी
नान्देशमा (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन सहयोगी [द्वितीय श्रेणी]



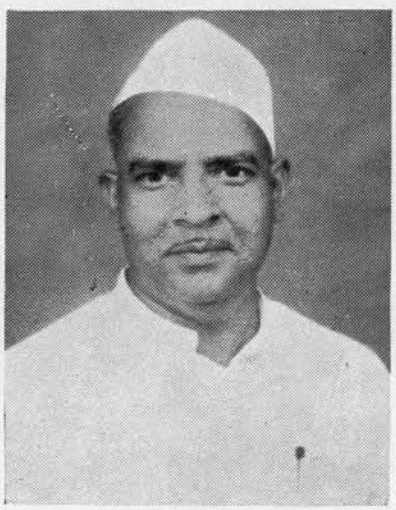
गुरुभक्त धर्मप्रेमी सेठ श्री नाथूलालजी सा० परमार
पदराड़ा



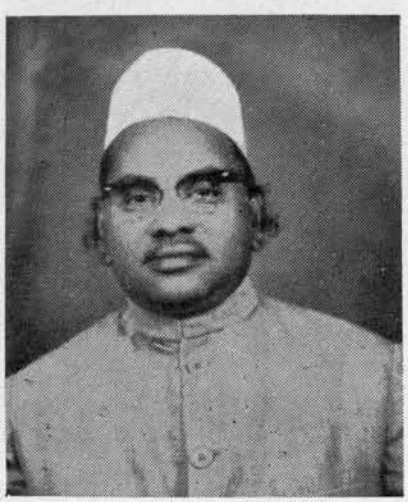
श्रीमान धर्मप्रेमी गुरुभक्त चुन्नीलालजी धर्मावत
उदयपुर



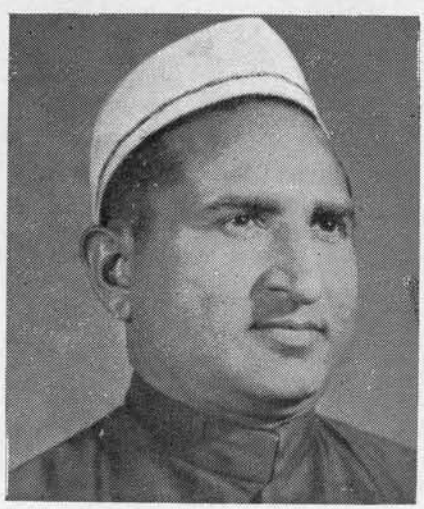
श्रीयुत मंगलचन्द सखलेचा
(कर्मठ समाज सेवी) अजमेर



शा० मोहनलालजी हमेरजी भोगर, सायरा (राजस्थान)



श्री मेघराजजी कुन्दनमलजी बम्ब
शमशेरगंज, हैद्राबाद



श्रीमान गेरीलालजी घासीलालजी कोठारी
सेमा (उदयपुर) बम्बई



शा० घीसूलालजी रिखबचन्दजी पुनमिया
सादड़ी (मारवाड़)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



शा० हीराचन्दजी आनन्दमलजी कटारिया
हुबली



शा० मिश्रीमलजी सोनाजी विनायकिया
बेल्लारी, (कर्णाटक)



गुरुभक्त श्रीमान मगनलालजी मेहता
गोगुन्दा

राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन सहयोगी [द्वितीय श्रेणी]



श्रीमती सुन्दरबाई भेंरूलालजी दोशी
कमोल (उदयपुर)



श्रीमान पन्नालालजी बरड़िया
मदनगंज (किशनगढ़)



श्रीमान माणकचन्दजी जड़ावमल बेताला
बागलकोट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन सहयोगी [तृतीय श्रेणी]



शा० खुमाणसिंग जी हुक्मीचन्दजी काग्रेचा
सिंघाड़ा (उदयपुर)



श्रीमान सुन्दरलालजी चांदमलजी धर्मावत
उदयपुर



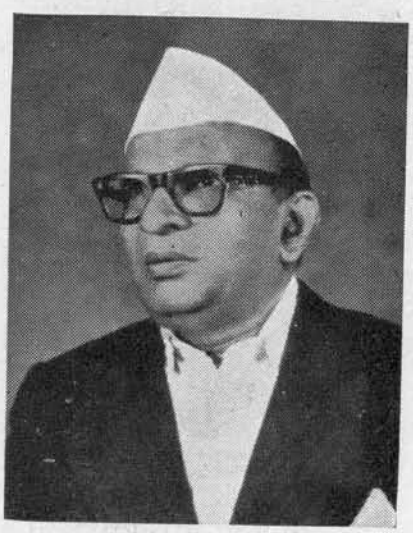
श्रीमान चन्दनमलजी सोलंकी, कमोल निवासी
हाल मु० उदयपुर



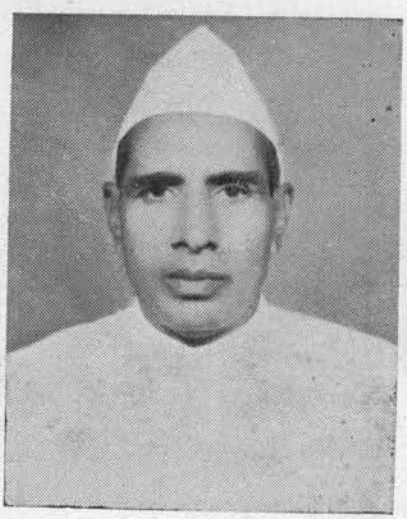
श्रीमान जंवरीलालजी शान्तीलालजी सुराणा, बोलारम (आ० प्र०)



श्रीयुत हिम्मतचन्दजी मेहता, बम्बई

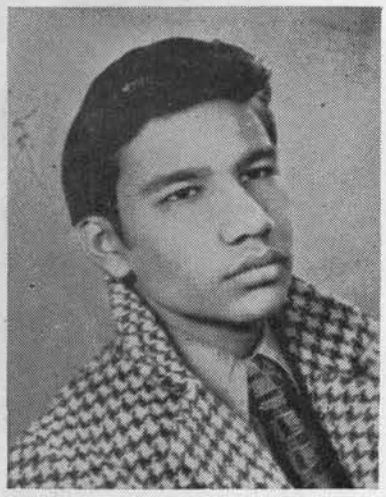


श्रीयुत चांदमलजी अबीरचन्दजी पुनमिया
सादड़ी (मारवाड़)

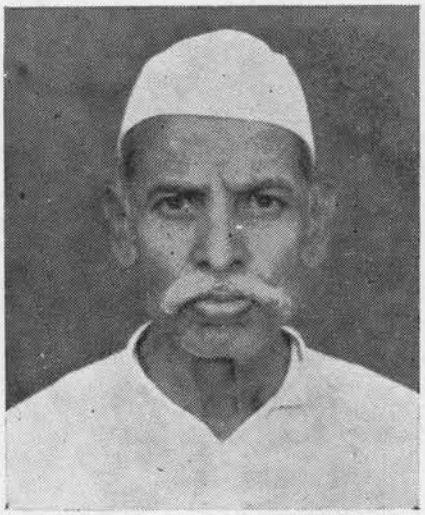


शा० कस्तूरचन्दजी सूरजमलजी माण्डोत
मु० ढोल, जि० उदयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रीमान मदनलालजी मांगीलालजी रांका
दावणगिरे, कर्णाटक



श्री चुन्नीलालजी लालाजी ढालावत
तिरपाल, (मेवाड़)



शा० बस्तीमलजी मूलचन्दजी विनायकिय
खाण्डप, (बाड़मेर)

राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन सहयोगी [तृतीय श्रेणी]



श्रीयुत घीसूलालजी चन्दनमलजी सोलंकी
पूना



स्व. श्रीमती माणोबाई, धर्मपत्नी-श्री डालचन्दजी
नाथूलालजी परमार, पदराणा, उदयपुर



श्रीमती सुन्दरबाई आंचलिया द्वारा
ए. सोहनकुमार स्टेशन रोड, रायचूर

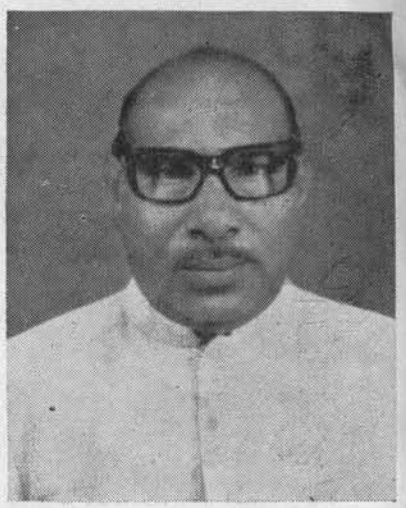
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रीमती हुलासबाई, धर्मपत्नी-श्री जोधराजजी
मादरेचा, ढोल (उदयपुर)

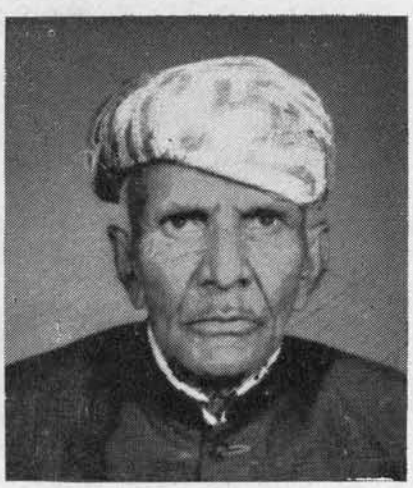


श्रीमती बदामबाई सम्पतराजजी मुथा
रायचूर

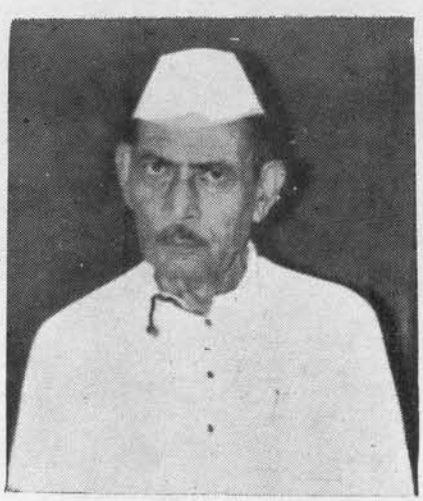


श्रीमान कुशलचन्दजी सिसोदिया
गांधी नगर, बेंगलोर

राजस्थानकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन सहयोगी [तृतीय श्रेणी]



सेठ बच्छराज नेमाजी सिंघवी
नांदेशमा (मेवाड़)



श्री शिवलालजी गुलाबचन्दजी शाह
रायचूर



श्रीमती मणीबाई मांगीलालजी कावेडिया
पूना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org





राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
बम्बई • उदयपुर

आवरण तथा रंगीन पृष्ठों के मुद्रक : [illegible] १८/२०३-ए, (निकट बसन्त सिनेमा) सदर्थान, आगरा-२८२ ००३ दूरभाष निवास : ६१६०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org